ओ३म्

दयानन्द ग्रन्थमाला

शताब्दीसंस्करण

श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य्य श्री स्वामी
दयानन्द सरस्वती विरचित

(द्वितीय भाग)

आर्यवत्सर १,६७,२६,४६,०२५
दयानन्द जन्म-संवत् १००
संवत् १६८१ विक्रमीय, सन् १६२५ ईस्वी.

प्रथमावृत्ति १०,००० } { दोनों भागों का मूल्य ७)

पुस्तक-सूची

पुस्तक		पृष्ठ से पृष्ठ तक

चित्र-सूची

* महर्षि श्री स्वामी दयानन्दजी सरस्वती की जन्मशताब्दी के पूर्व के स्वर्गवासी सभासद्

शताब्दी-संस्करण

Prem Bahadur Varma
12.6.26

संस्कारविधिः

पृष्ठ १—२५८.

संस्कारावधिः

आवृत्ति		सन् ई०		संख्या
प्रथम	...	१८७७	...	१०००
द्वितीय	...	१८८४	...	३०००
तृतीय	...	१८९१	...	५०००
चतुर्थ	...	१८९९	...	५०००
पंचम	...	१९०३	...	५०००
षष्ठ	...	१९०६	...	५०००
सप्तम	...	१९०८	...	५०००
अष्टम	...	१९११	...	५०००
नवम	...	१९१३	...	६०००
दशम	...	१९१५	...	६०००
एकादश	...	१९१८	...	६०००
द्वादश	...	१९२१	...	१०,०००
शताब्दीसंस्करण		१९२४	...	१०,०००
				७२,०००

ओ३म्

नमो नमः सर्वविधात्रे जगदीश्वराय

अथ संस्कारविधेर्भूमिका

सब सज्जन लोगों को विदित होवे कि मैंने बहुत सज्जनों के अनुरोध करने से श्रीयुत महाराजे विक्रमादित्य के संवत् १९३२ कार्त्तिक कृष्णपक्ष ३० शनिवार के दिन संस्कारविधि का प्रथमारम्भ किया था। उसमें संस्कृतपाठ एकत्र और भाषापाठ एकत्र लिखा था। इस कारण संस्कार करनेवाले मनुष्यों को संस्कृत और भाषा दूर २ होने से कठिनता पड़ती थी। और जो १००० (एक हज़ार) पुस्तक छपे थे उनमें से अब एक भी नहीं रहा। इसलिये श्रीयुत महाराजे विक्रमादित्य के संवत् १९४० आषाढ़ बदि १३ रविवार के दिन पुनः संशोधन करके छपवाने के लिये विचार किया। अब की वार जिस २ संस्कार का उपदेशार्थ प्रमाण वचन और प्रयोजन है वह २ संस्कार के पूर्व लिखा जायगा, तत्पश्चात् जो २ संस्कार में कर्तव्य विधि है उस २ को क्रम से लिख कर पुनः उस संस्कार का शेष विषय जो कि दूसरे संस्कार तक करना चाहिये वह लिखा है। और जो विषय प्रथम अधिक लिखा था उसमें से अत्यन्त उपयोगी न जानकर छोड़ भी दिया है। और अब की वार जो २ अत्यन्त उपयोगी विषय है वह २ अधिक भी लिखा है। इसमें यह न समझा जावे कि प्रथम विषय युक्त न था और युक्त छूट गया था उसका संशोधन किया है, किन्तु उन विषयों का यथावत् क्रमबद्ध संस्कृत के सूत्रों में प्रथम लेख किया था। उसमें सब लोगों की बुद्धि कृतकारी नहीं होती थी इसलिये अब सुगम कर दिया

है क्योंकि संस्कृतस्थ विषय विद्वान् लोग समझ सकते थे साधारण नहीं। इसमें सामान्य विषय जो कि सब संस्कारों के आदि और उचित समय तथा स्थान में अवश्य करना चाहिये वह प्रथम सामान्यप्रकरण में लिख दिया है और जो मन्त्र वा क्रिया सामान्यप्रकरण की संस्कारों में अपेक्षित है उसके पृष्ठ पंक्ति की प्रतीक उन कर्त्तव्य संस्कारों में लिखी है कि जिसको देखके सामान्याविधि की क्रिया वहां सुगमता से कर सकें और सामान्यप्रकरण का विधि भी सामान्यप्रकरण में लिख दिया है अर्थात् वहां का विधि करके संस्कार का कर्त्तव्यकर्म करे। और जो सामान्यप्रकरण का विधि लिखा है वह एक स्थान से अनेक स्थलों में अनेक वार करना होगा, जैसे अग्न्याधान प्रत्येक संस्कार में कर्त्तव्य है वैसे वह सामान्यप्रकरण में एकत्र लिखने से सब संस्कारों में वारम्वार न लिखना पड़ेगा। इसमें प्रथम ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना, पुनः स्वस्तिवाचन, शान्तिपाठ तदनन्तर सामान्यप्रकरण पश्चात् गर्भाधानादि अन्त्येष्टि पर्यन्त सोलह संस्कार क्रमशः लिखे हैं और यहां सब मन्त्रों का अर्थ नहीं लिखा है क्योंकि इसमें कर्मकाण्ड का विधान है इसलिये विशेष कर क्रिया विधान लिखा है। और जहां २ अर्थ करना आवश्यक है वहां २ अर्थ भी कर दिया है। और मन्त्रों के यथार्थ अर्थ मेरे किये वेदभाष्य में लिखे ही हैं, जो देखना चाहें वहां से देख लेवें। यहां तो केवल क्रिया करनी ही मुख्य है जिस करके शरीर और आत्मा सुसंस्कृत होने से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त हो सकते हैं और सन्तान अत्यन्त योग्य होते हैं इसलिये संस्कारों का करना सब मनुष्यों को अति उचित है॥

इति भूमिका

स्वामी दयानन्दसरस्वती.

* ओ३म् *

नमो नमः सर्वविधात्रे जगदीश्वराय

अथ संस्कारविधिं वक्ष्यामः

ओं सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्य्यं करवावहै । तेजस्विनावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै । ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥ तैत्तिरीय आरण्यके । अष्टमप्रपाठके । प्रथमानुवाके ॥

सर्वात्मा सच्चिदानन्दो विश्वादिर्विश्वकृद्विभुः ।
भूयात्तमां सहायो नस्सर्वेशो न्यायकृच्छुचिः ॥ १ ॥
गर्भाद्या मृत्युपर्य्यन्ताः संस्काराः षोडशैव हि ।
वक्ष्यन्ते तं नमस्कृत्यानन्तविद्यं परेश्वरम् ॥ २ ॥
वेदादिशास्त्रसिद्धान्तमाध्याय परमादरात् ।
आर्यैतिह्यं पुरस्कृत्य शरीरात्मविशुद्धये ॥ ३ ॥
संस्कारैस्संस्कृतं यद्यन्मेध्यमत्र तदुच्यते ।
असंस्कृतं तु यल्लोके तदमेध्यं प्रकीर्त्यते ॥ ४ ॥
अतः संस्कारकरणे क्रियतामुद्यमो बुधैः ।
शिक्षयौषधिभिर्नित्यं सर्वथा सुखवर्द्धनः ॥ ५ ॥
कृतानीह विधानानि ग्रन्थग्रन्थनतत्परैः ।
वेदविज्ञानविरहैः स्वार्थिभिः परिमोहितैः ॥ ६ ॥
प्रमाणैस्तान्यनादृत्य क्रियते वेदमानतः ।
जनानां सुखबोधाय संस्कारविधिरुत्तमः ॥ ७ ॥

बहुभिः सज्जनैस्सम्यङ्मानवप्रियकारकैः ।
प्रवृत्तो ग्रन्थकरणे क्रमशोऽहं नियोजितः ॥ ८ ॥
दयाया आनन्दो विलसति परो ब्रह्मविदितः,
सरस्वत्यस्याग्रे निवसति मुदा सत्यनिलया ।
इयं ख्यातिर्यस्य प्रततसुगुणा हीशशरणाऽ-
स्त्यनेनायं ग्रन्थो रचित इति बोद्धव्यमनघाः ॥ ९ ॥
चक्षुरामाङ्कचन्द्रेऽब्दे कार्तिकस्यासिते दले ।
अमायां शनिवारेऽयं ग्रन्थारम्भः कृतो मया ॥ १० ॥
विन्दुवेदाङ्कचन्द्रेऽब्दे शुचौ मासेऽसिते दले ।
त्रयोदश्यां रवौ वारे पुनः संस्करणं कृतम् ॥ ११ ॥

सब संस्कारों के आदि में निम्नलिखित मन्त्रों का पाठ और अर्थ द्वारा एक विद्वान् वा बुद्धिमान् पुरुष ईश्वर की स्तुति प्रार्थना और उपासना स्थिरचित्त होकर परमात्मा में ध्यान लगा के करे और सब लोग उसमें ध्यान लगाकर सुनें और विचारें ॥

अथेश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासनाः

ओ३म् विश्वा॑नि देव सवितर्दुरि॒तानि॒ परा॑सुव ।
यद्भ॒द्रन्तन्न॒ आ सु॑व ॥ १ ॥ यजु० अ० ३० । मं० ३ ॥

अर्थः—हे (सवितः) सकल जगत् के उत्पत्तिकर्त्ता समग्र ऐश्वर्ययुक्त (देव) शुद्धस्वरूप सब सुखों के दाता परमेश्वर आप कृपा करके (नः) हमारे (विश्वानि) सम्पूर्ण (दुरितानि) दुर्गुण, दुर्व्यसन और दुःखों को (परा, सुव) दूर कर दीजिये (यत्) जो (भद्रम्) कल्याणकारक गुण, कर्म, स्वभाव और पदार्थ है (तत्) वह सब हम को (आ, सुव) प्राप्त कीजिये ॥ १ ॥

हि॒र॒ण्य॒ग॒र्भः सम॑वर्त्त॒ताग्रे॑ भू॒तस्य॑ जा॒तः पति॒रेक॑ आसीत् ।
स दा॑धार पृथि॒वीं द्यामु॒तेमां कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम ॥ २ ॥
यजु० अ० १३ । मं० ४ ॥

अर्थः—जो (हिरण्यगर्भः) स्वप्रकाशस्वरूप और जिसने प्रकाश करने-हारे सूर्य चन्द्रमादि पदार्थ उत्पन्न करके धारण किये हैं जो (भूतस्य) उत्पन्न हुए सम्पूर्ण जगत् का (जातः) प्रसिद्ध (पतिः) स्वामी (एकः) एक ही चेतनस्वरूप (आसीत्) था जो (अग्रे) सब जगत् के उत्पन्न होने से पूर्व (समवर्त्तत) वर्तमान था (सः) सो (इमाम्) इस (पृथिवीम्) भूमि (उत) और (द्याम्) सूर्यादि को (दाधार) धारण कर रहा है हम लोग उस (कस्मै) सुखस्वरूप (देवाय) शुद्ध परमात्मा के लिये (हविषा) ग्रहण करने योग्य योगाभ्यास और अतिप्रेम से (विधेम) विशेष भक्ति किया करें ॥ २ ॥

य आत्मदा बलदा यस्य विश्वं उपासते प्रशिषं यस्य देवाः ।
यस्यं च्छायाऽमृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ३ ॥
य० अ० २५ । मं० १३ ॥

अर्थः—(यः) जो (आत्मदाः) आत्मज्ञान का दाता (बलदाः) शरीर, आत्मा और समाज के बल का देनेहारा (यस्य) जिसकी (विश्वे) सब (देवाः) विद्वान् लोग (उपासते) उपासना करते हैं और (यस्य) जिसका (प्रशिषम्) प्रत्यक्ष सत्यस्वरूप शासन और न्याय अर्थात् शिक्षा को मानते हैं (यस्य) जिसका (छाया) आश्रय ही (अमृतम्) मोक्षसुखदायक है (यस्य) जिसका न मानना अर्थात् भक्ति न करना ही (मृत्युः) मृत्यु आदि दुःख का हेतु है हम लोग उस (कस्मै) सुखस्वरूप (देवाय) सकल ज्ञान के देनेहारे परमात्मा की प्राप्ति के लिये (हविषा) आत्मा और अन्तःकरण से (विधेम) भक्ति अर्थात् उसी की आज्ञा पालन करने में तत्पर रहें ॥ ३ ॥

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव ।
य ईशेऽअस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ४ ॥
यजु० अ० २३ । मं० ३ ॥

अर्थः—(यः) जो (प्राणतः) प्राणवाले और (निमिषतः) अप्राणिरूप (जगतः) जगत् का (महित्वा) अपने अनन्त महिमा से (एक, इत) एक

ही (राजा) विराजमान राजा (बभूव) है (यः) जो (अस्य) इस (द्विपदः) मनुष्यादि और (चतुष्पदः) गौ आदि प्राणियों के शरीर की (ईशे) रचना करता है हम उस (कस्मै) सुखस्वरूप (देवाय) सकलैश्वर्य के देनेहारे परमात्मा के लिये (हविषा) अपनी सकल उत्तम सामग्री से (विधेम) विशेष भक्ति करें ॥ ४ ॥

येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्वः स्तभितं येन नाकः ।
यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ५ ॥
य० अ० ३२ । मं० ६ ॥

अर्थः—(येन) जिस परमात्मा ने (उग्रा) तीक्ष्ण स्वभाववाले (द्यौः) सूर्य आदि (च) और (पृथिवी) भूमि का (दृढा) धारण (येन) जिस जगदीश्वर ने (स्वः) सुख को (स्तभितम्) धारण और (येन) जिस ईश्वर ने (नाकः) दुःख रहित मोक्ष को धारण किया है (यः) जो (अन्तरिक्षे) आकाश में (रजसः) सब लोकलोकान्तरों को (विमानः) विशेष मानयुक्त अर्थात् जैसे आकाश में पक्षी उड़ते हैं वैसे सब लोकों का निर्माण करता और भ्रमण कराता है हम लोग उस (कस्मै) सुखदायक (देवाय) कामना करने के योग्य परब्रह्म की प्राप्ति के लिये (हविषा) सब सामर्थ्य से (विधेम) विशेष भक्ति करें ॥ ५ ॥

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव ।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥ ६ ॥
ऋ० मं० १० । सू० १२१ । मं० १० ॥

अर्थः—हे (प्रजापते) सब प्रजा के स्वामी परमात्मा (त्वत्) आप से (अन्यः) भिन्न दूसरा कोई (ता) उन (एतानि) इन (विश्वा) सब (जातानि) उत्पन्न हुए जड़ चेतनादिकों को (न) नहीं (परि, बभूव) तिरस्कार करता है अर्थात् आप सर्वोपरि हैं (यत्कामाः) जिस २ पदार्थ की कामना वाले हम लोग (ते) आपका (जुहुमः) आश्रय लेवें और वाञ्छा करें (तत्)

उस २ की कामना (नः) हमारी सिद्ध (अस्तु) होवे जिससे (वयम्) हम लोग (रयीणाम्) धनैश्वर्यों के (पतयः) स्वामी (स्याम) होवें ॥ ६ ॥

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।
यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त ॥ ७ ॥
यजु० अ० ३२ । मं० १० ॥

अर्थः—हे मनुष्यो (सः) वह परमात्मा (नः) अपने लोगों को (बन्धुः) भ्राता के समान सुखदायक (जनिता) सकल जगत् का उत्पादक (सः) वह (विधाता) सब कामों का पूर्ण करनेहारा (विश्वा) संपूर्ण (भुवनानि) लोकमात्र और (धामानि) नाम, स्थान जन्मों को (वेद) जानता है और (यत्र) जिस (तृतीये) सांसारिक सुख दुःख से रहित नित्यानन्दयुक्त (धामन्) मोक्षस्वरूप धारण करने हारे परमात्मा में (अमृतम्) मोक्ष को (आनशानाः) प्राप्त होके (देवाः) विद्वान् लोग (अध्यैरयन्त) स्वेच्छापूर्वक विचरते हैं वही परमात्मा अपना गुरु, आचार्य, राजा और न्यायाधीश है अपने लोग मिल के सदा उसकी भक्ति किया करें ॥ ७ ॥

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नम उक्तिं विधेम ॥ ८ ॥
यजु० अ० ४० । मं० १६ ॥

अर्थः—हे (अग्ने) स्वप्रकाश ज्ञानस्वरूप सब जगत् के प्रकाश करनेहारे (देव) सकल सुखदाता परमेश्वर आप जिससे (विद्वान्) संपूर्ण विद्यायुक्त हैं कृपा करके (अस्मान्) हम लोगों को (राये) विज्ञान वा राज्यादि ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये (सुपथा) अच्छे धर्मयुक्त आप्त लोगों के मार्ग से (विश्वानि) संपूर्ण (वयुनानि) प्रज्ञान और उत्तम कर्म (नय) प्राप्त कराइये और (अस्मत्) हम से (जुहुराणम्) कुटिलतायुक्त (एनः) पापरूप कर्म को (युयोधि) दूर कीजिये इस कारण हम लोग (ते) आपकी (भूयिष्ठाम्) बहुत प्रकार की

स्तुतिरूप (नम उक्तिम्) नम्रतापूर्वक प्रशंसा (विधेम) सदा किया करें और सर्वदा आनन्द में रहें ॥ ८ ॥

इतीश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासनाप्रकरणम्

अथ स्वस्तिवाचनम्

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् । होतारं रत्नधातमम् ॥ १ ॥ स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव । सचस्वा नः स्वस्तये ॥ २ ॥ ऋग्वेद मं० १ । सू० १ । मं० १ । ६ ॥ स्वस्ति नो मिमीतामश्विना भगः स्वस्ति देव्यदितिरनर्वणः । स्वस्ति पूषा असुरो दधातु नः स्वस्ति द्यावापृथिवी सुचेतुना ॥ ३ ॥ स्वस्तये वायुमुप ब्रवामहै सोमं स्वस्ति भुवनस्य यस्पतिः । बृहस्पतिं सर्वगणं स्वस्तये स्वस्तय आदित्यासो भवन्तु नः ॥ ४ ॥ विश्वे देवा नो अद्या स्वस्तये वैश्वानरो वसुरग्निः स्वस्तये । देवा अवन्त्वृभवः स्वस्तये स्वस्ति नो रुद्रः पात्वंहसः ॥ ५ ॥ स्वस्ति मित्रावरुणा स्वस्ति पथ्ये रेवति । स्वस्ति न इन्द्रश्चाग्निश्च स्वस्ति नो अदिते कृधि ॥ ६ ॥ स्वस्ति पन्थामनुचरेम सूर्याचन्द्रमसाविव । पुनर्ददताघ्नता जानता सङ्गमेमहि ॥ ७ ॥ ऋ० मण्ड० ५ । सू० ५१ ॥

ये देवानां यज्ञिया यज्ञियानां मनोर्यजत्रा अमृता ऋतज्ञाः । ते नो रासन्तामुरुगायमद्य यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ८ ॥ ऋ० मं० ७ । अ० ३ । सू० ३५ ॥

येभ्यो माता मधुमत्पिन्वते पयः पीयूषं द्यौरदितिरद्रिबर्हाः । उक्थशुष्मान् वृषभरान्त्स्वप्नसस्ताँ आदित्याँ अनुमदा स्वस्तये ॥ ९ ॥ नृचक्षसो अनिमिषन्तो अर्हणा बृहद्देवासो अमृतत्वमानशुः । ज्योतीरथा अहिमाया अनागसो दिवो वर्ष्माणं वसते स्वस्तये ॥ १० ॥ सम्राजो ये सुवृधो यज्ञमाययुरपरिह्वृता दधिरे दिवि क्षयम् । ताँ आ विवास नमसा सुवृक्तिभिर्महो

आदित्याँ अदितिं स्वस्तये ॥ ११ ॥ को वः स्तोमं राधति यं जुजोषथ विश्वे देवासो मनुषो यतिष्ठन । को वोऽध्वरं तुविजाता अरं करद्यो नः पर्षदत्यंहः स्वस्तये ॥ १२ ॥ येभ्यो होत्रां प्रथमामायेजे मनुः समिद्धाग्निर्मनसा सप्त-होतृभिः । त आदित्या अभयं शर्म यच्छत सुगा नः कर्त सुपथा स्वस्तये ॥ १३ ॥ य ईशिरे भुवनस्य प्रचेतसो विश्वस्य स्थातुर्जगतश्च मन्तवः । ते नः कृतादकृतादेनसस्पर्यद्या देवासः पिपृता स्वस्तये ॥ १४ ॥ भरेष्विन्द्रं सुहवं हवामहेंऽहोमुचं सुकृतं दैव्यं जनम् । अग्निं मित्रं वरुणं सातये भगं द्यावापृथिवी मरुतः स्वस्तये ॥ १५ ॥ सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम् । दैवीं नावं स्वरित्रामनागसमस्रवन्तीमा रुहेमा स्वस्तये ॥ १६ ॥ विश्वे यजत्रा अधि वोचतोतये त्रायध्वं नो दुरेवाया अभिह्रुतः । सत्यया वो देवहूत्या हुवेम शृण्वतो देवा अवसे स्वस्तये ॥ १७ ॥ अपामीवामप विश्वामनाहुतिमपारातिं दुर्विदत्रामघायतः । आरे देवा द्वेषो अस्मद्युयोतनोरु णः शर्म यच्छता स्वस्तये ॥ १८ ॥ अरिष्टः स मर्तो विश्व एधते प्र प्रजाभिर्जायते धर्मणस्परि । यमादित्यासो नयथा सुनीतिभिरति विश्वानि दुरिता स्वस्तये ॥ १९ ॥ यं देवासोऽवथ वाजसातौ यं शूरसाता मरुतो हिते धने । प्रातर्यावाणं रथमिन्द्र सानसिमरिष्यन्तमा रुहेमा स्वस्तये ॥ २० ॥ स्वस्ति नः पथ्यासु धन्वसु स्वस्त्यप्सु वृजने स्वर्वति । स्वस्ति नः पुत्रकृथेषु योनिषु स्वस्ति राये मरुतो दधातन ॥ २१ ॥ स्वस्तिरिद्धि प्रपथे श्रेष्ठा रेक्णस्वत्यभि या वाममेति । सा नो अमा सो अरणे निपातु स्वावेशा भवतु देवगोपाः ॥ २२ ॥ ऋ० मं० १० । सू० ६३ ॥

इषे त्वोर्जे त्वा वायव स्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मण आप्यायध्वमघ्न्या इन्द्राय भागं प्रजावतीरनमीवा अयक्ष्मा मा वस्तेन ईशत माघशंसो ध्रुवा अस्मिन् गोपतौ स्यात बह्वीर्यजमानस्य पशून् पाहि ॥२३॥ यजु० अ० १ । मं० १ ॥

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतोऽदब्धासो अपरीतास उद्भिदः । देवा नो यथा सदमिद्वृधे असन्नप्रायुवो रक्षितारो दिवे दिवे ॥ २४ ॥ देवानां

भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां देवानांᳬरातिरभि नो निवर्त्तताम् । देवानांᳬसख्यमुपसेदिमा वयं देवा न आयुः प्रतिरन्तु जीवसे ॥ २५ ॥ तमीशानं जगतस्तस्थुषस्पतिं धियञ्जिन्वमवसे हूमहे वयम् । पूषा नो यथा वेदसामसद्वृधे रक्षिता पायुरदब्धः स्वस्तये ॥ २६ ॥ स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः । स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥ २७ ॥ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः । स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांᳬसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः ॥ २८ ॥ यजु० अ० २५ । मं० १४ । १५ । १८ । १९ । २१ ॥

अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये । नि होता सत्सि बर्हिषि ॥ २९ ॥ त्वमग्ने यज्ञानां होता विश्वेषां हितः । देवेभिर्मानुषे जने ॥ ३० ॥ सा० छन्द आ० प्रपा० १ । मंत्र १ । २ ॥

ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः । वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे ॥ ३१ ॥ अथर्व० कां० १ । अनु० १ । सू० १ । मं० १ ॥

इति स्वस्तिवाचनम्

अथ शान्तिप्रकरणम्

शन्न इन्द्राग्नी भवतामवोभिः शन्न इन्द्रावरुणा रातहव्या । शमिन्द्रासोमा सुविताय शं योः शन्न इन्द्रापूषणा वाजसातौ ॥ १ ॥ शन्नो भगः शमु नः शंसो अस्तु शन्नः पुरन्धिः शमु सन्तु रायः । शन्नः सत्यस्य सुयमस्य शंसः शन्नो अर्य्यमा पुरुजातो अस्तु ॥ २ ॥ शन्नो धाता शमु धर्त्ता नो अस्तु शन्न उरूची भवतु स्वधाभिः । शं रोदसी बृहती शं नो अद्रिः शं नो देवानां सुहवानि सन्तु ॥ ३ ॥ शन्नो अग्निर्ज्योतिरनीको अस्तु शन्नो मित्रावरुणावश्विना शम् । शन्नः सुकृतां सुकृतानि सन्तु शन्न इषिरो अभिवातु वातः ॥ ४ ॥ शन्नो द्यावापृथिवी पूर्वहूतौ शमन्तरिक्षं दृशये

नो अस्तु । शं न ओषधीर्वनिनो भवन्तु शं नो रजसस्पतिरस्तु जिष्णुः ॥ ५ ॥ शन्न इन्द्रो वसुभिर्देवो अस्तु शमादित्येभिर्वरुणः सुशंसः । शं नो रुद्रो रुद्रेभिर्जलाषः शं नस्त्वष्टा ग्नाभिरिह शृणोतु ॥ ६ ॥ शं नः सोमो भवतु ब्रह्म शं नः शं नो ग्रावाणः शमु सन्तु यज्ञाः । शं नः स्वरूणां मितयो भवन्तु शं नः प्रस्वः शम्वस्तु वेदिः ॥ ७ ॥ शं नः सूर्य उरुचक्षा उदेतु शं नश्चतस्रः प्रदिशो भवन्तु । शं नः पर्वता ध्रुवयो भवन्तु शं नः सिन्धवः शमु सन्त्वापः ॥ ८ ॥ शं नो अदितिर्भवतु व्रतेभिः शं नो भवन्तु मरुतः स्वर्काः । शं नो विष्णुः शमु पूषा नो अस्तु शं नो भवित्रं शम्वस्तु वायुः ॥ ९ ॥ शं नो देवः सविता त्रायमाणः शं नो भवन्तूषसो विभातीः । शं नः पर्जन्यो भवतु प्रजाभ्यः शं नः क्षेत्रस्य पतिरस्तु शम्भुः ॥ १० ॥ शं नो देवा विश्वदेवा भवन्तु शं सरस्वती सह धीभिरस्तु । शमभिषाचः शमु रातिषाचः शं नो दिव्याः पार्थिवाः शन्नो अप्याः ॥ ११ ॥ शं नः सत्यस्य पतयो भवन्तु शं नो अर्वन्तः शमु सन्तु गावः । शं न ऋभवः सुकृतः सुहस्ताः शं नो भवन्तु पितरो हवेषु ॥ १२ ॥ शं नो अज एकपाद्देवो अस्तु शं नोऽहिर्बुध्न्यः शं समुद्रः । शं नो अपां नपात्पेरुरस्तु शं नः पृश्निर्भवतु देवगोपाः ॥ १३ ॥ ऋ० मं० ७ । सू० ३५ । मं० १–१३ ॥

इन्द्रो विश्वस्य राजति । शं नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे ॥ १४ ॥ शन्नो वातः पवताᳬं शं नस्तपतु सूर्यः । शं नः कनिक्रदद्देवः पर्जन्यो अभि वर्षतु ॥ १५ ॥ अहानि शं भवन्तु नः शᳬं रात्रीः प्रतिधीयताम् । शं न इन्द्राग्नी भवतामवोभिः शं न इन्द्रा वरुणा रातहव्या । शं न इन्द्रापूषणा वाजसातौ शमिन्द्रासोमा सुविताय शं योः ॥ १६ ॥ शं नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये । शंय्योरभि स्रवन्तु नः ॥ १७ ॥ द्यौः शान्तिरन्तरिक्षᳬं शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः । वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वᳬं शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि ॥ १८ ॥ तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् । पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतᳬं शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः

स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ॥ १६ ॥ यजु० अ० ३६ । मं० ८ । १० । ११ १२ । १७ । २४ ॥

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति । दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकन्तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ २० ॥ येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः । यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ २१ ॥ यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु । यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ २२ ॥ येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्परिगृहीतममृतेन सर्वम् । येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ २३ ॥ यस्मिन्नृचः साम यजूंषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः यस्मिँश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ २४ ॥ सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ २५ ॥ यजु० अ० ३४ । मं० १–६ ॥

स नः पवस्व शं गवे शं जनाय शमर्वते । शं राजन्नोषधीभ्यः ॥२६॥ साम० उत्तरार्चिके० प्रपा० १ । मं० १ ॥

अभयं नः करत्यन्तरिक्षमभयं द्यावापृथिवी उभे इमे । अभयं पश्चादभयं पुरस्तादुत्तरादधरादभयं नो अस्तु ॥ २ ॥ अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं पुरो यः । अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु ॥ २८ ॥ अथर्व० कां० १६ । सू० १७ । मं० ५ । ६ ॥

इति शान्तिप्रकरणम् *

* इस स्वस्तिवाचन और शांतिप्रकरण को सर्वत्र जहां जहां प्रतीक धरें वहां वहां करना होगा ।

अथ सामान्यप्रकरणम्

नीचे लिखी हुई क्रिया सब संस्कारों में करना चाहिये । परन्तु जहां कहीं विशेष होगा वहां सूचना करदी जायगी कि यहां पूर्वोक्त अमुक कर्म न करना और इतना अधिक करना स्थान २ में जना दिया जायगा ॥

यज्ञदेश—यज्ञ का देश पवित्र अर्थात् जहां स्थल, वायु शुद्ध हो किसी प्रकार का उपद्रव न हो ॥

यज्ञशाला—इसी को यज्ञमण्डप भी कहते हैं यह अधिक से अधिक १६ (सोलह) हाथ सम-चौरस चौकोण और न्यून से न्यून ८ (आठ) हाथ की हो यदि भूमि अशुद्ध हो तो यज्ञशाला की पृथिवी और जितनी गहरी वेदी बनानी हो उतनी पृथिवी दो २ हाथ खोद अशुद्ध निकालकर उसमें शुद्ध मिट्टी भरें यदि १६ (सोलह) हाथ की समचौरस हो तो चारों ओर २० (बीस) खम्भे और जो ८ (आठ) हाथ की हो तो बारह खम्भे लगाकर उन पर छाया करें वह छाया की छत्त वेदी की मेखला से १० (दश) हाथ ऊंची अवश्य होवे और यज्ञशाला के चारों दिशा में ४ द्वार रक्खें और यज्ञशाला के चारों ओर ध्वजा पताका पल्लव आदि बांधें नित्य मार्जन तथा गोमय से लेपन करें और कुंकुम हलदी मैदा की रेखाओं से सुभूषित किया करें । मनुष्यों को योग्य है कि सब मङ्गल-कार्यों में अपने और पराये कल्याण के लिये यज्ञद्वारा ईश्वरोपासना करें । इसलिये निम्नलिखित सुगन्धित आदि द्रव्यों की आहुति यज्ञकुण्ड में देवें ॥

यज्ञकुण्ड का परिमाण

जो ल आहुति करनी हों तो चार २ हाथ का चारों ओर सम-चौरस चौकोण कुण्ड ऊपर और उतना ही गहिरा और चतुर्थांश नीचे अर्थात् तले में १ (एक) हाथ चौकोण लम्बा चौड़ा रहै । इसी प्रकार जितनी आहुति करनी हों उतना ही गहिरा चौड़ा कुण्ड बनाना परन्तु अधिक आहुतियों में दो २ हाथ अर्थात् दो लक्ष आहुतियों में छः हस्त परिमाण का चौड़ा और सम-

चौरस कुण्ड बनाना और जो पचास हज़ार आहुति देनी हों तो एक हाथ घटावे अर्थात् तीन हाथ गहिरा चौड़ा सम-चौरस और पौन हाथ नीचे तथा पच्चीस हज़ार आहुति देनी हों तो दो हाथ चौड़ा गहिरा सम-चौरस और आध हाथ नीचे, दश हज़ार आहुति तक इतना ही अर्थात् दो हाथ चौड़ा गहिरा सम-चौरस और आध हाथ नीचे रखना, पांच हज़ार आहुति तक डेढ़ हाथ चौड़ा गहिरा सम-चौरस और साढ़े आठ अंगुल नीचे रहे। यह कुण्ड का परिमाण विशेष घृताहुति का है, यदि इसमें २५०० (ढाई हज़ार) आहुति मोहनभोग खीर और २५०० (ढाई हज़ार) घृत की देवे तो दो ही हाथ का चौड़ा गहिरा सम-चौरस और आध हाथ नीचे कुण्ड रक्खे, चाहे घृत की हज़ार आहुति देनी हों तथापि सवा हाथ से न्यून चौड़ा गहिरा सम-चौरस और चतुर्थांश नीचे न बनावे और इन कुण्डों में १५ (पन्द्रह) अंगुल की मेखला अर्थात् पांच २ अंगुल की ऊंची ३ (तीन) बनावे। और ये तीन मेखला यज्ञशाला की भूमि के तले से ऊपर करनी प्रथम पांच अंगुल ऊंची और पांच अंगुल चौड़ी इसी प्रकार दूसरी और तीसरी मेखला बनावें॥

यज्ञसमिधा

पलाश, शमी, पीपल, बड़, गूलर, आम, बिल्व आदि की समिधा वेदी के प्रमाणे छोटी बड़ी कटवा लेवें। परन्तु ये समिधा कीड़ा लगीं, मलिनदेशोत्पन्न और अपवित्र पदार्थ आदि से दूषित न हों अच्छे प्रकार देख लेवें और चारों ओर बराबर कर बीच में चुनें।

होम के द्रव्य चार प्रकार

(प्रथम—सुगन्धित) कस्तूरी, केशर, अगर, तगर, श्वेत चन्दन, इलायची, जायफल, जावित्री आदि (द्वितीय—पुष्टिकारक) घृत, दूध, फल, कन्द, अन्न, चावल, गेहूं, उड़द आदि (तीसरे—मिष्ट) शक्कर, सहत, छुवारे, दाख आदि (चौथे—रोगनाशक) सोमलता अर्थात् गिलोय आदि ओषधियां॥

स्थालीपाक

नीचे लिखे विधि से भात, खिचड़ी, खीर, लड्डू, मोहनभोग आदि सब उत्तम पदार्थ बनावे । इसका प्रमाणः—

ओ३म् देवस्त्वा सविता पुनात्वच्छिद्रेण वसोः पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः ॥

इस मन्त्र का यह अभिप्राय है कि होम के सब द्रव्य को यथावत् शुद्ध करलेना अवश्य चाहिये अर्थात् सब को यथावत् शोध, छान, देख, भाल सुधार कर करें इन द्रव्यों को यथायोग्य मिला के पाक करना । जैसे कि सेर भर मिश्री के मोहनभोग में रत्ती भर कस्तूरी, मासे भर केशर, दो मासे जायफल, जावित्री, सेर भर मीठा सब डाल कर, मोहनभोग बनाना इसी प्रकार अन्य—मीठा भात, खीर, खिचड़ी, मोदक आदि होम के लिये बनावें । चरु अर्थात् होम के लिये पाक बनाने की विधि (ओं अग्नये त्वा जुष्टं निर्वपामि) अर्थात् जितनी आहुति देनी हों प्रत्येक आहुति के लिये चार २ मूठी चावल आदि ले के (ओं अग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षामि) अर्थात् अच्छे प्रकार जल से धोके पाकस्थाली में डाल अग्नि से पका लेवे । जब होम के लिये दूसरे पात्र में लेना हो तभी नीचे लिखी आज्यस्थाली वा शाकल्यस्थाली में निकाल के यथावत् सुरक्षित रक्खें और उस पर घृत सेचन करें ॥

यज्ञपात्र

विशेष कर चांदी अथवा काष्ठ के पात्र होने चाहियें निम्नलिखित प्रमाणेः—

अथ पात्रलक्षणान्युच्यन्ते

बाहुमात्र्यः पाणिमात्रपुष्कराः । षडङ्गुलखातास्त्वग्बिलाहंसमुखप्रसेकाः । मूलदण्डाश्चतस्रः स्रुचो भवन्ति । तत्र पालाशी जुहूः । आश्वत्थ्युपभृत् । वैकङ्कती ध्रुवा । अग्निहोत्रहवणी च । अरत्निमात्रः खादिरः स्रुवः । अङ्गुष्ठपर्वमात्रपुष्करः । तथाविधो द्वितीयो वैकङ्कतः स्रुवः । वारणं

बाहुमात्रं मकराकारमग्निहोत्रहवणीनिधानार्थं कूर्चम् । अरत्निमात्रं खादिरं खड्गाकृति वज्रम् । वारणान्यहोमसंयुक्तानि । तत्रोलूखलं नाभिमात्रम् । मुसलं शिरोमात्रम् । अथवा मुसलोलूखले वार्क्षे सारदारुमये शुभे इच्छाप्रमाणे भवतः । तथा—खादिरं मुसलं कार्यं पालाशः स्यादुलूखलः । यद्वाभौ वारणौ कार्यौ तदभावेऽन्यवृक्षजौ ॥ शूर्पं वैणवमेव वा । ऐशीकं नलमयं वाऽचर्मबद्धम् । प्रादेशमात्री वारणी शम्या । कृष्णाजिनमखण्डम् । दृषदुपले अश्ममये । वारणीं २४ हस्तमात्रीं २२ अरत्निमात्रीं वा खातमध्यां मध्यसंगृहीतामिडापात्रीम् । अरत्निमात्राणि ब्रह्मयजमानहोतृपत्न्यासनानि । मुञ्जमयं त्रिवृतं व्याममात्रं योक्त्रम् । प्रादेशदीर्घे अष्टाङ्गुलायते षडङ्गुलखातमण्डलमध्ये पुरोडाशपात्र्यौ । प्रादेशमात्रं द्व्यङ्गुलपरिणाहन्तीक्ष्णाग्रं श्रितावदानम् । आदर्शाकारे चतुरस्रे वा प्राशित्रहरणे । तयोरेकमीषत्खातमध्यम् । षडङ्गुलकङ्कतकाकारमुभयतः खातं षडवदात्तम् । द्वादशाङ्गुलमर्द्धचन्द्राकारमष्टाङ्गुलोत्सेधमन्तर्द्धानकटम् । उपवेशोऽरत्निमात्रः । मुञ्जमयी रज्जुः । खादिरान् द्वादशाङ्गुलदीर्घान् चतुरङ्गुलमस्तकान् तीक्ष्णाग्रान् शङ्कून् । यजमानपूर्णपात्रं पत्नीपूर्णपात्रं च द्वादशाङ्गुलदीर्घं चतुरङ्गुलविस्तारं चतुरङ्गुलखातम् । तथा प्रणीतापात्रञ्च । आज्यस्थाली द्वादशाङ्गुलविस्तृता प्रादेशोच्चा । तथैव चरुस्थाली । अन्वाहार्यपात्रं पुरुषचतुष्टयाहारपाकपर्याप्तं समिदिध्मार्थं पलाशशाखामयं कौशं बर्हिः । ऋत्विग्वरणार्थं कुण्डलाङ्गुलीयकवासांसि । पत्नीयजमानपरिधानार्थं क्षौमवासश्चतुष्टयम् । अग्न्याधेयदक्षिणार्थं चतुर्विंशतिपक्षे एकोनपञ्चाशद् गावः । द्वादशपक्षे पञ्चविंशतिः । षट्पक्षे त्रयोदश, सर्वेषु पक्षेषु आदित्येऽष्टौ धेनवः । वरार्थं चतस्रो गावः ॥

समिध पलाश की १८ हस्त ३ इध्म परिधि ३ पलाश की बाहुमात्र सामिधेनी समित् प्रादेशमात्र समीक्षण लेर ५ शाठी १ दशाङ्गुपल १ दीर्घ अङ्गुल १२ पृ० १५ उपल अ० ६ नेतु व्यास हाथ ४ त्रिवृत्तृण वा गोवाल का ॥

स्रुवः ४ अंगुल २४ शम्याप्रादेश १ स्रुच् सर्व ४ बाहुमात्र

शृतावदान प्रादेशमात्र कूर्च बाहुमात्र १ उलूखल नाभिमात्र मुसल

अन्तर्धान १ अं० १२ खांडा अंगुल २४ पाटला ४ लम्बा २४ अंगुल

उपवेश १ अं० २४ पूर्णपात्र अं० १२ चौड़ा अंगुल ६ अग्नि० १ अं० २४

अथ ऋत्विग्वरणम्

यजमानोक्तिः—'ओमावसोः सदने सीद' इस मन्त्र का उच्चारण करके ऋत्विज् को कर्म कराने की इच्छा से स्वीकार करने के लिये प्रार्थना करे। ऋत्विगुक्तिः—'ओं सीदामि' ऐसा कह के जो उसके लिये आसन बिछाया हो उस पर बैठे, यजमानोक्तिः—'अहमद्योक्तकर्मकरणाय भवन्तं वृणे' ऋत्विगुक्तिः—'वृतोऽस्मि'। ऋत्विजों का लक्षण—अच्छे विद्वान् धार्मिक जितेन्द्रिय कर्म करने में कुशल निर्लोभ परोपकारी दुर्व्यसनों से रहित कुलीन सुशील वैदिक मत वाले वेदवित् एक दो तीन अथवा चार का वरण करें, जो एक हो तो उसका पुरोहित और जो दो हों तो ऋत्विक् पुरोहित और तीन हों तो ऋत्विक् पुरोहित और अध्यक्ष और जो चार हों तो होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा, इनका आसन वेदी के चारों ओर अर्थात् होता का वेदी से पश्चिम आसन पूर्व मुख, अध्वर्यु का उत्तर आसन दक्षिण मुख, उद्गाता का पूर्व आसन पश्चिम मुख और ब्रह्मा का दक्षिण आसन उत्तर में मुख होना चाहिये और यजमान का आसन पश्चिम में और वह पूर्वाभिमुख अथवा दक्षिण में आसन पर बैठ के उत्तराभिमुख रहे और इन ऋत्विजों को सत्कारपूर्वक आसन पर बैठाना और ये प्रसन्नतापूर्वक आसन पर बैठें और उपस्थित कर्म के विना दूसरा कर्म वा दूसरी बात कोई भी न करें और अपने २ जलपात्र से सब जने जोकि यज्ञ करने को बैठे हों वे इन मन्त्रों से तीन २ आचमन करें अर्थात् एक २ से एक २ वार आचमन करें वे मन्त्र यह हैं:—

ओं अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा ॥ १ ॥ इससे एक,
ओं अमृतापिधानमसि स्वाहा ॥ २ ॥ इससे दूसरा,
ओं सत्यं यशः श्रीर्मयि श्रीः श्रयतां स्वाहा ॥ ३ ॥ तैत्तरी० प्र० १० । अनु० ३२–३५ ॥

इससे तीसरा आचमन करके तत्पश्चात् नीचे लिखे मन्त्रों से जल करके अङ्गों का स्पर्श करें—

ओं वाङ्मऽआस्येऽस्तु ॥ इस मन्त्र से मुख,

ओं नसोर्मे प्राणोऽस्तु ॥ इस मन्त्र से नासिका के दोनों छिद्र,

ओं अक्ष्णोर्मे चक्षुरस्तु ॥ इस मन्त्र से दोनों आंखें,

ओं कर्णयोर्मे श्रोत्रमस्तु ॥ इस मन्त्र से दोनों कान,

ओं बाह्वोर्मे बलमस्तु ॥ इस मन्त्र से दोनों बाहु,

ओं ऊर्वोर्मऽओजोऽस्तु ॥ इस मन्त्र से दोनों जंघा और—

ओं अरिष्टानि मेऽङ्गानि तनूस्तन्वा मे सह सन्तु ॥ पारस्कर गृ० कण्डिका ३ । सू० २५ ॥

इस मन्त्र से दाहिने हाथ से जल स्पर्श करके मार्जन करना, पूर्वोक्त समिधाचयन वेदी में करें पुनः—

ओं भूर्भुवः स्वः ॥ गोभिल गृ० प्र० १ । खं० १ । सू० ११ ॥

इस मन्त्र का उच्चारण करके ब्राह्मण, क्षत्रिय वा वैश्य के घर से अग्नि ला अथवा घृत का दीपक जला उससे कपूर में लगा किसी एक पात्र में धर उस में छोटी २ लकड़ी लगा के यजमान वा पुरोहित उस पात्र को दोनों हाथों से उठा यदि गर्म हो तो चिमटे से पकड़ कर अगले मन्त्र से अग्न्याधान करे वह मन्त्र यह है:—

ओं भूर्भुवः स्वर्द्यौरिव भूम्ना पृथिवीव वरिम्णा ।
तस्यास्ते पृथिवि देवयजनि पृष्ठेऽग्निमन्नादमन्नाद्यायादधे ॥ १ ॥
यजु० अ० ३ । मं० ५ ॥

इस मन्त्र से वेदी के बीच में अग्नि को धर उस पर छोटे २ काष्ठ और थोड़ा कपूर धर अगला मन्त्र पढ़ के व्यजन से अग्नि को प्रदीप्त करे ।

ओं उद्बुध्यस्वाग्ने प्रति जागृहि त्वमिष्टापूर्ते सꣳसृजेथामयं च ।
अस्मिन्त्सधस्थे अध्युत्तरस्मिन् विश्वेदेवा यजमानश्च सीदत ॥
यजु० अ० १५ । मं० ५४ ॥

जब अग्नि समिधाओं में प्रविष्ट होने लगे तब चन्दन की अथवा ऊपर लिखित पलाशादि की तीन लकड़ी आठ २ अंगुल की घृत में डुबा उनमें से एक २ नीचे लिखे एक २ मन्त्र से एक २ समिधा को अग्नि में चढ़ावें। वे मन्त्र ये हैं:—

ओं अयन्त इध्म आत्मा जातवेदस्तेनेध्यस्व वर्द्धस्व चेद्ध वर्धय चास्मान् प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन समेधय स्वाहा ॥ इदमग्नये जातवेदसे-इदन्न मम ॥ १ ॥

ओं समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्। आस्मिन् हव्या जुहोतन स्वाहा ॥ इदमग्नये-इदन्न मम ॥ २ ॥ इससे और

सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं तीव्रं जुहोतन। अग्नये जातवेदसे स्वाहा ॥ इदमग्नये जातवेदसे-इदन्न मम ॥ ३ ॥

इस मन्त्र से अर्थात् दोनों मन्त्रों से दूसरी

तन्त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्द्धयामसि। बृहच्छोचा यविष्ठ्य स्वाहा ॥ इदमग्नयेऽङ्गिरसे-इदन्न मम ॥ ४ ॥ यजु० अ० ३। मं० १। २। ३ ॥

इस मन्त्र से तीसरी समिधा की आहुति देवे।

इन मन्त्रों से समिदाधान करके होम का शाकल्य जो कि यथावत् विधि से बनाया हो, सुवर्ण, चाँदी, कांसा आदि धातु के पात्र अथवा काष्ठपात्र में वेदी के पास सुरक्षित धरें पश्चात् उपरिलिखित घृतादि जो कि उष्ण कर छान पूर्वोक्त सुगन्ध्यादि पदार्थ मिलाकर पात्रों में रक्खा हो, उस (घृत वा अन्य मोहनभोगादि जो कुछ सामग्री हो) में से कम से कम ६ मासा भर अधिक से अधिक छटांक भर की आहुति देवे यही आहुति का प्रमाण है। उस घृत में से चमसा, कि जिस में छः मासा ही घृत आवे ऐसा बनाया हो, भर के नीचे लिखे मन्त्र से पांच आहुति देनी ॥

ओम् अयन्त इध्म आत्मा जातवेदस्तेनेध्यस्व वर्धस्व चेद्ध वर्द्धय चास्मान् प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन समेधय स्वाहा ॥ इदमग्नये जातवेदसे–इदन्न मम ॥ १ ॥

तत्पश्चात् अञ्जलि में जल लेके वेदी के पूर्व दिशा आदि चारों ओर छिड़कावे उसके ये मन्त्र हैं:—

ओम् अदितेऽनुमन्यस्व ॥ इस मन्त्र से पूर्व,
ओम् अनुमतेऽनुमन्यस्व ॥ इससे पश्चिम,
ओं सरस्वत्यनुमन्यस्व ॥ इससे उत्तर और
गोभिल गृ० प्र० खं० ३ । सू० १–३ ॥

ओं देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय । दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतन्नः पुनातु वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु ॥ यजु० अ० ३० । मं० १ ॥

इस मन्त्र से वेदी के चारों ओर जल छिड़कावे इस के पश्चात् सामान्य होमाहुति गर्भाधानादि प्रधान संस्कारों में अवश्य करें इस में मुख्य होम के आदि और अन्त में जो आहुति दी जाती है उनमें से यज्ञकुण्ड के उत्तर भाग में जो एक आहुति और यज्ञकुण्ड के दक्षिण भाग में दूसरी आहुति देनी होती है उसका नाम "आघारावाज्याहुति" कहते हैं और जो कुण्ड के मध्य में आहुतियां दी जाती हैं उनको "आज्यभागाहुति" कहते हैं सो घृतपात्र में से स्रुवा को भर अंगूठा मध्यमा अनामिका से स्रुवा को पकड़ के—

ओम् अग्नये स्वाहा ॥ इदमग्नये–इदन्न मम ॥
इस मन्त्र से वेदी के उत्तर भाग अग्नि में,

ओं सोमाय स्वाहा ॥ इदं सोमाय–इदन्न मम ॥
गो० गृ० प्र० १ । खं० ८ । सू० २४ ॥

इस मन्त्र से वेदी के दक्षिण भाग में प्रज्वलित समिधा पर आहुति देनी, तत्पश्चात्

ओं प्रजापतये स्वाहा ॥ इदं प्रजापतये-इदन्न मम ॥
ओम् इन्द्राय स्वाहा ॥ इदमिन्द्राय-इदन्न मम ॥

इन दोनों मन्त्रों से वेदी के मध्य में दो आहुति देनी उसके पश्चात् चार आहुति अर्थात् आघारावाज्यभागाहुति देके जब प्रधान होम अर्थात् जिस २ कर्म में जितना २ होम करना हो, करके पश्चात् पूर्णाहुति पूर्वोक्त चार (आघा-रावाज्यभागा०) देवें पुनः शुद्ध किये हुए उसी घृतपात्र में से स्रुवा को भर के प्रज्वलित समिधाओं पर व्याहृति की चार आहुति देवें ॥

ओं भूरग्नये स्वाहा ॥ इदमग्नये-इदन्न मम ॥
ओं भुवर्वायवे स्वाहा ॥ इदं वायवे-इदन्न मम ॥
ओं स्वरादित्याय स्वाहा ॥ इदमादित्याय-इदन्न मम ॥
ओं भूर्भुवः स्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः स्वाहा ॥ इदमग्निवाय्वादित्येभ्यः-इदन्न मम ॥

ये चार घी की आहुति देकर स्विष्टकृत होमाहुति एक ही है यह घृत अथवा भात की देनी चाहिये उस का मन्त्रः—

ओं यदस्य कर्मणोऽत्यरीरिचं यद्वा न्यूनमिहाकरम् । अग्निष्टत्स्विष्टकृद्वि-द्यात्सर्वं स्विष्टं सुहुतं करोतु मे । अग्नये स्विष्टकृते सुहुतहुते सर्वप्रायश्चित्ताहु-तीनां कामानां समर्द्धयित्रे सर्वान्नः कामान्त्समर्द्धय स्वाहा ॥ इदमग्नये स्विष्ट-कृते-इदन्न मम ॥ शतपथ कं० १४ । ९ । ४ । २४ ॥

इससे एक आहुति करके प्राजापत्याहुति करे नीचे लिखे मन्त्र को मन में बोल के देनी चाहिये ॥

ओं प्रजापतये स्वाहा ॥ इदं प्रजापतये-इदन्न मम ॥

इस से मौन करके एक आहुति देकर चार आज्याहुति घृत की देवे परन्तु जो नीचे लिखी आहुति चौल, समावर्त्तन और विवाह में मुख्य हैं वे चार मंत्र ये हैं:—

ओं भूर्भुवः स्वः । अग्न आयूंषि पवस आ सुवोर्ज्जमिषं च नः । आरे बाधस्व दुच्छुनां स्वाहा ॥ इदमग्नये पवमानाय–इदन्न मम ॥ १ ॥ ओं भूर्भुवः स्वः । अग्निर्ऋषिः पवमानः पाञ्चजन्यः पुरोहितः । तमीमहे महागयं स्वाहा ॥ इदमग्नये पवमानाय–इदन्न मम ॥ २ ॥ ओं भूर्भुवः स्वः । अग्ने पवस्व स्वपा अस्मे वर्चः सुवीर्यम् । दधद्रयिं मयि पोषं स्वाहा ॥ इदमग्नये पवमानाय–इदन्न मम ॥ ३ ॥ ऋ० मं० ९ । सू० ६६ । मं० १९ । २० । २१ ॥

ओं भूर्भुवः स्वः । प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव । यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणां स्वाहा ॥ इदं प्रजापतये–इदन्न मम ॥ ४ ॥ ऋ० मं० १० । सू० १२१ । मं० १० ॥

इनसे घृत की चार आहुति करके "अष्टाज्याहुति" ये निम्नलिखित मन्त्रों से सर्वत्र मङ्गलकार्यों में ८ (आठ) आहुति देवें परन्तु किस २ संस्कार में कहां २ देनी चाहियें यह विशेष बात उस २ संस्कार में लिखेंगे वे आठ आहुति-मन्त्र ये हैं ॥

ओं त्वन्नो अग्ने वरुणस्य विद्वान् देवस्य हेळोऽव यासिसीष्ठाः । यजिष्ठो वह्नितमः शोशुचानो विश्वा द्वेषांसि प्र मुमुग्ध्यस्मत् स्वाहा ॥ इदमग्नीवरुणाभ्याम् इदन्न मम ॥ १ ॥ ओं स त्वन्नो अग्नेऽवमो भवोती नेदिष्ठो अस्या उषसो व्युष्टौ । अव यक्ष्व नो वरुणं रराणो वीहि मृळीकं सुहवो न एधि स्वाहा । इदमग्निवरुणाभ्याम्–इदन्न मम ॥ २ ॥ ऋ० मं० ४ । सू० १ । मं० ४ । ५ ॥

ओं इमं मे वरुण श्रुधी हवमद्या च मृळय । त्वामवस्युरा चके स्वाहा ॥ इदं वरुणाय–इदन्न मम ॥ ३ ॥ ऋ० मं० १ । सू० २५ । मं० १९ ॥

ओं तत्त्वा यामि ब्रह्मणा वन्दमानस्तदाशास्ते यजमानो हविर्भिः। अहेळमानो वरुणेह बोध्युरुशंस मा न आयुः प्र मोषीः स्वाहा॥ इदं वरुणाय—इदन्न मम॥ ऋ० मं० १। सू० २४। मं० ११॥

ओं ये ते शतं वरुण ये सहस्रं यज्ञियाः पाशा वितता महान्तः। तेभिर्नोऽअद्य सवितोत विष्णुर्विश्वे मुञ्चन्तु मरुतः स्वर्काः स्वाहा॥ इदं वरुणाय सवित्रे विष्णवे विश्वेभ्यो देवेभ्यो मरुद्भ्यः स्वर्केभ्यः—इदन्न मम॥ ५॥ ओं अयाश्चाग्नेऽस्यनभिशस्तिपाश्च सत्यमित्त्वमयासि। अया नो यज्ञं वहास्यया नो धेहि भेषजꣳ स्वाहा॥ इदमग्नये अयसे—इदन्न मम॥ ६॥ कात्या० २५—११॥ ओं उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं विमध्यमं श्रथाय। अथा वयमादित्य व्रते तवानागसोऽअदितये स्याम स्वाहा॥ इदं वरुणायाऽऽदित्यायाऽदितये च—इदन्न मम॥ ऋ० मं० १। सू० २४। मं० १५॥

ओं भवतन्नः स मनसौ सचेतसावरेपसौ। मा यज्ञꣳ हिꣳसिष्टं मा यज्ञपतिं जातवेदसौ शिवौ भवतमद्य नः स्वाहा॥ इदं जातवेदोभ्याम्—इदन्न मम॥ यजु० अ० ५। मं० ३॥

सब संस्कारों में मधुर स्वर से मन्त्रोच्चारण यजमान ही करे, न शीघ्र न विलम्ब से उच्चारण करे किन्तु मध्य भाग जैसा कि जिस वेद का उच्चारण है करे यदि यजमान न पढ़ा हो तो इतने मन्त्र तो अवश्य पढ़ लेवे यदि कोई कार्यकर्ता जड़ मंदमति काला अक्षर भैंस बराबर जानता हो तो वह शूद्र है अर्थात् शूद्र मन्त्रोच्चारण में असमर्थ हो तो पुरोहित और ऋत्विज् मन्त्रोच्चारण करे और कर्म उसी मूढ़ यजमान के हाथ से करावे पुनः निम्नलिखित मन्त्र से पूर्णाहुति करे स्रुवा को घृत से भर के—

ओं सर्वं वै पूर्णꣳ स्वाहा॥

इस मन्त्र से एक आहुति देवे ऐसे दूसरी और तीसरी आहुति देके जिसको दक्षिणा देनी हो देवे वा जिसको जिमाना हो जिमा, दक्षिणा देके सब को विदा कर स्त्री पुरुष हुतशेष घृत, भात वा मोहनभोग को प्रथम जीम के पश्चात् रुचिपूर्वक उत्तमान्न का भोजन करें॥

मङ्गलकार्य

अर्थात् गर्भाधानादि संन्यास संस्कार पर्यन्त पूर्वोक्त और निम्नलिखित सामवेदोक्त वामदेव्यगान अवश्य करें वे मन्त्र ये हैं ॥

ओं भूर्भुवः स्वः । कया नश्चित्र आभुवदूती सदावृधः सखा । । कया शचिष्ठया वृता ॥ १ ॥ ओं भूर्भुवः स्वः । कस्त्वा सत्यामदानां मंहिष्ठो मत्स-दन्धसः । दृढा चिदारुजे वसु ॥ २ ॥ ओं भूर्भुवः स्वः । अभीषुणः सखी-नामविता जरितॄणाम् । शतम्भवास्यूतये ॥ ३ ॥ महावामदेव्यम् ॥ काऽ५या । नश्चा३ इत्रा३ आभुवात् । ऊ । ती सदावृधः सखा । औ३ होहाई । कया२३ शचाई । ष्ठयौहो३ हुम्मा २ । वा२र्तो३ऽ५हाइ ॥ (१) ॥ काऽ५स्त्वा । सत्यो३मा३दानाम्३ । मं । हिष्ठोमात्सादन्धः । सा । औ३होहाइ । दृढा२३ चिदा । रुजौहो३ । हुम्मा२ । वाऽ३सो३ऽ५हायि ॥ (२) आऽ५भी । षुणा३ः सा३खीनाम् । आ । विता जरायितॄ । णाम् । औ२३ हो हायि । शता२३ म्भवा । सियौहो३ । हुम्मा २ । ताऽ२ यो३ऽ५हायि ॥ (३) ॥ साम० उत्तरार्चिके । अध्याये १ । खं० ३ । मं० १ । २ । ३ ॥

यह वामदेव्यगान होने के पश्चात् गृहस्थ स्त्री पुरुष कार्यकर्त्ता सद्धर्मी लोक-प्रिय परोपकारी सज्जन विद्वान् वा त्यागी पक्षपातरहित संन्यासी जो सदा विद्या की वृद्धि और सब के कल्याणार्थ वर्त्तनेवाले हों उनको नमस्कार, आसन, अन्न, जल, वस्त्र, पात्र, धन आदि के दान से उत्तम प्रकार से यथासामर्थ्य सत्कार करें पश्चात् जो कोई देखने ही के लिये आये हों उनको भी सत्कारपूर्वक विदा करदें अथवा जो संस्कार क्रिया को देखना चाहें वे पृथक् २ मौन करके बैठे रहें कोई बात चीत हल्ला गुल्ला न करने पावें सब लोग ध्यानावस्थित प्रसन्नवदन रहें विशेष कर्मकर्त्ता और कर्म करानेवाले शान्ति धीरज और विचारपूर्वक, क्रम से कर्म करें और करावें ॥ यह सामान्यविधि अर्थात् सब संस्कारों में कर्त्तव्य है ॥

इति सामान्यप्रकरणम्

अथ गर्भाधानविधिं वक्ष्यामः

निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः ।
मनुस्मृति द्वितीयाध्याये श्लोक १६ ॥

अर्थः—मनुष्यों के शरीर और आत्मा के उत्तम होने के लिये निषेक अर्थात् गर्भाधान से लेके श्मशानान्त अर्थात् अन्त्येष्टि मृत्यु के पश्चात् मृतक शरीर का विधिपूर्वक दाह करने पर्यन्त १६ संस्कार होते हैं शरीर का आरम्भ गर्भाधान और शरीर का अन्त भस्म कर देने तक सोलह प्रकार के उत्तम संस्कार करने होते हैं उनमें से प्रथम गर्भाधान संस्कार है ॥

गर्भाधान उसको कहते हैं कि जो "गर्भस्याऽऽधानं वीर्यस्थापनं स्थिरीकरणं यस्मिन्येन वा कर्मणा तद् गर्भाधानम्" गर्भ का धारण अर्थात् वीर्य का स्थापन गर्भाशय में स्थिर करना जिससे होता है । जैसे बीज और क्षेत्र के उत्तम होने से अन्नादि पदार्थ भी उत्तम होते हैं वैसे उत्तम बलवान् स्त्री पुरुषों से सन्तान भी उत्तम होते हैं । इससे पूर्णयुवावस्था यथावत् ब्रह्मचर्य का पालन और विद्याभ्यास करके अर्थात् न्यून से न्यून १६ (सोलह) वर्ष की कन्या और २५ (पच्चीस) वर्ष का पुरुष अवश्य हो और इससे अधिक वयवाले होने से अधिक उत्तमता होती है क्योंकि विना सोलहवें वर्ष के गर्भाशय में बालक के शरीर को यथावत् बढ़ने के लिये अवकाश और गर्भ के धारण पोषण का सामर्थ्य कभी नहीं होता और २५ (पच्चीस) वर्ष के विना पुरुष का वीर्य भी उत्तम नहीं होता, इसमें यह प्रमाण है ॥

पञ्चविंशे ततो वर्षे पुमान्नारी तु षोडशे ॥
समत्वागतवीर्यौ तौ जानीयात् कुशलो भिषक् ॥ १ ॥
सुश्रुते सूत्रस्थाने । अध्याय ३५ ॥

ऊनषोडशवर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम् ।
यद्याधत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थः स विपद्यते ॥ १ ॥
जातो वा न चिरं जीवेज्जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रियः ।
तस्मादत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत् ॥ २ ॥
सुश्रुते शारीरस्थाने अ० १० ॥

ये सुश्रुत के श्लोक हैं शरीर की उन्नति वा अवनति की विधि जैसी वैद्यक शास्त्र में है वैसी अन्यत्र नहीं जो उसका मूल विधान है आगे वेदारम्भ में लिखा जायगा अर्थात् किस २ वर्ष में कौन २ धातु किस २ प्रकार का कच्चा वा पक्का वृद्धि वा क्षय को प्राप्त होता है यह सब वैद्यक शास्त्र में विधान है इसलिये गर्भाधानादि संस्कारों के करने में वैद्यकशास्त्र का आश्रय विशेष लेना चाहिये अब देखिये सुश्रुतकार परमवैद्य कि जिनका प्रमाण सब विद्वान् लोग मानते हैं वे विवाह और गर्भाधान का समय न्यून से न्यून १६ वर्ष की कन्या और पचीस वर्ष का पुरुष अवश्य होवे यह लिखते हैं जितना सामर्थ्य २५ (पचीसवें) वर्ष में पुरुष के शरीर में होता है उतना ही सामर्थ्य १६ (सोलहवें) वर्ष में कन्या के शरीर में हो जाता है इसलिये वैद्य लोग पूर्वोक्त अवस्था में दोनों को समवीर्य अर्थात् तुल्य सामर्थ्यवाले जानें ॥ १ ॥ सोलह वर्ष से न्यून अवस्था की स्त्री में २५ (पचीस) वर्ष से कम अवस्था का पुरुष यदि गर्भाधान करता है तो वह गर्भ उदर में ही बिगड़ जाता है ॥ २ ॥ और जो उत्पन्न भी हो तो अधिक नहीं जीवे अथवा कदाचित् जीवे भी तो उसके अत्यन्त दुर्बल शरीर और इन्द्रिय हों इसलिये अत्यन्त बाला अर्थात् सोलह वर्ष की अवस्था से कम अवस्था की स्त्री में कभी गर्भाधान नहीं करना चाहिये ॥

चतस्रोऽवस्थाः शरीरस्य वृद्धिर्यौवनं संपूर्णता किञ्चित्परिहाणिश्चेति । आषोडशाद् वृद्धिराचतुर्विंशतेर्यौवनमाचत्वारिंशतः सम्पूर्णता ततः किञ्चित्परिहाणिश्चेति ॥

अर्थः—सोलहवें वर्ष से आगे मनुष्य के शरीर के सब धातुओं की वृद्धि

और पच्चीसवें वर्ष से युवावस्था का आरम्भ, चालीसवें वर्ष में युवावस्था की पूर्णता अर्थात् सब धातुओं की पूर्णपुष्टि और उससे आगे किंचित् २ धातु वीर्य की हानि होती है अर्थात् ४० (चालीसवें) वर्ष सब अवयव पूर्ण होजाते हैं पुनः खानपान से जो उत्पन्न वीर्य धातु होता है वह कुछ २ क्षीण होने लगता है इससे यह सिद्ध होता है कि यदि शीघ्र विवाह करना चाहें तो कन्या १६ (सोलह) वर्ष की और पुरुष २५ (पच्चीस) वर्ष का अवश्य होना चाहिये मध्यम समय कन्या का २० (बीस) वर्ष पर्यन्त और पुरुष का ४० (चालीसवां) वर्ष और उत्तम समय कन्या का चौबीस वर्ष और पुरुष का अड़तालीस वर्ष पर्यन्त का है जो अपने कुल की उत्तमता उत्तम सन्तान दीर्घायु सुशील बुद्धि बल पराक्रमयुक्त विद्वान् और श्रीमान् करना चाहें वे १६ (सोलहवें) वर्ष से पूर्व कन्या और २५ (पच्चीसवें) वर्ष से पूर्व पुत्र का विवाह कभी न करें यही सब सुधार का सुधार सब सौभाग्यों का सौभाग्य और सब उन्नतियों की उन्नति करनेवाला कर्म है कि इस अवस्था में ब्रह्मचर्य रख के अपने सन्तानों को विद्या और सुशिक्षा ग्रहण करावें कि जिससे उत्तम सन्तान होवें ॥

ऋतुदान का काल

ऋतुकालाभिगामी स्यात्स्वदारनिरतस्सदा ।
पर्ववर्जं व्रजेच्चैनां तद्व्रतो रतिकाम्यया ॥ १ ॥
ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्रयः षोडश स्मृताः ।
चतुर्भिरितरैः सार्द्धमहोभिः सद्विगर्हितैः ॥ २ ॥
तासामाद्याश्चतस्रस्तु निन्दितैकादशी च या ।
त्रयोदशी च शेषास्तु प्रशस्ता दश रात्रयः ॥ ३ ॥
युग्मासु पुत्रा जायन्ते स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रिषु ।
तस्माद्युग्मासु पुत्रार्थी संविशेदार्त्तवे स्त्रियम् ॥ ४ ॥
पुमान् पुंसोऽधिके शुक्रे स्त्री भवत्यधिके स्त्रियाः ।
समे पुमान् पुंस्त्रियौ वा क्षीणेऽल्पे च विपर्ययः ॥ ५ ॥

निन्द्यास्वष्टासु चान्यासु स्त्रियो रात्रिषु वर्जयन् ।
ब्रह्मचार्य्येव भवति यत्र तत्राश्रमे वसन् ॥ ६ ॥
मनुस्मृतौ अ० ३ ॥

अर्थः—मनु आदि महर्षियों ने ऋतुदान के समय का निश्चय इस प्रकार से किया है कि सदा पुरुष ऋतुकाल में स्त्री का समागम करे और अपनी स्त्री के विना दूसरी स्त्री का सर्वदा त्याग रक्खे वैसे स्त्री भी अपने विवाहित पुरुष को छोड़ के अन्य पुरुषों से सदैव पृथक् रहे जो स्त्रीव्रत अर्थात् अपनी विवाहित स्त्री ही से प्रसन्न रहता है जैसे कि पतिव्रता स्त्री अपने विवाहित पुरुष को छोड़ दूसरे पुरुष का संग कभी नहीं करती वह पुरुष जब ऋतुदान देना हो तब पूर्व अर्थात् जो उन ऋतुदान के (सोलह) दिनों में पौर्णमासी अमावास्या चतुर्दशी वा अष्टमी आवे उसको छोड़ देवें इनमें स्त्री पुरुष रतिक्रिया कभी न करें ॥ १ ॥ स्त्रियों का स्वाभाविक ऋतुकाल १६ (सोलह) रात्रि का है अर्थात् रजोदर्शन दिन से लेके १६ (सोलहवें) दिन तक ऋतु समय है उन में प्रथम की चार रात्री अर्थात् जिस दिन रजस्वला हो उस दिन से ले चार दिन निन्दित हैं प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ रात्रि में पुरुष स्त्री का स्पर्श और स्त्री पुरुष का सम्बन्ध कभी न करे अर्थात् उस रजस्वला के हाथ का छुआ पानी भी न पीवे न वह स्त्री कुछ काम करे किन्तु एकान्त में बैठी रहै क्योंकि इन चार रात्रियों में समागम करना व्यर्थ और महारोगकारक है । रजः अर्थात् स्त्री के शरीर से एक प्रकार का विकृत उष्ण रुधिर जैसा कि फोड़े में से पीप वा रुधिर निकलता है वैसा है ॥ २ ॥ और जैसे प्रथम की चार रात्रि ऋतुदान देने में निन्दित हैं वैसे ग्यारहवीं और तेरहवीं रात्रि भी निन्दित है और बाक़ी रहीं दश रात्रि सो ऋतुदान देने में श्रेष्ठ हैं ॥ ३ ॥ जिनको पुत्र की इच्छा हो वे छठी, आठवीं, दशावीं, बारहवीं, चौदहवीं और सोलहवीं ये छः रात्रि ऋतुदान में उत्तम जानें परन्तु इनमें भी उत्तर २ श्रेष्ठ हैं और जिनको कन्या की इच्छा हो वे पांचवीं, सातवीं, नवीं और पन्द्रहवीं ये चार रात्रि उत्तम समझें * इससे पुत्रार्थी युग्म

* रात्रिगणना इसलिये की है कि दिन में ऋतुदान का निषेध है ॥

रात्रियों में ऋतुदान देवे ॥ ४ ॥ पुरुष के अधिक वीर्य होने से पुत्र और स्त्री के आर्त्तव अधिक होने से कन्या, तुल्य होने से नपुंसक पुरुष वा बन्ध्या स्त्री; क्षीण और अल्पवीर्य से गर्भ का न रहना वा रहकर गिरजाना होता है ॥ ५ ॥ जो पूर्व निन्दित ८ (आठ) रात्रि कह आये हैं उनमें जो स्त्री का संग छोड़ देता है वह गृहाश्रम में वसता हुआ भी ब्रह्मचारी ही कहाता है ॥ ६ ॥

उपनिषदि गर्भलम्भनम् ॥

यह आश्वलायन गृह्यसूत्र का वचन है जैसा उपनिषद् में गर्भस्थापन विधि लिखा है वैसा करना चाहिये अर्थात् पूर्वोक्त समय विवाह करके जैसा कि १६ (सोलहवें) और २५ (पच्चीसवें) वर्ष विवाह करके ऋतुदान लिखा है वही उपनिषद् से भी विधान है ॥

अथ गर्भाधानꣳ स्त्रियाः पुष्पवत्याश्चतुरहादूर्ध्वꣳ स्नात्वा विरुजायास्तस्मिन्नेव दिवा "आदित्यं गर्भमिति" ॥

यह पारस्कर गृह्यसूत्र का वचन है, ऐसा ही गोभिलीय और शौनक गृह्यसूत्रों में भी विधान है इसके अनन्तर जब स्त्री रजस्वला होकर चौथे दिन के उपरान्त पांचवें दिन स्नान कर रजरोग रहित हो उसी दिन (आदित्यं गर्भमिति) इत्यादि मन्त्रों से जैसा जिस रात्रि में गर्भस्थापन करने की इच्छा हो उससे पूर्व दिन में सुगन्धादि पदार्थों सहित पूर्व सामान्यप्रकरण के लिखित प्रमाणे हवन करके निम्नलिखित मन्त्रों से आहुति देनी यहां पत्नी पति के वाम भाग में बैठे और पति वेदी से पश्चिमाभिमुख पूर्व दक्षिण वा उत्तर दिशा में यथाभीष्ट मुख करके बैठे और ऋत्विज् भी चारों दिशाओं में यथामुख बैठें ॥

ओं अग्ने प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्याः पापी लक्ष्मीस्तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा ॥ इदमग्नये—इदन्न मम ॥ १ ॥ ओं वायो प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्याः पापी लक्ष्मीस्तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा ॥ इदं वायवे—इदन्न मम ॥ २ ॥ ओं चन्द्र प्रायश्चित्ते त्वं देवानां

प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्याः पापी लक्ष्मीस्तनू-स्तामस्या अपजहि स्वाहा ॥ इदं चन्द्राय-इदन्न मम ॥ ३ ॥ ओं सूर्य प्राय-श्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्याः पापी लक्ष्मीस्तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा ॥ इदं सूर्याय—इदन्न मम ॥ ४ ॥ ओं अग्निवायुचन्द्रसूर्य्याः प्रायश्चित्तयो यूयं देवानां प्रायश्चित्तयः स्थ ब्राह्मणो वो नाथकाम उपधावामि यास्याः पापी लक्ष्मीस्तनूस्तामस्या अपहत स्वाहा ॥ इदमग्निवायुचन्द्रसूर्येभ्यः—इदन्न मम ॥ ५ ॥ मन्त्र ब्राह्मण प्र० १ । खं० ४ । मं० ५ ॥ ओं अग्ने प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्याः पतिघ्नी तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा ॥ इदम-ग्नये—इदन्न मम ॥ ६ ॥ ओं वायो प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्म-णस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्याः पतिघ्नी तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा ॥ इदं वायवे—इदन्न मम ॥ ७ ॥ ओं चन्द्र प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्ति-रसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्याः पतिघ्नी तनूस्तामस्या अप-जहि स्वाहा ॥ इदं चन्द्राय—इदन्न मम ॥ ८ ॥ ओं सूर्य प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्याः पतिघ्नी तनूस्ता-मस्या अपजहि स्वाहा ॥ इदं सूर्य्याय—इदन्न मम ॥ ९ ॥ ओं अग्निवायुच-न्द्रसूर्य्याः प्रायश्चित्तयो यूयं देवानां प्रायश्चित्तयः स्थ ब्राह्मणो वो नाथकाम उपधावामि यास्याः पतिघ्नी तनूस्तामस्या अपहत स्वाहा ॥ इदमग्निवायुच-न्द्रसूर्य्येभ्यः—इदन्न मम ॥ १० ॥ पारस्कर कां० ११ ॥ ओं अग्ने प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्या अपु-त्र्यास्तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा ॥ इदमग्नये—इदन्न मम ॥ ११ ॥ ओं वायो प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधा-वामि यास्या अपुत्र्यास्तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा ॥ इदं वायवे—इदन्न मम ॥ १२ ॥ ओं चन्द्र प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथ-काम उपधावामि यास्या अपुत्र्यास्तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा ॥ इदं चन्द्राय-इदन्न मम ॥ १३ ॥ ओं सूर्य प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मण-स्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्या अपुत्र्यास्तनूस्तामस्या अजपहि स्वाहा ॥

इदं सूर्याय—इदन्न मम ॥ १४ ॥ ओं अग्निवायुचन्द्रसूर्याः प्रायश्चित्तयो यूयं देवानां प्रायश्चित्तयः स्थ ब्राह्मणो वो नाथकाम उपधावामि यास्या अपुत्र्या-स्तनूस्तामस्या अपहत स्वाहा ॥ इदमग्निवायुचन्द्रसूर्येभ्यः—इदन्न मम ॥ १५ ॥ ओं अग्ने प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उप-धावामि यास्या अपसव्या तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा ॥ इदमग्नये—इदन्न मम ॥ १६ ॥ ओं वायो प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्या अपसव्यास्तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा ॥ इदं वायवे—इदन्न मम ॥ १७ ॥ ओं चन्द्र प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्या अपसव्या तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा ॥ इदं चन्द्राय—इदन्न मम ॥ १८ ॥ ओं सूर्य प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्या अपसव्या तनूस्ता-मस्या अपजहि स्वाहा ॥ इदं सूर्याय—इदन्न मम ॥ १९ ॥ ओं अग्निवायुच-न्द्रसूर्याः प्रायश्चित्तयो यूयं देवानां प्रायश्चित्तयः स्थ ब्राह्मणो वो नाथकाम उपधावामि यास्या अपसव्या तनूस्तामस्या अपहत स्वाहा ॥ इदमग्निवायुच-न्द्रसूर्येभ्यः—इदन्न मम ॥ २० ॥

इन बीस मन्त्रों से बीस आहुति देनी *। और बीस आहुति करने से यत्किंचित् घृत बचे वह कांसे के पात्र में ढांक के रख देवें इसके पश्चात् भात की आहुति देने के लिये यह विधि करना अर्थात् एक चांदी वा कांसे के पात्र में भात रख के उसमें घी दूध और शक्कर मिला के कुछ थोड़ी देर रख के जब घृत आदि भात में एकरस होजाय पश्चात् नीचे लिखे एक २ मन्त्र से एक २ आहुति अग्नि में देवें और स्रुवा में का शेष आगे धरे हुए कांसे के उदकपात्र में छोड़ता जावे।

ओं अग्नये पवमानाय स्वाहा ॥ इदमग्नये पवमानाय—इदन्न मम ॥१॥ ओं अग्नये पावकाय स्वाहा ॥ इदमग्नये पावकाय—इदन्न मम ॥ २ ॥ ओं अग्नये शुचये स्वाहा ॥ इदमग्नये शुचये—इदन्न मम ॥ ३ ॥ ओं आदित्यै

* इन बीस आहुति देते समय बधू अपने दक्षिण हाथ से वर के दक्षिण स्कन्ध पर स्पर्श कर रक्खे ॥

स्वाहा ॥ इदमादित्यै—इदन्न मम ॥ ४ ॥ ओं प्रजापतये स्वाहा ॥ इदं प्रजापतये—इदन्न मम ॥ ५ ॥ ओं यदस्य कर्मणोऽत्यरीरिचं यद्वा न्यूनमिहाकरम् । अग्निष्टत्स्विष्टकृद्विद्यात्सर्वं स्विष्टं सुहुतं करोतु मे । अग्नये स्विष्टकृते सुहुतहुते सर्वप्रायश्चित्ताहुतीनां कामानां समर्धयित्रे सर्वान्नः कामान्त्समर्धय स्वाहा ॥ इदमग्नये स्विष्टकृते—इदन्न मम ॥ ६ ॥

इन छः मन्त्रों से उस भात की आहुति देवें तत्पश्चात् पूर्व सामान्यप्रकरणोक्त २४—२५ पृष्ठ लिखित आठ मंत्रों से अष्टाज्याहुति देनी उन ८ (आठ) मन्त्रों से ८ (आठ) तथा निम्नलिखित मन्त्रों से भी आज्याहुति देवें ॥

विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु । आ सिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते स्वाहा ॥ १ ॥ गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि सरस्वति । गर्भं ते अश्विनौ देवावा धत्तां पुष्करस्रजा स्वाहा ॥ २ ॥ हिरण्ययी अरणी यं निर्मन्थतो अश्विना । तं ते गर्भं हवामहे दशमे मासि सूतवे स्वाहा ॥ ३ ॥ ऋ० मं० १० । सू० १८४ ॥

रेतो मूत्रं विजहाति योनिं प्रविशदीन्द्रियम् । गर्भो जरायुणावृत उल्वं जहाति जन्मना । ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानꣳ शुक्रमन्धस इन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु स्वाहा ॥ ४ ॥ यजु० अ० १९ । मं० ७६ ॥ यत्ते सुसीमे हृदयं दिवि चन्द्रमसि श्रितम् । वेदाहं तन्मां तद्विद्यात् ॥ पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳशृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् स्वाहा ॥ ५ ॥ पारस्कर कां० १ । कं० ११ ॥

यथेयं पृथिवी मही भूतानां गर्भमादधे । एवा ते ध्रियतां गर्भो अनुसूतुं सवितवे स्वाहा ॥ ६ ॥ यथेयं पृथिवी मही दाधारेमान् वनस्पतीन् । एवा ते ध्रियतां गर्भो अनुसूतुं सवितवे स्वाहा ॥ ७ ॥ यथेयं पृथिवी मही दाधार पर्वतान् गिरीन् । एवा ते ध्रियतां गर्भो अनुसूतुं सवितवे स्वाहा ॥८॥ यथेयं पृथिवी मही दाधार विष्ठितं जगत् । एवा ते ध्रियतां गर्भो अनुसूतुं सवितवे स्वाहा ॥ ९ ॥ अथर्व० कां० ६ । सू० १७ ॥

इन ९ मन्त्रों से नव आज्य और मोहनभोग की आहुति दे के नीचे लिखे मन्त्रों से भी चार घृताहुति देवे ॥

ओं भूरग्नये स्वाहा ॥ इदमग्नये–इदन्न मम ॥ १ ॥ ओं भुववार्यवे स्वाहा ॥ इदं वायवे–इदन्न मम ॥ २ ॥ ओं स्वरादित्याय स्वाहा ॥ इदमादित्याय–इदन्न मम ॥ ३ ॥ ओम् अग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्यः स्वाहा ॥ इदमग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्यः–इदन्न मम ॥ ४ ॥

पश्चात् नीचे लिखे मन्त्रों से घृत की दो आहुति देनी ॥

ओम् अयास्यग्नेर्वषट्कृतं यत्कर्मणोऽत्यरीरिचं देवा गातुविदः स्वाहा ॥ इदं देवेभ्यो गातुविद्भ्यः–इदन्न मम ॥ १ ॥ ओं प्रजापतये स्वाहा ॥ इदं प्रजापतये–इदन्न मम ॥ २ ॥ पारस्कर कां० १ । कं० २ ॥

इन कर्म और आहुतियों के पश्चात् पृष्ठ २३ में लिखे प्रमाणे "ओं यदस्य कर्मणोत्यरीरिचं०" इस मन्त्र से एक स्विष्टकृत् आहुति घृत की देवे जो इन मन्त्रों से आहुति देते समय प्रत्येक आहुति के स्रुवा में शेष रहे घृत को आगे धरे हुए कांसे के उदकपात्र में इकट्ठा करते गये हों जब आहुति हो चुकें तब उस आहुतियों के शेष घृत को बधू लेके स्नान के घर में जाकर उस घी का पग के नख से लेके शिर पर्यन्त सब अङ्गों पर मर्दन करके स्नान करे तत्पश्चात् शुद्ध वस्त्र से शरीर पोंछ शुद्ध वस्त्र धारण करके कुण्ड के समीप आवे तब दोनों बधू वर कुण्ड की प्रदक्षिणा करके सूर्य्य का दर्शन करें, उस समय––

ओं आदित्यं गर्भं पयसा समङ्ग्धि सहस्रस्य प्रतिमां विश्वरूपम् । परिवृङ्धि हरसा माभि मंस्थाः शतायुषं कृणुहि चीयमानः ॥ १ ॥ यजु० अ० १३ । मं० ४१ ॥ सूर्यो नो दिवस्पातु वातो अन्तरिक्षात् । अग्निर्नः पार्थिवेभ्यः ॥ २ ॥ ज्योषा सवितर्यस्य ते हरः शतं सवाँ अर्हति । पाहि नो दिद्युतः पतन्त्याः ॥ ३ ॥ चक्षुर्नो देवः सविता चक्षुर्न उत पर्वतः । चक्षुर्धाता दधातु नः ॥ ४ ॥ चक्षुर्नो धेहि चक्षुषे चक्षुर्विख्यै तनूभ्यः ।

तं चे॒दं वि च॑ पश्येम ॥ ५ ॥ सु॒सं॒दृशं॑ त्वा व॒यं प्रति॑पश्येम सूर्य । विप॑श्येम नृ॒चक्ष॑सः ॥ ६ ॥ ऋ० मं० १० । सू० १५८ । मं० १—५ ॥

इन मन्त्रों से परमेश्वर का उपस्थान करके बधू—

ओं (अमुक(१)गोत्रा शुभदा, अमुक(२)दा अहं भो भवन्तमभिवादयामि)॥

ऐसा वाक्य बोलके अपने पति को वन्दन अर्थात् नमस्कार करे तत्पश्चात् स्वपति के पिता पितामहादि और जो वहां अन्य माननीय पुरुष तथा पति की माता तथा अन्य कुटुम्बी और सम्बन्धियों की वृद्ध स्त्रियां हों उनको भी इसी प्रकार वन्दन करे इस प्रमाणे बधू वर के गोत्र की हुए अर्थात् बधू पत्नीत्व और वर पतित्व को प्राप्त हुए पश्चात् दोनों पति पत्नी शुभासन पर पूर्वाभिमुख वेदी के पश्चिम भाग में बैठ के वामदेव्यगान करें तत्पश्चात् यथोक्त (३) भोजन

(१) इस ठिकाने वर के गोत्र अथवा वर के कुल का नामोच्चारण करे ॥

(२) इस ठिकाने बधू अपना नाम उच्चारण करे ॥

(३) उत्तम सन्तान करने का मुख्य हेतु यथोक्त बधू वर के आहार पर निर्भर है इसलिये पति पत्नी अपने शरीर आत्मा की पुष्टि के लिये बल और बुद्धि आदि की वर्द्धक सर्वौषधि का सेवन करें ॥ सर्वौषधि ये हैं—दो खण्ड आंबाहलदी, दूसरी खाने की हल्दी "चन्दन" मुरा (यह नाम दक्षिण में प्रसिद्ध है), कुष्ठ, जटामांसी, मोरवेल (यह भी नाम दक्षिण में प्रसिद्ध है), शिलाजीत, कपूर, मुस्ता, भद्रमोथ इन सब ओषधियों का चूर्ण करके सब सम-भाग लेके उदुम्बर के काष्ठपात्र में गाय के दूध के साथ मिला उनका दही जमा और उदुम्बर ही के लकड़े की मंथनी से मंथन करके उसमें से मक्खन निकाल उसको ताय, घृत करके उसमें सुगन्धित द्रव्य केशर, कस्तूरी, जायफल, इलायची, जावित्री मिला के अर्थात् सेर भर दूध में छटांक भर पूर्वोक्त सर्वौषधी मिला सिद्ध कर घी हुए पश्चात् एक सेर में एक रत्ती कस्तूरी और एक मासा केशर और एक २ मासा जायफलादि भी मिला के नित्य प्रातःकाल उस घी में से २२-२३ पृष्ठ में लिखे प्रमाणे आघारावाज्यभागाहुति ४ (चार) और पृष्ठ ३४ में लिखे हुए (विष्णुर्योनिं०) इत्यादि ७ (सात) मंत्रों के अन्त में स्वाहा शब्द का उच्चारण

दोनों जने करें और पुरोहितादि सब मण्डली का सन्मानार्थ यथाशक्ति भोजन कराके आदर सत्कार पूर्वक सब को विदा करें ॥

इस के पश्चात् रात्रि में नियत समय पर जब दोनों का शरीर आरोग्य, अत्यन्त प्रसन्न और दोनों में अत्यन्त प्रेम बढ़ा हो, उस समय गर्भाधान क्रिया करनी, गर्भाधान क्रिया का समय प्रहर रात्री के गये पश्चात् प्रहर रात्री रहे तक है जब वीर्य गर्भाशय में जाने का समय आवे तब दोनों स्थिर शरीर, प्रसन्न वदन, मुख के सामने मुख, नासिका के सामने नासिकादि, सब सूधा शरीर रक्खें। वीर्य का प्रक्षेप पुरुष करे जब वीर्य स्त्री के शरीर में प्राप्त हो उस समय अपना पायु मूलेन्द्रिय और योनीन्द्रिय को ऊपर संकोच और वीर्य को खैंचकर स्त्री गर्भाशय में स्थिर करे तत्पश्चात् थोड़ा ठहर के स्नान करे यदि शीतकाल हो तो प्रथम केशर, कस्तूरी, जायफल, जावित्री, छोटी इलायची

करके जिस रात्रि में गर्भस्थापन क्रिया करनी हो उसके दिन में होम करके उसी घी को दोनों जने खीर अथवा भात के साथ मिला के यथारुचि भोजन करें इस प्रकार गर्भ स्थापन करें तो सुशील, विद्वान्, दीर्घायु, तेजस्वी, सुदृढ़ और नीरोग पुत्र उत्पन्न होवे, यदि कन्या की इच्छा हो तो जल में चावल पका पूर्वोक्त प्रकार घृत गूलर के एक पात्र में जमाए हुए दही के साथ भोजन करने से उत्तम गुण-युक्त कन्या भी होवे क्योंकि-"आहारशुद्धौ सत्वशुद्धिः सत्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः"

यह छान्दोग्य का वचन है अर्थात् शुद्ध आहार जो कि मद्यमांसादि रहित घृत दुग्धादि चावल गेहूं आदि के करने से अन्तःकरण की शुद्धि बल पुरुषार्थ आरोग्य और बुद्धि की प्राप्ति होती है इसलिये पूर्ण युवावस्था में विवाह कर इस प्रकार विधि कर प्रेमपूर्वक गर्भाधान करें तो सन्तान और कुल नित्यप्रति उत्कृष्टता को प्राप्त होते जायें जब रजस्वला होने समय में १२-१३ दिन शेष रहें तब शुक्लपक्ष में १२ दिन तक पूर्वोक्त घृत मिला के इसी खीर का भोजन करके १२ दिन का व्रत भी करें और मिताहारी होकर ऋतु समय में पूर्वोक्त रीति से गर्भाधान क्रिया करें तो अत्युत्तम सन्तान होवें, जैसे सब पदार्थों को उत्कृष्ट करने की विद्या है वैसे सन्तान को उत्कृष्ट करने की यही विद्या है इस पर मनुष्य लोग बहुत ध्यान देवें क्योंकि इसके न होने से कुल की हानि नीचता और होने से कुल की वृद्धि और उत्तमता अवश्य होती है ॥

डाल गर्म कर रक्खे हुए शीतल दूध का यथेष्ट पान करके पश्चात् पृथक् २ शयन करें यदि स्त्री-पुरुष को ऐसा दृढ़ निश्चय होजाय कि गर्भ स्थिर होगया, तो उसके दूसरे दिन और जो गर्भ रहे का दृढ़ निश्चय न हो तो एक महीने के पश्चात् रजस्वला होने के समय, स्त्री रजस्वला न हो तो निश्चित जानना कि गर्भ स्थिर हो गया है। अर्थात् दूसरे दिन वा दूसरे महीने के आरम्भ में निम्नलिखित मन्त्रों से आहुति देवें * ॥

यथा वातः पुष्करिणीं समिङ्गयति सर्वतः। एवा ते गर्भ एजतु निरैतु दशमास्यः स्वाहा ॥ १ ॥ यथा वातो यथा वनं यथा समुद्र एजति। एवा त्वं दशमास्य सहावेहि जरायुणा स्वाहा ॥ २ ॥ दश मासाञ्छशयानः कुमारो अधि मातरि। निरैतु जीवो अक्षतो जीवो जीवन्त्या अधि स्वाहा ॥ ३ ॥ ऋ० मं० ५। सू० ७८। मं० ७। ८। ९ ॥

एजतु दशमास्यो गर्भो जरायुणा सह। यथा यं वायुरेजति यथा समुद्र एजति। एवायं दशमास्यो अस्रज्जरायुणा सह स्वाहा ॥ १ ॥ यस्यै ते

---

* यदि दो ऋतुकाल व्यर्थ जायँ अर्थात् दो बार दो महीनों में गर्भाधान क्रिया निष्फल होजाय, गर्भस्थिति न होवे तो तीसरे महीने में ऋतुकाल समय जब आवे तब पुष्यनक्षत्रयुक्त ऋतुकाल दिवस में प्रथम प्रातःकाल उपस्थित होवे तब प्रथम प्रसूता गाय का दही दो मासा और यव के दाणों को सेक के पीस के दो मासा लेके इन दोनों को एकत्र करके पत्नी के हाथ में देके उससे पति पूछे "किं पिबसि" इस प्रकार तीन वार पूछे और स्त्री भी अपने पति को "पुंसवनम्" इस वाक्य को तीन वार बोल के उत्तर देवे और उसका प्राशन करे, इसी रीति से पुनः पुनः तीन वार विधि करना तत्पश्चात् सङ्खाहूली व भटकटाई ओषधि को जल में महीन पीस के उस का रस कपड़े में छान के पति पत्नी के दाहिने नाक के छिद्र में सिंचन करे और पति—

ओ३म् यमोषधी त्रायमाणा सहमाना सरस्वती।
अस्या अहं बृहत्याः पुत्रः पितुरिव नाम जग्रभम् ॥

इस मंत्र से जगन्नियन्ता परमात्मा की प्रार्थना करके यथोक्त ऋतुदान विधि करे, यह सूत्रकार का मत है ॥

यज्ञियो गर्भो यस्यै योनिर्हिरण्ययी। अङ्गान्यह्रुता यस्य तं मात्रा समजीगम्ँ स्वाहा ॥ २ ॥ यजु० अ० ८। मं० २८। २९ ॥

पुमाँसौ मित्रावरुणौ पुमाँसावश्विनावुभौ । पुमानग्निश्च वायुश्च पुमान् गर्भस्तवोदरे स्वाहा ॥ १ ॥ पुमानग्निः पुमानिन्द्रः पुमान्देवो बृहस्पतिः । पुमाँसं पुत्रं विन्दस्व तं पुमाननु जायतां स्वाहा ॥ २ ॥ मन्त्रब्राह्मण ब्रा० १। ४। ८-९ ॥

इन मन्त्रों से आहुति देकर व लिखित सामान्यप्रकरण की शान्त्याहुति दे के पुनः २५ पृष्ठ में लिखे प्रमाणे पूर्णाहुति देवे पुनः स्त्री के भोजन छादन का सुनियम करे। कोई मादक मद्य आदि, रेचक हरीतकी आदि, क्षार अतिलवणादि, अत्यम्ल अर्थात् अधिक खटाई रूक्ष चणे आदि, तीक्ष्ण अधिक लालमिर्ची आदि स्त्री कभी न खावे किन्तु घृत, दुग्ध, मिष्ट, सोमलता अर्थात् गुडूच्यादि ओषधि, चावल, मिष्ट, दधि, गेहूं, उर्द, मूंग, तूअर आदि अन्न और पुष्टिकारक शाक खावें उसमें ऋतु २ के मसाले गर्मी में ठण्डे सफेद इलायची आदि और सरदी में केशर कस्तूरी आदि डालकर खाया करें। युक्ताहारविहार सदा किया करें। दधि में सुंठी और ब्राह्मी ओषधि का सेवन स्त्री विशेष किया करे जिससे सन्तान अतिबुद्धिमान् रोगरहित शुभ गुण कर्म स्वभाववाला होवे ॥

इति गर्भाधानविधिः समाप्तः

अथ पुंसवनम्

पुंसवन संस्कार का समय गर्भस्थिति ज्ञान हुए समय से दूसरे वा तीसरे महीने में है उसी समय पुंसवन संस्कार करना चाहिये जिससे पुरुषत्व अर्थात् वीर्य का लाभ होवे यावत् बालक के जन्म हुए पश्चात् दो महीने न बीत जावें तबतक पुरुष ब्रह्मचारी रहकर स्वप्न में भी वीर्य को नष्ट न होने देवे भोजन, छादन, शयन, जागरणादि व्यवहार उसी प्रकार से करे जिससे वीर्य स्थिर रहे और दूसरा सन्तान भी उत्तम होवे ॥

अत्र प्रमाणानि

पुमा॑ᳪसौ मि॒त्रावरु॑णौ पुमा॑ᳪसाव॒श्विना॑वु॒भौ ।
पुमा॑न॒ग्निश्च॑ वा॒युश्च॒ पुमा॒न् गर्भ॒स्तवो॒दरे॑ ॥ १ ॥
पुमा॑न॒ग्निः पुमा॒निन्द्रः॒ पुमा॑न् दे॒वो बृह॒स्पतिः॑ ।
पुमा॑ᳪसं पु॒त्रं वि॑न्दस्व॒ तं पुमा॒ननु॑ जायताम् ॥ २ ॥
मं० ब्रा० १ । ४ । ८–९ ॥

श॒मीम॑श्व॒त्थ आरू॑ढ॒स्तत्र॑ पुं॒सव॑नं कृ॒तम् ।
तद्वै पु॒त्रस्य॒ वेद॑नं॒ तत्स्त्री॒ष्वा भ॑रामसि ॥ १ ॥
पुंसि॒ वै रेतो॑ भवति॒ तत्स्त्रि॒यामनु॑षिच्यते ।
तद्वै पु॒त्रस्य॒ वेद॑नं॒ तत्प्र॒जाप॑तिरब्रवीत् ॥ २ ॥
प्र॒जाप॑ति॒रनु॑मतिः सिनीवा॒ल्य॑चीक्लृपत् ।
स्त्रैषू॑यम॒न्यत्र॒ दध॒त्पुमां॑समु दधादि॒ह ॥ ३ ॥
अथर्व० कां० ६ । अनु० २ । सू० ११ ॥

इन मन्त्रों का यही अभिप्राय है कि पुरुष को वीर्यवान् होना चाहिये इसमें आश्वलायन गृह्यसूत्र का प्रमाणः—

अथास्यै मण्डलागारच्छायायां दक्षिणस्यां नासिकायामजीतामोषधीं नस्तः करोति ॥ १ ॥

प्रजावज्जीवपुत्राभ्यां हैके ॥ २ ॥

गर्भ के दूसरे वा तीसरे महीने में वटवृक्ष की जटा वा उसकी पत्ती लेके स्त्री को दक्षिण नासापुट से सुंघावे और कुछ अन्य पुष्ट अर्थात् गुड़च जो गिलोय वा ब्राह्मी औषधि खिलावे ऐसा ही पारस्करगृह्यसूत्र का प्रमाण है ॥

अथ पुंसवनं पुरास्यन्दत इति मासे द्वितीये तृतीये वा ॥ १ ॥ पारस्कर कां० १ । कं० १४ ॥

इसके अनन्तर, पुंसवन उसको कहते हैं जो पूर्व ऋतुदान देकर गर्भस्थिति से दूसरे वा तीसरे महीने में पुंसवनसंस्कार किया जाता है इसी प्रकार गोभिलीय और शौनक गृह्यसूत्रों में लिखा है ॥

अथ क्रियारम्भः

पृष्ठ ४ से १२ वें पृष्ठ के शान्तिप्रकरण पर्यन्त कहे प्रमाणे (विश्वानि देव०) इत्यादि चारों वेदों के मन्त्रों से यजमान और पुरोहितादि ईश्वरोपासना करें और जितने पुरुष वहां उपस्थित हों वे भी परमेश्वरोपासना में चित्त लगावें और पृष्ठ ८ में कहे प्रमाणे स्वस्तिवाचन तथा पृष्ठ १० में लिखे प्रमाणे शान्तिप्रकरण करके पृष्ठ १३ में लिखे प्रमाणे यज्ञदेश, यज्ञशाला तथा यज्ञकुण्ड, पृष्ठ १४–१५ में यज्ञसमिधा, होम के द्रव्य और पाकस्थाली आदि करके और पृष्ठ २१–२३ में लिखे प्रमाणे (अयन्त इध्म०) इत्यादि (ओं अदिते०) इत्यादि ४ (चार) मन्त्रोक्त कर्म और आघारावाज्यभागाहुति ४ (चार) तथा व्याहृति आहुति ४ (चार) और पृष्ठ २३ में (ओं प्रजापतये स्वाहा) ॥१॥ पृष्ठ २३

में (ओं यदस्य कर्मणो०) ॥ २ ॥ लिखे प्रमाणे २ (दो) आहुति देकर नीचे लिखे हुए दोनों मन्त्रों से दो आहुति घृत की देवे—

ओं आ ते गर्भो योनिमेतु पुमान्बाण इवेषुधिम् । आवीरो जायतां पुत्रस्ते दशमास्यः स्वाहा ॥ १ ॥ अथर्व० कां० ३ । सू० २३ ॥ ओं अग्निरेतु प्रथमो देवतानां सोऽस्यै प्रजां मुञ्चतु मृत्युपाशात् । तदयं राजा वरुणोऽनुमन्यतां यथेयं स्त्री पौत्रमघं न रोदात् स्वाहा ॥ २ ॥ मन्त्र ब्रा० १ । १ । १० ॥

इन दोनों मन्त्रों को बोल के दो आहुति किये पश्चात् एकान्त में पत्नी के हृदय पर हाथ धर के यह निम्नलिखित मन्त्र पति बोले—

ओं यत्ते सुसीमे हृदये हितवन्तः प्रजापतौ । मन्येहं मां तद्विद्वांसमाह पौत्रमघान्नियाम् ॥ मं० ब्रा० १ । ५ । १० ॥

तत्पश्चात् पृष्ठ २६ में लिखे प्रमाणे सामवेद आर्चिक और महावामदेव्यगान गा के जो २ पुरुष वा स्त्री संस्कार समय पर आये हों उनको विदा करदे पुनः वटवृक्ष के कोमल कूपल और गिलोय को महीन बांट कपड़े में छान, गर्भिणी स्त्री के दक्षिण नासापुट में सुंघावे । तत्पश्चात्:—

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् । स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ १ ॥ य० अ० १३ । मं० ४ ॥

अद्भ्यः संभृतः पृथिव्यै रसाच्च विश्वकर्मणः समवर्त्तताग्रे । तस्य त्वष्टा विदधद्रूपमेति तन्मर्त्यस्य देवत्वमाजानमग्रे ॥ २ ॥ य० अ० ३१ । मं० १७ ॥

इन दोनों मन्त्रों को बोल के पति अपनी गर्भिणी पत्नी के गर्भाशय पर हाथ धर के यह मन्त्र बोलेः—

सुपर्णोऽसि गरुत्माँस्त्रिवृत्ते शिरो गायत्रं चक्षुर्बृहद्रथन्तरे पक्षौ । स्तोम

आत्मा छन्दांᳬसि नक्षत्राणि यजूᳬषि नाम । साम ते तनूर्वामदेव्यं यज्ञायज्ञियं पुच्छं धिष्ण्याः शफाः । सुपर्णोऽसि गरुत्मान्दिवं गच्छ स्वः पत ॥ १ ॥ य० अ० १२ । मं० ४ ॥

इसके पश्चात् स्त्री सुनियम युक्ताहारविहार करे विशेष कर गिलोय ब्राह्मी ओषधि और शुंठी को दूध के साथ थोड़ी २ खाया करे और अधिक शयन और अधिक भाषण, अधिक खारा, खट्टा, तीखा, कड़वा, रेचक, हरड़ें आदि न खावे सूक्ष्म आहार करे । क्रोध, द्वेष, लोभादि दोषों में न फँसे, चित्त को सदा प्रसन्न रक्खे इत्यादि शुभाचरण करे ॥

इति पुंसवनसंस्कारविधिः समाप्तः

अथ सीमन्तोन्नयनम्

अब तीसरा संस्कार सीमन्तोन्नयन कहते हैं जिससे गर्भिणी स्त्री का मन सन्तुष्ट आरोग्य गर्भ स्थिर उत्कृष्ट होवे और प्रतिदिन बढ़ता जावे । इसमें आगे प्रमाण लिखते हैं ॥

चतुर्थे गर्भमासे सीमन्तोन्नयनम् ॥ १ ॥ आपूर्यमाणपक्षे यदा पुंसा नक्षत्रेण चन्द्रमा युक्तः स्यात् ॥ २ ॥ अथास्यै युग्मेन शलाटुग्रप्सेन त्र्येण्या च शलल्या त्रिभिश्च कुशपिञ्जूलैरूर्ध्वं सीमन्तं व्यूहति भूर्भुवः स्वरोमिति त्रिः चतुर्वा ॥ यह आश्वलायनगृह्यसूत्र ॥

पुंसवनवत्प्रथमे गर्भे मासे षष्ठेऽष्टमे वा ॥

यह पारस्करगृह्यसूत्र का प्रमाण—इस प्रकार गोभिलीय और शौनकगृह्यसूत्र में भी लिखा है ॥

गर्भमास से चौथे महीने में शुक्लपक्ष में जिस दिन मूल आदि पुरुष नक्षत्रों से युक्त चन्द्रमा हो उसी दिन सीमन्तोन्नयन संस्कार करे और पुंसवन संस्कार के तुल्य छठे आठवें महीने में पूर्वोक्त पक्ष नक्षत्रयुक्त चन्द्रमा के दिन सीमन्तोन्नयन संस्कार करें इसमें प्रथम ४–२६ पृष्ठ तक का विधि करके (अदितेऽनुमन्यस्व) इत्यादि पृष्ठ २२ में लिखे प्रमाणे वेदी से पूर्वादि दिशाओं में जल सेचन करके—

ओं देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय । दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतन्नः पुनातु वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु स्वाहा ॥ १ ॥ य० अ० ११ । मं० ७ ॥

इस मन्त्र से कुण्ड के चारों ओर जल सेचन करके आघारावाज्यभागाहुति ४ (चार) और व्याहृति आहुति ४ (चार) मिल के ८ (आठ) आहुति पृष्ठ २२–२३ में लिखे प्रमाणे करके—

ओं प्रजापतये त्वा जुष्टं निर्वपामि ॥

अर्थात् चावल, तिल, मूंग इन तीनों को सम भाग ले के—

ओं प्रजापतये त्वा जुष्टं प्रोक्षामि ॥

अर्थात् धो के इनकी खिचड़ी बना, उसमें पुष्कल घी डाल के निम्नलिखित
मन्त्रों से ८ (आठ) आहुति देवें ॥

ओं धाता ददातु दाशुषे प्राचीं जीवातु मक्षितम् । वयं देवस्य धीमहि
सुमतिं वाजिनीवति स्वाहा ॥ इदं धात्रे-इदन्न मम ॥ १ ॥ अथर्व० कां०
७ । सू० १७ ॥ ओं धाता प्रजानामुत रायऽईशे धात्रेदं विश्वं भुवनं जजान ।
धाता कृष्टीरनिमिषाभिचष्टे धात्रऽइद्धव्यं घृतवज्जुहोत स्वाहा ॥ इदं धात्रे-
इदन्न मम ॥ २ ॥ ओं राकामहं सुहवां सुष्टुती हुवे शृणोतु नः सुभगा
बोधतु त्मना । सीव्यत्वपः सूच्याच्छिद्यमानया ददातु वीरं शतदायमुक्थ्यं
स्वाहा ॥ इदं राकायै-इदन्न मम ॥ ३ ॥ यास्ते राके सुमतयः सुपेशसो
याभिर्ददासि दाशुषे वसूनि । ताभिर्नो अद्य सुमना उपागहि सहस्रपोषं सुभगे
रराणा स्वाहा ॥ इदं राकायै-इदन्न मम ॥ ४ ॥ ऋ० मं० २ । सू० ३२ ।
मं० ४ । ५ ॥ नेजमेष परापत सुपुत्रः पुनरापत । अस्यै मे पुत्रकामायै
गर्भमाधेहि यः पुमान्स्वाहा ॥ ५ ॥ यथेयं पृथिवी मह्युत्ताना गर्भमादधे ।
एवं तं गर्भमाधेहि दशमे मासि सूतवे स्वाहा ॥ ६ ॥ विष्णोः श्रेष्ठेन रूपेणा-
स्यां नार्यां गवीन्याम् । पुमांसं पुत्रानाधेहि दशमे मासि सूतवे स्वाहा ॥७॥

इन सात मन्त्रों से खिचड़ी की सात आहुति देके पुनः (प्रजापते नत्व०)
पृष्ठ २४ में लिखित इससे एक, सब मिला के ८ (आठ) आहुति देवे और
पृष्ठ २३ में लिखे प्रमाणे (ओं प्रजापतये०) मन्त्र से एक भात की और पृष्ठ
२३ में लिखे प्रमाणे (ओं यदस्य कर्मणो०) मन्त्र से एक खिचड़ी की आहुति
देवे । तत्पश्चात् "ओं त्वन्नो अग्ने०" पृष्ठ २४-२५ में लिखे प्रमाणे ८
(आठ) घृत की आहुति और "ओं भूरग्नये" पृष्ठ २३ में लिखे प्रमाणे ४

(चार) व्याहृति मन्त्रों से चार आज्याहुति देकर पति और पत्नी एकान्त में जा के उत्तमासन पर बैठ पति पत्नी के पश्चात् पृष्ठ की ओर बैठ—

ओं सुमित्रिया न आप ओषधयः सन्तु । दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः ॥ १ ॥ यजु० अ० ६ । मं० २२ ॥

मूर्द्धानं दिवो अरतिं पृथिव्या वैश्वानरमृत आजातमग्निम् । कविꣳ सम्राजमतिथिं जनानामासन्ना पात्रं जनयन्त देवाः ॥ २ ॥ य० अ० ७ । मं० २४ ॥ ओं अयमूर्जावतो वृक्ष ऊर्जीव फलिनी भव । पर्णं वनस्पते नुत्वा नुत्वा सूयताꣳ रयिः ॥ ३ ॥ ओं येनादितेः सीमानं नयति प्रजापतिर्महते सौभगाय । तेनाहमस्यै सीमानं नयामि प्रजामस्यै जरदष्टिं कृणोमि ॥ ४ ॥ मन्त्रब्राह्मण । ब्रा० १ । ५ । १–२ ॥ ओं राकामहꣳसुहवाꣳ सुष्टुती हुवे शृणोतु नः सुभगा बोधतु । उपागंहि सहस्रपोषꣳ सुभगे रराणा ॥५॥ ओं किंपत्त्मना सीव्यत्वपः सूच्या छिद्यमानया ददातु वीरꣳ शतदायमुक्थ्यम् ॥ ६ ॥

ओं यास्ते राके सुमतयः सुपेशसो याभिर्ददासि दाशुषे वसूनि । ताभिर्नो अद्य सुमना उपागहि सहस्रपोषं सुभगे रराणा ॥ ... ओं यास्ते राके सुमतयः सुपेशसो याभिर्ददासि दाशुषे वसूनि । ताभिर्नो अद्य सुमनाश्रयसि प्रजां पशून्त्सौभाग्यं मह्यं दीर्घायुष्ट्वं पत्युः ॥ ७ ॥ ऋ० मं० २ । सू० ३२ ॥

इन मन्त्रों को पढ़के पति अपने हाथ से स्वपत्नी के केशों में सुगन्ध तैल डाल कंघे से सुधार हाथ में उदुम्बर अथवा अर्जुन वृक्ष की शलाका वा कुशा की मृदु छीपी वा शाही पशु के कांटे से अपनी पत्नी के केशों को स्वच्छ कर पट्टी निकाल और पीछे की ओर जूड़ा सुन्दर बांधकर यज्ञशाला में आवें–उस समय वीणा आदि बाजे बजवावे, तत्पश्चात् पृष्ठ २६ में लिखे प्रमाणे सामवेद का गान करें, पश्चात्—

ओं सोमएव नो राजेमा मानुषीः प्रजाः । अविमुक्त चक्र आसीरंस्तीरे तुभ्यं असौ * ॥ पारस्कर कां० १ । कं० १५ ॥

* यहां किसी नदी का नामोच्चारण करे ॥

आरम्भ में इस मन्त्र का गान करके पश्चात् अन्य मन्त्रों का गान करें तत्पश्चात् पूर्व आहुतियों के देने से बची हुई खिचड़ी में पुष्कल घृत डाल के गर्भिणी स्त्री अपना प्रतिविम्ब उस घी में देखे उस समय पति स्त्री से पूछे "किं पश्यसि" स्त्री उत्तर देवे "प्रजां पश्यामि" तत्पश्चात् एकान्त में वृद्ध कुलीन सौभाग्यवती पुत्रवती गर्भिणी अपने कुल की और ब्राह्मणों की स्त्रियां बैठें प्रसन्नवदन और प्रसन्नता की बातें करें और वह गर्भिणी स्त्री उस खिचड़ी को खावे और वे वृद्ध समीप बैठी हुई उत्तम स्त्री लोग ऐसा आशीर्वाद देवें ।

ओं वीरसूस्त्वं भव, जीवसूस्त्वं भव, जीवपत्नी त्वं भव ॥

ऐसे शुभ माङ्गलिक वचन बोलें तत्पश्चात् संस्कार में आये हुए मनुष्यों का यथायोग्य सत्कार करके स्त्री स्त्रियों और पुरुष पुरुषों को विदा करें ॥

इति सीमन्तोन्नयनसंस्कारविधिः समाप्तः

अथ जातकर्मसंस्कारविधिः

इसका समय और प्रमाण और कर्मविधि इस प्रकार करें ॥

सोष्यन्तीमद्भिरभ्युक्षति ॥ पा॰ कां॰ १ । कं॰ १६ ॥

इत्यादि पारस्कर गृह्यसूत्र का प्रमाण है इसी प्रकार आश्वलायन, गोभिलीय और शौनकगृह्यसूत्रों में भी लिखा है ॥

जब प्रसव होने का समय आवे तब निम्नलिखित मन्त्र से गर्भिणी स्त्री के शरीर पर जल से मार्जन करे—

ओं एजतु दशमास्यो गर्भो जरायुणा सह । यथा यं वायुरेजति यथा समुद्र एजति । एवायं दशमास्यो अस्रज्जरायुणा सह ॥ य॰ अ॰ ८ । मं॰ २८ ॥

इससे मार्जन करने के पश्चात्ः—

ओं अवैतु पृश्निशेवलꣳशुभे जराय्वत्तवे । नैव मांसेन पीवरीं न कस्मिंश्चनायतनमव जरायु पद्यताम् ॥

इस मन्त्र का जप करके पुनः मार्जन करे ।

कुमारं जातं पुराऽन्यैरालम्भात् सर्पिर्मधुनी हिरण्यनिकाषं हिरण्ययेन प्राशयेत् ॥

जब पुत्र का जन्म होवे तब प्रथम दायी आदि स्त्री लोग बालक के शरीर का जरायु पृथक् कर मुख, नासिका, कान, आंख आदि में से मल को शीघ्र दूर कर कोमल वस्त्र से पोंछ शुद्ध कर पिता के गोद में बालक को देवे पिता जहां वायु और शीत का प्रवेश न हो वहां बैठ के एक बीता भर नाड़ी को छोड़

ऊपर सूत से बांध के उस बन्धन के ऊपर से नाड़ीछेदन करके किञ्चित् उष्ण जल से बालक को स्नान करा शुद्ध वस्त्र से पूंछ नवीन शुद्ध वस्त्र पहिना, जो प्रसूता घर के बाहर पूर्वोक्त प्रकार कुण्ड कर रक्खा हो अथवा तांबे के कुण्ड में समिधा पूर्व लिखित प्रमाणे चयन कर पूर्वोक्त सामान्यविध्युक्त पृष्ठ २०—२१ में कहे प्रमाणे अग्न्याधान समिदाधान कर अग्नि को प्रदीप्त करके सुगन्धित घृतादि वेदी के पास रख के हाथ पग धोके एक पीठासन अर्थात् शुभासन पुरोहित * के लिये कुण्ड के दक्षिण भाग में रक्खे उस पर उत्तराभिमुख बैठे और यजमान अर्थात् बालक का पिता हाथ पग धोके वेदी के पश्चिम भाग में आसन बिछा उस पर उपवस्त्र ओढ़ के पूर्वाभिमुख बैठे तथा सब सामग्री अपने और पुरोहित के पास रख के पुरोहित पद के स्वीकार के लिये बोलेः—

ओम् आ वसोः सदने सीद ॥ तत्पश्चात् पुरोहितः—

ओं सीदामि ॥

बोल के आसन पर बैठ के पृष्ठ २१ में लिखे प्रमाणे "अयन्त इध्म०" ३ मन्त्रों से वेदी में चन्दन की समिदाधान करे और प्रदीप्त समिधा पर पूर्वोक्त सिद्ध किये घी की पृष्ठ २२—२३ में लिखे प्रमाणे आघारावाज्यभागाहुति ४ (चार) और व्याहृति आहुति ४ (चार) दोनों मिलके ८ (आठ) आज्याहुति देनी तत्पश्चात्ः—

ओं या तिरश्ची निपद्यते अहं विधरणी इति । तां त्वा घृतस्य धारया यजे सꣳराधनीमहम् । सꣳराधिन्यै देव्यै देष्ट्र्यै स्वाहा ॥ इदं संराधिन्यै-इदन्न मम ॥ ओं विपश्चित्पुच्छमभरत्तद्धाता पुनराहरत् । परे हि त्वं विपश्चित्पुमानयं जनिष्यतेऽसौ नाम स्वाहा ॥ इदं धात्रे-इदन्न मम ॥ मन्त्रब्राह्मण १ । ५ । ६ । ७ ॥

इन दोनों मन्त्रों से दो आज्याहुति करके पृष्ठ २६ में लिखे प्रमाणे वामदेव्य गान करके ४—८ पृष्ठ में लिखे प्रमाणे ईश्वरोपासना करे तत्पश्चात् घी

* धर्मात्मा शास्त्रोक्त विधि को पूर्णरीति से जाननेहारा विद्वान् सद्धर्मी कुलीन निर्व्यसनी सुशील वेदप्रिय पूजनीय सर्वोपरि गृहस्थ की पुरोहित संज्ञा है ।

और मधु दोनों बराबर मिला के जो प्रथम सोने की शलाका कर रक्खी हो उससे बालक की जीभ पर—

"ओ३म्"

यह अक्षर लिख के उसके दक्षिण कान में "वेदोसीति" तेरा गुप्त नाम वेद है ऐसा सुना के पूर्व मिलाये हुए घी और मधु को उस सोने की शलाका से बालक को नीचे लिखे मन्त्र से थोड़ा २ चटावेः—

ओं प्र ते ददामि मधुनो घृतस्य वेद सवित्रा प्रसूतं मघोनाम् । आयुष्मान् गुप्तो देवताभिः शतं जीव शरदो लोके अस्मिन् ॥ १ ॥ मेधां ते मित्रावरुणौ मेधामग्निर्दधातु ते । मेधां ते अश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजौ ॥ २ ॥ मं० ब्रा० १ । ५ । ६ ॥ ओं भूस्त्वयि दधामि ॥ ३ ॥ ओं भुवस्त्वयि दधामि ॥ ४ ॥ ओं स्वस्त्वयि दधामि ॥ ५ ॥ ओं भूर्भुवः स्वस्सर्वं त्वयि दधामि ॥ ६ ॥ पार० कां० १ । कं० १६ ॥ ओं सदसस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम् । सनिं मेधामयासिषꣳस्वाहा ॥ ७ ॥ ऋ० मं० १ । सू० १८ ॥

इन प्रत्येक मन्त्रों से सात वार घृत मधु प्राशन कराके तत्पश्चात् चावल और जव को शुद्ध कर पानी से पीस वस्त्र से छान एक पात्र में रख के हाथ के अंगूठा और अनामिका से थोड़ासा लेकेः—

ओ३म् इदमाज्यमिदमन्नमिदमायुरिदममृतम् ।

इस मन्त्र को बोल के बालक के मुख में एक विन्दु छोड़ देवे यह एक गोभिलीय गृह्यसूत्र का मत है सब का नहीं । पश्चात् बालक का पिता बालक के दक्षिण कान में मुख लगा के निम्नलिखित मन्त्र बोलेः—

ओं मेधान्ते देवः सविता मेधां देवी सरस्वती । मेधान्ते अश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजौ ॥ १ ॥ ओं अग्निरायुष्मान् स वनस्पतिभिरायुष्माँस्तेन त्वायुषायुष्मन्तं करोमि ॥ २ ॥ ओं सोमऽआयुष्मान् स ओषधीभिराय-

ष्माँस्तेन * ॥ ३ ॥ ओं ब्रह्मऽआयुष्मत् तद्ब्राह्मणैरायुष्मत्तेन० ॥ ४ ॥ ओं देवा आयुष्मन्तस्तेऽमृतेनायुष्मन्तस्तेन० ॥ ५ ॥ ओं ऋषय आयुष्मन्तस्ते व्रतैरायुष्मन्तस्तेन० ॥ ६ ॥ ओं पितर आयुष्मन्तस्ते स्वधाभिरायुष्मन्तस्तेन० ॥ ७ ॥ ओं यज्ञ आयुष्मान् स दक्षिणाभिरायुष्माँस्तेन० ॥ ८ ॥ ओं समुद्र आयुष्मान् स स्रवन्तीभिरायुष्माँस्तेन त्वायुषाऽऽयुष्मन्तं करोमि ॥ ९ ॥ पा० कां० १ । कं० १६ ॥

इन नव मन्त्रों का जप करे इसी प्रकार बायें कान पर मुख धर ये ही नव मन्त्र पुनः जपे इसके पीछे बालक के कन्धों पर कोमल स्पर्श से हाथ धर अर्थात् बालक के स्कन्धों पर हाथ का बोझा न पड़े धर के निम्नलिखित मन्त्र बोले—

ओं इन्द्र श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहि चित्तिं दक्षस्य सुभगत्वमस्मे । पोषं रयीणामरिष्टिं तनूनां स्वाद्मानं वाचः सुदिनत्वमह्नाम् ॥ १ ॥ ऋ० मं० २ । सू० २१ ॥ अस्मे प्रयन्धि मघवन्नृजीषिन्निन्द्र रायो विश्ववारस्य भूरेः । अस्मे शतं शरदो जीवसे धा अस्मे वीराञ्छश्वत इन्द्र शिप्रिन् ॥ २ ॥ ऋ० मं० ३ । सू० ३६ ॥ ओं अश्मा भव परशुर्भव हिरण्यमस्तृतं भव वेदो वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम् ॥ ३ ॥ मं० ब्रा० १ । ५ । १८ ॥

इन तीन मन्त्रों को बोले तत्पश्चात्:—

त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम् । यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नो अस्तु त्र्यायुषम् ॥ १ ॥ यजु० अ० ३ । मं० ६२ ॥

इस मन्त्र का तीन वार जप करे तत्पश्चात् बालक के स्कन्धा पर से हाथ उठा ले और जिस जगह पर बालक का जन्म हुवा हो वहां जा के:—

ओं वेद ते भूमिहृदयं दिवि चन्द्रमसि श्रितम् । वेदाहं तन्मां तद्विद्यात्पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳशृणुयाम शरदः शतम् ॥ १ ॥ पार० कां० ७ । कं० १६ ॥

* यहां पूर्व मन्त्र का शेष (त्वा०) इत्यादि उत्तर मन्त्रों के पश्चात् बोले ।

इस मन्त्र का जप करे तथाः—

यत्ते सुसीमे हृदयꣳ हितमन्तः प्रजापतौ । वेदाहं मन्ये तद्ब्रह्म माहं पौत्रमघं निगाम् ॥ २ ॥ यत्पृथिव्या अनामृतं दिवि चन्द्रमसि श्रितम् । वेदामृतस्येह नाममाहं पौत्रमघꣳ रिषम् ॥ ३ ॥ इन्द्राग्नी शर्म यच्छतं प्रजापती । यथायन्न प्रमीयते पुत्रो जनित्र्या अधि ॥ ४ ॥ यदद्श्चन्द्रमसि कृष्णं पृथिव्या हृदयꣳ श्रितम् । तदहं विद्वाꣳस्तत्पश्यन् माहं पौत्रमघꣳ रुदम् ॥५॥ मं० ब्रा० १ । ५ । १०–१३ ॥

इन मन्त्रों को पढ़ता हुआ सुगन्धित जल से प्रसूता के शरीर का मार्जन करे॥

कोसि कतमोस्येषोस्यमृतोसि । आहस्पत्यं मासं प्रविशासौ ॥ ६ ॥ स त्वाह्ने परिद्दात्वहस्त्वा रात्र्यै परिददातु रात्रिस्त्वाहोरात्राभ्यां परिददात्वहोरात्रे त्वार्द्धमासेभ्यः परिदत्तामर्द्धमासास्त्वा मासेभ्यः परिददतु मासास्त्वर्तुभ्यः परिददत्वृतवस्त्वा संवत्सराय परिददतु संवत्सरस्त्वायुषे जरायै परिददात्वसौ ॥ ७ ॥ मं० ब्रा० १ । ५ । १४–१५ ॥

इन मन्त्रों को पढ़ के बालक को आशीर्वाद देवे । पुनः—

अङ्गादङ्गात्सꣳ स्रवसि हृदयादधिजायसे । प्राणन्ते प्राणेन सन्दधामि जीव मे यावदायुषम् ॥ ८ ॥ अङ्गादङ्गात्संभवसि हृदयादधिजायसे । वेदो वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम् ॥ ९ ॥ अश्मा भव परशुर्भव हिरण्यमस्तृतं भव । आत्मासि पुत्र मामृथाः सजीव शरदः शतम् ॥ १० ॥ पशूनां त्वा हिंकारेणाभिजिघ्राम्यसौ ॥ ११ ॥ मं० ब्रा० १ । ५ । १६–१९ ॥

इन मन्त्रों को पढ़ के पुत्र के शिर का आघ्राण करे अर्थात् सूंघे इसी प्रकार जब परदेश से आवे वा जावे तब २ भी इस क्रिया को करे जिससे पुत्र और पिता माता में अति प्रेम बढ़े ॥

ओं इडासि मैत्रावरुणी वीरे वीरमजीजनथाः । सा त्वं वीरवती भव यास्मान्वीरवतोऽकरत् ॥ १ ॥ पारस्कर० कां० १ । कं० १६ ॥

इस मन्त्र से ईश्वर की प्रार्थना करके प्रसूता स्त्री को प्रसन्न करके पश्चात् स्त्री के दोनों स्तन किञ्चित् उष्ण सुगन्धित जल से प्रक्षालन कर पोंछ के:—

ओं इमꣳस्तनमूर्ज्जस्वन्तं धयापां प्रपीनमग्ने शरीरस्य मध्ये । उत्सं जुषस्व मधुमन्तमर्वन्त्समुद्रियꣳ सदनमाविशस्व ॥१॥ यजु० अ० १७ । ८७॥

इस मन्त्र को पढ़ के दक्षिण स्तन प्रथम बालक के मुख में देवे इसके पश्चात्:—

ओं यस्ते स्तनः शशयो यो मयोभूर्येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि । यो रत्नधा वसुविद्यः सुदत्रः सरस्वति तमिह धातवे कः ॥ १ ॥ ऋ० १ । सू० १६४ । मं० ४९ ॥

इस मन्त्र को पढ़ के वाम स्तन बालक के मुख में देवे तत्पश्चात्:—

ओं आपो देवेषु जागृथ यथा देवेषु जागृथ । एवमस्याꣳ सूतिकायाꣳ सपुत्रिकायां जागृथ ॥ १ ॥ पारस्कर० कां० १ । कं० १६ ॥

इस मन्त्र से प्रसूता स्त्री के शिर की ओर एक कलश जल से पूर्ण भर के दश रात्रि तक वहीं धर रक्खे तथा प्रसूता स्त्री प्रसूत स्थान में दश दिन तक रहे वहां नित्य सायं और प्रातःकाल सन्धिवेला में निम्नलिखित दो मन्त्रों से भात और सरसों मिला के दश दिन तक बराबर आहुतियां देवे ॥

ओं शण्डामर्काउपवीरः शौण्डिकेयऽउलूखलः । मलिम्लुचो द्रोणासश्च्यवनो नश्यतादितः स्वाहा ॥ इदं शण्डामर्काउपवीराय, शौण्डिकेयायोलूखलाय, मलिम्लुचो द्रोणसश्च्यवनोनश्यतादितेभ्यश्च—इदन्न मम ॥ १ ॥ ओं आलिखन्ननिमिषः किं वदन्त उपश्रुतिः । हर्यक्षः कुम्भीशत्रुः पात्रपाणिर्नृमणिर्हन्त्रीमुखः सर्षपारुणश्च्यवनो नश्यतादितः स्वाहा ॥ इदमालिखन्ननिमिषाय किंवद्भ्य उपश्रुतहर्यक्षाय कुम्भीशत्रवे पात्रपाणये नृमणये हन्त्रीमुखाय सर्षपारुणाय—इदन्न मम ॥ २ ॥ पारस्कर० कां० १ । कं० १६ ॥

इन मन्त्रों से १० दिन तक होम करके पश्चात् अच्छे २ विद्वान् धार्मिक वैदिक मत वाले बाहर खड़े रहकर और बालक का पिता भीतर रहकर आशीर्वादरूपी नीचे लिखे मन्त्रों का पाठ आनन्दित हो के करें ॥

मा नो हासिषुर्ऋषयो दैव्या ये तनूपा ये नस्तन्वस्तनूजाः । अमर्त्या मर्त्यां अभि नः सचध्वमायुर्धत्त प्रतरं जीवसे नः ॥ अथर्व० कां० ६ । अनु० ४ । सू० ४१ ॥ इदं जीवेभ्यः परिधिं दधामि मैषां नु गादपरो अर्थमेतम् । शतं जीवन्तः शरदः पुरूचीस्तिरो मृत्युं दधतां पर्वतेन ॥ २ ॥ अथर्व० कां० १२ । अ० २ । मं० २३ ॥ विश्वसान्नो अभयं कृणोतु यः सुत्रामा जीरदानुः सुदानुः इहम वीरा बहवा भवन्तु गोमदश्ववन्मय्यस्तु पुष्टम् ॥ ३ ॥ अथर्व० कां० १८ । अनु० ३ । मं० ६१ ॥

इति जातकर्मसंस्कारविधिः समाप्तः

अथ
नामकरणसंस्कारविधिं वक्ष्यामः

अत्र प्रमाणम् । नाम चास्मै दद्युः ॥ १ ॥ घोषवदाद्यन्तरन्तःस्थमभि निष्ठानान्तं द्व्यक्षरम् ॥ २ ॥ चतुरक्षरं वा ॥ ३ ॥ द्व्यक्षरं प्रतिष्ठाकामश्चतुरक्षरं ब्रह्मवर्चसकामः ॥ ४ ॥ युग्मानि त्वेव पुंसाम् ॥ ५ ॥ अयुजानि स्त्रीणाम् ॥ ६ ॥ अभिवादनीयं च समीक्षेत तन्मातापितरौ विदध्यातामोपनयनात् ॥ ७ ॥ इत्याश्वलायनगृह्यसूत्रेषु ।

दशम्यामुत्थाप्य पिता नाम करोति द्व्यक्षरं चतुरक्षरं वा घोषवदाद्यन्तरन्तःस्थं दीर्घाभिनिष्ठानान्तं कृतं कुर्यान्न तद्धितमयुजाक्षरमाकारान्तꣳस्त्रियै शर्म ब्राह्मणस्य वर्म क्षत्रियस्य गुप्तेति वैश्यस्य ॥

इसी प्रकार गोभिलीय और शौनक गृह्यसूत्र में भी लिखा हैः—

नामकरण अर्थात् जन्मे हुए बालक का सुन्दर नाम धरे । नामकरण का काल जिस दिन जन्म हो उस दिन से लेके १० दिन छोड़ ११ में वा १०१ (एकसौ एक) में अथवा दूसरे वर्ष के आरम्भ में जिस दिन जन्म हुआ हो नाम धरे जिस दिन नाम धरना हो उस दिन अति प्रसन्नता से इष्ट मित्र हितैषी लोगों को बुला यथावत् सत्कार कर क्रिया का आरम्भ यजमान बालक का पिता और ऋत्विज करें । पुनः पृष्ठ ४—२६ में लिखे प्रमाणे सब मनुष्य ईश्वरोपासना, स्वस्तिवाचन, शान्तिप्रकरण और सामान्यप्रकरणस्थ संपूर्ण विधि करके आघारावाज्यभागाहुति ४ (चार) और व्याहृति आहुति ४ (चार) और पृष्ठ २४-२५ में लिखे प्रमाणे (त्वन्नो अग्ने०) इत्यादि आठ मन्त्रों से ८ (आठ) आहुति अर्थात् सब मिला के १६ घृताहुति करें । तत्पश्चात् बालक को शुद्ध स्नान करा शुद्ध वस्त्र पहिनाके उसकी माता कुण्ड के समीप बालक के पिता के पीछे से

आ दक्षिण भाग में होकर बालक का मस्तक उत्तर दिशा में रख के बालक के पिता के हाथ में देवे और स्त्री पुनः उसी प्रकार पति के पीछे होकर उत्तर भाग में पूर्वाभिमुख बैठे। तत्पश्चात् पिता उस बालक को उत्तर में शिर और दक्षिण में पग करके अपनी पत्नी को देवे। पश्चात् जो उसी संस्कार के लिये कर्त्तव्य हो उस प्रथम प्रधान होम को करे। पूर्वोक्त प्रकार घृत और सब साकल्य सिद्ध कर रक्खे उसमें से प्रथम घी का चमसा भर के–

(ओं प्रजापतये स्वाहा)

इस मन्त्र से १ आहुति देकर पीछे जिस तिथि जिस नक्षत्र में बालक का जन्म हुआ हो उस तिथि और उस नक्षत्र का नाम लेके, उस तिथि और उस नक्षत्र के देवता के नाम से ४ (चार) आहुति देनी अर्थात् एक तिथि दूसरी तिथि के देवता, तीसरी नक्षत्र और चौथी नक्षत्र के देवता के नाम से अर्थात् तिथि नक्षत्र और उनके देवताओं के नाम के अन्त में चतुर्थी विभक्ति का रूप और स्वाहान्त बोल के ४ (चार) घी की आहुति देवे, जैसे किसी का जन्म प्रतिपदा और अश्विनी नक्षत्र में हुआ हो तोः–

ओं प्रतिपदे स्वाहा। ओं ब्रह्मणे स्वाहा। ओं अश्विन्यै स्वाहा। ओं अश्विभ्यां स्वाहा * ॥ गोभि० प्र० २। खं० ८। सू० ६–१२॥

---

* **तिथिदेवताः**–१ ब्रह्मन्। २-त्वष्टृ। ३-विष्णु। ४-यम। ५-सोम। ६-कुमार। ७-मुनि। ८-वसु। ९-शिव। १०-धर्म। ११-रुद्र। १२-वायु। १३-काम। १४-अनन्त। १५-विश्वेदेव। ३०-पितर॥

नक्षत्रदेवताः–अश्विनी-अश्वी। भरणी-यम। कृत्तिका-अग्नि। रोहिणी-प्रजापति। मृगशीर्ष-सोम। आर्द्रा-रुद्र। पुनर्वसु-अदिति। पुष्य-बृहस्पति। अश्लेषा-सर्प। मघा-पितृ। पूर्वाफल्गुनी-भग। उत्तराफल्गुनी-अर्यमन्। हस्त-सवितृ। चित्रा-त्वष्टृ। स्वाति-वायु। विशाखा-चन्द्राग्नी। अनुराधा-मित्र। ज्येष्ठा-इन्द्र। मूल-निर्ऋति। पूर्वाषाढा-अप्। उत्तराषाढा-विश्वेदेव। श्रवण-विष्णु। धनिष्ठा-वसु। शतभिषज्-वरुण। पूर्वाभाद्रपदा-अजपाद। उत्तराभाद्रपदा-अहिर्बुध्न्य। रेवती-पूषन्॥

तत्पश्चात् पृष्ठ २३ में लिखी हुई स्विष्टकृत मन्त्र से एक आहुति और पृष्ठ २३ में लिखे प्रमाणे ४ (चार) व्याहृति आहुति दोनों मिल के ५ आहुति देके तत्पश्चात् माता बालक को लेके शुभ आसन पर बैठे और पिता बालक के नासिका द्वार से बाहर निकलते हुए वायु का स्पर्श करके—

कोऽसि कतमोऽसि कस्यासि को नामासि । यस्य ते नामामन्महि यं त्वा सोमेनातीतृपाम । भूर्भुवः स्वः सुप्रजाः प्रजाभिः स्याꣳ सुवीरो वीरैः सुपोषः पोषैः ॥ यजु० अ० ७ । मं० २९ ॥

ओं कोऽसि कतमोऽस्येषोऽस्यमृतोऽसि । आहस्पत्यं मासं प्रविशासौ ॥ मं० ब्रा० १ । ५ । १४ ॥

जो यह "असौ" पद है इसके पीछे बालक का ठहराया हुआ नाम अर्थात् जो पुत्र हो तो नीचे लिखे प्रमाणे दो अक्षर का वा चार अक्षर का घोषसंज्ञक और अन्तःस्थ वर्ण अर्थात् पांचों वर्गों के दो २ अक्षर छोड़ के तीसरा, चौथा, पांचवां और य, र, ल, व, ये चार वर्ण नाम में अवश्य आवें * । जैसे देव अथवा जयदेव ब्राह्मण हो तो देवशर्मा क्षत्रिय हो तो देववर्मा वैश्य हो तो देव-

* ग, घ, ङ, ज, झ, ञ, ड, ढ, ण, द, ध, न, ब, भ, म, ये स्पर्श और य, र, ल, व, ये चार अन्तःस्थ और हर एक ऊष्मा, इतने अक्षर नाम में होने चाहियें और स्वरों में से कोई भी स्वर हो जैसे (भद्रः, भद्रसेनः, देवदत्तः, भवः, भवनाथः, नागदेवः, रुद्रदत्तः, हरिदेवः) इत्यादि पुरुषों का समाक्षर नाम रखना चाहिये तथा स्त्रियों का विषमाक्षर नाम रक्खे अन्त्य में दीर्घस्वर और तद्धितान्त भी होवे, जैसे (श्रीः, ह्रीः, यशोदा, सुखदा, गान्धारी, सौभाग्यवती, कल्याणक्रीडा) इत्यादि परन्तु स्त्रियों के इस प्रकार के नाम कभी न रक्खें उसमें प्रमाण (नर्क्षवृक्षनदीनाम्नीं नान्त्यपर्वतनामिकाम् । न पक्ष्यहिप्रेष्यनाम्नीं न च भीषणनामिकाम्) ॥ १ ॥ मनुस्मृतौ । (ऋक्ष) रोहिणी, रेवती इत्यादि, (वृक्ष) चम्पा, तुलसी इत्यादि, (नदी) गंगा, यमुना, सरस्वती इत्यादि, (अन्त्य) चांडाली इत्यादि, (पर्वत) विन्ध्याचला, हिमालया इत्यादि, (पक्षी) कोकिला, हंसा इत्यादि, (अहि) सर्पिणी, नागी इत्यादि, (प्रेष्य) दासी, किंकरी इत्यादि, (भयंकर) भीमा, भयंकरी, चण्डिका इत्यादि नाम निषिद्ध हैं ॥

गुप्त और शूद्र हो तो देवदास इत्यादि और जो स्त्री हो तो एक तीन वा पांच अक्षर का नाम रक्खे श्री, ह्री, यशोदा, सुखदा, सौभाग्यप्रदा इत्यादि नामों को प्रसिद्ध बोल के पुनः "असौ" पद के स्थान में बालक का नाम धर के पुनः "ओं कोसि०" ऊपर लिखित मन्त्र बोलना ।

ओं स त्वाह्ने परिददात्वहस्त्वा रात्र्यै परिददातु रात्रिस्त्वाहोरात्राभ्यां परिददात्वहोरात्रौ त्वार्द्धमासेभ्यः परिदत्तामर्द्धमासास्त्वा मासेभ्यः परिददतु मासास्त्वर्त्तुभ्यः परिददत्वृतवस्त्वा संवत्सराय परिददतु संवत्सरस्त्वायुषे जरायै परिददातु, असौ ॥ मं० ब्रा० १ । ५ । १५ ॥

इन मन्त्रों से बालक को जैसा जातकर्म में लिख आये हैं वैसे आशीर्वाद देवे. इस प्रमाणे बालक का नाम रखके संस्कार में आये हुए मनुष्यों को वह नाम सुना के पृष्ठ २६ में लिखे प्रमाणे महावामदेव्यगान करे तत्पश्चात् कार्यार्थ आये हुए मनुष्यों को आदर सत्कार करके विदा करे और सब लोग जाते समय पृष्ठ ४—८ में लिखे प्रमाणे परमेश्वर की स्तुति प्रार्थनोपासना करके बालक को आशीर्वाद देवें कि—

"हे बालक ! त्वमायुष्मान् वर्चस्वी तेजस्वी श्रीमान् भूयाः"

हे बालक ! तू आयुष्मान् विद्यावान् धर्मात्मा यशस्वी पुरुषार्थी प्रतापी परोपकारी श्रीमान् हो ॥

इति नामकरणसंस्कारविधिः समाप्तः

अथ

निष्क्रमणसंस्कारविधिं वक्ष्यामः

निष्क्रमण संस्कार उसको कहते हैं कि जो बालक को घर से जहां का वायु-स्थान शुद्ध हो वहां भ्रमण कराना होता है उसका समय जब अच्छा देखे तभी बालक को बाहर घुमावें अथवा चौथे मास में तो अवश्य भ्रमण करावें इसमें प्रमाणः—

चतुर्थे मासि निष्क्रमणिका सूर्यमुदीक्षयति तच्चक्षुरिति ॥

यह आश्वलायनगृह्यसूत्र का वचन है ॥

जननाद्यस्तृतीयो ज्यौत्स्नस्तस्य तृतीयायाम् ॥

यह पारस्करगृह्यसूत्र में भी है ॥

अर्थः—निष्क्रमण संस्कार के काल के दो भेद हैं एक बालक के जन्म के पश्चात् तीसरे शुक्लपक्ष की तृतीया और दूसरा चौथे महीने में जिस तिथि में बालक का जन्म हुआ हो उस तिथि में यह संस्कार करे ।

उस संस्कार के दिन प्रातःकाल सूर्योदय के पश्चात् बालक को शुद्ध जल से स्नान करा शुद्ध सुन्दर वस्त्र पहिनावे पश्चात् बालक को यज्ञशाला में बालक की माता ले आके पति के दक्षिण पार्श्व में होकर पति के सामने आकर बालक का मस्तक उत्तर और छाती ऊपर अर्थात् चित्ता रख के पति के हाथ में देवे पुनः पति के पीछे की ओर घूम के बायें पार्श्व में पश्चिमाभिमुख खड़ी रहै—

ओं यत्ते सुसीमे हृदयꣳ हितमन्तः प्रजापतौ । वेदाहं मन्ये तद्ब्रह्म माहं पौत्रमघं निगाम् ॥ १ ॥ ओं यत्पृथिव्या अनामृतं दिवि चन्द्रमसि श्रितम् । वेदामृतस्याह नाममाहं पौत्रमघꣳ रिषम् ॥ २ ॥ ओं इन्द्राग्नी शर्म यच्छतं

प्रजापती । यथा यन्न प्रमीयेत पुत्रो जानित्र्या अधि ॥ ३ ॥ मं० ब्रा० १ । ५ । १०-१२ ॥

इन तीन मन्त्रों से परमेश्वर की आराधना करके पृष्ठ ४-२६ में लिखे प्रमाणे परमेश्वरोपासना, स्वस्तिवाचन, शान्तिप्रकरण आदि सामान्यप्रकरणोक्त समस्त विधि कर और पुत्र को देख के इन निम्नलिखित तीन मन्त्रों से पुत्र के शिर को स्पर्श करेः-

ओं अङ्गादङ्गात्सम्भवसि हृदयादधिजायसे । आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम् ॥ १ ॥ ओं प्रजापतेष्ट्वा हिंकारेणावजिघ्रामि सहस्रायुषाऽसौ जीव शरदः शतम् ॥ २ ॥ गवां त्वा हिंकारेणावजिघ्रामि । सहस्रायुषाऽसौ जीव शरदः शतम् ॥ ३ ॥ पार० कां० १ । कं० १८ ॥

तथा निम्नलिखित मन्त्र बालक के दक्षिण कान में जपेः-

अस्मे प्रयन्धि मघवन्नृजीषिन्निन्द्र रायो विश्ववारस्य भूरेः । अस्मे शतꣳ शरदो जीवसे धा अस्मे वीराञ्छश्वत इन्द्र शिप्रिन् ॥ १ ॥ ऋ० मं० ३ । सू० ३६ । मं० १० ॥

इन्द्र श्रेष्ठा॑नि द्रवि॑णानि धेहि चित्तिं दक्ष॑स्य सुभग॒त्वम॒स्मे । पोषं॑ रयी॒णामरि॑ष्टिं त॒नूनां॑ स्वा॒द्मानं॑ वा॒चः सु॑दिन॒त्वमह्ना॑म् ॥ २ ॥ ऋ० मं० २ । सू० २१ । मं० ६ ॥

इस मन्त्र को वाम कान में जप के पत्नी की गोद में उत्तर दिशा में शिर और दक्षिण दिशा में पग करके बालक को देवे और मौन करके स्त्री के शिर का स्पर्श करे तत्पश्चात् आनन्दपूर्वक उठ के बालक को सूर्य का दर्शन करावे और निम्नलिखित मन्त्र वहां बोलेः-

ओं तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् । पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ॥ १ ॥ य० ३६ । मं० २४ ॥

इस मन्त्र को बोल के थोड़ासा शुद्ध वायु में भ्रमण कराके यज्ञशाला में ला सब लोगः—

त्वं जीव शरदः शतं वर्धमानः ।

इस वचन को बोल के आशीर्वाद देवें तत्पश्चात् बालक के माता और पिता संस्कार में आये हुए स्त्रियों और पुरुषों का यथायोग्य सत्कार करके विदा करें तत्पश्चात् जब रात्रि में चन्द्रमा प्रकाशमान हो तब बालक की माता लड़के को शुद्ध वस्त्र पहिना दाहिनी ओर से आगे आके पिता के हाथ में बालक को उत्तर की ओर शिर और दक्षिण की ओर पग करके देवे और बालक की माता दाहिनी ओर से लौट कर बाईं ओर आ अञ्जलि भर के चन्द्रमा के सन्मुख खड़ी रह के—

ओं यददश्चन्द्रमासि कृष्णं पृथिव्या हृदयꣳ श्रितम् । तदहं विद्वाꣳस्तत्पश्यन्माहं पौत्रमघꣳ रुदम् ॥ १ ॥ मं० ब्रा० १ । ५ । १२ ॥

इस मन्त्र से परमात्मा की स्तुति करके जल को पृथिवी पर छोड़ देवे तत्पश्चात् बालक की माता पुनः पति के पृष्ठ की ओर से पति के दाहिने पार्श्व से सन्मुख आके पति से पुत्र को लेके पुनः पति के पीछे होकर बाईं ओर आ बालक का उत्तर की ओर शिर दक्षिण की ओर पग रखके खड़ी रहै और बालक का पिता जल की अञ्जलि भर (ओं यददश्च०) इसी मन्त्र से परमेश्वर की प्रार्थना करके जल को पृथिवी पर छोड़ के दोनों प्रसन्न होकर घर में आवें ॥

इति निष्क्रमणसंस्कारविधिः समाप्तः

अथान्नप्राशनविधिं वक्ष्यामः

अन्नप्राशन संस्कार तभी करे जब बालक की शक्ति अन्न पचाने योग्य होवे। इसमें आश्वलायन गृह्यसूत्र का प्रमाण—

षष्ठे मास्यन्नप्राशनम् ॥ १ ॥ घृतौदनं तेजस्कामः ॥ २ ॥ दधिमधुघृतमिश्रितमन्नं प्राशयेत् ॥ ३ ॥

इसी प्रकार पारस्करगृह्यसूत्रादि में भी है।

छठे महीने बालक को अन्नप्राशन करावे जिसको तेजस्वी बालक करना हो वह घृतयुक्त भात अथवा दही सहत और घृत तीनों भात के साथ मिला के निम्नलिखित विधि से अन्नप्राशन करावे अर्थात् पूर्वोक्त पृष्ठ ४—२६ में कहे हुए संपूर्ण विधि को करके जिस दिन बालक का जन्म हुआ हो उसी दिन यह संस्कार करे और निम्न लिखे प्रमाणे भात सिद्ध करे ॥

ओं प्राणाय त्वा जुष्टं प्रोक्षामि। ओं अपानाय त्वा०। ओं चक्षुषे त्वा०। ओं श्रोत्राय त्वा०। ओं अग्नये स्विष्टकृते त्वा० ॥

इन पांच मन्त्रों का यही अभिप्राय है कि चावलों को धो शुद्ध करके अच्छे प्रकार बनाना और पकते हुए भात में यथायोग्य घृत भी डाल देना जब अच्छे प्रकार पक जावें तब उतार थोड़े ठण्डे हुए पश्चात् होमस्थाली में—

ओं प्राणाय त्वा जुष्टं निर्वपामि। ओम् अपानाय त्वा०। ओं चक्षुषे त्वा०। ओं श्रोताय त्वा०। ओं अग्नये स्विष्टकृते त्वा० ॥ ५ ॥

इन पांच मन्त्रों से कार्यकर्त्ता यजमान और पुरोहित तथा ऋत्विजों को पात्र में पृथक् २ देके पृष्ठ २०—२१ में लिखे प्रमाणे अग्न्याधान समिदाधानादि करके प्रथम आघारावाज्यभागाहुति ४ (चार) और व्याहृति आहुति ४

(चार) मिल के ८ (आठ) घृत की आहुति देके पुनः उस पकाये हुए भात की आहुति नीचे लिखे हुए मन्त्रों से देवे ॥

दे॒वीं वाच॑मजनयन्त दे॒वास्तां वि॒श्वरू॑पाः प॒शवो॑ वदन्ति । सा नो॑ म॒न्द्रेष॒मूर्जं॒ दुहा॑ना धे॒नुर्वाग॒स्मानुप॒ सुष्टु॒तैतु॒ स्वाहा॑ ॥ इदं वाचे–इदन्न मम ॥ १ ॥ ऋ० मं० ८ । सू० १०० ॥ वाजो नोऽअद्य प्रसुवाति दानं वाजो देवाँ ऋतुभिः कल्पयाति । वाजो हि मा सर्ववीरं जजान विश्वा आशा वाजपतिर्जयेयꣳ स्वाहा । इदं वाचे वाजाय–इदन्न मम ॥ २ ॥ य० अ० १८ । मं० ३३ ॥

इन दो मन्त्रों से दो आहुति देवें तत्पश्चात् उसी भात में और घृत डाल के–

ओं प्राणेनान्नमशीय स्वाहा ॥ इदं प्राणाय–इदन्न मम ॥ १ ॥ ओं अपानेन गन्धानमशीय स्वाहा ॥ इदमपानाय–इदन्न मम ॥ २ ॥ ओं चक्षुषा रूपाण्यशीय स्वाहा ॥ इदं चक्षुषे–इदन्न मम ॥ ३ ॥ ओं श्रोत्रेण यशोऽशीय स्वाहा ॥ इदं श्रोत्राय–इदन्न मम ॥ ४ ॥ पार० कां० १ । कं० १६ ॥

इन मन्त्रों से चार आहुति देके (ओं यदस्य कर्मणो०) पृष्ठ २३ में लि० स्विष्टकृत् आहुति एक देवे तत्पश्चात् पृष्ठ २३ में लि० व्याहृति आहुति ४ (चार) और पृष्ठ २४–२५ में लिखे (ओं त्वन्नो०) इत्यादि से ८ (आठ) आज्याहुति मिल के १२ (बारह) आहुति देवे । उसके पीछे आहुति से बचे हुए भात में दही मधु और उसमें घी यथायोग्य किंचित् २ मिला के और सुगन्धियुक्त और भी चावल बनाये हुए थोड़े से मिला के बालक के रुचि प्रमाणे–

ओं अन्नपतेऽन्नस्य नो देह्यनमीवस्य शुष्मिणः । प्रप्रदातारं तारिष ऊर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे ॥ १ ॥ य० अ० ११ । मं० ८३ ॥

इस मन्त्र को पढ़ के थोड़ा २ पूर्वोक्त भात बालक के मुख में देवे यथारुचि खिला बालक का मुख धो और अपने हाथ धो के पृष्ठ २६ में लि० महावामदेव्यगान करके जो बालक के माता पिता और अन्य वृद्ध स्त्री पुरुष आये हों वे परमात्मा की प्रार्थना करके—

त्वमन्नपतिरन्नादो वर्धमानो भूयाः ।

इस वाक्य से बालक को आशीर्वाद देके पश्चात् संस्कार में आये हुए पुरुषों का सत्कार बालक का पिता और स्त्रियों का सत्कार बालक की माता करके सब को प्रसन्नतापूर्वक विदा करें ॥

इत्यन्नप्राशनसंस्कारविधिः समाप्तः

अथ चूड़ाकर्मसंस्कारविधिं वक्ष्यामः

यह आठवां संस्कार चूड़ाकर्म है जिस को केशच्छेदन संस्कार भी कहते हैं इसमें आश्वलायन गृह्यसूत्र का मत ऐसा है:—

तृतीये वर्षे चौलम् ॥ १ ॥ उत्तरतोऽग्नेर्व्रीहियवमाषतिलानां शरावाणि निदधाति ॥ २ ॥

इसी प्रकार पारस्कर गृह्यसूत्रादि में भी है ॥

सांवत्सरिकस्य चूड़ाकरणम् ॥

इसी प्रकार गोभिलीय गृह्यसूत्र का भी मत है, यह चूड़ाकर्म अर्थात् मुण्डन बालक के जन्म से तीसरे वर्ष वा एक वर्ष में करना उत्तरायणकाल शुक्लपक्ष में जिस दिन आनन्द मङ्गल हो उस दिन यह संस्कार करे। विधिः—

आरम्भ में पृष्ठ ४—२६ में लिखित विधि करके चार शरावे ले एक में चावल, दूसरे में यव, तीसरे में उर्द और चौथे शरावे में तिल भर के वेदी के उत्तर में धर देवे, धर के पृष्ठ २२ में लिखे प्रमाणे "ओं अदितेऽनुमन्यस्व०" इत्यादि तीन मन्त्रों से कुण्ड के तीन बाजू और पृष्ठ २२ में लिखे प्रमाणे "ओं देव सवितः प्रसुव०" इस मन्त्र से कुण्ड के चारों ओर जल छिटका के पूर्व पृष्ठ २०—२१ में लिखित अग्न्याधान समिदाधान कर अग्नि को प्रदीप्त करके जो समिधा प्रदीप्त हुई हो उस पर लक्ष्य देकर पृष्ठ २२—२३ में आघारावाज्यभागाहुति ४ (चार) और व्याहृति आहुति ४ (चार) और पृष्ठ २४—२५ में लि० आठ आज्याहुति सब मिल के सोलह (१६) आहुति देके पृष्ठ २४ में लिखे प्रमाणे "ओं भूर्भुवः स्वः। अग्न आयूंषि०" इत्यादि मन्त्रों से चार आज्याहुति प्रधान होम की देके पश्चात् पृष्ठ २३ में लिखे प्रमाणे व्याहृति आहुति ४ और स्विष्टकृदग्नि मन्त्र से एक आहुति मिल के पांच घृत

की आहुति देवे, इतनी क्रिया करके कर्मकर्त्ता परमात्मा का ध्यान करके नाई की ओर प्रथम देख के:—

ओं आयमगन्त्सविता क्षुरेणोष्णेन वाय उदकेनेहि। आदित्या रुद्रा वसव उन्दन्तु सचेतसः सोमस्य राज्ञो वपत प्रचेतसः ॥ १ ॥ अथर्व० कां० ६। सू० ६८ ॥

इस मन्त्र का जप करके पिता बालक के पृष्ठभाग में बैठ के किञ्चित् उष्ण और किञ्चित् ठण्ढा जल दोनों पात्रों में लेके "उष्णेन वाय उदकेनेधि। पार० कां० २। कं० १।" इस मन्त्र को बोल के दोनों पात्रों का जल एक पात्र में मिला देवे पश्चात् थोड़ा जल, थोड़ा माखन अथवा दही की मलाई ले के—

ओं अदितिः श्मश्रु वपत्वाप उन्दन्तु सचेतसः। चिकित्सतु प्रजापतिर्दीर्घायुत्वाय चक्षसे ॥ १ ॥ अथर्व० कां० ६। सू० ६८ ॥

ओं सवित्रा प्रसूता दैव्य आप उन्दन्तु। ते तनूं दीर्घायुत्वाय वर्चसे॥२॥ पारस्कर० कां० २। कं० १ ॥

इन मन्त्रों को बोल के बालक के शिर के बालों में तीन वार हाथ फेर के केशों को भिगोवे तत्पश्चात् कंघा लेके केशों को सुधार के इकट्ठा करे अर्थात् बिखरे न रहें तत्पश्चात् "ओं ओषधे त्रायस्व एनꣳ मैनꣳहिꣳसीः ॥ य० अ० ४। मं० १ ॥" इस मन्त्र को बोल के तीन दर्भ लेके दाहिनी बाजू के केशों के समूह को हाथ से दबा के "ओं विष्णोर्दꣳष्ट्रोसि ॥ मं० ब्रा० १। ६। ४ ॥" इस मन्त्र से छुरे की ओर देख के—

ओं शिवो नामासि स्वधितिस्ते पिता नमस्तेऽअस्तु मा मा हिꣳसीः ॥ य० अ० ३। मं० ६३ ॥

इस मन्त्र को बोल के छुरे को दाहिने हाथ में लेवे तत्पश्चात्—

ओं स्वधिते मैनꣳहिꣳसीः ॥ य० अ० ४। मं० १ ॥

ओं निवर्त्तयाम्यायुषेऽन्नाद्याय प्रजननाय रायस्पोषाय सुप्रजास्त्वाय सुवीर्याय ॥ य० अ० ३ । मं० ६३ ॥

इन दो मन्त्रों को बोल के उस छुरे और उन कुशाओं को केशों के समीप लेजाके—

ओं येनावपत्सविता क्षुरेण सोमस्य राज्ञो वरुणस्य विद्वान् । तेन ब्रह्माणो वपतेदमस्य गोमानश्ववानयमस्तु प्रजावान् ॥ अथर्व० कां० ६ । सू० ६८ ॥

इस मन्त्र को बोल के कुशासहित उन केशों को [illegible]* और वे काटे हुए केश और दर्भ शमीवृक्ष के पत्र सहित अर्थात् यहां शमीवृक्ष के पत्र भी प्रथम से रखने चाहियें उन सब को लड़के का पिता और लड़के की मा एक शरावा में रक्खे और कोई केश छेदन करते समय उड़ा हो उसको गोबर से उठा के शरावा में अथवा उसके पास रक्खे तत्पश्चात् इसी प्रकार—

ओं येन धाता बृहस्पतेरग्नेरिन्द्रस्य चायुषेऽवपत् । तेन त आयुषे वपामि सुश्लोक्याय स्वस्तये ॥

इस मन्त्र से दूसरी वार केश का समूह दूसरी ओर का काट के उसी प्रकार शरावा में रक्खे तत्पश्चात्—

ओं येन भूयश्च रात्र्यां ज्योक् च पश्याति सूर्यम् । तेन त आयुषे वपामि सुश्लोक्याय स्वस्तये ॥

इस मन्त्र से तीसरी वार उसी प्रकार केशसमूह को काट के उपरि उक्त तीन मन्त्रों अर्थात् "ओं येनावपत्०" "ओं येन धाता०" "ओं येन भूयश्च०" और—

* केशछेदन की रीति ऐसी है कि दर्भ और केश दोनों युक्ति से पकड़ कर अर्थात् दोनों ओर से पकड़ के बीच में से केशों को छुरे से काटे यदि छुरे के बदले कैंचा से काटे तो भी ठीक है ॥

ओं येन पूषा बृहस्पतेर्वायोरिन्द्रस्य चावपत। तेन ते वपामि ब्रह्मणा जीवातवे जीवनाय दीर्घायुष्ट्वाय ॥

इस एक, इन चार मन्त्रों को बोल के चौथी वार इसी प्रकार केशों के समूहों को काटे अर्थात् प्रथम दक्षिण बाजू के केश काटने का विधि पूर्ण हुए पश्चात् बाईं ओर के केश काटने का विधि करे तत्पश्चात् उसके पीछे आगे के केश काटे परन्तु चौथी वार काटने में "येन पूषा०" इस मन्त्र के बदले—

ओं येन भूरि[illegible]दिवं ज्योक् च पश्चाद्धि सूर्यम्। तेन ते वपामि ब्रह्मणा जीवातवे [illegible]नाय सुश्लोक्याय स्वस्तये ॥

यह मन्त्र बोल के छेदन करे, तत्पश्चात्—

ओं त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम्। यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नो अस्तु त्र्यायुषम् ॥ १ ॥ य० अ० ३। मं० ६२ ॥

इस एक मन्त्र को बोल के शिर के पीछे के केश एक वार काट के इसी (ओं त्र्यायुषं०) मन्त्र को बोलते जाना और ओंधे हाथ के पृष्ठ से बालक के शिर पर हाथ फेर के मन्त्र पूरा हुए पश्चात् छुरा नाई के हाथ में देके—

ओं यत्क्षुरेण मर्चयता सुतेजसा वप्ता वपासि केशश्मश्रु शुभं मुखं मा न आयुः प्रमोषीः ॥ अथर्व० कां० ८। सू० २। मं० १७ ॥

इस मन्त्र को बोल के नापित से पथरी पर छुरे की धार तेज कराके नापित से बालक का पिता कहे कि इस शीतोष्ण जल से बालक का शिर अच्छे प्रकार कोमल हाथ से भिजो सावधानी और कोमल हाथ से क्षौर कर, कहीं छुरा न लगने पावे इतनी कह के कुण्ड से उत्तर दिशा में नापित को लेजा, उसके सम्मुख बालक को पूर्वाभिमुख बैठाके जितने केश रखने हों उतने ही केश रक्खे परन्तु पांचों ओर थोड़ा २ केश रखावे अथवा किसी एक ओर रक्खे अथवा एक वार सब कटवा देवे पश्चात् दूसरी वार के केश रखने अच्छे होते हैं जब

क्षौर हो चुके तब कुण्ड के पास पड़ा वा धरा हुआ देने के योग्य पदार्थ वा शरावा आदि कि जिनमें प्रथम अन्न भरा था नापित को देवे और मुण्डन किये हुए सब केश दर्भ शमीपत्र और गोबर नाई को देवे, यथायोग्य उसको धन वा वस्त्र भी देवे और नाई, केश दर्भ शमीपत्र और गोबर को जंगल में लेजा गढ़ा खोद के उसमें सब डाल ऊपर से मट्टी से दाब देवे अथवा गोशाला नदी वा तालाब के किनारे पर उसी प्रकार केशादि को गाड़ देवे, ऐसा नापित से कह दे अथवा किसी को साथ भेज देवे वह उससे उक्त प्रकार करा लेवे । क्षौर हुए पश्चात् मक्खन अथवा दही की मलाई हाथ में लगा बालक के शिर पर लगा के स्नान करा उत्तम वस्त्र पहिना के बालक को पिता [illegible]स ले शुभासन पर पूर्वाभिमुख बैठ के पृष्ठ २६ में सामवेद का महाव[illegible]व्यगान करके बालक की माता स्त्रियों और बालक का पिता पुरुषों का यथायोग्य सत्कार करके विदा करें और जाते समय सब लोग तथा बालक के माता पिता परमेश्वर का ध्यान करके—

ओं त्वं जीव शरदः शतं वर्धमानः ॥

इस मन्त्र को बोल बालक को आशीर्वाद दे के अपने २ घर को पधारें और बालक के माता पिता प्रसन्न होकर बालक को प्रसन्न रक्खें ॥

इति चूड़ाकर्म्मसंस्कारविधिः समाप्तः

अथ कर्णवेधसंस्कारविधिं वक्ष्यामः

अत्र प्रमाणम्—कर्णवेधो वर्षे तृतीये पञ्चमे वा ॥ १ ॥

यह आश्वलायनगृह्यसूत्र का वचन है । बालक के कर्ण वा नासिका के वेध का समय जन्म से तीसरे वा पांचवें वर्ष का उचित है जो दिन कर्ण वा नासिका के वेध का ठहराया हो उसी दिन बालक को प्रातःकाल शुद्ध जल से स्नान और वस्त्रालङ्कार धारण करा के बालक की माता यज्ञशाला में लावे पृष्ठ ४—२६ तक में लिखा हुआ सब विधि करे और उस बालक के आगे कुछ खाने का पदार्थ वा खिलौना धर के—

ओं भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः । स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः ॥ ऋ० मं० १ । सू० ८६ ॥

इस मन्त्र को पढ़ के चरक, सुश्रुत वैद्यक ग्रन्थों के जाननेवाले सद्वैद्य के हाथ से कर्ण वा नासिका वेध करावें कि जो नाड़ी आदि को बचा के वेध कर सके पूर्वोक्त मन्त्र से दक्षिण कान और—

वक्ष्यन्तीवेदा गनीगन्ति कर्णं प्रियꣳ सखायं परिषस्वजाना । योषेव सिङ्क्ते वितताधि धन्वञ्ज्याऽइयꣳ समने पारयन्ती ॥ ऋ० मं० ६ । सू० ७५ ॥

इस मन्त्र को पढ़ के दूसरे वामकर्ण का वेध करे तत्पश्चात् वही वैद्य उन छिद्रों में शलाका रक्खे कि जिससे छिद्र पूर न जावें और ऐसी ओषधि उस पर लगावे जिससे कान पकें नहीं और शीघ्र अच्छे होजावें ॥

इति कर्णवेधसंस्कारविधिः समाप्तः

अथोपनयन*संस्कारविधिं वक्ष्यामः

अत्र प्रमाणानि—अष्टमे वर्षे ब्राह्मणमुपनयेत् ॥१॥ गर्भाष्टमे वा ॥ २ ॥ एकादशे क्षत्रियम् ॥ ३ ॥ द्वादशे वैश्यम् ॥ ४ ॥ आषोडशाद्ब्राह्मणस्यानतीतः कालः ॥ ५ ॥ आद्वाविंशात्क्षत्रियस्य, आचतुर्विंशाद्वैश्यस्य, अत ऊर्ध्वं पतितसावित्रीका भवन्ति ॥ ६ ॥

यह आश्वलायन गृह्यसूत्र का प्रमाण है इसी प्र[illegible]रस्करादि गृह्यसूत्रों का भी प्रमाण है ॥

अर्थः—जिस दिन जन्म हुआ हो अथवा जिस दिन गर्भ रहा हो उससे ८ (आठवें) वर्ष में ब्राह्मण के, जन्म वा गर्भ से ग्यारहवें वर्ष में क्षत्रिय के और जन्म वा गर्भ से बारहवें वर्ष में वैश्य के बालक का यज्ञोपवीत करें, तथा ब्राह्मण के १६ (सोलह) क्षत्रिय के २२ (बाईस) और वैश्य के बालक का २४ (चौबीस) से पूर्व २ यज्ञोपवीत चाहिये यदि पूर्वोक्त काल में इनका यज्ञोपवीत न हो तो वे पतित माने जावें ॥

श्लोकः—ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे ।
राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे ॥ १ ॥

यह मनुस्मृति का वचन है कि जिसको शीघ्र विद्या बल और व्यवहार करने की इच्छा हो और बालक भी पढ़ने में समर्थ हुए हों तो ब्राह्मण के लड़के का जन्म वा गर्भ से पांचवें क्षत्रिय के लड़के का जन्म वा गर्भ से छठे और वैश्य के लड़के का जन्म वा गर्भ से आठवें वर्ष में यज्ञोपवीत करें, परन्तु यह बात तब सम्भव है कि जब बालक की माता और पिता का विवाह पूर्ण ब्रह्मचर्य के पश्चात् हुआ होवे, उन्हीं के ऐसे उत्तम बालक श्रेष्ठबुद्धि और शीघ्र समर्थ

* उप नाम समीप नयन अर्थात् प्राप्त करना व होना ॥

बढ़नेवाले होते हैं जब बालक का शरीर और बुद्धि ऐसी हो कि अब यह पढ़ने के योग्य हुआ, तभी यज्ञोपवीत करा देवें—

यज्ञोपवीत का समय—उत्तरायण सूर्य और—

वसन्ते ब्राह्मणमुपनयेत् । ग्रीष्मे राजन्यम् । शरदि वैश्यम् । सर्वकालमेके ॥

यह शतपथ ब्राह्मण का वचन है ।

अर्थः—ब्राह्मण का वसन्त, क्षत्रिय का ग्रीष्म और वैश्य का शरद् ऋतु में यज्ञोपवीत करें अथवा [illegible] ऋतुओंमें उपनयन हो सकता है और इसका प्रातःकाल ही समय है ।

पयोव्रतो ब्राह्मणो यवागूव्रतो राजन्य आमिक्षाव्रतो वैश्यः ॥

यह शतपथ ब्राह्मण का वचन है ।

जिस दिन बालक का यज्ञोपवीत करना हो उससे तीन दिन अथवा एक दिन पूर्व तीन वा एक व्रत बालक को कराना चाहिये उन व्रतों में ब्राह्मण का लड़का एकवार वा अनेकवार दुग्धपान, क्षत्रिय का लड़का (यवागू) अर्थात् यव को मोटा दल के गुड़ के साथ पतली जैसी कि कढ़ी होती है वैसी बना कर पिलावें और (आमिक्षा) अर्थात् जिसको श्रीखण्ड वा सिखण्ड कहते हैं वैसी जो दही चौगुना दूध एकगुना तथा यथायोग्य खांड केशर डाल के कपड़े में छानकर बनाया जाता है उसको वैश्य का लड़का पी के व्रत करे अर्थात् जब जब लड़कों को भूख लगे तब २ तीनों वर्णों के लड़के इन तीनों पदार्थों ही का सेवन करें अन्य पदार्थ कुछ न खावें पीयें ॥

विधिः—अब जिस दिन उपनयन करना हो उसके पूर्व दिन में सब सामग्री इकट्ठी कर याथातथ्य शोधन आदि कर लेवे और उस दिन पृष्ठ ४—२६ वें तक सब कुण्ड के समीप सामग्री धर प्रातःकाल बालक का क्षौर करा शुद्ध जल से स्नान करा के उत्तम वस्त्र पहिना यज्ञमण्डप में पिता वा आचार्य बालक को

मिष्टान्नादि का भोजन कराके वेदी के पश्चिम भाग में सुन्दर आसन पर पूर्वाभिमुख बैठावे और बालक का पिता और पृष्ठ १९ में लि० ऋत्विज् लोग भी पूर्वोक्त प्रकार अपने २ आसन पर बैठ यथावत् आचमनादि क्रिया करें ॥

पश्चात् कार्य्यकर्त्ता बालक के मुख से:—

ब्रह्मचर्यमागाम्, ब्रह्मचार्यसानि ॥ पार० कां० २ । कं० २ ॥

ये वचन बुलवा के * आचार्य्यः—

ओं येनेन्द्राय बृहस्पतिर्वासः पर्यदधादमृतम् । [illegible]ा परिदधाम्यायुषे दीर्घायुत्वाय बलाय वर्चसे ॥ १ ॥ पार० कां० २ । कं० २ ॥

इस मन्त्र को बोल के बालक को सुन्दर वस्त्र और उपवस्त्र पहिनावे पश्चात् बालक आचार्य्य के सम्मुख बैठे और यज्ञोपवीत हाथ में लेके—

ओं यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात् । आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः ॥ १ ॥ यज्ञोपवीतमसि यज्ञस्य त्वा यज्ञोपवीतेनोपनह्यामि ॥ २ ॥ पार० कां० २ ॥

इन मन्त्रों को बोल के आचार्य्य बायें स्कन्धे के ऊपर कण्ठ के पास से शिर बीच में निकाल दाहिने हाथ के नीचे बगल में निकाल कटि तक धारण करावे तत्पश्चात् बालक को अपने दाहिने ओर साथ बैठा के ईश्वर की स्तुति, प्रार्थनोपासना, स्वस्तिवाचन और शान्तिप्रकरण का पाठ करके समिदाधान, अग्न्याधान कर (ओं अदितेऽनुमन्यस्व०) इत्यादि पूर्वोक्त चार मन्त्रों से पूर्वोक्त रीति से कुण्ड के चारों ओर जल छिटका पश्चात् आज्याहुति करने का आरम्भ करना ॥

* आचार्य्य उसको कहते हैं कि जो साङ्गोपाङ्ग वेदों के शब्द अर्थ सम्बन्धी और क्रिया का जाननेहारा छल कपट रहित, अतिप्रेम से सब को विद्या का दाता, परोपकारी, तन मन और धन से सब को सुख बढ़ाने में जो तत्पर, महाशय, पक्षपात किसी का न करे और सत्योपदेष्टा सब का हितैषी धर्मात्मा जितेन्द्रिय होवे ॥

वेदी में प्रदीप्त हुई समिधा को लक्ष्य में धर चमसा में आज्यस्थाली से घी ले, आघारावाज्यभागाहुति ४ (चार) और व्याहृति आहुति ४ (चार) तथा पृष्ठ २३-२४ में आज्याहुति ८ तीनों मिल के १६ (सोलह) घृत की आहुति देके पश्चात् बालक के हाथ से प्रधान होम जो विशेष शाकल्य बनाया हो उस की आहुतियां निम्नलिखित मन्त्रों से दिलानी, (ओं भूर्भुवः स्वः । अग्न आयूंषि०) पृष्ठ २४ में ४ (चार) आज्याहुति देवे । तत्पश्चात्-

ओं अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तत्ते प्रब्रवीमि तच्छकेयम् । तेनर्ध्यासमिदमहमनृतात्सत्यमुपैमि स्वाहा ॥ इदमग्नये-इदन्न मम ॥ १ ॥ ओं वायो व्रतपते० * स्वाहा ॥ इदं वायवे-इदन्न मम ॥ २ ॥ ओं सूर्य व्रतपते० स्वाहा ॥ इदं सूर्याय इदन्न मम ॥ ३ ॥ ओं चन्द्र व्रतपते० स्वाहा ॥ इदं चन्द्राय-इदन्न मम ॥ ४ ॥ ओं व्रतानां व्रतपते० स्वाहा ॥ इदमिन्द्राय व्रतपतये इदन्न मम ॥ ५ ॥ मं० ब्रा० १ । ६ । ९-१३ ॥

इन पांच मन्त्रों से पांच आज्याहुति दिलानी उसके पीछे पृष्ठ २३ में० व्याहृति आहुति ४ (चार) और स्विष्टकृत आहुति १ (एक) और प्राजापत्याहुति १ (एक) ये सब मिल के छः घृत की आहुति देनी, सब मिल के १५ (पन्द्रह) आहुति बालक के हाथ से दिलानी उसके पश्चात् आचार्य्य यज्ञकुण्ड के उत्तर की ओर पूर्वाभिमुख बैठे और बालक आचार्य्य के सम्मुख पश्चिम में मुख करके बैठे तत्पश्चात् आचार्य्य बालक की ओर देख के:—

ओं आगन्त्रा समगन्महि प्रसुमर्त्यं युयोतन । अरिष्टाः संचरेमहि स्वस्ति ॥ १ ॥ मं० ब्रा० १ । ६ । १४ ॥

इस मन्त्र का जप करे ॥

माणवकवाक्यम्—"ओं ब्रह्मचर्यमागामुपमानयस्व" । मं० ब्रा० १ । ६ । १६ ॥

* इस के आगे 'व्रतं चरिष्यामि' इत्यादि सम्पूर्ण मन्त्र बोलना चाहिये ॥

आचार्योक्तिः "को * नामासि" ॥

बालकोक्तिः "एतन्नामास्मि" † ॥ मं० ब्रा० १ । ६ । १ ॥ तत्पश्चात्

ओं आपो हि ष्ठा मयोभुवस्तान ऊर्जे दधातन । महे रणाय चक्षसे ॥ १ ॥
यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः । उशतीरिव मातरः ॥ २ ॥
तस्मा अरं गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ । आपो जनयथा च नः ॥३॥
ऋ० मं० १० । सू० ९ ॥

इन तीन मन्त्रों को पढ़ के बटुक की दक्षिण हस्ताञ्जलि शुद्धोदक से भरनी तत्पश्चात् आचार्य्य अपनी हस्ताञ्जलि भर के:-

ओं तत्सवितुर्वृणीमहे वयं देवस्य भोजनम् ।
श्रेष्ठं सर्वधातमं तुरं भगस्य धीमहि ॥ १ ॥
ऋ० मं० ५ । सू० ८२ ॥

इस मन्त्र को पढ़ के आचार्य अपनी अञ्जलि का जल बालक की अञ्जलि में छोड़ के बालक की हस्ताञ्जलि अङ्गुष्ठसहित पकड़ के:-

ओं देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां हस्तं गृह्णाम्यसौ ‡ ॥ १ ॥ य० अ० ५ । मं० २६ ॥

इस मन्त्र को पढ़ के बालक की हस्ताञ्जलि का जल नीचे पात्र में छुड़ा देना इसी प्रकार दूसरी वार अर्थात् प्रथम आचार्य अपनी अञ्जलि भर बालक की अञ्जलि में अपनी अञ्जलि का जल भर के अङ्गुष्ठसहित हाथ पकड़ के:-

ओं सविता ते हस्तमग्रभीत्, असौ ॥ १ ॥

इस मन्त्र से पात्र में छुड़वा दे पुनः इसी प्रकार तीसरी वार आचार्य अपने हाथ में जल भर पुनः बालक की अञ्जलि में भर अङ्गुष्ठसहित हाथ पकड़:-

* तेरा नाम क्या है ऐसा पूछना ॥ † मेरा यह नाम है ॥

‡ असौ इस पद के स्थान में बालक का सम्बोधनान्त नामोच्चारण सर्वत्र करना चाहिये ॥

ओं अग्निराचार्यस्तव, असौ ॥ मं० ब्रा० १ । ६ । १५ ॥

तीसरी वार बालक की अञ्जलि का जल छुड़वा के बाहर निकल सूर्य के सामने खड़े रह देख के आचार्यः—

ओं देव सवितरेष ते ब्रह्मचारी ते गोपाय समामृत ॥ १ ॥

इस एक और पृष्ठ ६० में लि० (तच्चक्षुर्देवहितम्) इस दूसरे मन्त्र को पढ़ के बालक को सूर्यावलोकन करा, बालकसहित आचार्य सभामण्डप में आ यज्ञकुण्ड की उत्तर बाजू की ओर बैठ के:—

ओं युवा सुवासाः परिवीत आगात्स उ श्रेयान् भवति जायमानः । ओं सूर्यस्यावृतमन्वावर्त्तस्व, * असौ ॥ १ ॥ ऋ० मं० ३ । सू० ८ ॥

इस मन्त्र को पढ़े और बालक आचार्य की प्रदक्षिणा करके आचार्य के सम्मुख बैठे पश्चात् आचार्य बालक के दक्षिण स्कन्धे पर अपने दक्षिण हाथ से स्पर्श और पश्चात् अपने हाथ को वस्त्र से आच्छादित करके:—

ओं प्राणानां ग्रन्थिरसि मा विस्रसोऽन्तक इदं ते परिददामि, अमुम् ॥ १ ॥ मं० ब्रा० १ । ६ । २० ॥

इस मन्त्र को बोलने के पश्चात्—

ओं अहुर इदं ते परिददामि, अमुम् ॥ २ ॥

इस मन्त्र से उदर पर और:—

ओं कृशन इदं ते परिददामि, अमुम् ॥ ३ ॥

इस मन्त्र से हृदयः—

ओं प्रजापतये त्वा परिददामि, असौ ॥ ४ ॥

* "असौ" और "अमुं" इन दोनों पदों के स्थान में सर्वत्र बालक का नामोच्चारण करना चाहिये ॥

इस मन्त्र को बोल के दक्षिण स्कन्ध ओर:—

ओं देवाय त्वा सवित्रे परिददामि, असौ ॥ ५ ॥ मं० ब्रा० १ । ६ । २१–२४ ॥

इस मन्त्र को बोल के वाम हाथ से बाएं स्कन्धा पर स्पर्श करके बालक के हृदय पर हाथ धरके:—

ओं तं धीरासः कवय उन्नयन्ति स्वाध्यो३मनसा देवयन्तः ॥ ६ ॥ ऋ० मं० ३ । सू० ८ ॥

इस मन्त्र को बोल के आचार्य सम्मुख रहकर बालक के दक्षिण हृदय पर अपना हाथ रखके:—

ओं मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनुचित्तं ते अस्तु । मम वाचमेकमना जुषस्व बृहस्पतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम् ॥ १ ॥ पार० कां० २ । कं० २ ॥

आचार्य इस प्रतिज्ञामन्त्र को बोले अर्थात् हे शिष्य ! बालक तेरे हृदय को मैं अपने आधीन करता हूं तेरा चित्त मेरे चित्त के अनुकूल सदा रहै और तूं मेरी वाणी को एकाग्र मन हो प्रीति से सुनकर उसके अर्थ का सेवन किया कर और आज से तेरी प्रतिज्ञा के अनुकूल बृहस्पति परमात्मा तुझ को मुझ से युक्त करे । यह प्रतिज्ञा करावे इसी प्रकार शिष्य भी आचार्य से प्रतिज्ञा करावे कि हे आचार्य ! आपके हृदय को मैं अपनी उत्तम शिक्षा और विद्या की उन्नति में धारण करता हूं मेरे चित्त के अनुकूल आपका चित्त सदा रहै आप मेरी वाणी को एकाग्र होके सुनिये और परमात्मा मेरे लिये आप को सदा नियुक्त रक्खे इस प्रकार दोनों प्रतिज्ञा करके—

आचार्योक्तिः—

को नामाऽसि ॥ तेरा नाम क्या है ?

बालकोक्तिः—**अहम्भोः ॥**

मेरा अमुक नाम ऐसा उत्तर देवे। आचार्यः—

कस्य ब्रह्मचार्य्यसि ॥ तू किसका ब्रह्मचारी है। बालकः—

भवतः ॥ पार० कां० २। कं० २॥ आपका।

आचार्य्य बालक की रक्षा के लिये:—

इन्द्रस्य ब्रह्मचार्य्यस्यग्निराचार्यस्तवाहमाचार्यस्तव * असौ ॥ पार० कां० २। कं० २॥

इस मन्त्र को बोले। तत्पश्चात्—

ओं कस्य ब्रह्मचार्यसि प्राणस्य ब्रह्मचार्यसि कस्त्वा कमुपनयते काय त्वा परिददामि ॥ १ ॥ ओं प्रजापतये त्वा परिददामि। देवाय त्वा सवित्रे परिददामि। अद्भ्यस्त्वौषधीभ्यः परिददामि। द्यावापृथिवीभ्यां त्वा परिददामि। विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः परिददामि। सर्वेभ्यस्त्वा भूतेभ्यः परिददाम्यरिष्ट्यै ॥ पार० कां० २। कं० २॥

इन मन्त्रों को बोल, बालक को शिक्षा करे कि प्राण आदि की विद्या के लिये यत्नवान् हो॥

यह उपनयन संस्कार पूरे हुए। पश्चात् यदि उसी दिन वेदारम्भ करने का विचार पिता और आचार्य का हो तो उसी दिन करना और जो दूसरे दिन का विचार हो तो पृष्ठ २६ में लि० महावामदेव्यगान करके संस्कार में आई हुई स्त्रियों का बालक की माता और पुरुषों का बालक का पिता सत्कार करके विदा करे और माता पिता आचार्य सम्बन्धी इष्ट मित्र सब मिलके:—

ओं त्वं जीव शरदः शतं वर्द्धमानः, आयुष्मान्
तेजस्वी वर्चस्वी भूयाः।

इस प्रकार आशीर्वाद देके अपने २ घर को सिधारें॥

इत्युपनयनसंस्कारविधिः समाप्तः

---

* असौ इस पद के स्थान में सर्वत्र बालक का नामोच्चारण करना चाहिये।

अथ

वेदारम्भसंस्कारविधिर्विधीयते

वेदारम्भ उसको कहते हैं जो गायत्री मन्त्र से लेके साङ्गोपाङ्ग * चारों वेदों के अध्ययन करने के लिये नियम धारण करना ॥

समयः—जो दिन उपनयन संस्कार का है वही वेदारम्भ का है यदि उस दिवस में न होसके अथवा करने की इच्छा न हो तो दूसरे दिन करे यदि दूसरा दिन भी अनुकूल न हो तो एक वर्ष के भीतर किसी दिन करे ॥

विधिः—जो वेदारम्भ का दिन ठहराया हो उस दिन प्रातःकाल शुद्धोदक से स्नान कराके शुद्ध वस्त्र पहिना, पश्चात् कार्यकर्त्ता अर्थात् पिता यदि पिता न हो तो आचार्य बालक को लेके उत्तमासन पर वेदी के पश्चिम पूर्वाभिमुख बैठे। तत्पश्चात् पृष्ठ ४—१२ तक में ईश्वरस्तुति †, प्रार्थनोपासना, स्वस्तिवाचन, शान्तिप्रकरण करके पृष्ठ २० में (भूर्भुवः स्वः०) इस मन्त्र से अग्न्याधान पृष्ठ २१ में (ओं अयन्त इध्म०) इत्यादि ४ मन्त्रों से समिदाधान पृष्ठ २२ में (ओं अदितेनुमन्यस्व०) इत्यादि तीन मन्त्रों से कुण्ड के तीनों ओर और (ओं देव सवितः०) इस मन्त्र से कुण्ड के चारों ओर जल छिटका के पृष्ठ २० में (उद्बुध्यस्वाग्ने०) इस मन्त्र से अग्नि को प्रदीप्त करके प्रदीप्त समिधा

---

* (अङ्ग) शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष। (उपाङ्ग) पूर्वमीमांसा, वैशेषिक, न्याय, योग, सांख्य और वेदान्त। (उपवेद) आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और अर्थवेद अर्थात् शिल्पशास्त्र। (ब्राह्मण) ऐतरेय, शतपथ, साम और गोपथ। (वेद) ऋक्, यजुः, साम और अथर्व इन सब को क्रम से पढ़े ॥

† जो उपनयन किये पश्चात् उसी दिन वेदारम्भ करे उसको पुनः वेदारम्भ के आदि में ईश्वरस्तुति, प्रार्थनोपासना और शान्तिप्रकरण करना आवश्यक नहीं ॥

पर पृष्ठ २२—२३ में आघारावाज्यभागाहुति ४ (चार) व्याहृति आहुति ४ (चार) और पृष्ठ २४—२५ में आज्याहुति आठ मिलके १६ (सोलह) आज्याहुति देने के पश्चात् प्रधान * होमाहुति दिला के पश्चात् पृष्ठ २३ में व्याहृति आहुति ४ (चार) और स्विष्टकृत् आहुति १ (एक) प्राजापत्याहुति १ (एक) मिलकर छः आज्याहुति बालक के हाथ से दिलानी तत्पश्चात्—

ओं अग्ने सुश्रवः सुश्रवसं मा कुरु । ओं यथा त्वमग्ने सुश्रवः सुश्रवा असि । ओं एवं मां सुश्रवः सौश्रवसं कुरु । ओं यथा त्वमग्ने देवानां यज्ञस्य निधिपा असि । ओं एवमहं मनुष्याणां वेदस्य निधिपो भूयासम् ॥ १ ॥ पार० कां० २ कं० ४ ॥

इस मन्त्र से वेदी के अग्नि को इकट्ठा करना तत्पश्चात् बालक कुण्ड की प्रदक्षिणा करके पृष्ठ २२ में लि० प्र० "आदतेनुमन्यस्व०" इत्यादि ४ (चार) मन्त्रों से कुण्ड के सब ओर जल सिञ्चन करके बालक कुण्ड के दक्षिण की ओर उत्तराभिमुख खड़ा रहकर घृत में भिजो के एक समिधा हाथ में ले—

ओं अग्नये समिधमाहार्षं बृहते जातवेदसे । यथा त्वमग्ने समिधा समिध्यसऽएवमहमायुषा मेधया वर्चसा प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन समिन्धे जीवपुत्रो ममाचार्यो मेधाव्यहमसान्यनिराकरिष्णुर्यशस्वी तेजस्वी ब्रह्मवर्चस्यन्नादो भूयासꣳस्वाहा ॥ १ ॥ पार० कां० २ । कं० ४ ॥

समिधा वेदिस्थ अग्नि के मध्य में छोड़ देना इसी प्रकार दूसरी और तीसरी समिधा छोड़ पुनः "ओं अग्ने सुश्रवः सुश्रवसं०" इस मन्त्र से वेदिस्थ अग्नि को इकट्ठा करके पृष्ठ २२ में लि० प्र० "ओं आदितेनुमन्यस्व०" इत्यादि चार मन्त्र से कुण्ड के सब ओर जल सेचन करके बालक वेदी के पश्चिम में पूर्वाभिमुख बैठ के वेदी के अग्नि पर दोनों हाथों को थोड़ासा तपा के हाथ में जल लगा:—

* प्रधान होम उसको कहते हैं जो संस्कार मुख्य करके किया जाता है ।

ओं तनूपा अग्नेऽसि तन्वं मे पाहि ॥ १ ॥ ओं आयुर्दा अग्नेस्यायुर्मे देहि ॥ २ ॥ ओं वर्चोदा अग्नेऽसि वर्चो मे देहि ॥ ३ ॥ ओं अग्ने यन्मे तन्वा ऊनन्तन्म आपृण ॥ ४ ॥ ओं मेधां मे देवः सविता आ दधातु ॥ ५ ॥ ओं मेधां मे देवी सरस्वती आदधातु ॥ ६ ॥ ओं मेधामश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजौ ॥ ७ ॥ पार० कां० २ । कं० ४ ॥

जल स्पर्श कर के इन सात मन्त्रों से सात वार किञ्चित् हथेली उष्ण कर मुखस्पर्श करना तत्पश्चात् बालक—

ओं वाङ् म आप्यायताम् ॥ इस मन्त्र से मुख,

ओं प्राणश्च म आप्यायताम् ॥ इस मन्त्र से नासिका द्वार,

ओं चक्षुश्च म आप्यायताम् ॥ इस मन्त्र से दोनों नेत्र,

ओं श्रोत्रञ्च म आप्यायताम् ॥ इस मन्त्र से दोनों कान,

ओं यशो बलञ्च म आप्यायताम् ॥

इस मन्त्र से दोनों बाहुओं को स्पर्श करे ॥

ओं मयि मेधां मयि प्रजां मय्यग्निस्तेजो दधातु । मयि मेधां मयि प्रजां मयीन्द्र इन्द्रियं दधातु । मयि मेधां मयि प्रजां मयि सूर्यो भ्राजो दधातु । यत्ते अग्ने तेजस्तेनाहं तेजस्वी भूयासम् । यत्ते अग्ने वर्चस्तेनाहं वर्चस्वी भूयासम् । यत्ते अग्ने हरस्तेनाहं हरस्वी भूयासम् ॥ आश्व० अ० १ । कं० २१ । सू० ४ ॥

इन मन्त्रों से बालक परमेश्वर का उपस्थान करके, कुण्ड की उत्तर बाजू की ओर जाके, जानू को भूमि में टेक के, पूर्वाभिमुख बैठे और आचार्य बालक के सन्मुख पश्चिमाभिमुख बैठ—

बालकोक्तिः—अधीहि भूः सावित्रीं भो अनुब्रूहि ॥

अर्थात् आचार्य से बालक कहे कि हे आचार्य ! प्रथम एक ओंकार पश्चात् तीन महाव्याहृति तत्पश्चात् सावित्री ये त्रिक अर्थात् तीनों मिल के परमात्मा के वाचक मन्त्र को मुझे उपदेश कीजिये तत्पश्चात् आचार्य एक वस्त्र अपने और बालक के कन्धे पर रख के अपने हाथ से बालक के दोनों हाथ की अंगुलियों को पकड़ के नीचे लिखे प्रमाणे बालक को तीन वार करके गायत्रीमन्त्रोपदेश करे ॥

प्रथम वार—

ओं भूर्भुवः स्वः । तत्सवितुर्वरेण्यम् ।

इतना टुकड़ा एक २ पद का शुद्ध उच्चारण बालक से करा के दूसरी वार—

ओं भूर्भुवः स्वः । तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि ।

एक २ पद से यथावत् धीरे २ उच्चारण करवा के, तीसरी वार—

ओं भूर्भुवः स्वः । तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् ॥ १ ॥

धीरे २ इस मन्त्र को बुलवा के संक्षेप से इसका अर्थ भी नीचे लिख प्रमाणे आचार्य सुनावे—

अर्थः—(ओ३म्) यह मुख्य परमेश्वर का नाम है जिस नाम के साथ अन्य सब नाम लग जाते हैं (भूः) जो प्राण का भी प्राण (भुवः) सब दुःखों से छुड़ानेहारा (स्वः) स्वयं सुखस्वरूप और अपने उपासकों को सब सुख की प्राप्ति करानेहारा है उस (सवितुः) सब जगत् की उत्पत्ति करने वाले सूर्यादि प्रकाशकों के भी प्रकाशक समग्र ऐश्वर्य के दाता (देवस्य) कामना करने योग्य सर्वत्र विजय कराने हारे परमात्मा का जो (वरेण्यम्) अतिश्रेष्ठ ग्रहण और ध्यान करने योग्य (भर्गः) सब क्लेशों को भस्म करने हारा पवित्र शुद्ध-स्वरूप है (तत्) उसको हम लोग (धीमहि) धारण करें (यः) यह जो

परमात्मा (नः) हमारी (धियः) बुद्धियों को उत्तम गुण कर्म स्वभावों में (प्रचोदयात्) प्रेरणा करे इसी प्रयोजन के लिये इस जगदीश्वर की स्तुति प्रार्थनोपासना करना और इससे भिन्न और किसी को उपास्य इष्टदेव उसके तुल्य वा उससे अधिक नहीं मानना चाहिये इस प्रकार अर्थ सुनाये, पश्चात्—

ओं मम व्रते ते हृदयं दधामि । मम चित्तमनुचित्तं ते अस्तु । मम वाचमेकमना जुषस्व बृहस्पतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम् ॥ १ ॥ पार० कां० २ । कं० २ ॥

इस मन्त्र से बालक और आचार्य पूर्ववत् दृढ़ प्रतिज्ञा करके—

ओं इयं दुरुक्तं परिबाधमाना वर्णं पवित्रं पुनती म आगात् । प्राणापानाभ्यां बलमादधाना स्वसा देवी सुभगा मेखलेयम् ॥ १ ॥ मं० ब्रा० १ । १ । २७ ॥ पार० कां० २ । कं० २ ॥

इस मन्त्र से आचार्य सुन्दर चिकनी प्रथम बना के रक्खी हुई मेखला * को बालक के कटि में बांध के—

ओं युवा सुवासाः परिवीत आगात् स उ श्रेयान् भवति जायमानः । तं धीरासः कवय उन्नयन्ति स्वाध्यो मनसा देवयन्तः ॥ १ ॥ ऋ० मं० ३ । सू० ८ । मन्त्र ४ ॥

इस मन्त्र को बोल के दो शुद्ध कौपीन, दो अंगोछे और एक उत्तरीय और दो कटिवस्त्र ब्रह्मचारी को आचार्य देव और उनमें से एक कौपीन एक कटिवस्त्र और एक उपन्ना बालक को आचार्य धारण करावे तत्पश्चात् आचार्य दण्ड † हाथ में लेके सामने खड़ा रहे और बालक भी आचार्य के सामने हाथ जोड़—

* ब्राह्मण को मुञ्ज वा दर्भ की, क्षत्रिय को धनुषसंज्ञक तृण वा वल्कल की और वैश्य को ऊन वा शण की मेखला होनी चाहिये ।

† ब्राह्मण के बालक को खड़ा रख के भूमि से ललाट के केशों तक पलाश वा बिल्व वृक्ष का, क्षत्रिय को वट वा खदिर का ललाट भ्रू तक, वैश्य को पीलु

ओं यो मे दण्डः परापतद्वैहायसोऽधिभूम्याम् । तमहं पुनराददआयुषे ब्रह्मणे ब्रह्मवर्चसाय ॥ १ ॥ पार० कां० २ । कं० २ ॥

इस मन्त्र को बोल के बालक आचार्य के हाथ से दण्ड ले लेवे, तत्पश्चात् पिता ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्याश्रम का साधारण उपदेश करे—

ब्रह्मचार्यसि असौ * ॥ १ ॥ अपोऽशान ॥ २ ॥ कर्म कुरु ॥ ३ ॥ दिवा मा स्वाप्सीः ॥ ४ ॥ आचार्याधीनो वेदमधीष्व ॥ ५ ॥ द्वादश वर्षाणि प्रतिवेदं ब्रह्मचर्यं गृहाण वा ब्रह्मचर्यं चर ॥ ६ ॥ आचार्याधीनो भवान्यत्राधर्माचरणात् ॥ ७ ॥ क्रोधानृते वर्जय ॥ ८ ॥ मैथुनं वर्जय ॥ ९ ॥ उपरि शय्यां वर्जय ॥ १० ॥ कौशीलवगन्धाञ्जनानि वर्जय ॥ ११ ॥ अत्यन्तं स्नानं भोजनं निद्रां जागरणं निन्दां लोभमोहभयशोकान् वर्जय ॥ १२ ॥ प्रतिदिनं रात्रेः पश्चिमे यामे चोत्थायावश्यकं कृत्वा दन्तधावनस्नानसन्ध्योपासनेश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासनायोगाभ्यासान्नित्यमाचर ॥ १३ ॥ क्षुरकृत्यं वर्जय ॥ १४ ॥ मांसरूक्षाहारं मद्यादिपानं च वर्जय ॥ १५ ॥ गवाश्वहस्त्युष्ट्रादियानं वर्जय ॥ १६ ॥ अन्तर्ग्रामनिवासोपानच्छत्रधारणं वर्जय ॥ १७ ॥ अकामतः स्वयमिन्द्रियस्पर्शेन वीर्यस्खलनं विहाय वीर्यं शरीरे संरक्ष्योर्ध्वरेताः सततं भव ॥ १८ ॥ तैलाभ्यङ्गमर्दनात्यम्लातितिक्तकषायक्षाररेचनद्रव्याणि मा सेवस्व ॥ १९ ॥ नित्यं युक्ताहारविहारवान् विद्योपार्जने च यत्नवान् भव ॥ २० ॥ सुशीलो मितभाषी सभ्यो भव ॥ २१ ॥ मेखलादण्डधारणभैक्ष्यचर्यसमिदाधानोदकस्पर्शनाचार्यप्रियाचरणप्रातःसायमभिवादनविद्यासंचयजितेन्द्रियत्वादीन्येते ते नित्यधर्माः ॥ २२ ॥

अथवा गूलर वृक्ष का नासिका के अग्रभाग तक दण्ड प्रमाण है और वे दण्ड चिकने सूधे हों, अग्नि में जले, टेढ़े, कीड़ों के खाये हुए न हों और एक २ मृगचर्म उनके बैठने के लिये एक २ जलपात्र एक २ उपपात्र और एक २ आचमनीय सब ब्रह्मचारियों को देना चाहिये ॥

* असौ इस पद के स्थान में ब्रह्मचारी का नाम सर्वत्र उच्चारण करे ।

अर्थः—तू आज से ब्रह्मचारी है ॥ १ ॥ नित्य सन्ध्योपासन भोजन के पूर्व शुद्ध जल का आचमन किया कर ॥ २ ॥ दुष्ट कर्मों को छोड़ धर्म किया कर ॥ ३ ॥ दिन में शयन कभी मत कर ॥ ४ ॥ आचार्य के आधीन रह के नित्य साङ्गोपाङ्ग वेद पढ़ने में पुरुषार्थ किया कर ॥ ५ ॥ एक २ साङ्गोपाङ्ग वेद के लिये बारह २ वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य अर्थात् ४८ वर्ष तक वा जबतक साङ्गोपाङ्ग चारों वेद पूरे होवें तबतक अखण्डित ब्रह्मचर्य कर ॥ ६ ॥ आचार्य के आधीन धर्माचरण में रहा कर परन्तु यदि आचार्य अधर्माचरण वा अधर्म करने का उपदेश करे उसको तू कभी मत मान और उसका आचरण मत कर ॥ ७ ॥ क्रोध और मिथ्याभाषण करना छोड़ दे ॥ ८ ॥ आठ * प्रकार के मैथुन को छोड़ देना ॥ ९ ॥ भूमि में शयन करना पलंग आदि पर कभी न सोना ॥ १० ॥ कौशीलव अर्थात् गाना, बजाना तथा नृत्य आदि निन्दित कर्म गन्ध और अञ्जन का सेवन मत कर ॥ ११ ॥ अति स्नान, अति भोजन, अधिक निद्रा, अधिक जागरण, निन्दा, लोभ, मोह, भय, शोक का ग्रहण कभी मत कर ॥ १२ ॥ रात्रि के चौथे पहर में जाग आवश्यक शौचादि दन्तधावन, स्नान, सन्ध्योपासना, ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना योगाभ्यास का आचरण नित्य किया कर ॥ १३ ॥ चौर मत करा ॥ १४ ॥ मांस रूखा शुष्क अन्न मत खावे और मद्यादि मत पीवे ॥ १५ ॥ बैल घोड़ा हाथी ऊंट आदि की सवारी मत कर ॥ १६ ॥ गांव में निवास और जूता और छत्र का धारण मत कर ॥ १७ ॥ लघुशङ्का के विना उपस्थ इन्द्रिय के स्पर्श से वीर्य-स्खलन कभी न करके वीर्य को शरीर में रख के निरन्तर ऊर्ध्वरेता अर्थात् नीचे वीर्य को मत गिरने दे इस प्रकार यत्न से वर्त्ता कर ॥ १८ ॥ तैलादि से अंगमर्दन, उबटना, अतिखट्टा अमली आदि, अतितीखा लालमिर्ची आदि, कसेला हरड़ें आदि, क्षार अधिक लवण आदि और रेचक जमालगोटा आदि द्रव्यों का सेवन मत कर ॥ १९ ॥ नित्य युक्ति से आहार विहार करके विद्याग्रहण में यत्नशील हो ॥ २० ॥ सुशील, थोड़े बोलनेवाला, सभा में बैठने योग्य गुण

* स्त्री का ध्यान, कथा, स्पर्श, क्रीड़ा, दर्शन, आलिङ्गन, एकान्तवास और समागम, यह आठ प्रकार का मैथुन कहाता है जो इनको छोड़ देता है वही ब्रह्मचारी होता है ॥

ग्रहण कर ॥ २१ ॥ मेखला और दण्ड का धारण, भिक्षाचरण, अग्निहोत्र, स्नान, सन्ध्योपासन, आचार्य का प्रियाचरण, प्रातःसायं आचार्य को नमस्कार करना ये तेरे नित्य करने के और जो निषेध किये वे नित्य न करने के कर्म हैं ॥ २२ ॥

जब यह उपदेश पिता कर चुके तब बालक पिता को नमस्कार कर हाथ जोड़ के कहे कि जैसा आपने उपदेश किया वैसा ही करूंगा तत्पश्चात् ब्रह्मचारी यज्ञकुण्ड की प्रदक्षिणा करके कुण्ड के पश्चिम भाग में खड़ा रहके माता, पिता, बहिन, भाई, मामा, मौसी, चाची आदि से लेके जो भिक्षा देने में नकार न करें उनसे भिक्षा * मांगे और जितनी भिक्षा मिले वह, आचार्य के आगे धर देनी तत्पश्चात् आचार्य उसमें से कुछ थोड़ासा अन्न लेके वह सब भिक्षा बालक को देदेवे और वह बालक उस भिक्षा को अपने भोजन के लिये रख छोड़े तत्पश्चात् बालक को शुभासन पर बैठाके पृष्ठ २६ में लि० वामदेव्यगान को करना तत्पश्चात् बालक पूर्व रक्खी हुई भिक्षा का भोजन करे पश्चात् सायंकाल तक विश्राम और गृहाश्रम संस्कार में लिखा सन्ध्योपासना आचार्य बालक के हाथ से करावे और पश्चात् ब्रह्मचारी सहित आचार्य कुण्ड के पश्चिम भाग में आसन पर पूर्वाभिमुख बैठे और स्थालीपाक अर्थात् पृष्ठ १५ में लि० भात बना उसमें घी डाल पात्र में रख पृष्ठ २१ में लि० समिदाधान कर पुनः समिधा प्रदीप्त कर आघारावाज्यभागाहुति ४ (चार) और व्याहृति आहुति ४ (चार) दोनों मिलके ८ (आठ) आज्याहुति देनी तत्पश्चात् ब्रह्मचारी खड़ा हो के पृष्ठ ८० में "ओं अग्ने सुश्रवः०" इस मन्त्र से तीन समिधा की आहुति देवे तत्पश्चात् बालक बैठ के यज्ञकुण्ड की अग्नि से अपना हाथ तपा पृष्ठ १९–२० में पूर्ववत् मुख का स्पर्श कर के अङ्गस्पर्श करना तत्पश्चात् पृष्ठ १५ में लि० प्र० बनाये हुए भात को बालक आचार्य को होम और भोजन के लिये देवे पुनः आचार्य उस भात में से आहुति के अनुमान भात को स्थाली में ले के उसमें घी मिला—

* ब्राह्मण का बालक यदि पुरुष से भिक्षा मांगे तो "भवान् भिक्षां ददातु" और जो स्त्री से मांगे तो "भवती भिक्षां ददातु" और क्षत्रिय का बालक "भिक्षां भवान् ददातु" और स्त्री से "भिक्षां भवती ददातु" वैश्य का बालक "भिक्षां ददातु भवान्" और "भिक्षां ददातु भवती" ऐसा वाक्य बोले ॥

ओं सदसस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम् । सनिं मेधामयासिषᳬं स्वाहा ॥ इदं सदसस्पतये—इदन्न मम ॥ १ ॥ य० अ० ३२ । मं० १३ ॥

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात् ॥ इदं सवित्रे—इदन्न मम ॥ २ ॥ य० अ० २२ । मं० ६ ॥ ओं ऋषिभ्यः स्वाहा ॥ इदं ऋषिभ्यः—इदन्न मम ॥ ३ ॥ आश्व० अ० १ । कं० २२ । सू० १४ ॥

इन तीन मन्त्रों से तीन और २३ में लि० (ओं यदस्य कर्मणो०) इस मन्त्र से चौथी आहुति देवे तत्पश्चात् पृष्ठ २३ में लि० व्याहृति आहुति ४ (चार) पृष्ठ २४—२५ में (ओं त्वन्नो०) इन ८ (आठ) मन्त्रों से आज्याहुति ८ (आठ) मिल के १२ (बारह) आज्याहुति देके ब्रह्मचारी शुभासन पर पूर्वाभिमुख बैठ के पृष्ठ २६ में लि० वामदेव्यगान आचार्य के साथ करके:—

अमुकगोत्रोत्पन्नोऽहं भो भवन्तमभिवादये ॥

ऐसा वाक्य बोल के आचार्य्य का वन्दन करे और आचार्य्य—

आयुष्मान् विद्यावान् भव सौम्य ॥

ऐसा आशीर्वाद देके पश्चात् होम से बचे हुए हविष्य अन्न और दूसरे भी सुन्दर मिष्टान्न का भोजन आचार्य के साथ अर्थात् पृथक् २ बैठ के करें तत्पश्चात् हस्त मुख प्रक्षालन करके संस्कार में निमन्त्रण से जो आये हों उनको यथायोग्य भोजन करा तत्पश्चात् स्त्रियों को स्त्री और पुरुषों को पुरुष प्रीतिपूर्वक विदा करें और सब जन बालक को निम्नलिखित:—

हे बालक ! त्वमीश्वरकृपया विद्वान् शरीरात्मबलयुक्तः कुशली वीर्यवानरोगः सर्वा विद्या अधीत्याऽस्मान् दिदृक्षुः सन्नागम्याः ॥

ऐसा आशीर्वाद दे के अपने २ घर को चले जायें तत्पश्चात् ब्रह्मचारी ३ (तीन) दिन तक भूमि में शयन प्रातः सायं पृ० ८० में लि० (ओमग्ने सुश्रवः०)

इस मन्त्र से समिधा होम और पृष्ठ १९–२० में लि० मुख आदि अङ्गस्पर्श आचार्य करावे तथा तीन दिन तक (सदसस्पति०) इत्यादि पृष्ठ ८७ में लि० ४ (चार) स्थालीपाक की आहुति पूर्वोक्त रीति से ब्रह्मचारी के हाथ से करवावे और तीन (३) दिन तक चार लवण रहित पदार्थ का भोजन ब्रह्मचारी किया करे तत्पश्चात् पाठशाला में जाके गुरु के समीप विद्याभ्यास करने के समय की प्रतिज्ञा करे तथा आचार्य भी करे ॥

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः। तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः ॥ १ ॥ इयं समित्पृथिवी द्यौर्द्वितीयोतान्तरिक्षं समिधा पृणाति। ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्ति ॥ २ ॥ ब्रह्मचार्येति समिधा समिद्धः कार्ष्णं वसानो दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः। स सद्य एति पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रं लोकान्संगृभ्य मुहुराचरिक्रत् ॥ ३ ॥ ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति। आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥ ४ ॥ ब्रह्मचर्येण कन्या३युवानं विन्दते पतिम् ॥ ५ ॥ ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजद्बिभर्ति तस्मिन्देवा अधि विश्वे समोताः प्राणापानौ जनयन्नाद् व्यानं वाचं मनो हृदयं ब्रह्म मेधाम् ॥ ६ ॥ अथर्व० कां० ११। सू० ५ ॥

संक्षेप से भावार्थ—आचार्य ब्रह्मचारी को प्रतिज्ञापूर्वक समीप रख के ३ (तीन) रात्रि पर्यन्त गृहाश्रम के प्रकरण में लिखे सन्ध्योपासनादि सत्पुरुषों के आचार की शिक्षा कर उसके आत्मा के भीतर गर्भरूप विद्या स्थापन करने के लिये उसको धारण कर और उसको पूर्ण विद्वान् कर देता और जब वह पूर्ण ब्रह्मचर्य और विद्या को पूर्ण करके घर को आता है तब उसको देखने के लिये सब विद्वान् लोग सम्मुख जाकर बड़ा मान्य करते हैं ॥ १ ॥

जो यह ब्रह्मचारी वेदारम्भ के समय तीन समिधा अग्नि में होमकर ब्रह्मचर्य के व्रत का नियमपूर्वक सेवन करके विद्या पूर्ण करने को दृढ़ोत्साही होता है वह जानो पृथिवी सूर्य और अन्तरिक्ष के सदृश सब का पालन करता है

क्योंकि वह समिदाधान मेखलादि चिह्नों का धारण और परिश्रम से विद्या पूर्ण करके इस ब्रह्मचर्यानुष्ठानरूप तप से सब लोगों को सद्गुण और आनन्द से तृप्त कर देता है ॥ २ ॥

जब विद्या से प्रकाशित और मृगचर्मादि धारण कर दीक्षित होके (दीर्घश्मश्रुः) ४० (चालीस) वर्ष तक डाढ़ी मूंछ आदि पंचकेशों का धारण करनेवाला ब्रह्मचारी होता है वह पूर्व समुद्ररूप ब्रह्मचर्यानुष्ठान को पूर्ण करके गुरुकुल से उत्तम समुद्र अर्थात् गृहाश्रम को शीघ्र प्राप्त होता है वह सब लोगों का संग्रह करके बारंबार पुरुषार्थ और जगत् को सत्योपदेश से आनन्दित कर देता है ॥३॥

वही राजा उत्तम होता है जो पूर्ण ब्रह्मचर्यरूप तपश्चरण से पूर्ण विद्वान् सुशिक्षित सुशील जितेन्द्रिय होकर राज्य को विविध प्रकार से पालन करता है और वही विद्वान् ब्रह्मचारी की इच्छा करता और आचार्य हो सकता है जो यथावत् ब्रह्मचर्य से सम्पूर्ण विद्याओं को पढ़ता है ॥ ४ ॥

जैसे लड़के पूर्ण ब्रह्मचर्य और पूर्ण विद्या पढ़ पूर्ण ज्वान हो के अपने सदृश कन्या से विवाह करें वैसे कन्या भी अखण्ड ब्रह्मचर्य से पूर्ण विद्या पढ़ पूर्ण युवति हो अपने तुल्य पूर्ण युवावस्थावाले पति को प्राप्त होवे ॥ ५ ॥

जब ब्रह्मचारी ब्रह्म अर्थात् साङ्गोपाङ्ग चारों वेदों का शब्द, अर्थ और सम्बन्ध के ज्ञानपूर्वक धारण करता है तभी प्रकाशमान होता उसमें सम्पूर्ण दिव्यगुण निवास करते और सब विद्वान् उससे मित्रता करते हैं वह ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य ही से प्राण, दीर्घजीवन, दुःख क्लेशों का नाश, सम्पूर्ण विद्याओं में व्यापकता, उत्तम वाणी, पवित्र आत्मा, शुद्ध हृदय, परमात्मा और श्रेष्ठ प्रज्ञा को धारण करके सब मनुष्यों के हित के लिये सब विद्याओं का प्रकाश करता है ॥ ६ ॥

ब्रह्मचर्यकालः

इसमें छान्दोग्योपनिषद् के तृतीय प्रपाठक के सोलहवें खण्ड का प्रमाण ।

मातृमान् पितृमानाचार्य्यवान् पुरुषो वेद ॥ १ ॥ पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य

यानि चतुर्विंᳬशतिर्वर्षाणि तत् प्रातःसवनं चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री गायत्रं प्रातःसवनं तदस्य वसवोऽन्वायत्ताः प्राणा वाव वसव एते हीदᳬसर्वं वासयन्ति ॥ २ ॥ तं चेदेतस्मिन् वयसि किञ्चिदुपतपेत् स ब्रूयात् प्राणा वसव इदं मे प्रातःसवनं माध्यन्दिनᳬ सवनमनुसन्तनुतेति माहं प्राणानां वसूनां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो ह भवति ॥ ३ ॥ अथ यानि चतुश्चत्वारिंᳬशद्वर्षाणि तन्माध्यन्दिनᳬ सवनं चतुश्चत्वारिंᳬशदक्षरा त्रिष्टुप् त्रैष्टुभं माध्यन्दिनᳬ सवनं तदस्य रुद्राः अन्वायत्ताः प्राणा वाव रुद्रा एते हीदᳬ सर्वᳬ रोदयन्ति ॥ ४ ॥ तं चेदेतस्मिन् वयसि किञ्चिदुपतपेत् स ब्रूयात् प्राणा रुद्रा इदं मे माध्यन्दिनᳬसवनं तृतीयसवनमनुसन्तनुतेति माहम्प्राणानाᳬ रुद्राणां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो ह भवति ॥ ५ ॥ अथ यान्यष्टाचत्वारिंᳬशद्वर्षाणि तत् तृतीयसवनमष्टाचत्वारिंᳬशदक्षरा जगती जागतं तृतीयसवनं तदस्यादित्या अन्वायत्ताः प्राणा वावादित्या एते हीदᳬ सर्वमाददते ॥ ६ ॥ तं चेदेतस्मिन् वयसि किञ्चिदुपतपेत् स ब्रूयात् प्राणा आदित्या इदं मे तृतीयसवनमायुरनुसन्तनुतेति माहं प्राणानामादित्यानां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो हैव भवति ॥ ७ ॥

अर्थः—जो बालक को ५ (पांच) वर्ष की आयु तक माता पांच से ८ (आठ) तक पिता ८ (आठ) से ४८ (अड़तालीस) ४४ (चवालीस) ४० (चालीस) ३६ (छत्तीस) ३० (तीस) तक अथवा २५ (पच्चीस) वर्ष तक तथा कन्या को ८ (आठ) से २४ (चौबीस) २२ (बाईस) २० (बीस) १८ (अठारह) अथवा १६ (सोलह) वर्ष तक आचार्य की शिक्षा प्राप्त हो तभी पुरुष वा स्त्री विद्यावान् होकर धर्मार्थ काम मोक्ष के व्यवहारों में अतिचतुर होते हैं ॥१॥ यह मनुष्य देह यज्ञ अर्थात् अच्छे प्रकार उसको आयु बल आदि से संपन्न करने के लिये छोटे से छोटा यह पक्ष है कि २४ (चौबीस) वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य पुरुष और १६ (सोलह) वर्ष तक स्त्री ब्रह्मचर्याश्रम यथावत् पूर्ण जैसे २४ (चौबीस) अक्षर का गायत्री छन्द होता है वैसे करे वह प्रातःसवन कहाता है

जिससे इस मनुष्य-देह के मध्य वसुरूप प्राण प्राप्त होते हैं जो बलवान् होकर सब शुभ गुणों को शरीर आत्मा और मन के बीच में वास कराते हैं ॥ २ ॥ जो कोई इस २५ (पच्चीस) वर्ष के आयु से पूर्व ब्रह्मचारी को विवाह वा विषयभोग करने का उपदेश करे उसको वह ब्रह्मचारी यह उत्तर देवे कि देख, यदि मेरे प्राण मन और इन्द्रिय २५ (पच्चीस) वर्ष तक ब्रह्मचर्य से बलवान् न हुए तो मध्यम सवन जो कि आगे ४४ (चवालीस) वर्ष तक का ब्रह्मचर्य कहा है उसको पूर्ण करने के लिये मुझ में सामर्थ्य न हो सकेगा किन्तु प्रथम कोटि का ब्रह्मचर्य मध्यम कोटि के ब्रह्मचर्य को सिद्ध करता है इसलिये क्या मैं तुम्हारे सदृश मूर्ख हूं कि जो इस शरीर प्राण अन्तःकरण और आत्मा के संयोगरूप सब शुभ गुण, कर्म और स्वभाव के साधन करने वाले इस संघात को शीघ्र नष्ट करके अपने मनुष्य देह धारण के फल से विमुख रहूं और सब आश्रमों के मूल सब उत्तम कर्मों में उत्तम कर्म और सब के मुख्य कारण ब्रह्मचर्य को खण्डित करके महादुःखसागर में कभी डूबूं किन्तु जो प्रथम आयु में ब्रह्मचर्य करता है वह ब्रह्मचर्य के सेवन से विद्या को प्राप्त होके निश्चित रोगरहित होता है इसलिये तुम मूर्ख लोगों के कहने से ब्रह्मचर्य का लोप मैं कभी न करूंगा ॥ ३ ॥ और जो ४४ (चवालीस) वर्ष तक अर्थात् जैसा ४४ (चवालीस) अक्षर का त्रिष्टुप् छन्द होता है तद्वत् जो मध्यम ब्रह्मचर्य करता है वह ब्रह्मचारी रुद्ररूप प्राणों को प्राप्त होता है कि जिसके आगे किसी दुष्ट की दुष्टता नहीं चलती और वह सब दुष्ट कर्म करनेवालों को सदा रुलाता रहता है ॥ ४ ॥ यदि मध्यम ब्रह्मचर्य के सेवन करने वाले से कोई कहे कि तू इस ब्रह्मचर्य को छोड़ विवाह करके आनन्द को प्राप्त हो उसको ब्रह्मचारी यह उत्तर देवे कि जो सुख अधिक ब्रह्मचर्याश्रम के सेवन से होता और विषयसम्बन्धी भी अधिक आनन्द होता है वह ब्रह्मचर्य को न करने से स्वप्न में भी नहीं प्राप्त होता क्योंकि सांसारिक व्यवहार विषय और परमार्थ सम्बन्धी पूर्ण सुख को ब्रह्मचारी ही प्राप्त होता है अन्य कोई नहीं इसलिये मैं इस सर्वोत्तम सुख प्राप्ति के साधन ब्रह्मचर्य का लोप न करके विद्वान् बलवान् आयुष्मान् धर्मात्मा हो के संपूर्ण आनन्द को प्राप्त होऊंगा। तुम्हारे निर्बुद्धियों के कहने से शीघ्र विवाह करके स्वयं और अपने

कुल को नष्ट भ्रष्ट कभी न करूंगा ॥ ५ ॥ अब ४८ (अड़तालीस) वर्ष पर्यन्त जैसा कि ४८ (अड़तालीस) अक्षर का जगती छन्द होता है वैसे इस उत्तम ब्रह्मचर्य से पूर्ण विद्या, पूर्ण बल, पूर्ण प्रज्ञा, पूर्ण शुभ गुण, कर्म, स्वभावयुक्त सूर्यवत् प्रकाशमान् होकर ब्रह्मचारी सब विद्याओं को ग्रहण करता है ॥ ६ ॥ यदि कोई इस सर्वोत्तम धर्म से गिराना चाहे उसको ब्रह्मचारी उत्तर देवे कि अरे ! छोकरों के छोकरे मुझ से दूर रहो तुम्हारे दुर्गन्धरूप भ्रष्ट वचनों से मैं दूर रहता हूं मैं इस उत्तम ब्रह्मचर्य का लोप कभी न करूंगा इसको पूर्ण करके सर्व रोगों से रहित सर्वविद्यादि शुभ गुण, कर्म, स्वभाव सहित होऊंगा इस मेरी शुभ प्रतिज्ञा को परमात्मा अपनी कृपा से पूर्ण करे जिससे मैं तुम निर्बुद्धियों को उपदेश और विद्या पढ़ा के विशेष तुम्हारे बालकों को आनन्दयुक्त कर सकूं ॥७॥

चतस्रोऽवस्थाः शरीरस्य वृद्धिर्यौवनं संपूर्णता किञ्चित्परिहाणिश्चेति । तत्राषोडशाद् वृद्धिः । आपञ्चविंशतेर्यौवनम् । आचत्वारिंशतस्सम्पूर्णता । ततः किञ्चित्परिहाणिश्चेति ॥

पञ्चविंशे ततो वर्षे पुमान्नारी तु षोड़शे ।
समत्वागतवीर्यौ तौ जानीयात् कुशलो भिषक् ॥ १ ॥

यह धन्वन्तरिजी कृत सुश्रुतग्रन्थ का प्रमाण है ।

अर्थः—इस मनुष्य-देह की ४ अवस्था हैं—एक वृद्धि, दूसरी यौवन, तीसरी संपूर्णता, चौथी किञ्चित्परिहाणि करनेहारी अवस्था है । इन में १६ (सोलहवें) वर्ष आरम्भ २५ (पच्चीसवें) वर्ष में पूर्तिवाली वृद्धि की अवस्था है । जो कोई इस वृद्धि की अवस्था में वीर्यादि धातुओं का नाश करेगा वह कुल्हाड़े से काटे वृक्ष वा डंडे से फूटे घड़े के समान अपने सर्वस्व का नाश कर के पश्चात्ताप करेगा, पुनः उसके हाथ में सुधार कुछ भी न रहेगा और दूसरी जो युवावस्था उसका आरम्भ २५ (पच्चीसवें) वर्ष से और पूर्त्ति ४० (चालीसवें) वर्ष में होती है जो कोई इसको यथावत् संरक्षित न कर रक्खेगा वह अपनी भाग्यशालिता को नष्ट कर देवेगा और तीसरी पूर्ण युवावस्था ४० (चालीसवें)

वर्ष में होती है जो कोई ब्रह्मचारी होकर पुनः ऋतुगामी परस्त्रीत्यागी एकस्त्रीव्रत गर्भ रहे पश्चात् एक वर्ष पर्य्यन्त ब्रह्मचारी न रहेगा वह भी बना बनाया धूल में मिल जायगा और चौथी ४० (चालीसवें) वर्ष से यावत् निर्वीर्य न हो तावत् किञ्चित् हानिरूप अवस्था है यदि किञ्चित् हानि के बदले वीर्य्य की अधिक हानि करेगा वह भी राजयक्ष्मा और भगन्दरादि रोगों से पीड़ित हो जायगा और जो इन चारों अवस्थाओं को यथोक्त सुरक्षित रक्खेगा वह सर्वदा आनन्दित होकर सब संसार को सुखी कर सकेगा ॥

अब इसमें इतना विशेष समझना चाहिये कि स्त्री और पुरुष के शरीर में पूर्वोक्त चारों अवस्थाओं का एकसा समय नहीं है किन्तु जितना सामर्थ्य २५ (पच्चीसवें) वर्ष में पुरुष के शरीर में होता है उतना सामर्थ्य स्त्री के शरीर में १६ (सोलहवें) वर्ष में होजाता है यदि बहुत शीघ्र विवाह करना चाहें तो २५ (पच्चीस) वर्ष का पुरुष और १६ (सोलह) वर्ष की स्त्री दोनों तुल्य सामर्थ्यवाले होते हैं इस कारण इस अवस्था में जो विवाह करना वह अधम विवाह है और जो १७ (सत्रहवें) वर्ष की स्त्री और ३० (तीस) वर्ष का पुरुष १८ (अठारह) वर्ष की स्त्री और छत्तीस वर्ष का पुरुष १९ (उन्नीस) वर्ष की स्त्री ३८ (अड़तीस) वर्ष का पुरुष विवाह करे तो इस को मध्यम समय जानो और जो २० (बीस) २१ (इक्कीस) २२ (बाईस) वा २४ (चौबीस) वर्ष की स्त्री ४० (चालीस) ४२ (बयालीस) ४६ (छयालीस) और ४८ (अड़तालीस) वर्ष का पुरुष होकर विवाह करे वह सर्वोत्तम है । हे ब्रह्मचारिन् ! इन वाक्यों को तू ध्यान में रख जो कि तुझको आगे के आश्रमों में काम आवेंगे जो मनुष्य अपने सन्तान कुलसम्बन्धी और देश की उन्नति करना चाहें वे इन पूर्वोक्त और आगे कही हुई बातों का यथावत् आचरण करें ॥

श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी जिह्वा नासिका चैव पञ्चमी ।
पायूपस्थं हस्तपादं वाक् चैव दशमी स्मृता ॥ १ ॥
बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैषां श्रोत्रादीन्यनुपूर्वशः ।
कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैषां पाय्वादीनि प्रचक्षते ॥ २ ॥

एकादशं मनो ज्ञेयं स्वगुणेनोभयात्मकम् ।
यस्मिन् जिते जितावेतौ भवतः पञ्चकौ गणौ ॥ ३ ॥
इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु ।
संयमे यत्नमातिष्ठेद्विद्वान् यन्तेव वाजिनाम् ॥ ४ ॥
इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम् ।
संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति ॥ ५ ॥
वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपाँसि च ।
न विप्रभावदुष्टस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित् ॥ ६ ॥
वशे कृत्वेन्द्रियग्रामं संयम्य च मनस्तथा ।
सर्वान् संसाधयेदर्थानक्षिण्वन्योगतस्तनुम् ॥ ७ ॥
यमान् सेवेत सततं न नियमान् केवलान् बुधः ।
यमान् पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन् ॥ ८ ॥
अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः ।
चत्वारि तस्य वर्द्धन्ते आयुर्विद्यायशोबलम् ॥ ९ ॥
अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः ।
अज्ञं हि बालमित्याहुः पितेत्येव तु मन्त्रदम् ॥ १० ॥
न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न बन्धुभिः ।
ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान् ॥ ११ ॥
न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः ।
यो वै युवाप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः ॥ १२ ॥
यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः ।
यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति ॥ १३ ॥
संमानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव ।
अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा ॥ १४ ॥
वेदमेव सदाभ्यस्येत्तपस्तप्स्यन् द्विजोत्तमः ।
वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते ॥ १५ ॥

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् ।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥ १६ ॥
यथा खनन् खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति ।
तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति ॥ १७ ॥
श्रद्दधानः शुभां विद्यामाददीतावरादपि ।
अन्त्यादपि परं धर्मं स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि ॥ १८ ॥
विषादप्यमृतं ग्राह्यं बालादपि सुभाषितम् ।
विविधानि च शिल्पानि समादेयानि सर्वतः ॥ १९ ॥ मनु० ॥

अर्थः—कान, त्वचा, नेत्र, जीभ, नासिका, गुदा, उपस्थ (मूत्र का मार्ग), हाथ, पग, वाणी ये दश (१०) इन्द्रिय इस शरीर में हैं ॥ १ ॥ इसमें कर्ण आदि पांच ज्ञानेन्द्रिय और गुदा आदि पांच कर्मेन्द्रिय कहाते हैं ॥ २ ॥ ग्यारहवां इन्द्रिय मन है वह अपने स्मृति आदि गुणों से दोनों प्रकार के इन्द्रियों से सम्बन्ध करता है कि जिस मन के जीतने में ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय दोनों जीत लिये जाते हैं ॥ ३ ॥ जैसे सारथि घोड़े को कुपथ में नहीं जाने देता वैसे विद्वान् ब्रह्मचारी आकर्षण करने वाले विषयों में जाते हुए इन्द्रियों के रोकने में सदा प्रयत्न किया करे ॥ ४ ॥ ब्रह्मचारी इन्द्रियों के साथ मन लगाने से निःसन्देह दोषी होजाता है और उन पूर्वोक्त दश इन्द्रियों को वश में करके ही पश्चात् सिद्धि को प्राप्त होता है ॥ ५ ॥ जिस का ब्राह्मणपन (सम्मान नहीं चाहना वा इन्द्रियों को वश में रखना आदि) बिगड़ा वा जिसका विशेष प्रभाव (वर्णाश्रम के गुण कर्म) बिगड़े हैं उस पुरुष के वेद पढ़ना, त्याग अर्थात् संन्यास लेना, यज्ञ (अग्निहोत्रादि) करना, नियम (ब्रह्मचर्याश्रम आदि) करना, तप (निन्दा, स्तुति और हानि, लाभ आदि द्वन्द्व का सहन) करना आदि कर्म कदापि सिद्ध नहीं हो सकते इसलिये ब्रह्मचारी को चाहिये कि अपने नियम धर्मों को यथावत् पालन करके सिद्धि को प्राप्त होवे ॥ ६ ॥ ब्रह्मचारी पुरुष सब इन्द्रियों को वश में कर और आत्मा के साथ मन को संयुक्त करके योगाभ्यास से शरीर को किञ्चित् २ पीड़ा देता हुआ अपने सब प्रयोजनों को सिद्ध करे ॥७॥

बुद्धिमान् ब्रह्मचारी को चाहिये कि यमों का सेवन नित्य करे केवल नियमों का नहीं क्योंकि यमों * को न करता हुआ और केवल नियमों † का सेवन करता हुआ भी अपने कर्त्तव्य से पतित होजाता है इसलिये यमसेवनपूर्वक नियम सेवन नित्य किया करे ॥ ८ ॥ अभिवादन करने का जिसका स्वभाव और विद्या वा अवस्था में वृद्ध पुरुषों का जो नित्य सेवन करता है उसकी अवस्था, विद्या, कीर्त्ति और बल इन चारों की नित्य उन्नति हुआ करती है इसलिये ब्रह्मचारी को चाहिये कि आचार्य, माता, पिता, अतिथि, महात्मा आदि अपने बड़ों को नित्य नमस्कार और सेवन किया करे ॥ ९ ॥ अज्ञ अर्थात् जो कुछ नहीं पढ़ा, वह निश्चय करके बालक होता और जो मन्त्रद अर्थात् दूसरे को विचार देनेवाला विद्या पढ़ा विद्या विचार में निपुण है वह पितास्थानीय होता है क्योंकि जिस कारण सत्पुरुषों ने अज्ञ जन को बालक कहा और मन्त्रद को पिता ही कहा है इससे प्रथम ब्रह्मचर्य्याश्रम संपन्न होकर ज्ञानवान् विद्यावान् अवश्य होना चाहिये ॥ १० ॥ धर्मवेत्ता ऋषिजनों ने न वर्षों, न पके केशों वा झूलते हुए अङ्गों, न धन और न बन्धुजनों से बड़प्पन माना किन्तु यही धर्म निश्चय किया कि जो हम लोगों में वादविवाद में उत्तर देनेवाला अर्थात् वक्ता हो वह बड़ा है इससे ब्रह्मचर्याश्रम संपन्न होकर विद्यावान् होना चाहिये जिससे कि संसार में बड़प्पन प्रतिष्ठा पावें और दूसरों को उत्तर देने में अति निपुण हों ॥ ११ ॥ उस कारण से वृद्ध नहीं होता कि जिससे इसका शिर झूल जाय, केश पक जावें किन्तु जो ज्वान भी पढ़ा हुआ विद्वान् है उसको विद्वानों ने वृद्ध जाना और माना है इससे ब्रह्मचर्याश्रम संपन्न होकर विद्या पढ़नी चाहिये ॥ १२ ॥ जैसे काठ का कठपुतला हाथी वा जैसे चमड़े का बनाया हुआ मृग हो वैसे विना पढ़ा हुआ विप्र अर्थात्

---

* अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्य्यापरिग्रहा यमाः ॥

निर्वैरता, सत्य बोलना, चोरीत्याग, वीर्यरक्षण और विषयभोग में घृणा ये ५ यम हैं ॥

† शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥

शौच, सन्तोष, तप (हानि लाभ आदि द्वन्द्व का सहना), स्वाध्याय (वेद का पढ़ना), ईश्वरप्रणिधान (सर्वस्व ईश्वरार्पण) ये ५ नियम कहाते हैं ॥

ब्राह्मण वा बुद्धिमान् जन होता है उक्त वे हाथी मृग और विप्र तीनों नाममात्र धारण करते हैं इस कारण ब्रह्मचर्याश्रम संपन्न होकर विद्या पढ़नी चाहिये ॥ १३ ॥ ब्राह्मण विष के समान उत्तम मान से नित्य उदासीनता रक्खे और अमृत के समान अपमान की आकांक्षा सर्वदा करे अर्थात् ब्रह्मचर्यादि आश्रमों के लिये भिक्षामात्र मांगते भी कभी मान की इच्छा न करे ॥ १४ ॥ द्विजोत्तम अर्थात् ब्राह्मणादिकों में उत्तम सज्जन पुरुष सर्वकाल तपश्चर्या करता हुआ वेद ही का अभ्यास करे जिस कारण ब्राह्मण वा बुद्धिमान् जन को वेदाभ्यास करना इस संसार में परम तप कहा है इससे ब्रह्मचर्याश्रम-संपन्न होकर अवश्य वेद विद्याध्ययन करे ॥ १५ ॥ जो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वेद को न पढ़कर अन्य शास्त्र में श्रम करता है वह जीवता ही अपने वंश के सहित शूद्रपन को प्राप्त होजाता है इससे ब्रह्मचर्याश्रम-संपन्न होकर वेदविद्या अवश्य पढ़े ॥ १६ ॥ जैसे फावड़ा से खोदता हुआ मनुष्य जल को प्राप्त होता है वैसे गुरु की सेवा करने वाला पुरुष गुरुजनों ने जो पाई हुई विद्या है उस को प्राप्त होता है इस कारण ब्रह्मचर्याश्रम-संपन्न होकर गुरुजन की सेवा कर उन से सुने और वेद पढ़े॥१७॥ उत्तम विद्या की श्रद्धा करता हुआ पुरुष अपने से न्यून से भी विद्या पावे तो ग्रहण करे। नीच जाति से भी उत्तम धर्म का ग्रहण करे और निन्द्य कुल से भी स्त्रियों में उत्तम स्त्रीजन का ग्रहण करे, यह नीति है, इस से गृहस्थाश्रम से पूर्व २ ब्रह्मचर्याश्रम-संपन्न होकर कहीं से न कहीं से उत्तम विद्या पढ़े, उत्तम धर्म सीखे और ब्रह्मचर्य के अनन्तर गृहाश्रम में उत्तम स्त्री से विवाह करे क्योंकि— ॥ १८ ॥ विष से भी अमृत का ग्रहण करना, बालक से भी उत्तम वचन को लेना और नाना प्रकार के शिल्प काम सब से अच्छे प्रकार ग्रहण करने चाहियें इस कारण ब्रह्मचर्याश्रम-संपन्न होकर देश २ पर्यटन कर उत्तम गुण सीखे ॥१९॥

यान्यनवद्यानि कर्माणि। तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि। यान्यस्माकꣳ सुचरितानि। तानि त्वयोपास्यानि। नो इतराणि। एके चास्मच्छ्रेयाꣳसो ब्राह्मणाः। तेषां त्वयाऽऽसनेन प्रश्वसितव्यम्॥ तैत्तिरीयारण्य० प्रपा० ७। अनु० ११॥

ऋतं तपः सत्यं तपः श्रुतं तपः शान्तं तपो दमस्तपश्शमस्तपो दानं तपो यज्ञस्तपो ब्रह्मभूर्भुवः सुवर्ब्रह्मैतदुपास्वैतत्तपः ॥ २ ॥ तैत्तिरीयारण्य० प्रपा० १० । अनु० ८ ॥

अर्थः—हे शिष्य ! जो अनिन्दित पापरहित अर्थात् अन्याय अधर्माचरण रहित न्यायधर्माचरण सहित कर्म हैं उन्हीं का सेवन तू किया करना इनसे विरुद्ध अधर्माचरण कभी मत करना । हे शिष्य ! जो तेरे माता पिता आचार्य आदि हम लोगों के अच्छे धर्मयुक्त उत्तम कर्म हैं उन्हीं का आचरण तू कर और जो हमारे दुष्ट कर्म हों उनका आचरण कभी मत कर । हे ब्रह्मचारिन् ! जो हमारे मध्य में धर्मात्मा श्रेष्ठ ब्रह्मवित् विद्वान् हैं उन्हीं के समीप बैठना संग करना और उन्हीं का विश्वास किया कर ॥ १ ॥ हे शिष्य ! यथार्थ का ग्रहण, सत्य मानना, सत्य बोलना, वेदादि सत्य शास्त्रों का सुनना, अपने मन को अधर्माचरण में न जाने देना, श्रोत्रादि इन्द्रियों को दुष्टाचार से रोक श्रेष्ठाचार में लगाना, क्रोधादि के त्याग से शान्त रहना, विद्या आदि शुभ गुणों का दान करना, अग्निहोत्रादि और विद्वानों का संग करना, जितने भूमि अन्तरिक्ष और सूर्यादि लोकों में पदार्थ हैं उनका यथाशक्ति ज्ञान करना, और योगाभ्यास, प्राणायाम, एक ब्रह्म परमात्मा की उपासना करना, ये सब कर्म करना ही तप कहाता है ॥ २ ॥

ऋतञ्च स्वाध्यायप्रवचने च । सत्यञ्च स्वाध्यायप्रवचने च । तपश्च स्वाध्या० । दमश्च स्वाध्या० । शमश्च स्वाध्या० । अग्नयश्च स्वाध्या० । अग्निहोत्रं च स्वाध्या० । सत्यमिति सत्यवचा राथीतरः । तप इति तपोनित्यः पौरुशिष्टिः । स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको मौद्गल्यः । तद्धि तपस्तद्धि तपः ॥ ३ ॥ तैत्तिरीयारण्य० प्रपा० ७ । अनु० ९ ॥

अर्थः—हे ब्रह्मचारिन् ! तू सत्य धारण कर, पढ़ और पढ़ाया कर । सत्योपदेश करना कभी मत छोड़, सदा सत्य बोल, पढ़ और पढ़ाया कर । हर्ष शोकादि छोड़, प्राणायाम योगाभ्यास कर तथा पढ़ और पढ़ाया भी कर । अपनी इन्द्रियों

को बुरे कामों से हटा, अच्छे कामों में चला, विद्या का ग्रहण कर और कराया कर। अपने अन्तःकरण और आत्मा को अन्यायाचरण से हटा, न्यायाचरण में प्रवृत्त कर और कराया कर, तथा पढ़ और सदा पढ़ाया कर। अग्निविद्या के सेवनपूर्वक विद्या को पढ़ और पढ़ाया कर। अग्निहोत्र करता हुआ पढ़ और पढ़ाया कर। सत्यवादी होना तप (है) (यह) सत्यवचा राथीतर आचार्य (का), न्यायाचरण में कष्ट सहना तप (है) (यह) तपोनित्य, पौरुशिष्टि आचार्य (का), और धर्म में चल के पढ़ना पढ़ाना और सत्योपदेश करना ही तप है यह नाकोमौद्गल्य आचार्य का मत है; और सब आचार्यों के मत में यही पूर्वोक्त तप [यही पूर्वोक्त तप] है ऐसा तू जान ॥ ३ ॥ इत्यादि उपदेश तीन दिन के भीतर आचार्य वा बालक का पिता करे।

तत्पश्चात् घर को छोड़ गुरुकुल में जावें। यदि पुत्र हो तो पुरुषों की पाठशाला और कन्या हो तो स्त्रियों की पाठशाला में भेजें। यदि घर में वर्णोच्चारण की शिक्षा यथावत् न हुई हो तो आचार्य बालकों को और कन्याओं को स्त्री, पाणिनिमुनिकृत वर्णोच्चारण शिक्षा १ (एक) महीने के भीतर पढ़ा देवें। पुनः पाणिनिमुनिकृत अष्टाध्यायी का पाठ पदच्छेद अर्थसहित ८ (आठ) महीने में अथवा १ (एक) वर्ष में पढ़ाकर, धातुपाठ और दश लकारों के रूप सधवाना तथा दश प्रक्रिया भी सधवानी। पुनः पाणिनिमुनिकृत लिङ्गानुशासन और उणादि, गणपाठ तथा अष्टाध्यायीस्थ ण्वुल् और तृच् प्रत्ययाद्यन्त सुबन्तरूप ६ (छः) महीने के भीतर सधवा देवें। पुनः दूसरी वार अष्टाध्यायी पदार्थोक्ति, समास, शंकासमाधान, उत्सर्ग अपवाद, * अन्वयपूर्वक पढ़ावें और संस्कृतभाषण का भी अभ्यास कराते जायँ, ८ महीने के भीतर इतना पढ़ना पढ़ाना चाहिये ॥

तत्पश्चात् पतञ्जलिमुनिकृत महाभाष्य, जिस में वर्णोच्चारणशिक्षा, अष्टाध्यायी, धातुपाठ, गणपाठ, उणादिगण, लिङ्गानुशासन इन ६ (छः) ग्रन्थों की व्याख्या यथावत् लिखी है डेढ़ वर्ष में अर्थात् १८ (अठारह) महीने में इसको पढ़ना पढ़ाना। इस प्रकार शिक्षा और व्याकरण शास्त्र को ३ (तीन) वर्ष ५

* जिस सूत्र का अधिक विषय हो वह उत्सर्ग और जो किसी सूत्र के बड़े विषय में से थोड़े विषय में प्रवृत्त हो वह अपवाद कहाता है ॥

(पांच) महीने वा नौ महीने अथवा ४ (चार) वर्ष के भीतर पूरा कर सब संस्कृतविद्या के मर्मस्थलों को समझने के योग्य होवे। तत्पश्चात् यास्कमुनिकृत निघण्टु निरुक्त, तथा कात्यायनादिमुनि कृत कोश १॥ (डेढ़) वर्ष के भीतर पढ़ के, अव्ययार्थ, आप्तमुनिकृत वाच्यवाचकसम्बन्धरूप * यौगिक योगरूढि और रूढि तीन प्रकार के शब्दों के अर्थ यथावत् जानें। तत्पश्चात् पिङ्गलाचार्य-कृत पिङ्गलसूत्र छन्दोग्रन्थ भाष्यसहित ३ (तीन) महीने में पढ़ और ३ (तीन) महीने में श्लोकादिरचनविद्या को सीखे। पुनः यास्कमुनिकृत काव्यालङ्कारसूत्र वात्स्यायनमुनिकृत भाष्यसहित, आकाङ्क्षा, योग्यता, आसत्ति और तात्पर्यार्थ अन्वयसहित पढ़ के, इसीके साथ मनुस्मृति, विदुरनीति और किसी प्रकरण में के १० सर्ग वाल्मीकीय रामायण के ये सब १ (एक) वर्ष के भीतर पढ़ें और पढ़ावें। तथा १ (एक) वर्ष में सूर्यसिद्धान्तादि में से कोई १ (एक) सिद्धान्त से गणितविद्या जिसमें बीजगणित, रेखागणित और पाटीगणित जिसको अङ्कगणित भी कहते हैं पढ़ें और पढ़ावें। निघण्टु से ले के ज्योतिष पर्यन्त वेदाङ्गों को चार वर्ष के भीतर पढ़ें। तत्पश्चात् जैमिनिमुनिकृत सूत्र पूर्वमीमांसा को व्यासमुनिकृत व्याख्यासहित, कणादमुनिकृत वैशेषिकसूत्ररूप शास्त्र को गोतममुनिकृत प्रशस्तपाद-भाष्य सहित, वात्स्यायनमुनिकृत भाष्य-सहित गोतममुनिकृत सूत्ररूप न्यायशास्त्र, व्यासमुनिकृत भाष्यसहित पतञ्जलि-मुनिकृत योगसूत्र योगशास्त्र, भागुरिमुनिकृत भाष्ययुक्त कपिलाचार्य्यकृत सूत्र-स्वरूप सांख्यशास्त्र, जैमिनि वा बौद्धायन आदि मुनिकृत व्याख्यासहित व्यास-मुनिकृत शारीरिकसूत्र तथा ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य और बृहदारण्यक १० (दश) उपनिषद् [व्यासादिमुनिकृत व्याख्यासहित वेदान्तशास्त्र] इन ६ (छः) शास्त्रों को २ (दो) वर्ष के भीतर पढ़ लेवें। तत्पश्चात् बह्वृच ऐतरेय ऋग्वेद का ब्राह्मण, आश्वलायनकृत श्रौत तथा गृह्यसूत्र † और कल्पसूत्र पदक्रम और व्याकरणादि के सहाय से छन्दः,

* यौगिक-जो क्रिया के साथ सम्बन्ध रक्खे, जैसे-पाचक याजकादि। योगरूढि, जैसे-पङ्कजादि। रूढि, जैसे-धन, वन इत्यादि॥

† जो ब्राह्मण वा सूत्र वेदविरुद्ध हिंसापरक हो उसका प्रमाण न करना॥

स्वर, पदार्थ, अन्वय, भावार्थ सहित ऋग्वेद का पठन ३ वर्ष के भीतर करे, इसी प्रकार यजुर्वेद को शतपथब्राह्मण और पदादि के सहित २ (दो) वर्ष, तथा सामब्राह्मण और पदादि तथा गानसहित सामवेद को २ (दो) वर्ष, तथा गोपथब्राह्मण और पदादि के सहित अथर्ववेद २ (दो) वर्ष के भीतर पढ़ें और पढ़ावें। सब मिल के ९ (नौ) वर्षों के भीतर ४ (चारों) वेदों को पढ़ना और पढ़ाना चाहिये। पुनः ऋग्वेद का उपवेद आयुर्वेद जिसको वैद्यकशास्त्र कहते हैं, जिस में धन्वन्तरिजीकृत सुश्रुत और निघण्टु तथा पतञ्जलि ऋषिकृत चरक आदि आर्षग्रन्थ हैं, इनको ३ (तीन) वर्ष के भीतर पढ़ें। जैसे सुश्रुत में शस्त्र लिखे हैं बना कर शरीर के सब अवयवों को चीर के देखें, तथा जो उसमें शारीरिकादि विद्या लिखी हैं साक्षात् करें।

तत्पश्चात् यजुर्वेद का उपवेद धनुर्वेद जिसको शस्त्रास्त्रविद्या कहते हैं, जिसमें अङ्गिरा आदि ऋषिकृत ग्रन्थ हैं. जो इस समय बहुधा नहीं मिलते ३ (तीन) वर्ष में पढ़ें और पढ़ावें। पुनः सामवेद का उपवेद गान्धर्ववेद, जिसमें नारदसंहितादि ग्रन्थ हैं, उनको पढ़ के स्वर, राग, रागिणी, समय, वादित्र, ग्राम, ताल, मूर्च्छना आदि का अभ्यास यथावत् ३ (तीन) वर्ष के भीतर करे।

तत्पश्चात् अथर्ववेद का उपवेद अर्थवेद जिसको शिल्पशास्त्र कहते हैं, जिसमें विश्वकर्मा त्वष्टा और मयकृत संहिता ग्रन्थ हैं, उनको ६ (छः) वर्ष के भीतर पढ़ के विमान, तार, भूगर्भादि विद्याओं को साक्षात् करें। ये शिक्षा से ले के आयुर्वेद तक १४ (चौदह) विद्याओं को ३१ (इकत्तीस) वर्षों में पढ़ के महाविद्वान् होकर अपने और सब जगत् के कल्याण और उन्नति करने में सदा प्रयत्न किया करें॥

इति वेदारम्भसंस्कारविधिः समाप्तः

अथ

समावर्त्तनसंस्कारविधिं वक्ष्यामः

समावर्त्तन संस्कार उसको कहते हैं कि जो ब्रह्मचर्य्यव्रत, साङ्गोपाङ्ग वेदविद्या, उत्तमशिक्षा और पदार्थविज्ञान को पूर्ण रीति से प्राप्त होके विवाहविधानपूर्वक गृहाश्रम को ग्रहण करने के लिये विद्यालय छोड़ के घर की ओर आना। इसमें प्रमाणः—

वेदसमाप्तिं वाचयीत* । कल्याणैः सह सम्प्रयोगः† । स्नातकायोपस्थिताय । राज्ञे च । आचार्यश्वशुरपितृव्यमातुलानां च दधनि मध्वानीय । सर्पिर्वा मध्वलाभे । विष्टरः पाद्यमर्घ्यमाचमनीयं मधुपर्कः‡ ॥ यह आश्वलायनगृह्यसूत्र।

तथा पारस्करगृह्यसूत्रः—

वेदꣳ समाप्य स्नायात् । ब्रह्मचर्यं वाऽष्टचत्वारिꣳशकम् ¶ । त्रय एव स्नातका भवन्ति । विद्यास्नातको व्रतस्नातको विद्याव्रतस्नातकश्चेति § ॥

जब वेदों की समाप्ति हो तब समावर्त्तनसंस्कार करे। सदा पुण्यात्मा पुरुषों के सब व्यवहारों में साझा रक्खे। राजा आचार्य श्वशुर चाचा और मामा आदि का अपूर्वागमन जब हो और स्नातक अर्थात् जब विद्या और ब्रह्मचर्य पूर्ण करके ब्रह्मचारी घर को आवे तब प्रथम (पाद्यम्) पग धोने का जल (अर्घ्यम्) मुखप्रक्षालन के लिये जल और आचमन के लिये जल देके शुभासन पर बैठा दही में मधु अथवा सहत न मिले तो घी मिलाके एक अच्छे पात्र में धर इनको मधुपर्क देना होता है और विद्यास्नातक, व्रतस्नातक तथा विद्याव्रत-

---

* अ० १ । कण्डि० २२ । सू० १६ ॥ † अ० १ । कण्डि० २३ । सू० २० ॥

‡ अ० १ । कण्डि० २४ । सू० २–७ ॥ ¶ कां० २ । कण्डि० ६ । सू० १, २ ॥

§ कां० २ । कण्डि० ५ । सू० ३२ ॥

स्नातक ये तीन * प्रकार के स्नातक होते हैं इस कारण वेद की समाप्ति और ४८ (अड़तालीस) वर्ष का ब्रह्मचर्य समाप्त करके ब्रह्मचारी विद्याव्रतस्नान करे॥

तानि कल्पद् ब्रह्मचारी सलिलस्य पृष्ठे तपोऽतिष्ठत्तप्यमानः समुद्रे। स स्नातो बभ्रुः पिङ्गलः पृथिव्यां बहु रोचते॥ अथर्व० कां० ११। प्रपा० २४। व० १६। मं० २६॥

अर्थः—जो ब्रह्मचारी समुद्र के समान गम्भीर बड़े उत्तम व्रत ब्रह्मचर्य में निवास कर महातप को करता हुआ वेदपठन, वीर्य्यनिग्रह आचार्य के प्रियाचरणादि कर्मों को पूरा कर पश्चात् पृ० १०४ में लिखे अनुसार स्नानविधि करके पूर्ण विद्याओं को धरता सुन्दर वर्णयुक्त होके पृथिवी में अनेक शुभ गुण, कर्म और स्वभाव से प्रकाशमान होता है वही धन्यवाद के योग्य है॥

इसका समय—पृ० ८६—६३ तक में लिखे प्रमाणे जानना। परन्तु जब विद्या, हस्तक्रिया, ब्रह्मचर्य व्रत भी पूरा होवे तभी गृहाश्रम की इच्छा स्त्री और पुरुष करें। विवाह के स्थान दो हैं एक आचार्य का घर, दूसरा अपना घर। दोनों ठिकानों में से किसी एक ठिकाने आगे विवाह में लिखे प्रमाणे सब विधि करे। इस संस्कार का विधि पूरा करके पश्चात् विवाह करे।

विधिः—जो शुभ दिन समावर्त्तन का नियत करे उस दिन आचार्य्य के घर में पृ० १३—१४ में लिखे यज्ञकुण्ड आदि बना के सब शाकल्य और सामग्री संस्कार दिन से पूर्व दिन में जोड़ रक्खे और स्थालीपाक † बना के तथा घृतादि और पात्रादि यज्ञशाला में वेदी के समीप रक्खे पुनः पृ० १६ में लिखे० यथावत् ४ (चारों) दिशाओं में आसन बिछा बैठ पृ० ४ (चार) से पृ० १२ तक

---

* जो केवल विद्या को समाप्त तथा ब्रह्मचर्य व्रत को न समाप्त करके स्नान करता है वह विद्यास्नातक, जो ब्रह्मचर्य व्रत को समाप्त तथा विद्या को न समाप्त करके स्नान करता है वह व्रतस्नातक और जो विद्या तथा ब्रह्मचर्य व्रत दोनों को समाप्त करके स्नान करता है वह विद्याव्रतस्नातक कहाता है॥

† जो कि पूर्व पृ० १५ में लिखे प्रमाणे भात आदि बनाकर रक्खा—

में ईश्वरोपासना, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण करें और जितने वहां पुरुष आये हों वे भी एकाग्रचित्त होके ईश्वर के ध्यान में मग्न होवें तत्पश्चात् पृ० २०—२१ में अग्न्याधान समिदाधान करके पृ० २२ में वेदी के चारों ओर उदकसेचन करके आसन पर पूर्वाभिमुख आचार्य बैठ के पृ० २२–२३ में आघारावाज्यभागाहुति ४ (चार) और पृ० २३ में व्याहृति आहुति ४ (चार) और पृ० २४–२५ में अष्टाज्याहुति ८ (आठ) और पृ० २३ में स्विष्टकृत् आहुति १ (एक) और प्राजापत्याहुति १ (एक) ये सब मिलके (अठारह) आज्याहुति देनी तत्पश्चात् ब्रह्मचारी पृ० ८० में० (ओं अग्ने सुश्रवः०) इस मन्त्र से कुण्ड का अग्नि कुण्ड के मध्य में इकट्ठा करे तत्पश्चात् पृ० ८० में० (ओं अग्नये समिध०) इस मन्त्र से कुण्ड में ३ (तीन) समिधा होम कर पृ० ८१ में० (ओं० तनूपा०) इत्यादि ७ (सात) मन्त्रों से दक्षिण हस्ताञ्जलि आगी पर थोड़ीसी तपा उस जल से मुखस्पर्श और तत्पश्चात् पृ० १९–२० में० (ओं वाङ्म०) इत्यादि मन्त्रों से उक्त प्रमाणे अङ्गस्पर्श कर पुनः सुगन्धादि औषधयुक्त जल से भरे हुए ८ (आठ) घड़े वेदी के उत्तरभाग में जो पूर्व से रक्खे हुए हों उनमें सेः—

ओं ये अप्स्वन्तरग्नयः प्रविष्टा गोह्य उपगोह्यो मयूषो मनोहास्खलो विरुजस्तनूदूषुरिन्द्रियहा तान् विजहामि यो रोचनस्तमिह गृह्णामि ॥ पार० कां० २ । कं० ६ । सू० १० ॥

इस मन्त्र को पढ़, एक घड़े को ग्रहण करके उस घड़े में से जल ले केः—

ओं तेन मामभिषिञ्चामि श्रियै यशसे ब्रह्मणे ब्रह्मवर्चसाय ॥ पार० कां०२ । कं० ६ । सू० ११ ॥

इस मन्त्र को बोल के स्नान करना तत्पश्चात् उपरिकथित (ओं ये अप्स्वन्तर०) इस मन्त्र को बोल के दूसरे घड़े को ले उसमें से लोटे में जल ले केः—

ओं येन श्रियमकृणुतां येनावमृशता॰ सुरान् । येनाक्ष्यावभ्यषिञ्चतां यद्वां तदश्विना यशः ॥ पार० कां० २ । कं० ६ । सू० १२ ॥

इस मन्त्र को बोल के स्नान करना तत्पश्चात् पूर्ववत् ऊपर के (ओं ये अप्स्वन्तर०) इसी मन्त्र का पाठ बोल के वेदी के उत्तर में रक्खे घड़ों में से ३ (तीन) घड़ों को ले के पृ० ७५ में लिखे हुए (आपो हि ष्ठा०) इन ३ (तीन) मन्त्रों को बोल के उन घड़ों के जल से स्नान करना, तत्पश्चात् ८ (आठ) घड़ों में से रहे हुए ३ (तीन) घड़ों को ले के (ओं आपो हि०) इन्हीं ३ (तीन) मन्त्रों को मन में बोल के स्नान करे पुनः—

ओं उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं विमध्यमꣳ श्रथाय । अथा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम ॥ ऋ० मं० १ । सू० २४ ॥

इस मन्त्र को बोल के ब्रह्मचारी अपना मेखला और दण्ड को छोड़े तत्पश्चात् वह स्नातक ब्रह्मचारी सूर्य के सम्मुख खड़ा रह कर: —

ओं उद्यन् भ्राजभृष्णुरिन्द्रो मरुद्भिरस्थात् प्रातर्यावभिरस्थाद्दशसनिरसि-दशसनिं मा कुर्वाविदन् मा गमय । उद्यन् भ्राजभृष्णुरिन्द्रो मरुद्भिरस्था द्दिवायावभिरस्थाच्छतसनिरसि शतसनिं मा कुर्वाविदन् मा गमय । उद्यन् भ्राजभृष्णुरिन्द्रो मरुद्भिरस्थात् सायंयावभिरस्थात् सहस्रसनिरसि सहस्रसनिं मा कुर्वाविदन् मा गमय ॥ पार० कां० २ । कं० ६ ॥

इस मन्त्र से परमात्मा का उपस्थान स्तुति करके तत्पश्चात् दही वा तिल प्राशन करके जटा लोम और नख वपन अर्थात् छेदन करा के:—

ओं अन्नाद्याय व्यूहध्वꣳ सोमो राजाऽयमागमत् । स मे मुखं प्रमार्क्ष्यते यशसा च भगेन च ॥ पार० कां० २ । कं० ६ ॥

इस मन्त्र को बोल के ब्रह्मचारी उदुम्बर की लकड़ी से दन्तधावन करे । तत्पश्चात् सुगन्धित द्रव्य शरीर पर मल के शुद्ध जल से स्नान कर शरीर को पोंछ अधोवस्त्र अर्थात् धोती वा पीताम्बर धारण करके सुगन्धयुक्त चन्दनादि का अनुलेपन करे तत्पश्चात् चक्षु मुख नासिका के छिद्रों का:—

ओं प्राणापानौ मे तर्पय चक्षुर्मे तर्पय श्रोत्रं मे तर्पय ॥ पार० कां० २ । कं० ६ ॥

इस मन्त्र से स्पर्श करके हाथ में जल ले, अपसव्य और दक्षिणमुख होके:—

ओं पितरः शुन्धध्वम् ॥ पार० कां० २ । कं० ६ ॥

इस मन्त्र से जल भूमि पर छोड़ के सव्य होके:—

ओं सुचक्षा अहमक्षीभ्यां भूयासꣳ सुवर्चा मुखेन । सुश्रुत्कर्णाभ्यां भूयासम् ॥ पार० कां० २ । कं० ६ ॥

इस मन्त्र का जप करके:—

ओं परिधास्यै यशोधास्यै दीर्घायुत्वाय जरदष्टिरस्मि । शतं च जीवामि शरदः पुरूची रायस्पोषमभिसंव्ययिष्ये ॥ पा० कां० २ । कं० ६ ॥

इस मन्त्र से सुन्दर अतिश्रेष्ठ वस्त्र धारण करके:—

ओं यशसा मा द्यावापृथिवी यशसेन्द्राबृहस्पती । यशो भगश्च माविन्द-द्यशो मा प्रतिपद्यताम् ॥ पार० कां० २ । कं० ६ ॥

इस मन्त्र से उत्तम उपवस्त्र धारण करके:—

ओं या आहरज्जमदग्निः श्रद्धायै मेधायै कामायेन्द्रियाय । ता अहं प्रतिगृह्णामि यशसा च भगेन च ॥ पार० कां० २ । कं० ६ ॥

इस मन्त्र से सुगन्धित पुष्पों की माला लेके:—

ओं यद्यशोऽप्सरसामिन्द्रश्चकार विपुलं पृथु । तेन सङ्ग्रथिताः सुमनस आबध्नामि यशो मयि ॥ पार० कां० २ । कं० ६ ॥

इस मन्त्र से धारण करनी, पुनः शिरोवेष्टन अर्थात् पगड़ी दुपट्टा और टोपी आदि अथवा मुकुट हाथ में लेके पृष्ठ ७६ में लि० (युवा सुवासाः०) इस मन्त्र से धारण करे उसके पश्चात् अलङ्कार ले के:—

ओं अलङ्करणमसि भूयोऽलङ्करणं भूयात् ॥ पार० कां० २ । कं० ६ ॥

इस मन्त्र से धारण करे और:—

ओं वृत्रस्यासि कनीनकश्चक्षुर्दा असि चक्षुर्मे देहि ॥ यजु० अ० ४। मं० ३॥

इस मन्त्र से आंख में अंजन करना। तत्पश्चात्:—

ओं रोचिष्णुरसि ॥ पार० कां २। कं० ६॥

इस मन्त्र से दर्पण में मुख अवलोकन करे। तत्पश्चात्:—

ओं बृहस्पतेश्छदिरसि पाप्मनो मामन्तर्धेहि तेजसो यशसो मामन्तर्धेहि ॥ पार० कां० २। कं० ६॥

इस मन्त्र से छत्र धारण करे पुनः—

ओं प्रतिष्ठे स्थो विश्वतो मा पातम् ॥ पार० कां० २। कं० ६॥

इस मन्त्र से उपानह् पादवेष्टन पगरखा और जिसको जोड़ा भी कहते हैं धारण करे, तत्पश्चात्:—

ओं विश्वाभ्यो मा नाष्ट्राभ्यस्परिपाहि सर्वतः ॥ पार० कां० २। कं० ६॥

इस मन्त्र से बांस आदि की एक सुन्दर लकड़ी हाथ में धारण करनी, तत्पश्चात् ब्रह्मचारी के माता पिता आदि जब वह आचार्यकुल से अपना पुत्र घर को आवे उसको बड़े मान प्रतिष्ठा उत्सव उत्साह से अपने घर पर ले आवें, घर पर लाके उनके पिता माता सम्बन्धी बन्धु आदि ब्रह्मचारी का सत्कार पृष्ठ १०२ में लिखे प्र० करें पुनः संस्कार में आये हुए आचार्य आदि को उत्तम अन्नपानादि से सत्कारपूर्वक भोजन करा के और वह ब्रह्मचारी और उसके माता पितादि आचार्य को उत्तम आसन पर बैठा पूर्वोक्त प्रकार मधुपर्क कर सुन्दर पुष्पमाला वस्त्र गोदान धन आदि की दक्षिणा यथाशक्ति देके सब के सामने आचार्य के जोकि उत्तम गुण हों उनकी प्रशंसा कर और विद्यादान की

कृतज्ञता सब को सुनावे । सुनो भद्रजनो ! इन महाशय आचार्य ने मेरे पर बड़ा उपकार किया है जिसने मुझ को पशुता से छुड़ा उत्तम विद्वान् बनाया है उसका प्रत्युपकार मैं कुछ भी नहीं कर सकता इस के बदले में अपने आचार्य को अनेक धन्यवाद दे नमस्कार कर प्रार्थना करता हूं कि जैसे आपने मुझ को उत्तम शिक्षा और विद्यादान दे के कृतकृत्य किया उसी प्रकार अन्य विद्यार्थियों को भी कृतकृत्य करेंगे और (जैसे आपने मुझको) विद्या दे के आनन्दित किया है वैसे मैं भी अन्य विद्यार्थियों को कृतकृत्य और आनन्दित करता रहूंगा और आपके किये उपकार को कभी न भूलूंगा सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर आप मुझ और सब पढ़ने पढ़ाने हारे तथा सब संसार पर अपनी कृपादृष्टि से सब को सभ्य, विद्वान्, शरीर और आत्मा के बल से युक्त और परोपकारादि शुभ कर्मों की सिद्धि करने कराने में चिरायु स्वस्थ पुरुषार्थी उत्साही करे कि जिससे इस परमात्मा की सृष्टि में उसके गुण, कर्म, स्वभाव के अनुकूल अपने गुण, कर्म, स्वभावों को करके धर्म अर्थ काम और मोक्ष की सिद्धि कर करा के सदा आनन्द में रहें ॥

इति समावर्त्तनसंस्कारविधिः समाप्तः

अथ विवाहसंस्कारविधिं वक्ष्यामः

विवाह उसको कहते हैं कि जो पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत विद्या बल को प्राप्त तथा सब प्रकार से शुभ गुण, कर्म, स्वभावों में तुल्य परस्पर प्रीतियुक्त हो के निम्नलिखित प्रमाणे सन्तानोत्पत्ति और अपने २ वर्णाश्रम के अनुकूल उत्तम कर्म करने के लिये स्त्री और पुरुष का सम्बन्ध होता है। इसमें प्रमाणः—

उदगयन आपूर्य्यमाणपक्षे पुण्ये नक्षत्रे * चौलकर्मोपनयनगोदान-विवाहाः ॥ १ ॥ सार्वकालमेकं विवाहम् ॥ २ ॥

यह आश्वलायन गृह्यसूत्र और—

आवसथ्याधानं दारकाले ॥ ३ ॥

इत्यादि पारस्कर और—

पुण्ये नक्षत्रे दारान् कुर्वीत ॥ ४ ॥ लक्षणप्रशस्तान् कुशलेन ॥ ५ ॥

इत्यादि गोभिलीय गृह्यसूत्र और इसी प्रकार शौनक गृह्यसूत्र में भी है ॥

अर्थः—उत्तरायण शुक्लपक्ष अच्छे दिन अर्थात् जिस दिन प्रसन्नता हो उस दिन विवाह करना चाहिये ॥ १ ॥ और कितने ही आचार्यों का ऐसा मत है कि सब काल में विवाह करना चाहिये ॥ २ ॥ जिस अग्नि का स्थापन विवाह में होता है उस का आवसथ्य नाम है ॥ ३ ॥ प्रसन्नता के दिन स्त्री का पाणिग्रहण, जो कि स्त्री सर्वथा शुभ गुणादि से उत्तम हो, करना चाहिये ॥ ४ ॥ ५ ॥

* यह नक्षत्रादि का विचार कल्पनायुक्त है इससे प्रमाण नहीं।

इस का समयः—पृष्ठ ८६–६३ तक में जानना चाहिये वधू और वर की आयु, कुल, वास्तव्यस्थान, शरीर और स्वभाव की परीक्षा अवश्य करें, अर्थात् दोनों सज्ञान और विवाह की इच्छा करनेवाले हों। स्त्री की आयु से वर की आयु न्यून से न्यून ड्योढ़ी और अधिक से अधिक दूनी होवे। परस्पर कुल की परीक्षा भी करनी चाहिये। इसमें प्रमाणः—

वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम्।
अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत् ॥ १ ॥

गुरुणानुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि।
उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम् ॥ २ ॥

असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः।
सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने ॥ ३ ॥

महान्त्यपि समृद्धानि गोऽजाविधनधान्यतः।
स्त्रीसम्बन्धे दशैतानि कुलानि परिवर्जयेत् ॥ ४ ॥

हीनक्रियं निष्पुरुषं निश्छन्दो रोमशार्शसम्।
क्षय्यामय्याव्यपस्मारिश्वित्रिकुष्ठिकुलानि च ॥ ५ ॥

नोद्वहेत् कपिलां कन्यां नाधिकाङ्गीं न रोगिणीम्।
नालोमिकां नातिलोमां न वाचाटां न पिङ्गलाम् ॥ ६ ॥

नर्क्षवृक्षनदीनाम्नीं नान्त्यपर्वतनामिकाम्।
न पक्ष्यहिप्रेष्यनाम्नीं न च भीषणनामिकाम् ॥ ७ ॥

अव्यङ्गाङ्गीं सौम्यनाम्नीं हंसवारणगामिनीम्।
तनुलोमकेशदशनां मृद्वङ्गीमुद्वहेत् स्त्रियम् ॥ ८ ॥

ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥ ९ ॥

आच्छाद्य चार्चयित्वा च श्रुतिशीलवते स्वयम्।
आहूय दानं कन्याया ब्राह्मो धर्मः प्रकीर्त्तितः ॥ १० ॥

यज्ञे तु वितते सम्यगृत्विजे कर्म कुर्वते ।
अलङ्कृत्य सुतादानं दैवं धर्मं प्रचक्षते ॥ ११ ॥
एकं गोमिथुनं द्वे वा वरादादाय धर्मतः ।
कन्याप्रदानं विधिवदार्षो धर्मः स उच्यते ॥ १२ ॥
सह नौ चरतां धर्ममिति वाचानुभाष्य च ।
कन्याप्रदानमभ्यर्च्य प्राजापत्यो विधिः स्मृतः ॥ १३ ॥
ज्ञातिभ्यो द्रविणं दत्वा कन्यायै चैव शक्तितः ।
कन्याप्रदानं विधिवदासुरो धर्म उच्यते ॥ १४ ॥
इच्छयाऽन्योन्यसंयोगः कन्यायाश्च वरस्य च ।
गान्धर्वः स तु विज्ञेयो मैथुन्यः कामसम्भवः ॥ १५ ॥
हत्वा छित्त्वा च भित्त्वा च क्रोशन्तीं रुदतीं गृहात् ।
प्रसह्य कन्याहरणं राक्षसो विधिरुच्यते ॥ १६ ॥
सुप्तां मत्तां प्रमत्तां वा रहो यत्रोपगच्छति ।
स पापिष्ठो विवाहानां पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥ १७ ॥
ब्राह्मादिषु विवाहेषु चतुर्ष्वेवानुपूर्वशः ।
ब्रह्मवर्चस्विनः पुत्रा जायन्ते शिष्टसंमताः ॥ १८ ॥
रूपसत्त्वगुणोपेता धनवन्तो यशस्विनः ।
पर्याप्तभोगा धर्मिष्ठा जीवन्ति च शतं समाः ॥ १९ ॥
इतरेषु तु शिष्टेषु नृशंसानृतवादिनः ।
जायन्ते दुर्विवाहेषु ब्रह्मधर्मद्विषः सुताः ॥ २० ॥
अनिन्दितैः स्त्रीविवाहैरनिन्द्या भवति प्रजा ।
निन्दितैर्निन्दिता नृणां तस्मान्निन्द्यान् विवर्जयेत् ॥ २१ ॥ मनु० ॥

अर्थः—ब्रह्मचर्य से ४ (चार), ३ (तीन), २ (दो) अथवा १ (एक) वेद को यथावत् पढ़, अखण्डित ब्रह्मचर्य का पालन करके गृहाश्रम को धारण करे ॥१॥ यथावत् उत्तम रीति से ब्रह्मचर्य और विद्या को ग्रहण कर गुरु की आज्ञा से स्नान करके ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य अपने वर्ण की उत्तम लक्षणयुक्त स्त्री

से विवाह करे ॥ २ ॥ जो स्त्री माता की छः पीढ़ी और पिता के गोत्र की न हो वही द्विजों के लिये विवाह करने में उत्तम है ॥ ३ ॥ विवाह में नीचे लिखे हुए दश कुल, चाहें वे गाय आदि पशु धन और धान्य से कितने ही बड़े हों, उन कुलों की कन्या के साथ विवाह न करे ॥ ४ ॥ वे दश कुल ये हैं:–१ एक–जिस कुल में उत्तम क्रिया न हो । २ दूसरा–जिस कुल में कोई भी उत्तम पुरुष न हो । ३ तीसरा-जिस कुल में कोई विद्वान् न हो । ४ चौथा–जिस कुल में शरीर के ऊपर बड़े २ लोम हों । ५ पांचवां–जिस कुल में बवासीर हो । ६ छठा–जिस कुल में क्षयी (राजयक्ष्मा) रोग हो । ७ सातवां—जिस कुल में अग्निमन्दता से आमाशय रोग हो । ८ आठवां–जिस कुल में मृगी रोग हो । ९ नववां–जिस कुल में श्वेतकुष्ठ और १० दशवां–जिस कुल में गलित कुष्ठ आदि रोग हों । उन कुलों की कन्या अथवा उन कुलों के पुरुषों से विवाह कभी न करे ॥ ५ ॥ पीले वर्णवाली, अधिक अंगवाली जैसी छंगुली आदि, रोगवती, जिसके शरीर पर कुछ भी लोम न हों और जिस के शरीर पर बड़े २ लोम हों, व्यर्थ अधिक बोलनेहारी और जिस के पीले बिल्ली के सदृश नेत्र हों ॥ ६ ॥ तथा जिस कन्या का (ऋक्ष) नक्षत्र पर नाम अर्थात् रेवती रोहिणी इत्यादि, (नदी) जिसका गंगा, यमुना इत्यादि, (पर्वत) जिसका विन्ध्याचला इत्यादि, (पक्षी) पक्षी पर अर्थात् कोकिला, हंसा इत्यादि, (अहि) अर्थात् उरगा भोगिनी इत्यादि, (प्रेष्य) दासी इत्यादि और जिस कन्या का (भीषण) कालिका, चण्डिका इत्यादि नाम हो उससे विवाह न करे ॥ ७ ॥ किन्तु जिस के सुन्दर अंग, उत्तम नाम, हंस और हस्तिनी के सदृश चालवाली, जिसके सूक्ष्म लोम सूक्ष्म केश और सूक्ष्म दांत हों जिसके सब अङ्ग कोमल हों उस स्त्री से विवाह करे ॥ ८ ॥ ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर गान्धर्व, राक्षस और पैशाच ये विवाह आठ प्रकार के होते हैं ॥ ९ ॥ ब्राह्म कन्या के योग्य सुशील विद्वान् पुरुष का सत्कार कर के कन्या को वस्त्रादि से अलंकृत करके उत्तम पुरुष को बुला अर्थात् जिसको कन्या ने प्रसन्न भी किया हो उसको कन्या देना वह ब्राह्म विवाह कहाता है ॥ १० ॥ विस्तृत यज्ञ में बड़े २ विद्वानों का वरण कर उसमें कर्म करनेवाले विद्वान् को वस्त्र आभूषण आदि से कन्या को सुशोभित करके

देना वह दैव विवाह ॥ ११ ॥ ३ (तीसरा) १ (एक) गाय बैल का जोड़ा अथवा २ (दो) जोड़े * वर से लेके धर्मपूर्वक कन्यादान करना वह आर्ष विवाह ॥ १२ ॥ और ४ (चौथा) कन्या और वर को यज्ञशाला में विधि करके सब के सामने तुम दोनों मिल के गृहाश्रम के कर्मों को यथावत् करो ऐसा कहकर दोनों की प्रसन्नतापूर्वक पाणिग्रहण होना वह प्राजापत्य विवाह कहाता है । ये ४ (चार) विवाह उत्तम हैं ॥ १३ ॥ और ५ (पांचवां) वर की जाति-वालों और कन्या को यथाशक्ति धन देके होम आदि विधि कर कन्या देना आसुर विवाह कहाता है ॥ १४ ॥ ६ (छठा) वर और कन्या की इच्छा से दोनों का संयोग होना और अपने मन में मान लेना कि हम दोनों स्त्रीपुरुष हैं यह काम से हुआ गान्धर्व विवाह कहाता है ॥ १५ ॥ और ७ (सातवां) हनन छेदन अर्थात् कन्या के रोकने वालों का विदारण कर क्रोशती, रोती, कंपती और भयभीत हुई कन्या को बलात्कार हरण करके विवाह करना वह राक्षस विवाह ॥ १६ ॥ और जो सोती, पागल हुई वा नशा पीकर उन्मत्त हुई कन्या को एकान्त पा कर दूषित कर देना, यह सब विवाहों में नीच से नीच महानीच दुष्ट अतिदुष्ट पैशाच विवाह है ॥ १७ ॥ ब्राह्म, दैव, आर्ष और प्राजा-पत्य इन ४ (चार) विवाहों में पाणिग्रहण किये हुए स्त्रीपुरुषों से जो सन्तान उत्पन्न होते हैं वे वेदादिविद्या से तेजस्वी, आप्त पुरुषों के संमत, अत्युत्तम होते हैं ॥ १८ ॥ वे पुत्र वा कन्या सुन्दररूप, बल, पराक्रम, शुद्धबुद्ध्यादि उत्तम गुण-युक्त, बहुधनयुक्त, पुण्यकीर्त्तिमान् और पूर्ण भोग के भोक्ता, अतिशय धर्मात्मा होकर १०० (सौ) वर्ष तक जीते हैं ॥ १९ ॥ इन चार विवाहों से जो बाकी रहे [४ (चार)] आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच, इन चार दुष्ट विवाहों से उत्पन्न हुए सन्तान निन्दितकर्मकर्त्ता, मिथ्यावादी, वेदधर्म के द्वेषी, बड़े नीच स्वभाववाले होते हैं ॥ २० ॥ इसलिये मनुष्यों को योग्य है कि जिन निन्दित विवाहों से नीच प्रजा होती है उनका त्याग और जिन उत्तम विवाहों से उत्तम प्रजा होती है उनका वर्त्ताव किया करें ॥ २१ ॥

* यह बात मिथ्या है क्योंकि आगे मनुस्मृति में निषेध किया है और युक्तिविरुद्ध भी है इसलिये कुछ भी न ले देकर दोनों की प्रसन्नता से पाणिग्रहण होना आर्षविवाह है ॥

उत्कृष्टायाभिरूपाय वराय सदृशाय च ।
अप्राप्तामपि तां तस्मै कन्यां दद्याद्विचक्षणः ॥ १ ॥
काममामरणात्तिष्ठेद् गृहे कन्यर्तुमत्यपि ।
न चैवैनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित् ॥ २ ॥
त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्यृतुमती सती ।
ऊर्ध्वन्तु कालादेतस्माद्विन्देत सदृशं पतिम् ॥ ३ ॥ मनु० ॥

यदि माता पिता कन्या का विवाह करना चाहें तो अति उत्कृष्ट शुभगुण कर्म स्वभाववाले, कन्या के सदृश रूपलावण्यादि गुणयुक्त, वर ही को चाहें। वह कन्या (वर) माता की छः पीढ़ी के भीतर भी हो तथापि उसी को कन्या देना अन्य को कभी न देना कि जिससे दोनों अतिप्रसन्न होकर गृहाश्रम की उन्नति और उत्तम सन्तानों की उत्पत्ति करें ॥ १ ॥ चाहे मरण पर्यन्त कन्या पिता के घर में विना विवाह के बैठी भी रहे परन्तु गुणहीन असदृश, दुष्टपुरुष के साथ कन्या का विवाह कभी न करे और वर कन्या भी अपने आप स्वसदृश के साथ ही विवाह करें ॥ २ ॥ जब कन्या विवाह करने की इच्छा करे तब रजस्वला होने के दिन से ३ (तीन) वर्ष को छोड़ के चौथे वर्ष में विवाह करे ॥ ३ ॥

(प्रश्न) "अष्टवर्षा भवेद् गौरी नववर्षा च रोहिणी" इत्यादि श्लोकों की क्या गति होगी? (उत्तर) इन श्लोकों और इनके मानने वालों की दुर्गति। अर्थात् जो इन श्लोकों की रीति से बाल्यावस्था में अपने सन्तानों का विवाह कर करा उनको नष्ट भ्रष्ट रोगी अल्पायु करते हैं वे अपने कुल का जानों सत्यानाश कर रहे हैं। इसलिये यदि शीघ्र विवाह करें तो वेदारम्भ में लिखे हुए १६ (सोलह) वर्ष से न्यून कन्या और २५ (पच्चीस) वर्ष से न्यून पुरुष का विवाह कभी न करें करावें । इसके आगे जितना अधिक ब्रह्मचर्य रक्खेंगे उतना ही उनको आनन्द अधिक होगा ॥

(प्रश्न) विवाह निकटवासियों से अथवा दूरवासियों से करना चाहिये ? (उत्तर)

दुहिता दुर्हिता दूरे हिता भवतीति ॥

यह निरुक्त का प्रमाण है कि जितना दूर देश में विवाह होगा उतना ही उनको अधिक लाभ होगा (प्रश्न) अपने गोत्र वा भाई बहिनों का परस्पर विवाह क्यों नहीं होता ? (उत्तर) एक दोष यह है कि इन के विवाह होने में प्रीति कभी नहीं होती क्योंकि जितनी प्रीति परोक्ष पदार्थ में होती है उतनी प्रत्यक्ष में नहीं। और बाल्यावस्था के गुण दोष भी विदित रहते हैं। तथा भयादि भी अधिक नहीं रहते। दूसरा जबतक दूरस्थ एक दूसरे कुल के साथ सम्बन्ध नहीं होता तबतक शरीर आदि की पुष्टि भी पूर्ण नहीं होती। तीसरा दूर सम्बन्ध होने से परस्पर प्रीति उन्नति ऐश्वर्य बढ़ता है निकट से नहीं। युवावस्था ही में विवाह का प्रमाण--

तमस्मेरा युवतयो युवानं मर्मृज्यमानाः परि यन्त्यापः। स शुक्रेभिः शिक्वभी रेवदस्मे दीदायानिध्मो घृतनिर्णिगप्सु ॥ १ ॥ अस्मै तिस्रो अव्यथ्याय नारीर्देवाय देवीर्दिधिषन्त्यन्नम्। कृता इवोप हि प्रसर्स्रे अप्सु स पीयूषं धयति पूर्वसूनाम् ॥ २ ॥ अश्वस्यात्र जनिमास्य च स्वर्द्रुहो रिषः सम्पृचः पाहि सूरीन्। आमासु पूर्षु परो अप्रमृष्यं नारातयो वि नशन्नानृतानि ॥ ३ ॥ ऋ० मं० २। सू० ३५। मं० ४-६ ॥ वधूरियं पतिमिच्छन्त्येति य ईं वहाते महिषीमिषिराम्। आस्य श्रवस्याद्रथ आ च घोषात्पुरू सहस्रा परि वर्त्तयाते ॥ ४ ॥ ऋ० मं० ५। सू० ३७। मं० ३ ॥

उप व एषे वन्द्येभिः शूषैः प्र यह्वी दिवश्चितयद्भिरर्कैः। उषासानक्ता विदुषीव विश्वमा हा वहतो मर्त्याय यज्ञम् ॥ ५ ॥ ऋ० मं० ५। सू० ४१। मं० ७ ॥

अर्थः—जो (मर्मृज्यमानाः) उत्तम ब्रह्मचर्य व्रत और सद्विद्याओं से अत्यन्त (युवतयः) २० (बीसवें) वर्ष से २४ (चौबीसवें) वर्ष वाली हैं वे कन्या लोग जैसे (आपः) जल वा नदी समुद्र को प्राप्त होती हैं वैसे (अस्मेराः) हमको प्राप्त होनेवाली अपने २ प्रसन्न अपने * से ड्योढ़े वा दूने आयुवाले (तम्) उस ब्रह्मचर्य और विद्या से परिपूर्ण शुभलक्षणयुक्त (युवा-

नम्) जवान पति को (परियन्ति) अच्छे प्रकार प्राप्त होती हैं (सः) वह ब्रह्मचारी (शुक्रेभिः) शुद्ध गुण और (शिकभिः) वीर्यादि से युक्त हो के (अस्मे) हमारे मध्य में (रेवत्) अत्यन्त श्रीयुक्त कर्म को और (दीदाय) अपने तुल्य युवति स्त्री को प्राप्त होवे जैसे (अप्सु) अन्तरिक्ष वा समुद्र में (घृतनिर्णिक्) जल को शोधन करने हारा (अनिध्मः) आप प्रकाशित विद्युत् अग्नि है इसी प्रकार स्त्री और पुरुष के हृदय में प्रेम बाहर अप्रकाशमान भीतर सुप्रकाशित रहकर उत्तम सन्तान और अत्यन्त आनन्द को गृहाश्रम में दोनों स्त्री पुरुष प्राप्त होवें ॥ १ ॥ हे स्त्री पुरुषो ! जैसे (तिस्रः) उत्तम मध्यम तथा निकृष्ट स्वभावयुक्त (देवीः, नारीः) विद्वान् नरों की विदुषी स्त्रियां (अस्मै) इस (अव्यथ्याय) पीड़ा से रहित (देवाय) काम के लिये (अन्नम्) अन्नादि उत्तम पदार्थों को (दिधिषन्ति) धारण करती हैं (कृता इव) की हुई शिक्षायुक्त के समान (अप्सु) प्राणवत् प्रीति आदि व्यवहारों में प्रवृत्त होने के लिये स्त्री से पुरुष और पुरुष से स्त्री (उप, प्रसर्स्रे) सम्बन्ध को प्राप्त होती है (स, हि) वही पुरुष और स्त्री आनन्द को प्राप्त होती हैं जैसे जलों में (पीयूषम्) अमृतरूप रस को (पूर्वसूनाम्) प्रथम प्रसूत हुई स्त्रियों का बालक (धयति) दुग्ध पी के बढ़ता है वैसे इन ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी स्त्री के सन्तान यथावत् बढ़ते हैं ॥ २ ॥ जैसे राजादि सब लोग (पूर्षु) अपने नगरों और (आमासु) अपने घर में उत्पन्न हुए पुत्र और कन्यारूप प्रजाओं में उत्तम शिक्षाओं को (परः) उत्तम विद्वान् (अप्रमृष्यम्) शत्रुओं को सहने अयोग्य ब्रह्मचर्य से प्राप्त हुए शरीरात्मबलयुक्त देह को (अरातयः) शत्रु लोग (न) नहीं (विनशन्) विनाश कर सकते और (अनृतानि) मिथ्याभाषणादि दुष्ट दुर्व्यसनों को प्राप्त (न) नहीं होते वैसे उत्तम स्त्री पुरुषों को (द्रुहः) द्रोह आदि दुर्गुण और (रिषः) हिंसा आदि पाप (न, सम्पृचः) सम्बन्ध नहीं करते किन्तु जो युवावस्था में विवाह कर प्रसन्नतापूर्वक विधि से सन्तानोत्पत्ति करते हैं इनके (अस्य) इस (अश्वस्य) महान् गृहाश्रम के मध्य में उत्तम बालकों का (जनिम) जन्म होता है इसलिये हे स्त्रि वा पुरुष ! तू (सूरीन्) विद्वानों की (पाहि) रक्षा कर (च) और ऐसे गृहस्थों को (अत्र) इस गृहाश्रम में सदैव

(स्वः) सुख बढ़ता रहता है ॥ २ ॥ हे मनुष्यो ! (यः) जो पूर्वोक्त लक्षण-युक्त पूर्ण जवान (ईम्) सब प्रकार की परीक्षा करके (महिषीम्) उत्तम कुल में उत्पन्न हुई विद्याशुभगुणरूपसुशीलतादि युक्त (इषिराम्) वर की इच्छा करनेहारी हृदय को प्रिय स्त्री को (एति) प्राप्त होता है और जो (पतिम्) विवाह से अपने स्वामी की (इच्छन्ती) इच्छा करती हुई (इयम्) यह (वधूः) स्त्री अपने सदृश, हृदय को प्रिय पति को (एति) प्राप्त होती है वह पुरुष वा स्त्री (अस्य) इस गृहाश्रम के मध्य (आश्रवस्यात्) अत्यन्त विद्या धन धान्ययुक्त सब ओर से होवे और वे दोनों (रथः) रथ के समान (आ-घोषात्) परस्पर प्रिय वचन बोलें (च) और सब गृहाश्रम के भार को (वहाते) उठा सकते हैं तथा वे दोनों (पुरु) बहुत (सहस्रा) असङ्ख्य उत्तम कार्यों को (परिवर्तयाते) सब ओर से सिद्ध कर सकते हैं ॥ ४ ॥ हे मनुष्यो ! यदि तुम पूर्ण ब्रह्मचर्य से सुशिक्षित विद्यायुक्त अपने सन्तानों को कराके स्वयंवर विवाह कराओ तो वे (वन्द्येभिः) कामना के योग्य (चितयद्भिः) सब सत्य विद्याओं को जाननेहारे (अर्कैः) सत्कार के योग्य (शूषैः) शरीरात्मबलों से युक्त हो के (वः) तुम्हारे लिये (एषे) सब सुख प्राप्त कराने को समर्थ होवें और वे (उषासानक्ता) जैसे दिन और रात तथा जैसे (विदुषीव) विदुषी स्त्री और विद्वान् पुरुष (विश्वम्) गृहाश्रम के सम्पूर्ण व्यवहार को (आवहतः) सब ओर से प्राप्त होते हैं (ह) वैसे ही इस (यज्ञम्) संगतरूप गृहाश्रम के व्यवहार को वे स्त्री पुरुष पूर्ण कर सकते हैं और (मर्त्याय) मनुष्यों के लिये यही पूर्वोक्त विवाह पूर्ण सुखदायक है और (यह्वी) बड़े ही शुभ गुण कर्म स्वभाववाले स्त्री पुरुष दोनों (दिवः) कामनाओं को (उप, प्र, वहतः) अच्छे प्रकार प्राप्त हो सकते हैं अन्य नहीं ॥ ५ ॥

जैसे ब्रह्मचर्य में कन्या का ब्रह्मचर्य वेदोक्त है वैसे ही सब पुरुषों को ब्रह्मचर्य से विद्या पढ़ पूर्ण जवान हो परस्पर परीक्षा करके जिससे जिस की विवाह करने में पूर्ण प्रीति हो उसी से उसका विवाह होना अत्युत्तम है। जो कोई युवावस्था में विवाह न करा के बाल्यावस्था में अनिच्छित अयोग्य वर

कन्या का विवाह करावेंगे वे वेदोक्त ईश्वराज्ञा के विरोधी होकर महादुःखसागर में क्योंकर न डूबेंगे और जो पूर्वोक्त विधि से विवाह करते कराते हैं वे ईश्वराज्ञा के अनुकूल होने से पूर्ण सुख को प्राप्त होते हैं (प्रश्न) विवाह अपने २ वर्ण में होना चाहिये वा अन्य वर्ण में भी ? (उत्तर) अपने २ वर्ण में । परन्तु वर्णव्यवस्था गुण कर्मों के अनुसार होनी चाहिये जन्ममात्र से नहीं । जो पूर्ण विद्वान् धर्मात्मा परोपकारी जितेन्द्रिय मिथ्याभाषणादिदोषरहित विद्या और धर्मप्रचार में तत्पर रहे इत्यादि उत्तम गुण जिसमें हों वह ब्राह्मण ब्राह्मणी । विद्या बल शौर्य न्यायकारित्वादि गुण जिसमें हों वह क्षत्रिय क्षत्रिया । और विद्वान् हो के कृषि पशुपालन व्यापार देशभाषाओं में चतुरत्वादि गुण जिस में हों वह वैश्य वैश्या । और जो विद्याहीन मूर्ख हो वह शूद्र शूद्रा कहावे । इसी क्रम से विवाह होना चाहिये अर्थात् ब्राह्मण का ब्राह्मणी, क्षत्रिय का क्षत्रिया, वैश्य का वैश्या और शूद्र का शूद्रा के साथ ही विवाह होने में आनन्द होता है अन्यथा नहीं ॥ इस वर्णव्यवस्था में प्रमाणः—

धर्मचर्यया जघन्यो वर्णः पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ ॥ १ ॥
अधर्मचर्यया पूर्वो वर्णो जघन्यं जघन्यं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ ॥ २ ॥
आपस्तम्बे ॥

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम् ।
क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च ॥ ३ ॥ मनुस्मृतौ ॥

अर्थः—धर्माचरण से नीच वर्ण उत्तम २ वर्ण को प्राप्त होता है और उस वर्ण में जो २ कर्त्तव्य अधिकार रूप कर्म हैं वे सब गुण कर्म उस पुरुष और स्त्री को प्राप्त होवें ॥ १ ॥ वैसे ही अधर्माचरण से उत्तम २ वर्ण नीचे २ के वर्ण को प्राप्त होवे और वे ही उस २ वर्ण के अधिकार और कर्मों के कर्त्ता होवें ॥ २ ॥ उत्तम गुण कर्म स्वभाव से जो शूद्र है वह वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण; और वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण; तथा क्षत्रिय, ब्राह्मण वर्ण के अधिकार और कर्मों को प्राप्त होता है वैसे ही नीच कर्म और गुणों से जो ब्राह्मण है वह

क्षत्रिय वैश्य शूद्र; और क्षत्रिय वैश्य शूद्र; तथा वैश्य, शूद्र वर्ण के अधिकार और कर्मों को प्राप्त होता है ॥

इसी प्रकार वर्णव्यवस्था होने से पक्षपात न होकर सब वर्ण उत्तम बने रहते और उत्तम बनने में प्रयत्न करते; और उत्तम वर्ण, भय से कि मैं नीच वर्ण न होजाऊं इसलिये बुरे कर्म छोड़ उत्तम कर्मों ही को किया करते हैं इस से संसार की बड़ी उन्नति है। आर्यावर्त्त देश में जबतक ऐसी वर्णव्यवस्था (अर्थात्) पूर्वोक्त ब्रह्मचर्य विद्या ग्रहण उत्तमता से स्वयंवर विवाह होता था तभी देश की उन्नति थी, अब भी ऐसा ही होना चाहिये जिससे आर्यावर्त्त देश अपनी पूर्वावस्था को प्राप्त होकर आनन्दित होवे ॥

अब वधू वर एक दूसरे के गुण कर्म और स्वभाव की परीक्षा इस प्रकार करें:—दोनों का तुल्य शील, समान बुद्धि, समान आचार, समान रूपादि गुण, अहिंसकता, सत्य मधुरभाषण, कृतज्ञता, दयालुता, अहंकार, मत्सर, ईर्ष्या, काम, क्रोध, निर्लोभता, देश का सुधार, विद्याग्रहण, सत्योपदेश करने में निर्भयता, उत्साह कपट द्यूत चोरी मद्य मांसादि दोषों का त्याग, गृहकार्यों में अति चतुरता हो जब २ प्रातः सायं वा परदेश से आकर मिलें तब २ नमस्ते इस वाक्य से परस्पर नमस्कार कर स्त्री पति के चरणस्पर्श पादप्रक्षालन आसनदान करे तथा दोनों परस्पर प्रेम बढ़ानेहारे वचनादि व्यवहारों से वर्तकर आनन्द भोगें वर के शरीर से स्त्री का शरीर पतला और पुरुष के स्कन्ध तुल्य स्त्री का शिर होना चाहिये तत्पश्चात् भीतर की परीक्षा स्त्री पुरुष वचनादि व्यवहारों से करें ॥

ओं ऋतमग्ने प्रथमं जज्ञ ऋते सत्यं प्रतिष्ठितम् । यदियं कुमार्य्यभिजाता तदियमिह प्रतिपद्यताम् । यत्सत्यं तद्दृश्यताम् ॥

अर्थः—जब विवाह करने का समय निश्चय होचुके तब कन्या चतुर पुरुषों से वर की और वर चतुर स्त्रियों से कन्या की परोक्ष में परीक्षा करावे पश्चात् उत्तम विद्वान् स्त्री पुरुषों की सभा करके दोनों परस्पर संवाद करें कि हे स्त्री

वा हे पुरुष ! इस जगत् के पूर्व ऋत यथार्थस्वरूप महत्तत्त्व उत्पन्न हुआ था और उस महत्तत्त्व में सत्य त्रिगुणात्मक नाशरहित प्रकृति प्रतिष्ठित है जैसे पुरुष और प्रकृति के योग से सब विश्व उत्पन्न हुआ है वैसे मैं कुमारी और मैं कुमार पुरुष इस समय दोनों में विवाह करने की सत्य प्रतिज्ञा करती वा करता हूं उसको यह कन्या और मैं वर प्राप्त होवें और अपनी प्रतिज्ञा को सत्य करने के लिये दृढ़ोत्साही रहें ॥

विधिः—जब कन्या रजस्वला होकर पृष्ठ ३१ में लिखे प्रमाणे शुद्ध हो जाय तब जिस दिन गर्भाधान की रात्रि निश्चित की हो उस में विवाह करने के लिये प्रथम ही सब सामग्री जोड़ रखनी चाहिये और १३–१९ पृष्ठ में लि० यज्ञशाला, वेदी, ऋत्विक्, यज्ञपात्र, शाकल्य आदि सब सामग्री शुद्ध करके रखनी उचित है पश्चात् एक * घंटेमात्र रात्रि जाने परः—

ओं काम वेद ते नाम मदो नामासि समानयामुं सुरा ते अभवत् । परमत्र जन्माग्ने तपसो निर्मितोऽसि स्वाहा ॥ १ ॥ ओं इमं त उपस्थं मधुना सꣳसृजामि प्रजापतेर्मुखमेतद् द्वितीयम् । तेन पुꣳसोऽभिभवासि सर्वानवशान्वशिन्यसि राज्ञी स्वाहा ॥ २ ॥ ओं अग्निं क्रव्यादमकृण्वन् गुहानाः स्त्रीणामुपस्थमृषयः पुराणाः । तेनाज्यमकृण्वꣳस्त्रैशृङ्गं त्वाष्ट्रं त्वयि तद् धातु स्वाहा ॥ ३ ॥ मन्त्र ब्रा० १ । १ । १–३ ॥

इन मन्त्रों से सुगन्धित शुद्ध जल से पूर्ण कलशों को लेके वधू वर स्नान कर पश्चात् वधू उत्तम वस्त्रालङ्कार धारण करके उत्तम आसन पर पूर्वाभिमुख बैठे तत्पश्चात् पृष्ठ ४ से १२ तक लि० प्र० ईश्वरस्तुति, प्रार्थनोपासना, स्वस्तिवाचन, शान्तिप्रकरण करें तत्पश्चात् पृष्ठ २०–२१ में लिखे प्रमाणे अग्न्याधान समिदाधान पृष्ठ १५ में लि० स्थालीपाक आदि यथोक्त कर वेदी के समीप रक्खे वैसे ही वर भी एकान्त अपने घर में जाके उत्तम वस्त्रालङ्कार करके यज्ञशाला में आ उत्तमासन पर पूर्वाभिमुख बैठ के पृष्ठ ४–८ में लि० प्र० ईश्वर-

* यदि आधी रात तक विधि पूरा न हो सके तो मध्याह्नोत्तर आरम्भ कर देवे कि जिससे मध्यरात्रि तक विवाहविधि पूरा होजावे ॥

स्तुति * प्रार्थनोपासना कर वधू के घर को जाने का ढंग करे तत्पश्चात् कन्या के और वर पक्ष के पुरुष बड़े सामान (सम्मान?) से वर को घर लेजावें जिस समय वर वधू के घर प्रवेश करे उसी समय वधू और कार्यकर्त्ता मधुपर्क आदि से वर का निम्नलिखित प्रकार आदर सत्कार करें उसकी रीति यह है कि वर वधू के घर में प्रवेश करके पूर्वाभिमुख खड़ा रहे और वधू तथा कार्यकर्त्ता वर के समीप उत्तराभिमुख खड़े रह के वधू और कार्यकर्त्ता--

साधु भवानास्तामर्चयिष्यामो भवन्तम्॥ पार० कां० १। कं० ३। सू० ४॥

इस वाक्य को बोले उस पर वर—

ओं अर्चय॥ पार० कां० १। कं० ३। सू० ४॥

ऐसा प्रत्युत्तर देवे पुनः जो वधू और कार्यकर्त्ता ने वर के लिये उत्तम आसन सिद्ध कर रक्खा हो उसको वधू हाथ में ले वर के आगे खड़ी रहे॥

ओं विष्टरो विष्टरो विष्टरः प्रतिगृह्यताम्॥ पार० कां० १। कं० ३॥

यह उत्तम आसन है आप ग्रहण कीजिये, वर--

ओं प्रतिगृह्णामि॥ पार० कां० १। कं० ३॥

इस वाक्य को बोल के वधू के हाथ से आसन ले बिछा उस पर सभा-मंडप में पूर्वाभिमुख बैठ के वर--

ओं वर्ष्मोऽस्मि समानानामुद्यतामिव सूर्यः। इमन्तमभितिष्ठामि यो मा कश्चाभिदासति॥ पार० कां० १। कं० ३॥

इस मन्त्र को बोले। तत्पश्चात् कार्यकर्त्ता एक सुन्दर पात्र में पूर्ण जल भर के कन्या के हाथ में देवे और कन्या—

* विवाह में आए हुए भी स्त्री पुरुष एकाग्रचित्त ध्यानावस्थित हो के इन तीन कर्मों के अनुसार ईश्वर का चिन्तन किया करें॥

ओं पद्य पाद्यं पाद्यं प्रतिगृह्यताम्॥ पार० कां० १। कं० ३॥

इस वाक्य को बोल के वर के आगे धरे पुनः वर—

ओं प्रतिगृह्णामि॥ पार० कां० १। कं० ३॥

इस वाक्य को बोल के कन्या के हाथ से उदक ले पग * प्रक्षालन करे और उस समय—

ओं विराजो दोहोऽसि विराजो दोहमशीय मयि पाद्यायै विराजो दोहः॥ पार० कां० १। कं० ३॥

इस मन्त्र को बोले। तत्पश्चात् फिर भी कार्यकर्त्ता दूसरा शुद्ध लोटा पवित्र जल से भर कन्या के हाथ में देवे। पुनः कन्या—

ओं अर्घोऽर्घोऽर्घः प्रतिगृह्यताम्॥ पार० कां० १। कं० ३॥

इस वाक्य को बोल के वर के हाथ में देवे, और वर—

ओं प्रतिगृह्णामि॥ पार० कां० १। कं० ३॥

इस वाक्य को बोल के कन्या के हाथ से जलपात्र ले के उससे मुखप्रक्षालन करे और उसी समय वर मुख धोके—

ओं आपस्थ युष्माभिः सर्वान्कामानवाप्नवानि। ओं समुद्रं वः प्रहिणोमि स्वां योनिमभिगच्छत। अरिष्टास्माकं वीरा मा परासेचि मत्पयः॥ पार० कां० १। कं० ३॥

इन मन्त्रों को बोले। तत्पश्चात् वेदी के पश्चिम बिछाये हुए उसी शुभासन पर पूर्वाभिमुख बैठे। तत्पश्चात् कार्यकर्त्ता एक सुन्दर उपपात्र जल से पूर्ण भर उसमें आचमनी रख कन्या के हाथ में देवे और उस समय कन्या—

---

* यदि घर का प्रवेशक द्वार पूर्वाभिमुख हो तो वर उत्तराभिमुख और वधू तथा कार्यकर्त्ता पूर्वाभिमुख खड़े रहके यदि ब्राह्मण वर्ण हो तो प्रथम दक्षिण पग पश्चात् बायां और अन्य क्षत्रियादि वर्ण हों तो प्रथम बायां पग धोवे पश्चात् दहिना॥

ओं आचमनीयमाचमनीयमाचमनीयम्प्रतिगृह्यताम् ॥

इस वाक्य को बोल के सामने करे और वर—

ओं प्रतिगृह्णामि ॥ पार० कां० १ । कं० ३ ॥

इस वाक्य को बोल के कन्या के हाथ में से जलपात्र को ले सामने धर उसमें से दहिने हाथ में जल जितना अंगुलियों के मूल तक पहुंचे उतना ले के वर—

ओं आमागन् यशसा संᳪसृज वर्चसा । तं मा कुरु प्रियं प्रजानामधिपतिं पशूनामरिष्टिं तनूनाम् ॥ पार० कां० १ । कं० ३ ॥

इस मन्त्र से एक आचमन इसी प्रकार दूसरी और तीसरी वार इसी मन्त्र को पढ़ के दूसरा और तीसरा आचमन करे । तत्पश्चात् कार्यकर्त्ता मधुपर्क * का पात्र कन्या के हाथ में देवे और कन्या—

ओं मधुपर्को मधुपर्को मधुपर्कः प्रतिगृह्यताम् ॥

ऐसी विनती वर से करे और वर—

ओं प्रतिगृह्णामि ॥ पार० कां० १ । कं० ३ ॥

इस वाक्य को बोल के कन्या के हाथ से ले और उस समय—

ओं मित्रस्य त्वा चक्षुषा प्रतीक्षे ॥ पार० कां० १ । कं० ३ ॥

इस मन्त्रस्थ वाक्य को बोल के मधुपर्क को अपनी दृष्टि से देखे और—

---

* मधुपर्क उस को कहते हैं जो दही में घी वा सहत मिलाया जाता है उस का परिमाण १२ (बारह) तोले दही में ४ (चार) तोले सहत अथवा ४ (चार) तोले घी मिलाना चाहिये और यह मधुपर्क कांसे के पात्र में होना उचित है ॥

ओं देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां प्रतिगृह्णामि ॥ य० अ० १ । मं० १० ॥

इस मन्त्र को बोल के मधुपर्क के पात्र को वाम हाथ में लेवे और:—

ओं भूर्भुवः स्वः । मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः । माध्वीर्नस्सन्त्वोषधीः ॥ १ ॥ ओं भूर्भुवः स्वः । मधु नक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिवं रजः । मधु द्यौरस्तु नः पिता ॥ २ ॥ ओं भूर्भुवः स्वः । मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ अस्तु सूर्यः । माध्वीर्गावो भवन्तु नः ॥ ३ ॥ य० अ० १३ । मं० २७–२९ ॥

इन तीन मन्त्रों से मधुपर्क की ओर अवलोकन करे—

ओं नमः श्यावास्यायान्नशने यत्त आविद्धं तत्ते निष्कृन्तामि ॥ पार० कां० १ । कं० ३ । सू० ६ ॥

इस मन्त्र को पढ़, दहिने हाथ की अनामिका और अङ्गुष्ठ से मधुपर्क को तीन वार बिलोवे और उस मधुपर्क में से वर—

ओं वसवस्त्वा गायत्रेण छन्दसा भक्षयन्तु ॥

इस मन्त्र से पूर्व दिशा ।

ओं रुद्रास्त्वा त्रैष्टुभेनच्छन्दसा भक्षयन्तु ॥

इस मन्त्र से दक्षिण दिशा ।

ओं आदित्यास्त्वा जागतेनच्छन्दसा भक्षयन्तु ॥

इस मन्त्र से पश्चिम दिशा और—

ओं विश्वे त्वा देवा आनुष्टुभेन छन्दसा भक्षयन्तु ॥

इस मन्त्र से उत्तर दिशा में थोड़ा २ छोड़े अर्थात् छींटे देवे ।

ओं भूतेभ्यस्त्वा परिगृह्णामि ॥ आश्वला० गृ० अ० १ । कं० २४ । सू० १५ ॥

इस मन्त्रस्थ वाक्य को बोल के पात्र के मध्य भाग में से लेके ऊपर की ओर तीन वार फेंकना । तत्पश्चात् उस मधुपर्क के तीन भाग करके तीन कांसे के पात्रों में धर भूमि में अपने सम्मुख तीनों पात्र रक्खे, रख के—

ओं यन्मधुनो मधव्यं परमꣳ रुपमन्नाद्यम् । तेनाहं मधुनो मधव्येन परमेण रूपेणान्नाद्येन परमो मधव्योऽन्नादोऽसानि ॥ पार० कां० १ । कं० ३ ॥

इस मन्त्र को एक २ वार बोल के एक २ भाग में से वर थोड़ा २ प्राशन करे वा सब प्राशन करे, जो उन पात्रों में शेष उच्छिष्ट मधुपर्क रहा हो वह किसी अपने सेवक को देवे वा जल में डाल देवे । तत्पश्चात्—

ओं अमृतापिधानमसि स्वाहा ॥ आश्वला० गृ० अ० १ । कं० २४ । सू० २१ ॥

ओं सत्यं यशः श्रीमयि श्रीः श्रयतां स्वाहा ॥ आश्वला० गृ० अ० १ । कं० २४ । सू० २२ ॥

इन दो मन्त्रों से दो आचमन अर्थात् एक से एक और दूसरे से दूसरा वर करे । तत्पश्चात् वर पृष्ठ १९–२० में लि० प्र० चक्षुरादि इन्द्रियों का जल से स्पर्श करे । पश्चात् कन्या—

ओं गौर्गौर्गौः प्रतिगृह्यताम् ॥

इस वाक्य से वर की विनती करके अपनी शक्ति के योग्य वर को गोदानादि द्रव्य, जो कि वर के योग्य हो, अर्पण करे और वर—

ओं प्रतिगृह्णामि ॥ पार० कां० १ । कं० ३ ॥

इस वाक्य से उसको ग्रहण करे, इस प्रकार मधुपर्कविधि यथावत् करके वधू और कार्यकर्त्ता वर को सभामण्डपस्थान * से घर में ले जा के शुभ आसन पर पूर्वाभिमुख बैठा के वर के सामने पश्चिमाभिमुख वधू को बैठावे और कार्यकर्त्ता उत्तराभिमुख बैठ के—

ओं अमुक † गोत्रोत्पन्नामिमाममुकनाम्नी‡मलङ्कृतां कन्यां प्रतिगृह्णातु भवान् ॥

इस प्रकार बोल के वर का हाथ चत्ता अर्थात् हथेली ऊपर रखके उसके हाथ में वधू का दक्षिण हाथ चत्ता ही रखना और वह—

ओं प्रतिगृह्णामि ॥

ऐसा बोलके—

ओं जरां गच्छ परिधत्स्व वासो भवा कृष्टीनामभिशस्तिपावा । शतं च जीव शरदः सुवर्चा रयिं च पुत्राननुसंव्ययस्वायुष्मतीदं परिधत्स्व वासः ॥ पार० कां० १ । कं० ४ ॥

इस मन्त्र को बोल के वधू को उत्तम वस्त्र देवे । तत्पश्चात्—

ओं या अकृतन्नवयन् या अतन्वत याश्च देवीस्तन्तूनभितो ततन्थ । तास्त्वा देवीर्जरसे संव्ययस्वायुष्मतीदं परिधत्स्व वासः ॥ पार० गृ० कां० १ । कं० ४ ॥

---

* यदि सभामण्डप स्थापन न किया हो तो जिस घर में मधुपर्क हुआ हो उससे दूसरे घर में वर को लेजावे ॥

† अमुक इस पद के स्थान में जिस गोत्र और कुल में वधू उत्पन्न हुई हो उसका उच्चारण अर्थात् उसका नाम लेना ॥

‡ "अमुकनाम्नीम्" इस स्थान पर वधू का नाम द्वितीया विभक्ति के एकवचन से बोलना ॥

इस मन्त्र को बोल के वधू को वर उपवस्त्र देवे, वह उपवस्त्र को यज्ञोपवीतवत् धारण करे ।

ओं परिधास्यै यशोधास्यै दीर्घायुत्वाय जरदष्टिरस्मि । शतं च जीवामि शरदः पुरूची रायस्पोषमभिसंव्ययिष्ये ।। पार० कां० २ । कं० ६ ।।

इस मन्त्र को पढ़ के वर आप अधोवस्त्र धारण करे और:—

ओं यशसा मा द्यावापृथिवी यशसेन्द्राबृहस्पती । यशो भगश्च मा विन्दद्यशो मा प्रतिपद्यताम् ।। पार० कां० २ । कं० ६ ।।

इस मन्त्र को पढ़ के द्विपट्टा धारण करे । इस प्रकार वधू वस्त्र परिधान करके जबतक सम्हले तबतक कार्यकर्त्ता अथवा दूसरा कोई यज्ञमण्डप में जा कुण्ड के समीपस्थ हो पृष्ठ २०–२१ में लि० इन्धन और कर्पूर वा घृत से कुण्ड के अग्नि को प्रदीप्त करे, और आहुति के लिये सुगन्ध डाला हुआ घी बटलोई में करके कुण्ड के अग्नि पर गरम कर कांसे के पात्र में रक्खे, और स्रुवादि होम के पात्र तथा शुद्ध जलपात्र इत्यादि सामग्री यज्ञकुण्ड के समीप जोड़ कर रक्खे, और वरपक्ष का एक पुरुष शुद्ध वस्त्र धारण कर शुद्ध जल से पूर्ण एक कलश को ले के यज्ञकुण्ड की परिक्रमा कर कुण्ड के दक्षिणभाग में उत्तराभिमुख हो कलशस्थापन अर्थात् भूमि पर अच्छे प्रकार अपने आगे धर के जबतक विवाह का कृत्य पूरण न हो जाय तबतक उत्तराभिमुख बैठा रहे, और उसी प्रकार वर के पक्ष का दूसरा पुरुष हाथ में दण्ड ले के कुण्ड के दक्षिणभाग में कार्यसमाप्तिपर्यन्त उत्तराभिमुख बैठा रहे, और इसी प्रकार सहोदर वधू का भाई, अथवा सहोदर न हो तो चचेरा भाई, मामा का पुत्र, अथवा मौसी का लड़का हो वह चावल या जुवार की धाणी और शमी वृक्ष के सूखे पत्ते इन दोनों को मिलाकर शमीपत्रयुक्त धाणी की ४ (चार) अञ्जलि एक शुद्ध सूप में रख के धाणी सहित सूप लेके यज्ञकुण्ड के पश्चिमभाग में पूर्वाभिमुख बैठा रहे । तत्पश्चात् कार्यकर्त्ता एक सपाटशिला जो कि सुन्दर चिकनी हो उस को तथा वधू और वर को कुण्ड के समीप बैठाने के लिये दो कुशासन वा यज्ञीय

तृणासन अथवा यज्ञीय वृक्ष की छाल के जो कि प्रथम से सिद्ध कर रक्खे हों उन आसनों को रखवावे। तत्पश्चात् वस्त्र धारण की हुई कन्या को कार्यकर्त्ता वर के सम्मुख लावे और उस समय वर और कन्या—

ओं समञ्जन्तु विश्वे देवाः समापो हृदयानि नौ।

सं मातरिश्वा सं धाता समुदेष्ट्री दधातु नौ * ॥ १ ॥ ऋ० मं० १० । सू० ८५ । मं० ४७ ॥

इस मन्त्र को बोलें। तत्पश्चात् वर दक्षिण हाथ से वधू का दक्षिण हाथ पकड़ के:—

ओं यदेषि मनसा दूरं दिशोऽनुपवमानो वा। हिरण्यपर्णो वैकर्णः स त्वा मन्मनसां करोतु † असौ ॥ २ ॥ पार० कां० १ । कं० ४ ॥

---

* वर और कन्या बोलें कि हे (विश्वे, देवाः) इस यज्ञशाला में बैठे हुए विद्वान् लोगो! आप हम दोनों को (समञ्जन्तु) निश्चय करके जानें कि अपनी प्रसन्नतापूर्वक गृहाश्रम में एकत्र रहने के लिये एक दूसरे का स्वीकार करते हैं कि (नौ) हमारे दोनों के (हृदयानि) हृदय (आपः) जल के समान (सम्) शान्त और मिले हुए रहेंगे जैसे (मातरिश्वा) प्राणवायु हम को प्रिय है वैसे (सम्) हम दोनों एक दूसरे से सदा प्रसन्न रहेंगे जैसे (धाता) धारण करनेहारा परमात्मा सब में (सम्) मिला हुआ सब जगत् को धारण करता है वैसे हम दोनों एक दूसरे का धारण करेंगे जैसे (समुदेष्ट्री) उपदेश करनेहारा श्रोताओं से प्रीति करता है वैसे (नौ) हमारे दोनों का आत्मा एक दूसरे के साथ दृढ़ प्रेम को (दधातु) धारण करे॥

† (असौ) इस पद के स्थान में कन्या का नाम उच्चारण करना, हे वरानने वा हे वरानन! (यत्) जो तू (मनसा) अपनी इच्छा से मुझको जैसे (पवमानः) पवित्र वायु (वा) जैसे (हिरण्यपर्णः, वैकर्णः) तेजोमय जल आदि को किरणों से ग्रहण करने वाला सूर्य (दूरम्) दूरस्थ पदार्थों और (दिशोनु) दिशाओं को प्राप्त होता वैसे तू प्रेमपूर्वक अपनी इच्छा से मुझ को प्राप्त होती वा होता है, उस (त्वा) तुझ को (सः) वह परमेश्वर (मन्मनसाम्) मेरे मन के अनुकूल (करोतु) करे, और हे (वीर) जो आप मन से मुझ को (एषि) प्राप्त होते हो उस आप को जगदीश्वर मेरे मन के अनुकूल सदा रक्खे॥

इस मन्त्र को बोल के उसको लेके घर के बाहर मण्डपस्थान में कुण्ड के समीप हाथ पकड़े हुए दोनों वे और वधू तथा वर—

ओं भूर्भुवः स्वः। अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्चाः। वीरसूर्देवृकामा स्योना शन्नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे * ॥ ३॥ ओं भूर्भुवः स्वः। सा नः पूषा शिवतमामैरयसा न ऊरू उशती विहर। यस्यामुशन्तः प्रहराम शेफं यस्यामुकामा बहवो निविष्ट्यै ॥ ४॥ ऋ० मं० १०। सू० ८५॥

इन चार मन्त्रों को वर बोल के दोनों वर वधू यज्ञकुण्ड की प्रदक्षिणा करके कुण्ड के पश्चिम भाग में प्रथम स्थापन किये हुए आसन पर पूर्वाभिमुख वर के दक्षिण भाग में वधू और वधू के वाम भाग में वर बैठ के वधूः—

ओं प्र मे पतियानः पन्थाः कल्पताᳬशिवा अरिष्टा पतिलोकं गमेयम् ॥ मं० ब्रा० १। १। ८॥

इस मन्त्र को बोले तत्पश्चात् पृष्ठ ४६ में लिखे प्रमाणे यज्ञकुण्ड के समीप दक्षिण भाग में उत्तराभिमुख पुरोहित की स्थापना करनी। तत्पश्चात् पृ० १६ में लिखे—

ओं अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा ॥

---

* हे वरानने (अपतिघ्नि) पति से विरोध न करनेहारी तू जिसके (ओम्) अर्थात् रक्षा करनेवाला (भूः) प्राणदाता (भुवः) सब दुःखों को दूर करनेहारा (स्वः) सुखस्वरूप और सब सुखों के दाता आदि नाम हैं उस परमात्मा की कृपा और अपने उत्तम पुरुषार्थ से हे (अघोरचक्षुः) प्रियदृष्टि (एधि) हो (शिवा) मंगल करनेहारी (पशुभ्यः) सब पशुओं को सुखदाता (सुमनाः) पवित्रान्तःकरणयुक्त प्रसन्नचित्त (सुवर्चाः) सुन्दर शुभ गुण कर्म्म स्वभाव और विद्या से सुप्रकाशित (वीरसूः उत्तम वीर पुरुषों को उत्पन्न करनेहारी (देवृकामा) देवर की कामना करती हुई अर्थात् नियोग की भी इच्छा करनेहारी (स्योना) सुखयुक्त हो के (नः) हमारे (द्विपदे) मनुष्यादि के लिये (शम्) सुख करनेहारी (भव) सदा हो और (चतुष्पदे) गाय आदि पशुओं की भी (शम्) सुख देनेहारी हो वैसे ही मैं तेरा पति भी वर्त्ता करूं ॥

इत्यादि तीन मन्त्रों में प्रत्येक मन्त्र से एक २ आचमन वैसे तीन आचमन वर, वधू और पुरोहित और कार्यकर्त्ता करके हस्त और मुख प्रक्षालन एक शुद्ध-पात्र में करके दूर रखवा दे हाथ और मुख पोंछ के पृ० २० में लिखे यज्ञकुण्ड में (ओं भूर्भुवः स्वद्यौरिव०) इस मन्त्र से अग्न्याधान पृ० २१ में लिखे० (ओं अयन्त इध्म०) इत्यादि मन्त्रों से समिदाधान और पृ० २२ में लिखे०—

ओं अदितेऽनुमन्यस्व ॥

इत्यादि तीन मन्त्रों से कुण्ड की तीन ओर और (ओं देव सवितः प्रसुव०) इस मन्त्र से कुण्ड की चारों ओर दक्षिण हाथ की अञ्जलि से शुद्ध जल सेचन करके कुण्ड में डाली हुई समिधा प्रदीप्त हुए पश्चात् पृ० २२—२३ में लि० वधू वर पुरोहित और कार्यकर्त्ता आघारावाज्यभागाहुति ४ (चार) घी की देवें । तत्पश्चात् पृ० २३ में लि० व्याहृति आहुति ४ (चार) घी की और पृ० २४—२५ में लि० अष्टाज्याहुति ८ (आठ) ये सब मिल के १६ (सोलह) आज्याहुति दे के प्रधान होम का प्रारम्भ करें । प्रधान होम के समय वधू अपने दक्षिण हाथ को वर के दक्षिण स्कन्धे पर स्पर्श करके पृ० २४ में लि० (ओं भूर्भुवः स्वः अग्न आयूंषि०) इत्यादि चार मन्त्रों से अर्थात् एक २ से एक २ मिल के ४ (चार) आज्याहुति क्रम से करें और—

ओं भूर्भुवः स्वः । त्वमर्यमा भवसि यत्कनीनां नाम स्वधावन्गुह्यं बिभर्षि । अञ्जन्ति मित्रं सुधितं न गोभिर्यद्दम्पती समनसा कृणोषि स्वाहा ॥ इदमग्नये-इदन्न मम ॥ ऋ० मं० ५ । सू० ३ । मन्त्र २ ॥

इस मन्त्र को बोलके ५ पांचवीं आज्याहुति देनी तत्पश्चात्—

ओं ऋताषाड् ऋतधामाग्निर्गन्धर्वः । स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ॥ इदमृतासाहे ऋतधाम्ने अग्नये गन्धर्वाय—इदन्न मम ॥ १ ॥ ओं ऋताषाडृतधामाग्निर्गन्धर्वस्तस्यौषधयोऽप्सरसो मुदो नाम । ताभ्यः स्वाहा ॥ इदमोषधिभ्योऽप्सरोभ्यो मुद्भ्यः—इदन्न मम ॥ २ ॥ ओं सꣳहितो विश्व-

सामा सूर्यो गन्धर्वः । स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ॥ इदं सᳬहिताय विश्वसाम्ने सूर्याय गन्धर्वाय–इदन्न मम ॥ ३ ॥ ओं सᳬहितो विश्वसामा सूर्यो गन्धर्वस्तस्य मरीचयोऽप्सरस आयुवो नाम ताभ्यः स्वाहा ॥ इदं मरीचिभ्योऽप्सरोभ्य आयुभ्यः–इदन्न मम ॥ ४ ॥ ओं सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वः । स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ॥ इदं सुषुम्णाय, सूर्यरश्मये, चन्द्रमसे, गन्धर्वाय–इदन्न मम ॥ ५ ॥ ओं सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वस्तस्य नक्षत्राण्यप्सरसो भेकुरयो नाम ताभ्यः स्वाहा ॥ इदं नक्षत्रेभ्योऽप्सरोभ्यो भेकुरिभ्यः–इदन्न मम ॥ ६ ॥ ओं इषिरो विश्वव्यचा वातो गन्धर्वः । स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ॥ इदमिषिराय विश्वव्यचसे वाताय गन्धर्वाय–इदन्न मम ॥ ७ ॥ ओं इषिरो विश्वव्यचा वातो गन्धर्वस्तस्यापो अप्सरस ऊर्जो नाम । ताभ्यः स्वाहा ॥ इदमद्भ्यो अप्सरोभ्य ऊर्ग्भ्यः–इदन्न मम ॥ ८ ॥ ओं भुज्युः सुपर्णो यज्ञो गन्धर्वः । स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ॥ इदं भुज्यवे सुपर्णाय यज्ञाय, गन्धर्वाय–इदन्न मम ॥ ९ ॥ ओं भुज्युः सुपर्णो यज्ञो गन्धर्वस्तस्य दक्षिणा अप्सरसस्तावा नाम । ताभ्यः स्वाहा ॥ इदं दक्षिणाभ्यो अप्सरोभ्यः स्तावाभ्यः–इदन्न मम ॥ १० ॥ ओं प्रजापतिर्विश्वकर्मा मनो गन्धर्वः । स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ॥ इदं प्रजापतये विश्वकर्मणे, मनसे, गन्धर्वाय–इदन्न मम ॥ ११ ॥ ओं प्रजापतिर्विश्वकर्मा मनो गन्धर्वस्तस्य ऋक्सामान्यप्सरस एष्टयो नाम ताभ्यः स्वाहा ॥ इदमृक्सामेभ्योऽप्सरोभ्य एष्टिभ्यः–इदन्न मम ॥ १२ ॥ पार० कां० १ । कं० ५ ॥

इन बारह (१२) मन्त्रों से बारह (राष्ट्रभृत) आज्याहुति देनी तत्पश्चात् जयाहोम करना ॥

ओं चित्तं च स्वाहा ॥ इदं चित्ताय–इदन्न मम ॥ १ ॥ ओं चित्तिश्च स्वाहा ॥ इदं चित्त्यै–इदन्न मम ॥ २ ॥ ओं आकूतं च स्वाहा ॥ इदमाकूताय–इदन्न मम ॥ ३ ॥ ओं आकूतिश्च स्वाहा ॥ इदमाकूत्यै–इदन्न मम ॥ ४ ॥ ओं विज्ञातञ्च स्वाहा ॥ इदं विज्ञाताय–इदन्न मम ॥ ५ ॥ ओं विज्ञातिश्च

स्वाहा ॥ इदं विज्ञात्यै—इदन्न मम ॥ ६ ॥ ओं मनश्च स्वाहा ॥ इदं मनसे—इदन्न मम ॥ ७ ॥ ओं शक्करीश्च स्वाहा ॥ इदं शक्करीभ्यः—इदन्न मम ॥८॥ ओं दर्शश्च स्वाहा ॥ इदं दर्शाय इदन्न मम ॥ ९ ॥ ओं पौर्णमासं च स्वाहा ॥ इदं पौर्णमासाय—इदन्न मम ॥ १० ॥ ओं बृहच्च स्वाहा ॥ इदं बृहते—इदन्न मम ॥ ११ ॥ ओं रथन्तरञ्च स्वाहा । इदं रथन्तराय, इदन्न मम ॥ १२ ॥ ओं प्रजापतिर्जयानिन्द्राय वृष्णे प्रायच्छदुग्रः प्रतनाजयेषु । तस्मै विशः समनमन्त सर्वाः स उग्रः स इहव्यो बभूव स्वाहा ॥ इदं प्रजापतये जयानिन्द्राय—इदन्न मम ॥ १३ ॥ पार० कां० १ । कं० ५ ॥

इन प्रत्येक मन्त्रों से एक २ करके जयाहोम की १३ (तेरह) आज्याहुति देनी तत्पश्चात् अभ्यातान होम करना, इसके मन्त्र ये हैं:—

ओं अग्निर्भूतानामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳩ स्वाहा ॥ इदमग्नये भूतानामधिपतये—इदन्न मम ॥ १ ॥ ओं इन्द्रो ज्येष्ठानामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳩ स्वाहा ॥ इदमिन्द्राय ज्येष्ठानामधिपतये—इदन्न मम ॥ २ ॥ ओं यमः पृथिव्याऽअधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳩ स्वाहा ॥ इदं यमाय पृथिव्या अधिपतये—इदन्न मम ॥ ३ ॥ ओं वायुरन्तरिक्षस्याधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳩ स्वाहा ॥ इदं वायवे, अन्तरिक्षस्याधिपतये—इदन्न मम ॥ ४ ॥ ओं सूर्यो दिवोऽधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳩ स्वाहा ॥ इदं सूर्याय दिवोऽधिपतये—इदन्न मम ॥ ५ ॥ ओं चन्द्रमा नक्षत्राणामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳩ स्वाहा ॥ इदं चन्द्रमसे नक्षत्राणामधिपतये—इदन्न मम ॥ ६ ॥ ओं बृहस्पतिर्ब्रह्मणोऽधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रे-स्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन्

कर्मण्यस्यां देवहूत्या॑ स्वाहा ॥ इदं बृहस्पतये ब्रह्मणोधिपतये–इदन्न मम ॥ ७ ॥ ओं मित्रः सत्यानामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्या॑ स्वाहा ॥ इदं मित्राय सत्यानामधिपतये–इदन्न मम ॥८॥ ओं वरुणोऽपामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्या॑ स्वाहा ॥ इदं वरुणायापामधिपतये–इदन्न मम ॥ ९ ॥ ओं समुद्रः स्रोत्यानामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्या॑ स्वाहा ॥ इदं समुद्राय स्रोत्यानामधिपतये–इदन्न मम ॥ १० ॥ ओं अन्न॑ साम्राज्यानामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्या॑ स्वाहा ॥ इदमन्नाय साम्राज्यानामधिपतये–इदन्न मम ॥ ११ ॥ ओं सोमओषधीनामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्या॑ स्वाहा ॥ इदं सोमाय, ओषधीनामधिपतये–इदन्न मम ॥ १२ ॥ ओं सविता प्रसवानामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्या॑ स्वाहा ॥ इदं सवित्रे प्रसवानामधिपतये–इदन्न मम ॥ १३ ॥ ओं रुद्रः पशूनामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्या॑ स्वाहा ॥ इदं रुद्राय पशूनामधिपतये–इदन्न मम ॥ १४ ॥ ओं त्वष्टा रूपाणामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्या॑ स्वाहा ॥ इदं त्वष्ट्रे रूपाणामधिपतये–इदन्न मम ॥ १५ ॥ ओं विष्णुः पर्वतानामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्या॑ स्वाहा ॥ इदं विष्णवे पर्वतानामधिपतये-इदन्न मम ॥ १६ ॥ ओं मरुतो गणानामधिपतयस्ते मावन्त्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्या॑ स्वाहा ॥ इदं मरुद्भ्यो गणानामधिपतिभ्यः–इदन्न मम ॥ १७ ॥ ओं पितरः पितामहाः परेऽवरे ततास्ततामहा इह मावन्त्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन्

च्त्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याꣳ स्वाहा ॥ इदं पितृभ्यः पितामहेभ्यः परेभ्योऽवरेभ्यस्ततेभ्यस्ततामहेभ्यश्च—इदन्न मम ॥ १८ ॥ पार० कां० १ । कं० ५ ॥

इस प्रकार अभ्यातान होम की १८ (अठारह) आज्याहुति दिये पीछे पुनः—

ओं अग्निरैतु प्रथमो देवतानाꣳ सोऽस्यै प्रजां मुञ्चतु मृत्युपाशात् । तदयꣳ राजा वरुणोऽनुमन्यतां यथेयꣳ स्त्री पौत्रमघन्न रोदात् स्वाहा ॥ इदमग्नये—इदन्न मम ॥ १ ॥ ओं इमामग्निस्त्रायतां गार्हपत्यः प्रजामस्यै नयतु दीर्घमायुः । अशून्योपस्था जीवतामस्तु माता पौत्रमानन्दमभिविबुध्यतामियꣳ स्वाहा ॥ इदमग्नये—इदन्न मम ॥ २ ॥ मं० ब्रा० १ । १-२ ॥ ओं स्वस्ति नोऽग्ने दिवा * पृथिव्या विश्वानि धेह्ययथा यजत्र । यदस्यां महि † दिवि जातं प्रशस्तं तदस्मासु द्रविणं धेहि चित्रꣳ स्वाहा ॥ इदमग्नये—इदन्न मम ॥ ३ ॥ ओं सुगन्नु पन्थां प्रदिशन्न एहि ज्योतिष्मध्ये ह्यजरन्न आयुः । अपैतु मृत्युरमृतं म ‡ आगाद्वैवस्वतो नो अभयं कृणोतु स्वाहा ॥ इदं वैवस्वताय—इदन्न मम ॥ ४ ॥ ओं परं मृत्यो अनुपरेहि पन्थां यत्र नो अन्य इतरो देवयानात् । चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमि मा नः प्रजाꣳ रीरिषो मोत वीरान्त्स्वाहा ॥ इदं मृत्यवे—इदन्न मम ॥ ५ ॥ पार० कां० १ । कं० ५ ॥ ओं द्यौस्ते पृष्ठꣳ रक्षतु वायुरूरू अश्विनौ च । स्तनन्धयस्ते पुत्रान्त्सविताभिरक्षत्वावाससः परिधाद्बृहस्पतिर्विश्वेदेवा अभिरक्षन्तु पश्चात्स्वाहा ॥ इदं विश्वेभ्यो देवेभ्यः—इदन्न मम ॥ ६ ॥ ओं मा ते गृहेषु निशि घोष उत्थादन्यत्र त्वद्रुदत्यः संविशन्तु । मा त्वꣳ रुदत्युर आवधिष्ठा जीवपत्नी पतिलोके विराज पश्यन्ती प्रजाꣳ सुमनस्यमानाꣳ स्वाहा ॥ इदमग्नये—इदन्न मम ॥ ७ ॥ ओं अप्रजस्य पौत्रमर्त्यं पाप्मानमुत वा अघम् । शीर्ष्णस्रजमिवोन्मुच्य द्विषद्भ्यः प्रतिमुञ्चामि पाशꣳ स्वाहा ॥ इदमग्नये—इदन्न मम ॥ ८ ॥ मं० ब्रा० १ । १ । १-३ ॥

---

* पारस्कर में "दिव आपृथिव्या" ऐसा पाठ है ॥

† पारस्कर में "महि" ऐसा पाठ है ॥ ‡ पारस्कर में "नः" पाठ भी है ॥

इन प्रत्येक मन्त्रों से एक २ आहुति करके आठ आज्याहुति दीजिये तत्पश्चात् २३ पृष्ठ में लि० प्र०—

ओं भूरग्नये स्वाहा * ॥

इत्यादि चार मन्त्रों से ४ (चार) आज्याहुति दीजिये ऐसे होम करके वर आसन से उठ पूर्वाभिमुख बैठी हुई वधू के सम्मुख पश्चिमाभिमुख खड़ा रहकर अपने वामहस्त से वधू का दहिना हाथ चत्ता धर के ऊपर को उचाना और अपने दक्षिण हाथ से वधू के उठाये हुए दक्षिण हस्ताञ्जलि अंगुष्ठा सहित चत्ती ग्रहण करके वर—

ओं गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः । भगो अर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः † ॥ १ ॥ ऋ० मं० १० । सू० ८५ । मं० ३६ ॥

ओं भगस्ते हस्तमग्रभीत् सविता हस्तमग्रभीत् । पत्नी त्वमसि धर्मणाहं गृहपतिस्तव ‡ ॥ २ ॥ ममेयमस्तु पोष्या मह्यं त्वादाद् बृहस्पतिः । मया

---

* गोभिल गृह्यसूत्र प्रपा० २ । खं० १ । सू० २५ । २६ ॥

† हे वरानने ! जैसे मैं (सौभगत्वाय) ऐश्वर्य सुसन्तानादि सौभाग्य की बढ़ती के लिये (ते) तेरे (हस्तम्) हाथ को (गृभ्णामि) ग्रहण करता हूं तू (मया) मुझ (पत्या) पति के साथ (जरदष्टिः) जरावस्था को प्राप्त सुखपूर्वक (आसः) हो तथा हे वीर ! मैं सौभाग्य की वृद्धि के लिये आप के हस्त को ग्रहण करती हूं आप मुझ पत्नी के साथ वृद्धावस्था पर्यन्त प्रसन्न और अनुकूल रहिये आप को मैं और मुझ को आप आज से पतिपत्नीभाव करके प्राप्त हुए हैं (भगः) सकल ऐश्वर्ययुक्त (अर्यमा) न्यायकारी (सविता) सब जगत् की उत्पत्ति का कर्त्ता (पुरन्धिः) बहुत प्रकार के जगत् का धर्त्ता परमात्मा और (देवाः) ये सब सभामण्डप में बैठे हुए विद्वान् लोग (गार्हपत्याय) गृहाश्रम कर्म के अनुष्ठान के लिये (त्वा) तुझ को (मह्यम्) मुझे (अदुः) देते हैं आज से मैं आपके हस्ते और आप मेरे हाथ बिक चुके हैं कभी एक दूसरे का अप्रियाचरण न करेंगे ॥

‡ हे प्रिये ! (भगः) ऐश्वर्ययुक्त मैं (ते) तेरे (हस्तम्) हाथ को (अग्रभीत्) ग्रहण करता हूं तथा (सविता) धर्मयुक्त मार्ग में प्रेरक मैं तेरे (हस्तम्)

-पत्या प्रजावति शं जीव शरदः शतम् * ॥ ३ ॥ त्वष्टा वासो व्यदधाच्छुभे कं बृहस्पतेः प्रशिषा कवीनाम् । तेनेमां नारीं सविता भगश्च सूर्यामिव परिधत्तां प्रजया † ॥ ४ ॥ इन्द्राग्नी द्यावापृथिवी मातरिश्वा मित्रावरुणा

हाथ को (अग्रभीत्) ग्रहण कर चुका हूं (त्वम्) तू (धर्मणा) धर्म से मेरी पत्नी-भार्या (असि) है और (अहम्) मैं धर्म से (तव) तेरा (गृहपतिः) गृहपति हूं अपने दोनों मिल के घर के कामों की सिद्धि करें और जो दोनों का अप्रियाचरण व्यभिचार है उसको कभी न करें जिससे घर के सब काम सिद्ध उत्तम सन्तान ऐश्वर्य और सुख की बढ़ती सदा होती रहे ॥

* हे अनघे ! (बृहस्पतिः) सब जगत् को पालन करनेहारे परमात्मा ने जिस (त्वा) तुझ को (मह्यम्) मुझे (अदात्) दिया है (इयम्) यही तू जगत् भर में मेरी (पोष्या) पोषण करने योग्य पत्नी (अस्तु) हो, हे (प्रजावति) तू (मया, पत्या) मुझ पति के साथ (शतम्) सौ (शरदः) शरदृऋतु अर्थात् शतवर्ष पर्यन्त (शं, जीव) सुखपूर्वक जीवन धारण कर । वैसे ही वधू भी वर से प्रतिज्ञा करावे । हे भद्रवीर ! परमेश्वर की कृपा से आप मुझे प्राप्त हुए हो मेरे लिये आप के विना इस जगत् में दूसरा पति अर्थात् स्वामी पालन करनेहारा सेव्य इष्टदेव कोई नहीं है न मैं आप से अन्य दूसरे किसी को मानूंगी, जैसे आप मेरे सिवाय दूसरी किसी स्त्री से प्रीति न करोगे वैसे मैं भी किसी दूसरे पुरुष के साथ प्रीतिभाव से न वर्त्ता करूंगी आप मेरे साथ सौ वर्ष पर्यन्त आनन्द से प्राण धारण कीजिये ॥

† हे शुभानने ! जैसे (बृहस्पतेः) इस परमात्मा की सृष्टि में और उसकी तथा (कवीनाम्) आप्त विद्वानों की (प्रशिषा) शिक्षा से दंपति होते हैं (त्वष्टा) जैसे बिजुली सब को व्याप्त हो रही है वैसे तू मेरी प्रसन्नता के लिये (वासः) सुन्दर वस्त्र (शुभे) और आभूषण तथा (कम्) मुझ से सुख को प्राप्त हो, इस मेरी और तेरी इच्छा को परमात्मा (व्यदधात्) सिद्ध करे जैसे (सवितः) सकल जगत् की उत्पत्ति करनेहारा परमात्मा (च) और (भगः) पूर्ण ऐश्वर्ययुक्त (प्रजया) उत्तम प्रजा से (इमाम्) इस तुझ (नारीम्) मुझ नर की स्त्री को (परिधत्ताम्) आच्छादित शोभायुक्त करे, वैसे मैं (तेन) इस सब से (सूर्यामिव) सूर्य की किरण के समान तुझ को वस्त्र और भूषणादि से सुशोभित सदा रक्खूंगा तथा हे प्रिय ! आप को मैं इसी प्रकार सूर्य के समान सुशोभित आनन्द अनुकूल प्रियाचरण करके (प्रजया) ऐश्वर्य वस्त्राभूषण आदि से सदा आनन्दित रक्खूंगी ॥

भगो अश्विनोभा । बृहस्पतिर्मरुतो ब्रह्म सोम इमां नारीं प्रजया वर्धयन्तु * ॥ ५ ॥ अहं विष्यामि मयि रूपमस्या वेददित्पश्यन्मनसा कुलायम् । न स्तेयमद्मि मनसोदमुच्ये स्वयं श्रन्थानो वरुणस्य पाशान् † ॥ ६ ॥ अथर्व० कां० १४ । अनु० १ । सू० १ । मं० ५१—५७ ॥

इन पाणिग्रहण के छः मन्त्रों को बोल के पश्चात् वर, वधू की हस्ताञ्जलि पकड़ के उठावे और उसको साथ लेके, जो (कलश) कुंड की दक्षिण दिशा में प्रथम स्थापन किया था उसको वही पुरुष, जो कलश के पास बैठा था, बर वधू के साथ २ [उसी कलश को] ले चले, यज्ञकुण्ड की दोनों प्रदक्षिणा करके:—

* हे मेरे सम्बन्धी लोगो ! जैसे (इन्द्राग्नी) विजुली और प्रसिद्ध अग्नि (द्यावापृथिवी) सूर्य और भूमि (मातरिश्वा) अन्तरिक्षस्थ वायु (मित्रावरुणा) प्राण और उदान तथा (भगः) ऐश्वर्य (अश्विना) सद्वैद्य और सत्योपदेशक (उभा) दोनों (बृहस्पतिः) श्रेष्ठ न्यायकारी बड़ी प्रजा का पालन करनेहारा राजा (मरुतः) सभ्य मनुष्य (ब्रह्म) सब से बड़ा परमात्मा और (सोमः) चन्द्रमा तथा सोमलतादि ओषधीगण सब प्रजा की वृद्धि और पालन करते हैं वैसे (इमां, नारीम्) इस मेरी स्त्री को (प्रजया) प्रजा से बढ़ाया करते हैं वैसे तुम भी (वर्धयन्तु) बढ़ाया करो जैसे मैं इस स्त्री को प्रजा आदि से सदा बढ़ाया करूंगा वैसे स्त्री भी प्रतिज्ञा करे कि मैं भी इस मेरे पति को सदा आनन्द ऐश्वर्य और प्रजा से बढ़ाया करूंगी जैसे ये दोनों मिल के प्रजा को बढ़ाया करते हैं वैसे तू और मैं मिल के गृहाश्रम के अभ्युदय को बढ़ाया करें ॥

† हे कल्याणक्रोडे जैसे (मनसा) मन से (कुलायम्) कुल की वृद्धि को (पश्यन्) देखता हुआ (अहम्) मैं (अस्याः) इस तेरे (रूपम्) रूप को (विष्यामि) प्रीति से प्राप्त और इसमें प्रेम द्वारा व्याप्त होता हूं वैसे यह तू मेरी वधू (मयि) मुझ में प्रेम से व्याप्त होके अनुकूल व्यवहार को (वेदत्) प्राप्त होवे जैसे मैं (मनसा) मन से भी इस तुझ वधू के साथ (स्तेयम्) चोरी को (उदमुच्ये) छोड़ देता हूं और किसी उत्तम पदार्थ का चोरी से (नाद्मि) भोग नहीं करता हूं (स्वयम्) आप (श्रन्थानः) पुरुषार्थ से शिथिल होकर भी (वरुणस्य) उत्कृष्ट व्यवहार में विघ्नरूप दुर्व्यसनी पुरुष के (पाशान्) बन्धनों को दूर करता रहूं वैसे (इत्) ही यह वधू भी किया करे इसी प्रकार वधू भी स्वीकार करे कि मैं भी इसी प्रकार आप से वर्त्ता करूंगी ॥

ओं अमोऽहमस्मि सा त्वꣳ सा त्वमस्यमोऽहम्। सामाहमस्मि ऋक्त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वं तावेव विवहावहै सह रेतो दधावहै। प्रजां प्रजनयावहै पुत्रान् विन्दावहै बहून्। ते सन्तु जरदष्टयः सं प्रियौ रोचिष्णू सुमनस्यमानौ। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतम् * ॥ १७ ॥ **पार० कां० १। कं० ६ ॥**

इन प्रतिज्ञा मन्त्रों से दोनों प्रतिज्ञा करके, पश्चात् वर, वधू के पीछे रह के वधू के दक्षिण ओर समीप में जा उत्तराभिमुख खड़ा रहके वधू की दक्षिणाञ्जलि अपनी दक्षिणाञ्जलि से पकड़ के दोनों खड़े रहें; और वह पुरुष पुनः कुण्ड के दक्षिण में कलश लेके बैठे वैसे तत्पश्चात् वधू की माता अथवा भाई जो प्रथम चावल और ज्वार की धाणी सूप में रक्खी थी उसको वायें हाथ में ले के दहिने हाथ से वधू का दक्षिण पग उठवा के पत्थर की शिला पर चढ़वावे और उस समय वर—

* हे वधू जैसे (अहम्) मैं (अमः) ज्ञानवान् ज्ञानपूर्वक तेरा ग्रहण करनेवाला (अस्मि) होता हूं वैसे (सा) सो (त्वम्) तू भी ज्ञानपूर्वक मेरा ग्रहण करनेहारी (असि) है जैसे (अहम्) मैं अपने पूर्ण प्रेम से तुझ को (अमः) ग्रहण करता हूं वैसे (सा) सो मैंने ग्रहण की हुई (त्वम्) तू मुझ को भी ग्रहण करती है (अहम्) मैं (साम) सामवेद के तुल्य प्रशंसित (अस्मि) हूं हे वधू ! तू (ऋक्) ऋग्वेद के तुल्य प्रशंसित है (त्वम्) तू (पृथिवी) पृथिवी के समान गर्भादि गृहाश्रम के व्यवहारों को धारण करनेहारी है और मैं (द्यौः) वर्षा करनेहारे सूर्य के समान हूं वह तू और मैं (तावेव) दोनों ही (विवहावहै) प्रसन्नतापूर्वक विवाह करें (सह) साथ मिल के (रेतः) वीर्य को (दधावहै) धारण करें (प्रजाम्) उत्तम प्रजा को (प्रजनयावहै) उत्पन्न करें (बहून्) बहुत (पुत्रान्) पुत्रों को (विन्दावहै) प्राप्त होवें (ते) वे पुत्र (जरदष्टयः) जरावस्था के अन्त तक जीवनयुक्त (सन्तु) रहें (संप्रियौ) अच्छे प्रकार एक दूसरे से प्रसन्न (रोचिष्णू) दूसरे में रुचियुक्त एक (सुमनस्यमानौ) अच्छे प्रकार विचार करते हुए (शतम्) सौ (शरदः) शरदृतु अर्थात् शत वर्ष पर्यन्त एक दूसरे को प्रेम की दृष्टि से (पश्येम) देखते रहें (शतं, शरदः) सौ वर्ष पर्यन्त आनन्द से (जीवेम) जीते रहें और (शतं, शरदः) सौ वर्ष पर्यन्त प्रिय वचनों को (शृणुयाम) सुनते रहें ॥

ओं आरोहेममश्मानमश्मेव त्वꣳ स्थिरा भव । अभितिष्ठ पृतन्यतोऽवबाधस्व पृतनायतः ॥ १ ॥ पार० कां० १ । कं० ७ ॥

इस मन्त्र को बोले तत्पश्चात् वधू वर कुण्ड के समीप आके पूर्वाभिमुख दोनों खड़े रहें और यहां वधू दक्षिण ओर रहके अपनी हस्ताञ्जलि को वर की हस्ताञ्जलि पर रक्खे तत्पश्चात् वधू की मा वा भाई जो बायें हाथ में धाणी का सूपड़ा पकड़ के खड़ा रहा हो वह धाणी का सूपड़ा भूमि पर धर अथवा किसी के हाथ में देके जो वधू वर की एकत्र की हुई अर्थात् नीचे वर की और ऊपर वधू की हस्ताञ्जलि है उसमें प्रथम थोड़ा घृत सिंचन करके पश्चात् प्रथम सूप में से दहिने हाथ की अञ्जलि से दो वार ले के वर वधू की एकत्र की हुई अंजलि में धाणी डाले पश्चात् उस अञ्जलिस्थ धाणी पर थोड़ासा घी सिंचन करे पश्चात् वधू वर की हस्ताञ्जलि सहित अपनी हस्ताञ्जलि को आगे से नमा के—

ओं अर्यमणं देवं कन्या अग्निमयक्षत । स नो अर्यमा देवः प्रेतो मुञ्चतु मा पतेः स्वाहा ॥ इदमर्यम्णे अग्नये–इदन्न मम ॥ १ ॥ ओं इयं नार्युपब्रूते लाजानावपन्तिका । आयुष्मानस्तु मे पतिरेधन्तां ज्ञातयो मम स्वाहा ॥ इदमग्नये–इदन्न मम ॥ २ ॥ ओं इमाँल्लाजानावपाम्यग्नौ समृद्धिकरणं तव । मम तुभ्यं * च संवदनं * तदग्निरनुमन्यतामियꣳ स्वाहा ॥ इदमग्नये–इदन्न मम ॥ ३ ॥ पार० कां० १ । कं० ६ ॥

इन तीन मन्त्रों में एक २ मन्त्र से एक २ वार थोड़ी २ धाणी की आहुति तीन वार प्रज्वलित इन्धन पर दे के वर—

ओं सरस्वति प्रेदमव सुभगे वाजिनीवति । यान्त्वा विश्वस्य भूतस्य प्रजायामस्याग्रतः । यस्यां भूतꣳ समभवद्यस्यां विश्वमिदं जगत् । तामद्य गाथां गास्यामि या स्त्रीणामुत्तमं यशः ॥ १ ॥ पार० कां० १ । कं० ७ ॥

* पारस्कर में तथा सं० १६३३ की संस्कारविधि में "तुभ्य" और "संवननम्" पाठ है।

इस मन्त्र को बोल के अपने जमणे हाथ की हस्ताञ्जलि से वधू की हस्ताञ्जलि पकड़ के वर—

आ तुभ्यमग्रे पर्यवहन्त्सूर्यां वहतु ना सह। पुनः पतिभ्यो जायां दा अग्ने प्रजया सह ॥ १॥ ऋ० मं० १०। सू० ८५। मं० ३८॥ ओं कन्यला पितृभ्यः पतिलोकं यतीयमवदीक्षामयष्ट। कन्या उत त्वया वयं धारा उदन्या इवातिगाहेमहि द्विषः ॥ २॥ मं० ब्रा० १।२।५ * ॥

इन मन्त्रों को पढ़ यज्ञकुण्ड की प्रदक्षिणा करके यज्ञकुण्ड के पश्चिम भाग में पूर्व की ओर मुख करके थोड़ी देर दोनों खड़े रहें, तत्पश्चात् पूर्वोक्त प्रकार कलश सहित यज्ञकुण्ड की प्रदक्षिणा कर पुनः दोवार इसी प्रकार अर्थात् सब मिल के ४ (चार) परिक्रमा करके अन्त में यज्ञकुण्ड के पश्चिम में (थोड़ा ठड़े रह के उक्त रीति से तीन वार क्रिया पूरी हुए पश्चात् यज्ञकुण्ड के पश्चिम भाग में) पूर्वाभिमुख वधू वर खड़े रहें। पश्चात् वधू की मा अथवा भाई उस सूप को तिरछा करके उसमें बाकी रही हुई धाणी को वधू की हस्ताञ्जलि में डाल देवे पश्चात्—

ओं भगाय स्वाहा †। इदं भगाय—इदन्न मम ॥

इस मन्त्र को बोल के प्रज्वलित अग्नि पर वेदी में उस धाणी की एक आहुति देवे। पश्चात् वर, वधू को दक्षिण भाग में रखके कुण्ड के पश्चिम पूर्वाभिमुख बैठ के—

ओं प्रजापतये स्वाहा ‡॥ इदं प्रजापतये—इदन्न मम ॥

इस मन्त्र को बोल के स्रुवा से एक घृत की आहुति देवे तत्पश्चात् एकान्त में जा के वधू के बंधे हुए केशों को वर—

* तथा गोभिल गृ० प्रपा० २। खं० २। सू० ६॥

† पारस्कर के अनुसार यह आहुति वधू देती है। कां० १। कं० ७॥

‡ पारस्कर कां० १। कं० ७॥

प्र त्वा मुञ्चामि वरुणस्य पाशाद्येन त्वाबध्नात्सविता सुशेवाः। ऋतस्य योनौ सुकृतस्य लोकेऽरिष्टान्त्वा सह पत्या दधामि ॥ १ ॥ प्रेतो मुञ्चामि नामुतस्सुबद्धाममुतस्करम्। यथेयमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रा सुभगा सती ॥ २ ॥ ऋ० मं० १० । सू० ८५ । मं० २४ । २५ ॥

इन दोनों मन्त्रों को बोल के प्रथम वधू के केशों को छोड़ना, तत्पश्चात् सभामण्डप में आके सप्तपदी विधि का आरम्भ करे, इस समय वर के उपवस्त्र के साथ वधू के उत्तरीय वस्त्र की गांठ देनी इसे जोड़ा कहते हैं। वधू वर दोनों जने आसन पर से उठके वर अपने दक्षिण हाथ से वधू की दक्षिण हस्ताञ्जलि पकड़ के यज्ञकुण्ड के उत्तरभाग में जावें, तत्पश्चात् वर अपना दक्षिण हाथ वधू के दक्षिण स्कन्धे पर रख के दोनों समीप २ उत्तराभिमुख खड़े रहें तत्पश्चात् वर—

मासव्येन दक्षिणमतिक्राम।

ऐसा बोल के वधू को उसका दक्षिण पग उठवा के चलने के लिये आज्ञा देवे और—

ओं इषे एकपदी भव सा मामनुव्रता भव विष्णुस्त्वानयतु पुत्रान् विन्दावहै बहूँस्ते सन्तु जरदष्टयः ॥ १ ॥

इस मन्त्र को बोल के वर अपने साथ वधू को लेकर ईशान दिशा में एक पग * चले और चलावे।

ओं ऊर्ज्जे द्विपदी भव० † ॥ इस मन्त्र से दूसरा ॥

---

* इस पग धरने की विधि ऐसी है कि वधू प्रथम अपना जमणा पग उठा के ईशानकोण की ओर बढ़ा के धरे तत्पश्चात् दूसरे बांये पग को उठा के जमणे पग की पटली तक धरे अर्थात् जमणे पग के थोड़ासा पीछे बायां पग रक्खे इसी को एक पगला गिणना, इसी प्रकार अगले छः मन्त्रों से भी क्रिया करनी अर्थात् एक २ मन्त्र से एक २ पग ईशान दिशा की ओर धरना ॥

† जो भव के आगे मन्त्र में पाठ है सो छः मन्त्रों से इस भव पद के आगे पूरा बोल के पग धरने की क्रिया करनी ॥

ओं रायस्पोषाय त्रिपदी भव० ॥ इस मन्त्र से तीसरा ॥

ओं मयोभवाय * चतुष्पदी भव० ॥ इस मन्त्र से चौथा ॥

ओं प्रजाभ्यः * पञ्चपदी भव० ॥ इस मन्त्र से पांचवां ॥

ओं ऋतुभ्यः षट्पदी भव० ॥ इस मन्त्र से छठा और—

ओं सखे सप्तपदी * भव० ॥ पार० कां० १ । कं० ८ ॥

इस मन्त्र से सातवां पगला चलना । इस रीति से इन सात मन्त्रों से सात पग ईशान दिशा में चला के वधू वर दोनों गांठ बन्धे हुए शुभासन पर बैठें । तत्पश्चात् प्रथम से जो जल के कलश को ले के यज्ञकुण्ड की दक्षिण की ओर में बैठाया था वह पुरुष उस पूर्वस्थापित जलकुम्भ को ले के वधू वर के समीप आवे और उसमें से थोड़ासा जल ले के वधू † वर के मस्तक पर छिटकावे और वर—

ओं आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता नं ऊर्ज्जे दधातन । महे रणाय चक्षसे ॥ १ ॥ यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः । उशतीरिव मातरः ॥ २ ॥ तस्मा अरङ्गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ । आपो जनयथा च नः ॥३॥ ऋ० मण्ड० १० । सू० ९ । मं० १-३ ॥ ओं आपः शिवाः शिवतमाः शान्ताः शान्ततमास्तास्ते कृण्वन्तु भेषजम् ‡ ॥ ४ ॥

इन चार मन्त्रों को बोले । तत्पश्चात् वधू वर वहां से उठ के—

---

* वैदिकयन्त्रालय, सं० १९५२ में मुद्रित पारस्कर गृह्यसूत्र के पृ० ११३ में "मयोभवाय" के स्थान में "मायोभवाय" "प्रजाभ्यः" के स्थान में "पशुभ्यः" तथा "सप्तपदी" के स्थान में "सप्तपदा" पाठ है ॥

† पारस्कर गृह्यसूत्र में केवल वधू के मस्तक पर जल छिटकने का विधान है । कां० १ । कं० ८ । वधू वर के स्थान में वर, वधू ऐसा पाठ कर देने से पारस्कर के अनुकूलता होजाती है ॥

‡ पारस्कर कां० १ । कं० ८ ॥

ओं तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् । पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ॥ १ ॥ य० अ० ३६ । मं० २४ ॥

इस मन्त्र को पढ़ के सूर्य का अवलोकन करें। तत्पश्चात् वर, वधू के दक्षिण स्कन्धे पर से अपना दक्षिण हाथ ले के उससे वधू का हृदय स्पर्श करके—

ओं मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनु चित्तं ते अस्तु । मम वाचमेकमना जुषस्व प्रजापतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम् * ॥ पार० कां० १ । कं० ८ ॥

इस मन्त्र को बोले, और उसी प्रकार वधू भी अपने दक्षिण हाथ से वर के हृदय का स्पर्श करके इसी ऊपर लिखे हुए मन्त्र को बोले † ॥

तत्पश्चात् वर, वधू के मस्तक पर हाथ धरके:—

सुमङ्गलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत । सौभाग्यमस्यै दत्त्वा याथास्तं विपरेतन ॥ ऋ० मण्ड० १० । सू० ८५ । मं० ३३ ॥

---

* हे वधू ! (ते) तेरे (हृदयम्) अन्तःकरण और आत्मा को (मम) मेरे (व्रते) कर्म के अनुकूल (दधामि) धारण करता हूं (मम) मेरे (चित्तमनु) चित्त के अनुकूल (ते) तेरा (चित्तम्) चित्त सदा (अस्तु) रहे (मम) मेरी (वाचम्) वाणी को तू (एकमनाः) एकाग्रचित्त से (जुषस्व) सेवन किया कर (प्रजापतिः) प्रजा का पालन करने वाला परमात्मा (त्वा) तुझ को (मह्यम्) मेरे लिये (नियुनक्तु) नियुक्त करे ॥

वैसे ही हे प्रियवीर स्वामिन् ! आपका हृदय आत्मा और अन्तःकरण मेरे प्रियाचरण कर्म में धारण करती हूं। मेरे चित्त के अनुकूल आप का चित्त सदा रहे। आप एकाग्र हो के मेरी वाणी का–जो कुछ मैं आप से कहूं उसका–सेवन सदा किया कीजिये। क्योंकि आज से प्रजापति परमात्मा ने आप को मेरे आधीन किया है। जैसे मुझको आप के आधीन किया है। अर्थात् इस प्रतिज्ञा के अनुकूल दोनों वर्ता करें, जिससे सर्वदा आनन्दित और कीर्तिमान् पतिव्रता और स्त्रीव्रत होके सब प्रकार के व्यभिचार अप्रियभाषणादि को छोड़ के परस्पर प्रीतियुक्त रहें ॥

इस मन्त्र को बोल के कार्यार्थ आये हुए लोगों की ओर अवलोकन करना और इस समय सब लोग—

ओं सौभाग्यमस्तु । ओं शुभं भवतु ॥

इस वाक्य से आशीर्वाद देवें। तत्पश्चात् वधू वर यज्ञकुण्ड के समीप पूर्ववत् बैठ के पुनः पृष्ठ २३ में लिखे प्रमाणे दोनों (ओं यदस्य कर्मणो०) इस स्विष्टकृत् मन्त्र से होमाहुति अर्थात् एक आज्याहुति और पृष्ठ २३ में लिखे—

ओं भूरग्नये स्वाहा ॥

इत्यादि चार मन्त्रों से एक २ से एक २ आहुति करके ४ (चार) आज्याहुति देवें और इस प्रमाणे विवाह के विधि पूरे हुए पश्चात् दोनों जने आराम अर्थात् विश्राम करें। इस रीति से थोड़ासा विश्राम करके विवाह की उत्तर विधि करें। यह उत्तरविधि सब वधू के घर की ईशान दिशा में विशेष करके एक घर प्रथम से बना रक्खा हो वहां जाके करनी। तत्पश्चात् सूर्य अस्त हुए पीछे आकाश में नक्षत्र दीखें उस समय वधू वर यज्ञकुण्ड के पश्चिम भाग में पूर्वाभिमुख आसन पर बैठें और पृष्ठ २० में लि० अग्न्याधान (ओं भूर्भुवः स्वर्द्यौ०) इस मन्त्र से करें। यदि प्रथम ही सभामण्डप ईशान दिशा में हुआ और प्रथम अग्न्याधान किया हो तो अग्न्याधान न करें। (ओं अयन्त इध्म०) इत्यादि ४ मन्त्रों से समिदाधान करके जब अग्नि प्रदीप्त होवे तब पृष्ठ २२-२३ में लिखे प्रमाणे—

ओं अग्नये स्वाहा ॥ आश्वला० गृ० अ० १ । कं० १० । सू० १३ ॥

इत्यादि ४ (चार) मन्त्रों से आघारावाज्यभागाहुति ४ (चार) और पृष्ठ २३ में लिखे प्रमाणे—

ओं भूरग्नये स्वाहा ॥

इत्यादि ४ (चार) मन्त्रों से ४ (चार) व्याहृति आहुति ये सब मिल के ८ (आठ) आज्याहुति देवें। तत्पश्चात् प्रधान होम करें निम्नलिखित मन्त्रों से:—

ओं लेखासन्धिषु पक्ष्मस्वावर्त्तेषु * च यानि ते। तानि ते पूर्णाहुत्या सर्वाणि शमयाम्यहं स्वाहा॥ इदं कन्यायै—इदन्न मम॥ १॥ ओं केशेषु यच्च पापकमीक्षिते रुदिते च यत्। तानि०॥ २॥ ओं शीलेषु यच्च पापकं भाषिते हसिते च यत्। तानि० ३॥

ओं आरोकेषु दन्तेषु हस्तयोः पादयोश्च यत्। तानि०॥ ४॥ ओं ऊर्वोरुपस्थे जङ्घयोः सन्धानेषु च यानि ते। तानि०॥ ५॥ ओं यानि कानि च घोराणि सर्वाङ्गेषु तवाभवन्। पूर्णाहुतिभिराज्यस्य सर्वाणि तान्यशीशमं स्वाहा॥ इदं कन्यायै—इदन्न मम॥ ६॥ मं० ब्रा० १। ३। १–६॥

ये छः मन्त्र हैं इनमें से एक २ मन्त्र बोल छः आज्याहुति देनी। तत्पश्चात् पृष्ठ २३ में लिखे—

ओं भूरग्नये स्वाहा

इत्यादि ४ (चार) व्याहृति मन्त्रों से ४ (चार) आज्याहुति देके वधू वर वहां से उठ के सभामण्डप के बाहर उत्तर दिशा में जावें। तत्पश्चात् वर—

ध्रुवं पश्य

ऐसा बोलके वधू को ध्रुव का तारा दिखलावे † और वधू वर से बोले कि म—

पश्यामि

ध्रुव के तारे को देखती हूं। तत्पश्चात् वधू [बोले]

---

* सं० १९४१ की संस्कारविधि में "पक्ष्मस्वारोकेषु" पाठ है॥

† हे वधू वा वर जैसे यह ध्रुव दृढ़ स्थिर है इसी प्रकार आप और मैं एक दूसरे के प्रियाचरणों में दृढ़ स्थिर रहें॥

ओं ध्रुवमसि ध्रुवाहं पतिकुले भूयासम् (अमुष्य * असौ) गोभिलगृ० प्र० २ । खं० ३ । सू० ८ ॥

इस मन्त्र को बोले । तत्पश्चात्—

अरुन्धतीं पश्य ॥ गोभिलगृ० प्र० २ । खं० ३ । सू० ९ ॥

ऐसा वाक्य बोल के वर, वधू को अरुन्धती का तारा दिखलावे और वधू-

पश्यामि

ऐसा कहके—

ओं अरुन्धत्यसि † रुद्धाहमस्मि (अमुष्य ‡ असौ ¶)

इस मन्त्र को बोल के (वर) वधू की ओर देख के वधू के मस्तक पर हाथ धरके—

---

* (अमुष्य) इस पद के स्थान में षष्ठी विभक्त्यन्त पति का नाम बोलना, जैसे—शिवशर्मा पति का नाम हो तो "शिवशर्मणः" ऐसा और (असौ)[१] इस पद के स्थान में वधू अपने नाम को प्रथमा विभक्त्यन्त बोल के इस मन्त्र को पूरा बोले, जैसे "भूयासं शिवशर्मणस्ते सौभाग्यदाहम्" इस प्रकार दोनों पद जोड़ के बोले ॥

† "अरुन्धत्यसि" इतना पाठ गोभिल में नहीं ॥

‡ (अमुष्य) इस पद के स्थान में पति का नाम षष्ठ्यन्त और (असौ) इसके स्थान में वधू का प्रथमान्त नाम जोड़ कर बोले "हे स्वामिन्[२] ! सौभाग्यदा (अहम्) मैं (अमुष्य) आप शिवशर्मा की अर्धाङ्गी (पतिकुले) आपके कुल में (ध्रुवा) निश्चल जैसे कि आप (ध्रुवम्) दृढ़ निश्चय वाले मेरे स्थिर पति (असि) हैं वैसे मैं भी आप की स्थिर दृढ़ पत्नी (भूयासम्) होऊं ॥"

¶ गोभिल गृ० प्र० २ । खं० ३ । सू० १० ॥

---

१ वाक्य ।

२ "हे स्वामिन् !" से लेकर "होऊं" तक का पाठ पृ० १४६ की प्रथम पंक्ति के "अमुष्य असौ" के फ़ुट नोट की समाप्ति पर जानो ॥

ओं ध्रुवा द्यौर्ध्रुवा पृथिवी ध्रुवं विश्वमिदं जगत् । ध्रुवासः पर्वता इमे ध्रुवा स्त्री पतिकुले इयम् * ॥ मं० ब्रा० १ । ६ । ६ ॥

ओं ध्रुवमसि ध्रुवन्त्वा पश्यामि ध्रुवैधि पोष्ये मयि । मह्यं त्वादात् बृहस्पतिर्मया पत्या प्रजावती संजीव शरदः शतम् † ॥ पार० कां० १ ॥ कं० ८ ॥

इन दोनों मन्त्रों को बोले । पश्चात् वधू और वर दोनों यज्ञकुण्ड के पश्चिम भाग में पूर्वाभिमुख हो के कुण्ड के समीप बैठें और पृ० १६ में लिखेः—

ओं अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा

इत्यादि तीन मन्त्रों से एक २ से एक २ आचमन करके तीन २ आचमन दोनों करें । पश्चात् पृष्ठ २१ में लिखी हुई समिधाओं से यज्ञकुण्ड में अग्नि

---

* हे वरानने ! जैसे (द्यौः) सूर्य की कान्ति वा विद्युत् (ध्रुवा) सूर्यलोक वा पृथिव्यादि में निश्चल जैसे (पृथिवी) भूमि अपने स्वरूप में (ध्रुवा) स्थिर जैसे (इदम्) यह (विश्वम्) सब (जगत्) संसार प्रवाहस्वरूप में (ध्रुवम्) स्थिर है जैसे (इमे) ये प्रत्यक्ष (पर्वताः) पहाड़ (ध्रुवासः) अपनी स्थिति में स्थिर हैं वैसे (इयम्) यह तू मेरी (स्त्री) (पतिकुले) मेरे कुल में (ध्रुवा) सदा स्थिर रह ॥

† हे स्वामिन् ! जैसे आप मेरे समीप (ध्रुवम्) दृढ़ सङ्कल्प करके स्थिर (असि) हैं या जैसे मैं (त्वा) आपको (ध्रुवम्) स्थिर दृढ़ (पश्यामि) देखती हूं वैसे ही सदा के लिये मेरे साथ आप दृढ़ रहियेगा क्योंकि मेरे मन के अनुकूल (त्वा) आपको (बृहस्पतिः) परमात्मा (अदात्) समर्पित कर चुका है वैसे मुझ पत्नी के साथ उत्तम प्रजायुक्त होके (शतं, शरदः) सौ वर्ष पर्यन्त (सम्, जीव) जीविये तथा हे वरानने पत्नी (पोष्ये) धारण और पालन करने योग्य (मयि) मुझ पति के निकट (ध्रुवा) स्थिर (एधि) रह (मह्यम्) मुझ को अपनी मनसा के अनुकूल तुझे परमात्मा ने दिया है तू (मया) मुझ (पत्या) पति के साथ (प्रजावती) बहुत उत्तम प्रजायुक्त होकर सौ वर्ष पर्यन्त आनन्दपूर्वक जीवन धारण कर । वधू वर ऐसी दृढ़ प्रतिज्ञा करें कि जिससे कभी उलटे विरोध में न चलें ॥

को प्रदीप्त करके पृष्ठ १५ में लिखे० घृत और स्थालीपाक अर्थात् भात को उसी समय बनावें। पृष्ठ २१ में लिखे प्रमाणे "ओम् अयन्त इध्म०" इत्यादि चार मन्त्रों से समिधा होम दोनों जने करके पश्चात् पृष्ठ २२—२३ में लिखे प्रमाणे आघारावाज्यभागाहुति ४ (चार) और व्याहृति आहुति चार दोनों मिलके ८ (आठ) आज्याहुति वर वधू देवें। तत्पश्चात् जो ऊपर सिद्ध किया हुआ ओदन अर्थात् भात उसको एक पात्र में निकाल के उसके ऊपर स्रुवा से घृत सेचन करके घृत और भात को अच्छे प्रकार मिलाकर दक्षिण हाथ से थोड़ा थोड़ा भात दोनों जने ले के—

ओं अग्नये स्वाहा ॥ इदमग्नये-इदन्न मम। ओं प्रजापतये स्वाहा ॥ इदं प्रजापतये—इदन्न मम। ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा ॥ इदं विश्वेभ्यो देवेभ्यः—इदन्न मम। ओम् अनुमतये स्वाहा ॥ इदमनुमतये—इदन्न मम ॥

इन में से प्रत्येक मन्त्र से एक २ करके ४ (चार) स्थालीपाक अर्थात् भात की आहुति देनी। तत्पश्चात् पृष्ठ २३ में लिखे (ओं यदस्य कर्मणो०) इस मन्त्र से एक स्विष्टकृत् आहुति देनी। तत्पश्चात् पृष्ठ २३ में लि० प्रमाणे व्याहृति आहुति ४ (चार) और पृष्ठ २४—२५ में लिखे० अष्टाज्याहुति ८ (आठ) दोनों मिलके १२ (बारह) आज्याहुति देनी। तत्पश्चात् शेष रहा हुआ भात एक पात्र में निकाल के उस पर घृत सेचन और दक्षिण हाथ रख के:—

ओं अन्नपाशेन मणिना प्राणसूत्रेण पृश्निना। बध्नामि सत्यग्रन्थिना मनश्च हृदयं च ते * ॥ १ ॥ ओं यदेतद्धृदयं तव तदस्तु हृदयं मम। यदिदꣳ हृदयं मम तदस्तु हृदयं तव † ॥ २ ॥ ओं अन्नं प्राणस्य षड्विꣳशस्तेन

---

* हे वधू वर! जैसे अन्न के साथ प्राण, प्राण के साथ अन्न तथा अन्न और प्राण का अन्तरिक्ष के साथ सम्बन्ध है वैसे (ते) तेरे (हृदयम्) हृदय (च) और (मनः) मन (च) और चित्त आदि को (सत्यग्रन्थिना) सत्यता की गांठ से (बध्नामि) बांधती वा बांधता हूं॥

† हे वर हे स्वामिन् वा हे पत्नी! (यदेतत्) जो यह (तव) तेरा (हृद-

बध्नामि त्वा असौ * ॥ ३ ॥ मं० ब्रा० १ । ३ । ८-१० ॥

इन तीनों मन्त्रों को मन से जप के वर उस भात में से प्रथम थोड़ासा भक्षण करके जो उच्छिष्ट शेष भात रहे वह अपनी वधू के लिये खाने को देवे और जब वधू उसको खाचुके तब वधू वर यज्ञमण्डप में सन्नद्ध हुए शुभासन पर नियम प्रमाणे पूर्वाभिमुख बैठें और पृष्ठ २६ में लि० प्रमाणे सामवेदोक्त महावामदेव्यगान करें। तत्पश्चात् पृष्ठ ४-१२ में लि० प्रमाणे ईश्वर की स्तुति, प्रार्थनोपासना, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण कर्म करके क्षार लवण रहित मिष्ट दुग्ध घृतादि सहित भोजन करें । तत्पश्चात् पृष्ठ ४६ में लिखे प्रमाणे पुरोहितादि सद्धर्मी और कार्यार्थ इकट्ठे हुए लोगों को सम्मानार्थ उत्तम भोजन कराना। तत्पश्चात् यथायोग्य पुरुषों का पुरुष और स्त्रियों का स्त्री आदर सत्कार करके विदा कर देवें। तत्पश्चात् दश घटिका रात्रि जाय तब वधू और वर पृथक् २ स्थान में भूमि में बिछौना करके तीन रात्रिपर्यन्त ब्रह्मचर्य व्रत सहित रहकर शयन करें, और ऐसा भोजन करें कि स्वप्न में भी वीर्यपात न होवे । तत्पश्चात् चौथे दिवस विधिपूर्वक गर्भाधानसंस्कार करें । यदि चौथे दिवस कोई अड़चल आवे तो अधिक दिन ब्रह्मचर्यव्रत में दृढ़ (रह) कर जिस दिन दोनों की इच्छा हो और पृष्ठ ३० में लिखे प्रमाणे गर्भाधान की रात्रि भी हो उस रात्रि में यथाविधि गर्भाधान करें। तत्पश्चात् दूसरे वा तीसरे दिन प्रातःकाल वरपक्षवाले लोग वधू और वर को रथ में बैठा के बड़े सम्मान से अपने घर में लावें और जो वधू अपने माता पिता के घर को छोड़ते समय आंख में अश्रु भर लावे तो—

यम्) आत्मा वा अन्तःकरण है (तत्) वह (मम) मेरा (हृदयम्) आत्मा अन्तःकरण के तुल्य प्रिय (अस्तु) हो और (मम) मेरा (यदिदम्) जो यह (हृदयम्) आत्मा प्राण और मन है (तत्) सो (तव) तेरे (हृदयम्) आत्मादि के तुल्य प्रिय (अस्तु) सदा रहे ॥

* (असौ) हे यशोदे ! जो (प्राणस्य) प्राण का पोषण करने हारा (षड्विंशः) २६ (छब्बीसवां) तत्त्व (अन्नम्) अन्न है (तेन) उससे (त्वा) तुझ को (बध्नामि) दृढ़ प्रीति से बांधता वा बांधती हूं ॥

जीवं रुदन्ति वि मयन्ते अध्वरे दीर्घामनु प्रसितिं दीधियुर्नरः । वामं पितृभ्यो य इदं समेरिरे मयः पतिभ्यो जनयः परिष्वजे ॥ ऋ० मं० १० । सू० ४० । मं० १० ॥

इस मन्त्र को वर बोले और रथ में बैठते समय वर अपने साथ दक्षिण बाजू वधू को बैठावे उस समय में वरः—

पूषा त्वेतो नयतु हस्तगृह्याश्विना त्वा प्र वहतां रथेन । गृहान्गच्छ गृहपत्नी यथासो वशिनी त्वं विदथमा वदासि ॥ १ ॥ सुकिंशुकं शल्मलिं विश्वरूपं हिरण्यवर्णं सुवृतं सुचक्रम् । आ रोह सूर्ये अमृतस्य लोकं स्योनं पत्ये वहतुं कृणुष्व ॥ २ ॥ ऋ० मं० १० । सू० ८५ । मं० २६, २० ॥

इन दो मन्त्रों को बोल के रथ को चलावे । यदि वधू को वहां से अपने घर लाने के समय नौका पर बैठना पड़े तो इस निम्नलिखित मन्त्र को पूर्व बोल के नौका पर बैठे—

अश्मन्वती रीयते सं रभध्वमुत्तिष्ठत प्र तरता सखायः ।

और नाव से उतरते समय—

अत्रा जहाम ये असन्नशेवाः शिवान्वयमुत्तरेमाभि वाजान् ॥ ऋ० मं० १० । सू० ५३ । मं० ८ ॥

इस उत्तरार्द्ध मन्त्र को बोल के नाव से उतरे । पुनः इसी प्रकार मार्ग चार में मार्गों का संयोग, नदी, व्याघ्र, चोर आदि से भय वा भयंकर स्थान, ऊंचे नीचे खाड़ावाली पृथिवी, बड़े २ वृक्षों का झुंड वा श्मशानभूमि आवे तो—

मा विदन् परिपन्थिनो य आसीदन्ति दम्पती । सुगेभिर्दुर्गमतीतामप द्रान्त्वरातयः ॥ ऋ० मं० १० । सू० ८५ । मं० ३२ ॥

इस मन्त्र को बोले। तत्पश्चात् वधू वर जिस रथ में बैठके जाते हों उस रथ का कोई अंग टूट जाय अथवा किसी प्रकार का अकस्मात् उपद्रव होवे तो मार्ग में कोई अच्छा स्थान देख के निवास करना और साथ रक्खे हुए विवाहाग्नि को प्रगट करके उसमें पृष्ठ २३ में लिखे प्रमाणे ४ चार व्याहृति आज्याहुति देनी। पश्चात् पृष्ठ २६ में लिखे प्रमाणे वामदेव्यगान करना। पश्चात् जब वधू वर का रथ वर के घर के आगे आपहुंचे तब कुलीन पुत्रवती सौभाग्यवती वा कोई ब्राह्मणी वा अपने कुल की स्त्री आगे सामने आकर वधू का हाथ पकड़ के वर के साथ रथ से नीचे उतारे और वर के साथ सभामण्डप में लेजावे सभामण्डप द्वारे आते हीं वर वहां कार्यार्थ आये हुए लोगों की ओर अवलोकन करके—

सुमङ्गलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत। सौभाग्यमस्यै दत्त्वा याथास्तं विपरेतन॥ १॥ ऋ० मं० १०। सू० ८५। मं० ३३॥

इस मन्त्र को बोले और आये हुए लोगः—

ओं सौभाग्यमस्तु, ओं शुभं भवतु

इस प्रकार आशीर्वाद देवें। तत्पश्चात् वरः—

इह प्रियं प्रजया ते समृध्यतामस्मिन्गृहे गार्हपत्याय जागृहि। एना पत्या तन्वं१ सं सृजस्वाधा जिव्री विदथमा वदाथः॥ ऋ० मं० १०। सू० ८५। मं० २७॥

इस मन्त्र को बोल के वधू को सभामण्डप में ले जावे। तत्पश्चात् वधू वर पूर्व स्थापित यज्ञकुण्ड के समीप जावें, उस समय वरः—

ओं इह गावः प्रजायध्वमिहाश्वा इह पूरुषाः। इहो सहस्रदक्षिणोपि पूषा निषीदतु॥ अथर्व० कां० २०। सू० १२७॥

इस मन्त्र को बोल के यज्ञकुण्ड के पश्चिम भाग में पीठासन अथवा तृणासन पर वधू को अपने दक्षिण भाग में पूर्वाभिमुख बैठावे। तत्पश्चात् पृ० १९ में लि०—

ओं अमृतोपस्तरणमसि

इत्यादि तीन मन्त्रों से एक २ से एक २ करके तीन २ आचमन करें। तत्पश्चात् पृ० २० में लिखे प्रमाणे कुण्ड में यथाविधि समिधाचयन अग्न्याधान करें। जब उसी कुण्ड में अग्नि प्रज्वलित हो तब उस पर घृत सिद्ध करके पृ० २१ में लिखे प्रमाणे समिदाधान करके प्रदीप्त हुए अग्नि में पृष्ठ २२–२५ में लिखे प्रमाणे अघारावाज्यभागाहुति ४ (चार) और व्याहृति आहुति ४ (चार) अष्टाज्याहुति ८ (आठ) सब मिल के १६ (सोलह) आज्याहुति वधू वर करके प्रधानहोम का प्रारम्भ निम्नलिखित मन्त्रों से करें॥

ओं इह धृतिः स्वाहा॥ इदमिह धृत्यै–इदन्न मम। ओं इह स्वधृतिः स्वाहा॥ इदमिह स्वधृत्यै–इदन्न मम। ओं इह रन्तिः स्वाहा॥ इदमिह रन्त्यै–इदन्न मम। ओं इह रमस्व स्वाहा॥ इदमिह रमाय–इदन्न मम। ओं मयि धृतिः स्वाहा॥ इदं मयि धृत्यै–इदन्न मम। ओं मयि स्वधृतिः स्वाहा॥ इदं मयि स्वधृत्यै–इदन्न मम। ओं मयि रमः स्वाहा॥ इदं मयि रमाय–इदन्न मम। ओं मयि रमस्व स्वाहा॥ इदं मयि रमाय–इदन्न मम। मं० ब्रा० १।६।१।४॥

इन प्रत्येक मन्त्रों से एक २ करके ८ (आठ) आज्याहुति देके:—

ओं आ नः प्रजां जनयतु प्रजापतिराजरसाय समनक्त्वर्यमा। अदुर्मङ्गलीः पतिलोकमाविश शन्नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे * स्वाहा॥ इदं

* हे वधू (अर्यमा) न्यायकारी दयालु (प्रजापतिः) परमात्मा कृपा करके (आजरसाय) जरावस्था पर्यन्त जीने के लिये (नः) हमारी (प्रजाम्) उत्तम प्रजा को शुभगुण कर्म और स्वभाव से (आजनयतु) प्रसिद्ध करे (समनक्तु) उससे उत्तम सुख को प्राप्त करे और वे शुभगुणयुक्त (मङ्गलीः) स्त्री लोग सब

सूर्यायै सावित्र्यै–इदन्न मम ॥ १ ॥ ओं अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्चाः। वीरसूर्देवृकामा स्योना शन्नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे स्वाहा * ॥ इदं सूर्यायै सावित्र्यै–इदन्न मम ॥ २ ॥ ओं इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु। दशास्यां पुत्राना धेहि पतिमेकादशं कृधि † स्वाहा ॥ इदं सूर्यायै सावित्र्यै–इदन्न मम ॥ ३ ॥ ओं साम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव। ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि देवृषु ‡ स्वाहा ॥ इदं सूर्यायै सावित्र्यै–इदन्न मम ॥ ४ ॥ ऋ० मं० १० । अ० ७ । सू० ८५ । मं० ४३–४६ ॥

कुटुम्बियों को आनन्द (अदुः) देवें उनमें से एक तू हे वरानने (पतिलोकम्) पति के घर वा सुख को (आविश) प्रवेश वा प्राप्त हो (नः) हमारे (द्विपदे) पिता आदि मनुष्यों के लिये (शम्) सुखकारिणी और (चतुष्पदे) गौ आदि को (शम्) सुखकर्त्री (भव) हो ॥

* इस मन्त्र का अर्थ पृष्ठ १२६ में लिखे प्रमाणे जानना ॥

† ईश्वर पुरुष और स्त्री को आज्ञा देता है कि हे (मीढ्वः) वार्य सेचन करनेहारे (इन्द्र) परमैश्वर्ययुक्त इस वधू के स्वामिन् ! (त्वम्) तू (इमाम्) इस वधू को (सुपुत्राम्) उत्तम पुत्रयुक्त (सुभगाम्) सुन्दर सौभाग्य भोगवाली (कृणु) कर (अस्याम्) इस वधू में (दश) दश (पुत्रान्) पुत्रों को (आ, धेहि) उत्पन्न कर अधिक नहीं और हे स्त्री ! तू भी अधिक कामना मत कर किन्तु दश पुत्र और (एकादशम्) ग्यारहवें (पतिम्) पति को प्राप्त होकर सन्तोष (कृधि) कर यदि इससे आगे सन्तानोत्पत्ति का लोभ करोगे तो तुम्हारे दुष्ट अल्पायु निर्बुद्धि सन्तान होंगे और तुम भी अल्पायु रोगग्रस्त हो जाओगे इसलिये अधिक सन्तानोत्पत्ति न करना तथा (पतिमेकादशं, कृधि) इस पद का अर्थ नियोग में दूसरा होगा अर्थात् जैसे पुरुष को विवाहित स्त्री में दश पुत्र उत्पन्न करने की आज्ञा परमात्मा ने की है वैसी ही आज्ञा स्त्री को भी है कि दश पुत्र तक चाहे विवाहित पति से अथवा विधवा हुए पश्चात् नियोग से करे करावे वैसे ही एक स्त्री के लिये एक पति से एक वार विवाह और पुरुष के लिये भी एक स्त्री से एक ही वार विवाह करने की आज्ञा है जैसे विधवा हुए पश्चात् स्त्री नियोग से सन्तानोत्पत्ति करके पुत्रवती होवे वैसे पुरुष भी विगतस्त्री होवे तो नियोग से पुत्रवान् होवे ॥

‡ हे वरानने ! तू (श्वशुरे) मेरा पिता जो कि तेरा श्वशुर है उसमें प्रीति

इन ४ (चार) मन्त्रों से एक २ से एक २ करके ४ (चार) आज्याहुति दे के पृष्ठ २३ में लिखे प्रमाणे स्विष्टकृत होमाहुति १ (एक) व्याहृति आज्याहुति ४ (चार) और प्राजापत्याहुति १ (एक) ये सब मिलके ६ (छः) आज्याहुति देकर—

समञ्जन्तु विश्वे देवाः समापो हृदयानि नौ। सं मातरिश्वा सं धाता समुदेष्ट्री दधातु नौ * ॥ ऋ० मं० १०। सू० ८५। मं० ४७॥

इस मन्त्र को बोल के दोनों दधिप्राशन करें। तत्पश्चात्—

अहं भो अभिवादयामि † ॥

इस वाक्य को बोल के दोनों वधू वर, वर की माता पिता आदि वृद्धों को प्रीतिपूर्वक नमस्कार करें। पश्चात् सुभूषित होकर शुभासन पर बैठ के पृष्ठ २६ में लिखे प्रमाणे वामदेव्यगान करके उसी समय पृष्ठ ४-८ में लिखे प्रमाणे ईश्वरोपासना करनी। उस समय कार्यार्थ आए हुए सब स्त्री पुरुष ध्यानावस्थित होकर परमेश्वर का ध्यान करें तथा वधू वर, पिता, आचार्य और पुरोहित आदि को कहें कि—

करके (सम्राज्ञी) सम्यक् प्रकाशमान चक्रवर्ती राजा की राणी के समान पक्षपात छोड़ के प्रवृत्त (भव) हो (श्वश्र्वाम्) मेरी माता जो कि तेरी सासु है उसमें प्रेमयुक्त हो के उसी की आज्ञा में (सम्राज्ञी) सम्यक् प्रकाशमान (भव) रहा कर (ननान्दरि) जो मेरी बहिन और तेरी ननन्द है उसमें भी (सम्राज्ञी) प्रीतियुक्त और (देवृषु) मेरे भाई जो तेरे देवर और ज्येष्ठ अथवा कनिष्ठ हैं उनमें भी (सम्राज्ञी) प्रीति से प्रकाशमान (अधि, भव) अधिकारयुक्त हो अर्थात् सब से अविरोधपूर्वक प्रीति से वर्त्ता कर ॥

* इस मन्त्र का अर्थ पृ० १२८ में लिखित समझ लेना ॥

† इससे उत्तम (नमस्ते) यह वेदोक्त वाक्य अभिवादन के लिये नित्यप्रति स्त्री पुरुष, पिता पुत्र अथवा गुरु शिष्य आदि के लिये है। प्रातः सायं अपूर्व समागम में जब २ मिलें तब २ इसी वाक्य से परस्पर वन्दन करें ॥

ओं स्वस्ति भवन्तो ब्रुवन्तु ॥ आश्वला० गृ० अ० १ । कं० ८ । सू० १५ ॥

आप लोग स्वस्तिवाचन करें। तत्पश्चात् पिता आचार्य पुरोहित जो विद्वान् हों अथवा उनके अभाव में यदि वधू वर विद्वान् वेदवित् हों तो वे ही दोनों पृष्ठ ८–१० में लिखे प्रमाणे स्वस्तिवाचन का पाठ बड़े प्रेम से करें। पाठ हुए पश्चात् कार्यार्थ आए हुए स्त्री पुरुष सब—

ओं स्वस्ति ओं स्वस्ति ओं स्वस्ति ॥

इस वाक्य को बोलें। तत्पश्चात् कार्यकर्त्ता, पिता, चाचा, भाई आदि पुरुषों को तथा माता, चाची, भगिनी आदि स्त्रियों को यथावत् सत्कार करके विदा करें। तत्पश्चात् यदि किसी विशेष कारण से श्वशुरगृह में गर्भाधान संस्कार न हो सके तो वधू वर क्षार आहार और विषय तृष्णा रहित व्रतस्थ होकर पृ० २७–३९ में लिखे प्रमाणे विवाह के चौथे दिवस में गर्भाधान संस्कार करें अथवा उस दिन ऋतुकाल न हो तो किसी दूसरे दिन गर्भस्थापन करें और जो वर दूसरे देश से विवाह के लिये आया हो तो वह जहां जिस स्थान में विवाह करने के लिये जाकर उतरा हो उस स्थान में गर्भाधान करे। पुनः अपने घर आ के पति सासु श्वशुर ननन्द देवर देवरानी ज्येष्ठ जेठानी आदि कुटुम्ब के मनुष्य वधू की पूजा अर्थात् सत्कार करें, सदा प्रीतिपूर्वक परस्पर वर्त्तें, और मधुरवाणी वस्त्र आभूषण आदि से सदा प्रसन्न और सन्तुष्ट वधू को रक्खें, तथा वधू सब को प्रसन्न रक्खे और वर उस वधू के साथ पत्नीव्रतादि सद्धर्म से वर्ते, तथा पत्नी भी पति के साथ पतिव्रतादि सद्धर्म चाल चलन से सदा पति की आज्ञा में तत्पर और उत्सुक रहे, तथा वर भी स्त्री की सेवा, प्रसन्नता में तत्पर रहे ॥

इति विवाहसंस्कारविधिः समाप्तः

अथ

गृहाश्रमसंस्कारविधिं वक्ष्यामः

गृहाश्रम संस्कार उसको कहते हैं कि जो ऐहिक और पारलौकिक सुखप्राप्ति के लिये विवाह करके अपने सामर्थ्य के अनुसार परोपकार करना और नियत काल में यथाविधि ईश्वरोपासना और गृहकृत्य करना और सत्य धर्म में ही अपना तन मन धन लगाना तथा धर्मानुसार सन्तानों की उत्पत्ति करनी ॥

अत्र प्रमाणानि–सोमो वधूयुरभवदश्विनास्तामुभा वरा । सूर्यां यत्पत्ये शंसन्तीं मनसा सविता ददात् ॥ १ ॥ इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम् । क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे ॥ २ ॥ ऋ० मं० १० । सू० ८५ । मं० ९, ४२ ॥

अर्थः–(सोमः) सुकुमार शुभगुणयुक्त (वधूयुः) वधू की कामना करनेहारा पति तथा वधू पति की कामना करनेहारी (अश्विना) दोनों ब्रह्मचर्य से विद्या को प्राप्त (अभवत्) होवें और (उभा) दोनों (वरा) श्रेष्ठ तुल्य गुण कर्म स्वभाववाले (आस्ताम्) होवें ऐसी (यत्) जो (सूर्याम्) सूर्य की किरणवत् सौन्दर्य गुणयुक्त (पत्ये) पति के लिये (मनसा) मन से (शंसन्तीम्) गुण कीर्त्तन करनेवाली वधू है उस को पुरुष और इसी प्रकार के पुरुष को स्त्री (सविता) सकल जगत् का उत्पादक परमात्मा (ददात्) देता है अर्थात् बड़े भाग्य से दोनों स्त्री पुरुषों का, जो कि तुल्य गुण कर्म स्वभाव हों, जोड़ा मिलता है ॥ १ ॥ हे स्त्रि और पुरुष ! मैं परमेश्वर आज्ञा देता हूं कि जो तुम्हारे लिये पूर्व विवाह में प्रतिज्ञा हो चुकी है जिसको तुम दोनों ने स्वीकार किया है (इहैव) इसी में (स्तम्) तत्पर रहो (मा, वियौष्टम्) इस प्रतिज्ञा से वियुक्त मत होओ (विश्वमायुर्व्यश्नुतम्) ऋतुगामी होके वीर्य का अधिक नाश न करके

सम्पूर्ण आयु जो १०० (सौ) वर्षों से कम नहीं है उसको प्राप्त होओ पूर्वोक्त धर्म रीति से (पुत्रैः) पुत्रों और (नप्तृभिः) नातियों के साथ (क्रीडन्तौ) क्रीड़ा करते हुए (स्वस्तकौ) उत्तम गृह वाले (मोदमानौ) आनन्दित होकर गृहाश्रम में प्रीतिपूर्वक वास करो ॥ २ ॥

सुमङ्गली प्रतरणी गृहाणां सुशेवा पत्ये श्वशुराय शम्भूः । स्योना श्वश्वै प्र गृहान् विशेमान् ॥ ३ ॥ स्योना भव श्वशुरेभ्यः स्योना पत्ये गृहेभ्यः । स्योनास्यै सर्वस्यै विशे स्योना पुष्टायैषां भव ॥ ४ ॥ या दुर्हार्दो युवतयो याश्चेह जरतीरपि । वर्चो न्व१स्यै सं दत्ताथास्तं विपरेतन ॥ ५ ॥ आरोह तल्पं सुमनस्यमानेह प्रजां जनय पत्ये अस्मै । इन्द्राणीव सुबुधा बुध्यमाना ज्योतिरग्रा उषसः प्रति जागरासि ॥ ६ ॥ अथर्व० कां० १४ । सू० २ । मं० २६ । २७ । २६ । ३१ ॥

अर्थः—हे वरानने ! तू (सुमङ्गली) अच्छे मङ्गलाचरण करने तथा (प्रतरणी) दोष और शोकादि से पृथक् रहनेहारी (गृहाणाम्) गृहकार्यों में चतुर और तत्पर रहकर (सुशेवा) उत्तम सुखयुक्त होके (पत्ये) पति (श्वशुराय) श्वशुर और (श्वश्रै) सासु के लिये (शम्भूः) सुखकर्त्री और (स्योना) स्वयं प्रसन्न हुई (इमान्) इन (गृहान्) घरों में सुखपूर्वक (प्रविश) प्रवेश कर ॥ ३ ॥ हे वधू ! तू (श्वशुरेभ्यः) श्वशुरादि के लिये (स्योना) सुखदाता (पत्ये) पति के लिये (स्योना) सुखदाता और (गृहेभ्यः) गृहस्थ सम्बन्धियों के लिये (स्योना) सुखदायक (भव) हो और (अस्यै) इस (सर्वस्यै) सब (विशे) प्रजा के अर्थ (स्योना) सुखप्रद और (एषाम्) इनके (पुष्टाय) पोषण के अर्थ तत्पर (भव) हो ॥ ४ ॥ (याः) जो (दुर्हार्दः) दुष्ट हृदयवाली अर्थात् दुष्टात्मा (युवतयः) ज्वान स्त्रियां (च) और (याः) जो (इह) इस स्थान में (जरतीः) बुड्ढी वृद्ध दुष्ट स्त्रियां हों वे (अपि) भी (अस्यै) इस वधू को (नु) शीघ्र (वर्चः) तेज (सं, दत्त) देवें (अथ) इसके पश्चात् (अस्तम्) अपने २ घर को (विपरेतन) चली जावें और फिर इसके पास कभी न आवें ॥ ५ ॥ हे वरानने ! तू (सुमनस्यमाना) प्रसन्नचित्त

होकर (तल्पम्) पर्यङ्क पर (आरोह) चढ़ के शयन कर और (इह) इस गृहाश्रम में स्थिर रहकर (अस्मै) इस (पत्ये) पति के लिये (प्रजां, जनय) प्रजा को उत्पन्न कर (सुबुधा) सुन्दर ज्ञानी (बुध्यमाना) उत्तम शिक्षा को प्राप्त (इन्द्राणीव) सूर्य की क्रांति के समान तू (उषसः) उषःकाल के (अग्रा) पहिली (ज्योतिः) ज्योति के तुल्य (प्रतिजागरासि) प्रत्यक्ष सब कामों में जागती रह ॥ ६ ॥

देवा अग्रे न्यपद्यन्त पत्नीः समस्पृशन्त तन्वस्तनूभिः । सूर्येव नारि विश्वरूपा महित्वा प्रजावती पत्या सं भवेह ॥ ७ ॥ सं पितरावृत्विये सृजेथां माता पिता च रेतसो भवाथः । मर्य इव योषामधिरोहयैनां प्रजां कृण्वाथामिह पुष्यतं रयिम् ॥ ८ ॥ तां पूषं छिवतमामेरयस्व यस्यां बीजं मनुष्या वपन्ति । या न ऊरू उशती विश्रयाति यस्यामुशन्तः प्रहरेम शेपः ॥ ९ ॥ अथर्व० कां० १४ । सू० २ । मं० ३२ । ३७ । ३८ ॥

अर्थः—हे सौभाग्यप्रदे ! (नारि) तू जैसे (इह) इस गृहाश्रम में (अग्रे) प्रथम (देवाः) विद्वान् लोग (पत्नीः) उत्तम स्त्रियों को (न्यपद्यन्त) प्राप्त होते हैं और (तनूभिः) शरीरों से (तन्वः) शरीरों को (समस्पृशन्त) स्पर्श करते हैं वैसे (विश्वरूपा) विविध सुन्दररूप को धारण करनेहारी (महित्वा) सत्कार को प्राप्त हो के (सूर्येव) सूर्य की कांति के समान (पत्या) अपने स्वामी के साथ मिलके (प्रजावती) प्रजा को प्राप्त होनेहारी (संभव) अच्छे प्रकार हो ॥ ७ ॥ हे स्त्री पुरुषो ! तुम (पितरौ) बालकों के जनक (ऋत्विये) ऋतु समय में सन्तानों को (संसृजेथाम्) अच्छे प्रकार उत्पन्न करो (माता) जननी (च) और (पिता) जनक दोनों (रेतसः) वीर्य को मिलाकर गर्भाधान करनेहारे (भवाथः) हूजिये । हे पुरुष (एनाम्) इस (योषाम्) अपनी स्त्री को (मर्य, इव) प्राप्त होनेवाले पति के समान (अधि, रोहय) सन्तानों से बढ़ा और दोनों (इह) इस गृहाश्रम में मिल के (प्रजाम्) प्रजा को (कृण्वाथाम्) उत्पन्न करो (पुष्यतम्) पालन पोषण करो और पुरुषार्थ से (रयिम्) धन को प्राप्त होओ ॥ ८ ॥ हे (पूषन्) वृद्धिकारक पुरुष ! (यस्याम्) जिसमें

(मनुष्याः) मनुष्य लोग (बीजम्) वीर्य को (वपन्ति) बोते हैं (या) जो (नः) हमारी (उशती) कामना करती हुई (ऊरू) ऊरू को सुन्दरता से (विश्रयाति) विशेषकर आश्रय करती है (यस्याम्) जिसमें (उशन्तः) सन्तानों की कामना करते हुए हम (शेपः) उपस्थेन्द्रिय का (प्रहरेम) प्रहरण करते हैं (ताम्) उस (शिवतमाम्) अतिशय कल्याण करनेहारी स्त्री को सन्तानोत्पत्ति के लिये (एरयस्व) प्रेम से प्रेरणा कर ॥ ६ ॥

स्योनाद्योनेरधि बुध्यमानौ हसामुदौ महसा मोदमानौ । सुगू सुपुत्रौ सुगृहौ तराथो जीवावुषसो विभातीः ॥ १० ॥ इहेमाविन्द्र सं नुद चक्रवाकेव दम्पती । प्रजयैनौ स्वस्तकौ विश्वमायुर्व्यश्नुताम् ॥ ११ ॥ जनियन्ति नावग्रवः पुत्रियन्ति सुदानवः । अरिष्टासू सचेवहि बृहते वाजसातये ॥ १२ ॥ अ० कां० १४ । सू० २ । मं० ४३ । ६४ । ७२ ॥

अर्थः—हे स्त्री और पुरुष ! जैसे सूर्य (विभातीः) सुन्दर प्रकाशयुक्त (उषसः) प्रभात वेला को प्राप्त होता है वैसे (स्योनात्) सुख से (योनेः) घर के मध्य में (अधि, बुध्यमानौ) सन्तानोत्पत्ति आदि की क्रिया को अच्छे प्रकार जाननेहारे सदा (हसामुदौ) हास्य और आनन्दयुक्त (महसा) बड़े प्रेम से (मोदमानौ) अत्यन्त प्रसन्न हुए (सुगू) उत्तम चाल चलन से धर्मयुक्त व्यवहार में अच्छे प्रकार चलनेहारे (सुपुत्रौ) उत्तम पुत्रवाले (सुगृहौ) श्रेष्ठ गृहादि सामग्री युक्त (जीवौ) उत्तम प्रकार जीवों को धारण करते हुए (तराथः) गृहाश्रम के व्यवहारों के पार होओ ॥ १० ॥ हे (इन्द्र) परमैश्वर्ययुक्त विद्वन् राजन् ! आप (इह) इस संसार में (इमौ) इन स्त्री पुरुषों को समय पर विवाह करने की आज्ञा और ऐसी व्यवस्था दीजिये कि जिससे कोई स्त्री पुरुष पृ० ८६–६३ में लि० प्रमाण से पूर्व वा अन्यथा विवाह न कर सकें, वैसे (संनुद) सब को प्रसिद्धि से प्रेरणा कीजिये जिससे ब्रह्मचर्यपूर्वक शिक्षा को पाके (दम्पती) जाया और पति (चक्रवाकेव) चकवा चकवी के समान एक दूसरे से प्रेमबद्ध रहें और गर्भाधानसंस्कारोक्तविधि से (प्रजया) उन्नत हुई प्रजा से (एनौ) ये दोनों (स्वस्तकौ) सुखयुक्त हो के (विश्वम्)

सम्पूर्ण १०० वर्ष पर्यन्त (आयुः) आयु को (व्यश्नुताम्) प्राप्त होवें ॥११॥ हे मनुष्यो ! जैसे (सुदानवः) विद्यादि उत्तम गुणों के दान करनेहारे (अग्रवः) उत्तम स्त्री पुरुष (जनियन्ति) पुत्रोत्पत्ति करते और (पुत्रियन्ति) पुत्र की कामना करते हैं वैसे (नौ) हमारे भी सन्तान उत्तम होवें तथा (अरिष्टासू) बल प्राण का नाश न करनेहारे होकर (बृहते) बड़े (वाजसातये) परोपकार के अर्थ विज्ञान और अन्न आदि के दान के लिये (सचेवहि) कटिबद्ध सदा रहें जिससे हमारे सन्तान भी उत्तम होवें ॥ १२ ॥

प्र बुध्यस्व सुबुधा बुध्यमाना दीर्घायुत्वाय शतशारदाय । गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासो दीर्घं त आयुः सविता कृणोतु ॥ १३ ॥ अथर्व० कां० १४ । सू० २ । मं० ७५ ॥ सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः । अन्यो अन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥ १४ ॥ अथर्व० कां० ३ । सू० ३० । मं० १ ॥

अर्थः—हे पत्नी ! तू (शतशारदाय) शतवर्ष पर्यन्त (दीर्घायुत्वाय) दीर्घकाल जीने के लिये (सुबुधा) उत्तम बुद्धियुक्त (बुध्यमाना) सज्ञान होकर (गृहान्) मेरे घरों को (गच्छ) प्राप्त हो और (गृहपत्नी) मुझ घर के स्वामी की स्त्री (यथा) जैसे (ते) तेरा (दीर्घम्) दीर्घकालपर्यन्त (आयुः) जीवन (असः) होवे वैसे (प्रबुध्यस्व) प्रकृष्टज्ञान और उत्तम व्यवहार को यथावत् जान इस अपनी आशा को (सविता) सब जगत् की उत्पत्ति और सम्पूर्ण ऐश्वर्य को देनेहारा परमात्मा (कृणोतु) अपनी कृपा से सदा सिद्ध करे जिससे तू और मैं सदा उन्नतिशील होकर आनन्द में रहें ॥ १३ ॥ हे गृहस्थो ! मैं ईश्वर तुमको जैसी आज्ञा देता हूं वैसा ही [वर्त्तमान] करो जिससे तुमको अक्षय सुख हो अर्थात् (वः) तुम्हारा (सुहृदयम्) जैसी अपने लिये सुख की इच्छा करते और दुःख नहीं चाहते हो वैसे माता पिता सन्तान स्त्री पुरुष भृत्य मित्र पड़ोसी और अन्य सब से समान हृदय रहो (सांमनस्यम्) मन से सम्यक् प्रसन्नता और (अविद्वेषम्) वैर विरोधादि रहित व्यवहार को तुम्हारे लिये (कृणोमि) स्थिर करता हूं तुम (अघ्न्या) हनन न करने योग्य गाय (वत्सं,

जातमिव) उत्पन्न हुए बछड़े पर वात्सल्यभाव से जैसे वर्तती है वैसे (अन्योऽन्यम्) एक दूसरे से (अभि, हर्यत) प्रेमपूर्वक कामना से वर्त्ता करो ॥ १४ ॥

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः । जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवान् ॥ १५ ॥ मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा । सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥ १६ ॥ अथर्व० कां० ३ । सू० ३० । मं० २ । ३ ॥

अर्थः—हे गृहस्थो ! जैसे तुम्हारा (पुत्रः) पुत्र (मात्रा) माता के साथ (संमनाः) प्रीतियुक्त मन वाला (अनुव्रतः) अनुकूल आचरणयुक्त (पितुः) और पिता के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार का प्रेम वाला (भवतु) होवे वैसे तुम भी पुत्रों के साथ सदा वर्ता करो जैसे (जाया) स्त्री (पत्ये) पति की प्रसन्नता के लिये (मधुमतीम्) माधुर्यगुणयुक्त (वाचम्) वाणी को (वदतु) कहे वैसे पति भी (शन्तिवान्) शान्त होकर अपनी पत्नी से सदा मधुर भाषण किया करे ॥ १५ ॥ हे गृहस्थो ! तुम्हारे में (भ्राता) भाई (भ्रातरम्) भाई के साथ (मा, द्विक्षन्) द्वेष कभी न करे (उत) और (स्वसा) बहिन (स्वसारम्) बहिन से द्वेष कभी (मा) न करे तथा बहिन भाई भी परस्पर द्वेष मत करो किन्तु (सम्यञ्चः) सम्यक् प्रेमादि गुणों से युक्त (सव्रताः) समान गुण कर्म स्वभाववाले (भूत्वा) होकर (भद्रया) मङ्गलकारक रीति से एक दूसरे के साथ (वाचम्) सुखदायक वाणी को (वदत) बोला करो ॥ १६ ॥

येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः । तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः ॥ १७ ॥ अथर्व० कां० ३ । सू० ३० । मं० ४ ॥

अर्थः—हे गृहस्थो ! मैं ईश्वर (येन) जिस प्रकार के व्यवहार से (देवाः) विद्वान् लोग (मिथः) परस्पर (न, वियन्ति) पृथक् भाव वाले नहीं होते (च) और (नो, विद्विषते) परस्पर में द्वेष कभी नहीं करते (तत्) वही कर्म (वः) तुम्हारे (गृहे) घर में (कृण्मः) निश्चित करता हूं (पुरुषेभ्यः) पुरुषों को (संज्ञानम्) अच्छे प्रकार चिताता हूं कि तुम लोग परस्पर प्रीति से वर्त कर बड़े (ब्रह्म) धनैश्वर्य को प्राप्त होओ ॥ १७ ॥

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वियौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः । अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोमि ॥ १८ ॥ अथर्व० कां० ३ । सू० ३० । मं० ५ ॥

अर्थः—हे गृहस्थादि मनुष्यो ! तुम (ज्यायस्वन्तः) उत्तम विद्यादिगुणयुक्त (चित्तिनः) विद्वान् सज्ञान (सधुराः) धुरन्धर होकर (चरन्तः) विचरते और (संराधयन्तः) परस्पर मिल के धन धान्य राज्य समृद्धि को प्राप्त होते हुए (मा, वियौष्ट) विरोधी वा पृथक् २ भाव मत करो (अन्यः) एक (अन्यस्मै) दूसरे के लिये (वल्गु) सत्य मधुरभाषण (वदन्तः) कहते हुए एक दूसरे को (एत) प्राप्त होओ इसीलिये (सध्रीचीनान्) समान लाभाऽलाभ से एक दूसरे के सहायक (संमनसः) ऐकमत्य वाले (वः) तुम को (कृणोमि) करता हूं अर्थात् मैं ईश्वर तुम को जो आज्ञा देता हूं इसको आलस्य छोड़ कर किया करो ॥ १८ ॥

समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि । सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः ॥ १९ ॥ सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोम्येकश्नुष्टीन्त्संवननेन सर्वान् । देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायंप्रातः सौमनसो वो अस्तु ॥ २० ॥ अथर्व० कां० ३ । सू० ३० । मं० ६, ७ ॥

अर्थः—हे गृहस्थादि मनुष्यो ! मुझ ईश्वर की आज्ञा से तुम्हारा (प्रपा) जलपान स्नानादि का स्थान आदि व्यवहार (समानी) एकसा हो (वः) तुम्हारा (अन्नभागः) खान पान (सह) साथ हुआ करो (वः) तुम्हारे (समाने) एक से (योक्त्रे) अश्वादि यान के जोते (सह) संगी हों और तुमको मैं धर्म्मादि व्यवहार में भी एकीभूत करके (युनज्मि) नियुक्त करता हूं जैसे (आराः) चक्र के आरे (अभितः) चारों ओर से (नाभिमिव) बीच के नालरूप काष्ठ में लगे रहते हैं अथवा जैसे ऋत्विज् लोग और यजमान यज्ञ में मिल के (अग्निम्) अग्नि आदि के सेवन से जगत् का उपकार करते हैं वैसे (सम्यञ्चः) सम्यक् प्राप्तिवाले तुम मिल के धर्मयुक्त कर्मों को (सपर्यत)

(तथा) एक दूसरे का हित सिद्ध किया करो ॥ १९ ॥ हे गृहस्थादि मनुष्यो ! मैं ईश्वर (वः) तुमको (सध्रीचीनान्) सह वर्त्तमान (संमनसः) परस्पर के लिये हितैषी (एकश्नुष्टीन्) एक ही धर्मकृत्य में शीघ्र प्रवृत्त होने वाले(सर्वान्) सब को (संवननेन) धर्मकृत्य के सेवन के साथ एक दूसरे के उपकार में नियुक्त (कृणोमि) करता हूं तुम (देवा, इव) विद्वानों के समान (अमृतम्) व्यावहारिक वा पारमार्थिक सुख की (रक्षमाणाः) रक्षा करते हुए (सायंप्रातः) सन्ध्या और प्रातःकाल अर्थात् सब समय में एक दूसरे से प्रेमपूर्वक मिला करो ऐसे करते हुए (वः) तुम्हारा (सौमनसः) मन का आनन्दयुक्त शुद्धस्वभाव (अस्तु) सदा बना रहे ॥ २० ॥

श्रमे॑ण तप॑सा सृ॒ष्टा ब्रह्म॑णा वि॒त्तऋ॒ते श्रि॒ताः ॥ २१ ॥ स॒त्येनावृ॑ता श्रि॒या प्रावृ॑ता यश॑सा परी॑वृताः ॥ २२ ॥ स्व॒धया॒ परि॑हिता श्र॒द्धया॒ः पर्यू॑ढा दी॒क्षया॑ गु॒प्ता य॒ज्ञे प्रति॑ष्ठिता लो॒को नि॒धन॑म् ॥ २३ ॥ अथर्व० कां० १२ । अनु० ५ । सू० ५ । मं० १-३ ॥

अर्थः—हे स्त्री पुरुषो ! मैं ईश्वर तुम को आज्ञा देता हूं कि तुम सब गृहस्थ मनुष्य लोग (श्रमेण) परिश्रम तथा (तपसा) प्राणायाम से (सृष्टाः) संयुक्त (ब्रह्मणा) वेदविद्या परमात्मा और धनादि से (वित्ते) भोगने योग्य धनादि के प्रयत्न में और (ऋते) यथार्थ पक्षपात रहित न्यायरूप धर्म में (श्रिताः) चलनेहारे सदा बने रहो ॥ २१ ॥ (सत्येन) सत्यभाषणादि कर्मों से (आवृताः) चारों ओर से युक्त (श्रिया) शोभायुक्त लक्ष्मी से (प्रावृताः) युक्त (यशसा) कीर्ति और धन से (परीवृताः) सब ओर से संयुक्त रहा करो ॥ २२ ॥ (स्वधया) अपने ही अन्नादि पदार्थ के धारण से (परिहिताः) सब के हितकारी (श्रद्धया) सत्य धारण में श्रद्धा से (पर्यूढाः) सब ओर से सब को सत्याचरण प्राप्त करानेहारे (दीक्षया) नाना प्रकार के ब्रह्मचर्य, सत्यभाषणादि व्रत धारण से (गुप्ताः) सुरक्षित (यज्ञे) विद्वानों के सत्कार, शिल्पविद्या और शुभ गुणों के दान में (प्रतिष्ठिताः) प्रतिष्ठा को प्राप्त हुआ करो और इन्हीं कर्मों से (निधनम् , लोकः) इस मनुष्यलोक को प्राप्त होके मृत्यु पर्यन्त सदा आनन्द में रहो ॥ २३ ॥

ओजश्च तेजश्च सहश्च बलञ्च वाक् चेन्द्रियं च श्रीश्च धर्मश्च ॥ २४ ॥ अथर्व० कां० १२ । अनु० ५ । सू० ५ । मं० ७ ॥

अर्थः—हे मनुष्यो ! तुम जो (ओजः) पराक्रम (च) और इसकी सामग्री (तेजः) तेजस्वीपन (च) और इसकी सामग्री (सहः) स्तुति निन्दा हानि लाभ तथा शोकादि का सहन (च) और इसके साधन (बलञ्च) बल और इसके साधन (वाक्, च) सत्य प्रिय वाणी और इस के अनुकूल व्यवहार (इन्द्रियञ्च) शान्त धर्मयुक्त अन्तःकरण और शुद्धात्मा तथा जितेन्द्रियता (श्रीश्च) लक्ष्मी सम्पत्ति और इसकी प्राप्ति का धर्मयुक्त उद्योग (धर्मश्च) पक्षपातरहित न्यायाचरण वेदोक्त धर्म और जो इस के साधन वा लक्षण हैं उनको तुम प्राप्त हो के इन्हीं में सदा वर्त्ता करो ॥ २४ ॥

ब्रह्म च क्षत्रं च राष्ट्रं च विशश्च त्विषिश्च यशश्च वर्चश्च द्रविणं च ॥ २५ ॥ आयुश्च रूपं च नाम च कीर्तिश्च प्राणश्चापानश्च चक्षुश्च श्रोत्रञ्च ॥ २६ ॥ पयश्च रसश्चान्नं चान्नाद्यं च ऋतं च सत्यं चेष्टं च पूर्तं च प्रजा च पशवश्च ॥ २७ ॥ अथर्व० कां० १२ । अनु० ५ । सू० ५ । मं० ८ । ९ । १० ॥

अर्थः—हे गृहस्थादि मनुष्यो ! तुमको योग्य है कि (ब्रह्म, च) पूर्ण विद्यादि शुभ गुण युक्त मनुष्य और सब के उपकारक शमदमादि गुणयुक्त ब्रह्मकुल (क्षत्रञ्च) विद्यादि उत्तम गुण युक्त तथा विनय और शौर्यादि गुणों से युक्त क्षत्रियकुल (राष्ट्रञ्च) राज्य और उसका न्याय से पालन (विशश्च) उत्तम प्रजा और उसकी उन्नति (त्विषिश्च) सद्विद्यादि से तेज आरोग्य शरीर और आत्मा के बल से प्रकाशमान और इसकी उन्नति से (यशश्च) कीर्तियुक्त तथा इसके साधनों को प्राप्त हुआ करो (वर्चश्च) पढ़ी हुई विद्या का विचार और उसका नित्य पढ़ना (द्रविणञ्च) द्रव्योपार्जन उसकी रक्षा और धर्मयुक्त परोपकार में व्यय करने आदि कर्मों को सदा किया करो ॥ २५ ॥ हे स्त्री पुरुषो ! तुम अपना (आयुः) जीवन बढ़ाओ (च) और सब जीवन में

धर्मयुक्त उत्तम कर्म ही किया करो (रूपञ्च) विषयासक्ति कुपथ्य रोग और अधर्माचरण को छोड़ के अपने स्वरूप को अच्छा रक्खो और वस्त्राभूषण भी धारण किया करो (नाम, च) नामकरण के पृष्ठ ५७–५८ में लिखे प्रमाणे शास्त्रोक्त संज्ञा धारण और उसके नियमों को भी (तथा) (कीर्तिश्च) सत्याचरण से प्रशंसा का धारण (करो) और गुणों में दोषारोपणरूप निन्दा को छोड़ दो (प्राणश्च) चिरकालपर्यन्त जीवन का धारण और उसके युक्ताहार विहारादि साधन (अपानश्च) सब दुःख दूर करने का उपाय और उसकी सामग्री (चक्षुश्च) प्रत्यक्ष और अनुमान, उपमान (श्रोत्रञ्च) शब्दप्रमाण और उसकी सामग्री को धारण किया करो ॥ २६ ॥ हे गृहस्थ लोगो ! (पयश्च) उत्तम जल दूध और इसका शोधन और युक्ति से सेवन (रसश्च) घृत दूध मधु आदि और इसका युक्ति से आहार विहार (अन्नञ्च) उत्तम चावल आदि अन्न और उसके उत्तम संस्कार किये (अन्नाद्यञ्च) खाने के योग्य पदार्थ और उसके साथ उत्तम दाल शाक कढ़ी आदि (ऋतञ्च) सत्य मानना और सत्य मनवाना (सत्यञ्च) सत्य बोलना और बुलवाना (इष्टञ्च) यज्ञ करना और कराना (पूर्त्तञ्च) यज्ञ की सामग्री पूरी करना तथा जलाशय और आराम वाटिका आदि का बनाना और बनवाना (प्रजा, च) प्रजा की उत्पत्ति, पालन और उन्नति सदा करनी तथा करानी (पशवश्च) गाय आदि पशुओं का पालन और उन्नति सदा करनी तथा करानी चाहिये ॥ २७ ॥

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः । एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥ १ ॥ य० अ० ४० । मं० २ ॥

अर्थः—मैं परमात्मा सब मनुष्यों के लिये आज्ञा देता हूं कि प्रत्येक मनुष्य (इह) इस संसार में शरीर से समर्थ हो के (कर्माणि) सत्कर्मों को (कुर्वन्नेव) करता ही करता (शतं, समाः) १०० (सौ) वर्ष पर्यन्त (जिजीविषेत्) जीने की इच्छा करे, आलसी और प्रमादी कभी न होवे । (एवम्) इस प्रकार उत्तम कर्म करते हुए (त्वयि) तुझ (नरे) मनुष्य में (इतः) इस हेतु से (अन्यथा) उलटापनरूप (कर्म) दुःखद कर्म (न लिप्यते) लिप्यमान कभी

नहीं होता, और तुम पापरूप कर्म में लिप्त कभी मत होओ, इस उत्तम कर्म से कुछ भी दुःख (नास्ति) नहीं होता। इसलिये तुम स्त्री पुरुष सदा पुरुषार्थी होकर उत्तम कर्मों से अपनी और दूसरों की सदा उन्नति किया करो ॥ १ ॥ पुनः स्त्री पुरुष सदा निम्नलिखित मन्त्रों के अनुकूल इच्छा और आचरण किया करें। वे मन्त्र ये हैं—

भूर्भुवः स्वः। सुप्रजाः प्रजाभिः स्याᳬं सुवीरो वीरैः सुपोषः पोषैः। नर्य प्रजां मे पाहि शᳬंस्य पशून् मे पाह्यथर्य पितुं मे पाहि ॥ २ ॥ गृहा मा बिभीत मा वेपध्वमूर्जं बिभ्रत एमसि। ऊर्जं बिभ्रद्वः सुमनाः सुमेधा गृहानैमि मनसा मोदमानः ॥ ३ ॥ य० अ० ३। मं० ३७। ४१ ॥

अर्थः—हे स्त्री वा पुरुष ! मैं तेरे वा अपने के सम्बन्ध से (भूर्भुवः स्वः) शारीरिक, वाचिक और मानस अर्थात् त्रिविध सुख से युक्त हो के (प्रजाभिः) मनुष्यादि उत्तम प्रजाओं के साथ (सुप्रजाः) उत्तम प्रजायुक्त (स्याम) होऊं। (वीरैः) उत्तम पुत्र बन्धु सम्बन्धी और भृत्यों से [सह वर्त्तमान](सुवीरः) उत्तम वीरों [से] सहित होऊं। (पोषैः) उत्तम पुष्टिकारक व्यवहारों से (सुपोषः) उत्तम पुष्टियुक्त होऊं। हे (नर्य) मनुष्यों में सज्जन वीर स्वामिन्! (मे) मेरी (प्रजाम्) प्रजा की (पाहि) रक्षा कीजिये। हे (शंस्य) प्रशंसा करने योग्य स्वामिन्! आप (मे) मेरे (पशून्) पशुओं की (पाहि) रक्षा कीजिये। हे (अथर्य) अहिंसक दयालो स्वामिन् ! (मे) मेरे (पितुम्) अन्न आदि की (पाहि) रक्षा कीजिये। वैसे हे नारी ! प्रशंसनीय गुणयुक्त तू मेरी प्रजा मेरे पशु और मेरे अन्न की सदा रक्षा किया कर ॥ २ ॥ हे (गृहाः) गृहस्थ लोगो ! तुम विधिपूर्वक गृहाश्रम में प्रवेश करने से (मा, बिभीत) मत डरो (मा, वेपध्वम्) मत कम्पायमान होओ, (ऊर्जम्) अन्न पराक्रम तथा विद्यादि शुभ गुण से युक्त होकर गृहाश्रम को (बिभ्रतः) धारण करते हुए तुम लोगों को हम सत्योपदेशक विद्वान् लोग (एमसि) प्राप्त होते और सत्योपदेश करते हैं और अन्नपानाच्छादन स्थान से तुम्हीं हमारा निर्वाह करते हो, इसलिये तुम्हारा गृहाश्रम व्यवहार में निवास सर्वोत्कृष्ट है। हे वरानने ! जैसे मैं तेरा पति (मनसा) अन्तःकरण से (मोद-

मानः) आनन्दित (सुमनाः) प्रसन्नमन (सुमेधाः) उत्तम बुद्धि से युक्त तुझको, और हे मेरे पूजनीयतम पिता आदि लोगो ! (वः) तुम्हारे लिये (ऊर्ज्जम्) पराक्रम तथा अन्नादि ऐश्वर्य (बिभ्रत्) धारण करता हुआ तुम (गृहान्) गृहस्थों को (आ, एमि) सब प्रकार से प्राप्त होता हूं, उसी प्रकार तुम लोग भी मुझ से प्रसन्न हो के वर्त्ता करो ॥ ३ ॥

येषा॑मध्येति॑ प्रवस॒न्येषु॑ सौमन॒सो ब॒हुः । गृ॒हानुप॑ ह्वयामहे॒ ते नो॑ जानन्तु जान॒तः ॥ ४ ॥ उप॑हूता॒ऽइह गाव॒ऽउप॑हूताऽअजा॒वयः॑ । अथो॒ अन्न॑स्य कीलाल॒ऽउप॑हूतो गृ॒हेषु॑ नः । क्षेमा॑य व॒ः शान्त्यै॑ प्रप॑द्ये शि॒वꣳ श॒ग्मꣳ शं॒योः शं॒योः ॥ ५ ॥ यजु० अध्याय ३ । मं० ४२ । ४३ ॥

अर्थः—हे गृहस्थो ! (प्रवसन्) परदेश को गया हुआ मनुष्य (येषाम्) जिनका (अध्येति) स्मरण करता है, (येषु) जिन गृहस्थों में (बहुः) बहुत (सौमनसः) प्रीति होती है उन (गृहान्) गृहस्थों की हम विद्वान् लोग (उप, ह्वयामहे) प्रशंसा करते और प्रीति से समीप बुलाते हैं, (ते) वे गृहस्थ लोग (जानतः) उनको जाननेवाले (नः) हम लोगों को (जानन्तु) सुहृद् जानें, वैसे तुम गृहस्थ और हम संन्यासी लोग आपस में मिल के पुरुषार्थ से व्यवहार और परमार्थ की उन्नति सदा किया करें ॥ ४ ॥ हे गृहस्थो ! (नः) अपने (गृहेषु) घरों में जिस प्रकार (गावः) गौ आदि उत्तम पशु (उपहूताः) समीपस्थ हों तथा (अजावयः) बकरी भेड़ आदि दूध देनेवाले पशु (उपहूताः) समीपस्थ हों (अथो) इसके अनन्तर (अन्नस्य) अन्नादि पदार्थों के मध्य में उत्तम (कीलालः) अन्नादि पदार्थ (उपहूतः) प्राप्त होवे हम लोग वैसा प्रयत्न किया करें । हे गृहस्थो ! मैं उपदेशक वा राजा (इह) इस गृहाश्रम में (वः) तुम्हारे (क्षेमाय) रक्षण तथा (शान्त्यै) निरुपद्रवता करने के लिये (प्रपद्ये) प्राप्त होता हूं । मैं और आप लोग प्रीति से मिल के (शिवम्) कल्याण (शग्मम्) व्यावहारिक सुख और (शंयोः, शंयोः) पारमार्थिक सुख को प्राप्त हो के अन्य सब लोगों को सदा सुख दिया करें ॥ ५ ॥

सन्तुष्टो भार्यया भर्त्ता भर्त्रा भार्या तथैव च ।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ॥ १ ॥
यदि हि स्त्री न रोचेत पुमांसं न प्रमोदयेत् ।
अप्रमोदात् पुनः पुंसः प्रजनं न प्रवर्त्तते ॥ २ ॥
मनु० अ० ३ । श्लो० ६०, ६१ ॥

अर्थः—हे गृहस्थो ! जिस कुल में भार्या से प्रसन्न पति और पति से भार्या सदा प्रसन्न रहती है उसी कुल में निश्चित कल्याण होता है और दोनों परस्पर अप्रसन्न रहें तो उस कुल में नित्य कलह वास करता है ॥ १ ॥ यदि स्त्री पुरुष पर रुचि न रक्खे वा पुरुष को प्रहर्षित न करे तो अप्रसन्नता से पुरुष के शरीर म कामोत्पत्ति कभी न हो के सन्तान नहीं होते और यदि होते हैं तो दुष्ट होते हैं ॥ २ ॥

स्त्रियान्तु रोचमानायां सर्वन्तद्रोचते कुलम् ।
तस्यां त्वरोचमानायां सर्वमेव न रोचते ॥ ३ ॥
मनु० अ० ३ । श्लो० ६२ ॥

अर्थः—और जो पुरुष स्त्री को प्रसन्न नहीं करता तो उस स्त्री के अप्रसन्न रहने से सब कुल भर अप्रसन्न शोकातुर रहता है और जब पुरुष से स्त्री प्रसन्न रहती है तब सब कुल आनन्दरूप दीखता है ॥ ३ ॥

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा ।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः ॥ ४ ॥
यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः ॥ ५ ॥
शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम् ।
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्द्धते तद्धि सर्वदा ॥ ६ ॥
जामयो यानि गेहानि शपन्त्यप्रतिपूजिताः ।
तानि कृत्याहतानीव विनश्यन्ति समन्ततः ॥ ७ ॥
मनु० अ० ३ । श्लो० ५५-५८ ॥

अर्थः—पिता, भ्राता, पति और देवर को योग्य है कि अपनी कन्या, बहिन स्त्री और भौजाई आदि स्त्रियों की सदा पूजा करें अर्थात् यथायोग्य मधुर भाषण भोजन वस्त्र आभूषण आदि से प्रसन्न रक्खें। जिनको कल्याण की इच्छा हो वे स्त्रियों को क्लेश कभी न देवें ॥ ४ ॥ जिस कुल में नारियों की पूजा अर्थात् सत्कार होता है उस कुल में दिव्य गुण, दिव्य भोग और उत्तम सन्तान होते हैं, और जिस कुल में स्त्रियों की पूजा नहीं होती वहां जानों उनकी सब क्रिया निष्फल हैं ॥ ५ ॥ जिस कुल में स्त्री लोग अपने २ पुरुषों के वेश्यागमन वा व्यभिचारादि दोषों से शोकातुर रहती हैं वह कुल शीघ्र नाश को प्राप्त होजाता है और जिस कुल में स्त्रीजन पुरुषों के उत्तमाचरणों से प्रसन्न रहती हैं वह कुल सर्वदा बढ़ता रहता है ॥ ६ ॥ जिन कुल और घरों में अपूजित अर्थात् सत्कार को न प्राप्त होकर स्त्री लोग जिन गृहस्थों को शाप देती हैं वे कुल तथा गृहस्थ जैसे विष देकर बहुतों को एकवार नाश कर देवें वैसे चारों ओर से नष्ट भ्रष्ट होजाते हैं ॥ ७ ॥

तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः ।
भूतिकामैर्नरैर्नित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च ॥ ८ ॥ मनु० अ० ३ । श्लो० ५९ ॥

अर्थः—इस कारण ऐश्वर्य की इच्छा करनेवाले पुरुषों को योग्य है कि इन स्त्रियों को सत्कार के अवसरों और उत्सवों में भूषण, वस्त्र, खान, पान आदि से सदा पूजा अर्थात् सत्कारयुक्त प्रसन्न रक्खें ॥ ८ ॥

सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु दक्षया ।
सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्तहस्तया ॥ ९ ॥
मनु० अ० ५ । श्लो० १५० ॥

अर्थः—स्त्री को योग्य है कि सदा आनन्दित होके चतुरता से गृहकार्यों में वर्त्तमान रहे, तथा अन्नादि के उत्तम संस्कार, पात्र वस्त्र गृह आदि के संस्कार, और घर के भोजनादि में जितना नित्य धन आदि लगे उसके यथायोग्य करने में सदा प्रसन्न रहे ॥ ९ ॥

एताश्चान्याश्च लोकेऽस्मिन्नपकृष्टप्रसूतयः ।
उत्कर्षं योषितः प्राप्ताः स्वैः स्वैर्भर्तृगुणैः शुभैः ॥ १० ॥
मनु॰ अ॰ ९ । श्लो २४ ॥

अर्थः—यदि स्त्रियां दुष्टाचारयुक्त भी हों तथापि इस संसार में बहुत स्त्रियां अपने २ पतियों के शुभ गुणों से उत्कृष्ट होगईं, होती हैं और होंगी भी, इसलिये यदि पुरुष श्रेष्ठ हों तो स्त्रियां श्रेष्ठ और दुष्ट हों तो दुष्ट होजाती हैं, इससे प्रथम मनुष्यों को उत्तम हो के अपनी स्त्रियों को उत्तम करना चाहिये ॥ १० ॥

प्रजनार्थं महाभागाः पूजार्हा गृहदीप्तयः ।
स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन ॥ ११ ॥
मनु॰ अ॰ ९ । श्लो॰ २६ ॥

उत्पादनमपत्यस्य जातस्य परिपालनम् ।
प्रत्यहं लोकयात्रायाः प्रत्यक्षं स्त्रीनिबन्धनम् ॥ १२ ॥
अपत्यं धर्मकार्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा ।
दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितृणामात्मनश्च ह ॥ १३ ॥
यथा वायुं समाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्वजन्तवः ।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्व आश्रमाः ॥ १४ ॥
मनु॰ अ॰ ९ । श्लो॰ ७७ ॥

अर्थः—हे पुरुषो ! सन्तानोत्पत्ति के लिये महाभाग्योदय करनेहारी, पूजा के योग्य, गृहाश्रम को प्रकाश करती, सन्तानोत्पत्ति करने करानेहारी, घरों में स्त्रियां हैं वे श्री अर्थात् लक्ष्मीस्वरूप होती हैं क्योंकि लक्ष्मी शोभा धन और स्त्रियों में कुछ भेद नहीं है ॥ ११ ॥ हे पुरुषो ! अपत्यों की उत्पत्ति, उत्पन्न का पालन करने आदि लोकव्यवहार को नित्यप्रति जो कि गृहाश्रम का कार्य होता है उसका निबन्ध करनेवाली प्रत्यक्ष स्त्री है ॥ १२ ॥ सन्तानोत्पत्ति, धर्मकार्य, उत्तम सेवा और रति तथा अपना और पितरों का जितना सुख है यह सब स्त्री ही के आधीन होता है ॥ १३ ॥ जैसे वायु के आश्रय से सब जीवों का वर्त्त-

मान सिद्ध होता है वैसे ही गृहस्थ के आश्रय से ब्रह्मचारी वानप्रस्थ और संन्यासी अर्थात् सब आश्रमों का निर्वाह [गृहस्थ के आश्रय से] होता है ॥ १४ ॥

यस्मात् त्रयोऽप्याश्रमिणो दानेनान्नेन चान्वहम् ।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही ॥ १५ ॥
सः संधार्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता ।
सुखं चेहेच्छता नित्यं योऽधार्यो दुर्बलेन्द्रियैः ॥ १६ ॥
मनु० अ० ३ । श्लो० ७८-७९ ॥

सर्वेषामपि चैतेषां वेदस्मृतिविधानतः ।
गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठः स त्रीनेतान् बिभर्ति हि ॥ १७ ॥ मनु० ॥

अर्थः—जिससे ब्रह्मचारी वानप्रस्थ और संन्यासी इन तीन आश्रमियों को अन्न वस्त्रादि दान से नित्यप्रति गृहस्थ धारण पोषण करता है इसलिये व्यवहार में गृहाश्रम सब से बड़ा है ॥ १५ ॥ हे स्त्री पुरुषो ! जो तुम अक्षय * मुक्ति-सुख और इस संसार के सुख की इच्छा रखते हो तो जो दुर्बलेन्द्रिय और निर्बुद्धि पुरुषों के धारण करने योग्य नहीं है उस गृहाश्रम को नित्य प्रयत्न से धारण करो ॥ १६ ॥ वेद और स्मृति के प्रमाण से सब आश्रमों के बीच में गृहाश्रम श्रेष्ठ है क्योंकि यही आश्रम ब्रह्मचारी आदि तीनों आश्रमों का धारण और पालन करता है ॥ १७ ॥

यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम् ।
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ॥ १८ ॥
मनु० अ० ६ । श्लो० ९० ॥

उपासते ये गृहस्थाः परपाकमबुद्धयः ।
तेन ते प्रेत्य पशुतां व्रजन्त्यन्नादिदायिनाम् ॥ १९ ॥

* अक्षय इतना ही मात्र है कि जितना समय मुक्ति का है उतने समय में दुःख का संयोग, जैसा विषयेन्द्रिय के संयोगजन्य सुख में होता है वैसा, नहीं होता ॥

आसनावसथौ शय्यामनुव्रज्यामुपासनाम् ।
उत्तमेषूत्तमं कुर्याद्धीने हीनं समे समम् ॥ २० ॥
पाषण्डिनो विकर्मस्थान् वैडालव्रतिकान् शठान् ।
हैतुकान् बकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत् ॥ २१ ॥
मनु० अ० ४ । श्लो० ३० ॥

अर्थः—हे मनुष्यो ! जैसे सब बड़े २ नद और नदी सागर में जाकर स्थिर होते हैं, वैसे ही सब आश्रमी गृहस्थ ही को प्राप्त हो के स्थिर होते हैं ॥ १८ ॥ यदि गृहस्थ हो के पराये घर में भोजनादि की इच्छा करते हैं तो वे बुद्धिहीन गृहस्थ अन्य से प्रतिग्रहरूप पाप करके जन्मान्तर में अन्नादि के दाताओं के पशु बनते हैं, क्योंकि अन्य से अन्नादि का ग्रहण करना अतिथियों का काम है, गृहस्थों का नहीं ॥ १९ ॥ जब गृहस्थ के समीप अतिथि आवें तब आसन, निवास, शय्या पश्चाद्गमन और समीप में बैठना आदि सत्कार जैसे का वैसा अर्थात् उत्तम का उत्तम, मध्यम का मध्यम और निकृष्ट का निकृष्ट करे ऐसा न हो कि कभी न समझें ॥ २० ॥ किन्तु जो पाखण्डी, वेदनिन्दक, नास्तिक, ईश्वर वेद और धर्म को न माने, अधर्माचरण करनेहारे, हिंसक, शठ, मिथ्याभिमानी, कुतर्की और बकवृत्ति अर्थात् पराये पदार्थ हरने वा बहकाने में बगुले के समान, अतिथिवेषधारी बन के आवें उनका वचनमात्र से भी सत्कार गृहस्थ कभी न करे ॥ २१ ॥

दशसूनासमं चक्रं दशचक्रसमो ध्वजः ।
दशध्वजसमो वेशो दशवेशसमो नृपः ॥ २२ ॥
मनु० अ० ४ । श्लो० ८५ ॥

न लोकवृत्तं वर्तेत वृत्तिहेतोः कथंचन ।
अजिह्मामशठां शुद्धां जीवेद् ब्राह्मणजीविकाम् ॥ २३ ॥
सत्यधर्मार्यवृत्तेषु शौचे चैवारमेत्सदा ।
शिष्यांश्च शिष्याद्धर्मेण वाग्बाहूदरसंयतः ॥ २४ ॥

परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ ।
धर्मं चाप्यसुखोदर्कं लोकविक्रुष्टमेव च ॥ २५ ॥
मनु० अ० ४ । श्लो० १७५, १७६ ॥

अर्थः—दश हत्या के समान चक्र अर्थात् कुम्हार (तथा) गाड़ी से जीविका करनेहारे, दश चक्र के समान ध्वज अर्थात् धोबी (तथा) मद्य को निकाल कर बेचनेहारे दशध्वज के समान वेश अर्थात् वेश्या, भड़ुआ, भांड, दूसरे की नकल अर्थात् पाषाणमूर्तियों के पूजक (पूजारी) आदि। और दशवेश के समान जो अन्याय-कारी राजा होता है उनके अन्न आदि का ग्रहण अतिथि लोग कभी भी न करें ॥ २२ ॥ गृहस्थ जीविका के लिये भी कभी शास्त्रविरुद्ध लोकाचार का वर्त्ताव न वर्त्ते, किन्तु जिसमें किसी प्रकार की कुटिलता मूर्खता मिथ्यापन वा अधर्म न हो उस वेदोक्तधर्मसम्बन्धी जीविका को करे ॥ २३ ॥ किन्तु सत्य, धर्म, आर्य अर्थात् आप्त पुरुषों के व्यवहार और शौच पवित्रता ही में सदा गृहस्थ लोग प्रवृत्त रहें और सत्यवाणी, भोजनादि के लोभरहित हस्तपादादि की कुचेष्टा छोड़कर धर्म से शिष्यों और सन्तानों को उत्तम शिक्षा सदा किया करें ॥२४॥ यदि बहुतसा धन राज्य और अपनी कामना अधर्म से सिद्ध होती हो तो भी अधर्म सर्वथा छोड़ देवें और वेदविरुद्ध धर्माभास जिसके करने से उत्तर काल में दुःख और संसार की उन्नति का नाश हो वैसा नाममात्र धर्म और कर्म कभी न किया करें ॥ २५ ॥

सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम् ।
योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः ॥ २६ ॥
क्षान्त्या शुध्यन्ति विद्वांसो दानेनाकार्यकारिणः ।
प्रच्छन्नपापा जप्येन तपसा वेदवित्तमाः ॥ २७ ॥
अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति ।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति ॥ २८ ॥
दशावरा वा परिषद्यं धर्मं परिकल्पयेत् ।
त्र्यवरा वापि वृत्तस्था तं धर्मं न विचालयेत् ॥ २९ ॥
मनु० अ० १२ । श्लो० ११० ॥

दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति ।
दण्डः सुप्तेषु जागर्त्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः ॥ ३० ॥
मनु० अ० ७ । श्लो० १८ ॥

तस्याहुः संप्रणेतारं राजानं सत्यवादिनम् ।
समीक्ष्यकारिणं प्राज्ञं धर्मकामार्थकोविदम् ॥ ३१ ॥
मनु० अ० ७ । श्लो० २६ ॥

अर्थः—जो धर्म ही से पदार्थों का संचय करना है वही सब पवित्रताओं में उत्तम पवित्रता, अर्थात् जो अन्याय से किसी पदार्थ का ग्रहण नहीं करता वही पवित्र है, किन्तु जल मृत्तिकादि से जो पवित्रता होती है वह धर्म के सदृश उत्तम नहीं है ॥ २६ ॥ विद्वान् लोग क्षमा से, दुष्टकर्मकारी सत्सङ्ग और विद्यादि शुभगुणों के दान से, गुप्त पाप करनेहारे विचार से त्याग कर, और ब्रह्मचर्य तथा सत्यभाषणादि से वेदवित् उत्तम विद्वान् शुद्ध होते हैं ॥ २७ ॥ किन्तु जल से ऊपर के अङ्ग पवित्र होते हैं, आत्मा और मन नहीं, मन तो सत्य मानने, सत्य बोलने और सत्य करने से शुद्ध और जीवात्मा विद्या योगाभ्यास और धर्माचरण ही से पवित्र तथा बुद्धि ज्ञान से ही शुद्ध होती है, जल मृत्तिकादि से नहीं ॥ २८ ॥ गृहस्थ लोग छोटों बड़ों वा राजकार्यों के सिद्ध करने में कम से कम १० अर्थात् ऋग्वेदज्ञ, यजुर्वेदज्ञ, सामवेदज्ञ, हैतुक (नैयायिक), तर्ककर्त्ता (मीमांसा शास्त्रज्ञ), नैरुक्त (निरुक्तशास्त्रज्ञ), धर्माध्यापक, ब्रह्मचारी, स्नातक और वानप्रस्थ विद्वानों अथवा अतिन्यूनता करे तो तीन वेदवित् (ऋग्वेदज्ञ, यजुर्वेदज्ञ और सामवेदज्ञ) विद्वानों की सभा से कर्त्तव्याकर्त्तव्य धर्म और अधर्म का जैसा निश्चय हो वैसा ही आचरण किया करे ॥ २९ ॥ और जैसा विद्वान् लोग दण्ड ही को धर्म जानते हैं वैसा सब लोग जानें, क्योंकि दण्ड ही प्रजा का शासन अर्थात् नियम में रखनेवाला, दण्ड ही सब का सब ओर से रक्षक और दण्ड ही सोते हुओं में जागता है, चोरादि दुष्ट भी दण्ड ही के भय से पापकर्म नहीं कर सकते ॥ ३० ॥ उस दण्ड को अच्छे प्रकार चलानेहारे उस राजा को कहते हैं कि

जो सत्यवादी, विचार ही करके कार्य का कर्त्ता, बुद्धिमान्, विद्वान्, धर्म, काम और अर्थ का यथावत् जाननेहारा हो ॥ ३१ ॥

सोऽसहायेन मूढेन लुब्धेनाकृतबुद्धिना ।
न शक्यो न्यायतो नेतुं सक्तेन विषयेषु च ॥ ३२ ॥
शुचिना सत्यसन्धेन यथाशास्त्रानुसारिणा ।
प्रणेतुं शक्यते दण्डः सुसहायेन धीमता ॥ ३३ ॥
मनु० अ० ७ । श्लो० ३०, ३१ ॥

अदण्ड्यान् दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन् ।
अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति ॥ ३४ ॥
मनु० अ० ८ । श्लो० १२८ ॥

अर्थः—जो राजा उत्तम सहाय रहित मूढ़ लोभी, जिसने ब्रह्मचर्यादि उत्तम कर्मों से विद्या और बुद्धि की उन्नति नहीं की, विषयों में फंसा हुआ है उससे वह दण्ड कभी न्यायपूर्वक नहीं चल सकता ॥ ३२ ॥ इसलिये जो पवित्र, सत्पुरुषों का संगी, राजनीति शास्त्र के अनुकूल चलनेहारा, धार्मिक पुरुषों के सहाय से युक्त, बुद्धिमान् राजा हो वही इस दण्ड को धारण करके चला सकता है ॥ ३३ ॥ जो राजा अनपराधियों को दण्ड देता और अपराधियों को दंड नहीं देता है वह इस जन्म में बड़ी अपकीर्ति को प्राप्त होता और मरे पश्चात् नरक अर्थात् महादुःख को पाता है ॥ ३४ ॥

मृगयाक्षो दिवास्वप्नः परिवादः स्त्रियो मदः ।
तौर्यत्रिकं वृथाटया च कामजो दशको गणः ॥ ३५ ॥
पैशुन्यं साहसं द्रोह ईर्ष्याऽसूयार्थदूषणम् ।
वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः ॥ ३६ ॥
द्वयोरप्येतयोर्मूलं यं सर्वे कवयो विदुः ।
तं यत्नेन जयेल्लोभं तज्जावेतावुभौ गणौ ॥ ३७ ॥
मनु० अ० ७ । श्लो० ४७–४९ ॥

अर्थः—मृगया अर्थात् शिकार खेलना, द्यूत और प्रसन्नता के लिये भी चौपड़ आदि खेलना, दिन में सोना हंसी ठट्ठा मिथ्यावाद करना स्त्रियों के साथ सदा अधिक निवास में मोहित होना, मद्यपानादि नशाओं का करना, गाना, बजाना नाचना वा इनका देखना और वृथा इधर उधर घूमते फिरना ये दश दुर्गुण काम से होते हैं ॥ ३५ ॥ और चुगली खाना, विना विचारे काम कर बैठना, जिस किसी से वृथा वैर बांधना, दूसरे की स्तुति सुन वा बढ़ती देख के हृदय में जला करना, दूसरों के गुणों में दोष और दोषों में गुण स्थापन करना, बुरे कामों में धन का लगाना, क्रूर वाणी और विना विचारे पक्षपात से किसी को करड़ा दण्ड देना ये आठ दोष क्रोधी पुरुष में उत्पन्न होते हैं । ये १८ (अठारह) दुर्गुण हैं इनको राजा अवश्य छोड़ देवे ॥ ३६ ॥ और जो इन कामज और क्रोधज १८ (अठारह) दोषों के मूल जिस लोभ को सब विद्वान् लोग जानते हैं उसको प्रयत्न से राजा जीते, क्योंकि लोभ ही से पूर्वोक्त १८ (अठारह) और अन्य दोष भी बहुत से होते हैं, इसलिये हे गृहस्थ लोगो ! चाहे वह राजा का ज्येष्ठ पुत्र क्यों न हो परन्तु ऐसे दोष वाले मनुष्य को राजा कभी न करना, यदि भूल से हुआ हो तो उसको राज्य से च्युत करके किसी योग्य पुरुष को जो कि राजा के कुल का हो राज्याधिकारी करना, तभी प्रजा में आनन्द मङ्गल सदा बढ़ता रहेगा ॥ ३७ ॥

सैनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च ।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥ ३८ ॥
मनु० अ० १२ । श्लो० १०० ॥

मौलान् शास्त्रविदः शूरान् लब्धलक्षान्कुलोद्गतान् ।
सचिवान् सप्त चाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान् ॥ ३९ ॥
मनु० अ० ७ । श्लो० ५४ ॥

अन्यानपि प्रकुर्वीत शुचीन्प्राज्ञानवस्थितान् ।
सम्यगर्थसमाहर्तॄनमात्यान् सुपरीक्षितान् ॥ ४० ॥
मनु० अ० ७ । श्लो० ६० ॥

अर्थः—जो वेदशास्त्रवित् धर्मात्मा जितेन्द्रिय न्यायकारी और आत्मा के बल से युक्त पुरुष होवे उसी को सेना, राज्य, दण्डनीति और प्रधानपद का अधिकार देना अन्य क्षुद्राशयों को नहीं ॥ ३८ ॥ और जो अपने राज्य में उत्पन्न, शास्त्रों के जाननेहारे, शूरवीर, जिनका विचार निष्फल न होवे, कुलीन धर्मात्मा, स्वराज्यभक्त हों उन सात वा आठ पुरुषों को अच्छी प्रकार परीक्षा करके मन्त्री करे और इन्हीं की सभा में आठवां वा नववां राजा हो ये सब मिल के कर्त्तव्याकर्त्तव्य कामों का विचार किया करें ॥ ३९ ॥ इसी प्रकार अन्य भी राज्य और सेना के अधिकारी जितने पुरुषों से राजकार्य सिद्ध होसके उतने ही पवित्र धार्मिक विद्वान् चतुर स्थिरबुद्धि पुरुषों को राज्यसामग्री के वर्धक नियत करे ॥ ४० ॥

दूतं चैव प्रकुर्वीत सर्वशास्त्रविशारदम् ।
इङ्गिताकारचेष्टज्ञं शुचिं दक्षं कुलोद्गतम् ॥ ४१ ॥
मनु० अ० ७ । श्लो० ६३ ।

अलब्धमिच्छेद्दण्डेन लब्धं रक्षेदवेक्षया ।
रक्षितं वर्धयेद्वृद्ध्या वृद्धं पात्रेषु निःक्षिपेत् ॥ ४२ ॥
मनु० अ० ७ । श्लो० १०१ ॥

अर्थः—तथा जो सब शास्त्र में निपुण, नेत्रादि के संकेत स्वरूप तथा चेष्टा से दूसरे के हृदय की बात को जाननेहारा, शुद्ध, बड़ा स्मृतिमान्, देश काल जाननेहारा, सुन्दर जिसका स्वरूप, बड़ा वक्ता और अपने कुल में मुख्य हो उस और स्वराज्य और परराज्य के समाचार देनेहारे अन्य दूतों को भी नियत करे ॥ ४१ ॥ तथा राजादि राजपुरुष अलब्ध राज्य की इच्छा दंड से, और प्राप्त राज्य की रक्षा संभाल से, रक्षित राज्य और धन को व्यापार और व्याज से बढ़ा और सुपात्रों के द्वारा सत्यविद्या और सत्यधर्म के प्रचार आदि उत्तम व्यवहारों में बढ़े हुए धन आदि पदार्थों का व्यय करके सब की उन्नति सदा किया करें ॥ ४२ ॥

विधिः—सदा स्त्री पुरुष १० (दश) बजे शयन और रात्रि के पहिले प्रहर वा ४ बजे उठके प्रथम हृदय में परमेश्वर का चिन्तन करके धर्म अर्थ का विचार किया करें, और धर्म और अर्थ के अनुष्ठान वा उद्योग करने में यदि कभी पीड़ा भी हो तथापि धर्मयुक्त पुरुषार्थ को कभी न छोड़ें, किन्तु सदा शरीर और आत्मा की रक्षा के लिये युक्त आहार विहार औषधसेवन सुपथ्य आदि से निरन्तर उद्योग करके व्यावहारिक और पारमार्थिक कर्त्तव्य कर्म की सिद्धि के लिये ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना भी किया करें कि जिस परमेश्वर की कृपादृष्टि और सहाय से महाकठिन कार्य भी सुगमता से सिद्ध हो सके, इसके लिये निम्न-लिखित मन्त्र हैं:—

प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे प्रातर्मित्रावरुणा प्रातरश्विना । प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं प्रातस्सोममुत रुद्रं हुवेम * ॥ १ ॥ प्रातर्जितं भगमुग्रं हुवेम वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्ता । आध्रश्चिद्यं मन्यमानस्तुरश्चिद्राजा चिद्यं भगं भक्षीत्याह † ॥ २ ॥ भग प्रणेतर्भग सत्यराधो भगेमां धियमुदवा

* हे स्त्री पुरुषो ! जैसे हम विद्वान् उपदेशक लोग (प्रातः) प्रभात वेला में (अग्निम्) स्वप्रकाशस्वरूप (प्रातः) (इन्द्रम्) परमैश्वर्य के दाता और परमैश्वर्ययुक्त (प्रातः) (मित्रावरुणा) प्राण उदान के समान प्रिय और सर्वशक्तिमान् (प्रातः) (अश्विना) सूर्य चन्द्र को जिसने उत्पन्न किया है उस परमात्मा की (हवामहे) स्तुति करते हैं और (प्रातः) (भगम्) भजनीय सेवनीय ऐश्वर्ययुक्त (पूषणम्) पुष्टिकर्त्ता (ब्रह्मणस्पतिम्) अपने उपासक, वेद और ब्रह्माण्ड के पालन करनेहारे (प्रातः) (सोमम्) अन्तर्यामी प्रेरक (उत) और (रुद्रम्) पापियों को रुलानेहारे और सर्वरोगनाशक जगदीश्वर की (हुवेम) स्तुति प्रार्थना करते हैं वैसे प्रातःसमय तुम लोग भी किया करो ॥ १ ॥

† (प्रातः) पांच घड़ी रात्रि रहे (जितम्) जयशील (भगम्) ऐश्वर्य के दाता (उग्रम्) तेजस्वी (अदितेः) अन्तरिक्ष के (पुत्रम्) सूर्य की उत्पत्ति करनेहारे और (यः) जो कि सूर्यादि लोकों का (विधर्त्ता) विशेष करके धारण करनेहारा (आध्रः) सब ओर से धारणकर्त्ता (यं, चित्) जिस किसी का भी (मन्यमानः) जाननेहारा (तुरश्चित्) दुष्टों का भी दण्डदाता और (राजा) सब का प्रकाशक है (यम्) जिस (भगम्) भजनीय स्वरूप को (चित्) भी

ददन्नः । भग प्र णो जनय गोभिरश्वैर्भग प्र नृभिर्नृवन्तः स्याम * ॥ ३ ॥ उतेदानीं भगवन्तः स्यामोत प्रपित्व उत मध्ये अह्नाम् । उतोदिता मघवन्त्सूर्यस्य वयं देवानां सुमतौ स्याम † ॥ ४ ॥ भग एव भगवाँ अस्तु देवास्तेन वयं भगवन्तः स्याम । तं त्वा भग सर्व इज्जोहवीति स नो भग पुरएता भवेह ‡ ॥ ५ ॥ ऋ० मं० ७ । सू० ४१ । मं० १-५ ॥

(भक्षीति) इस प्रकार सेवन करता हूं और इसी प्रकार भगवान् परमेश्वर सब को (आह) उपदेश करता है कि तुम, जो मैं सूर्यादि जगत् का बनाने और धारण करनेहारा हूं उस मेरी उपासना किया और मेरी आज्ञा में चला करो इससे (वयम्) हमलोग उसकी (हुवेम) स्तुति करते हैं ॥ २ ॥

* हे (भग) भजनीयस्वरूप (प्रणेतः) सब के उत्पादक सत्याचार में प्रेरक (भग) ऐश्वर्यप्रद (सत्यराधः) सत्य धन को देनेहारे (भग) सत्याचरण करनेहारों को ऐश्वर्यदाता आप परमेश्वर (नः) हम को (इमाम्) इस (धियम्) प्रज्ञा को (ददत्) दीजिये और उसके दान से हमारी (उद्व) रक्षा कीजिये हे (भग) आप (गोभिः) गाय आदि और (अश्वैः) घोड़े आदि उत्तम पशुओं के योग से राज्यश्री को (नः) हमारे लिये (प्रजनय) प्रकट कीजिये, हे (भग) आपकी कृपा से हम लोग (नृभिः) उत्तम मनुष्यों से (नृवन्तः) बहुत वीर मनुष्यवाले (प्र, स्याम) अच्छे प्रकार होवें ॥ ३ ॥

† हे भगवन् ! आप की कृपा (उत) और अपने पुरुषार्थ से हम लोग (इदानीम्) इस समय (प्रपित्वे) प्रकर्षता उत्तमता की प्राप्ति में (उत) और (अह्नाम्) इन दिनों के (मध्ये) मध्य में (भगवन्तः) ऐश्वर्ययुक्त और शक्तिमान् (स्याम) होवें (उत) और हे (मघवन्) परमपूजित असंख्य धन देनेहारे (सूर्यस्य) सूर्यलोक के (उदिता) उदय में (देवानाम्) पूर्ण विद्वान् धार्मिक आप लोगों की (सुमतौ) अच्छी उत्तम प्रज्ञा (उत) और सुमति में (वयम्) हम लोग (स्याम) सदा प्रवृत्त रहें ॥ ४ ॥

‡ हे (भग) सकलैश्वर्यसम्पन्न जगदीश्वर ! जिससे (तम्) उस (त्वा) आप की (सर्वः) सब सज्जन (इज्जोहवीति) निश्चय करके प्रशंसा करते हैं (सः) सो आप हे (भग) ऐश्वर्यप्रद ! (इह) इस संसार और (नः) हमारे गृहाश्रम में (पुरएता) अग्रगामी और आगे २ सत्य कर्मों में बढ़ानेहारे (भव) हूजिये और जिससे (भगएव) सम्पूर्ण ऐश्वर्ययुक्त और समस्त ऐश्वर्य के दाता

इस प्रकार परमेश्वर की प्रार्थना उपासना करनी। तत्पश्चात् शौच, दन्तधावन, मुखप्रक्षालन करके स्नान करें। पश्चात् एक कोश वा डेढ़ कोश एकान्त जङ्गल में जा के योगाभ्यास की रीति से परमेश्वर की उपासना कर, सूर्योदय पर्यन्त अथवा घड़ी आधघड़ी दिन चढ़े तक घर में आके सन्ध्योपासनादि नित्य कर्म नीचे लिखे प्रमाणे यथाविधि उचित समय में किया करें। इन नित्य करने के योग्य कर्मों में लिखे हुए मन्त्रों का अर्थ और प्रमाण पञ्चमहायज्ञविधि में देख लेवें। प्रथम शरीरशुद्धि अर्थात् स्नान पर्यन्त कर्म करके सन्ध्योपासन का आरम्भ करें। आरम्भ में दक्षिण हस्त में जल लेकेः—

ओं अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा ॥ १ ॥ ओं अमृतापिधानमसि स्वाहा ॥ २ ॥ ओं सत्यं यशः श्रीर्मयि श्रीः श्रयतां स्वाहा ॥ ३ ॥ आश्वलायन गृ० सू० अ० १। कं० २४। सू० १२। २१। २२ ॥

इन तीन मन्त्रों में से एक २ से एक २ आचमन कर, दोनों हाथ धो, कान, आंख, नासिका आदि का शुद्ध जल से स्पर्श करके, शुद्ध देश, पवित्रासन पर, जिधर की ओर का वायु हो उधर को मुख करके, नाभि के नीचे से मूलेन्द्रिय को ऊपर संकोच करके, हृदय के वायु को बल से बाहर निकाल के, यथाशक्ति रोके, पश्चात् धीरे २ भीतर लेके भीतर थोड़ासा रोके, यह एक प्राणायाम हुआ। इसी प्रकार कम से कम तीन प्राणायाम करे। नासिका को हाथ से न पकड़े। इस समय परमेश्वर की स्तुति प्रार्थनोपासना हृदय में करके—

ओं शन्नो॑ दे॒वीर॒भिष्ट॑य॒ आपो॑ भवन्तु पी॒तये॑। शंयोर॒भि स्र॑वन्तु नः ॥ यजु० अ० ३६। मं० १२ ॥

इस मन्त्र को एक वार पढ़ के तीन आचमन करे। पश्चात् पात्र में से

के होने से आप ही हमारे (भगवान्) पूजनीय देव (अस्तु) हूजिये (तेन) उसी हेतु से (देवाः, वयम्) हम विद्वान् लोग (भगवन्तः) सकलैश्वर्यसंपन्न होके सब संसार के उपकार में तन मन धन से प्रवृत्त (स्याम) होवें ॥ ५ ॥

मध्यमा अनामिका अंगुलियों से जल स्पर्श करके प्रथम दक्षिण और पश्चात् वाम पार्श्व निम्नलिखित मन्त्रों से स्पर्श करे—

ओं वाक् वाक् ॥ इस मन्त्र से मुख का दक्षिण और वामपार्श्व ॥

ओं प्राणः प्राणः ॥ इससे दक्षिण और वाम नासिका के छिद्र ॥

ओं चक्षुश्चक्षुः ॥ इससे दक्षिण और वाम नेत्र ॥

ओं श्रोत्रं श्रोत्रम् ॥ इससे दक्षिण और वाम श्रोत्र ॥

ओं नाभिः ॥ इससे नाभि ॥

ओं हृदयम् ॥ इससे हृदय ॥

ओं कण्ठः ॥ इससे कण्ठ ॥

ओं शिरः ॥ इससे मस्तक ॥

ओं बाहुभ्यां यशोबलम् ॥ इससे दोनों भुजाओं के मूल स्कन्ध और—

ओं करतलकरपृष्ठे ॥

इससे दोनों हाथों के ऊपर तले स्पर्श करके मार्जन करे ॥

ओं भूः पुनातु शिरसि ॥ इस मन्त्र से शिर पर ॥

ओं भुवः पुनातु नेत्रयोः ॥ इस मन्त्र से दोनों नेत्रों पर ॥

ओं स्वः पुनातु कण्ठे ॥ इस मन्त्र से कण्ठ पर ॥

ओं महः पुनातु हृदये ॥ इस मन्त्र से हृदय पर ॥

ओं जनः पुनातु नाभ्याम् ॥ इससे नाभि पर ॥

ओं तपः पुनातु पादयोः ॥ इससे दोनों पगों पर ॥

ओं सत्यं पुनातु पुनः शिरसि ॥ इससे पुनः मस्तक पर ॥

ओं खं ब्रह्म पुनातु सर्वत्र ॥

इस मन्त्र से सब अङ्गों पर छींटा देवे। पुनः पूर्वोक्त रीति से प्राणायाम की क्रिया करता जावे। और नीचे लिखे मन्त्र का जप भी करता जायः—

ओं भूः, ओं भुवः, ओं स्वः, ओं महः, ओं जनः, ओं तपः, ओं सत्यम्॥ तैत्तिरीयारण्य० प्र० १०। अनु० २७॥

इसी रीति से कम से कम तीन और अधिक से अधिक २१ (इक्कीस) प्राणायाम करे। तत्पश्चात् सृष्टिकर्त्ता परमात्मा और सृष्टिक्रम का विचार नीचे लिखित मन्त्रों से करे, और जगदीश्वर को सर्वव्यापक न्यायकारी सर्वत्र सर्वदा सब जीवों के कर्मों के द्रष्टा को निश्चित मान के पाप की ओर अपने आत्मा और मन को कभी न जाने देवे किन्तु सदा धर्मयुक्त कर्मों में वर्त्तमान रक्खे॥

ओं ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत। ततो रात्र्यजायत। ततः समुद्रो अर्णवः॥ १॥ समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत। अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी॥ २॥ सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। दिवं च पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथो स्वः॥ ३॥ ऋ० मं० १०। सू० १९०॥

इन मन्त्रों को पढ़ के पुनः (शन्नो देवी०) इस मन्त्र से तीन आचमन करके निम्नलिखित मन्त्रों से सर्वव्यापक परमात्मा की स्तुति प्रार्थना करे॥

ओं प्राची दिगग्निरधिपतिरसितो रक्षितादित्या इषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥ १॥ दक्षिणा दिगिन्द्रोऽधिपतिस्तिरश्चिराजी रक्षिता पितर इषवः। तेभ्यो०॥ २॥ प्रतीची दिग्वरुणोऽधिपतिः पृदाकू रक्षितान्नमिषवः। तेभ्यो०॥ ३॥ उदीची दिक्सोमोऽधिपतिः स्वजो रक्षिताशनिरिषवः। तेभ्यो०॥ ४॥ ध्रुवा दिग्विष्णुरधिपतिः कल्माषग्रीवो रक्षिता वीरुध इषवः। तेभ्यो०॥ ५॥ ऊर्ध्वा दिग्बृहस्पतिरधिपतिः श्वित्रो रक्षिता वर्षमिषवः। तेभ्यो०॥ ६॥ अथर्व० कां० ३। सू० २७। मं० १—६॥

इन मन्त्रों को पढ़ते जाना और अपने मन से चारों ओर बाहर भीतर परमात्मा को पूर्ण जानकर निर्भय निश्शङ्क उत्साही आनन्दित पुरुषार्थी रहना। तत्पश्चात् परमात्मा का उपस्थान अर्थात् परमेश्वर के निकट मैं और मेरे अतिनिकट परमात्मा है ऐसी बुद्धि करके करे—

जातवेदसे सुनवाम सोममरातीयतो नि दहाति वेदः। स नः पर्षदति दुर्गाणि विश्वा नावेव सिन्धुं दुरितात्यग्निः॥ १॥ ऋ० मं० १। सू० ९९। मं० १॥

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः। आ प्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षꣳ सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च॥ १॥ यजु० अ० १३। मं० ४६॥ उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः। दृशे विश्वाय सूर्यम्॥ २॥ यजु० अ० ३३। मं० ३१॥ उद्वयन्तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम्। देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥ ३॥ यजु० अ० ३५। मं० १४॥ तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्र ब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्॥ ४॥ यजु० अ० ३६। मं० २४॥

इन मन्त्रों से परमात्मा का उपस्थान करके पुनः (शन्नो देवी०) इससे तीन आचमन करके पृष्ठ ८२—८३ में लिखे० अथवा पञ्चमहायज्ञविधि में लिखे० गायत्री मन्त्र का अर्थ विचारपूर्वक परमात्मा की स्तुति प्रार्थनोपासना करे, पुनः हे परमेश्वर दयानिधे! आपकी कृपा से जपोपासनादि कर्मों को करके हम धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि को शीघ्र प्राप्त होवें, पुनः—

ओं नमः शम्भवाय च मयोभवाय च नमः शङ्कराय च मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवतराय च॥ ५॥ यजु० अ० १६। मं० ४१॥

इससे परमात्मा को नमस्कार करके (शन्नो देवी०) इस मन्त्र से तीन आचमन करके अग्निहोत्र का आरम्भ करें॥

इति संक्षेपतः सन्ध्योपासनविधिः समाप्तः

अथाग्निहोत्रम्

जैसे सायं प्रातः दोनों सन्धिवेलाओं में सन्ध्योपासन करें इसी प्रकार दोनों स्त्री पुरुष * अग्निहोत्र भी दोनों समय में नित्य किया करें। पृष्ठ २०—२१ में लिखे प्रमाणे अग्न्याधान, समिदाधान, और पृष्ठ २२ में लिखे—

ओं अदितेऽनुमन्यस्व।

इत्यादि ४ मन्त्रों से यथाविधि कुण्ड के चारों ओर जल प्रोक्षण करके, शुद्ध किये हुए सुगन्ध्यादियुक्त घी को तपा के, पात्र में लेके, कुण्ड से पश्चिम भाग में पूर्वाभिमुख बैठके, पृष्ठ २२—२३ में लिखे आघारावाज्यभागाहुति चार देके, नीचे लिखे हुए मन्त्रों से प्रातःकाल अग्निहोत्र करे:—

ओं सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा ॥ १ ॥ ओं सूर्या वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा ॥ २ ॥ ओं ज्योतिः सूर्यः सूर्यो ज्योतिः स्वाहा ॥ ३ ॥ ओं सजूर्देवेन सवित्रा सजूरुषसेन्द्रवत्या जुषाणः सूर्यो वेतु स्वाहा ॥ ४ ॥

अब नीचे लिखे हुए मन्त्र सायंकाल में अग्निहोत्र के जानो।

ओं अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा ॥ १ ॥ ओं अग्निर्वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा ॥ २ ॥ ओं अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा ॥ ३ ॥

इस मन्त्र को मन से उच्चारण करके तीसरी आहुति देनी ॥

ओं सजूर्देवेन सवित्रा सजूरात्र्येन्द्रवत्या जुषाणो अग्निर्वेतु स्वाहा ॥४॥
० अ० ३। मं० ९, १० ॥

अब निम्नलिखित मन्त्रों से प्रातः सायं आहुति देनी चाहिये:—

ओं भूरग्नये प्राणाय स्वाहा ॥ इदमग्नये, प्राणाय—इदन्न मम ॥ १ ॥

---

* किसी विशेष कारण से स्त्री वा पुरुष अग्निहोत्र के समय दोनों साथ उपस्थित न होसकें तो एक ही स्त्री वा पुरुष दोनों की ओर का कृत्य कर लेवे अर्थात् एक २ मन्त्र को दो २ वार पढ़ के दो २ आहुति करे ॥

ओं भुवर्वायवेऽपानाय स्वाहा ॥ इदं वायवेऽपानाय—इदन्न मम ॥ २ ॥ ओं स्वरादित्याय व्यानाय स्वाहा ॥ इदमादित्याय, व्यानाय—इदन्न मम ॥ ३ ॥ ओं भूर्भुवः स्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्यः स्वाहा ॥ इदमग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्यः—इदन्न मम ॥ ४ ॥ ओं आपो ज्योतीरसोऽमृतं ब्रह्मभूर्भुवः स्वरों स्वाहा ॥ ५ ॥ ओं यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते । तया मामद्य मेधयाऽग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा ॥ ६ ॥ यजु० अ० ३२ । मं० १४ ॥ ओं विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव । यद्भद्रं तन्न आसुव स्वाहा ॥ ७ ॥ य० अ० ३० । मं० ३ ॥ ओं अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् । युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नमउक्तिं विधेम स्वाहा ॥ ८ ॥ य० अ० ४० । मं० १६ ॥

इन आठ मन्त्रों से एक २ मन्त्र करके एक २ आहुति ऐसे आठ आहुति देके—

ओं सर्वं वै पूर्णं स्वाहा ॥

इस मन्त्र से तीन पूर्णाहुति अर्थात् एक २ वार पढ़के एक २ करके तीन आहुति देवे ॥

इत्यग्निहोत्रविधिः संक्षेपतः समाप्तः ॥ २ ॥

अथ पितृयज्ञः

अग्निहोत्रविधि पूर्ण करके तीसरा पितृयज्ञ करे अर्थात् जीते हुए माता पिता आदि की यथावत् सेवा करनी पितृयज्ञ कहाता है ॥ ३ ॥

अथ बलिवैश्वदेवविधिः

ओं अग्नये स्वाहा ॥ ओं सोमाय स्वाहा ॥ ओं अग्नीषोमाभ्यां स्वा-

हा ॥ ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा ॥ ओं धन्वन्तरये स्वाहा ॥ ओं कुह्वै स्वाहा ॥ ओमनुमत्यै स्वाहा ॥ ओं प्रजापतये स्वाहा ॥ ओं द्यावापृथिवीभ्याᳫं स्वाहा ॥ ओं स्विष्टकृते स्वाहा ॥ मनु० अ० ३ । श्लो० ८५, ८६ ॥

इन दश मन्त्रों से घृतमिश्रित भात की, यदि भात न बना हो तो क्षार और लवणान्न को छोड़ के जो कुछ पाक में बना हो उसकी दश आहुति करे। तत्पश्चात् निम्नलिखित मन्त्रों से बलिदान करे—

ओं सानुगायेन्द्राय नमः ॥ इससे पूर्व ॥

ओं सानुगाय यमाय नमः ॥ इससे दक्षिण ॥

ओं सानुगाय वरुणाय नमः ॥ इससे पश्चिम ॥

ओं सानुगाय सोमाय नमः ॥ इससे उत्तर ॥

ओं मरुद्भ्यो नमः ॥ इससे द्वार ॥

ओं अद्भ्यो नमः ॥ इससे जल ॥

ओं वनस्पतिभ्यो नमः ॥ इससे मूसल और ऊखल ॥

ओं श्रियै नमः ॥ इससे ईशान * ॥

ओं भद्रकाल्यै नमः ॥ इससे नैर्ऋत्य † ॥

ओं ब्रह्मपतये नमः । ओं वास्तुपतये नमः ॥ इससे मध्य ॥

ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यो नमः । ओं दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यो नमः । ओं नक्तंचारिभ्यो भूतेभ्यो नमः ॥ इनसे ऊपर ॥

ओं सर्वात्मभूतये नमः ॥ इससे पृष्ठ ॥

ओं पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः ॥ इससे दक्षिण ॥ मनु० अ० ३ ॥ श्लो० ८७—९१ ॥

---

* "घर की छत में" ऐसा मनु में मिलता है। अ० ३। श्लो० ८९ ॥

† "घर के पाद में" मनु० ३ । ८९ ॥

इन मन्त्रों से एक पत्तल वा थाली में यथोक्त दिशाओं में भाग धरना। यदि भाग धरने के समय कोई अतिथि आजाय तो उसी को दे देना, नहीं तो अग्नि में धर देना। तत्पश्चात् घृतसहित लवणान्न लेके—

शुनां च पतितानां च श्वपचां पापरोगिणाम्।
वायसानां कृमीणां च शनकैर्निर्वपेद् भुवि॥ १॥

मनु० अ० ३। श्लो० ९२॥

अर्थः—कुत्ता, पतित, चाण्डाल, पापरोगी, काक और कृमि इन छः नामों से छः भाग पृथिवी में धरे और वे छः भाग जिस २ के नाम हैं उस २ को देना चाहिये॥ ४॥

अथातिथियज्ञः

पांचवां—जो धार्मिक, परोपकारी, सत्योपदेशक, पक्षपातरहित, शान्त, सर्व-हितकारक विद्वानों की अन्नादि से सेवा उनसे प्रश्नोत्तर आदि करके विद्या प्राप्त होना अतिथियज्ञ कहाता है। उसको नित्य किया करें। इस प्रकार पञ्चमहा-यज्ञों को स्त्री पुरुष प्रतिदिन करते रहें॥ ५॥

इसके पश्चात् पक्षयज्ञ अर्थात् पौर्णमासी और अमावास्या के दिन नैत्यिक अग्निहोत्र की आहुति दिये पश्चात् पूर्वोक्त प्रकार पृष्ठ १५ में लिखे प्रमाणे स्थाली-पाक बनाके निम्नलिखित मन्त्रों से विशेष आहुति करें॥

ओं अग्नये स्वाहा॥ ओं अग्नीषोमाभ्यां स्वाहा॥ ओं विष्णवे स्वाहा॥

इन तीन मन्त्रों से स्थालीपाक की तीन आहुति देनी। तत्पश्चात् पृष्ठ २३ में लिखे प्रमाणे व्याहृति आज्याहुति ४ देनी, परन्तु इसमें इतना भेद है कि अमावास्या के दिनः—

ओं अग्नीषोमाभ्यां स्वाहा॥ इस मन्त्र के बदले

ओं इन्द्राग्नीभ्यां स्वाहा ॥

इस मन्त्र को बोल के स्थालीपाक की आहुति देवे। इस प्रकार पक्षयाग अर्थात् जिस के घर में अभाग्य से अग्निहोत्र न होता हो तो सर्वत्र पक्षयागादि में पृष्ठ १३,१४ में लिखे प्रमाणे यज्ञकुण्ड, यज्ञसामग्री, यज्ञमण्डप, पृष्ठ २०—२१ में लिखे अग्न्याधान समिदाधान, पृष्ठ २२—२३ में लि० आघारावाज्यभागाहुति, और पृष्ठ २२ में लिखे प्रमाणे वेदी के चारों ओर जल सेचन करके, पृष्ठ ४—१२ में लिखे प्रमाणे ईश्वरोपासना स्वस्तिवाचन शान्तिकरण भी यथायोग्य करें, और जब २ नवान्न आवे तब २ नवशस्येष्टि और संवत्सर के आरम्भ में निम्नलिखित विधि करें। अर्थात् जब २ नवीन अन्न आवे तब २ शस्येष्टि करके नवीन अन्न के भोजन का आरम्भ करें—

नवशस्येष्टि और संवत्सरेष्टि करना हो तो जिस दिन प्रसन्नता हो वही शुभ दिन जाने। ग्राम और शहर के बाहर किसी शुद्ध खेत में यज्ञमण्डप करके, पृष्ठ ४—२६ तक लिखे प्रमाणे सब विधि करके, प्रथम आघारावाज्यभागाहुति ४ (चार) और व्याहृति आहुति ४ (चार) तथा अष्टाज्याहुति ८ (आठ) ये सोलह आज्याहुति करके कार्यकर्त्ता—

ओं पृथिवी द्यौः प्रदिशो दिशो यस्मै द्युभिरावृताः। तमिहेन्द्रमुपह्वये शिवा नः सन्तु हेतयः स्वाहा ॥ १ ॥ ओं यन्मे किंचिदुपेप्सितमस्मिन् कर्मणि वृत्रहन्। तन्मे सर्वꣳसमृध्यतां जीवतः शरदः शतꣳ स्वाहा ॥ २ ॥ ओं सम्पत्तिर्भूतिर्भूमिर्वृष्टिर्ज्यैष्ठ्यꣳ श्रैष्ठ्यꣳ श्रीः प्रजामिहावतु स्वाहा ॥ इदमिन्द्राय—इदन्न मम ॥ ३ ॥ ओं यस्या भावे वैदिकलौकिकानां भूतिर्भवति कर्मणाम्। इन्द्रपत्नीमुपह्वये सीताꣳ सा मे त्वनपायिनी भूयात्कर्मणि स्वाहा ॥ इदमिन्द्रपत्न्यै—इदन्न मम ॥ ४ ॥ ओं अश्वावती गोमती सूनृतावती बिभर्त्ति या प्राणभृतो अतन्द्रिता। खलमालिनीमुर्वरामस्मिन् कर्मण्युपह्वये ध्रुवाꣳ सा मे त्वनपायिनी भूयात् स्वाहा ॥ इदं सीतायै—इदन्न मम ॥ ५ ॥ पार० कां० २। कं० १७ ॥

इन मन्त्रों से प्रधान होम की ५ (पांच) आज्याहुति करके—

ओं सीतायै स्वाहा । ओं प्रजायै स्वाहा । ओं शमायै स्वाहा । ओं भूत्यै स्वाहा ॥ पार० कां० २ । कं० १७ ॥

इन ४ (चार) मन्त्रों से ४ (चार), और पृष्ठ २३ में लिखे (यदस्य०) मन्त्र से स्विष्टकृत् होमाहुति एक, ऐसे ५ (पांच) स्थालीपाक की आहुति देके, पश्चात् पृष्ठ २३—२५ में लिखे प्रमाणे अष्टाज्याहुति, व्याहृति आहुति ४ (चार) ऐसे १२ (बारह) आज्याहुति देके, पृष्ठ २६ में लिखे प्रमाणे वामदेव्यगान, ईश्वरोपासना, स्वस्तिवाचन, और शान्तिकरण करके यज्ञ की समाप्ति करें ॥

अथ शालाकर्मविधिं वक्ष्यामः

शाला उसको कहते हैं जो मनुष्य और पश्वादि के रहने अथवा पदार्थ रखने के अर्थ गृह वा स्थानविशेष बनाते हैं । इसके दो विषय हैं एक प्रमाण और दूसरा विधि । उसमें से प्रथम प्रमाण और पश्चात् विधि लिखेंगे ॥

अत्र प्रमाणानि—उपमितां प्रतिमितामथो परिमितामुत । शालाया विश्ववाराया नद्धानि वि चृतामसि ॥ १ ॥ हविर्धानमग्निशालं पत्नीनां सदनं सदः । सदो देवानामसि देवि शाले ॥ २ ॥ अथर्व० कां० ६ । सू० ३ । मं० १, ७ ॥

अर्थः—मनुष्यों को योग्य है कि जो कोई किसी प्रकार का घर बनावे तो वह (उपमिताम्) सब प्रकार की उत्तम उपमायुक्त कि जिसको देख के विद्वान् लोग सराहना करें, (प्रतिमिताम्) प्रतिमान अर्थात् एक द्वार के सामने दूसरा द्वार कोणे और कक्षा भी सम्मुख हों, (अथो) इसके अनन्तर (परिमिताम्) वह शाला चारों ओर के परिमाण से सम चौरस हो, (उत) और (शालायाः) शाला (विश्ववारायाः) अर्थात् उस घर के द्वार चारों ओर के वायु को स्वीकार करनेवाले हों, (नद्धानि) उसके बन्धन और चिनाई दृढ़ हों । हे मनुष्यो !

ऐसी शाला को जैसे हम शिल्पी लोग (विचृतामसि) अच्छे प्रकार ग्रन्थित अर्थात् बन्धनयुक्त करते हैं वैसे तुम भी करो ॥ १ ॥ उस घर में एक (हविर्धानम्) होम करने के पदार्थ रखने का स्थान, (अग्निशालम्) अग्निहोत्र का स्थान, (पत्नीनाम्) स्त्रियों के (सदनम्) रहने का (सदः) स्थान, और (देवानाम्) पुरुषों और विद्वानों के रहने, बैठने, मेल मिलाप करने और सभा का (सदः) स्थान तथा स्नान भोजन ध्यान आदि का भी पृथक् २ एक २ घर बनावे, इस प्रकार की (देवि) दिव्य कमनीय (शाले) बनाई हुई शाला (असि) सुखदायक होती है ॥ २ ॥

अन्तरा द्याञ्च पृथिवीं च यद्व्यचस्तेन शालां प्रतिगृह्णामि त इमाम् । यदन्तरिक्षं रजसो विमानं तत्कृण्वेऽहमुदरं शेवधिभ्यः । तेन शालां प्रतिगृह्णामि तस्मै ॥ ३ ॥ ऊर्ज्जस्वती पयस्वती पृथिव्यां निमिता मिता । विश्वान्नं बिभ्रती शाले मा हिंसीः प्रतिगृह्णतः ॥ ४ ॥ अथर्व० कां० ६ । सू० ३ । मं० १५, १६ ॥

अर्थः—उस शाला में (अन्तरा) भिन्न २ (पृथिवीम्) शुद्ध भूमि अर्थात् चारों ओर स्थान शुद्ध हों, (च) और (द्याम्) जिस में सूर्य का प्रतिभास आवे वैसी प्रकाशस्वरूप भूमि के समान दृढ़ शाला बनावे, (च) और (यत्) जो (व्यचः) उसकी व्याप्ति अर्थात् विस्तार हे स्त्री ! (ते) तेरे लिये है (तेन) उसी से युक्त (इमाम्) इस (शालाम्) घर को बनाता हूं, तू इसमें निवास कर और मैं भी निवास के लिये इसको (प्रतिगृह्णामि) ग्रहण करता हूं, (यत्) जो उसके बीच में (अन्तरिक्षम्) पुष्कल अवकाश और (रजसः) उस घर का (विमानम्) विशेष मान परिमाण युक्त लंबी ऊंची छत्त और (उदरम्) भीतर का प्रसार विस्तारयुक्त होवे (तत्) उसको (शेवधिभ्यः) सुख के आधाररूप अनेक कक्षाओं से सुशोभित (अहम्) मैं (कृण्वे) करता हूं, (तेन) उस पूर्वोक्त लक्षणमात्र से युक्त (शालाम्) शाला को (तस्मै) उस गृहाश्रम के सब व्यवहारों के लिये (प्रतिगृह्णामि) ग्रहण करता हूं ॥ ३ ॥ जो (शाले) शाला (उर्ज्जस्वती) बहुत बलारोग्यपराक्रम को

बढ़ानेवाली और धन धान्य से पूरित सम्बन्धवाली, (पयस्वती) जल दूध रसादि से परिपूर्ण, (पृथिव्याम्) पृथिवी में (मिता) परिमाणयुक्त, (निमिता) निर्मित की हुई, (विश्वान्नम्) संपूर्ण अन्नादि ऐश्वर्य को (बिभ्रती) धारण करती हुई, (प्रतिगृह्णतः) ग्रहण करनेहारों को रोगादि से (मा, हिंसीः) पीड़ित न करे वैसा घर बनाना चाहिये ॥

ब्रह्मणा शालां निर्मितां कविभिर्निर्मितां मिताम् इन्द्राग्नी । रक्षतां शालाममृतौ सोम्यं सदः ॥ ५ ॥ अथर्व० कां० ६ । सू० ३ । मं० १६ ॥

अर्थः—(अमृतौ) स्वरूप से नाशरहित (इन्द्राग्नी) वायु और पावक (कविभिः) उत्तम विद्वान् शिल्पियों ने (मिताम्) प्रमाणयुक्त अर्थात् माप में ठीक जैसी चाहिये वैसी (निमिताम्) बनाई हुई (शालाम्) शाला को और (ब्रह्मणा) चारों वेदों के जाननेहारे विद्वान् ने सब ऋतुओं में सुख देनेहारी (निमिताम्) बनाई (शालाम्) शाला को प्राप्त होकर रहनेवालों की (रक्षताम्) रक्षा करें । अर्थात् चारों ओर का शुद्ध वायु आके अशुद्ध वायु को निकालता रहे और जिसमें सुगन्ध्यादि घृत का होम किया जाय वह अग्नि दुर्गन्ध को निकाल सुगन्ध को स्थापन करे । वह (सोम्यम्) ऐश्वर्य आरोग्य सर्वदा सुखदायक (सदः) रहने के लिये उत्तम घर है । उसी को निवास के लिये ग्रहण करे ॥ ५ ॥

या द्विपक्षा चतुष्पक्षा षट्पक्षा या निमीयते । अष्टापक्षां दशपक्षां शालां मानस्य पत्नीमग्निर्गर्भ इवा शये ॥ ६ ॥ अथर्व० कां० ६ । सू० ३ । मं० २१ ॥

अर्थः—हे मनुष्यो ! (या) जो (द्विपक्षा) दो पक्ष अर्थात् मध्य में एक और पूर्व पश्चिम में एक २ शालायुक्त घर, अथवा (चतुष्पक्षा) जिसके पूर्व पश्चिम दक्षिण और उत्तर में एक २ शाला और इनके मध्य में पांचवीं बड़ी शाला वा (षट्पक्षा) एक २ बीच में बड़ी शाला और दो २ पूर्व पश्चिम तथा एक २ उत्तर दक्षिण में शाला हों, (या) जो ऐसी शाला (निमीयते)

बनाई जाती है वह उत्तम होती है, और इससे भी जो (अष्टापक्षाम्) चारों ओर दो २ शाला और उनके बीच में एक नवमी शाला हो, अथवा (दशपक्षाम्) जिसके मध्य में दो शाला और उनके चारों दिशाओं में दो २ शाला हों, उस (मानस्य) परिमाण के योग से बनाई हुई (शालाम्) शाला को जैसे (पत्नीम्) पत्नी को प्राप्त होके (अग्निः) अग्निमय आर्त्तव और वीर्य (गर्भ इव) गर्भरूप होके (आशये) गर्भाशय में ठहरता है वैसे सब शालाओं के द्वार दो २ हाथ पर सूधे बराबर हों, और जिसकी चारों ओर को शालाओं का परिमाण तीन २ गज, और मध्य की शालाओं का छः २ गज से परिमाण न्यून न हो, और चार २ गज चारों दिशाओं की ओर, आठ २ गज मध्य की शालाओं का परिमाण हो, अथवा मध्य की शालाओं का दश २ गज अर्थात् बीस २ हाथ से विस्तार अधिक न हो, बनाकर गृहस्थों को रहना चाहिये। यदि वह सभा का स्थान हो तो बाहर की ओर द्वारों में चारों ओर कपाट और मध्य में गोल २ स्तम्भे बनाकर चारों ओर खुला बनाना चाहिये कि जिसके कपाट खोलने से चारों ओर का वायु उस में आवे और सब घरों के चारों ओर वायु आने के लिये अवकाश तथा वृक्ष फल और पुष्करणी कुंड भी होने चाहियें वैसे घरों में सब लोग रहें ॥ ६ ॥

प्रतीचीं त्वा प्रतीचीनः शाले प्रैम्यहिंसतीम् । अग्निर्ह्यन्तरापश्चर्तस्य प्रथमा द्वाः ॥ ७ ॥ अथर्व० कां० ६ । सू० ३ । मं० २२ ॥

अर्थः—जो (शाले) शालागृह (प्रतीचीनः) पूर्वाभिमुख तथा जो गृह (प्रतीचीम्) पश्चिम द्वार युक्त (अहिंसतीम्) हिंसादि दोष रहित अर्थात् पश्चिम द्वार के सन्मुख पूर्व द्वार जिसमें (हि) निश्चय कर (अन्तः) बीच में (अग्निः) अग्नि का घर (च) और (आपः) जल का स्थान (ऋतस्य) और सत्य के ध्यान के लिये एक स्थान (प्रथमा) प्रथम (द्वाः) द्वार हैं मैं (त्वा) उस शाला को (प्रैमि) प्रकर्षता से प्राप्त होता हूं ॥ ७ ॥

मा नः पाशं प्रति मुचो गुरुर्भारो लघुर्भव । वधूमिव त्वा शाले यत्र-कामं भरामसि ॥ ८ ॥ अथर्व० कां० ६ । सू० ३ । मं० २४ ॥

अर्थः—हे शिल्पि लोगो ! जैसे (नः) हमारी (शाले) शाला अर्थात् गृह (पाशम्) बन्धन को (मा, प्रतिमुचः) कभी न छोड़ें जिसमें (गुरुर्भारः) बड़ा भार (लघुर्भव) छोटा होवे वैसी बनाओ (त्वा) उस शाला को (यत्र, कामम्) जहां जैसी कामना हो वहां वैसी हम लोग (वधूमिव) स्त्री के समान (भरामसि) स्वीकार करते हैं वैसे तुम भी ग्रहण करो ॥ ८ ॥

इस प्रकार प्रमाणों के अनुसार जब घर बन चुके तब प्रवेश करते समय क्या २ विधि करना सो नीचे लिखे प्रमाणे जानो ॥

अथ विधिः—जब घर बन चुके तब उसकी शुद्धि अच्छे प्रकार करा, चारों दिशाओं के बाहरले द्वारों में चार वेदी और एक वेदी घर के मध्य बनावें अथवा तांबे का वेदी के समान कुण्ड बनवा लेवे कि जिससे सब ठिकाने एक कुण्ड ही में काम होजावे । सब प्रकार की सामग्री अर्थात् पृष्ठ १४–१५ में लिखे प्रमाणे समिधा, घृत, चावल, मिष्ट, सुगन्ध, पुष्टिकारक द्रव्यों को ले के शोधन कर प्रथम दिन रख लेवे, जिस दिन गृहपति का चित्त प्रसन्न होवे उसी शुभ दिन गृहप्रतिष्ठा करे । वहां ऋत्विज् , होता, अध्वर्यु और ब्रह्मा का वरण करे जो कि धर्मात्मा विद्वान् हों, उनमें से होता का आसन पश्चिम और उस पर वह पूर्वाभिमुख, अध्वर्यु का आसन उत्तर में उस पर वह दक्षिणाभिमुख, उद्गाता का पूर्व दिशा में आसन उस पर वह पश्चिमाभिमुख और ब्रह्मा का दक्षिण दिशा में उत्तमासन बिछा कर उत्तराभिमुख, इस प्रकार चारों आसनों पर चारों पुरुषों को बैठावे और गृहपति सर्वत्र पश्चिम में पूर्वाभिमुख बैठा करे, ऐसे ही घर के मध्य वेदी के चारों ओर दूसरे आसन बिछा रक्खे, पश्चात् निष्क्रम्यद्वार जिस द्वार से मुख्य करके घर से निकलना और प्रवेश करना होवे अर्थात् जो मुख्य द्वार हो उसी द्वार के समीप ब्रह्मा सहित बाहर ठहर कर—

ओं अच्युताय भौमाय स्वाहा

इससे एक आहुति देकर, ध्वजा का स्तम्भ जिसमें ध्वजा लगाई हो खड़ा करे और घर के ऊपर चारों कोणों पर चार ध्वजा खड़ी करे, तथा कार्यकर्त्ता

गृहपति स्तम्भ खड़ा करके उसके मूल में जल से सेचन करे जिससे वह दृढ़ रहे। पुनः द्वार के सामने बाहर जाकर नीचे लिखे चार मन्त्रों से जल सेचन करे॥

ओं इमामुच्छ्रयामि भुवनस्य नाभिं वसोर्धारां प्रतरणीं वसूनाम्। इहैव ध्रुवां निमिनोमि शालां क्षेमे तिष्ठतु घृतमुच्छ्रयमाणा॥ १॥

इस मन्त्र से पूर्व द्वार के सामने जल छिटकावे।

अश्वावती गोमती सूनृतावत्युच्छ्रयस्व महते सौभगाय। आ त्वा शिशुराक्रन्दन्त्वा गावो धेनवो वाश्यमानाः॥ २॥

इस मन्त्र से दक्षिण द्वार॥

आ त्वा कुमारस्तरुण आ वत्सो जगदैः सह। आ त्वा परिस्रुतः कुम्भ आदध्नः कलशैरुप क्षेमस्य पत्नी बृहती सुवासः रयिं नो धेहि सुभगे सुवीर्यम्॥ ३॥

इस मन्त्र से पश्चिम द्वार॥

अश्वावद्गोमदूर्जस्वत्पर्णं वनस्पतेरिव। अभि नः पूर्यतां रयिरिदमनुश्रेयो वसानः॥ ४॥

इस मन्त्र से उत्तर द्वार के सामने जल छिटकावे। तत्पश्चात् सब द्वारों पर पुष्प और पल्लव तथा कदलीस्तम्भ वा कदली के पत्ते भी द्वारों की शोभा के लिये लगाकर, पश्चात् गृहपति—

हे ब्रह्मन्! प्रविशामीति॥ ऐसा वाक्य बोले और ब्रह्मा:—

वरं भवान् प्रविशतु

ऐसा प्रत्युत्तर देवे और ब्रह्मा की अनुमति से—

ओं ऋचं प्रपद्ये शिवं प्रपद्ये

इस वाक्य को बोल के भीतर प्रवेश करे। और जो घृत गरम कर, छान कर, सुगन्ध मिलाकर रक्खा हो उसको पात्र में ले के जिस द्वार से प्रथम प्रवेश करे उसी द्वार से प्रवेश करके पृष्ठ २०-२१ में लिखे प्रमाणे अग्न्याधान समिदाधान, जलप्रोक्षण, आचमन करके पृष्ठ २२-२३ में लिखे प्रमाणे घृत की आघारावाज्यभागाहुति ४ (चार), और व्याहृति आहुति ४ (चार), नवमी स्विष्टकृत् आज्याहुति एक अर्थात् दिशाओं की द्वारस्थ वेदियों में अग्न्याधान से ले के स्विष्टकृत् आहुतिपर्यन्त विधि करके पश्चात् पूर्वदिशाद्वारस्थ कुण्ड में—

ओं प्राच्या दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा। ओं देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः स्वाहा॥

इन मन्त्रों से पूर्वद्वारस्थ वेदी में दो घृताहुति देवे। वैसे ही—

ओं दक्षिणाया दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा। ओं देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः स्वाहा॥

इन दो मन्त्रों से दक्षिणद्वारस्थ वेदी में एक २ मन्त्र करके दो आज्याहुति और:—

ओं प्रतीच्या दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा। ओं देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः स्वाहा॥

इन दो मन्त्रों से दो आज्याहुति पश्चिमदिशाद्वारस्थ कुण्ड में देवे।

ओं उदीच्या दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा। ओं देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः स्वाहा॥

इनसे उत्तरदिशास्थ वेदी में दो आज्याहुति देवे, पुनः मध्यशालास्थ वेदी के समीप जाके स्व २ दिशा में बैठ के—

ओं ध्रुवाया दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा। ओं देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः स्वाहा॥

इन से मध्य वेदी में दो आज्याहुति ॥

ओं ऊर्ध्वाया दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा । ओं देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः स्वाहा ॥

इनसे भी दो आहुति मध्यवेदी में और—

ओं दिशो दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा । ओं देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः स्वाहा ॥

इन से भी दो आज्याहुति मध्यस्थ वेदी में देके, पुनः पूर्वदिशास्थ द्वारस्थवेदी में अग्नि को प्रज्वलित करके, वेदी से दक्षिण भाग में ब्रह्मासन तथा होता आदि के पूर्वोक्त प्रकार आसन बिछवा, उसी वेदी के उत्तर भाग में एक कलश स्थापन कर, पृष्ठ १५ में लिखे प्रमाणे स्थालीपाक बना के पृथक् निष्क्रम्यद्वार के समीप जा ठहर कर ब्रह्मादि सहित गृहपति मध्यशाला में प्रवेश करके ब्रह्मादि को दक्षिणादि आसन पर बैठा स्वयं पूर्वाभिमुख बैठ के संस्कृत घी अर्थात् जो गरम कर छान जिसमें कस्तूरी आदि सुगन्ध मिलाया हो, पात्र में ले के सबके सामने एक २ पात्र भर के रक्खे और चमसा में ले के:—

ओं वास्तोष्पते प्रति जानीह्यस्मान्त्स्वावेशो अनमीवो भवा नः । यत्त्वेमहे प्रति तन्नो जुषस्व शन्नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे स्वाहा ॥ १ ॥ वास्तोष्पते प्रतरणो न एधि गयस्फानो गोभिरश्वेभिरिन्दो । अजरासस्ते सख्ये स्याम पितेव पुत्रान् प्रति नो जुषस्व स्वाहा ॥ २ ॥ वास्तोष्पते शग्मया संसदा ते सक्षीमहि रण्वया गातुमत्या । पाहि क्षेम उत योगे वरं नो यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः स्वाहा ॥ ३ ॥ ऋ० मं० ७ । सू० ५४ । मं० १–३ ॥

अमीवहा वास्तोष्पते विश्वा रूपाण्याविशन् । सखा सुशेव एधि नः स्वाहा ॥ ४ ॥ ऋ० मं० ७ । सू० ५५ । मं० १ ॥

इन चार मन्त्रों से ४ (चार) आज्याहुति देके जो स्थालीपाक अर्थात् भात बनाया हो उसको दूसरे कांसे के पात्र में लेके उस पर यथायोग्य घृत सेचन करके अपने २ सामने रक्खे और पृथक् २ थोड़ा २ लेकरः—

ओं अग्निमिन्द्रं बृहस्पतिं विश्वाँश्च देवानुपह्वये । सरस्वतीञ्च वाजीञ्च वास्तु मे दत्त वाजिनः स्वाहा ॥ १ ॥ सर्पदेवजनान्त्सर्वान्हिमवन्तं सुदर्शनम् । वसूँश्च रुद्रानादित्यानीशानं जगदैः सह । एतान्त्सर्वान् प्रपद्येहं वास्तु मे दत्त वाजिनः स्वाहा ॥ २ ॥ पूर्वाह्णमपराह्णं चोभौ माध्यान्दिना सह । प्रदोषमर्धरात्रं च व्युष्टां देवीं महापथाम् । एतान् सर्वान् प्रपद्येहं वास्तु मे दत्त वाजिनः स्वाहा ॥ ३ ॥ ओं कर्त्तारञ्च विकर्त्तारं विश्वकर्माणमोषधीश्च वनस्पतीन् । एतान्त्सर्वान् प्रपद्येहं वास्तु मे दत्त वाजिनः स्वाहा ॥ ४ ॥ धातारं च विधातारं निधीनां च पतिं सह । एतान् सर्वान् प्रपद्येहं वास्तु मे दत्त वाजिनः स्वाहा ॥ ५ ॥ स्योनꣳ शिवमिदं वास्तु दत्तं ब्रह्मप्रजापती । सर्वाश्च देवताश्च स्वाहा ॥

स्थालीपाक अर्थात् घृतयुक्त भात की इन छः मन्त्रों से छः आहुति देकर, कांस्यपात्र में उदुम्बर, गूलर, पलाश के पत्ते, शाद्वल तृणविशेष, गोमय, दही, मधु, घृत, कुशा और यव को ले के उन सब वस्तुओं को मिलाकर—

ओं श्रीश्च त्वा यशश्च पूर्वे सन्धौ गोपायेताम् ॥

इस मन्त्र से पूर्वद्वार ॥

यज्ञश्च त्वा दक्षिणा च दक्षिणे सन्धौ गोपायेताम् ॥

इससे दक्षिण द्वार ॥

अन्नश्च त्वा ब्राह्मणश्च पश्चिमे सन्धौ गोपायेताम् ॥

इससे पश्चिम द्वार ॥

ऊर्क् च त्वा सूनृता चोत्तरे सन्धौ गोपायेताम् ॥

इससे उत्तर द्वार के समीप उनको बखेरे और जल प्रोक्षण भी करे ॥

केता च मां सुकेता च पुरस्ताद् गोपायेतामित्यग्निर्वै केताऽऽदित्यः सुकेता तौ प्रपद्ये ताभ्यां नमोऽस्तु तौ मा पुरस्ताद् गोपायेताम् ॥ १ ॥

इससे पूर्व दिशा में परमात्मा का उपस्थान करके, दक्षिण द्वार के सामने दक्षिणाभिमुख होके—

दक्षिणतो गोपायमानं च मा रक्षमाणा च दक्षिणतो गोपायेतामित्यहर्वै गोपायमानꣳ रात्री रक्षमाणा ते प्रपद्ये ताभ्यां नमोऽस्तु ते मा दक्षिणतो गोपायेताम् ॥ २ ॥

इस प्रकार जगदीश का उपस्थान करके, पश्चिम द्वार के सामने पश्चिमाभि-मुख हो के—

दीदिविश्च मा जागृविश्च पश्चाद् गोपायेतामित्यन्नं वै दीदिविः प्राणो जागृविस्तौ प्रपद्ये ताभ्यां नमोऽस्तु तौ मा पश्चाद् गोपायेताम् ॥ ३ ॥

इस प्रकार पश्चिम दिशा में सर्वरक्षक परमात्मा का उपस्थान करके, उत्तर दिशा में उत्तर द्वार के सामने उत्तराभिमुख खड़े रह के—

अस्वप्नश्च मानवद्राणश्चोत्तरतो गोपायेतामिति चन्द्रमा वा अस्वप्नो वायुरनवद्राणस्तौ प्रपद्ये ताभ्यां नमोस्तु तौ मोत्तरतो गोपायेतामिति ॥ धर्मस्थूणाराजꣳ श्रीस्तूर्यामहोरात्रे द्वारफलके इन्द्रस्य गृहा वसुमतो वरूथिनस्तानहं प्रपद्ये सह प्रजया पशुभिस्सह यन्मे किञ्चिदस्त्युपहूतः सर्वगणाः सखायः साधुसंमतस्तां त्वा शाले अरिष्टवीरा गृहा नः सन्तु सर्वतः ॥

इस प्रकार उत्तर दिशा में सर्वाधिष्ठाता परमात्मा का उपस्थान करके, सुपात्र वेदवित् धार्मिक होता आदि सपत्नीक ब्राह्मण तथा इष्ट मित्र और सम्बन्धियों

को उत्तम भोजन कराके यथायोग्य सत्कार करके दक्षिणा दे, पुरुषों को पुरुष और स्त्रियों को स्त्री प्रसन्नतापूर्वक विदा करें और वे जाते समय गृहपति और गृहपत्नी आदि को—

सर्वे भवन्तोऽत्रानन्दिताः सदा भूयासुः ॥

इस प्रकार आशीर्वाद दे के अपने २ घर को जावें। इसी प्रकार आराम आदि की भी प्रतिष्ठा करें। इसमें इतना ही विशेष है कि जिस ओर का वायु बगीचे को जावे उसी ओर होम करे कि जिसका सुगन्ध वृक्ष आदि को सुगन्धित करे। यदि उसमें घर बना हो तो शाला के समान उसकी भी प्रतिष्ठा करे॥

इति शालादिसंस्कारविधिः

इस प्रकार गृहादि की रचना करके गृहाश्रम में जो २ अपने २ वर्ण के अनुकूल कर्त्तव्य कर्म हैं उन उन को यथावत् करें॥

अथ ब्राह्मणस्वरूपलक्षणम्

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहश्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥ १ ॥ मनु० ॥
शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्मस्वभावजम् ॥ २ ॥ गीता० ॥

अर्थः—१ (एक)–निष्कपट होके प्रीति से पुरुष पुरुषों को और स्त्री स्त्रियों को पढ़ावें। २ (दो)–पूर्ण विद्या पढ़ें। ३ (तीन)–अग्निहोत्रादि यज्ञ करें। ४ (चौथा)–यज्ञ करावें। ५ (पांच)–विद्या अथवा सुवर्ण आदि का सुपात्रों को दान देवें। ६ (छठा)–न्याय से धनोपार्जन करनेवाले गृहस्थों से दान लेवे भी। इनमें से ३ (तीन) कर्म पढ़ना, यज्ञ करना, दान देना* धर्म में। और तीन कर्म पढ़ाना, यज्ञ कराना, दान लेना जीविका है। परन्तु—

* धर्म नाम न्यायाचरण। न्याय नाम पक्षपात छोड़ के वर्त्तना। पक्षपात छोड़ना

प्रतिग्रहः प्रत्यवरः ॥ मनु० ॥

जो दान लेना है वह नीच कर्म है। किन्तु पढ़ाके और यज्ञ करा के जीविका करनी उत्तम है ॥ १ ॥ (शमः) मन को अधर्म में न जाने दे किन्तु अधर्म करने की इच्छा भी न उठने देवे (दमः) श्रोत्रादि इन्द्रियों को अधर्माचरण से सदा दूर रक्खे दूर रख के धर्म ही के बीच में प्रवृत्त रक्खे (तपः) ब्रह्मचर्य, विद्या, योगाभ्यास की सिद्धि के लिये शीत, उष्ण, निन्दा, स्तुति, क्षुधा, तृषा, मानापमान आदि द्वन्द्व का सहना (शौचम्) राग द्वेष, मोहादि से मन और आत्मा को तथा जलादि के शरीर को सदा पवित्र रखना (क्षान्तिः) क्षमा अर्थात् कोई निन्दा, स्तुति आदि से सतावे तो भी उन पर कृपालु रहकर क्रोधादि का न करना (आर्जवम्) निरभिमान रहना दम्भ स्वात्मश्लाघा अर्थात् अपने मुख से अपनी प्रशंसा न करके नम्र सरल शुद्ध पवित्र भाव रखना (ज्ञानम्) सब शास्त्रों को पढ़ के विचार कर उनके शब्दार्थसम्बन्धों को यथावत् जानकर पढ़ाने का पूर्ण सामर्थ्य करना (विज्ञानम्) पृथिवी से ले के परमेश्वर पर्यन्त पदार्थों को जान और क्रियाकुशलता तथा योगाभ्यास से साक्षात् करके यथावत् उपकार ग्रहण करना कराना (आस्तिक्यम्) परमेश्वर, वेद, धर्म, परलोक, परजन्म, पूर्वजन्म, कर्मफल और मुक्ति से विमुख कभी न होना। ये नव कर्म और गुण धर्म में समझना। सब से उत्तम गुण कर्म स्वभाव को धारण करना। ये गुण कर्म जिन व्यक्तियों में हों वे ब्राह्मण और ब्राह्मणी होवें। विवाह भी इन्हीं वर्ण के गुण कर्म स्वभावों को मिला ही के करें। मनुष्यमात्र में से इन्हीं को ब्राह्मणवर्ण का अधिकार होवे ॥ २ ॥

अथ क्षत्रियस्वरूपलक्षणम्

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः ॥ १ ॥ मनु० ॥

नाम सर्वदा अहिंसादि निर्वैरता सत्यभाषणादि में स्थिर रहकर, हिंसा द्वेषादि और मिथ्याभाषणादि से सदा पृथक् रहना। सब मनुष्यों का यही एक धर्म है। किन्तु जो २ धर्म के लक्षण वर्ण-कर्मों में पृथक् २ आते हैं इसी से चार वर्ण पृथक् २ गिने जाते हैं ॥

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रकर्मस्वभावजम् ॥ २ ॥ गीता० ॥

अर्थः—दीर्घ ब्रह्मचर्य से (अध्ययनम्) साङ्गोपाङ्ग वेदादि शास्त्रों को यथावत् पढ़ना (इज्या) अग्निहोत्रादि यज्ञों का करना (दानम्) सुपात्रों को विद्या सुवर्ण आदि और प्रजा को अभयदान देना (प्रजानां, रक्षणम्) प्रजाओं का सब प्रकार से सर्वदा यथावत् पालन करना यह धर्म क्षत्रियों के धर्म के लक्षणों में, और शस्त्रविद्या का पढ़ाना, न्यायघर और सेना में जीविका करना क्षत्रियों की जीविका है (विषयेष्वप्रसक्तिः) विषयों में अनासक्त हो के सदा जितेन्द्रिय रहना लोभ व्यभिचार मद्यपानादि नशा आदि दुर्व्यसनों से पृथक् रहकर विनय सुशीलतादि शुभ कर्मों में सदा प्रवृत्त रहना (शौर्यम्) शस्त्र संग्राम मृत्यु और शस्त्रप्रहारादि से न डरना (तेजः) प्रगल्भ उत्तम प्रतापी होकर किसी के सामने दीन वा भीरु न होना (धृतिः) चाहे कितनी आपत्, विपत्, क्लेश, दुःख प्राप्त हो तथापि धैर्य रखके कभी न घबराना (दाक्ष्यम्) संग्राम, वाग्युद्ध, दूतत्व, विचार आदि सब में अतिचतुर बुद्धिमान् होना (युद्धे, चाप्यपलायनम्) युद्ध में सदा उद्यत रहना युद्ध से घबरा कर शत्रु के वश में कभी न होना (दानम्) इसका अर्थ प्रथम श्लोक में आगया (ईश्वरभावः) जैसे परमेश्वर सब के ऊपर दया करके, पितृवत् वर्त्तमान, पक्षपात छोड़कर, धर्माऽधर्म करनेवालों का यथायोग्य सुख दुःखरूप फल देता और अपने सर्वज्ञता आदि साधनों से सब का अन्तर्यामी होकर सब के अच्छे बुरे कर्मों को यथावत् देखता है, वैसे प्रजा के साथ वर्त कर, गुप्त दूत आदि से अपने को सब प्रजा वा राजपुरुषों के अच्छे बुरे कर्मों से सदा ज्ञात रखना, रात दिन न्याय करने और प्रजा को यथावत् सुख देने, श्रेष्ठों का मान और दुष्टों को दण्ड करने में सदा प्रवृत्त रहना, और सब प्रकार से अपने शरीर को रोग-रहित, बलिष्ठ, दृढ़, तेजस्वी, दीर्घायु रख के आत्मा को न्याय धर्म में चला कर कृतकृत्य करना आदि गुण कर्मों का योग जिस व्यक्ति में हो वह क्षत्रिय और क्षत्रिया होवे । इनका भी इन्हीं गुण कर्मों के मेल से विवाह करना । और

जैसे ब्राह्मण पुरुषों और ब्राह्मणी स्त्रियों को पढ़ावे वैसे ही राजा पुरुषों और राणी स्त्रियों की न्याय तथा उन्नति सदा किया करे। जो क्षत्रिय राजा न हों वे भी राज में ही यथाधिकार से नौकरी किया करें ॥

अथ वैश्यस्वरूपलक्षणम्

पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च ॥ १ ॥ मनु० ॥

अर्थः–(अध्ययनम्) वेदादि शास्त्रों का पढ़ना (इज्या) अग्निहोत्रादि यज्ञों का करना (दानम्) अन्नादि का दान देना ये तीन धर्म के लक्षण और (पशूनां, रक्षणम्) गाय आदि पशुओं का पालन करना उनसे दुग्धादि का बेचना (वणिक्पथम्) नाना देशों की भाषा, हिसाब, भूगर्भविद्या, भूमि, बीज आदि के गुण जानना और सब पदार्थों के भावाभाव समझना (कुसीदम्) व्याज का लेना * (कृषिमेव च) खेती की विद्या का जानना, अन्न आदि की रक्षा, खात और भूमि की परीक्षा, जोतना बोना आदि व्यवहार का जानना ये चार कर्म वैश्य की जीविका। ये गुण कर्म जिस व्यक्ति में हों वह वैश्य वैश्या। और इन्हीं की परस्पर परीक्षा और योग से विवाह होना चाहिये ॥ १ ॥

अथ शूद्रस्वरूपलक्षणम्

एकमेव हि शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत् ।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया ॥ १ ॥ मनु० ॥

अर्थः—(प्रभुः) परमेश्वर ने (शूद्रस्य) जो विद्याहीन, जिसको पढ़ने से भी विद्या न आसके, शरीर से पुष्ट, सेवा में कुशल हो उस शूद्र के लिये (एतेषामेव वर्णानाम्) इन ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य तीनों वर्णों की (अनसूयया)

* सवा रुपये सैकड़े से अधिक, चार आने से न्यून व्याज न लेवे न देवे। जब दूना धन आजाय उससे आगे कौड़ी न लेवे न देवे जितना न्यून व्याज लेवेगा उतना ही उसका धन बढ़ेगा और कभी धन का नाश और कुसन्तान उसके कुल में न होंगे ॥

निन्दा से रहित प्रीति से सेवा करना (एकमेव कर्म) यही एक कर्म (समादिशत्) करने की आज्ञा दी है । ये मूर्खत्वादि गुण और सेवा आदि कर्म जिस व्यक्ति में हों वह शूद्र और शूद्रा है । इन्हीं की परीक्षा से इनका विवाह और इनको अधिकार भी ऐसा ही होना चाहिये । इन गुण कर्मों के योग ही से चारों वर्ण होवें तो उस कुल देश और मनुष्य समुदाय की बड़ी उन्नति होवे और जिनका जन्म जिस वर्ण में हो उसी के सदृश गुण कर्म स्वभाव हों तो अतिविशेष है ॥ १ ॥

अब सब ब्राह्मणादि वर्णवाले मनुष्य लोग अपने २ कर्मों में निम्नलिखित रीति से वर्त्तें ॥

वेदोदितं स्वकं कर्म नित्यं कुर्यादतन्द्रितः ।
तद्धि कुर्वन्यथाशक्ति प्राप्नोति परमां गतिम् ॥ १ ॥
नेहेतार्थान् प्रसंगेन न विरुद्धेन कर्मणा ।
न विद्यमानेष्वर्थेषु नार्त्यामपि यतस्ततः ॥ २ ॥ मनु० ॥

अर्थः—ब्राह्मणादि द्विज वेदोक्त अपने कर्म को आलस्य छोड़ के नित्य किया करें उसको अपने सामर्थ्य के अनुसार करते हुए, मुक्ति पर्यन्त पदार्थों को प्राप्त होते हैं ॥ १ ॥ गृहस्थ कभी किसी दुष्ट के प्रसंग से द्रव्यसंचय न करे, न विरुद्ध कर्म से, न विद्यमान पदार्थ होते हुए उन को गुप्त रख के दूसरे से छल करके और चाहे कितना ही दुःख पड़े तथापि अधर्म से द्रव्यसञ्चय कभी न करे ॥ २ ॥

इन्द्रियार्थेषु सर्वेषु न प्रसज्येत कामतः ।
अतिप्रसक्तिं चैतेषां मनसा सन्निवर्त्तयेत् ॥ ३ ॥
सर्वान् परित्यजेदर्थान् स्वाध्यायस्य विरोधिनः ।
यथा तथाऽध्यापयंस्तु साह्यस्य कृतकृत्यता ॥ ४ ॥ मनु० ॥

अर्थः—इन्द्रियों के विषयों में काम से कभी न फँसे, और विषयों की अत्यन्त प्रसक्ति अर्थात् प्रसंग को मन से अच्छे प्रकार दूर करता रहे ॥ ३ ॥

जो स्वाध्याय और धर्मविरोधी व्यवहार वा पदार्थ हैं उन सबको छोड़ देवे, जिस किसी प्रकार से विद्या को पढ़ाते रहना ही गृहस्थ को कृतकृत्य होना है ॥ ४ ॥

बुद्धिवृद्धिकराण्याशु धन्यानि च हितानि च ।
नित्यं शास्त्राण्यवेक्षेत निगमांश्चैव वैदिकान् ॥ ५ ॥
यथा यथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति ।
तथा तथा विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते ॥ ६ ॥
न संवसेच्च पतितैर्न चाण्डालैर्न पुक्कसैः ।
न मूर्खैर्नावलिप्तैश्च नान्त्यैर्नान्त्यावसायिभिः ॥ ७ ॥
नात्मानमवमन्येत पूर्वाभिरसमृद्धिभिः ।
आमृत्योः श्रियमन्विच्छेन्नैनां मन्येत दुर्लभाम् ॥ ८ ॥
सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम् ।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ॥ ९ ॥ मनु० ॥

अर्थः—हे स्त्री पुरुषो ! तुम जो धर्म, धन और बुद्ध्यादि को अत्यन्त शीघ्र बढ़ानेहारे हितकारी शास्त्र हैं उनको और वेद के भागों की विद्याओं को नित्य देखा करो ॥ ५ ॥ मनुष्य जैसे २ शास्त्र को विचार कर उसके यथार्थ भाव को प्राप्त होता है वैसे २ अधिक २ जानता जाता है और इसकी प्रीति विज्ञान ही में होती जाती है ॥ ६ ॥ सज्जन गृहस्थ लोगों को योग्य है कि जो पतित दुष्ट कर्म करनेहारे हों न उनके, न चांडाल, न कंजर, न मूर्ख, न मिथ्याभिमानी और न नीच निश्चयवाले मनुष्यों के साथ कभी निवास करें ॥ ७ ॥ गृहस्थ लोग कभी प्रथम पुष्कल धनी हो के पश्चात् दरिद्र हो जायं उससे अपने आत्मा का अपमान न करें कि हाय हम निर्धनी होगये इत्यादि विलाप भी न करें किन्तु मृत्युपर्यन्त लक्ष्मी की उन्नति में पुरुषार्थ किया करें और लक्ष्मी को दुर्लभ न समझें ॥ ८ ॥ मनुष्य सदैव सत्य बोलें और दूसरे को कल्याणकारक उपदेश करें । काणे को काणा और मूर्ख को मूर्ख आदि अप्रिय वचन उनके सम्मुख कभी न बोलें और जिस मिथ्याभाषण से दूसरा प्रसन्न होता हो उसको भी न बोलें यह सनातन धर्म है ॥ ९ ॥

अभिवादयेद्वृद्धांश्च दद्याच्चैवासनं स्वकम् ।
कृताञ्जलिरुपासीत गच्छतः पृष्ठतोऽन्वियात् ॥ १० ॥
श्रुतिस्मृत्युदितं सम्यङ् निबद्धं स्वेषु कर्मसु ।
धर्ममूलं निषेवेत सदाचारमतन्द्रितः ॥ ११ ॥
आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः ।
आचाराद्धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम् ॥ १२ ॥
दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः ।
दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च ॥ १३ ॥
सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान्नरः ।
श्रद्दधानोऽनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति ॥ १४ ॥ मनु० ॥

अर्थः—सदा विद्यावृद्धों और वयोवृद्धों को नमस्ते अर्थात् उनका मान किया करें । जब वे अपने समीप आवें तब उठकर मानपूर्वक ले अपने आसन पर बैठावे और हाथ जोड़ के आप समीप बैठे, पूछे (हु)वे उत्तर देवें और जब जाने लगें तब थोड़ी दूर पीछे २ जाकर नमस्ते कर विदा किया करे और वृद्ध लोग हरवार निकम्मे जहां तहां न जाया करें ॥ १० ॥ गृहस्थ सदा आलस्य को छोड़कर वेद और मनुस्मृति में वेदानुकूल कहे हुए अपने कर्मों में निबद्ध और धर्म का मूल सदाचार अर्थात् जो सत्य और सत्पुरुष आप्त धर्मात्माओं का आचरण है उसका सेवन सदा किया करें ॥ ११ ॥ धर्माचरण ही से दीर्घायु उत्तम प्रजा और अक्षय धन को मनुष्य प्राप्त होता है और धर्माचार बुरे अधर्मयुक्त लक्षणों का नाश करदेता है ॥ १२ ॥ और जो दुष्टाचारी पुरुष होता है वह सर्वत्र निन्दित दुःखभागी और व्याधि से अल्पायु सदा होजाता है ॥ १३ ॥ जो सब अच्छे लक्षणों से हीन भी होकर सदाचारयुक्त सत्य में श्रद्धा और निन्दा आदि दोष रहित होता है वह सुख से सौ वर्ष पर्यन्त जीता है ॥ १४ ॥

यद्यत्परवशं कर्म तत्तद्यत्नेन वर्जयेत् ।
यद्यदात्मवशं तु स्यात्तत्तत्सेवेत यत्नतः ॥ १५ ॥

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम् ।
एतद्विद्यात्समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः ॥ १६ ॥
अधार्मिको नरो यो हि यस्य चाप्यनृतं धनम् ।
हिंसारतश्च यो नित्यं नेहासौ सुखमेधते ॥ १७ ॥ मनु० ॥

अर्थः—मनुष्य जो २ पराधीन कर्म हो उस २ को प्रयत्न से सदा छोड़े और जो २ स्वाधीन कर्म हो उस २ का सेवन प्रयत्न से किया करे ॥ १५ ॥ क्योंकि जितना परवश होना है वह सब दुःख और जितना स्वाधीन रहना है वह सब सुख कहाता है यही संक्षेप से सुख और दुःख का लक्षण जानो ॥१६॥ जो अधार्मिक मनुष्य है और जिस का अधर्म से संचित किया हुआ धन है और जो सदा हिंसा में अर्थात् वैर में प्रवृत्त रहता है वह इस लोक और परलोक अर्थात् परजन्म में सुख को कभी नहीं प्राप्त हो सकता ॥ १७ ॥

नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव ।
शनैरावर्त्तमानस्तु कर्त्तुर्मूलानि कृन्तति ॥ १८ ॥
यदि नात्मनि पुत्रेषु न चेत्पुत्रेषु नप्तृषु ।
न त्वेवन्तु कृतोऽधर्मः कर्त्तुर्भवति निष्फलः ॥ १९ ॥
सत्यधर्मार्यवृत्तेषु शौचे चैवारमेत्सदा ।
शिष्यांश्च शिष्याद्धर्मेण वाग्बाहूदरसंयतः ॥ २० ॥ मनु० ॥

अर्थः—मनुष्य निश्चय करके जाने कि इस संसार में जैसे गाय की सेवा का फल दूध आदि शीघ्र नहीं होता वैसे ही किये हुए अधर्म का फल भी शीघ्र नहीं होता किन्तु धीरे २ अधर्मकर्त्ता के सुखों को रोकता हुआ सुख के मूलों को काट देता है पश्चात् अधर्मी दुःख ही दुःख भोगता है ॥ १८ ॥ यदि अधर्म का फल कर्त्ता की विद्यमानता में न हो तो पुत्रों और पुत्रों के समय में न हो तो नातियों के समय में अवश्य प्राप्त होता है किन्तु यह कभी नहीं हो सकता कि कर्त्ता का किया हुआ कर्म निष्फल होवे ॥ १९ ॥ इसलिये मनुष्यों को योग्य है कि सत्य धर्म और आर्य अर्थात् उत्तम पुरुषों के आचरणों और भीतर बाहर

की पवित्रता में सदा रमण करें। अपनी वाणी बाहू उदर को नियम और सत्य-धर्म के साथ वर्त्तमान रख के शिष्यों को सदा शिक्षा किया करें ॥ २० ॥

परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ ।
धर्मं चाप्यसुखोदर्कं लोकविकुष्टमेव च ॥ २१ ॥
धर्मं शनैस्संचिनुयाद्वल्मीकमिव पुत्तिकाः ।
परलोकसहायार्थं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥ २२ ॥
उत्तमैरुत्तमैर्नित्यं सम्बन्धानाचरेत्सह ।
निनीषुः कुलमुत्कर्षमधमानधमांस्त्यजेत् ॥ २३ ॥
वाच्यर्था नियताः सर्वे वाङ्मूला वाग्विनिःसृताः ।
तान्तु यः स्तेनयेद्वाचं स सर्वस्तेयकृन्नरः ॥ २४ ॥
स्वाध्यायेन जपैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः ।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ॥ २५ ॥ मनु० ॥

अर्थः—जो धर्म से वर्जित धनादि पदार्थ और काम हों उनको सर्वथा शीघ्र छोड़ देवे और जो धर्माभास अर्थात् उत्तरकाल में दुःखदायक कर्म हैं और जो लोगों को निन्दित कर्म में प्रवृत्त करनेवाले कर्म हैं उनसे भी दूर रहे ॥ २१ ॥ जैसे दमिक धीरे २ बड़े भारी घर को बना लेती हैं वैसे मनुष्य पर-जन्म के सहाय के लिये सब प्राणियों को पीड़ा न देकर धर्म का संचय धीरे धीरे किया करे ॥ २२ ॥ जो मनुष्य अपने कुल को उत्तम करना चाहे वह नीच नीच पुरुषों का सम्बन्ध छोड़कर नित्य अच्छे अच्छे पुरुषों से सम्बन्ध बढ़ाता जावे ॥ २३ ॥ जिस वाणी में सब व्यवहार, निश्चित वाणी ही जिन का मूल और जिस वाणी ही से सब व्यवहार सिद्ध होते हैं जो मनुष्य उस वाणी को चोरता अर्थात् मिथ्याभाषण करता है वह जानो सब चोरी आदि पाप ही को करता है इसलिये मिथ्याभाषण को छोड़ के सदा सत्यभाषण ही किया करे ॥ २४ ॥ मनुष्यों को चाहिये कि धर्म से वेदादि शास्त्रों का पठन पाठन, गायत्री प्रणवादि का अर्थ विचार, ध्यान, अग्निहोत्रादि होम, कर्मोपासना ज्ञान विद्या, पौर्णमास्यादि इष्टि, पञ्चमहायज्ञ, अग्निष्टोम आदि, न्याय से राज्यपालन,

सत्योपदेश और योगाभ्यासादि उत्तम कर्मों से इस शरीर को (ब्राह्मी) अर्थात् ब्रह्मसम्बन्धी करे ॥ २५ ॥

अथ सभा०— जो २ विशेष बड़े २ काम हों जैसा कि राज्य, वे सब सभा से निश्चय करके किये जावें ।

इसमें प्रमाण—तं सभा च समितिश्च सेना च ॥ १ ॥ अथर्व० कां० १५ । सू० ६ । मं० २ ॥ सभ्य सभां मे पाहि ये च सभ्याः सभासदः ॥ २ ॥ अथर्व० कां० १६ । सू० ५५ । मं० ५ ॥ त्रीणि राजाना विदथे पुरूणि परि विश्वानि भूषथः सदांसि ॥ ३ ॥ ऋ० मं० ३ । सू० ३८ । मं० ६ ॥

अर्थः—(तम्) जो कि संसार में धर्म के साथ राज्यपालनादि किया जाता है उस व्यवहार को सभा और संग्राम तथा सेना सब प्रकार संचित करे ॥ १ ॥ हे सभ्य सभा के योग्य सभापते राजन् ! तू (मे) मेरी (सभाम्) सभा की (पाहि) रक्षा और उन्नति किया कर (ये, च) और जो (सभ्याः) सभा के योग्य धार्मिक आप्त (सभासदः) सभासद् विद्वान् लोग हैं वे भी सभा की योजना रक्षा और उससे सब की उन्नति किया करें ॥ २ ॥ जो (राजाना) राजा और प्रजा के भद्र पुरुषों के दोनों समुदाय हैं वे (विदथे) उत्तम ज्ञान और लाभदायक इस जगत् अथवा संग्रामादि कार्यों में (त्रीणि) राजसभा, धर्मसभा और विद्यासभा अर्थात् विद्यादि व्यवहारों की वृद्धि के लिये ये तीन प्रकार की (सदांसि) सभा नियत कर इन्हीं से संसार की सब प्रकार की उन्नति करें ॥ ३ ॥

अनाम्नातेषु धर्मेषु कथं स्यादिति चेद्भवेत् ।
यं शिष्टा ब्राह्मणा ब्रूयुस्स धर्मः स्यादशङ्कितः ॥ १ ॥
धर्मेणाधिगतो यैस्तु वेदः सपरिबृंहणः ।
ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेयाः श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः ॥ २ ॥ मनु० ॥

अर्थः-हे गृहस्थ लोगो ! जो धर्मयुक्त व्यवहार मनुस्मृति आदि में प्रत्यक्ष

न कहे हों यदि उनमें शंका होवे तो तुम जिसको शिष्ट आप्त विद्वान् कहें उसी को शंकारहित कर्त्तव्य धर्म मानो ॥ १ ॥ शिष्ट सब मनुष्यमात्र नहीं होते किन्तु जिन्हों ने पूर्ण ब्रह्मचर्य्य और धर्म से साङ्गोपाङ्ग वेद पढ़े हों जो श्रुति प्रमाण और प्रत्यक्षादि प्रमाणों ही से विधि वा निषेध करने में समर्थ धार्मिक परोपकारी हों वे ही शिष्ट पुरुष होते हैं ॥ २ ॥

दशावरा वा परिषद्यं धर्मं परिकल्पयेत् ।
त्र्यवरा वापि वृत्तस्था तं धर्मं न विचालयेत् ॥ ३ ॥
त्रैविद्यो हैतुकस्तर्की नैरुक्तो धर्मपाठकः ।
त्रयश्चाश्रमिणः पूर्वे परिषत्स्याद्दशावरा ॥ ४ ॥
ऋग्वेदविद्यजुर्विच्च सामवेदविदेव च ।
त्र्यवरा परिषज्ज्ञेया धर्मसंशयनिर्णये ॥ ५ ॥
एकोऽपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येद् द्विजोत्तमः ।
स विज्ञेयः परो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः ॥ ६ ॥ मनु० ॥

अर्थः—वैसे शिष्ट न्यून से न्यून १० (दश) पुरुषों की सभा होवे अथवा बड़े विद्वान् तीनों की भी सभा हो सकती है जो सभा से धर्म कर्म निश्चित हों उनका भी आचरण सब लोग करें ॥ ३ ॥ उन दशों में इस प्रकार के विद्वान् होवें—३ (तीन) वेदों के विद्वान्, चौथा हैतुक अर्थात् कारण अकारण का ज्ञाता, पांचवां तर्की न्यायशास्त्रवित्, छठा निरुक्त का जाननेहारा, सातवां धर्मशास्त्रवित्, आठवां ब्रह्मचारी, नववां गृहस्थ और दशवां वानप्रस्थ इन महात्माओं की सभा होवे ॥ ४ ॥ तथा ऋग्वेदवित् यजुर्वेदवित् और सामवेदवित् इन तीनों विद्वानों की भी सभा धर्मसंशय अर्थात् सब व्यवहारों के निर्णय के लिये होनी चाहिये और जितने सभा में अधिक पुरुष हों उतनी ही उत्तमता है ॥ ५ ॥ द्विजों में उत्तम अर्थात् चतुर्थाश्रमी संन्यासी अकेला भी जिस धर्म व्यवहार के करने का निश्चय करे वही परमधर्म समझना किन्तु अज्ञानियों के सहस्रों लाखों और क्रोड़ों पुरुषों का कहा हुआ धर्मव्यवहार कभी न मानना चाहिये, किन्तु

धर्मात्मा विद्वानों और विशेष परमविद्वान् संन्यासी का वेदादि प्रमाणों से कहा हुआ धर्म सब को मानने योग्य है ॥ ६ ॥

यदि सभा में मतभेद हो तो बहुपक्षानुसार मानना और समपक्ष में उत्तमों की बात स्वीकार करनी और दोनों पक्षवाले बराबर उत्तम हों तो वहां संन्यासियों की सम्मति लेनी, जिधर पक्षपातरहित सर्वहितैषी संन्यासियों की सम्मति होवे वही उत्तम समझनी चाहिये ।

चतुर्भिरपि चैवैतैर्नित्यमाश्रमिभिर्द्विजैः ।
दशलक्षणको धर्मस्सेवितव्यः प्रयत्नतः ॥ ७ ॥
धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥ ८ ॥ मनु० ॥

अर्थः—ब्रह्मचारी गृहस्थ वानप्रस्थ संन्यासी आदि सब मनुष्यों को योग्य है कि निम्नलिखित धर्म का सेवन और उससे विरुद्ध अधर्म का त्याग प्रयत्न से किया करें ॥ ७ ॥ धर्म, न्याय नाम पक्षपात छोड़ कर सत्य ही का आचरण और असत्य का सर्वदा परित्याग रखना इस धर्म के ग्यारह लक्षण हैं, (अहिंसा) किसी से वैरबुद्धि करके उसके अनिष्ट करने में कभी न वर्त्तना, (धृतिः) सुख दुःख हानि लाभ में भी व्याकुल होकर धर्म को न छोड़ना किन्तु धैर्य से धर्म ही में स्थिर रहना, (क्षमा) निन्दा स्तुति मानापमान का सहन करके धर्म ही करना, (दमः) मन को अधर्म से सदा हटाकर धर्म ही में प्रवृत्त रखना (अस्तेयम्) मन कर्म, वचन से अन्याय और अधर्म से पराये द्रव्य का स्वीकार न करना (शौचम्) रागद्वेषादि त्याग से आत्मा और मन को पवित्र और जलादि से शरीर को शुद्ध रखना (इन्द्रियनिग्रहः) श्रोत्रादि बाह्य इन्द्रियों को अधर्म से हटा के धर्म ही में चलाना (धीः) वेदादि सत्यविद्या ब्रह्मचर्य सत्सङ्ग करने और कुसंग दुर्व्यसन मद्यपानादि त्याग से बुद्धि को सदा बढ़ाते रहना (विद्या) जिससे भूमि से ले के परमेश्वर पर्यन्त का यथार्थ बोध होता है उस विद्या को प्राप्त होना, (सत्यम्) सत्य मानना सत्य बोलना

सत्य करना, (अक्रोधः) क्रोधादि दोषों को छोड़कर शान्त्यादि गुणों का ग्रहण करना धर्म कहाता है इस का ग्रहण, और अन्याय पक्षपातसहित आचरण अधर्म जो कि हिंसा वैरबुद्धि, अधैर्य असहन, मन को अधर्म में चलाना, चोरी करना, अपवित्र रहना, इन्द्रियों को न जीत कर अधर्म में चलाना, कुसंग दुर्व्यसन मद्यपानादि से बुद्धि को नाश करना, अविद्या जो कि अधर्माचरण अज्ञान है उसमें फँसना, असत्य मानना असत्य बोलना, क्रोधादि दोषों में फंसकर अधर्मी दुष्टाचारी होना, ये ग्यारह अधर्म के लक्षण हैं, इनसे सदा दूर रहना चाहिये ॥ ८ ॥

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा न ते वृद्धा ये न वदन्ति धर्मम् ।
नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति न तत्सत्यं यच्छलेनाभ्युपेतम् ॥
महाभारते० ॥ ९ ॥

सभां वा न प्रवेष्टव्यं वक्तव्यं वा समञ्जसम् ।
अब्रुवन् विब्रुवन्वापि नरो भवति किल्बिषी ॥ १० ॥
धर्मो विद्धस्त्वधर्मेण सभां यत्रोपतिष्ठते ।
शल्यं चास्य न कृन्तन्ति विद्धास्तत्र सभासदः ॥ ११ ॥
विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः ।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तन्निबोधत ॥ १२ ॥ मनु० ॥

वह सभा नहीं है जिसमें वृद्ध पुरुष न होवें, वे वृद्ध नहीं हैं जो धर्म ही की बात नहीं बोलते, वह धर्म नहीं है जिसमें सत्य नहीं और न वह सत्य है जो कि छल से युक्त हो ॥ ९ ॥ मनुष्य को योग्य है कि सभा में प्रवेश न करे, यदि सभा में प्रवेश करे तो सत्य ही बोले, यदि सभा में बैठा हुआ भी असत्य बात को सुन के मौन रहे अथवा सत्य के विरुद्ध बोले वह मनुष्य अतिपापी है ॥ १० ॥ अधर्म से धर्म घायल होकर जिस सभा में प्राप्त होवे उसके घाव को यदि सभासद् न पूर देवें तो निश्चय जानो कि उस सभा में सब सभासद ही घायल पड़े हैं ॥ ११ ॥ जिसको सत्पुरुष रागद्वेषरहित विद्वान् अपने हृदय से अनुकूल जानकर सेवन करते हैं उसी पूर्वोक्त को तुम लोग धर्म जानो ॥ १२ ॥

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः ।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोवधीत् ॥ १३ ॥
वृषो हि भगवान्धर्मस्तस्य यः कुरुते ह्यलम् ।
वृषलं तं विदुर्देवास्तस्माद्धर्मं न लोपयेत् ॥ १४ ॥ मनु० ॥

जो पुरुष धर्म का नाश करता है उसी का नाश धर्म कर देता है और जो धर्म की रक्षा करता है उसकी धर्म भी रक्षा करता है इसलिये मारा हुआ धर्म कभी हम को न मार डाले इस भय से धर्म का हनन अर्थात् त्याग कभी न करना चाहिये ॥ १३ ॥ जो सुख की वृष्टि करनेहारा सब ऐश्वर्य का दाता धर्म है उसका जो लोप करता है उसको विद्वान् लोग वृषल अर्थात् नीच समझते हैं ॥ १४ ॥

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः ।
धर्मो नित्यः सुखदुःखे त्वनित्ये जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः ॥ १५ ॥
महाभारते ॥

यत्र धर्मो ह्यधर्मेण सत्यं यत्रानृतेन च ।
हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदः ॥ १६ ॥ मनु० ॥
निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु,
लक्ष्मीस्समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम् ।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ॥ १७ ॥ भर्तृहरिः ॥

अर्थः—मनुष्यों को योग्य है कि काम से अर्थात् झूठ से कामना सिद्धि होने के कारण से, वा निन्दा स्तुति आदि के भय से भी, धर्म का त्याग कभी न करें, और न लोभ से, चाहे झूठ अधर्म से चक्रवर्त्ती राज्य भी मिलता हो तथापि धर्म को छोड़कर चक्रवर्त्ती राज्य को भी ग्रहण न करें । चाहे भोजन छादन जलपान आदि की जीविका भी अधर्म से हो सके वा प्राण जाते हों परन्तु जीविका के लिये भी धर्म को कभी न छोड़ें । क्योंकि जीव और धर्म नित्य हैं,

तथा सुख दुःख दोनों अनित्य हैं। अनित्य के लिये नित्य का छोड़ना अतीव दुष्ट कर्म है। इस धर्म का हेतु कि जिस शरीर आदि से धर्म होता है वह भी अनित्य है। धन्य वे मनुष्य हैं जो अनित्य शरीर और सुख दुःखादि के व्यवहार में वर्त्तमान होकर नित्य धर्म का त्याग कभी नहीं करते ॥ १५ ॥ जिस सभा में बैठे हुए सभासदों के सामने अधर्म से धर्म और झूठ से सत्य का हनन होता है उस सभा में सब सभासद मरे से ही हैं ॥ १६ ॥ सब मनुष्यों को यह निश्चय जानना चाहिये कि चाहे सांसारिक अपने प्रयोजन की नीति में वर्त्तनेहारे चतुर पुरुष निन्दा करें वा स्तुति करें, लक्ष्मी प्राप्त होवे अथवा नष्ट होजावे, आज ही मरण होवे अथवा वर्षान्तर में मृत्यु प्राप्त होवे, तथापि जो मनुष्य धर्मयुक्त मार्ग से एक पग भी विरुद्ध नहीं चलते वे ही धीर पुरुष धन्य हैं ॥१७॥

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्। देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥ १ ॥ ऋ० मं० १० । सू० १९१ । मं० २ ॥

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत्सत्यानृते प्रजापतिः। अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धाꣳ सत्ये प्रजापतिः ॥ २ ॥ यजु० अ० १९ । मं० ७७ ॥

सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै। तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै। ओं शान्तिश्शान्तिश्शान्तिः ॥ तैत्तिरीयार० अष्टमप्रपाठकः। प्रथमानुवाकः ॥

अर्थः—हे गृहस्थादि मनुष्यो ! तुमको मैं ईश्वर आज्ञा देता हूं कि (यथा) जैसे (पूर्वे) प्रथम अधीत विद्यायोगाभ्यासी (संजानानाः) सम्यक् जाननेवाले (देवाः) विद्वान् लोग मिलके (भागम्) सत्य असत्य का निर्णय करके असत्य को छोड़ सत्य की (उपासते) उपासना करते हैं वैसे (सम्, जानताम्) आत्मा से धर्माऽधर्म प्रियाऽप्रिय को सम्यक् जाननेहारे (वः) तुम्हारे (मनांसि) मन एक दूसरे से अविरोधी होकर एक पूर्वोक्त धर्म्म में सम्मत होवें और तुम उसी धर्म को (संगच्छध्वम्) सम्यक् मिल के प्राप्त होओ जिसमें तुम्हारी एक सम्मति होती है और विरुद्धवाद अधर्म को छोड़ के (संवदध्वम्) सम्यक् संवाद

प्रश्नोत्तर प्रीति से करके एक दूसरे की उन्नति किया करो ॥ १ ॥ (प्रजापतिः) सकल सृष्टि का उत्पत्ति और पालन करनेहारा सर्वव्यापक सर्वज्ञ न्यायकारी अद्वितीय स्वामी परमात्मा (सत्यानृते) सत्य और अनृत (रूपे) भिन्न २ स्वरूपवाले धर्म अधर्म को (दृष्ट्वा) अपनी सर्वज्ञता से यथावत् देख के (व्याकरोत्) भिन्न २ निश्चित करता है (अनृते) मिथ्याभाषणादि अधर्म में (अश्रद्धाम्) अप्रीति करो और (प्रजापतिः) वही परमात्मा (सत्ये) सत्यभाषणादि लक्षणयुक्त न्याय पक्षपातरहित धर्म में तुम्हारी (श्रद्धाम्) प्रीति को (अदधात्) धारण कराता है वैसा ही तुम करो ॥ २ ॥ हम स्त्री पुरुष, सेवक स्वामी, मित्र मित्र, पिता पुत्रादि (सह) मिलके (नौ) हम दोनों प्रीति से (अवतु) एक दूसरे की रक्षा किया करें और (सह) प्रीति से मिल के एक दूसरे के (वीर्यम्) पराक्रम की बढ़ती (करवावहै) सदा किया करें (नौ) हमारा (अधीतम्) पढ़ा पढ़ाया (तेजस्वि) अतिप्रकाशमान (अस्तु) होवे और हम एक दूसरे से (मा, विद्विषावहै) कभी विद्वेष विरोध न करें। किन्तु सदा मित्रभाव और एक दूसरे के साथ सत्य प्रेम से वर्त्त कर सब गृहस्थों के सद्व्यवहारों को बढ़ाते हुए सदा आनन्द में बढ़ते जावें। जिस परमात्मा का यह "ओम्" नाम है उसकी कृपा और अपने धर्मयुक्त पुरुषार्थ से हमारे शरीर मन और आत्मा का त्रिविध दुःख जो कि अपने दूसरे से होता है नष्ट होजावे और हम लोग प्रीति से एक दूसरे के साथ वर्त्त के धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि में सफल हो के सदैव स्वयं आनन्द में रहकर सबको आनन्द में रक्खें ॥

इति गृहाश्रमसंस्कारविधिः समाप्तः

अथ

वानप्रस्थसंस्कारविधिं वक्ष्यामः

वानप्रस्थसंस्कार उसको कहते हैं जो विवाह से सन्तानोत्पत्ति करके पूर्ण ब्रह्मचर्य से पुत्र भी विवाह करे और पुत्र का भी एक सन्तान होजाय अर्थात् जब पुत्र का भी पुत्र होजावे तब पुरुष वानप्रस्थाश्रम अर्थात् वन में जाकर निम्नलिखित सब बातें करे ॥

अत्र प्रमाणानि—ब्रह्मचर्याश्रमं समाप्य गृही भवेद् गृही भूत्वा वनी भवेद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत् ॥ १ ॥ शतपथब्राह्मणे ॥

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम् ।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते ॥ २ ॥

यजु० अ० १९ । मं० ३० ॥

अर्थः—मनुष्यों को चाहिये कि ब्रह्मचर्याश्रम की समाप्ति करके गृहस्थ होवें गृहस्थ होके वनी अर्थात् वानप्रस्थ होवें और वानप्रस्थ होके संन्यास ग्रहण करें ॥ १ ॥ जब मनुष्य ब्रह्मचर्यादि तथा सत्यभाषणादि व्रत अर्थात् नियम धारण करता है तब उस (व्रतेन) व्रत से उत्तम प्रतिष्ठारूप (दीक्षाम्) दीक्षा को (आप्नोति) प्राप्त होता है (दीक्षया) ब्रह्मचर्यादि आश्रमों के नियम पालन से (दक्षिणाम्) सत्कारपूर्वक धनादि को (आप्नोति) प्राप्त होता है (दक्षिणा) उस सत्कार से (श्रद्धाम्) सत्य धारण में प्रीति को (आप्नोति) प्राप्त होता है और (श्रद्धया) सत्यधार्मिक जनों में प्रीति से (सत्यम्) सत्यविज्ञान वा सत्य पदार्थ मनुष्य को (आप्यते) प्राप्त होता है इसलिये श्रद्धापूर्वक ब्रह्मचर्य और गृहाश्रम का अनुष्ठान करके वानप्रस्थ आश्रम अवश्य करना चाहिये ॥ २ ॥

अभ्यादधामि समिधमग्ने व्रतपते त्वयि । व्रतञ्च श्रद्धां चोपैमीन्धे त्वा दीक्षितो अहम् ॥ ३ ॥ यजु० अ० २० । मं० २४ ॥

आ नयैतमा रभस्व सुकृतां लोकमपि गच्छतु प्रजानन् । तीर्त्वा तमांसि बहुधा महान्त्यजो नाकमाक्रमतां तृतीयम् ॥ ४ ॥ अथर्व० कां० ६ । सू० ५ । मं० १ ॥

अर्थः—हे (व्रतपतेऽग्ने) नियमपालकेश्वर ! (दीक्षितः) दीक्षा को प्राप्त होता हुआ (अहम्) मैं (त्वयि) तुझ में स्थिर होके (व्रतम्) ब्रह्मचर्यादि आश्रमों का धारण (च) और उसकी सामग्री (श्रद्धाम्) सत्य की धारणा को (च) और उसके उपायों को (उपैमि) प्राप्त होता हूं इसीलिये अग्नि में जैसे (समिधम्) समिधा को (अभ्यादधामि) धारण करता हूं वैसे विद्या और व्रत को धारण कर प्रज्वलित करता हूं और वैसे ही (त्वा) तुझ को अपने आत्मा में धारण करता और सदा (ईन्धे) प्रकाशित करता हूं ॥ ३ ॥ हे गृहस्थ ! (प्रजानन्) प्रकर्षता से जानता हुआ तू (एतम्) इस वानप्रस्थाश्रम का (आरभस्व) आरम्भ कर (आनय) अपने मन को गृहाश्रम से इधर की ओर ला (सुकृताम्) पुण्यात्माओं के (लोकमपि) देखने योग्य वानप्रस्थाश्रम को भी (गच्छतु) प्राप्त हो (बहुधा) बहुत प्रकार के (महान्ति) बड़े बड़े (तमांसि) अज्ञान दुःख आदि संसार के मोहों को (तीर्त्वा) तर के अर्थात् पृथक् होकर (अजः) अपने आत्मा को अजर अमर जान (तृतीयम्) तीसरे (नाकम्) दुःखरहित वानप्रस्थाश्रम को (आक्रमताम्) आक्रमण अर्थात् रीतिपूर्वक आरूढ़ हो ॥ ४ ॥

भद्रमिच्छन्त ऋषयस्स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे । ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उपसन्नमन्तु ॥ ५ ॥ अथर्व० कां० १६ । सू० ४१ । मं० १ ॥

मा नो मेधां मा नो दीक्षां मा नो हिंसिष्टं यत्तपः । शिवा नः शं सन्त्वायुषे शिवा भवन्तु मातरः ॥ ६ ॥ अथर्व० कां० १६ । सू० ४० । मं० ३ ॥

अर्थः—हे विद्वान् मनुष्यो ! जैसे (स्वर्विदः) सुख को प्राप्त होनेवाले (ऋषयः) विद्वान् लोग (अग्रे) प्रथम (दीक्षाम्) ब्रह्मचर्य्यादि आश्रमों की दीक्षा उपदेश लेके (तपः) प्राणायाम और विद्याध्ययन जितेन्द्रियत्वादि शुभ लक्षणों को (उप, निषेदुः) प्राप्त होकर अनुष्ठान करते हैं वैसे इस (भद्रम्) कल्याणकारक वानप्रस्थाश्रम की (इच्छन्तः) इच्छा करो। जैसे राजकुमार ब्रह्मचर्य्याश्रम को करके (ततः) तदनन्तर (ओजः) पराक्रम (च) और (बलम्) बल को प्राप्त हो के (जातम्) प्रसिद्ध प्राप्त हुए (राष्ट्रम्) राज्य की इच्छा और रक्षा करते हैं और (अस्मै) न्यायकारी धार्मिक विद्वान् राजा को (देवाः) विद्वान् लोग नमन करते हैं (तत्) वैसे सब लोग वानप्रस्थाश्रम को किये हुए आप को (उप, सं, नमन्तु) समीप प्राप्त होके नम्र होवें ॥ ५ ॥ सम्बन्धी जन (नः) हम वानप्रस्थाश्रमस्थों की (मेधाम्) प्रज्ञा को (मा, हिंसिष्ट) नष्ट मत करें (नः) हमारी (दीक्षाम्) दीक्षा को (मा) मत और (नः) हमारा (यत्) जो (तपः) प्राणायामादि उत्तम तप है उसको भी (मा) मत नाश करें (नः) हमारी दीक्षा और (आयुषे) जीवन के लिये सब प्रजा (शिवा) कल्याण करनेहारी (सन्तु) होवें जैसे हमारी (मातरः) माता पितामही प्रपितामही आदि (शिवाः) कल्याण करनेहारी होती हैं वैसे सब लोग प्रसन्न होकर मुझ को वानप्रस्थाश्रम की अनुमति देनेहारे (भवन्तु) होवें ॥६॥

तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्त्या * विद्वांसो भैक्ष्यचर्यां चरन्तः । सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ॥ ७ ॥ मुण्डकोपनि॰ मुं॰ १ । खं॰ २ । मं॰ ११ ॥

अर्थः—हे मनुष्यो ! (ये) जो (विद्वांसः) विद्वान् लोग (अरण्ये) जंगल में (शान्त्या) शान्ति के साथ (तपःश्रद्धे) योगाभ्यास और परमात्मा में प्रीति करके (उपवसन्ति) वनवासियों के समीप वसते हैं और (भैक्ष्यचर्याम्) भिक्षाचरण को (चरन्तः) करते हुए जंगल में निवास करते हैं

* "शान्ता" इति मुण्डके पाठः (आनन्दाश्रमग्रन्थावलिः)

(ते) वे (हि) ही (विरजाः) निर्दोष निष्पाप निर्मल होके (सूर्यद्वारेण) प्राण के द्वारा (यत्र) जहां (सः) सो (अमृतः) मरण जन्म से पृथक् (अव्ययात्मा) नाशरहित (पुरुषः) पूर्ण परमात्मा विराजमान है (हि) वहीं (प्रयान्ति) जाते हैं इसलिये वानप्रस्थाश्रम करना अति उत्तम है ॥ ७ ॥

एवं गृहाश्रमे स्थित्वा विधिवत्स्नातको द्विजः ।
वने वसेत्तु नियतो यथावद्विजितेन्द्रियः ॥ १ ॥
गृहस्थस्तु यदा पश्येद् बलीपलितमात्मनः ।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत् ॥ २ ॥
सन्त्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वञ्चैव परिच्छदम् ।
पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य वनं गच्छेत्सहैव वा ॥ ३ ॥ मनु० ॥

अर्थः—पूर्वोक्त प्रकार विधिपूर्वक ब्रह्मचर्य से पूर्ण विद्या पढ़ के समावर्त्तन के समय स्नानविधि करनेहारा द्विज ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य जितेन्द्रिय जितात्मा होके यथावत् गृहाश्रम कर के वन में वसे ॥ १ ॥ गृहस्थ लोग जब अपने देह का चमड़ा ढीला और श्वेत केश होते हुए देखें और पुत्र का भी पुत्र होजाय तब वन का आश्रय लेवें ॥ २ ॥ जब वानप्रस्थाश्रम की दीक्षा लेवें तब ग्रामों में उत्पन्न हुए पदार्थों का आहार और घर के सब पदार्थों को छोड़ के पुत्रों में अपनी पत्नी को छोड़ अथवा संग में लेके वन को जावें ॥ ३ ॥

अग्निहोत्रं समादाय गृह्यं चाग्निपरिच्छदम् ।
ग्रामादरण्यं निःसृत्य निवसेन्नियतेन्द्रियः ॥ ४ ॥ मनु० ॥

अर्थः—जब गृहस्थ वानप्रस्थ होने की इच्छा करे तब अग्निहोत्र को सामग्री सहित ले के ग्राम से निकल जंगल में जितेन्द्रिय होकर निवास करे ॥ ४ ॥

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्दान्तो मैत्रः समाहितः ।
दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पकः ॥ ५ ॥
तापसेष्वेव विप्रेषु यात्रिकं भैक्ष्यमाहरेत् ।
गृहमेधिषु चान्येषु द्विजेषु वनवासिषु ॥ ६ ॥

एताश्चान्याश्च सेवेत दीक्षा विप्रो वने वसन् ।
विविधाश्चौपनिषदीरात्मसंसिद्धये श्रुतीः ॥ ७ ॥ मनु० अ० ६ ॥

अर्थः—वहां जंगल में वेदादि शास्त्रों को पढ़ने पढ़ाने में नित्य युक्त, मन और इन्द्रियों को जीतकर यदि स्त्री भी समीप हो तथापि उससे सेवा के सिवाय विषयसेवन अर्थात् प्रसङ्ग कभी न करे, सब से मित्रभाव, सावधान, नित्य देने-हारा, और किसी से कुछ भी न लेवे, सब प्राणीमात्र पर अनुकम्पा—कृपा रख-नेहारा होवे ॥ ५ ॥ जो जंगल में पढ़ाने और योगाभ्यास करनेहारे तपस्वी धर्मात्मा विद्वान् लोग रहते हों जो कि गृहस्थ वा वानप्रस्थ वनवासी हों उनके घरों में से भिक्षा ग्रहण करे ॥ ६ ॥ और इस प्रकार वन में वसता हुआ इन और अन्य दीक्षाओं का सेवन करे, और आत्मा तथा परमात्मा के ज्ञान के लिये नाना प्रकार की उपनिषद् अर्थात् ज्ञान और उपासना विधायक श्रुतियों के अर्थों का विचार किया करे, इसी प्रकार जबतक संन्यास करने की इच्छा न हो तबतक वानप्रस्थ ही रहे ॥ ७ ॥

अथ विधिः—वानप्रस्थाश्रम करने का समय ५० वर्ष के उपरान्त है। जब पुत्र का भी पुत्र होजावे तब अपनी स्त्री, पुत्र, भाई, बन्धु, पुत्रवधू आदि को सब गृहाश्रम की शिक्षा करके वन की ओर यात्रा की तय्यारी करे। यदि स्त्री चले तो साथ लेजावे, नहीं तो ज्येष्ठ पुत्र को सौंप जावे कि इसकी सेवा यथावत् किया करना और अपनी पत्नी को शिक्षा कर जावे कि तू सदा पुत्र आदि को धर्ममार्ग में चलने के लिये और अधर्म से हटाने के लिये शिक्षा करती रहना। तत्पश्चात् पृष्ठ १३—१४ में लिखे प्रमाणे यज्ञशाला वेदी आदि सब बनावे। पृष्ठ १४—१५ में लिखे घृत आदि सब सामग्री जोड़ के पृ २०—२१ में लिखे प्रमाणे (ओं भूर्भुवः स्वर्द्यौ०) इस मन्त्र से अग्न्याधान और (अयन्त इध्म०) इत्यादि मन्त्रों से समिदाधान करके पृ० २२ में लिखे प्रमाणेः—

ओं अदितेऽनुमन्यस्व ॥

इत्यादि चार मन्त्रों से कुण्ड के चारों ओर जल प्रोक्षण करके, आघारावा-ज्यभागाहुति ४ और व्याहृति आज्याहुति ४ (चार) करके, पृष्ठ ८—१२ में

लिखे प्रमाणे स्वस्तिवाचन और शान्तिकरण करके, स्थालीपाक बनाकर, उस पर घृत सेचन कर, निम्नलिखित मन्त्रों से आहुति देवे ॥

ओं काय स्वाहा । कस्मै स्वाहा । कतमस्मै स्वाहा । आधिमाधीताय स्वाहा । मनः प्रजापतये स्वाहा । चित्तं विज्ञातायादित्यै स्वाहा । अदित्यै मह्यै स्वाहा । अदित्यै सुमृडीकायै स्वाहा । सरस्वत्यै स्वाहा । सरस्वत्यै पावकायै स्वाहा । सरस्वत्यै बृहत्यै स्वाहा । पूष्णे स्वाहा । पूष्णे प्रपथ्याय स्वाहा । पूष्णे नरन्धिषाय स्वाहा । त्वष्ट्रे स्वाहा । त्वष्ट्रे तुरीपाय स्वाहा । त्वष्ट्रे पुरुरूपाय स्वाहा * । भुवनस्य पतये स्वाहा । अधिपतये स्वाहा । प्रजापतये स्वाहा † । ओं आयुर्यज्ञेन कल्पताᳬस्वाहा । प्राणो यज्ञेन कल्पताᳬ स्वाहा । अपानो यज्ञेन कल्पताᳬ स्वाहा । व्यानो यज्ञेन कल्पताᳬ स्वाहा । उदानो यज्ञेन कल्पताᳬ स्वाहा । समानो यज्ञेन कल्पताᳬ स्वाहा । चक्षुर्यज्ञेन कल्पताᳬ स्वाहा । श्रोत्रं यज्ञेन कल्पताᳬ स्वाहा । वाग्यज्ञेन कल्पताᳬ स्वाहा । मनो यज्ञेन कल्पताᳬ स्वाहा । आत्मा यज्ञेन कल्पताᳬ स्वाहा । ब्रह्मा यज्ञेन कल्पताᳬ स्वाहा । ज्योतिर्यज्ञेन कल्पताᳬ स्वाहा । स्वर्यज्ञेन कल्पताᳬ स्वाहा । पृष्ठं यज्ञेन कल्पताᳬ स्वाहा । यज्ञो यज्ञेन कल्पताᳬ स्वाहा ‡ । एकस्मै स्वाहा । द्वाभ्यां स्वाहा । शताय स्वाहा । एकशताय स्वाहा । व्युष्ट्यै स्वाहा । स्वर्गाय स्वाहा § ॥

इन मन्त्रों से एक २ करके ४३ स्थालीपाक की आज्याहुति देके, पुनः पृष्ठ २३ में लिखे प्रमाणे व्याहृति आहुति ४ (चार) देकर, पृ० २६ में लिखे प्रमाणे सामगान करके, सब इष्ट मित्रों से मिल, पुत्रादिकों पर सब घर का भार धरके, अग्निहोत्र की सामग्री सहित जंगल में जाकर, एकान्त में निवास कर, योगाभ्यास शास्त्रों का विचार महात्माओं का संग करके स्वात्मा और परमात्मा को साक्षात् करने में प्रयत्न किया करे ॥

इति वानप्रस्थसंस्कारविधिः समाप्तः

* यजुः अ० २२ । मं० २० ॥

† यजुः अ० २२ । मं० ३२ ॥

‡ यजु० अ० २२ । मं० ३३ ॥

§ यजु० अ० २२ । मं० ३४ ॥

अथ

संन्याससंस्कारविधिं वक्ष्यामः

संन्याससंस्कार उसको कहते हैं कि जो मोहादि आवरण, पक्षपात छोड़ के विरक्त होकर सब पृथिवी में परोपकारार्थ विचरे अर्थात्ः—

सम्यङ् न्यस्यन्त्यधर्माचरणानि येन, वा सम्यङ् नित्यं सत्कर्मस्वास्त उपविशति स्थिरीभवति येन स संन्यासः, संन्यासो विद्यते यस्य स संन्यासी ॥

कालः—प्रथम जो वानप्रस्थ के आदि में कह आये हैं कि ब्रह्मचर्य पूरा करके गृहस्थ और गृहस्थ होके वनस्थ, वनस्थ होके संन्यासी होवे, यह क्रम-संन्यास अर्थात् अनुक्रम से आश्रमों का अनुष्ठान करता २ वृद्धावस्था में जो संन्यास लेना है उसी को क्रमसंन्यास कहते हैं ॥

द्वितीय प्रकार

यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेद्वनाद्वा गृहाद्वा ॥

यह ब्राह्मणग्रन्थ का वाक्य है—

अर्थः—जिस दिन दृढ़ वैराग्य प्राप्त होवे उसी दिन चाहे वानप्रस्थ का समय पूरा भी न हुआ हो अथवा वानप्रस्थ आश्रम का अनुष्ठान न करके गृहाश्रम से ही संन्यासाश्रम ग्रहण करे। क्योंकि संन्यास में दृढ़ वैराग्य और यथार्थ ज्ञान का होना ही मुख्य कारण है ॥

तृतीय प्रकार

ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् ॥

यह भी ब्राह्मण ग्रन्थ का वचन है। यदि पूर्ण अखण्डित ब्रह्मचर्य, सच्चा वैराग्य और पूर्ण ज्ञान विज्ञान को प्राप्त होकर विषयासक्ति की इच्छा आत्मा से यथावत् उठ जावे, पक्षपातरहित होकर सब के उपकार करने की इच्छा होवे और जिसको दृढ़ निश्चय होजावे कि मैं मरणपर्यन्त यथावत् संन्यास धर्म का निर्वाह कर सकूंगा, तो वह न गृहाश्रम करे न वानप्रस्थाश्रम, किन्तु ब्रह्मचर्याश्रम को पूर्ण कर ही के संन्यासाश्रम को ग्रहण कर लेवे ॥

अत्र वेदप्रमाणानि

शर्य्यणावति सोममिन्द्रः पिबतु वृत्रहा। बलं दधान आत्मनि करिष्यन् वीर्यं महदिन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥ १ ॥ आ पवस्व दिशां पत आर्जीकात् सोम मीढ्वः। ऋतवाकेन सत्येन श्रद्धया तपसा सुत इन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥ २ ॥ ऋ० मं० ६। सू० ११३। मं० १, २ ॥

अर्थः—मैं ईश्वर, संन्यास लेनेहारे तुझ मनुष्य को उपदेश करता हूं कि जैसे (वृत्रहा) मेघ का नाश करने हारा (इन्द्रः) सूर्य्य (शर्य्यणावति) हिंसनीय पदार्थों से युक्त भूमितल में स्थित (सोमम्) रस को पीता है वैसे संन्यास लेने वाला पुरुष उत्तम मूल फलों के रस को (पिबतु) पीवे और (आत्मनि) अपने आत्मा में (महत्) बड़े (वीर्यम्) सामर्थ्य को (करिष्यन्) करूंगा ऐसी इच्छा करता हुआ (बलं, दधानः) दिव्य बल को धारण करता हुआ (इन्द्राय) परमैश्वर्य के लिये हे (इन्दो) चन्द्रमा के तुल्य सब को आनन्द करनेहारे पूर्ण विद्वन्! तू संन्यास लेके सब पर (परि, स्रव) सत्योपदेश की वृष्टि कर ॥ १ ॥ हे (सोम) सोम्यगुणसम्पन्न (मीढ्वः) सत्य से सब के अन्तःकरण को सींचनेहारे (दिशांपते) सब दिशाओं में स्थित मनुष्यों को सच्चा ज्ञान दे के पालन करनेहारे (इन्दो) शमादि गुणयुक्त संन्यासिन्! तू (ऋतवाकेन) यथार्थ बोलने (सत्येन) सत्य भाषण करने से (श्रद्धया) सत्य के धारण में सच्ची प्रीति और (तपसा) प्राणायाम योगाभ्यास से (आर्जीकात्) सरलता से (सुतः) निष्पन्न होता हुआ तू अपने शरीर,

इन्द्रिय, मन, बुद्धि को (आ, पवस्व) पवित्र कर (इन्द्राय) परमैश्वर्ययुक्त परमात्मा के लिये (परि, स्रव) सब ओर से गमन कर ॥ २ ॥

ऋतं वदन्नृतद्युम्न सत्यं वदन्त्सत्यकर्मन् । श्रद्धां वदन्त्सोम राजन् धात्रा सोम परिष्कृत इन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥ ३ ॥ ऋ० मं० ६ । सू० ११३ । मं० ४ ॥

अर्थः-हे (ऋतुद्युम्न) सत्य धन और सत्य कीर्तिवाले यतिवर ! (ऋतं, वदन्) पक्षपात छोड़ के यथार्थ बोलता हुआ हे (सत्यकर्मन्) सत्य वेदोक्त कर्मवाले संन्यासिन् ! (सत्यं, वदन्) सत्य बोलता हुआ (श्रद्धाम्) सत्य-धारण में प्रीति करने को (वदन्) उपदेश करता हुआ (सोम) सोम्यगुण-संपन्न (राजन्) सब ओर से प्रकाशयुक्त आत्मा वाले (सोम) योगैश्वर्ययुक्त (इन्दो) सब को आनन्ददायक संन्यासिन ! तू (धात्रा) सकल विश्व के धारण करनेहारे परमात्मा से योगाभ्यास करके (परिष्कृत) शुद्ध होता हुआ (इन्द्राय) योग से उत्पन्न हुए परमैश्वर्य की सिद्धि के लिये (परि, स्रव) यथार्थ पुरुषार्थ कर ॥ ३ ॥

यत्र ब्रह्मा पवमान छन्दस्यां३ वाचं वदन् । ग्राव्णा सोमे महीयते सोमेनानन्दं जनयन्निन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥ ४ ॥ ऋग्वेद मं० ९ । सू० ११३ । मं० ६ ॥

अर्थः—हे (छन्दस्याम्) स्वतन्त्रतायुक्त (वाचम्) वाणी को (वदन्) कहते हुए (सोमेन) विद्या योगाभ्यास और परमेश्वर की भक्ति से (आनन्दम्) सब के लिये आनन्द को (जनयन्) प्रकट करते हुए (इन्दो) आनन्दप्रद (पवमान) पवित्रात्मन् पवित्र करनेहारे संन्यासिन् ! (यत्र) जिस (सोमे) परमैश्वर्ययुक्त परमात्मा में (ब्रह्मा) चारों वेदों का जाननेहारा विद्वान् (महीयते) महत्व को प्रा होकर सत्कार को प्राप्त होता है जैसे (ग्राव्णा) मेघ से सब जगत् को आनन्द होता है वैसे तू सब को (इन्द्राय) परमैश्वर्य युक्त मोक्ष का आनन्द देने के लिये सब साधनों को (परि, स्रव) सब प्रकार से प्राप्त करा ॥ ४ ॥

यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिँल्लोके स्वर्हितम् । तस्मिन् मां धेहि पवमानामृते लोके अक्षित इन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥ ५ ॥ ऋ० मं० ९ । सू० ११३ । मं० ७ ॥

अर्थः—हे (पवमान) अविद्यादि क्लेशों के नाश करनेहारे पवित्रस्वरूप (इन्दो) सर्वानन्ददायक परमात्मन् ! (यत्र) जिस तेरे स्वरूप में (अजस्रम्) निरन्तर व्यापक तेरा (ज्योतिः) तेज है (यस्मिन्) जिस (लोके) ज्ञान से देखने योग्य तुझ में (स्वः) नित्य सुख (हितम्) स्थित है (तस्मिन्) उस (अमृते) जन्म मरण और (अक्षिते) नाश से रहित (लोके) द्रष्टव्य अपने स्वरूप में आप (मा) मुझ को (इन्द्राय) परमैश्वर्य प्राप्ति के लिये (धेहि) कृपा से धारण कीजिये और मुझ पर माता के समान कृपाभाव से (परि, स्रव) आनन्द की वर्षा कीजिये ॥ ६ ॥

यत्र राजा वैवस्वतो यत्रावरोधनं दिवः । यत्रामूर्यह्वतीरापस्तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥ ६ ॥ ऋ० मं० ९ । सू० ११३ । मं० ८ ॥

अर्थः—हे (इन्दो) आनन्दप्रद परमात्मन् ! (यत्र) जिस मुझ में (वैवस्वतः) सूर्य का प्रकाश (राजा) प्रकाशमान हो रहा है (यत्र) जिस आप में (दिवः) बिजुली अथवा बुरी कामना की (अवरोधनम्) रुकावट है (यत्र) जिस आप में (अमूः) वे कारणरूप (यह्वतीः) बड़े व्यापक आकाशस्थ (आपः) प्राणप्रद वायु हैं (तत्र) उस अपने स्वरूप में (माम्) मुझ को (अमृतम्) मोक्षप्राप्त (कृधि) कीजिये (इन्द्राय) परमैश्वर्य के लिये (परि, स्रव) आर्द्रभाव से आप मुझ को प्राप्त हूजिये ॥ ६ ॥

यत्रानुकामं चरणं त्रिनाके त्रिदिवे दिवः । लोका यत्र ज्योतिष्मन्तस्तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥ ७ ॥ ऋ० मं० ९ । सू० ११३ । मं० ९ ॥

अर्थः—हे (इन्दो) परमात्मन् ! (यत्र) जिस आप में (अनुकामम्) इच्छा के अनुकूल स्वतन्त्र (चरणम्) विचरना है (यत्र) जिस (त्रिनाके)

त्रिविध अर्थात् आध्यात्मिक आधिभौतिक और आधिदैविक दुःख से रहित (त्रिदिवे) तीन सूर्य विद्युत् और भौम्य अग्नि से प्रकाशित सुखस्वरूप में (दिवः) कामना करने योग्य शुद्ध कामनावाले (लोकाः) यथार्थ ज्ञानयुक्त (ज्योतिष्मन्तः) शुद्ध विज्ञानयुक्त मुक्ति को प्राप्त हुए सिद्ध पुरुष विचरते हैं (तत्र) उस अपने स्वरूप में (माम्) मुझ को (अमृतम्) मोक्ष प्राप्त (कृधि) कीजिये और (इन्द्राय) उस परम आनन्दैश्वर्य के लिये (परि, स्रव) कृपा से प्राप्त हूजिये ॥ ७ ॥

यत्र कामा निकामाश्च यत्र ब्रध्नस्य विष्टपम् । स्वधा च यत्र तृप्तिश्च तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥ ८ ॥ ऋ० मं० ९ । सू० ११३ । मं० १० ॥

अर्थः—हे (इन्दो) निष्कामानन्दप्रद सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मन् ! (यत्र) जिस आप में (कामाः) सब कामना (निकामाः) और अभिलाषा छूट जाती हैं (च) और (यत्र) जिस आप में (ब्रध्नस्य) सब से बड़ प्रकाशमान सूर्य का (विष्टपम्) विशिष्ट सुख (च) और (यत्र) जिस आप में (स्वधा) अपना ही धारण (च) और जिस आप में (तृप्तिः) पूर्ण तृप्ति है (तत्र) उस अपने स्वरूप में (माम्) मुझ को (अमृतम्) प्राप्त मुक्तिवाला (कृधि) कीजिये तथा (इन्द्राय) सब दुःख विदारण के लिये आप मुझ पर (परि, स्रव) करुणावृत्ति कीजिये ॥ ८ ॥

यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते । कामस्य यत्राप्ताः कामास्तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥ ९ ॥ ऋ० मं० ९ । सू० ११३ । मं० ११ ॥

अर्थः—हे (इन्दो) सर्वानन्दयुक्त जगदीश्वर ! (यत्र) जिस आप में (आनन्दाः) सम्पूर्ण समृद्धि (च) और (मोदाः) सम्पूर्ण हर्ष (मुदः) सम्पूर्ण प्रसन्नता (च) और (प्रमुदः) प्रकृष्ट प्रसन्नता (आसते) स्थित हैं (यत्र) जिस आप में (कामस्य) अभिलाषी पुरुष की (कामाः) सब

कामना (आप्ताः) प्राप्त होती हैं (तत्र) उसी अपने स्वरूप में (इन्द्राय) परमैश्वर्य के लिये (माम्) मुझ को (अमृतम्) जन्म मृत्यु के दुःख से रहित मोक्षप्राप्तयुक्त कि जिसके मुक्ति के समय के मध्य में संसार में नहीं आना पड़ता उस मुक्ति की प्राप्ति वाला (कृधि) कीजिये और इसी प्रकार सब जीवों को (परि, स्रव) सब ओर से प्राप्त हूजिये ॥ ९ ॥

यद्देवा यतयो यथा भुवनान्यपिन्वत । अत्रा समुद्र आ गूळ्हमा सूर्य्यमजभर्त्तन ॥ १० ॥ ऋ० मं० १० । सू० ७२ । मं० ७ ॥

अर्थः—हे (देवाः) पूर्ण विद्वान् (यतयः) संन्यासी लोगो ! तुम (यथा) जैसे (अत्र) इस (समुद्रे) आकाश में (गूढम्) गुप्त (आसूर्यम्) स्वयं प्रकाशस्वरूप सूर्यादि का प्रकाशक परमात्मा है उसको (आ, अजभर्त्तन) चारों ओर से अपने आत्माओं में धारण करो और आनन्दित होओ वैसे (यत्) जो (भुवनानि) सब भुवनस्थ गृहस्थादि मनुष्य हैं उनको सदा (आपिन्वत) विद्या और उपदेश से संयुक्त किया करो यही तुम्हारा परमधर्म है ॥ १० ॥

भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे । ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उप सन्नमन्तु ॥ ११ ॥ अथर्व० कां० १९ । सू० ४१ । मं० १ ॥

अर्थः—हे विद्वानो ! जो (ऋषयः) वेदार्थविद्या को और (स्वर्विदः) सुख को प्राप्त (अग्रे) प्रथम (तपः) ब्रह्मचर्यरूप आश्रम को पूर्णता से सेवन तथा यथावत् स्थिरता से प्राप्त होके (भद्रम्) कल्याण की (इच्छन्तः) इच्छा करते हुए (दीक्षाम्) संन्यास की दीक्षा को (उपनिषेदुः) ब्रह्मचर्य ही से प्राप्त होवें उनका (देवाः) विद्वान् लोग (उप, सन्नमन्तु) यथावत् सत्कार किया करें (ततः) तदनन्तर (राष्ट्रम्) राज्य (बलम्) बल (च) और (ओजः) पराक्रम (जातम्) उत्पन्न होवे (तत्) उससे (अस्मै) इस संन्यासाश्रम के पालन के लिये यत्न किया करें ॥ ११ ॥

अथ मनुस्मृतेश्श्लोकाः

वनेषु तु विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः ।
चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा संगान् परिव्रजेत् ॥ १ ॥

अधीत्य विधिवद्वेदान् पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः ।
इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत् ॥ २ ॥

प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम् ।
आत्मन्यग्नीन्समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात् ॥ ३ ॥

यो दत्वा सर्वभूतेभ्यः प्रव्रजत्यभयं गृहात् ।
तस्य तेजोमया लोका भवन्ति ब्रह्मवादिनः ॥ ४ ॥

आगारादभिनिष्क्रान्तः पवित्रोपचितो मुनिः ।
समुपोढेषु कामेषु निरपेक्षः परिव्रजेत् ॥ ५ ॥

अनग्निरनिकेतः स्याद् ग्राममन्नार्थमाश्रयेत् ।
उपेक्षकोऽसङ्कुसुको मुनिर्भावसमाहितः ॥ ६ ॥

नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवितम् ।
कालमेव प्रतीक्षेत निर्देशं भृतको यथा ॥ ७ ॥

दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत् ।
सत्यपूतां वदेद्वाचं मनःपूतं समाचरेत् ॥ ८ ॥

अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निरामिषः ।
आत्मनैव सहायेन सुखार्थी विचरेदिह ॥ ९ ॥

क्लृप्तकेशनखश्मश्रुः पात्री दण्डी कुसुम्भवान् ।
विचरेन्नियतो नित्यं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥ १० ॥

इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च ।
अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते ॥ ११ ॥

दूषितोपि चरेद्धर्मं यत्र तत्राश्रमे रतः ।
समः सर्वेषु भूतेषु न लिङ्गं धर्मकारणम् ॥ १२ ॥

फलं कतकवृक्षस्य यद्यप्यम्बुप्रसादकम् ।
न नामग्रहणादेव तस्य वारि प्रसीदति ॥ १३ ॥

प्राणायामा ब्राह्मणस्य त्रयोऽपि विधिवत्कृताः ।
व्याहृतिप्रणवैर्युक्ता विज्ञेयं परमं तपः ॥ १४ ॥

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः ।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ॥ १५ ॥

प्राणायामैर्दहेद्दोषान् धारणाभिश्च किल्विषम् ।
प्रत्याहारेण संसर्गान् ध्यानेनानीश्वरान् गुणान् ॥ १६ ॥

उच्चावचेषु भूतेषु दुर्ज्ञेयामकृतात्मभिः ।
ध्यानयोगेन संपश्येद् गतिमस्यान्तरात्मनः ॥ १७ ॥

सम्यग्दर्शनसंपन्नः कर्मभिर्न निबध्यते ।
दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते ॥ १८ ॥

अहिंसयेन्द्रियासंगैर्वैदिकैश्चैव कर्मभिः ।
तपसश्चरणैश्चोग्रैः साधयन्तीह तत्पदम् ॥ १९ ॥

यदा भावेन भवति सर्वभावेषु निःस्पृहः ।
तदा सुखमवाप्नोति प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ॥ २० ॥

अनेन विधिना सर्वांस्त्यक्त्वा सङ्गाञ्छनैः शनैः ।
सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तो ब्रह्मण्येवावतिष्ठते ॥ २१ ॥

इदं शरणमज्ञानामिदमेव विजानताम् ।
इदमन्विच्छतां स्वर्ग्य*मिदमानन्त्यमिच्छताम् ॥ २२ ॥

अनेन क्रमयोगेन परिव्रजति यो द्विजः ।
स विधूयेह पाप्मानं परं ब्रह्माधिगच्छति ॥ २३ ॥

मनु० । अ० ६ ॥

* स्वर्गमिति मनौ पाठः ॥ अ० ६ । श्लो० ८४ ॥

अर्थः—इस प्रकार जंगलों में आयु का तीसरा भाग अर्थात् अधिक से अधिक २५ (पच्चीस) वर्ष अथवा न्यून से न्यून १२ (बारह) वर्ष तक विहार करके आयु के चौथे भाग अर्थात् ७० (सत्तर) वर्ष के पश्चात् सब मोहादि संगों को छोड़कर संन्यासी होजावे ॥ १ ॥ विधिपूर्वक ब्रह्मचर्याश्रम से सब वेदों को पढ़ गृहाश्रमी होकर धर्म से पुत्रोत्पत्ति कर वानप्रस्थ में सामर्थ्य के अनुसार यज्ञ करके मोक्ष में अर्थात् संन्यासाश्रम में मन को लगावे ॥ २ ॥ प्रजापति परमात्मा की प्राप्ति के निमित्त प्राजापत्येष्टि (कि जिसमें यज्ञोपवीत और शिखा का त्याग किया जाता है) कर आहवनीय गार्हपत्य और दाक्षिणात्य संज्ञक अग्नियों को आत्मा में समारोपित करके ब्राह्मण विद्वान् गृहाश्रम से ही संन्यास लेवे ॥ ३ ॥ जो पुरुष सब प्राणियों को अभयदान सत्योपदेश देकर गृहाश्रम से ही संन्यास ग्रहण कर लेता है उस ब्रह्मवादी वेदोक्त सत्योपदेशक संन्यासी को मोक्षलोक और सब लोकलोकान्तर तेजोमय (ज्ञान से प्रकाशमय) हो जाते हैं ॥ ४ ॥ जब सब कामों को जीत लेवे और उनकी अपेक्षा न रहे, पवित्रात्मा और पवित्रान्तःकरण मननशील हो जावे तभी गृहाश्रम से निकल कर संन्यासाश्रम का ग्रहण करे अथवा ब्रह्मचर्य ही से संन्यास का ग्रहण कर लेवे ॥ ५ ॥ वह संन्यासी (अनग्निः*) आहवनीयादि अग्नियों से रहित, और कहीं अपना स्वाभिमत घर भी न बांधे, और अन्न वस्त्रादि के लिये ग्राम का आश्रय लेवे, बुरे मनुष्यों की उपेक्षा करता और स्थिरबुद्धि मननशील होकर परमेश्वर में अपनी भावना का समाधान करता हुआ विचरे ॥ ६ ॥ न तो अपने जीवन में आनन्द और न अपने मृत्यु में दुःख माने, किन्तु जैसे क्षुद्र भृत्य अपने स्वामी की आज्ञा की बाट देखता रहता है वैसे ही काल और मृत्यु की प्रतीक्षा करता रहे ॥ ७ ॥ चलते समय आगे २ देख के पग धरे, सदा वस्त्र से छान कर जल पीवे, सब से सत्य वाणी बोले अर्थात् सत्योपदेश ही किया करे, जो कुछ व्यवहार करे वह सब मन की पवित्रता से आचरण करे

* इसी पद से भ्रान्ति में पड़ के संन्यासियों का दाह नहीं करते और संन्यासी लोग अग्नि को नहीं छूते। यह पाप संन्यासियों के पीछे लग गया। यहां आहवनीयादि संज्ञक अग्नियों को छोड़ना है, स्पर्श वा दाहकर्म छोड़ना नहीं है॥

॥ ८ ॥ इस संसार में आत्मनिष्ठा में स्थित, सर्वथा अपेक्षारहित, मांस मद्यादि का त्यागी, आत्मा के सहाय से ही सुखार्थी होकर विचरा करे और सब को सत्योपदेश करता रहे ॥ ९ ॥ सब शिर के बाल डाढ़ी मूंछ और नखों को समय २ छेदन कराता रहे, पात्री, दण्डी और कुसुंभ के रंगे हुए * वस्त्रों का धारण किया करे, सब भूत प्राणीमात्र को पीड़ा न देता हुआ दृढ़ात्मा होकर नित्य विचरा करे ॥ १० ॥ जो संन्यासी बुरे कामों से इन्द्रियों के निरोध, राग द्वेषादि दोषों के क्षय, और निर्वैरता से सब प्राणियों का कल्याण करता है, वह मोक्ष को प्राप्त होता है ॥ ११ ॥ यदि संन्यासी को मूर्ख संसारी लोग निन्दा आदि से दूषित वा अपमान भी करें तथापि धर्म ही का आचरण करे, ऐसे ही अन्य ब्रह्मचर्याश्रमादि के मनुष्यों को करना उचित है, सब प्राणियों में पक्षपातरहित होकर समबुद्धि रक्खे इत्यादि उत्तम काम करने ही के लिये संन्यासाश्रम की विधि है, किन्तु केवल दण्डादि चिह्न धारण करना ही धर्म का कारण नहीं है ॥ १२ ॥ यद्यपि निर्मली वृक्ष का फल जल को शुद्ध करनेवाला है तथापि उसके नामग्रहणमात्र से जल शुद्ध नहीं होता किन्तु उसको ले पीस जल में डालने ही से उस मनुष्य का जल शुद्ध होता है, वैसे नाममात्र आश्रम से कुछ भी नहीं होता किन्तु अपने २ आश्रम के धर्मयुक्त कर्म करने ही से आश्रमधारण सफल होता है अन्यथा नहीं ॥ १३ ॥ इस पवित्र आश्रम को सफल करने के लिये संन्यासी पुरुष विधिवत् योगशास्त्र की रीति से सात व्याहृतियों के पूर्व सात प्रणव लगा के जैसा कि पृष्ठ १८० में प्राणायाम का मन्त्र लिखा है उसको मन से जपता हुआ तीन भी प्राणायाम करे तो जानो अत्युत्कृष्ट तप करता है ॥ १४ ॥ क्योंकि जैसे अग्नि में तपाने से धातुओं के मल छूट जाते हैं वैसे ही प्राण के निग्रह से इन्द्रियों के दोष नष्ट हो जाते हैं ॥ १५ ॥ इसलिये संन्यासी लोग प्राणायामों से दोषों को, धारणाओं से अन्तःकरण के मैल को, प्रत्याहार से संग से हुए दोषों और ध्यान से अविद्या पक्षपात आदि अनीश्वरता के दोषों को छुड़ा के पक्षपातरहित आदि ईश्वर के गुणों को धारण कर सब दोषों को भस्म कर देवें ॥ १६ ॥ बड़े छोटे प्राणी और अप्राणियों में

* अथवा गेरू से रंगे हुए वस्त्रों को पहिने ॥

जो अशुद्धात्माओं से देखने के योग्य नहीं है उस अन्तर्यामी परमात्मा की गति अर्थात् प्राप्ति को ध्यान योग से ही संन्यासी देखा करे ॥ १७ ॥ जो संन्यासी यथार्थ ज्ञान वा षड्दर्शनों से युक्त है वह दुष्ट कर्मों से बद्ध नहीं होता और जो ज्ञान, विद्या, योगाभ्यास, सत्सग, धर्मानुष्ठान वा षड्दर्शनों से रहित विज्ञान-हीन होकर संन्यास लेता है वह संन्यासपदवी और मोक्ष को प्राप्त न होकर जन्ममरण रूप संसार को प्राप्त होता है और ऐसे मूर्ख अधर्मी को संन्यास का लेना व्यर्थ और धिक्कार देने के योग्य है ॥ १८ ॥ और जो निर्वैर, इन्द्रियों के विषयों के बन्धन से पृथक्, वैदिक कर्माचरणों और प्राणायाम सत्यभाषणादि उत्तम उग्र कर्मों से सहित संन्यासी लोग होते हैं वे इसी जन्म इसी वर्त्तमान समय में परमेश्वर की प्राप्तिरूप पद को प्राप्त होते हैं, उनका संन्यास लेना सफल और धन्यवाद के योग्य है ॥ १९ ॥ जब संन्यासी सब पदार्थों में अपने भाव से निःस्पृह होता है तभी इस लोक इस जन्म और मरण पाकर परलोक और मुक्ति में परमात्मा को प्राप्त होके निरन्तर * सुख को प्राप्त होता है ॥ २० ॥ इस विधि से धीरे २ सब संग से हुये दोषों को छोड़ के सब हर्षशोकादि द्वन्द्वों से विशेषकर निर्मुक्त हो के विद्वान् संन्यासी ब्रह्म ही में स्थिर होता है ॥ २१ ॥ और जो विविदिषा अर्थात् जानने की इच्छा करके गौण संन्यास लेवे वह भी विद्या का अभ्यास, सत्पुरुषों का संग, योगाभ्यास और ओंकार का जप और उस के अर्थ परमेश्वर का विचार भी किया करे। यही अज्ञानियों का शरण अर्थात् गौणसंन्यासियों और यही विद्वान् संन्यासियों का और यही सुख का खोज करनेहारे और यही अनन्त † सुख की इच्छा करनेहारे मनुष्यों का आश्रय है ॥ २२ ॥ इस क्रमानुसार संन्यासयोग से जो द्विज अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, संन्यास ग्रहण करता है वह इस संसार और शरीर से सब पापों को छोड़ छुड़ा के परब्रह्म को प्राप्त होता है ॥ २३ ॥

* निरन्तर शब्द का इतना ही अर्थ है कि मुक्ति के नियत समय के मध्य में दुःख आकर विघ्न नहीं कर सकता ॥

† अनन्त इतना ही है कि मुक्तिसुख के समय में अन्त अर्थात् जिसका नाश न होवे ॥

विधिः—जो पुरुष संन्यास लेना चाहे वह जिस दिन सर्वथा प्रसन्नता हो उसी दिन नियम और व्रत अर्थात् तीन दिन तक दुग्धपान करके उपवास और भूमि में शयन और प्राणायाम, ध्यान तथा एकान्तदेश में ओंकार का जप किया करे, और पृष्ठ० १३—१६ में लि० सभामण्डप, वेदी, समिधा, घृतादि साकल्य सामग्री एक दिन पूर्व कर रखनी। पश्चात् जिस चौथे दिन संन्यास लेना हो प्रहर रात्रि से उठकर, शौच स्नानादि आवश्यक कर्म करके, प्राणायाम ध्यान और प्रणव का जप करता रहे। सूर्योदय के समय उत्तम गृहस्थ धार्मिक विद्वानों का पृष्ठ १९ में लि० वरण कर, पृष्ठ २०—२१ में लि० अग्न्याधान समिदाधान, घृतप्रतपन और स्थालीपाक करके, पृष्ठ ८—१२ लि० स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण का पाठ कर, पृष्ठ २२ में लि० वेदी के चारों ओर जलप्रोक्षण, आघारावाज्यभागाहुति ४ (चार), और व्याहृति आहुति ४ (चार), तथाः—

ओं भुवनपतये स्वाहा। ओं भूतानां पतये स्वाहा। ओं प्रजापतये स्वाहा॥

इनमें से एक २ मन्त्र से एक २ करके ग्यारह आज्याहुति देके, जो विधिपूर्वक भात बनाया हो उसमें घृत सेचन करके, यजमान जो कि संन्यास का लेनेवाला है और दो ऋत्विज् निम्नलिखित स्वाहान्त मन्त्रों से भात का होम, और शेष दो ऋत्विज् भी साथ २ घृताहुति करते जावें॥

ओं ब्रह्म होता ब्रह्म यज्ञो ब्रह्मणा स्वरवो मिताः। अध्वर्युर्ब्रह्मणो जातो ब्रह्मणोऽन्तर्हितं हविः, स्वाहा॥ १॥ ब्रह्म स्रुचो घृतवतीर्ब्रह्मणा वेदिरुद्धिता। ब्रह्म यज्ञश्च सत्रं च ऋत्विजो ये हविष्कृतः। शमिताय स्वाहा॥ २॥ अंहोमुचे प्रभरे मनीषामा सुत्राम्णे सुमतिमावृणानः। इदमिन्द्र प्रति हव्यं गृभाय सत्यास्सन्तु यजमानस्य कामाः, स्वाहा॥ ३॥ अंहोमुचं वृषभं यज्ञियानां विराजन्तं प्रथममध्वराणाम्। अपांनपातमश्विना हुवे धियेन्द्रेण म इन्द्रियं दत्तमोजः, स्वाहा॥ ४॥ यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह। अग्निर्मा तत्र नयत्वग्निर्मेधां दधातु मे, अग्नये स्वाहा॥

इदमग्नये–इदन्न मम ॥ ५ ॥ यत्र० । वायुर्मा तत्र नयतु वायुः प्राणान् दधातु मे । वायवे स्वाहा ॥ इदं वायवे–इदन्न मम ॥ ६ ॥ यत्र० । सूर्यो मा तत्र नयतु चक्षुस्सूर्यो दधातु मे । सूर्याय स्वाहा ॥ इदं सूर्याय–इदन्न मम ॥ ७ ॥ यत्र० । चन्द्रो मा तत्र नयतु मनश्चन्द्रो दधातु मे । चन्द्राय स्वाहा ॥ इदं चन्द्राय–इदन्न मम ॥ ८ ॥ यत्र० । सोमो मा तत्र नयतु पयः सोमो दधातु मे । सोमाय स्वाहा ॥ इदं सोमाय–इदन्न मम ॥ ६ ॥ यत्र० । इन्द्रो मा तत्र नयतु बलमिन्द्रो दधातु मे । इन्द्राय स्वाहा ॥ इदमिन्द्राय–इदन्न मम ॥ १० ॥ यत्र० । आपो मा तत्र नयन्त्वमृतं मोपतिष्ठतु । अद्भ्यः स्वाहा ॥ इदमद्भ्यः—इदन्न मम ॥ ११ ॥ यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह । ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे । ब्रह्मणे स्वाहा ॥ इदं ब्रह्मणे–इदन्न मम ॥ १२ ॥ अथर्व० कां० १६ ॥ सू० ४२ । ४३ ॥

ओं प्राणापानव्यानोदानसमाना मे शुध्यन्ताम् । ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासँ स्वाहा ॥ १ ॥ वाङ्मनश्चक्षुःश्रोत्रजिह्वाघ्राणरेतोबुद्ध्याकूतिः*संकल्पा मे शुध्यन्ताम् । ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासँ स्वाहा ॥ २ ॥ शिरः पाणिपाद†पृष्ठोरूदरजङ्घाशिश्नोपस्थपायवो मे शुध्यन्ताम् । ज्योति० ॥ ३ ॥ त्वक्चर्ममाँसरुधिरमेदोमज्जास्नायवोऽस्थीनि मे शुध्यन्ताम् । ज्योति० ॥ ४ ॥ शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा मे शुध्यन्ताम् । ज्योति० ॥ ५ ॥ पृथिव्यप्तेजोवायुराकाशा मे शुध्यन्ताम् । ज्योति० ॥ ६ ॥ अन्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमयानन्दमया मे शुध्यन्ताम् । ज्योति० ॥ ७ ॥ विविष्ट्यै स्वाहा ॥ ८ ॥ कषोत्काय स्वाहा ॥ ६ ॥ उत्तिष्ठ पुरुष हरित लोहित पिङ्गलाक्षि देहि देहि ददापयिता मे शुध्यताम्‡ । ज्योति० ॥ १० ॥ ओं मनोवाक्कायकर्माणि मे शुध्यन्ताम् । ज्योति० ॥ ११ ॥ अव्यक्तभावै-

* आकूतिरिति विसर्गान्तः पाठः तैत्तिरीयारण्यके ।

† पादपृष्ठोभयमध्ये पार्श्वपदमधिकं तैत्तिरीयारण्यके ।

‡ तैत्तिरीयार० प्र० १० । अनु० ५१-६० ॥

रहङ्कारैर्ज्योति० ॥ १२ ॥ आत्मा मे शुध्यताम् । ज्योति० ॥ १३ ॥ अन्तरात्मा मे शुध्यताम् । ज्योति० ॥ १४ ॥ परमात्मा मे शुध्यताम् । ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासᳬ स्वाहा * ॥ १५ ॥

इन १५ मन्त्रों में से एक २ करके भात की आहुति देनी । पश्चात् निम्नलिखित मन्त्रों से ३५ घृताहुति देवें ॥

ओमग्नये स्वाहा ॥ १६ ॥ ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा ॥ १७ ॥ ओं ध्रुवाय भूमाय स्वाहा ॥ १८ ॥ ओं ध्रुवक्षितये स्वाहा ॥ १९ ॥ ओमच्युतक्षितये स्वाहा ॥ २० ॥ ओमग्नये स्विष्टकृते स्वाहा ॥ २१ ॥ ओं धर्माय स्वाहा ॥ २२ ॥ ओमधर्माय स्वाहा ॥ २३ ॥ ओमद्भ्यः स्वाहा ॥ २४ ॥ ओमोषधिवनस्पतिभ्यः स्वाहा ॥ २५ ॥ ओं रक्षोदेवजनेभ्यः स्वाहा ॥ २६ ॥ ओं गृह्याभ्यः स्वाहा ॥ २७ ॥ ओमवसानेभ्यः स्वाहा ॥ २८ ॥ ओमवसानपतिभ्यः स्वाहा ॥ २९ ॥ ओं सर्वभूतेभ्यः स्वाहा ॥ ३० ॥ ओं कामाय स्वाहा ॥ ३१ ॥ ओमन्तरिक्षाय स्वाहा ॥ ३२ ॥ ओं पृथिव्यै स्वाहा ॥ ३३ ॥ ओं दिवे स्वाहा ॥ ३४ ॥ ओं सूर्याय स्वाहा ॥ ३५ ॥ ओं चन्द्रमसे स्वाहा ॥ ३६ ॥ ओं नक्षत्रेभ्यः स्वाहा ॥ ३७ ॥ ओमिन्द्राय स्वाहा ॥ ३८ ॥ ओं बृहस्पतये स्वाहा ॥ ३९ ॥ ओं प्रजापतये स्वाहा ॥ ४० ॥ ओं ब्रह्मणे स्वाहा ॥ ४१ ॥ ओं देवेभ्यः स्वाहा ॥४२॥

---

१ तैत्तिरीयार० प्र० १०। अनु० ६६, एशियाटिक सोसाइटी बङ्गाल में मुद्रित।

* (प्राणापान) इत्यादि से ले के (परमात्मा मे शुध्यताम्) इत्यन्त मन्त्रों से संन्यासी के लिये उपदेश है। अर्थात् जो संन्यासाश्रम ग्रहण करे वह धर्माचरण, सत्योपदेश, योगाभ्यास, शम, दम, शान्ति, सुशीलतादि, विद्याविज्ञानादि शुभ गुण कर्म स्वभावों से सहित होकर, परमात्मा को अपना सहायक मान कर, अत्यन्त पुरुषार्थ से शरीर प्राण मन इन्द्रियादि को अशुद्ध व्यवहार से हटा शुद्ध व्यवहार में चला के, पक्षपात कपट अधर्म व्यवहारों को छोड़, अन्य के दोष, पढ़ाने और उपदेश से छुड़ाकर, स्वयं आनन्दित होके, सब मनुष्यों को आनन्द पहुंचाता रहे।

ओं परमेष्ठिने स्वाहा॥ ॥ ओं तद्ब्रह्म ४४ ॥ ओं तद्वायु ॥ ४५ ॥ ओं तदात्मा ॥ ४६ ॥ ओं तत्सत्यम् ॥ ४७ ॥ ओं तत्सर्वम् ॥ ४८ ॥ ओं तत्पुरोर्नमः ॥ ४९ ॥ अन्तश्चरति भूतेषु गुहायां विश्वमूर्तिषु। त्वं यज्ञस्त्वं वषट्कारस्त्वमिन्द्रस्त्वꣳ रुद्रस्त्वं विष्णुस्त्वं ब्रह्म त्वं प्रजापतिः। त्वं तदाप आपोज्योतीरसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरों स्वाहा * ॥ ५० ॥

इन ५० मन्त्रों से आज्याहुति दे के, तदनन्तर जो संन्यास लेनेवाला है वह पांच वा छः केशों को छोड़कर, पृष्ठ ६७—६९ में लिखे डाढ़ी मूंछ केश लोमों का छेदन अर्थात् क्षौर करा के, यथावत् स्नान करे। तदनन्तर संन्यास लेनेवाला पुरुष अपने शिर पर पुरुषसूक्त के मन्त्रों से १०८ (एकसौ आठ) वार अभिषेक करे। पुनः पृष्ठ १९ में लि० आचमन और प्राणायाम करके, हाथ जोड़, वेदी के सामने नेत्रोन्मीलन कर, मन से—

ओं ब्रह्मणे नमः। ओमिन्द्राय नमः। ओं सूर्याय नमः। ओं सोमाय नमः। ओमात्मने नमः। ओमन्तरात्मने नमः॥

इन छः मन्त्रों को जप केः—

ओमात्मने स्वाहा। ओमन्तरात्मने स्वाहा। ओं परमात्मने स्वाहा। ओं प्रजापतये स्वाहा॥

इन ४ (चार) मन्त्रों से ४ (चार) आज्याहुति देकर, कार्यकर्त्ता संन्यास ग्रहण करनेवाला पुरुष पृ० १२३ में लि० मधुपर्क की क्रिया करे, तदनन्तर प्राणायाम करकेः—

---

१ तैत्तिरीयारण्यक प्र० १०। अनु० ६७॥

२ तैत्तिरीयार० प्र० १०। अनु० ६८॥

* ये सब प्राणापानव्यान० आदि मन्त्र तैत्तिरीय आरण्यक दशम प्रपाठक अनुवाक ५१। ५२। ५३। ५४। ५५। ५६। ५७। ५८। ५९। ६०। ६६। ६७। ६८ के हैं।

ओं भूः सावित्रीं प्रविशामि तत्सवितुर्वरेण्यम् ॥ ओं भुवः सावित्रीं प्रविशामि भर्गो देवस्य धीमहि ॥ ओं स्वः सावित्रीं प्रविशामि धियो यो नः प्रचोदयात् ॥ ओं भूर्भुवः स्वः सावित्रीं प्रविशामि तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात् ॥

इन मन्त्रों को मन से जपे ॥

ओमग्नये स्वाहा । ओं भूः प्रजापतये स्वाहा । ओमिन्द्राय स्वाहा । ओं प्रजापतये स्वाहा । ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा । ओं ब्रह्मणे स्वाहा । ओं प्राणाय स्वाहा । ओमपानाय स्वाहा । ओं व्यानाय स्वाहा । ओं उदानाय स्वाहा । ओं समानाय स्वाहा ॥

इन मन्त्रों से वेदी में आज्याहुति देके:—

ओं भूः स्वाहा ॥

इस मन्त्र से पूर्णाहुति करके:—

पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्चोत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति* ॥ श० कां० १४ ॥

पुत्रैषणा वित्तैषणा लोकैषणा मया परित्यक्ता मत्तः सर्वभूतेभ्योऽभयमस्तु स्वाहा * ॥

इस वाक्य को बोल के सब के सामने जल को भूमि में छोड़ देवे । पीछे नाभिमात्र जल में पूर्वाभिमुख खड़ा रहकर—

* पुत्रादि के मोह, वित्तादि पदार्थों के मोह और लोकस्थ प्रतिष्ठा की इच्छा से मन को हटाकर परमात्मा में आत्मा को दृढ़ करके जो भिक्षाचरण करते हैं वे ही सब को सत्योपदेश से अभयदान देते हैं अर्थात् दहिने हाथ में जल ले के मैंने आज से पुत्रादि का तथा वित्त का मोह और लोक में प्रतिष्ठा की इच्छा करने का त्याग कर दिया और मुझ से सब भूत प्राणिमात्र को अभय प्राप्त होवे यह मेरी सत्य वाणी है ॥

ओं भूः सावित्रीं प्रविशामि तत्सवितुर्वरेण्यम् । ओं भुवः सावित्रीं प्रविशामि भर्गो देवस्य धीमहि । ओं स्वः सावित्रीं प्रविशामि धियो यो नः प्रचोदयात् । ओं भूर्भुवः स्वः सावित्रीं प्रविशामि परो रजसे सावदोम् ॥

इसका मन से जप करके, प्रणवार्थ परमात्मा का ध्यान करके, पूर्वोक्त (पुत्रैषणायाश्च०) इस समग्र कण्डिका को बोल के, प्रैष्य मन्त्रोच्चारण कर—

ओं भूः संन्यस्तं मया । ओं भुवः संन्यस्तं मया । ओं स्वः संन्यस्तं मया ॥

इस मन्त्र का मन से उच्चारण करे । तत्पश्चात् जल से अञ्जलि भर, पूर्वाभिमुख होकर, संन्यास लेनेवाला:—

ओं अभयं सर्वभूतेभ्यो मत्तः स्वाहा ॥

इस मन्त्र से दोनों हाथ की अञ्जलि को पूर्वदिशा में छोड़ देवे ।

येना॑ स॒हस्रं॒ वह॑सि॒ येना॑ग्ने सर्ववेद॒सम् । तेने॒मं य॒ज्ञं नो॑ वह॒ स्व॑र्दे॒वेषु॒ गन्त॑वे * ॥ १ ॥ अथर्व० कां० ६ । सू० ५ । मं० १७ ॥

और इसी पर स्मृति है—

प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम् ।
आत्मन्यग्नीन् समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात् ॥ १ ॥ मनु० ॥

इस श्लोक का अर्थ पहिले लिख दिया है ॥

---

* हे (अग्ने) विद्वन् ! (येन) जिससे (सहस्रम्) सब संसार को अग्नि धारण करता है और (येन) जिससे तू (सर्ववेदसम्) गृहाश्रमस्थपदार्थमोह, यज्ञोपवीत और शिखा आदि को (वहसि) धारण करता है उनको छोड़ (तेन) उस त्याग से (नः) हमको (इमम्) यह संन्यासरूप (स्वाहा) सुख देने हारे (यज्ञम्) प्राप्त होने योग्य यज्ञ को (देवेषु) विद्वानों में (गन्तवे) जाने को (वह) प्राप्त हो ॥

इसके पश्चात् मौन करके शिखा के लिये जो पांच वा सात केश रक्खे थे उनको एक एक उखाड़ और यज्ञोपवीत उतार कर हाथ में ले जल की अञ्जलि भरः—

ओमापो वै सर्वा देवताः स्वाहा ॥ ओं भूः स्वाहा ॥

इन मन्त्रों से शिखा के बाल और यज्ञोपवीत सहित जलाञ्जलि को जल में होम कर देवे। उसके पश्चात् आचार्य शिष्य को जल से निकाल के काषाय वस्त्र की कौपीन, कटिवस्त्र, उपवस्त्र, अङ्गोछा प्रीतिपूर्वक देवे। और पृ० ८४ में लि० (यो मे दण्डः०) इस मन्त्र से दण्ड धारण करके आत्मा में आहवनीयादि अग्नियों का आरोपण करे।

यो विद्याद् ब्रह्म प्रत्यक्षं परूंषि यस्य संभारा ऋचो यस्यानूक्यम् (१) ॥ १ ॥ सामानि यस्य लोमानि यजुर्हृदयमुच्यते परिस्तरणमिद्धविः (२) ॥ २ ॥ यद्वा अतिथिपतिरतिथीन् प्रति पश्यति देवयजनं प्रेक्षते (३) ॥ ३ ॥ यदभिवदति दीक्षामुपैति यदुदकं याचत्यपः प्र णयति

---

(१)–(यः) जो पुरुष (प्रत्यक्षम्) साक्षात्कारता से (ब्रह्म) परमात्मा को (विद्यात्) जाने (यस्य) जिसके (परूंषि) कठोर स्वभाव आदि (संभारा) होम करने के साकल्य और (यस्य) जिसके (ऋचः) यथार्थ सत्यभाषण सत्योपदेश और ऋग्वेद ही (अनूक्यम्) अनुकूलता से कहने के योग्य वचन है वही संन्यास ग्रहण करे ॥ १ ॥

(२)–(यस्य) जिसके (सामानि) सामवेद (लोमानि) लोम के समान (यजुः) यजुर्वेद जिसके (हृदयम्) हृदय के समान (उच्यते) कहा जाता है (परिस्तरणम्) जो सब ओर से शास्त्र आसन आदि सामग्री (हविरित्) होम करने योग्य के समान है वह संन्यास ग्रहण करने में योग्य होता है ॥ २ ॥

(३)—(वा) वा (यत्) जो (अतिथिपतिः) अतिथियों का पालन करनेहारा (अतिथीन्) अतिथियों के प्रति (प्रतिपश्यति) देखता है वही विद्वान् संन्यासियों में (देवयजनम्) विद्वानों के यजन करने के समान (प्रेक्षते) ज्ञानदृष्टि से देखता और संन्यास लेने का अधिकारी होता है ॥ ३ ॥

---

(१) और (२) मन्त्रों के हिन्दी अर्थ संवत् १९४१ की छपी संस्कारविधि में नहीं हैं।

(४) ॥ ४ ॥ या एव यज्ञ आपः प्रणीयन्ते ता एव ताः (५) ॥ ५ ॥ यदावसथान् कल्पयन्ति सदोहविर्धानान्येव तत्कल्पयन्ति (६) ॥ ६ ॥ यदुपस्तृणन्ति बर्हिरेव तत् (७) ॥ ७ ॥ तेषामासन्नानामतिथिरात्मन् जुहोति (८) ॥ ८ ॥ स्रुचा हस्तेन प्राणे यूपे स्रुक्कारेण वषट्कारेण (९) ॥९॥ एते वै प्रियाश्चाप्रियाश्चर्त्विजः स्वर्गं लोकं गमयन्ति यदतिथयः (१०)

(४)—और (यत्) जो संन्यासी (अभिवदति) दूसरे के साथ संवाद वा दूसरे को अभिवादन करता है वह जानो (दीक्षाम् दीक्षा को (उपैति) प्राप्त होता है (यत्) जो (उदकम्) जल की (याचति) याचना करता है वह जानो (अपः) प्रणीता आदि में जल को (प्रणयति) डालता है ॥ ४ ॥

(५)—(यज्ञे) यज्ञ में (याः, एव) जिन्हीं (आपः) जलों का (प्रणीयन्ते) प्रयोग किया जाता है (ताः, एव) वे ही (ताः) पात्र में रक्खे जल संन्यासी की यज्ञस्थ जलक्रिया है ॥ ५ ॥

(६)—संन्यासी (यत्) जो (आवसथान्) निवास का स्थान (कल्पयति) कल्पना करते हैं वे (सदः) यज्ञशाला (हविर्धानान्येव) हविष् के स्थापन करने के ही पात्र (तत्) वे (कल्पयन्ति) समर्थित करते हैं ॥ ६ ॥

(७)—और (यत्) जो संन्यासी लोग (उपस्तृणन्ति) बिछौने आदि करते हैं (बर्हिरेव, तत्) वह कुशपिंजूली के समान है ॥ ७ ॥

(८)—और जो (तेषाम्) उन (आसन्नानाम्) समीप बैठनेहारों के निकट बैठा हुआ (अतिथिः) जिसकी कोई नियत तिथि न हो वह भोजनादि करता है वह (आत्मने) जानो वेदीस्थ अग्नि में होम करने के समान आत्मा में (जुहोति) आहुतियां देता है ॥ ८ ॥

(९)—और जो संन्यासी (हस्तेन) हाथ से खाता है वह जानो (स्रुचा) चमसा आदि से वेदी में आहुति देता है जैसे (यूपे) स्तम्भ में अनेक प्रकार के पशु आदि को बांधते हैं वैसे वह संन्यासी (स्रुक्कारेण) स्रुचा के समान (वषट्कारेण) होमक्रिया के तुल्य (प्राणे) प्राण में मन और इन्द्रियों को बांधता है ॥ ९ ॥

(१०)—(एते, वै) ये ही (ऋत्विजः) समय २ में प्राप्त होनेवाले (प्रियाः च, अप्रियाः च) प्रिय और अप्रिय भी संन्यासी जन (यत्) जिस कारण

॥ १० ॥ प्राजापत्यो वा एतस्य यज्ञो विततो य उपहरति (११) ॥ ११ ॥ प्रजापतेर्वा एष विक्रमाननुविक्रमते य उपहरति (१२) ॥ १२ ॥ योऽतिथीनां स आहवनीयो यो वेश्मनि स गार्हपत्यो यस्मिन् पचन्ति स दक्षिणाग्निः (१३) ॥ १३ ॥ इष्टं च वा एष पूर्तं च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति (१४) ॥ १४ ॥ अथर्व० कां० ९ ॥ अनु० ३ । सू० १, २, ३ ॥

(अतिथयः) अतिथिरूप हैं इससे गृहस्थ को (स्वर्गं, लोकम्) दर्शनीय अत्यन्त सुख को (गमयन्ति) प्राप्त कराते हैं ॥ १० ॥

(११)—(एतस्य) इस संन्यासी का (प्राजापत्यः) प्रजापति परमात्मा को जानने का आश्रम धर्मानुष्ठानरूप (यज्ञः) अच्छे प्रकार करने योग्य यतिधर्म (विततः) व्यापक है अर्थात् (यः) जो इसको सर्वोपरि (उपहरति) स्वीकार करता है (वै) वही संन्यासी होता है ॥ ११ ॥

(१२)—(यः) जो (एषः) यह संन्यासी (प्रजापतेः) परमेश्वर के जानने रूप संन्यासाश्रम के (विक्रमान्) सत्याचारों को (अनुविक्रमते) अनुकूलता से किया करता है (वै) वही सब शुभगुणों का (उपहरति) स्वीकार करता है ॥ १२ ॥

(१३)—(यः) जो (अतिथीनाम्) अतिथि अर्थात् उत्तम संन्यासियों का सङ्ग है (सः) वह संन्यासी के लिये (आहवनीयः) आहवनीय अग्नि अर्थात् जिसमें ब्रह्मचर्याश्रम में ब्रह्मचारी होम करता है और (यः) जो संन्यासी का (वेश्मनि) घर में अर्थात् स्थान में निवास है (सः) वह उसके लिये (गार्हपत्यः) गृहस्थ सम्बन्धी अग्नि है और संन्यासी (यस्मिन्) जिस जाठराग्नि में अन्नादि को (पचन्ति) पकाते हैं (सः) वह (दक्षिणाग्निः) वानप्रस्थ सम्बन्धी अग्नि है इस प्रकार आत्मा में सब अग्नियों का आरोपण करे ॥ १३ ॥

(१४)—(यः) जो गृहस्थ (अतिथेः) संन्यासी से (पूर्वः) प्रथम (अश्नाति) भोजन करता है (एषः) यह जानो (गृहाणाम्) गृहस्थों के (इष्टम्) इष्ट सुख (च) और उसकी सामग्री (पूर्तम्) तथा जो ऐश्वर्यादि की पूर्णता (च) और उसके साधनों का (वै) निश्चय करके (अश्नाति) भक्षण अर्थात् नाश करता है। इसलिये जिस गृहस्थ के समीप अतिथि उपस्थित होवे उसको पूर्व जिमा कर पश्चात् भोजन करना अत्युचित है ॥ १४ ॥

तस्यैवं विदुषो यज्ञस्यात्मा यजमानः, श्रद्धा पत्नी, शरीरमिध्ममुरो वेदि,-लोमानि बर्हि,र्वेदः शिखा, हृदयं यूपः, काम आज्यं, मन्युः पशुस्तपोऽग्नि-र्दमः शमयिता, दक्षिणा वाग,घोता * प्राण, उद्गाता चक्षु,रध्वर्युर्मनो, ब्रह्मा

* इसके आगे तैत्तिरीय आरण्यक का अर्थ करते हैं-(एवम्) इस प्रकार संन्यास ग्रहण किये हुए (तस्य) उस (विदुषः) विद्वान् संन्यासी के संन्यासाश्रमरूप (यज्ञस्य) अच्छे प्रकार अनुष्ठान करने योग्य यज्ञ का (यजमानः) पति (आत्मा) स्वस्वरूप है, और जो ईश्वर, वेद और सत्यधर्माचरण, परोपकार में (श्रद्धा) सत्य का धारणरूप दृढ़ प्रीति है वह उसकी (पत्नी) स्त्री है, और जो संन्यासी का (शरीरम्) शरीर है वह (इध्मम्) यज्ञ के लिये इन्धन है, और जो उसका (उरः) वक्षःस्थल है वह (वेदिः) कुण्ड, और जो उसके शरीर पर (लोमानि) रोम हैं वे (बर्हिः) कुशा हैं, और जो (वेदः) वेद और उनका शब्दार्थसम्बन्ध जानकर आचरण करना है वह संन्यासी की (शिखा) चोटी है, और जो संन्यासी का (हृदयम्) हृदय है वह (यूपः) यज्ञ का स्तम्भ है, और जो इसके शरीर में (कामः) काम है वह (आज्यम्) ज्ञान अग्नि में होम करने का पदार्थ है, और जो (मन्युः) संन्यासी में क्रोध है वह (पशुः) निवृत्त करने अर्थात् शरीर के मलवत् छोड़ने के योग्य है, और जो संन्यासी (तपः) सत्यधर्मानुष्ठान प्राणायामादि योगाभ्यास करता है वह (अग्निः) जानो वेदी का अग्नि है, जो संन्यासी (दमः) अधर्माचरण से इन्द्रियों को रोक के धर्माचरण में स्थिर रख के चलाता है वह (शमयिता) जानो दुष्टों को दण्ड देनेवाला सभ्य है और जो संन्यासी की (वाक्) सत्योपदेश करने के लिये वाणी है वह जानो सब मनुष्यों को (दक्षिणा) अभयदान देना है, जो संन्यासी के शरीर में (प्राणः) प्राण है वह (होता) होता के समान, जो (चक्षुः) चक्षु है वह (उद्गाता) उद्गाता के तुल्य, जो (मनः) मन है वह (अध्वर्युः) अध्वर्यु के समान, जो (श्रोत्रम्) श्रोत्र है वह (ब्रह्मा) ब्रह्मा और (अग्नीत्) अग्नि लानेवाले के तुल्य। (यावत्ध्रियते) जितना कुछ संन्यासी धारण करता है (सा) वह (दीक्षा) दीक्षाग्रहण, और (यत्) जो संन्यासी (अश्नाति) खाता है (तद्धविः) वह घृतादि साकल्य के समान, (यत्, पिबति) और जो वह जल दुग्धादि पीता है (तदस्य, सोमपानम्) वह इसका सोमपान है, और (यद्रमते) वह जो इधर उधर भ्रमण करता है (तदुपसदः) वह उपसद उपसामग्री, (यत्संचरत्युपविशत्युत्तिष्ठते) जो वह गमन करता बैठता और उठता है (स, प्रवर्ग्यः) वह इसका प्रवर्ग्य है, (यन्मुखम्) जो इसका मुख है (तदाहवनीयः) वह संन्यासी को आहवनीय अग्नि के समान, (या व्याहृतिराहुतिर्यदस्य विज्ञानम्)

ऽग्निहोत्रमग्नीत् । यावद् ध्रियते सा दीक्षा यदश्नाति तद्धवि,र्यत्पिबति तदस्य सोमपानं, यद्रमते तदुपसदो, यत्सञ्चरत्युपविशत्युत्तिष्ठते च स प्रवर्ग्यो, यन्मुखं तदाहवनीयो, या व्याहृतिराहुतिर्यदस्य विज्ञानं तज्जुहोति, यत्सायं प्रातरत्ति तत्समिधं, यत्प्रातर्मध्यन्दिनꣳ सायं च तानि सवनानि । ये अहोरात्रे ते दर्शपौर्णमासौ, ये,ऽर्धमासाश्च मासाश्च ते चातुर्मास्यानि, य ऋतवस्ते पशुबन्धा, ये संवत्सराश्च परिवत्सराश्च तेऽहर्गणाः,

---

जो संन्यासी का व्याहृति का उच्चारण करना वा जो इसका विज्ञान आहुतिरूप है (तज्जुहोति) वह जानो होम कर रहा है, (यत्सायं प्रातरत्ति) संन्यासी जो सायं और प्रातःकाल भोजन करता है (तत्समिधम्) वे समिधा हैं, (यत्प्रातर्मध्यन्दिनꣳ सायं च) जो संन्यासी प्रातः मध्याह्न और सायंकाल में कर्म करता है (तानि सवनानि) वे तीन सवन (ये, अहोरात्रे) जो दिन और रात्रि हैं (ते दर्शपौर्णमासौ) वे संन्यासी के पौर्णमासेष्टि और अमावास्येष्टि हैं, (येऽर्धमासाश्च, मासाश्च) जो कृष्ण शुक्लपक्ष और महीने हैं (ते चातुर्मास्यानि) वे संन्यासी के चातुर्मास्य याग हैं, (य ऋतवः) जो वसन्तादि ऋतु हैं (ते पशुबन्धाः) वे जानो संन्यासी के पशुबन्ध अर्थात् ६ पशुओं का बांधना रखना है, (ये संवत्सराश्च परिवत्सराश्च) जो संवत्सर और परिवत्सर अर्थात् वर्ष वर्षान्तर हैं (तेऽहर्गणाः) वे संन्यासी के अहर्गण दो रात्रि वा तीन रात्रि आदि के व्रत हैं, जो (सर्ववेदसं, वै) सर्वस्व दक्षिणा अर्थात् शिखा सूत्र यज्ञोपवीत आदि पूर्वाश्रमचिह्नों का त्याग करना है (एतत्सत्रम्) वह सब से बड़ा यज्ञ है, (यन्मरणम्) जो संन्यासी का मृत्यु है (तदवभृथः) वह यज्ञान्तस्नान है, (एतद्वै जरामर्यमग्निहोत्रꣳ सत्रम्) यही जरावस्था और मृत्युपर्यन्त अर्थात् यावत् जीवन है तावत् सत्योपदेश योगाभ्यासादि संन्यास के धर्म का अनुष्ठान अग्निहोत्ररूप बड़ा दीर्घ यज्ञ है, (य एवं विद्वानुदगयने०) जो इस प्रकार विद्वान् संन्यास लेकर विज्ञान योगाभ्यास करके शरीर छोड़ता है वह विद्वानों ही के महिमा को प्राप्त होकर स्वप्रकाशस्वरूप परमात्मा के संग को प्राप्त होता है। और जो योग विज्ञान से रहित है सो सांसारिक दक्षिणायनरूप व्यवहार में मृत्यु को प्राप्त होता है। वह पुनः २ माता पिताओं ही के महिमा को प्राप्त होकर चन्द्रलोक के समान वृद्धि क्षय को प्राप्त होता है। और जो इन दोनों के महिमाओं को विद्वान् ब्राह्मण अर्थात् संन्यासी जीत लेता है वह उससे परे परमात्मा के महिमा को प्राप्त होकर मुक्ति के समय पर्य्यन्त मोक्ष सुख को भोगता है।

सर्ववेदसं वा एतत्सत्रं, यन्मरणं तदवभृथः, एतद्वै जरामर्यमग्निहोत्रꣳ सत्रं, य एवं विद्वानुदगयने प्रमीयते देवानामेव महिमानं गत्वाऽऽदित्यस्य सायुज्यं गच्छत्यथ यो दक्षिणे प्रमीयते पितृणामेव महिमानं गत्वा चन्द्रमसः सायुज्यं सलोकतामाप्नोत्येतौ वै सूर्याचन्द्रमसोर्महिमानौ ब्राह्मणो विद्वानभिजयति, तस्माद् ब्राह्मणो महिमानमाप्नोति, तस्माद् ब्रह्मणो महिमानमित्युपनिषत् । तैत्ति० प्रपा० १० । अनु० ६४ ॥

अथ संन्यासे पुनः प्रमाणानि

न्यास * इत्याहुर्मनीषिणो ब्रह्माणम् । ब्रह्मा विश्वः कतमः स्वयम्भूः

* (न्यास इत्याहुर्मनीषिणः) इस अनुवाक का अर्थ सुगम है इसलिये भावार्थ कहते हैं । न्यास अर्थात् जो संन्यास शब्द का अर्थ पूर्व कह आये उस रीति से जो संन्यासी होता है वह परमात्मा का उपासक है । वह परमेश्वर सूर्यादि लोकों में व्याप्त और पूर्ण है, कि जिसके प्रताप से सूर्य तपता है । उस तपने से वर्षा, वर्षा से ओषधी वनस्पति की उत्पत्ति, उनसे अन्न, अन्न से प्राण, प्राण से बल, बल से तप अर्थात् प्राणायाम योगाभ्यास, उससे श्रद्धा सत्यधारण में प्रीति, उससे बुद्धि, बुद्धि से विचारशक्ति, उससे ज्ञान, ज्ञान से शान्ति, शान्ति से चेतनता, चित्त से स्मृति, स्मृति से पूर्वापर का ज्ञान, उससे विज्ञान और विज्ञान से आत्मा को संन्यासी जानता और जनाता है । इसलिये अन्नदान श्रेष्ठ जिससे प्राण बल विज्ञानादि होते हैं । जो प्राणों का आत्मा, जिससे यह सब जगत् ओत प्रोत व्याप्त हो रहा है वह सब जगत् का कर्त्ता, वही पूर्वकल्प और उत्तरकल्प में भी जगत् को बनाता है । उसके जानने की इच्छा से उसको जान कर हे संन्यासिन् ! तू पुनः २ मृत्यु को प्राप्त मत हो । किन्तु मुक्ति से पूर्ण सुख को प्राप्त हो । इसलिये सब तपों का तप, सब से पृथक्, उत्तम संन्यास को कहते हैं । हे परमेश्वर ! जो तू सब में वास करता हुआ विभु है, तू प्राण का प्राण, सबका सन्धान करनेहारा, विश्व का स्रष्टा धर्त्ता, सूर्य्यादि को तेजदाता है । तू ही अग्नि से तेजस्वी, तू ही विद्यादाता, तू ही सूर्य का कर्त्ता, तू ही चन्द्रमा के प्रकाश का प्रकाशक है । वह सब से बड़ा पूजनीय देव है । (ओम्) इस मन्त्र का मन से उच्चारण कर के परमात्मा में आत्मा को युक्त करे । जो इस विद्वानों की श्रेष्ठ महोपनिषद् विद्या को इस प्रकार से जानता है वह संन्यासी परमात्मा के महिमा को प्राप्त होकर आनन्द में रहता है ।

प्रजापतिः संवत्सर इति । संवत्सरोऽसावादित्यो य एष आदित्ये पुरुषः स परमेष्ठी ब्रह्मात्मा । याभिरादित्यस्तपति रश्मिभिस्ताभिः पर्जन्यो वर्षति पर्जन्येनौषधिवनस्पतयः प्रजायन्त ओषधिवनस्पतिभिरन्नं भवत्यन्नेन प्राणाः प्राणैर्बलं बलेन तपस्तपसा श्रद्धा श्रद्धया मेधा मेधया मनीषा मनीषया मनो मनसा शान्तिः शान्त्या चित्तं चित्तेन स्मृतिᳬं स्मृत्या स्मारᳬं स्मारेण विज्ञानं विज्ञानेनात्मानं वेदयति तस्मादन्नं ददन्त्सर्वाण्येतानि ददात्यन्नात् प्राणा भवन्ति भूतानां प्राणैर्मनो मनसश्च विज्ञानं विज्ञानादानन्दो ब्रह्मयोनिः । स वा एष पुरुषः पञ्चधा पञ्चात्मा येन सर्वमिदं प्रोतं पृथिवी चान्तरिक्षं च द्यौश्च दिशश्चावान्तरदिशाश्च स वै सर्वमिदं जगत् स भूतᳬं स भव्यं जिज्ञासक्लृप्त ऋतजा रयिष्ठाः श्रद्धा सत्यो महस्वांस्तमसो वरिष्ठात् । ज्ञात्वा तमेवं मनसा हृदा च भूयो न मृत्युमुपयाहि विद्वान् । तस्मान् न्यासमेषां तपसामतिरिक्तमाहुः । वसुरण्वो विभूरसि प्राणे त्वमसि सन्धाता ब्रह्मंत्वमसि विश्वसृत्तेजोदास्त्वमस्यग्नेरसि वर्चोदास्त्वमसि सूर्यस्य द्युम्नोदास्त्वमसि चन्द्रमस उपयामगृहीतोऽसि ब्रह्मणे त्वा महसे । ओमित्यात्मानं युञ्जीत । एतद्वै महोपनिषदं देवानां गुह्यम् । य एवं वेद ब्रह्मणो महिमानमाप्नोति तस्माद् ब्रह्मणो महिमानमित्युपनिषत् ॥ तैत्ति० प्रपा० १० । अनु० ६३ ॥

संन्यासी का कर्त्तव्याऽकर्त्तव्य

दृते दृᳬंह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम् । मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे । मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ॥ १ ॥ यजु० अ० ३६ । मं० १८ ॥

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् । युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नम उक्तिं विधेम ॥ २ ॥ यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति । सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति ॥ ३ ॥ यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः । तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥ ४ ॥ यजु० अ० ४० । मं० १६, ६, ७ ॥

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च । उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभिसंविवेश ॥ ५ ॥ य० अ० ३२ । मं० ११ ॥

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः । यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥ ६ ॥ ऋ० मं० १ । सू० १६४ । मं० ३९ ॥

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत् । न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते ॥ १७॥ श्वेताश्वतर ॥

अर्थः—हे (दृते) सर्वदुःखविदारक परमात्मन् ! तू (मा) मुझको संन्यासमार्ग में (दृंह) बढ़ा । हे सर्वमित्र ! तू (मित्रस्य) सर्व सुहृद् आप्त पुरुष की (चक्षुषा) दृष्टि से (मा) मुझ को सब का मित्र बना । जिससे (सर्वाणि) सब (भूतानि) प्राणिमात्र मुझ को मित्र की दृष्टि से (समक्षिन्ताम्) देखें और (अहम्) मैं (मित्रस्य) मित्र की (चक्षुषा) दृष्टि से (सर्वाणि, भूतानि) सब जीवों को (समीक्षे) देखूं इस प्रकार आप की कृपा और अपने पुरुषार्थ से हम लोग एक दूसरे को (मित्रस्य, चक्षुषा) सुहृद्भाव की दृष्टि से (समीक्षामहे) देखते रहें ॥ १ ॥ हे (अग्ने) स्वप्रकाशस्वरूप सब दुःखों के दाहक (देव) सब सुखों के दाता परमेश्वर ! (विद्वान्) आप (राये) योग विज्ञानरूप धन की प्राप्ति के लिये (सुपथा) वेदोक्त धर्ममार्ग से (अस्मान्) हम को (विश्वानि) सम्पूर्ण (वयुनानि) प्रज्ञान और उत्तम कर्मों को (नय) कृपा से प्राप्त कीजिये और (अस्मत्) हम से (जुहुराणम्) कुटिल पक्षपातसहित (एनः) अपराध पाप कर्म को (युयोधि) दूर रखिये और इस अधर्माचरण से हम को सदा दूर रखिये इसीलिये (ते) आप ही की (भूयिष्ठाम्) बहुत प्रकार (नम उक्तिम्) नमस्कारपूर्वक प्रशंसा को नित्य (विधेम) किया करें ॥ २ ॥ (यः) जो संन्यासी (तु) पुनः (आत्मन्नेव) आत्मा अर्थात् परमेश्वर ही में तथा अपने आत्मा के तुल्य (सर्वाणि, भूतानि) सम्पूर्ण जीव और जगत्स्थ पदार्थों को (अनुपश्यति) अनुकूलता से देखता

है (च) और (सर्वभूतेषु) सम्पूर्ण प्राणी अप्राणियों में (आत्मानम्) परमात्मा को देखता है (ततः) इस कारण वह किसी व्यवहार में (न, विचिकित्सति) संशय को प्राप्त नहीं होता अर्थात् परमेश्वर को सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी सर्वसाक्षी जान के अपने आत्मा के तुल्य सब प्राणिमात्र को हानि लाभ सुख दुःखादि व्यवस्था में देखे वही उत्तम संन्यासधर्म को प्राप्त होता है ॥ ३ ॥ (विजानतः) विज्ञानयुक्त संन्यासी का (यस्मिन्) जिस पक्षपातरहित धर्मयुक्त संन्यास में (सर्वाणि, भूतानि) सब प्राणिमात्र (आत्मैव) आत्मा ही के तुल्य जानना अर्थात् जैसा अपना आत्मा अपने को प्रिय है उसी प्रकार का निश्चय (अभूत्) होता है (तत्र) उस संन्यासाश्रम में (एकत्वमनुपश्यतः) आत्मा के एक भाव को देखनेवाले संन्यासी को (को, मोहः) कौनसा मोह और (कः, शोकः) कौनसा शोक होता है अर्थात् न उसको किसी से कभी मोह और न शोक होता है इसलिये संन्यासी मोहशोकादि दोषों से रहित होकर सदा सब से उपकार करता रहे ॥ ४ ॥ इस प्रकार परमात्मा की स्तुति प्रार्थना और धर्म में दृढ़ निष्ठा करके जो (भूतानि) सम्पूर्ण पृथिव्यादि भूतों में (परीत्य) व्याप्त (लोकान्) सम्पूर्ण लोकों में (परीत्य) पूर्ण हो और (सर्वाः) सब (प्रदिशो, दिशश्च) दिशा और उपदिशाओं में (परीत्य) व्यापक होके स्थित है (ऋतस्य) सत्यकारण के योग से (प्रथमजाम्) सब महत्तत्त्वादि सृष्टि को धारण करके पालन कर रहा है उस (आत्मानम्) परमात्मा को संन्यासी (आत्मना) स्वात्मा से (उपस्थाय) समीप स्थिर होकर उसमें (अभिसंविवेश) प्रतिदिन समाधियोग से प्रवेश किया करे ॥ ५ ॥ हे संन्यासी लोगो ! (यस्मिन्) जिस (परमे) सर्वोत्तम (व्योमन्) आकाशवत् व्यापक (अक्षरे) नाशरहित परमात्मा में (ऋचः) ऋग्वेदादि वेद और (विश्वे) सब (देवाः) पृथिव्यादि लोक और समस्त विद्वान् (अधिनिषेदुः) स्थित हुए और होते हैं (यः) जो जन (तत्) उस व्यापक परमात्मा को (न, वेद) नहीं जानता वह (ऋचा) वेदादि शास्त्र पढ़ने से (किं, करिष्यति) क्या सुख वा लाभ कर लेगा अर्थात् विद्या के विना परमेश्वर का ज्ञान कभी नहीं होता और विद्या पढ़ के भी जो परमेश्वर को नहीं जानता और न उसकी आज्ञा में चलता है वह मनुष्य शरीर

धारण करके निश्चल चला जाता है और (ये) जो विद्वान् लोग (तत्) उस ब्रह्म को (विदुः) जानते हैं (ते, इमे, इत्) वे ये ही उस परमात्मा में (समासते) अच्छे प्रकार समाधियोग से स्थिर होते हैं ॥ ६ ॥ (समाधिनिर्धूतमलस्य) समाधियोग से निर्मल (चेतसः) चित्त के सम्बन्ध से (आत्मनि) परमात्मा में (निवेशितस्य) निश्चल प्रवेश कराये हुये जीव को (यत्) जो (सुखम्) सुख (भवेत्) होवे वह (गिरा) वाणी से (वर्णयितुम्, न, शक्यते) कहा नहीं जा सकता क्योंकि (तदा) तब वह समाधि में स्वयं स्थित जीवात्मा (तत्) उस ब्रह्म को (अन्तःकरणेन) शुद्ध अन्तःकरण से (गृह्यते) ग्रहण करता है, वह वर्णन करने में पूर्णरीति से कभी नहीं आसकता, इसलिये संन्यासी लोग परमात्मा में स्थित रहें और उसकी आज्ञा अर्थात् पक्षपातरहित न्याय धर्म में स्थित होकर सत्योपदेश सत्यविद्या के प्रचार से सब मनुष्यों को सुख पहुंचाता रहे ॥

संमानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव ।
अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा ॥ १ ॥
यमान् सेवेत सततं न नियमान् केवलान् बुधः ।
यमान् पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन् ॥ २ ॥

अर्थः—संन्यासी जगत् के सन्मान से विष के तुल्य डरता रहे और अमृत के समान अपमान की चाहना करता रहे, क्योंकि जो अपमान से डरता और मान की इच्छा करता है वह प्रशंसक होकर मिथ्यावादी और पतित होजाता है, इसलिये चाहे निन्दा, चाहे प्रशंसा, चाहे मान, चाहे अपमान, चाहे जीना, चाहे मृत्यु, चाहे हानि, चाहे लाभ हो, चाहे कोई प्रीति करे, चाहे वैर बांधे, चाहे अन्न पान वस्त्र उत्तम स्थान न मिले वा मिले, चाहे शीत उष्ण कितना ही क्यों न हो इत्यादि सब का सहन करे, और अधर्म का खंडन तथा धर्म का मण्डन सदा करता रहे, इससे परे उत्तम धर्म दूसरे किसी को न माने, परमेश्वर से भिन्न किसी की उपासना न करे, न वेदविरुद्ध कुछ माने, परमेश्वर के स्थान में सूक्ष्म वा स्थूल तथा जड़ और जीव को भी कभी न माने, आप सदा परमेश्वर को

अपना स्वामी माने और आप सेवक बना रहे वैसा ही उपदेश अन्य को भी किया करे, जिस २ कर्म से गृहस्थों की उन्नति हो वा माता, पिता, पुत्र, स्त्री, पति, बन्धु, बहिन, मित्र, पड़ोसी, नौकर, बड़े और छोटों में विरोध छूट कर प्रेम बढ़े उस २ का उपदेश करे, जो वेद से विरुद्ध मतमतान्तर के ग्रन्थ बायबिल, कुरान, पुराण, मिथ्याभिलाप तथा काव्यालङ्कार कि जिनके पढ़ने सुनने से मनुष्य विषयी और पतित होजाते हैं उन सब का निषेध करता रहे, विद्वानों और परमेश्वर से भिन्न न किसी को देव तथा विद्या योगाभ्यास सत्सङ्ग और सत्यभाषणादि से भिन्न न किसी को तीर्थ और विद्वानों की मूर्त्तियों से भिन्न पाषाणादि मूर्त्तियों को न माने न मनवावे। वैसे ही गृहस्थों को माता, पिता, आचार्य, अतिथि, स्त्री के लिये विवाहित पुरुष और पुरुष के लिये विवाहित स्त्री की मूर्त्ति से भिन्न किसी की मूर्त्ति को पूज्य न समझावे किन्तु वैदिकमत की उन्नति और वेदविरुद्ध पाखण्डमतों के खण्डन करने में सदा तत्पर रहे। वेदादि शास्त्रों में श्रद्धा और तद्विरुद्ध ग्रन्थों वा मतों में अश्रद्धा किया कराया करे। आप शुभ गुण कर्म स्वभावयुक्त होकर सबको इसी प्रकार के करने में प्रयत्न किया करे और जो पूर्वोक्त उपदेश लिखे हैं उन २ अपने संन्यासाश्रम के कर्त्तव्य कर्मों को किया करे। खण्डनीय कर्मों का खण्डन करना कभी न छोड़े। आसुर अर्थात् अपने को ईश्वर ब्रह्म माननेवालों का भी यथावत् खण्डन करता रहे। परमेश्वर के गुण कर्म स्वभाव और न्याय आदि गुणों का प्रकाश करता रहे। इस प्रकार कर्म करता हुआ स्वयं आनन्द में रहकर सब को आनन्द में रक्खे। सर्वदा (अहिंसा) निर्वैरता, (सत्यम्) सत्य बोलना सत्य मानना सत्य करना, (अस्तेयम्) मन कर्म वचन से अन्याय करके परपदार्थ का ग्रहण न करना चाहिये न किसी को करने का उपदेश करे, (ब्रह्मचर्यम्) सदा जितेन्द्रिय होकर अष्टविध मैथुन का त्याग रख के वीर्य की रक्षा और उन्नति करके चिरञ्जीवी होकर सब का उपकार करता रहे, (अपरिग्रहः) अभिमानादि दोष रहित किसी संसार के धनादि पदार्थों में मोहित होकर कभी न फँसे। इन ५ (पांच) यमों का सेवन सदा किया करे। और इन के साथ ५ (पांच) नियम अर्थात् (शौच) बाहर भीतर से पवित्र रहना, (सन्तोष) पुरुषार्थ करते जाना और हानि लाभ

में प्रसन्न और अप्रसन्न न होना, (तपः) सदा पक्षपातरहित न्यायरूप धर्म का सेवन प्राणायामादि योगाभ्यास करना, (स्वाध्याय) सदा प्रणव का जप अर्थात् मन में चिन्तन और उसके अर्थ ईश्वर का विचार करते रहना, (ईश्वरप्रणिधान) अर्थात् अपने आत्मा को वेदोक्त परमेश्वर की आज्ञा में समर्पित करके परमानन्द परमेश्वर के सुख को जीता हुआ भोगकर शरीर छोड़ के सर्वानन्दयुक्त मोक्ष को प्राप्त होना संन्यासियों के मुख्य कर्म हैं। हे जगदीश्वर सर्वशक्तिमन् सर्वान्तर्यामिन् दयालो न्यायकारिन् सच्चिदानन्दानन्त नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्तस्वभाव अजर अमर पवित्र परमात्मन् ! आप अपनी कृपा से संन्यासियों को पूर्वोक्त कर्मों में प्रवृत्त रख के परममुक्ति सुख को प्राप्त कराते रहिये।

इति संन्याससंस्कारविधिः समाप्तः

अथान्त्येष्टिकर्मविधिं वक्ष्यामः

अन्त्येष्टि कर्म उसको कहते हैं कि जो शरीर के अन्त का संस्कार है, जिसके आगे उस शरीर के लिये कोई भी अन्य संस्कार नहीं है। इसी को नरमेध पुरुषमेध नरयाग पुरुषयाग भी कहते हैं ॥

भस्मान्तꣳ शरीरम् ॥ यजु० अ० ४० । मं० १५ ॥ निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः ॥ मनु० ॥

इस शरीर का संस्कार (भस्मान्तम्) अर्थात् भस्म करने पर्यन्त है ॥१॥ शरीर का आरम्भ ऋतुदान और अन्त में श्मशान अर्थात् मृतक कर्म है ॥२॥ (प्रश्न) जो गरुड़पुराण आदि में दशगात्र, एकादशाह, द्वादशाह, सपिण्डीकर्म, मासिक वार्षिक गयाश्राद्ध आदि क्रिया लिखी हैं क्या ये सब असत्य हैं ? (उत्तर) हां, अवश्य मिथ्या हैं, क्योंकि वेदों में इन कर्मों का विधान नहीं है इसलिये अकर्त्तव्य हैं। और मृतक जीव का सम्बन्ध पूर्व सम्बन्धियों के साथ कुछ भी नहीं रहता और न इन जीते हुए सम्बन्धियों का। वह जीव अपने कर्म के अनुसार जन्म पाता है। (प्रश्न) मरण के पीछे जीव कहां जाता है ? (उत्तर) यमालय को। (प्रश्न) यमालय किसको कहते हैं ? (उत्तर) वाय्वालय को। (प्रश्न) वाय्वालय किसको कहते हैं ? (उत्तर) अन्तरिक्ष को, जो कि यह पोल है। (प्रश्न) क्या गरुड़पुराण आदि में यमलोक लिखा है वह झूठा है ? (उत्तर) अवश्य मिथ्या है। (प्रश्न) पुनः संसार क्यों मानता है ? (उत्तर) वेद के अज्ञान और उपदेश के न होने से। जो यम की कथा लिख रक्खी है वह सब मिथ्या है क्योंकि यम इतने पदार्थों का नाम है ॥

षडिद्यमा ऋषयो देवजा इति ॥ ऋ० मं० १ । सू० १६४ । मं० १५ ॥

शकेम वाजिनो यमम् ॥ ऋ० मं० २ । सू० ५ । मं० १ ॥

यमाय जुहुता हविः । यमं ह यज्ञो गच्छत्यग्निदूतो अरंकृतः ॥ ऋ० मं० १० । सू० १४ । मं० १३ ॥

यमः सूयमानो विष्णुः सम्भ्रियमाणो वायुः पूयमानः ॥ यजु० अ० ८ । मं० ५७ ॥

वाजिनं यमम् ॥ ऋ० मं० ८ । सू० २४ । मं० २२ ॥

यमं मातरिश्वानमाहुः ॥ ऋ० मं० १ । सू० १६४ । मं० ४६ ॥

यहां ऋतुओं का यम नाम है ॥ १ ॥ यहां परमेश्वर का नाम ॥ २ ॥ यहां अग्नि का नाम ॥ ३ ॥ यहां वायु, विद्युत्, सूर्य के यम नाम हैं ॥ ४ ॥ यहां भी वेगवाला होने से वायु का नाम यम है ॥ ५ ॥ यहां परमेश्वर का नाम यम है । इत्यादि पदार्थों का नाम यम है इसलिये पुराण आदि की सब कल्पना झूठी हैं ॥ ६ ॥

विधि–संस्थिते भूमिभागं खानयेद्दक्षिणपूर्वस्यां दिशि दक्षिणापरस्यां वा ॥ १ ॥ दक्षिणाप्रवणं प्राग्दक्षिणाप्रवणं वा प्रत्यग्दक्षिणाप्रवणमित्येके ॥ २ ॥ यावानुद्बाहुकः पुरुषस्तावदायामम् ॥ ३ ॥ वितस्त्यवाक् ॥ ४ ॥ केशश्मश्रुलोमनखानीत्युक्तं पुरस्तात् ॥ ५ ॥ द्विगुल्फं बर्हिराज्यं च ॥ ६ ॥ दधन्यत्र सर्पिरानयन्त्येतत् पित्र्यं पृषदाज्यम् ॥ ७ ॥ अथैतां दिशमग्नीनयन्ति यज्ञपात्राणि च ॥ ८ ॥ आश्वलायन० अ० ४ । कण्डि० १ । सू० ६–१७ तथा कण्डि० २ । सू० १ ॥

जब कोई मरजावे तब यदि पुरुष हो तो पुरुष और स्त्री हो तो स्त्रियां उसको स्नान करावें, चन्दनादि सुगन्धलेपन और नवीन वस्त्र धारण करावें, जितना उसके शरीर का भार हो उतना घृत यदि अधिक सामर्थ्य हो तो अधिक लेवें, और जो महादरिद्र भिक्षुक हो कि जिसके पास कुछ भी नहीं है उसको

कोई श्रीमान् वा पंच बन के आध मन से कम घी न देवें, और श्रीमान् लोग शरीर के बराबर तौल के चन्दन, सेर भर घी में एक रत्ती कस्तूरी, एक मासा केसर, एक २ मन घी के साथ सेर २ भर अगर तगर और घृत में चन्दन का चूरा भी यथाशक्ति डाल, कपूर, पलाश आदि के पूर्ण काष्ठ, शरीर के भार से दूनी सामग्री, श्मशान में पहुंचावे। तत्पश्चात् मृतक को वहां श्मशान में ले जाय। यदि प्राचीन वेदी बनी हुई न हो तो नवीन वेदी भूमि में खोदे, वह श्मशान का स्थान बस्ती से दक्षिण तथा आग्नेय अथवा नैर्ऋत्य कोण में हो। वहां भूमि को खोदे। मृतक के पग दक्षिण नैर्ऋत्य अथवा आग्नेय कोण में रहें, शिर उत्तर ईशान वा वायव्य कोण में रहे ॥ १ ॥ मृतक के पग की ओर वेदी के तले में नीचा और शिर की ओर थोड़ा ऊंचा रहे ॥ २ ॥ उस वेदी का परिमाण पुरुष खड़ा होकर ऊपर को हाथ उठावे उतनी लम्बी और दोनों हाथों को लंबे उत्तर दक्षिण पार्श्व में करने से जितना परिमाण हो अर्थात् मृतक के साढ़े तीन हाथ अथवा तीन हाथ से ऊपर चौड़ी होवे और छाती के बराबर गहरी होवे ॥ ३ ॥ और नीचे आध हाथ अर्थात् एक बीता भर रहे। उस वेदी में थोड़ा २ जल छिटकावे। यदि गोमय उपस्थित हो तो लेपन भी करदे। उसमें नीचे से आधी वेदी तक लकड़ियां चिने, जैसे कि भित्ती में ईंटें चिनी जाती हैं, अर्थात् बराबर जमाकर लकड़ियां धरे। लकड़ियों के बीच में थोड़ा थोड़ा कपूर थोड़ी थोड़ी दूर पर रक्खे। उसके ऊपर मध्य में मृतक को रक्खे अर्थात् चारों ओर वेदी बराबर खाली रहे, और पश्चात् चारों ओर और ऊपर चन्दन तथा पलाश आदि के काष्ठ बराबर चिने, वेदी से ऊपर एक बीता भर लकड़ियां चिने। जबतक यह क्रिया होवे तबतक अलग चूल्हा बना, अग्नि जला, घृत तपा और छान कर पात्रों में रक्खे। उसमें कस्तूरी आदि सब पदार्थ मिलावे। लम्बी २ लकड़ियों में चार चमसों को चाहे वे लकड़ी के हों वा चांदी सोने के अथवा लोहे के हों जिस चमसा में एक छटांक भर से अधिक और आधी छटांक भर से न्यून घृत न आवे खूब दृढ़ बन्धनों से डण्डों के साथ बांधे। पश्चात् घृत का दीपक करके, कपूर में लगाकर, शिर से आरम्भ कर पाद पर्यन्त मध्य २ में अग्नि प्रवेश करावे। अग्निप्रवेश कराके:—

ओमग्नये स्वाहा । ओं सोमाय स्वाहा । ओं लोकाय स्वाहा । ओमनुमतये स्वाहा । ओं स्वर्गाय लोकाय स्वाहा ॥ आश्वला० अ० ४ । कं० ३ । सू० २५-२६ ॥

इन पांच मन्त्रों से आहुतियां देके अग्नि को प्रदीप्त होने देवे । तत्पश्चात् चार मनुष्य पृथक् २ खड़े रहकर वेदों के मन्त्रों से आहुति देते जायँ, जहां स्वाहा आवे वहां आहुति छोड़ देवे ॥

अथ वेदमन्त्राः

सूर्यं चक्षुर्गच्छतु वातमात्मा द्यां च गच्छ पृथिवीं च धर्मणा । अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रति तिष्ठा शरीरैः स्वाहा ॥ १ ॥ अजो भागस्तपसा तं तपस्व तं ते शोचिस्तपतु तं ते अर्चिः । यास्ते शिवास्तन्वो जातवेदस्ताभिर्वहैनं सुकृतामु लोकं स्वाहा ॥ २ ॥ अवसृज पुनरग्ने पितृभ्यो यस्त आहुतश्चरति स्वधाभिः । आयुर्वसान उपवेतु शेषः संगच्छतां तन्वा जातवेदः स्वाहा ॥ ३ ॥ अग्नेर्वर्म परि गोभिर्व्ययस्व सम्प्रोर्णुष्व पीवसा मेदसा च । नेत्त्वा धृष्णुर्हरसा जर्हृषाणो दधृग्विधक्ष्यन्पर्यङ्खयाते स्वाहा ॥ ४ ॥ यं त्वमग्ने समदहस्तमु निर्वापया पुनः । कियाम्ब्वत्र रोहतु पाकदूर्वा व्यल्कशा स्वाहा ॥ ५ ॥ ऋ० मं० १० । सू० १६ । मं० ३ । ४ । ५ । ७ । १३ ॥

परेयिवांसं प्रवतो महीरनु बहुभ्यः पन्थामनुपस्पशानम् । वैवस्वतं सङ्गमनं जनानां यमं राजानं हविषा दुवस्य स्वाहा ॥ ६ ॥ यमो नो गातुं प्रथमो विवेद नैषा गव्यूतिरपभर्तवा उ । यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुरेना जज्ञानाः पथ्या३ अनु स्वाः स्वाहा ॥ ७ ॥ मातली कव्यैर्यमो अङ्गिरोभिर्बृहस्पतिर्ऋक्वभिर्वावृधानः । यांश्च देवा वावृधुर्ये च देवान्त्स्वाहान्ये स्वधयान्ये मदन्ति स्वाहा ॥ ८ ॥ इमं यम प्रस्तरमा हि सीदाङ्गिरोभिः पितृभिः संविदानः । आ त्वा मन्त्राः कविशस्ता वहन्त्वेना राजन्हविषा मादयस्व स्वाहा ॥ ९ ॥ अङ्गिरोभिरागहि यज्ञियेभिर्यम वैरूपैरिह मादयस्व । विवस-

न्तं हुवे यः पिता तेऽस्मिन्यज्ञे बर्हिष्या निषद्य स्वाहा ॥ १० ॥ प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूर्व्येभिर्यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुः । उभा राजाना स्वधया मदन्ता यमं पश्यासि वरुणं च देवं स्वाहा ॥ ११ ॥ संगच्छस्व पितृभिः सं यमेनेष्टापूर्त्तेन परमे व्योमन् । हित्वायावद्यं पुनरस्तमेहि संगच्छस्व तन्वा सुवर्चाः स्वाहा ॥ १२ ॥ अपेत वीत वि च सर्पतातोऽस्मा एतं पितरो लोकमक्रन् । अहोभिरद्भिरक्तुभिर्व्यक्तं यमो ददात्यवसानमस्मै स्वाहा ॥१३॥ यमाय सोमं सुनुत यमाय जुहुता हविः । यमं ह यज्ञो गच्छत्यग्निदूतो अरङ्कृतः स्वाहा ॥ १४ ॥ यमाय घृतवद्धविर्जुहोत प्र च तिष्ठत । स नो देवेष्वायमद्दीर्घमायुः प्रजीवसे स्वाहा ॥ १५ ॥ यमाय मधुमत्तमं राज्ञे हव्यं जुहोतन । इदं नम ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः स्वाहा ॥१६॥ ऋ० मं० १० । सू० १४ ॥ कृष्णः श्वेतोऽरुषो यामो अस्य ब्रध्न ऋज्र उत शोणो यशस्वान् । हिरण्यरूपं जनिता जजान स्वाहा ॥ १७ ॥ ऋ० मं० १० । सू० २० । मं० ९ ॥

इन ऋग्वेद के मन्त्रों से चारों जने सत्रह सत्रह आज्याहुति देकर निम्नलिखित मन्त्रों से उसी प्रकार आहुति देवें ॥

प्राणेभ्यः साधिपतिकेभ्यः स्वाहा ॥ १ ॥ पृथिव्यै स्वाहा ॥ २ ॥ अग्नये स्वाहा ॥ ३ ॥ अन्तरिक्षाय स्वाहा ॥ ४ ॥ वायवे स्वाहा ॥ ५ ॥ दिवे स्वाहा ॥ ६ ॥ सूर्याय स्वाहा ॥ ७ ॥ दिग्भ्यः स्वाहा ॥ ८ ॥ चन्द्राय स्वाहा ॥ ९ ॥ नक्षत्रेभ्यः स्वाहा ॥ १० ॥ अद्भ्यः स्वाहा ॥ ११ ॥ वरुणाय स्वाहा ॥ १२ ॥ नाभ्यै स्वाहा ॥ १३ ॥ पूताय स्वाहा ॥ १४ ॥ वाचे स्वाहा ॥ १५ ॥ प्राणाय स्वाहा ॥ १६ ॥ प्राणाय स्वाहा ॥ १७ ॥ चक्षुषे स्वाहा ॥ १८ ॥ चक्षुषे स्वाहा ॥ १९ ॥ श्रोत्राय स्वाहा ॥ २० ॥ श्रोत्राय स्वाहा ॥ २१ ॥ लोमभ्यः स्वाहा ॥ २२ ॥ लोमभ्यः स्वाहा ॥ २३ ॥ त्वचे स्वाहा ॥ २४ ॥ त्वचे स्वाहा ॥ २५ ॥ लोहिताय स्वाहा ॥ २६ ॥ लोहिताय स्वाहा ॥ २७ ॥ मेदोभ्यः स्वाहा ॥ २८ ॥ मेदोभ्यः स्वाहा ॥ २९ ॥ माꣳसेभ्यः स्वाहा ॥ ३० ॥ माꣳसेभ्यः स्वाहा ॥ ३१ ॥

स्नावभ्यः स्वाहा ॥ ३२ ॥ स्नावभ्यः स्वाहा ॥ ३३ ॥ अस्थभ्यः स्वाहा ॥ ३४ ॥ अस्थभ्यः स्वाहा ॥ ३५ ॥ मज्जभ्यः स्वाहा ॥ ३६ ॥ मज्जभ्यः स्वाहा ॥ ३७ ॥ रेतसे स्वाहा ॥ ३८ ॥ पायवे स्वाहा ॥ ३९ ॥ आयासाय स्वाहा ॥ ४० ॥ प्रायासाय स्वाहा ॥ ४१ ॥ संयासाय स्वाहा ॥ ४२ ॥ वियासाय स्वाहा ॥ ४३ ॥ उद्यासाय स्वाहा ॥ ४४ ॥ शुचे स्वाहा ॥ ४५ ॥ शोचते स्वाहा ॥ ४६ ॥ शोचमानाय स्वाहा ॥ ४७ ॥ शोकाय स्वाहा ॥ ४८ ॥ तपसे स्वाहा ॥ ४९ ॥ तप्यते स्वाहा ॥ ५० ॥ तप्यमानाय स्वाहा ॥ ५१ ॥ तप्ताय स्वाहा ॥ ५२ ॥ घर्माय स्वाहा ॥ ५३ ॥ निष्कृत्यै स्वाहा ॥ ५४ ॥ प्रायश्चित्यै स्वाहा ॥ ५५ ॥ भेषजाय स्वाहा ॥ ५६ ॥ यमाय स्वाहा ॥ ५७ ॥ अन्तकाय स्वाहा ॥ ५८ ॥ मृत्यवे स्वाहा ॥ ५९ ॥ ब्रह्मणे स्वाहा ॥ ६० ॥ ब्रह्महत्यायै स्वाहा ॥ ६१ ॥ विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा ॥ ६२ ॥ द्यावापृथिवीभ्याᳬ स्वाहा ॥ ६३ ॥ यजु० अ० ३९ ॥

इन ६३ (तिरसठ) मन्त्रों से तिरसठ आहुति पृथक् पृथक् देके निम्नलिखित मन्त्रों से आहुति देवे ।

सूर्यं चक्षुषा गच्छ वातमात्मना दिवं च गच्छ पृथिवीं च धर्मभिः । अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रतितिष्ठा शरीरैः स्वाहा ॥ १ ॥ सोम एकेभ्यः पवते घृतमेक उपासते । येभ्यो मधु प्रधावति तांश्चिदेवापि गच्छतात् स्वाहा ॥ २ ॥ ये चित्पूर्व ऋतसाता ऋतजाता ऋतावृधः । ऋषींस्तपस्वतो यम तपोजाँ अपि गच्छतात् स्वाहा ॥ ३ ॥ तपसा ये अनाधृष्यास्तपसा ये स्वर्ययुः । तपो ये चक्रिरे महस्तांश्चिदेवापि गच्छतात् स्वाहा ॥ ४ ॥ ये युद्ध्यन्ते प्रधनेषु शूरासो ये तनूत्यजः । ये वा सहस्रदक्षिणास्तांश्चिदेवापि गच्छतात् स्वाहा ॥ ५ ॥ स्योनास्मै भव पृथिव्यनृक्षरा निवेशनी । यच्छास्मै शर्म सप्रथाः स्वाहा ॥ ६ ॥ अपेमं जीवा अरुधन् गृहेभ्यस्तन्निर्वहत परि ग्रामादितः । मृत्युर्यमस्यासीद्दूतः प्रचेता असून् पितृभ्यो गमयाञ्चकार स्वाहा ॥ ७ ॥ यमः परोवरो विवस्वांस्ततः परं नातिपश्यामि किञ्चन । यमे अध्वरो अधि मे निविष्टो भुवो विवस्वानन्वाततान स्वाहा

॥ ८ ॥ अपागूहन्नमृतां मर्त्येभ्यः कृत्वा सवर्णामदधुर्विवस्वते । उताश्विना-वभरद्यत्तदासीदजहादु द्वा मिथुना सरण्यूः स्वाहा ॥ ९ ॥ इमौ युनज्मि ते वह्नी असुनीताय वोढवे । ताभ्यां यमस्य सादनं समितीश्चावगच्छतात् स्वाहा ॥ १० ॥ अथर्व० कां० १८ । सू० २ ॥

इन दश मन्त्रों से दश आहुति देकरः—

अग्नये रयिमते स्वाहा ॥ १ ॥ पुरुषस्य सयावर्यपेदघानि मृज्महे । यथा नो अत्र नापरः पुरा जरस आयति स्वाहा ॥ २ ॥ य एतस्य पथो गोप्तारस्तेभ्यः स्वाहा ॥ ३ ॥ य एतस्य पथो रक्षितारस्तेभ्यः स्वाहा ॥ ४ ॥ य एतस्य पथोऽभिरक्षितारस्तेभ्यः स्वाहा ॥ ५ ॥ ख्यात्रे स्वाहा ॥ ६ ॥ अपाख्यात्रे स्वाहा ॥ ७ ॥ अभिलालपते स्वाहा ॥ ८ ॥ अपलालपते स्वाहा ॥ ९ ॥ अग्नये कर्मकृते स्वाहा ॥ १० ॥ यमत्र नाधीमस्तस्मै स्वाहा ॥ ११ ॥ अग्नये वैश्वानराय सुवर्गाय लोकाय स्वाहा ॥ १२ ॥ आयातु देवः सुमनाभिरूतिभिर्यमो ह वेह प्रयताभिरक्ता । आसीदताᳬं सुप्रयते ह बर्हिष्यूर्जाय जात्यै मम शत्रुहत्यै स्वाहा ॥ १३ ॥ योऽस्य कौष्ठ्य जगतः पार्थिवस्यैक इद्वशी । यमं भङ्ग्यश्रवो गाय यो राजाऽनपरोध्यः स्वाहा ॥ १४ ॥ यमं गाय भङ्ग्यश्रवो यो राजाऽनपरोध्यः । येनाऽऽपो नद्यो धन्वानि येन द्यौः पृथिवी दृढा स्वाहा ॥ १५ ॥ हिरण्यकक्ष्यान्त्सुधुरान् हिरण्याक्षानयःशफान् । अश्वाननश्शतो दानं यमो राजाभितिष्ठति स्वाहा ॥ १६ ॥ यमो दाधार पृथिवीं यमो विश्वमिदं जगत् । यमाय सर्वमित्तस्थे यत् प्राणद्वायुरक्षितं स्वाहा ॥ १७ ॥ यथा पञ्च यथा षड् यथा पञ्चदश-र्षयः । यमं यो विद्यात् स ब्रूयाद्यथैक ऋषिर्विजानते स्वाहा ॥ १८ ॥ त्रिकद्रुकेभिः पतति षडुर्वीरेकमिद्बृहत् । गायत्री त्रिष्टुप्छन्दाᳬंसि सर्वा ता यम आहिता स्वाहा ॥ १९ ॥ अहरहर्नयमानो गामश्वं पुरुषं जगत् । वैव-स्वतो न तृप्यति पञ्चभिर्मानवैर्यमः स्वाहा ॥ २० ॥ वैवस्वते विविच्यन्ते यमे राजनि ते जनाः । ये चेह सत्येनेच्छन्ते य उ चानृतवादिनः स्वाहा ॥ २१ ॥ ते राजन्निह विविच्यन्तेऽथा यन्ति त्वामुप । देवांश्च ये नमस्यन्ति ब्राह्मणां

आपचिस्यति स्वाहा ॥ २२ ॥ यस्मिन्वृक्षे सुपलाशे देवैः संपिबते यमः । अत्रा नो विश्पतिः पिता पुराणा अनुवेनति स्वाहा ॥ २३ ॥ उत्ते तभ्नोमि पृथिवीं त्वत्परीमं लोकं निदधन्मो अहꣳ रिषम् । एताꣳ स्थूणां पितरो धारयन्तु तेऽत्रा यमः सादनात्ते मिनोतु स्वाहा ॥ २४ ॥ यथाऽहान्यनुपूर्वं भवन्ति यथर्त्तव ऋतुभिर्यन्ति क्लृप्ताः । यथा नः पूर्वमपरो जहात्येवा धातरायूꣳषि कल्पयैषां स्वाहा ॥ २५ ॥ न हि ते अग्ने तनुवै क्रूरं चकार मर्त्यः । कपिर्बभस्ति तेजनं पुनर्जरायुर्गौरिव । अप नः शोशुचदघमग्ने शुशुध्या रयिम् । अप नः शोशुचदघं मृत्यवे स्वाहा ॥ २६ ॥ तैत्ति० प्रपा० ६ । अनु० १—१० ॥

इन छब्बीस आहुतियों को करके, ये सब (ओं अग्नये स्वाहा) इस मन्त्र से ले के (मृत्यवे स्वाहा) तक एकसौ इकीस आहुति हुईं । अर्थात् ४ जनों की मिल के ४८४ (चारसौ चौरासी), और जो दो जने आहुति देवें तो २४२ (दोसौ बयालीस) । यदि घृत विशेष हो तो पुनः इन्हीं एकसौ इकीस मन्त्रों से आहुति देते जायँ यावत् शरीर भस्म न होजाय तावत् देवें । जब शरीर भस्म होजावे पुनः सब जने वस्त्र प्रक्षालन स्नान करके जिसके घर में मृत्यु हुआ हो उसके घर की मार्जन, लेपन, प्रक्षालनादि से शुद्धि करके, पृ० ८—१२ में लिखे प्रमाणे स्वस्तिवाचन शान्तिप्रकरण का पाठ और पृ० ४—८ में लि० ईश्वरोपासना करके, इन्हीं स्वस्तिवाचन और शान्तिप्रकरण के मन्त्रों से जहां अङ्क अर्थात् मन्त्र पूरा हो वहां स्वाहा शब्द का उच्चारण करके, सुगन्ध्यादि मिले हुए घृत की आहुति घर में देवें कि जिससे मृतक का वायु घर से निकल जाय और शुद्ध वायु घर में प्रवेश करे और सब का चित्त प्रसन्न रहे । यदि उस दिन रात्रि होजाय तो थोड़ीसी आहुति देकर, दूसरे दिन प्रातःकाल उसी प्रकार स्वस्तिवाचन और शान्तिप्रकरण के मन्त्रों से आहुति देवें । तत्पश्चात् जब तीसरा दिन हो तब मृतक का कोई सम्बन्धी श्मशान में जाकर, चिता से अस्थि उठा के, उस श्मशानभूमि में कहीं पृथक् रख देवें । बस इस के आगे मृतक के लिये कुछ भी कर्म कर्त्तव्य नहीं है, क्योंकि पूर्व (भ-

स्मान्तꣳ शरीरम्) यजुर्वेद के मन्त्र के प्रमाण से स्पष्ट हो चुका कि दाहकर्म और अस्थिसंचयन से पृथक् मृतक के लिये दूसरा कोई भी कर्म कर्त्तव्य नहीं है। हां, यदि वह संपन्न हो तो अपने जीते जी वा मरे पीछे उनके सम्बन्धी वेदविद्या, वेदोक्तधर्म का प्रचार, अनाथपालन, वेदोक्त धर्मोपदेशकप्रवृत्ति के लिये चाहे जितना धन प्रदान करें बहुत अच्छी बात है ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्याणां श्रीयुतविरजानन्दसरस्वती-
स्वामिनां महाविदुषां शिष्यस्य वेदविहिताचारधर्मनिरू-
पकस्य श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिनः कृतौ संस्कार-
विधिर्ग्रन्थः पूर्त्तिमगात् ॥

शताब्दी-संस्करण

Prem Bahadur Varma
12.6.26

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका

पृष्ठ २५६-७२१.

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका

—:o:—

आवृत्ति		सन् ई०		संख्या
प्रथम	...	१८७८	...	३१००
द्वितीय	...	१८९२	...	५०००
तृतीय	...	१९०४	...	५०००
चतुर्थ	...	१९१३	...	५०००
पंचम	...	१९१९	...	५०००
शताब्दीसंस्करण		१९२४	...	१०,०००
				३३,१००

ओ३म्

अथ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका

ओ३म् सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्य्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै ॥ ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥ १ ॥ तैत्तिरीय आरण्यके । नवमप्रपाठके प्रथमानुवाके ॥

ब्रह्मानन्तमनादि विश्वकृदजं सत्यं परं शाश्वतं, विद्या यस्य सनातनी निगमभृद्वैधर्म्यविध्वंसिनी । वेदाख्या विमला हिता हि जगते नृभ्यः सुभाग्यप्रदा, तन्नत्वा निगमार्थभाष्यमतिना भाष्यं तु तन्तन्यते ॥ १ ॥ कालरामाङ्कचन्द्रेऽब्दे भाद्रमासे सिते दले । प्रतिपद्यादित्यवारे भाष्यारम्भः कृतो मया ॥ २ ॥ दयाया आनन्दो विलसति परः स्वात्मविदितः, सरस्वत्यस्याग्रे निवसति हिता हीशशरणा । इयं ख्यातिर्यस्य प्रततसुगुणा वेदमननाऽस्त्यनेनेदं भाष्यं रचितमिति बोद्धव्यमनघाः ॥ ३ ॥ मनुष्येभ्यो हितायैव सत्यार्थं सत्यमानतः । ईश्वरानुग्रहेणेदं वेदभाष्यं विधीयते ॥ ४ ॥ संस्कृतप्राकृताभ्यां यद्भाषाभ्यामन्वितं शुभम् । मन्त्रार्थवर्णनं चात्र क्रियते कामधुङ्मया ॥ ५ ॥ आर्य्याणां मुन्यृषीणां या व्याख्यारीतिः सनातनी । तां समाश्रित्य मन्त्रार्था विधास्यन्ते तु नान्यथा ॥ ६ ॥ येनाधुनिकभाष्यैर्ये टीकाभिर्वेददूषकाः । दोषाः सर्वे विनश्येयुरन्यथार्थविवर्णनाः ॥ ७ ॥ सत्यार्थश्च प्रकाश्येत वेदानां यः सनातनः । ईश्वरस्य सहायेन प्रयत्नोऽयं सुसिध्यताम् ॥ ८ ॥

भाषार्थ

(सह नाव०) हे सर्वशक्तिमन् ईश्वर ! आप की कृपा, रक्षा और सहाय से हम लोग परस्पर एक दूसरे की रक्षा करें, (सह नौ भु०) और हम सब लोग परमप्रीति से मिल के सब से उत्तम ऐश्वर्य अर्थात् चक्रवर्त्तिराज्य आदि सामग्री से आनन्द को आप के अनुग्रह से सदा भोगें, (सहवी०) हे कृपानिधे ! आप के सहाय से हम लोग एक दूसरे के सामर्थ्य को पुरुषार्थ से सदा बढ़ाते रहें, (तेजस्वि०) और हे प्रकाशमय सब विद्या के देनेवाले परमेश्वर ! आप के सामर्थ्य से ही हम लोगों का पढ़ा और पढ़ाया सब संसार में प्रकाश को प्राप्त हो और हमारी विद्या सदा बढ़ती रहे, (मा विद्विषा०) हे प्रीति के उत्पादक ! आप ऐसी कृपा कीजिये कि जिससे हम लोग परस्पर विरोध कभी न करें किन्तु एक दूसरे के मित्र हो के सदा वर्त्तें । (ओं शान्तिः०) हे भगवन् ! आपकी करुणा से हम लोगों के तीन ताप एक (आध्यात्मिक) जो कि ज्वरादि रोगों से शरीर में पीड़ा होती है, दूसरा (आधिभौतिक) जो दूसरे प्राणियों से होता है और तीसरा (आधिदैविक) जो कि मन और इन्द्रियों के विकार, अशुद्धि और चञ्चलता से क्लेश होता है । इन तीनों तापों को आप शान्त अर्थात् निवारण कर दीजिये । जिस से हम लोग सुख से इस वेदभाष्य को यथावत् बना के सब मनुष्यों का उपकार करें । यही आप से चाहते हैं, सो कृपा करके हम लोगों को सब दिनों के लिये सहाय कीजिये ॥ १ ॥

(ब्रह्मानन्त०) जो ब्रह्म अनन्त आदि विशेषणों से युक्त है, जिस की वेदविद्या सनातन है, उसको अत्यन्त प्रेम भक्ति से मैं नमस्कार करके इस वेदभाष्य के बनाने का आरम्भ करता हूं ॥ १ ॥ (कालरा०) विक्रम के संवत् १९३३ भाद्रमास के शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा, रविवार के दिन इस वेदभाष्य का आरम्भ मैंने किया है ॥ २ ॥ (दयाया०) सब सज्जन लोगों को यह बात विदित हो कि जिन का नाम स्वामी दयानन्द सरस्वती है उन्हों ने इस वेदभाष्य को रचा है ॥ ३ ॥ (मनुष्ये०) ईश्वर की कृपा के सहाय से सब मनुष्यों के हित के लिये इस वेदभाष्य का विधान मैं करता हूं ॥ ४ ॥ (संस्कृतप्रा०) सो यह

वेदभाष्य दो भाषाओं में किया जाता है, एक संस्कृत और दूसरी प्राकृत, इन दोनों भाषाओं में वेदमन्त्रों के अर्थ का वर्णन मैं करता हूं ॥ ५ ॥ (आर्य्याणां०) इस वेदभाष्य में अप्रमाण लेख कुछ भी नहीं किया जाता है, किन्तु जो ब्रह्मा से ले के व्यासपर्य्यन्त मुनि और ऋषि हुए हैं उन की जो व्याख्यारीति है उस से युक्त ही यह वेदभाष्य बनाया जायगा ॥ ६ ॥ (येनाधु०) यह भाष्य ऐसा होगा कि जिससे वेदार्थ से विरुद्ध अब के बने भाष्य और टीकाओं से वेदों में भ्रम से जो मिथ्यादोषों के आरोप हुए हैं वे सब निवृत्त हो जायंगे ॥ ७ ॥ (सत्यार्थश्च०) और इस भाष्य से वेदों का जो सत्य अर्थ है सो संसार में प्रसिद्ध हो, कि वेदों के सनातन अर्थ को सब लोग यथावत् जान लें, इसलिये यह प्रयत्न मैं करता हूं, सो परमेश्वर के सहाय से यह काम अच्छे प्रकार सिद्ध हो यही सर्वशक्तिमान् परमेश्वर से मेरी प्रार्थना है ॥ ८ ॥

विश्वा॑नि देव सवितर्दुरि॒तानि॒ परा॑सुव । यद्भ॒द्रं तन्न॒ आ सु॑व ॥ १ ॥ यजुर्वेदे । अध्याये ३० । मन्त्रः ३ ।

भाष्यम्

हे सच्चिदानन्दानन्तस्वरूप ! हे परमकारुणिक ! हे अनन्तविद्य ! हे विद्याविज्ञानप्रद ! (देव) हे सूर्यादिसर्वजगद्विद्याप्रकाशक ! हे सर्वानन्दप्रद ! (सवितः) हे सकलजगदुत्पादक ! (नः) अस्माकम् (विश्वानि) सर्वाणि (दुरितानि) दुःखानि सर्वान्दुष्टगुणांश्च (परासुव) दूरे गमय, (यद्भद्रं) यत्कल्याणं सर्वदुःखरहितं सत्यविद्याप्राप्त्याऽभ्युदयनिःश्रेयससुखकरं भद्रमस्ति (तन्नः) अस्मभ्यं (आसुव) आ समन्तादुत्पादय कृपया प्रापय । अस्मिन् वेदभाष्यकरणानुष्ठाने ये दुष्टा विघ्नास्तान् प्राप्तेः पूर्वमेव परासुव दूरं गमय, यच्च शरीरबुद्धिसहायकौशलसत्यविद्याप्रकाशादि भद्रमस्ति तत्स्वकृपाकटाक्षेण हे परब्रह्मन् ! नोऽस्मभ्यं प्रापय, भवत्कृपाकटाक्षसुसहायप्राप्त्या सत्यविद्योज्ज्वलं प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धं भवद्रचितानां वेदानां यथार्थं भाष्यं वयं विदधीमहि । तदिदं सर्वमनुष्योपकाराय भवत्कृपया

भवेत् । अस्मिन् वेदभाष्ये सर्वेषां मनुष्याणां परमश्रद्धयाऽत्यन्ता प्रीतिर्यथा स्यात् तथैव भवता कार्यमित्योऽम् ।

भावार्थ

हे सत्यस्वरूप ! हे विज्ञानमय ! हे सदानन्दस्वरूप ! हे अनन्तसामर्थ्ययुक्त ! हे परमकृपालो ! हे अनन्तविद्यामय ! हे विज्ञानविद्याप्रद ! (देव) हे परमेश्वर ! आप सूर्यादि सब जगत् का और विद्या का प्रकाश करने वाले हो तथा सब आनन्दों के देने वाले हो, (सवितः) हे सर्वजगदुत्पादक सर्वशक्तिमन् ! आप सब जगत् को उत्पन्न करने वाले हो, (नः) हमारे (विश्वानि) सब जो (दुरितानि) दुःख हैं उन को और हमारे सब दुष्ट गुणों को कृपा से आप (परासुव) दूर कर दीजिये अर्थात् हम से उन को और हम को उन से सदा दूर रखिये, (यद्भद्रं) और जो सब दुःखों से रहित कल्याण है, जो कि सब सुखों से युक्त भोग है, उस को हमारे लिये सब दिनों में प्राप्त कीजिये । सो सुख दो प्रकार का है । एक जो सत्यविद्या की प्राप्ति में अभ्युदय अर्थात् चक्रवर्ति राज्य इष्ट मित्र धन पुत्र स्त्री और शरीर से अत्यन्त उत्तम सुख का होना और दूसरा जो निःश्रेयस सुख है कि जिस को मोक्ष कहते हैं और जिस में ये दोनों सुख होते हैं उसी को भद्र कहते हैं । (तन्न आसुव) उस सुख को आप हमारे लिये सब प्रकार से प्राप्त करिये, और आप की कृपा के सहाय से सब विघ्न हम से दूर रहें, कि जिससे इस वेदभाष्य के करने का हमारा अनुष्ठान सुख से पूरा हो । इस अनुष्ठान में हमारे शरीर में आरोग्य, बुद्धि, सज्जनों का सहाय, चतुरता और सत्यविद्या का प्रकाश सदा बढ़ता रहे । इस भद्रस्वरूप सुख को आप अपनी सामर्थ्य से ही हम को दीजिये । जिस कृपा के सामर्थ्य से हम लोग सत्यविद्या से युक्त जो आपके बनाये वेद हैं उन के यथार्थ अर्थ से युक्त भाष्य को सुख से विधान करें । सो यह वेदभाष्य आप की कृपा से संपूर्ण हो के सब मनुष्यों का सदा उपकार करनेवाला हो और आप अन्तर्यामी की प्रेरणा से सब मनुष्यों का इस वेदभाष्य में श्रद्धासहित अत्यन्त उत्साह हो, जिससे वेदभाष्य करने में जो हम लोगों का प्रयत्न है सो यथावत् सिद्धि को प्राप्त हो ।

इसी प्रकार से आप हमारे और सब जगत् के ऊपर कृपादृष्टि करते रहें, जिससे इस बड़े सत्य काम को हम लोग सहज से सिद्ध करें ॥ १ ॥

यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति । स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ १ ॥ यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम् । दिवं यश्चक्रे मूर्द्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ २ ॥ यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः । अग्निं यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ ३ ॥ यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुरङ्गिरसोऽभवन् । दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ ४ ॥ अथर्ववेदसंहितायाम् । काण्डे १० । प्रपाठके २३ । अनुवाके ४ । सूक्ते ८ । मं० १ । तथा सूक्ते ७ । मं० ३२ । ३३ । ३४ ॥

भाष्यम्

(यो भूतं च०) यो भूतभविष्यद्वर्तमानान् कालान् (सर्वं यश्चाधि०) सर्वं जगच्चाधितिष्ठति, सर्वाधिष्ठाता सन् कालादूर्ध्वं विराजमानोस्ति । (स्वर्य०) यस्य च केवलं निर्विकारं स्वः सुखस्वरूपमस्ति, यस्मिन् दुःखं लेशमात्रमपि नास्ति, यदानन्दघनं ब्रह्मास्ति, (तस्मै ज्ये०) तस्मै ज्येष्ठाय सर्वोत्कृष्टाय ब्रह्मणे महतेऽत्यन्तं नमोस्तु नः ॥ १ ॥ (यस्य भू०) यस्य भूमिः प्रमा यथार्थज्ञानसाधनं पादाविवास्ति, (अन्तरिक्षमु०) अन्तरिक्षं यस्योदरतुल्यमस्ति, यश्च सर्वस्मादूर्ध्वं सूर्यरश्मिप्रकाशमयमाकाशं दिवं मूर्द्धानं शिरोवच्चक्रे कृतवानास्ति, तस्मै० ॥ २ ॥ (यस्य सू०) यस्य सूर्यश्चन्द्रमाश्च पुनः पुनः सर्गादौ नवीने चक्षुषी इव भवतः, योग्निमास्यं मुखवच्चक्रे कृतवानस्ति, तस्मै० ॥ ३ ॥ (यस्य वातः०) वातः समष्टिर्वायुर्यस्य प्राणापानाविवास्ति, (अङ्गिरसः) अङ्गिरा अङ्गारा अङ्कना अञ्चना इति निरुक्ते अ० ३ । खं० १७ ॥ प्रकाशिकाः किरणाश्चक्षुषी इव भवतः, यो दिशः प्रज्ञानीः प्रज्ञापिनीर्व्यवहारसाधिकाश्चक्रे, तस्मै ह्यनन्तविद्याय ब्रह्मणे महते सततं नमोस्तु ॥ ४ ॥

भावार्थ

(यो भूतं च०) जो परमेश्वर एक भूतकाल जो व्यतीत हो गया है, (च) अनेक चकारों से दूसरा जो वर्त्तमान है (भव्यं च) और तीसरा भविष्यत् जो होनेवाला है, इन तीनों कालों के बीच में जो कुछ होता है उन सब व्यवहारों को वह यथावत् जानता है, (सर्वं यश्चाधितिष्ठति) तथा जो सब जगत् को अपने विज्ञान से ही जानता रचता पालन लय करता और संसार के सब पदार्थों का अधिष्ठाता अर्थात् स्वामी है, (स्वर्यस्य च केवलं) जिस का सुख ही केवल स्वरूप है, जो कि मोक्ष और व्यवहार सुख का भी देने वाला है, (तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः) ज्येष्ठ अर्थात् सब से बड़ा सब सामर्थ्य से युक्त ब्रह्म जो परमात्मा है उस को अत्यन्त प्रेम से हमारा नमस्कार हो । जो कि सब कालों के ऊपर विराजमान है, जिस को लेशमात्र भी दुःख नहीं होता उस आनन्दघन परमेश्वर को हमारा नमस्कार प्राप्त हो ॥ १ ॥ (यस्य भूमिः प्रमा०) जिस परमेश्वर के होने और ज्ञान में भूमि जो पृथिवी आदि पदार्थ हैं सो प्रमा अर्थात् यथार्थज्ञान की सिद्धि होने का दृष्टान्त है तथा जिसने अपनी सृष्टि में पृथिवी को पादस्थानी रचा है, (अन्तरिक्षमुतोदरम्) अन्तरिक्ष जो पृथिवी और सूर्य के बीच में आकाश है सो जिसने उदरस्थानी किया है, (दिवं यश्चक्रे मूर्द्धानम्) और जिसने अपनी सृष्टि में दिव अर्थात् प्रकाश करनेवाले पदार्थों को सब के ऊपर मस्तकस्थानी किया है, अर्थात् जो पृथिवी से लेके सूर्यलोकपर्यन्त सब जगत् को रच के, उसमें व्यापक होके, जगत् के सब अवयवों में पूर्ण होके सब को धारण कर रहा है (तस्मै०) उस परब्रह्म को हमारा अत्यन्त नमस्कार हो ॥ २ ॥ (यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्र०) और जिसने नेत्रस्थानी सूर्य और चन्द्रमा को किया है, जो कल्प २ के आदि में सूर्य और चन्द्रमादि पदार्थों को वारंवार नये २ रचता है, (अग्निं यश्चक्र आस्यम्) और जिसने मुखस्थानी अग्नि को उत्पन्न किया है (तस्मै०) उसी ब्रह्म को हम लोगों का नमस्कार हो ॥ ३ ॥ (यस्य वातः प्राणापानौ) जिसने ब्रह्माण्ड के वायु को प्राण और अपान की नाई किया है, (चक्षुरङ्गिरसोऽभवन्) तथा जो प्रकाश करनेवाली किरण हैं वे

चक्षु की नाईं जिसने की हैं, अर्थात् उनसे ही रूप ग्रहण होता है, (दिशो यश्च्क्रे प्रज्ञानीस्त०) और जिसने दश दिशाओं को सब व्यवहारों को सिद्ध करनेवाली बनाई हैं ऐसा जो अनन्त विद्यायुक्त परमात्मा सब मनुष्यों का इष्टदेव है उस ब्रह्म को निरन्तर हमारा नमस्कार हो ॥ ४ ॥

य आ॑त्म॒दा ब॑ल॒दा यस्य॒ विश्व॑ उ॒पास॑ते प्र॒शिषं॒ यस्य॑ दे॒वाः। यस्य॑च्छा॒यामृतं॒ यस्य॑ मृ॒त्युः कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम ॥ ५ ॥ यजु० अ० २५ । मं० १३ ॥

द्यौः शान्ति॑र॒न्तरि॑क्ष॒ꣳशान्तिः॑ पृथि॒वी शान्ति॒रापः॒ शान्ति॒रोष॑धयः॒ शान्तिः॑ । वन॒स्पत॑यः॒ शान्ति॒र्विश्वे॑दे॒वाः शान्ति॒र्ब्रह्म॒ शान्तिः॒ सर्व॒ꣳशान्तिः॒ शान्ति॑रे॒व शान्तिः॒ सा मा॒ शान्ति॑रेधि ॥६॥ यतो॑ यतः स॒मीह॑से॒ ततो॑ नो॒ अभ॑यङ्कुरु । शन्नः॑ कुरु प्र॒जाभ्योऽभ॑यं नः प॒शुभ्यः॑ ॥ ७ ॥ यजु० अ० ३६ । मं० १७ । २२ ॥

यस्मि॒न्नृचः॒ साम॒ यजू॑ꣳषि॒ यस्मि॑न् प्रति॑ष्ठिता रथना॒भावि॑वा॒राः । यस्मि॑ꣳश्चि॒त्तꣳ सर्व॒मोतं॑ प्र॒जानां॒ तन्मे॒ मनः॑ शि॒वसं॑कल्पमस्तु ॥ ८ ॥ यजु० अ० ३४ । मं० ५ ॥

भाष्यम्

(य आत्मदाः) य आत्मदा विद्याविज्ञानप्रदः, (बलदाः) यः शरीरेन्द्रियप्राणात्ममनसां पुष्ट्युत्साहपराक्रमदृढत्वप्रदः, (यस्य०) यं विश्वेदेवाः सर्वे विद्वांस उपासते यस्यानुशासनं च मन्यन्ते, (यस्यच्छाया०) यस्याश्रय एव मोक्षोऽस्ति, यस्यच्छायाऽकृपाऽनाश्रयो मृत्युर्जन्ममरणकारकोस्ति, (कस्मै०) तस्मै कस्मै प्रजापतये "प्रजापतिर्वै क"स्तस्मै हविषा विधेमेति । शतपथब्राह्मणे । काण्डे ७ । अ० ३ ॥ सुखस्वरूपाय ब्रह्मणे देवाय प्रेमभक्तिरूपेण हविषा वयं विधेम, सततं तस्यैवोपासनं कुर्वीमहि ॥ ५ ॥ (द्यौः शान्तिः०) हे सर्वशक्तिमन् परमेश्वर ! त्वद्भक्त्या त्वत्कृपया

च द्यौरन्तरिक्षं, पृथिवी, जलमोषधयो, वनस्पतयो, विश्वेदेवाः सर्व विद्वांसो, ब्रह्म वेदः, सर्वं जगच्चास्मदर्थं शान्तं निरुपद्रवं सुखकारकं सर्वदास्तु । अनुकूलं भवतु नः । येन वयं वेदभाष्यं सुखेन विदधीमहि । हे भगवन् ! एतया सर्वशान्त्या विद्याबुद्धिविज्ञानारोग्यसर्वोत्तमसहायैर्भवान् मां सर्वथा वर्धय, तथा सर्वं जगच्च ॥ ६ ॥ (यतो य०) हे परमेश्वर ! यतो यतो देशात्त्वं समीहसे, जगद्रचनपालनार्थां चेष्टां करोषि, ततस्ततो देशान्नोऽस्मानभयं कुरु, यतः सर्वथा सर्वेभ्यो देशेभ्यो भयरहिता भवत्कृपया वयं भवेम, (शन्नः कु०) तथा तत्रस्थाभ्यः प्रजाभ्यः पशुभ्यश्च नोऽस्मानभयं कुरु । एवं सर्वेभ्यो देशेभ्यस्तत्रस्थाभ्यः प्रजाभ्यः पशुभ्यश्च नोऽस्मान् शं कुरु, धर्मार्थकाममोक्षादिसुखयुक्तान् स्वानुग्रहेण सद्यः संपादय ॥ ७ ॥ (यस्मिन्नृ०) हे भगवन् कृपानिधे ! यस्मिन्मनसि ऋचः सामानि यजूंषि च प्रतिष्ठितानि भवन्ति, यस्मिन् यथार्थमोक्षविद्या च प्रतिष्ठिता भवति, (यस्मिंश्चि०) यस्मिंश्च प्रजानां चित्तं स्मरणात्मकं सर्वमोतमस्ति सूत्रे मणिगणवत्प्रोतमस्ति, कस्यां क इव ? रथनाभौ अरा इव, तन्मे मम मनो भवत्कृपया शिवसंकल्पं कल्याणप्रियं सत्यार्थप्रकाशं चास्तु, येन वेदानां सत्यार्थः प्रकाश्येत । हे सर्वविद्यामय सर्वार्थविन् ! मदुपरि कृपां विधेहि, यथा निर्विघ्नेन वेदार्थभाष्यं सत्यार्थं पूर्णं वयं कुर्वीमहि, भवद्यशो वेदानां सत्यार्थं विस्तारयेमहि । यं दृष्ट्वा वयं सर्वे सर्वोत्कृष्टगुणा भवेम । ईदृशीं करुणामस्माकमुपरि करोतु भवान् । एतदर्थं प्रार्थ्यते । अनया प्रार्थनयाऽस्मान् शीघ्रमेवानुगृह्णातु । यत इदं सर्वोपकारकं कृत्यं सिद्धं भवेत् ।

भाषार्थ

(य आत्मदाः०) जो जगदीश्वर अपनी कृपा से ही अपने आत्मा का विज्ञान देने वाला है, जो सब विद्या और सत्य सुखों की प्राप्ति कराने वाला है, जिस की उपासना सब विद्वान् लोग करते आये हैं और जिसका अनुशासन जो वेदोक्त शिक्षा है उस को अत्यन्त मान्य से सब शिष्ट लोग स्वीकार करते हैं, जिस का आश्रय करना ही मोक्षसुख का कारण है और जिसकी अकृपा ही

जन्ममरणरूप दुःखों को देनेवाली है, अर्थात् ईश्वर और उसका उपदेश जो सत्य-विद्या सत्यधर्म और सत्यमोक्ष हैं उनको नहीं मानना और जो वेद से विरुद्ध होके अपनी कपोलकल्पना अर्थात् दुष्ट इच्छा से बुरे कामों में वर्त्तता है उस पर ईश्वर की अकृपा होती है वही सब दुःखों का कारण है, और जिसकी आज्ञा-पालन ही सब सुखों का मूल है (कस्मै०) जो सुखस्वरूप और सब प्रजा का पति है उस परमेश्वर देव की प्राप्ति के लिये सत्य प्रेम भक्तिरूप सामग्री से हम लोग नित्य भजन करें, जिससे हम लोगों को किसी प्रकार का दुःख कभी न हो ॥ ५ ॥ (द्यौः शा०) हे सर्वशक्तिमन् भगवन् ! आप की भक्ति और कृपा से ही (द्यौः) जो सूर्यादि लोकों का प्रकाश और विज्ञान है यह सब दिन हमको सुख-दायक हो, तथा जो आकाश में पृथिवी जल ओषधि वनस्पति वट आदि वृक्ष, जो संसार के सब विद्वान्, ब्रह्म जो वेद, ये सब पदार्थ और इनसे भिन्न भी जो जगत् है वे सब सुख देनेवाले हम को सब काल में हों कि सब पदार्थ सब दिन हमारे अनुकूल रहें, जिससे इस वेदभाष्य के काम को सुखपूर्वक हम लोग सिद्ध करें । हे भगवन् ! इस सब शान्ति से हम को विद्या बुद्धि विज्ञान आरोग्य और सब उत्तम सहाय को कृपा से दीजिये, तथा हम लोगों और सब जगत् को उत्तम गुण और सुख के दान से बढ़ाइये ॥ ६ ॥ (यतो य०) हे परमेश्वर ! आप जिस २ देश से जगत् के रचन और पालन के अर्थ चेष्टा करते हैं उस २ देश से भय से रहित करिये अर्थात् किसी देश से हम को किञ्चित् भी भय न हो, (शन्नः कुरु०) वैसे ही सब दिशाओं में जो आप की प्रजा और पशु हैं उन से भी हम को भयरहित करें, तथा हम से उनको सुख हो और उनको भी हम से भय न हो, तथा आप की प्रजा में जो मनुष्य और पशु आदि हैं उन सब से जो धर्म अर्थ काम और मोक्ष पदार्थ हैं उन को आप के अनुग्रह से हम लोग शीघ्र प्राप्त हों जिससे मनुष्यजन्म के धर्मादि जो फल हैं वे सुख से सिद्ध हों ॥ ७ ॥ (यस्मिन्नृचः०) हे भगवन् कृपानिधे ! (ऋचः) ऋग्वेद (साम) सामवेद (यजूँषि) यजुर्वेद और इन तीनों के अन्तर्गत होने से अथर्ववेद भी ये सब जिसमें स्थिर होते हैं, तथा जिसमें मोक्षविद्या अर्थात् ब्रह्मविद्या और सत्यासत्य का प्रकाश होता है, (यस्मिँश्चि०) जिसमें सब प्रजा का चित्त जो

स्मरण करने की वृत्ति है सो सब गँठी हुई है, जैसे माला के मणिये सूत्र में गँठे हुए होते हैं और जैसे रथ के पहिये के बीच के भाग में आरे लगे होते हैं कि उस काष्ठ में जैसे अन्य काष्ठ लगे रहते हैं ऐसा जो मेरा मन है सो आप की कृपा से शुद्ध हो तथा कल्याण जो मोक्ष और सत्य धर्म का अनुष्ठान तथा असत्य के परित्याग करने का संकल्प जो इच्छा है इससे युक्त सदा हो, जिस मन से हम लोगों को आप के किये वेदों के सत्य अर्थ का यथावत् प्रकाश हो। हे सर्वविद्यामय सर्वार्थवित् जगदीश्वर! हम पर आप कृपा धारण करें, जिससे हम लोग विघ्नों से सदा अलग रहें और सत्य अर्थ सहित इस वेदभाष्य को सम्पूर्ण बना के आप के बनाए वेदों के सत्य अर्थ की विस्ताररूप जो कीर्ति है उस को जगत् में सदा के लिये बढ़ावें और इस भाष्य को देख के वेदों के अनुसार सत्य का अनुष्ठान करके हम सब लोग श्रेष्ठ गुणों से युक्त सदा हों इसलिये हम लोग आप की प्रार्थना प्रेम से सदा करते हैं। इसको आप कृपा से शीघ्र सुनें। जिससे यह जो सब का उपकार करनेवाला वेदभाष्य का अनुष्ठान है सो यथावत् सिद्धि को प्राप्त हो।

इतीश्वरप्रार्थनाविषयः

अथ वेदोत्पत्तिविषयः

तस्मा॑द्य॒ज्ञात्स॑र्व॒हुत॒ ऋचः॒ सामा॑नि जज्ञिरे। छन्दा॑ꣳसि जज्ञिरे॒ तस्मा॒द्यजु॒स्तस्मा॑दजायत ॥ १ ॥ यजु० अ० ३१ । मं० ७ ॥

यस्मा॒दृचो॑ अ॒पात॑क्षन् यजु॒र्यस्मा॑द॒पाक॑षन् । सामा॑नि॒ यस्य॒ लोमा॑न्यथर्वाङ्गि॒रसो॒ मुख॑म् । स्क॒म्भं तं ब्रू॑हि कत॒मः स्वि॑दे॒व सः ॥ २ ॥ अथर्व० कां० १० । प्रपा० २३ । अनु० ४ । सूक्त ७ । मं० २० ॥

भाष्यम्

(तस्माद्यज्ञात्स०) तस्माद्यज्ञात्सच्चिदानन्दादिलक्षणात्पूर्णात्पुरुषात्

सर्वहुतात्सर्वपूज्यात्सर्वोपास्यात्सर्वशक्तिमतः परब्रह्मणः (ऋचः) ऋग्वेदः, (यजुः) यजुर्वेदः, (सामानि) सामवेदः, (छन्दांसि) अथर्ववेदश्च (जज्ञिरे) चत्वारो वेदास्तेनैव प्रकाशिता इति वेद्यम् । सर्वहुत इति वेदानामपि विशेषणं भवितुमर्हति, वेदाः सर्वहुतः । यतः सर्वमनुष्यैर्होतुमादातुं ग्रहीतुं योग्याः सन्त्यतः । जज्ञिरे अजायतेति क्रियाद्वयं वेदानामनेकविद्यावत्त्वद्योतनार्थम् । तथा तस्मादिति पदद्वयमीश्वरादेव वेदा जाता इत्यवधारणार्थम् । वेदानां गायत्र्यादिच्छन्दोन्वितत्वात्पुनश्छन्दांसीतिपदं चतुर्थस्याथर्ववेदस्योत्पत्तिं ज्ञापयतीत्यवधेयम् । यज्ञो वै विष्णुः ॥ श० कां० १ । अ० १ * । इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् † यजुर्वेदे । इति सर्वजगत्कर्तृत्वं विष्णौ परमेश्वर एव घटते नान्यत्र । वेवेष्टि व्याप्नोति चराचरं जगत् स विष्णुः परमेश्वरः ॥ १ ॥ (यस्मादृचो०) यस्मात्सर्वशक्तिमतः ऋचः ऋग्वेदः (अपातक्षन्) अपातक्षत् उत्पन्नोस्ति, यस्मात् परब्रह्मणः (यजुः) यजुर्वेदः अपाकषन् प्रादुर्भूतोस्ति, तथैव यस्मात्सामानि सामवेदः (आङ्गिरसः) अथर्ववेदश्चोत्पन्नौ स्तः, एवमेव यस्येश्वरस्याङ्गिरसोऽथर्ववेदो मुखं मुखवन् मुख्योस्ति, सामानि लोमानीव सन्ति, यजुर्यस्य हृदयमृचः प्राणश्चेति रूपकालङ्कारः । यस्माच्चत्वारो वेदा उत्पन्नाः स कतमः स्विद्देवोस्ति तं त्वं ब्रूहीति प्रश्नः ? अस्योत्तरम् (स्कम्भं तं०) तं स्कम्भं सर्वजगद्धारकं परमेश्वरं त्वं जानीहीति, तस्मात्स्कम्भात्सर्वाधारात्परमेश्वरात् पृथक् कश्चिदप्यन्यो देवो वेदकर्त्ता नैवास्तीति मन्तव्यम् ॥ २ ॥ एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः ॥ श० कां० १४ । अ० ५ ‡ ॥ अस्यायमभिप्रायः । याज्ञवल्क्योऽभिवदति हे मैत्रेयि ! महत आकाशादपि बृहतः परमेश्वरस्यैव सकाशादृग्वेदादिवेदचतुष्टयं (निःश्वसितं) निःश्वासवत्सहजतया निःसृतमस्तीति वेद्यम् । यथा शरीराच्छ्वासो निःसृत्य पुनस्तदेव प्रविशति तथैवेश्वराद्वेदानां प्रादुर्भावतिरोभावौ भवत इति निश्चयः ।

---

* ब्रा० २ । कण्डि० १३ ॥ † अ० ५ । मं० १५ ॥
‡ ब्रा० ४ । कण्डि० १० ॥

भाषार्थ

प्रथम ईश्वर को नमस्कार और प्रार्थना करके पश्चात् वेदों की उत्पत्ति का विषय लिखा जाता है कि वेद किसने उत्पन्न किये हैं। (तस्मात् यज्ञात्स०) सत् जिसका कभी नाश नहीं होता, चित् जो सदा ज्ञानस्वरूप है जिसको अज्ञान का लेश भी कभी नहीं होता, आनन्द जो सदा सुखस्वरूप और सब को सुख देने वाला है इत्यादि लक्षणों से युक्त पुरुष जो सब जगह में परिपूर्ण हो रहा है, जो सब मनुष्यों को उपासना के योग्य इष्टदेव और सब सामर्थ्य से युक्त है उसी परब्रह्म से (ऋचः) ऋग्वेद (यजुः) यजुर्वेद (सामानि) सामवेद और (छन्दांसि) इस शब्द से अथर्व भी ये चारों वेद उत्पन्न हुए हैं, इसलिये सब मनुष्यों को उचित है कि वेदों का ग्रहण करें, और वेदोक्त रीति से ही चलें। (जज्ञिरे) और (अजायत) इन दोनों क्रियाओं के अधिक होने से वेद अनेक विद्याओं से युक्त हैं ऐसा जाना जाता है। वैसे ही (तस्मात्) इन दोनों पदों के अधिक होने से यह निश्चय जानना चाहिये कि ईश्वर से ही वेद उत्पन्न हुए हैं, किसी मनुष्य से नहीं। वेदों में सब मन्त्र गायत्र्यादि छन्दों से युक्त ही हैं फिर (छन्दांसि) इस पद के कहने से चौथा जो अथर्ववेद है उस की उत्पत्ति का प्रकाश होता है। शतपथ आदि ब्राह्मण और वेदमन्त्रों के प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि यज्ञ शब्द से विष्णु का और विष्णु शब्द से सर्वव्यापक जो परमेश्वर है उसी का ग्रहण होता है, क्योंकि सब जगत् की उत्पत्ति करनी परमेश्वर में ही घटती है अन्यत्र नहीं ॥ १ ॥ (यस्मादृचो अपा०) जो सर्वशक्तिमान् परमेश्वर है उसी से (ऋचः) ऋग्वेद (यजुः) यजुर्वेद (सामानि) सामवेद (आङ्गिरसः) अथर्ववेद ये चारों उत्पन्न हुए हैं। इसी प्रकार रूपकालङ्कार से वेदों की उत्पत्ति का प्रकाश ईश्वर करता है कि अथर्ववेद मेरे मुख के समतुल्य, सामवेद लोमों के समान, यजुर्वेद हृदय के समान और ऋग्वेद प्राण की नाईं है। (ब्रूहि कतमः स्विदेव सः) कि चारों वेद जिससे उत्पन्न हुए हैं सो कौनसा देव है उसको तुम मुझ से कहो। इस प्रश्न का यह उत्तर है कि (स्कम्भं तं०) जो सब जगत् का धारणकर्त्ता परमेश्वर है उसका

नाम स्कम्भ है, उसी को तुम वेदों का कर्त्ता जानो और यह भी जानो कि उस को छोड़ के मनुष्यों को उपासना करने के योग्य दूसरा कोई इष्टदेव नहीं है, क्योंकि ऐसा अभागा कौन मनुष्य है जो वेदों के कर्त्ता सर्वशक्तिमान् परमेश्वर को छोड़ के दूसरे को परमेश्वर मान के उपासना करे ॥ २ ॥ (एवं वा अरे-स्य०) याज्ञवल्क्य महाविद्वान् जो महर्षि हुए हैं वह अपनी पण्डिता मैत्रेयी स्त्री को उपदेश करते हैं कि हे मैत्रेयि ! जो आकाशादि से भी बड़ा सर्वव्यापक परमेश्वर है उस से ही ऋक् यजुः साम और अथर्व ये चारों वेद उत्पन्न हुए हैं, जैसे मनुष्य के शरीर से श्वासा बाहर को आ के फिर भीतर को जाती है इसी प्रकार सृष्टि के आदि में ईश्वर वेदों को उत्पन्न करके संसार में प्रकाश करता है और प्रलय में संसार में वेद नहीं रहते, परन्तु उस के ज्ञान के भीतर वे सदा बने रहते हैं, बीजाङ्कुरवत् । जैसे बीज में अङ्कुर प्रथम ही रहता है, वही वृक्षरूप हो के फिर भी बीज के भीतर रहता है, इसी प्रकार से वेद भी ईश्वर के ज्ञान में सब दिन बने रहते हैं, उन का नाश कभी नहीं होता, क्योंकि वह ईश्वर की विद्या है, इस से इनको नित्य ही जानना ।

अत्र केचिदाहुः । निरवयवात्परमेश्वराच्छब्दमयो वेदः कथमुत्पद्येतेति ? अत्र ब्रूमः । न सर्वशक्तिमतीश्वरे शङ्केयमुपपद्यते । कुतः । मुखप्राणादिसाधनमन्तरापि तस्य कार्यं कर्त्तुं सामर्थ्यस्य सदैव विद्यमानत्वात् । अन्यच्च यथा मनसि विचारणावसर प्रश्नोत्तरादिशब्दोच्चारणं भवति तथेश्वरेपि मन्यताम् । योस्ति खलु सर्वशक्तिमान् स नैव कस्यापि सहायं कार्यं कर्त्तुं गृह्णाति । यथास्मदादीनां सहायेन विना कार्यं कर्त्तुं सामर्थ्यं नास्ति । न चैवमीश्वरे । यदा निरवयवेनेश्वरेण सकलं जगद्रचितं तदा वेदरचने का शङ्कास्ति । कुतः । वेदस्य सूक्ष्मरचनवज्जगत्यपि महदाश्चर्यभूतं रचनमीश्वरेण कृतमस्त्यतः ।

भाषार्थ

इस विषय में कितने ही पुरुष ऐसा प्रश्न करते हैं कि ईश्वर निराकार है उससे शब्दरूप वेद कैसे उत्पन्न हो सकते हैं ? इस का यह उत्तर है कि परमेश्वर

सर्वशक्तिमान् है, उस में ऐसी शङ्का करनी सर्वथा व्यर्थ है, क्योंकि मुख और प्राणादि साधनों के विना भी परमेश्वर में मुख और प्राणादि के काम करने का अनन्त सामर्थ्य है, कि मुख के विना मुख का काम और प्राणादि के विना प्राणादि का काम वह अपने सामर्थ्य से यथावत् कर सकता है। यह दोष तो हम जीव लोगों में आसकता है कि मुखादि के विना मुखादि का कार्य नहीं करसकते हैं, क्योंकि हम लोग अल्प सामर्थ्य वाले हैं। और इसमें यह दृष्टान्त भी है कि मन में मुखादि अवयव नहीं हैं तथापि जैसे उस के भीतर प्रश्नोत्तर आदि शब्दों का उच्चारण मानस व्यापार में होता है वैसे ही परमेश्वर में भी जानना चाहिये। और जो सम्पूर्ण सामर्थ्य वाला है सो किसी कार्य्य के करने में किसी का सहाय ग्रहण नहीं करता क्योंकि वह अपने सामर्थ्य से ही सब कार्य्यों को कर सकता है। जैसे हम लोग विना सहाय से कोई काम नहीं कर सकते वैसा ईश्वर नहीं है। जैसे देखो कि जब जगत् उत्पन्न नहीं हुआ था उस समय निराकार ईश्वर ने सम्पूर्ण जगत् को बनाया, तब वेदों के रचने में क्या शङ्का रही। जैसे वेदों में अत्यन्त सूक्ष्म विद्या का रचन ईश्वर ने किया है वैसे ही जगत् में भी नेत्र आदि पदार्थों का अत्यन्त आश्चर्यरूप रचन किया है, तो क्या वेदों की रचना निराकार ईश्वर नहीं कर सकता।

ननु जगद्रचने तु खल्वीश्वरमन्तरेण न कस्यापि सामर्थ्यमस्ति वेदरचने त्वन्यस्यान्यग्रन्थरचनवत् स्यादिति। अत्रोच्यते। ईश्वरेण रचितस्य वेदस्याध्ययनानन्तरमेव ग्रन्थरचने कस्यापि सामर्थ्यं स्यान्न चान्यथा। नैव कश्चिदपि पठनश्रवणमन्तरा विद्वान् भवति। यथेदानीं किञ्चिदपि शास्त्रं पठित्वोपदेशं श्रुत्वा व्यवहारं च दृष्ट्वैव मनुष्याणां ज्ञानं भवति। तद्यथा। कस्यचित्सन्तानमेकान्ते रक्षयित्वाऽन्नपानादिकं युक्त्या दद्यात्तेन सह भाषणादिव्यवहारं लेशमात्रमपि न कुर्य्याद्यावत्तस्य मरणं न स्यात्। यथा तस्य किञ्चिदपि यथार्थं ज्ञानं न भवति। यथा च महारण्यस्थानां मनुष्याणामुपदेशमन्तरा पशुवत्प्रवृत्तिर्भवति। तथैवादिसृष्टिमारभ्याद्यपर्यन्तं वेदोपदेशमन्तरा सर्वमनुष्याणां प्रवृत्तिर्भवेत्। पुनर्ग्रन्थरचनस्य तु का कथा।

भाषार्थ

प्रश्न—जगत् के रचने में तो ईश्वर के विना किसी जीव का सामर्थ्य नहीं है, परन्तु जैसे व्याकरण आदि शास्त्र रचने में मनुष्यों का सामर्थ्य होता है वैसे वेदों के रचने में भी जीव का सामर्थ्य हो सकता है। उत्तर—नहीं, किन्तु जब ईश्वर ने प्रथम वेद रचे हैं उन को पढ़ने के पश्चात् ग्रन्थ रचने का सामर्थ्य किसी मनुष्य को हो सकता है, उसके पढ़ने और ज्ञान से विना कोई भी मनुष्य विद्वान् नहीं हो सकता। जैसे इस समय में किसी शास्त्र को पढ़ के, किसी का उपदेश सुनके और मनुष्यों के परस्पर व्यवहारों को देख के ही मनुष्यों को ज्ञान होता है अन्यथा कभी नहीं होता। जैसे किसी मनुष्य के बालक को जन्म से एकान्त में रखके उसको अन्न और जल युक्ति से देवे, उसके साथ भाषणादि व्यवहार लेशमात्र भी कोई मनुष्य न करे, कि जब तक उसका मरण न हो तब तक उसको इसी प्रकार से रक्खे तो मनुष्यपने का भी ज्ञान नहीं हो सकता। तथा जैसे बड़े वन में मनुष्यों को विना उपदेश के यथार्थ ज्ञान नहीं होता, किन्तु पशुओं की नाईं उनकी प्रवृत्ति देखने में आती है. वैसे ही वेदों के उपदेश के विना भी सब मनुष्यों की प्रवृत्ति हो जाती, फिर ग्रन्थ रचने के सामर्थ्य की तो कथा क्या ही कहनी है। इससे वेदों को ईश्वर के रचित मानने से ही कल्याण है, अन्यथा नहीं ॥

मैवं वाच्यम्। ईश्वरेण मनुष्येभ्यः स्वाभाविकं ज्ञानं दत्तं, तच्च सर्वग्रन्थेभ्य उत्कृष्टमस्ति, नैव तेन विना वेदानां शब्दार्थसम्बन्धानामपि ज्ञानं भवितुमर्हति, तदुन्नत्या ग्रन्थरचनमपि करिष्यन्त्येव, पुनः किमर्थं मन्यते वेदोत्पादनमीश्वरेण कृतमिति। एवं प्राप्ते वदामहे। नैव पूर्वोक्तायाशिक्षितायैकान्ते रक्षिताय बालकाय महारण्यस्थेभ्यो मनुष्येभ्यश्चेश्वरेण स्वाभाविकं ज्ञानं दत्तं किम्?, कथं नास्मदादयोऽप्यन्येभ्यः शिक्षाग्रहणमन्तरेण वेदाध्ययनेन च विना पण्डिता भवन्ति? तस्मात्, किमागतम्? न शिक्षया विनाऽध्ययनेन च स्वाभाविकज्ञानमात्रेण कस्यापि निर्वाहो भवितुमर्हति। यथास्मदादिभिरप्यन्येषां विदुषां विद्वत्कृतानां ग्रन्थानां च सकाशादनेकविधं ज्ञानं

गृहीत्वैव ग्रन्थान्तरं रच्यते, तथेश्वरज्ञानस्य सर्वेषां मनुष्याणामपेक्षावश्यं भवति। किञ्च न सृष्टेरारम्भसमये पठनपाठनक्रमो ग्रन्थश्च कश्चिदप्यासीत्तदानीमीश्वरोपदेशमन्तरा न च कस्यापि विद्यासम्भवो बभूव, पुनः कथं कश्चिज्जनो ग्रन्थं रचयेत्। मनुष्याणां नैमित्तिकज्ञाने स्वातन्त्र्याभावात्। स्वाभाविकज्ञानमात्रेणैव विद्याप्राप्त्यनुपपत्तेश्च। यच्चोक्तं स्वकीयं ज्ञानमुत्कृष्टमित्यादि तदप्यसमञ्जसम्। तस्य साधनकोटौ प्रविष्टत्वात्। चक्षुर्वत्। यथा चक्षुर्मनः साहित्येन विना ह्यकिञ्चित्करमस्ति। तथान्येषां विदुषामीश्वरज्ञान च साहित्येन विना स्वाभाविकज्ञानमप्यकिञ्चित्करमेव भवतीति।

भाषार्थ

प्र०—ईश्वर ने मनुष्यों को स्वाभाविक ज्ञान दिया है सो सब ग्रन्थों से उत्तम है, क्योंकि उसके विना वेदों के शब्द अर्थ और सम्बन्ध का ज्ञान कभी नहीं हो सकता और जब उस ज्ञान की क्रम से वृद्धि होगी तब मनुष्य लोग विद्या पुस्तकों को भी रच लेंगे पुनः वेदों की उत्पत्ति ईश्वर से क्यों माननी ? उ०—जो प्रथम दृष्टान्त बालक का एकान्त में रखने का और दूसरा वनवासियों का भी कहा था क्या उन को स्वाभाविक ज्ञान ईश्वर ने नहीं दिया है ? वे स्वाभाविक ज्ञान से विद्वान् क्यों नहीं होते ? इससे यह बात निश्चित है कि ईश्वर का किया उपदेश जो वेद है उसके विना किसी मनुष्य को यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता। जैसे हम लोग वेदों के पढ़ने, विद्वानों की शिक्षा और उनके किये ग्रन्थों को पढ़े विना पण्डित नहीं होते वैसे ही सृष्टि की आदि में भी परमात्मा जो वेदों का उपदेश नहीं करता तो आज पर्यन्त किसी मनुष्य को धर्मादि पदार्थों की यथार्थ विद्या नहीं होती। इससे क्या जाना जाता है कि विद्वानों की शिक्षा और वेद पढ़ने के विना केवल स्वाभाविक ज्ञान से किसी मनुष्य का निर्वाह नहीं हो सकता। जैसे हम लोग अन्य विद्वानों से वेदादि शास्त्रों के अनेक प्रकार के विज्ञान को ग्रहण करके ही पीछे ग्रन्थों को भी रच सकते हैं वैसे ही ईश्वर के ज्ञान की भी अपेक्षा सब मनुष्यों को अवश्य है। क्योंकि सृष्टि के आरम्भ में पढ़ने और पढ़ाने की कुछ भी व्यवस्था नहीं थी,

तथा विद्या का कोई ग्रन्थ भी नहीं था, उस समय ईश्वर के किये वेदोपदेश के बिना विद्या के नहीं होने से कोई मनुष्य ग्रन्थ की रचना कैसे कर सकता। क्योंकि सब मनुष्यों को सहायकारी ज्ञान में स्वतन्त्रता नहीं है और स्वाभाविक ज्ञानमात्र से विद्या की प्राप्ति किसी को नहीं हो सकती। इसीसे ईश्वर ने सब मनुष्यों के हित के लिये वेदों की उत्पत्ति की है। और जो यह कहा था कि अपना ज्ञान सब वेदादि ग्रन्थों से श्रेष्ठ है सो भी अन्यथा है, क्योंकि वह स्वाभाविक जो ज्ञान है सो साधनकोटि में है। जैसे मन के संयोग के विना आंख से कुछ भी नहीं दीख पड़ता तथा आत्मा के संयोग के विना मन से भी कुछ नहीं होता, वैसे ही जो स्वाभाविक ज्ञान है सो वेद और विद्वानों की शिक्षा के ग्रहण करने में साधनमात्र ही है, तथा पशुओं के समान व्यवहार का भी साधन है, परन्तु वह स्वाभाविक ज्ञान धर्म अर्थ काम और मोक्षविद्या का साधन स्वतन्त्रता से कभी नहीं हो सकता।

वेदोत्पादन ईश्वरस्य किं प्रयोजनमस्तीत्यत्र वक्तव्यम् ?, उच्यते। वेदानामनुत्पादने खलु तस्य किं प्रयोजनमस्तीति ? अस्योत्तरं तु वयं न जानीमः। सत्यमेवमेतत्। तावद्वेदोत्पादने यदस्ति प्रयोजनं तच्छृणुत। ईश्वरेऽनन्ता विद्यास्ति न वा ?, अस्ति। सा किमर्थास्ति ?, स्वार्था। ईश्वरः परोपकारं न करोति किम् ?, करोति तेन किम् ?, तेनेदमास्ति विद्या स्वार्था परार्था च भवति तस्यास्तद्विषयत्वात्। यद्यस्मदर्थमीश्वरो विद्योपदेशं न कुर्यात्तदान्यतरपक्षे सा निष्फला स्यात्। तस्मादीश्वरेण स्वविद्याभूतवेदस्योपदेशेन सप्रयोजनता संपादिता। परमकारुणिको हि परमेश्वरोऽस्ति, पितृवत्। यथा पिता स्वसन्ततिं प्रति सदैव करुणां दधाति, तथेश्वरोऽपि परमकृपया सर्वमनुष्यार्थं वेदोपदेशमुपचक्रे। अन्यथान्धपरम्परया मनुष्याणां धर्मार्थकाममोक्षसिद्ध्या विना परमानन्द एव न स्यात्। यथा कृपायमाणेनेश्वरेण प्रजासुखार्थं कंदमूलफलतृणादिकं रचितं स कथं न सर्वसुखप्रकाशिकां सर्वविद्यामयीं वेदविद्यामुपदिशेत् ? किञ्च ब्रह्माण्डस्थोत्कृष्टसर्वपदार्थप्राप्त्या यावत्सुखं भवति न तावत् विद्याप्राप्तसुखस्य सहस्रतमेनांशेनापि तुल्यं भवत्यतो वेदोपदेश ईश्वरेण कृत एवास्तीति निश्चयः।

भाषार्थ

प्र०—वेदों के उत्पन्न करने में ईश्वर को क्या प्रयोजन था ? उ०—मैं तुम से पूछता हूं कि वेदों के उत्पन्न नहीं करने में उसको क्या प्रयोजन था ? जो तुम यह कहो कि इसका उत्तर हम नहीं जान सकते तो ठीक है, क्योंकि वेद तो ईश्वर की नित्य विद्या है, उस की उत्पत्ति वा अनुत्पत्ति हो ही नहीं सकती। परन्तु हम जीव लोगों के लिये ईश्वर ने जो वेदों का प्रकाश किया है सो उसकी हम पर परमकृपा है। जो वेदोत्पत्ति का प्रयोजन है सो आप लोग सुनें। प्र०—ईश्वर में अनन्त विद्या है वा नहीं ? उ०—है। प्र०—सो उसकी विद्या किस प्रयोजन के लिये है ? । उ०—अपने ही लिये, जिससे सब पदार्थों का रचना और जानना होता है। प्र०—अच्छा तो मैं आप से पूछता हूं कि ईश्वर परोपकार को करता है वा नहीं ? उ०—ईश्वर परोपकारी है, इससे क्या आया ? इससे यह बात आती है कि विद्या जो है सो स्वार्थ और परार्थ के लिये होती है, क्योंकि विद्या का यही गुण है कि स्वार्थ और परार्थ इन दोनों को सिद्ध करना। जो परमेश्वर अपनी विद्या को हम लोगों के लिये उपदेश न करे तो विद्या से जो परोपकार करना गुण है सो उसका नहीं रहे। इससे परमेश्वर ने अपनी वेदविद्या का हम लोगों के लिये उपदेश करके सफलता सिद्ध करी है, क्योंकि परमेश्वर हम लोगों का माता पिता के समान है। हम सब लोग जो उसकी प्रजा हैं उन पर नित्य कृपादृष्टि रखता है। जैसे अपने सन्तानों के ऊपर पिता और माता सदैव करुणा को धारण करते हैं कि सब प्रकार से हमारे पुत्र सुख पावें, वैसे ही ईश्वर भी सब मनुष्यादि सृष्टि पर कृपादृष्टि सदैव रखता है। इससे ही वेदों का उपदेश हम लोगों के लिये किया है। जो परमेश्वर अपनी वेदविद्या का उपदेश मनुष्यों के लिये न करता तो धर्म अर्थ काम और मोक्ष की सिद्धि किसी को यथावत् प्राप्त न होती, उसके विना परम आनन्द भी किसी को नहीं होता। जैसे परमकृपालु ईश्वर ने प्रजा के सुख के लिये कन्द, मूल, फल और घास आदि छोटे २ भी पदार्थ रचे हैं सो ही ईश्वर सब सुखों के प्रकाश करनेवाली, सब सत्यविद्याओं से युक्त वेदविद्या का उपदेश भी प्रजा के सुख के लिये क्यों न करता।

क्योंकि जितने ब्रह्माण्ड में उत्तम पदार्थ हैं उनकी प्राप्ति से जितना सुख होता है सो सुख विद्याप्राप्ति होने के सुख के हजारहवें अंश के भी समतुल्य नहीं हो सकता। ऐसा सर्वोत्तम विद्यापदार्थ जो वेद है उसका उपदेश परमेश्वर क्यों न करता। इससे निश्चय करके यह जानना कि वेद ईश्वर के ही बनाये हैं।

ईश्वरेण लेखनीमसीपात्रादिसाधनानि वेदपुस्तकलेखनाय कुतो लब्धानि ?। अत्रोच्यते। अहहह ! महतीयं शङ्का भवता कृता, विना हस्तपादाद्यवयवैः काष्ठलोष्ठादिसामग्रीसाधनैश्च यथेश्वरेण जगद्रचितं तथा वेदा अपि रचिताः, सर्वशक्तिमतीश्वरे वेदरचनं प्रत्येवं माशङ्कि। किन्तु पुस्तकस्था वेदा तेनादौ नोत्पादिताः। किं तर्हि ज्ञानमध्ये प्रेरिताः। केषाम् ? अग्निवाय्वादित्याङ्गिरसाम्। ते तु ज्ञानरहिता जडाः सन्ति ?, मैवं वाच्यं, सृष्ट्यादौ मनुष्यदेहधारिणस्ते ह्यासन्। कुतः। जडे ज्ञानकार्यासम्भवात्। यत्रार्थासम्भवोस्ति तत्र लक्षणा भवति। तद्यथा, कश्चिदाप्तः कश्चित्प्रति वदति मञ्चाः क्रोशन्तीति। अत्र मञ्चस्था मनुष्याः क्रोशन्तीति विज्ञायते। तथैवात्रापि विज्ञायताम्। विद्याप्रकाशसंभवो मनुष्येष्वेव भवितुमर्हतीति। अत्र प्रमाणम्। तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्ताग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात्सामवेदः। श० कां० ११। अ० ५ *। एषां ज्ञानमध्ये प्रेरयित्वा तद्द्वारा वेदाः प्रकाशिताः। सत्यमेवमेतत्। परमेश्वरेण तेभ्यो ज्ञानं दत्तं ज्ञानेन तैर्वेदानां रचनं कृतमिति विज्ञायते। मैवं विज्ञायि। ज्ञानं किं प्रकारकं दत्तम् ?, वेदप्रकारकम्। तदीश्वरस्य वा तेषाम् ? ईश्वरस्यैव। पुनस्तेनैव प्रणीता वेदा आहोस्वित्तैश्च ? यस्य ज्ञानं तेनैव प्रणीताः। पुनः किमर्था शङ्का कृता तैरेव रचिता इति ?। निश्चयकरणार्था।

भाषार्थ

प्र०—वेदों के रचने और वेद-पुस्तक लिखने के लिये ईश्वर ने लेखनी स्याही और दवात आदि साधन कहां से लिये ? क्योंकि उस समय में काग़ज़ आदि

* ब्रा० २। कण्डिका ३॥

पदार्थ तो बने ही न थे। उ०—वाह वाह जी आपने बड़ी शङ्का करी आप की बुद्धि की क्या स्तुति करें। अच्छा आपसे मैं पूछता हूं कि हाथ पग आदि अङ्गों से विना तथा काष्ठ लोह आदि सामग्री साधनों से विना ईश्वर ने जगत् को क्योंकर रचा है ? जैसे हाथ आदि अवयवों से विना उसने सब जगत् को रचा है वैसे ही वेदों को भी सब साधनों के विना रचा है। क्योंकि ईश्वर सर्वशक्तिमान् है। इससे ऐसी शङ्का उस में आप को करनी योग्य नहीं। परन्तु इसके उत्तर में इस बात को जानो कि वेदों को पुस्तकों में लिख के सृष्टि की आदि में ईश्वर ने प्रकाशित नहीं किये थे। प्र०—तो किस प्रकार से किये थे ? उ०—ज्ञान के बीच में। प्र०—किनके ज्ञान में ?। उ०—अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा के। प्र०—वे तो जड़ पदार्थ हैं ? उ०—ऐसा मत कहो, वे सृष्टि की आदि में मनुष्य-देहधारी हुए थे, क्योंकि जड़ में ज्ञान के कार्य का असम्भव है और जहां २ असम्भव होता है वहां २ लक्षणा होती है, जैसे किसी सत्यवादी विद्वान् पुरुष ने किसी से कहा कि खेतों में मञ्चान पुकारते हैं, इस वाक्य में लक्षणा से यह अर्थ होता है कि मञ्चान के ऊपर मनुष्य पुकार रहे हैं, इसी प्रकार से यहां भी जानना कि विद्या के प्रकाश होने का सम्भव मनुष्यों में ही हो सकता है अन्यत्र नहीं। इसमें (तेभ्यः०) इत्यादि शतपथ ब्राह्मण का प्रमाण लिखा है। उन चार मनुष्यों के ज्ञान के बीच में वेदों का प्रकाश करके उनसे ब्रह्मादि के बीच में वेदों का प्रकाश कराया था। प्र०—सत्य बात है कि ईश्वर ने उन को ज्ञान दिया होगा और उनने अपने ज्ञान से वेदों का रचन किया होगा ? उ०—ऐसा तुमको कहना उचित नहीं, क्योंकि तुम यह भी जानते हो कि ईश्वर ने उन को ज्ञान किस प्रकार का दिया था ? उ०—उन को वेदरूप ज्ञान दिया था। प्र०—अच्छा तो मैं आपसे पूछता हूँ कि वह ज्ञान ईश्वर का है वा उनका ? उ०—वह ज्ञान ईश्वर का ही है। प्र०—फिर आप से मैं पूछता हूँ कि वेद ईश्वर के बनाये हैं वा उन के ? उ०—जिसका ज्ञान है उसी ने वेदों को बनाया। प्र०—फिर उन्हीं ने वेद रचे हैं यह शङ्का आपने क्यों की थी ? उ०—निश्चय करने और कराने के लिये।

ईश्वरो न्यायकार्यस्ति वा पक्षपाती ?, न्यायकारी । तर्हि चतुर्णामेव हृदयेषु वेदाः प्रकाशिताः कुतो न सर्वेषामिति ?, अत्राह । अत ईश्वरे पक्षपातस्य लेशोपि नैवागच्छति, किन्त्वनेन तस्य न्यायकारिणः परमात्मनः सम्यङ्न्यायः प्रकाशितो भवति, कुतः, न्यायेत्यस्यैव नामास्ति यो यादृशं कर्म कुर्य्यात्तस्मै तादृशमेव फलं दद्यात् । अत्रैवं वेदितव्यम् । तेषामेव पूर्वपुण्यमासीद्यतः खल्वेतेषां हृदये वेदानां प्रकाशः कर्त्तुं योग्योस्ति । किं च ते तु सृष्टेः प्रागुत्पन्नास्तेषां पूर्वपुण्यं कुत आगतम् ?, अत्र ब्रूमः । सर्वे जीवाः स्वरूपतोऽनादय,स्तेषां कर्म्माणि, सर्वं कार्य्यं जगच्च, प्रवाहेणैवानादीनि सन्तीति । एतेषामनादित्वस्य प्रमाणपूर्वकं प्रतिपादनमग्रे करिष्यते ।

भाषार्थ

प्र०—ईश्वर न्यायकारी है वा पक्षपाती ?, उ०—न्यायकारी । प्र०—जब परमेश्वर न्यायकारी है तो सब के हृदयों में वेदों का प्रकाश क्यों नहीं किया ? क्योंकि चारों के हृदयों में प्रकाश करने से ईश्वर में पक्षपात आता है । उ०—इससे ईश्वर में पक्षपात का लेश कदापि नहीं आता, किन्तु उस न्यायकारी परमात्मा का साक्षात् न्याय ही प्रकाशित होता है, क्योंकि न्याय उसको कहते हैं कि जो जैसा कर्म करे उस को वैसा ही फल दिया जाय । अब जानना चाहिये कि उन्हीं चार पुरुषों का ऐसा पूर्वपुण्य था कि उनके हृदय में वेदों का प्रकाश किया गया । प्र०—वे चार पुरुष तो सृष्टि की आदि में उत्पन्न हुए थे उन का पूर्वपुण्य कहां से आया ?, उ०—जीव, जीवों के कर्म और स्थूल कार्य्य जगत् ये तीनों अनादि हैं, जीव और कारण जगत् स्वरूप से अनादि हैं, कर्म और स्थूल कार्य्य जगत् प्रवाह से अनादि हैं । इसकी व्याख्या प्रमाणपूर्वक आगे लिखी जायगी ।

किं गायत्र्यादिच्छन्दोरचनमपीश्वरेणैव कृतम् ?, इयं कुतः शङ्काभूत् ?, किमीश्वरस्य गायत्र्यादिच्छन्दोरचनज्ञानं नास्ति ?, अस्त्येव तस्य सर्वविद्यावत्त्वात् । अतो निर्मूला सा शङ्कास्ति । चतुर्मुखेण ब्रह्मणा वेदा निरमायिषतेत्यैतिह्यम् । मैवं वाच्यम् । ऐतिह्यस्य शब्दप्रमाणान्तर्भावात् । आप्तो-

पदेशः शब्दः ॥ न्यायशास्त्रे अ० १। सू० ७ इति गोतमाचार्येणोक्तत्वात्। शब्द ऐतिह्यमित्यादि च *। अस्यैवोपरि †। आप्तः खलु साक्षात्कृतधर्मा, यथादृष्टस्यार्थस्य चिख्यापयिषया प्रयुक्त उपदेष्टा, साक्षात्करणमर्थस्याप्तिस्तया प्रवर्त्तत इत्याप्त, इति न्यायभाष्ये वात्स्यायनोक्तेः। अतः सत्यस्यैवैतिह्यत्वेन ग्रहणं नानृतस्य। यत्सत्यप्रमाणमाप्तोपदिष्टमैतिह्यं तद् ग्राह्यं, नातो विपरीतमिति, अनृतस्य प्रमत्तगीतत्वात्। एवमेव व्यासेनर्षिभिश्च वेदा रचिता इत्याद्यपि मिथ्यैवास्तीति मन्यताम्। नवीनपुराणग्रन्थानां तन्त्रग्रन्थानां च वैयर्थापत्तेश्चेति।

भाषार्थ

प्र०—क्या गायत्र्यादि छन्दों का भी रचन ईश्वर ने ही किया है?, उ०—यह शङ्का आप को कहां से हुई? प्र०—मैं तुम से पूछता हूँ क्या गायत्र्यादि छन्दों के रचने का ज्ञान ईश्वर को नहीं है?, उ०—ईश्वर को सब ज्ञान है। अच्छा तो ईश्वर के समस्त विद्यायुक्त होने से आप की यह शङ्का भी निर्मूल है। प्र०—चार मुख के ब्रह्माजी ने वेदों को रचा ऐसे इतिहास को हम लोग सुनते हैं?, उ०—ऐसा मत कहो, क्योंकि इतिहास को शब्दप्रमाण के भीतर गिना है (आप्तो०) अर्थात् सत्यवादी विद्वानों का जो उपदेश है उस को शब्दप्रमाण में गिनते हैं, ऐसा न्यायदर्शन में गोतमाचार्य ने लिखा है, तथा शब्दप्रमाण से जो युक्त है वही इतिहास मानने के योग्य है अन्य नहीं। इस सूत्र के भाष्य में वात्स्यायन मुनि ने आप्त का लक्षण कहा है जो कि साक्षात् सब पदार्थ-विद्याओं का जाननेवाला, कपट आदि दोषों से रहित धर्मात्मा है, कि जो सदा सत्यवादी, सत्यमानी और सत्यकारी है, जिसको पूर्णविद्या से आत्मा में जिस प्रकार का ज्ञान है उस के कहने की इच्छा की प्रेरणा से सब मनुष्यों पर कृपादृष्टि से सब सुख होने के लिये सत्य उपदेश का करने वाला है, और जो पृथिवी से ले के परमेश्वर पर्यन्त सब पदार्थों को यथावत् साक्षात् करना और उसी के अनुसार वर्त्तना इसी का नाम आप्ति है, इस आप्ति से जो युक्त

* न्याय अ० २। आह्नि० २। सू० २॥ † न्याय अ० १। आह्नि० १। सू० ७॥

हो उसको आप्त कहते हैं। उसी के उपदेश का प्रमाण होता है, इससे विपरीत मनुष्य का नहीं, क्योंकि सत्य वृत्तान्त का ही नाम इतिहास है, अनृत का नहीं। सत्यप्रमाणयुक्त जो इतिहास है वही सब मनुष्यों को ग्रहण करने के योग्य है, इससे विपरीत इतिहास का ग्रहण करना किसी को योग्य नहीं, क्योंकि प्रमादी पुरुष के मिथ्या कहने का इतिहास में ग्रहण ही नहीं होता। इसी प्रकार व्यासजी ने चारों वेदों की संहिताओं का संग्रह किया है इत्यादि इतिहासों को भी मिथ्या ही जानना चाहिये। जो आजकल के बने ब्रह्मवैवर्त्तादि पुराण और ब्रह्मयामल आदि तन्त्रग्रन्थ हैं इन में कहे इतिहासों का प्रमाण करना किसी मनुष्य को योग्य नहीं, क्योंकि इनमें असम्भव और अप्रमाण कपोलकल्पित मिथ्या इतिहास बहुत लिख रक्खे हैं और जो सत्यग्रन्थ शतपथ ब्राह्मणादि हैं उनके इतिहासों का कभी त्याग नहीं करना चाहिये।

यो मन्त्रसूक्तानामृषिर्लिखितस्तेनैव तद्रचितमिति कुतो न स्यात् ? मैवं वादि। ब्रह्मादिभिरपि वेदानामध्ययनश्रवणयोः कृतत्वात्। यो वै ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै०, इति श्वेताश्वतरोपनिषदादिवचनस्य* विद्यमानत्वात्। एवं यदर्षीणामुत्पत्तिरपि नासीत्तदा ब्रह्मादीनां समीपे वेदानां वर्त्तमानत्वात्। तद्यथा। अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्। दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम्॥ १॥ अ० १†। अध्यापयामास पितॄन् शिशुराङ्गिरसः कविः। अ० २‡। इति मनुसाक्ष्यत्वात्। अग्न्यादीनां सकाशाद् ब्रह्मापि वेदानामध्ययनं चक्रेऽन्येषां व्यासादीनां तु का कथा।

भाषार्थ

प्र०—जो सूक्त और मन्त्रों के ऋषि लिखे जाते हैं उन्होंने ही वेद रचे हों ऐसा क्यों नहीं माना जाय ? । उ०—ऐसा मत कहो। क्योंकि ब्रह्मादि ने भी वेदों को पढ़ा है। सो श्वेताश्वतर आदि उपनिषदों में यह वचन है कि जिसने

* अ० ६। श्लो० १८॥ † श्लो० २३॥ ‡ श्लो० १५१॥

ब्रह्मा को उत्पन्न किया और ब्रह्मादि को सृष्टि की आदि में अग्नि आदि के द्वारा वेदों का भी उपदेश किया है उसी परमेश्वर के शरण को हम लोग प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार ऋषियों ने भी वेदों को पढ़ा है। क्योंकि जब मरीच्यादि ऋषि और व्यासादि मुनियों का जन्म भी नहीं हुआ था उस समय में भी ब्रह्मादि के समीप वेदों का वर्त्तमान था। इस में मनु के श्लोकों की भी साक्षी है कि पूर्वोक्त अग्नि वायु रवि और अङ्गिरा से ब्रह्माजी ने वेदों को पढ़ा था। जब ब्रह्माजी ने वेदों को पढ़ा था तो व्यासादि और हम लोगों की तो कथा क्या ही कहनी है।

कथं वेदः श्रुतिश्च द्वे नाम्नी ऋक्संहितादीनां जाते इति? अर्थवशात्। (विद) ज्ञाने, (विद) सत्तायाम्, (विद्लृ) लाभे, (विद) विचारणे, एतेभ्यो हलश्चेति सूत्रेण करणाधिकरणकारकयोर्घञ्प्रत्यये कृते वेदशब्दः साध्यते। तथा, (श्रु) श्रवणे, इत्यस्माद्धातोः करणकारके क्तिन्प्रत्यये कृते श्रुतिशब्दो व्युत्पद्यते। विदन्ति जानन्ति, विद्यन्ते भवन्ति, विन्दन्ति विन्दन्ते लभन्ते, विन्दते विचारयन्ति सर्वे मनुष्याः सर्वाः सत्यविद्या यैर्येषु वा, तथा विद्वांसश्च भवन्ति ते वेदाः। तथाऽऽदिसृष्टिमारभ्याद्यपर्यन्तं ब्रह्मादिभिः सर्वाः सत्यविद्याः श्रूयन्तेऽनया सा श्रुतिः। न कस्यचिद्देहधारिणः सकाशात्कदाचित्कोपि वेदानां रचनं दृष्टवान्। कुतः। निरवयवेश्वरात्तेषां प्रादुर्भावात्। अग्निवाय्वादित्याङ्गिरसस्तु निमित्तीभूता वेदप्रकाशार्थमीश्वरेण कृता इति विज्ञेयम्। तेषां ज्ञानेन वेदानामनुत्पत्तेः। वेदेषु शब्दार्थसम्बन्धाः परमेश्वरादेव प्रादुर्भूताः तस्य पूर्णविद्यावत्त्वात्। अतः किं सिद्धमग्निवाय्वाद्यङ्गिरोमनुष्यदेहधारिजीवद्वारेण परमेश्वरेण श्रुतिर्वेदः प्रकाशीकृत इति बोध्यम्।

भाषार्थ

प्र०—वेद और श्रुति ये दो नाम ऋग्वेदादि संहिताओं के क्यों हुए हैं?

उ०—अर्थभेद से। क्योंकि एक (विद) धातु ज्ञानार्थ है, दूसरा (विद) सत्तार्थ

है, तीसरे (विद्लृ) का लाभ अर्थ है, चौथे (विद) का अर्थ विचार है । इन चार धातुओं से करण और अधिकरणकारक में घञ् प्रत्यय करने से वेद-शब्द सिद्ध होता है। तथा (श्रु) धातु श्रवण अर्थ में है, इससे करणकारक में क्तिन् प्रत्यय के होने से श्रुति शब्द सिद्ध होता है। जिन के पढ़ने से यथार्थ विद्या का विज्ञान होता है, जिन को पढ़ के विद्वान् होते हैं, जिन से सब सुखों का लाभ होता है और जिन से ठीक २ सत्यासत्य का विचार मनुष्यों को होता है, इस से ऋक्संहितादि का वेद नाम है। वैसे ही सृष्टि के आरम्भ से आज पर्यन्त और ब्रह्मादि से लेके हम लोग पर्यन्त जिससे सब सत्यविद्याओं को सुनते आते हैं इससे वेदों का श्रुति नाम पड़ा है । क्योंकि किसी देहधारी ने वेदों के बनाने वाले को साक्षात् कभी नहीं देखा, इस कारण से जाना गया कि वेद निराकार ईश्वर से ही उत्पन्न हुए हैं और उनको सुनते सुनाते ही आज पर्यन्त सब लोग चले आते हैं। तथा अग्नि वायु आदित्य और अंगिरा इन चारों मनुष्यों को, जैसे वादित्र को कोई बजावे वा काठ की पुतली को चेष्टा करावे, इसी प्रकार ईश्वर ने उनको निमित्तमात्र किया था। क्योंकि उनके ज्ञान से वेदों की उत्पत्ति नहीं हुई। किन्तु इससे यह जाना कि वेदों में जितने शब्द अर्थ और सम्बन्ध हैं वे सब ईश्वर ने अपने ही ज्ञान से उनके द्वारा प्रकट किये हैं।

वेदानामुत्पत्तौ कियन्ति वर्षाणि व्यतीतानि ?। अत्रोच्यते एको । वृन्दः, षण्णवतिः कोटयो,ऽष्टौ लक्षाणि, द्विपञ्चाशत्सहस्राणि, नवशतानि, षट्सप्ततिश्चैतावन्ति (१९६०८५२९७६) वर्षाणि व्यतीतानि, सप्तसप्ततितमोयं संवत्सरो वर्त्तत इति वेदितव्यम् । एतावन्त्येव वर्षाणि वर्त्तमानकल्पसृष्टेश्चेति । कथं विज्ञायते ह्येतावन्त्येव वर्षाणि व्यतीतानीति ?। अत्राह,ऽस्यां वर्त्तमानायां सृष्टौ वैवस्वतस्य सप्तमस्यास्य मन्वन्तरस्येदानीं वर्त्तमानत्वादस्मात्पूर्वं षण्णां मन्वन्तराणां व्यतीतत्वाच्चेति । तद्यथा–स्वायम्भवः, स्वारोचिष, औत्तमि,स्तामसो, रैवत,श्चाक्षुषो, वैवस्वतश्चेति सप्तैते मनवस्तथा सावर्ण्यादय आगामिनः सप्त चैते मिलित्वा (१४) चतुर्दशैव भवन्ति । तत्रै-

कसप्ततिश्चातुर्युगानि ह्येकैकस्य मनोः परिमाणं भवति । ते चैकस्मिन्ब्राह्मदिने (१४) चतुर्दशभुक्तभोगा भवन्ति । एकसहस्रं (१०००) चातुर्युगानि ब्राह्मदिनस्य परिमाणं भवति । ब्राह्म्या रात्रेरपि तावदेव परिमाणं विज्ञेयम् । सृष्टेर्वर्त्तमानस्य दिनसंज्ञास्ति, प्रलयस्य च रात्रिसंज्ञेति । अस्मिन्ब्राह्मदिने षट् मनवस्तु व्यतीताः, सप्तमस्य वैवस्वतस्य वर्त्तमानस्य मनोरष्टाविंशतितमोयं कलिर्वर्त्तते । तत्रास्य वर्त्तमानस्य कलियुगस्यैतावन्ति (४९७६) चत्वारिसहस्राणि, नवशतानि, षट्सप्ततिश्च वर्षाणि तु गतानि, सप्तसप्ततितमोयं संवत्सरो वर्त्तते । यमार्या विक्रमस्यैकोनविंशतिशतं त्रयस्त्रिंशत्तमोत्तरं संवत्सरं वदन्ति ।

अत्र विषये प्रमाणम्

ब्राह्मस्य तु क्षपाहस्य यत्प्रमाणं समासतः । एकैकशो युगानां तु क्रमशस्तन्निबोधत ॥ १ ॥ चत्वार्य्याहुः सहस्राणि वर्षाणां तु कृतं युगम् । तस्य तावच्छती सन्ध्या सन्ध्यांशश्च तथाविधः ॥ २ ॥ इतरेषु ससन्ध्येषु ससन्ध्यांशेषु च त्रिषु । एकापायेन वर्त्तन्ते सहस्राणि शतानि च ॥ ३ ॥ यदेतत् परिसंख्यातमादावेव चतुर्युगम् । एतद्द्वादशसाहस्रं देवानां युगमुच्यते ॥ ४ ॥ दैविकानां युगानां तु सहस्रं परिसंख्यया । ब्राह्ममेकमहर्ज्ञेयं तावती रात्रिरेव च ॥ ५ ॥ तद्वै युगसहस्रान्तं ब्राह्मं पुण्यमहर्विदुः । रात्रिं च तावतीमेव तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥ ६ ॥ यत्प्राग्द्वादशसाहस्रमुदितं दैविकं युगम् । तदेकसप्ततिगुणं मन्वन्तरमिहोच्यते ॥ ७ ॥ मन्वन्तराण्यसंख्यानि सृष्टिः संहार एव च । क्रीडन्निवैतत्कुरुते परमेष्ठी पुनः पुनः ॥ ८ ॥ मनु० अध्याये १ * ॥

कालस्य परिमाणार्थं ब्राह्माहोरात्रादयः सुगमबोधार्थाः संज्ञाः क्रियन्ते । यतः सहजतया जगदुत्पत्तिप्रलययोर्वर्षाणां वेदोत्पत्तेश्च परिगणनं भवेत् । मन्वन्तरपर्य्यावृत्तौ सृष्टेर्नैमित्तिकगुणानामपि पर्य्यावर्त्तनं किञ्चित् किञ्चिद्भवत्यतो मन्वन्तरसंज्ञा क्रियते । अत्रैवं संख्यातव्यम् । एकं दश शतं चैव

* श्लो० ६८-७३, ७९, ८० ॥

सहस्रमयुतं तथा । लक्षं च नियुतं चैव कोटिरर्बुदमेव च ॥ १ ॥ वृन्दः खर्वो निखर्वश्च शङ्खः पद्मं च सागरः । अन्त्यं मध्यं परार्द्धं च दशवृद्ध्या यथाक्रमम् ॥ २ ॥ इति सूर्यसिद्धान्तादिषु संख्यायते । अनया रीत्या वर्षादिगणना कार्येति ॥ सहस्रस्य प्रमासि सहस्रस्य प्रतिमासि ॥ य० अ० १५ । मं० ६५ ॥ सर्वं वै सहस्रं सर्वस्य दातासि ॥ श० कां० ७ । अ० ५ * ॥ सर्वस्य जगतः सर्वमिति नामास्ति । कालस्य चानेन सहस्रमहायुगसंख्यया परिमितस्य दिनस्य नक्तस्य च ब्रह्माण्डस्य प्रमा परिमाणस्य कर्त्ता परमेश्वरोऽस्ति, मन्त्रस्यास्य सामान्यार्थे वर्त्तमानत्वात्सर्वमभिवदतीति । एवमेवाग्रेऽपि योजनीयम् । ज्योतिषशास्त्रे प्रतिदिनचर्याऽभिहिताऽऽर्य्यैः क्षणमारभ्य कल्पकल्पान्तस्य गणितविद्यया स्पष्टं परिगणनं कृतमद्यपर्यन्तमपि क्रियते प्रतिदिनमुच्चार्य्यते ज्ञायते चातः कारणादियं व्यवस्थैव सर्वैर्मनुष्यैः स्वीकर्तुं योग्यास्ति नान्येति निश्चयः । कुतो ह्यार्य्यैर्नित्यमोंतत् सत् श्रीब्रह्मणो द्वितीयप्रहरार्द्धे वैवस्वते मन्वन्तरेऽष्टाविंशतितमे कलियुगे कलिप्रथमचरणेऽमुकसंवत्सरायनर्तुमासपक्षादिननक्षत्रलग्नमुहूर्तेऽत्रेदं कृतं क्रियते चेत्याबालवृद्धैः प्रत्यहं विदितत्वादितिहासस्यास्य सर्वत्रार्य्यावर्त्तदेशे वर्त्तमानत्वात्सर्वत्रैकरसत्वादशक्येयं व्यवस्था केनापि विचालयितुमिति विज्ञायताम् । अन्यद्युगव्याख्यानमग्रे करिष्यते तत्र द्रष्टव्यम् ।

भाषार्थ

प्रश्न—वेदों की उत्पत्ति में कितने वर्ष होगये हैं ? । **उत्तर**—एक वृन्द, छानवे करोड़, आठ लाख, बावन हज़ार, नवसौ, छहत्तर अर्थात् (१९६०-८५२९७६) वर्ष वेदों की और जगत् की उत्पत्ति में हो गये हैं और यह संवत् सतहत्तरवां (७७) वर्त्त रहा है ? प्र०—यह कैसे निश्चय हो कि इतने ही वर्ष वेद और जगत् की उत्पत्ति में बीत गये हैं ? । उ०—यह जो वर्त्तमान सृष्टि है इसमें सातवें (७) वैवस्वतमनु का वर्त्तमान है, इससे पूर्व छः मन्वन्तर हो चुके हैं । स्वायम्भव १, स्वारोचिष २, औत्तमि ३, तामस ४, रैवत ५, चाक्षुष ६,

* ब्रा० २ । काण्डि० १३ ॥

ये छः तो बीतगये हैं और ७ (सातवां) वैवस्वत वर्त्त रहा है, और सावर्णि आदि ७ (सात) मन्वन्तर आगे भोगेंगे। ये सब मिलके १४ मन्वन्तर होते हैं। और एकहत्तर चतुर्युगियों का नाम मन्वन्तर धरा गया है। सो उसकी गणना इस प्रकार से है कि (१७२८०००) सत्रह लाख, अट्ठाईस हज़ार वर्षों का नाम सतयुग रक्खा है। (१२९६०००) बारह लाख, छानवे हज़ार वर्षों का नाम त्रेता। (८६४०००) आठ लाख, चौंसठ हज़ार वर्षों का नाम द्वापर और (४३२०००) चार लाख, बत्तिस हज़ार वर्षों का नाम कलियुग रक्खा है। तथा आर्य्यों ने एक क्षण और निमेष से लेके एक वर्ष पर्यन्त भी काल की सूक्ष्म और स्थूल संज्ञा बांधी है। और इन चारों युगों के (४३२००००) तितालीस लाख, बीस हज़ार वर्ष होते हैं जिनका चतुर्युगी नाम है। एकहत्तर (७१) चतुर्युगियों के अर्थात् (३०६७२००००) तीस करोड़, सरसठ लाख, बीस हज़ार वर्षों की एक मन्वन्तर संज्ञा की है और ऐसे २ छः मन्वन्तर मिल कर अर्थात् (१८४०३२००००) एक अर्ब, चौरासी करोड़, तीन लाख, बीस हज़ार वर्ष हुए और सातवें मन्वन्तर के भोग में यह (२८) अट्ठाईसवीं चतुर्युगी है। इस चतुर्युगी में कलियुग के (४९७६) चार हज़ार, नवसौ, छहत्तर वर्षों का तो भोग हो चुका है और बाक़ी (४२७०२४) चार लाख, सत्ताईस हज़ार, चौबीस वर्षों का भोग होनेवाला है। जानना चाहिये कि (१२०५३२९७६) बारह करोड़, पांच लाख, बत्तीस हज़ार, नवसौ, छहत्तर वर्ष तो वैवस्वतमनु के भोग हो चुके हैं और (१८६१८७०२४) अठारह करोड़, एकसठ लाख, सत्तासी हज़ार, चौबीस वर्ष भोगने के बाक़ी रहे हैं। इन में से यह वर्त्तमान वर्ष (७७) सतहत्तरवां है, जिस को आर्य्य लोग विक्रम का (१९३३) उन्नीससौ तेतीसवां संवत् कहते हैं। जो पूर्व चतुर्युगी लिख आये हैं उन एक हज़ार चतुर्युगियों की ब्राह्मदिन संज्ञा रक्खी है और उतनी ही चतुर्युगियों की रात्रि संज्ञा जानना चाहिये। सो सृष्टि की उत्पत्ति करके हज़ार चतुर्युगी पर्यन्त ईश्वर इस को बना रखता है इसी का नाम ब्राह्मदिन रक्खा है और हज़ार चतुर्युगी पर्यन्त सृष्टि को मिटा के प्रलय अर्थात् कारण में लीन रखता है उस का नाम ब्राह्मरात्रि रक्खा है। अर्थात् सृष्टि के वर्त्तमान होने का

नाम दिन और प्रलय होने का नाम रात्रि है। यह जो वर्त्तमान ब्राह्मदिन है इसके (१९६०८५२९७६) एक अर्ब, छानवे करोड़, आठ लाख, बावन हज़ार, नवसौ, छहत्तर वर्ष इस सृष्टि की तथा वेदों की उत्पत्ति में भी व्यतीत हुए हैं और (२३३३२२७०२४) दो अर्ब, तेतीस करोड़, बत्तीस लाख, सत्ताईस हज़ार, चौबीस वर्ष इस सृष्टि को भोग करने के बाक़ी रहे हैं। इनमें से अन्त का यह चौबीसवां वर्ष भोग रहा है। आगे आनेवाले भोग के वर्षों में से एक २ घटाते जाना और गत वर्षों में क्रम से एक २ वर्ष मिलाते जाना चाहिये, जैसे आजपर्य्यन्त घटाते बढ़ाते आये हैं। ब्राह्मदिन और ब्राह्मरात्रि अर्थात् ब्रह्म जो परमेश्वर उसने संसार के वर्त्तमान और प्रलय की संज्ञा की है इसीलिये इसका नाम ब्राह्मदिन है। इसी प्रकरण में मनुस्मृति के श्लोक साक्षी के लिये लिख चुके हैं सो देख लेना। इन श्लोकों में दैववर्षों की गणना की है अर्थात् चारों युगों के बारह हज़ार (१२०००) वर्षों की दैवयुग संज्ञा की है। इसी प्रकार असंख्यात मन्वन्तरों में कि जिनकी संख्या नहीं हो सकती अनेक वार सृष्टि हो चुकी है और अनेक वार होगी। सो इस सृष्टि को सदा से सर्व-शक्तिमान् जगदीश्वर सहज स्वभाव से रचता, पालन और प्रलय करता है और सदा ऐसे ही करेगा। क्योंकि सृष्टि की उत्पत्ति, वर्तमान, प्रलय और वेदों की उत्पत्ति के वर्षों को मनुष्य लोग सुख से गिन लें इसीलिये यह ब्राह्मदिन आदि संज्ञा बांधी हैं। और सृष्टि का स्वभाव नया पुराना प्रतिमन्वन्तर में बदलता जाता है, इसीलिये मन्वन्तर संज्ञा बांधी है। वर्त्तमान सृष्टि की कल्पसंज्ञा और प्रलय की विकल्पसंज्ञा की हैं। और इन वर्षों की गणना इस प्रकार से करना चाहिये कि (एकं दशशतं चैव) एक (१), दश (१०), शत (१००), हज़ार (१०००), दशहज़ार (१००००), लाख (१०००००), नियुत (१००००००), करोड़ (१०००००००), अर्बुद (१००००००००), वृन्द (१०००००००००), खर्व (१००००००००००), निखर्व (१०००००००००००), शंख (१००००००००००००), पद्म (१०००००००००००००), सागर (१००००००००००००००), अन्त्य (१०००००००००००००००), मध्य (१००००००००००००००००)

और पराद्धर्य (१००००००००००००००००००) और दश २ गुणा बढ़ाकर इसी गणित से सूर्यसिद्धान्त आदि ज्योतिषग्रन्थों में गिनती की है *। (सहस्रस्यप्र०) सब संसार की सहस्र संज्ञा है तथा पूर्वोक्त ब्राह्मदिन और रात्रि की भी सहस्रसंज्ञा लीजाती है, क्योंकि यह मन्त्र सामान्य अर्थ में वर्त्तमान है। सो हे परमेश्वर! आप इस हजार चतुर्युगी का दिन और रात्रि को प्रमाण अर्थात् निर्माण करने वाले हो। इस प्रकार ज्योतिषशास्त्र में यथावत् वर्षों की संख्या आर्य लोगों ने गिनी है। सो सृष्टि की उत्पत्ति से लेके आज पर्यन्त दिन २ गिनते और क्षण से लेके कल्पान्त की गणितविद्या को प्रसिद्ध करते चले आते हैं अर्थात् परम्परा से सुनते सुनाते लिखते लिखाते और पढ़ते पढ़ाते आज पर्यन्त हम लोग चले आते हैं। यही व्यवस्था सृष्टि और वेदों की उत्पत्ति के वर्षों की ठीक है और सब मनुष्यों को इसी को ग्रहण करना योग्य है। क्योंकि आर्य्य लोग नित्यप्रति "ओं तत्सत्" परमेश्वर के इन तीन नामों का प्रथम उच्चारण करके कार्यों का आरम्भ और परमेश्वर का ही नित्य धन्यवाद करते चले आते हैं कि आनन्द में आज पर्यन्त परमेश्वर की सृष्टि और हम लोग बने हुए हैं, और बही खाते की नाईं लिखते लिखाते पढ़ते पढ़ाते चले आये हैं कि पूर्वोक्त ब्राह्मदिन के दूसरे प्रहर के ऊपर मध्याह्न के निकट दिन आया है और जितने वर्ष वैवस्वतमनु के भोग होने को बाकी हैं उतने ही मध्याह्न में बाकी रहे हैं, इसीलिये यह लेख है (श्री ब्रह्मणो द्वितीये प्रहरार्द्धे०)। यह वैवस्वतमनु का वर्त्तमान है, इस के भोग में यह (२८) अट्ठाईसवां कलियुग है। कलियुग के प्रथम चरण का भोग हो रहा है तथा वर्ष ऋतु अयन मास पक्ष दिन नक्षत्र मुहूर्त लग्न और पल आदि समय में हमने फलाना काम किया था और करते हैं अर्थात् जैसे विक्रम के संवत् १९३३ फाल्गुन मास, कृष्णपक्ष, षष्ठी, शनिवार के दिन, चतुर्थ प्रहर के आरम्भ में यह बात हम ने लिखी है। इसी प्रकार से सब व्यवहार आर्य लोग बालक से वृद्ध पर्य्यन्त करते और जानते चले आये हैं। जैसे बही खाते में मिती डालते हैं वैसे ही महीना

* कहीं २ इसी संख्या को १९ (उन्नीस) अङ्क पर्यन्त गिनते हैं सो यहां भी जान लेना।

और वर्ष बढ़ाते घटाते चले जाते हैं। इसी प्रकार आर्य्य लोग तिथिपत्र में भी वर्ष, मास और दिन आदि लिखते चले आते हैं, और यही इतिहास आज पर्य्यन्त सब आर्य्यावर्त्त देश में एकसा वर्त्तमान हो रहा है और सब पुस्तकों में भी इस विषय में एक ही प्रकार का लेख पाया जाता है, किसी प्रकार का इस विषय में विरोध नहीं है। इसीलिये इसको अन्यथा करने में किसी का सामर्थ्य नहीं हो सकता। क्योंकि जो सृष्टि की उत्पत्ति से ले के बराबर मिती-वार लिखते न आते तो इस गिनती का हिसाब ठीक २ आर्य्य लोगों को भी जानना कठिन होता, अन्य मनुष्यों का तो क्या ही कहना है। और इस से यह भी सिद्ध होता है कि सृष्टि के आरम्भ से ले के आज पर्यन्त आर्य्य लोग ही बड़े २ विद्वान् और सभ्य होते चले आये हैं। जब जैन और मुसलमान आदि लोग इस देश के इतिहास और विद्यापुस्तकों का नाश करने लगे तब आर्य्य लोगों ने सृष्टि के गणित का इतिहास कण्ठस्थ कर लिया और जो पुस्तक ज्यो-तिषशास्त्र के बच गये हैं उन में और उन के अनुसार जो वार्षिक पञ्चाङ्गपत्र बनते जाते हैं इन में भी मिती से मिती बराबर लिखी चली आती है, इसको अन्यथा कोई नहीं कर सकता। यह वृत्तान्त इतिहास का इसलिये है कि पूर्वापर काल का प्रमाण यथावत् सब को विदित रहे और सृष्टि की उत्पत्ति प्रलय तथा वेदों की उत्पत्ति के वर्षों की गिनती में किसी प्रकार का भ्रम किसी को न हो। सो यह बड़ा उत्तम काम है। इस को सब लोग यथावत् जान लेवें। परन्तु इस उत्तम व्यवहार को लोगों ने टका कमाने के लिये बिगाड़ रक्खा है। यह शोक की बात है। और टके के लोभ ने भी जो इस के पुस्तकव्यवहार को बना रक्खा नष्ट न होने दिया यह बड़े हर्ष की बात है। चारों युगों के चार भेद और उनके वर्षों की घट बढ़ संख्या क्यों हुई है इसकी व्याख्या आगे करेंगे वहां देख लेना चाहिये, यहां इस का प्रसंग नहीं है इसलिये नहीं लिखा।

एतावता कथनेनैवाध्यापकैर्विलसनमोक्षमूलराद्यभिधैर्यूरोपाख्यखण्डस्थै-र्मनुष्यरचितो वेदोस्ति श्रुतिर्नास्तीति यदुक्तं, यच्चोक्तं चतुर्विंशतिरेकोनत्रिंशत्-त्रिंशदेकत्रिंशच्च शतानि वर्षाणि वेदोत्पत्तौ व्यतीतानीति तत्सर्वं भ्रममूलम-

स्तीति वेद्यम् । तथैव प्राकृतभाषया व्याख्यानकारिभिरप्येवमुक्तं तदपि भ्रान्तमेवास्तीति च ।

इति वेदोत्पत्तिविचारः

भाषार्थ

इससे जो अध्यापक विलसन साहब और अध्यापक मोक्षमूलर साहब आदि यूरोपखण्डवासी विद्वानों ने बात कही है कि वेद मनुष्य के रचे हैं किन्तु श्रुति नहीं है, उनकी यह बात ठीक नहीं है। और दूसरी यह है—कोई कहता है (२४००) चौबीस सौ वर्ष वेदों की उत्पत्ति को हुए, कोई (२९००) उनतीस सौ वर्ष, कोई (३०००) तीन हजार वर्ष और कोई कहता है (३१००) एकतीस सौ वर्ष वेदों को उत्पन्न हुए बीते हैं, इनकी यह भी बात झूठी है। क्योंकि उन लोगों ने हम आर्य्य लोगों की नित्यप्रति की दिनचर्या का लेख और संकल्पपठनविद्या को भी यथावत् न सुना और न विचारा है, नहीं तो इतने ही विचार से यह भ्रम उन को नहीं होता। इससे यह जानना अवश्य चाहिये कि वेदों की उत्पत्ति परमेश्वर से ही हुई है और जितने वर्ष अभी ऊपर गिन आये हैं उतने ही वर्ष वेदों और जगत् की उत्पत्ति में भी हो चुके हैं। इससे क्या सिद्ध हुआ कि जिन २ ने अपनी २ देशभाषाओं में अन्यथा व्याख्यान वेदों के विषय में किया है उन २ का भी व्याख्यान मिथ्या है। क्योंकि जैसा प्रथम लिख आये हैं जब पर्यन्त हजार चतुर्युगी व्यतीत न हो चुकेंगी तब पर्यन्त ईश्वरोक्त वेद का पुस्तक, यह जगत् और हम सब मनुष्य लोग भी ईश्वर के अनुग्रह से सदा वर्त्तमान रहेंगे।

इति वेदोत्पत्तिविचारः

अथ वेदानां नित्यत्वविचारः

ईश्वरस्य सकाशाद्वेदानामुत्पत्तौ सत्यां स्वतो नित्यत्वमेव भवति, तस्य सर्वसामर्थ्यस्य नित्यत्वात् ।

भाषार्थ

अब वेदों के नित्यत्व का विचार किया जाता है, सो वेद ईश्वर से उत्पन्न हुए हैं इससे वे स्वतः नित्यस्वरूप ही हैं, क्योंकि ईश्वर का सब सामर्थ्य नित्य ही है।

अत्र केचिदाहुः। न वेदानां शब्दमयत्वान्नित्यत्वं सम्भवति। शब्दोऽनित्यः कार्य्यत्वात्। घटवत्। यथा घटः कृतोस्ति तथा शब्दोपि। तस्माच्छब्दानित्यत्वे वेदानामप्यनित्यत्वं स्वीकार्य्यम्। मैवं मन्यताम्। शब्दो द्विविधो नित्यकार्यभेदात्। ये परमात्मज्ञानस्थाः शब्दार्थसम्बन्धाः सन्ति ते नित्या भवितुमर्हन्ति। येऽस्मदादीनां वर्त्तन्ते ते तु कार्य्याश्च। कुतः। यस्य ज्ञानक्रिये नित्ये स्वभावसिद्धे अनादी स्तस्तस्य सर्वं सामर्थ्यमपि नित्यमेव भवितुमर्हति। तद्विद्यामयत्वाद्वेदानामनित्यत्वं नैव घटते।

भाषार्थ

प्र०—इस विषय में कितने ही पुरुष ऐसी शङ्का करते हैं कि वेदों में शब्द, छन्द, पद और वाक्यों के योग होने से नित्य नहीं हो सकते। जैसे विना बनाने से घड़ा नहीं बनता इसी प्रकार से वेदों को भी किसी ने बनाया होगा। क्योंकि बनाने के पहिले नहीं थे और प्रलय के अन्त में भी न रहेंगे, इससे वेदों को नित्य मानना ठीक नहीं है ?। उ०—ऐसा आपको कहना उचित नहीं, क्योंकि शब्द दो प्रकार का होता है एक नित्य और दूसरा कार्य। इन में से जो शब्द, अर्थ और सम्बन्ध परमेश्वर के ज्ञान में हैं वे सब नित्य ही होते हैं, और जो हम लोगों की कल्पना से उत्पन्न होते हैं वे कार्य्य होते हैं। क्योंकि जिसका ज्ञान और क्रिया स्वभाव से सिद्ध और अनादि है उसका सब सामर्थ्य भी नित्य ही होता है, इससे वेद भी उसकी विद्यास्वरूप होने से नित्य ही हैं, क्योंकि ईश्वर की विद्या अनित्य कभी नहीं हो सकती।

किं च भोः सर्वस्यास्य जगतो विभागं प्राप्तस्य कारणरूपस्थितौ सर्वस्थूलकार्य्याभावे पठनपाठनपुस्तकानामभावात्कथं वेदानां नित्यत्वं स्वी-

क्रियते ? । अत्रोच्यते । इदं तु पुस्तकपत्रमसीपदार्थादिषु घटते, तथास्मत् क्रियापक्षे च, नेतरस्मिन् । अतः कारणादीश्वरविद्यामयत्वेन वेदानां नित्यत्वं वयं मन्यामहे । किं च न पठनपाठनपुस्तकानित्यत्वे वेदानित्यत्वं जायते । तेषामीश्वरज्ञानेन सह सदैव विद्यमानत्वात् । यथास्मिन्कल्पे वेदेषु शब्दाक्षरार्थसम्बन्धाः सन्ति तथैव पूर्वमासन्नग्रे भविष्यन्ति च । कुतः । ईश्वरविद्याया नित्यत्वादव्यभिचारित्वाच्च । अतएवेदमुक्तमृग्वेदे । सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयदिति * । अस्यायमर्थः । सूर्यचन्द्रग्रहणमुपलक्षणार्थं, यथा पूर्वकल्पे सूर्यचन्द्रादिरचनं तस्य ज्ञानमध्ये ह्यासीत्तथैव तेनास्मिन्कल्पेपि रचनं कृतमस्तीति विज्ञायते । कुतः । ईश्वरज्ञानस्य वृद्धिक्षयविपर्ययाभावात् । एवं वेदेष्वपि स्वीकार्य्यं, वेदानां तेनैव स्वविद्यातः सृष्टत्वात् ।

भाषार्थ

प्र०—जब सब जगत् के परमाणु अलग २ हो के कारणरूप होजाते हैं तब जो कार्यरूप सब स्थूल जगत् है उसका अभाव होजाता है, उस समय वेदों के पुस्तकों का भी अभाव होजाता है, फिर वेदों को नित्य क्यों मानते हो ? उ०—यह बात पुस्तक, पत्र, मसी और अक्षरों की बनावट आदि पक्ष में घटती है, तथा हम लोगों के क्रियापक्ष में भी बन सकती है, वेदपक्ष में नहीं घटती । क्योंकि वेद तो शब्द अर्थ और सम्बन्धस्वरूप ही हैं, मसी कागज पत्र पुस्तक और अक्षरों की बनावटरूप नहीं हैं । यह जो मसीलिखनादि क्रिया है सो मनुष्यों की बनाई है, इससे यह अनित्य है, और ईश्वर के ज्ञान में सदा बने रहने से वेदों को हम लोग नित्य मानते हैं । इससे क्या सिद्ध हुआ कि पढ़ना पढ़ाना और पुस्तक के अनित्य होने से वेद अनित्य नहीं हो सकते, क्योंकि वे बीजाङ्कुरन्याय से ईश्वर के ज्ञान में नित्य वर्त्तमान रहते हैं । सृष्टि की आदि में ईश्वर से वेदों की प्रसिद्धि होती है और प्रलय में जगत् के नहीं रहने से उनकी अप्रसिद्धि होती है, इस कारण से वेद नित्यस्वरूप ही बने रहते हैं । जैसे इस कल्प की सृष्टि में शब्द अक्षर, अर्थ और सम्बन्ध वेदों में हैं इसी प्रकार से पूर्वकल्प

* ऋ० १० । १९० । ३ ॥

में थे और आगे भी होंगे, क्योंकि जो ईश्वर की विद्या है सो नित्य एक ही रस बनी रहती है, उनके एक अक्षर का भी विपरीतभाव कभी नहीं होता । सो ऋग्वेद से लेके चारों वेदों की संहिता अब जिस प्रकार की हैं कि इन में शब्द, अर्थ, सम्बन्ध, पद और अक्षरों का जिस क्रम से वर्त्तमान है इसी प्रकार का क्रम सब दिन बना रहता है, क्योंकि ईश्वर का ज्ञान नित्य है, उसकी वृद्धि क्षय और विपरीतता कभी नहीं होती, इस कारण से वेदों को नित्यस्वरूप ही मानना चाहिये ।

अत्र वेदानां नित्यत्वे व्याकरणशास्त्रादीनां साक्ष्यर्थं प्रमाणानि लिख्यन्ते । तत्राह महाभाष्यकारः पतञ्जलिमुनिः ॥ नित्याः शब्दा नित्येषु शब्देषु कूटस्थैरविचालिभिर्वर्णैर्भवितव्यमनपायोपजनविकारिभिरिति । इदं वचनं प्रथमाह्निकमारभ्य बहुषु स्थलेषु व्याकरणमहाभाष्येऽस्ति । तथा श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेणाभिज्वलित आकाशदेशः शब्दः । इदम्, अइउण् सूत्रभाष्ये चोक्तमिति । अस्यायमर्थः । वैदिका लौकिकाश्च सर्वे शब्दा नित्याः सन्ति । कुतः । शब्दानां मध्ये कूटस्था विनाशरहिता अचला अनपाया अनुपजना अविकारिणो वर्णाः सन्त्यतः । अपायो लोपो निवृत्तिरग्रहणम् । उपजन आगमः । विकार आदेशः । एते न विद्यन्ते येषु शब्देषु तस्मान्नित्याः शब्दाः ।

भाषार्थ

यह जो वेदों के नित्य होने का विषय है इस में व्याकरणादि शास्त्रों का प्रमाण साक्षी के लिये लिखते हैं । इन में से जो व्याकरण शास्त्र है सो संस्कृत और भाषाओं के सब शब्दविद्या का मुख्य मूल प्रमाण है । उसके बनाने वाले महामुनि पाणिनि और पतञ्जलि हैं । उन का ऐसा मत है कि सब शब्द नित्य हैं, क्योंकि इन शब्दों में जितने अक्षरादि अवयव हैं वे सब कूटस्थ अर्थात् विनाशरहित हैं, और वे पूर्वापर विचलते भी नहीं, उन का अभाव वा आगम कभी नहीं होता । तथा कान से सुन के जिन का ग्रहण होता है, बुद्धि से जो

जाने जाते हैं, जो वाक् इन्द्रिय से उच्चारण करने से प्रकाशित होते हैं, और जिनका निवास का स्थान आकाश है उनको शब्द कहते हैं। इस से वैदिक अर्थात् जो वेद के शब्द और वेदों से जो शब्द लोक में आये हैं वे लौकिक कहाते हैं वे भी सब नित्य ही होते हैं, क्योंकि उन शब्दों के मध्य में सब वर्ण अविनाशी और अचल हैं, तथा इन में लोप, आगम और विकार नहीं बन सकते। इस कारण से पूर्वोक्त शब्द नित्य हैं।

ननु गणपाठाष्टाध्यायीमहाभाष्येष्वपायादयो विधीयन्ते पुनरेतत्कथं संगच्छते ?। इत्येवं प्राप्ते ब्रूते महाभाष्यकारः। सर्वे सर्वपदादेशा दाक्षीपुत्रस्य पाणिनः। एकदेशविकारे हि नित्यत्वं नोपपद्यते ॥ १॥ दाधाघ्वदावित्यस्य सूत्रस्योपरि महाभाष्यवचनम्। अस्यायमर्थः। सर्वे संघाताः सर्वेषां पदानां स्थान आदेशा भवन्ति। अर्थाच्छब्दसंघातान्तराणां स्थानेष्वन्ये शब्दसंघाताः प्रयुज्यन्ते। तद्यथा। वेदपार। गम्। ड। सुँ। भू। शप्। तिप्। इत्येतस्य वाक्यसमुदायस्य स्थाने वेदपारगोऽभवदितीदं समुदायान्तरं प्रयुज्यते। अस्मिन्नप्रयुक्तसमुदाये गम् ड सुँ शप् तिप् इत्येतेषाम् अम् ड् उँ श प् इ प् इत्येतेऽपयन्तीति केषांचिद्बुद्धिर्भवति सा भ्रममूलैवास्ति। कुतः। शब्दानामेकदेशविकारे चेत्युपलक्षणात्। नैव शब्दस्यैकदेशोपाय एकदेशोपजन एकदेशविकारिणि सति दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेराचार्य्यस्य मते शब्दानां नित्यत्वमुपपन्नं भवत्यतः। तथैवाडागमो, भू इत्यस्य स्थाने भो इति विकारे चैवं संगतिः कार्य्येति। (श्रोत्रोपलब्धिरिति) श्रोत्रेन्द्रियेण ज्ञानं यस्य, बुद्ध्या नितरां ग्रहीतुं योग्य, उच्चारणेनाभिप्रकाशितो यो, यस्याकाशो देशोऽधिकरणं वर्त्तते स शब्दो भवतीति बोध्यम्। अनेन शब्दलक्षणेनापि शब्दो नित्य एवास्तीत्यवगम्यते। कथम्। उच्चारणश्रवणादिप्रयत्नक्रियायाः क्षणप्रध्वंसित्वात्। एकैकवर्णवर्तिनी वाक् इति महाभाष्यप्रामाण्यात्। प्रतिवर्णं वाक्क्रिया परिणमते, अतस्तस्या एवानित्यत्वं गम्यते, न च शब्दस्येति।

भाषार्थ

प्र०—गणपाठ अष्टाध्यायी और महाभाष्य में अक्षरों के लोप, आगम

और विकार आदि कहे हैं फिर शब्दों का नित्यत्व कैसे हो सकता है? इस प्रश्न का उत्तर महाभाष्यकार पतञ्जलि मुनि देते हैं कि शब्दों के समुदायों के स्थानों में अन्य शब्दों के समुदायों का प्रयोगमात्र होता है। जैसे वेदपारगम् ङ सुँ भू शप् तिप् इस पदसमुदाय वाक्य के स्थान में वेदपारगोऽभवत् इस समुदायान्तर का प्रयोग किया जाता है। इस में किसी पुरुष की ऐसी बुद्धि होती है कि अम् ङ् उँ श् प् इ प् इन की निवृत्ति होजाती है सो उस की बुद्धि में भ्रममात्र है, क्योंकि शब्दों के समुदाय के स्थानों में दूसरे शब्दों के समुदायों के प्रयोग किये जाते हैं। सो यह मत दाक्षी के पुत्र पाणिनिमुनिजी का है जिनने अष्टाध्यायी आदि व्याकरण के ग्रन्थ किये हैं। सो मत इस प्रकार से है कि शब्द नित्य ही होते हैं, क्योंकि जो उच्चारण और श्रवणादि हम लोगों की क्रिया है उस के क्षणभङ्ग होने से अनित्य गिनी जाती है, इससे शब्द अनित्य नहीं होते, क्योंकि यह जो हम लोगों की वाणी है वही वर्ण २ के प्रति अन्य २ होती जाती है। परन्तु शब्द तो सदा अखण्ड एकरस ही बने रहते हैं।

ननु च भोः शब्दोऽप्युपरतागतो भवति। उच्चारित उपागच्छति। अनुच्चारितोऽनागतो भवति। वाक्क्रियावत्। पुनस्तस्य कथं नित्यत्वं भवेत्?। अत्रोच्यते। नाकाशवत् पूर्वस्थितस्य शब्दस्य साधनाभावादभिव्यक्तिर्भवति। किन्तु तस्य प्राणवाक्क्रिययाभिव्यक्तिश्च। तद्यथा। गौरित्यत्र यावद्वाग्गकारेऽस्ति न तावदौकारे, यावदौकारे न तावद्विसर्जनीये। एवं वाक्क्रियोच्चारणस्यापायोपजनौ भवतः, न च शब्दस्याखण्डैकरसस्य, तस्य सर्वत्रोपलब्धत्वात्। यत्र खलु वायुवाक्क्रिये न भवतस्तत्रोच्चारणश्रवणे अपि न भवतः। अतः शब्दस्त्वाकाशवदेव सदा नित्योऽस्तीत्यादिव्याकरणमतेन सर्वेषां शब्दानां नित्यत्वमस्ति किमुत वैदिकानामिति।

भाषार्थ

प्र०—शब्द भी उच्चारण किये के पश्चात् नष्ट होजाता है और उच्चारण के पूर्व सुना नहीं जाता है, जैसे उच्चारणक्रिया अनित्य है वैसे ही शब्द भी अनित्य

हो सकता है, फिर शब्दों को नित्य क्यों मानते हो ? उ०—शब्द तो आकाश की नाईं सर्वत्र एकरस भर रहे हैं, परन्तु जब उच्चारणक्रिया नहीं होती तब प्रसिद्ध सुनने में नहीं आते। जब प्राण और वाणी की क्रिया से उच्चारण किये जाते हैं तब शब्द प्रसिद्ध होते हैं। जैसे गौः इस के उच्चारण में जब पर्यन्त उच्चारणक्रिया गकार में रहती है तब पर्यन्त औकार में नहीं, जब औकार में है तब गकार और विसर्जनीय में नहीं रहती। इसी प्रकार वाणी की क्रिया की उत्पत्ति और नाश होता है शब्दों का नहीं। किन्तु आकाश में शब्द की प्राप्ति होने से शब्द तो अखण्ड एकरस सर्वत्र भर रहे हैं, परन्तु जब पर्यन्त वायु और वाक् इन्द्रिय की क्रिया नहीं होती तब पर्यन्त शब्दों का उच्चारण और श्रवण भी नहीं होता। इससे यह सिद्ध हुआ कि शब्द आकाश की नाईं नित्य ही हैं। जब व्याकरण शास्त्र के मत से सब शब्द नित्य होते हैं तो वेदों के शब्दों की कथा तो क्या ही कहनी है, क्योंकि वेदों के शब्द तो सब प्रकार से नित्य ही बने रहते हैं।

एवं जैमिनिमुनिनापि शब्दस्य नित्यत्वं प्रतिपादितम्। नित्यस्तु स्याद्दर्शनस्य परार्थत्वात्। पूर्वमीमांसा, अ० १, पा० १, सू० १८। अस्यायमर्थः। (तु) शब्देनानित्यशङ्का निवार्य्यते। विनाशरहितत्वाच्छब्दो नित्योऽस्ति, कस्माद्दर्शनस्य परार्थत्वात्। दर्शनस्योच्चारणस्य परस्यार्थस्य ज्ञापनार्थत्वात्, शब्दस्यानित्यत्वं नैव भवति। अन्यथाऽयं गोशब्दार्थोऽस्तीत्यभिज्ञाऽनित्येन शब्देन भवितुमयोग्यास्ति। नित्यत्वे सति ज्ञाप्यज्ञापकयोर्विद्यमानत्वात् सर्वमेतत्संगतं स्यात्। अतश्चैकमेव गोशब्दं युगपदनेकेषु स्थलेष्वनेक उच्चारका उपलभन्ते पुनः पुनस्तमेव चेति। एवं जैमिनिना शब्दनित्यत्वेऽनेके हेतवः प्रदर्शिताः।

भाषार्थ

इसी प्रकार जैमिनि मुनि ने भी शब्द को नित्य माना है। शब्द में जो अनित्य होने की शङ्का आती है उसका (तु) शब्द से निवारण किया है। शब्द नित्य

ही हैं अर्थात् नाशरहित हैं, क्योंकि उच्चारणक्रिया से जो शब्द का श्रवण होता है सो अर्थ के जनाने ही के लिये है, इससे शब्द अनित्य नहीं हो सकता। जो शब्द का उच्चारण किया जाता है उसकी ही प्रत्यभिज्ञा होती है कि श्रोत्रद्वारा ज्ञान के बीच में वही शब्द स्थिर रहता है फिर उसी शब्द से अर्थ की प्रतीति होती है, जो शब्द अनित्य होता तो अर्थ का ज्ञान कौन कराता, क्योंकि वह शब्द ही नहीं रहा फिर अर्थ को कौन जनावे। और जैसे अनेक देशों में अनेक पुरुष एक काल में ही एक गो शब्द का उच्चारण करते हैं इसी प्रकार उसी शब्द का उच्चारण वारंवार भी होता है, इस कारण से भी शब्द नित्य हैं, जो शब्द अनित्य होता तो यह व्यवस्था कभी नहीं बन सकती। सो जैमिनि मुनि ने इस प्रकार के अनेक हेतुओं से पूर्वमीमांसा शास्त्र में शब्द को नित्य सिद्ध किया है।

अन्यच्च वैशेषिकसूत्रकारः कणादमुनिरप्यत्राह । तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम् । वैशेषिके, अ० १, आ० १, सू० ३ । अस्यायमर्थः । तद्वचनात्तयोर्धर्मेश्वरयोर्वचनाद्धर्मस्यैव कर्तव्यतया प्रतिपादनादीश्वरेणैवोक्तत्वाच्चाम्नायस्य वेदचतुष्टयस्य प्रामाण्यं सर्वैर्नित्यत्वेन स्वीकार्यम् ।

भाषार्थ

इसी प्रकार वैशेषिकशास्त्र में कणादमुनि ने भी कहा है, (तद्वचना०)। वेद ईश्वरोक्त हैं, इनमें सत्य विद्या और पक्षपातरहित धर्म का ही प्रतिपादन है, इससे चारों वेद नित्य हैं। ऐसा ही सब मनुष्यों को मानना उचित है। क्योंकि ईश्वर नित्य है इससे उसकी विद्या भी नित्य है।

तथा स्वकीयन्यायशास्त्रे गोतममुनिरप्यत्राह । मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात् । अ० २, आ० १, सू० ६७ । अस्यायमर्थः । तेषां वेदानां नित्यानामीश्वरोक्तानां प्रामाण्यं सर्वैः स्वीकार्य्यम् । कुतः ?, आप्तप्रामाण्यात् । धर्मात्मभिः कपटछलादिदोषरहितैर्दयालुभिः सत्योपदेष्टृभिर्विद्यापारगैर्महायोगिभिः सर्वैर्ब्रह्मादिभिराप्तैर्वेदानां प्रामाण्यं स्वीकृतमतः ।

किंवत् ?, मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवत् । यथा सत्यपदार्थविद्याप्रकाशकानां मन्त्राणां विचाराणां सत्यत्वेन प्रामाण्यं भवति। यथा चायुर्वेदोक्तस्यैकदेशोक्तौषधसेवनेन रोगनिवृत्त्या तद्भिन्नस्यापि भागस्य तादृशस्य प्रामाण्यं भवति। तथा वेदोक्तार्थस्यैकदेशप्रत्यक्षेणेतरस्यादृष्टार्थविषयस्य वेदभागस्याऽपि प्रामाण्यमङ्गीकार्य्यम् । एतत्सूत्रस्योपरि भाष्यकारेण वात्स्यायनमुनिनाप्येवं प्रतिपादितम् । द्रष्टृप्रवक्तृसामान्याच्चानुमानम् । य एवाप्ता वेदार्थानां द्रष्टारः प्रवक्तारश्च त एवायुर्वेदप्रभृतीनामित्त्यायुर्वेदप्रामाण्यवद्वेदप्रामाण्यमनुमातव्यमिति । नित्यत्वाद्वेदवाक्यानां प्रमाणत्वे तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यादित्युक्तम् * । अस्यायमभिप्रायः । यथाप्तोपदेशस्य शब्दस्य प्रामाण्यं भवति तथा सर्वथाप्तेनेश्वरेणोक्तानां वेदानां सर्वैराप्तैः प्रामाण्येनाङ्गीकृतत्वाद्वेदाः प्रमाणमिति बोध्यम् । अत ईश्वरविद्यामयत्वाद्वेदानां नित्यत्वमेवोपपन्नं भवतीति दिक् ।

भाषार्थ

वैसे ही न्यायशास्त्र में गोतम मुनि भी शब्द को नित्य कहते हैं, (मन्त्रायु०) । वेदों को नित्य ही मानना चाहिये. क्योंकि सृष्टि के आरम्भ से लेके आज पर्यन्त ब्रह्मादि जितने आप्त होते आये हैं वे सब वेदों को नित्य ही मानते आये हैं । उन आप्तों का अवश्य ही प्रमाण करना चाहिये । क्योंकि आप्त लोग वे होते हैं जो धर्मात्मा, कपट छलादि दोषों से रहित, सब विद्याओं से युक्त, महायोगी और सब मनुष्यों के सुख होने के लिये सत्य का उपदेश करनेवाले हैं, जिनमें लेशमात्र भी पक्षपात वा मिथ्याचार नहीं होता । उन्होंने वेदों का यथावत् नित्य गुणों से प्रमाण किया है जिन्होंने आयुर्वेद को बनाया है । जैसे आयुर्वेद वैद्यक शास्त्र के एक देश में कहे औषध और पथ्य के सेवन करने से रोग की निवृत्ति से सुख प्राप्त होता है, जैसे उसके एक देश के कहे के सत्य होने से उस के दूसरे भाग का भी प्रमाण होता है, इसी प्रकार वेदों का भी

* उपलभ्यमानेषु वात्स्यायनभाष्येषु "दित्युक्तमि,ति" स्थाने "दित्ययुक्तमि"ति पाठो वर्त्तते ॥

प्रमाण करना सब मनुष्यों को उचित है, क्योंकि वेद के एक देश में कहे अर्थ का सत्यपन विदित होने से उससे भिन्न जो वेदों के भाग हैं कि जिन का अर्थ प्रत्यक्ष न हुआ हो उनका भी नित्य प्रमाण अवश्य करना चाहिये, क्योंकि आप्त पुरुष का उपदेश मिथ्या नहीं हो सकता । (मन्त्रायु०) इस सूत्र के भाष्य में वात्स्यायन मुनि ने वेदों का नित्य होना स्पष्ट प्रतिपादन किया है कि जो आप्त लोग हैं वे वेदों के अर्थ को देखने दिखाने और जनाने वाले हैं, जो २ उस २ मन्त्र के अर्थ के द्रष्टा वक्ता होते हैं वे ही आयुर्वेद आदि के बनानेवाले हैं। जैसे उन का कथन आयुर्वेद में सत्य है वैसे ही वेदों के नित्य मानने का उनका जो व्यवहार है सो भी सत्य ही है ऐसा मानना चाहिये । क्योंकि जैसे आप्तों के उपदेश का प्रमाण अवश्य होता है वैसे ही सब आप्तों का भी जो परम आप्त सब का गुरु परमेश्वर है उस के किये वेदों का भी नित्य होने का प्रमाण अवश्य ही करना चाहिये ।

अत्र विषये योगशास्त्रे पतञ्जलिमुनिरप्याह । स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् । पातञ्जलयोगशास्त्रे, अ० १, पा० १, सू० २६ । यः पूर्वेषां सृष्ट्यादावुत्पन्नानामग्निवाय्वादित्याङ्गिरोब्रह्मादीनां प्राचीनानामस्मदादीनामिदानींतनानामग्रे भविष्यतां स सर्वेषामेष ईश्वर एव गुरुरस्ति । गृणाति वेदद्वारोपदिशति सत्यानर्थान् स गुरुः । स च सर्वदा नित्योस्ति । तत्र कालगतेरप्रचारत्वात् । न स ईश्वरो ह्यविद्यादिक्लेशैः पापकर्मभिस्तद्वासनया च कदाचिद्युक्तो भवति । यस्मिन् निरतिशयं नित्यं स्वाभाविकं ज्ञानमस्ति तदुक्तत्वाद्वेदानामपि सत्यार्थवत्त्वनित्यत्वे वेद्ये इति ।

भाषार्थ

इस विषय में योगशास्त्र के कर्त्ता पतञ्जलि मुनि भी वेदों को नित्य मानते हैं, (स एष०) । जो कि प्राचीन अग्नि, वायु, आदित्य, आङ्गिरा और ब्रह्मादि पुरुष सृष्टि की आदि में उत्पन्न हुए थे उन से लेके हम लोग पर्यन्त और हम से आगे जो होने वाले हैं इन सब का गुरु परमेश्वर ही है, क्योंकि वेदद्वारा

सत्य अर्थों का उपदेश करने से परमेश्वर का नाम गुरु है। सो ईश्वर नित्य ही है, क्योंकि ईश्वर में क्षणादि काल की गति का प्रचार ही नहीं है और वह अविद्या आदि क्लेशों से और पापकर्म तथा उनकी वासनाओं के भोगों से अलग है। जिस में अनन्त विज्ञान सर्वदा एकरस बना रहता है उसी के रचे वेदों का भी सत्यार्थपना और नित्यपना भी निश्चित है, ऐसा ही सब मनुष्यों को जानना चाहिये।

एवमेव स्वकीयसांख्यशास्त्रे पञ्चमाध्याये कपिलाचार्य्योप्यत्राह। निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतःप्रामाण्यम्। सू० ५१॥ अस्यायमर्थः। वेदानां निजशक्त्यभिव्यक्तेः पुरुषसहचारिप्रधानसामर्थ्यात् प्रकटत्वात्स्वतःप्रामाण्यनित्यत्वे स्वीकार्य्ये इति।

भाषार्थ

इसी प्रकार से सांख्यशास्त्र में कपिलाचार्य भी कहते हैं, (निज०)। परमेश्वर की (निज) अर्थात् स्वाभाविक जो विद्या शक्ति है उससे प्रकट होने से वेदों का नित्यत्व और स्वतःप्रमाण सब मनुष्यों को स्वीकार करना चाहिये।

अस्मिन् विषये स्वकीयवेदान्तशास्त्रे कृष्णद्वैपायनो व्यासमुनिरप्याह। शास्त्रयोनित्वात्, अ० १, पा० १, सू० ३। अस्यायमर्थः। ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत्सर्वार्थावद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म। नहीदृशस्य शास्त्रस्यर्ग्वेदादिलक्षणस्य सर्वज्ञगुणान्वितस्य सर्वज्ञादन्यतः संभवोस्ति। यद्यद्विस्तरार्थं शास्त्रं यस्मात्पुरुषविशेषात्संभवति यथा व्याकरणादि पाणिन्यादेर्ज्ञेयैकदेशार्थमपि स ततोप्यधिकतरविज्ञानइति सिद्धं लोके किमु वक्तव्यमितीदं वचनं शङ्कराचार्य्येणास्य सूत्रस्योपरि स्वकीयव्याख्याने गदितम्। अतः किमागतं, सर्वज्ञस्येश्वरस्य शास्त्रमपि नित्यं सर्वार्थज्ञानयुक्तं च। भवितुमर्हति। अन्यच्च। तस्मिन्नेवाध्याये। अतएव च नित्यत्वम्, पा० ३, सू० २९। अस्यायमर्थः। अत ईश्वरोक्तत्वान्नित्यधर्मकत्वाद्वेदानां स्वतः प्रामाण्यं सर्वविद्यावत्त्वं सर्वेषु कालेष्वव्यभिचारित्वान्नि-

त्यत्वं च सर्वैर्मनुष्यैर्मन्तव्यमिति सिद्धम् । न वेदस्य प्रामाण्यसिद्ध्यर्थमन्यत्प्रमाणं स्वीक्रियते । किन्त्वेतत्साक्षिवद्विज्ञेयम् । वेदानां स्वतःप्रमाणत्वात् । सूर्यवत् । यथा सूर्यः स्वप्रकाशः सन् संसारस्थान्महतोऽल्पांश्च पर्वतादीन् त्रसरेण्वन्तान् पदार्थान्प्रकाशयति तथा वेदोपि स्वयं स्वप्रकाशः सन् सर्वा विद्याः प्रकाशयतीत्यवधेयम् ।

भाषार्थ

इसी प्रकार से वेदान्तशास्त्र में वेदों के नित्य होने के विषय में व्यासजी ने भी लिखा है, (शास्त्र०) । इस सूत्र के अर्थ में शङ्कराचार्य्य ने भी वेदों को नित्य मान के व्याख्यान किया है कि ऋग्वेदादि जो चारों वेद हैं वे अनेक विद्याओं से युक्त हैं, सूर्य्य के समान सब सत्य अर्थों के प्रकाश करनेवाले हैं, उनका बनानेवाला सर्वज्ञादि गुणों से युक्त परब्रह्म है, क्योंकि सर्वज्ञ ब्रह्म से भिन्न कोई जीव सर्वज्ञगुणयुक्त इन वेदों को बना सके ऐसा संभव कभी नहीं हो सकता । किन्तु वेदार्थविस्तार के लिये किसी जीवविशेष पुरुष से अन्य शास्त्र बनाने का संभव होता है । जैसे पाणिनि आदि मुनियों ने व्याकरणादि शास्त्रों को बनाया है । उन में विद्या के एक २ देश का प्रकाश किया है । सो भी वेदों के आश्रय से बना सके हैं । और जो सब विद्याओं से युक्त वेद हैं उन को सिवाय परमेश्वर के दूसरा कोई भी नहीं बना सकता, क्योंकि परमेश्वर से भिन्न सब विद्याओं में पूर्ण कोई भी नहीं है । किञ्च परमेश्वर के बनाये वेदों के पढ़ने विचारने और उसी के अनुग्रह से मनुष्यों को यथाशक्ति विद्या का बोध होता है, अन्यथा नहीं, ऐसा शंकराचार्य्य ने भी कहा है । इससे क्या आया कि वेदों के नित्य होने में सब आर्य्य लोगों की साक्षी है । और यह भी कारण है कि जो ईश्वर नित्य और सर्वज्ञ है उस के किये वेद भी नित्य और सर्वज्ञ होने के योग्य हैं, अन्य का बनाया ऐसा ग्रन्थ कभी नहीं हो सकता । (अतएव०) इस सूत्र से भी यही आता है कि वेद नित्य हैं । और सब सज्जन लोगों को भी ऐसा ही मानना उचित है । तथा वेदों के प्रमाण और नित्य होने में अन्य शास्त्रों के प्रमाणों को साक्षी के समान जानना चाहिये, क्योंकि वे

अपने ही प्रमाण से नित्य सिद्ध हैं। जैसे सूय के प्रकाश में सूर्य का ही प्रमाण है अन्य का नहीं, और जैसे सूर्य्य प्रकाशस्वरूप है, पर्वत से लेके त्रसरेणु पर्य्यन्त पदार्थों का प्रकाश करता है वैसे वेद भी स्वयंप्रकाश हैं और सब सत्यविद्याओं का भी प्रकाश कर रहे हैं।

अतएव स्वयमीश्वरः स्वप्रकाशितस्य वेदस्य स्वस्य च सिद्धिकरं प्रमाणमाह। सपर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳशुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ १ ॥ य० अ० ४० । मं० ८ । अस्यायमभिप्रायः। यः पूर्वोक्तः सर्वव्यापकत्वादिविशेषणयुक्त ईश्वरोस्ति (स, पर्य्यगात्) परितः सर्वतोऽगात् गतवान्प्राप्तवानास्ति, नैवैकः परमाणुरपि तद्व्याप्त्या विनास्ति, (शुक्रं) तद्ब्रह्म सर्वजगत्कर्त्तृवीर्य्यवदनन्तबलवदस्ति, (अकायं) तत्स्थूलसूक्ष्मकारणशरीरत्रयसम्बन्धरहितम्, (अव्रणं) नैवैतस्मिँश्छिद्रं कर्त्तुं परमाणुरपि शक्नोति, अतएव छेदरहितत्वादक्षतम्, (अस्नाविरं) तन्नाडीसम्बन्धरहितत्वाद्बन्धनावरणविमुक्तम्, (शुद्धं) तदविद्यादिदोषेभ्यः सर्वदा पृथग्वर्त्तमानम्, (अपापविद्धम्) नैव तत्पापयुक्तं पापकारि च कदाचिद्भवति, (कविः) सर्वज्ञः, (मनीषी) यः सर्वेषां मनसामीषी साक्षी ज्ञातास्ति, (परिभूः) सर्वेषामुपरि विराजमानः, (स्वयंभूः) यो निमित्तोपादानसाधारणकारणत्रयरहितः, स एव सर्वेषां पिता, नह्यस्य कश्चित् जनकः, स्वसामर्थ्येन सहैव सदा वर्त्तमानोस्ति, (शाश्वतीभ्यः) य एवंभूतः सच्चिदानन्दस्वरूपः परमात्मा (सः) सर्गादौ स्वकीयाभ्यः शाश्वतीभ्यो निरन्तराभ्यः समाभ्यः प्रजाभ्यो याथातथ्यतो यथार्थस्वरूपेण वेदोपदेशेन (अर्थान् व्यदधात्) विधत्तवानर्थाद्यदा यदा सृष्टिं करोति तदा तदा प्रजाभ्यो हितायादिसृष्टौ सर्वविद्यासमन्वितं वेदशास्त्रं स एव भगवानुपदिशति। अतएव नैव वेदानामनियतत्वं केनापि मन्तव्यम्। तस्य विद्यायाः सर्वदैकरसवर्त्तमानत्वात्।

भाषार्थ

ऐसे ही परमेश्वर ने अपने और अपने किये वेदों के नित्य और स्वतःप्र-

माण होने का उपदेश किया है सो आगे लिखते हैं। (स, पर्यगात्) यह मन्त्र ईश्वर और उस के किये वेदों का प्रकाश करता है, कि जो ईश्वर सर्वव्यापक आदि विशेषणयुक्त है सो सब जगत् में परिपूर्ण हो रहा है। उस की व्याप्ति से एक परमाणु भी रहित नहीं है। सो ब्रह्म (शुक्रं) सब जगत् का करने वाला और अनन्त विद्यादि बल से युक्त है, (अकायं) जो स्थूल, सूक्ष्म और कारण इन तीनों शरीरों के संयोग से रहित है, अर्थात् वह कभी जन्म नहीं लेता, (अव्रणं) जिस में एक परमाणु भी छिद्र नहीं कर सकता, इसीसे वह सर्वथा छेदरहित है, (अस्नाविरं) वह नाड़ियों के बन्धन से अलग है, जैसा वायु और रुधिर नाड़ियों में बंधा रहता है ऐसा बन्धन परमेश्वर में नहीं होता, (शुद्धं) जो अविद्या अज्ञानादि क्लेश और सब दोषों से पृथक् है, (अपापविद्धम्) सो ईश्वर पापयुक्त वा पाप करने वाला कभी नहीं होता क्योंकि वह स्वभाव से ही धर्मात्मा है, (कविः) जो सब का जानने वाला है, (मनीषी) जो सब का अन्तर्यामी है और भूत भविष्यत् तथा वर्त्तमान इन तीनों कालों के व्यवहारों को यथावत् जानता है, (परिभूः) जो सब के ऊपर विराजमान हो रहा है, (स्वयंभूः) जो कभी उत्पन्न नहीं होता और उसका कारण भी कोई नहीं, किन्तु वही सब का कारण, अनादि और अनन्त है, इससे वही सब का माता पिता है और अपने ही सत्य सामर्थ्य से सदा वर्त्तमान रहता है, इत्यादि लक्षणों से युक्त जो सच्चिदानन्दस्वरूप परमेश्वर है (शाश्वतीभ्यः०) उसने सृष्टि की आदि में अपनी प्रजा को जो कि उसके सामर्थ्य में सदा से वर्त्तमान है उसके सब सुखों के लिये (अर्थान् व्यदधात्) सत्य अर्थों का उपदेश किया है। इसी प्रकार जब २ परमेश्वर सृष्टि को रचता है तब २ प्रजा के हित के लिये सृष्टि की आदि में सब विद्याओं से वेदों का भी उपदेश करता है और जब २ सृष्टि का प्रलय होता है तब २ वेद उसके ज्ञान में सदा बने रहते हैं, इससे उनको सदैव नित्य मानना चाहिये।

यथा शास्त्रप्रमाणेन वेदा नित्याः सन्तीति निश्चयोऽस्ति तथा युक्त्यापि। तद्यथा। नासत आत्मलाभो न सत आत्महानम्, योऽस्ति स भविष्यति।

इति न्यायेन वेदानां नित्यत्वं स्वीकार्य्यम् । कुतः ?, यस्य मूलं नास्ति नैव तस्य शाखादयः संभवितुमर्हन्ति । बन्ध्यापुत्रविवाहदर्शनवत् । पुत्रो भवे-च्चेत्तदा बन्ध्यात्वं न सिध्येत्, स नास्ति चेत्पुनस्तस्य विवाहदर्शने कथं भवतः । एवमेवात्रापि विचारणीयम् । यदीश्वरे विद्यानन्ता न भवेत्कथमुप-दिशेत् । स नोपदिशेच्चेन्नैव कस्यापि मनुष्यस्य विद्यासंबन्धो दर्शनं च स्याताम् । निर्मूलस्य प्ररोहाभावात् । नह्यस्मिन् जगति निर्मूलमुत्पन्नं किञ्चिद्-दृश्यते । यस्य सर्वेषां मनुष्याणां साक्षादनुभवोऽस्ति सोऽत्र प्रकाश्यते । यस्य प्रत्यक्षोऽनुभवस्तस्यैव संस्कारो, यस्य संस्कारस्तस्यैव स्मरणं ज्ञानं, तेनैव प्रवृत्तिनिवृत्ती भवतो, नान्यथेति । तद्यथा । येन संस्कृतभाषा पठ्यते तस्याऽस्या एव संस्कारो भवति नाऽन्यस्याः । येन देशभाषाऽधीयते (तस्य) तस्या एव संस्कारो भवति, नातोऽन्यथा । एवं सृष्ट्यादावीश्वरोपदेशाऽ-ध्यापनाभ्यां विना नैव कस्यापि विद्याया अनुभवः स्यात्, पुनः कथं संस्कारस्, तेन विना कुतः स्मरणं, न च स्मरणेन विना विद्याया लेशोपि कस्य-चिद्भवितुमर्हति ।

भाषार्थ

जैसे शास्त्रों के प्रमाणों से वेद नित्य हैं वैसे ही युक्ति से भी उनका नित्य-पन सिद्ध होता है, क्योंकि असत् से सत् का होना अर्थात् अभाव से भाव का होना कभी नहीं हो सकता, तथा सत् का अभाव भी नहीं हो सकता । जो सत्य है उसी से आगे प्रवृत्ति भी हो सकती है और जो वस्तु ही नहीं है उससे सरी वस्तु किसी प्रकार से नहीं हो सकती । इस न्याय से भी वेदों को नित्य ही मानना ठीक है, क्योंकि जिसका मूल नहीं होता है उसकी डाली, पत्र, पुष्प और फल आदि भी कभी नहीं हो सकते । जैसे कोई कहे कि बन्ध्या के पुत्र का विवाह मैंने देखा । यह उसकी बात असम्भव है क्योंकि जो उसके पुत्र होता तो वह बन्ध्या ही क्यों होती और जब पुत्र ही नहीं है तो उसका विवाह और दर्शन कैसे हो सकते हैं । वैसे ही जब ईश्वर में अनन्तविद्या है तभी मनुष्यों को विद्या का उपदेश भी किया है और जो ईश्वर में अनन्तविद्या न होती तो वह उपदेश

कैसे कर सकता और वह जगत् को भी कैसे रच सकता। जो मनुष्यों को ईश्वर अपनी विद्या का उपदेश न करता तो किसी मनुष्य को विद्या जो यथार्थ ज्ञान है सो कभी नहीं होता, क्योंकि इस जगत् में निर्मूल का होना वा बढ़ना सर्वथा असम्भव है। इससे यह जानना चाहिये कि परमेश्वर से वेदविद्या मूल को प्राप्त होके मनुष्यों में विद्यारूप वृक्ष विस्तृत हुआ है। इस में और भी युक्ति है कि जिसका सब मनुष्यों को अनुभव और प्रत्यक्ष ज्ञान होता है उसी का दृष्टान्त देते हैं। देखो कि जिसका साक्षात् अनुभव होता है उसी का ज्ञान में संस्कार होता है, संस्कार से स्मरण, स्मरण से इष्ट में प्रवृत्ति और अनिष्ट से निवृत्ति होती है अन्यथा नहीं। जो संस्कृत भाषा को पढ़ता है उसके मन में उसी का संस्कार होता है अन्य भाषा का नहीं और जो किसी देशभाषा को पढ़ता है उसको देशभाषा का संस्कार होता है अन्य का नहीं। इसी प्रकार जो वेदों का उपदेश ईश्वर न करता तो किसी मनुष्य को विद्या का संस्कार नहीं होता, जब विद्या का संस्कार न होता तो उसका स्मरण भी नहीं होता, स्मरण से विना किसी मनुष्य को विद्या का लेश भी न हो सकता। इस युक्ति से क्या जाना जाता है कि ईश्वर के उपदेश से वेदों को सुन के पढ़ के और विचार के ही मनुष्यों को विद्या का संस्कार आज पर्यन्त होता चला आया है अन्यथा कभी नहीं हो सकता।

किं च भोः, मनुष्याणां स्वाभाविकी या प्रवृत्तिर्भवति, तत्र सुखदुःखानुभवश्च, तयोत्तरोत्तरकाले क्रमानुक्रमाद्विद्यावृद्धिर्भविष्यत्येव, पुनः किमर्थमीश्वराद्वेदोत्पत्तेः स्वीकार इति ?। एवं प्राप्ते ब्रूमः : एतद्वेदोत्पत्तिप्रकरणे परिहृतम्। तत्रैष निर्णयः, यथानेदानीमन्येभ्यः पठनेन विना कश्चिदपि विद्वान् भवति तस्य ज्ञानोन्नतिश्च, तथा नैवेश्वरोपदेशागमेन विना कस्यापि विद्याज्ञानोन्नतिर्भवेत्। अशिक्षितबालकवनस्थवत्। यथोपदेशमन्तरा न बालकानां वनस्थानां च विद्यामनुष्यभाषाविज्ञाने अपि भवतः पुनर्विद्योत्पत्तेस्तु का कथा। तस्मादीश्वरादेव या वेदविद्याऽऽगता सा नित्यैवास्ति, तस्य सत्यगुणवत्त्वात्। यन्नित्यं वस्तु वर्त्तते तस्य नामगुणकर्माण्यपि नित्यानि भवन्ति, तदाधारस्य

नित्यत्वात् । नैवाधिष्ठानमन्तरा नामगुणकर्मादयो गुणाः स्थितिं लभन्ते, तेषां पराश्रितत्वात् । यन्नित्यं नास्ति न तस्यैतान्यपि नित्यानि भवन्ति । नित्यं चोत्पत्तिविनाशाभ्यामितरद्भवितुमर्हति । उत्पत्तिर्हि पृथग्भूतानां द्रव्याणां या संयोगविशेषाद्भवति । तेषामुत्पन्नानां कार्य्यद्रव्याणां सति वियोगे विनाशश्च संघाताभावात् । अदर्शनं च विनाशः । ईश्वरस्यैकरसत्वान्नैव तस्य संयोगवियोगाभ्यां संस्पर्शोऽपि भवति । अत्र कणादमुनिकृतं सूत्रं प्रमाणमस्ति । सदकारणवन्नित्यम् ॥ १ ॥ वैशेषिके, अ० ४, पा० ४, सू० १ ॥ अस्यायमर्थः । यत्कार्य्यं कारणादुत्पद्य विद्यमानं भवति तदनित्यमुच्यते, तस्य प्रागुत्पत्तेरभावात् । यत्तु कस्यापि कार्य्यं नैव भवति किन्तु सदैव कारणरूपमेव तिष्ठति तन्नित्यं कथ्यते । यद्यत्संयोगजन्यं तत्तत्कर्त्रपेक्षं भवति, कर्त्तापि संयोगजन्यश्चेत्तर्हि तस्याप्यन्योन्यः कर्त्तास्तीत्यागच्छेत् । एवं पुनः पुनः प्रसङ्गादनवस्थापत्तिः । यच्च संयोगेन प्रादुर्भूतं नैव तस्य प्रकृतिपरमाण्वादीनां संयोगकरणे सामर्थ्यं भवितुमर्हति, तस्मात्तेषां सूक्ष्मत्वात् । यद्यस्मात्सूक्ष्मं तत्तस्यात्मा भवति, स्थूले सूक्ष्मस्य प्रवेशार्हत्वात्, अयोग्निवत् । यथा सूक्ष्मत्वादग्निः कठिनं स्थूलमयः प्रविश्य तस्यावयवानां पृथग्भावं करोति, तथा जलमपि पृथिव्याः सूक्ष्मत्वात्तत्कणान् प्रविश्य संयुक्तमेकं पिण्डं करोति, छिनत्ति च । तथा परमेश्वरः संयोगवियोगाभ्यां पृथग्भूतो विभुरस्त्यतो नियमेन रचनं विनाशं च कर्त्तुमर्हति, न चान्यथा । यथा संयोगवियोगान्तर्गतत्वान्नास्मदादीनां प्रकृतिपरमाण्वादीनां संयोगवियोगकरणे सामर्थ्यमस्ति । तथेश्वरेऽपि भवेत् । अन्यच्च । यतः संयोगवियोगारम्भो भवति स तस्मात्पृथग्भूतोऽस्ति, तस्य संयोगवियोगारब्धस्यादिकारणत्वात् । आदिकारणस्याभावात्संयोगवियोगारम्भस्यानुत्पत्तेश्च । एवंभूतस्य सदानिर्विकारस्वरूपस्याजस्यानादेर्नित्यस्य सत्यसामर्थ्यस्येश्वरस्य सकाशाद्वेदानां प्रादुर्भावात्तस्य ज्ञाने सदैव वर्त्तमानत्वात्सत्यार्थवत्त्वं नित्यत्वं चैतेषामस्तीति सिद्धम् ।

इति वेदानां नित्यत्वविचारः

भाषार्थ

प्र०—मनुष्यों की स्वभाव से जो चेष्टा है उस में सुख और दुःख का अनुभव भी होता है, उससे उत्तर २ काल में क्रमानुसार से विद्या की वृद्धि भी अवश्य होगी, तब वेदों को भी मनुष्य लोग रच लेंगे फिर ईश्वर ने वेद रचे ऐसा क्यों मानना ?। उ०—इस का समाधान वेदोत्पत्ति के प्रकरण में कर दिया है, वहां यही निर्णय किया है कि जैसे इस समय में अन्य विद्वानों से पढ़े विना कोई भी विद्यावान् नहीं होता और इसी के विना किसी पुरुष में ज्ञान की वृद्धि भी देखने में नहीं आती वैसे ही सृष्टि के आरम्भ में ईश्वरोपदेश की प्राप्ति के विना किसी मनुष्य की विद्या और ज्ञान की बढ़ती कभी नहीं हो सकती। इस में अशिक्षित बालक और बनवासियों का दृष्टान्त दिया था कि जैसे उस बालक और वन में रहने वाले मनुष्य को यथावत् विद्या का ज्ञान नहीं होता तथा अच्छी प्रकार उपदेश के विना उनको लोकव्यवहार का भी ज्ञान नहीं होता फिर विद्या की प्राप्ति तो अत्यन्त कठिन है। इससे क्या जानना चाहिये कि परमेश्वर के उपदेश वेदविद्या आने के पश्चात् ही मनुष्यों को विद्या और ज्ञान की उन्नति करनी भी सहज हुई है, क्योंकि उसके सभी गुण सत्य हैं, इससे उसकी विद्या जो वेद है वह भी नित्य ही है। जो नित्य वस्तु है उस के नाम, गुण और कर्म भी नित्य ही होते हैं। क्योंकि उन का आधार नित्य है। और विना आधार से नाम गुण और कर्मादि स्थिर नहीं हो सकते, क्योंकि वे द्रव्यों के आश्रय सदा रहते हैं। जो अनित्य वस्तु है उस के नाम, गुण और कर्म भी अनित्य होते हैं। सो नित्य किस को कहना ? जो उत्पत्ति और विनाश से पृथक् है। तथा उत्पत्ति क्या कहाती है ? कि जो अनेक द्रव्यों के संयोग विशेष से स्थूल पदार्थ का उत्पन्न होना। और जब वे पृथक् २ होके उन द्रव्यों के वियोग से जो कारण में उन की परमाणुरूप अवस्था होती है उस को विनाश कहते हैं। और जो द्रव्य संयोग से स्थूल होते हैं वे चक्षु आदि इन्द्रियों से देखने में आते हैं, फिर उन स्थूल द्रव्यों के परमाणुओं का जब वियोग हो जाता है तब सूक्ष्म के होने से वे द्रव्य देख नहीं पड़ते इस का नाम नाश है। क्योंकि अदर्शन को

ही नाश कहते हैं। जो द्रव्य संयोग और वियोग से उत्पन्न और नष्ट होता है उसी को कार्य्य और अनित्य कहते हैं, और जो संयोग वियोग से अलग है उस की न कभी उत्पत्ति और न कभी नाश होता है। इस प्रकार का पदार्थ एक परमेश्वर और दूसरा जगत् का कारण है। क्योंकि वह सदा अखण्ड एकरस ही बना रहता है। इसी से उसको नित्य कहते हैं। इस में कणादमुनि के सूत्र का भी प्रमाण है। (सत्कार०) जो किसी का कार्य्य है कि कारण से उत्पन्न होके विद्यमान होता है उस को अनित्य कहते हैं। जैसे मट्टी से घड़ा हो के वह नष्ट भी हो जाता है इसी प्रकार परमेश्वर के सामर्थ्य कारण से सब जगत् उत्पन्न हो के विद्यमान होता है फिर प्रलय में स्थूलाकार नहीं रहता किन्तु वह कारणरूप तो सदा ही बना रहता है। इससे क्या आया कि जो विद्यमान हो और जिस का कारण कोई भी न हो अर्थात् स्वयं कारणरूप ही हो उसको नित्य कहते हैं। क्योंकि जो २ संयोग से उत्पन्न होता है सो २ बनाने वाले की अपेक्षा अवश्य रखता है। जैसे कर्म, नियम और कार्य्य ये सब कर्त्ता, नियन्ता और कारण को ही सदा जनाते हैं। और जो कोई ऐसा कहे कि कर्त्ता को भी किसी ने बनाया होगा तो उससे पूछना चाहिये उस कर्त्ता के कर्त्ता को किसने बनाया है। इसी प्रकार यह अनवस्थाप्रसंग अर्थात् मर्यादारहित होता है। जिस की मर्यादा नहीं है वह व्यवस्था के योग्य नहीं ठहर सकता। और जो संयोग से उत्पन्न होता है वह प्रकृति और परमाणु आदि के संयोग करने में समर्थ ही नहीं हो सकता। इससे क्या आया कि जो जिससे सूक्ष्म होता है वही उसका आत्मा होता है, अर्थात् स्थूल में सूक्ष्म व्यापक होता है। जैसे लोहे में अग्नि प्रविष्ट हो के उस के सब अवयवों में व्याप्त होता है और जैसे जल पृथिवी में प्रविष्ट होके उस के कणों के संयोग से पिण्डा करने में हेतु होता है तथा उस का छेदन भी करता है, वैसे ही परमेश्वर सब संयोग और वियोग से पृथक्, सब में व्यापक, प्रकृति और परमाणु आदि से भी अत्यन्त सूक्ष्म और चेतन है, इसी कारण से प्रकृति और परमाणु आदि द्रव्यों के संयोग करके जगत् को रच सकता है। जो ईश्वर उन से स्थूल होता तो उन का ग्रहण और रचन कभी नहीं कर सकता, क्योंकि जो स्थूल पदार्थ होते हैं वे सूक्ष्म पदार्थ के नियम

करने में समर्थ नहीं होते, जैसे हम लोग प्रकृति और परमाणु आदि के संयोग और वियोग करने में समर्थ नहीं हैं, क्योंकि जो संयोग वियोग के भीतर है वह उस के संयोग वियोग करने में समर्थ नहीं हो सकता, तथा जिस वस्तु से संयोग वियोग का आरम्भ होता वह वस्तु संयोग और वियोग से अलग ही होता है, क्योंकि वह संयोग और वियोग के आरम्भ के नियमों का कर्त्ता और आदिकारण होता है। तथा आदिकारण के अभाव से संयोग और वियोग का होना ही असम्भव है। इससे क्या जानना चाहिये कि जो सदा निर्विकारस्वरूप, अज, अनादि, नित्य, सत्यसामर्थ्य से युक्त और अनन्त विद्यावाला ईश्वर है उस की विद्या से वेदों के प्रकट होने और उस के ज्ञान में वेदों के सदैव वर्त्तमान रहने से वेदों को सत्यार्थयुक्त और नित्य सब मनुष्यों को मानना योग्य है। यह संक्षेप से वेदों के नित्य होने का विचार किया।

इति वेदानां नित्यत्वविचारः

अथ वेदविषयविचारः

अत्र चत्वारो वेदविषयाः सन्ति। विज्ञानकर्मोपासनाज्ञानकाण्डभेदात्। तत्रादिमो विज्ञानविषयो हि सर्वेभ्यो मुख्योऽस्ति। तस्य परमेश्वरादारभ्य तृणपर्य्यन्तपदार्थेषु साक्षाद्बोधान्वयत्वात्। तत्रापीश्वरानुभवो मुख्योऽस्ति। कुतः। अत्रैव सर्वेषां वेदानां तात्पर्यमस्तीश्वरस्य खलु सर्वेभ्यः पदार्थेभ्यः प्रधानत्वात्। अत्र प्रमाणानि। सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्। कठोपनि० वल्ली २। मं० १५॥ तस्य वाचकः प्रणवः। योगशास्त्रे, अ० १। पा० १। सू० २७॥ ओ३म् खं ब्रह्म। यजुः अ० ४०॥ ओमिति ब्रह्म। तैत्तिरीयारण्यके, प्र० ७। अनु० ८॥ तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यथा तदक्षरमधिगम्यते॥ १॥ यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्र-

१ अद्रेश्यमित्युपनिषदि पाठः॥

मवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ॥ २ ॥ मुण्डके १ । खण्डे १ । मं० ५ । ६ ॥ एषामर्थः । (सर्वे वेदाः०) यत्परमं पदं मोक्षाख्यं परब्रह्मप्राप्तिलक्षणं सर्वानन्दमयं सर्वदुःखेतरदस्ति तदेवोंकारवाच्यमस्ति । (तस्य०) तस्येश्वरस्य प्रणव ओंकारो वाचकोस्ति, वाच्यश्चेश्वरः । (ओम्०) ओमिति परमेश्वरस्य नामास्ति, तदेव परं ब्रह्म सर्वे वेदा आमनन्ति आसमन्तादभ्यस्यन्ति, मुख्यतया प्रतिपादयन्ति, (तपांसि) सत्यधर्मानुष्ठानानि तपांस्यपि तदभ्यासपराण्येव सन्ति, (यदिच्छन्तः०) ब्रह्मचर्यग्रहणमुपलक्षणार्थं ब्रह्मचर्य्यगृहस्थवानप्रस्थसंन्यासाश्रमाचरणानि सर्वाणि तदेवामनन्ति, ब्रह्मप्राप्त्यभ्यासपराणि सन्ति । यद्ब्रह्मेच्छन्तो विद्वांसस्तस्मिन्नध्यासमाना वदन्त्युपदिशन्ति च । हे नचिकेतः ! अहं यत्तो यदीदृशं पदमस्ति तदेतत्ते तुभ्यं संग्रहेण संक्षेपेण ब्रवीमि ॥ १ ॥ (तत्रापरा०) वेदेषु द्वे विद्ये वर्त्तेते अपरा परा चेति । तत्र यया पृथिवीतृणमारभ्य प्रकृतिपर्य्यन्तानां पदार्थानां ज्ञानेन यथावदुपकारग्रहणं क्रियते सा अपरोच्यते । यया चादृश्यादिविशेषणयुक्तं सर्वशक्तिमद् ब्रह्म विज्ञायते सा पराऽर्थादपरायाः सकाशादत्युत्कृष्टास्तीति वेद्यम् ।

भाषार्थ

अब वेदों के नित्यत्वविचार के उपरान्त वेदों में कौन २ विषय किस २ प्रकार के हैं इस का विचार किया जाता है । वेदों में अवयवरूप विषय तो अनेक हैं परन्तु उन में से चार मुख्य हैं (१) एक विज्ञान अर्थात् सब पदार्थों को यथार्थ जानना (२) दूसरा कर्म (३) तीसरा उपासना और (४) चौथा ज्ञान है। विज्ञान उस को कहते हैं कि जो कर्म, उपासना और ज्ञान इन तीनों से यथावत् उपयोग लेना और परमेश्वर से लेके तृणपर्य्यन्त पदार्थों का साक्षाद्बोध का होना, उन से यथावत् उपयोग का करना । इससे यह विषय इन चारों में भी प्रधान है, क्योंकि इसी में वेदों का मुख्य तात्पर्य्य है । सो भी दो प्रकार का है, एक तो परमेश्वर का यथावत् ज्ञान और उस की आज्ञा का बराबर पालन करना और दूसरा यह है कि उस के रचे हुए सब पदार्थों के गुणों को यथावत्

विचार के उनसे कार्य्य सिद्ध करना अर्थात् ईश्वर ने कौन २ पदार्थ किस किस प्रयोजन के लिये रचे हैं। और इन दोनों में से भी ईश्वर का जो प्रतिपादन है सो ही प्रधान है। इस में आगे कठवल्ली आदि के प्रमाण लिखते हैं। (सर्वे वेदाः०) परमपद अर्थात् जिसका नाम मोक्ष है, जिस में परब्रह्म को प्राप्त हो के सदा सुख में ही रहना, जो सब आनन्दों से युक्त, सब दुःखों से रहित और सर्वशक्तिमान् परब्रह्म है, जिस के नाम (ओम्) आदि हैं, उसी में सब वेदों का मुख्य तात्पर्य है। इसमें योगसूत्र का भी प्रमाण है। (तस्य०) परमेश्वर का ही ओंकार नाम है। (ओम् खं०) तथा (ओमिति०) ओम् और खं ये दोनों ब्रह्म के नाम हैं और उसी की प्राप्ति कराने में सब वेद प्रवृत्त हो रहे हैं, उस की प्राप्ति के आगे किसी पदार्थ की प्राप्ति उत्तम नहीं है, क्योंकि जगत् का वर्णन, दृष्टान्त और उपयोगादि का करना ये सब परब्रह्म को ही प्रकाशित करते हैं, तथा सत्यधर्म के अनुष्ठान जिन को तप कहते हैं वे भी परमेश्वर की ही प्राप्ति के लिये हैं, तथा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम के सत्याचरणरूप जो कर्म हैं वे भी परमेश्वर की ही प्राप्ति कराने के लिये हैं, जिस ब्रह्म की प्राप्ति की इच्छा करके विद्वान् लोग प्रयत्न और उसी का उपदेश भी करते हैं। नचिकेता और यम इन दोनों का परस्पर यह संवाद है कि हे नचिकेतः! जो अवश्य प्राप्त करने के योग्य परब्रह्म है उसी का मैं तेरे लिये संक्षेप से उपदेश करता हूं। और यहां यह भी जानना उचित है कि अलंकाररूप कथा में नचिकेता नाम से जीव और यम से अन्तर्य्यामी परमात्मा को समझना चाहिये। (तत्रापरा०) वेदों में दो विद्या हैं एक अपरा, दूसरी परा। इन में से अपरा यह है कि जिस से पृथिवी और तृण से ले के प्रकृतिपर्य्यन्त पदार्थों के गुणों के ज्ञान से ठीक २ कार्य्य सिद्ध करना होता है और दूसरी परा कि जिससे सर्वशक्तिमान् ब्रह्म की यथावत् प्राप्ति होती है। यह परा विद्या अपरा विद्या से अत्यन्त उत्तम है, क्योंकि अपरा का ही उत्तम फल पराविद्या है।

अन्यच्च। तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम् ॥ १ ॥ ऋग्वेदे। अष्टके १। अध्याये २। वर्गे ७। मन्त्रः ५ ॥

अस्यायमर्थः । यत् (विष्णोः) व्यापकस्य परमेश्वरस्य, (परमं) प्रकृष्टानन्दस्वरूपं, (पदं) पदनीयं सर्वोत्तमोपायैर्मनुष्यैः प्रापणीयं मोक्षाख्यमस्ति, तत् (सूरयः) विद्वांसः सदा सर्वेषु कालेषु पश्यन्ति, कीदृशं तत् (आततम्) आ समन्तात्ततं विस्तृतं, यद्देशकालवस्तुपरिच्छेदरहितमस्ति, अतः सर्वैः सर्वत्र तदुपलभ्यते, तस्य ब्रह्मस्वरूपस्य विभुत्वात् । कस्यां किमिव ? (दिवीव चक्षुराततम्) दिवि मार्त्तण्डप्रकाशे नेत्रदृष्टेर्व्याप्तिर्यथा भवति तथैव तत्पदं ब्रह्मापि वर्त्तते, मोक्षस्य च सर्वस्मादधिकोत्कृष्टत्वात् तदेव द्रष्टुं प्राप्तुमिच्छन्ति । अतो वेदा विशेषेण तस्यैव प्रतिपादनं कुर्वन्ति । एतद्विषयकं वेदान्तसूत्रं व्यासोप्याह । तत्तु समन्वयात् । अ० १ । पा० १ । सू० ४ । अस्यायमर्थः । तदेव ब्रह्म सर्वत्र वेदवाक्येषु समन्वितं प्रतिपादितमस्ति । क्वचित्साक्षात्क्वचित्परम्परया च । अतः परमोर्थो वेदानां ब्रह्मैवास्ति । तथा यजुर्वेदे प्रमाणम् । यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा । प्रजापतिः प्रजया सꣳरराणस्त्रीणि ज्योतीꣳषि सचते स षोडशी ॥ य० अ० ८ । मं० ३६ । एतस्यार्थः । (यस्मात्) नैव परब्रह्मणः सकाशात् (परः) उत्तमः पदार्थः (जातः) प्रादुर्भूतः प्रकटः (अन्यः) भिन्नः कश्चिदप्यस्ति, (प्रजापतिः) प्रजापतिरिति ब्रह्मणो नामास्ति प्रजापालकत्वात्, (य आविवेश भु०) यः परमेश्वरः (विश्वा) विश्वानि सर्वाणि (भुवनानि) सर्वलोकान् (आविवेश) व्याप्तवानस्ति, (सꣳरराणः) सर्वप्राणिभ्योऽत्यन्तं सुखं दत्तवान् सन् (त्रीणि ज्योतीꣳषि) त्रीण्यग्निसूर्यविद्युदाख्यानि सर्वजगत्प्रकाशकानि (प्रजया) ज्योतिषोऽन्यया सृष्ट्या सह तानि (सचते) समवेतानि करोति कृतवानस्ति, (सः) अतः स एवेश्वरः (षोडशी) येन षोडशकला जगति रचितास्ता विद्यन्ते यस्मिन्यस्य वा तस्मात्स षोडशीत्युच्यते । अतोऽयमेव परमोर्थो वेदितव्यः ॥ ओमित्येतदक्षरमिदꣳ सर्वं तस्योपव्याख्यानम् ॥ इदं माण्डूक्योपनिषद्वचनमस्ति । अस्यायमर्थः । ओमित्येतद्यस्य नामास्ति तदक्षरम् । यन्न क्षीयते कदाचिद्यच्चराचरं जगदश्नुते व्याप्नोति तद्ब्रह्मैवास्तीति विज्ञेयम् । अस्यैव सर्ववेदादिभिः शास्त्रैः सकलेन जगता वोपगतं व्याख्यानं मुख्यतया क्रियतेतोऽयं

प्रधानविषयोऽस्तीत्यवधार्य्यम् । किं च नैव प्रधानस्याग्रेऽप्रधानस्य ग्रहणं भवितुमर्हति । प्रधानाप्रधानयोः प्रधाने कार्य्यसम्प्रत्यय इति व्याकरणमहाभाष्यवचनप्रामाण्यात् । एवमेव सर्वेषां वेदानामीश्वरे मुख्येऽर्थे मुख्यतात्पर्यमस्ति । तत्प्राप्तिप्रयोजना एव सर्वे उपदेशाः सन्ति । अतस्तदुपदेशपुरःसरेणैव त्रयाणां कर्मोपासनाज्ञानकाण्डानां पारमार्थिकव्यावहारिकफलसिद्ध्ये यथायोग्योपकाराय चानुष्ठानं सर्वैर्मनुष्यैर्यथावत्कर्त्तव्यमिति ।

भाषार्थ

और भी इस विषय में ऋग्वेद का प्रमाण है कि (तद्वि०) । (विष्णुः) अर्थात् व्यापक जो परमेश्वर है उस का (परमं) अत्यन्त उत्तम आनन्दस्वरूप (पदं) जो प्राप्ति होने के योग्य अर्थात् जिस का नाम मोक्ष है उस को (सूरयः) विद्वान् लोग (सदा पश्यन्ति) सब काल में देखते हैं । वह कैसा है कि सब में व्याप्त हो रहा है और उसमें देश काल और वस्तु का भेद नहीं है अर्थात् उस देश में है और इस देश में नहीं तथा उस काल में था और इस काल में नहीं, उस वस्तु में है और इस वस्तु में नहीं, इसी कारण से वह पद सब जगह में सब को प्राप्त होता है, क्योंकि वह ब्रह्म सब ठिकाने परिपूर्ण है । इस में यह दृष्टान्त है कि (दिवीव चक्षुराततम्) जैसे सूर्य का प्रकाश आवरणरहित आकाश में व्याप्त होता है और जैसे उस प्रकाश में नेत्र की दृष्टि व्याप्त होती है इसी प्रकार परब्रह्म पद भी स्वयंप्रकाश, सर्वत्र व्याप्तवान् हो रहा है । उस पद की प्राप्ति से कोई भी प्राप्ति उत्तम नहीं है । इसलिये चारों वेद उसी की प्राप्ति कराने के लिये विशेष करके प्रतिपादन कर रहे हैं । इस विषय में वेदान्तशास्त्र में व्यासमुनि के सूत्र का भी प्रमाण है (तत्तुसमन्वयात्) । सब वेदवाक्यों में ब्रह्म का ही विशेष करके प्रतिपादन है । कहीं २ साक्षात्रूप और कहीं २ परम्परा से । इसी कारण से वह परब्रह्म वेदों का परम अर्थ है । तथा इस विषय में यजुर्वेद का भी प्रमाण है कि (यस्मान्न जा०) । जिस परब्रह्म से (अन्यः) दूसरा कोई भी (परः) उत्तम पदार्थ (जातः) प्रकट (नास्ति) अर्थात् नहीं है, (य आविवेश भु०) जो सब विश्व अर्थात् सब जगह में व्याप्त हो रहा है,

(प्रजापतिः प्र०) वही सब जगत् का पालनकर्त्ता और अध्यक्ष है, जिस ने (त्रीणि ज्योतीꣳषि) अग्नि सूर्य और बिजुली इन तीन ज्योतियों को प्रजा के प्रकाश होने के लिये (सचते) रचके संयुक्त किया है और जिस का नाम (षोडशी) है, अर्थात् (१) ईक्षण जो यथार्थविचार (२) प्राण जो कि सब विश्व का धारण करनेवाला (३) श्रद्धा सत्य में विश्वास (४) आकाश (५) वायु (६) अग्नि (७) जल (८) पृथिवी (९) इन्द्रिय (१०) मन अर्थात् ज्ञान (११) अन्न (१२) वीर्य अर्थात् बल और पराक्रम (१३) तप अर्थात् धर्म्मानुष्ठान सत्याचार (१४) मन्त्र अर्थात् वेदविद्या (१५) कर्म अर्थात् सब चेष्टा (१६) नाम अर्थात् दृश्य और अदृश्य पदार्थों की संज्ञा, ये ही सोलह कला कहाती हैं। ये सब ईश्वर ही के बीच में हैं इससे उस को षोडशी कहते हैं। इन षोडश कलाओं का प्रतिपादन प्रश्नोपनिषद् के (६) छठे प्रश्न में लिखा है। इस से परमेश्वर ही वेदों का मुख्य अर्थ है और उससे पृथक् जो यह जगत् है सो वेदों का गौण अर्थ है। और इन दोनों में से प्रधान का ही ग्रहण होता है। इस से क्या आया कि वेदों का मुख्य तात्पर्य परमेश्वर ही के प्राप्त कराने और प्रतिपादन करने में है। उस परमेश्वर के उपदेशरूप वेदों से कर्म, उपासना और ज्ञान इन तीनों काण्डों का इस लोक और परलोक के व्यवहारों के फलों की सिद्धि और यथावत् उपकार करने के लिये सब मनुष्य इन चार विषयों के अनुष्ठानों में पुरुषार्थ करें, यही मनुष्यदेह धारण करने के फल हैं।

तत्र द्वितीयो विषयः कर्मकाण्डाख्यः, स सर्वः क्रियामयोऽस्ति। नैतेन विना विद्याभ्यासज्ञाने अपि पूर्णे भवतः। कुतः। बाह्यमानसव्यवहारयोर्बाह्याभ्यन्तरे युक्तत्वात्। स चानेकविधोऽस्ति। परन्तु तस्यापि खलु द्वौ भेदौ मुख्यौ स्तः। एकः परमपुरुषार्थसिद्ध्यर्थोऽर्थाद्य ईश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासनाज्ञापालनधर्मानुष्ठानज्ञानेन मोक्षमेव साधयितुं प्रवर्त्तते। अपरो लोकव्यवहारसिद्धये यो धर्मेणार्थकामौ निर्वर्त्तयितुं संयोज्यते। स यदा परमेश्वरस्य प्राप्तिमेव फलमुद्दिश्य क्रियते तदाऽयं श्रेष्ठफलापन्नो निष्कामसंज्ञां लभते। अस्य

खल्वनन्तसुखेन योगात् । यदाचार्थकामफलसिद्ध्यवसानो लौकिकसुखाय योज्यते तदा सोऽपरः सकाम एव भवति । अस्य जन्ममरणफलभोगेन युक्तत्वात् । स चाग्निहोत्रमारभ्याश्वमेधपर्य्यन्तेषु यज्ञेषु सुगन्धिमिष्टपुष्टरोगनाशकगुणैर्युक्तस्य सम्यक् संस्कारेण शोधितस्य द्रव्यस्य वायुवृष्टिजलशुद्धिकरणार्थमग्नौ होमः क्रियते स तद्द्वारा सर्वजगत्सुखकार्य्येव भवति । यं च भोजनाच्छादनयानकलाकौशलयंत्रसामाजिकनियमप्रयोजनसिद्ध्यर्थं विधत्ते सोधिकतया स्वसुखायैव भवति ।

भाषार्थ

उन में से दूसरा कर्मकाण्ड विषय है सो सब क्रियाप्रधान ही होता है। जिस के विना विद्याभ्यास और ज्ञान पूर्ण नहीं हो सकते । क्योंकि मन का योग बाहर की क्रिया और भीतर के व्यवहार में सदा रहता है । वह अनेक प्रकार का है परन्तु उस के दो भेद मुख्य हैं । एक परमार्थ, दूसरा लोकव्यवहार अर्थात् पहिले से परमार्थ और दूसरे से लोकव्यवहार की सिद्धि करनी होती है । प्रथम जो परमपुरुषार्थरूप कहा उस में परमेश्वर की (स्तुति) अर्थात् उसके सर्वशक्तिमत्वादि गुणों का कीर्त्तन, उपदेश और श्रवण करना, (प्रार्थना) अर्थात् जिस करके ईश्वर से सहायता की इच्छा करनी, (उपासना) अर्थात् ईश्वर के स्वरूप में मग्न होके उसकी सत्यभाषणादि आज्ञा का यथावत् पालन करना, सो उपासना वेद और पातञ्जलयोगशास्त्र की रीति से ही करनी चाहिये । तथा धर्म का स्वरूप न्यायाचरण है । न्यायाचरण उस को कहते हैं जो पक्षपात को छोड़ के सब प्रकार से सत्य का ग्रहण और असत्य का परित्याग करना । इसी धर्म का जो ज्ञान और अनुष्ठान का यथावत् करना है सो ही कर्मकाण्ड का प्रधान भाग है और दूसरा यह है कि जिससे पूर्वोक्त अर्थ, काम और उनकी सिद्धि करनेवाले साधनों की प्राप्ति होती है । सो इस भेद को इस प्रकार से जानना कि जब मोक्ष अर्थात् सब दुःखों से छूट के केवल परमेश्वर की ही प्राप्ति के लिये धर्म से युक्त सब कर्मों का यथावत् करना यही निष्काम मार्ग कहाता है. क्योंकि इस में संसार के भोगों की

कामना नहीं की जाती। इसी कारण से इस का फल अक्षय है। और जिस में संसार के भोगों की इच्छा से धर्मयुक्त काम किये जाते हैं उसको सकाम कहते हैं। इस हेतु से इस का फल नाशवान् होता है, क्योंकि सब कर्मों करके इन्द्रिय भोगों को प्राप्त हो के जन्म मरण से नहीं छूट सकता। सो अग्निहोत्र से लेके अश्वमेधपर्यन्त जो कर्मकाण्ड है उसमें चार प्रकार के द्रव्यों का होम करना होता है। एक सुगन्धगुणयुक्त जो कस्तूरी केशरादि हैं, दूसरा मिष्टगुणयुक्त जो कि गुड़ और सहत आदि कहाते हैं, तीसरा पुष्टिकारकगुणयुक्त जो घृत, दुग्ध और अन्न आदि हैं और चौथा रोगनाशकगुणयुक्त जो कि सोमलतादि ओषधि आदि हैं। इन चारों का परस्पर शोधन, संस्कार और यथायोग्य मिला के अग्नि में युक्तिपूर्वक जो होम किया जाता है वह वायु और वृष्टिजल की शुद्धि करनेवाला होता है। इस से सब जगत् को सुख होता है। और जिस को भोजन, छादन, विमानादि यान, कलाकुशलता, यन्त्र और सामाजिक नियम होने के लिये करते हैं वह अधिकांश से कर्त्ता को ही सुख देने वाला होता है।

अत्र पूर्वमीमांसायाः प्रमाणम्। द्रव्यसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात्फलश्रुतिरर्थवादः स्यात्॥ अ० ४। पा० ३। सू० १॥ द्रव्याणां तु क्रियार्थानां संस्कारः क्रतुधर्मः स्यात्॥ अ० ४। पा० ३। सू० ८॥ अनयोरर्थः। द्रव्यं संस्कारः कर्म चैतत्त्रयं यज्ञकर्त्रा कर्त्तव्यम्। द्रव्याणि पूर्वोक्तानि चतुःसंख्याकानि सुगन्धादिगुणयुक्तान्येव गृहीत्वा तेषां परस्परमुत्तमोत्तमगुणसंपादनार्थं संस्कारः कर्त्तव्यः। यथा सूपादीनां संस्कारार्थं सुगन्धयुक्तं घृतं चमसे संस्थाप्याग्नौ प्रतप्य सधूमे जाते सति तं सूपपात्रे प्रवेश्य तन्मुखं बद्ध्वा प्रचालयेच्च तदा यः पूर्वं धूमवद्बाष्प उत्थितः स सर्वः सुगन्धो हि जलं भूत्वा प्रविष्टः सन्सर्वं सूपं सुगन्धमेव करोति तेन पुष्टिरुचिकरश्च भवति। तथैव यज्ञाद्यो बाष्पो जायते स वायुं वृष्टिजलं च निर्दोषं कृत्वा सर्वजगते सुखायैव भवति। अतश्चोक्तम्। यज्ञोपि तस्यै जनतायै कल्पते यत्रैवं विद्वान् होता भवति॥ ऐ० ब्रा० मं० १। अ० २॥ जनानां समूहो जनता तत्सुखायैव यज्ञो भवति यस्मिन्यज्ञेऽमुना प्रकारेण विद्वान् संस्कृतद्रव्याणामग्नौ

होमं करोति । कुतः । तस्य परार्थत्वात् । यज्ञः परोपकारायैव भवति । अतएव फलस्य श्रुतिः श्रवणमर्थवादोऽनर्थवारणाय भवति । तथैव होमक्रियार्थानां द्रव्याणां पुरुषाणां च यः संस्कारो भवति स एव क्रतुधर्मो बोध्यः। एवं क्रतुना यज्ञेन धर्मो जायते नान्यथेति ।

भाषार्थ

इस में पूर्वमीमांसा धर्मशास्त्र की भी सम्मति है (द्रव्य०)। एक तो द्रव्य, दूसरा संस्कार और तीसरा उन का यथावत् उपयोग करना ये तीनों बात यज्ञ के कर्त्ता को अवश्य करना चाहिये । सो पूर्वोक्त सुगन्धादियुक्त चार प्रकार के द्रव्यों का अच्छी प्रकार संस्कार करके अग्नि में होम करने से जगत् का अत्यन्त उपकार होता है । जैसे दाल और शाक आदि में सुगन्धद्रव्य और घी इन दोनों को चमचे में अग्नि पर तपा के उन में छौंक देने से वे सुगन्धित हो जाते हैं, क्योंकि उस सुगन्ध द्रव्य और घी के अणु उन को सुगन्धित करके दाल आदि पदार्थों को पुष्टि और रुचि बढ़ाने वाले कर देते हैं, वैसे ही यज्ञ से जो भाफ उठता है वह भी वायु और वृष्टि के जल को निर्दोष और सुगन्धित करके सब जगत् को सुख करता है । इससे वह यज्ञ परोपकार के लिये ही होता है । इसमें ऐतरेय ब्राह्मण का प्रमाण है कि (यज्ञोपि त०) । अर्थात् जनता नाम जो मनुष्यों का समूह है उसी के सुख के लिये यज्ञ होता है और संस्कार किये द्रव्यों का होम करने वाला जो विद्वान् मनुष्य है वह भी आनन्द को प्राप्त होता है, क्योंकि जो मनुष्य जगत् का जितना उपकार करेगा उसको उतना ही ईश्वर की व्यवस्था से सुख प्राप्त होगा । इसलिये यज्ञ का अर्थवाद * यह है कि अनर्थ दोषों को हटा के जगत् में आनन्द को बढ़ाता है । परन्तु होम के द्रव्यों का उत्तम संस्कार और होम के करने वाले मनुष्यों को होम करने की श्रेष्ठ विद्या अवश्य होनी चाहिये । सो इसी प्रकार के यज्ञ करने से सबको उत्तम फल प्राप्त होता है, विशेष करके यज्ञकर्त्ता को, अन्यथा नहीं ।

* इस शब्द का अर्थ आगे वेदसंज्ञा प्रकरण में लिखा जायगा ।

अत्र प्रमाणम् । अग्नेर्वै धूमो जायते धूमादभ्रमभ्राद्वृष्टिरग्नेर्वा एता जायन्ते तस्मादाह तपोजा इति ॥ श० कां० ५ । अ० ३ ॥ अस्यायमभिप्रायः । अग्नेः सकाशाद्धूमबाष्पौ जायेते यदाऽयमग्निर्वृक्षौषधिवनस्पतिजलादिपदार्थान्प्रविश्य तान्संहतान् विभिद्य तेभ्यो रसं च पृथक् करोति । पुनस्ते लघुत्वमापन्ना वाय्वाधारेणोपर्य्याकाशं गच्छन्ति । तत्र यावान् जलरसांशस्तावतो बाष्पसंज्ञास्ति । यश्च निःस्नेहो भागः स पृथिव्यंशोस्ति । अत एवोभयभागयुक्तो धूमइत्युपचर्य्यते । पुनर्धूमगमनानन्तरमाकाशे जलसंचयो भवति । तस्मादभ्रं घना जायन्ते । तेभ्यो वायुदलेभ्यो वृष्टिर्जायते । अतोऽग्नेरेवैता यवादय ओषधयो जायन्ते ताभ्योऽन्नमन्नाद्वीर्यं वीर्य्याच्छरीराणि भवन्तीति ।

भाषार्थ

इस में शतपथ ब्राह्मण का भी प्रमाण है, कि (अग्ने०) । जो होम करने के द्रव्य अग्नि में डाले जाते हैं उन से धुआं और भाफ उत्पन्न होते हैं, क्योंकि अग्नि का यही स्वभाव है कि पदार्थों में प्रवेश करके उन को भिन्न २ कर देता है, फिर वे हलके होके वायु के साथ ऊपर आकाश में चढ़ जाते हैं, उन में जितना जल का अंश है वह भाफ कहाता है और जो शुष्क है वह पृथ्वी का भाग है, इन दोनों के योग का नाम धूम है । जब वे परमाणु मेघमण्डल में वायु के आधार से रहते हैं फिर वे परस्पर मिल के बादल होके उन से वृष्टि, वृष्टि से ओषधि, ओषधियों से अन्न, अन्न से धातु, धातुओं से शरीर और शरीर से कर्म बनता है ।

अत्र विषये तैत्तिरीयोपनिषद्यप्युक्तम् । तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः आकाशाद्वायुः वायोरग्निः अग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवी पृथिव्या ओषधयः ओषधिभ्योऽन्नं अन्नाद्रेतः रेतसः पुरुषः स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः । आनन्दवल्ल्याः * प्रथमेनुवाके ॥ स तपोतप्यत् तपस्तप्त्वा अन्नं ब्रह्मेति विजानात् † । अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते अन्नेन जातानि

* ब्रह्मवल्ल्यामेषपाठः, † उपनिषदि व्यजानदिति पाठः ॥

जीवन्ति अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्ती,ति भृगुवल्ल्यां द्वितीयेऽनुवाके । अन्नं ब्रह्मेत्युच्यते जीवनस्य बृहद्धेतुत्वात् । शुद्धान्नजलवाय्वादिद्वारैव प्राणिनां सुखं भवति नातोन्यथेति ।

भाषार्थ

इस विषय में तैत्तिरीय उपनिषद् का भी प्रमाण है कि (तस्माद्वा०) । परमात्मा के अनन्त सामर्थ्य से आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी आदि तत्व उत्पन्न हुए हैं और उन में ही पूर्वोक्त क्रम के अनुसार शरीर आदि उत्पत्ति, जीवन और प्रलय को प्राप्त होते हैं । यहां ब्रह्म का नाम अन्न और अन्न का नाम ब्रह्म भी है, क्योंकि जिस का जो कार्य है वह उसी में मिलता है । वैसे ही ईश्वर के सामर्थ्य से जगत् की तीनों अवस्था होती हैं और सब जीवों के जीवन का मुख्य साधन है इस से अन्न को ब्रह्म कहते हैं । जब होम से वायु, जल और ओषधि आदि शुद्ध होते हैं तब सब जगत् को सुख और अशुद्ध होने से सब को दुःख होता है इस से इन की शुद्धि अवश्य करनी चाहिये ।

तत्र द्विविधः प्रयत्नोस्तीश्वरकृतो जीवकृतश्च । ईश्वरेण खल्वग्निमयः सूर्य्यो निर्मितः सुगन्धपुष्पादिश्च । स निरन्तरं सर्वस्माज्जगतो रसाऽऽकर्षति । तस्य सुगन्धदुर्गन्धाणुसंयोगत्वेन तज्जलवायू अपीष्टानिष्टगुणयोगान्मध्यगुणौ भवतस्तयोः सुगन्धदुर्गन्धामिश्रितत्वात् । तज्जलवृष्ट्याोषध्यन्नरेतःशरीराण्यपि मध्यमान्येव भवन्ति । तन्मध्यमत्वाद्बलबुद्धिवीर्य्यपराक्रमधैर्य्यशौर्य्यादयोपि गुणा मध्यमा एव जायन्ते । कुतः । यस्य यादृशं कारणमस्ति तस्य तादृशमेव कार्य्यं भवतीति दर्शनात् । अयं खल्वीश्वरसृष्टेर्दोषो नास्ति । कुतः । दुर्गन्धादिविकारस्य मनुष्यसृष्ट्यन्तर्भावात् । यतो दुर्गन्धादिविकारस्योत्पत्तिर्मनुष्यादिभ्य एव भवति तस्मादस्य निवारणमपि मनुष्यैरेव करणीयमिति । यथेश्वरेणाज्ञा दत्ता सत्यभाषणमेव कर्त्तव्यं नानृतमिति यस्तामुल्लङ्घ्य प्रवर्त्तते स पापीयान्भूत्वा क्लेशं चेश्वरव्यवस्थया प्राप्नोति । तथा यज्ञः कर्त्तव्य इतीयमप्याज्ञा तेनैव दत्तास्ति तामपि य उल्लङ्घयति सोपि पापीयान्सन् क्लेशवांश्च भवति ।

भावार्थ

सो उन की शुद्धि करने में दो प्रकार का प्रयत्न है। एक तो ईश्वर का किया हुआ और दूसरा जीव का। उन में से ईश्वर का किया यह है कि उस ने अग्निरूप सूर्य और सुगन्धरूप पुष्पादि पदार्थों को उत्पन्न किया है। वह सूर्य निरन्तर सब जगत् के रसों को पूर्वोक्त प्रकार से ऊपर खैंचता है और जो पुष्पादि का सुगन्ध है वह भी दुर्गन्ध को निवारण करता रहता है। परन्तु वे परमाणु सुगन्ध और दुर्गन्ध युक्त होने से जल और वायु को भी मध्यम कर देते हैं। उस जल की वृष्टि से ओषधि, अन्न, वीर्य और शरीर आदि भी मध्यम गुणवाले हो जाते हैं और उन के योग से बुद्धि, बल, पराक्रम, धैर्य और शूरवीरतादि गुण भी निकृष्ट ही होते हैं। क्योंकि जिस का जैसा कारण होता है उस का वैसा ही कार्य होता है। यह दुर्गन्ध से वायु और वृष्टि जल का दोषयुक्त होना सर्वत्र देखने में आता है। सो यह दोष ईश्वर की सृष्टि से नहीं किन्तु मनुष्यों ही की सृष्टि से होता है। इस कारण से उसका निवारण करना भी मनुष्यों ही को उचित है। जैसे ईश्वर ने सत्यभाषणादि धर्मव्यवहार करने की आज्ञा दी है मिथ्याभाषणादि की नहीं, जो इस आज्ञा से उलटा काम करता है वह अत्यन्त पापी होता है, और ईश्वर की न्यायव्यवस्था से उसको क्लेश भी होता है, वैसे ही ईश्वर ने मनुष्यों को यज्ञ करने की आज्ञा दी है इसको जो नहीं करता वह भी पापी हो के दुःख का भागी होता है।

कुतः। सर्वोपकाराकरणात्। यत्र खलु यावान्मनुष्यादिप्राणिसमुदायो भवति तत्र तावानेव दुर्गन्धसमुदायो जायते। न चैवायमीश्वरसृष्टिनिमित्तो भवितुमर्हति। कुतः। तस्य मनुष्यादिप्राणिसमुदायनिमित्तोत्पन्नत्वात्। यत्तु खलु मनुष्याः स्वसुखार्थं हस्त्यादिप्राणिनामेकत्र बाहुल्यं कुर्वन्ति, अतस्तज्जन्योऽप्यधिको दुर्गन्धो मनुष्यसुखेच्छानिमित्त एव जायते। एवं वायुवृष्टिजलदूषकः सर्वो दुर्गन्धो मनुष्यनिमित्तादेवोत्पद्यतेऽतस्तस्य निवारणमपि मनुष्या एव कर्त्तुमर्हन्ति।

भाषार्थ

क्योंकि सब के उपकार करने वाले यज्ञ को नहीं करने से मनुष्यों को दोष लगता है। जहां जितने मनुष्य आदि के समुदाय अधिक होते हैं वहां उतना ही दुर्गन्ध भी अधिक होता है। वह ईश्वर की सृष्टि से नहीं, किन्तु मनुष्यादि प्राणियों के निमित्त से ही उत्पन्न होता है, क्योंकि हस्ति आदि के समुदायों को मनुष्य अपने ही सुख के लिये इकट्ठा करते हैं, इससे उन पशुओं से भी जो अधिक दुर्गन्ध उत्पन्न होता है सो मनुष्यों के ही सुख की इच्छा से होता है, इससे क्या आया कि जब वायु और वृष्टिजल को बिगाड़ने वाला सब दुर्गन्ध मनुष्यों के ही निमित्त से उत्पन्न होता है तो उस का निवारण करना भी उन को ही योग्य है।

तेषां मध्यान्मनुष्या एवोपकारानुपकारौ वेदितुमर्हाः सन्ति। मननं विचारस्तद्योगादेव मनुष्यत्वं जायते। परमेश्वरेण हि सर्वदेहधारिप्राणिनां मध्ये मनस्विनो विज्ञानं कर्तुं योग्या मनुष्या एव सृष्टास्तद्देहेषु परमाणुसंयोगविशेषेण विज्ञानभवनानुकूलानामवयवानामुत्पादितत्वात्। अतस्त एव धर्माधर्मयोर्ज्ञानमनुष्ठानाननुष्ठाने च कर्तुमर्हन्ति न चान्ये। अस्मात्कारणात्सर्वोपकाराय सर्वैर्मनुष्यैर्यज्ञः कर्त्तव्य एव।

भाषार्थ

क्योंकि जितने प्राणी देहधारी जगत् में हैं उन में से मनुष्य ही उत्तम हैं इस से वे ही उपकार और अनुपकार को जानने को योग्य हैं। मनन नाम विचार का है, जिस के होने से ही मनुष्य नाम होता है, अन्यथा नहीं, क्योंकि ईश्वर ने मनुष्य के शरीर में परमाणु आदि के संयोगविशेष इस प्रकार के रचे हैं कि जिन से उन को ज्ञान की उन्नति होती है, इसी कारण से धर्म का अनुष्ठान और अधर्म का त्याग करने को भी वे ही योग्य होते हैं, अन्य नहीं। इससे सब के उपकार के लिये यज्ञ का अनुष्ठान भी उन्हीं को करना उचित है।

किंच भोः कस्तूर्य्यादीनां सुरभियुक्तानां द्रव्याणामग्नौ प्रक्षेपणेन विनाशात्कथमुपकाराय यज्ञो भवितुमर्हतीति । किन्त्वीदृशैरुत्तमैः पदार्थैर्मनुष्यादिभ्यो भोजनादिदानेनोपकारे कृते होमादप्युत्तमं फलं जायते पुनः किमर्थं यज्ञकरणमिति ? अत्रोच्यते । नात्यन्तो विनाशः कस्यापि संभवति । विनाशो हि यद्दृश्यं भूत्वा पुनर्न दृश्येतेति विज्ञायते । परन्तु दर्शनं त्वया कतिविधं स्वीक्रियते ? । अष्टविधं चेति । किंच तत् ? । अत्राहुर्गोतमाचार्य्या न्यायशास्त्रे । इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारिव्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् ॥ १ ॥ अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतोदृष्टं च ॥ २ ॥ प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानम् ॥ ३ ॥ आप्तोपदेशः शब्दः ॥ ४ ॥ अ० १ । आह्निकम् १ । सू० ४ । ५ । ६ । ७ ॥ प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दैतिह्यार्थापत्तिसम्भवाभावसाधनभेदादष्टधाप्रमाणं मया मन्यत इति । तत्र यदिन्द्रियार्थसम्बन्धात्सत्यमव्यभिचारिज्ञानमुत्पद्यते तत्प्रत्यक्षम् । सन्निकटे दर्शनान्मनुष्योयं नान्य इत्याद्युदाहरणम् ॥ १ ॥ यत्र लिङ्गज्ञानेन लिङ्गिनो ज्ञानं जायते तदनुमानम् । पुत्रं दृष्ट्वाऽऽसीदस्य पितेत्याद्युदाहरणम् ॥ २ ॥ उपमानं सादृश्यज्ञानं यथा देवदत्तोस्ति तथैव यज्ञदत्तोप्यस्तीति साधर्म्यादुपदिशतीत्याद्युदाहरणम् ॥ ३ ॥ शब्द्यते प्रत्याय्यते दृष्टोऽदृष्टश्चार्थो येन स शब्दः । ज्ञानेन मोक्षो भवतीत्याद्युदाहरणम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ

प्र०—सुगन्धयुक्त जो कस्तूरी आदि पदार्थ हैं उन को अन्य द्रव्यों में मिला के अग्नि में डालने से उनका नाश होजाता है फिर यज्ञ से किसी प्रकार का उपकार नहीं हो सकता किन्तु ऐसे उत्तम २ पदार्थ मनुष्यों को भोजनादि के लिये देने से होम से भी अधिक उपकार हो सकता है फिर यज्ञ करना किसलिये चाहिये ? उ०— किसी पदार्थ का विनाश नहीं होता केवल वियोगमात्र होता है, परन्तु यह तो कहिये कि आप विनाश किसको कहते हैं ? उ०—जो स्थूल होके प्रथम देखने में आकर फिर न देख पड़े उसको हम विनाश कहते हैं । प्र०—आप कितने प्रकार का दर्शन मानते हैं ? उ०—आठ प्रकार का ।

प्र०—कौन २ से ? उ०—प्रत्यक्ष १, अनुमान २, उपमान ३, शब्द ४, ऐतिह्य ५, अर्थापत्ति ६, सम्भव ७ और अभाव ८, इस भेद से हम आठ प्रकार का दर्शन मानते हैं। (इन्द्रियार्थ०) इन में से प्रत्यक्ष उसको कहते हैं कि जो चक्षु आदि इन्द्रिय और रूप आदि विषयों के सम्बन्ध से सत्यज्ञान उत्पन्न हो, जैसे दूर से देखने में संदेह हुआ कि वह मनुष्य है वा कुछ और फिर उस के समीप होने से निश्चय होता है कि यह मनुष्य ही है अन्य नहीं इत्यादि प्रत्यक्ष के उदाहरण हैं ॥ १ ॥ (अथ तत्पू०) और जो किसी पदार्थ के चिह्न देखने से उसी पदार्थ का यथावत् ज्ञान हो वह अनुमान कहाता है, जैसे किसी के पुत्र को देखने से ज्ञान होता है कि इस के माता पिता आदि हैं वा अवश्य थे इत्यादि उसके उदाहरण हैं ॥ २ ॥ (प्रसिद्ध०) तीसरा उपमान कि जिससे किसी का तुल्य धर्म देख के समान धर्मवाले का ज्ञान हो, जैसे किसी ने किसी से कहा कि जिस प्रकार का यह देवदत्त है उसी प्रकार का वह यज्ञदत्त भी है, उस के पास जाके इस काम को कर ला, इस प्रकार के तुल्य धर्म से जो ज्ञान होता है उसको उपमान कहते हैं ॥ ३ ॥ (आप्तोप०) चौथा शब्दप्रमाण है कि जो प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष अर्थ का निश्चय करानेवाला है, जैसे ज्ञान से मोक्ष होता है यह आप्तों के उपदेश शब्दप्रमाण का उदाहरण है ॥ ४ ॥

न चतुष्ट्वमैतिह्यार्थापत्तिसम्भवाभावप्रामाण्यात् ॥५॥ शब्द ऐतिह्यानर्थान्तरभावादनुमानेऽर्थापत्तिसम्भवाभावानर्थान्तरभावाच्चाप्रतिषेधः ॥६॥ अ० २। आ० २। सू० १। २॥ न चतुष्ट्वमिति सूत्रद्वयस्य संक्षिप्तोऽर्थः क्रियते। (ऐतिह्यं) शब्दोपगतमाप्तोपदिष्टं ग्राह्यम्। देवासुराः संयत्ता आसन्नित्यादि ॥ ५ ॥ (अर्थापत्तिः) अर्थादापद्यते सार्थापत्तिः, केनचिदुक्तं सत्सु घनेषु वृष्टिर्भवतीति। किमत्र प्रसज्यते ? असत्सु घनेषु न भवतीत्याद्युदाहरणम् ॥ ६ ॥ (सम्भवः) सम्भवति येन यस्मिन्वा स सम्भवः, केनचिदुक्तं मातापितृभ्यां सन्तानं जायते, सम्भवोऽस्तीति वाच्यम्। परन्तु कश्चिद्ब्रूयात्कुम्भकरणस्य क्रोशचतुष्टयपर्यन्तं श्मश्रुणः केशा ऊर्ध्वं स्थिता आसन्, षोडशक्रोशमूर्ध्वं नासिका चासम्भवत्वान्मिथ्यैवास्तीति विज्ञायते,

इत्याद्युदाहरणम् ॥ ७ ॥ (अभावः) कोपि ब्रूयाद् घटमानयेति स तत्र घटमपश्यन्नत्र घटो नास्तीत्यभावलक्षणेन यत्र घटो वर्त्तमानस्तस्मादानीयते ॥ ८ ॥ इति प्रत्यक्षादीनां संक्षेपतोर्थः । एवमष्टविधं दर्शनमर्थाज्ज्ञानं मया मन्यते । सत्यमेवमेतत् । नैवमङ्गीकारेण विना समग्रौ व्यवहारपरमार्थौ कस्यापि सिध्येताम् ।

भाषार्थ

(ऐतिह्यम्) सत्यवादी विद्वानों के कहे वा लिखे उपदेश का नाम इतिहास है, जैसा देव और असुर युद्ध करने के लिये तत्पर हुए थे । जो यह इतिहास ऐतरेय, शतपथ ब्राह्मणादि सत्य ग्रन्थों में लिखा है उसी का ग्रहण होता है, अन्य का नहीं । यह पांचवां प्रमाण है ॥ ५ ॥ और छठा (अर्थापत्तिः), जो एक बात किसी ने कही हो उस से विरुद्ध दूसरी बात समझी जावे, जैसे किसी ने कहा कि बादलों के होने से वृष्टि होती है दूसरे ने इतने ही कहने से जान लिया कि बादलों के विना वृष्टि कभी नहीं हो सकती, इस प्रकार के प्रमाण से जो ज्ञान होता है उस को अर्थापत्ति कहते हैं ॥ ६ ॥ सातवां (संभवः), जैसे किसी ने किसी से कहा कि माता पिता से सन्तानों की उत्पत्ति होती है तो दूसरा मान ले कि इस बात का तो संभव है, परन्तु जो कोई ऐसा कहे कि रावण के भाई कुम्भकरण की मूंछ चार कोश तक आकाश में ऊपर खड़ी रहती थी और उस की नाक (१६) सोलह कोश पर्यन्त लम्बी चौड़ी थी उस की यह बात मिथ्या समझी जायगी, क्योंकि ऐसी बात का संभव कभी नहीं हो सकता ॥ ७ ॥ और आठवां (अभावः), जैसे किसी ने किसी से कहा कि तुम घड़ा ले आओ और जब उसने वहां नहीं पाया तब वह जहां पर घड़ा था वहां से ले आया ॥ ८ ॥ इन आठ प्रकार के प्रमाणों को मैं मानता हूं । यहां इस आठों का अर्थ संक्षेप से किया है * । उ०—यह बात सत्य है कि इन के विना माने सम्पूर्ण व्यवहार और परमार्थ किसी का सिद्ध नहीं हो सकता । इस से इन आठों को हम लोग भी मानते हैं ।

* कहीं २ शब्द में ऐतिह्य और अनुमान में अर्थापत्ति, संभव और अभाव को मानने से ४ (चार) प्रमाण रहते हैं ।

यथा कश्चिदेकं मृत्पिण्डं विशेषतश्चूर्णीकृत्य वेगयुक्ते वायौ बाहुवेगेनाकाशं प्रतिक्षिपेत्तस्य नाशो भवतीत्युपचर्य्यते । चक्षुषा दर्शनाभावात् । (णश्) अदर्शने अस्माद् घञ्प्रत्यये कृते नाश इति शब्दः सिध्यति । अतो नाशो बाह्येन्द्रियाऽदर्शनमेव भवितुमर्हति । किंच यदा परमाणवः पृथक् २ भवन्ति तदा ते चक्षुषा नैव दृश्यन्ते तेषामतीन्द्रियत्वात् । यदा चैते मिलित्वा स्थूलभावमापद्यन्ते तदैव तद्द्रव्यं दृष्टिपथमागच्छति, स्थूलस्यैन्द्रियकत्वात् । यद्द्रव्यं विभक्तं विभक्तमन्ते विभागानर्हं भवति तस्य परमाणुसंज्ञा चेति व्यवहारः, ते हि विभक्ता अतीन्द्रियाः सन्त आकाशे वर्त्तन्त एव ।

भाषार्थ

नाश को समझने के लिये यह दृष्टान्त है कि कोई मनुष्य मट्टी के ढेले को पीस के वायु के बीच में बल से फेंक दे फिर जैसे वे छोटे २ कण आंख से नहीं दीखते, क्योंकि (णश्) धातु का अदर्शन ही अर्थ है, जब अणु अलग २ हो जाते हैं तब वे देखने में नहीं आते, इसी का नाम नाश है । और जब परमाणु के संयोग से स्थूल द्रव्य अर्थात् बड़ा होता है तब वह देखन में आता है । और परमाणु इसको कहते हैं कि जिसका विभाग फिर कभी न होसके । परन्तु यह बात केवल एकदेशी है, क्योंकि उसका भी ज्ञान से विभाग हो सकता है । जिसकी परिधि और व्यास बन सकता है उसका भी टुकड़ा हो सकता है । यहांतक कि जब पर्य्यन्त वह एकरस न हो जाय तब पर्य्यन्त ज्ञान से बराबर कटता ही चला जायगा ।

तथैवाग्नौ यद्द्रव्यं प्रक्षिप्यते तद्विभागं प्राप्य देशान्तरे वर्त्तत एव, न हि तस्याभावः कदाचिद्भवति । एवं यद्दुर्गन्धादिदोषनिवारकं सुगन्धादि द्रव्यमस्ति तच्चाग्नौ हुतं सद्वायोर्वृष्टिजलस्य शुद्धिकरं भवति । तस्मिन्निर्दोषे सति सृष्टये महान्ह्युपकारो भवति सुखं चातःकारणाद्यज्ञः कर्त्तव्य एवेति । किंच भोः । वायुवृष्टिजलशुद्धिकरणमेव यज्ञस्य प्रयोजनमस्ति चेत्तर्हि गृहाणां

मध्ये सुगन्धद्रव्यरक्षणेनतत्सेत्स्यति पुनः किमर्थमेतावानाडम्बरः ? । नैवं शक्यम् । नैव तेनाशुद्धो वायुः सूक्ष्मो भूत्वाऽऽकाशं गच्छति, तस्य पृथक्त्वलघुत्वाभावात् । तत्र तस्य स्थितौ सत्यां नैव बाह्यो वायुरागन्तुं शक्नोत्यवकाशाभावात् । तत्र पुनः सुगन्धदुर्गन्धयुक्तस्य वायोर्वर्त्तमानत्वादारोग्यादिकं फलमपि भवितुमशक्यमेवास्ति ।

भाषार्थ

वैसे ही जो सुगन्ध आदि युक्त द्रव्य अग्नि में डाला जाता है उसके अणु अलग २ हो के आकाश में रहते ही हैं, क्योंकि किसी द्रव्य का वस्तुता से अभाव नहीं होता । इस से वह द्रव्य दुर्गन्धादि दोषों का निवारण करने वाला अवश्य होता है । फिर उससे वायु और वृष्टिजल की शुद्धि के होने से जगत् का बड़ा उपकार और सुख अवश्य होता है । इस कारण से यज्ञ को करना ही चाहिये । प्र०—जो यज्ञ से वायु और वृष्टिजल की शुद्धि करनामात्र ही प्रयोजन है तो इस की सिद्धि अतर और पुष्पादि के घरों में रखने से भी हो सकती है, फिर इतना बड़ा परिश्रम यज्ञ में क्यों करना ? उ०—यह कार्य्य अन्य किसी प्रकार से सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि अतर और पुष्पादि का सुगन्ध तो उसी दुर्गन्ध वायु में मिल के रहता है, उस को छेदन करके बाहर नहीं निकाल सकता और न वह ऊपर चढ़ सकता है, क्योंकि उस में हलकापन नहीं होता । उसके उसी अवकाश में रहने से बाहर का शुद्ध वायु उस ठिकाने में जा भी नहीं सकता, क्योंकि खाली जगह के विना दूसरे का प्रवेश नहीं हो सकता, फिर सुगन्ध और दुर्गन्धयुक्त वायु के वहीं रहने से रोगनाशादि फल भी नहीं होते ।

यदा तु खलु तस्मिन् गृहेऽग्निमध्ये सुगन्ध्यादिद्रव्यस्य होमः क्रियते तदाऽग्निना पूर्वो वायुर्भेदं प्राप्य लघुत्वमापन्न उपर्य्याकाशं गच्छति । तस्मिन् गते सति तत्रावकाशत्वाच्चतसृभ्यो दिग्भ्यः शुद्धो वायुराद्रवति तेन गृहाकाशस्य पूर्णत्वादारोग्यादिकं फलमपि जायते ।

भाषार्थ

और जब अग्नि उस वायु को वहां से हलका करके निकाल देता है तब

वहां शुद्ध वायु भी प्रवेश कर सकता है । इसी कारण यह फल यज्ञ से ही हो सकता है अन्य प्रकार से नहीं । क्योंकि जो होम के परमाणुयुक्त शुद्ध वायु है सो पूर्वस्थित दुर्गन्धवायु को निकाल के उस देशस्थ वायु को शुद्ध करके रोगों का नाश करने वाला होता और मनुष्यादि सृष्टि को उत्तम सुख को प्राप्त करता है ।

यो होमेन सुगन्धयुक्तद्रव्यपरमाणुयुक्त उपरिगतो वायुर्भवति स वृष्टिजलं शुद्धं कृत्वा, वृष्ट्याधिक्यमपि करोति । तद्द्वारौषध्यादीनां शुद्धेरुत्तरोत्तरं जगति महत्सुखं वर्धत इति निश्चीयते । एतत्खल्वग्निसंयोगरहितसुगन्धेन वायुना भवितुमशक्यमस्ति । तस्माद्धोमकरणमुत्तममेव भवतीति निश्चेतव्यम् ।

भाषार्थ

जो वायु सुगन्ध्यादि द्रव्य के परमाणुओं से युक्त होमद्वारा आकाश में चढ़ के वृष्टिजल को शुद्ध कर देता और उससे वृष्टि भी अधिक होती है क्योंकि होम करके नीचे गर्मी अधिक होने से जल भी ऊपर अधिक चढ़ता है । शुद्ध जल और वायु के द्वारा अन्नादि ओषधि भी अत्यन्त शुद्ध होती हैं । ऐसे प्रतिदिन सुगन्ध के अधिक होने से जगत् में नित्यप्रति अधिक २ सुख बढ़ता है । यह फल अग्नि में होम करने के विना दूसरे प्रकार से होना असम्भव है । इससे होम का करना अवश्य है ।

अन्यच्च दूरस्थले केनचित्पुरुषेणाग्नौ सुगन्धद्रव्यस्य होमः क्रियते तद्युक्तो वायुर्दूरस्थमनुष्यस्य घ्राणेन्द्रियेण संयुक्तो भवति । सोऽत्र सुगन्धो वायुरस्तीति जानात्येव । अनेन विज्ञायते वायुना सह सुगन्धं दुर्गन्धं च द्रव्यं गच्छतीति । तद्यदा स दूरं गच्छति तदा तस्य घ्राणेन्द्रियसंयोगो न भवति पुनर्बालबुद्धीनां भ्रमो भवति स सुगन्धो नास्तीति । परन्तु तस्य हुतस्य पृथग्भूतस्य वायुस्थस्य सुगन्धयुक्तस्य द्रव्यस्य देशान्तरे वर्त्तमानत्वात्तैर्न विज्ञायते । अन्यदपि खलु होमकरणस्य बहुविधमुत्तमं फलमस्ति तद्विचारेण बुधैर्विज्ञेयमिति ।

भाषार्थ

और भी सुगन्ध के नाश नहीं होने में कारण है कि किसी पुरुष ने दूर देश में सुगन्ध चीजों का अग्नि में होम किया हो, उस सुगन्ध से युक्त जो वायु है सो होम के स्थान से दूर देश में स्थित हुए मनुष्य के नाक इन्द्रिय के साथ संयुक्त होने से उसको यह ज्ञान होता है कि यहां सुगन्ध वायु है । इससे जाना जाता है कि द्रव्य के अलग होने में भी द्रव्य का गुण द्रव्य के साथ ही बना रहता है और वह वायु के साथ सुगन्ध और दुर्गन्ध युक्त सूक्ष्म होके जाता आता है । परन्तु जब वह द्रव्य दूर चला जाता है तब उस के नाक इन्द्रिय से संयोग भी छूट जाता है, फिर बालबुद्धि मनुष्यों को ऐसा भ्रम होता है कि वह सुगन्धित द्रव्य नहीं रहा । परन्तु यह उनको अवश्य जानना चाहिये कि वह सुगन्ध द्रव्य आकाश में वायु के साथ बना ही रहता है । इन से अन्य भी होम करने के बहुतसे उत्तम फल हैं उनको बुद्धिमान् लोग विचार से जान लेंगे ।

यदि होमकरणस्यैतत्फलमस्ति तद्धोमकरणमात्रेणैव सिध्यति पुनस्तत्र वेदमन्त्राणां पाठः किमर्थः क्रियते ? । अत्र ब्रूमः । एतस्यान्यदेव फलमस्ति । किम् । यथा हस्तेन होमो, नेत्रेण दर्शनं, त्वचा स्पर्शनं च क्रियते, तथा वाचा वेदमन्त्रा अपि पठ्यन्ते । तत्पाठेनेश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासनाः क्रियन्ते । होमेन किं फलं भवतीत्यस्य ज्ञानं, तत्पाठानुवृत्त्या वेदमन्त्राणां रक्षणमीश्वरस्यास्तित्वसिद्धिश्च । अन्यच्च सर्वकर्मादावीश्वरस्य प्रार्थना कार्य्येत्युपदेशः । यज्ञे तु वेदमन्त्रोच्चारणात्सर्वत्रैव तत्प्रार्थना भवतीति वेदितव्यम् ।

भाषार्थ

प्र०—होम करने का जो प्रयोजन है सो तो केवल होम से ही सिद्ध होता है फिर वहां वेदमन्त्रों के पढ़ने का क्या काम है ? उ०—उनके पढ़ने का प्रयोजन कुछ और ही है । प्र०—वह क्या है ? उ०—जैसे हाथ से होम करते, आंख से देखते और त्वचा से स्पर्श करते हैं, वैसे ही वाणी से वेदमन्त्रों को भी पढ़ते हैं । क्योंकि उन के पढ़ने से वेदों की रक्षा, ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना

और उपासना होती है। तथा होम से जो २ फल होते हैं उनका स्मरण भी होता है। वेदमन्त्रों के वारंवार पाठ करने से वे कण्ठस्थ भी रहते हैं और ईश्वर का होना भी विदित होता है कि कोई नास्तिक न होजाय, क्योंकि ईश्वर की प्रार्थनापूर्वक ही सब कर्मों का आरम्भ करना होता है। सो वेदमन्त्रों के उच्चारण से यज्ञ में तो उसकी प्रार्थना सर्वत्र होती है। इसलिये सब उत्तम कर्म वेदमन्त्रों से ही करना उचित है।

कश्चिदत्राह वेदमन्त्रोच्चारणं विहायान्यस्य कस्यचित्पाठस्तत्र क्रियेत तदा किं दूषणमस्तीति? अत्रोच्यते। नान्यस्य पाठे कृते सत्येतत्प्रयोजनं सिध्यति। कुतः। ईश्वरोक्ताभावान्निरतिशयसत्यविरहाच्च। यद्यद्धि यत्र क्वचित्सत्यं प्रसिद्धमास्ति तत्तत्सर्वं वेदादेव प्रसृतमिति विज्ञेयम्। यद्यत्खल्वनृतं तत्तदनीश्वरोक्तं वेदाद्बहिरिति च। अत्रार्थे मनुराह। त्वमेको ह्यस्य सर्वस्य विधानस्य स्वयंभुवः। अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य कार्य्यतत्त्वार्थवित्प्रभो॥ १॥ अ० १। श्लो० ३॥ चातुर्वर्ण्यं त्रयोलोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्। भूतं भव्यं भविष्यच्च सर्वं वेदात्प्रसिध्यति॥ २॥ बिभर्त्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम्। तस्मादेतत्परं मन्ये यज्जन्तोरस्य साधनम्॥ ३॥ अ० १२। श्लो० ९७। ९९॥

भाषार्थ

प्र०—यज्ञ में वेदमन्त्रों को छोड़ के दूसरे का पाठ करे तो क्या दोष है? उ०—अन्य के पाठ में यह प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता, ईश्वर के वचन से जो सत्य प्रयोजन सिद्ध होता है सो अन्य के वचन से कभी नहीं हो सकता, क्योंकि जैसा ईश्वर का वचन सर्वथा भ्रान्तिरहित सत्य होता है वैसा अन्य का नहीं और जो कोई वेदों के अनुकूल अर्थात् आत्मा की शुद्धि, आप्त पुरुषों के ग्रन्थों का बोध और उनकी शिक्षा से वेदों को यथावत् जानके कहता है उसका भी वचन सत्य ही होता है और जो केवल अपनी बुद्धि से कहता है वह ठीक २ नहीं हो सकता। इससे यह निश्चय है कि जहां २ सत्य दीखता और सुनने में आता है, वहां २ वेदों में से ही फैला है और जो २ मिथ्या है सो २ वेद से

नहीं, किन्तु वह जीवों ही की कल्पना से प्रसिद्ध हुआ है, क्योंकि जो ईश्वरोक्त ग्रन्थ से सत्य प्रयोजन सिद्ध होता है सो दूसरे से कभी नहीं हो सकता। इस विषय में मनु का प्रमाण है कि (त्वमे०)। मनुजी से ऋषि लोग कहते हैं कि स्वयंभू जो सनातन वेद हैं जिनमें असत्य कुछ भी नहीं और जिनमें सब सत्यविद्याओं का विधान है उनके अर्थ को जाननेवाले केवल आप ही हैं॥ १॥ (चातु०) अर्थात् चार वर्ण, चार आश्रम, भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान आदि की सब विद्या वेदों से ही प्रसिद्ध होती हैं॥ २॥ क्योंकि (बिभर्त्ति०) यह जो सनातन वेद शास्त्र है सो सब विद्याओं के दान से संपूर्ण प्राणियों का धारण और सब सुखों को प्राप्त करता है, इस कारण से हम लोग उसको सर्वथा उत्तम मानते हैं और इसी प्रकार मानना भी चाहिये, क्योंकि सब जीवों के लिये सब सुखों का साधन यही है।

किं यज्ञानुष्ठानार्थं भूमिं खनित्वा वेदिः, प्रणीतादीनि पात्राणि, कुशतृणं, यज्ञशाला, ऋत्विजश्चैतत्सर्वं करणीयमस्ति?। अत्र ब्रूमः। यद्यदावश्यकं युक्तिसिद्धं तत्तत्कर्त्तव्यं, नेतरत्। तद्यथा। भूमिं खनित्वा वेदी रचनीया, तस्यां होमे कृतेऽग्नेस्तीव्रत्वाद्धुतं द्रव्यं सद्यो विभेदं प्राप्याकाशं गच्छति। तथा वेदिदृष्टान्तेन त्रिकोणचतुष्कोणगोलश्येनाद्याकारवत्करणाद्रेखागणितमपि साध्यते। तत्र चेष्टकानां परिगणितत्वादनया गणितविद्यापि गृह्यते। एवमेवोत्तरेऽपि पदार्थाः सप्रयोजनाः सन्त्येव, परन्त्वेवं प्रणीतायां रक्षितायां पुण्यं स्यादेवं पापमिति यदुच्यते तत्र पापनिमित्ताभावात्सा कल्पना मिथ्यैवास्ति। किंतु खलु यज्ञसिद्ध्यर्थं यद्यदावश्यकं युक्तिसिद्धमस्ति तत्तदेव ग्राह्यम्। कुतः। तैर्विना तदसिद्धेः।

भाषार्थ

प्र०—क्या यज्ञ करने के लिये पृथिवी खोद के वेदिरचन, प्रणीता, प्रोक्षणी और चमसादि पात्रों का स्थापन, दर्भ का रखना, यज्ञशाला का बनाना और ऋत्विजों का करना, यह सब करना ही चाहिये? उ०—करना तो चाहिये,

परन्तु जो २ युक्तिसिद्ध हैं सो २ ही करने के योग्य हैं। क्योंकि जैसे वेदि बना के, उसमें होम करने से वह द्रव्य शीघ्र भिन्न २ परमाणुरूप होके, वायु और अग्नि के साथ आकाश में फैल जाता है, ऐसे ही वेदि में भी अग्नि तेज होने और होम का साकल्य इधर उधर बिखरने से रोकने के लिये वेदि अवश्य रचनी चाहिये। और वेदि के त्रिकोण, चतुष्कोण, गोल तथा श्येन पक्षी आदि के तुल्य बनाने के दृष्टान्त से रेखागणित विद्या भी जानी जाती है, कि जिससे त्रिभुज आदि रेखाओं का भी मनुष्यों को यथावत् बोध हो तथा उसमें जो ईंटों की संख्या की है उससे गणितविद्या भी समझी जाती है। इस प्रकार से कि जब इतनी लम्बी चौड़ी और गहरी वेदि हो तो उस में इतनी बड़ी ईंटें इतनी लगेंगी इत्यादि वेदि के बनाने में बहुत प्रयोजन है। तथा सुवर्ण, चांदी वा काष्ठ के पात्र इस कारण से बनाते हैं कि उनमें जो घृतादि पदार्थ रक्खे जाते हैं वे बिगड़ते नहीं और कुश इसलिये रखते हैं कि जिससे यज्ञशाला का मार्जन हो और चिंवटी आदि कोई जन्तु वेदि की ओर अग्नि में न गिरने पावे। ऐसे ही यज्ञशाला बनाने का यह प्रयोजन है कि जिस से अग्नि की ज्वाला में वायु अत्यन्त न लगे और वेदि में कोई पक्षी किंवा उनकी बीठ भी न गिरे। इसी प्रकार ऋत्विजों के विना यज्ञ का काम कभी नहीं हो सकता, इत्यादि प्रयोजन के लिये यह सब विधान यज्ञ में अवश्य करना चाहिये। इनसे भिन्न द्रव्य की शुद्धि और संस्कार आदि भी अवश्य करने चाहियें। परन्तु इस प्रकार से प्रणीतापात्र रखने से पुण्य और इस प्रकार रखने से पाप होता है इत्यादि कल्पना मिथ्या ही है, किन्तु जिस प्रकार करने में यज्ञ का कार्य्य अच्छा बने वही करना अवश्य है, अन्य नहीं।

यज्ञे देवताशब्देन किं गृह्यते?। याश्च वेदोक्ताः। अत्र प्रमाणानि। अ॒ग्निर्दे॒वता॒ वातो॑ दे॒वता॒ सूर्य्यो॑ दे॒वता॑ च॒न्द्रमा॑ दे॒वता॒ वस॑वो दे॒वता॑ रु॒द्रा दे॒वता॒ऽऽदि॒त्या दे॒वता॑ म॒रुतो॑ दे॒वता॒ विश्वे॑दे॒वा दे॒वता॒ बृह॒स्पति॑र्दे॒वतेन्द्रो॑ दे॒वता॒ वरु॑णो दे॒वता॑॥ १॥ यजुः अ० १४। मं० २०॥

अत्र कर्मकाण्डे देवताशब्देन वेदमन्त्राणां ग्रहणम् । गायत्र्यादीनि छन्दांसि ह्यग्न्यादिदेवताख्यान्येव गृह्यन्ते । तेषां कर्मकाण्डादिविधेर्द्योतकत्वात् । यस्मिन्मन्त्रे चाग्निशब्दार्थप्रतिपादनं वर्त्तते स एव मन्त्रोऽग्निदेवतो गृह्यते । एवमेव वातः, सूर्य्यं, श्चन्द्रमा, वसवो, रुद्रा, आदित्या, मरुतो, विश्वेदेवा, बृहस्पति, रिन्द्रो, वरुणश्चेत्येतच्छब्दयुक्ता मन्त्रा देवताशब्देन गृह्यन्ते, तेषामपि तत्तदर्थस्य द्योतकत्वात्परमेश्वरेण कृतसंकेतत्वाच्च ।

भाषार्थ

प्र०—यज्ञ में देवता शब्द से किस का ग्रहण होता है ? उ०—जो २ वेद में कहे हैं उन्हीं का ग्रहण होता है । इसमें यह यजुर्वेद का प्रमाण है कि (अग्निर्देव०) । कर्मकाण्ड अर्थात् यज्ञक्रिया में मुख्य करके देवता शब्द से वेदमन्त्रों का ही ग्रहण करते हैं, क्योंकि जो गायत्र्यादि छन्द हैं वे ही देवता कहाते हैं और इन वेदमंत्रों से ही सब विद्याओं का प्रकाश भी होता है । इसमें यह कारण है कि जिन २ मंत्रों में अग्नि आदि शब्द हैं उन २ मन्त्रों का और उन २ शब्दों के अर्थों का अग्नि आदि देवता नामों से ग्रहण होता है । मन्त्रों का देवता नाम इसलिये है कि उन्हीं से सब अर्थों का यथावत् प्रकाश होता है ।

अत्राह यास्काचार्य्यो निरुक्ते । कर्मसंपत्तिर्मंत्रो वेदे । नि० अ० १ । खं० २ ॥ अथातोदैवतं, तद्यानि नामानि प्राधान्यस्तुतीनां देवतानां तद्दैवतमित्याचक्षते । सैषा देवतोपपरीक्षा, यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति । तास्त्रिविधा ऋचः । परोक्षकृताः, प्रत्यक्षकृता, आध्यात्मिक्यश्च । नि० अ० ७ । खं० १ ॥ अस्यार्थः । (कर्मसं०) कर्मणामग्निहोत्राद्यश्वमेधान्तानां शिल्पविद्यासाधनानां च संपत्तिः संपन्नता संयोगो भवति येन स मन्त्रो वेदे देवताशब्देन गृह्यते, तथा च कर्मणां संपत्तिर्मोक्षो भवति येन परमेश्वरप्राप्तिश्च सोपि मन्त्रो मंन्त्रार्थश्चाङ्गीकार्य्यः । अथेत्यनन्तरं दैवतं किमुच्यते ? यत्प्राधान्येन स्तुतिर्यासां देवतानां क्रियते तद्दैवतमिति विज्ञायते । यानि नामानि मन्त्रो-

ङ्गानि येषामर्थानां मन्त्रेषु विद्यन्ते तानि सर्वाणि देवतालिङ्गानि भवन्ति। तद्यथा। अ॒ग्निं दू॒तं पु॒रो द॑धे हव्य॒वाह॒मुप॑ ब्रुवे। दे॒वाँ २॥ आ सा॑दयादि॒ह॥ १॥ यजुः अ० २२। मं० १७॥ अत्राग्निशब्दो लिङ्गमस्ति। अतः किं विज्ञेयं? यत्र यत्र देवतोच्यते तत्र तत्र तल्लिङ्गो मन्त्रो ग्राह्य इति। यस्य द्रव्यस्य नामान्वितं यच्छन्दोस्ति तदेव दैवतमिति बोध्यम्। सा एषा देवतोपपरीक्षाऽतीता आगामिनी चास्ति। अत्रोच्यते। ऋषिरीश्वरः सर्वदृग्, यत्कामो यं कामयमान इममर्थमुपदिशेयमिति, स यत्कामः, यस्यां देवतायामार्थपत्यमर्थस्य स्वामित्वमुपदेष्टुमिच्छन् सन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते, तदर्थगुणकीर्त्तनं प्रयुक्तवानस्ति, स एव मन्त्रस्तद्दैवतो भवति। किंच यदेवार्थप्रतीतिकरणं दैवतं प्रकाश्यं येन भवति स मन्त्रो देवताशब्दवाच्योस्तीति विज्ञायते। देवताभिधा ऋचः। याभिर्विद्वांसः सर्वाः सत्यविद्याः स्तुवन्ति, प्रकाशयन्ति, ऋचस्तुताविति धात्वर्थयोगात्। ताः श्रुतयस्त्रिविधास्त्रिप्रकारकाः सन्ति। परोक्षकृताः, प्रत्यक्षकृता, आध्यात्मिक्यश्चेति। यासां देवतानामृचां परोक्षकृतोऽर्थोस्ति ताः परोक्षकृताः, यासां प्रत्यक्षमर्थो दृश्यते ताः प्रत्यक्षकृता ऋचो देवताः, आध्यात्मिक्यश्चाध्यात्मं जीवात्मानं, तदन्तर्यामिणं परमेश्वरं च प्रतिपादितुमर्हा या ऋचो मन्त्रास्ता आध्यात्मिक्यश्चेति। एता एव कर्मकाण्डे देवताशब्दार्थाः सन्तीति विज्ञेयम्।

भाषार्थ

(कर्मसं०) वेदमन्त्रों करके अग्निहोत्र से लेके अश्वमेधपर्य्यन्त सब यज्ञों की शिल्पविद्या और उनके साधनों की सम्पत्ति अर्थात् प्राप्ति होती और कर्मकाण्ड को लेके मोक्षपर्य्यन्त सुख मिलता है इसी हेतु से उन का नाम देवता है। (अथातो०) दैवत उन को कहते हैं कि जिन के गुणों का कथन किया जाय, अर्थात् जो २ संज्ञा जिन २ मन्त्रों में जिस २ अर्थ की होती है उन २ मन्त्रों का नाम वही देवता होता है। जैसे (अग्निं दूतं०) इस मन्त्र में अग्नि शब्द चिह्न है, यहां इसी मन्त्र को अग्नि देवता जानना चाहिये। ऐसे ही जहां २ मन्त्रों में जिस २ शब्द का लेख है वहां २ उस २ मन्त्र को ही देवता

समझना होता है। इसी प्रकार सर्वत्र समझ लेना चाहिये। सो देवता शब्द से जिस २ गुण से जो २ अर्थ लिये जाते हैं सो २ निरुक्त और ब्राह्मणादि ग्रन्थों में अच्छी प्रकार लिखा है। इसमें यह कारण है कि ईश्वर ने जिस २ अर्थ को जिस २ नाम से वेदों में उपदेश किया है उस २ नाम वाले मन्त्रों से उन्हीं अर्थों को जानना होता है। सो वे मन्त्र तीन प्रकार के हैं। उन में से कई एक परोक्ष अर्थात् अप्रत्यक्ष अर्थ के, कई एक प्रत्यक्ष अर्थात् प्रसिद्ध अर्थ के और कई एक आध्यात्मिक अर्थात् जीव, परमेश्वर और सब पदार्थों के कार्य्य कारण के प्रतिपादन करने वाले हैं। इससे क्या आया कि त्रिकालस्थ जितने पदार्थ और विद्या हैं उनके विधान करने वाले मन्त्र ही हैं। इसी कारण से इनका नाम देवता है।

तद्येऽनादिष्टदेवतामन्त्रास्तेषु देवतोपपरीक्षा। यद्देवतः स यज्ञो वा यज्ञाङ्गं वा तद्देवता भवन्त्यथान्यत्र यज्ञात्प्राजापत्या इति याज्ञिका, नाराशंसा इति नैरुक्ता, अपि वा सा कामदेवता स्यात्, प्रायोदेवता वास्तिह्याचारो बहुलं लोके देवदेवत्यमतिथिदेवत्यं, पितृदेवत्यं, याज्ञदैवतो मन्त्र इति। नि० अ० ७। खं० ४॥ (तद्येनादि०) तत्तस्माद्ये खल्वनादिष्टदेवता मन्त्रा अर्थाच्च विशेषतो देवतादर्शनं नामार्थो वा येषु दृश्यते तेषु देवतोपपरीक्षा कास्तीत्यत्रोच्यते। यत्र विशेषो न दृश्यते तत्रैवं यज्ञो देवता, यज्ञाङ्गं वेत्येतद्देवताख्यमिति विज्ञायते। ये खलु यज्ञादन्यत्र प्रयुज्यन्ते ते वै प्राजापत्याः परमेश्वरदेवताका मन्त्रा भवन्तीत्येवं याज्ञिका मन्यन्ते। अत्रैवं विकल्पोस्ति नाराशंसा मनुष्यविषया इति नैरुक्ता ब्रुवन्ति, तथा या कामना सा कामदेवता भवतीति सकामा लौकिका जना जानन्ति। एवं देवताविकल्पस्य प्रायेण लोके बहुलमाचारोस्ति। क्वचिद्देवदेवत्यं, कर्म, मातृदेवत्यं, विद्वद्देवत्यमतिथिदेवत्यं, पितृदेवत्यं चैतेपि पूज्याः सत्कर्त्तव्याः सन्त्यतस्तेषामुपकारकर्तृत्वमात्रमेव देवतात्वमस्तीति विज्ञायते। मन्त्रास्तु खलु यज्ञसिद्धये मुख्यहेतुत्वाद्याज्ञदैवता एव सन्तीति निश्चीयते।

भाषार्थ

जिन २ मन्त्रों में सामान्य अर्थात् जहां २ किसी विशेष अर्थ का नाम प्रसिद्ध

नहीं दीख पड़ता वहां २ यज्ञ आदि को देवता जानना होता है। (अग्निमीडे) इस मन्त्र के भाष्य में जो तीन प्रकार का यज्ञ लिखा है, अर्थात् एक तो अग्निहोत्र से लेके अश्वमेध पर्य्यन्त, दूसरा प्रकृति से लेके पृथिवी पर्य्यन्त जगत् का रचन रूप तथा शिल्पविद्या और तीसरा सत्सङ्ग आदि से जो विज्ञान और योगरूप यज्ञ है, ये ही उन मन्त्रों के देवता जानने चाहियें। तथा जिनसे यह यज्ञ सिद्ध होता है वे भी उन यज्ञों के देवता हैं। और जो इनसे भिन्न मन्त्र हैं उन का प्राजापत्य अर्थात् परमेश्वर ही देवता है। तथा जो मन्त्र मनुष्यों के अर्थ का प्रतिपादन करते हैं उन के मनुष्य देवता हैं। इस में बहुत प्रकार के विकल्प हैं कि कहीं पूर्वोक्त देवता कहाते हैं, कहीं यज्ञादि कर्म, कहीं माता, कहीं पिता, कहीं विद्वान्, कहीं अतिथि और कहीं आचार्य्य देव कहाते हैं। परन्तु इसमें इतना भेद है कि यज्ञ में मन्त्र और परमेश्वर को ही देव मानते हैं।

अत्र परिगणनं गायत्र्यादिच्छन्दोन्विता मन्त्रा, ईश्वराज्ञा, यज्ञः, यज्ञाङ्गं, प्रजापतिः परमेश्वरः, नराः, कामः, विद्वान्, अतिथिः, माता, पिता, आचार्य्यश्चेति कर्मकाण्डादीन्प्रत्येता देवताः सन्ति। परन्तु मन्त्रेश्वरावेव याज्ञदैवते भवत इति निश्चयः।

भाषार्थ

जो २ गायत्र्यादि छन्दों से युक्त वेदों के मन्त्र, उन्हीं में ईश्वर की आज्ञा, यज्ञ और उन के अङ्ग अर्थात् साधन, प्रजापति जो परमेश्वर, नर जो मनुष्य, काम, विद्वान्, अतिथि, माता, पिता और आचार्य्य ये अपने २ दिव्यगुणों से ही देवता कहाते हैं। परन्तु यज्ञ में तो वेदों के मन्त्र और ईश्वर को ही देवता माना है।

अन्यच्च। देवो दानाद्वा, दीपनाद्वा, द्योतनाद्वा, द्युस्थानो भवतीति वा॥ नि० अ० ७। खं० १५॥ मन्त्रा मननाच्छन्दांसि छादनात्॥ निरु० अ० ७। खं० १२॥ अस्यार्थः। (देवो दानात्०) यत्स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकं परस्वत्वोत्पादनं तद्दानं भवति, (दीपनात्) दीपनं, प्रकाशनम्,

(द्योतनात्) द्योतनमुपदेशादिकं च । अत्र दानशब्देनेश्वरो, विद्वांसो मनुष्याश्च देवतासंज्ञाः सन्ति । दीपनात्सूर्य्यादयो, द्योतनान्मातापित्राचार्य्यातिथयश्च । (द्युस्थाने) तथा द्यौः किरणा आदित्यरश्मयः प्राणसूर्य्यादयो वा स्थानं स्थित्यर्थं यस्य स द्युस्थानः, प्रकाशकानामपि प्रकाशकत्वात्परमेश्वर एवात्र देवोस्तीति विज्ञेयम् । अत्र प्रमाणम् । न तत्र सूर्य्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोयमग्निः । तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥ इति कठ० वल्ली ५ । मं० १५ ॥ तत्र नैव परमेश्वरे सूर्य्यादयो भान्ति, प्रकाशं कुर्वन्ति । किन्तु तमेव भान्तं प्रकाशयन्तमनुपश्चात्ते हि प्रकाशयन्ति । नैव खल्वेतेषु कश्चित्स्वातन्त्र्येण प्रकाशोस्तीति । अतो मुख्यो देव एकः परमेश्वर एवोपास्योस्तीति मन्यध्वम् ।

भाषार्थ

(देवो दाना०) दान देने से देव नाम पड़ता है और दान कहते हैं अपनी चीज़ दूसरे के अर्थ दे देना, दीपन कहते हैं प्रकाश करने को, द्योतन कहते हैं सत्योपदेश को । इनमें से दान का दाता मुख्य एक ईश्वर ही है कि जिसने जगत् को सब पदार्थ दे रक्खे हैं, तथा विद्वान् मनुष्य भी विद्यादि पदार्थों के देने वाले होने से देव कहाते हैं । (दीपन) अर्थात् सब मूर्त्तिमान् द्रव्यों का प्रकाश करने से सूर्य्यादि लोकों का नाम भी देव है (द्योतन) तथा माता, पिता, आचार्य्य और अतिथि भी पालनविद्या और सत्योपदेशादि के करने से देव कहाते हैं, वैसे ही सूर्य्यादि लोकों का भी जो प्रकाश करनेवाला है, सो ही ईश्वर सब मनुष्यों को उपासना करने के योग्य इष्टदेव है, अन्य कोई नहीं । इस में कठोपनिषद् का भी प्रमाण है कि सूर्य, चन्द्रमा, तारे, बिजुली और अग्नि ये सब परमेश्वर में प्रकाश नहीं कर सकते, किन्तु इन सब का प्रकाश करने वाला एक वही है, क्योंकि परमेश्वर के प्रकाश से ही सूर्य्य आदि सर्व जगत् प्रकाशित हो रहा है, इस में यह जानना चाहिये कि ईश्वर से भिन्न कोई पदार्थ स्वतन्त्र प्रकाश करने नहीं है, इस से एक परमेश्वर ही मुख्य देव है ।

नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत् ॥ य० अ० ४० । मं० ४ ॥ अत्र देव-शब्देन मनःषष्ठानि श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि गृह्यन्ते, तेषां शब्दस्पर्शरूपरस-गन्धानां सत्यासत्ययोश्चार्थानां द्योतकत्वात्तान्यपि देवाः । यो देवः सा देवता, देवात्तलित्यनेन सूत्रेण स्वार्थे तल्विधानात् । स्तुतिर्हि गुणदोषकीर्तनं भवति । यस्य पदार्थस्य मध्ये यादृशा गुणा वा दोषाः सन्ति तादृशानामेवोपदेशः स्तुतिर्विज्ञायते । तद्यथा । अयमसिः प्रहृतः सन्नतीवच्छेदनं करोति, तीक्ष्णधारः स्वच्छो धनुर्वन्नाम्यमानोपि न त्रुट्यतीत्यादिगुणकथनमतो विपरीतोऽसिर्नैव तत् कर्त्तुं समर्थो भवतीत्यसेः स्तुतिर्विज्ञेया ।

भाषार्थ

(नैनदेवा०) इस वचन में देव शब्द से इन्द्रियों का ग्रहण होता है जो कि श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जीभ, नाक और मन ये छः देव कहाते हैं, क्योंकि शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, सत्य और असत्य इत्यादि अर्थों का इन से प्रकाश होता है और देव शब्द से स्वार्थ में तल् प्रत्यय करने से देवता शब्द सिद्ध होता है । जो २ गुण जिस २ पदार्थ में ईश्वर ने रचे हैं उन २ गुणों का लेख, उपदेश, श्रवण और विज्ञान करना तथा मनुष्यसृष्टि के गुण दोषों का भी लेख आदि करना इस को स्तुति कहते हैं । क्योंकि जितना २ जिस २ में गुण है उतना २ उस २ में देवपन है । इस से वे किसी के इष्टदेव नहीं हो सकते । जैसे किसी ने किसी से कहा कि यह तलवार काट करने में बहुत अच्छी और निर्मल है, इस की धार बहुत तेज है और यह धनुष् के समान नमाने से भी नहीं टूटती इत्यादि तलवार के गुणकथन को स्तुति कहते हैं ।

तद्वदन्यत्रापि विज्ञेयम् । परन्त्वयं नियमः कर्म्मकाण्डं प्रत्यास्ति । उपासनाज्ञानकाण्डयोः कर्म्मकाण्डस्य निष्काममार्गेपि च परमेश्वर एवेष्टदेवोस्ति । कस्मात् । तत्र तस्यैव प्राप्तिः प्रार्थ्यते । यश्च तस्य सकामो मार्गोस्ति तत्रेष्टविषयभोगप्राप्तये परमेश्वरः प्रार्थ्यते । अतः कारणाद्भेदो भवति । परन्तु नैवेश्वरार्थत्यागः क्वापि भवतीति वेदाभिप्रायोस्ति ।

भावार्थ

इसी प्रकार सर्वत्र जान लेना इस नियम के साथ कि केवल परमेश्वर ही कर्म उपासना और ज्ञानकाण्ड में सब का इष्टदेव स्तुति, प्रार्थना, पूजा और उपासना करने के योग्य है, क्योंकि गुण वे कहाते हैं जिनसे कर्मकाण्डादि में उपकार लेना होता है। परन्तु सर्वत्र कर्मकाण्ड में भी इष्टभोग की प्राप्ति के लिये परमेश्वर का त्याग नहीं होता, क्योंकि कार्य्य कारण सम्बन्ध से ईश्वर ही सर्वत्र स्तुति, प्रार्थना, उपासना से पूजा करने के योग्य होता है।

अत्र प्रमाणम्। माहाभाग्याद्देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते, एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति। कर्मजन्मान, आत्मजन्मान, आत्मैवैषां रथो भवत्यात्माऽश्वा, * आत्मायुधमात्मेषव, आत्मा सर्वं देवस्य देवस्य ॥ नि० अ० ७। खं० ४। (माहाभाग्याद्देव०) सर्वासां व्यवहारोपयोगिदेवतानां मध्य आत्मन एव मुख्यं देवतात्वमस्ति। कुतः। आत्मनो माहाभाग्यादर्थात्सर्वशक्तिमत्त्वादिविशेषणवत्त्वात्। न तस्याग्रेऽन्यस्य कस्यापि देवतात्वं गण्यं भवितुमर्हति। कुतः। सर्वेषु वेदेष्वेकस्याद्वितीयस्यासहायस्य सर्वत्रव्याप्तस्यात्मन एव बहुधा बहुप्रकारैरुपासना विहितास्ति। अस्मादन्ये ये देवा उक्ता, वक्ष्यन्ते च, ते सर्वे एकस्यात्मनः परमेश्वरस्य प्रत्यङ्गान्येव भवन्ति। अङ्गमङ्गं प्रत्यञ्चतीति निरुक्त्या तस्यैव सामर्थ्यस्यैकैकस्मिन्देशे प्रकाशिताः सन्ति। ते च (कर्मज०) यतः कर्मणा जायन्ते तस्मात्कर्मजन्मानो, यत आत्मन ईश्वरस्य सामर्थ्याज्जातास्तस्मादात्मजन्मानश्च सन्ति। अथैतेषां देवानामात्मा परमेश्वर एव रथो रमणाधिकरणम्। स एवाश्वागमनहेतवः। स आयुधं विजयावहमिषवो बाणा दुःखनाशकाः स एवास्ति। तथा चात्मैव देवस्य देवस्य सर्वस्वमस्ति। अर्थात्सर्वेषां देवानां स एवोत्पादको धाताधिष्ठाता मंगलकारी वर्त्तते। नातः परं किंचिदुत्तमं वस्तु विद्यत इति बोध्यम्।

* अश्व इति निरुक्ते पाठः ॥

भाषार्थ

इस में निरुक्त का भी प्रमाण है कि व्यवहार के देवताओं की उपासना कभी नहीं करनी चाहिये, किन्तु एक परमेश्वर ही की करनी उचित है। इसका निश्चय वेदों में अनेक प्रकार से किया है कि एक अद्वितीय परमेश्वर के ही प्रकाश, धारण, उत्पादन करने से वे सब व्यवहार के देव प्रकाशित हो रहे हैं। इन का जन्म, कर्म और ईश्वर के सामर्थ्य से होता है और इन का रथ अर्थात् जो रमण का स्थान, अश्वा अर्थात् शीघ्र सुख प्राप्ति का कारण, आयुध अर्थात् सब शत्रुओं के नाश करने का हेतु और इषु अर्थात् जो बाण के समान सब दुष्ट गुणों का छेदन करने वाला शस्त्र है सो एक परमेश्वर ही है, क्योंकि परमेश्वर ने जिस २ में जितना २ दिव्यगुण रक्खा है उतना २ ही उन द्रव्यों में देवपन है अधिक नहीं। इससे क्या सिद्ध हुआ कि केवल परमेश्वर ही उन सब का उत्पादन, धारण और मुक्ति का देनेवाला है।

अत्रान्यदपि प्रमाणम्। ये त्रिंशति त्रयस्परो देवासो बर्हिरासदन्। विदन्नह द्वितासनन् ॥ १ ॥ ऋ० अ० ६। अ० २। व० ३५। मं० १ ॥ त्रयस्त्रिꣳशतास्तुवत भूतान्यशाम्यन्प्रजापतिः परमेष्ठ्यधिपतिरासीत् ॥ २ ॥ य० अ० १४। मं० ३१ ॥ यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा निधिं रक्षन्ति सर्वदा। निधिं तमद्य को वेद यं देवा अभिरक्षथ ॥ ३ ॥ यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अङ्गे गात्रा विभेजिरे। तान्वै त्रयस्त्रिंशद्देवानेके ब्रह्मविदो विदुः ॥ ४ ॥ अथर्व० कां० १०। प्रपा० २३। अनु० ४। मं० २३। २७ ॥ सहोवाच महिमान एवैषामेते त्रयस्त्रिꣳशत्त्वेव देवा इति। कतमे ते त्रयस्त्रिꣳशदित्यष्टौ वसव, एकादश रुद्रा. द्वादशादित्यास्त एकत्रिꣳशदिन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिꣳशाविति ॥ ३ ॥ कतमे वसव इति ?, अग्निश्च, पृथिवी च, वायुश्चान्तरिक्षं, चादित्यश्च, द्यौश्च, चन्द्रमाश्च, नक्षत्राणि चैते वसवः। एतेषु हीदꣳ सर्वं वसु हितमेतेहीदꣳसर्वं वासयन्ते तद्यदिदꣳसर्वं वासयन्ते तस्माद्वसव इति ॥ ४ ॥ कतमे रुद्रा इति ? दशेमे पुरुषे प्राणा, आत्मैकादशस्ते यदास्मान्मर्त्याच्छरीरादुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति, तद्यद्रोदयन्ति तस्माद्रुद्रा इति ॥ ५ ॥ कतम आदित्या इति ? द्वादशमासाः संवत्सरस्यैत आदित्याः।

एते हीदꣳसर्वमाददाना यन्ति, तद्यदिदꣳसर्वमाददाना यन्ति तस्मादादित्या इति ॥ ६ ॥ कतम इन्द्रः, कतमः प्रजापतिरिति ? स्तनयित्नुरेवेन्द्रो, यज्ञः प्रजापतिरिति । कतमः स्तनयित्नुरित्यशनिरिति । कतमो यज्ञ इति ? पशव इति ॥ ७ ॥ कतमे ते त्रयो देवा इतीम एव त्रयो लोका, एषु हीमे सर्वे देवा इति । कतमौ द्वौ देवावित्यन्नं चैव प्राणश्चेति । कतमोऽध्यर्ध इति ? योऽयं पवत इति ॥ ८ ॥ तदाहुः । यदयमेक एव पवतेऽथ कथमध्यर्ध इति ? यदस्मिन्निदꣳ सर्वमध्यार्ध्नोत्तेनाध्यर्ध इति । कतम एको देव इति ? स ब्रह्म त्यदित्याचक्षते ॥ ९ ॥ श० कां० १४ । अ० ५ ॥ अथैषामर्थः ॥ वेद-मन्त्राणामेवार्थो ब्राह्मणग्रन्थेषु प्रकाशित इति द्रष्टव्यम् । शाकल्यं प्रति याज्ञ-वल्क्योक्तिः । त्रयस्त्रिंशदेव देवाः सन्ति । अष्टौ वसवः, एकादश रुद्राः, द्वादशादित्याः, इन्द्रः, प्रजापतिश्चेति । तत्र (वसवः) अग्निः, पृथिवी, वायुः, अन्तरिक्षम्, आदित्यः, द्यौः, चन्द्रमाः, नक्षत्राणि च । एतेषामष्टानां वसुसंज्ञा कृतास्ति । आदित्यः सूर्य्यलोकस्तस्य प्रकाशोऽस्ति द्यौः सूर्य्यसान्निध्यौ पृथिव्यादिषु वा । अग्निलोकोऽस्त्यग्निरेव । कुत एते वसव इति ?, यद्यस्मा-देतेष्वष्टस्वेवेदं सर्वं सम्पूर्णं वसु वस्तुजातं हितं धृतमस्ति, किंच सर्वेषां वा-साधिकरणानीम एव लोकाः सन्ति । हि यतश्चेदं वासयन्ते सर्वस्यास्य जगतो वासहेतवस्तस्मात्कारणादग्न्यादयो वसुसंज्ञकाः सन्तीति बोद्धव्यम् । (एका-दश रुद्राः) ये पुरुषेऽस्मिन्देहे । प्राणः, अपानः, व्यानः, समानः, उदानः, नागः, कूर्मः, कृकलः, देवदत्तः, धनञ्जयश्च । इमे दश प्राणा, एकादश आत्मा, सर्वे मिलित्वैकादश रुद्रा भवन्ति । कुत एते रुद्रा ? इत्यत्राह, यदा यस्मिन्कालेऽस्मान्मरणधर्मकाच्छरीरादुत्क्रामन्तो निःसरन्तः सन्तोऽथेत्यनन्तरं मृतकसम्बन्धिनो जनांस्ते रोदयन्ति, यतो जना रुदन्ति, तस्मात्कारणादेते रुद्राः सन्तीति विज्ञेयम् । (द्वादशादित्याः) चैत्राद्याः फाल्गुनान्ता द्वाद-श मासा आदित्या विज्ञेयाः । कुतः ? हि यत एते सर्वं जगदाददाना अर्था-दासमन्ताद्गृह्णन्तः प्रतिक्षणमुत्पन्नस्य वस्तुन आयुषः प्रलयं निकटमानयन्तो यन्ति गच्छन्ति, चक्रवद् भ्रमणेनोत्तरोत्तरं जातस्य वस्तुनोऽवयवशिथिलतां परिणामेन प्रापयन्ति, तस्मात्कारणान्मासानामादित्यसंज्ञा कृतास्ति । इन्द्रः

परमैश्वर्य्ययोगात्स्तनयित्नुरशनिर्विद्युदिति । प्रजापतिर्यज्ञः पशवइति । प्रजायाः पालनहेतुत्वात्पशूनां यज्ञस्य च प्रजापतिरिति गौणिकी संज्ञा कृतास्ति । एते सर्वे मिलित्वा त्रयस्त्रिंशद्देवा भवन्ति । देवो दानादित्यादिनिरुक्त्या ह्येतेषु व्यावहारिकमेव देवत्वं योजनीयम् । त्रयो लोकास्त्रयो देवाः । के त ? इत्यत्राह निरुक्तकारः, धामानि त्रयाणि भवन्ति स्थानानि नामानि जन्मानीति ॥ नि० अ० ९ । खं० २८ ॥ त्रयो लोका एत एव । वागेवायं लोको, मनोन्तरिक्षलोकः, प्राणोऽसौ लोकः ॥ श० कां० १४ । अ० ४ * ॥ एतेपि त्रयो देवा ज्ञातव्याः ॥ द्वौ देवावन्नं प्राणश्चेति । अध्यर्धो ब्रह्माण्डस्थः सूत्रात्माख्यः सर्वजगतो वृद्धिकरत्वाद्वायुर्देवः । किमेते सर्व एवोपास्याः सन्तीत्यत्राह, नैव, किन्तु (स ब्रह्म०) यत्सर्वजगत्कर्तृ, सर्वशक्तिमत्सर्वस्येष्टं, सर्वोपास्यं, सर्वाधारं, सर्वव्यापकं, सर्वकारणमनादि, सच्चिदानन्दस्वरूपमजं, न्यायकारीत्यादिविशेषणयुक्तं ब्रह्मास्ति स एवैको देवश्चतुस्त्रिंशो वेदोक्तसिद्धान्तप्रकाशितः परमेश्वरो देवः सर्वमनुष्यैरुपास्योस्तीति मन्यध्वम् । ये वेदोक्तमार्गपरायणा आर्य्यास्ते सर्वदैतस्यैवोपासनं चक्रुः, कुर्वन्ति, करिष्यन्ति च । अस्माद्भिन्नस्येष्टकरणेनोपासनेन चानार्य्यत्वमेव मनुष्येषु सिध्यतीति निश्चयः । अत्र प्रमाणम् । आत्मेत्येवोपासीत, स योन्यमात्मनः प्रियं ब्रुवाणं ब्रूयात् प्रियꣳरोत्स्यतीतीश्वरो ह तथैव स्यादात्मानमेव प्रियमुपासीत, स य आत्मानमेव प्रियमुपास्ते न हास्यप्रियं प्रमायुकं भवति । योन्यां देवतामुपास्ते न स वेद यथा पशुरेवꣳ स देवानाम् ॥ श० कां० १४ । अ० ४ † ॥ अनेनार्य्येतिहासेन विज्ञायते न परमेश्वरं विहायान्यस्योपासका आर्य्या ह्यासन्निति ।

भाषार्थ

अब आगे देवता विषय में तेतीस देवों का व्याख्यान लिखते हैं । जैसा ब्राह्मण ग्रन्थों में वेद मन्त्रों का व्याख्यान लिखा है (त्रयस्त्रिंशत्०) । अर्थात् व्यवहार के ये (३३) तेतीस देवता हैं । (८) आठ वसु, (११) ग्यारह रुद्र, (१२) बारह आदित्य, (१) एक इन्द्र और एक प्रजापति । उन में से आठ वसु ये हैं—अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौः, चन्द्रमा और नक्षत्र । इन

* ब्रा० ३ । कण्डि० ११ । † ब्रा० २ । कण्डि० १९, २२ ।

का वसु नाम इस कारण से है कि सब पदार्थ इन्हीं में बसते हैं और ये ही सब के निवास करने के स्थान हैं। (११) ग्यारह रुद्र ये कहाते हैं जो शरीर में दश प्राण हैं, अर्थात् प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय और ग्यारहवां जीवात्मा है, क्योंकि जब वे इस शरीर से निकल जाते हैं तब मरण होने से उस के सम्बन्धी लोग रोते हैं, वे निकलते हुए उन को रुलाते हैं इस से इन का नाम रुद्र है। इसी प्रकार आदित्य बारह महीनों को कहते हैं, क्योंकि वे सब जगत् के पदार्थों का आदान अर्थात् सब की आयु को ग्रहण करते चले जाते हैं, इसी से इन का नाम आदित्य है। ऐसे ही इन्द्र नाम बिजुली का है, क्योंकि वह उत्तम ऐश्वर्य्य की विद्या का मुख्य हेतु है और यज्ञ को प्रजापति इसलिये कहते हैं कि उससे वायु और वृष्टि जल की शुद्धिद्वारा प्रजा का पालन होता है, तथा पशुओं की यज्ञसंज्ञा होने का यह कारण है कि उन से भी प्रजा का जीवन होता है, ये सब मिल के अपने २ दिव्य गुणों से तेतीस देव कहाते हैं। और तीन देव स्थान, नाम और जन्म को कहते हैं। दो देव अन्न और प्राण को कहते हैं। अध्यर्धदेव अर्थात् जिससे सब का धारण और वृद्धि होती है, जो सूत्रात्मा वायु सब जगत् में भर रहा है उस को अध्यर्धदेव कहते हैं। प्र०—क्या ये चालीस देव भी सब मनुष्यों को उपासना के योग्य हैं? उ०—इन में से कोई भी उपासना के योग्य नहीं है, किन्तु व्यवहारमात्र की सिद्धि के लिये ये सब देव हैं, और सब मनुष्यों के उपासना के योग्य तो देव एक ब्रह्म ही है। इसमें यह प्रमाण है (स ब्रह्म०)। जो सब जगत् का कर्ता, सर्वशक्तिमान् ,सब का इष्ट, सब को उपासना के योग्य, सब का धारण करने वाला, सब में व्यापक और सब का कारण है, जिसका आदि अन्त नहीं और जो सच्चिदानन्दस्वरूप है, जिसका जन्म कभी नहीं होता और जो कभी अन्याय नहीं करता इत्यादि विशेषणों से वेदादि शास्त्रों में जिसका प्रतिपादन किया है उसी को इष्ट देव मानना चाहिये और जो कोई इससे भिन्न को इष्ट देव मानता है उसको अनार्य्य अर्थात् अनाड़ी कहना चाहिये, क्योंकि (आत्मेत्ये०) इस में आर्य्यों का इतिहास शतपथब्राह्मण में है कि परमेश्वर जो सब का आत्मा है सब मनुष्यों को उसी की उपासना करनी उचित है। इस में जो कोई कहै कि परमेश्वर को छोड़

के दूसरे में भी ईश्वरबुद्धि से प्रेमभक्ति करनी चाहिये तो उससे कहे कि तू सदा दुःखी होके रोदन करेगा, क्योंकि जो ईश्वर की उपासना करता है वह सदा आनन्द में ही रहता है, जो दूसरे में ईश्वरबुद्धि करके उपासना करता है वह कुछ भी नहीं जानता, इसलिये वह विद्वानों के बीच में पशु अर्थात् गधा के समान है। इससे यह निश्चय हुआ कि आर्य्य लोग सब दिन से एक ईश्वर ही की उपासना करते आये हैं।

अतः फलितार्थोयं जातः। देवशब्दे दिवुधातोर्ये दशार्थास्ते संगता भवन्तीति। तद्यथा। क्रीडा। विजिगीषा। व्यवहारः। द्युतिः। स्तुतिः। मोदः। मदः। स्वप्नः। कान्तिः। गतिश्चेति। एषामुभयत्र समानार्थत्वात्। परन्त्वन्याः सर्वा देवताः परमेश्वरप्रकाश्याः सन्ति, स च स्वयंप्रकाशोस्ति। तत्र क्रीडनं क्रीडा। दुष्टान् विजेतुमिच्छा विजिगीषा। व्यवह्रियन्ते यस्मिन् व्यवहरणं व्यवहारः। स्वप्नो निद्रा। मदो ग्लेपनं दीनता। एते मुख्यतया लौकिकव्यवहारवृत्तयो भवन्ति। तत्सिद्धिहेतवोऽग्न्यादयो देवताः सन्ति। अत्रापि नैव सर्वथा परमेश्वरस्य त्यागो भवति, तस्य सर्वत्रानुषंगितया सर्वोत्पादकाधारकत्वात्। तथा द्युतिर्द्योतनं प्रकाशनं, स्तुतिर्गुणेषु गुणकथनं, स्थापनं च। मोदो हर्षः। प्रसन्नता कान्तिः, शोभा। गतिर्ज्ञानं, गमनं, प्राप्तिश्चेति। एते परमेश्वरे मुख्यवृत्त्या यथावत्संगच्छन्ते। अतोन्यत्र तत्सत्त-या गौण्या वृत्त्या वर्त्तन्ते। एवं गौणमुख्याभ्यां हेतुभ्यामुभयत्र देवतात्वं सम्यक् प्रतीयते।

भाषार्थ

इससे यह सिद्ध हुआ कि दिवु धातु के जो दश अर्थ हैं वे व्यवहार और परमार्थ इन दोनों अर्थ में यथावत् घटते हैं, क्योंकि इनके दोनों अर्थ की योजना वेदों में अच्छी प्रकार से की है। इन में इतना भेद है कि पूर्वोक्त वसु आदि देवता परमेश्वर के ही प्रकाश से प्रकाशित होते हैं और परमेश्वर देव तो अपने ही प्रकाश से सदा प्रकाशित हो रहा है। इससे वही एक सब का पूज्यदेव है।

और दिवु धातु के दश अर्थ ये हैं कि एक क्रीड़ा जो खेलना, दूसरा विजिगीषा जो शत्रुओं को जीतने की इच्छा होना, तीसरा व्यवहार जो कि दो प्रकार का है एक बाहर और दूसरा भीतर का, चौथा निद्रा और पांचवां मद, ये पांच अर्थ मुख्य करके व्यवहार में ही घटते हैं, क्योंकि अग्नि आदि ही पदार्थ व्यवहारसिद्धि के हेतु हैं। परन्तु परमेश्वर का त्याग इस में भी सर्वथा नहीं होता, क्योंकि वे देव उसी की व्यापकता और रचना से दिव्य गुण वाले हुए हैं। तथा द्युति जो प्रकाश करना, स्तुति जो गुणों का कीर्त्तन करना, मोद प्रसन्नता, कान्ति जो शोभा, गति जो ज्ञान, गमन और प्राप्ति है, ये पांच अर्थ परमेश्वर में मुख्य करके वर्त्तते हैं, क्योंकि इन से भिन्न अर्थों में जितने २ जिन २ में गुण हैं उतना २ ही उनमें देवतापन लिया जाता है। परमेश्वर में तो सर्वशक्तिमत्त्वादि सब गुण अनन्त हैं, इससे पूज्यदेव एक वही है।

अत्र केचिदाहुः। वेदेषु जड़चेतनयोः पूजाभिधानाद्वेदाः संशयास्पदं प्राप्ताः सन्तीति गम्यते ?। अत्रोच्यते। मैवं भ्रमि। ईश्वरेण सर्वेषु पदार्थेषु स्वातन्त्र्यस्य रक्षितत्वात्। यथा चक्षुषि रूपग्रहणशक्तिस्तेन रक्षितास्ति। अतश्चक्षुष्मान् पश्यति नैवान्धश्चेति व्यवहारोस्ति। अत्र कश्चिद् ब्रूयान्नेत्रेण सूर्य्यादिभिश्च विनेश्वरो रूपं कथं न दर्शयतीति, यथा तस्य व्यर्थेयं शङ्कास्ति तथा पूजनं, पूजा, सत्कारः, प्रियाचरणमनुकूलाचरणं चेत्यादयः पर्य्याया भवन्ति। इयं पूजा चक्षुषोपि सर्वजनैः क्रियते। एवमग्न्यादिषु यावदर्थद्योतकत्वं विद्याक्रियोपयोगित्वं चास्ति, तावद्देवतात्वमप्यस्तु, नात्र काचित्क्षतिरस्ति। कुतः। वेदेषु यत्र यत्रोपासना विधीयते तत्र तत्र देवतात्वेनेश्वरस्यैव ग्रहणात्।

भाषार्थ

प्रश्न—इस विषय में कोई २ मनुष्य ऐसा कहते हैं कि वेदों के प्रतिपादन से एक ईश्वर की पूजा सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि उन में जड़ और चेतन की पूजा लिखी है। इससे वेदों में संदेह सहित कथन मालूम पड़ता है। उत्तर—ऐसा भ्रम मत करो, क्योंकि ईश्वर ने सब पदार्थों के बीच में स्वतन्त्र गुण रक्खे

हैं। जैसे उसने आंख में देखने का सामर्थ्य रक्खा है तो उससे दीखता है. यह लोक में व्यवहार है। इस में कोई पुरुष ऐसा कहे कि ईश्वर नेत्र और सूर्य के विना रूप को क्यों नहीं दिखलाता है जैसे यह शङ्का उसकी व्यर्थ है वैसे ही पूजा विषय में भी जानना। क्योंकि जो दूसरे का सत्कार, प्रियाचरण अर्थात् उस के अनुकूल काम करना है इसी का नाम पूजा है। सो सब मनुष्यों को करनी उचित है। इसी प्रकार अग्नि आदि पदार्थों में जितना २ अर्थ का प्रकाश, दिव्यगुण, क्रियासिद्धि और उपकार लेने का सम्भव है उतना २ उन में देवपन मानने से कुछ भी हानि नहीं हो सकती। क्योंकि वेदों में जहां २ उपासना-व्यवहार लिया जाता है वहां २ एक अद्वितीय परमेश्वर का ही ग्रहण किया है।

तत्रापि मतद्वयं विग्रहवत्यविग्रहवद्देवताभेदात्। तच्चोभयं पूर्वं प्रतिपादितम्। अन्यच्च। मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्य्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव॥ प्रपा० ७। अनु० ११॥ त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि, त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि॥ प्रपा० ७। अनु० १॥ इति सर्वमनुष्योपास्याः पञ्चदेवतास्तैत्तिरीयोपनिषद्युक्ताः। यथात्र मातापितरावाचार्य्योऽतिथिश्चेति सशरीरा देवताः सन्ति। एवं सर्वथा निःशरीरं ब्रह्मास्ति।

भाषार्थ

इस देवता विषय में दो प्रकार का भेद है। एक मूर्त्तिमान् और दूसरा अमूर्त्तिमान्। जैसे माता, पिता, आचार्य, अतिथि ये चार तो मूर्त्तिमान् देवता हैं और पांचवां परब्रह्म अमूर्त्तिमान् है, अर्थात् उसकी किसी प्रकार की मूर्त्ति नहीं है। इस प्रकार से पांचदेव की पूजा में यह दो प्रकार का भेद जानना उचित है।

तथैव पूर्वोक्तासु देवतास्वग्निपृथिव्यादित्यचन्द्रमोनक्षत्राणि चेति पञ्च वसवो विग्रहवत्यः सन्ति। एवमेकादश रुद्राः,द्वादशादित्याः,मनःषष्ठानि ज्ञानेन्द्रियाणि, वायुरन्तरिक्षं, द्यौर्मन्त्राश्चेति शरीररहिताः। तथा स्तनयित्नुविधियज्ञौ च सशरीराशरीरे देवते स्त इति। एवं सशरीरनिश्शरीरभेदेन देवताद्वयं भवति। तत्रैतासां व्यवहारोपयोगित्वमात्रमेव देवतात्वं गृह्यते।

इत्थमेव मातृपित्राचार्य्यातिथीनां व्यवहारोपयोगित्वं परमार्थप्रकाशकत्वं चैतावन्मात्रं च । परमेश्वरस्तु खल्विष्टोपयोगित्वेनैवोपास्योस्ति । नातो वेदेषु ह्यपरा काचिद्देवता पूज्योपास्यत्वेन विहितास्तीति निश्चीयताम् ।

भाषार्थ

इसी प्रकार पूर्वोक्त आठ वसुओं में से अग्नि, पृथिवी, आदित्य, चन्द्रमा और नक्षत्र ये पांच मूर्त्तिमान् देव हैं और ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, मन, अन्तरिक्ष, वायु, द्यौ और मन्त्र, ये मूर्त्तिरहित देव हैं। तथा पांच ज्ञानेन्द्रियां बिजुली और विधियज्ञ ये सब देव मूर्त्तिमान् और अमूर्त्तिमान् भी हैं * । इससे साकार और निराकार भेद से दो प्रकार की व्यवस्था देवताओं में जाननी चाहिये। इनमें से पृथिव्यादि का देवपन केवल व्यवहार में तथा माता, पिता, आचार्य्य और अतिथियों का व्यवहार में उपयोग और परमार्थ का प्रकाश करनामात्र ही देवपन है और ऐसे ही मन और इन्द्रियों का उपयोग व्यवहार और परमार्थ करने में होता है। परन्तु सब मनुष्यों को उपासना करने के योग्य एक परमेश्वर ही देव है।

अत इदानींतनाः केचिदार्य्या यूरोपखण्डवासिनश्च भौतिकदेवतानामेव पूजनं वेदेष्वस्तीत्यूचुर्वदन्ति च तदलीकतरमस्ति । तथा यूरोपखण्डवासिनो बहव एवं वदन्ति पुरा ह्यार्य्या भौतिकदेवतानां पूजका आसन् पुनस्ताः संपूज्य संपूज्य च बहुकालान्तरे परमात्मानं पूज्यं विदुरिति । तदप्यसत् । तेषां सृष्ट्यारम्भमारभ्यानेकैरिन्द्रवरुणाग्न्यादिभिर्नामभिर्वेदोक्तरीत्येश्वरस्यैवोपासनानुष्ठानाचारागमात् ।

भाषार्थ

प्र०—कितने ही आजकल के आर्य्य और यूरोपदेशवासी अर्थात् अंगरेज

---

* इन्द्रियों की शक्तिरूपद्रव्य अमूर्त्तिमान् और गोलक मूर्त्तिमान्, तथा विद्युत् और विधियज्ञ में जो २ शब्द तथा ज्ञान अमूर्तिमान् और दर्शन तथा सामग्री मूर्त्तिमान् जानना चाहिये।

आदि लोग इस में ऐसी शंका करते हैं कि वेदों में पृथिव्यादि भूतों की पूजा कही है। वे लोग यह भी कहते हैं कि पहिले आर्य्य लोग भूतों की पूजा करते थे, फिर पूजते २ बहुत काल पीछे उन्होंने परमेश्वर को भी पूज्य जाना था। उ०—यह उन का कहना मिथ्या है, क्योंकि आर्य्य लोग सृष्टि के आरम्भ से आज पर्य्यन्त इन्द्र, वरुण और अग्नि आदि नामों करके वेदोक्त प्रमाण से एक परमेश्वर की ही उपासना करते चले आये हैं। इस विषय में अनेक प्रमाण हैं, उन में से थोड़े से यहां भी लिखते हैं।

अत्र प्रमाणानि। (अग्निमी०) अस्य मन्त्रस्य व्याख्याने हि, इन्द्रं मित्रम्०। ऋङ्मन्त्रोऽयम्। अस्योपरीममेवाग्निं महान्तमात्मानमित्यादि निरुक्तं[1] च लिखितं तत्र द्रष्टव्यम्। तथा तदेवाग्निस्तदादित्य०[2] इति यजुर्मन्त्रश्च। तमीशा॑नं जग॑तस्त॒स्थुष॒स्पतिं॑ धियं॑ जिन्वमव॑से हूमहे व॒यम्। पू॒षा नो॒ यथा॒ वेद॑सा॒मस॑द्वृ॒धे र॑क्षि॒ता पा॒युरद॑ब्धः स्व॒स्तये॑ ॥ १ ॥ ऋ० अ० १। अ० ६। व० १५। मं० ५ ॥ हि॒र॒ण्य॒ग॒र्भः सम॑वर्त॒ताग्रे॑ भू॒तस्य॑ जा॒तः पति॒रेक॑ आसीत्। स दा॑धार पृथि॒वीं द्यामु॒तेमां कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम ॥ ऋ० अ० ८। अ० ७। व० ३। मं० १ ॥ इत्यादयो नव मन्त्रा एतद्विषयाः सन्ति। प्रतद्वो॑चेद॒मृतं॒ नु वि॒द्वान् ग॑न्ध॒र्वो धाम॒ विभृ॑तं॒ गुहा॒सत्। त्रीणि॑ प॒दानि॒ निहि॑ता॒ गुहा॑स्य॒ यस्तानि॒ वेद॒ स पि॒तुः पि॒तास॑त् ॥ ३ ॥ स नो॒ बन्धु॒र्जनि॒ता स वि॑धा॒ता धामा॑नि वेद॒ भुव॑नानि॒ विश्वा॑। यत्र॑ दे॒वा अ॒मृत॑मानशा॒नास्तृ॒तीये॒ धाम॑न्न॒ध्यैर॑यन्त ॥ ४ ॥ प॒रीत्य॑ भू॒तानि॑ प॒रीत्य॑ लो॒कान् प॒रीत्य॒ सर्वाः॑ प्र॒दिशो॒ दिश॑श्च। उ॒प॒स्थाय॑ प्रथम॒जामृ॒तस्या॒त्मना॒त्मान॑म॒भि सं वि॑वेश ॥ ५ ॥ य० अ० ३२। मं० ६। १०। ११ ॥ वेदा॒हमे॒तं पुरु॑षं म॒हान्त॑मादि॒त्यव॑र्णं॒ तम॑सः प॒रस्ता॑त्। तमे॒व वि॑दि॒त्वाति॑ मृ॒त्युमे॑ति॒ नान्यः पन्था॑ विद्य॒तेऽय॑नाय ॥ ६ ॥ य० अ० ३१। मं० १८ ॥ तदे॑जति॒ तन्नैज॑ति॒ तद्दू॒रे तद्व॑न्ति॒के। तद॒न्तर॑स्य॒ सर्व॑स्य॒ तदु॒ सर्व॑स्यास्य बाह्य॒तः ॥ ७ ॥ य० अ० ४०। मं० ५ ॥ स[3] पर्य॑गाच्छु॒क्रम॑का॒यम॑व्र॒णम॒-

१—निरु० अ० ७। खं० १८ ॥ २—अ० ३२ मं० १ ॥ ३—यजुर्वेद अ० ४०। मं० ८ ॥

त्यादि च ॥ य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदृषिर्होता न्यसीदत् पिता नः । स आशिषा द्रविणमिच्छमानः प्रथमच्छदवराँ २॥ आविवेश ॥ ८ ॥ किᳬस्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमत्स्वित् कथासीत् । यतो भूमिं जनयन् विश्वकर्मा वि द्यामौर्णोन्महिना विश्वचक्षाः ॥ ९ ॥ विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात् । सम्बाहुभ्यां धमति सम्पतत्रैर्द्यावाभूमी-जनयन्देव एकः ॥ १० ॥ य० अ० १७ । मं० १७ । १८ । १९ ॥ इत्यादयो मन्त्रा यजुषि बहवः सन्ति । तथा सामवेदस्योत्तरार्चिके त्रिकम् ११ । अभित्वा शूर नोनुमोऽदुग्धा इव धेनवः । ईशानमस्य जगतः स्वर्दृश-मीशानमिन्द्र तस्थुषः ॥ ११ ॥ न त्वावाँ अन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते । अश्वायन्तो मघवन्निन्द्र वाजिनो गव्यन्तस्त्वा हवामहे ॥१२॥ इत्यादयश्च ॥ नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमापरोयत् । किमावरीवः कुहकस्य शर्म्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम् ॥ १३ ॥ इयं-विसृष्टिर्यत आ बभूव यदि वा दधे यदि वा न । यो अस्याध्यक्षः परमे व्यो-मन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥ १४ ॥ इत्यन्ताः सप्त मन्त्रा ऋग्वेदे । अ० ८ । अ० ७ । व० १७ । मं० १ । ७ ॥ यत्परममवमं यच्च मध्यमं प्रजापतिः ससृजे विश्वरूपम् । कियता स्कम्भः प्रविवेश तत्र यन्न प्राविशत् कियत्तद्बभूव ॥ १५ ॥ यस्मिन्भूमिरन्तरिक्षं द्यौर्यस्मिन्नध्याहिता । यत्राग्नि-श्चन्द्रमाः सूर्यो वातस्तिष्ठन्त्यार्पिता स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥१६॥ अथर्व० कां० १० । अनु० ४ । मं० ८ । १२ ॥ इत्यादयोऽथर्ववेदेपि बहवो मन्त्राः सन्ति । एतेषां मन्त्राणां मध्यात्केषांचिदर्थः पूर्वं प्रकाशितः केषांचिदग्रे विधास्यतेऽत्राप्रसङ्गान्नोच्यते । अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् । तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमा-नमात्मनः ॥ १ ॥ अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत् । अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ॥ २ ॥ यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह । मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥ ३ ॥ एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति । तमा-त्मस्थं ये नु पश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥ ४ ॥ नित्यो

नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् । तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥५॥ इति कठवल्ल्युपनिषदि ॥ दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः । अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रोऽक्षरात्परतः परः ॥ ६ ॥ यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्यैष महिमा भुवि । दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठितः ॥ ७ ॥ इति मुण्डकोपनिषदि ॥ नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम् । अदृष्टमव्यवहार्य्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्म्यप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ॥ ८ ॥ इति माण्डूक्योपनिषदि ॥ सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायाम् । परमे व्योमन्त्सोऽश्नुते सर्वान्कामान् ब्रह्मणा सह विपश्चितेति ॥ ९ ॥ इति तैत्तिरीयोपनिषदि ॥ यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखम् । भूमात्वेव विजिज्ञासितव्य इति । यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा ॥ अथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पम् । यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यं स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि ॥ इति छान्दोग्योपनिषदि ॥ वेदोक्तेशानादिविशेषणप्रतिपादितोऽणोरणीयानित्याद्युपनिषदुक्तविशेषणप्रतिपादितश्च यः परमेश्वरोऽस्ति, स एवाऽऽर्यैः सृष्टिमारभ्याद्यपर्य्यन्तं यथावद्विदित्वोपासितोऽस्तीति मन्यध्वम् । एवं परब्रह्मविषयप्रकाशकेषु प्रमाणेषु सत्सु भट्टमोक्षमूलरैरुक्तमार्य्याणां पूर्वमीश्वरज्ञानं नासीत्पुनः क्रमाज्जातमिति न तच्छिष्टग्रहणार्हमस्तीति विजानीमः ।

भाषार्थ

(इन्द्रं मित्रम्०) इस में चारों वेद, शतपथ आदि चारों ब्राह्मण, निरुक्त और छः शास्त्र आदि के अनेक प्रमाण हैं कि जिस सद्वस्तु ब्रह्म के इन्द्र, ईशान, अग्नि आदि वेदोक्त नाम हैं और अणोरणीयान् इत्यादि उपनिषदों के विशेषणों से जिसका प्रतिपादन किया है उसी की उपासना आर्य्य लोग सदा से करते आये हैं । इन मन्त्रों में से जिनका अर्थ भूमिका में नहीं किया है उन का आगे

* सह ब्रह्मणेत्युपलभ्यमानोपनिषदि पाठः ॥

वेदभाष्य में किया जायगा और कोई २ आर्य्य लोग किंवा यूरोप आदि देशों में रहनेवाले अंगरेज कहते हैं कि प्राचीन आर्य्य लोग अनेक देवताओं और भूतों की पूजा करते थे। यह उनका कहना व्यर्थ है, क्योंकि वेदों और उनके प्राचीन व्याख्यानों में अग्नि आदि नामों से उपासना के लिये एक परमेश्वर का ही ग्रहण किया है, जिसकी उपासना आर्य्य लोग करते थे, इससे पूर्वोक्त शङ्का किसी प्रकार से नहीं आसकती।

भाष्यम्

किंच।हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पति० एतन्मन्त्रव्याख्यानावसरेऽयं मन्त्रोऽर्वाचीनोऽस्ति छन्दस इति शारमण्यदेशोत्पन्नैर्भट्टमोक्षमूलरैः स्वकीयसंस्कृतसाहित्याख्ये ग्रन्थ एतद्विषये यदुक्तं तन्न संगच्छते। यच्च वेदानां द्वौ भागावेकश्छन्दो, द्वितीयो मन्त्रश्च। तत्र यत्सामान्यार्थाभिधानं परबुद्धि-प्रेरणाजन्यं स्वकल्पनया रचनाभावं, यथाह्यज्ञानिनो मुखादकस्मान्निस्सरेदीदृशं यद्वचनं तच्छन्द इति विज्ञेयम्। तस्योत्पत्तिसमय एकत्रिंशच्छतानि वर्षाण्यधिकाधिकानि व्यतीतानि। तथैकोनत्रिंशच्छतानि वर्षाणि मन्त्रोत्पत्तौ चेत्यनुमानं तेषामस्ति। तत्र तैरुक्तानि प्रमाणानि। अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुतेत्यादीनि ज्ञातव्यानि। तदिदमप्यन्यथास्ति। कुतः। हिरण्यगर्भशब्दस्यार्थ-ज्ञानाभावात्। अत्र प्रमाणानि। ज्योतिर्वै हिरण्यं ज्योतिरेषोऽमृतꣳ हिरण्यम्॥ श० कां० ६। अ० ७॥ केशी केशा रश्मयस्तैस्तद्वान्भवति काशनाद्वा प्रकाशनाद्वा केशीदं ज्योतिरुच्यते॥ नि० अ० १२। खं० २५॥ यशो वै हिरण्यम्॥ ऐ० पं० ७। अ० ३॥ ज्योतिरेवायं पुरुष इत्यात्मज्योतिः॥ श० कां० १४। अ० ७॥ ज्योतिरिन्द्राग्नी॥ श० कां० १०। अ० ४। एषामर्थः। ज्योतिर्विज्ञानं गर्भः स्वरूपं यस्य स हिरण्यगर्भः। एवं च ज्योतिर्हिरण्यं प्रकाशो, ज्योतिरमृतं मोक्षो, ज्योतिरादित्यादयः केशाः प्रकाशकालोकाश्च यशः सत्कीर्तिर्धन्यवादश्च, ज्योतिरात्मा जीवश्च, ज्योतिरिन्द्रः सूर्य्योऽग्निश्चैतत्सर्वं हिरण्याख्यं गर्भे सामर्थ्ये यस्य स हिरण्यगर्भः परमेश्वरः। अतो हिरण्यगर्भशब्दप्रयोगाद्वेदानामुत्तमत्वं सनातनत्वं तु निश्चीयते न नवीनत्वं च। अस्मात्कारणाद्यत्तैरुक्तं हिरण्यगर्भशब्दप्रयो-

गान्मन्त्रभागस्य नवीनत्वं तु द्योतितं भवति, किन्त्वस्य प्राचीनत्त्वे किमपि-प्रमाणं नोपलभामह इति । तद्भ्रममूलमेव विज्ञेयम् । यच्चोक्तं मन्त्रभागनवीनत्वे अग्निः पूर्वेभिरित्यादिकारणं तदपि तादृशमेव । कुतः । ईश्वरस्य त्रिकालदर्शित्वात् । ईश्वरो हि त्रीन्कालान् जानाति । भूतभविष्यद्वर्त्तमानकालस्थैर्मन्त्रद्रष्टृभिर्मनुष्यैर्मन्त्रैः प्राणैस्तर्कैश्चर्षिभिरहमेवेड्यो बभूव भवामि भविष्यामि चेति विदित्त्वेदमुक्तमित्यदोषः । अन्यच्च । ये वेदादिशास्त्राण्यधीत्य विद्वांसो भूत्वाऽध्यापयन्ति ते प्राचीनाः । ये चाधीयते ते नवीनाः । तैर्ऋषिभिरग्निः परमेश्वर एवेड्योस्त्यतश्च ।

भाषार्थ

इसी विषय में डाक्टर मोक्षमूलर साहेब ने अपने बनाये संस्कृत साहित्य ग्रन्थ में ऐसा लिखा है कि आर्य्य लोगों को क्रम से अर्थात् बहुत काल के पीछे ईश्वर का ज्ञान हुआ था और वेदों के प्राचीन होने में एक भी प्रमाण नहीं मिलता, किन्तु उन के नवीन होने में तो अनेक प्रमाण पाये जाते हैं । इस में एक तो हिरण्यगर्भ शब्द का प्रमाण दिया है कि छन्दोभाग से मन्त्रभाग दोसौ वर्ष पीछे बना है, और दूसरा यह है कि वेदों में दो भाग हैं एक तो छन्द और दूसरा मन्त्र । उन में से छन्दोभाग ऐसा है जो सामान्य अर्थ के साथ सम्बन्ध रखता है और दूसरे की प्रेरणा से प्रकाशित हुआ मालूम पड़ता है, कि जिसकी उत्पत्ति बनाने वाले की प्रेरणा से नहीं हो सकती और उस में कथन इस प्रकार का है जैसे अज्ञानी के मुख से अकस्मात् वचन निकला हो । उसकी उत्पत्ति में (३१००) इकतीससौ वर्ष व्यतीत हुए हैं और मन्त्रभाग की उत्पत्ति में (२९००) उनतीससौ वर्ष हुए हैं । उस में (अग्निः पूर्वेभिः०) इस मन्त्र का भी प्रमाण दिया है । सो उन का यह कहना ठीक नहीं हो सकता, क्योंकि उन्होंने (हिरण्यगर्भः०) और (अग्निः पूर्वेभिः०) इन दोनों मन्त्रों का अर्थ यथावत् नहीं जाना है । तथा मालूम होता है कि उन को हिरण्यगर्भ शब्द नवीन जान पड़ा होगा इस विचार से कि हिरण्य नाम है सोने का, वह सृष्टि से बहुत पीछे उत्पन्न हुआ है, अर्थात् मनुष्यों की उन्नति, राजा और प्रजा के

प्रबन्ध होने के उपरान्त पृथिवी में से निकाला गया है । सो यह बात भी उन की ठीक नहीं हो सकती. क्योंकि इस शब्द का अर्थ यह है कि ज्योति कहते हैं विज्ञान का, सो जिसके गर्भ अर्थात् स्वरूप में है, ज्योति अमृत अर्थात् मोक्ष है सामर्थ्य में जिस के, और ज्योति जो प्रकाशस्वरूप सूर्य्यादिलोक जिस के गर्भ में हैं, तथा ज्योति जो जीवात्मा जिस के गर्भ अर्थात् सामर्थ्य में है, तथा यशः सत्कीर्ति जो धन्यवाद जिस के स्वरूप में है, इसी प्रकार ज्योति, इन्द्र अर्थात् सूर्य, वायु और अग्नि ये सब जिस के सामर्थ्य में हैं ऐसा जो एक परमेश्वर है उसी को हिरण्यगर्भ कहते हैं । इस हिरण्यगर्भ शब्द के प्रयोग से वेदों का उत्तमपन और सनातनपन तो यथावत् सिद्ध होता है, परन्तु इस से उन का नवीनपन सिद्ध कभी नहीं हो सकता । इस से डाक्टर मोक्षमूलर साहेब का कहना जो वेदों के नवीन होने के विषय में है सो सत्य नहीं है । और जो उन्होंने (अग्निः पूर्वेभिः०) इस का प्रमाण वेदों के नवीन होने में दिया है सो भी अन्यथा है, क्योंकि इस मन्त्र में वेदों के कर्त्ता, त्रिकालदर्शी ईश्वर ने भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान तीनों कालों के व्यवहारों को यथावत् जान के कहा है कि वेदों को पढ़ के जो विद्वान् हो चुके हैं वा जो पढ़ते हैं वे प्राचीन और नवीन ऋषि लोग मेरी स्तुति करें । तथा ऋषि नाम मन्त्र, प्राण और तर्क का भी है, इनसे ही मेरी स्तुति करनी योग्य है इसी अपेक्षा से ईश्वर ने इस मन्त्र का प्रयोग किया है । इससे वेदों का सनातनपन और उत्तमपन तो सिद्ध होता है, किन्तु उन हेतुओं से वेदों का नवीन होना किसी प्रकार से सिद्ध नहीं हो सकता, इसी हेतु से डाक्टर मोक्षमूलर साहेब का कहना ठीक नहीं ।

भाष्यम्

अत्र निरुक्तेपि प्रमाणम् । तत्प्रकृतीतरद्वर्त्तनसामान्यादित्ययं मन्त्रार्था-[१]भ्यूहोऽभ्यूढोऽपि श्रुतितोऽपि तर्कतो, न तु पृथक्त्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्याः, प्रकरणश एव तु निर्वक्तव्या, नह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वा, पारोवर्य्यवित्सु

१—मन्त्रार्थेति पदस्य परस्ताच्चिन्तेति पदमाधिकन्निरुक्ते ॥

तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवतीत्युक्तं पुरस्तान्मनुष्या वा ऋषि-षूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन्को न ऋषिर्भविष्यतीति तेभ्य, एतं तर्कमृषिं प्रायच्छन् मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहमभ्यूढं तस्माद्यदेव किं चानूचानोऽभ्यूहत्यार्षं तद्भवति ॥ नि० अ० १३ । खं० १२ ॥ अस्यार्थः । (तत्प्रकृती०) तस्य मन्त्र-समूहस्य पदशब्दाक्षरसमुदायानामितरत् परस्परं विशेष्यविशेषणतया सामा-न्यवृत्तौ वर्त्तमानानां मन्त्राणामर्थज्ञानचिन्ता भवति । कोयं खल्वस्य मन्त्र-स्यार्थो भविष्यतीत्यभ्यूहो बुद्धावाभिमुख्येनोहो विशेषज्ञानार्थस्तर्को मनुष्येण कर्त्तव्यः । नैते श्रुतितः श्रवणमात्रेणैव तर्कमात्रेण च पृथक् २ मन्त्रार्था निर्वक्तव्याः । किन्तु प्रकरणानुकूलतया पूर्वापरसंबन्धेनैव नितरां वक्तव्याः । किंच नैवैतेषु मन्त्रेष्वेनृषेरतपसोऽशुद्धान्तःकरणस्याविदुषः प्रत्यक्षं ज्ञानं भवति । न यावद्वा पारोवर्य्यवित्सु कृतप्रत्यक्षमन्त्रार्थेषु मनुष्येषु भूयोविद्यो बहुविद्यान्वितः प्रशस्योऽत्युत्तमो विद्वान् भवति । न तावदभ्यूढः सुतर्केण वेदार्थमपि वक्तुमर्हतीत्युक्तं सिद्धमस्ति । अत्रेतिहासमाह । पुरस्तात्कदाचिन्म-नुष्या ऋषिषु मन्त्रार्थद्रष्टृषूत्क्रामत्स्वतीतेषु सत्सु देवान् विदुषोऽब्रुवन्नपृच्छन् कोऽस्माकं मध्ये ऋषिर्भविष्यतीति । तेभ्यः सत्यासत्यविज्ञानेन वेदार्थबोधार्थं चैतं तर्कमृषिं ते प्रायच्छन् दत्तवन्तोऽयमेव युष्मासु ऋषिर्भविष्यतीत्युत्तर-मुक्तवन्तः । कथंभूतं तं तर्कं ? मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहमभ्यूढम् । मन्त्रार्थविज्ञान-कारकम् । अतः किं सिद्धं ? यः कश्चिदनूचानो, विद्यापारगः, पुरुषोऽ-भ्यूहति, वेदार्थमभ्यूहते, प्रकाशयते, तदेवार्षमृषिप्रोक्तं वेदव्याख्यानं भवतीति मन्तव्यम् । किंच यदल्पविद्येनाल्पबुद्धिना, पक्षपातिना मनुष्येण चाभ्यूह्यते तदनार्षमनृतं भवति । नैतत्केनाप्यादर्त्तव्यमिति । कुतः । तस्यानर्थयुक्तत्वात् । तदादरेण मनुष्याणामप्यनर्थापत्तेश्चेति । अतः पूर्वैभिः प्राक्तनैः प्रथमोत्पन्नै-स्तर्कैर्ऋषिभिस्तथा नूतनैर्वर्त्तमानस्थैश्चोतापि भविष्यद्भिश्च त्रिकालस्थैरग्निः परमेश्वर एवेड्योस्ति । नैवास्माद्भिन्नः कश्चित्पदार्थः कस्यापि मनुष्यस्येड्यः, स्तोतव्य, उपास्योस्तीति निश्चयः । एवमग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनै-रुतेत्यस्य मन्त्रस्यार्थसंगतेनैव वेदेष्ववर्चीनाख्यः कश्चिद् दोषो भवितु-मर्हतीति ।

भाषार्थ

इस में विचारना चाहिये कि वेदों के अर्थ को यथावत् विना विचारे उन के अर्थ में किसी मनुष्य को हठ से साहस करना उचित नहीं, क्योंकि जो वेद सब विद्याओं से युक्त हैं, अर्थात् उन में जितने मन्त्र और पद हैं वे सब सम्पूर्ण सत्यविद्याओं के प्रकाश करने वाले हैं और ईश्वर ने वेदों का व्याख्यान भी वेदों से ही कर रक्खा है, क्योंकि उन के शब्द धात्वर्थ के साथ योग रखते हैं। इसमें निरुक्त का भी प्रमाण है, जैसा कि यास्कमुनि ने कहा है (तत्प्रकृतीत०) इत्यादि। वेदों के व्याख्यान करने के विषय में ऐसा समझना कि जब तक सत्य प्रमाण, सुतर्क, वेदों के शब्दों का पूर्वापर प्रकरणों, व्याकरण आदि वेदाङ्गों, शतपथ आदि ब्राह्मणों, पूर्वमीमांसा आदि शास्त्रों और शाखान्तरों का यथावत् बोध न हो, और परमेश्वर का अनुग्रह, उत्तम विद्वानों की शिक्षा, उन के सङ्ग से पक्षपात छोड़ के आत्मा की शुद्धि न हो, तथा महर्षि लोगों के किये व्याख्यानों को न देखे, तबतक वेदों के अर्थ का यथावत् प्रकाश मनुष्य के हृदय में नहीं होता। इसलिये सब आर्य्य विद्वानों का सिद्धान्त है कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से युक्त जो तर्क है वही मनुष्यों के लिये ऋषि है। इससे यह सिद्ध होता है कि जो सायणाचार्य्य और महीधरादि अल्पबुद्धि लोगों के झूठे व्याख्यानों को देख के आजकल के आर्य्यावर्त्त और यूरोपदेश के निवासी लोग जो वेदों के ऊपर अपनी २ देशभाषाओं में व्याख्यान करते हैं वे ठीक २ नहीं हैं, और उन अनर्थयुक्त व्याख्यानों के मानने से मनुष्यों को अत्यन्त दुःख प्राप्त होता है। इससे बुद्धिमाना को उन व्याख्यानों का प्रमाण करना योग्य नहीं। तर्क का नाम ऋषि होने से सब आर्य्य लोगों का सिद्धान्त है कि सब कालों में अग्नि जो परमेश्वर है वही उपासना करने के योग्य है।

भाष्यम्

अन्यच्च। प्राणा वा ऋषयो दैव्यासः॥ ऐ० पं० २। अ० ४॥ पूर्वेभिः पूर्वकालावस्थास्थैः कारणस्थैः प्राणैः कार्य्यद्रव्यस्थैर्नूतनैश्चर्षिभिः

सहैव समाधियोगेन सर्वैर्विद्वद्भिरग्निः परमेश्वर एवेड्योस्त्यनेन श्रेयो भवतीति मन्तव्यम् ।

भाषार्थ

जगत् के कारण प्रकृति में जो प्राण हैं उन को प्राचीन और उस के कार्य्य में जो प्राण हैं उन को नवीन कहते हैं। इसलिये सब विद्वानों को उन्हीं ऋषियों के साथ योगाभ्यास से अग्नि नामक परमेश्वर की ही स्तुति, प्रार्थना और उपासना करनी योग्य है। इतने से ही समझना चाहिये कि भट्ट मोक्षमूलर साहेब आदि ने इस मन्त्र का अर्थ ठीक २ नहीं जाना है।

भाष्यम्

यच्चोक्तं छन्दोमन्त्रयोर्भेदोस्तीति, तदप्यसंगतम् । कुतः । छन्दोवेदनिगममन्त्रश्रुतीनां पर्य्यायवाचकत्वात् । तत्र छन्दोऽनेकार्थवाचकमस्ति । वैदिकानां गायत्र्यादिवृत्तानां लौकिकानामार्य्यादीनां च वाचकम् । क्वचित्स्वातन्त्र्यस्यापि । अत्राहुर्यास्काचार्य्याः । मन्त्रा मननाच्छन्दांसिच्छादनात्स्तोमः स्तवनाद्यजुर्यजतेः साम संमितमृचा ॥ नि० अ० ७ । खं० १२ ॥ अविद्यादिदुःखानां निवारणात्सुखैराच्छादनाच्छन्दो वेदः । तथा चन्देरादेश्च छः इत्यौणादिकं सूत्रम् । चदि आल्हादने दीप्तौ चेत्यस्माद्धातोरसुन्प्रत्यये परे चकारस्यच्छकारादेशे च कृते छन्दस् इति शब्दो भवति । वेदाध्ययनेन सर्वविद्याप्राप्तेर्मनुष्य आन्हादी भवति, सर्वार्थज्ञाता चातश्छन्दो वेदः । छन्दांऽसि वै देवा वयोनाधाश्छन्दोभिर्हीदꣳ सर्वं वयुनं नद्धम् ॥ श० कां० ८ । अ० २ ॥ एता वै देवताश्छन्दांऽसि ॥ श० कां० ८ । अ० ३ ॥ अस्यायमभिप्रायः । मत्रि गुप्तपरिभाषणे, अस्माद्धलश्चेति सूत्रेण घञ् प्रत्यये कृते मन्त्रशब्दस्य सिद्धिर्जायते । गुप्तानां पदार्थानां भाषणं यस्मिन्वर्त्तते स मन्त्रो वेदः । तदवयवानामनेकार्थानामपि मन्त्रसंज्ञा भवति, तेषां तदर्थवत्त्वात् । तथा मनज्ञाने, अस्माद्धातोः सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन् इत्युणादिसूत्रेण ष्ट्रन्प्रत्यये कृते मन्त्रशब्दो व्युत्पद्यते । मन्यन्ते ज्ञायन्ते सर्वैर्मनुष्यैः सत्याः पदार्था येन,

यस्मिन्वा स मन्त्रो वेदः । तदवयवा अग्निमीळेपुरोहितमित्यादयो मन्त्रा गृह्यन्ते । यानि गायत्र्यादीनि छन्दांसि तदन्विता मन्त्राः सर्वार्थद्योतकत्वा-देवताशब्देन गृह्यन्ते । अतश्च छन्दांस्येव देवाः वयोनाधाः सर्वक्रियाविद्या-निबन्धनास्तैश्छन्दोभिरेव वेदैर्वेदमन्त्रैश्चेदं सर्वं विश्वं वयुनं कर्मादि चेश्वरेण नद्धं बद्धं कृतमिति विज्ञेयम् । येन छन्दसा छन्दोभिर्वा सर्वा विद्याः संवृता आवृताः सम्यक् स्वीकृता भवन्ति । तस्माच्छन्दांसि वेदा, मननान्मन्त्राश्चेति पर्यायौ । एवं श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेय इति मनुस्मृतौ, इत्यपि निगमो भवतीति निरुक्ते । श्रुतिर्वेदो मन्त्रश्च, निगमो वेदो मन्त्रश्चेति पर्य्यायौ स्तः । श्रूयन्ते वा सकला विद्या यया सा श्रुति,र्वेदो मन्त्राश्च श्रुतयः । तथा निगच्छन्ति नितरां जानन्ति प्राप्नुवन्ति वा सर्वा विद्या यस्मिन् स निगमो वेदो मन्त्रश्चेति ।

भाषार्थ

जैसे छन्द और मन्त्र ये दोनों शब्द एकार्थवाची अर्थात् संहिता भाग के नाम हैं, वैसे ही निगम और श्रुति भी वेदों के नाम हैं । भेद होने का कारण केवल अर्थ ही है । वेदों का नाम छन्द इसलिये रक्खा है कि वे स्वतन्त्रप्रमाण और सत्यविद्याओं से परिपूर्ण हैं । तथा उन का मन्त्र नाम इसलिये है कि उन से सत्यविद्याओं का ज्ञान होता है । और श्रुति इसलिये कहते हैं कि उनके पढ़ने, अभ्यास करने और सुनने से सब सत्य विद्याओं को मनुष्य लोग जान सकते हैं । ऐसे ही जिस करके सब पदार्थों का यथार्थ ज्ञान हो उस को निगम कहते हैं । इससे यह चारों शब्द पर्याय अर्थात् एक अर्थ के वाची हैं, ऐसा ही जानना चाहिये ।

भाष्यम्

तथा व्याकरणेपि । मन्त्रे घसह्वरणशवृदहाद्वृचकृगमिजनिभ्यो लेः ॥ १ ॥ अष्टाध्याय्याम् । अ० २ । पा० ४ । सू० ८० ॥ छन्दसि लुङ् लङ् लिटः ॥२॥ अ० ३ । पा० ४ । सू०६ ॥ वा षपूर्वस्य निगमे ॥३॥ अ० ६ । पा० ४ । सू० ९ ॥ अत्रापिच्छन्दोमन्त्रनिगमाः पर्य्यायवाचिनः सन्ति । एवं छन्द आदीनां पर्यायसिद्धेर्यो भेदं ब्रूते तद्वचनमप्रमाणमेवास्तीति विज्ञायते ।

भाषार्थ

वैसे ही अष्टाध्यायी व्याकरण में भी छन्द, मन्त्र और निगम ये तीनों नाम वेदों ही के हैं। इसलिये जो लोग इनमें भेद मानते हैं उनका वचन प्रमाण करने के योग्य नहीं।

इति वेदविषयविचारः

अथ वेदसंज्ञाविचारः

अथ कोयं वेदो नाम? मन्त्रभागसंहितेत्याह। किञ्च मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयमिति कात्यायनोक्तेर्ब्राह्मणभागस्यापि वेदसंज्ञा कुतो न स्वीक्रियत इति?। मैवं वाच्यम्। न ब्राह्मणानां वेदसंज्ञा भवितुमर्हति। कुतः। पुराणेतिहाससंज्ञकत्वाद्वेदव्याख्यानादृषिभिरुक्तत्वादनीश्वरोक्तत्वात्कात्यायनभिन्नैर्ऋषिभिर्वेदसंज्ञायामस्वीकृतत्वान्मनुष्यबुद्धिरचितत्त्वाच्चेति।

भाषार्थ

प्र०—वेद किनका नाम है? उ०—मन्त्रसंहिताओं का। प्र०—जो कात्यायन ऋषि ने कहा है कि मन्त्र और ब्राह्मण ग्रन्थों का नाम वेद है, फिर ब्राह्मणभाग को भी वेदों में ग्रहण आप लोग क्यों नहीं करते हैं? उ०—ब्राह्मणग्रन्थ वेद नहीं हो सकते, क्योंकि उन्हीं का नाम इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा और नाराशंसी भी है। वे ईश्वरोक्त नहीं हैं, किन्तु महर्षि लोगों के किये वेदों के व्याख्यान हैं। एक कात्यायन को छोड़ के किसी अन्य ऋषि ने उन के वेद होने में साक्षी नहीं दी है, और वे देहधारी पुरुषों के बनाये हैं। इन हेतुओं से ब्राह्मणग्रन्थों की वेदसंज्ञा नहीं हो सकती, और मन्त्रसंहिताओं का वेद नाम इसलिये है कि ईश्वररचित और सब विद्याओं का मूल है।

भाष्यम्

यथा ब्राह्मणग्रन्थेषु मनुष्याणां नामलेखपूर्वका लौकिका इतिहासाः सन्ति

न चैवं मन्त्रभागे । किंच भोः । त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम् । यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नो अस्तु त्र्यायुषम् ॥ १ ॥ यजु० अ० ३ । मं० ६२ ॥ इत्यादीनि वचनान्यृषीणां नामाङ्कितानि यजुर्वेदादिष्वपि दृश्यन्ते । अनेनेतिहासादिविषये मन्त्रब्राह्मणयोस्तुल्यता दृश्यते पुनर्ब्राह्मणानामपि वेदसंज्ञा कुतो न मन्यते ? । मैवं भ्रमि । नैवात्र जमदग्निकश्यपौ देहधारिणो मनुष्यस्य नाम्नी स्तः । अत्र प्रमाणम् । चक्षुर्वै जमदग्निर्ऋषिर्यदेनेन जगत्पश्यत्यथो मनुते तस्माच्चक्षुर्जमदग्निर्ऋषिः ॥ श० कां० ८ । अ० १ ॥ कश्यपो वै कूर्मः, प्राणो वै कूर्मः ॥ शत० कां० ७ । अ० ५ । अनेन प्राणस्य कूर्मः कश्यपश्च संज्ञास्ति । शरीरस्य नाभौ तस्य कूर्माकारावस्थितेः । अनेन मन्त्रेणेश्वर एव प्रार्थ्यते तद्यथा—हे जगदीश्वर ! भवत्कृपया नोऽस्माकं जमदग्निसंज्ञकस्य चक्षुषः कश्यपाख्यस्य प्राणस्य च त्र्यायुषं त्रिगुणमर्थात् त्रीणि शतानि वर्षाणि यावत्तावदायुरस्तु । चक्षुरित्युपलक्षणमिन्द्रियाणां, प्राणो मन आदीनां च (यद्देवेषु त्र्यायुषम्) अत्र प्रमाणम् । विद्वाᳪंसो हि देवाः ॥ श० कां० ३ । अ० ७ ॥ अनेन विदुषां देवसंज्ञास्ति । देवेषु विद्वत्सु यद्विद्याप्रभावयुक्तं त्रिगुणमायुर्भवति (तन्नो अस्तु त्र्यायुषम्) तत्सेन्द्रियाणां समनस्कानां नोस्माकं पूर्वोक्तं सुखयुक्तं त्रिगुणमायुरस्तु भवेत् । येन सुखयुक्ता वयं तावदायुर्भुञ्जीमहि । अनेनान्यदप्युपदिश्यते । ब्रह्मचर्यादिसुनियमैर्मनुष्यैरेतत्त्रिगुणमायुः कर्तुं शक्यमस्तीति गम्यते । अतोऽर्थाभिधायकैर्जमदग्न्यादिभिः शब्दैरर्थमात्रं वेदेषु प्रकाश्यते । अतो नात्र मन्त्रभागे हीतिहासलेशोऽप्यस्तीत्यवगन्तव्यम् । अतो यच्च सायणाचार्य्यादिभिर्वेदप्रकाशादिषु यत्र कुत्रेतिहासवर्णनं कृतं तद्भ्रममूलमस्तीति मन्तव्यम् ।

भाषार्थ

प्र०—जैसे ऐतरेय आदि ब्राह्मणग्रन्थों में याज्ञवल्क्य, मैत्रेयी, गार्गी और जनक आदि के इतिहास लिखे हैं, वैसे ही (त्र्यायुषं जमदग्नेः०) इत्यादि वेदों में भी पाये जाते हैं, इससे मन्त्र और ब्राह्मणभाग ये दोनों बराबर होते हैं, फिर ब्राह्मण ग्रन्थों को वेदों में क्यों नहीं मानते हो ? उ०—ऐसा भ्रम

मत करो, क्योंकि जमदग्नि और कश्यप ये नाम देहधारी मनुष्यों के नहीं हैं। इस का प्रमाण शतपथ ब्राह्मण में लिखा है कि चक्षु का नाम जमदग्नि और प्राण का नाम कश्यप है। इस कारण से यहां प्राण से अन्तःकरण और आंख से सब इन्द्रियों का ग्रहण करना चाहिये। अर्थात् जिनसे जगत् के सब जीव बाहर और भीतर देखते हैं। (त्र्यायुषं ज०) सो इस मंत्र से ईश्वर की प्रार्थना करनी चाहिये कि हे जगदीश्वर! आप के अनुग्रह से हमारे प्राण आदि अन्तःकरण और आंख आदि सब इन्द्रियों की (३००) तीनसौ वर्ष तक उमर बनी रहे, (यद्देवेषु०) सो जैसी विद्वानों के बीच में विद्यादि शुभगुण और आनन्दयुक्त उमर होती है (तन्नो अस्तु०) वैसी ही हम लोगों की भी हो, तथा (त्र्यायुषं जमदग्नेः०) इत्यादि उपदेश से यह भी जाना जाता है कि मनुष्य ब्रह्मचर्य्यादि उत्तम नियमों से त्रिगुण चतुर्गुण आयु कर सकता है, अर्थात् (४००) चारसौ वर्ष तक भी सुखपूर्वक जी सकता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि वेदों में सत्य अर्थ के वाचक शब्दों से सत्यविद्याओं का प्रकाश किया है, लौकिक इतिहासों का नहीं। इससे जो सायणाचार्यादि लोगों ने अपनी २ बनाई टीकाओं में वेदों में जहां तहां इतिहास वर्णन किये हैं वे सब मिथ्या हैं।

भाष्यम्

तथा ब्राह्मणग्रन्थानामेव पुराणेतिहासादिनामास्ति न ब्रह्मवैवर्तश्रीमद्भागवतादीनां चेति निश्चीयते। किंच भोः। ब्रह्मयज्ञविधाने यत्र क्वचिद्ब्राह्मणसूत्रग्रन्थेषु यद्ब्राह्मणानीतिहासान्पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीरित्यादीनि वचनानि दृश्यन्ते एषां मूलमथर्ववेदेप्यास्ति। स बृ॒ह॒तीं दिश॒मनु॒ व्य॑चलत्। तमिति॒हास॑श्च पुरा॒णं च॒ गाथा॑श्च नाराशं॒सीश्चा॑नु॒व्य॑चलन्। इ॒ति॒हा॒सस्य॑ च॒ वै सपु॒रा॒णस्य॑ च॒ गाथा॑नां च नारा॒शं॒सीनां॑ च प्रि॒यं धाम॑ भवति॒ य ए॒वं वेद॑ ॥ १ ॥ अथर्व० कां० १५। प्रपा० ३०। अनु० १। मं० ४॥ अतो ब्राह्मणग्रन्थेभ्यो भिन्ना भागवतादयो ग्रन्था इतिहासादिसंज्ञया कुतो न गृह्यन्ते ?। मैवं वाचि। तैः प्रमाणैर्ब्राह्मणग्रन्थानामेव ग्रहणं जायते न

श्रीमद्भागवतादीनामिति । कुतः । ब्राह्मणग्रन्थेष्वितिहासादीनामन्तर्भावात् । तत्र देवासुराः संयत्ता आसन्नित्यादय इतिहासा ग्राह्याः । स देव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् ॥ छान्दोग्योपनि० प्रपा० ६ ॥ आत्मा वा इदमेकमेवाग्रआसीन्नान्यत् किंचनामिषत् ॥ इत्यैतरेयारण्यकोपनि० अ० १ । खं० १ ॥ आपो ह वा इदमग्रे सलिलमेवास ॥ श० कां० ११ । अ० १ ॥ इदं वा अग्रे नैव किंचिदासीत् । इत्यादीनि जगतः पूर्वावस्थाकथनपूर्वकाणि वचनानि ब्राह्मणान्तर्गतान्येव पुराणानि ग्राह्याणि । कल्पा मन्त्रार्थसामर्थ्यप्रकाशकाः । तद्यथा । इषेत्वोर्जेत्वेति वृष्ट्यै तदाह । यदाहेषेत्वेत्यूर्जेत्वेति यो वृष्टादूर्ग्रसो जायते तस्मै तदाह । सविता वै देवानां प्रसविता सवितृप्रसूताः ॥ श० कां० १ । अ० ७ ॥ इत्यादयो ग्राह्याः । गाथा याज्ञवल्क्यजनकसंवादो, यथा शतपथब्राह्मणे गार्गीमैत्रेय्यादीनां परस्परं प्रश्नोत्तरकथनयुक्ताः सन्तीति । नाराशंस्यश्च । अत्राहुर्यास्काचार्याः । नराशंसो यज्ञ इति कथक्यो[1], नरा अस्मिन्नासीनाः शंसन्त्यग्निरिति शाकपूणि,नरैः प्रशस्यो भवति ॥ नि० अ० ८ । खं० ६ ॥ नृणां यत्र प्रशंसा नृभिर्यत्र प्रशस्यते ता ब्राह्मणनिरुक्ताद्यन्तर्गताः कथा नाराशंस्यो ग्राह्या, नातोऽन्या इति । किंच तेषु तेषु वचनेष्वपीदमेव विज्ञायते यत् यस्माद्ब्राह्मणानीति संज्ञीपदमितिहासादिस्तेषां संज्ञेति । तद्यथा । ब्राह्मणान्येवेतिहासान् जानीयात् पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीश्चेति ।

भाषार्थ

और इस हेतु से ब्राह्मण ग्रन्थों का ही इतिहासादि नाम जानना चाहिये, श्रीमद्भागवतादि का नहीं । प्र०—जहां २ ब्राह्मण और सूत्र ग्रन्थों में (यद्ब्राह्मण०) इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा, नाराशंसी इत्यादि वचन देखने में आते हैं, तथा अथर्ववेद में भी इतिहास, पुराणादि नामों का लेख है, इस हेतु से ब्राह्मणग्रन्थों से भिन्न ब्रह्मवैवर्त्त, श्रीमद्भागवत, महाभारतादि का ग्रहण इति-

१ काथक्य इति निरुक्ते ।

हास, पुराणादि नामों से क्यों नहीं करते हो ? उ०—इनके ग्रहण में कोई भी प्रमाण नहीं है, क्योंकि उनमें मतों के परस्पर विरोध और लड़ाई आदि की असम्भव मिथ्या कथा अपने २ मत के अनुसार लोगों ने लिख रक्खी हैं। इससे इतिहास और पुराणादि नामों से इन का ग्रहण करना किसी मनुष्य को उचित नहीं। जो ब्राह्मण ग्रन्थों में (देवासुराः संयत्ता आसन्) अर्थात् देव विद्वान् और असुर मूर्ख ये दोनों युद्ध करने को तत्पर हुए थे इत्यादि कथाओं का नाम इतिहास है। (सदेव सो०) अर्थात् जिस में जगत् की उत्पत्ति आदि का वर्णन है उस ब्राह्मण भाग का नाम पुराण है। (इषेत्वोर्जेत्वेति वृष्टयै०) जो वेदमन्त्रों के अर्थ अर्थात् जिन में द्रव्यों के सामर्थ्य का कथन किया है उनका नाम कल्प है। इसी प्रकार जैसे शतपथ ब्राह्मण में याज्ञवल्क्य, जनक, गार्गी, मैत्रेयी आदि की कथाओं का नाम गाथा है और जिन में नर अर्थात् मनुष्य लोगों ने ईश्वर, धर्म आदि पदार्थविद्याओं और मनुष्यों की प्रशंसा की है उनको नाराशंसी कहते हैं। (ब्राह्मणानीतिहासान्०) इस वचन में ब्राह्मणानि संज्ञी और इतिहासादि संज्ञा है। अर्थात् ब्राह्मण ग्रन्थों का नाम इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा और नाराशंसी है। सो ब्राह्मण और निरुक्तादि ग्रन्थों में जो २ जैसी २ कथा लिखी हैं उन्हीं का इतिहासादि से ग्रहण करना चाहिये, अन्य का नहीं।

भाष्यम्

अन्यदप्यत्र प्रमाणमस्ति न्यायदर्शनभाष्ये। वाक्यविभागस्य चार्थग्रहणात् ॥ १ ॥ अ० २ । आ० २ । सू० ६० ॥ अस्योपरि वात्स्यायनभाष्यम्। प्रमाणं शब्दो यथा लोके, विभागश्च ब्राह्मणवाक्यानां त्रिविधः। अयमभिप्रायः। ब्राह्मणग्रन्थशब्दा लौकिका एव, न वैदिका इति। तेषां त्रिविधो विभागो लक्ष्यते। सू० विध्यर्थवादानुवादवचनविनियोगात् ॥ २ ॥ अ० २ । आ० २ । सू० ६१ ॥ अस्योप० वा० भा०। त्रिधा खलु ब्राह्मणवाक्यानि विनियुक्तानि विधिवचनान्यर्थवादवचनान्यनुवचनानीति, तत्र। सू० विधिर्विधायकः ॥ ३ ॥ अ० २ । आ० २ । सू० ६२ ॥ अस्योप० वा० भा०। यद्वाक्यं विधायकं चोदकं स विधिः। विधिस्तु नियोगोऽनुज्ञा

वा, यथाऽग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम इत्यादि । ब्राह्मणवाक्यानामिति शेषः । सू० स्तुतिर्निन्दा परकृतिः पुराकल्प इत्यर्थवादः ॥ ४ ॥ अ० २ । आ० २ । सू० ६३ ॥ अस्योप० वा० भा० । विधेः फलवादलक्षणा या प्रशंसा सा स्तुतिः, संप्रत्ययार्थं, स्तूयमानं श्रद्दधीतेति प्रवर्त्तिका च, फलश्रवणात्प्रवर्त्तते । सर्वजिता वै देवाः सर्वमजयन्सर्वस्याप्त्यै सर्वस्य जित्यै सर्वस्यैतेनाप्नोति सर्वं जयतीत्येवमादि । अनिष्टफलवादो निन्दा, वर्जनार्थं, निन्दितं न समाचरेदिति । स एष वा प्रथमो यज्ञो यज्ञानां यज्ज्योतिष्टोमो, य एतेनानिष्ट्वाऽन्येन यजते गर्त्ते पतत्ययमेतज्जीर्यते वा इत्येवमादि । अन्यकर्तृकस्य व्याहतस्य विधेर्वादः परकृतिः । हुत्वा वपामेवाग्रेऽभिघारयन्ति । अथ पृषदाज्यं तदु ह चरकाध्वर्य्यवः पृषदाज्यमेवाग्रेऽभिघारयन्ति । अग्नेः प्राणाः पृषदाज्यं स्तोममित्येवमभिदधतीत्येवमादि । ऐतिह्यसमाचरितो विधिः पुराकल्प इति । तस्माद्वा एतेन ब्राह्मणा हविः पवमानं साम स्तोममस्तौषन् योनेर्यज्ञं प्रतनवामह इत्येवमादि । कथं परकृतिपुराकल्पौ अर्थवादाविति । स्तुतिनिन्दावाक्येनाभिसंबन्धाद्विध्याश्रयस्य कस्य कस्यचिदर्थस्य द्योतनादर्थवाद इति ।

भाषार्थ

ब्राह्मण ग्रन्थों की इतिहासादि संज्ञा होने में और भी प्रमाण है । जैसे लोक में तीन प्रकार के वचन होते हैं वैसे ब्राह्मण ग्रन्थों में भी हैं । उन में से एक विधिवाक्य है । जैसे (देवदत्तो ग्रामं गच्छेत्सुखार्थम्) सुख के लिये देवदत्त ग्राम को जाय । इसी प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों में भी है (अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः) जिस को सुख की इच्छा हो वह अग्निहोत्रादि यज्ञों को करे । दूसरा अर्थवाद है, जो कि चार प्रकार का होता है । एक स्तुति, अर्थात् पदार्थों के गुणों का प्रकाश करना, जिससे मनुष्यों की श्रद्धा उत्तम काम करने और गुणों के ग्रहण में ही हो । दूसरी निन्दा, अर्थात् बुरे काम करने में दोषों का दिखलाना, जिससे उन को कोई न करे । तीसरा (परकृतिः), जैसे इस चोर ने बुरा काम किया इस से उस को दण्ड मिला और साहूकार ने अच्छा काम किया इससे उस की प्रतिष्ठा और उन्नति हुई । चौथा (पुराकल्प), अर्थात् जो

बात पहिले हो चुकी हो, जैसे जनक की सभा में याज्ञवल्क्य, गार्गी, शाकल्य आदि ने इकट्ठे होके आपस में प्रश्नोत्तर रीति से संवाद किया था। इत्यादि इतिहासों को पुराकल्प कहते हैं।

भाष्यम्

सू०—विधिविहितस्यानुवचनमनुवादः ॥ ५ ॥ अ० २ । आ० २ । सू० ६४ ॥ अस्योप० वा० भा० । विध्यनुवचनं चानुवादो, विहितानुवचनं च। पूर्वः शब्दानुवादोऽपरोऽर्थानुवादः । सू० न चतुष्ट्वमैतिह्यार्थापत्तिसंभवाभावप्रामाण्यात् ॥ ६ ॥ अ० २ । आ० २ । सू० १ ॥ अस्योप० वा० भा० । न चत्वार्य्येव प्रमाणानि किं तर्हि, ऐतिह्यमर्थापत्तिः संभवोऽभाव इत्येतान्यपि प्रमाणानि। इति होचुरित्यनिर्दिष्टप्रवक्तृकं प्रवादपारंपर्य्यमैतिह्यम्। अनेन प्रमाणेनापीतिहासादिनामभिर्ब्राह्मणान्येव गृह्यन्ते, नान्यदिति।

भाषार्थ

इस का तीसरा भाग अनुवाद है। अर्थात् जिस का पूर्व विधान करके उसी का स्मरण और कथन करना। सो भी दो प्रकार का है। एक शब्द का और दूसरा अर्थ का। जैसे वह विद्या को पढ़े यह शब्दानुवाद है। विद्या पढ़ने से ही ज्ञान होता है इस को अर्थानुवाद कहते हैं। जिस की प्रतिज्ञा उसी में हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन को घटाना हो। जैसे परमेश्वर नित्य है, यह प्रतिज्ञा है। विनाश रहित होने से यह हेतु है। आकाश के समान है इस को उदाहरण कहते हैं। जैसा आकाश नित्य है वैसा परमेश्वर भी है इस को उपनय कहते हैं। और इन चारों का क्रम से उच्चारण करके पक्ष में यथावत् योजना करने को निगमन कहते हैं, जैसे, परमेश्वर नित्य है, विनाशरहित होने से, आकाश के समान, जैसा आकाश नित्य है वैसा परमेश्वर भी। इससे इस में समझ लेना चाहिये कि जिस शब्द और अर्थ का दूसरी वार उच्चारण और विचार हो इसको अनुवाद कहते हैं। सो ब्राह्मण पुस्तकों में यथावत् लिखा है। इस हेतु से भी ब्राह्मण पुस्तकों का नाम इतिहास आदि जानना चाहिये। क्योंकि

इन में से इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा और नाराशंसी ये पांच प्रकार की कथा सब ठीक २ लिखी हैं, और भागवतादि को इतिहासादि नहीं जानना चाहिये, क्योंकि उन में मिथ्या कथा बहुतसी लिखी हैं ।

भाष्यम्

अन्यच्च। ब्राह्मणानि तु वेदव्याख्यानान्येव सन्ति, नैव वेदाख्यानीति। कुतः । इषेत्वोर्जेत्वेति ॥ श० कां० १ । अ० ७ ॥ इत्यादीनि मन्त्रप्रतीकानि धृत्वा ब्राह्मणेषु वेदानां व्याख्यानकरणात् ।

भाषार्थ

ब्राह्मण ग्रन्थों की वेदों में गणना नहीं हो सकती, क्योंकि (इषेत्वोर्जेत्वेति०) इस प्रकार से उन में मन्त्रों की प्रतीक धर २ के वेदों का व्याख्यान किया है। और मन्त्रभाग संहिताओं में ब्राह्मण ग्रन्थों की एक भी प्रतीक कहीं नहीं देखने में आती। इससे जो ईश्वरोक्त मूलमन्त्र अर्थात् चार संहिता हैं वे ही वेद हैं, ब्राह्मण ग्रन्थ नहीं ।

भाष्यम्

अन्यच्च महाभाष्येपि । केषां शब्दानाम् ? । लौकिकानां वैदिकानां च। तत्र लौकिकास्तावत् । गौरश्वः पुरुषो हस्ती शकुनिर्मृगो ब्राह्मण इति। वैदिकाः खल्वपि । शन्नो देवीरभिष्टये । इषेत्वोर्जेत्वा । अग्निमीळे पुरोहितम् । अग्न आयाहि वीतयइति । यदि ब्राह्मणग्रन्थानामपि वेदसंज्ञाभीष्टाभूत्तर्हि तेषामप्युदाहरणमदात् । अत एव महाभाष्यकारेण मन्त्रभागस्यैव वेदसंज्ञां मत्वा प्रथममन्त्रप्रतीकानि वैदिकेषु शब्देषूदाहृतानि । किन्तु यानि गौरश्व इत्यादीनि लौकिकोदाहरणानि दत्तानि तानि ब्राह्मणादिग्रन्थष्वेव घटन्ते । कुतः। तेष्वीदृशशब्दपाठव्यवहारदर्शनात् । द्वितीया ब्राह्मणे ॥ १ ॥ अ० २ । पा० ३ ॥ सू० ६० ॥ चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि ॥ २ ॥ अ० २ । पा० ३ । सू० ६२ ॥ पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु ॥३॥ अ० ४ । पा० ३ । सू० १०५॥

इत्यष्टाध्याय्यां सूत्राणि । अत्रापि पाणिन्याचार्य्यैर्वेदब्राह्मणयोर्भेदेनैव प्रतिपादितम् (१) । तद्यथा पुराणैः प्राचीनैर्ब्रह्माद्यृषिभिः प्रोक्ता ब्राह्मणकल्पग्रन्था वेदव्याख्यानाः सन्ति । अतएवैतेषां पुराणेतिहाससंज्ञा कृतास्ति । यद्यत्र छन्दोब्राह्मणयोर्वेदसंज्ञाभीष्टा भवेत्तर्हि चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसीति छन्दोग्रहणं व्यर्थं स्यात् । कुतः । द्वितीया ब्राह्मण इति ब्राह्मणशब्दस्य प्रकृतत्वात् । अतो विज्ञायते न ब्राह्मणग्रन्थानां वेदसंज्ञास्तीति । अतः किं सिद्धम् ? ब्रह्मेति ब्राह्मणानां नामास्ति । अत्र प्रमाणम् । ब्रह्म वै ब्राह्मणः, क्षत्रꣳ राजन्यः ॥ श० कां० १३ । अ० १ ॥ समानार्थावेतौ वृषशब्दो वृषन्शब्दश्च, ब्रह्मन्शब्दो ब्राह्मणशब्दश्च । इति व्याकरणमहाभाष्ये । अ० ५ । पा० १ । आ० १ ॥ चतुर्वेदविद्भिर्ब्रह्मभिर्ब्राह्मणैर्महर्षिभिः प्रोक्तानि यानि वेदव्याख्यानानि तानि ब्राह्मणानि । अन्यच्च । कात्यायनेनापि ब्रह्मणा वेदेन सहचरितत्वात्सहचारोपाधिं मत्वा ब्राह्मणानां वेदसंज्ञा संमतेति विज्ञायते । एवमपि न सम्यगस्ति । कुतः । एवं तेनानुक्तत्वादतोऽन्यैर्ऋषिभिरगृहीतत्वात् । अनेनापि न ब्राह्मणानां वेदसंज्ञा भवितुमर्हतीति । इत्यादिबहुभिः प्रमाणैर्मन्त्राणामेव वेदसंज्ञा, न ब्राह्मणग्रन्थानामिति सिद्धम् ।

भाषार्थ

ब्राह्मण ग्रन्थों की वेदसंज्ञा नहीं होने में व्याकरण महाभाष्य का भी प्रमाण है, जिस में लोक और वेदों के भिन्न २ उदाहरण दिये हैं । जैसे गौरश्वः० इत्यादि लोक के और शन्नोदेवीरभिष्टय इत्यादि वेदों के हैं । किन्तु वैदिक उदाहरणों में ब्राह्मणों का एक भी उदाहरण नहीं दिया और गौरश्वः इत्यादि जो लोक के उदाहरण दिये हैं वे सब ब्राह्मण पुस्तकों के हैं, क्योंकि उन में ऐसा ही पाठ है । इसी कारण से ब्राह्मण पुस्तकों की वेद संज्ञा नहीं हो सकती । और कात्यायन के नाम से जो दोनों की वेद संज्ञा होने में वचन है सो सहचार उपाधि लक्षणा से किया हो तो भी नहीं बन सकता, क्योंकि जैसे किसी ने किसी से कहा कि उस लकड़ी को भोजन करादो, और दूसरे ने इतने ही कहने से तुरन्त जान लिया कि लकड़ी जड़ पदार्थ होने से भोजन नहीं कर सकती, किन्तु

जिस मनुष्य के हाथ में लकड़ी है उसको भोजन कराना चाहिये, इस प्रकार से कहा हो तो भी मानने के योग्य नहीं हो सकता, क्योंकि इस में अन्य ऋषियों की एक भी साक्षी नहीं है। इससे यह सिद्ध हुआ कि ब्रह्म नाम ब्राह्मण का है, सो ब्रह्मादि जो वेदों के जानने वाले महर्षि लोग थे उन्हीं के बनाये हुए ऐतरेय, शतपथ आदि वेदों के व्याख्यान हैं, इसी कारण से उनके किये ग्रन्थों का नाम ब्राह्मण हुआ है। इससे निश्चय हुआ कि मन्त्रभाग की ही वेदसंज्ञा है, ब्राह्मण ग्रन्थों की नहीं।

भाष्यम्

किञ्च भोः! ब्राह्मणग्रन्थानामपि वेदवत्प्रामाण्यं कर्त्तव्यमाहोस्विन्नेति। अत्र ब्रूमः। नैतेषां वेदवत्प्रामाण्यं कर्त्तुं योग्यमस्ति। कुतः। ईश्वरोक्ताभावात्तदनुकूलतयैव प्रमाणार्हत्वाच्चेति। परन्तु सन्ति तानि परतः प्रमाणयोग्यान्येवेति।

भाषार्थ

प्र०—हम यह पूछते हैं कि ब्राह्मण ग्रन्थों का भी वेदों के समान प्रमाण करना उचित है वा नहीं? उ०—ब्राह्मण ग्रन्थों का प्रमाण वेदों के तुल्य नहीं हो सकता, क्योंकि वे ईश्वरोक्त नहीं हैं। परन्तु वेदों के अनुकूल होने से प्रमाण के योग्य तो हैं *।

इति वेदसंज्ञाविचारः

अथ ब्रह्मविद्याविषयः

वेदेषु सर्वा विद्याः सन्त्याहोस्विन्नेति? । अत्रोच्यते । सर्वाः सन्ति

---

* इसमें इतना भेद है कि जो ब्राह्मण ग्रन्थों में कहीं वेद से विरुद्ध हो उस का प्रमाण करना किसी को न चाहिये और ब्राह्मण ग्रन्थों से विरोध आवे तो भी वेदों का प्रमाण होता है।

मूलोद्देशतः । तत्रादिमा ब्रह्मविद्या संक्षेपतः प्रकाश्यते । तमीशानं जगत-स्तस्थुषस्पतिं धियं जिन्वमवसे हूमहे वयम् । पूषा नो यथा वेदसामसद्वृधे रक्षिता पायुरदब्धः स्वस्तये ॥ १ ॥ ऋ० अ० १ । अ० ६ । व० १५ । मं० ५ ॥ तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः । दिवीव चक्षुराततम् ॥२॥ ऋ० अ० १ । अ० २ । व० ७ । मं० ५ ॥ अनयोरर्थः । (तमीशानम्) ईष्टेऽसावीशानः सर्वजगत्कर्ता (जगतस्तस्थुषस्पतिं) जगतो जङ्गमस्य तस्थुषः स्थावरस्य च पतिः स्वामी (धियं जिन्वम्) यो बुद्धेस्तृप्तिकर्त्ता (अवसे हूमहे वयम्) तमवसे रक्षणाय वयं हूमहे आह्वयामः (पूषा) पुष्टिकर्त्ता (नः) स एवास्माकं पुष्टिकारकोऽस्ति (यथा वेदसामसद्वृधे) हे परमेश्वर! यथा येन प्रकारेण वेदसां विद्यासुवर्णादीनां धनानां वृधे वर्धनाय भवानस्ति तथैव कृपया (रक्षिताऽसत्) रक्षकोऽप्यस्तु । एवं (पायुरदब्धः स्वस्तये) अस्माकं रक्षणे स्वस्तये सर्वसुखाय (अदब्धः) अनलसः सन् पालनकर्त्ता सदैवास्तु ॥ १ ॥ तद्विष्णोरिति मन्त्रस्यार्थो वेदविषयप्रकरणे विज्ञानकाण्डे गदितस्तत्र द्रष्टव्यः ।

भाषार्थ

प्र०—वेदों में सब विद्या हैं वा नहीं ? । उ०—सब हैं । क्योंकि जितनी सत्य विद्या संसार में हैं वे सब वेदों से ही निकली हैं । उन में से पहिले ब्रह्म-विद्या संक्षेप से लिखते हैं । (तमीशानं) जो सब जगत् का बनाने वाला है, (जगतस्तस्थुषस्पतिं) अर्थात् जगत् जो चेतन और तस्थुष जो जड़, इन दो प्रकार के संसार का जो राजा और पालन करने वाला है, (धियं जिन्वम्) जो मनुष्यों को बुद्धि और आनन्द से तृप्त करने वाला है, उस की (अवसे हूमहे वयम्) हम लोग आह्वान अर्थात् अपनी रक्षा के लिये प्रार्थना करते हैं, (पूषा नः) क्योंकि वह हम को सब सुखों से पुष्ट करने वाला है, (यथा वेदसामसद्वृधे) हे परमेश्वर ! जैसे आप अपनी कृपा से हमारे सब पदार्थों और सुखों को बढ़ाने वाले हैं वैसे ही (रक्षिता) सब की रक्षा भी करें (पायु-रदब्धः स्वस्तये) जैसे आप हमारे रक्षक हैं वैसे ही सब सुख भी दीजिये ॥१॥

(तद्विष्णो०) इस मंत्र का अर्थ वेदविषयप्रकरण के विज्ञानकाण्ड में अच्छी प्रकार लिख दिया है, वहां देख लेना ॥ २ ॥

भाष्यम्

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च । उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभिसंविवेश ॥ ३ ॥ य० अ० ३२ । मं० ११ ॥ (परीत्य भू०) यः परमेश्वरो भूतान्याकाशादीनि परीत्य सर्वतोभिव्याप्य, सूर्य्यादीन् लोकान् परीत्य, पूर्वादिदिशः परीत्य, आग्नेयादिप्रदिशश्च परीत्य परितः सर्वतः इत्वा, प्राप्य, विदित्वा च । (उपस्थाय प्र०) यः स्वसामर्थ्यस्याप्यात्मास्ति, यश्च प्रथमानि सूक्ष्मभूतानि जनयति, तं परमानन्दस्वरूपं मोक्षाख्यं परमेश्वरं यो जीव आत्मना स्वसामर्थ्येनान्तःकरणेनोपस्थाय तमेवोपगतो भूत्वा, विदित्वा, चाभिसंविवेश आभिमुख्येन सम्यक् प्राप्य स एव मोक्षाख्यं सुखमनुभवतीति ।

भाषार्थ

(परीत्य भू०) जो परमेश्वर आकाशादि सब भूतों में तथा (परीत्य लोकान्) सूर्य्यादि सब लोकों में व्याप्त हो रहा है, (परीत्य सर्वाः०) इसी प्रकार जो पूर्वादि सब दिशा और आग्नेयादि उपदिशाओं में भी निरन्तर भरपूर हो रहा है, अर्थात् जिस की व्यापकता से एक अणु भी खाली नहीं है, (ऋतस्या०) जो अपने भी सामर्थ्य का आत्मा है, (प्रथमजां) और जो कल्पादि में सृष्टि की उत्पत्ति करने वाला है, उस आनन्दस्वरूप परमेश्वर को जो जीवात्मा अपने सामर्थ्य अर्थात् मन से यथावत् जानता है वही उस को प्राप्त होके (अभि०) सदा मोक्ष सुख को भोगता है ॥ ३ ॥

भाष्यम्

महद्यक्षं भुवनस्य मध्ये तपसि क्रान्तं सलिलस्य पृष्ठे । तस्मिञ्छ्रयन्ते य उ के च देवा वृक्षस्य स्कन्धः परित इव शाखाः ॥ ४ ॥ अथर्व० कां० १० ।

प्रपा० २३ । अनु० ४ । मं० ३८ ॥ (महद्यक्षं) यन्महत्सर्वेभ्यो महत्तरं, यक्षं सर्वमनुष्यैः पूज्यम्, (भुवनस्य) सर्वसंसारस्य (मध्ये) परिपूर्णम्, (तपसि क्रान्तं) विज्ञाने वृद्धम्, (सलिलस्य) अन्तरिक्षस्य कारणरूपेण कार्यस्य प्रलयानन्तरं (पृष्ठे) पश्चात् स्थितमस्ति, तदेव ब्रह्म विज्ञेयम् (तस्मिञ्छ्रय०) तस्मिन्ब्रह्मणि ये के चापि देवास्त्रयस्त्रिंशद्वस्वादयस्ते सर्वे तदाधारेणैव तिष्ठन्ति । कस्य का इव ? (वृक्षस्य स्कन्धः) वृक्षस्य स्कन्धे परितः सर्वतो लग्नाः शाखा इव ।

भाषार्थ

(महद्यक्षं०) ब्रह्म जो महत् अर्थात् सब से बड़ा और सब का पूज्य है, (भुवनस्य म०) जो सब लोकों के बीच में विराजमान और उपासना करने के योग्य है, (तपसि क्रान्तं) जो विज्ञानादि गुणों में सब से बड़ा है, (सलिलस्य पृष्ठे) सलिल जो अन्तरिक्ष अर्थात् आकाश है उस का भी आधार और उस में व्यापक, तथा जगत् के प्रलय के पीछे भी नित्य निर्विकार रहने वाला है, (तस्मिञ्छ्रयन्ते य उ के च देवाः) जिस के आश्रय से वसु आदि पूर्वोक्त तेतीस देव ठहर रहे हैं, (वृक्षस्य स्कन्धः परित इव शाखाः) जैसे कि पृथिवी से वृक्ष का प्रथम अङ्कुर निकल के और वही स्थूल हो के सब डालियों का आधार होता है, इसी प्रकार सब ब्रह्माण्ड का आधार वही एक परमेश्वर है ।

भाष्यम्

न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते ॥ ६ ॥ न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते ॥ ७ ॥ नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते ॥ ८ ॥ तमिदं निगतं सहः स एष एक एकवृदेक एव ॥ ९ ॥ सर्वे अस्मिन् देवा एकवृतो भवन्ति ॥ १० ॥ अथर्व० कां० १३ । अनु० ४ । मं० १६ । १७ । १८ । २० । २१ ॥ (न द्वितीय०) एतैर्मन्त्रैरिदं विज्ञायते परमेश्वर एक एवास्तीति । नैवातो भिन्नः कश्चिदपि द्वितीयः तृतीयः चतुर्थः ॥ ६ ॥ पञ्चमः षष्ठः सप्तमः ॥ ७ ॥ अष्टमो नवमो दशमश्चेश्वरो विद्यते ॥ ८ ॥ यतो नव-

भिनकारैर्द्वित्वसंख्यामारभ्य शून्यपर्यन्तेनैकमीश्वरं विधायास्माद्भिन्नेश्वरभावस्यातिशयतया निषेधो वेदेषु कृतोऽस्त्यतो द्वितीयस्योपासनमत्यन्तं निषिध्यते । सर्वानन्तर्यामितया प्राप्तः सन्, जडं चेतनं च द्विविधं सर्वं जगत्, स एव पश्यति, नास्य कश्चिद्द्रष्टास्ति । न चायं कस्यापि दृश्यो भवितुमर्हति । येनेदं जगद्व्याप्तं तमेव परमेश्वरमिदं सकलं जगदपि (निगतं) निश्चितं प्राप्तमस्ति । व्यापकाद्व्याप्यस्य संयोगसंबन्धत्वात् । (सहः) यतः सर्वं सहते तस्मात्स एवैष सहोस्ति । स खल्वेक एव वर्त्तते । न कश्चिद्द्वितीयस्तदाधिकस्तत्तुल्यो वास्ति । एकशब्दस्य त्रिग्रहणात् । अतः सजातीयविजातीयस्वगतभेदराहित्यमीश्वरे वर्त्तत एव, द्वितीयेश्वरस्यात्यन्तनिषेधात् । कस्मात् । एकवृदेक एवेत्युक्तत्वात् स एष एक एकवृत् । एकेन चेतनमात्रेण वस्तुनैव वर्त्तते । पुनरेक एवासहायः सन् य इदं सकलं जगद्रचयित्वा धारयतीत्यादिविशेषणयुक्तोस्ति । तस्य सर्वशक्तिमत्त्वात् ॥ ९ ॥ अस्मिन्सर्वशक्तिमति परमात्मनि सर्वे देवाः पूर्वोक्ता वस्वादय एकवृत एकाधिकरणा एव भवन्त्यर्थात्प्रलयानन्तरमपि तत्सामर्थ्यं प्राप्यैककारणवृत्तयो भवन्ति । एवंविधाश्चान्येपि ब्रह्मविद्याप्रतिपादकाः सपर्य्यगाच्छुक्रमकायमित्यादयो मन्त्रा वेदेषु बहवः सन्ति । ग्रन्थाधिक्यभिया नात्र लिख्यन्ते । किन्तु यत्र यत्र वेदेषु ते मन्त्राः सन्ति तत्तद्भाष्यकरणावसरे तत्र तत्रार्थानुदाहरिष्याम इति ।

भाषार्थ

(न द्वितीयो न०) इन सब मन्त्रों से यह निश्चय होता है कि परमेश्वर एक ही है, उससे भिन्न कोई न दूसरा, न तीसरा और न कोई चौथा परमेश्वर है ॥ ६ ॥ (न पञ्चमो न०) न पांचवां, न छठा, न कोई सातवां ईश्वर है ॥ ७ ॥ (नाष्टमो न०) न आठवां, न नवमा और न कोई दशमा ईश्वर है ॥ ८ ॥ (तमिदं०) किन्तु वह सदा एक अद्वितीय ही है, उससे भिन्न दूसरा ईश्वर कोई भी नहीं । इन मन्त्रों में जो दो से लेके दश पर्य्यन्त अन्य ईश्वर होने का निषेध किया है सो इस अभिप्राय से है कि सब संख्या का मूल एक (१) अङ्क ही है । इसी को दो, तीन, चार, पांच, छः, सात, आठ और नव

वार गणने से २, ३, ४, ५, ६, ७ ८ और ९ (नव) अंक बनते हैं, और एक पर शून्य देने से १० का अङ्क होता है। उन से एक ईश्वर का निश्चय करा के वेदों में दूसरे ईश्वर के होने का सर्वथा निषेध ही लिखा है। अर्थात् उस के एकपने में भी भेद नहीं और वह शून्य भी नहीं। किन्तु जो सच्चिदानन्दादि लक्षणयुक्त, एकरस परमात्मा है, वही सदा से सब जगत् में परिपूर्ण होके, पृथिवी आदि सब लोकों को रच के, अपने सामर्थ्य से धारण कर रहा है। तथा वह अपने काम में किसी का सहाय नहीं लेता, क्योंकि वह सर्वशक्तिमान् है॥ ९॥ (सर्वे अस्मिन्) उसी परमात्मा के सामर्थ्य में वसु आदि सब देव अर्थात् पृथिवी आदि लोक ठहर रहे हैं और प्रलय में भी उस के सामर्थ्य में लय होके उसी में बने रहते हैं। इस प्रकार के मन्त्र वेदों में बहुत हैं। यहां उन सब के लिखने की कुछ आवश्यकता नहीं, क्योंकि जहां २ वे मन्त्र आवेंगे वहां २ उन का अर्थ कर दिया जायगा।

इति ब्रह्मविद्याविषयविचारः

अथ वेदोक्तधर्मविषयः संक्षेपतः प्रकाश्यते

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्। देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते॥ १॥ ऋ० अ० ८। अ० ८। व० ४९। मं० २॥

(संगच्छध्वं०) ईश्वरोऽभिवदति हे मनुष्या! मयोक्तं न्याय्यं पक्षपातरहितं सत्यलक्षणोज्ज्वलं धर्मं यूयं संगच्छध्वं सम्यक् प्राप्नुत, अर्थात् तत्प्राप्त्यर्थं सर्वं विरोधं विहाय परस्परं संगता भवत, येन युष्माकमुत्तमं सुखं सर्वदा वर्धेत सर्वदुःखनाशश्च भवेत्, (संवद०) संगता भूत्वा परस्परं जल्पवितण्डादि विरुद्धवादं विहाय संप्रीत्या प्रश्नोत्तरविधानेन संवादं कुरुत, यतो युष्मासु सम्यक्सत्यादि शुभगुणाः सदा वर्धेरन्, (सं वो मनांसि जानताम्) यूयं जानन्तो विज्ञानवन्तो भवत, जानता वो युष्माकं

मनांसि यथा ज्ञानवन्ति भवेयुस्तथा सम्यक् पुरुषार्थं कुरुतार्थाद्येन युष्मन्मनांसि सदानन्दयुक्तानि स्युस्तथा प्रयतध्वम्, युष्माभिर्धर्म एव सेवनीयो नाधर्मश्चे-त्यत्र दृष्टान्त उच्यते (देवा भागं यथा०), यथा पूर्वे संजानाना, ये सम्यग्ज्ञानवन्तो देवा, विद्वांस, आप्ताः पक्षपातरहिता, ईश्वरधर्मोपदेशप्रियाश्चासन् युष्मत्पूर्वं विद्यामधीत्य वर्त्तन्ते, किंवा ये मृतास्ते, यथा भागं भजनीयं, सर्व-शक्तिमदादिलक्षणमीश्वरं, मदुक्तं धर्मं चोपासते, तथैव युष्माभिरपि स एव धर्म उपासनीयो, यतो वेदप्रतिपाद्यो धर्मो निश्शङ्कतया विदितश्च भवेत् ॥१॥

भावार्थ

अब वेदों की रीति से धर्म के लक्षणों का वर्णन किया जाता है । (संगच्छध्वं) देखो परमेश्वर हम सभों के लिये धर्म का उपदेश करता है कि हे मनुष्य लोगो ! जो पक्षपातरहित, न्याय, सत्याचरण से युक्त धर्म है तुम लोग उसी को ग्रहण करो । उससे विपरीत कभी मत चलो । किन्तु उसी की प्राप्ति के लिये विरोध को छोड़ के परस्पर सम्मति में रहो । जिससे तुम्हारा उत्तम सुख सब दिन बढ़ता जाय और किसी प्रकार का दुःख न हो । (संवदध्वं०) तुम लोग विरुद्ध वाद को छोड़ के परस्पर अर्थात् आपस में प्रीति के साथ पढ़ना, पढ़ाना, प्रश्न, उत्तर सहित संवाद करो । जिससे तुम्हारी सत्यविद्या नित्य बढ़ती रहे । (सं वो मनांसि जानताम्) तुम लोग अपने यथार्थ ज्ञान को नित्य बढ़ाते रहो । जिससे तुम्हारा मन प्रकाशयुक्त होकर पुरुषार्थ को नित्य बढ़ावे । जिस से तुम लोग ज्ञानी होके नित्य आनन्द में बने रहो और तुम लोगों को धर्म का ही सेवन करना चाहिये, अधर्म का नहीं । (देवा भागं य०) जैसे पक्षपातरहित धर्मात्मा विद्वान् लोग वेदरीति से सत्यधर्म का आचरण करते हैं, उसी प्रकार से तुम भी करो । क्योंकि धर्म का ज्ञान तीन प्रकार से होता है । एक तो धर्मात्मा विद्वानों की शिक्षा, दूसरा आत्मा की शुद्धि तथा सत्य को जानने की इच्छा, और तीसरा परमेश्वर की कही वेदविद्या को जानने से ही मनुष्यों को सत्य असत्य का यथावत् बोध होता है, अन्यथा नहीं ॥ १ ॥

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्त-मेषाम् । समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि ॥ २ ॥ ऋ० अ० ८ । अ० ८ । व० ४९ । मं० ३ ॥

(समानो मन्त्रः०) हे मानवाः ! वो युष्माकं मन्त्रोऽर्थान्मामीश्वरमारभ्य पृथिवीपर्यन्तानां गुप्तप्रसिद्धसामर्थ्यगुणानां पदार्थानां भाषणमुपदेशनं ज्ञानं वा भवति यस्मिन् येन वा स मन्त्रो विचारो भवितुमर्हति । तद्यथा । राज्ञो मन्त्री सत्यासत्यविवेककर्त्तेत्यर्थः, सोपि सत्यज्ञानफलः, सर्वोपकारकः, समानस्तुल्योऽर्थाद्विरोधरहित एव भवतु । यदा बहुभिर्मनुष्यैर्मिलित्वा संदिग्धपदार्थानां विचारः कर्त्तव्यो भवेत्तदा प्रथमतः पृथक् पृथगपि सभासदां मतानि भवेयुस्तत्रापि सर्वेभ्यः सारं गृहीत्वा यद्यत्सर्वमनुष्यहितकारकं सद्गुणलक्षणान्वितं मतं स्यात्तत्तत्सर्वं ज्ञात्वैकत्र कृत्वा नित्यं समाचरत । यतः प्रतिदिनं सर्वेषां मनुष्याणामुत्तरोत्तरमुत्तमं सुखं वर्धेत । तथा (समितिः समानी) समितिः सामाजिकनियमव्यवस्था, ऽर्थाद्या न्यायप्रचाराढ्या, सर्वमनुष्याणां मान्यज्ञानप्रदा, ब्रह्मचर्यविद्याभ्यासशुभगुणसाधिका, शिष्टसमया राज्यप्रबन्धाद्याल्हादिता, परमार्थव्यवहारशोधिका, बुद्धिशरीरबलारोग्यवर्द्धिनी शुभमर्य्यादापि समानी सर्वमनुष्यस्वतन्त्रदानसुखवर्धनायैकरसैव कार्य्येति, (समानं मनः०) मनः संकल्पविकल्पात्मकं, संकल्पोऽभिलाषेच्छेत्यादि, विकल्पोऽप्रीतिर्द्वेष इत्यादि । शुभगुणान्प्रति संकल्पः, अशुभगुणान्प्रति विकल्पश्च रक्षणीयः । एतद्धर्मकं युष्माकं मनः समानमन्योन्यमविरुद्धस्वभावमेवास्तु । यच्चित्तं पूर्वपरानुभूतं स्मरणात्मकं धर्मेश्वरचिन्तनं तदपि समानमर्थात्सर्वप्राणिनां दुःखनाशाय सुखवर्धनाय च स्वात्मवत्सम्यक् पुरुषार्थेनैव कार्य्यम्, (सह) युष्माभिः परस्परस्य सुखोपकारायैव सर्वं सामर्थ्यं योजनीयम् । (एषां०) ये ह्येषां सर्वजीवानां सङ्गे स्वात्मवद्वर्त्तन्ते तादृशानां परोपकारिणां परसुखदातृणामुपर्य्यहं कृपालुर्भूत्वा (अभिमन्त्रये वः) युष्मान्पूर्वपरोक्तं धर्ममाज्ञापयामि । इत्थमेव सर्वैः कर्त्तव्यमिति । येन युष्माकं मध्ये नैव कदाचित्सत्यनाशोऽसत्यवृद्धिश्च भवेत् । (समानेन वो०) हविर्दानं ग्रहणं च,

तदपि सत्येन धर्मेण युक्तमेव कार्य्यम् तेन समानेनैव हविषा वो युष्मान् जुहोमि, सत्यधर्मेण सहैवाह सदा नियोजयामि । अतो मदुक्त एव धर्मो मन्तव्यो नान्य इति ॥ २ ॥

भाषार्थ

(समानो मन्त्रः) हे मनुष्य लोगो! जो तुम्हारा मन्त्र अर्थात् सत्य असत्य का विचार है वह समान हो उस में किसी प्रकार का विरोध न हो । और जब २ तुम लोग मिल के विचार करो, तब २ सब के वचनों को अलग २ सुन के, जो २ धर्मयुक्त और जिसमें सब का हित हो सो २ सब में से अलग करके, उसी का प्रचार करो । जिस से सभों का बराबर सुख बढ़ता जाय । (समितिः समानी) और जिस में सब मनुष्यों का मान, ज्ञान, विद्याभ्यास, ब्रह्मचर्य आदि आश्रम, अच्छे २ काम, उत्तम मनुष्यों की सभा से राज्य के प्रबन्ध का यथावत् करना और जिस से बुद्धि, शरीर, बल, पराक्रम आदि गुण बढ़ें तथा परमार्थ और व्यवहार शुद्ध हों ऐसी जो उत्तम मर्य्यादा है सो भी तुम लोगों की एक ही प्रकार की हो । जिससे तुम्हारे सब श्रेष्ठ काम सिद्ध होते जायं । (समानं मनः सह चित्तं) हे मनुष्य लोगो ! तुम्हारा मन भी आपस में विरोधरहित, अर्थात् सब प्राणियों के दुःख के नाश और सुख की वृद्धि के लिये अपने आत्मा के समतुल्य पुरुषार्थवाला हो । शुभ गुणों की प्राप्ति की इच्छा को संकल्प और दुष्ट गुणों के त्याग की इच्छा को विकल्प कहते हैं । जिससे जीवात्मा ये दोनों कर्म करता है उस का नाम मन है । उस से सदा पुरुषार्थ करो । जिससे तुम्हारा धर्म सदा दृढ़ और अविरुद्ध हो । तथा चित्त उसको कहते हैं कि जिस से सब अर्थों का स्मरण अर्थात् पूर्वापर कर्मों का यथावत् विचार हो । वह भी तुम्हारा एक सा हो । (सह) जो तुम्हारा मन और चित्त हैं, ये दोनों सब मनुष्यों के सुख ही के लिये प्रयत्न में रहें । (एषां०) इस प्रकार से जो मनुष्य सब का उपकार करने और सुख देनेवाले हैं, मैं उन्हीं पर सदा कृपा करता हूं । (समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः) अर्थात् मैं उन के लिये आशीर्वाद और आज्ञा देता हूं कि सब मनुष्य मेरी इस आज्ञा के अनुकूल

चलें। जिस से उन का सत्य धर्म बढ़ और असत्य का नाश हो। (समानेन वो हविषा जुहोमि) हे मनुष्य लोगो! जब २ कोई पदार्थ किसी को दिया चाहो, अथवा किसी से ग्रहण किया चाहो, तब २ धर्म से युक्त ही करो। उस से विरुद्ध व्यवहार को मत करो। और यह बात निश्चय करके जान लो कि म सत्य के साथ तुम्हारा और तुम्हारे साथ सत्य का संयोग करता हूं। इसलिय कि तुम लोग इसी को धर्म मान के सदा करते रहो और इस से भिन्न को धर्म कभी मत मानो ॥ २ ॥

स॒मा॒नीव॒ आकू॑तिः समा॒ना हृद॑यानि वः। स॒मा॒नम॑स्तु वो॒ मनो॒ यथा॑ वः॒ सुस॒हास॑ति॥ ऋ० अ० ८। अ० ८। व० ४९। मं० ४ ॥

भाष्यम्

अस्यायमभिप्रायः। हे मानवाः! वो युष्माकं यत्सर्वं सामर्थ्यमस्ति तद्धर्मसंबन्धे परस्परमविरुद्धं कृत्वा सर्वैः सुखं सदा संवर्धनीयमिति, (समानी व०) आकूतिरध्यवसाय उत्साह आसुरीतिर्वा सापि वो युष्माकं परस्परोपकारकरणेन सर्वेषां जनानां सुखायैव भवतु, यथा मदुपदिष्टस्यास्य धर्मस्य विलोपो न स्यात्तथैव कार्य्यम्, (समाना हृदयानि वः) वो युष्माकं हृदयान्यर्थान्मानसानि प्रेमप्रचुराणि कर्माणि निर्वैराय समानान्यविरुद्धान्येव सन्तु, (समानमस्तु वो मनः) अत्र प्रमाणम्, कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव तस्मादपि पृष्ठत उपस्पृष्टो मनसा विजानाति ॥ श० कां० १४। अ० ४ ॥ मनसा विविच्य पुनरनुष्ठातव्यम्। शुभगुणानामिच्छा कामः। तत्प्राप्त्यनुष्ठानेच्छा संकल्पः। पूर्वं संशयं कृत्वा पुनर्निश्चयकरणेच्छा संशयो विचिकित्सा। ईश्वरसत्यधर्मादिगुणानामुपर्यत्यन्तं विश्वासः श्रद्धा। अनीश्वरवादाधर्माद्युपरि सर्वथा ह्यनिश्चयोऽश्रद्धा। सुखदुःखप्राप्त्यापीश्वरधर्माद्युपरि सदैव निश्चयरक्षणं धृतिः। अशुभगुणानामाचरणं नैव कार्य्यमित्यध्यमधृतिः। सत्यधर्माचरणेऽसत्याचरणे मनसः संकोचो घृणा ह्रीः। शुभगुणान् शीघ्रं धारयेदिति धारणावती वृत्तिर्धीः। असत्या-

चरणादीश्वराज्ञाभंगात्पापाचरणादीश्वरो नः सर्वत्र पश्यतीत्यादि वृत्तिर्भीः । एतद्धर्मकं मनो वो युष्माकं समानं तुल्यमस्तु । (यथा वः सुसहासति) हे मनुष्या वो युष्माकं यथा परस्परं सुसहायेन स्वसति सम्यक् सुखोन्नतिः स्यात्तथा सर्वैः प्रयत्नो विधेयः । सर्वान् सुखिनो दृष्ट्वा चित्त आल्हादः कार्य्यः । नैव कंचिदपि दुःखितं दृष्ट्वा सुखं केनापि कर्त्तव्यम् । किंतु यथा सर्वे स्वतन्त्राः सुखिनः स्युस्तथैव सर्वैः कार्य्यमिति ।

भाषार्थ

(समानी व आकूतिः) ईश्वर इस मन्त्र का प्रयोजन कहता है कि हे मनुष्य लोगो ! तुम्हारा जितना सामर्थ्य है उस को धर्म के साथ मिला के सब सुखों को सब दिन बढ़ाते रहो । निश्चय, उत्साह और धर्मात्माओं के आचरण को आकूति कहते हैं । हे मनुष्य लोगो ! तुम्हारा सब पुरुषार्थ सब जीवों के सुख के लिये सदा हो । जिससे मेरे कहे धर्म का कभी त्याग न हो । और सदा वैसा ही प्रयत्न करते रहो कि जिससे (समाना हृदयानि वः) तुम्हारे हृदय अर्थात् मन के सब व्यवहार आपस में सदा प्रेमसहित और विरोध से अलग रहें । (समानमस्तु वो मनः) मनः शब्द का अनेक वार ग्रहण करने में यह प्रयोजन है कि जिससे मन के अनेक अर्थ जाने जायँ । (कामः) प्रथम विचार ही करके सब उत्तम व्यवहारों का आचरण करना और बुरों को छोड़ देना इस का नाम काम है । (संकल्पः) जो सुख और विद्यादि शुभ गुणों को प्राप्त होने के लिये प्रयत्न से अत्यन्त पुरुषार्थ करने की इच्छा है उस को संकल्प कहते हैं । (विचिकित्सा) जो २ काम करना हो उस २ को प्रथम शङ्का कर कर के ठीक निश्चय करने के लिये जो संदेह करना है उसका नाम विचिकित्सा है । (श्रद्धा) जो ईश्वर और सत्य धर्म आदि शुभ गुणों में निश्चय से विश्वास को स्थिर रखना है उस को श्रद्धा जानना । (अश्रद्धा) अर्थात् अविद्या, कुतर्क, बुरे काम करने, ईश्वर को नहीं मानने और अन्याय आदि अशुभ गुणों से सब प्रकार से अलग रहने का नाम अश्रद्धा समझना चाहिये । (धृतिः) जो सुख, दुःख, हानि, लाभ आदि के होने में भी अपने धीरज को नहीं छोड़ना उस का

नाम धृति है । (अधृति) बुरे कामों में दृढ़ न होने को अधृति कहते हैं । (ह्रीः) अर्थात् जो झूठे आचरण करने और सच्चे कामों को नहीं करने में मन को लज्जित करना है उस को ह्री कहते हैं । (धीः) जो श्रेष्ठ गुणों को शीघ्र धारण करनेवाली वृत्ति है उस को धी कहते हैं । (भीः) जो ईश्वर की आज्ञा अर्थात् सत्याचरण धर्म करना और उस से उलटे पाप के आचरण से नित्य डरते रहना, अर्थात् ईश्वर हमारे सब कामों को सब प्रकार से देखता है ऐसा जानकर उससे सदा डरना, कि जो मैं पाप करूंगा तो ईश्वर मुझ पर अप्रसन्न होगा इत्यादि गुण वाली वस्तु का नाम मन है । इस को सब प्रकार से सब के सुख के लिये युक्त करो । (यथा वः सुसहासति) हे मनुष्य लोगो ! जिस प्रकार अर्थात् पूर्वोक्त धर्म सेवन से तुम लोगों को उत्तम सुखों की बढ़ती हो और जिस श्रेष्ठ सहाय से आपस में एक से दूसरे को सुख बढ़े ऐसा काम सब दिन करते रहो । किसी को दुःखी देख के अपने मन में सुख मत मानो । किन्तु सब को सुखी करके अपने आत्मा को सुखी जानो । जिस प्रकार से स्वाधीन होके सब लोग सदा सुखी रहें वैसा ही यत्न करते रहो ॥ ३ ॥

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत्सत्यानृते प्रजापतिः । अश्रद्धामनृते दधाच्छ्रद्धाꣳ सत्ये प्रजापतिः ॥ ४ ॥ य० अ० १९ । मं० ७७ ॥

भाष्यम्

अस्यायम० (दृष्ट्वा०) प्रजापतिः परमेश्वरो धर्ममुपदिशति सर्वैर्मनुष्यैः सर्वथा सर्वदा सत्य एव सम्यक् श्रद्धा रक्षणीयाऽसत्ये चाश्रद्धेति । (प्रजापतिः) परमेश्वरः (सत्यानृते) धर्माधर्मौ (रूपे) प्रसिद्धाप्रसिद्धलक्षणौ दृष्ट्वा (व्याकरोत्) सर्वज्ञया स्वया विद्यया विभक्तौ कृतवानस्ति । कथमित्यत्राह (अश्रद्धाम०) सर्वेषां मनुष्याणामनृतेऽसत्येऽधर्मेऽन्यायेऽश्रद्धामदधात् । अर्थादधर्मेऽश्रद्धां कर्तुमाज्ञापयति । तथैव वेदशास्त्रप्रतिपादिते, सत्ये, प्रत्यक्षादिभिः प्रमाणैः परीक्षिते, पक्षपातरहिते, न्याय्ये धर्मे प्रजापतिः सर्वज्ञ ईश्वरः श्रद्धां चादधात् । एवं सर्वैर्मनुष्यैः परमप्रयत्नेन स्वकीयं चित्तं धर्मे प्रवृत्तमधर्मान्निवृत्तं च सदैव कार्य्यमिति ॥ ४ ॥

भाषार्थ

(दृष्ट्वा०) इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि प्रजापति परमेश्वर जो सब जगत् का स्वामी अर्थात् मालिक है वह सब मनुष्यों के लिये धर्म का उपदेश करता है कि सब मनुष्यों को सब प्रकार से सब काल में सत्य में ही प्रीति करनी चाहिये, असत्य में कभी नहीं। (प्रजापतिः) सब जगत् का अध्यक्ष जो ईश्वर है सो (सत्यानृते) सत्य जो धर्म और असत्य जो अधर्म हैं, जिन के प्रकट और गुप्त लक्षण हैं, * (व्याकरोत्) उन को ईश्वर ने अपनी सर्वज्ञ विद्या के ठीक २ विचार से देख के सत्य और झूठ को अलग २ किया है। सो इस प्रकार से है कि (अश्रद्धाम०) हे मनुष्य लोगो ! तुम सब दिन अनृत अर्थात् झूठ अन्याय के करने में (अश्रद्धा) अर्थात् प्रीति कभी मत करो। वैसा ही (श्रद्धाँस०) सत्य अर्थात् जो वेदशास्त्रोक्त और जिसकी प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से परीक्षा की गई हो वा की जाय वही पक्षपात से अलग न्यायरूप धर्म है। उस के आचरण में सब दिन प्रीति रक्खो, और जो २ तुम लोगों के लिये मेरी आज्ञा है उस २ में अपने आत्मा, प्राण और मन को सब पुरुषार्थ तथा कोमल स्वभाव से युक्त करके सदा सत्य ही में प्रवृत्त करो ॥ ४ ॥

दृते दृꣳह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्। मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ॥ ५ ॥ य० अ० ३६। मं० १८ ॥

भाष्यम्

(दृते दृꣳह०) अस्यायम० सर्वे मनुष्याः सर्वथा सर्वदा सर्वैः सह सौहार्द्येनैव वर्तेरन्निति। सर्वैरीश्वरोक्तोयं धर्मः स्वीकार्य्यः, ईश्वरः प्रार्थनीयश्च, यतो धर्मनिष्ठा स्यात्। तद्यथा। हे दृते ! सर्वदुःखविनाशकेश्वर !

* जितना धर्म अधर्म का लक्षण बाहर की चेष्टा के साथ सम्बन्ध रखता है वह प्रकट और जितना आत्मा के साथ सम्बन्ध रखता है वह गुप्त कहाता है।

मदुपरि कृपां विधेहि, यतोऽहं सत्यधर्मं यथावद्विजानीयाम्, पक्षपातरहितस्य सुहृदश्चक्षुषा प्रेमभावेन सर्वाणि भूतानि (मा) मां सदा समीक्षन्तामर्थान्मम मित्राणि भवन्तु। इतीच्छाविशिष्टं मां (दृꣳह) दृंह, सत्यसुखैः शुभगुणैश्च सह सदा वर्धय, (मित्रस्याहं०) एवमहमपि मित्रस्य चक्षुषा स्वात्मवत्प्रेमबुद्ध्या (सर्वाणि भूतानि समीक्षे) सम्यक् पश्यामि, (मित्रस्य च०) इत्थमेव मित्रस्य चक्षुषा निर्वैरा भूत्वा वयमन्योन्यं समीक्षामहे, सुखसंपादनार्थं सदा वर्त्तामहे। इतीश्वरोपदिष्टो धर्मो हि सर्वैर्मनुष्यैरेक एव मन्तव्यः ॥५॥

भाषार्थ

(दृते दृꣳह०) इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि मनुष्य लोग आपस में सब प्रकार के प्रेमभाव से सब दिन वर्त्तें, और सब मनुष्यों को उचित है कि जो वेदों में ईश्वरोक्त धर्म है उसी को ग्रहण करें, और वेदरीति से ही ईश्वर की उपासना करें, कि जिससे मनुष्यों की धर्म में ही प्रवृत्ति हो। (दृते०) हे सब दुःखों के नाश करने वाले परमेश्वर! आप हम पर ऐसी कृपा कीजिये कि जिससे हम लोग आपस में वैर को छोड़ के एक दूसरे के साथ प्रेमभाव से वर्त्तें। (मित्रस्य मा०) और सब प्राणी मुझ को अपना मित्र जान के बन्धु के समान वर्त्तें। ऐसी इच्छा से युक्त हम लोगों को (दृꣳह०) सत्य सुख और शुभ गुणों से सदा बढ़ाइये। (मित्रस्याहं०) इसी प्रकार से मैं भी सब मनुष्यादि प्राणियों को अपने मित्र जानूं और हानि, लाभ, सुख और दुःख में अपने आत्मा के समतुल्य ही सब जीवों को मानूं। (मित्रस्य च०) हम सब लोग आपस में मिलके सदा मित्रभाव रक्खें और सत्यधर्म के आचरण से सत्य सुखों को नित्य बढ़ावें। जो ईश्वर का कहा धर्म है यही एक सब मनुष्यों को मानने के योग्य है ॥ ५ ॥

अग्ने॑ व्रतपते व्र॒तं च॑रिष्यामि॒ तच्छ॑केयं॒ तन्मे॑ राध्यताम्। इ॒दम॒हमनृ॑तात्स॒त्यमुपै॑मि ॥ ६ ॥ यजु० अ० १। मं० ५ ॥

भाष्यम्

(अग्ने व्र०) अस्याभिप्रा० सर्वैर्मनुष्यैरीश्वरस्य सहायेच्छा सदा कार्य्येति । नैव तस्य सहायेन विना सत्यधर्मज्ञानं, तस्यानुष्ठानपूर्त्तिश्च भवतः । हे अग्ने व्रतपते ! सत्यपते (व्रतं) सत्यधर्मं चरिष्याम्यनुष्ठास्यामि । अत्र प्रमाणम् ॥ सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्याः । एतद्ध वै देवा व्रतं चरन्ति यत्सत्यम् ॥ श० कां० १ । अ० १ ॥ सत्याचरणाद्देवा असत्याचरणान्मनुष्याश्च भवन्ति । अतः सत्याचरणमेव धर्ममाहुरिति । (तच्छकेयम्) यथा तत्सत्याचरणं धर्मं कर्त्तुमहं शकेयं समर्थो भवेयम्, (तन्मे राध्यताम्) तत्सत्यधर्मानुष्ठानं मे मम भवता राध्यतां कृपया सम्यक् सिद्धं क्रियताम् । किंच तद्व्रतमित्यत्राह ? (इदमहमनृतात्सत्यमुपै०) यत्सत्यधर्मस्यैवाचरणमनृतादसत्याचरणादधर्मात्पृथग्भूतं तदेवोपैमि प्राप्नोमीति । अस्यैव धर्मस्यानुष्ठानमीश्वरप्रार्थनया स्वपुरुषार्थेन च कर्त्तव्यम् । नापुरुषार्थिनं मनुष्यमीश्वरोनुगृह्णाति । यथा चक्षुष्मन्तं दर्शयति नान्धं च । एवमेव धर्मं कर्त्तुमिच्छन्तं पुरुषार्थकारिणमीश्वरानुग्रहाभिलाषिणं प्रत्येवेश्वरः कृपालुर्भवति नान्यं प्रति चेति । कुतः । जीवे तत्सिद्धिं कर्तुं साधनानामीश्वरेण पूर्वमेव रचितत्वात्, तदुपयोगाकरणाच्च । येन पदार्थेन यावानुपकारो ग्रहीतुं शक्यस्तावान्स्वेनैव ग्रहीतव्यस्तदुपरीश्वरानुग्रहेच्छा कार्य्येति ॥ ६ ॥

भाषार्थ

(अग्ने व्र०) इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि सब मनुष्य लोग ईश्वर के सहाय की इच्छा करें, क्योंकि उस के सहाय के विना धर्म का पूर्ण ज्ञान और उस का अनुष्ठान पूरा कभी नहीं हो सकता । हे सत्यपते परमेश्वर ! (व्रतं०) मैं जिस सत्यधर्म का अनुष्ठान किया चाहता हूं उस की सिद्धि आप की कृपा से ही हो सकती है । इसी मन्त्र का अर्थ शतपथब्राह्मण में भी लिखा है कि जो मनुष्य सत्य के आचरणरूप व्रत को करते हैं वे देव कहाते हैं, और जो असत्य का आचरण करते हैं उन को मनुष्य कहते हैं । इस से मैं उस सत्यव्रत का

आचरण किया चाहता हूं । (तच्छकेयं) मुझ पर आप ऐसी कृपा कीजिये कि जिससे मैं सत्यधर्म का अनुष्ठान पूरा कर सकूं । (तन्मे राध्यतां) उस अनुष्ठान की सिद्धि करने वाले एक आप ही हो । सो कृपा से सत्यरूप धर्म के अनुष्ठान को सदा के लिये सिद्ध कीजिये । (इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि) सो यह व्रत है कि जिस को मैं निश्चय से चाहता हूं । उन सब असत्य कामों से छूट के सत्य के आचरण करने में सदा दृढ़ रहूं । परन्तु मनुष्य को यह करना उचित है कि ईश्वर ने मनुष्यों में जितना सामर्थ्य रक्खा है उतना पुरुषार्थ अवश्य करें। उसके उपरान्त ईश्वर के सहाय की इच्छा करनी चाहिये । क्योंकि मनुष्यों में सामर्थ्य रखने का ईश्वर का यही प्रयोजन है कि मनुष्यों को अपने पुरुषार्थ से ही सत्य का आचरण अवश्य करना चाहिये । जैसे कोई मनुष्य आंख वाले पुरुष को ही किसी चीज को दिखला सकता है, अन्धे को नहीं । इसी रीति से जो मनुष्य सत्यभाव, पुरुषार्थ से धर्म को किया चाहता है उस पर ईश्वर भी कृपा करता है, अन्य पर नहीं । क्योंकि ईश्वर ने धर्म करने के लिये बुद्धि आदि बढ़ने के साधन जीव के साथ रक्खे हैं । जब जीव उनसे पूर्ण पुरुषार्थ करता है तब परमेश्वर भी अपने सब सामर्थ्य से उस पर कृपा करता है, अन्य पर नहीं । क्योंकि सब जीव कर्म करने में स्वाधीन और पापों के फल भोगने में कुछ पराधीन भी हैं ॥ ६ ॥

व्रतेन॑ दी॒क्षामा॑प्नोति दी॒क्षया॑प्नोति॒ दक्षि॑णाम् । दक्षि॑णा श्र॒द्धामा॑प्नोति श्र॒द्धया॑ स॒त्यमा॑प्यते ॥ ७ ॥ यजु० अ० १६ । मं० ३० ॥

(व्रतेन दी०) अस्या० यदा मनुष्यो धर्मं जिज्ञासते, सत्यं चिकीर्षति, तदैव सत्यं विजानाति, तत्रैव मनुष्यैः श्रद्धेयम् । नासत्ये चेति । यो मनुष्यः सत्यं व्रतमाचरति । तदा दीक्षामुत्तमाधिकारं प्राप्नोति । (दीक्षयाप्नोति द०) यदा दीक्षितः सन्नुत्तमगुणैरुत्तमाधिकारी भवति तदा सर्वतः सत्कृतः फलवान् भवति, सास्य दक्षिणा भवति । तां दीक्षया शुभगुणाचरणेनैवाप्नोति । (दक्षिणा श्र०) सा दक्षिणा यदा ब्रह्मचर्य्यादिसत्यव्रतैः सत्का-

राढ्या स्वस्यान्येषां च भवति तदाचरणे श्रद्धां दृढं विश्वासमुत्पादयति । कुतः । सत्याचरणमेव सत्कारकारकमस्त्यतः । (श्रद्धया०) यदोत्तरोत्तरं श्रद्धा वर्धेत तदा तया श्रद्धया मनुष्यैः परमेश्वरो मोक्षधर्मादिकं चाप्यते प्राप्यते नान्यथेति । अतः किमागतं सत्यप्राप्त्यर्थं सर्वदा श्रद्धोत्साहादि-पुरुषार्थो वर्धयितव्यः ॥ ८ ॥

भाषार्थ

(व्रतेन दी०) इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि जब मनुष्य धर्म को जानने की इच्छा करता है तभी सत्य को जानता है । उसी सत्य में मनुष्यों को श्रद्धा करनी चाहिये । असत्य में कभी नहीं । (व्रतेन०) जो मनुष्य सत्य के आचरण को दृढ़ता से करता है तब वह दीक्षा अर्थात् उत्तम अधिकार के फल को प्राप्त होता है । (दीक्षयाप्नोति०) जब मनुष्य उत्तम गुणों से युक्त होता है तब सब लोग सब प्रकार से उस का सत्कार करते हैं। क्योंकि धर्म आदि शुभ-गुणों से ही उस दक्षिणा को मनुष्य प्राप्त होता है, अन्यथा नहीं । (दक्षिणा श्र०) जब ब्रह्मचर्य आदि सत्य व्रतों से अपना और दूसरे मनुष्यों का अत्यन्त सत्कार होता है तब उसी में दृढ़ विश्वास होता है । क्योंकि सत्य धर्म का आ-चरण ही मनुष्यों का सत्कार कराने वाला है । (श्रद्धया०) फिर सत्य के आच-रण में जितनी २ अधिक श्रद्धा बढ़ती जाती है उतना २ ही मनुष्य लोग व्य-वहार और परमार्थ के सुख को प्राप्त होते जाते हैं, अधर्माचरण से नहीं । इस से क्या सिद्ध हुआ कि सत्य की प्राप्ति के लिये सब दिन श्रद्धा और उत्साह आदि पुरु-षार्थ को मनुष्य लोग बढ़ाते ही जायं, जिससे सत्य धर्म की यथावत् प्राप्ति हो ॥८॥

श्रमेण तपसा सृष्टा ब्रह्मणा वित्तऋते श्रिता ॥ ९ ॥ सत्येनावृता श्रिया प्रावृता यशसा परीवृताः ॥ १० ॥ अथर्व० कां० १२ । अनु० ५ । मं० १ । २ ॥

भाष्यम्

(श्रमेण तपसा०) अभिप्रा० श्रमेणेत्यादिमन्त्रेषु धर्मस्य लक्षणानि

प्रकाशयन्त इति । श्रमः प्रयत्नः पुरुषार्थ उद्यम इत्यादि । तपो धर्मानुष्ठानम् । तेन श्रमेणैव तपसा च सहेश्वरेण सर्वे मनुष्याः सृष्टा रचिताः । अतः (ब्रह्मणा) वेदेन परमेश्वरज्ञानेन च युक्ताः सन्तो ज्ञानिनः स्युः, (ऋते श्रिता०) ऋते ब्रह्मणि पुरुषार्थे चाश्रिता, ऋतं सेवमानाश्च सदैव भवन्तु ॥ ६ ॥ (सत्येनावृ०) वेदशास्त्रेण प्रत्यक्षादिभिः प्रमाणैश्च परीक्षितेनाव्यभिचारिणा सत्येनावृता युक्ताः सर्वे मनुष्याः सन्तु । (श्रिया प्रावृ०) श्रिया शुभगुणाचरणोज्ज्वलया चक्रवर्त्तिराज्यसेवमानया प्रकृष्टया लक्ष्म्याऽऽवृता युक्ताः परमप्रयत्नेन भवन्तु । (यशसा०) उत्कृष्टगुणग्रहणं, सत्याचरणं यशस्तेन परितः सर्वतोवृता युक्ताः सन्तः प्रकाशयितारश्च स्युः ॥ १० ॥

भाषार्थ

(श्रमेण तपसा०) इन मन्त्रों के अभिप्राय से यह सिद्ध होता है कि सब मनुष्यों को (श्रमेण०) इत्यादि धर्म के लक्षणों का ग्रहण अवश्य करना चाहिये । क्योंकि ईश्वर ने (श्रम०) जो परम प्रयत्न का करना, और (तपः) जो धर्म का आचरण करना है इसी धर्म से युक्त मनुष्यों को रचा है । इस कारण से (ब्रह्मणा) ब्रह्म जो वेदविद्या और परमेश्वर के ज्ञान से युक्त होके सब मनुष्य अपने २ ज्ञान को बढ़ावें । (ऋतेश्रिता) सब मनुष्य ऋत जो ब्रह्म, सत्य विद्या, और धर्माचरण इत्यादि शुभगुणों का सेवन करें ॥ ६ ॥ (सत्येनावृता) सब मनुष्य प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सत्य की परीक्षा करके सत्य के आचरण से युक्त हों । (श्रिया प्रावृता) हे मनुष्य लोगो ! तुम शुभगुणों से प्रकाशित होके, चक्रवर्त्तिराज्य आदि ऐश्वर्य को सिद्ध करके, अतिश्रेष्ठ लक्ष्मी से युक्त हो के, शोभारूप श्री को सिद्ध करके, उस को चारों ओर पहिन के शोभित हो । (यशसा परी०) सब मनुष्यों को उत्तम गुणों का ग्रहण करके सत्य के आचरण और यश अर्थात् उत्तम कीर्ति से युक्त होना चाहिये ॥ १० ॥

स्वधया परिहिता श्रद्धया पर्य्यूढा दीक्षया गुप्ता यज्ञे प्रतिष्ठिता लोको निधनम् ॥ ११ ॥ ओजश्च तेजश्च सहश्च बलं च

वाक् चेन्द्रियं च श्रीश्च धर्मश्च ॥ १२ ॥ अथर्व० कां० १२ । अनु० ५ । मं० ३ । ७ ॥

भाष्यम्

(स्वधया परि०) परितः सर्वतः स्वकीयपदार्थशुभगुणधारणेनैव सन्तुष्य सर्वे मनुष्याः सर्वेभ्यो हितकारिणः स्युः, (श्रद्धया प०) सत्यमेव विश्वासमूलमस्ति नासदिति तथा सत्योपरिदृढविश्वासरूपया श्रद्धया परितः सर्वत ऊढाः प्राप्तवन्तः सन्तु, (दीक्षया गुप्ताः) सद्भिराप्तैर्विद्वद्भिः कृतसत्योपदेशया दीक्षया गुप्ता रक्षिताः, सर्वमनुष्याणां रक्षितारश्च स्युः, (यज्ञे प्रतिष्ठिताः) (यज्ञो वै विष्णुः) व्यापके परमेश्वरे सर्वोपकारकेऽश्वमेधादौ शिल्पविद्याक्रियाकुशलत्वे च प्रतिष्ठिताः प्राप्तप्रतिष्ठाश्च भवन्तु, (लोको निधनम्) अयं लोकः सर्वेषां मनुष्याणां निधनं यावन्मृत्युर्न भवेत्तावत्सर्वोपकारकं सत्कर्मानुष्ठानं कर्त्तुं योग्यमस्तीति सर्वैर्मन्तव्यमितीश्वरोपदेशः ॥ ११ ॥ अन्यच्च । (ओजश्च) न्यायपालनान्वितः पराक्रमः, (तेजश्च) प्रगल्भता, धृष्टता, निर्भयता, निर्दीनता, सत्ये व्यवहारे कर्त्तव्या, (सहश्च) सुखदुःखहानिलाभादिक्लेशप्रदवर्त्तमानप्राप्तावपि हर्षशोकाकरणं, तन्निवारणार्थं परमप्रयत्नानुष्ठानं च सहनं सर्वैः सदा कर्त्तव्यम्, (बलं च) ब्रह्मचर्य्यादिसुनियमाचरणेन शरीरबुद्ध्यादिरोगनिराकरणं, दृढाङ्गतानिश्चलबुद्धित्वसम्पादनं, भीषणादिकर्मयुक्तं बलं च कार्य्यमिति, (वाक् च) विद्याशिक्षासत्यमधुरभाषणादिशुभगुणयुक्ता वाणी कार्य्येति, (इन्द्रियं च) मनआदीनि वागभिन्नानि षड्ज्ञानेन्द्रियाणि, वाक् चेति कर्मेन्द्रियाणामुपलक्षणेन कर्मेन्द्रियाणि च, सत्यधर्माचरणयुक्तानि पापाद्व्यतिरिक्तानि च सदैव रक्षणीयानि, (श्रीश्च) सम्राड्राज्यश्रीः परमपुरुषार्थेन कार्य्येति, (धर्मश्च) अयमेव वेदोक्तो, न्याय्यः, पक्षपातरहितः, सत्याचरणयुक्तः, सर्वोपकारकश्च धर्मः सदैव सर्वैः सेवनीयः । अस्यैवेयं पूर्वा परा सर्वा व्याख्यास्तीति बोध्यम् ॥ १२ ॥

भाषार्थ

(स्वधया परिहिता) सब प्रकार से मनुष्य लोग स्वधा अर्थात् अपने ही

पदार्थों का धारण करें । इस अमृतरूप व्यवहार से सदा युक्त हों । (श्रद्धया पर्य्यूढा) सब मनुष्य सत्य व्यवहार पर अत्यन्त विश्वास को प्राप्त हों । क्योंकि जो सत्य है वही विश्वास का मूल तथा सत्य का आचरण ही उसका फल और स्वरूप है, असत्य कभी नहीं । (दीक्षया गुप्ता) विद्वानों की सत्य शिक्षा से रक्षा को प्राप्त हो और मनुष्य आदि प्राणियों की रक्षा में परमपुरुषार्थ करो । (यज्ञे प्रतिष्ठिता) यज्ञ जो सब में व्यापक अर्थात् परमेश्वर अथवा सब संसार का उपकार करने वाला अश्वमेधादि यज्ञ अथवा जो शिल्पविद्या सिद्ध करके उपकार लेना जो यज्ञ है, इस तीन प्रकार के यज्ञ में सब मनुष्य यथावत् प्रवृत्ति करें । (लोको नि०) जब तक तुम लोग जीते रहो तब तक सदा सत्य कर्म में ही पुरुषार्थ करते रहो । किन्तु इस में आलस्य कभी मत करो । ईश्वर का यह उपदेश सब मनुष्यों के लिये है ।। ११ ।। (ओजश्च) धर्म के पालन से युक्त जो पराक्रम, (तेजश्च) प्रगल्भता अर्थात् भयरहित होके दीनता से दूर रहना, (सहश्च) सुख, दुःख, हानि, लाभ आदि की प्राप्ति में भी हर्ष शोकादि छोड़ के सत्य धर्म में दृढ़ रहना, दुःख का निवारण और सहन करना, (बलं च) ब्रह्मचर्य आदि अच्छे नियमों से शरीर का आरोग्य, बुद्धि की चतुराई आदि बल का बढ़ाना, (वाक् च) सत्य विद्या की शिक्षा, सत्य मधुर अर्थात् कोमल प्रिय भाषण का करना, (इन्द्रियं च) जो मन, पांच ज्ञानेन्द्रिय और पांच कर्मेन्द्रिय हैं उन को पाप कर्मों से रोक के सदा सत्य पुरुषार्थ में प्रवृत्त रखना, (श्रीश्च) चक्रवर्त्तिराज्य की सामग्री को सिद्ध करना, (धर्मश्च) जो वेदोक्त, न्याय से युक्त हो के, पक्षपात को छोड़ के, सत्य ही का सदा आचरण और असत्य का त्याग करना है, तथा जो सब का उपकार करने वाला और जिस का फल इस जन्म और परजन्म में आनन्द है, उसी को धर्म और इस से उलटा करने को अधर्म कहते हैं, उसी धर्म की यह सब व्याख्या है, कि जो (संगच्छध्वं०) इस मन्त्र से लेके (यतोऽभ्युदय०) इस सूत्र तक जितने धर्म के लक्षण लिखे हैं वे सब लक्षण मनुष्यों को ग्रहण करने के योग्य हैं ।। १२ ।।

ब्रह्म च क्षत्रं च राष्ट्रं च विशश्च त्विषिश्च यशश्च वर्चश्च द्रविणं च ॥ १३ ॥ आयुश्च रूपं च नाम च कीर्तिश्च प्राणश्चापानश्च चक्षुश्च श्रोत्रं च ॥ १४ ॥ पयश्च रसश्चान्नं चान्नाद्यं च ऋतं च सत्यं चेष्टं च पूर्तं च प्रजा च पशवश्च ॥ १५ ॥ अथर्व० कां० १२ । अनु० ५ । सू० ५ । खं० २ । मं० ८ । ९ । १० ॥

भाष्यम्

इत्याद्यनेकमन्त्रप्रमाणैर्धर्मोपदेशो वेदेष्वीश्वरेणैव सर्वमनुष्यार्थमुपदिष्टोऽस्ति । (ब्रह्म च) ब्राह्मणोपलक्षणं सर्वोत्तमविद्यागुणकर्मवत्त्वं सद्गुणप्रचारकरणत्वं च ब्राह्मणलक्षणं, तच्च सदैव वर्धयितव्यम्, (क्षत्रं च) क्षत्रियोपलक्षणं विद्याचातुर्य्यशौर्यधैर्य्यवीरपुरुषान्वितं च सदैवोन्नेयम्, (राष्ट्रं च) सत्पुरुषसभया सुनियमैः सर्वसुखाढ्यं शुभगुणान्वितं च राज्यं सदैव कार्य्यम्, (विशश्च) वैश्यादिप्रजानां व्यापारादिकारिणां भूगोले ह्यव्याहतगतिसंपादनेन व्यापाराद्धनवृद्ध्यर्थं संरक्षणं च कार्य्यम्, (त्विषिश्च) दीप्तिः शुभगुणानां प्रकाशः सत्यगुणकामना च शुद्धा प्रचारणीयेति, (यशश्च) धर्मान्वितानुत्तमा कीर्त्तिः संस्थापनीया, (वर्चश्च) सद्विद्याप्रचारं सम्यगध्ययनाध्यापनप्रबन्धं कर्म सदा कार्य्यम्, (द्रविणं च) अप्राप्तस्य पदार्थस्य न्यायेन प्राप्तीच्छा कार्य्या, प्राप्तस्य संरक्षणं, रक्षितस्य वृद्धिर्, वृद्धस्य सत्कर्मसु व्ययश्च योजनीयः । एतच्चतुर्विधपुरुषार्थेन धनधान्योन्नतिसुखे सदैव कार्य्ये ॥ १३ ॥ (आयुश्च) वीर्य्यादिरक्षणेन भोजनाच्छादनादिसुनियमेन ब्रह्मचर्य्यसुसेवनेनायुर्बलं कार्य्यम्, (रूपं च) निरन्तरविषयासेवनेन सदैव सौन्दर्य्यादिगुणयुक्तं स्वरूपं रक्षणीयम्, (नाम च) सत्कर्मानुष्ठानेन नामप्रसिद्धिः कार्य्या, यतोऽन्यस्यापि सत्कर्मसूत्साहवृद्धिः स्यात्, (कीर्त्तिश्च) सद्गुणग्रहणार्थमीश्वरगुणानामुपदेशार्थं कीर्त्तनं, स्वस्य कीर्त्तिमत्त्वं च सदैव कार्य्यम्, (प्राणश्चापानश्च) प्राणायामरीत्या प्राणापानयोः शुद्धिबले कार्य्ये । शरीराद्बाह्यदेशं यो वायुर्गच्छति स प्राणः । बाह्यदेशाच्छरीरं प्रविशति स वायुरपानः । शुद्धदेशनिवासादिनानयोः प्रच्छर्दनावधारणाभ्यां बुद्धिशारीरबलं च संपादनी-

यम्, (चक्षुश्च श्रोत्रं च) चाक्षुषं प्रत्यक्षं, श्रौत्रं शब्दजन्यं, चादनुमानादी-न्यपि प्रमाणानि यथावद्वेदितव्यानि, तैः सत्यं विज्ञानं च सर्वथा कार्य्यम् ॥ १४ ॥ (पयश्च रसश्च) पयोजलादिकं, रसो दुग्धघृतादिश्चैतौ वैद्यकरीत्या सम्यक् शोधयित्वा भोक्तव्यौ, (अन्नं चान्नाद्यं च) अन्नमोदनादिकमन्नाद्यं भोक्तुमर्हं शुद्धं संस्कृतमन्नं संपाद्यैव भोक्तव्यम्, (ऋतं च सत्यं च) ऋतं ब्रह्म सर्वदैवोपासनीयं, सत्यं प्रत्यक्षादिभिः प्रमाणैः परीक्षितं यादृशं स्वात्मन्यस्ति तादृशं सदा सत्यमेव वक्तव्यं मन्तव्यं च । (इष्टं च पूर्त्तं च) इष्टं ब्रह्मोपासनं सर्वोपकारकं यज्ञानुष्ठानं च, पूर्त्तं तु यत्पूर्त्यर्थं मनसा वाचा कर्मणा सम्यक् पुरुषार्थेनैव सर्ववस्तुसंभारैश्चोभयानुष्ठानपूर्त्तिः कार्य्येति, (प्रजा च पशवश्च) प्रजा सन्तानादिका राज्यं च सुशिक्षाविद्यासुखान्विता, हस्त्य-श्वादयः पशवश्च सम्यक् शिक्षान्विताः कार्य्याः । बहुभिश्चकारैरन्येपि शुभ-गुणा अत्र ग्राह्याः ॥ १५ ॥

भाषार्थ

(ब्रह्म च) सब से उत्तम विद्या और श्रेष्ठ कर्म करने वालों को ही ब्राह्मण वर्ण का अधिकार देना, उस से विद्या का प्रचार कराना और उन लोगों को भी चाहिये कि विद्या के प्रचार में ही सदा तत्पर रहें । (क्षत्रं च) अर्थात् सब कामों में चतुरता, शूरवीरपन, धीरज, वीरपुरुषों से युक्त सेना का रखना, दुष्टों को दण्ड देना और श्रेष्ठों का पालन करना इत्यादि गुणों के बढ़ाने वाले पुरुषों को क्षत्रियवर्ण का अधिकार देना । (राष्ट्रञ्च) श्रेष्ठ पुरुषों की सभा के अच्छे नियमों से राज्य को सब सुखों से युक्त करना और उत्तम गुणसहित होके सब कामों को सदा सिद्ध करना चाहिये । (विशश्च) वैश्य आदि वर्णों को व्यापा-रादि व्यवहारों में भूगोल के बीच में जाने आने का प्रबन्ध करना और उन की अच्छी रीति से रक्षा करनी अवश्य है, जिस से धनादि पदार्थों की संसार में बढ़ती हो । (त्विषिश्च) सब मनुष्यों में सब दिन सत्य गुणों ही का प्रकाश करना चाहिये । (यशश्च) उत्तम कामों से भूगोल में श्रेष्ठ कीर्त्ति को बढ़ाना उचित है । (वर्चश्च) सत्यविद्याओं के प्रचार के लिये अनेक पाठशालाओं में

पुत्र और कन्याओं का अच्छी रीति से पढ़ने पढ़ाने का प्रचार सदा बढ़ाते जाना चाहिये। (द्रविणं च) सब मनुष्यों को उचित है कि पूर्वोक्त धर्म से अप्राप्त पदार्थों की प्राप्ति की इच्छा से सदा पुरुषार्थ करना, प्राप्त पदार्थों की रक्षा यथावत् करनी चाहिये, रक्षा किये पदार्थों की सदा बढ़ती करना और सत्य विद्या के प्रचार आदि कामों में बढ़े हुए धनादि पदार्थों का खरच यथावत् करना चाहिये, इस चार प्रकार के पुरुषार्थ से धनधान्यादि को बढ़ा के सुख को सदा बढ़ाते जाओ ॥ १३ ॥ (आयुश्च) वीर्य्य आदि धातुओं की शुद्धि और रक्षा करना, तथा युक्तिपूर्वक ही भोजन और वस्त्र आदि का जो धारण करना है, इन अच्छे नियमों से उमर को सदा बढ़ाओ। (रूपं च) अत्यन्त विषयसेवा से पृथक् रह के और शुद्ध वस्त्र आदि धारण से शरीर का स्वरूप सदा उत्तम रखना। (नाम च) उत्तम कर्मों के आचरण से नाम की प्रसिद्धि करनी चाहिये, जिस से अन्य मनुष्यों का भी श्रेष्ठ कर्मों में उत्साह हो। (कीर्तिश्च) श्रेष्ठ गुणों के ग्रहण के लिये परमेश्वर के गुणों का श्रवण और उपदेश करते रहो, जिस से तुम्हारा भी यश बढ़े। (प्राणश्चापानश्च) जो वायु भीतर से बाहर आता है उस को प्राण और जो बाहर से भीतर जाता है उस को अपान कहते हैं। योगाभ्यास, शुद्ध देश में निवास आदि और भीतर से बल करके प्राण को बाहर निकाल के रोकने से शरीर के रोगों को छुड़ा के बुद्धि आदि को बढ़ाओ। (चक्षुश्च श्रोत्रं च) प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, संभव और अभाव, इन आठ प्रमाणों के विज्ञान से सत्य का नित्य शोधन करके ग्रहण किया करो ॥ १४ ॥ (पयश्च रसश्च) जो पय अर्थात् दूध, जल आदि और जो रस अर्थात् शक्कर, ओषधि और घी आदि हैं इन को वैद्यक शास्त्रों की रीति से यथावत् शोध के भोजन आदि करते रहो। (अन्नं चान्नाद्यं च) वैद्यक शास्त्र की रीति से चावल आदि अन्न का यथावत् संस्कार करके भोजन करना चाहिये। (ऋतं च सत्यं च) ऋत नाम जो ब्रह्म है उसी की सदा उपासना करनी, जैसा हृदय में ज्ञान हो सदा वैसा ही भाषण करना और सत्य को ही मानना चाहिये। (इष्टं च पूर्त्तं च) इष्ट जो ब्रह्म है उसी की उपासना और जो पूर्वोक्त यज्ञ सब संसार को सुख देने वाला है उस इष्ट की सिद्धि करने की पूर्त्ति और जिस २ उत्तम

कामों के आरम्भ को यथावत् पूर्ण करने के लिये जो २ अवश्य हो सो २ सामग्री पूर्ण करनी चाहिये। (प्रजा च पशवश्च) सब मनुष्य लोग अपने संतान और राज्य को अच्छी शिक्षा दिया करें और हस्ती तथा घोड़े आदि पशुओं को भी अच्छी रीति से सुशिक्षित करना उचित है। इन मन्त्रों में और भी अनेक प्रयोजन हैं कि सब मनुष्य लोग अन्य भी धर्म के शुभ लक्षणों का ग्रहण करें॥ १५॥

भाष्यम्

अत्र धर्मविषये तैत्तिरीयशाखाया अन्यदपि प्रमाणम्। ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यं च स्वा०। तपश्च स्वा०। दमश्च स्वा०। शमश्च स्वा०। अग्नयश्च स्वा०। अग्निहोत्रं च स्वा०। अतिथयश्च स्वा०। मानुषं च स्वा०। प्रजा च स्वा०। प्रजनश्च स्वा०। प्रजातिश्च स्वा०। सत्यमिति सत्यवचा राथीतरः। तप इति तपोनित्यः पौरुशिष्टिः। स्वाध्यायप्रवचन एवेति नाको मौद्गल्यः। तद्धि तपस्तद्धि तपः॥ १॥ वेदमनूच्याचार्य्योन्तेवासिनमनुशास्ति। सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्य्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्र०। कुशलान्न प्र०। भूत्यै न प्र०। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्र०। देवपितृकार्य्याभ्यां न प्र०। मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि। यान्यस्माकꣳ सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि॥२॥ एके चास्मच्छ्रेयाꣳसो ब्राह्मणाः। तेषां त्वयासनेन प्रश्वसितव्यम्। श्रद्धया देयम्। अश्रद्धया देयम्। श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्। अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात् ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः। युक्ता * अयुक्ताः। अलूक्षा धर्मकामाः स्युः। यथा ते तत्र वर्त्तेरन्। तथा तत्र वर्त्तेथाः। अथाभ्याख्यातेषु। ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः। युक्ता * अयुक्ताः। अलूक्षा धर्मकामाः स्युः। यथा ते तेषु

* बङ्गीयैशियाटिक सोसाइटी मुद्रित तैत्तिरीये "आयुक्ताः" इति पाठः॥

वर्त्तेरन् । तथा तेषु वर्त्तेथाः । एष आदेशः । एष उपदेशः । एषा वेदोपनिषत् । एतदनुशासनम् । एवमुपासितव्यम् । एवमु चैतदुपास्यम् ॥ ४ ॥ तैत्तिरीय आरण्यके । प्रपा० ७ । अनु० ६ । ११ ॥

(एतेषामभि०) सर्वैर्मनुष्यैरेतानि वक्ष्यमाणानि धर्मलक्षणानि सदैव सेव्यानीति । (ऋतं च०) यथार्थस्वरूपं वा ज्ञानं, (सत्यं च०) सत्यस्याचरणं च, (तपश्च०) ज्ञानधर्मयोर्ऋतादिधर्म्मलक्षणानां यथावदनुष्ठानम्, (दमश्च०) अधर्माचरणादिन्द्रियाणि सर्वथा निवर्त्त्य तेषां सत्यधर्माचरणे सदैव प्रवृत्तिः कार्य्या, (शमश्च०) नैव मनसापि कदाचिदधर्मकरणेच्छा कार्य्येति, (अग्नयश्च०) वेदादिशास्त्रेभ्योऽग्न्यादिपदार्थेभ्यश्च पारमार्थिकव्यावहारिकविद्योपकारकरणम्, (अग्निहोत्रं च०) नित्यहोममारभ्याश्वमेधपर्य्यन्तेन यज्ञेन वायुवृष्टिजलशुद्धिद्वारा सर्वप्राणिनां सुखसंपादनं कार्य्यम्, (अतिथय०) पूर्णविद्यावतां धर्मात्मनां संगसेवाभ्यां सत्यशोधनं छिन्नसंशयत्वं च कार्य्यम्, (मानुषं च०) मनुष्यसम्बन्धिराज्यविद्यादिवित्तं सम्यक् सिद्धं कर्त्तव्यम्, (प्रजा च०) धर्मेणैव प्रजामुत्पाद्य सा सदैव सत्यधर्मविद्यासुशिक्षयान्विता कार्य्या, (प्रजनश्च०) वीर्य्यवृद्धिः पुत्रेष्टिरीत्या ऋतुप्रदानं च कर्त्तव्यम्, (प्रजातिश्च०) गर्भरक्षा जन्मसमये संरक्षणं सन्तानशरीरबुद्धिवर्धनं च कर्त्तव्यम्, (सत्यमिति०) मनुष्यः सदा सत्यवक्तैव भवेदिति राथीतराचार्य्यस्य मतमस्ति, (तप इति०) सद्व्रतादिसेवनेनैव सत्यविद्याधर्मानुष्ठानमस्ति तन्नित्यमेव कर्त्तव्यमिति पौरुशिष्टेराचार्य्यस्य मतमस्ति, परन्तु नाकोमौद्गल्यस्येदं मतमस्ति स्वाध्यायो वेदविद्याध्ययनं, प्रवचनं तदध्यापनं चेत्युभयं सर्वेभ्यः श्रेष्ठतमं कर्मास्ति, इदमेव मनुष्येषु परमं तपोस्ति, नातः परमुत्तमं धर्मलक्षणं किंचिद्विद्यत इति । (वेदमनुच्या०) आचार्य्यः शिष्याय वेदानध्याप्य धर्ममुपदिशति हे शिष्य ! त्वया सदैव सत्यमेव वक्तव्यं, सत्यभाषणादिलक्षणो धर्मश्च सेवनीयः, शास्त्राध्ययनाध्यापने कदापि नैव त्याज्ये, आचार्य्यसेवा, प्रजोत्पत्तिश्च, सत्यधर्मकुशलतैश्वर्य्यसंवर्धनसेवने सदैव कर्त्तव्ये, देवा विद्वांसः, पितरो ज्ञानिनश्च, तेभ्यो ज्ञानग्रहणं, तेषां सेवनं च सदैव कार्य्य,मेवं मातृपित्रा-

चार्य्यातिथीनां सेवनं चैतत्सर्वं संप्रीत्या कर्त्तव्यम् । नैतत्कदापि प्रमादात्त्याज्यमिति । वक्ष्यमाणरीत्या मात्रादय उपदिशेयुः । भोः पुत्राः ! यान्युत्तमानि कर्म्माणि वयं कुर्मस्तान्येव युष्माभिराचरितव्यानि, यानि तु पापात्मकानि कानिचिदस्माभिः क्रियन्ते तानि कदापि नैवाचरणीयानि । येऽस्माकं मध्ये विद्वांसो ब्रह्मविदः स्युस्तत्संगस्तदुक्तविश्वासश्च सदैव कर्त्तव्यो नेतरेषाम् । मनुष्यैर्विद्यादिपदार्थदानं प्रीत्याऽप्रीत्या, श्रिया, लज्जया, भयेन, प्रतिज्ञया च सदैव कर्त्तव्यम् । अर्थात् प्रतिग्रहाद्दानमतीव श्रेयस्करमिति । भोः शिष्य ! तव कस्मिंश्चित्कर्मण्याचरणे च संशयो भवेत्तदा ब्रह्मविदां, पक्षपातरहितानां, योगिनामधर्मात् पृथग्भूतानां, विद्यादिगुणैः स्निग्धानां, धर्मकामानां, विदुषां सकाशादुत्तरं ग्राह्यं, तेषामेवाचरणं च । यादृशेन मार्गेण ते विचरेयुस्तेनैव मार्गेण त्वयापि गन्तव्यम् । अयमेव युष्माकं हृदय आदेश उपदेशो हि स्थाप्यत, इयमेव वेदानामुपनिषदस्ति । ईदृशमेवानुशासनं सर्वैर्मनुष्यैः कर्त्तव्यम् । ईदृगाचरणपुरःसरमेव परमश्रद्धया सच्चिदानन्दादिलक्षणं ब्रह्मोपास्यं नान्यथेति ।

भाषार्थ

तैत्तिरीयशाखा में और भी धर्म का विषय है सो आगे लिखते हैं । (ऋतं च०) यह सब मनुष्यों को उचित है कि अपने ज्ञान और विद्या को बढ़ाते हुए एक ब्रह्म ही की उपासना करते रहें, उस के साथ वेदादि शास्त्रों का पढ़ना पढ़ाना भी बराबर करते जायं । (सत्यं च०) प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से ठीक २ परीक्षा करके जैसा तुम अपने आत्मा में ज्ञान से जानते हो वैसा ही बोलो और उसी को मानो, उस के साथ पढ़ना पढ़ाना भी कभी न छोड़ो । (तपश्च०) विद्याग्रहण के लिये ब्रह्मचर्य आश्रम को पूर्ण करके सदा धर्म में निश्चित रहो । (दमश्च०) अपनी आंख आदि इन्द्रियों को अधर्म और आलस्य से छुड़ा के सदा धर्म में चलाओ । (शमश्च०) अपने आत्मा और मन को सदा धर्मसेवन में ही स्थिर रक्खो । (अग्नयश्च०) तीनों वेद और अग्नि आदि पदार्थों से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को सिद्ध करो, तथा अनेक प्रकार से शिल्पविद्या की उन्नति करो । (अग्निहोत्रं ०) वायु और वृष्टिजल की शुद्धिद्वारा अग्निहोत्र

से लेके अश्वमेध पर्यन्त यज्ञों से सब सृष्टि का उपकार सदा करते रहो। (अतिथयश्च०) जो सब जगत् के उपकार के लिये सत्यवादी, सत्यकारी, पूर्ण विद्वान् सब का सुख चाहने वाले हों उन सत्पुरुषों के सङ्ग से करने के योग्य व्यवहारों को सदा बढ़ाते रहो । (मानुषं च०) सब मनुष्यों के राज्य और प्रजा के ठीक ठीक प्रबन्ध से धन आदि पदार्थों को बढ़ा के, रक्षा करके और अच्छे कामों में खर्च करके, उन से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों फल की सिद्धि द्वारा अपना जन्म सफल करो । (प्रजा च०) अपने सन्तानों का यथायोग्य पालन, शिक्षा से विद्वान् करके, सदा धर्मात्मा और पुरुषार्थी बनाते रहो । (प्रजनश्च०) जो सन्तानों की उत्पत्ति करने का व्यवहार है उस को पुत्रेष्टि कहते हैं, उस में श्रेष्ठ भोजन और ओषध सेवन सदा करते रहो, तथा ठीक २ गर्भ की रक्षा भी करो । (प्रजातिश्च०) पुत्र और कन्याओं के जन्म समय में स्त्री और बालकों की रक्षा युक्तिपूर्वक करो । ऋत से लेके प्रजाति पर्यन्त धर्म के जो बारह लक्षण होते हैं उन सब के साथ स्वाध्याय जो पढ़ना और प्रवचन जो पढ़ाने का उपदेश किया है सो इसलिये है कि पूर्वोक्त जो धर्म के लक्षण हैं वे तब प्राप्त हो सकते हैं कि जब मनुष्य लोग सत्य विद्या को पढ़ें और तभी सदा सुख में रहेंगे । क्योंकि सब गुणों में विद्या ही उत्तम गुण है । इसलिये सब धर्मलक्षणों के साथ स्वाध्याय और प्रवचन का ग्रहण किया है, सो इन का त्याग करना कभी न चाहिये । (सत्यमिति०) हे मनुष्य लोगो ! तुम सब दिन सत्यवचन ही बोलो । (तप इति०) धर्म और ईश्वर की प्राप्ति करने के लिये नित्य विद्याग्रहण करो अर्थात् विद्या का जो पढ़ना, पढ़ाना है यही सब से उत्तम है ॥ १ ॥ (वेदमनूच्या०) जो आचार्य अर्थात् विद्या और शिक्षा का देने वाला है वह विद्या पढ़ने के समय और जब तक न पढ़ चुके तब तक अपने पुत्र और शिष्यों को इस प्रकार उपदेश करे कि हे पुत्रो ! वा शिष्य लोगो ! तुम सदा सत्य ही बोला करो, और धर्म का ही सेवन करके एक परमेश्वर ही की भक्ति किया करो, इस में आलस्य वा प्रमाद कभी मत करो, आचार्य को अनेक उत्तम पदार्थ देकर प्रसन्न करो, और युवावस्था में ही विवाह करके प्रजा की उत्पत्ति करो, तथा सत्य धर्म को कभी मत छोड़ो, कुशलता अर्थात् चतुराई को सदा ग्रहण करके भूति अर्थात्

उत्तम ऐश्वर्य को सदा बढ़ाते जाओ, और पढ़ने पढ़ाने में कभी आलस्य मत करो ॥ १ ॥ (देव पितृ०) देव जो विद्वान् लोग और पितृ अर्थात् ज्ञानी लोगों की सेवा और सङ्ग से विद्या के ग्रहण करने में आलस्य वा प्रमाद कभी मत करो। माता, पिता, आचार्य अर्थात् विद्या के देनेवाले और अतिथि जो सत्य उपदेश के करने वाले विद्वान् पुरुष हैं उन की सेवा में आलस्य कभी मत करो। ऐसे ही सत्यभाषणादि शुभ गुणों और कर्मों ही का सदा सेवन करो। किन्तु मिथ्या-भाषणादि को कभी मत करो। माता, पिता और आचार्य आदि अपने सन्तानों था शिष्यों को ऐसा उपदेश करें कि हे पुत्रो! वा शिष्य लोगो! हमारे जो सुचरित्र अर्थात् अच्छे काम हैं तुम लोग उन्हीं का ग्रहण करो, किन्तु हमारे बुरे कामों को कभी नहीं। जो हमारे बीच में विद्वान् और ब्रह्म के जानने वाले धर्मात्मा मनुष्य हैं उन्हीं के वचनों में विश्वास करो और उन को प्रीति वा अ-प्रीति से, श्री वा लज्जा से, भय अथवा प्रतिज्ञा से सदा दान देते रहो, तथा विद्यादान सदा करते जाओ। और जब तुम को किसी बात में संदेह हो तब पूर्ण विद्वान्, पक्षपातरहित, धर्मात्मा मनुष्यों से पूछ के शङ्कानिवारण सदा करते रहो। वे लोग जिस २ प्रकार से जिस २ धर्म काम में चलते होवें वैसे ही तुम भी चलो। यही आदेश अर्थात् अविद्या को हटा के उस के स्थान में विद्या का और अधर्म को हटा के धर्म का स्थापन करना है। इसी को उपदेश और शिक्षा भी कहते हैं। इसी प्रकार शुभ लक्षणों को ग्रहण करके एक परमेश्वर ही की सदा उपासना करो।

भाष्यम्

ऋतं तपः, सत्यं तपः, श्रुतं तपः, शान्तं तपो, दमस्तपः, शमस्तपो, दानं तपो, यज्ञस्तपो, भूर्भुवः सुवर्ब्रह्मैतदुपास्स्वैतत्तपः ॥ तैत्ति० आरण्य० प्रपा० १० । अनु० ८ ॥ इदानीं तपसो लक्षणमुच्यते ॥ [ऋतं] यत्तत्त्वं ब्रह्मण एवोपासनं, यथार्थज्ञानं च, (सत्यं०) सत्यकथनं, सत्यमाचरणं च, (श्रुतं०) सर्वविद्याश्रवणं, श्रावणं च, (शान्तं०) अधर्मात्पृथक्कृत्य मनसो धर्मे संस्थापनं मनःशान्तिः, (दमस्त०) इन्द्रियाणां धर्म एव प्रवर्त्तनमधर्मा-

न्निवर्त्तनं च, (शमस्त०) मनसोऽपि निग्रहश्चाधर्माद्धर्मे प्रवर्त्तनं च, (दानं त०) तथा सत्यविद्यादीनां सदा दानमेव, (यज्ञस्त०) पूर्वोक्तं यज्ञानुष्ठानं चैतत्सर्वं तपश्शब्देन गृह्यते नान्यदिति । अन्यच्च । (भूर्भु०) हे मनुष्य ! सर्वलोकव्यापकं यद्ब्रह्मास्ति तदेव त्वमुपास्स्वेदमेव तपो मन्यध्वं नातो विपरीतमिति ।

भाषार्थ

(ऋतं तपः०) तप इस को कहते कि जो (ऋत) अर्थात् यथार्थ तत्त्व मानने, सत्य बोलने, (श्रुत) अर्थात् सब विद्याओं को सुनने, (शान्त) अर्थात् उत्तम कर्म करने और अच्छे स्वभाव के धारने में सदा प्रवृत्त रहो । तथा पूर्वोक्त दम, शम, दान, यज्ञ और प्रेम भक्ति से, तीनों लोक में व्यापक ब्रह्म की जो उपासना करना है उसको भी तप कहते हैं । ऋत आदि का अर्थ प्रथम कर दियां है ।

भाष्यम्

सत्यं परं परꣳसत्यꣳसत्येन न सुवर्गाल्लोकाच्च्यवन्ते कदाचन, सताꣳहि सत्यं, तस्मात्सत्ये रमन्ते । तप इति तपो नानशनात्परं, यद्धि परं तपस्तद्दुर्धर्षं, तद्दुराधर्षं, तस्मात्तपसि० । दम इति नियतं ब्रह्मचारिणस्तस्माद्दमे० । शम इत्यरण्ये मुनयस्तस्माच्छमे० । दानमिति सर्वाणि भूतानि प्रशꣳसन्ति, दानान्नातिदुष्करं, तस्माद्दाने० । धर्म इति धर्मेण सर्वमिदं परिगृहीतं, धर्मान्नातिदुश्चरं, तस्माद्धर्मे० । प्रजन इति भूयाꣳस,स्तस्माद्भूयिष्ठाः प्रजायन्ते, तस्माद्भूयिष्ठाः, प्रजनने० । अग्नय इत्याह, तस्मादग्नय आधातव्याः । अग्निहोत्रमित्याह, तस्मादग्निहोत्रे० । यज्ञ इति यज्ञेन हि देवा दिवंगतास्तस्माद्यज्ञे० । मानसमिति विद्वाꣳस,स्तस्माद्विद्वाꣳस एव मानसे रमन्ते । न्यास इति ब्रह्मा, ब्रह्मा हि परः, परो हि ब्रह्मा, तानि वा एतान्यवराणि तपाꣳसि, न्यास एवात्यरेचयत् । य एवं वेदेत्युपनिषत् । प्राजापत्यो हारुणिः सुपर्णेयः प्रजापतिं पितरमुपससार किं भगवन्तः परमं वदन्तीति । तस्मै प्रोवाच । सत्येन वायुरावाति, सत्येनादित्यो रोचते दिवि, सत्यं वाचः प्रतिष्ठा, सत्ये सर्वं

प्रतिष्ठितं, तस्मात्सत्यं परमं वदन्ति । तपसा देवा देवतामग्र आयन्, तपसर्षयः सुवरन्वविन्दन्, तपसा सपत्नान्प्रणुदामारातीस्तपसि सर्वं प्रतिष्ठितं, तस्मात्तपः प० । दमेन दान्ताः किल्बिषमवधून्वन्ति, दमेन ब्रह्मचारिणः सुवरगच्छन्, दमो भूतानां दुराधर्षं, दमे सर्वं प्रतिष्ठितं, तस्माद्दमं प० । शमेन शान्ताः शिवमाचरन्ति, शमेन नाकं मुनयोन्वविन्दञ्छमो भूतानां दुराधर्षं, शमे सर्वं प्रतिष्ठितं, तस्माच्छमं प० । दानं यज्ञानां वरूथं दक्षिणा, लोके दातारꣳ सर्वभूतान्युपजीवन्ति, दानेनारातीरपानुदन्त, दानेन द्विषन्तो मित्रा भवन्ति, दाने सर्वं प्रतिष्ठितं, तस्माद्दानं प० । धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा, लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति, धर्मेण पापमपनुदन्ति, धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितं, तस्माद्धर्मं प० । प्रजननं वै प्रतिष्ठा, लोके साधु प्रजायास्तन्तुं तन्वानः पितॄणामनृणो भवति, तदेव तस्य अनृणं, तस्मात्प्रजननं प० । अग्नयो वै त्रयीविद्या देवयानः पन्था, गार्हपत्य ऋक् पृथिवी रथन्तरमन्वाहार्य्यपचनो यजुरन्तरिक्षं वामदेव्यमाहवनीयः साम सुवर्गोलोको बृहत्, तस्मादग्नीन्प० । अग्निहोत्रꣳसायं प्रातर्गृहाणां निष्कृतिः, स्विष्टꣳ, सुहुतं, यज्ञक्रतूनां प्रायणꣳ, सुवर्गस्य लोकस्य ज्योतिस्तस्मादग्निहोत्रं प० । यज्ञ इति यज्ञेन हि देवा दिवंगता, यज्ञेनासुरानपानुदन्त, यज्ञेन द्विषन्तो मित्रा भवन्ति, यज्ञे सर्वं प्रतिष्ठितं, तस्माद्यज्ञं प० । मानसं वै प्राजापत्यं, पवित्रं, मानसेन मनसा साधु पश्यति, मानसा ऋषयः प्रजा असृजन्त, मानसे सर्वं प्रतिष्ठितं, तस्मान्मानसं परमं वदन्ति ॥ तैत्ति० आरण्य० प्रपा० १० । अनु० ६२ । ६३ ॥ [अयमभि०]

(सत्यं प०) सत्यभाषणात्सत्याचरणाच्च परं धर्मलक्षणं किंचिन्नास्त्येव । कुतः । सत्येनैव नित्यं मोक्षसुखं संसारसुखं च प्राप्य पुनस्तस्मान्नैव कदापि च्युतिर्भवति । सत्पुरुषाणामपि सत्याचरणमेव लक्षणमस्ति तस्मात्कारणात्सर्वैर्मनुष्यैः सत्ये खलु रमणीयमिति । तपस्तु ऋतादिधर्मलक्षणानुष्ठानमेव ग्राह्यम् । एवं सम्यग्ब्रह्मचर्य्यसेवनेन विद्याग्रहणं ब्रह्म इत्युच्यते । एवमेव दानादिष्वर्थगतिः कार्य्या । विदुषो लक्षणं मानसो व्यापारः । एवमेव सत्येन ब्रह्मणा वायुरागच्छति । सत्येनादित्यः प्रकाशितो भवति । सत्येनैव मनुष्याणां प्रतिष्ठा जायते नान्यथेति । मानसा ऋषयः प्राणाः विज्ञानादयश्चेति ।

भाषार्थ

(सत्यं पर०) अब सत्य का स्वरूप दिखाया जाता है कि जिस का ऋत भी नाम है, सत्य भाषण और आचरण से उत्तम धर्म का लक्षण कोई भी नहीं है। क्योंकि सत्पुरुषा में भी सत्य ही सत्पुरुषपन है। सत्य से ही मनुष्यों को व्यवहार और मुक्ति का उत्तम सुख मिलता है। जिससे छूट के वे दुःख में कभी नहीं गिरते। इसलिये सब मनुष्यों को सत्य में ही रमण करना चाहिये। (तप इति०) जो अन्याय से किसी के पदार्थ को ग्रहण [न] करना, जिसका ऋत आदि लक्षण कह चुके हैं, जो अत्यन्त उत्तम और यद्यपि करने में कठिन भी है, तदपि बुद्धिमान् मनुष्य को करना सब सुगम है, इस से तप में नित्य ही निश्चित रहना ठीक है। (दम इति०) जितेन्द्रिय हो के जो विद्या का अभ्यास और धर्म का आचरण करना है उसमें मनुष्यों को नित्य प्रवृत्त होना चाहिये। (दानमिति०) दान की स्तुति सब लोग करते हैं और जिससे कठिन कर्म दूसरा कोई भी नहीं है, जिससे शत्रु भी मित्र हो जाते हैं, इस से दान करने का स्वभाव सब मनुष्यों को नित्य रखना चाहिये। (धर्म इति०) जो धर्मलक्षण प्रथम कह आये हैं, जो आगे कहेंगे, वे सब इसी धर्म के हैं। क्योंकि जो न्याय अर्थात् पक्षपात को छोड़ के सत्य का आचरण और असत्य का परित्याग करना है उसी को धर्म कहते हैं। यही धर्म का स्वरूप और सब से उत्तम धर्म है। सब मनुष्यों को इसी में सदा वर्त्तना चाहिये। (प्रजन इति०) जिससे मनुष्यों की बढ़ती होती है, जिस में बहुत मनुष्य रमण करते हैं, इससे जन्म को प्रजन कहते हैं। (अग्नय इत्याह०) तीनों वेद और अग्नि आदि पदार्थों से सब शिल्पविद्या सिद्ध करनी उचित है। (अग्निहोत्रं च०) अग्निहोत्र से लेके अश्वमेध पर्य्यन्त होम करके सब जगत् का उपकार करने में सदा यत्न करना चाहिये। (मानसमिति०) जो विचार करने वाले मनुष्य हैं वही विद्वान् होते हैं। इस से विद्वान् लोग विचार ही में सदा रमण करते हैं। क्योंकि मन के विज्ञान आदि गुण हैं वे ही ईश्वर और जीव की सृष्टि के हेतु हैं। इस से मन का बल और उसकी शुद्धि करना भी धर्म का उत्तम लक्षण है। (न्यास इति)

ब्रह्मा बन के, अर्थात् चारों वेद को जान के, संसारी व्यवहारों को छोड़ के, न्यास अर्थात् संन्यास आश्रम करके, जो सब मनुष्यों को सत्यधर्म और सत्य-विद्या से लाभ पहुंचाना है, यह भी विद्वान् मनुष्यों को धर्म का लक्षण जान के करना उचित है। (सत्येन वा०) सत्य को उत्तम इसलिये कहते हैं कि सत्य जो ब्रह्म है उस से सब लोगों का प्रकाश और वायु आदि पदार्थों का रक्षण होता है। सत्य से ही सब व्यवहारों में प्रतिष्ठा और परब्रह्म को प्राप्त हो के मुक्ति का सुख भी मिलता है। तथा सत्पुरुषों में सत्याचरण ही सत्पुरुषपन है। (तपसा देवा०) पूर्वोक्त तप से ही विद्वान् लोग परमेश्वर देव को प्राप्त होके, सब काम क्रोध आदि शत्रुओं को जीत के, पापों से छूट के, धर्म ही में स्थिर रह सकते हैं, इस से तप को भी श्रेष्ठ कहते हैं। (दमेन०) दम से मनुष्य पापों से अलग होके और ब्रह्मचर्य्य आश्रम का सेवन कर के, विद्या को प्राप्त होता है, इसलिये धर्म का दम भी श्रेष्ठ लक्षण है। (शमेन०) शम का लक्षण यह है कि जिस से मनुष्य लोग कल्याण का ही आचरण करते हैं, इस से यह भी धर्म का लक्षण है। (दानेन०) दान से ही यज्ञ अर्थात् दाता के आश्रय से सब प्राणियों का जीवन होता है और दान से ही शत्रुओं को भी जीत कर अपना मित्र कर लेते हैं, इस से दान भी धर्म का लक्षण है। (धर्मोवि०) सब जगत् की प्रतिष्ठा धर्म ही है, धर्मात्मा का ही लोक में विश्वास होता है, धर्म से ही मनुष्य लोग पापों को छुड़ा देते हैं, जितने उत्तम काम हैं वे सब धर्म में ही लिये जाते हैं, इसलिये सब से उत्तम धर्म को ही जानना चाहिये। (प्रजननं०) जिस से मनुष्यों का जन्म और प्रजा में वृद्धि होती है और जो परम्परा से ज्ञानियों की सेवा से ऋण अर्थात् बदले का पूरा करना होता है, इस से प्रजन भी धर्म का हेतु है। क्योंकि जो मनुष्यों की उत्पत्ति भी नहीं हो तो धर्म को ही कौन करे। इस कारण से भी धर्म को ही प्रधान जानो। (अग्नयो वै०) अर्थात् जिस से तुम लोग साङ्गोपाङ्ग तीनों वेदों को पढ़ो, क्योंकि विद्वानों के ज्ञानमार्ग को प्राप्त होके पृथिवी आकाश और स्वर्ग इन तीनों प्रकार की विद्या सिद्ध होती हैं। इस से इन तीनों अग्नि अर्थात् वेदों को श्रेष्ठ कहते हैं। (अग्निहोत्रं०) प्रातःकाल में संध्या और वायु तथा वृष्टिजल को दुर्गन्ध से

छुड़ा के सुगन्धित करने से सब मनुष्यों को स्वर्ग अर्थात् सुख की प्राप्ति होती है। इसलिये अग्निहोत्र को भी धर्म का लक्षण कहते हैं। (यज्ञ इति) विद्या से ही विद्वान् लोग स्वर्ग अर्थात् सुख को प्राप्त होते और शत्रुओं को जीत के अपना मित्र कर लेते हैं। इस से विद्या और अध्वर्यु आदि यज्ञ को भी धर्म का लक्षण कहते हैं। (मानसं वै०) मन के शुद्ध होने से ही विद्वान् लोग प्रजापति अर्थात् परमेश्वर को जान के नित्य सुख को प्राप्त हो सकते हैं। पवित्र मन से सत्य ज्ञान होता है और उस में जो विज्ञान आदि ऋषि अर्थात् गुण हैं उन से परमेश्वर और जीव लोग भी अपनी २ सब प्रजा को उत्पन्न करते हैं। अर्थात् परमेश्वर के विद्या आदि गुणों से मनुष्य की प्रजा उत्पन्न होती है। इस से मन को जो पवित्र और विद्यायुक्त करना है ये भी धर्म के उत्तम लक्षण और साधन हैं। इससे मन के पवित्र होने से सब धर्मकार्य सिद्ध होते हैं। ये सब धर्म के ही लक्षण हैं। इन में से कुछ तो पूर्व कह दिये और कुछ आगे भी कहेंगे।

भाष्यम्

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग् ज्ञानेन ब्रह्मचर्य्येण नित्यम्। अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥ १ ॥ सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः। येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम् ॥ २ ॥ मुण्डकोपनिषदि। मुं० ३। खं० १। मं० ५। ६ ॥ अनयोरर्थः। (सत्येन लभ्य०) सत्येन सत्यधर्माचरणेनैवात्मा परमेश्वरो लभ्यो नान्यथेत्यस्य मन्त्रः सुगमार्थः ॥ १ ॥ (सत्यमेव०) सत्यमाचरितमेव जयते, तेनैव मनुष्यः सदा विजयं प्राप्नोति। अनृतेनाधर्माचरणेन पराजयं च। तथा सत्यधर्मेणैव देवयानो, विदुषां यः सदानन्दप्रदो मोक्षमार्गोऽस्ति, सोऽपि सत्येनैव विस्तृतः प्रकाशितो भवति। येन च सत्यधर्मानुष्ठानप्रकाशितेन मार्गेणाप्तकामा ऋषयस्तत्राक्रमन्ति गच्छन्ति यत्र सत्यस्य धर्मस्य परमं निधानमधिकरणं ब्रह्म वर्त्तते, तत्प्राप्य नित्यानन्दमोक्षप्राप्ता भवन्ति नान्यथेति। अतएव सत्यधर्मानुष्ठानमधर्मत्यागश्च सर्वैः कर्त्तव्य इति।

([illegible]
ठीक २ विज्ञान और ब्रह्मचर्य्य करते हैं इन्हीं शुभगुणों से सब का आत्मा परमेश्वर जाना जाता है। जिसको निर्दोष अर्थात् धर्मात्मा ज्ञानी संन्यासी लोग देखते हैं। सो सब के आत्माओं का भी आत्मा, प्रकाशस्वरूप और सब दिन शुद्ध है। उसी की आज्ञा पालन करना सब मनुष्यों को चाहिये॥ १॥ (सत्यमेव जय०) जो सत्य का आचरण करनेवाला है वही मनुष्य सदा विजय और सुख को प्राप्त होता है और जो मिथ्या आचरण अर्थात् झूठे कामों का करने वाला है वह सदा पराजय और दुःख ही को प्राप्त होता है। विद्वानों का जो मार्ग है सो भी सत्य के आचरण से ही खुल जाता है, जिस मार्ग से आप्तकाम, धर्मात्मा विद्वान् लोग चल के सत्य सुख को प्राप्त होते हैं, जहां ब्रह्म ही का सत्यस्वरूप सुख सदा प्रकाशित होता है, सत्य से ही उस सुख को वे प्राप्त होते हैं, असत्य से कभी नहीं। इससे सत्यधर्म का आचरण और असत्य का त्याग करना सब मनुष्यों को उचित है॥ २॥

भाष्यम्

अन्यच्च। चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः॥१॥ पू० मी० अ० १। पा० १। सू० २॥ यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः॥ २॥ वैशेषिके। अ० १। पा० १। सू० २॥ अनयोरर्थः (चोदना०) वेदद्वारा या सत्यधर्माचरणस्य प्रेरणास्ति तयैव सत्यधर्मो लक्ष्यते। योऽनर्थादधर्माचरणाद्बहिरस्त्यतो धर्माख्यां लब्ध्वाऽर्थो भवति। यस्येश्वरेण निषेधः क्रियते सोऽनर्थरूपत्वादधर्मोऽयमिति ज्ञात्वा सर्वैर्मनुष्यैस्त्याज्य इति॥ १॥ (यतोभ्यु०) यस्याचरणादभ्युदयः सांसारिकमिष्टसुखं सम्यक् प्राप्तं भवति, येन च निःश्रेयसं पारमार्थिकं मोक्षसुखं च, स एव धर्मो विज्ञेयः। अतो विपरीतो ह्यधर्मश्च। इदमपि वेदानामेव व्याख्यानमस्ति। इत्यनेकमन्त्रप्रमाणसाक्ष्यादिधर्मोपदेशो वेदेष्वीश्वरेण सर्वमनुष्यार्थमुपदिष्टोऽस्ति। एक एवायं सर्वेषां धर्मोस्ति नैव चास्माद्द्वितीयोस्तीति वेदितव्यम्॥ २॥

इति वेदोक्तधर्मविषयः संक्षेपतः समाप्तः

भाषार्थ

(चोदना०) ईश्वर ने वेदों में मनुष्यों के लिये जिसके करने की आज्ञा दी है वही धर्म और जिसके करने की प्रेरणा नहीं की है वह अधर्म कहाता है। परन्तु वह धर्म अर्थयुक्त अर्थात् अधर्म का आचरण जो अनर्थ है उससे अलग होता है। इससे धर्म का ही जो आचरण करना है वही मनुष्यों में मनुष्यपन है ॥ १ ॥ (यतोभ्यु०) जिसके आचरण करने से संसार में उत्तम सुख और निःश्रेयस अर्थात् मोक्षसुख की प्राप्ति होती है उसी का नाम धर्म है। यह भी वेदों की व्याख्या है। इत्यादि अनेक वेदमन्त्रों के प्रमाणों और ऋषि मुनियों की साक्षियों से यह धर्म का उपदेश किया है कि सब मनुष्यों को इसी धर्म के काम करना उचित है। इससे विदित हुआ कि सब मनुष्यों के लिये धर्म और अधर्म एक ही हैं, दो नहीं। जो कोई इस में भेद करे तो उस को अज्ञानी और मिथ्यावादी ही समझना चाहिये।

इति वेदोक्तधर्मविषयः संक्षेपतः

अथ सृष्टिविद्याविषयः संक्षेपतः

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमापरो यत्। किमावरीवः कुहकस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम् ॥ १ ॥ न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः। आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास ॥ २ ॥ तम आसीत्तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्। तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिना जायतैकम् ॥ ३ ॥ कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्। सतो बन्धुमसति निरविन्दन्हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥ ४ ॥ तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासी३दुपरि स्विदासी३त्। रेतोधा आसन्महिमान आसन्त्स्वधा अवस्तात्प्रयतिः परस्तात्

॥ ५ ॥ को अद्धा वेद क इह प्र वोचत्कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः । अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव ॥ ६ ॥ इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न । यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥ ७ ॥ ऋ० अ० ८ । अ० ७ । व० १७ ।

भाष्यम्

एतेषामभिप्रायार्थः । यदिदं सकलं जगद्दृश्यते, तत् परमेश्वरेणैव सम्यग्रचयित्वा, संरक्ष्य, प्रलयावसरे वियोज्य च, विनाश्यते, पुनः पुनरेवमेव सदा क्रियत इति । (नासदासी०) यदा कार्यं जगन्नोत्पन्नमासीत्तदाऽसत्,सृष्टेः प्राक् शून्यमाकाशमपि नासीत् । कुतः । तद्व्यवहारस्य वर्त्तमानाभावात् । (नो सदासीत्तदानीं०) तस्मिन्काले सत्, प्रकृत्यात्मकमव्यक्तं, सत्संज्ञकं यज्जगत्कारणं, तदपि नो आसीन्नावर्त्तत । (नासीद्र०) परमाणवोऽपि नासन् । (नो व्योमापरो यत्) व्योमाकाशमपरं यस्मिन् विराडाख्ये सोपि नो आसीत् , किन्तु परब्रह्मणः सामर्थ्याख्यमतीव सूक्ष्मं सर्वस्यास्य परमकारणसंज्ञकमेव तदानीं समवर्त्तत । (किमावरीवः०) यत्प्रातः कुहकस्य वर्षाकाले धूमाकारेण वृष्टं किञ्चिज्जलं वर्त्तमानं भवति । यथा नैतज्जलेन पृथिव्यावरणं भवति, नदीप्रवाहादिकं च चलति । अत एवोक्तं तज्जलं गहनं गभीरं किं भवति ? । नेत्याह । किं, त्वावरीवः । आवरकमाच्छादकं भवति नैव कदाचित्, तस्यातीवाल्पत्वात् । तथैव सर्वं जगत् तत्सामर्थ्यादुत्पद्यास्ति तच्छर्मणि शुद्धे ब्रह्मणि । किं गहनं गभीरमधिकं भवति ? । नेत्याह । अतस्तद्ब्रह्मणः कदाचिन्नैवावरकं भवति । कुतः । जगतः किञ्चिन्मात्रत्वाद्ब्रह्मणोऽनन्तत्वाच्च ॥ १ ॥ न मृत्युरासीदित्यादिकं सर्वं सुगमार्थमेषामर्थं भाष्ये वक्ष्यामि । (इयं विसृष्टिः) यतः परमेश्वरादियं प्रत्यक्षा विसृष्टिर्विविधा सृष्टिराबभूवोत्पन्नासीदस्ति तां स एव दध धारयति रचयति, यदि वा विनाशयति, यदि वा न रचयति । योऽस्य सर्वस्याध्यक्षः स्वामी, (परमे व्योमन्) तस्मिन्परमाकाशात्मनि परमे प्रकृष्टे

व्योमवद्व्यापके परमेश्वर एवेदानीमपि सर्वा सृष्टिर्वर्त्तते । प्रलयावसरे सर्वस्यादिकारणे परब्रह्मसामर्थ्ये प्रलीना च भवति ।(सोध्यक्षः) स सर्वाध्यक्षः परमेश्वरोऽस्ति । (अङ्गवेद) हे अंग ! मित्र जीव ! तं यो वेद स विद्वान् परमानन्दमाप्नोति । यदि तं सर्वेषां मनुष्याणां परमिष्टं सच्चिदानन्दादिलक्षणं नित्यं कश्चिन्नैव वेद, वा निश्चयार्थे, स परमं सुखमपि नाप्नोति ॥ ७ ॥

भाषार्थ

(नासदासीत्) जब यह कार्य सृष्टि उत्पन्न नहीं हुई थी तब एक सर्वशक्तिमान् परमेश्वर और दूसरा जगत् का कारण अर्थात् जगत् बनाने की सामग्री विराजमान थी । उस समय (असत्) शून्य नाम आकाश अर्थात् जो नेत्रों से देखने में नहीं आता सो भी नहीं था, क्योंकि उस समय उसका व्यवहार नहीं था । (नोसदासीत्तदानीं०) उस काल में (सत्) अर्थात् सतोगुण रजोगुण और तमोगुण मिला के जो प्रधान कहाता है वह भी नहीं था । (नासीद्रजः) उस समय परमाणु भी नहीं थे । तथा (नो व्यो०) विराट् अर्थात् जो सब स्थूल जगत् के निवास का स्थान है सो भी नहीं था । (किमा०) जो यह वर्त्तमान जगत् है वह भी अनन्त शुद्ध ब्रह्म को नहीं ढाक सकता और उससे अधिक वा अथाह भी नहीं हो सकता । जैसे कोहरा का जल पृथिवी को नहीं ढाक सकता है, उस जल से नदी में प्रवाह भी नहीं चल सकता और न वह कभी गहरा वा उथला हो सकता है । इससे क्या जाना जाता है कि परमेश्वर अनन्त है और जो यह उसका बनाया जगत् है सो ईश्वर की अपेक्षा से कुछ भी नहीं है ॥१॥ (न मृत्यु०) जब जगत् नहीं था तब मृत्यु भी नहीं था, क्योंकि जब स्थूल जगत् संयोग से उत्पन्न होके वर्त्तमान हो पुनः उस का और शरीर आदि का वियोग हो तब मृत्यु कहावे, सो शरीर आदि पदार्थ उत्पन्न ही नहीं हुए थे । (न मृत्यु०) इत्यादि पांच मन्त्र सुगमार्थ हैं, इसीलिये इनकी व्याख्या भी यहां नहीं करते, किन्तु वेदभाष्य में करेंगे । (इयं विसृष्टिः०) जिस परमेश्वर के रचने से जो यह नाना प्रकार का जगत् उत्पन्न हुआ है, वह ही इस जगत् को धारण करता नाश करता और मालिक भी है । हे मित्र लोगो ! जो मनुष्य उस

परमेश्वर को अपनी बुद्धि से जानता है वही परमेश्वर को प्राप्त होता है और जो उसको नहीं जानता वही दुःख में पड़ता है । जो आकाश के समान व्यापक है, उसी ईश्वर में सब जगत् निवास करता है और जब प्रलय होता है तब भी सब जगत् कारणरूप होके ईश्वर के सामर्थ्य में रहता है और फिर भी उसी से उत्पन्न होता है ॥ ७ ॥

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् । स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ १ ॥ ऋ० अ० ८ । अ० ७ । व० ३ । मं० १ ॥

भाष्यम्

(हिरण्यगर्भः०) अग्रे सृष्टेः प्राग्घिरण्यगर्भः परमेश्वरो जातस्यास्योत्पन्नस्य जगत एकोऽद्वितीयः पतिरेव समवर्त्तत । स पृथिवीमारभ्य द्युपर्य्यन्तं सकलं जगद्रचयित्वा (दाधार) धारितवानस्ति । तस्मै सुखस्वरूपाय देवाय हविषा वयं विधेमेति ॥ १ ॥

भाषार्थ

(हिरण्यगर्भः०) हिरण्यगर्भ जो परमेश्वर है वही एक सृष्टि के पहिले वर्त्तमान था । जो इस सब जगत् का स्वामी है और वही पृथिवी से लेके सूर्यपर्यन्त सब जगत् को रच के धारण कर रहा है । इसलिये उसी सुखस्वरूप परमेश्वर देव की ही हम लोग उपासना करें, अन्य की नहीं ॥ १ ॥

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् । स भूमिꣳ सर्वतः स्पृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥ १ ॥ य० अ० ३१ । मं० १ ॥

भाष्यम्

(सहस्रशीर्षा०) अत्र मन्त्रे, पुरुष इति पदं विशेष्यमस्ति, सहस्रशीर्षेत्यादीनि विशेषणानि च । अत्र पुरुषशब्दार्थे प्रमाणानि । पुरुषं पुरिशय

इत्याचक्षीरन् । नि० अ० १ । खं० १३ ॥ (पुरि०) पुरि संसारे, शेते सर्वमभिव्याप्य वर्त्तते, स पुरुषः परमेश्वरः ॥ पुरुषः पुरिषादः, पुरिशयः, पूरयतेर्वा, पूरयत्यन्तरित्यन्तरपुरुषमभिप्रेत्य । यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोस्ति किंचित् । वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरिषेण* सर्वमित्यपि निगमो भवति । नि० अ० २ । खं० ३ ॥ (पुरुषः०) पुरि सर्वस्मिन्संसारेऽभिव्याप्य सीदति वर्त्तत इति, (पूरयतेर्वा) यः स्वयं परमेश्वर इदं सर्वं जगत् स्वस्वरूपेण पूरयति व्याप्नोति तस्मात्स पुरुषः, (अन्तरिति०) यो जीवस्याप्यन्तर्मध्येऽभिव्याप्य पूरयति तिष्ठति स पुरुषः । तमन्तरपुरुषमन्तर्यामिनं परमेश्वरमाभिप्रेत्येयमृक् प्रवृत्तास्ति (यस्मात्परं०) । यस्मात्पूर्णात्परमेश्वरात्पुरुषाख्यात्परं प्रकृष्टमुत्तमं किंचिदपि वस्तु नास्त्येव, पूर्वं वा, (नापरमस्ति) यस्मादपरमर्वाचीनं, तत्तुल्यमुत्तमं वा, किंचिदपि वस्तु नास्त्येव, तथा यस्मादणीयः सूक्ष्मं, ज्यायः स्थूलं महद्वा, किंचिदपि द्रव्यं न भूतं, न भवति, नैव च भविष्यतीत्यवधेयम् । यः स्तब्धो निष्कम्पः सर्वस्यास्थिरतां कुर्वन्सन् स्थिरोस्ति । क इव ? (वृक्ष इव) यथा वृक्षः शाखापत्रपुष्पफलादिकं धारयन् तिष्ठति, तथैव पृथिवीसूर्यादिकं सर्वं जगद्धारयन्परमेश्वरोभिव्याप्य स्थितोस्तीति । यश्चैकोऽद्वितीयोस्ति, नास्य कश्चित्सजातीयो, विजातीयो वा द्वितीय ईश्वरोस्तीति । तेन पुरिषेण पुरुषेण परमात्मना यत इदं सर्वं जगत् पूर्णं कृतमस्ति, तस्मात्पुरुषः परमेश्वर एवोच्यते । इत्ययं मन्त्रो निगमो, निगमनं, परं प्रमाणं भवतीति वेदितव्यम् । सर्वं वै सहस्रꣳसर्वस्य दाताऽसीत्यादि० । श० कां० ७ । अ० ५ ॥ (सर्वं०) सर्वमिदं जगत्सहस्रनामकमस्तीति विज्ञेयम् । (सहस्रशी०) सहस्राण्यसंख्यातान्यस्मदादीनां शिरांसि यस्मिन्पूर्णे पुरुषे परमात्मनि, स सहस्रशीर्षा पुरुषः । (सहस्राक्षः स०) अस्मदादीनां सहस्राण्यक्षीण्यस्मिन्, एवमेव सहस्राण्यसंख्याताः पादाश्च यस्मिन्वर्त्तन्ते, स सहस्राक्षः सहस्रपाच्च । (स भूमिꣳ सर्वतःस्पृत्वा) स पुरुषः परमेश्वरः सर्वतः सर्वेभ्यो बाह्यान्तर्देशेभ्यो, (भूमिमिति) भूतानामुपलक्षणं, भूमिमारभ्य प्रकृतिपर्यन्तं सर्वं जगत्स्पृत्वाभिव्याप्य

* पुरुषेणेति निरुक्ते (श्रीवेङ्कटेश्वरयन्त्रालयप्रकाशिते) पाठः ।

वर्त्तते, (अत्य०) दशाङ्गुलमिति ब्रह्माण्डहृदययोरुपलक्षणम् । अङ्गुलमित्यवयवोपलक्षणेन मितस्य जगतोऽत्र ग्रहणं भवति । पञ्च स्थूलभूतानि, पञ्च सूक्ष्माणि चैतदुभयं मिलित्वा दशावयवाख्यं सकलं जगदस्ति । अन्यच्च । पञ्च प्राणाः, सेन्द्रियं चतुष्टयमन्तःकरणं, दशमो जीवश्च । एवमेवान्यदपि जीवस्य हृदयं दशाङ्गुलपरिमितं च तृतीयं गृह्यते । एतत्त्रयं स्पृत्वा व्याप्यात्यतिष्ठत् । एतस्मात्त्रयाद्बहिरपि व्याप्तः सन्नवस्थितः । अर्थाद्बहिरन्तश्च पूर्णो भूत्वा परमेश्वरोऽवतिष्ठत इति वेद्यम् ।

भाषार्थ

(सहस्रशी०) इस मन्त्र में पुरुष शब्द विशेष्य और अन्य सब पद उस के विशेषण हैं । पुरुष उसको कहते हैं कि जो इस सब जगत् में पूर्ण होरहा है, अर्थात् जिसने अपनी व्यापकता से इस जगत् को पूर्ण कर रक्खा है। पुर कहते हैं ब्रह्माण्ड और शरीर को । उसमें जो सर्वत्र व्याप्त और जो जीव के भीतर भी व्यापक अर्थात् अन्तर्यामी है । इस अर्थ में निरुक्त आदि का प्रमाण संस्कृत भाष्य में लिखा है, सो देख लेना । सहस्र नाम है संपूर्ण जगत् का और असंख्यात का भी नाम है। सो जिस के बीच में सब जगत् के असंख्यात शिर, आंख और पग ठहर रहे हैं, उस को सहस्रशीर्षा, सहस्राक्ष और सहस्रपात् भी कहते हैं । क्योंकि वह अनन्त है । जैसे आकाश के बीच में सब पदार्थ रहते और आकाश सब से अलग रहता है अर्थात् किसी के साथ बंधता नहीं है, इसी प्रकार परमेश्वर को भी जानो । (स भूमिꣳ सर्वतः स्पृत्वा) सो पुरुष सब जगह से पूर्ण होके पृथिवी को तथा सब लोकों को धारण कर रहा है । (अत्यतिष्ठद०) दशाङ्गुलशब्द ब्रह्माण्ड और हृदय का वाची है । अङ्गुलि शब्द अङ्ग का, अवयववाची है। पांच स्थूल भूत और पांच सूक्ष्म ये दोनों मिल के जगत् के दश अवयव होते हैं । तथा पांच प्राण, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार ये चार और दशमां जीव और शरीर में जो हृदय देश है सोभी दश अङ्गुल के प्रमाण से लिया जाता है । जो इन तीनों में व्यापक हो के इन के चारों ओर भी परिपूर्ण होरहा है, इससे वह पुरुष कहाता है । क्योंकि जो उस दशाङ्गुल स्थान

का भी उल्लङ्घन करके सर्वत्र स्थिर है वही सब जगत् का बनानेवाला है॥१॥

पुरुष एवेदꣳ सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्। उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति॥ २॥

भाष्यम्

(पुरुष एवे०) एतद्विशेषणयुक्तः पुरुषः परमेश्वरः (यद्भूतं०) यज्जगदुत्पन्नमभूत्, यद्भाव्यमुत्पत्स्यमानं, चकाराद्वर्त्तमानं च, तत्त्रिकालस्थं सर्वं विश्वं पुरुष एव कृतवानास्ति, नान्यः। नैवातो हि परः कश्चिज्जगद्रचयितास्तीति निश्चेतव्यम्। उतापि स एवेशान ईषणशीलः, सर्वस्येश्वरोऽमृतत्वस्य मोक्षभावस्य स्वामी दातास्ति। नैवैतद्दाने कस्याप्यन्यस्य सामर्थ्यमस्तीति। पुरुषो यद्यस्मादन्नेन पृथिव्यादिना जगता सहातिरोहति व्यतिरिक्तः सन् जन्मादिरहितोस्ति। तस्मात्स्वयमजः सन् सर्वं जनयति, स्वसामर्थ्यादिकारणात्कार्यं जगदुत्पादयति। नास्यादिकारणं किञ्चिदस्ति। किञ्च, सर्वस्यादिनिमित्तकारणं पुरुष एवास्तीति वेद्यम्॥ २॥

भाषार्थ

(पुरुष एवे०) जो पूर्वोक्त विशेषण सहित पुरुष अर्थात् परमेश्वर है, सो जो जगत् उत्पन्न हुआ था, जो होगा और जो इस समय में है, इस तीन प्रकार के जगत् को वही रचता है। उससे भिन्न दूसरा कोई जगत् का रचनेवाला नहीं है। क्योंकि वह (ईशान) अर्थात् सर्वशक्तिमान् है। (अमृत०) जो मोक्ष है उस का देने वाला एक वही है, दूसरा कोई नहीं। सो परमेश्वर (अन्न०) अर्थात् पृथिव्यादि जगत् के साथ व्यापक होके स्थित है और इस से अलग भी है। क्योंकि उस में जन्म आदि व्यवहार नहीं हैं और अपनी सामर्थ्य से सब जगत् को उत्पन्न भी करता है और आप कभी जन्म नहीं लेता॥ २॥

एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायाꣳश्च पूरुषः। पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥ ३॥

भाष्यम्

(एतावानस्य०) अस्य पुरुषस्य भूतभविष्यद्वर्त्तमानस्थो यावान् संसारोस्ति तावान् महिमा वेदितव्यः । एतावानस्य महिमास्ति चेत्तर्हि तस्य महिम्नः परिच्छेद इयत्ता जातेति गम्यते ? । अत्र ब्रूते (अतो ज्यायांश्च पूरुषः) नैतावन्मात्र एव महिमेति । किं तर्हि । अतोऽप्यधिकतमो महिमानन्तस्तस्यास्तीति गम्यते । अत्राह (पादोऽस्य०) अस्यानन्तसामर्थ्यस्येश्वरस्य (विश्वा) विश्वानि प्रकृत्यादिपथिवीपर्य्यन्तानि सर्वाणि भूतान्येकः पादोस्ति, एकस्मिन्देशांशे सर्वं विश्वं वर्त्तते । (त्रिपादस्या०) अस्य दिवि द्योतनात्मके स्वस्वरूपेऽमृतं मोक्षसुखमस्ति । तथाऽस्य दिवि द्योतके संसारे त्रिपाज्जगदस्ति । प्रकाश्यमानं जगदेकगुणमस्ति, प्रकाशकं च तस्मात्त्रिगुणमिति । स्वयं च मोक्षस्वरूपः, सर्वाधिष्ठाता, सर्वोपास्यः, सर्वानन्दः, सर्वप्रकाशकोस्ति ॥ ३ ॥

भाषार्थ

(एतावानस्य०) तीनों काल में जितना संसार है सो सब इस पुरुष का ही महिमा है । प्र०—जब उस के महिमा का परिमाण है तो अन्त भी होगा ? उ०—(अतो ज्यायांश्च पूरुषः) उस पुरुष का अनन्त महिमा है, क्याकि (पादोऽस्य विश्वाभूतानि) जो यह सम्पूर्ण जगत् प्रकाशित हो रहा है सो इस पुरुष के एक देश में वसता है । (त्रिपादस्यामृतं दिवि) और जो प्रकाश गुणवाला जगत् है सो उस से तिगुना है । तथा मोक्षसुख भी उसी ज्ञानस्वरूप प्रकाश में है और वह पुरुष सब प्रकाश का भी प्रकाश करने वाला है ॥ ३ ॥

त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः । ततो विष्वङ् व्यक्रामत्साशनानशने अभि ॥ ४ ॥

भाष्यम्

(त्रिपादू०) अयं पुरुषः परमेश्वरः पूर्वोक्तस्य त्रिपादोपलक्षितस्य सकाशादूर्ध्वमुपरिभागेऽर्थात्पृथग्भूतोऽस्त्येवेत्यर्थः । एकपादोपलक्षितं यत्पूर्वोक्तं ज-

गदस्ति तस्मादपीहास्मिन्संसारे स पुरुषः पृथगभवत्, व्यतिरिक्त एवास्ति। स च त्रिपात्संसार एकपाच्च मिलित्वा सर्वश्चतुष्पाद्भवति। अयं सर्वः संसार इहास्मिन्परमात्मन्येव वर्त्तते, पुनर्लयसमये तत्सामर्थ्यकारणे प्रलीनश्च भवति। तत्रापि स पुरुषोऽविद्यान्धकाराज्ञानजन्ममरणज्वरादिदुःखादूर्ध्वः परः (उदैत्) उदितः प्रकाशितो वर्त्तते, (ततो वि०) ततस्तत्सामर्थ्यात् सर्वमिदं विश्वमुत्पद्यते। किञ्च तत्। (साशनानशने०) यदेकमशनेन भोजनकरणेन सह वर्त्तमानं जङ्गमं जीवचेतनादिसहितं जगत्, द्वितीयमनशनमविद्यमानमशनं भोजनं यस्मिंस्तत्पृथिव्यादिकं च यज्जडं जीवसम्बन्धरहितं जगद्वर्त्तते, तदुभयं, तस्मात्पुरुषस्य सामर्थ्यकारणादेव जायते। यतः स पुरुष एतद्द्विविधं जगत् विविधतया सुष्ठुरीत्या सर्वात्मतयाऽञ्चति, तस्मात् सर्वं द्विविधं जगदुत्पाद्य (अभिव्यक्रामत्) सर्वतो व्याप्तवानस्ति॥ ४॥

भाषार्थ

(त्रिपादूर्ध्व उदैत्पु०) पुरुष जो परमेश्वर है सो: पूर्वोक्त त्रिपाद् जगत् से ऊपर भी व्यापक हो रहा है। तथा सदा प्रकाशस्वरूप, सब में भीतर व्यापक और सब से अलग भी है। (पादोस्येहाभवत्पुनः०) इस पुरुष की अपेक्षा से यह सब जगत् किञ्चित् मात्र देश में है और जो इस संसार के चार पाद होते हैं वे सब परमेश्वर के बीच में ही रहते हैं। इस स्थूल जगत् का जन्म और विनाश सदा होता रहता है और पुरुष तो जन्म विनाश आदि धर्म से अलग और सदा प्रकाशमान है। (ततो विष्वङ् व्यक्रामत्) अर्थात् यह नाना प्रकार का जगत् उसी पुरुष के सामर्थ्य से उत्पन्न हुआ है। (साशनान०) सो दो प्रकार का है, एक चेतन जो कि भोजनादि के लिये चेष्टा करता और जीव संयुक्त है और दूसरा अनशन अर्थात् जो जड़ और भोजन के लिये बना है। क्योंकि उस में ज्ञान ही नहीं है और अपने आप चेष्टा भी नहीं कर सकता। परन्तु उस पुरुष का अनन्त सामर्थ्य ही इस जगत् के बनाने की सामग्री है कि जिससे यह सब जगत् उत्पन्न होता है। सो पुरुष सर्वहितकारक होके उस दो प्रकार के जगत् को अनेक प्रकार से आनन्दित करता है। वह पुरुष इस का बनानेवाला, संसार में सर्वत्र

व्यापक होके, धारण करके, देख रहा और वही सब जगत् का सब प्रकार से आकर्षण कर रहा है ॥ ४ ॥

ततो॑ वि॒राड॑जायत वि॒राजो॒ अधि॒ पूरु॑षः । स जा॒तो अत्य॑रिच्यत प॒श्चाद्भूमि॒मथो॑ पु॒रः ॥ ५ ॥

भाष्यम्

(ततो विराडजायत) ततस्तस्माद् ब्रह्माण्डशरीरः, सूर्य्यचन्द्रनेत्रो, वायुप्राणः, पृथिवीपाद इत्याद्यलङ्कारलक्षणलक्षितो,हि, सर्वशरीराणां समष्टिदेहो, विविधैः पदार्थै राजमानः सन्, विराट्, अजायतोत्पन्नोस्ति। (विराजो अधिपूरुषः) तस्माद्विराजोऽधि उपरि पश्चाद् ब्रह्माण्डतत्त्वावयवैः पुरुषः सर्वप्राणिनां जीवाधिकरणो देहः, पृथक् २ अजायतोत्पन्नोभूत् । (स जातो अ०) स देहो ब्रह्माण्डावयवैरेव वर्धते, नष्टः संस्तस्मिन्नेव प्रलीयत इति, परमेश्वरस्तु सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽत्यरिच्यतातिरिक्तः पृथग्भूतोस्ति । (पश्चाद्भूमिमथो पुरः) पुरः पूर्वं भूमिमुत्पाद्य धारितवांस्ततः पुरुषस्य सामर्थ्यात्स जीवोपि देहं धारितवानस्ति । स च पुरुषः परमात्मा ततस्तस्माज्जीवादप्यत्यरिच्यत पृथग्भूतोस्ति ॥ ५ ॥

भाषार्थ

(ततो विराडजायत) विराट् जिस का ब्रह्माण्ड के अलङ्कार से वर्णन किया है. जो उसी पुरुष के सामर्थ्य से उत्पन्न हुआ है, जिस को मूलप्रकृति कहते हैं, जिस का शरीर ब्रह्माण्ड के समतुल्य, जिस के सूर्य्य चन्द्रमा नेत्रस्थानी है, वायु जिस का प्राण और पृथिवी जिस का पग है, इत्यादि लक्षण वाला जो यह आकाश है सो विराट् कहाता है । वह प्रथम कलारूप परमेश्वर के सामर्थ्य से उत्पन्न होके प्रकाशमान होरहा है । (विराजो अधि०) उस विराट् के तत्त्वों के पूर्वभागों से सब अप्राणी और प्राणियों का देह पृथक् २ उत्पन्न हुआ है । जिस में सब जीव वास करते हैं और जो देह उसी पृथिवी आदि के

अवयव अन्न आदि ओषधियों से वृद्धि को प्राप्त होता है, (स जातो अत्यरिच्यत) सो विराट् परमेश्वर से अलग और परमेश्वर भी इस संसाररूप देह से सदा अलग रहता है । (पश्चाद्भूमिमथो पुरः) फिर भूमि आदि जगत् को प्रथम उत्पन्न करके पश्चात् जो धारण कर रहा है ॥ ५ ॥

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः संभृतं पृषदाज्यम् । पशूँस्ताँश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये ॥ ६ ॥

भाष्यम्

(तस्माद्य०) अस्यार्थो वेदोत्पत्तिप्रकरणे कश्चिदुक्तः । तस्मात्परमेश्वरात् (संभृतं पृषदाज्यम्) पृषु सेचने धातुः, पर्षन्ति सिञ्चन्ति क्षुन्निवृत्त्यादिकारकमन्नादि वस्तु यस्मिंस्तत्पृषत् । आज्यं घृतं मधु दुग्धादिकं च । पृषदिति भक्ष्यान्नोपलक्षणम् * । आज्यमिति व्यञ्जनोपलक्षणम् । यावद्वस्तु जगति वर्त्तते तावत्सर्वं पुरुषात्परमेश्वरसामर्थ्यादेव जातमिति बोध्यम् । तत्सर्वमीश्वरेण स्वल्पं स्वल्पं जीवेभ्यः सम्यग्धारितमस्ति । अतः सर्वैरनन्यचित्तेनायं परमेश्वर एवोपास्यो नान्यश्चेति । (पशूंस्तांश्चक्रे०) य आरण्या वनस्थाः पशवो, ये च ग्राम्या ग्रामस्थास्तान्सर्वान् स एव चक्रे कृतवानस्ति । स च परमेश्वरो वायव्यान् वायुसहचरितान् पक्षिणश्चक्रे, चकारादन्यान्सूक्ष्मदेहधारिणः कीटपतङ्गादीनपि कृतवानस्ति ॥ ६ ॥

भाषार्थ

(तस्माद्यज्ञात्स०) इस मन्त्र का अर्थ वेदोत्पत्तिप्रकरण में कुछ कर दिया है । पूर्वोक्त पुरुष से ही (संभृतं पृषदाज्यम्) सब भोजन, वस्त्र, अन्न, जल आदि पदार्थों को सब मनुष्य लोगों ने धारण अर्थात् प्राप्त किया है, क्योंकि उसी के सामर्थ्य से ये सब पदार्थ उत्पन्न हुए और उन्हीं से सब का जीवन भी होता है । इस से सब मनुष्य लोगों को उचित है कि उस को छोड़ के किसी दूसरे

* पृषदिति क्वचिदन्त्येष्टिसामग्र्या अपि नामास्ति ।

की उपासना न करें। (पशूंस्तांश्चक्रे०) ग्राम और वन के सब पशुओं को भी उसी ने उत्पन्न किया है, तथा सब पक्षियों को भी बनाता है और भी सूक्ष्म-देहधारी कीट, पतङ्ग आदि सब जीवों के देह भी उसी ने उत्पन्न किये हैं॥ ६॥

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥ ७॥

भाष्यम्

अस्यार्थ उक्तो वेदोत्पत्तिप्रकरणे॥ ७॥

भाषार्थ

(तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः) इस मन्त्र का अर्थ वेदोत्पत्ति विषय में कर दिया है॥ ७॥

तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः। गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः॥ ८॥

भाष्यम्

(तस्मादश्वा०) तस्मात्परमेश्वरसामर्थ्यादेवाश्वास्तुरङ्गा अजायन्त। ग्राम्यारण्यपशूनां मध्येऽश्वादीनामन्तर्भावादेषामुत्तमगुणवत्त्वप्रकाशनार्थोऽयमारम्भः, (ये केचोभयादतः) उभयतो दन्ता येषां त उभयादतो, ये केचिदुभयादत उष्ट्रगर्दभादयस्तेऽप्यजायन्त। (गावो ह ज०) तथा तस्मात्पुरुषसामर्थ्यादेव गावो धेनवः किरणाश्चेन्द्रियाणि च जज्ञिरे जातानि। (तस्माज्जाता अजा०) एवमेव चाजाश्छागा अवयश्च जाता उत्पन्ना इति विज्ञेयम्॥८॥

भाषार्थ

(तस्मादश्वा अजायन्त) उसी पुरुष के सामर्थ्य से अश्व अर्थात् घोड़े और बिजुली आदि सब पदार्थ उत्पन्न हुए हैं। (ये केचोभयादतः) जिनके मुख

में दोनों ओर दांत होते हैं उन पशुओं को 'उभयादत' कहते हैं। वे ऊंट गधा आदि उसी से उत्पन्न हुए हैं। (गावो ह ज०) उसी से गोजाति अर्थात् गाय, पृथिवी, किरण और इन्द्रिय उत्पन्न हुई हैं। (तस्माज्जाता अ०) इसी प्रकार छेरी और भेड़ें भी उसी कारण से उत्पन्न हुई हैं ॥ ८ ॥

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः। तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये ॥ ९ ॥

भाष्यम्

(तं यज्ञं ब०) यमग्रतो जातं प्रादुर्भूतं जगत्कर्तारं, पुरुषं पूर्णं, यज्ञं सर्वपूज्यं, परमेश्वरं, बर्हिषि हृदयान्तरिक्षे, प्रौक्षन्प्रकृष्टतया यस्यैवाभिषेकं कृतवन्तः, कुर्वन्ति, करिष्यन्ति चेत्युपदिश्यत ईश्वरेण, (तेन देवा०) तेन परमेश्वरेण पुरुषेण वेदद्वारोपदिष्टास्ते सर्वे देवा विद्वांसः, साध्या ज्ञानिन, ऋषयो मन्त्रद्रष्टारश्च, ये चान्ये मनुष्यास्तं परमेश्वरमयजन्तापूजयन्त। अनेन किं सिद्धं, सर्वे मनुष्याः परमेश्वरस्य स्तुतिप्रार्थनोपासनापुरःसरमेव सर्वकर्मानुष्ठानं कुर्य्युरित्यर्थः ॥ ९ ॥

भाषार्थ

(तं यज्ञं बर्हि०) जो सब से प्रथम प्रकट था, जो सब जगत् का बनाने वाला है, और सब जगत् में पूर्ण हो रहा है, उस यज्ञ अर्थात् पूजने के योग्य परमेश्वर को जो मनुष्य हृदयरूप आकाश में अच्छे प्रकार से प्रेमभक्ति सत्य आचरण करके पूजन करता है वही उत्तम मनुष्य है। ईश्वर का यह उपदेश सब के लिये है। (तेन देवा अयजन्त सा०) उसी परमेश्वर के वेदोक्त उपदेशों से (देवाः) जो विद्वान्, (साध्याः) जो ज्ञानी लोग, (ऋषयश्च ये) ऋषि लोग जो वेदमन्त्रों के अर्थ जानने वाले और अन्य भी मनुष्य जो परमेश्वर के सत्कारपूर्वक सब उत्तम ही काम करते हैं वे ही सुखी होते हैं, क्योंकि सब श्रेष्ठ कर्मों के करने के पूर्व ही उस का स्मरण और प्रार्थना अवश्य करनी चाहिये और दुष्ट कर्म करना तो किसी को उचित ही नहीं ॥ ९ ॥

यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्। मुखं किमस्यासीत् किं बाहू किमूरू पादा उच्येते ॥ १० ॥

भाष्यम्

(यत्पुरुषं व्य०) यद्यस्मादेतं पूर्वोक्तलक्षणं पुरुषं परमेश्वरं कतिधा कियत्प्रकारैः (व्यकल्पयन्) तस्य सामर्थ्यगुणकल्पनं कुर्वन्तीत्यर्थः । (व्यदधुः) तं सर्वशक्तिमन्तमीश्वरं विविधसामर्थ्यकथनेनादधुरर्थादनेकविधं तस्य व्याख्यानं कृतवन्तः, कुर्वन्ति, करिष्यन्ति च । (मुखं कि०) अस्य पुरुषस्य मुखं मुख्यगुणेभ्यः किमुत्पन्नमासीत् ? (किं बाहू) बलवीर्य्यादिगुणेभ्यः किमुत्पन्नमासीत् ? (किमूरू) व्यापारादिमध्यमैर्गुणैः किमुत्पन्नमासीत् ? (पादा उच्येते) पादावर्थान्मूर्खत्वादिनीचगुणैः किमुत्पन्नं वर्त्तते ? । अस्योत्तरमाह ॥ १० ॥

भाषार्थ

(यत्पुरुषं०) पुरुष उस को कहते हैं कि जो सर्वशक्तिमान् ईश्वर कहाता है । (कतिधा व्य०) जिस के सामर्थ्य का अनेक प्रकार से प्रतिपादन करते हैं, क्योंकि उस में चित्र विचित्र बहुत प्रकार का सामर्थ्य है । अनेक कल्पनाओं से जिस का कथन करते हैं । (मुखं किमस्यासीत्) इस पुरुष के मुख अर्थात् मुख्य गुणों से इस संसार में क्या उत्पन्न हुआ है ? । (किं बाहू) बल, वीर्य्य, शूरता और युद्ध आदि विद्यागुणों से इस संसार में कौन पदार्थ उत्पन्न हुआ है । (किमूरू) व्यापार आदि मध्यम गुणों से किस की उत्पत्ति हुई है ? । (पादा उच्येते) मूर्खपन आदि नीच गुणों से किस की उत्पत्ति होती है ? । इन चारों प्रश्न के उत्तर ये हैं कि ॥ १० ॥

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः । ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥ ११ ॥

भाष्यम्

(ब्राह्मणोऽस्य०) अस्य पुरुषस्य मुखं ये विद्यादयो मुख्यगुणाः,

सत्यभाषणोपदेशादीनि कर्म्माणि च सन्ति तेभ्यो ब्राह्मण आसीदुत्पन्नो भवतीति । (बाहू राजन्यः कृतः) बलवीर्य्यादिलक्षणान्वितो राजन्यः क्षत्रियस्तेन कृत आज्ञप्त आसीदुत्पन्नो* भवति । (ऊरू तदस्य०) कृषिव्यापारादयो गुणा मध्यमास्तेभ्यो वैश्यो वणिग्जनोऽस्य पुरुषस्योपदेशादुत्पन्नो भवतीति वेद्यम् । (पद्भ्यांशूद्रो०) पद्भ्यां पादेन्द्रियनीचत्वमर्थाज्जड़बुद्धित्वादिगुणेभ्यः शूद्रः सेवागुणविशिष्टः पराधीनतया प्रवर्त्तमानोऽजायत जायत इति वेद्यम् । अस्योपरि प्रमाणानि वर्णाश्रमप्रकरणे वक्ष्यन्ते । छन्दसि लुङ्लङ्लिटः ॥ १ ॥ अष्टाध्या० अ० ३ । पा० ४ । सू० ६ ॥ इति सूत्रेण सामान्यकाले त्रयो लकारा विधीयन्ते ॥ ११ ॥

भाषार्थ

(ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्) इस पुरुष की आज्ञा के अनुसार जो विद्या, सत्यभाषणादि उत्तम गुण और श्रेष्ठ कर्मों से ब्राह्मणवर्ण उत्पन्न होता है, वह मुख्य कर्म और गुणों के सहित होने से मनुष्यों में उत्तम कहाता है । (बाहू राजन्यः कृतः) और ईश्वर ने बल, पराक्रम आदि पूर्वोक्त गुणों से युक्त क्षत्रिय वर्ण को उत्पन्न किया है । (ऊरू तदस्य०) खेती, व्यापार और सब देशों की भाषाओं को जानना तथा पशुपालन आदि मध्यम गुणों से वैश्यवर्ण सिद्ध होता है । (पद्भ्यांशूद्रो०) जैसे पग सब से नीच अङ्ग है, वैसे मूर्खता आदि नीच गुणों से शूद्र वर्ण सिद्ध होता है । इस विषय के प्रमाण वर्णाश्रम की व्याख्या में लिखेंगे ॥ ११ ॥

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्य्यो अजायत । श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत ॥ १२ ॥

भाष्यम्

(चन्द्रमा मनसो०) तस्यास्य पुरुषस्य मनसो मननशीलात्सामर्थ्याच्चन्द्रमा जात उत्पन्नोऽस्ति । तथा चक्षोर्ज्योतिर्मयात्सूर्य्यो अजायत उत्पन्नोऽस्ति ।

---

* आसीदुत्पन्नो भवतीत्यस्य स्थाने "आसीदास्ते" इति हस्तलिखितभूमिकायां पाठः ।

(श्रोत्राद्वा०) श्रोत्राकाशमयादाकाशो नभ उत्पन्नमस्ति । वायुमयाद्वायुरुत्पन्नोऽस्ति, प्राणश्च, सर्वेन्द्रियाणि चोत्पन्नानि सन्ति । मुखान्मुख्यज्योतिर्मयादग्निरजायतोत्पन्नोऽस्ति ॥ १२ ॥

भाषार्थ

(चन्द्रमा०) उस पुरुष के मनन अर्थात् ज्ञानस्वरूप सामर्थ्य से चन्द्रमा और तेजस्वरूप से सूर्य्य उत्पन्न हुआ है । (श्रोत्राद्वा०) श्रोत्र अर्थात् अवकाशरूप सामर्थ्य से आकाश और वायुरूप सामर्थ्य से वायु उत्पन्न हुआ है । तथा सब इन्द्रियां भी अपने २ कारण से उत्पन्न हुई हैं और मुख्य ज्योतिरूप सामर्थ्य से अग्नि उत्पन्न हुआ है ॥ १२ ॥

नाभ्या॑ आसीद्न्तरि॑क्षꣳ शी॒र्ष्णो द्यौः सम॑वर्त्तत । प॒द्भ्यां भूमि॒र्दिशः॒ श्रोत्रा॒त्तथा॑ लो॒काँ२॥ अ॑कल्पयन् ॥ १३ ॥

भाष्यम्

(नाभ्या०) अस्य पुरुषस्य नाभ्या अवकाशमयात्सामर्थ्यादन्तरिक्षमुत्पन्नमासीत् । एवं शीर्ष्णः शिरोवदुत्तमसामर्थ्यात्प्रकाशमयात् (द्यौः) सूर्य्यादिलोकः प्रकाशात्मकः समवर्त्तत सम्यगुत्पन्नः सन् वर्त्तते । (पद्भ्यां भूमिः) पृथिवीकारणमयात्सामर्थ्यात्परमेश्वरेण भूमिर्धरणिरुत्पादितास्ति, जलं च । (दिशः श्रो०) शब्दाकाशकारणमयात्तेन दिश उत्पादिताः सन्ति । (तथा लोकाँ२॥ अकल्पयन्) तथा तेनैव प्रकारेण सर्वलोककारणमयात्सामर्थ्यादन्यान्सर्वान् लोकांस्तत्रस्थान् स्थावरजङ्गमान्पदार्थानकल्पयत्परमेश्वर उत्पादितवानस्ति ॥ १३ ॥

भाषार्थ

(नाभ्या आसीदन्त०) इस पुरुष के अत्यन्त सूक्ष्म सामर्थ्य से अन्तरिक्ष अर्थात् जो भूमि और सूर्य्य आदि लोकों के बीच में पोल है सो भी नियत

किया हुआ है । (शीर्ष्णो द्यौः०) और जिस के सर्वोत्तम सामर्थ्य से सब लोकों के प्रकाश करने वाले सूर्य्य आदि लोक उत्पन्न हुए हैं । (पद्भ्यां भूमिः) पृथिवी के परमाणु कारणरूप सामर्थ्य से परमेश्वर ने पृथिवी उत्पन्न की है । तथा जल को भी उसके कारण से उत्पन्न किया है । (दिशः श्रोत्रात्) उसने श्रोत्ररूप सामर्थ्य से दिशाओं को उत्पन्न किया है । (तथा लोकां२॥ अकल्पयन्) इसी प्रकार सब लोकों के कारणरूप सामर्थ्य से परमेश्वर ने सब लोक और उन में बसने वाले सब पदार्थों को उत्पन्न किया है ॥ १३ ॥

यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत । वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः ॥ १४ ॥

भाष्यम्

(यत्पुरुषेण०) देवा विद्वांसः पूर्वोक्तेन पुरुषेण हविषा गृहीतेन दत्तेन चाग्निहोत्राद्यश्वमेधान्तं शिल्पविद्यामयं च यद्यं यज्ञं प्रकाशितमतन्वत विस्तृतं कृतवन्तः कुर्वन्ति करिष्यन्ति च । इदानीं जगदुत्पत्तौ कालस्यावयवाख्या सामग्र्युच्यते, (वसन्तो०) अस्य यज्ञस्य पुरुषादुत्पन्नस्य वा ब्रह्माण्डमयस्य वसन्त आज्यं घृतवदस्ति । (ग्रीष्म इध्मः) ग्रीष्मर्त्तुरिध्म इन्धनान्यग्निर्वास्ति । (शरद्धविः) शरदृतुः पुरोडाशादिवद्धविर्हवनीयमस्ति ॥ १४ ॥

भाषार्थ

(यत्पुरुषेण०) देव अर्थात् जो विद्वान् लोग होते हैं उन को भी ईश्वर ने अपने २ कर्मों के अनुसार उत्पन्न किया है, और वे ईश्वर के दिये पदार्थों का ग्रहण करके पूर्वोक्त यज्ञ का विस्तारपूर्वक अनुष्ठान करते हैं, और जो ब्रह्माण्ड का रचन, पालन और प्रलय करना रूप यज्ञ है उसी को जगत् बनाने की सामग्री कहते हैं । (वसन्तो०) पुरुष ने उत्पन्न किया जो यह ब्रह्माण्डरूप यज्ञ है इस में वसन्तऋतु अर्थात् चैत्र और वैशाख घृत के समान है । (ग्रीष्म इध्मः) ग्रीष्मऋतु जो ज्येष्ठ और आषाढ़, इन्धन है । श्रावण और भाद्रपद

वर्षा ऋतु । आश्विन और कार्त्तिक शरद् ऋतु । मार्गशीर्ष और पौष हिम ऋतु और माघ तथा फाल्गुन शिशिर ऋतु कहाती है । यह इस यज्ञ में आहुति है । सो यहां रूपकालङ्कार से सब ब्रह्माण्ड का व्याख्यान जानना चाहिये ॥ १४ ॥

स॒प्तास्या॑सन् परि॒धय॒स्त्रिः स॒प्त स॒मिधः॑ कृ॒ताः । दे॒वा यद्य॒ज्ञं त॑न्वा॒ना अब॑ध्न॒न् पुरु॑षं प॒शुम् ॥ १५ ॥

भाष्यम्

(सप्तास्या०) अस्य ब्रह्माण्डस्य सप्त परिधयः सन्ति । परिधिर्हि गोलस्योपरिभागस्य यावता सूत्रेण परिवेष्टनं भवति स परिधिर्ज्ञेयः । अस्य ब्रह्माण्डस्य ब्रह्माण्डान्तर्गतलोकानां वा सप्त सप्त परिधयो भवन्ति । समुद्र एकस्तदुपरि त्रसरेणुसहितो वायुर्द्वितीयः । मेघमण्डलं तत्रस्थो वायुस्तृतीयः । वृष्टिजलं चतुर्थस्तदुपरिवायुः पञ्चमः । अत्यन्तसूक्ष्मो धनञ्जयष्षष्ठः । सूत्रात्मा सर्वत्र व्याप्तः सप्तमश्च । एवमेकैकस्योपरि सप्त सप्तावरणानि स्थितानि सन्ति, तस्मात्ते परिधयो विज्ञेयाः । (त्रिः सप्त सामिधः कृताः) एकविंशतिः पदार्थाः सामग्र्यस्य चास्ति । प्रकृतिर्महत्, बुद्ध्याद्यन्तःकरणं, जीवश्चैषका सामग्री परमसूक्ष्मत्वात् । दशेन्द्रियाणि श्रोत्रं, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, नासिका, वाक्, पादौ, हस्तौ, पायुः, उपस्थं चेति । शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः पञ्चतन्मात्राः, पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशमिति पञ्चभूतानि च मिलित्वा दश भवन्ति । एवं सर्वा मिलित्वैकविंशतिर्भवन्त्यस्य ब्रह्माण्डरचनस्य सामिधः कारणानि विज्ञेयानि । एतेषामवयवरूपाणि तु तत्त्वानि बहूनि सन्तीति बोध्यम् । (देवा य०) तदिदं येन पुरुषेण रचितं तं यज्ञपुरुषं पशुं सर्वद्रष्टारं सर्वैः पूजनीयं देवा विद्वांसः (अबध्नन्) ध्यानेन बध्नन्ति, तं विहायेश्वरत्वेन कस्यापि ध्यानं नैव बध्नन्ति नैव कुर्वन्तीत्यर्थः ॥ १५ ॥

भाषार्थ

(सप्तास्या०) ईश्वर ने एक २ लोक के चारों ओर सात २ परिधि ऊपर २ रची है । जो गोल चीज के चारों ओर एक सूत से नाप के जितना परिमाण

होता है उस को परिधि कहते हैं । सो जितने ब्रह्माण्ड में लोक हैं ईश्वर ने उन एक २ के ऊपर सात २ आवरण बनाये । एक समुद्र, दूसरा त्रसरेणु, तीसरा मेघमण्डल का वायु, चौथा वृष्टिजल और पांचवां वृष्टिजल के ऊपर एक प्रकार का वायु, छठा अत्यन्त सूक्ष्म वायु जिस को धनञ्जय कहते हैं, सातवां सूत्रात्मा वायु जो कि धनञ्जय से भी सूक्ष्म है, ये सात परिधि कहाते हैं । (त्रिः सप्त समिधः) और इस ब्रह्माण्ड की सामग्री (२१) इक्कीस प्रकार की कहाती है । जिस में से एक प्रकृति, बुद्धि और जीव ये तीनों मिलके हैं, क्योंकि यह अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थ है । दूसरा श्रोत्र । तीसरी त्वचा । चौथा नेत्र । पांचमी जिह्वा । छठी नासिका । सातमी वाक् । आठमा पग । नवमा हाथ । दशमी गुदा । ग्यारहमा उपस्थ जिस को लिङ्ग इन्द्रिय कहते हैं । बारहमा शब्द । तेरहमा स्पर्श । चौदहमा रूप । पन्द्रहमा रस । सोलहमा गन्ध । सत्रहमी पृथिवी । अठारहमा जल । उन्नीसमा अग्नि । बीसमा वायु । इक्कीसमा आकाश । ये इक्कीस समिधा कहाती हैं । (देवा य०) जो परमेश्वर पुरुष इस सब जगत् का रचने वाला, सब का देखने वाला और पूज्य है उस को विद्वान् लोग सुन के और उसी के उपदेश से उसी के कर्म और गुणों का कथन, प्रकाश और ध्यान करते हैं । उस को छोड़ के दूसरे को ईश्वर किसी ने नहीं माना और उसी के ध्यान में अपने आत्माओं को दृढ़ बांधने से कल्याण जानते हैं ॥ १५ ॥

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् । ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥१६॥

भाष्यम्

(यज्ञेन यज्ञम०) ये विद्वांसो, यज्ञं यजनीयं पूजनीयं परमेश्वरं, यज्ञेन, तत्स्तुतिप्रार्थनोपासनरीत्या पूजनेन, तमेवायजन्त, यजन्ते, यक्ष्यन्ति च । तान्येव धर्माणि प्रथमानि सर्वकर्मभ्य आदौ सर्वैर्मनुष्यैः कर्त्तव्यान्यासन् । न च तैः पूर्वं कृतैर्विना केनापि किंचित्कर्म कर्त्तव्यमिति । (ते ह ना०) त ईश्वरोपासका, हेति, प्रसिद्धं नाकं सर्वदुःखरहितं परमेश्वरं, मोक्षं च, महि-

मानः पूज्याः सन्तः, सचन्त समवेता भवन्ति। कीदृशं तत्? (यत्र पूर्वे साध्याः०) साध्याः साधनवन्तः कृतसाधनाश्च देवा विद्वांसः पूर्वे अतीता यत्र मोक्षाख्ये परमे पदे सुखिनः सन्ति। न तस्माद् ब्रह्मणश्शतवर्षसंख्यातात् कालात् कदाचित्पुनरावर्तन्त इति किन्तु तमेव समसेवन्त॥ अत्राहुर्निरुक्तकारा यास्काचार्य्याः। यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः, अग्निनाग्निमयजन्त देवाः, "अग्निः पशुरासीत्तमालभन्त तेनायजन्ते"ति च ब्राह्मणम्। 'तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।' ते ह नाकं महिमानः समसेवन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः साधनाः। द्युस्थानो देवगण इति नैरुक्ताः॥ नि० अ० १२। खं० ४१॥ अग्निना जीवेनान्तःकरणेन वाग्निं परमेश्वरमयजन्त। अग्निः पशुरासीत्तमेव देवा आलभन्त। सर्वोपकारकमग्निहोत्राद्यश्वमेधान्तं भौतिकाग्निनापि यज्ञं देवा समसेवन्तेति वा। साध्याः साधनवन्तो यत्र पूर्वे पूर्वं भूता मोक्षाख्यानन्दे पदे सन्ति। तमभिप्रेत्यात एव द्युस्थानो देवगण इति निरुक्तकारा वदन्ति। द्युस्थानः प्रकाशमयः परमेश्वरः स्थानं स्थित्यर्थं यस्य सः। यद्वा सूर्य्यप्राणस्थानाः विज्ञानकिरणास्तत्रैव देवगणो देवसमूहो वर्त्तत इति॥ १९॥

भाषार्थ

(यज्ञेन यज्ञम०) विद्वानों को देव कहते हैं और वे सब के पूज्य होते हैं, क्योंकि वे सब दिन परमेश्वर ही की स्तुति, प्रार्थना, उपासना और आज्ञापालन आदि विधान से पूजा करते हैं। इससे सब मनुष्यों को उचित है कि वेदमन्त्रों से प्रथम ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना करके शुभकर्मों का आरम्भ करें। (ते ह नाकं०) जो २ ईश्वर की उपासना करने वाले लोग हैं वे २ सब दुःखों से छूट के सब मनुष्यों में अत्यन्त पूज्य होते हैं। (यत्र पूर्वे सा०) जहां विद्वान् लोग परमपुरुषार्थ से जिस पद को प्राप्त होके नित्य आनन्द में रहते हैं उसी को मोक्ष कहते हैं। क्योंकि उससे निवृत्त होके संसार के दुःखों में कभी नहीं गिरते। इस अर्थ में निरुक्तकार का भी यही अभिप्राय है कि जो परमेश्वर के अनन्त प्रकाश में मोक्ष को प्राप्त हुये हैं वे परमेश्वर ही के प्रकाश में सदा रहते हैं, उन को अज्ञानरूप अन्धकार कभी नहीं होता॥ १९॥

अ॒द्भ्यः सम्भृ॑तः पृथि॒व्यै रसा॑च्च वि॒श्वक॑र्मणः॒ सम॑वर्त्त॒ताग्रे॑।
तस्य॒ त्वष्टा॑ वि॒दध॑द्रू॒पमे॑ति॒ तन्मर्त्य॑स्य दे॒वत्व॑मा॒जान॒मग्रे॑ ॥ १७ ॥

भाष्यम्

(अद्भ्यः संभृतः०) तेन पुरुषेण पृथिव्यै पृथिव्युत्पत्त्यर्थमद्भ्यो रसः संभृतः संगृह्य तेन पृथिवी रचिता । एवमग्निरसेनाग्नेः सकाशादाप उत्पादिताः । अग्निश्च वायोः सकाशाद्वायुराकाशादुत्पादित, आकाशः प्रकृतेः, प्रकृतिः स्वसामर्थ्याच्च । विश्वं सर्वं कर्म क्रियमाणमस्य स विश्वकर्मा । तस्य परमेश्वरस्य सामर्थ्यमध्ये कारणाख्येऽग्रे सृष्टेः प्राग्जगत्समवर्त्तत वर्त्तमानमासीत् । तदानीं सर्वमिदं जगत्कारणभूतमेव नेदृशमिति । तस्य सामर्थ्यस्यांशान् गृहीत्वा त्वष्टा रचनकर्त्तेदं सकलं जगद्विदधत् । पुनश्चेदं विश्वं रूपवत्त्वमेति । तदेव मर्त्यस्य मरणधर्मकस्य विश्वस्य मनुष्यस्यापि च रूपवत्त्वं भवति । (आजानमग्रे) वेदाज्ञापनसमये परमात्माज्ञप्तवान्, वेदरूपामाज्ञां दत्तवान् मनुष्याय । धर्मयुक्तेनैव, सकामेन कर्मणा, कर्मदेवत्वयुक्तं शरीरं धृत्वा, विषयेन्द्रियसंयोगजन्यमिष्टं सुखं भवतु, तथा निष्कामेन विज्ञानपरमं मोक्षाख्यं चेति ॥ १७ ॥

भाषार्थ

(अद्भ्यः संभृतः०) उस परमेश्वर पुरुष ने पृथिवी की उत्पत्ति के लिये जल से सारांश रस को ग्रहण करके पृथिवी और अग्नि के परमाणुओं को मिला के पृथिवी रची है । इसी प्रकार अग्नि के परमाणु के साथ जल के परमाणुओं को मिला के जल को, वायु के परमाणुओं के साथ अग्नि के परमाणुओं को मिला के अग्नि को और वायु के परमाणुओं से वायु को रचा है । वैसे ही अपने सामर्थ्य से आकाश को भी रचा है जो कि सब तत्त्वों के ठहरने का स्थान है । ईश्वर ने प्रकृति से लेके घास पर्यन्त जगत् को रचा है । इससे ये सब पदार्थ ईश्वर के रचे होने से उस का नाम विश्वकर्मा है । जब जगत् उत्पन्न नहीं हुआ था तब वह ईश्वर के सामर्थ्य में कारणरूप से वर्त्तमान था । (तस्य०) जब २

ईश्वर अपने सामर्थ्य से इस कार्य्यरूप जगत् को रचता है तब २ कार्य्य जगत् रूप गुणवाला होके स्थूल बन के देखने में आता है। (तन्मर्त्यस्य देवत्व०) जब परमेश्वर ने मनुष्यशरीर आदि को रचा है तब मनुष्य भी दिव्य कर्म करके देव कहाते हैं और जब ईश्वर की उपासना से विद्या, विज्ञान आदि अत्युत्तम गुणों को प्राप्त होते हैं तब भी उन मनुष्यों का नाम देव होता है, क्योंकि कर्म से उपासना और ज्ञान उत्तम हैं। इसमें ईश्वर की यह आज्ञा है कि जो मनुष्य उत्तम कर्म में शरीर आदि पदार्थों को चलाता है वह संसार में उत्तम सुख पाता है और जो परमेश्वर ही की प्राप्तिरूप मोक्ष की इच्छा करके उत्तम कर्म, उपासना और ज्ञान में पुरुषार्थ करता है वह उत्तम देव होता है ॥ १७ ॥

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्। तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ १८ ॥

भाष्यम्

(वेदाहमेतं पु०) किं विदित्वा त्वं ज्ञानी भवसीति पृच्छ्यत ? तदुत्तरमाह। यतः पूर्वोक्तलक्षणविशिष्टं, सर्वेभ्यो महान्तं, वृद्धतममादित्यवर्णं, स्वप्रकाशविज्ञानस्वरूपं, तमसोऽज्ञानाऽविद्यान्धकारात्परस्तात्पृथग् वर्त्तमानं परमेश्वरं पुरुषमहं वेद जानाम्यतोऽहं ज्ञान्यस्मीति निश्चयः। नैव तमविदित्वा कश्चिज्ज्ञानी भवितुमर्हतीति। कुतः। (तमेव विदित्वा०) मनुष्यस्तमेव पुरुषं परमात्मानं विदित्वाऽतिमृत्युं मृत्युमतिक्रान्तं मृत्योः पृथग्भूतं मोक्षाख्यमानन्दमेति प्राप्नोति। नैवातोऽन्यथेति। एवकारात्तमीश्वरं विहाय नैव कस्यचिदन्यस्य लेशमात्राप्युपासना केनचित्कदाचित्कार्य्येति गम्यते। कथमिदं विज्ञायतेऽन्यस्योपासना नैव कार्य्येति ? (नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय) इति वचनात्। अयनाय व्यावहारिकपारमार्थिकसुखायाऽन्यो द्वितीयः पन्था मार्गो न विद्यते। किन्तु तस्यैवोपासनमेव सुखस्य मार्गोऽतो भिन्नस्येश्वरगणनोपासनाभ्यां मनुष्यस्य दुःखमेव भवतीति निश्चयः। अतः कारणादेष एव पुरुषः सर्वैरुपासनीय इति सिद्धान्तः ॥ १८ ॥

भाषार्थ

(वेदाहमेतं) प्र०—किस पदार्थ को जान के मनुष्य ज्ञानी होता है ? उ०—उस पूर्वोक्त लक्षण सहित परमेश्वर ही को यथावत् जान के ठीक २ ज्ञानी होता है, अन्यथा नहीं । जो सब से बड़ा, सब का प्रकाश करनेवाला और अविद्या अन्धकार अर्थात् अज्ञान आदि दोषों से अलग है, उसी पुरुष को मैं परमेश्वर और इष्टदेव जानता हूं । उस को जाने विना कोई मनुष्य यथावत् ज्ञानवान् नहीं हो सकता, क्योंकि (तमेव विदित्वा०) उसी परमात्मा को जान के और प्राप्त होके जन्म, मरण आदि क्लेशों के समुद्र समान दुःख से छूट के परमानन्दस्वरूप मोक्ष को प्राप्त होता है । अन्यथा किसी प्रकार से मोक्षसुख नहीं हो सकता । इससे क्या सिद्ध हुआ कि उसी की उपासना सब मनुष्य लोगों को करनी उचित है । उस से भिन्न की उपासना करना किसी मनुष्य को न चाहिये, क्योंकि मोक्ष का देनेवाला एक परमेश्वर के विना दूसरा कोई भी नहीं है । इस में यह प्रमाण है कि (नान्यः पन्था०) व्यवहार और परमार्थ के दोनों सुख का मार्ग एक परमेश्वर की उपासना और उस का जानना ही है, क्योंकि इस के विना मनुष्य को किसी प्रकार से सुख नहीं हो सकता ॥ १८ ॥

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते । तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥१६॥

भाष्यम्

(प्रजापति०) स एव प्रजापतिः सर्वस्य स्वामी, जीवस्यान्यस्य च जड़स्य जगतोऽन्तर्गर्भे मध्येऽन्तर्य्यामिरूपेणाजायमानोऽनुत्पन्नोऽजः सन् नित्यं चरति । तत्सामर्थ्यादेवेदं सकलं जगद् बहुधा बहुप्रकारं विजायते विशिष्टतयोत्पद्यते । (तस्य योनिं०) तस्य परब्रह्मणो योनिं सत्यधर्मानुष्ठानं वेदविज्ञानमेव प्राप्तिकारणं धीरा ध्यानवन्तः (परिप०) परितः सर्वतः प्रेक्षन्ते । (तस्मिन्ह तस्थुर्भु०) यस्मिन्भुवनानि विश्वानि सर्वाणि सर्वे

लोकास्तस्थुः स्थितिं चक्रिरे । हेति निश्चयार्थे । तस्मिन्नेव परमे पुरुषे धीरा ज्ञानिनो मनुष्या मोक्षानन्दं प्राप्य तस्थुः स्थिरा भवन्तीत्यर्थः ॥ १९ ॥

भाषार्थ

(प्रजापति०) जो प्रजा का पति अर्थात् सब जगत् का स्वामी है, वही जड़ और चेतन के भीतर और बाहर अन्तर्यामिरूप से सर्वत्र व्याप्त हो रहा है । जो सब जगत् को उत्पन्न करके अपने आप सदा अजन्मा रहता है, (तस्य योनिं०) जो उस परब्रह्म की प्राप्ति का कारण, सत्य का आचरण और सत्यविद्या है, उसको विद्वान् लोग ध्यान से देख के परमेश्वर को सब प्रकार से प्राप्त होते हैं । (तस्मिन्ह त०) जिस में ये सब भुवन अर्थात् लोक ठहर रहे हैं, उसी परमेश्वर में ज्ञानी लोग भी सत्य निश्चय से मोक्षसुख को प्राप्त होके, जन्म मरण आदि आने जाने से छूट के, आनन्द में सदा रहते हैं ॥ १९ ॥

यो देवेभ्य आतपति यो देवानां पुरोहितः । पूर्वो यो देवेभ्यो जातो नमो रुचाय ब्राह्मये ॥ २० ॥

भाष्यम्

(यो देवेभ्य०) यः पूर्णः पुरुषो देवेभ्यो विद्वद्भ्यस्तत्प्रकाशार्थमातपति आसमन्तात्तदन्तःकरणे प्रकाशयति, नान्येभ्यश्च । यश्च देवानां विदुषां पुरोहितः सर्वैः सुखैः सह मोक्षे विदुषो दधाति । (पूर्वो यो देवेभ्यो जातो०) देवेभ्यो विद्वद्भ्यो यः पूर्वः पूर्वमेव सनातनत्वेन वर्त्तमानः सन् जातः प्रसिद्धोऽस्ति । (नमो रुचाय०) तस्मै रुचाय रुचिकराय ब्रह्मणे नमोऽस्तु । यश्च देवेभ्यो विद्वद्भ्यो ब्रह्मोपदेशं प्राप्य ब्रह्मरुचिर्ब्राह्मिर्ब्रह्मणोऽपत्यमिव वर्त्तमानोऽस्ति । तस्मा अपि ब्राह्मये ब्रह्मसेवकाय नमोऽस्तु ॥ २० ॥

भाषार्थ

(यो देवेभ्य०) जो परमात्मा विद्वानों के लिये सदा प्रकाशस्वरूप है, अर्थात् उन के आत्माओं को प्रकाश में कर देता और वही उन का पुरोहित,

अर्थात् अत्यन्त सुखों से धारण और पोषण करनेवाला है, इस से वे फिर दुःखसागर में कभी नहीं गिरते । (पूर्वो यो देवेभ्यो जातो०) जो सब विद्वानों से आदि विद्वान् और जो विद्वानों के ही ज्ञान से प्रसिद्ध अर्थात् प्रत्यक्ष होता है, (नमो रुचाय०) उस अत्यन्त आनन्दस्वरूप और सत्य में रुचि करानेवा ब्रह्म को हमारा नमस्कार हो, और जो विद्वानों से वेदविद्यादि को यथावत् पढ़ के धर्मात्मा अर्थात् ब्रह्म को पिता के समान मान के, सत्यभाव से प्रेम प्रीति करके, सेवा करनेवाला जो विद्वान् मनुष्य है, उस को भी हम लोग नमस्कार करते हैं ॥ २० ॥

रुचं ब्राह्मं जनयन्तो देवा अग्रे तदब्रुवन् । यस्त्वैवं ब्राह्मणो विद्यात्तस्य देवा असन्वशे ॥ २१ ॥

भाष्यम्

(रुचं ब्राह्मं०) रुचं प्रीतिकरं ब्राह्मं ब्रह्मणोऽपत्यमिव ब्रह्मणः सकाशाज्जातं ज्ञानं जनयन्त उत्पादयन्तो देवा विद्वांसोऽन्येषामग्रे तज्ज्ञानं तज्ज्ञानसाधनं वाऽब्रुवन् ब्रुवन्तूपदिशन्तु च । (यस्त्वैवं०) यस्त्वेवममुना प्रकारेण तद्ब्रह्म ब्राह्मणो विद्यात्, (तु) पश्चात्तस्यैव ब्रह्मविदो ब्राह्मणस्य देवा इन्द्रियाणि वशे असन् भवन्ति नान्यस्येति ॥ २१ ॥

भाषार्थ

(रुचं ब्राह्मं०) जो ब्रह्म का ज्ञान है वही अत्यन्त आनन्द करनेवाला और उस मनुष्य की उसमें रुचि का बढ़ाने वाला है । जिस ज्ञान को विद्वान् लोग अन्य मनुष्यों के आगे उपदेश करके उन को आनन्दित कर देते हैं । (यस्त्वैवं ब्राह्मणो०) जो मनुष्य इस प्रकार से ब्रह्म को जानता है उसी विद्वान् के सब मन आदि इन्द्रिय वश में हो जाते हैं, अन्य के नहीं ॥ २१ ॥

श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यावहोरात्रे पार्श्वे नक्षत्राणि रूपमश्वि-

नौ व्यात्तम् । इष्णन्निषाणामुं म इषाण सर्वलोकं म इषाण ॥२२॥ य० अ० ३१ ॥

भाष्यम्

(श्रीश्च ते०) हे परमेश्वर ! ते तव (श्रीः) सर्वा शोभा (लक्ष्मीः) शुभलक्षणवती धनादिश्च द्वे प्रिये पत्न्यौ पत्नीवत्सेवमाने स्तः । तथाहोरात्रे ते तव (पार्श्वे०) पार्श्ववत्स्तः । ये कालचक्रस्य कारणभूतस्यापि कक्षावयववद्वर्त्तेते सूर्य्याचन्द्रमसौ नेत्रे वा, तथैव नक्षत्राणि तवैव सामर्थ्यस्यादिकारणस्यावयवाः सन्ति, तत्त्वयि रूपवदस्ति । अश्विनौ द्यावापृथिव्या तवैव (व्यात्तम्) विकाशितं मुखमिव वर्त्तते । तथैव यत् किंचित्सौन्दर्यगुणयुक्तं वस्तु जगति वर्त्तते तदपि रूपं तवैव सामर्थ्याज्जातमिति जानीमः । हे विराडधिकरणेश्वर ! मे ममामुं परलोकं मोक्षाख्यं पदं कृपाकटाक्षेण (इष्णन्) इच्छन्सन् (इषाण) स्वेच्छया निष्पादय, तथा सर्वलोकं सर्वलोकसुखं सर्वलोकराज्यं वा मदर्थं कृपया त्वमिषाणेच्छ, स्वाराज्यं सिद्ध कुरु । एवमेव सर्वाः शोभा लक्ष्मीश्च शुभलक्षणवतीः सर्वाः क्रिया मे मदर्थमिषाण, हे भगवन् ! पुरुष ! पूर्णपरमेश्वर ! सर्वशक्तिमन् ! कृपया सर्वान् शुभान् गुणान् मह्यं देहि । दुष्टानशुभदोषांश्च विनाशय, सद्यः स्वानुग्रहेण सर्वोत्तमगुणभाजनं मां भवान्करोत्विति ॥ अत्र प्रमाणानि ॥ श्रीर्हि पशवः ॥ श० कां० १ । अ० ८ ॥ श्रीर्वै सोमः ॥ श० कां० ४ । अ० १ ॥ श्रीर्वै राष्ट्रं श्रीर्वै राष्ट्रस्य भारः ॥ श० कां० १३ । अ० १ ॥ लक्ष्मीर्लाभाद्वा, लक्षणाद्वा, लप्स्यमानाद्वा, लाञ्छनाद्वा, लषतेर्वा स्यात्प्रेप्साकर्मणो,* लज्जतेर्वा स्यादश्लाघाकर्मणः, शिप्रे इत्युपरिष्टाद्व्याख्यास्यामः ॥ नि० अ० ४ । खं० १० ॥ अत्र श्रीलक्ष्म्योः पूर्वोक्तयोरर्थसंगतिरस्तीति बोध्यम् ॥ २ ॥

इति पुरुषसूक्तव्याख्या समाप्ता

* अत्र "लग्यतेर्वा स्यादाश्लेषकर्मणो" इत्यधिकः पाठो निरुक्ते ।

भाष्य

(श्रीश्च ते) हे परमेश्वर ! जो आप की अनन्त शोभारूप श्री और जो अनन्त शुभलक्षणयुक्त लक्ष्मी है वे दोनों स्त्री के समान हैं अर्थात् जैसे स्त्री पति की सेवा करती है इसी प्रकार आप की सेवा आप ही को प्राप्त होती है, क्योंकि आपने ही सब जगत् को शोभा और शुभलक्षणों से युक्त कर रक्खा है। परन्तु ये सब शोभा और सत्यभाषणादि धर्म के लक्षणों से लाभ, ये दोनों आपकी ही सेवा के लिये हैं। सब पदार्थ ईश्वर के आधीन होने से उसके विषय में यह पत्नी शब्द रूपकालङ्कार से वर्णन किया है। वैसे ही जो दिन और रात्रि ये दोनों बगल के समान हैं। तथा सूर्य्य और चन्द्र भी दोनों आप के बगल के समान वा नेत्रस्थानी हैं। और जितने ये नक्षत्र हैं वे आप के रूपस्थानी हैं। और द्यौः जो सूर्य्य आदि का प्रकाश और विद्युत् अर्थात् बिजली ये दोनों मुखस्थानी हैं। तथा ओठ के तुल्य और जैसा खुला मुख होता है इसी प्रकार पृथिवी और सूर्य्यलोक के बीच में जो पोल है सो मुख के सदृश है। (इष्णन्) हे परमेश्वर ! आप की दया से (अमुं) परलोक जो मोक्षसुख है उस को हम लोग प्राप्त होते हैं। इस प्रकार की कृपादृष्टि से हमारे लिये इच्छा करो तथा मैं सब संसार में सब गुणों से युक्त होके सब लोकों के सुखों का अधिकारी जैसे होऊं वैसी कृपा और इस जगत् में मुझ को सर्वोत्तम शोभा और लक्ष्मी से युक्त सदा कीजिये। यह आप से हमारी प्रार्थना है, सो आप कृपा से पूरी कीजिये ॥२२॥

इति पुरुषसूक्तव्याख्या समाप्ता

यत्पर॒मम॑व॒मं यच्च॑ मध्य॒मं प्र॒जाप॑तिः ससृ॒जे वि॒श्वरू॑पम् । किय॑ता स्क॒म्भः प्र वि॑वेश॒ तत्र॒ यन्न प्रावि॑श॒त् किय॒त्तद्ब॑भूव ॥ १ ॥ अथर्व० कां० १० । अनु० ४ । सू० ७ । मं० ८ ॥ दे॒वाः पि॒तरो॑ मनु॒ष्या॑ गन्धर्वाप्स॒रस॑श्च॒ ये । उच्छि॑ष्टाज्जज्ञिरे॒ सर्वे॑ दि॒वि दे॒वा दि॑वि॒श्रितः॑ ॥ २ ॥ अथर्व० कां० ११ । अनु० ४ । सू० ७ । मं० २७ ॥

भाष्यम्

(यत्परम०) यत्परं सर्वोत्कृष्टं प्रकृत्यादिकं जगत्, यच्च (अवमं) निकृष्टं तृणमृत्तिका क्षुद्रकृमिकीटादिकं चास्ति, (यच्च म०) यन्मनुष्यदेहाद्याकाशपर्य्यन्तं मध्यमं च, तत्त्रिविधं सर्वं जगत्, प्रजापतिरेव (ससृजे वि०) स्वसामर्थ्यरूपकारणादुत्पादितवानस्ति । योऽस्य जगतो विविधं रूपं सृष्टवानस्ति, (कियता०) * एतस्मिंस्त्रिविधे जगति स्कम्भः प्रजापतिः स परमेश्वरः, कियता सम्बन्धेन प्रविवेश, न चैतत् परमेश्वरे, (यन्न०) यत्त्रिविधं जगन्न प्राविशत्, तत् कियद्बभूव । तदिदं जगत् परमेश्वरापेक्षयाल्पमेवास्तीति ॥ १ ॥ (देवाः०) देवा विद्वांसः, सूर्य्यादयो लोकाश्च, पितरो ज्ञानिनः, मनुष्या मननशीलाः, गन्धर्वा गानविद्याविदः, सूर्य्यादयो वा, अप्सरस एतेषां स्त्रियश्च, ये चापि जगति मनुष्यादिजातिगणा वर्त्तन्ते ते सर्वे उच्छिष्टात्सर्वस्मादूर्ध्वं शिष्टात्परमेश्वरात्तत्सामर्थ्याच्च जज्ञिरे जाताः सन्ति । ये (दिवि देवाः दिविश्रिताः) दिवि देवाः सूर्य्यादयो लोकाः, ये च दिवि श्रिताश्चन्द्रपृथिव्यादयो लोकास्तेपि सर्वे तस्मादेवोत्पन्ना इति । इत्यादयो मन्त्रा एतद्विषया वेदेषु बहवः सन्ति ।

इति संक्षेपतः सृष्टिविद्याविषयः समाप्तः

भाषार्थ

(यत्परम०) जो उत्तम मध्यम और नीच स्वभाव से तीन प्रकार का जगत् है उस सब को परमेश्वर ने ही रचा है । उस ने इस जगत् में नाना प्रकार की रचना की है । और एक वही इस सब रचना को यथावत् जानता है । और इस जगत् में जो कोई विद्वान् होते हैं वे भी कुछ २ परमेश्वर की रचना के गुणों को जानते हैं । वह परमेश्वर सब को रचता है और आप रचना में कभी नहीं

---

* एतस्मिन्नित्यारभ्य कियद्बभूवेतिपर्यन्तसन्दर्भस्थाने "सृष्ट्वा, त्रिविधे जगति स्कम्भः प्रजापतिः परमेश्वरः स कियता सम्बन्धेन प्रविवेश, तत्र परमेश्वरे यत्त्रिविधं जगन्न प्राविशत्, तत्कियद्बभूवेति" हस्तलिखित भूमिकायां पाठः ।

आता ॥ १ ॥ (देवाः पितरो०) विद्वान् अर्थात् पण्डित लोग और सूर्य्यलोक भी, (ज्ञानिनः) अर्थात् यथार्थविद्या को जानने वाले, (मनुष्याः) अर्थात् विचार करने वाले, (गन्धर्वाः) अर्थात् गानविद्या के जानने वाले, सूर्य्यादि लोक और (अप्सरसः) अर्थात् इन सब की स्त्रियां, ये सब लोग और दूसरे लोग भी उसी ईश्वर के सामर्थ्य से उत्पन्न हुए हैं । (दिवि देवाः) अर्थात् जो प्रकाश करने वाले और प्रकाशस्वरूप सूर्य्यादि लोक और (दिविश्रिताः) अर्थात् चन्द्र और पृथिवी आदि प्रकाशरहित लोक वे भी उसी के सामर्थ्य से उत्पन्न हुए हैं ॥ २ ॥ वेदों में इस प्रकार के सृष्टिविधान करने वाले मन्त्र बहुत हैं, परन्तु ग्रन्थ अधिक न हो जाय इसलिये सृष्टिविषय संक्षेप से लिखा है ।

इति सृष्टिविद्याविषयः

अथ पृथिव्यादिलोकभ्रमणविषयः

अथेदं विचार्य्यते पृथिव्यादयो लोका भ्रमन्त्याहोस्विन्नेति ? अत्रोच्यते । वेदादिशास्त्रोक्तरीत्या पृथिव्यादयो लोकाः सर्वे भ्रमन्त्येव । तत्र पृथिव्यादिभ्रमणविषये प्रमाणम् ।

आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः । पितरं च प्रयन्त्स्वः ॥ १ ॥ यजु० अ० ३ । मं० ६ ॥

भाष्यम्

अस्याभि०—आयं गौरित्यादिमन्त्रेषु पृथिव्यादयो हि सर्वे लोका भ्रमन्त्येवेति विज्ञेयम् । (आयं गौः०) अयं गौः पृथिवीगोलः, सूर्य्यश्चन्द्रोऽन्यो लोको वा, पृश्निमन्तरिक्षमाक्रमीदाक्रमणं कुर्वन् सन् गच्छतीति, तथाऽन्येपि । तत्र पृथिवी मातरं समुद्रजलमसदत् समुद्रजलं प्राप्ता सती, तथा (स्वः) सूर्य्यं पितरमग्निमयं च । पुरः पूर्वं पूर्वं प्रयन्त्सन् सूर्य्यस्य परितो याति । एवमेव सूर्य्यो वायुं पितर,माकाशं मातरं च । तथा चन्द्रोऽग्निं पितर,मपो

मातरं प्रति चेति योजनीयम् । अत्र प्रमाणानि । गौः, ग्मा, ज्मेत्याद्येकविंशतिषु पृथिवीनामसु गौरिति पठितं, यास्ककृते निघण्टौ * । तथाच, स्वः, पृश्निः, नाक इति षट्सु साधारणनामसु † पृश्निरित्यन्तरिक्षस्य नामोक्तम् । निरुक्ते, गौरिति पृथिव्या नामधेयं, यद्दूरंगता भवति, यच्चास्यां भूतानि गच्छन्ति ॥ निरु० अ० २ । खं० ५ ॥ गौरादित्यो भवति, गमयति रसान्, गच्छत्यन्तरिक्षे अथ द्यौर्यत् पृथिव्या अधिदूरंगता भवति, यच्चास्यां ज्योतींषि गच्छन्ति ॥ निरु० अ० २ । खं० १४ ॥ सूर्य्यरश्मिश्चन्द्रमागन्धर्व इत्यपि निगमो भवति, सोपि गौरुच्यते ॥ निरु० अ० २ । खं० ६ ॥ स्वरादित्यो भवति ॥ निरु० अ० २ । खं० १४ ॥ गच्छति प्रतिक्षणं भ्रमति या सा गौः पृथिवी । अद्भ्यः पृथिवीति तैत्तिरीयोपनिषदि ‡ । यस्माद्यज्जायते सोऽर्थस्तस्य मातापितृवद् भवति । तथा स्वःशब्देनादित्यस्य ग्रहणात् पितुर्विशेषणत्वादादित्योऽस्याः पितृवदिति निश्चीयते । यद्दूरंगता, दूरंदूरं सूर्य्याद्गच्छतीति विज्ञेयम् । एवमेव सर्वे लोकाः स्वस्य स्वस्य कक्षायां वाय्वात्मनेश्वरसत्तया च धारिताः सन्तो भ्रमन्तीति सिद्धान्तो बोध्यः ।

भाषार्थ

अब सृष्टिविद्याविषय के पश्चात् पृथिवी आदि लोक घूमते हैं वा नहीं, इस विषय में लिखा जाता है । इस में यह सिद्धान्त है कि वेदशास्त्रों के प्रमाण और युक्ति से भी पृथिवी और सूर्य्य आदि सब लोक घूमते हैं । इस विषय में यह प्रमाण है ।

(आयं गौः०) गौ नाम है पृथिवी, सूर्य्य, चन्द्रमादि लोकों का । वे सब अपनी २ परिधि में, अन्तरिक्ष के मध्य में, सदा घूमते रहते हैं । परन्तु जो जल है सो पृथिवी की माता के समान है। क्योंकि पृथिवी, जल के परमाणुओं के साथ अपने परमाणुओं के संयोग से ही उत्पन्न हुई है, और मेघमण्डल के जल के बीच में गर्भ के समान सदा रहती है, और सूर्य्य उस के पिता के समान है।

* अ० १, खं० १ । † निघण्टु, अ० १, ख० ४ । ‡ ब्रह्मानन्दवल्ली, प्रथमानुवाके ।

इस से सूर्य के चारों ओर घूमती है । इसी प्रकार सूर्य का पिता, वायु और आकाश माता । तथा चन्द्रमा का अग्नि पिता और जल माता । उन के प्रति वे घूमते हैं । इसी प्रकार से सब लोक अपनी २ कक्षा में सदा घूमते हैं । इस विषय का संस्कृत में निघण्टु और निरुक्त का प्रमाण लिखा है, उस को देख लेना । इसी प्रकार सूत्रात्मा जो वायु है उस के आधार और आकर्षण से सब लोकों का धारण और भ्रमण होता है तथा परमेश्वर अपने सामर्थ्य से पृथिवी आदि सब लोकों का धारण, भ्रमण और पालन कर रहा है ॥ १ ॥

या गौर्वर्त्तनिं पर्येति निष्कृतं पयो दुहाना व्रतनीरवारतः । सा प्रब्रुवाणा वरुणाय दाशुषे देवेभ्यो दाशद्धविषा विवस्वते ॥ २ ॥ ऋ० अ० ८ । अ० २ । व० १० । मं० १ ॥

भाष्यम्

(या गौर्वर्त्तनि०) या पूर्वोक्ता गौर्वर्त्तनिं स्वकीयमार्गं (अवारतः) निरन्तरं भ्रमती सती पर्येति । विवस्वतेऽर्थात्सूर्य्यस्य * परितः सर्वतः स्वस्वमार्गं गच्छति । (निष्कृतं) कथंभूतं मार्गं तत्तद्गमनार्थमीश्वरेण (निष्कृतं) निष्पादितम् । (पयो दुहाना०) अवारतो निरन्तरं पयो दुहानाऽनेकरसफलादिभिः प्राणिनः प्रपूरयती । तथा व्रतनी व्रतं स्वकीयभ्रमणादिसत्यनियमं प्रापयन्ती । (सा,प्र०) दाशुषे दानकर्त्रे, वरुणाय श्रेष्ठकर्मकारिणे, देवेभ्यो विद्वद्भ्यश्च, हविषा हविर्दानेन सर्वाणि सुखानि दाशत् ददाति । किं कुर्वती ? प्रब्रुवाणा सर्वप्राणिनां व्यक्तवाण्या हेतुभूता सतीयं वर्त्तत इति ॥ २ ॥

भाषार्थ

(या गौर्व०) जिस २ का नाम गौ कह आये हैं सो २ लोक अपने २ मार्ग में घूमता और पृथिवी अपनी कक्षा में सूर्य्य के चारों ओर घूमती है ।

* सुपांसुलुगिति सूत्रेण विवस्वत इति प्राप्ते विवस्वते चेति पदं जायते ॥

अर्थात् परमेश्वर ने जिस २ के घूमने के लिये जो २ मार्ग निष्कृत अर्थात् निश्चय किया है उस २ मार्ग में सब लोक घूमते हैं। (पयो दुहाना०) वह गौ अनेक प्रकार के रस, फल, फूल, तृण और अन्नादि पदार्थों से सब प्राणियों को निरन्तर पूर्ण करती है। तथा अपने २ घूमने के मार्ग में सब लोक सदा घूमते २ नियम ही से प्राप्त हो रहे हैं। (सा प्रभुवाणा०) जो विद्यादि उत्तम गुणों का देनेवाला परमेश्वर है उसी के जानने के लिये सब जगत् दृष्टान्त है और जो विद्वान् लोग हैं उन को उत्तम पदार्थों के दान से अनेक सुखों को भूमि देती और पृथिवी, सूर्य्य, वायु और चन्द्रादि गौ ही सब प्राणियों की वाणी का निमित्त भी है ॥ २ ॥

त्वं सो॑म पि॒तृभिः॑ संवि॑दा॒नोऽनु॒ द्यावा॑पृथि॒वी आ त॑तन्थ। तस्मै॑ त इन्दो ह॒विषा॑ विधेम व॒यं स्या॑म॒ पत॑यो रयी॒णाम् ॥ ३ ॥ ऋ० अ० ६। अ० ४। व० १३। मं० ३ ॥

भाष्यम्

(त्वं सोम०) अस्याभिप्रा०—अस्मिन्मन्त्रे चन्द्रलोकः पृथिवीमनुभ्रमतीत्ययं विशेषोऽस्ति। अयं सोमश्चन्द्रलोकः पितृभिः पितृवत्पालकैर्गुणैः सह संविदानः सम्यक् ज्ञातः सन् भूमिमनुभ्रमति। कदाचित्सूर्य्यपृथिव्योर्मध्येऽपि भ्रमन्सन्नागच्छतीत्यर्थः। अस्यार्थं भाष्यकरणसमये स्पष्टतया वक्ष्यामि। तथा द्यावापृथिवी एजेते इति मन्त्रवर्णार्थो द्यौः सूर्य्यः, पृथिवी च भ्रमतश्चलत इत्यर्थः। अर्थात्स्वस्यां स्वस्यां कक्षायां सर्वे लोका भ्रमन्तीति सिद्धम् ॥ ३ ॥

इति पृथिव्यादिलोकभ्रमणविषयः सङ्क्षेपतः

भाषार्थ

(त्वं सोम०) इस मन्त्र में यह बात है कि चन्द्रलोक पृथिवी के चारों ओर घूमता है। कभी २ सूर्य और पृथिवी के बीच में भी आजाता है। इस मन्त्र का अर्थ अच्छी तरह से भाष्य में करेंगे। तथा (द्यावापृथिवी) यह बहुत

मन्त्रों में पाठ है कि द्यौः नाम प्रकाश करने वाले सूर्य आदि लोक और जो प्रकाशरहित पृथिवी आदि लोक हैं वे सब अपनी २ कक्षा में सदा घूमते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि सब लोक भ्रमण करते हैं ॥ ३ ॥

इति संक्षेपतः पृथिव्यादिलोकभ्रमणविषयः

अथाकर्षणानुकर्षणविषयः

यदा ते हर्य्यता हरी वावृधाते दिवेदिवे। आदित्ते विश्वा भुवनानि येमिरे ॥ १ ॥ ऋ० अ० ६। अ० १। व० ६। मं० ३॥

भाष्यम्

(यदा ते०) अस्याभिप्रा०—सूर्य्येण सह सर्वेषां लोकानामाकर्षणमस्तीश्वरेण सह सूर्य्यादिलोकानां चेति। हे इन्द्रेश्वर! वा वायो! सूर्य्य! यदा यस्मिन्काले ते हरी आकर्षणप्रकाशनहरणशीलौ बलपराक्रमगुणावश्वौ किरणौ वा हर्य्यता हर्य्यतौ प्रकाशवन्तावत्यन्तं वर्धमानौ भवतस्ताभ्यां (आदित्) तदनन्तरं (दिवेदिवे) प्रतिदिनं प्रतिक्षणं च ते तव गुणाः प्रकाशाकर्षणादयो (विश्वा) विश्वानि सर्वाणि भुवनानि सर्वान् लोकानाकर्षणेन येमिरे नियमेन धारयन्ति। अतःकारणात्सर्वे लोकाः स्वां स्वां कक्षां विहायेतस्ततो नैव विचलन्तीति ॥ १ ॥

भाषार्थ

(यदा ते०) इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि सब लोकों के साथ सूर्य्य का आकर्षण और सूर्य्य आदि लोकों के साथ परमेश्वर का आकर्षण है। (यदा ते०) हे इन्द्र परमेश्वर! आप के अनन्त बल और पराक्रमगुणों से सब संसार का धारण, आकर्षण और पालन होता है। आप के ही सब गुण सूर्य्यादि लोकों को धारण करते हैं। इस कारण से सब लोक अपनी २ कक्षा और स्थान

से इधर उधर चलायमान नहीं होते। दूसरा अर्थ। इन्द्र जो वायु, सूर्य्य है इस में ईश्वर के रचे आकर्षण, प्रकाश और बल आदि बड़े २ गुण हैं। उन से सब लोकों का दिन २ और क्षण २ के प्रति धारण, आकर्षण और प्रकाश होता है। इस हेतु से सब लोक अपनी २ ही कक्षा में चलते रहते हैं, इधर उधर विचल भी नहीं सकते॥ १॥

यदा ते मारुतीर्विशस्तुभ्यमिन्द्र नियेमिरे। आदित्ते विश्वा भुवनानि येमिरे॥ २॥ ऋ० अ० ६। अ० १। व० ६। मं० ४॥

भाष्यम्

(यदा ते मारुती०) अस्याभिप्रा०—अत्रापि पूर्वमन्त्रवदाकर्षणविद्यास्तीति। हे पूर्वोक्तेन्द्र! यदा ते तव मारुतीर्मारुत्यो मरणधर्माणो मरुत्प्रधाना वा विशः प्रजास्तुभ्यं येमिरे तवाकर्षणधारणनियमं प्राप्नुवन्ति तदैव सर्वाणि विश्वानि भुवनानि स्थितिं लभन्ते। तथा तवैव गुणैर्नियेमिरे। आकर्षणनियमं प्राप्नुवन्ति सन्ति। अतएव सर्वाणि भुवनानि यथाकक्षं भ्रमन्ति वसन्ति च॥ २॥

भाषार्थ

(यदा ते मारुती०) आभि०—इस मन्त्र में भी आकर्षण विद्या है। हे परमेश्वर! आप की जो प्रजा, उत्पत्ति स्थिति और प्रलयधर्मवाली और जिसमें वायु प्रधान है वह आप के आकर्षणादि नियमों से तथा सूर्य्यलोक के आकर्षण करके भी स्थिर हो रही है। जब इन प्रजाओं को आप के गुण नियम में रखते हैं तभी भुवन अर्थात् सब लोक अपनी २ कक्षा में घूमते और स्थान में बस रहे हैं॥ २॥

यदा सूर्यममुं दिवि शुक्रं ज्योतिरधारयः। आदित्ते विश्वा भुवनानि येमिरे॥ ३॥ ऋ० अ० ६। अ० १। व० ६। मं० ५॥

भाष्यम्

(यदा सूर्य०) अभि०—अत्रापि पूर्ववदभिप्रायः । हे परमेश्वरामुं सूर्य्यं भवान् रचितवानस्ति । यद्दिवि द्योतनात्मके त्वयि शुक्रमनन्तं सामर्थ्यं ज्योतिः प्रकाशमयं वर्त्तते, तेन त्वं सूर्य्यादिलोकानधारयो धारितवानसि । (आदित्ते) तदनन्तरं (विश्वा) विश्वानि सर्वाणि भुवनानि सूर्य्यादयो लोका अपि (येमिरे) तदाकर्षणनियमेनैव स्थिराणि सन्ति । अर्थाद्यथा सूर्यस्याकर्षणेन पृथिव्यादयो लोकास्तिष्ठन्ति, तथा परमेश्वरस्याकर्षणेनैव सूर्यादयः सर्वे लोका नियमेन सह वर्त्तन्त इति ॥ ३ ॥

भाषार्थ

(यदा सूर्य्यं०) अभि०—इस मन्त्र में भी आकर्षण विचार है । हे परमेश्वर ! जब उन सूर्य्यादि लोकों को आप ने रचा और आप के ही प्रकाश से प्रकाशित हो रहे हैं और आप अपने अनन्त सामर्थ्य से उन का धारण कर रहे हो, इसी कारण से सूर्य्य और पृथिवी आदि लोकों और अपने स्वरूप को धारण कर रहे हैं । इन सूर्य्य आदि लोकों का सब लोकों के साथ आकर्षण से धारण होता है । इससे यह सिद्ध हुआ कि परमेश्वर सब लोकों का आकर्षण और धारण कर रहा है ॥ ३ ॥

व्यस्तभ्नाद्रोदसी मित्रो अद्भुतोन्तर्वावदकृणोज्ज्योतिषा तमः । विचर्मणीव धिषणे अवर्त्तयद्वैश्वानरो विश्वमधत्त वृष्ण्यम् ॥ ४ ॥ ऋ० अ० ४ । अ० ५ । व० १० । मं० ३ ॥

भाष्यम्

(व्यस्तभ्नाद्रोदसी०) अभि०—परमेश्वरसूर्यलोकौ सर्वाल्लोकानाकर्षणप्रकाशाभ्यां धारयत इति । हे परमेश्वर ! तव सामर्थ्येनैव वैश्वानरः पूर्वोक्तः सूर्य्यादिलोको रोदसी द्यावापृथिव्यौ भूमिप्रकाशौ व्यस्तभ्नात्स्तम्भितवानस्ति । अतो भवान् मित्र इव सर्वेषां लोकानां व्यवस्थापकोस्ति । अद्भुत

आश्चर्य्यस्वरूपः स सवितादिलोको ज्योतिषा तमोन्तरकृणोत्तिरोहितं निवारितं तमः करोति। वावत्तथैव धिषणे धारणकर्त्र्यौ द्यावापृथिव्यौ धारणाकर्षणेन व्यवर्त्तयत्। विविधतयैतयोर्वर्त्तमानं कारयति। कस्मिन्निव चर्मण्याकर्षितानि लोमानीव। यथा त्वचि लोमानि स्थितान्याकर्षितानि भवन्ति, तथैव सूर्य्यादिबलाकर्षणेन सर्वे लोकाः स्थापिताः सन्तीति विज्ञेयम्। अतः किमागतं? वृष्ण्यं वीर्य्यवद्विश्वं सर्वं जगच्च सूर्य्यादिलोको धारयति, सूर्य्यादेर्धारणमीश्वरः करोतीति ॥ ४ ॥

भाषार्थ

(व्यस्तभ्नाद्रोदसी०) अभि०–इस मन्त्र में भी आकर्षणविचार है। हे परमेश्वर! आप के प्रकाश से ही वैश्वानर सूर्य आदि लोकों का धारण और प्रकाश होता है। इस हेतु से सूर्य आदि लोक भी अपने २ आकर्षण से अपना और पृथिवी आदि लोकों का भी धारण करने में समर्थ होते हैं। इस कारण से आप सब लोकों के परम मित्र और स्थापन करनेवाले हैं, और आप का सामर्थ्य अत्यन्त आश्चर्यरूप है। सो सविता आदि लोक अपने प्रकाश से अन्धकार को निवृत्त कर देते हैं। तथा प्रकाशरूप और अप्रकाशरूप इन दोनों लोकों का समुदाय धारण और आकर्षण व्यवहार में वर्त्तते हैं। इस हेतु से इन से नाना प्रकार का व्यवहार सिद्ध होता है। वह आकर्षण किस प्रकार से है कि जैसे त्वचा में लोमों का आकर्षण हो रहा है वैसे ही सूर्य आदि लोकों के आकर्षण के साथ सब लोकों का आकर्षण हो रहा है और परमेश्वर भी इन सूर्य आदि लोकों का आकर्षण कर रहा है ॥ ४ ॥

आ कृष्णेन रजसा वर्त्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च। हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन् ॥ १ ॥ य० अ० ३३। मं० ४३ ॥

भाष्यम्

(आकृष्णेन०) अभि०—अत्राप्याकर्षणविद्यास्तीति। सविता परमात्मा

सूर्य्यलोको वा रजसा सर्वैर्लोकैः सहाकृष्णेनाकर्षणगुणेन सह वर्त्तमानोस्ति । कथंभूतेन गुणेन ? हिरण्ययेन ज्योतिर्मयेन । पुनः कथंभूतेन ? रमणानन्दादिव्यवहारसाधकज्ञानतेजोरूपेण रथेन । किं कुर्वन् सन् ? मर्त्यं मनुष्यलोकममृतं सत्यविज्ञानं किरणसमूहं वा स्वस्वकक्षायां निवेशयन्व्यवस्थापयन्सन् । तथा च मर्त्यं पृथिव्यात्मकं लोकं प्रत्यमृतं मोक्षमोषध्यात्मकं वृष्ट्यादिकं रसं च प्रवेशयन्सन्सूर्य्यो वर्त्तमानोस्ति । स च सूर्य्यो देवो द्योतनात्मको भुवनानि सर्वान् लोकान्धारयति । तथा पश्यन्दर्शयन्सन् रूपादिकं विभक्तं याति प्रापयतीत्यर्थः । अस्मात्पूर्वमन्त्राद् द्युभिरक्तुभिरिति पदानुवर्त्तनात्सूर्य्यो द्युभिः सर्वैर्दिवसैरक्तुभिः सर्वाभीरात्रिभिश्चार्थात्सर्वांल्लोकान्प्रतिक्षणमाकर्षतीति गम्यते। एवं सर्वेषु लोकेष्वात्मिका स्वा स्वाप्याकर्षणशक्तिरस्त्येव । तथानन्ताकर्षणशक्तिस्तु खलु परमेश्वरेस्तीति मन्तव्यम् । रजो लोकानां नामास्ति । अत्राहुर्निरुक्तकारा यास्काचार्य्याः । लोका रजांस्युच्यन्ते ॥ निरु० अ० ४ । खं० १६ ॥ रथो रंहतेर्गतिकर्मणः, स्थिरतेर्वा स्याद्विपरीतस्य, रममाणोऽस्मिँस्तिष्ठतीति वा, रयतेर्वा, रसतेर्वा ॥ निरु० अ० ६ । खं० ११ ॥ विश्वानरस्यादित्यस्य ॥ निरु० अ० १२ । खं० २१ ॥ अतो रथशब्देन रमणानन्दकरं ज्ञानं तेजो गृह्यते । इत्यादयो मन्त्रा वेदेषु धारणाकर्षणविधायका बहवः सन्तीति बोध्यम् ॥ १ ॥

भाषार्थ

(आकृष्णेन०) अभि०—इस मन्त्र में भी आकर्षण विद्या है । सविता जो परमात्मा, वायु और सूर्य लोक हैं वे सब लोकों के साथ आकर्षण, धारण गुण से सहित वर्त्तते हैं । सो हिरण्यय अर्थात् अनन्त बल, ज्ञान और तेज से सहित (रथेन) आनन्दपूर्वक क्रीड़ा करने के योग्य ज्ञान और तेज से युक्त हैं। इस में परमेश्वर सब जीवों के हृदयों में अमृत अर्थात् सत्य विज्ञान को सदैव प्रकाश करता है । और सूर्यलोक भी रस आदि पदार्थों को मर्त्य अर्थात् मनुष्य लोक में प्रवेश करता और सब लोकों को व्यवस्था से अपने २ स्थान में रखता है । वैसे ही परमेश्वर धर्मात्मा ज्ञानी लोगों को अमृतरूप मोक्ष देता और सूर्य-

लोक भी रसयुक्त जो ओषधि और वृष्टि का अमृतरूप जल को पृथिवी में प्रविष्ट करता है। सो परमेश्वर सत्य असत्य का प्रकाश और सब लोकों का प्रकाश करके सब को जनाता है। तथा सूर्यलोक भी रूपादि का विभाग दिखलाता है। इस मन्त्र से पहिले मन्त्र में (शुभिरक्तुभिः) इस पद से यही अर्थ आता है कि दिन रात अर्थात् सब समय में सब लोकों के साथ सूर्यलोक का और सूर्य आदि लोकों के साथ परमेश्वर का आकर्षण हो रहा है। तथा सब लोकों में ईश्वर ही की रचना से अपना २ आकर्षण है और परमेश्वर की तो आकर्षणरूप शक्ति अनन्त है। यहां लोकों का नाम रज है। और रथ शब्द के अनेक अर्थ हैं। इस कारण से कि जिस से रमण और आनन्द की प्राप्ति होती है उस को रथ कहते हैं। इस विषय में निरुक्त का प्रमाण इसी मन्त्र के भाष्य में लिखा है सो देख लेना। ऐसे धारण और आकर्षणविद्या के सिद्ध करने वाले मन्त्र वेदों में बहुत हैं ॥ १ ॥

इति धारणाकर्षणविषयः संक्षेपतः

अथ प्रकाश्यप्रकाशकविषयः संक्षेपतः

सूर्य्येण चन्द्रादयः प्रकाशिता भवन्तीत्यत्र विषये विचारः

स॒त्येनोत्त॑भिता॒ भूमिः॒ सूर्य्ये॒णोत्त॑भिता॒ द्यौः। ऋ॒तेना॑दि॒त्या-स्ति॑ष्ठन्ति दि॒वि सोमो॒ अधि॑ श्रि॒तः ॥ १ ॥ सोमे॑नादि॒त्या ब॒लिनः॒ सोमे॑न पृथि॒वी म॒ही। अथो॒ नक्ष॑त्राणामे॒षामु॒पस्थे॒ सोम॒ आहि॑तः ॥ २ ॥ अथर्व० कां० १४। अनु० १। मं० १। २ ॥ कः स्वि॑दे॒का॒की च॑रति॒ क उ॑ स्वि॒ज्जा॑यते॒ पुनः॑। किंस्वि॑द्धि॒मस्य॑ भेष॒जं किं वा॑ वप॑नं म॒हत् ॥ ३ ॥ सूर्य॑ एका॒की च॑रति च॒न्द्रमा॑ जायते॒ पुनः॑। अ॒ग्निर्हि॒मस्य॑ भेष॒जं भूमि॑रा॒वप॑नं म॒हत् ॥ ४ ॥ य० अ० २३। मं० ९। १० ॥

भाष्यम्

(सत्ये नो०) एषामभि०—अत्र चन्द्रपृथिव्यादिलोकानां सूर्य्यः प्रकाशकोऽस्तीति। इयं भूमिः सत्येन नित्यस्वरूपेण ब्रह्मणोत्तभितोर्ध्वमाकाशमध्ये धारितास्ति वायुना सूर्येण च। (सूर्येण०) तथा द्यौः सर्वः प्रकाशः सूर्येणोत्तभितो धारितः। (ऋतेन०) कालेन सूर्य्येण वायुना वाऽऽदित्या द्वादश मासाः किरणास्त्रसरेणवो बलवन्तः सन्तो वा तिष्ठन्ति। (दिवि सोमो अधिश्रितः) एवं दिवि द्योतनात्मके सूर्य्यप्रकाशे सोमश्चन्द्रमा अधिश्रित आश्रितः सन्प्रकाशितो भवति, अर्थाच्चन्द्रलोकादिषु स्वकीयः प्रकाशो नास्ति। सर्वे चन्द्रादयो लोकाः सूर्य्यप्रकाशेनैव प्रकाशिता भवन्तीति वेद्यम् ॥ १ ॥ (सोमेनादित्या०) सोमेन चन्द्रलोकेन सहादित्याः किरणाः संयुज्य ततो निवृत्य च भूमिं प्राप्य बलिनो बलं कर्त्तुं शीला भवन्ति, तेषां बलप्रापकशीलत्वात्। तद्यथा। यावन्तो (यावति ?)ऽन्तरिक्षदेशे सूर्य्यप्रकाशस्यावरणं पृथिवी करोति तावति देशेऽधिकं शीतलत्वं भवति। तत्र सूर्य्यकिरणपतनाभावात्तदभावे चोष्णत्वाभावात्ते बलकारिणो बलवन्तो भवन्ति। सोमेन चन्द्रमसः प्रकाशेन सोमाद्यौषध्यादिना च पृथिवी मही बलवती पुष्टा भवति। अथो इत्यनन्तरमेषां नक्षत्राणामुपस्थे समीपे चन्द्रमा आहितः स्थापितः सन्वर्त्तत इति विज्ञेयम् ॥ २ ॥ (कः स्वि०) को ह्येकाकी ब्रह्माण्डे चरति ?। कोऽत्र स्वेनैव स्वयं प्रकाशितः सन् भवतीति ?। कः पुनः प्रकाशितो जायते ?। हिमस्य शीतस्य भेषजमौषधं किमस्ति ?। तथा बीजारोपणार्थं महत् क्षेत्रमिव किमत्र भवतीति ? प्रश्नाश्चत्वारः ॥ ३ ॥ एषां क्रमेणोत्तराणि। (सूर्य्य एकाकी०) अस्मिन्संसारे सूर्य्य एकाकी चरति, स्वयं प्रकाशमानः सन्नन्यान्सर्वान् लोकान् प्रकाशयति, तस्यैव प्रकाशेन चन्द्रमाः पुनः प्रकाशितो जायते, नहि चन्द्रमसि स्वतः प्रकाशः कश्चिदस्तीति। अग्निर्हिमस्य शीतस्य भेषजमौषधमस्तीति। भूमिर्महदावपनं बीजारोपणादेरधिकरणं क्षेत्रं चेति। वेदेष्वेतद्विषयप्रतिपादका एवंभूता मन्त्रा बहवः सन्ति ॥ ४ ॥

इति प्रकाश्यप्रकाशकविषयः

भाषार्थ

(सत्येनो०) इन मन्त्रों में यही विषय और उनका यही प्रयोजन है कि लोक दो प्रकार के होते हैं। एक तो प्रकाश करने वाले और दूसरे वे जो प्रकाश किये जाते हैं। अर्थात् सत्यस्वरूप परमेश्वर ने ही अपने सामर्थ्य से सूर्य्य आदि सब लोकों को धारण किया है। उसी के सामर्थ्य से सूर्य्यलोक ने भी अन्य लोकों का धारण और प्रकाश किया है। तथा ऋत * अर्थात् काल महीने सूर्य किरण और वायु ने भी सूक्ष्म स्थूल त्रसरेणु आदि पदार्थों का यथावत् धारण किया है। (दिवि सोमो०) इसी प्रकार दिवि अर्थात् सूर्य के प्रकाश में चन्द्रमा प्रकाशित होता है। उस में जितना प्रकाश है सो सूर्य आदि लोक का ही है। और ईश्वर का प्रकाश तो सब में है। परन्तु चन्द्र आदि लोकों में अपना प्रकाश नहीं है। किन्तु सूर्य आदि लोकों से ही चन्द्र और पृथिव्यादि लोक प्रकाशित हो रहे हैं ॥ १ ॥ (सोमेनादित्या०) जब आदित्य की किरण चन्द्रमा के साथ युक्त होके उससे उलट कर भूमि को प्राप्त हो के बलवाली होती हैं तभी वे शीतल भी होती हैं। क्योंकि आकाश के जिस २ देश में सूर्य के प्रकाश को पृथिवी की छाया रोकती है उस २ देश में शीत भी अधिक होता है। जिस २ देश में सूर्य की किरण तिरछी पड़ती है उस २ देश में गर्मी भी कमती होती है। फिर गर्मी के कम होने और शीतलता के अधिक होने से सब मूर्त्तिमान् पदार्थों के परमाणु जम जाते हैं। उन को जमने से पुष्टि होती है। और जब उन के बीच में सूर्य्य की तेजरूप किरण पड़ती है तब उन में से भाफ उठती है। उनके योग से किरण भी बलवाली होती हैं। जैसे जल में सूर्य्य का प्रतिबिम्ब अत्यन्त चमकता है और चन्द्रमा के प्रकाश और वायु से सोमलता आदि ओषधियां भी पुष्ट होती हैं और उन से पृथिवी पुष्ट होती है। इसीलिये ईश्वर ने नक्षत्र लोकों के समीप चन्द्रमा को स्थापित किया है ॥ २ ॥ (कः स्वि०) इस मन्त्र में चार प्रश्न हैं। उन के बीच में से पहिला (प्रश्न)

* तथा ऋत अर्थात् काल ने, मही ने, सूर्य ने किरण और वायु ने भी यथायोग्य और सूक्ष्म स्थूल त्रसरेणु आदि पदार्थों का धारण किया है। (हस्तलिखित ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका में ऐसा पाठ है)

कौन एकाकी अर्थात् अकेला विचरता और अपने प्रकाश से प्रकाशवाला है ? (दूसरा) कौन दूसरे के प्रकाश से प्रकाशित होता है ? (तीसरा) शीत का औषध क्या है ? और (चौथा) कौन बड़ा क्षेत्र अर्थात् स्थूलपदार्थ रखने का स्थान है ? ॥ ३ ॥ इन चारों प्रश्नों का क्रम से उत्तर देते हैं (सूर्य एकाकी०)। (१) इस संसार में सूर्य्य ही एकाकी अर्थात् अकेला विचरता और अपनी ही कील पर घूमता है। तथा प्रकाशस्वरूप होकर सब लोकों का प्रकाश करने वाला है। (२) उसी सूर्य के प्रकाश से चन्द्रमा प्रकाशित होता है। (३) शीत का औषध अग्नि है और चौथा यह है पृथिवी साकार चीज़ों के रखने का स्थान तथा सब बीज बोने का बड़ा खेत है (४)। वेदों में इस विषय के सिद्ध करने वाले मन्त्र बहुत हैं। उन में से यहां एकदेशमात्र लिख दिया है। वेदभाष्य में सब विषय विस्तारपूर्वक आजावेंगे ॥ ४ ॥

इति संक्षेपतः प्रकाश्यप्रकाशकविषयः

अथ गणितविद्याविषयः

एका॑ च मे ति॒स्रश्च॑ मे ति॒स्रश्च॑ मे॒ पञ्च॑ च मे॒ पञ्च॑ च मे स॒प्त च॑ मे स॒प्त च॑ मे॒ नव॑ च मे॒ नव॑ च म॒ एका॑दश च म॒ एका॑दश च मे॒ त्रयो॑दश च मे॒ त्रयो॑दश च मे॒ पञ्च॑दश च मे॒ पञ्च॑दश च मे स॒प्तद॑श च मे स॒प्तद॑श च मे॒ नव॑दश च मे॒ नव॑दश च म॒ एक॑विँ-शतिश्च म॒ एक॑विँशतिश्च मे॒ त्रयो॑विँशतिश्च मे॒ त्रयो॑विँशति-श्च मे॒ पञ्च॑विँशतिश्च मे॒ पञ्च॑विँशतिश्च मे स॒प्तविँ॑शतिश्च मे स॒प्तविँ॑शतिश्च मे॒ नव॑विँशतिश्च मे॒ नव॑विँशतिश्च म॒ एक॑त्रिँशच्च म॒ एक॑त्रिँशच्च मे॒ त्रय॑स्त्रिँशच्च मे य॒ज्ञेन॑ कल्पन्ताम् ॥ १ ॥ चत॑स्रश्च मेऽष्टौ च॑ मेऽष्टौ च॑ मे॒ द्वाद॑श च मे॒ द्वाद॑श च मे॒ षोड॑श च मे षोड॑श च मे विँ॒शतिश्च॑ मे विँ-श॒तिश्च॑ मे॒ चतु॑र्विँशतिश्च मे॒ चतु॑र्विँशतिश्च मे॒ऽष्टाविँ॑शति-श्च मे॒ऽष्टाविँ॑शतिश्च मे॒ द्वात्रिँ॑शच्च मे॒ द्वात्रिँ॑शच्च मे॒ षट्त्रिँ-

शच्च मे षट्त्रिंशच्च मे चत्वारिंशच्च मे चत्वारिंशच्च मे चतुश्चत्वारिंशच्च मे चतुश्चत्वारिंशच्च मेऽष्टाचत्वारिंशच्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ २ ॥ य० अ० १८ । मं० २४ । २५ ॥

भाष्यम्

अभि०—अनयोर्मन्त्रयोर्मध्ये खल्वीश्वरेणाङ्कबीजरेखागणितं प्रकाशितमिति। (एका०) एकार्थस्य या वाचिका संख्यास्ति (१) सैकेन युक्ता द्वौ भवतः (२) यत्र द्वावेकेन युक्तौ सा त्रित्ववाचिका (३) ॥ १ ॥ द्वाभ्यां द्वौ युक्तौ चत्वारः (४) एवं तिसृभिस्त्रित्वसंख्यायुक्ता षट् (६) एवमेव चतस्रश्च मे पञ्च च मे इत्यादिषु परस्परं संयोगादिक्रियया ऽनेकविधाङ्कैर्गणितविद्या सिध्यति । अन्यत्खल्वत्रानेकचकाराणां पाठान्मनुष्यैरनेकविधा गणितविद्याः सन्तीति वेद्यम् । सेयं गणितविद्या वेदाङ्गे ज्योतिषशास्त्रे प्रसिद्धास्त्यतो नात्र लिख्यते । परन्त्वीदृशा मन्त्रा ज्योतिषशास्त्रस्थगणितविद्याया मूलमिति विज्ञायते । इयमङ्कसंख्या निश्चितेषु संख्यातपदार्थेषु प्रवर्त्तते । ये चाज्ञातसंख्याः पदार्थास्तेषां विज्ञानार्थं बीजगणितं प्रवर्त्तते । तदपि विधानमेका चेति । अ—कं इत्यादिसंकेतेनैतन्मंत्रादिभ्यो बीजगणितं निःसरतीत्यवधेयम् ॥ २ ॥

"अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये । नि होता सत्सि बर्हिषि" ॥ १ ॥ साम० छं० । प्र० १ । खं० १ मं० १ ॥

यथैका क्रिया द्व्यर्थकरी प्रसिद्धेतिन्यायेन स्वरसङ्केताङ्कैर्बीजगणितमपि साध्यत इति बोध्यम्, एवं गणितविद्याया रेखागणितं तृतीयो भागः सोप्यत्रोच्यते ।

भाषार्थ

(एका च मे०) इन मन्त्रों में यही प्रयोजन है कि अङ्क, बीज और रेखा भेद से जो तीन प्रकार की गणितविद्या सिद्ध की है, उन में से प्रथम अङ्क जो

संख्या है (१), सो दो बार गणने से दो की वाचक होती है। जैसे १+१=२। ऐसे ही एक के आगे एक, तथा एक के आगे दो, वा दो के आगे एक आदि जोड़ने से भी समझ लेना। इसी प्रकार एक के साथ तीन जोड़ने से चार (४), तथा तीन को तीन (३) के साथ जोड़ने से (६), अथवा तीन को तीन से गुणने से ३×३=९ हुए ॥ १ ॥ इसी प्रकार चार के साथ चार, पांच के साथ पांच, छः के साथ छः, आठ के साथ आठ इत्यादि जोड़ने वा गुणने तथा सब मन्त्रों के आशय को फैलाने से सब गणितविद्या निकलती है। जैसे पांच के साथ पांच (५५), वैसे ही पांच २ छः २ (५५) (६६) इत्यादि जान लेना चाहिये। ऐसे ही इन मन्त्रों के अर्थों को आगे योजना करने से अङ्कों से अनेक प्रकार की गणितविद्या सिद्ध होती है। क्योंकि इन मन्त्रों के अर्थ और अनेक प्रकार के प्रयोगों से मनुष्यों को अनेक प्रकार की गणितविद्या अवश्य जाननी चाहिये। और जो कि वेदों का अङ्ग ज्योतिषशास्त्र कहाता है उसमें भी इसी प्रकार के मंत्रों के अभिप्राय से गणितविद्या सिद्ध की है। और अङ्कों से जो गणितविद्या निकलती है वह निश्चित और असंख्यात पदार्थों में युक्त होती है। और अज्ञात पदार्थों की संख्या जानने के लिये जो बीजगणित होता है सो भी (एका च मे०) इत्यादि मन्त्रों ही से सिद्ध होता है। जैसे (अ^{२}+क^{३}) (अ^{२}−क^{३}) (क^{३}÷अ^{२}) इत्यादि सङ्केत से निकलता है। यह भी वेदों ही से ऋषि मुनियों ने निकाला है। और इसी प्रकार से तीसरा भाग जो रेखागणित है सो भी वेदों ही से सिद्ध होता है ॥ २ ॥ (अग्न^{२} आ^{३}०) इस मन्त्र के संकेतों से भी बीजगणित निकलता है।

इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः। अयꣳसोमो वृष्णो अश्वस्य रेतो ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम ॥३॥ य० अ० २३। मं० ६२ ॥ कासीत् प्रमा प्रतिमा किं निदानमाज्यं किमासीत् परिधिः क आसीत्। छन्दः किमासीत् प्रउगं किमुक्थं यद्देवा देवमयजन्त विश्वे ॥ ४ ॥ ऋ० अ० ८। अ० ७। व० १८। मं० ३ ॥

भाष्यम्

(इयं वेदिः) अभिप्रा०—अत्र मन्त्रयो रेखागणितं प्रकाशयत इति । इयं या वेदिस्त्रिकोणा, चतुरस्रा, सेनाकारा, वर्तुलाकारादियुक्ता क्रियतेऽस्या वेदेराकृत्या रेखागणितोपदेशलक्षणं विज्ञायते । एवं पृथिव्याः परोऽन्तो यो भागोऽर्थात्सर्वतः सूत्रवेष्टनवदस्ति स परिधिरित्युच्यते । यश्चायं यज्ञो हि संगमनीयो रेखागणिते मध्यो व्यासाख्यो मध्यरेखाख्यश्च सोयं भुवनस्य भूगोलस्य ब्रह्माण्डस्य वा नाभिरस्ति । (अयꣳ सो०) सोमलोकोप्येवमेव परिध्यादियुक्तोस्ति । (वृष्णो अश्व०) वृष्टिकर्त्तुः सूर्यस्याग्नेर्वायोर्वा वेगहेतोरपि परिध्यादिकं तथैवास्ति । (रेतः) तेषां वीर्यमोषधिरूपेण सामर्थ्यार्थं विस्तृतमप्यस्तीति वेद्यम् । (ब्रह्मायं वा०) यद् ब्रह्मास्ति तद्वाण्याः (परमं व्योम) अर्थात्परिधिरूपेणान्तर्बहिः स्थितमस्ति ॥ ३ ॥ (कासीत् प्रमा) यथार्थज्ञानं यथार्थज्ञानवान् तत्साधिका बुद्धिः कासीत् सर्वस्येति शेषः ? । एवम् (प्रतिमा) प्रतिमीयतेऽनया सा प्रतिमा, यया परिमाणं क्रियते सा कासीत् ? । एवमेवास्य (निदानम्) कारणं किमस्ति ? । (आज्यम्) ज्ञातव्यं घृतवत्सारभूतं चास्मिन् जगति किमासीत्, सर्वदुःखनिवारकमानन्देन स्निग्धं सारभूतं च ? । (परिधिः क०) तथास्य सर्वस्य विश्वस्य पृष्ठावरणम् (क आसीत्) ? । गोलस्य पदार्थस्योपरि सर्वतः सूत्रवेष्टनं कृत्वा यावती रेखा लभ्येत स परिधिरित्युच्यते । (छन्दः०) स्वच्छन्दं स्वतन्त्रं वस्तु (किमासीत्) ? । (प्रउगं) ग्रहोक्थं स्तोतव्यं (किमासीत्) इति प्रश्नाः । एषामुत्तराणि । (यद्देवादे०) यत् यं देवं परमेश्वरं विश्वेदेवाः सर्वे विद्वांसः (अयजन्त) समपूजयन्त, पूजयन्ति, पूजयिष्यन्ति च, स एव सर्वस्य (प्रमा) यथार्थतया ज्ञातास्ति (प्रतिमा) परिमाणकर्त्ता । एवमेवाग्रेपि पूर्वोक्तोर्थो योजनीयः । अत्रापि परिधिशब्देन रेखागणितोपदेशलक्षणं विज्ञायते । सेयं विद्या ज्योतिषशास्त्रे विस्तरश उक्तास्ति । एवमेतद्विषयप्रतिपादका अपि वेदेषु बहवो मन्त्राः सन्ति ।

इति संक्षेपतो गणितविद्याविषयः

भाषार्थ

(इयं वेदिः०) अभिप्रा०—इन मन्त्रों में रेखागणित का प्रकाश किया है। क्योंकि वेदी की रचना में रेखागणित का भी उपदेश है। जैसे तिकोन, चौकोन, सेनपक्षी के आकार और गोल आदि जो वेदी का आकार किया जाता है सो आर्य्यों ने रेखागणित ही का दृष्टान्त माना था। क्योंकि (परो अन्तः पृ०) पृथिवी का जो चारों ओर घेरा है उस को परिधि और ऊपर से अन्त तक जो पृथिवी की रेखा है उस को व्यास कहते हैं। इसी प्रकार से इन मन्त्रों में आदि, मध्य और अन्त आदि रेखाओं को भी जानना चाहिये और इसी रीति से तिर्यक् विषुवत् रेखा आदि भी निकलती हैं ॥ ३ ॥ (कासीत्प्र०) अर्थात् यथार्थज्ञान क्या है ? (प्रतिमा) जिससे पदार्थों का तोल किया जाय सो क्या चीज़ है ? (निदानम्) अर्थात् कारण जिससे कार्य उत्पन्न होता है वह क्या चीज़ है ? (आज्यं) जगत् में जानने के योग्य सारभूत क्या है ? (परिधिः०) परिधि किसको कहते हैं ? (छन्दः) स्वतन्त्र वस्तु क्या है ? (प्रउ०) प्रयोग और शब्दों से स्तुति करने के योग्य क्या है ? इन सात प्रश्नों का उत्तर यथावत् दिया जाता है। (यद्देवा देव०) जिसको सब विद्वान् लोग पूजते हैं वही परमेश्वर प्रमा आदि नाम वाला है। इन मन्त्रों में भी प्रमा और परिधि आदि शब्दों से रेखागणित साधने का उपदेश परमात्मा ने किया है। सो यह तीन प्रकार की गणितविद्या आर्य्यों ने वेदों से ही सिद्ध की है और इसी आर्य्यावर्त्त देश से सर्वत्र भूगोल में गई है।

इति संक्षेपतो गणितविद्याविषयः

अथेश्वरस्तुतिप्रार्थनायाचनासमर्पणोपासनाविद्याविषयः

स्तुतिविषयस्तु यो भूतं चेत्यारभ्योक्तो, वक्ष्यते च। अथेदानीं प्रार्थनाविषय उच्यते।

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि वीर्य्यमसि वीर्य्यं मयि धेहि बलमसि बलं मयि धेहि। ओजोऽस्योजो मयि धेहि मन्युरसि मन्युं मयि धेहि सहोऽसि सहो मयि धेहि ॥ १ ॥ य० अ० १९। मं० ९॥ मयीदमिन्द्र इन्द्रियं दधात्वस्मान् रायो मघवानः सचन्ताम्। अस्माकꣳसन्त्वाशिषः सत्या नः सन्त्वाशिषः ॥ २ ॥ य० अ० २। मं० १० ॥ यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते। तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा ॥ ३ ॥ य० अ० ३२। मं० १४ ॥

भाष्यम्

अभि०—तेजोसीत्यादिमन्त्रेषु परमेश्वरस्य स्तुतिप्रार्थनादिविषयाः प्रकाश्यन्त इति बोध्यम्। (तेजोसि०) हे परमेश्वर! त्वं वीर्य्यमस्यनन्तविद्यादिगुणैः प्रकाशमयोसि, मय्यप्यसंख्यातं तेजो विज्ञानं धेहि। (वीर्य्यमसि०) हे परमेश्वर! त्वं वीर्यमस्यनन्तपराक्रमवानसि, कृपया मय्यपि शरीरबुद्धिशौर्य्यस्फूर्त्यादिवीर्य्यं पराक्रमं स्थिरं धारय। (बलम०) हे महाबलेश्वर! त्वमनन्तबलमसि, मय्यप्यनुग्रहत उत्तमं बलं धेहि स्थापय। (ओजो०) हे परमेश्वर! त्वमोजोसि, मय्यप्योजः सत्यं विद्याबलं धेहि। (मन्युरसि०) हे परमेश्वर! त्वं मन्युर्दुष्टान्प्रति क्रोधकृदसि, मय्यपि स्वसत्तया दुष्टान्प्रति मन्युं धेहि। (सहोसि०) सहनशीलेश्वर! त्वं सहोसि, मय्यपि सुखदुःखयुद्धादिसहनं धेहि। एवं कृपयैतदादिशुभान्गुणान्मह्यं देहीत्यर्थः ॥ १ ॥ (मयीदमिन्द्र०) हे इन्द्र परमैश्वर्यवन् परमात्मन्! मयि मदात्मनि श्रोत्रादिकं मनश्च सर्वोत्तमं भवान् दधातु। तथाऽस्मांश्च पोषयतु। अर्थात् सर्वोत्तमैः पदार्थैः सह वर्त्तमानानस्मान्सदा कृपया करोतु पालयतु च। (अस्मान् रायो०) तथा नोस्मभ्यं मघं परमं विज्ञानादिधनं विद्यते यस्मिन् स मघवा, भवान् स परमोत्तमं राज्यादिधनमस्मदर्थं दधातु। (सचन्तां०) सचतां तत्र चास्मान् समवेतान्करोतु। तथा भवन्त उत्तमेषु गुणेषु सचन्तां समवेता भवन्त्वितीश्वराऽऽज्ञास्ति (अस्माकꣳस०) तथा हे भगवन्!

त्वत्कृपयाऽस्माकं सर्वा आशिष इच्छाः सर्वदा सत्या भवन्तु, मा काश्चिद-स्माकं चक्रवर्त्तिराज्यानुशासनादय आशिष इच्छा मोघा भवेयुः ॥ २ ॥ (याम्मेधां०) हे अग्ने परमेश्वर ! परमोत्तमया मेधया धारणावत्या धिया बुद्ध्या सह (मा) मां मेधाविनं सर्वदा कुरु । का मेधेत्युच्यते । (देव-गणाः) विद्वत्समूहाः, पितरो विज्ञानिनश्च यामुपासते, (तया०) तया मेधया (अद्य) वर्त्तमानदिने मां सर्वदा युक्तं कुरु संपादय । (स्वाहा) अत्र स्वाहाशब्दार्थे प्रमाणं निरुक्तकारा आहुः । स्वाहाकृतयः स्वाहेत्येतत्सु आहेति वा, स्वा वागाहेति वा, स्वं प्राहेति वा, स्वाहुतंह विर्जुहोतीति वा । तासामेषा भवति ॥ निरु० अ० ८ । खं० २० ॥ स्वाहाशब्दस्यायमर्थः । (सु आहेति वा) (सु) सुष्ठु कोमलं मधुरं कल्याणकरं प्रियं वचनं सर्वै-र्मनुष्यैः सदा वक्तव्यं, (स्वावागाहेति वा) या ज्ञानमध्ये स्वकीया वाग्वर्त्तते सा यदाह तदेव वागिन्द्रियेण सर्वदा वाच्यम् । (स्वं प्राहेति वा) स्वं स्वकीयपदार्थं प्रत्येव स्वत्वं वाच्यं न परपदार्थं प्रति चेति । (स्वाहुतं हवि-र्जुहोतीति वा) सुष्टुरीत्या संस्कृत्य २ हविः सदा होतव्यमिति स्वाहाश-ब्दपर्य्यायार्थाः ॥ ३ ॥

भाषार्थ

अब गणितविद्याविषय के पश्चात् तेजोसीत्यादि मन्त्रों में केवल ईश्वर की प्रार्थना, याचना, समर्पण और उपासनाविषय है । सो आगे लिखा जाता है । परन्तु जानना चाहिये कि स्तुतिविषय तो (यो भूतं च०) इत्यादि मन्त्रों में कुछ २ लिख दिया है और आगे भी कुछ लिखेंगे । यहां पहिले प्रार्थनाविषय लिखते हैं । (तेजोऽसि०) । अर्थात् हे परमेश्वर ! आप प्रकाशरूप हैं, मेरे हृदय में भी कृपा से विज्ञानरूप प्रकाश कीजिये । (वीर्य्यमसि०) हे जगदी-श्वर ! आप अनन्तपराक्रम वाले हैं, मुझ को भी पूर्ण पराक्रम दीजिये । (बल-मसि०) हे अनन्त बलवाले महेश्वर ! आप अपने अनुग्रह से मुझको भी शरीर और आत्मा में पूर्ण बल दीजिये । (ओजो०) हे सर्वशक्तिमन् ! आप सब सामर्थ्य के निवासस्थान हैं, अपनी करुणा से यथोचित सामर्थ्य का निवासस्थान

मुझको भी कीजिये। (मन्युरसि०) हे दुष्टों पर क्रोध करने हारे ! आप दुष्ट कामों और दुष्ट जीवों पर क्रोध करने का स्वभाव मुझ में भी रखिये। (सहोसि०) हे सब के सहन करनेहारे ईश्वर ! आप जैसे पृथिवी आदि लोकों के धारण और नास्तिकों के दुष्टव्यवहारों को सहते हैं वैसे ही सुख, दुःख, हानि, लाभ, सरदी, गरमी, भूख, प्यास और युद्ध आदि का सहने वाला मुझ को भी कीजिये। अर्थात् सब शुभगुण मुझ को देके अशुभ गुणों से सदा अलग रखिये ॥ १ ॥ (मयीदमिन्द्र०) हे उत्तम ऐश्वर्ययुक्त परमेश्वर ! आप अपनी कृपा से श्रोत्र आदि उत्तम इन्द्रिय और श्रेष्ठ स्वभाव वाले मन को मुझ में स्थिर कीजिये। अर्थात् हम को उत्तम गुण और पदार्थों के सहित सब दिन के लिये कीजिये। (अस्मान् रा०) हे परमधन वाले ईश्वर ! आप उत्तम राज्य आदि धनवाले हम को सदा के लिये कीजिये। (सचन्तां०) मनुष्यों के लिये ईश्वर की यह आज्ञा है कि हे मनुष्यो ! तुम लोग सब काल में सब प्रकार से उत्तम गुणों का ग्रहण और उत्तम ही कर्मों का सेवन सदा करते रहो। (अस्माकꣳस०) हे भगवन् ! आपकी कृपा से हम लोगों की सब इच्छा सर्वदा सत्य ही होती रहे, तथा सदा सत्य ही कर्म करने की इच्छा हो, किन्तु चक्रवर्ती राज्य आदि बड़े २ काम करने की योग्यता हमारे बीच में स्थिर कीजिये ॥ २ ॥ (याम्मेधाम्०) इस मन्त्र का यह अभिप्राय है कि हे परमात्मन् ! आप अपनी कृपा से, जो अत्यन्त उत्तम सत्यविद्यादि शुभगुणों को धारण करने के योग्य बुद्धि है, उस से युक्त हम लोगों को कीजिये, कि जिस के प्रताप से देव अर्थात् विद्वान् और पितर अर्थात् ज्ञानी होके हम लोग आप की उपासना सब दिन करते रहें। (स्वाहा०) इस शब्द का अर्थ निरुक्तकार यास्कमुनिजी ने अनेक प्रकार से कहा है। सो लिखते हैं, कि (सु आहेति वा) सब मनुष्यों को अच्छा, मीठा, कल्याण करने वाला और प्रिय वचन सदा बोलना चाहिये। (स्वा वागाहेति वा) अर्थात् मनुष्यों को यह निश्चय करके जानना चाहिये कि जैसी बात उन के ज्ञान के बीच में वर्त्तमान हो जीभ से भी सदा वैसा ही बोलें, उससे विपरीत नहीं। (स्वं प्राहेति वा०) सब मनुष्य अपने ही पदार्थ को अपना कहें, दूसरे के पदार्थ को कभी नहीं। अर्थात् जितना २ धर्मयुक्त पुरुषार्थ से उनको पदार्थ प्राप्त

हो उतने ही में सदा सन्तोष करें। (स्वाहुतं ह०) अर्थात् सर्व दिन अच्छी प्रकार सुगन्धादि द्रव्यों का संस्कार करके सब जगत् के उपकार करने वाले होम को किया करें। और स्वाहा शब्द का यह भी अर्थ है कि सब दिन मिथ्यावाद को छोड़ के सत्य ही बोलना चाहिये ॥ ३ ॥

स्थिरा वः सन्त्वायुधा पराणुदे वीळू उत प्रतिष्कभे। युष्माकमस्तु तविषी पनीयसी मा मर्त्यस्य मायिनः ॥ ४ ॥ ऋ० अ० १। अ० ३। व १८। मं० २ ॥ इषे पिन्वस्वोर्जे पिन्वस्व ब्रह्मणे पिन्वस्व क्षत्राय पिन्वस्व द्यावापृथिवीभ्यां पिन्वस्व। धर्मासि सुधर्मा मेन्यस्मे नृम्णानि धारय ब्रह्म धारय क्षत्रं धारय विशं धारय ॥ ५ ॥ य० अ० ३८। मं० १४। यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति। दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ ६ ॥ य० अ० ३४। मं० १ ॥ वाजश्च मे प्रसवश्च मे प्रयतिश्च मे प्रसितिश्च मे धीतिश्च मे क्रतुश्च मे०।

भाष्यम्

(स्थिरा वः०) अभि०—ईश्वरो जीवेभ्य आशीर्ददातीति विज्ञेयम्। हे मनुष्याः! वो युष्माकं (आयुधा) आयुधान्याग्नेयास्त्रादीनि, शतघ्नीभुशुण्डीधनुर्बाणास्यादीनि शस्त्राणि च, (स्थिरा) स्थिराणि मदनुग्रहेण सन्तु। (पराणुदे) दुष्टानां शत्रूणां पराजयाय युष्माकं विजयाय च सन्तु। तथा (वीळू) अत्यन्तदृढानि प्रशंसितानि च। (उत) एवं शत्रुसेनाया अपि (प्रतिष्कभे) प्रतिष्टम्भनाय पराङ्मुखतया पराजयकरणाय च सन्तु। तथा (युष्माकमस्तु तविषी०) युष्माकं तविषी सेनाऽत्यन्तप्रशंसनीया बलं चास्तु, येन युष्माकं चक्रवर्तिराज्यं स्थिरं स्याद्दुष्टकर्मकारिणां युष्मद्विरोधिनां शत्रूणां पराजयश्च सदा भवेत्, (मा मर्त्यस्य मा०) परन्त्वयमाशीर्वादः सत्यकर्मानुष्ठानिभ्यो हि ददामि। किन्तु मायिनोऽन्यायकारिणो मर्त्यस्य मनुष्यस्य च कदाचिन् मास्तु। अर्थान्नैव दुष्टकर्मकारिभ्यो मनुष्येभ्योऽहमा-

शीर्वादं कदाचिद्दामीत्यभिप्रायः ॥ ४ ॥ (इषे पिन्वस्व०) हे भगवन् ! इषे उत्तमेच्छायै, परमोत्कृष्टायान्नाय, चास्मान् त्वं पिन्वस्व, स्वतन्त्रतया सदैव पुष्टिमतः प्रसन्नान् कुरु, (ऊर्जे०) वेदविद्याविज्ञानग्रहणाय परमप्रयत्नकारिणो ब्राह्मणवर्णयोग्यान् कृत्वा सदा पिन्वस्व, दृढोत्साहयुक्तानस्मान् कुरु, (क्षत्रा०) क्षत्राय साम्राज्याय पिन्वस्व, परमवीर[व]तः क्षत्रियस्वभावयुक्तान् चक्रवर्त्तिराज्यसहितानस्मान् कुरु, (द्यावापृ०) एवं यथा द्यावापृथिवीभ्यां सूर्य्याग्निभूम्यादिभ्यः पदार्थेभ्यः सर्वजगते प्रकाशोपकारौ भवतः, तथैव कलाकौशलयानचालनादिविद्यां गृहीत्वा सर्वमनुष्योपकारं वयं कुर्मः, एतदर्थमस्मान् पिन्वस्वोत्तमप्रयत्नवतः कुरु । (धर्मासि०) हे सुधर्म परमेश्वर ! त्वं धर्मासि न्यायकार्यासि, अस्मानपि न्यायधर्मयुक्तान् कुरु । (अमेनि०) हे सर्वहितकारकेश्वर ! यथा त्वममेनिर्निर्वैरोसि तथाऽस्मानपि सर्वमित्रान्निर्वैरान् कुरु । यथा (अस्मे) अस्मदर्थं (नृम्णानि) कृपया सुराज्यसुनियमसुरत्नादीनि धारय । एवमेवास्माकं (ब्रह्म०) वेदविद्यां ब्राह्मणवर्णं च धारय, (क्षत्रं०) राज्यं क्षत्रियवर्णं च धारय, (विशम्०) वैश्यवर्णं प्रजां च धारय । अर्थात्सर्वोत्तमान् गुणानस्मन्निष्ठान् कुर्विति प्रार्थ्यते याच्यते च भवान्, तस्मात् सर्वामस्मदिच्छां सम्पूर्णां संपादयेति ॥ ५ ॥ (यज्जाग्रतो दू०) यन् मनो जाग्रतो मनुष्यस्य दूरमुदैति, सर्वेषामिन्द्रियाणामुपरि वर्त्तमानत्वादधिष्ठातृत्वेन व्याप्नोति, (दैवम्) ज्ञानादिदिव्यगुणयुक्तं, (तदु०) तत्, उ इति वितर्के, सुप्तस्य पुरुषस्य (तथैव) तेनैव प्रकारेण स्वप्ने दिव्यपदार्थद्रष्टृ (एति) प्राप्नोति, एवं सुषुप्तौ च दिव्यानन्दयुक्ततां चैति । तथा (दूरंगमम्) अर्थाद्दूरगमनशीलमस्ति, (ज्योतिषां ज्योति०) ज्योतिषामिन्द्रियाणां सूर्यादीनां च ज्योतिः सर्वपदार्थप्रकाशकं (एकम्) असहायं यन्मनोस्ति, हे ईश्वर ! भवत्कृपया, (तन्मे०) तत्, मे मम, मनो मननशीलं सत्, शिवसंकल्पं कल्याणेष्टधर्मशुभगुणप्रियमस्तु ॥ ६ ॥ एवमेव वाजश्च म इत्यष्टादशाध्यायस्थैर्मन्त्रैः सर्वस्वसमर्पणं परमेश्वराय कर्त्तव्यमिति वेदे विहितम् । अतः परमोत्तमपदार्थं मोक्षमारभ्यान्नपानादिपर्य्यन्तमीश्वरादेव याचितव्यमिति सिद्धम् ।

भावार्थ

(स्थिरा वः०) इस मन्त्र में ईश्वर सब जीवों को आशीर्वाद देता है कि हे मनुष्यो ! तुम लोग सब काल में उत्तम बलवाले हो । किन्तु तुम्हारे (आयुधा) अर्थात् आग्नेयादि अस्त्र और (शतघ्नी) तोप, (भुशुन्डी) बन्दूक, धनुष्, बाण और तलवार आदि शस्त्र सब स्थिर हों । तथा (पराणुदे) मेरी कृपा से तुम्हारे अस्त्र और शस्त्र सब दुष्ट शत्रुओं के पराजय करने के योग्य होवें । (वीळू) तथा वे अत्यन्त दृढ़ और प्रशंसा करने के योग्य होवें । (उत प्रतिष्कभे०) अर्थात् तुम्हारे अस्त्र और शस्त्र सब दुष्ट शत्रुओं की सेना के वेग थांभने के लिये प्रबल हों । तथा (युष्माकमस्तु त०) हे मनुष्यो ! तुम्हारी (तविषी०) अर्थात् सेना अत्यन्त प्रशंसा के योग्य हो । जिससे तुम्हारा अखण्डित बल और चक्रवर्त्ति राज्य स्थिर होकर दुष्ट शत्रुओं का सदा पराजय होता रहे । (मा मर्त्यस्य०) परन्तु यह मेरा आशीर्वाद केवल धर्मात्मा, न्यायकारी और श्रेष्ठ मनुष्यों के लिये है । और जो (मायि०) अर्थात् कपटी, छली, अन्यायकारी और दुष्ट मनुष्य हैं उन के लिये नहीं । किन्तु ऐसे मनुष्यों का तो सदा पराजय ही होता रहेगा । इसलिये तुम लोग सदा धर्मकार्यों ही को करते रहो ॥ ४ ॥ (इषे पिन्वस्व०) हे भगवन् ! (इषे) हमारी शुभ कर्म करने ही की इच्छा हो और हमारे शरीरों को उत्तम अन्न से सदा पुष्टियुक्त रखिये । (ऊर्जे) अर्थात् अपनी कृपा से हम को सदा उत्तम पराक्रमयुक्त और दृढ़ प्रयत्न वाले कीजिये । (ब्रह्मणे०) सत्यशास्त्र अर्थात् वेदविद्या के पढ़ने पढ़ाने और उस से यथावत् उपकार लेने में हम को अत्यन्त समर्थ कीजिये, अर्थात् जिससे हम लोग उत्तम विद्यादि गुणों और कर्मों करके ब्राह्मणवर्ण हों । (क्षत्राय०) हे परमेश्वर ! आपके अनुग्रह से हम लोग चक्रवर्त्तिराज्य और शूरवीर पुरुषों की सेना से युक्त हों कि क्षत्रियवर्ण के अधिकारी हम को कीजिये । (द्यावापृ०) जैसे पृथिवी, सूर्य, अग्नि, जल और वायु आदि पदार्थों से सब जगत् का प्रकाश और उपकार होता है वैसे ही कला, कौशल, विमान आदि यान चलाने के लिये हम को उत्तम सुखसहित कीजिये, कि जिस से हम लोग सब सृष्टि के उपकार करने वाले हों ।

(धर्मासि०) हे सुधर्मन् न्याय करनेहारे ईश्वर ! आप न्यायकारी हैं वैसे हम को भी न्यायकारी कीजिये । (अमे०) हे भगवन् ! जैसे आप निर्वैर होके सब से वर्त्तते हो वैसे ही सब से वैर रहित हम को भी कीजिये । (अस्मे०) हे परमकारुणिक ! हमारे लिये (नृम्णानि) उत्तम राज्य, उत्तम धन और शुभगुण दीजिये । (ब्रह्म०) हे परमेश्वर ! आप ब्राह्मणों को हमारे बीच में उत्तमविद्यायुक्त कीजिये । (क्षत्रम्०) हम को अत्यन्त चतुर, शूरवीर और क्षत्रियवर्ण का अधिकारी कीजिये । (विशम्०) अर्थात् वैश्यवर्ण और हमारी प्रजा का रक्षण सदा कीजिये, कि जिससे हम शुभगुण वाले होकर अत्यन्त पुरुषार्थी हों ॥ ५ ॥ (यज्जाग्रतो०) हे सर्वव्यापक जगदीश्वर ! जैसे जाग्रत् अवस्था में मेरा मन दूर २ घूमने वाला सब इन्द्रियों का स्वामी तथा (दैवम्०) ज्ञान आदि दिव्यगुण वाला और प्रकाशस्वरूप रहता है वैसे ही (तदुसु०) निद्रा अवस्था में भी शुद्ध और आनन्दयुक्त रहे । (ज्योतिषां०) जो प्रकाश का भी प्रकाश करनेवाला और एक है (तन्मे०) हे परमेश्वर ! ऐसा जो मेरा मन है सो आप की कृपा से (शिवस०) कल्याण करनेवाला और शुद्धस्वभावयुक्त हो, जिससे अधर्मकामों में कभी प्रवृत्त न हो ॥ ६ ॥ इसी प्रकार से (वाजश्च मे०) इत्यादि शुक्ल यजुर्वेद के अठारहवें अध्याय में मन्त्र, ईश्वर के अर्थ सर्वस्वसमर्पण करने के ही विधान में हैं । अर्थात् सब से उत्तम मोक्षसुख से लेके अन्न, जल पर्यन्त सब पदार्थों की याचना मनुष्यों को केवल ईश्वर ही से करनी चाहिये ।

आयुर्यज्ञेन॑ कल्पतां प्राणो यज्ञेन॑ कल्पतां चक्षुर्यज्ञेन॑ कल्पताᳬ श्रोत्रं॑ यज्ञेन॑ कल्पतां वाग्यज्ञेन॑ कल्पतां मनो॑ यज्ञेन॑ कल्पतामात्मा यज्ञेन॑ कल्पतां ब्रह्मा यज्ञेन॑ कल्पतां ज्योतिर्यज्ञेन॑ कल्पताᳬ स्वर्यज्ञेन॑ कल्पतां पृष्ठं यज्ञेन॑ कल्पतां यज्ञो यज्ञेन॑ कल्पताम् । स्तोम॑श्च यजु॑श्च ऋक् च साम॑ च बृहच्च॑ रथन्तरं च॑ । स्वर्दे॑वा अगन्मामृता॑ अभूम प्रजाप॑तेः प्रजा॑ अभूम वेट् स्वाहा॑ ॥ ७ ॥ य० अ० १८ । मं० २९ ॥

भाष्यम्

(आयुर्यज्ञेन०) यज्ञो वै विष्णुः* । वेवेष्टि व्याप्नोति सर्वं जगत् स विष्णुरीश्वरः, हे मनुष्यास्तेन यज्ञेनेश्वरप्राप्त्यर्थं सर्वं स्वकीयमायुः कल्पतामिति । यदस्मदीयमायुरस्ति तदीश्वरेण कल्पतां, परमेश्वराय समर्पितं भवतु । एवमेव (प्राणः), (चक्षुः), (वाक्) वाणी, (मनः) मननं ज्ञानं, (आत्मा) जीवः, (ब्रह्मा) चतुर्वेदज्ञाता यज्ञानुष्ठानकर्त्ता, (ज्योतिः) सूर्यादिप्रकाशः, [(धर्मः) न्यायः] (स्वः) सुखं, (पृष्ठं) भूम्याद्यधिकरणं, (यज्ञो०) अश्वमेधादिः शिल्पक्रियामयो वा, (स्तोमः) स्तुतिसमूहः, (यजुः) यजुर्वेदाध्ययनम्, (ऋक्) ऋग्वेदाध्ययनम्, (साम) सामवेदाध्ययनम्, चकाराद्थर्ववेदाध्ययनं च, (बृहच्च रथन्तरं च) महत्क्रियासिद्धिफलभोगः शिल्पविद्याजन्यं वस्तु चास्मदीयमेतत्सर्वं परमेश्वराय समर्पितमस्तु, येन वयं कृतज्ञाः स्याम । एवं कृते परमकारुणिकः परमेश्वरः सर्वोत्तमं सुखमस्मभ्यं दद्यात्, येन वयं (स्वर्देवा०) सुखे प्रकाशिताः, (अमृता) परमानन्दम्मोक्षं (अगन्म) सर्वदा प्राप्ताः भवेम । तथा (प्रजापते प्र०) वयं परमेश्वरस्यैव प्रजा (अभूम) अर्थात्परमेश्वरं विहायान्यमनुष्यं राजानं नैव कदाचिन्मन्यामह इति । एवं जाते (वेट् स्वाहा०) सदा वयं सत्यं वदामो, भवदाज्ञाकरणे परमप्रयत्नत उत्साहवन्तोऽभूम भवेम, मा कदाचिद्भवदाज्ञाविराधिनो वयमभूम, किन्तु भवत्सेवायां सदैव पुत्रवद्वर्त्तेमहि ॥ ७ ॥

भाषार्थ

(आयुर्यज्ञेन०) यज्ञ नाम विष्णु का है, जो कि सब जगत् में व्यापक हो रहा है । उसी परमेश्वर के अर्थ सब चीज समर्पण कर देना चाहिये । इस विषय में यह मन्त्र है कि सब मनुष्य अपनी आयु को ईश्वर की सेवा और उसकी आज्ञापालन में समर्पित करें । (प्राणो०) अर्थात् अपना प्राण

* श० ब्रा० १ । २ । १३ ॥

भी ईश्वर के अर्थ कर देवें । (चक्षु०) जो प्रत्यक्ष प्रमाण और आंख, (श्रोत्रं) जो श्रवण विद्या और शब्द प्रमाणादि, (वाक्०) वाणी, (मनो०) मन और विज्ञान, (आत्मा०) जीव, (ब्रह्म) तथा चारों वेद को पढ़ के जो पुरुषार्थ किया है, (ज्योतिः०) जो प्रकाश, (स्वर्य०) जो सब सुख, (पृष्ठम्०) जो उत्तम कर्मों का फल और स्थान, (यज्ञो०) जो कि पूर्वोक्त तीन प्रकार का यज्ञ किया जाता है, ये सब ईश्वर की प्रसन्नता के अर्थ समर्पित कर देना अवश्य है । (स्तोमश्च०) जो स्तुति का समूह, (यजुश्च०) सब क्रियाओं की विद्या, (ऋक् च०) ऋग्वेद अर्थात् स्तुति स्तोत्र, (साम च०) सब गान करने की विद्या, (चकारात्०) अथर्ववेद, (बृहच्च०) बड़े २ सब पदार्थ और (रथन्तरं च०) शिल्पविद्या आदि के फलों में से जो २ फल अपने आधीन हों वे सब परमेश्वर के समर्पण कर देवें । क्योंकि सब वस्तु ईश्वर ही की बनाई हैं । इस प्रकार से जो मनुष्य अपनी सब चीजें परमेश्वर के अर्थ समर्पित कर देता है उसके लिये परमकारुणिक परमात्मा सब सुख देता है, इसमें संदेह नहीं । (स्वर्देवा०) अर्थात् परमात्मा की कृपा की लहर और परमप्रकाशरूप विज्ञानप्राप्ति में शुद्ध होके, तथा सब संसार के बीच में कीर्तिमान् होके, हम लोग परमानन्दस्वरूप मोक्षसुख को (अगन्म०) सब दिन के लिये प्राप्त हों । (प्रजापतेः०) तथा हम सब मनुष्य लोगों को उचित है कि किसी एक मनुष्य को अपना राजा न मानें । क्योंकि ऐसा अभागी कौन मनुष्य है कि जो सर्वज्ञ, न्यायकारी सब के पिता एक परमेश्वर को छोड़ के दूसरे की उपासना करे और राजा माने । इसलिये हम लोग उसी को अपना राजा मान के सत्य न्याय को प्राप्त हों । अर्थात् वही सब मनुष्यों के न्याय करने में समर्थ है अन्य कोई नहीं । (वेट् स्वाहा) अर्थात् हम लोग सर्वज्ञ, सत्यस्वरूप, सत्यन्याय करने वाले परमेश्वर राजा की अपने सत्यभाव से प्रजा हो के यथावत् सत्य मानने, सत्य बोलने और सत्य करने में समर्थ होवें । सब मनुष्यों को परमेश्वर से इस प्रकार की आशा करना उचित है कि हे कृपानिधे ! आपकी आज्ञा और भक्ति से हम लोग परस्पर विरोधी कभी न हों किन्तु आप और सब के साथ सदा पिता पुत्र के समान प्रेम से वर्तें ॥ ७ ॥

अथोपासनाविषयः संक्षेपतः

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः। वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः ॥ १ ॥ ऋ० अ० ४। अ० ४। व० २४। मं० १॥ युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियम्। अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत् ॥ २ ॥ युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे। स्वर्ग्याय शक्त्या ॥ ३॥ युक्त्वाय सविता देवान्त्स्वर्यतो धिया दिवम्। बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्रसुवाति तान् ॥ ४ ॥ युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्विश्लोक एतु पथ्येव सूरेः। शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आये धामानि दिव्यानि तस्थुः ॥ ५ ॥ य० अ० ११। मं० १। २। ३। ४। ५॥

भाष्यम्

(युञ्जते०) अस्याभि०—अत्र जीवेन सदा परमेश्वरस्यैवोपासना कर्त्तव्येति विधीयते। (विप्राः) ईश्वरोपासका मेधाविनः, (होत्राः) योगिनो मनुष्याः, (विप्रस्य०) सर्वज्ञस्य परमेश्वरस्य मध्ये (मनः) (युञ्जते) युक्तं कुर्वन्ति, (उत) अपि धियो बुद्धिवृत्तीस्तस्यैव मध्ये युञ्जते। कथंभूतः स परमेश्वरः ? सर्वमिदं जगत् यः (विदधे) विदधे, तथा (वयुनावि०) सर्वेषां जीवानां शुभाशुभानि यानि प्रज्ञानानि प्रजाश्च तानि यो वेद स वयुनावित्, (एकः) स एकोऽद्वितीयोऽस्ति, (इत्) सर्वत्र व्याप्तो ज्ञानस्वरूपश्च, नास्मात्पर उत्तमः कश्चित् पदार्थो वर्त्तत इति। तस्य (देवस्य) सर्वजगत्प्रकाशकस्य, (सवितुः) सर्वजगदुत्पादकस्येश्वरस्य सर्वैर्मनुष्यैः (परिष्टुतिः) परितः सर्वतः स्तुतिः कार्य्या, कथंभूता स्तुतिः ? (मही) महतीत्यर्थः, एवंकृते सति जीवाः परमेश्वरमुपगच्छन्तीति ॥ १ ॥ (युञ्जानो) योगं कुर्वाणः सन् (तत्त्वाय) ब्रह्मादितत्त्वज्ञानाय प्रथमं मनो युञ्जानः सन् योऽस्ति, तस्य धियं (सविता) कृपया परमेश्वरः स्वस्मिन्नुपयुङ्क्ते, (अग्नेर्ज्योतिः) यतोऽग्नेरीश्वरस्य (ज्योतिः) प्रकाशस्वरूपं (निचाय्य) यथावत्

निश्चित्य, (अध्याभरत्) स योगी स्वात्मनि परमात्मानं धारितवान् भवेत्, इदमेव पृथिव्या मध्ये योगिन उपासकस्य लक्षणमिति वेदितव्यम् ॥ २ ॥ सर्वे मनुष्या एवमिच्छेयुः (स्वर्ग्याय०) मोक्षसुखाय, (शक्त्या) योगबलोन्नत्या, (देवस्य) स्वप्रकाशस्यानन्दप्रदस्य (सवितुः) सर्वान्तर्यामिनः परमेश्वरस्य (सवे) अनन्तैश्वर्य्ये (युक्तेन मनस०) योगयुक्तेन शुद्धान्तःकरणेन वयं सदोपयुञ्जीमहीति ॥ ३ ॥ एवं योगाभ्यासेन कृतेन (स्वर्यतः) शुद्धभावप्रेम्णा (देवान्) उपासकान् योगिनः (सविता) अन्तर्यामीश्वरः कृपया (युक्त्वाय०) तदात्मसु प्रकाशकरणेन सम्यग् युक्त्वा (धिया) स्वकृपाधारवृत्त्या (बृहज्ज्योतिः) अनन्तप्रकाशं (दिवं) दिव्यं स्वस्वरूपम् (प्रसुवाति) प्रकाशयति, तथा (करिष्यतः) सत्यभक्तिं करिष्यमाणानुपासकान् योगिनः (सविता) परमकारुणिकान्तर्यामीश्वरो मोक्षदानेन सदानन्दयतीति ॥ ४ ॥ उपासनाप्रदोपासनाग्रहीतारौ प्रति परमेश्वरः प्रतिजानीते, (ब्रह्म पूर्व्यम्) यदा तौ पुरातनं सनातनं ब्रह्म (नमोभिः) स्थिरेणात्मना सत्यभावेन नमस्कारैरुपासाते तदा तद्ब्रह्म ताभ्यामाशीर्ददाति, (श्लोकः) सत्यकीर्त्तिः (वां) (वि) (एतु) व्येतु व्याप्नोतु, कस्य केव ? (सूरेः) परमविदुषः (पथ्येव) धर्ममार्ग इव, (ये) एवं य उपासकाः (अमृतस्य) मोक्षस्वरूपस्य नित्यस्य परमेश्वरस्य (पुत्राः) तदाज्ञानुष्ठातारस्तत्सेवकाः सन्ति, त एव (दिव्यानि) प्रकाशस्वरूपाणि विद्योपासनायुक्तानि कर्माणि तथा दिव्यानि (धामानि) सुखस्वरूपाणि जन्मानि सुखयुक्तानि स्थानानि वा (आतस्थुः) आ समन्तात् तेषु स्थिरा भवन्ति, ते (विश्वे०) सर्वे (वां) उपासनोपदेष्टुपदेश्यौ द्वौ (शृण्वन्तु) प्रख्यातौ जानन्तु । इत्यनेन प्रकारेणोपासनां कुर्वाणौ वां युवां द्वौ प्रतीश्वरोऽहं युजे, कृपया समवतो भवामीति ॥ ५ ॥

भाषार्थ

अब ईश्वर की उपासना का विषय जैसा वेदों में लिखा है उस में से कुछ संक्षेप से यहां भी लिखा जाता है । (युञ्जते मन०) इस का अभिप्राय यह

है कि जीव को परमेश्वर की उपासना नित्य करनी उचित है। अर्थात् उपासनासमय में सब मनुष्य अपने मन को उसी में स्थिर करें। और जो लोग ईश्वर के उपासक (विप्राः) अर्थात् बड़े २ बुद्धिमान (होत्राः) उपासनायोग के ग्रहण करनेवाले हैं, वे (विप्रस्य) सब को जाननेवाला, (बृहतः) सब से बड़ा, (विपश्चितः) और सब विद्याओं से युक्त जो परमेश्वर है, उस के बीच में (मनः) (युञ्जते) अपने मन को ठीक २ युक्त करते हैं, तथा (उत०) (धियः) अपनी बुद्धिवृत्ति अर्थात ज्ञान को भी (युञ्जते०) सदा परमेश्वर ही में स्थिर करते हैं। जो परमेश्वर इस सब जगत् को (विदधे०) धारण और विधान करता है, (वयुनाविदेक इत्) जो सब जीवों के ज्ञानों तथा प्रजा का भी साक्षी है, वही एक परमात्मा सर्वत्र व्यापक है, कि जिससे परे कोई उत्तम पदार्थ नहीं है। (देवस्य) उस देव अर्थात् सब जगत् के प्रकाश और (सवितुः) सब की रचना करनेवाले परमेश्वर की (परिष्टुतिः) हम लोग सब प्रकार से स्तुति करें। कैसी वह स्तुति है कि (मही) सब से बड़ी, अर्थात जिस के समान किसी दूसरे की हो ही नहीं सकती ॥ १ ॥ (युञ्जानः) योग को करनेवाले मनुष्य (तत्त्वाय) तत्त्व अर्थात् ब्रह्मज्ञान के लिये, (प्रथमम्) (मनः) जब अपने मन को पहिले परमेश्वर में युक्त करते हैं, तब (सविता) परमेश्वर उनकी (धियम्) बुद्धि को अपनी कृपा से अपने में युक्त कर लेता है। (अग्नेर्ज्यो०) फिर वे परमेश्वर के प्रकाश को निश्चय करके (अध्याभरत्) यथावत् धारण करते हैं। (पृथिव्याः) पृथिवी के बीच में योगी का यही प्रसिद्ध लक्षण है ॥ २ ॥ सब मनुष्य इस प्रकार की इच्छा करें कि (वयम्) हम लोग (स्वर्ग्याय) मोक्षसुख के लिये, (शक्त्या) यथायोग्य सामर्थ्य के बल से, (देवस्य) परमेश्वर की सृष्टि में उपासनायोग करके, अपने आत्मा को शुद्ध करें, कि जिससे (युक्तेन मनसा) अपने शुद्ध मन से परमेश्वर के प्रकाश व आनन्द को प्राप्त हों ॥ ३ ॥ इसी प्रकार वह परमेश्वर देव भी (देवान्) उपासकों को (स्वर्यतो धिया दिवम्) अत्यन्त सुख को दे के (सविता) उनकी बुद्धि के साथ अपने आनन्दस्वरूप प्रकाश को करता है। तथा (युक्त्वाय) वही अन्तर्यामी परमात्मा अपनी कृपा से उनको युक्त करके उनके आत्माओं में

(बृहज्ज्योतिः) बड़े प्रकाश को प्रकट करता है। और (सविता) जो सब जगत् का पिता है वही (प्रसुवा०) उन उपासकों को ज्ञान और आनन्दादि से परिपूर्ण कर देता है। परन्तु (करिष्यतः) जो मनुष्य सत्य प्रेम भक्ति से परमेश्वर की उपासना करेंगे उन्हीं उपासकों को परमकृपामय अन्तर्यामी परमेश्वर मोक्षसुख देके सदा के लिये आनन्दयुक्त करदेगा ॥ ४ ॥ उपासना का उपदेश देनेवाले और ग्रहण करनेवाले दोनों के प्रति परमेश्वर प्रतिज्ञा करता है कि जब तुम (पूर्व्यम्) सनातन ब्रह्म की (नमोभिः) सत्यप्रेमभाव से अपने आत्मा को स्थिर करके नमस्कारादि रीति से उपासना करोगे तब मैं तुम को आशीर्वाद देऊंगा कि (श्लोकः) सत्यकीर्ति (वां) तुम दोनों को (एतु) प्राप्त हो। किसके समान ? (पथ्येव सूरेः) जैसे परम विद्वान् को धर्ममार्ग यथावत् प्राप्त होता है इसी प्रकार तुम को सत्यसेवा से सत्यकीर्त्ति प्राप्त हो। फिर भी मैं सब को उपदेश करता हूं कि (अमृतस्य पुत्राः) हे मोक्षमार्ग के पालन करनेवाले मनुष्यो ! (शृण्वन्तु विश्वे) तुम सब लोग सुनो कि (आये धामानि०) जो दिव्यलोकों अर्थात् मोक्षसुखों को (आतस्थुः) पूर्व प्राप्त हो चुके हैं उसी उपासनायोग से तुम लोग भी उन सुखों को प्राप्त हो। इसमें संदेह मत करो। इसलिये (युजे) मैं तुम को उपासनायोग में युक्त करता हूं ॥ ५ ॥

सीरा॑ युञ्जन्ति क॒वयो॑ यु॒गा वित॑न्वते॒ पृथ॑क् । धीरा॑ दे॒वेषु॑ सुम्न॒या ॥ ६ ॥ यु॒नक्त॒ सीरा॒ वियु॒गा त॑नुध्वं कृ॒ते योनौ॑ वपते॒ह बीज॑म् । गि॒रा च॑ श्रु॒ष्टिः सभ॑रा॒ अस॑न्नो॒ नेदी॑य॒ इत्सृ॒ण्यः॑ प॒क्वमेया॑त् ॥ ७ ॥ य० अ० १२ । मं० ६७ । ६८ ॥

भाष्यम्

(कवयः) विद्वांसः क्रान्तदर्शनाः क्रान्तप्रज्ञा वा, (धीराः) ध्यानवन्तो योगिनः, (पृथक्) विभागेन (सीराः) योगाभ्यासोपासनार्थं नाडीर्युञ्जन्ति, अर्थात् तासु परमात्मानं ज्ञातुमभ्यस्यन्ति, तथा (युगा) युगानि योगयुक्तानि कर्माणि (वितन्वते) विस्तारयन्ति। य एवं कुर्वन्ति ते (देवेषु)

विद्वत्सु योगिषु (सुम्नया) सुखेनैव स्थित्वा परमानन्दं युञ्जन्ति प्राप्नुवन्तीत्यर्थः ॥ ६ ॥ हे योगिनो ! यूयं योगाभ्यासोपासनेन परमात्मयोगेनानन्दं (युनक्त) तद्युक्ता भवत, एवं मोक्षसुखं सदा (वितनुध्वं) विस्तारयत, तथा (युगा०) उपासनायुक्तानि कर्माणि (सीराः) प्राणादित्ययुक्ता नाडीश्च युनक्तोपासनाकर्माणि योजयत । एवं (कृते योनौ) अन्तःकरणे शुद्धे कृते परमानन्दयोनौ कारणे आत्मनि (वपतेह बीजम्) उपासनाविधानेन योगोपासनाया विज्ञानाख्यं बीजं वपत, तथा (गिरा च) वेदवाण्या विद्यया (युनक्त) युङ्क्त, युक्ता भवत, किं च (श्रुष्टिः) क्षिप्रं शीघ्रं योगफलं (नो नेदीयः) नोऽस्मान्नेदीयोतिशयेन निकटं परमेश्वरानुग्रहेण (असत्) अस्तु, कथंभूतं फलं ? (पक्वं) शुद्धानन्दसिद्धं (एयात्) आ समन्तादियात् प्राप्नुयात्, (इत्सृण्यः) उपासनायुक्तास्ता योगवृत्तयः सृण्यः सर्वक्लेशहन्त्र्य एव भवन्ति । इदिति निश्चयार्थे । पुनः कथंभूतास्ताः ? (सभराः) शान्त्यादिगुणपुष्टाः । एताभिर्वृत्तिभिः परमात्मयोगं वितनुध्वम् ॥ ७ ॥

अत्र प्रमाणम् । श्रुष्टीति क्षिप्रनामाशु अष्टीति ॥ निरु० अ० ६ । खं० १२ । द्विविधा सृणिर्भवति भर्त्ता च हन्ता च । निरु० अ० १३ । खं० ५ ॥

भाषार्थ

(कवयः) जो विद्वान् योगी लोग और (धीराः) ध्यान करने वाले हैं वे (सीरा युञ्जन्ति) (पृथक्) यथायोग्य विभाग से नाड़ियों में अपने आत्मा से परमेश्वर की धारणा करते हैं । (युगा) जो योगयुक्त कर्म्मों में तत्पर रहते हैं, (वितन्वते) अपने ज्ञान और आनन्द को सदा विस्तृत करते हैं (देवेषु सुम्नया) वे विद्वानों के बीच में प्रशंसित होके परमानन्द को प्राप्त होते हैं ॥ ६ ॥ हे उपासक लोगो ! तुम योगाभ्यास तथा परमात्मा के योग से नाड़ियों में ध्यान करके परमानन्द को (वितनुध्वं०) विस्तार करो । इस प्रकार करने से (कृते योनौ) योनि अर्थात् अपने अन्तःकरण को शुद्ध और परमानन्दस्वरूप परमेश्वर में स्थिर करके उसमें उपासनाविधान से विज्ञानरूप (बीजं) बीज को (वपत)

अच्छी प्रकार से बोओ । तथा (गिरा च) पूर्वोक्त प्रकार से वेदवाणी करके परमात्मा में (युनक्त) युक्त होकर उस की स्तुति प्रार्थना और उपासना में प्रवृत्ति करो । तथा (श्रुष्टिः) तुम लोग ऐसी इच्छा करो कि हम उपासनायोग के फल को प्राप्त होवें । और (नो नेदीयः) हम को ईश्वर के अनुग्रह से वह फल (असत्) शीघ्र ही प्राप्त हो । कैसा वह फल है कि (पक्वं) जो परिपक्व शुद्ध परम आनन्द से भरा हुआ और मोक्षसुख को प्राप्त करने वाला है । (इत्सृण्यः) अर्थात् वह उपासनायोगवृत्ति कैसी है कि सब क्लेशों को नाश करने वाली और (सभराः) सब शान्ति आदि गुणों से पूर्ण है । उन उपासनायोगवृत्तियों से परमात्मा के योग को अपने आत्मा में प्रकाशित करो ॥७॥

अ॒ष्टा॒वि॒ंशा॒नि॑ शि॒वानि॑ श॒ग्मानि॑ स॒हयो॒गं भ॑जन्तु मे । योगं॒ प्रप॑द्ये॒ क्षेमं॑ च॒ क्षेमं॒ प्रप॑द्ये॒ योगं॑ च॒ नमो॑ऽहोरा॒त्राभ्या॑मस्तु ॥ ८ ॥ अथर्व० कांड १९ । अनु० १ । सू० ८ । मं० २ । भू॒यानरा॑त्या॒ः शच्या॒ः पति॒स्त्वमि॑न्द्रासि वि॒भूः प्र॒भूरिति॒ त्वोपा॑स्महे व॒यम् ॥ ९ ॥ नम॑स्ते अस्तु पश्यत॒ पश्य॑ मा पश्यत ॥ १० ॥ अ॒न्नाद्ये॑न॒ यश॑सा तेज॑सा ब्राह्मणवर्च॒सेन॑ ॥ ११ ॥ अथर्व० १३४ । ४७–४९ ॥

भाष्यम्

(अष्टाविंशानि०) हे परमेश्वर भगवन् ! कृपयाऽष्टाविंशानि, (शिवानि०) कल्याणानि कल्याणकारकाणि सन्त्वर्थाद्दशेन्द्रियाणि, दश प्राणा, मनोबुद्धिचित्ताहंकारविद्यास्वभावशरीरबलं चेति, (शग्मानि०) सुखकारकाणि भूत्वा (अहोरात्राभ्यां) दिवसे रात्रौ चोपासनाव्यवहारं योगं (मे) मम (भजन्तु) सेवन्तां, तथा भवत्कृपयाऽहं (योगं प्र०) प्राप्य (क्षेमं च), (प्रपद्ये) क्षेमं प्राप्य, योगं च प्रपद्ये । यतोऽस्माकं सहायकारी भवान् भवदेतदर्थं सततं नमोस्तु ते ॥ ८ ॥ इमे वक्ष्यमाणाश्च मन्त्रा अथर्ववेदस्य सन्तीति बोध्यम् । (इन्द्र०) हे इन्द्र परमेश्वर ! त्वं (शच्याः) प्रजाया वाण्याः कर्मणो वा पतिरसि, तथा (भूयान्) सर्वशक्तिमत्त्वात् सर्वोत्कृष्टत्वा-

दतिशयेन बहुरसि, तथा (अरात्याः) शत्रुभूताया वाण्यास्तादृशस्य कर्मणो वा शत्रुरर्थाद्भूयान्निवारकोसि, (विभूः) व्यापकः (प्रभूः) समर्थश्चासि, (इति) अनेन प्रकारेणैवंभूतं (त्वा) त्वां (वयम्) सदैव (उपास्महे) अर्थात्तवैवोपासनं कुर्महे इति ॥ ९ ॥ अत्र प्रमाणम् । वाचो नामसु शचीति पठितम् । निघं० अ० १ । खं० ११ । तथा कर्मणां नामसु शचीति पठितम् । निघं० अ० २ । खं० १ । तथा प्रज्ञानामसु शचीति पठितम् । निघं० अ० ३ । खं० ९ । ईश्वरोऽभिवदति हे मनुष्याः ! यूयमुपासनारीत्या सदैव (मा) मां (पश्यत) सम्यग् ज्ञात्वा चरत, उपासक एवं जानीयाद्वदेच्च हे परमेश्वरानन्तविद्यायुक्त ! (नमस्ते अस्तु) ते तुभ्यमस्माकं सततं नमोस्तु भवतु ॥ १० ॥ (अन्नाद्येन) कस्मै प्रयोजनायाऽऽदिराज्यैश्वर्य्येण, (यशसा) सर्वोत्तमसत्कर्मानुष्ठानोद्भूतसत्यकीर्त्या, (तेजसा) निर्दीनतया प्रागल्भ्येन च, (ब्राह्मणवर्चसेन) पूर्णविद्यया सह वर्त्तमानानस्मान् हे परमेश्वर ! त्वं कृपया सदैव (पश्य) संप्रेक्षस्वैतदर्थं वयं (त्वां) सर्वदोपास्महे ॥ ११ ॥

भाषार्थ

(अष्टाविंशानि शिवानि) हे परमैश्वर्य्ययुक्त मङ्गलमय परमेश्वर ! आप की कृपा से मुझ को उपासनायोग प्राप्त हो, तथा उस से मुझ को सुख भी मिले । इसी प्रकार आप की कृपा से दश इन्द्रिय, दश प्राण, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, विद्या, स्वभाव, शरीर और बल, ये अट्ठाइस सब कल्याणों में प्रवृत्त होके उपासनायोग को सदा सेवन करें । तथा हम भी (योगं) उस योग के द्वारा (क्षेमं) रक्षा को, और रक्षा से योग को प्राप्त हुआ चाहते हैं । इसलिये हम लोग रात दिन आप को नमस्कार करते हैं ॥ ८ ॥ (भूयानरात्याः) हे जगदीश्वर ! आप (शच्याः) सब प्रज्ञा, वाणी और कर्म इन तीनों के पति हैं । तथा (भूयान) सर्वशक्तिमान आदि विशेषणों से युक्त हैं । जिससे आप (अरात्याः) अर्थात् दुष्टप्रजा, मिथ्यारूपवाणी और पापकर्मों को विनाश करने में अत्यन्त समर्थ हैं । तथा आप को (विभूः) सब में व्यापक और (प्रभूः)

सब सामर्थ्य वाले जान के हम लोग आप की उपासना करते हैं ॥ ९ ॥ (नमस्ते अस्तु) अर्थात् परमेश्वर सब मनुष्यों को उपदेश करता है कि हे उपासक लोगो ! तुम मुझ को प्रेमभाव से अपने आत्मा में सदा देखते रहो । तथा मेरी आज्ञा और वेदविद्या को यथावत् जान के उसी रीति से आचरण करो । फिर मनुष्य भी ईश्वर से प्रार्थना करें कि हे परमेश्वर ! आप कृपादृष्टि से (पश्य मा) हम को सदा देखिये । इसलिये हम लोग आप को सदा नमस्कार करते हैं ॥ १० ॥ कि (अन्नाद्येन) अन्न आदि ऐश्वर्य्य, (यशसा) सब से उत्तम कीर्त्ति, (तेजसा) भय से रहित, (ब्राह्मणवर्चसेन) और सम्पूर्ण विद्या से युक्त हम लोगों को करके कृपा से देखिये । इसलिये हम लोग सदा आप की उपासना करते हैं ॥ ११ ॥

अम्भो अमो महः सह इति त्वोपास्महे वयम् ॥ १२ ॥ अम्भो अरुणं रजतं रजः सह इति त्वोपास्महे वयम् ॥ १३ ॥ उरुः पृथुः सुभूर्भुव इति त्वोपास्महे वयम् ॥ १४ ॥ प्रथो वरो व्यचो लोक इति त्वोपास्महे वयम् ॥ १५ ॥ अथर्व० कां० १३ । अनु० ४ । मं० ५० । ५१ । ५२ । ५३ ॥

भाष्यम्

(हे ब्रह्मन्) (अम्भः) व्यापकं, शान्तस्वरूपं, जलवत् प्राणस्यापि प्राणम् । आप्लृ धातोरसुन्प्रत्ययान्तस्यायं प्रयोगः । (अमः) ज्ञानस्वरूपम्, (महः) पूज्यं सर्वेभ्यो महत्तरं, (सहः) सहनस्वभावं ब्रह्म (त्वा) त्वां ज्ञात्वा (इति) अनेन प्रकारेण (वयं) सततं उपास्महे ॥ १२ ॥ (अम्भः) आदरार्थो द्विरारम्भः । अस्यार्थ उक्तः । (अरुणम्) प्रकाशस्वरूपम्, (रजतम्) रागविषयमानन्दस्वरूपम्, (रजः) सर्वलोकैश्वर्य्यसहितम्, (सहः) सहनशक्तिप्रदम् (इति त्वोपास्महे वयम्) त्वां विहाय नैव कश्चिदन्योर्थः कस्यचिदुपास्योस्तीति ॥ १३ ॥ (उरुः) सर्वशक्तिमान्, (पृथुः) अतीव विस्तृतो व्यापकः, (सुभूर्भुवः) सुष्ठुतया सर्वेषु पदार्थेषु भवतीति सुभूः, अन्तरिक्षवदवकाशरूपत्वाद्भुवः (इति) एवं ज्ञात्वा

(त्वा०) त्वां (उपास्महे वयम्) ॥ १४ ॥ बहुनामसु उरुरिति प्रत्यक्ष-मस्ति । निघण्टु अ० ३ । खं० १ । (प्रथः) सर्वजगत्प्रसारकः, (वरः) श्रेष्ठः, (व्यचः) विविधतया सर्वं जगज्जानातीति, (लोकः) लोक्यते सर्वैर्जनैर्लोकयति सर्वान् वा (इति त्वो०) वयमीदृक्स्वरूपं सर्वज्ञं त्वामु-पास्महे ॥ १५ ॥

भाषार्थ

(अम्भो) हे भगवन् ! आप सब में व्यापक, शान्तस्वरूप और प्राण के भी प्राण हैं । तथा (अमः) ज्ञानस्वरूप और ज्ञान को देने वाले हैं । (महः) सब के पूज्य, सब के बड़े और (सहः) सब के सहन करने वाले हैं । (इति) इस प्रकार का (त्वो०) आप को जान के (वयम्) हम लोग सदा उपासना करते हैं ॥ १२ ॥ (अम्भः) (दूसरी वार इस शब्द का पाठ केवल आदर के लिये है) (अरुणम्) आप प्रकाशस्वरूप सब दुःखों के नाश करने वाले, तथा (रजतम्) प्रीति का परम हेतु आनन्दस्वरूप, (रजः) सब लोकों के ऐश्व-र्य्य से युक्त, (सहः) (इस शब्द का भी पाठ आदरार्थ है) और सहनश-क्तिवाले हैं । इसलिये हम लोग आप की उपासना निरन्तर करते हैं ॥ १३ ॥ (उरु०) आप सब बल वाले, (पृथुः) अर्थात् आदि अन्त रहित, तथा (सुभूः) सब पदार्थों में अच्छे प्रकार से वर्त्तमान, और (भुवः) अवकाश-स्वरूप से सब के निवासस्थान हैं । इस कारण हम लोग उपासना करके आप के ही आश्रित रहते हैं ॥ १४ ॥ (प्रथो वरो०) हे परमात्मन् ! आप सब जगत् में प्रसिद्ध और उत्तम हैं । (व्यचः) अर्थात् सब प्रकार से इस जगत् का धारण, पालन और वियोग करने वाले तथा (लोकः) सब विद्वानों के देखने अर्थात् जानने के योग्य केवल आप ही हैं, दूसरा कोई नहीं ॥ १५ ॥

युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परितस्थुषः । रोचन्ते रोचना दिवि ॥ १६ ॥ ऋ० अ० १ । अ० १ । व० ११ । मं० १ ॥

भाष्यम्

(युञ्जन्ति) ये योगिनो विद्वांसः, (परितस्थुषः) परितः सर्वतः

सर्वान् जगत्पदार्थान् मनुष्यान्वा चरन्तं ज्ञातारं सर्वज्ञं (अरुषं) अहिंसकं करुणामयम् (रुष हिंसायाम्) (ब्रध्नं) विद्यायोगाभ्यासप्रेमभरेण सर्वानन्द-वर्धकं महान्तं परमेश्वरमात्मना सह युञ्जन्ति, (रोचनाः) त आनन्दे प्रकाशिता रुचिमया भूत्वा (दिवि) द्योतनात्मके सर्वप्रकाशके परमेश्वरे (रोचन्ते) परमानन्दयोगेन प्रकाशन्ते । इति प्रथमोऽर्थः । अथ द्वितीयः । (परित०) चरन्तमरुषमग्निमयं ब्रध्नमादित्यं सर्वे लोकाः पदार्थाश्च (युञ्ज-न्ति) तदाकर्षणेन युक्ताः सन्ति । एते सर्वे तस्यैव (दिवि) प्रकाशे (रोचनाः) रुचिकराः सन्तः (रोचन्ते) प्रकाशन्ते । इति द्वितीयोर्थः । अथ तृतीयः । य उपासकाः परितस्थुषः सर्वान् पदार्थान् चरन्तमरुषं सर्व-मर्मस्थं (ब्रध्नं) सर्वावयववृद्धिकरं प्राणमादित्यं प्राणायामरीत्या (दिवि) द्योतनात्मके परमेश्वरे वर्त्तमानं (रोचनाः) रुचिमन्तः सन्तो युञ्जन्ति युक्तं कुर्वन्ति। अतस्ते तस्मिन् मोक्षानन्दे परमेश्वरे रोचन्ते सदैव प्रकाशन्ते ॥१६॥

अत्र प्रमाणानि ॥ मनुष्यनामसु तस्थुषः पञ्चजना इति पठितम् ॥ निघं० अ० २ । खं० ३ । महत्, ब्रध्न, महन्नामसु पठितम् ॥ निघं० अ० ३ । खं० ३ । तथा युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तमिति । असौ वा आदित्यो ब्रध्नो-ऽरुषोऽमुमेवास्मा आदित्यं युनक्ति स्वर्गस्य लोकस्य समृष्ट्यै ॥ १ ॥ श० कां० १३ । अ० २ । आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमा, रयिर्वा एत-त्सर्वं यन्मूर्त्तं चामूर्त्तं च, तस्मान्मूर्त्तिरेव रयिः ॥ १ ॥ प्रश्नोपनि० प्रश्न० १ । मं० ५ । परमेश्वरात् महान् कश्चिदपि पदार्थो नास्त्येवातः प्रथमेऽर्थे योजनीयम् । तथा शतपथप्रमाणं द्वितीयमर्थं प्रति ॥ एवमेव प्रश्नोपनिषत्प्रमाणं तृतीयमर्थं प्रति च । क्वचिन्निघण्टावश्वस्यापि ब्रध्नारुषौ नाम्नी पठिते । परन्त्वस्मिन् मन्त्रे तद्घटना नैव सम्भवति, शतपथादिव्याख्यानविरोधात्, मूलार्थविरोधादेकशब्देनाप्यनेकार्थग्रहणाच्च ॥ एवं सति भट्टमोक्षमूलरैर्ऋग्वे-दस्येङ्गलेण्डभाषया व्याख्याने यदश्वस्य पशोरेव ग्रहणं कृतं तद्भ्रान्ति-मूलमेवास्ति । सायणाचार्य्येणास्य मन्त्रस्य व्याख्यायामादित्यग्रहणादेक-स्मिन्नंशे तस्य व्याख्यानं सम्यक्कृतमस्ति, परन्तु न जाने भट्टमोक्षमूलरेणा-यमर्थ आकाशाद्वा पातालाद् गृहीतः । अतो विज्ञायते स्वकल्पनया लेखनं कृतमिति ज्ञात्वा प्रमाणार्हं नास्तीति ।

भावार्थ

(युञ्जन्ति) मुक्ति का उत्तम साधन उपासना है । इसलिये जो विद्वान् लोग हैं वे सब जगत् और सब मनुष्यों के हृदयों में व्याप्त ईश्वर को उपासना-रीति से अपने आत्मा के साथ युक्त करते हैं । वह ईश्वर कैसा है कि (चरन्तं) अर्थात् सब का जाननेवाला, (अरुषं) हिंसादि दोषरहित, कृपा का समुद्र, (ब्रध्नं) सब आनन्दों का बढ़ाने वाला, सब रीति से बड़ा है । इसी से (रोचनाः) अर्थात् उपासकों के आत्मा, सब अविद्यादि दोषों के अन्धकार से छूटके, (दिवि) आत्माओं को प्रकाशित करने वाले परमेश्वर में प्रकाशमय होकर (रोचन्ते) प्रकाशित रहते हैं ॥ इति प्रथमोर्थः ॥ अब दूसरा अर्थ करते हैं, कि (परितस्थुषः) जो सूर्य्यलोक अपनी किरणों से सब मूर्तिमान् द्रव्यों के प्रकाश और आकर्षण करने में (ब्रध्नं) सब से बड़ा और (अरुषं) रक्तगुण-युक्त है, और जिस के आकर्षण के साथ सब लोक युक्त हो रहे हैं, (रोचनाः) जिस के प्रकाश से सब पदार्थ प्रकाशित हो रहे हैं, विद्वान् लोग उसी को सब लोकों के आकर्षयुक्त जानते हैं ॥ इति द्वितीयोऽर्थः ॥ (युञ्जन्ति) इस मन्त्र का और तीसरा यह भी अर्थ है कि सब पदार्थों की सिद्धि का मुख्य हेतु जो प्राण है, उस को प्राणायाम की रीति से, अत्यन्त प्रीति के साथ परमात्मा में युक्त करते हैं । इसी कारण वे लोग मोक्ष को प्राप्त हो के सदा आनन्द में रहते हैं । इन तीनों अर्थों में निघण्टु आदि के प्रमाण भाष्य में लिखे हैं, सो देख लेना ॥ १६ ॥ इस मन्त्र के इन अर्थों को नहीं जान के भट्ट मोक्षमूलर साहब ने घोड़े का जो अर्थ किया है सो ठीक नहीं है । यद्यपि सायणाचार्य्य का अर्थ भी यथावत् नहीं है, परन्तु मोक्षमूलर साहब के अर्थ से तो अच्छा ही है, क्योंकि प्रोफेसर मोक्षमूलर साहब ने इस अर्थ में केवल कपोल कल्पना की है ।

इदानीमुपासना कथंरीत्या कर्त्तव्येति लिख्यते । तत्र शुद्ध एकान्तेऽभीष्टे देशे शुद्धमानसः समाहितो भूत्वा, सर्वाणीन्द्रियाणि, मनश्चैकाग्रीकृत्य, सच्चिदानन्दस्वरूपमन्तर्यामिनं न्यायकारिणं परमात्मानं सञ्चिन्त्य तत्रात्मानं नियोज्य च, तस्यैव स्तुतिप्रार्थनानुष्ठानं सम्यक्कृत्वोपासनयेश्वरे पुनः २

स्वात्मानं संलगयेत् । अत्र पतञ्जलिमहामुनिना स्वकृतसूत्रेषु वेदव्यासकृत-भाष्ये चायमनुक्रमो योगशास्त्रे प्रदर्शितः । तद्यथा—योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥ १ ॥ अ० १ । पा० १ । सू० २ ॥ उपासनासमये व्यवहारसमये वा पर-मेश्वरादतिरिक्तविषयादधर्मव्यवहाराच्च मनसो वृत्तिः सदैव निरुद्धा रक्षणीयेति । निरुद्धा सती सा क्वावतिष्ठत इत्यत्रोच्यते ॥ १ ॥ तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्था-नम् ॥ २ ॥ अ० १ । पा० १ । सू० ३ ॥ यदा सर्वस्माद्व्यवहारान्मनो-ऽवरुध्यते तदास्योपासकस्य मनो द्रष्टुः सर्वज्ञस्य परमेश्वरस्य स्वरूपे स्थितिं लभते ॥ २ ॥ यदोपासको योग्युपासनां विहाय सांसारिकव्यवहारे प्रवर्त्तते तदा सांसारिकजनवत्तस्यापि प्रवृत्तिर्भवत्याहोस्विद्विलक्षणेत्यत्राह ॥ वृत्तिसा-रूप्यमितरत्र ॥ ३ ॥ अ० १ । पा० १ । सू० ४ ॥ इतरत्र सांसारिक-व्यवहारे प्रवृत्तेऽप्युपासकस्य योगिनः शान्ता धर्मारूढा विद्याविज्ञानप्रकाशा सत्यतत्त्वनिष्ठाऽतीवतीव्रा साधारणमनुष्यविलक्षणाऽपूर्वैव वृत्तिर्भवतीति । नैवेदृश्यनुपासकानामयोगिनां कदाचिद्वृत्तिर्जायत इति ॥ ३ ॥ कति वृत्तयः सन्ति कथं निरोद्धव्या इत्यत्राह । वृत्तयः पंचतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः ॥ ४ ॥ प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः ॥ ५ ॥ तत्र प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणा-नि ॥ ६ ॥ विपर्य्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् ॥ ७ ॥ शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ॥ ८ ॥ अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा ॥ ९ ॥ अनु-भूतविषयासंप्रमोषः स्मृतिः ॥ १० ॥ अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ॥ ११ ॥ अ० १ । पा० १ । सू० ५ । ६ । ७ । ८ । ९ । १० । ११ । १२ ॥ उपासनायाः सिद्धेः सहायकारि परमं साधनं किमस्तीत्यत्रोच्यते ॥ ईश्वर-प्रणिधानाद्वा ॥ १२ ॥ अ० १ । पा० १ । सू० २३ ॥ भा० प्रणिधाना-द्भक्तिविशेषादावर्जित ईश्वरस्तमनुगृह्णात्यभिध्यानमात्रेण, तदभिध्यानादपि योगिन आसन्नतमः समाधिलाभः फलञ्च भवतीति ॥ १२ ॥

भाषार्थ

अब जिस रीति से उपासना करनी चाहिये सो आगे लिखते हैं । जब २ मनुष्य लोग ईश्वर की उपासना करना चाहें तब २ इच्छा के अनुकूल एकान्त

स्थान में बैठकर अपने मन को शुद्ध और आत्मा को स्थिर करें। तथा सब इन्द्रिय और मन को सच्चिदानन्दादि लक्षण वाले अन्तर्यामी अर्थात् सब में व्यापक और न्यायकारी परमात्मा की ओर अच्छी प्रकार से लगाकर, सम्यक् चिन्तन करके, उस में अपने आत्मा को नियुक्त करें। फिर उसी की स्तुति, प्रार्थना और उपासना को वारंवार करके अपने आत्मा को भलीभांति से उसमें लगा दे। इस की रीति पतञ्जलि मुनि के किये योगशास्त्र और उन्हीं सूत्रों के वेदव्यासमुनिजी के किये भाष्य के प्रमाणों से लिखते हैं। (योगश्चित्त०) चित्त की वृत्तियों को सब बुराइयों से हटा के, शुभ गुणों में स्थिर करके, परमेश्वर के समीप में मोक्ष को प्राप्त करने को योग कहते हैं। और वियोग उस को कहते हैं कि परमेश्वर और उस की आज्ञा से विरुद्ध बुराइयों में फंस के उस से दूर होजाना। (प्रश्न) जब वृत्ति बाहर के व्यवहारों से हटा के स्थिर की जाती है तब कहां पर स्थिर होती है? इस का उत्तर यह है कि ॥ १ ॥ (तदा द्र०) जैसे जल के प्रवाह को एक ओर से दृढ़ बांध के रोक देते हैं तब वह जिस ओर नीचा होता है उस ओर चल के कहीं स्थिर हो जाता है, इसी प्रकार मन की वृत्ति भी जब बाहर से रुकती है तब परमेश्वर में स्थिर हो जाती है। एक तो चित्त की वृत्ति के रोकने का यह प्रयोजन है और दूसरा यह है कि ॥ २ ॥ (वृत्तिसा०) उपासक योगी और संसारी मनुष्य जब व्यवहार में प्रवृत्त होते हैं तब योगी की वृत्ति तो सदा हर्षशोकरहित, आनन्द से प्रकाशित होकर उत्साह और आनन्दयुक्त रहती है और संसार के मनुष्य की वृत्ति सदा हर्षशोकरूप दुःखसागर में ही डूबी रहती है। उपासक योगी की तो ज्ञानरूप प्रकाश में सदा बढ़ती रहती है और संसारी मनुष्य की वृत्ति सदा अन्धकार में फसती जाती है ॥ ३ ॥ (वृत्तयः०) अर्थात् सब जीवों के मन में पांच प्रकार की वृत्ति उत्पन्न होती है। उस के दो भेद हैं, एक क्लिष्ट दूसरी अक्लिष्ट, अर्थात् क्लेशसहित और क्लेशरहित। उन में से जिनकी वृत्ति विषयासक्त, परमेश्वर की उपासना से विमुख होती है, उन की वृत्ति अविद्यादि क्लेशसहित और जो पूर्वोक्त उपासक हैं उनकी क्लेशरहित शान्त होती हैं ॥ ४ ॥ वे पांच वृत्ति ये हैं—पहिली (प्रमाण), दूसरी (विपर्य्यय), तीसरी (विकल्प),

चौथी (निद्रा), और पांचमी (स्मृति) ॥ ५ ॥ इनके विभाग और लक्षण ये हैं, (तत्र प्रत्यक्षा०) । इसकी व्याख्या वेद विषय के होमप्रकरण में लिख दी है ॥ ६ ॥ (विपर्य्ययो०) दूसरी विपर्य्यय कि जिससे मिथ्याज्ञान हो । अर्थात् जैसे को तैसा न जानना । अथवा अन्य में अन्य की भावना कर लेना, इस को विपर्य्यय कहते हैं ॥ ७ ॥ तीसरी विकल्पवृत्ति (शब्दज्ञाना०), जैसे किसी ने किसी से कहा कि एक देश में हमने आदमी के शिर पर सींग देखे थे । इस बात को सुन के कोई मनुष्य निश्चय करले कि ठीक है सींग वाले मनुष्य भी होते होंगे । ऐसी वृत्ति को विकल्प कहते हैं । सो झूठी बात है । अर्थात् जिस का शब्द तो हो परन्तु किसी प्रकार का अर्थ किसी को न मिल सके इसी से इस का नाम विकल्प है ॥ ८ ॥ चौथी (निद्रा), अर्थात् जो वृत्ति अज्ञान और अविद्या के अन्धकार में फँसी हो उस वृत्ति का नाम निद्रा है । पांचवीं (स्मृति), (अनुभूत०) अर्थात् जिस व्यवहार वा वस्तु को प्रत्यक्ष देख लिया हो उसी का संस्कार ज्ञान में बना रहता और उस विषय को (अप्रमोष) भूले नहीं, इस प्रकार की वृत्ति को स्मृति कहते हैं । इन पांच वृत्तियों को बुरे कामों और अनीश्वर के ध्यान से हटाने का उपाय कहते हैं कि ॥ १० ॥ (अभ्यास०) जैसा अभ्यास उपासना प्रकरण में आगे लिखेंगे वैसा करें और वैराग्य अर्थात् सब बुरे कामों और दोषों से अलग रहें । इन दोनों उपायों से पूर्वोक्त पांच वृत्तियों को रोक के उन को उपासनायोग में प्रवृत्त रखना ॥ ११ ॥ तथा उस समाधि के योग होने का यह भी साधन है कि (ईश्वरप्र०), ईश्वर में विशेष भक्ति होने से मन का समाधान होके मनुष्य समाधियोग को शीघ्र प्राप्त हो जाता है ॥ १२ ॥

अथ प्रधानपुरुषव्यतिरिक्तः कोऽयमीश्वरो नामेति ? । क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥ १३ ॥ अ० १ । पा० १ । सू० २४ ॥ भा० अविद्यादयः क्लेशाः, कुशलाकुशलानि कर्माणि, तत्फलं विपाक,स्तदनुगुणा वासना आशयास्ते च मनसि वर्त्तमानाः पुरुषे व्यपदिश्यन्ते, स हि तत्फलस्य भोक्तेति, यथा जयः पराजयो वा योद्धृषु वर्त्तमानः स्वामिनि व्यपदि-

श्यते, यो ह्यनेन भोगेनापरामृष्टः स पुरुषविशेष ईश्वरः। कैवल्यं प्राप्तास्तर्हि सन्ति च बहवः केवलिनः? ते हि त्रीणि बन्धनानि छित्वा कैवल्यं प्राप्ताः। ईश्वरस्य च तत्सम्बन्धो न भूतो न भावी। यथा मुक्तस्य पूर्वा बन्धकोटिः प्रज्ञायते नैवमीश्वरस्य। यथा वा प्रकृतिलीनस्योत्तरा बन्धकोटिः सम्भाव्यते नैवमीश्वरस्य। स तु सदैव मुक्तः सदैवेश्वर इति। योऽसौ प्रकृष्टसत्त्वोपादानादीश्वरस्य शाश्वतिक उत्कर्षः स किं सानिमित्त आहोस्विन्निर्निमित्त इति? । तस्य शास्त्रं निमित्तम्। शास्त्रं पुनः किं निमित्तम्? । प्रकृष्टसत्त्वनिमित्तम्। एतयोः शास्त्रोत्कर्षयोरीश्वरसत्त्वे वर्त्तमानयोरनादिः सम्बन्धः। एतस्मादेतद्भवति सदैवेश्वरः सदैव मुक्त इति। तच्च तस्यैश्वर्य्यं साम्यातिशयविनिर्मुक्तं, न तावदैश्वर्य्यान्तरेण तदतिशय्यते, यदेवातिशयि स्यात्तदेव तत्स्यात्तस्माद्यत्र काष्ठाप्राप्तिरैश्वर्य्यस्य स ईश्वरः। न च तत्समानमैश्वर्यमस्ति। कस्मात्। द्वयोस्तुल्ययोरेकस्मिन् युगपत् कामितेऽर्थे, नवमिदमस्तु पुराणमिदमस्त्विति, एकस्य सिद्धावितरस्य प्राकाम्यविघातादूनत्वं प्रसक्तं, द्वयोश्च तुल्ययोर्युगपत् कामितार्थप्राप्तिर्नास्ति, अर्थस्य विरुद्धत्वात्तस्माद्यस्य साम्यातिशयविनिर्मुक्तमैश्वर्य्यं स ईश्वरः, स च पुरुषविशेष इति। किं च ॥ १३ ॥ तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् ॥ १४ ॥ अ० १। पा० १। सूत्र २५ ॥ भा० यदिदमतीतानागतप्रत्युत्पन्नप्रत्येकसमुच्चयातीन्द्रियग्रहणमल्पं बह्विति सर्वज्ञबीज,मेतद्विवर्धमानं यत्र निरतिशयं स सर्वज्ञः। अस्ति काष्ठाप्राप्तिः सर्वज्ञबीजस्य, सातिशयत्वात्परिमाणवदिति। यत्र काष्ठाप्राप्तिर्ज्ञानस्य स सर्वज्ञः, स च पुरुषविशेष इति। सामान्यमात्रोपसंहारे कृतोपक्षयमनुमानं न विशेषप्रतिपत्तौ समर्थमिति तस्य संज्ञादिविशेषप्रतिपत्तिरागमतः पर्य्यन्वेष्या। तस्यात्मानुग्रहाभावेपि भूतानुग्रहः प्रयोजनं, ज्ञानधर्मोपदेशेन कल्पप्रलयमहाप्रलयेषु संसारिणः पुरुषानुद्धरिष्यामीति। तथा चोक्तम्। आदिविद्वान्निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद्भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाचेति ॥ १४ ॥ स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥ १५ ॥ अ० १। पा० १। सू० २६ ॥ भा० पूर्वे हि गुरवः कालेनावच्छेद्यन्ते, यत्रावच्छेदार्थेन कालो नोपावर्त्तते स एष पूर्वेषामपि गुरुः, यथाऽस्य सर्गस्यादौ प्रकर्ष-

गत्या सिद्धः तथातिक्रान्तसर्गादिष्वपि प्रत्येतव्यः ॥ १५ ॥ तस्य वाचकः प्रणवः ॥ १६ ॥ अ० १ । पा० १ । सू० २७ ॥ भा० वाच्य ईश्वरः प्रणवस्य । किमस्य संकेतकृतं वाच्यवाचकत्वमथ प्रदीपप्रकाशवदवस्थितमिति ? स्थितोऽस्य वाच्यस्य वाचकेन सह सम्बन्धः । संकेतस्त्वीश्वरस्य स्थितमेवार्थमभिनयति । यथावस्थितः पितापुत्रयोः सम्बन्धः संकेतेनावद्योत्यते, अयमस्य पिता, अयमस्य पुत्र इति । सर्गान्तरेष्वपि वाच्यवाचकशक्त्यपेक्षस्तथैव संकेतः क्रियते । संप्रतिपत्तिनित्यतया नित्यः शब्दार्थसम्बन्ध इत्यागमिनः प्रतिजानते । विज्ञातवाच्यवाचकत्वस्य योगिनः ॥ १ ॥ तज्जपस्तदर्थभावनम् ॥ १७ ॥ अ० १ । पा० १ । सू० २८ ॥ भा० प्रणवस्य जपः प्रणवाभिधेयस्य चेश्वरस्य भावना । तदस्य योगिनः प्रणवं जपतः प्रणवार्थं च भावयतश्चित्तमेकाग्रं सम्पद्यते । तथा चोक्तम् । स्वाध्यायाद्योगमासीत योगात्स्वाध्यायमामनेत् । स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशत इति ॥ १७॥

भाषार्थ

अब ईश्वर का लक्षण कहते हैं कि (क्लेशकर्म०) । अर्थात् इसी प्रकरण में आगे लिखे हैं जो अविद्यादि पांच क्लेश और अच्छे बुरे कर्मों की जो २ वासना इन सब से जो सदा अलग और बन्धरहित है उसी पूर्ण पुरुष को ईश्वर कहते हैं । फिर वह कैसा है जिससे, अधिक वा तुल्य दूसरा पदार्थ कोई नहीं, तथा जो सदा आनन्दज्ञानस्वरूप, सर्वशक्तिमान् है उसी को ईश्वर कहते हैं । क्योंकि ॥ १३ ॥ (तत्र निरति०) जिस में नित्य सर्वज्ञ ज्ञान है वही ईश्वर है । जिसके ज्ञानादि गुण अनन्त हैं, जो ज्ञानादि गुणों की पराकाष्ठा है, जिसके सामर्थ्य की अवधि नहीं । और जीव के सामर्थ्य की अवधि प्रत्यक्ष देखने में आती है । इसलिये सब जीवों को उचित है कि अपने ज्ञान बढ़ाने के लिये सदैव परमेश्वर की उपासना करते रहें ॥ १४ ॥ अब उस की भक्ति किस प्रकार से करनी चाहिये सो आगे लिखते हैं । (तस्य वा०) जो ईश्वर का ओंकार नाम है सो पिता पुत्र के सम्बन्ध के समान है और यह नाम ईश्वर को छोड़ के दूसरे अर्थ का वाची नहीं हो सकता । ईश्वर के जितने नाम हैं उनमें से ओंकार सब से

उत्तम नाम है। इसलिये ॥ १५ ॥ (तज्जप०) इसी नाम का जप अर्थात् स्मरण और उसी का अर्थविचार सदा करना चाहिये कि जिससे उपासक का मन एकाग्रता, प्रसन्नता और ज्ञान को यथावत् प्राप्त होकर स्थिर हो, जिससे उस के हृदय में परमात्मा का प्रकाश और परमेश्वर की प्रेमभक्ति सदा बढ़ती जाय। फिर उससे उपासकों को यह भी फल होता है कि ॥ १६ ॥

किंचास्य भवति ?। ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ॥१८॥ अ० १। पा० १। सू० २६ ॥ भा० ये तावदन्तराया व्याधिप्रभृतयस्ते तावदीश्वरप्रणिधानान्न भवन्ति। स्वरूपदर्शनमप्यस्य भवति। यथैवेश्वरः पुरुषः शुद्धः प्रसन्नः केवल अनुपसर्गः, तथायमपि बुद्धेः प्रतिसंवेदी यः पुरुष इत्येवमधिगच्छति ॥ अथ केऽन्तरायाः ये चित्तस्य विक्षेपकाः ? के पुनस्ते कियन्तो वेति ? ॥ १८ ॥ व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ॥१६॥ अ० १। पा० १। सू० ३० ॥ भा० नवान्तरायाश्चित्तस्य विक्षेपाः, सहैते चित्तवृत्तिभिर्भवन्त्येतेषामभावे न भवन्ति पूर्वोक्ताश्चित्तवृत्तयः। व्याधिर्धातुरसकरणवैषम्यम्, स्त्यानमकर्मण्यता चित्तस्य, संशय उभयकोटिस्पृक् विज्ञानं स्यादिदमेवं नैवं स्यादिति। प्रमादः समाधिसाधनानामभावनम्, आलस्यं कायस्य चित्तस्य च गुरुत्वादप्रवृत्तिः। अविरतिश्चित्तस्य विषयसंप्रयोगात्मा गर्द्धः। भ्रान्तिदर्शनं विपर्ययज्ञानम्। अलब्धभूमिकत्वं समाधिभूमेरलाभः। अनवस्थितत्त्वं यल्लब्धायां भूमौ चित्तस्याप्रतिष्ठा, समाधिप्रतिलम्भे हि सति तदवस्थितं स्यादिति। एते चित्तविक्षेपा नव योगमला योगप्रतिपक्षा योगान्तराया इत्यभिधीयन्ते ॥ १६ ॥ दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः ॥ १६ ॥ अ० १। पा० १। सू० ३१ ॥ भा० दुःखमाध्यात्मिकं, आधिभौतिकं, आधिदैविकं च। येनाभिहताः प्राणिनस्तदुपघाताय प्रयतन्ते तद्दुःखम्। दौर्मनस्यम् इच्छाभिघाताच्चेतसः क्षोभः। यदङ्गान्येजयति कंपयति तदङ्गमेजयत्वम्। प्राणो यद्बाह्यं वायुमाचामति स श्वासः। यत्कौष्ठ्यं वायुं निस्सारयति स प्रश्वासः। विक्षेपसहभुवः। विक्षि-

प्तचित्तस्यैते भवन्ति समाहितचित्तस्यैते न भवन्ति । अथैते विक्षेपाः समाधिप्रतिपक्षाः ताभ्यामेवाभ्यासवैराग्याभ्यां निरोद्धव्याः । तत्राभ्यासस्य विषयमुपसंहरन्निदमाह ॥ १६ ॥ तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः ॥ २० ॥ अ० १ । पा० १ । सू० ३२ ॥ भा० विक्षेपप्रतिषेधार्थमेकतत्त्वावलम्बनं चित्तमभ्यस्येत् । यस्य तु प्रत्यर्थनियतं प्रत्ययमात्रं क्षणिकं च चित्तं तस्य सर्वमेव चित्तमेकाग्रं, नास्त्येव विक्षिप्तम् । यदि पुनरिदं सर्वतः प्रत्याहृत्यैकस्मिन्नर्थे समाधीयते तदा भवत्येकाग्रमित्यतो न प्रत्यर्थनियतम् । योपि सदृशप्रत्ययप्रवाहेण चित्तमेकाग्रं मन्यते, तस्यैकाग्रता यदि प्रवाहचित्तस्य धर्मः, तदेकं नास्ति प्रवाहचित्तं क्षणिकत्वात् । अथ प्रवाहांशस्यैव प्रत्ययस्य धर्मः, स सर्वः सदृशप्रत्ययप्रवाही वा विसदृशप्रत्ययप्रवाही वा, प्रत्यर्थनियतत्वादेकाग्र एवेति विक्षिप्तचित्तानुपपत्तिः । तस्मादेकमनेकार्थमवस्थितं चित्तमिति । यदि च चित्तेनैकेनानन्विताः स्वभावभिन्नाः प्रत्यया जायेरन्, अथ कथमन्यप्रत्ययदृष्टस्यान्यः स्मर्त्ता भवेत् । अन्यप्रत्ययोपाचितस्य च कर्माशयस्यान्यः प्रत्यय उपभोक्ता भवेत् । कथञ्चित्समाधीयमानमप्येतद् गोमयपायसीयं न्यायमाक्षिपति । किंच स्वात्मानुभवापन्हवः चित्तस्यान्यत्वे प्राप्नोति । कथम् ? यदहमद्राक्षं तत् स्पृशामि, यच्चास्पार्क्षं तत्पश्यामीति । अहमिति प्रत्ययः कथमत्यन्तभिन्नेषु चित्तेषु वर्त्तमानः सामान्यमेकं प्रत्ययिनमाश्रयेत् । स्वानुभवग्राह्यश्चायमभेदात्मा अहमिति प्रत्ययः । नच प्रत्यक्षस्य माहात्म्यं प्रमाणान्तरेणाभिभूयते । प्रमाणान्तरञ्च प्रत्यक्षबलेनैव व्यवहारं लभते । तस्मादेकमनेकार्थमवस्थितं च चित्तम् । यस्येदं शास्त्रेण परिकर्म निर्दिश्यते तत्कथम् ? ॥ २० ॥

भाषार्थ

इस मनुष्य को क्या होता है ? । (ततः प्र०) अर्थात् उस अन्तर्यामी परमात्मा की प्राप्ति और (अन्तराय) उस के अविद्यादि क्लेशों तथा रोगरूप विघ्नों का नाश हो जाता है । वे विघ्न नव प्रकार के हैं ॥ २७ ॥ (व्याधि)

एक व्याधि अर्थात् धातुओं की विषमता से ज्वर आदि पीड़ा का होना। (दूसरा) स्त्यान अर्थात् सत्य कर्मों में अप्रीति। (तीसरा) संशय अर्थात् जिस पदार्थ का निश्चय किया चाहे उस का यथावत् ज्ञान न होना। (चौथा) प्रमाद अर्थात् समाधिसाधनों के ग्रहण में प्रीति और उनका विचार यथावत् न होना। (पांचवां) आलस्य अर्थात् शरीर और मन में आराम की इच्छा से पुरुषार्थ छोड़ बैठना। (छठा) अविरति अर्थात् विषय सेवा में तृष्णा का होना। (सातवां) भ्रान्तिदर्शन अर्थात् उलटे ज्ञान का होना। जैसे जड़ में चेतन और चेतन में जड़बुद्धि करना तथा ईश्वर में अनीश्वर और अनीश्वर में ईश्वरभाव करके पूजा करना। (आठवां) अलब्धभूमिकत्व अर्थात् समाधि की प्राप्ति न होना। और (नववां) अनवस्थितत्व अर्थात् समाधि की प्राप्ति होने पर भी उस में चित्त स्थिर न होना। ये सब चित्त की समाधि होने में विक्षेप अर्थात् उपासनायोग के शत्रु हैं॥१९॥ अब इन के फल लिखते हैं (दुःखदौर्म०)। अर्थात् दुःख की प्राप्ति, मन का दुष्ट होना, शरीर के अवयवों का कम्पना, श्वास और प्रश्वास के अत्यन्त वेग से चलने में अनेक प्रकार के क्लेशों का होना जो कि चित्त को विक्षिप्त कर देते हैं। ये सब क्लेश अशान्त चित्तवाले को प्राप्त होते हैं शान्तचित्तवाले को नहीं। और उन के छुड़ाने का मुख्य उपाय यही है॥ २०॥ कि (तत्प्रतिषेधा०) जो केवल एक अद्वितीय ब्रह्मतत्त्व है उसी में प्रेम और सर्वदा उसी की आज्ञापालन में पुरुषार्थ करना है वही एक उन विघ्नों के नाश करने को वज्ररूप शस्त्र है अन्य कोई नहीं। इसलिये सब मनुष्यों को अच्छी प्रकार प्रेमभाव से परमेश्वर के उपासनायोग में नित्य पुरुषार्थ करना चाहिये कि जिस से वे सब विघ्न दूर हो जायं। आगे जिस भावना से, उपासना करने वाले को व्यवहार में अपने चित्त को, प्रसन्न करना होता है सो कहते हैं॥ २०॥

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्॥ २१॥ अ० १। पा० १। सू० ३३॥ भा० तत्र सर्वप्राणिषु सुखसंभोगापन्नेषु मैत्रीं भावयेत्, दुःखितेषु करुणां, पुण्यात्मकेषु मुदितां, अपुण्यशीलेषूपेक्षाम्। एवमस्य भावयतः शुक्लो धर्म उपजायते। ततश्च चित्तं

प्रसीदति । प्रसन्नमेकाग्रं स्थितिपदं लभते ॥ २१ ॥ प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ॥ २२ ॥ अ० १ । पा० १ । सू० ३४ ॥ भा० कोष्ठ्यस्य वायोर्नासिकापुटाभ्यां प्रयत्नविशेषाद्वमनं प्रच्छर्दनं, विधारणं प्राणायामः । ताभ्यां वा मनसः स्थितिं सम्पादयेत् । छर्दनं भक्षितान्नवमनवत् प्रयत्नेन शरीरस्थं प्राणं बाह्यदेशं निस्सार्य्य यथाशक्ति बहिरेव स्तम्भनेन चित्तस्य स्थिरता सम्पादनीया ॥ २२ ॥ योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः ॥ २३ ॥ अ० १ । पा० २ । सू० २८ ॥ एषामुपासनायोगाङ्गानामनुष्ठानाचरणादशुद्धिरज्ञानं प्रतिदिनं क्षीणं भवति ज्ञानस्य च वृद्धिर्यावन्मोक्षप्राप्तिर्भवति ॥ २३ ॥ यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ॥ २४ ॥ अ० १ । पा० २ । सू० २९ ॥ तत्राहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥ २६ ॥ अ० १ । पा० २ । सू० ३० ॥ भा० तत्राहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः । उत्तरे च यमनियमास्तन्मूलास्तत्सिद्धिपरतया तत्प्रतिपादनाय प्रतिपाद्यन्ते । तदवदातरूपकरणायैवोपादीयन्ते, (तथा चोक्तम्), स खल्वयं ब्राह्मणो यथा यथा व्रतानि बहूनि समादित्सते तथा तथा प्रमादकृतेभ्यो हिंसानिदानेभ्यो निवर्त्तमानस्तामेवावदातरूपामहिंसां करोति । सत्यं, यथार्थे वाङ्मनसे । यथा दृष्टं, यथाऽनुमितं, यथा श्रुतं तथा वाङ्मनश्चेति । परत्र स्वबोधसङ्क्रान्तये वागुक्ता सा यदि न वञ्चिता भ्रान्ता वा प्रतिपत्तिबन्ध्या वा भवेत् । इत्येषा सर्वभूतोपकारार्थं प्रवृत्ता, न भूतोपघाताय । यदि चैवमप्यभिधीयमाना भूतोपघातपरैव स्यान्न सत्यं भवेत्, पापमेव भवेत् । तेन पुण्याभासेन पुण्यप्रतिरूपकेन कष्टं तमः प्राप्नुयात् । तस्मात्परीक्ष्य सर्वभूतहितं सत्यं ब्रूयात् । स्तेयमशास्त्रपूर्वकं द्रव्याणां परतः स्वीकरणं तत्प्रतिषेधः पुनरस्पृहारूपमस्तेयमिति । ब्रह्मचर्य्यं गुप्तेन्द्रियस्योपस्थस्य संयमः । विषयाणामर्जनरक्षणक्षयसङ्गहिंसादोषदर्शनादस्वीकरणमपरिग्रहः । इत्येते यमाः ॥ २४ ॥ एषां विवरणं प्राकृतभाषायां वक्ष्यते ।

भाषार्थ

(मैत्री) अर्थात् इस संसार में जितने मनुष्य आदि प्राणी सुखी हैं, उन

सबों के साथ मित्रता करना। दुःखियों पर कृपादृष्टि रखनी। पुण्यात्माओं के साथ प्रसन्नता। पापियों के साथ उपेक्षा अर्थात् न उनके साथ प्रीति रखना और न वैर ही करना। इस प्रकार के वर्त्तमान से उपासक के आत्मा में सत्यधर्म का प्रकाश और उसका मन स्थिरता को प्राप्त होता है॥ २२॥ (प्रच्छर्दन०) जैसे भोजन के पीछे किसी प्रकार से वमन हो जाता है वैसे ही भीतर के वायु को बाहर निकाल के सुखपूर्वक जितना बन सके उतना बाहर ही रोक दे, पुनः धीरे २ भीतर लेके पुनरपि ऐसे ही करे। इसी प्रकार वारंवार अभ्यास करने से प्राण उपासक के वश में हो जाता है और प्राण के स्थिर होने से मन, मन के स्थिर होने से आत्मा भी स्थिर हो जाता है। इन तीनों के स्थिर होने के समय अपने आत्मा के बीच में जो आनन्दस्वरूप अन्तर्यामी व्यापक परमेश्वर है उसके स्वरूप में मग्न हो जाना चाहिये। जैसे मनुष्य जल में गोता मारकर ऊपर आता है फिर गोता लगा जाता है इसी प्रकार अपने आत्मा को परमेश्वर के बीच में वारंवार मग्न करना चाहिये॥ २३॥ (योगाङ्गानु०) आगे जो उपासनायोग के आठ अङ्ग लिखते हैं जिनके अनुष्ठान से अविद्यादि दोषों का क्षय और ज्ञान के प्रकाश की वृद्धि होने से जीव यथावत् मोक्ष को प्राप्त हो जाता है॥ २४॥ (यमनियमा०) अर्थात् एक (यम), दूसरा (नियम), तीसरा (आसन), चौथा (प्राणायाम), पांचवां (प्रत्याहार), छठा (धारणा), सातवां (ध्यान) और आठवां (समाधि) ये सब उपासनायोग के अङ्ग कहाते हैं और आठ अङ्गों का सिद्धान्तरूप फल संयम है॥ २५॥ (तत्राहिंसा०) उन आठों में से पहिला यम है। सो पांच प्रकार का है। एक (अहिंसा) अर्थात् सब प्रकार से, सब काल में, सब प्राणियों के साथ, वैर छोड़ के प्रेम प्रीति से वर्त्तना। दूसरा (सत्य) अर्थात् जैसा अपने ज्ञान में हो वैसा ही सत्य बोले, करे और माने। तीसरा (अस्तेय) अर्थात् पदार्थ वाले की आज्ञा के विना किसी पदार्थ की इच्छा भी न करना, इसी को चोरीत्याग कहते हैं। चौथा (ब्रह्मचर्य्य) अर्थात् विद्या पढ़ने के लिये बाल्यावस्था से लेकर सर्वथा जितेन्द्रिय होना और पच्चीसवें वर्ष से लेके अड़तालीस वर्ष पर्य्यन्त विवाह का करना, परस्त्री, वेश्या आदि का

त्यागना, सदा ऋतुगामी होना, विद्या को ठीक २ पढ़ के सदा पढ़ाते रहना और उपस्थ इन्द्रिय का सदा नियम करना। पांचवां (अपरिग्रह) अर्थात् विषय और अभिमानादि दोषों से रहित होना, इन पांचों का ठीक २ अनुष्ठान करने से उपासना का बीज बोया जाता है। दूसरा, अङ्ग उपासना का नियम है जो कि पांच प्रकार का है ॥ २५ ॥

॥ ते तु ॥ शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥२६॥ अ० १। पा० २। सू० ३२ ॥ शौचं बाह्यमाभ्यन्तरं च। बाह्यं जलादिनाऽऽभ्यन्तरं रागद्वेषाऽसत्यादित्यागेन च कार्यम्। संतोषो, धर्मानुष्ठानेन सम्यक् प्रसन्नता सम्पादनीया। तपः, सदैव धर्मानुष्ठानमेव कर्त्तव्यम्। [स्वाध्यायः] वेदादिसत्यशास्त्राणामध्ययनाध्यापने प्रणवजपो वा। ईश्वरप्रणिधानम्, परमगुरवे परमेश्वराय सर्वात्मादिद्रव्यसमर्पणमित्युपासनायाः पञ्च नियमा द्वितीयमङ्गम् ॥ २६ ॥ अथाहिंसा धर्मस्य फलम् ॥ अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ॥ २७ ॥ अथ सत्याचरणस्य फलम् ॥ सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ॥ २८ ॥ अथ चौरीत्यागफलम् ॥ अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ॥ २९ ॥ अथ ब्रह्मचर्य्याश्रमानुष्ठानेन यल्लभ्यते तदुच्यते ॥ ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ॥ ३० ॥ अथापरिग्रहफलमुच्यते ॥ अपरिग्रहस्थैर्य्ये जन्मकथंता संबोधः ॥ ३१ ॥ अथ शौचानुष्ठानफलम् ॥ शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः ॥ ३२ ॥ किंच सत्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च ॥ ३३ ॥ संतोषादनुत्तमसुखलाभः ॥ ३४ ॥ कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः ॥ ३५ ॥ स्वाध्यायादिष्टदेवता संप्रयोगः ॥ ३६ ॥ समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ॥ ३७ ॥ योग० अ० १। पा० १। सू० ३५। ३६। ३७। ३८। ३९। ४०। ४१। ४२। ४३। ४४। ४५ ॥

भाषार्थ

(पहिला) (शौच) अर्थात् पवित्रता करनी। सो भी दो प्रकार की है। एक भीतर की और दूसरी बाहर की। भीतर की शुद्धि धर्माचरण, सत्यभाषण,

विद्याभ्यास, सत्सङ्ग आदि शुभगुणों के आचरण से होती है और बाहर की पवित्रता जल आदि से, शरीर स्थान मार्ग वस्त्र खाना पीना आदि शुद्ध करने से होती है। (दूसरा) (सन्तोष) जो सदा धर्मानुष्ठान से अत्यन्त पुरुषार्थ करके प्रसन्न रहना और दुःख में शोकातुर न होना, किन्तु आलस्य का नाम सन्तोष नहीं है। (तीसरा) (तपः) जैसे सोने को अग्नि में तपा के निर्मल कर देते हैं वैसे ही आत्मा और मन को धर्माचरण और शुभगुणों के आचरणरूप तप से निर्मल कर देना। (चौथा) (स्वाध्याय) अर्थात् मोक्षविद्याविधायक वेद शास्त्र का पढ़ना पढ़ाना और ओंकार के विचार से ईश्वर का निश्चय करना कराना और (पांचवां) (ईश्वरप्रणिधानम्) अर्थात् सब सामर्थ्य, सब गुण, प्राण, आत्मा और मन के प्रेमभाव से आत्मादि सत्य द्रव्यों का ईश्वर के लिये समर्पण करना, ये पांच नियम भी उपासना का दूसरा अङ्ग है। अब पांच यम और पांच नियमों के यथावत् अनुष्ठान का फल कहते हैं॥ २६॥ (अहिंसाप्र०) अर्थात् जब अहिंसा धर्म निश्चय हो जाता है तब उस पुरुष के मन से वैरभाव छूट जाता है, किन्तु उस के सामने वा उस के सङ्ग से अन्य पुरुष का भी वैर-भाव छूट जाता है॥ २७॥ (सत्यप्र०) तथा सत्याचरण का ठीक २ फल यह है कि जब मनुष्य निश्चय करके केवल सत्य ही मानता, बोलता और करता है तब वह जो २ योग्य काम करता और करना चाहता है वे २ सब सफल हो जाते हैं॥ २८॥ चोरीत्याग करने से यह बात होती है कि (अस्तेय०) अर्थात् जब मनुष्य अपने शुद्ध मन से चोरी के छोड़ देने की प्रतिज्ञा कर लेता है तब उसको सब उत्तम २ पदार्थ यथायोग्य प्राप्त होने लगते हैं। और चोरी इसका नाम है कि मालिक की आज्ञा के विना अधर्म से उसकी चीज को कपट से वा छिपाकर ले लेना॥ २९॥ (ब्रह्मचर्य०) ब्रह्मचर्यसेवन से यह बात होती है कि जब मनुष्य बाल्यावस्था में विवाह न करे, उपस्थ इन्द्रिय का संयम रक्खे, वेदादि शास्त्रों को पढ़ता पढ़ाता रहे, विवाह के पीछे भी ऋतुगामी बना रहे और परस्त्रीगमन आदि व्यभिचार को मन कर्म वचन से त्याग देवे। तब दो प्रकार का वीर्य अर्थात् बल बढ़ता है। एक शरीर का दूसरा बुद्धि का। उसके बढ़ने से मनुष्य अत्यन्त आनन्द में रहता है॥ ३०॥ (अपरिग्रहस्थै०) अ-

परिग्रह का फल यह है कि जब मनुष्य विषयासक्ति से बचकर सर्वथा जितेन्द्रिय रहता है, तब मैं कौन हूं, कहां से आया हूं और मुझ को क्या करना चाहिये अर्थात् क्या काम करने से मेरा कल्याण होगा इत्यादि शुभ गुणों का विचार उसके मन में स्थिर होता है। ये ही पांच यम कहाते हैं। इन का ग्रहण करना उपासकों को अवश्य चाहिये ॥ ३१ ॥ परन्तु यमों का नियम सहकारी कारण है, जो कि उपासना का दूसरा अंग कहाता है और जिसका साधन करने से उपासक लोगों का अत्यन्त सहाय होता है। सो भी पांच प्रकार का है। उन में से प्रथम शौच का फल लिखा जाता है (शौचात्स्वां०) पूर्वोक्त दो प्रकार के शौच करने से भी जब अपना शरीर और उस के सब अवयव बाहर भीतर से मलीन ही रहते हैं, तब औरों के शरीर की भी परीक्षा होती है कि सब के शरीर मल आदि से भरे हुए हैं। इस ज्ञान से वह योगी दूसरे से अपना शरीर मिलाने में घृणा अर्थात् संकोच कर के सदा अलग रहता है ॥ ३२ ॥ और उसका फल यह है कि (किञ्च०) अर्थात् शौच से अन्तःकरण की शुद्धि, मन की प्रसन्नता और एकाग्रता, इन्द्रियों का जय तथा आत्मा के देखने अर्थात् जानने की योग्यता प्राप्त होती है। तदनन्तर ॥ ३३ ॥ (संतोषाद०) अर्थात् पूर्वोक्त संतोष से जो सुख मिलता है वह सब से उत्तम है और उसी को मोक्षसुख कहते हैं ॥ ३४ ॥ (कायेन्द्रिय०) अर्थात् पूर्वोक्त तप से उन के शरीर और इन्द्रियां अशुद्धि के क्षय से दृढ़ होके सदा रोगरहित रहती हैं। तथा ॥ ३५ ॥ (स्वाध्याय०) पूर्वोक्त स्वाध्याय से इष्ट देवता अर्थात् परमात्मा के साथ सम्प्रयोग अर्थात् सम्बन्ध होता है। फिर परमेश्वर के अनुग्रह का सहाय, अपने आत्मा की शुद्धि, सत्याचरण, पुरुषार्थ और प्रेम के सम्प्रयोग से जीव शीघ्र ही मुक्ति को प्राप्त होता है। तथा ॥ ३६ ॥ (समाधि०) पूर्वोक्त प्रणिधान से उपासक मनुष्य सुगमता से समाधि को प्राप्त होता है। तथा ॥ ३७ ॥

तत्र स्थिरसुखमासनम् ॥ ३८ ॥ अ० १ । पा० २ । सू० ४६ ॥ भा० तद्यथा पद्मासनं, वीरासनं, भद्रासनं, स्वस्तिकं, दण्डासनं, सोपाश्रयं, पर्य्यङ्कं, क्रौञ्चनिषदनं, हस्तिनिषदनमुष्ट्रनिषदनं, समसंस्थानं, स्थिरसुखं, यथासुखं

चेत्येवमादीनि ॥ ३८ ॥ पद्मासनादिकमासनं विदध्यात्, यद्वा यादृशीच्छा तादृशमासनं कुर्यात् ॥ ३८ ॥ ततो द्वन्द्वानभिघातः ॥ ३९ ॥ अ० १ । पा० २ । सू० ४८ ॥ भा० शीतोष्णादिभिर्द्वन्द्वैरासनजयान्नाभिभूयते ॥ ३९ ॥ तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ॥ ४० ॥ अ० १ । पा० २ । सू० ४९ ॥ भा० सत्यासनजये बाह्यस्य वायोराचमनं श्वासः कौष्ठ्यस्य वायोर्निस्सारणं प्रश्वासस्तयोर्गतिविच्छेद उभयाभावः प्राणायामः ॥ ४० ॥ आसने सम्यक् सिद्धे कृते बाह्याभ्यन्तरगमनशीलस्य वायोर्युक्त्या शनैः शनैरभ्यासेन जयकरणमर्थात् स्थिरीकृत्य गत्यभावकरणं प्राणायामः ॥ ४० ॥ स तु बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः ॥ ४१ ॥ अ० १ । पा० २ । सू० ५० ॥ भा० यत्र प्रश्वासपूर्वको गत्यभावः स बाह्यः, यत्र श्वासपूर्वको गत्यभावः स आभ्यन्तरः, तृतीयस्तम्भवृत्तिर्यत्रोभयाभावः सकृत्प्रयत्नाद्भवति, यथा तप्तन्यस्तमुपले जलं सर्वतः संकोचमापद्यते तथा द्वयोर्युगपद्गत्यभाव इति ॥ ४१ ॥ बालबुद्धिभिरङ्गुल्यङ्गुष्ठाभ्यां नासिकाछिद्रमवरुध्य यः प्राणायामः क्रियते स खलु शिष्टैस्त्याज्य एवास्ति । किन्त्वत्र बाह्याभ्यन्तराङ्गेषु शान्तिशैथिल्ये सम्पाद्य, सर्वाङ्गेषु यथावत् स्थितेषु सत्सु, बाह्यदेशं गतं प्राणं तत्रैव यथाशक्ति संरुध्य प्रथमो बाह्याख्यः प्राणायामः कर्त्तव्यः, तथोपासकैर्यो बाह्याद्देशादन्तः प्रविशति तस्याभ्यन्तर एव यथाशक्ति निरोधः क्रियते, स आभ्यन्तरो द्वितीयः सेवनीयः। एवं बाह्याभ्यन्तराभ्यामनुष्ठिताभ्यां द्वाभ्यां कदाचिदुभयोर्युगपत्संरोधो यः क्रियते स स्तम्भवृत्तिस्तृतीयः प्राणायामोऽभ्यसनीयः ॥४०॥ बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः ॥ ४१ ॥ अ० १ । पा० २ । सू० ५१ ॥ भा० देशकालसंख्याभिर्बाह्यविषयः परिदृष्ट आक्षिप्तः तथाभ्यन्तरविषयः परिदृष्ट आक्षिप्त उभयथा दीर्घसूक्ष्मः तत्पूर्वको भूमिजयात् क्रमेणोभयोर्गत्यभावश्चतुर्थः प्राणायामस्तृतीयस्तु विषयानालोचितो गत्यभावः सकृदारब्ध एव देशकालसङ्ख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मश्चतुर्थस्तु श्वासप्रश्वासयोर्विषयावधारणात् क्रमेण भूमिजयादुभयाक्षेपपूर्वको गत्यभावश्चतुर्थः प्राणायाम इत्ययं विशेष इति यः प्राणायाम उभयाक्षेपी स चतुर्थो गद्यते। तद्यथा यदो-

दराद् बाह्यदेशं प्रतिगन्तुं प्रथमक्षणे प्रवर्त्तते तं संलक्ष्य पुनः बाह्यदेशं प्रत्येव प्राणाः प्रक्षेप्तव्याः पुनश्च यदा बाह्यादेशादाभ्यन्तरं प्रथममागच्छेत्तमाभ्यन्तर एव पुनः पुनः यथाशक्ति गृहीत्वा तत्रैव स्तम्भयेत्स द्वितीयः। एवं द्वयोरेतयोः क्रमेणाभ्यासेन गत्यभावः क्रियते स चतुर्थः प्राणायामः। यस्तु खलु तृतीयोस्ति स नैव बाह्याभ्यन्तराभ्यासस्यापेक्षां करोति किन्तु यत्र यत्र देशे प्राणो वर्त्तते तत्र तत्रैव सकृत्स्तम्भनीयः। यथा किमप्यद्भुतं दृष्ट्वा मनुष्यश्चकितो भवति तथैव कार्य्यमित्यर्थः ॥ ४१ ॥

भाषार्थ

(तत्र स्थिर०) अर्थात् जिस में सुखपूर्वक शरीर और आत्मा स्थिर हो उसको आसन कहते हैं। अथवा जैसी रुचि हो वैसा आसन करे ॥ ३८ ॥ (ततो द्वन्द्वा०) जब आसन दृढ़ होता है तब उपासना करने में कुछ परिश्रम करना नहीं पड़ता है और न सर्दी गर्मी अधिक बाधा करती है ॥ ३९ ॥ (तस्मिन्सति०) जो वायु बाहर से भीतर को आता है उस को श्वास और जो भीतर से बाहर जाता है उस को प्रश्वास कहते हैं। उन दोनों के जाने आने को विचार से रोके। नासिका को हाथ से कभी न पकड़े। किन्तु ज्ञान से ही उस के रोकने को प्राणायाम कहते हैं और यह प्राणायाम चार प्रकार से होता है ॥ ४० ॥ (स तु बाह्य) अर्थात् एक बाह्य विषय, दूसरा आभ्यन्तर विषय, तीसरा स्तम्भवृत्ति और चौथा जो बाहर भीतर रोकने से होता है ॥ ४१ ॥ अर्थात् जो कि (बाह्याभ्यं०) इस सूत्र का विषय। वे चार प्राणायाम इस प्रकार के होते हैं कि जब भीतर से बाहर को श्वास निकले तब उस को बाहर ही रोक दे, इस को प्रथम प्राणायाम कहते हैं। जब बाहर से श्वास भीतर को आवे तब उस को जितना रोक सके उतना भीतर ही रोक दे, इस को दूसरा प्राणायाम कहते हैं। तीसरा स्तम्भवृत्ति है कि न प्राण को बाहर निकाले और न बाहर से भीतर लेजाय, किन्तु जितनी देर सुख से हो सके उस को जहां का तहां ज्यों का त्यों एक दम रोक दे। और चौथा यह है कि जब श्वास भीतर से बाहर को आवे तब बाहर ही कुछ २ रोकता रहे और जब बाहर से भीतर जावे

तब उस को भीतर ही थोड़ा २ रोकता रहे, इस को बाह्याभ्यन्तराक्षेपी कहते हैं। और इन चारों का अनुष्ठान इसलिये है कि जिससे चित्त निर्मल होकर उपासना में स्थिर रहे ॥ ४२ ॥

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ॥ ४२ ॥ अ० १ । पा० २ । सू० ५२ ॥ एवं प्राणायामाभ्यासाद्यत्परमेश्वरस्यान्तर्यामिनः प्रकाशसत्यविवेकस्यावरणाख्यमज्ञानमस्ति तत्क्षीयते क्षयं प्राप्नोतीति ॥ ४२ ॥ किंच धारणासु च योग्यता मनसः ॥ ४३ ॥ अ० १ । पा० २ । सू० ५३ ॥ भा० प्राणायामाभ्यासादेव प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्येति वचनात् ॥ ४३ ॥ प्राणायामानुष्ठानेनोपासकानां मनसो ब्रह्मध्याने सम्यग्योग्यता भवति ॥४३॥ अथ कः प्रत्याहारः ? । स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ॥ ४४ ॥ अ० १ । पा० २ । सू० ५४ ॥ यदा चित्तं जितं भवति परमेश्वरस्मरणालम्बनाद्विषयान्तरे नैव गच्छति तदिन्द्रियाणां प्रत्याहारोऽर्थान्निरोधो भवति । कस्य केषामिव ? यथा चित्तं परमेश्वरस्वरूपस्थं भवति तथैवेन्द्रियाण्यप्यर्थाच्चित्ते जिते सर्वमिन्द्रियादिकं जितं भवतीति विज्ञेयम् ॥ ४४ ॥ ततः परमावश्यतेन्द्रियाणाम् ॥ ४५ ॥ अ० १ । पा० २ । सू० ५५ ॥ ततस्तदनन्तरं स्वस्वविषयासंप्रयोगेऽर्थात्स्वस्वविषयाभिवृत्तौ सत्यामिन्द्रियाणां परमा वश्यता यथावद्विजयो जायते । स उपासको यदा यदेश्वरोपासनं कर्त्तुं प्रवर्त्तते तदा तदैव चित्तस्येन्द्रियाणां च वश्यत्वं कर्त्तुं शक्नोतीति ॥ ४५ ॥ देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥ ४६ ॥ अ० १ । पा० ३ । सू० १ ॥ भा० नाभिचक्रे, हृदयपुण्डरीके, मूर्ध्नि, ज्योतिषि, नासिकाग्रे, जिह्वाग्र इत्येवमादिषु देशेषु चित्तस्य वृत्तिमात्रेण बन्ध इति बन्धो धारणा ॥ ४६ ॥ तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥ ४७ ॥ अ० १ । पा० ३ । सू० २ ॥ तस्मिन्देशे ध्येयालम्बनस्य प्रत्ययस्यैकतानता सदृशः प्रवाहः प्रत्यान्तरेणापरामृष्टो ध्यानम् ॥ ४७ ॥ तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥ ४८ ॥ अ० १ । पा० ३ । सू० ३ ॥ ध्यानसमाध्योरयं भेदः, ध्याने मनसो ध्यातृध्यानध्येयाकारेण विद्यमाना वृत्तिर्भवति, समाधौ तु

परमेश्वरस्वरूपे तदानन्दे च मग्नः स्वरूपशून्य इव भवतीति ॥ ४८ ॥ त्रय-मेकत्र संयमः ॥ ४९ ॥ अ० १ । पा० ३ । सू० ४ ॥ भा० तदेतद् धारणाध्यानसमाधित्रयमेकत्र संयमः । एकविषयाणि त्रीणि साधनानि संयम इत्युच्यते । तदस्य त्रयस्य तान्त्रिकी परिभाषा संयम इति ॥ ४९ ॥ संयमश्चोपासनाया नवमांगम् ।

भाषार्थ

इस प्रकार प्राणायामपूर्वक उपासना करने से आत्मा के ज्ञान का ढांकने वाला आवरण जो अज्ञान है वह नित्यप्रति नष्ट होता जाता है और ज्ञान का प्रकाश धीरे २ बढ़ता जाता है। उस अभ्यास से यह भी फल होता है कि ॥४३॥ (किञ्च धारणा०) परमेश्वर के बीच में मन और आत्मा की धारणा होने से मोक्षपर्यन्त उपासनायोग और ज्ञान की योग्यता बढ़ती जाती है । तथा उससे व्यवहार और परमार्थ का विवेक भी बराबर बढ़ता रहता है । इसी प्रकार प्राणायाम करने से भी जान लेना ॥ ४४ ॥ (स्वविषया०) प्रत्याहार उस का नाम है कि जब पुरुष अपने मन को जीत लेता है तब इन्द्रियों का जीतना अपने आप हो जाता है, क्योंकि मन ही इन्द्रियों का चलाने वाला है ॥ ४५ ॥ (ततः पर०) तब वह मनुष्य जितेन्द्रिय हो के जहां अपने मन को ठहराना वा चलाना चाहे उसी में ठहरा और चला सकता है । फिर उसको ज्ञान हो जाने से सदा सत्य में ही प्रीति हो जाती है, असत्य में कभी नहीं ॥ ४६ ॥ (देशबं०) जब उपासना योग के पूर्वोक्त पांचों अङ्ग सिद्ध हो जाते हैं तब उसका छठा अङ्ग धारणा भी यथावत् प्राप्त होती है । (धारणा) उसको कहते हैं कि मन को चञ्चलता से छुड़ा के नाभि, हृदय, मस्तक, नासिका और जीभ के अग्रभाग आदि देशों में स्थिर कर के ओंकार का जप और उस का अर्थ जो परमेश्वर है उस का विचार करना । तथा ॥ ४७ ॥ (तत्र प्र०) धारणा के पीछे उसी देश में ध्यान करने और आश्रय लेने के योग्य जो अन्तर्यामी व्यापक परमेश्वर है उस के प्रकाश और आनन्द में अत्यन्त विचार और प्रेम भक्ति के साथ इस प्रकार प्रवेश करना कि जैसे समुद्र के बीच में नदी प्रवेश करती है।

उस समय में ईश्वर को छोड़ किसी अन्य पदार्थ का स्मरण नहीं करना, किन्तु उसी अन्तर्यामी के स्वरूप और ज्ञान में मग्न हो जाना, इसी का नाम ध्यान है। इन सात अङ्गों का फल समाधि है ॥ ४८ ॥ (तदेवार्थ०) जैसे अग्नि के बीच में लोहा भी अग्निरूप हो जाता है, इसी प्रकार परमेश्वर के ज्ञान में प्रकाशमय होके, अपने शरीर को भी भूले हुए के समान जान के, आत्मा को परमेश्वर के प्रकाशस्वरूप आनन्द और ज्ञान से परिपूर्ण करने को समाधि कहते हैं। ध्यान और समाधि में इतना ही भेद है कि ध्यान में तो ध्यान करने वाला जिस मन से जिस चीज़ का ध्यान करता है वे तीनों विद्यमान रहते हैं। परन्तु समाधि में केवल परमेश्वर ही के आनन्दस्वरूप ज्ञान में आत्मा मग्न हो जाता है, वहां तीनों का भेदभाव नहीं रहता। जैसे मनुष्य जल में डुबकी मारके थोड़ा समय भीतर ही रुका रहता है वैसे ही जीवात्मा परमेश्वर के बीच में मग्न हो के फिर बाहर को आ जाता है ॥ ४९ ॥ (त्रयमेकत्र०) जिस देश में धारणा की जाय उसी में ध्यान और उसी में समाधि अर्थात् ध्यान करने के योग्य परमेश्वर में मग्न हो जाने को संयम कहते हैं। जो एक ही काल में तीनों का मेल होना है, अर्थात् धारणा से संयुक्त ध्यान और ध्यान से संयुक्त समाधि होती है उन में बहुत सूक्ष्म काल का भेद रहता है। परन्तु जब समाधि होती है तब आनन्द के बीच में तीनों का फल एक ही हो जाता है ॥ ५० ॥

अथोपासनाविषये उपनिषदां प्रमाणानि

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥ कठोपनि० अ० १। वल्ली० २। मं० २४ ॥ तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्य शान्ता विद्वांसो भैक्ष्यचर्य्यां चरन्तः। सूर्य्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ॥ २ ॥ मुण्ड० १। खं० २। मं० ११ ॥ अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति ॥ ३ ॥ तं चेद् ब्रूयुर्यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यं यद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति ॥ ४ ॥ स ब्रूयाद्यावान्वा

अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश उभे अस्मिन्द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते उभावग्निश्च वायुश्च सूर्य्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राणि यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन् समाहितमिति ॥ ५ ॥ तं चेद् ब्रूयुरस्मिँश्चेदिदं ब्रह्मपुरे सर्वँसमाहितँसर्वाणि च भूतानि सर्वे च कामा यदैनज्जरावाप्नोति प्रध्वँसते वा किं ततोऽतिशिष्यत इति ॥ ६ ॥ स ब्रूयान्नास्य जरयैतज्जीर्य्यति न बधेनास्य हन्यत एतत्सत्यं ब्रह्मपुरमस्मिन् कामाः समाहिता एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पो यथाह्येवेह प्रजा अन्वाविशन्ति यथानुशासनं यं यमन्तमभिकामा भवन्ति यं जनपदं यं क्षेत्रभागं तं तमेवोपजीवन्ति ॥ ७ ॥ छान्दोग्योपनि० प्रपा० ८ । खं० १ । मं० १ । २ । ३ । ४ । ५ ॥ अस्य सर्वस्य भाषायामभिप्रायः प्रकाशयिष्यते । सेयं तस्य परमेश्वरस्योपासना द्विविधास्ति । एका सगुणा द्वितीया निर्गुणा चेति । तद्यथा । (स पर्य्यगाच्छुक्र०) इत्यस्मिन् मन्त्रे शुक्रशुद्धमिति सगुणोपासनम् । अकायमव्रणमस्नाविरमित्यादि निर्गुणोपासनं च । तथा । एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा । सर्वाध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥ १ ॥

भाषार्थ

यह उपासनायोग दुष्ट मनुष्य को सिद्ध नहीं होता । क्योंकि (नाविरतो०) जब तक मनुष्य दुष्ट कामों से अलग होकर अपने मन को शान्त और आत्मा को पुरुषार्थी नहीं करता, तथा भीतर के व्यवहारों को शुद्ध नहीं करता, तब तक कितना ही पढ़े वा सुने उसको परमेश्वर की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती ॥ १ ॥ (तपःश्रद्धे०) जो मनुष्य धर्माचरण से परमेश्वर और उस की आज्ञा में अत्यन्त प्रेम कर के अरण्य अर्थात् शुद्ध हृदयरूपी वन में स्थिरता के साथ निवास करते हैं वे परमेश्वर के समीप वास करते हैं । जो लोग अधर्म के छोड़ने और धर्म के करने में दृढ़, तथा वेदादि सत्य विद्याओं में विद्वान् हैं, जो भिक्षाचर्य्य आदि कर्म करके संन्यास वा किसी अन्य आश्रम में हैं, इस प्रकार के गुणवाले मनुष्य (सूर्य्यद्वारेण०) प्राणद्वार से परमेश्वर के सत्य राज्य में

प्रवेश करके, (विरजाः) अर्थात् सब दोषों से छूट के, परमानन्द मोक्ष को प्राप्त होते हैं, जहां कि पूर्ण पुरुष, सब में भरपूर, सब से सूक्ष्म, (अमृतः) अर्थात् अविनाशी और जिस में हानि लाभ कभी नहीं होता ऐसे परमेश्वर को प्राप्त होके सदा आनन्द में रहते हैं। जिस समय इन सब साधनों से परमेश्वर की उपासना करके उस में प्रवेश किया चाहें उस समय इस रीति से करें कि ॥ २ ॥ (अथ यदिद०) कण्ठ के नीचे दोनों स्तनों के बीच में और उदर के ऊपर जो हृदयदेश है, जिस को ब्रह्मपुर अर्थात् परमेश्वर का नगर कहते हैं, उस के बीच में जो गर्त है उस में कमल के आकार वेश्म अर्थात् अवकाशरूप एक स्थान है, और उस के बीच में जो सर्वशक्तिमान् परमात्मा बाहर भीतर एकरस होकर भर रहा है, वह आनन्दस्वरूप परमेश्वर उसी प्रकाशित स्थान के बीच में खोज करने से मिल जाता है। दूसरा उसके मिलने का कोई उत्तम स्थान वा मार्ग नहीं है ॥ ३ ॥ और कदाचित् कोई पूछे कि (तं चेद् ब्रूयु०) अर्थात् उस हृदयाकाश में क्या रक्खा है जिसकी खोजना की जाय ? तो उसका उत्तर यह है कि ॥ ४ ॥ (स ब्रूयाद्या०) हृदय देश में जितना आकाश है वह सब अन्तर्यामी परमेश्वर ही से भररहा है और उसी हृदयाकाश के बीच में सूर्य्य आदि प्रकाश तथा पृथिवीलोक, अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, बिजुली और सब नक्षत्र लोक भी ठहर रहे हैं। जितने दीखने वाले और नहीं दीखने वाले पदार्थ हैं वे सब उसी की सत्ता के बीच में स्थिर हो रहे हैं ॥ ५ ॥ (तं चेद् ब्रूयु०) इसमें कोई ऐसी शङ्का करे कि जिस ब्रह्मपुर हृदयाकाश में सब भूत और काम स्थिर होते हैं उस हृदयदेश के वृद्धावस्था के उपरान्त नाश हो जाने पर उस के बीच में क्या बाकी रह जाता है कि जिस को तुम खोजने को कहते हो ? तो इसका उत्तर यह है ॥ ६ ॥ (स ब्रूयात्) सुनो भाई ! उस ब्रह्मपुर में जो परिपूर्ण परमेश्वर है उस को न तो कभी वृद्धावस्था होती है और न कभी नाश होता है। उसी का नाम सत्य ब्रह्मपुर है कि जिस में सब काम परिपूर्ण हो जाते हैं। वह (अपहतपाप्मा०) अर्थात् सब पापों से रहित शुद्धस्वभाव, (विजरः) जरा अवस्थारहित, (विशोकः) शोकरहित, (विजिघत्सोऽपि०) जो खाने पीने की इच्छा कभी नहीं करता, (सत्यकामः) जिस

के सब काम सत्य हैं, (सत्यसंकल्पः) जिस के सब संकल्प भी सत्य हैं, उसी आकाश में प्रलय होने के समय सब प्रजा प्रवेश कर जाती है और उसी के रचने से उत्पत्ति के समय फिर प्रकाशित होती है। इस पूर्वोक्त उपासना से उपासक लोग जिस २ काम की, जिस २ देश की, जिस २ क्षेत्रभाग अर्थात् अवकाश की इच्छा करते हैं उन सब को वे यथावत् प्राप्त होते हैं ॥ ७ ॥ सो उपासना दो प्रकार की है। एक सगुण और दूसरी निर्गुण। उनमें से (स पर्य्यगा०) इस मन्त्र के अर्थानुसार शुक्र अर्थात् जगत् का रचने वाला वीर्यवान् तथा शुद्ध, कवि, मनीषी, परिभू और स्वयंभू इत्यादि गुणों के सहित होने से परमेश्वर सगुण है और अकाय, अव्रण, अस्नाविर० इत्यादि गुणों के निषेध होने से वह निर्गुण कहाता है। तथा—

एको देव इत्यादिसगुणोपासनम्, निर्गुणश्चेति वचनान्निर्गुणोपासनम्। तथा सर्वज्ञादिगुणैः सह वर्त्तमानः सगुणः, अविद्यादिक्लेशपरिमाणद्वित्वादिसंख्याशब्दस्पर्शरूपरसगन्धादिगुणेभ्यो निर्गतत्वान्निर्गुणः। तद्यथा। परमेश्वरः सर्वज्ञः, सर्वव्यापी, सर्वाध्यक्षः, सर्वस्वामी चेत्यादिगुणैः सह वर्त्तमानत्वात् परमेश्वरस्य सगुणोपासनं विज्ञेयम्, तथा सोऽजोऽर्थाज्जन्मरहितः, (अव्रणः) छेदरहितः, निराकारः आकाररहितः, अकायः शरीरसम्बन्धरहितः, तथैव रूपरसगन्धस्पर्शसंख्यापरिमाणादयो गुणास्तस्मिन्न सन्तीदमेव तस्य निर्गुणोपासनं ज्ञातव्यम्। अतो देहधारणेनेश्वरः सगुणो भवति देहत्यागेन निर्गुणश्चेति या मूढानां कल्पनास्ति सा वेदादिशास्त्रप्रमाणविरुद्धा विद्वदनुभवविरुद्धा चास्ति। तस्मात्सज्जनैर्व्यर्थेयं रीतिः सदा त्याज्येति शिवम्।

भाषार्थ

(एको देवः०) एक देव इत्यादि गुणों के सहित होने से परमेश्वर सगुण और (निर्गुणश्च०) इस के कहने से निर्गुण समझा जाता है। तथा ईश्वर के सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, शुद्ध, सनातन, न्यायकारी, दयालु, सब में व्यापक, सब का आधार, मङ्गलमय, सब की उत्पत्ति करने वाला और सब का स्वामी इत्यादि

सत्यगुणों के ज्ञानपूर्वक उपासना करने को सगुणोपासना कहते हैं। और वह परमेश्वर कभी जन्म नहीं लेता, निराकार अर्थात् आकारवाला कभी नहीं होता, अकाय अर्थात् शरीर कभी नहीं धारता, अव्रण अर्थात् जिसमें छिद्र कभी नहीं होता, जो शब्द स्पर्श रूप रस और गन्धवाला कभी नहीं होता, जिसमें दो तीन आदि संख्या की गणना नहीं बन सकती, जो लम्बा चौड़ा और हलका भारी कभी नहीं होता इत्यादि गुणों के निवारणपूर्वक उसका स्मरण करने को निर्गुण उपासना कहते हैं। इससे क्या सिद्ध हुआ कि जो अज्ञानी मनुष्य ईश्वर के देहधारण करने से सगुण और देहत्याग करने से निर्गुण उपासना कहते हैं, सो यह उन की कल्पना सब वेद शास्त्रों के प्रमाणों और विद्वानों के अनुभव से विरुद्ध होने के कारण सज्जन लोगों को कभी न माननी चाहिये। किन्तु सब को पूर्वोक्त रीति से ही उपासना करनी चाहिये।

इति संक्षेपतो ब्रह्मोपासनाविधानम्

अथ मुक्तिविषयः संक्षेपतः

एवं परमेश्वरोपासनेनाविद्याऽधर्माचरणनिवारणाच्छुद्धविज्ञानधर्मानुष्ठानोन्नतिभ्यां जीवो मुक्तिं प्राप्नोतीति। अथात्र योगशास्त्रस्य प्रमाणानि तद्यथा। अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पंचक्लेशाः ॥ १ ॥ अविद्याक्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ॥ २ ॥ अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ॥ ३ ॥ दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता ॥ ४ ॥ सुखानुशयी रागः ॥ ५ ॥ दुःखानुशयी द्वेषः ॥ ६ ॥ स्वरसवाही विदुषोपि तथारूढोऽभिनिवेशः ॥ ७ ॥ अ० १ । पा० २ । सू० ३–९ ॥ तदभावात्संयोगाभावो हानन्तद्दृशेः कैवल्यम् ॥ अ० १ । पा० २ । सू० २५ ॥ तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् ॥ ९ ॥ अ० १ । पा० ३ । सू० ५० ॥ सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति ॥ १ ॥ अ० १ । पा० ३ । सू० ५५ ॥ तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम् ॥ ११ ॥ अ० १ ।

पा० ४ । सू० २६ ॥ पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूप-प्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति ॥ १२ ॥ अ० १ । पा० ४ । सू० ३४ ॥ अथ न्यायशास्त्रप्रमाणानि ॥ दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तद-नन्तरापायादपवर्गः ॥ १ ॥ बाधनालक्षणं दुःखमिति ॥ २ ॥ तदत्यन्त-विमोक्षोऽपवर्गः ॥ ३ ॥ न्यायद० अ० १ । आह्निक १ । सू० २ । २१ । २२ ॥

भाषार्थ

इसी प्रकार परमेश्वर की उपासना करके, अविद्या आदि क्लेश तथा अध-र्माचरण आदि दुष्ट गुणों को निवारण करके, शुद्ध विज्ञान और धर्मादि शुभ गुणों के आचरण से आत्मा की उन्नति करके, जीव मुक्ति को प्राप्त हो जाता है । अब इस विषय में प्रथम योगशास्त्र का प्रमाण लिखते हैं । पूर्व लिखी हुई चित्त की पांच वृत्तियों को यथावत् रोकने और मोक्ष के साधन में सब दिन प्रवृत्त रहने से नीचे लिखे हुये पांच क्लेश नष्ट हो जाते हैं । वे क्लेश ये हैं । (अविद्या०) एक (अविद्या), दूसरा (अस्मिता), तीसरा (राग), चौथा (द्वेष) और पांचवां (अभिनिवेश) ॥ १ ॥ (अविद्याक्षेत्र०) उन में से अस्मितादि चार क्लेशों और मिथ्याभाषणादि दोषों की माता अविद्या है । जो कि मूढ़ जीवों को अन्धकार में फसा के जन्ममरणादि दुःखसागर में सदा डुबाती है । परन्तु जब विद्वान् और धर्मात्मा उपासकों की सत्यविद्या से अवि-द्या (विच्छिन्न) अर्थात् छिन्नभिन्न होके (प्रसुप्ततनु) नष्ट हो जाती है तब वे जीव मुक्ति को प्राप्त हो जाते हैं ॥ २ ॥ अविद्या के लक्षण ये हैं (अनित्या०) । (अनित्य) अर्थात् कार्य्य (जो शरीर आदि स्थूल पदार्थ तथा लोक लोकान्तर में नित्यबुद्धि), तथा जो (नित्य) अर्थात् ईश्वर, जीव, जगत् का कारण, क्रिया क्रियावान्, गुण गुणी और धर्म धर्मी हैं इन नित्य पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध है इन में अनित्यबुद्धि का होना यह अविद्या का प्रथम भाग है । तथा (अशुचि) मल मूत्र आदि के समुदाय दुर्गन्धरूप मल से परिपूर्ण शरीर में पवित्रबुद्धि का करना, तथा तलाव, बावरी, कुण्ड, कूंआ और नदी आदि में

तीर्थ और पाप छुड़ाने की बुद्धि करना और उन का चरणामृत पीना, एकादशी आदि मिथ्या व्रतों में भूख प्यास आदि दुःखों का सहना, स्पर्श इन्द्रिय के भोग में अत्यन्त प्रीति करना इत्यादि अशुद्ध पदार्थों को शुद्ध मानना और सत्यविद्या, सत्यभाषण, धर्म, सत्सङ्ग, परमेश्वर की उपासना, जितेन्द्रियता, सर्वोपकार करना, सब से प्रेमभाव से वर्त्तना आदि शुद्धव्यवहार और पदार्थों में अपवित्रबुद्धि करना यह अविद्या का दूसरा भाग है। तथा दुःख में सुखबुद्धि अर्थात् विषयतृष्णा, काम, क्रोध, लोभ, मोह, शोक, ईर्षा, द्वेष आदि दुःखरूप व्यवहारों में सुख मिलने की आशा करना, जितेन्द्रियता, निष्काम, शम, संतोष, विवेक प्रसन्नता, प्रेम, मित्रता आदि सुखरूप व्यवहारों में दुःखबुद्धि का करना यह अविद्या का तीसरा भाग है। इसी प्रकार अनात्मा में आत्मबुद्धि अर्थात् जड़ में चेतनभाव और चेतन में जड़भावना करना अविद्या का चतुर्थ भाग है। यह चार प्रकार की अविद्या संसार के अज्ञानी जीवों को बन्धन का हेतु होके उनको सदा नचाती रहती है। परन्तु विद्या अर्थात् पूर्वोक्त अनित्य, अशुचि, दुःख और अनात्मा में अनित्य, अपवित्रता, दुःख और अनात्मबुद्धि का होना तथा नित्य, शुचि, सुख और आत्मा में नित्य, पवित्रता, सुख और आत्मबुद्धि करना यह चार प्रकार की विद्या है। जब विद्या से अविद्या की निवृत्ति होती है तब बन्धन से छूट के जीव मुक्ति को प्राप्त होता है॥ ३॥ (अस्मिता०) दूसरा क्लेश अस्मिता कहाता है। अर्थात् जीव और बुद्धि को मिले के समान देखना, अभिमान और अहङ्कार से अपने को बड़ा समझना। इत्यादि व्यवहार को अस्मिता जानना। जब सम्यक् विज्ञान से अभिमान आदि के नाश होने से इस की निवृत्ति हो जाती है तब गुणों के ग्रहण में रुचि होती है॥४॥ तीसरा (सुखानु०) राग अर्थात् जो २ सुख संसार में साक्षात् भोगने में आते हैं उनके संस्कार की स्मृति से जो तृष्णा के लोभसागर में बहना है इसका नाम राग है। जब ऐसा ज्ञान मनुष्य को होता है कि सब संयोग, वियोग, संयोग-वियोगान्त हैं, अर्थात् वियोग के अन्त में संयोग और संयोग के अन्त में वियोग तथा वृद्धि के अन्त में क्षय और क्षय के अन्त में वृद्धि होती है तब इसकी निवृत्ति हो जाती है॥ ५॥ (दुःखानु०) चौथा द्वेष कहाता है।

अर्थात् जिस अर्थ का पूर्व अनुभव किया गया हो उस पर और उसके साधनों पर सदा क्रोधबुद्धि होना। इसकी निवृत्ति भी राग की निवृत्ति से ही होती है ॥ ६ ॥ (स्वरसवा०) पांचवां (अभिनिवेश) क्लेश है। जो सब प्राणियों को नित्य आशा होती है कि हम सदैव शरीर के साथ बने रहें, अर्थात् कभी मरें नहीं, सो पूर्वजन्म के अनुभव से होती है। और इससे पूर्वजन्म भी सिद्ध होता है। क्योंकि छोटे २ कृमि चींटी आदि को भी मरण का भय बराबर बना रहता है। इसी से इस क्लेश को अभिनिवेश कहते हैं। जो कि विद्वान् मूर्ख तथा क्षुद्रजन्तुओं में भी बराबर दीख पड़ता है। इस क्लेश की निवृत्ति उस समय होगी कि जब जीव, परमेश्वर और प्रकृति अर्थात् जगत् के कारण को नित्य और कार्य्यद्रव्य के संयोग वियोग को अनित्य जान लेगा। इन क्लेशों की शान्ति से जीवों को मोक्षसुख की प्राप्ति होती है ॥ ७ ॥ (तदभावात्०) अर्थात् जब अविद्यादि क्लेश दूर होके विद्यादि शुभ गुण प्राप्त होते हैं तब जीव सब बन्धनों और दुःखों से छूट के मुक्ति को प्राप्त होजाता है ॥ ८ ॥ (तद्वैराग्या०) अर्थात् शोकरहित आदि सिद्धि से भी विरक्त होके सब क्लेशों और दोषों का बीज जो अविद्या है उसके नाश करने के लिये यथावत् प्रयत्न करे, क्योंकि उसके नाश के विना मोक्ष कभी नहीं हो सकता ॥ ९ ॥ तथा (सत्त्वपुरुष) अर्थात् सत्त्व जो बुद्धि पुरुष जो जीव इन दोनों की शुद्धि से मुक्ति होती है अन्यथा नहीं ॥ १० ॥ (तदा विवेक०) जब सब दोषों से अलग होके ज्ञान की ओर आत्मा झुकता है तब कैवल्यमोक्षधर्म के संस्कार से चित्त परिपूर्ण होजाता है, तभी जीव को मोक्ष प्राप्त होता है, क्योंकि जब तक बन्धन के कामों में जीव फसता जाता है तब तक उस को मुक्ति प्राप्त होना असम्भव है ॥ ११ ॥ कैवल्यमोक्ष का लक्षण यह है कि (पुरुषार्थ) अर्थात् कारण के सत्त्व, रजो और तमोगुण और उन के सब कार्य्य पुरुषार्थ से नष्ट होकर, आत्मा में विज्ञान और शुद्धि यथावत् हो के, स्वरूपप्रतिष्ठा जैसा जीव का तत्त्व है वैसा ही स्वाभाविकशक्ति और गुणों से युक्त हो के, शुद्धस्वरूप परमेश्वर के स्वरूप विज्ञान प्रकाश और नित्य आनन्द में जो रहना है उसी को कैवल्यमोक्ष कहते हैं ॥ १२ ॥ अब मुक्तिविषय में गोतमाचार्य्य के कहे हुए न्यायशास्त्र के

प्रमाण लिखते हैं (दुःखजन्म)। जब मिथ्याज्ञान अर्थात् अविद्या नष्ट हो जाती है तब जीव के सब दोष नष्ट हो जाते हैं। उसके पीछे (प्रवृत्ति०) अर्थात् अधर्म, अन्याय, विषयासक्ति आदि की वासना सब दूर होजाती है। उसके नाश होने से (जन्म) अर्थात् फिर जन्म नहीं होता। उस के न होने से सब दुःखों का अत्यन्त अभाव हो जाता है। दुःखों के अभाव से पूर्वोक्त परमानन्द मोक्ष में अर्थात् सब दिन के लिये परमात्मा के साथ आनन्द ही आनन्द भोगने को बाक़ी रह जाता है। इसी का नाम मोक्ष है॥ १॥ (बाधना०) सब प्रकार की बाधा अर्थात् इच्छाविघात और परतन्त्रता का नाम दुःख है॥ २॥ (तदत्यन्त०) फिर उस दुःख के अत्यन्त अभाव और परमात्मा के नित्य योग करने से जो सब दिन के लिये परमानन्द प्राप्त होता है उसी सुख का नाम मोक्ष है॥ ३॥

अथ वेदान्तशास्त्रस्य प्रमाणानि

अभावं बादरिराह ह्येवम्॥ १॥ भावं जैमिनिर्विकल्पामननात्॥ २॥ द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोतः॥ ३॥ अ० ४। पा० ४। सू० १०। ११। १२॥ यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह। बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम्॥ १॥ तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्। अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ॥ २॥ यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥ ३॥ यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावदनुशासनम्॥ ४॥ कठो० वल्ली० ६। मं० १०। ११। १४। १५॥ दैवेन चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते॥ ५॥ य एते ब्रह्मलोके तं वा एतं देवा आत्मानमुपासते तस्मात्तेषाꣳ सर्वे च लोका आत्ताः सर्वे च कामाः स सर्वाꣳश्च लोकानाप्नोति सर्वाꣳश्च कामान् यस्तमात्मानमनुविद्य जानातीति ह प्रजापतिरुवाच प्रजापतिरुवाच॥ ६॥ यदन्तरापस्तद्ब्रह्म * तदमृतꣳ स आत्मा प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये यशोऽहं भवामि ब्राह्मणानां

* "यदन्तरा तद्ब्रह्मेति" पाठ उपनिषदि।

यशो राज्ञां यशो विशां यशोऽहमनुप्रापत्सि सहाहं यशसां यशः ॥ ७ ॥ छान्दोग्योपनि० प्रपा० ॥ ८ * ॥ अणुः पन्था विततः पुराणो मां स्पृष्टो वित्तो मयैव । तेन धीरा अपियन्ति ब्रह्मविद उत्क्रम्य स्वर्गं लोकमितो विमुक्ताः ॥ ८ ॥ तस्मिञ्छुक्लमुत नीलमाहुः पिङ्गलं हरितं लोहितं च । एष पन्था ब्रह्मणा हानुवित्तस्तेनैति ब्रह्मवित्तैजसः पुण्यकृच्च ॥ ९ ॥ प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रमन्नस्यान्नं मनसो ये मनो विदुः । ते निचिक्युर्ब्रह्म पुराणमग्र्यं मनसैवाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन ॥ १० ॥ मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति । मनसैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमेयं ध्रुवम् ॥ ११ ॥ विरजः पर आकाशात् अज आत्मा महाध्रुवः । तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः ॥ १२ ॥ श० कां० १४ । अ० ७ † ॥

भाषार्थ

अब व्यासोक्त वेदान्तदर्शन और उपनिषदों में जो मुक्ति का स्वरूप और लक्षण लिखा है सो आगे लिखते हैं । (अभावं) व्यासजी के पिता जो बादरि आचार्य्य थे उनका मुक्तिविषय में ऐसा मत है कि जब जीव मुक्तदशा को प्राप्त होता है तब वह शुद्ध मन से परमेश्वर के साथ परमानन्द मोक्ष में रहता है और इन दोनों से भिन्न इन्द्रियादि पदार्थों का अभाव होजाता है ॥ १ ॥ तथा (भावं जैमिनि०) इसी विषय में व्यासजी के मुख्य शिष्य जो जैमिनि थे उनका ऐसा मत है कि जैसे मोक्ष में मन रहता है वैसे ही शुद्धसंकल्पमय शरीर तथा प्राणादि और इन्द्रियों की शुद्ध शक्ति भी बराबर बनी रहती है । क्योंकि उपनिषद् में (स एकधा भवति, द्विधा भवति, त्रिधा भवति) इत्यादि वचनों का प्रमाण है कि मुक्तजीव सङ्कल्पमात्र से ही दिव्यशरीर रच लेता है और इच्छामात्र ही से शीघ्र छोड़ भी देता है और शुद्ध ज्ञान का सदा प्रकाश बना रहता है ॥ २ ॥ (द्वादशाह) इस मुक्तिविषय में बादरायण जो व्यासजी थे उन का ऐसा मत है कि मुक्ति में भाव और अभाव दोनों ही बने रहते हैं । अर्थात्

* खं० १२, १४ ।

† ब्रा० २ । कण्डि० ११ , १२, २१, २२, २३ ।

क्लेश, अज्ञान और अशुद्धि आदि दोषों का सर्वथा अभाव हो जाता है और परमानन्द, ज्ञान, शुद्धता आदि सब सत्यगुणों का भाव बना रहता है। इस में दृष्टान्त भी दिया है कि जैसे वानप्रस्थ आश्रम में बारह दिन का प्राजापत्यादि व्रत करना होता है उस में थोड़ा भोजन करने से क्षुधा का थोड़ा अभाव और पूर्ण भोजन न करने से क्षुधा का कुछ भाव भी बना रहता है। इसी प्रकार मोक्ष में भी पूर्वोक्त रीति से भाव और अभाव समझ लेना। इत्यादि निरूपण मुक्ति का वेदान्तशास्त्र में किया है ॥ ३ ॥ अब मुक्तिविषय में उपनिषद्कारों का जो मत है सो भी आगे लिखते हैं कि (यदा पञ्चाव०) अर्थात् जब मन के सहित पांच ज्ञानेन्द्रिय परमेश्वर में स्थिर हो के उसी में सदा रमण करती हैं और जब बुद्धि भी ज्ञान से विरुद्ध चेष्टा नहीं करती उसी को परमगति अर्थात् मोक्ष कहते हैं ॥ १ ॥ (तां योग०) उसी गति अर्थात् इन्द्रियों की शुद्धि और स्थिरता को विद्वान् लोग योग की धारणा मानते हैं। जब मनुष्य उपासनायोग से परमेश्वर को प्राप्त होके प्रमादरहित होता है तभी जानो कि वह मोक्ष को प्राप्त हुआ। वह उपासनायोग कैसा है कि प्रभव अर्थात् शुद्धि और सत्यगुणों का प्रकाश करनेवाला तथा (अप्ययः) अर्थात् सब अशुद्धि दोषों और असत्य गुणों का नाश करनेवाला है। इसलिये केवल उपासना योग ही मुक्ति का साधन है ॥ २ ॥ (यदा सर्वे०) जब इस मनुष्य का हृदय सब बुरे कामों से अलग हो के शुद्ध हो जाता है तभी वह अमृत अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होके आनन्दयुक्त होता है। (प्रश्न) क्या वह मोक्षपद कहीं स्थानान्तर वा पदार्थविशेष है? क्या वह किसी एक ही जगह में है वा सब जगह में?। (उत्तर) नहीं, ब्रह्म जो सर्वत्र व्यापक हो रहा है वही मोक्षपद कहाता है और मुक्त पुरुष उसी मोक्ष को प्राप्त होते हैं ॥ ३ ॥ तथा (यदा सर्वे०) जब जीव की अविद्यादि बन्धन की सब गांठें छिन्न भिन्न होके टूट जाती हैं तभी वह मुक्ति को प्राप्त होता है ॥ ४ ॥ (प्र०) जब मोक्ष में शरीर और इन्द्रियां नहीं रहतीं तब वह जीवात्मा व्यवहार को कैसे जानता और देख सकता? (उ०) (दैवेन०) वह जीव शुद्ध इन्द्रिय और शुद्धमन से इन आनन्दरूप कामों को देखता और भोगता भया उस में सदा रमण करता है, क्योंकि उस का मन और इन्द्रियां

प्रकाशस्वरूप होजाती हैं ॥ ५ ॥ (प्र०) वह मुक्त जीव सब सृष्टि में घूमता है अथवा कहीं एक ही ठिकाने बैठा रहता है ? (उ०) (य एते ब्रह्मलोके०) जो मुक्त पुरुष होते हैं वे ब्रह्मलोक अर्थात् परमेश्वर को प्राप्त होके और सब के आत्मा परमेश्वर की उपासना करते हुए उसी के आश्रय से रहते हैं। इसी कारण से उन का जाना आना सब लोकलोकान्तरों में होता है, उन के लिये कहीं रुकावट नहीं रहती, और उन के सब काम पूर्ण होजाते हैं, कोई काम अपूर्ण नहीं रहता। इसलिये जो मनुष्य पूर्वोक्त रीति से परमेश्वर को सब का आत्मा जान के उस की उपासना करता है वह अपनी सम्पूर्ण कामनाओं को प्राप्त होता है। यह बात प्रजापति परमेश्वर सब जीवों के लिये वेदों में बताता है ॥ ६ ॥ पूर्व प्रसङ्ग का अभिप्राय यह है कि मोक्ष की इच्छा सब जीवों को करनी चाहिये। (यदन्तरा०) जो कि आत्मा का भी अन्तर्यामी है उसी को ब्रह्म कहते हैं, और वही अमृत अर्थात् मोक्षस्वरूप है, और जैसे वह सब का अन्तर्यामी है वैसे उस का अन्तर्यामी कोई भी नहीं, किन्तु वह अपना अन्तर्यामी आपही है। ऐसे प्रजानाथ परमेश्वर के व्याप्तिरूप सभास्थान को मैं प्राप्त होऊं, और इस संसार में जो पूर्ण विद्वान् ब्राह्मण हैं उनके बीच में (यशः) अर्थात् कीर्त्ति को प्राप्त होऊं, तथा (राज्ञाम्) क्षत्रियों (विशाम्) अर्थात् व्यवहार में चतुर लोगों के बीच में यशस्वी होऊं। हे परमेश्वर ! मैं कीर्त्तियों का भी कीर्त्तिरूप होके आप को प्राप्त हुआ चाहता हूं। आप भी कृपा करके मुझ को सदा अपने समीप रखिये ॥ ७ ॥ अब मुक्ति के मार्ग का स्वरूप वर्णन करते हैं। (अणुः पन्था०) मुक्ति का जो मार्ग है सो अणु अर्थात् अत्यन्त सूक्ष्म है, (वितरः) उस मार्ग से सब दुःखों के पार सुगमता से पहुंच जाते हैं, जैसे दृढ़ नौका से समुद्र को तर जाते हैं। तथा (पुराणः) जो मुक्ति का मार्ग है वह प्राचीन है दूसरा कोई नहीं। मुझ को (स्पृष्टः) वह ईश्वर की कृपा से प्राप्त हुआ है। उसी मार्ग से विमुक्त मनुष्य सब दोष और दुःखों से छूटे हुए, (धीराः) अर्थात् विचारशील और ब्रह्मवित्, वेदविद्या और परमेश्वर के जाननेवाले जीव (उत्क्रम्य) अर्थात् अपने सत्य पुरुषार्थ से सब दुःखों का उल्लंघन करके, (स्वर्गं लोकं०) सुखस्वरूप ब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं ॥ ८ ॥ (तस्मिञ्छुक्ल०)

अर्थात् उसी मोक्षपद में (शुक्ल) श्वेत, (नील) शुद्ध घनश्याम, (पिङ्गल) पीला श्वेत, (हरित) हरा और (लोहित) लाल ये सब गुणवाले लोक लोकान्तर ज्ञान से प्रकाशित होते हैं। यही मोक्ष का मार्ग परमेश्वर के साथ समागम के पीछे प्राप्त होता है। उसी मार्ग से ब्रह्म का जानने वाला तथा (तैजसः०) शुद्धस्वरूप और पुण्य का करने वाला मनुष्य मोक्षसुख को प्राप्त होता है, अन्य प्रकार से नहीं ॥ ९ ॥ (प्राणस्य प्राण०) जो परमेश्वर प्राण का प्राण, चक्षु का चक्षु, श्रोत्र का श्रोत्र, अन्न का अन्न और मन का मन है, उस को जो विद्वान् निश्चय करके जानते हैं वे पुरातन और सब से श्रेष्ठ ब्रह्म को मन से प्राप्त होने के योग्य मोक्षसुख को प्राप्त होके आनन्द में रहते हैं, (नेह ना०) जिस सुख में किंचित् भी दुःख नहीं है ॥ १० ॥ (मृत्योः स मृत्यु०) जो अनेक ब्रह्म अर्थात् दो, तीन, चार, दश, बीस जानता है वा अनेक पदार्थों के संयोग से बना जानता है वह वारंवार मृत्यु अर्थात् जन्ममरण को प्राप्त होता है, क्योंकि वह ब्रह्म एक और चेतनमात्रस्वरूप ही है तथा प्रमादरहित और व्यापक हो के सब में स्थिर है। उस को मन से ही देखना होता है क्योंकि ब्रह्म आकाश से भी सूक्ष्म है ॥ ११ ॥ (विरजः परआ०) जो परमात्मा विक्षेपरहित, आकाश से परम सूक्ष्म, (अजः) अर्थात् जन्मरहित और महाध्रुव अर्थात् निश्चल है ज्ञानी लोग उसी को जान के अपनी बुद्धि को विशाल करें और वह इसी से ब्राह्मण कहाता है ॥ १२ ॥

स होवाच । एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्व ह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसङ्गमस्पर्शमगन्धमरसमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणममुखमनामागोत्रमजरममरमभयममृतमरजोऽशब्दमविवृतमसंवृतमपूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यं न तदश्नोति कञ्चन न तदश्नोति कश्चन ॥ १३ ॥ श० कां० १४ । अ० ६ । ब्रा० ८ । कं० ८ ॥ इति मुक्तैः प्राप्तव्यस्य मोक्षस्वरूपस्य सच्चिदानन्दादिलक्षणस्य परब्रह्मणः प्राप्त्या जीवस्सदासुखी भवतीति बोध्यम् ।

अथ वैदिकप्रमाणम्

ये यज्ञेन दक्षिणया समक्ता इन्द्रस्य सख्यममृतत्वमानश। तेभ्यो भद्रमङ्गिरसो वो अस्तु प्रति गृभ्णीत मानवं सुमेधसः॥ १॥ ऋ० अ० ८। अ० २। व० १। मं० १॥ स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा। यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त॥ २॥ य० अ० ३२। मं० १०॥

अविद्यास्मितेत्यारभ्याध्यैरयन्तेत्यन्तेन मोक्षस्वरूपनिरूपणमस्तीति वेदितव्यम्। एषामर्थः प्राकृतभाषायां प्रकाश्यते।

भाषार्थ

(स होवाच ए०) याज्ञवल्क्य कहते हैं, हे गार्गि ! जो परब्रह्म नाश, स्थूल, सूक्ष्म, लघु, लाल, चिक्कन, छाया, अन्धकार, वायु, आकाश, सङ्ग, शब्द, स्पर्श, गन्ध, रस, नेत्र, कर्ण, मन, तेज, प्राण, मुख, नाम, गोत्र, वृद्धावस्था, मरण, भय, आकार, विकाश, संकोच, पूर्व, अपर, भितर, बाह्य अर्थात् बाहर, इन सब दोष और गुणों से रहित मोक्षस्वरूप है, वह साकार पदार्थ के समान किसी को प्राप्त नहीं होता और न कोई उसको मूर्त्त द्रव्य के समान प्राप्त होता है, क्योंकि वह सब में परिपूर्ण, सब से अलग, अद्भुतस्वरूप परमेश्वर है, उस को प्राप्त होने वाला कोई नहीं हो सकता, जैसे मूर्त्त द्रव्य को चक्षुरादि इन्द्रियों से साक्षात् कर सकता है। क्योंकि वह सब इन्द्रियों के विषयों से अलग और सब इन्द्रियों का आत्मा है। तथा (ये यज्ञेन) अर्थात् पूर्वोक्त ज्ञानरूप यज्ञ और आत्मादि द्रव्यों की परमेश्वर को दक्षिणा देने से वे मुक्त लोग मोक्ष सुख में प्रसन्न रहते हैं। (इन्द्रस्य) जो परमेश्वर की सख्य अर्थात् मित्रता से मोक्षभाव को प्राप्त हो गये हैं उन्हीं के लिये भद्र नाम सब सुख नियत किये गये हैं। (आङ्गिरसः) अर्थात् उन के जो प्राण हैं वे (सुमेधसः) उन की बुद्धि को अत्यन्त बढ़ाने वाले होते हैं और उस मोक्षप्राप्त

मनुष्य को पूर्वमुक्त लोग अपने समीप आनन्द में रख लेते हैं और फिर वे परस्पर अपने ज्ञान से एक दूसरे को प्रीतिपूर्वक देखते और मिलते हैं। (स नो बन्धु०) सब मनुष्यों को यह जानना चाहिये कि वही परमेश्वर हमारा बन्धु अर्थात् दुःख का नाश करने वाला, (जनिता) सब सुखों का उत्पन्न और पालन करने वाला है। तथा वही सब कामों को पूर्ण करता और सब लोकों को जानने वाला है कि जिस में देव अर्थात् विद्वान् लोग मोक्ष को प्राप्त होके सदा आनन्द में रहते हैं और वे तीसरे धाम अर्थात् शुद्ध सत्त्व से सहित होके सर्वोत्तम सुख में सदा स्वच्छन्दता से रमण करते हैं ॥ २ ॥ इस प्रकार संक्षेप से मुक्तिविषय कुछ तो वर्णन कर दिया और कुछ आगे भी कहीं २ करेंगे, सो जानलेना। जैसे (वेदाहमेतं) इस मन्त्र में भी मुक्ति का विषय कहा गया है।

इति मुक्तिविषयः संक्षेपतः

अथ नौविमानादिविद्याविषयस्संक्षेपतः

तुग्रो ह भुज्युमश्विनोदमेघे रयिं न कश्चिन्ममृवाँ अवाहाः। तमूहथुर्नौभिरात्मन्वतीभिरन्तरिक्षप्रुद्भिरपोदकाभिः ॥ १ ॥
तिस्रः क्षपस्त्रिरहातिव्रजद्भिर्नासत्या भुज्युमूहथुः पतङ्गैः। समुद्रस्य धन्वन्नार्द्रस्य पारे त्रिभी रथैः शतपद्भिः षडश्वैः ॥ २ ॥
ऋ० अ० १। अ० ८। व० ८। मं० ३। ४॥

भाष्यम्

एषामभिप्रायः। तुग्रो हेत्यादिषु मन्त्रेषु शिल्पविद्या विधीयत इति। (तुग्रो ह०) तुजि हिंसाबलादाननिकेतनेषु, अस्माद्धातोरौणादिके रक्प्रत्यये कृते तुग्र इति पदं जायते। यः कश्चिद् धनाभिलाषी भवेत् स (रयिं) धनं कामयमानो (भुज्युं) पालनभोगमयं धनादिपदार्थभोगमिच्छन् विजयं च, पदार्थविद्यया स्वाभिलाषं प्राप्नुयात्। स च (अश्विना०) पृथिवीमयैः काष्ठ-

लोष्ठादिभिः पदार्थैर्नावं रचयित्वाऽग्निजलादिप्रयोगेण (उदमेघे) समुद्रे गमयेदागमयेच्च, तेन द्रव्यादिसिद्धिं साधयेत् । एवं कुर्वन् (न काश्चिन् ममृवान्) योगक्षेमाविरहः सन् न मरणं कदाचित् प्राप्नोति, कुतः, तस्य कृतपुरुषार्थत्वात् । अतो नावं (अवाहाः) अर्थात् समुद्रे द्वीपान्तरगमनं प्रति नावो वाहनावहने परमप्रयत्नेन नित्यं कुर्य्यात् । कौ साधयित्वा ? (अश्विना) । द्यौरिति द्योतनात्मकाग्निप्रयोगेण पृथिव्या पृथिवीमयेनायस्ताम्ररजतधातुकाष्ठादिमयेन चेयं क्रिया साधनीया । अश्विनौ युवां तौ साधतौ द्वौ नावादिकं यानं (ऊहथुः) देशान्तरगमनं सम्यक्सुखेन प्रापयतः । पुरुषव्यत्ययेनात्र प्रथमपुरुषस्थाने मध्यमपुरुषप्रयोगः । कथंभूतैर्यानैः ? (नौभिः) समुद्रे गमनागमनहेतुरूपाभिः । (आत्मन्वतीभिः), स्वयं स्थिताभिः स्वात्मीयस्थिताभिर्वा । राजपुरुषैर्व्यापारिभिश्च मनुष्यैर्व्यवहारार्थं समुद्रमार्गेण तासां गमनागमने नित्यं कार्य्ये इति शेषः । तथा ताभ्यामुक्तप्रयत्नाभ्यां भूयांस्यन्यान्यपि विमानादीनि साधनीयानि । एवमेव (अन्तरिक्षप्रुद्भिः) अन्तरिक्षं प्रति गन्तृभिर्विमानाख्ययानैः साधितैः सर्वैर्मनुष्यैः परमैश्वर्य्यं सम्यक् प्रापणीयम् । पुनः कथम्भूताभिर्नौभिः ? (अपोदकाभिः) अपगतं दूरीकृतं जललेपो यासां ता अपोदका नावः, अर्थात् सचिक्कनाः । ताभिः, उदरे जलागमनरहिताभिश्च समुद्रे गमनं कुर्य्यात् । तथैव भूयानैर्भूमौ, जलयानैर्जले, अन्तरिक्षयानैश्चान्तरिक्षे चेति त्रिविधं यानं रचयित्वा, जलभूम्याकाशगमनं यथावत् कुर्य्यादिति ॥ १ ॥ अत्र प्रमाणम् । अथातो द्युस्थाना देवतास्तासामश्विनौ प्रथमागामिनौ भवतोऽश्विनौ यद् व्यश्नुवाते सर्वं, रसेनान्यो ज्योतिषाऽन्यो,ऽश्वैरश्विनावित्यौर्णवाभस्तत्कावश्विनौ द्यावापृथिव्यावित्येकेऽहोरात्रावित्येके सूर्य्याचन्द्रमसावित्येके ॥ निरु० अ० १२ । खं० १ ॥ तथाश्विनौ चापि भर्त्तारौ जर्भरीभर्त्तारावित्यर्थस्तुर्फरी तू हन्तारौ ॥ उदन्यजेवेत्युदकजे इव रत्ने सामुद्रे ॥ निरु० अ० १३ । खं० ५ ॥ एतैः प्रमाणैरेतत्सिध्यति वायुजलाग्निपृथिवीविकारकलाकौशलसाधनेन त्रिविधं यानं रचनीयमिति ॥ १ ॥ (तिस्रः क्षपास्त्रिरहा०) कथम्भूतैर्नावादिभिः ? तिसृभी रात्रिभिस्त्रिभिर्दिनैः, (आर्द्रस्य) जलेन पूर्णस्य समुद्रस्य तथा (धन्वनः)

स्थलस्यान्तरिक्षस्य पारे, (अतिव्रजाद्भिः) अत्यन्तवेगवद्भिः । पुनः कथम्भूतैः ? (पतङ्गैः) प्रतिपात वेगेन गन्तृभिः, तथा (त्रिभीरथैः) त्रिभी रमणीयसाधनैः, (शतपाद्भिः) शतेनासंख्यातेन वेगेन पद्भ्यां यथा गच्छेत्तादृशैरत्यन्तवेगवद्भिः, (षडश्वैः) षडश्वा आशुगमनहेतवो यन्त्राण्यग्निस्थानानि वा येषु तानि षडश्वानि तैः षडश्वैर्यानैस्त्रिषु मार्गेषु सुखेन गन्तव्यमिति शेषः । तेषां यानानां सिद्धिः केन द्रव्येण भवतीत्यत्राह ? । (नासत्या) पूर्वोक्ताभ्यामश्विभ्याम् । अत एवोक्तं नासत्यौ द्यावापृथिव्यौ । तानि यानानि (ऊहथुः) इत्यत्र पुरुषव्यत्ययेन प्रथमस्य स्थाने मध्यमः, प्रत्यक्षविषयवाचकत्वात् । अत्र प्रमाणम् । व्यत्ययो बहुलम् । अष्टाध्याय्याम् ॥ अ० ३ । पा० १* ॥ अत्राह महाभाष्यकारः ॥ सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणां कालहलच्स्वरकर्तृयङां च । व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां सोऽपि च सिध्यति बाहुलकेनेति महाभाष्यप्रामाण्यात् ॥ तावेव नासत्यावश्विनौ सम्यग् यानानि वहत इत्यत्र सामान्यकाले लिड्विधानात् ऊहथुरित्युक्तम् । तावेव तेषां यानानां मुख्ये साधने स्तः । एवं कुर्वतो भुज्युमुत्तमसुखभोगं प्राप्नुयुर्नान्यथेति ॥ २ ॥

भाषार्थ

अब मुक्ति के आगे समुद्र, भूमि और अन्तरिक्ष में शीघ्र चलने के लिये यानविद्या लिखते हैं, जैसी कि वेदों में लिखी है । (तुग्रो ह०) तुजि धातु से रक् प्रत्यय करने से तुग्र शब्द सिद्ध होता है । उसका अर्थ हिंसक, बलवान् ग्रहण करने वाला और स्थान वाला है । क्योंकि वैदिक शब्द सामान्य अर्थ में वर्त्तमान हैं । जो शत्रु को हनन करके अपने विजय बल और धनादि पदार्थ और जिस २ स्थान में सवारियों से अत्यन्त सुख का ग्रहण किया चाहे उन सबों का नाम तुग्र है । (रयिं) जो मनुष्य उत्तम विद्या, सुवर्ण आदि पदार्थों की कामनावाला है उसका जिनसे पालन और भोग होता है उन धनादि पदार्थों की प्राप्ति, भोग और विजय की इच्छा को आगे लिखे हुए प्रकारों से पूर्ण करे । (अश्विना) जो कोई सोना चांदी तांबा, पीतल लोहा और लकड़ी आदि

* सू० ८९ ।

पदार्थों से अनेक प्रकार की कलायुक्त नौकाओं को रच के उनमें अग्नि, वायु और जल आदि का यथावत् प्रयोग कर और पदार्थों को भर के व्यापार के लिये (उदमेघे) समुद्र और नद आदि में (अवाहाः) आवे जावे तो उसके द्रव्यादि पदार्थों की उन्नति होती है। जो कोई इस प्रकार से पुरुषार्थ करता है वह (न कश्चिन्ममृवान्) पदार्थों की प्राप्ति और उनकी रक्षासहित होकर दुःख से मरण को प्राप्त कभी नहीं होता, क्योंकि वह पुरुषार्थी होके आलसी नहीं रहता। वे नौका आदि किन को सिद्ध करने से होते हैं? अर्थात् जो अग्नि, वायु और पृथिव्यादि पदार्थों में शीघ्रगमनादि गुण और अश्वि नाम से सिद्ध हैं वे ही यानों को धारण और प्रेरणा आदि अपने गुणों से वेगवान् करदेते हैं। वेदोक्त युक्ति से सिद्ध किये हुए नाव, विमान और रथ अर्थात् भूमि में चलने वाली सवारियों का (ऊहथुः) जाना आना जिन पदार्थों से देश देशान्तर में सुख से होता है। यहां पुरुषव्यत्यय से (ऊहतुः) इस के स्थान में (ऊहथुः) ऐसा प्रयोग किया गया है। उनसे किस २ प्रकार की सवारी सिद्ध होती हैं सो लिखते हैं। (नौभिः) अर्थात् समुद्र में सुख से जाने आने के लिये अत्यन्त उत्तम नौका होती हैं। (आत्मन्वतीभिः) जिनसे उनके मालिक अथवा नौकर चला के जाते आते रहें। व्यवहारी और राजपुरुष लोग इन सवारियों से समुद्र में जावें आवें। तथा (अन्तरिक्षप्रुद्भिः) अर्थात् जिनसे आकाश में जाने आने की क्रिया सिद्ध होती है। जिनका नाम विमान शब्द करके प्रसिद्ध है। तथा (अपोदकाभिः) वे सवारी ऐसी शुद्ध और चिक्कन होनी चाहियें जो जल से न गलें और न जल्दी टूटें फूटें। इन तीन प्रकार की सवारियों की जो रीति पहिले कह आये और जो आगे कहेंगे उसी के अनुसार बराबर उनको सिद्ध करें। इस अर्थ में निरुक्त का प्रमाण संस्कृत में लिखा है सो देख लेना। उस का अर्थ यह है (अथातो द्युस्थानादे०) वायु और अग्नि आदि का नाम अश्वि है, क्योंकि सब पदार्थों में धनञ्जयरूप करके वायु और विद्युत् रूप से अग्नि ये दोनों व्याप्त हो रहे हैं। तथा जल और अग्नि का नाम भी अश्वि है, क्योंकि अग्नि ज्योति से युक्त और जल रस से युक्त हो के व्याप्त हो रहा है। (अश्वैः) अर्थात् वे वेगादि गुणों से भी युक्त हैं। जिन पुरुषों को विमान आदि सवारियों की सिद्धि की इच्छा

हो वे वायु, अग्नि और जल से उन को सिद्ध करें यह और्णनाभ आचार्य्य का मत है। तथा कई एक ऋषियों का ऐसा मत है कि अग्नि की ज्वाला और पृथिवी का नाम अश्वि है। पृथिवी के विकार काष्ठ और लोहा आदि के कलायन्त्र चलाने से भी अनेक प्रकार के वेगादि गुण सवारियों वा अन्य कारीगरियों में किये जाते हैं। तथा कई एक विद्वानों का ऐसा मत है कि (अहोरात्रौ) अर्थात् दिन रात्रि का नाम अश्वि है, क्योंकि इन से भी सब पदार्थों के संयोग और वियोग होने के कारण से वेग उत्पन्न होते हैं, अर्थात् जैसे शरीर और ओषधि आदि में वृद्धि और क्षय होते हैं। इसी प्रकार कई एक शिल्पविद्या जानने वाले विद्वानों का ऐसा भी मत है कि (सूर्य्याचन्द्रमसौ) सूर्य्य और चन्द्रमा को अग्नि कहते हैं, क्योंकि सूर्य्य और चन्द्रमा के आकर्षणादि गुणों से जगत् के पृथिवी आदि पदार्थों में संयोग वियोग, वृद्धि क्षय आदि श्रेष्ठ गुण उत्पन्न होते हैं। तथा (जर्भरी) और (तुर्फरी) ये दोनों पूर्वोक्त अश्वि के नाम हैं। (जर्भरी) अर्थात् विमान आदि सवारियों के धारण करने वाले और (तुर्फरी) अर्थात् कलायन्त्रों के हनन से वायु, अग्नि, जल और पृथिवी के युक्तिपूर्वक प्रयोग से विमान आदि सवारियों का धारण पोषण और वेग होते हैं। जैसे घोड़े और बैल चाबुक मारने से शीघ्र चलते हैं वैसे ही कलाकौशल से धारण और वायु आदि को कलाओं करके प्रेरने से सब प्रकार की शिल्पविद्या सिद्ध होती है। (उदन्यजे) अर्थात् वायु, अग्नि और जल के प्रयोग से समुद्र में सुख करके गमन हो सकता है ॥ १ ॥ (तिस्रः क्षपस्त्रि०) नासत्या० जो पूर्वोक्त अश्वि कह आये हैं वे (भुज्युमूहथुः) अनेक प्रकार के भोगों को प्राप्त करते हैं, क्योंकि जिन के वेग से तीन दिन रात में (समुद्र) सागर, (धन्वन्०) आकाश और भूमि के पार नौका विमान और रथ करके (व्रजद्भिः०) सुखपूर्वक पार जाने में समर्थ होते हैं, (त्रिभीरथैः) अर्थात् पूर्वोक्त तीन प्रकार के वाहनों से गमनागमन करना चाहिये। तथा (षडश्वैः) छः अश्व अर्थात् उन में अग्नि और जल के छः घर बनाने चाहियें। जैसे उन यानों से अनेक प्रकार के गमनागमन हो सकें तथा (पतङ्गैः) जिन से तीन प्रकार के मार्गों में यथावत् गमन हो सकता है ॥ २ ॥

ओ३म्

दयानन्द ग्रन्थमाला

शताब्दीसंस्करण

श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य्य श्री स्वामी
दयानन्द सरस्वती विरचित

(द्वितीय भाग)

आर्यवत्सर १,९७,२९,४९,०२५

दयानन्द जन्म-संवत् १००

संवत् १९८१ विक्रमीय, सन् १९२५ ईस्वी.

प्रथमावृत्ति १०,००० } { दोनों भागों का मूल्य ७)

पुस्तक-सूची

चित्र-सूची

* महर्षि श्री स्वामी दयानन्दजी सरस्वती की जन्मशताब्दी के पूर्व के स्वर्गवासी सभासद्

शताब्दी-संस्करण

संस्कारविधि:

पृष्ठ १—२५८.

संस्कारावधिः

आवृत्ति		सन् ई०		संख्या
प्रथम	...	१८७७	...	१०००
द्वितीय	...	१८८४	...	३०००
तृतीय	...	१८९१	...	५०००
चतुर्थ	...	१८९९	...	५०००
पंचम	...	१९०३	...	५०००
षष्ठ	...	१९०६	...	५०००
सप्तम	...	१९०८	...	५०००
अष्टम	...	१९११	...	५०००
नवम	...	१९१३	...	६०००
दशम	...	१९१५	...	६०००
एकादश	...	१९१८	...	६०००
द्वादश	...	१९२१	...	१०,०००
शताब्दीसंस्करण		१९२४	...	१०,०००
				७२,०००

॥ ओ३म् ॥

नमो नमः सर्वविधात्रे जगदीश्वराय

अथ संस्कारविधेर्भूमिका

सब सज्जन लोगों को विदित होवे कि मैंने बहुत सज्जनों के अनुरोध करने से श्रीयुत महाराजे विक्रमादित्य के संवत् १९३२ कार्त्तिक कृष्णपक्ष ३० शनिवार के दिन संस्कारविधि का प्रथमारम्भ किया था। उसमें संस्कृतपाठ एकत्र और भाषापाठ एकत्र लिखा था। इस कारण संस्कार करनेवाले मनुष्यों को संस्कृत और भाषा दूर २ होने से कठिनता पड़ती थी। और जो १००० (एक हज़ार) पुस्तक छपे थे उनमें से अब एक भी नहीं रहा। इसलिये श्रीयुत महाराजे विक्रमादित्य के संवत् १९४० आषाढ़ बदि १३ रविवार के दिन पुनः संशोधन करके छपवाने के लिये विचार किया। अब की वार जिस २ संस्कार का उपदेशार्थ प्रमाण वचन और प्रयोजन है वह २ संस्कार के पूर्व लिखा जायगा, तत्पश्चात् जो २ संस्कार में कर्तव्य विधि है उस २ को क्रम से लिख कर पुनः उस संस्कार का शेष विषय जो कि दूसरे संस्कार तक करना चाहिये वह लिखा है। और जो विषय प्रथम अधिक लिखा था उसमें से अत्यन्त उपयोगी न जानकर छोड़ भी दिया है। और अब की वार जो २ अत्यन्त उपयोगी विषय है वह २ अधिक भी लिखा है। इसमें यह न समझा जावे कि प्रथम विषय युक्त न था और युक्त छूट गया था उसका संशोधन किया है, किन्तु उन विषयों का यथावत् क्रमबद्ध संस्कृत के सूत्रों में प्रथम लेख किया था। उसमें सब लोगों की बुद्धि कृतकारी नहीं होती थी इसलिये अब सुगम कर दिया

है क्योंकि संस्कृतस्थ विषय विद्वान् लोग समझ सकते थे साधारण नहीं। इसमें सामान्य विषय जो कि सब संस्कारों के आदि और उचित समय तथा स्थान में अवश्य करना चाहिये वह प्रथम सामान्यप्रकरण में लिख दिया है और जो मन्त्र वा क्रिया सामान्यप्रकरण की संस्कारों में अपेक्षित है उसके पृष्ठ पंक्ति की प्रतीक उन कर्त्तव्य संस्कारों में लिखी है कि जिसको देखके सामान्यविधि की क्रिया वहां सुगमता से कर सकें और सामान्यप्रकरण का विधि भी सामान्यप्रकरण में लिख दिया है अर्थात् वहां का विधि करके संस्कार का कर्त्तव्यकर्म करे। और जो सामान्यप्रकरण का विधि लिखा है वह एक स्थान से अनेक स्थलों में अनेक वार करना होगा, जैसे अग्न्याधान प्रत्येक संस्कार में कर्त्तव्य है वैसे वह सामान्यप्रकरण में एकत्र लिखने से सब संस्कारों में वारम्वार न लिखना पड़ेगा। इसमें प्रथम ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना, पुनः स्वस्तिवाचन, शान्तिपाठ तदनन्तर सामान्यप्रकरण पश्चात् गर्भाधानादि अन्त्येष्टि पर्यन्त सोलह संस्कार क्रमशः लिखे हैं और यहां सब मन्त्रों का अर्थ नहीं लिखा है क्योंकि इसमें कर्मकाण्ड का विधान है इसलिये विशेष कर क्रिया विधान लिखा है। और जहां २ अर्थ करना आवश्यक है वहां २ अर्थ भी कर दिया है। और मन्त्रों के यथार्थ अर्थ मेरे किये वेदभाष्य में लिखे ही हैं, जो देखना चाहें वहां से देख लेवें। यहां तो केवल क्रिया करनी ही मुख्य है जिस करके शरीर और आत्मा सुसंस्कृत होने से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त हो सकते हैं और सन्तान अत्यन्त योग्य होते हैं इसलिये संस्कारों का करना सब मनुष्यों को अति उचित है॥

इति भूमिका

स्वामी दयानन्दसरस्वती.

* ओ३म् *

नमो नमः सर्वविधात्रे जगदीश्वराय

अथ संस्कारविधिं वक्ष्यामः

ओं सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै । तेजस्विनावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै । ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥ तैत्तिरीय आरण्यके । अष्टमप्रपाठके । प्रथमानुवाके ॥

सर्वात्मा सच्चिदानन्दो विश्वादिर्विश्वकृद्विभुः ।
भूयात्तमां सहायो नस्सर्वेशो न्यायकृच्छुचिः ॥ १ ॥
गर्भाद्या मृत्युपर्य्यन्ताः संस्काराः षोडशैव हि ।
वक्ष्यन्ते तं नमस्कृत्यानन्तविद्यं परेश्वरम् ॥ २ ॥
वेदादिशास्त्रसिद्धान्तमाध्याय परमादरात् ।
आर्यैतिह्यं पुरस्कृत्य शरीरात्मविशुद्धये ॥ ३ ॥
संस्कारैस्संस्कृतं यद्यन्मेध्यमत्र तदुच्यते ।
असंस्कृतं तु यल्लोके तदमेध्यं प्रकीर्त्यते ॥ ४ ॥
अतः संस्कारकरणे क्रियतामुद्यमो बुधैः ।
शिक्षयौषधिभिर्नित्यं सर्वथा सुखवर्द्धनः ॥ ५ ॥
कृतानीह विधानानि ग्रन्थग्रन्थनतत्परैः ।
वेदविज्ञानविरहैः स्वार्थिभिः परिमोहितैः ॥ ६ ॥
प्रमाणैस्तान्यनादृत्य क्रियते वेदमानतः ।
जनानां सुखबोधाय संस्कारविधिरुत्तमः ॥ ७ ॥

बहुभिः सज्जनैस्सम्यङ्मानवप्रियकारकैः ।
प्रवृत्तो ग्रन्थकरणे क्रमशोऽहं नियोजितः ॥ ८ ॥
दयाया आनन्दो विलसति परो ब्रह्मविदितः,
सरस्वत्यस्याग्रे निवसति मुदा सत्यनिलया ।
इयं ख्यातिर्यस्य प्रततसुगुणा हीशशरणाऽ-
स्त्यनेनायं ग्रन्थो रचित इति बोद्धव्यमनघाः ॥ ९ ॥
चक्षुरामाङ्कचन्द्रेब्दे कार्तिकस्यासिते दले ।
अमायां शनिवारेऽयं ग्रन्थारम्भः कृतो मया ॥ १० ॥
विन्दुवेदाङ्कचन्द्रेब्दे शुचौ मासेऽसिते दले ।
त्रयोदश्यां रवौ वारे पुनः संस्करणं कृतम् ॥ ११ ॥

सब संस्कारों के आदि में निम्नलिखित मन्त्रों का पाठ और अर्थ द्वारा एक विद्वान् वा बुद्धिमान् पुरुष ईश्वर की स्तुति प्रार्थना और उपासना स्थिरचित्त होकर परमात्मा में ध्यान लगा के करे और सब लोग उसमें ध्यान लगाकर सुनें और विचारें ॥

अथेश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासनाः

ओ३म् विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव ।
यद्भद्रन्तन्न आसुव ॥ १ ॥ यजु० अ० ३० । मं० ३ ॥

अर्थः—हे (सवितः) सकल जगत् के उत्पत्तिकर्त्ता समग्र ऐश्वर्ययुक्त (देव) शुद्धस्वरूप सब सुखों के दाता परमेश्वर आप कृपा करके (नः) हमारे (विश्वानि) सम्पूर्ण (दुरितानि) दुर्गुण, दुर्व्यसन और दुःखों को (परा, सुव) दूर कर दीजिये (यत्) जो (भद्रम्) कल्याणकारक गुण, कर्म, स्वभाव और पदार्थ है (तत्) वह सब हम को (आ, सुव) प्राप्त कीजिये ॥ १ ॥

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ २ ॥
यजु० अ० १३ । मं० ४ ॥

अर्थः—जो (हिरण्यगर्भः) स्वप्रकाशस्वरूप और जिसने प्रकाश करनेहारे सूर्य चन्द्रमादि पदार्थ उत्पन्न करके धारण किये हैं जो (भूतस्य) उत्पन्न हुए सम्पूर्ण जगत् का (जातः) प्रसिद्ध (पतिः) स्वामी (एकः) एक ही चेतनस्वरूप (आसीत्) था जो (अग्रे) सब जगत् के उत्पन्न होने से पूर्व (समवर्त्तत) वर्तमान था (सः) सो (इमाम्) इस (पृथिवीम्) भूमि (उत) और (द्याम्) सूर्यादि को (दाधार) धारण कर रहा है हम लोग उस (कस्मै) सुखस्वरूप (देवाय) शुद्ध परमात्मा के लिये (हविषा) ग्रहण करने योग्य योगाभ्यास और अतिप्रेम से (विधेम) विशेष भक्ति किया करें ॥ २ ॥

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः ।
यस्य च्छायाऽमृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ३ ॥
य० अ० २५ । मं० १३ ॥

अर्थः—(यः) जो (आत्मदाः) आत्मज्ञान का दाता (बलदाः) शरीर, आत्मा और समाज के बल का देनेहारा (यस्य) जिसकी (विश्वे) सब (देवाः) विद्वान् लोग (उपासते) उपासना करते हैं और (यस्य) जिसका (प्रशिषम्) प्रत्यक्ष सत्यस्वरूप शासन और न्याय अर्थात् शिक्षा को मानते हैं (यस्य) जिसका (छाया) आश्रय ही (अमृतम्) मोक्षसुखदायक है (यस्य) जिसका न मानना अर्थात् भक्ति न करना ही (मृत्युः) मृत्यु आदि दुःख का हेतु है हम लोग उस (कस्मै) सुखस्वरूप (देवाय) सकल ज्ञान के देनेहारे परमात्मा की प्राप्ति के लिये (हविषा) आत्मा और अन्तःकरण से (विधेम) भक्ति अर्थात् उसी की आज्ञा पालन करने में तत्पर रहें ॥ ३ ॥

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव ।
य ईशेऽअस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ४ ॥
यजु० अ० २३ । मं० ३ ॥

अर्थः—(यः) जो (प्राणतः) प्राणवाले और (निमिषतः) अप्राणिरूप (जगतः) जगत् का (महित्वा) अपने अनन्त महिमा से (एक, इत) एक

ही (राजा) विराजमान राजा (बभूव) है (यः) जो (अस्य) इस (द्विपदः) मनुष्यादि और (चतुष्पदः) गौ आदि प्राणियों के शरीर की (ईशे) रचना करता है हम उस (कस्मै) सुखस्वरूप (देवाय) सकलैश्वर्य के देनेहारे परमात्मा के लिये (हविषा) अपनी सकल उत्तम सामग्री से (विधेम) विशेष भक्ति करें ॥ ४ ॥

येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्वः स्तभितं येन नाकः ।
यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ५ ॥
य० अ० ३२ । मं० ६ ॥

अर्थः—(येन) जिस परमात्मा ने (उग्रा) तीक्ष्ण स्वभाववाले (द्यौः) सूर्य आदि (च) और (पृथिवी) भूमि का (दृढा) धारण (येन) जिस जगदीश्वर ने (स्वः) सुख को (स्तभितम्) धारण और (येन) जिस ईश्वर ने (नाकः) दुःख रहित मोक्ष को धारण किया है (यः) जो (अन्तरिक्षे) आकाश में (रजसः) सब लोकलोकान्तरों को (विमानः) विशेष मानयुक्त अर्थात् जैसे आकाश में पक्षी उड़ते हैं वैसे सब लोकों का निर्माण करता और भ्रमण कराता है हम लोग उस (कस्मै) सुखदायक (देवाय) कामना करने के योग्य परब्रह्म की प्राप्ति के लिये (हविषा) सब सामर्थ्य से (विधेम) विशेष भक्ति करें ॥ ५ ॥

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव ।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥ ६ ॥
ऋ० मं० १० । सू० १२१ । मं० १० ॥

अर्थः—हे (प्रजापते) सब प्रजा के स्वामी परमात्मा (त्वत्) आप से (अन्यः) भिन्न दूसरा कोई (ता) उन (एतानि) इन (विश्वा) सब (जातानि) उत्पन्न हुए जड़ चेतनादिकों को (न) नहीं (परि, बभूव) तिरस्कार करता है अर्थात् आप सर्वोपरि हैं (यत्कामाः) जिस २ पदार्थ की कामना वाले हम लोग (ते) आपका (जुहुमः) आश्रय लेवें और वाञ्छा करें (तत्)

उस २ की कामना (नः) हमारी सिद्ध (अस्तु) होवे जिससे (वयम्) हम लोग (रयीणाम्) धनैश्वर्यों के (पतयः) स्वामी (स्याम) होवें ॥ ६ ॥

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।
यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त ॥ ७ ॥
यजु० अ० ३२ । मं० १० ॥

अर्थः—हे मनुष्यो (सः) वह परमात्मा (नः) अपने लोगों को (बन्धुः) भ्राता के समान सुखदायक (जनिता) सकल जगत् का उत्पादक (सः) वह (विधाता) सब कामों का पूर्ण करनेहारा (विश्वा) संपूर्ण (भुवनानि) लोक-मात्र और (धामानि) नाम, स्थान जन्मों को (वेद) जानता है और (यत्र) जिस (तृतीये) सांसारिक सुख दुःख से रहित नित्यानन्दयुक्त (धामन्) मोक्षस्वरूप धारण करने हारे परमात्मा में (अमृतम्) मोक्ष को (आनशानाः) प्राप्त होके (देवाः) विद्वान् लोग (अध्यैरयन्त) स्वेच्छापूर्वक विचरते हैं वही परमात्मा अपना गुरु, आचार्य, राजा और न्यायाधीश है अपने लोग मिल के सदा उसकी भक्ति किया करें ॥ ७ ॥

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नम उक्तिं विधेम ॥ ८ ॥
यजु० अ० ४० । मं० १६ ॥

अर्थः—हे (अग्ने) स्वप्रकाश ज्ञानस्वरूप सब जगत् के प्रकाश करनेहारे (देव) सकल सुखदाता परमेश्वर आप जिससे (विद्वान्) संपूर्ण विद्यायुक्त हैं कृपा करके (अस्मान्) हम लोगों को (राये) विज्ञान वा राज्यादि ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये (सुपथा) अच्छे धर्मयुक्त आप्त लोगों के मार्ग से (विश्वानि) संपूर्ण (वयुनानि) प्रज्ञान और उत्तम कर्म (नय) प्राप्त कराइये और (अस्मत्) हम से (जुहुराणम्) कुटिलतायुक्त (एनः) पापरूप कर्म को (युयोधि) दूर कीजिये इस कारण हम लोग (ते) आपकी (भूयिष्ठाम्) बहुत प्रकार की

स्तुतिरूप (नम उक्तिम्) नम्रतापूर्वक प्रशंसा (विधेम) सदा किया करें और सर्वदा आनन्द में रहें ॥ ८ ॥

इतीश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासनाप्रकरणम्

अथ स्वस्तिवाचनम्

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् । होतारं रत्नधातमम् ॥ १ ॥ स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव । सचस्वा नः स्वस्तये ॥ २ ॥ ऋग्वेद मं० १ । सू० १ । मं० १ । ६ ॥ स्वस्ति नो मिमीतामश्विना भगः स्वस्ति देव्यदितिरनर्वणः । स्वस्ति पूषा असुरो दधातु नः स्वस्ति द्यावापृथिवी सुचेतुना ॥ ३ ॥ स्वस्तये वायुमुप ब्रवामहै सोमं स्वस्ति भुवनस्य यस्पतिः । बृहस्पतिं सर्वगणं स्वस्तये स्वस्तय आदित्यासो भवन्तु नः ॥ ४ ॥ विश्वे देवा नो अद्या स्वस्तये वैश्वानरो वसुरग्निः स्वस्तये । देवा अवन्त्वृभवः स्वस्तये स्वस्ति नो रुद्रः पात्वंहसः ॥ ५ ॥ स्वस्ति मित्रावरुणा स्वस्ति पथ्ये रेवति । स्वस्ति न इन्द्रश्चाग्निश्च स्वस्ति नो अदिते कृधि ॥ ६ ॥ स्वस्ति पन्थामनुचरेम सूर्याचन्द्रमसाविव । पुनर्ददताघ्नता जानता सङ्गमेमहि ॥ ७ ॥ ऋ० मण्ड० ५ । सू० ५१ ॥

ये देवानां यज्ञिया यज्ञियानां मनोर्यजत्रा अमृता ऋतज्ञाः । ते नो रासन्तामुरुगायमद्य यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ८ ॥ ऋ० मं० ७ । अ० ३ । सू० ३५ ॥

येभ्यो माता मधुमत्पिन्वते पयः पीयूषं द्यौरदितिरद्रिबर्हाः । उक्थशुष्मान् वृषभरान्त्स्वप्नसस्ताँ आदित्याँ अनुमदा स्वस्तये ॥ ९ ॥ नृचक्षसो अनिमिषन्तो अर्हणा बृहद्देवासो अमृतत्वमानशुः । ज्योतीरथा अहिमाया अनागसो दिवो वर्ष्माणं वसते स्वस्तये ॥ १० ॥ सम्राजो ये सुवृधो यज्ञमाययुरपरिह्वृता दधिरे दिवि क्षयम् । ताँ आ विवास नमसा सुवृक्तिभिर्महो

आदित्याँ अदितिं स्वस्तये ॥ ११ ॥ को वः स्तोमं राधति यं जुजोषथ विश्वे देवासो मनुषो यतिष्ठन । को वोऽध्वरं तु विजाता अरं करद्यो नः पर्षदत्यंहः स्वस्तये ॥ १२ ॥ येभ्यो होत्रां प्रथमामायेजे मनुः समिद्धाग्निर्मनसा सप्त-होतृभिः । त आदित्या अभयं शर्म यच्छत सुगा नः कर्त सुपथा स्वस्तये ॥ १३ ॥ य ईशिरे भुवनस्य प्रचेतसो विश्वस्य स्थातुर्जगतश्च मन्तवः । ते नः कृतादकृतादेनसस्पर्यद्या देवासः पिपृता स्वस्तये ॥ १४ ॥ भरेष्विन्द्रं सुहवं हवामहेऽंहोमुचं सुकृतं दैव्यं जनम् । अग्निं मित्रं वरुणं सातये भगं द्यावापृथिवी मरुतः स्वस्तये ॥ १५ ॥ सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम् । दैवीं नावं स्वरित्रामनागसमस्रवन्तीमा रुहेमा स्वस्तये ॥ १६ ॥ विश्वे यजत्रा अधि वोचतोतये त्रायध्वं नो दुरेवाया अभिह्रुतः । सत्यया वो देवहूत्या हुवेम शृण्वतो देवा अवसे स्वस्तये ॥ १७ ॥ अपामीवामप विश्वामनाहुतिमपारातिं दुर्विदत्रामघायतः । आरे देवा द्वेषो अस्मद्युयोतनोरु णः शर्म यच्छता स्वस्तये ॥ १८ ॥ अरिष्टः स मर्तो विश्व एधते प्र प्रजाभिर्जायते धर्मणस्परि । यमादित्यासो नयथा सुनीतिभिरति विश्वानि दुरिता स्वस्तये ॥ १९ ॥ यं देवासोऽवथ वाजसातौ यं शूरसाता मरुतो हिते धने । प्रातर्यावाणं रथमिन्द्र सानसिमरिष्यन्तमा रुहेमा स्वस्तये ॥ २० ॥ स्वस्ति नः पथ्यासु धन्वसु स्वस्त्यप्सु वृजने स्वर्वति । स्वस्ति नः पुत्रकृथेषु योनिषु स्वस्ति राये मरुतो दधातन ॥ २१ ॥ स्वस्ति रिद्धि प्रपथे श्रेष्ठा रेक्णस्वत्यभि या वाममेति । सा नो अमा सो अरणे नि पातु स्वावेशा भवतु देवगोपाः ॥ २२ ॥ ऋ० मं० १० । सू० ६३ ॥

इषे त्वोर्जे त्वा वायव स्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मण आप्यायध्वमघ्न्या इन्द्राय भागं प्रजावतीरनमीवा अयक्ष्मा मा वस्तेन ईशत माघशंसो ध्रुवा अस्मिन् गोपतौ स्यात बह्वीर्यजमानस्य पशून् पाहि ॥२३॥ यजु० अ० १ । मं० १ ॥

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतोऽदब्धासो अपरीतास उद्भिदः । देवा नो यथा सदमिद्वृधे असन्नप्रायुवो रक्षितारो दिवे दिवे ॥ २४ ॥ देवानां

भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां देवानाᳬरातिरभि नो निवर्त्तताम् । देवानाᳬ सख्यमुपसेदिमा वयं देवा न आयुः प्रतिरन्तु जीवसे ॥ २५ ॥ तमीशानं जगतस्तस्थुषस्पतिं धियञ्जिन्वमवसे हूमहे वयम् । पूषा नो यथा वेदसामसद्वृधे रक्षिता पायुरदब्धः स्वस्तये ॥ २६ ॥ स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः । स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥ २७ ॥ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः । स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाᳬसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः ॥ २८ ॥ यजु० अ० २५ । मं० १४ । १५ । १८ । १६ । २१ ॥

अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये । नि होता सत्सि बर्हिषि ॥ २६ ॥ त्वमग्ने यज्ञानां होता विश्वेषां हितः । देवेभिर्मानुषे जने ॥ ३० ॥ सा० छन्द आ० प्रपा० १ । मंत्र १ । २ ॥

ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः । वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे ॥ ३१ ॥ अथर्व० कां० १ । अनु० १ । सू० १ । मं० १ ॥

इति स्वस्तिवाचनम्

अथ शान्तिप्रकरणम्

शन्न इन्द्राग्नी भवतामवोभिः शन्न इन्द्रावरुणा रातहव्या । शमिन्द्रासोमा सुविताय शं योः शन्न इन्द्रापूषणा वाजसातौ ॥ १ ॥ शन्नो भगः शमु नः शंसो अस्तु शन्नः पुरन्धिः शमु सन्तु रायः । शन्नः सत्यस्य सुयमस्य शंसः शन्नो अर्य्यमा पुरुजातो अस्तु ॥ २ ॥ शन्नो धाता शमु धर्त्ता नो अस्तु शन्न उरूची भवतु स्वधाभिः । शं रोदसी बृहती शं नो अद्रिः शं नो देवानां सुहवानि सन्तु ॥ ३ ॥ शन्नो अग्निर्ज्योतिरनीको अस्तु शन्नो मित्रावरुणावश्विना शम् । शन्नः सुकृतां सुकृतानि सन्तु शन्न इषिरो अभिवातु वातः ॥ ४ ॥ शन्नो द्यावापृथिवी पूर्वहूतौ शमन्तरिक्षं दृशये

नो अस्तु । शं न ओषधीर्वनिनो भवन्तु शं नो रजसस्पतिरस्तु जिष्णुः ॥ ५ ॥ शन्न इन्द्रो वसुभिर्देवो अस्तु शमादित्येभिर्वरुणः सुशंसः । शं नो रुद्रो रुद्रेभिर्जलाषः शं नस्त्वष्टा ग्नाभिरिह शृणोतु ॥ ६ ॥ शं नः सोमो भवतु ब्रह्म शं नः शं नो ग्रावाणः शमु सन्तु यज्ञाः । शं नः स्वरूणां मितयो भवन्तु शं नः प्रस्वः शम्वस्तु वेदिः ॥ ७ ॥ शं नः सूर्य उरुचक्षा उदेतु शं नश्चतस्रः प्रदिशो भवन्तु । शं नः पर्वता ध्रुवयो भवन्तु शं नः सिन्धवः शमु सन्त्वापः ॥ ८ ॥ शं नो अदितिर्भवतु व्रतेभिः शं नो भवन्तु मरुतः स्वर्काः । शं नो विष्णुः शमु पूषा नो अस्तु शं नो भवित्रं शम्वस्तु वायुः ॥ ९ ॥ शं नो देवः सविता त्रायमाणः शं नो भवन्तूषसो विभातीः । शं नः पर्जन्यो भवतु प्रजाभ्यः शं नः क्षेत्रस्य पतिरस्तु शम्भुः ॥ १० ॥ शं नो देवा विश्वदेवा भवन्तु शं सरस्वती सह धीभिरस्तु । शमभिषाचः शमु रातिषाचः शं नो दिव्याः पार्थिवाः शन्नो अप्याः ॥ ११ ॥ शं नः सत्यस्य पतयो भवन्तु शं नो अर्वन्तः शमु सन्तु गावः । शं न ऋभवः सुकृतः सुहस्ताः शं नो भवन्तु पितरो हवेषु ॥ १२ ॥ शं नो अज एकपाद्देवो अस्तु शं नोऽहिर्बुध्न्यः शं समुद्रः । शं नो अपां नपात्पेरुरस्तु शं नः पृश्निर्भवतु देवगोपाः ॥ १३ ॥ ऋ० मं० ७ । सू० ३५ । मं० १–१३ ॥

इन्द्रो विश्वस्य राजति । शं नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे ॥ १४ ॥ शन्नो वातः पवताᳬं शं नस्तपतु सूर्यः । शं नः कनिक्रदद्देवः पर्जन्यो अभि वर्षतु ॥ १५ ॥ अहानि शं भवन्तु नः शᳬं रात्रीः प्रतिधीयताम् । शं न इन्द्राग्नी भवतामवोभिः शं न इन्द्रा वरुणा रातहव्या । शं न इन्द्रापूषणा वाजसातौ शमिन्द्रासोमा सुविताय शं योः ॥ १६ ॥ शं नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये । शंय्योरभि स्रवन्तु नः ॥ १७ ॥ द्यौः शान्तिरन्तरिक्षᳬं शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः । वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वᳬं शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि ॥ १८ ॥ तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् । पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतᳬं शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः

स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ॥ १९ ॥ यजु० अ० ३६ । मं० ८ । १० । ११ १२ । १७ । २४ ॥

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति । दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकन्तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ २० ॥ येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः । यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ २१ ॥ यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु । यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ २२ ॥ येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्परिगृहीतममृतेन सर्वम् । येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ २३ ॥ यस्मिन्नृचः साम यजूंषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः यस्मिंश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ २४ ॥ सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ २५ ॥ यजु० अ० ३४ । मं० १–६ ॥

स नः पवस्व शं गवे शं जनाय शमर्वते । शं राजन्नोषधीभ्यः ॥२६॥ साम० उत्तरार्चिके० प्रपा० १ । मं० १ ॥

अभयं नः करत्यन्तरिक्षमभयं द्यावापृथिवी उभे इमे । अभयं पश्चादभयं पुरस्तादुत्तरादधरादभयं नो अस्तु ॥ २७ ॥ अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं पुरोयः । अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु ॥ २८ ॥ अथर्व० कां० १९ । सू० १७ । मं० ५ । ६ ॥

इति शान्तिप्रकरणम् *

---

* इस स्वस्तिवाचन और शांतिप्रकरण को सर्वत्र जहां जहां प्रतीक धरें वहां वहां करना होगा ।

अथ सामान्यप्रकरणम्

नीचे लिखी हुई क्रिया सब संस्कारों में करना चाहिये। परन्तु जहां कहीं विशेष होगा वहां सूचना करदी जायगी कि यहां पूर्वोक्त अमुक कर्म न करना और इतना अधिक करना स्थान २ में जना दिया जायगा ॥

यज्ञदेश—यज्ञ का देश पवित्र अर्थात् जहां स्थल, वायु शुद्ध हो किसी प्रकार का उपद्रव न हो ॥

यज्ञशाला—इसी को यज्ञमण्डप भी कहते हैं यह अधिक से अधिक १६ (सोलह) हाथ सम-चौरस चौकोण और न्यून से न्यून ८ (आठ) हाथ की हो यदि भूमि अशुद्ध हो तो यज्ञशाला की पृथिवी और जितनी गहरी वेदी बनानी हो उतनी पृथिवी दो २ हाथ खोद अशुद्ध निकालकर उसमें शुद्ध मिट्टी भरें यदि १६ (सोलह) हाथ की समचौरस हो तो चारों ओर २० (बीस) खम्भे और जो ८ (आठ) हाथ की हो तो बारह खम्भे लगाकर उन पर छाया करें वह छाया की छत्त वेदी की मेखला से १० (दश) हाथ ऊंची अवश्य होवे और यज्ञशाला के चारों दिशा में ४ द्वार रक्खें और यज्ञशाला के चारों ओर ध्वजा पताका पल्लव आदि बांधें नित्य मार्जन तथा गोमय से लेपन करें और कुंकुम हलदी मैदा की रेखाओं से सुभूषित किया करें। मनुष्यों को योग्य है कि सब मङ्गल-कार्यों में अपने और पराये कल्याण के लिये यज्ञद्वारा ईश्वरोपासना करें। इसलिये निम्नलिखित सुगन्धित आदि द्रव्यों की आहुति यज्ञकुण्ड में देवें ॥

यज्ञकुण्ड का परिमाण

जो ल आहुति करनी हों तो चार २ हाथ का चारों ओर सम-चौरस चौकोण कुण्ड ऊपर और उतना ही गहिरा और चतुर्थांश नीचे अर्थात् तले में १ (एक) हाथ चौकोण लम्बा चौड़ा रहे। इसी प्रकार जितनी आहुति करनी हों उतना ही गहिरा चौड़ा कुण्ड बनाना परन्तु अधिक आहुतियों में दो २ हाथ अर्थात् दो लक्ष आहुतियों में छः हस्त परिमाण का चौड़ा और सम-

चौरस कुण्ड बनाना और जो पचास हज़ार आहुति देनी हों तो एक हाथ घटावे अर्थात् तीन हाथ गहिरा चौड़ा सम-चौरस और पौन हाथ नीचे तथा पच्चीस हज़ार आहुति देनी हों तो दो हाथ चौड़ा गहिरा सम-चौरस और आध हाथ नीचे, दश हज़ार आहुति तक इतना ही अर्थात् दो हाथ चौड़ा गहिरा सम-चौरस और आध हाथ नीचे रखना, पांच हज़ार आहुति तक डेढ़ हाथ चौड़ा गहिरा सम-चौरस और साढ़े आठ अंगुल नीचे रहे। यह कुण्ड का परिमाण विशेष घृताहुति का है, यदि इसमें २५०० (ढाई हज़ार) आहुति मोहनभोग खीर और २५०० (ढाई हज़ार) घृत की देवे तो दो ही हाथ का चौड़ा गहिरा सम-चौरस और आध हाथ नीचे कुण्ड रक्खे, चाहे घृत की हज़ार आहुति देनी हों तथापि सवा हाथ से न्यून चौड़ा गहिरा सम-चौरस और चतुर्थांश नीचे न बनावे और इन कुण्डों में १५ (पन्द्रह) अंगुल की मेखला अर्थात् पांच २ अंगुल की ऊंची ३ (तीन) बनावे। और ये तीन मेखला यज्ञशाला की भूमि के तले से ऊपर करनी प्रथम पांच अंगुल ऊंची और पांच अंगुल चौड़ी इसी प्रकार दूसरी और तीसरी मेखला बनावें॥

यज्ञसमिधा

पलाश, शमी, पीपल, बड़, गूलर, आम, बिल्व आदि की समिधा वेदी के प्रमाणे छोटी बड़ी कटवा लेवें। परन्तु ये समिधा कीड़ा लगीं, मलिनदेशोत्पन्न और अपवित्र पदार्थ आदि से दूषित न हों अच्छे प्रकार देख लेवें और चारों ओर बराबर कर बीच में चुनें।

होम के द्रव्य चार प्रकार

(प्रथम—सुगन्धित) कस्तूरी, केशर, अगर, तगर, श्वेत चन्दन, इलायची, जायफल, जावित्री आदि (द्वितीय—पुष्टिकारक) घृत, दूध, फल, कन्द, अन्न, चावल, गेहूं, उड़द आदि (तीसरे—मिष्ट) शक्कर, सहत, छुवारे, दाख आदि (चौथे—रोगनाशक) सोमलता अर्थात् गिलोय आदि ओषधियां॥

स्थालीपाक

नीचे लिखे विधि से भात, खिचड़ी, खीर, लड्डू, मोहनभोग आदि सब उत्तम पदार्थ बनावे। इसका प्रमाणः—

ओ३म् देवस्त्वा सविता पुनात्वच्छिद्रेण वसोः पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः ॥

इस मन्त्र का यह अभिप्राय है कि होम के सब द्रव्य को यथावत् शुद्ध करलेना अवश्य चाहिये अर्थात् सब को यथावत् शोध, छान, देख, भाल सुधार कर करें इन द्रव्यों को यथायोग्य मिला के पाक करना। जैसे कि सेर भर मिश्री के मोहनभोग में रत्ती भर कस्तूरी, मासे भर केशर, दो मासे जायफल, जावित्री, सेर भर मीठा सब डाल कर, मोहनभोग बनाना इसी प्रकार अन्य—मीठा भात, खीर, खिचड़ी, मोदक आदि होम के लिये बनावें। चरु अर्थात् होम के लिये पाक बनाने की विधि (ओं अग्नये त्वा जुष्टं निर्वपामि) अर्थात् जितनी आहुति देनी हों प्रत्येक आहुति के लिये चार २ मूठी चावल आदि ले के (ओं अग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षामि) अर्थात् अच्छे प्रकार जल से धोके पाकस्थाली में डाल अग्नि से पका लेवे। जब होम के लिये दूसरे पात्र में लेना हो तभी नीचे लिखी आज्यस्थाली वा शाकल्यस्थाली में निकाल के यथावत् सुरक्षित रक्खें और उस पर घृत सेचन करें ॥

यज्ञपात्र

विशेष कर चांदी अथवा काष्ठ के पात्र होने चाहियें निम्नलिखित प्रमाणेः—

अथ पात्रलक्षणान्युच्यन्ते

बाहुमात्र्यः पाणिमात्रपुष्कराः। षडङ्गुलखातास्त्वग्बिलाहंसमुखप्रसेकाः। मूलदण्डाश्चतस्रः स्रुचो भवन्ति। तत्र पालाशी जुहूः। आश्वत्थ्युपभृत्। वैकङ्कती ध्रुवा। अग्निहोत्रहवणी च। अरत्निमात्रः खादिरः स्रुवः। अङ्गुष्ठपर्वमात्रपुष्करः। तथाविधो द्वितीयो वैकङ्कतः स्रुवः। वारणं

बाहुमात्रं मकराकारमग्निहोत्रहवणीनिधानार्थं कूर्चम् । अरत्निमात्रं खादिरं खड्गाकृति वज्रम् । वारणान्यहोमसंयुक्तानि । तत्रोलूखलं नाभिमात्रम् । मुसलं शिरोमात्रम् । अथवा मुसलोलूखले वार्क्षे सारदारुमये शुभे इच्छाप्रमाणे भवतः । तथा—खादिरं मुसलं कार्यं पालाशः स्यादुलूखलः । यद्वाभौ वारणौ कार्यौ तदभावेऽन्यवृक्षजौ ।। शूर्पं वैणवमेव वा । ऐशीकं नलमयं वाऽचर्मबद्धम् । प्रादेशमात्री वारणी शम्या । कृष्णाजिनमखण्डम् । दृषदुपले अश्ममये । वारणीं २४ हस्तमात्रीं २२ अरत्निमात्रीं वा खातमध्यां मध्यसंगृहीतामिडापात्रीम् । अरत्निमात्राणि ब्रह्मयजमानहोतृपत्न्यासनानि । मुञ्जमयं त्रिवृतं व्याममात्रं योक्त्रम् । प्रादेशदीर्घे अष्टाङ्गुलायते षडङ्गुलखातमण्डलमध्ये पुरोडाशपात्र्यौ । प्रादेशमात्रं द्व्यङ्गुलपरिणाहन्तीक्ष्णाग्रं श्रितावदानम् । आदर्शाकारे चतुरस्रे वा प्राशित्रहरणे । तयोरेकमीषत्खातमध्यम् । षडङ्गुलकङ्कतकाकारमुभयतः खातं षडवदात्तम् । द्वादशाङ्गुलमर्द्धचन्द्राकारमष्टाङ्गुलोत्सेधमन्तर्द्धानकटम् । उपवेशोऽरत्निमात्रः । मुञ्जमयी रज्जुः । खादिरान् द्वादशाङ्गुलदीर्घान् चतुरङ्गुलमस्तकान् तीक्ष्णाग्रान् शङ्कून् । यजमानपूर्णपात्रं पत्नीपूर्णपात्रं च द्वादशाङ्गुलदीर्घं चतुरङ्गुलविस्तारं चतुरङ्गुलखातम् । तथा प्रणीतापात्रञ्च । आज्यस्थाली द्वादशाङ्गुलविस्तृता प्रादेशोच्चा । तथैव चरुस्थाली । अन्वाहार्यपात्रं पुरुषचतुष्टयाहारपाकपर्याप्तं समिदिध्मार्थं पलाशशाखामयं कौशं बर्हिः । ऋत्विग्वरणार्थं कुण्डलाङ्गुलीयकवासांसि । पत्नीयजमानपरिधानार्थं क्षौमवासश्चतुष्टयम् । अग्न्याधेयदक्षिणार्थं चतुर्विंशतिपक्षे एकोनपञ्चाशद् गावः । द्वादशपक्षे पञ्चविंशतिः । षट्पक्षे त्रयोदश, सर्वेषु पक्षेषु आदित्येऽष्टौ धेनवः । वरार्थं चतस्रो गावः ।।

समिध पलाश की १८ हस्त ३ इध्म परिधि ३ पलाश की बाहुमात्र सामिधेनी समित् प्रादेशमात्र समीक्षण लेर ५ शाठी १ दशाङ्गुपल १ दीर्घ अङ्गुल १२ पृ० १५ उपल अ० ६ नेतु व्यास हाथ ४ त्रिवृत्तृण वा गोवाल का ।।

स्रुवः ४ अंगुल २४ शम्याप्रादेश १ स्रुच् सर्व ४ बाहुमात्र

श्रृतावदान प्रादेशमात्र कूर्च बाहुमात्र १ उलूखल नाभिमात्र मुसल
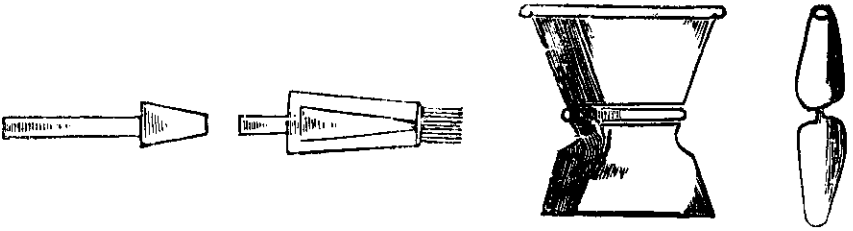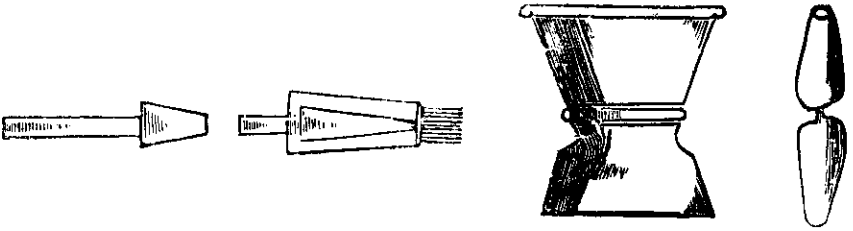
अन्तर्धान १ अं० १२ खांडा अंगुल २४ पाटला ४ लम्बा २४ अंगुल

उपवेश १ अं० २४ पूर्णपात्र अं० १२ चौड़ा अंगुल ६ अग्नि० १ अं० २४

प्राशित्रहरणे दर्पणाकार

पिष्टपात्री

षड्वत अंगुल १२

पुरोडाशपात्री

प्रणीता अं० १२

प्रोक्षणी अं० १२

अंगोछा २४ अंगुल लम्बा

अरणी ४

अंगुल ६ पोली अंगुल ४ ऊंची अधरारणी

उत्तरारणी टुकड़ा १८

ओवली अं० १२

चात्र अं० १२

मूलेखात दृषद्

उपल

शूर्प

इड़ा अंगुल १२

अथ ऋत्विग्वरणम्

यजमानोक्तिः—'ओमावसोः सदने सीद' इस मन्त्र का उच्चारण करके ऋत्विज् को कर्म कराने की इच्छा से स्वीकार करने के लिये प्रार्थना करे। ऋत्विगुक्तिः—'ओं सीदामि' ऐसा कह के जो उसके लिये आसन बिछाया हो उस पर बैठे, यजमानोक्तिः—'अहमद्योक्तकर्मकरणाय भवन्तं वृणे' ऋत्विगुक्तिः—'वृतोऽस्मि'। ऋत्विजों का लक्षण—अच्छे विद्वान् धार्मिक जितेन्द्रिय कर्म करने में कुशल निर्लोभ परोपकारी दुर्व्यसनों से रहित कुलीन सुशील वैदिक मत वाले वेदवित् एक दो तीन अथवा चार का वरण करें, जो एक हो तो उसका पुरोहित और जो दो हों तो ऋत्विक् पुरोहित और तीन हों तो ऋत्विक् पुरोहित और अध्यक्ष और जो चार हों तो होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा, इनका आसन वेदी के चारों ओर अर्थात् होता का वेदी से पश्चिम आसन पूर्व मुख, अध्वर्यु का उत्तर आसन दक्षिण मुख, उद्गाता का पूर्व आसन पश्चिम मुख और ब्रह्मा का दक्षिण आसन उत्तर में मुख होना चाहिये और यजमान का आसन पश्चिम में और वह पूर्वाभिमुख अथवा दक्षिण में आसन पर बैठ के उत्तराभिमुख रहे और इन ऋत्विजों को सत्कारपूर्वक आसन पर बैठाना और ये प्रसन्नतापूर्वक आसन पर बैठें और उपस्थित कर्म के विना दूसरा कर्म वा दूसरी बात कोई भी न करें और अपने २ जलपात्र से सब जने जोकि यज्ञ करने को बैठे हों वे इन मन्त्रों से तीन २ आचमन करें अर्थात् एक २ से एक २ वार आचमन करें वे मन्त्र यह हैं:—

ओं अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा ॥ १ ॥ इससे एक,
ओं अमृतापिधानमसि स्वाहा ॥ २ ॥ इससे दूसरा,
ओं सत्यं यशः श्रीर्मयि श्रीः श्रयतां स्वाहा ॥ ३ ॥ तैत्तरी० प्र० १० । अनु० ३२–३५ ॥

इससे तीसरा आचमन करके तत्पश्चात् नीचे लिखे मन्त्रों से जल करके अङ्गों का स्पर्श करें—

ओं वाङ्मऽआस्येऽस्तु ॥ इस मन्त्र से मुख,

ओं नसोर्मे प्राणोऽस्तु ॥ इस मन्त्र से नासिका के दोनों छिद्र,

ओं अक्ष्णोर्मे चक्षुरस्तु ॥ इस मन्त्र से दोनों आंखें,

ओं कर्णयोर्मे श्रोत्रमस्तु ॥ इस मन्त्र से दोनों कान,

ओं बाह्वोर्मे बलमस्तु ॥ इस मन्त्र से दोनों बाहु,

ओं ऊर्वोर्मऽओजोऽस्तु ॥ इस मन्त्र से दोनों जंघा और—

ओं अरिष्टानि मेऽङ्गानि तनूस्तन्वा मे सह सन्तु ॥ पारस्कर गृ० कण्डिका ३ । सू० २५ ॥

इस मन्त्र से दाहिने हाथ से जल स्पर्श करके मार्जन करना, पूर्वोक्त समिधाचयन वेदी में करें पुनः—

ओं भूर्भुवः स्वः ॥ गोभिल गृ० प्र० १ । खं० १ । सू० ११ ॥

इस मन्त्र का उच्चारण करके ब्राह्मण, क्षत्रिय वा वैश्य के घर से अग्नि ला अथवा घृत का दीपक जला उससे कपूर में लगा किसी एक पात्र में धर उस में छोटी २ लकड़ी लगा के यजमान वा पुरोहित उस पात्र को दोनों हाथों से उठा यदि गर्म हो तो चिमटे से पकड़ कर अगले मन्त्र से अग्न्याधान करे वह मन्त्र यह है:—

ओं भूर्भुवः स्वर्द्यौरिव भूम्ना पृथिवीव वरिम्णा ।
तस्यास्ते पृथिवि देवयजनि पृष्ठेऽग्निमन्नादमन्नाद्यायादधे ॥ १ ॥
यजु० अ० ३ । मं० ५ ॥

इस मन्त्र से वेदी के बीच में अग्नि को धर उस पर छोटे २ काष्ठ और थोड़ा कपूर धर अगला मन्त्र पढ़ के व्यजन से अग्नि को प्रदीप्त करे ।

ओं उद्बुध्यस्वाग्ने प्रति जागृहि त्वमिष्टापूर्त्ते सꣳसृजेथा मयं च ।
अस्मिन्त्सधस्थे अध्युत्तरस्मिन् विश्वेदेवा यजमानश्च सीदत ॥
यजु० अ० १५ । मं० ५४ ॥

जब अग्नि समिधाओं में प्रविष्ट होने लगे तब चन्दन की अथवा ऊपर लिखित पलाशादि की तीन लकड़ी आठ २ अंगुल की घृत में डुबा उनमें से एक २ नीचे लिखे एक २ मन्त्र से एक २ समिधा को अग्नि में चढ़ावें। वे मन्त्र ये हैं:—

ओं अयन्त इध्म आत्मा जातवेदस्तेनेध्यस्व वर्द्धस्व चेद्ध वर्धय चास्मान् प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन समेधय स्वाहा ॥ इदमग्नये जातवेदसे-इदन्न मम ॥ १ ॥

ओं समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्। आस्मिन् हव्या जुहोतन स्वाहा ॥ इदमग्नये-इदन्न मम ॥ २ ॥ इससे और

सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं तीव्रं जुहोतन। अग्नये जातवेदसे स्वाहा ॥ इदमग्नये जातवेदसे-इदन्न मम ॥ ३ ॥

इस मन्त्र से अर्थात् दोनों मन्त्रों से दूसरी

तन्त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्द्धयामसि। बृहच्छोचा यविष्ठ्य स्वाहा ॥ इदमग्नयेऽङ्गिरसे-इदन्न मम ॥ ४ ॥ यजु० अ० ३। मं० १। २। ३ ॥

इस मन्त्र से तीसरी समिधा की आहुति देवे।

इन मन्त्रों से समिदाधान करके होम का शाकल्य जो कि यथावत् विधि से बनाया हो, सुवर्ण, चाँदी, कांसा आदि धातु के पात्र अथवा काष्ठपात्र में वेदी के पास सुरक्षित धरें पश्चात् उपरिलिखित घृतादि जो कि उष्ण कर छान पूर्वोक्त सुगन्ध्यादि पदार्थ मिलाकर पात्रों में रक्खा हो, उस (घृत वा अन्य मोहनभोगादि जो कुछ सामग्री हो) में से कम से कम ६ मासा भर अधिक से अधिक छटांक भर की आहुति देवे यही आहुति का प्रमाण है। उस घृत में से चमसा, कि जिस में छः मासा ही घृत आवे ऐसा बनाया हो, भर के नीचे लिखे मन्त्र से पांच आहुति देनी ॥

ओम् अयन्त इध्म आत्मा जातवेदस्तेनेध्यस्व वर्धस्व चेद्ध वर्द्धय चास्मान् प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन समेधय स्वाहा ॥ इदमग्नये जातवेदसे–इदन्न मम ॥ १ ॥

तत्पश्चात् अञ्जलि में जल लेके वेदी के पूर्व दिशा आदि चारों ओर छिड़कावे उसके ये मन्त्र हैं:—

ओम् अदितेऽनुमन्यस्व ॥ इस मन्त्र से पूर्व,
ओम् अनुमतेऽनुमन्यस्व ॥ इससे पश्चिम,
ओं सरस्वत्यनुमन्यस्व ॥ इससे उत्तर और
गोभिल गृ० प्र० खं० ३ । सू० १–३ ॥

ओं देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय । दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतन्नः पुनातु वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु ॥ यजु० अ० ३० । मं० १ ॥

इस मन्त्र से वेदी के चारों ओर जल छिड़कावे इस के पश्चात् सामान्य होमाहुति गर्भाधानादि प्रधान संस्कारों में अवश्य करें इस में मुख्य होम के आदि और अन्त में जो आहुति दी जाती है उनमें से यज्ञकुण्ड के उत्तर भाग में जो एक आहुति और यज्ञकुण्ड के दक्षिण भाग में दूसरी आहुति देनी होती है उसका नाम "आघारावाज्याहुति" कहते हैं और जो कुण्ड के मध्य में आहुतियां दी जाती हैं उनको "आज्यभागाहुति" कहते हैं सो घृतपात्र में से स्रुवा को भर अंगूठा मध्यमा अनामिका से स्रुवा को पकड़ के—

ओम् अग्नये स्वाहा ॥ इदमग्नये–इदन्न मम ॥
इस मन्त्र से वेदी के उत्तर भाग अग्नि में,

ओं सोमाय स्वाहा ॥ इदं सोमाय–इदन्न मम ॥
गो० गृ० प्र० १ । खं० ८ । सू० २४ ॥

इस मन्त्र से वेदी के दक्षिण भाग में प्रज्वलित समिधा पर आहुति देनी, तत्पश्चात्

ओं प्रजापतये स्वाहा ॥ इदं प्रजापतये–इदन्न मम ॥
ओम् इन्द्राय स्वाहा ॥ इदमिन्द्राय–इदन्न मम ॥

इन दोनों मन्त्रों से वेदी के मध्य में दो आहुति देनी उसके पश्चात् चार आहुति अर्थात् आघारावाज्यभागाहुति देके जब प्रधान होम अर्थात् जिस २ कर्म में जितना २ होम करना हो, करके पश्चात् पूर्णाहुति पूर्वोक्त चार (आघारावाज्यभागा०) देवें पुनः शुद्ध किये हुए उसी घृतपात्र में से स्रुवा को भर के प्रज्वलित समिधाओं पर व्याहृति की चार आहुति देवें ॥

ओं भूरग्नये स्वाहा ॥ इदमग्नये–इदन्न मम ॥
ओं भुवर्वायवे स्वाहा ॥ इदं वायवे–इदन्न मम ॥
ओं स्वरादित्याय स्वाहा ॥ इदमादित्याय–इदन्न मम ॥
ओं भूर्भुवः स्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः स्वाहा ॥ इदमग्निवाय्वादित्येभ्यः–इदन्न मम ॥

ये चार घी की आहुति देकर स्विष्टकृत होमाहुति एक ही है यह घृत अथवा भात की देनी चाहिये उस का मन्त्रः—

ओं यदस्य कर्मणोऽत्यरीरिचं यद्वा न्यूनमिहाकरम् । अग्निष्टत्स्विष्टकृद्विद्यात्सर्वं स्विष्टं सुहुतं करोतु मे । अग्नये स्विष्टकृते सुहुतहुते सर्वप्रायश्चित्ताहुतीनां कामानां समर्द्धयित्रे सर्वान्नः कामान्त्समर्द्धय स्वाहा ॥ इदमग्नये स्विष्टकृते–इदन्न मम ॥ शतपथ कं० १४ । ९ । ४ । २४ ॥

इससे एक आहुति करके प्राजापत्याहुति करे नीचे लिखे मन्त्र को मन में बोल के देनी चाहिये ॥

ओं प्रजापतये स्वाहा ॥ इदं प्रजापतये–इदन्न मम ॥

इस से मौन करके एक आहुति देकर चार आज्याहुति घृत की देवे परन्तु जो नीचे लिखी आहुति चौल, समावर्त्तन और विवाह में मुख्य हैं वे चार मंत्र ये हैं:—

ओं भूर्भुवः स्वः । अग्न आयूंषि पवस आ सुवोर्ज्जमिषं च नः । आरे बाधस्व दुच्छुनां स्वाहा ॥ इदमग्नये पवमानाय–इदन्न मम ॥ १ ॥ ओं भूर्भुवः स्वः । अग्निर्ऋषिः पवमानः पाञ्चजन्यः पुरोहितः । तमीमहे महागयं स्वाहा ॥ इदमग्नये पवमानाय–इदन्न मम ॥ २ ॥ ओं भूर्भुवः स्वः । अग्ने पवस्व स्वपा अस्मे वर्चः सुवीर्यम् । दधद्रयिं मयि पोषं स्वाहा ॥ इदमग्नये पवमानाय–इदन्न मम ॥ ३ ॥ ऋ० मं० ९ । सू० ६६ । मं० १९ । २० । २१ ॥

ओं भूर्भुवः स्वः । प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव । यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणां स्वाहा ॥ इदं प्रजापतये–इदन्न मम ॥ ४ ॥ ऋ० मं० १० । सू० १२१ । मं० १० ॥

इनसे घृत की चार आहुति करके "अष्टाज्याहुति" ये निम्नलिखित मन्त्रों से सर्वत्र मङ्गलकार्यों में ८ (आठ) आहुति देवें परन्तु किस २ संस्कार में कहां २ देनी चाहियें यह विशेष बात उस २ संस्कार में लिखेंगे वे आठ आहुति-मन्त्र ये हैं॥

ओं त्वन्नो अग्ने वरुणस्य विद्वान् देवस्य हेळोऽव यासिसीष्ठाः । यजिष्ठो वह्नितमः शोशुचानो विश्वा द्वेषांसि प्र मुमुग्ध्यस्मत् स्वाहा ॥ इदमग्नीवरुणाभ्याम् इदन्न मम ॥ १ ॥ ओं स त्वन्नो अग्नेऽवमो भवोती नेदिष्ठो अस्या उषसो व्युष्टौ । अव यक्ष्व नो वरुणं रराणो वीहि मृळीकं सुहवो न एधि स्वाहा । इदमग्निवरुणाभ्याम्–इदन्न मम ॥ २ ॥ ऋ० मं० ४ । सू० १ । मं० ४ । ५ ॥

ओं इमं मे वरुण श्रुधी हवमद्या च मृळय । त्वामवस्युरा चके स्वाहा ॥ इदं वरुणाय–इदन्न मम ॥ ३ ॥ ऋ० मं० १ । सू० २५ । मं० १९ ॥

ओं तत्त्वा यामि ब्रह्मणा वन्दमानस्तदाशास्ते यजमानो हविर्भिः। अहेळमानो वरुणेह बोध्युरुशंस मा न आयुः प्र मोषीः स्वाहा॥ इदं वरुणाय—इदन्न मम॥ ऋ० मं० १। सू० २४। मं० ११॥

ओं ये ते शतं वरुण ये सहस्रं यज्ञियाः पाशा वितता महान्तः। तेभिर्नोऽअद्य सवितोत विष्णुर्विश्वे मुञ्चन्तु मरुतः स्वर्काः स्वाहा॥ इदं वरुणाय सवित्रे विष्णवे विश्वेभ्यो देवेभ्यो मरुद्भ्यः स्वर्केभ्यः—इदन्न मम॥५॥ ओं अयाश्चाग्नेऽस्यनभिशस्तिपाश्च सत्यमित्त्वमयासि। अया नो यज्ञं वहास्यया नो धेहि भेषजꣳ स्वाहा॥ इदमग्नये अयसे—इदन्न मम॥ ६॥ कात्या० २५—११॥ ओं उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं विमध्यमं श्रथाय। अथा वयमादित्य व्रते तवानागसोऽअदितये स्याम स्वाहा॥ इदं वरुणायाऽऽदित्यायाऽदितये च—इदन्न मम॥ ऋ० मं० १। सू० २४। मं० १५॥

ओं भवतन्नः समनसौ सचेतसावरेपसौ। मा यज्ञꣳ हिꣳसिष्टं मा यज्ञपतिं जातवेदसौ शिवौ भवतमद्य नः स्वाहा॥ इदं जातवेदोभ्याम्—इदन्न मम॥ यजु० अ० ५। मं० ३॥

सब संस्कारों में मधुर स्वर से मन्त्रोच्चारण यजमान ही करे, न शीघ्र न विलम्ब से उच्चारण करे किन्तु मध्य भाग जैसा कि जिस वेद का उच्चारण है करे यदि यजमान न पढ़ा हो तो इतने मन्त्र तो अवश्य पढ़ लेवे यदि कोई कार्यकर्ता जड़ मंदमति काला अक्षर भैंस बराबर जानता हो तो वह शूद्र है अर्थात् शूद्र मन्त्रोच्चारण में असमर्थ हो तो पुरोहित और ऋत्विज् मन्त्रोच्चारण करे और कर्म उसी मूढ़ यजमान के हाथ से करावे पुनः निम्नलिखित मन्त्र से पूर्णाहुति करे स्रुवा को घृत से भर के—

ओं सर्वं वै पूर्णꣳ स्वाहा॥

इस मन्त्र से एक आहुति देवे ऐसे दूसरी और तीसरी आहुति देके जिसको दक्षिणा देनी हो देवे वा जिसको जिमाना हो जिमा, दक्षिणा देके सब को विदा कर स्त्री पुरुष हुतशेष घृत, भात वा मोहनभोग को प्रथम जीम के पश्चात् रुचि-पूर्वक उत्तमान्न का भोजन करें॥

मङ्गलकार्य

अर्थात् गर्भाधानादि संन्यास संस्कार पर्यन्त पूर्वोक्त और निम्नलिखित सामवेदोक्त वामदेव्यगान अवश्य करें वे मन्त्र ये हैं ॥

ओं भूर्भुवः स्वः । कया नश्चित्र आभुवदूती सदावृधः सखा । । कया शचिष्ठया वृता ॥ १ ॥ ओं भूर्भुवः स्वः । कस्त्वा सत्यामदानां मंहिष्ठो मत्स-दन्धसः । दृढा चिदारुजे वसु ॥ २ ॥ ओं भूर्भुवः स्वः । अभीषुणः सखी-नामविता जरितॄणाम् । शतम्भवास्यूतये ॥ ३ ॥ महावामदेव्यम् ॥ काऽ५या । नश्चा३ इत्रा३ आभुवात् । ऊ । ती सदावृधः सखा । औ३ होहाई । कया२३ शचाई । ष्ठयौहो३ हुम्मा २ । वा२र्तो३ऽ५हाइ ॥ (१) ॥ काऽ५स्त्वा । सत्यो३मा३दानाम्३ । मां । हिष्ठामात्सादन्धः । सा । औ३होहाइ । दृढा२३ चिदा । रुजौहो३ । हुम्मा२ । वाऽ३सो३ऽ५हायि ॥ (२) आऽ५भी । षुणा३ः सा३खीनाम् । आ । विता जरायितॄ । णाम् । औ२३ हो हायि । शता२३ म्भवा । सियौहो३ । हुम्मा २ । ताऽ२ यो३ऽ५हायि ॥ (३) ॥ साम० उत्तरार्चिके । अध्याये १ । खं० ३ । मं० १ । २ । ३ ॥

यह वामदेव्यगान होने के पश्चात् गृहस्थ स्त्री पुरुष कार्यकर्त्ता सद्धर्मी लोक-प्रिय परोपकारी सज्जन विद्वान् वा त्यागी पक्षपातरहित संन्यासी जो सदा विद्या की वृद्धि और सब के कल्याणार्थ वर्त्तनेवाले हों उनको नमस्कार, आसन, अन्न, जल, वस्त्र, पात्र, धन आदि के दान से उत्तम प्रकार से यथासामर्थ्य सत्कार करें पश्चात् जो कोई देखने ही के लिये आये हों उनको भी सत्कारपूर्वक विदा करदें अथवा जो संस्कार क्रिया को देखना चाहें वे पृथक् २ मौन करके बैठे रहें कोई बात चीत हल्ला गुल्ला न करने पावें सब लोग ध्यानावस्थित प्रसन्नवदन रहें विशेष कर्मकर्त्ता और कर्म करानेवाले शान्ति धीरज और विचारपूर्वक, क्रम से कर्म करें और करावें ॥ यह सामान्यविधि अर्थात् सब संस्कारों में कर्त्तव्य है ॥

इति सामान्यप्रकरणम्

अथ गर्भाधानविधिं वक्ष्यामः

निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः ।
मनुस्मृति द्वितीयाध्याये श्लोक १६ ॥

अर्थः—मनुष्यों के शरीर और आत्मा के उत्तम होने के लिये निषेक अर्थात् गर्भाधान से लेके श्मशानान्त अर्थात् अन्त्येष्टि मृत्यु के पश्चात् मृतक शरीर का विधिपूर्वक दाह करने पर्यन्त १६ संस्कार होते हैं शरीर का आरम्भ गर्भाधान और शरीर का अन्त भस्म कर देने तक सोलह प्रकार के उत्तम संस्कार करने होते हैं उनमें से प्रथम गर्भाधान संस्कार है ॥

गर्भाधान उसको कहते हैं कि जो "गर्भस्याऽऽधानं वीर्यस्थापनं स्थिरीकरणं यस्मिन्येन वा कर्मणा तद् गर्भाधानम्" गर्भ का धारण अर्थात् वीर्य का स्थापन गर्भाशय में स्थिर करना जिससे होता है। जैसे बीज और क्षेत्र के उत्तम होने से अन्नादि पदार्थ भी उत्तम होते हैं वैसे उत्तम बलवान् स्त्री पुरुषों से सन्तान भी उत्तम होते हैं। इससे पूर्णयुवावस्था यथावत् ब्रह्मचर्य का पालन और विद्याभ्यास करके अर्थात् न्यून से न्यून १६ (सोलह) वर्ष की कन्या और २५ (पच्चीस) वर्ष का पुरुष अवश्य हो और इससे अधिक वयवाले होने से अधिक उत्तमता होती है क्योंकि विना सोलहवें वर्ष के गर्भाशय में बालक के शरीर को यथावत् बढ़ने के लिये अवकाश और गर्भ के धारण पोषण का सामर्थ्य कभी नहीं होता और २५ (पच्चीस) वर्ष के विना पुरुष का वीर्य भी उत्तम नहीं होता, इसमें यह प्रमाण है ॥

पञ्चविंशे ततो वर्षे पुमान्नारी तु षोडशे ॥
समत्वागतवीर्यौ तौ जानीयात् कुशलो भिषक् ॥ १ ॥
सुश्रुते सूत्रस्थाने । अध्याय ३५ ॥

ऊनषोडशवर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम् ।
यद्याधत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थः स विपद्यते ॥ १ ॥
जातो वा न चिरं जीवेज्जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रियः ।
तस्मादत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत् ॥ २ ॥
सुश्रुते शारीरस्थाने अ० १० ॥

ये सुश्रुत के श्लोक हैं शरीर की उन्नति वा अवनति की विधि जैसी वैद्यक शास्त्र में है वैसी अन्यत्र नहीं जो उसका मूल विधान है आगे वेदारम्भ में लिखा जायगा अर्थात् किस २ वर्ष में कौन २ धातु किस २ प्रकार का कच्चा वा पक्का वृद्धि वा क्षय को प्राप्त होता है यह सब वैद्यक शास्त्र में विधान है इसलिये गर्भाधानादि संस्कारों के करने में वैद्यकशास्त्र का आश्रय विशेष लेना चाहिये अब देखिये सुश्रुतकार परमवैद्य कि जिनका प्रमाण सब विद्वान् लोग मानते हैं वे विवाह और गर्भाधान का समय न्यून से न्यून १६ वर्ष की कन्या और पचीस वर्ष का पुरुष अवश्य होवे यह लिखते हैं जितना सामर्थ्य २५ (पचीसवें) वर्ष में पुरुष के शरीर में होता है उतना ही सामर्थ्य १६ (सोलहवें) वर्ष में कन्या के शरीर में हो जाता है इसलिये वैद्य लोग पूर्वोक्त अवस्था में दोनों को समवीर्य अर्थात् तुल्य सामर्थ्यवाले जानें ॥ १ ॥ सोलह वर्ष से न्यून अवस्था की स्त्री में २५ (पचीस) वर्ष से कम अवस्था का पुरुष यदि गर्भाधान करता है तो वह गर्भ उदर में ही बिगड़ जाता है ॥ २ ॥ और जो उत्पन्न भी हो तो अधिक नहीं जीवे अथवा कदाचित् जीवे भी तो उसके अत्यन्त दुर्बल शरीर और इन्द्रिय हों इसलिये अत्यन्त बाला अर्थात् सोलह वर्ष की अवस्था से कम अवस्था की स्त्री में कभी गर्भाधान नहीं करना चाहिये ॥

चतस्रोऽवस्थाः शरीरस्य वृद्धिर्यौवनं संपूर्णता किञ्चित्परिहाणिश्चेति । आषोडशाद् वृद्धिराचतुर्विंशतेर्यौवनमाचत्वारिंशतः सम्पूर्णता ततः किञ्चित्परिहाणिश्चेति ॥

अर्थः—सोलहवें वर्ष से आगे मनुष्य के शरीर के सब धातुओं की वृद्धि

और पच्चीसवें वर्ष से युवावस्था का आरम्भ, चालीसवें वर्ष में युवावस्था की पूर्णता अर्थात् सब धातुओं की पूर्णपुष्टि और उससे आगे किंचित् २ धातु वीर्य की हानि होती है अर्थात् ४० (चालीसवें) वर्ष सब अवयव पूर्ण होजाते हैं पुनः खानपान से जो उत्पन्न वीर्य धातु होता है वह कुछ २ क्षीण होने लगता है इससे यह सिद्ध होता है कि यदि शीघ्र विवाह करना चाहें तो कन्या १६ (सोलह) वर्ष की और पुरुष २५ (पच्चीस) वर्ष का अवश्य होना चाहिये मध्यम समय कन्या का २० (बीस) वर्ष पर्यन्त और पुरुष का ४० (चालीसवां) वर्ष और उत्तम समय कन्या का चौबीस वर्ष और पुरुष का अड़तालीस वर्ष पर्यन्त का है जो अपने कुल की उत्तमता उत्तम सन्तान दीर्घायु सुशील बुद्धि बल पराक्रमयुक्त विद्वान् और श्रीमान् करना चाहें वे १६ (सोलहवें) वर्ष से पूर्व कन्या और २५ (पच्चीसवें) वर्ष से पूर्व पुत्र का विवाह कभी न करें यही सब सुधार का सुधार सब सौभाग्यों का सौभाग्य और सब उन्नतियों की उन्नति करनेवाला कर्म है कि इस अवस्था में ब्रह्मचर्य रख के अपने सन्तानों को विद्या और सुशिक्षा ग्रहण करावें कि जिससे उत्तम सन्तान होवें ॥

ऋतुदान का काल

ऋतुकालाभिगामी स्यात्स्वदारनिरतस्सदा ।
पर्ववर्जं व्रजेच्चैनां तद्व्रतो रतिकाम्यया ॥ १ ॥

ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्रयः षोडश स्मृताः ।
चतुर्भिरितरैः सार्द्धमहोभिः सद्विगर्हितैः ॥ २ ॥

तासामाद्याश्चतस्रस्तु निन्दितैकादशी च या ।
त्रयोदशी च शेषास्तु प्रशस्ता दश रात्रयः ॥ ३ ॥

युग्मासु पुत्रा जायन्ते स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रिषु ।
तस्माद्युग्मासु पुत्रार्थी संविशेदार्त्तवे स्त्रियम् ॥ ४ ॥

पुमान् पुंसोऽधिके शुक्रे स्त्री भवत्यधिके स्त्रियाः ।
समे पुमान् पुंस्त्रियौ वा क्षीणेऽल्पे च विपर्ययः ॥ ५ ॥

निन्द्यास्वष्टासु चान्यासु स्त्रियो रात्रिषु वर्जयन् ।
ब्रह्मचार्य्येव भवति यत्र तत्राश्रमे वसन् ॥ ६ ॥
मनुस्मृतौ अ० ३ ॥

अर्थः—मनु आदि महर्षियों ने ऋतुदान के समय का निश्चय इस प्रकार से किया है कि सदा पुरुष ऋतुकाल में स्त्री का समागम करे और अपनी स्त्री के विना दूसरी स्त्री का सर्वदा त्याग रक्खे वैसे स्त्री भी अपने विवाहित पुरुष को छोड़ के अन्य पुरुषों से सदैव पृथक् रहे जो स्त्रीव्रत अर्थात् अपनी विवाहित स्त्री ही से प्रसन्न रहता है जैसे कि पतिव्रता स्त्री अपने विवाहित पुरुष को छोड़ दूसरे पुरुष का संग कभी नहीं करती वह पुरुष जब ऋतुदान देना हो तब पूर्व अर्थात् जो उन ऋतुदान के (सोलह) दिनों में पौर्णमासी अमावास्या चतुर्दशी वा अष्टमी आवे उसको छोड़ देवें इनमें स्त्री पुरुष रतिक्रिया कभी न करें ॥ १ ॥ स्त्रियों का स्वाभाविक ऋतुकाल १६ (सोलह) रात्रि का है अर्थात् रजोदर्शन दिन से लेके १६ (सोलहवें) दिन तक ऋतु समय है उन में प्रथम की चार रात्री अर्थात् जिस दिन रजस्वला हो उस दिन से ले चार दिन निन्दित हैं प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ रात्रि में पुरुष स्त्री का स्पर्श और स्त्री पुरुष का सम्बन्ध कभी न करे अर्थात् उस रजस्वला के हाथ का छुआ पानी भी न पीवे न वह स्त्री कुछ काम करे किन्तु एकान्त में बैठी रहै क्योंकि इन चार रात्रियों में समागम करना व्यर्थ और महारोगकारक है । रजः अर्थात् स्त्री के शरीर से एक प्रकार का विकृत उष्ण रुधिर जैसा कि फोड़े में से पीप वा रुधिर निकलता है वैसा है ॥ २ ॥ और जैसे प्रथम की चार रात्रि ऋतुदान देने में निन्दित हैं वैसे ग्यारहवीं और तेरहवीं रात्रि भी निन्दित है और बाक़ी रहीं दश रात्रि सो ऋतुदान देने में श्रेष्ठ हैं ॥ ३ ॥ जिनको पुत्र की इच्छा हो वे छठी, आठवीं, दशवीं, बारहवीं, चौदहवीं और सोलहवीं ये छः रात्रि ऋतुदान में उत्तम जानें परन्तु इनमें भी उत्तर २ श्रेष्ठ हैं और जिनको कन्या की इच्छा हो वे पांचवीं, सातवीं, नवीं और पन्द्रहवीं ये चार रात्रि उत्तम समझें * इससे पुत्रार्थी युग्म

* रात्रिगणना इसलिये की है कि दिन में ऋतुदान का निषेध है ॥

रात्रियों में ऋतुदान देवे ॥ ४ ॥ पुरुष के अधिक वीर्य होने से पुत्र और स्त्री के आर्त्तव अधिक होने से कन्या, तुल्य होने से नपुंसक पुरुष वा बन्ध्या स्त्री; क्षीण और अल्पवीर्य से गर्भ का न रहना वा रहकर गिरजाना होता है ॥ ५ ॥ जो पूर्व निन्दित ८ (आठ) रात्रि कह आये हैं उनमें जो स्त्री का संग छोड़ देता है वह गृहाश्रम में वसता हुआ भी ब्रह्मचारी ही कहाता है ॥ ६ ॥

उपनिषदि गर्भलम्भनम् ॥

यह आश्वलायन गृह्यसूत्र का वचन है जैसा उपनिषद् में गर्भस्थापन विधि लिखा है वैसा करना चाहिये अर्थात् पूर्वोक्त समय विवाह करके जैसा कि १६ (सोलहवें) और २५ (पच्चीसवें) वर्ष विवाह करके ऋतुदान लिखा है वही उपनिषद् से भी विधान है ॥

अथ गर्भाधानꣳ स्त्रियाः पुष्पवत्याश्चतुरहादूर्ध्वꣳ स्नात्वा विरुजायास्तस्मिन्नेव दिवा "आदित्यं गर्भमिति" ॥

यह पारस्कर गृह्यसूत्र का वचन है, ऐसा ही गोभिलीय और शौनक गृह्यसूत्रों में भी विधान है इसके अनन्तर जब स्त्री रजस्वला होकर चौथे दिन के उपरान्त पांचवें दिन स्नान कर रजरोग रहित हो उसी दिन (आदित्यं गर्भमिति) इत्यादि मन्त्रों से जैसा जिस रात्रि में गर्भस्थापन करने की इच्छा हो उससे पूर्व दिन में सुगन्धादि पदार्थों सहित पूर्व सामान्यप्रकरण के लिखित प्रमाणे हवन करके निम्नलिखित मन्त्रों से आहुति देनी यहां पत्नी पति के वाम भाग में बैठे और पति वेदी से पश्चिमाभिमुख पूर्व दक्षिण वा उत्तर दिशा में यथाभीष्ट मुख करके बैठे और ऋत्विज् भी चारों दिशाओं में यथामुख बैठें ॥

ओं अग्ने प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्याः पापी लक्ष्मीस्तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा ॥ इदमग्नये–इदन्न मम ॥ १ ॥ ओं वायो प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्याः पापी लक्ष्मीस्तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा ॥ इदं वायवे–इदन्न मम ॥ २ ॥ ओं चन्द्र प्रायश्चित्ते त्वं देवानां

प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्याः पापी लक्ष्मीस्तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा ॥ इदं चन्द्राय-इदन्न मम ॥ ३ ॥ ओं सूर्य प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्याः पापी लक्ष्मीस्तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा ॥ इदं सूर्याय-इदन्न मम ॥ ४ ॥ ओं अग्निवायुचन्द्रसूर्य्याः प्रायश्चित्तयो यूयं देवानां प्रायश्चित्तयः स्थ ब्राह्मणो वो नाथकाम उपधावामि यास्याः पापी लक्ष्मीस्तनूस्तामस्या अपहत स्वाहा ॥ इदमग्निवायुचन्द्रसूर्येभ्यः-इदन्न मम ॥ ५ ॥ मन्त्र ब्राह्मण प्र० १ । खं० ४ । मं० ५ ॥ ओं अग्ने प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्याः पतिघ्नी तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा ॥ इदमग्नये-इदन्न मम ॥ ६ ॥ ओं वायो प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्याः पतिघ्नी तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा ॥ इदं वायवे-इदन्न मम ॥ ७ ॥ ओं चन्द्र प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्याः पतिघ्नी तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा ॥ इदं चन्द्राय-इदन्न मम ॥ ८ ॥ ओं सूर्य प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्याः पतिघ्नी तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा ॥ इदं सूर्य्याय-इदन्न मम ॥ ९ ॥ ओं अग्निवायुचन्द्रसूर्य्याः प्रायश्चित्तयो यूयं देवानां प्रायश्चित्तयः स्थ ब्राह्मणो वो नाथकाम उपधावामि यास्याः पतिघ्नी तनूस्तामस्या अपहत स्वाहा ॥ इदमग्निवायुचन्द्रसूर्य्येभ्यः-इदन्न मम ॥ १० ॥ पारस्कर कां० ११ ॥ ओं अग्ने प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्या अपुत्र्यास्तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा ॥ इदमग्नये-इदन्न मम ॥ ११ ॥ ओं वायो प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्या अपुत्र्यास्तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा ॥ इदं वायवे-इदन्न मम ॥ १२ ॥ ओं चन्द्र प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्या अपुत्र्यास्तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा ॥ इदं चन्द्राय-इदन्न मम ॥ १३ ॥ ओं सूर्य प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्या अपुत्र्यास्तनूस्तामस्या अजपहि स्वाहा ॥

इदं सूर्याय–इदन्न मम ॥ १४ ॥ ओं अग्निवायुचन्द्रसूर्याः प्रायश्चित्तयो यूयं देवानां प्रायश्चित्तयः स्थ ब्राह्मणो वो नाथकाम उपधावामि यास्या अपुत्र्यास्तनूस्तामस्या अपहत स्वाहा ॥ इदमग्निवायुचन्द्रसूर्येभ्यः–इदन्न मम ॥ १५ ॥ ओं अग्ने प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्या अपसव्या तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा ॥ इदमग्नये–इदन्न मम ॥ १६ ॥ ओं वायो प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्या अपसव्यास्तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा ॥ इदं वायवे–इदन्न मम ॥ १७ ॥ ओं चन्द्र प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्या अपसव्या तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा ॥ इदं चन्द्राय–इदन्न मम ॥ १८ ॥ ओं सूर्य प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्या अपसव्या तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा ॥ इदं सूर्याय–इदन्न मम ॥ १९ ॥ ओं अग्निवायुचन्द्रसूर्याः प्रायश्चित्तयो यूयं देवानां प्रायश्चित्तयः स्थ ब्राह्मणो वो नाथकाम उपधावामि यास्या अपसव्या तनूस्तामस्या अपहत स्वाहा ॥ इदमग्निवायुचन्द्रसूर्येभ्यः—इदन्न मम ॥ २० ॥

इन बीस मन्त्रा से बीस आहुति देनी * । और बीस आहुति करने से यत्किंचित् घृत बचे वह कांसे के पात्र में ढांक के रख देवें इसके पश्चात् भात की आहुति देने के लिये यह विधि करना अर्थात् एक चांदी वा कांसे के पात्र में भात रख के उसमें घी दूध और शक्कर मिला के कुछ थोड़ी देर रख के जब घृत आदि भात में एकरस होजाय पश्चात् नीचे लिखे एक २ मन्त्र से एक २ आहुति अग्नि में देवें और स्रुवा में का शेष आगे धरे हुए कांसे के उदकपात्र में छोड़ता जावे ।

ओं अग्नये पवमानाय स्वाहा ॥ इदमग्नये पवमानाय–इदन्न मम ॥१॥ ओं अग्नये पावकाय स्वाहा ॥ इदमग्नये पावकाय–इदन्न मम ॥ २ ॥ ओं अग्नये शुचये स्वाहा ॥ इदमग्नये शुचये–इदन्न मम ॥ ३ ॥ ओं आदित्यै

* इन बीस आहुति देते समय बधू अपने दक्षिण हाथ से वर के दक्षिण स्कन्ध पर स्पर्श कर रक्खे ॥

स्वाहा ॥ इदमादित्यै—इदन्न मम ॥ ४ ॥ ओं प्रजापतये स्वाहा ॥ इदं प्रजापतये—इदन्न मम ॥ ५ ॥ ओं यदस्य कर्मणोऽत्यरीरिचं यद्वा न्यूनमिहाकरम् । अग्निष्टत्स्विष्टकृद्विद्यात्सर्वं स्विष्टं सुहुतं करोतु मे । अग्नये स्विष्टकृते सुहुतहुते सर्वप्रायश्चित्ताहुतीनां कामानां समर्धयित्रे सर्वान्नः कामान्त्समर्धय स्वाहा ॥ इदमग्नये स्विष्टकृते—इदन्न मम ॥ ६ ॥

इन छः मन्त्रों से उस भात की आहुति देवें तत्पश्चात् पूर्व सामान्यप्रकरणोक्त २४—२५ पृष्ठ लिखित आठ मंत्रों से अष्टाज्याहुति देनी उन ८ (आठ) मन्त्रों से ८ (आठ) तथा निम्नलिखित मन्त्रों से भी आज्याहुति देवें ॥

विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु । आ सिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते स्वाहा ॥ १ ॥ गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि सरस्वति । गर्भं ते अश्विनौ देवावा धत्तां पुष्करस्रजा स्वाहा ॥ २ ॥ हिरण्ययी अरणी यं निर्मन्थतो अश्विना । तं ते गर्भं हवामहे दशमे मासि सूतवे स्वाहा ॥ ३ ॥ ऋ० मं० १० । सू० १८४ ॥

रेतो मूत्रं विजहाति योनिं प्रविशदीन्द्रियम् । गर्भो जरायुणावृत उल्वं जहाति जन्मना । ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानꣳ शुक्रमन्धस इन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु स्वाहा ॥ ४ ॥ यजु० अ० १९ । मं० ७६ ॥ यत्ते सुसीमे हृदयं दिवि चन्द्रमसि श्रितम् । वेदाहं तन्मां तद्विद्यात् ॥ पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् स्वाहा ॥ ५ ॥ पारस्कर कां० १ । कं० ११ ॥

यथेयं पृथिवी मही भूतानां गर्भमादधे । एवा ते ध्रियतां गर्भो अनुसूतुं सवितवे स्वाहा ॥ ६ ॥ यथेयं पृथिवी मही दाधारेमान् वनस्पतीन् । एवा ते ध्रियतां गर्भो अनुसूतुं सवितवे स्वाहा ॥ ७ ॥ यथेयं पृथिवी मही दाधार पर्वतान् गिरीन् । एवा ते ध्रियतां गर्भो अनुसूतुं सवितवे स्वाहा ॥ ८ ॥ यथेयं पृथिवी मही दाधार विष्ठितं जगत् । एवा ते ध्रियतां गर्भो अनुसूतुं सवितवे स्वाहा ॥ ९ ॥ अथर्व० कां० ६ । सू० १७ ॥

इन ९ मन्त्रों से नव आज्य और मोहनभोग की आहुति दे के नीचे लिखे मन्त्रों से भी चार घृताहुति देवे ॥

ओं भूरग्नये स्वाहा ॥ इदमग्नये–इदन्न मम ॥ १ ॥ ओं भुववार्यवे स्वाहा ॥ इदं वायवे–इदन्न मम ॥ २ ॥ ओं स्वरादित्याय स्वाहा ॥ इदमादित्याय–इदन्न मम ॥ ३ ॥ ओम् अग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्यः स्वाहा ॥ इदमग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्यः–इदन्न मम ॥ ४ ॥

पश्चात् नीचे लिखे मन्त्रों से घृत की दो आहुति देनी ॥

ओम् अयास्यग्नेर्वषट्कृतं यत्कर्मणोऽत्यरीरिचं देवा गातुविदः स्वाहा ॥ इदं देवेभ्यो गातुविद्भ्यः–इदन्न मम ॥ १ ॥ ओं प्रजापतये स्वाहा ॥ इदं प्रजापतये–इदन्न मम ॥ २ ॥ पारस्कर कां० १ । कं० २ ॥

इन कर्म और आहुतियों के पश्चात् पृष्ठ २३ में लिखे प्रमाणे "ओं यदस्य कर्मणोत्यरीरिचं०" इस मन्त्र से एक स्विष्टकृत् आहुति घृत की देवे जो इन मन्त्रों से आहुति देते समय प्रत्येक आहुति के स्रुवा में शेष रहे घृत को आगे धरे हुए कांसे के उदकपात्र में इकट्ठा करते गये हों जब आहुति हो चुकें तब उस आहुतियों के शेष घृत को बधू लेके स्नान के घर में जाकर उस घी का पग के नख से लेके शिर पर्यन्त सब अङ्गों पर मर्दन करके स्नान करे तत्पश्चात् शुद्ध वस्त्र से शरीर पोंछ शुद्ध वस्त्र धारण करके कुण्ड के समीप आवे तब दोनों बधू वर कुण्ड की प्रदक्षिणा करके सूर्य्य का दर्शन करें, उस समय—

ओं आदित्यं गर्भं पयसा समङ्ग्धि सहस्रस्य प्रतिमां विश्वरूपम् । परिवृङ्धि हरसा माभि मंस्थाः शतायुषं कृणुहि चीयमानः ॥ १ ॥ यजु० अ० १३ । मं० ४१ ॥ सूर्यो नो दिवस्पातु वातो अन्तरिक्षात् । अग्निर्नः पार्थिवेभ्यः ॥ २ ॥ जोषा सवितर्यस्य ते हरः शतं सवाँ अर्हति । पाहि नो दिद्युतः पतन्त्याः ॥ ३ ॥ चक्षुर्नो देवः सविता चक्षुर्न उत पर्वतः । चक्षुर्धाता दधातु नः ॥ ४ ॥ चक्षुर्नो धेहि चक्षुषे चक्षुर्विख्यै तनूभ्यः ।

तं चे॒दं वि च॑ पश्येम ॥ ५ ॥ सु॒सं॒दृशं॑ त्वा व॒यं प्रति॑पश्येम सूर्य । विप॑श्येम नृ॒चक्ष॑सः ॥ ६ ॥ ऋ० मं० १० । सू० १५८ । मं० १—५ ॥

इन मन्त्रों से परमेश्वर का उपस्थान करके बधू—

ओं (अमुक(१)गोत्रा शुभदा, अमुक(२)दा अहं भो भवन्तमभिवादयामि)॥

ऐसा वाक्य बोलके अपने पति को वन्दन अर्थात् नमस्कार करे तत्पश्चात् स्वपति के पिता पितामहादि और जो वहां अन्य माननीय पुरुष तथा पति की माता तथा अन्य कुटुम्बी और सम्बन्धियों की वृद्ध स्त्रियां हों उनको भी इसी प्रकार वन्दन करे इस प्रमाणे बधू वर के गोत्र की हुए अर्थात् बधू पत्नीत्व और वर पतित्व को प्राप्त हुए पश्चात् दोनों पति पत्नी शुभासन पर पूर्वाभिमुख वेदी के पश्चिम भाग में बैठ के वामदेव्यगान करें तत्पश्चात् यथोक्त (३) भोजन

(१) इस ठिकाने वर के गोत्र अथवा वर के कुल का नामोच्चारण करे ॥

(२) इस ठिकाने बधू अपना नाम उच्चारण करे ॥

(३) उत्तम सन्तान करने का मुख्य हेतु यथोक्त बधू वर के आहार पर निर्भर है इसलिये पति पत्नी अपने शरीर आत्मा की पुष्टि के लिये बल और बुद्धि आदि की वर्द्धक सर्वौषधि का सेवन करें ॥ सर्वौषधि ये हैं—दो खण्ड आंबाहलदी, दूसरी खाने की हल्दी "चन्दन" मुरा (यह नाम दक्षिण में प्रसिद्ध है), कुष्ठ, जटामांसी, मोरवेल (यह भी नाम दक्षिण में प्रसिद्ध है), शिलाजीत, कपूर, मुस्ता, भद्रमोथ इन सब ओषधियों का चूर्ण करके सब सम-भाग लेके उदुम्बर के काष्ठपात्र में गाय के दूध के साथ मिला उनका दही जमा और उदुम्बर ही के लकड़े की मंथनी से मंथन करके उसमें से मक्खन निकाल उसको ताय, घृत करके उसमें सुगन्धित द्रव्य केशर, कस्तूरी, जायफल, इलायची, जावित्री मिला के अर्थात् सेर भर दूध में छटांक भर पूर्वोक्त सर्वौषधी मिला सिद्ध कर घी हुए पश्चात् एक सेर में एक रत्ती कस्तूरी और एक मासा केशर और एक २ मासा जायफलादि भी मिला के नित्य प्रातःकाल उस घी में से २२-२३ पृष्ठ में लिखे प्रमाणे आघारावाज्यभागाहुति ४ (चार) और पृष्ठ ३४ में लिखे हुए (विष्णुर्योनिं०) इत्यादि ७ (सात) मंत्रों के अन्त में स्वाहा शब्द का उच्चारण

दोनों जने करें और पुरोहितादि सब मण्डली का सन्मानार्थ यथाशक्ति भोजन कराके आदर सत्कार पूर्वक सब को विदा करें ॥

इस के पश्चात् रात्रि में नियत समय पर जब दोनों का शरीर आरोग्य, अत्यन्त प्रसन्न और दोनों में अत्यन्त प्रेम बढ़ा हो, उस समय गर्भाधान क्रिया करनी, गर्भाधान क्रिया का समय प्रहर रात्री के गये पश्चात् प्रहर रात्री रहे तक है जब वीर्य गर्भाशय में जाने का समय आवे तब दोनों स्थिर शरीर, प्रसन्न वदन, मुख के सामने मुख, नासिका के सामने नासिकादि, सब सूधा शरीर रक्खें। वीर्य का प्रक्षेप पुरुष करे जब वीर्य स्त्री के शरीर में प्राप्त हो उस समय अपना पायु मूलेन्द्रिय और योनीन्द्रिय को ऊपर संकोच और वीर्य को खैंचकर स्त्री गर्भाशय में स्थिर करे तत्पश्चात् थोड़ा ठहर के स्नान करे यदि शीतकाल हो तो प्रथम केशर, कस्तूरी, जायफल, जावित्री, छोटी इलायची

करके जिस रात्रि में गर्भस्थापन क्रिया करनी हो उसके दिन में होम करके उसी घी को दोनों जने खीर अथवा भात के साथ मिला के यथारुचि भोजन करें इस प्रकार गर्भ स्थापन करें तो सुशील, विद्वान्, दीर्घायु, तेजस्वी, सुदृढ़ और नीरोग पुत्र उत्पन्न होवे, यदि कन्या की इच्छा हो तो जल में चावल पका पूर्वोक्त प्रकार घृत गूलर के एक पात्र में जमाए हुए दही के साथ भोजन करने से उत्तम गुण-युक्त कन्या भी होवे क्योंकि–"आहारशुद्धौ सत्वशुद्धिः सत्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः"

यह छान्दोग्य का वचन है अर्थात् शुद्ध आहार जो कि मद्यमांसादि रहित घृत दुग्धादि चावल गेहूं आदि के करने से अन्तःकरण की शुद्धि बल पुरुषार्थ आरोग्य और बुद्धि की प्राप्ति होती है इसलिये पूर्ण युवावस्था में विवाह कर इस प्रकार विधि कर प्रेमपूर्वक गर्भाधान करें तो सन्तान और कुल नित्यप्रति उत्कृष्टता को प्राप्त होते जायें जब रजस्वला होने समय में १२–१३ दिन शेष रहें तब शुक्लपक्ष में १२ दिन तक पूर्वोक्त घृत मिला के इसी खीर का भोजन करके १२ दिन का व्रत भी करें और मिताहारी होकर ऋतु समय में पूर्वोक्त रीति से गर्भाधान क्रिया करें तो अत्युत्तम सन्तान होवें, जैसे सब पदार्थों को उत्कृष्ट करने की विद्या है वैसे सन्तान को उत्कृष्ट करने की यही विद्या है इस पर मनुष्य लोग बहुत ध्यान देवें क्योंकि इसके न होने से कुल की हानि नीचता और होने से कुल की वृद्धि और उत्तमता अवश्य होती है ॥

डाल गर्म कर रक्खे हुए शीतल दूध का यथेष्ट पान करके पश्चात् पृथक् २ शयन करें यदि स्त्री-पुरुष को ऐसा दृढ़ निश्चय होजाय कि गर्भ स्थिर होगया, तो उसके दूसरे दिन और जो गर्भ रहे का दृढ़ निश्चय न हो तो एक महीने के पश्चात् रजस्वला होने के समय, स्त्री रजस्वला न हो तो निश्चित जानना कि गर्भ स्थिर हो गया है। अर्थात् दूसरे दिन वा दूसरे महीने के आरम्भ में निम्नलिखित मन्त्रों से आहुति देवें * ॥

यथा वातः पुष्करिणीं समिङ्गयति सर्वतः। एवा ते गर्भ एजतु निरैतु दशमास्यः स्वाहा ॥ १ ॥ यथा वातो यथा वनं यथा समुद्र एजति। एवा त्वं दशमास्य सहावेहि जरायुणा स्वाहा ॥ २ ॥ दश मासाञ्छशयानः कुमारो अधि मातरि। निरैतु जीवो अक्षतो जीवो जीवन्त्या अधि स्वाहा ॥ ३ ॥ ऋ० मं० ५। सू० ७८। मं० ७। ८। ९ ॥

एजतु दशमास्यो गर्भो जरायुणा सह। यथा यं वायुरेजति यथा समुद्र एजति। एवायं दशमास्यो अस्रज्जरायुणा सह स्वाहा ॥ १ ॥ यस्यै ते

* यदि दो ऋतुकाल व्यर्थ जायँ अर्थात् दो बार दो महीनों में गर्भाधान क्रिया निष्फल होजाय, गर्भस्थिति न होवे तो तीसरे महीने में ऋतुकाल समय जब आवे तब पुष्यनक्षत्रयुक्त ऋतुकाल दिवस में प्रथम प्रातःकाल उपस्थित होवे तब प्रथम प्रसूता गाय का दही दो मासा और यव के दाणों को सेक के पीस के दो मासा लेके इन दोनों को एकत्र करके पत्नी के हाथ में देके उससे पति पूछे "किं पिबसि" इस प्रकार तीन वार पूछे और स्त्री भी अपने पति को "पुंसवनम्" इस वाक्य को तीन वार बोल के उत्तर देवे और उसका प्राशन करे, इसी रीति से पुनः पुनः तीन वार विधि करना तत्पश्चात् सङ्खाहूली व भटकटाई ओषधि को जल में महीन पीस के उस का रस कपड़े में छान के पति पत्नी के दाहिने नाक के छिद्र में सिंचन करे और पति—

ओ३म् यमोषधी त्रायमाणा सहमाना सरस्वती।
अस्या अहं बृहत्याः पुत्रः पितुरिव नाम जग्रभम् ॥

इस मंत्र से जगन्नियन्ता परमात्मा की प्रार्थना करके यथोक्त ऋतुदान विधि करे, यह सूत्रकार का मत है ॥

यज्ञियो गर्भो यस्यै योनिर्हिरण्ययी । अङ्गान्यह्रुता यस्य तं मात्रा समजीगम्ँ स्वाहा ॥ २ ॥ यजु० अ० ८ । मं० २८ । २९ ॥

पुमाँसौ मित्रावरुणौ पुमाँसावश्विनावुभौ । पुमानग्निश्च वायुश्च पुमान् गर्भस्तवोदरे स्वाहा ॥ १ ॥ पुमानग्निः पुमानिन्द्रः पुमान्देवो बृहस्पतिः । पुमाँसं पुत्रं विन्दस्व तं पुमाननु जायतां स्वाहा ॥ २ ॥ मन्त्रब्राह्मण ब्रा० १ । ४ । ८-९ ॥

इन मन्त्रों से आहुति देकर व लिखित सामान्यप्रकरण की शान्त्याहुति दे के पुनः २५ पृष्ठ में लिखे प्रमाणे पूर्णाहुति देवे पुनः स्त्री के भोजन छादन का सुनियम करे । कोई मादक मद्य आदि, रेचक हरीतकी आदि, क्षार अतिलवणादि, अत्यम्ल अर्थात् अधिक खटाई रूक्ष चणे आदि, तीक्ष्ण अधिक लालमिर्ची आदि स्त्री कभी न खावे किन्तु घृत, दुग्ध, मिष्ट, सोमलता अर्थात् गुडूच्यादि ओषधि, चावल, मिष्ट, दधि, गेहूं, उर्द, मूंग, तूअर आदि अन्न और पुष्टिकारक शाक खावें उसमें ऋतु २ के मसाले गर्मी में ठण्डे सफेद इलायची आदि और सरदी में केशर कस्तूरी आदि डालकर खाया करें । युक्ताहारविहार सदा किया करें । दधि में सुंठी और ब्राह्मी ओषधि का सेवन स्त्री विशेष किया करे जिससे सन्तान अतिबुद्धिमान् रोगरहित शुभ गुण कर्म स्वभाववाला होवे ॥

इति गर्भाधानविधिः समाप्तः

अथ पुंसवनम्

पुंसवन संस्कार का समय गर्भस्थिति ज्ञान हुए समय से दूसरे वा तीसरे महीने में है उसी समय पुंसवन संस्कार करना चाहिये जिससे पुरुषत्व अर्थात् वीर्य का लाभ होवे यावत् बालक के जन्म हुए पश्चात् दो महीने न बीत जावें तबतक पुरुष ब्रह्मचारी रहकर स्वप्न में भी वीर्य को नष्ट न होने देवे भोजन, छादन, शयन, जागरणादि व्यवहार उसी प्रकार से करे जिससे वीर्य स्थिर रहे और दूसरा सन्तान भी उत्तम होवे ॥

अत्र प्रमाणानि

पुमाꣳसौ मित्रावरुणौ पुमाꣳसावश्विनावुभौ ।
पुमानग्निश्च वायुश्च पुमान् गर्भस्तवोदरे ॥ १ ॥
पुमानग्निः पुमानिन्द्रः पुमान् देवो बृहस्पतिः ।
पुमाꣳसं पुत्रं विन्दस्व तं पुमाननु जायताम् ॥ २ ॥
मं० ब्रा० १ । ४ । ८–९ ॥

शमीमश्वत्थ आरूढस्तत्र पुंसवनं कृतम् ।
तद्वै पुत्रस्य वेदनं तत्स्त्रीष्वा भरामसि ॥ १ ॥
पुंसि वै रेतो भवति तत्स्त्रियामनुषिच्यते ।
तद्वै पुत्रस्य वेदनं तत्प्रजापतिरब्रवीत् ॥ २ ॥
प्रजापतिरनुमतिः सिनीवाल्यचीक्लृपत् ।
स्त्रैषूयमन्यत्र दधत्पुमांसमु दधादिह ॥ ३ ॥
अथर्व० कां० ६ । अनु० २ । सू० ११ ॥

इन मन्त्रों का यही अभिप्राय है कि पुरुष को वीर्यवान् होना चाहिये इसमें आश्वलायन गृह्यसूत्र का प्रमाणः—

अथास्यै मण्डलागारच्छायायां दक्षिणस्यां नासिकायामजीतामोषधीं नस्तः करोति ॥ १ ॥

प्रजावज्जीवपुत्राभ्यां हैके ॥ २ ॥

गर्भ के दूसरे वा तीसरे महीने में वटवृक्ष की जटा वा उसकी पत्ती लेके स्त्री को दक्षिण नासापुट से सुंघावे और कुछ अन्य पुष्ट अर्थात् गुड़च जो गिलोय वा ब्राह्मी औषधि खिलावे ऐसा ही पारस्करगृह्यसूत्र का प्रमाण है ॥

अथ पुꣳसवनं पुरास्यन्दत इति मासे द्वितीये तृतीये वा ॥ १ ॥ पारस्कर कां० १ । कं० १४ ॥

इसके अनन्तर, पुंसवन उसको कहते हैं जो पूर्व ऋतुदान देकर गर्भस्थिति से दूसरे वा तीसरे महीने में पुंसवनसंस्कार किया जाता है इसी प्रकार गोभिलीय और शौनक गृह्यसूत्रों में लिखा है ॥

अथ क्रियारम्भः

पृष्ठ ४ से १२ वें पृष्ठ के शान्तिप्रकरण पर्यन्त कहे प्रमाणे (विश्वानि देव०) इत्यादि चारों वेदों के मन्त्रों से यजमान और पुरोहितादि ईश्वरोपासना करें और जितने पुरुष वहां उपस्थित हों वे भी परमेश्वरोपासना में चित्त लगावें और पृष्ठ ८ में कहे प्रमाणे स्वस्तिवाचन तथा पृष्ठ १० में लिखे प्रमाणे शान्तिप्रकरण करके पृष्ठ १३ में लिखे प्रमाणे यज्ञदेश, यज्ञशाला तथा यज्ञकुण्ड, पृष्ठ १४–१५ में यज्ञसमिधा, होम के द्रव्य और पाकस्थाली आदि करके और पृष्ठ २१–२३ में लिखे प्रमाणे (अयन्त इध्म०) इत्यादि (ओं अदिते०) इत्यादि ४ (चार) मन्त्रोक्त कर्म और आघारावाज्यभागाहुति ४ (चार) तथा व्याहृति आहुति ४ (चार) और पृष्ठ २३ में (ओं प्रजापतये स्वाहा) ॥१॥ पृष्ठ २३

में (ओं यदस्य कर्मणो०) ॥ २ ॥ लिखे प्रमाणे २ (दो) आहुति देकर नीचे लिखे हुए दोनों मन्त्रों से दो आहुति घृत की देवे—

ओं आ ते गर्भो योनिमेतु पुमान्बाण इवेषुधिम् । आवीरो जायतां पुत्रस्ते दशमास्यः स्वाहा ॥ १ ॥ अथर्व० कां० ३ । सू० २३ ॥ ओं अग्निरेतु प्रथमो देवतानां सोऽस्यै प्रजां मुञ्चतु मृत्युपाशात् । तदयं राजा वरुणोऽनुमन्यतां यथेयं स्त्री पौत्रमघं न रोदात् स्वाहा ॥ २ ॥ मन्त्र ब्रा० १ । १ । १० ॥

इन दोनों मन्त्रों को बोल के दो आहुति किये पश्चात् एकान्त में पत्नी के हृदय पर हाथ धर के यह निम्नलिखित मन्त्र पति बोले—

ओं यत्ते सुसीमे हृदये हितवन्तः प्रजापतौ । मन्येहं मां तद्विद्वांसमाह पौत्रमघान्नियाम् ॥ मं० ब्रा० १ । ५ । १० ॥

तत्पश्चात् पृष्ठ २६ में लिखे प्रमाणे सामवेद आर्चिक और महावामदेव्यगान गा के जो २ पुरुष वा स्त्री संस्कार समय पर आये हों उनको विदा करदे पुनः वटवृक्ष के कोमल कूपल और गिलोय को महीन बांट कपड़े में छान, गार्भिणी स्त्री के दक्षिण नासापुट में सुंघावे । तत्पश्चात्:—

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् । स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ १ ॥ य० अ० १३ । मं० ४ ॥

अद्भ्यः संभृतः पृथिव्यै रसाच्च विश्वकर्मणः समवर्त्तताग्रे । तस्य त्वष्टा विदधद्रूपमेति तन्मर्त्यस्य देवत्वमाजानमग्रे ॥ २ ॥ य० अ० ३१ । मं० १७ ॥

इन दोनों मन्त्रों को बोल के पति अपनी गार्भिणी पत्नी के गर्भाशय पर हाथ धर के यह मन्त्र बोले:—

सुपर्णोऽसि गरुत्माँस्त्रिवृत्ते शिरो गायत्रं चक्षुर्बृहद्रथन्तरे पक्षौ । स्तोम

आत्मा छन्दा॑ꣳस्यङ्गा॑नि यजू॑ꣳषि नाम॑ । साम॑ ते तनूर्वा॑मदे॒व्यं य॑ज्ञाय॒ज्ञियं॒ पुच्छं॒ धिष्ण्या॑: श॒फाः । सु॒प॒र्णो॒ऽसि ग॒रुत्मा॒न्दिवं॑ गच्छ॒ स्वः॒ पत ॥ १ ॥ य० अ० १२ । मं० ४ ॥

इसके पश्चात् स्त्री सुनियम युक्ताहारविहार करे विशेष कर गिलोय ब्राह्मी ओषधि और शुंठी को दूध के साथ थोड़ी २ खाया करे और अधिक शयन और अधिक भाषण, अधिक खारा, खट्टा, तीखा, कड़वा, रेचक, हरड़ें आदि न खावे सूक्ष्म आहार करे । क्रोध, द्वेष, लोभादि दोषों में न फँसे, चित्त को सदा प्रसन्न रक्खे इत्यादि शुभाचरण करे ॥

इति पुंसवनसंस्कारविधिः समाप्तः

अथ सीमन्तोन्नयनम्

अब तीसरा संस्कार सीमन्तोन्नयन कहते हैं जिससे गर्भिणी स्त्री का मन सन्तुष्ट आरोग्य गर्भ स्थिर उत्कृष्ट होवे और प्रतिदिन बढ़ता जावे । इसमें आगे प्रमाण लिखते हैं ॥

चतुर्थे गर्भमासे सीमन्तोन्नयनम् ॥ १ ॥ आपूर्यमाणपक्षे यदा पुंसा नक्षत्रेण चन्द्रमा युक्तः स्यात् ॥ २ ॥ अथास्यै युग्मेन शलाटुग्रप्सेन त्र्येण्या च शलल्या त्रिभिश्च कुशपिञ्जूलैरूर्ध्वं सीमन्तं व्यूहति भूर्भुवः स्वरोमिति त्रिः चतुर्वा ॥ यह आश्वलायनगृह्यसूत्र ॥

पुंसवनवत्प्रथमे गर्भे मासे षष्ठेऽष्टमे वा ॥

यह पारस्करगृह्यसूत्र का प्रमाण—इस प्रकार गोभिलीय और शौनकगृह्यसूत्र में भी लिखा है ॥

गर्भमास से चौथे महीने में शुक्लपक्ष में जिस दिन मूल आदि पुरुष नक्षत्रों से युक्त चन्द्रमा हो उसी दिन सीमन्तोन्नयन संस्कार करे और पुंसवन संस्कार के तुल्य छठे आठवें महीने में पूर्वोक्त पक्ष नक्षत्रयुक्त चन्द्रमा के दिन सीमन्तोन्नयन संस्कार करें इसमें प्रथम ४—२६ पृष्ठ तक का विधि करके (अदितेऽनुमन्यस्व) इत्यादि पृष्ठ २२ में लिखे प्रमाणे वेदी से पूर्वादि दिशाओं में जल सेचन करके—

ओं देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय । दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतन्नः पुनातु वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु स्वाहा ॥ १ ॥ य० अ० ११ । मं० ७ ॥

इस मन्त्र से कुण्ड के चारों ओर जल सेचन करके आघारावाज्यभागाहुति ४ (चार) और व्याहृति आहुति ४ (चार) मिल के ८ (आठ) आहुति पृष्ठ २२—२३ में लिखे प्रमाणे करके—

ओं प्रजापतये त्वा जुष्टं निर्वपामि ॥

अर्थात् चावल, तिल, मूंग इन तीनों को सम भाग ले के—

ओं प्रजापतये त्वा जुष्टं प्रोक्षामि ॥

अर्थात् धो के इनकी खिचड़ी बना, उसमें पुष्कल घी डाल के निम्नलिखित
मन्त्रों से ८ (आठ) आहुति देवें ॥

ओं धाता ददातु दाशुषे प्राचीं जीवातु मक्षितम् । वयं देवस्य धीमहि
सुमतिं वाजिनीवति स्वाहा ॥ इदं धात्रे-इदन्न मम ॥ १ ॥ अथर्व० कां०
७ । सू० १७ ॥ ओं धाता प्रजानामुत रायऽईशे धात्रेदं विश्वं भुवनं जजान ।
धाता कृष्टीरनिमिषाभिचष्टे धात्रऽइद्धव्यं घृतवज्जुहोत स्वाहा ॥ इदं धात्रे-
इदन्न मम ॥ २ ॥ ओं राकामहं सुहवां सुष्टुती हुवे शृणोतु नः सुभगा
बोधतु त्मना । शीव्यत्वपः सूच्याच्छिद्यमानया ददातु वीरं शतदायमुक्थ्यं
स्वाहा ॥ इदं राकायै-इदन्न मम ॥ ३ ॥ यास्ते राके सुमतयः सुपेशसो
याभिर्ददासि दाशुषे वसूनि । ताभिर्नो अद्य सुमना उपागहि सहस्रपोषं सुभगे
रराणा स्वाहा ॥ इदं राकायै-इदन्न मम ॥ ४ ॥ ऋ० मं० २ । सू० ३२ ।
मं० ४ । ५ ॥ नेजमेष परापत सुपुत्रः पुनरापत । अस्यै मे पुत्रकामायै
गर्भमाधेहि यः पुमान्स्वाहा ॥ ५ ॥ यथेयं पृथिवी मह्युत्ताना गर्भमादधे ।
एवं तं गर्भमाधेहि दशमे मासि सूतवे स्वाहा ॥ ६ ॥ विष्णोः श्रेष्ठेन रूपेणा-
स्यां नार्यां गवीन्याम् । पुमांसं पुत्रानाधेहि दशमे मासि सूतवे स्वाहा ॥७॥

इन सात मन्त्रों से खिचड़ी की सात आहुति देके पुनः (प्रजापते नत्व०)
पृष्ठ २४ में लिखित इससे एक, सब मिला के ८ (आठ) आहुति देवे और
पृष्ठ २३ में लिखे प्रमाणे (ओं प्रजापतये०) मन्त्र से एक भात की और पृष्ठ
२३ में लिखे प्रमाणे (ओं यदस्य कर्मणो०) मन्त्र से एक खिचड़ी की आहुति
देवे । तत्पश्चात् "ओं त्वन्नो अग्ने०" पृष्ठ २४–२५ में लिखे प्रमाणे, ८
(आठ) घृत की आहुति और "ओं भूरग्नये" पृष्ठ २३ में लिखे प्रमाणे ४

(चार) व्याहृति मन्त्रों से चार आज्याहुति देकर पति और पत्नी एकान्त में जा के उत्तमासन पर बैठ पति पत्नी के पश्चात् पृष्ठ की ओर बैठ—

ओं सुमित्रिया न आप ओषधयः सन्तु। दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः ॥ १ ॥ यजु० अ० ६। मं० २२ ॥

मूर्द्धानं दिवो अरतिं पृथिव्या वैश्वानरमृत आजातमग्निम्। कविꣳ सम्राजमतिथिं जनानामासन्ना पात्रं जनयन्त देवाः ॥ २ ॥ य० अ० ७। मं० २४ ॥ ओं अयमूर्जावतो वृक्ष ऊर्जीव फलिनी भव। पर्णं वनस्पते नुत्वा नुत्वा सूयताꣳ रयिः ॥ ३ ॥ ओं येनादितेः सीमानं नयति प्रजापतिर्महते सौभगाय। तेनाहमस्यै सीमानं नयामि प्रजामस्यै जरदष्टिं कृणोमि ॥ ४ ॥ मन्त्रब्राह्मण। ब्रा० १। ५। १-२ ॥ ओं राकामहꣳसुहवाꣳ सुष्टुती हुवे शृणोतु नः सुभगा बोधतु। उपागहि सहस्रपोषꣳ सुभगे रराणा ॥५॥ ओं किंपवृत्मना सीव्यत्वपः सूच्या छिद्यमानया ददातु वीरꣳ शतदायमुक्थ्यम् ॥ ६ ॥

ओं यास्ते राके सुमतयः सुपेशसो याभिर्ददासि दाशुषे वसूनि। ताभिर्नो अद्य सुमनाश्यसि प्रजां पशूंत्सौभाग्यं मह्यं दीर्घायुष्ट्वं पत्युः ॥ ७ ॥ ऋ० मं० २। सू० ३२ ॥

इन मन्त्रों को पढ़के पति अपने हाथ से स्वपत्नी के केशों में सुगन्ध तैल डाल कंघे से सुधार हाथ में उदुम्बर अथवा अर्जुन वृक्ष की शलाका वा कुशा की मृदु छीपी वा शाही पशु के कांटे से अपनी पत्नी के केशों को स्वच्छ कर पट्टी निकाल और पीछे की ओर जूड़ा सुन्दर बांधकर यज्ञशाला में आवें—उस समय वीणा आदि बाजे बजवावे, तत्पश्चात् पृष्ठ २६ में लिखे प्रमाणे सामवेद का गान करें, पश्चात्—

ओं सोमएव नो राजेमा मानुषीः प्रजाः। अविमुक्त चक्र आसीरंस्तीरे तुभ्यं असौ * ॥ पारस्कर कां० १। कं० १५ ॥

* यहां किसी नदी का नामोच्चारण करे ॥

आरम्भ में इस मन्त्र का गान करके पश्चात् अन्य मन्त्रों का गान करें तत्पश्चात् पूर्व आहुतियों के देने से बची हुई खिचड़ी में पुष्कल घृत डाल के गर्भिणी स्त्री अपना प्रतिविम्ब उस घी में देखे उस समय पति स्त्री से पूछे "किं पश्यसि" स्त्री उत्तर देवे "प्रजां पश्यामि" तत्पश्चात् एकान्त में वृद्ध कुलीन सौभाग्यवती पुत्रवती गर्भिणी अपने कुल की और ब्राह्मणों की स्त्रियां बैठें प्रसन्नवदन और प्रसन्नता की बातें करें और वह गर्भिणी स्त्री उस खिचड़ी को खावे और वे वृद्ध समीप बैठी हुई उत्तम स्त्री लोग ऐसा आशीर्वाद देवें ।

ओं वीरसूस्त्वं भव, जीवसूस्त्वं भव, जीवपत्नी त्वं भव ॥

ऐसे शुभ माङ्गलिक वचन बोलें तत्पश्चात् संस्कार में आये हुए मनुष्यों का यथायोग्य सत्कार करके स्त्री स्त्रियों और पुरुष पुरुषों को विदा करें ॥

इति सीमन्तोन्नयनसंस्कारविधिः समाप्तः

अथ जातकर्मसंस्कारविधिः

इसका समय और प्रमाण और कर्मविधि इस प्रकार करें ॥

सोष्यन्तीमद्भिरभ्युक्षति ॥ पा० कां० १ । कं० १६ ॥

इत्यादि पारस्कर गृह्यसूत्र का प्रमाण है इसी प्रकार आश्वलायन, गोभिलीय और शौनकगृह्यसूत्रों में भी लिखा है ॥

जब प्रसव होने का समय आवे तब निम्नलिखित मन्त्र से गर्भिणी स्त्री के शरीर पर जल से मार्जन करे—

ओं एजतु दशमास्यो गर्भो जरायुणा सह । यथा यं वायुरेजति यथा समुद्र एजति । एवायं दशमास्यो अस्रज्जरायुणा सह ॥ य० अ० ८ । मं० २८ ॥

इससे मार्जन करने के पश्चात्ः—

ओं अवैतु पृश्निशेवलꣳशुभे जराय्वत्तवे । नैव मांऽसेन पीवरीं न कस्मिंश्चनायतनमव जरायु पद्यताम् ॥

इस मन्त्र का जप करके पुनः मार्जन करे ।

कुमारं जातं पुराऽन्यैरालम्भात् सर्पिर्मधुनी हिरण्यनिकाषं हिरण्ययेन प्राशयेत् ॥

जब पुत्र का जन्म होवे तब प्रथम दायी आदि स्त्री लोग बालक के शरीर का जरायु पृथक् कर मुख, नासिका, कान, आंख आदि में से मल को शीघ्र दूर कर कोमल वस्त्र से पोंछ शुद्ध कर पिता के गोद में बालक को देवे पिता जहां वायु और शीत का प्रवेश न हो वहां बैठ के एक बीता भर नाड़ी को छोड़

ऊपर सूत से बांध के उस बन्धन के ऊपर से नाड़ीछेदन करके किञ्चित् उष्ण जल से बालक को स्नान करा शुद्ध वस्त्र से पूंछ नवीन शुद्ध वस्त्र पहिना, जो प्रसूता घर के बाहर पूर्वोक्त प्रकार कुण्ड कर रक्खा हो अथवा तांबे के कुण्ड में समिधा पूर्व लिखित प्रमाणे चयन कर पूर्वोक्त सामान्यविध्युक्त पृष्ठ २०–२१ में कहे प्रमाणे अग्न्याधान समिदाधान कर अग्नि को प्रदीप्त करके सुगन्धित घृतादि वेदी के पास रख के हाथ पग धोके एक पीठासन अर्थात् शुभासन पुरोहित * के लिये कुण्ड के दक्षिण भाग में रक्खे उस पर उत्तराभिमुख बैठे और यजमान अर्थात् बालक का पिता हाथ पग धोके वेदी के पश्चिम भाग में आसन बिछा उस पर उपवस्त्र ओढ़ के पूर्वाभिमुख बैठे तथा सब सामग्री अपने और पुरोहित के पास रख के पुरोहित पद के स्वीकार के लिये बोलेः—

ओम् आ वसोः सदने सीद ॥ तत्पश्चात् पुरोहितः—

ओं सीदामि ॥

बोल के आसन पर बैठ के पृष्ठ २१ में लिखे प्रमाणे "अयन्त इध्म०" ३ मन्त्रों से वेदी में चन्दन की समिदाधान करे और प्रदीप्त समिधा पर पूर्वोक्त सिद्ध किये घी की पृष्ठ २२–२३ में लिखे प्रमाणे आघारावाज्यभागाहुति ४ (चार) और व्याहृति आहुति ४ (चार) दोनों मिलके ८ (आठ) आज्याहुति देनी तत्पश्चात्ः—

ओं या तिरश्ची निपद्यते अहं विधरणी इति । तां त्वा घृतस्य धारया यजे सꣳराधनीमहम् । सꣳराधिन्यै देव्यै देष्ट्र्यै स्वाहा ॥ इदं संराधिन्यै-इदन्न मम ॥ ओं विपश्चित्पुच्छमभरत्तद्धाता पुनराहरत् । परे हि त्वं विपश्चि-त्पुमानयं जनिष्यतेऽसौ नाम स्वाहा ॥ इदं धात्रे-इदन्न मम ॥ मन्त्रब्राह्मण १ । ५ । ६ । ७ ॥

इन दोनों मन्त्रों से दो आज्याहुति करके पृष्ठ २६ में लिखे प्रमाणे वामदेव्य गान करके ४–८ पृष्ठ में लिखे प्रमाणे ईश्वरोपासना करे तत्पश्चात् घी

---

* धर्मात्मा शास्त्रोक्त विधि को पूर्णरीति से जाननेहारा विद्वान् सद्धर्मी कुलीन निर्व्यसनी सुशील वेदप्रिय पूजनीय सर्वोपरि गृहस्थ की पुरोहित संज्ञा है ।

और मधु दोनों बराबर मिला के जो प्रथम सोने की शलाका कर रक्खी हो उससे बालक की जीभ पर—

"ओ३म्"

यह अक्षर लिख के उसके दक्षिण कान में "वेदोसीति" तेरा गुप्त नाम वेद है ऐसा सुना के पूर्व मिलाये हुए घी और मधु को उस सोने की शलाका से बालक को नीचे लिखे मन्त्र से थोड़ा २ चटावेः—

ओं प्र ते ददामि मधुनो घृतस्य वेद सवित्रा प्रसूतं मघोनाम् । आयुष्मान् गुप्तो देवताभिः शतं जीव शरदो लोके अस्मिन् ॥ १ ॥ मेधां ते मित्रावरुणौ मेधामग्निर्दधातु ते । मेधां ते अश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजौ ॥ २ ॥ मं० ब्रा० १ । ५ । ६ ॥ ओं भूस्त्वयि दधामि ॥ ३ ॥ ओं भुवस्त्वयि दधामि ॥ ४ ॥ ओं स्वस्त्वयि दधामि ॥ ५ ॥ ओं भूर्भुवः स्वस्सर्वं त्वयि दधामि ॥ ६ ॥ पार० कां० १ । कं० १६ ॥ ओं सदसस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम् । सनिं मेधामयासिषᳬं स्वाहा ॥ ७ ॥ ऋ० मं० १ । सू० १८ ॥

इन प्रत्येक मन्त्रों से सात वार घृत मधु प्राशन कराके तत्पश्चात् चावल और जव को शुद्ध कर पानी से पीस वस्त्र से छान एक पात्र में रख के हाथ के अंगूठा और अनामिका से थोड़ासा लेकेः—

ओ३म् इदमाज्यमिदमन्नमिदमायुरिदममृतम् ।

इस मन्त्र को बोल के बालक के मुख में एक विन्दु छोड़ देवे यह एक गोभिलीय गृह्यसूत्र का मत है सब का नहीं । पश्चात् बालक का पिता बालक के दक्षिण कान में मुख लगा के निम्नलिखित मन्त्र बोलेः—

ओं मेधान्ते देवः सविता मेधां देवी सरस्वती । मेधान्ते अश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजौ ॥ १ ॥ ओं अग्निरायुष्मान् स वनस्पतिभिरायुष्माँस्तेन त्वायुषायुष्मन्तं करोमि ॥ २ ॥ ओं सोमऽआयुष्मान् स ओषधीभिराय-

ष्माँस्तेन * ॥ ३ ॥ ओं ब्रह्मऽआयुष्मत् तद्ब्राह्मणैरायुष्मत्तेन० ॥ ४ ॥ ओं देवा आयुष्मन्तस्तेऽमृतेनायुष्मन्तस्तेन० ॥ ५ ॥ ओं ऋषय आयुष्मन्तस्ते व्रतैरायुष्मन्तस्तेन० ॥ ६ ॥ ओं पितर आयुष्मन्तस्ते स्वधाभिरायुष्मन्तस्तेन० ॥ ७ ॥ ओं यज्ञ आयुष्मान् स दक्षिणाभिरायुष्माँस्तेन० ॥ ८ ॥ ओं समुद्र आयुष्मान् स स्रवन्तीभिरायुष्माँस्तेन त्वायुषाऽऽयुष्मन्तं करोमि ॥ ९ ॥ पा० कां० १ । कं० १६ ॥

इन नव मन्त्रों का जप करे इसी प्रकार बायें कान पर मुख धर ये ही नव मन्त्र पुनः जपे इसके पीछे बालक के कन्धों पर कोमल स्पर्श से हाथ धर अर्थात् बालक के स्कन्धों पर हाथ का बोझा न पड़े धर के निम्नलिखित मन्त्र बोले—

ओं इन्द्र श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहि चित्तिं दक्षस्य सुभगत्वमस्मे । पोषं रयीणामरिष्टिं तनूनां स्वाद्मानं वाचः सुदिनत्वमह्नाम् ॥ १ ॥ ऋ० मं० २ । सू० २१ ॥ अस्मे प्रयन्धि मघवन्नृजीषिन्निन्द्र रायो विश्ववारस्य भूरेः । अस्मे शतं शरदो जीवसे धा अस्मे वीराञ्छश्वत इन्द्र शिप्रिन् ॥ २ ॥ ऋ० मं० ३ । सू० ३६ ॥ ओं अश्मा भव परशुर्भव हिरण्यमस्तृतं भव वेदो वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम् ॥ ३ ॥ मं० ब्रा० १ । ५ । १८ ॥

इन तीन मन्त्रों को बोले तत्पश्चात्ः—

त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम् । यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नो अस्तु त्र्यायुषम् ॥ १ ॥ यजु० अ० ३ । मं० ६२ ॥

इस मन्त्र का तीन वार जप करे तत्पश्चात् बालक के स्कन्धा पर से हाथ उठा ले और जिस जगह पर बालक का जन्म हुवा हो वहां जा केः—

ओं वेद ते भूमिहृदयं दिवि चन्द्रमसि श्रितम् । वेदाहं तन्मां तद्विद्यात्पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳशृणुयाम शरदः शतम् ॥ १ ॥ पार० कां० ७ । कं० १६ ॥

* यहां पूर्व मन्त्र का शेष (त्वा०) इत्यादि उत्तर मन्त्रों के पश्चात् बोले ।

इस मन्त्र का जप करे तथाः—

यत्ते सुसीमे हृदयꣳ हितमन्तः प्रजापतौ । वेदाहं मन्ये तद्ब्रह्म माहं पौत्रमघं निगाम् ॥ २ ॥ यत्पृथिव्या अनामृतं दिवि चन्द्रमसि श्रितम् । वेदामृतस्येह नाममाहं पौत्रमघꣳ रिषम् ॥ ३ ॥ इन्द्राग्नी शर्म यच्छतं प्रजापती । यथायन्न प्रमीयते पुत्रो जनित्र्या अधि ॥ ४ ॥ यददश्चन्द्रमसि कृष्णं पृथिव्या हृदयꣳ श्रितम् । तदहं विद्वांꣳस्तत्पश्यन् माहं पौत्रमघꣳ रुदम् ॥५॥ मं० ब्रा० १ । ५ । १०–१३ ॥

इन मन्त्रों को पढ़ता हुआ सुगन्धित जल से प्रसूता के शरीर का मार्जन करे॥

कोसि कतमोस्येषोस्यमृतोसि । आहस्पत्यं मासं प्रविशासौ ॥ ६ ॥ स त्वाह्ने परिददात्वहस्त्वा रात्र्यै परिददातु रात्रिस्त्वाहोरात्राभ्यां परिददात्वहोरात्रे त्वार्द्धमासेभ्यः परिदत्तामर्द्धमासास्त्वा मासेभ्यः परिददतु मासास्त्वर्तुभ्यः परिददत्वृतवस्त्वा संवत्सराय परिददतु संवत्सरस्त्वायुषे जरायै परिददात्वसौ ॥ ७ ॥ मं० ब्रा० १ । ५ । १४–१५ ॥

इन मन्त्रों को पढ़ के बालक को आशीर्वाद देवे । पुनः—

अङ्गादङ्गात्सꣳस्रवसि हृदयादधिजायसे । प्राणन्ते प्राणेन सन्दधामि जीव मे यावदायुषम् ॥ ८ ॥ अङ्गादङ्गात्संभवसि हृदयादधिजायसे । वेदो वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम् ॥ ९ ॥ अश्मा भव परशुर्भव हिरण्यमस्तृतं भव । आत्मासि पुत्र मामृथाः सजीव शरदः शतम् ॥ १० ॥ पशूनां त्वा हिंकारेणाभिजिघ्राम्यसौ ॥ ११ ॥ मं० ब्रा० १ । ५ । १६–१९ ॥

इन मन्त्रों को पढ़ के पुत्र के शिर का आघ्राण करे अर्थात् सूंघे इसी प्रकार जब परदेश से आवे वा जावे तब २ भी इस क्रिया को करे जिससे पुत्र और पिता माता में अति प्रेम बढ़े ॥

ओं इडासि मैत्रावरुणी वीरे वीरमजीजनथाः । सा त्वं वीरवती भव यास्मान्वीरवतोऽकरत् ॥ १ ॥ पारस्कर० कां० १ । कं० १६ ॥

इस मन्त्र से ईश्वर की प्रार्थना करके प्रसूता स्त्री को प्रसन्न करके पश्चात् स्त्री के दोनों स्तन किञ्चित् उष्ण सुगन्धित जल से प्रक्षालन कर पोंछ केः—

ओं इमꣳस्तनमूर्ज्जस्वन्तं धयापां प्रपीनमग्ने शरीरस्य मध्ये । उत्सं जुषस्व मधुमन्तमर्वन्त्समुद्रियꣳ सदनमाविशस्व ॥१॥ यजु० अ० १७ । ८७॥

इस मन्त्र को पढ़ के दक्षिण स्तन प्रथम बालक के मुख में देवे इसके पश्चात्ः—

ओं यस्ते स्तनः शशयो यो मयोभूर्येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि । यो रत्नधा वसुविद्यः सुदत्रः सरस्वति तमिह धातवे कः ॥ १ ॥ ऋ० १ । सू० १६४ । मं० ४९ ॥

इस मन्त्र को पढ़ के वाम स्तन बालक के मुख में देवे तत्पश्चात्ः—

ओं आपो देवेषु जागृथ यथा देवेषु जागृथ । एवमस्याꣳ सूतिकायाꣳ सपुत्रिकायां जागृथ ॥ १ ॥ पारस्कर० कां० १ । कं० १६ ॥

इस मन्त्र से प्रसूता स्त्री के शिर की ओर एक कलश जल से पूर्ण भर के दश रात्रि तक वहीं धर रक्खे तथा प्रसूता स्त्री प्रसूत स्थान में दश दिन तक रहे वहां नित्य सायं और प्रातःकाल सन्धिवेला में निम्नलिखित दो मन्त्रों से भात और सरसों मिला के दश दिन तक बराबर आहुतियां देवे ॥

ओं शण्डामर्काउपवीरः शौण्डिकेयऽउलूखलः । मलिम्लुचो द्रोणासश्च्यवनो नश्यतादितः स्वाहा ॥ इदं शण्डामर्काउपवीराय, शौण्डिकेयायोलूखलाय, मलिम्लुचो द्रोणसश्च्यवनोनश्यतादितेभ्यश्च—इदन्न मम ॥ १ ॥ ओं आलिखन्ननिमिषः किं वदन्त उपश्रुतिः । हर्यक्षः कुम्भीशत्रुः पात्रपाणिर्नृमणिर्हन्त्रीमुखः सर्षपारुणश्च्यवनो नश्यतादितः स्वाहा ॥ इदमालिखन्ननिमिषाय किंवद्भ्य उपश्रुतहर्यक्षाय कुम्भीशत्रवे पात्रपाणये नृमणये हन्त्रीमुखाय सर्षपारुणाय—इदन्न मम ॥ २ ॥ पारस्कर० कां० १ । कं० १६ ॥

इन मन्त्रों से १० दिन तक होम करके पश्चात् अच्छे २ विद्वान् धार्मिक वैदिक मत वाले बाहर खड़े रहकर और बालक का पिता भीतर रहकर आशीर्वादरूपी नीचे लिखे मन्त्रों का पाठ आनन्दित हो के करें ॥

मा नो हासिषुर्ऋषयो दैव्या ये तनूपा ये नस्तन्वस्तनूजाः । अमर्त्या मर्त्याँ अभि नः सचध्वमायुर्धत्त प्रतरं जीवसे नः ॥ अथर्व० कां० ६ । अनु० ४ । सू० ४१ ॥ इदं जीवेभ्यः परिधिं दधामि मैषां नु गादपरो अर्थमेतम् । शतं जीवन्तः शरदः पुरूचीस्तिरो मृत्युं दधतां पर्वतेन ॥ २ ॥ अथर्व० कां० १२ । अ० २ । मं० २३ ॥ विश्वस्वान्नो अभयं कृणोतु यः सुत्रामा जीरदानुः सुदानुः इहम वीरा बहवा भवन्तु गोमदश्ववन्मय्यस्तु पुष्टम् ॥ ३ ॥ अथर्व० कां० १८ । अनु० ३ । मं० ६१ ॥

इति जातकर्मसंस्कारविधिः समाप्तः

अथ

नामकरणसंस्कारविधिं वक्ष्यामः

अत्र प्रमाणम् । नाम चास्मै दद्युः ॥ १ ॥ घोषवदाद्यन्तरन्तःस्थमभि निष्ठानान्तं द्व्यक्षरम् ॥ २ ॥ चतुरक्षरं वा ॥ ३ ॥ द्व्यक्षरं प्रतिष्ठाकामश्चतु-रक्षरं ब्रह्मवर्चसकामः ॥ ४ ॥ युग्मानि त्वेव पुंसाम् ॥ ५ ॥ अयुजानि स्त्रीणाम् ॥ ६ ॥ अभिवादनीयं च समीक्षेत तन्मातापितरौ विदध्यातामोप-नयनात् ॥ ७ ॥ इत्याश्वलायनगृह्यसूत्रेषु ।

दशम्यामुत्थाप्य पिता नाम करोति द्व्यक्षरं चतुरक्षरं वा घोषवदाद्यन्त-रन्तःस्थं दीर्घाभिनिष्ठानान्तं कृतं कुर्यान्न तद्धितमयुजाक्षरमाकारान्तꣳस्त्रियै शर्म ब्राह्मणस्य वर्म क्षत्रियस्य गुप्तेति वैश्यस्य ॥

इसी प्रकार गोभिलीय और शौनक गृह्यसूत्र में भी लिखा हैः—

नामकरण अर्थात् जन्मे हुए बालक का सुन्दर नाम धरे । नामकरण का काल जिस दिन जन्म हो उस दिन से लेके १० दिन छोड़ ११ में वा १०१ (एकसौ एक) में अथवा दूसरे वर्ष के आरम्भ में जिस दिन जन्म हुआ हो नाम धरे जिस दिन नाम धरना हो उस दिन अति प्रसन्नता से इष्ट मित्र हितैषी लोगों को बुला यथावत् सत्कार कर क्रिया का आरम्भ यजमान बालक का पिता और ऋत्विज करें । पुनः पृष्ठ ४—२६ में लिखे प्रमाणे सब मनुष्य ईश्वरोपासना, स्वस्तिवाचन, शान्तिप्रकरण और सामान्यप्रकरणस्थ संपूर्ण विधि करके आघारा-वाज्यभागाहुति ४ (चार) और व्याहृति आहुति ४ (चार) और पृष्ठ २४-२५ में लिखे प्रमाणे (त्वन्नो अग्ने०) इत्यादि आठ मन्त्रों से ८ (आठ) आहुति अर्थात् सब मिला के १६ घृताहुति करें । तत्पश्चात् बालक को शुद्ध स्नान करा शुद्ध वस्त्र पहिनाके उसकी माता कुण्ड के समीप बालक के पिता के पीछे से

आ दक्षिण भाग में होकर बालक का मस्तक उत्तर दिशा में रख के बालक के पिता के हाथ में देवे और स्त्री पुनः उसी प्रकार पति के पीछे होकर उत्तर भाग में पूर्वाभिमुख बैठे। तत्पश्चात् पिता उस बालक को उत्तर में शिर और दक्षिण में पग करके अपनी पत्नी को देवे। पश्चात् जो उसी संस्कार के लिये कर्त्तव्य हो उस प्रथम प्रधान होम को करे। पूर्वोक्त प्रकार घृत और सब साकल्य सिद्ध कर रक्खे उसमें से प्रथम घी का चमसा भर के–

(**ओं प्रजापतये स्वाहा**)

इस मन्त्र से १ आहुति देकर पीछे जिस तिथि जिस नक्षत्र में बालक का जन्म हुआ हो उस तिथि और उस नक्षत्र का नाम लेके, उस तिथि और उस नक्षत्र के देवता के नाम से ४ (चार) आहुति देनी अर्थात् एक तिथि दूसरी तिथि के देवता, तीसरी नक्षत्र और चौथी नक्षत्र के देवता के नाम से अर्थात् तिथि नक्षत्र और उनके देवताओं के नाम के अन्त में चतुर्थी विभक्ति का रूप और स्वाहान्त बोल के ४ (चार) घी की आहुति देवे, जैसे किसी का जन्म प्रतिपदा और अश्विनी नक्षत्र में हुआ हो तोः–

ओं प्रतिपदे स्वाहा। ओं ब्रह्मणे स्वाहा। ओं अश्विन्यै स्वाहा। ओं अश्विभ्यां स्वाहा * ॥ गोभि० प्र० २। खं० ८। सू० ६–१२॥

---

* **तिथिदेवताः**–१ ब्रह्मन्। २–त्वष्टृ। ३–विष्णु। ४–यम। ५–सोम। ६–कुमार। ७–मुनि। ८–वसु। ९–शिव। १०–धर्म। ११–रुद्र। १२–वायु। १३–काम। १४–अनन्त। १५–विश्वेदेव। ३०–पितर॥

नक्षत्रदेवताः–अश्विनी–अश्वी। भरणी–यम। कृत्तिका–अग्नि। रोहिणी–प्रजापति। मृगशीर्ष–सोम। आर्द्रा–रुद्र। पुनर्वसु–अदिति। पुष्य–बृहस्पति। अश्लेषा–सर्प। मघा–पितृ। पूर्वाफल्गुनी–भग। उत्तराफल्गुनी–अर्यमन्। हस्त–सवितृ। चित्रा–त्वष्टृ। स्वाति–वायु। विशाखा–चन्द्राग्नी। अनुराधा–मित्र। ज्येष्ठा–इन्द्र। मूल–निर्ऋति। पूर्वाषाढा–अप्। उत्तराषाढा–विश्वेदेव। श्रवण–विष्णु। धनिष्ठा–वसु। शतभिषज्–वरुण। पूर्वाभाद्रपदा–अजपाद। उत्तराभाद्रपदा–अहिर्बुध्न्य। रेवती–पूषन्॥

तत्पश्चात् पृष्ठ २३ में लिखी हुई स्विष्टकृत मन्त्र से एक आहुति और पृष्ठ २३ में लिखे प्रमाणे ४ (चार) व्याहृति आहुति दोनों मिल के ५ आहुति देके तत्पश्चात् माता बालक को लेके शुभ आसन पर बैठे और पिता बालक के नासिका द्वार से बाहर निकलते हुए वायु का स्पर्श करके—

कोऽसि कतमोऽसि कस्यासि को नामासि । यस्य ते नामामन्महि यं त्वा सोमेनातीतृपाम । भूर्भुवः स्वः सुप्रजाः प्रजाभिः स्याᳬं सुवीरो वीरैः सुपोषः पोषैः ॥ यजु० अ० ७ । मं० २९ ॥

ओं कोऽसि कतमोऽस्येषोऽस्यमृतोऽसि । आहस्पत्यं मासं प्रविशासौ ॥ मं० ब्रा० १ । ५ । १४ ॥

जो यह "असौ" पद है इसके पीछे बालक का ठहराया हुआ नाम अर्थात् जो पुत्र हो तो नीचे लिखे प्रमाणे दो अक्षर का वा चार अक्षर का घोषसंज्ञक और अन्तःस्थ वर्ण अर्थात् पांचों वर्गों के दो २ अक्षर छोड़ के तीसरा, चौथा, पांचवां और य, र, ल, व, ये चार वर्ण नाम में अवश्य आवें *। जैसे देव अथवा जयदेव ब्राह्मण हो तो देवशर्मा क्षत्रिय हो तो देववर्मा वैश्य हो तो देव-

---

* ग, घ, ङ, ज, झ, ञ, ड, ढ, ण, द, ध, न, ब, भ, म, ये स्पर्श और य, र, ल, व, ये चार अन्तःस्थ और हर एक ऊष्मा, इतने अक्षर नाम में होने चाहियें और स्वरों में से कोई भी स्वर हो जैसे (भद्रः, भद्रसेनः, देवदत्तः, भवः, भवनाथः, नागदेवः, रुद्रदत्तः, हरिदेवः) इत्यादि पुरुषों का समाक्षर नाम रखना चाहिये तथा स्त्रियों का विषमाक्षर नाम रक्खे अन्त्य में दीर्घस्वर और तद्धितान्त भी होवे, जैसे (श्रीः, ह्रीः, यशोदा, सुखदा, गान्धारी, सौभाग्यवती, कल्याणक्रीडा) इत्यादि परन्तु स्त्रियों के इस प्रकार के नाम कभी न रक्खें उसमें प्रमाण (नर्क्षवृक्षनदीनाम्नीं नान्त्यपर्वतनामिकाम् । न पक्ष्यहिप्रेष्यनाम्नीं न च भीषणनामिकाम्) ॥ १ ॥ मनुस्मृतौ । (ऋक्ष) रोहिणी, रेवती इत्यादि, (वृक्ष) चम्पा, तुलसी इत्यादि, (नदी) गंगा, यमुना, सरस्वती इत्यादि, (अन्त्य) चांडाली इत्यादि, (पर्वत) विन्ध्याचला, हिमालया इत्यादि, (पक्षी) कोकिला, हंसा इत्यादि, (अहि) सर्पिणी, नागी इत्यादि, (प्रेष्य) दासी, किंकरी इत्यादि, (भयंकर) भीमा, भयंकरी, चण्डिका इत्यादि नाम निषिद्ध हैं ॥

गुप्त और शूद्र हो तो देवदास इत्यादि और जो स्त्री हो तो एक तीन वा पांच अक्षर का नाम रक्खे श्री, ह्री, यशोदा, सुखदा, सौभाग्यप्रदा इत्यादि नामों को प्रसिद्ध बोल के पुनः "असौ" पद के स्थान में बालक का नाम धर के पुनः "ओं कोसि०" ऊपर लिखित मन्त्र बोलना ।

ओं स त्वाह्ने परिददात्वहस्त्वा रात्र्यै परिददातु रात्रिस्त्वाहोरात्राभ्यां परिददात्वहोरात्रौ त्वार्द्धमासेभ्यः परिदत्तामर्द्धमासास्त्वा मासेभ्यः परिददतु मासास्त्वर्त्तुभ्यः परिददत्वृतवस्त्वा संवत्सराय परिददतु संवत्सरस्त्वायुषे जरायै परिददातु, असौ ॥ मं० ब्रा० १ । ५ । १५ ॥

इन मन्त्रों से बालक को जैसा जातकर्म में लिख आये हैं वैसे आशीर्वाद देवे. इस प्रमाणे बालक का नाम रखके संस्कार में आये हुए मनुष्यों को वह नाम सुना के पृष्ठ २६ में लिखे प्रमाणे महावामदेव्यगान करे तत्पश्चात् कार्यार्थ आये हुए मनुष्यों को आदर सत्कार करके विदा करे और सब लोग जाते समय पृष्ठ ४–८ में लिखे प्रमाणे परमेश्वर की स्तुति प्रार्थनोपासना करके बालक को आशीर्वाद देवें कि—

"हे बालक ! त्वमायुष्मान् वर्चस्वी तेजस्वी श्रीमान् भूयाः"

हे बालक ! तू आयुष्मान् विद्यावान् धर्मात्मा यशस्वी पुरुषार्थी प्रतापी परोपकारी श्रीमान् हो ॥

इति नामकरणसंस्कारविधिः समाप्तः

अथ

निष्क्रमणसंस्कारविधिं वक्ष्यामः

निष्क्रमण संस्कार उसको कहते हैं कि जो बालक को घर से जहां का वायु-स्थान शुद्ध हो वहां भ्रमण कराना होता है उसका समय जब अच्छा देखे तभी बालक को बाहर घुमावें अथवा चौथे मास में तो अवश्य भ्रमण करावें इसमें प्रमाणः—

चतुर्थे मासि निष्क्रमणिका सूर्यमुदीक्षयति तच्चक्षुरिति ॥

यह आश्वलायनगृह्यसूत्र का वचन है ॥

जननाद्यस्तृतीयो ज्यौत्स्नस्तस्य तृतीयायाम् ॥

यह पारस्करगृह्यसूत्र में भी है ॥

अर्थः—निष्क्रमण संस्कार के काल के दो भेद हैं एक बालक के जन्म के पश्चात् तीसरे शुक्लपक्ष की तृतीया और दूसरा चौथे महीने में जिस तिथि में बालक का जन्म हुआ हो उस तिथि में यह संस्कार करे।

उस संस्कार के दिन प्रातःकाल सूर्योदय के पश्चात् बालक को शुद्ध जल से स्नान करा शुद्ध सुन्दर वस्त्र पहिनावे पश्चात् बालक को यज्ञशाला में बालक की माता ले आके पति के दक्षिण पार्श्व में होकर पति के सामने आकर बालक का मस्तक उत्तर और छाती ऊपर अर्थात् चित्ता रख के पति के हाथ में देवे पुनः पति के पीछे की ओर घूम के बायें पार्श्व में पश्चिमाभिमुख खड़ी रहै—

ओं यत्ते सुसीमे हृदयꣳ हितमन्तः प्रजापतौ। वेदाहं मन्ये तद्ब्रह्म माहं पौत्रमघं निगाम् ॥ १ ॥ ओं यत्पृथिव्या अनामृतं दिवि चन्द्रमसि श्रितम्। वेदामृतस्याह नाममाहं पौत्रमघꣳ रिषम् ॥ २ ॥ ओं इन्द्राग्नी शर्म यच्छतं

प्रजापती । यथा यन्न प्रमीयेत पुत्रो जनित्र्या अधि ॥ ३ ॥ मं० ब्रा० १ । ५ । १०-१२ ॥

इन तीन मन्त्रों से परमेश्वर की आराधना करके पृष्ठ ४-२६ में लिखे प्रमाणे परमेश्वरोपासना, स्वस्तिवाचन, शान्तिप्रकरण आदि सामान्यप्रकरणोक्त समस्त विधि कर और पुत्र को देख के इन निम्नलिखित तीन मन्त्रों से पुत्र के शिर को स्पर्श करेः—

ओं अङ्गादङ्गात्सम्भवसि हृदयादधिजायसे । आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम् ॥ १ ॥ ओं प्रजापतेष्ट्वा हिंकारेणावजिघ्रामि सहस्रायुषाऽसौ जीव शरदः शतम् ॥ २ ॥ गवां त्वा हिंकारेणावजिघ्रामि । सहस्रायुषाऽसौ जीव शरदः शतम् ॥ ३ ॥ पार० कां० १ । कं० १८ ॥

तथा निम्नलिखित मन्त्र बालक के दक्षिण कान में जपेः—

अस्मे प्रयन्धि मघवन्नृजीषिन्निन्द्र रायो विश्ववारस्य भूरेः । अस्मे शतꣳ शरदो जीवसे धा अस्मे वीराञ्छश्वत इन्द्र शिप्रिन् ॥ १ ॥ ऋ० मं० ३ । सू० ३६ । मं० १० ॥

इन्द्र श्रेष्ठा॑नि द्रवि॑णानि धेहि चित्तिं॑ दक्ष॑स्य सुभगत्वम॒स्मे । पोषं॑ रयी॒णामरि॑ष्टिं त॒नूनां॑ स्वा॒द्मानं॑ वा॒चः सु॑दिन॒त्वमह्ना॑म् ॥ २ ॥ ऋ० मं० २ । सू० २१ । मं० ६ ॥

इस मन्त्र को वाम कान में जप के पत्नी की गोद में उत्तर दिशा में शिर और दक्षिण दिशा में पग करके बालक को देवे और मौन करके स्त्री के शिर का स्पर्श करे तत्पश्चात् आनन्दपूर्वक उठ के बालक को सूर्य का दर्शन करावे और निम्नलिखित मन्त्र वहां बोलेः—

ओं तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् । पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ॥ १ ॥ य० ३६ । मं० २४ ॥

इस मन्त्र को बोल के थोड़ासा शुद्ध वायु में भ्रमण कराके यज्ञशाला में ला सब लोगः—

त्वं जीव शरदः शतं वर्धमानः ।

इस वचन को बोल के आशीर्वाद देवें तत्पश्चात् बालक के माता और पिता संस्कार में आये हुए स्त्रियों और पुरुषों का यथायोग्य सत्कार करके विदा करें तत्पश्चात् जब रात्रि में चन्द्रमा प्रकाशमान हो तब बालक की माता लड़के को शुद्ध वस्त्र पहिना दाहिनी ओर से आगे आके पिता के हाथ में बालक को उत्तर की ओर शिर और दक्षिण की ओर पग करके देवे और बालक की माता दाहिनी ओर से लौट कर बाईं ओर आ अञ्जलि भर के चन्द्रमा के सन्मुख खड़ी रह के—

ओं यददश्चन्द्रमासि कृष्णं पृथिव्या हृदयꣳ श्रितम् । तदहं विद्वाꣳस्तत्पश्यन्माहं पौत्रमघꣳ रुदम् ॥ १ ॥ मं० ब्रा० १ । ५ । १२ ॥

इस मन्त्र से परमात्मा की स्तुति करके जल को पृथिवी पर छोड़ देवे तत्पश्चात् बालक की माता पुनः पति के पृष्ठ की ओर से पति के दाहिने पार्श्व से सन्मुख आके पति से पुत्र को लेके पुनः पति के पिछे होकर बाईं ओर आ बालक का उत्तर की ओर शिर दक्षिण की ओर पग रखके खड़ी रहै और बालक का पिता जल की अञ्जलि भर (ओं यददश्च०) इसी मन्त्र से परमेश्वर की प्रार्थना करके जल को पृथिवी पर छोड़ के दोनों प्रसन्न होकर घर में आवें ॥

इति निष्क्रमणसंस्कारविधिः समाप्तः

अथान्नप्राशनविधिं वक्ष्यामः

अन्नप्राशन संस्कार तभी करे जब बालक की शक्ति अन्न पचाने योग्य होवे। इसमें आश्वलायन गृह्यसूत्र का प्रमाण—

षष्ठे मास्यन्नप्राशनम् ॥ १ ॥ घृतौदनं तेजस्कामः ॥ २ ॥ दधिमधुघृतमिश्रितमन्नं प्राशयेत् ॥ ३ ॥

इसी प्रकार पारस्करगृह्यसूत्रादि में भी है।

छठे महीने बालक को अन्नप्राशन करावे जिसको तेजस्वी बालक करना हो वह घृतयुक्त भात अथवा दही सहत और घृत तीनों भात के साथ मिला के निम्नलिखित विधि से अन्नप्राशन करावे अर्थात् पूर्वोक्त पृष्ठ ४—२६ में कहे हुए संपूर्ण विधि को करके जिस दिन बालक का जन्म हुआ हो उसी दिन यह संस्कार करे और निम्न लिखे प्रमाणे भात सिद्ध करे॥

ओं प्राणाय त्वा जुष्टं प्रोक्षामि। ओं अपानाय त्वा०। ओं चक्षुषे त्वा०। ओं श्रोत्राय त्वा०। ओं अग्नये स्विष्टकृते त्वा०॥

इन पांच मन्त्रों का यही अभिप्राय है कि चावलों को धो शुद्ध करके अच्छे प्रकार बनाना और पकते हुए भात में यथायोग्य घृत भी डाल देना जब अच्छे प्रकार पक जावें तब उतार थोड़े ठण्डे हुए पश्चात् होमस्थाली में—

ओं प्राणाय त्वा जुष्टं निर्वपामि। ओम् अपानाय त्वा०। ओं चक्षुषे त्वा०। ओं श्रोताय त्वा०। ओं अग्नये स्विष्टकृते त्वा०॥ ५॥

इन पांच मन्त्रों से कार्यकर्त्ता यजमान और पुरोहित तथा ऋत्विजों को पात्र में पृथक् २ देके पृष्ठ २०—२१ में लिखे प्रमाणे अग्न्याधान समिदाधानादि करके प्रथम आघारावाज्यभागाहुति ४ (चार) और व्याहृति आहुति ४

(चार) मिल के ८ (आठ) घृत की आहुति देके पुनः उस पकाये हुए भात की आहुति नीचे लिखे हुए मन्त्रों से देवे ॥

देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति । सा नो मन्द्रेषमूर्जं दुहाना धेनुर्वागस्मानुपसुष्टुतैतु स्वाहा ॥ इदं वाचे-इदन्न मम ॥ १ ॥ ऋ० मं० ८ । सू० १०० ॥ वाजो नोऽअद्य प्रसुवाति दानं वाजो देवाँ ऋतुभिः कल्पयाति । वाजो हि मा सर्ववीरं जजान विश्वा आशा वाजपतिर्जयेयꣳ स्वाहा । इदं वाचे वाजाय-इदन्न मम ॥ २ ॥ य० अ० १८ । मं० ३३ ॥

इन दो मन्त्रों से दो आहुति देवें तत्पश्चात् उसी भात में और घृत डाल के-

ओं प्राणेनान्नमशीय स्वाहा ॥ इदं प्राणाय-इदन्न मम ॥ १ ॥ ओं अपानेन गन्धानमशीय स्वाहा ॥ इदमपानाय-इदन्न मम ॥ २ ॥ ओं चक्षुषा रूपाण्यशीय स्वाहा ॥ इदं चक्षुषे-इदन्न मम ॥ ३ ॥ ओं श्रोत्रेण यशोऽशीय स्वाहा ॥ इदं श्रोत्राय-इदन्न मम ॥ ४ ॥ पार० कां० १ । कं० १९ ॥

इन मन्त्रों से चार आहुति देके (ओं यदस्य कर्मणो०) पृष्ठ २३ में लि० स्विष्टकृत् आहुति एक देवे तत्पश्चात् पृष्ठ २३ में लि० व्याहृति आहुति ४ (चार) और पृष्ठ २४-२५ में लिखे (ओं त्वन्नो०) इत्यादि से ८ (आठ) आज्याहुति मिल के १२ (बारह) आहुति देवे । उसके पीछे आहुति से बचे हुए भात में दही मधु और उसमें घी यथायोग्य किंचित् २ मिला के और सुगन्धियुक्त और भी चावल बनाये हुए थोड़े से मिला के बालक के रुचि प्रमाणे-

ओं अन्नपतेऽन्नस्य नो देह्यनमीवस्य शुष्मिणः । प्रप्रदातारं तारिष ऊर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे ॥ १ ॥ य० अ० ११ । मं० ८३ ॥

इस मन्त्र को पढ़ के थोड़ा २ पूर्वोक्त भात बालक के मुख में देवे यथारुचि खिला बालक का मुख धो और अपने हाथ धो के पृष्ठ २६ में लि० महावामदेव्यगान करके जो बालक के माता पिता और अन्य वृद्ध स्त्री पुरुष आये हों वे परमात्मा की प्रार्थना करके—

त्वमन्नपतिरन्नादो वर्धमानो भूयाः ।

इस वाक्य से बालक को आशीर्वाद देके पश्चात् संस्कार में आये हुए पुरुषों का सत्कार बालक का पिता और स्त्रियों का सत्कार बालक की माता करके सब को प्रसन्नतापूर्वक विदा करें ॥

इत्यन्नप्राशनसंस्कारविधिः समाप्तः

अथ चूड़ाकर्मसंस्कारविधिं वक्ष्यामः

यह आठवां संस्कार चूड़ाकर्म है जिस को केशच्छेदन संस्कार भी कहते हैं इसमें आश्वलायन गृह्यसूत्र का मत ऐसा है:—

तृतीये वर्षे चौलम् ॥ १ ॥ उत्तरतोऽग्नेर्व्रीहियवमाषतिलानां शरावाणि निदधाति ॥ २ ॥

इसी प्रकार पारस्कर गृह्यसूत्रादि में भी है ॥

सांवत्सरिकस्य चूड़ाकरणम् ॥

इसी प्रकार गोभिलीय गृह्यसूत्र का भी मत है, यह चूड़ाकर्म अर्थात् मुण्डन बालक के जन्म से तीसरे वर्ष वा एक वर्ष में करना उत्तरायणकाल शुक्लपक्ष में जिस दिन आनन्द मङ्गल हो उस दिन यह संस्कार करे । विधिः—

आरम्भ में पृष्ठ ४—२६ में लिखित विधि करके चार शरावे ले एक में चावल, दूसरे में यव, तीसरे में उर्द और चौथे शरावे में तिल भर के वेदी के उत्तर में धर देवे, धर के पृष्ठ २२ में लिखे प्रमाणे "ओं अदितेऽनुमन्यस्व०" इत्यादि तीन मन्त्रों से कुण्ड के तीन बाजू और पृष्ठ २२ में लिखे प्रमाणे "ओं देव सवितः प्रसुव०" इस मन्त्र से कुण्ड के चारों ओर जल छिटका के पूर्व पृष्ठ २०—२१ में लिखित अग्न्याधान समिदाधान कर अग्नि को प्रदीप्त करके जो समिधा प्रदीप्त हुई हो उस पर लक्ष्य देकर पृष्ठ २२—२३ में आघारावाज्यभागाहुति ४ (चार) और व्याहृति आहुति ४ (चार) और पृष्ठ २४—२५ में लि० आठ आज्याहुति सब मिल के सोलह (१६) आहुति देके पृष्ठ २४ में लिखे प्रमाणे "ओं भूर्भुवः स्वः । अग्न आयूंषि०" इत्यादि मन्त्रों से चार आज्याहुति प्रधान होम की देके पश्चात् पृष्ठ २३ में लिखे प्रमाणे व्याहृति आहुति ४ और स्विष्टकृदग्नि मन्त्र से एक आहुति मिल के पांच घृत

की आहुति देवे, इतनी क्रिया करके कर्मकर्त्ता परमात्मा का ध्यान करके नाई की ओर प्रथम देख के:—

ओं आयमगन्त्सविता क्षुरेणोष्णेन वाय उदकेनेहि। आदित्या रुद्रा वसव उन्दन्तु सचेतसः सोमस्य राज्ञो वपत प्रचेतसः ॥ १ ॥ अथर्व० कां० ६ । सू० ६८ ॥

इस मन्त्र का जप करके पिता बालक के पृष्ठभाग में बैठ के किञ्चित् उष्ण और किञ्चित् ठण्ढा जल दोनों पात्रों में लेके "उष्णेन वाय उदकेनैधि । पार० कां० २ । कं० १ ।" इस मन्त्र को बोल के दोनों पात्रों का जल एक पात्र में मिला देवे पश्चात् थोड़ा जल, थोड़ा माखन अथवा दही की मलाई ले के—

ओं अदितिः श्मश्रु वपत्वाप उन्दन्तु सचेतसः। चिकित्सतु प्रजापतिर्दीर्घायुत्वाय चक्षसे ॥ १ ॥ अथर्व० कां० ६ । सू० ६८ ॥

ओं सवित्रा प्रसूता दैव्य आप उन्दन्तु। ते तनूं दीर्घायुत्वाय वर्चसे ॥ २ ॥ पारस्कर० कां० २ । कं० १ ॥

इन मन्त्रों को बोल के बालक के शिर के बालों में तीन बार हाथ फेर के केशों को भिगोवे तत्पश्चात् कंघा लेके केशों को सुधार के इकट्ठा करे अर्थात् बिखरे न रहें तत्पश्चात् "ओं ओषधे त्रायस्व एनꣳ मैनꣳहिꣳसीः ॥ य० अ० ४ । मं० १ ॥" इस मन्त्र को बोल के तीन दर्भ लेके दाहिनी बाजू के केशों के समूह को हाथ से दबा के "ओं विष्णोर्दꣳष्ट्रोसि ॥ मं० ब्रा० १ । ६ । ४ ॥" इस मन्त्र से छुरे की ओर देख के—

ओं शिवो नामासि स्वधितिस्ते पिता नमस्तेऽअस्तु मा मा हिꣳसीः ॥ य० अ० ३ । मं० ६३ ॥

इस मन्त्र को बोल के छुरे को दाहिने हाथ में लेवे तत्पश्चात्—

ओं स्वधिते मैनꣳहिꣳसीः ॥ य० अ० ४ । मं० १ ॥

ओं निवर्त्तयाम्यायुषेऽन्नाद्याय प्रजननाय रायस्पोषाय सुप्रजास्त्वाय सुवीर्याय ॥ य० अ० ३ । मं० ६३ ॥

इन दो मन्त्रों को बोल के उस छुरे और उन कुशाओं को केशों के समीप लेजाके—

ओं येनावपत्सविता क्षुरेण सोमस्य राज्ञो वरुणस्य विद्वान् । तेन ब्रह्माणो वपतेदमस्य गोमानश्ववानयमस्तु प्रजावान् ॥ अथर्व० कां० ६ । सू० ६८ ॥

इस मन्त्र को बोल के कुशासहित उन केशों को [illegible] * और वे काटे हुए केश और दर्भ शमीवृक्ष के पत्र सहित अर्थात् यहां शमीवृक्ष के पत्र भी प्रथम से रखने चाहियें उन सब को लड़के का पिता और लड़के की मा एक शरावा में रक्खे और कोई केश छेदन करते समय उड़ा हो उसको गोबर से उठा के शरावा में अथवा उसके पास रक्खे तत्पश्चात् इसी प्रकार—

ओं येन धाता बृहस्पतेरग्नेरिन्द्रस्य चायुषेऽवपत् । तेन त आयुषे वपामि सुश्लोक्याय स्वस्तये ॥

इस मन्त्र से दूसरी वार केश का समूह दूसरी ओर का काट के उसी प्रकार शरावा में रक्खे तत्पश्चात्—

ओं येन भूयश्च रात्र्यां ज्योक् च पश्याति सूर्यम् । तेन त आयुषे वपामि सुश्लोक्याय स्वस्तये ॥

इस मन्त्र से तीसरी वार उसी प्रकार केशसमूह को काट के उपरि उक्त तीन मन्त्रों अर्थात् "ओं येनावपत्०" "ओं येन धाता०" "ओं येन भूयश्च०" और—

* केशछेदन की रीति ऐसी है कि दर्भ और केश दोनों युक्ति से पकड़ कर अर्थात् दोनों ओर से पकड़ के बीच में से केशों को छुरे से काटे यदि छुरे के बदले कैंची से काटे तो भी ठीक है ॥

ओं येन पूषा बृहस्पतेर्वायोरिन्द्रस्य चावपत। तेन ते वपामि ब्रह्मणा जीवातवे जीवनाय दीर्घायुष्ट्वाय ॥

इस एक, इन चार मन्त्रों को बोल के चौथी वार इसी प्रकार केशों के समूहों को काटे अर्थात् प्रथम दक्षिण बाजू के केश काटने का विधि पूर्ण हुए पश्चात् बाईं ओर के केश काटने का विधि करे तत्पश्चात् उसके पीछे आगे के केश काटे परन्तु चौथी वार काटने में "येन पूषा०" इस मन्त्र के बदले—

ओं येन भूरि[illegible]दिवं ज्योक् च पश्चाद्धि सूर्यम्। तेन ते वपामि ब्रह्मणा जीवातवे [illegible]नाय सुश्लोक्याय स्वस्तये ॥

यह मन्त्र बोल के छेदन करे, तत्पश्चात्—

ओं त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम्। यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नो अस्तु त्र्यायुषम् ॥ १ ॥ य० अ० ३। मं० ६२ ॥

इस एक मन्त्र को बोल के शिर के पीछे के केश एक वार काट के इसी (ओं त्र्यायुषं०) मन्त्र को बोलते जाना और ओंधे हाथ के पृष्ठ से बालक के शिर पर हाथ फेर के मन्त्र पूरा हुए पश्चात् छुरा नाई के हाथ में देके—

ओं यत्क्षुरेण मर्चयता सुतेजसा वप्ता वपसि केशश्मश्रु शुभं मुखं मा न आयुः प्रमोषीः ॥ अथर्व० कां० ८। सू० २। मं० १७ ॥

इस मन्त्र को बोल के नापित से पथरी पर छुरे की धार तेज कराके नापित से बालक का पिता कहे कि इस शीतोष्ण जल से बालक का शिर अच्छे प्रकार कोमल हाथ से भिजो सावधानी और कोमल हाथ से क्षौर कर, कहीं छुरा न लगने पावे इतनी कह के कुण्ड से उत्तर दिशा में नापित को लेजा, उसके सम्मुख बालक को पूर्वाभिमुख बैठाके जितने केश रखने हों उतने ही केश रक्खे परन्तु पांचों ओर थोड़ा २ केश रखावे अथवा किसी एक ओर रक्खे अथवा एक वार सब कटवा देवे पश्चात् दूसरी वार के केश रखने अच्छे होते हैं जब

क्षौर हो चुके तब कुण्ड के पास पड़ा वा धरा हुआ देने के योग्य पदार्थ वा शरावा आदि कि जिनमें प्रथम अन्न भरा था नापित को देवे और मुण्डन किये हुए सब केश दर्भ शमीपत्र और गोबर नाई को देवे, यथायोग्य उसको धन वा वस्त्र भी देवे और नाई, केश दर्भ शमीपत्र और गोबर को जंगल में लेजा गढ़ा खोद के उसमें सब डाल ऊपर से मट्टी से दाब देवे अथवा गोशाला नदी वा तालाब के किनारे पर उसी प्रकार केशादि को गाड़ देवे, ऐसा नापित से कह दे अथवा किसी को साथ भेज देवे वह उससे उक्त प्रकार करा लेवे। क्षौर हुए पश्चात् मक्खन अथवा दही की मलाई हाथ में लगा बालक के शिर पर लगा के स्नान करा उत्तम वस्त्र पहिना के बालक को पिता [illegible]स ले शुभासन पर पूर्वाभिमुख बैठ के पृष्ठ २६ में सामवेद का महावा[illegible]व्यगान करके बालक की माता स्त्रियों और बालक का पिता पुरुषों का यथायोग्य सत्कार करके विदा करें और जाते समय सब लोग तथा बालक के माता पिता परमेश्वर का ध्यान करके—

ओं त्वं जीव शरदः शतं वर्धमानः ॥

इस मन्त्र को बोल बालक को आशीर्वाद दे के अपने २ घर को पधारें और बालक के माता पिता प्रसन्न होकर बालक को प्रसन्न रक्खें ॥

इति चूड़ाकर्म्मसंस्कारविधिः समाप्तः

अथ कर्णवेधसंस्कारविधिं वक्ष्यामः

अत्र प्रमाणम्—कर्णवेधो वर्षे तृतीये पञ्चमे वा ॥ १ ॥

यह आश्वलायनगृह्यसूत्र का वचन है । बालक के कर्ण वा नासिका के वेध का समय जन्म से तीसरे वा पांचवें वर्ष का उचित है जो दिन कर्ण वा नासिका के वेध का ठहराया हो उसी दिन बालक को प्रातःकाल शुद्ध जल से स्नान और वस्त्रालङ्कार धारण क[illegible] बालक की माता यज्ञशाला में लावे पृष्ठ ४—२६ तक में लिखा हुआ सब विधि करे और उस बालक के आगे कुछ खाने का पदार्थ वा खिलौना धर के—

ओं भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः । स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाᳬसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः ॥ ऋ० मं० १ । सू० ८९ ॥

इस मन्त्र को पढ़ के चरक, सुश्रुत वैद्यक ग्रन्थों के जाननेवाले सद्वैद्य के हाथ से कर्ण वा नासिका वेध करावें कि जो नाड़ी आदि को बचा के वेध कर सके पूर्वोक्त मन्त्र से दक्षिण कान और—

वक्ष्यन्तीवेदा गनीगन्ति कर्णं प्रियᳬसखायं परिषस्वजाना । योषेव सिङ्क्ते वितताधि धन्वञ्ज्याऽइयᳬसमने पारयन्ती ॥ ऋ० मं० ६ । सू० ७५ ॥

इस मन्त्र को पढ़ के दूसरे वामकर्ण का वेध करे तत्पश्चात् वही वैद्य उन छिद्रों में शलाका रक्खे कि जिससे छिद्र पूर न जावें और ऐसी ओषधि उस पर लगावे जिससे कान पकें नहीं और शीघ्र अच्छे होजावें ॥

इति कर्णवेधसंस्कारविधिः समाप्तः

अथोपनयन*संस्कारविधिं वक्ष्यामः

अत्र प्रमाणानि–अष्टमे वर्षे ब्राह्मणमुपनयेत् ॥१॥ गर्भाष्टमे वा ॥ २ ॥ एकादशे क्षत्रियम् ॥ ३ ॥ द्वादशे वैश्यम् ॥ ४ ॥ आषोडशाद्ब्राह्मणस्यानतीतः कालः ॥ ५ ॥ आद्वाविंशात्क्षत्रियस्य, आचतुर्विंशाद्वैश्यस्य, अत ऊर्ध्वं पतितसावित्रीका भवन्ति ॥ ६ ॥

यह आश्वलायन गृह्यसूत्र का प्रमाण है इसी प्र[illegible]पारस्करादि गृह्यसूत्रों का भी प्रमाण है ॥

अर्थः–जिस दिन जन्म हुआ हो अथवा जिस दिन गर्भ रहा हो उससे ८ (आठवें) वर्ष में ब्राह्मण के, जन्म वा गर्भ से ग्यारहवें वर्ष में क्षत्रिय के और जन्म वा गर्भ से बारहवें वर्ष में वैश्य के बालक का यज्ञोपवीत करें. तथा ब्राह्मण के १६ (सोलह) क्षत्रिय के २२ (बाईस) और वैश्य के बालक का २४ (चौबीस) से पूर्व २ यज्ञोपवीत चाहिये यदि पूर्वोक्त काल में इनका यज्ञोपवीत न हो तो वे पतित माने जावें ॥

श्लोकः–ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे ।
राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे ॥ १ ॥

यह मनुस्मृति का वचन है कि जिसको शीघ्र विद्या बल और व्यवहार करने की इच्छा हो और बालक भी पढ़ने में समर्थ हुए हों तो ब्राह्मण के लड़के का जन्म वा गर्भ से पांचवें क्षत्रिय के लड़के का जन्म वा गर्भ से छठे और वैश्य के लड़के का जन्म वा गर्भ से आठवें वर्ष में यज्ञोपवीत करें, परन्तु यह बात तब सम्भव है कि जब बालक की माता और पिता का विवाह पूर्ण ब्रह्मचर्य के पश्चात् हुआ होवे, उन्हीं के ऐसे उत्तम बालक श्रेष्ठबुद्धि और शीघ्र समर्थ

* उप नाम समीप नयन अर्थात् प्राप्त करना व होना ॥

बढ़नेवाले होते हैं जब बालक का शरीर और बुद्धि ऐसी हो कि अब यह पढ़ने के योग्य हुआ, तभी यज्ञोपवीत करा देवें—

यज्ञोपवीत का समय—उत्तरायण सूर्य और—

वसन्ते ब्राह्मणमुपनयेत् । ग्रीष्मे राजन्यम् । शरदि वैश्यम् । सर्वकालमेके ॥

यह शतपथ ब्राह्मण का वचन है ।

अर्थः—ब्राह्मण का वसन्त, क्षत्रिय का ग्रीष्म और वैश्य का शरद् ऋतु में यज्ञोपवीत करें अथवा [illegible] ऋतुओंमें उपनयन हो सकता है और इसका प्रातःकाल ही समय है ॥

पयोव्रतो ब्राह्मणो यवागूव्रतो राजन्य आमिक्षाव्रतो वैश्यः ॥

यह शतपथ ब्राह्मण का वचन है ।

जिस दिन बालक का यज्ञोपवीत करना हो उससे तीन दिन अथवा एक दिन पूर्व तीन वा एक व्रत बालक को कराना चाहिये उन व्रतों में ब्राह्मण का लड़का एकवार वा अनेकवार दुग्धपान, क्षत्रिय का लड़का (यवागू) अर्थात् यव को मोटा दल के गुड़ के साथ पतली जैसी कि कढ़ी होती है वैसी बना कर पिलावें और (आमिक्षा) अर्थात् जिसको श्रीखण्ड वा सिखण्ड कहते हैं वैसी जो दही चौगुना दूध एकगुना तथा यथायोग्य खांड केशर डाल के कपड़े में छानकर बनाया जाता है उसको वैश्य का लड़का पी के व्रत करे अर्थात् जब जब लड़कों को भूख लगे तब २ तीनों वर्णों के लड़के इन तीनों पदार्थों ही का सेवन करें अन्य पदार्थ कुछ न खावें पीयें ॥

विधिः—अब जिस दिन उपनयन करना हो उसके पूर्व दिन में सब सामग्री इकट्ठी कर याथातथ्य शोधन आदि कर लेवे और उस दिन पृष्ठ ४–२६ वें तक सब कुण्ड के समीप सामग्री धर प्रातःकाल बालक का क्षौर करा शुद्ध जल से स्नान करा के उत्तम वस्त्र पहिना यज्ञमण्डप में पिता वा आचार्य बालक को

मिष्टान्नादि का भोजन कराके वेदी के पश्चिम भाग में सुन्दर आसन पर पूर्वाभिमुख बैठावे और बालक का पिता और पृष्ठ १९ में लि० ऋत्विज् लोग भी पूर्वोक्त प्रकार अपने २ आसन पर बैठ यथावत् आचमनादि क्रिया करें ॥

पश्चात् कार्य्यकर्त्ता बालक के मुख से:—

ब्रह्मचर्यमागाम्, ब्रह्मचार्यसानि ॥ पार० कां० २ । कं० २ ॥

ये वचन बुलवा के * आचार्य्यः—

ओं येनेन्द्राय बृहस्पतिर्वासः पर्यदधादमृतम् । [illegible]ा परिदधाम्यायुषे दीर्घायुत्वाय बलाय वर्चसे ॥ १ ॥ पार० कां० १ । कं० २ ॥

इस मन्त्र को बोल के बालक को सुन्दर वस्त्र और उपवस्त्र पहिनावे पश्चात् बालक आचार्य्य के सम्मुख बैठे और यज्ञोपवीत हाथ में लेके—

ओं यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात् । आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः ॥ १ ॥ यज्ञोपवीतमसि यज्ञस्य त्वा यज्ञोपवीतेनोपनह्यामि ॥ २ ॥ पार० कां० २ ॥

इन मन्त्रों को बोल के आचार्य्य बायें स्कन्धे के ऊपर कण्ठ के पास से शिर बीच में निकाल दाहिने हाथ के नीचे बगल में निकाल कटि तक धारण करावे तत्पश्चात् बालक को अपने दाहिने ओर साथ बैठा के ईश्वर की स्तुति, प्रार्थनोपासना, स्वस्तिवाचन और शान्तिप्रकरण का पाठ करके समिदाधान, अग्न्याधान कर (ओं अदितेऽनुमन्यस्व०) इत्यादि पूर्वोक्त चार मन्त्रों से पूर्वोक्त रीति से कुण्ड के चारों ओर जल छिटका पश्चात् आज्याहुति करने का आरम्भ करना ॥

---

* आचार्य्य उसको कहते हैं कि जो साङ्गोपाङ्ग वेदों के शब्द अर्थ सम्बन्धी और क्रिया का जाननेहारा छल कपट रहित, अतिप्रेम से सब को विद्या का दाता, परोपकारी, तन मन और धन से सब को सुख बढ़ाने में जो तत्पर, महाशय, पक्षपात किसी का न करे और सत्योपदेष्टा सब का हितैषी धर्मात्मा जितेन्द्रिय होवे ॥

वेदी में प्रदीप्त हुई समिधा को लक्ष्य में धर चमसा में आज्यस्थाली से घी ले, आघारावाज्यभागाहुति ४ (चार) और व्याहृति आहुति ४ (चार) तथा पृष्ठ २३–२४ में आज्याहुति ८ तीनों मिल के १६ (सोलह) घृत की आहुति देके पश्चात् बालक के हाथ से प्रधान होम जो विशेष शाकल्य बनाया हो उस की आहुतियां निम्नलिखित मन्त्रों से दिलानी, (ओं भूर्भुवः स्वः । अग्न आयूंषि०) पृष्ठ २४ में ४ (चार) आज्याहुति देवे । तत्पश्चात्–

ओं अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तत्ते प्रब्रवीमि तच्छकेयम् । तेनर्ध्यासमिदमहमनृतात्सत्यमुपैमि स्वाहा ॥ इदमग्नये–इदन्न मम ॥ १ ॥ ओं वायो व्रतपते० * स्वाहा ॥ इदं वायवे–इदन्न मम ॥ २ ॥ ओं सूर्य व्रतपते० स्वाहा ॥ इदं सूर्याय इदन्न मम ॥ ३ ॥ ओं चन्द्र व्रतपते० स्वाहा ॥ इदं चन्द्राय–इदन्न मम ॥ ४ ॥ ओं व्रतानां व्रतपते० स्वाहा ॥ इदमिन्द्राय व्रतपतये इदन्न मम ॥ ५ ॥ मं० ब्रा० १ । ६ । ९–१३ ॥

इन पांच मन्त्रों से पांच आज्याहुति दिलानी उसके पीछे पृष्ठ २३ में० व्याहृति आहुति ४ (चार) और स्विष्टकृत आहुति १ (एक) और प्राजापत्याहुति १ (एक) ये सब मिल के छः घृत की आहुति देनी, सब मिल के १५ (पन्द्रह) आहुति बालक के हाथ से दिलानी उसके पश्चात् आचार्य्य यज्ञकुण्ड के उत्तर की ओर पूर्वाभिमुख बैठे और बालक आचार्य्य के सम्मुख पश्चिम में मुख करके बैठे तत्पश्चात् आचार्य्य बालक की ओर देख के:—

ओं आगन्त्रा समगन्महि प्रसुमर्त्यं युयोतन । अरिष्टाः संचरेमहि स्वस्ति ॥ १ ॥ मं० ब्रा० १ । ६ । १४ ॥

इस मन्त्र का जप करे ॥

माणवकवाक्यम्—"ओं ब्रह्मचर्यमागामुपमानयस्व" । मं० ब्रा० १ । ६ । १६ ॥

* इस के आगे 'व्रतं चरिष्यामि' इत्यादि सम्पूर्ण मन्त्र बोलना चाहिये ॥

आचार्योक्तिः "को * नामासि" ॥

बालकोक्तिः "एतन्नामास्मि" † ॥ मं० ब्रा० १ । ६ । १ ॥ तत्पश्चात्

ओं आपो हि ष्ठा मयोभुवस्तान ऊर्जे दधातन । महे रणाय चक्षसे ॥ १ ॥
यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः । उशतीरिव मातरः ॥ २ ॥
तस्मा अरं गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ । आपो जनयथा च नः ॥३॥
ऋ० मं० १० । सू० ६ ॥

इन तीन मन्त्रों को पढ़ के बटुक की दक्षिण हस्ताञ्जलि शुद्धोदक से भरनी तत्पश्चात् आचार्य्य अपनी हस्ताञ्जलि भर केः—

ओं तत्सवितुर्वृणीमहे वयं देवस्य भोजनम् ।
श्रेष्ठं सर्वधातमं तुरं भगस्य धीमहि ॥ १ ॥
ऋ० मं० ५ । सू० ८२ ॥

इस मन्त्र को पढ़ के आचार्य अपनी अञ्जलि का जल बालक की अञ्जलि में छोड़ के बालक की हस्ताञ्जलि अङ्गुष्ठसहित पकड़ केः—

ओं देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां हस्तं गृह्णाम्यसौ ‡ ॥ १ ॥ य० अ० ५ । मं० २६ ॥

इस मन्त्र को पढ़ के बालक की हस्ताञ्जलि का जल नीचे पात्र में छुड़ा देना इसी प्रकार दूसरी वार अर्थात् प्रथम आचार्य अपनी अञ्जलि भर बालक की अञ्जलि में अपनी अञ्जलि का जल भर के अङ्गुष्ठसहित हाथ पकड़ केः—

ओं सविता ते हस्तमग्रभीत्, असौ ॥ १ ॥

इस मन्त्र से पात्र में छुड़वा दे पुनः इसी प्रकार तीसरी वार आचार्य अपने हाथ में जल भर पुनः बालक की अञ्जलि में भर अङ्गुष्ठसहित हाथ पकड़ः—

* तेरा नाम क्या है ऐसा पूछना ॥ † मेरा यह नाम है ॥

‡ असौ इस पद के स्थान में बालक का सम्बोधनान्त नामोच्चारण सर्वत्र करना चाहिये ॥

ओं अग्निराचार्यस्तव, असौ ॥ मं० ब्रा० १ । ६ । १५ ॥

तीसरी वार बालक की अञ्जलि का जल छुड़वा के बाहर निकल सूर्य के सामने खड़े रह देख के आचार्यः—

ओं देव सवितरेष ते ब्रह्मचारी तं गोपाय समामृत ॥ १ ॥

इस एक और पृष्ठ ६० में लि० (तच्चक्षुर्देवहितम्) इस दूसरे मन्त्र को पढ़ के बालक को सूर्यावलोकन करा, बालकसहित आचार्य सभामण्डप में आ यज्ञकुण्ड की उत्तर बाजू की ओर बैठ के:—

ओं युवा सुवासाः परिवीत आगात्स उ श्रेयान् भवति जायमानः । ओं सूर्यस्यावृतमन्वावर्त्तस्व, * असौ ॥ १ ॥ ऋ० मं० ३ । सू० ८ ॥

इस मन्त्र को पढ़े और बालक आचार्य की प्रदक्षिणा करके आचार्य के सम्मुख बैठे पश्चात् आचार्य बालक के दक्षिण स्कन्धे पर अपने दक्षिण हाथ से स्पर्श और पश्चात् अपने हाथ को वस्त्र से आच्छादित करके:—

ओं प्राणानां ग्रन्थिरसि मा विस्रसोऽन्तक इदं ते परिददामि, अमुम् ॥ १ ॥ मं० ब्रा० १ । ६ । २० ॥

इस मन्त्र को बोलने के पश्चात्—

ओं अहुर इदं ते परिददामि, अमुम् ॥ २ ॥

इस मन्त्र से उदर पर और:—

ओं कृशन इदं ते परिददामि, अमुम् ॥ ३ ॥

इस मन्त्र से हृदय:—

ओं प्रजापतये त्वा परिददामि, असौ ॥ ४ ॥

* "असौ" और "अमुं" इन दोनों पदों के स्थान में सर्वत्र बालक का नामोच्चारण करना चाहिये ॥

इस मन्त्र को बोल के दक्षिण स्कन्ध औरः—

ओं देवाय त्वा सवित्रे परिददामि, असौ ॥ ५ ॥ मं० ब्रा० १ । ६ । २१–२४ ॥

इस मन्त्र को बोल के वाम हाथ से बाएं स्कन्धा पर स्पर्श करके बालक के हृदय पर हाथ धरकेः—

ओं तं धीरासः कवय उन्नयन्ति स्वाध्यो मनसा देवयन्तः ॥ ६ ॥ ऋ० मं० ३ । सू० ८ ॥

इस मन्त्र को बोल के आचार्य सम्मुख रहकर बालक के दक्षिण हृदय पर अपना हाथ रखकेः—

ओं मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनुचित्तं ते अस्तु । मम वाचमेकमना जुषस्व बृहस्पतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम् ॥ १ ॥ पार० कां० २ । कं० २ ॥

आचार्य इस प्रतिज्ञामन्त्र को बोले अर्थात् हे शिष्य ! बालक तेरे हृदय को मैं अपने आधीन करता हूं तेरा चित्त मेरे चित्त के अनुकूल सदा रहै और तूं मेरी वाणी को एकाग्र मन हो प्रीति से सुनकर उसके अर्थ का सेवन किया कर और आज से तेरी प्रतिज्ञा के अनुकूल बृहस्पति परमात्मा तुझ को मुझ से युक्त करे । यह प्रतिज्ञा करावे इसी प्रकार शिष्य भी आचार्य से प्रतिज्ञा करावे कि हे आचार्य ! आपके हृदय को मैं अपनी उत्तम शिक्षा और विद्या की उन्नति में धारण करता हूं मेरे चित्त के अनुकूल आपका चित्त सदा रहै आप मेरी वाणी को एकाग्र होके सुनिये और परमात्मा मेरे लिये आप को सदा नियुक्त रक्खे इस प्रकार दोनों प्रतिज्ञा करके—

आचार्योक्तिः—

को नामाऽसि ॥ तेरा नाम क्या है ?

बालकोक्तिः—**अहम्भोः ॥**

मेरा अमुक नाम ऐसा उत्तर देवे। आचार्यः—

कस्य ब्रह्मचार्य्यसि ॥ तू किसका ब्रह्मचारी है। बालकः—

भवतः ॥ पार० कां० २। कं० २ ॥ आपका।

आचार्य्य बालक की रक्षा के लिये:—

इन्द्रस्य ब्रह्मचार्य्यस्यग्निराचार्यस्तवाहमाचार्यस्तव * असौ ॥ पार० कां० २। कं० २ ॥

इस मन्त्र को बोले। तत्पश्चात्—

ओं कस्य ब्रह्मचार्यसि प्राणस्य ब्रह्मचार्यसि कस्त्वा कमुपनयते काय त्वा परिददामि ॥ १ ॥ ओं प्रजापतये त्वा परिददामि। देवाय त्वा सवित्रे परिददामि। अद्भ्यस्त्वौषधीभ्यः परिददामि। द्यावापृथिवीभ्यां त्वा परिददामि। विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः परिददामि। सर्वेभ्यस्त्वा भूतेभ्यः परिददाम्यरिष्ट्यै ॥ पार० कां० २। कं० २ ॥

इन मन्त्रों को बोल, बालक को शिक्षा करे कि प्राण आदि की विद्या के लिये यत्नवान् हो ॥

यह उपनयन संस्कार पूरे हुए। पश्चात् यदि उसी दिन वेदारम्भ करने का विचार पिता और आचार्य का हो तो उसी दिन करना और जो दूसरे दिन का विचार हो तो पृष्ठ २६ में लि० महावामदेव्यगान करके संस्कार में आई हुई स्त्रियों का बालक की माता और पुरुषों का बालक का पिता सत्कार करके विदा करे और माता पिता आचार्य सम्बन्धी इष्ट मित्र सब मिलके:—

ओं त्वं जीव शरदः शतं वर्द्धमानः, आयुष्मान्
तेजस्वी वर्चस्वी भूयाः।

इस प्रकार आशीर्वाद देके अपने २ घर को सिधारें ॥

इत्युपनयनसंस्कारविधिः समाप्तः

* असौ इस पद के स्थान में सर्वत्र बालक का नामोच्चारण करना चाहिये।

अथ

वेदारम्भसंस्कारविधिर्विधीयते

वेदारम्भ उसको कहते हैं जो गायत्री मन्त्र से लेके साङ्गोपाङ्ग * चारों वेदों के अध्ययन करने के लिये नियम धारण करना ॥

समयः—जो दिन उपनयन संस्कार का है वही वेदारम्भ का है यदि उस दिवस में न होसके अथवा करने की इच्छा न हो तो दूसरे दिन करे यदि दूसरा दिन भी अनुकूल न हो तो एक वर्ष के भीतर किसी दिन करे ॥

विधिः—जो वेदारम्भ का दिन ठहराया हो उस दिन प्रातःकाल शुद्धोदक से स्नान कराके शुद्ध वस्त्र पहिना. पश्चात् कार्यकर्त्ता अर्थात् पिता यदि पिता न हो तो आचार्य बालक को लेके उत्तमासन पर वेदी के पश्चिम पूर्वाभिमुख बैठे। तत्पश्चात् पृष्ठ ४—१२ तक में ईश्वरस्तुति †, प्रार्थनोपासना, स्वस्तिवाचन, शान्तिप्रकरण करके पृष्ठ २० में (भूर्भुवः स्वः०) इस मन्त्र से अग्न्याधान पृष्ठ २१ में (ओं अयन्त इध्म०) इत्यादि ४ मन्त्रों से समिदाधान पृष्ठ २२ में (ओं अदितेनुमन्यस्व०) इत्यादि तीन मन्त्रों से कुण्ड के तीनों ओर और (ओं देव सवितः०) इस मन्त्र से कुण्ड के चारों ओर जल छिटका के पृष्ठ २० में (उद्बुध्यस्वाग्ने०) इस मन्त्र से अग्नि को प्रदीप्त करके प्रदीप्त समिधा

---

* (अङ्ग) शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष् । (उपाङ्ग) पूर्वमीमांसा, वैशेषिक, न्याय, योग, सांख्य और वेदान्त । (उपवेद) आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और अर्थवेद अर्थात् शिल्पशास्त्र । (ब्राह्मण) ऐतरेय. शतपथ, साम और गोपथ । (वेद) ऋक्, यजुः, साम और अथर्व इन सब को क्रम से पढ़े ॥

† जो उपनयन किये पश्चात् उसी दिन वेदारम्भ करे उसको पुनः वेदारम्भ के आदि में ईश्वरस्तुति. प्रार्थनोपासना और शान्तिप्रकरण करना आवश्यक नहीं ॥

पर पृष्ठ २२–२३ में आघारावाज्यभागाहुति ४ (चार) व्याहृति आहुति ४ (चार) और पृष्ठ २४–२५ में आज्याहुति आठ मिलके १६ (सोलह) आज्याहुति देने के पश्चात् प्रधान * होमाहुति दिला के पश्चात् पृष्ठ २३ में व्याहृति आहुति ४ (चार) और स्विष्टकृत् आहुति १ (एक) प्राजापत्याहुति १ (एक) मिलकर छः आज्याहुति बालक के हाथ से दिलानी तत्पश्चात्—

ओं अग्ने सुश्रवः सुश्रवसं मा कुरु । ओं यथा त्वमग्ने सुश्रवः सुश्रवा असि । ओं एवं मां सुश्रवः सौश्रवसं कुरु । ओं यथा त्वमग्ने देवानां यज्ञस्य निधिपा असि । ओं एवमहं मनुष्याणां वेदस्य निधिपो भूयासम् ॥ १ ॥ पार० कां० २ कं० ४ ॥

इस मन्त्र से वेदी के अग्नि को इकट्ठा करना तत्पश्चात् बालक कुण्ड की प्रदक्षिणा करके पृष्ठ २२ में लि० प्र० "आदितेनुमन्यस्व०" इत्यादि ४ (चार) मन्त्रों से कुण्ड के सब ओर जल सिञ्चन करके बालक कुण्ड के दक्षिण की ओर उत्तराभिमुख खड़ा रहकर घृत में भिजो के एक समिधा हाथ में ले—

ओं अग्नये समिधमाहार्षं बृहते जातवेदसे । यथा त्वमग्ने समिधा समिध्यसऽएवमहमायुषा मेधया वर्चसा प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन समिन्धे जीवपुत्रो ममाचार्यो मेधाव्यहमसान्यनिराकरिष्णुर्यशस्वी तेजस्वी ब्रह्मवर्चस्यन्नादो भूयासꣳस्वाहा ॥ १ ॥ पार० कां० २ । कं० ४ ॥

समिधा वेदिस्थ अग्नि के मध्य में छोड़ देना इसी प्रकार दूसरी और तीसरी समिधा छोड़ पुनः "ओं अग्ने सुश्रवः सुश्रवसं०" इस मन्त्र से वेदिस्थ अग्नि को इकट्ठा करके पृष्ठ २२ में लि० प्र० "ओं अदितेनुमन्यस्व०" इत्यादि चार मन्त्र से कुण्ड के सब ओर जल सेचन करके बालक वेदी के पश्चिम में पूर्वाभिमुख बैठ के वेदी के अग्नि पर दोनों हाथों को थोड़ासा तपा के हाथ में जल लगा:—

---

* प्रधान होम उसको कहते हैं जो संस्कार मुख्य करके किया जाता है ।

ओं तनूपा अग्नेऽसि तन्वं मे पाहि ॥ १ ॥ ओं आयुर्दा अग्नेस्यायुर्मे देहि ॥ २ ॥ ओं वर्चोदा अग्नेऽसि वर्चो मे देहि ॥ ३ ॥ ओं अग्ने यन्मे तन्वा ऊनन्तन्म आपृण ॥ ४ ॥ ओं मेधां मे देवः सविता आ दधातु ॥ ५ ॥ ओं मेधां मे देवी सरस्वती आदधातु ॥ ६ ॥ ओं मेधामश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजौ ॥ ७ ॥ पार० कां० २ । कं० ४ ॥

जल स्पर्श कर के इन सात मन्त्रों से सात वार किञ्चित् हथेली उष्ण कर मुखस्पर्श करना तत्पश्चात् बालक—

ओं वाङ् म आप्यायताम् ॥ इस मन्त्र से मुख,

ओं प्राणश्च म आप्यायताम् ॥ इस मन्त्र से नासिका द्वार,

ओं चक्षुश्च म आप्यायताम् ॥ इस मन्त्र से दोनों नेत्र,

ओं श्रोत्रञ्च म आप्यायताम् ॥ इस मन्त्र से दोनों कान,

ओं यशो बलञ्च म आप्यायताम् ॥

इस मन्त्र से दोनों बाहुओं को स्पर्श करे ॥

ओं मयि मेधां मयि प्रजां मय्यग्निस्तेजो दधातु । मयि मेधां मयि प्रजां मयीन्द्र इन्द्रियं दधातु । मयि मेधां मयि प्रजां मयि सूर्यो भ्राजो दधातु । यत्ते अग्ने तेजस्तेनाहं तेजस्वी भूयासम् । यत्ते अग्ने वर्चस्तेनाहं वर्चस्वी भूयासम् । यत्ते अग्ने हरस्तेनाहं हरस्वी भूयासम् ॥ आश्व० अ० १ । कं० २१ । सू० ४ ॥

इन मन्त्रों से बालक परमेश्वर का उपस्थान करके, कुण्ड की उत्तर बाजू की ओर जाके, जानू को भूमि में टेक के, पूर्वाभिमुख बैठे और आचार्य बालक के सन्मुख पश्चिमाभिमुख बैठ—

बालकोक्तिः—अधीहि भूः सावित्रीं भो अनुब्रूहि ॥

अर्थात् आचार्य से बालक कहे कि हे आचार्य ! प्रथम एक ओंकार पश्चात् तीन महाव्याहृति तत्पश्चात् सावित्री ये त्रिक अर्थात् तीनों मिल के परमात्मा के वाचक मन्त्र को मुझे उपदेश कीजिये तत्पश्चात् आचार्य एक वस्त्र अपने और बालक के कन्धे पर रख के अपने हाथ से बालक के दोनों हाथ की अंगुलियों को पकड़ के नीचे लिखे प्रमाणे बालक को तीन वार करके गायत्रीमन्त्रोपदेश करे ॥

प्रथम वार—

ओं भूर्भुवः स्वः । तत्सवितुर्वरेण्यम् ।

इतना टुकड़ा एक २ पद का शुद्ध उच्चारण बालक से करा के दूसरी वार—

ओं भूर्भुवः स्वः । तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि ।

एक २ पद से यथावत् धीरे २ उच्चारण करवा के, तीसरी वार—

ओं भूर्भुवः स्वः । तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् ॥ १ ॥

धीरे २ इस मन्त्र को बुलवा के संक्षेप से इसका अर्थ भी नीचे लिख प्रमाणे आचार्य सुनावे—

अर्थः—(ओ३म्) यह मुख्य परमेश्वर का नाम है जिस नाम के साथ अन्य सब नाम लग जाते हैं (भूः) जो प्राण का भी प्राण (भुवः) सब दुःखों से छुड़ानेहारा (स्वः) स्वयं सुखस्वरूप और अपने उपासकों को सब सुख की प्राप्ति करानेहारा है उस (सवितुः) सब जगत् की उत्पत्ति करने वाले सूर्यादि प्रकाशकों के भी प्रकाशक समग्र ऐश्वर्य के दाता (देवस्य) कामना करने योग्य सर्वत्र विजय कराने हारे परमात्मा का जो (वरेण्यम्) अतिश्रेष्ठ ग्रहण और ध्यान करने योग्य (भर्गः) सब क्लेशों को भस्म करने हारा पवित्र शुद्ध-स्वरूप है (तत्) उसको हम लोग (धीमहि) धारण करें (यः) यह जो

परमात्मा (नः) हमारी (धियः) बुद्धियों को उत्तम गुण कर्म स्वभावों में (प्रचोदयात्) प्रेरणा करे इसी प्रयोजन के लिये इस जगदीश्वर की स्तुति प्रार्थनोपासना करना और इससे भिन्न और किसी को उपास्य इष्टदेव उसके तुल्य वा उससे अधिक नहीं मानना चाहिये इस प्रकार अर्थ सुनाये, पश्चात्—

ओं मम व्रते ते हृदयं दधामि । मम चित्तमनुचित्तं ते अस्तु । मम वाचमेकमना जुषस्व बृहस्पतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम् ॥ १ ॥ पार० कां० २ । कं० २ ॥

इस मन्त्र से बालक और आचार्य पूर्ववत् दृढ़ प्रतिज्ञा करके—

ओं इयं दुरुक्तं परिबाधमाना वर्णं पवित्रं पुनती म आगात् । प्राणापानाभ्यां बलमादधाना स्वसा देवी सुभगा मेखलेयम् ॥ १ ॥ मं० ब्रा० १ । १ । २७ ॥ पार० कां० २ । कं० २ ॥

इस मन्त्र से आचार्य सुन्दर चिकनी प्रथम बना के रक्खी हुई मेखला * को बालक के कटि में बांध के—

ओं युवा सुवासाः परिवीत आगात् स उ श्रेयान् भवति जायमानः । तं धीरासः कवय उन्नयन्ति स्वाध्यो मनसा देवयन्तः ॥ १ ॥ ऋ० मं० ३ । सू० ८ । मन्त्र ४ ॥

इस मन्त्र को बोल के दो शुद्ध कौपीन, दो अंगोछे और एक उत्तरीय और दो कटिवस्त्र ब्रह्मचारी को आचार्य देव और उनमें से एक कौपीन एक कटिवस्त्र और एक उपरना बालक को आचार्य धारण करावे तत्पश्चात् आचार्य दण्ड † हाथ में लेके सामने खड़ा रहे और बालक भी आचार्य के सामने हाथ जोड़—

---

* ब्राह्मण को मुञ्ज वा दर्भ की, क्षत्रिय को धनुषसंज्ञक तृण वा वल्कल की और वैश्य को ऊन वा शण की मेखला होनी चाहिये ।

† ब्राह्मण के बालक को खड़ा रख के भूमि से ललाट के केशों तक पलाश वा बिल्व वृक्ष का, क्षत्रिय को वट वा खदिर का ललाट भ्रू तक, वैश्य को पीलु

ओं यो मे दण्डः परापतद्वैहायसोऽधिभूम्याम् । तमहं पुनराददऽआयुषे ब्रह्मणे ब्रह्मवर्चसाय ॥ १ ॥ पार० कां० २ । कं० २ ॥

इस मन्त्र को बोल के बालक आचार्य के हाथ से दण्ड ले लेवे, तत्पश्चात् पिता ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्याश्रम का साधारण उपदेश करे—

ब्रह्मचार्यसि असौ * ॥ १ ॥ अपोऽशान ॥ २ ॥ कर्म कुरु ॥ ३ ॥ दिवा मा स्वाप्सीः ॥ ४ ॥ आचार्याधीनो वेदमधीष्व ॥ ५ ॥ द्वादश वर्षाणि प्रतिवेदं ब्रह्मचर्यं गृहाण वा ब्रह्मचर्यं चर ॥ ६ ॥ आचार्याधीनो भवान्यत्राधर्माचरणात् ॥ ७ ॥ क्रोधानृते वर्जय ॥ ८ ॥ मैथुनं वर्जय ॥ ९ ॥ उपरि शय्यां वर्जय ॥ १० ॥ कौशीलवगन्धाञ्जनानि वर्जय ॥ ११ ॥ अत्यन्तं स्नानं भोजनं निद्रां जागरणं निन्दां लोभमोहभयशोकान् वर्जय ॥ १२ ॥ प्रतिदिनं रात्रेः पश्चिमे यामे चोत्थायावश्यकं कृत्वा दन्तधावनस्नानसन्ध्योपासनेश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासनायोगाभ्यासान्नित्यमाचर ॥ १३ ॥ क्षुरकृत्यं वर्जय ॥ १४ ॥ मांसरूक्षाहारं मद्यादिपानं च वर्जय ॥ १५ ॥ गवाश्वहस्त्युष्ट्रादियानं वर्जय ॥ १६ ॥ अन्तर्ग्रामनिवासोपानच्छत्रधारणं वर्जय ॥ १७ ॥ अकामतः स्वयमिन्द्रियस्पर्शेन वीर्यस्खलनं विहाय वीर्यं शरीरे संरक्ष्योर्ध्वरेताः सततं भव ॥ १८ ॥ तैलाभ्यङ्गमर्दनात्यम्लातितिक्तकषायक्षाररेचनद्रव्याणि मा सेवस्व ॥ १९ ॥ नित्यं युक्ताहारविहारवान् विद्योपार्जने च यत्नवान् भव ॥ २० ॥ सुशीलो मितभाषी सभ्यो भव ॥ २१ ॥ मेखलादण्डधारणभैक्ष्यचर्यसमिदाधानोदकस्पर्शनाचार्यप्रियाचरणप्रातःसायमभिवादनविद्यासंचयजितेन्द्रियत्वादीन्येते ते नित्यधर्माः ॥ २२ ॥

अथवा गूलर वृक्ष का नासिका के अग्रभाग तक दण्ड प्रमाण है और वे दण्ड चिकने सूधे हों, अग्नि में जले, टेढ़े, कीड़ों के खाये हुए न हों और एक २ मृगचर्म उनके बैठने के लिये एक २ जलपात्र एक २ उपपात्र और एक २ आचमनीय सब ब्रह्मचारियों को देना चाहिये ॥

* असौ इस पद के स्थान में ब्रह्मचारी का नाम सर्वत्र उच्चारण करे।

अर्थः—तू आज से ब्रह्मचारी है ॥ १ ॥ नित्य सन्ध्योपासन भोजन के पूर्व शुद्ध जल का आचमन किया कर ॥ २ ॥ दुष्ट कर्मों को छोड़ धर्म किया कर ॥ ३ ॥ दिन में शयन कभी मत कर ॥ ४ ॥ आचार्य के आधीन रह के नित्य साङ्गोपाङ्ग वेद पढ़ने में पुरुषार्थ किया कर ॥ ५ ॥ एक २ साङ्गोपाङ्ग वेद के लिये बारह २ वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य अर्थात् ४८ वर्ष तक वा जबतक साङ्गोपाङ्ग चारों वेद पूरे होवें तबतक अखण्डित ब्रह्मचर्य कर ॥ ६ ॥ आचार्य के आधीन धर्माचरण में रहा कर परन्तु यदि आचार्य अधर्माचरण वा अधर्म करने का उपदेश करे उसको तू कभी मत मान और उसका आचरण मत कर ॥ ७ ॥ क्रोध और मिथ्याभाषण करना छोड़ दे ॥ ८ ॥ आठ * प्रकार के मैथुन को छोड़ देना ॥ ९ ॥ भूमि में शयन करना पलंग आदि पर कभी न सोना ॥ १० ॥ कौशीलव अर्थात् गाना, बजाना तथा नृत्य आदि निन्दित कर्म गन्ध और अञ्जन का सेवन मत कर ॥ ११ ॥ अति स्नान, अति भोजन, अधिक निद्रा, अधिक जागरण, निन्दा, लोभ, मोह, भय, शोक का ग्रहण कभी मत कर ॥ १२ ॥ रात्रि के चौथे पहर में जाग आवश्यक शौचादि दन्तधावन, स्नान, सन्ध्योपासना, ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना योगाभ्यास का आचरण नित्य किया कर ॥ १३ ॥ क्षौर मत करा ॥ १४ ॥ मांस रूखा शुष्क अन्न मत खावे और मद्यादि मत पीवे ॥ १५ ॥ बैल घोड़ा हाथी ऊंट आदि की सवारी मत कर ॥ १६ ॥ गांव में निवास और जूता और छत्र का धारण मत कर ॥ १७ ॥ लघुशङ्का के विना उपस्थ इन्द्रिय के स्पर्श से वीर्य-स्खलन कभी न करके वीर्य को शरीर में रख के निरन्तर ऊर्ध्वरेता अर्थात् नीचे वीर्य को मत गिरने दे इस प्रकार यत्न से वर्त्ता कर ॥ १८ ॥ तैलादि से अंगमर्दन, उबटना, अतिखट्टा अमली आदि, अतितीखा लालमिर्ची आदि, कसेला हरड़ें आदि, क्षार अधिक लवण आदि और रेचक जमालगोटा आदि द्रव्यों का सेवन मत कर ॥ १९ ॥ नित्य युक्ति से आहार विहार करके विद्याग्रहण में यत्नशील हो ॥ २० ॥ सुशील, थोड़े बोलनेवाला, सभा में बैठने योग्य गुण

* स्त्री का ध्यान, कथा, स्पर्श, क्रीड़ा, दर्शन, आलिङ्गन, एकान्तवास और समागम, यह आठ प्रकार का मैथुन कहाता है जो इनको छोड़ देता है वही ब्रह्मचारी होता है ॥

ग्रहण कर ॥ २१ ॥ मेखला और दण्ड का धारण, भिक्षाचरण, अग्निहोत्र, स्नान, सन्ध्योपासन, आचार्य का प्रियाचरण, प्रातःसायं आचार्य को नमस्कार करना ये तेरे नित्य करने के और जो निषेध किये वे नित्य न करने के कर्म हैं ॥ २२ ॥

जब यह उपदेश पिता कर चुके तब बालक पिता को नमस्कार कर हाथ जोड़ के कहे कि जैसा आपने उपदेश किया वैसा ही करूंगा तत्पश्चात् ब्रह्मचारी यज्ञकुण्ड की प्रदक्षिणा करके कुण्ड के पश्चिम भाग में खड़ा रहके माता, पिता, बहिन, भाई, मामा, मौसी, चाची आदि से लेके जो भिक्षा देने में नकार न करें उनसे भिक्षा * मांगे और जितनी भिक्षा मिले वह, आचार्य के आगे धर देनी तत्पश्चात् आचार्य उसमें से कुछ थोड़ासा अन्न लेके वह सब भिक्षा बालक को देदेवे और वह बालक उस भिक्षा को अपने भोजन के लिये रख छोड़े तत्पश्चात् बालक को शुभासन पर बैठाके पृष्ठ २६ में लि० वामदेव्यगान को करना तत्पश्चात् बालक पूर्व रक्खी हुई भिक्षा का भोजन करे पश्चात् सायंकाल तक विश्राम और गृहाश्रम संस्कार में लिखा सन्ध्योपासना आचार्य बालक के हाथ से करावे और पश्चात् ब्रह्मचारी सहित आचार्य कुण्ड के पश्चिम भाग में आसन पर पूर्वाभिमुख बैठे और स्थालीपाक अर्थात् पृष्ठ १५ में लि० भात बना उसमें घी डाल पात्र में रख पृष्ठ २१ में लि० समिदाधान कर पुनः समिधा प्रदीप्त कर आघारावाज्यभागाहुति ४ (चार) और व्याहृति आहुति ४ (चार) दोनों मिलके ८ (आठ) आज्याहुति देनी तत्पश्चात् ब्रह्मचारी खड़ा हो के पृष्ठ ८० में "ओं अग्ने सुश्रवः०" इस मन्त्र से तीन समिधा की आहुति देवे तत्पश्चात् बालक बैठ के यज्ञकुण्ड की अग्नि से अपना हाथ तपा पृष्ठ १९–२० में पूर्ववत् मुख का स्पर्श कर के अङ्गस्पर्श करना तत्पश्चात् पृष्ठ १५ में लि० प्र० बनाये हुए भात को बालक आचार्य को होम और भोजन के लिये देवे पुनः आचार्य उस भात में से आहुति के अनुमान भात को स्थाली में ले के उसमें घी मिला—

* ब्राह्मण का बालक यदि पुरुष से भिक्षा मांगे तो "भवान् भिक्षां ददातु" और जो स्त्री से मांगे तो "भवती भिक्षां ददातु" और क्षत्रिय का बालक "भिक्षां भवान् ददातु" और स्त्री से "भिक्षां भवती ददातु" वैश्य का बालक "भिक्षां ददातु भवान्" और "भिक्षां ददातु भवती" ऐसा वाक्य बोले ॥

ओं सदसस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम् । सनिं मेधामयाशिषꣳ स्वाहा ॥ इदं सदसस्पतये—इदन्न मम ॥ १ ॥ य० अ० ३२ । मं० १३ ॥

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात् ॥ इदं सवित्रे—इदन्न मम ॥ २ ॥ य० अ० २२ । मं० ९ ॥ ओं ऋषिभ्यः स्वाहा ॥ इदं ऋषिभ्यः—इदन्न मम ॥ ३ ॥ आश्व० अ० १ । कं० २२ । सू० १४ ॥

इन तीन मन्त्रों से तीन और २३ में लि० (ओं यदस्य कर्मणो०) इस मन्त्र से चौथी आहुति देवे तत्पश्चात् पृष्ठ २३ में लि० व्याहृति आहुति ४ (चार) पृष्ठ २४—२५ में (ओं त्वन्नो०) इन ८ (आठ) मन्त्रों से आज्याहुति ८ (आठ) मिल के १२ (बारह) आज्याहुति देके ब्रह्मचारी शुभासन पर पूर्वाभिमुख बैठ के पृष्ठ २६ में लि० वामदेव्यगान आचार्य के साथ करके:—

अमुकगोत्रोत्पन्नोऽहं भो भवन्तमभिवादये ॥

ऐसा वाक्य बोल के आचार्य्य का वन्दन करे और आचार्य्य—

आयुष्मान् विद्यावान् भव सौम्य ॥

ऐसा आशीर्वाद देके पश्चात् होम से बचे हुए हविष्य अन्न और दूसरे भी सुन्दर मिष्टान्न का भोजन आचार्य के साथ अर्थात् पृथक् २ बैठ के करें तत्पश्चात् हस्त मुख प्रक्षालन करके संस्कार में निमन्त्रण से जो आये हों उनको यथायोग्य भोजन करा तत्पश्चात् स्त्रियों को स्त्री और पुरुषों को पुरुष प्रीतिपूर्वक विदा करें और सब जन बालक को निम्नलिखित:—

हे बालक ! त्वमीश्वरकृपया विद्वान् शरीरात्मबलयुक्तः कुशली वीर्यवानरोगः सर्वा विद्या अधीत्याऽस्मान् दिदृक्षुः सन्नागम्याः ॥

ऐसा आशीर्वाद दे के अपने २ घर को चले जायें तत्पश्चात् ब्रह्मचारी ३ (तीन) दिन तक भूमि में शयन प्रातः सायं पृ० ८० में लि० (ओमग्ने सुश्रवः०)

इस मन्त्र से समिधा होम और पृष्ठ १९—२० में लि० मुख आदि अङ्गस्पर्श आचार्य करावे तथा तीन दिन तक (सदसस्पति०) इत्यादि पृष्ठ ८७ में लि० ४ (चार) स्थालीपाक की आहुति पूर्वोक्त रीति से ब्रह्मचारी के हाथ से करवावे और तीन (३) दिन तक क्षार लवण रहित पदार्थ का भोजन ब्रह्मचारी किया करे तत्पश्चात् पाठशाला में जाके गुरु के समीप विद्याभ्यास करने के समय की प्रतिज्ञा करे तथा आचार्य भी करे ॥

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः। तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्त्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः ॥ १ ॥ इयं समित्पृथिवी द्यौर्द्वितीयोतान्तरिक्षं समिधा पृणाति। ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्त्ति ॥ २ ॥ ब्रह्मचार्य्येति समिधा समिद्धः कार्ष्णं वसानो दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः। स सद्य एति पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रं लोकान्संगृभ्य मुहुराचरिक्रत् ॥ ३ ॥ ब्रह्मचर्य्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति। आचार्यो ब्रह्मचर्य्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥ ४ ॥ ब्रह्मचर्य्येण कन्या३युवानं विन्दते पतिम् ॥ ५ ॥ ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजद्बिभर्त्ति तस्मिन्देवा अधि विश्वे समोताः प्राणापानौ जनयन्नाद् व्यानं वाचं मनो हृदयं ब्रह्म मेधाम् ॥ ६ ॥ अथर्व० कां० ११। सू० ५ ॥

संक्षेप से भावार्थ—आचार्य ब्रह्मचारी को प्रतिज्ञापूर्वक समीप रख के ३ (तीन) रात्रि पर्यन्त गृहाश्रम के प्रकरण में लिखे सन्ध्योपासनादि सत्पुरुषों के आचार की शिक्षा कर उसके आत्मा के भीतर गर्भरूप विद्या स्थापन करने के लिये उसको धारण कर और उसको पूर्ण विद्वान् कर देता और जब वह पूर्ण ब्रह्मचर्य और विद्या को पूर्ण करके घर को आता है तब उसको देखने के लिये सब विद्वान् लोग सम्मुख जाकर बड़ा मान्य करते हैं ॥ १ ॥

जो यह ब्रह्मचारी वेदारम्भ के समय तीन समिधा अग्नि में होमकर ब्रह्मचर्य के व्रत का नियमपूर्वक सेवन करके विद्या पूर्ण करने को दृढ़ोत्साही होता है वह जानो पृथिवी सूर्य और अन्तरिक्ष के सदृश सब का पालन करता है

क्योंकि वह समिदाधान मेखलादि चिह्नों का धारण और परिश्रम से विद्या पूर्ण करके इस ब्रह्मचर्यानुष्ठानरूप तप से सब लोगों को सद्गुण और आनन्द से तृप्त कर देता है ॥ २ ॥

जब विद्या से प्रकाशित और मृगचर्मादि धारण कर दीक्षित होके (दीर्घश्मश्रुः) ४० (चालीस) वर्ष तक डाढ़ी मूंछ आदि पंचकेशों का धारण करनेवाला ब्रह्मचारी होता है वह पूर्व समुद्ररूप ब्रह्मचर्यानुष्ठान को पूर्ण करके गुरुकुल से उत्तम समुद्र अर्थात् गृहाश्रम को शीघ्र प्राप्त होता है वह सब लोगों का संग्रह करके बारंबार पुरुषार्थ और जगत् को सत्योपदेश से आनन्दित कर देता है ॥३॥

वही राजा उत्तम होता है जो पूर्ण ब्रह्मचर्यरूप तपश्चरण से पूर्ण विद्वान् सुशिक्षित सुशील जितेन्द्रिय होकर राज्य को विविध प्रकार से पालन करता है और वही विद्वान् ब्रह्मचारी की इच्छा करता और आचार्य हो सकता है जो यथावत् ब्रह्मचर्य से सम्पूर्ण विद्याओं को पढ़ता है ॥ ४ ॥

जैसे लड़के पूर्ण ब्रह्मचर्य और पूर्ण विद्या पढ़ पूर्ण ज्ञान हो के अपने सदृश कन्या से विवाह करें वैसे कन्या भी अखण्ड ब्रह्मचर्य से पूर्ण विद्या पढ़ पूर्ण युवति हो अपने तुल्य पूर्ण युवावस्थावाले पति को प्राप्त होवे ॥ ५ ॥

जब ब्रह्मचारी ब्रह्म अर्थात् साङ्गोपाङ्ग चारों वेदों का शब्द, अर्थ और सम्बन्ध के ज्ञानपूर्वक धारण करता है तभी प्रकाशमान होता उसमें सम्पूर्ण दिव्यगुण निवास करते और सब विद्वान् उससे मित्रता करते हैं वह ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य ही से प्राण, दीर्घजीवन, दुःख क्लेशों का नाश, सम्पूर्ण विद्याओं में व्यापकता, उत्तम वाणी, पवित्र आत्मा, शुद्ध हृदय, परमात्मा और श्रेष्ठ प्रज्ञा को धारण करके सब मनुष्यों के हित के लिये सब विद्याओं का प्रकाश करता है ॥ ६ ॥

ब्रह्मचर्यकालः

इसमें छान्दोग्योपनिषद् के तृतीय प्रपाठक के सोलहवें खण्ड का प्रमाण ।

मातृमान् पितृमानाचार्य्यवान् पुरुषो वेद ॥ १ ॥ पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य

यानि चतुर्विंशतिर्वर्षाणि तत् प्रातःसवनं चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री गायत्रं प्रातःसवनं तदस्य वसवोऽन्वायत्ताः प्राणा वाव वसव एते हीदꣳसर्वं वासयन्ति ॥ २ ॥ तं चेदेतस्मिन् वयसि किञ्चिदुपतपेत् स ब्रूयात् प्राणा वसव इदं मे प्रातःसवनं माध्यन्दिनꣳ सवनमनुसन्तनुतेति माहं प्राणानां वसूनां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो ह भवति ॥ ३ ॥ अथ यानि चतुश्चत्वारिꣳशद्वर्षाणि तन्माध्यन्दिनꣳ सवनं चतुश्चत्वारिꣳशदक्षरा त्रिष्टुप् त्रैष्टुभं माध्यन्दिनꣳ सवनं तदस्य रुद्राः अन्वायत्ताः प्राणा वाव रुद्रा एते हीदꣳ सर्वꣳ रोदयन्ति ॥ ४ ॥ तं चेदेतस्मिन् वयसि किञ्चिदुपतपेत् स ब्रूयात् प्राणा रुद्रा इदं मे माध्यन्दिनꣳसवनं तृतीयसवनमनुसन्तनुतेति माहम्प्राणानाꣳ रुद्राणां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो ह भवति ॥ ५ ॥ अथ यान्यष्टाचत्वारिꣳशद्वर्षाणि तत् तृतीयसवनमष्टाचत्वारिꣳशदक्षरा जगती जागतं तृतीयसवनं तदस्यादित्या अन्वायत्ताः प्राणा वावादित्या एते हीदꣳ सर्वमाददते ॥ ६ ॥ तं चेदेतस्मिन् वयसि किञ्चिदुपतपेत् स ब्रूयात् प्राणा आदित्या इदं मे तृतीयसवनमायुरनुसन्तनुतेति माहं प्राणानामादित्यानां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो हैव भवति ॥ ७ ॥

अर्थः—जो बालक को ५ (पांच) वर्ष की आयु तक माता पांच से ८ (आठ) तक पिता ८ (आठ) से ४८ (अड़तालीस) ४४ (चवालीस) ४० (चालीस) ३६ (छत्तीस) ३० (तीस) तक अथवा २५ (पचीस) वर्ष तक तथा कन्या को ८ (आठ) से २४ (चौबीस) २२ (बाईस) २० (बीस) १८ (अठारह) अथवा १६ (सोलह) वर्ष तक आचार्य की शिक्षा प्राप्त हो तभी पुरुष वा स्त्री विद्यावान् होकर धर्मार्थ काम मोक्ष के व्यवहारों में अतिचतुर होते हैं ॥१॥ यह मनुष्य देह यज्ञ अर्थात् अच्छे प्रकार उसको आयु बल आदि से संपन्न करने के लिये छोटे से छोटा यह पक्ष है कि २४ (चौबीस) वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य पुरुष और १६ (सोलह) वर्ष तक स्त्री ब्रह्मचर्याश्रम यथावत् पूर्ण जैसे २४ (चौबीस) अक्षर का गायत्री छन्द होता है वैसे करे वह प्रातःसवन कहाता है

जिससे इस मनुष्य-देह के मध्य वसुरूप प्राण प्राप्त होते हैं जो बलवान् होकर
सब शुभ गुणों को शरीर आत्मा और मन के बीच में वास कराते हैं ॥ २ ॥
जो कोई इस २५ (पच्चीस) वर्ष के आयु से पूर्व ब्रह्मचारी को विवाह वा
विषयभोग करने का उपदेश करे उसको वह ब्रह्मचारी यह उत्तर देवे कि देख,
यदि मेरे प्राण मन और इन्द्रिय २५ (पच्चीस) वर्ष तक ब्रह्मचर्य से बलवान्
न हुए तो मध्यम सवन जो कि आगे ४४ (चवालीस) वर्ष तक का ब्रह्मचर्य
कहा है उसको पूर्ण करने के लिये मुझ में सामर्थ्य न हो सकेगा किन्तु प्रथम
कोटि का ब्रह्मचर्य मध्यम कोटि के ब्रह्मचर्य को सिद्ध करता है इसलिये क्या मैं
तुम्हारे सदृश मूर्ख हूं कि जो इस शरीर प्राण अन्तःकरण और आत्मा के
संयोगरूप सब शुभ गुण, कर्म और स्वभाव के साधन करने वाले इस संघात को
शीघ्र नष्ट करके अपने मनुष्य देह धारण के फल से विमुख रहूं और सब
आश्रमों के मूल सब उत्तम कर्मों में उत्तम कर्म और सब के मुख्य कारण ब्रह्म-
चर्य को खण्डित करके महादुःखसागर में कभी डूबूं किन्तु जो प्रथम आयु में ब्रह्मचर्य
करता है वह ब्रह्मचर्य के सेवन से विद्या को प्राप्त होके निश्चित रोगरहित होता है
इसलिये तुम मूर्ख लोगों के कहने से ब्रह्मचर्य का लोप मैं कभी न करूंगा ॥ ३ ॥
और जो ४४ (चवालीस) वर्ष तक अर्थात् जैसा ४४ (चवालीस) अक्षर
का त्रिष्टुप् छन्द होता है तद्वत् जो मध्यम ब्रह्मचर्य करता है वह ब्रह्मचारी रुद्र-
रूप प्राणों को प्राप्त होता है कि जिसके आगे किसी दुष्ट की दुष्टता नहीं चलती
और वह सब दुष्ट कर्म करनेवालों को सदा रुलाता रहता है ॥ ४ ॥ यदि
मध्यम ब्रह्मचर्य के सेवन करने वाले से कोई कहे कि तू इस ब्रह्मचर्य को छोड़
विवाह करके आनन्द को प्राप्त हो उसको ब्रह्मचारी यह उत्तर देवे कि जो सुख
अधिक ब्रह्मचर्याश्रम के सेवन से होता और विषयसम्बन्धी भी अधिक आनन्द
होता है वह ब्रह्मचर्य को न करने से स्वप्न में भी नहीं प्राप्त होता क्योंकि सांसा-
रिक व्यवहार विषय और परमार्थ सम्बन्धी पूर्ण सुख को ब्रह्मचारी ही प्राप्त
होता है अन्य कोई नहीं इसलिये मैं इस सर्वोत्तम सुख प्राप्ति के साधन ब्रह्मचर्य
का लोप न करके विद्वान् बलवान् आयुष्मान् धर्मात्मा हो के संपूर्ण आनन्द को
प्राप्त होऊंगा । तुम्हारे निर्बुद्धियों के कहने से शीघ्र विवाह करके स्वयं और अपने

कुल को नष्ट भ्रष्ट कभी न करूंगा ॥ ५ ॥ अब ४८ (अड़तालीस) वर्ष पर्यन्त जैसा कि ४८ (अड़तालीस) अक्षर का जगती छन्द होता है वैसे इस उत्तम ब्रह्मचर्य से पूर्ण विद्या, पूर्ण बल, पूर्ण प्रज्ञा, पूर्ण शुभ गुण, कर्म, स्वभावयुक्त सूर्यवत् प्रकाशमान् होकर ब्रह्मचारी सब विद्याओं को ग्रहण करता है ॥ ६ ॥ यदि कोई इस सर्वोत्तम धर्म से गिराना चाहे उसको ब्रह्मचारी उत्तर देवे कि अरे ! छोकरों के छोकरे मुझ से दूर रहो तुम्हारे दुर्गन्धरूप भ्रष्ट वचनों से मैं दूर रहता हूं मैं इस उत्तम ब्रह्मचर्य का लोप कभी न करूंगा इसको पूर्ण करके सर्व रोगों से रहित सर्वविद्यादि शुभ गुण, कर्म, स्वभाव सहित होऊंगा इस मेरी शुभ प्रतिज्ञा को परमात्मा अपनी कृपा से पूर्ण करे जिससे मैं तुम निर्बुद्धियों को उपदेश और विद्या पढ़ा के विशेष तुम्हारे बालकों को आनन्दयुक्त कर सकूं ॥७॥

चतस्रोऽवस्थाः शरीरस्य वृद्धिर्यौवनं संपूर्णता किञ्चित्परिहाणिश्चेति । तत्राषोडशाद् वृद्धिः । आपञ्चविंशतेर्यौवनम् । आचत्वारिंशतस्सम्पूर्णता । ततः किञ्चित्परिहाणिश्चेति ॥

पञ्चविंशे ततो वर्षे पुमान्नारी तु षोड़शे ।
समत्वागतवीर्यौ तौ जानीयात् कुशलो भिषक् ॥ १ ॥

यह धन्वन्तरिजी कृत सुश्रुतग्रन्थ का प्रमाण है ।

अर्थः—इस मनुष्य-देह की ४ अवस्था हैं—एक वृद्धि, दूसरी यौवन, तीसरी संपूर्णता, चौथी किञ्चित्परिहाणि करनेहारी अवस्था है । इन में १६ (सोलहवें) वर्ष आरम्भ २५ (पच्चीसवें) वर्ष में पूर्तिवाली वृद्धि की अवस्था है । जो कोई इस वृद्धि की अवस्था में वीर्यादि धातुओं का नाश करेगा वह कुल्हाड़े से काटे वृक्ष वा डंडे से फूटे घड़े के समान अपने सर्वस्व का नाश कर के पश्चात्ताप करेगा, पुनः उसके हाथ में सुधार कुछ भी न रहेगा और दूसरी जो युवावस्था उसका आरम्भ २५ (पच्चीसवें) वर्ष से और पूर्त्ति ४० (चालीसवें) वर्ष में होती है जो कोई इसको यथावत् संरक्षित न कर रक्खेगा वह अपनी भाग्यशालिता को नष्ट कर देवेगा और तीसरी पूर्ण युवावस्था ४० (चालीसवें)

वर्ष में होती है जो कोई ब्रह्मचारी होकर पुनः ऋतुगामी परस्त्रीत्यागी एकस्त्रीव्रत गर्भ रहे पश्चात् एक वर्ष पर्य्यन्त ब्रह्मचारी न रहेगा वह भी बना बनाया धूल में मिल जायगा और चौथी ४० (चालीसवें) वर्ष से यावत् निर्वीर्य न हो तावत् किञ्चित् हानिरूप अवस्था है यदि किञ्चित् हानि के बदले वीर्य्य की अधिक हानि करेगा वह भी राजयक्ष्मा और भगन्दरादि रोगों से पीड़ित हो जायगा और जो इन चारों अवस्थाओं को यथोक्त सुरक्षित रक्खेगा वह सर्वदा आनन्दित होकर सब संसार को सुखी कर सकेगा ॥

अब इसमें इतना विशेष समझना चाहिये कि स्त्री और पुरुष के शरीर में पूर्वोक्त चारों अवस्थाओं का एकसा समय नहीं है किन्तु जितना सामर्थ्य २५ (पच्चीसवें) वर्ष में पुरुष के शरीर में होता है उतना सामर्थ्य स्त्री के शरीर में १६ (सोलहवें) वर्ष में होजाता है यदि बहुत शीघ्र विवाह करना चाहें तो २५ (पच्चीस) वर्ष का पुरुष और १६ (सोलह) वर्ष की स्त्री दोनों तुल्य सामर्थ्यवाले होते हैं इस कारण इस अवस्था में जो विवाह करना वह अधम विवाह है और जो १७ (सत्रहवें) वर्ष की स्त्री और ३० (तीस) वर्ष का पुरुष १८ (अठारह) वर्ष की स्त्री और छत्तीस वर्ष का पुरुष १९ (उन्नीस) वर्ष की स्त्री ३८ (अड़तीस) वर्ष का पुरुष विवाह करे तो इस को मध्यम समय जानो और जो २० (बीस) २१ (इक्कीस) २२ (बाईस) वा २४ (चौबीस) वर्ष की स्त्री ४० (चालीस) ४२ (बयालीस) ४६ (छयालीस) और ४८ (अड़तालीस) वर्ष का पुरुष होकर विवाह करे वह सर्वोत्तम है । हे ब्रह्मचारिन् ! इन वाक्यों को तू ध्यान में रख जो कि तुझको आगे के आश्रमों में काम आवेंगे जो मनुष्य अपने सन्तान कुलसम्बन्धी और देश की उन्नति करना चाहें वे इन पूर्वोक्त और आगे कही हुई बातों का यथावत् आचरण करें ॥

श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी जिह्वा नासिका चैव पञ्चमी ।
पायूपस्थं हस्तपादं वाक् चैव दशमी स्मृता ॥ १ ॥
बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैषां श्रोत्रादीन्यनुपूर्वशः ।
कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैषां पाय्वादीनि प्रचक्षते ॥ २ ॥

एकादशं मनो ज्ञेयं स्वगुणेनोभयात्मकम् ।
यस्मिन् जिते जितावेतौ भवतः पञ्चकौ गणौ ॥ ३ ॥
इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु ।
संयमे यत्नमातिष्ठेद्विद्वान् यन्तेव वाजिनाम् ॥ ४ ॥
इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम् ।
संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति ॥ ५ ॥
वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपाँसि च ।
न विप्रभावदुष्टस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित् ॥ ६ ॥
वशे कृत्वेन्द्रियग्रामं संयम्य च मनस्तथा ।
सर्वान् संसाधयेदर्थानक्षिण्वन्योगतस्तनुम् ॥ ७ ॥
यमान् सेवेत सततं न नियमान् केवलान् बुधः ।
यमान् पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन् ॥ ८ ॥
अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः ।
चत्वारि तस्य वर्द्धन्ते आयुर्विद्यायशोबलम् ॥ ९ ॥
अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः ।
अज्ञं हि बालमित्याहुः पितेत्येव तु मन्त्रदम् ॥ १० ॥
न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न बन्धुभिः ।
ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान् ॥ ११ ॥
न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः ।
यो वै युवाप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः ॥ १२ ॥
यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः ।
यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति ॥ १३ ॥
संमानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव ।
अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा ॥ १४ ॥
वेदमेव सदाभ्यस्येत्तपस्तप्स्यन् द्विजोत्तमः ।
वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते ॥ १५ ॥

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् ।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥ १६ ॥

यथा खनन् खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति ।
तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति ॥ १७ ॥

श्रद्दधानः शुभां विद्यामाददीतावरादपि ।
अन्त्यादपि परं धर्मं स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि ॥ १८ ॥

विषादप्यमृतं ग्राह्यं बालादपि सुभाषितम् ।
विविधानि च शिल्पानि समादेयानि सर्वतः ॥ १६ ॥ मनु० ॥

अर्थः—कान, त्वचा, नेत्र, जीभ, नासिका, गुदा, उपस्थ (मूत्र का मार्ग), हाथ, पग, वाणी ये दश (१०) इन्द्रिय इस शरीर में हैं ॥ १ ॥ इसमें कर्ण आदि पांच ज्ञानेन्द्रिय और गुदा आदि पांच कर्मेन्द्रिय कहाते हैं ॥ २ ॥ ग्यारहवां इन्द्रिय मन है वह अपने स्मृति आदि गुणों से दोनों प्रकार के इन्द्रियों से सम्बन्ध करता है कि जिस मन के जीतने में ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय दोनों जीत लिये जाते हैं ॥ ३ ॥ जैसे सारथि घोड़े को कुपथ में नहीं जाने देता वैसे विद्वान् ब्रह्मचारी आकर्षण करने वाले विषयों में जाते हुए इन्द्रियों के रोकने में सदा प्रयत्न किया करे ॥ ४ ॥ ब्रह्मचारी इन्द्रियों के साथ मन लगाने से निःसन्देह दोषी होजाता है और उन पूर्वोक्त दश इन्द्रियों को वश में करके ही पश्चात् सिद्धि को प्राप्त होता है ॥ ५ ॥ जिस का ब्राह्मणपन (सम्मान नहीं चाहना वा इन्द्रियों को वश में रखना आदि) बिगड़ा वा जिसका विशेष प्रभाव (वर्णाश्रम के गुण कर्म) बिगड़े हैं उस पुरुष के वेद पढ़ना, त्याग अर्थात् संन्यास लेना, यज्ञ (अग्निहोत्रादि) करना, नियम (ब्रह्मचर्याश्रम आदि) करना, तप (निन्दा, स्तुति और हानि, लाभ आदि द्वन्द्व का सहन) करना आदि कर्म कदापि सिद्ध नहीं हो सकते इसलिये ब्रह्मचारी को चाहिये कि अपने नियम धर्मों को यथावत् पालन करके सिद्धि को प्राप्त होवे ॥ ६ ॥ ब्रह्मचारी पुरुष सब इन्द्रियों को वश में कर और आत्मा के साथ मन को संयुक्त करके योगाभ्यास से शरीर को किञ्चित् २ पीड़ा देता हुआ अपने सब प्रयोजनों को सिद्ध करे ॥७॥

बुद्धिमान् ब्रह्मचारी को चाहिये कि यमों का सेवन नित्य करे केवल नियमों का नहीं क्योंकि यमों * को न करता हुआ और केवल नियमों † का सेवन करता हुआ भी अपने कर्त्तव्य से पतित होजाता है इसलिये यमसेवनपूर्वक नियम सेवन नित्य किया करे ॥ ८ ॥ अभिवादन करने का जिसका स्वभाव और विद्या वा अवस्था में वृद्ध पुरुषों का जो नित्य सेवन करता है उसकी अवस्था, विद्या, कीर्त्ति और बल इन चारों की नित्य उन्नति हुआ करती है इसलिये ब्रह्मचारी को चाहिये कि आचार्य, माता, पिता, अतिथि, महात्मा आदि अपने बड़ों को नित्य नमस्कार और सेवन किया करे ॥ ९ ॥ अज्ञ अर्थात् जो कुछ नहीं पढ़ा, वह निश्चय करके बालक होता और जो मन्त्रद अर्थात् दूसरे को विचार देनेवाला विद्या पढ़ा विद्या विचार में निपुण है वह पितास्थानीय होता है क्योंकि जिस कारण सत्पुरुषों ने अज्ञ जन को बालक कहा और मन्त्रद को पिता ही कहा है इससे प्रथम ब्रह्मचर्य्याश्रम संपन्न होकर ज्ञानवान् विद्यावान् अवश्य होना चाहिये ॥ १० ॥ धर्मवेत्ता ऋषिजनों ने न वर्षों, न पके केशों वा झूलते हुए अङ्गों, न धन और न बन्धुजनों से बड़प्पन माना किन्तु यही धर्म निश्चय किया कि जो हम लोगों में वादविवाद में उत्तर देनेवाला अर्थात् वक्ता हो वह बड़ा है इससे ब्रह्मचर्याश्रम संपन्न होकर विद्यावान् होना चाहिये जिससे कि संसार में बड़प्पन प्रतिष्ठा पावें और दूसरों को उत्तर देने में अति निपुण हों ॥ ११ ॥ उस कारण से वृद्ध नहीं होता कि जिससे इसका शिर झूल जाय, केश पक जावें किन्तु जो ज्वान भी पढ़ा हुआ विद्वान् है उसको विद्वानों ने वृद्ध जाना और माना है इससे ब्रह्मचर्याश्रम संपन्न होकर विद्या पढ़नी चाहिये ॥ १२ ॥ जैसे काठ का कठपुतला हाथी वा जैसे चमड़े का बनाया हुआ मृग हो वैसे विना पढ़ा हुआ विप्र अर्थात्

* अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्य्यापरिग्रहा यमाः ॥

निर्वैरता, सत्य बोलना, चोरीत्याग, वीर्यरक्षण और विषयभोग में घृणा ये ५ यम हैं ॥

† शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥

शौच, सन्तोष, तप (हानि लाभ आदि द्वन्द्व का सहना), स्वाध्याय (वेद का पढ़ना), ईश्वरप्रणिधान (सर्वस्व ईश्वरार्पण) ये ५ नियम कहाते हैं ॥

ब्राह्मण वा बुद्धिमान् जन होता है उक्त वे हाथी मृग और विप्र तीनों नाममात्र धारण करते हैं इस कारण ब्रह्मचर्याश्रम संपन्न होकर विद्या पढ़नी चाहिये ॥ १३ ॥ ब्राह्मण विष के समान उत्तम मान से नित्य उदासीनता रक्खे और अमृत के समान अपमान की आकांक्षा सर्वदा करे अर्थात् ब्रह्मचर्यादि आश्रमों के लिये भिक्षामात्र मांगते भी कभी मान की इच्छा न करे ॥ १४ ॥ द्विजोत्तम अर्थात् ब्राह्मणादिकों में उत्तम सज्जन पुरुष सर्वकाल तपश्चर्या करता हुआ वेद ही का अभ्यास करे जिस कारण ब्राह्मण वा बुद्धिमान् जन को वेदाभ्यास करना इस संसार में परम तप कहा है इससे ब्रह्मचर्याश्रम-संपन्न होकर अवश्य वेद विद्याध्ययन करे ॥ १५ ॥ जो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वेद को न पढ़कर अन्य शास्त्र में श्रम करता है वह जीवता ही अपने वंश के सहित शूद्रपन को प्राप्त होजाता है इससे ब्रह्मचर्याश्रम-संपन्न होकर वेदविद्या अवश्य पढ़े ॥ १६ ॥ जैसे फावड़ा से खोदता हुआ मनुष्य जल को प्राप्त होता है वैसे गुरु की सेवा करनेवाला पुरुष गुरुजनों ने जो पाई हुई विद्या है उस को प्राप्त होता है इस कारण ब्रह्मचर्याश्रम-संपन्न होकर गुरुजन की सेवा कर उन से सुने और वेद पढ़े ॥ १७ ॥ उत्तम विद्या की श्रद्धा करता हुआ पुरुष अपने से न्यून से भी विद्या पावे तो ग्रहण करे। नीच जाति से भी उत्तम धर्म का ग्रहण करे और निन्द्य कुल से भी स्त्रियों में उत्तम स्त्रीजन का ग्रहण करे, यह नीति है, इस से गृहस्थाश्रम से पूर्व २ ब्रह्मचर्याश्रम-संपन्न होकर कहीं से न कहीं से उत्तम विद्या पढ़े, उत्तम धर्म सीखे और ब्रह्मचर्य के अनन्तर गृहाश्रम में उत्तम स्त्री से विवाह करे क्योंकि— ॥ १८ ॥ विष से भी अमृत का ग्रहण करना, बालक से भी उत्तम वचन को लेना और नाना प्रकार के शिल्प काम सब से अच्छे प्रकार ग्रहण करने चाहियें इस कारण ब्रह्मचर्याश्रम-संपन्न होकर देश २ पर्यटन कर उत्तम गुण सीखे ॥ १९ ॥

यान्यनवद्यानि कर्माणि। तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि। यान्यस्माकꣳ सुचरितानि। तानि त्वयोपास्यानि। नो इतराणि। एके चास्मच्छ्रेयाꣳसो ब्राह्मणाः। तेषां त्वयाऽऽसनेन प्रश्वसितव्यम्॥ तैत्तिरीयारण्य० प्रपा० ७। अनु० ११॥

ऋतं तपः सत्यं तपः श्रुतं तपः शान्तं तपो दमस्तपश्शमस्तपो दानं तपो यज्ञस्तपो ब्रह्मभूर्भुवः सुवर्ब्रह्मैतदुपास्वैतत्तपः ॥ २ ॥ तैत्तिरीयारण्य० प्रपा० १० । अनु० ८ ॥

अर्थः—हे शिष्य ! जो अनिन्दित पापरहित अर्थात् अन्याय अधर्माचरण रहित न्यायधर्माचरण सहित कर्म हैं उन्हीं का सेवन तू किया करना इनसे विरुद्ध अधर्माचरण कभी मत करना । हे शिष्य ! जो तेरे माता पिता आचार्य आदि हम लोगों के अच्छे धर्मयुक्त उत्तम कर्म हैं उन्हीं का आचरण तू कर और जो हमारे दुष्ट कर्म हों उनका आचरण कभी मत कर । हे ब्रह्मचारिन् ! जो हमारे मध्य में धर्मात्मा श्रेष्ठ ब्रह्मवित् विद्वान् हैं उन्हीं के समीप बैठना संग करना और उन्हीं का विश्वास किया कर ॥ १ ॥ हे शिष्य ! यथार्थ का ग्रहण, सत्य मानना, सत्य बोलना, वेदादि सत्य शास्त्रों का सुनना, अपने मन को अधर्माचरण में न जाने देना, श्रोत्रादि इन्द्रियों को दुष्टाचार से रोक श्रेष्ठाचार में लगाना, क्रोधादि के त्याग से शान्त रहना, विद्या आदि शुभ गुणों का दान करना, अग्निहोत्रादि और विद्वानों का संग करना, जितने भूमि अन्तरिक्ष और सूर्यादि लोकों में पदार्थ हैं उनका यथाशक्ति ज्ञान करना, और योगाभ्यास, प्राणायाम, एक ब्रह्म परमात्मा की उपासना करना, ये सब कर्म करना ही तप कहाता है ॥ २ ॥

ऋतञ्च स्वाध्यायप्रवचने च । सत्यञ्च स्वाध्यायप्रवचने च । तपश्च स्वाध्या० । दमश्च स्वाध्या० । शमश्च स्वाध्या० । अग्नयश्च स्वाध्या० । अग्निहोत्रं च स्वाध्या० । सत्यमिति सत्यवचा राथीतरः । तप इति तपोनित्यः पौरुशिष्टिः । स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाकोमौद्गल्यः । तद्धि तपस्तद्धि तपः ॥ ३ ॥ तैत्तिरीयारण्य० प्रपा० ७ । अनु० ६ ॥

अर्थः—हे ब्रह्मचारिन् ! तू सत्य धारण कर, पढ़ और पढ़ाया कर । सत्योपदेश करना कभी मत छोड़, सदा सत्य बोल, पढ़ और पढ़ाया कर । हर्ष शोकादि छोड़, प्राणायाम योगाभ्यास कर तथा पढ़ और पढ़ाया भी कर । अपनी इन्द्रियों

को बुरे कामों से हटा, अच्छे कामों में चला, विद्या का ग्रहण कर और कराया कर। अपने अन्तःकरण और आत्मा को अन्यायाचरण से हटा, न्यायाचरण में प्रवृत्त कर और कराया कर, तथा पढ़ और सदा पढ़ाया कर। अग्निविद्या के सेवनपूर्वक विद्या को पढ़ और पढ़ाया कर। अग्निहोत्र करता हुआ पढ़ और पढ़ाया कर। सत्यवादी होना तप (है) (यह) सत्यवचा राथीतर आचार्य (का), न्यायाचरण में कष्ट सहना तप (है) (यह) तपोनित्य, पौरुशिष्टि आचार्य (का), और धर्म में चल के पढ़ना पढ़ाना और सत्योपदेश करना ही तप है यह नाकोमौद्गल्य आचार्य का मत है; और सब आचार्यों के मत में यही पूर्वोक्त तप [यही पूर्वोक्त तप] है ऐसा तू जान ॥ ३ ॥ इत्यादि उपदेश तीन दिन के भीतर आचार्य वा बालक का पिता करे।

तत्पश्चात् घर को छोड़ गुरुकुल में जावें। यदि पुत्र हो तो पुरुषों की पाठशाला और कन्या हो तो स्त्रियों की पाठशाला में भेजें। यदि घर में वर्णोच्चारण की शिक्षा यथावत् न हुई हो तो आचार्य बालकों को और कन्याओं को स्त्री, पाणिनिमुनिकृत वर्णोच्चारण शिक्षा १ (एक) महीने के भीतर पढ़ा देवें। पुनः पाणिनिमुनिकृत अष्टाध्यायी का पाठ पदच्छेद अर्थसहित ८ (आठ) महीने में अथवा १ (एक) वर्ष में पढ़ाकर, धातुपाठ और दश लकारों के रूप सधवाना तथा दश प्रक्रिया भी सधवानी। पुनः पाणिनिमुनिकृत लिङ्गानुशासन और उणादि, गणपाठ तथा अष्टाध्यायीस्थ ण्वुल् और तृच् प्रत्ययाद्यन्त सुबन्तरूप ६ (छः) महीने के भीतर सधवा देवें। पुनः दूसरी वार अष्टाध्यायी पदार्थोक्ति, समास, शंकासमाधान, उत्सर्ग अपवाद, * अन्वयपूर्वक पढ़ावें और संस्कृतभाषण का भी अभ्यास कराते जायँ, ८ महीने के भीतर इतना पढ़ना पढ़ाना चाहिये ॥

तत्पश्चात् पतञ्जलिमुनिकृत महाभाष्य, जिस में वर्णोच्चारणशिक्षा, अष्टाध्यायी, धातुपाठ, गणपाठ, उणादिगण, लिङ्गानुशासन इन ६ (छः) ग्रन्थों की व्याख्या यथावत् लिखी है डेढ़ वर्ष में अर्थात् १८ (अठारह) महीने में इसको पढ़ना पढ़ाना। इस प्रकार शिक्षा और व्याकरण शास्त्र को ३ (तीन) वर्ष ५

* जिस सूत्र का अधिक विषय हो वह उत्सर्ग और जो किसी सूत्र के बड़े विषय में से थोड़े विषय में प्रवृत्त हो वह अपवाद कहाता है ॥

(पांच) महीने वा नौ महीने अथवा ४ (चार) वर्ष के भीतर पूरा कर सब संस्कृतविद्या के मर्मस्थलों को समझने के योग्य होवे। तत्पश्चात् यास्कमुनिकृत निघण्टु निरुक्त, तथा कात्यायनादिमुनि कृत कोश १॥ (डेढ़) वर्ष के भीतर पढ़ के, अव्ययार्थ, आप्तमुनिकृत वाच्यवाचकसम्बन्धरूप * यौगिक योगरूढि और रूढि तीन प्रकार के शब्दों के अर्थ यथावत् जानें। तत्पश्चात् पिङ्गलाचार्यकृत पिङ्गलसूत्र छन्दोग्रन्थ भाष्यसहित ३ (तीन) महीने में पढ़ और ३ (तीन) महीने में श्लोकादिरचनविद्या को सीखे। पुनः यास्कमुनिकृत काव्यालङ्कारसूत्र वात्स्यायनमुनिकृत भाष्यसहित, आकाङ्क्षा, योग्यता, आसत्ति और तात्पर्यार्थ अन्वयसहित पढ़ के, इसीके साथ मनुस्मृति, विदुरनीति और किसी प्रकरण में के १० सर्ग वाल्मीकीय रामायण के ये सब १ (एक) वर्ष के भीतर पढ़ें और पढ़ावें। तथा १ (एक) वर्ष में सूर्यसिद्धान्तादि में से कोई १ (एक) सिद्धान्त से गणितविद्या जिसमें बीजगणित, रेखागणित और पाटीगणित जिसको अङ्कगणित भी कहते हैं पढ़ें और पढ़ावें। निघण्टु से ले के ज्योतिष पर्यन्त वेदाङ्गों को चार वर्ष के भीतर पढ़ें। तत्पश्चात् जैमिनिमुनिकृत सूत्र पूर्वमीमांसा को व्यासमुनिकृत व्याख्यासहित, कणादमुनिकृत वैशेषिकसूत्ररूप शास्त्र को गोतममुनिकृत प्रशस्तपाद-भाष्य सहित, वात्स्यायनमुनिकृत भाष्यसहित गोतममुनिकृत सूत्ररूप न्यायशास्त्र, व्यासमुनिकृत भाष्यसहित पतञ्जलिमुनिकृत योगसूत्र योगशास्त्र, भागुरिमुनिकृत भाष्ययुक्त कपिलाचार्य्यकृत सूत्रस्वरूप सांख्यशास्त्र, जैमिनि वा बौद्धायन आदि मुनिकृत व्याख्यासहित व्यासमुनिकृत शारीरिकसूत्र तथा ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य और बृहदारण्यक १० (दश) उपनिषद् [व्यासादिमुनिकृत व्याख्यासहित वेदान्तशास्त्र] इन ६ (छः) शास्त्रों को २ (दो) वर्ष के भीतर पढ़ लेवें। तत्पश्चात् बह्वृच ऐतरेय ऋग्वेद का ब्राह्मण, आश्वलायनकृत श्रौत तथा गृह्यसूत्र † और कल्पसूत्र पदक्रम और व्याकरणादि के सहाय से छन्दः,

* यौगिक—जो क्रिया के साथ सम्बन्ध रक्खे, जैसे—पाचक याजकादि। योगरूढि, जैसे—पङ्कजादि। रूढि, जैसे—धन, वन इत्यादि॥

† जो ब्राह्मण वा सूत्र वेदविरुद्ध हिंसापरक हो उसका प्रमाण न करना॥

स्वर, पदार्थ, अन्वय, भावार्थ सहित ऋग्वेद का पठन ३ वर्ष के भीतर करे, इसी प्रकार यजुर्वेद को शतपथब्राह्मण और पदादि के सहित २ (दो) वर्ष, तथा सामब्राह्मण और पदादि तथा गानसहित सामवेद को २ (दो) वर्ष, तथा गोपथब्राह्मण और पदादि के सहित अथर्ववेद २ (दो) वर्ष के भीतर पढ़ें और पढ़ावें। सब मिल के ९ (नौ) वर्षों के भीतर ४ (चारों) वेदों को पढ़ना और पढ़ाना चाहिये। पुनः ऋग्वेद का उपवेद आयुर्वेद जिसको वैद्यकशास्त्र कहते हैं, जिस में धन्वन्तरिजीकृत सुश्रुत और निघण्टु तथा पतञ्जलि ऋषिकृत चरक आदि आर्षग्रन्थ हैं, इनको ३ (तीन) वर्ष के भीतर पढ़ें। जैसे सुश्रुत में शस्त्र लिखे हैं बना कर शरीर के सब अवयवों को चीर के देखें, तथा जो उसमें शारीरिकादि विद्या लिखी हैं साक्षात् करें।

तत्पश्चात् यजुर्वेद का उपवेद धनुर्वेद जिसको शस्त्रास्त्रविद्या कहते हैं, जिसमें अङ्गिरा आदि ऋषिकृत ग्रन्थ हैं. जो इस समय बहुधा नहीं मिलते ३ (तीन) वर्ष में पढ़ें और पढ़ावें। पुनः सामवेद का उपवेद गान्धर्ववेद, जिसमें नारदसंहितादि ग्रन्थ हैं, उनको पढ़ के स्वर, राग, रागिणी, समय, वादित्र, ग्राम, ताल, मूर्च्छना आदि का अभ्यास यथावत् ३ (तीन) वर्ष के भीतर करे।

तत्पश्चात् अथर्ववेद का उपवेद अर्थवेद जिसको शिल्पशास्त्र कहते हैं, जिसमें विश्वकर्मा त्वष्टा और मयकृत संहिता ग्रन्थ हैं, उनको ६ (छः) वर्ष के भीतर पढ़ के विमान, तार, भूगर्भादि विद्याओं को साक्षात् करें। ये शिक्षा से ले के आयुर्वेद तक १४ (चौदह) विद्याओं को ३१ (इकत्तीस) वर्षों में पढ़ के महाविद्वान् होकर अपने और सब जगत् के कल्याण और उन्नति करने में सदा प्रयत्न किया करें॥

इति वेदारम्भसंस्कारविधिः समाप्तः

अथ

समावर्त्तनसंस्कारविधिं वक्ष्यामः

समावर्त्तन संस्कार उसको कहते हैं कि जो ब्रह्मचर्य्यव्रत, साङ्गोपाङ्ग वेदविद्या, उत्तमशिक्षा और पदार्थविज्ञान को पूर्ण रीति से प्राप्त होके विवाहविधानपूर्वक गृहाश्रम को ग्रहण करने के लिये विद्यालय छोड़ के घर की ओर आना। इसमें प्रमाणः—

वेदसमाप्तिं वाचयीत* । कल्याणैः सह सम्प्रयोगः† । स्नातकायोपस्थिताय । राज्ञे च । आचार्यश्वशुरपितृव्यमातुलानां च दध्नि मध्वानीय । सर्पिर्वा मध्वलाभे । विष्टरः पाद्यमर्घ्यमाचमनीयं मधुपर्कः‡ ॥ यह आश्वलायनगृह्यसूत्र ।

तथा पारस्करगृह्यसूत्रः—

वेदꣳ समाप्य स्नायाद् । ब्रह्मचर्यं वाष्टचत्वारिꣳशकम्¶ । त्रय एव स्नातका भवन्ति । विद्यास्नातको व्रतस्नातको विद्याव्रतस्नातकश्चेति§ ॥

जब वेदों की समाप्ति हो तब समावर्त्तनसंस्कार करे । सदा पुण्यात्मा पुरुषों के सब व्यवहारों में साझा रक्खे । राजा आचार्य श्वशुर चाचा और मामा आदि का अपूर्वागमन जब हो और स्नातक अर्थात् जब विद्या और ब्रह्मचर्य पूर्ण करके ब्रह्मचारी घर को आवे तब प्रथम (पाद्यम्) पग धोने का जल (अर्घ्यम्) मुखप्रक्षालन के लिये जल और आचमन के लिये जल देके शुभासन पर बैठा दही में मधु अथवा सहत न मिले तो घी मिलाके एक अच्छे पात्र में धर इनको मधुपर्क देना होता है और विद्यास्नातक, व्रतस्नातक तथा विद्याव्रत-

---

* अ० १ । कण्डि० २२ । सू० १६ ॥ † अ० १ । कण्डि० २३ । सू० २० ॥
‡ अ० १ । कण्डि० २४ । सू० २—७ ॥ ¶ कां० २ । कण्डि० ६ । सू० १, २ ॥
§ कां० २ । कण्डि० ५ । सू० ३२ ॥

स्नातक ये तीन * प्रकार के स्नातक होते हैं इस कारण वेद की समाप्ति और ४८ (अड़तालीस) वर्ष का ब्रह्मचर्य समाप्त करके ब्रह्मचारी विद्याव्रतस्नान करे॥

तानि कल्पद् ब्रह्मचारी सलिलस्य पृष्ठे तपोऽतिष्ठत्तप्यमानः समुद्रे। स स्नातो बभ्रुः पिङ्गलः पृथिव्यां बहु रोचते॥ अथर्व० कां० ११। प्रपा० २४। व० १६। मं० २६॥

अर्थः—जो ब्रह्मचारी समुद्र के समान गम्भीर बड़े उत्तम व्रत ब्रह्मचर्य में निवास कर महातप को करता हुआ वेदपठन, वीर्य्यनिग्रह आचार्य के प्रियाचरणादि कर्मों को पूरा कर पश्चात् पृ० १०४ में लिखे अनुसार स्नानविधि करके पूर्ण विद्याओं को धरता सुन्दर वर्णयुक्त होके पृथिवी में अनेक शुभ गुण, कर्म और स्वभाव से प्रकाशमान होता है वही धन्यवाद के योग्य है॥

इसका समय–पृ० ८६–६३ तक में लिखे प्रमाणे जानना। परन्तु जब विद्या, हस्तक्रिया, ब्रह्मचर्य व्रत भी पूरा होवे तभी गृहाश्रम की इच्छा स्त्री और पुरुष करें। विवाह के स्थान दो हैं एक आचार्य का घर, दूसरा अपना घर। दोनों ठिकानों में से किसी एक ठिकाने आगे विवाह में लिखे प्रमाणे सब विधि करे। इस संस्कार का विधि पूरा करके पश्चात् विवाह करे।

विधिः—जो शुभ दिन समावर्त्तन का नियत करे उस दिन आचार्य्य के घर में पृ० १३–१४ में लिखे यज्ञकुण्ड आदि बना के सब शाकल्य और सामग्री संस्कार दिन से पूर्व दिन में जोड़ रक्खे और स्थालीपाक † बना के तथा घृतादि और पात्रादि यज्ञशाला में वेदी के समीप रक्खे पुनः पृ० १६ में लिखे० यथावत् ४ (चारों) दिशाओं में आसन बिछा बैठ पृ० ४ (चार) से पृ० १२ तक

* जो केवल विद्या को समाप्त तथा ब्रह्मचर्य व्रत को न समाप्त करके स्नान करता है वह विद्यास्नातक, जो ब्रह्मचर्य व्रत को समाप्त तथा विद्या को न समाप्त करके स्नान करता है वह व्रतस्नातक और जो विद्या तथा ब्रह्मचर्य व्रत दोनों को समाप्त करके स्नान करता है वह विद्याव्रतस्नातक कहाता है॥

† जो कि पूर्व पृ० १५ में लिखे प्रमाणे भात आदि बनाकर रक्खा—

में ईश्वरोपासना, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण करें और जितने वहां पुरुष आये हों वे भी एकाग्रचित्त होके ईश्वर के ध्यान में मग्न होवें तत्पश्चात् पृ० २०—२१ में अग्न्याधान समिदाधान करके पृ० २२ में वेदी के चारों ओर उदकसेचन करके आसन पर पूर्वाभिमुख आचार्य बैठ के पृ० २२–२३ में आघारावाज्यभागाहुति ४ (चार) और पृ० २३ में व्याहृति आहुति ४ (चार) और पृ० २४–२५ में अष्टाज्याहुति ८ (आठ) और पृ० २३ में स्विष्टकृत् आहुति १ (एक) और प्राजापत्याहुति १ (एक) ये सब मिलके (अठारह) आज्याहुति देनी तत्पश्चात् ब्रह्मचारी पृ० ८० में० (ओं अग्ने सुश्रवः०) इस मन्त्र से कुण्ड का अग्नि कुण्ड के मध्य में इकट्ठा करे तत्पश्चात् पृ० ८० में० (ओं अग्नये समिध०) इस मन्त्र से कुण्ड में ३ (तीन) समिधा होम कर पृ० ८१ में० (ओं० तनूपा०) इत्यादि ७ (सात) मन्त्रों से दक्षिण हस्ताञ्जलि आगी पर थोड़ीसी तपा उस जल से मुखस्पर्श और तत्पश्चात् पृ० १९–२० में० (ओं वाङ्म०) इत्यादि मन्त्रों से उक्त प्रमाणे अङ्गस्पर्श कर पुनः सुगन्धादि औषधयुक्त जल से भरे हुए ८ (आठ) घड़े वेदी के उत्तरभाग में जो पूर्व से रक्खे हुए हों उनमें से:—

ओं ये अप्स्वन्तरग्नयः प्रविष्टा गोह्य उपगोह्यो मयूषो मनोहास्खलो विरुजस्तनूदूषुरिन्द्रियहा तान् विजहामि यो रोचनस्तमिह गृह्णामि ॥ पार० कां० २ । कं० ६ । सू० १० ॥

इस मन्त्र को पढ़, एक घड़े को ग्रहण करके उस घड़े में से जल ले के:—

ओं तेन मामभिषिञ्चामि श्रियै यशसे ब्रह्मणे ब्रह्मवर्चसाय ॥ पार० कां०२ । कं० ६ । सू० ११ ॥

इस मन्त्र को बोल के स्नान करना तत्पश्चात् उपरिकथित (ओं ये अप्स्वन्तर०) इस मन्त्र को बोल के दूसरे घड़े को ले उसमें से लोटे में जल ले के:—

ओं येन श्रियमकृणुतां येनावमृशताᳬ सुरान् । येनाक्ष्यावभ्यषिञ्चतां यद्वां तदश्विना यशः ॥ पार० कां० २ । कं० ६ । सू० १२ ॥

इस मन्त्र को बोल के स्नान करना तत्पश्चात् पूर्ववत् ऊपर के (ओं ये अप्स्वन्तर०) इसी मन्त्र का पाठ बोल के वेदी के उत्तर में रक्खे घड़ों में से ३ (तीन) घड़ों को ले के पृ० ७५ में लिखे हुए (आपो हि ष्ठा०) इन ३ (तीन) मन्त्रों को बोल के उन घड़ों के जल से स्नान करना, तत्पश्चात् ८ (आठ) घड़ों में से रहे हुए ३ (तीन) घड़ों को ले के (ओं आपो हि०) इन्हीं ३ (तीन) मन्त्रों को मन में बोल के स्नान करे पुनः—

ओं उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं विमध्यमꣳ श्रथाय । अथा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम ॥ ऋ० मं० १ । सू० २४ ॥

इस मन्त्र को बोल के ब्रह्मचारी अपना मेखला और दण्ड को छोड़े तत्पश्चात् वह स्नातक ब्रह्मचारी सूर्य के सम्मुख खड़ा रह कर: —

ओं उद्यन् भ्राजभृष्णुरिन्द्रो मरुद्भिरस्थात् प्रातर्यावभिरस्थाद्दशसनिरसि दशसनिं मा कुर्वाविदन् मा गमय । उद्यन् भ्राजभृष्णुरिन्द्रो मरुद्भिरस्था द्दिवायावभिरस्थाच्छतसनिरसि शतसनिं मा कुर्वाविदन् मा गमय । उद्यन् भ्राजभृष्णुरिन्द्रो मरुद्भिरस्थात् सायंयावभिरस्थात् सहस्रसनिरसि सहस्रसनिं मा कुर्वाविदन् मा गमय ॥ पार० कां० २ । कं० ६ ॥

इस मन्त्र से परमात्मा का उपस्थान स्तुति करके तत्पश्चात् दही वा तिल प्राशन करके जटा लोम और नख वपन अर्थात् छेदन करा के:—

ओं अन्नाद्याय व्यूहध्वꣳ सोमो राजाऽयमागमत् । स मे मुखं प्रमार्क्ष्यते यशसा च भगेन च ॥ पार० कां० २ । कं० ६ ॥

इस मन्त्र को बोल के ब्रह्मचारी उदुम्बर की लकड़ी से दन्तधावन करे । तत्पश्चात् सुगन्धित द्रव्य शरीर पर मल के शुद्ध जल से स्नान कर शरीर को पोंछ अधोवस्त्र अर्थात् धोती वा पीताम्बर धारण करके सुगन्धयुक्त चन्दनादि का अनुलेपन करे तत्पश्चात् चक्षु मुख नासिका के छिद्रों का:—

ओं प्राणापानौ मे तर्पय चक्षुर्मे तर्पय श्रोत्रं मे तर्पय ॥ पार० कां० २ । कं० ६॥

इस मन्त्र से स्पर्श करके हाथ में जल ले, अपसव्य और दक्षिणमुख होके:—

ओं पितरः शुन्धध्वम् ॥ पार० कां० २ । कं० ६ ॥

इस मन्त्र से जल भूमि पर छोड़ के सव्य होके:—

ओं सुचक्षा अहमक्षीभ्यां भूयासꣳ सुवर्चा मुखेन । सुश्रुत्कर्णाभ्यां भूयासम् ॥ पार० कां० २ । कं० ६ ॥

इस मन्त्र का जप करके:—

ओं परिधास्यै यशोधास्यै दीर्घायुत्वाय जरदष्टिरस्मि । शतं च जीवामि शरदः पुरूची रायस्पोषमभिसंव्ययिष्ये ॥ पा० कां० २ । कं० ६ ॥

इस मन्त्र से सुन्दर अतिश्रेष्ठ वस्त्र धारण करके:—

ओं यशसा मा द्यावापृथिवी यशसेन्द्राबृहस्पती । यशो भगश्च माविन्दद्यशो मा प्रतिपद्यताम् ॥ पार० कां० २ । कं० ६ ॥

इस मन्त्र से उत्तम उपवस्त्र धारण करके:—

ओं या आहरज्जमदग्निः श्रद्धायै मेधायै कामायेन्द्रियाय । ता अहं प्रतिगृह्णामि यशसा च भगेन च ॥ पार० कां० २ । कं० ६ ॥

इस मन्त्र से सुगन्धित पुष्पों की माला लेके:—

ओं यद्यशोऽप्सरसामिन्द्रश्चकार विपुलं पृथु । तेन सङ्ग्रथिताः सुमनस आबध्नामि यशो मयि ॥ पार० कां० २ । कं० ६ ॥

इस मन्त्र से धारण करनी, पुनः शिरोवेष्टन अर्थात् पगड़ी दुपट्टा और टोपी आदि अथवा मुकुट हाथ में लेके पृष्ठ ७६ में लि० (युवा सुवासाः०) इस मन्त्र से धारण करे उसके पश्चात् अलङ्कार ले के:—

ओं अलङ्करणमसि भूयोऽलङ्करणं भूयात् ॥ पार० कां० २ । कं० ६ ॥

इस मन्त्र से धारण करे और:—

ओं वृत्रस्यासि कनीनकश्चक्षुर्दा असि चक्षुर्मे देहि ॥ यजु० अ० ४ । मं० ३ ॥

इस मन्त्र से आंख में अंजन करना । तत्पश्चात्:—

ओं रोचिष्णुरसि ॥ पार० कां २ । कं० ६ ॥

इस मन्त्र से दर्पण में मुख अवलोकन करे । तत्पश्चात्:—

ओं बृहस्पतेश्छदिरसि पाप्मनो मामन्तर्धेहि तेजसो यशसो मामन्तर्धेहि ॥ पार० कां० २ । कं० ६ ॥

इस मन्त्र से छत्र धारण करे पुनः—

ओं प्रतिष्ठे स्थो विश्वतो मा पातम् ॥ पार० कां० २ । कं० ६ ॥

इस मन्त्र से उपानह् पादवेष्टन पगरखा और जिसको जोड़ा भी कहते हैं धारण करे, तत्पश्चात्:—

ओं विश्वाभ्यो मा नाष्ट्राभ्यस्परिपाहि सर्वतः ॥ पार० कां० २ । कं० ६ ॥

इस मन्त्र से बांस आदि की एक सुन्दर लकड़ी हाथ में धारण करनी, तत्पश्चात् ब्रह्मचारी के माता पिता आदि जब वह आचार्यकुल से अपना पुत्र घर को आवे उसको बड़े मान प्रतिष्ठा उत्सव उत्साह से अपने घर पर ले आवें, घर पर लाके उनके पिता माता सम्बन्धी बन्धु आदि ब्रह्मचारी का सत्कार पृष्ठ १०२ में लिखे प्र० करें पुनः संस्कार में आये हुए आचार्य आदि को उत्तम अन्नपानादि से सत्कारपूर्वक भोजन करा के और वह ब्रह्मचारी और उसके माता पितादि आचार्य को उत्तम आसन पर बैठा पूर्वोक्त प्रकार मधुपर्क कर सुन्दर पुष्पमाला वस्त्र गोदान धन आदि की दक्षिणा यथाशक्ति देके सब के सामने आचार्य के जोकि उत्तम गुण हों उनकी प्रशंसा कर और विद्यादान की

कृतज्ञता सब को सुनावे। सुनो भद्रजनो ! इन महाशय आचार्य ने मेरे पर बड़ा उपकार किया है जिसने मुझ को पशुता से छुड़ा उत्तम विद्वान् बनाया है उसका प्रत्युपकार मैं कुछ भी नहीं कर सकता इस के बदले में अपने आचार्य को अनेक धन्यवाद दे नमस्कार कर प्रार्थना करता हूं कि जैसे आपने मुझ को उत्तम शिक्षा और विद्यादान दे के कृतकृत्य किया उसी प्रकार अन्य विद्यार्थियों को भी कृतकृत्य करेंगे और (जैसे आपने मुझको) विद्या दे के आनन्दित किया है वैसे मैं भी अन्य विद्यार्थियों को कृतकृत्य और आनन्दित करता रहूंगा और आपके किये उपकार को कभी न भूलूंगा सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर आप मुझ और सब पढ़ने पढ़ाने हारे तथा सब संसार पर अपनी कृपादृष्टि से सब को सभ्य, विद्वान्, शरीर और आत्मा के बल से युक्त और परोपकारादि शुभ कर्मों की सिद्धि करने कराने में चिरायु स्वस्थ पुरुषार्थी उत्साही करे कि जिससे इस परमात्मा की सृष्टि में उसके गुण, कर्म, स्वभाव के अनुकूल अपने गुण, कर्म, स्वभावों को करके धर्म अर्थ काम और मोक्ष की सिद्धि कर करा के सदा आनन्द में रहें ॥

इति समावर्त्तनसंस्कारविधिः समाप्तः

अथ विवाहसंस्कारविधिं वक्ष्यामः

विवाह उसको कहते हैं कि जो पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत विद्या बल को प्राप्त तथा सब प्रकार से शुभ गुण, कर्म, स्वभावों में तुल्य परस्पर प्रीतियुक्त हो के निम्नलिखित प्रमाणे सन्तानोत्पत्ति और अपने २ वर्णाश्रम के अनुकूल उत्तम कर्म करने के लिये स्त्री और पुरुष का सम्बन्ध होता है। इसमें प्रमाणः—

उदगयन आपूर्य्यमाणपक्षे पुण्ये नक्षत्रे * चौलकर्मोपनयनगोदानविवाहाः ॥ १ ॥ सार्वकालमेकं विवाहम् ॥ २ ॥

यह आश्वलायन गृह्यसूत्र और—

आवसथ्याधानं दारकाले ॥ ३ ॥

इत्यादि पारस्कर और—

पुण्ये नक्षत्रे दारान् कुर्वीत ॥ ४ ॥ लक्षणप्रशस्तान् कुशलेन ॥ ५ ॥

इत्यादि गोभिलीय गृह्यसूत्र और इसी प्रकार शौनक गृह्यसूत्र में भी है ॥

अर्थः—उत्तरायण शुक्लपक्ष अच्छे दिन अर्थात् जिस दिन प्रसन्नता हो उस दिन विवाह करना चाहिये ॥ १ ॥ और कितने ही आचार्यों का ऐसा मत है कि सब काल में विवाह करना चाहिये ॥ २ ॥ जिस अग्नि का स्थापन विवाह में होता है उस का आवसथ्य नाम है ॥ ३ ॥ प्रसन्नता के दिन स्त्री का पाणिग्रहण, जो कि स्त्री सर्वथा शुभ गुणादि से उत्तम हो, करना चाहिये ॥ ४ ॥ ५ ॥

* यह नक्षत्रादि का विचार कल्पनायुक्त है इससे प्रमाण नहीं।

इस का समयः—पृष्ठ ८६–९३ तक में जानना चाहिये वधू और वर की आयु, कुल, वास्तव्यस्थान, शरीर और स्वभाव की परीक्षा अवश्य करें, अर्थात् दोनों सज्ञान और विवाह की इच्छा करनेवाले हों। स्त्री की आयु से वर की आयु न्यून से न्यून ड्योढ़ी और अधिक से अधिक दूनी होवे। परस्पर कुल की परीक्षा भी करनी चाहिये। इसमें प्रमाणः—

वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम्।
अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत् ॥ १ ॥

गुरुणानुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि।
उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम् ॥ २ ॥

असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः।
सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने ॥ ३ ॥

महान्त्यपि समृद्धानि गोऽजाविधनधान्यतः।
स्त्रीसम्बन्धे दशैतानि कुलानि परिवर्जयेत् ॥ ४ ॥

हीनक्रियं निष्पुरुषं निश्छन्दो रोमशार्शसम्।
क्षय्यामय्याव्यपस्मारिश्वित्रिकुष्ठिकुलानि च ॥ ५ ॥

नोद्वहेत् कपिलां कन्यां नाधिकाङ्गीं न रोगिणीम्।
नालोमिकां नातिलोमां न वाचाटां न पिङ्गलाम् ॥ ६ ॥

नर्क्षवृक्षनदीनाम्नीं नान्त्यपर्वतनामिकाम्।
न पक्ष्यहिप्रेष्यनाम्नीं न च भीषणनामिकाम् ॥ ७ ॥

अव्यङ्गाङ्गीं सौम्यनाम्नीं हंसवारणगामिनीम्।
तनुलोमकेशदशनां मृद्वङ्गीमुद्वहेत् स्त्रियम् ॥ ८ ॥

ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥ ९ ॥

आच्छाद्य चार्चयित्वा च श्रुतिशीलवते स्वयम्।
आहूय दानं कन्याया ब्राह्मो धर्मः प्रकीर्त्तितः ॥ १० ॥

यज्ञे तु वितते सम्यगृत्विजे कर्म कुर्वते ।
अलङ्कृत्य सुतादानं दैवं धर्मं प्रचक्षते ॥ ११ ॥
एकं गोमिथुनं द्वे वा वरादादाय धर्मतः ।
कन्याप्रदानं विधिवदार्षो धर्मः स उच्यते ॥ १२ ॥
सह नौ चरतां धर्ममिति वाचानुभाष्य च ।
कन्याप्रदानमभ्यर्च्य प्राजापत्यो विधिः स्मृतः ॥ १३ ॥
ज्ञातिभ्यो द्रविणं दत्वा कन्यायै चैव शक्तितः ।
कन्याप्रदानं विधिवदासुरो धर्म उच्यते ॥ १४ ॥
इच्छयाऽन्योन्यसंयोगः कन्यायाश्च वरस्य च ।
गान्धर्वः स तु विज्ञेयो मैथुन्यः कामसम्भवः ॥ १५ ॥
हत्वा छित्त्वा च भित्त्वा च क्रोशन्तीं रुदतीं गृहात् ।
प्रसह्य कन्याहरणं राक्षसो विधिरुच्यते ॥ १६ ॥
सुप्तां मत्तां प्रमत्तां वा रहो यत्रोपगच्छति ।
स पापिष्ठो विवाहानां पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥ १७ ॥
ब्राह्मादिषु विवाहेषु चतुर्ष्वेवानुपूर्वशः ।
ब्रह्मवर्चस्विनः पुत्रा जायन्ते शिष्टसंमताः ॥ १८ ॥
रूपसत्त्वगुणोपेता धनवन्तो यशस्विनः ।
पर्याप्तभोगा धर्मिष्ठा जीवन्ति च शतं समाः ॥ १९ ॥
इतरेषु तु शिष्टेषु नृशंसानृतवादिनः ।
जायन्ते दुर्विवाहेषु ब्रह्मधर्मद्विषः सुताः ॥ २० ॥
अनिन्दितैः स्त्रीविवाहैरनिन्द्या भवति प्रजा ।
निन्दितैर्निन्दिता नृणां तस्मान्निन्द्यान् विवर्जयेत् ॥२१॥ मनु० ॥

अर्थः—ब्रह्मचर्य से ४ (चार), ३ (तीन), २ (दो) अथवा १ (एक) वेद को यथावत् पढ़, अखण्डित ब्रह्मचर्य का पालन करके गृहाश्रम को धारण करे ॥१॥ यथावत् उत्तम रीति से ब्रह्मचर्य और विद्या को ग्रहण कर गुरु की आज्ञा से स्नान करके ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य अपने वर्ण की उत्तम लक्षणयुक्त स्त्री

से विवाह करे ॥ २ ॥ जो स्त्री माता की छः पीढ़ी और पिता के गोत्र की न हो वही द्विजों के लिये विवाह करने में उत्तम है ॥ ३ ॥ विवाह में नीचे लिखे हुए दश कुल, चाहें वे गाय आदि पशु धन और धान्य से कितने ही बड़े हों, उन कुलों की कन्या के साथ विवाह न करे ॥ ४ ॥ वे दश कुल ये हैं:–१ एक–जिस कुल में उत्तम क्रिया न हो। २ दूसरा–जिस कुल में कोई भी उत्तम पुरुष न हो। ३ तीसरा-जिस कुल में कोई विद्वान् न हो। ४ चौथा–जिस कुल में शरीर के ऊपर बड़े २ लोम हों। ५ पांचवां–जिस कुल में बवासीर हो। ६ छठा–जिस कुल में क्षयी (राजयक्ष्मा) रोग हो। ७ सातवां—जिस कुल में अग्निमन्दता से आमाशय रोग हो। ८ आठवां–जिस कुल में मृगी रोग हो। ९ नववां–जिस कुल में श्वेतकुष्ठ और १० दशवां–जिस कुल में गलित कुष्ठ आदि रोग हों। उन कुलों की कन्या अथवा उन कुलों के पुरुषों से विवाह कभी न करे ॥ ५ ॥ पीले वर्णवाली, अधिक अंगवाली जैसी छंगुली आदि, रोगवती, जिसके शरीर पर कुछ भी लोम न हों और जिस के शरीर पर बड़े २ लोम हों, व्यर्थ अधिक बोलनेहारी और जिस के पीले बिल्ली के सदृश नेत्र हों ॥ ६ ॥ तथा जिस कन्या का (ऋक्ष) नक्षत्र पर नाम अर्थात् रेवती रोहिणी इत्यादि, (नदी) जिसका गंगा, यमुना इत्यादि, (पर्वत) जिसका विन्ध्याचला इत्यादि, (पक्षी) पक्षी पर अर्थात् कोकिला, हंसा इत्यादि, (अहि) अर्थात् उरगा भोगिनी इत्यादि, (प्रेष्य) दासी इत्यादि और जिस कन्या का (भीषण) कालिका, चण्डिका इत्यादि नाम हो उससे विवाह न करे ॥ ७ ॥ किन्तु जिस के सुन्दर अंग, उत्तम नाम, हंस और हस्तिनी के सदृश चालवाली, जिसके सूक्ष्म लोम सूक्ष्म केश और सूक्ष्म दांत हों जिसके सब अङ्ग कोमल हों उस स्त्री से विवाह करे ॥ ८ ॥ ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर गान्धर्व, राक्षस और पैशाच ये विवाह आठ प्रकार के होते हैं ॥ ९ ॥ ब्राह्म कन्या के योग्य सुशील विद्वान् पुरुष का सत्कार कर के कन्या को वस्त्रादि से अलंकृत करके उत्तम पुरुष को बुला अर्थात् जिसको कन्या ने प्रसन्न भी किया हो उसको कन्या देना वह ब्राह्म विवाह कहाता है ॥ १० ॥ विस्तृत यज्ञ में बड़े २ विद्वानों का वरण कर उसमें कर्म करनेवाले विद्वान् को वस्त्र आभूषण आदि से कन्या को सुशोभित करके

देना वह देव विवाह ॥ ११ ॥ ३ (तीसरा) १ (एक) गाय बैल का जोड़ा अथवा २ (दो) जोड़े * वर से लेके धर्मपूर्वक कन्यादान करना वह आर्ष विवाह ॥ १२ ॥ और ४ (चौथा) कन्या और वर को यज्ञशाला में विधि करके सब के सामने तुम दोनों मिल के गृहाश्रम के कर्मों को यथावत् करो ऐसा कहकर दोनों की प्रसन्नतापूर्वक पाणिग्रहण होना वह प्राजापत्य विवाह कहाता है। ये ४ (चार) विवाह उत्तम हैं ॥ १३ ॥ और ५ (पांचवां) वर की जातिवालों और कन्या को यथाशक्ति धन देके होम आदि विधि कर कन्या देना आसुर विवाह कहाता है ॥ १४ ॥ ६ (छठा) वर और कन्या की इच्छा से दोनों का संयोग होना और अपने मन में मान लेना कि हम दोनों स्त्रीपुरुष हैं यह काम से हुआ गान्धर्व विवाह कहाता है ॥ १५ ॥ और ७ (सातवां) हनन छेदन अर्थात् कन्या के रोकने वालों का विदारण कर क्रोशती, रोती, कंपती और भयभीत हुई कन्या को बलात्कार हरण करके विवाह करना वह राक्षस विवाह ॥ १६ ॥ और जो सोती, पागल हुई वा नशा पीकर उन्मत्त हुई कन्या को एकान्त पा कर दूषित कर देना, यह सब विवाहों में नीच से नीच महानीच दुष्ट अतिदुष्ट पैशाच विवाह है ॥ १७ ॥ ब्राह्म, दैव, आर्ष और प्राजापत्य इन ४ (चार) विवाहों में पाणिग्रहण किये हुए स्त्रीपुरुषों से जो सन्तान उत्पन्न होते हैं वे वेदादिविद्या से तेजस्वी, आप्त पुरुषों के संमत, अत्युत्तम होते हैं ॥ १८ ॥ वे पुत्र वा कन्या सुन्दररूप, बल, पराक्रम, शुद्धबुद्ध्यादि उत्तम गुणयुक्त, बहुधनयुक्त, पुण्यकीर्त्तिमान् और पूर्ण भोग के भोक्ता, अतिशय धर्मात्मा होकर १०० (सौ) वर्ष तक जीते हैं ॥ १९ ॥ इन चार विवाहों से जो बाकी रहे [४ (चार)] आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच, इन चार दुष्ट विवाहों से उत्पन्न हुए सन्तान निन्दितकर्मकर्त्ता, मिथ्यावादी, वेदधर्म के द्वेषी, बड़े नीच स्वभाववाले होते हैं ॥ २० ॥ इसलिये मनुष्यों को योग्य है कि जिन निन्दित विवाहों से नीच प्रजा होती है उनका त्याग और जिन उत्तम विवाहों से उत्तम प्रजा होती है उनका वर्त्ताव किया करें ॥ २१ ॥

* यह बात मिथ्या है क्योंकि आगे मनुस्मृति में निषेध किया है और युक्तिविरुद्ध भी है इसलिये कुछ भी न ले देकर दोनों की प्रसन्नता से पाणिग्रहण होना आर्षविवाह है ॥

उत्कृष्टायाभिरूपाय वराय सदृशाय च ।
अप्राप्तामपि तां तस्मै कन्यां दद्याद्विचक्षणः ॥ १ ॥
काममामरणात्तिष्ठेद् गृहे कन्यर्तुमत्यपि ।
न चैवैनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित् ॥ २ ॥
त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्यृतुमती सती ।
ऊर्ध्वन्तु कालादेतस्माद्विन्देत सदृशं पतिम् ॥ ३ ॥ मनु० ॥

यदि माता पिता कन्या का विवाह करना चाहें तो अति उत्कृष्ट शुभगुण कर्म स्वभाववाले, कन्या के सदृश रूपलावण्यादि गुणयुक्त, वर ही को चाहें। वह कन्या (वर) माता की छः पीढ़ी के भीतर भी हो तथापि उसी को कन्या देना अन्य को कभी न देना कि जिससे दोनों अतिप्रसन्न होकर गृहाश्रम की उन्नति और उत्तम सन्तानों की उत्पत्ति करें ॥ १ ॥ चाहे मरण पर्यन्त कन्या पिता के घर में विना विवाह के बैठी भी रहे परन्तु गुणहीन असदृश, दुष्टपुरुष के साथ कन्या का विवाह कभी न करे और वर कन्या भी अपने आप स्वसदृश के साथ ही विवाह करें ॥ २ ॥ जब कन्या विवाह करने की इच्छा करे तब रजस्वला होने के दिन से ३ (तीन) वर्ष को छोड़ के चौथे वर्ष में विवाह करे ॥ ३ ॥

(प्रश्न) "अष्टवर्षा भवेद् गौरी नववर्षा च रोहिणी" इत्यादि श्लोकों की क्या गति होगी? (उत्तर) इन श्लोकों और इनके मानने वालों की दुर्गति। अर्थात् जो इन श्लोकों की रीति से बाल्यावस्था में अपने सन्तानों का विवाह कर करा उनको नष्ट भ्रष्ट रोगी अल्पायु करते हैं वे अपने कुल का जानों सत्यानाश कर रहे हैं। इसलिये यदि शीघ्र विवाह करें तो वेदारम्भ में लिखे हुए १६ (सोलह) वर्ष से न्यून कन्या और २५ (पच्चीस) वर्ष से न्यून पुरुष का विवाह कभी न करें करावें । इसके आगे जितना अधिक ब्रह्मचर्य रक्खेंगे उतना ही उनको आनन्द अधिक होगा ॥

(प्रश्न) विवाह निकटवासियों से अथवा दूरवासियों से करना चाहिये ? (उत्तर)

दुहिता दुर्हिता दूरे हिता भवतीति ॥

यह निरुक्त का प्रमाण है कि जितना दूर देश में विवाह होगा उतना ही उनको अधिक लाभ होगा (प्रश्न) अपने गोत्र वा भाई बहिनों का परस्पर विवाह क्यों नहीं होता ? (उत्तर) एक दोष यह है कि इन के विवाह होने में प्रीति कभी नहीं होती क्योंकि जितनी प्रीति परोक्ष पदार्थ में होती है उतनी प्रत्यक्ष में नहीं। और बाल्यावस्था के गुण दोष भी विदित रहते हैं। तथा भयादि भी अधिक नहीं रहते। दूसरा जबतक दूरस्थ एक दूसरे कुल के साथ सम्बन्ध नहीं होता तबतक शरीर आदि की पुष्टि भी पूर्ण नहीं होती। तीसरा दूर सम्बन्ध होने से परस्पर प्रीति उन्नति ऐश्वर्य बढ़ता है निकट से नहीं। युवावस्था ही में विवाह का प्रमाण—

तमस्मेरा युवतयो युवानं मर्मृज्यमानाः परि यन्त्यापः। स शुक्रेभिः शिक्वभी रेवदस्मे दीदायानिध्मो घृतनिर्णिगप्सु ॥ १ ॥ अस्मै तिस्रो अव्यथ्याय नारीर्देवाय देवीर्दिधिषन्त्यन्नम्। कृता इवोप हि प्रसर्स्रे अप्सु स पीयूषं धयति पूर्वसूनाम् ॥ २ ॥ अश्वस्यात्र जनिमास्य च स्वर्द्रुहो रिषः सम्पृचः पाहि सूरीन्। आमासु पूर्षु परो अप्रमृष्यं नारातयो वि नशन्नानृतानि ॥ ३ ॥ ऋ० मं० २। सू० ३५। मं० ४—६ ॥ वधूरियं पतिमिच्छन्त्येति य ईं वहाते महिषीमिषिराम्। आस्य श्रवस्याद्रथ आ च घोषात्पुरू सहस्रा परि वर्त्तयाते ॥ ४ ॥ ऋ० मं० ५। सू० ३७। मं० ३ ॥

उप व एषे वन्द्येभिः शूषैः प्र यह्वी दिवश्चितयद्भिरर्कैः। उषासानक्ता विदुषीव विश्वमा हा वहतो मर्त्याय यज्ञम् ॥ ५ ॥ ऋ० मं० ५। सू० ४१। मं० ७ ॥

अर्थः—जो (मर्मृज्यमानाः) उत्तम ब्रह्मचर्य व्रत और सद्विद्याओं से अत्यन्त (युवतयः) २० (बीसवें) वर्ष से २४ (चौबीसवें) वर्ष वाली हैं वे कन्या लोग जैसे (आपः) जल वा नदी समुद्र को प्राप्त होती हैं वैसे (अस्मेराः) हमको प्राप्त होनेवाली अपने २ प्रसन्न अपने * से ड्योढ़े वा दूने आयुवाले (तम्) उस ब्रह्मचर्य और विद्या से परिपूर्ण शुभलक्षणयुक्त (युवा-

नम्) जवान पति को (परियन्ति) अच्छे प्रकार प्राप्त होती हैं (सः) वह ब्रह्मचारी (शुक्रेभिः) शुद्ध गुण और (शिकभिः) वीर्यादि से युक्त हो के (अस्मे) हमारे मध्य में (रेवत्) अत्यन्त श्रीयुक्त कर्म को और (दीदाय) अपने तुल्य युवति स्त्री को प्राप्त होवे जैसे (अप्सु) अन्तरिक्ष वा समुद्र में (घृतनिर्णिक्) जल को शोधन करने हारा (अनिध्मः) आप प्रकाशित विद्युत् अग्नि है इसी प्रकार स्त्री और पुरुष के हृदय में प्रेम बाहर अप्रकाशमान भीतर सुप्रकाशित रहकर उत्तम सन्तान और अत्यन्त आनन्द को गृहाश्रम में दोनों स्त्री पुरुष प्राप्त होवें ॥ १ ॥ हे स्त्री पुरुषो ! जैसे (तिस्रः) उत्तम मध्यम तथा निकृष्ट स्वभावयुक्त (देवीः, नारीः) विद्वान् नरों की विदुषी स्त्रियां (अस्मै) इस (अव्यथ्याय) पीड़ा से रहित (देवाय) काम के लिये (अन्नम्) अन्नादि उत्तम पदार्थों को (दिधिषन्ति) धारण करती हैं (कृता इव) की हुई शिक्षायुक्त के समान (अप्सु) प्राणवत् प्रीति आदि व्यवहारों में प्रवृत्त होने के लिये स्त्री से पुरुष और पुरुष से स्त्री (उप, प्रसर्स्रे) सम्बन्ध को प्राप्त होती है (स, हि) वही पुरुष और स्त्री आनन्द को प्राप्त होती हैं जैसे जलों में (पीयूषम्) अमृतरूप रस को (पूर्वसूनाम्) प्रथम प्रसूत हुई स्त्रियों का बालक (धयति) दुग्ध पी के बढ़ता है वैसे इन ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी स्त्री के सन्तान यथावत् बढ़ते हैं ॥ २ ॥ जैसे राजादि सब लोग (पूर्षु) अपने नगरों और (आमासु) अपने घर में उत्पन्न हुए पुत्र और कन्यारूप प्रजाओं में उत्तम शिक्षाओं को (परः) उत्तम विद्वान् (अप्रमृष्यम्) शत्रुओं को सहने अयोग्य ब्रह्मचर्य से प्राप्त हुए शरीरात्मबलयुक्त देह को (अरातयः) शत्रु लोग (न) नहीं (विनशन्) विनाश कर सकते और (अनृतानि) मिथ्याभाषणादि दुष्ट दुर्व्यसनों को प्राप्त (न) नहीं होते वैसे उत्तम स्त्री पुरुषों को (द्रुहः) द्रोह आदि दुर्गुण और (रिषः) हिंसा आदि पाप (न, सम्पृचः) सम्बन्ध नहीं करते किन्तु जो युवावस्था में विवाह कर प्रसन्नतापूर्वक विधि से सन्तानोत्पत्ति करते हैं इनके (अस्य) इस (अश्वस्य) महान् गृहाश्रम के मध्य में उत्तम बालकों का (जनिम) जन्म होता है इसलिये हे स्त्रि वा पुरुष ! तू (सूरीन्) विद्वानों की (पाहि) रक्षा कर (च) और ऐसे गृहस्थों को (अत्र) इस गृहाश्रम में सदैव

(स्वः) सुख बढ़ता रहता है ॥ २ ॥ हे मनुष्यो ! (यः) जो पूर्वोक्त लक्षण-युक्त पूर्ण जवान (ईम्) सब प्रकार की परीक्षा करके (महिषीम्) उत्तम कुल में उत्पन्न हुई विद्याशुभगुणरूपसुशीलतादि युक्त (इषिराम्) वर की इच्छा करनेहारी हृदय को प्रिय स्त्री को (एति) प्राप्त होता है और जो (पतिम्) विवाह से अपने स्वामी की (इच्छन्ती) इच्छा करती हुई (इयम्) यह (वधूः) स्त्री अपने सदृश, हृदय को प्रिय पति को (एति) प्राप्त होती है वह पुरुष वा स्त्री (अस्य) इस गृहाश्रम के मध्य (आश्रवस्यात्) अत्यन्त विद्या धन धान्ययुक्त सब ओर से होवे और वे दोनों (रथः) रथ के समान (आ-घोषात्) परस्पर प्रिय वचन बोलें (च) और सब गृहाश्रम के भार को (वहाते) उठा सकते हैं तथा वे दोनों (पुरु) बहुत (सहस्रा) असङ्ख्य उत्तम कार्यों को (परिवर्तयाते) सब ओर से सिद्ध कर सकते हैं ॥ ४ ॥ हे मनुष्यो ! यदि तुम पूर्ण ब्रह्मचर्य से सुशिक्षित विद्यायुक्त अपने सन्तानों को कराके स्वयंवर विवाह कराओ तो वे (वन्धेभिः) कामना के योग्य (चितयद्भिः) सब सत्य विद्याओं को जाननेहारे (अर्कैः) सत्कार के योग्य (शूषैः) शरीरात्मबलों से युक्त हो के (वः) तुम्हारे लिये (एषे) सब सुख प्राप्त कराने को समर्थ होवें और वे (उषासानक्ता) जैसे दिन और रात तथा जैसे (विदुषीव) विदुषी स्त्री और विद्वान् पुरुष (विश्वम्) गृहाश्रम के सम्पूर्ण व्यवहार को (आवहतः) सब ओर से प्राप्त होते हैं (ह) वैसे ही इस (यज्ञम्) संगतरूप गृहाश्रम के व्यवहार को वे स्त्री पुरुष पूर्ण कर सकते हैं और (मर्त्याय) मनुष्यों के लिये यही पूर्वोक्त विवाह पूर्ण सुखदायक है और (यह्वी) बड़े ही शुभ गुण कर्म स्वभाववाले स्त्री पुरुष दोनों (दिवः) कामनाओं को (उप, प्र, वहतः) अच्छे प्रकार प्राप्त हो सकते हैं अन्य नहीं ॥ ५ ॥

जैसे ब्रह्मचर्य में कन्या का ब्रह्मचर्य वेदोक्त है वैसे ही सब पुरुषों को ब्रह्मचर्य से विद्या पढ़ पूर्ण जवान हो परस्पर परीक्षा करके जिससे जिस की विवाह करने में पूर्ण प्रीति हो उसी से उसका विवाह होना अत्युत्तम है। जो कोई युवावस्था में विवाह न करा के बाल्यावस्था में अनिच्छित अयोग्य वर

कन्या का विवाह करावेंगे वे वेदोक्त ईश्वराज्ञा के विरोधी होकर महादुःखसागर में क्योंकर न डूबेंगे और जो पूर्वोक्त विधि से विवाह करते कराते हैं वे ईश्वराज्ञा के अनुकूल होने से पूर्ण सुख को प्राप्त होते हैं (प्रश्न) विवाह अपने २ वर्ण में होना चाहिये वा अन्य वर्ण में भी ? (उत्तर) अपने २ वर्ण में। परन्तु वर्णव्यवस्था गुण कर्मों के अनुसार होनी चाहिये जन्ममात्र से नहीं। जो पूर्ण विद्वान् धर्मात्मा परोपकारी जितेन्द्रिय मिथ्याभाषणादिदोषरहित विद्या और धर्मप्रचार में तत्पर रहे इत्यादि उत्तम गुण जिसमें हों वह ब्राह्मण ब्राह्मणी। विद्या बल शौर्य न्यायकारित्वादि गुण जिसमें हों वह क्षत्रिय क्षत्रिया। और विद्वान् हो के कृषि पशुपालन व्यापार देशभाषाओं में चतुरत्वादि गुण जिस में हों वह वैश्य वैश्या। और जो विद्याहीन मूर्ख हो वह शूद्र शूद्रा कहावे। इसी क्रम से विवाह होना चाहिये अर्थात् ब्राह्मण का ब्राह्मणी, क्षत्रिय का क्षत्रिया, वैश्य का वैश्या और शूद्र का शूद्रा के साथ ही विवाह होने में आनन्द होता है अन्यथा नहीं ॥ इस वर्णव्यवस्था में प्रमाणः—

धर्मचर्यया जघन्यो वर्णः पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ ॥ १ ॥
अधर्मचर्यया पूर्वो वर्णो जघन्यं जघन्यं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ ॥ २ ॥
आपस्तम्बे ॥

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम् ।
क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च ॥ ३ ॥ मनुस्मृतौ ॥

अर्थः—धर्माचरण से नीच वर्ण उत्तम २ वर्ण को प्राप्त होता है और उस वर्ण में जो २ कर्त्तव्य अधिकार रूप कर्म हैं वे सब गुण कर्म उस पुरुष और स्त्री को प्राप्त होवें ॥ १ ॥ वैसे ही अधर्माचरण से उत्तम २ वर्ण नीचे २ के वर्ण को प्राप्त होवे और वे ही उस २ वर्ण के अधिकार और कर्मों के कर्त्ता होवें ॥ २ ॥ उत्तम गुण कर्म स्वभाव से जो शूद्र है वह वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण; और वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण; तथा क्षत्रिय, ब्राह्मण वर्ण के अधिकार और कर्मों को प्राप्त होता है वैसे ही नीच कर्म और गुणों से जो ब्राह्मण है वह

क्षत्रिय वैश्य शूद्र; और क्षत्रिय वैश्य शूद्र; तथा वैश्य, शूद्र वर्ण के अधिकार और कर्मों को प्राप्त होता है ॥

इसी प्रकार वर्णव्यवस्था होने से पक्षपात न होकर सब वर्ण उत्तम बने रहते और उत्तम बनने में प्रयत्न करते; और उत्तम वर्ण, भय से कि मैं नीच वर्ण न होजाऊं इसलिये बुरे कर्म छोड़ उत्तम कर्मों ही को किया करते हैं इस से संसार की बड़ी उन्नति है। आर्यावर्त्त देश में जबतक ऐसी वर्णव्यवस्था (अर्थात्) पूर्वोक्त ब्रह्मचर्य विद्या ग्रहण उत्तमता से स्वयंवर विवाह होता था तभी देश की उन्नति थी, अब भी ऐसा ही होना चाहिये जिससे आर्यावर्त्त देश अपनी पूर्वावस्था को प्राप्त होकर आनन्दित होवे ॥

अब वधू वर एक दूसरे के गुण कर्म और स्वभाव की परीक्षा इस प्रकार करें:—दोनों का तुल्य शील, समान बुद्धि, समान आचार, समान रूपादि गुण, अहिंसकता, सत्य मधुरभाषण, कृतज्ञता, दयालुता, अहंकार, मत्सर, ईर्ष्या, काम, क्रोध, निर्लोभता, देश का सुधार, विद्याग्रहण, सत्योपदेश करने में निर्भयता, उत्साह कपट द्यूत चोरी मद्य मांसादि दोषों का त्याग, गृहकार्यों में अति चतुरता हो जब २ प्रातः सायं वा परदेश से आकर मिलें तब २ नमस्ते इस वाक्य से परस्पर नमस्कार कर स्त्री पति के चरणस्पर्श पादप्रक्षालन आसनदान करे तथा दोनों परस्पर प्रेम बढ़ानेहारे वचनादि व्यवहारों से वर्तकर आनन्द भोगें वर के शरीर से स्त्री का शरीर पतला और पुरुष के स्कन्ध तुल्य स्त्री का शिर होना चाहिये तत्पश्चात् भीतर की परीक्षा स्त्री पुरुष वचनादि व्यवहारों से करें ॥

ओं ऋतमग्ने प्रथमं जज्ञ ऋते सत्यं प्रतिष्ठितम् । यदियं कुमार्य्यभिजाता तदियमिह प्रतिपद्यताम् । यत्सत्यं तद्दृश्यताम् ॥

अर्थः—जब विवाह करने का समय निश्चय होचुके तब कन्या चतुर पुरुषों से वर की और वर चतुर स्त्रियों से कन्या की परोक्ष में परीक्षा करावे पश्चात् उत्तम विद्वान् स्त्री पुरुषों की सभा करके दोनों परस्पर संवाद करें कि हे स्त्री

वा हे पुरुष ! इस जगत् के पूर्व ऋत यथार्थस्वरूप महत्तत्त्व उत्पन्न हुआ था और उस महत्तत्त्व में सत्य त्रिगुणात्मक नाशरहित प्रकृति प्रतिष्ठित है जैसे पुरुष और प्रकृति के योग से सब विश्व उत्पन्न हुआ है वैसे मैं कुमारी और मैं कुमार पुरुष इस समय दोनों में विवाह करने की सत्य प्रतिज्ञा करती वा करता हूं उसको यह कन्या और मैं वर प्राप्त होवें और अपनी प्रतिज्ञा को सत्य करने के लिये दृढ़ोत्साही रहें ॥

विधिः—जब कन्या रजस्वला होकर पृष्ठ ३१ में लिखे प्रमाणे शुद्ध हो जाय तब जिस दिन गर्भाधान की रात्रि निश्चित की हो उस में विवाह करने के लिये प्रथम ही सब सामग्री जोड़ रखनी चाहिये और १३–१९ पृष्ठ में लि० यज्ञशाला, वेदी, ऋत्विक्, यज्ञपात्र, शाकल्य आदि सब सामग्री शुद्ध करके रखनी उचित है पश्चात् एक * घंटेमात्र रात्रि जाने परः—

ओं काम वेद ते नाम मदो नामासि समानयामुं सुरा ते अभवत् । परमत्र जन्माग्ने तपसो निर्मितोऽसि स्वाहा ॥ १ ॥ ओं इमं त उपस्थं मधुना सꣳसृजामि प्रजापतेर्मुखमेतद् द्वितीयम् । तेन पुꣳसोऽभिभवासि सर्वानवशान्वाशिन्यसि राज्ञी स्वाहा ॥ २ ॥ ओं अग्निं क्रव्यादमकृण्वन् गुहानाः स्त्रीणामुपस्थमृषयः पुराणाः । तेनाज्यमकृण्वꣳस्त्रैशृङ्गं त्वाष्ट्रं त्वयि तद्दधातु स्वाहा ॥ ३ ॥ मन्त्र ब्रा० १ । १ । १–३ ॥

इन मन्त्रों से सुगन्धित शुद्ध जल से पूर्ण कलशों को लेके वधू वर स्नान कर पश्चात् वधू उत्तम वस्त्रालङ्कार धारण करके उत्तम आसन पर पूर्वाभिमुख बैठे तत्पश्चात् पृष्ठ ४ से १२ तक लि० प्र० ईश्वरस्तुति, प्रार्थनोपासना, स्वस्तिवाचन, शान्तिप्रकरण करें तत्पश्चात् पृष्ठ २०–२१ में लिखे प्रमाणे अग्न्याधान समिदाधान पृष्ठ १५ में लि० स्थालीपाक आदि यथोक्त कर वेदी के समीप रक्खे वैसे ही वर भी एकान्त अपने घर में जाके उत्तम वस्त्रालङ्कार करके यज्ञशाला में आ उत्तमासन पर पूर्वाभिमुख बैठ के पृष्ठ ४–८ में लि० प्र० ईश्वर-

---

* यदि आधी रात तक विधि पूरा न हो सके तो मध्याह्नोत्तर आरम्भ कर देवे कि जिससे मध्यरात्रि तक विवाहविधि पूरा होजावे ॥

स्तुति * प्रार्थनोपासना कर वधू के घर को जाने का ढंग करे तत्पश्चात् कन्या के और वर पक्ष के पुरुष बड़े सामान (सम्मान?) से वर को घर लेजावें जिस समय वर वधू के घर प्रवेश करे उसी समय वधू और कार्यकर्त्ता मधुपर्क आदि से वर का निम्नलिखित प्रकार आदर सत्कार करें उसकी रीति यह है कि वर वधू के घर में प्रवेश करके पूर्वाभिमुख खड़ा रहे और वधू तथा कार्यकर्त्ता वर के समीप उत्तराभिमुख खड़े रह के वधू और कार्यकर्त्ता—

साधु भवानास्तामर्चयिष्यामो भवन्तम् ॥ पार० कां० १ । कं० ३ । सू० ४ ॥

इस वाक्य को बोले उस पर वर—

ओं अर्चय ॥ पार० कां० १ । कं० ३ । सू० ४ ॥

ऐसा प्रत्युत्तर देवे पुनः जो वधू और कार्यकर्त्ता ने वर के लिये उत्तम आसन सिद्ध कर रक्खा हो उसको वधू हाथ में ले वर के आगे खड़ी रहे ॥

ओं विष्टरो विष्टरो विष्टरः प्रतिगृह्यताम् ॥ पार० कां० १ । कं० ३ ॥

यह उत्तम आसन है आप ग्रहण कीजिये, वर—

ओं प्रतिगृह्णामि ॥ पार० कां० १ । कं० ३ ॥

इस वाक्य को बोल के वधू के हाथ से आसन ले बिछा उस पर सभा-मंडप में पूर्वाभिमुख बैठ के वर—

ओं वर्ष्मोऽस्मि समानानामुद्यतामिव सूर्यः । इमन्तमभितिष्ठामि यो मा कश्चाभिधासति ॥ पार० कां० १ । कं० ३ ॥

इस मन्त्र को बोले । तत्पश्चात् कार्यकर्त्ता एक सुन्दर पात्र में पूर्ण जल भर के कन्या के हाथ में देवे और कन्या—

* विवाह में आए हुए भी स्त्री पुरुष एकाग्रचित्त ध्यानावस्थित हो के इन तीन कर्मों के अनुसार ईश्वर का चिन्तन किया करें ॥

ओं पद्य पाद्यं पाद्यं प्रतिगृह्यताम् ॥ पार० कां० १ । कं० ३ ॥

इस वाक्य को बोल के वर के आगे धरे पुनः वर—

ओं प्रतिगृह्णामि ॥ पार० कां० १ । कं० ३ ॥

इस वाक्य को बोल के कन्या के हाथ से उदक ले पग * प्रक्षालन करे और उस समय—

ओं विराजो दोहोऽसि विराजो दोहमशीय मयि पाद्यायै विराजो दोहः ॥ पार० कां० १ । कं० ३ ॥

इस मन्त्र को बोले । तत्पश्चात् फिर भी कार्यकर्त्ता दूसरा शुद्ध लोटा पवित्र जल से भर कन्या के हाथ में देवे । पुनः कन्या—

ओं अर्घोऽर्घोऽर्घः प्रतिगृह्यताम् ॥ पार० कां० १ । कं० ३ ॥

इस वाक्य को बोल के वर के हाथ में देवे, और वर—

ओं प्रतिगृह्णामि ॥ पार० कां० १ । कं० ३ ॥

इस वाक्य को बोल के कन्या के हाथ से जलपात्र ले के उससे मुखप्रक्षालन करे और उसी समय वर मुख धोके—

ओं आपस्थ युष्माभिः सर्वान्कामानवाप्नवानि । ओं समुद्रं वः प्रहिणोमि स्वां योनिमभिगच्छत । अरिष्टास्माकं वीरा मा परासेचि मत्पयः ॥ पार० कां० १ । कं० ३ ॥

इन मन्त्रों को बोले । तत्पश्चात् वेदी के पश्चिम बिछाये हुए उसी शुभासन पर पूर्वाभिमुख बैठे । तत्पश्चात् कार्यकर्त्ता एक सुन्दर उपपात्र जल से पूर्ण भर उसमें आचमनी रख कन्या के हाथ में देवे और उस समय कन्या—

---

* यदि घर का प्रवेशक द्वार पूर्वाभिमुख हो तो वर उत्तराभिमुख और वधू तथा कार्यकर्त्ता पूर्वाभिमुख खड़े रहके यदि ब्राह्मण वर्ण हो तो प्रथम दक्षिण पग पश्चात् बायां और अन्य क्षत्रियादि वर्ण हों तो प्रथम बायां पग धोवे पश्चात् दहिना ॥

ओं आचमनीयमाचमनीयमाचमनीयम्प्रतिगृह्यताम् ॥

इस वाक्य को बोल के सामने करे और वर—

ओं प्रतिगृह्णामि ॥ पार० कां० १ । कं० ३ ॥

इस वाक्य को बोल के कन्या के हाथ में से जलपात्र को ले सामने धर उसमें से दहिने हाथ में जल जितना अंगुलियों के मूल तक पहुंचे उतना ले के वर—

ओं आमागन् यशसा सꣳसृज वर्चसा । तं मा कुरु प्रियं प्रजानामधिपतिं पशूनामरिष्टिं तनूनाम् ॥ पार० कां० १ । कं० ३ ॥

इस मन्त्र से एक आचमन इसी प्रकार दूसरी और तीसरी वार इसी मन्त्र को पढ़ के दूसरा और तीसरा आचमन करे । तत्पश्चात् कार्यकर्त्ता मधुपर्क * का पात्र कन्या के हाथ में देवे और कन्या—

ओं मधुपर्को मधुपर्को मधुपर्कः प्रतिगृह्यताम् ॥

ऐसी विनती वर से करे और वर—

ओं प्रतिगृह्णामि ॥ पार० कां० १ । कं० ३ ॥

इस वाक्य को बोल के कन्या के हाथ से ले और उस समय—

ओं मित्रस्य त्वा चक्षुषा प्रतीक्षे ॥ पार० कां० १ । कं० ३ ॥

इस मन्त्रस्थ वाक्य को बोल के मधुपर्क को अपनी दृष्टि से देखे और—

---

* मधुपर्क उस को कहते हैं जो दही में घी वा सहत मिलाया जाता है उस का परिमाण १२ (बारह) तोले दही में ४ (चार) तोले सहत अथवा ४ (चार) तोले घी मिलाना चाहिये और यह मधुपर्क कांसे के पात्र में होना उचित है ॥

ओं देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां प्रतिगृह्णामि ॥ य० अ० १। मं० १० ॥

इस मन्त्र को बोल के मधुपर्क के पात्र को वाम हाथ में लेवे और:—

ओं भूर्भुवः स्वः। मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः। माध्वीर्नस्सन्त्वोषधीः ॥ १ ॥ ओं भूर्भुवः स्वः। मधु नक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिवं रजः। मधु द्यौरस्तु नः पिता ॥ २ ॥ ओं भूर्भुवः स्वः। मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ अस्तु सूर्यः। माध्वीर्गावो भवन्तु नः ॥ ३ ॥ य० अ० १३। मं० २७–२९ ॥

इन तीन मन्त्रों से मधुपर्क की ओर अवलोकन करे—

ओं नमः श्यावास्यायान्नशने यत्त आविद्धं तत्ते निष्कृन्तामि ॥ पार० कां० १। कं० ३। सू० ६ ॥

इस मन्त्र को पढ़, दहिने हाथ की अनामिका और अङ्गुष्ठ से मधुपर्क को तीन वार बिलोवे और उस मधुपर्क में से वर—

ओं वसवस्त्वा गायत्रेण छन्दसा भक्षयन्तु ॥

इस मन्त्र से पूर्व दिशा।

ओं रुद्रास्त्वा त्रैष्टुभेनच्छन्दसा भक्षयन्तु ॥

इस मन्त्र से दक्षिण दिशा।

ओं आदित्यास्त्वा जागतेनच्छन्दसा भक्षयन्तु ॥

इस मन्त्र से पश्चिम दिशा और—

ओं विश्वे त्वा देवा आनुष्टुभेन छन्दसा भक्षयन्तु ॥

इस मन्त्र से उत्तर दिशा में थोड़ा २ छोड़े अर्थात् छींटे देवे।

ओं भूतेभ्यस्त्वा परिगृह्णामि ॥ आश्वला० गृ० अ० १ । कं० २४ । सू० १५ ॥

इस मन्त्रस्थ वाक्य को बोल के पात्र के मध्य भाग में से लेके ऊपर की ओर तीन वार फेंकना । तत्पश्चात् उस मधुपर्क के तीन भाग करके तीन कांसे के पात्रों में धर भूमि में अपने सम्मुख तीनों पात्र रक्खे, रख के—

ओं यन्मधुनो मधव्यं परमꣳ रूपमन्नाद्यम् । तेनाहं मधुनो मधव्येन परमेण रूपेणान्नाद्येन परमो मधव्योऽन्नादोऽसानि ॥ पार० कां० १ । कं० ३ ॥

इस मन्त्र को एक २ वार बोल के एक २ भाग में से वर थोड़ा २ प्राशन करे वा सब प्राशन करे, जो उन पात्रों में शेष उच्छिष्ट मधुपर्क रहा हो वह किसी अपने सेवक को देवे वा जल में डाल देवे । तत्पश्चात्—

ओं अमृतापिधानमसि स्वाहा ॥ आश्वला० गृ० अ० १ । कं० २४ । सू० २१ ॥

ओं सत्यं यशः श्रीर्मयि श्रीः श्रयतां स्वाहा ॥ आश्वला० गृ० अ० १ । कं० २४ । सू० २२ ॥

इन दो मन्त्रों से दो आचमन अर्थात् एक से एक और दूसरे से दूसरा वर करे । तत्पश्चात् वर पृष्ठ १९–२० में लि० प्र० चक्षुरादि इन्द्रियों का जल से स्पर्श करे । पश्चात् कन्या—

ओं गौर्गौर्गौः प्रतिगृह्यताम् ॥

इस वाक्य से वर की विनती करके अपनी शक्ति के योग्य वर को गोदानादि द्रव्य, जो कि वर के योग्य हो, अर्पण करे और वर—

ओं प्रतिगृह्णामि ॥ पार० कां० १ । कं० ३ ॥

इस वाक्य से उसको ग्रहण करे, इस प्रकार मधुपर्कविधि यथावत् करके वधू और कार्यकर्त्ता वर को सभामण्डपस्थान * से घर में ले जा के शुभ आसन पर पूर्वाभिमुख बैठा के वर के सामने पश्चिमाभिमुख वधू को बैठावे और कार्यकर्त्ता उत्तराभिमुख बैठ के—

ओं अमुक † गोत्रोत्पन्नामिमाममुकनाम्नी ‡मलङ्कृतां कन्यां प्रतिगृह्णातु भवान् ॥

इस प्रकार बोल के वर का हाथ चत्ता अर्थात् हथेली ऊपर रखके उसके हाथ में वधू का दक्षिण हाथ चत्ता ही रखना और वह—

ओं प्रतिगृह्णामि ॥

ऐसा बोलके—

ओं जरां गच्छ परिधत्स्व वासो भवा कृष्टीनामभिशस्तिपावा । शतं च जीव शरदः सुवर्चा रयिं च पुत्राननुसंव्ययस्वायुष्मतीदं परिधत्स्व वासः ॥ पार० कां० १ । कं० ४ ॥

इस मन्त्र को बोल के वधू को उत्तम वस्त्र देवे । तत्पश्चात्—

ओं या अकृतन्नवयन् या अतन्वत याश्च देवीस्तन्तूनभितो ततन्थ । तास्त्वा देवीर्जरसे संव्ययस्वायुष्मतीदं परिधत्स्व वासः ॥ पार० गृ० कां० १ । कं० ४ ॥

---

* यदि सभामण्डप स्थापन न किया हो तो जिस घर में मधुपर्क हुआ हो उससे दूसरे घर में वर को लेजावे ॥

† अमुक इस पद के स्थान में जिस गोत्र और कुल में वधू उत्पन्न हुई हो उसका उच्चारण अर्थात् उसका नाम लेना ॥

‡ "अमुकनाम्नीम्" इस स्थान पर वधू का नाम द्वितीया विभक्ति के एकवचन से बोलना ॥

इस मन्त्र को बोल के वधू को वर उपवस्त्र देवे, वह उपवस्त्र को यज्ञोपवीत-वत् धारण करे।

ओं परिधास्यै यशोधास्यै दीर्घायुत्वाय जरदष्टिरस्मि । शतं च जीवामि शरदः पुरूची रायस्पोषमभिसंव्ययिष्ये ॥ पार० कां० २ । कं० ६ ॥

इस मन्त्र को पढ़ के वर आप अधोवस्त्र धारण करे और:—

ओं यशसा मा द्यावापृथिवी यशसेन्द्राबृहस्पती । यशो भगश्च मा विन्दद्यशो मा प्रतिपद्यताम् ॥ पार० कां० २ । कं० ६ ॥

इस मन्त्र को पढ़ के द्विपट्टा धारण करे। इस प्रकार वधू वस्त्र परिधान करके जबतक सम्हले तबतक कार्यकर्त्ता अथवा दूसरा कोई यज्ञमण्डप में जा कुण्ड के समीपस्थ हो पृष्ठ २०—२१ में लि० इन्धन और कर्पूर वा घृत से कुण्ड के अग्नि को प्रदीप्त करे, और आहुति के लिये सुगन्ध डाला हुआ घी बटलोई में करके कुण्ड के अग्नि पर गरम कर कांसे के पात्र में रक्खे, और स्रुवादि होम के पात्र तथा शुद्ध जलपात्र इत्यादि सामग्री यज्ञकुण्ड के समीप जोड़ कर रक्खे, और वरपक्ष का एक पुरुष शुद्ध वस्त्र धारण कर शुद्ध जल से पूर्ण एक कलश को ले के यज्ञकुण्ड की परिक्रमा कर कुण्ड के दक्षिणभाग में उत्तराभिमुख हो कलशस्थापन अर्थात् भूमि पर अच्छे प्रकार अपने आगे धर के जबतक विवाह का कृत्य पूरण न हो जाय तबतक उत्तराभिमुख बैठा रहे, और उसी प्रकार वर के पक्ष का दूसरा पुरुष हाथ में दण्ड ले के कुण्ड के दक्षिण-भाग में कार्यसमाप्तिपर्यन्त उत्तराभिमुख बैठा रहे, और इसी प्रकार सहोदर वधू का भाई, अथवा सहोदर न हो तो चचेरा भाई, मामा का पुत्र, अथवा मौसी का लड़का हो वह चावल या जुवार की धाणी और शमी वृक्ष के सूखे पत्ते इन दोनों को मिलाकर शमीपत्रयुक्त धाणी की ४ (चार) अञ्जलि एक शुद्ध सूप में रख के धाणी सहित सूप लेके यज्ञकुण्ड के पश्चिमभाग में पूर्वाभिमुख बैठा रहे। तत्पश्चात् कार्यकर्त्ता एक सपाटशिला जो कि सुन्दर चिकनी हो उस को तथा वधू और वर को कुण्ड के समीप बैठाने के लिये दो कुशासन वा यज्ञीय

तृणासन अथवा यज्ञीय वृक्ष की छाल के जो कि प्रथम से सिद्ध कर रक्खे हों उन आसनों को रखवावे। तत्पश्चात् वस्त्र धारण की हुई कन्या को कार्यकर्त्ता वर के सम्मुख लावे और उस समय वर और कन्या—

ओं समञ्जन्तु विश्वे देवाः समापो हृदयानि नौ।

सं मातरिश्वा सं धाता समुदेष्ट्री दधातु नौ * ॥ १ ॥ ऋ० मं० १०। सू० ८५। मं० ४७ ॥

इस मन्त्र को बोलें। तत्पश्चात् वर दक्षिण हाथ से वधू का दक्षिण हाथ पकड़ के:—

ओं यदैषि मनसा दूरं दिशोऽनुपवमानो वा। हिरण्यपर्णो वैकर्णः स त्वा मन्मनसां करोतु † असौ ॥ २ ॥ पार० कां० १। कं० ४ ॥

---

* वर और कन्या बोलें कि हे (विश्वे, देवाः) इस यज्ञशाला में बैठे हुए विद्वान् लोगो! आप हम दोनों को (समञ्जन्तु) निश्चय करके जानें कि अपनी प्रसन्नतापूर्वक गृहाश्रम में एकत्र रहने के लिये एक दूसरे का स्वीकार करते हैं कि (नौ) हमारे दोनों के (हृदयानि) हृदय (आपः) जल के समान (सम्) शान्त और मिले हुए रहेंगे जैसे (मातरिश्वा) प्राणवायु हम को प्रिय है वैसे (सम्) हम दोनों एक दूसरे से सदा प्रसन्न रहेंगे जैसे (धाता) धारण करनेहारा परमात्मा सब में (सम्) मिला हुआ सब जगत् को धारण करता है वैसे हम दोनों एक दूसरे का धारण करेंगे जैसे (समुदेष्ट्री) उपदेश करनेहारा श्रोताओं से प्रीति करता है वैसे (नौ) हमारे दोनों का आत्मा एक दूसरे के साथ दृढ़ प्रेम को (दधातु) धारण करे ॥

† (असौ) इस पद के स्थान में कन्या का नाम उच्चारण करना, हे वरानने वा हे वरानन! (यत्) जो तू (मनसा) अपनी इच्छा से मुझको जैसे (पवमानः) पवित्र वायु (वा) जैसे (हिरण्यपर्णः, वैकर्णः) तेजोमय जल आदि को किरणों से ग्रहण करने वाला सूर्य (दूरम्) दूरस्थ पदार्थों और (दिशोनु) दिशाओं को प्राप्त होता वैसे तू प्रेमपूर्वक अपनी इच्छा से मुझ को प्राप्त होती वा होता है, उस (त्वा) तुझ को (सः) वह परमेश्वर (मन्मनसाम्) मेरे मन के अनुकूल (करोतु) करे, और हे (वीर) जो आप मन से मुझ को (एषि) प्राप्त होते हो उस आप को जगदीश्वर मेरे मन के अनुकूल सदा रक्खे ॥

इस मन्त्र को बोल के उसको लेके घर के बाहर मण्डपस्थान में कुण्ड के समीप हाथ पकड़े हुए दोनों वे और वधू तथा वर—

ओं भूर्भुवः स्वः। अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्चाः। वीरसूर्देवृकामा स्योना शन्नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे * ॥ ३॥ ओं भूर्भुवः स्वः। सा नः पूषा शिवतमामैरयसा न ऊरू उशति विहर। यस्यामुशन्तः प्रहराम शेफं यस्यामुकामा बहवो निविष्टचै ॥ ४ ॥ ऋ० मं० १० । सू० ८५ ॥

इन चार मन्त्रों को वर बोल के दोनों वर वधू यज्ञकुण्ड की प्रदक्षिणा करके कुण्ड के पश्चिम भाग में प्रथम स्थापन किये हुए आसन पर पूर्वाभिमुख वर के दक्षिण भाग में वधू और वधू के वाम भाग में वर बैठ के वधूः—

ओं प्र मे पतियानः पन्थाः कल्पताᳬशिवा अरिष्टा पतिलोकं गमेयम् ॥ मं० ब्रा० १ । १ । ८ ॥

इस मन्त्र को बोले तत्पश्चात् पृष्ठ ४९ में लिखे प्रमाणे यज्ञकुण्ड के समीप दक्षिण भाग में उत्तराभिमुख पुरोहित की स्थापना करनी। तत्पश्चात् पृ० १९ में लिखे—

ओं अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा ॥

---

* हे वरानने (अपतिघ्नि) पति से विरोध न करनेहारी तू जिसके (ओम्) अर्थात् रक्षा करनेवाला (भूः) प्राणदाता (भुवः) सब दुःखों को दूर करनेहारा (स्वः) सुखस्वरूप और सब सुखों के दाता आदि नाम हैं उस परमात्मा की कृपा और अपने उत्तम पुरुषार्थ से हे (अघोरचक्षुः) प्रियदृष्टि (एधि) हो (शिवा) मंगल करनेहारी (पशुभ्यः) सब पशुओं को सुखदाता (सुमनाः) पवित्रान्तःकरणयुक्त प्रसन्नचित्त (सुवर्चाः) सुन्दर शुभ गुण कर्म स्वभाव और विद्या से सुप्रकाशित (वीरसूः उत्तम वीर पुरुषों को उत्पन्न करनेहारी (देवृकामा) देवर की कामना करती हुई अर्थात् नियोग की भी इच्छा करनेहारी (स्योना) सुखयुक्त हो के (नः) हमारे (द्विपदे) मनुष्यादि के लिये (शम्) सुख करनेहारी (भव) सदा हो और (चतुष्पदे) गाय आदि पशुओं की भी (शम्) सुख देनेहारी हो वैसे ही मैं तेरा पति भी वर्त्ता करूं ॥

इत्यादि तीन मन्त्रों में प्रत्येक मन्त्र से एक २ आचमन वैसे तीन आचमन वर, वधू और पुरोहित और कार्यकर्त्ता करके हस्त और मुख प्रक्षालन एक शुद्ध-पात्र में करके दूर रखवा दे हाथ और मुख पोंछ के पृ० २० में लिखे यज्ञकुण्ड में (ओं भूर्भुवः स्वर्द्यौरिव०) इस मन्त्र से अग्न्याधान पृ० २१ में लिखे० (ओं अयन्त इध्म०) इत्यादि मन्त्रों से समिदाधान और पृ० २२ में लिखे०—

ओं अदितेऽनुमन्यस्व ॥

इत्यादि तीन मन्त्रों से कुण्ड की तीन ओर और (ओं देव सवितः प्रसुव०) इस मन्त्र से कुण्ड की चारों ओर दक्षिण हाथ की अञ्जलि से शुद्ध जल सेचन करके कुण्ड में डाली हुई समिधा प्रदीप्त हुए पश्चात् पृ० २२—२३ में लि० वधू वर पुरोहित और कार्यकर्त्ता आघारावाज्यभागाहुति ४ (चार) घी की देवें । तत्पश्चात् पृ० २३ में लि० व्याहृति आहुति ४ (चार) घी की और पृ० २४—२५ में लि० अष्टाज्याहुति ८ (आठ) ये सब मिल के १६ (सोलह) आज्याहुति दे के प्रधान होम का प्रारम्भ करें । प्रधान होम के समय वधू अपने दक्षिण हाथ को वर के दक्षिण स्कन्धे पर स्पर्श करके पृ० २४ में लि० (ओं भूर्भुवः स्वः अग्न आयूंषि०) इत्यादि चार मन्त्रों से अर्थात् एक २ से एक २ मिल के ४ (चार) आज्याहुति क्रम से करें और—

ओं भूर्भुवः स्वः । त्वमर्यमा भवसि यत्कनीनां नाम स्वधावन्गुह्यं बिभर्षि । अञ्जन्ति मित्रं सुधितं न गोभिर्यद्दम्पती समनसा कृणोषि स्वाहा ॥ इदमग्नये-इदन्न मम ॥ ऋ० मं० ५ । सू० ३ । मन्त्र २ ॥

इस मन्त्र को बोलके ५ पांचवीं आज्याहुति देनी तत्पश्चात्—

ओं ऋताषाड् ऋतधामाग्निर्गन्धर्वः । स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ॥ इदमृतासाहे ऋतधाम्ने अग्नये गन्धर्वाय—इदन्न मम ॥ १ ॥ ओं ऋताषाडृतधामाग्निर्गन्धर्वस्तस्यौषधयोऽप्सरसो मुदो नाम । ताभ्यः स्वाहा ॥ इदमोषधिभ्योऽप्सरोभ्यो मुद्भ्यः—इदन्न मम ॥ २ ॥ ओं सꣳहितो विश्व-

सामा सूर्यो गन्धर्वः । स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ॥ इदं सꣳहिताय विश्वसाम्ने सूर्याय गन्धर्वाय–इदन्न मम ॥ ३ ॥ ओं सꣳहितो विश्वसामा सूर्यो गन्धर्वस्तस्य मरीचयोऽप्सरस आयुवो नाम ताभ्यः स्वाहा ॥ इदं मरीचिभ्योऽप्सरोभ्य आयुभ्यः–इदन्न मम ॥ ४ ॥ ओं सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वः । स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ॥ इदं सुषुम्णाय, सूर्यरश्मये, चन्द्रमसे, गन्धर्वाय–इदन्न मम ॥ ५ ॥ ओं सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वस्तस्य नक्षत्राण्यप्सरसो भेकुरयो नाम ताभ्यः स्वाहा ॥ इदं नक्षत्रेभ्योऽप्सरोभ्यो भेकुरिभ्यः–इदन्न मम ॥ ६ ॥ ओं इषिरो विश्वव्यचा वातो गन्धर्वः । स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ॥ इदमिषिराय विश्वव्यचसे वाताय गन्धर्वाय–इदन्न मम ॥ ७ ॥ ओं इषिरो विश्वव्यचा वातो गन्धर्वस्तस्यापो अप्सरस ऊर्जो नाम । ताभ्यः स्वाहा ॥ इदमद्भ्यो अप्सरोभ्य ऊर्भ्यः–इदन्न मम ॥ ८ ॥ ओं भुज्युः सुपर्णो यज्ञो गन्धर्वः । स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ॥ इदं भुज्यवे सुपर्णाय यज्ञाय, गन्धर्वाय–इदन्न मम ॥ ९ ॥ ओं भुज्युः सुपर्णो यज्ञो गन्धर्वस्तस्य दक्षिणा अप्सरसस्तावा नाम । ताभ्यः स्वाहा ॥ इदं दक्षिणाभ्यो अप्सरोभ्यः स्तावाभ्यः–इदन्न मम ॥ १० ॥ ओं प्रजापतिर्विश्वकर्मा मनो गन्धर्वः । स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ॥ इदं प्रजापतये विश्वकर्मणे, मनसे, गन्धर्वाय–इदन्न मम ॥ ११ ॥ ओं प्रजापतिर्विश्वकर्मा मनो गन्धर्वस्तस्य ऋक्सामान्यप्सरस एष्टयो नाम ताभ्यः स्वाहा ॥ इदमृक्सामेभ्योऽप्सरोभ्य एष्टिभ्यः–इदन्न मम ॥ १२ ॥ पार० कां० १ । कं० ५ ॥

इन बारह (१२) मन्त्रों से बारह (राष्ट्रभृत) आज्याहुति देनी तत्पश्चात् जयाहोम करना ॥

ओं चित्तं च स्वाहा ॥ इदं चित्ताय–इदन्न मम ॥ १ ॥ ओं चित्तिश्च स्वाहा ॥ इदं चित्त्यै–इदन्न मम ॥ २ ॥ ओं आकूतं च स्वाहा ॥ इदमाकूताय–इदन्न मम ॥ ३ ॥ ओं आकूतिश्च स्वाहा ॥ इदमाकूत्यै–इदन्न मम ॥ ४ ॥ ओं विज्ञातश्च स्वाहा ॥ इदं विज्ञाताय–इदन्न मम ॥ ५ ॥ ओं विज्ञातिश्च

स्वाहा ॥ इदं विज्ञात्यै–इदन्न मम ॥ ६ ॥ ओं मनश्च स्वाहा ॥ इदं मनसे–इदन्न मम ॥ ७ ॥ ओं शक्करीश्च स्वाहा ॥ इदं शक्करीभ्यः–इदन्न मम ॥८॥ ओं दर्शश्च स्वाहा ॥ इदं दर्शाय इदन्न मम ॥ ९ ॥ ओं पौर्णमासं च स्वाहा ॥ इदं पौर्णमासाय–इदन्न मम ॥ १० ॥ ओं बृहच्च स्वाहा ॥ इदं बृहते–इदन्न मम ॥ ११ ॥ ओं रथन्तरञ्च स्वाहा । इदं रथन्तराय, इदन्न मम ॥ १२ ॥ ओं प्रजापतिर्जयानिन्द्राय वृष्णे प्रायच्छदुग्रः प्रतनाजयेषु । तस्मै विशः समनमन्त सर्वाः स उग्रः स इहव्यो बभूव स्वाहा ॥ इदं प्रजापतये जयानिन्द्राय–इदन्न मम ॥ १३ ॥ पार० कां० १ । कं० ५ ॥

इन प्रत्येक मन्त्रों से एक २ करके जयाहोम की १३ (तेरह) आज्याहुति देनी तत्पश्चात् अभ्यातान होम करना, इसके मन्त्र ये हैं:—

ओं अग्निर्भूतानामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳬ स्वाहा ॥ इदमग्नये भूतानामधिपतये–इदन्न मम ॥ १ ॥ ओं इन्द्रो ज्येष्ठानामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳬ स्वाहा ॥ इदमिन्द्राय ज्येष्ठानामधिपतये–इदन्न मम ॥ २ ॥ ओं यमः पृथिव्या अधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳬ स्वाहा ॥ इदं यमाय पृथिव्या अधिपतये–इदन्न मम ॥ ३ ॥ ओं वायुरन्तरिक्षस्याधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳬ स्वाहा ॥ इदं वायवे, अन्तरिक्षस्याधिपतये–इदन्न मम ॥ ४ ॥ ओं सूर्यो दिवोऽधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳬ स्वाहा ॥ इदं सूर्याय दिवोऽधिपतये–इदन्न मम ॥ ५ ॥ ओं चन्द्रमा नक्षत्राणामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳬ स्वाहा ॥ इदं चन्द्रमसे नक्षत्राणामधिपतये–इदन्न मम ॥ ६ ॥ ओं बृहस्पतिर्ब्रह्मणोऽधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रे-स्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन्

कर्मण्यस्यां देवहूत्या᳖ स्वाहा ॥ इदं बृहस्पतये ब्रह्मणोधिपतये-इदन्न मम ॥ ७ ॥ ओं मित्रः सत्यानामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्या᳖ स्वाहा ॥ इदं मित्राय सत्यानामधिपतये-इदन्न मम ॥८॥ ओं वरुणोऽपामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्या᳖ स्वाहा ॥ इदं वरुणायापामधिपतये-इदन्न मम ॥ ६ ॥ ओं समुद्रः स्रोत्यानामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्या᳖ स्वाहा ॥ इदं समुद्राय स्रोत्यानामधिपतये-इदन्न मम ॥ १० ॥ ओं अन्न᳖ साम्राज्यानामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्या᳖ स्वाहा ॥ इदमन्नाय साम्राज्यानामधिपतये-इदन्न मम ॥ ११ ॥ ओं सोमओषधीनामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्या᳖ स्वाहा ॥ इदं सोमाय, ओषधीनामधिपतये-इदन्न मम ॥ १२ ॥ ओं सविता प्रसवानामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्या᳖ स्वाहा ॥ इदं सवित्रे प्रसवानामधिपतये-इदन्न मम ॥ १३ ॥ ओं रुद्रः पशूनामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्या᳖ स्वाहा ॥ इदं रुद्राय पशूनामधिपतये-इदन्न मम ॥ १४ ॥ ओं त्वष्टा रूपाणामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्या᳖ स्वाहा ॥ इदं त्वष्ट्रे रूपाणामधिपतये-इदन्न मम ॥ १५ ॥ ओं विष्णुः पर्वतानामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्या᳖ स्वाहा ॥ इदं विष्णवे पर्वतानामधिपतये-इदन्न मम ॥ १६ ॥ ओं मरुतो गणानामधिपतयस्ते मावन्त्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्या᳖ स्वाहा ॥ इदं मरुद्भ्यो गणानामधिपतिभ्यः-इदन्न मम ॥ १७ ॥ ओं पितरः पितामहाः परेऽवरे ततास्ततामहा इह मावन्त्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन्

चत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याꣳ स्वाहा ॥ इदं पितृभ्यः पितामहेभ्यः परेभ्योऽवरेभ्यस्ततेभ्यस्ततामहेभ्यश्च–इदन्न मम ॥ १८ ॥ पार० कां० १ । कं० ५ ॥

इस प्रकार अभ्यातान होम की १८ (अठारह) आज्याहुति दिये पीछे पुनः–

ओं अग्निरैतु प्रथमो देवतानाꣳ सोऽस्यै प्रजां मुञ्चतु मृत्युपाशात् । तदयꣳ राजा वरुणोऽनुमन्यतां यथेयꣳ स्त्री पौत्रमघन्न रोदात् स्वाहा ॥ इदमग्नये–इदन्न मम ॥ १ ॥ ओं इमामग्निस्त्रायतां गार्हपत्यः प्रजामस्यै नयतु दीर्घमायुः । अशून्योपस्था जीवतामस्तु माता पौत्रमानन्दमभिविबुध्यतामियꣳ स्वाहा ॥ इदमग्नये–इदन्न मम ॥ २ ॥ मं० ब्रा० १ । १–२ ॥ ओं स्वस्ति नोऽग्ने दिवा * पृथिव्या विश्वानि धेह्ययथा यजत्र । यदस्यां मयि † दिवि जातं प्रशस्तं तदस्मासु द्रविणं धेहि चित्रꣳ स्वाहा ॥ इदमग्नये–इदन्न मम ॥ ३ ॥ ओं सुगन्नु पन्थां प्रदिशन्न एहि ज्योतिष्मध्ये ह्यजरन्न आयुः । अपैतु मृत्युरमृतं म ‡ आगाद्वैवस्वतो नो अभयं कृणोतु स्वाहा ॥ इदं वैवस्वताय–इदन्न मम ॥ ४ ॥ ओं परं मृत्यो अनुपरेहि पन्थां यत्र नो अन्य इतरो देवयानात् । चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमि मा नः प्रजाꣳ रीरिषो मोत वीरान्स्वाहा ॥ इदं मृत्यवे–इदन्न मम ॥ ५ ॥ पार० कां० १ । कं० ५ ॥ ओं द्यौस्ते पृष्ठꣳ रक्षतु वायुरूरू अश्विनौ च । स्तनन्धयस्ते पुत्रान्सविताभिरक्षत्वावाससः परिधाद्बृहस्पतिर्विश्वेदेवा अभिरक्षन्तु पश्चात्स्वाहा ॥ इदं विश्वेभ्यो देवेभ्यः–इदन्न मम ॥ ६ ॥ ओं मा ते गृहेषु निशि घोष उत्थादन्यत्र त्वद्रुदत्यः संविशन्तु । मा त्वꣳ रुदत्युर आवधिष्ठा जीवपत्नी पतिलोके विराज पश्यन्ती प्रजाꣳ सुमनस्यमानाꣳ स्वाहा ॥ इदमग्नये–इदन्न मम ॥ ७ ॥ ओं अप्रजस्य पौत्रमर्त्यं पाप्मानमुत वा अघम् । शीर्ष्णस्रजमिवोन्मुच्य द्विषद्भ्यः प्रतिमुञ्चामि पाशꣳ स्वाहा ॥ इदमग्नये–इदन्न मम ॥ ८ ॥ मं० ब्रा० १ । १ । १–३ ॥

---

* पारस्कर में "दिव आपृथिव्या" ऐसा पाठ है ॥

† पारस्कर में "महि" ऐसा पाठ है ॥ ‡ पारस्कर में "नः" पाठ भी है ॥

इन प्रत्येक मन्त्रों से एक २ आहुति करके आठ आज्याहुति दीजिये तत्पश्चात् २३ पृष्ठ में लि० प्र०—

ओं भूरग्नये स्वाहा * ॥

इत्यादि चार मन्त्रों से ४ (चार) आज्याहुति दीजिये ऐसे होम करके वर आसन से उठ पूर्वाभिमुख बैठी हुई वधू के सम्मुख पश्चिमाभिमुख खड़ा रहकर अपने वामहस्त से वधू का दहिना हाथ चत्ता धर के ऊपर को उचाना और अपने दक्षिण हाथ से वधू के उठाये हुए दक्षिण हस्ताञ्जलि अंगुष्ठा सहित चत्ती ग्रहण करके वर—

ओं गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः । भगो अर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः † ॥ १ ॥ ऋ० मं० १० । सू० ८५ । मं० ३६ ॥

ओं भगस्ते हस्तमग्रभीत् सविता हस्तमग्रभीत् । पत्नी त्वमसि धर्मणाहं गृहपतिस्तव ‡ ॥ २ ॥ ममेयमस्तु पोष्या मह्यं त्वादाद् बृहस्पतिः । मया

---

* गोभिल गृह्यसूत्र प्रपा० २ । खं० १ । सू० २५ । २६ ॥

† हे वरानने ! जैसे मैं (सौभगत्वाय) ऐश्वर्य सुसन्तानादि सौभाग्य की बढ़ती के लिये (ते) तेरे (हस्तम्) हाथ को (गृभ्णामि) ग्रहण करता हूं तू (मया) मुझ (पत्या) पति के साथ (जरदष्टिः) जरावस्था को प्राप्त सुखपूर्वक (आसः) हो तथा हे वीर ! मैं सौभाग्य की वृद्धि के लिये आप के हस्त को ग्रहण करती हूं आप मुझ पत्नी के साथ वृद्धावस्था पर्यन्त प्रसन्न और अनुकूल रहिये आप को मैं और मुझ को आप आज से पतिपत्नीभाव करके प्राप्त हुए हैं (भगः) सकल ऐश्वर्ययुक्त (अर्यमा) न्यायकारी (सविता) सब जगत् की उत्पत्ति का कर्त्ता (पुरन्धिः) बहुत प्रकार के जगत् का धर्त्ता परमात्मा और (देवाः) ये सब सभामण्डप में बैठे हुए विद्वान् लोग (गार्हपत्याय) गृहाश्रम कर्म के अनुष्ठान के लिये (त्वा) तुझ को (मह्यम्) मुझे (अदुः) देते हैं आज से मैं आपके हस्ते और आप मेरे हाथ बिक चुके हैं कभी एक दूसरे का अप्रियाचरण न करेंगे ॥

‡ हे प्रिये ! (भगः) ऐश्वर्ययुक्त मैं (ते) तेरे (हस्तम्) हाथ को (अग्रभीत्) ग्रहण करता हूं तथा (सविता) धर्मयुक्त मार्ग में प्रेरक मैं तेरे (हस्तम्)

-पत्या प्रजावति शं जीव शरदः शतम् * ॥ ३ ॥ त्वष्टा वासो व्यदधाच्छुभे कं बृहस्पतेः प्रशिषा कवीनाम् । तेनेमां नारीं सविता भगश्च सूर्यामिव परिधत्तां प्रजया † ॥ ४ ॥ इन्द्राग्नी द्यावापृथिवी मातरिश्वा मित्रावरुणा

हाथ को (अग्रभीत्) ग्रहण कर चुका हूं (त्वम्) तू (धर्मणा) धर्म से मेरी पत्नी-भार्या (असि) है और (अहम्) मैं धर्म से (तव) तेरा (गृहपतिः) गृहपति हूं अपने दोनों मिल के घर के कामों की सिद्धि करें और जो दोनों का अप्रियाचरण व्यभिचार है उसको कभी न करें जिससे घर के सब काम सिद्ध उत्तम सन्तान ऐश्वर्य और सुख की बढ़ती सदा होती रहे ॥

* हे अनघे ! (बृहस्पतिः) सब जगत् को पालन करनेहारे परमात्मा ने जिस (त्वा) तुझ को (मह्यम्) मुझे (अदात्) दिया है (इयम्) यही तू जगत् भर में मेरी (पोष्या) पोषण करने योग्य पत्नी (अस्तु) हो, हे (प्रजावति) तू (मया, पत्या) मुझ पति के साथ (शतम्) सौ (शरदः) शरदृतु अर्थात् शतवर्ष पर्यन्त (शं, जीव) सुखपूर्वक जीवन धारण कर। वैसे ही वधू भी वर से प्रतिज्ञा करावे। हे भद्रवीर ! परमेश्वर की कृपा से आप मुझे प्राप्त हुए हो मेरे लिये आप के विना इस जगत् में दूसरा पति अर्थात् स्वामी पालन करने-हारा सेव्य इष्टदेव कोई नहीं है न मैं आप से अन्य दूसरे किसी को मानूंगी, जैसे आप मेरे सिवाय दूसरी किसी स्त्री से प्रीति न करोगे वैसे मैं भी किसी दूसरे पुरुष के साथ प्रीतिभाव से न वर्त्ता करूंगी आप मेरे साथ सौ वर्ष पर्यन्त आनन्द से प्राण धारण कीजिये ॥

† हे शुभानने ! जैसे (बृहस्पतेः) इस परमात्मा की सृष्टि में और उसकी तथा (कवीनाम्) आप्त विद्वानों की (प्रशिषा) शिक्षा से दंपति होते हैं (त्वष्टा) जैसे विजुली सब को व्याप्त हो रही है वैसे तू मेरी प्रसन्नता के लिये (वासः) सुन्दर वस्त्र (शुभे) और आभूषण तथा (कम्) मुझ से सुख को प्राप्त हो, इस मेरी और तेरी इच्छा को परमात्मा (व्यदधात्) सिद्ध करे जैसे (सवितः) सकल जगत् की उत्पत्ति करनेहारा परमात्मा (च) और (भगः) पूर्ण ऐश्वर्ययुक्त (प्रजया) उत्तम प्रजा से (इमाम्) इस तुझ (नारीम्) मुझ नर की स्त्री को (परिधत्ताम्) आच्छादित शोभायुक्त करे, वैसे मैं (तेन) इस सब से (सूर्यामिव) सूर्य की किरण के समान तुझ को वस्त्र और भूषणादि से सुशोभित सदा रक्खूंगा तथा हे प्रिय ! आप को मैं इसी प्रकार सूर्य के समान सुशोभित आनन्द अनुकूल प्रियाचरण करके (प्रजया) ऐश्वर्य वस्त्राभूषण आदि से सदा आनन्दित रक्खूंगी ॥

भगो अश्विनोभा । बृहस्पतिर्मरुतो ब्रह्म सोम इमां नारीं प्रजया वर्धयन्तु * ॥ ५ ॥ अहं विष्यामि मयि रूपमस्या वेददित्पश्यन्मनसा कुलायम् । न स्तेयमद्मि मनसोदमुच्ये स्वयं श्रन्थानो वरुणस्य पाशान् † ॥ ६ ॥ अथर्व० कां० १४ । अनु० १ । सू० १ । मं० ५१—५७ ॥

इन पाणिग्रहण के छः मन्त्रों को बोल के पश्चात् वर, वधू की हस्ताञ्जलि पकड़ के उठावे और उसको साथ लेके, जो (कलश) कुंड की दक्षिण दिशा में प्रथम स्थापन किया था उसको वही पुरुष, जो कलश के पास बैठा था, बर बधू के साथ २ [उसी कलश को] ले चले, यज्ञकुण्ड की दोनों प्रदक्षिणा करके:—

* हे मेरे सम्बन्धी लोगो ! जैसे (इन्द्राग्नी) विजुली और प्रसिद्ध अग्नि (द्यावापृथिवी) सूर्य और भूमि (मातरिश्वा) अन्तरिक्षस्थ वायु (मित्रावरुणा) प्राण और उदान तथा (भगः) ऐश्वर्य (अश्विना) सद्वद्य और सत्योपदेशक (उभा) दोनों (बृहस्पतिः) श्रेष्ठ न्यायकारी बड़ी प्रजा का पालन करनेहारा राजा (मरुतः) सभ्य मनुष्य (ब्रह्म) सब से बड़ा परमात्मा और (सोमः) चन्द्रमा तथा सोमलतादि ओषधीगण सब प्रजा की वृद्धि और पालन करते हैं वैसे (इमां, नारीम्) इस मेरी स्त्री को (प्रजया) प्रजा से बढ़ाया करते हैं वैसे तुम भी (वर्धयन्तु) बढ़ाया करो जैसे मैं इस स्त्री को प्रजा आदि से सदा बढ़ाया करूंगा वैसे स्त्री भी प्रतिज्ञा करे कि मैं भी इस मेरे पति को सदा आनन्द ऐश्वर्य और प्रजा से बढ़ाया करूंगी जैसे ये दोनों मिल के प्रजा को बढ़ाया करते हैं वैसे तू और मैं मिल के गृहाश्रम के अभ्युदय को बढ़ाया करें ॥

† हे कल्याणक्रोड़े जैसे (मनसा) मन से (कुलायम्) कुल की वृद्धि को (पश्यन्) देखता हुआ (अहम्) मैं (अस्याः) इस तेरे (रूपम्) रूप को (विष्यामि) प्रीति से प्राप्त और इसमें प्रेम द्वारा व्याप्त होता हूं वैसे यह तू मेरी वधू (मयि) मुझ में प्रेम से व्याप्त होके अनुकूल व्यवहार को (वेदत्) प्राप्त होवे जैसे मैं (मनसा) मन से भी इस तुझ वधू के साथ (स्तेयम्) चोरी को (उदमुच्ये) छोड़ देता हूं और किसी उत्तम पदार्थ का चोरी से (नाद्मि) भोग नहीं करता हूं (स्वयम्) आप (श्रन्थानः) पुरुषार्थ से शिथिल होकर भी (वरुणस्य) उत्कृष्ट व्यवहार में विघ्नरूप दुर्व्यसनी पुरुष के (पाशान्) बन्धनों को दूर करता रहूं वैसे (इत्) ही यह वधू भी किया करे इसी प्रकार वधू भी स्वीकार करे कि मैं भी इसी प्रकार आप से वर्त्ता करूंगी ॥

ओं अमोऽहमस्मि सा त्वᳫं सा त्वमस्यमोऽहम्। सामाहमस्मि ऋक्त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वं तावेव विवहावहै सह रेतो दधावहै । प्रजां प्रजनयावहै पुत्रान् विन्दावहै बहून् । ते सन्तु जरदष्टयः सं प्रियौ रोचिष्णू सुमनस्यमानौ । पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतᳫं शृणुयाम शरदः शतम् * ॥ १७ ॥ **पार० कां० १ । कं० ६ ॥**

इन प्रतिज्ञा मन्त्रों से दोनों प्रतिज्ञा करके, पश्चात् वर, वधू के पीछे रह के वधू के दक्षिण ओर समीप में जा उत्तराभिमुख खड़ा रहके वधू की दक्षिणाञ्जलि अपनी दक्षिणाञ्जलि से पकड़ के दोनों खड़े रहें; और वह पुरुष पुनः कुण्ड के दक्षिण में कलश लेके बैठे वैसे तत्पश्चात् वधू की माता अथवा भाई जो प्रथम चावल और ज्वार की धाणी सूप में रक्खी थी उसको वायें हाथ में ले के दहिने हाथ से वधू का दक्षिण पग उठवा के पत्थर की शिला पर चढ़वावे और उस समय वर—

---

* हे वधू जैसे (अहम्) मैं (अमः) ज्ञानवान् ज्ञानपूर्वक तेरा ग्रहण करनेवाला (अस्मि) होता हूं वैसे (सा) सो (त्वम्) तू भी ज्ञानपूर्वक मेरा ग्रहण करनेहारी (असि) है जैसे (अहम्) मैं अपने पूर्ण प्रेम से तुझ को (अमः) ग्रहण करता हूं वैसे (सा) सो मैंने ग्रहण की हुई (त्वम्) तू मुझ को भी ग्रहण करती है (अहम्) मैं (साम) सामवेद के तुल्य प्रशंसित (अस्मि) हूं हे वधू ! तू (ऋक्) ऋग्वेद के तुल्य प्रशंसित है (त्वम्) तू (पृथिवी) पृथिवी के समान गर्भादि गृहाश्रम के व्यवहारों को धारण करनेहारी है और मैं (द्यौः) वर्षा करनेहारे सूर्य के समान हूं वह तू और मैं (तावेव) दोनों ही (विवहावहै) प्रसन्नतापूर्वक विवाह करें (सह) साथ मिल के (रेतः) वीर्य को (दधावहै) धारण करें (प्रजाम्) उत्तम प्रजा को (प्रजनयावहै) उत्पन्न करें (बहून्) बहुत (पुत्रान्) पुत्रों को (विन्दावहै) प्राप्त होवें (ते) वे पुत्र (जरदष्टयः) जरावस्था के अन्त तक जीवनयुक्त (सन्तु) रहें (संप्रियौ) अच्छे प्रकार एक दूसरे से प्रसन्न (रोचिष्णू) दूसरे में रुचियुक्त एक (सुमनस्यमानौ) अच्छे प्रकार विचार करते हुए (शतम्) सौ (शरदः) शरदृतु अर्थात् शत वर्ष पर्यन्त एक दूसरे को प्रेम की दृष्टि से (पश्येम) देखते रहें (शतं, शरदः) सौ वर्ष पर्यन्त आनन्द से (जीवेम) जीते रहें और (शतं, शरदः) सौ वर्ष पर्यन्त प्रिय वचनों को (शृणुयाम) सुनते रहें ॥

ओं आरोहेममश्मानमश्मेव त्वꣳ स्थिरा भव । अभितिष्ठ पृतन्यतोऽवबाधस्व पृतनायतः ॥ १ ॥ पार० कां० १ । कं० ७ ॥

इस मन्त्र को बोले तत्पश्चात् वधू वर कुण्ड के समीप आके पूर्वाभिमुख दोनों खड़े रहें और यहां वधू दक्षिण ओर रहके अपनी हस्ताञ्जलि को वर की हस्ताञ्जलि पर रक्खे तत्पश्चात् वधू की मा वा भाई जो बायें हाथ में धाणी का सूपड़ा पकड़ के खड़ा रहा हो वह धाणी का सूपड़ा भूमि पर धर अथवा किसी के हाथ में देके जो वधू वर की एकत्र की हुई अर्थात् नीचे वर की और ऊपर वधू की हस्ताञ्जलि है उसमें प्रथम थोड़ा घृत सिंचन करके पश्चात् प्रथम सूप में से दहिने हाथ की अञ्जलि से दो वार ले के वर वधू की एकत्र की हुई अंजलि में धाणी डाले पश्चात् उस अञ्जलिस्थ धाणी पर थोड़ासा घी सिंचन करे पश्चात् वधू वर की हस्ताञ्जलि सहित अपनी हस्ताञ्जलि को आगे से नमा के—

ओं अर्यमणं देवं कन्या अग्निमयक्षत । स नो अर्यमा देवः प्रेतो मुञ्चतु मा पतेः स्वाहा ॥ इदमर्यम्णे अग्नये—इदन्न मम ॥ १ ॥ ओं इयं नार्युपब्रूते लाजानावपन्तिका । आयुष्मानस्तु मे पतिरेधन्तां ज्ञातयो मम स्वाहा ॥ इदमग्नये—इदन्न मम ॥ २ ॥ ओं इमाँल्लाजानावपाम्यग्नौ समृद्धिकरणं तव । मम तुभ्यं * च संवदनं * तदग्निरनुमन्यतामियꣳ स्वाहा ॥ इदमग्नये—इदन्न मम ॥ ३ ॥ पार० कां० १ । कं० ६ ॥

इन तीन मन्त्रों में एक २ मन्त्र से एक २ वार थोड़ी २ धाणी की आहुति तीन वार प्रज्वलित इन्धन पर दे के वर—

ओं सरस्वति प्रेदमव सुभगे वाजिनीवति । यान्त्वा विश्वस्य भूतस्य प्रजायामस्याग्रतः । यस्यां भूतꣳ समभवद्यस्यां विश्वमिदं जगत् । तामद्य गाथां गास्यामि या स्त्रीणामुत्तमं यशः ॥ १ ॥ पार० कां० १ । कं० ७ ॥

* पारस्कर में तथा सं० १९३३ की संस्कारविधि में "तुभ्य" और "संवननम्" पाठ है।

इस मन्त्र को बोल के अपने जमणे हाथ की हस्ताञ्जलि से वधू की हस्ताञ्जलि पकड़ के वर—

आ तुभ्यमग्रे पर्यवहन्त्सूर्यां वहतु ना सह। पुनः पतिभ्यो जायां दा अग्ने प्रजया सह॥ १॥ ऋ० मं० १०। सू० ८५। मं० ३८॥ ओं कन्यला पितृभ्यः पतिलोकं यतीयमवदीक्षामयष्ट। कन्या उत त्वया वयं धारा उदन्या इवातिगाहेमहि द्विषः॥ २॥ मं० ब्रा० १। २। ५ *॥

इन मन्त्रों को पढ़ यज्ञकुण्ड की प्रदक्षिणा करके यज्ञकुण्ड के पश्चिम भाग में पूर्व की ओर मुख करके थोड़ी देर दोनों खड़े रहें, तत्पश्चात् पूर्वोक्त प्रकार कलश सहित यज्ञकुण्ड की प्रदक्षिणा कर पुनः दोवार इसी प्रकार अर्थात् सब मिल के ४ (चार) परिक्रमा करके अन्त में यज्ञकुण्ड के पश्चिम में (थोड़ा ठड़े रह के उक्त रीति से तीन वार क्रिया पूरी हुए पश्चात् यज्ञकुण्ड के पश्चिम भाग में) पूर्वाभिमुख वधू वर खड़े रहें। पश्चात् वधू की मा अथवा भाई उस सूप को तिरछा करके उसमें बाकी रही हुई धाणी को वधू की हस्ताञ्जलि में डाल देवे पश्चात्—

ओं भगाय स्वाहा †। इदं भगाय—इदन्न मम॥

इस मन्त्र को बोल के प्रज्वलित अग्नि पर वेदी में उस धाणी की एक आहुति देवे। पश्चात् वर, वधू को दक्षिण भाग में रखके कुण्ड के पश्चिम पूर्वाभिमुख बैठ के—

ओं प्रजापतये स्वाहा ‡॥ इदं प्रजापतये—इदन्न मम॥

इस मन्त्र को बोल के स्रुवा से एक घृत की आहुति देवे तत्पश्चात् एकान्त में जा के वधू के बंधे हुए केशों को वर—

* तथा गोभिल गृ० प्रपा० २। खं० २। सू० ६॥

† पारस्कर के अनुसार यह आहुति वधू देती है। कां० १। कं० ७॥

‡ पारस्कर कां० १। कं० ७॥

प्र त्वा मुञ्चामि वरुणस्य पाशाद्येन त्वाबध्नात्सविता सुशेवाः। ऋतस्य योनौ सुकृतस्य लोकेऽरिष्टान्त्वा सह पत्या दधामि ॥ १ ॥ प्रेतो मुञ्चामि नामतस्सुबद्धाममुतस्करम्। यथेयमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रा सुभगा सती ॥ २ ॥ ऋ० मं० १० । सू० ८५ । मं० २४ । २५ ॥

इन दोनों मन्त्रों को बोल के प्रथम वधू के केशों को छोड़ना, तत्पश्चात् सभामण्डप में आके सप्तपदी विधि का आरम्भ करे, इस समय वर के उपवस्त्र के साथ वधू के उत्तरीय वस्त्र की गांठ देनी इसे जोड़ा कहते हैं। वधू वर दोनों जने आसन पर से उठके वर अपने दक्षिण हाथ से वधू की दक्षिण हस्ताञ्जलि पकड़ के यज्ञकुण्ड के उत्तरभाग में जावें, तत्पश्चात् वर अपना दक्षिण हाथ वधू के दक्षिण स्कन्धे पर रख के दोनों समीप २ उत्तराभिमुख खड़े रहें तत्पश्चात् वर—

मासव्येन दक्षिणमतिक्राम ।

ऐसा बोल के वधू को उसका दक्षिण पग उठवा के चलने के लिये आज्ञा देवे और—

ओं इषे एकपदी भव सा मामनुव्रता भव विष्णुस्त्वानयतु पुत्रान् विन्दावहै बहूँस्ते सन्तु जरदष्टयः ॥ १ ॥

इस मन्त्र को बोल के वर अपने साथ वधू को लेकर ईशान दिशा में एक पग * चले और चलावे ।

ओं ऊर्ज्जे द्विपदी भव० † ॥ इस मन्त्र से दूसरा ॥

---

* इस पग धरने की विधि ऐसी है कि वधू प्रथम अपना जमणा पग उठा के ईशानकोण की ओर बढ़ा के धरे तत्पश्चात् दूसरे बांये पग को उठा के जमणे पग की पटली तक धरे अर्थात् जमणे पग के थोड़ासा पीछे बायां पग रक्खे इसी को एक पगला गिणना, इसी प्रकार अगले छः मन्त्रों से भी क्रिया करनी अर्थात् एक २ मन्त्र से एक २ पग ईशान दिशा की ओर धरना ॥

† जो भव के आगे मन्त्र में पाठ है सो छः मन्त्रों से इस भव पद के आगे पूरा बोल के पग धरने की क्रिया करनी ॥

ओं रायस्पोषाय त्रिपदी भव० ॥ इस मन्त्र से तीसरा ॥

ओं मयोभवाय * चतुष्पदी भव० ॥ इस मन्त्र से चौथा ॥

ओं प्रजाभ्यः * पञ्चपदी भव० ॥ इस मन्त्र से पांचवां ॥

ओं ऋतुभ्यः षट्पदी भव० ॥ इस मन्त्र से छठा और—

ओं सखे सप्तपदी * भव० ॥ पार० कां० १ । कं० ८ ॥

इस मन्त्र से सातवां पगला चलना । इस रीति से इन सात मन्त्रों से सात पग ईशान दिशा में चला के वधू वर दोनों गांठ बन्धे हुए शुभासन पर बैठें । तत्पश्चात् प्रथम से जो जल के कलश को ले के यज्ञकुण्ड की दक्षिण की ओर में बैठाया था वह पुरुष उस पूर्वस्थापित जलकुम्भ को ले के वधू वर के समीप आवे और उसमें से थोड़ासा जल ले के वधू † वर के मस्तक पर छिटकावे और वर—

ओं आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता नं ऊर्ज्जे दधातन । महे रणाय चक्षसे ॥ १ ॥ यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः । उशतीरिव मातरः ॥ २ ॥ तस्मा अरङ्गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ । आपो जनयथा च नः ॥३॥ ऋ० मण्ड० १० । सू० ९ । मं० १–३ ॥ ओं आपः शिवाः शिवतमाः शान्ताः शान्ततमास्तास्ते कृण्वन्तु भेषजम् ‡ ॥ ४ ॥

इन चार मन्त्रों को बोले । तत्पश्चात् वधू वर वहां से उठ के—

---

* वैदिकयन्त्रालय, सं० १९५२ में मुद्रित पारस्कर गृह्यसूत्र के पृ० ११३ में "मयोभवाय" के स्थान में "मायोभवाय" "प्रजाभ्यः" के स्थान में "पशुभ्यः" तथा "सप्तपदी" के स्थान में "सप्तपदा" पाठ है ॥

† पारस्कर गृह्यसूत्र में केवल वधू के मस्तक पर जल छिटकने का विधान है । कां० १ । कं० ८ । वधू वर के स्थान में वर, वधू ऐसा पाठ कर देने से पारस्कर के अनुकूलता होजाती है ॥

‡ पारस्कर कां० १ । कं० ८ ॥

ओं तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् । पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ॥ १ ॥ य० अ० ३६ । मं० २४ ॥

इस मन्त्र को पढ़ के सूर्य का अवलोकन करें। तत्पश्चात् वर, वधू के दक्षिण स्कन्धे पर से अपना दक्षिण हाथ ले के उससे वधू का हृदय स्पर्श करके—

ओं मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनु चित्तं ते अस्तु । मम वाचमेकमना जुषस्व प्रजापतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम् * ॥ पार० कां० १ । कं० ८ ॥

इस मन्त्र को बोले, और उसी प्रकार वधू भी अपने दक्षिण हाथ से वर के हृदय का स्पर्श करके इसी ऊपर लिखे हुए मन्त्र को बोले † ॥

तत्पश्चात् वर, वधू के मस्तक पर हाथ धरकेः—

सुमङ्गलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत । सौभाग्यमस्यै दत्त्वा याथास्तं विपरेतन ॥ ऋ० मण्ड० १० । सू० ८५ । मं० ३३ ॥

---

* हे वधू ! (ते) तेरे (हृदयम्) अन्तःकरण और आत्मा को (मम) मेरे (व्रते) कर्म के अनुकूल (दधामि) धारण करता हूं (मम) मेरे (चित्तमनु) चित्त के अनुकूल (ते) तेरा (चित्तम्) चित्त सदा (अस्तु) रहे (मम) मेरी (वाचम्) वाणी को तू (एकमनाः) एकाग्रचित्त से (जुषस्व) सेवन किया कर (प्रजापतिः) प्रजा का पालन करने वाला परमात्मा (त्वा) तुझ को (मह्यम्) मेरे लिये (नियुनक्तु) नियुक्त करे ॥

† वैसे ही हे प्रियवीर स्वामिन् ! आपका हृदय आत्मा और अन्तःकरण मेरे प्रियाचरण कर्म में धारण करती हूं। मेरे चित्त के अनुकूल आप का चित्त सदा रहे। आप एकाग्र हो के मेरी वाणी का–जो कुछ मैं आप से कहूं उसका–सेवन सदा किया कीजिये। क्योंकि आज से प्रजापति परमात्मा ने आप को मेरे आधीन किया है। जैसे मुझको आप के आधीन किया है। अर्थात् इस प्रतिज्ञा के अनुकूल दोनों वर्ता करें, जिससे सर्वदा आनन्दित और कीर्तिमान् पतिव्रता और स्त्रीव्रत होके सब प्रकार के व्यभिचार अप्रियभाषणादि को छोड़ के परस्पर प्रीतियुक्त रहें ॥

इस मन्त्र को बोल के कार्यार्थ आये हुए लोगों की ओर अवलोकन करना और इस समय सब लोग—

ओं सौभाग्यमस्तु। ओं शुभं भवतु॥

इस वाक्य से आशीर्वाद देवें। तत्पश्चात् वधू वर यज्ञकुण्ड के समीप पूर्ववत् बैठ के पुनः पृष्ठ २३ में लिखे प्रमाणे दोनों (ओं यदस्य कर्मणो०) इस स्विष्टकृत् मन्त्र से होमाहुति अर्थात् एक आज्याहुति और पृष्ठ २३ में लिखे—

ओं भूरग्नये स्वाहा॥

इत्यादि चार मन्त्रों से एक २ से एक २ आहुति करके ४ (चार) आज्याहुति देवें और इस प्रमाणे विवाह के विधि पूरे हुए पश्चात् दोनों जने आराम अर्थात् विश्राम करें। इस रीति से थोड़ासा विश्राम करके विवाह की उत्तर विधि करें। यह उत्तरविधि सब वधू के घर की ईशान दिशा में विशेष करके एक घर प्रथम से बना रक्खा हो वहां जाके करनी। तत्पश्चात् सूर्य अस्त हुए पीछे आकाश में नक्षत्र दीखें उस समय वधू वर यज्ञकुण्ड के पश्चिम भाग में पूर्वाभिमुख आसन पर बैठें और पृष्ठ २० में लि० अग्न्याधान (ओं भूर्भुवः स्वर्द्यौ०) इस मन्त्र से करें। यदि प्रथम ही सभामण्डप ईशान दिशा में हुआ और प्रथम अग्न्याधान किया हो तो अग्न्याधान न करें। (ओं अयन्त इध्म०) इत्यादि ४ मन्त्रों से समिदाधान करके जब अग्नि प्रदीप्त होवे तब पृष्ठ २२-२३ में लिखे प्रमाणे—

ओं अग्नये स्वाहा॥ आश्वला० गृ० अ० १। कं० १०। सू० १३॥

इत्यादि ४ (चार) मन्त्रों से आघारावाज्यभागाहुति ४ (चार) और पृष्ठ २३ में लिखे प्रमाणे—

ओं भूरग्नये स्वाहा॥

इत्यादि ४ (चार) मन्त्रों से ४ (चार) व्याहृति आहुति ये सब मिल के ८ (आठ) आज्याहुति देवें। तत्पश्चात् प्रधान होम करें निम्नलिखित मन्त्रों से:—

ओं लेखासन्धिषु पक्ष्मस्वावर्त्तेषु * च यानि ते। तानि ते पूर्णाहुत्या सर्वाणि शमयाम्यहं स्वाहा ॥ इदं कन्यायै—इदन्न मम ॥ १ ॥ ओं केशेषु यच्च पापकमीक्षिते रुदिते च यत्। तानि० ॥ २ ॥ ओं शीलेषु यच्च पापकं भाषिते हसिते च यत्। तानि० ३ ॥

ओं आरोकेषु दन्तेषु हस्तयोः पादयोश्च यत्। तानि० ॥ ४ ॥ ओं ऊर्वोपस्थे जङ्घयोः सन्धानेषु च यानि ते। तानि० ॥ ५ ॥ ओं यानि कानि च घोराणि सर्वाङ्गेषु तवाभवन्। पूर्णाहुतिभिराज्यस्य सर्वाणि तान्यशीशमं स्वाहा ॥ इदं कन्यायै—इदन्न मम ॥ ६ ॥ मं० ब्रा० १ । ३ । १–६ ॥

ये छः मन्त्र हैं इनमें से एक २ मन्त्र बोल छः आज्याहुति देनी। तत्पश्चात् पृष्ठ २३ में लिखे—

ओं भूरग्नये स्वाहा

इत्यादि ४ (चार) व्याहृति मन्त्रों से ४ (चार) आज्याहुति देके वधू वर वहां से उठ के सभामण्डप के बाहर उत्तर दिशा में जावें। तत्पश्चात् वर—

ध्रुवं पश्य

ऐसा बोलके वधू को ध्रुव का तारा दिखलावे † और वधू वर से बोले कि मं—

पश्यामि

ध्रुव के तारे को देखती हूं। तत्पश्चात् वधू [बोले]

---

* सं० १९४१ की संस्कारविधि में "पक्ष्मस्वारोकेषु" पाठ है ॥

† हे वधू वा वर जैसे यह ध्रुव दृढ़ स्थिर है इसी प्रकार आप और मैं एक दूसरे के प्रियाचरणों में दृढ़ स्थिर रहें ॥

ओं ध्रुवमासि ध्रुवाहं पतिकुले भूयासम् (अमुष्य * असौ) गोभिलगृ० प्र० २ । खं० ३ । सू० ८ ॥

इस मन्त्र को बोले । तत्पश्चात्—

अरुन्धतीं पश्य ॥ गोभिलगृ० प्र० २ । खं० ३ । सू० ९ ॥

ऐसा वाक्य बोल के वर, वधू को अरुन्धती का तारा दिखलावे और वधू-

पश्यामि

ऐसा कहके—

ओं अरुन्धत्यासि † रुद्धाहमस्मि (अमुष्य ‡ असौ ¶)

इस मन्त्र को बोल के (वर) वधू की ओर देख के वधू के मस्तक पर हाथ धरके—

---

* (अमुष्य) इस पद के स्थान में षष्ठी विभक्त्यन्त पति का नाम बोलना, जैसे–शिवशर्मा पति का नाम हो तो "शिवशर्मण:" ऐसा और (असौ)[1] इस पद के स्थान में वधू अपने नाम को प्रथमा विभक्त्यन्त बोल के इस मन्त्र को पूरा बोले, जैसे "भूयासं शिवशर्मणस्ते सौभाग्यदाहम्" इस प्रकार दोनों पद जोड़ के बोले ॥

† "अरुन्धत्यसि" इतना पाठ गोभिल में नहीं ॥

‡ (अमुष्य) इस पद के स्थान में पति का नाम षष्ठ्यन्त और (असौ) इसके स्थान में वधू का प्रथमान्त नाम जोड़ कर बोले "हे स्वामिन्[2] ! सौभाग्यदा (अहम्) मैं (अमुष्य) आप शिवशर्मा की अर्धाङ्गी (पतिकुले) आपके कुल में (ध्रुवा) निश्चल जैसे कि आप (ध्रुवम्) दृढ़ निश्चय वाले मेरे स्थिर पति (असि) हैं वैसे मैं भी आप की स्थिर दृढ़ पत्नी (भूयासम्) होऊं ॥"

¶ गोभिल गृ० प्र० २ । खं० ३ । सू० १० ॥

---

१ वाक्य ।

२ "हे स्वामिन् !" से लेकर "होऊं" तक का पाठ पृ० १४६ की प्रथम पंक्ति के "अमुष्य असौ" के फ़ुट नोट की समाप्ति पर जानो ॥

ओं ध्रुवा द्यौर्ध्रुवा पृथिवी ध्रुवं विश्वमिदं जगत् । ध्रुवासः पर्वता इमे ध्रुवा स्त्री पतिकुले इयम् * ॥ मं० ब्रा० १ । ६ । ६ ॥

ओं ध्रुवमसि ध्रुवन्त्वा पश्यामि ध्रुवैधि पोष्ये मयि । मह्यं त्वादाद् बृहस्पतिर्मया पत्या प्रजावती संजीव शरदः शतम् † ॥ पार० कां० १ ॥ कं० ८ ॥

इन दोनों मन्त्रों को बोले । पश्चात् वधू और वर दोनों यज्ञकुण्ड के पश्चिम भाग में पूर्वाभिमुख हो के कुण्ड के समीप बैठें और पृ० १९ में लिखे:—

ओं अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा

इत्यादि तीन मन्त्रों से एक २ से एक २ आचमन करके तीन २ आचमन दोनों करें । पश्चात् पृष्ठ २१ में लिखी हुई समिधाओं से यज्ञकुण्ड में अग्नि

---

* हे वरानने ! जैसे (द्यौः) सूर्य की कान्ति वा विद्युत् (ध्रुवा) सूर्यलोक वा पृथिव्यादि में निश्चल जैसे (पृथिवी) भूमि अपने स्वरूप में (ध्रुवा) स्थिर जैसे (इदम्) यह (विश्वम्) सब (जगत्) संसार प्रवाहस्वरूप में (ध्रुवम्) स्थिर है जैसे (इमे) ये प्रत्यक्ष (पर्वताः) पहाड़ (ध्रुवासः) अपनी स्थिति में स्थिर हैं वैसे (इयम्) यह तू मेरी (स्त्री) (पतिकुले) मेरे कुल में (ध्रुवा) सदा स्थिर रह ॥

† हे स्वामिन् ! जैसे आप मेरे समीप (ध्रुवम्) दृढ़ सङ्कल्प करके स्थिर (असि) हैं या जैसे मैं (त्वा) आपको (ध्रुवम्) स्थिर दृढ़ (पश्यामि) देखती हूं वैसे ही सदा के लिये मेरे साथ आप दृढ़ रहियेगा क्योंकि मेरे मन के अनुकूल (त्वा) आपको (बृहस्पतिः) परमात्मा (अदात्) समर्पित कर चुका है वैसे मुझ पत्नी के साथ उत्तम प्रजायुक्त होके (शतं, शरदः) सौ वर्ष पर्यन्त (सम्, जीव) जीविये तथा हे वरानने पत्नी (पोष्ये) धारण और पालन करने योग्य (मयि) मुझ पति के निकट (ध्रुवा) स्थिर (एधि) रह (मह्यम्) मुझ को अपनी मनसा के अनुकूल तुझे परमात्मा ने दिया है तू (मया) मुझ (पत्या) पति के साथ (प्रजावती) बहुत उत्तम प्रजायुक्त होकर सौ वर्ष पर्यन्त आनन्दपूर्वक जीवन धारण कर । वधू वर ऐसी दृढ़ प्रतिज्ञा करें कि जिससे कभी उलटे विरोध में न चलें ॥

को प्रदीप्त करके पृष्ठ १५ में लिखे० घृत और स्थालीपाक अर्थात् भात को उसी समय बनावें। पृष्ठ २१ में लिखे प्रमाणे "ओम् अयन्त इध्म०" इत्यादि चार मन्त्रों से समिधा होम दोनों जने करके पश्चात् पृष्ठ २२–२३ में लिखे प्रमाणे आधारावाज्यभागाहुति ४ (चार) और व्याहृति आहुति चार दोनों मिलके ८ (आठ) आज्याहुति वर वधू देवें। तत्पश्चात् जो ऊपर सिद्ध किया हुआ ओदन अर्थात् भात उसको एक पात्र में निकाल के उसके ऊपर स्रुवा से घृत सेचन करके घृत और भात को अच्छे प्रकार मिलाकर दक्षिण हाथ से थोड़ा थोड़ा भात दोनों जने ले के—

ओं अग्नये स्वाहा॥ इदमग्नये–इदन्न मम। ओं प्रजापतये स्वाहा॥ इदं प्रजापतये–इदन्न मम। ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा॥ इदं विश्वेभ्यो देवेभ्यः–इदन्न मम। ओम् अनुमतये स्वाहा॥ इदमनुमतये–इदन्न मम॥

इन में से प्रत्येक मन्त्र से एक २ करके ४ (चार) स्थालीपाक अर्थात् भात की आहुति देनी। तत्पश्चात् पृष्ठ २३ में लिखे (ओं यदस्य कर्मणो०) इस मन्त्र से एक स्विष्टकृत् आहुति देनी। तत्पश्चात् पृष्ठ २३ में लि० प्रमाणे व्याहृति आहुति ४ (चार) और पृष्ठ २४–२५ में लिखे० अष्टाज्याहुति ८ (आठ) दोनों मिलके १२ (बारह) आज्याहुति देनी। तत्पश्चात् शेष रहा हुआ भात एक पात्र में निकाल के उस पर घृत सेचन और दक्षिण हाथ रख के:—

ओं अन्नपाशेन मणिना प्राणसूत्रेण पृश्निना। बध्नामि सत्यग्रन्थिना मनश्च हृदयं च ते *॥ १॥ ओं यदेतद्धृदयं तव तदस्तु हृदयं मम। यदिदꣳ हृदयं मम तदस्तु हृदयं तव †॥ २॥ ओं अन्नं प्राणस्य षड्विꣳशस्तेन

---

* हे वधू वर! जैसे अन्न के साथ प्राण, प्राण के साथ अन्न तथा अन्न और प्राण का अन्तरिक्ष के साथ सम्बन्ध है वैसे (ते) तेरे (हृदयम्) हृदय (च) और (मनः) मन (च) और चित्त आदि को (सत्यग्रन्थिना) सत्यता की गांठ से (बध्नामि) बांधती वा बांधता हूं॥

† हे वर हे स्वामिन् वा हे पत्नी! (यदेतत्) जो यह (तव) तेरा (हृद-

बध्नामि त्वा असौ * ॥ ३ ॥ मं० ब्रा० १ । ३ । ८--१० ॥

इन तीनों मन्त्रों को मन से जप के वर उस भात में से प्रथम थोड़ासा भक्षण करके जो उच्छिष्ट शेष भात रहे वह अपनी वधू के लिये खाने को देवे और जब वधू उसको खाचुके तब वधू वर यज्ञमण्डप में सन्नद्ध हुए शुभासन पर नियम प्रमाणे पूर्वाभिमुख बैठें और पृष्ठ २६ में लि० प्रमाणे सामवेदोक्त महावामदेव्यगान करें। तत्पश्चात् पृष्ठ ४–१२ में लि० प्रमाणे ईश्वर की स्तुति, प्रार्थनोपासना, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण कर्म करके क्षार लवण रहित मिष्ट दुग्ध घृतादि सहित भोजन करें । तत्पश्चात् पृष्ठ ४६ में लिखे प्रमाणे पुरोहितादि सद्धर्मी और कार्यार्थ इकट्ठे हुए लोगों को सम्मानार्थ उत्तम भोजन कराना। तत्पश्चात् यथायोग्य पुरुषों का पुरुष और स्त्रियों का स्त्री आदर सत्कार करके विदा कर देवें। तत्पश्चात् दश घटिका रात्रि जाय तब वधू और वर पृथक् २ स्थान में भूमि में बिछौना करके तीन रात्रिपर्यन्त ब्रह्मचर्य व्रत सहित रहकर शयन करें, और ऐसा भोजन करें कि स्वप्न में भी वीर्यपात न होवे । तत्पश्चात् चौथे दिवस विधिपूर्वक गर्भाधानसंस्कार करें । यदि चौथे दिवस कोई अड़चल आवे तो अधिक दिन ब्रह्मचर्यव्रत में दृढ़ (रह) कर जिस दिन दोनों की इच्छा हो और पृष्ठ ३० में लिखे प्रमाणे गर्भाधान की रात्रि भी हो उस रात्रि में यथाविधि गर्भाधान करें। तत्पश्चात् दूसरे वा तीसरे दिन प्रातःकाल वरपक्षवाले लोग वधू और वर को रथ में बैठा के बड़े सम्मान से अपने घर में लावें और जो वधू अपने माता पिता के घर को छोड़ते समय आंख में अश्रु भर लावे तो—

यम्) आत्मा वा अन्तःकरण है (तत्) वह (मम) मेरा (हृदयम्) आत्मा अन्तःकरण के तुल्य प्रिय (अस्तु) हो और (मम) मेरा (यदिदम्) जो यह (हृदयम्) आत्मा प्राण और मन है (तत्) सो (तव) तेरे (हृदयम्) आत्मादि के तुल्य प्रिय (अस्तु) सदा रहे ॥

* (असौ) हे यशोदे ! जो (प्राणस्य) प्राण का पोषण करने हारा (षड्विंशः) २६ (छब्बीसवां) तत्त्व (अन्नम्) अन्न है (तेन) उससे (त्वा) तुझ को (बध्नामि) दृढ़ प्रीति से बांधता वा बांधती हूं ॥

जीवं रुदन्ति वि मयन्ते अध्वरे दीर्घामनु प्रसितिं दीधियुर्नरः। वामं पितृभ्यो य इदं समेरिरे मयः पतिभ्यो जनयः परिष्वजे ॥ ऋ० मं० १०। सू० ४०। मं० १० ॥

इस मन्त्र को वर बोले और रथ में बैठते समय वर अपने साथ दक्षिण बाजू वधू को बैठावे उस समय में वरः—

पूषा त्वेतो नयतु हस्तगृह्याश्विना त्वा प्र वहतां रथेन। गृहान्गच्छ गृहपत्नी यथासो वशिनी त्वं विदथमा वदासि ॥ १ ॥ सुकिंशुकं शल्मलिं विश्वरूपं हिरण्यवर्णं सुवृतं सुचक्रम्। आ रोह सूर्ये अमृतस्य लोकं स्योनं पत्ये वहतुं कृणुष्व ॥ २ ॥ ऋ० मं० १०। सू० ८५। मं० २६, २० ॥

इन दो मन्त्रों को बोल के रथ को चलावे। यदि वधू को वहां से अपने घर लाने के समय नौका पर बैठना पड़े तो इस निम्नलिखित मन्त्र को पूर्व बोल के नौका पर बैठे—

अश्मन्वती रीयते सं रभध्वमुत्तिष्ठत प्र तरता सखायः।

और नाव से उतरते समय—

अत्रा जहाम ये असन्नशेवाः शिवान्वयमुत्तरेमाभि वाजान् ॥ ऋ० मं० १०। सू० ५३। मं० ८ ॥

इस उत्तरार्द्ध मन्त्र को बोल के नाव से उतरे। पुनः इसी प्रकार मार्ग चार में मार्गों का संयोग, नदी, व्याघ्र, चोर आदि से भय वा भयंकर स्थान, ऊंचे नीचे खाढ़ावाली पृथिवी, बड़े २ वृक्षों का झुंड वा श्मशानभूमि आवे तो—

मा विदन् परिपन्थिनो य आसीदन्ति दम्पती। सुगेभिर्दुर्गमतीतामप द्रान्त्वरातयः ॥ ऋ० मं० १०। सू० ८५। मं० ३२ ॥

इस मन्त्र को बोले। तत्पश्चात् वधू वर जिस रथ में बैठके जाते हों उस रथ का कोई अंग टूट जाय अथवा किसी प्रकार का अकस्मात् उपद्रव होवे तो मार्ग में कोई अच्छा स्थान देख के निवास करना और साथ रक्खे हुए विवाहाग्नि को प्रगट करके उसमें पृष्ठ २३ में लिखे प्रमाणे ४ चार व्याहृति आज्याहुति देनी। पश्चात् पृष्ठ २६ में लिखे प्रमाणे वामदेव्यगान करना। पश्चात् जब वधू वर का रथ वर के घर के आगे आपहुंचे तब कुलीन पुत्रवती सौभाग्यवती वा कोई ब्राह्मणी वा अपने कुल की स्त्री आगे सामने आकर वधू का हाथ पकड़ के वर के साथ रथ से नीचे उतारे और वर के साथ सभामण्डप में लेजावे सभामण्डप द्वारे आते हीं वर वहां कार्यार्थ आये हुए लोगों की ओर अवलोकन करके—

सुमङ्गलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत। सौभाग्यमस्यै दत्त्वा याथास्तं विपरेतन॥ १॥ ऋ० मं० १०। सू० ८५। मं० ३३॥

इस मन्त्र को बोले और आये हुए लोगः—

ओं सौभाग्यमस्तु, ओं शुभं भवतु

इस प्रकार आशीर्वाद देवें। तत्पश्चात् वरः—

इह प्रियं प्रजया ते समृध्यतामस्मिन्गृहे गार्हपत्याय जागृहि। एना पत्या तन्वं१ सं सृजस्वाधा जिव्री विदथमा वदाथः॥ ऋ० मं० १०। सू० ८५। मं० २७॥

इस मन्त्र को बोल के वधू को सभामण्डप में ले जावे। तत्पश्चात् वधू वर पूर्व स्थापित यज्ञकुण्ड के समीप जावें, उस समय वरः—

ओं इह गावः प्रजायध्वमिहाश्वा इह पूरुषाः। इहो सहस्रदक्षिणोपि पूषा निषीदतु॥ अथर्व० कां० २०। सू० १२७॥

इस मन्त्र को बोल के यज्ञकुण्ड के पश्चिम भाग में पीठासन अथवा तृणासन पर वधू को अपने दक्षिण भाग में पूर्वाभिमुख बैठावे । तत्पश्चात् पृ० १६ में लि०—

ओं अमृतोपस्तरणमसि

इत्यादि तीन मन्त्रों से एक २ से एक २ करके तीन २ आचमन करें । तत्पश्चात् पृ० २० में लिखे प्रमाणे कुण्ड में यथाविधि समिधाचयन अग्न्याधान करें। जब उसी कुण्ड में अग्नि प्रज्वलित हो तब उस पर घृत सिद्ध करके पृ० २१ में लिखे प्रमाणे समिदाधान करके प्रदीप्त हुए अग्नि में पृष्ठ २२–२५ में लिखे प्रमाणे अघारावाज्यभागाहुति ४ (चार) और व्याहृति आहुति ४ (चार) अष्टाज्याहुति ८ (आठ) सब मिल के १६ (सोलह) आज्याहुति वधू वर करके प्रधानहोम का प्रारम्भ निम्नलिखित मन्त्रों से करें ॥

ओं इह धृतिः स्वाहा ॥ इदमिह धृत्यै–इदन्न मम । ओं इह स्वधृतिः स्वाहा ॥ इदमिह स्वधृत्यै–इदन्न मम । ओं इह रन्तिः स्वाहा ॥ इदमिह रन्त्यै–इदन्न मम । ओं इह रमस्व स्वाहा ॥ इदमिह रमाय–इदन्न मम । ओं मयि धृतिः स्वाहा ॥ इदं मयि धृत्यै–इदन्न मम । ओं मयि स्वधृतिः स्वाहा ॥ इदं मयि स्वधृत्यै–इदन्न मम । ओं मयि रमः स्वाहा ॥ इदं मयि रमाय–इदन्न मम । ओं मयि रमस्व स्वाहा ॥ इदं मयि रमाय–इदन्न मम । मं० ब्रा० १ । ६ । १ । ४ ॥

इन प्रत्येक मन्त्रों से एक २ करके ८ (आठ) आज्याहुति देके:—

ओं आ नः प्रजां जनयतु प्रजापतिराजरसाय समनक्त्वर्यमा । अदुर्मङ्गलीः पतिलोकमाविश शन्नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे * स्वाहा ॥ इदं

* हे वधू (अर्यमा) न्यायकारी दयालु (प्रजापतिः) परमात्मा कृपा करके (आजरसाय) जरावस्था पर्यन्त जीने के लिये (नः) हमारी (प्रजाम्) उत्तम प्रजा को शुभगुण कर्म और स्वभाव से (आजनयतु) प्रसिद्ध करे (समनक्तु) उससे उत्तम सुख को प्राप्त करे और वे शुभगुणयुक्त (मङ्गलीः) स्त्री लोग सब

सूर्यायै सावित्र्यै—इदन्न मम ॥ १ ॥ ओं अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्चाः। वीरसूर्देवृकामा स्योना शन्नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे स्वाहा * ॥ इदं सूर्यायै सावित्र्यै—इदन्न मम ॥ २ ॥ ओं इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु । दशास्यां पुत्राना धेहि पतिमेकादशं कृधि † स्वाहा ॥ इदं सूर्यायै सावित्र्यै—इदन्न मम ॥ ३ ॥ ओं साम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव । ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि देवृषु ‡ स्वाहा ॥ इदं सूर्यायै सावित्र्यै—इदन्न मम ॥ ४ ॥ ऋ० मं० १० । अ० ७ । सू० ८५ । मं० ४३–४६ ॥

कुटुम्बियों को आनन्द (अदुः) देवें उनमें से एक तू हे वरानने (पतिलोकम्) पति के घर वा सुख को (आविश) प्रवेश वा प्राप्त हो (नः) हमारे (द्विपदे) पिता आदि मनुष्यों के लिये (शम्) सुखकारिणी और (चतुष्पदे) गौ आदि को (शम्) सुखकर्त्री (भव) हो ॥

* इस मन्त्र का अर्थ पृष्ठ १२९ में लिखे प्रमाणे जानना ॥

† ईश्वर पुरुष और स्त्री को आज्ञा देता है कि हे (मीढ्वः) वार्य सेचन करनेहारे (इन्द्र) परमैश्वर्ययुक्त इस वधू के स्वामिन् ! (त्वम्) तू (इमाम्) इस वधू को (सुपुत्राम्) उत्तम पुत्रयुक्त (सुभगाम्) सुन्दर सौभाग्य भोगवाली (कृणु) कर (अस्याम्) इस वधू में (दश) दश (पुत्रान्) पुत्रों को (आ, धेहि) उत्पन्न कर अधिक नहीं और हे स्त्री ! तू भी अधिक कामना मत कर किन्तु दश पुत्र और (एकादशम्) ग्यारहवें (पतिम्) पति को प्राप्त होकर सन्तोष (कृधि) कर यदि इससे आगे सन्तानोत्पत्ति का लोभ करोगे तो तुम्हारे दुष्ट अल्पायु निर्बुद्धि सन्तान होंगे और तुम भी अल्पायु रोगग्रस्त हो जाओगे इसलिये अधिक सन्तानोत्पत्ति न करना तथा (पतिमेकादशं, कृधि) इस पद का अर्थ नियोग में दूसरा होगा अर्थात् जैसे पुरुष को विवाहित स्त्री में दश पुत्र उत्पन्न करने की आज्ञा परमात्मा ने की है वैसी ही आज्ञा स्त्री को भी है कि दश पुत्र तक चाहे विवाहित पति से अथवा विधवा हुए पश्चात् नियोग से करे करावे वैसे ही एक स्त्री के लिये एक पति से एक वार विवाह और पुरुष के लिये भी एक स्त्री से एक ही वार विवाह करने की आज्ञा है जैसे विधवा हुए पश्चात् स्त्री नियोग से सन्तानोत्पत्ति करके पुत्रवती होवे वैसे पुरुष भी विगतस्त्री होवे तो नियोग से पुत्रवान् होवे ॥

‡ हे वरानने ! तू (श्वशुरे) मेरा पिता जो कि तेरा श्वशुर है उसमें प्रीति

इन ४ (चार) मन्त्रों से एक २ से एक २ करके ४ (चार) आज्याहुति दे के पृष्ठ २३ में लिखे प्रमाणे स्विष्टकृत होमाहुति १ (एक) व्याहृति आज्याहुति ४ (चार) और प्राजापत्याहुति १ (एक) ये सब मिलके ६ (छः) आज्याहुति देकर—

समञ्जन्तु विश्वे देवाः समापो हृदयानि नौ । सं मातरिश्वा सं धाता समुदेष्ट्री दधातु नौ * ॥ ऋ० मं० १० । सू० ८५ । मं० ४७ ॥

इस मन्त्र को बोल के दोनों दधिप्राशन करें । तत्पश्चात्—

अहं भो अभिवादयामि † ॥

इस वाक्य को बोल के दोनों वधू वर, वर की माता पिता आदि वृद्धों को प्रीतिपूर्वक नमस्कार करें । पश्चात् सुभूषित होकर शुभासन पर बैठ के पृष्ठ २६ में लिखे प्रमाणे वामदेव्यगान करके उसी समय पृष्ठ ४–८ में लिखे प्रमाणे ईश्वरोपासना करनी। उस समय कार्यार्थ आए हुए सब स्त्री पुरुष ध्यानावस्थित होकर परमेश्वर का ध्यान करें तथा वधू वर, पिता, आचार्य और पुरोहित आदि को कहें कि—

करके (सम्राज्ञी) सम्यक् प्रकाशमान चक्रवर्ती राजा की राणी के समान पक्षपात छोड़ के प्रवृत्त (भव) हो (श्वश्र्वाम्) मेरी माता जो कि तेरी सासु है उसमें प्रेमयुक्त हो के उसी की आज्ञा में (सम्राज्ञी) सम्यक् प्रकाशमान (भव) रहा कर (ननान्दरि) जो मेरी बहिन और तेरी ननन्द है उसमें भी (सम्राज्ञी) प्रीतियुक्त और (देवृषु) मेरे भाई जो तेरे देवर और ज्येष्ठ अथवा कनिष्ठ हैं उनमें भी (सम्राज्ञी) प्रीति से प्रकाशमान (अधि, भव) अधिकारयुक्त हो अर्थात् सब से अविरोधपूर्वक प्रीति से वर्त्ता कर ॥

* इस मन्त्र का अर्थ पृ० १२८ में लिखित समझ लेना ॥

† इससे उत्तम (नमस्ते) यह वेदोक्त वाक्य अभिवादन के लिये नित्यप्रति स्त्री पुरुष, पिता पुत्र अथवा गुरु शिष्य आदि के लिये है । प्रातः सायं अपूर्व समागम में जब २ मिलें तब २ इसी वाक्य से परस्पर वन्दन करें ॥

ओं स्वस्ति भवन्तो ब्रुवन्तु ॥ आश्वला० गृ० अ० १ । कं० ८ । सू० १५ ॥

आप लोग स्वस्तिवाचन करें। तत्पश्चात् पिता आचार्य पुरोहित जो विद्वान् हों अथवा उनके अभाव में यदि वधू वर विद्वान् वेदवित् हों तो वे ही दोनों पृष्ठ ८–१० में लिखे प्रमाणे स्वस्तिवाचन का पाठ बड़े प्रेम से करें। पाठ हुए पश्चात् कार्यार्थ आए हुए स्त्री पुरुष सब—

ओं स्वस्ति ओं स्वस्ति ओं स्वस्ति ॥

इस वाक्य को बोलें। तत्पश्चात् कार्यकर्त्ता, पिता, चाचा, भाई आदि पुरुषों को तथा माता, चाची, भगिनी आदि स्त्रियों को यथावत् सत्कार करके विदा करें। तत्पश्चात् यदि किसी विशेष कारण से श्वशुरगृह में गर्भाधान संस्कार न हो सके तो वधू वर क्षार आहार और विषय तृष्णा रहित व्रतस्थ होकर पृ० २७–३९ में लिखे प्रमाणे विवाह के चौथे दिवस में गर्भाधान संस्कार करें अथवा उस दिन ऋतुकाल न हो तो किसी दूसरे दिन गर्भस्थापन करें और जो वर दूसरे देश से विवाह के लिये आया हो तो वह जहां जिस स्थान में विवाह करने के लिये जाकर उतरा हो उस स्थान में गर्भाधान करे। पुनः अपने घर आ के पति सासु श्वशुर ननन्द देवर देवरानी ज्येष्ठ जेठानी आदि कुटुम्ब के मनुष्य वधू की पूजा अर्थात् सत्कार करें, सदा प्रीतिपूर्वक परस्पर वर्त्तें, और मधुरवाणी वस्त्र आभूषण आदि से सदा प्रसन्न और सन्तुष्ट वधू को रक्खें, तथा वधू सब को प्रसन्न रक्खे और वर उस वधू के साथ पत्नीव्रतादि सद्धर्म से वर्ते, तथा पत्नी भी पति के साथ पतिव्रतादि सद्धर्म चाल चलन से सदा पति की आज्ञा में तत्पर और उत्सुक रहे, तथा वर भी स्त्री की सेवा, प्रसन्नता में तत्पर रहे ॥

इति विवाहसंस्कारविधिः समाप्तः

अथ

गृहाश्रमसंस्कारविधिं वक्ष्यामः

गृहाश्रम संस्कार उसको कहते हैं कि जो ऐहिक और पारलौकिक सुखप्राप्ति के लिये विवाह करके अपने सामर्थ्य के अनुसार परोपकार करना और नियत काल में यथाविधि ईश्वरोपासना और गृहकृत्य करना और सत्य धर्म में ही अपना तन मन धन लगाना तथा धर्मानुसार सन्तानों की उत्पत्ति करनी ॥

अत्र प्रमाणानि—सोमो वधूयुरभवदश्विनास्तामुभा वरा । सूर्यां यत्पत्ये शंसन्तीं मनसा सविता ददात् ॥ १ ॥ इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम् । क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे ॥ २ ॥ ऋ० मं० १० । सू० ८५ । मं० ६, ४२ ॥

अर्थः—(सोमः) सुकुमार शुभगुणयुक्त (वधूयुः) वधू की कामना करनेहारा पति तथा वधू पति की कामना करनेहारी (अश्विना) दोनों ब्रह्मचर्य से विद्या को प्राप्त (अभवत्) होवें और (उभा) दोनों (वरा) श्रेष्ठ तुल्य गुण कर्म स्वभाववाले (आस्ताम्) होवें ऐसी (यत्) जो (सूर्याम्) सूर्य की किरणवत् सौन्दर्य गुणयुक्त (पत्ये) पति के लिये (मनसा) मन से (शंसन्तीम्) गुण कीर्त्तन करनेवाली वधू है उस को पुरुष और इसी प्रकार के पुरुष को स्त्री (सविता) सकल जगत् का उत्पादक परमात्मा (ददात्) देता है अर्थात् बड़े भाग्य से दोनों स्त्री पुरुषों का, जो कि तुल्य गुण कर्म स्वभाव हों, जोड़ा मिलता है ॥ १ ॥ हे स्त्रि और पुरुष ! मैं परमेश्वर आज्ञा देता हूं कि जो तुम्हारे लिये पूर्व विवाह में प्रतिज्ञा हो चुकी है जिसको तुम दोनों ने स्वीकार किया है (इहैव) इसी में (स्तम्) तत्पर रहो (मा, वियौष्टम्) इस प्रतिज्ञा से वियुक्त मत होओ (विश्वमायुर्व्यश्नुतम्) ऋतुगामी होके वीर्य का अधिक नाश न करके

सम्पूर्ण आयु जो १०० (सौ) वर्षों से कम नहीं है उसको प्राप्त होओ पूर्वोक्त धर्म रीति से (पुत्रैः) पुत्रों और (नप्तृभिः) नातियों के साथ (क्रीडन्तौ) क्रीड़ा करते हुए (स्वस्तकौ) उत्तम गृह वाले (मोदमानौ) आनन्दित होकर गृहाश्रम में प्रीतिपूर्वक वास करो ॥ २ ॥

सुमङ्गली प्रतरणी गृहाणां सुशेवा पत्ये श्वशुराय शम्भूः । स्योना श्वश्र्वै प्र गृहान् विशेमान् ॥ ३ ॥ स्योना भव श्वशुरेभ्यः स्योना पत्ये गृहेभ्यः । स्योनास्यै सर्वस्यै विशे स्योना पुष्टायैषां भव ॥ ४ ॥ या दुर्हार्दो युवतयो याश्चेह जरतीरपि । वर्चो न्वस्यै सं दत्ताथास्तं विपरेतन ॥ ५ ॥ आरोह तल्पं सुमनस्यमानेह प्रजां जनय पत्ये अस्मै । इन्द्राणीव सुबुधा बुध्यमाना ज्योतिरग्रा उषसः प्रति जागरासि ॥ ६ ॥ अथर्व० कां० १४ । सू० २ । मं० २६ । २७ । २६ । ३१ ॥

अर्थः—हे वरानने ! तू (सुमङ्गली) अच्छे मङ्गलाचरण करने तथा (प्रतरणी) दोष और शोकादि से पृथक् रहनेहारी (गृहाणाम्) गृहकार्यों में चतुर और तत्पर रहकर (सुशेवा) उत्तम सुखयुक्त होके (पत्ये) पति (श्वशुराय) श्वशुर और (श्वश्र्वै) सासु के लिये (शम्भूः) सुखकर्त्री और (स्योना) स्वयं प्रसन्न हुई (इमान्) इन (गृहान्) घरों में सुखपूर्वक (प्रविश) प्रवेश कर ॥ ३ ॥ हे वधू ! तू (श्वशुरेभ्यः) श्वशुरादि के लिये (स्योना) सुखदाता (पत्ये) पति के लिये (स्योना) सुखदाता और (गृहेभ्यः) गृहस्थ सम्बन्धियों के लिये (स्योना) सुखदायक (भव) हो और (अस्यै) इस (सर्वस्यै) सब (विशे) प्रजा के अर्थ (स्योना) सुखप्रद और (एषाम्) इनके (पुष्टाय) पोषण के अर्थ तत्पर (भव) हो ॥ ४ ॥ (याः) जो (दुर्हार्दः) दुष्ट हृदयवाली अर्थात् दुष्टात्मा (युवतयः) ज्वान स्त्रियां (च) और (याः) जो (इह) इस स्थान में (जरतीः) बुड्ढी वृद्ध दुष्ट स्त्रियां हों वे (अपि) भी (अस्यै) इस वधू को (नु) शीघ्र (वर्चः) तेज (सं, दत्त) देवें (अथ) इसके पश्चात् (अस्तम्) अपने २ घर को (विपरेतन) चली जावें और फिर इसके पास कभी न आवें ॥ ५ ॥ हे वरानने ! तू (सुमनस्यमाना) प्रसन्नचित्त

होकर (तल्पम्) पर्यङ्क पर (आरोह) चढ़ के शयन कर और (इह) इस गृहाश्रम में स्थिर रहकर (अस्मै) इस (पत्ये) पति के लिये (प्रजां, जनय) प्रजा को उत्पन्न कर (सुबुधा) सुन्दर ज्ञानी (बुध्यमाना) उत्तम शिक्षा को प्राप्त (इन्द्राणीव) सूर्य की कांति के समान तू (उषसः) उषःकाल के (अग्रा) पहिली (ज्योतिः) ज्योति के तुल्य (प्रतिजागरासि) प्रत्यक्ष सब कामों में जागती रह ॥ ६ ॥

देवा अग्रे न्यपद्यन्त पत्नीः समस्पृशन्त तन्वस्तनूभिः । सूर्येव नारि विश्वरूपा महित्वा प्रजावती पत्या सं भवेह ॥ ७ ॥ सं पितरावृत्विये सृजेथां माता पिता च रेतसो भवाथः । मर्य इव योषामधिरोहयैनां प्रजां कृण्वाथामिह पुष्यतं रयिम् ॥ ८ ॥ तां पूषं छिवतमामेरयस्व यस्यां बीजं मनुष्या वपन्ति । या न ऊरू उशती विश्रयाति यस्यामुशन्तः प्रहरेम शेपः ॥ ९ ॥ अथर्व० कां० १४ । सू० २ । मं० ३२ । ३७ । ३८ ॥

अर्थः—हे सौभाग्यप्रदे ! (नारि) तू जैसे (इह) इस गृहाश्रम में (अग्रे) प्रथम (देवाः) विद्वान् लोग (पत्नीः) उत्तम स्त्रियों को (न्यपद्यन्त) प्राप्त होते हैं और (तनूभिः) शरीरों से (तन्वः) शरीरों को (समस्पृशन्त) स्पर्श करते हैं वैसे (विश्वरूपा) विविध सुन्दररूप को धारण करनेहारी (महित्वा) सत्कार को प्राप्त हो के (सूर्येव) सूर्य की कांति के समान (पत्या) अपने स्वामी के साथ मिलके (प्रजावती) प्रजा को प्राप्त होनेहारी (संभव) अच्छे प्रकार हो ॥ ७ ॥ हे स्त्री पुरुषो ! तुम (पितरौ) बालकों के जनक (ऋत्विये) ऋतु समय में सन्तानों को (संसृजेथाम्) अच्छे प्रकार उत्पन्न करो (माता) जननी (च) और (पिता) जनक दोनों (रेतसः) वीर्य को मिलाकर गर्भाधान करनेहारे (भवाथः) हूजिये । हे पुरुष (एनाम्) इस (योषाम्) अपनी स्त्री को (मर्य, इव) प्राप्त होनेवाले पति के समान (अधि, रोहय) सन्तानों से बढ़ा और दोनों (इह) इस गृहाश्रम में मिल के (प्रजाम्) प्रजा को (कृण्वाथाम्) उत्पन्न करो (पुष्यतम्) पालन पोषण करो और पुरुषार्थ से (रयिम्) धन को प्राप्त होओ ॥ ८ ॥ हे (पूषन्) वृद्धिकारक पुरुष ! (यस्याम्) जिसमें

(मनुष्याः) मनुष्य लोग (बीजम्) वीर्य को (वपन्ति) बोते हैं (या) जो (नः) हमारी (उशती) कामना करती हुई (ऊरू) ऊरू को सुन्दरता से (विश्रयाति) विशेषकर आश्रय करती है (यस्याम्) जिसमें (उशन्तः) सन्तानों की कामना करते हुए हम (शेपः) उपस्थेन्द्रिय का (प्रहरेम) प्रहरण करते हैं (ताम्) उस (शिवतमाम्) अतिशय कल्याण करनेहारी स्त्री को सन्तानोत्पत्ति के लिये (एरयस्व) प्रेम से प्रेरणा कर ॥ ९ ॥

स्योनाद्योनेरधि बुध्यमानौ हसामुदौ महसा मोदमानौ । सुगू सुपुत्रौ सुगृहौ तराथो जीवावुषसो विभातीः ॥ १० ॥ इहेमाविन्द्र सं नुद चक्रवाकेव दम्पती । प्रजयैनौ स्वस्तकौ विश्वमायुर्व्यश्नुताम् ॥ ११ ॥ जनियन्ति नावग्रवः पुत्रियन्ति सुदानवः । अरिष्टासू सचेवहि बृहते वाजसातये ॥ १२ ॥ अ० कां० १४ । सू० २ । मं० ४३ । ६४ । ७२ ॥

अर्थः—हे स्त्री और पुरुष ! जैसे सूर्य (विभातीः) सुन्दर प्रकाशयुक्त (उषसः) प्रभात वेला को प्राप्त होता है वैसे (स्योनात्) सुख से (योनेः) घर के मध्य में (अधि, बुध्यमानौ) सन्तानोत्पत्ति आदि की क्रिया को अच्छे प्रकार जाननेहारे सदा (हसामुदौ) हास्य और आनन्दयुक्त (महसा) बड़े प्रेम से (मोदमानौ) अत्यन्त प्रसन्न हुए (सुगू) उत्तम चाल चलन से धर्मयुक्त व्यवहार में अच्छे प्रकार चलनेहारे (सुपुत्रौ) उत्तम पुत्रवाले (सुगृहौ) श्रेष्ठ गृहादि सामग्री युक्त (जीवौ) उत्तम प्रकार जीवों को धारण करते हुए (तराथः) गृहाश्रम के व्यवहारों के पार होओ ॥ १० ॥ हे (इन्द्र) परमैश्वर्ययुक्त विद्वन् राजन् ! आप (इह) इस संसार में (इमौ) इन स्त्री पुरुषों को समय पर विवाह करने की आज्ञा और ऐसी व्यवस्था दीजिये कि जिससे कोई स्त्री पुरुष पृ० ८६–९३ में लि० प्रमाण से पूर्व वा अन्यथा विवाह न कर सकें, वैसे (संनुद) सब को प्रसिद्धि से प्रेरणा कीजिये जिससे ब्रह्मचर्यपूर्वक शिक्षा को पाके (दम्पती) जाया और पति (चक्रवाकेव) चकवा चकवी के समान एक दूसरे से प्रेमबद्ध रहें और गर्भाधानसंस्कारोक्तविधि से (प्रजया) उन्नत हुई प्रजा से (एनौ) ये दोनों (स्वस्तकौ) सुखयुक्त हो के (विश्वम्)

सम्पूर्ण १०० वर्ष पर्यन्त (आयुः) आयु को (व्यश्नुताम्) प्राप्त होवें ॥११॥ हे मनुष्यो ! जैसे (सुदानवः) विद्यादि उत्तम गुणों के दान करनेहारे (अग्रवः) उत्तम स्त्री पुरुष (जनियन्ति) पुत्रोत्पत्ति करते और (पुत्रियन्ति) पुत्र की कामना करते हैं वैसे (नौ) हमारे भी सन्तान उत्तम होवें तथा (अरिष्टासू) बल प्राण का नाश न करनेहारे होकर (बृहते) बड़े (वाजसातये) परोपकार के अर्थ विज्ञान और अन्न आदि के दान के लिये (सचेवहि) कटिबद्ध सदा रहें जिससे हमारे सन्तान भी उत्तम होवें ॥ १२ ॥

प्र बुंध्यस्व सुबुधा बुध्यमाना दीर्घायुत्वार्य शतशारदाय । गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासों दीर्घं त आयुः सविता कृणोतु ॥ १३ ॥ अथर्व० कां० १४ । सू० २ । मं० ७५ ॥ सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः । अन्यो अन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥ १४ ॥ अथर्व० कां० ३ । सू० ३० । मं० १ ॥

अर्थः—हे पत्नी ! तू (शतशारदाय) शतवर्ष पर्यन्त (दीर्घायुत्वाय) दीर्घकाल जीने के लिये (सुबुधा) उत्तम बुद्धियुक्त (बुध्यमाना) सज्ञान होकर (गृहान्) मेरे घरों को (गच्छ) प्राप्त हो और (गृहपत्नी) मुझ घर के स्वामी की स्त्री (यथा) जैसे (ते) तेरा (दीर्घम्) दीर्घकालपर्यन्त (आयुः) जीवन (असः) होवे वैसे (प्रबुध्यस्व) प्रकृष्टज्ञान और उत्तम व्यवहार को यथावत् जान इस अपनी आशा को (सविता) सब जगत् की उत्पत्ति और सम्पूर्ण ऐश्वर्य को देनेहारा परमात्मा (कृणोतु) अपनी कृपा से सदा सिद्ध करे जिससे तू और मैं सदा उन्नतिशील होकर आनन्द में रहें ॥ १३ ॥ हे गृहस्थो ! मैं ईश्वर तुमको जैसी आज्ञा देता हूं वैसा ही [वर्त्तमान] करो जिससे तुमको अक्षय सुख हो अर्थात् (वः) तुम्हारा (सुहृदयम्) जैसी अपने लिये सुख की इच्छा करते और दुःख नहीं चाहते हो वैसे माता पिता सन्तान स्त्री पुरुष भृत्य मित्र पड़ोसी और अन्य सब से समान हृदय रहो (सांमनस्यम्) मन से सम्यक् प्रसन्नता और (अविद्वेषम्) वैर विरोधादि रहित व्यवहार को तुम्हारे लिये (कृणोमि) स्थिर करता हूं तुम (अघ्न्या) हनन न करने योग्य गाय (वत्सं,

जातमिव) उत्पन्न हुए बछड़े पर वात्सल्यभाव से जैसे वर्तती है वैसे (अन्योऽन्यम्) एक दूसरे से (अभि, हर्यत) प्रेमपूर्वक कामना से वर्त्ता करो ॥ १४ ॥

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः । जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवान् ॥ १५ ॥ मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा । सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥ १६ ॥ अथर्व० कां० ३ । सू० ३० । मं० २ । ३ ॥

अर्थः—हे गृहस्थो ! जैसे तुम्हारा (पुत्रः) पुत्र (मात्रा) माता के साथ (संमनाः) प्रीतियुक्त मन वाला (अनुव्रतः) अनुकूल आचरणयुक्त (पितुः) और पिता के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार का प्रेम वाला (भवतु) होवे वैसे तुम भी पुत्रों के साथ सदा वर्ता करो जैसे (जाया) स्त्री (पत्ये) पति की प्रसन्नता के लिये (मधुमतीम्) माधुर्यगुणयुक्त (वाचम्) वाणी को (वदतु) कहे वैसे पति भी (शन्तिवान्) शान्त होकर अपनी पत्नी से सदा मधुर भाषण किया करे ॥ १५ ॥ हे गृहस्थो ! तुम्हारे में (भ्राता) भाई (भ्रातरम्) भाई के साथ (मा, द्विक्षन्) द्वेष कभी न करे (उत) और (स्वसा) बहिन (स्वसारम्) बहिन से द्वेष कभी (मा) न करे तथा बहिन भाई भी परस्पर द्वेष मत करो किन्तु (सम्यञ्चः) सम्यक् प्रेमादि गुणों से युक्त (सव्रताः) समान गुण कर्म स्वभाववाले (भूत्वा) होकर (भद्रया) मङ्गलकारक रीति से एक दूसरे के साथ (वाचम्) सुखदायक वाणी को (वदत) बोला करो ॥ १६ ॥

येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः । तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः ॥ १७ ॥ अथर्व० कां० ३ । सू० ३० । मं० ४ ॥

अर्थः—हे गृहस्थो ! मैं ईश्वर (येन) जिस प्रकार के व्यवहार से (देवाः) विद्वान् लोग (मिथः) परस्पर (न, वियन्ति) पृथक् भाव वाले नहीं होते (च) और (नो, विद्विषते) परस्पर में द्वेष कभी नहीं करते (तत्) वही कर्म (वः) तुम्हारे (गृहे) घर में (कृण्मः) निश्चित करता हूं (पुरुषेभ्यः) पुरुषों को (संज्ञानम्) अच्छे प्रकार चिताता हूं कि तुम लोग परस्पर प्रीति से वर्त कर बड़े (ब्रह्म) धनैश्वर्य को प्राप्त होओ ॥ १७ ॥

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः । अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोमि ॥ १८ ॥ अथर्व० कां० ३ । सू० ३० । मं० ५ ॥

अर्थः—हे गृहस्थादि मनुष्यो ! तुम (ज्यायस्वन्तः) उत्तम विद्यादिगुणयुक्त (चित्तिनः) विद्वान् सज्ञान (सधुराः) धुरन्धर होकर (चरन्तः) विचरते और (संराधयन्तः) परस्पर मिल के धन धान्य राज्य समृद्धि को प्राप्त होते हुए (मा, वियौष्ट) विरोधी वा पृथक् २ भाव मत करो (अन्यः) एक (अन्यस्मै) दूसरे के लिये (वल्गु) सत्य मधुरभाषण (वदन्तः) कहते हुए एक दूसरे को (एत) प्राप्त होओ इसीलिये (सध्रीचीनान्) समान लाभाऽलाभ से एक दूसरे के सहायक (संमनसः) ऐकमत्य वाले (वः) तुम को (कृणोमि) करता हूं अर्थात् मैं ईश्वर तुम को जो आज्ञा देता हूं इसको आलस्य छोड़ कर किया करो ॥ १८ ॥

समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि । सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः ॥ १९ ॥ सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोम्येकश्नुष्टीन्त्संवननेन सर्वान् । देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायंप्रातः सौमनसो वो अस्तु ॥ २० ॥ अथर्व० कां० ३ । सू० ३० । मं० ६, ७ ॥

अर्थः—हे गृहस्थादि मनुष्यो ! मुझ ईश्वर की आज्ञा से तुम्हारा (प्रपा) जलपान स्नानादि का स्थान आदि व्यवहार (समानी) एकसा हो (वः) तुम्हारा (अन्नभागः) खान पान (सह) साथ हुआ करो (वः) तुम्हारे (समाने) एक से (योक्त्रे) अश्वादि यान के जोते (सह) संगी हों और तुमको मैं धर्म्मादि व्यवहार में भी एकीभूत करके (युनज्मि) नियुक्त करता हूं जैसे (आराः) चक्र के आरे (अभितः) चारों ओर से (नाभिमिव) बीच के नालरूप काष्ठ में लगे रहते हैं अथवा जैसे ऋत्विज् लोग और यजमान यज्ञ में मिल के (अग्निम्) अग्नि आदि के सेवन से जगत् का उपकार करते हैं वैसे (सम्यञ्चः) सम्यक् प्राप्तिवाले तुम मिल के धर्मयुक्त कर्मों को (सपर्यत)

(तथा) एक दूसरे का हित सिद्ध किया करो ॥ १९ ॥ हे गृहस्थादि मनुष्यो ! मैं ईश्वर (वः) तुमको (सध्रीचीनान्) सह वर्त्तमान (संमनसः) परस्पर के लिये हितैषी (एकश्नुष्टीन्) एक ही धर्मकृत्य में शीघ्र प्रवृत्त होने वाले (सर्वान्) सब को (संवननेन) धर्मकृत्य के सेवन के साथ एक दूसरे के उपकार में नियुक्त (कृणोमि) करता हूं तुम (देवा, इव) विद्वानों के समान (अमृतम्) व्यावहारिक वा पारमार्थिक सुख की (रक्षमाणाः) रक्षा करते हुए (सायंप्रातः) सन्ध्या और प्रातःकाल अर्थात् सब समय में एक दूसरे से प्रेमपूर्वक मिला करो ऐसे करते हुए (वः) तुम्हारा (सौमनसः) मन का आनन्दयुक्त शुद्धस्वभाव (अस्तु) सदा बना रहे ॥ २० ॥

श्रमे॑ण॒ तप॑सा सृ॒ष्टा ब्रह्म॑णा वि॒त्तऋ॒ते श्रि॒ताः ॥ २१ ॥ स॒त्येनावृ॑ता श्रि॒या प्रावृ॑ता॒ यश॑सा॒ परी॑वृताः ॥ २२ ॥ स्व॒धया॒ परि॑हिता श्र॒द्धया॒ः पर्यू॑ढा दी॒क्षया॑ गु॒प्ता य॒ज्ञे प्रति॑ष्ठिता लो॒को नि॒धन॑म् ॥ २३ ॥ अथर्व० कां० १२ । अनु० ५ । सू० ५ । मं० १–३ ॥

अर्थः—हे स्त्री पुरुषो ! मैं ईश्वर तुम को आज्ञा देता हूं कि तुम सब गृहस्थ मनुष्य लोग (श्रमेण) परिश्रम तथा (तपसा) प्राणायाम से (सृष्टाः) संयुक्त (ब्रह्मणा) वेदविद्या परमात्मा और धनादि से (वित्ते) भोगने योग्य धनादि के प्रयत्न में और (ऋते) यथार्थ पक्षपात रहित न्यायरूप धर्म में (श्रिताः) चलनेहारे सदा बने रहो ॥ २१ ॥ (सत्येन) सत्यभाषणादि कर्मों से (आवृताः) चारों ओर से युक्त (श्रिया) शोभायुक्त लक्ष्मी से (प्रावृताः) युक्त (यशसा) कीर्ति और धन से (परीवृताः) सब ओर से संयुक्त रहा करो ॥ २२ ॥ (स्वधया) अपने ही अन्नादि पदार्थ के धारण से (परिहिताः) सब के हितकारी (श्रद्धया) सत्य धारण में श्रद्धा से (पर्यूढाः) सब ओर से सब को सत्याचरण प्राप्त करानेहारे (दीक्षया) नाना प्रकार के ब्रह्मचर्य, सत्यभाषणादि व्रत धारण से (गुप्ताः) सुरक्षित (यज्ञे) विद्वानों के सत्कार, शिल्पविद्या और शुभ गुणों के दान में (प्रतिष्ठिताः) प्रतिष्ठा को प्राप्त हुआ करो और इन्हीं कर्मों से (निधनम् , लोकः) इस मनुष्यलोक को प्राप्त होके मृत्यु पर्यन्त सदा आनन्द में रहो ॥ २३ ॥

ओज॑श्च॒ तेज॑श्च॒ सह॑श्च॒ बल॑ञ्च॒ वाक् चे॑न्द्रि॒यं च॒ श्रीश्च॒ धर्म॑श्च ॥ २४ ॥ अथर्व॰ कां॰ १२ । अनु॰ ५ । सू॰ ५ । मं॰ ७ ॥

अर्थः–हे मनुष्यो ! तुम जो (ओजः) पराक्रम (च) और इसकी सामग्री (तेजः) तेजस्वीपन (च) और इसकी सामग्री (सहः) स्तुति निन्दा हानि लाभ तथा शोकादि का सहन (च) और इसके साधन (बलञ्च) बल और इसके साधन (वाक्, च) सत्य प्रिय वाणी और इस के अनुकूल व्यवहार (इन्द्रियञ्च) शान्त धर्मयुक्त अन्तःकरण और शुद्धात्मा तथा जितेन्द्रियता (श्रीश्च) लक्ष्मी सम्पत्ति और इसकी प्राप्ति का धर्मयुक्त उद्योग (धर्मश्च) पक्षपातरहित न्यायाचरण वेदोक्त धर्म और जो इस के साधन वा लक्षण हैं उनको तुम प्राप्त हो के इन्हीं में सदा वर्त्ता करो ॥ २४ ॥

ब्रह्म॑ च क्ष॒त्रं च॑ रा॒ष्ट्रं च॒ विश॑श्च॒ त्विषि॑श्च॒ यश॑श्च॒ वर्च॑श्च॒ द्रवि॑णं च ॥ २५ ॥ आयु॑श्च रू॒पं च॒ नाम॑ च की॒र्तिश्च॑ प्रा॒णश्चा॑पा॒नश्च॒ चक्षु॑श्च॒ श्रोत्रं॑श्च ॥ २६ ॥ पय॑श्च॒ रस॒श्चान्नं॑ चा॒न्नाद्यं॑ च ऋ॒तं च॑ स॒त्यं चे॒ष्टं च॑ पू॒र्तं च॑ प्रजा च॑ प॒शव॑श्च ॥ २७ ॥ अथर्व॰ कां॰ १२ । अनु॰ ५ । सू॰ ५ । मं॰ ८ । ९ । १० ॥

अर्थः—हे गृहस्थादि मनुष्यो ! तुमको योग्य है कि (ब्रह्म, च) पूर्ण विद्यादि शुभ गुण युक्त मनुष्य और सब के उपकारक शमदमादि गुणयुक्त ब्रह्मकुल (क्षत्रञ्च) विद्यादि उत्तम गुण युक्त तथा विनय और शौर्यादि गुणों से युक्त क्षत्रियकुल (राष्ट्रञ्च) राज्य और उसका न्याय से पालन (विशश्च) उत्तम प्रजा और उसकी उन्नति (त्विषिश्च) सद्विद्यादि से तेज आरोग्य शरीर और आत्मा के बल से प्रकाशमान और इसकी उन्नति से (यशश्च) कीर्त्तियुक्त तथा इसके साधनों को प्राप्त हुआ करो (वर्चश्च) पढ़ी हुई विद्या का विचार और उसका नित्य पढ़ना (द्रविणञ्च) द्रव्योपार्जन उसकी रक्षा और धर्मयुक्त परोपकार में व्यय करने आदि कर्मों को सदा किया करो ॥ २५ ॥ हे स्त्री पुरुषो ! तुम अपना (आयुः) जीवन बढ़ाओ (च) और सब जीवन में

धर्मयुक्त उत्तम कर्म ही किया करो (रूपञ्च) विषयासक्ति कुपथ्य रोग और अधर्माचरण को छोड़ के अपने स्वरूप को अच्छा रक्खो और वस्त्राभूषण भी धारण किया करो (नाम, च) नामकरण के पृष्ठ ५७–५८ में लिखे प्रमाणे शास्त्रोक्त संज्ञा धारण और उसके नियमों को भी (तथा) (कीर्तिश्च) सत्याचरण से प्रशंसा का धारण (करो) और गुणों में दोषारोपणरूप निन्दा को छोड़ दो (प्राणश्च) चिरकालपर्यन्त जीवन का धारण और उसके युक्ताहार विहारादि साधन (अपानश्च) सब दुःख दूर करने का उपाय और उसकी सामग्री (चक्षुश्च) प्रत्यक्ष और अनुमान, उपमान (श्रोत्रञ्च) शब्दप्रमाण और उसकी सामग्री को धारण किया करो ॥ २६ ॥ हे गृहस्थ लोगो ! (पयश्च) उत्तम जल दूध और इसका शोधन और युक्ति से सेवन (रसश्च) घृत दूध मधु आदि और इसका युक्ति से आहार विहार (अन्नञ्च) उत्तम चावल आदि अन्न और उसके उत्तम संस्कार किये (अन्नाद्यञ्च) खाने के योग्य पदार्थ और उसके साथ उत्तम दाल शाक कढ़ी आदि (ऋतञ्च) सत्य मानना और सत्य मनवाना (सत्यञ्च) सत्य बोलना और बुलवाना (इष्टञ्च) यज्ञ करना और कराना (पूर्त्तञ्च) यज्ञ की सामग्री पूरी करना तथा जलाशय और आराम वाटिका आदि का बनाना और बनवाना (प्रजा, च) प्रजा की उत्पत्ति, पालन और उन्नति सदा करनी तथा करानी (पशवश्च) गाय आदि पशुओं का पालन और उन्नति सदा करनी तथा करानी चाहिये ॥ २७ ॥

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः । एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥ १ ॥ य० अ० ४० । मं० २ ॥

अर्थः—मैं परमात्मा सब मनुष्यों के लिये आज्ञा देता हूं कि प्रत्येक मनुष्य (इह) इस संसार में शरीर से समर्थ हो के (कर्माणि) सत्कर्मों को (कुर्वन्नेव) करता ही करता (शतं, समाः) १०० (सौ) वर्ष पर्यन्त (जिजीविषेत्) जीने की इच्छा करे, आलसी और प्रमादी कभी न होवे । (एवम्) इस प्रकार उत्तम कर्म करते हुए (त्वयि) तुझ (नरे) मनुष्य में (इतः) इस हेतु से (अन्यथा) उलटापनरूप (कर्म) दुःखद कर्म (न लिप्यते) लिप्यमान कभी

नहीं होता, और तुम पापरूप कर्म में लिप्त कभी मत होओ, इस उत्तम कर्म से कुछ भी दुःख (नास्ति) नहीं होता। इसलिये तुम स्त्री पुरुष सदा पुरुषार्थी होकर उत्तम कर्मों से अपनी और दूसरों की सदा उन्नति किया करो ॥ १ ॥ पुनः स्त्री पुरुष सदा निम्नलिखित मन्त्रों के अनुकूल इच्छा और आचरण किया करें। वे मन्त्र ये हैं—

भूर्भुवः स्वः। सुप्रजाः प्रजाभिः स्याᳪ सुवीरो वीरैः सुपोषः पोषैः। नर्य प्रजां मे पाहि शᳪस्य पशून् मे पाह्यथर्य पितुं मे पाहि ॥ २ ॥ गृहा मा बिभीत मा वेपध्वमूर्जं बिभ्रत एमसि। ऊर्जं बिभ्रद्वः सुमनाः सुमेधा गृहानैमि मनसा मोदमानः ॥ ३ ॥ य० अ० ३। मं० ३७। ४१ ॥

अर्थः—हे स्त्री वा पुरुष ! मैं तेरे वा अपने के सम्बन्ध से (भूर्भुवः स्वः) शारीरिक, वाचिक और मानस अर्थात् त्रिविध सुख से युक्त हो के (प्रजाभिः) मनुष्यादि उत्तम प्रजाओं के साथ (सुप्रजाः) उत्तम प्रजायुक्त (स्याम) होऊं। (वीरैः) उत्तम पुत्र बन्धु सम्बन्धी और भृत्यों से [सह वर्त्तमान] (सुवीरः) उत्तम वीरों [से] सहित होऊं। (पोषैः) उत्तम पुष्टिकारक व्यवहारों से (सुपोषः) उत्तम पुष्टियुक्त होऊं। हे (नर्य) मनुष्यों में सज्जन वीर स्वामिन् ! (मे) मेरी (प्रजाम्) प्रजा की (पाहि) रक्षा कीजिये। हे (शंस्य) प्रशंसा करने योग्य स्वामिन् ! आप (मे) मेरे (पशून्) पशुओं की (पाहि) रक्षा कीजिये। हे (अथर्य) अहिंसक दयालो स्वामिन् ! (मे) मेरे (पितुम्) अन्न आदि की (पाहि) रक्षा कीजिये। वैसे हे नारी ! प्रशंसनीय गुणयुक्त तू मेरी प्रजा मेरे पशु और मेरे अन्न की सदा रक्षा किया कर ॥ २ ॥ हे (गृहाः) गृहस्थ लोगो ! तुम विधिपूर्वक गृहाश्रम में प्रवेश करने से (मा, बिभीत) मत डरो (मा, वेपध्वम्) मत कम्पायमान होओ, (ऊर्जम्) अन्न पराक्रम तथा विद्यादि शुभ गुण से युक्त होकर गृहाश्रम को (बिभ्रतः) धारण करते हुए तुम लोगों को हम सत्योपदेशक विद्वान् लोग (एमसि) प्राप्त होते और सत्योपदेश करते हैं और अन्नपानाच्छादन स्थान से तुम्हीं हमारा निर्वाह करते हो, इसलिये तुम्हारा गृहाश्रम व्यवहार में निवास सर्वोत्कृष्ट है। हे वरानने ! जैसे मैं तेरा पति (मनसा) अन्तःकरण से (मोद-

मानः) आनन्दित (सुमनाः) प्रसन्नमन (सुमेधाः) उत्तम बुद्धि से युक्त तुझको, और हे मेरे पूजनीयतम पिता आदि लोगो ! (वः) तुम्हारे लिये (ऊर्ज्जम्) पराक्रम तथा अन्नादि ऐश्वर्य (बिभ्रत्) धारण करता हुआ तुम (गृहान्) गृहस्थों को (आ, एमि) सब प्रकार से प्राप्त होता हूं, उसी प्रकार तुम लोग भी मुझ से प्रसन्न हो के वर्त्ता करो ॥ ३ ॥

येषा॑म॒द्ध्येति॑ प्र॒वस॒न्येषु॑ सौमन॒सो ब॒हुः । गृ॒हानुप॑ ह्वयामहे॒ ते नो॑ जानन्तु जान॒तः ॥ ४ ॥ उप॑हूता॒ऽइ॒ह गाव॒ऽउप॑हूताऽअजा॒वयः॑ । अथो॒ अन्न॑स्य कीलाल॒ऽउप॑हूतो गृ॒हेषु॑ नः । क्षेमा॑य वः॒ शान्त्यै॒ प्रप॑द्ये शि॒वꣳ श॒ग्मꣳ शं॒योः शं॒योः ॥ ५ ॥ यजु० अध्याय ३ । मं० ४२ । ४३ ॥

अर्थः—हे गृहस्थो ! (प्रवसन्) परदेश को गया हुआ मनुष्य (येषाम्) जिनका (अध्येति) स्मरण करता है, (येषु) जिन गृहस्थों में (बहुः) बहुत (सौमनसः) प्रीति होती है उन (गृहान्) गृहस्थों की हम विद्वान् लोग (उप, ह्वयामहे) प्रशंसा करते और प्रीति से समीप बुलाते हैं, (ते) वे गृहस्थ लोग (जानतः) उनको जाननेवाले (नः) हम लोगों को (जानन्तु) सुहृद् जानें, वैसे तुम गृहस्थ और हम संन्यासी लोग आपस में मिल के पुरुषार्थ से व्यवहार और परमार्थ की उन्नति सदा किया करें ॥ ४ ॥ हे गृहस्थो ! (नः) अपने (गृहेषु) घरों में जिस प्रकार (गावः) गौ आदि उत्तम पशु (उपहूताः) समीपस्थ हों तथा (अजावयः) बकरी भेड़ आदि दूध देनेवाले पशु (उपहूताः) समीपस्थ हों (अथो) इसके अनन्तर (अन्नस्य) अन्नादि पदार्थों के मध्य में उत्तम (कीलालः) अन्नादि पदार्थ (उपहूतः) प्राप्त होवे हम लोग वैसा प्रयत्न किया करें । हे गृहस्थो ! मैं उपदेशक वा राजा (इह) इस गृहाश्रम में (वः) तुम्हारे (क्षेमाय) रक्षण तथा (शान्त्यै) निरुपद्रवता करने के लिये (प्रपद्ये) प्राप्त होता हूं । मैं और आप लोग प्रीति से मिल के (शिवम्) कल्याण (शग्मम्) व्यावहारिक सुख और (शंयोः, शंयोः) पारमार्थिक सुख को प्राप्त हो के अन्य सब लोगों को सदा सुख दिया करें ॥ ५ ॥

सन्तुष्टो भार्यया भर्त्ता भर्त्रा भार्या तथैव च ।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ॥ १ ॥
यदि हि स्त्री न रोचेत पुमांसं न प्रमोदयेत् ।
अप्रमोदात् पुनः पुंसः प्रजनं न प्रवर्त्तते ॥ २ ॥

मनु० अ० ३ । श्लो० ६०, ६१ ॥

अर्थः—हे गृहस्थो ! जिस कुल में भार्या से प्रसन्न पति और पति से भार्या सदा प्रसन्न रहती है उसी कुल में निश्चित कल्याण होता है और दोनों परस्पर अप्रसन्न रहें तो उस कुल में नित्य कलह वास करता है ॥ १ ॥ यदि स्त्री पुरुष पर रुचि न रक्खे वा पुरुष को प्रहर्षित न करे तो अप्रसन्नता से पुरुष के शरीर म कामोत्पत्ति कभी न हो के सन्तान नहीं होते और यदि होते हैं तो दुष्ट होते हैं ॥ २ ॥

स्त्रियान्तु रोचमानायां सर्वन्तद्रोचते कुलम् ।
तस्यां त्वरोचमानायां सर्वमेव न रोचते ॥ ३ ॥

मनु० अ० ३ । श्लो० ६२ ॥

अर्थः—और जो पुरुष स्त्री को प्रसन्न नहीं करता तो उस स्त्री के अप्रसन्न रहने से सब कुल भर अप्रसन्न शोकातुर रहता है और जब पुरुष से स्त्री प्रसन्न रहती है तब सब कुल आनन्दरूप दीखता है ॥ ३ ॥

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा ।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः ॥ ४ ॥
यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः ॥ ५ ॥
शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम् ।
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्द्धते तद्धि सर्वदा ॥ ६ ॥
जामयो यानि गेहानि शपन्त्यप्रतिपूजिताः ।
तानि कृत्याहतानीव विनश्यन्ति समन्ततः ॥ ७ ॥

मनु० अ० ३ । श्लो० ५५-५८ ॥

अर्थः—पिता, भ्राता, पति और देवर को योग्य है कि अपनी कन्या, बहिन स्त्री और भौजाई आदि स्त्रियों की सदा पूजा करें अर्थात् यथायोग्य मधुर भाषण भोजन वस्त्र आभूषण आदि से प्रसन्न रक्खें। जिनको कल्याण की इच्छा हो वे स्त्रियों को क्लेश कभी न देवें ॥ ४ ॥ जिस कुल में नारियों की पूजा अर्थात् सत्कार होता है उस कुल में दिव्य गुण, दिव्य भोग और उत्तम सन्तान होते हैं, और जिस कुल में स्त्रियों की पूजा नहीं होती वहां जानों उनकी सब क्रिया निष्फल हैं ॥ ५ ॥ जिस कुल में स्त्री लोग अपने २ पुरुषों के वेश्यागमन वा व्यभिचारादि दोषों से शोकातुर रहती हैं वह कुल शीघ्र नाश को प्राप्त होजाता है और जिस कुल में स्त्रीजन पुरुषों के उत्तमाचरणों से प्रसन्न रहती हैं वह कुल सर्वदा बढ़ता रहता है ॥ ६ ॥ जिन कुल और घरों में अपूजित अर्थात् सत्कार को न प्राप्त होकर स्त्री लोग जिन गृहस्थों को शाप देती हैं वे कुल तथा गृहस्थ जैसे विष देकर बहुतों को एकवार नाश कर देवें वैसे चारों ओर से नष्ट भ्रष्ट होजाते हैं ॥ ७ ॥

तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः ।
भूतिकामैर्नरैर्नित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च ॥ ८ ॥ मनु० अ० ३ । श्लो० ५६ ॥

अर्थः—इस कारण ऐश्वर्य की इच्छा करनेवाले पुरुषों को योग्य है कि इन स्त्रियों को सत्कार के अवसरों और उत्सवों में भूषण, वस्त्र, खान, पान आदि से सदा पूजा अर्थात् सत्कारयुक्त प्रसन्न रक्खें ॥ ८ ॥

सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु दक्षया ।
सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्तहस्तया ॥ ९ ॥
मनु० अ० ५ । श्लो० १५० ॥

अर्थः—स्त्री को योग्य है कि सदा आनन्दित होके चतुरता से गृहकार्यों में वर्त्तमान रहे, तथा अन्नादि के उत्तम संस्कार, पात्र वस्त्र गृह आदि के संस्कार, और घर के भोजनादि में जितना नित्य धन आदि लगे उसके यथायोग्य करने में सदा प्रसन्न रहे ॥ ९ ॥

एताश्चान्याश्च लोकेऽस्मिन्नपकृष्टप्रसूतयः ।
उत्कर्षं योषितः प्राप्ताः स्वैः स्वैर्भर्तृगुणैः शुभैः ॥ १० ॥
मनु० अ० ९ । श्लो २४ ॥

अर्थः—यदि स्त्रियां दुष्टाचारयुक्त भी हों तथापि इस संसार में बहुत स्त्रियां अपने २ पतियों के शुभ गुणों से उत्कृष्ट होगईं, होती हैं और होंगी भी, इसलिये यदि पुरुष श्रेष्ठ हों तो स्त्रियां श्रेष्ठ और दुष्ट हों तो दुष्ट होजाती हैं, इससे प्रथम मनुष्यों को उत्तम हो के अपनी स्त्रियों को उत्तम करना चाहिये ॥ १० ॥

प्रजनार्थं महाभागाः पूजार्हा गृहदीप्तयः ।
स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन ॥ ११ ॥
मनु० अ० ९ । श्लो० २६ ॥

उत्पादनमपत्यस्य जातस्य परिपालनम् ।
प्रत्यहं लोकयात्रायाः प्रत्यक्षं स्त्रीनिबन्धनम् ॥ १२ ॥
अपत्यं धर्मकार्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा ।
दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितॄणामात्मनश्च ह ॥ १३ ॥
यथा वायुं समाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्वजन्तवः ।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्व आश्रमाः ॥ १४ ॥
मनु० अ० ९ । श्लो० ७७ ॥

अर्थः—हे पुरुषो ! सन्तानोत्पत्ति के लिये महाभाग्योदय करनेहारी, पूजा के योग्य, गृहाश्रम को प्रकाश करती, सन्तानोत्पत्ति करने करानेहारी, घरों में स्त्रियां हैं वे श्री अर्थात् लक्ष्मीस्वरूप होती हैं क्योंकि लक्ष्मी शोभा धन और स्त्रियों में कुछ भेद नहीं है ॥ ११ ॥ हे पुरुषो ! अपत्यों की उत्पत्ति, उत्पन्न का पालन करने आदि लोकव्यवहार को नित्यप्रति जो कि गृहाश्रम का कार्य होता है उसका निबन्ध करनेवाली प्रत्यक्ष स्त्री है ॥ १२ ॥ सन्तानोत्पत्ति, धर्मकार्य, उत्तम सेवा और रति तथा अपना और पितरों का जितना सुख है यह सब स्त्री ही के आधीन होता है ॥ १३ ॥ जैसे वायु के आश्रय से सब जीवों का वर्त्त-

मान सिद्ध होता है वैसे ही गृहस्थ के आश्रय से ब्रह्मचारी वानप्रस्थ और संन्यासी अर्थात् सब आश्रमों का निर्वाह [गृहस्थ के आश्रय से] होता है ॥ १४ ॥

यस्मात् त्रयोऽप्याश्रमिणो दानेनान्नेन चान्वहम् ।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही ॥ १५ ॥
सः संधार्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता ।
सुखं चेहेच्छता नित्यं योऽधार्यो दुर्बलेन्द्रियैः ॥ १६ ॥
मनु० अ० ३ । श्लो० ७८-७९ ॥

सर्वेषामपि चैतेषां वेदस्मृतिविधानतः ।
गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठः स त्रीनेतान् बिभर्ति हि ॥ १७ ॥ मनु० ॥

अर्थः—जिससे ब्रह्मचारी वानप्रस्थ और संन्यासी इन तीन आश्रमियों को अन्न वस्त्रादि दान से नित्यप्रति गृहस्थ धारण पोषण करता है इसलिये व्यवहार में गृहाश्रम सब से बड़ा है ॥ १५ ॥ हे स्त्री पुरुषो ! जो तुम अक्षय * मुक्ति-सुख और इस संसार के सुख की इच्छा रखते हो तो जो दुर्बलेन्द्रिय और निर्बुद्धि पुरुषों के धारण करने योग्य नहीं है उस गृहाश्रम को नित्य प्रयत्न से धारण करो ॥ १६ ॥ वेद और स्मृति के प्रमाण से सब आश्रमों के बीच में गृहाश्रम श्रेष्ठ है क्योंकि यही आश्रम ब्रह्मचारी आदि तीनों आश्रमों का धारण और पालन करता है ॥ १७ ॥

यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम् ।
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ॥ १८ ॥
मनु० अ० ६ । श्लो० ९० ॥

उपासते ये गृहस्थाः परपाकमबुद्धयः ।
तेन ते प्रेत्य पशुतां व्रजन्त्यन्नादिदायिनाम् ॥ १९ ॥

* अक्षय इतना ही मात्र है कि जितना समय मुक्ति का है उतने समय में दुःख का संयोग, जैसा विषयेन्द्रिय के संयोगजन्य सुख में होता है वैसा, नहीं होता ॥

आसनावसथौ शय्यामनुव्रज्यामुपासनाम् ।
उत्तमेषूत्तमं कुर्याद्धीने हीनं समे समम् ॥ २० ॥
पाषण्डिनो विकर्मस्थान् बैडालव्रतिकान् शठान् ।
हैतुकान् बकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत् ॥ २१ ॥
मनु० अ० ४ । श्लो० ३० ॥

अर्थः—हे मनुष्यो ! जैसे सब बड़े २ नद और नदी सागर में जाकर स्थिर होते हैं, वैसे ही सब आश्रमी गृहस्थ ही को प्राप्त हो के स्थिर होते हैं ॥ १८ ॥ यदि गृहस्थ हो के पराये घर में भोजनादि की इच्छा करते हैं तो वे बुद्धिहीन गृहस्थ अन्य से प्रतिग्रहरूप पाप करके जन्मान्तर में अन्नादि के दाताओं के पशु बनते हैं, क्योंकि अन्य से अन्नादि का ग्रहण करना अतिथियों का काम है, गृहस्थों का नहीं ॥ १९ ॥ जब गृहस्थ के समीप अतिथि आवें तब आसन, निवास, शय्या पश्चाद्गमन और समीप में बैठना आदि सत्कार जैसे का वैसा अर्थात् उत्तम का उत्तम, मध्यम का मध्यम और निकृष्ट का निकृष्ट करे ऐसा न हो कि कभी न समझें ॥ २० ॥ किन्तु जो पाखण्डी, वेदनिन्दक, नास्तिक, ईश्वर वेद और धर्म को न माने, अधर्माचरण करनेहारे, हिंसक, शठ, मिथ्याभिमानी, कुतर्की और बकवृत्ति अर्थात् पराये पदार्थ हरने वा बहकाने में बगुले के समान, अतिथिवेषधारी बन के आवें उनका वचनमात्र से भी सत्कार गृहस्थ कभी न करे ॥ २१ ॥

दशसूनासमं चक्रं दशचक्रसमो ध्वजः ।
दशध्वजसमो वेशो दशवेशसमो नृपः ॥ २२ ॥
मनु० अ० ४ । श्लो० ८५ ॥

न लोकवृत्तं वर्तेत वृत्तिहेतोः कथंचन ।
अजिह्मामशठां शुद्धां जीवेद् ब्राह्मणजीविकाम् ॥ २३ ॥
सत्यधर्मार्यवृत्तेषु शौचे चैवारमेत्सदा ।
शिष्यांश्च शिष्याद्धर्मेण वाग्बाहूदरसंयतः ॥ २४ ॥

परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ ।
धर्मं चाप्यसुखोदर्कं लोकविक्रुष्टमेव च ॥ २५ ॥
मनु० अ० ४ । श्लो० १७५, १७६ ॥

अर्थः—दश हत्या के समान चक्र अर्थात् कुम्हार (तथा) गाड़ी से जीविका करनेहारे, दश चक्र के समान ध्वज अर्थात् धोबी (तथा) मद्य को निकाल कर बेचनेहारे दशध्वज के समान वेश अर्थात् वेश्या, भड़ुआ, भांड, दूसरे की नकल अर्थात् पाषाणमूर्तियों के पूजक (पूजारी) आदि। और दशवेश के समान जो अन्याय-कारी राजा होता है उनके अन्न आदि का ग्रहण अतिथि लोग कभी भी न करें ॥ २२ ॥ गृहस्थ जीविका के लिये भी कभी शास्त्रविरुद्ध लोकाचार का वर्त्ताव न वर्त्ते, किन्तु जिसमें किसी प्रकार की कुटिलता मूर्खता मिथ्यापन वा अधर्म न हो उस वेदोक्तधर्मसम्बन्धी जीविका को करे ॥ २३ ॥ किन्तु सत्य, धर्म, आर्य अर्थात् आप्त पुरुषों के व्यवहार और शौच पवित्रता ही में सदा गृहस्थ लोग प्रवृत्त रहें और सत्यवाणी, भोजनादि के लोभरहित हस्तपादादि की कुचेष्टा छोड़कर धर्म से शिष्यों और सन्तानों को उत्तम शिक्षा सदा किया करें ॥२४॥ यदि बहुतसा धन राज्य और अपनी कामना अधर्म से सिद्ध होती हो तो भी अधर्म सर्वथा छोड़ देवें और वेदविरुद्ध धर्माभास जिसके करने से उत्तर काल में दुःख और संसार की उन्नति का नाश हो वैसा नाममात्र धर्म और कर्म कभी न किया करें ॥ २५ ॥

सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम् ।
योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः ॥ २६ ॥
क्षान्त्या शुध्यन्ति विद्वांसो दानेनाकार्यकारिणः ।
प्रच्छन्नपापा जप्येन तपसा वेदवित्तमाः ॥ २७ ॥
अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति ।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति ॥ २८ ॥
दशावरा वा परिषद्यं धर्मं परिकल्पयेत् ।
त्र्यवरा वापि वृत्तस्था तं धर्मं न विचालयेत् ॥ २९ ॥
मनु० अ० १२ । श्लो० ११० ॥

दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति ।
दण्डः सुप्तेषु जागर्त्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः ॥ ३० ॥
मनु० अ० ७ । श्लो० १८ ॥

तस्याहुः संप्रणेतारं राजानं सत्यवादिनम् ।
समीक्ष्यकारिणं प्राज्ञं धर्मकामार्थकोविदम् ॥ ३१ ॥
मनु० अ० ७ । श्लो० २६ ॥

अर्थः—जो धर्म ही से पदार्थों का संचय करना है वही सब पवित्रताओं में उत्तम पवित्रता, अर्थात् जो अन्याय से किसी पदार्थ का ग्रहण नहीं करता वही पवित्र है, किन्तु जल मृत्तिकादि से जो पवित्रता होती है वह धर्म के सदृश उत्तम नहीं है ॥ २६ ॥ विद्वान् लोग क्षमा से, दुष्टकर्मकारी सत्सङ्ग और विद्यादि शुभगुणों के दान से, गुप्त पाप करनेहारे विचार से त्याग कर, और ब्रह्मचर्य तथा सत्यभाषणादि से वेदवित् उत्तम विद्वान् शुद्ध होते हैं ॥ २७ ॥ किन्तु जल से ऊपर के अङ्ग पवित्र होते हैं, आत्मा और मन नहीं, मन तो सत्य मानने, सत्य बोलने और सत्य करने से शुद्ध और जीवात्मा विद्या योगाभ्यास और धर्माचरण ही से पवित्र तथा बुद्धि ज्ञान से ही शुद्ध होती है, जल मृत्तिकादि से नहीं ॥ २८ ॥ गृहस्थ लोग छोटों बड़ों वा राजकार्यों के सिद्ध करने में कम से कम १० अर्थात् ऋग्वेदज्ञ, यजुर्वेदज्ञ, सामवेदज्ञ, हैतुक (नैयायिक), तर्ककर्त्ता (मीमांसा शास्त्रज्ञ), नैरुक्त (निरुक्तशास्त्रज्ञ), धर्माध्यापक, ब्रह्मचारी, स्नातक और वानप्रस्थ विद्वानों अथवा अतिन्यूनता करे तो तीन वेदवित् (ऋग्वेदज्ञ, यजुर्वेदज्ञ और सामवेदज्ञ) विद्वानों की सभा से कर्त्तव्याकर्त्तव्य धर्म और अधर्म का जैसा निश्चय हो वैसा ही आचरण किया करे ॥ २९ ॥ और जैसा विद्वान् लोग दण्ड ही को धर्म जानते हैं वैसा सब लोग जानें, क्योंकि दण्ड ही प्रजा का शासन अर्थात् नियम में रखनेवाला, दण्ड ही सब का सब ओर से रक्षक और दण्ड ही सोते हुओं में जागता है, चोरादि दुष्ट भी दण्ड ही के भय से पापकर्म नहीं कर सकते ॥ ३० ॥ उस दण्ड को अच्छे प्रकार चलानेहारे उस राजा को कहते हैं कि

जो सत्यवादी, विचार ही करके कार्य का कर्त्ता, बुद्धिमान्, विद्वान्, धर्म, काम और अर्थ का यथावत् जाननेहारा हो ॥ ३१ ॥

सोऽसहायेन मूढेन लुब्धेनाकृतबुद्धिना ।
न शक्यो न्यायतो नेतुं सक्तेन विषयेषु च ॥ ३२ ॥
शुचिना सत्यसन्धेन यथाशास्त्रानुसारिणा ।
प्रणेतुं शक्यते दण्डः सुसहायेन धीमता ॥ ३३ ॥
मनु० अ० ७ । श्लो० ३०, ३१ ॥

अदण्ड्यान् दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन् ।
अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति ॥ ३४ ॥
मनु० अ० ८ । श्लो० १२८ ॥

अर्थः—जो राजा उत्तम सहाय रहित मूढ़ लोभी, जिसने ब्रह्मचर्यादि उत्तम कर्मों से विद्या और बुद्धि की उन्नति नहीं की, विषयों में फंसा हुआ है उससे वह दण्ड कभी न्यायपूर्वक नहीं चल सकता ॥ ३२ ॥ इसलिये जो पवित्र, सत्पुरुषों का संगी, राजनीति शास्त्र के अनुकूल चलनेहारा, धार्मिक पुरुषों के सहाय से युक्त, बुद्धिमान् राजा हो वही इस दण्ड को धारण करके चला सकता है ॥ ३३ ॥ जो राजा अनपराधियों को दण्ड देता और अपराधियों को दंड नहीं देता है वह इस जन्म में बड़ी अपकीर्ति को प्राप्त होता और मरे पश्चात् नरक अर्थात् महादुःख को पाता है ॥ ३४ ॥

मृगयाक्षो दिवास्वप्नः परिवादः स्त्रियो मदः ।
तौर्यत्रिकं वृथाटया च कामजो दशको गणः ॥ ३५ ॥
पैशुन्यं साहसं द्रोह ईर्ष्याऽसूयार्थदूषणम् ।
वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः ॥ ३६ ॥
द्वयोरप्येतयोर्मूलं यं सर्वे कवयो विदुः ।
तं यत्नेन जयेल्लोभं तज्जावेतावुभौ गणौ ॥ ३७ ॥
मनु० अ० ७ । श्लो० ४७–४९ ॥

अर्थः—मृगया अर्थात् शिकार खेलना, चूत और प्रसन्नता के लिये भी चौपड़ आदि खेलना, दिन में सोना हंसी ठट्ठा मिथ्यावाद करना स्त्रियों के साथ सदा अधिक निवास में मोहित होना, मद्यपानादि नशाओं का करना, गाना, बजाना नाचना वा इनका देखना और वृथा इधर उधर घूमते फिरना ये दश दुर्गुण काम से होते हैं ॥ ३५ ॥ और चुगली खाना, विना विचारे काम कर बैठना, जिस किसी से वृथा वैर बांधना, दूसरे की स्तुति सुन वा बढ़ती देख के हृदय में जला करना, दूसरों के गुणों में दोष और दोषों में गुण स्थापन करना, बुरे कामों में धन का लगाना, क्रूर वाणी और विना विचारे पक्षपात से किसी को करड़ा दण्ड देना ये आठ दोष क्रोधी पुरुष में उत्पन्न होते हैं। ये १८ (अठारह) दुर्गुण हैं इनको राजा अवश्य छोड़ देवे ॥ ३६ ॥ और जो इन कामज और क्रोधज १८ (अठारह) दोषों के मूल जिस लोभ को सब विद्वान् लोग जानते हैं उसको प्रयत्न से राजा जीते, क्योंकि लोभ ही से पूर्वोक्त १८ (अठारह) और अन्य दोष भी बहुत से होते हैं, इसलिये हे गृहस्थ लोगो ! चाहे वह राजा का ज्येष्ठ पुत्र क्यों न हो परन्तु ऐसे दोष वाले मनुष्य को राजा कभी न करना, यदि भूल से हुआ हो तो उसको राज्य से च्युत करके किसी योग्य पुरुष को जो कि राजा के कुल का हो राज्याधिकारी करना, तभी प्रजा में आनन्द मङ्गल सदा बढ़ता रहेगा ॥ ३७ ॥

सैनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च ।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥ ३८ ॥
मनु० अ० १२ । श्लो० १०० ॥

मौलान् शास्त्रविदः शूरान् लब्धलक्षान्कुलोद्गतान् ।
सचिवान् सप्त चाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान् ॥ ३९ ॥
मनु० अ० ७ । श्लो० ५४ ॥

अन्यानपि प्रकुर्वीत शुचीन्प्राज्ञानवस्थितान् ।
सम्यगर्थसमाहर्तॄनमात्यान् सुपरीक्षितान् ॥ ४० ॥
मनु० अ० ७ । श्लो० ६० ॥

अर्थः—जो वेदशास्त्रवित् धर्मात्मा जितेन्द्रिय न्यायकारी और आत्मा के बल से युक्त पुरुष होवे उसी को सेना, राज्य, दण्डनीति और प्रधानपद का अधिकार देना अन्य क्षुद्राशयों को नहीं ॥ ३८ ॥ और जो अपने राज्य में उत्पन्न, शास्त्रों के जाननेहारे, शूरवीर, जिनका विचार निष्फल न होवे, कुलीन धर्मात्मा, स्वराज्यभक्त हों उन सात वा आठ पुरुषों को अच्छी प्रकार परीक्षा करके मन्त्री करे और इन्हीं की सभा में आठवां वा नववां राजा हो ये सब मिल के कर्त्तव्याकर्त्तव्य कामों का विचार किया करें ॥ ३९ ॥ इसी प्रकार अन्य भी राज्य और सेना के अधिकारी जितने पुरुषों से राजकार्य सिद्ध होसके उतने ही पवित्र धार्मिक विद्वान् चतुर स्थिरबुद्धि पुरुषों को राज्यसामग्री के वर्धक नियत करे ॥ ४० ॥

दूतं चैव प्रकुर्वीत सर्वशास्त्रविशारदम् ।
इङ्गिताकारचेष्टज्ञं शुचिं दक्षं कुलोद्गतम् ॥ ४१ ॥
मनु० अ० ७ । श्लो० ६३ ।

अलब्धमिच्छेद्दण्डेन लब्धं रक्षेदवेक्षया ।
रक्षितं वर्धयेद्वृद्ध्या वृद्धं पात्रेषु निःक्षिपेत् ॥ ४२ ॥
मनु० अ० ७ । श्लो० १०१ ॥

अर्थः—तथा जो सब शास्त्र में निपुण, नेत्रादि के संकेत स्वरूप तथा चेष्टा से दूसरे के हृदय की बात को जाननेहारा, शुद्ध, बड़ा स्मृतिमान्, देश काल जाननेहारा, सुन्दर जिसका स्वरूप, बड़ा वक्ता और अपने कुल में मुख्य हो उस और स्वराज्य और परराज्य के समाचार देनेहारे अन्य दूतों को भी नियत करे ॥ ४१ ॥ तथा राजादि राजपुरुष अलब्ध राज्य की इच्छा दंड से, और प्राप्त राज्य की रक्षा संभाल से, रक्षित राज्य और धन को व्यापार और व्याज से बढ़ा और सुपात्रों के द्वारा सत्यविद्या और सत्यधर्म के प्रचार आदि उत्तम व्यवहारों में बढ़े हुए धन आदि पदार्थों का व्यय करके सब की उन्नति सदा किया करें ॥ ४२ ॥

विधिः—सदा स्त्री पुरुष १० (दश) बजे शयन और रात्रि के पहिले प्रहर वा ४ बजे उठके प्रथम हृदय में परमेश्वर का चिन्तन करके धर्म अर्थ का विचार किया करें, और धर्म और अर्थ के अनुष्ठान वा उद्योग करने में यदि कभी पीड़ा भी हो तथापि धर्मयुक्त पुरुषार्थ को कभी न छोड़ें, किन्तु सदा शरीर और आत्मा की रक्षा के लिये युक्त आहार विहार औषधसेवन सुपथ्य आदि से निरन्तर उद्योग करके व्यावहारिक और पारमार्थिक कर्त्तव्य कर्म की सिद्धि के लिये ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना भी किया करें कि जिस परमेश्वर की कृपादृष्टि और सहाय से महाकठिन कार्य भी सुगमता से सिद्ध हो सके, इसके लिये निम्नलिखित मन्त्र हैं:—

प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे प्रातर्मित्रावरुणा प्रातरश्विना । प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं प्रातस्सोममुत रुद्रं हुवेम * ॥ १ ॥ प्रातर्जितं भगमुग्रं हुवेम वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्ता । आध्रश्चिद्यं मन्यमानस्तुरश्चिद्राजा चिद्यं भगं भक्षीत्याह † ॥ २ ॥ भग प्रणेतर्भग सत्यराधो भगेमां धियमुदवा

---

* हे स्त्री पुरुषो ! जैसे हम विद्वान् उपदेशक लोग (प्रातः) प्रभात वेला में (अग्निम्) स्वप्रकाशस्वरूप (प्रातः) (इन्द्रम्) परमैश्वर्य के दाता और परमैश्वर्ययुक्त (प्रातः) (मित्रावरुणा) प्राण उदान के समान प्रिय और सर्वशक्तिमान् (प्रातः) (अश्विना) सूर्य चन्द्र को जिसने उत्पन्न किया है उस परमात्मा की (हवामहे) स्तुति करते हैं और (प्रातः) (भगम्) भजनीय सेवनीय ऐश्वर्ययुक्त (पूषणम्) पुष्टिकर्त्ता (ब्रह्मणस्पतिम्) अपने उपासक, वेद और ब्रह्माण्ड के पालन करनेहारे (प्रातः) (सोमम्) अन्तर्यामी प्रेरक (उत) और (रुद्रम्) पापियों को रुलानेहारे और सर्वरोगनाशक जगदीश्वर की (हुवेम) स्तुति प्रार्थना करते हैं वैसे प्रातःसमय तुम लोग भी किया करो ॥ १ ॥

† (प्रातः) पांच घड़ी रात्रि रहे (जितम्) जयशील (भगम्) ऐश्वर्य के दाता (उग्रम्) तेजस्वी (अदितेः) अन्तरिक्ष के (पुत्रम्) सूर्य की उत्पत्ति करनेहारे और (यः) जो कि सूर्यादि लोकों का (विधर्त्ता) विशेष करके धारण करनेहारा (आध्रः) सब ओर से धारणकर्त्ता (यं, चित्) जिस किसी का भी (मन्यमानः) जाननेहारा (तुरश्चित्) दुष्टों का भी दण्डदाता और (राजा) सब का प्रकाशक है (यम्) जिस (भगम्) भजनीय स्वरूप को (चित्) भी

ददन्नः । भग प्र णो जनय गोभिरश्वैर्भग प्र नृभिर्नृवन्तः स्याम * ॥ ३ ॥ उतेदानीं भगवन्तः स्यामोत प्रपित्व उत मध्ये अह्नाम् । उतोदिता मघवन्त्सूर्यस्य वयं देवानां सुमतौ स्याम † ॥ ४ ॥ भग एव भगवाँ अस्तु देवास्तेन वयं भगवन्तः स्याम । तं त्वा भग सर्व इज्जोहवीति स नो भग पुरएता भवेह ‡ ॥ ५ ॥ ऋ० मं० ७ । सू० ४१ । मं० १–५ ॥

(भक्षीति) इस प्रकार सेवन करता हूं और इसी प्रकार भगवान् परमेश्वर सब को (आह) उपदेश करता है कि तुम, जो मैं सूर्यादि जगत् का बनाने और धारण करनेहारा हूं उस मेरी उपासना किया और मेरी आज्ञा में चला करो इससे (वयम्) हमलोग उसकी (हुवेम) स्तुति करते हैं ॥ २ ॥

* हे (भग) भजनीयस्वरूप (प्रणेतः) सब के उत्पादक सत्याचार में प्रेरक (भग) ऐश्वर्यप्रद (सत्यराधः) सत्य धन को देनेहारे (भग) सत्याचरण करनेहारों को ऐश्वर्यदाता आप परमेश्वर (नः) हम को (इमाम्) इस (धियम्) प्रज्ञा को (ददत्) दीजिये और उसके दान से हमारी (उदव) रक्षा कीजिये हे (भग) आप (गोभिः) गाय आदि और (अश्वैः) घोड़े आदि उत्तम पशुओं के योग से राज्यश्री को (नः) हमारे लिये (प्रजनय) प्रकट कीजिये, हे (भग) आपकी कृपा से हम लोग (नृभिः) उत्तम मनुष्यों से (नृवन्तः) बहुत वीर मनुष्यवाले (प्र, स्याम) अच्छे प्रकार होवें ॥ ३ ॥

† हे भगवन् ! आप की कृपा (उत) और अपने पुरुषार्थ से हम लोग (इदानीम्) इस समय (प्रपित्वे) प्रकर्षता उत्तमता की प्राप्ति में (उत) और (अह्नाम्) इन दिनों के (मध्ये) मध्य में (भगवन्तः) ऐश्वर्ययुक्त और शक्तिमान् (स्याम) होवें (उत) और हे (मघवन्) परमपूजित असंख्य धन देनेहारे (सूर्यस्य) सूर्यलोक के (उदिता) उदय में (देवानाम्) पूर्ण विद्वान् धार्मिक आप लोगों की (सुमतौ) अच्छी उत्तम प्रज्ञा (उत) और सुमति में (वयम्) हम लोग (स्याम) सदा प्रवृत्त रहें ॥ ४ ॥

‡ हे (भग) सकलैश्वर्यसम्पन्न जगदीश्वर ! जिससे (तम्) उस (त्वा) आप की (सर्वः) सब सज्जन (इज्जोहवीति) निश्चय करके प्रशंसा करते हैं (सः) सो आप हे (भग) ऐश्वर्यप्रद ! (इह) इस संसार और (नः) हमारे गृहाश्रम में (पुरएता) अग्रगामी और आगे २ सत्य कर्मों में बढ़ानेहारे (भव) हूजिये और जिससे (भगएव) सम्पूर्ण ऐश्वर्ययुक्त और समस्त ऐश्वर्य के दाता

इस प्रकार परमेश्वर की प्रार्थना उपासना करनी। तत्पश्चात् शौच, दन्तधावन, मुखप्रक्षालन करके स्नान करें। पश्चात् एक कोश वा डेढ़ कोश एकान्त जङ्गल में जा के योगाभ्यास की रीति से परमेश्वर की उपासना कर, सूर्योदय पर्यन्त अथवा घड़ी आधघड़ी दिन चढ़े तक घर में आके सन्ध्योपासनादि नित्य कर्म नीचे लिखे प्रमाणे यथाविधि उचित समय में किया करें। इन नित्य करने के योग्य कर्मों में लिखे हुए मन्त्रों का अर्थ और प्रमाण पञ्चमहायज्ञविधि में देख लेवें। प्रथम शरीरशुद्धि अर्थात् स्नान पर्यन्त कर्म करके सन्ध्योपासन का आरम्भ करें। आरम्भ में दक्षिण हस्त में जल लेकेः—

ओं अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा ॥ १ ॥ ओं अमृतापिधानमसि स्वाहा ॥ २ ॥ ओं सत्यं यशः श्रीर्मयि श्रीः श्रयतां स्वाहा ॥ ३ ॥ आश्वलायन गृ० सू० अ० १। कं० २४। सू० १२। २१। २२ ॥

इन तीन मन्त्रों में से एक २ से एक २ आचमन कर, दोनों हाथ धो, कान, आंख, नासिका आदि का शुद्ध जल से स्पर्श करके, शुद्ध देश, पवित्रासन पर, जिधर की ओर का वायु हो उधर को मुख करके, नाभि के नीचे से मूलेन्द्रिय को ऊपर संकोच करके, हृदय के वायु को बल से बाहर निकाल के, यथाशक्ति रोके, पश्चात् धीरे २ भीतर लेके भीतर थोड़ासा रोके, यह एक प्राणायाम हुआ। इसी प्रकार कम से कम तीन प्राणायाम करे। नासिका को हाथ से न पकड़े। इस समय परमेश्वर की स्तुति प्रार्थनोपासना हृदय में करके—

ओं शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये। शंयोरभि स्रवन्तु नः ॥ यजु० अ० ३६। मं० १२ ॥

इस मन्त्र को एक वार पढ़ के तीन आचमन करे। पश्चात् पात्र में से

के होने से आप ही हमारे (भगवान्) पूजनीय देव (अस्तु) हूजिये (तेन) उसी हेतु से (देवाः, वयम्) हम विद्वान् लोग (भगवन्तः) सकलैश्वर्यसंपन्न होके सब संसार के उपकार में तन मन धन से प्रवृत्त (स्याम) होवें ॥ ५ ॥

मध्यमा अनामिका अंगुलियों से जल स्पर्श करके प्रथम दक्षिण और पश्चात् वाम पार्श्व निम्नलिखित मन्त्रों से स्पर्श करे—

ओं वाक् वाक् ॥ इस मन्त्र से मुख का दक्षिण और वामपार्श्व ॥

ओं प्राणः प्राणः ॥ इससे दक्षिण और वाम नासिका के छिद्र ॥

ओं चक्षुश्चक्षुः ॥ इससे दक्षिण और वाम नेत्र ॥

ओं श्रोत्रं श्रोत्रम् ॥ इससे दक्षिण और वाम श्रोत्र ॥

ओं नाभिः ॥ इससे नाभि ॥

ओं हृदयम् ॥ इससे हृदय ॥

ओं कण्ठः ॥ इससे कण्ठ ॥

ओं शिरः ॥ इससे मस्तक ॥

ओं बाहुभ्यां यशोबलम् ॥ इससे दोनों भुजाओं के मूल स्कन्ध और—

ओं करतलकरपृष्ठे ॥

इससे दोनों हाथों के ऊपर तले स्पर्श करके मार्जन करे ॥

ओं भूः पुनातु शिरसि ॥ इस मन्त्र से शिर पर ॥

ओं भुवः पुनातु नेत्रयोः ॥ इस मन्त्र से दोनों नेत्रों पर ॥

ओं स्वः पुनातु कण्ठे ॥ इस मन्त्र से कण्ठ पर ॥

ओं महः पुनातु हृदये ॥ इस मन्त्र से हृदय पर ॥

ओं जनः पुनातु नाभ्याम् ॥ इससे नाभि पर ॥

ओं तपः पुनातु पादयोः ॥ इससे दोनों पगों पर ॥

ओं सत्यं पुनातु पुनः शिरसि ॥ इससे पुनः मस्तक पर ॥

ओं खं ब्रह्म पुनातु सर्वत्र ॥

इस मन्त्र से सब अङ्गों पर छींटा देवे। पुनः पूर्वोक्त रीति से प्राणायाम की क्रिया करता जावे। और नीचे लिखे मन्त्र का जप भी करता जायः—

ओं भूः, ओं भुवः, ओं स्वः, ओं महः, ओं जनः, ओं तपः, ओं सत्यम् ॥ तैत्तिरीयारण्य० प्र० १० । अनु० २७ ॥

इसी रीति से कम से कम तीन और अधिक से अधिक २१ (इक्कीस) प्राणायाम करे। तत्पश्चात् सृष्टिकर्त्ता परमात्मा और सृष्टिक्रम का विचार नीचे लिखित मन्त्रों से करे, और जगदीश्वर को सर्वव्यापक न्यायकारी सर्वत्र सर्वदा सब जीवों के कर्मों के द्रष्टा को निश्चित मान के पाप की ओर अपने आत्मा और मन को कभी न जाने देवे किन्तु सदा धर्मयुक्त कर्मों में वर्त्तमान रक्खे ॥

ओं ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत। ततो रात्र्यजायत। ततः समुद्रो अर्णवः ॥ १ ॥ समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत। अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी ॥ २ ॥ सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। दिवं च पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथो स्वः ॥ ३ ॥ ऋ० मं० १० । सू० १९० ॥

इन मन्त्रों को पढ़ के पुनः (शन्नो देवी०) इस मन्त्र से तीन आचमन करके निम्नलिखित मन्त्रों से सर्वव्यापक परमात्मा की स्तुति प्रार्थना करे ॥

ओं प्राची दिगग्निरधिपतिरसितो रक्षितादित्या इषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ १ ॥ दक्षिणा दिगिन्द्रोऽधिपतिस्तिरश्चिराजी रक्षिता पितर इषवः। तेभ्यो० ॥ २ ॥ प्रतीची दिग्वरुणोऽधिपतिः पृदाकू रक्षितान्नमिषवः। तेभ्यो० ॥ ३ ॥ उदीची दिक्सोमोऽधिपतिः स्वजो रक्षिताशनिरिषवः। तेभ्यो० ॥ ४ ॥ ध्रुवा दिग्विष्णुरधिपतिः कल्माषग्रीवो रक्षिता वीरुध इषवः। तेभ्यो० ॥ ५ ॥ ऊर्ध्वा दिग्बृहस्पतिरधिपतिः श्वित्रो रक्षिता वर्षमिषवः। तेभ्यो० ॥ ६ ॥ अथर्व० कां० ३ । सू० २७ । मं० १–६ ॥

इन मन्त्रों को पढ़ते जाना और अपने मन से चारों ओर बाहर भीतर परमात्मा को पूर्ण जानकर निर्भय निश्शङ्क उत्साही आनन्दित पुरुषार्थी रहना। तत्पश्चात् परमात्मा का उपस्थान अर्थात् परमेश्वर के निकट मैं और मेरे अतिनिकट परमात्मा है ऐसी बुद्धि करके करे—

जातवेदसे सुनवाम सोममरातीयतो नि दहाति वेदः। स नः पर्षदति दुर्गाणि विश्वा नावेव सिन्धुं दुरितात्यग्निः ॥ १ ॥ ऋ० मं० १। सू० ९९। मं० १ ॥

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः। आ प्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षꣳ सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥ १ ॥ यजु० अ० १३। मं० ४६ ॥ उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः। दृशे विश्वाय सूर्यम् ॥ २ ॥ यजु० अ० ३३। मं० ३१ ॥ उद्वयन्तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम्। देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥ ३ ॥ यजु० अ० ३५। मं० १४ ॥ तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्र ब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ॥ ४ ॥ यजु० अ० ३६। मं० २४ ॥

इन मन्त्रों से परमात्मा का उपस्थान करके पुनः (शन्नो देवी०) इससे तीन आचमन करके पृष्ठ ८२—८३ में लिखे० अथवा पञ्चमहायज्ञविधि में लिखे० गायत्री मन्त्र का अर्थ विचारपूर्वक परमात्मा की स्तुति प्रार्थनोपासना करे, पुनः हे परमेश्वर दयानिधे! आपकी कृपा से जपोपासनादि कर्मों को करके हम धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि को शीघ्र प्राप्त होवें, पुनः—

ओं नमः शम्भवाय च मयोभवाय च नमः शङ्कराय च मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवतराय च ॥ ५ ॥ यजु० अ० १६। मं० ४१ ॥

इससे परमात्मा को नमस्कार करके (शन्नो देवी०) इस मन्त्र से तीन आचमन करके अग्निहोत्र का आरम्भ करें ॥

इति संक्षेपतः सन्ध्योपासनविधिः समाप्तः

अथाग्निहोत्रम्

जैसे सायं प्रातः दोनों सन्धिवेलाओं में सन्ध्योपासन करें इसी प्रकार दोनों स्त्री पुरुष * अग्निहोत्र भी दोनों समय में नित्य किया करें। पृष्ठ २०—२१ में लिखे प्रमाणे अग्न्याधान, समिदाधान, और पृष्ठ २२ में लिखे—

ओं अदितेऽनुमन्यस्व।

इत्यादि ४ मन्त्रों से यथाविधि कुण्ड के चारों ओर जल प्रोक्षण करके, शुद्ध किये हुए सुगन्ध्यादियुक्त घी को तपा के, पात्र में लेके, कुण्ड से पश्चिम भाग में पूर्वाभिमुख बैठके, पृष्ठ २२—२३ में लिखे आघारावाज्यभागाहुति चार देके, नीचे लिखे हुए मन्त्रों से प्रातःकाल अग्निहोत्र करेः—

ओं सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा ॥ १ ॥ ओं सूर्यो वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा ॥ २ ॥ ओं ज्योतिः सूर्यः सूर्यो ज्योतिः स्वाहा ॥ ३ ॥ ओं सजूर्देवेन सवित्रा सजूरुषसेन्द्रवत्या जुषाणः सूर्यो वेतु स्वाहा ॥ ४ ॥

अब नीचे लिखे हुए मन्त्र सायंकाल में अग्निहोत्र के जानो।

ओं अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा ॥ १ ॥ ओं अग्निर्वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा ॥ २ ॥ ओं अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा ॥ ३ ॥

इस मन्त्र को मन से उच्चारण करके तीसरी आहुति देनी ॥

ओं सजूर्देवेन सवित्रा सजूरात्र्येन्द्रवत्या जुषाणो अग्निर्वेतु स्वाहा ॥४॥
० अ० ३। मं० ६, १० ॥

अब निम्नलिखित मन्त्रों से प्रातः सायं आहुति देनी चाहियेः—

ओं भूरग्नये प्राणाय स्वाहा ॥ इदमग्नये, प्राणाय—इदन्न मम ॥ १ ॥

* किसी विशेष कारण से स्त्री वा पुरुष अग्निहोत्र के समय दोनों साथ उपस्थित न होसकें तो एक ही स्त्री वा पुरुष दोनों की ओर का कृत्य कर लेवे अर्थात् एक २ मन्त्र को दो २ वार पढ़ के दो २ आहुति करे ॥

ओं भुवर्वायवेऽपानाय स्वाहा ॥ इदं वायवेऽपानाय—इदन्न मम ॥ २ ॥ ओं स्वरादित्याय व्यानाय स्वाहा ॥ इदमादित्याय, व्यानाय—इदन्न मम ॥ ३ ॥ ओं भूर्भुवः स्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्यः स्वाहा ॥ इदमग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्यः—इदन्न मम ॥ ४ ॥ ओं आपो ज्योतीरसोऽमृतं ब्रह्मभूर्भुवः स्वरों स्वाहा ॥ ५ ॥ ओं यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते । तया मामद्य मेधयाऽग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा ॥ ६ ॥ यजु० अ० ३२ । मं० १४ ॥ ओं विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव । यद्भद्रं तन्न आसुव स्वाहा ॥ ७ ॥ य० अ० ३० । मं० ३ ॥ ओं अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् । युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नमउक्तिं विधेम स्वाहा ॥ ८ ॥ य० अ० ४० । मं० १६ ॥

इन आठ मन्त्रों से एक २ मन्त्र करके एक २ आहुति ऐसे आठ आहुति देके—

ओं सर्वं वै पूर्णꣳ स्वाहा ॥

इस मन्त्र से तीन पूर्णाहुति अर्थात् एक २ वार पढ़के एक २ करके तीन आहुति देवे ॥

इत्यग्निहोत्रविधिः संक्षेपतः समाप्तः ॥ २ ॥

अथ पितृयज्ञः

अग्निहोत्रविधि पूर्ण करके तीसरा पितृयज्ञ करे अर्थात् जीते हुए माता पिता आदि की यथावत् सेवा करनी पितृयज्ञ कहाता है ॥ ३ ॥

अथ बलिवैश्वदेवविधिः

ओं अग्नये स्वाहा ॥ ओं सोमाय स्वाहा ॥ ओं अग्नीषोमाभ्यां स्वा-

हा ॥ ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा ॥ ओं धन्वन्तरये स्वाहा ॥ ओं कुह्वै स्वाहा ॥ ओमनुमत्यै स्वाहा ॥ ओं प्रजापतये स्वाहा ॥ ओं द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा ॥ ओं स्विष्टकृते स्वाहा ॥ मनु० अ० ३ । श्लो० ८५, ८६ ॥

इन दश मन्त्रों से घृतमिश्रित भात की, यदि भात न बना हो तो क्षार और लवणान्न को छोड़ के जो कुछ पाक में बना हो उसकी दश आहुति करे। तत्पश्चात् निम्नलिखित मन्त्रों से बलिदान करे—

ओं सानुगायेन्द्राय नमः ॥ इससे पूर्व ॥

ओं सानुगाय यमाय नमः ॥ इससे दक्षिण ॥

ओं सानुगाय वरुणाय नमः ॥ इससे पश्चिम ॥

ओं सानुगाय सोमाय नमः ॥ इससे उत्तर ॥

ओं मरुद्भ्यो नमः ॥ इससे द्वार ॥

ओं अद्भ्यो नमः ॥ इससे जल ॥

ओं वनस्पतिभ्यो नमः ॥ इससे मूसल और ऊखल ॥

ओं श्रियै नमः ॥ इससे ईशान * ॥

ओं भद्रकाल्यै नमः ॥ इससे नैर्ऋत्य † ॥

ओं ब्रह्मपतये नमः । ओं वास्तुपतये नमः ॥ इससे मध्य ॥

ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यो नमः । ओं दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यो नमः । ओं नक्तंचारिभ्यो भूतेभ्यो नमः ॥ इनसे ऊपर ॥

ओं सर्वात्मभूतये नमः ॥ इससे पृष्ठ ॥

ओं पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः ॥ इससे दक्षिण ॥ मनु० अ० ३ ॥ श्लो० ८७—९१ ॥

---

* "घर की छत में" ऐसा मनु में मिलता है। अ० ३ । श्लो० ८९ ॥

† "घर के पाद में" मनु० ३ । ८९ ॥

इन मन्त्रों से एक पत्तल वा थाली में यथोक्त दिशाओं में भाग धरना। यदि भाग धरने के समय कोई अतिथि आजाय तो उसी को दे देना, नहीं तो अग्नि में धर देना। तत्पश्चात् घृतसहित लवणान्न लेके—

शुनां च पतितानां च श्वपचां पापरोगिणाम्।
वायसानां कृमीणां च शनकैर्निर्वपेद् भुवि ॥ १ ॥

मनु० अ० ३। श्लो० ९२ ॥

अर्थः–कुत्ता, पतित, चाण्डाल, पापरोगी, काक और कृमि इन छः नामों से छः भाग पृथिवी में धरे और वे छः भाग जिस २ के नाम हैं उस २ को देना चाहियें ॥ ४ ॥

अथातिथियज्ञः

पांचवां–जो धार्मिक, परोपकारी, सत्योपदेशक, पक्षपातरहित, शान्त, सर्वहितकारक विद्वानों की अन्नादि से सेवा उनसे प्रश्नोत्तर आदि करके विद्या प्राप्त होना अतिथियज्ञ कहाता है। उसको नित्य किया करें। इस प्रकार पञ्चमहायज्ञों को स्त्री पुरुष प्रतिदिन करते रहें ॥ ५ ॥

इसके पश्चात् पक्षयज्ञ अर्थात् पौर्णमासी और अमावास्या के दिन नैत्यिक अग्निहोत्र की आहुति दिये पश्चात् पूर्वोक्त प्रकार पृष्ठ १५ में लिखे प्रमाणे स्थालीपाक बनाके निम्नलिखित मन्त्रों से विशेष आहुति करें ॥

ओं अग्नये स्वाहा ॥ ओं अग्नीषोमाभ्यां स्वाहा ॥ ओं विष्णवे स्वाहा ॥

इन तीन मन्त्रों से स्थालीपाक की तीन आहुति देनी। तत्पश्चात् पृष्ठ २३ में लिखे प्रमाणे व्याहृति आज्याहुति ४ देनी, परन्तु इसमें इतना भेद है कि अमावास्या के दिनः—

ओं अग्नीषोमाभ्यां स्वाहा ॥ इस मन्त्र के बदले

ओं इन्द्राग्नीभ्यां स्वाहा ॥

इस मन्त्र को बोल के स्थालीपाक की आहुति देवे । इस प्रकार पक्षयाग अर्थात् जिस के घर में अभाग्य से अग्निहोत्र न होता हो तो सर्वत्र पक्षयागादि में पृष्ठ १३,१४ में लिखे प्रमाणे यज्ञकुण्ड, यज्ञसामग्री, यज्ञमण्डप, पृष्ठ २०—२१ में लिखे अग्न्याधान समिदाधान, पृष्ठ २२—२३ में लि० आघारावाज्यभागाहुति, और पृष्ठ २२ में लिखे प्रमाणे वेदी के चारों ओर जल सेचन करके, पृष्ठ ४—१२ में लिखे प्रमाणे ईश्वरोपासना स्वस्तिवाचन शान्तिकरण भी यथायोग्य करें, और जब २ नवान्न आवे तब २ नवशस्येष्टि और संवत्सर के आरम्भ में निम्नलिखित विधि करें । अर्थात् जब २ नवीन अन्न आवे तब २ शस्येष्टि करके नवीन अन्न के भोजन का आरम्भ करें—

नवशस्येष्टि और संवत्सरेष्टि करना हो तो जिस दिन प्रसन्नता हो वही शुभ दिन जाने । ग्राम और शहर के बाहर किसी शुद्ध खेत में यज्ञमण्डप करके, पृष्ठ ४—२६ तक लिखे प्रमाणे सब विधि करके, प्रथम आघारावाज्यभागाहुति ४ (चार) और व्याहृति आहुति ४ (चार) तथा अष्टाज्याहुति ८ (आठ) ये सोलह आज्याहुति करके कार्यकर्त्ता—

ओं पृथिवी द्यौः प्रदिशो दिशो यस्मै द्युभिरावृताः । तमिहेन्द्रमुपह्वये शिवा नः सन्तु हेतयः स्वाहा ॥ १ ॥ ओं यन्मे किंचिदुपेप्सितमस्मिन् कर्मणि वृत्रहन् । तन्मे सर्वꣳसमृध्यतां जीवतः शरदः शतꣳ स्वाहा ॥ २ ॥ ओं सम्पत्तिर्भूतिर्भूमिर्वृष्टिर्ज्यैष्ठ्यꣳ श्रैष्ठ्यꣳ श्रीः प्रजामिहावतु स्वाहा ॥ इदमिन्द्राय—इदन्न मम ॥ ३ ॥ ओं यस्या भावे वैदिकलौकिकानां भूतिर्भवति कर्मणाम् । इन्द्रपत्नीमुपह्वये सीताꣳ सा मे त्वनपायिनी भूयात्कर्मणि स्वाहा ॥ इदमिन्द्रपत्न्यै—इदन्न मम ॥ ४ ॥ ओं अश्वावती गोमती सूनृतावती विभर्त्ति या प्राणभृतो अतन्द्रिता । खलमालिनीमुर्वरामस्मिन् कर्मण्युपह्वये ध्रुवाꣳ सा मे त्वनपायिनी भूयात् स्वाहा ॥ इदं सीतायै—इदन्न मम ॥ ५ ॥ पार० कां० २ । कं० १७ ॥

इन मन्त्रों से प्रधान होम की ५ (पांच) आज्याहुति करके—

ओं सीतायै स्वाहा । ओं प्रजायै स्वाहा । ओं शमायै स्वाहा । ओं भूत्यै स्वाहा ॥ पार० कां० २ । कं० १७ ॥

इन ४ (चार) मन्त्रों से ४ (चार), और पृष्ठ २३ में लिखे (यद्स्य०) मन्त्र से स्विष्टकृत् होमाहुति एक, ऐसे ५ (पांच) स्थालीपाक की आहुति देके, पश्चात् पृष्ठ २३—२५ में लिखे प्रमाणे अष्टाज्याहुति, व्याहृति आहुति ४ (चार) ऐसे १२ (बारह) आज्याहुति देके, पृष्ठ २६ में लिखे प्रमाणे वामदेव्यगान, ईश्वरोपासना, स्वस्तिवाचन, और शान्तिकरण करके यज्ञ की समाप्ति करें ॥

अथ शालाकर्मविधिं वक्ष्यामः

शाला उसको कहते हैं जो मनुष्य और पश्वादि के रहने अथवा पदार्थ रखने के अर्थ गृह वा स्थानविशेष बनाते हैं । इसके दो विषय हैं एक प्रमाण और दूसरा विधि । उसमें से प्रथम प्रमाण और पश्चात् विधि लिखेंगे ॥

अत्र प्रमाणानि—उपमितां प्रतिमितामथो परिमितामुत । शालाया विश्ववाराया नद्धानि वि चृतामसि ॥ १ ॥ हविर्धानमग्निशालं पत्नीनां सदनं सदः । सदो देवानामसि देवि शाले ॥ २ ॥ अथर्व० कां० ६ । सू० ३ । मं० १, ७ ॥

अर्थः—मनुष्यों को योग्य है कि जो कोई किसी प्रकार का घर बनावे तो वह (उपमिताम्) सब प्रकार की उत्तम उपमायुक्त कि जिसको देख के विद्वान् लोग सराहना करें, (प्रतिमिताम्) प्रतिमान अर्थात् एक द्वार के सामने दूसरा द्वार कोणे और कक्षा भी सम्मुख हों, (अथो) इसके अनन्तर (परिमिताम्) वह शाला चारों ओर के परिमाण से सम चौरस हो, (उत) और (शालायाः) शाला (विश्ववारायाः) अर्थात् उस घर के द्वार चारों ओर के वायु को स्वीकार करनेवाले हों, (नद्धानि) उसके बन्धन और चिनाई दृढ़ हों । हे मनुष्यो !

ऐसी शाला को जैसे हम शिल्पी लोग (विचृतामसि) अच्छे प्रकार ग्रन्थित अर्थात् बन्धनयुक्त करते हैं वैसे तुम भी करो ॥ १ ॥ उस घर में एक (हविर्धानम्) होम करने के पदार्थ रखने का स्थान, (अग्निशालम्) अग्निहोत्र का स्थान, (पत्नीनाम्) स्त्रियों के (सदनम्) रहने का (सदः) स्थान, और (देवानाम्) पुरुषों और विद्वानों के रहने, बैठने, मेल मिलाप करने और सभा का (सदः) स्थान तथा स्नान भोजन ध्यान आदि का भी पृथक् २ एक २ घर बनावे, इस प्रकार की (देवि) दिव्य कमनीय (शाले) बनाई हुई शाला (असि) सुखदायक होती है ॥ २ ॥

अन्तरा द्यांञ्च पृथिवीं च यद्व्यचस्तेन शालां प्रतिगृह्णामि त इमाम् । यदन्तरिक्षं रजसो विमानं तत्कृण्वेऽहमुदरं शेवधिभ्यः । तेन शालां प्रतिगृह्णामि तस्मै ॥ ३ ॥ ऊर्ज्जस्वती पयस्वती पृथिव्यां निमिता मिता । विश्वान्नं बिभ्रती शाले मा हिंसीः प्रतिगृह्णतः ॥ ४ ॥ अथर्व० कां० ६ । सू० ३ । मं० १५, १६ ॥

अर्थः—उस शाला में (अन्तरा) भिन्न २ (पृथिवीम्) शुद्ध भूमि अर्थात् चारों ओर स्थान शुद्ध हों, (च) और (द्याम्) जिस में सूर्य का प्रतिभास आवे वैसी प्रकाशस्वरूप भूमि के समान दृढ़ शाला बनावे, (च) और (यत्) जो (व्यचः) उसकी व्याप्ति अर्थात् विस्तार हे स्त्री ! (ते) तेरे लिये है (तेन) उसी से युक्त (इमाम्) इस (शालाम्) घर को बनाता हूं, तू इसमें निवास कर और मैं भी निवास के लिये इसको (प्रतिगृह्णामि) ग्रहण करता हूं, (यत्) जो उसके बीच में (अन्तरिक्षम्) पुष्कल अवकाश और (रजसः) उस घर का (विमानम्) विशेष मान परिमाण युक्त लंबी ऊंची छत्त और (उदरम्) भीतर का प्रसार विस्तारयुक्त होवे (तत्) उसको (शेवधिभ्यः) सुख के आधाररूप अनेक कक्षाओं से सुशोभित (अहम्) मैं (कृण्वे) करता हूं, (तेन) उस पूर्वोक्त लक्षणमात्र से युक्त (शालाम्) शाला को (तस्मै) उस गृहाश्रम के सब व्यवहारों के लिये (प्रतिगृह्णामि) ग्रहण करता हूं ॥ ३ ॥ जो (शाले) शाला (उर्ज्जस्वती) बहुत बलारोग्यपराक्रम को

बढ़ानेवाली और धन धान्य से पूरित सम्बन्धवाली, (पयस्वती) जल दूध रसादि से परिपूर्ण, (पृथिव्याम्) पृथिवी में (मिता) परिमाणयुक्त, (निमिता) निर्मित की हुई, (विश्वान्नम्) संपूर्ण अन्नादि ऐश्वर्य को (बिभ्रती) धारण करती हुई, (प्रतिगृह्णतः) ग्रहण करनेहारों को रोगादि से (मा, हिंसीः) पीड़ित न करे वैसा घर बनाना चाहिये ॥

ब्रह्मणा शालां निमितां कविभिर्निमितां मिताम् इन्द्राग्नी । रक्षतां शालाममृतौ सोम्यं सदः ॥ ५ ॥ अथर्व० कां० ६ । सू० ३ । मं० १६ ॥

अर्थः—(अमृतौ) स्वरूप से नाशरहित (इन्द्राग्नी) वायु और पावक (कविभिः) उत्तम विद्वान् शिल्पियों ने (मिताम्) प्रमाणयुक्त अर्थात् माप में ठीक जैसी चाहिये वैसी (निमिताम्) बनाई हुई (शालाम्) शाला को और (ब्रह्मणा) चारों वेदों के जाननेहारे विद्वान् ने सब ऋतुओं में सुख देनेहारी (निमिताम्) बनाई (शालाम्) शाला को प्राप्त होकर रहनेवालों की (रक्षताम्) रक्षा करें । अर्थात् चारों ओर का शुद्ध वायु आके अशुद्ध वायु को निकालता रहे और जिसमें सुगन्ध्यादि घृत का होम किया जाय वह अग्नि दुर्गन्ध को निकाल सुगन्ध को स्थापन करे । वह (सोम्यम्) ऐश्वर्य आरोग्य सर्वदा सुखदायक (सदः) रहने के लिये उत्तम घर है । उसी को निवास के लिये ग्रहण करे ॥ ५ ॥

या द्विपक्षा चतुष्पक्षा षट्पक्षा या निमीयते । अष्टापक्षां दशपक्षां शालां मानस्य पत्नीमग्निर्गर्भ इवा शये ॥ ६ ॥ अथर्व० कां० ६ । सू० ३ । मं० २१ ॥

अर्थः—हे मनुष्यो ! (या) जो (द्विपक्षा) दो पक्ष अथात् मध्य म एक और पूर्व पश्चिम में एक २ शालायुक्त घर, अथवा (चतुष्पक्षा) जिसके पूर्व पश्चिम दक्षिण और उत्तर में एक २ शाला और इनके मध्य में पांचवीं बड़ी शाला वा (षट्पक्षा) एक २ बीच में बड़ी शाला और दो २ पूर्व पश्चिम तथा एक २ उत्तर दक्षिण में शाला हों, (या) जो ऐसी शाला (निमीयते)

बनाई जाती है वह उत्तम होती है, और इससे भी जो (अष्टापक्षाम्) चारों ओर दो २ शाला और उनके बीच में एक नवमी शाला हो, अथवा (दशपक्षाम्) जिसके मध्य में दो शाला और उनके चारों दिशाओं में दो २ शाला हों, उस (मानस्य) परिमाण के योग से बनाई हुई (शालाम्) शाला को जैसे (पत्नीम्) पत्नी को प्राप्त होके (अग्निः) अग्निमय आर्त्तव और वीर्य (गर्भ इव) गर्भरूप होके (आशये) गर्भाशय में ठहरता है वैसे सब शालाओं के द्वार दो २ हाथ पर सूधे बराबर हों, और जिसकी चारों ओर को शालाओं का परिमाण तीन २ गज, और मध्य की शालाओं का छः २ गज से परिमाण न्यून न हो, और चार २ गज चारों दिशाओं की ओर, आठ २ गज मध्य की शालाओं का परिमाण हो, अथवा मध्य की शालाओं का दश २ गज अर्थात् बीस २ हाथ से विस्तार अधिक न हो, बनाकर गृहस्थों को रहना चाहिये। यदि वह सभा का स्थान हो तो बाहर की ओर द्वारों में चारों ओर कपाट और मध्य में गोल २ स्तम्भे बनाकर चारों ओर खुला बनाना चाहिये कि जिसके कपाट खोलने से चारों ओर का वायु उस में आवे और सब घरों के चारों ओर वायु आने के लिये अवकाश तथा वृक्ष फल और पुष्करणी कुंड भी होने चाहियें वैसे घरों में सब लोग रहें ॥ ६ ॥

प्रतीचीं त्वा प्रतीचीनः शाले प्रैम्यहिंसतीम्। अग्निर्ह्यन्तरापश्चर्तस्य प्रथमा द्वाः ॥ ७ ॥ अथर्व० कां० ९। सू० ३। मं० २२ ॥

अर्थः—जो (शाले) शालागृह (प्रतीचीनः) पूर्वाभिमुख तथा जो गृह (प्रतीचीम्) पश्चिम द्वार युक्त (अहिंसतीम्) हिंसादि दोष रहित अर्थात् पश्चिम द्वार के सन्मुख पूर्व द्वार जिसमें (हि) निश्चय कर (अन्तः) बीच में (अग्निः) अग्नि का घर (च) और (आपः) जल का स्थान (ऋतस्य) और सत्य के ध्यान के लिये एक स्थान (प्रथमा) प्रथम (द्वाः) द्वार हैं मैं (त्वा) उस शाला को (प्रैमि) प्रकर्षता से प्राप्त होता हूं ॥ ७ ॥

मा नः पाशं प्रति मुचो गुरुर्भारो लघुर्भव। वधूमिव त्वा शाले यत्रकामं भरामसि ॥ ८ ॥ अथर्व० कां० ९। सू० ३। मं० २४ ॥

अर्थः—हे शिल्पि लोगो ! जैसे (नः) हमारी (शाले) शाला अर्थात् गृह (पाशम्) बन्धन को (मा, प्रतिमुचः) कभी न छोड़ें जिसमें (गुरुर्भारः) बड़ा भार (लघुर्भव) छोटा होवे वैसी बनाओ (त्वा) उस शाला को (यत्र, कामम्) जहां जैसी कामना हो वहां वैसी हम लोग (वधूमिव) स्त्री के समान (भरामसि) स्वीकार करते हैं वैसे तुम भी ग्रहण करो ॥ ८ ॥

इस प्रकार प्रमाणों के अनुसार जब घर बन चुके तब प्रवेश करते समय क्या २ विधि करना सो नीचे लिखे प्रमाणे जानो ॥

अथ विधिः—जब घर बन चुके तब उसकी शुद्धि अच्छे प्रकार करा, चारों दिशाओं के बाहरले द्वारों में चार वेदी और एक वेदी घर के मध्य बनावें अथवा तांबे का वेदी के समान कुण्ड बनवा लेवे कि जिससे सब ठिकाने एक कुण्ड ही में काम होजावे । सब प्रकार की सामग्री अर्थात् पृष्ठ १४–१५ में लिखे प्रमाणे समिधा, घृत, चावल, मिष्ट, सुगन्ध, पुष्टिकारक द्रव्यों को ले के शोधन कर प्रथम दिन रख लेवे, जिस दिन गृहपति का चित्त प्रसन्न होवे उसी शुभ दिन गृहप्रतिष्ठा करे । वहां ऋत्विज् , होता, अध्वर्यु और ब्रह्मा का वरण करे जो कि धर्मात्मा विद्वान् हों, उनमें से होता का आसन पश्चिम और उस पर वह पूर्वाभिमुख, अध्वर्यु का आसन उत्तर में उस पर वह दक्षिणाभिमुख, उद्गाता का पूर्व दिशा में आसन उस पर वह पश्चिमाभिमुख और ब्रह्मा का दक्षिण दिशा में उत्तमासन बिछा कर उत्तराभिमुख, इस प्रकार चारों आसनों पर चारों पुरुषों को बैठावे और गृहपति सर्वत्र पश्चिम में पूर्वाभिमुख बैठा करे, ऐसे ही घर के मध्य वेदी के चारों ओर दूसरे आसन बिछा रक्खे, पश्चात् निष्क्रम्यद्वार जिस द्वार से मुख्य करके घर से निकलना और प्रवेश करना होवे अर्थात् जो मुख्य द्वार हो उसी द्वार के समीप ब्रह्मा सहित बाहर ठहर कर—

ओं अच्युताय भौमाय स्वाहा

इससे एक आहुति देकर, ध्वजा का स्तम्भ जिसमें ध्वजा लगाई हो खड़ा करे और घर के ऊपर चारों कोणों पर चार ध्वजा खड़ी करे, तथा कार्यकर्त्ता

गृहपति स्तम्भ खड़ा करके उसके मूल में जल से सेचन करे जिससे वह दृढ़ रहे। पुनः द्वार के सामने बाहर जाकर नीचे लिखे चार मन्त्रों से जल सेचन करे॥

ओं इमामुच्छ्रयामि भुवनस्य नाभिं वसोर्धारां प्रतरणीं वसूनाम्। इहैव ध्रुवां निमिनोमि शालां क्षेमे तिष्ठतु घृतमुच्छ्रयमाणा॥ १॥

इस मन्त्र से पूर्व द्वार के सामने जल छिटकावे।

अश्वावती गोमती सूनृतावत्युच्छ्रयस्व महते सौभगाय। आ त्वा शिशुराक्रन्दन्त्वा गावो धेनवो वाश्यमानाः॥ २॥

इस मन्त्र से दक्षिण द्वार॥

आ त्वा कुमारस्तरुण आ वत्सो जगदैः सह। आ त्वा परिस्रुतः कुम्भ आदध्नः कलशैरुप क्षेमस्य पत्नी बृहती सुवासः रयिं नो धेहि सुभगे सुवीर्यम्॥ ३॥

इस मन्त्र से पश्चिम द्वार॥

अश्वावद्गोमदूर्जस्वत्पर्णं वनस्पतेरिव। अभि नः पूर्यतां रयिरिदमनुश्रेयो वसानः॥ ४॥

इस मन्त्र से उत्तर द्वार के सामने जल छिटकावे। तत्पश्चात् सब द्वारों पर पुष्प और पल्लव तथा कदलीस्तम्भ वा कदली के पत्ते भी द्वारों की शोभा के लिये लगाकर, पश्चात् गृहपति—

हे ब्रह्मन्! प्रविशामीति॥ ऐसा वाक्य बोले और ब्रह्मा:—

वरं भवान् प्रविशतु

ऐसा प्रत्युत्तर देवे और ब्रह्मा की अनुमति से—

ओं ऋचं प्रपद्ये शिवं प्रपद्ये

इस वाक्य को बोल के भीतर प्रवेश करे। और जो घृत गरम कर, छान कर, सुगन्ध मिलाकर रक्खा हो उसको पात्र में ले के जिस द्वार से प्रथम प्रवेश करे उसी द्वार से प्रवेश करके पृष्ठ २०–२१ में लिखे प्रमाणे अग्न्याधान समिदाधान, जलप्रोक्षण, आचमन करके पृष्ठ २२–२३ में लिखे प्रमाणे घृत की आघारावाज्यभागाहुति ४ (चार), और व्याहृति आहुति ४ (चार), नवमी स्विष्टकृत् आज्याहुति एक अर्थात् दिशाओं की द्वारस्थ वेदियों में अग्न्याधान से ले के स्विष्टकृत् आहुतिपर्यन्त विधि करके पश्चात् पूर्वदिशाद्वारस्थ कुण्ड में–

ओं प्राच्या दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा। ओं देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः स्वाहा॥

इन मन्त्रों से पूर्वद्वारस्थ वेदी में दो घृताहुति देवे। वैसे ही—

ओं दक्षिणाया दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा। ओं देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः स्वाहा॥

इन दो मन्त्रों से दक्षिणद्वारस्थ वेदी में एक २ मन्त्र करके दो आज्याहुति और:—

ओं प्रतीच्या दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा। ओं देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः स्वाहा॥

इन दो मन्त्रों से दो आज्याहुति पश्चिमदिशाद्वारस्थ कुण्ड में देवे।

ओं उदीच्या दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा। ओं देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः स्वाहा॥

इनसे उत्तरदिशास्थ वेदी में दो आज्याहुति देवे, पुनः मध्यशालास्थ वेदी के समीप जाके स्व २ दिशा में बैठ के—

ओं ध्रुवाया दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा। ओं देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः स्वाहा॥

इन से मध्य वेदी में दो आज्याहुति ॥

ओं ऊर्ध्वाया दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा । ओं देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः स्वाहा ॥

इनसे भी दो आहुति मध्यवेदी में और—

ओं दिशो दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा । ओं देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः स्वाहा ॥

इन से भी दो आज्याहुति मध्यस्थ वेदी में देके, पुनः पूर्वदिशास्थ द्वारस्थवेदी में अग्नि को प्रज्वलित करके, वेदी से दक्षिण भाग में ब्रह्मासन तथा होता आदि के पूर्वोक्त प्रकार आसन बिछवा, उसी वेदी के उत्तर भाग में एक कलश स्थापन कर, पृष्ठ १५ में लिखे प्रमाणे स्थालीपाक बना के पृथक् निष्क्रम्य-द्वार के समीप जा ठहर कर ब्रह्मादि सहित गृहपति मध्यशाला में प्रवेश करके ब्रह्मादि को दक्षिणादि आसन पर बैठा स्वयं पूर्वाभिमुख बैठ के संस्कृत घी अर्थात् जो गरम कर छान जिसमें कस्तूरी आदि सुगन्ध मिलाया हो, पात्र में ले के सबके सामने एक २ पात्र भर के रक्खे और चमसा में ले के:—

ओं वास्तोष्पते प्रति जानीह्यस्मान्त्स्वावेशो अनमीवो भवा नः । यत्त्वेमहे प्रति तन्नो जुषस्व शन्नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे स्वाहा ॥ १ ॥ वास्तोष्पते प्रतरणो न एधि गयस्फानो गोभिरश्वेभिरिन्दो । अजरासस्ते सख्ये स्याम पितेव पुत्रान् प्रति नो जुषस्व स्वाहा ॥ २ ॥ वास्तोष्पते शग्मया संसदा ते सक्षीमहि रण्वया गातुमत्या । पाहि क्षेम उत योगे वरं नो यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः स्वाहा ॥ ३ ॥ ऋ० मं० ७ । सू० ५४ । मं० १–३ ॥

अमीवहा वास्तोष्पते विश्वा रूपाण्याविशन् । सखा सुशेव एधि नः स्वाहा ॥ ४ ॥ ऋ० मं० ७ । सू० ५५ । मं० १ ॥

इन चार मन्त्रों से ४ (चार) आज्याहुति देके जो स्थालीपाक अर्थात् भात बनाया हो उसको दूसरे कांसे के पात्र में लेके उस पर यथायोग्य घृत सेचन करके अपने २ सामने रक्खे और पृथक् २ थोड़ा २ लेकरः—

ओं अग्निमिन्द्रं बृहस्पतिं विश्वाँश्च देवानुपह्वये । सरस्वतीञ्च वाजीञ्च वास्तु मे दत्त वाजिनः स्वाहा ॥ १ ॥ सर्पदेवजनान्त्सर्वान्हिमवन्तं सुदर्शनम् । वसूँश्च रुद्रानादित्यानीशानं जगदैः सह । एतान्त्सर्वान् प्रपद्येहं वास्तु मे दत्त वाजिनः स्वाहा ॥ २ ॥ पूर्वाह्णमपराह्णं चोभौ माध्यान्दिना सह । प्रदोषमर्धरात्रं च व्युष्टां देवीं महापथाम् । एतान् सर्वान् प्रपद्येहं वास्तु मे दत्त वाजिनः स्वाहा ॥ ३ ॥ ओं कर्त्तारञ्च विकर्त्तारं विश्वकर्माणमोषधीश्च वनस्पतीन् । एतान्त्सर्वान् प्रपद्येहं वास्तु मे दत्त वाजिनः स्वाहा ॥ ४ ॥ धातारं च विधातारं निधीनां च पतिं सह । एतान् सर्वान् प्रपद्येहं वास्तु मे दत्त वाजिनः स्वाहा ॥ ५ ॥ स्योनꣳ शिवमिदं वास्तु दत्तं ब्रह्मप्रजापती । सर्वाश्च देवताश्च स्वाहा ॥

स्थालीपाक अर्थात् घृतयुक्त भात की इन छः मन्त्रों से छः आहुति देकर, कांस्यपात्र में उदुम्बर, गूलर, पलाश के पत्ते, शाद्वल तृणविशेष, गोमय, दही, मधु, घृत, कुशा और यव को ले के उन सब वस्तुओं को मिलाकर—

ओं श्रीश्च त्वा यशश्च पूर्वे सन्धौ गोपायेताम् ॥

इस मन्त्र से पूर्वद्वार ॥

यज्ञश्च त्वा दक्षिणा च दक्षिणे सन्धौ गोपायेताम् ॥

इससे दक्षिण द्वार ॥

अन्नञ्च त्वा ब्राह्मणश्च पश्चिमे सन्धौ गोपायेताम् ॥

इससे पश्चिम द्वार ॥

ऊर्क् च त्वा सूनृता चोत्तरे सन्धौ गोपायेताम् ॥

इससे उत्तर द्वार के समीप उनको बखेरे और जल प्रोक्षण भी करे ॥

केता च मां सुकेता च पुरस्ताद् गोपायेतामित्यग्निर्वै केताऽऽदित्यः सुकेता तौ प्रपद्ये ताभ्यां नमोऽस्तु तौ मा पुरस्ताद् गोपायेताम् ॥ १ ॥

इससे पूर्व दिशा में परमात्मा का उपस्थान करके, दक्षिण द्वार के सामने दक्षिणाभिमुख होके—

दक्षिणतो गोपायमानं च मा रक्षमाणा च दक्षिणतो गोपायेतामित्यहर्वै गोपायमानꣳ रात्री रक्षमाणा ते प्रपद्ये ताभ्यां नमोऽस्तु ते मा दक्षिणतो गोपायेताम् ॥ २ ॥

इस प्रकार जगदीश का उपस्थान करके, पश्चिम द्वार के सामने पश्चिमाभिमुख हो के—

दीदिविश्च मा जागृविश्च पश्चाद् गोपायेतामित्यन्नं वै दीदिविः प्राणो जागृविस्तौ प्रपद्ये ताभ्यां नमोऽस्तु तौ मा पश्चाद् गोपायेताम् ॥ ३ ॥

इस प्रकार पश्चिम दिशा में सर्वरक्षक परमात्मा का उपस्थान करके, उत्तर दिशा में उत्तर द्वार के सामने उत्तराभिमुख खड़े रह के—

अस्वप्नश्च मानवद्राणश्चोत्तरतो गोपायेतामिति चन्द्रमा वा अस्वप्नो वायुरनवद्राणस्तौ प्रपद्ये ताभ्यां नमोस्तु तौ मोत्तरतो गोपायेतामिति ॥ धर्मस्थूणाराजꣳ श्रीस्तूर्यामहोरात्रे द्वारफलके इन्द्रस्य गृहा वसुमतो वरूथिनस्तानहं प्रपद्ये सह प्रजया पशुभिस्सह यन्मे किञ्चिदस्त्युपहूतः सर्वगणाः सखायः साधुसंमतस्तां त्वा शाले अरिष्टवीरा गृहा नः सन्तु सर्वतः ॥

इस प्रकार उत्तर दिशा में सर्वाधिष्ठाता परमात्मा का उपस्थान करके, सुपात्र वेदवित् धार्मिक होता आदि सपत्नीक ब्राह्मण तथा इष्ट मित्र और सम्बन्धियों

को उत्तम भोजन कराके यथायोग्य सत्कार करके दक्षिणा दे, पुरुषों को पुरुष और स्त्रियों को स्त्री प्रसन्नतापूर्वक विदा करें और वे जाते समय गृहपति और गृहपत्नी आदि को—

सर्वे भवन्तोऽत्रानन्दिताः सदा भूयासुः ॥

इस प्रकार आशीर्वाद दे के अपने २ घर को जावें। इसी प्रकार आराम आदि की भी प्रतिष्ठा करें। इसमें इतना ही विशेष है कि जिस ओर का वायु बगीचे को जावे उसी ओर होम करे कि जिसका सुगन्ध वृक्ष आदि को सुगन्धित करे। यदि उसमें घर बना हो तो शाला के समान उसकी भी प्रतिष्ठा करे ॥

इति शालादिसंस्कारविधिः

इस प्रकार गृहादि की रचना करके गृहाश्रम में जो २ अपने २ वर्ण के अनुकूल कर्त्तव्य कर्म हैं उन उन को यथावत् करें ॥

अथ ब्राह्मणस्वरूपलक्षणम्

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहश्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥ १ ॥ मनु० ॥
शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्मस्वभावजम् ॥ २ ॥ गीता० ॥

अर्थः—१ (एक)—निष्कपट होके प्रीति से पुरुष पुरुषों को और स्त्री स्त्रियों को पढ़ावें। २ (दो)—पूर्ण विद्या पढ़ें। ३ (तीन)—अग्निहोत्रादि यज्ञ करें। ४ (चौथा)—यज्ञ करावें। ५ (पांच)—विद्या अथवा सुवर्ण आदि का सुपात्रों को दान देवें। ६ (छठा)—न्याय से धनोपार्जन करनेवाले गृहस्थों से दान लेवे भी। इनमें से ३ (तीन) कर्म पढ़ना, यज्ञ करना, दान देना* धर्म में। और तीन कर्म पढ़ाना, यज्ञ कराना, दान लेना जीविका है। परन्तु—

* धर्म नाम न्यायाचरण। न्याय नाम पक्षपात छोड़ के वर्त्तना। पक्षपात छोड़ना

प्रतिग्रहः प्रत्यवरः ॥ मनु० ॥

जो दान लेना है वह नीच कर्म है । किन्तु पढ़ाके और यज्ञ करा के जीविका करनी उत्तम है ॥ १ ॥ (शमः) मन को अधर्म में न जाने दे किन्तु अधर्म करने की इच्छा भी न उठने देवे (दमः) श्रोत्रादि इन्द्रियों को अधर्माचरण से सदा दूर रक्खे दूर रख के धर्म ही के बीच में प्रवृत्त रक्खे (तपः) ब्रह्मचर्य, विद्या, योगाभ्यास की सिद्धि के लिये शीत, उष्ण, निन्दा, स्तुति, क्षुधा, तृषा, मानापमान आदि द्वन्द्व का सहना (शौचम्) राग द्वेष, मोहादि से मन और आत्मा को तथा जलादि के शरीर को सदा पवित्र रखना (क्षान्तिः) क्षमा अर्थात् कोई निन्दा, स्तुति आदि से सतावे तो भी उन पर कृपालु रहकर क्रोधादि का न करना (आर्जवम्) निरभिमान रहना दम्भ स्वात्मश्लाघा अर्थात् अपने मुख से अपनी प्रशंसा न करके नम्र सरल शुद्ध पवित्र भाव रखना (ज्ञानम्) सब शास्त्रों को पढ़ के विचार कर उनके शब्दार्थसम्बन्धों को यथावत् जानकर पढ़ाने का पूर्ण सामर्थ्य करना (विज्ञानम्) पृथिवी से ले के परमेश्वर पर्यन्त पदार्थों को जान और क्रियाकुशलता तथा योगाभ्यास से साक्षात् करके यथावत् उपकार ग्रहण करना कराना (आस्तिक्यम्) परमेश्वर, वेद, धर्म, परलोक, परजन्म, पूर्वजन्म, कर्मफल और मुक्ति से विमुख कभी न होना । ये नव कर्म और गुण धर्म में समझना । सब से उत्तम गुण कर्म स्वभाव को धारण करना । ये गुण कर्म जिन व्यक्तियों में हों वे ब्राह्मण और ब्राह्मणी होवें। विवाह भी इन्हीं वर्ण के गुण कर्म स्वभावों को मिला ही के करें । मनुष्यमात्र में से इन्हीं को ब्राह्मणवर्ण का अधिकार होवे ॥ २ ॥

अथ क्षत्रियस्वरूपलक्षणम्

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः ॥ १ ॥ मनु० ॥

नाम सर्वदा अहिंसादि निर्वैरता सत्यभाषणादि में स्थिर रहकर, हिंसा द्वेषादि और मिथ्याभाषणादि से सदा पृथक् रहना । सब मनुष्यों का यही एक धर्म है । किन्तु जो २ धर्म के लक्षण वर्ण–कर्मों में पृथक् २ आते हैं इसी से चार वर्ण पृथक् २ गिने जाते हैं ॥

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रकर्मस्वभावजम् ॥ २ ॥ गीता० ॥

अर्थः—दीर्घ ब्रह्मचर्य से (अध्ययनम्) साङ्गोपाङ्ग वेदादि शास्त्रों को यथावत् पढ़ना (इज्या) अग्निहोत्रादि यज्ञों का करना (दानम्) सुपात्रों को विद्या सुवर्ण आदि और प्रजा को अभयदान देना (प्रजानां, रक्षणम्) प्रजाओं का सब प्रकार से सर्वदा यथावत् पालन करना यह धर्म क्षत्रियों के धर्म के लक्षणों में, और शस्त्रविद्या का पढ़ाना, न्यायघर और सेना में जीविका करना क्षत्रियों की जीविका है (विषयेष्वप्रसक्तिः) विषयों में अनासक्त हो के सदा जितेन्द्रिय रहना लोभ व्यभिचार मद्यपानादि नशा आदि दुर्व्यसनों से पृथक् रहकर विनय सुशीलतादि शुभ कर्मों में सदा प्रवृत्त रहना (शौर्यम्) शस्त्र संग्राम मृत्यु और शस्त्रप्रहारादि से न डरना (तेजः) प्रगल्भ उत्तम प्रतापी होकर किसी के सामने दीन वा भीरु न होना (धृतिः) चाहे कितनी आपत्, विपत्, क्लेश, दुःख प्राप्त हो तथापि धैर्य रखके कभी न घबराना (दाक्ष्यम्) संग्राम, वाग्युद्ध, दूतत्व, विचार आदि सब में अतिचतुर बुद्धिमान् होना (युद्धे, चाप्यपलायनम्) युद्ध में सदा उद्यत रहना युद्ध से घबरा कर शत्रु के वश में कभी न होना (दानम्) इसका अर्थ प्रथम श्लोक में आगया (ईश्वरभावः) जैसे परमेश्वर सब के ऊपर दया करके, पितृवत् वर्त्तमान, पक्षपात छोड़कर, धर्माऽधर्म करनेवालों का यथायोग्य सुख दुःखरूप फल देता और अपने सर्वज्ञता आदि साधनों से सब का अन्तर्यामी होकर सब के अच्छे बुरे कर्मों को यथावत् देखता है, वैसे प्रजा के साथ वर्त कर, गुप्त दूत आदि से अपने को सब प्रजा वा राजपुरुषों के अच्छे बुरे कर्मों से सदा ज्ञात रखना, रात दिन न्याय करने और प्रजा को यथावत् सुख देने, श्रेष्ठों का मान और दुष्टों को दण्ड करने में सदा प्रवृत्त रहना, और सब प्रकार से अपने शरीर को रोग-रहित, बलिष्ठ, दृढ़, तेजस्वी, दीर्घायु रख के आत्मा को न्याय धर्म में चला कर कृतकृत्य करना आदि गुण कर्मों का योग जिस व्यक्ति में हो वह क्षत्रिय और क्षत्रिया होवे । इनका भी इन्हीं गुण कर्मों के मेल से विवाह करना । और

जैसे ब्राह्मण पुरुषों और ब्राह्मणी स्त्रियों को पढ़ावे वैसे ही राजा पुरुषों और राणी स्त्रियों की न्याय तथा उन्नति सदा किया करे। जो क्षत्रिय राजा न हों वे भी राज में ही यथाधिकार से नौकरी किया करें ॥

अथ वैश्यस्वरूपलक्षणम्

पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च ॥ १ ॥ मनु० ॥

अर्थः-(अध्ययनम्) वेदादि शास्त्रों का पढ़ना (इज्या) अग्निहोत्रादि यज्ञों का करना (दानम्) अन्नादि का दान देना ये तीन धर्म के लक्षण और (पशूनां, रक्षणम्) गाय आदि पशुओं का पालन करना उनसे दुग्धादि का बेचना (वणिक्पथम्) नाना देशों की भाषा, हिसाब, भूगर्भविद्या, भूमि, बीज आदि के गुण जानना और सब पदार्थों के भावाभाव समझना (कुसीदम्) व्याज का लेना * (कृषिमेव च) खेती की विद्या का जानना, अन्न आदि की रक्षा, खात और भूमि की परीक्षा, जोतना बोना आदि व्यवहार का जानना ये चार कर्म वैश्य की जीविका। ये गुण कर्म जिस व्यक्ति में हों वह वैश्य वैश्या। और इन्हीं की परस्पर परीक्षा और योग से विवाह होना चाहिये ॥ १ ॥

अथ शूद्रस्वरूपलक्षणम्

एकमेव हि शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत् ।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया ॥ १ ॥ मनु० ॥

अर्थः—(प्रभुः) परमेश्वर ने (शूद्रस्य) जो विद्याहीन, जिसको पढ़ने से भी विद्या न आसके, शरीर से पुष्ट, सेवा में कुशल हो उस शूद्र के लिये (एतेषामेव वर्णानाम्) इन ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य तीनों वर्णों की (अनसूयया)

* सवा रुपये सैकड़ से अधिक, चार आने से न्यून व्याज न लेवे न देवे। जब दूना धन आजाय उससे आगे कौड़ी न लेवे न देवे जितना न्यून व्याज लेवेगा उतना ही उसका धन बढ़ेगा और कभी धन का नाश और कुसन्तान उसके कुल में न होंगे ॥

निन्दा से रहित प्रीति से सेवा करना (एकमेव कर्म) यही एक कर्म (समादिशत्) करने की आज्ञा दी है। ये मूर्खत्वादि गुण और सेवा आदि कर्म जिस व्यक्ति में हों वह शूद्र और शूद्रा है। इन्हीं की परीक्षा से इनका विवाह और इनको अधिकार भी ऐसा ही होना चाहिये। इन गुण कर्मों के योग ही से चारों वर्ण होवें तो उस कुल देश और मनुष्य समुदाय की बड़ी उन्नति होवे और जिनका जन्म जिस वर्ण में हो उसी के सदृश गुण कर्म स्वभाव हों तो अतिविशेष है ॥ १ ॥

अब सब ब्राह्मणादि वर्णवाले मनुष्य लोग अपने २ कर्मों में निम्नलिखित रीति से वर्त्तें ॥

वेदोदितं स्वकं कर्म नित्यं कुर्यादतन्द्रितः ।
तद्धि कुर्वन्यथाशक्ति प्राप्नोति परमां गतिम् ॥ १ ॥
नेहेतार्थान् प्रसंगेन न विरुद्धेन कर्मणा ।
न विद्यमानेष्वर्थेषु नार्त्यामपि यतस्ततः ॥ २ ॥ मनु० ॥

अर्थः—ब्राह्मणादि द्विज वेदोक्त अपने कर्म को आलस्य छोड़ के नित्य किया करें उसको अपने सामर्थ्य के अनुसार करते हुए, मुक्ति पर्यन्त पदार्थों को प्राप्त होते हैं ॥ १ ॥ गृहस्थ कभी किसी दुष्ट के प्रसंग से द्रव्यसंचय न करे, न विरुद्ध कर्म से, न विद्यमान पदार्थ होते हुए उन को गुप्त रख के दूसरे से छल करके और चाहे कितना ही दुःख पड़े तथापि अधर्म से द्रव्यसञ्चय कभी न करे ॥ २ ॥

इन्द्रियार्थेषु सर्वेषु न प्रसज्येत कामतः ।
अतिप्रसक्तिं चैतेषां मनसा सन्निवर्त्तयेत् ॥ ३ ॥
सर्वान् परित्यजेदर्थान् स्वाध्यायस्य विरोधिनः ।
यथा तथाऽध्यापयंस्तु साह्यस्य कृतकृत्यता ॥ ४ ॥ मनु० ॥

अर्थः—इन्द्रियों के विषयों में काम से कभी न फँसे, और विषयों की अत्यन्त प्रसक्ति अर्थात् प्रसंग को मन से अच्छे प्रकार दूर करता रहे ॥ ३ ॥

जो स्वाध्याय और धर्मविरोधी व्यवहार वा पदार्थ हैं उन सबको छोड़ देवे, जिस किसी प्रकार से विद्या को पढ़ाते रहना ही गृहस्थ को कृतकृत्य होना है ॥ ४ ॥

बुद्धिवृद्धिकराण्याशु धन्यानि च हितानि च ।
नित्यं शास्त्राण्यवेक्षेत निगमांश्चैव वैदिकान् ॥ ५ ॥
यथा यथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति ।
तथा तथा विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते ॥ ६ ॥
न संवसेच्च पतितैर्न चाण्डालैर्न पुक्कसैः ।
न मूर्खैर्नावलिप्तैश्च नान्त्यैर्नान्त्यावसायिभिः ॥ ७ ॥
नात्मानमवमन्येत पूर्वाभिरसमृद्धिभिः ।
आमृत्योः श्रियमन्विच्छेन्नैनां मन्येत दुर्लभाम् ॥ ८ ॥
सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम् ।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ॥ ९ ॥ मनु० ॥

अर्थः—हे स्त्री पुरुषो ! तुम जो धर्म, धन और बुद्ध्यादि को अत्यन्त शीघ्र बढ़ानेहारे हितकारी शास्त्र हैं उनको और वेद के भागों की विद्याओं को नित्य देखा करो ॥ ५ ॥ मनुष्य जैसे २ शास्त्र को विचार कर उसके यथार्थ भाव को प्राप्त होता है वैसे २ अधिक २ जानता जाता है और इसकी प्रीति विज्ञान ही में होती जाती है ॥ ६ ॥ सज्जन गृहस्थ लोगों को योग्य है कि जो पतित दुष्ट कर्म करनेहारे हों न उनके, न चांडाल, न कंजर, न मूर्ख, न मिथ्याभिमानी और न नीच निश्चयवाले मनुष्यों के साथ कभी निवास करें ॥ ७ ॥ गृहस्थ लोग कभी प्रथम पुष्कल धनी हो के पश्चात् दरिद्र हो जायं उससे अपने आत्मा का अपमान न करें कि हाय हम निर्धनी होगये इत्यादि विलाप भी न करें किन्तु मृत्युपर्यन्त लक्ष्मी की उन्नति में पुरुषार्थ किया करें और लक्ष्मी को दुर्लभ न समझें ॥ ८ ॥ मनुष्य सदैव सत्य बोलें और दूसरे को कल्याणकारक उपदेश करें । काणे को काणा और मूर्ख को मूर्ख आदि अप्रिय वचन उनके सम्मुख कभी न बोलें और जिस मिथ्याभाषण से दूसरा प्रसन्न होता हो उसको भी न बोलें यह सनातन धर्म है ॥ ९ ॥

अभिवादयेद्वृद्धांश्च दद्याच्चैवासनं स्वकम् ।
कृताञ्जलिरुपासीत गच्छतः पृष्ठतोऽन्वियात् ॥ १० ॥
श्रुतिस्मृत्युदितं सम्यङ् निबद्धं स्वेषु कर्मसु ।
धर्ममूलं निषेवेत सदाचारमतन्द्रितः ॥ ११ ॥
आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः ।
आचाराद्धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम् ॥ १२ ॥
दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः ।
दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च ॥ १३ ॥
सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान्नरः ।
श्रद्दधानोऽनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति ॥ १४ ॥ मनु० ॥

अर्थः—सदा विद्यावृद्धों और वयोवृद्धों को नमस्ते अर्थात् उनका मान किया करें । जब वे अपने समीप आवें तब उठकर मानपूर्वक ले अपने आसन पर बैठावे और हाथ जोड़ के आप समीप बैठे, पूछे (हु)वे उत्तर देवें और जब जाने लगें तब थोड़ी दूर पीछे २ जाकर नमस्ते कर विदा किया करे और वृद्ध लोग हरवार निकम्मे जहां तहां न जाया करें ॥ १० ॥ गृहस्थ सदा आलस्य को छोड़कर वेद और मनुस्मृति में वेदानुकूल कहे हुए अपने कर्मों में निबद्ध और धर्म का मूल सदाचार अर्थात् जो सत्य और सत्पुरुष आप्त धर्मात्माओं का आचरण है उसका सेवन सदा किया करें ॥ ११ ॥ धर्माचरण ही से दीर्घायु उत्तम प्रजा और अक्षय धन को मनुष्य प्राप्त होता है और धर्माचार बुरे अधर्मयुक्त लक्षणों का नाश करदेता है ॥ १२ ॥ और जो दुष्टाचारी पुरुष होता है वह सर्वत्र निन्दित दुःखभागी और व्याधि से अल्पायु सदा होजाता है ॥ १३ ॥ जो सब अच्छे लक्षणों से हीन भी होकर सदाचारयुक्त सत्य में श्रद्धा और निन्दा आदि दोष रहित होता है वह सुख से सौ वर्ष पर्यन्त जीता है ॥ १४ ॥

यद्यत्परवशं कर्म तत्तद्यत्नेन वर्जयेत् ।
यद्यदात्मवशं तु स्यात्तत्तत्सेवेत यत्नतः ॥ १५ ॥

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम् ।
एतद्विद्यात्समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः ॥ १६ ॥
अधार्मिको नरो यो हि यस्य चाप्यनृतं धनम् ।
हिंसारतश्च यो नित्यं नेहासौ सुखमेधते ॥ १७ ॥ मनु० ॥

अर्थः—मनुष्य जो २ पराधीन कर्म हो उस २ को प्रयत्न से सदा छोड़े और जो २ स्वाधीन कर्म हो उस २ का सेवन प्रयत्न से किया करे ॥ १५ ॥ क्योंकि जितना परवश होना है वह सब दुःख और जितना स्वाधीन रहना है वह सब सुख कहाता है यही संक्षेप से सुख और दुःख का लक्षण जानो ॥१६॥ जो अधार्मिक मनुष्य है और जिस का अधर्म से संचित किया हुआ धन है और जो सदा हिंसा में अर्थात् वैर में प्रवृत्त रहता है वह इस लोक और परलोक अर्थात् परजन्म में सुख को कभी नहीं प्राप्त हो सकता ॥ १७ ॥

नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव ।
शनैरावर्त्तमानस्तु कर्त्तुर्मूलानि कृन्तति ॥ १८ ॥
यदि नात्मनि पुत्रेषु न चेत्पुत्रेषु नप्तृषु ।
न त्वेवन्तु कृतोऽधर्मः कर्त्तुर्भवति निष्फलः ॥ १९ ॥
सत्यधर्मार्यवृत्तेषु शौचे चैवारमेत्सदा ।
शिष्यांश्च शिष्याद्धर्मेण वाग्बाहूदरसंयतः ॥ २० ॥ मनु० ॥

अर्थः—मनुष्य निश्चय करके जाने कि इस संसार में जैसे गाय की सेवा का फल दूध आदि शीघ्र नहीं होता वैसे ही किये हुए अधर्म का फल भी शीघ्र नहीं होता किन्तु धीरे २ अधर्मकर्त्ता के सुखों को रोकता हुआ सुख के मूलों को काट देता है पश्चात् अधर्मी दुःख ही दुःख भोगता है ॥ १८ ॥ यदि अधर्म का फल कर्त्ता की विद्यमानता में न हो तो पुत्रों और पुत्रों के समय में न हो तो नातियों के समय में अवश्य प्राप्त होता है किन्तु यह कभी नहीं हो सकता कि कर्त्ता का किया हुआ कर्म निष्फल होवे ॥ १९ ॥ इसलिये मनुष्यों को योग्य है कि सत्य धर्म और आर्य अर्थात् उत्तम पुरुषों के आचरणों और भीतर बाहर

की पवित्रता में सदा रमण करें। अपनी वाणी बाहू उदर को नियम और सत्य-धर्म के साथ वर्त्तमान रख के शिष्यों को सदा शिक्षा किया करें ॥ २० ॥

परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ।
धर्मं चाप्यसुखोदर्कं लोकविक्रुष्टमेव च ॥ २१ ॥
धर्मं शनैस्संचिनुयाद्वल्मीकमिव पुत्तिकाः।
परलोकसहायार्थं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥ २२ ॥
उत्तमैरुत्तमैर्नित्यं सम्बन्धानाचरेत्सह।
निनीषुः कुलमुत्कर्षमधमानधमाँस्त्यजेत् ॥ २३ ॥
वाच्यर्था नियताः सर्वे वाङ्मूला वाग्विनिःसृताः।
तान्तु यः स्तेनयेद्वाचं स सर्वस्तेयकृन्नरः ॥ २४ ॥
स्वाध्यायेन जपैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ॥ २५ ॥ मनु० ॥

अर्थः—जो धर्म से वर्जित धनादि पदार्थ और काम हों उनको सर्वथा शीघ्र छोड़ देवे और जो धर्माभास अर्थात् उत्तरकाल में दुःखदायक कर्म हैं और जो लोगों को निन्दित कर्म में प्रवृत्त करनेवाले कर्म हैं उनसे भी दूर रहे ॥ २१ ॥ जैसे दीमक धीरे २ बड़े भारी घर को बना लेती हैं वैसे मनुष्य पर-जन्म के सहाय के लिये सब प्राणियों को पीड़ा न देकर धर्म का संचय धीरे धीरे किया करे ॥ २२ ॥ जो मनुष्य अपने कुल को उत्तम करना चाहे वह नीच नीच पुरुषों का सम्बन्ध छोड़कर नित्य अच्छे अच्छे पुरुषों से सम्बन्ध बढ़ाता जावे ॥ २३ ॥ जिस वाणी में सब व्यवहार, निश्चित वाणी ही जिन का मूल और जिस वाणी ही से सब व्यवहार सिद्ध होते हैं जो मनुष्य उस वाणी को चोरता अर्थात् मिथ्याभाषण करता है वह जानो सब चोरी आदि पाप ही को करता है इसलिये मिथ्याभाषण को छोड़ के सदा सत्यभाषण ही किया करे ॥ २४ ॥ मनुष्यों को चाहिये कि धर्म से वेदादि शास्त्रों का पठन पाठन, गायत्री प्रणवादि का अर्थ विचार, ध्यान, अग्निहोत्रादि होम, कर्मोपासना ज्ञान विद्या, पौर्णमास्यादि इष्टि, पञ्चमहायज्ञ, अग्निष्टोम आदि, न्याय से राज्यपालन,

सत्योपदेश और योगाभ्यासादि उत्तम कर्मों से इस शरीर को (ब्राह्मी) अर्थात् ब्रह्मसम्बन्धी करे ॥ २५ ॥

अथ सभा०— जो २ विशेष बड़े २ काम हों जैसा कि राज्य, वे सब सभा से निश्चय करके किये जावें ।

इसमें प्रमाण—तं सभा च समितिश्च सेना च ॥ १ ॥ अथर्व० कां० १५ । सू० ६ । मं० २ ॥ सभ्य सभां मे पाहि ये च सभ्याः सभासदः ॥ २ ॥ अथर्व० कां० १६ । सू० ५५ । मं० ५ ॥ त्रीणि राजाना विदथे पुरूणि परि विश्वानि भूषथः सदांसि ॥ ३ ॥ ऋ० मं० ३ । सू० ३८ । मं० ६ ॥

अर्थः—(तम्) जो कि संसार में धर्म के साथ राज्यपालनादि किया जाता है उस व्यवहार को सभा और संग्राम तथा सेना सब प्रकार संचित करे ॥ १ ॥ हे सभ्य सभा के योग्य सभापते राजन् ! तू (मे) मेरी (सभाम्) सभा की (पाहि) रक्षा और उन्नति किया कर (ये च) और जो (सभ्याः) सभा के योग्य धार्मिक आप्त (सभासदः) सभासद् विद्वान् लोग हैं वे भी सभा की योजना रक्षा और उससे सब की उन्नति किया करें ॥ २ ॥ जो (राजाना) राजा और प्रजा के भद्र पुरुषों के दोनों समुदाय हैं वे (विदथे) उत्तम ज्ञान और लाभदायक इस जगत् अथवा संग्रामादि कार्यों में (त्रीणि) राजसभा, धर्मसभा और विद्यासभा अर्थात् विद्यादि व्यवहारों की वृद्धि के लिये ये तीन प्रकार की (सदांसि) सभा नियत कर इन्हीं से संसार की सब प्रकार की उन्नति करें ॥ ३ ॥

अनाम्नातेषु धर्मेषु कथं स्यादिति चेद्भवेत् ।
यं शिष्टा ब्राह्मणा ब्रूयुस्स धर्मः स्यादशङ्कितः ॥ १ ॥
धर्मेणाधिगतो यैस्तु वेदः सपरिबृंहणः ।
ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेयाः श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः ॥ २ ॥ मनु० ॥

अर्थः-हे गृहस्थ लोगो ! जो धर्मयुक्त व्यवहार मनुस्मृति आदि में प्रत्यक्ष

न कहे हों यदि उनमें शंका होवे तो तुम जिसको शिष्ट आप्त विद्वान् कहें उसी को शंकारहित कर्त्तव्य धर्म मानो ॥ १ ॥ शिष्ट सब मनुष्यमात्र नहीं होते किन्तु जिन्हों ने पूर्ण ब्रह्मचर्य और धर्म से साङ्गोपाङ्ग वेद पढ़े हों जो श्रुति प्रमाण और प्रत्यक्षादि प्रमाणों ही से विधि वा निषेध करने में समर्थ धार्मिक परोपकारी हों वे ही शिष्ट पुरुष होते हैं ॥ २ ॥

दशावरा वा परिषद्यं धर्मं परिकल्पयेत् ।
त्र्यवरा वापि वृत्तस्था तं धर्मं न विचालयेत् ॥ ३ ॥
त्रैविद्यो हैतुकस्तर्की नैरुक्तो धर्मपाठकः ।
त्रयश्चाश्रमिणः पूर्वे परिषत्स्याद्दशावरा ॥ ४ ॥
ऋग्वेदविद्यजुर्विच्च सामवेदविदेव च ।
त्र्यवरा परिषज्ज्ञेया धर्मसंशयनिर्णये ॥ ५ ॥
एकोऽपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येद् द्विजोत्तमः ।
स विज्ञेयः परो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः ॥ ६ ॥ मनु० ॥

अर्थः—वैसे शिष्ट न्यून से न्यून १० (दश) पुरुषों की सभा होवे अथवा बड़े विद्वान् तीनों की भी सभा हो सकती है जो सभा से धर्म कर्म निश्चित हों उनका भी आचरण सब लोग करें ॥ ३ ॥ उन दशों में इस प्रकार के विद्वान् होवें—३ (तीन) वेदों के विद्वान्, चौथा हैतुक अर्थात् कारण अकारण का ज्ञाता, पांचवां तर्की न्यायशास्त्रवित्, छठा निरुक्त का जाननेहारा, सातवां धर्मशास्त्रवित्, आठवां ब्रह्मचारी, नववां गृहस्थ और दशवां वानप्रस्थ इन महात्माओं की सभा होवे ॥ ४ ॥ तथा ऋग्वेदवित् यजुर्वेदवित् और सामवेदवित् इन तीनों विद्वानों की भी सभा धर्मसंशय अर्थात् सब व्यवहारों के निर्णय के लिये होनी चाहिये और जितने सभा में अधिक पुरुष हों उतनी ही उत्तमता है ॥ ५ ॥ द्विजों में उत्तम अर्थात् चतुर्थाश्रमी संन्यासी अकेला भी जिस धर्म व्यवहार के करने का निश्चय करे वही परमधर्म समझना किन्तु अज्ञानियों के सहस्रों लाखों और क्रोड़ों पुरुषों का कहा हुआ धर्मव्यवहार कभी न मानना चाहिये, किन्तु

धर्मात्मा विद्वानों और विशेष परमविद्वान् संन्यासी का वेदादि प्रमाणों से कहा हुआ धर्म सब को मानने योग्य है ॥ ६ ॥

यदि सभा में मतभेद हो तो बहुपक्षानुसार मानना और समपक्ष में उत्तमों की बात स्वीकार करनी और दोनों पक्षवाले बराबर उत्तम हों तो वहां संन्यासियों की सम्मति लेनी, जिधर पक्षपातरहित सर्वहितैषी संन्यासियों की सम्मति होवे वही उत्तम समझनी चाहिये ।

> चतुर्भिरपि चैवैतैर्नित्यमाश्रमिभिर्द्विजैः ।
> दशलक्षणको धर्मस्सेवितव्यः प्रयत्नतः ॥ ७ ॥
> धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
> धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥ ८ ॥ मनु० ॥

अर्थः—ब्रह्मचारी गृहस्थ वानप्रस्थ संन्यासी आदि सब मनुष्यों को योग्य है कि निम्नलिखित धर्म का सेवन और उससे विरुद्ध अधर्म का त्याग प्रयत्न से किया करें ॥ ७ ॥ धर्म, न्याय नाम पक्षपात छोड़ कर सत्य ही का आचरण और असत्य का सर्वदा परित्याग रखना इस धर्म के ग्यारह लक्षण हैं, (अहिंसा) किसी से वैरबुद्धि करके उसके अनिष्ट करने में कभी न वर्त्तना, (धृतिः) सुख दुःख हानि लाभ में भी व्याकुल होकर धर्म को न छोड़ना किन्तु धैर्य से धर्म ही में स्थिर रहना, (क्षमा) निन्दा स्तुति मानापमान का सहन करके धर्म ही करना, (दमः) मन को अधर्म से सदा हटाकर धर्म ही में प्रवृत्त रखना (अस्तेयम्) मन, कर्म, वचन से अन्याय और अधर्म से पराये द्रव्य का स्वीकार न करना (शौचम्) रागद्वेषादि त्याग से आत्मा और मन को पवित्र और जलादि से शरीर को शुद्ध रखना, (इन्द्रियनिग्रहः) श्रोत्रादि बाह्य इन्द्रियों को अधर्म से हटा के धर्म ही में चलाना, (धीः) वेदादि सत्यविद्या ब्रह्मचर्य सत्सङ्ग करने और कुसंग दुर्व्यसन मद्यपानादि त्याग से बुद्धि को सदा बढ़ाते रहना (विद्या) जिससे भूमि से ले के परमेश्वर पर्यन्त का यथार्थ बोध होता है उस विद्या को प्राप्त होना, (सत्यम्) सत्य मानना सत्य बोलना

सत्य करना, (अक्रोधः) क्रोधादि दोषों को छोड़कर शान्त्यादि गुणों का ग्रहण करना धर्म कहाता है इस का ग्रहण, और अन्याय पक्षपातसहित आचरण अधर्म जो कि हिंसा वैरबुद्धि, अधैर्य असहन, मन को अधर्म में चलाना, चोरी करना, अपवित्र रहना, इन्द्रियों को न जीत कर अधर्म में चलाना, कुसंग दुर्व्यसन मद्यपानादि से बुद्धि को नाश करना, अविद्या जो कि अधर्माचरण अज्ञान है उसमें फँसना, असत्य मानना असत्य बोलना, क्रोधादि दोषों में फंसकर अधर्मी दुष्टाचारी होना, ये ग्यारह अधर्म के लक्षण हैं, इनसे सदा दूर रहना चाहिये ॥ ८ ॥

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा न ते वृद्धा ये न वदन्ति धर्मम् ।
नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति न तत्सत्यं यच्छलेनाभ्युपेतम् ॥
महाभारते० ॥ ९ ॥

सभां वा न प्रवेष्टव्यं वक्तव्यं वा समञ्जसम् ।
अब्रुवन् विब्रुवन्वापि नरो भवति किल्बिषी ॥ १० ॥
धर्मो विद्धस्त्वधर्मेण सभां यत्रोपतिष्ठते ।
शल्यं चास्य न कृन्तन्ति विद्धास्तत्र सभासदः ॥ ११ ॥
विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः ।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तन्निबोधत ॥ १२ ॥ मनु० ॥

वह सभा नहीं है जिसमें वृद्ध पुरुष न होवें, वे वृद्ध नहीं हैं जो धर्म ही की बात नहीं बोलते, वह धर्म नहीं है जिसमें सत्य नहीं और न वह सत्य है जो कि छल से युक्त हो ॥ ९ ॥ मनुष्य को योग्य है कि सभा में प्रवेश न करे, यदि सभा में प्रवेश करे तो सत्य ही बोले, यदि सभा में बैठा हुआ भी असत्य बात को सुन के मौन रहे अथवा सत्य के विरुद्ध बोले वह मनुष्य अतिपापी है ॥ १० ॥ अधर्म से धर्म घायल होकर जिस सभा में प्राप्त होवे उसके घाव को यदि सभासद् न पूर देवें तो निश्चय जानो कि उस सभा में सब सभासद ही घायल पड़े हैं ॥ ११ ॥ जिसको सत्पुरुष रागद्वेषरहित विद्वान् अपने हृदय से अनुकूल जानकर सेवन करते हैं उसी पूर्वोक्त को तुम लोग धर्म जानो ॥ १२ ॥

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोवधीत् ॥ १३ ॥
वृषो हि भगवान्धर्मस्तस्य यः कुरुते ह्यलम्।
वृषलं तं विदुर्देवास्तस्माद्धर्मं न लोपयेत् ॥ १४ ॥ मनु० ॥

जो पुरुष धर्म का नाश करता है उसी का नाश धर्म कर देता है और जो धर्म की रक्षा करता है उसकी धर्म भी रक्षा करता है इसलिये मारा हुआ धर्म कभी हम को न मार डाले इस भय से धर्म का हनन अर्थात् त्याग कभी न करना चाहिये ॥ १३ ॥ जो सुख की वृष्टि करनेहारा सब ऐश्वर्य का दाता धर्म है उसका जो लोप करता है उसको विद्वान् लोग वृषल अर्थात् नीच समझते हैं ॥ १४ ॥

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
धर्मो नित्यः सुखदुःखे त्वनित्ये जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः ॥ १५ ॥
महाभारते ॥

यत्र धर्मो ह्यधर्मेण सत्यं यत्रानृतेन च।
हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदः ॥ १६ ॥ मनु० ॥
निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु,
लक्ष्मीस्समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ॥ १७ ॥ भर्तृहरिः ॥

अर्थः—मनुष्यों को योग्य है कि काम से अर्थात् झूठ से कामना सिद्धि होने के कारण से, वा निन्दा स्तुति आदि के भय से भी, धर्म का त्याग कभी न करें, और न लोभ से, चाहे झूठ अधर्म से चक्रवर्त्ती राज्य भी मिलता हो तथापि धर्म को छोड़कर चक्रवर्त्ती राज्य को भी ग्रहण न करें। चाहे भोजन छादन जलपान आदि की जीविका भी अधर्म से हो सके वा प्राण जाते हों परन्तु जीविका के लिये भी धर्म को कभी न छोड़ें। क्योंकि जीव और धर्म नित्य हैं,

तथा सुख दुःख दोनों अनित्य हैं। अनित्य के लिये नित्य का छोड़ना अतीव दुष्ट कर्म है। इस धर्म का हेतु कि जिस शरीर आदि से धर्म होता है वह भी अनित्य है। धन्य वे मनुष्य हैं जो अनित्य शरीर और सुख दुःखादि के व्यवहार में वर्त्तमान होकर नित्य धर्म का त्याग कभी नहीं करते ॥ १५ ॥ जिस सभा में बैठे हुए सभासदों के सामने अधर्म से धर्म और झूठ से सत्य का हनन होता है उस सभा में सब सभासद मरे से ही हैं ॥ १६ ॥ सब मनुष्यों को यह निश्चय जानना चाहिये कि चाहे सांसारिक अपने प्रयोजन की नीति में वर्त्तनेहारे चतुर पुरुष निन्दा करें वा स्तुति करें, लक्ष्मी प्राप्त होवे अथवा नष्ट होजावे, आज ही मरण होवे अथवा वर्षान्तर में मृत्यु प्राप्त होवे, तथापि जो मनुष्य धर्मयुक्त मार्ग से एक पग भी विरुद्ध नहीं चलते वे ही धीर पुरुष धन्य हैं ॥१७॥

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्। देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥ १ ॥ ऋ० मं० १० । सू० १९१ । मं० २ ॥

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत्सत्यानृते प्रजापतिः। अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धाᳪं सत्ये प्रजापतिः ॥ २ ॥ यजु० अ० १९ । मं० ७७ ॥

सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै। तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै। ओं शान्तिश्शान्तिश्शान्तिः ॥ तैत्तिरीयार० अष्टमप्रपाठकः । प्रथमानुवाकः ॥

अर्थः—हे गृहस्थादि मनुष्यो! तुमको मैं ईश्वर आज्ञा देता हूं कि (यथा) जैसे (पूर्वे) प्रथम अधीत विद्यायोगाभ्यासी (संजानानाः) सम्यक् जाननेवाले (देवाः) विद्वान् लोग मिलके (भागम्) सत्य असत्य का निर्णय करके असत्य को छोड़ सत्य की (उपासते) उपासना करते हैं वैसे (सम्, जानताम्) आत्मा से धर्माऽधर्म प्रियाऽप्रिय को सम्यक् जाननेहारे (वः) तुम्हारे (मनांसि) मन एक दूसरे से अविरोधी होकर एक पूर्वोक्त धर्म्म में सम्मत होवें और तुम उसी धर्म को (संगच्छध्वम्) सम्यक् मिल के प्राप्त होओ जिसमें तुम्हारी एक सम्मति होती है और विरुद्धवाद अधर्म को छोड़ के (संवदध्वम्) सम्यक् संवाद

प्रश्नोत्तर प्रीति से करके एक दूसरे की उन्नति किया करो ॥ १ ॥ (प्रजापतिः) सकल सृष्टि का उत्पत्ति और पालन करनेहारा सर्वव्यापक सर्वज्ञ न्यायकारी अद्वितीय स्वामी परमात्मा (सत्यानृते) सत्य और अनृत (रूपे) भिन्न २ स्वरूपवाले धर्म अधर्म को (दृष्ट्वा) अपनी सर्वज्ञता से यथावत् देख के (व्याकरोत्) भिन्न २ निश्चित करता है (अनृते) मिथ्याभाषणादि अधर्म में (अश्रद्धाम्) अप्रीति करो और (प्रजापतिः) वही परमात्मा (सत्ये) सत्यभाषणादि लक्षणयुक्त न्याय पक्षपातरहित धर्म में तुम्हारी (श्रद्धाम्) प्रीति को (अदधात्) धारण कराता है वैसा ही तुम करो ॥ २ ॥ हम स्त्री पुरुष, सेवक स्वामी, मित्र मित्र, पिता पुत्रादि (सह) मिलके (नौ) हम दोनों प्रीति से (अवतु) एक दूसरे की रक्षा किया करें और (सह) प्रीति से मिल के एक दूसरे के (वीर्यम्) पराक्रम की बढ़ती (करवावहै) सदा किया करें (नौ) हमारा (अधीतम्) पढ़ा पढ़ाया (तेजस्वि) अतिप्रकाशमान (अस्तु) होवे और हम एक दूसरे से (मा, विद्विषावहै) कभी विद्वेष विरोध न करें । किन्तु सदा मित्रभाव और एक दूसरे के साथ सत्य प्रेम से वर्त्त कर सब गृहस्थों के सद्-व्यवहारों को बढ़ाते हुए सदा आनन्द में बढ़ते जावें । जिस परमात्मा का यह "ओम्" नाम है उसकी कृपा और अपने धर्मयुक्त पुरुषार्थ से हमारे शरीर मन और आत्मा का त्रिविध दुःख जो कि अपने दूसरे से होता है नष्ट होजावे और हम लोग प्रीति से एक दूसरे के साथ वर्त्त के धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि में सफल हो के सदैव स्वयं आनन्द में रहकर सबको आनन्द में रक्खें ॥

इति गृहाश्रमसंस्कारविधिः समाप्तः

अथ

वानप्रस्थसंस्कारविधिं वक्ष्यामः

वानप्रस्थसंस्कार उसको कहते हैं जो विवाह से सन्तानोत्पत्ति करके पूर्ण ब्रह्मचर्य से पुत्र भी विवाह करे और पुत्र का भी एक सन्तान होजाय अर्थात् जब पुत्र का भी पुत्र होजावे तब पुरुष वानप्रस्थाश्रम अर्थात् वन में जाकर निम्नलिखित सब बातें करे ॥

अत्र प्रमाणानि–ब्रह्मचर्याश्रमं समाप्य गृही भवेद् गृही भूत्वा वनी भवेद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत् ॥ १ ॥ शतपथब्राह्मणे ॥

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम् ।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते ॥ २ ॥

यजु० अ० १९ । मं० ३० ॥

अर्थः–मनुष्यों को चाहिये कि ब्रह्मचर्याश्रम की समाप्ति करके गृहस्थ होवें गृहस्थ होके वनी अर्थात् वानप्रस्थ होवें और वानप्रस्थ होके संन्यास ग्रहण करें ॥ १ ॥ जब मनुष्य ब्रह्मचर्यादि तथा सत्यभाषणादि व्रत अर्थात् नियम धारण करता है तब उस (व्रतेन) व्रत से उत्तम प्रतिष्ठारूप (दीक्षाम्) दीक्षा को (आप्नोति) प्राप्त होता है (दीक्षया) ब्रह्मचर्यादि आश्रमों के नियम पालन से (दक्षिणाम्) सत्कारपूर्वक धनादि को (आप्नोति) प्राप्त होता है (दक्षिणा) उस सत्कार से (श्रद्धाम्) सत्य धारण में प्रीति को (आप्नोति) प्राप्त होता है और (श्रद्धया) सत्यधार्मिक जनों में प्रीति से (सत्यम्) सत्यविज्ञान वा सत्य पदार्थ मनुष्य को (आप्यते) प्राप्त होता है इसलिये श्रद्धापूर्वक ब्रह्मचर्य और गृहाश्रम का अनुष्ठान करके वानप्रस्थ आश्रम अवश्य करना चाहिये ॥ २ ॥

अभ्यादधामि समिधमग्ने व्रतपते त्वयि। व्रतञ्च श्रद्धां चोपैमीन्धे त्वा दीक्षितो अहम् ॥ ३ ॥ यजु० अ० २० । मं० २४ ॥

आ नयैतमा रभस्व सुकृतां लोकमपि गच्छतु प्रजानन्। तीर्त्वा तमांसि बहुधा महान्त्यजो नाकमाक्रमतां तृतीयम् ॥ ४ ॥ अथर्व० कां० ६ । सू० ५ । मं० १ ॥

अर्थः—हे (व्रतपतेऽग्ने) नियमपालकेश्वर ! (दीक्षितः) दीक्षा को प्राप्त होता हुआ (अहम्) मैं (त्वयि) तुझ में स्थिर होके (व्रतम्) ब्रह्मचर्यादि आश्रमों का धारण (च) और उसकी सामग्री (श्रद्धाम्) सत्य की धारणा को (च) और उसके उपायों को (उपैमि) प्राप्त होता हूं इसीलिये अग्नि में जैसे (समिधम्) समिधा को (अभ्यादधामि) धारण करता हूं वैसे विद्या और व्रत को धारण कर प्रज्वलित करता हूं और वैसे ही (त्वा) तुझ को अपने आत्मा में धारण करता और सदा (ईन्धे) प्रकाशित करता हूं ॥ ३ ॥ हे गृहस्थ ! (प्रजानन्) प्रकर्षता से जानता हुआ तू (एतम्) इस वानप्रस्थाश्रम का (आरभस्व) आरम्भ कर (आनय) अपने मन को गृहाश्रम से इधर की ओर ला (सुकृताम्) पुण्यात्माओं के (लोकमपि) देखने योग्य वानप्रस्थाश्रम को भी (गच्छतु) प्राप्त हो (बहुधा) बहुत प्रकार के (महान्ति) बड़े बड़े (तमांसि) अज्ञान दुःख आदि संसार के मोहों को (तीर्त्वा) तर के अर्थात् पृथक् होकर (अजः) अपने आत्मा को अजर अमर जान (तृतीयम्) तीसरे (नाकम्) दुःखरहित वानप्रस्थाश्रम को (आक्रमताम्) आक्रमण अर्थात् रीतिपूर्वक आरूढ़ हो ॥ ४ ॥

भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे। ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उपसन्नमन्तु ॥ ५ ॥ अथर्व० कां० १९ । सू० ४१ । मं० १ ॥

मा नो मेधां मा नो दीक्षां मा नो हिंसिष्टं यत्तपः। शिवा नः शं सन्त्वायुषे शिवा भवन्तु मातरः ॥ ६ ॥ अथर्व० कां० १९ । सू० ४० । मं० ३ ॥

अर्थः—हे विद्वान् मनुष्यो ! जैसे (स्वर्विदः) सुख को प्राप्त होनेवाले (ऋषयः) विद्वान् लोग (अग्रे) प्रथम (दीक्षाम्) ब्रह्मचर्य्यादि आश्रमों की दीक्षा उपदेश लेके (तपः) प्राणायाम और विद्याध्ययन जितेन्द्रियत्वादि शुभ लक्षणों को (उप, निषेदुः) प्राप्त होकर अनुष्ठान करते हैं वैसे इस (भद्रम्) कल्याणकारक वानप्रस्थाश्रम की (इच्छन्तः) इच्छा करो। जैसे राजकुमार ब्रह्मचर्य्याश्रम को करके (ततः) तदनन्तर (ओजः) पराक्रम (च) और (बलम्) बल को प्राप्त हो के (जातम्) प्रसिद्ध प्राप्त हुए (राष्ट्रम्) राज्य की इच्छा और रक्षा करते हैं और (अस्मै) न्यायकारी धार्मिक विद्वान् राजा को (देवाः) विद्वान् लोग नमन करते हैं (तत्) वैसे सब लोग वानप्रस्थाश्रम को किये हुए आप को (उप, सं, नमन्तु) समीप प्राप्त होके नम्र होवें ॥ ५ ॥ सम्बन्धी जन (नः) हम वानप्रस्थाश्रमस्थों की (मेधाम्) प्रज्ञा को (मा, हिंसिष्ट) नष्ट मत करें (नः) हमारी (दीक्षाम्) दीक्षा को (मा) मत और (नः) हमारा (यत्) जो (तपः) प्राणायामादि उत्तम तप है उसको भी (मा) मत नाश करें (नः) हमारी दीक्षा और (आयुषे) जीवन के लिये सब प्रजा (शिवा) कल्याण करनेहारी (सन्तु) होवें जैसे हमारी (मातरः) माता पितामही प्रपितामही आदि (शिवाः) कल्याण करनेहारी होती हैं वैसे सब लोग प्रसन्न होकर मुझ को वानप्रस्थाश्रम की अनुमति देनेहारे (भवन्तु) होवें ॥६॥

तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्त्या * विद्वांसो भैक्ष्यचर्यां चरन्तः ।
सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ॥ ७ ॥
मुण्डकोपनि० मुं० १ । ख० २ । मं० ११ ॥

अर्थः—हे मनुष्यो ! (ये) जो (विद्वांसः) विद्वान् लोग (अरण्ये) जंगल में (शान्त्या) शान्ति के साथ (तपःश्रद्धे) योगाभ्यास और परमात्मा में प्रीति करके (उपवसन्ति) वनवासियों के समीप वसते हैं और (भैक्ष्यचर्याम्) भिक्षाचरण को (चरन्तः) करते हुए जंगल में निवास करते हैं

* "शान्ता" इति मुण्डके पाठः (आनन्दाश्रमग्रन्थावलिः)

(ते) वे (हि) ही (विरजाः) निर्दोष निष्पाप निर्मल होके (सूर्यद्वारेण) प्राण के द्वारा (यत्र) जहां (सः) सो (अमृतः) मरण जन्म से पृथक् (अव्ययात्मा) नाशरहित (पुरुषः) पूर्ण परमात्मा विराजमान है (हि) वहीं (प्रयान्ति) जाते हैं इसलिये वानप्रस्थाश्रम करना अति उत्तम है ॥ ७ ॥

एवं गृहाश्रमे स्थित्वा विधिवत्स्नातको द्विजः ।
वने वसेत्तु नियतो यथावद्विजितेन्द्रियः ॥ १ ॥
गृहस्थस्तु यदा पश्येद् वलीपलितमात्मनः ।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत् ॥ २ ॥
सन्त्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वञ्चैव परिच्छदम् ।
पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य वनं गच्छेत्सहैव वा ॥ ३ ॥ मनु० ॥

अर्थः—पूर्वोक्त प्रकार विधिपूर्वक ब्रह्मचर्य से पूर्ण विद्या पढ़ के समावर्त्तन के समय स्नानविधि करनेहारा द्विज ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य जितेन्द्रिय जितात्मा होके यथावत् गृहाश्रम कर के वन में वसे ॥ १ ॥ गृहस्थ लोग जब अपने देह का चमड़ा ढीला और श्वेत केश होते हुए देखें और पुत्र का भी पुत्र होजाय तब वन का आश्रय लेवें ॥ २ ॥ जब वानप्रस्थाश्रम की दीक्षा लेवें तब ग्रामों में उत्पन्न हुए पदार्थों का आहार और घर के सब पदार्थों को छोड़ के पुत्रों में अपनी पत्नी को छोड़ अथवा संग में लेके वन को जावें ॥ ३ ॥

अग्निहोत्रं समादाय गृह्यं चाग्निपरिच्छदम् ।
ग्रामादरण्यं निःसृत्य निवसेन्नियतेन्द्रियः ॥ ४ ॥ मनु० ॥

अर्थः—जब गृहस्थ वानप्रस्थ होने की इच्छा करे तब अग्निहोत्र को सामग्री सहित ले के ग्राम से निकल जंगल में जितेन्द्रिय होकर निवास करे ॥ ४ ॥

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्दान्तो मैत्रः समाहितः ।
दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पकः ॥ ५ ॥
तापसेष्वेव विप्रेषु यात्रिकं भैक्ष्यमाहरेत् ।
गृहमेधिषु चान्येषु द्विजेषु वनवासिषु ॥ ६ ॥

एताश्चान्याश्च सेवेत दीक्षा विप्रो वने वसन् ।
विविधाश्चौपनिषदीरात्मसंसिद्धये श्रुतीः ॥ ७ ॥ मनु० अ० ६ ॥

अर्थः—वहां जंगल में वेदादि शास्त्रों को पढ़ने पढ़ाने में नित्य युक्त, मन और इन्द्रियों को जीतकर यदि स्त्री भी समीप हो तथापि उससे सेवा के सिवाय विषयसेवन अर्थात् प्रसङ्ग कभी न करे, सब से मित्रभाव, सावधान, नित्य देनेहारा, और किसी से कुछ भी न लेवे, सब प्राणीमात्र पर अनुकम्पा—कृपा रखनेहारा होवे ॥ ५ ॥ जो जंगल में पढ़ाने और योगाभ्यास करनेहारे तपस्वी धर्मात्मा विद्वान् लोग रहते हों जो कि गृहस्थ वा वानप्रस्थ वनवासी हों उनके घरों में से भिक्षा ग्रहण करे ॥ ६ ॥ और इस प्रकार वन में वसता हुआ इन और अन्य दीक्षाओं का सेवन करे, और आत्मा तथा परमात्मा के ज्ञान के लिये नाना प्रकार की उपनिषद् अर्थात् ज्ञान और उपासना विधायक श्रुतियों के अर्थों का विचार किया करे, इसी प्रकार जबतक संन्यास करने की इच्छा न हो तबतक वानप्रस्थ ही रहे ॥ ७ ॥

अथ विधिः—वानप्रस्थाश्रम करने का समय ५० वर्ष के उपरान्त है। जब पुत्र का भी पुत्र होजावे तब अपनी स्त्री, पुत्र, भाई, बन्धु, पुत्रवधू आदि को सब गृहाश्रम की शिक्षा करके वन की ओर यात्रा की तय्यारी करे। यदि स्त्री चले तो साथ लेजावे, नहीं तो ज्येष्ठ पुत्र को सौंप जावे कि इसकी सेवा यथावत् किया करना और अपनी पत्नी को शिक्षा कर जावे कि तू सदा पुत्र आदि को धर्ममार्ग में चलने के लिये और अधर्म से हटाने के लिये शिक्षा करती रहना। तत्पश्चात् पृष्ठ १३—१४ में लिखे प्रमाणे यज्ञशाला वेदी आदि सब बनावे। पृष्ठ १४—१५ में लिखे घृत आदि सब सामग्री जोड़ के पृ २०—२१ में लिखे प्रमाणे (ओं भूर्भुवः स्वर्द्यौ०) इस मन्त्र से अग्न्याधान और (अयन्त इध्म०) इत्यादि मन्त्रों से समिदाधान करके पृ० २२ में लिखे प्रमाणेः—

ओं अदितेऽनुमन्यस्व ॥

इत्यादि चार मन्त्रों से कुण्ड के चारों ओर जल प्रोक्षण करके, आघारावाज्यभागाहुति ४ और व्याहृति आज्याहुति ४ (चार) करके, पृष्ठ ८—१२ में

लिखे प्रमाणे स्वस्तिवाचन और शान्तिकरण करके, स्थालीपाक बनाकर, उस पर घृत सेचन कर, निम्नलिखित मन्त्रों से आहुति देवें ॥

ओं काय स्वाहा । कस्मै स्वाहा । कतमस्मै स्वाहा । आधिमाधीताय स्वाहा । मनः प्रजापतये स्वाहा । चित्तं विज्ञातायादित्यै स्वाहा । अदित्यै मह्यै स्वाहा । अदित्यै सुमृडीकायै स्वाहा । सरस्वत्यै स्वाहा । सरस्वत्यै पावकायै स्वाहा । सरस्वत्यै बृहत्यै स्वाहा । पूष्णे स्वाहा । पूष्णे प्रपथ्याय स्वाहा । पूष्णे नरन्धिषाय स्वाहा । त्वष्ट्रे स्वाहा । त्वष्ट्रे तुरीपाय स्वाहा । त्वष्ट्रे पुरुरूपाय स्वाहा * । भुवनस्य पतये स्वाहा । अधिपतये स्वाहा । प्रजापतये स्वाहा † । ओं आयुर्यज्ञेन कल्पताᳬ स्वाहा । प्राणो यज्ञेन कल्पताᳬ स्वाहा । अपानो यज्ञेन कल्पताᳬ स्वाहा । व्यानो यज्ञेन कल्पताᳬ स्वाहा । उदानो यज्ञेन कल्पताᳬ स्वाहा । समानो यज्ञेन कल्पताᳬ स्वाहा । चक्षुर्यज्ञेन कल्पताᳬ स्वाहा । श्रोत्रं यज्ञेन कल्पताᳬ स्वाहा । वाग्यज्ञेन कल्पताᳬ स्वाहा । मनो यज्ञेन कल्पताᳬ स्वाहा । आत्मा यज्ञेन कल्पताᳬ स्वाहा । ब्रह्मा यज्ञेन कल्पताᳬ स्वाहा । ज्योतिर्यज्ञेन कल्पताᳬ स्वाहा । स्वर्यज्ञेन कल्पताᳬ स्वाहा । पृष्ठं यज्ञेन कल्पताᳬ स्वाहा । यज्ञो यज्ञेन कल्पताᳬ स्वाहा ‡ । एकस्मै स्वाहा । द्वाभ्यां स्वाहा । शताय स्वाहा । एकशताय स्वाहा । व्युष्ट्यै स्वाहा । स्वर्गाय स्वाहा § ॥

इन मन्त्रों से एक २ करके ४३ स्थालीपाक की आज्याहुति देके, पुनः पृष्ठ २३ में लिखे प्रमाणे व्याहृति आहुति ४ (चार) देकर, पृ० २६ में लिखे प्रमाणे सामगान करके, सब इष्ट मित्रों से मिल, पुत्रादिकों पर सब घर का भार धरके, अग्निहोत्र की सामग्री सहित जंगल में जाकर, एकान्त में निवास कर, योगाभ्यास शास्त्रों का विचार महात्माओं का संग करके स्वात्मा और परमात्मा को साक्षात् करने में प्रयत्न किया करे ॥

इति वानप्रस्थसंस्कारविधिः समाप्तः

* यजुः अ० २२ । मं० २० ॥ † यजुः अ० २२ । मं० ३२ ॥

‡ यजु० अ० २२ । मं० ३३ ॥ § यजु० अ० २२ । मं० ३४ ॥

अथ
संन्याससंस्कारविधिं वक्ष्यामः

संन्याससंस्कार उसको कहते हैं कि जो मोहादि आवरण, पक्षपात छोड़ के विरक्त होकर सब पृथिवी में परोपकारार्थ विचरे अर्थात्ः—

सम्यङ् न्यस्यन्त्यधर्माचरणानि येन, वा सम्यङ् नित्यं सत्कर्मस्वास्त उपविशति स्थिरीभवति येन स संन्यासः, संन्यासो विद्यते यस्य स संन्यासी ॥

कालः—प्रथम जो वानप्रस्थ के आदि में कह आये हैं कि ब्रह्मचर्य पूरा करके गृहस्थ और गृहस्थ होके वनस्थ, वनस्थ होके संन्यासी होवे, यह क्रम-संन्यास अर्थात् अनुक्रम से आश्रमों का अनुष्ठान करता २ वृद्धावस्था में जो संन्यास लेना है उसी को क्रमसंन्यास कहते हैं ॥

द्वितीय प्रकार

यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेद्वनाद्वा गृहाद्वा ॥

यह ब्राह्मणग्रन्थ का वाक्य है—

अर्थः—जिस दिन दृढ़ वैराग्य प्राप्त होवे उसी दिन चाहे वानप्रस्थ का समय पूरा भी न हुआ हो अथवा वानप्रस्थ आश्रम का अनुष्ठान न करके गृहाश्रम से ही संन्यासाश्रम ग्रहण करे। क्योंकि संन्यास में दृढ़ वैराग्य और यथार्थ ज्ञान का होना ही मुख्य कारण है ॥

तृतीय प्रकार

ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् ॥

यह भी ब्राह्मण ग्रन्थ का वचन है । यदि पूर्ण अखण्डित ब्रह्मचर्य, सच्चा वैराग्य और पूर्ण ज्ञान विज्ञान को प्राप्त होकर विषयासक्ति की इच्छा आत्मा से यथावत् उठ जावे, पक्षपातरहित होकर सब के उपकार करने की इच्छा होवे और जिसको दृढ़ निश्चय होजावे कि मैं मरणपर्यन्त यथावत् संन्यास धर्म का निर्वाह कर सकूंगा, तो वह न गृहाश्रम करे न वानप्रस्थाश्रम, किन्तु ब्रह्मचर्याश्रम को पूर्ण कर ही के संन्यासाश्रम को ग्रहण कर लेवे ॥

अत्र वेदप्रमाणानि

शर्य्यणावति सोममिन्द्रः पिबतु वृत्रहा । बलं दधान आत्मनि करिष्यन् वीर्यं महदिन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥ १ ॥ आ पवस्व दिशां पत आर्जीकात् सोम मीढ्वः । ऋतवाकेन सत्येन श्रद्धया तपसा सुत इन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥ २ ॥ ऋ० मं० ६ । सू० ११३ । मं० १, २ ॥

अर्थः—मैं ईश्वर, संन्यास लेनेहारे तुझ मनुष्य को उपदेश करता हूं कि जैसे (वृत्रहा) मेघ का नाश करने हारा (इन्द्रः) सूर्य्य (शर्य्यणावति) हिंसनीय पदार्थों से युक्त भूमितल में स्थित (सोमम्) रस को पीता है वैसे संन्यास लेने वाला पुरुष उत्तम मूल फलों के रस को (पिबतु) पीवे और (आत्मनि) अपने आत्मा में (महत्) बड़े (वीर्यम्) सामर्थ्य को (करिष्यन्) करूंगा ऐसी इच्छा करता हुआ (बलं, दधानः) दिव्य बल को धारण करता हुआ (इन्द्राय) परमैश्वर्य के लिये हे (इन्दो) चन्द्रमा के तुल्य सब को आनन्द करनेहारे पूर्ण विद्वन् ! तू संन्यास लेके सब पर (परि, स्रव) सत्योपदेश की वृष्टि कर ॥ १ ॥ हे (सोम) सोम्यगुणसम्पन्न (मीढ्वः) सत्य से सब के अन्तःकरण को सींचनेहारे (दिशांपते) सब दिशाओं में स्थित मनुष्यों को सच्चा ज्ञान दे के पालन करनेहारे (इन्दो) शमादि गुणयुक्त संन्यासिन् ! तू (ऋतवाकेन) यथार्थ बोलने (सत्येन) सत्य भाषण करने से (श्रद्धया) सत्य के धारण में सच्ची प्रीति और (तपसा) प्राणायाम योगाभ्यास से (आर्जीकात्) सरलता से (सुतः) निष्पन्न होता हुआ तू अपने शरीर,

इन्द्रिय, मन, बुद्धि को (आ, पवस्व) पवित्र कर (इन्द्राय) परमैश्वर्ययुक्त परमात्मा के लिये (परि, स्रव) सब ओर से गमन कर ॥ २ ॥

ऋतं वदन्नृतद्युम्न सत्यं वदन्त्सत्यकर्मन् । श्रद्धां वदन्त्सोम राजन् धात्रा सोम परिष्कृत इन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥ ३ ॥ ऋ० मं० ९ । सू० ११३ । मं० ४ ॥

अर्थः-हे (ऋतद्युम्न) सत्य धन और सत्य कीर्तिवाले यतिवर ! (ऋतं, वदन्) पक्षपात छोड़ के यथार्थ बोलता हुआ हे (सत्यकर्मन्) सत्य वेदोक्त कर्मवाले संन्यासिन् ! (सत्यं, वदन्) सत्य बोलता हुआ (श्रद्धाम्) सत्य-धारण में प्रीति करने को (वदन्) उपदेश करता हुआ (सोम) सोम्यगुण-संपन्न (राजन्) सब ओर से प्रकाशयुक्त आत्मा वाले (सोम) योगैश्वर्ययुक्त (इन्दो) सब को आनन्ददायक संन्यासिन् ! तू (धात्रा) सकल विश्व के धारण करनेहारे परमात्मा से योगाभ्यास करके (परिष्कृत) शुद्ध होता हुआ (इन्द्राय) योग से उत्पन्न हुए परमैश्वर्य की सिद्धि के लिये (परि, स्रव) यथार्थ पुरुषार्थ कर ॥ ३ ॥

यत्र ब्रह्मा पवमान छन्दस्यां३ वाचं वदन् । ग्राव्णा सोमे महीयते सोमेनानन्दं जनयन्निन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥ ४ ॥ ऋग्वेद मं० ९ । सू० ११३ । मं० ६ ॥

अर्थः—हे (छन्दस्याम्) स्वतन्त्रतायुक्त (वाचम्) वाणी को (वदन्) कहते हुए (सोमेन) विद्या योगाभ्यास और परमेश्वर की भक्ति से (आनन्दम्) सब के लिये आनन्द को (जनयन्) प्रकट करते हुए (इन्दो) आनन्दप्रद (पवमान) पवित्रात्मन् पवित्र करनेहारे संन्यासिन् ! (यत्र) जिस (सोमे) परमैश्वर्ययुक्त परमात्मा में (ब्रह्मा) चारों वेदों का जाननेहारा विद्वान् (महीयते) महत्व को प्रा होकर सत्कार को प्राप्त होता है जैसे (ग्राव्णा) मेघ से सब जगत् को आनन्द होता है वैसे तू सब को (इन्द्राय) परमैश्वर्य युक्त मोक्ष का आनन्द देने के लिये सब साधनों को (परि, स्रव) सब प्रकार से प्राप्त करा ॥ ४ ॥

यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिँल्लोके स्वर्हितम् । तस्मिन् मां धेहि पवमानामृते लोके अक्षित इन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥ ५ ॥ ऋ० मं० ६ । सू० ११३ । मं० ७ ॥

अर्थः–हे (पवमान) अविद्यादि क्लेशों के नाश करनेहारे पवित्रस्वरूप (इन्दो) सर्वानन्ददायक परमात्मन् ! (यत्र) जिस तेरे स्वरूप में (अजस्रम्) निरन्तर व्यापक तेरा (ज्योतिः) तेज है (यस्मिन्) जिस (लोके) ज्ञान से देखने योग्य तुझ में (स्वः) नित्य सुख (हितम्) स्थित है (तस्मिन्) उस (अमृते) जन्म मरण और (अक्षिते) नाश से रहित (लोके) द्रष्टव्य अपने स्वरूप में आप (मा) मुझ को (इन्द्राय) परमैश्वर्य प्राप्ति के लिये (धेहि) कृपा से धारण कीजिये और मुझ पर माता के समान कृपाभाव से (परि, स्रव) आनन्द की वर्षा कीजिये ॥ ६ ॥

यत्र राजा वैवस्वतो यत्रावरोधनं दिवः । यत्रामूर्यह्वतीरापस्तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥ ६ ॥ ऋ० मं० ६ । सू० ११३ । मं० ८ ॥

अर्थः—हे (इन्दो) आनन्दप्रद परमात्मन् ! (यत्र) जिस मुझ में (वैवस्वतः) सूर्य का प्रकाश (राजा) प्रकाशमान हो रहा है (यत्र) जिस आप में (दिवः) बिजुली अथवा बुरी कामना की (अवरोधनम्) रुकावट है (यत्र) जिस आप में (अमूः) वे कारणरूप (यह्वतीः) बड़े व्यापक आकाशस्थ (आपः) प्राणप्रद वायु हैं (तत्र) उस अपने स्वरूप में (माम्) मुझ को (अमृतम्) मोक्षप्राप्त (कृधि) कीजिये (इन्द्राय) परमैश्वर्य के लिये (परि, स्रव) आर्द्रभाव से आप मुझ को प्राप्त हूजिये ॥ ६ ॥

यत्रानुकामं चरणं त्रिनाके त्रिदिवे दिवः । लोका यत्र ज्योतिष्मन्तस्तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥ ७ ॥ ऋ० मं० ६ । सू० ११३ । मं० ६ ॥

अर्थः—हे (इन्दो) परमात्मन् ! (यत्र) जिस आप में (अनुकामम्) इच्छा के अनुकूल स्वतन्त्र (चरणम्) विचरना है (यत्र) जिस (त्रिनाके)

त्रिविध अर्थात् आध्यात्मिक आधिभौतिक और आधिदैविक दुःख से रहित (त्रिदिवे) तीन सूर्य विद्युत् और भौम्य अग्नि से प्रकाशित सुखस्वरूप में (दिवः) कामना करने योग्य शुद्ध कामनावाले (लोकाः) यथार्थ ज्ञानयुक्त (ज्योतिष्मन्तः) शुद्ध विज्ञानयुक्त मुक्ति को प्राप्त हुए सिद्ध पुरुष विचरते हैं (तत्र) उस अपने स्वरूप में (माम्) मुझ को (अमृतम्) मोक्ष प्राप्त (कृधि) कीजिये और (इन्द्राय) उस परम आनन्दैश्वर्य के लिये (परि, स्रव) कृपा से प्राप्त हूजिये ॥ ७ ॥

यत्र कामा निकामाश्च यत्र ब्रध्नस्य विष्टपम् । स्वधा च यत्र तृप्तिश्च तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥ ८ ॥ ऋ० मं० ९ । सू० ११३ । मं० १० ॥

अर्थः—हे (इन्दो) निष्कामानन्दप्रद सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मन् ! (यत्र) जिस आप में (कामाः) सब कामना (निकामाः) और अभिलाषा छूट जाती हैं (च) और (यत्र) जिस आप में (ब्रध्नस्य) सब से बड़े प्रकाशमान सूर्य का (विष्टपम्) विशिष्ट सुख (च) और (यत्र) जिस आप में (स्वधा) अपना ही धारण (च) और जिस आप में (तृप्तिः) पूर्ण तृप्ति है (तत्र) उस अपने स्वरूप में (माम्) मुझ को (अमृतम्) प्राप्त मुक्तिवाला (कृधि) कीजिये तथा (इन्द्राय) सब दुःख विदारण के लिये आप मुझ पर (परि, स्रव) करुणावृत्ति कीजिये ॥ ८ ॥

यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते । कामस्य यत्राप्ताः कामास्तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥ ९ ॥ ऋ० मं० ९ । सू० ११३ । मं० ११ ॥

अर्थः—हे (इन्दो) सर्वानन्दयुक्त जगदीश्वर ! (यत्र) जिस आप में (आनन्दाः) सम्पूर्ण समृद्धि (च) और (मोदाः) सम्पूर्ण हर्ष (मुदः) सम्पूर्ण प्रसन्नता (च) और (प्रमुदः) प्रकृष्ट प्रसन्नता (आसते) स्थित हैं (यत्र) जिस आप में (कामस्य) अभिलाषी पुरुष की (कामाः) सब

कामना (आप्ताः) प्राप्त होती हैं (तत्र) उसी अपने स्वरूप में (इन्द्राय) परमैश्वर्य के लिये (माम्) मुझ को (अमृतम्) जन्म मृत्यु के दुःख से रहित मोक्षप्राप्तयुक्त कि जिसके मुक्ति के समय के मध्य में संसार में नहीं आना पड़ता उस मुक्ति की प्राप्ति वाला (कृधि) कीजिये और इसी प्रकार सब जीवों को (परि, स्रव) सब ओर से प्राप्त हूजिये ॥ ९ ॥

यद्देवा यतयो यथा भुवनान्यपिन्वत । अत्रा समुद्र आ गूळ्हमा सूर्य्यमजभर्त्तन ॥ १० ॥ ऋ० मं० १० । सू० ७२ । मं० ७ ॥

अर्थः—हे (देवाः) पूर्ण विद्वान् (यतयः) संन्यासी लोगो ! तुम (यथा) जैसे (अत्र) इस (समुद्रे) आकाश में (गूढम्) गुप्त (आसूर्यम्) स्वयं प्रकाशस्वरूप सूर्यादि का प्रकाशक परमात्मा है उसको (आ, अजभर्त्तन) चारों ओर से अपने आत्माओं में धारण करो और आनन्दित होओ वैसे (यत्) जो (भुवनानि) सब भुवनस्थ गृहस्थादि मनुष्य हैं उनको सदा (अपिन्वत) विद्या और उपदेश से संयुक्त किया करो यही तुम्हारा परमधर्म है ॥ १० ॥

भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे । ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उप सन्नमन्तु ॥ ११ ॥ अथर्व० कां० १९ । सू० ४१ । मं० १ ॥

अर्थः—हे विद्वानो ! जो (ऋषयः) वेदार्थविद्या को और (स्वर्विदः) सुख को प्राप्त (अग्रे) प्रथम (तपः) ब्रह्मचर्यरूप आश्रम को पूर्णता से सेवन तथा यथावत् स्थिरता से प्राप्त होके (भद्रम्) कल्याण की (इच्छन्तः) इच्छा करते हुए (दीक्षाम्) संन्यास की दीक्षा को (उपनिषेदुः) ब्रह्मचर्य ही से प्राप्त होवें उनका (देवाः) विद्वान् लोग (उप, सन्नमन्तु) यथावत् सत्कार किया करें (ततः) तदनन्तर (राष्ट्रम्) राज्य (बलम्) बल (च) और (ओजः) पराक्रम (जातम्) उत्पन्न होवे (तत्) उससे (अस्मै) इस संन्यासाश्रम के पालन के लिये यत्न किया करें ॥ ११ ॥

अथ मनुस्मृतेश्श्लोकाः

वनेषु तु विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः ।
चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा संगान् परिव्रजेत् ॥ १ ॥

अधीत्य विधिवद्वेदान् पुत्राँश्चोत्पाद्य धर्मतः ।
इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत् ॥ २ ॥

प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम् ।
आत्मन्यग्नीन्समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात् ॥ ३ ॥

यो दत्वा सर्वभूतेभ्यः प्रव्रजत्यभयं गृहात् ।
तस्य तेजोमया लोका भवन्ति ब्रह्मवादिनः ॥ ४ ॥

आगारादभिनिष्क्रान्तः पवित्रोपचितो मुनिः ।
समुपोढेषु कामेषु निरपेक्षः परिव्रजेत् ॥ ५ ॥

अनग्निरनिकेतः स्याद् ग्राममन्नार्थमाश्रयेत् ।
उपेक्षकोऽसङ्कुसुको मुनिर्भावसमाहितः ॥ ६ ॥

नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवितम् ।
कालमेव प्रतीक्षेत निर्देशं भृतको यथा ॥ ७ ॥

दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत् ।
सत्यपूतां वदेद्वाचं मनःपूतं समाचरेत् ॥ ८ ॥

अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निरामिषः ।
आत्मनैव सहायेन सुखार्थी विचरेदिह ॥ ९ ॥

क्लृप्तकेशनखश्मश्रुः पात्री दण्डी कुसुम्भवान् ।
विचरेन्नियतो नित्यं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥ १० ॥

इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च ।
अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते ॥ ११ ॥

दूषितोपि चरेद्धर्मं यत्र तत्राश्रमे रतः ।
समः सर्वेषु भूतेषु न लिङ्गं धर्मकारणम् ॥ १२ ॥

फलं कतकवृक्षस्य यद्यप्यम्बुप्रसादकम् ।
न नामग्रहणादेव तस्य वारि प्रसीदति ॥ १३ ॥

प्राणायामा ब्राह्मणस्य त्रयोऽपि विधिवत्कृताः ।
व्याहृतिप्रणवैर्युक्ता विज्ञेयं परमं तपः ॥ १४ ॥

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः ।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ॥ १५ ॥

प्राणायामैर्दहेद्दोषान् धारणाभिश्च किल्विषम् ।
प्रत्याहारेण संसर्गान् ध्यानेनानीश्वरान् गुणान् ॥ १६ ॥

उच्चावचेषु भूतेषु दुर्ज्ञेयामकृतात्मभिः ।
ध्यानयोगेन संपश्येद् गतिमस्यान्तरात्मनः ॥ १७ ॥

सम्यग्दर्शनसंपन्नः कर्मभिर्न निबध्यते ।
दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते ॥ १८ ॥

अहिंसयेन्द्रियासंगैर्वैदिकैश्चैव कर्मभिः ।
तपसश्चरणैश्चोग्रैः साधयन्तीह तत्पदम् ॥ १९ ॥

यदा भावेन भवति सर्वभावेषु निःस्पृहः ।
तदा सुखमवाप्नोति प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ॥ २० ॥

अनेन विधिना सर्वांस्त्यक्त्वा सङ्गाञ्छनैः शनैः ।
सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तो ब्रह्मण्येवावतिष्ठते ॥ २१ ॥

इदं शरणमज्ञानामिदमेव विजानताम् ।
इदमन्विच्छतां स्वर्ग्य*मिदमानन्त्यमिच्छताम् ॥ २२ ॥

अनेन क्रमयोगेन परिव्रजति यो द्विजः ।
स विधूयेह पाप्मानं परं ब्रह्माधिगच्छति ॥ २३ ॥

मनु० । अ० ६ ॥

* स्वर्गमिति मनौ पाठः ॥ अ० ६ । श्लो० ८४ ॥

अर्थः—इस प्रकार जंगलों में आयु का तीसरा भाग अर्थात् अधिक से अधिक २५ (पच्चीस) वर्ष अथवा न्यून से न्यून १२ (बारह) वर्ष तक विहार करके आयु के चौथे भाग अर्थात् ७० (सत्तर) वर्ष के पश्चात् सब मोहादि संगों को छोड़कर संन्यासी होजावे ॥ १ ॥ विधिपूर्वक ब्रह्मचर्याश्रम से सब वेदों को पढ़ गृहाश्रमी होकर धर्म से पुत्रोत्पत्ति कर वानप्रस्थ में सामर्थ्य के अनुसार यज्ञ करके मोक्ष में अर्थात् संन्यासाश्रम में मन को लगावे ॥ २ ॥ प्रजापति परमात्मा की प्राप्ति के निमित्त प्राजापत्येष्टि (कि जिसमें यज्ञोपवीत और शिखा का त्याग किया जाता है) कर आहवनीय गार्हपत्य और दाक्षिणात्य संज्ञक अग्नियों को आत्मा में समारोपित करके ब्राह्मण विद्वान् गृहाश्रम से ही संन्यास लेवे ॥ ३ ॥ जो पुरुष सब प्राणियों को अभयदान सत्योपदेश देकर गृहाश्रम से ही संन्यास ग्रहण कर लेता है उस ब्रह्मवादी वेदोक्त सत्योपदेशक संन्यासी को मोक्षलोक और सब लोकलोकान्तर तेजोमय (ज्ञान से प्रकाशमय) हो जाते हैं ॥ ४ ॥ जब सब कामों को जीत लेवे और उनकी अपेक्षा न रहे, पवित्रात्मा और पवित्रान्तःकरण मननशील हो जावे तभी गृहाश्रम से निकल कर संन्यासाश्रम का ग्रहण करे अथवा ब्रह्मचर्य ही से संन्यास का ग्रहण कर लेवे ॥ ५ ॥ वह संन्यासी (अनग्निः*) आहवनीयादि अग्नियों से रहित, और कहीं अपना स्वाभिमत घर भी न बांधे, और अन्न वस्त्रादि के लिये ग्राम का आश्रय लेवे, बुरे मनुष्यों की उपेक्षा करता और स्थिरबुद्धि मननशील होकर परमेश्वर में अपनी भावना का समाधान करता हुआ विचरे ॥ ६ ॥ न तो अपने जीवन में आनन्द और न अपने मृत्यु में दुःख माने, किन्तु जैसे क्षुद्र भृत्य अपने स्वामी की आज्ञा की बाट देखता रहता है वैसे ही काल और मृत्यु की प्रतीक्षा करता रहे ॥ ७ ॥ चलते समय आगे २ देख के पग धरे, सदा वस्त्र से छान कर जल पीवे, सब से सत्य वाणी बोले अर्थात् सत्योपदेश ही किया करे, जो कुछ व्यवहार करे वह सब मन की पवित्रता से आचरण करे

* इसी पद से भ्रान्ति में पड़ के संन्यासियों का दाह नहीं करते और संन्यासी लोग अग्नि को नहीं छूते। यह पाप संन्यासियों के पीछे लग गया। यहां आहवनीयादि संज्ञक अग्नियों को छोड़ना है, स्पर्श वा दाहकर्म छोड़ना नहीं है॥

॥ ८ ॥ इस संसार में आत्मनिष्ठा में स्थित, सर्वथा अपेक्षारहित, मांस मद्यादि का त्यागी, आत्मा के सहाय से ही सुखार्थी होकर विचरा करे और सब को सत्योपदेश करता रहे ॥ ९ ॥ सब शिर के बाल डाढ़ी मूंछ और नखों को समय २ छेदन कराता रहे, पात्री, दण्डी और कुसुंभ के रंगे हुए * वस्त्रों का धारण किया करे, सब भूत प्राणीमात्र को पीड़ा न देता हुआ दृढ़ात्मा होकर नित्य विचरा करे ॥ १० ॥ जो संन्यासी बुरे कामों से इन्द्रियों के निरोध, राग द्वेषादि दोषों के क्षय, और निर्वैरता से सब प्राणियों का कल्याण करता है, वह मोक्ष को प्राप्त होता है ॥ ११ ॥ यदि संन्यासी को मूर्ख संसारी लोग निन्दा आदि से दूषित वा अपमान भी करें तथापि धर्म ही का आचरण करे, ऐसे ही अन्य ब्रह्मचर्याश्रमादि के मनुष्यों को करना उचित है, सब प्राणियों में पक्षपातरहित होकर समबुद्धि रक्खे इत्यादि उत्तम काम करने ही के लिये संन्यासाश्रम की विधि है, किन्तु केवल दण्डादि चिह्न धारण करना ही धर्म का कारण नहीं है ॥ १२ ॥ यद्यपि निर्मली वृक्ष का फल जल को शुद्ध करनेवाला है तथापि उसके नामग्रहणमात्र से जल शुद्ध नहीं होता किन्तु उसको ले पीस जल में डालने ही से उस मनुष्य का जल शुद्ध होता है, वैसे नाममात्र आश्रम से कुछ भी नहीं होता किन्तु अपने २ आश्रम के धर्मयुक्त कर्म करने ही से आश्रमधारण सफल होता है अन्यथा नहीं ॥ १३ ॥ इस पवित्र आश्रम को सफल करने के लिये संन्यासी पुरुष विधिवत् योगशास्त्र की रीति से सात व्याहृतियों के पूर्व सात प्रणव लगा के जैसा कि पृष्ठ १८० में प्राणायाम का मन्त्र लिखा है उसको मन से जपता हुआ तीन भी प्राणायाम करे तो जानो अत्युत्कृष्ट तप करता है ॥ १४ ॥ क्योंकि जैसे अग्नि में तपाने से धातुओं के मल छूट जाते हैं वैसे ही प्राण के निग्रह से इन्द्रियों के दोष नष्ट हो जाते हैं ॥ १५ ॥ इसलिये संन्यासी लोग प्राणायामों से दोषों को, धारणाओं से अन्तःकरण के मैल को, प्रत्याहार से संग से हुए दोषों और ध्यान से अविद्या पक्षपात आदि अनीश्वरता के दोषों को छुड़ा के पक्षपातरहित आदि ईश्वर के गुणों को धारण कर सब दोषों को भस्म कर देवें ॥ १६ ॥ बड़े छोटे प्राणी और अप्राणियों में

* अथवा गेरू से रंगे हुए वस्त्रों को पहिने ॥

जो अशुद्धात्माओं से देखने के योग्य नहीं है उस अन्तर्यामी परमात्मा की गति अर्थात् प्राप्ति को ध्यान योग से ही संन्यासी देखा करे ॥ १७ ॥ जो संन्यासी यथार्थ ज्ञान वा षड्दर्शनों से युक्त है वह दुष्ट कर्मों से बद्ध नहीं होता और जो ज्ञान, विद्या, योगाभ्यास, सत्संग, धर्मानुष्ठान वा षड्दर्शनों से रहित विज्ञान-हीन होकर संन्यास लेता है वह संन्यासपदवी और मोक्ष को प्राप्त न होकर जन्ममरण रूप संसार को प्राप्त होता है और ऐसे मूर्ख अधर्मी को संन्यास का लेना व्यर्थ और धिक्कार देने के योग्य है ॥ १८ ॥ और जो निर्वैर, इन्द्रियों के विषयों के बन्धन से पृथक्, वैदिक कर्माचरणों और प्राणायाम सत्यभाषणादि उत्तम उग्र कर्मों से सहित संन्यासी लोग होते हैं वे इसी जन्म इसी वर्त्तमान समय में परमेश्वर की प्राप्तिरूप पद को प्राप्त होते हैं, उनका संन्यास लेना सफल और धन्यवाद के योग्य है ॥ १९ ॥ जब संन्यासी सब पदार्थों में अपने भाव से निःस्पृह होता है तभी इस लोक इस जन्म और मरण पाकर परलोक और मुक्ति में परमात्मा को प्राप्त होके निरन्तर * सुख को प्राप्त होता है ॥ २० ॥ इस विधि से धीरे २ सब संग से हुये दोषों को छोड़ के सब हर्षशोकादि द्वन्द्वों से विशेषकर निर्मुक्त हो के विद्वान् संन्यासी ब्रह्म ही में स्थिर होता है ॥ २१ ॥ और जो विविदिषा अर्थात् जानने की इच्छा करके गौण संन्यास लेवे वह भी विद्या का अभ्यास, सत्पुरुषों का संग, योगाभ्यास और ओंकार का जप और उस के अर्थ परमेश्वर का विचार भी किया करे। यही अज्ञानियों का शरण अर्थात् गौणसंन्यासियों और यही विद्वान् संन्यासियों का और यही सुख का खोज करनेहारे और यही अनन्त † सुख की इच्छा करनेहारे मनुष्यों का आश्रय है ॥ २२ ॥ इस क्रमानुसार संन्यासयोग से जो द्विज अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, संन्यास ग्रहण करता है वह इस संसार और शरीर से सब पापों को छोड़ छुड़ा के परब्रह्म को प्राप्त होता है ॥ २३ ॥

* निरन्तर शब्द का इतना ही अर्थ है कि मुक्ति के नियत समय के मध्य में दुःख आकर विघ्न नहीं कर सकता ॥

† अनन्त इतना ही है कि मुक्तिसुख के समय में अन्त अर्थात् जिसका नाश न होवे ॥

विधिः—जो पुरुष संन्यास लेना चाहे वह जिस दिन सर्वथा प्रसन्नता हो उसी दिन नियम और व्रत अर्थात् तीन दिन तक दुग्धपान करके उपवास और भूमि में शयन और प्राणायाम, ध्यान तथा एकान्तदेश में ओंकार का जप किया करे, और पृष्ठ० १३—१६ में लि० सभामण्डप, वेदी, समिधा, घृतादि साकल्य सामग्री एक दिन पूर्व कर रखनी। पश्चात् जिस चौथे दिन संन्यास लेना हो प्रहर रात्रि से उठकर, शौच स्नानादि आवश्यक कर्म करके, प्राणायाम ध्यान और प्रणव का जप करता रहे। सूर्योदय के समय उत्तम गृहस्थ धार्मिक विद्वानों का पृष्ठ १६ में लि० वरण कर, पृष्ठ २०—२१ में लि० अग्न्याधान समिदाधान, घृतप्रतपन और स्थालीपाक करके, पृष्ठ ८—१२ लि० स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण का पाठ कर, पृष्ठ २२ में लि० वेदी के चारों ओर जलप्रोक्षण, आघारावाज्यभागाहुति ४ (चार), और व्याहृति आहुति ४ (चार), तथा:—

ओं भुवनपतये स्वाहा। ओं भूतानां पतये स्वाहा। ओं प्रजापतये स्वाहा॥

इनमें से एक २ मन्त्र से एक २ करके ग्यारह आज्याहुति देके, जो विधिपूर्वक भात बनाया हो उसमें घृत सेचन करके, यजमान जो कि संन्यास का लेनेवाला है और दो ऋत्विज् निम्नलिखित स्वाहान्त मन्त्रों से भात का होम, और शेष दो ऋत्विज् भी साथ २ घृताहुति करते जावें॥

ओं ब्रह्म होता ब्रह्म यज्ञो ब्रह्मणा स्वरवो मिताः। अध्वर्युर्ब्रह्मणो जातो ब्रह्मणोऽन्तर्हितं हविः, स्वाहा॥ १॥ ब्रह्म स्रुचो घृतवतीर्ब्रह्मणा वेदिरुद्धिता। ब्रह्म यज्ञश्च सत्रं च ऋत्विजो ये हविष्कृतः। शमिताय स्वाहा॥ २॥ अंहोमुचे प्रभरे मनीषामा सुत्राम्णे सुमतिमावृणानः। इदमिन्द्र प्रति हव्यं गृभाय सत्याः सन्तु यजमानस्य कामाः, स्वाहा॥ ३॥ अंहोमुचं वृषभं यज्ञियानां विराजन्तं प्रथममध्वराणाम्। अपांनपातमश्विना हुवे धियेन्द्रेण म इन्द्रियं दत्तमोजः, स्वाहा॥ ४॥ यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह। अग्निर्मा तत्र नयत्वग्निर्मेधां दधातु मे, अग्नये स्वाहा॥

इदमग्नये-इदन्न मम ॥ ५ ॥ यत्र० । वायुर्मा तत्र नयतु वायुः प्राणान् दधातु मे । वायवे स्वाहा ॥ इदं वायवे-इदन्न मम ॥ ६ ॥ यत्र० । सूर्यो मा तत्र नयतु चक्षुस्सूर्यो दधातु मे । सूर्याय स्वाहा ॥ इदं सूर्याय-इदन्न मम ॥ ७ ॥ यत्र० । चन्द्रो मा तत्र नयतु मनश्चन्द्रो दधातु मे । चन्द्राय स्वाहा ॥ इदं चन्द्राय-इदन्न मम ॥ ८ ॥ यत्र० । सोमो मा तत्र नयतु पयः सोमो दधातु मे । सोमाय स्वाहा ॥ इदं सोमाय-इदन्न मम ॥ ९ ॥ यत्र० । इन्द्रो मा तत्र नयतु बलमिन्द्रो दधातु मे । इन्द्राय स्वाहा ॥ इदमिन्द्राय-इदन्न मम ॥ १० ॥ यत्र० । आपो मा तत्र नयन्त्वमृतं मोपतिष्ठतु । अद्भ्यः स्वाहा ॥ इदमद्भ्यः—इदन्न मम ॥ ११ ॥ यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह । ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे । ब्रह्मणे स्वाहा ॥ इदं ब्रह्मणे-इदन्न मम ॥ १२ ॥ अथर्व० कां० १९ ॥ सू० ४२ । ४३ ॥

ओं प्राणापानव्यानोदानसमाना मे शुध्यन्ताम् । ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासꣳ स्वाहा ॥ १ ॥ वाङ्मनश्चक्षुःश्रोत्रजिह्वाघ्राणरेतोबुद्ध्याकूतिःसंकल्पा* मे शुध्यन्ताम् । ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासꣳ स्वाहा ॥ २ ॥ शिरःपाणिपाद†पृष्ठोरूदरजङ्घाशिश्नोपस्थपायवो मे शुध्यन्ताम् । ज्योति० ॥ ३ ॥ त्वक्चर्ममाꣳससरुधिरमेदोमज्जास्नायवोऽस्थीनि मे शुध्यन्ताम् । ज्योति० ॥ ४ ॥ शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा मे शुध्यन्ताम् । ज्योति० ॥ ५ ॥ पृथिव्यप्तेजोवायुराकाशा मे शुध्यन्ताम् । ज्योति० ॥ ६ ॥ अन्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमयानन्दमया मे शुध्यन्ताम् । ज्योति० ॥ ७ ॥ विविट्यै स्वाहा ॥ ८ ॥ कषोत्काय स्वाहा ॥ ९ ॥ उत्तिष्ठ पुरुष हरित लोहित पिङ्गलाक्षि देहि देहि ददापयिता मे शुध्यताम्‡ । ज्योति० ॥ १० ॥ ओं मनोवाक्कायकर्माणि मे शुध्यन्ताम् । ज्योति० ॥ ११ ॥ अव्यक्तभावै-

* आकूतिरिति विसर्गान्तः पाठः तैत्तिरीयारण्यके ।

† पादपृष्ठोभयमध्ये पार्श्वपदमधिकं तैत्तिरीयारण्यके ।

‡ तैत्तिरीयार० प्र० १० । अनु० ५१-६० ॥

रहङ्कारैर्ज्योति० ॥ १२ ॥ आत्मा मे शुध्यताम् । ज्योति० ॥ १३ ॥ अन्तरात्मा मे शुध्यताम् । ज्योति० ॥ १४ ॥ परमात्मा मे शुध्यताम् । ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासꣳ स्वाहा * ॥ १५ ॥

इन १५ मन्त्रों में से एक २ करके भात की आहुति देनी । पश्चात् निम्नलिखित मन्त्रों से ३५ घृताहुति देवें ॥

ओमग्नये स्वाहा ॥ १६ ॥ ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा ॥ १७ ॥ ओं ध्रुवाय भूमाय स्वाहा ॥ १८ ॥ ओं ध्रुवक्षितये स्वाहा ॥ १९ ॥ ओमच्युतक्षितये स्वाहा ॥ २० ॥ ओमग्नये स्विष्टकृते स्वाहा ॥ २१ ॥ ओं धर्माय स्वाहा ॥ २२ ॥ ओमधर्माय स्वाहा ॥ २३ ॥ ओमद्भ्यः स्वाहा ॥ २४ ॥ ओमोषधिवनस्पतिभ्यः स्वाहा ॥ २५ ॥ ओं रक्षोदेवजनेभ्यः स्वाहा ॥ २६ ॥ ओं गृह्याभ्यः स्वाहा ॥ २७ ॥ ओमवसानेभ्यः स्वाहा ॥ २८ ॥ ओमवसानपतिभ्यः स्वाहा ॥ २९ ॥ ओं सर्वभूतेभ्यः स्वाहा ॥ ३० ॥ ओं कामाय स्वाहा ॥ ३१ ॥ ओमन्तरिक्षाय स्वाहा ॥ ३२ ॥ ओं पृथिव्यै स्वाहा ॥ ३३ ॥ ओं दिवे स्वाहा ॥ ३४ ॥ ओं सूर्याय स्वाहा ॥ ३५ ॥ ओं चन्द्रमसे स्वाहा ॥ ३६ ॥ ओं नक्षत्रेभ्यः स्वाहा ॥ ३७ ॥ ओमिन्द्राय स्वाहा ॥ ३८ ॥ ओं बृहस्पतये स्वाहा ॥ ३९ ॥ ओं प्रजापतये स्वाहा ॥ ४० ॥ ओं ब्रह्मणे स्वाहा ॥ ४१ ॥ ओं देवेभ्यः स्वाहा ॥४२॥

---

१ तैत्तिरीयार० प्र० १०। अनु० ६६, एशियाटिक सोसाइटी बङ्गाल में मुद्रित।

* (प्राणापान) इत्यादि से ले के (परमात्मा मे शुध्यताम्) इत्यन्त मन्त्रों से संन्यासी के लिये उपदेश है । अर्थात् जो संन्यासाश्रम ग्रहण करे वह धर्माचरण, सत्योपदेश, योगाभ्यास, शम, दम, शान्ति, सुशीलतादि, विद्याविज्ञानादि शुभ गुण कर्म स्वभावों से सहित होकर, परमात्मा को अपना सहायक मान कर, अत्यन्त पुरुषार्थ से शरीर प्राण मन इन्द्रियादि को अशुद्ध व्यवहार से हटा शुद्ध व्यवहार में चला के, पक्षपात कपट अधर्म व्यवहारों को छोड़, अन्य के दोष, पढ़ाने और उपदेश से छुड़ाकर, स्वयं आनन्दित होके, सब मनुष्यों को आनन्द पहुंचाता रहे ।

ओं परमेष्ठिने स्वाहा ॥ ॥ ओं तद्ब्रह्म ४४ ॥ ओं तद्वायु ॥ ४५ ॥ ओं तदात्मा ॥ ४६ ॥ ओं तत्सत्यम् ॥ ४७ ॥ ओं तत्सर्वम् ॥ ४८ ॥ ओं तत्पुरोर्नमः ॥ ४९ ॥ अन्तश्चरति भूतेषु गुहायां विश्वमूर्तिषु । त्वं यज्ञस्त्वं वषट्कारस्त्वमिन्द्रस्त्वꣳ रुद्रस्त्वं विष्णुस्त्वं ब्रह्म त्वं प्रजापतिः । त्वं तदाप आपोज्योतीरसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरों स्वाहा * ॥ ५० ॥

इन ५० मन्त्रों से आज्याहुति दे के, तदनन्तर जो संन्यास लेनेवाला है वह पांच वा छः केशों को छोड़कर, पृष्ठ ६७–६९ में लिखे डाढ़ी मूंछ केश लोमों का छेदन अर्थात् क्षौर करा के, यथावत् स्नान करे। तदनन्तर संन्यास लेनेवाला पुरुष अपने शिर पर पुरुषसूक्त के मन्त्रों से १०८ (एकसौ आठ) वार अभिषेक करे। पुनः पृष्ठ १९ में लि० आचमन और प्राणायाम करके, हाथ जोड़, वेदी के सामने नेत्रोन्मीलन कर, मन से—

ओं ब्रह्मणे नमः। ओमिन्द्राय नमः। ओं सूर्याय नमः। ओं सोमाय नमः। ओमात्मने नमः। ओमन्तरात्मने नमः॥

इन छः मन्त्रों को जप केः—

ओमात्मने स्वाहा। ओमन्तरात्मने स्वाहा। ओं परमात्मने स्वाहा। ओं प्रजापतये स्वाहा॥

इन ४ (चार) मन्त्रों से ४ (चार) आज्याहुति देकर, कार्यकर्त्ता संन्यास ग्रहण करनेवाला पुरुष पृ० १२३ में लि० मधुपर्क की क्रिया करे, तदनन्तर प्राणायाम करकेः—

---

१ तैत्तिरीयारण्यक प्र० १०। अनु० ६७॥

२ तैत्तिरीयार० प्र० १०। अनु० ६८॥

* ये सब प्राणापानव्यान० आदि मन्त्र तैत्तिरीय आरण्यक दशम प्रपाठक अनुवाक ५१। ५२। ५३। ५४। ५५। ५६। ५७। ५८। ५९। ६०। ६६। ६७। ६८ के हैं।

ओं भूः सावित्रीं प्रविशामि तत्सवितुर्वरेण्यम् ॥ ओं भुवः सावित्रीं प्रविशामि भर्गो देवस्य धीमहि ॥ ओं स्वः सावित्रीं प्रविशामि धियो यो नः प्रचोदयात् ॥ ओं भूर्भुवः स्वः सावित्रीं प्रविशामि तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात् ॥

इन मन्त्रों को मन से जपे ॥

ओमग्नये स्वाहा । ओं भूः प्रजापतये स्वाहा । ओमिन्द्राय स्वाहा । ओं प्रजापतये स्वाहा । ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा । ओं ब्रह्मणे स्वाहा । ओं प्राणाय स्वाहा । ओमपानाय स्वाहा । ओं व्यानाय स्वाहा । ओं उदानाय स्वाहा । ओं समानाय स्वाहा ॥

इन मन्त्रों से वेदी में आज्याहुति देके:—

ओं भूः स्वाहा ॥

इस मन्त्र से पूर्णाहुति करके:—

पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्चोत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति* ॥ श० कां० १४ ॥

पुत्रैषणा वित्तैषणा लोकैषणा मया परित्यक्ता मत्तः सर्वभूतेभ्योऽभयमस्तु स्वाहा * ॥

इस वाक्य को बोल के सब के सामने जल को भूमि में छोड़ देवे । पीछे नाभिमात्र जल में पूर्वाभिमुख खड़ा रहकर—

* पुत्रादि के मोह, वित्तादि पदार्थों के मोह और लोकस्थ प्रतिष्ठा की इच्छा से मन को हटाकर परमात्मा में आत्मा को दृढ़ करके जो भिक्षाचरण करते हैं वे ही सब को सत्योपदेश से अभयदान देते हैं अर्थात् दहिने हाथ में जल ले के मैंने आज से पुत्रादि का तथा वित्त का मोह और लोक में प्रतिष्ठा की इच्छा करने का त्याग कर दिया और मुझ से सब भूत प्राणीमात्र को अभय प्राप्त होवे यह मेरी सत्य वाणी है ॥

ओं भूः सावित्रीं प्रविशामि तत्सवितुर्वरेण्यम् । ओं भुवः सावित्रीं प्रविशामि भर्गो देवस्य धीमहि । ओं स्वः सावित्रीं प्रविशामि धियो यो नः प्रचोदयात् । ओं भूर्भुवः स्वः सावित्रीं प्रविशामि परो रजसे सावदोम् ॥

इसका मन से जप करके, प्रणवार्थ परमात्मा का ध्यान करके, पूर्वोक्त (पुत्रैषणायाश्च०) इस समग्र कण्डिका को बोल के, प्रेष्य मन्त्रोच्चारण कर—

ओं भूः संन्यस्तं मया । ओं भुवः संन्यस्तं मया । ओं स्वः संन्यस्तं मया ॥

इस मन्त्र का मन से उच्चारण करे । तत्पश्चात् जल से अञ्जलि भर, पूर्वाभिमुख होकर, संन्यास लेनेवाला:—

ओं अभयं सर्वभूतेभ्यो मत्तः स्वाहा ॥

इस मन्त्र से दोनों हाथ की अञ्जलि को पूर्वदिशा में छोड़ देवे ।

येना॑ स॒ह॒स्रं वह॑सि॒ येना॑ग्ने सर्ववेद॒सम् । तेने॒मं य॒ज्ञं नो॑ वह॒ स्व॑र्दे॒वेषु॒ गन्त॑वे * ॥ १ ॥ अथर्व० कां० ६ । सू० ५ । मं० १७ ॥

और इसी पर स्मृति है—

प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम् ।
आत्मन्यग्नीन् समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात् ॥ १ ॥ मनु० ॥

इस श्लोक का अर्थ पहिले लिख दिया है ॥

---

* हे (अग्ने) विद्वन् ! (येन) जिससे (सहस्रम्) सब संसार को अग्नि धारण करता है और (येन) जिससे तू (सर्ववेदसम्) गृहाश्रमस्थपदार्थमोह, यज्ञोपवीत और शिखा आदि को (वहसि) धारण करता है उनको छोड़ (तेन) उस त्याग से (नः) हमको (इमम्) यह संन्यासरूप (स्वाहा) सुख देने हारे (यज्ञम्) प्राप्त होने योग्य यज्ञ को (देवेषु) विद्वानों में (गन्तवे) जाने को (वह) प्राप्त हो ॥

इसके पश्चात् मौन करके शिखा के लिये जो पांच वा सात केश रक्खे थे उनको एक एक उखाड़ और यज्ञोपवीत उतार कर हाथ में ले जल की अञ्जलि भरः—

ओमापो वै सर्वा देवताः स्वाहा ॥ ओं भूः स्वाहा ॥

इन मन्त्रों से शिखा के बाल और यज्ञोपवीत सहित जलाञ्जलि को जल में होम कर देवे। उसके पश्चात् आचार्य शिष्य को जल से निकाल के काषाय वस्त्र की कौपीन, कटिवस्त्र, उपवस्त्र, अङ्गोछा प्रीतिपूर्वक देवे। और पृ० ८४ में लि० (यो मे दण्डः०) इस मन्त्र से दण्ड धारण करके आत्मा में आहवनीयादि अग्नियों का आरोपण करे।

यो विद्याद् ब्रह्म प्रत्यक्षं परूंषि यस्य संभारा ऋचो यस्यानूक्यम् (१) ॥ १ ॥ सामानि यस्य लोमानि यजुर्हृदयमुच्यते परिस्तरणमिद्धविः (२) ॥ २ ॥ यद्वा अतिथिपतिरतिथीन् प्रति पश्यति देवयजनं प्रेक्षते (३) ॥ ३ ॥ यदभिवदति दीक्षामुपैति यदुदकं याचत्यपः प्र णयति

---

(१)–(यः) जो पुरुष (प्रत्यक्षम्) साक्षात्कारता से (ब्रह्म) परमात्मा को (विद्यात्) जाने (यस्य) जिसके (परूंषि) कठोर स्वभाव आदि (संभारा) होम करने के साकल्य और (यस्य) जिसके (ऋचः) यथार्थ सत्यभाषण सत्योपदेश और ऋग्वेद ही (अनूक्यम्) अनुकूलता से कहने के योग्य वचन है वही संन्यास ग्रहण करे ॥ १ ॥

(२)–(यस्य) जिसके (सामानि) सामवेद (लोमानि) लोम के समान (यजुः) यजुर्वेद जिसके (हृदयम्) हृदय के समान (उच्यते) कहा जाता है (परिस्तरणम्) जो सब ओर से शास्त्र आसन आदि सामग्री (हविरित्) होम करने योग्य के समान है वह संन्यास ग्रहण करने में योग्य होता है ॥ २ ॥

(३)—(वा) वा (यत्) जो (अतिथिपतिः) अतिथियों का पालन करनेहारा (अतिथीन्) अतिथियों के प्रति (प्रतिपश्यति) देखता है वही विद्वान् संन्यासियों में (देवयजनम्) विद्वानों के यजन करने के समान (प्रेक्षते) ज्ञानदृष्टि से देखता और संन्यास लेने का अधिकारी होता है ॥ ३ ॥

---

(१) और (२) मन्त्रों के हिन्दी अर्थ संवत् १९४१ की छपी संस्कारविधि में नहीं हैं।

(४) ॥ ४ ॥ या एव यज्ञ आपः प्रणीयन्ते ता एव ताः (५) ॥ ५ ॥ यदावसथान् कल्पयन्ति सदोहविर्धानान्येव तत्कल्पयन्ति (६) ॥ ६ ॥ यदुपस्तृणन्ति बर्हिरेव तत् (७) ॥ ७ ॥ तेषामासन्नानामतिथिरात्मन् जुहोति (८) ॥ ८ ॥ स्रुचा हस्तेन प्राणे यूपे स्रुक्कारेण वषट्कारेण (९) ॥९॥ एते वै प्रियाश्चाप्रियाश्चर्त्विजः स्वर्गं लोकं गमयन्ति यदतिथयः (१०)

(४)—और (यत्) जो संन्यासी (अभिवदति) दूसरे के साथ संवाद वा दूसरे को अभिवादन करता है वह जानो (दीक्षाम् दीक्षा को (उपैति) प्राप्त होता है (यत्) जो (उदकम्) जल की (याचति) याचना करता है वह जानो (अपः) प्रणीता आदि में जल को (प्रणयति) डालता है ॥ ४ ॥

(५)—(यज्ञे) यज्ञ में (याः, एव) जिन्हीं (आपः) जलों का (प्रणीयन्ते) प्रयोग किया जाता है (ताः, एव) वे ही (ताः) पात्र में रक्खे जल संन्यासी की यज्ञस्थ जलक्रिया है ॥ ५ ॥

(६)—संन्यासी (यत्) जो (आवसथान्) निवास का स्थान (कल्पयति) कल्पना करते हैं वे (सदः) यज्ञशाला (हविर्धानान्येव) हविष् के स्थापन करने के ही पात्र (तत्) वे (कल्पयन्ति) समर्थित करते हैं ॥ ६ ॥

(७)—और (यत्) जो संन्यासी लोग (उपस्तृणन्ति) बिछौने आदि करते हैं (बर्हिरेव, तत्) वह कुशपिंजूली के समान है ॥ ७ ॥

(८)—और जो (तेषाम्) उन (आसन्नानाम्) समीप बैठनेहारों के निकट बैठा हुआ (अतिथिः) जिसकी कोई नियत तिथि न हो वह भोजनादि करता है वह (आत्मने) जानो वेदीस्थ अग्नि में होम करने के समान आत्मा में (जुहोति) आहुतियां देता है ॥ ८ ॥

(९)—और जो संन्यासी (हस्तेन) हाथ से खाता है वह जानो (स्रुचा) चमसा आदि से वेदी में आहुति देता है जैसे (यूपे) स्तम्भ में अनेक प्रकार के पशु आदि को बांधते हैं वैसे वह संन्यासी (स्रुक्कारेण) स्रुचा के समान (वषट्कारेण) होमक्रिया के तुल्य (प्राणे) प्राण में मन और इन्द्रियों को बांधता है ॥ ९ ॥

(१०)—(एते, वै) ये ही (ऋत्विजः) समय २ में प्राप्त होनेवाले (प्रियाः च, अप्रियाः च) प्रिय और अप्रिय भी संन्यासी जन (यत्) जिस कारण

॥ १० ॥ प्राजापत्यो वा एतस्य यज्ञो विततो य उपहरति (११) ॥ ११ ॥ प्रजापतेर्वा एष विक्रमाननुविक्रमते य उपहरति (१२) ॥ १२ ॥ योऽतिथीनां स आहवनीयो यो वेश्मनि स गार्हपत्यो यस्मिन् पचन्ति स दक्षिणाग्निः (१३) ॥ १३ ॥ इष्टं च वा एष पूर्तं च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति (१४) ॥ १४ ॥ अथर्व० कां० ६ ॥ अनु० ३ । सू० १, २, ३ ॥

(अतिथयः) अतिथिरूप हैं इससे गृहस्थ को (स्वर्गं, लोकम्) दर्शनीय अत्यन्त सुख को (गमयन्ति) प्राप्त कराते हैं ॥ १० ॥

(११)—(एतस्य) इस संन्यासी का (प्राजापत्यः) प्रजापति परमात्मा को जानने का आश्रम धर्मानुष्ठानरूप (यज्ञः) अच्छे प्रकार करने योग्य यतिधर्म (विततः) व्यापक है अर्थात् (यः) जो इसको सर्वोपरि (उपहरति) स्वीकार करता है (वै) वही संन्यासी होता है ॥ ११ ॥

(१२)—(यः) जो (एषः) यह संन्यासी (प्रजापतेः) परमेश्वर के जानने रूप संन्यासाश्रम के (विक्रमान्) सत्याचारों को (अनुविक्रमते) अनुकूलता से किया करता है (वै) वही सब शुभगुणों का (उपहरति) स्वीकार करता है ॥ १२ ॥

(१३)—(यः) जो (अतिथीनाम्) अतिथि अर्थात् उत्तम संन्यासियों का सङ्ग है (सः) वह संन्यासी के लिये (आहवनीयः) आहवनीय अग्नि अर्थात् जिसमें ब्रह्मचर्याश्रम में ब्रह्मचारी होम करता है और (यः) जो संन्यासी का (वेश्मनि) घर में अर्थात् स्थान में निवास है (सः) वह उसके लिये (गार्हपत्यः) गृहस्थ सम्बन्धी अग्नि है और संन्यासी (यस्मिन्) जिस जाठराग्नि में अन्नादि को (पचन्ति) पकाते हैं (सः) वह (दक्षिणाग्निः) वानप्रस्थ सम्बन्धी अग्नि है इस प्रकार आत्मा में सब अग्नियों का आरोपण करे ॥ १३ ॥

(१४)—(यः) जो गृहस्थ (अतिथेः) संन्यासी से (पूर्वः) प्रथम (अश्नाति) भोजन करता है (एषः) यह जानो (गृहाणाम्) गृहस्थों के (इष्टम्) इष्ट सुख (च) और उसकी सामग्री (पूर्त्तम्) तथा जो ऐश्वर्यादि की पूर्णता (च) और उसके साधनों का (वै) निश्चय करके (अश्नाति) भक्षण अर्थात् नाश करता है। इसलिये जिस गृहस्थ के समीप अतिथि उपस्थित होवे उसको पूर्व जिमा कर पश्चात् भोजन करना अत्युचित है ॥ १४ ॥

तस्यैवं विदुषो यज्ञस्यात्मा यजमानः, श्रद्धा पत्नी, शरीरमिध्ममुरो वेदि,-र्लोमानि बर्हि,र्वेदः शिखा, हृदयं यूपः, काम आज्यं, मन्युः पशुस्तपोऽग्नि-र्दमः शमयिता, दक्षिणा वाग,घोता * प्राण, उद्गाता चक्षु,रध्वर्युर्मनो, ब्रह्मा

* इसके आगे तैत्तिरीय आरण्यक का अर्थ करते हैं–(एवम्) इस प्रकार संन्यास ग्रहण किये हुए (तस्य) उस (विदुषः) विद्वान् संन्यासी के संन्यासाश्रमरूप (यज्ञस्य) अच्छे प्रकार अनुष्ठान करने योग्य यज्ञ का (यजमानः) पति (आत्मा) स्वस्वरूप है, और जो ईश्वर, वेद और सत्यधर्माचरण, परोपकार में (श्रद्धा) सत्य का धारणरूप दृढ़ प्रीति है वह उसकी (पत्नी) स्त्री है, और जो संन्यासी का (शरीरम्) शरीर है वह (इध्मम्) यज्ञ के लिये इन्धन है, और जो उसका (उरः) वक्षःस्थल है वह (वेदिः) कुण्ड, और जो उसके शरीर पर (लोमानि) रोम हैं वे (वर्हिः) कुशा हैं, और जो (वेदः) वेद और उनका शब्दार्थसम्बन्ध जानकर आचरण करना है वह संन्यासी की (शिखा) चोटी है, और जो संन्यासी का (हृदयम्) हृदय है वह (यूपः) यज्ञ का स्तम्भ है, और जो इसके शरीर में (कामः) काम है वह (आज्यम्) ज्ञान अग्नि में होम करने का पदार्थ है, और जो (मन्युः) संन्यासी में क्रोध है वह (पशुः) निवृत्त करने अर्थात् शरीर के मलवत् छोड़ने के योग्य है, और जो संन्यासी (तपः) सत्यधर्मानुष्ठान प्राणायामादि योगाभ्यास करता है वह (अग्निः) जानो वेदी का अग्नि है, जो संन्यासी (दमः) अधर्माचरण से इन्द्रियों को रोक के धर्माचरण में स्थिर रख के चलाता है वह (शमयिता) जानो दुष्टों को दण्ड देनेवाला सभ्य है और जो संन्यासी की (वाक्) सत्योपदेश करने के लिये वाणी है वह जानो सब मनुष्यों को (दक्षिणा) अभयदान देना है, जो संन्यासी के शरीर में (प्राणः) प्राण है वह (होता) होता के समान, जो (चक्षुः) चक्षु है वह (उद्गाता) उद्गाता के तुल्य, जो (मनः) मन है वह (अध्वर्युः) अध्वर्यु के समान, जो (श्रोत्रम्) श्रोत्र है वह (ब्रह्मा) ब्रह्मा और (अग्नीत्) अग्नि लानेवाले के तुल्य। (यावद्ध्रियते) जितना कुछ संन्यासी धारण करता है (सा) वह (दीक्षा) दीक्षाग्रहण, और (यत्) जो संन्यासी (अश्नाति) खाता है (तद्धविः) वह घृतादि साकल्य के समान, (यत्, पिबति) और जो वह जल दुग्धादि पीता है (तदस्य, सोमपानम्) वह इसका सोमपान है, और (यद्रमते) वह जो इधर उधर भ्रमण करता है (तदुपसदः) वह उपसद उपसामग्री, (यत्संचरत्युपविशत्युत्तिष्ठते) जो वह गमन करता बैठता और उठता है (स, प्रवर्ग्यः) वह इसका प्रवर्ग्य है, (यन्मुखम्) जो इसका मुख है (तदाहवनीयः) वह संन्यासी को आहवनीय अग्नि के समान, (या व्याहृतिराहुतिर्यदस्य विज्ञानम्)

ग्नोत्रमन्वीत् । यावद् म्रियते सा दीक्षा यदश्नाति तद्धविर्यत्पिबति तदस्य सोमपानं, यद्रमते तदुपसदो, यत्संचरत्युपविशत्युत्तिष्ठते च स प्रवर्ग्यो, यन्मुखं तदाहवनीयो, या व्याहृतिराहुतिर्यदस्य विज्ञानं तज्जुहोति, यत्सायं प्रातरत्ति तत्समिधं, यत्प्रातर्मध्यन्दिनꣳ सायं च तानि सवनानि । ये अहोरात्रे ते दर्शपौर्णमासौ, येऽर्धमासाश्च मासाश्च ते चातुर्मास्यानि, य ऋतवस्ते पशुबन्धा, ये संवत्सराश्च परिवत्सराश्च तेऽहर्गणाः,

---

जो संन्यासी का व्याहृति का उच्चारण करना वा जो इसका विज्ञान आहुतिरूप है (तज्जुहोति) वह जानो होम कर रहा है, (यत्सायं प्रातरत्ति) संन्यासी जो सायं और प्रातःकाल भोजन करता है (तत्समिधम्) वे समिधा हैं, (यत्प्रातर्मध्यन्दिनꣳ सायं च) जो संन्यासी प्रातः मध्याह्न और सायंकाल में कर्म करता है (तानि सवनानि) वे तीन सवन (ये, अहोरात्रे) जो दिन और रात्रि हैं (ते दर्शपौर्णमासौ) वे संन्यासी के पौर्णमासेष्टि और अमावास्येष्टि हैं, (येऽर्धमासाश्च, मासाश्च) जो कृष्ण शुक्लपक्ष और महीने हैं (ते चातुर्मास्यानि) वे संन्यासी के चातुर्मास्य याग हैं, (य ऋतवः) जो वसन्तादि ऋतु हैं (ते पशुबन्धाः) वे जानो संन्यासी के पशुबन्ध अर्थात् ६ पशुओं का बांधना रखना है, (ये संवत्सराश्च परिवत्सराश्च) जो संवत्सर और परिवत्सर अर्थात् वर्ष वर्षान्तर हैं (तेऽहर्गणाः) वे संन्यासी के अहर्गण दो रात्रि वा तीन रात्रि आदि के व्रत हैं, जो (सर्ववेदसं, वै) सर्वस्व दक्षिणा अर्थात् शिखा सूत्र यज्ञोपवीत आदि पूर्वाश्रमचिह्नों का त्याग करना है (एतत्सत्रम्) वह सब से बड़ा यज्ञ है, (यन्मरणम्) जो संन्यासी का मृत्यु है (तदवभृथः) वह यज्ञान्तस्नान है, (एतद्वै जरामर्यमग्निहोत्रꣳ सत्रम्) यही जरावस्था और मृत्युपर्यन्त अर्थात् यावत् जीवन है तावत् सत्योपदेश योगाभ्यासादि संन्यास के धर्म का अनुष्ठान अग्निहोत्ररूप बड़ा दीर्घ यज्ञ है, (य एवं विद्वानुदगयने०) जो इस प्रकार विद्वान् संन्यास लेकर विज्ञान योगाभ्यास करके शरीर छोड़ता है वह विद्वानों ही के महिमा को प्राप्त होकर स्वप्रकाशस्वरूप परमात्मा के संग को प्राप्त होता है। और जो योग विज्ञान से रहित है सो सांसारिक दक्षिणायनरूप व्यवहार में मृत्यु को प्राप्त होता है। वह पुनः २ माता पिताओं ही के महिमा को प्राप्त होकर चन्द्रलोक के समान वृद्धि क्षय को प्राप्त होता है। और जो इन दोनों के महिमाओं को विद्वान् ब्राह्मण अर्थात् संन्यासी जीत लेता है वह उससे परे परमात्मा के महिमा को प्राप्त होकर मुक्ति के समय पर्य्यन्त मोक्ष सुख को भोगता है।

सर्ववेदसं वा एतत्सत्रं, यन्मरणं तदवभृथः, एतद्वै जरामर्यमग्निहोत्रᳩं सत्रं, य एवं विद्वानुदगयने प्रमीयते देवानामेव महिमानं गत्वाऽऽदित्यस्य सायुज्यं, गच्छत्यथ यो दक्षिणे प्रमीयते पितृणामेव महिमानं गत्वा चन्द्रमसः सायुज्यं सलोकतामाप्नोत्येतौ वै सूर्याचन्द्रमसोर्महिमानौ ब्राह्मणो विद्वानभिजयति, तस्माद् ब्राह्मणो महिमानमाप्नोति, तस्माद् ब्रह्मणो महिमानमित्युपनिषत् । तैत्ति० प्रपा० १० । अनु० ६४ ॥

अथ संन्यासे पुनः प्रमाणानि

न्यास * इत्याहुर्मनीषिणो ब्रह्माणम् । ब्रह्मा विश्वः कतमः स्वयम्भूः

---

* (न्यास इत्याहुर्मनीषिणः) इस अनुवाक का अर्थ सुगम है इसलिये भावार्थ कहते हैं । न्यास अर्थात् जो संन्यास शब्द का अर्थ पूर्व कह आये उस रीति से जो संन्यासी होता है वह परमात्मा का उपासक है । वह परमेश्वर सूर्यादि लोकों में व्याप्त और पूर्ण है, कि जिसके प्रताप से सूर्य तपता है । उस तपने से वर्षा, वर्षा से ओषधी वनस्पति की उत्पत्ति, उनसे अन्न, अन्न से प्राण, प्राण से बल, बल से तप अर्थात् प्राणायाम योगाभ्यास, उससे श्रद्धा सत्यधारण में प्रीति, उससे बुद्धि, बुद्धि से विचारशक्ति, उससे ज्ञान, ज्ञान से शान्ति, शान्ति से चेतनता, चित्त से स्मृति, स्मृति से पूर्वापर का ज्ञान, उससे विज्ञान और विज्ञान से आत्मा को संन्यासी जानता और जनाता है । इसलिये अन्नदान श्रेष्ठ जिससे प्राण बल विज्ञानादि होते हैं । जो प्राणों का आत्मा, जिससे यह सब जगत् ओत प्रोत व्याप्त हो रहा है वह सब जगत् का कर्त्ता, वही पूर्वकल्प और उत्तरकल्प में भी जगत् को बनाता है । उसके जानने की इच्छा से उसको जान कर हे संन्यासिन् ! तू पुनः २ मृत्यु को प्राप्त मत हो । किन्तु मुक्ति से पूर्ण सुख को प्राप्त हो । इसलिये सब तपों का तप, सब से पृथक्, उत्तम संन्यास को कहते हैं । हे परमेश्वर ! जो तू सब में वास करता हुआ विभु है, तू प्राण का प्राण, सबका सन्धान करनेहारा, विश्व का स्रष्टा धर्त्ता, सूर्यादि को तेजदाता है । तू ही अग्नि से तेजस्वी, तू ही विद्यादाता, तू ही सूर्य का कर्त्ता, तू ही चन्द्रमा के प्रकाश का प्रकाशक है । वह सब से बड़ा पूजनीय देव है । (ओम्) इस मन्त्र का मन से उच्चारण कर के परमात्मा में आत्मा को युक्त करे । जो इस विद्वानों की श्रेष्ठ महोपनिषद् विद्या को इस प्रकार से जानता है वह संन्यासी परमात्मा के महिमा को प्राप्त होकर आनन्द में रहता है ।

प्रजापतिः संवत्सर इति । संवत्सरोऽसावादित्यो य एष आदित्ये पुरुषः स परमेष्ठी ब्रह्मात्मा । याभिरादित्यस्तपति रश्मिभिस्ताभिः पर्जन्यो वर्षति पर्जन्येनौषधिवनस्पतयः प्रजायन्त ओषधिवनस्पतिभिरन्नं भवत्यन्नेन प्राणाः प्राणैर्बलं बलेन तपस्तपसा श्रद्धा श्रद्धया मेधा मेधया मनीषा मनीषया मनो मनसा शान्तिः शान्त्या चित्तं चित्तेन स्मृतिꣳ स्मृत्या स्मारꣳ स्मारेण विज्ञानं विज्ञानेनात्मानं वेदयति तस्मादन्नं ददन्त्सर्वाण्येतानि ददात्यन्नात् प्राणा भवन्ति भूतानां प्राणैर्मनो मनसश्च विज्ञानं विज्ञानादानन्दो ब्रह्मयोनिः। स वा एष पुरुषः पञ्चधा पञ्चात्मा येन सर्वमिदं प्रोतं पृथिवी चान्तरिक्षं च द्यौश्च दिशश्चावान्तरदिशाश्च स वै सर्वमिदं जगत् स भूतꣳस भव्यं जिज्ञासक्लृप्त ऋतजा रयिष्ठाः श्रद्धा सत्यो महस्वांस्तमसो वरिष्ठात् । ज्ञात्वा तमेवं मनसा हृदा च भूयो न मृत्युमुपयाहि विद्वान् । तस्मान् न्यासमेषां तपसामतिरिक्तमाहुः । वसुरण्वो विभूरसि प्राणे त्वमसि सन्धाता ब्रह्मंत्वमसि विश्वसृत्तेजोदास्त्वमस्यग्नेरसि वर्चोदास्त्वमसि सूर्यस्य द्युम्नोदास्त्वमसि चन्द्रमस उपयामगृहीतोऽसि ब्रह्मणे त्वा महसे । ओमित्यात्मानं युञ्जीत । एतद्वै महोपनिषदं देवानां गुह्यम् । य एवं वेद ब्रह्मणो महिमानमाप्नोति तस्माद् ब्रह्मणो महिमानमित्युपनिषत् ॥ तैत्ति० प्रपा० १० । अनु० ६३ ॥

संन्यासी का कर्त्तव्याऽकर्त्तव्य

दृते दृꣳह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम् । मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे । मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ॥ १ ॥ यजु० अ० ३६ । मं० १८ ॥

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् । युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नम उक्तिं विधेम ॥ २ ॥ यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति । सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति ॥ ३ ॥ यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः । तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥ ४ ॥ यजु० अ० ४० । मं० १६, ६, ७ ॥

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च । उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभिसंविवेश ॥ ५ ॥ य० अ० ३२ । मं० ११ ॥

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः । यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥ ६ ॥ ऋ० मं० १ । सू० १६४ । मं० ३९ ॥

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत् । न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते ॥ १७॥ श्वेताश्वतर ॥

अर्थः—हे (दृते) सर्वदुःखविदारक परमात्मन् ! तू (मा) मुझको संन्यासमार्ग में (दृंह) बढ़ा । हे सर्वमित्र ! तू (मित्रस्य) सर्व सुहृद् आप्त पुरुष की (चक्षुषा) दृष्टि से (मा) मुझ को सब का मित्र बना । जिससे (सर्वाणि) सब (भूतानि) प्राणिमात्र मुझ को मित्र की दृष्टि से (समक्षि-न्ताम्) देखें और (अहम्) मैं (मित्रस्य) मित्र की (चक्षुषा) दृष्टि से (सर्वाणि, भूतानि) सब जीवों को (समीक्षे) देखूं इस प्रकार आप की कृपा और अपने पुरुषार्थ से हम लोग एक दूसरे को (मित्रस्य, चक्षुषा) सुहृद्भाव की दृष्टि से (समीक्षामहे) देखते रहें ॥ १ ॥ हे (अग्ने) स्वप्रकाशस्वरूप सब दुःखों के दाहक (देव) सब सुखों के दाता परमेश्वर ! (विद्वान्) आप (राये) योग विज्ञानरूप धन की प्राप्ति के लिये (सुपथा) वेदोक्त धर्ममार्ग से (अस्मान्) हम को (विश्वानि) सम्पूर्ण (वयुनानि) प्रज्ञान और उत्तम कर्मों को (नय) कृपा से प्राप्त कीजिये और (अस्मत्) हम से (जुहुराणम्) कुटिल पक्षपातसहित (एनः) अपराध पाप कर्म को (युयोधि) दूर रखिये और इस अधर्माचरण से हम को सदा दूर रखिये इसीलिये (ते) आप ही की (भूयिष्ठाम्) बहुत प्रकार (नम उक्तिम्) नमस्कारपूर्वक प्रशंसा को नित्य (विधेम) किया करें ॥ २ ॥ (यः) जो संन्यासी (तु) पुनः (आत्मन्नेव) आत्मा अर्थात् परमेश्वर ही में तथा अपने आत्मा के तुल्य (सर्वाणि, भूतानि) सम्पूर्ण जीव और जगत्स्थ पदार्थों को (अनुपश्यति) अनुकूलता से देखता

है (च) और (सर्वभूतेषु) सम्पूर्ण प्राणी अप्राणियों में (आत्मानम्) परमात्मा को देखता है (ततः) इस कारण वह किसी व्यवहार में (न, विचिकित्सति) संशय को प्राप्त नहीं होता अर्थात् परमेश्वर को सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी सर्वसाक्षी जान के अपने आत्मा के तुल्य सब प्राणिमात्र को हानि लाभ सुख दुःखादि व्यवस्था में देखे वही उत्तम संन्यासधर्म को प्राप्त होता है ॥ ३ ॥ (विजानतः) विज्ञानयुक्त संन्यासी का (यस्मिन्) जिस पक्षपातरहित धर्मयुक्त संन्यास में (सर्वाणि, भूतानि) सब प्राणिमात्र (आत्मैव) आत्मा ही के तुल्य जानना अर्थात् जैसा अपना आत्मा अपने को प्रिय है उसी प्रकार का निश्चय (अभूत्) होता है (तत्र) उस संन्यासाश्रम में (एकत्वमनुपश्यतः) आत्मा के एक भाव को देखनेवाले संन्यासी को (को, मोहः) कौनसा मोह और (कः, शोकः) कौनसा शोक होता है अर्थात् न उसको किसी से कभी मोह और न शोक होता है इसलिये संन्यासी मोहशोकादि दोषों से रहित होकर सदा सब से उपकार करता रहे ॥ ४ ॥ इस प्रकार परमात्मा की स्तुति प्रार्थना और धर्म में दृढ़ निष्ठा करके जो (भूतानि) सम्पूर्ण पृथिव्यादि भूतों में (परीत्य) व्याप्त (लोकान्) सम्पूर्ण लोकों में (परीत्य) पूर्ण हो और (सर्वाः) सब (प्रदिशो, दिशश्च) दिशा और उपदिशाओं में (परीत्य) व्यापक होके स्थित है (ऋतस्य) सत्यकारण के योग से (प्रथमजाम्) सब महत्तत्त्वादि सृष्टि को धारण करके पालन कर रहा है उस (आत्मानम्) परमात्मा को संन्यासी (आत्मना) स्वात्मा से (उपस्थाय) समीप स्थिर होकर उसमें (अभिसंविवेश) प्रतिदिन समाधियोग से प्रवेश किया करे ॥ ५ ॥ हे संन्यासी लोगो ! (यस्मिन्) जिस (परमे) सर्वोत्तम (व्योमन्) आकाशवत् व्यापक (अक्षरे) नाशरहित परमात्मा में (ऋचः) ऋग्वेदादि वेद और (विश्वे) सब (देवाः) पृथिव्यादि लोक और समस्त विद्वान् (अधिनिषेदुः) स्थित हुए और होते हैं (यः) जो जन (तत्) उस व्यापक परमात्मा को (न, वेद) नहीं जानता वह (ऋचा) वेदादि शास्त्र पढ़ने से (किं, करिष्यति) क्या सुख वा लाभ कर लेगा अर्थात् विद्या के बिना परमेश्वर का ज्ञान कभी नहीं होता और विद्या पढ़ के भी जो परमेश्वर को नहीं जानता और न उसकी आज्ञा में चलता है वह मनुष्य शरीर

धारण करके निश्चल चला जाता है और (ये) जो विद्वान् लोग (तत्) उस ब्रह्म को (विदुः) जानते हैं (ते, इमे, इत्) वे ये ही उस परमात्मा में (समासते) अच्छे प्रकार समाधियोग से स्थिर होते हैं ॥ ६ ॥ (समाधिनिर्धूतमलस्य) समाधियोग से निर्मल (चेतसः) चित्त के सम्बन्ध से (आत्मनि) परमात्मा में (निवेशितस्य) निश्चल प्रवेश कराये हुये जीव को (यत्) जो (सुखम्) सुख (भवेत्) होवे वह (गिरा) वाणी से (वर्णयितुम्, न, शक्यते) कहा नहीं जा सकता क्योंकि (तदा) तब वह समाधि में स्वयं स्थित जीवात्मा (तत्) उस ब्रह्म को (अन्तःकरणेन) शुद्ध अन्तःकरण से (गृह्यते) ग्रहण करता है, वह वर्णन करने में पूर्णरीति से कभी नहीं आसकता, इसलिये संन्यासी लोग परमात्मा में स्थित रहें और उसकी आज्ञा अर्थात् पक्षपातरहित न्याय धर्म में स्थित होकर सत्योपदेश सत्यविद्या के प्रचार से सब मनुष्यों को सुख पहुंचाता रहे ॥

संमानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव ।
अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा ॥ १ ॥
यमान् सेवेत सततं न नियमान् केवलान् बुधः ।
यमान् पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन् ॥ २ ॥

अर्थः—संन्यासी जगत् के सन्मान से विष के तुल्य डरता रहे और अमृत के समान अपमान की चाहना करता रहे, क्योंकि जो अपमान से डरता और मान की इच्छा करता है वह प्रशंसक होकर मिथ्यावादी और पतित होजाता है, इसलिये चाहे निन्दा, चाहे प्रशंसा, चाहे मान, चाहे अपमान, चाहे जीना, चाहे मृत्यु, चाहे हानि, चाहे लाभ हो, चाहे कोई प्रीति करे, चाहे वैर बांधे, चाहे अन्न पान वस्त्र उत्तम स्थान न मिले वा मिले, चाहे शीत उष्ण कितना ही क्यों न हो इत्यादि सब का सहन करे, और अधर्म का खंडन तथा धर्म का मण्डन सदा करता रहे, इससे परे उत्तम धर्म दूसरे किसी को न माने, परमेश्वर से भिन्न किसी की उपासना न करे, न वेदविरुद्ध कुछ माने, परमेश्वर के स्थान में सूक्ष्म वा स्थूल तथा जड़ और जीव को भी कभी न माने, आप सदा परमेश्वर को

अपना स्वामी माने और आप सेवक बना रहे वैसा ही उपदेश अन्य को भी किया करे, जिस २ कर्म से गृहस्थों की उन्नति हो वा माता, पिता, पुत्र, स्त्री, पति, बन्धु, बहिन, मित्र, पड़ोसी, नौकर, बड़े और छोटों में विरोध छूट कर प्रेम बढ़े उस २ का उपदेश करे, जो वेद से विरुद्ध मतमतान्तर के ग्रन्थ बायबिल, कुरान, पुराण, मिथ्याभिलाप तथा काव्यालङ्कार कि जिनके पढ़ने सुनने से मनुष्य विषयी और पतित होजाते हैं उन सब का निषेध करता रहे, विद्वानों और परमेश्वर से भिन्न न किसी को देव तथा विद्या योगाभ्यास सत्सङ्ग और सत्यभाषणादि से भिन्न न किसी को तीर्थ और विद्वानों की मूर्त्तियों से भिन्न पाषाणादि मूर्त्तियों को न माने न मनवावे। वैसे ही गृहस्थों को माता, पिता, आचार्य, अतिथि, स्त्री के लिये विवाहित पुरुष और पुरुष के लिये विवाहित स्त्री की मूर्त्ति से भिन्न किसी की मूर्त्ति को पूज्य न समझावे किन्तु वैदिकमत की उन्नति और वेदविरुद्ध पाखण्डमतों के खण्डन करने में सदा तत्पर रहे। वेदादि शास्त्रों में श्रद्धा और तद्विरुद्ध ग्रन्थों वा मतों में अश्रद्धा किया कराया करे। आप शुभ गुण कर्म स्वभावयुक्त होकर सबको इसी प्रकार के करने में प्रयत्न किया करे और जो पूर्वोक्त उपदेश लिखे हैं उन २ अपने संन्यासाश्रम के कर्त्तव्य कर्मों को किया करे। खण्डनीय कर्मों का खण्डन करना कभी न छोड़े। आसुर अर्थात् अपने को ईश्वर ब्रह्म माननेवालों का भी यथावत् खण्डन करता रहे। परमेश्वर के गुण कर्म स्वभाव और न्याय आदि गुणों का प्रकाश करता रहे। इस प्रकार कर्म करता हुआ स्वयं आनन्द में रहकर सब को आनन्द में रक्खे। सर्वदा (अहिंसा) निर्वैरता, (सत्यम्) सत्य बोलना सत्य मानना सत्य करना, (अस्तेयम्) मन कर्म वचन से अन्याय करके परपदार्थ का ग्रहण न करना चाहिये न किसी को करने का उपदेश करे, (ब्रह्मचर्यम्) सदा जितेन्द्रिय होकर अष्टविध मैथुन का त्याग रख के वीर्य की रक्षा और उन्नति करके चिरञ्जीवी होकर सब का उपकार करता रहे, (अपरिग्रहः) अभिमानादि दोष रहित किसी संसार के धनादि पदार्थों में मोहित होकर कभी न फँसे। इन ५ (पांच) यमों का सेवन सदा किया करे। और इन के साथ ५ (पांच) नियम अर्थात् (शौच) बाहर भीतर से पवित्र रहना, (सन्तोष) पुरुषार्थ करते जाना और हानि लाभ

में प्रसन्न और अप्रसन्न न होना, (तपः) सदा पक्षपातरहित न्यायरूप धर्म का सेवन प्राणायामादि योगाभ्यास करना, (स्वाध्याय) सदा प्रणव का जप अर्थात् मन में चिन्तन और उसके अर्थ ईश्वर का विचार करते रहना, (ईश्वरप्रणिधान) अर्थात् अपने आत्मा को वेदोक्त परमेश्वर की आज्ञा में समर्पित करके परमानन्द परमेश्वर के सुख को जीता हुआ भोगकर शरीर छोड़ के सर्वानन्दयुक्त मोक्ष को प्राप्त होना संन्यासियों के मुख्य कर्म हैं । हे जगदीश्वर सर्वशक्तिमन् सर्वान्तर्यामिन् दयालो न्यायकारिन् सच्चिदानन्दानन्त नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्तस्वभाव अजर अमर पवित्र परमात्मन् ! आप अपनी कृपा से संन्यासियों को पूर्वोक्त कर्मों में प्रवृत्त रख के परममुक्ति सुख को प्राप्त कराते रहिये ।

इति संन्याससंस्कारविधिः समाप्तः

अथान्त्येष्टिकर्मविधिं वक्ष्यामः

अन्त्येष्टि कर्म उसको कहते हैं कि जो शरीर के अन्त का संस्कार है, जिसके आगे उस शरीर के लिये कोई भी अन्य संस्कार नहीं है। इसी को नरमेध पुरुषमेध नरयाग पुरुषयाग भी कहते हैं ॥

भस्मान्तꣳ शरीरम् ॥ यजु० अ० ४० । मं० १५ ॥ निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः ॥ मनु० ॥

इस शरीर का संस्कार (भस्मान्तम्) अर्थात् भस्म करने पर्यन्त है ॥१॥ शरीर का आरम्भ ऋतुदान और अन्त में श्मशान अर्थात् मृतक कर्म है ॥२॥ (प्रश्न) जो गरुड़पुराण आदि में दशगात्र, एकादशाह, द्वादशाह, सपिण्डीकर्म, मासिक वार्षिक गयाश्राद्ध आदि क्रिया लिखी हैं क्या ये सब असत्य हैं ? (उत्तर) हां, अवश्य मिथ्या हैं, क्योंकि वेदों में इन कर्मों का विधान नहीं है इसलिये अकर्त्तव्य हैं। और मृतक जीव का सम्बन्ध पूर्व सम्बन्धियों के साथ कुछ भी नहीं रहता और न इन जीते हुए सम्बन्धियों का। वह जीव अपने कर्म के अनुसार जन्म पाता है। (प्रश्न) मरण के पीछे जीव कहां जाता है ? (उत्तर) यमालय को। (प्रश्न) यमालय किसको कहते हैं ? (उत्तर) वाय्वालय को। (प्रश्न) वाय्वालय किसको कहते हैं ? (उत्तर) अन्तरिक्ष को, जो कि यह पोल है। (प्रश्न) क्या गरुड़पुराण आदि में यमलोक लिखा है वह झूठा है ? (उत्तर) अवश्य मिथ्या है। (प्रश्न) पुनः संसार क्यों मानता है ? (उत्तर) वेद के अज्ञान और उपदेश के न होने से। जो यम की कथा लिख रक्खी है वह सब मिथ्या है क्योंकि यम इतने पदार्थों का नाम है ॥

षडिद्यमा ऋषयो देवजा इति ॥ ऋ० मं० १। सू० १६४। मं० १५ ॥

शकेम वाजिनो यमम् ॥ ऋ० मं० २ । सू० ५ । मं० १ ॥

यमाय जुहुता हविः । यमं ह यज्ञो गच्छत्यग्निदूतो अरंकृतः ॥ ऋ० मं० १० । सू० १४ । मं० १३ ॥

यमः सूयमानो विष्णुः सम्भ्रियमाणो वायुः पूयमानः ॥ यजु० अ० ८ । मं० ५७ ॥

वाजिनं यमम् ॥ ऋ० मं० ८ । सू० २४ । मं० २२ ॥

यमं मातरिश्वानमाहुः ॥ ऋ० मं० १ । सू० १६४ । मं० ४६ ॥

यहां ऋतुओं का यम नाम है ॥ १ ॥ यहां परमेश्वर का नाम ॥ २ ॥ यहां अग्नि का नाम ॥ ३ ॥ यहां वायु, विद्युत्, सूर्य के यम नाम हैं ॥ ४ ॥ यहां भी वेगवाला होने से वायु का नाम यम है ॥ ५ ॥ यहां परमेश्वर का नाम यम है । इत्यादि पदार्थों का नाम यम है इसलिये पुराण आदि की सब कल्पना झूठी हैं ॥ ६ ॥

विधि—संस्थिते भूमिभागं खानयेद्दक्षिणपूर्वस्यां दिशि दक्षिणापरस्यां वा ॥ १ ॥ दक्षिणाप्रवणं प्राग्दक्षिणाप्रवणं वा प्रत्यग्दक्षिणाप्रवणमित्येके ॥ २ ॥ यावानुद्बाहुकः पुरुषस्तावदायामम् ॥ ३ ॥ वितस्त्यवाक् ॥ ४ ॥ केशश्मश्रुलोमनखानीत्युक्तं पुरस्तात् ॥ ५ ॥ द्विगुल्फं बर्हिराज्यं च ॥ ६ ॥ दधन्यत्र सर्पिरानयन्त्येतत् पित्र्यं पृषदाज्यम् ॥ ७ ॥ अथैतां दिशमग्नीनयन्ति यज्ञपात्राणि च ॥ ८ ॥ आश्वलायन० अ० ४ । कण्डि० १ । सू० ६—१७ तथा कण्डि० २ । सू० १ ॥

जब कोई मरजावे तब यदि पुरुष हो तो पुरुष और स्त्री हो तो स्त्रियां उसको स्नान करावें, चन्दनादि सुगन्धलेपन और नवीन वस्त्र धारण करावें, जितना उसके शरीर का भार हो उतना घृत यदि अधिक सामर्थ्य हो तो अधिक लेवें, और जो महादरिद्र भिक्षुक हो कि जिसके पास कुछ भी नहीं है उसको

कोई श्रीमान् वा पंच बन के आध मन से कम घी न देवें, और श्रीमान् लोग शरीर के बराबर तौल के चन्दन, सेर भर घी में एक रत्ती कस्तूरी, एक मासा केसर, एक २ मन घी के साथ सेर २ भर अगर तगर और घृत में चन्दन का चूरा भी यथाशक्ति डाल, कपूर, पलाश आदि के पूर्ण काष्ठ, शरीर के भार से दूनी सामग्री, श्मशान में पहुंचावे। तत्पश्चात् मृतक को वहां श्मशान में ले जाय। यदि प्राचीन वेदी बनी हुई न हो तो नवीन वेदी भूमि में खोदे, वह श्मशान का स्थान बस्ती से दक्षिण तथा आग्नेय अथवा नैर्ऋत्य कोण में हो। वहां भूमि को खोदे। मृतक के पग दक्षिण नैर्ऋत्य अथवा आग्नेय कोण में रहें, शिर उत्तर ईशान वा वायव्य कोण में रहे ॥ १ ॥ मृतक के पग की ओर वेदी के तले में नीचा और शिर की ओर थोड़ा ऊंचा रहे ॥ २ ॥ उस वेदी का परिमाण पुरुष खड़ा होकर ऊपर को हाथ उठावे उतनी लम्बी और दोनों हाथों को लंबे उत्तर दक्षिण पार्श्व में करने से जितना परिमाण हो अर्थात् मृतक के साढ़े तीन हाथ अथवा तीन हाथ से ऊपर चौड़ी होवे और छाती के बराबर गहरी होवे ॥ ३ ॥ और नीचे आध हाथ अर्थात् एक बीता भर रहे। उस वेदी में थोड़ा २ जल छिटकावे। यदि गोमय उपस्थित हो तो लेपन भी करदे। उसमें नीचे से आधी वेदी तक लकड़ियां चिने, जैसे कि भित्ती में ईंटें चिनी जाती हैं, अर्थात् बराबर जमाकर लकड़ियां धरे। लकड़ियों के बीच में थोड़ा थोड़ा कपूर थोड़ी थोड़ी दूर पर रक्खे। उसके ऊपर मध्य में मृतक को रक्खे अर्थात् चारों ओर वेदी बराबर खाली रहे, और पश्चात् चारों ओर और ऊपर चन्दन तथा पलाश आदि के काष्ठ बराबर चिने, वेदी से ऊपर एक बीता भर लकड़ियां चिने। जबतक यह क्रिया होवे तबतक अलग चूल्हा बना, अग्नि जला, घृत तपा और छान कर पात्रों में रक्खे। उसमें कस्तूरी आदि सब पदार्थ मिलावे। लम्बी २ लकड़ियों में चार चमसों को चाहे वे लकड़ी के हों वा चांदी सोने के अथवा लोहे के हों जिस चमसा में एक छटांक भर से अधिक और आधी छटांक भर से न्यून घृत न आवे खूब दृढ़ बन्धनों से डण्डों के साथ बांधे। पश्चात् घृत का दीपक करके, कपूर में लगाकर, शिर से आरम्भ कर पाद पर्यन्त मध्य २ में अग्नि प्रवेश करावे। अग्निप्रवेश कराके:—

ओमग्नये स्वाहा । ओं सोमाय स्वाहा । ओं लोकाय स्वाहा । ओमनुमतये स्वाहा । ओं स्वर्गाय लोकाय स्वाहा ॥ आश्वला० अ० ४ । कं० ३ । सू० २५-२६ ॥

इन पांच मन्त्रों से आहुतियां देके अग्नि को प्रदीप्त होने देवे । तत्पश्चात् चार मनुष्य पृथक् २ खड़े रहकर वेदों के मन्त्रों से आहुति देते जायँ, जहां स्वाहा आवे वहां आहुति छोड़ देवे ॥

अथ वेदमन्त्राः

सूर्यं चक्षुर्गच्छतु वातमात्मा द्यां च गच्छ पृथिवीं च धर्मणा । अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रति तिष्ठा शरीरैः स्वाहा ॥ १ ॥ अजो भागस्तपसा तं तपस्व तं ते शोचिस्तपतु तं ते अर्चिः । यास्ते शिवास्तन्वो जातवेदस्ताभिर्वहैनं सुकृतामु लोकं स्वाहा ॥ २ ॥ अवसृज पुनरग्ने पितृभ्यो यस्त आहुतश्चरति स्वधाभिः । आयुर्वसान उपवेतु शेषः संगच्छतां तन्वा जातवेदः स्वाहा ॥ ३ ॥ अग्नेर्वर्म परि गोभिर्व्ययस्व सम्प्रोर्णुष्व पीवसा मेदसा च । नेत्त्वा धृष्णुर्हरसा जर्हृषाणो दधृग्विधक्ष्यन्पर्यङ्खयाते स्वाहा ॥ ४ ॥ यं त्वमग्ने समदहस्तमु निर्वापया पुनः । कियाम्ब्वत्र रोहतु पाकदूर्वा व्यल्कशा स्वाहा ॥ ५ ॥ ऋ० मं० १० । सू० १६ । मं० ३ । ४ । ५ । ७ । १३ ॥

परेयिवांसं प्रवतो महीरनु बहुभ्यः पन्थामनुपस्पशानम् । वैवस्वतं सङ्गमनं जनानां यमं राजानं हविषा दुवस्य स्वाहा ॥ ६ ॥ यमो नो गातुं प्रथमो विवेद नैषा गव्यूतिरपभर्तवा उ । यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुरेना जज्ञानाः पथ्या३ अनुस्वाः स्वाहा ॥ ७ ॥ मातली कव्यैर्यमो अङ्गिरोभिर्बृहस्पतिर्ऋक्वभिर्वावृधानः । यांश्च देवा वावृधुर्ये च देवान्त्स्वाहान्ये स्वधयान्ये मदन्ति स्वाहा ॥ ८ ॥ इमं यम प्रस्तरमा हि सीदाङ्गिरोभिः पितृभिः संविदानः । आ त्वा मन्त्राः कविशस्ता वहन्त्वेना राजन्हविषा मादयस्व स्वाहा ॥ ९ ॥ अङ्गिरोभिरागहि यज्ञियेभिर्यम वैरूपैरिह मादयस्व । विवस्-

न्तं हुवे यः पिता तेऽस्मिन्यज्ञे बर्हिष्यानिषद्य स्वाहा ॥ १० ॥ प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूर्व्येभिर्यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुः । उभा राजाना स्वधया मदन्ता यमं पश्यासि वरुणं च देवं स्वाहा ॥ ११ ॥ संगच्छस्व पितृभिः सं यमेनेष्टापूर्त्तेन परमे व्योमन् । हित्वायावद्यं पुनरस्तमेहि संगच्छस्व तन्वा सुवर्चाः स्वाहा ॥ १२ ॥ अपेत वीत वि च सर्पतातोऽस्मा एतं पितरो लोकमक्रन् । अहोभिरद्भिरक्तुभिर्व्यक्तं यमो ददात्यवसानमस्मै स्वाहा ॥ १३ ॥ यमाय सोमं सुनुत यमाय जुहुता हविः । यमं ह यज्ञो गच्छत्यग्निदूतो अरङ्कृतः स्वाहा ॥ १४ ॥ यमाय घृतवद्धविर्जुहोत प्र च तिष्ठत । स नो देवेष्वायमद्दीर्घमायुः प्रजीवसे स्वाहा ॥ १५ ॥ यमाय मधुमत्तमं राज्ञे हव्यं जुहोतन । इदं नम ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः स्वाहा ॥ १६ ॥ ऋ० मं० १० । सू० १४ ॥ कृष्णः श्वेतोऽरुषो यामो अस्य ब्रध्न ऋज्र उत शोणो यशस्वान् । हिरण्यरूपं जनिता जजान स्वाहा ॥ १७ ॥ ऋ० मं० १० । सू० २० । मं० ६ ॥

इन ऋग्वेद के मन्त्रों से चारों जने सत्रह सत्रह आज्याहुति देकर निम्नलिखित मन्त्रों से उसी प्रकार आहुति देवें ॥

प्राणेभ्यः साधिपतिकेभ्यः स्वाहा ॥ १ ॥ पृथिव्यै स्वाहा ॥ २ ॥ अग्नये स्वाहा ॥ ३ ॥ अन्तरिक्षाय स्वाहा ॥ ४ ॥ वायवे स्वाहा ॥ ५ ॥ दिवे स्वाहा ॥ ६ ॥ सूर्याय स्वाहा ॥ ७ ॥ दिग्भ्यः स्वाहा ॥ ८ ॥ चन्द्राय स्वाहा ॥ ९ ॥ नक्षत्रेभ्यः स्वाहा ॥ १० ॥ अद्भ्यः स्वाहा ॥ ११ ॥ वरुणाय स्वाहा ॥ १२ ॥ नाभ्यै स्वाहा ॥ १३ ॥ पूताय स्वाहा ॥ १४ ॥ वाचे स्वाहा ॥ १५ ॥ प्राणाय स्वाहा ॥ १६ ॥ प्राणाय स्वाहा ॥ १७ ॥ चक्षुषे स्वाहा ॥ १८ ॥ चक्षुषे स्वाहा ॥ १९ ॥ श्रोत्राय स्वाहा ॥ २० ॥ श्रोत्राय स्वाहा ॥ २१ ॥ लोमभ्यः स्वाहा ॥ २२ ॥ लोमभ्यः स्वाहा ॥ २३ ॥ त्वचे स्वाहा ॥ २४ ॥ त्वचे स्वाहा ॥ २५ ॥ लोहिताय स्वाहा ॥ २६ ॥ लोहिताय स्वाहा ॥ २७ ॥ मेदोभ्यः स्वाहा ॥ २८ ॥ मेदोभ्यः स्वाहा ॥ २९ ॥ मांꣳसेभ्यः स्वाहा ॥ ३० ॥ मांꣳसेभ्यः स्वाहा ॥ ३१ ॥

स्नावभ्यः स्वाहा ॥ ३२ ॥ स्नावभ्यः स्वाहा ॥ ३३ ॥ अस्थभ्यः स्वाहा ॥ ३४ ॥ अस्थभ्यः स्वाहा ॥ ३५ ॥ मज्जभ्यः स्वाहा ॥ ३६ ॥ मज्जभ्यः स्वाहा ॥ ३७ ॥ रेतसे स्वाहा ॥ ३८ ॥ पायवे स्वाहा ॥ ३९ ॥ आयासाय स्वाहा ॥ ४० ॥ प्रायासाय स्वाहा ॥ ४१ ॥ संयासाय स्वाहा ॥ ४२ ॥ वियासाय स्वाहा ॥ ४३ ॥ उद्यासाय स्वाहा ॥ ४४ ॥ शुचे स्वाहा ॥ ४५ ॥ शोचते स्वाहा ॥ ४६ ॥ शोचमानाय स्वाहा ॥ ४७ ॥ शोकाय स्वाहा ॥ ४८ ॥ तपसे स्वाहा ॥ ४९ ॥ तप्यते स्वाहा ॥ ५० ॥ तप्यमानाय स्वाहा ॥ ५१ ॥ तप्ताय स्वाहा ॥ ५२ ॥ घर्माय स्वाहा ॥ ५३ ॥ निष्कृत्यै स्वाहा ॥ ५४ ॥ प्रायश्चित्यै स्वाहा ॥ ५५ ॥ भेषजाय स्वाहा ॥ ५६ ॥ यमाय स्वाहा ॥ ५७ ॥ अन्तकाय स्वाहा ॥ ५८ ॥ मृत्यवे स्वाहा ॥ ५९ ॥ ब्रह्मणे स्वाहा ॥ ६० ॥ ब्रह्महत्यायै स्वाहा ॥ ६१ ॥ विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा ॥ ६२ ॥ द्यावापृथिवीभ्याᳬ स्वाहा ॥ ६३ ॥ यजु० अ० ३९ ॥

इन ६३ (तिरसठ) मन्त्रों से तिरसठ आहुति पृथक् पृथक् देके निम्नलिखित मन्त्रों से आहुति देवे ।

सूर्यं चक्षुषा गच्छ वातमात्मना दिवं च गच्छ पृथिवीं च धर्मभिः । अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रतितिष्ठा शरीरैः स्वाहा ॥ १ ॥ सोम एकेभ्यः पवते घृतमेक उपासते । येभ्यो मधु प्रधावति तांश्चिदेवापि गच्छतात् स्वाहा ॥ २ ॥ ये चित्पूर्व ऋतसाता ऋतजाता ऋतावृधः । ऋषींस्तपस्वतो यम तपोजाँ अपि गच्छतात् स्वाहा ॥ ३ ॥ तपसा ये अनाधृष्यास्तपसा ये स्वर्ययुः । तपो ये चक्रिरे महस्तांश्चिदेवापि गच्छतात् स्वाहा ॥ ४ ॥ ये युद्ध्यन्ते प्रधनेषु शूरासो ये तनूत्यजः । ये वा सहस्रदक्षिणास्तांश्चिदेवापि गच्छतात् स्वाहा ॥ ५ ॥ स्योनास्मै भव पृथिव्यनृक्षरा निवेशनी । यच्छास्मै शर्म सप्रथाः स्वाहा ॥ ६ ॥ अपेमं जीवा अरुधन् गृहेभ्यस्तन्निर्वहत परि ग्रामादितः । मृत्युर्यमस्यासीद्दूतः प्रचेता असून् पितृभ्यो गमयाञ्चकार स्वाहा ॥ ७ ॥ यमः परोवरो विवस्वांस्ततः परं नातिपश्यामि किञ्चन । यमे अध्वरो अधि मे निविष्टो भुवो विवस्वानन्वाततान स्वाहा

॥ ८ ॥ अपागूहन्नमृतां मर्त्येभ्यः कृत्वा सवर्णामददुर्विवस्वते । उताश्विना-वभरद्यत्तदासीदजहादु द्वा मिथुना सरण्यूः स्वाहा ॥ ९ ॥ इमौ युनज्मि ते वह्नी असुनीताय वोढवे । ताभ्यां यमस्य सादनं समितीश्चावगच्छतात् स्वाहा ॥ १० ॥ अथर्व० कां० १८ । सू० २ ॥

इन दश मन्त्रों से दश आहुति देकरः—

अग्नये रयिमते स्वाहा ॥ १ ॥ पुरुषस्य सयावर्यपेदघानि मृज्महे । यथा नो अत्र नापरः पुरा जरस आयति स्वाहा ॥ २ ॥ य एतस्य पथा गोप्तारस्तेभ्यः स्वाहा ॥ ३ ॥ य एतस्य पथो रक्षितारस्तेभ्यः स्वाहा ॥ ४ ॥ य एतस्य पथोऽभिरक्षितारस्तेभ्यः स्वाहा ॥ ५ ॥ ख्यात्रे स्वाहा ॥ ६ ॥ अपाख्यात्रे स्वाहा ॥ ७ ॥ अभिलालपते स्वाहा ॥ ८ ॥ अपलालपते स्वाहा ॥ ९ ॥ अग्नये कर्मकृते स्वाहा ॥ १० ॥ यमत्र नाधीमस्तस्मै स्वाहा ॥ ११ ॥ अग्नये वैश्वानराय सुवर्गाय लोकाय स्वाहा ॥ १२ ॥ आयातु देवः सुमनाभिरूतिभिर्यमो ह वेह प्रयताभिरक्ता । आसीदताᳪं सुप्रयते ह बर्हिष्यूर्जाय जात्यै मम शत्रुहत्यै स्वाहा ॥ १३ ॥ योऽस्य कौष्ठ्य जगतः पार्थिवस्यैक इद्वशी । यमं भङ्ग्यश्रवो गाय यो राजाऽनपरोध्यः स्वाहा ॥ १४ ॥ यमं गाय भङ्ग्यश्रवो यो राजाऽनपरोध्यः । येनाऽऽपो नद्यो धन्वानि येन द्यौः पृथिवी दृढा स्वाहा ॥ १५ ॥ हिरण्यकक्ष्यान्त्सुधुरान् हिरण्याक्षानयःशफान् । अश्वाननश्शतो दानं यमो राजाभितिष्ठति स्वाहा ॥ १६ ॥ यमो दाधार पृथिवीं यमो विश्वमिदं जगत् । यमाय सर्वमित्तस्थे यत् प्राणद्वायुरक्षितं स्वाहा ॥ १७ ॥ यथा पञ्च यथा षड् यथा पञ्चदशर्षयः । यमं यो विद्यात् स ब्रूयाद्यथैक ऋषिर्विजानते स्वाहा ॥ १८ ॥ त्रिकद्रुकेभिः पतति षडुर्वीरेकमिद्बृहत् । गायत्री त्रिष्टुप्छन्दाᳪंसि सर्वा ता यम आहिता स्वाहा ॥ १९ ॥ अहरहर्नयमानो गामश्वं पुरुषं जगत् । वैवस्वतो न तृप्यति पञ्चभिर्मानवैर्यमः स्वाहा ॥ २० ॥ वैवस्वते विविच्यन्ते यमे राजनि ते जनाः । ये चेह सत्येनेच्छन्ते य उ चानृतवादिनः स्वाहा ॥ २१ ॥ ते राजन्निह विविच्यन्तेऽथा यन्ति त्वामुप । देवांश्च ये नमस्यन्ति ब्राह्मणां

आपचिस्यति स्वाहा ॥ २२ ॥ यस्मिन्वृक्षे सुपलाशे देवैः संपिबते यमः । अत्रा नो विश्पतिः पिता पुराणा अनुवेनति स्वाहा ॥ २३ ॥ उत्ते तभ्नोमि पृथिवीं त्वत्परीमं लोकं निदधन्मो अहꣳ रिषम् । एताꣳ स्थूणां पितरो धारयन्तु तेऽत्रा यमः सादनात्ते मिनोतु स्वाहा ॥ २४ ॥ यथाऽहान्यनुपूर्वं भवन्ति यथर्त्तव ऋतुभिर्यन्ति क्लृप्ताः । यथा नः पूर्वमपरो जहात्येवा धातरायूꣳषि कल्पयैषां स्वाहा ॥ २५ ॥ न हि ते अग्ने तनुवै क्रूरं चकार मर्त्यः । कपिर्बभस्ति तेजनं पुनर्जरायुर्गौरिव । अप नः शोशुचदघमग्ने शुशुध्या रयिम् । अप नः शोशुचदघं मृत्यवे स्वाहा ॥ २६ ॥ तैत्ति० प्रपा० ६ । अनु० १—१० ॥

इन छब्बीस आहुतियों को करके, ये सब (ओं अग्नये स्वाहा) इस मन्त्र से ले के (मृत्यवे स्वाहा) तक एकसौ इकीस आहुति हुईं । अर्थात् ४ जनों की मिल के ४८४ (चारसौ चौरासी), और जो दो जने आहुति देवें तो २४२ (दोसौ बयालीस) । यदि घृत विशेष हो तो पुनः इन्हीं एकसौ इकीस मन्त्रों से आहुति देते जायँ यावत् शरीर भस्म न होजाय तावत् देवें । जब शरीर भस्म होजावे पुनः सब जने वस्त्र प्रक्षालन स्नान करके जिसके घर में मृत्यु हुआ हो उसके घर की मार्जन, लेपन, प्रक्षालनादि से शुद्धि करके, पृ० ८—१२ में लिखे प्रमाणे स्वस्तिवाचन शान्तिप्रकरण का पाठ और पृ० ४—८ में लि० ईश्वरोपासना करके, इन्हीं स्वस्तिवाचन और शान्तिप्रकरण के मन्त्रों से जहां अङ्क अर्थात् मन्त्र पूरा हो वहां स्वाहा शब्द का उच्चारण करके, सुगन्ध्यादि मिले हुए घृत की आहुति घर में देवें कि जिससे मृतक का वायु घर से निकल जाय और शुद्ध वायु घर में प्रवेश करे और सब का चित्त प्रसन्न रहे । यदि उस दिन रात्रि होजाय तो थोड़ीसी आहुति देकर, दूसरे दिन प्रातःकाल उसी प्रकार स्वस्तिवाचन और शान्तिप्रकरण के मन्त्रों से आहुति देवें । तत्पश्चात् जब तीसरा दिन हो तब मृतक का कोई सम्बन्धी श्मशान में जाकर, चिता से अस्थि उठा के, उस श्मशानभूमि में कहीं पृथक् रख देवें । बस इस के आगे मृतक के लिये कुछ भी कर्म कर्त्तव्य नहीं है, क्योंकि पूर्व (भ-

स्मान्तꣳ शरीरम्) यजुर्वेद के मन्त्र के प्रमाण से स्पष्ट हो चुका कि दाहकर्म और अस्थिसंचयन से पृथक् मृतक के लिये दूसरा कोई भी कर्म कर्त्तव्य नहीं है। हां, यदि वह संपन्न हो तो अपने जीते जी वा मरे पीछे उनके सम्बन्धी वेदविद्या, वेदोक्तधर्म का प्रचार, अनाथपालन, वेदोक्त धर्मोपदेशकप्रवृत्ति के लिये चाहे जितना धन प्रदान करें बहुत अच्छी बात है ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्याणां श्रीयुतविरजानन्दसरस्वती-स्वामिनां महाविदुषां शिष्यस्य वेदविहिताचारधर्मनिरूपकस्य श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिनः कृतौ संस्कार-विधिर्ग्रन्थः पूर्त्तिमगात् ॥

शताब्दी-संस्करण

Prem Bahadur Varma
12.6.26

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका

पृष्ठ २५६–७२१.

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका

—:o:—

आवृत्ति		सन् ई०		संख्या
प्रथम	...	१८७८	...	३१००
द्वितीय	...	१८९२	...	५०००
तृतीय	...	१९०४	...	५०००
चतुर्थ	...	१९१३	...	५०००
पंचम	...	१९१९	...	५०००
शताब्दीसंस्करण		१९२४	...	१०,०००
				३३,१००

ओ३म्

अथ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका

ओ३म् सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै ॥ ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥ १ ॥ तैत्तिरीय आरण्यके । नवमप्रपाठके प्रथमानुवाके ॥

ब्रह्मानन्तमनादि विश्वकृदजं सत्यं परं शाश्वतं, विद्या यस्य सनातनी निगमभृद्वैधर्म्यविध्वंसिनी । वेदाख्या विमला हिता हि जगते नृभ्यः सुभाग्यप्रदा, तन्नत्वा निगमार्थभाष्यमतिना भाष्यं तु तन्तन्यते ॥ १ ॥ कालरामाङ्कचन्द्रेऽब्दे भाद्रमासे सिते दले । प्रतिपद्यादित्यवारे भाष्यारम्भः कृतो मया ॥ २ ॥ दयाया आनन्दो विलसति परः स्वात्मविदितः, सरस्वत्यस्याग्रे निवसति हिता हीशशरणा । इयं ख्यातिर्यस्य प्रततसुगुणा वेदमननाऽस्त्यनेनेदं भाष्यं रचितमिति बोद्धव्यमनघाः ॥ ३ ॥ मनुष्येभ्यो हितायैव सत्यार्थं सत्यमानतः । ईश्वरानुग्रहेणेदं वेदभाष्यं विधीयते ॥ ४ ॥ संस्कृतप्राकृताभ्यां यद्भाषाभ्यामन्वितं शुभम् । मन्त्रार्थवर्णनं चात्र क्रियते कामधुङ्मया ॥ ५ ॥ आर्य्याणां मुन्यृषीणां या व्याख्यारीतिः सनातनी । तां समाश्रित्य मन्त्रार्था विधास्यन्ते तु नान्यथा ॥ ६ ॥ येनाधुनिकभाष्यैर्ये टीकाभिर्वेददूषकाः । दोषाः सर्वे विनश्येयुरन्यथार्थविवर्णनाः ॥ ७ ॥ सत्यार्थश्च प्रकाश्येत वेदानां यः सनातनः । ईश्वरस्य सहायेन प्रयत्नोऽयं सुसिध्यताम् ॥ ८ ॥

भाषार्थ

(सह नाव०) हे सर्वशक्तिमन् ईश्वर ! आप की कृपा, रक्षा और सहाय से हम लोग परस्पर एक दूसरे की रक्षा करें, (सह नौ भु०) और हम सब लोग परमप्रीति से मिल के सब से उत्तम ऐश्वर्य अर्थात् चक्रवर्त्तिराज्य आदि सामग्री से आनन्द को आप के अनुग्रह से सदा भोगें, (सहवी०) हे कृपानिधे ! आप के सहाय से हम लोग एक दूसरे के सामर्थ्य को पुरुषार्थ से सदा बढ़ाते रहें, (तेजस्वि०) और हे प्रकाशमय सब विद्या के देनेवाले परमेश्वर ! आप के सामर्थ्य से ही हम लोगों का पढ़ा और पढ़ाया सब संसार में प्रकाश को प्राप्त हो और हमारी विद्या सदा बढ़ती रहे, (मा विद्विषा०) हे प्रीति के उत्पादक ! आप ऐसी कृपा कीजिये कि जिससे हम लोग परस्पर विरोध कभी न करें किन्तु एक दूसरे के मित्र हो के सदा वर्त्तें । (ओं शान्तिः०) हे भगवन् ! आपकी करुणा से हम लोगों के तीन ताप एक (आध्यात्मिक) जो कि ज्वरादि रोगों से शरीर में पीड़ा होती है, दूसरा (आधिभौतिक) जो दूसरे प्राणियों से होता है और तीसरा (आधिदैविक) जो कि मन और इन्द्रियों के विकार, अशुद्धि और चञ्चलता से क्लेश होता है । इन तीनों तापों को आप शान्त अर्थात् निवारण कर दीजिये । जिस से हम लोग सुख से इस वेदभाष्य को यथावत् बना के सब मनुष्यों का उपकार करें । यही आप से चाहते हैं, सो कृपा करके हम लोगों को सब दिनों के लिये सहाय कीजिये ॥ १ ॥

(ब्रह्मानन्त०) जो ब्रह्म अनन्त आदि विशेषणों से युक्त है, जिस की वेदविद्या सनातन है, उसको अत्यन्त प्रेम भक्ति से मैं नमस्कार करके इस वेदभाष्य के बनाने का आरम्भ करता हूं ॥ १ ॥ (कालरा०) विक्रम के संवत् १९३३ भाद्रमास के शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा, रविवार के दिन इस वेदभाष्य का आरम्भ मैंने किया है ॥ २ ॥ (दयाया०) सब सज्जन लोगों को यह बात विदित हो कि जिन का नाम स्वामी दयानन्द सरस्वती है उन्हों ने इस वेदभाष्य को रचा है ॥ ३ ॥ (मनुष्ये०) ईश्वर की कृपा के सहाय से सब मनुष्यों के हित के लिये इस वेदभाष्य का विधान मैं करता हूं ॥ ४ ॥ (संस्कृतप्रा०) सो यह

वेदभाष्य दो भाषाओं में किया जाता है, एक संस्कृत और दूसरी प्राकृत, इन दोनों भाषाओं में वेदमन्त्रों के अर्थ का वर्णन मैं करता हूं ॥ ५ ॥ (आर्य्याणां०) इस वेदभाष्य में अप्रमाण लेख कुछ भी नहीं किया जाता है, किन्तु जो ब्रह्मा से ले के व्यासपर्य्यन्त मुनि और ऋषि हुए हैं उन की जो व्याख्यारीति है उस से युक्त ही यह वेदभाष्य बनाया जायगा ॥ ६ ॥ (येनाधु०) यह भाष्य ऐसा होगा कि जिससे वेदार्थ से विरुद्ध अब के बने भाष्य और टीकाओं से वेदों में भ्रम से जो मिथ्यादोषों के आरोप हुए हैं वे सब निवृत्त हो जायंगे ॥ ७ ॥ (सत्यार्थश्च०) और इस भाष्य से वेदों का जो सत्य अर्थ है सो संसार में प्रसिद्ध हो, कि वेदों के सनातन अर्थ को सब लोग यथावत् जान लें, इसलिये यह प्रयत्न मैं करता हूं, सो परमेश्वर के सहाय से यह काम अच्छे प्रकार सिद्ध हो यही सर्वशक्तिमान् परमेश्वर से मेरी प्रार्थना है ॥ ८ ॥

विश्वा॑नि देव सवितर्दुरि॒तानि॒ परा॑सुव । यद्भ॒द्रं तन्न॒ आ सु॑व ॥ १ ॥ यजुर्वेदे । अध्याये ३० । मन्त्रः ३ ।

भाष्यम्

हे सच्चिदानन्दानन्तस्वरूप ! हे परमकारुणिक ! हे अनन्तविद्य ! हे विद्याविज्ञानप्रद ! (देव) हे सूर्यादिसर्वजगद्विद्याप्रकाशक ! हे सर्वानन्दप्रद ! (सवितः) हे सकलजगदुत्पादक ! (नः) अस्माकम् (विश्वानि) सर्वाणि (दुरितानि) दुःखानि सर्वान्दुष्टगुणांश्च (परासुव) दूरे गमय, (यद्भद्रं) यत्कल्याणं सर्वदुःखरहितं सत्यविद्याप्राप्त्याऽभ्युदयनिःश्रेयससुखकरं भद्रमस्ति (तन्नः) अस्मभ्यं (आसुव) आ समन्तादुत्पादय कृपया प्रापय । अस्मिन् वेदभाष्यकरणानुष्ठाने ये दुष्टा विघ्नास्तान् प्राप्तेः पूर्वमेव परासुव दूरं गमय, यच्च शरीरबुद्धिसहायकौशलसत्यविद्याप्रकाशादि भद्रमस्ति तत्स्वकृपाकटाक्षेण हे परब्रह्मन् ! नोऽस्मभ्यं प्रापय, भवत्कृपाकटाक्षसुसहायप्राप्त्या सत्यविद्योज्ज्वलं प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धं भवद्रचितानां वेदानां यथार्थं भाष्यं वयं विदधीमहि । तदिदं सर्वमनुष्योपकाराय भवत्कृपया

भवेत् । अस्मिन् वेदभाष्ये सर्वेषां मनुष्याणां परमश्रद्धयाऽत्यन्ता प्रीतिर्यथा स्यात् तथैव भवता कार्यमित्योरेम् ।

भावार्थ

हे सत्यस्वरूप ! हे विज्ञानमय ! हे सदानन्दस्वरूप ! हे अनन्तसामर्थ्ययुक्त ! हे परमकृपालो ! हे अनन्तविद्यामय ! हे विज्ञानविद्याप्रद ! (देव) हे परमेश्वर ! आप सूर्यादि सब जगत् का और विद्या का प्रकाश करने वाले हो तथा सब आनन्दों के देने वाले हो, (सवितः) हे सर्वजगदुत्पादक सर्वशक्तिमन् ! आप सब जगत् को उत्पन्न करने वाले हो, (नः) हमारे (विश्वानि) सब जो (दुरितानि) दुःख हैं उन को और हमारे सब दुष्ट गुणों को कृपा से आप (परासुव) दूर कर दीजिये अर्थात् हम से उन को और हम को उन से सदा दूर रखिये, (यद्भद्रं) और जो सब दुःखों से रहित कल्याण है, जो कि सब सुखों से युक्त भोग है, उस को हमारे लिये सब दिनों में प्राप्त कीजिये । सो सुख दो प्रकार का है । एक जो सत्यविद्या की प्राप्ति में अभ्युदय अर्थात् चक्रवर्ति राज्य इष्ट मित्र धन पुत्र स्त्री और शरीर से अत्यन्त उत्तम सुख का होना और दूसरा जो निःश्रेयस सुख है कि जिस को मोक्ष कहते हैं और जिस में ये दोनों सुख होते हैं उसी को भद्र कहते हैं । (तन्न आसुव) उस सुख को आप हमारे लिये सब प्रकार से प्राप्त करिये, और आप की कृपा के सहाय से सब विघ्न हम से दूर रहें, कि जिससे इस वेदभाष्य के करने का हमारा अनुष्ठान सुख से पूरा हो । इस अनुष्ठान में हमारे शरीर में आरोग्य, बुद्धि, सज्जनों का सहाय, चतुरता और सत्यविद्या का प्रकाश सदा बढ़ता रहे । इस भद्रस्वरूप सुख को आप अपनी सामर्थ्य से ही हम को दीजिये । जिस कृपा के सामर्थ्य से हम लोग सत्यविद्या से युक्त जो आपके बनाये वेद हैं उन के यथार्थ अर्थ से युक्त भाष्य को सुख से विधान करें । सो यह वेदभाष्य आप की कृपा से संपूर्ण हो के सब मनुष्यों का सदा उपकार करनेवाला हो और आप अन्तर्यामी की प्रेरणा से सब मनुष्यों का इस वेदभाष्य में श्रद्धासहित अत्यन्त उत्साह हो, जिससे वेदभाष्य करने में जो हम लोगों का प्रयत्न है सो यथावत् सिद्धि को प्राप्त हो ।

इसी प्रकार से आप हमारे और सब जगत् के ऊपर कृपादृष्टि करते रहैं, जिससे इस बड़े सत्य काम को हम लोग सहज से सिद्ध करें ॥ १ ॥

यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति । स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ १ ॥ यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम् । दिवं यश्चक्रे मूर्द्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ २ ॥ यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः । अग्निं यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ ३ ॥ यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुरङ्गिरसोऽभवन् । दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ ४ ॥ अथर्ववेदसंहितायाम् । काण्डे १० । प्रपाठके २३ । अनुवाके ४ । सूक्ते ८ । मं० १ । तथा सूक्ते ७ । मं० ३२ । ३३ । ३४ ॥

भाष्यम्

(यो भूतं च०) यो भूतभविष्यद्वर्तमानान् कालान् (सर्वं यश्चाधि०) सर्वं जगच्चाधितिष्ठति, सर्वाधिष्ठाता सन् कालादूर्ध्वं विराजमानोस्ति । (स्वर्य०) यस्य च केवलं निर्विकारं स्वः सुखस्वरूपमस्ति, यस्मिन् दुःखं लेशमात्रमपि नास्ति, यदानन्दघनं ब्रह्मास्ति, (तस्मै ज्ये०) तस्मै ज्येष्ठाय सर्वोत्कृष्टाय ब्रह्मणे महतेऽत्यन्तं नमोस्तु नः ॥ १ ॥ (यस्य भू०) यस्य भूमिः प्रमा यथार्थज्ञानसाधनं पादाविवास्ति, (अन्तरिक्षमु०) अन्तरिक्षं यस्योदरतुल्यमस्ति, यश्च सर्वस्मादूर्ध्वं सूर्यरश्मिप्रकाशमयमाकाशं दिवं मूर्द्धानं शिरोवच्चक्रे कृतवानस्ति, तस्मै० ॥ २ ॥ (यस्य सू०) यस्य सूर्यश्चन्द्रमाश्च पुनः पुनः सर्गादौ नवीने चक्षुषी इव भवतः, योग्निमास्यं मुखवच्चक्रे कृतवानस्ति, तस्मै० ॥ ३ ॥ (यस्य वातः०) वातः समष्टिर्वायुर्यस्य प्राणापानाविवास्ति, (अङ्गिरसः) अङ्गिरा अङ्गारा अङ्कना अञ्चना इति निरुक्ते अ० ३ । खं० १७ ॥ प्रकाशिकाः किरणाश्चक्षुषी इव भवतः, यो दिशः प्रज्ञानीः प्रज्ञापिनीर्व्यवहारसाधिकाश्चक्रे, तस्मै ह्यनन्तविद्याय ब्रह्मणे महते सततं नमोस्तु ॥ ४ ॥

भावार्थ

(यो भूतं च०) जो परमेश्वर एक भूतकाल जो व्यतीत हो गया है, (च) अनेक चकारों से दूसरा जो वर्त्तमान है (भव्यं च) और तीसरा भविष्यत् जो होनेवाला है, इन तीनों कालों के बीच में जो कुछ होता है उन सब व्यवहारों को वह यथावत् जानता है, (सर्वं यश्चाधितिष्ठति) तथा जो सब जगत् को अपने विज्ञान से ही जानता रचता पालन लय करता और संसार के सब पदार्थों का अधिष्ठाता अर्थात् स्वामी है, (स्वर्यस्य च केवलं) जिस का सुख ही केवल स्वरूप है, जो कि मोक्ष और व्यवहार सुख का भी देने वाला है, (तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः) ज्येष्ठ अर्थात् सब से बड़ा सब सामर्थ्य से युक्त ब्रह्म जो परमात्मा है उस को अत्यन्त प्रेम से हमारा नमस्कार हो । जो कि सब कालों के ऊपर विराजमान है, जिस को लेशमात्र भी दुःख नहीं होता उस आनन्दघन परमेश्वर को हमारा नमस्कार प्राप्त हो ॥ १ ॥ (यस्य भूमिः प्रमा०) जिस परमेश्वर के होने और ज्ञान में भूमि जो पृथिवी आदि पदार्थ हैं सो प्रमा अर्थात् यथार्थज्ञान की सिद्धि होने का दृष्टान्त है तथा जिसने अपनी सृष्टि में पृथिवी को पादस्थानी रचा है, (अन्तरिक्षमुतोदरम्) अन्तरिक्ष जो पृथिवी और सूर्य के बीच में आकाश है सो जिसने उदरस्थानी किया है, (दिवं यश्चक्रे मूर्द्धानम्) और जिसने अपनी सृष्टि में दिव अर्थात् प्रकाश करनेवाले पदार्थों को सब के ऊपर मस्तकस्थानी किया है, अर्थात् जो पृथिवी से लेके सूर्यलोकपर्यन्त सब जगत् को रच के, उसमें व्यापक होके, जगत् के सब अवयवों में पूर्ण होके सब को धारण कर रहा है (तस्मै०) उस परब्रह्म को हमारा अत्यन्त नमस्कार हो ॥ २ ॥ (यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्र०) और जिसने नेत्रस्थानी सूर्य और चन्द्रमा को किया है, जो कल्प २ के आदि में सूर्य और चन्द्रमादि पदार्थों को वारंवार नये २ रचता है, (अग्निं यश्चक्र आस्यम्) और जिसने मुखस्थानी अग्नि को उत्पन्न किया है (तस्मै०) उसी ब्रह्म को हम लोगों का नमस्कार हो ॥ ३ ॥ (यस्य वातः प्राणापानौ) जिसने ब्रह्माण्ड के वायु को प्राण और अपान की नाईं किया है, (चक्षुरङ्गिरसोऽभवन्) तथा जो प्रकाश करनेवाली किरण हैं वे

चक्षु की नाईं जिसने की हैं, अर्थात् उनसे ही रूप ग्रहण होता है, (दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्त०) और जिसने दश दिशाओं को सब व्यवहारों को सिद्ध करनेवाली बनाई हैं ऐसा जो अनन्त विद्यायुक्त परमात्मा सब मनुष्यों का इष्टदेव है उस ब्रह्म को निरन्तर हमारा नमस्कार हो ॥ ४ ॥

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः। यस्यच्छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ५ ॥ यजु० अ० २५ । मं० १३ ॥

द्यौः शान्तिरन्तरिक्षꣳशान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः । वनस्पतयः शान्तिर्विश्वेदेवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वꣳशान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि ॥६॥ यतो यतः समीहसे ततो नो अभयङ्कुरु । शन्नः कुरु प्रजाभ्योऽभयं नः पशुभ्यः ॥ ७ ॥ यजु० अ० ३६ । मं० १७ । २२ ॥

यस्मिन्नृचः साम यजूꣳषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः । यस्मिंश्चित्तꣳ सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ ८ ॥ यजु० अ० ३४ । मं० ५ ॥

भाष्यम्

(य आत्मदाः) य आत्मदा विद्याविज्ञानप्रदः, (बलदाः) यः शरीरेन्द्रियप्राणात्ममनसां पुष्ट्युत्साहपराक्रमदृढत्वप्रदः, (यस्य०) यं विश्वेदेवाः सर्वे विद्वांस उपासते यस्यानुशासनं च मन्यन्ते, (यस्यच्छाया०) यस्याश्रय एव मोक्षोऽस्ति, यस्यच्छायाऽकृपाऽनाश्रयो मृत्युर्जन्ममरणकारकोस्ति, (कस्मै०) तस्मै कस्मै प्रजापतये "प्रजापतिर्वै क"स्तस्मै हविषा विधेमेति । शतपथब्राह्मणे । काण्डे ७ । अ० ३ ॥ सुखस्वरूपाय ब्रह्मणे देवाय प्रेमभक्तिरूपेण हविषा वयं विधेम, सततं तस्यैवोपासनं कुर्वीमहि ॥ ५ ॥ (द्यौः शान्तिः०) हे सर्वशक्तिमन् परमेश्वर ! त्वद्भक्त्या त्वत्कृपया

च द्यौ,रन्तरिक्षं, पृथिवी, जलम्, ओषधयो, वनस्पतयो, विश्वेदेवाः सर्वे विद्वांसो, ब्रह्म वेदः, सर्वं जगच्चास्मदर्थं शान्तं निरुपद्रवं सुखकारकं सर्वदास्तु। अनुकूलं भवतु नः। येन वयं वेदभाष्यं सुखेन विदधीमहि। हे भगवन्! एतया सर्वशान्त्या विद्याबुद्धिविज्ञानारोग्यसर्वोत्तमसहायैर्भवान् मां सर्वथा वर्धयतु तथा सर्वं जगच्च ॥ ६ ॥ (यतो य०) हे परमेश्वर! यतो यतो देशात्त्वं सर्मीहसे, जगद्रचनपालनार्थां चेष्टां करोषि, ततस्ततो देशान्नोऽस्मानभयं कुरु, यतः सर्वथा सर्वेभ्यो देशेभ्यो भयरहिता भवत्कृपया वयं भवेम, (शन्नः कु०) तथा तत्रस्थाभ्यः प्रजाभ्यः पशुभ्यश्च नोऽस्मानभयं कुरु। एवं सर्वेभ्यो देशेभ्यस्तत्रस्थाभ्यः प्रजाभ्यः पशुभ्यश्च नोऽस्मान् शं कुरु, धर्मार्थकाममोक्षादिसुखयुक्तान् स्वानुग्रहेण सद्यः संपादय ॥ ७ ॥ (यस्मिन्नृ०) हे भगवन् कृपानिधे! यस्मिन्मनसि ऋचः सामानि यजूंषि च प्रतिष्ठितानि भवन्ति, यस्मिन् यथार्थमोक्षविद्या च प्रतिष्ठिता भवति, (यस्मिंश्चि०) यस्मिंश्च प्रजानां चित्तं स्मरणात्मकं सर्वमोतमस्ति सूत्रे मणिगणवत्प्रोतमस्ति, कस्यां क इव? रथनाभौ अरा इव, तन्मे मम मनो भवत्कृपया शिवसंकल्पं कल्याणप्रियं सत्यार्थप्रकाशं चास्तु, येन वेदानां सत्यार्थः प्रकाश्येत। हे सर्वविद्यामय सर्वार्थविन्! मदुपरि कृपां विधेहि, यथा निर्विघ्नेन वेदार्थभाष्यं सत्यार्थं पूर्णं वयं कुर्वीमहि, भवद्यशो वेदानां सत्यार्थं विस्तारयेमहि। यं दृष्ट्वा वयं सर्वे सर्वोत्कृष्टगुणा भवेम। ईदृशीं करुणामस्माकमुपरि करोतु भवान्। एतदर्थं प्रार्थ्यते। अनया प्रार्थनयाऽस्मान् शीघ्रमेवानुगृह्णातु। यत इदं सर्वोपकारकं कृत्यं सिद्धं भवेत्।

भाषार्थ

(य आत्मदाः०) जो जगदीश्वर अपनी कृपा से ही अपने आत्मा का विज्ञान देने वाला है, जो सब विद्या और सत्य सुखों की प्राप्ति कराने वाला है, जिस की उपासना सब विद्वान् लोग करते आये हैं और जिसका अनुशासन जो वेदोक्त शिक्षा है उस को अत्यन्त मान्य से सब शिष्ट लोग स्वीकार करते हैं, जिस का आश्रय करना ही मोक्षसुख का कारण है और जिसकी अकृपा ही

जन्ममरणरूप दुःखों को देनेवाली है, अर्थात् ईश्वर और उसका उपदेश जो सत्यविद्या सत्यधर्म और सत्यमोक्ष हैं उनको नहीं मानना और जो वेद से विरुद्ध होके अपनी कपोलकल्पना अर्थात् दुष्ट इच्छा से बुरे कामों में वर्त्तता है उस पर ईश्वर की अकृपा होती है वही सब दुःखों का कारण है, और जिसकी आज्ञापालन ही सब सुखों का मूल है (कस्मै०) जो सुखस्वरूप और सब प्रजा का पति है उस परमेश्वर देव की प्राप्ति के लिये सत्य प्रेम भक्तिरूप सामग्री से हम लोग नित्य भजन करें, जिससे हम लोगों को किसी प्रकार का दुःख कभी न हो ॥ ५ ॥ (द्यौः शा०) हे सर्वशक्तिमन् भगवन् ! आप की भक्ति और कृपा से ही (द्यौः) जो सूर्यादि लोकों का प्रकाश और विज्ञान है यह सब दिन हमको सुखदायक हो, तथा जो आकाश में पृथिवी जल ओषधि वनस्पति वट आदि वृक्ष, जो संसार के सब विद्वान्, ब्रह्म जो वेद, ये सब पदार्थ और इनसे भिन्न भी जो जगत् है वे सब सुख देनेवाले हम को सब काल में हों कि सब पदार्थ सब दिन हमारे अनुकूल रहें, जिससे इस वेदभाष्य के काम को सुखपूर्वक हम लोग सिद्ध करें । हे भगवन् ! इस सब शान्ति से हम को विद्या बुद्धि विज्ञान आरोग्य और सब उत्तम सहाय को कृपा से दीजिये, तथा हम लोगों और सब जगत् को उत्तम गुण और सुख के दान से बढ़ाइये ॥ ६ ॥ (यतो य०) हे परमेश्वर ! आप जिस २ देश से जगत् के रचन और पालन के अर्थ चेष्टा करते हैं उस २ देश से भय से रहित करिये अर्थात् किसी देश से हम को किञ्चित् भी भय न हो, (शन्नः कुरु०) वैसे ही सब दिशाओं में जो आप की प्रजा और पशु हैं उन से भी हम को भयरहित करें, तथा हम से उनको सुख हो और उनको भी हम से भय न हो, तथा आप की प्रजा में जो मनुष्य और पशु आदि हैं उन सब से जो धर्म अर्थ काम और मोक्ष पदार्थ हैं उन को आप के अनुग्रह से हम लोग शीघ्र प्राप्त हों जिससे मनुष्यजन्म के धर्मादि जो फल हैं वे सुख से सिद्ध हों ॥ ७ ॥ (यस्मिन्नृचः०) हे भगवन् कृपानिधे ! (ऋचः) ऋग्वेद (साम) सामवेद (यजूंषि) यजुर्वेद और इन तीनों के अन्तर्गत होने से अथर्ववेद भी ये सब जिसमें स्थिर होते हैं, तथा जिसमें मोक्षविद्या अर्थात् ब्रह्मविद्या और सत्यासत्य का प्रकाश होता है, (यस्मिँश्चि०) जिसमें सब प्रजा का चित्त जो

स्मरण करने की वृत्ति है सो सब गँठी हुई है, जैसे माला के मणिये सूत्र में गँठे हुए होते हैं और जैसे रथ के पहिये के बीच के भाग में आरे लगे होते हैं कि उस काष्ठ में जैसे अन्य काष्ठ लगे रहते हैं ऐसा जो मेरा मन है सो आप की कृपा से शुद्ध हो तथा कल्याण जो मोक्ष और सत्य धर्म का अनुष्ठान तथा असत्य के परित्याग करने का संकल्प जो इच्छा है इससे युक्त सदा हो, जिस मन से हम लोगों को आप के किये वेदों के सत्य अर्थ का यथावत् प्रकाश हो। हे सर्वविद्यामय सर्वार्थवित् जगदीश्वर ! हम पर आप कृपा धारण करें, जिससे हम लोग विघ्नों से सदा अलग रहें और सत्य अर्थ सहित इस वेदभाष्य को सम्पूर्ण बना के आप के बनाए वेदों के सत्य अर्थ की विस्ताररूप जो कीर्ति है उस को जगत् में सदा के लिये बढ़ावें और इस भाष्य को देख के वेदों के अनुसार सत्य का अनुष्ठान करके हम सब लोग श्रेष्ठ गुणों से युक्त सदा हों इसलिये हम लोग आप की प्रार्थना प्रेम से सदा करते हैं। इसको आप कृपा से शीघ्र सुनें। जिससे यह जो सब का उपकार करनेवाला वेदभाष्य का अनुष्ठान है सो यथावत् सिद्धि को प्राप्त हो।

इतीश्वरप्रार्थनाविषयः

अथ वेदोत्पत्तिविषयः

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥ १ ॥ यजु० अ० ३१। मं० ७ ॥

यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्। सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखम्। स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ २ ॥ अथर्व० कां० १०। प्रपा० २३। अनु० ४। सूक्त ७। मं० २० ॥

भाष्यम्

(तस्माद्यज्ञात्स०) तस्माद्यज्ञात्सच्चिदानन्दादिलक्षणात्पूर्णात्पुरुषात्

सर्वहुतात्सर्वपूज्यात्सर्वोपास्यात्सर्वशक्तिमतः परब्रह्मणः (ऋचः) ऋग्वेदः, (यजुः) यजुर्वेदः, (सामानि) सामवेदः, (छन्दांसि) अथर्ववेदश्च (जज्ञिरे) चत्वारो वेदास्तेनैव प्रकाशिता इति वेद्यम् । सर्वहुत इति वेदानामपि विशेषणं भवितुमर्हति, वेदाः सर्वहुतः । यतः सर्वमनुष्यैर्होतुमादातुं ग्रहीतुं योग्याः सन्त्यतः । जज्ञिरे अजायतेति क्रियाद्वयं वेदानामनेकविद्यावत्त्वद्योतनार्थम् । तथा तस्मादिति पदद्वयमीश्वरादेव वेदा जाता इत्यवधारणार्थम् । वेदानां गायत्र्यादिच्छन्दोन्वितत्वात्पुनश्छन्दांसीतिपदं चतुर्थस्याथर्ववेदस्योत्पत्तिं ज्ञापयतीत्यवधेयम् । यज्ञो वै विष्णुः ॥ श० कां० १ । अ० १ * । इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् † यजुर्वेदे । इति सर्वजगत्कर्तृत्वं विष्णौ परमेश्वर एव घटते नान्यत्र । वेवेष्टि व्याप्नोति चराचरं जगत् स विष्णुः परमेश्वरः ॥ १ ॥ (यस्मादृचो०) यस्मात्सर्वशक्तिमतः ऋचः ऋग्वेदः (अपातक्षन्) अपातक्षन् उत्पन्नोस्ति, यस्मात् परब्रह्मणः (यजुः) यजुर्वेदः अपाकषन् प्रादुर्भूतोस्ति, तथैव यस्मात्सामानि सामवेदः (आङ्गिरसः) अथर्ववेदश्चोत्पन्नौ स्तः, एवमेव यस्येश्वरस्याङ्गिरसोऽथर्ववेदो मुखं मुखवत् मुख्योस्ति, सामानि लोमानीव सन्ति, यजुर्यस्य हृदयमृचः प्राणश्चेति रूपकालङ्कारः । यस्माच्चत्वारो वेदा उत्पन्नाः स कतमः स्विद्देवोस्ति तं त्वं ब्रूहीति प्रश्नः ? अस्योत्तरम् (स्कम्भं तं०) तं स्कम्भं सर्वजगद्धारकं परमेश्वरं त्वं जानीहीति, तस्मात्स्कम्भात्सर्वाधारात्परमेश्वरात् पृथक् कश्चिदप्यन्यो देवो वेदकर्त्ता नैवास्तीति मन्तव्यम् ॥ २ ॥ एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः ॥ श० कां० १४ । अ० ५ ‡ ॥ अस्यायमभिप्रायः । याज्ञवल्क्योभिवदति हे मैत्रेयि ! महत आकाशादपि बृहतः परमेश्वरस्यैव सकाशादृग्वेदादिवेदचतुष्टयं (निःश्वसितं) निःश्वासवत्सहजतया निःसृतमस्तीति वेद्यम् । यथा शरीराच्छ्वासो निःसृत्य पुनस्तदेव प्रविशति तथैवेश्वराद्वेदानां प्रादुर्भावतिरोभावौ भवत इति निश्चयः ।

---

* ब्रा० २ । कण्डि० १३ ॥ † अ० ५ । मं० १५ ॥

‡ ब्रा० ४ । कण्डि० १० ॥

भाषार्थ

प्रथम ईश्वर को नमस्कार और प्रार्थना करके पश्चात् वेदों की उत्पत्ति का विषय लिखा जाता है कि वेद किसने उत्पन्न किये हैं। (तस्मात् यज्ञात्स०) सत् जिसका कभी नाश नहीं होता, चित् जो सदा ज्ञानस्वरूप है जिसको अज्ञान का लेश भी कभी नहीं होता, आनन्द जो सदा सुखस्वरूप और सब को सुख देने वाला है इत्यादि लक्षणों से युक्त पुरुष जो सब जगह में परिपूर्ण हो रहा है, जो सब मनुष्यों को उपासना के योग्य इष्टदेव और सब सामर्थ्य से युक्त है उसी परब्रह्म से (ऋचः) ऋग्वेद (यजुः) यजुर्वेद (सामानि) सामवेद और (छन्दांसि) इस शब्द से अथर्व भी ये चारों वेद उत्पन्न हुए हैं, इसलिये सब मनुष्यों को उचित है कि वेदों का ग्रहण करें, और वेदोक्त रीति से ही चलें। (जज्ञिरे) और (अजायत) इन दोनों क्रियाओं के अधिक होने से वेद अनेक विद्याओं से युक्त हैं ऐसा जाना जाता है। वैसे ही (तस्मात्) इन दोनों पदों के अधिक होने से यह निश्चय जानना चाहिये कि ईश्वर से ही वेद उत्पन्न हुए हैं, किसी मनुष्य से नहीं। वेदों में सब मन्त्र गायत्र्यादि छन्दों से युक्त ही हैं फिर (छन्दांसि) इस पद के कहने से चौथा जो अथर्ववेद है उस की उत्पत्ति का प्रकाश होता है। शतपथ आदि ब्राह्मण और वेदमन्त्रों के प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि यज्ञ शब्द से विष्णु का और विष्णु शब्द से सर्वव्यापक जो परमेश्वर है उसी का ग्रहण होता है, क्योंकि सब जगत् की उत्पत्ति करनी परमेश्वर में ही घटती है अन्यत्र नहीं ॥ १ ॥ (यस्मादृचो अपा०) जो सर्वशक्तिमान् परमेश्वर है उसी से (ऋचः) ऋग्वेद (यजुः) यजुर्वेद (सामानि) सामवेद (आङ्गिरसः) अथर्ववेद ये चारों उत्पन्न हुए हैं। इसी प्रकार रूपकालङ्कार से वेदों की उत्पत्ति का प्रकाश ईश्वर करता है कि अथर्ववेद मेरे मुख के समतुल्य, सामवेद लोमों के समान, यजुर्वेद हृदय के समान और ऋग्वेद प्राण की नाईं है। (ब्रूहि कतमः स्विदेव सः) कि चारों वेद जिससे उत्पन्न हुए हैं सो कौनसा देव है उसको तुम मुझ से कहो। इस प्रश्न का यह उत्तर है कि (स्कम्भं तं०) जो सब जगत् का धारणकर्त्ता परमेश्वर है उसका

नाम स्कम्भ है, उसी को तुम वेदों का कर्त्ता जानो और यह भी जानो कि उस को छोड़ के मनुष्यों को उपासना करने के योग्य दूसरा कोई इष्टदेव नहीं है, क्योंकि ऐसा अभागा कौन मनुष्य है जो वेदों के कर्त्ता सर्वशक्तिमान् परमेश्वर को छोड़ के दूसरे को परमेश्वर मान के उपासना करे ॥ २ ॥ (एवं वा अरे-स्य०) याज्ञवल्क्य महाविद्वान् जो महर्षि हुए हैं वह अपनी पण्डिता मैत्रेयी स्त्री को उपदेश करते हैं कि हे मैत्रेयि ! जो आकाशादि से भी बड़ा सर्वव्यापक परमेश्वर है उस से ही ऋक् यजुः साम और अथर्व ये चारों वेद उत्पन्न हुए हैं, जैसे मनुष्य के शरीर से श्वासा बाहर को आ के फिर भीतर को जाती है इसी प्रकार सृष्टि के आदि में ईश्वर वेदों को उत्पन्न करके संसार में प्रकाश करता है और प्रलय में संसार में वेद नहीं रहते, परन्तु उस के ज्ञान के भीतर वे सदा बने रहते हैं, बीजाङ्कुरवत् । जैसे बीज में अङ्कुर प्रथम ही रहता है, वही वृक्षरूप हो के फिर भी बीज के भीतर रहता है, इसी प्रकार से वेद भी ईश्वर के ज्ञान में सब दिन बने रहते हैं, उन का नाश कभी नहीं होता, क्योंकि वह ईश्वर की विद्या है, इस से इनको नित्य ही जानना ।

अत्र केचिदाहुः । निरवयवात्परमेश्वराच्छब्दमयो वेदः कथमुत्पद्येतेति ? अत्र ब्रूमः । न सर्वशक्तिमतीश्वरे शङ्केयमुपपद्यते । कुतः । मुखप्राणादिसाधनमन्तरापि तस्य कार्यं कर्त्तुं सामर्थ्यस्य सदैव विद्यमानत्वात् । अन्यच्च यथा मनसि विचारणावसरे प्रश्नोत्तरादिशब्दोच्चारणं भवति तथेश्वरेपि मन्यताम् । योस्ति खलु सर्वशक्तिमान् स नैव कस्यापि सहायं कार्यं कर्त्तुं गृह्णाति । यथास्मदादीनां सहायेन विना कार्यं कर्त्तुं सामर्थ्यं नास्ति । न चैवमीश्वरे । यदा निरवयवेनेश्वरेण सकलं जगद्रचितं तदा वेदरचने का शङ्कास्ति । कुतः । वेदस्य सूक्ष्मरचनवज्जगत्यपि महदाश्चर्यभूतं रचनमीश्वरेण कृतमस्त्यतः ।

भाषार्थ

इस विषय में कितने ही पुरुष ऐसा प्रश्न करते हैं कि ईश्वर निराकार है उससे शब्दरूप वेद कैसे उत्पन्न हो सकते हैं ? इस का यह उत्तर है कि परमेश्वर

सर्वशक्तिमान् है, उस में ऐसी शङ्का करनी सर्वथा व्यर्थ है, क्योंकि मुख और प्राणादि साधनों के विना भी परमेश्वर में मुख और प्राणादि के काम करने का अनन्त सामर्थ्य है, कि मुख के विना मुख का काम और प्राणादि के विना प्राणादि का काम वह अपने सामर्थ्य से यथावत् कर सकता है। यह दोष तो हम जीव लोगों में आसकता है कि मुखादि के विना मुखादि का कार्य नहीं करसकते हैं, क्योंकि हम लोग अल्प सामर्थ्य वाले हैं। और इसमें यह दृष्टान्त भी है कि मन में मुखादि अवयव नहीं हैं तथापि जैसे उस के भीतर प्रश्नोत्तर आदि शब्दों का उच्चारण मानस व्यापार में होता है वैसे ही परमेश्वर में भी जानना चाहिये। और जो सम्पूर्ण सामर्थ्य वाला है सो किसी कार्य्य के करने में किसी का सहाय ग्रहण नहीं करता क्योंकि वह अपने सामर्थ्य से ही सब कार्य्यों को कर सकता है। जैसे हम लोग विना सहाय से कोई काम नहीं कर सकते वैसा ईश्वर नहीं है। जैसे देखो कि जब जगत् उत्पन्न नहीं हुआ था उस समय निराकार ईश्वर ने सम्पूर्ण जगत् को बनाया, तब वेदों के रचने में क्या शङ्का रही। जैसे वेदों में अत्यन्त सूक्ष्म विद्या का रचन ईश्वर ने किया है वैसे ही जगत् में भी नेत्र आदि पदार्थों का अत्यन्त आश्चर्यरूप रचन किया है, तो क्या वेदों की रचना निराकार ईश्वर नहीं कर सकता।

ननु जगद्रचने तु खल्वीश्वरमन्तरेण न कस्यापि सामर्थ्यमस्ति वेदरचने त्वन्यस्यान्यग्रन्थरचनवत् स्यादिति। अत्रोच्यते। ईश्वरेण रचितस्य वेदस्याध्ययनानन्तरमेव ग्रन्थरचने कस्यापि सामर्थ्यं स्यान्न चान्यथा। नैव कश्चिदपि पठनश्रवणमन्तरा विद्वान् भवति। यथेदानीं किञ्चिदपि शास्त्रं पठित्वोपदेशं श्रुत्वा व्यवहारं च दृष्ट्वैव मनुष्याणां ज्ञानं भवति। तद्यथा। कस्यचित्सन्तानमेकान्ते रक्षयित्वाऽन्नपानादिकं युक्त्या दद्यात्तेन सह भाषणादिव्यवहारं लेशमात्रमपि न कुर्य्याद्यावत्तस्य मरणं न स्यात्। यथा तस्य किञ्चिदपि यथार्थं ज्ञानं न भवति। यथा च महारण्यस्थानां मनुष्याणामुपदेशमन्तरा पशुवत्प्रवृत्तिर्भवति। तथैवादिसृष्टिमारभ्याद्यपर्यन्तं वेदोपदेशमन्तरा सर्वमनुष्याणां प्रवृत्तिर्भवेत्। पुनर्ग्रन्थरचनस्य तु का कथा।

भाषार्थ

प्रश्न—जगत् के रचने में तो ईश्वर के विना किसी जीव का सामर्थ्य नहीं है, परन्तु जैसे व्याकरण आदि शास्त्र रचने में मनुष्यों का सामर्थ्य होता है वैसे वेदों के रचने में भी जीव का सामर्थ्य हो सकता है। उत्तर—नहीं, किन्तु जब ईश्वर ने प्रथम वेद रचे हैं उन को पढ़ने के पश्चात् ग्रन्थ रचने का सामर्थ्य किसी मनुष्य को हो सकता है, उसके पढ़ने और ज्ञान से विना कोई भी मनुष्य विद्वान् नहीं हो सकता। जैसे इस समय में किसी शास्त्र को पढ़ के, किसी का उपदेश सुनके और मनुष्यों के परस्पर व्यवहारों को देख के ही मनुष्यों को ज्ञान होता है अन्यथा कभी नहीं होता। जैसे किसी मनुष्य के बालक को जन्म से एकान्त में रखके उसको अन्न और जल युक्ति से देवे, उसके साथ भाषणादि व्यवहार लेशमात्र भी कोई मनुष्य न करे, कि जब तक उसका मरण न हो तब तक उसको इसी प्रकार से रक्खे तो मनुष्यपने का भी ज्ञान नहीं हो सकता। तथा जैसे बड़े वन में मनुष्यों को विना उपदेश के यथार्थ ज्ञान नहीं होता, किन्तु पशुओं की नाईं उनकी प्रवृत्ति देखने में आती है वैसे ही वेदों के उपदेश के विना भी सब मनुष्यों की प्रवृत्ति हो जाती, फिर ग्रन्थ रचने के सामर्थ्य की तो कथा क्या ही कहनी है। इससे वेदों को ईश्वर के रचित मानने से ही कल्याण है, अन्यथा नहीं ॥

मैवं वाच्यम्। ईश्वरेण मनुष्येभ्यः स्वाभाविकं ज्ञानं दत्तं, तच्च सर्वग्रन्थेभ्य उत्कृष्टमस्ति, नैव तेन विना वेदानां शब्दार्थसम्बन्धानामपि ज्ञानं भवितुमर्हति, तदुन्नत्या ग्रन्थरचनमपि करिष्यन्त्येव, पुनः किमर्थं मन्यते वेदोत्पादनमीश्वरेण कृतमिति। एवं प्राप्ते वदामहे। नैव पूर्वोक्तायाशिक्षितायैकान्ते रक्षिताय बालकाय महारण्यस्थेभ्यो मनुष्येभ्यश्चेश्वरेण स्वाभाविकं ज्ञानं दत्तं किम् ?, कथं नास्मदादयोऽप्यन्येभ्यः शिक्षाग्रहणमन्तरेण वेदाध्ययनेन च विना पण्डिता भवन्ति ? तस्मात्, किमागतम् ? न शिक्षया विनाध्ययनेन च स्वाभाविकज्ञानमात्रेण कस्यापि निर्वाहो भवितुमर्हति। यथास्मदादिभिरप्यन्येषां विदुषां विद्वत्कृतानां ग्रन्थानां च सकाशादनेकविधं ज्ञानं

गृहीत्वैव ग्रन्थान्तरं रच्यते, तथेश्वरज्ञानस्य सर्वेषां मनुष्याणामपेक्षावश्यं भवति। किञ्च न सृष्टेरारम्भसमये पठनपाठनक्रमो ग्रन्थश्च कश्चिदप्यासीत्तदानीमीश्वरोपदेशमन्तरा न च कस्यापि विद्यासम्भवो बभूव, पुनः कथं कश्चिज्जनो ग्रन्थं रचयेत्। मनुष्याणां नैमित्तिकज्ञाने स्वातन्त्र्याभावात्। स्वाभाविकज्ञानमात्रेणैव विद्याप्राप्त्यनुपपत्तेश्च। यच्चोक्तं स्वकीयं ज्ञानमुत्कृष्टमित्यादि तदप्यसमञ्जसम्। तस्य साधनकोटौ प्रविष्टत्वात्। चक्षुर्वत्। यथा चक्षुर्मनः साहित्येन विना ह्यकिञ्चित्करमस्ति। तथान्येषां विदुषामीश्वरज्ञान च साहित्येन विना स्वाभाविकज्ञानमप्यकिञ्चित्करमेव भवतीति।

भाषार्थ

प्र०—ईश्वर ने मनुष्यों को स्वाभाविक ज्ञान दिया है सो सब ग्रन्थों से उत्तम है, क्योंकि उसके विना वेदों के शब्द अर्थ और सम्बन्ध का ज्ञान कभी नहीं हो सकता और जब उस ज्ञान की क्रम से वृद्धि होगी तब मनुष्य लोग विद्या पुस्तकों को भी रच लेंगे पुनः वेदों की उत्पत्ति ईश्वर से क्यों माननी ?

उ०—जो प्रथम दृष्टान्त बालक का एकान्त में रखने का और दूसरा वनवासियों का भी कहा था क्या उन को स्वाभाविक ज्ञान ईश्वर ने नहीं दिया है ? वे स्वाभाविक ज्ञान से विद्वान् क्यों नहीं होते ? इससे यह बात निश्चित है कि ईश्वर का किया उपदेश जो वेद है उसके विना किसी मनुष्य को यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता। जैसे हम लोग वेदों के पढ़ने, विद्वानों की शिक्षा और उनके किये ग्रन्थों को पढ़े विना पण्डित नहीं होते वैसे ही सृष्टि की आदि में भी परमात्मा जो वेदों का उपदेश नहीं करता तो आज पर्यन्त किसी मनुष्य को धर्मादि पदार्थों की यथार्थ विद्या नहीं होती। इससे क्या जाना जाता है कि विद्वानों की शिक्षा और वेद पढ़ने के विना केवल स्वाभाविक ज्ञान से किसी मनुष्य का निर्वाह नहीं हो सकता। जैसे हम लोग अन्य विद्वानों से वेदादि शास्त्रों के अनेक प्रकार के विज्ञान को ग्रहण करके ही पीछे ग्रन्थों को भी रच सकते हैं वैसे ही ईश्वर के ज्ञान की भी अपेक्षा सब मनुष्यों को अवश्य है। क्योंकि सृष्टि के आरम्भ में पढ़ने और पढ़ाने की कुछ भी व्यवस्था नहीं थी,

तथा विद्या का कोई ग्रन्थ भी नहीं था, उस समय ईश्वर के किये वेदोपदेश के विना विद्या के नहीं होने से कोई मनुष्य ग्रन्थ की रचना कैसे कर सकता। क्योंकि सब मनुष्यों को सहायकारी ज्ञान में स्वतन्त्रता नहीं है और स्वाभाविक ज्ञानमात्र से विद्या की प्राप्ति किसी को नहीं हो सकती। इसीसे ईश्वर ने सब मनुष्यों के हित के लिये वेदों की उत्पत्ति की है। और जो यह कहा था कि अपना ज्ञान सब वेदादि ग्रन्थों से श्रेष्ठ है सो भी अन्यथा है, क्योंकि वह स्वाभाविक जो ज्ञान है सो साधनकोटि में है। जैसे मन के संयोग के विना आंख से कुछ भी नहीं दीख पड़ता तथा आत्मा के संयोग के विना मन से भी कुछ नहीं होता, वैसे ही जो स्वाभाविक ज्ञान है सो वेद और विद्वानों की शिक्षा के ग्रहण करने में साधनमात्र ही है, तथा पशुओं के समान व्यवहार का भी साधन है, परन्तु वह स्वाभाविक ज्ञान धर्म अर्थ काम और मोक्षविद्या का साधन स्वतन्त्रता से कभी नहीं हो सकता।

वेदोत्पादन ईश्वरस्य किं प्रयोजनमस्तीत्यत्र वक्तव्यम् ?, उच्यते। वेदानामनुत्पादने खलु तस्य किं प्रयोजनमस्तीति ? अस्योत्तरं तु वयं न जानीमः। सत्यमेवमेतत्। तावद्वेदोत्पादने यदस्ति प्रयोजनं तच्छृणुत। ईश्वरेऽनन्ता विद्यास्ति न वा ?, अस्ति। सा किमर्थास्ति ?, स्वार्था। ईश्वरः परोपकारं न करोति किम् ?, करोति तेन किम् ?, तेनेदमास्ति विद्या स्वार्था परार्था च भवति तस्यास्तद्विषयत्वात्। यद्यस्मदर्थमीश्वरो विद्योपदेशं न कुर्यात्तदान्यतरपक्षे सा निष्फला स्यात्। तस्मादीश्वरेण स्वविद्याभूतवेदस्योपदेशेन सप्रयोजनता संपादिता। परमकारुणिको हि परमेश्वरोऽस्ति, पितृवत्। यथा पिता स्वसन्ततिं प्रति सदैव करुणां दधाति, तथेश्वरोऽपि परमकृपया सर्वमनुष्यार्थं वेदोपदेशमुपचक्रे। अन्यथान्धपरम्परया मनुष्याणां धर्मार्थकाममोक्षसिद्ध्या विना परमानन्द एव न स्यात्। यथा कृपायमाणेनेश्वरेण प्रजासुखार्थं कंदमूलफलतृणादिकं रचितं स कथं न सर्वसुखप्रकाशिकां सर्वविद्यामयीं वेदविद्यामुपदिशेत् ? किञ्च ब्रह्माण्डस्थोत्कृष्टसर्वपदार्थप्राप्त्या यावत्सुखं भवति न तावत् विद्याप्राप्तसुखस्य सहस्रतमेनांशेनापि तुल्यं भवत्यतो वेदोपदेश ईश्वरेण कृत एवास्तीति निश्चयः।

भाषार्थ

प्र०—वेदों के उत्पन्न करने में ईश्वर को क्या प्रयोजन था ? उ०—मैं तुम से पूछता हूं कि वेदों के उत्पन्न नहीं करने में उसको क्या प्रयोजन था ? जो तुम यह कहो कि इसका उत्तर हम नहीं जान सकते तो ठीक है, क्योंकि वेद तो ईश्वर की नित्य विद्या है, उस की उत्पत्ति वा अनुत्पत्ति हो ही नहीं सकती। परन्तु हम जीव लोगों के लिये ईश्वर ने जो वेदों का प्रकाश किया है सो उसकी हम पर परमकृपा है। जो वेदोत्पत्ति का प्रयोजन है सो आप लोग सुनें। प्र०—ईश्वर में अनन्त विद्या है वा नहीं ? उ०—है। प्र०—सो उसकी विद्या किस प्रयोजन के लिये है ? । उ०—अपने ही लिये, जिससे सब पदार्थों का रचना और जानना होता है। प्र०—अच्छा तो मैं आप से पूछता हूं कि ईश्वर परोपकार को करता है वा नहीं ? उ०—ईश्वर परोपकारी है, इससे क्या आया ? इससे यह बात आती है कि विद्या जो है सो स्वार्थ और परार्थ के लिये होती है, क्योंकि विद्या का यही गुण है कि स्वार्थ और परार्थ इन दोनों को सिद्ध करना। जो परमेश्वर अपनी विद्या को हम लोगों के लिये उपदेश न करे तो विद्या से जो परोपकार करना गुण है सो उसका नहीं रहे। इससे परमेश्वर ने अपनी वेदविद्या का हम लोगों के लिये उपदेश करके सफलता सिद्ध करी है, क्योंकि परमेश्वर हम लोगों का माता पिता के समान है। हम सब लोग जो उसकी प्रजा हैं उन पर नित्य कृपादृष्टि रखता है। जैसे अपने सन्तानों के ऊपर पिता और माता सदैव करुणा को धारण करते हैं कि सब प्रकार से हमारे पुत्र सुख पावें, वैसे ही ईश्वर भी सब मनुष्यादि सृष्टि पर कृपादृष्टि सदैव रखता है। इससे ही वेदों का उपदेश हम लोगों के लिये किया है। जो परमेश्वर अपनी वेदविद्या का उपदेश मनुष्यों के लिये न करता तो धर्म अर्थ काम और मोक्ष की सिद्धि किसी को यथावत् प्राप्त न होती, उसके विना परम आनन्द भी किसी को नहीं होता। जैसे परमकृपालु ईश्वर ने प्रजा के सुख के लिये कन्द, मूल, फल और घास आदि छोटे २ भी पदार्थ रचे हैं सो ही ईश्वर सब सुखों के प्रकाश करनेवाली, सब सत्यविद्याओं से युक्त वेदविद्या का उपदेश भी प्रजा के सुख के लिये क्यों न करता।

क्योंकि जितने ब्रह्माण्ड में उत्तम पदार्थ हैं उनकी प्राप्ति से जितना सुख होता है सो सुख विद्याप्राप्ति होने के सुख के हजारहवें अंश के भी समतुल्य नहीं हो सकता। ऐसा सर्वोत्तम विद्यापदार्थ जो वेद है उसका उपदेश परमेश्वर क्यों न करता। इससे निश्चय करके यह जानना कि वेद ईश्वर के ही बनाये हैं।

ईश्वरेण लेखनीमसीपात्रादिसाधनानि वेदपुस्तकलेखनाय कुतो लब्धानि ?। अत्रोच्यते। अहहह! महतीयं शङ्का भवता कृता, विना हस्तपादाद्यवयवैः काष्ठलोष्ठादिसामग्रीसाधनैश्च यथेश्वरेण जगद्रचितं तथा वेदा अपि रचिताः, सर्वशक्तिमतीश्वरे वेदरचनं प्रत्येवं माशङ्कि। किन्तु पुस्तकस्था वेदा तेनादौ नोत्पादिताः। किं तर्हि ज्ञानमध्ये प्रेरिताः। केषाम् ? अग्निवाय्वादित्याङ्गिरसाम्। ते तु ज्ञानरहिता जडाः सन्ति ?, मैवं वाच्यं, सृष्ट्यादौ मनुष्यदेहधारिणस्ते ह्यासन्। कुतः। जडे ज्ञानकार्यासम्भवात्। यत्रार्थासम्भवोऽस्ति तत्र लक्षणा भवति। तद्यथा, कश्चिदाप्तः कञ्चित्प्रति वदति मञ्चाः क्रोशन्तीति। अत्र मञ्चस्था मनुष्याः क्रोशन्तीति विज्ञायते। तथैवात्रापि विज्ञायताम्। विद्याप्रकाशसंभवो मनुष्येष्वेव भवितुमर्हतीति। अत्र प्रमाणम्। तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्ताग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात्सामवेदः। श० कां० ११। अ० ५ *। एषां ज्ञानमध्ये प्रेरयित्वा तद्द्वारा वेदाः प्रकाशिताः। सत्यमेवमेतत्। परमेश्वरेण तेभ्यो ज्ञानं दत्तं ज्ञानेन तैर्वेदानां रचनं कृतमिति विज्ञायते। मैवं विज्ञायि। ज्ञानं किं प्रकारकं दत्तम् ?, वेदप्रकारकम्। तदीश्वरस्य वा तेषाम् ? ईश्वरस्यैव। पुनस्तेनैव प्रणीता वेदा आहोस्वित्तैश्च ? यस्य ज्ञानं तेनैव प्रणीताः। पुनः किमर्था शङ्का कृता तैरेव रचिता इति ?। निश्चयकरणार्था।

भाषार्थ

प्र०—वेदों के रचने और वेद-पुस्तक लिखने के लिये ईश्वर ने लेखनी स्याही और दवात आदि साधन कहां से लिये ? क्योंकि उस समय में काग़ज़ आदि

* ब्रा० २। कण्डिका ३॥

पदार्थ तो बने ही न थे। उ०—वाह वाह जी आपने बड़ी शङ्का करी आप की बुद्धि की क्या स्तुति करें। अच्छा आपसे मैं पूछता हूं कि हाथ पग आदि अङ्गों से विना तथा काष्ठ लोह आदि सामग्री साधनों से विना ईश्वर ने जगत् को क्योंकर रचा है? जैसे हाथ आदि अवयवों से विना उसने सब जगत् को रचा है वैसे ही वेदों को भी सब साधनों के विना रचा है। क्योंकि ईश्वर सर्वशक्तिमान् है। इससे ऐसी शङ्का उस में आप को करनी योग्य नहीं। परन्तु इसके उत्तर में इस बात को जानो कि वेदों को पुस्तकों में लिख के सृष्टि की आदि में ईश्वर ने प्रकाशित नहीं किये थे। प्र०—तो किस प्रकार से किये थे? उ०—ज्ञान के बीच में। प्र०—किनके ज्ञान में?। उ०—अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा के। प्र०—वे तो जड़ पदार्थ हैं? उ०—ऐसा मत कहो, वे सृष्टि की आदि में मनुष्य-देहधारी हुए थे, क्योंकि जड़ में ज्ञान के कार्य का असम्भव है और जहां २ असम्भव होता है वहां २ लक्षणा होती है, जैसे किसी सत्यवादी विद्वान् पुरुष ने किसी से कहा कि खेतों में मञ्चान पुकारते हैं, इस वाक्य में लक्षणा से यह अर्थ होता है कि मञ्चान के ऊपर मनुष्य पुकार रहे हैं, इसी प्रकार से यहां भी जानना कि विद्या के प्रकाश होने का सम्भव मनुष्यों में ही हो सकता है अन्यत्र नहीं। इसमें (तेभ्यः०) इत्यादि शतपथ ब्राह्मण का प्रमाण लिखा है। उन चार मनुष्यों के ज्ञान के बीच में वेदों का प्रकाश करके उनसे ब्रह्मादि के बीच में वेदों का प्रकाश कराया था। प्र०—सत्य बात है कि ईश्वर ने उन को ज्ञान दिया होगा और उनने अपने ज्ञान से वेदों का रचन किया होगा? उ०—ऐसा तुमको कहना उचित नहीं, क्योंकि तुम यह भी जानते हो कि ईश्वर ने उन को ज्ञान किस प्रकार का दिया था? उ०—उन को वेदरूप ज्ञान दिया था। प्र०—अच्छा तो मैं आपसे पूछता हूँ कि वह ज्ञान ईश्वर का है वा उनका? उ०—वह ज्ञान ईश्वर का ही है। प्र०—फिर आप से मैं पूछता हूँ कि वेद ईश्वर के बनाये हैं वा उन के? उ०—जिसका ज्ञान है उसी ने वेदों को बनाया। प्र०—फिर उन्हीं ने वेद रचे हैं यह शङ्का आपने क्यों की थी? उ०—निश्चय करने और कराने के लिये।

ईश्वरो न्यायकार्यस्ति वा पक्षपाती ?, न्यायकारी । तर्हि चतुर्णामेव हृदयेषु वेदाः प्रकाशिताः कुतो न सर्वेषामिति ?, अत्राह । अत ईश्वरे पक्षपातस्य लेशोऽपि नैवागच्छति, किन्त्वनेन तस्य न्यायकारिणः परमात्मनः सम्यङ्न्यायः प्रकाशितो भवति, कुतः, न्यायेत्यस्यैव नामास्ति यो यादृशं कर्म कुर्य्यात्तस्मै तादृशमेव फलं दद्यात् । अत्रैवं वेदितव्यम् । तेषामेव पूर्वपुण्यमासीद्यतः खल्वेतेषां हृदये वेदानां प्रकाशः कर्त्तुं योग्योऽस्ति । किं च ते तु सृष्टेः प्रागुत्पन्नास्तेषां पूर्वपुण्यं कुत आगतम् ?, अत्र ब्रूमः । सर्वे जीवाः स्वरूपतोऽनादयः, स्तेषां कर्म्माणि, सर्वं कार्य्यं जगच्च, प्रवाहेणैवानादीनि सन्तीति । एतेषामनादित्वस्य प्रमाणपूर्वकं प्रतिपादनमग्रे करिष्यते ।

भाषार्थ

प्र०—ईश्वर न्यायकारी है वा पक्षपाती ?, उ०—न्यायकारी । प्र०—जब परमेश्वर न्यायकारी है तो सब के हृदयों में वेदों का प्रकाश क्यों नहीं किया ? क्योंकि चारों के हृदयों में प्रकाश करने से ईश्वर में पक्षपात आता है । उ०—इससे ईश्वर में पक्षपात का लेश कदापि नहीं आता, किन्तु उस न्यायकारी परमात्मा का साक्षात् न्याय ही प्रकाशित होता है, क्योंकि न्याय उसको कहते हैं कि जो जैसा कर्म करे उस को वैसा ही फल दिया जाय । अब जानना चाहिये कि उन्हीं चार पुरुषों का ऐसा पूर्वपुण्य था कि उनके हृदय में वेदों का प्रकाश किया गया । प्र०—वे चार पुरुष तो सृष्टि की आदि में उत्पन्न हुए थे उन का पूर्वपुण्य कहां से आया ?, उ०—जीव, जीवों के कर्म और स्थूल कार्य्य जगत् ये तीनों अनादि हैं, जीव और कारण जगत् स्वरूप से अनादि हैं, कर्म और स्थूल कार्य्य जगत् प्रवाह से अनादि हैं । इसकी व्याख्या प्रमाणपूर्वक आगे लिखी जायगी ।

किं गायत्र्यादिच्छन्दोरचनमपीश्वरेणैव कृतम् ?, इयं कुतः शङ्काभूत् ?, किमीश्वरस्य गायत्र्यादिच्छन्दोरचनज्ञानं नास्ति ?, अस्त्येव तस्य सर्वविद्यावत्त्वात् । अतो निर्मूला सा शङ्कास्ति । चतुर्मुखेन ब्रह्मणा वेदा निरमायिषतेत्यैतिह्यम् । मैवं वाच्यम् । ऐतिह्यस्य शब्दप्रमाणान्तर्भावात् । आप्तो-

पदेशः शब्दः ॥ न्यायशास्त्रे अ० १। सू० ७ इति गोतमाचार्येणोक्तत्वात् । शब्द ऐतिह्यमित्यादि च *। अस्यैवोपरि †। आप्तः खलु साक्षात्कृतधर्मा, यथादृष्टस्यार्थस्य चिख्यापयिषया प्रयुक्त उपदेष्टा, साक्षात्करणमर्थस्याप्तिस्तया प्रवर्त्तत इत्याप्त, इति न्यायभाष्ये वात्स्यायनोक्तेः। अतः सत्यस्यैवेतिह्यत्वेन ग्रहणं नानृतस्य। यत्सत्यप्रमाणमाप्तोपदिष्टमैतिह्यं तद् ग्राह्यं, नातो विपरीतमिति, अनृतस्य प्रमत्तगीतत्वात्। एवमेव व्यासेनर्षिभिश्च वेदा रचिता इत्याद्यपि मिथ्यैवास्तीति मन्यताम्। नवीनपुराणग्रन्थानां तन्त्रग्रन्थानां च वैयर्थापत्तेश्चेति।

भाषार्थ

प्र०—क्या गायत्र्यादि छन्दों का भी रचन ईश्वर ने ही किया है?, उ०—यह शङ्का आप को कहां से हुई? प्र०—मैं तुम से पूछता हूँ क्या गायत्र्यादि छन्दों के रचने का ज्ञान ईश्वर को नहीं है?, उ०—ईश्वर को सब ज्ञान है। अच्छा तो ईश्वर के समस्त विद्यायुक्त होने से आप की यह शङ्का भी निर्मूल है। प्र०—चार मुख के ब्रह्माजी ने वेदों को रचा ऐसे इतिहास को हम लोग सुनते हैं?, उ०—ऐसा मत कहो, क्योंकि इतिहास को शब्दप्रमाण के भीतर गिना है (आप्तो०) अर्थात् सत्यवादी विद्वानों का जो उपदेश है उस को शब्दप्रमाण में गिनते हैं, ऐसा न्यायदर्शन में गोतमाचार्य ने लिखा है, तथा शब्दप्रमाण से जो युक्त है वही इतिहास मानने के योग्य है अन्य नहीं। इस सूत्र के भाष्य में वात्स्यायन मुनि ने आप्त का लक्षण कहा है जो कि साक्षात् सब पदार्थविद्याओं का जाननेवाला, कपट आदि दोषों से रहित धर्मात्मा है, कि जो सदा सत्यवादी, सत्यमानी और सत्यकारी है, जिसको पूर्णविद्या से आत्मा में जिस प्रकार का ज्ञान है उस के कहने की इच्छा की प्रेरणा से सब मनुष्यों पर कृपादृष्टि से सब सुख होने के लिये सत्य उपदेश का करने वाला है, और जो पृथिवी से ले के परमेश्वर पर्यन्त सब पदार्थों को यथावत् साक्षात् करना और उसी के अनुसार वर्त्तना इसी का नाम आप्ति है, इस आप्ति से जो युक्त

* न्याय अ० २। आह्नि० २। सू० २॥ † न्याय अ० १। आह्नि० १। सू० ७॥

हो उसको आप्त कहते हैं। उसी के उपदेश का प्रमाण होता है, इससे विपरीत मनुष्य का नहीं, क्योंकि सत्य वृत्तान्त का ही नाम इतिहास है, अनृत का नहीं। सत्यप्रमाणयुक्त जो इतिहास है वही सब मनुष्यों को ग्रहण करने के योग्य है, इससे विपरीत इतिहास का ग्रहण करना किसी को योग्य नहीं, क्योंकि प्रमादी पुरुष के मिथ्या कहने का इतिहास में ग्रहण ही नहीं होता। इसी प्रकार व्यासजी ने चारों वेदों की संहिताओं का संग्रह किया है इत्यादि इतिहासों को भी मिथ्या ही जानना चाहिये। जो आजकल के बने ब्रह्मवैवर्त्तादि पुराण और ब्रह्मयामल आदि तन्त्रग्रन्थ हैं इन में कहे इतिहासों का प्रमाण करना किसी मनुष्य को योग्य नहीं, क्योंकि इनमें असम्भव और अप्रमाण कपोलकल्पित मिथ्या इतिहास बहुत लिख रक्खे हैं और जो सत्यग्रन्थ शतपथ ब्राह्मणादि हैं उनके इतिहासों का कभी त्याग नहीं करना चाहिये।

यो मन्त्रसूक्तानामृषिर्लिखितस्तेनैव तद्रचितमिति कुतो न स्यात् ? मैवं वादि। ब्रह्मादिभिरपि वेदानामध्ययनश्रवणयोः कृतत्वात्। यो वै ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै०, इति श्वेताश्वतरोपनिषदादिवचनस्य* विद्यमानत्वात्। एवं यदर्षीणामुत्पत्तिरपि नासीत्तदा ब्रह्मादीनां समीपे वेदानां वर्त्तमानत्वात्। तद्यथा। अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्। दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम्॥ १॥ अ० १†। अध्यापयामास पितृन् शिशुराङ्गिरसः कविः। अ० २‡। इति मनुसाक्ष्यत्वात्। अग्न्यादीनां सकाशाद् ब्रह्मापि वेदानामध्ययनं चक्रेऽन्येषां व्यासादीनां तु का कथा।

भावार्थ

प्र०—जो सूक्त और मन्त्रों के ऋषि लिखे जाते हैं उन्होंने ही वेद रचे हों ऐसा क्यों नहीं माना जाय ? । उ०—ऐसा मत कहो। क्योंकि ब्रह्मादि ने भी वेदों को पढ़ा है। सो श्वेताश्वतर आदि उपनिषदों में यह वचन है कि जिसने

* अ० ६। श्लो० १८॥ † श्लो० २३॥ ‡ श्लो० १५१॥

ब्रह्मा को उत्पन्न किया और ब्रह्मादि को सृष्टि की आदि में अग्नि आदि के द्वारा वेदों का भी उपदेश किया है उसी परमेश्वर के शरण को हम लोग प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार ऋषियों ने भी वेदों को पढ़ा है। क्योंकि जब मरीच्यादि ऋषि और व्यासादि मुनियों का जन्म भी नहीं हुआ था उस समय में भी ब्रह्मादि के समीप वेदों का वर्त्तमान था। इस में मनु के श्लोकों की भी साक्षी है कि पूर्वोक्त अग्नि वायु रवि और अङ्गिरा से ब्रह्माजी ने वेदों को पढ़ा था। जब ब्रह्माजी ने वेदों को पढ़ा था तो व्यासादि और हम लोगों की तो कथा क्या ही कहनी है।

कथं वेदः श्रुतिश्च द्वे नाम्नी ऋक्संहितादीनां जाते इति? अर्थवशात्। (विद) ज्ञाने, (विद) सत्तायाम्, (विद्लृ) लाभे, (विद) विचारणे, एतेभ्यो हलश्चेति सूत्रेण करणाधिकरणकारकयोर्घञ्प्रत्यये कृते वेदशब्दः साध्यते। तथा, (श्रु) श्रवणे, इत्यस्माद्धातोः करणकारके क्तिन्प्रत्यये कृते श्रुतिशब्दो व्युत्पद्यते। विदन्ति जानन्ति, विद्यन्ते भवन्ति, विन्दन्ति विन्दन्ते लभन्ते, विन्दते विचारयन्ति सर्वे मनुष्याः सर्वाः सत्यविद्या यैर्येषु वा, तथा विद्वांसश्च भवन्ति ते वेदाः। तथाऽऽदिसृष्टिमारभ्याद्यपर्यन्तं ब्रह्मादिभिः सर्वाः सत्यविद्याः श्रूयन्तेऽनया सा श्रुतिः। न कस्यचिद्देहधारिणः सकाशात्कदाचित्कोऽपि वेदानां रचनं दृष्टवान्। कुतः। निरवयवेश्वरात्तेषां प्रादुर्भावात्। अग्निवाय्वादित्याङ्गिरसस्तु निमित्तीभूता वेदप्रकाशार्थमीश्वरेण कृता इति विज्ञेयम्। तेषां ज्ञानेन वेदानामनुत्पत्तेः। वेदेषु शब्दार्थसम्बन्धाः परमेश्वरादेव प्रादुर्भूताः तस्य पूर्णविद्यावत्त्वात्। अतः किं सिद्धमग्निवाय्वादित्याङ्गिरोमनुष्यदेहधारिजीवद्वारेण परमेश्वरेण श्रुतिर्वेदः प्रकाशीकृत इति बोध्यम्।

भाषार्थ

प्र०—वेद और श्रुति ये दो नाम ऋग्वेदादि संहिताओं के क्यों हुए हैं ?

उ०—अर्थभेद से। क्योंकि एक (विद) धातु ज्ञानार्थ है, दूसरा (विद) सत्तार्थ

है, तीसरे (विद्लृ) का लाभ अर्थ है, चौथे (विद) का अर्थ विचार है । इन चार धातुओं से करण और अधिकरणकारक में घञ् प्रत्यय करने से वेद-शब्द सिद्ध होता है। तथा (श्रु) धातु श्रवण अर्थ में है, इससे करणकारक में क्तिन् प्रत्यय के होने से श्रुति शब्द सिद्ध होता है । जिन के पढ़ने से यथार्थ विद्या का विज्ञान होता है, जिन को पढ़ के विद्वान् होते हैं, जिन से सब सुखों का लाभ होता है और जिन से ठीक २ सत्यासत्य का विचार मनुष्यों को होता है, इस से ऋक्संहितादि का वेद नाम है । वैसे ही सृष्टि के आरम्भ से आज पर्यन्त और ब्रह्मादि से लेके हम लोग पर्यन्त जिससे सब सत्यविद्याओं को सुनते आते हैं इससे वेदों का श्रुति नाम पड़ा है । क्योंकि किसी देहधारी ने वेदों के बनाने वाले को साक्षात् कभी नहीं देखा, इस कारण से जाना गया कि वेद निराकार ईश्वर से ही उत्पन्न हुए हैं और उनको सुनते सुनाते ही आज पर्यन्त सब लोग चले आते हैं । तथा अग्नि वायु आदित्य और अंगिरा इन चारों मनुष्यों को, जैसे वादित्र को कोई बजावे वा काठ की पुतली को चेष्टा करावे, इसी प्रकार ईश्वर ने उनको निमित्तमात्र किया था । क्योंकि उनके ज्ञान से वेदों की उत्पत्ति नहीं हुई । किन्तु इससे यह जाना कि वेदों में जितने शब्द अर्थ और सम्बन्ध हैं वे सब ईश्वर ने अपने ही ज्ञान से उनके द्वारा प्रकट किये हैं ।

वेदानामुत्पत्तौ कियन्ति वर्षाणि व्यतीतानि ?। अत्रोच्यते एको । वृन्दः, षण्णवतिः कोटयो,ऽष्टौ लक्षाणि, द्विपञ्चाशत्सहस्राणि, नवशतानि, षट्सप्ततिश्चैतावन्ति (१९६०८५२९७६) वर्षाणि व्यतीतानि, सप्तसप्ततितमोयं संवत्सरो वर्त्तत इति वेदितव्यम् । एतावन्त्येव वर्षाणि वर्त्तमानकल्पसृष्टेश्चेति । कथं विज्ञायते ह्येतावन्त्येव वर्षाणि व्यतीतानीति ?। अत्राह,ास्यां वर्त्तमानायां सृष्टौ वैवस्वतस्य सप्तमस्यास्य मन्वन्तरस्येदानीं वर्त्तमानत्वादस्मात्पूर्वं षण्णां मन्वन्तराणां व्यतीतत्वाच्चेति । तद्यथा–स्वायम्भवः, स्वारोचिष, औत्तमि,स्तामसो, रैवत,श्चाक्षुषो, वैवस्वतश्चेति सप्तैते मनवस्तथा सावर्ण्यादय आगामिनः सप्त चैते मिलित्वा (१४) चतुर्दशैव भवन्ति । तत्रै-

कसप्ततिश्चातुर्युगानि ह्येकैकस्य मनोः परिमाणं भवति। ते चैकस्मिन्ब्राह्मदिने (१४) चतुर्दशभुक्तभोगा भवन्ति। एकसहस्रं (१०००) चातुर्युगानि ब्राह्मदिनस्य परिमाणं भवति। ब्राह्म्या रात्रेरपि तावदेव परिमाणं विज्ञेयम्। सृष्टेर्वर्त्तमानस्य दिनसंज्ञास्ति, प्रलयस्य च रात्रिसंज्ञेति। अस्मिन्ब्राह्मदिने षट् मनवस्तु व्यतीताः, सप्तमस्य वैवस्वतस्य वर्त्तमानस्य मनोरष्टाविंशतितमोयं कलिर्वर्त्तते। तत्रास्य वर्त्तमानस्य कलियुगस्यैतावन्ति (४९७६) चत्वारिसहस्राणि, नवशतानि, षट्सप्ततिश्च वर्षाणि तु गतानि, सप्तसप्ततितमोयं संवत्सरो वर्त्तते। यमार्या विक्रमस्यैकोनविंशतिशतं त्रयस्त्रिंशत्तमोत्तरं संवत्सरं वदन्ति।

अत्र विषये प्रमाणम्

ब्राह्मस्य तु क्षपाहस्य यत्प्रमाणं समासतः। एकैकशो युगानां तु क्रमशस्तन्निबोधत ॥ १ ॥ चत्वार्य्याहुः सहस्राणि वर्षाणां तु कृतं युगम्। तस्य तावच्छती सन्ध्या सन्ध्यांशश्च तथाविधः ॥ २ ॥ इतरेषु ससन्ध्येषु ससन्ध्यांशेषु च त्रिषु। एकापायेन वर्त्तन्ते सहस्राणि शतानि च ॥ ३ ॥ यदेतत् परिसंख्यातमादावेव चतुर्युगम्। एतद्द्वादशसाहस्रं देवानां युगमुच्यते ॥ ४ ॥ दैविकानां युगानां तु सहस्रं परिसंख्यया। ब्राह्ममेकमहर्ज्ञेयं तावती रात्रिरेव च ॥ ५ ॥ तद्वै युगसहस्रान्तं ब्राह्मं पुण्यमहर्विदुः। रात्रिं च तावतीमेव तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥ ६ ॥ यत्प्राग्द्वादशसाहस्रमुदितं दैविकं युगम्। तदेकसप्ततिगुणं मन्वन्तरमिहोच्यते ॥ ७ ॥ मन्वन्तराण्यसंख्यानि सृष्टिः संहार एव च। क्रीडन्निवैतत्कुरुते परमेष्ठी पुनः पुनः ॥ ८ ॥ मनु० अध्याये १ * ॥

कालस्य परिमाणार्थं ब्राह्माहोरात्रादयः सुगमबोधार्थाः संज्ञाः क्रियन्ते। यतः सहजतया जगदुत्पत्तिप्रलययोर्वर्षाणां वेदोत्पत्तेश्च परिगणनं भवेत्। मन्वन्तरपर्य्यावृत्तौ सृष्टेर्नैमित्तिकगुणानामपि पर्य्यावर्त्तनं किञ्चित् किञ्चिद्भवत्यतो मन्वन्तरसंज्ञा क्रियते। अत्रैवं संख्यातव्यम्। एकं दश शतं चैव

* श्लो० ६८-७३, ७६, ८० ॥

सहस्रमयुतं तथा । लक्षं च नियुतं चैव कोटिरर्बुदमेव च ॥ १ ॥ वृन्दः खर्वो निखर्वश्च शङ्खः पद्मं च सागरः । अन्त्यं मध्यं परार्द्धं च दशवृद्ध्या यथाक्रमम् ॥ २ ॥ इति सूर्यसिद्धान्तादिषु संख्यायते । अनया रीत्या वर्षादिगणना कार्येति ॥ सहस्रस्य प्रमासि सहस्रस्य प्रतिमासि ॥ य० अ० १५ । मं० ६५ ॥ सर्वं वै सहस्रं सर्वस्य दातासि ॥ श० कां० ७ । अ० ५ * ॥ सर्वस्य जगतः सर्वमिति नामास्ति । कालस्य चानेन सहस्र-महायुगसंख्यया परिमितस्य दिनस्य नक्तस्य च ब्रह्माण्डस्य प्रमा परिमाणस्य कर्त्ता परमेश्वरोऽस्ति, मन्त्रस्यास्य सामान्यार्थे वर्त्तमानत्वात्सर्वमभिवदतीति । एवमेवाग्रेपि योजनीयम् । ज्योतिषशास्त्रे प्रतिदिनचर्याऽभिहिताऽऽर्य्यैः क्षणमारभ्य कल्पकल्पान्तस्य गणितविद्यया स्पष्टं परिगणनं कृतमद्यपर्य-न्तमपि क्रियते प्रतिदिनमुच्चार्य्यते ज्ञायते चातः कारणादियं व्यवस्थैव सर्वै-र्मनुष्यैः स्वीकर्तुं योग्यास्ति नान्येति निश्चयः । कुतो ह्यार्य्यैर्नित्यमोंतत् सत् श्रीब्रह्मणो द्वितीयप्रहरार्द्धे वैवस्वते मन्वन्तरेऽष्टाविंशतितमे कलियुगे कलि-प्रथमचरणेऽमुकसंवत्सरायनर्तुमासपक्षदिननक्षत्रलग्नमुहूर्तेऽत्रेदं कृतं क्रियते चेत्याबालवृद्धैः प्रत्यहं विदितत्वादितिहासस्यास्य सर्वत्रार्य्यावर्त्तदेशे वर्त्तमान-त्वात्सर्वत्रैकरसत्वादशक्येयं व्यवस्था केनापि विचालयितुमिति विज्ञायताम् । अन्यद्युगव्याख्यानमग्रे करिष्यते तत्र द्रष्टव्यम् ।

भाषार्थ

प्रश्न—वेदों की उत्पत्ति में कितने वर्ष होगये हैं ? । **उत्तर**—एक वृन्द, छानवे करोड़, आठ लाख, बावन हज़ार, नवसौ, छहत्तर अर्थात् (१९६०-८५२९७६) वर्ष वेदों की और जगत् की उत्पत्ति में हो गये हैं और यह संवत् सतहत्तरवां (७७) वर्त्त रहा है ? प्र०—यह कैसे निश्चय हो कि इतने ही वर्ष वेद और जगत् की उत्पत्ति में बीत गये हैं ? । उ०—यह जो वर्त्तमान सृष्टि है इसमें सातवें (७) वैवस्वतमनु का वर्त्तमान है, इससे पूर्व छः मन्वन्तर हो चुके हैं । स्वायम्भव १, स्वारोचिष २, औत्तमि ३, तामस ४, रैवत ५, चाक्षुष ६,

* ब्रा० २ । कण्डि० १३ ॥

ये छः तो बीतगये हैं और ७ (सातवां) वैवस्वत वर्त्त रहा है, और सावर्णि आदि ७ (सात) मन्वन्तर आगे भोगेंगे। ये सब मिलके १४ मन्वन्तर होते हैं। और एकहत्तर चतुर्युगियों का नाम मन्वन्तर धरा गया है। सो उसकी गणना इस प्रकार से है कि (१७२८०००) सत्रह लाख, अट्ठाईस हज़ार वर्षों का नाम सतयुग रक्खा है। (१२९६०००) बारह लाख, छानवे हज़ार वर्षों का नाम त्रेता। (८६४०००) आठ लाख, चौंसठ हज़ार वर्षों का नाम द्वापर और (४३२०००) चार लाख, बत्तिस हज़ार वर्षों का नाम कलियुग रक्खा है। तथा आर्य्यों ने एक क्षण और निमेष से लेके एक वर्ष पर्यन्त भी काल की सूक्ष्म और स्थूल संज्ञा बांधी है। और इन चारों युगों के (४३२००००) तितालीस लाख, बीस हज़ार वर्ष होते हैं जिनका चतुर्युगी नाम है। एकहत्तर (७१) चतुर्युगियों के अर्थात् (३०६७२००००) तीस करोड़, सरसठ लाख, बीस हज़ार वर्षों की एक मन्वन्तर संज्ञा की है और ऐसे २ छः मन्वन्तर मिल कर अर्थात् (१८४०३२००००) एक अर्ब, चौरासी करोड़, तीन लाख, बीस हज़ार वर्ष हुए और सातवें मन्वन्तर के भोग में यह (२८) अट्ठाईसवीं चतुर्युगी है। इस चतुर्युगी में कलियुग के (४९७६) चार हज़ार, नवसौ, छहत्तर वर्षों का तो भोग हो चुका है और बाक़ी (४२७०२४) चार लाख, सत्ताईस हज़ार, चौबीस वर्षों का भोग होनेवाला है। जानना चाहिये कि (१२०५३२९७६) बारह करोड़, पांच लाख, बत्तीस हज़ार, नवसौ, छहत्तर वर्ष तो वैवस्वतमनु के भोग हो चुके हैं और (१८६१८७०२४) अठारह करोड़, एकसठ लाख, सत्तासी हज़ार, चौबीस वर्ष भोगने के बाक़ी रहे हैं। इन में से यह वर्त्तमान वर्ष (७७) सतहत्तरवां है, जिस को आर्य्य लोग विक्रम का (१९३३) उन्नीससौ तेतीसवां संवत् कहते हैं। जो पूर्व चतुर्युगी लिख आये हैं उन एक हज़ार चतुर्युगियों की ब्राह्मदिन संज्ञा रक्खी है और उतनी ही चतुर्युगियों की रात्रि संज्ञा जानना चाहिये। सो सृष्टि की उत्पत्ति करके हज़ार चतुर्युगी पर्यन्त ईश्वर इस को बना रखता है इसी का नाम ब्राह्मदिन रक्खा है और हज़ार चतुर्युगी पर्यन्त सृष्टि को मिटा के प्रलय अर्थात् कारण में लीन रखता है उस का नाम ब्राह्मरात्रि रक्खा है। अर्थात् सृष्टि के वर्त्तमान होने का

नाम दिन और प्रलय होने का नाम रात्रि है। यह जो वर्त्तमान ब्राह्मदिन है इसके (१९६०८५२९७६) एक अर्ब, छानवे करोड़, आठ लाख, बावन हज़ार, नवसौ, छहत्तर वर्ष इस सृष्टि की तथा वेदों की उत्पत्ति में भी व्यतीत हुए हैं और (२३३३२२७०२४) दो अर्ब, तेतीस करोड़, बत्तीस लाख, सत्ताईस हज़ार, चौबीस वर्ष इस सृष्टि को भोग करने के बाक़ी रहे हैं। इनमें से अन्त का यह चौबीसवां वर्ष भोग रहा है। आगे आनेवाले भोग के वर्षों में से एक २ घटाते जाना और गत वर्षों में क्रम से एक २ वर्ष मिलाते जाना चाहिये, जैसे आजपर्य्यन्त घटाते बढ़ाते आये हैं। ब्राह्मदिन और ब्राह्मरात्रि अर्थात् ब्रह्म जो परमेश्वर उसने संसार के वर्त्तमान और प्रलय की संज्ञा की है इसीलिये इसका नाम ब्राह्मदिन है। इसी प्रकरण में मनुस्मृति के श्लोक साक्षी के लिये लिख चुके हैं सो देख लेना। इन श्लोकों में दैववर्षों की गणना की है अर्थात् चारों युगों के बारह हज़ार (१२०००) वर्षों की दैवयुग संज्ञा की है। इसी प्रकार असंख्यात मन्वन्तरों में कि जिनकी संख्या नहीं हो सकती अनेक वार सृष्टि हो चुकी है और अनेक वार होगी। सो इस सृष्टि को सदा से सर्व-शक्तिमान् जगदीश्वर सहज स्वभाव से रचता, पालन और प्रलय करता है और सदा ऐसे ही करेगा। क्योंकि सृष्टि की उत्पत्ति, वर्तमान, प्रलय और वेदों की उत्पत्ति के वर्षों को मनुष्य लोग सुख से गिन लें इसीलिये यह ब्राह्मदिन आदि संज्ञा बांधी हैं। और सृष्टि का स्वभाव नया पुराना प्रतिमन्वन्तर में बदलता जाता है, इसीलिये मन्वन्तर संज्ञा बांधी है। वर्त्तमान सृष्टि की कल्पसंज्ञा और प्रलय की विकल्पसंज्ञा की हैं। और इन वर्षों की गणना इस प्रकार से करना चाहिये कि (एकं दशशतं चैव) एक (१), दश (१०), शत (१००), हज़ार (१०००), दशहज़ार (१००००), लाख (१०००००), नियुत (१००००००), करोड़ (१०००००००), अर्बुद (१००००००००), वृन्द (१०००००००००), खर्व (१००००००००००), निखर्व (१०००००००००००), शंख (१००००००००००००), पद्म (१०००००००००००००), सागर (१००००००००००००००), अन्त्य (१०००००००००००००००), मध्य (१००००००००००००००००)

और पराद्धर्य (१०००००००००००००००००) और दश २ गुणा बढ़ाकर इसी गणित से सूर्यसिद्धान्त आदि ज्योतिषग्रन्थों में गिनती की है * । (सहस्रस्यप्र०) सब संसार की सहस्र संज्ञा है तथा पूर्वोक्त ब्राह्मदिन और रात्रि की भी सहस्रसंज्ञा लीजाती है, क्योंकि यह मन्त्र सामान्य अर्थ में वर्त्तमान है । सो हे परमेश्वर! आप इस हजार चतुर्युगी का दिन और रात्रि को प्रमाण अर्थात् निर्माण करने वाले हो। इस प्रकार ज्योतिषशास्त्र में यथावत् वर्षों की संख्या आर्य लोगों ने गिनी है । सो सृष्टि की उत्पत्ति से लेके आज पर्यन्त दिन २ गिनते और क्षण से लेके कल्पान्त की गणितविद्या को प्रसिद्ध करते चले आते हैं अर्थात् परम्परा से सुनते सुनाते लिखते लिखाते और पढ़ते पढ़ाते आज पर्यन्त हम लोग चले आते हैं । यही व्यवस्था सृष्टि और वेदों की उत्पत्ति के वर्षों की ठीक है और सब मनुष्यों को इसी को ग्रहण करना योग्य है । क्योंकि आर्य्य लोग नित्यप्रति "ओं तत्सत्" परमेश्वर के इन तीन नामों का प्रथम उच्चारण करके कार्यों का आरम्भ और परमेश्वर का ही नित्य धन्यवाद करते चले आते हैं कि आनन्द में आज पर्यन्त परमेश्वर की सृष्टि और हम लोग बने हुए हैं, और बही खाते की नाईं लिखते लिखाते पढ़ते पढ़ाते चले आये हैं कि पूर्वोक्त ब्राह्मदिन के दूसरे प्रहर के ऊपर मध्याह्न के निकट दिन आया है और जितने वर्ष वैवस्वतमनु के भोग होने को बाकी हैं उतने ही मध्याह्न में बाकी रहे हैं, इसीलिये यह लेख है (श्री ब्रह्मणो द्वितीये प्रहरार्द्धे०) । यह वैवस्वतमनु का वर्त्तमान है, इस के भोग में यह (२८) अट्ठाईसवां कलियुग है । कलियुग के प्रथम चरण का भोग हो रहा है तथा वर्ष ऋतु अयन मास पक्ष दिन नक्षत्र मुहूर्त लग्न और पल आदि समय में हमने फलाना काम किया था और करते हैं अर्थात् जैसे विक्रम के संवत् १९३३ फाल्गुन मास, कृष्णपक्ष, षष्ठी, शनिवार के दिन, चतुर्थ प्रहर के आरम्भ में यह बात हम ने लिखी है । इसी प्रकार से सब व्यवहार आर्य लोग बालक से वृद्ध पर्य्यन्त करते और जानते चले आये हैं । जैसे बही खाते में मिती डालते हैं वैसे ही महीना

* कहीं २ इसी संख्या को १९ (उन्नीस) अङ्क पर्यन्त गिनते हैं सो यहां भी जान लेना ।

और वर्ष बढ़ाते घटाते चले जाते हैं। इसी प्रकार आर्य्य लोग तिथिपत्र में भी वर्ष, मास और दिन आदि लिखते चले आते हैं, और यही इतिहास आज पर्य्यन्त सब आर्य्यावर्त्त देश में एकसा वर्त्तमान हो रहा है और सब पुस्तकों में भी इस विषय में एक ही प्रकार का लेख पाया जाता है, किसी प्रकार का इस विषय में विरोध नहीं है। इसीलिये इसको अन्यथा करने में किसी का सामर्थ्य नहीं हो सकता। क्योंकि जो सृष्टि की उत्पत्ति से ले के बराबर मिती-बार लिखते न आते तो इस गिनती का हिसाब ठीक २ आर्य्य लोगों को भी जानना कठिन होता, अन्य मनुष्यों का तो क्या ही कहना है। और इस से यह भी सिद्ध होता है कि सृष्टि के आरम्भ से ले के आज पर्यन्त आर्य्य लोग ही बड़े २ विद्वान् और सभ्य होते चले आये हैं। जब जैन और मुसलमान आदि लोग इस देश के इतिहास और विद्यापुस्तकों का नाश करने लगे तब आर्य्य लोगों ने सृष्टि के गणित का इतिहास कण्ठस्थ कर लिया और जो पुस्तक ज्यो-तिषशास्त्र के बच गये हैं उन में और उन के अनुसार जो वार्षिक पञ्चाङ्गपत्र बनते जाते हैं इन में भी मिती से मिती बराबर लिखी चली आती है, इसको अन्यथा कोई नहीं कर सकता। यह वृत्तान्त इतिहास का इसलिये है कि पूर्वापर काल का प्रमाण यथावत् सब को विदित रहे और सृष्टि की उत्पत्ति प्रलय तथा वेदों की उत्पत्ति के वर्षों की गिनती में किसी प्रकार का भ्रम किसी को न हो। सो यह बड़ा उत्तम काम है। इस को सब लोग यथावत् जान लेवें। परन्तु इस उत्तम व्यवहार को लोगों ने टका कमाने के लिये बिगाड़ रक्खा है। यह शोक की बात है। और टके के लोभ ने भी जो इस के पुस्तकव्यवहार को बना रक्खा नष्ट न होने दिया यह बड़े हर्ष की बात है। चारों युगों के चार भेद और उनके वर्षों की घट बढ़ संख्या क्यों हुई है इसकी व्याख्या आगे करेंगे वहां देख लेना चाहिये, यहां इस का प्रसंग नहीं है इसलिये नहीं लिखा।

एतावता कथनेनैवाध्यापकैर्विलसनमोक्षमूलराद्यभिधैर्यूरोपाख्यखण्डस्थै-र्मनुष्यरचितो वेदोस्ति श्रुतिर्नास्तीति यदुक्तं, यच्चोक्तं चतुर्विंशतिरेकोनत्रिंशत्-त्रिंशदेकत्रिंशच्च शतानि वर्षाणि वेदोत्पत्तौ व्यतीतानीति तत्सर्वं भ्रममूलम-

स्तीति वेद्यम् । तथैव प्राकृतभाषया व्याख्यानकारिभिरप्येवमुक्तं तदपि भ्रान्तमेवास्तीति च ।

इति वेदोत्पत्तिविचारः

भाषार्थ

इससे जो अध्यापक विलसन साहब और अध्यापक मोक्षमूलर साहब आदि यूरोपखण्डवासी विद्वानों ने बात कही है कि वेद मनुष्य के रचे हैं किन्तु श्रुति नहीं है, उनकी यह बात ठीक नहीं है। और दूसरी यह है—कोई कहता है (२४००) चौबीस सौ वर्ष वेदों की उत्पत्ति को हुए, कोई (२६००) उनतीस सौ वर्ष, कोई (३०००) तीन हज़ार वर्ष और कोई कहता है (३१००) एकतीस सौ वर्ष वेदों को उत्पन्न हुए बीते हैं, इनकी यह भी बात झूठी है। क्योंकि उन लोगों ने हम आर्य्य लोगों की नित्यप्रति की दिनचर्या का लेख और संकल्पपठनविद्या को भी यथावत् न सुना और न विचारा है, नहीं तो इतने ही विचार से यह भ्रम उन को नहीं होता। इससे यह जानना अवश्य चाहिये कि वेदों की उत्पत्ति परमेश्वर से ही हुई है और जितने वर्ष अभी ऊपर गिन आये हैं उतने ही वर्ष वेदों और जगत् की उत्पत्ति में भी हो चुके हैं। इससे क्या सिद्ध हुआ कि जिन २ ने अपनी २ देशभाषाओं में अन्यथा व्याख्यान वेदों के विषय में किया है उन २ का भी व्याख्यान मिथ्या है। क्योंकि जैसा प्रथम लिख आये हैं जब पर्यन्त हज़ार चतुर्युगी व्यतीत न हो चुकेंगी तब पर्यन्त ईश्वरोक्त वेद का पुस्तक, यह जगत् और हम सब मनुष्य लोग भी ईश्वर के अनुग्रह से सदा वर्त्तमान रहेंगे।

इति वेदोत्पत्तिविचारः

अथ वेदानां नित्यत्वविचारः

ईश्वरस्य सकाशाद्वेदानामुत्पत्तौ सत्यां स्वतो नित्यत्वमेव भवति, तस्य सर्वसामर्थ्यस्य नित्यत्वात् ।

भाषार्थ

अब वेदों के नित्यत्व का विचार किया जाता है, सो वेद ईश्वर से उत्पन्न हुए हैं इससे वे स्वतः नित्यस्वरूप ही हैं, क्योंकि ईश्वर का सब सामर्थ्य नित्य ही है।

अत्र केचिदाहुः। न वेदानां शब्दमयत्वान्नित्यत्वं सम्भवति। शब्दोऽनित्यः कार्य्यत्वात्। घटवत्। यथा घटः कृतोस्ति तथा शब्दोपि। तस्माच्छब्दानित्यत्वे वेदानामप्यनित्यत्वं स्वीकार्य्यम्। मैवं मन्यताम्। शब्दो द्विविधो नित्यकार्यभेदात्। ये परमात्मज्ञानस्थाः शब्दार्थसम्बन्धाः सन्ति ते नित्या भवितुमर्हन्ति। येऽस्मदादीनां वर्त्तन्ते ते तु कार्य्याश्च। कुतः। यस्य ज्ञानक्रिये नित्ये स्वभावसिद्धे अनादी स्तस्तस्य सर्वं सामर्थ्यमपि नित्यमेव भवितुमर्हति। तद्विद्यामयत्वाद्वेदानामनित्यत्वं नैव घटते।

भाषार्थ

प्र०—इस विषय में कितने ही पुरुष ऐसी शङ्का करते हैं कि वेदों में शब्द, छन्द, पद और वाक्यों के योग होने से नित्य नहीं हो सकते। जैसे विना बनाने से घड़ा नहीं बनता इसी प्रकार से वेदों को भी किसी ने बनाया होगा। क्योंकि बनाने के पहिले नहीं थे और प्रलय के अन्त में भी न रहेंगे, इससे वेदों को नित्य मानना ठीक नहीं है?। उ०—ऐसा आपको कहना उचित नहीं, क्योंकि शब्द दो प्रकार का होता है एक नित्य और दूसरा कार्य। इन में से जो शब्द, अर्थ और सम्बन्ध परमेश्वर के ज्ञान में हैं वे सब नित्य ही होते हैं, और जो हम लोगों की कल्पना से उत्पन्न होते हैं वे कार्य्य होते हैं। क्योंकि जिसका ज्ञान और क्रिया स्वभाव से सिद्ध और अनादि है उसका सब सामर्थ्य भी नित्य ही होता है, इससे वेद भी उसकी विद्यास्वरूप होने से नित्य ही हैं, क्योंकि ईश्वर की विद्या अनित्य कभी नहीं हो सकती।

किं च भोः सर्वस्यास्य जगतो विभागं प्राप्तस्य कारणरूपस्थितौ सर्वस्थूलकार्य्याभावे पठनपाठनपुस्तकानामभावात्कथं वेदानां नित्यत्वं स्वी-

क्रियते ? । अत्रोच्यते । इदं तु पुस्तकपत्रमसीपदार्थादिषु घटते, तथास्मत् क्रियापक्षे च, नेतरस्मिन् । अतः कारणादीश्वरविद्यामयत्वेन वेदानां नित्यत्वं वयं मन्यामहे । किं च न पठनपाठनपुस्तकानित्यत्वे वेदानित्यत्वं जायते । तेषामीश्वरज्ञानेन सह सदैव विद्यमानत्वात् । यथास्मिन्कल्पे वेदेषु शब्दाक्षरार्थसम्बन्धाः सन्ति तथैव पूर्वमासन्नग्रे भविष्यन्ति च । कुतः । ईश्वरविद्याया नित्यत्वादव्यभिचारित्वाच्च । अतएवेदमुक्तमृग्वेदे । सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयदिति * । अस्यायमर्थः । सूर्यचन्द्रग्रहणमुपलक्षणार्थं, यथा पूर्वकल्पे सूर्यचन्द्रादिरचनं तस्य ज्ञानमध्ये ह्यासीत्तथैव तेनास्मिन्कल्पेपि रचनं कृतमस्तीति विज्ञायते । कुतः । ईश्वरज्ञानस्य वृद्धिक्षयविपर्ययाभावात् । एवं वेदेष्वपि स्वीकार्य्यं, वेदानां तेनैव स्वविद्यातः सृष्टत्वात् ।

भाषार्थ

प्र०—जब सब जगत् के परमाणु अलग २ हो के कारणरूप होजाते हैं तब जो कार्यरूप सब स्थूल जगत् है उसका अभाव होजाता है, उस समय वेदों के पुस्तकों का भी अभाव होजाता है, फिर वेदों को नित्य क्यों मानते हो ? उ०—यह बात पुस्तक, पत्र, मसी और अक्षरों की बनावट आदि पक्ष में घटती है, तथा हम लोगों के क्रियापक्ष में भी बन सकती है, वेदपक्ष में नहीं घटती । क्योंकि वेद तो शब्द अर्थ और सम्बन्धस्वरूप ही हैं, मसी कागज़ पत्र पुस्तक और अक्षरों की बनावटरूप नहीं हैं । यह जो मसीलेखनादि क्रिया है सो मनुष्यों की बनाई है, इससे यह अनित्य है, और ईश्वर के ज्ञान में सदा बने रहने से वेदों को हम लोग नित्य मानते हैं । इससे क्या सिद्ध हुआ कि पढ़ना पढ़ाना और पुस्तक के अनित्य होने से वेद अनित्य नहीं हो सकते, क्योंकि वे बीजाङ्कुरन्याय से ईश्वर के ज्ञान में नित्य वर्त्तमान रहते हैं । सृष्टि की आदि में ईश्वर से वेदों की प्रसिद्धि होती है और प्रलय में जगत् के नहीं रहने से उनकी अप्रसिद्धि होती है, इस कारण से वेद नित्यस्वरूप ही बने रहते हैं । जैसे इस कल्प की सृष्टि में शब्द अक्षर, अर्थ और सम्बन्ध वेदों में हैं इसी प्रकार से पूर्वकल्प

* ऋ० १० । १९० । ३ ॥

में थे और आगे भी होंगे, क्योंकि जो ईश्वर की विद्या है सो नित्य एक ही रस बनी रहती है, उनके एक अक्षर का भी विपरीतभाव कभी नहीं होता । सो ऋग्वेद से लेके चारों वेदों की संहिता अब जिस प्रकार की हैं कि इन में शब्द, अर्थ, सम्बन्ध, पद और अक्षरों का जिस क्रम से वर्त्तमान है इसी प्रकार का क्रम सब दिन बना रहता है, क्योंकि ईश्वर का ज्ञान नित्य है, उसकी वृद्धि क्षय और विपरीतता कभी नहीं होती, इस कारण से वेदों को नित्यस्वरूप ही मानना चाहिये ।

अत्र वेदानां नित्यत्वे व्याकरणशास्त्रादीनां साक्ष्यर्थं प्रमाणानि लिख्यन्ते । तत्राह महाभाष्यकारः पतञ्जलिमुनिः ॥ नित्याः शब्दा नित्येषु शब्देषु कूटस्थैरविचालिभिर्वर्णैर्भवितव्यमनपायोपजनविकारिभिरिति । इदं वचनं प्रथमाह्निकमारभ्य बहुषु स्थलेषु व्याकरणमहाभाष्येस्ति । तथा श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेणाभिज्वलित आकाशदेशः शब्दः । इदम्, अइउण् सूत्रभाष्ये चोक्तमिति । अस्यायमर्थः । वैदिका लौकिकाश्च सर्वे शब्दा नित्याः सन्ति । कुतः । शब्दानां मध्ये कूटस्था विनाशरहिता अचला अनपाया अनुपजना अविकारिणो वर्णाः सन्त्यतः । अपायो लोपो निवृत्तिरग्रहणम् । उपजन आगमः । विकार आदेशः । एते न विद्यन्ते येषु शब्देषु तस्मान्नित्याः शब्दाः ।

भाषार्थ

यह जो वेदों के नित्य होने का विषय है इस में व्याकरणादि शास्त्रों का प्रमाण साक्षी के लिये लिखते हैं । इन में से जो व्याकरण शास्त्र है सो संस्कृत और भाषाओं के सब शब्दविद्या का मुख्य मूल प्रमाण है । उसके बनाने वाले महामुनि पाणिनि और पतञ्जलि हैं । उन का ऐसा मत है कि सब शब्द नित्य हैं, क्योंकि इन शब्दों में जितने अक्षरादि अवयव हैं वे सब कूटस्थ अर्थात् विनाशरहित हैं, और वे पूर्वापर विचलते भी नहीं, उन का अभाव वा आगम कभी नहीं होता । तथा कान से सुन के जिन का ग्रहण होता है, बुद्धि से जो

जाने जाते हैं, जो वाक् इन्द्रिय से उच्चारण करने से प्रकाशित होते हैं, और जिनका निवास का स्थान आकाश है उनको शब्द कहते हैं। इस से वैदिक अर्थात् जो वेद के शब्द और वेदों से जो शब्द लोक में आये हैं वे लौकिक कहाते हैं वे भी सब नित्य ही होते हैं, क्योंकि उन शब्दों के मध्य में सब वर्ण अविनाशी और अचल हैं, तथा इन में लोप, आगम और विकार नहीं बन सकते। इस कारण से पूर्वोक्त शब्द नित्य हैं।

ननु गणपाठाष्टाध्यायीमहाभाष्येष्वपायादयो विधीयन्ते पुनरेतत्कथं संगच्छते ?। इत्येवं प्राप्ते ब्रूते महाभाष्यकारः। सर्वे सर्वपदादेशा दाक्षीपुत्रस्य पाणिनः। एकदेशविकारे हि नित्यत्वं नोपपद्यते ॥ १ ॥ दाधाघ्वदावित्यस्य सूत्रस्योपरि महाभाष्यवचनम्। अस्यायमर्थः। सर्वे संघाताः सर्वेषां पदानां स्थान आदेशा भवन्ति। अर्थाच्छब्दसंघातान्तराणां स्थानेष्वन्ये शब्दसंघाताः प्रयुज्यन्ते। तद्यथा। वेदपार। गम्। ड। सुँ। भू। शप्। तिप्। इत्येतस्य वाक्यसमुदायस्य स्थाने वेदपारगोऽभवदितीदं समुदायान्तरं प्रयुज्यते। अस्मिन्प्रयुक्तसमुदाये गम् ड सुँ शप् तिप् इत्येतेषाम् अम् ड् उँ श प् इ प् इत्येतेऽपयन्तीति केषांचिद्बुद्धिर्भवति सा भ्रममूलैवास्ति। कुतः। शब्दानामेकदेशविकारे चेत्युपलक्षणात्। नैव शब्दस्यैकदेशोपाय एकदेशोपजन एकदेशविकारिणि सति दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेराचार्य्यस्य मते शब्दानां नित्यत्वमुपपन्नं भवत्यतः। तथैवाडागमो, भू इत्यस्य स्थाने भो इति विकारे चैवं संगतिः कार्य्येति। (श्रोत्रोपलब्धिरिति) श्रोत्रेन्द्रियेण ज्ञानं यस्य, बुद्ध्या नितरां ग्रहीतुं योग्य, उच्चारणेनाभिप्रकाशितो यो, यस्याकाशो देशोऽधिकरणं वर्त्तते स शब्दो भवतीति बोध्यम्। अनेन शब्दलक्षणेनापि शब्दो नित्य एवास्तीत्यवगम्यते। कथम्। उच्चारणश्रवणादिप्रयत्नक्रियायाः क्षणप्रध्वंसित्वात्। एकैकवर्णवर्तिनी वाक् इति महाभाष्यप्रामाण्यात्। प्रतिवर्णं वाक्क्रिया परिणमते, अतस्तस्या एवानित्यत्वं गम्यते, न च शब्दस्येति।

भाषार्थ

प्र०—गणपाठ अष्टाध्यायी और महाभाष्य में अक्षरों के लोप, आगम

और विकार आदि कहे हैं फिर शब्दों का नित्यत्व कैसे हो सकता है? इस प्रश्न का उत्तर महाभाष्यकार पतञ्जलि मुनि देते हैं कि शब्दों के समुदायों के स्थानों में अन्य शब्दों के समुदायों का प्रयोगमात्र होता है। जैसे वेदपारगम् ङ सुँ भू शप् तिप् इस पदसमुदाय वाक्य के स्थान में वेदपारगोऽभवत् इस समुदायान्तर का प्रयोग किया जाता है। इस में किसी पुरुष की ऐसी बुद्धि होती है कि अम् ङ् उँ श् प् इ प् इन की निवृत्ति होजाती है सो उस की बुद्धि में भ्रममात्र है, क्योंकि शब्दों के समुदाय के स्थानों में दूसरे शब्दों के समुदायों के प्रयोग किये जाते हैं। सो यह मत दाक्षी के पुत्र पाणिनिमुनिजी का है जिनने अष्टाध्यायी आदि व्याकरण के ग्रन्थ किये हैं। सो मत इस प्रकार से है कि शब्द नित्य ही होते हैं, क्योंकि जो उच्चारण और श्रवणादि हम लोगों की क्रिया है उस के क्षणभङ्ग होने से अनित्य गिनी जाती है, इससे शब्द अनित्य नहीं होते, क्योंकि यह जो हम लोगों की वाणी है वही वर्ण २ के प्रति अन्य २ होती जाती है। परन्तु शब्द तो सदा अखण्ड एकरस ही बने रहते हैं।

ननु च भोः शब्दोऽप्युपरतागतो भवति। उच्चारित उपागच्छति। अनुच्चारितोऽनागतो भवति। वाक्क्रियावत्। पुनस्तस्य कथं नित्यत्वं भवेत्?। अत्रोच्यते। नाकाशवत् पूर्वस्थितस्य शब्दस्य साधनाभावादभिव्यक्तिर्भवति। किन्तु तस्य प्राणवाक्क्रिययाभिव्यक्तिश्च। तद्यथा। गौरित्यत्र यावद्वाग्गकारेऽस्ति न तावदौकारे, यावदौकारे न तावद्विसर्जनीये। एवं वाक्क्रियोच्चारणस्यापायोपजनौ भवतः, न च शब्दस्याखण्डैकरसस्य, तस्य सर्वत्रोपलब्धत्वात्। यत्र खलु वायुवाक्क्रिये न भवतस्तत्रोच्चारणश्रवणे अपि न भवतः। अतः शब्दस्त्वाकाशवदेव सदा नित्योऽस्तीत्यादिव्याकरणमतेन सर्वेषां शब्दानां नित्यत्वमस्ति किमुत वैदिकानामिति।

भाषार्थ

प्र०—शब्द भी उच्चारण किये के पश्चात् नष्ट होजाता है और उच्चारण के पूर्व सुना नहीं जाता है, जैसे उच्चारणक्रिया अनित्य है वैसे ही शब्द भी अनित्य

हो सकता है, फिर शब्दों को नित्य क्यों मानते हो ? उ०—शब्द तो आकाश की नाईं सर्वत्र एकरस भर रहे हैं, परन्तु जब उच्चारणक्रिया नहीं होती तब प्रसिद्ध सुनने में नहीं आते। जब प्राण और वाणी की क्रिया से उच्चारण किये जाते हैं तब शब्द प्रसिद्ध होते हैं। जैसे गौः इस के उच्चारण में जब पर्यन्त उच्चारणक्रिया गकार में रहती है तब पर्यन्त औकार में नहीं, जब औकार में है तब गकार और विसर्जनीय में नहीं रहती। इसी प्रकार वाणी की क्रिया की उत्पत्ति और नाश होता है शब्दों का नहीं। किन्तु आकाश में शब्द की प्राप्ति होने से शब्द तो अखण्ड एकरस सर्वत्र भर रहे हैं, परन्तु जब पर्यन्त वायु और वाक् इन्द्रिय की क्रिया नहीं होती तब पर्यन्त शब्दों का उच्चारण और श्रवण भी नहीं होता। इससे यह सिद्ध हुआ कि शब्द आकाश की नाईं नित्य ही हैं। जब व्याकरण शास्त्र के मत से सब शब्द नित्य होते हैं तो वेदों के शब्दों की कथा तो क्या ही कहनी है, क्योंकि वेदों के शब्द तो सब प्रकार से नित्य ही बने रहते हैं।

एवं जैमिनिमुनिनापि शब्दस्य नित्यत्वं प्रतिपादितम्। नित्यस्तु स्याद्दर्शनस्य परार्थत्वात्। पूर्वमीमांसा, अ० १, पा० १, सू० १८। अस्यायमर्थः। (तु) शब्देनानित्यशङ्का निवार्य्यते। विनाशरहितत्वाच्छब्दो नित्योऽस्ति, कस्माद्दर्शनस्य परार्थत्वात्। दर्शनस्योच्चारणस्य परस्यार्थस्य ज्ञापनार्थत्वात्, शब्दस्यानित्यत्वं नैव भवति। अन्यथाऽयं गोशब्दार्थोऽस्तीत्यभिज्ञाऽनित्येन शब्देन भवितुमयोग्यास्ति। नित्यत्वे सति ज्ञाप्यज्ञापकयोर्विद्यमानत्वात् सर्वमेतत्संगतं स्यात्। अतश्चैकमेव गोशब्दं युगपदनेकेषु स्थलेष्वनेक उच्चारका उपलभन्ते पुनः पुनस्तमेव चेति। एवं जैमिनिना शब्दनित्यत्वेऽनेके हेतवः प्रदर्शिताः।

भाषार्थ

इसी प्रकार जैमिनि मुनि ने भी शब्द को नित्य माना है। शब्द में जो अनित्य होने की शङ्का आती है उसका (तु) शब्द से निवारण किया है। शब्द नित्य

ही हैं अर्थात् नाशरहित हैं, क्योंकि उच्चारणक्रिया से जो शब्द का श्रवण होता है सो अर्थ के जनाने ही के लिये है, इससे शब्द अनित्य नहीं हो सकता। जो शब्द का उच्चारण किया जाता है उसकी ही प्रत्यभिज्ञा होती है कि श्रोत्रद्वारा ज्ञान के बीच में वही शब्द स्थिर रहता है फिर उसी शब्द से अर्थ की प्रतीति होती है, जो शब्द अनित्य होता तो अर्थ का ज्ञान कौन कराता, क्योंकि वह शब्द ही नहीं रहा फिर अर्थ को कौन जनावे। और जैसे अनेक देशों में अनेक पुरुष एक काल में ही एक गो शब्द का उच्चारण करते हैं इसी प्रकार उसी शब्द का उच्चारण वारंवार भी होता है, इस कारण से भी शब्द नित्य हैं, जो शब्द अनित्य होता तो यह व्यवस्था कभी नहीं बन सकती। सो जैमिनि मुनि ने इस प्रकार के अनेक हेतुओं से पूर्वमीमांसा शास्त्र में शब्द को नित्य सिद्ध किया है।

अन्यच्च वैशेषिकसूत्रकारः कणादमुनिरप्यत्राह। तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्। वैशेषिके, अ० १, आ० १, सू० ३। अस्यायमर्थः। तद्वचनात्तयोर्धर्मेश्वरयोर्वचनाद्धर्मस्यैव कर्तव्यतया प्रतिपादनादीश्वरेणैवोक्तत्वाच्चाम्नायस्य वेदचतुष्टयस्य प्रामाण्यं सर्वैर्नित्यत्वेन स्वीकार्यम्।

भाषार्थ

इसी प्रकार वैशेषिकशास्त्र में कणादमुनि ने भी कहा है, (तद्वचना०)। वेद ईश्वरोक्त हैं, इनमें सत्य विद्या और पक्षपातरहित धर्म का ही प्रतिपादन है, इससे चारों वेद नित्य हैं। ऐसा ही सब मनुष्यों को मानना उचित है। क्योंकि ईश्वर नित्य है इससे उसकी विद्या भी नित्य है।

तथा स्वकीयन्यायशास्त्रे गोतममुनिरप्यत्राह। मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्। अ० २, आ० १, सू० ६७। अस्यायमर्थः। तेषां वेदानां नित्यानामीश्वरोक्तानां प्रामाण्यं सर्वैः स्वीकार्य्यम्। कुतः ?, आप्तप्रामाण्यात्। धर्मात्मभिः कपटछलादिदोषरहितैर्दयालुभिः सत्योपदेष्टृभिर्विद्यापारगैर्महायोगिभिः सर्वैर्ब्रह्मादिभिराप्तैर्वेदानां प्रामाण्यं स्वीकृतमतः।

किंवत् ?, मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवत् । यथा सत्यपदार्थविद्याप्रकाशकानां मन्त्राणां विचाराणां सत्यत्वेन प्रामाण्यं भवति। यथा चायुर्वेदोक्तस्यैकदेशोक्तौषधसेवनेन रोगनिवृत्त्या तद्भिन्नस्यापि भागस्य तादृशस्य प्रामाण्यं भवति। तथा वेदोक्तार्थस्यैकदेशप्रत्यक्षेणेतरस्यादृष्टार्थविषयस्य वेदभागस्याऽपि प्रामाण्यमङ्गीकार्य्यम् । एतत्सूत्रस्योपरि भाष्यकारेण वात्स्यायनमुनिनाप्येवं प्रतिपादितम् । द्रष्टृप्रवक्तृसामान्याच्चानुमानम् । य एवाप्ता वेदार्थानां द्रष्टारः प्रवक्तारश्च त एवायुर्वेदप्रभृतीनामित्यायुर्वेदप्रामाण्यवद्वेदप्रामाण्यमनुमातव्यमिति । नित्यत्वाद्वेदवाक्यानां प्रमाणत्वे तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यादित्युक्तम् * । अस्यायमभिप्रायः । यथाप्तोपदेशस्य शब्दस्य प्रामाण्यं भवति तथा सर्वथाप्तेनेश्वरेणोक्तानां वेदानां सर्वैराप्तैः प्रामाण्येनाङ्गीकृतत्वाद्वेदाः प्रमाणमिति बोध्यम् । अत ईश्वरविद्यामयत्वाद्वेदानां नित्यत्वमेवोपपन्नं भवतीति दिक् ।

भाषार्थ

वैसे ही न्यायशास्त्र में गोतम मुनि भी शब्द को नित्य कहते हैं, (मन्त्रायु०) । वेदों को नित्य ही मानना चाहिये. क्योंकि सृष्टि के आरम्भ से लेके आज पर्यन्त ब्रह्मादि जितने आप्त होते आये हैं वे सब वेदों को नित्य ही मानते आये हैं । उन आप्तों का अवश्य ही प्रमाण करना चाहिये । क्योंकि आप्त लोग वे होते हैं जो धर्मात्मा, कपट छलादि दोषों से रहित, सब विद्याओं से युक्त, महायोगी और सब मनुष्यों के सुख होने के लिये सत्य का उपदेश करनेवाले हैं, जिनमें लेशमात्र भी पक्षपात वा मिथ्याचार नहीं होता । उन्होंने वेदों का यथावत् नित्य गुणों से प्रमाण किया है जिन्होंने आयुर्वेद को बनाया है । जैसे आयुर्वेद वैद्यक शास्त्र के एक देश में कहे औषध और पथ्य के सेवन करने से रोग की निवृत्ति से सुख प्राप्त होता है, जैसे उसके एक देश के कहे के सत्य होने से उस के दूसरे भाग का भी प्रमाण होता है, इसी प्रकार वेदों का भी

* उपलभ्यमानेषु वात्स्यायनभाष्येषु "दित्युक्तमि,ति" स्थाने "दित्ययुक्तमि"ति पाठो वर्त्तते ॥

प्रमाण करना सब मनुष्यों को उचित है, क्योंकि वेद के एक देश में कहे अर्थ का सत्यपन विदित होने से उससे भिन्न जो वेदों के भाग हैं कि जिन का अर्थ प्रत्यक्ष न हुआ हो उनका भी नित्य प्रमाण अवश्य करना चाहिये, क्योंकि आप्त पुरुष का उपदेश मिथ्या नहीं हो सकता। (मन्त्रायु०) इस सूत्र के भाष्य में वात्स्यायन मुनि ने वेदों का नित्य होना स्पष्ट प्रतिपादन किया है कि जो आप्त लोग हैं वे वेदों के अर्थ को देखने दिखाने और जनाने वाले हैं, जो २ उस २ मन्त्र के अर्थ के द्रष्टा वक्ता होते हैं वे ही आयुर्वेद आदि के बनानेवाले हैं। जैसे उन का कथन आयुर्वेद में सत्य है वैसे ही वेदों के नित्य मानने का उनका जो व्यवहार है सो भी सत्य ही है ऐसा मानना चाहिये। क्योंकि जैसे आप्तों के उपदेश का प्रमाण अवश्य होता है वैसे ही सब आप्तों का भी जो परम आप्त सब का गुरु परमेश्वर है उस के किये वेदों का भी नित्य होने का प्रमाण अवश्य ही करना चाहिये।

अत्र विषये योगशास्त्रे पतञ्जलिमुनिरप्याह। स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्। पातञ्जलयोगशास्त्रे, अ० १, पा० १, सू० २६। यः पूर्वेषां सृष्ट्यादावुत्पन्नानामग्निवाय्वादित्याङ्गिरोब्रह्मादीनां प्राचीनानामस्मदादीनामिदानींतनानामग्रे भविष्यतां स सर्वेषामेष ईश्वर एव गुरुरस्ति। गृणाति वेदद्वारोपदिशति सत्यानर्थान् स गुरुः। स च सर्वदा नित्योस्ति। तत्र कालगतेरप्रचारत्वात्। न स ईश्वरो ह्यविद्यादिक्लेशैः पापकर्मभिस्तद्वासनया च कदाचिद्युक्तो भवति। यस्मिन् निरतिशयं नित्यं स्वाभाविकं ज्ञानमस्ति तदुक्तत्वाद्वेदानामपि सत्यार्थवत्त्वनित्यत्वे वेद्ये इति।

भाषार्थ

इस विषय में योगशास्त्र के कर्त्ता पतञ्जलि मुनि भी वेदों को नित्य मानते हैं, (स एष०)। जो कि प्राचीन अग्नि, वायु, आदित्य, आङ्गिरा और ब्रह्मादि पुरुष सृष्टि की आदि में उत्पन्न हुए थे उन से लेके हम लोग पर्यन्त और हम से आगे जो होने वाले हैं इन सब का गुरु परमेश्वर ही है, क्योंकि वेदद्वारा

सत्य अर्थों का उपदेश करने से परमेश्वर का नाम गुरु है। सो ईश्वर नित्य ही है, क्योंकि ईश्वर में क्षणादि काल की गति का प्रचार ही नहीं है और वह अविद्या आदि क्लेशों से और पापकर्म तथा उनकी वासनाओं के भोगों से अलग है। जिस में अनन्त विज्ञान सर्वदा एकरस बना रहता है उसी के रचे वेदों का भी सत्यार्थपना और नित्यपना भी निश्चित है, ऐसा ही सब मनुष्यों को जानना चाहिये।

एवमेव स्वकीयसांख्यशास्त्रे पञ्चमाध्याये कपिलाचार्य्योऽप्यत्राह। निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतःप्रामाण्यम्। सू० ५१॥ अस्यायमर्थः। वेदानां निजशक्त्यभिव्यक्तेः पुरुषसहचारिप्रधानसामर्थ्यात् प्रकटत्वात्स्वतःप्रामाण्य-नित्यत्वे स्वीकार्य्ये इति।

भाषार्थ

इसी प्रकार से सांख्यशास्त्र में कपिलाचार्य भी कहते हैं, (निज०)। परमेश्वर की (निज) अर्थात् स्वाभाविक जो विद्या शक्ति है उससे प्रकट होने से वेदों का नित्यत्व और स्वतःप्रमाण सब मनुष्यों को स्वीकार करना चाहिये।

अस्मिन् विषये स्वकीयवेदान्तशास्त्रे कृष्णद्वैपायनो व्यासमुनिरप्याह। शास्त्रयोनित्वात्, अ० १, पा० १, सू० ३। अस्यायमर्थः। ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत्सर्वार्थावद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म। नहीदृशस्य शास्त्रस्यर्ग्वेदादिलक्षणस्य सर्वज्ञगुणान्वि-तस्य सर्वज्ञादन्यतः संभवोऽस्ति। यद्यद्विस्तरार्थं शास्त्रं यस्मात्पुरुषविशेषात्सं-भवति यथा व्याकरणादि पाणिन्यादेर्ज्ञेयैकदेशार्थमपि स ततोऽप्यधिकतरवि-ज्ञानइति सिद्धं लोके किमु वक्तव्यमितीदं वचनं शङ्कराचार्य्येणास्य सूत्रस्योपरि स्वकीयव्याख्याने गदितम्। अतः किमागतं, सर्वज्ञस्येश्वरस्य शास्त्रमपि नित्यं सर्वार्थज्ञानयुक्तं च। भवितुमर्हति। अन्यच्च। तस्मिन्नेवाध्याये। अतएव च नित्यत्वम्, पा० ३, सू० २९। अस्यायमर्थः। अत ईश्वरोक्तत्वान्नित्यधर्मक-त्वाद्वेदानां स्वतः प्रामाण्यं सर्वविद्यावत्त्वं सर्वेषु कालेष्वव्यभिचारित्वान्नि-

त्यत्वं च सर्वैर्मनुष्यैर्मन्तव्यमिति सिद्धम् । न वेदस्य प्रामाण्यसिद्ध्यर्थमन्यत्प्रमाणं स्वीक्रियते । किंत्वेतस्मात्विवद्विज्ञेयम् । वेदानां स्वतःप्रमाणत्वात् । सूर्यवत् । यथा सूर्यः स्वप्रकाशः सन् संसारस्थान्महतोऽल्पांश्च पर्वतादीन् त्रसरेण्वन्तान् पदार्थान्प्रकाशयति तथा वेदोपि स्वयं स्वप्रकाशः सन् सर्वा विद्याः प्रकाशयतीत्यवधेयम् ।

भाषार्थ

इसी प्रकार से वेदान्तशास्त्र में वेदों के नित्य होने के विषय में व्यासजी ने भी लिखा है, (शास्त्र०) । इस सूत्र के अर्थ में शङ्कराचार्य्य ने भी वेदों को नित्य मान के व्याख्यान किया है कि ऋग्वेदादि जो चारों वेद हैं वे अनेक विद्याओं से युक्त हैं, सूर्य्य के समान सब सत्य अर्थों के प्रकाश करनेवाले हैं, उनका बनानेवाला सर्वज्ञादि गुणों से युक्त परब्रह्म है, क्योंकि सर्वज्ञ ब्रह्म से भिन्न कोई जीव सर्वज्ञगुणयुक्त इन वेदों को बना सके ऐसा संभव कभी नहीं हो सकता । किन्तु वेदार्थविस्तार के लिये किसी जीवविशेष पुरुष से अन्य शास्त्र बनाने का संभव होता है । जैसे पाणिनि आदि मुनियों ने व्याकरणादि शास्त्रों को बनाया है । उन में विद्या के एक २ देश का प्रकाश किया है । सो भी वेदों के आश्रय से बना सके हैं । और जो सब विद्याओं से युक्त वेद हैं उन को सिवाय परमेश्वर के दूसरा कोई भी नहीं बना सकता, क्योंकि परमेश्वर से भिन्न सब विद्याओं में पूर्ण कोई भी नहीं है । किञ्च परमेश्वर के बनाये वेदों के पढ़ने विचारने और उसी के अनुग्रह से मनुष्यों को यथाशक्ति विद्या का बोध होता है, अन्यथा नहीं, ऐसा शंकराचार्य्य ने भी कहा है । इससे क्या आया कि वेदों के नित्य होने में सब आर्य्य लोगों की साक्षी है । और यह भी कारण है कि जो ईश्वर नित्य और सर्वज्ञ है उस के किये वेद भी नित्य और सर्वज्ञ होने के योग्य हैं, अन्य का बनाया ऐसा ग्रन्थ कभी नहीं हो सकता । (अतएव०) इस सूत्र से भी यही आता है कि वेद नित्य हैं । और सब सज्जन लोगों को भी ऐसा ही मानना उचित है । तथा वेदों के प्रमाण और नित्य होने में अन्य शास्त्रों के प्रमाणों को साक्षी के समान जानना चाहिये, क्योंकि वे

अपने ही प्रमाण से नित्य सिद्ध हैं। जैसे सूर्य के प्रकाश में सूर्य का ही प्रमाण है अन्य का नहीं, और जैसे सूर्य प्रकाशस्वरूप है, पर्वत से लेके त्रसरेणु पर्य्यन्त पदार्थों का प्रकाश करता है वैसे वेद भी स्वयंप्रकाश हैं और सब सत्यविद्याओं का भी प्रकाश कर रहे हैं।

अतएव स्वयमीश्वरः स्वप्रकाशितस्य वेदस्य स्वस्य च सिद्धिकरं प्रमाणमाह। सपर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳशुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ १ ॥ य० अ० ४० । मं० ८ । अस्यायमभिप्रायः। यः पूर्वोक्तः सर्वव्यापकत्वादिविशेषणयुक्त ईश्वरोस्ति (स, पर्य्यगात्) परितः सर्वतोऽगात् गतवान्प्राप्तवानास्ति, नैवैकः परमाणुरपि तद्व्याप्त्या विनास्ति, (शुक्रं) तद्ब्रह्म सर्वजगत्कर्त्तृवीर्य्यवदनन्तबलवदस्ति, (अकायं) तत्स्थूलसूक्ष्मकारणशरीरत्रयसम्बन्धरहितम्, (अव्रणं) नैवैतस्मिँश्छिद्रं कर्त्तुं परमाणुरपि शक्नोति, अतएव छेदरहितत्वादक्षतम्, (अस्नाविरं) तन्नाडीसम्बन्धरहितत्वाद्बन्धनावरणविमुक्तम्, (शुद्धं) तदविद्यादिदोषेभ्यः सर्वदा पृथग्वर्त्तमानम्, (अपापविद्धम्) नैव तत्पापयुक्तं पापकारि च कदाचिद्भवति, (कविः) सर्वज्ञः, (मनीषी) यः सर्वेषां मनसामीषी साक्षी ज्ञातास्ति, (परिभूः) सर्वेषामुपरि विराजमानः, (स्वयंभूः) यो निमित्तोपादानसाधारणकारणत्रयरहितः, स एव सर्वेषां पिता, नह्यस्य कश्चित् जनकः, स्वसामर्थ्येन सहैव सदा वर्त्तमानोस्ति, (शाश्वतीभ्यः) य एवंभूतः सच्चिदानन्दस्वरूपः परमात्मा (सः) सर्गादौ स्वकीयाभ्यः शाश्वतीभ्यो निरन्तराभ्यः समाभ्यः प्रजाभ्यो याथातथ्यतो यथार्थस्वरूपेण वेदोपदेशेन (अर्थान् व्यदधात्) विधत्तवानर्थाद्यदा यदा सृष्टिं करोति तदा तदा प्रजाभ्यो हितायादिसृष्टौ सर्वविद्यासमन्वितं वेदशास्त्रं स एव भगवानुपदिशति। अतएव नैव वेदानामनियतत्वं केनापि मन्तव्यम्। तस्य विद्यायाः सर्वदैकरसवर्त्तमानत्वात्।

भाषार्थ

ऐसे ही परमेश्वर ने अपने और अपने किये वेदों के नित्य और स्वतःप्र-

माण होने का उपदेश किया है सो आगे लिखते हैं। (स, पर्यगात्) यह मन्त्र ईश्वर और उस के किये वेदों का प्रकाश करता है, कि जो ईश्वर सर्वव्यापक आदि विशेषणयुक्त है सो सब जगत् में परिपूर्ण हो रहा है। उस की व्याप्ति से एक परमाणु भी रहित नहीं है। सो ब्रह्म (शुक्रं) सब जगत् का करने वाला और अनन्त विद्यादि बल से युक्त है, (अकायं) जो स्थूल, सूक्ष्म और कारण इन तीनों शरीरों के संयोग से रहित है, अर्थात् वह कभी जन्म नहीं लेता, (अव्रणं) जिस में एक परमाणु भी छिद्र नहीं कर सकता, इसीसे वह सर्वथा छेदरहित है, (अस्नाविरं) वह नाड़ियों के बन्धन से अलग है, जैसा वायु और रुधिर नाड़ियों में बंधा रहता है ऐसा बन्धन परमेश्वर में नहीं होता, (शुद्धं) जो अविद्या अज्ञानादि क्लेश और सब दोषों से पृथक् है, (अपापविद्धम्) सो ईश्वर पापयुक्त वा पाप करने वाला कभी नहीं होता क्योंकि वह स्वभाव से ही धर्मात्मा है, (कविः) जो सब का जानने वाला है, (मनीषी) जो सब का अन्तर्यामी है और भूत भविष्यत् तथा वर्त्तमान इन तीनों कालों के व्यवहारों को यथावत् जानता है, (परिभूः) जो सब के ऊपर विराजमान हो रहा है, (स्वयंभूः) जो कभी उत्पन्न नहीं होता और उसका कारण भी कोई नहीं, किन्तु वही सब का कारण, अनादि और अनन्त है, इससे वही सब का माता पिता है और अपने ही सत्य सामर्थ्य से सदा वर्त्तमान रहता है, इत्यादि लक्षणों से युक्त जो सच्चिदानन्दस्वरूप परमेश्वर है (शाश्वतीभ्यः०) उसने सृष्टि की आदि में अपनी प्रजा को जो कि उसके सामर्थ्य में सदा से वर्त्तमान है उसके सब सुखों के लिये (अर्थान् व्यदधात्) सत्य अर्थों का उपदेश किया है। इसी प्रकार जब २ परमेश्वर सृष्टि को रचता है तब २ प्रजा के हित के लिये सृष्टि की आदि में सब विद्याओं से वेदों का भी उपदेश करता है और जब २ सृष्टि का प्रलय होता है तब २ वेद उसके ज्ञान में सदा बने रहते हैं, इससे उनको सदैव नित्य मानना चाहिये।

यथा शास्त्रप्रमाणेन वेदा नित्याः सन्तीति निश्चयोऽस्ति तथा युक्त्यापि। तद्यथा। नासत आत्मलाभो न सत आत्महानम्, योऽस्ति स भविष्यति।

इति न्यायेन वेदानां नित्यत्वं स्वीकार्य्यम् । कुतः ?, यस्य मूलं नास्ति नैव तस्य शाखादयः संभवितुमर्हन्ति । बन्ध्यापुत्रविवाहदर्शनवत् । पुत्रो भवेच्चेत्तदा बन्ध्यात्वं न सिध्येत्, स नास्ति चेत्पुनस्तस्य विवाहदर्शने कथं भवतः । एवमेवात्रापि विचारणीयम् । यदीश्वरे विद्यानन्ता न भवेत्कथमुपदिशेत् । स नोपदिशेच्चेन्नैव कस्यापि मनुष्यस्य विद्यासंबन्धो दर्शनं च स्याताम् । निर्मूलस्य प्ररोहाभावात् । नह्यस्मिन् जगति निर्मूलमुत्पन्नं किञ्चिद्दृश्यते । यस्य सर्वेषां मनुष्याणां साक्षादनुभवोऽस्ति सोऽत्र प्रकाश्यते । यस्य प्रत्यक्षोऽनुभवस्तस्यैव संस्कारो, यस्य संस्कारस्तस्यैव स्मरणं ज्ञानं, तेनैव प्रवृत्तिनिवृत्ती भवतो, नान्यथेति । तद्यथा । येन संस्कृतभाषा पठ्यते तस्याऽस्या एव संस्कारो भवति नाऽन्यस्याः । येन देशभाषाऽधीयते (तस्य) तस्या एव संस्कारो भवति, नातोऽन्यथा । एवं सृष्ट्यादावीश्वरोपदेशाऽध्यापनाभ्यां विना नैव कस्यापि विद्याया अनुभवः स्यात्, पुनः कथं संस्कारस्तेन विना कुतः स्मरणं, न च स्मरणेन विना विद्याया लेशोपि कस्यचिद्भवितुमर्हति ।

भाषार्थ

जैसे शास्त्रों के प्रमाणों से वेद नित्य हैं वैसे ही युक्ति से भी उनका नित्यपन सिद्ध होता है, क्योंकि असत् से सत् का होना अर्थात् अभाव से भाव का होना कभी नहीं हो सकता, तथा सत् का अभाव भी नहीं हो सकता । जो सत्य है उसी से आगे प्रवृत्ति भी हो सकती है और जो वस्तु ही नहीं है उससे सरी वस्तु किसी प्रकार से नहीं हो सकती । इस न्याय से भी वेदों को नित्य ही मानना ठीक है, क्योंकि जिसका मूल नहीं होता है उसकी डाली, पत्र, पुष्प और फल आदि भी कभी नहीं हो सकते । जैसे कोई कहे कि बन्ध्या के पुत्र का विवाह मैंने देखा । यह उसकी बात असम्भव है क्योंकि जो उसके पुत्र होता तो वह बन्ध्या ही क्यों होती और जब पुत्र ही नहीं है तो उसका विवाह और दर्शन कैसे हो सकते हैं । वैसे ही जब ईश्वर में अनन्तविद्या है तभी मनुष्यों को विद्या का उपदेश भी किया है और जो ईश्वर में अनन्तविद्या न होती तो वह उपदेश

कैसे कर सकता और वह जगत् को भी कैसे रच सकता। जो मनुष्यों को ईश्वर अपनी विद्या का उपदेश न करता तो किसी मनुष्य को विद्या जो यथार्थ ज्ञान है सो कभी नहीं होता, क्योंकि इस जगत् में निर्मूल का होना वा बढ़ना सर्वथा असम्भव है। इससे यह जानना चाहिये कि परमेश्वर से वेदविद्या मूल को प्राप्त होके मनुष्यों में विद्यारूप वृक्ष विस्तृत हुआ है। इस में और भी युक्ति है कि जिसका सब मनुष्यों को अनुभव और प्रत्यक्ष ज्ञान होता है उसी का दृष्टान्त देते हैं। देखो कि जिसका साक्षात् अनुभव होता है उसी का ज्ञान में संस्कार होता है, संस्कार से स्मरण, स्मरण से इष्ट में प्रवृत्ति और अनिष्ट से निवृत्ति होती है अन्यथा नहीं। जो संस्कृत भाषा को पढ़ता है उसके मन में उसी का संस्कार होता है अन्य भाषा का नहीं और जो किसी देशभाषा को पढ़ता है उसको देशभाषा का संस्कार होता है अन्य का नहीं। इसी प्रकार जो वेदों का उपदेश ईश्वर न करता तो किसी मनुष्य को विद्या का संस्कार नहीं होता, जब विद्या का संस्कार न होता तो उसका स्मरण भी नहीं होता, स्मरण से विना किसी मनुष्य को विद्या का लेश भी न हो सकता। इस युक्ति से क्या जाना जाता है कि ईश्वर के उपदेश से वेदों को सुन के पढ़ के और विचार के ही मनुष्यों को विद्या का संस्कार आज पर्यन्त होता चला आया है अन्यथा कभी नहीं हो सकता।

किं च भोः, मनुष्याणां स्वाभाविकी या प्रवृत्तिर्भवति, तत्र सुखदुःखानुभवश्च, तयोत्तरोत्तरकाले क्रमानुक्रमाद्विद्यावृद्धिर्भविष्यत्येव, पुनः किमर्थमीश्वराद्वेदोत्पत्तेः स्वीकार इति?। एवं प्राप्ते ब्रूमः : एतद्वेदोत्पत्तिप्रकरणे परिहृतम्। तत्रैष निर्णयः, यथानेदानीमन्येभ्यः पठनेन विना कश्चिदपि विद्वान् भवति तस्य ज्ञानोन्नतिश्च, तथा नैवेश्वरोपदेशागमेन विना कस्यापि विद्याज्ञानोन्नतिर्भवेत्। अशिक्षितबालकवनस्थवत्। यथोपदेशमन्तरा न बालकानां वनस्थानां च विद्यामनुष्यभाषाविज्ञाने अपि भवतः पुनर्विद्योत्पत्तेस्तु का कथा। तस्मादीश्वरादेव या वेदविद्याऽऽगता सा नित्यैवास्ति, तस्य सत्यगुणवत्त्वात्। यन्नित्यं वस्तु वर्त्तते तस्य नामगुणकर्माण्यपि नित्यानि भवन्ति, तदाधारस्य

नित्यत्वात् । नैवाधिष्ठानमन्तरा नामगुणकर्मादयो गुणाः स्थितिं लभन्ते, तेषां पराश्रितत्वात् । यन्नित्यं नास्ति न तस्यैतान्यपि नित्यानि भवन्ति । नित्यं चोत्पत्तिविनाशाभ्यामितरद्भवितुमर्हति । उत्पत्तिर्हि पृथग्भूतानां द्रव्याणां या संयोगविशेषाद्भवति । तेषामुत्पन्नानां कार्य्यद्रव्याणां सति वियोगे विनाशश्च संघाताभावात् । अदर्शनं च विनाशः । ईश्वरस्यैकरसत्वान्नैव तस्य संयोगवियोगाभ्यां संस्पर्शोऽपि भवति । अत्र कणादमुनिकृतं सूत्रं प्रमाणमस्ति । सदकारणवन्नित्यम् ॥ १ ॥ वैशेषिके, अ० ४, पा० ४, सू० १ ॥ अस्यायमर्थः । यत्कार्य्यं कारणादुत्पद्य विद्यमानं भवति तदनित्यमुच्यते, तस्य प्रागुत्पत्तेरभावात् । यत्तु कस्यापि कार्य्यं नैव भवति किन्तु सदैव कारणरूपमेव तिष्ठति तन्नित्यं कथ्यते । यद्यत्संयोगजन्यं तत्तत्कर्त्रपेक्षं भवति, कर्त्तापि संयोगजन्यश्चेत्तर्हि तस्याप्यन्योन्यः कर्त्तास्तीत्यागच्छेत् । एवं पुनः पुनः प्रसङ्गादनवस्थापत्तिः । यच्च संयोगेन प्रादुर्भूतं नैव तस्य प्रकृतिपरमाण्वादीनां संयोगकरणे सामर्थ्यं भवितुमर्हति, तस्मात्तेषां सूक्ष्मत्वात् । यद्यस्मात्सूक्ष्मं तत्तस्यात्मा भवति, स्थूल सूक्ष्मस्य प्रवेशार्हत्वात्, अयोऽग्निवत् । यथा सूक्ष्मत्वादग्निः कठिनं स्थूलमयः प्रविश्य तस्यावयवानां पृथग्भावं करोति, तथा जलमपि पृथिव्याः सूक्ष्मत्वात्तत्कणान् प्रविश्य संयुक्तमेकं पिण्डं करोति, छिनत्ति च । तथा परमेश्वरः संयोगवियोगाभ्यां पृथग्भूतो विभुरस्त्यतो नियमेन रचनं विनाशं च कर्त्तुमर्हति, न चान्यथा । यथा संयोगवियोगान्तर्गतत्वान्नास्मदादीनां प्रकृतिपरमाण्वादीनां संयोगवियोगकरणे सामर्थ्यमस्ति । तथेश्वरेऽपि भवेत् । अन्यच्च । यतः संयोगवियोगारम्भो भवति स तस्मात्पृथग्भूतोऽस्ति, तस्य संयोगवियोगारब्धस्यादिकारणत्वात् । आदिकारणस्याभावात्संयोगवियोगारम्भस्यानुत्पत्तेश्च । एवंभूतस्य सदानिर्विकारस्वरूपस्याजस्यानादेर्नित्यस्य सत्यसामर्थ्यस्येश्वरस्य सकाशाद्वेदानां प्रादुर्भावात्तस्य ज्ञाने सदैव वर्त्तमानत्वात्सत्यार्थवत्त्वं नित्यत्वं चैतेषामस्तीति सिद्धम् ।

इति वेदानां नित्यत्वविचारः

भाषार्थ

प्र०–मनुष्यों की स्वभाव से जो चेष्टा है उस में सुख और दुःख का अनुभव भी होता है, उससे उत्तर २ काल में क्रमानुसार से विद्या की वृद्धि भी अवश्य होगी, तब वेदों को भी मनुष्य लोग रच लेंगे फिर ईश्वर ने वेद रचे ऐसा क्यों मानना ? । उ०–इस का समाधान वेदोत्पत्ति के प्रकरण में कर दिया है, वहां यही निर्णय किया है कि जैसे इस समय में अन्य विद्वानों से पढ़े विना कोई भी विद्यावान् नहीं होता और इसी के विना किसी पुरुष में ज्ञान की वृद्धि भी देखने में नहीं आती वैसे ही सृष्टि के आरम्भ में ईश्वरोपदेश की प्राप्ति के विना किसी मनुष्य की विद्या और ज्ञान की बढ़ती कभी नहीं हो सकती । इस में अशिक्षित बालक और बनवासियों का दृष्टान्त दिया था कि जैसे उस बालक और वन में रहने वाले मनुष्य को यथावत् विद्या का ज्ञान नहीं होता तथा अच्छी प्रकार उपदेश के विना उनको लोकव्यवहार का भी ज्ञान नहीं होता फिर विद्या की प्राप्ति तो अत्यन्त कठिन है । इससे क्या जानना चाहिये कि परमेश्वर के उपदेश वेदविद्या आने के पश्चात् ही मनुष्यों को विद्या और ज्ञान की उन्नति करनी भी सहज हुई है, क्योंकि उसके सभी गुण सत्य हैं, इससे उसकी विद्या जो वेद है वह भी नित्य ही है । जो नित्य वस्तु है उस के नाम, गुण और कर्म भी नित्य ही होते हैं । क्योंकि उन का आधार नित्य है । और विना आधार से नाम गुण और कर्मादि स्थिर नहीं हो सकते, क्योंकि वे द्रव्यों के आश्रय सदा रहते हैं । जो अनित्य वस्तु है उस के नाम, गुण और कर्म भी अनित्य होते हैं । सो नित्य किस को कहना ? जो उत्पत्ति और विनाश से पृथक् है । तथा उत्पत्ति क्या कहाती है ? कि जो अनेक द्रव्यों के संयोग विशेष से स्थूल पदार्थ का उत्पन्न होना । और जब वे पृथक् २ होके उन द्रव्यों के वियोग से जो कारण में उन की परमाणुरूप अवस्था होती है उस को विनाश कहते हैं । और जो द्रव्य संयोग से स्थूल होते हैं वे चक्षु आदि इन्द्रियों से देखने में आते हैं, फिर उन स्थूल द्रव्यों के परमाणुओं का जब वियोग हो जाता है तब सूक्ष्म के होने से वे द्रव्य देख नहीं पड़ते इस का नाम नाश है । क्योंकि अदर्शन को

ही नाश कहते हैं। जो द्रव्य संयोग और वियोग से उत्पन्न और नष्ट होता है उसी को कार्य्य और अनित्य कहते हैं, और जो संयोग वियोग से अलग है उस की न कभी उत्पत्ति और न कभी नाश होता है। इस प्रकार का पदार्थ एक परमेश्वर और दूसरा जगत् का कारण है। क्योंकि वह सदा अखण्ड एकरस ही बना रहता है। इसी से उसको नित्य कहते हैं। इस में कणादमुनि के सूत्र का भी प्रमाण है। (सत्कार०) जो किसी का कार्य्य है कि कारण से उत्पन्न होके विद्यमान होता है उस को अनित्य कहते हैं। जैसे मट्टी से घड़ा हो के वह नष्ट भी हो जाता है इसी प्रकार परमेश्वर के सामर्थ्य कारण से सब जगत् उत्पन्न हो के विद्यमान होता है फिर प्रलय में स्थूलाकार नहीं रहता किन्तु वह कारणरूप तो सदा ही बना रहता है। इससे क्या आया कि जो विद्यमान हो और जिस का कारण कोई भी न हो अर्थात् स्वयं कारणरूप ही हो उसको नित्य कहते हैं। क्योंकि जो २ संयोग से उत्पन्न होता है सो २ बनाने वाले की अपेक्षा अवश्य रखता है। जैसे कर्म, नियम और कार्य्य ये सब कर्त्ता, नियन्ता और कारण को ही सदा जनाते हैं। और जो कोई ऐसा कहे कि कर्त्ता को भी किसी ने बनाया होगा तो उससे पूछना चाहिये उस कर्त्ता के कर्त्ता को किसने बनाया है। इसी प्रकार यह अनवस्थाप्रसंग अर्थात् मर्यादारहित होता है। जिस की मर्यादा नहीं है वह व्यवस्था के योग्य नहीं ठहर सकता। और जो संयोग से उत्पन्न होता है वह प्रकृति और परमाणु आदि के संयोग करने में समर्थ ही नहीं हो सकता। इससे क्या आया कि जो जिससे सूक्ष्म होता है वही उसका आत्मा होता है, अर्थात् स्थूल में सूक्ष्म व्यापक होता है। जैसे लोहे में अग्नि प्रविष्ट हो के उस के सब अवयवों में व्याप्त होता है और जैसे जल पृथिवी में प्रविष्ट होके उस के कणों के संयोग से पिण्डा करने में हेतु होता है तथा उस का छेदन भी करता है, वैसे ही परमेश्वर सब संयोग और वियोग से पृथक्, सब में व्यापक, प्रकृति और परमाणु आदि से भी अत्यन्त सूक्ष्म और चेतन है, इसी कारण से प्रकृति और परमाणु आदि द्रव्यों के संयोग करके जगत् को रच सकता है। जो ईश्वर उन से स्थूल होता तो उन का ग्रहण और रचन कभी नहीं कर सकता, क्योंकि जो स्थूल पदार्थ होते हैं वे सूक्ष्म पदार्थ के नियम

करने में समर्थ नहीं होते, जैसे हम लोग प्रकृति और परमाणु आदि के संयोग और वियोग करने में समर्थ नहीं हैं, क्योंकि जो संयोग वियोग के भीतर है वह उस के संयोग वियोग करने में समर्थ नहीं हो सकता, तथा जिस वस्तु से संयोग वियोग का आरम्भ होता वह वस्तु संयोग और वियोग से अलग ही होता है, क्योंकि वह संयोग और वियोग के आरम्भ के नियमों का कर्त्ता और आदिकारण होता है। तथा आदिकारण के अभाव से संयोग और वियोग का होना ही असम्भव है। इससे क्या जानना चाहिये कि जो सदा निर्विकारस्वरूप, अज, अनादि, नित्य, सत्यसामर्थ्य से युक्त और अनन्त विद्यावाला ईश्वर है उस की विद्या से वेदों के प्रकट होने और उस के ज्ञान में वेदों के सदैव वर्त्तमान रहने से वेदों को सत्यार्थयुक्त और नित्य सब मनुष्यों को मानना योग्य है। यह संक्षेप से वेदों के नित्य होने का विचार किया।

इति वेदानां नित्यत्वविचारः

अथ वेदविषयविचारः

अत्र चत्वारो वेदविषयाः सन्ति। विज्ञानकर्मोपासनाज्ञानकाण्डभेदात्। तत्रादिमो विज्ञानविषयो हि सर्वेभ्यो मुख्योऽस्ति। तस्य परमेश्वरादारभ्य तृणपर्य्यन्तपदार्थेषु साक्षाद्बोधान्वयत्वात्। तत्रापीश्वरानुभवो मुख्योऽस्ति। कुतः। अत्रैव सर्वेषां वेदानां तात्पर्यमस्तीश्वरस्य खलु सर्वेभ्यः पदार्थेभ्यः प्रधानत्वात्। अत्र प्रमाणानि। सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्। कठोपनि० वल्ली २। मं० १५॥ तस्य वाचकः प्रणवः। योगशास्त्रे, अ० १। पा० १। सू० २७॥ ओ३म् खं ब्रह्म। यजुः अ० ४०॥ ओमिति ब्रह्म। तैत्तिरीयारण्यके, प्र० ७। अनु० ८॥ तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यथा तदक्षरमधिगम्यते॥ १॥ यत्तदद्रेश्यम[1]ग्राह्यमगोत्र-

[1] अद्रेश्यमित्युपनिषदि पाठः॥

मवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ॥ २ ॥ मुण्डके १ । खण्डे १ । मं० ५ । ६ ॥ एषामर्थः । (सर्वे वेदाः०) यत्परमं पदं मोक्षाख्यं परब्रह्मप्राप्तिलक्षणं सर्वानन्दमयं सर्वदुःखेतरदस्ति तदेवोंकारवाच्यमस्ति । (तस्य०) तस्येश्वरस्य प्रणव ओंकारो वाचकोस्ति, वाच्यश्चेश्वरः । (ओम्०) ओमिति परमेश्वरस्य नामास्ति, तदेव परं ब्रह्म सर्वे वेदा आमनन्ति आसमन्तादभ्यस्यन्ति, मुख्यतया प्रतिपादयन्ति, (तपांसि) सत्यधर्मानुष्ठानानि तपांस्यपि तदभ्यासपराण्येव सन्ति, (यदिच्छन्तः०) ब्रह्मचर्यग्रहणमुपलक्षणार्थं ब्रह्मचर्य्यगृहस्थवानप्रस्थसंन्यासाश्रमाचरणानि सर्वाणि तदेवामनन्ति, ब्रह्मप्राप्त्यभ्यासपराणि सन्ति । यद्ब्रह्मेच्छन्तो विद्वांसस्तस्मिन्नध्यासमाना वदन्त्युपदिशन्ति च । हे नचिकेतः ! अहं यत्तो यदीदृशं पदमस्ति तदेतत्ते तुभ्यं संग्रहेण संक्षेपेण ब्रवीमि ॥ १ ॥ (तत्रापरा०) वेदेषु द्वे विद्ये वर्त्तेते अपरा परा चेति । तत्र यया पृथिवीतृणमारभ्य प्रकृतिपर्यन्तानां पदार्थानां ज्ञानेन यथावदुपकारग्रहणं क्रियते सा अपरोच्यते । यया चादृश्यादिविशेषणयुक्तं सर्वशक्तिमद् ब्रह्म विज्ञायते सा पराऽर्थादपरायाः सकाशादत्युत्कृष्टास्तीति वेद्यम् ।

भाषार्थ

अब वेदों के नित्यत्वविचार के उपरान्त वेदों में कौन २ विषय किस २ प्रकार के हैं इस का विचार किया जाता है । वेदों में अवयवरूप विषय तो अनेक हैं परन्तु उन में से चार मुख्य हैं (१) एक विज्ञान अर्थात् सब पदार्थों को यथार्थ जानना (२) दूसरा कर्म (३) तीसरा उपासना और (४) चौथा ज्ञान है। विज्ञान उस को कहते हैं कि जो कर्म, उपासना और ज्ञान इन तीनों से यथावत् उपयोग लेना और परमेश्वर से लेके तृणपर्य्यन्त पदार्थों का साक्षाद्बोध का होना, उन से यथावत् उपयोग का करना । इससे यह विषय इन चारों में भी प्रधान है, क्योंकि इसी में वेदों का मुख्य तात्पर्य्य है । सो भी दो प्रकार का है, एक तो परमेश्वर का यथावत् ज्ञान और उस की आज्ञा का बराबर पालन करना और दूसरा यह है कि उस के रचे हुए सब पदार्थों के गुणों को यथावत्

विचार के उनसे कार्य्य सिद्ध करना अर्थात् ईश्वर ने कौन २ पदार्थ किस किस प्रयोजन के लिये रचे हैं। और इन दोनों में से भी ईश्वर का जो प्रतिपादन है सो ही प्रधान है। इस में आगे कठवल्ली आदि के प्रमाण लिखते हैं। (सर्वे वेदाः०) परमपद अर्थात् जिसका नाम मोक्ष है, जिस में परब्रह्म को प्राप्त हो के सदा सुख में ही रहना, जो सब आनन्दों से युक्त, सब दुःखों से रहित और सर्वशक्तिमान् परब्रह्म है, जिस के नाम (ओम्) आदि हैं, उसी में सब वेदों का मुख्य तात्पर्य है। इसमें योगसूत्र का भी प्रमाण है। (तस्य०) परमेश्वर का ही ओंकार नाम है। (ओम् खं०) तथा (ओमिति०) ओम् और खं ये दोनों ब्रह्म के नाम हैं और उसी की प्राप्ति कराने में सब वेद प्रवृत्त हो रहे हैं, उस की प्राप्ति के आगे किसी पदार्थ की प्राप्ति उत्तम नहीं है, क्योंकि जगत् का वर्णन, दृष्टान्त और उपयोगादि का करना ये सब परब्रह्म को ही प्रकाशित करते हैं, तथा सत्यधर्म के अनुष्ठान जिन को तप कहते हैं वे भी परमेश्वर की ही प्राप्ति के लिये हैं, तथा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम के सत्याचरणरूप जो कर्म हैं वे भी परमेश्वर की ही प्राप्ति कराने के लिये हैं, जिस ब्रह्म की प्राप्ति की इच्छा करके विद्वान् लोग प्रयत्न और उसी का उपदेश भी करते हैं। नचिकेता और यम इन दोनों का परस्पर यह संवाद है कि हे नचिकेतः! जो अवश्य प्राप्त करने के योग्य परब्रह्म है उसी का मैं तेरे लिये संक्षेप से उपदेश करता हूं। और यहां यह भी जानना उचित है कि अलंकाररूप कथा में नचिकेता नाम से जीव और यम से अन्तर्यामी परमात्मा को समझना चाहिये। (तत्रापरा०) वेदों में दो विद्या हैं एक अपरा, दूसरी परा। इन में से अपरा यह है कि जिस से पृथिवी और तृण से ले के प्रकृतिपर्य्यन्त पदार्थों के गुणों के ज्ञान से ठीक २ कार्य्य सिद्ध करना होता है और दूसरी परा कि जिससे सर्वशक्तिमान् ब्रह्म की यथावत् प्राप्ति होती है। यह परा विद्या अपरा विद्या से अत्यन्त उत्तम है, क्योंकि अपरा का ही उत्तम फल पराविद्या है।

अन्यच्च। तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्॥ १॥ ऋग्वेदे। अष्टके १। अध्याये २। वर्गे ७। मन्त्रः ५॥

अस्यायमर्थः । यत् (विष्णोः) व्यापकस्य परमेश्वरस्य, (परमं) प्रकृष्टानन्दस्वरूपं, (पदं) पदनीयं सर्वोत्तमोपायैर्मनुष्यैः प्रापणीयं मोक्षाख्यमस्ति, तत् (सूरयः) विद्वांसः सदा सर्वेषु कालेषु पश्यन्ति, कीदृशं तत् (आततम्) आ समन्तात्ततं विस्तृतं, यद्देशकालवस्तुपरिच्छेदरहितमस्ति, अतः सर्वैः सर्वत्र तदुपलभ्यते, तस्य ब्रह्मस्वरूपस्य विभुत्वात् । कस्यां किमिव ? (दिवीव चक्षुराततम्) दिवि मार्त्तण्डप्रकाशे नेत्रदृष्टेर्व्याप्तिर्यथा भवति तथैव तत्पदं ब्रह्मापि वर्त्तते, मोक्षस्य च सर्वस्मादधिकोत्कृष्टत्वात् तदेव द्रष्टुं प्राप्तुमिच्छन्ति । अतो वेदा विशेषेण तस्यैव प्रतिपादनं कुर्वन्ति । एतद्विषयकं वेदान्तसूत्रं व्यासोप्याह । तत्तु समन्वयात् । अ० १ । पा० १ । सू० ४ । अस्यायमर्थः । तदेव ब्रह्म सर्वत्र वेदवाक्येषु समन्वितं प्रतिपादितमस्ति । क्वचित्साक्षात्क्वचित्परम्परया च । अतः परमोर्थो वेदानां ब्रह्मैवास्ति । तथा यजुर्वेदे प्रमाणम् । यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा । प्रजापतिः प्रजया सꣳरराणस्त्रीणि ज्योतीꣳषि सचते स षोडशी ॥ य० अ० ८ । मं० ३६ । एतस्यार्थः । (यस्मात्) नैव परब्रह्मणः सकाशात् (परः) उत्तमः पदार्थः (जातः) प्रादुर्भूतः प्रकटः (अन्यः) भिन्नः कश्चिदप्यस्ति, (प्रजापतिः) प्रजापतिरिति ब्रह्मणो नामास्ति प्रजापालकत्वात्, (य आविवेश भु०) यः परमेश्वरः (विश्वा) विश्वानि सर्वाणि (भुवनानि) सर्वलोकान् (आविवेश) व्याप्तवानस्ति, (सꣳरराणः) सर्वप्राणिभ्योऽत्यन्तं सुखं दत्तवान् सन् (त्रीणि ज्योतीꣳषि) त्रीण्यग्निसूर्यविद्युदाख्यानि सर्वजगत्प्रकाशकानि (प्रजया) ज्योतिषोऽन्यया सृष्ट्या सह तानि (सचते) समवेतानि करोति कृतवानस्ति, (सः) अतः स एवेश्वरः (षोडशी) येन षोडशकला जगति रचितास्ता विद्यन्ते यस्मिन्नस्य वा तस्मात्स षोडशीत्युच्यते । अतोऽयमेव परमोर्थो वेदितव्यः ॥ ओमित्येतदक्षरमिदꣳ सर्वं तस्योपव्याख्यानम् ॥ इदं माण्डूक्योपनिषद्वचनमस्ति । अस्यायमर्थः । ओमित्येतद्यस्य नामास्ति तदक्षरम् । यन्न क्षीयते कदाचिद्यच्चराचरं जगदश्नुते व्याप्नोति तद्ब्रह्मैवास्तीति विज्ञेयम् । अस्यैव सर्ववेदादिभिः शास्त्रैः सकलेन जगता वोपगतं व्याख्यानं मुख्यतया क्रियतेतोऽयं

प्रधानविषयोऽस्तीत्यवधार्य्यम् । किं च नैव प्रधानस्याग्रेऽप्रधानस्य ग्रहणं भवितुमर्हति । प्रधानाप्रधानयोः प्रधाने कार्य्यसम्प्रत्यय इति व्याकरणमहाभाष्यवचनप्रामाण्यात् । एवमेव सर्वेषां वेदानामीश्वरे मुख्येऽर्थे मुख्यतात्पर्यमस्ति । तत्प्राप्तिप्रयोजना एव सर्वे उपदेशाः सन्ति । अतस्तदुपदेशपुरःसरेणैव त्रयाणां कर्मोपासनाज्ञानकाण्डानां पारमार्थिकव्यावहारिकफलसिद्धये यथायोग्योपकाराय चानुष्ठानं सर्वैर्मनुष्यैर्यथावत्कर्त्तव्यमिति ।

भाषार्थ

और भी इस विषय में ऋग्वेद का प्रमाण है कि (तद्वि०) । (विष्णुः) अर्थात् व्यापक जो परमेश्वर है उस का (परमं) अत्यन्त उत्तम आनन्दस्वरूप (पदं) जो प्राप्ति होने के योग्य अर्थात् जिस का नाम मोक्ष है उस को (सूरयः) विद्वान लोग (सदा पश्यन्ति) सब काल में देखते हैं । वह कैसा है कि सब में व्याप्त हो रहा है और उसमें देश काल और वस्तु का भेद नहीं है अर्थात् उस देश में है और इस देश में नहीं तथा उस काल में था और इस काल में नहीं, उस वस्तु में है और इस वस्तु में नहीं, इसी कारण से वह पद सब जगह में सब को प्राप्त होता है, क्योंकि वह ब्रह्म सब ठिकाने परिपूर्ण है । इस में यह दृष्टान्त है कि (दिवीव चक्षुराततम्) जैसे सूर्य का प्रकाश आवरणरहित आकाश में व्याप्त होता है और जैसे उस प्रकाश में नेत्र की दृष्टि व्याप्त होती है इसी प्रकार परब्रह्म पद भी स्वयंप्रकाश, सर्वत्र व्याप्तवान् हो रहा है । उस पद की प्राप्ति से कोई भी प्राप्ति उत्तम नहीं है । इसलिये चारों वेद उसी की प्राप्ति कराने के लिये विशेष करके प्रतिपादन कर रहे हैं । इस विषय में वेदान्तशास्त्र में व्यासमुनि के सूत्र का भी प्रमाण है (तत्तुसमन्वयात्) । सब वेदवाक्यों में ब्रह्म का ही विशेष करके प्रतिपादन है । कहीं २ साक्षात्‌रूप और कहीं २ परम्परा से । इसी कारण से वह परब्रह्म वेदों का परम अर्थ है । तथा इस विषय में यजुर्वेद का भी प्रमाण है कि (यस्मान्न जा०) । जिस परब्रह्म से (अन्यः) दूसरा कोई भी (परः) उत्तम पदार्थ (जातः) प्रकट (नास्ति) अर्थात् नहीं है, (य आविवेश भु०) जो सब विश्व अर्थात् सब जगह में व्याप्त हो रहा है,

(प्रजापतिः प्र०) वही सब जगत् का पालनकर्त्ता और अध्यक्ष है, जिस ने (त्रीणि ज्योतीꣳषि) अग्नि सूर्य और बिजुली इन तीन ज्योतियों को प्रजा के प्रकाश होने के लिये (सचते) रचके संयुक्त किया है और जिस का नाम (षोडशी) है, अर्थात् (१) ईक्षण जो यथार्थविचार (२) प्राण जो कि सब विश्व का धारण करनेवाला (३) श्रद्धा सत्य में विश्वास (४) आकाश (५) वायु (६) अग्नि (७) जल (८) पृथिवी (९) इन्द्रिय (१०) मन अर्थात् ज्ञान (११) अन्न (१२) वीर्य अर्थात् बल और पराक्रम (१३) तप अर्थात् धर्म्मानुष्ठान सत्याचार (१४) मन्त्र अर्थात् वेदविद्या (१५) कर्म अर्थात् सब चेष्टा (१६) नाम अर्थात् दृश्य और अदृश्य पदार्थों की संज्ञा, ये ही सोलह कला कहाती हैं। ये सब ईश्वर ही के बीच में हैं इससे उस को षोडशी कहते हैं। इन षोडश कलाओं का प्रतिपादन प्रश्नोपनिषद् के (६) छठे प्रश्न में लिखा है। इस से परमेश्वर ही वेदों का मुख्य अर्थ है और उससे पृथक् जो यह जगत् है सो वेदों का गौण अर्थ है। और इन दोनों में से प्रधान का ही ग्रहण होता है। इस से क्या आया कि वेदों का मुख्य तात्पर्य परमेश्वर ही के प्राप्त कराने और प्रतिपादन करने में है। उस परमेश्वर के उपदेशरूप वेदों से कर्म, उपासना और ज्ञान इन तीनों काण्डों का इस लोक और परलोक के व्यवहारों के फलों की सिद्धि और यथावत् उपकार करने के लिये सब मनुष्य इन चार विषयों के अनुष्ठानों में पुरुषार्थ करें, यही मनुष्यदेह धारण करने के फल हैं।

तत्र द्वितीयो विषयः कर्मकाण्डाख्यः, स सर्वः क्रियामयोऽस्ति। नैतेन विना विद्याभ्यासज्ञाने अपि पूर्णे भवतः। कुतः। बाह्यमानसव्यवहारयोर्बाह्याभ्यन्तरे युक्तत्वात्। स चानेकविधोऽस्ति। परन्तु तस्यापि खलु द्वौ भेदौ मुख्यौ स्तः। एकः परमपुरुषार्थसिद्ध्यर्थोऽर्थाद्य ईश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासनाज्ञापालनधर्मानुष्ठानज्ञानेन मोक्षमेव साधयितुं प्रवर्त्तते। अपरो लोकव्यवहारसिद्धये यो धर्मेणार्थकामौ निर्वर्त्तयितुं संयोज्यते। स यदा परमेश्वरस्य प्राप्तिमेव फलमुद्दिश्य क्रियते तदाऽयं श्रेष्ठफलापन्नो निष्कामसंज्ञां लभते। अस्य

खल्वनन्तसुखेन योगात् । यदाचार्थकामफलसिद्ध्यवसानो लौकिकसुखाय योज्यते तदा सोऽपरः सकाम एव भवति । अस्य जन्ममरणफलभोगेन युक्तत्वात् । स चाग्निहोत्रमारभ्याश्वमेधपर्यन्तेषु यज्ञेषु सुगन्धिमिष्टपुष्टरोगनाशकगुणैर्युक्तस्य सम्यक् संस्कारेण शोधितस्य द्रव्यस्य वायुवृष्टिजलशुद्धिकरणार्थमग्नौ होमः क्रियते स तद्द्वारा सर्वजगत्सुखकार्य्येव भवति । यं च भोजनाच्छादनयानकलाकौशलयंत्रसामाजिकनियमप्रयोजनसिद्ध्यर्थं विधत्ते सोधिकतया स्वसुखायैव भवति ।

भाषार्थ

उन में से दूसरा कर्मकाण्ड विषय है सो सब क्रियाप्रधान ही होता है। जिस के विना विद्याभ्यास और ज्ञान पूर्ण नहीं हो सकते । क्योंकि मन का योग बाहर की क्रिया और भीतर के व्यवहार में सदा रहता है । वह अनेक प्रकार का है परन्तु उस के दो भेद मुख्य हैं । एक परमार्थ, दूसरा लोकव्यवहार अर्थात् पहिले से परमार्थ और दूसरे से लोकव्यवहार की सिद्धि करनी होती है । प्रथम जो परमपुरुषार्थरूप कहा उस में परमेश्वर की (स्तुति) अर्थात् उसके सर्वशक्तिमत्वादि गुणों का कीर्त्तन, उपदेश और श्रवण करना, (प्रार्थना) अर्थात् जिस करके ईश्वर से सहायता की इच्छा करनी, (उपासना) अर्थात् ईश्वर के स्वरूप में मग्न होके उसकी सत्यभाषणादि आज्ञा का यथावत् पालन करना, सो उपासना वेद और पातञ्जलयोगशास्त्र की रीति से ही करनी चाहिये । तथा धर्म का स्वरूप न्यायाचरण है । न्यायाचरण उस को कहते हैं जो पक्षपात को छोड़ के सब प्रकार से सत्य का ग्रहण और असत्य का परित्याग करना । इसी धर्म का जो ज्ञान और अनुष्ठान का यथावत् करना है सो ही कर्मकाण्ड का प्रधान भाग है और दूसरा यह है कि जिससे पूर्वोक्त अर्थ, काम और उनकी सिद्धि करनेवाले साधनों की प्राप्ति होती है । सो इस भेद को इस प्रकार से जानना कि जब मोक्ष अर्थात् सब दुःखों से छूट के केवल परमेश्वर की ही प्राप्ति के लिये धर्म मे युक्त सब कर्मों का यथावत् करना यही निष्काम मार्ग कहाता है. क्योंकि इस में संसार के भोगों की

कामना नहीं की जाती । इसी कारण से इस का फल अक्षय है । और जिस में संसार के भोगों की इच्छा से धर्मयुक्त काम किये जाते हैं उसको सकाम कहते हैं । इस हेतु से इस का फल नाशवान् होता है, क्योंकि सब कर्मों करके इन्द्रिय भोगों को प्राप्त हो के जन्म मरण से नहीं छूट सकता । सो अग्निहोत्र से लेके अश्वमेधपर्यन्त जो कर्मकाण्ड है उसमें चार प्रकार के द्रव्यों का होम करना होता है । एक सुगन्धगुणयुक्त जो कस्तूरी केशरादि हैं, दूसरा मिष्टगुणयुक्त जो कि गुड़ और सहत आदि कहाते हैं, तीसरा पुष्टिकारकगुणयुक्त जो घृत, दुग्ध और अन्न आदि हैं और चौथा रोगनाशकगुणयुक्त जो कि सोमलतादि ओषधि आदि हैं । इन चारों का परस्पर शोधन, संस्कार और यथायोग्य मिला के अग्नि में युक्तिपूर्वक जो होम किया जाता है वह वायु और वृष्टिजल की शुद्धि करनेवाला होता है । इस से सब जगत् को सुख होता है । और जिस को भोजन, छादन, विमानादि यान, कलाकुशलता, यन्त्र और सामाजिक नियम होने के लिये करते हैं वह अधिकांश से कर्त्ता को ही सुख देने वाला होता है ।

अत्र पूर्वमीमांसायाः प्रमाणम् । द्रव्यसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात्फलश्रुतिरर्थवादः स्यात् ॥ अ० ४ । पा० ३ । सू० १ ॥ द्रव्याणां तु क्रियार्थानां संस्कारः क्रतुधर्मः स्यात् ॥ अ० ४ । पा० ३ । सू० ८ ॥ अनयोरर्थः । द्रव्यं संस्कारः कर्म चैतत्त्रयं यज्ञकर्त्रा कर्त्तव्यम् । द्रव्याणि पूर्वोक्तानि चतुःसंख्याकानि सुगन्धादिगुणयुक्तान्येव गृहीत्वा तेषां परस्परमुत्तमोत्तमगुणसंपादनार्थं संस्कारः कर्त्तव्यः । यथा सूपादीनां संस्कारार्थं सुगन्धयुक्तं घृतं चमसे संस्थाप्याग्नौ प्रतप्य सधूमे जाते सति तं सूपपात्रे प्रवेश्य तन्मुखं बद्ध्वा प्रचालयेच्च तदा यः पूर्वं धूमवद्बाष्प उत्थितः स सर्वः सुगन्धो हि जलं भूत्वा प्रविष्टः सन्सर्वं सूपं सुगन्धमेव करोति तेन पुष्टिरुचिकरश्च भवति । तथैव यज्ञाद्यो बाष्पो जायते स वायुं वृष्टिजलं च निर्दोषं कृत्वा सर्वजगते सुखायैव भवति । अतश्चोक्तम् । यज्ञोपि तस्यै जनतायै कल्पते यत्रैवं विद्वान् होता भवति ॥ ऐ० ब्रा० मं० १ । अ० २ ॥ जनानां समूहो जनता तत्सुखायैव यज्ञो भवति यस्मिन्यज्ञेऽमुना प्रकारेण विद्वान् संस्कृतद्रव्याणामग्नौ

होमं करोति । कुतः । तस्य परार्थत्वात् । यज्ञः परोपकारायैव भवति । अतएव फलस्य श्रुतिः श्रवणमर्थवादोऽनर्थवारणाय भवति । तथैव होमक्रियार्थानां द्रव्याणां पुरुषाणां च यः संस्कारो भवति स एव क्रतुधर्मो बोध्यः । एवं क्रतुना यज्ञेन धर्मो जायते नान्यथेति ।

भाषार्थ

इस में पूर्वमीमांसा धर्मशास्त्र की भी सम्मति है (द्रव्य०) । एक तो द्रव्य, दूसरा संस्कार और तीसरा उन का यथावत् उपयोग करना ये तीनों बात यज्ञ के कर्त्ता को अवश्य करना चाहिये । सो पूर्वोक्त सुगन्धादियुक्त चार प्रकार के द्रव्यों का अच्छी प्रकार संस्कार करके अग्नि में होम करने से जगत् का अत्यन्त उपकार होता है । जैसे दाल और शाक आदि में सुगन्धद्रव्य और घी इन दोनों को चमचे में अग्नि पर तपा के उन में छोंक देने से वे सुगन्धित हो जाते हैं, क्योंकि उस सुगन्ध द्रव्य और घी के अणु उन को सुगन्धित करके दाल आदि पदार्थों को पुष्टि और रुचि बढ़ाने वाले कर देते हैं, वैसे ही यज्ञ से जो भाफ उठता है वह भी वायु और वृष्टि के जल को निर्दोष और सुगन्धित करके सब जगत् को सुख करता है । इससे वह यज्ञ परोपकार के लिये ही होता है । इसमें ऐतरेय ब्राह्मण का प्रमाण है कि (यज्ञोपि त०) । अर्थात् जनता नाम जो मनुष्यों का समूह है उसी के सुख के लिये यज्ञ होता है और संस्कार किये द्रव्यों का होम करने वाला जो विद्वान् मनुष्य है वह भी आनन्द को प्राप्त होता है, क्योंकि जो मनुष्य जगत् का जितना उपकार करेगा उसको उतना ही ईश्वर की व्यवस्था से सुख प्राप्त होगा । इसलिये यज्ञ का अर्थवाद * यह है कि अनर्थ दोषों को हटा के जगत् में आनन्द को बढ़ाता है । परन्तु होम के द्रव्यों का उत्तम संस्कार और होम के करने वाले मनुष्यों को होम करने की श्रेष्ठ विद्या अवश्य होनी चाहिये । सो इसी प्रकार के यज्ञ करने से सबको उत्तम फल प्राप्त होता है, विशेष करके यज्ञकर्त्ता को, अन्यथा नहीं ।

* इस शब्द का अर्थ आगे वेदसंज्ञा प्रकरण में लिखा जायगा ।

अत्र प्रमाणम् । अग्नेर्वै धूमो जायते धूमादभ्रमभ्राद्वृष्टिरग्नेर्वा एता जायन्ते तस्मादाह तपोजा इति ॥ श० कां० ५ । अ० ३ ॥ अस्यायमभिप्रायः । अग्नेः सकाशाद्धूमबाष्पौ जायेते यदाऽयमग्निर्वृक्षौषधिवनस्पतिजलादिपदार्थान्प्रविश्य तान्संहतान् विभिद्य तेभ्यो रसं च पृथक् करोति । पुनस्ते लघुत्वमापन्ना वाय्वाधारेणोपर्य्याकाशं गच्छन्ति । तत्र यावान् जलरसांशस्तावतो बाष्पसंज्ञास्ति । यश्च निःस्नेहो भागः स पृथिव्यंशोस्ति । अतएवोभयभागयुक्तो धूमइत्युपचर्य्यते । पुनर्धूमगमनानन्तरमाकाशे जलसंचयो भवति । तस्मादभ्रं घना जायन्ते । तेभ्यो वायुदलेभ्यो वृष्टिर्जायते । अतोऽग्नेरेवैता यवादय ओषधयो जायन्ते ताभ्योऽन्नमन्नाद्वीर्यं वीर्य्याच्छरीराणि भवन्तीति ।

भाषार्थ

इस में शतपथ ब्राह्मण का भी प्रमाण है, कि (अग्ने०) । जो होम करने के द्रव्य अग्नि में डाले जाते हैं उन से धुआं और भाफ उत्पन्न होते हैं, क्योंकि अग्नि का यही स्वभाव है कि पदार्थों में प्रवेश करके उन को भिन्न २ कर देता है, फिर वे हलके होके वायु के साथ ऊपर आकाश में चढ़ जाते हैं, उन में जितना जल का अंश है वह भाफ कहाता है और जो शुष्क है वह पृथ्वी का भाग है, इन दोनों के योग का नाम धूम है । जब वे परमाणु मेघमण्डल में वायु के आधार से रहते हैं फिर वे परस्पर मिल के बादल होके उन से वृष्टि, वृष्टि से ओषधि, ओषधियों से अन्न, अन्न से धातु, धातुओं से शरीर और शरीर से कर्म बनता है ।

अत्र विषये तैत्तिरीयोपनिषद्यप्युक्तम् । तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः आकाशाद्वायुः वायोरग्निः अग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवी पृथिव्या ओषधयः ओषधिभ्योऽन्नं अन्नाद्रेतः रेतसः पुरुषः स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः । आनन्दवल्ल्यां * प्रथमेनुवाके ॥ स तपोतप्यत् तपस्तप्त्वा अन्नं ब्रह्मेति विजानात् † । अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते अन्नेन जातानि

* ब्रह्मवल्ल्यामेषपाठः, † उपनिषदि व्यजानादिति पाठः ॥

जीवन्ति अन्नं प्रयन्त्याभिसंविशन्ती,ति भृगुवल्ल्यां द्वितीयेऽनुवाके । अन्नं ब्रह्मेत्युच्यते जीवनस्य बृहद्धेतुत्वात् । शुद्धान्नजलवाय्वादिद्वारैव प्राणिनां सुखं भवति नातोन्यथेति ।

भाषार्थ

इस विषय में तैत्तिरीय उपनिषद् का भी प्रमाण है कि (तस्माद्वा०) । परमात्मा के अनन्त सामर्थ्य से आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी आदि तत्व उत्पन्न हुए हैं और उन में ही पूर्वोक्त क्रम के अनुसार शरीर आदि उत्पत्ति, जीवन और प्रलय को प्राप्त होते हैं । यहां ब्रह्म का नाम अन्न और अन्न का नाम ब्रह्म भी है, क्योंकि जिस का जो कार्य है वह उसी में मिलता है । वैसे ही ईश्वर के सामर्थ्य से जगत् की तीनों अवस्था होती हैं और सब जीवों के जीवन का मुख्य साधन है इस से अन्न को ब्रह्म कहते हैं । जब होम से वायु, जल और ओषधि आदि शुद्ध होते हैं तब सब जगत् को सुख और अशुद्ध होने से सब को दुःख होता है इस से इन की शुद्धि अवश्य करनी चाहिये ।

तत्र द्विविधः प्रयत्नोस्तीश्वरकृतो जीवकृतश्च । ईश्वरेण खल्वग्निमयः सूर्यो निर्मितः सुगन्धपुष्पादिश्च । स निरन्तरं सर्वस्माज्जगतो रसाऽऽकर्षति । तस्य सुगन्धदुर्गन्धाणुसंयोगत्वेन तज्जलवायू अपीष्टानिष्टगुणयोगान्मध्यगुणौ भवतस्तयोः सुगन्धदुर्गन्धमिश्रितत्वात् । तज्जलवृष्ट्यौषध्यन्नशरीराण्यपि मध्यमान्येव भवन्ति । तन्मध्यमत्वाद्बलबुद्धिवीर्यपराक्रमधैर्यशौर्य्यादयोपि गुणा मध्यमा एव जायन्ते । कुतः । यस्य यादृशं कारणमस्ति तस्य तादृशमेव कार्य्यं भवतीति दर्शनात् । अयं खल्वीश्वरसृष्टेर्दोषो नास्ति । कुतः । दुर्गन्धादिविकारस्य मनुष्यसृष्ट्यन्तर्भावात् । यतो दुर्गन्धादिविकारस्योत्पत्तिर्मनुष्यादिभ्य एव भवति तस्मादस्य निवारणमपि मनुष्यैरेव करणीयमिति । यथेश्वरेणाज्ञा दत्ता सत्यभाषणमेव कर्त्तव्यं नानृतमिति यस्तामुल्लङ्घ्य प्रवर्त्तते स पापीयान्भूत्वा क्लेशं चेश्वरव्यवस्थया प्राप्नोति । तथा यज्ञः कर्त्तव्य इतीयमप्याज्ञा तेनैव दत्तास्ति तामपि य उल्लङ्घयति सोपि पापीयान्सन् क्लेशवांश्च भवति ।

भावार्थ

सो उन की शुद्धि करने में दो प्रकार का प्रयत्न है। एक तो ईश्वर का किया हुआ और दूसरा जीव का। उन में से ईश्वर का किया यह है कि उस ने अग्निरूप सूर्य और सुगन्धरूप पुष्पादि पदार्थों को उत्पन्न किया है। वह सूर्य निरन्तर सब जगत् के रसों को पूर्वोक्त प्रकार से ऊपर खैंचता है और जो पुष्पादि का सुगन्ध है वह भी दुर्गन्ध को निवारण करता रहता है। परन्तु वे परमाणु सुगन्ध और दुर्गन्ध युक्त होने से जल और वायु को भी मध्यम कर देते हैं। उस जल की वृष्टि से ओषधि, अन्न, वीर्य और शरीर आदि भी मध्यम गुणवाले हो जाते हैं और उन के योग से बुद्धि, बल, पराक्रम, धैर्य और शूरवीरतादि गुण भी निकृष्ट ही होते हैं। क्योंकि जिस का जैसा कारण होता है उस का वैसा ही कार्य होता है। यह दुर्गन्ध से वायु और वृष्टि जल का दोषयुक्त होना सर्वत्र देखने में आता है। सो यह दोष ईश्वर की सृष्टि से नहीं किन्तु मनुष्यों ही की सृष्टि से होता है। इस कारण से उसका निवारण करना भी मनुष्यों ही को उचित है। जैसे ईश्वर ने सत्यभाषणादि धर्मव्यवहार करने की आज्ञा दी है मिथ्याभाषणादि की नहीं, जो इस आज्ञा से उलटा काम करता है वह अत्यन्त पापी होता है, और ईश्वर की न्यायव्यवस्था से उसको क्लेश भी होता है, वैसे ही ईश्वर ने मनुष्यों को यज्ञ करने की आज्ञा दी है इसको जो नहीं करता वह भी पापी हो के दुःख का भागी होता है।

कुतः। सर्वोपकाराकरणात्। यत्र खलु यावान्मनुष्यादिप्राणिसमुदायो भवति तत्र तावानेव दुर्गन्धसमुदायो जायते। न चैवायमीश्वरसृष्टिनिमित्तो भवितुमर्हति। कुतः। तस्य मनुष्यादिप्राणिसमुदायनिमित्तोत्पन्नत्वात्। यत्तु खलु मनुष्याः स्वसुखार्थं हस्त्यादिप्राणिनामेकत्र बाहुल्यं कुर्वन्ति, अतस्तज्जन्योऽप्यधिको दुर्गन्धो मनुष्यसुखेच्छानिमित्त एव जायते। एवं वायुवृष्टिजलदूषकः सर्वो दुर्गन्धो मनुष्यनिमित्तादेवोत्पद्यतेऽतस्तस्य निवारणमपि मनुष्या एव कर्त्तुमर्हन्ति।

भाषार्थ

क्योंकि सब के उपकार करने वाले यज्ञ को नहीं करने से मनुष्यों को दोष लगता है। जहां जितने मनुष्य आदि के समुदाय अधिक होते हैं वहां उतना ही दुर्गन्ध भी अधिक होता है। वह ईश्वर की सृष्टि से नहीं, किन्तु मनुष्यादि प्राणियों के निमित्त से ही उत्पन्न होता है, क्योंकि हस्ति आदि के समुदायों को मनुष्य अपने ही सुख के लिये इकट्ठा करते हैं, इससे उन पशुओं से भी जो अधिक दुर्गन्ध उत्पन्न होता है सो मनुष्यों के ही सुख की इच्छा से होता है, इससे क्या आया कि जब वायु और वृष्टिजल को बिगाड़ने वाला सब दुर्गन्ध मनुष्यों के ही निमित्त से उत्पन्न होता है तो उस का निवारण करना भी उन को ही योग्य है।

तेषां मध्यान्मनुष्या एवोपकारानुपकारौ वेदितुमर्हाः सन्ति। मननं विचारस्तद्योगादेव मनुष्यत्वं जायते। परमेश्वरेण हि सर्वदेहधारिप्राणिनां मध्ये मनस्विनो विज्ञानं कर्तुं योग्या मनुष्या एव सृष्टास्तद्देहेषु परमाणुसंयोगविशेषेण विज्ञानभवनानुकूलानामवयवानामुत्पादितत्वात्। अतस्त एव धर्माधर्मयोर्ज्ञानमनुष्ठानाननुष्ठाने च कर्तुमर्हन्ति न चान्ये। अस्मात्कारणात्सर्वोपकाराय सर्वैर्मनुष्यैर्यज्ञः कर्त्तव्य एव।

भाषार्थ

क्योंकि जितने प्राणी देहधारी जगत् में हैं उन में से मनुष्य ही उत्तम हैं इस से वे ही उपकार और अनुपकार को जानने को योग्य हैं। मनन नाम विचार का है, जिस के होने से ही मनुष्य नाम होता है, अन्यथा नहीं, क्योंकि ईश्वर ने मनुष्य के शरीर में परमाणु आदि के संयोगविशेष इस प्रकार के रचे हैं कि जिन से उन को ज्ञान की उन्नति होती है, इसी कारण से धर्म का अनुष्ठान और अधर्म का त्याग करने को भी वे ही योग्य होते हैं, अन्य नहीं। इससे सब के उपकार के लिये यज्ञ का अनुष्ठान भी उन्हीं को करना उचित है।

किंच भोः कस्तूर्य्यादीनां सुरभियुक्तानां द्रव्याणामग्नौ प्रक्षेपणेन विनाशात्कथमुपकाराय यज्ञो भवितुमर्हतीति । किन्त्वीदृशैरुत्तमैः पदार्थैर्मनुष्यादिभ्यो भोजनादिदानेनोपकारे कृते होमादप्युत्तमं फलं जायते पुनः किमर्थं यज्ञकरणमिति ? अत्रोच्यते । नात्यन्तो विनाशः कस्यापि संभवति । विनाशो हि यद्दृश्यं भूत्वा पुनर्न दृश्येतेति विज्ञायते । परन्तु दर्शनं त्वया कतिविधं स्वीक्रियते ? । अष्टविधं चेति । किंच तत् ? । अत्राहुर्गोतमाचार्य्या न्यायशास्त्रे । इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारिव्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् ॥ १ ॥ अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतोदृष्टं च ॥ २ ॥ प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानम् ॥ ३ ॥ आप्तोपदेशः शब्दः ॥ ४ ॥ अ० १ । आह्निकम् १ । सू० ४ । ५ । ६ । ७ ॥ प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दैतिह्यार्थापत्तिसम्भवाभावसाधनभेदादष्टधाप्रमाणं मया मन्यत इति । तत्र यदिन्द्रियार्थसम्बन्धात्सत्यमव्यभिचारिज्ञानमुत्पद्यते तत्प्रत्यक्षम् । सन्निकटे दर्शनान्मनुष्योयं नान्य इत्याद्युदाहरणम् ॥ १ ॥ यत्र लिङ्गज्ञानेन लिङ्गिनो ज्ञानं जायते तदनुमानम् । पुत्रं दृष्ट्वाऽऽसीदस्य पितेत्याद्युदाहरणम् ॥ २ ॥ उपमानं सादृश्यज्ञानं यथा देवदत्तोस्ति तथैव यज्ञदत्तोप्यस्तीति साधर्म्यादुपदिशतीत्याद्युदाहरणम् ॥ ३ ॥ शब्द्यते प्रत्याय्यते दृष्टोऽदृष्टश्चार्थो येन स शब्दः । ज्ञानेन मोक्षो भवतीत्याद्युदाहरणम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ

प्र०—सुगन्धयुक्त जो कस्तूरी आदि पदार्थ हैं उन को अन्य द्रव्यों में मिला के अग्नि में डालने से उनका नाश होजाता है फिर यज्ञ से किसी प्रकार का उपकार नहीं हो सकता किन्तु ऐसे उत्तम २ पदार्थ मनुष्यों को भोजनादि के लिये देने से होम से भी अधिक उपकार हो सकता है फिर यज्ञ करना किसलिये चाहिये ? उ०—किसी पदार्थ का विनाश नहीं होता केवल वियोगमात्र होता है, परन्तु यह तो कहिये कि आप विनाश किसको कहते हैं ? उ०—जो स्थूल होके प्रथम देखने में आकर फिर न देख पड़े उसको हम विनाश कहते हैं । प्र०—आप कितने प्रकार का दर्शन मानते हैं ? उ०—आठ प्रकार का ।

प्र०—कौन २ से ? उ०—प्रत्यक्ष १, अनुमान २, उपमान ३, शब्द ४, ऐतिह्य ५, अर्थापत्ति ६, सम्भव ७ और अभाव ८, इस भेद से हम आठ प्रकार का दर्शन मानते हैं। (इन्द्रियार्थ०) इन में से प्रत्यक्ष उसको कहते हैं कि जो चक्षु आदि इन्द्रिय और रूप आदि विषयों के सम्बन्ध से सत्यज्ञान उत्पन्न हो, जैसे दूर से देखने में संदेह हुआ कि वह मनुष्य है वा कुछ और फिर उस के समीप होने से निश्चय होता है कि यह मनुष्य ही है अन्य नहीं इत्यादि प्रत्यक्ष के उदाहरण हैं ॥ १ ॥ (अथ तत्पू०) और जो किसी पदार्थ के चिह्न देखने से उसी पदार्थ का यथावत् ज्ञान हो वह अनुमान कहाता है, जैसे किसी के पुत्र को देखने से ज्ञान होता है कि इस के माता पिता आदि हैं वा अवश्य थे इत्यादि उसके उदाहरण हैं ॥ २ ॥ (प्रसिद्ध०) तीसरा उपमान कि जिससे किसी का तुल्य धर्म देख के समान धर्मवाले का ज्ञान हो, जैसे किसी ने किसी से कहा कि जिस प्रकार का यह देवदत्त है उसी प्रकार का वह यज्ञदत्त भी है, उस के पास जाके इस काम को कर ला, इस प्रकार के तुल्य धर्म से जो ज्ञान होता है उसको उपमान कहते हैं ॥ ३ ॥ (आप्तोप०) चौथा शब्दप्रमाण है कि जो प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष अर्थ का निश्चय करानेवाला है, जैसे ज्ञान से मोक्ष होता है यह आप्तों के उपदेश शब्दप्रमाण का उदाहरण है ॥ ४ ॥

न चतुष्ट्वमैतिह्यार्थापत्तिसम्भवाभावप्रामाण्यात् ॥५॥ शब्द ऐतिह्यानर्थान्तरभावादनुमानेऽर्थापत्तिसम्भवाभावानर्थान्तरभावाच्चाप्रतिषेधः ॥६॥ अ० २। आ० २। सू० १। २॥ न चतुष्ट्वमिति सूत्रद्वयस्य संक्षिप्तोऽर्थः क्रियते। (ऐतिह्यं) शब्दोपगतमाप्तोपदिष्टं ग्राह्यम्। देवासुराः संयत्ता आसन्नित्यादि ॥ ५ ॥ (अर्थापत्तिः) अर्थादापद्यते सार्थापत्तिः, केनचिदुक्तं सत्सु घनेषु वृष्टिर्भवतीति। किमत्र प्रसज्यते ? असत्सु घनेषु न भवतीत्याद्युदाहरणम् ॥ ६ ॥ (सम्भवः) सम्भवति येन यस्मिन्वा स सम्भवः, केनचिदुक्तं मातापितृभ्यां सन्तानं जायते, सम्भवोऽस्तीति वाच्यम्। परन्तु कश्चिद्ब्रूयात्कुम्भकरणस्य क्रोशचतुष्टयपर्यन्तं श्मश्रुणः केशा ऊर्ध्वं स्थिता आसन्, षोडशक्रोशमूर्ध्वं नासिका चासम्भवत्वान्मिथ्यैवास्तीति विज्ञायते,

इत्याद्युदाहरणम् ॥ ७ ॥ (अभावः) कोपि ब्रूयाद् घटमानयेति स तत्र घटमपश्यन्नत्र घटो नास्तीत्यभावलक्षणेन यत्र घटो वर्त्तमानस्तस्मादानीयते ॥ ८ ॥ इति प्रत्यक्षादीनां संक्षेपतोर्थः । एवमष्टविधं दर्शनमर्थाज्ज्ञानं मया मन्यते । सत्यमेवमेतत् । नैवमङ्गीकारेण विना समग्रौ व्यवहारपरमार्थौ कस्यापि सिध्येताम् ।

भाषार्थ

(ऐतिह्यम्) सत्यवादी विद्वानों के कहे वा लिखे उपदेश का नाम इतिहास है, जैसा देव और असुर युद्ध करने के लिये तत्पर हुए थे । जो यह इतिहास ऐतरेय, शतपथ ब्राह्मणादि सत्य ग्रन्थों में लिखा है उसी का ग्रहण होता है, अन्य का नहीं । यह पांचवां प्रमाण है ॥ ५ ॥ और छठा (अर्थापत्तिः), जो एक बात किसी ने कही हो उस से विरुद्ध दूसरी बात समझी जावे, जैसे किसी ने कहा कि बादलों के होने से वृष्टि होती है दूसरे ने इतने ही कहने से जान लिया कि बादलों के विना वृष्टि कभी नहीं हो सकती, इस प्रकार के प्रमाण से जो ज्ञान होता है उस को अर्थापत्ति कहते हैं ॥ ६ ॥ सातवां (संभवः), जैसे किसी ने किसी से कहा कि माता पिता से सन्तानों की उत्पत्ति होती है तो दूसरा मान ले कि इस बात का तो संभव है, परन्तु जो कोई ऐसा कहे कि रावण के भाई कुम्भकरण की मूंछ चार कोश तक आकाश में ऊपर खड़ी रहती थी और उस की नाक (१६) सोलह कोश पर्यन्त लम्बी चौड़ी थी उस की यह बात मिथ्या समझी जायगी, क्योंकि ऐसी बात का संभव कभी नहीं हो सकता ॥ ७ ॥ और आठवां (अभावः), जैसे किसी ने किसी से कहा कि तुम घड़ा ले आओ और जब उसने वहां नहीं पाया तब वह जहां पर घड़ा था वहां से ले आया ॥ ८ ॥ इन आठ प्रकार के प्रमाणों को मैं मानता हूं । यहां इन आठों का अर्थ संक्षेप से किया है * । उ०—यह बात सत्य है कि इन के विना माने सम्पूर्ण व्यवहार और परमार्थ किसी का सिद्ध नहीं हो सकता । इस से इन आठों को हम लोग भी मानते हैं ।

* कहीं २ शब्द में ऐतिह्य और अनुमान में अर्थापत्ति, संभव और अभाव को मानने से ४ (चार) प्रमाण रहते हैं ।

यथा कश्चिदेकं मृत्पिण्डं विशेषतश्चूर्णीकृत्य वेगयुक्ते वायौ बाहुवेगेनाकाशं प्रतिक्षिपेत्तस्य नाशो भवतीत्युपचर्य्यते । चक्षुषा दर्शनाभावात् । (णश्) अदर्शने अस्माद् घञ्प्रत्यये कृते नाश इति शब्दः सिध्यति । अतो नाशो बाह्येन्द्रियाऽदर्शनमेव भवितुमर्हति । किंच यदा परमाणवः पृथक् २ भवन्ति तदा ते चक्षुषा नैव दृश्यन्ते तेषामतीन्द्रियत्वात् । यदा चैते मिलित्वा स्थूलभावमापद्यन्ते तदैव तद्द्रव्यं दृष्टिपथमागच्छति, स्थूलस्यैन्द्रियकत्वात् । यद्द्रव्यं विभक्तं विभक्तमन्ते विभागानर्हं भवति तस्य परमाणुसंज्ञा चेति व्यवहारः, ते हि विभक्ता अतीन्द्रियाः सन्त आकाशे वर्त्तन्त एव ।

भाषार्थ

नाश को समझने के लिये यह दृष्टान्त है कि कोई मनुष्य मट्टी के ढेले को पीस के वायु के बीच में बल से फेंक दे फिर जैसे वे छोटे २ कण आंख से नहीं दीखते, क्योंकि (णश्) धातु का अदर्शन ही अर्थ है, जब अणु अलग २ हो जाते हैं तब वे देखने में नहीं आते, इसी का नाम नाश है । और जब परमाणु के संयोग से स्थूल द्रव्य अर्थात् बड़ा होता है तब वह देखन में आता है। और परमाणु इसको कहते हैं कि जिसका विभाग फिर कभी न होसके । परन्तु यह बात केवल एकदेशी है, क्योंकि उसका भी ज्ञान से विभाग हो सकता है । जिसकी परिधि और व्यास बन सकता है उसका भी टुकड़ा हो सकता है । यहांतक कि जब पर्य्यन्त वह एकरस न हो जाय तब पर्य्यन्त ज्ञान से बराबर कटता ही चला जायगा ।

तथैवाग्नौ यद्द्रव्यं प्रक्षिप्यते तद्विभागं प्राप्य देशान्तरे वर्त्तत एव, न हि तस्याभावः कदाचिद्भवति । एवं यद्दुर्गन्धादिदोषनिवारकं सुगन्धादि द्रव्यमस्ति तच्चाग्नौ हुतं सद्वायोर्वृष्टिजलस्य शुद्धिकरं भवति । तस्मिन्निर्दोषे सति सृष्टये महान्ह्युपकारो भवति सुखं चातःकारणाद्यज्ञः कर्त्तव्य एवेति । किंच भोः । वायुवृष्टिजलशुद्धिकरणमेव यज्ञस्य प्रयोजनमस्ति चेत्तर्हि गृहाणां

मध्ये सुगन्धद्रव्यरक्षणेनतत्सेत्स्यति पुनः किमर्थमेतावानाडम्बरः ? । नैवं शक्यम् । नैव तेनाशुद्धो वायुः सूक्ष्मो भूत्वाऽऽकाशं गच्छति, तस्य पृथक्त्वलघुत्वाभावात् । तत्र तस्य स्थितौ सत्यां नैव बाह्यो वायुरागन्तुं शक्नोत्यवकाशाभावात् । तत्र पुनः सुगन्धदुर्गन्धयुक्तस्य वायोर्वर्त्तमानत्वादारोग्यादिकं फलमपि भवितुमशक्यमेवास्ति ।

भाषार्थ

वैसे ही जो सुगन्ध आदि युक्त द्रव्य अग्नि में डाला जाता है उसके अणु अलग २ हो के आकाश में रहते ही हैं, क्योंकि किसी द्रव्य का वस्तुता से अभाव नहीं होता । इस से वह द्रव्य दुर्गन्धादि दोषों का निवारण करने वाला अवश्य होता है । फिर उससे वायु और वृष्टिजल की शुद्धि के होने से जगत् का बड़ा उपकार और सुख अवश्य होता है । इस कारण से यज्ञ को करना ही चाहिये । प्र०—जो यज्ञ से वायु और वृष्टिजल की शुद्धि करनामात्र ही प्रयोजन है तो इस की सिद्धि अतर और पुष्पादि के घरों में रखने से भी हो सकती है, फिर इतना बड़ा परिश्रम यज्ञ में क्यों करना ? उ०—यह कार्य्य अन्य किसी प्रकार से सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि अतर और पुष्पादि का सुगन्ध तो उसी दुर्गन्ध वायु में मिल के रहता है, उस को छेदन करके बाहर नहीं निकाल सकता और न वह ऊपर चढ़ सकता है, क्योंकि उस में हलकापन नहीं होता । उसके उसी अवकाश में रहने से बाहर का शुद्ध वायु उस ठिकाने में जा भी नहीं सकता, क्योंकि खाली जगह के विना दूसरे का प्रवेश नहीं हो सकता, फिर सुगन्ध और दुर्गन्धयुक्त वायु के वहीं रहने से रोगनाशादि फल भी नहीं होते ।

यदा तु खलु तस्मिन् गृहेऽग्निमध्ये सुगन्ध्यादिद्रव्यस्य होमः क्रियते तदाऽग्निना पूर्वो वायुर्भेदं प्राप्य लघुत्वमापन्न उपर्य्याकाशं गच्छति । तस्मिन् गते सति तत्रावकाशत्वाच्चतसृभ्यो दिग्भ्यः शुद्धो वायुराद्रवति तेन गृहाकाशस्य पूर्णत्वादारोग्यादिकं फलमपि जायते ।

भाषार्थ

और जब अग्नि उस वायु को वहां से हलका करके निकाल देता है तब

वहां शुद्ध वायु भी प्रवेश कर सकता है । इसी कारण यह फल यज्ञ से ही हो सकता है अन्य प्रकार से नहीं । क्योंकि जो होम के परमाणुयुक्त शुद्ध वायु है सो पूर्वस्थित दुर्गन्धवायु को निकाल के उस देशस्थ वायु को शुद्ध करके रोगों का नाश करने वाला होता और मनुष्यादि सृष्टि को उत्तम सुख को प्राप्त करता है ।

यो होमेन सुगन्धयुक्तद्रव्यपरमाणुयुक्त उपरिगतो वायुर्भवति स वृष्टिजलं शुद्धं कृत्वा, वृष्ट्याधिक्यमपि करोति । तद्द्वारौषध्यादीनां शुद्धेरुत्तरोत्तरं जगति महत्सुखं वर्धत इति निश्चीयते । एतत्खल्वग्निसंयोगरहितसुगन्धेन वायुना भवितुमशक्यमस्ति । तस्माद्धोमकरणमुत्तममेव भवतीति निश्चेतव्यम् ।

भाषार्थ

जो वायु सुगन्ध्यादि द्रव्य के परमाणुओं से युक्त होमद्वारा आकाश में चढ़ के वृष्टिजल को शुद्ध कर देता और उससे वृष्टि भी अधिक होती है क्योंकि होम करके नीचे गर्मी अधिक होने से जल भी ऊपर अधिक चढ़ता है । शुद्ध जल और वायु के द्वारा अन्नादि ओषधि भी अत्यन्त शुद्ध होती हैं । ऐसे प्रतिदिन सुगन्ध के अधिक होने से जगत् में नित्यप्रति अधिक २ सुख बढ़ता है । यह फल अग्नि में होम करने के विना दूसरे प्रकार से होना असम्भव है । इससे होम का करना अवश्य है ।

अन्यच्च दूरस्थले केनचित्पुरुषेणाग्नौ सुगन्धद्रव्यस्य होमः क्रियते तद्युक्तो वायुर्दूरस्थमनुष्यस्य घ्राणेन्द्रियेण संयुक्तो भवति । सोऽत्र सुगन्धो वायुरस्तीति जानात्येव । अनेन विज्ञायते वायुना सह सुगन्धं दुर्गन्धं च द्रव्यं गच्छतीति । तद्यदा स दूरं गच्छति तदा तस्य घ्राणेन्द्रियसंयोगो न भवति पुनर्बालबुद्धीनां भ्रमो भवति स सुगन्धो नास्तीति । परन्तु तस्य हुतस्य पृथग्भूतस्य वायुस्थस्य सुगन्धयुक्तस्य द्रव्यस्य देशान्तरे वर्त्तमानत्वात्तैर्न विज्ञायते । अन्यदपि खलु होमकरणस्य बहुविधमुत्तमं फलमस्ति तद्विचारेण बुधैर्विज्ञेयमिति ।

भाषार्थ

और भी सुगन्ध के नाश नहीं होने में कारण है कि किसी पुरुष ने दूर देश में सुगन्ध चीजों का अग्नि में होम किया हो, उस सुगन्ध से युक्त जो वायु है सो होम के स्थान से दूर देश में स्थित हुए मनुष्य के नाक इन्द्रिय के साथ संयुक्त होने से उसको यह ज्ञान होता है कि यहां सुगन्ध वायु है। इससे जाना जाता है कि द्रव्य के अलग होने में भी द्रव्य का गुण द्रव्य के साथ ही बना रहता है और वह वायु के साथ सुगन्ध और दुर्गन्ध युक्त सूक्ष्म होके जाता आता है। परन्तु जब वह द्रव्य दूर चला जाता है तब उस के नाक इन्द्रिय से संयोग भी छूट जाता है, फिर बालबुद्धि मनुष्यों को ऐसा भ्रम होता है कि वह सुगन्धित द्रव्य नहीं रहा। परन्तु यह उनको अवश्य जानना चाहिये कि वह सुगन्ध द्रव्य आकाश में वायु के साथ बना ही रहता है। इन से अन्य भी होम करने के बहुतसे उत्तम फल हैं उनको बुद्धिमान् लोग विचार से जान लेंगे।

यदि होमकरणस्यैतत्फलमस्ति तद्धोमकरणमात्रेणैव सिध्यति पुनस्तत्र वेदमन्त्राणां पाठः किमर्थः क्रियते?। अत्र ब्रूमः। एतस्यान्यदेव फलमस्ति। किम्। यथा हस्तेन होमो, नेत्रेण दर्शनं, त्वचा स्पर्शनं च क्रियते, तथा वाचा वेदमन्त्रा अपि पठ्यन्ते। तत्पाठेनेश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासनाः क्रियन्ते। होमेन किं फलं भवतीत्यस्य ज्ञानं, तत्पाठानुवृत्त्या वेदमन्त्राणां रक्षणमीश्वरस्यास्तित्वसिद्धिश्च। अन्यच्च सर्वकर्मादावीश्वरस्य प्रार्थना कार्य्येत्युपदेशः। यज्ञे तु वेदमन्त्रोच्चारणात्सर्वत्रैव तत्प्रार्थना भवतीति वेदितव्यम्।

भाषार्थ

प्र०—होम करने का जो प्रयोजन है सो तो केवल होम से ही सिद्ध होता है फिर वहां वेदमन्त्रों के पढ़ने का क्या काम है? उ०—उनके पढ़ने का प्रयोजन कुछ और ही है। प्र०—वह क्या है? उ०—जैसे हाथ से होम करते, आंख से देखते और त्वचा से स्पर्श करते हैं, वैसे ही वाणी से वेदमन्त्रों को भी पढ़ते हैं। क्योंकि उन के पढ़ने से वेदों की रक्षा, ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना

और उपासना होती है। तथा होम से जो २ फल होते हैं उनका स्मरण भी होता है। वेदमन्त्रों के वारंवार पाठ करने से वे कण्ठस्थ भी रहते हैं और ईश्वर का होना भी विदित होता है कि कोई नास्तिक न होजाय, क्योंकि ईश्वर की प्रार्थनापूर्वक ही सब कर्मों का आरम्भ करना होता है। सो वेदमन्त्रों के उच्चारण से यज्ञ में तो उसकी प्रार्थना सर्वत्र होती है। इसलिये सब उत्तम कर्म वेदमन्त्रों से ही करना उचित है।

कश्चिदत्राह वेदमन्त्रोच्चारणं विहायान्यस्य कस्यचित्पाठस्तत्र क्रियेत तदा किं दूषणमस्तीति? अत्रोच्यते। नान्यस्य पाठे कृते सत्येतत्प्रयोजनं सिध्यति। कुतः। ईश्वरोक्ताभावान्निरतिशयसत्यविरहाच्च। यद्यद्धि यत्र क्वचित्सत्यं प्रसिद्धमस्ति तत्तत्सर्वं वेदादेव प्रसृतमिति विज्ञेयम्। यद्यत्खल्वनृतं तत्तदनीश्वरोक्तं वेदाद्बहिरिति च। अत्रार्थे मनुराह। त्वमेको ह्यस्य सर्वस्य विधानस्य स्वयंभुवः। अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य कार्य्यतत्त्वार्थवित्प्रभो॥ १॥ अ० १। श्लो० ३॥ चातुर्वर्ण्यं त्रयोलोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्। भूतं भव्यं भविष्यच्च सर्वं वेदात्प्रसिध्यति॥ २॥ बिभर्त्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम्। तस्मादेतत्परं मन्ये यज्जन्तोरस्य साधनम्॥ ३॥ अ० १२। श्लो० ९७। ९९॥

भाषार्थ

प्र०—यज्ञ में वेदमन्त्रों को छोड़ के दूसरे का पाठ करे तो क्या दोष है? उ०—अन्य के पाठ में यह प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता, ईश्वर के वचन से जो सत्य प्रयोजन सिद्ध होता है सो अन्य के वचन से कभी नहीं हो सकता, क्योंकि जैसा ईश्वर का वचन सर्वथा भ्रान्तिरहित सत्य होता है वैसा अन्य का नहीं और जो कोई वेदों के अनुकूल अर्थात् आत्मा की शुद्धि, आप्त पुरुषों के ग्रन्थों का बोध और उनकी शिक्षा से वेदों को यथावत् जानके कहता है उसका भी वचन सत्य ही होता है और जो केवल अपनी बुद्धि से कहता है वह ठीक २ नहीं हो सकता। इससे यह निश्चय है कि जहां २ सत्य दीखता और सुनने में आता है, वहां २ वेदों में से ही फैला है और जो २ मिथ्या है सो २ वेद से

नहीं, किन्तु वह जीवों ही की कल्पना से प्रसिद्ध हुआ है, क्योंकि जो ईश्वरोक्त ग्रन्थ से सत्य प्रयोजन सिद्ध होता है सो दूसरे से कभी नहीं हो सकता। इस विषय में मनु का प्रमाण है कि (त्वमे०)। मनुजी से ऋषि लोग कहते हैं कि स्वयंभू जो सनातन वेद हैं जिनमें असत्य कुछ भी नहीं और जिनमें सब सत्यविद्याओं का विधान है उनके अर्थ को जाननेवाले केवल आप ही हैं ॥ १॥ (चातु०) अर्थात् चार वर्ण, चार आश्रम, भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान आदि की सब विद्या वेदों से ही प्रसिद्ध होती हैं ॥ २॥ क्योंकि (बिभर्त्ति०) यह जो सनातन वेद शास्त्र है सो सब विद्याओं के दान से संपूर्ण प्राणियों का धारण और सब सुखों को प्राप्त करता है, इस कारण से हम लोग उसको सर्वथा उत्तम मानते हैं और इसी प्रकार मानना भी चाहिये, क्योंकि सब जीवों के लिये सब सुखों का साधन यही है।

किं यज्ञानुष्ठानार्थं भूमिं खनित्वा वेदिः, प्रणीतादीनि पात्राणि, कुशतृणं, यज्ञशाला, ऋत्विजश्चैतत्सर्वं करणीयमस्ति ?। अत्र ब्रूमः। यद्यदावश्यकं युक्तिसिद्धं तत्तत्कर्त्तव्यं, नेतरत्। तद्यथा। भूमिं खनित्वा वेदी रचनीया, तस्यां होमे कृतेऽग्नेस्तीव्रत्वाद्धुतं द्रव्यं सद्यो विभेदं प्राप्याकाशं गच्छति। तथा वेदिदृष्टान्तेन त्रिकोणचतुष्कोणगोलश्येनाद्याकारवत्करणाद्रेखागणितमपि साध्यते। तत्र चेष्टकानां परिगणितत्वादनया गणितविद्यापि गृह्यते। एवमेवोत्तरेऽपि पदार्थाः सप्रयोजनाः सन्त्येव, परन्त्वेवं प्रणीतायां रक्षितायां पुण्यं स्यादेवं पापमिति यदुच्यते तत्र पापनिमित्ताभावात्सा कल्पना मिथ्यैवास्ति। किंतु खलु यज्ञसिद्ध्यर्थं यद्यदावश्यकं युक्तिसिद्धमस्ति तत्तदेव ग्राह्यम्। कुतः। तैर्विना तदसिद्धेः।

भाषार्थ

प्र०—क्या यज्ञ करने के लिये पृथिवी खोद के वेदिरचन, प्रणीता, प्रोक्षणी और चमसादि पात्रों का स्थापन, दर्भ का रखना, यज्ञशाला का बनाना और ऋत्विजों का करना, यह सब करना ही चाहिये ? उ०—करना तो चाहिये,

परन्तु जो २ युक्तिसिद्ध हैं सो २ ही करने के योग्य हैं। क्योंकि जैसे वेदि बना के, उसमें होम करने से वह द्रव्य शीघ्र भिन्न २ परमाणुरूप होके, वायु और अग्नि के साथ आकाश में फैल जाता है, ऐसे ही वेदि में भी अग्नि तेज होने और होम का साकल्य इधर उधर बिखरने से रोकने के लिये वेदि अवश्य रचनी चाहिये। और वेदि के त्रिकोण, चतुष्कोण, गोल तथा श्येन पक्षी आदि के तुल्य बनाने के दृष्टान्त से रेखागणित विद्या भी जानी जाती है, कि जिससे त्रिभुज आदि रेखाओं का भी मनुष्यों को यथावत् बोध हो तथा उसमें जो ईंटों की संख्या की है उससे गणितविद्या भी समझी जाती है। इस प्रकार से कि जब इतनी लम्बी चौड़ी और गहरी वेदि हो तो उस में इतनी बड़ी ईंटें इतनी लगेंगी इत्यादि वेदि के बनाने में बहुत प्रयोजन है। तथा सुवर्ण, चांदी वा काष्ठ के पात्र इस कारण से बनाते हैं कि उनमें जो घृतादि पदार्थ रक्खे जाते हैं वे बिगड़ते नहीं और कुश इसलिये रखते हैं कि जिससे यज्ञशाला का मार्जन हो और चिंवटी आदि कोई जन्तु वेदि की ओर अग्नि में न गिरने पावे। ऐसे ही यज्ञशाला बनाने का यह प्रयोजन है कि जिस से अग्नि की ज्वाला में वायु अत्यन्त न लगे और वेदि में कोई पक्षी किंवा उनकी बीठ भी न गिरे। इसी प्रकार ऋत्विजों के विना यज्ञ का काम कभी नहीं हो सकता, इत्यादि प्रयोजन के लिये यह सब विधान यज्ञ में अवश्य करना चाहिये। इनसे भिन्न द्रव्य की शुद्धि और संस्कार आदि भी अवश्य करने चाहियें। परन्तु इस प्रकार से प्रणीतापात्र रखने से पुण्य और इस प्रकार रखने से पाप होता है इत्यादि कल्पना मिथ्या ही है, किन्तु जिस प्रकार करने में यज्ञ का कार्य्य अच्छा बने वही करना अवश्य है, अन्य नहीं।

यज्ञे देवताशब्देन किं गृह्यते ? । याश्च वेदोक्ताः । अत्र प्रमाणानि । अ॒ग्निर्दे॒वता॒ वातो॑ दे॒वता॒ सूर्यो॑ दे॒वता॑ च॒न्द्रमा॑ दे॒वता॒ वस॑वो दे॒वता॑ रु॒द्रा दे॒वता॑ऽऽदि॒त्या दे॒वता॑ म॒रुतो॑ दे॒वता॒ विश्वे॑दे॒वा दे॒वता॒ बृह॒स्पति॑र्दे॒वतेन्द्रो॑ दे॒वता॒ वरु॑णो दे॒वता॑ ॥ १ ॥ यजुः अ० १४ । मं० २० ॥

अत्र कर्मकाण्डे देवताशब्देन वेदमन्त्राणां ग्रहणम् । गायत्र्यादीनि छन्दांसि ह्यग्न्यादिदेवताख्यान्येव गृह्यन्ते । तेषां कर्मकाण्डादिविधेर्द्योतकत्वात् । यस्मिन्मन्त्रे चाग्निशब्दार्थप्रतिपादनं वर्त्तते स एव मन्त्रोऽग्निदेवतो गृह्यते । एवमेव वातः, सूर्य्य, श्चन्द्रमा, वसवो, रुद्रा, आदित्या, मरुतो, विश्वेदेवा, बृहस्पति, रिन्द्रो, वरुणश्चेत्येतच्छब्दयुक्ता मन्त्रा देवताशब्देन गृह्यन्ते, तेषामपि तत्तदर्थस्य द्योतकत्वात्परमेश्वरेण कृतसंकेतत्वाच्च ।

भाषार्थ

प्र०—यज्ञ में देवता शब्द से किस का ग्रहण होता है ? उ०—जो २ वेद में कहे हैं उन्हीं का ग्रहण होता है । इसमें यह यजुर्वेद का प्रमाण है कि (अग्निर्देव०) । कर्मकाण्ड अर्थात् यज्ञक्रिया में मुख्य करके देवता शब्द से वेदमन्त्रों का ही ग्रहण करते हैं, क्योंकि जो गायत्र्यादि छन्द हैं वे ही देवता कहाते हैं और इन वेदमंत्रों से ही सब विद्याओं का प्रकाश भी होता है । इसमें यह कारण है कि जिन २ मंत्रों में अग्नि आदि शब्द हैं उन २ मन्त्रों का और उन २ शब्दों के अर्थों का अग्नि आदि देवता नामों से ग्रहण होता है । मन्त्रों का देवता नाम इसलिये है कि उन्हीं से सब अर्थों का यथावत् प्रकाश होता है ।

अत्राह यास्काचार्य्यो निरुक्ते । कर्मसंपत्तिर्मंत्रो वेदे । नि० अ० १ । खं० २ ॥ अथातो दैवतं, तद्यानि नामानि प्राधान्यस्तुतीनां देवतानां तद्दैवतमित्याचक्षते । सैषा देवतोपपरीक्षा, यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति । तास्त्रिविधा ऋचः । परोक्षकृताः, प्रत्यक्षकृता, आध्यात्मिक्यश्च । नि० अ० ७ । खं० १ ॥ अस्यार्थः । (कर्मसं०) कर्मणामग्निहोत्राद्यश्वमेधान्तानां शिल्पविद्यासाधनानां च संपत्तिः संपन्नता संयोगो भवति येन स मन्त्रो वेदे देवताशब्देन गृह्यते, तथा च कर्मणां संपत्तिर्मोक्षो भवति येन परमेश्वरप्राप्तिश्च सोपि मन्त्रो मंत्रार्थश्चाग्निकार्य्यः । अथेत्यनन्तरं दैवतं किमुच्यते ? यत्प्राधान्येन स्तुतिर्यासां देवतानां क्रियते तद्दैवतमिति विज्ञायते । यानि नामानि मन्त्रो-

ङ्गानि येषामर्थानां मन्त्रेषु विद्यन्ते तानि सर्वाणि देवतालिङ्गानि भवन्ति। तद्यथा। अ॒ग्निं दू॒तं पु॒रो द॑धे हव्य॒वाह॒मुप॑ ब्रुवे। दे॒वाँ २॥ आ॒सा॑दया॒दि॒ह ॥ १ ॥ यजुः अ० २२। मं० १७॥ अत्राग्निशब्दो लिङ्गमस्ति। अतः किं विज्ञेयं? यत्र यत्र देवतोच्यते तत्र तत्र तल्लिङ्गो मन्त्रो ग्राह्य इति। यस्य द्रव्यस्य नामान्वितं यच्छन्दोस्ति तदेव दैवतमिति बोध्यम्। सा एषा देवतोपपरीक्षाऽतीता आगामिनी चास्ति। अत्रोच्यते। ऋषिरीश्वरः सर्वदृग्, यत्कामो यं कामयमान इममर्थमुपदिशेयमिति, स यत्कामः, यस्यां देवतायामार्थपत्यमर्थस्य स्वामित्वमुपदेष्टुमिच्छन् सन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते, तदर्थगुणकीर्त्तनं प्रयुक्तवानस्ति, स एव मन्त्रस्तद्दैवतो भवति। किंच यदेवार्थप्रतीतिकरणं दैवतं प्रकाश्यं येन भवति स मन्त्रो देवताशब्दवाच्योस्तीति विज्ञायते। देवताभिधा ऋचः। याभिर्विद्वांसः सर्वाः सत्यविद्याः स्तुवन्ति, प्रकाशयन्ति, ऋचस्तुताविति धात्वर्थयोगात्। ताः श्रुतयस्त्रिविधास्त्रिप्रकारकाः सन्ति। परोक्षकृताः, प्रत्यक्षकृता, आध्यात्मिक्यश्चेति। यासां देवतानामृचां परोक्षकृतोऽर्थोस्ति ताः परोक्षकृताः, यासां प्रत्यक्षमर्थो दृश्यते ताः प्रत्यक्षकृता ऋचो देवताः, आध्यात्मिक्यश्चाध्यात्मं जीवात्मानं, तदन्तर्यामिणं परमेश्वरं च प्रतिपादितुमर्हा या ऋचो मन्त्रास्ता आध्यात्मिक्यश्चेति। एता एव कर्मकाण्डे देवताशब्दार्थाः सन्तीति विज्ञेयम्।

भाषार्थ

(कर्मसं०) वेदमन्त्रों करके अग्निहोत्र से लेके अश्वमेधपर्य्यन्त सब यज्ञों की शिल्पविद्या और उनके साधनों की सम्पत्ति अर्थात् प्राप्ति होती और कर्मकाण्ड को लेके मोक्षपर्य्यन्त सुख मिलता है इसी हेतु से उन का नाम देवता है। (अथातो०) दैवत उन को कहते हैं कि जिन के गुणों का कथन किया जाय, अर्थात् जो २ संज्ञा जिन २ मन्त्रों में जिस २ अर्थ की होती है उन २ मन्त्रों का नाम वही देवता होता है। जैसे (अग्निं दूतं०) इस मन्त्र में अग्नि शब्द चिह्न है, यहां इसी मन्त्र को अग्नि देवता जानना चाहिये। ऐसे ही जहां २ मन्त्रों में जिस २ शब्द का लेख है वहां २ उस २ मन्त्र को ही देवता

समझना होता है। इसी प्रकार सर्वत्र समझ लेना चाहिये। सो देवता शब्द से जिस २ गुण से जो २ अर्थ लिये जाते हैं सो २ निरुक्त और ब्राह्मणादि ग्रन्थों में अच्छी प्रकार लिखा है। इसमें यह कारण है कि ईश्वर ने जिस २ अर्थ को जिस २ नाम से वेदों में उपदेश किया है उस २ नाम वाले मन्त्रों से उन्हीं अर्थों को जानना होता है। सो वे मन्त्र तीन प्रकार के हैं। उन में से कई एक परोक्ष अर्थात् अप्रत्यक्ष अर्थ के, कई एक प्रत्यक्ष अर्थात् प्रसिद्ध अर्थ के और कई एक आध्यात्मिक अर्थात् जीव, परमेश्वर और सब पदार्थों के कार्य्य कारण के प्रतिपादन करने वाले हैं। इससे क्या आया कि त्रिकालस्थ जितने पदार्थ और विद्या हैं उनके विधान करने वाले मन्त्र ही हैं। इसी कारण से इनका नाम देवता है।

तद्येऽनादिष्टदेवतामन्त्रास्तेषु देवतोपपरीक्षा। यद्देवतः स यज्ञो वा यज्ञाङ्गं वा तद्देवता भवन्त्यथान्यत्र यज्ञात्प्राजापत्या इति याज्ञिका, नाराशंसा इति नैरुक्ता, अपि वा सा कामदेवता स्यात्, प्रायोदेवता वास्तिह्याचारो बहुलं लोके देवदेवत्यमतिथिदेवत्यं, पितृदेवत्यं, याज्ञदैवतो मन्त्र इति। नि० अ० ७। खं० ४॥ (तद्येनादि०) तत्तस्माद्ये खल्वनादिष्टदेवता मन्त्रा अर्थाच्च विशेषतो देवतादर्शनं नामार्थो वा येषु दृश्यते तेषु देवतोपपरीक्षा कास्तीत्यत्रोच्यते। यत्र विशेषो न दृश्यते तत्रैवं यज्ञो देवता, यज्ञाङ्गं वेत्येतद्देवताख्यमिति विज्ञायते। ये खलु यज्ञादन्यत्र प्रयुज्यन्ते ते वै प्राजापत्याः परमेश्वरदेवताका मन्त्रा भवन्तीत्येवं याज्ञिका मन्यन्ते। अत्रैवं विकल्पोऽस्ति नाराशंसा मनुष्यविषया इति नैरुक्ता ब्रुवन्ति, तथा या कामना सा कामदेवता भवतीति सकामा लौकिका जना जानन्ति। एवं देवताविकल्पस्य प्रायेण लोके बहुलमाचारोऽस्ति। क्वचिद्देवदेवत्यं, कर्म, मातृदेवत्यं, विद्वद्देवत्यमतिथिदेवत्यं, पितृदेवत्यं चेतेऽपि पूज्याः सत्कर्त्तव्याः सन्त्यतस्तेषामुपकारकर्तृत्वमात्रमेव देवतात्वमस्तीति विज्ञायते। मन्त्रास्तु खलु यज्ञसिद्धये मुख्यहेतुत्वाद्याज्ञदैवता एव सन्तीति निश्चीयते।

भाषार्थ

जिन २ मन्त्रों में सामान्य अर्थात् जहां २ किसी विशेष अर्थ का नाम प्रसिद्ध

नहीं दीख पड़ता वहां २ यज्ञ आदि को देवता जानना होता है। (अग्निमीडे) इस मन्त्र के भाष्य में जो तीन प्रकार का यज्ञ लिखा है, अर्थात् एक तो अग्निहोत्र से लेके अश्वमेध पर्य्यन्त, दूसरा प्रकृति से लेके पृथिवी पर्य्यन्त जगत् का रचन रूप तथा शिल्पविद्या और तीसरा सत्सङ्ग आदि से जो विज्ञान और योगरूप यज्ञ है, ये ही उन मन्त्रों के देवता जानने चाहियें। तथा जिनसे यह यज्ञ सिद्ध होता है वे भी उन यज्ञों के देवता हैं। और जो इनसे भिन्न मन्त्र हैं उन का प्राजापत्य अर्थात् परमेश्वर ही देवता है। तथा जो मन्त्र मनुष्यों के अर्थ का प्रतिपादन करते हैं उन के मनुष्य देवता हैं। इस में बहुत प्रकार के विकल्प हैं कि कहीं पूर्वोक्त देवता कहाते हैं, कहीं यज्ञादि कर्म, कहीं माता, कहीं पिता, कहीं विद्वान्, कहीं अतिथि और कहीं आचार्य्य देव कहाते हैं। परन्तु इसमें इतना भेद है कि यज्ञ में मन्त्र और परमेश्वर को ही देव मानते हैं।

अत्र परिगणनं गायत्र्यादिच्छन्दोन्विता मन्त्रा, ईश्वराज्ञा, यज्ञः, यज्ञाङ्गं, प्रजापतिः परमेश्वरः, नराः, कामः, विद्वान्, अतिथिः, माता, पिता, आचार्य्यश्चेति कर्मकाण्डादीन्प्रत्येता देवताः सन्ति। परन्तु मन्त्रेश्वरावेव याज्ञदैवते भवत इति निश्चयः।

भाषार्थ

जो २ गायत्र्यादि छन्दों से युक्त वेदों के मन्त्र, उन्हीं में ईश्वर की आज्ञा, यज्ञ और उन के अङ्ग अर्थात् साधन, प्रजापति जो परमेश्वर, नर जो मनुष्य, काम, विद्वान्, अतिथि, माता, पिता और आचार्य्य ये अपने २ दिव्यगुणों से ही देवता कहाते हैं। परन्तु यज्ञ में तो वेदों के मन्त्र और ईश्वर को ही देवता माना है।

अन्यच्च। देवो दानाद्वा, दीपनाद्वा, द्योतनाद्वा, द्युस्थानो भवतीति वा॥ नि० अ० ७। खं० १५॥ मन्त्रा मननाच्छन्दांसि छादनात्॥ निरु० अ० ७। खं० १२॥ अस्यार्थः। (देवो दानात्०) यत्स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकं परस्वत्वोत्पादनं तद्दानं भवति, (दीपनात्) दीपनं, प्रकाशनम्,

(द्योतनात्) द्योतनमुपदेशादिकं च । अत्र दानशब्देनेश्वरो, विद्वांसो मनुष्याश्च देवतासंज्ञाः सन्ति । दीपनात्सूर्य्यादयो, द्योतनान्मातृपित्राचार्य्यातिथयश्च । (द्युस्थाने) तथा द्यौः किरणा आदित्यरश्मयः प्राणसूर्य्यादयो वा स्थानं स्थित्यर्थं यस्य स द्युस्थानः, प्रकाशकानामपि प्रकाशकत्वात्परमेश्वर एवात्र देवोस्तीति विज्ञेयम् । अत्र प्रमाणम् । न तत्र सूर्य्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोयमग्निः । तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥ इति कठ० वल्ली ५ । मं० १५ ॥ तत्र नैव परमेश्वरे सूर्य्यादयो भान्ति, प्रकाशं कुर्वन्ति । किन्तु तमेव भान्तं प्रकाशयन्तमनुपश्चात्ते हि प्रकाशयन्ति । नैव खल्वेतेषु कश्चित्स्वातन्त्र्येण प्रकाशोस्तीति । अतो मुख्यो देव एकः परमेश्वर एवोपास्योस्तीति मन्यध्वम् ।

भाषार्थ

(देवो दाना०) दान देने से देव नाम पड़ता है और दान कहते हैं अपनी चीज़ दूसरे के अर्थ दे देना, दीपन कहते हैं प्रकाश करने को, द्योतन कहते हैं सत्योपदेश को । इनमें से दान का दाता मुख्य एक ईश्वर ही है कि जिसने जगत् को सब पदार्थ दे रक्खे हैं, तथा विद्वान् मनुष्य भी विद्यादि पदार्थों के देने वाले होने से देव कहाते हैं । (दीपन) अर्थात् सब मूर्त्तिमान् द्रव्यों का प्रकाश करने से सूर्य्यादि लोकों का नाम भी देव है (द्योतन) तथा माता, पिता, आचार्य्य और अतिथि भी पालनविद्या और सत्योपदेशादि के करने से देव कहाते हैं, वैसे ही सूर्य्यादि लोकों का भी जो प्रकाश करनेवाला है, सो ही ईश्वर सब मनुष्यों को उपासना करने के योग्य इष्टदेव है, अन्य कोई नहीं । इस में कठोपनिषद् का भी प्रमाण है कि सूर्य, चन्द्रमा, तारे, बिजुली और अग्नि ये सब परमेश्वर में प्रकाश नहीं कर सकते, किन्तु इन सब का प्रकाश करने वाला एक वही है, क्योंकि परमेश्वर के प्रकाश से ही सूर्य्य आदि सर्व जगत् प्रकाशित हो रहा है, इस में यह जानना चाहिये कि ईश्वर से भिन्न कोई पदार्थ स्वतन्त्र प्रकाश करने

नहीं है, इस से एक परमेश्वर ही मुख्य देव है ।

नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत् ॥ य० अ० ४० । मं० ४ ॥ अत्र देव-शब्देन मनःषष्ठानि श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि गृह्यन्ते, तेषां शब्दस्पर्शरूपरस-गन्धानां सत्यासत्ययोश्चार्थानां द्योतकत्वात्तान्यपि देवाः । यो देवः सा देवता, देवात्तलित्यनेन सूत्रेण स्वार्थे तल्विधानात् । स्तुतिर्हि गुणदोषकीर्तनं भवति । यस्य पदार्थस्य मध्ये यादृशा गुणा वा दोषाः सन्ति तादृशानामे-वोपदेशः स्तुतिर्विज्ञायते । तद्यथा । अयमसिः प्रहृतः सन्नतीवच्छेदनं करोति, तीक्ष्णधारः स्वच्छो धनुर्वन्नाम्यमानोपि न त्रुट्यतीत्यादिगुणकथनमतो विप-रीतोऽसिर्नैव तत् कर्त्तु समर्थो भवतीत्यसेः स्तुतिर्विज्ञेया ।

भाषार्थ

(नैनद्देवा०) इस वचन में देव शब्द से इन्द्रियों का ग्रहण होता है जो कि श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जीभ, नाक और मन ये छः देव कहाते हैं, क्योंकि शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, सत्य और असत्य इत्यादि अर्थों का इन से प्रकाश होता है और देव शब्द से स्वार्थ में तल् प्रत्यय करने से देवता शब्द सिद्ध होता है । जो २ गुण जिस २ पदार्थ में ईश्वर ने रचे हैं उन २ गुणों का लेख, उपदेश, श्रवण और विज्ञान करना तथा मनुष्यसृष्टि के गुण दोषों का भी लेख आदि करना इस को स्तुति कहते हैं । क्योंकि जितना २ जिस २ में गुण है उतना २ उस २ में देवपन है । इस से वे किसी के इष्टदेव नहीं हो सकते । जैसे किसी ने किसी से कहा कि यह तलवार काट करने में बहुत अच्छी और निर्मल है, इस की धार बहुत तेज है और यह धनुष् के समान नमाने से भी नहीं टूटती इत्यादि तलवार के गुणकथन को स्तुति कहते हैं ।

तद्वदन्यत्रापि विज्ञेयम् । परन्त्वयं नियमः कर्म्मकाण्डं प्रत्यास्ति । उपा-सनाज्ञानकाण्डयोः कर्म्मकाण्डस्य निष्काममार्गेपि च परमेश्वर एवेष्टदेवोऽस्ति । कस्मात् । तत्र तस्यैव प्राप्तिः प्रार्थ्यते । यश्च तस्य सकामो मार्गोस्ति तत्रे-ष्टविषयभोगप्राप्तये परमेश्वरः प्रार्थ्यते । अतः कारणाद्भेदो भवति । परन्तु नैवेश्वरार्थत्यागः क्वापि भवतीति वेदाभिप्रायोस्ति ।

भावार्थ

इसी प्रकार सर्वत्र जान लेना इस नियम के साथ कि केवल परमेश्वर ही कर्म उपासना और ज्ञानकाण्ड में सब का इष्टदेव स्तुति, प्रार्थना, पूजा और उपासना करने के योग्य है, क्योंकि गुण वे कहाते हैं जिनसे कर्मकाण्डादि में उपकार लेना होता है। परन्तु सर्वत्र कर्मकाण्ड में भी इष्टभोग की प्राप्ति के लिये परमेश्वर का त्याग नहीं होता, क्योंकि कार्य्य कारण सम्बन्ध से ईश्वर ही सर्वत्र स्तुति, प्रार्थना, उपासना से पूजा करने के योग्य होता है।

अत्र प्रमाणम्। माहाभाग्याद्देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते, एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति। कर्मजन्मान, आत्मजन्मान, आत्मैवैषां रथो भवत्यात्माऽश्वा, * आत्मायुधमात्मेषव, आत्मा सर्वं देवस्य देवस्य॥ नि० अ० ७। खं० ४। (माहाभाग्याद्देव०) सर्वासां व्यवहारोपयोगिदेवतानां मध्य आत्मन एव मुख्यं देवतात्वमस्ति। कुतः। आत्मनो माहाभाग्यादर्थात्सर्वशक्तिमत्त्वादिविशेषणवत्त्वात्। न तस्याग्रेऽन्यस्य कस्यापि देवतात्वं गण्यं भवितुमर्हति। कुतः। सर्वेषु वेदेष्वेकस्याद्वितीयस्यासहायस्य सर्वत्रव्याप्तस्यात्मन एव बहुधा बहुप्रकारैरुपासना विहितास्ति। अस्मादन्ये ये देवा उक्ता, वक्ष्यन्ते च, ते सर्वे एकस्यात्मनः परमेश्वरस्य प्रत्यङ्गान्येव भवन्ति। अङ्गमङ्गं प्रत्यञ्चतीति निरुक्त्या तस्यैव सामर्थ्यस्यैकैकस्मिन्देशे प्रकाशिताः सन्ति। ते च (कर्मज०) यतः कर्मणा जायन्ते तस्मात्कर्मजन्मानो, यत आत्मन ईश्वरस्य सामर्थ्याज्जातास्तस्मादात्मजन्मानश्च सन्ति। अथैतेषां देवानामात्मा परमेश्वर एव रथो रमणाधिकरणम्। स एवाश्वागमनहेतवः। स आयुधं विजयावहमिषवो बाणा दुःखनाशकाः स एवास्ति। तथा चात्मैव देवस्य देवस्य सर्वस्वमस्ति। अर्थात्सर्वेषां देवानां स एवोत्पादको धाताधिष्ठाता मंगलकारी वर्त्तते। नातः परं किंचिदुत्तमं वस्तु विद्यत इति बोध्यम्।

---

* अश्व इति निरुक्ते पाठः॥

भाषार्थ

इस में निरुक्त का भी प्रमाण है कि व्यवहार के देवताओं की उपासना कभी नहीं करनी चाहिये, किन्तु एक परमेश्वर ही की करनी उचित है। इसका निश्चय वेदों में अनेक प्रकार से किया है कि एक अद्वितीय परमेश्वर के ही प्रकाश, धारण, उत्पादन करने से वे सब व्यवहार के देव प्रकाशित हो रहे हैं। इन का जन्म, कर्म और ईश्वर के सामर्थ्य से होता है और इन का रथ अर्थात् जो रमण का स्थान, अश्वा अर्थात् शीघ्र सुख प्राप्ति का कारण, आयुध अर्थात् सब शत्रुओं के नाश करने का हेतु और इषु अर्थात् जो बाण के समान सब दुष्ट गुणों का छेदन करने वाला शस्त्र है सो एक परमेश्वर ही है, क्योंकि परमेश्वर ने जिस २ में जितना २ दिव्यगुण रक्खा है उतना २ ही उन द्रव्यों में देवपन है अधिक नहीं। इससे क्या सिद्ध हुआ कि केवल परमेश्वर ही उन सब का उत्पादन, धारण और मुक्ति का देनेवाला है।

अत्रान्यदपि प्रमाणम्। ये त्रिंशति त्रयस्परो देवासो बर्हिरासदन्। विदन्नह द्वितासनन् ॥ १ ॥ ऋ० अ० ६। अ० २। व० ३५। मं० १ ॥ त्रयस्त्रिꣳशतास्तुवत भूतान्यशाम्यन्प्रजापतिः परमेष्ठ्यधिपतिरासीत् ॥ २ ॥ य० अ० १४। मं० ३१ ॥ यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा निधिं रक्षन्ति सर्वदा। निधिं तमद्य को वेद यं देवा अभिरक्षथ ॥ ३ ॥ यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अङ्गे गात्रा विभेजिरे। तान्वै त्रयस्त्रिंशद्देवानेके ब्रह्मविदो विदुः ॥ ४ ॥ अथर्व० कां० १०। प्रपा० २३। अनु० ४। मं० २३। २७ ॥ सहोवाच्च महिमान एवैषामेते त्रयस्त्रिꣳशत्त्वेव देवा इति। कतमे ते त्रयस्त्रिꣳशदित्यष्टौ वसव, एकादश रुद्रा. द्वादशादित्यास्त एकत्रिꣳशदिन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिꣳशाविति ॥ ३ ॥ कतमे वसव इति ?, अग्निश्च, पृथिवी च, वायुश्चान्तरिक्षं, चादित्यश्च, द्यौश्च, चन्द्रमाश्च, नक्षत्राणि चैते वसवः। एतेषु हीदꣳ सर्वं वसु हितमेतेहीदꣳसर्वं वासयन्ते तद्यदिदꣳसर्वं वासयन्ते तस्माद्वसव इति ॥ ४ ॥ कतमे रुद्रा इति ? दशेमे पुरुषे प्राणा, आत्मैकादशस्ते यदास्मान्मर्त्याच्छरीरादुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति, तद्यद्रोदयन्ति तस्माद्रुद्रा इति ॥ ५ ॥ कतम आदित्या इति ? द्वादशमासाः संवत्सरस्यैत आदित्याः।

एते हीदꣳसर्वमाददाना यन्ति, तद्यदिदꣳसर्वमाददाना यन्ति तस्मादादित्या इति ॥ ६ ॥ कतम इन्द्रः, कतमः प्रजापतिरिति ? स्तनयित्नुरेवेन्द्रो, यज्ञः प्रजापतिरिति । कतमः स्तनयित्नुरित्यशनिरिति । कतमो यज्ञ इति ? पशव इति ॥ ७ ॥ कतमे ते त्रयो देवा इतीम एव त्रयो लोका, एषु हीमे सर्वे देवा इति । कतमौ द्वौ देवावित्यन्नं चैव प्राणश्चेति । कतमोध्यऽर्ध इति ? योऽयं पवत इति ॥ ८ ॥ तदाहुः । यदयमेक एव पवतेऽथ कथमध्यऽर्ध इति ? यदस्मिन्निदꣳ सर्वमध्यार्ध्नोत्तेनाध्यर्ध इति । कतम एको देव इति ? स ब्रह्म त्यदित्याचक्षते ॥ ९ ॥ श० कां० १४ । अ० ५ ॥ अथैषामर्थः ॥ वेद-मन्त्राणामेवार्थो ब्राह्मणग्रन्थेषु प्रकाशित इति द्रष्टव्यम् । शाकल्यं प्रति याज्ञ-वल्क्योक्तिः । त्रयस्त्रिंशदेव देवाः सन्ति । अष्टौ वसवः, एकादश रुद्राः, द्वादशादित्याः, इन्द्रः, प्रजापतिश्चेति । तत्र (वसवः) अग्निः, पृथिवी, वायुः, अन्तरिक्षम्, आदित्यः, द्यौः, चन्द्रमाः, नक्षत्राणि च । एतेषामष्टानां वसुसंज्ञा कृतास्ति । आदित्यः सूर्य्यलोकस्तस्य प्रकाशोऽस्ति द्यौः सूर्य्यसान्निध्यौ पृथिव्यादिषु वा । अग्निलोकोऽस्त्यग्निरेव । कुत एते वसव इति ?, यद्यस्मा-देतेष्वष्टस्वेवेदं सर्वं सम्पूर्णं वसु वस्तुजातं हितं धृतमस्ति, किंच सर्वेषां वा-साधिकरणानीम एव लोकाः सन्ति । हि यतश्चेदं वासयन्ते सर्वस्यास्य जगतो वासहेतवस्तस्मात्कारणादग्न्यादयो वसुसंज्ञकाः सन्तीति बोद्धव्यम् । (एका-दश रुद्राः) ये पुरुषेऽस्मिन्देहे । प्राणः, अपानः, व्यानः, समानः, उदानः, नागः, कूर्मः, कृकलः, देवदत्तः, धनञ्जयश्च । इमे दश प्राणा, एकादश आत्मा, सर्वे मिलित्वैकादश रुद्रा भवन्ति । कुत एते रुद्रा ? इत्यत्राह, यदा यस्मिन्कालेऽस्मान्मरणधर्मकाच्छरीरादुत्क्रामन्तो निःसरन्तः सन्तोऽथेत्यनन्तरं मृतकसम्बन्धिनो जनांस्ते रोदयन्ति, यतो जना रुदन्ति, तस्मात्कारणादेते रुद्राः सन्तीति विज्ञेयम् । (द्वादशादित्याः) चैत्राद्याः फाल्गुनान्ता द्वाद-श मासा आदित्या विज्ञेयाः । कुतः ? हि यत एते सर्वं जगदाददाना अर्था-दासमन्ताद्गृह्णन्तः प्रतिक्षणमुत्पन्नस्य वस्तुन आयुषः प्रलयं निकटमानयन्तो यन्ति गच्छन्ति, चक्रवद् भ्रमणेनोत्तरोत्तरं जातस्य वस्तुनोऽवयवशिथिलतां परिणामेन प्रापयन्ति, तस्मात्कारणान्मासानामादित्यसंज्ञा कृतास्ति । इन्द्रः

परमैश्वर्य्ययोगात्स्तनयित्नुरशनिर्विद्युदिति । प्रजापतिर्यज्ञः पशवइति । प्रजायाः पालनहेतुत्वात्पशूनां यज्ञस्य च प्रजापतिरिति गौणिकी संज्ञा कृतास्ति । एते सर्वे मिलित्वा त्रयस्त्रिंशद्देवा भवन्ति । देवो दानादित्यादिनिरुक्त्या ह्येतेषु व्यावहारिकमेव देवत्वं योजनीयम् । त्रयो लोकास्त्रयो देवाः । के त ? इत्यत्राह निरुक्तकारः, धामानि त्रयाणि भवन्ति स्थानानि नामानि जन्मानीति ॥ नि० अ० ६ । खं० २८ ॥ त्रयो लोका एत एव । वागेवायं लोको, मनोन्तरिक्षलोकः, प्राणोऽसौ लोकः ॥ श० कां० १४ । अ० ४ * ॥ एतेपि त्रयो देवा ज्ञातव्याः ॥ द्वौ देवावन्नं प्राणश्चेति । अध्यर्धो ब्रह्माण्डस्थः सूत्रात्माख्यः सर्वजगतो वृद्धिकरत्वाद्वायुर्देवः । किमेते सर्व एवोपास्याः सन्तीत्यत्राह, नैव, किन्तु (स ब्रह्म०) यत्सर्वजगत्कर्तृ, सर्वशक्तिमत्सर्वस्येष्टं, सर्वोपास्यं, सर्वाधारं, सर्वव्यापकं, सर्वकारणमनादि, सच्चिदानन्दस्वरूपमजं, न्यायकारीत्यादिविशेषणयुक्तं ब्रह्मास्ति स एवैको देवश्चतुस्त्रिंशो वेदोक्तसिद्धान्तप्रकाशितः परमेश्वरो देवः सर्वमनुष्यैरुपास्योस्तीति मन्यध्वम् । ये वेदोक्तमार्गपरायणा आर्य्यास्ते सर्वेदैतस्यैवोपासनं चक्रुः, कुर्वन्ति, करिष्यन्ति च । अस्माद्भिन्नस्येष्टकरणेनोपासनेन चानार्य्यत्वमेव मनुष्येषु सिध्यतीति निश्चयः । अत्र प्रमाणम् । आत्मेत्येवोपासीत, स योन्यमात्मनः प्रियं ब्रुवाणं ब्रूयात् प्रियꣳरोत्स्यतीतीश्वरो ह तथैव स्यादात्मानमेव प्रियमुपासीत, स य आत्मानमेव प्रियमुपास्ते न हास्यप्रियं प्रमायुकं भवति । योन्यां देवतामुपास्ते न स वेद यथा पशुरेवꣳ स देवानाम् ॥ श० कां० १४ । अ० ४ † ॥ अनेनार्य्येतिहासेन विज्ञायते न परमेश्वरं विहायान्यस्योपासका आर्य्या ह्यासन्निति ।

भाषार्थ

अब आगे देवता विषय में तेतीस देवों का व्याख्यान लिखते हैं । जैसा ब्राह्मण ग्रन्थों में वेद मन्त्रों का व्याख्यान लिखा है (त्रयस्त्रिंशत्०) । अर्थात् व्यवहार के ये (३३) तेतीस देवता हैं । (८) आठ वसु, (११) ग्यारह रुद्र, (१२) बारह आदित्य, (१) एक इन्द्र और एक प्रजापति । उन में से आठ वसु ये हैं—अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौः, चन्द्रमा और नक्षत्र । इन

* ब्रा० ३ । कण्डि० ११ । † ब्रा० २ । कण्डि० १९, २२ ।

का वसु नाम इस कारण से है कि सब पदार्थ इन्हीं में बसते हैं और ये ही सब के निवास करने के स्थान हैं। (११) ग्यारह रुद्र ये कहाते हैं जो शरीर में दश प्राण हैं, अर्थात् प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय और ग्यारहवां जीवात्मा है, क्योंकि जब वे इस शरीर से निकल जाते हैं तब मरण होने से उस के सम्बन्धी लोग रोते हैं, वे निकलते हुए उन को रुलाते हैं इस से इन का नाम रुद्र है। इसी प्रकार आदित्य बारह महीनों को कहते हैं, क्योंकि वे सब जगत् के पदार्थों का आदान अर्थात् सब की आयु को ग्रहण करते चले जाते हैं, इसी से इन का नाम आदित्य है। ऐसे ही इन्द्र नाम बिजुली का है, क्योंकि वह उत्तम ऐश्वर्य्य की विद्या का मुख्य हेतु है और यज्ञ को प्रजापति इसलिये कहते हैं कि उससे वायु और वृष्टि जल की शुद्धिद्वारा प्रजा का पालन होता है, तथा पशुओं की यज्ञसंज्ञा होने का यह कारण है कि उन से भी प्रजा का जीवन होता है, ये सब मिल के अपने २ दिव्य गुणों से तेतीस देव कहाते हैं। और तीन देव स्थान, नाम और जन्म को कहते हैं। दो देव अन्न और प्राण को कहते हैं। अध्यर्धदेव अर्थात् जिससे सब का धारण और वृद्धि होती है, जो सूत्रात्मा वायु सब जगत् में भर रहा है उस को अध्यर्धदेव कहते हैं। प्र०—क्या ये चालीस देव भी सब मनुष्यों को उपासना के योग्य हैं ? उ०—इन में से कोई भी उपासना के योग्य नहीं है, किन्तु व्यवहारमात्र की सिद्धि के लिये ये सब देव हैं, और सब मनुष्यों के उपासना के योग्य तो देव एक ब्रह्म ही है। इसमें यह प्रमाण है (स ब्रह्म०)। जो सब जगत् का कर्ता, सर्वशक्तिमान् ,सब का इष्ट, सब को उपासना के योग्य, सब का धारण करने वाला,सब में व्यापक और सब का कारण है, जिसका आदि अन्त नहीं और जो सच्चिदानन्दस्वरूप है, जिसका जन्म कभी नहीं होता और जो कभी अन्याय नहीं करता इत्यादि विशेषणों से वेदादि शास्त्रों में जिसका प्रतिपादन किया है उसी को इष्ट देव मानना चाहिये और जो कोई इससे भिन्न को इष्ट देव मानता है उसको अनार्य्य अर्थात् अनाड़ी कहना चाहिये, क्योंकि (आत्मेत्ये०) इस में आर्य्यों का इतिहास शतपथब्राह्मण में है कि परमेश्वर जो सब का आत्मा है सब मनुष्यों को उसी की उपासना करनी उचित है। इस में जो कोई कहै कि परमेश्वर को छोड़

के दूसरे में भी ईश्वरबुद्धि से प्रेमभक्ति करनी चाहिये तो उससे कहे कि तू सदा दुःखी होके रोदन करेगा, क्योंकि जो ईश्वर की उपासना करता है वह सदा आनन्द में ही रहता है, जो दूसरे में ईश्वरबुद्धि करके उपासना करता है वह कुछ भी नहीं जानता, इसलिये वह विद्वानों के बीच में पशु अर्थात् गधा के समान है। इससे यह निश्चय हुआ कि आर्य्य लोग सब दिन से एक ईश्वर ही की उपासना करते आये हैं।

अतः फलितार्थोयं जातः। देवशब्दे दिवुधातोर्ये दशार्थास्ते संगता भवन्तीति। तद्यथा। क्रीडा। विजिगीषा। व्यवहारः। द्युतिः। स्तुतिः। मोदः। मदः। स्वप्नः। कान्तिः। गतिश्चेति। एषामुभयत्र समानार्थत्वात्। परन्त्वन्याः सर्वा देवताः परमेश्वरप्रकाश्याः सन्ति, स च स्वयंप्रकाशोस्ति। तत्र क्रीडनं क्रीडा। दुष्टान् विजेतुमिच्छा विजिगीषा। व्यवह्रियन्ते यस्मिन् व्यवहरणं व्यवहारः। स्वप्नो निद्रा। मदो ग्लेपनं दीनता। एते मुख्यतया लौकिकव्यवहारवृत्तयो भवन्ति। तत्सिद्धिहेतवोऽग्न्यादयो देवताः सन्ति। अत्रापि नैव सर्वथा परमेश्वरस्य त्यागो भवति, तस्य सर्वत्रानुषंगितया सर्वोत्पादकाधारकत्वात्। तथा द्युतिर्द्योतनं प्रकाशनं, स्तुतिर्गुणेषु गुणकथनं, स्थापनं च। मोदो हर्षः। प्रसन्नता कान्तिः, शोभा। गतिर्ज्ञानं, गमनं, प्राप्तिश्चेति। एते परमेश्वरे मुख्यवृत्त्या यथावत्संगच्छन्ते। अतोन्यत्र तत्सत्तया गौण्या वृत्त्या वर्त्तन्ते। एवं गौणमुख्याभ्यां हेतुभ्यामुभयत्र देवतात्वं सम्यक् प्रतीयते।

भाषार्थ

इससे यह सिद्ध हुआ कि दिवु धातु के जो दश अर्थ हैं वे व्यवहार और परमार्थ इन दोनों अर्थ में यथावत् घटते हैं, क्योंकि इनके दोनों अर्थ की योजना वेदों में अच्छी प्रकार से की है। इन में इतना भेद है कि पूर्वोक्त वसु आदि देवता परमेश्वर के ही प्रकाश से प्रकाशित होते हैं और परमेश्वर देव तो अपने ही प्रकाश से सदा प्रकाशित हो रहा है। इससे वही एक सब का पूज्यदेव है।

और दिवु धातु के दश अर्थ ये हैं कि एक क्रीड़ा जो खेलना, दूसरा विजिगीषा जो शत्रुओं को जीतने की इच्छा होना, तीसरा व्यवहार जो कि दो प्रकार का है एक बाहर और दूसरा भीतर का, चौथा निद्रा और पांचवां मद, ये पांच अर्थ मुख्य करके व्यवहार में ही घटते हैं, क्योंकि अग्नि आदि ही पदार्थ व्यवहारसिद्धि के हेतु हैं। परन्तु परमेश्वर का त्याग इस में भी सर्वथा नहीं होता, क्योंकि वे देव उसी की व्यापकता और रचना से दिव्य गुण वाले हुए हैं। तथा द्युति जो प्रकाश करना, स्तुति जो गुणों का कीर्त्तन करना, मोद प्रसन्नता, कान्ति जो शोभा, गति जो ज्ञान, गमन और प्राप्ति है, ये पांच अर्थ परमेश्वर में मुख्य करके वर्त्तते हैं, क्योंकि इन से भिन्न अर्थों में जितने २ जिन २ में गुण हैं उतना २ ही उनमें देवतापन लिया जाता है। परमेश्वर में तो सर्वशक्तिमत्त्वादि सब गुण अनन्त हैं, इससे पूज्यदेव एक वही है।

अत्र केचिदाहुः। वेदेषु जड़चेतनयोः पूजाभिधानाद्वेदाः संशयास्पदं प्राप्ताः सन्तीति गम्यते?। अत्रोच्यते। मैवं भ्रमि। ईश्वरेण सर्वेषु पदार्थेषु स्वातन्त्र्यस्य रक्षितत्वात्। यथा चक्षुषि रूपग्रहणशक्तिस्तेन रक्षितास्ति। अतश्चक्षुष्मान् पश्यति नैवान्धश्चेति व्यवहारोस्ति। अत्र कश्चिद् ब्रूयान्नेत्रेण सूर्य्यादिभिश्च विनेश्वरो रूपं कथं न दर्शयतीति, यथा तस्य व्यर्थेयं शङ्कास्ति तथा पूजनं, पूजा, सत्कारः, प्रियाचरणमनुकूलाचरणं चेत्यादयः पर्य्याया भवन्ति। इयं पूजा चक्षुषोपि सर्वजनैः क्रियते। एवमग्न्यादिषु यावदर्थद्योतकत्वं विद्याक्रियोपयोगित्वं चास्ति, तावद्देवतात्वमप्यस्तु, नात्र काचित्क्षतिरस्ति। कुतः। वेदेषु यत्र यत्रोपासना विधीयते तत्र तत्र देवतात्वेनेश्वरस्यैव ग्रहणात्।

भाषार्थ

प्रश्न—इस विषय में कोई २ मनुष्य ऐसा कहते हैं कि वेदों के प्रतिपादन से एक ईश्वर की पूजा सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि उन में जड़ और चेतन की पूजा लिखी है। इससे वेदों में संदेह सहित कथन मालूम पड़ता है। उत्तर—ऐसा भ्रम मत करो, क्योंकि ईश्वर ने सब पदार्थों के बीच में स्वतन्त्र गुण रक्खे

हैं। जैसे उसने आंख में देखने का सामर्थ्य रक्खा है तो उससे दीखता है. यह लोक में व्यवहार है। इस में कोई पुरुष ऐसा कहे कि ईश्वर नेत्र और सूर्य के विना रूप को क्यों नहीं दिखलाता है जैसे यह शङ्का उसकी व्यर्थ है वैसे ही पूजा विषय में भी जानना। क्योंकि जो दूसरे का सत्कार, प्रियाचरण अर्थात् उस के अनुकूल काम करना है इसी का नाम पूजा है। सो सब मनुष्यों को करनी उचित है। इसी प्रकार अग्नि आदि पदार्थों में जितना २ अर्थ का प्रकाश, दिव्यगुण, क्रियासिद्धि और उपकार लेने का सम्भव है उतना २ उन में देवपन मानने से कुछ भी हानि नहीं हो सकती। क्योंकि वेदों में जहां २ उपासना-व्यवहार लिया जाता है वहां २ एक अद्वितीय परमेश्वर का ही ग्रहण किया है।

तत्रापि मतद्वयं विग्रहवत्यविग्रहवद्देवताभेदात्। तच्चोभयं पूर्वं प्रतिपादितम्। अन्यच्च। मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्य्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव॥ प्रपा० ७। अनु० ११॥ त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि, त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि॥ प्रपा० ७। अनु० १॥ इति सर्वमनुष्योपास्याः पञ्चदेवतास्तैत्तिरीयोपनिषद्युक्ताः। यथात्र मातापितरावाचार्य्योऽतिथिश्चेति सशरीरा देवताः सन्ति। एवं सर्वथा निःशरीरं ब्रह्मास्ति।

भाषार्थ

इस देवता विषय में दो प्रकार का भेद है। एक मूर्त्तिमान् और दूसरा अमूर्त्तिमान्। जैसे माता, पिता, आचार्य, अतिथि ये चार तो मूर्त्तिमान् देवता हैं और पांचवां परब्रह्म अमूर्त्तिमान् है, अर्थात् उसकी किसी प्रकार की मूर्त्ति नहीं है। इस प्रकार से पांचदेव की पूजा में यह दो प्रकार का भेद जानना उचित है।

तथैव पूर्वोक्तासु देवतास्वग्निपृथिव्यादित्यचन्द्रमोनक्षत्राणि चेति पञ्च वसवो विग्रहवत्यः सन्ति। एवमेकादश रुद्राः, द्वादशादित्याः, मनःषष्ठानि ज्ञानेन्द्रियाणि, वायुरन्तरिक्षं, द्यौर्मन्त्राश्चेति शरीररहिताः। तथा स्तनयित्नुविधियज्ञौ च सशरीराशरीरे देवते स्त इति। एवं सशरीरनिश्शरीरभेदेन देवताद्वयं भवति। तत्रैतासां व्यवहारोपयोगित्वमात्रमेव देवतात्वं गृह्यते।

इत्थमेव मातृपित्राचार्य्यातिथीनां व्यवहारोपयोगित्वं परमार्थप्रकाशकत्वं चैतावन्मात्रं च । परमेश्वरस्तु खल्विष्टोपयोगित्वेनैवोपास्योस्ति । नातो वेदेषु ह्यपरा काचिद्देवता पूज्योपास्यत्वेन विहितास्तीति निश्चीयताम् ।

भाषार्थ

इसी प्रकार पूर्वोक्त आठ वसुओं में से अग्नि, पृथिवी, आदित्य, चन्द्रमा और नक्षत्र ये पांच मूर्त्तिमान् देव हैं और ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, मन, अन्तरिक्ष, वायु, द्यौ और मन्त्र, ये मूर्त्तिरहित देव हैं । तथा पांच ज्ञानेन्द्रियां बिजुली और विधियज्ञ ये सब देव मूर्त्तिमान् और अमूर्त्तिमान् भी हैं * । इससे साकार और निराकार भेद से दो प्रकार की व्यवस्था देवताओं में जाननी चाहिये । इनमें से पृथिव्यादि का देवपन केवल व्यवहार में तथा माता, पिता, आचार्य्य और अतिथियों का व्यवहार में उपयोग और परमार्थ का प्रकाश करनामात्र ही देवपन है और ऐसे ही मन और इन्द्रियों का उपयोग व्यवहार और परमार्थ करने में होता है । परन्तु सब मनुष्यों को उपासना करने के योग्य एक परमेश्वर ही देव है ।

अत इदानींतनाः केचिदार्य्या यूरोपखण्डवासिनश्च भौतिकदेवतानामेव पूजनं वेदेष्वस्तीत्यूचुर्वदन्ति च तदलीकतरमस्ति । तथा यूरोपखण्डवासिनो बहव एवं वदन्ति पुरा ह्यार्य्या भौतिकदेवतानां पूजका आसन् पुनस्ताः संपूज्य संपूज्य च बहुकालान्तरे परमात्मानं पूज्यं विदुरिति । तदप्यसत् । तेषां सृष्ट्यारम्भमारभ्यानेकैरिन्द्रवरुणाग्न्यादिभिर्नामभिर्वेदोक्तरीत्येश्वरस्यैवोपासनानुष्ठानाचारागमात् ।

भाषार्थ

प्र०—कितने ही आजकल के आर्य्य और यूरोपदेशवासी अर्थात् अंगरेज

* इन्द्रियों की शक्तिरूपद्रव्य अमूर्त्तिमान् और गोलक मूर्त्तिमान्, तथा विद्युत् और विधियज्ञ में जो २ शब्द तथा ज्ञान अमूर्तिमान् और दर्शन तथा सामग्री मूर्त्तिमान् जानना चाहिये ।

आदि लोग इस में ऐसी शंका करते हैं कि वेदों में पृथिव्यादि भूतों की पूजा कही है। वे लोग यह भी कहते हैं कि पहिले आर्य्य लोग भूतों की पूजा करते थे, फिर पूजते २ बहुत काल पीछे उन्होंने परमेश्वर को भी पूज्य जाना था। उ०—यह उन का कहना मिथ्या है, क्योंकि आर्य्य लोग सृष्टि के आरम्भ से आज पर्य्यन्त इन्द्र, वरुण और अग्नि आदि नामों करके वेदोक्त प्रमाण से एक परमेश्वर की ही उपासना करते चले आये हैं। इस विषय में अनेक प्रमाण हैं, उन में से थोड़े से यहां भी लिखते हैं।

अत्र प्रमाणानि। (अग्निमी०) अस्य मन्त्रस्य व्याख्याने हि, इन्द्रं मित्रम्०। ऋङ्मन्त्रोऽयम्। अस्योपरीममेवाग्निं महान्तमात्मानमित्यादि निरुक्तं[1] च लिखितं तत्र द्रष्टव्यम्। तथा तदेवाग्निस्तदादित्य०[2] इति यजुर्मन्त्रश्च। तमीशा॑नं॒ जग॑तस्त॒स्थुष॒स्पतिं॑ धियं॑ जिन्वमव॑से हूमहे व॒यम्। पू॒षा नो॒ यथा॑ वेद॑सा॒मस॑द्वृ॒धे र॑क्षि॒ता पा॒युरद॑ब्धः स्व॒स्तये॑ ॥ १ ॥ ऋ० अ० १। अ० ६। व० १५। मं० ५ ॥ हि॒र॒ण्य॒ग॒र्भः सम॑वर्त॒ताग्रे॑ भू॒तस्य॑ जा॒तः पति॒रेक॑ आसीत्। स दा॑धार पृथि॒वीं द्यामु॒तेमां कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम ॥ ऋ० अ० ८। अ० ७। व० ३। मं० १ ॥ इत्यादयो नव मन्त्रा एतद्विषयाः सन्ति। प्रतद्वो॑चेद॒मृतं॒ नु वि॒द्वान् ग॑न्ध॒र्वो धाम॒ विभृ॑तं॒ गुहा॒सत्। त्रीणि॑ प॒दानि॒ निहि॑ता॒ गुहा॑स्य॒ यस्तानि॒ वेद॒ स पि॒तुः पि॒तास॑त् ॥ ३ ॥ स नो॒ बन्धु॑र्जनि॒ता स वि॑धा॒ता धामा॑नि वेद॒ भुव॑नानि॒ विश्वा॑। यत्र॑ दे॒वा अ॒मृत॑मानशा॒नास्तृ॒तीये॑ धाम॑न्न॒ध्यैर॑यन्त ॥ ४ ॥ प॒रीत्य॑ भू॒तानि॑ प॒रीत्य॑ लो॒कान् प॒रीत्य॒ सर्वाः॑ प्र॒दिशो॒ दिश॑श्च। उ॒प॒स्थाय॑ प्रथम॒जामृ॒तस्या॒त्मना॒त्मान॑म॒भिसंवि॑वेश ॥ ५ ॥ य० अ० ३२। मं० ६। १०। ११ ॥ वेदा॒हमे॒तं पुरु॑षं म॒हान्त॑मादि॒त्यव॑र्णं॒ तम॑सः प॒रस्ता॑त्। तमे॒व वि॑दि॒त्वाति॑मृ॒त्युमे॑ति॒ नान्यः॒ पन्था॑ विद्य॒तेऽय॑नाय ॥ ६ ॥ य० अ० ३१। मं० १८ ॥ तदे॑जति॒ तन्नैज॑ति॒ तद्दू॒रे तद्व॑न्ति॒के। तद॒न्तर॑स्य॒ सर्व॑स्य॒ तदु॒ सर्व॑स्यास्य बाह्य॒तः ॥ ७ ॥ य० अ० ४०। मं० ५ ॥ स[3] प॑र्य॒गाच्छु॒क्रम॑का॒यम॑व्र॒णमि-

1—निरु० अ० ७। खं० १८ ॥ २—अ० ३२ मं० १ ॥ ३—यजुर्वेद अ० ४० । मं० ८ ॥

त्यादि च ॥ य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदृषिर्होता न्यसीदत् पिता नः । स आशिषा द्रविणमिच्छमानः प्रथमच्छदवराँ २॥ आविवेश ॥ ८ ॥ किंश्स्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमत्स्वित् कथासीत् । यतो भूमिं जनयन् विश्वकर्मा वि द्यामौर्णोन्महिना विश्वचक्षाः ॥ ९ ॥ विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात् । सम्बाहुभ्यां धमति सम्पतत्रैर्द्यावाभूमी-जनयन्देव एकः ॥ १० ॥ य० अ० १७ । मं० १७ । १८ । १९ ॥ इत्यादयो मन्त्रा यजुषि बहवः सन्ति । तथा सामवेदस्योत्तरार्चिके त्रिकम् ११ । अभित्वा शूर नोनुमोऽदुग्धा इव धेनवः । ईशानमस्य जगतः स्वर्दृश-मीशानमिन्द्र तस्थुषः ॥ ११ ॥ न त्वावाँ अन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते । अश्वायन्तो मघवन्निन्द्र वाजिनो गव्यन्तस्त्वा हवामहे ॥१२॥ इत्यादयश्च ॥ नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमापरोयत् । किमावरीवः कुहकस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम् ॥ १३ ॥ इयं-विसृष्टिर्यत आ बभूव यदि वा दधे यदि वा न । यो अस्याध्यक्षः परमे व्योम-न्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥ १४ ॥ इत्यन्ताः सप्त मन्त्रा ऋग्वेदे । अ० ८ । अ० ७ । व० १७ । मं० १ । ७ ॥ यत्परममवमं यच्च मध्यमं प्रजापतिः ससृजे विश्वरूपम् । कियता स्कम्भः प्रविवेश तत्र यन्न प्राविशत् कियत्तद्बभूव ॥ १५ ॥ यस्मिन्भूमिरन्तरिक्षं द्यौर्यस्मिन्नध्याहिता । यत्राग्नि-श्चन्द्रमाः सूर्यो वातस्तिष्ठन्त्यार्पिता स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥१६॥ अथर्व० कां० १० । अनु० ४ । मं० ८ । १२ ॥ इत्यादयोऽथर्ववेदेपि बहवो मन्त्राः सन्ति । एतेषां मन्त्राणां मध्यात्केषांचिदर्थः पूर्वं प्रकाशितः केषांचिदग्रे विधास्यतेऽत्राप्रसङ्गान्नोच्यते । अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् । तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमा-नमात्मनः ॥ १ ॥ अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत् । अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ॥ २ ॥ यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह । मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥ ३ ॥ एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति । तमा-त्मस्थं ये नु पश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥ ४ ॥ नित्यो

नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् । तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥५॥ इति कठवल्ल्युपनिषदि ॥ दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः । अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रोऽक्षरात्परतः परः ॥ ६ ॥ यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्यैष महिमा भुवि । दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठितः ॥ ७ ॥ इति मुण्डकोपनिषदि ॥ नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम् । अदृष्टमव्यवहार्य्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्म्यप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ॥ ८ ॥ इति माण्डूक्योपनिषदि ॥ सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायाम् । परमे व्योमन्त्सोऽश्नुते सर्वान्कामान् ब्रह्मणा सह विपश्चितेति ॥ ९ ॥ इति तैत्तिरीयोपनिषदि ॥ यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखम् । भूमात्वेव विजिज्ञासितव्य इति । यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा ॥ अथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पम् । यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यं* स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि ॥ इति छान्दोग्योपनिषदि ॥ वेदोक्तेशानादिविशेषणप्रतिपादितोऽणोरणीयानित्याद्युपनिषदुक्तविशेषणप्रतिपादितश्च यः परमेश्वरोऽस्ति, स एवाऽऽर्य्यैः सृष्टिमारभ्याद्यपर्य्यन्तं यथावद्विदित्वोपासितोऽस्तीति मन्यध्वम् । एवं परब्रह्मविषयप्रकाशकेषु प्रमाणेषु सत्सु भट्टमोक्षमूलरैरुक्तमार्य्याणां पूर्वमीश्वरज्ञानं नासीत्पुनः क्रमाज्जातमिति न तच्छिष्टग्रहणार्हमस्तीति विजानीमः ।

भाषार्थ

(इन्द्रं मित्रम्०) इस में चारों वेद, शतपथ आदि चारों ब्राह्मण, निरुक्त और छः शास्त्र आदि के अनेक प्रमाण हैं कि जिस सद्वस्तु ब्रह्म के इन्द्र, ईशान, अग्नि आदि वेदोक्त नाम हैं और अणोरणीयान् इत्यादि उपनिषदों के विशेषणों से जिसका प्रतिपादन किया है उसी की उपासना आर्य्य लोग सदा से करते आये हैं । इन मन्त्रों में से जिनका अर्थ भूमिका में नहीं किया है उन का आगे

* सह ब्रह्मणेत्युपलभ्यमानोपनिषदि पाठः ॥

वेदभाष्य में किया जायगा और कोई २ आर्य्य लोग किंवा यूरोप आदि देशों में रहनेवाले अंगरेज कहते हैं कि प्राचीन आर्य्य लोग अनेक देवताओं और भूतों की पूजा करते थे। यह उनका कहना व्यर्थ है, क्योंकि वेदों और उनके प्राचीन व्याख्यानों में अग्नि आदि नामों से उपासना के लिये एक परमेश्वर का ही ग्रहण किया है, जिसकी उपासना आर्य्य लोग करते थे, इससे पूर्वोक्त शङ्का किसी प्रकार से नहीं आसकती।

भाष्यम्

किंच। हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पति० एतन्मन्त्रव्याख्यानावसरेऽयं मन्त्रोऽर्वाचीनोस्ति छन्दस इति शारमण्यदेशोत्पन्नैर्मक्षमोक्षमूलरैः स्वकीयसंस्कृतसाहित्याख्ये ग्रन्थ एतद्विषये यदुक्तं तन्न संगच्छते। यच्च वेदानां द्वौ भागावेकश्छन्दो, द्वितीयो मन्त्रश्च। तत्र यत्सामान्यार्थाभिधानं परबुद्धिप्रेरणाजन्यं स्वकल्पनया रचनाभावं, यथाह्यज्ञानिनो मुखादकस्मान्निस्सरेदीदृशं यद्वचनं तच्छन्द इति विज्ञेयम्। तस्योत्पत्तिसमय एकत्रिंशच्छतानि वर्षाण्यधिकाधिकानि व्यतीतानि। तथैकोनत्रिंशच्छतानि वर्षाणि मन्त्रोत्पत्तौ चेत्यनुमानं तेषामस्ति। तत्र तैरुक्तानि प्रमाणानि। अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुतेत्यादीनि ज्ञातव्यानि। तदिदमप्यन्यथास्ति। कुतः। हिरण्यगर्भशब्दस्यार्थज्ञानाभावात्। अत्र प्रमाणानि। ज्योतिर्वै हिरण्यं ज्योतिरेषोऽमृतꣳ हिरण्यम्॥ श० कां० ६। अ० ७॥ केशी केशा रश्मयस्तैस्तद्वान्भवति काशनाद्वा प्रकाशनाद्वा केशीदं ज्योतिरुच्यते॥ नि० अ० १२। खं० २५॥ यशो वै हिरण्यम्॥ ऐ० पं० ७। अ० ३॥ ज्योतिरेवायं पुरुष इत्यात्मज्योतिः॥ श० कां० १४। अ० ७॥ ज्योतिरिन्द्राग्नी॥ श० कां० १०। अ० ४। एषामर्थः। ज्योतिर्विज्ञानं गर्भः स्वरूपं यस्य स हिरण्यगर्भः। एवं च ज्योतिर्हिरण्यं प्रकाशो, ज्योतिरमृतं मोक्षो, ज्योतिरादित्यादयः केशाः प्रकाशकालोकाश्च यशः सत्कीर्तिर्धन्यवादश्च, ज्योतिरात्मा जीवश्च, ज्योतिरिन्द्रः सूर्य्योऽग्निश्चैतत्सर्वं हिरण्याख्यं गर्भे सामर्थ्ये यस्य स हिरण्यगर्भः परमेश्वरः। अतो हिरण्यगर्भशब्दप्रयोगाद्वेदानामुत्तमत्वं सनातनत्वं तु निश्चीयते न नवीनत्वं च। अस्मात्कारणाद्यत्तैरुक्तं हिरण्यगर्भशब्दप्रयो-

गान्मन्त्रभागस्य नवीनत्वं तु द्योतितं भवति, किन्त्वस्य प्राचीनत्त्वे किमपि- प्रमाणं नोपलभामह इति । तद्भ्रममूलमेव विज्ञेयम् । यच्चोक्तं मन्त्रभागनवी- नत्वे अग्निः पूर्वेभिरित्यादिकारणं तदपि तादृशमेव । कुतः । ईश्वरस्य त्रिकालदर्शित्वात् । ईश्वरो हि त्रीन्कालान् जानाति । भूतभविष्यद्वर्त्तमानका- लस्थैर्मन्त्रद्रष्टृभिर्मनुष्यैर्मन्त्रैः प्राणैस्तर्कैश्चर्षिभिरहमेवेड्यो बभूव भवामि भविष्यामि चेति विदित्त्वेदमुक्तमित्यदोषः । अन्यच्च । ये वेदादिशास्त्राण्य- धीत्य विद्वांसो भूत्वाऽध्यापयन्ति ते प्राचीनाः । ये चाधीयते ते नवीनाः । तैर्ऋषिभिरग्निः परमेश्वर एवेड्योस्त्यतश्च ।

भाषार्थ

इसी विषय में डाक्टर मोक्षमूलर साहेब ने अपने बनाये संस्कृत साहित्य ग्रन्थ में ऐसा लिखा है कि आर्य्य लोगों को क्रम से अर्थात् बहुत काल के पीछे ईश्वर का ज्ञान हुआ था और वेदों के प्राचीन होने में एक भी प्रमाण नहीं मिलता, किन्तु उन के नवीन होने में तो अनेक प्रमाण पाये जाते हैं। इस में एक तो हिरण्यगर्भ शब्द का प्रमाण दिया है कि छन्दोभाग से मन्त्रभाग दोसौ वर्ष पीछे बना है, और दूसरा यह है कि वेदों में दो भाग हैं एक तो छन्द और दूसरा मन्त्र । उन में से छन्दोभाग ऐसा है जो सामान्य अर्थ के साथ सम्बन्ध रखता है और दूसरे की प्रेरणा से प्रकाशित हुआ मालूम पड़ता है, कि जिसकी उत्पत्ति बनाने वाले की प्रेरणा से नहीं हो सकती और उस में कथन इस प्रकार का है जैसे अज्ञानी के मुख से अकस्मात् वचन निकला हो। उस- की उत्पत्ति में (३१००) इकतीससौ वर्ष व्यतीत हुए हैं और मन्त्रभाग की उत्पत्ति में (२९००) उनतीससौ वर्ष हुए हैं। उस में (अग्निः पूर्वेभिः०) इस मन्त्र का भी प्रमाण दिया है। सो उन का यह कहना ठीक नहीं हो सकता, क्योंकि उन्होंने (हिरण्यगर्भः०) और (अग्निः पूर्वेभिः०) इन दोनों मन्त्रों का अर्थ यथावत् नहीं जाना है। तथा मालूम होता है कि उन को हिरण्यगर्भ शब्द नवीन जान पड़ा होगा इस विचार से कि हिरण्य नाम है सोने का, वह सृष्टि से बहुत पीछे उत्पन्न हुआ है, अर्थात् मनुष्यों की उन्नति, राजा और प्रजा के

प्रबन्ध होने के उपरान्त पृथिवी में से निकाला गया है । सो यह बात भी उन की ठीक नहीं हो सकती, क्योंकि इस शब्द का अर्थ यह है कि ज्योति कहते हैं विज्ञान का, सो जिसके गर्भ अर्थात् स्वरूप में है, ज्योति अमृत अर्थात् मोक्ष है सामर्थ्य में जिस के, और ज्योति जो प्रकाशस्वरूप सूर्य्यादिलोक जिस के गर्भ में हैं, तथा ज्योति जो जीवात्मा जिस के गर्भ अर्थात् सामर्थ्य में है, तथा यशः सत्कीर्ति जो धन्यवाद जिस के स्वरूप में है, इसी प्रकार ज्योति, इन्द्र अर्थात् सूर्य, वायु और अग्नि ये सब जिस के सामर्थ्य में हैं ऐसा जो एक परमेश्वर है उसी को हिरण्यगर्भ कहते हैं । इस हिरण्यगर्भ शब्द के प्रयोग से वेदों का उत्तमपन और सनातनपन तो यथावत् सिद्ध होता है, परन्तु इस से उन का नवीनपन सिद्ध कभी नहीं हो सकता । इस से डाक्टर मोक्षमूलर साहेब का कहना जो वेदों के नवीन होने के विषय में है सो सत्य नहीं है । और जो उन्होंने (अग्निः पूर्वेभिः०) इस का प्रमाण वेदों के नवीन होने में दिया है सो भी अन्यथा है, क्योंकि इस मन्त्र में वेदों के कर्त्ता, त्रिकालदर्शी ईश्वर ने भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान तीनों कालों के व्यवहारों को यथावत् जान के कहा है कि वेदों को पढ़ के जो विद्वान् हो चुके हैं वा जो पढ़ते हैं वे प्राचीन और नवीन ऋषि लोग मेरी स्तुति करें । तथा ऋषि नाम मन्त्र, प्राण और तर्क का भी है, इनसे ही मेरी स्तुति करनी योग्य है इसी अपेक्षा से ईश्वर ने इस मन्त्र का प्रयोग किया है । इससे वेदों का सनातनपन और उत्तमपन तो सिद्ध होता है, किन्तु उन हेतुओं से वेदों का नवीन होना किसी प्रकार से सिद्ध नहीं हो सकता, इसी हेतु से डाक्टर मोक्षमूलर साहेब का कहना ठीक नहीं ।

भाष्यम्

अत्र निरुक्तेऽपि प्रमाणम् । तत्प्रकृतीतरद्वर्त्तनसामान्यादित्ययं मन्त्रार्था-भ्यूहोऽभ्यूढोऽपि श्रुतितोऽपि तर्कतो, न तु पृथक्त्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्याः, प्रकरणश एव तु निर्वक्तव्या, न ह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वा, पारोवर्य्यवित्सु

१—मन्त्रार्थेति पदस्य परस्ताच्चिन्तेति पदमाधिकन्निरुक्ते ॥

तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवतीत्युक्तं पुरस्तान्मनुष्या वा ऋषि-षूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन्को न ऋषिर्भविष्यतीति तेभ्य, एतं तर्कमृषिं प्रायच्छन् मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहमभ्यूढं तस्माद्यदेव किं चानूचानोऽभ्यूहत्यार्षं तद्भवति ॥ नि० अ० १३। खं० १२ ॥ अस्यार्थः। (तत्प्रकृती०) तस्य मन्त्र-समूहस्य पदशब्दाक्षरसमुदायानामितरत् परस्परं विशेष्यविशेषणतया सामा-न्यवृत्तौ वर्त्तमानानां मन्त्राणामर्थज्ञानचिन्ता भवति। कोयं खल्वस्य मन्त्र-स्यार्थो भविष्यतीत्यभ्यूहो बुद्धावाभिमुख्येनोहो विशेषज्ञानार्थस्तर्को मनुष्येण कर्त्तव्यः। नैते श्रुतितः श्रवणमात्रेणैव तर्कमात्रेण च पृथक् २ मन्त्रार्था निर्वक्तव्याः। किन्तु प्रकरणानुकूलतया पूर्वापरसंबन्धेनैव नितरां वक्तव्याः। किंच नैवैतेषु मन्त्रेष्वनृषेरतपसोऽशुद्धान्तःकरणस्याविदुषः प्रत्यक्षं ज्ञानं भवति। न यावद्वा पारोवर्य्यवित्सु कृतप्रत्यक्षमन्त्रार्थेषु मनुष्येषु भूयोविद्यो बहुविद्यान्वितः प्रशस्योऽत्युत्तमो विद्वान् भवति। न तावदभ्यूढः सुतर्केण वेदार्थमपि वक्तुमर्हतीत्युक्तं सिद्धमस्ति। अत्रेतिहासमाह। पुरस्तात्कदाचिन्म-नुष्या ऋषिषु मन्त्रार्थद्रष्टृषूत्क्रामत्स्वतीतेषु सत्सु देवान् विदुषोऽब्रुवन्नपृच्छन् कोऽस्माकं मध्ये ऋषिर्भविष्यतीति। तेभ्यः सत्यासत्यविज्ञानेन वेदार्थबोधार्थं चैतं तर्कमृषिं ते प्रायच्छन् दत्तवन्तोऽयमेव युष्मासु ऋषिर्भविष्यतीत्युत्तर-मुक्तवन्तः। कथंभूतं तं तर्कं? मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहमभ्यूढम्। मन्त्रार्थविज्ञान-कारकम्। अतः किं सिद्धं? यः कश्चिदनूचानो, विद्यापारगः, पुरुषोऽ-भ्यूहति, वेदार्थमभ्यूहते, प्रकाशयते, तदेवार्षमृषिप्रोक्तं वेदव्याख्यानं भवतीति मन्तव्यम्। किंच यदल्पविद्येनाल्पबुद्धिना, पक्षपातिना मनुष्येण चाभ्यूह्यते तदनार्षमनृतं भवति। नैतत्केनाप्यादर्त्तव्यमिति। कुतः। तस्यानर्थयुक्तत्वात्। तदादरेण मनुष्याणामप्यनर्थापत्तेश्चेति। अतः पूर्वैभिः प्राक्तनैः प्रथमोत्पन्नै-स्तर्कैर्ऋषिभिस्तथा नूतनैर्वर्त्तमानस्थैश्चोतापि भविष्याद्भिश्च त्रिकालस्थैरग्निः परमेश्वर एवेड्योऽस्ति। नैवास्माद्भिन्नः कश्चित्पदार्थः कस्यापि मनुष्यस्येड्यः, स्तोतव्य, उपास्योस्तीति निश्चयः। एवमग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनै-रुतेत्यस्य मन्त्रस्यार्थसंगतेनैव वेदेष्ववार्चीनाख्यः कश्चिद् दोषो भवितु-मर्हतीति।

भाषार्थ

इस में विचारना चाहिये कि वेदों के अर्थ को यथावत् विना विचारे उन के अर्थ में किसी मनुष्य को हठ से साहस करना उचित नहीं, क्योंकि जो वेद सब विद्याओं से युक्त हैं, अर्थात् उन में जितने मन्त्र और पद हैं वे सब सम्पूर्ण सत्यविद्याओं के प्रकाश करने वाले हैं और ईश्वर ने वेदों का व्याख्यान भी वेदों से ही कर रक्खा है, क्योंकि उन के शब्द धात्वर्थ के साथ योग रखते हैं। इसमें निरुक्त का भी प्रमाण है, जैसा कि यास्कमुनि ने कहा है (तत्प्रकृतीत०) इत्यादि। वेदों के व्याख्यान करने के विषय में ऐसा समझना कि जब तक सत्य प्रमाण, सुतर्क, वेदों के शब्दों का पूर्वापर प्रकरणों, व्याकरण आदि वेदाङ्गों, शतपथ आदि ब्राह्मणों, पूर्वमीमांसा आदि शास्त्रों और शाखान्तरों का यथावत् बोध न हो, और परमेश्वर का अनुग्रह, उत्तम विद्वानों की शिक्षा, उन के सङ्ग से पक्षपात छोड़ के आत्मा की शुद्धि न हो, तथा महर्षि लोगों के किये व्याख्यानों को न देखे, तबतक वेदों के अर्थ का यथावत् प्रकाश मनुष्य के हृदय में नहीं होता। इसलिये सब आर्य्य विद्वानों का सिद्धान्त है कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से युक्त जो तर्क है वही मनुष्यों के लिये ऋषि है। इससे यह सिद्ध होता है कि जो सायणाचार्य्य और महीधरादि अल्पबुद्धि लोगों के झूठे व्याख्यानों को देख के आजकल के आर्य्यावर्त्त और यूरोपदेश के निवासी लोग जो वेदों के ऊपर अपनी २ देशभाषाओं में व्याख्यान करते हैं वे ठीक २ नहीं हैं, और उन अनर्थयुक्त व्याख्यानों के मानने से मनुष्यों को अत्यन्त दुःख प्राप्त होता है। इससे बुद्धिमानों को उन व्याख्यानों का प्रमाण करना योग्य नहीं। तर्क का नाम ऋषि होने से सब आर्य्य लोगों का सिद्धान्त है कि सब कालों में अग्नि जो परमेश्वर है वही उपासना करने के योग्य है।

भाष्यम्

अन्यच्च। प्राणा वा ऋषयो दैव्यासः ॥ ऐ० पं० २। अ० ४ ॥ पूर्वेभिः पूर्वकालावस्थास्थैः कारणस्थैः प्राणैः कार्य्यद्रव्यस्थैर्नूतनैश्चर्षिभिः

सहैव समाधियोगेन सर्वैर्विद्वद्भिरग्निः परमेश्वर एवेड्योऽस्त्यनेन श्रेयो भवतीति मन्तव्यम् ।

भाषार्थ

जगत् के कारण प्रकृति में जो प्राण हैं उन को प्राचीन और उस के कार्य्य में जो प्राण हैं उन को नवीन कहते हैं । इसलिये सब विद्वानों को उन्हीं ऋषियों के साथ योगाभ्यास से अग्नि नामक परमेश्वर की ही स्तुति, प्रार्थना और उपासना करनी योग्य है । इतने से ही समझना चाहिये कि भट्ट मोक्षमूलर साहेब आदि ने इस मन्त्र का अर्थ ठीक २ नहीं जाना है ।

भाष्यम्

यच्चोक्तं छन्दोमन्त्रयोर्भेदोऽस्तीति, तदप्यसंगतम् । कुतः । छन्दोवेदनिगममन्त्रश्रुतीनां पर्य्यायवाचकत्वात् । तत्र छन्दोऽनेकार्थवाचकमस्ति । वैदिकानां गायत्र्यादिवृत्तानां लौकिकानामार्य्यादीनां च वाचकम् । क्वचित्स्वातन्त्र्यस्यापि । अत्राहुर्यास्काचार्य्याः । मन्त्रा मननाच्छन्दांसिच्छादनात्स्तोमः स्तवनाद्यजुर्यजतेः साम संमितमृचा ॥ नि० अ० ७ । खं० १२ ॥ अविद्यादिदुःखानां निवारणात्सुखैराच्छादनाच्छन्दो वेदः । तथा चन्देरादेश्च छः इत्यौणादिकं सूत्रम् । चदि आल्हादने दीप्तौ चेत्यस्माद्धातोरसुन्प्रत्यये परे चकारस्यच्छकारादेशे च कृते छन्दस् इति शब्दो भवति । वेदाध्ययनेन सर्वविद्याप्राप्तेर्मनुष्य आन्हादी भवति, सर्वार्थज्ञाता चातश्छन्दो वेदः । छन्दांऽसि वै देवा वयोनाधाश्छन्दोभिर्हीदंऽ सर्वं वयुनं नद्धम् ॥ श० कां० ८ । अ० २ ॥ एता वै देवताश्छन्दांऽसि ॥ श० कां० ८ । अ० ३ ॥ अस्यायमभिप्रायः । मत्रि गुप्तपरिभाषणे, अस्माद्धलश्चेति सूत्रेण घञ् प्रत्यये कृते मन्त्रशब्दस्य सिद्धिर्जायते । गुप्तानां पदार्थानां भाषणं यस्मिन्वर्त्तते स मन्त्रो वेदः । तदवयवानामनेकार्थानामपि मन्त्रसंज्ञा भवति, तेषां तदर्थवत्त्वात् । तथा मनज्ञाने, अस्माद्धातोः सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन् इत्युणादिसूत्रेण ष्ट्रन्प्रत्यये कृते मन्त्रशब्दो व्युत्पद्यते । मन्यन्ते ज्ञायन्ते सर्वैर्मनुष्यैः सत्याः पदार्था येन,

यस्मिन्वा स मन्त्रो वेदः । तदवयवा अग्निमीळेपुरोहितमित्यादयो मन्त्रा गृह्यन्ते । यानि गायत्र्यादीनि छन्दांसि तदन्विता मन्त्राः सर्वार्थद्योतकत्वा-द्देवताशब्देन गृह्यन्ते । अतश्च छन्दांस्येव देवाः वयोनाधाः सर्वक्रियाविद्या-निबन्धनास्तैश्छन्दोभिरेव वेदैर्वेदमन्त्रैश्चेदं सर्वं विश्वं वयुनं कर्मादि चेश्वरेण नद्धं बद्धं कृतमिति विज्ञेयम् । येन छन्दसा छन्दोभिर्वा सर्वा विद्याः संवृता आवृताः सम्यक् स्वीकृता भवन्ति । तस्माच्छन्दांसि वेदा, मननान्मन्त्राश्चेति पर्यायौ । एवं श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेय इति मनुस्मृतौ, इत्यपि निगमो भवतीति निरुक्ते । श्रुतिर्वेदो मन्त्रश्च, निगमो वेदो मन्त्रश्चेति पर्य्यायौ स्तः । श्रूयन्ते वा सकला विद्या यया सा श्रुति,र्वेदो मन्त्राश्च श्रुतयः । तथा निगच्छन्ति नितरां जानन्ति प्राप्नुवन्ति वा सर्वा विद्या यस्मिन् स निगमो वेदो मन्त्रश्चेति ।

भाषार्थ

जैसे छन्द और मन्त्र ये दोनों शब्द एकार्थवाची अर्थात् संहिता भाग के नाम हैं, वैसे ही निगम और श्रुति भी वेदों के नाम हैं । भेद होने का कारण केवल अर्थ ही है । वेदों का नाम छन्द इसलिये रक्खा है कि वे स्वतन्त्रप्रमाण और सत्यविद्याओं से परिपूर्ण हैं । तथा उन का मन्त्र नाम इसलिये है कि उन से सत्यविद्याओं का ज्ञान होता है । और श्रुति इसलिये कहते हैं कि उनके पढ़ने, अभ्यास करने और सुनने से सब सत्य विद्याओं को मनुष्य लोग जान सकते हैं । ऐसे ही जिस करके सब पदार्थों का यथार्थ ज्ञान हो उस को निगम कहते हैं । इससे यह चारों शब्द पर्याय अर्थात् एक अर्थ के वाची हैं, ऐसा ही जानना चाहिये ।

भाष्यम्

तथा व्याकरणेपि । मन्त्रे घसह्वरणशवृदहाद्वृचकृगमिजनिभ्यो लेः ॥ १ ॥ अष्टाध्याय्याम् । अ० २ । पा० ४ । सू० ८० ॥ छन्दसि लुङ् लङ् लिटः ॥२॥ अ० ३ । पा० ४ । सू०६ ॥ वा षपूर्वस्य निगमे ॥३॥ अ० ६ । पा० ४ । सू० ९ ॥ अत्रापिच्छन्दोमन्त्रनिगमाः पर्य्यायवाचिनः सन्ति । एवं छन्द आदीनां पर्यायसिद्धेर्यो भेदं ब्रूते तद्वचनमप्रमाणमेवास्तीति विज्ञायते ।

भाषार्थ

वैसे ही अष्टाध्यायी व्याकरण में भी छन्द, मन्त्र और निगम ये तीनों नाम वेदों ही के हैं। इसलिये जो लोग इनमें भेद मानते हैं उनका वचन प्रमाण करने के योग्य नहीं।

इति वेदविषयविचारः

अथ वेदसंज्ञाविचारः

अथ कोयं वेदो नाम? मन्त्रभागसंहितेत्याह। किञ्च मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयमिति कात्यायनोक्तेर्ब्राह्मणभागस्यापि वेदसंज्ञा कुतो न स्वीक्रियत इति?। मैवं वाच्यम्। न ब्राह्मणानां वेदसंज्ञा भवितुमर्हति। कुतः। पुराणेतिहाससंज्ञकत्वाद्वेदव्याख्यानादृषिभिरुक्तत्वादनीश्वरोक्तत्वात्कात्यायनभिन्नैर्ऋषिभिर्वेदसंज्ञायामस्वीकृतत्वान्मनुष्यबुद्धिरचितत्वाच्चेति।

भाषार्थ

प्र०—वेद किनका नाम है? उ०—मन्त्रसंहिताओं का। प्र०—जो कात्यायन ऋषि ने कहा है कि मन्त्र और ब्राह्मण ग्रन्थों का नाम वेद है, फिर ब्राह्मणभाग को भी वेदों में ग्रहण आप लोग क्यों नहीं करते हैं? उ०—ब्राह्मणग्रन्थ वेद नहीं हो सकते, क्योंकि उन्हीं का नाम इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा और नाराशंसी भी है। वे ईश्वरोक्त नहीं हैं, किन्तु महर्षि लोगों के किये वेदों के व्याख्यान हैं। एक कात्यायन को छोड़ के किसी अन्य ऋषि ने उन के वेद होने में साक्षी नहीं दी है, और वे देहधारी पुरुषों के बनाये हैं। इन हेतुओं से ब्राह्मणग्रन्थों की वेदसंज्ञा नहीं हो सकती, और मन्त्रसंहिताओं का वेद नाम इसलिये है कि ईश्वररचित और सब विद्याओं का मूल है।

भाष्यम्

यथा ब्राह्मणग्रन्थेषु मनुष्याणां नामलेखपूर्वका लौकिका इतिहासाः सन्ति

न चैवं मन्त्रभागे । किंच भोः । त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम् । यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नो अस्तु त्र्यायुषम् ॥ १ ॥ यजु० अ० ३ । मं० ६२ ॥ इत्यादीनि वचनान्यृषीणां नामाङ्कितानि यजुर्वेदादिष्वपि दृश्यन्ते । अनेनेतिहासादिविषये मन्त्रब्राह्मणयोस्तुल्यता दृश्यते पुनर्ब्राह्मणानामपि वेदसंज्ञा कुतो न मन्यते ? । मैवं भ्रमि । नैवात्र जमदग्निकश्यपौ देहधारिणो मनुष्यस्य नाम्नी स्तः । अत्र प्रमाणम् । चक्षुर्वै जमदग्निर्ऋषिर्यदेनेन जगत्पश्यत्यथो मनुते तस्माच्चक्षुर्जमदग्निर्ऋषिः ॥ श० कां० ८ । अ० १ ॥ कश्यपो वै कूर्मः, प्राणो वै कूर्मः ॥ शत० कां० ७ । अ० ५ । अनेन प्राणस्य कूर्मः कश्यपश्च संज्ञास्ति । शरीरस्य नाभौ तस्य कूर्माकारावस्थितेः । अनेन मन्त्रेणेश्वर एव प्रार्थ्यते तद्यथा—हे जगदीश्वर ! भवत्कृपया नोऽस्माकं जमदग्निसंज्ञकस्य चक्षुषः कश्यपाख्यस्य प्राणस्य च त्र्यायुषं त्रिगुणमर्थात् त्रीणि शतानि वर्षाणि यावत्तावदायुरस्तु । चक्षुरित्युपलक्षणमिन्द्रियाणां, प्राणो मन आदीनां च (यद्देवेषु त्र्यायुषम्) अत्र प्रमाणम् । विद्वाꣳसो हि देवाः ॥ श० कां० ३ । अ० ७ ॥ अनेन विदुषां देवसंज्ञास्ति । देवेषु विद्वत्सु यद्विद्याप्रभावयुक्तं त्रिगुणमायुर्भवति (तन्नो अस्तु त्र्यायुषम्) तत्सेन्द्रियाणां समनस्कानां नोस्माकं पूर्वोक्तं सुखयुक्तं त्रिगुणमायुरस्तु भवेत् । येन सुखयुक्ता वयं तावदायुर्भुञ्जीमहि । अनेनान्यदप्युपदिश्यते । ब्रह्मचर्यादिसुनियमैर्मनुष्यैरेतत्त्रिगुणमायुः कर्तुं शक्यमस्तीति गम्यते । अतोऽर्थाभिधायकैर्जमदग्न्यादिभिः शब्दैरर्थमात्रं वेदेषु प्रकाश्यते । अतो नात्र मन्त्रभागे हीतिहासलेशोऽप्यस्तीत्यवगन्तव्यम् । अतो यच्च सायणाचार्य्यादिभिर्वेदप्रकाशादिषु यत्र कुत्रेतिहासवर्णनं कृतं तद्भ्रममूलमस्तीति मन्तव्यम् ।

भाषार्थ

प्र०—जैसे ऐतरेय आदि ब्राह्मणग्रन्थों में याज्ञवल्क्य, मैत्रेयी, गार्गी और जनक आदि के इतिहास लिखे हैं, वैसे ही (त्र्यायुषं जमदग्नेः०) इत्यादि वेदों में भी पाये जाते हैं, इससे मन्त्र और ब्राह्मणभाग ये दोनों बराबर होते हैं, फिर ब्राह्मण ग्रन्थों को वेदों में क्यों नहीं मानते हो ? उ०—ऐसा भ्रम

मत करो, क्योंकि जमदग्नि और कश्यप ये नाम देहधारी मनुष्यों के नहीं हैं। इस का प्रमाण शतपथ ब्राह्मण में लिखा है कि चक्षु का नाम जमदग्नि और प्राण का नाम कश्यप है। इस कारण से यहां प्राण से अन्तःकरण और आंख से सब इन्द्रियों का ग्रहण करना चाहिये। अर्थात् जिनसे जगत् के सब जीव बाहर और भीतर देखते हैं। (त्र्यायुषं ज०) सो इस मंत्र से ईश्वर की प्रार्थना करनी चाहिये कि हे जगदीश्वर! आप के अनुग्रह से हमारे प्राण आदि अन्तःकरण और आंख आदि सब इन्द्रियों की (३००) तीनसौ वर्ष तक उमर बनी रहे, (यद्देवेषु०) सो जैसी विद्वानों के बीच में विद्यादि शुभगुण और आनन्दयुक्त उमर होती है (तन्नो अस्तु०) वैसी ही हम लोगों की भी हो, तथा (त्र्यायुषं जमदग्नेः०) इत्यादि उपदेश से यह भी जाना जाता है कि मनुष्य ब्रह्मचर्य्यादि उत्तम नियमों से त्रिगुण चतुर्गुण आयु कर सकता है, अर्थात् (४००) चारसौ वर्ष तक भी सुखपूर्वक जी सकता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि वेदों में सत्य अर्थ के वाचक शब्दों से सत्यविद्याओं का प्रकाश किया है, लौकिक इतिहासों का नहीं। इससे जो सायणाचार्यादि लोगों ने अपनी २ बनाई टीकाओं में वेदों में जहां तहां इतिहास वर्णन किये हैं वे सब मिथ्या हैं।

भाष्यम्

तथा ब्राह्मणग्रन्थानामेव पुराणेतिहासादिनामास्ति न ब्रह्मवैवर्तश्रीमद्भागवतादीनां चेति निश्चीयते। किंच भोः। ब्रह्मयज्ञविधाने यत्र क्वचिद्ब्राह्मणसूत्रग्रन्थेषु यद्ब्राह्मणानीतिहासान्पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीरित्यादीनि वचनानि दृश्यन्ते एषां मूलमथर्ववेदेऽप्यस्ति। स बृ॒ह॒तीं दिश॒मनु॒व्य॑चलत्। तमिति॒हास॑श्च पुरा॒णं च॒ गाथा॑श्च नारा॒शंसी॑श्चा॒नु॒व्य॑चलन्। इ॒ति॒हा॒सस्य॑ च॒ वै सपु॒रा॒णस्य॑ च॒ गाथा॑नां च नारा॒शंसी॑नां च प्रि॒यं धाम॑ भवति॒ य ए॒वं वेद॑॥ १॥ अथर्व० कां० १५। प्रपा० ३०। अनु० १। मं० ४॥ अतो ब्राह्मणग्रन्थेभ्यो भिन्ना भागवतादयो ग्रन्था इतिहासादिसंज्ञया कुतो न गृह्यन्ते?। मैवं वाचि। तैः प्रमाणैर्ब्राह्मणग्रन्थानामेव ग्रहणं जायते न

श्रीमद्भागवतादीनामिति । कुतः । ब्राह्मणग्रन्थेष्वितिहासादीनामन्तर्भावात् । तत्र देवासुराः संयत्ता आसन्नित्यादय इतिहासा ग्राह्याः । स देव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् ॥ छान्दोग्योपनि० प्रपा० ६ ॥ आत्मा वा इदमेक-मेवाग्रआसीन्नान्यत् किंचनामिषत् ॥ इत्यैतरेयारण्यकोपनि० अ० १ । खं० १ ॥ आपो ह वा इदमग्रे सलिलमेवास ॥ श० कां० ११ । अ० १ ॥ इदं वा अग्रे नैव किंचिदासीत् । इत्यादीनि जगतः पूर्वावस्थाकथनपूर्वकाणि वचनानि ब्राह्मणान्तर्गतान्येव पुराणानि ग्राह्याणि । कल्पा मन्त्रार्थसामर्थ्य-प्रकाशकाः । तद्यथा । इषेत्वोर्जेत्वेति वृष्ट्यै तदाह । यदाहेषेत्वेत्यूर्जेत्वेति यो वृष्टादूर्ग्रसो जायते तस्मै तदाह । सविता वै देवानां प्रसविता सवितृप्रसूताः ॥ श० कां० १ । अ० ७ ॥ इत्यादयो ग्राह्याः । गाथा याज्ञवल्क्यजनकसंवादो, यथा शतपथब्राह्मणे गार्गीमैत्रेय्यादीनां परस्परं प्रश्नोत्तरकथनयुक्ताः सन्तीति । नाराशंस्यश्च । अत्राहुर्यास्काचार्याः । नराशंसो यज्ञ इति कथक्यो[1], नरा अस्मिन्नासीनाः शंसन्त्यग्निरिति शाकपूणि,नरैः प्रशस्यो भवति ॥ नि० अ० ८ । खं० ६ ॥ नृणां यत्र प्रशंसा नृभिर्यत्र प्रशस्यते ता ब्राह्मणनिरुक्ता-द्यन्तर्गताः कथा नाराशंस्यो ग्राह्या, नातोऽन्या इति । किंच तेषु तेषु वचने-ष्वपीदमेव विज्ञायते यत् यस्माद्ब्राह्मणानीति संज्ञीपदमितिहासादिस्तेषां संज्ञेति । तद्यथा । ब्राह्मणान्येवेतिहासान् जानीयात् पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीश्चेति ।

भाषार्थ

और इस हेतु से ब्राह्मण ग्रन्थों का ही इतिहासादि नाम जानना चाहिये, श्रीमद्भागवतादि का नहीं । प्र०—जहां २ ब्राह्मण और सूत्र ग्रन्थों में (यद्ब्रा-ह्मण०) इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा, नाराशंसी इत्यादि वचन देखने में आते हैं, तथा अथर्ववेद में भी इतिहास, पुराणादि नामों का लेख है, इस हेतु से ब्राह्मणग्रन्थों से भिन्न ब्रह्मवैवर्त्त, श्रीमद्भागवत, महाभारतादि का ग्रहण इति-

१ काथक्य इति निरुक्ते ।

हास, पुराणादि नामों से क्यों नहीं करते हो ? उ०—इनके ग्रहण में कोई भी प्रमाण नहीं है, क्योंकि उनमें मतों के परस्पर विरोध और लड़ाई आदि की असम्भव मिथ्या कथा अपने २ मत के अनुसार लोगों ने लिख रक्खी हैं। इससे इतिहास और पुराणादि नामों से इन का ग्रहण करना किसी मनुष्य को उचित नहीं। जो ब्राह्मण ग्रन्थों में (देवासुराः संयत्ता आसन्) अर्थात् देव विद्वान् और असुर मूर्ख ये दोनों युद्ध करने को तत्पर हुए थे इत्यादि कथाओं का नाम इतिहास है। (सदेव सो०) अर्थात् जिस में जगत् की उत्पत्ति आदि का वर्णन है उस ब्राह्मण भाग का नाम पुराण है। (इषेत्वोर्जेत्वेति वृष्ट्यै०) जो वेदमन्त्रों के अर्थ अर्थात् जिन में द्रव्यों के सामर्थ्य का कथन किया है उनका नाम कल्प है। इसी प्रकार जैसे शतपथ ब्राह्मण में याज्ञवल्क्य, जनक, गार्गी, मैत्रेयी आदि की कथाओं का नाम गाथा है और जिन में नर अर्थात् मनुष्य लोगों ने ईश्वर, धर्म आदि पदार्थविद्याओं और मनुष्यों की प्रशंसा की है उनको नाराशंसी कहते हैं। (ब्राह्मणानीतिहासान्०) इस वचन में ब्राह्मणानि संज्ञी और इतिहासादि संज्ञा है। अर्थात् ब्राह्मण ग्रन्थों का नाम इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा और नाराशंसी है। सो ब्राह्मण और निरुक्तादि ग्रन्थों में जो २ जैसी २ कथा लिखी हैं उन्हीं का इतिहासादि से ग्रहण करना चाहिये, अन्य का नहीं।

भाष्यम्

अन्यदप्यत्र प्रमाणमस्ति न्यायदर्शनभाष्ये। वाक्यविभागस्य चार्थग्रहणात् ॥ १ ॥ अ० २। आ० २। सू० ६० ॥ अस्योपरि वात्स्यायनभाष्यम्। प्रमाणं शब्दो यथा लोके, विभागश्च ब्राह्मणवाक्यानां त्रिविधः। अयमभिप्रायः। ब्राह्मणग्रन्थशब्दा लौकिका एव, न वैदिका इति। तेषां त्रिविधो विभागो लक्ष्यते। सू० विध्यर्थवादानुवादवचनविनियोगात् ॥ २ ॥ अ० २। आ० २। सू० ६१ ॥ अस्योप० वा० भा०। त्रिधा खलु ब्राह्मणवाक्यानि विनियुक्तानि विधिवचनान्यर्थवादवचनान्यनुवचनानीति, तत्र। सू० विधिर्विधायकः ॥ ३ ॥ अ० २। आ० २। सू० ६२ ॥ अस्योप० वा० भा०। यद्वाक्यं विधायकं चोदकं स विधिः। विधिस्तु नियोगोऽनुज्ञा

वा, यथाऽग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम इत्यादि । ब्राह्मणवाक्यानामिति शेषः । सू० स्तुतिर्निन्दा परकृतिः पुराकल्प इत्यर्थवादः ॥ ४ ॥ अ० २ । आ० २ । सू० ६३ ॥ अस्योप० वा० भा० । विधेः फलवादलक्षणा या प्रशंसा सा स्तुतिः, संप्रत्ययार्थं, स्तूयमानं श्रद्धीतेति प्रवर्त्तिका च, फलश्रवणात्प्रवर्त्तते । सर्वजिता वै देवाः सर्वमजयन्सर्वस्याप्त्यै सर्वस्य जित्यै सर्वस्यैतेनाप्नोति सर्वं जयतीत्येवमादि । अनिष्टफलवादो निन्दा, वर्जनार्थं, निन्दितं न समाचरेदिति । स एष वा प्रथमो यज्ञो यज्ञानां यज्ज्योतिष्टोमो, य एतेनानिष्ट्वाऽन्येन यजते गर्त्ते पतत्ययमेतज्जीर्यते वा इत्येवमादि । अन्यकर्तृकस्य व्याहतस्य विधेर्वादः परकृतिः । हुत्वा वपामेवाग्रेऽभिघारयन्ति । अथ पृषदाज्यं तदु ह चरकाध्वर्य्यवः पृषदाज्यमेवाग्रेऽभिघारयन्ति । अग्नेः प्राणाः पृषदाज्यं स्तोममित्येवमभिदधतीत्येवमादि । ऐतिह्यसमाचरितो विधिः पुराकल्प इति । तस्माद्वा एतेन ब्राह्मणा हविः पवमानं साम स्तोममस्तौषन् योनेर्यज्ञं पतनवामह इत्येवमादि । कथं परकृतिपुराकल्पा अर्थवादा इति । स्तुतिनिन्दावाक्येनाभिसंबन्धाद्विध्याश्रयस्य कस्य कस्यचिदर्थस्य द्योतनादर्थवाद इति ।

भाषार्थ

ब्राह्मण ग्रन्थों की इतिहासादि संज्ञा होने में और भी प्रमाण है । जैसे लोक में तीन प्रकार के वचन होते हैं वैसे ब्राह्मण ग्रन्थों में भी हैं । उन में से एक विधिवाक्य है । जैसे (देवदत्तो ग्रामं गच्छेत्सुखार्थम्) सुख के लिये देवदत्त ग्राम को जाय । इसी प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों में भी है (अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः) जिस को सुख की इच्छा हो वह अग्निहोत्रादि यज्ञों को करे । दूसरा अर्थवाद है, जो कि चार प्रकार का होता है । एक स्तुति, अर्थात् पदार्थों के गुणों का प्रकाश करना, जिससे मनुष्यों की श्रद्धा उत्तम काम करने और गुणों के ग्रहण में ही हो । दूसरी निन्दा, अर्थात् बुरे काम करने में दोषों का दिखलाना, जिससे उन को कोई न करे । तीसरा (परकृतिः), जैसे इस चोर ने बुरा काम किया इस से उस को दण्ड मिला और साहूकार ने अच्छा काम किया इससे उस की प्रतिष्ठा और उन्नति हुई । चौथा (पुराकल्प), अर्थात् जो

बात पहिले हो चुकी हो, जैसे जनक की सभा में याज्ञवल्क्य, गार्गी, शाकल्य आदि ने इकट्ठे होके आपस में प्रश्नोत्तर रीति से संवाद किया था। इत्यादि इतिहासों को पुराकल्प कहते हैं।

भाष्यम्

सू०–विधिविहितस्यानुवचनमनुवादः ॥ ५ ॥ अ० २ । आ० २ । सू० ६४ ॥ अस्योप० वा० भा० । विध्यनुवचनं चानुवादो, विहितानुवचनं च । पूर्वः शब्दानुवादोऽपरोऽर्थानुवादः । सू० न चतुष्ट्वमैतिह्यार्थापत्तिसंभवा-भावप्रामाण्यात् ॥ ६ ॥ अ० २ । आ० २ । सू० १ ॥ अस्योप० वा० भा० । न चत्वार्य्येव प्रमाणानि किं तर्हि, ऐतिह्यमर्थापत्तिः संभवोऽभाव इत्येतान्यपि प्रमाणानि । इति होचुरित्य निर्दिष्टप्रवक्तृकं प्रवादपारंपर्य्यमैतिह्यम् । अनेन प्रमाणेनापीतिहासादिनामभिर्ब्राह्मणान्येव गृह्यन्ते, नान्यदिति ।

भाषार्थ

इस का तीसरा भाग अनुवाद है। अर्थात् जिस का पूर्व विधान करके उसी का स्मरण और कथन करना। सो भी दो प्रकार का है। एक शब्द का और दूसरा अर्थ का। जैसे वह विद्या को पढ़े यह शब्दानुवाद है। विद्या पढ़ने से ही ज्ञान होता है इस को अर्थानुवाद कहते हैं। जिस की प्रतिज्ञा उसी में हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन को घटाना हो। जैसे परमेश्वर नित्य है, यह प्रतिज्ञा है। विनाश रहित होने से यह हेतु है। आकाश के समान है इस को उदाहरण कहते हैं। जैसा आकाश नित्य है वैसा परमेश्वर भी है इस को उपनय कहते हैं। और इन चारों का क्रम से उच्चारण करके पक्ष में यथावत् योजना करने को निगमन कहते हैं, जैसे, परमेश्वर नित्य है, विनाशरहित होने से, आकाश के समान, जैसा आकाश नित्य है वैसा परमेश्वर भी। इससे इस में समझ लेना चाहिये कि जिस शब्द और अर्थ का दूसरी वार उच्चारण और विचार हो इसको अनुवाद कहते हैं। सो ब्राह्मण पुस्तकों में यथावत् लिखा है। इस हेतु से भी ब्राह्मण पुस्तकों का नाम इतिहास आदि जानना चाहिये। क्योंकि

इन में से इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा और नाराशंसी ये पांच प्रकार की कथा सब ठीक २ लिखी हैं, और भागवतादि को इतिहासादि नहीं जानना चाहिये, क्योंकि उन में मिथ्या कथा बहुतसी लिखी हैं ।

भाष्यम्

अन्यच्च। ब्राह्मणानि तु वेदव्याख्यानान्येव सन्ति, नैव वेदाख्यानीति। कुतः। इषेत्वोर्जेत्वेति ॥ श० कां० १ । अ० ७ ॥ इत्यादीनि मन्त्रप्रतीकानि धृत्वा ब्राह्मणेषु वेदानां व्याख्यानकरणात् ।

भाषार्थ

ब्राह्मण ग्रन्थों की वेदों में गणना नहीं हो सकती, क्योंकि (इषेत्वोर्जेत्वेति०) इस प्रकार से उन में मन्त्रों की प्रतीक धर २ के वेदों का व्याख्यान किया है। और मन्त्रभाग संहिताओं में ब्राह्मण ग्रन्थों की एक भी प्रतीक कहीं नहीं देखने में आती । इससे जो ईश्वरोक्त मूलमन्त्र अर्थात् चार संहिता हैं वे ही वेद हैं, ब्राह्मण ग्रन्थ नहीं ।

भाष्यम्

अन्यच्च महाभाष्येपि । केषां शब्दानाम् ? । लौकिकानां वैदिकानां च । तत्र लौकिकास्तावत् । गौरश्वः पुरुषो हस्ती शकुनिर्मृगो ब्राह्मण इति । वैदिकाः खल्वपि । शन्नो देवीरभिष्टये । इषेत्वोर्जेत्वा । अग्निमीळे पुरोहितम् । अग्न आयाहि वीतयइति । यदि ब्राह्मणग्रन्थानामपि वेदसंज्ञाभीष्टाभूत्तर्हि तेषामप्युदाहरणमदात् । अत एव महाभाष्यकारेण मन्त्रभागस्यैव वेदसंज्ञां मत्वा प्रथममन्त्रप्रतीकानि वैदिकेषु शब्देषूदाहृतानि । किन्तु यानि गौरश्व इत्यादीनि लौकिकोदाहरणानि दत्तानि तानि ब्राह्मणादिग्रन्थष्वेव घटन्ते । कुतः । तेष्वीदृशशब्दपाठव्यवहारदर्शनात् । द्वितीया ब्राह्मणे ॥ १ ॥ अ० २ । पा० ३ ॥ सू० ६० ॥ चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि ॥ २ ॥ अ० २ । पा० ३ । सू० ६२ ॥ पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु ॥ ३ ॥ अ० ४ । पा० ३ । सू० १०५ ॥

इत्यष्टाध्याय्यां सूत्राणि । अत्रापि पाणिन्याचार्य्यैर्वेदब्राह्मणयोर्भेदेनैव प्रतिपादितम् (१) । तद्यथा पुराणैः प्राचीनैर्ब्रह्माद्यृषिभिः प्रोक्ता ब्राह्मणकल्पग्रन्था वेदव्याख्यानाः सन्ति । अतएवैतेषां पुराणेतिहाससंज्ञा कृतास्ति । यद्यत्र छन्दोब्राह्मणयोर्वेदसंज्ञाभीष्टा भवेत्तर्हि चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसीति छन्दोग्रहणं व्यर्थं स्यात् । कुतः । द्वितीया ब्राह्मण इति ब्राह्मणशब्दस्य प्रकृतत्वात् । अतो विज्ञायते न ब्राह्मणग्रन्थानां वेदसंज्ञास्तीति । अतः किं सिद्धम् ? ब्रह्मेति ब्राह्मणानां नामास्ति । अत्र प्रमाणम् । ब्रह्म वै ब्राह्मणः, क्षत्रᳬ राजन्यः ॥ श० कां० १३ । अ० १ ॥ समानार्थावेतौ वृषशब्दो वृषन्शब्दश्च, ब्रह्मन्शब्दो ब्राह्मणशब्दश्च । इति व्याकरणमहाभाष्ये । अ० ५ । पा० १ । आ० १ ॥ चतुर्वेदविद्भिर्ब्रह्मभिर्ब्राह्मणैर्महर्षिभिः प्रोक्तानि यानि वेदव्याख्यानानि तानि ब्राह्मणानि । अन्यच्च । कात्यायनेनापि ब्रह्मणा वेदेन सहचरितत्वात्सहचारोपाधिं मत्वा ब्राह्मणानां वेदसंज्ञा संमतेति विज्ञायते । एवमपि न सम्यगस्ति । कुतः । एवं तेनानुक्तत्वादतोऽन्यैर्ऋषिभिरगृहीतत्वात् । अनेनापि न ब्राह्मणानां वेदसंज्ञा भवितुमर्हतीति । इत्यादिबहुभिः प्रमाणैर्मन्त्राणामेव वेदसंज्ञा, न ब्राह्मणग्रन्थानामिति सिद्धम् ।

भाषार्थ

ब्राह्मण ग्रन्थों की वेदसंज्ञा नहीं होने में व्याकरण महाभाष्य का भी प्रमाण है, जिस में लोक और वेदों के भिन्न २ उदाहरण दिये हैं । जैसे गौरश्वः० इत्यादि लोक के और शन्नोदेवीरभिष्टय इत्यादि वेदों के हैं । किन्तु वैदिक उदाहरणों में ब्राह्मणों का एक भी उदाहरण नहीं दिया और गौरश्वः इत्यादि जो लोक के उदाहरण दिये हैं वे सब ब्राह्मण पुस्तकों के हैं, क्योंकि उन में ऐसा ही पाठ है । इसी कारण से ब्राह्मण पुस्तकों की वेद संज्ञा नहीं हो सकती । और कात्यायन के नाम से जो दोनों की वेद संज्ञा होने में वचन है सो सहचार उपाधि लक्षणा से किया हो तो भी नहीं बन सकता, क्योंकि जैसे किसी ने किसी से कहा कि उस लकड़ी को भोजन करादो, और दूसरे ने इतने ही कहने से तुरन्त जान लिया कि लकड़ी जड़ पदार्थ होने से भोजन नहीं कर सकती, किन्तु

जिस मनुष्य के हाथ में लकड़ी है उसको भोजन कराना चाहिये, इस प्रकार से कहा हो तो भी मानने के योग्य नहीं हो सकता, क्योंकि इस में अन्य ऋषियों की एक भी साक्षी नहीं है। इससे यह सिद्ध हुआ कि ब्रह्म नाम ब्राह्मण का है, सो ब्रह्मादि जो वेदों के जानने वाले महर्षि लोग थे उन्हीं के बनाये हुए ऐतरेय, शतपथ आदि वेदों के व्याख्यान हैं, इसी कारण से उनके किये ग्रन्थों का नाम ब्राह्मण हुआ है। इससे निश्चय हुआ कि मन्त्रभाग की ही वेदसंज्ञा है, ब्राह्मण ग्रन्थों की नहीं।

भाष्यम्

किञ्च भोः! ब्राह्मणग्रन्थानामपि वेदवत्प्रामाण्यं कर्त्तव्यमाहोस्विन्नेति। अत्र ब्रूमः। नैतेषां वेदवत्प्रामाण्यं कर्त्तुं योग्यमस्ति। कुतः। ईश्वरोक्ताभावात्तदनुकूलतयैव प्रमाणार्हत्वाच्चेति। परन्तु सन्ति तानि परतः प्रमाणयोग्यान्येवेति।

भाषार्थ

प्र०—हम यह पूछते हैं कि ब्राह्मण ग्रन्थों का भी वेदों के समान प्रमाण करना उचित है वा नहीं? उ०—ब्राह्मण ग्रन्थों का प्रमाण वेदों के तुल्य नहीं हो सकता, क्योंकि वे ईश्वरोक्त नहीं हैं। परन्तु वेदों के अनुकूल होने से प्रमाण के योग्य तो हैं *।

इति वेदसंज्ञाविचारः

अथ ब्रह्मविद्याविषयः

वेदेषु सर्वा विद्याः सन्त्याहोस्विन्नेति? । अत्रोच्यते । सर्वाः सन्ति

---

* इसमें इतना भेद है कि जो ब्राह्मण ग्रन्थों में कहीं वेद से विरुद्ध हो उस का प्रमाण करना किसी को न चाहिये और ब्राह्मण ग्रन्थों से विरोध आवे तो भी वेदों का प्रमाण होता है।

मूलोद्देशतः । तत्रादिमा ब्रह्मविद्या संक्षेपतः प्रकाश्यते । तमीशानं जगत-स्तस्थुषस्पतिं धियं जिन्वमवसे हूमहे वयम् । पूषा नो यथा वेदसामसद्वृधे रक्षिता पायुरदब्धः स्वस्तये ॥ १ ॥ ऋ० अ० १ । अ० ६ । व० १५ । मं० ५ ॥ तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः । दिवीव चक्षुराततम् ॥२॥ ऋ० अ० १ । अ० २ । व० ७ । मं० ५ ॥ अनयोरर्थः । (तमीशानम्) ईष्टेऽसावीशानः सर्वजगत्कर्त्ता (जगतस्तस्थुषस्पतिं) जगतो जङ्गमस्य तस्थुषः स्थावरस्य च पतिः स्वामी (धियं जिन्वम्) यो बुद्धेस्तृप्तिकर्त्ता (अवसे हूमहे वयम्) तमवसे रक्षणाय वयं हूमहे आह्वयामः (पूषा) पुष्टिकर्त्ता (नः) स एवास्माकं पुष्टिकारकोऽस्ति (यथा वेदसामसद्वृधे) हे परमेश्वर ! यथा येन प्रकारेण वेदसां विद्यासुवर्णादीनां धनानां वृधे वर्धनाय भवानस्ति तथैव कृपया (रक्षिताऽसत्) रक्षकोऽप्यस्तु । एवं (पायुरदब्धः स्वस्तये) अस्माकं रक्षणे स्वस्तये सर्वसुखाय (अदब्धः) अनलसः सन् पालनकर्त्ता सदैवास्तु ॥ १ ॥ तद्विष्णोरिति मन्त्रस्यार्थो वेदविषयप्रकरणे विज्ञानकाण्डे गदितस्तत्र द्रष्टव्यः ।

भाषार्थ

प्र०—वेदों में सब विद्या हैं वा नहीं ? । उ०—सब हैं । क्योंकि जितनी सत्य विद्या संसार में हैं वे सब वेदों से ही निकली हैं । उन में से पहिले ब्रह्म-विद्या संक्षेप से लिखते हैं । (तमीशानं) जो सब जगत् का बनाने वाला है, (जगतस्तस्थुषस्पतिं) अर्थात् जगत् जो चेतन और तस्थुष जो जड़, इन दो प्रकार के संसार का जो राजा और पालन करने वाला है, (धियं जिन्वम्) जो मनुष्यों को बुद्धि और आनन्द से तृप्त करने वाला है, उस की (अवसे हूमहे वयम्) हम लोग आह्वान अर्थात् अपनी रक्षा के लिये प्रार्थना करते हैं, (पूषा नः) क्योंकि वह हम को सब सुखों से पुष्ट करने वाला है, (यथा वेदसामसद्वृधे) हे परमेश्वर ! जैसे आप अपनी कृपा से हमारे सब पदार्थों और सुखों को बढ़ाने वाले हैं वैसे ही (रक्षिता) सब की रक्षा भी करें (पायु-रदब्धः स्वस्तये) जैसे आप हमारे रक्षक हैं वैसे ही सब सुख भी दीजिये ॥१॥

(तद्विष्णो०) इस मंत्र का अर्थ वेदविषयप्रकरण के विज्ञानकाण्ड में अच्छी प्रकार लिख दिया है, वहां देख लेना ॥ २ ॥

भाष्यम्

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च । उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभिसंविवेश ॥ ३ ॥ य० अ० ३२ । मं० ११ ॥ (परीत्य भू०) यः परमेश्वरो भूतान्याकाशादीनि परीत्य सर्वतोभिव्याप्य, सूर्य्यादीन् लोकान् परीत्य, पूर्वादिदिशः परीत्य, आग्नेयादिप्रदिशश्च परीत्य परितः सर्वतः इत्वा, प्राप्य, विदित्वा च । (उपस्थाय प्र०) यः स्वसामर्थ्यस्याप्यात्मास्ति, यश्च प्रथमानि सूक्ष्मभूतानि जनयति, तं परमानन्दस्वरूपं मोक्षाख्यं परमेश्वरं यो जीव आत्मना स्वसामर्थ्येनान्तःकरणेनोपस्थाय तमेवोपगतो भूत्वा, विदित्वा, चाभिसंविवेश आभिमुख्येन सम्यक् प्राप्य स एव मोक्षाख्यं सुखमनुभवतीति ।

भाषार्थ

(परीत्य भू०) जो परमेश्वर आकाशादि सब भूतों में तथा (परीत्य लोकान्) सूर्य्यादि सब लोकों में व्याप्त हो रहा है, (परीत्य सर्वाः०) इसी प्रकार जो पूर्वादि सब दिशा और आग्नेयादि उपदिशाओं में भी निरन्तर भरपूर हो रहा है, अर्थात् जिस की व्यापकता से एक अणु भी खाली नहीं है, (ऋतस्या०) जो अपने भी सामर्थ्य का आत्मा है, (प्रथमजां) और जो कल्पादि में सृष्टि की उत्पत्ति करने वाला है, उस आनन्दस्वरूप परमेश्वर को जो जीवात्मा अपने सामर्थ्य अर्थात् मन से यथावत् जानता है वही उस को प्राप्त होके (अभि०) सदा मोक्ष सुख को भोगता है ॥ ३ ॥

भाष्यम्

महद्यक्षं भुवनस्य मध्ये तपसि क्रान्तं सलिलस्य पृष्ठे । तस्मिञ्छ्रयन्ते य उ के च देवा वृक्षस्य स्कन्धः परित इव शाखाः ॥ ४ ॥ अथर्व० कां० १० ।

प्रपा० २३ । अनु० ४ । मं० ३८ ॥ (महद्यक्षं) यन्महत्सर्वेभ्यो महत्तरं, यक्षं सर्वमनुष्यैः पूज्यम्, (भुवनस्य) सर्वसंसारस्य (मध्ये) परिपूर्णम्, (तपसि क्रान्तं) विज्ञाने वृद्धम्, (सलिलस्य) अन्तरिक्षस्य कारणरूपेण कार्यस्य प्रलयानन्तरं (पृष्ठे) पश्चात् स्थितमस्ति, तदेव ब्रह्म विज्ञेयम् (तस्मिञ्छ्रय०) तस्मिन्ब्रह्मणि ये के चापि देवास्त्रयस्त्रिंशद्वस्वादयस्ते सर्वे तदाधारेणैव तिष्ठन्ति । कस्य का इव ? (वृक्षस्य स्कन्धः) वृक्षस्य स्कन्धे परितः सर्वतो लग्नाः शाखा इव ।

भाषार्थ

(महद्यक्षं०) ब्रह्म जो महत् अर्थात् सब से बड़ा और सब का पूज्य है, (भुवनस्य म०) जो सब लोकों के बीच में विराजमान और उपासना करने के योग्य है, (तपसि क्रान्तं) जो विज्ञानादि गुणों में सब से बड़ा है, (सलिलस्य पृष्ठे) सलिल जो अन्तरिक्ष अर्थात् आकाश है उस का भी आधार और उस में व्यापक, तथा जगत् के प्रलय के पीछे भी नित्य निर्विकार रहने वाला है, (तस्मिञ्छ्रयन्ते य उ के च देवाः) जिस के आश्रय से वसु आदि पूर्वोक्त तेतीस देव ठहर रहे हैं, (वृक्षस्य स्कन्धः परित इव शाखाः) जैसे कि पृथिवी से वृक्ष का प्रथम अङ्कुर निकल के और वही स्थूल हो के सब डालियों का आधार होता है, इसी प्रकार सब ब्रह्माण्ड का आधार वही एक परमेश्वर है ।

भाष्यम्

न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते ॥ ६ ॥ न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते ॥ ७ ॥ नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते ॥ ८ ॥ तमिदं निगतं सहः स एष एक एकवृदेक एव ॥ ६ ॥ सर्वे अस्मिन् देवा एकवृतो भवन्ति ॥ १० ॥ अथर्व० कां० १३ । अनु० ४ । मं० १६ । १७ । १८ । २० । २१ ॥ (न द्वितीय०) एतैर्मन्त्रैरिदं विज्ञायते परमेश्वर एक एवास्तीति । नैवातो भिन्नः कश्चिदपि द्वितीयः तृतीयः चतुर्थः ॥ ६ ॥ पञ्चमः षष्ठः सप्तमः ॥ ७ ॥ अष्टमो नवमो दशमश्चेश्वरो विद्यते ॥ ८ ॥ यतो नव-

भिनकारैर्द्वित्वसंख्यामारभ्य शून्यपर्यन्तेनैकमीश्वरं विधायास्माद्भिन्नेश्वरस्य भावस्यातिशयतया निषेधो वेदेषु कृतोऽस्त्यतो द्वितीयस्योपासनमत्यन्तं निषिध्यते । सर्वानन्तर्यामितया प्राप्तः सन्, जडं चेतनं च द्विविधं सर्वं जगत्, स एव पश्यति, नास्य कश्चिद्द्रष्टास्ति । न चायं कस्यापि दृश्यो भवितुमर्हति । येनेदं जगद्व्याप्तं तमेव परमेश्वरमिदं सकलं जगदपि (निगतं) निश्चितं प्राप्तमस्ति । व्यापकाद्व्याप्यस्य संयोगसंबन्धत्वात् । (सहः) यतः सर्वं सहते तस्मात्स एवैष सहोऽस्ति । स खल्वेक एव वर्त्तते । न कश्चिद्द्वितीयस्तदधिकस्तत्तुल्यो वास्ति । एकशब्दस्य त्रिग्रहणात् । अतः सजातीयविजातीयस्वगतभेदराहित्यमीश्वरे वर्त्तत एव, द्वितीयेश्वरस्यात्यन्तनिषेधात् । कस्मात् । एकवृदेक एवेत्युक्तत्वात् स एष एक एकवृत् । एकेन चेतनमात्रेण वस्तुनैव वर्त्तते । पुनरेक एवासहायः सन् य इदं सकलं जगद्रचयित्वा धारयतीत्यादिविशेषणयुक्तोऽस्ति । तस्य सर्वशक्तिमत्त्वात् ॥ ६ ॥ अस्मिन्सर्वशक्तिमति परमात्मनि सर्वे देवाः पूर्वोक्ता वस्वादय एकवृत एकाधिकरणा एव भवन्त्यर्थात्प्रलयानन्तरमपि तत्सामर्थ्यं प्राप्यैककारणवृत्तयो भवन्ति । एवंविधाश्चान्येऽपि ब्रह्मविद्याप्रतिपादकाः सपर्य्यगाच्छुक्रमकायमित्यादयो मन्त्रा वेदेषु बहवः सन्ति । ग्रन्थाधिक्यभिया नात्र लिख्यन्ते । किन्तु यत्र यत्र वेदेषु ते मन्त्राः सन्ति तत्तद्भाष्यकरणावसरे तत्र तत्रार्थानुदाहरिष्याम इति ।

भाषार्थ

(न द्वितीयो न०) इन सब मन्त्रों से यह निश्चय होता है कि परमेश्वर एक ही है, उससे भिन्न कोई न दूसरा, न तीसरा और न कोई चौथा परमेश्वर है ॥ ६ ॥ (न पञ्चमो न०) न पांचवां, न छठा, न कोई सातवां ईश्वर है ॥ ७ ॥ (नाष्टमो न०) न आठवां, न नवमा और न कोई दशमा ईश्वर है ॥ ८ ॥ (तमिदं०) किन्तु वह सदा एक अद्वितीय ही है, उससे भिन्न दूसरा ईश्वर कोई भी नहीं । इन मन्त्रों में जो दो से लेके दश पर्य्यन्त अन्य ईश्वर होने का निषेध किया है सो इस अभिप्राय से है कि सब संख्या का मूल एक (१) अङ्क ही है । इसी को दो, तीन, चार, पांच, छः, सात, आठ और नव

वार गणने से २, ३, ४, ५. ६. ७ ८ और ९ (नव) अंक बनते हैं, और एक पर शून्य देने से १० का अङ्क होता है। उन से एक ईश्वर का निश्चय करा के वेदों में दूसरे ईश्वर के होने का सर्वथा निषेध ही लिखा है। अर्थात् उस के एकपने में भी भेद नहीं और वह शून्य भी नहीं। किन्तु जो सच्चिदानन्दादि लक्षणयुक्त, एकरस परमात्मा है, वही सदा से सब जगत् में परिपूर्ण होके, पृथिवी आदि सब लोकों को रच के, अपने सामर्थ्य से धारण कर रहा है। तथा वह अपने काम में किसी का सहाय नहीं लेता, क्योंकि वह सर्वशक्तिमान् है ॥ ९ ॥ (सर्वे अस्मिन्) उसी परमात्मा के सामर्थ्य में वसु आदि सब देव अर्थात् पृथिवी आदि लोक ठहर रहे हैं और प्रलय में भी उस के सामर्थ्य में लय होके उसी में बने रहते हैं। इस प्रकार के मन्त्र वेदों में बहुत हैं। यहां उन सब के लिखने की कुछ आवश्यकता नहीं, क्योंकि जहां २ वे मन्त्र आवेंगे वहां २ उन का अर्थ कर दिया जायगा।

इति ब्रह्मविद्याविषयविचारः

अथ वेदोक्तधर्मविषयः संक्षेपतः प्रकाश्यते

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्। देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥ १ ॥ ऋ० अ० ८। अ० ८। व० ४९। मं० २ ॥

(संगच्छध्वं०) ईश्वरोऽभिवदति हे मनुष्या! मयोक्तं न्याय्यं पक्षपातरहितं सत्यलक्षणोज्ज्वलं धर्मं यूयं संगच्छध्वं सम्यक् प्राप्नुत, अर्थात् तत्प्राप्त्यर्थं सर्वं विरोधं विहाय परस्परं संगता भवत, येन युष्माकमुत्तमं सुखं सर्वदा वर्धेत सर्वदुःखनाशश्च भवेत्, (संवद०) संगता भूत्वा परस्परं जल्पवितण्डादि विरुद्धवादं विहाय संप्रीत्या प्रश्नोत्तरविधानेन संवादं कुरुत, यतो युष्मासु सम्यक्सत्यादियुक्तमगुणाः सदा वर्धेरन्, (सं वो मनांसि जानताम्) यूयं जानन्तो विज्ञानवन्तो भवत, जानतो वो युष्माकं

मनांसि यथा ज्ञानवन्ति भवेयुस्तथा सम्यक् पुरुषार्थं कुरुतार्थाद्येन युष्मन्मनांसि सदानन्दयुक्तानि स्युस्तथा प्रयतध्वम्, युष्माभिर्धर्म एव सेवनीयो नाधर्मश्चेत्यत्र दृष्टान्त उच्यते (देवा भागं यथा०), यथा पूर्वे संजानाना, ये सम्यग्ज्ञानवन्तो देवा, विद्वांस, आप्ताः पक्षपातरहिता, ईश्वरधर्मोपदेशप्रियाश्चासन् युष्मत्पूर्वं विद्यामधीत्य वर्त्तन्ते, किंवा ये मृतास्ते, यथा भागं भजनीयं, सर्वशक्तिमदादिलक्षणमीश्वरं, मदुक्तं धर्मं चोपासते, तथैव युष्माभिरपि स एव धर्म उपासनीयो, यतो वेदप्रतिपाद्यो धर्मो निश्शङ्कतया विदितश्च भवेत् ॥१॥

भावार्थ

अब वेदों की रीति से धर्म के लक्षणों का वर्णन किया जाता है। (संगच्छध्वं) देखो परमेश्वर हम सभों के लिये धर्म का उपदेश करता है कि हे मनुष्य लोगो ! जो पक्षपातरहित, न्याय, सत्याचरण से युक्त धर्म है तुम लोग उसी को ग्रहण करो। उससे विपरीत कभी मत चलो। किन्तु उसी की प्राप्ति के लिये विरोध को छोड़ के परस्पर सम्मति में रहो। जिससे तुम्हारा उत्तम सुख सब दिन बढ़ता जाय और किसी प्रकार का दुःख न हो। (संवदध्वं०) तुम लोग विरुद्ध वाद को छोड़ के परस्पर अर्थात् आपस में प्रीति के साथ पढ़ना, पढ़ाना, प्रश्न, उत्तर सहित संवाद करो। जिससे तुम्हारी सत्यविद्या नित्य बढ़ती रहे। (सं वो मनांसि जानताम्) तुम लोग अपने यथार्थ ज्ञान को नित्य बढ़ाते रहो। जिससे तुम्हारा मन प्रकाशयुक्त होकर पुरुषार्थ को नित्य बढ़ावे। जिस से तुम लोग ज्ञानी होके नित्य आनन्द में बने रहो और तुम लोगों को धर्म का ही सेवन करना चाहिये, अधर्म का नहीं। (देवा भागं य०) जैसे पक्षपातरहित धर्मात्मा विद्वान् लोग वेदरीति से सत्यधर्म का आचरण करते हैं, उसी प्रकार से तुम भी करो। क्योंकि धर्म का ज्ञान तीन प्रकार से होता है। एक तो धर्मात्मा विद्वानों की शिक्षा, दूसरा आत्मा की शुद्धि तथा सत्य को जानने की इच्छा, और तीसरा परमेश्वर की कही वेदविद्या को जानने से ही मनुष्यों को सत्य असत्य का यथावत् बोध होता है, अन्यथा नहीं ॥ १ ॥

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम् । समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि ॥ २ ॥ ऋ० अ० ८ । अ० ८ । व० ४९ । मं० ३ ॥

(समानो मन्त्रः०) हे मानवाः ! वो युष्माकं मन्त्रोऽर्थान्मामीश्वरमारभ्य पृथिवीपर्यन्तानां गुप्तप्रसिद्धसामर्थ्यगुणानां पदार्थानां भाषणमुपदेशनं ज्ञानं वा भवति यस्मिन् येन वा स मन्त्रो विचारो भवितुमर्हति । तद्यथा । राज्ञो मन्त्री सत्यासत्यविवेककर्त्तेत्यर्थः, सोपि सत्यज्ञानफलः, सर्वोपकारकः, समानस्तुल्योऽर्थाद्विरोधरहित एव भवतु । यदा बहुभिर्मनुष्यैर्मिलित्वा संदिग्धपदार्थानां विचारः कर्त्तव्यो भवेत्तदा प्रथमतः पृथक् पृथगपि सभासदां मतानि भवेयुस्तत्रापि सर्वेभ्यः सारं गृहीत्वा यद्यत्सर्वमनुष्यहितकारकं सद्गुणलक्षणान्वितं मतं स्यात्तत्तत्सर्वं ज्ञात्वैकत्र कृत्वा नित्यं समाचरत । यतः प्रतिदिनं सर्वेषां मनुष्याणामुत्तरोत्तरमुत्तमं सुखं वर्धेत । तथा (समितिः समानी) समितिः सामाजिकनियमव्यवस्था, ऽर्थाद्या न्यायप्रचाराढ्या, सर्वमनुष्याणां मान्यज्ञानप्रदा, ब्रह्मचर्यविद्याभ्यासशुभगुणसाधिका, शिष्टसमया राज्यप्रबन्धाद्याल्हादिता, परमार्थव्यवहारशोधिका, बुद्धिशरीरबलारोग्यवर्द्धिनी शुभमर्यादापि समानी सर्वमनुष्यस्वतन्त्रदानसुखवर्धनायैकरसैव कार्य्येति, (समानं मनः०) मनः संकल्पविकल्पात्मकं, संकल्पोऽभिलाषेच्छेत्यादि, विकल्पोऽप्रीतिर्द्वेष इत्यादि । शुभगुणान्प्रति संकल्पः, अशुभगुणान्प्रति विकल्पश्च रक्षणीयः । एतद्धर्मकं युष्माकं मनः समानमन्योन्यमविरुद्धस्वभावमेवास्तु । यच्चित्तं पूर्वपरानुभूतं स्मरणात्मकं धर्मेश्वरचिन्तनं तदपि समानमर्थात्सर्वप्राणिनां दुःखनाशाय सुखवर्धनाय च स्वात्मवत्सम्यक् पुरुषार्थेनैव कार्य्यम्, (सह) युष्माभिः परस्परस्य सुखोपकारायैव सर्वं सामर्थ्यं योजनीयम् । (एषां०) ये ह्येषां सर्वजीवानां सङ्गे स्वात्मवद्वर्त्तन्ते तादृशानां परोपकारिणां परसुखदातॄणामुपर्य्यहं कृपालुर्भूत्वा (अभिमन्त्रये वः) युष्मान्पूर्वपरोक्तं धर्ममाज्ञापयामि । इत्थमेव सर्वैः कर्त्तव्यमिति । येन युष्माकं मध्ये नैव कदाचित्सत्यनाशोऽसत्यवृद्धिश्च भवेत् । (समानेन वो०) हविर्दानं ग्रहणं च,

तदपि सत्येन धर्मेण युक्तमेव कार्य्यम् तेन समानेनैव हविषा वो युष्मान् जुहोमि, सत्यधर्मेण सहवाह सदा नियोजयामि । अतो मदुक्त एव धर्मो मन्तव्यो नान्य इति ॥ २ ॥

भाषार्थ

(समानो मन्त्रः) हे मनुष्य लोगो! जो तुम्हारा मन्त्र अर्थात् सत्य असत्य का विचार है वह समान हो उस में किसी प्रकार का विरोध न हो। और जब २ तुम लोग मिल के विचार करो, तब २ सब के वचनों को अलग २ सुन के, जो २ धर्मयुक्त और जिसमें सब का हित हो सो २ सब में से अलग करके, उसी का प्रचार करो। जिस से सभों का बराबर सुख बढ़ता जाय। (समितिः समानी) और जिस में सब मनुष्यों का मान, ज्ञान, विद्याभ्यास, ब्रह्मचर्य आदि आश्रम, अच्छे २ काम, उत्तम मनुष्यों की सभा से राज्य के प्रबन्ध का यथावत् करना और जिस से बुद्धि, शरीर, बल, पराक्रम आदि गुण बढ़ें तथा परमार्थ और व्यवहार शुद्ध हों ऐसी जो उत्तम मर्य्यादा है सो भी तुम लोगों की एक ही प्रकार की हो। जिससे तुम्हारे सब श्रेष्ठ काम सिद्ध होते जायं। (समानं मनः सह चित्तं) हे मनुष्य लोगो! तुम्हारा मन भी आपस में विरोधरहित, अर्थात् सब प्राणियों के दुःख के नाश और सुख की वृद्धि के लिये अपने आत्मा के समतुल्य पुरुषार्थवाला हो। शुभ गुणों की प्राप्ति की इच्छा को संकल्प और दुष्ट गुणों के त्याग की इच्छा को विकल्प कहते हैं। जिससे जीवात्मा ये दोनों कर्म करता है उस का नाम मन है। उस से सदा पुरुषार्थ करो। जिससे तुम्हारा धर्म सदा दृढ़ और अविरुद्ध हो। तथा चित्त उसको कहते हैं कि जिस से सब अर्थों का स्मरण अर्थात् पूर्वापर कर्मों का यथावत् विचार हो। वह भी तुम्हारा एक सा हो। (सह) जो तुम्हारा मन और चित्त हैं, ये दोनों सब मनुष्यों के सुख ही के लिये प्रयत्न में रहें। (एषां०) इस प्रकार से जो मनुष्य सब का उपकार करने और सुख देनेवाले हैं, मैं उन्हीं पर सदा कृपा करता हूं। (समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः) अर्थात् मैं उन के लिये आशीर्वाद और आज्ञा देता हूं कि सब मनुष्य मेरी इस आज्ञा के अनुकूल

चलें। जिस से उन का सत्य धर्म बढ़ और असत्य का नाश हो। (समानेन वो हविषा जुहोमि) हे मनुष्य लोगो! जब २ कोई पदार्थ किसी को दिया चाहो, अथवा किसी से ग्रहण किया चाहो, तब २ धर्म से युक्त ही करो। उस से विरुद्ध व्यवहार को मत करो। और यह बात निश्चय करके जान लो कि म सत्य के साथ तुम्हारा और तुम्हारे साथ सत्य का संयोग करता हूं। इसलिय कि तुम लोग इसी को धर्म मान के सदा करते रहो और इस से भिन्न को धर्म कभी मत मानो ॥ २ ॥

स॒मा॒नीव॒ आकू॑तिः समा॒ना हृद॑यानि वः। स॒मा॒नम॑स्तु वो॒ मनो॒ यथा॑ वः॒ सुस॒हास॑ति॥ ऋ० अ० ८। अ० ८। व० ४६। मं० ४॥

भाष्यम्

अस्यायमभिप्रायः। हे मानवाः! वो युष्माकं यत्सर्वं सामर्थ्यमस्ति तद्धर्मसंबन्धे परस्परमविरुद्धं कृत्वा सर्वैः सुखं सदा संवर्धनीयमिति, (समानी व०) आकूतिरध्यवसाय उत्साह आप्तरीतिर्वा सापि वो युष्माकं परस्परोपकारकरणेन सर्वेषां जनानां सुखायैव भवतु, यथा मदुपदिष्टस्यास्य धर्मस्य विलोपो न स्यात्तथैव कार्य्यम्, (समाना हृदयानि वः) वो युष्माकं हृदयान्यर्थान्मानसानि प्रेमप्रचुराणि कर्माणि निर्वैराय समानान्यविरुद्धान्येव सन्तु, (समानमस्तु वो मनः) अत्र प्रमाणम्, कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव तस्मादपि पृष्ठत उपस्पृष्टो मनसा विजानाति ॥ श० कां० १४। अ० ४॥ मनसा विविच्य पुनरनुष्ठातव्यम्। शुभगुणानामिच्छा कामः। तत्प्राप्त्यनुष्ठानेच्छा संकल्पः। पूर्वं संशयं कृत्वा पुनर्निश्चयकरणेच्छा संशयो विचिकित्सा। ईश्वरसत्यधर्मादिगुणानामुपर्यत्यन्तं विश्वासः श्रद्धा। अनीश्वरवादाधर्माद्युपरि सर्वथा ह्यनिश्चयोऽश्रद्धा। सुखदुःखप्राप्त्यापीश्वरधर्माद्युपरि सदैव निश्चयरक्षणं धृतिः। अशुभगुणानामाचरणं नैव कार्य्यमित्यध्यमधृतिः। सत्यधर्माचरणेऽसत्याचरणे मनसः संकोचो घृणा ह्रीः। शुभगुणान् शीघ्रं धारयेदिति धारणावती वृत्तिर्धीः। असत्या-

चरणादीश्वराज्ञाभंगात्पापाचरणादीश्वरो नः सर्वत्र पश्यतीत्यादि वृत्तिर्भीः । एतद्धर्मकं मनो वो युष्माकं समानं तुल्यमस्तु । (यथा वः सुसहासति) हे मनुष्या वो युष्माकं यथा परस्परं सुसहायेन स्वसति सम्यक् सुखोन्नतिः स्यात्तथा सर्वैः प्रयत्नो विधेयः । सर्वान् सुखिनो दृष्ट्वा चित्त आल्हादः कार्य्यः । नैव कंचिदपि दुःखितं दृष्ट्वा सुखं केनापि कर्त्तव्यम् । किंतु यथा सर्वे स्वतन्त्राः सुखिनः स्युस्तथैव सर्वैः कार्य्यमिति ।

भाषार्थ

(समानी व आकूतिः) ईश्वर इस मन्त्र का प्रयोजन कहता है कि हे मनुष्य लोगो ! तुम्हारा जितना सामर्थ्य है उस को धर्म के साथ मिला के सब सुखों को सब दिन बढ़ाते रहो । निश्चय, उत्साह और धर्मात्माओं के आचरण को आकूति कहते हैं । हे मनुष्य लोगो ! तुम्हारा सब पुरुषार्थ सब जीवों के सुख के लिये सदा हो । जिससे मेरे कहे धर्म का कभी त्याग न हो । और सदा वैसा ही प्रयत्न करते रहो कि जिससे (समाना हृदयानि वः) तुम्हारे हृदय अर्थात् मन के सब व्यवहार आपस में सदा प्रेमसहित और विरोध से अलग रहें । (समानमस्तु वो मनः) मनः शब्द का अनेक वार ग्रहण करने में यह प्रयोजन है कि जिससे मन के अनेक अर्थ जाने जायँ । (कामः) प्रथम विचार ही करके सब उत्तम व्यवहारों का आचरण करना और बुरों को छोड़ देना इस का नाम काम है । (संकल्पः) जो सुख और विद्यादि शुभ गुणों को प्राप्त होने के लिये प्रयत्न से अत्यन्त पुरुषार्थ करने की इच्छा है उस को संकल्प कहते हैं । (विचिकित्सा) जो २ काम करना हो उस २ को प्रथम शङ्का कर कर के ठीक निश्चय करने के लिये जो संदेह करना है उसका नाम विचिकित्सा है । (श्रद्धा) जो ईश्वर और सत्य धर्म आदि शुभ गुणों में निश्चय से विश्वास को स्थिर रखना है उस को श्रद्धा जानना । (अश्रद्धा) अर्थात् अविद्या, कुतर्क, बुरे काम करने, ईश्वर को नहीं मानने और अन्याय आदि अशुभ गुणों से सब प्रकार से अलग रहने का नाम अश्रद्धा समझना चाहिये । (धृतिः) जो सुख, दुःख, हानि, लाभ आदि के होने में भी अपने धीरज को नहीं छोड़ना उस का

नाम धृति है। (अधृति) बुरे कामों में दृढ़ न होने को अधृति कहते हैं। (ह्रीः) अर्थात् जो झूठे आचरण करने और सच्चे कामों को नहीं करने में मन को लज्जित करना है उस को ह्री कहते हैं। (धीः) जो श्रेष्ठ गुणों को शीघ्र धारण करनेवाली वृत्ति है उस को धी कहते हैं। (भीः) जो ईश्वर की आज्ञा अर्थात् सत्याचरण धर्म करना और उस से उलटे पाप के आचरण से नित्य डरते रहना, अर्थात् ईश्वर हमारे सब कामों को सब प्रकार से देखता है ऐसा जानकर उससे सदा डरना, कि जो मैं पाप करूंगा तो ईश्वर मुझ पर अप्रसन्न होगा इत्यादि गुण वाली वस्तु का नाम मन है। इस को सब प्रकार से सब के सुख के लिये युक्त करो। (यथा वः सुसहासति) हे मनुष्य लोगो ! जिस प्रकार अर्थात् पूर्वोक्त धर्म सेवन से तुम लोगों को उत्तम सुखों की बढ़ती हो और जिस श्रेष्ठ सहाय से आपस में एक से दूसरे को सुख बढ़े ऐसा काम सब दिन करते रहो। किसी को दुःखी देख के अपने मन में सुख मत मानो। किन्तु सब को सुखी करके अपने आत्मा को सुखी जानो। जिस प्रकार से स्वाधीन होके सब लोग सदा सुखी रहें वैसा ही यत्न करते रहो ॥ ३ ॥

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत्सत्यानृते प्रजापतिः। अश्रद्धामनृते दधाच्छ्रद्धाᳬ सत्ये प्रजापतिः ॥ ४ ॥ य० अ० १९। मं० ७७ ॥

भाष्यम्

अस्यायम० (दृष्ट्वा०) प्रजापतिः परमेश्वरो धर्ममुपदिशति सर्वैर्मनुष्यैः सर्वथा सर्वदा सत्य एव सम्यक् श्रद्धा रक्षणीयाऽसत्ये चाश्रद्धेति। (प्रजापतिः) परमेश्वरः (सत्यानृते) धर्माधर्मौ (रूपे) प्रसिद्धाप्रसिद्धलक्षणौ दृष्ट्वा (व्याकरोत्) सर्वज्ञया स्वया विद्यया विभक्तौ कृतवानस्ति। कथमित्यत्राह (अश्रद्धाम०) सर्वेषां मनुष्याणामनृतेऽसत्येऽधर्मेऽन्यायेऽश्रद्धामदधात्। अर्थादधर्मेऽश्रद्धां कर्त्तुमाज्ञापयति। तथैव वेदशास्त्रप्रतिपादिते, सत्ये, प्रत्यक्षादिभिः प्रमाणैः परीक्षिते, पक्षपातरहिते, न्याय्ये धर्मे प्रजापतिः सर्वज्ञ ईश्वरः श्रद्धां चादधात्। एवं सर्वैर्मनुष्यैः परमप्रयत्नेन स्वकीयं चित्तं धर्मे प्रवृत्तमधर्मान्निवृत्तं च सदैव कार्य्यमिति ॥ ४ ॥

भाषार्थ

(दृष्ट्वा०) इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि प्रजापति परमेश्वर जो सब जगत् का स्वामी अर्थात् मालिक है वह सब मनुष्यों के लिये धर्म का उपदेश करता है कि सब मनुष्यों को सब प्रकार से सब काल में सत्य में ही प्रीति करनी चाहिये, असत्य में कभी नहीं। (प्रजापतिः) सब जगत् का अध्यक्ष जो ईश्वर है सो (सत्यानृते) सत्य जो धर्म और असत्य जो अधर्म है, जिन के प्रकट और गुप्त लक्षण हैं, * (व्याकरोत्) उन को ईश्वर ने अपनी सर्वज्ञ विद्या के ठीक २ विचार से देख के सत्य और झूठ को अलग २ किया है। सो इस प्रकार से है कि (अश्रद्धाम०) हे मनुष्य लोगो ! तुम सब दिन अनृत अर्थात् झूठ अन्याय के करने में (अश्रद्धा) अर्थात् प्रीति कभी मत करो। वैसा ही (श्रद्धाꣳस०) सत्य अर्थात् जो वेदशास्त्रोक्त और जिसकी प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से परीक्षा की गई हो वा की जाय वही पक्षपात से अलग न्यायरूप धर्म है। उस के आचरण में सब दिन प्रीति रक्खो, और जो २ तुम लोगों के लिये मेरी आज्ञा है उस २ में अपने आत्मा, प्राण और मन को सब पुरुषार्थ तथा कोमल स्वभाव से युक्त करके सदा सत्य ही में प्रवृत्त करो ॥ ४ ॥

दृते दृꣳह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्। मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ॥ ५ ॥ य० अ० ३६। मं० १८ ॥

भाष्यम्

(दृते दृꣳह०) अस्यायम० सर्वे मनुष्याः सर्वथा सर्वदा सर्वैः सह सौहार्द्येनैव वर्त्तेरन्निति। सर्वैरीश्वरोक्तोऽयं धर्मः स्वीकार्य्यः, ईश्वरः प्रार्थनीयश्च, यतो धर्मनिष्ठा स्यात्। तद्यथा। हे दृते ! सर्वदुःखविनाशकेश्वर !

---

* जितना धर्म अधर्म का लक्षण बाहर की चेष्टा के साथ सम्बन्ध रखता है वह प्रकट और जितना आत्मा के साथ सम्बन्ध रखता है वह गुप्त कहाता है।

मदुपरि कृपां विधेहि, यतोऽहं सत्यधर्मं यथावद्विजानीयाम्, पक्षपातरहितस्य सुहृदश्चक्षुषा प्रेमभावेन सर्वाणि भूतानि (मा) मां सदा समीक्षन्तामर्थान्मम मित्राणि भवन्तु। इतीच्छाविशिष्टं मां (दृꣳह) दृंह, सत्यसुखैः शुभगुणैश्च सह सदा वर्धय, (मित्रस्याहं०) एवमहमपि मित्रस्य चक्षुषा स्वात्मवत्प्रेम-बुद्ध्या (सर्वाणि भूतानि समीक्षे) सम्यक् पश्यामि, (मित्रस्य च०) इत्थमेव मित्रस्य चक्षुषा निर्वैरा भूत्वा वयमन्योन्यं समीक्षामहे, सुखसंपाद-नार्थं सदा वर्त्तामहे। इतीश्वरोपदिष्टो धर्मो हि सर्वैर्मनुष्यैरेक एव मन्तव्यः ॥५॥

भाषार्थ

(दृते दृꣳह०) इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि मनुष्य लोग आपस में सब प्रकार के प्रेमभाव से सब दिन वर्त्तें, और सब मनुष्यों को उचित है कि जो वेदों में ईश्वरोक्त धर्म है उसी को ग्रहण करें, और वेदरीति से ही ईश्वर की उपासना करें, कि जिससे मनुष्यों की धर्म में ही प्रवृत्ति हो। (दृते०) हे सब दुःखों के नाश करने वाले परमेश्वर! आप हम पर ऐसी कृपा कीजिये कि जिससे हम लोग आपस में वैर को छोड़ के एक दूसरे के साथ प्रेमभाव से वर्त्तें। (मित्रस्य मा०) और सब प्राणी मुझ को अपना मित्र जान के बन्धु के समान वर्त्तें। ऐसी इच्छा से युक्त हम लोगों को (दृꣳह०) सत्य सुख और शुभ गुणों से सदा बढ़ाइये। (मित्रस्याहं०) इसी प्रकार से मैं भी सब मनुष्यादि प्राणियों को अपने मित्र जानूं और हानि, लाभ, सुख और दुःख में अपने आत्मा के समतुल्य ही सब जीवों को मानूं। (मित्रस्य च०) हम सब लोग आपस में मिलके सदा मित्रभाव रक्खें और सत्यधर्म के आचरण से सत्य सुखों को नित्य बढ़ावें। जो ईश्वर का कहा धर्म है यही एक सब मनुष्यों को मानने के योग्य है ॥ ५ ॥

अग्ने॑ व्रतपते व्र॒तं च॑रिष्यामि॒ तच्छ॑केयं॒ तन्मे॑ राध्यताम्। इ॒दम॒हमनृ॑ता॒त्सत्य॒मुपै॑मि ॥ ६ ॥ यजु० अ० १। मं० ५ ॥

भाष्यम्

(अग्ने व्र०) अस्याभिप्रा० सर्वैर्मनुष्यैरीश्वरस्य सहायेच्छा सदा कार्येति । नैव तस्य सहायेन विना सत्यधर्मज्ञानं, तस्यानुष्ठानपूर्त्तिश्च भवतः । हे अग्ने व्रतपते ! सत्यपते (व्रतं) सत्यधर्मं चरिष्याम्यनुष्ठास्यामि । अत्र प्रमाणम् ॥ सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्याः । एतद्ध वै देवा व्रतं चरन्ति यत्सत्यम् ॥ श० कां० १ । अ० १ ॥ सत्याचरणाद्देवा असत्याचरणान्मनुष्याश्च भवन्ति । अतः सत्याचरणमेव धर्ममाहुरिति । (तच्छकेयम्) यथा तत्सत्याचरणं धर्मं कर्त्तुमहं शकेयं समर्थो भवेयम्, (तन्मे राध्यताम्) तत्सत्यधर्मानुष्ठानं मे मम भवता राध्यतां कृपया सम्यक् सिद्धं क्रियताम् । किंच तद्व्रतमित्यत्राह ? (इदमहमनृतात्सत्यमुपै०) यत्सत्यधर्मस्यैवाचरणमनृतादसत्याचरणादधर्मात्पृथग्भूतं तदेवोपैमि प्राप्नोमीति । अस्यैव धर्मस्यानुष्ठानमीश्वरप्रार्थनया स्वपुरुषार्थेन च कर्त्तव्यम् । नापुरुषार्थिनं मनुष्यमीश्वरोनुगृह्णाति । यथा चक्षुष्मन्तं दर्शयति नान्धं च । एवमेव धर्मं कर्त्तुमिच्छन्तं पुरुषार्थकारिणमीश्वरानुग्रहाभिलाषिणं प्रत्येवेश्वरः कृपालुर्भवति नान्यं प्रति चेति । कुतः । जीवे तत्सिद्धिं कर्तुं साधनानामीश्वरेण पूर्वमेव रचितत्वात्, तदुपयोगाकरणाच्च । येन पदार्थेन यावानुपकारो ग्रहीतुं शक्यस्तावान्स्वेनैव ग्रहीतव्यस्तदुपरीश्वरानुग्रहेच्छा कार्य्येति ॥ ६ ॥

भाषार्थ

(अग्ने व्र०) इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि सब मनुष्य लोग ईश्वर के सहाय की इच्छा करें, क्योंकि उस के सहाय के विना धर्म का पूर्ण ज्ञान और उस का अनुष्ठान पूरा कभी नहीं हो सकता । हे सत्यपते परमेश्वर ! (व्रतं०) मैं जिस सत्यधर्म का अनुष्ठान किया चाहता हूं उस की सिद्धि आप की कृपा से ही हो सकती है । इसी मन्त्र का अर्थ शतपथब्राह्मण में भी लिखा है कि जो मनुष्य सत्य के आचरणरूप व्रत को करते हैं वे देव कहाते हैं, और जो असत्य का आचरण करते हैं उन को मनुष्य कहते हैं । इस से मैं उस सत्यव्रत का

आचरण किया चाहता हूं । (तच्छकेयं) मुझ पर आप ऐसी कृपा कीजिये कि जिससे मैं सत्यधर्म का अनुष्ठान पूरा कर सकूं । (तन्मे राध्यतां) उस अनुष्ठान की सिद्धि करने वाले एक आप ही हो । सो कृपा से सत्यरूप धर्म के अनुष्ठान को सदा के लिये सिद्ध कीजिये । (इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि) सो यह व्रत है कि जिस को मैं निश्चय से चाहता हूं । उन सब असत्य कामों से छूट के सत्य के आचरण करने में सदा दृढ़ रहूं । परन्तु मनुष्य को यह करना उचित है कि ईश्वर ने मनुष्यों में जितना सामर्थ्य रक्खा है उतना पुरुषार्थ अवश्य करें । उसके उपरान्त ईश्वर के सहाय की इच्छा करनी चाहिये । क्योंकि मनुष्यों में सामर्थ्य रखने का ईश्वर का यही प्रयोजन है कि मनुष्यों को अपने पुरुषार्थ से ही सत्य का आचरण अवश्य करना चाहिये । जैसे कोई मनुष्य आंख वाले पुरुष को ही किसी चीज को दिखला सकता है, अन्धे को नहीं । इसी रीति से जो मनुष्य सत्यभाव, पुरुषार्थ से धर्म को किया चाहता है उस पर ईश्वर भी कृपा करता है, अन्य पर नहीं । क्योंकि ईश्वर ने धर्म करने के लिये बुद्धि आदि बढ़ने के साधन जीव के साथ रक्खे हैं । जब जीव उनसे पूर्ण पुरुषार्थ करता है तब परमेश्वर भी अपने सब सामर्थ्य से उस पर कृपा करता है, अन्य पर नहीं । क्योंकि सब जीव कर्म करने में स्वाधीन और पापों के फल भोगने में कुछ पराधीन भी हैं ॥ ६ ॥

व्रतेन॑ दी॒क्षामा॑प्नोति दी॒क्षया॑प्नोति॒ दक्षि॑णाम् । दक्षि॑णा श्र॒द्धामा॑प्नोति श्र॒द्धया॑ स॒त्यमा॑प्यते ॥ ७ ॥ यजु० अ० १९ । मं० ३० ॥

(व्रतेन दी०) अस्था० यदा मनुष्यो धर्मं जिज्ञासते, सत्यं चिकीर्षति, तदैव सत्यं विजानाति, तत्रैव मनुष्यैः श्रद्धेयम् । नासत्ये चेति । यो मनुष्यः सत्यं व्रतमाचरति । तदा दीक्षामुत्तमाधिकारं प्राप्नोति । (दीक्षयाप्नोति द०) यदा दीक्षितः सन्नुत्तमगुणैरुत्तमाधिकारी भवति तदा सर्वतः सत्कृतः फलवान् भवति, सास्य दक्षिणा भवति । तां दीक्षया शुभगुणाचरणेनैवा-प्नोति । (दक्षिणा श्र०) सा दक्षिणा यदा ब्रह्मचर्य्यादिसत्यव्रतैः सत्का-

राढ्या स्वस्यान्येषां च भवति तदाचरणे श्रद्धां दृढं विश्वासमुत्पादयति। कुतः। सत्याचरणमेव सत्कारकारकमस्त्यतः। (श्रद्धया०) यदोत्तरोत्तरं श्रद्धा वर्धेत तदा तया श्रद्धया मनुष्यैः परमेश्वरो मोक्षधर्मादिकं चाप्यते प्राप्यते नान्यथेति। अतः किमागतं सत्यप्राप्त्यर्थं सर्वदा श्रद्धोत्साहादि-पुरुषार्थो वर्धयितव्यः॥ ८॥

भाषार्थ

(व्रतेन दी०) इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि जब मनुष्य धर्म को जानने की इच्छा करता है तभी सत्य को जानता है। उसी सत्य में मनुष्यों को श्रद्धा करनी चाहिये। असत्य में कभी नहीं। (व्रतेन०) जो मनुष्य सत्य के आचरण को दृढ़ता से करता है तब वह दीक्षा अर्थात् उत्तम अधिकार के फल को प्राप्त होता है। (दीक्षयाप्नोति०) जब मनुष्य उत्तम गुणों से युक्त होता है तब सब लोग सब प्रकार से उस का सत्कार करते हैं। क्योंकि धर्म आदि शुभ-गुणों से ही उस दक्षिणा को मनुष्य प्राप्त होता है, अन्यथा नहीं। (दक्षिणा श्र०) जब ब्रह्मचर्य आदि सत्य व्रतों से अपना और दूसरे मनुष्यों का अत्यन्त सत्कार होता है तब उसी में दृढ़ विश्वास होता है। क्योंकि सत्य धर्म का आचरण ही मनुष्यों का सत्कार कराने वाला है। (श्रद्धया०) फिर सत्य के आचरण में जितनी २ अधिक श्रद्धा बढ़ती जाती है उतना २ ही मनुष्य लोग व्यवहार और परमार्थ के सुख को प्राप्त होते जाते हैं, अधर्माचरण से नहीं। इस से क्या सिद्ध हुआ कि सत्य की प्राप्ति के लिये सब दिन श्रद्धा और उत्साह आदि पुरुषार्थ को मनुष्य लोग बढ़ाते ही जायं, जिससे सत्य धर्म की यथावत् प्राप्ति हो॥८॥

श्रमे॑ण॒ तप॑सा सृ॒ष्टा ब्रह्म॑णा वि॒त्तऋ॒ते श्रि॒ता॥ ९॥ स॒त्ये॒ना॒वृ॑ता श्रि॒या प्रावृ॑ता य॒शसा॒ परी॑वृताः॥ १०॥ अथर्व० कां० १२। अनु० ५। मं० १। २॥

भाष्यम्

(श्रमेण तपसा०) अभिप्रा० श्रमेणेत्यादिमन्त्रेषु धर्मस्य लक्षणानि

प्रकाशयन्त इति । श्रमः प्रयत्नः पुरुषार्थ उद्यम इत्यादि । तपो धर्मानुष्ठानम् । तेन श्रमेणैव तपसा च सहेश्वरेण सर्वे मनुष्याः सृष्टा रचिताः । अतः (ब्रह्मणा) वेदेन परमेश्वरज्ञानेन च युक्ताः सन्तो ज्ञानिनः स्युः, (ऋते श्रिता०) ऋते ब्रह्मणि पुरुषार्थे चाश्रिता, ऋतं सेवमानाश्च सदैव भवन्तु ॥ ६ ॥ (सत्येनावृ०) वेदशास्त्रेण प्रत्यक्षादिभिः प्रमाणैश्च परीक्षितेनाव्यभिचारिणा सत्येनावृता युक्ताः सर्वे मनुष्याः सन्तु । (श्रिया प्रावृ०) श्रिया शुभगुणाचरणोज्ज्वलया चक्रवर्त्तिराज्यसेवमानया प्रकृष्टया लक्ष्म्याऽऽवृता युक्ताः परमप्रयत्नेन भवन्तु । (यशसा०) उत्कृष्टगुणग्रहणं, सत्याचरणं यशस्तेन परितः सर्वतोवृता युक्ताः सन्तः प्रकाशयितारश्च स्युः ॥ १० ॥

भाषार्थ

(श्रमेण तपसा०) इन मन्त्रों के अभिप्राय से यह सिद्ध होता है कि सब मनुष्यों को (श्रमेण०) इत्यादि धर्म के लक्षणों का ग्रहण अवश्य करना चाहिये । क्योंकि ईश्वर ने (श्रम०) जो परम प्रयत्न का करना, और (तपः) जो धर्म का आचरण करना है इसी धर्म से युक्त मनुष्यों को रचा है । इस कारण से (ब्रह्मणा) ब्रह्म जो वेदविद्या और परमेश्वर के ज्ञान से युक्त होके सब मनुष्य अपने २ ज्ञान को बढ़ावें । (ऋतेश्रिता) सब मनुष्य ऋत जो ब्रह्म, सत्य विद्या, और धर्माचरण इत्यादि शुभगुणों का सेवन करें ॥ ६ ॥ (सत्येनावृता) सब मनुष्य प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सत्य की परीक्षा करके सत्य के आचरण से युक्त हों । (श्रिया प्रावृता) हे मनुष्य लोगो ! तुम शुभगुणों से प्रकाशित होके, चक्रवर्त्तिराज्य आदि ऐश्वर्य को सिद्ध करके, अतिश्रेष्ठ लक्ष्मी से युक्त हो के, शोभारूप श्री को सिद्ध करके, उस को चारों ओर पहिन के शोभित हो । (यशसा परी०) सब मनुष्यों को उत्तम गुणों का ग्रहण करके सत्य के आचरण और यश अर्थात् उत्तम कीर्ति से युक्त होना चाहिये ॥ १० ॥

स्वधया परिहिता श्रद्धया पर्यूढा दीक्षया गुप्ता यज्ञे प्रतिष्ठिता लोको निधनम् ॥ ११ ॥ ओजश्च तेजश्च सहश्च बलं च

वाक् चेन्द्रियं च श्रीश्च धर्मश्च ॥ १२ ॥ अथर्व० कां० १२ । अनु० ५ । मं० ३ । ७ ॥

भाष्यम्

(स्वधया परि०) परितः सर्वतः स्वकीयपदार्थशुभगुणधारणेनैव सन्तुष्य सर्वे मनुष्याः सर्वेभ्यो हितकारिणः स्युः, (श्रद्धया प०) सत्यमेव विश्वासमूलमस्ति नासदिति तथा सत्योपरिदृढविश्वासरूपया श्रद्धया परितः सर्वत ऊढाः प्राप्तवन्तः सन्तु, (दीक्षया गुप्ताः) सद्भिराप्तैर्विद्वद्भिः कृतसत्योपदेशया दीक्षया गुप्ता रक्षिताः, सर्वमनुष्याणां रक्षितारश्च स्युः, (यज्ञे प्रतिष्ठिताः) (यज्ञो वै विष्णुः) व्यापके परमेश्वरे सर्वोपकारकेऽश्वमेधादौ शिल्पविद्याक्रियाकुशलत्वे च प्रतिष्ठिताः प्राप्तप्रतिष्ठाश्च भवन्तु, (लोको निधनम्) अयं लोकः सर्वेषां मनुष्याणां निधनं यावन्मृत्युर्न भवेत्तावत्सर्वोपकारकं सत्कर्मानुष्ठानं कर्त्तुं योग्यमस्तीति सर्वैर्मन्तव्यमितीश्वरोपदेशः ॥ ११ ॥ अन्यच्च । (ओजश्च) न्यायपालनान्वितः पराक्रमः, (तेजश्च) प्रगल्भता, धृष्टता, निर्भयता, निर्दीनता, सत्ये व्यवहारे कर्त्तव्या, (सहश्च) सुखदुःखहानिलाभादिक्लेशप्रदवर्त्तमानप्राप्तावपि हर्षशोकाकरणं, तन्निवारणार्थं परमप्रयत्नानुष्ठानं च सहनं सर्वैः सदा कर्त्तव्यम्, (बलं च) ब्रह्मचर्य्यादिसुनियमाचरणेन शरीरबुद्ध्यादिरोगनिराकरणं, दृढाङ्गतानिश्चलबुद्धित्वसम्पादनं, भीषणादिकर्मयुक्तं बलं च कार्य्यमिति, (वाक् च) विद्याशिक्षासत्यमधुरभाषणादिशुभगुणयुक्ता वाणी कार्य्येति, (इन्द्रियं च) मनआदीनि वाग्भिन्नानि षड्ज्ञानेन्द्रियाणि, वाक् चेति कर्मेन्द्रियाणामुपलक्षणेन कर्मेन्द्रियाणि च, सत्यधर्माचरणयुक्तानि पापाद्व्यतिरिक्तानि च सदैव रक्षणीयानि, (श्रीश्च) सम्राड्राज्यश्रीः परमपुरुषार्थेन कार्य्येति, (धर्मश्च) अयमेव वेदोक्तो, न्याय्यः, पक्षपातरहितः, सत्याचरणयुक्तः, सर्वोपकारकश्च धर्मः सदैव सर्वैः सेवनीयः । अस्यैवेयं पूर्वा परा सर्वा व्याख्यास्तीति बोध्यम् ॥ १२ ॥

भाषार्थ

(स्वधया परिहिता) सब प्रकार से मनुष्य लोग स्वधा अर्थात् अपने ही

पदार्थों का धारण करें। इस अमृतरूप व्यवहार से सदा युक्त हों। (श्रद्धया पर्य्यूढा) सब मनुष्य सत्य व्यवहार पर अत्यन्त विश्वास को प्राप्त हों। क्योंकि जो सत्य है वही विश्वास का मूल तथा सत्य का आचरण ही उसका फल और स्वरूप है, असत्य कभी नहीं। (दीक्षया गुप्ता) विद्वानों की सत्य शिक्षा से रक्षा को प्राप्त हो और मनुष्य आदि प्राणियों की रक्षा में परमपुरुषार्थ करो। (यज्ञे प्रतिष्ठिता) यज्ञ जो सब में व्यापक अर्थात् परमेश्वर अथवा सब संसार का उपकार करने वाला अश्वमेधादि यज्ञ अथवा जो शिल्पविद्या सिद्ध करके उपकार लेना जो यज्ञ है, इस तीन प्रकार के यज्ञ में सब मनुष्य यथावत् प्रवृत्ति करें। (लोको नि०) जब तक तुम लोग जीते रहो तब तक सदा सत्य कर्म में ही पुरुषार्थ करते रहो। किन्तु इस में आलस्य कभी मत करो। ईश्वर का यह उपदेश सब मनुष्यों के लिये है ॥ ११ ॥ (ओजश्च) धर्म के पालन से युक्त जो पराक्रम, (तेजश्च) प्रगल्भता अर्थात् भयरहित होके दीनता से दूर रहना, (सहश्च) सुख, दुःख, हानि, लाभ आदि की प्राप्ति में भी हर्ष शोकादि छोड़ के सत्य धर्म में दृढ़ रहना, दुःख का निवारण और सहन करना, (बलं च) ब्रह्मचर्य आदि अच्छे नियमों से शरीर का आरोग्य, बुद्धि की चतुराई आदि बल का बढ़ाना, (वाक् च) सत्य विद्या की शिक्षा, सत्य मधुर अर्थात् कोमल प्रिय भाषण का करना, (इन्द्रियं च) जो मन, पांच ज्ञानेन्द्रिय और पांच कर्मेन्द्रिय हैं उन को पाप कर्मों से रोक के सदा सत्य पुरुषार्थ में प्रवृत्त रखना, (श्रीश्च) चक्रवर्त्तिराज्य की सामग्री को सिद्ध करना, (धर्मश्च) जो वेदोक्त, न्याय से युक्त हो के, पक्षपात को छोड़ के, सत्य ही का सदा आचरण और असत्य का त्याग करना है, तथा जो सब का उपकार करने वाला और जिस का फल इस जन्म और परजन्म में आनन्द है, उसी को धर्म और इस से उलटा करने को अधर्म कहते हैं, उसी धर्म की यह सब व्याख्या है, कि जो (संगच्छध्वं०) इस मन्त्र से लेके (यतोभ्युदय०) इस सूत्र तक जितने धर्म के लक्षण लिखे हैं वे सब लक्षण मनुष्यों को ग्रहण करने के योग्य हैं ॥ १२ ॥

ब्रह्म च क्षत्रं च राष्ट्रं च विशश्च त्विषिश्च यशश्च वर्चश्च द्रविणं च ॥ १३ ॥ आयुश्च रूपं च नाम च कीर्तिश्च प्राणश्चापानश्च चक्षुश्च श्रोत्रं च ॥ १४ ॥ पयश्च रसश्चान्नं चान्नाद्यं च ऋतं च सत्यं चेष्टं च पूर्तं च प्रजा च पशवश्च ॥ १५ ॥ अथर्व० कां० १२ । अनु० ५ । सू० ५ । खं० २ । मं० ८ । ९ । १० ॥

भाष्यम्

इत्याद्यनेकमन्त्रप्रमाणैर्धर्मोपदेशो वेदेष्वीश्वरेणैव सर्वमनुष्यार्थमुपदिष्टोऽस्ति । (ब्रह्म च) ब्राह्मणोपलक्षणं सर्वोत्तमविद्यागुणकर्मवत्त्वं सद्गुणप्रचारकरणत्वं च ब्राह्मणलक्षणं, तच्च सदैव वर्धयितव्यम्, (क्षत्रं च) क्षत्रियोपलक्षणं विद्याचातुर्य्यशौर्य्यधैर्य्यवीरपुरुषान्वितं च सदैवोन्नेयम्, (राष्ट्रं च) सत्पुरुषसभया सुनियमैः सर्वसुखाढ्यं शुभगुणान्वितं च राज्यं सदैव कार्य्यम्, (विशश्च) वैश्यादिप्रजानां व्यापारादिकारिणां भूगोले ह्यव्याहतगतिसंपादनेन व्यापाराद्धनवृद्ध्यर्थं संरक्षणं च कार्य्यम्, (त्विषिश्च) दीप्तिः शुभगुणानां प्रकाशः सत्यगुणकामना च शुद्धा प्रचारणीयेति, (यशश्च) धर्मान्वितानुत्तमा कीर्त्तिः संस्थापनीया, (वर्चश्च) सद्विद्याप्रचारं सम्यगध्ययनाध्यापनप्रबन्धं कर्म सदा कार्य्यम्, (द्रविणं च) अप्राप्तस्य पदार्थस्य न्यायेन प्राप्तीच्छा कार्य्या, प्राप्तस्य संरक्षणं, रक्षितस्य वृद्धिर्वृद्धस्य सत्कर्मसु व्ययश्च योजनीयः । एतच्चतुर्विधपुरुषार्थेन धनधान्योन्नतिसुखे सदैव कार्य्ये ॥ १३ ॥ (आयुश्च) वीर्य्यादिरक्षणेन भोजनाच्छादनादिसुनियमेन ब्रह्मचर्य्यसुसेवनेनायुर्बलं कार्य्यम्, (रूपं च) निरन्तरविषयासेवनेन सदैव सौन्दर्य्यादिगुणयुक्तं स्वरूपं रक्षणीयम्, (नाम च) सत्कर्मानुष्ठानेन नामप्रसिद्धिः कार्य्या, यतोऽन्यस्यापि सत्कर्मसूत्साहवृद्धिः स्यात्, (कीर्त्तिश्च) सद्गुणग्रहणार्थमीश्वरगुणानामुपदेशार्थं कीर्त्तनं, स्वस्य कीर्त्तिमत्त्वं च सदैव कार्य्यम्, (प्राणश्चापानश्च) प्राणायामरीत्या प्राणापानयोः शुद्धिबले कार्य्ये । शरीराद्बाह्यदेशं यो वायुर्गच्छति स प्राणः । बाह्यदेशाच्छरीरं प्रविशति स वायुरपानः । शुद्धदेशनिवासादिनैनयोः प्रच्छर्दनाविधारणाभ्यां बुद्धिशारीरबलं च संपादनी-

यम्, (चक्षुश्च श्रोत्रं च) चाक्षुषं प्रत्यक्षं, श्रौत्रं शब्दजन्यं, चादनुमानादी-न्यपि प्रमाणानि यथावद्वेदितव्यानि, तैः सत्यं विज्ञानं च सर्वथा कार्य्यम् ॥ १४ ॥ (पयश्च रसश्च) पयोजलादिकं, रसो दुग्धघृतादिश्चैतौ वैद्यकरीत्या सम्यक् शोधयित्वा भोक्तव्यौ, (अन्नं चान्नाद्यं च) अन्नमोदनादिकमन्नाद्यं भोक्तुमर्हं शुद्धं संस्कृतमन्नं संपाद्यैव भोक्तव्यम्, (ऋतं च सत्यं च) ऋतं ब्रह्म सर्वदैवोपासनीयं, सत्यं प्रत्यक्षादिभिः प्रमाणैः परीक्षितं यादृशं स्वात्मन्यस्ति तादृशं सदा सत्यमेव वक्तव्यं मन्तव्यं च । (इष्टं च पूर्त्तं च) इष्टं ब्रह्मोपासनं सर्वोपकारकं यज्ञानुष्ठानं च, पूर्त्तं तु यत्पूर्त्यर्थं मनसा वाचा कर्मणा सम्यक् पुरुषार्थेनैव सर्ववस्तुसंभारैश्चोभयानुष्ठानपूर्त्तिः कार्य्येति, (प्रजा च पशवश्च) प्रजा सन्तानादिका राज्यं च सुशिक्षाविद्यासुखान्विता, हस्त्यश्वादयः पशवश्च सम्यक् शिक्षान्विताः कार्य्याः । बहुभिश्चकारैरन्येपि शुभ-गुणा अत्र ग्राह्याः ॥ १५ ॥

भाषार्थ

(ब्रह्म च) सब से उत्तम विद्या और श्रेष्ठ कर्म करने वालों को ही ब्राह्मण वर्ण का अधिकार देना, उस से विद्या का प्रचार कराना और उन लोगों को भी चाहिये कि विद्या के प्रचार में ही सदा तत्पर रहें । (क्षत्रं च) अर्थात् सब कामों में चतुरता, शूरवीरपन, धीरज, वीरपुरुषों से युक्त सेना का रखना, दुष्टों को दण्ड देना और श्रेष्ठों का पालन करना इत्यादि गुणों के बढ़ाने वाले पुरुषों को क्षत्रियवर्ण का अधिकार देना । (राष्ट्रञ्च) श्रेष्ठ पुरुषों की सभा के अच्छे नियमों से राज्य को सब सुखों से युक्त करना और उत्तम गुणसहित होके सब कामों को सदा सिद्ध करना चाहिये । (विशश्च) वैश्य आदि वर्णों को व्यापारादि व्यवहारों में भूगोल के बीच में जाने आने का प्रबन्ध करना और उन की अच्छी रीति से रक्षा करनी अवश्य है, जिस से धनादि पदार्थों की संसार में बढ़ती हो । (त्विषिश्च) सब मनुष्यों में सब दिन सत्य गुणों ही का प्रकाश करना चाहिये । (यशश्च) उत्तम कामों से भूगोल में श्रेष्ठ कीर्त्ति को बढ़ाना उचित है । (वर्चश्च) सत्यविद्याओं के प्रचार के लिये अनेक पाठशालाओं में

पुत्र और कन्याओं का अच्छी रीति से पढ़ने पढ़ाने का प्रचार सदा बढ़ाते जाना चाहिये । (द्रविणं च) सब मनुष्यों को उचित है कि पूर्वोक्त धर्म से अप्राप्त पदार्थों की प्राप्ति की इच्छा से सदा पुरुषार्थ करना, प्राप्त पदार्थों की रक्षा यथावत् करनी चाहिये, रक्षा किये पदार्थों की सदा बढ़ती करना और सत्य विद्या के प्रचार आदि कामों में बढ़े हुए धनादि पदार्थों का खरच यथावत् करना चाहिये, इस चार प्रकार के पुरुषार्थ से धनधान्यादि को बढ़ा के सुख को सदा बढ़ाते जाओ ॥ १३ ॥ (आयुश्च) वीर्य्य आदि धातुओं की शुद्धि और रक्षा करना, तथा युक्तिपूर्वक ही भोजन और वस्त्र आदि का जो धारण करना है, इन अच्छे नियमों से उमर को सदा बढ़ाओ । (रूपं च) अत्यन्त विषयसेवा से पृथक् रह के और शुद्ध वस्त्र आदि धारण से शरीर का स्वरूप सदा उत्तम रखना। (नाम च) उत्तम कर्मों के आचरण से नाम की प्रसिद्धि करनी चाहिये, जिस से अन्य मनुष्यों का भी श्रेष्ठ कर्मों में उत्साह हो । (कीर्तिश्च) श्रेष्ठ गुणों के ग्रहण के लिये परमेश्वर के गुणों का श्रवण और उपदेश करते रहो, जिस से तुम्हारा भी यश बढ़े । (प्राणश्चापानश्च) जो वायु भीतर से बाहर आता है उस को प्राण और जो बाहर से भीतर जाता है उस को अपान कहते हैं । योगाभ्यास, शुद्ध देश में निवास आदि और भीतर से बल करके प्राण को बाहर निकाल के रोकने से शरीर के रोगों को छुड़ा के बुद्धि आदि को बढ़ाओ । (चक्षुश्च श्रोत्रं च) प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, संभव और अभाव, इन आठ प्रमाणों के विज्ञान से सत्य का नित्य शोधन करके ग्रहण किया करो ॥ १४ ॥ (पयश्च रसश्च) जो पय अर्थात् दूध, जल आदि और जो रस अर्थात् शक्कर, ओषधि और घी आदि हैं इन को वैद्यक शास्त्रों की रीति से यथावत् शोध के भोजन आदि करते रहो । (अन्नं चान्नाद्यं च) वैद्यक शास्त्र की रीति से चावल आदि अन्न का यथावत् संस्कार करके भोजन करना चाहिये । (ऋतं च सत्यं च) ऋत नाम जो ब्रह्म है उसी की सदा उपासना करनी, जैसा हृदय में ज्ञान हो सदा वैसा ही भाषण करना और सत्य को ही मानना चाहिये । (इष्टं च पूर्त्तं च) इष्ट जो ब्रह्म है उसी की उपासना और जो पूर्वोक्त यज्ञ सब संसार को सुख देने वाला है उस इष्ट की सिद्धि करने की पूर्त्ति और जिस २ उत्तम

कामों के आरम्भ को यथावत् पूर्ण करने के लिये जो २ अवश्य हो सो २ सामग्री पूर्ण करनी चाहिये। (प्रजा च पशवश्च) सब मनुष्य लोग अपने संतान और राज्य को अच्छी शिक्षा दिया करें और हस्ती तथा घोड़े आदि पशुओं को भी अच्छी रीति से सुशिक्षित करना उचित है। इन मन्त्रों में और भी अनेक प्रयोजन हैं कि सब मनुष्य लोग अन्य भी धर्म के शुभ लक्षणों का ग्रहण करें॥ १५॥

भाष्यम्

अत्र धर्मविषये तैत्तिरीयशाखाया अन्यदपि प्रमाणम्। ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यं च स्वा०। तपश्च स्वा०। दमश्च स्वा०। शमश्च स्वा०। अग्नयश्च स्वा०। अग्निहोत्रं च स्वा०। अतिथयश्च स्वा०। मानुषं च स्वा०। प्रजा च स्वा०। प्रजनश्च स्वा०। प्रजातिश्च स्वा०। सत्यमिति सत्यवचा राथीतरः। तप इति तपोनित्यः पौरुशिष्टिः। स्वाध्यायप्रवचन एवेति नाको मौद्गल्यः। तद्धि तपस्तद्धि तपः॥ १॥ वेदमनूच्याचार्य्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति। सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्य्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्र०। कुशलान्न प्र०। भूत्यै न प्र०। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्र०। देवपितृकार्य्याभ्यां न प्र०। मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि। यान्यस्माकꣳ सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि॥२॥ एके चास्मच्छ्रेयाꣳसो ब्राह्मणाः। तेषां त्वयासनेन प्रश्वसितव्यम्। श्रद्धया देयम्। अश्रद्धया देयम्। श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्। अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात् ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः। युक्ता * अयुक्ताः। अलूक्षा धर्मकामाः स्युः। यथा ते तत्र वर्त्तेरन्। तथा तत्र वर्त्तेथाः। अथाभ्याख्यातेषु। ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः। युक्ता * अयुक्ताः। अलूक्षा धर्मकामाः स्युः। यथा ते तेषु

* बङ्गीयैशियाटिक सोसाइटी मुद्रित तैत्तिरीये "आयुक्ताः" इति पाठः॥

वर्त्तेरन् । तथा तेषु वर्त्तेथाः । एष आदेशः । एष उपदेशः । एषा वेदोपनिषत् । एतदनुशासनम् । एवमुपासितव्यम् । एवमु चैतदुपास्यम् ॥ ४ ॥ तैत्तिरीय आरण्यके । प्रपा० ७ । अनु० ६ । ११ ॥

(एतेषामभि०) सर्वैर्मनुष्यैरेतानि वक्ष्यमाणानि धर्मलक्षणानि सदैव सेव्यानीति । (ऋतं च०) यथार्थस्वरूपं वा ज्ञानं, (सत्यं च०) सत्यस्याचरणं च, (तपश्च०) ज्ञानधर्मयोर्ऋतादिधर्म्मलक्षणानां यथावदनुष्ठानम्, (दमश्च०) अधर्माचरणादिन्द्रियाणि सर्वथा निवर्त्य तेषां सत्यधर्माचरणे सदैव प्रवृत्तिः कार्य्या, (शमश्च०) नैव मनसापि कदाचिदधर्मकरणेच्छा कार्य्येति, (अग्नयश्च०) वेदादिशास्त्रेभ्योऽग्न्यादिपदार्थेभ्यश्च पारमार्थिकव्यावहारिकविद्योपकारकरणम्, (अग्निहोत्रं च०) नित्यहोममारभ्याश्वमेधपर्य्यन्तेन यज्ञेन वायुवृष्टिजलशुद्धिद्वारा सर्वप्राणिनां सुखसंपादनं कार्य्यम्, (अतिथय०) पूर्णविद्यावतां धर्मात्मनां संगसेवाभ्यां सत्यशोधनं छिन्नसंशयत्वं च कार्य्यम्, (मानुषं च०) मनुष्यसम्बन्धिराज्यविद्यादिवित्तं सम्यक् सिद्धं कर्त्तव्यम्, (प्रजा च०) धर्मेणैव प्रजामुत्पाद्य सा सदैव सत्यधर्मविद्यासुशिक्षयान्विता कार्य्या, (प्रजनश्च०) वीर्य्यवृद्धिः पुत्रेष्टिरीत्या ऋतुप्रदानं च कर्त्तव्यम्, (प्रजातिश्च०) गर्भरक्षा जन्मसमये संरक्षणं सन्तानशरीरबुद्धिवर्धनं च कर्त्तव्यम्, (सत्यमिति०) मनुष्यः सदा सत्यवक्तैव भवेदिति राथीतराचार्य्यस्य मतमस्ति, (तप इति०) सद्व्रतादिसेवनेनैव सत्यविद्याधर्मानुष्ठानमस्ति तन्नित्यमेव कर्त्तव्यमिति पौरुशिष्टेराचार्य्यस्य मतमस्ति, परन्तु नाकोमौद्गल्यस्येदं मतमस्ति स्वाध्यायो वेदविद्याध्ययनं, प्रवचनं तदध्यापनं चेत्युभयं सर्वेभ्यः श्रेष्ठतमं कर्मास्ति, इदमेव मनुष्येषु परमं तपोस्ति, नातः परमुत्तमं धर्मलक्षणं किंचिद्विद्यत इति । (वेदमनुच्या०) आचार्य्यः शिष्याय वेदानध्याप्य धर्ममुपदिशति हे शिष्य ! त्वया सदैव सत्यमेव वक्तव्यं, सत्यभाषणादिलक्षणो धर्मश्च सेवनीयः, शास्त्राध्ययनाध्यापने कदापि नैव त्याज्ये, आचार्य्यसेवा, प्रजोत्पत्तिश्च, सत्यधर्मकुशलतैश्वर्य्यसंवर्धनसेवने सदैव कर्त्तव्ये, देवा विद्वांसः, पितरो ज्ञानिनश्च, तेभ्यो ज्ञानग्रहणं, तेषां सेवनं च सदैव कार्य्य,मेवं मातृपित्रा-

चार्य्यातिथीनां सेवनं चैतत्सर्वं संप्रीत्या कर्त्तव्यम् । नैतत्कदापि प्रमादात्त्या-ज्यमिति । वक्ष्यमाणरीत्या मात्रादय उपदिशेयुः । भोः पुत्राः ! यान्युत्तमानि कर्म्माणि वयं कुर्मस्तान्येव युष्माभिराचरितव्यानि, यानि तु पापात्मकानि कानिचिदस्माभिः क्रियन्ते तानि कदापि नैवाचरणीयानि । येऽस्माकं मध्ये विद्वांसो ब्रह्मविदः स्युस्तत्संगस्तदुक्तविश्वासश्च सदैव कर्त्तव्यो नेतरेषाम् । मनुष्यैर्विद्यादिपदार्थदानं प्रीत्याऽप्रीत्या, श्रिया, लज्जया, भयेन, प्रतिज्ञया च सदैव कर्त्तव्यम् । अर्थात् प्रतिग्रहादानमतीव श्रेयस्करमिति । भोः शिष्य ! तव कस्मिंश्चित्कर्मण्याचरणे च संशयो भवेत्तदा ब्रह्मविदां, पक्षपातरहितानां, योगिनामधर्मात् पृथग्भूतानां, विद्यादिगुणैः स्निग्धानां, धर्मकामानां, विदुषां सकाशादुत्तरं ग्राह्यं, तेषामेवाचरणं च । यादृशेन मार्गेण ते विचरेयुस्तेनैव मार्गेण त्वयापि गन्तव्यम् । अयमेव युष्माकं हृदय आदेश उपदेशो हि स्था-प्यत, इयमेव वेदानामुपनिषदस्ति । ईदृशमेवानुशासनं सर्वैर्मनुष्यैः कर्त्तव्यम् । ईदृगाचरणपुरःसरमेव परमश्रद्धया सच्चिदानन्दादिलक्षणं ब्रह्मोपास्यं नान्यथेति ।

भाषार्थ

तैत्तिरीयशाखा में और भी धर्म का विषय है सो आगे लिखते हैं । (ऋतं च०) यह सब मनुष्यों को उचित है कि अपने ज्ञान और विद्या को बढ़ाते हुए एक ब्रह्म ही की उपासना करते रहें, उस के साथ वेदादि शास्त्रों का पढ़ना पढ़ाना भी बराबर करते जायें । (सत्यं च०) प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से ठीक २ परीक्षा करके जैसा तुम अपने आत्मा में ज्ञान से जानते हो वैसा ही बोलो और उसी को मानो, उस के साथ पढ़ना पढ़ाना भी कभी न छोड़ो । (तपश्च०) विद्या-ग्रहण के लिये ब्रह्मचर्य आश्रम को पूर्ण करके सदा धर्म में निश्चित रहो । (दमश्च०) अपनी आंख आदि इन्द्रियों को अधर्म और आलस्य से छुड़ा के सदा धर्म में चलाओ । (शमश्च०) अपने आत्मा और मन को सदा धर्मसेवन में ही स्थिर रक्खो । (अग्नयश्च०) तीनों वेद और अग्नि आदि पदार्थों से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को सिद्ध करो, तथा अनेक प्रकार से शिल्पविद्या की उन्नति करो । (अग्निहोत्रं ०) वायु और वृष्टिजल की शुद्धिद्वारा अग्निहोत्र

से लेके अश्वमेध पर्यन्त यज्ञों से सब सृष्टि का उपकार सदा करते रहो। (अतिथयश्च०) जो सब जगत् के उपकार के लिये सत्यवादी, सत्यकारी, पूर्ण विद्वान् सब का सुख चाहने वाले हों उन सत्पुरुषों के सङ्ग से करने के योग्य व्यवहारों को सदा बढ़ाते रहो । (मानुषं च०) सब मनुष्यों के राज्य और प्रजा के ठीक ठीक प्रबन्ध से धन आदि पदार्थों को बढ़ा के, रक्षा करके और अच्छे कामों में खर्च करके, उन से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों फल की सिद्धि द्वारा अपना जन्म सफल करो । (प्रजा च०) अपने सन्तानों का यथायोग्य पालन, शिक्षा से विद्वान् करके, सदा धर्मात्मा और पुरुषार्थी बनाते रहो । (प्रजनश्च०) जो सन्तानों की उत्पत्ति करने का व्यवहार है उस को पुत्रेष्टि कहते हैं, उस में श्रेष्ठ भोजन और ओषध सेवन सदा करते रहो, तथा ठीक २ गर्भ की रक्षा भी करो । (प्रजातिश्च०) पुत्र और कन्याओं के जन्म समय में स्त्री और बालकों की रक्षा युक्तिपूर्वक करो । ऋत से लेके प्रजाति पर्यन्त धर्म के जो बारह लक्षण होते हैं उन सब के साथ स्वाध्याय जो पढ़ना और प्रवचन जो पढ़ाने का उपदेश किया है सो इसलिये है कि पूर्वोक्त जो धर्म के लक्षण हैं वे तब प्राप्त हो सकते हैं कि जब मनुष्य लोग सत्य विद्या को पढ़ें और तभी सदा सुख में रहेंगे । क्योंकि सब गुणों में विद्या ही उत्तम गुण है । इसलिये सब धर्मलक्षणों के साथ स्वाध्याय और प्रवचन का ग्रहण किया है, सो इन का त्याग करना कभी न चाहिये । (सत्यमिति०) हे मनुष्य लोगो ! तुम सब दिन सत्यवचन ही बोलो । (तप इति०) धर्म और ईश्वर की प्राप्ति करने के लिये नित्य विद्याग्रहण करो अर्थात् विद्या का जो पढ़ना, पढ़ाना है यही सब से उत्तम है ॥ १ ॥ (वेदमनूच्या०) जो आचार्य अर्थात् विद्या और शिक्षा का देने वाला है वह विद्या पढ़ने के समय और जब तक न पढ़ चुके तब तक अपने पुत्र और शिष्यों को इस प्रकार उपदेश करे कि हे पुत्रो ! वा शिष्य लोगो ! तुम सदा सत्य ही बोला करो, और धर्म का ही सेवन करके एक परमेश्वर ही की भक्ति किया करो, इस में आलस्य वा प्रमाद कभी मत करो, आचार्य को अनेक उत्तम पदार्थ देकर प्रसन्न करो, और युवावस्था में ही विवाह करके प्रजा की उत्पत्ति करो, तथा सत्य धर्म को कभी मत छोड़ो, कुशलता अर्थात् चतुराई को सदा ग्रहण करके भूति अर्थात्

उत्तम ऐश्वर्य को सदा बढ़ाते जाओ, और पढ़ने पढ़ाने में कभी आलस्य मत करो ॥ १ ॥ (देव पितृ०) देव जो विद्वान् लोग और पितृ अर्थात् ज्ञानी लोगों की सेवा और सङ्ग से विद्या के ग्रहण करने में आलस्य वा प्रमाद कभी मत करो। माता, पिता, आचार्य अर्थात् विद्या के देनेवाले और अतिथि जो सत्य उपदेश के करने वाले विद्वान् पुरुष हैं उन की सेवा में आलस्य कभी मत करो। ऐसे ही सत्यभाषणादि शुभ गुणों और कर्मों ही का सदा सेवन करो। किन्तु मिथ्याभाषणादि को कभी मत करो। माता, पिता और आचार्य आदि अपने सन्तानों था शिष्यों को ऐसा उपदेश करें कि हे पुत्रो! वा शिष्य लोगो! हमारे जो सुचरित्र अर्थात् अच्छे काम हैं तुम लोग उन्हीं का ग्रहण करो, किन्तु हमारे बुरे कामों को कभी नहीं। जो हमारे बीच में विद्वान् और ब्रह्म के जानने वाले धर्मात्मा मनुष्य हैं उन्हीं के वचनों में विश्वास करो और उन को प्रीति वा अप्रीति से, श्री वा लज्जा से, भय अथवा प्रतिज्ञा से सदा दान देते रहो, तथा विद्यादान सदा करते जाओ। और जब तुम को किसी बात में संदेह हो तब पूर्ण विद्वान्, पक्षपातरहित, धर्मात्मा मनुष्यों से पूछ के शङ्कानिवारण सदा करते रहो। वे लोग जिस २ प्रकार से जिस २ धर्म काम में चलते होवें वैसे ही तुम भी चलो। यही आदेश अर्थात् अविद्या को हटा के उस के स्थान में विद्या का और अधर्म को हटा के धर्म का स्थापन करना है। इसी को उपदेश और शिक्षा भी कहते हैं। इसी प्रकार शुभ लक्षणों को ग्रहण करके एक परमेश्वर ही की सदा उपासना करो।

भाष्यम्

ऋतं तपः, सत्यं तपः, श्रुतं तपः, शान्तं तपो, दमस्तपः, शमस्तपो, दानं तपो, यज्ञस्तपो, भूर्भुवः सुवर्ब्रह्मैतदुपास्यैतत्तपः ॥ तैत्ति० आरण्य० प्रपा० १० । अनु० ८ ॥ इदानीं तपसो लक्षणमुच्यते ॥ [ऋतं] यत्तत्त्वं ब्रह्मण एवोपासनं, यथार्थज्ञानं च, (सत्यं०) सत्यकथनं, सत्यमाचरणं च, (श्रुतं०) सर्वविद्याश्रवणं, श्रावणं च, (शान्तं०) अधर्मात्पृथक्कृत्य मनसो धर्मे संस्थापनं मनःशान्तिः, (दमस्त०) इन्द्रियाणां धर्म एव प्रवर्त्तनमधर्मा-

न्निवर्त्तनं च, (शमस्त०) मनसोपि निग्रहश्चाधर्माद्धर्मे प्रवर्त्तनं च, (दानं त०) तथा सत्यवि[illegible]नां सदा करणम्, (यज्ञस्त०) पूर्वोक्तं यज्ञानुष्ठानं चैतत्सर्वं तपश्शब्देन गृह्यते मन्यध्वमिति । अन्यच्च । (भूर्भु०) हे मनुष्य ! सर्वलोकव्यापकं यद्ब्रह्मास्ति तदेव त्वमुपास्स्वेदमेव तपो मन्यध्वं नातो विपरीतमिति ।

भाषार्थ

(ऋतं तपः०) तप इस को कहते कि जो (ऋत) अर्थात् यथार्थ तत्त्व मानने, सत्य बोलने, (श्रुत) अर्थात् सब विद्याओं को सुनने, (शान्त) अर्थात् उत्तम कर्म करने और अच्छे स्वभाव के धारने में सदा प्रवृत्त रहो । तथा पूर्वोक्त दम, शम, दान, यज्ञ और प्रेम भक्ति से, तीनों लोक में व्यापक ब्रह्म की जो उपासना करना है उसको भी तप कहते हैं । ऋत आदि का अर्थ प्रथम कर दिया है ।

भाष्यम्

सत्यं परं परꣳसत्यꣳसत्येन न सुवर्गाल्लोकाच्च्यवन्ते कदाचन, सताꣳहि सत्यं, तस्मात्सत्ये रमन्ते । तप इति तपो नानशनात्परं, यद्धि परं तपस्तद्दुर्धर्षं, तद्दुराधर्षं, तस्मात्तपसि० । दम इति नियतं ब्रह्मचारिणस्तस्माद्दमे० । शम इत्यरण्ये मुनयस्तस्माच्छमे० । दानमिति सर्वाणि भूतानि प्रशꣳसन्ति, दानान्नातिदुष्करं, तस्माद्दाने० । धर्म इति धर्मेण सर्वमिदं परिगृहीतं, धर्मान्नातिदुश्चरं, तस्माद्धर्मे० । प्रजन इति भूयाꣳस,स्तस्माद्भूयिष्ठाः प्रजायन्ते, तस्माद्भूयिष्ठाः, प्रजनने० । अग्नय इत्याह, तस्मादग्नय आधातव्याः । अग्निहोत्रमित्याह, तस्मादग्निहोत्रे० । यज्ञ इति यज्ञेन हि देवा दिवंगतास्तस्माद्यज्ञे० । मानसमिति विद्वाꣳस,स्तस्माद्विद्वाꣳस एव मानसे रमन्ते । न्यास इति ब्रह्मा, ब्रह्मा हि परः, परो हि ब्रह्मा, तानि वा एतान्यवराणि तपाꣳसि, न्यास एवात्यरेचयत् । य एवं वेदेत्युपनिषत् । प्राजापत्यो हारुणिः सुपर्णेयः प्रजापतिं पितरमुपससार किं भगवन्तः परमं वदन्तीति । तस्मै प्रोवाच । सत्येन वायुरावाति, सत्येनादित्यो रोचते दिवि, सत्यं वाचः प्रतिष्ठा, सत्ये सर्वं

प्रतिष्ठितं, तस्मात्सत्यं परमं वदन्ति । तपसा देवा देवतामग्र आय,न्तपसर्षयः सुवरन्वविन्दन्, तपसा सपत्नान्प्रणुदामारातीस्तपसि सर्वं प्रतिष्ठितं, तस्मात्तपः प० । दमेन दान्ताः किल्बिषमवधून्वन्ति, दमेन ब्रह्मचारिणः सुवरगच्छन्, दमो भूतानां दुराधर्षं, दमे सर्वं प्रतिष्ठितं, तस्माद्दमं प० । शमेन शान्ताः शिवमाचरन्ति, शमेन नाकं मुनयोन्वविन्द,ञ्छमो भूतानां दुराधर्षं, शमे सर्वं प्रतिष्ठितं, तस्माच्छमं प० । दानं यज्ञानां वरूथं दक्षिणा, लोके दातारꣳ सर्वभूतान्युपजीवन्ति, दानेनारातीरपानुदन्त, दानेन द्विषन्तो मित्रा भवन्ति, दाने सर्वं प्रतिष्ठितं, तस्माद्दानं प० । धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा, लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति, धर्मेण पापमपनुदन्ति, धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितं, तस्माद्धर्मं प० । प्रजननं वै प्रतिष्ठा, लोके साधु प्रजायास्तन्तुं तन्वानः पितॄणामनृणो भवति, तदेव तस्य अनृणं, तस्मात्प्रजननं प० । अग्नयो वै त्रयीविद्या देवयानः पन्था, गार्हपत्य ऋक् पृथिवी रथन्तर,मन्वाहार्य्यपचनो यजुरन्तरिक्षं वामदेव्य,माहवनीयः साम सुवर्गोलोको बृहत्, तस्मादग्नीन्प० । अग्निहोत्रꣳसायं प्रातर्गृहाणां निष्कृतिः, स्विष्टꣳ, सुहुतं, यज्ञक्रतूनां प्रायणꣳ, सुवर्गस्य लोकस्य ज्योति,स्तस्मादग्निहोत्रं प० । यज्ञ इति यज्ञेन हि देवा दिवंगता, यज्ञेनासुरानपानुदन्त, यज्ञेन द्विषन्तो मित्रा भवन्ति, यज्ञे सर्वं प्रतिष्ठितं, तस्माद्यज्ञं प० । मानसं वै प्राजापत्यं, पवित्रं, मानसेन मनसा साधु पश्यति, मानसा ऋषयः प्रजा असृजन्त, मानसे सर्वं प्रतिष्ठितं, तस्मान्मानसं परमं वदन्ति ॥ तैत्ति० आरण्य० प्रपा० १० । अनु० ६२ । ६३ ॥ [अयमभि०]

(सत्यं प०) सत्यभाषणात्सत्याचरणाच्च परं धर्मलक्षणं किंचिन्नास्त्येव । कुतः । सत्येनैव नित्यं मोक्षसुखं संसारसुखं च प्राप्य पुनस्तस्मान्नैव कदापि च्युतिर्भवति । सत्पुरुषाणामपि सत्याचरणमेव लक्षणमस्ति तस्मात्कारणात्सर्वैर्मनुष्यैः सत्ये खलु रमणीयमिति । तपस्तु ऋतादिधर्मलक्षणानुष्ठानमेव ग्राह्यम् । एवं सम्यग्ब्रह्मचर्य्यसेवनेन विद्याग्रहणं ब्रह्म इत्युच्यते । एवमेव दानादिष्वर्थगतिः कार्य्या । विदुषो लक्षणं मानसो व्यापारः । एवमेव सत्येन ब्रह्मणा वायुरागच्छति । सत्येनादित्यः प्रकाशितो भवति । सत्येनैव मनुष्याणां प्रतिष्ठा जायते नान्यथेति । मानसा ऋषयः प्राणाः विज्ञानादयश्चेति ।

भाषार्थ

(सत्यं पर०) अब सत्य का स्वरूप दिखाया जाता है कि जिस का ऋत भी नाम है, सत्य भाषण और आचरण से उत्तम धर्म का लक्षण कोई भी नहीं है। क्योंकि सत्पुरुषा में भी सत्य ही सत्पुरुषपन है। सत्य से ही मनुष्यों को व्यवहार और मुक्ति का उत्तम सुख मिलता है। जिससे छूट के वे दुःख में कभी नहीं गिरते। इसलिये सब मनुष्यों को सत्य में ही रमण करना चाहिये। (तप इति०) जो अन्याय से किसी के पदार्थ को ग्रहण [न] करना, जिसका ऋत आदि लक्षण कह चुके हैं, जो अत्यन्त उत्तम और यद्यपि करने में कठिन भी है, तदपि बुद्धिमान् मनुष्य को करना सब सुगम है, इस से तप में नित्य ही निश्चित रहना ठीक है। (दम इति०) जितेन्द्रिय हो के जो विद्या का अभ्यास और धर्म का आचरण करना है उसमें मनुष्यों को नित्य प्रवृत्त होना चाहिये। (दानमिति०) दान की स्तुति सब लोग करते हैं और जिससे कठिन कर्म दूसरा कोई भी नहीं है, जिससे शत्रु भी मित्र हो जाते हैं, इस से दान करने का स्वभाव सब मनुष्यों को नित्य रखना चाहिये। (धर्म इति०) जो धर्मलक्षण प्रथम कह आये हैं, जो आगे कहेंगे, वे सब इसी धर्म के हैं। क्योंकि जो न्याय अर्थात् पक्षपात को छोड़ के सत्य का आचरण और असत्य का परित्याग करना है उसी को धर्म कहते हैं। यही धर्म का स्वरूप और सब से उत्तम धर्म है। सब मनुष्यों को इसी में सदा वर्त्तना चाहिये। (प्रजन इति०) जिससे मनुष्यों की बढ़ती होती है, जिस में बहुत मनुष्य रमण करते हैं, इससे जन्म को प्रजन कहते हैं। (अग्नय इत्याह०) तीनों वेद और अग्नि आदि पदार्थों से सब शिल्पविद्या सिद्ध करनी उचित है। (अग्निहोत्रं च०) अग्निहोत्र से लेके अश्वमेध पर्य्यन्त होम करके सब जगत् का उपकार करने में सदा यत्न करना चाहिये। (मानसमिति०) जो विचार करने वाले मनुष्य हैं वही विद्वान् होते हैं। इस से विद्वान् लोग विचार ही में सदा रमण करते हैं। क्योंकि मन के विज्ञान आदि गुण हैं वे ही ईश्वर और जीव की सृष्टि के हेतु हैं। इस से मन का बल और उसकी शुद्धि करना भी धर्म का उत्तम लक्षण है। (न्यास इति)

ब्रह्मा बन के, अर्थात् चारों वेद को जान के, संसारी व्यवहारों को छोड़ के, न्यास अर्थात् संन्यास आश्रम करके, जो सब मनुष्यों को सत्यधर्म और सत्यविद्या से लाभ पहुंचाना है, यह भी विद्वान् मनुष्यों को धर्म का लक्षण जान के करना उचित है। (सत्येन वा०) सत्य को उत्तम इसलिये कहते हैं कि सत्य जो ब्रह्म है उस से सब लोगों का प्रकाश और वायु आदि पदार्थों का रक्षण होता है। सत्य से ही सब व्यवहारों में प्रतिष्ठा और परब्रह्म को प्राप्त हो के मुक्ति का सुख भी मिलता है। तथा सत्पुरुषों में सत्याचरण ही सत्पुरुषपन है। (तपसा देवा०) पूर्वोक्त तप से ही विद्वान् लोग परमेश्वर देव को प्राप्त होके, सब काम क्रोध आदि शत्रुओं को जीत के, पापों से छूट के, धर्म ही में स्थिर रह सकते हैं, इस से तप को भी श्रेष्ठ कहते हैं। (दमेन०) दम से मनुष्य पापों से अलग होके और ब्रह्मचर्य्य आश्रम का सेवन कर के, विद्या को प्राप्त होता है, इसलिये धर्म का दम भी श्रेष्ठ लक्षण है। (शमेन०) शम का लक्षण यह है कि जिस से मनुष्य लोग कल्याण का ही आचरण करते हैं, इस से यह भी धर्म का लक्षण है। (दानेन०) दान से ही यज्ञ अर्थात् दाता के आश्रय से सब प्राणियों का जीवन होता है और दान से ही शत्रुओं को भी जीत कर अपना मित्र कर लेते हैं, इस से दान भी धर्म का लक्षण है। (धर्मोवि०) सब जगत् की प्रतिष्ठा धर्म ही है, धर्मात्मा का ही लोक में विश्वास होता है, धर्म से ही मनुष्य लोग पापों को छुड़ा देते हैं, जितने उत्तम काम हैं वे सब धर्म में ही लिये जाते हैं, इसलिये सब से उत्तम धर्म को ही जानना चाहिये। (प्रजननं०) जिस से मनुष्यों का जन्म और प्रजा में वृद्धि होती है और जो परम्परा से ज्ञानियों की सेवा से ऋण अर्थात् बदले का पूरा करना होता है, इस से प्रजन भी धर्म का हेतु है। क्योंकि जो मनुष्यों की उत्पत्ति भी नहीं हो तो धर्म को ही कौन करे। इस कारण से भी धर्म को ही प्रधान जानो। (अग्नयो वै०) अर्थात् जिस से तुम लोग साङ्गोपाङ्ग तीनों वेदों को पढ़ो, क्योंकि विद्वानों के ज्ञानमार्ग को प्राप्त होके पृथिवी आकाश और स्वर्ग इन तीनों प्रकार की विद्या सिद्ध होती हैं। इस से इन तीनों अग्नि अर्थात् वेदों को श्रेष्ठ कहते हैं। (अग्निहोत्रं०) प्रातःकाल में संध्या और वायु तथा वृष्टिजल को दुर्गन्ध से

छुड़ा के सुगन्धित करने से सब मनुष्यों को स्वर्ग अर्थात् सुख की प्राप्ति होती है। इसलिये अग्निहोत्र को भी धर्म का लक्षण कहते हैं। (यज्ञ इति) विद्या से ही विद्वान् लोग स्वर्ग अर्थात् सुख को प्राप्त होते और शत्रुओं को जीत के अपना मित्र कर लेते हैं। इस से विद्या और अध्वर्यु आदि यज्ञ को भी धर्म का लक्षण कहते हैं। (मानसं वै०) मन के शुद्ध होने से ही विद्वान् लोग प्रजापति अर्थात् परमेश्वर को जान के नित्य सुख को प्राप्त हो सकते हैं। पवित्र मन से सत्य ज्ञान होता है और उस में जो विज्ञान आदि ऋषि अर्थात् गुण हैं; उन से परमेश्वर और जीव लोग भी अपनी २ सब प्रजा को उत्पन्न करते हैं। अर्थात् परमेश्वर के विद्या आदि गुणों से मनुष्य की प्रजा उत्पन्न होती है। इस से मन को जो पवित्र और विद्यायुक्त करना है ये भी धर्म के उत्तम लक्षण और साधन हैं। इससे मन के पवित्र होने से सब धर्मकार्य सिद्ध होते हैं। ये सब धर्म के ही लक्षण हैं। इन में से कुछ तो पूर्व कह दिये और कुछ आगे भी कहेंगे।

भाष्यम्

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग् ज्ञानेन ब्रह्मचर्य्येण नित्यम्। अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥ १ ॥ सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः। येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम् ॥ २ ॥ मुण्डकोपनिषदि। मुं० ३। खं० १। मं० ५। ६ ॥ अनयोरर्थः। (सत्येन लभ्य०) सत्येन सत्यधर्माचरणेनैवात्मा परमेश्वरो लभ्यो नान्यथेत्यस्य मन्त्रः सुगमार्थः ॥ १ ॥ (सत्यमेव०) सत्यमाचरितमेव जयते, तेनैव मनुष्यः सदा विजयं प्राप्नोति। अनृतेनाधर्माचरणेन पराजयं च। तथा सत्यधर्मेणैव देवयानो, विदुषां यः सदानन्दप्रदो मोक्षमार्गोऽस्ति, सोऽपि सत्येनैव विस्तृतः प्रकाशितो भवति। येन च सत्यधर्मानुष्ठानप्रकाशितेन मार्गेणाप्तकामा ऋषयस्तत्राक्रमन्ति गच्छन्ति यत्र सत्यस्य धर्मस्य परमं निधानमधिकरणं ब्रह्म वर्त्तते, तत्प्राप्य नित्यानन्दमोक्षप्राप्ता भवन्ति नान्यथेति। अतएव सत्यधर्मानुष्ठानमधर्मत्यागश्च सर्वैः कर्त्तव्य इति।

(नयेन [illegible]

ठीक २ विज्ञान और ब्रह्मचर्य्य करते हैं इन्हीं शुभगुणों से सब का आत्मा परमेश्वर जाना जाता है। जिसको निर्दोष अर्थात् धर्मात्मा ज्ञानी संन्यासी लोग देखते हैं। सो सब के आत्माओं का भी आत्मा, प्रकाशस्वरूप और सब दिन शुद्ध है। उसी की आज्ञा पालन करना सब मनुष्यों को चाहिये ॥ १ ॥ (सत्यमेव जय०) जो सत्य का आचरण करनेवाला है वही मनुष्य सदा विजय और सुख को प्राप्त होता है और जो मिथ्या आचरण अर्थात् झूठे कामों का करने वाला है वह सदा पराजय और दुःख ही को प्राप्त होता है। विद्वानों का जो मार्ग है सो भी सत्य के आचरण से ही खुल जाता है, जिस मार्ग से आप्तकाम, धर्मात्मा विद्वान् लोग चल के सत्य सुख को प्राप्त होते हैं, जहां ब्रह्म ही का सत्यस्वरूप सुख सदा प्रकाशित होता है, सत्य से ही उस सुख को वे प्राप्त होते हैं, असत्य से कभी नहीं। इससे सत्यधर्म का आचरण और असत्य का त्याग करना सब मनुष्यों को उचित है ॥ २ ॥

भाष्यम्

अन्यच्च। चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः ॥१॥ पू० मी० अ० १। पा० १। सू० २ ॥ यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः ॥ २ ॥ वैशेषिके। अ० १। पा० १। सू० २ ॥ अनयोरर्थः (चोदना०) वेदद्वारा या सत्यधर्माचरणस्य प्रेरणास्ति तयव सत्यधर्मो लक्ष्यते। योऽनर्थादधर्माचरणाद्बहिरस्त्यतो धर्माख्यां लब्ध्वाऽर्थो भवति। यस्येश्वरेण निषेधः क्रियते सोऽनर्थरूपत्वादधर्म्मोऽयमिति ज्ञात्वा सर्वैर्मनुष्यैस्त्याज्य इति ॥ १ ॥ (यतोभ्यु०) यस्याचरणादभ्युदयः सांसारिकमिष्टसुखं सम्यक् प्राप्तं भवति, येन च निःश्रेयसं पारमार्थिकं मोक्षसुखं च, स एव धर्मो विज्ञेयः। अतो विपरीतो ह्यधर्मश्च। इदमपि वेदानामेव व्याख्यानमस्ति। इत्यनेकमन्त्रप्रमाणसाक्ष्यादिधर्मोपदेशो वेदेष्वीश्वरेण सर्वमनुष्यार्थमुपदिष्टोऽस्ति। एक एवायं सर्वेषां धर्मोस्ति नैव चास्माद्द्वितीयोस्तीति वेदितव्यम् ॥ २ ॥

इति वेदोक्तधर्मविषयः संक्षेपतः समाप्तः

भाषार्थ

(चोदना०) ईश्वर ने वेदों में मनुष्यों के लिये जिसके करने की आज्ञा दी है वही धर्म और जिसके करने की प्रेरणा नहीं की है वह अधर्म कहाता है। परन्तु वह धर्म अर्थयुक्त अर्थात् अधर्म का आचरण जो अनर्थ है उससे अलग होता है। इससे धर्म का ही जो आचरण करना है वही मनुष्यों में मनुष्यपन है ॥ १ ॥ (यतोऽभ्यु०) जिसके आचरण करने से संसार में उत्तम सुख और निःश्रेयस अर्थात् मोक्षसुख की प्राप्ति होती है उसी का नाम धर्म है। यह भी वेदों की व्याख्या है। इत्यादि अनेक वेदमन्त्रों के प्रमाणों और ऋषि मुनियों की साक्षियों से यह धर्म का उपदेश किया है कि सब मनुष्यों को इसी धर्म के काम करना उचित है। इससे विदित हुआ कि सब मनुष्यों के लिये धर्म और अधर्म एक ही हैं, दो नहीं। जो कोई इस में भेद करे तो उस को अज्ञानी और मिथ्यावादी ही समझना चाहिये।

इति वेदोक्तधर्मविषयः संक्षेपतः

अथ सृष्टिविद्याविषयः संक्षेपतः

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमाऽपरो यत्। किमावरीवः कुहकस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम् ॥ १ ॥ न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न राज्या अह्न आसीत्प्रकेतः। आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास ॥ २ ॥ तम आसीत्तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्। तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिना जायतैकम् ॥ ३ ॥ कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्। सतो बन्धुमसति निरविन्दन्हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥ ४ ॥ तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासी३दुपरि स्विदासी३त्। रेतोधा आसन्महिमान आसन्त्स्वधा अवस्तात्प्रयतिः परस्तात्

॥ ५ ॥ को अ॒द्धा वे॑द॒ क इ॒ह प्र वो॑च॒त्कुत॒ आजा॑ता कुत॑ इ॒यं वि॒सृ॑ष्टिः । अ॒र्वाग्दे॒वा अ॒स्य वि॒सर्ज॑ने॒नाथा॒ को वे॑द॒ यत॑ आ॒ब॒भूव॑ ॥ ६ ॥ इ॒यं विसृ॑ष्टि॒र्यत॑ आब॒भूव॒ यदि॑ वा द॒धे यदि॑ वा॒ न । यो अ॒स्याध्य॑क्षः पर॒मे व्यो॑म॒न्त्सो अ॒ङ्ग वे॑द॒ यदि॑ वा॒ न वेद॑ ॥ ७ ॥ ऋ० अ० ८ । अ० ७ । व० १७ ।

भाष्यम्

एतेषामभिप्रायार्थः । यदिदं सकलं जगद्दृश्यते, तत् परमेश्वरेणैव सम्यग्रचयित्वा, संरक्ष्य, प्रलयावसरे वियोज्य च, विनाश्यते, पुनः पुनरेवमेव सदा क्रियत इति । (नासदासी०) यदा कार्यं जगन्नोत्पन्नमासीत्तदाऽसत्,सृष्टेः प्राक् शून्यमाकाशमपि नासीत् । कुतः । तद्व्यवहारस्य वर्त्तमानाभावात् । (नो सदासीत्तदानीं०) तस्मिन्काले सत्, प्रकृत्यात्मकमव्यक्तं, सत्संज्ञकं यज्जगत्कारणं, तदपि नो आसीन्नावर्त्तत । (नासीद्र०) परमाणवोऽपि नासन् । (नो व्योमापरो यत्) व्योमाकाशमपरं यस्मिन् विराडाख्ये सोपि नो आसीत् , किन्तु परब्रह्मणः सामर्थ्याख्यमतीव सूक्ष्मं सर्वस्यास्य परमकारणसंज्ञकमेव तदानीं समवर्त्तत । (किमावरीवः०) यत्प्रातः कुहकस्य वर्षाकाले धूमाकारेण वृष्टं किञ्चिज्जलं वर्त्तमानं भवति । यथा नैतज्जलेन पृथिव्यावरणं भवति, नदीप्रवाहादिकं च चलति । अत एवोक्तं तज्जलं गहनं गभीरं किं भवति ? । नेत्याह । किं, त्वावरीवः । आवरकमाच्छादकं भवति नैव कदाचित्, तस्यातीवाल्पत्वात् । तथैव सर्वं जगत् तत्सामर्थ्यादुत्पद्यास्ति तच्छर्मणि शुद्धे ब्रह्मणि । किं गहनं गभीरमधिकं भवति ? । नेत्याह । अतस्तद्ब्रह्मणः कदाचिन्नैवावरकं भवति । कुतः । जगतः किञ्चिन्मात्रत्वाद्ब्रह्मणोऽनन्तत्वाच्च ॥ १ ॥ न मृत्युरासीदित्यादिकं सर्वं सुगमार्थमेषामर्थं भाष्ये वक्ष्यामि । (इयं विसृष्टिः) यतः परमेश्वरादियं प्रत्यक्षा विसृष्टिर्विविधा सृष्टिराबभूवोत्पन्नासीदस्ति तां स एव दध धारयति रचयति, यदि वा विनाशयति, यदि वा न रचयति । योऽस्य सर्वस्याध्यक्षः स्वामी, (परमे व्योमन्) तस्मिन्परमाकाशात्मनि परमे प्रकृष्टे

व्योमवद्व्यापके परमेश्वर एवेदानीमपि सर्वा सृष्टिर्वर्त्तते । प्रलयावसरे सर्वस्यादिकारणे परब्रह्मसामर्थ्ये प्रलीना च भवति ।(सोध्यक्षः) स सर्वाध्यक्षः परमेश्वरोऽस्ति । (अङ्गवेद) हे अंग ! मित्र जीव ! तं यो वेद स विद्वान् परमानन्दमाप्नोति । यदि तं सर्वेषां मनुष्याणां परमिष्टं सच्चिदानन्दादिलक्षणं नित्यं कश्चिन्नैव वेद, वा निश्चयार्थे, स परमं सुखमपि नाप्नोति ॥ ७ ॥

भाषार्थ

(नासदासीत्) जब यह कार्य सृष्टि उत्पन्न नहीं हुई थी तब एक सर्वशक्तिमान् परमेश्वर और दूसरा जगत् का कारण अर्थात् जगत् बनाने की सामग्री विराजमान थी । उस समय (असत्) शून्य नाम आकाश अर्थात् जो नेत्रों से देखने में नहीं आता सो भी नहीं था, क्योंकि उस समय उसका व्यवहार नहीं था । (नोसदासीत्तदानीं०) उस काल में (सत्) अर्थात् सतोगुण रजोगुण और तमोगुण मिला के जो प्रधान कहाता है वह भी नहीं था । (नासीद्रजः) उस समय परमाणु भी नहीं थे । तथा (नो व्यो०) विराट् अर्थात् जो सब स्थूल जगत् के निवास का स्थान है सो भी नहीं था । (किमा०) जो यह वर्त्तमान जगत् है वह भी अनन्त शुद्ध ब्रह्म को नहीं ढाक सकता और उससे अधिक वा अथाह भी नहीं हो सकता । जैसे कोहरा का जल पृथिवी को नहीं ढाक सकता है, उस जल से नदी में प्रवाह भी नहीं चल सकता और न वह कभी गहरा वा उथला हो सकता है । इससे क्या जाना जाता है कि परमेश्वर अनन्त है और जो यह उसका बनाया जगत् है सो ईश्वर की अपेक्षा से कुछ भी नहीं है ॥१॥ (न मृत्यु०) जब जगत् नहीं था तब मृत्यु भी नहीं था, क्योंकि जब स्थूल जगत् संयोग से उत्पन्न होके वर्त्तमान हो पुनः उस का और शरीर आदि का वियोग हो तब मृत्यु कहावे, सो शरीर आदि पदार्थ उत्पन्न ही नहीं हुए थे । (न मृत्यु०) इत्यादि पांच मन्त्र सुगमार्थ हैं, इसीलिये इनकी व्याख्या भी यहां नहीं करते, किन्तु वेदभाष्य में करेंगे । (इयं विसृष्टिः०) जिस परमेश्वर के रचने से जो यह नाना प्रकार का जगत् उत्पन्न हुआ है, वह ही इस जगत् को धारण करता नाश करता और मालिक भी है । हे मित्र लोगो ! जो मनुष्य उस

परमेश्वर को अपनी बुद्धि से जानता है वही परमेश्वर को प्राप्त होता है और जो उसको नहीं जानता वही दुःख में पड़ता है। जो आकाश के समान व्यापक है, उसी ईश्वर में सब जगत् निवास करता है और जब प्रलय होता है तब भी सब जगत् कारणरूप होके ईश्वर के सामर्थ्य में रहता है और फिर भी उसी से उत्पन्न होता है ॥ ७ ॥

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्। स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ १ ॥ ऋ० अ० ८। अ० ७। व० ३। मं० १ ॥

भाष्यम्

(हिरण्यगर्भः०) अग्रे सृष्टेः प्राग्घिरण्यगर्भः परमेश्वरो जातस्यास्योत्पन्नस्य जगत एकोऽद्वितीयः पतिरेव समवर्त्तत। स पृथिवीमारभ्य द्युपर्य्यन्तं सकलं जगद्रचयित्वा (दाधार) धारितवानस्ति। तस्मै सुखस्वरूपाय देवाय हविषा वयं विधेमेति ॥ १ ॥

भाषार्थ

(हिरण्यगर्भः०) हिरण्यगर्भ जो परमेश्वर है वही एक सृष्टि के पहिले वर्त्तमान था। जो इस सब जगत् का स्वामी है और वही पृथिवी से लेके सूर्य-पर्य्यन्त सब जगत् को रच के धारण कर रहा है। इसलिये उसी सुखस्वरूप परमेश्वर देव की ही हम लोग उपासना करें, अन्य की नहीं ॥ १ ॥

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्। स भूमिꣳ सर्वतः स्पृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥ १ ॥ य० अ० ३१। मं० १ ॥

भाष्यम्

(सहस्रशीर्षा०) अत्र मन्त्रे, पुरुष इति पदं विशेष्यमस्ति, सहस्रशीर्षेत्यादीनि विशेषणानि च। अत्र पुरुषशब्दार्थे प्रमाणानि। पुरुषं पुरिशय

इत्याचक्षीरन् । नि० अ० १ । खं० १३ ॥ (पुरि०) पुरि संसारे, शेते सर्वमभिव्याप्य वर्त्तते, स पुरुषः परमेश्वरः ॥ पुरुषः पुरिषादः, पुरिशयः, पूरयतेर्वा, पूरयत्यन्तरित्यन्तरपुरुषमभिप्रेत्य । यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोस्ति किंचित् । वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरिषेण* सर्वमित्यपि निगमो भवति । नि० अ० २ । खं० ३ ॥ (पुरुषः०) पुरि सर्वस्मिन्संसारेऽभिव्याप्य सीदति वर्त्तत इति, (पूरयतेर्वा) यः स्वयं परमेश्वर इदं सर्वं जगत् स्वस्वरूपेण पूरयति व्याप्नोति तस्मात्स पुरुषः, (अन्तरिति०) यो जीवस्याप्यन्तर्मध्येऽभिव्याप्य पूरयति तिष्ठति स पुरुषः । तमन्तरपुरुषमन्तर्यामिनं परमेश्वरमाभिप्रेत्येयमृक् प्रवृत्तास्ति (यस्मात्परं०) । यस्मात्पूर्णात्परमेश्वरात्पुरुषाख्यात्परं प्रकृष्टमुत्तमं किंचिदपि वस्तु नास्त्येव, पूर्वं वा, (नापरमस्ति) यस्मादपरमर्वाचीनं, तत्तुल्यमुत्तमं वा, किंचिदपि वस्तु नास्त्येव, तथा यस्मादणीयः सूक्ष्मं, ज्यायः स्थूलं महद्वा, किंचिदपि द्रव्यं न भूतं, न भवति, नैव च भविष्यतीत्यवधेयम् । यः स्तब्धो निष्कम्पः सर्वस्यास्थिरतां कुर्वन्सन् स्थिरोस्ति । क इव ? (वृक्ष इव) यथा वृक्षः शाखापत्रपुष्पफलादिकं धारयन् तिष्ठति, तथैव पृथिवीसूर्यादिकं सर्वं जगद्धारयन्परमेश्वरोभिव्याप्य स्थितोस्तीति । यश्चैकोऽद्वितीयोस्ति, नास्य कश्चित्सजातीयो, विजातीयो वा द्वितीय ईश्वरोस्तीति । तेन पुरिषेण पुरुषेण परमात्मना यत इदं सर्वं जगत् पूर्णं कृतमस्ति, तस्मात्पुरुषः परमेश्वर एवोच्यते । इत्ययं मन्त्रो निगमो, निगमनं, परं प्रमाणं भवतीति वेदितव्यम् । सर्वं वै सहस्रꣳ सर्वस्य दाताऽसीत्यादि० । श० कां० ७ । अ० ५ ॥ (सर्वं०) सर्वमिदं जगत्सहस्रनामकमस्तीति विज्ञेयम् । (सहस्रशी०) सहस्राण्यसंख्यातान्यस्मदादीनां शिरांसि यस्मिन्पूर्णे पुरुषे परमात्मनि, स सहस्रशीर्षा पुरुषः । (सहस्राक्षः स०) अस्मदादीनां सहस्राण्यक्षीण्यस्मिन्, एवमेव सहस्राण्यसंख्याताः पादाश्च यस्मिन्वर्त्तन्ते, स सहस्राक्षः सहस्रपाच्च । (स भूमिꣳ सर्वतःस्पृत्वा) स पुरुषः परमेश्वरः सर्वतः सर्वेभ्यो बाह्यान्तर्देशेभ्यो, (भूमिमिति) भूतानामुपलक्षणं, भूमिमारभ्य प्रकृतिपर्यन्तं सर्वं जगत्स्पृत्वाभिव्याप्य

* पुरुषेणेति निरुक्ते (श्रीवेङ्कटेश्वरयन्त्रालयप्रकाशिते) पाठः ।

वर्त्तते, (अत्य०) दशाङ्गुलमिति ब्रह्माण्डहृदययोरुपलक्षणम् । अङ्गुलमित्यवयवोपलक्षणेन मितस्य जगतोऽत्र ग्रहणं भवति । पञ्च स्थूलभूतानि, पञ्च सूक्ष्माणि चैतदुभयं मिलित्वा दशावयवाख्यं सकलं जगदस्ति । अन्यच्च । पञ्च प्राणाः, सेन्द्रियं चतुष्टयमन्तःकरणं, दशमो जीवश्च । एवमेवान्यदपि जीवस्य हृदयं दशाङ्गुलपरिमितं च तृतीयं गृह्यते । एतत्त्रयं स्पृत्वा व्याप्यात्यतिष्ठत् । एतस्मात्त्रयाद्बहिरपि व्याप्तः सन्नवस्थितः । अर्थाद्बहिरन्तश्च पूर्णो भूत्वा परमेश्वरोऽवतिष्ठत इति वेद्यम् ।

भाषार्थ

(सहस्रशी०) इस मन्त्र में पुरुष शब्द विशेष्य और अन्य सब पद उस के विशेषण हैं । पुरुष उसको कहते हैं कि जो इस सब जगत् में पूर्ण होरहा है, अर्थात् जिसने अपनी व्यापकता से इस जगत् को पूर्ण कर रक्खा है । पुर कहते हैं ब्रह्माण्ड और शरीर को । उसमें जो सर्वत्र व्याप्त और जो जीव के भीतर भी व्यापक अर्थात् अन्तर्यामी है । इस अर्थ में निरुक्त आदि का प्रमाण संस्कृत भाष्य में लिखा है, सो देख लेना । सहस्र नाम है संपूर्ण जगत् का और असंख्यात का भी नाम है । सो जिस के बीच में सब जगत् के असंख्यात शिर, आंख और पग ठहर रहे हैं, उस को सहस्रशीर्षा, सहस्राक्ष और सहस्रपात् भी कहते हैं । क्योंकि वह अनन्त है । जैसे आकाश के बीच में सब पदार्थ रहते और आकाश सब से अलग रहता है अर्थात् किसी के साथ बंधता नहीं है, इसी प्रकार परमेश्वर को भी जानो । (स भूमिꣳ सर्वतः स्पृत्वा) सो पुरुष सब जगह से पूर्ण होके पृथिवी को तथा सब लोकों को धारण कर रहा है । (अत्यतिष्ठद०) दशाङ्गुलशब्द ब्रह्माण्ड और हृदय का वाची है । अङ्गुलि शब्द अङ्ग का, अवयववाची है । पांच स्थूल भूत और पांच सूक्ष्म ये दोनों मिल के जगत् के दश अवयव होते हैं । तथा पांच प्राण, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार ये चार और दशमां जीव और शरीर में जो हृदय देश है सो भी दश अङ्गुल के प्रमाण से लिया जाता है । जो इन तीनों में व्यापक हो के इन के चारों ओर भी परिपूर्ण होरहा है, इससे वह पुरुष कहाता है । क्योंकि जो उस दशाङ्गुल स्थान

का भी उल्लङ्घन करके सर्वत्र स्थिर है वही सब जगत् का बनानेवाला है ॥१॥

पुरुष एवेदꣳ सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम् । उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥ २ ॥

भाष्यम्

(पुरुष एवे०) एतद्विशेषणयुक्तः पुरुषः परमेश्वरः (यद्भूतं०) यज्जगदुत्पन्नमभूत्, यद्भाव्यमुत्पत्स्यमानं, चकाराद्वर्त्तमानं च, तत्त्रिकालस्थं सर्वं विश्वं पुरुष एव कृतवानास्ति, नान्यः । नैवातो हि परः कश्चिज्जगद्रचयितास्तीति निश्चेतव्यम् । उतापि स एवेशान ईषणशीलः, सर्वस्येश्वरोऽमृतत्वस्य मोक्षभावस्य स्वामी दातास्ति । नैवैतद्दाने कस्याप्यन्यस्य सामर्थ्यमस्तीति । पुरुषो यद्यस्मादन्नेन पृथिव्यादिना जगता सहातिरोहति व्यतिरिक्तः सन् जन्मादिरहितोऽस्ति । तस्मात्स्वयमजः सन् सर्वं जनयति, स्वसामर्थ्यादिकारणात्कार्यं जगदुत्पादयति । नास्यादिकारणं किञ्चिदस्ति । किञ्च, सर्वस्यादिनिमित्तकारणं पुरुष एवास्तीति वेद्यम् ॥ २ ॥

भाषार्थ

(पुरुष एवे०) जो पूर्वोक्त विशेषण सहित पुरुष अर्थात् परमेश्वर है, सो जो जगत् उत्पन्न हुआ था, जो होगा और जो इस समय में है, इस तीन प्रकार के जगत् को वही रचता है । उससे भिन्न दूसरा कोई जगत् का रचनेवाला नहीं है । क्योंकि वह (ईशान) अर्थात् सर्वशक्तिमान् है । (अमृत०) जो मोक्ष है उस का देने वाला एक वही है, दूसरा कोई नहीं । सो परमेश्वर (अन्न०) अर्थात् पृथिव्यादि जगत् के साथ व्यापक होके स्थित है और इस से अलग भी है । क्योंकि उस में जन्म आदि व्यवहार नहीं हैं और अपनी सामर्थ्य से सब जगत् को उत्पन्न भी करता है और आप कभी जन्म नहीं लेता ॥ २ ॥

एतावानस्य महिमातो ज्यायाँश्च पूरुषः । पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥ ३ ॥

भाष्यम्

(एतावानस्य०) अस्य पुरुषस्य भूतभविष्यद्वर्त्तमानस्थो यावान् संसारोस्ति तावान् महिमा वेदितव्यः । एतावानस्य महिमास्ति चेत्तर्हि तस्य महिम्नः परिच्छेद इयत्ता जातेति गम्यते ? । अत्र ब्रूते (अतो ज्यायांश्च पूरुषः) नैतावन्मात्र एव महिमेति । किं तर्हि । अतोऽप्यधिकतमो महिमानन्तस्तस्यास्तीति गम्यते । अत्राह (पादोऽस्य०) अस्यानन्तसामर्थ्यस्येश्वरस्य (विश्वा) विश्वानि प्रकृत्यादिपृथिवीपर्य्यन्तानि सर्वाणि भूतान्येकः पादोस्ति, एकस्मिन्देशांशे सर्वं विश्वं वर्त्तते । (त्रिपादस्या०) अस्य दिवि द्योतनात्मके स्वस्वरूपेऽमृतं मोक्षसुखमस्ति । तथाऽस्य दिवि द्योतके संसारे त्रिपाज्जगदस्ति । प्रकाश्यमानं जगदेकगुणमस्ति, प्रकाशकं च तस्मात्त्रिगुणमिति । स्वयं च मोक्षस्वरूपः, सर्वाधिष्ठाता, सर्वोपास्यः, सर्वानन्दः, सर्वप्रकाशकोस्ति ॥ ३ ॥

भाषार्थ

(एतावानस्य०) तीनों काल में जितना संसार है सो सब इस पुरुष का ही महिमा है । प्र०—जब उस के महिमा का परिमाण है तो अन्त भी होगा ? उ०—(अतो ज्यायांश्च पूरुषः) उस पुरुष का अनन्त महिमा है, क्योंकि (पादोऽस्य विश्वाभूतानि) जो यह सम्पूर्ण जगत् प्रकाशित हो रहा है सो इस पुरुष के एक देश में वसता है । (त्रिपादस्यामृतं दिवि) और जो प्रकाश गुणवाला जगत् है सो उस से तिगुना है । तथा मोक्षसुख भी उसी ज्ञानस्वरूप प्रकाश में है और वह पुरुष सब प्रकाश का भी प्रकाश करने वाला है ॥ ३ ॥

त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः । ततो विष्वङ् व्यक्रामत्साशनानशने अभि ॥ ४ ॥

भाष्यम्

(त्रिपादू०) अयं पुरुषः परमेश्वरः पूर्वोक्तस्य त्रिपादोपलक्षितस्य सकाशादूर्ध्वमुपरिभागेऽर्थात्पृथग्भूतोऽस्त्येवेत्यर्थः । एकपादोपलक्षितं यत्पूर्वोक्तं ज-

गदस्ति तस्मादपीहास्मिन्संसारे स पुरुषः पृथगभवत्, व्यतिरिक्त एवास्ति। स च त्रिपात्संसार एकपाच्च मिलित्वा सर्वश्चतुष्पाद्भवति। अयं सर्वः संसार इहास्मिन्परमात्मन्येव वर्त्तते, पुनर्लयसमये तत्सामर्थ्यकारणे प्रलीनश्च भवति। तत्रापि स पुरुषोऽविद्यान्धकाराज्ञानजन्ममरणज्वरादिदुःखादूर्ध्वः परः (उदैत्) उदितः प्रकाशितो वर्त्तते, (ततो वि०) ततस्तत्सामर्थ्यात् सर्वमिदं विश्वमुत्पद्यते। किञ्च तत्। (साशनानशने०) यदेकमशनेन भोजनकरणेन सह वर्त्तमानं जङ्गमं जीवचेतनादिसहितं जगत्, द्वितीयमनशनमविद्यमानमशनं भोजनं यस्मिंस्तत्पृथिव्यादिकं च यज्जड़ं जीवसम्बन्धरहितं जगद्वर्त्तते, तदुभयं, तस्मात्पुरुषस्य सामर्थ्यकारणादेव जायते। यतः स पुरुष एतद्द्विविधं जगत् विविधतया सुष्ठुरीत्या सर्वात्मतयाऽञ्चति, तस्मात् सर्वं द्विविधं जगदुत्पाद्य (अभिव्यक्रामत्) सर्वतो व्याप्तवानस्ति॥ ४॥

भाषार्थ

(त्रिपादूर्ध्व उदैत्पु०) पुरुष जो परमेश्वर है सो: पूर्वोक्त त्रिपाद् जगत् से ऊपर भी व्यापक हो रहा है। तथा सदा प्रकाशस्वरूप, सब में भीतर व्यापक और सब से अलग भी है। (पादोस्येहाभवत्पुनः०) इस पुरुष की अपेक्षा से यह सब जगत् किञ्चित् मात्र देश में है और जो इस संसार के चार पाद होते हैं वे सब परमेश्वर के बीच में ही रहते हैं। इस स्थूल जगत् का जन्म और विनाश सदा होता रहता है और पुरुष तो जन्म विनाश आदि धर्म से अलग और सदा प्रकाशमान है। (ततो विष्वङ् व्यक्रामत्) अर्थात् यह नाना प्रकार का जगत् उसी पुरुष के सामर्थ्य से उत्पन्न हुआ है। (साशनान०) सो दो प्रकार का है, एक चेतन जो कि भोजनादि के लिये चेष्टा करता और जीव संयुक्त है और दूसरा अनशन अर्थात् जो जड़ और भोजन के लिये बना है। क्योंकि उस में ज्ञान ही नहीं है और अपने आप चेष्टा भी नहीं कर सकता। परन्तु उस पुरुष का अनन्त सामर्थ्य ही इस जगत् के बनाने की सामग्री है कि जिससे यह सब जगत् उत्पन्न होता है। सो पुरुष सर्वहितकारक होके उस दो प्रकार के जगत् को अनेक प्रकार से आनन्दित करता है। वह पुरुष इस का बनानेवाला, संसार में सर्वत्र

व्यापक होके, धारण करके, देख रहा और वही सब जगत् का सब प्रकार से आकर्षण कर रहा है ॥ ४ ॥

ततो॑ वि॒राड॑जायत वि॒राजो॒ अधि॒ पूरु॑षः । स जा॒तो अत्य॑रिच्यत प॒श्चाद्भूमि॒मथो॑ पु॒रः ॥ ५ ॥

भाष्यम्

(ततो विराडजायत) ततस्तस्माद् ब्रह्माण्डशरीरः, सूर्यचन्द्रनेत्रो, वायुप्राणः, पृथिवीपाद इत्याद्यलङ्कारलक्षणलक्षितो,हि, सर्वशरीराणां समष्टिदेहो, विविधैः पदार्थै राजमानः सन्, विराट्, अजायतोत्पन्नोस्ति। (विराजो अधिपूरुषः) तस्माद्विराजोऽधि उपरि पश्चाद् ब्रह्माण्डतत्त्वावयवैः पुरुषः सर्वप्राणिनां जीवाधिकरणो देहः, पृथक् २ अजायतोत्पन्नोभूत् । (स जातो अ०) स देहो ब्रह्माण्डावयवैरेव वर्धते, नष्टः संस्तस्मिन्नेव प्रलीयत इति, परमेश्वरस्तु सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽत्यरिच्यतातिरिक्तः पृथग्भूतोस्ति । (पश्चाद्भूमिमथो पुरः) पुरः पूर्वं भूमिमुत्पाद्य धारितवांस्ततः पुरुषस्य सामर्थ्यात्स जीवोपि देहं धारितवानस्ति । स च पुरुषः परमात्मा ततस्तस्माज्जीवादप्यत्यरिच्यत पृथग्भूतोस्ति ॥ ५ ॥

भाषार्थ

(ततो विराडजायत) विराट् जिस का ब्रह्माण्ड के अलङ्कार से वर्णन किया है. जो उसी पुरुष के सामर्थ्य से उत्पन्न हुआ है, जिस को मूलप्रकृति कहते हैं, जिस का शरीर ब्रह्माण्ड के समतुल्य, जिस के सूर्य्य चन्द्रमा नेत्रस्थानी है, वायु जिस का प्राण और पृथिवी जिस का पग है, इत्यादि लक्षण वाला जो यह आकाश है सो विराट् कहाता है । वह प्रथम कलारूप परमेश्वर के सामर्थ्य से उत्पन्न होके प्रकाशमान होरहा है । (विराजो अधि०) उस विराट् के तत्त्वों के पूर्वभागों से सब अप्राणी और प्राणियों का देह पृथक् २ उत्पन्न हुआ है । जिस में सब जीव वास करते हैं और जो देह उसी पृथिवी आदि के

अवयव अन्न आदि ओषधियों से वृद्धि को प्राप्त होता है, (स जातो अत्यरिच्यत) सो विराट् परमेश्वर से अलग और परमेश्वर भी इस संसाररूप देह से सदा अलग रहता है । (पश्चाद्भूमिमथो पुरः) फिर भूमि आदि जगत् को प्रथम उत्पन्न करके पश्चात् जो धारण कर रहा है ॥ ५ ॥

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः संभृतं पृषदाज्यम् । पशूँस्ताँश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये ॥ ६ ॥

भाष्यम्

(तस्माद्य०) अस्यार्थो वेदोत्पत्तिप्रकरणे कश्चिदुक्तः । तस्मात्परमेश्वरात् (संभृतं पृषदाज्यम्) पृषु सेचने धातुः, पर्षन्ति सिञ्चन्ति क्षुन्निवृत्त्यादिकारकमन्नादि वस्तु यस्मिंस्तत्पृषत् । आज्यं घृतं मधु दुग्धादिकं च । पृषदिति भक्ष्यान्नोपलक्षणम् * । आज्यमिति व्यञ्जनोपलक्षणम् । यावद्वस्तु जगति वर्त्तते तावत्सर्वं पुरुषात्परमेश्वरसामर्थ्यादेव जातमिति बोध्यम् । तत्सर्वमीश्वरेण स्वल्पं स्वल्पं जीवेश्च सम्यग्धारितमास्ति । अतः सर्वैरनन्यचित्तेनायं परमेश्वर एवोपास्यो नान्यश्चेति । (पशूंस्तांश्चक्रे०) य आरण्या वनस्थाः पशवो, ये च ग्राम्या ग्रामस्थास्तान्सर्वान् स एव चक्रे कृतवानस्ति । स च परमेश्वरो वायव्यान् वायुसहचरितान् पक्षिणश्चक्रे, चकारादन्यान्सूक्ष्मदेहधारिणः कीटपतङ्गादीनपि कृतवानस्ति ॥ ६ ॥

भाषार्थ

(तस्माद्यज्ञात्स०) इस मन्त्र का अर्थ वेदोत्पत्तिप्रकरण में कुछ कर दिया है । पूर्वोक्त पुरुष से ही (संभृतं पृषदाज्यम्) सब भोजन, वस्त्र, अन्न, जल आदि पदार्थों को सब मनुष्य लोगों ने धारण अर्थात् प्राप्त किया है, क्योंकि उसी के सामर्थ्य से ये सब पदार्थ उत्पन्न हुए और उन्हीं से सब का जीवन भी होता है । इस से सब मनुष्य लोगों को उचित है कि उस को छोड़ के किसी दूसरे

* पृषदिति क्वचिदन्त्येष्टिसामग्र्या अपि नामास्ति ।

की उपासना न करें। (पशूंस्तांश्चक्रे०) ग्राम और वन के सब पशुओं को भी उसी ने उत्पन्न किया है, तथा सब पक्षियों को भी बनाना है और भी सूक्ष्म-देहधारी कीट, पतङ्ग आदि सब जीवों के देह भी उसी ने उत्पन्न किये हैं॥ ६॥

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥ ७॥

भाष्यम्

अस्यार्थ उक्तो वेदोत्पत्तिप्रकरणे॥ ७॥

भाषार्थ

(तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः) इस मन्त्र का अर्थ वेदोत्पत्ति विषय में कर दिया है॥ ७॥

तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः। गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः॥ ८॥

भाष्यम्

(तस्मादश्वा०) तस्मात्परमेश्वरसामर्थ्यादेवाश्वास्तुरङ्गा अजायन्त। ग्राम्यारण्यपशूनां मध्येऽश्वादीनामन्तर्भावादेषामुत्तमगुणवत्त्वप्रकाशनार्थोऽयमारम्भः, (ये केचोभयादतः) उभयतो दन्ता येषां त उभयादतो, ये केचिदुभयादत उष्ट्रगर्दभादयस्तेऽप्यजायन्त। (गावो ह ज०) तथा तस्मात्पुरुषसामर्थ्यादेव गावो धेनवः किरणाश्चेन्द्रियाणि च जज्ञिरे जातानि। (तस्माज्जाता अजा०)एवमेव चाजाश्छागा अवयश्च जाता उत्पन्ना इति विज्ञेयम्॥८॥

भाषार्थ

(तस्मादश्वा अजायन्त) उसी पुरुष के सामर्थ्य से अश्व अर्थात् घोड़े और बिजुली आदि सब पदार्थ उत्पन्न हुए हैं। (ये केचोभयादतः) जिनके मुख

में दोनों ओर दांत होते हैं उन पशुओं को 'उभयादत' कहते हैं। वे ऊंट गधा आदि उसी से उत्पन्न हुए हैं। (गावो ह ज०) उसी से गोजाति अर्थात् गाय, पृथिवी, किरण और इन्द्रिय उत्पन्न हुई हैं। (तस्माज्जाता अ०) इसी प्रकार छेरी और भेड़ें भी उसी कारण से उत्पन्न हुई हैं ॥ ८ ॥

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः। तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये ॥ ९ ॥

भाष्यम्

(तं यज्ञं ब०) यमग्रतो जातं प्रादुर्भूतं जगत्कर्तारं, पुरुषं पूर्णं, यज्ञं सर्वपूज्यं, परमेश्वरं, बर्हिषि हृदयान्तरिक्षे, प्रौक्षन्प्रकृष्टतया यस्यैवाभिषेकं कृतवन्तः, कुर्वन्ति, करिष्यन्ति चेत्युपदिश्यत ईश्वरेण, (तेन देवा०) तेन परमेश्वरेण पुरुषेण वेदद्वारोपदिष्टास्ते सर्वे देवा विद्वांसः, साध्या ज्ञानिन, ऋषयो मन्त्रद्रष्टारश्च, ये चान्ये मनुष्यास्तं परमेश्वरमयजन्तापूजयन्त। अनेन किं सिद्धं, सर्वे मनुष्याः परमेश्वरस्य स्तुतिप्रार्थनोपासनापुरःसरमेव सर्वकर्मानुष्ठानं कुर्य्युरित्यर्थः ॥ ९ ॥

भाषार्थ

(तं यज्ञं बर्हि०) जो सब से प्रथम प्रकट था, जो सब जगत् का बनाने वाला है, और सब जगत् में पूर्ण हो रहा है, उस यज्ञ अर्थात् पूजने के योग्य परमेश्वर को जो मनुष्य हृदयरूप आकाश में अच्छे प्रकार से प्रेमभक्ति सत्य आचरण करके पूजन करता है वही उत्तम मनुष्य है। ईश्वर का यह उपदेश सब के लिये है। (तेन देवा अयजन्त सा०) उसी परमेश्वर के वेदोक्त उपदेशों से (देवाः) जो विद्वान्, (साध्याः) जो ज्ञानी लोग, (ऋषयश्च ये) ऋषि लोग जो वेदमन्त्रों के अर्थ जानने वाले और अन्य भी मनुष्य जो परमेश्वर के सत्कारपूर्वक सब उत्तम ही काम करते हैं वे ही सुखी होते हैं, क्योंकि सब श्रेष्ठ कर्मों के करने के पूर्व ही उस का स्मरण और प्रार्थना अवश्य करनी चाहिये और दुष्ट कर्म करना तो किसी को उचित ही नहीं ॥ ९ ॥

यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्। मुखं किमस्यासीत् किं बाहू किमूरू पादा उच्येते ॥ १० ॥

भाष्यम्

(यत्पुरुषं व्य०) यद्यस्मादेतं पूर्वोक्तलक्षणं पुरुषं परमेश्वरं कतिधा कियत्प्रकारैः (व्यकल्पयन्) तस्य सामर्थ्यगुणकल्पनं कुर्वन्तीत्यर्थः । (व्यदधुः) तं सर्वशक्तिमन्तमीश्वरं विविधसामर्थ्यकथनेनादधुरर्थादनेकविधं तस्य व्याख्यानं कृतवन्तः, कुर्वन्ति, करिष्यन्ति च । (मुखं कि०) अस्य पुरुषस्य मुखं मुख्यगुणेभ्यः किमुत्पन्नमासीत् ? (किं बाहू) बलवीर्य्यादिगुणेभ्यः किमुत्पन्नमासीत् ? (किमूरू) व्यापारादिमध्यमैर्गुणैः किमुत्पन्नमासीत् ? (पादा उच्येते) पादावर्थान्मूर्खत्वादिनीचगुणैः किमुत्पन्नं वर्त्तते ? । अस्योत्तरमाह ॥ १० ॥

भाषार्थ

(यत्पुरुषं०) पुरुष उस को कहते हैं कि जो सर्वशक्तिमान् ईश्वर कहाता है । (कतिधा व्य०) जिस के सामर्थ्य का अनेक प्रकार से प्रतिपादन करते हैं, क्योंकि उस में चित्र विचित्र बहुत प्रकार का सामर्थ्य है । अनेक कल्पनाओं से जिस का कथन करते हैं । (मुखं किमस्यासीत्) इस पुरुष के मुख अर्थात् मुख्य गुणों से इस संसार में क्या उत्पन्न हुआ है ? । (किं बाहू) बल, वीर्य्य, शूरता और युद्ध आदि विद्यागुणों से इस संसार में कौन पदार्थ उत्पन्न हुआ है । (किमूरू) व्यापार आदि मध्यम गुणों से किस की उत्पत्ति हुई है ? । (पादा उच्येते) मूर्खपन आदि नीच गुणों से किस की उत्पत्ति होती है ? । इन चारों प्रश्न के उत्तर ये हैं कि ॥ १० ॥

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः । ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥ ११ ॥

भाष्यम्

(ब्राह्मणोऽस्य०) अस्य पुरुषस्य मुखं ये विद्यादयो मुख्यगुणाः,

सत्यभाषणोपदेशादीनि कर्म्माणि च सन्ति तेभ्यो ब्राह्मण आसीदुत्पन्नो भवतीति । (बाहू राजन्यः कृतः) बलवीर्य्यादिलक्षणान्वितो राजन्यः क्षत्रियस्तेन कृत आज्ञप्त आसीदुत्पन्नो* भवति । (ऊरू तदस्य०) कृषिव्यापारादयो गुणा मध्यमास्तेभ्यो वैश्यो वणिग्जनोऽस्य पुरुषस्योपदेशादुत्पन्नो भवतीति वेद्यम् । (पद्भ्याꣳ शूद्रो०) पद्भ्यां पादेन्द्रियनीचत्वमर्थाज्जडबुद्धित्वादिगुणेभ्यः शूद्रः सेवागुणविशिष्टः पराधीनतया प्रवर्त्तमानोऽजायत जायत इति वेद्यम् । अस्योपरि प्रमाणानि वर्णाश्रमप्रकरणे वक्ष्यन्ते । छन्दसि लुङ्लङ्लिटः ॥ १ ॥ अष्टाध्या० अ० ३ । पा० ४ । सू० ६ ॥ इति सूत्रेण सामान्यकाले त्रयो लकारा विधीयन्ते ॥ ११ ॥

भाषार्थ

(ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्) इस पुरुष की आज्ञा के अनुसार जो विद्या, सत्यभाषणादि उत्तम गुण और श्रेष्ठ कर्मों से ब्राह्मणवर्ण उत्पन्न होता है, वह मुख्य कर्म और गुणों के सहित होने से मनुष्यों में उत्तम कहाता है । (बाहू राजन्यः कृतः) और ईश्वर ने बल, पराक्रम आदि पूर्वोक्त गुणों से युक्त क्षत्रिय वर्ण को उत्पन्न किया है । (ऊरू तदस्य०) खेती, व्यापार और सब देशों की भाषाओं को जानना तथा पशुपालन आदि मध्यम गुणों से वैश्यवर्ण सिद्ध होता है । (पद्भ्याꣳ शूद्रो०) जैसे पग सब से नीच अङ्ग है, वैसे मूर्खता आदि नीच गुणों से शूद्र वर्ण सिद्ध होता है । इस विषय के प्रमाण वर्णाश्रम की व्याख्या में लिखेंगे ॥ ११ ॥

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत । श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत ॥ १२ ॥

भाष्यम्

(चन्द्रमा मनसो०) तस्यास्य पुरुषस्य मनसो मननशीलात्सामर्थ्याच्चन्द्रमा जात उत्पन्नोऽस्ति । तथा चक्षोर्ज्योतिर्मयात्सूर्यो अजायत उत्पन्नोऽस्ति ।

* आसीदुत्पन्नो भवतीत्यस्य स्थाने "आसीदास्ते" इति हस्तलिखितभूमिकायां पाठः ।

(श्रोत्राद्वा०) श्रोत्राकाशमयादाकाशो नभ उत्पन्नमस्ति । वायुमयाद्वायुरुत्पन्नोऽस्ति, प्राणश्च, सर्वेन्द्रियाणि चोत्पन्नानि सन्ति । मुखान्मुख्यज्ज्योतिर्मयादग्निरजायतोत्पन्नोऽस्ति ॥ १२ ॥

भाषार्थ

(चन्द्रमा०) उस पुरुष के मनन अर्थात् ज्ञानस्वरूप सामर्थ्य से चन्द्रमा और तेजस्वरूप से सूर्य्य उत्पन्न हुआ है । (श्रोत्राद्वा०) श्रोत्र अर्थात् अवकाशरूप सामर्थ्य से आकाश और वायुरूप सामर्थ्य से वायु उत्पन्न हुआ है । तथा सब इन्द्रियां भी अपने २ कारण से उत्पन्न हुई हैं और मुख्य ज्योतिरूप सामर्थ्य से अग्नि उत्पन्न हुआ है ॥ १२ ॥

नाभ्या आसीदन्तरिक्षꣳ शीर्ष्णो द्यौः समवर्त्तत । पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकाँ२॥ अकल्पयन् ॥ १३ ॥

भाष्यम्

(नाभ्या०) अस्य पुरुषस्य नाभ्या अवकाशमयात्सामर्थ्यादन्तरिक्षमुत्पन्नमासीत् । एवं शीर्ष्णः शिरोवदुत्तमसामर्थ्यात्प्रकाशमयात् (द्यौः) सूर्य्यादिलोकः प्रकाशात्मकः समवर्त्तत सम्यगुत्पन्नः सन् वर्त्तते । (पद्भ्यां भूमिः) पृथिवीकारणमयात्सामर्थ्यात्परमेश्वरेण भूमिर्धरणिरुत्पादितास्ति, जलं च । (दिशः श्रो०) शब्दाकाशकारणमयात्तेन दिश उत्पादिताः सन्ति । (तथा लोकाँ२॥ अकल्पयन्) तथा तेनैव प्रकारेण सर्वलोककारणमयात्सामर्थ्यादन्यान्सर्वान् लोकांस्तत्रस्थान् स्थावरजङ्गमान्पदार्थानकल्पयत्परमेश्वर उत्पादितवानस्ति ॥ १३ ॥

भाषार्थ

(नाभ्या आसीदन्त०) इस पुरुष के अत्यन्त सूक्ष्म सामर्थ्य से अन्तरिक्ष अर्थात् जो भूमि और सूर्य्य आदि लोकों के बीच में पोल है सो भी नियत

किया हुआ है। (शीर्ष्णो द्यौः०) और जिस के सर्वोत्तम सामर्थ्य से सब लोकों के प्रकाश करने वाले सूर्य्य आदि लोक उत्पन्न हुए हैं। (पद्भ्यां भूमिः) पृथिवी के परमाणु कारणरूप सामर्थ्य से परमेश्वर ने पृथिवी उत्पन्न की है। तथा जल को भी उसके कारण से उत्पन्न किया है। (दिशः श्रोत्रात्) उसने श्रोत्ररूप सामर्थ्य से दिशाओं को उत्पन्न किया है। (तथा लोकां२।। अकल्पयन्) इसी प्रकार सब लोकों के कारणरूप सामर्थ्य से परमेश्वर ने सब लोक और उन में वसने वाले सब पदार्थों को उत्पन्न किया है ॥ १३ ॥

यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत। वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः ॥ १४ ॥

भाष्यम्

(यत्पुरुषेण०) देवा विद्वांसः पूर्वोक्तेन पुरुषेण हविषा गृहीतेन दत्तेन चाग्निहोत्राद्यश्वमेधान्तं शिल्पविद्यामयं च यद्यं यज्ञं प्रकाशितमतन्वत विस्तृतं कृतवन्तः कुर्वन्ति करिष्यन्ति च। इदानीं जगदुत्पत्तौ कालस्यावयवाख्या सामग्र्युच्यते, (वसन्तो०) अस्य यज्ञस्य पुरुषादुत्पन्नस्य वा ब्रह्माण्डमयस्य वसन्त आज्यं घृतवदास्ति। (ग्रीष्म इध्मः) ग्रीष्मर्त्तुरिध्म इन्धनान्यग्निर्वास्ति। (शरद्धविः) शरदृतुः पुरोडाशादिवद्धविर्हवनीयमस्ति ॥ १४ ॥

भाषार्थ

(यत्पुरुषेण०) देव अर्थात् जो विद्वान् लोग होते हैं उन को भी ईश्वर ने अपने २ कर्मों के अनुसार उत्पन्न किया है, और वे ईश्वर के दिये पदार्थों का ग्रहण करके पूर्वोक्त यज्ञ का विस्तारपूर्वक अनुष्ठान करते हैं, और जो ब्रह्माण्ड का रचन, पालन और प्रलय करना रूप यज्ञ है उसी को जगत् बनाने की सामग्री कहते हैं। (वसन्तो०) पुरुष ने उत्पन्न किया जो यह ब्रह्माण्डरूप यज्ञ है इस में वसन्तऋतु अर्थात् चैत्र और वैशाख घृत के समान है। (ग्रीष्म इध्मः) ग्रीष्मऋतु जो ज्येष्ठ और आषाढ़, इन्धन है। श्रावण और भाद्रपद

वर्षा ऋतु। आश्विन और कार्त्तिक शरद् ऋतु। मार्गशीर्ष और पौष हिम ऋतु और माघ तथा फाल्गुन शिशिर ऋतु कहाती है। यह इस यज्ञ में आहुति है। सो यहां रूपकालङ्कार से सब ब्रह्माण्ड का व्याख्यान जानना चाहिये ॥ १४ ॥

स॒प्तास्या॑सन् परि॒धय॒स्त्रिः स॒प्त स॒मिधः॑ कृ॒ताः। दे॒वा यद्य॒ज्ञं त॑न्वा॒ना अब॑ध्न॒न् पुरु॑षं प॒शुम् ॥ १५ ॥

भाष्यम्

(सप्तास्या०) अस्य ब्रह्माण्डस्य सप्त परिधयः सन्ति। परिधिर्हि गोलस्योपरिभागस्य यावता सूत्रेण परिवेष्टनं भवति स परिधिर्ज्ञेयः। अस्य ब्रह्माण्डस्य ब्रह्माण्डान्तर्गतलोकानां वा सप्त सप्त परिधयो भवन्ति। समुद्र एकस्तदुपरि त्रसरेणुसहितो वायुर्द्वितीयः। मेघमण्डलं तत्रस्थो वायुस्तृतीयः। वृष्टिजलं चतुर्थस्तदुपरिवायुः पञ्चमः। अत्यन्तसूक्ष्मो धनञ्जयष्षष्ठः। सूत्रात्मा सर्वत्र व्याप्तः सप्तमश्च। एवमेकैकस्योपरि सप्त सप्तावरणानि स्थितानि सन्ति, तस्मात्ते परिधयो विज्ञेयाः। (त्रिः सप्त सामिधः कृताः) एकविंशतिः पदार्थाः सामग्र्यस्य चास्ति। प्रकृतिर्महत्, बुद्ध्याद्यन्तःकरणं, जीवश्चैषका सामग्री परमसूक्ष्मत्वात्। दशेन्द्रियाणि श्रोत्रं, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, नासिका, वाक्, पादौ, हस्तौ, पायुः, उपस्थं चेति। शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः पञ्चतन्मात्राः, पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशमिति पञ्चभूतानि च मिलित्वा दश भवन्ति। एवं सर्वा मिलित्वैकविंशतिर्भवन्त्यस्य ब्रह्माण्डरचनस्य समिधः कारणानि विज्ञेयानि। एतेषामवयवरूपाणि तु तत्त्वानि बहूनि सन्तीति बोध्यम्। (देवा य०) तदिदं येन पुरुषेण रचितं तं यज्ञपुरुषं पशुं सर्वद्रष्टारं सर्वैः पूजनीयं देवा विद्वांसः (अबध्नन्) ध्यानेन बध्नन्ति, तं विहायेश्वरत्वेन कस्यापि ध्यानं नैव बध्नन्ति नैव कुर्वन्तीत्यर्थः ॥ १५ ॥

भाषार्थ

(सप्तास्या०) ईश्वर ने एक २ लोक के चारों ओर सात २ परिधि ऊपर २ रची है। जो गोल चीज के चारों ओर एक सूत से नाप के जितना परिमाण

होता है उस को परिधि कहते हैं। सो जितने ब्रह्माण्ड में लोक हैं ईश्वर ने उन एक २ के ऊपर सात २ आवरण बनाये। एक समुद्र, दूसरा त्रसरेणु, तीसरा मेघमण्डल का वायु, चौथा वृष्टिजल और पांचवां वृष्टिजल के ऊपर एक प्रकार का वायु, छठा अत्यन्त सूक्ष्म वायु जिस को धनञ्जय कहते हैं, सातवां सूत्रात्मा वायु जो कि धनञ्जय से भी सूक्ष्म है, ये सात परिधि कहाते हैं। (त्रिः सप्त समिधः) और इस ब्रह्माण्ड की सामग्री (२१) इक्कीस प्रकार की कहाती है। जिस में से एक प्रकृति, बुद्धि और जीव ये तीनों मिलके हैं, क्योंकि यह अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थ है। दूसरा श्रोत्र। तीसरी त्वचा। चौथा नेत्र। पांचमी जिह्वा। छठी नासिका। सातमी वाक्। आठमा पग। नवमा हाथ। दशमी गुदा। ग्यारहमा उपस्थ जिस को लिङ्ग इन्द्रिय कहते हैं। बारहमा शब्द। तेरहमा स्पर्श। चौदहमा रूप। पन्द्रहमा रस। सोलहमा गन्ध। सत्रहमी पृथिवी। अठारहमा जल। उन्नीसमा अग्नि। बीसमा वायु। इक्कीसमा आकाश। ये इक्कीस समिधा कहाती हैं। (देवा य०) जो परमेश्वर पुरुष इस सब जगत् का रचने वाला, सब का देखने वाला और पूज्य है उस को विद्वान् लोग सुन के और उसी के उपदेश से उसी के कर्म और गुणों का कथन, प्रकाश और ध्यान करते हैं। उस को छोड़ के दूसरे को ईश्वर किसी ने नहीं माना और उसी के ध्यान में अपने आत्माओं को दृढ़ बांधने से कल्याण जानते हैं ॥ १५ ॥

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्। ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥१६॥

भाष्यम्

(यज्ञेन यज्ञम०) ये विद्वांसो, यज्ञं यजनीयं पूजनीयं परमेश्वरं, यज्ञेन, तत्स्तुतिप्रार्थनोपासनरीत्या पूजनेन, तमेवायजन्त, यजन्ते, यक्ष्यन्ति च। तान्येव धर्माणि प्रथमानि सर्वकर्मभ्य आदौ सर्वैर्मनुष्यैः कर्त्तव्यान्यासन्। न च तैः पूर्वं कृतैर्विना केनापि किंचित्कर्म कर्त्तव्यमिति। (ते ह ना०) त ईश्वरोपासका, हेति, प्रसिद्धं नाकं सर्वदुःखरहितं परमेश्वरं, मोक्षं च, महि-

मानः पूज्याः सन्तः, सचन्त समवेता भवन्ति । कीदृशं तत् ? (यत्र पूर्वे साध्याः०) साध्याः साधनवन्तः कृतसाधनाश्च देवा विद्वांसः पूर्वे अतीता यत्र मोक्षाख्ये परमे पदे सुखिनः सन्ति । न तस्माद् ब्रह्मणश्शतवर्षसंख्यातात् कालात् कदाचित्पुनरावर्तन्त इति किन्तु तमेव समसेवन्त ॥ अत्राहुर्निरुक्तकारा यास्काचार्य्याः । यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः, अग्निनाग्निमयजन्त देवाः, "अग्निः पशुरासीत्तमालभन्त तेनायजन्ते"ति च ब्राह्मणम् । 'तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।' ते ह नाकं महिमानः समसेवन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः साधनाः । द्युस्थानो देवगण इति नैरुक्ताः ॥ नि० अ० १२ । खं० ४१ ॥ अग्निना जीवेनान्तःकरणेन वाग्निं परमेश्वरमयजन्त । अग्निः पशुरासीत्तमेव देवा आलभन्त । सर्वोपकारकमग्निहोत्राद्यश्वमेधान्तं भौतिकाग्निनापि यज्ञं देवा समसेवन्तेति वा । साध्याः साधनवन्तो यत्र पूर्वे पूर्वभूता मोक्षाख्यानन्दे पदे सन्ति । तमभिप्रेत्यात एव द्युस्थानो देवगण इति निरुक्तकारा वदन्ति । द्युस्थानः प्रकाशमयः परमेश्वरः स्थानं स्थित्यर्थं यस्य सः । यद्वा सूर्य्यप्राणस्थानाः विज्ञानकिरणास्तत्रैव देवगणो देवसमूहो वर्त्तत इति ॥ १६ ॥

भाषार्थ

(यज्ञेन यज्ञम०) विद्वानों को देव कहते हैं और वे सब के पूज्य होते हैं, क्योंकि वे सब दिन परमेश्वर ही की स्तुति, प्रार्थना, उपासना और आज्ञापालन आदि विधान से पूजा करते हैं । इससे सब मनुष्यों को उचित है कि वेदमन्त्रों से प्रथम ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना करके शुभकर्मों का आरम्भ करें । (ते ह नाकं०) जो २ ईश्वर की उपासना करने वाले लोग हैं वे २ सब दुःखों से छूट के सब मनुष्यों में अत्यन्त पूज्य होते हैं । (यत्र पूर्वे सा०) जहां विद्वान् लोग परमपुरुषार्थ से जिस पद को प्राप्त होके नित्य आनन्द में रहते हैं उसी को मोक्ष कहते हैं । क्योंकि उससे निवृत्त होके संसार के दुःखों में कभी नहीं गिरते । इस अर्थ में निरुक्तकार का भी यही अभिप्राय है कि जो परमेश्वर के अनन्त प्रकाश में मोक्ष को प्राप्त हुये हैं वे परमेश्वर ही के प्रकाश में सदा रहते हैं, उन को अज्ञानरूप अन्धकार कभी नहीं होता ॥ १६ ॥

अ॒द्भ्यः सम्भृ॑तः पृथि॒व्यै रसा॑च्च वि॒श्वक॑र्मणः॒ सम॑वर्त॒ताग्रे॑।
तस्य॒ त्वष्टा॑ वि॒दध॑द्रू॒पमे॑ति॒ तन्मर्त्य॑स्य दे॒वत्व॑मा॒जान॒मग्रे॑ ॥ १७ ॥

भाष्यम्

(अद्भ्यः संभृतः०) तेन पुरुषेण पृथिव्यै पृथिव्युत्पत्त्यर्थमद्भ्यो रसः संभृतः संगृह्य तेन पृथिवी रचिता । एवमग्निरसेनाग्नेः सकाशादाप उत्पादिताः । अग्निश्च वायोः सकाशाद्वायुराकाशादुत्पादित, आकाशः प्रकृतेः, प्रकृतिः स्वसामर्थ्याच्च । विश्वं सर्वं कर्म क्रियमाणमस्य स विश्वकर्मा । तस्य परमेश्वरस्य सामर्थ्यमध्ये कारणाख्येऽग्रे सृष्टेः प्राग्जगत्समवर्त्तत वर्त्तमानमासीत् । तदानीं सर्वमिदं जगत्कारणभूतमेव नेदृशमिति । तस्य सामर्थ्यस्यांशान् गृहीत्वा त्वष्टा रचनकर्त्तेदं सकलं जगद्विदधत् । पुनश्चेदं विश्वं रूपवत्त्वमेति । तदेव मर्त्यस्य मरणधर्मकस्य विश्वस्य मनुष्यस्यापि च रूपवत्त्वं भवति । (आजानमग्रे) वेदाज्ञापनसमये परमात्माज्ञप्तवान्, वेदरूपामाज्ञां दत्तवान् मनुष्याय । धर्मयुक्तेनैव, सकामेन कर्मणा, कर्मदेवत्वयुक्तं शरीरं धृत्वा, विषयेन्द्रियसंयोगजन्यमिष्टं सुखं भवतु, तथा निष्कामेन विज्ञानपरमं मोक्षाख्यं चेति ॥ १७ ॥

भाषार्थ

(अद्भ्यः संभृतः०) उस परमेश्वर पुरुष ने पृथिवी की उत्पत्ति के लिये जल से सारांश रस को ग्रहण करके पृथिवी और अग्नि के परमाणुओं को मिला के पृथिवी रची है । इसी प्रकार अग्नि के परमाणु के साथ जल के परमाणुओं को मिला के जल को, वायु के परमाणुओं के साथ अग्नि के परमाणुओं को मिला के अग्नि को और वायु के परमाणुओं से वायु को रचा है । वैसे ही अपने सामर्थ्य से आकाश को भी रचा है जो कि सब तत्त्वों के ठहरने का स्थान है । ईश्वर ने प्रकृति से लेके घास पर्यन्त जगत् को रचा है । इससे ये सब पदार्थ ईश्वर के रचे होने से उस का नाम विश्वकर्मा है । जब जगत् उत्पन्न नहीं हुआ था तब वह ईश्वर के सामर्थ्य में कारणरूप से वर्त्तमान था । (तस्य०) जब २

ईश्वर अपने सामर्थ्य से इस कार्य्यरूप जगत् को रचता है तब २ कार्य्य जगत् रूप गुणवाला होके स्थूल बन के देखने में आता है। (तन्मर्त्यस्य देवत्व०) जब परमेश्वर ने मनुष्यशरीर आदि को रचा है तब मनुष्य भी दिव्य कर्म करके देव कहाते हैं और जब ईश्वर की उपासना से विद्या, विज्ञान आदि अत्युत्तम गुणों को प्राप्त होते हैं तब भी उन मनुष्यों का नाम देव होता है, क्योंकि कर्म से उपासना और ज्ञान उत्तम हैं। इसमें ईश्वर की यह आज्ञा है कि जो मनुष्य उत्तम कर्म में शरीर आदि पदार्थों को चलाता है वह संसार में उत्तम सुख पाता है और जो परमेश्वर ही की प्राप्तिरूप मोक्ष की इच्छा करके उत्तम कर्म, उपासना और ज्ञान में पुरुषार्थ करता है वह उत्तम देव होता है ॥ १७ ॥

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्। तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ १८ ॥

भाष्यम्

(वेदाहमेतं पु०) किं विदित्वा त्वं ज्ञानी भवसीति पृच्छ्यत ? तदुत्तरमाह। यतः पूर्वोक्तलक्षणविशिष्टं, सर्वेभ्यो महान्तं, वृद्धतममादित्यवर्णं, स्वप्रकाशविज्ञानस्वरूपं, तमसोऽज्ञानाऽविद्यान्धकारात्परस्तात्पृथग् वर्त्तमानं परमेश्वरं पुरुषमहं वेद जानाम्यतोऽहं ज्ञान्यस्मीति निश्चयः। नैव तमविदित्वा कश्चिज्ज्ञानी भवितुमर्हतीति। कुतः। (तमेव विदित्वा०) मनुष्यस्तमेव पुरुषं परमात्मानं विदित्वाऽतिमृत्युं मृत्युमतिक्रान्तं मृत्योः पृथग्भूतं मोक्षाख्यमानन्दमेति प्राप्नोति। नैवातोऽन्यथेति। एवकारात्तमीश्वरं विहाय नैव कस्यचिदन्यस्य लेशमात्राप्युपासना केनचित्कदाचित्कार्य्येति गम्यते। कथमिदं विज्ञायतेऽन्यस्योपासना नैव कार्य्येति ? (नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय) इति वचनात्। अयनाय व्यावहारिकपारमार्थिकसुखायाऽन्यो द्वितीयः पन्था मार्गो न विद्यते। किन्तु तस्यैवोपासनमेव सुखस्य मार्गोऽतो भिन्नस्येश्वरगणनोपासनाभ्यां मनुष्यस्य दुःखमेव भवतीति निश्चयः। अतः कारणादेष एव पुरुषः सर्वैरुपासनीय इति सिद्धान्तः ॥ १८ ॥

भाषार्थ

(वेदाहमेतं) प्र०—किस पदार्थ को जान के मनुष्य ज्ञानी होता है ? उ०—उस पूर्वोक्त लक्षण सहित परमेश्वर ही को यथावत् जान के ठीक २ ज्ञानी होता है, अन्यथा नहीं। जो सब से बड़ा, सब का प्रकाश करनेवाला और अविद्या अन्धकार अर्थात् अज्ञान आदि दोषों से अलग है, उसी पुरुष को मैं परमेश्वर और इष्टदेव जानता हूं। उस को जाने विना कोई मनुष्य यथावत् ज्ञानवान् नहीं हो सकता, क्योंकि (तमेव विदित्वा०) उसी परमात्मा को जान के और प्राप्त होके जन्म, मरण आदि क्लेशों के समुद्र समान दुःख से छूट के परमानन्दस्वरूप मोक्ष को प्राप्त होता है। अन्यथा किसी प्रकार से मोक्षसुख नहीं हो सकता। इससे क्या सिद्ध हुआ कि उसी की उपासना सब मनुष्य लोगों को करनी उचित है। उस से भिन्न की उपासना करना किसी मनुष्य को न चाहिये, क्योंकि मोक्ष का देनेवाला एक परमेश्वर के विना दूसरा कोई भी नहीं है। इस में यह प्रमाण है कि (नान्यः पन्था०) व्यवहार और परमार्थ के दोनों सुख का मार्ग एक परमेश्वर की उपासना और उस का जानना ही है, क्योंकि इस के विना मनुष्य को किसी प्रकार से सुख नहीं हो सकता ॥ १८ ॥

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते। तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥१९॥

भाष्यम्

(प्रजापति०) स एव प्रजापतिः सर्वस्य स्वामी, जीवस्यान्यस्य च जड़स्य जगतोऽन्तर्गर्भे मध्येऽन्तर्य्यामिरूपेणाजायमानोऽनुत्पन्नोऽजः सन् नित्यं चरति। तत्सामर्थ्यादेवेदं सकलं जगद् बहुधा बहुप्रकारं विजायते विशिष्टतयोत्पद्यते। (तस्य योनिं०) तस्य परब्रह्मणो योनिं सत्यधर्मानुष्ठानं वेदविज्ञानमेव प्राप्तिकारणं धीरा ध्यानवन्तः (परिप०) परितः सर्वतः प्रेक्षन्ते। (तस्मिन्ह तस्थुर्भु०) यस्मिन्भुवनानि विश्वानि सर्वाणि सर्वे

लोकास्तस्थुः स्थितिं चक्रिरे । हेति निश्चयार्थे । तस्मिन्नेव परमे पुरुषे धीरा ज्ञानिनो मनुष्या मोक्षानन्दं प्राप्य तस्थुः स्थिरा भवन्तीत्यर्थः ॥ १९ ॥

भाषार्थ

(प्रजापति०) जो प्रजा का पति अर्थात् सब जगत् का स्वामी है, वही जड़ और चेतन के भीतर और बाहर अन्तर्यामिरूप से सर्वत्र व्याप्त हो रहा है । जो सब जगत् को उत्पन्न करके अपने आप सदा अजन्मा रहता है, (तस्य योनिं०) जो उस परब्रह्म की प्राप्ति का कारण, सत्य का आचरण और सत्यविद्या है, उसको विद्वान् लोग ध्यान से देख के परमेश्वर को सब प्रकार से प्राप्त होते हैं । (तस्मिन्ह त०) जिस में ये सब भुवन अर्थात् लोक ठहर रहे हैं, उसी परमेश्वर में ज्ञानी लोग भी सत्य निश्चय से मोक्षसुख को प्राप्त होके, जन्म मरण आदि आने जाने से छूट के, आनन्द में सदा रहते हैं ॥ १९ ॥

यो देवेभ्य आतपति यो देवानां पुरोहितः । पूर्वो यो देवेभ्यो जातो नमो रुचाय ब्राह्मये ॥ २० ॥

भाष्यम्

(यो देवेभ्य०) यः पूर्णः पुरुषो देवेभ्यो विद्वद्भ्यस्तत्प्रकाशार्थमातपति आसमन्तात्तदन्तःकरणे प्रकाशयति, नान्येभ्यश्च । यश्च देवानां विदुषां पुरोहितः सर्वैः सुखैः सह मोक्षे विदुषो दधाति । (पूर्वो यो देवेभ्यो जातो०) देवेभ्यो विद्वद्भ्यो यः पूर्वः पूर्वमेव सनातनत्वेन वर्त्तमानः सन् जातः प्रसिद्धोऽस्ति । (नमो रुचाय०) तस्मै रुचाय रुचिकराय ब्रह्मणे नमोऽस्तु । यश्च देवेभ्यो विद्वद्भ्यो ब्रह्मोपदेशं प्राप्य ब्रह्मरुचिर्ब्राह्मिर्ब्रह्मणोऽपत्यमिव वर्त्तमानोऽस्ति । तस्मा अपि ब्राह्मये ब्रह्मसेवकाय नमोऽस्तु ॥ २० ॥

भाषार्थ

(यो देवेभ्य०) जो परमात्मा विद्वानों के लिये सदा प्रकाशस्वरूप है, अर्थात् उन के आत्माओं को प्रकाश में कर देता और वही उन का पुरोहित,

अर्थात् अत्यन्त सुखों से धारण और पोषण करनेवाला है, इस से वे फिर दुःखसागर में कभी नहीं गिरते। (पूर्वो यो देवेभ्यो जातो०) जो सब विद्वानों से आदि विद्वान् और जो विद्वानों के ही ज्ञान से प्रसिद्ध अर्थात् प्रत्यक्ष होता है, (नमो रुचाय०) उस अत्यन्त आनन्दस्वरूप और सत्य में रुचि करानेवा ब्रह्म को हमारा नमस्कार हो, और जो विद्वानों से वेदविद्यादि को यथावत् पढ़ के धर्मात्मा अर्थात् ब्रह्म को पिता के समान मान के, सत्यभाव से प्रेम प्रीति करके, सेवा करनेवाला जो विद्वान् मनुष्य है, उस को भी हम लोग नमस्कार करते हैं ॥ २० ॥

रुचं ब्राह्मं जनयन्तो देवा अग्रे तदब्रुवन्। यस्त्वैवं ब्राह्मणो विद्यात्तस्य देवा असन्वशे ॥ २१ ॥

भाष्यम्

(रुचं ब्राह्मं०) रुचं प्रीतिकरं ब्राह्मं ब्रह्मणोऽपत्यमिव ब्रह्मणः सकाशाज्जातं ज्ञानं जनयन्त उत्पादयन्तो देवा विद्वांसोऽन्येषामग्रे तज्ज्ञानं तज्ज्ञानसाधनं वाऽब्रुवन् ब्रुवन्तूपदिशन्तु च। (यस्त्वैवं०) यस्त्वेवममुना प्रकारेण तद्ब्रह्म ब्राह्मणो विद्यात्, (तु) पश्चात्तस्यैव ब्रह्मविदो ब्राह्मणस्य देवा इन्द्रियाणि वशे असन् भवन्ति नान्यस्येति ॥ २१ ॥

भाषार्थ

(रुचं ब्राह्मं०) जो ब्रह्म का ज्ञान है वही अत्यन्त आनन्द करनेवाला और उस मनुष्य की उसमें रुचि का बढ़ाने वाला है। जिस ज्ञान को विद्वान् लोग अन्य मनुष्यों के आगे उपदेश करके उन को आनन्दित कर देते हैं। (यस्त्वैवं ब्राह्मणो०) जो मनुष्य इस प्रकार से ब्रह्म को जानता है उसी विद्वान् के सब मन आदि इन्द्रिय वश में हो जाते हैं, अन्य के नहीं ॥ २१ ॥

श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यावहोरात्रे पार्श्वे नक्षत्राणि रूपमश्वि-

नौ व्यात्तम् । इष्णन्निषाणामुं म इषाण सर्वलोकं म इषाण ॥२२॥
य० अ० ३१ ॥

भाष्यम्

(श्रीश्च ते०) हे परमेश्वर ! ते तव (श्रीः) सर्वा शोभा (लक्ष्मीः) शुभलक्षणवती धनादिश्च द्वे प्रिये पत्न्यौ पत्नीवत्सेवमाने स्तः । तथाहोरात्रे ते तव (पार्श्वे०) पार्श्ववत्स्तः । ये कालचक्रस्य कारणभूतस्यापि कक्षावयववद्वर्त्तेते सूर्य्याचन्द्रमसौ नेत्रे वा, तथैव नक्षत्राणि तवैव सामर्थ्यस्यादिकारणस्यावयवाः सन्ति, तत्त्वयि रूपवदस्ति । अश्विनौ द्यावापृथिव्यौ तवैव (व्यात्तम्) विकाशितं मुखमिव वर्त्तते । तथैव यत् किंचित्सौन्दर्यगुणयुक्तं वस्तु जगति वर्त्तते तदपि रूपं तवैव सामर्थ्याज्जातमिति जानीमः । हे विराडधिकरणेश्वर ! मे ममामुं परलोकं मोक्षाख्यं पदं कृपाकटाक्षेण (इष्णन्) इच्छन्सन् (इषाण) स्वेच्छया निष्पादय, तथा सर्वलोकं सर्वलोकसुखं सर्वलोकराज्यं वा मदर्थं कृपया त्वमिषाणेच्छ, स्वाराज्यं सिद्ध कुरु । एवमेव सर्वाः शोभा लक्ष्मीश्च शुभलक्षणवतीः सर्वाः क्रिया मे मदर्थमिषाण, हे भगवन् ! पुरुष ! पूर्णपरमेश्वर ! सर्वशक्तिमन् ! कृपया सर्वान् शुभान् गुणान् मह्यं देहि । दुष्टानशुभदोषांश्च विनाशय, सद्यः स्वानुग्रहेण सर्वोत्तमगुणभाजनं मां भवान्करोत्विति ॥ अत्र प्रमाणानि ॥ श्रीर्हि पशवः ॥ श० कां० १ । अ० ८ ॥ श्रीर्वै सोमः ॥ श० कां० ४ । अ० १ ॥ श्रीर्वै राष्ट्रं श्रीर्वै राष्ट्रस्य भारः ॥ श० कां० १३ । अ० १ ॥ लक्ष्मीर्लाभाद्वा, लक्षणाद्वा, लप्स्यमानाद्वा, लाञ्छनाद्वा, लषतेर्वा स्यात्प्रेप्साकर्मणो,* लज्जतेर्वा स्यादश्लाघाकर्मणः, शिप्रे इत्युपरिष्टाद्व्याख्यास्यामः ॥ नि० अ० ४ । खं० १० ॥ अत्र श्रीलक्ष्म्योः पूर्वोक्तयोरर्थसंगतिरस्तीति बोध्यम् ॥ २ ॥

इति पुरुषसूक्तव्याख्या समाप्ता

* अत्र "लग्यतेर्वा स्यादाश्लेषकर्मणो" इत्यधिकः पाठो निरुक्ते ।

भाषार्थ

(श्रीश्च ते) हे परमेश्वर ! जो आप की अनन्त शोभारूप श्री और जो अनन्त शुभलक्षणयुक्त लक्ष्मी है वे दोनों स्त्री के समान हैं अर्थात् जैसे स्त्री पति की सेवा करती है इसी प्रकार आप की सेवा आप ही को प्राप्त होती है, क्योंकि आपने ही सब जगत् को शोभा और शुभलक्षणों से युक्त कर रक्खा है। परन्तु ये सब शोभा और सत्यभाषणादि धर्म के लक्षणों से लाभ, ये दोनों आपकी ही सेवा के लिये हैं। सब पदार्थ ईश्वर के आधीन होने से उसके विषय में यह पत्नी शब्द रूपकालङ्कार से वर्णन किया है। वैसे ही जो दिन और रात्रि ये दोनों बगल के समान हैं। तथा सूर्य्य और चन्द्र भी दोनों आप के बगल के समान वा नेत्रस्थानी हैं। और जितने ये नक्षत्र हैं वे आप के रूपस्थानी हैं। और द्यौः जो सूर्य्य आदि का प्रकाश और विद्युत् अर्थात् बिजली ये दोनों मुखस्थानी हैं। तथा ओठ के तुल्य और जैसा खुला मुख होता है इसी प्रकार पृथिवी और सूर्य्यलोक के बीच में जो पोल है सो मुख के सदृश है। (इष्णन्) हे परमेश्वर ! आप की दया से (अमुं) परलोक जो मोक्षसुख है उस को हम लोग प्राप्त होते हैं। इस प्रकार की कृपादृष्टि से हमारे लिये इच्छा करो तथा मैं सब संसार में सब गुणों से युक्त होके सब लोकों के सुखों का अधिकारी जैसे होऊं वैसी कृपा और इस जगत् में मुझ को सर्वोत्तम शोभा और लक्ष्मी से युक्त सदा कीजिये। यह आप से हमारी प्रार्थना है, सो आप कृपा से पूरी कीजिये ॥२२॥

इति पुरुषसूक्तव्याख्या समाप्ता

यत्परममवमं यच्च मध्यमं प्रजापतिः ससृजे विश्वरूपम्। कियता स्कम्भः प्रविवेश तत्र यन्न प्राविशत् कियत्तद्बभूव ॥ १ ॥ अथर्व० कां० १० । अनु० ४ । सू० ७ । मं० ८ ॥ देवाः पितरो मनुष्या गन्धर्वाप्सरसश्च ये। उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः ॥ २ ॥ अथर्व० कां० ११ । अनु० ४ । सू० ७ । मं० २७ ॥

भाष्यम्

(यत्परम०) यत्परमं सर्वोत्कृष्टं प्रकृत्यादिकं जगत्, यच्च (अवमं) निकृष्टं तृणमृत्तिका क्षुद्रकृमिकीटादिकं चास्ति, (यच्च म०) यन्मनुष्यदेहाद्याकाशपर्य्यन्तं मध्यमं च, तत्त्रिविधं सर्वं जगत्, प्रजापतिरेव (ससृजे वि०) स्वसामर्थ्यरूपकारणादुत्पादितवानस्ति । योऽस्य जगतो विविधं रूपं सृष्टवानस्ति, (कियता०) * एतस्मिंस्त्रिविधे जगति स्कम्भः प्रजापतिः स परमेश्वरः, कियता सम्बन्धेन प्रविवेश, न चैतत् परमेश्वरे, (यन्न०) यत्त्रिविधं जगन्न प्राविशत्, तत् कियद्बभूव । तदिदं जगत् परमेश्वरापेक्षयाल्पमेवास्तीति ॥ १ ॥ (देवाः०) देवा विद्वांसः, सूर्य्यादयो लोकाश्च, पितरो ज्ञानिनः, मनुष्या मननशीलाः, गन्धर्वा गानविद्याविदः, सूर्य्यादयो वा, अप्सरस एतेषां स्त्रियश्च, ये चापि जगति मनुष्यादिजातिगणा वर्त्तन्ते ते सर्वं उच्छिष्टात्सर्वस्मादूर्ध्वं शिष्टात्परमेश्वरात्तत्सामर्थ्याच्च जज्ञिरे जाताः सन्ति । ये (दिवि देवाः दिविश्रिताः) दिवि देवाः सूर्य्यादयो लोकाः, ये च दिवि श्रिताश्चन्द्रपृथिव्यादयो लोकास्तेपि सर्वे तस्मादेवोत्पन्ना इति । इत्यादयो मन्त्रा एतद्विषया वेदेषु बहवः सन्ति ।

इति संक्षेपतः सृष्टिविद्याविषयः समाप्तः

भाषार्थ

(यत्परम०) जो उत्तम मध्यम और नीच स्वभाव से तीन प्रकार का जगत् है उस सब को परमेश्वर ने ही रचा है । उस ने इस जगत् में नाना प्रकार की रचना की है । और एक वही इस सब रचना को यथावत् जानता है । और इस जगत् में जो कोई विद्वान् होते हैं वे भी कुछ २ परमेश्वर की रचना के गुणों को जानते हैं । वह परमेश्वर सब को रचता है और आप रचना में कभी नहीं

* एतस्मिन्नित्यारभ्य कियद्बभूवेतिपर्यन्तसन्दर्भस्थाने "सृष्ट्वा, त्रिविधे जगति स्कम्भः प्रजापतिः परमेश्वरः स कियता सम्बन्धेन प्रविवेश, तत्र परमेश्वरे यत्त्रिविधं जगन्न प्राविशत्, तत्कियद्बभूवेति" हस्तलिखित भूमिकायां पाठः ।

आता ॥ १ ॥ (देवाः पितरो०) विद्वान् अर्थात् पण्डित लोग और सूर्य्यलोक भी, (ज्ञानिनः) अर्थात् यथार्थविद्या को जानने वाले, (मनुष्याः) अर्थात् विचार करने वाले, (गन्धर्वाः) अर्थात् गानविद्या के जानने वाले, सूर्य्यादि लोक और (अप्सरसः) अर्थात् इन सब की स्त्रियां, ये सब लोग और दूसरे लोग भी उसी ईश्वर के सामर्थ्य से उत्पन्न हुए हैं । (दिवि देवाः) अर्थात् जो प्रकाश करने वाले और प्रकाशस्वरूप सूर्य्यादि लोक और (दिविश्रिताः) अर्थात् चन्द्र और पृथिवी आदि प्रकाशरहित लोक वे भी उसी के सामर्थ्य से उत्पन्न हुए हैं ॥ २ ॥ वेदों में इस प्रकार के सृष्टिविधान करने वाले मन्त्र बहुत हैं, परन्तु ग्रन्थ अधिक न हो जाय इसलिये सृष्टिविषय संक्षेप से लिखा है ।

इति सृष्टिविद्याविषयः

अथ पृथिव्यादिलोकभ्रमणविषयः

अथेदं विचार्य्यते पृथिव्यादयो लोका भ्रमन्त्याहोस्विन्नेति ? अत्रोच्यते । वेदादिशास्त्रोक्तरीत्या पृथिव्यादयो लोकाः सर्वे भ्रमन्त्येव । तत्र पृथिव्यादिभ्रमणविषये प्रमाणम् ।

आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः । पितरं च प्रयन्त्स्वः ॥ १ ॥ यजु० अ० ३ । मं० ६ ॥

भाष्यम्

अस्याभि०—आयं गौरित्यादिमन्त्रेषु पृथिव्यादयो हि सर्वे लोका भ्रमन्त्येवेति विज्ञेयम् । (आयं गौः०) अयं गौः पृथिवीगोलः, सूर्य्यश्चन्द्रोऽन्यो लोको वा, पृश्निमन्तरिक्षमाक्रमीदाक्रमणं कुर्वन् सन् गच्छतीति, तथाऽन्येपि । तत्र पृथिवी मातरं समुद्रजलमसदत् समुद्रजलं प्राप्ता सती, तथा (स्वः) सूर्य्यं पितरमग्निमयं च । पुरः पूर्वं पूर्वं प्रयन्त्सन् सूर्य्यस्य परितो याति । एवमेव सूर्य्यो वायुं पितर,माकाशं मातरं च । तथा चन्द्रोऽग्निं पितर,मपो

मातरं प्रति चेति योजनीयम् । अत्र प्रमाणानि । गौः, ग्मा, ज्मेत्याद्येकविंशतिषु पृथिवीनामसु गौरिति पठितं, यास्ककृते निघण्टौ * । तथाच, स्वः, पृश्निः, नाक इति षट्सु साधारणनामसु † पृश्निरित्यन्तरिक्षस्य नामोक्तम् । निरुक्ते, गौरिति पृथिव्या नामधेयं, यद्दूरंगता भवति, यच्चास्यां भूतानि गच्छन्ति ॥ निरु० अ० २ । खं० ५ ॥ गौरादित्यो भवति, गमयति रसान्, गच्छत्यन्तरिक्षे अथ द्यौर्यत् पृथिव्या अधिदूरंगता भवति, यच्चास्यां ज्योतींषि गच्छन्ति ॥ निरु० अ० २ । खं० १४ ॥ सूर्य्यरश्मिश्चन्द्रमागन्धर्व इत्यपि निगमो भवति, सोपि गौरुच्यते ॥ निरु० अ० २ । खं० ६ ॥ स्वरादित्यो भवति ॥ निरु० अ० २ । खं० १४ ॥ गच्छति प्रतिक्षणं भ्रमति या सा गौः पृथिवी । अद्भ्यः पृथिवीति तैत्तिरीयोपनिषदि ‡ । यस्माद्यज्जायते सोऽर्थस्तस्य मातापितृवद् भवति । तथा स्वःशब्देनादित्यस्य ग्रहणात् पितुर्विशेषणत्वादादित्योऽस्याः पितृवदिति निश्चीयते । यद्दूरंगता, दूरंदूरं सूर्य्याद्गच्छतीति विज्ञेयम् । एवमेव सर्वे लोकाः स्वस्य स्वस्य कक्षायां वाय्वात्मनेश्वरसत्तया च धारिताः सन्तो भ्रमन्तीति सिद्धान्तो बोध्यः ।

भाषार्थ

अब सृष्टिविद्याविषय के पश्चात् पृथिवी आदि लोक घूमते हैं वा नहीं, इस विषय में लिखा जाता है । इस में यह सिद्धान्त है कि वेदशास्त्रों के प्रमाण और युक्ति से भी पृथिवी और सूर्य्य आदि सब लोक घूमते हैं । इस विषय में यह प्रमाण है ।

(आयं गौः०) गौ नाम है पृथिवी, सूर्य्य, चन्द्रमादि लोकों का । वे सब अपनी २ परिधि में, अन्तरिक्ष के मध्य में, सदा घूमते रहते हैं । परन्तु जो जल है सो पृथिवी की माता के समान है। क्योंकि पृथिवी, जल के परमाणुओं के साथ अपने परमाणुओं के संयोग से ही उत्पन्न हुई है, और मेघमण्डल के जल के बीच में गर्भ के समान सदा रहती है, और सूर्य्य उस के पिता के समान है ।

* अ० १, खं० १ । † निघण्टु, अ० १, ख० ४ । ‡ ब्रह्मानन्दवल्ली, प्रथमानुवाके ।

इस से सूर्य के चारों ओर घूमती है। इसी प्रकार सूर्य का पिता, वायु और आकाश माता। तथा चन्द्रमा का अग्नि पिता और जल माता। उन के प्रति वे घूमते हैं। इसी प्रकार से सब लोक अपनी २ कक्षा में सदा घूमते हैं। इस विषय का संस्कृत में निघण्टु और निरुक्त का प्रमाण लिखा है, उस को देख लेना। इसी प्रकार सूत्रात्मा जो वायु है उस के आधार और आकर्षण से सब लोकों का धारण और भ्रमण होता है तथा परमेश्वर अपने सामर्थ्य से पृथिवी आदि सब लोकों का धारण, भ्रमण और पालन कर रहा है ॥ १ ॥

या गौर्वर्त्तनिं पर्य्येति निष्कृतं पयो दुहाना व्रतनीरवारतः। सा प्रब्रुवाणा वरुणाय दाशुषे देवेभ्यो दाशद्धविषा विवस्वते ॥ २ ॥ ऋ० अ० ८। अ० २। व० १०। मं० १ ॥

भाष्यम्

(या गौर्वर्त्तनिं०) या पूर्वोक्ता गौर्वर्त्तनिं स्वकीयमार्गं (अवारतः) निरन्तरं भ्रमती सती पर्य्येति। विवस्वतेऽर्थात्सूर्य्यस्य * परितः सर्वतः स्वस्वमार्गं गच्छति। (निष्कृतं) कथंभूतं मार्गं तत्तद्गमनार्थमीश्वरेण (निष्कृतं) निष्पादितम्। (पयो दुहाना०) अवारतो निरन्तरं पयो दुहानाऽनेकरसफलादिभिः प्राणिनः प्रपूरयती। तथा व्रतनी व्रतं स्वकीयभ्रमणादिसत्यनियमं प्रापयन्ती। (सा,प्र०) दाशुषे दानकर्त्रे, वरुणाय श्रेष्ठकर्मकारिणे, देवेभ्यो विद्वद्भ्यश्च, हविषा हविर्दानेन सर्वाणि सुखानि दाशत् ददाति। किं कुर्वती ? प्रब्रुवाणा सर्वप्राणिनां व्यक्तवाण्या हेतुभूता सतीयं वर्त्तत इति ॥ २ ॥

भाषार्थ

(या गौर्व०) जिस २ का नाम गौ कह आये हैं सो २ लोक अपने २ मार्ग में घूमता और पृथिवी अपनी कक्षा में सूर्य्य के चारों ओर घूमती है।

* सुपांसुलुगिति सूत्रेण विवस्वत इति प्राप्ते विवस्वते चेति पदं जायते ॥

अर्थात् परमेश्वर ने जिस २ के घूमने के लिये जो २ मार्ग निष्कृत अर्थात् निश्चय किया है उस २ मार्ग में सब लोक घूमते हैं। (पयो दुहाना०) वह गौ अनेक प्रकार के रस, फल, फूल, तृण और अन्नादि पदार्थों से सब प्राणियों को निरन्तर पूर्ण करती है। तथा अपने २ घूमने के मार्ग में सब लोक सदा घूमते २ नियम ही से प्राप्त हो रहे हैं। (सा प्रभुवाणा०) जो विद्यादि उत्तम गुणों का देनेवाला परमेश्वर है उसी के जानने के लिये सब जगत् दृष्टान्त है और जो विद्वान् लोग हैं उन को उत्तम पदार्थों के दान से अनेक सुखों को भूमि देती और पृथिवी, सूर्य्य, वायु और चन्द्रादि गौ ही सब प्राणियों की वाणी का निमित्त भी है ॥ २ ॥

त्वं सोम पितृभिः संविदानोऽनु द्यावापृथिवी आततन्थ। तस्मै त इन्द्रो हविषा विधेम वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥ ३ ॥ ऋ० अ० ६। अ० ४। व० १३। मं० ३ ॥

भाष्यम्

(त्वं सोम०) अस्याभिप्रा०—अस्मिन्मन्त्रे चन्द्रलोकः पृथिवीमनुभ्रमतीत्ययं विशेषोऽस्ति। अयं सोमश्चन्द्रलोकः पितृभिः पितृवत्पालकैर्गुणैः सह संविदानः सम्यक् ज्ञातः सन् भूमिमनुभ्रमति। कदाचित्सूर्य्यपृथिव्योर्मध्येऽपि भ्रमन्सन्नागच्छतीत्यर्थः। अस्यार्थं भाष्यकरणसमये स्पष्टतया वक्ष्यामि। तथा द्यावापृथिवी एजेते इति मन्त्रवर्णार्थो द्यौः सूर्य्यः, पृथिवी च भ्रमतश्चलत इत्यर्थः। अर्थात्स्वस्यां स्वस्यां कक्षायां सर्वे लोका भ्रमन्तीति सिद्धम् ॥ ३ ॥

इति पृथिव्यादिलोकभ्रमणविषयः सङ्क्षेपतः

भाषार्थ

(त्वं सोम०) इस मन्त्र में यह बात है कि चन्द्रलोक पृथिवी के चारों ओर घूमता है। कभी २ सूर्य और पृथिवी के बीच में भी आजाता है। इस मन्त्र का अर्थ अच्छी तरह से भाष्य में करेंगे। तथा (द्यावापृथिवी) यह बहुत

मन्त्रों में पाठ है कि द्यौः नाम प्रकाश करने वाले सूर्य आदि लोक और जो प्रकाशरहित पृथिवी आदि लोक हैं वे सब अपनी २ कक्षा में सदा घूमते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि सब लोक भ्रमण करते हैं ॥ ३ ॥

इति संक्षेपतः पृथिव्यादिलोकभ्रमणविषयः

अथाकर्षणानुकर्षणविषयः

यदा ते हर्य्यता हरी वावृधाते दिवेदिवे । आदित्ते विश्वा भुवनानि येमिरे ॥ १ ॥ ऋ० अ० ६ । अ० १ । व० ६ । मं० ३ ॥

भाष्यम्

(यदा ते०) अस्याभिप्रा०—सूर्य्येण सह सर्वेषां लोकानामाकर्षणमस्तीश्वरेण सह सूर्य्यादिलोकानां चेति । हे इन्द्रेश्वर ! वा वायो ! सूर्य्य ! यदा यस्मिन्काले ते हरी आकर्षणप्रकाशनहरणशीलौ बलपराक्रमगुणावश्वौ किरणौ वा हर्य्यता हर्य्यतौ प्रकाशवन्तावत्यन्तं वर्धमानौ भवतस्ताभ्यां (आदित्) तदनन्तरं (दिवेदिवे) प्रतिदिनं प्रतिक्षणं च ते तव गुणाः प्रकाशाकर्षणादयो (विश्वा) विश्वानि सर्वाणि भुवनानि सर्वान् लोकानाकर्षणेन येमिरे नियमेन धारयन्ति । अतःकारणात्सर्वे लोकाः स्वां स्वां कक्षां विहायेतस्ततो नैव विचलन्तीति ॥ १ ॥

भाषार्थ

(यदा ते०) इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि सब लोकों के साथ सूर्य्य का आकर्षण और सूर्य्य आदि लोकों के साथ परमेश्वर का आकर्षण है। (यदा ते०) हे इन्द्र परमेश्वर ! आप के अनन्त बल और पराक्रमगुणों से सब संसार का धारण, आकर्षण और पालन होता है। आप के ही सब गुण सूर्य्यादि लोकों को धारण करते हैं। इस कारण से सब लोक अपनी २ कक्षा और स्थान

से इधर उधर चलायमान नहीं होते। दूसरा अर्थ। इन्द्र जो वायु, सूर्य्य है इस में ईश्वर के रचे आकर्षण, प्रकाश और बल आदि बड़े २ गुण हैं। उन से सब लोकों का दिन २ और क्षण २ के प्रति धारण, आकर्षण और प्रकाश होता है। इस हेतु से सब लोक अपनी २ ही कक्षा में चलते रहते हैं, इधर उधर विचल भी नहीं सकते ॥ १ ॥

यदा ते मारुतीर्विशस्तुभ्यमिन्द्र नियेमिरे। आदित्ते विश्वा भुवनानि येमिरे ॥ २ ॥ ऋ० अ० ६। अ० १। व० ६। मं० ४ ॥

भाष्यम्

(यदा ते मारुती०) अस्याभिप्रा०—अत्रापि पूर्वमन्त्रवदाकर्षणविद्यास्तीति। हे पूर्वोक्तेन्द्र! यदा ते तव मारुतीर्मारुत्यो मरणधर्माणो मरुत्प्रधाना वा विशः प्रजास्तुभ्यं येमिरे तवाकर्षणधारणनियमं प्राप्नुवन्ति तदैव सर्वाणि विश्वानि भुवनानि स्थितिं लभन्ते। तथा तवैव गुणैर्नियेमिरे। आकर्षणनियमं प्राप्नुवन्ति सन्ति। अतएव सर्वाणि भुवनानि यथाकक्षं भ्रमन्ति वसन्ति च ॥ २ ॥

भाषार्थ

(यदा ते मारुती०) अभि०—इस मन्त्र में भी आकर्षण विद्या है। हे परमेश्वर! आप की जो प्रजा, उत्पत्ति स्थिति और प्रलयधर्मवाली और जिसमें वायु प्रधान है वह आप के आकर्षणादि नियमों से तथा सूर्य्यलोक के आकर्षण करके भी स्थिर हो रही है। जब इन प्रजाओं को आप के गुण नियम में रखते हैं तभी भुवन अर्थात् सब लोक अपनी २ कक्षा में घूमते और स्थान में बस रहे हैं ॥ २ ॥

यदा सूर्यममुं दिवि शुक्रं ज्योतिरधारयः। आदित्ते विश्वा भुवनानि येमिरे ॥ ३ ॥ ऋ० अ० ६। अ० १। व० ६। मं० ५ ॥

भाष्यम्

(यदा सूर्य०) अभि०—अत्रापि पूर्ववदभिप्रायः । हे परमेश्वराऽमुं सूर्य्यं भवान् रचितवानस्ति । यद्दिवि द्योतनात्मके त्वयि शुक्रमनन्तं सामर्थ्यं ज्योतिः प्रकाशमयं वर्त्तते, तेन त्वं सूर्य्यादिलोकानधारयो धारितवानसि । (आदित्ते) तदनन्तरं (विश्वा) विश्वानि सर्वाणि भुवनानि सूर्य्यादयो लोका अपि (येमिरे) तदाकर्षणनियमेनैव स्थिराणि सन्ति । अर्थाद्यथा सूर्यस्याकर्षणेन पृथिव्यादयो लोकास्तिष्ठन्ति, तथा परमेश्वरस्याकर्षणेनैव सूर्यादयः सर्वे लोका नियमेन सह वर्त्तन्त इति ॥ ३ ॥

भाषार्थ

(यदा सूर्य्य०) अभि०—इस मन्त्र में भी आकर्षण विचार है । हे परमेश्वर ! जब उन सूर्य्यादि लोकों को आप ने रचा और आप के ही प्रकाश से प्रकाशित हो रहे हैं और आप अपने अनन्त सामर्थ्य से उन का धारण कर रहे हो, इसी कारण से सूर्य्य और पृथिवी आदि लोकों और अपने स्वरूप को धारण कर रहे हैं । इन सूर्य्य आदि लोकों का सब लोकों के साथ आकर्षण से धारण होता है । इससे यह सिद्ध हुआ कि परमेश्वर सब लोकों का आकर्षण और धारण कर रहा है ॥ ३ ॥

व्यस्तभ्नाद्रोदसी मित्रो अद्भुतोन्तर्वावदकृणोज्ज्योतिषा तमः । विचर्मणीव धिषणे अवर्त्तयद्वैश्वानरो विश्वमधत्त वृष्ण्यम् ॥ ४ ॥ ऋ० अ० ४ । अ० ५ । व० १० । मं० ३ ॥

भाष्यम्

(व्यस्तभ्नाद्रोदसी०) अभि०—परमेश्वरसूर्यलोकौ सर्वाँल्लोकानाकर्षणप्रकाशाभ्यां धारयत इति । हे परमेश्वर ! तव सामर्थ्येनैव वैश्वानरः पूर्वोक्तः सूर्य्यादिलोको रोदसी द्यावापृथिव्यौ भूमिप्रकाशौ व्यस्तभ्नात्स्तम्भितवानस्ति । अतो भवान् मित्र इव सर्वेषां लोकानां व्यवस्थापकोस्ति । अद्भुत

आश्चर्य्यस्वरूपः स सवितादिलोको ज्योतिषा तमोन्तरकरणोत्तिरोहितं निवारितं तमः करोति। वावत्तथैव धिषणे धारणकर्त्र्यौ द्यावापृथिव्यौ धारणाकर्षणेन व्यवर्त्तयत्। विविधतयैतयोर्वर्त्तमानं कारयति। कस्मिन्निव चर्मण्याकर्षितानि लोमानीव। यथा त्वचि लोमानि स्थितान्याकर्षितानि भवन्ति, तथैव सूर्य्यादिबलाकर्षणेन सर्वे लोकाः स्थापिताः सन्तीति विज्ञेयम्। अतः किमागतं? वृष्ण्यं वीर्य्यवद्विश्वं सर्वं जगच्च सूर्य्यादिलोको धारयति, सूर्य्यादेर्धारणमीश्वरः करोतीति ॥ ४ ॥

भाषार्थ

(व्यस्तभ्नाद्रोदसी०) अभि०—इस मन्त्र में भी आकर्षणविचार है। हे परमेश्वर! आप के प्रकाश से ही वैश्वानर सूर्य आदि लोकों का धारण और प्रकाश होता है। इस हेतु से सूर्य आदि लोक भी अपने २ आकर्षण से अपना और पृथिवी आदि लोकों का भी धारण करने में समर्थ होते हैं। इस कारण से आप सब लोकों के परम मित्र और स्थापन करनेवाले हैं, और आप का सामर्थ्य अत्यन्त आश्चर्यरूप है। सो सविता आदि लोक अपने प्रकाश से अन्धकार को निवृत्त कर देते हैं। तथा प्रकाशरूप और अप्रकाशरूप इन दोनों लोकों का समुदाय धारण और आकर्षण व्यवहार में वर्त्तते हैं। इस हेतु से इन से नाना प्रकार का व्यवहार सिद्ध होता है। वह आकर्षण किस प्रकार से है कि जैसे त्वचा में लोमों का आकर्षण हो रहा है वैसे ही सूर्य आदि लोकों के आकर्षण के साथ सब लोकों का आकर्षण हो रहा है और परमेश्वर भी इन सूर्य आदि लोकों का आकर्षण कर रहा है ॥ ४ ॥

आ कृष्णेन रजसा वर्त्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च। हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन् ॥ १ ॥ य० अ० ३३। मं० ४३ ॥

भाष्यम्

(आकृष्णेन०) अभि०—अत्राप्याकर्षणविद्यास्तीति। सविता परमात्मा

सूर्य्यलोको वा रजसा सर्वैर्लोकैः सहाकृष्णेनाकर्षणगुणेन सह वर्त्तमानोस्ति। कथंभूतेन गुणेन ? हिरण्ययेन ज्योतिर्मयेन। पुनः कथंभूतेन ? रमणानन्दादिव्यवहारसाधकज्ञानतेजोरूपेण रथेन। किं कुर्वन् सन् ? मर्त्यं मनुष्यलोकममृतं सत्यविज्ञानं किरणसमूहं वा स्वस्वकक्षायां निवेशयन्व्यवस्थापयन्सन्। तथा च मर्त्यं पृथिव्यात्मकं लोकं प्रत्यमृतं मोक्षमोषध्यात्मकं वृष्ट्यादिकं रसं च प्रवेशयन्सन्सूर्य्यो वर्त्तमानोस्ति। स च सूर्य्यो देवो द्योतनात्मको भुवनानि सर्वान् लोकान्धारयति। तथा पश्यन्दर्शयन्सन् रूपादिकं विभक्तं याति प्रापयतीत्यर्थः। अस्मात्पूर्वमन्त्राद् द्युभिरक्तुभिरिति पदानुवर्त्तनात्सूर्य्यो द्युभिः सर्वैर्दिवसैरक्तुभिः सर्वाभीरात्रिभिश्चार्थात्सर्वांल्लोकान्प्रतिक्षणमाकर्षतीति गम्यते। एवं सर्वेषु लोकेष्वात्मिका स्वा स्वाप्याकर्षणशक्तिरस्त्येव। तथानन्ताकर्षणशक्तिस्तु खलु परमेश्वरेस्तीति मन्तव्यम्। रजो लोकानां नामास्ति। अत्राहुर्निरुक्तकारा यास्काचार्य्याः। लोका रजांस्युच्यन्ते॥ निरु० अ० ४। खं० १६॥ रथो रंहतेर्गतिकर्मणः, स्थिरतेर्वा स्याद्विपरीतस्य, रममाणोऽस्मिँस्तिष्ठतीति वा, रयतेर्वा, रसतेर्वा॥ निरु० अ० ६। खं० ११॥ विश्वानरस्यादित्यस्य॥ निरु० अ० १२। खं० २१॥ अतो रथशब्देन रमणानन्दकरं ज्ञानं तेजो गृह्यते। इत्यादयो मन्त्रा वेदेषु धारणाकर्षणविधायका बहवः सन्तीति बोध्यम्॥ १॥

भाषार्थ

(आकृष्णेन०) अभि०—इस मन्त्र में भी आकर्षण विद्या है। सविता जो परमात्मा, वायु और सूर्य लोक हैं वे सब लोकों के साथ आकर्षण, धारण गुण से सहित वर्त्तते हैं। सो हिरण्यय अर्थात् अनन्त बल, ज्ञान और तेज से सहित (रथेन) आनन्दपूर्वक क्रीड़ा करने के योग्य ज्ञान और तेज से युक्त हैं। इस में परमेश्वर सब जीवों के हृदयों में अमृत अर्थात् सत्य विज्ञान को सदैव प्रकाश करता है। और सूर्यलोक भी रस आदि पदार्थों को मर्त्य अर्थात् मनुष्य लोक में प्रवेश करता और सब लोकों को व्यवस्था से अपने २ स्थान में रखता है। वैसे ही परमेश्वर धर्मात्मा ज्ञानी लोगों को अमृतरूप मोक्ष देता और सूर्य-

लोक भी रसयुक्त जो ओषधि और वृष्टि का अमृतरूप जल को पृथिवी में प्रविष्ट करता है । सो परमेश्वर सत्य असत्य का प्रकाश और सब लोकों का प्रकाश करके सब को जनाता है । तथा सूर्यलोक भी रूपादि का विभाग दिखलाता है । इस मन्त्र से पहिले मन्त्र में (शुभिरक्तुभिः) इस पद से यही अर्थ आता है कि दिन रात अर्थात् सब समय में सब लोकों के साथ सूर्यलोक का और सूर्य आदि लोकों के साथ परमेश्वर का आकर्षण हो रहा है । तथा सब लोकों में ईश्वर ही की रचना से अपना २ आकर्षण है और परमेश्वर की तो आकर्षणरूप शक्ति अनन्त है । यहां लोकों का नाम रज है । और रथ शब्द के अनेक अर्थ हैं । इस कारण से कि जिस से रमण और आनन्द की प्राप्ति होती है उस को रथ कहते हैं । इस विषय में निरुक्त का प्रमाण इसी मन्त्र के भाष्य में लिखा है सो देख लेना । ऐसे धारण और आकर्षणविद्या के सिद्ध करने वाले मन्त्र वेदों में बहुत हैं ॥ १ ॥

इति धारणाकर्षणविषयः संक्षेपतः

अथ प्रकाश्यप्रकाशकविषयः संक्षेपतः

सूर्य्येण चन्द्रादयः प्रकाशिता भवन्तीत्यत्र विषये विचारः

सत्येनोत्तभिता भूमिः सूर्य्येणोत्तभिता द्यौः । ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति दिवि सोमो अधिश्रितः ॥ १ ॥ सोमेनादित्या बलिनः सोमेन पृथिवी मही । अथो नक्षत्राणामेषामुपस्थे सोम आहितः ॥ २ ॥ अथर्व० कां० १४ । अनु० १ । मं० १ । २ ॥ कः स्विदेकाकी चरति क उ स्विज्जायते पुनः । किंस्विद्धिमस्य भेषजं किं वा वपनं महत् ॥ ३ ॥ सूर्य्य एकाकी चरति चन्द्रमा जायते पुनः । अग्निर्हिमस्य भेषजं भूमिरावपनं महत् ॥ ४ ॥ य० अ० २३ । मं० ९ । १० ॥

भाष्यम्

(सत्ये नो०) एषामभि०—अत्र चन्द्रपृथिव्यादिलोकानां सूर्य्यः प्रकाशकोऽस्तीति । इयं भूमिः सत्येन नित्यस्वरूपेण ब्रह्मणोत्तभितोर्ध्वमाकाशमध्ये धारितास्ति वायुना सूर्येण च । (सूर्य्येण०) तथा द्यौः सर्वः प्रकाशः सूर्य्येणोत्तभितो धारितः । (ऋतेन०) कालेन सूर्य्येण वायुना वाऽऽदित्या द्वादश मासाः किरणास्त्रसरेणवो बलवन्तः सन्तो वा तिष्ठन्ति । (दिवि सोमो अधिश्रितः) एवं दिवि द्योतनात्मके सूर्य्यप्रकाशे सोमश्चन्द्रमा अधिश्रित आश्रितः सन्प्रकाशितो भवति, अर्थाच्चन्द्रलोकादिषु स्वकीयः प्रकाशो नास्ति । सर्वे चन्द्रादयो लोकाः सूर्य्यप्रकाशेनैव प्रकाशिता भवन्तीति वेद्यम् ॥ १ ॥ (सोमेनादित्या०) सोमेन चन्द्रलोकेन सहादित्याः किरणाः संयुज्य ततो निवृत्य च भूमिं प्राप्य बलिनो बलं कर्त्तुं शीला भवन्ति, तेषां बलप्रापकशीलत्वात् । तद्यथा । यावन्तो (यावति ?)ऽन्तरिक्षदेशे सूर्य्यप्रकाशस्यावरणं पृथिवी करोति तावति देशेऽधिकं शीतलत्वं भवति । तत्र सूर्य्यकिरणपतनाभावात्तदभावे चोष्णत्वाभावात्ते बलकारिणो बलवन्तो भवन्ति । सोमेन चन्द्रमसः प्रकाशेन सोमाद्यौषध्यादिना च पृथिवी मही बलवती पुष्टा भवति । अथो इत्यनन्तरमेषां नक्षत्राणामुपस्थे समीपे चन्द्रमा आहितः स्थापितः सन्वर्त्तत इति विज्ञेयम् ॥ २ ॥ (कः स्वि०) को ह्येकाकी ब्रह्माण्डे चरति ? । कोऽत्र स्वेनैव स्वयं प्रकाशितः सन् भवतीति ? । कः पुनः प्रकाशितो जायते ? । हिमस्य शीतस्य भेषजमौषधं किमस्ति ? । तथा बीजारोपणार्थं महत् क्षेत्रमिव किमत्र भवतीति ? प्रश्नाश्चत्वारः ॥ ३ ॥ एषां क्रमेणोत्तराणि । (सूर्य्य एकाकी०) अस्मिन्संसारे सूर्य्य एकाकी चरति, स्वयं प्रकाशमानः सन्नन्यान्सर्वान् लोकान् प्रकाशयति, तस्यैव प्रकाशेन चन्द्रमाः पुनः प्रकाशितो जायते, नहि चन्द्रमसि स्वतः प्रकाशः कश्चिदस्तीति । अग्निर्हिमस्य शीतस्य भेषजमौषधमस्तीति । भूमिर्महदावपनं बीजारोपणादेरधिकरणं क्षेत्रं चेति । वेदेष्वेतद्विषयप्रतिपादका एवंभूता मन्त्रा बहवः सन्ति ॥ ४ ॥

इति प्रकाश्यप्रकाशकविषयः

भाषार्थ

(सत्येनो०) इन मन्त्रों में यही विषय और उनका यही प्रयोजन है कि लोक दो प्रकार के होते हैं । एक तो प्रकाश करने वाले और दूसरे वे जो प्रकाश किये जाते हैं । अर्थात् सत्यस्वरूप परमेश्वर ने ही अपने सामर्थ्य से सूर्य्य आदि सब लोकों को धारण किया है । उसी के सामर्थ्य से सूर्य्यलोक ने भी अन्य लोकों का धारण और प्रकाश किया है । तथा ऋत * अर्थात् काल महीने सूर्य किरण और वायु ने भी सूक्ष्म स्थूल त्रसरेणु आदि पदार्थों का यथावत् धारण किया है । (दिवि सोमो०) इसी प्रकार दिवि अर्थात् सूर्य के प्रकाश में चन्द्रमा प्रकाशित होता है । उस में जितना प्रकाश है सो सूर्य आदि लोक का ही है । और ईश्वर का प्रकाश तो सब में है । परन्तु चन्द्र आदि लोकों में अपना प्रकाश नहीं है । किन्तु सूर्य आदि लोकों से ही चन्द्र और पृथिव्यादि लोक प्रकाशित हो रहे हैं ॥ १ ॥ (सोमेनादित्या०) जब आदित्य की किरण चन्द्रमा के साथ युक्त होके उससे उलट कर भूमि को प्राप्त हो के बलवाली होती हैं तभी वे शीतल भी होती हैं । क्योंकि आकाश के जिस २ देश में सूर्य के प्रकाश को पृथिवी की छाया रोकती है उस २ देश में शीत भी अधिक होता है। जिस २ देश में सूर्य की किरण तिरछी पड़ती है उस २ देश में गर्मी भी कमती होती है । फिर गर्मी के कम होने और शीतलता के अधिक होने से सब मूर्त्तिमान् पदार्थों के परमाणु जम जाते हैं । उन को जमने से पुष्टि होती है । और जब उन के बीच में सूर्य्य की तेजरूप किरण पड़ती है तब उन में से भाफ उठती है । उनके योग से किरण भी बलवाली होती हैं । जैसे जल में सूर्य्य का प्रतिबिम्ब अत्यन्त चमकता है और चन्द्रमा के प्रकाश और वायु से सोमलता आदि ओषधियां भी पुष्ट होती हैं और उन से पृथिवी पुष्ट होती है । इसीलिये ईश्वर ने नक्षत्र लोकों के समीप चन्द्रमा को स्थापित किया है ॥ २ ॥ (कः स्वि०) इस मन्त्र में चार प्रश्न हैं । उन के बीच में से पहिला (प्रश्न)

* तथा ऋत अर्थात् काल ने, मही ने, सूर्य ने किरण और वायु ने भी यथायोग्य और सूक्ष्म स्थूल त्रसरेणु आदि पदार्थों का धारण किया है । (हस्तलिखित ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका में ऐसा पाठ है)

कौन एकाकी अर्थात् अकेला विचरता और अपने प्रकाश से प्रकाशवाला है ? (दूसरा) कौन दूसरे के प्रकाश से प्रकाशित होता है ? (तीसरा) शीत का औषध क्या है ? और (चौथा) कौन बड़ा क्षेत्र अर्थात् स्थूलपदार्थ रखने का स्थान है ? ॥ ३ ॥ इन चारों प्रश्नों का क्रम से उत्तर देते हैं (सूर्य एकाकी०)। (१) इस संसार में सूर्य्य ही एकाकी अर्थात् अकेला विचरता और अपनी ही कील पर घूमता है। तथा प्रकाशस्वरूप होकर सब लोकों का प्रकाश करने वाला है। (२) उसी सूर्य के प्रकाश से चन्द्रमा प्रकाशित होता है। (३) शीत का औषध अग्नि है और चौथा यह है पृथिवी साकार चीज़ों के रखने का स्थान तथा सब बीज बोने का बड़ा खेत है (४)। वेदों में इस विषय के सिद्ध करने वाले मन्त्र बहुत हैं। उन में से यहां एकदेशमात्र लिख दिया है। वेदभाष्य में सब विषय विस्तारपूर्वक आजावेंगे ॥ ४ ॥

इति संक्षेपतः प्रकाश्यप्रकाशकविषयः

अथ गणितविद्याविषयः

एका॑ च मे ति॒स्रश्च॑ मे ति॒स्रश्च॑ मे॒ पञ्च॑ च मे॒ पञ्च॑ च मे स॒प्त च॑ मे स॒प्त च॑ मे॒ नव॑ च मे॒ नव॑ च म॒ एका॑दश च म॒ एका॑दश च मे॒ त्रयो॑दश च मे॒ त्रयो॑दश च मे॒ पञ्च॑दश च मे॒ पञ्च॑दश च मे स॒प्तद॑श च मे स॒प्तद॑श च मे॒ नव॑दश च मे॒ नव॑दश च म॒ एक॑विꣳशतिश्च म॒ एक॑विꣳशतिश्च मे॒ त्रयो॑विꣳशतिश्च मे॒ त्रयो॑विꣳशतिश्च मे॒ पञ्च॑विꣳशतिश्च मे॒ पञ्च॑विꣳशतिश्च मे स॒प्तवि॑ꣳशतिश्च मे स॒प्तवि॑ꣳशतिश्च मे॒ नव॑विꣳशतिश्च मे॒ नव॑विꣳशतिश्च म॒ एक॑त्रिꣳशच्च म॒ एक॑त्रिꣳशच्च मे॒ त्रय॑स्त्रिꣳशच्च मे य॒ज्ञेन॑ कल्पन्ताम् ॥ १ ॥ चत॑स्रश्च मे॒ऽष्टौ च॑ मे॒ऽष्टौ च॑ मे॒ द्वाद॑श च मे॒ द्वाद॑श च मे॒ षोड॑श च मे षोड॑श च मे विꣳश॒तिश्च॑ मे विꣳश॒तिश्च॑ मे॒ चतु॑र्विꣳशतिश्च मे॒ चतु॑र्विꣳशतिश्च मे॒ऽष्टावि॑ꣳशतिश्च मे॒ऽष्टावि॑ꣳशतिश्च मे॒ द्वात्रि॑ꣳशच्च मे॒ द्वात्रि॑ꣳशच्च मे॒ षट्त्रिꣳ-

शच्च मे षट्त्रिंशच्च मे चत्वारिंशच्च मे चत्वारिंशच्च मे चतुश्चत्वारिंशच्च मे चतुश्चत्वारिंशच्च मेऽष्टाचत्वारिंशच्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ २ ॥ य० अ० १८ । मं० २४ । २५ ॥

भाष्यम्

अभि०—अनयोर्मन्त्रयोर्मध्ये खल्वीश्वरेणाङ्कबीजरेखागणितं प्रकाशितमिति। (एका०) एकार्थस्य या वाचिका संख्यास्ति (१) सैकेन युक्ता द्वौ भवतः (२) यत्र द्वावेकेन युक्तौ सा त्रित्ववाचिका (३) ॥ १ ॥ द्वाभ्यां द्वौ युक्तौ चत्वारः (४) एवं तिसृभिस्त्रित्वसंख्यायुक्ता षट् (६) एवमेव चतस्रश्च मे पञ्च च मे इत्यादिषु परस्परं संयोगादिक्रिययाऽनेकविधाङ्कैर्गणितविद्या सिध्यति । अन्यत्खल्वत्रानेकचकाराणां पाठान्मनुष्यैरनेकविधा गणितविद्याः सन्तीति वेद्यम् । सेयं गणितविद्या वेदाङ्गे ज्योतिषशास्त्रे प्रसिद्धाऽस्त्यतो नात्र लिख्यते । परन्त्वीदृशा मन्त्रा ज्योतिषशास्त्रस्थगणितविद्याया मूलमिति विज्ञायते । इयमङ्कसंख्या निश्चितेषु संख्यातपदार्थेषु प्रवर्त्तते । ये चाज्ञातसंख्याः पदार्थास्तेषां विज्ञानार्थं बीजगणितं प्रवर्त्तते । तदपि विधानमेका चेति । अ-कं इत्यादिसंकेतैनैतन्मंत्रादिभ्यो बीजगणितं निःसरतीत्यवधेयम् ॥ २ ॥

"अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये । नि होता सत्सि बर्हिषि" ॥ १ ॥ साम० छं० । प्र० १ । खं० १ मं० १ ॥

यथैका क्रिया द्व्यर्थकरी प्रसिद्धेतिन्यायेन स्वरसङ्केताङ्कैर्बीजगणितमपि साध्यत इति बोध्यम्, एवं गणितविद्याया रेखागणितं तृतीयो भागः सोप्यत्रोच्यते ।

भाषार्थ

(एका च मे०) इन मन्त्रों में यही प्रयोजन है कि अङ्क, बीज और रेखा भेद से जो तीन प्रकार की गणितविद्या सिद्ध की है, उन में से प्रथम अङ्क जो

संख्या है (१), सो दो वार गणने से दो की वाचक होती है। जैसे १+१=२। ऐसे ही एक के आगे एक, तथा एक के आगे दो, वा दो के आगे एक आदि जोड़ने से भी समझ लेना। इसी प्रकार एक के साथ तीन जोड़ने से चार (४), तथा तीन को तीन (३) के साथ जोड़ने से (६), अथवा तीन को तीन से गुणने से ३×३=९ हुए ॥ १ ॥ इसी प्रकार चार के साथ चार, पांच के साथ पांच, छः के साथ छः, आठ के साथ आठ इत्यादि जोड़ने वा गुणने तथा सब मन्त्रों के आशय को फैलाने से सब गणितविद्या निकलती है। जैसे पांच के साथ पांच (५५), वैसे ही पांच २ छः २ (५५) (६६) इत्यादि जान लेना चाहिये। ऐसे ही इन मन्त्रों के अर्थों को आगे योजना करने से अङ्कों से अनेक प्रकार की गणितविद्या सिद्ध होती है। क्योंकि इन मन्त्रों के अर्थ और अनेक प्रकार के प्रयोगों से मनुष्यों को अनेक प्रकार की गणितविद्या अवश्य जाननी चाहिये। और जो कि वेदों का अङ्ग ज्योतिषशास्त्र कहाता है उसमें भी इसी प्रकार के मंत्रों के अभिप्राय से गणितविद्या सिद्ध की है। और अङ्कों से जो गणितविद्या निकलती है वह निश्चित और असंख्यात पदार्थों में युक्त होती है। और अज्ञात पदार्थों की संख्या जानने के लिये जो बीजगणित होता है सो भी (एका च मे०) इत्यादि मन्त्रों ही से सिद्ध होता है। जैसे (अ२+क३) (अ२−क३) (क३÷अ२) इत्यादि सङ्केत से निकलता है। यह भी वेदों ही से ऋषि मुनियों ने निकाला है। और इसी प्रकार से तीसरा भाग जो रेखागणित है सो भी वेदों ही से सिद्ध होता है ॥ २ ॥ (अग्न२ आ०) इस मन्त्र के संकेतों से भी बीजगणित निकलता है।

इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः। अयꣳसोमो वृष्णो अश्वस्य रेतो ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम ॥३॥ य० अ० २३। मं० ६२ ॥ कासीत् प्रमा प्रतिमा किं निदानमाज्यं किमासीत् परिधिः क आसीत्। छन्दः किमासीत् प्रउगं किमुक्थं यद्देवा देवमयजन्त विश्वे ॥ ४ ॥ ऋ० अ० ८। अ० ७। व० १८। मं० ३ ॥

भाष्यम्

(इयं वेदिः) अभिप्रा०—अत्र मन्त्रयो रेखागणितं प्रकाशयत इति । इयं या वेदिस्त्रिकोणा, चतुरस्रा, सेनाकारा, वर्तुलाकारादियुक्ता क्रियतेऽस्या वेदेराकृत्या रेखागणितोपदेशलक्षणं विज्ञायते । एवं पृथिव्याः परोऽन्तो यो भागोऽर्थात्सर्वतः सूत्रवेष्टनवदस्ति स परिधिरित्युच्यते । यश्चायं यज्ञो हि संगमनीयो रेखागणिते मध्यो व्यासाख्यो मध्यरेखाख्यश्च सोयं भुवनस्य भूगोलस्य ब्रह्माण्डस्य वा नाभिरस्ति । (अयꣳ सो०) सोमलोकोऽप्येवमेव परिध्यादियुक्तोऽस्ति । (वृष्णो अश्व०) वृष्टिकर्त्तुः सूर्यस्याग्नेर्वायोर्वा वेगहेतोरपि परिध्यादिकं तथैवास्ति । (रेतः) तेषां वीर्यमोषधिरूपेण सामर्थ्यार्थं विस्तृतमप्यस्तीति वेद्यम् । (ब्रह्मायं वा०) यद् ब्रह्मास्ति तद्वाण्याः (परमं व्योम) अर्थात्परिधिरूपेणान्तर्बहिः स्थितमस्ति ॥ ३ ॥ (कासीत् प्रमा) यथार्थज्ञानं यथार्थज्ञानवान् तत्साधिका बुद्धिः कासीत् सर्वस्येति शेषः ? । एवम् (प्रतिमा) प्रतिमीयतेऽनया सा प्रतिमा, यया परिमाणं क्रियते सा कासीत् ? । एवमेवास्य (निदानम्) कारणं किमस्ति ? । (आज्यम्) ज्ञातव्यं घृतवत्सारभूतं चास्मिन् जगति किमासीत्, सर्वदुःखनिवारकमानन्देन स्निग्धं सारभूतं च ? । (परिधिः क०) तथास्य सर्वस्य विश्वस्य पृष्ठावरणम् (क आसीत्) ? । गोलस्य पदार्थस्योपरि सर्वतः सूत्रवेष्टनं कृत्वा यावती रेखा लभ्येत स परिधिरित्युच्यते । (छन्दः०) स्वच्छन्दं स्वतन्त्रं वस्तु (किमासीत्) ? । (प्रउगं) प्रहोक्थं स्तोतव्यं (किमासीत्) इति प्रश्नाः । एषामुत्तराणि । (यद्देवादे०) यत् यं देवं परमेश्वरं विश्वेदेवाः सर्वे विद्वांसः (अयजन्त) समपूजयन्त, पूजयन्ति, पूजयिष्यन्ति च, स एव सर्वस्य (प्रमा) यथार्थतया ज्ञातास्ति (प्रतिमा) परिमाणकर्त्ता । एवमेवात्रेपि पूर्वोक्तोर्थो योजनीयः । अत्रापि परिधिशब्देन रेखागणितोपदेशलक्षणं विज्ञायते । सेयं विद्या ज्योतिषशास्त्रे विस्तरश उक्तास्ति । एवमेतद्विषयप्रतिपादका अपि वेदेषु बहवो मन्त्राः सन्ति ।

इति संक्षेपतो गणितविद्याविषयः

भाषार्थ

(इयं वेदिः०) अभिप्रा०—इन मन्त्रों में रेखागणित का प्रकाश किया है। क्योंकि वेदी की रचना में रेखागणित का भी उपदेश है। जैसे तिकोन, चौकोन, सेनपक्षी के आकार और गोल आदि जो वेदी का आकार किया जाता है सो आर्य्यों ने रेखागणित ही का दृष्टान्त माना था। क्योंकि (परो अन्तः पृ०) पृथिवी का जो चारों ओर घेरा है उस को परिधि और ऊपर से अन्त तक जो पृथिवी की रेखा है उस को व्यास कहते हैं। इसी प्रकार से इन मन्त्रों में आदि, मध्य और अन्त आदि रेखाओं को भी जानना चाहिये और इसी रीति से तिर्यक् विषुवत् रेखा आदि भी निकलती हैं ॥ ३ ॥ (कासीत्प्र०) अर्थात् यथार्थज्ञान क्या है ? (प्रतिमा) जिससे पदार्थों का तोल किया जाय सो क्या चीज़ है ? (निदानम्) अर्थात् कारण जिससे कार्य उत्पन्न होता है वह क्या चीज़ है ? (आज्यं) जगत् में जानने के योग्य सारभूत क्या है ? (परिधिः० परिधि किसको कहते हैं ? (छन्दः) स्वतन्त्र वस्तु क्या है ? (प्रउ०) प्रयोग और शब्दों से स्तुति करने के योग्य क्या है ? इन सात प्रश्नों का उत्तर यथावत् दिया जाता है। (यद्देवा देव०) जिसको सब विद्वान् लोग पूजते हैं वही परमेश्वर प्रमा आदि नाम वाला है। इन मन्त्रों में भी प्रमा और परिधि आदि शब्दों से रेखागणित साधने का उपदेश परमात्मा ने किया है। सो यह तीन प्रकार की गणितविद्या आर्य्यों ने वेदों से ही सिद्ध की है और इसी आर्य्यावर्त्त देश से सर्वत्र भूगोल में गई है।

इति संक्षेपतो गणितविद्याविषयः

अथेश्वरस्तुतिप्रार्थनायाचनासमर्पणोपासनाविद्याविषयः

स्तुतिविषयस्तु यो भूतं चेत्यारभ्योक्तो, वक्ष्यते च। अथेदानीं प्रार्थनाविषय उच्यते।

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि वीर्य्यमसि वीर्य्यं मयि धेहि बलमसि बलं मयि धेहि। ओजोऽस्योजो मयि धेहि मन्युरसि मन्युं मयि धेहि सहोऽसि सहो मयि धेहि ॥ १ ॥ य० अ० १९ । मं० ९ ॥ मयीदमिन्द्र इन्द्रियं दधात्वस्मान् रायो मघवानः सचन्ताम्। अस्माकꣳसन्त्वाशिषः सत्या नः सन्त्वाशिषः ॥ २ ॥ य० अ० २ । मं० १० ॥ यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते । तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा ॥ ३ ॥ य० अ० ३२ । मं० १४ ॥

भाष्यम्

अभि०—तेजोसीत्यादिमन्त्रेषु परमेश्वरस्य स्तुतिप्रार्थनादिविषयाः प्रकाश्यन्त इति बोध्यम् । (तेजोसि०) हे परमेश्वर ! त्वं वीर्य्यमस्यनन्तविद्यादिगुणैः प्रकाशमयोसि, मय्यप्यसंख्यातं तेजो विज्ञानं धेहि । (वीर्य्यमसि०) हे परमेश्वर ! त्वं वीर्यमस्यनन्तपराक्रमवानसि, कृपया मय्यपि शरीरबुद्धिशौर्य्यस्फूर्त्यादिवीर्य्यं पराक्रमं स्थिरं धारय । (बलम०) हे महाबलेश्वर ! त्वमनन्तबलमसि, मय्यप्यनुग्रहत उत्तमं बलं धेहि स्थापय । (ओजो०) हे परमेश्वर ! त्वमोजोसि, मय्यप्योजः सत्यं विद्याबलं धेहि । (मन्युरसि०) हे परमेश्वर ! त्वं मन्युर्दुष्टान्प्रति क्रोधकृदसि, मय्यपि स्वसत्तया दुष्टान्प्रति मन्युं धेहि । (सहोसि०) सहनशीलेश्वर ! त्वं सहोसि, मय्यपि सुखदुःखयुद्धादिसहनं धेहि । एवं कृपयैतदादिशुभान्गुणान्मह्यं देहीत्यर्थः ॥ १ ॥ (मयीदमिन्द्र०) हे इन्द्र परमैश्वर्यवन् परमात्मन् ! मयि मदात्मनि श्रोत्रादिकं मनश्च सर्वोत्तमं भवान् दधातु । तथाऽस्मांश्च पोषयतु । अर्थात् सर्वोत्तमैः पदार्थैः सह वर्त्तमानानस्मान्सदा कृपया करोतु पालयतु च । (अस्मान् रायो०) तथा नोस्मभ्यं मघं परमं विज्ञानादिधनं विद्यते यस्मिन् स मघवा, भवान् स परमोत्तमं राज्यादिधनमस्मदर्थं दधातु । (सचन्तां०) सचतां तत्र चास्मान् समवेतान्करोतु । तथा भवन्त उत्तमेषु गुणेषु सचन्तां समवेता भवन्त्वितीश्वराऽऽज्ञास्ति (अस्माकꣳस०) तथा हे भगवन् !

त्वत्कृपयाऽस्माकं सर्वा आशिष इच्छाः सर्वदा सत्या भवन्तु, मा काश्चिद-स्माकं चक्रवर्त्तिराज्यानुशासनादय आशिष इच्छा मोघा भवेयुः ॥ २ ॥
(याम्मेधां०) हे अग्ने परमेश्वर ! परमोत्तमया मेधया धारणावत्या धिया बुद्ध्या सह (मा) मां मेधाविनं सर्वदा कुरु । का मेधेत्युच्यते । (देव-गणाः) विद्वत्समूहाः, पितरो विज्ञानिनश्च यामुपासते, (तया०) तया मेधया (अद्य) वर्त्तमानदिने मां सर्वदा युक्तं कुरु संपादय । (स्वाहा) अत्र स्वाहाशब्दार्थे प्रमाणं निरुक्तकारा आहुः । स्वाहाकृतयः स्वाहेत्येतत्सु आहेति वा, स्वा वागाहेति वा, स्वं प्राहेति वा, स्वाहुतंह विर्जुहोतीति वा । तासामेषा भवति ॥ निरु० अ० ८ । खं० २० ॥ स्वाहाशब्दस्यायमर्थः । (सु आहेति वा) (सु) सुष्ठु कोमलं मधुरं कल्याणकरं प्रियं वचनं सर्वै-र्मनुष्यैः सदा वक्तव्यं, (स्वावागाहेति वा) या ज्ञानमध्ये स्वकीया वाग्वर्त्तते सा यदाह तदेव वागिन्द्रियेण सर्वदा वाच्यम् । (स्वं प्राहेति वा) स्वं स्वकीयपदार्थं प्रत्येव स्वत्वं वाच्यं न परपदार्थं प्रति चेति । (स्वाहुतं हवि-र्जुहोतीति वा) सुष्टुरीत्या संस्कृत्य २ हविः सदा होतव्यमिति स्वाहाश-ब्दपर्य्यायार्थाः ॥ ३ ॥

भाषार्थ

अब गणितविद्याविषय के पश्चात् तेजोसीत्यादि मन्त्रों में केवल ईश्वर की प्रार्थना, याचना, समर्पण और उपासनाविषय है । सो आगे लिखा जाता है । परन्तु जानना चाहिये कि स्तुतिविषय तो (यो भूतं च०) इत्यादि मन्त्रों में कुछ २ लिख दिया है और आगे भी कुछ लिखेंगे । यहां पहिले प्रार्थनाविषय लिखते हैं । (तेजोऽसि०) । अर्थात् हे परमेश्वर ! आप प्रकाशरूप हैं, मेरे हृदय में भी कृपा से विज्ञानरूप प्रकाश कीजिये । (वीर्य्यमसि०) हे जगदी-श्वर ! आप अनन्तपराक्रम वाले हैं, मुझ को भी पूर्ण पराक्रम दीजिये । (बल-मसि०) हे अनन्त बलवाले महेश्वर ! आप अपने अनुग्रह से मुझको भी शरीर और आत्मा में पूर्ण बल दीजिये । (ओजो०) हे सर्वशक्तिमन् ! आप सब सामर्थ्य के निवासस्थान हैं, अपनी करुणा से यथोचित सामर्थ्य का निवासस्थान

मुझको भी कीजिये। (मन्युरसि०) हे दुष्टों पर क्रोध करने हारे ! आप दुष्ट कामों और दुष्ट जीवों पर क्रोध करने का स्वभाव मुझ में भी रखिये। (सहोसि०) हे सब के सहन करनेहारे ईश्वर ! आप जैसे पृथिवी आदि लोकों के धारण और नास्तिकों के दुष्टव्यवहारों को सहते हैं वैसे ही सुख, दुःख, हानि, लाभ, सरदी, गरमी, भूख, प्यास और युद्ध आदि का सहने वाला मुझ को भी कीजिये। अर्थात् सब शुभगुण मुझ को देके अशुभ गुणों से सदा अलग रखिये ॥ १ ॥ (मयीदमिन्द्र०) हे उत्तम ऐश्वर्ययुक्त परमेश्वर ! आप अपनी कृपा से श्रोत्र आदि उत्तम इन्द्रिय और श्रेष्ठ स्वभाव वाले मन को मुझ में स्थिर कीजिये। अर्थात् हम को उत्तम गुण और पदार्थों के सहित सब दिन के लिये कीजिये। (अस्मान् रा०) हे परमधन वाले ईश्वर ! आप उत्तम राज्य आदि धनवाले हम को सदा के लिये कीजिये। (सचन्तां०) मनुष्यों के लिये ईश्वर की यह आज्ञा है कि हे मनुष्यो ! तुम लोग सब काल में सब प्रकार से उत्तम गुणों का ग्रहण और उत्तम ही कर्मों का सेवन सदा करते रहो। (अस्माकꣳस०) हे भगवन् ! आपकी कृपा से हम लोगों की सब इच्छा सर्वदा सत्य ही होती रहे, तथा सदा सत्य ही कर्म करने की इच्छा हो, किन्तु चक्रवर्ती राज्य आदि बड़े २ काम करने की योग्यता हमारे बीच में स्थिर कीजिये ॥ २ ॥ (याम्मेधाम्०) इस मन्त्र का यह अभिप्राय है कि हे परमात्मन् ! आप अपनी कृपा से, जो अत्यन्त उत्तम सत्यविद्यादि शुभगुणों को धारण करने के योग्य बुद्धि है, उस से युक्त हम लोगों को कीजिये, कि जिस के प्रताप से देव अर्थात् विद्वान् और पितर अर्थात् ज्ञानी होके हम लोग आप की उपासना सब दिन करते रहें। (स्वाहा०) इस शब्द का अर्थ निरुक्तकार यास्कमुनिजी ने अनेक प्रकार से कहा है। सो लिखते हैं, कि (सु आहेति वा) सब मनुष्यों को अच्छा, मीठा, कल्याण करने वाला और प्रिय वचन सदा बोलना चाहिये। (स्वा वागाहेति वा) अर्थात् मनुष्यों को यह निश्चय करके जानना चाहिये कि जैसी बात उन के ज्ञान के बीच में वर्त्तमान हो जीभ से भी सदा वैसा ही बोलें, उससे विपरीत नहीं। (स्वं प्राहेति वा०) सब मनुष्य अपने ही पदार्थ को अपना कहें, दूसरे के पदार्थ को कभी नहीं। अर्थात् जितना २ धर्मयुक्त पुरुषार्थ से उनको पदार्थ प्राप्त

हो उतने ही में सदा सन्तोष करें। (स्वाहुतं इ०) अर्थात् सर्व दिन अच्छी प्रकार सुगन्धादि द्रव्यों का संस्कार करके सब जगत् के उपकार करने वाले होम को किया करें। और स्वाहा शब्द का यह भी अर्थ है कि सब दिन मिथ्यावाद को छोड़ के सत्य ही बोलना चाहिये ॥ ३ ॥

स्थिरा वः सन्त्वायुधा पराणुदे वीळू उत प्रतिष्कभे। युष्माकमस्तु तविषी पनीयसी मा मर्त्यस्य मायिनः ॥ ४ ॥ ऋ० अ० १। अ० ३। व १८। मं० २ ॥ इषे पिन्वस्वोर्जे पिन्वस्व ब्रह्मणे पिन्वस्व क्षत्राय पिन्वस्व द्यावापृथिवीभ्यां पिन्वस्व। धर्मासि सुधर्मा मेन्यस्मे नृम्णानि धारय ब्रह्म धारय क्षत्रं धारय विशं धारय ॥ ५ ॥ य० अ० ३८। मं० १४। यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति। दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ ६ ॥ य० अ० ३४। मं० १ ॥ वाजश्च मे प्रसवश्च मे प्रयतिश्च मे प्रसितिश्च मे धीतिश्च मे क्रतुश्च मे०।

भाष्यम्

(स्थिरा वः०) अभि०—ईश्वरो जीवेभ्य आशीर्ददातीति विज्ञेयम्। हे मनुष्याः! वो युष्माकं (आयुधा) आयुधान्याग्नेयास्त्रादीनि, शतघ्नीभुशुण्डीधनुर्बाणास्यादीनि शस्त्राणि च, (स्थिरा) स्थिराणि मदनुग्रहेण सन्तु। (पराणुदे) दुष्टानां शत्रूणां पराजयाय युष्माकं विजयाय च सन्तु। तथा (वीळू) अत्यन्तदृढानि प्रशंसितानि च। (उत) एवं शत्रुसेनाया अपि (प्रतिष्कभे) प्रतिष्टम्भनाय पराङ्मुखतया पराजयकरणाय च सन्तु। तथा (युष्माकमस्तु तविषी०) युष्माकं तविषी सेनाऽत्यन्तप्रशंसनीया बलं चास्तु, येन युष्माकं चक्रवर्तिराज्यं स्थिरं स्याद्दुष्टकर्मकारिणां युष्मद्विरोधिनां शत्रूणां पराजयश्च सदा भवेत्, (मा मर्त्यस्य मा०) परन्त्वयमाशीर्वादः सत्यकर्मानुष्ठानिभ्यो हि ददामि। किन्तु मायिनोऽन्यायकारिणो मर्त्यस्य मनुष्यस्य च कदाचिन् मास्तु। अर्थान्नैव दुष्टकर्मकारिभ्यो मनुष्येभ्योऽहमा-

शीर्वादं कदाचिद्ददामीत्यभिप्रायः ॥ ४ ॥ (इषे पिन्वस्व०) हे भगवन् ! इषे उत्तमेच्छायै, परमोत्कृष्टायान्नाय, चास्मान् त्वं पिन्वस्व, स्वतन्त्रतया सदैव पुष्टिमतः प्रसन्नान् कुरु, (ऊर्जे०) वेदविद्याविज्ञानग्रहणाय परमप्रयत्नकारिणो ब्राह्मणवर्णयोग्यान् कृत्वा सदा पिन्वस्व, दृढोत्साहयुक्तानस्मान् कुरु, (क्षत्रा०) क्षत्राय साम्राज्याय पिन्वस्व, परमवीर[व]तः क्षत्रियस्वभावयुक्तान् चक्रवर्त्तिराज्यसहितानस्मान् कुरु, (द्यावापृ०) एवं यथा द्यावापृथिवीभ्यां सूर्य्याग्निभूम्यादिभ्यः पदार्थेभ्यः सर्वजगते प्रकाशोपकारौ भवतः, तथैव कलाकौशलयानचालनादिविद्यां गृहीत्वा सर्वमनुष्योपकारं वयं कुर्मः, एतदर्थमस्मान् पिन्वस्वोत्तमप्रयत्नवतः कुरु । (धर्मासि०) हे सुधर्म परमेश्वर ! त्वं धर्मासि न्यायकार्यासि, अस्मानपि न्यायधर्मयुक्तान् कुरु । (अमेनि०) हे सर्वहितकारकेश्वर ! यथा त्वममेनिर्निर्वैरोसि तथाऽस्मानपि सर्वमित्रान्निर्वैरान् कुरु । यथा (अस्मे) अस्मदर्थं (नृम्णानि) कृपया सुराज्यसुनियमसुरत्नादीनि धारय । एवमेवास्माकं (ब्रह्म०) वेदविद्यां ब्राह्मणवर्णं च धारय, (क्षत्रं०) राज्यं क्षत्रियवर्णं च धारय, (विशम्०) वैश्यवर्णं प्रजां च धारय । अर्थात्सर्वोत्तमान् गुणानस्मन्निष्ठान् कुर्विति प्रार्थ्यते याच्यते च भवान्, तस्मात् सर्वामस्मदिच्छां सम्पूर्णां संपादयेति ॥ ५ ॥ (यज्जाग्रतो दू०) यन् मनो जाग्रतो मनुष्यस्य दूरमुदैति, सर्वेषामिन्द्रियाणामुपरि वर्त्तमानत्वादधिष्ठातृत्वेन व्याप्नोति, (दैवम्) ज्ञानादिदिव्यगुणयुक्तं, (तदु०) तत्, उ इति वितर्के, सुप्तस्य पुरुषस्य (तथैव) तेनैव प्रकारेण स्वप्ने दिव्यपदार्थद्रष्टृ (एति) प्राप्नोति, एवं सुषुप्तौ च दिव्यानन्दयुक्ततां चैति । तथा (दूरंगमम्) अर्थाद्दूरगमनशीलमस्ति, (ज्योतिषां ज्योति०) ज्योतिषामिन्द्रियाणां सूर्यादीनां च ज्योतिः सर्वपदार्थप्रकाशकं (एकम्) असहायं यन्मनोस्ति, हे ईश्वर ! भवत्कृपया, (तन्मे०) तत्, मे मम, मनो मननशीलं सत्, शिवसंकल्पं कल्याणेष्टधर्मशुभगुणप्रियमस्तु ॥ ६ ॥ एवमेव वाजश्च म इत्यष्टादशाध्यायस्थैर्मन्त्रैः सर्वस्वसमर्पणं परमेश्वराय कर्त्तव्यमिति वेदे विहितम् । अतः परमोत्तमपदार्थं मोक्षमारभ्यान्नपानादिपर्य्यन्तमीश्वराद्याचितव्यमिति सिद्धम् ।

भावार्थ

(स्थिरा वः०) इस मन्त्र में ईश्वर सब जीवों को आशीर्वाद देता है कि हे मनुष्यो ! तुम लोग सब काल में उत्तम बलवाले हो। किन्तु तुम्हारे (आयुधा) अर्थात् आग्नेयादि अस्त्र और (शतघ्नी) तोप, (भुशुन्डी) बन्दूक, धनुष्, बाण और तलवार आदि शस्त्र सब स्थिर हों। तथा (पराणुदे) मेरी कृपा से तुम्हारे अस्त्र और शस्त्र सब दुष्ट शत्रुओं के पराजय करने के योग्य होवें। (वीळू) तथा वे अत्यन्त दृढ़ और प्रशंसा करने के योग्य होवें। (उत प्रतिष्कभे०) अर्थात् तुम्हारे अस्त्र और शस्त्र सब दुष्ट शत्रुओं की सेना के वेग थांभने के लिये प्रबल हों। तथा (युष्माकमस्तु त०) हे मनुष्यो ! तुम्हारी (तविषी०) अर्थात् सेना अत्यन्त प्रशंसा के योग्य हो। जिससे तुम्हारा अखण्डित बल और चक्रवर्त्ति राज्य स्थिर होकर दुष्ट शत्रुओं का सदा पराजय होता रहे। (मा मर्त्यस्य०) परन्तु यह मेरा आशीर्वाद केवल धर्मात्मा, न्यायकारी और श्रेष्ठ मनुष्यों के लिये है। और जो (मायि०) अर्थात् कपटी, छली, अन्यायकारी और दुष्ट मनुष्य हैं उन के लिये नहीं। किन्तु ऐसे मनुष्यों का तो सदा पराजय ही होता रहेगा। इसलिये तुम लोग सदा धर्मकार्यों ही को करते रहो॥ ४॥ (इषे पिन्वस्व०) हे भगवन् ! (इषे) हमारी शुभ कर्म करने ही की इच्छा हो और हमारे शरीरों को उत्तम अन्न से सदा पुष्टियुक्त रखिये। (ऊर्जे) अर्थात् अपनी कृपा से हम को सदा उत्तम पराक्रमयुक्त और दृढ़ प्रयत्न वाले कीजिये। (ब्रह्मणे०) सत्यशास्त्र अर्थात् वेदविद्या के पढ़ने पढ़ाने और उस से यथावत् उपकार लेने में हम को अत्यन्त समर्थ कीजिये, अर्थात् जिससे हम लोग उत्तम विद्यादि गुणों और कर्मों करके ब्राह्मणवर्ण हों। (क्षत्राय०) हे परमेश्वर ! आपके अनुग्रह से हम लोग चक्रवर्त्तिराज्य और शूरवीर पुरुषों की सेना से युक्त हों कि क्षत्रियवर्ण के अधिकारी हम को कीजिये। (द्यावापृ०) जैसे पृथिवी, सूर्य, अग्नि, जल और वायु आदि पदार्थों से सब जगत् का प्रकाश और उपकार होता है वैसे ही कला, कौशल, विमान आदि यान चलाने के लिये हम को उत्तम सुखसहित कीजिये, कि जिस से हम लोग सब सृष्टि के उपकार करने वाले हों।

(धर्मासि०) हे सुधर्मन् न्याय करनेहारे ईश्वर ! आप न्यायकारी हैं वैसे हम को भी न्यायकारी कीजिये। (अमे०) हे भगवन् ! जैसे आप निर्वैर होके सब से वर्त्तते हो वैसे ही सब से वैर रहित हम को भी कीजिये। (अस्मे०) हे परमकारुणिक ! हमारे लिये (नृम्णानि) उत्तम राज्य, उत्तम धन और शुभगुण दीजिये। (ब्रह्म०) हे परमेश्वर ! आप ब्राह्मणों को हमारे बीच में उत्तमविद्यायुक्त कीजिये। (क्षत्रम्०) हम को अत्यन्त चतुर, शूरवीर और क्षत्रियवर्ण का अधिकारी कीजिये। (विशम्०) अर्थात् वैश्यवर्ण और हमारी प्रजा का रक्षण सदा कीजिये, कि जिससे हम शुभगुण वाले होकर अत्यन्त पुरुषार्थी हों ॥ ५ ॥ (यज्जाग्रतो०) हे सर्वव्यापक जगदीश्वर ! जैसे जाग्रत् अवस्था में मेरा मन दूर २ घूमने वाला सब इन्द्रियों का स्वामी तथा (दैवम्०) ज्ञान आदि दिव्यगुण वाला और प्रकाशस्वरूप रहता है वैसे ही (तदुसु०) निद्रा अवस्था में भी शुद्ध और आनन्दयुक्त रहे। (ज्योतिषां०) जो प्रकाश का भी प्रकाश करनेवाला और एक है (तन्मे०) हे परमेश्वर ! ऐसा जो मेरा मन है सो आप की कृपा से (शिवस०) कल्याण करनेवाला और शुद्धस्वभावयुक्त हो, जिससे अधर्मकामों में कभी प्रवृत्त न हो ॥ ६ ॥ इसी प्रकार से (वाजश्च मे०) इत्यादि शुक्ल यजुर्वेद के अठारहवें अध्याय में मन्त्र, ईश्वर के अर्थ सर्वस्वसमर्पण करने के ही विधान में हैं। अर्थात् सब से उत्तम मोक्षसुख से लेके अन्न, जल पर्यन्त सब पदार्थों की याचना मनुष्यों को केवल ईश्वर ही से करनी चाहिये।

आयुर्यज्ञेन॑ कल्पतां प्राणो यज्ञेन॑ कल्पतां चक्षुर्यज्ञेन॑ कल्पताᳬश्रोत्रं॑ यज्ञेन॑ कल्पतां वाग्यज्ञेन॑ कल्पतां मनो॑ यज्ञेन॑ कल्पतामात्मा यज्ञेन॑ कल्पतां ब्रह्मा यज्ञेन॑ कल्पतां ज्योतिर्यज्ञेन॑ कल्पताᳬस्वर्यज्ञेन॑ कल्पतां पृष्ठं यज्ञेन॑ कल्पतां यज्ञो यज्ञेन॑ कल्पताम्। स्तोम॑श्च यजु॑श्च ऋक् च साम॑ च बृहच्च॑ रथन्तरं च॑। स्वर्दे॑वा अगन्मामृता॑ अभूम प्रजाप॑तेः प्रजा॑ अभूम वेट् स्वाहा॑ ॥ ७ ॥

य० अ० १८। मं० २९ ॥

भाष्यम्

(आयुर्यज्ञेन०) यज्ञो वै विष्णुः* । वेवेष्टि व्याप्नोति सर्वं जगत् स विष्णुरीश्वरः, हे मनुष्यास्तेन यज्ञेनेश्वरप्राप्त्यर्थं सर्वं स्वकीयमायुः कल्पतामिति । यदस्मदीयमायुरस्ति तदीश्वरेण कल्पतां, परमेश्वराय समर्पितं भवतु । एवमेव (प्राणः), (चक्षुः), (वाक्) वाणी, (मनः) मननं ज्ञानं, (आत्मा) जीवः, (ब्रह्मा) चतुर्वेदज्ञाता यज्ञानुष्ठानकर्त्ता, (ज्योतिः) सूर्यादिप्रकाशः, [(धर्मः) न्यायः] (स्वः) सुखं, (पृष्ठं) भूम्याद्यधिकरणं, (यज्ञो०) अश्वमेधादिः शिल्पक्रियामयो वा, (स्तोमः) स्तुतिसमूहः, (यजुः) यजुर्वेदाध्ययनम्, (ऋक्) ऋग्वेदाध्ययनम्, (साम) सामवेदाध्ययनम्, चकारादथर्ववेदाध्ययनं च, (बृहच्च रथन्तरं च) महत्क्रियासिद्धिफलभोगः शिल्पविद्याजन्यं वस्तु चास्मदीयमेतत्सर्वं परमेश्वराय समर्पितमस्तु, येन वयं कृतज्ञाः स्याम । एवं कृते परमकारुणिकः परमेश्वरः सर्वोत्तमं सुखमस्मभ्यं दद्यात्, येन वयं (स्वर्देवा०) सुखे प्रकाशिताः, (अमृता) परमानन्दमोक्षं (अगन्म) सर्वदा प्राप्ताः भवेम । तथा (प्रजापते प्र०) वयं परमेश्वरस्यैव प्रजा (अभूम) अर्थात्परमेश्वरं विहायान्यमनुष्यं राजानं नैव कदाचिन्मन्यामह इति । एवं जाते (वेट् स्वाहा०) सदा वयं सत्यं वदामो, भवदाज्ञाकरणे परमप्रयत्नेन उत्साहवन्तोऽभूम भवेम, मा कदाचिद्भवदाज्ञाविरोधिनो वयमभूम, किन्तु भवत्सेवायां सदैव पुत्रवद्वर्त्तेमहि ॥ ७ ॥

भाषार्थ

(आयुर्यज्ञेन०) यज्ञ नाम विष्णु का है, जो कि सब जगत् में व्यापक हो रहा है । उसी परमेश्वर के अर्थ सब चीज समर्पण कर देना चाहिये । इस विषय में यह मन्त्र है कि सब मनुष्य अपनी आयु को ईश्वर की सेवा और उसकी आज्ञापालन में समर्पित करें । (प्राणो०) अर्थात् अपना प्राण

* श० ब्रा० १ । २ । १३ ॥

भी ईश्वर के अर्थ कर देवें। (चक्षु०) जो प्रत्यक्ष प्रमाण और आंख, (श्रोत्रं) जो श्रवण विद्या और शब्द प्रमाणादि, (वाक्०) वाणी, (मनो०) मन और विज्ञान, (आत्मा०) जीव, (ब्रह्म) तथा चारों वेद को पढ़ के जो पुरुषार्थ किया है, (ज्योतिः०) जो प्रकाश, (स्वर्य०) जो सब सुख, (पृष्ठम्०) जो उत्तम कर्मों का फल और स्थान, (यज्ञो०) जो कि पूर्वोक्त तीन प्रकार का यज्ञ किया जाता है, ये सब ईश्वर की प्रसन्नता के अर्थ समर्पित कर देना अवश्य है। (स्तोमश्च०) जो स्तुति का समूह, (यजुश्च०) सब क्रियाओं की विद्या, (ऋक् च०) ऋग्वेद अर्थात् स्तुति स्तोत्र, (साम च०) सब गान करने की विद्या, (चकारात्०) अथर्ववेद, (बृहच्च०) बड़े २ सब पदार्थ और (रथन्तरं च०) शिल्पविद्या आदि के फलों में से जो २ फल अपने आधीन हों वे सब परमेश्वर के समर्पण कर देवें। क्योंकि सब वस्तु ईश्वर ही की बनाई हैं। इस प्रकार से जो मनुष्य अपनी सब चीजें परमेश्वर के अर्थ समर्पित कर देता है उसके लिये परमकारुणिक परमात्मा सब सुख देता है, इसमें संदेह नहीं। (स्वर्देवा०) अर्थात् परमात्मा की कृपा की लहर और परमप्रकाशरूप विज्ञानप्राप्ति में शुद्ध होके, तथा सब संसार के बीच में कीर्त्तिमान् होके, हम लोग परमानन्दस्वरूप मोक्षसुख को (अगन्म०) सब दिन के लिये प्राप्त हों। (प्रजापतेः०) तथा हम सब मनुष्य लोगों को उचित है कि किसी एक मनुष्य को अपना राजा न मानें। क्योंकि ऐसा अभागी कौन मनुष्य है कि जो सर्वज्ञ, न्यायकारी सब के पिता एक परमेश्वर को छोड़ के दूसरे की उपासना करे और राजा माने। इसलिये हम लोग उसी को अपना राजा मान के सत्य न्याय को प्राप्त हों। अर्थात् वही सब मनुष्यों के न्याय करने में समर्थ है अन्य कोई नहीं। (वेट् स्वाहा) अर्थात् हम लोग सर्वज्ञ, सत्यस्वरूप, सत्यन्याय करने वाले परमेश्वर राजा की अपने सत्यभाव से प्रजा हो के यथावत् सत्य मानने, सत्य बोलने और सत्य करने में समर्थ होवें। सब मनुष्यों को परमेश्वर से इस प्रकार की आशा करना उचित है कि हे कृपानिधे! आपकी आज्ञा और भक्ति से हम लोग परस्पर विरोधी कभी न हों किन्तु आप और सब के साथ सदा पिता पुत्र के समान प्रेम से वर्तें॥ ७॥

अथोपासनाविषयः संक्षेपतः

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः। वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः ॥ १ ॥ ऋ० अ० ४ । अ० ४ । व० २४ । मं० १ ॥ युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियम् । अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत् ॥ २ ॥ युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे । स्वर्ग्याय शक्त्या ॥ ३॥ युक्ताय सविता देवान्त्स्वर्यतो धिया दिवम् । बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्रसुवाति तान् ॥ ४ ॥ युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्विश्लोक एतु पथ्येव सूरेः । शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः ॥ ५ ॥ य० अ० ११ । मं० १ । २ । ३ । ४ । ५ ॥

भाष्यम्

(युञ्जते०) अस्याभि०—अत्र जीवेन सदा परमेश्वरस्यैवोपासना कर्त्तव्येति विधीयते । (विप्राः) ईश्वरोपासका मेधाविनः, (होत्राः) योगिनो मनुष्याः, (विप्रस्य०) सर्वज्ञस्य परमेश्वरस्य मध्ये (मनः) (युञ्जते) युक्तं कुर्वन्ति, (उत) अपि धियो बुद्धिवृत्तीस्तस्यैव मध्ये युञ्जते । कथंभूतः स परमेश्वरः ? सर्वमिदं जगत् यः (विदधे) विदधे, तथा (वयुनावि०) सर्वेषां जीवानां शुभाशुभानि यानि प्रज्ञानानि प्रजाश्च तानि यो वेद स वयुनावित्, (एकः) स एकोऽद्वितीयोऽस्ति, (इत्) सर्वत्र व्याप्तो ज्ञानस्वरूपश्च, नास्मात्पर उत्तमः कश्चित् पदार्थो वर्त्तत इति । तस्य (देवस्य) सर्वजगत्प्रकाशकस्य, (सवितुः) सर्वजगदुत्पादकस्येश्वरस्य सर्वैर्मनुष्यैः (परिष्टुतिः) परितः सर्वतः स्तुतिः कार्य्या, कथंभूता स्तुतिः ? (मही) महतीत्यर्थः, एवंकृते सति जीवाः परमेश्वरमुपगच्छन्तीति ॥ १ ॥ (युञ्जानो) योगं कुर्वाणः सन् (तत्त्वाय) ब्रह्मादितत्त्वज्ञानाय प्रथमं मनो युञ्जानः सन् योऽस्ति, तस्य धियं (सविता) कृपया परमेश्वरः स्वस्मिन्नुपयुङ्क्ते, (अग्नेर्ज्योतिः) यतोऽग्नेरीश्वरस्य (ज्योतिः) प्रकाशस्वरूपं (निचाय्य) यथावत्

निश्चित्य, (अध्याभरत्) स योगी स्वात्मनि परमात्मानं धारितवान् भवेत्, इदमेव पृथिव्या मध्ये योगिन उपासकस्य लक्षणमिति वेदितव्यम् ॥ २ ॥ सर्वे मनुष्या एवमिच्छेयुः (स्वर्ग्याय०) मोक्षसुखाय, (शक्त्या) योगबलोन्नत्या, (देवस्य) स्वप्रकाशस्यानन्दप्रदस्य (सवितुः) सर्वान्तर्यामिनः परमेश्वरस्य (सवे) अनन्तैश्वर्ये (युक्तेन मनस०) योगयुक्तेन शुद्धान्तःकरणेन वयं सदोपयुञ्जीमहीति ॥ ३ ॥ एवं योगाभ्यासेन कृतेन (स्वर्यतः) शुद्धभावप्रेम्णा (देवान्) उपासकान् योगिनः (सविता) अन्तर्यामीश्वरः कृपया (युक्त्वाय०) तदात्मसु प्रकाशकरणेन सम्यग् युक्त्वा (धिया) स्वकृपाधारवृत्त्या (बृहज्ज्योतिः) अनन्तप्रकाशं (दिवं) दिव्यं स्वस्वरूपम् (प्रसुवाति) प्रकाशयति, तथा (करिष्यतः) सत्यभक्तिं करिष्यमाणानुपासकान् योगिनः (सविता) परमकारुणिकान्तर्यामीश्वरो मोक्षदानेन सदानन्दयतीति ॥ ४ ॥ उपासनाप्रदोपासनाग्रहीतारौ प्रति परमेश्वरः प्रतिजानीते, (ब्रह्म पूर्व्यम्) यदा तौ पुरातनं सनातनं ब्रह्म (नमोभिः) स्थिरेणात्मना सत्यभावेन नमस्कारैरुपासाते तदा तद्ब्रह्म ताभ्यामाशीर्ददाति, (श्लोकः) सत्यकीर्त्तिः (वां) (वि) (एतु) व्येतु व्याप्नोतु, कस्य केव ? (सूरेः) परमविदुषः (पथ्येव) धर्ममार्ग इव, (ये) एवं य उपासकाः (अमृतस्य) मोक्षस्वरूपस्य नित्यस्य परमेश्वरस्य (पुत्राः) तदाज्ञानुष्ठातारस्तत्सेवकाः सन्ति, त एव (दिव्यानि) प्रकाशस्वरूपाणि विद्योपासनायुक्तानि कर्माणि तथा दिव्यानि (धामानि) सुखस्वरूपाणि जन्मानि सुखयुक्तानि स्थानानि वा (आतस्थुः) आ समन्तात् तेषु स्थिरा भवन्ति, ते (विश्वे०) सर्वे (वां) उपासनोपदेष्टृपदेश्यौ द्वौ (शृण्वन्तु) प्रख्यातौ जानन्तु । इत्यनेन प्रकारेणोपासनां कुर्वाणौ वां युवां द्वौ प्रतीश्वरोऽहं युजे, कृपया समवतो भवामीति ॥ ५ ॥

भाषार्थ

अब ईश्वर की उपासना का विषय जैसा वेदों में लिखा है उस में से कुछ संक्षेप से यहां भी लिखा जाता है । (युञ्जते मन०) इस का अभिप्राय यह

है कि जीव को परमेश्वर की उपासना नित्य करनी उचित है। अर्थात् उपासनासमय में सब मनुष्य अपने मन को उसी में स्थिर करें। और जो लोग ईश्वर के उपासक (विप्राः) अर्थात् बड़े २ बुद्धिमान (होत्राः) उपासनायोग के ग्रहण करनेवाले हैं, वे (विप्रस्य) सब को जाननेवाला, (बृहतः) सब से बड़ा, (विपश्चितः) और सब विद्याओं से युक्त जो परमेश्वर है, उस के बीच में (मनः) (युञ्जते) अपने मन को ठीक २ युक्त करते हैं, तथा (उत०) (धियः) अपनी बुद्धिवृत्ति अर्थात ज्ञान को भी (युञ्जते०) सदा परमेश्वर ही में स्थिर करते हैं। जो परमेश्वर इस सब जगत् को (विदधे०) धारण और विधान करता है, (वयुनाविदेक इत्) जो सब जीवों के ज्ञानों तथा प्रजा का भी साक्षी है, वही एक परमात्मा सर्वत्र व्यापक है, कि जिससे परे कोई उत्तम पदार्थ नहीं है। (देवस्य) उस देव अर्थात् सब जगत् के प्रकाश और (सवितुः) सब की रचना करनेवाले परमेश्वर की (परिष्टुतिः) हम लोग सब प्रकार से स्तुति करें। कैसी वह स्तुति है कि (मही) सब से बड़ी, अर्थात जिस के समान किसी दूसरे की हो ही नहीं सकती ॥ १ ॥ (युञ्जानः) योग को करनेवाले मनुष्य (तत्त्वाय) तत्त्व अर्थात् ब्रह्मज्ञान के लिये, (प्रथमम्) (मनः) जब अपने मन को पहिले परमेश्वर में युक्त करते हैं, तब (सविता) परमेश्वर उनकी (धियम्) बुद्धि को अपनी कृपा से अपने में युक्त कर लेता है। (अग्नेर्ज्यो०) फिर वे परमेश्वर के प्रकाश को निश्चय करके (अध्याभरत्) यथावत् धारण करते हैं। (पृथिव्याः) पृथिवी के बीच में योगी का यही प्रसिद्ध लक्षण है ॥ २ ॥ सब मनुष्य इस प्रकार की इच्छा करें कि (वयम्) हम लोग (स्वर्ग्याय) मोक्षसुख के लिये, (शक्त्या) यथायोग्य सामर्थ्य के बल से, (देवस्य) परमेश्वर की सृष्टि में उपासनायोग करके, अपने आत्मा को शुद्ध करें, कि जिससे (युक्तेन मनसा) अपने शुद्ध मन से परमेश्वर के प्रकाश व आनन्द को प्राप्त हों ॥ ३ ॥ इसी प्रकार वह परमेश्वर देव भी (देवान्) उपासकों को (स्वर्यतो धिया दिवम्) अत्यन्त सुख को दे के (सविता) उनकी बुद्धि के साथ अपने आनन्दस्वरूप प्रकाश को करता है। तथा (युक्त्वाय) वही अन्तर्यामी परमात्मा अपनी कृपा से उनको युक्त करके उनके आत्माओं में

(बृहज्ज्योतिः) बड़े प्रकाश को प्रकट करता है। और (सविता) जो सब जगत् का पिता है वही (प्रसुवा०) उन उपासकों को ज्ञान और आनन्दादि से परिपूर्ण कर देता है। परन्तु (करिष्यतः) जो मनुष्य सत्य प्रेम भक्ति से परमेश्वर की उपासना करेंगे उन्हीं उपासकों को परमकृपामय अन्तर्यामी परमेश्वर मोक्षसुख देके सदा के लिये आनन्दयुक्त करदेगा ॥ ४ ॥ उपासना का उपदेश देनेवाले और ग्रहण करनेवाले दोनों के प्रति परमेश्वर प्रतिज्ञा करता है कि जब तुम (पूर्व्यम्) सनातन ब्रह्म की (नमोभिः) सत्यप्रेमभाव से अपने आत्मा को स्थिर करके नमस्कारादि रीति से उपासना करोगे तब मैं तुम को आशीर्वाद देऊंगा कि (श्लोकः) सत्यकीर्ति (वां) तुम दोनों को (एतु) प्राप्त हो। किसके समान ? (पथ्येव सूरेः) जैसे परम विद्वान् को धर्ममार्ग यथावत् प्राप्त होता है इसी प्रकार तुम को सत्यसेवा से सत्यकीर्त्ति प्राप्त हो। फिर भी मैं सब को उपदेश करता हूं कि (अमृतस्य पुत्राः) हे मोक्षमार्ग के पालन करनेवाले मनुष्यो ! (शृण्वन्तु विश्वे) तुम सब लोग सुनो कि (आये धामानि०) जो दिव्यलोकों अर्थात् मोक्षसुखों को (आतस्थुः) पूर्व प्राप्त हो चुके हैं उसी उपासनायोग से तुम लोग भी उन सुखों को प्राप्त हो। इसमें संदेह मत करो। इसलिये (युजे) मैं तुम को उपासनायोग में युक्त करता हूं ॥ ५ ॥

सीरा॑ युञ्जन्ति क॒वयो॑ यु॒गा वित॑न्वते॒ पृथ॑क् । धीरा॑ दे॒वेषु॑ सुम्न॒या ॥ ६ ॥ यु॒नक्त॒ सीरा॒ वि यु॒गा त॑नुध्वं कृ॒ते योनौ॑ वपते॒ह बीज॑म् । गि॒रा च॑ श्रु॒ष्टिः सभ॑रा॒ अस॑न्नो॒ नेदी॑य॒ इत्सृ॒ण्यः॑ प॒क्वमेया॑त् ॥ ७ ॥ य० अ० १२ । मं० ६७ । ६८ ॥

भाष्यम्

(कवयः) विद्वांसः क्रान्तदर्शनाः क्रान्तप्रज्ञा वा, (धीराः) ध्यानवन्तो योगिनः, (पृथक्) विभागेन (सीराः) योगाभ्यासोपासनार्थं नाडीर्युञ्जन्ति, अर्थात् तासु परमात्मानं ज्ञातुमभ्यस्यन्ति, तथा (युगा) युगानि योगयुक्तानि कर्माणि (वितन्वते) विस्तारयन्ति । य एवं कुर्वन्ति ते (देवेषु)

विद्वत्सु योगिषु (सुम्नया) सुखेनैव स्थित्वा परमानन्दं युञ्जन्ति प्राप्नुवन्तीत्यर्थः ॥ ६ ॥ हे योगिनो ! यूयं योगाभ्यासोपासनेन परमात्मयोगेनानन्दं (युनक्त) तद्युक्ता भवत, एवं मोक्षसुखं सदा (वितनुध्वं) विस्तारयत, तथा (युगा०) उपासनायुक्तानि कर्माणि (सीराः) प्राणादित्ययुक्ता नाडीश्च युनक्तोपासनाकर्माणि योजयत । एवं (कृते योनौ) अन्तःकरणे शुद्धे कृते परमानन्दयोनौ कारणे आत्मनि (वपतेह बीजम्) उपासनाविधानेन योगोपासनाया विज्ञानाख्यं बीजं वपत, तथा (गिरा च) वेदवाण्या विद्यया (युनक्त) युङ्क्त, युक्ता भवत, किं च (श्रुष्टिः) क्षिप्रं शीघ्रं योगफलं (नो नेदीयः) नोऽस्मान्नेदीयोतिशयेन निकटं परमेश्वरानुग्रहेण (असत्) अस्तु, कथंभूतं फलं ? (पक्वं) शुद्धानन्दसिद्धं (एयात्) आ समन्तादियात् प्राप्नुयात्, (इत्सृण्यः) उपासनायुक्तास्ता योगवृत्तयः सृण्यः सर्वक्लेशहन्त्र्य एव भवन्ति । इदिति निश्चयार्थे । पुनः कथंभूतास्ताः ? (सभराः) शान्त्यादिगुणपुष्टाः । एताभिर्वृत्तिभिः परमात्मयोगं वितनुध्वम् ॥ ७ ॥

अत्र प्रमाणम् । श्रुष्टीति क्षिप्रनामाशु अष्टीति ॥ निरु० अ० ६ । खं० १२ । द्विविधा सृणिर्भवति भर्त्ता च हन्ता च । निरु० अ० १३ । खं० ५ ॥

भाषार्थ

(कवयः) जो विद्वान् योगी लोग और (धीराः) ध्यान करने वाले हैं वे (सीरा युञ्जन्ति) (पृथक्) यथायोग्य विभाग से नाड़ियों में अपने आत्मा से परमेश्वर की धारणा करते हैं । (युगा) जो योगयुक्त कर्म्मों में तत्पर रहते हैं, (वितन्वते) अपने ज्ञान और आनन्द को सदा विस्तृत करते हैं (देवेषु सुम्नया) वे विद्वानों के बीच में प्रशंसित होके परमानन्द को प्राप्त होते हैं ॥ ६ ॥ हे उपासक लोगो ! तुम योगाभ्यास तथा परमात्मा के योग से नाड़ियों में ध्यान करके परमानन्द को (वितनुध्वं०) विस्तार करो । इस प्रकार करने से (कृते योनौ) योनि अर्थात् अपने अन्तःकरण को शुद्ध और परमानन्दस्वरूप परमेश्वर में स्थिर करके उसमें उपासनाविधान से विज्ञानरूप (बीजं) बीज को (वपत)

अच्छी प्रकार से बोओ। तथा (गिरा च) पूर्वोक्त प्रकार से वेदवाणी करके परमात्मा में (युनक्त) युक्त होकर उस की स्तुति प्रार्थना और उपासना में प्रवृत्ति करो। तथा (श्रष्टिः) तुम लोग ऐसी इच्छा करो कि हम उपासनायोग के फल को प्राप्त होवें। और (नो नेदीयः) हम को ईश्वर के अनुग्रह से वह फल (असत्) शीघ्र ही प्राप्त हो। कैसा वह फल है कि (पक्वं) जो परिपक्व शुद्ध परम आनन्द से भरा हुआ और मोक्षसुख को प्राप्त करने वाला है। (इत्सृण्यः) अर्थात् वह उपासनायोगवृत्ति कैसी है कि सब क्लेशों को नाश करने वाली और (सभराः) सब शान्ति आदि गुणों से पूर्ण है। उन उपासनायोगवृत्तियों से परमात्मा के योग को अपने आत्मा में प्रकाशित करो ॥७॥

अष्टाविंशानि शिवानि शग्मानि सहयोगं भजन्तु मे। योगं प्रपद्ये क्षेमं च क्षेमं प्रपद्ये योगं च नमोऽहोरात्राभ्यामस्तु ॥ ८ ॥ अथर्व० कांड १९। अनु० १। सू० ८। मं० २। भूयानराॅत्याः शच्याः पतिस्त्वमिन्द्रासि विभूः प्रभूरिति त्वोपास्महे वयम् ॥ ९ ॥ नमस्ते अस्तु पश्यत पश्य मा पश्यत ॥ १० ॥ अन्नाद्येन यशसा तेजसा ब्राह्मणवर्चसेन ॥ ११ ॥ अथर्व० १३४। ४७–४९ ॥

भाष्यम्

(अष्टाविंशानि०) हे परमेश्वर भगवन्! कृपयाऽष्टाविंशानि, (शिवानि०) कल्याणानि कल्याणकारकाणि सन्त्वर्थाद्दशेन्द्रियाणि, दश प्राणा, मनोबुद्धिचित्ताहंकारविद्यास्वभावशरीरबलं चेति, (शग्मानि०) सुखकारकाणि भूत्वा (अहोरात्राभ्यां) दिवसे रात्रौ चोपासनाव्यवहारं योगं (मे) मम (भजन्तु) सेवन्तां, तथा भवत्कृपयाऽहं (योगं प्र०) प्राप्य (क्षेमं च), (प्रपद्ये) क्षेमं प्राप्य, योगं च प्रपद्ये। यतोऽस्माकं सहायकारी भवान् भवदेतदर्थं सततं नमोस्तु ते ॥ ८ ॥ इमे वक्ष्यमाणाश्च मन्त्रा अथर्ववेदस्य सन्तीति बोध्यम्। (इन्द्र०) हे इन्द्र परमेश्वर! त्वं (शच्याः) प्रजाया वाण्याः कर्मणो वा पतिरसि, तथा (भूयान्) सर्वशक्तिमत्त्वात् सर्वोत्कृष्टत्वा-

दतिशयेन बहुरसि, तथा (अरात्याः) शत्रुभूताया वाण्यास्तादृशस्य कर्मणो वा शत्रुरर्थाद्भूयान्निवारकोसि, (विभूः) व्यापकः (प्रभूः) समर्थश्चासि, (इति) अनेन प्रकारेणैवंभूतं (त्वा) त्वां (वयम्) सदैव (उपास्महे) अर्थात्तवैवोपासनं कुर्महे इति ॥ ६ ॥ अत्र प्रमाणम् । वाचो नामसु शचीति पठितम् । निघं० अ० १ । खं० ११ । तथा कर्मणां नामसु शचीति पठितम् । निघं० अ० २ । खं० १ । तथा प्रज्ञानामसु शचीति पठितम् । निघं० अ० ३ । खं० ६ । ईश्वरोऽभिवदति हे मनुष्याः ! यूयमुपासनारीत्या सदैव (मा) मां (पश्यत) सम्यग् ज्ञात्वा चरत, उपासक एवं जानीयाद्वदेच्च हे परमेश्वरानन्तविद्यायुक्त ! (नमस्ते अस्तु) ते तुभ्यमस्माकं सततं नमोस्तु भवतु ॥ १० ॥ (अन्नाद्येन) कस्मै प्रयोजनायान्नादिराज्यैश्वर्य्येण, (यशसा) सर्वोत्तमसत्कर्मानुष्ठानोद्भूतसत्यकीर्त्या, (तेजसा) निर्भयतया प्रागल्भ्येन च, (ब्राह्मणवर्चसेन) पूर्णविद्यया सह वर्त्तमानानस्मान् हे परमेश्वर ! त्वं कृपया सदैव (पश्य) संप्रेक्षस्वैतदर्थं वयं (त्वां) सर्वदोपास्महे ॥ ११ ॥

भाषार्थ

(अष्टाविंशानि शिवानि) हे परमैश्वर्य्ययुक्त मङ्गलमय परमेश्वर ! आप की कृपा से मुझ को उपासनायोग प्राप्त हो, तथा उस से मुझ को सुख भी मिले। इसी प्रकार आप की कृपा से दश इन्द्रिय, दश प्राण, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, विद्या, स्वभाव, शरीर और बल, ये अट्ठाइस सब कल्याणों में प्रवृत्त होके उपासनायोग को सदा सेवन करें। तथा हम भी (योगं) उस योग के द्वारा (क्षेमं) रक्षा को, और रक्षा से योग को प्राप्त हुआ चाहते हैं। इसलिये हम लोग रात दिन आप को नमस्कार करते हैं ॥ ८ ॥ (भूयानरात्याः) हे जगदीश्वर ! आप (शच्याः) सब प्रज्ञा, वाणी और कर्म इन तीनों के पति हैं। तथा (भूयान) सर्वशक्तिमान आदि विशेषणों से युक्त हैं। जिससे आप (अरात्याः) अर्थात् दुष्टप्रजा, मिथ्यारूपवाणी और पापकर्मों को विनाश करने में अत्यन्त समर्थ हैं। तथा आप को (विभूः) सब में व्यापक और (प्रभूः)

सब सामर्थ्य वाले जान के हम लोग आप की उपासना करते हैं ॥ ९ ॥ (नमस्ते अस्तु) अर्थात् परमेश्वर सब मनुष्यों को उपदेश करता है कि हे उपासक लोगो ! तुम मुझ को प्रेमभाव से अपने आत्मा में सदा देखते रहो । तथा मेरी आज्ञा और वेदविद्या को यथावत् जान के उसी रीति से आचरण करो । फिर मनुष्य भी ईश्वर से प्रार्थना करें कि हे परमेश्वर ! आप कृपादृष्टि से (पश्यमा) हम को सदा देखिये । इसलिये हम लोग आप को सदा नमस्कार करते हैं ॥ १० ॥ कि (अन्नाद्येन) अन्न आदि ऐश्वर्य्य, (यशसा) सब से उत्तम कीर्त्ति, (तेजसा) भय से रहित, (ब्राह्मणवर्चसेन) और सम्पूर्ण विद्या से युक्त हम लोगों को करके कृपा से देखिये । इसलिये हम लोग सदा आप की उपासना करते हैं ॥ ११ ॥

अम्भो अमो महः सह इति त्वोपास्महे वयम् ॥ १२ ॥ अम्भो अरुणं रजतं रजः सह इति त्वोपास्महे वयम् ॥ १३ ॥ उरुः पृथुः सुभूर्भुव इति त्वोपास्महे वयम् ॥ १४ ॥ प्रथो वरो व्यचो लोक इति त्वोपास्महे वयम् ॥ १५ ॥ अथर्व० कां० १३ । अनु० ४ । मं० ५० । ५१ । ५२ । ५३ ॥

भाष्यम्

(हे ब्रह्मन्) (अम्भः) व्यापकं, शान्तस्वरूपं, जलवत् प्राणस्यापि प्राणम् । आप्लृ धातोरसुन्प्रत्ययान्तस्यायं प्रयोगः । (अमः) ज्ञानस्वरूपम्, (महः) पूज्यं सर्वेभ्यो महत्तरं, (सहः) सहनस्वभावं ब्रह्म (त्वा) त्वां ज्ञात्वा (इति) अनेन प्रकारेण (वयं) सततं उपास्महे ॥ १२ ॥ (अम्भः) आदरार्थो द्विरारम्भः । अस्यार्थ उक्तः । (अरुणम्) प्रकाशस्वरूपम्, (रजतम्) रागविषयमानन्दस्वरूपम्, (रजः) सर्वलोकैश्वर्य्यसहितम्, (सहः) सहनशक्तिप्रदम् (इति त्वोपास्महे वयम्) त्वां विहाय नैव कश्चिदन्योर्थः कस्यचिदुपास्योस्तीति ॥ १३ ॥ (उरुः) सर्वशक्तिमान्, (पृथुः) अतीव विस्तृतो व्यापकः, (सुभूर्भुवः) सुष्ठुतया सर्वेषु पदार्थेषु भवतीति सुभूः, अन्तरिक्षवदवकाशरूपत्वाद्भुवः (इति) एवं ज्ञात्वा

(त्वा०) त्वां (उपास्महे वयम्) ॥ १४ ॥ बहुनामसु उरुरिति प्रत्यक्ष-मस्ति । निघण्टु अ० ३ । खं० १ । (प्रथः) सर्वजगत्प्रसारकः, (वरः) श्रेष्ठः, (व्यचः) विविधतया सर्वं जगज्जानातीति, (लोकः) लोक्यते सर्वैर्जनैर्लोकयति सर्वान् वा (इति त्वो०) वयमीदृक्स्वरूपं सर्वज्ञं त्वामु-पास्महे ॥ १५ ॥

भाषार्थ

(अम्भो) हे भगवन् ! आप सब में व्यापक, शान्तस्वरूप और प्राण के भी प्राण हैं । तथा (अमः) ज्ञानस्वरूप और ज्ञान को देने वाले हैं । (महः) सब के पूज्य, सब के बड़े और (सहः) सब के सहन करने वाले हैं । (इति) इस प्रकार का (त्वो०) आप को जान के (वयम्) हम लोग सदा उपासना करते हैं ॥ १२ ॥ (अम्भः) (दूसरी वार इस शब्द का पाठ केवल आदर के लिये है) (अरुणम्) आप प्रकाशस्वरूप सब दुःखों के नाश करने वाले, तथा (रजतम्) प्रीति का परम हेतु आनन्दस्वरूप, (रजः) सब लोकों के ऐश्व-र्य्य से युक्त, (सहः) (इस शब्द का भी पाठ आदरार्थ है) और सहनश-क्तिवाले हैं । इसलिये हम लोग आप की उपासना निरन्तर करते हैं ॥ १३ ॥ (उरु०) आप सब बल वाले, (पृथुः) अर्थात् आदि अन्त रहित, तथा (सुभूः) सब पदार्थों में अच्छे प्रकार से वर्त्तमान, और (भुवः) अवकाश-स्वरूप से सब के निवासस्थान हैं । इस कारण हम लोग उपासना करके आप के ही आश्रित रहते हैं ॥ १४ ॥ (प्रथो वरो०) हे परमात्मन् ! आप सब जगत् में प्रसिद्ध और उत्तम हैं । (व्यचः) अर्थात् सब प्रकार से इस जगत् का धारण, पालन और वियोग करने वाले तथा (लोकः) सब विद्वानों के देखने अर्थात् जानने के योग्य केवल आप ही हैं, दूसरा कोई नहीं ॥ १५ ॥

युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परितस्थुषः । रोचन्ते रोचना दिवि ॥ १६ ॥ ऋ० अ० १ । अ० १ । व० ११ । मं० १ ॥

भाष्यम्

(युञ्जन्ति) ये योगिनो विद्वांसः, (परितस्थुषः) परितः सर्वतः

सर्वान् जगत्पदार्थान् मनुष्यान्वा चरन्तं ज्ञातारं सर्वज्ञं (अरुषं) अहिंसकं करुणामयम् (रुष हिंसायाम्) (ब्रध्नं) विद्यायोगाभ्यासप्रेमभरेण सर्वानन्द-वर्धकं महान्तं परमेश्वरमात्मना सह युञ्जन्ति, (रोचनाः) त आनन्दे प्रकाशिता रुचिमया भूत्वा (दिवि) द्योतनात्मके सर्वप्रकाशके परमेश्वरे (रोचन्ते) परमानन्दयोगेन प्रकाशन्ते । इति प्रथमोऽर्थः । अथ द्वितीयः । (परित०) चरन्तमरुषमग्निमयं ब्रध्नमादित्यं सर्वे लोकाः पदार्थाश्च (युञ्ज-न्ति) तदाकर्षणेन युक्ताः सन्ति । एते सर्वे तस्यैव (दिवि) प्रकाशे (रोचनाः) रुचिकराः सन्तः (रोचन्ते) प्रकाशन्ते । इति द्वितीयोऽर्थः । अथ तृतीयः । य उपासकाः परितस्थुषः सर्वान् पदार्थान् चरन्तमरुषं सर्व-मर्मस्थं (ब्रध्नं) सर्वावयववृद्धिकरं प्राणमादित्यं प्राणायामरीत्या (दिवि) द्योतनात्मके परमेश्वरे वर्त्तमानं (रोचनाः) रुचिमन्तः सन्तो युञ्जन्ति युक्तं कुर्वन्ति । अतस्ते तस्मिन् मोक्षानन्दे परमेश्वरे रोचन्ते सदैव प्रकाशन्ते ॥१६॥

अत्र प्रमाणानि ॥ मनुष्यनामसु तस्थुषः पञ्चजना इति पठितम् ॥ निघं० अ० २ । खं० ३ । महत्, ब्रध्न, महन्नामसु पठितम् ॥ निघं० अ० ३ । खं० ३ । तथा युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तमिति । असौ वा आदित्यो ब्रध्नो-ऽरुषोऽमुमेवास्मा आदित्यं युनक्ति स्वर्गस्य लोकस्य समष्ट्यै ॥ १ ॥ श० कां० १३ । अ० २ । आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमा, रयिर्वा एत-त्सर्वं यन्मूर्त्तं चामूर्त्तं च, तस्मान्मूर्त्तिरेव रयिः ॥ १ ॥ प्रश्नोपनि० प्रश्न० १ । मं० ५ । परमेश्वरात् महान् कश्चिदपि पदार्थो नास्त्येवातः प्रथमेऽर्थे योजनीयम् । तथा शतपथप्रमाणं द्वितीयमर्थं प्रति ॥ एवमेव प्रश्नोपनिषत्प्रमाणं तृतीयमर्थं प्रति च । क्वचिन्निघण्टावश्वस्यापि ब्रध्नारुषौ नाम्नी पठिते । परन्त्वस्मिन् मन्त्रे तद्घटना नैव सम्भवति, शतपथादिव्याख्यानविरोधात्, मूलार्थविरोधादेकशब्देनाप्यनेकार्थग्रहणाच्च ॥ एवं सति मक्षमोक्षमूलरैर्ऋग्वे-दस्येङ्गलेण्डभाषया व्याख्याने यदश्वस्य पशोरेव ग्रहणं कृतं तद्भ्रान्ति-मूलमेवास्ति । सायणाचार्य्येणास्य मन्त्रस्य व्याख्यायामादित्यग्रहणादेक-स्मिन्नंशे तस्य व्याख्यानं सम्यक्कृतमस्ति, परन्तु न जाने मक्षमोक्षमूलरेणा-यमर्थ आकाशाद्वा पातालाद् गृहीतः । अतो विज्ञायते स्वकल्पनया लेखनं कृतमिति ज्ञात्वा प्रमाणार्हं नास्तीति ।

भावार्थ

(युञ्जन्ति) मुक्ति का उत्तम साधन उपासना है । इसलिये जो विद्वान् लोग हैं वे सब जगत् और सब मनुष्यों के हृदयों में व्याप्त ईश्वर को उपासना-रीति से अपने आत्मा के साथ युक्त करते हैं । वह ईश्वर कैसा है कि (चरन्तं) अर्थात् सब का जाननेवाला, (अरुषं) हिंसादि दोषरहित, कृपा का समुद्र, (ब्रध्नं) सब आनन्दों का बढ़ाने वाला, सब रीति से बड़ा है । इसी से (रोचनाः) अर्थात् उपासकों के आत्मा, सब अविद्यादि दोषों के अन्धकार से छूटके, (दिवि) आत्माओं को प्रकाशित करने वाले परमेश्वर में प्रकाशमय होकर (रोचन्ते) प्रकाशित रहते हैं ॥ इति प्रथमोऽर्थः ॥ अब दूसरा अर्थ करते हैं, कि (परितस्थुषः) जो सूर्य्यलोक अपनी किरणों से सब मूर्तिमान् द्रव्यों के प्रकाश और आकर्षण करने में (ब्रध्नं) सब से बड़ा और (अरुषं) रक्तगुण-युक्त है, और जिस के आकर्षण के साथ सब लोक युक्त हो रहे हैं, (रोचनाः) जिस के प्रकाश से सब पदार्थ प्रकाशित हो रहे हैं, विद्वान् लोग उसी को सब लोकों के आकर्षयुक्त जानते हैं ॥ इति द्वितीयोऽर्थः ॥ (युञ्जन्ति) इस मन्त्र का और तीसरा यह भी अर्थ है कि सब पदार्थों की सिद्धि का मुख्य हेतु जो प्राण है, उस को प्राणायाम की रीति से, अत्यन्त प्रीति के साथ परमात्मा में युक्त करते हैं। इसी कारण वे लोग मोक्ष को प्राप्त हो के सदा आनन्द में रहते हैं। इन तीनों अर्थों में निघण्टु आदि के प्रमाण भाष्य में लिखे हैं, सो देख लेना ॥ १६ ॥ इस मन्त्र के इन अर्थों को नहीं जान के भट्ट मोक्षमूलर साहब ने घोड़े का जो अर्थ किया है सो ठीक नहीं है । यद्यपि सायणाचार्य्य का अर्थ भी यथावत् नहीं है, परन्तु मोक्षमूलर साहब के अर्थ से तो अच्छा ही है, क्योंकि प्रोफेसर मोक्षमूलर साहब ने इस अर्थ में केवल कपोल कल्पना की है ।

इदानीमुपासना कथंरीत्या कर्त्तव्येति लिख्यते । तत्र शुद्ध एकान्तेऽभीष्टे देशे शुद्धमानसः समाहितो भूत्वा, सर्वाणीन्द्रियाणि, मनश्चैकाग्रीकृत्य, सच्चिदानन्दस्वरूपमन्तर्यामिनं न्यायकारिणं परमात्मानं सञ्चिन्त्य तत्रात्मानं नियोज्य च, तस्यैव स्तुतिप्रार्थनानुष्ठानं सम्यक्कृत्वोपासनयेश्वरे पुनः २

स्वात्मानं संलगयेत् । अत्र पतञ्जलिमहामुनिना स्वकृतसूत्रेषु वेदव्यासकृतभाष्ये चायमनुक्रमो योगशास्त्रे प्रदर्शितः । तद्यथा—योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥ १ ॥ अ० १ । पा० १ । सू० २ ॥ उपासनासमये व्यवहारसमये वा परमेश्वरादतिरिक्तविषयादधर्मव्यवहाराच्च मनसो वृत्तिः सदैव निरुद्धा रक्षणीयेति । निरुद्धा सती सा क्वावतिष्ठत इत्यत्रोच्यते ॥ १ ॥ तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥ २ ॥ अ० १ । पा० १ । सू० ३ ॥ यदा सर्वस्माद्व्यवहारान्मनोऽवरुध्यते तदास्योपासकस्य मनो द्रष्टुः सर्वज्ञस्य परमेश्वरस्य स्वरूपे स्थितिं लभते ॥ २ ॥ यदोपासको योग्युपासनां विहाय सांसारिकव्यवहारे प्रवर्त्तते तदा सांसारिकजनवत्तस्यापि प्रवृत्तिर्भवत्याहोस्विद्विलक्षणेत्यत्राह ॥ वृत्तिसारूप्यमितरत्र ॥ ३ ॥ अ० १ । पा० १ । सू० ४ ॥ इतरत्र सांसारिकव्यवहारे प्रवृत्तेऽप्युपासकस्य योगिनः शान्ता धर्मारूढा विद्याविज्ञानप्रकाशा सत्यतत्त्वनिष्ठाऽतीवतीव्रा साधारणमनुष्यविलक्षणाऽपूर्वैव वृत्तिर्भवतीति । नैवेदृश्यनुपासकानामयोगिनां कदाचिद्वृत्तिर्जायत इति ॥ ३ ॥ कति वृत्तयः सन्ति कथं निरोद्धव्या इत्यत्राह । वृत्तयः पंचतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः ॥ ४ ॥ प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः ॥ ५ ॥ तत्र प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि ॥ ६ ॥ विपर्य्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् ॥ ७ ॥ शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ॥ ८ ॥ अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा ॥ ६ ॥ अनुभूतविषयासंप्रमोषः स्मृतिः ॥ १० ॥ अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ॥ ११ ॥ अ० १ । पा० १ । सू० ५ । ६ । ७ । ८ । ६ । १० । ११ । १२ ॥ उपासनायाः सिद्धेः सहायकारि परमं साधनं किमस्तीत्यत्रोच्यते ॥ ईश्वरप्रणिधानाद्वा ॥ १२ ॥ अ० १ । पा० १ । सू० २३ ॥ भा० प्रणिधानाद्भक्तिविशेषादावर्जित ईश्वरस्तमनुगृह्णात्यभिध्यानमात्रेण, तदभिध्यानादपि योगिन आसन्नतमः समाधिलाभः फलञ्च भवतीति ॥ १२ ॥

भाषार्थ

अब जिस रीति से उपासना करनी चाहिये सो आगे लिखते हैं । जब २ मनुष्य लोग ईश्वर की उपासना करना चाहें तब २ इच्छा के अनुकूल एकान्त

स्थान में बैठकर अपने मन को शुद्ध और आत्मा को स्थिर करें। तथा सब इन्द्रिय और मन को सच्चिदानन्दादि लक्षण वाले अन्तर्यामी अर्थात् सब में व्यापक और न्यायकारी परमात्मा की ओर अच्छी प्रकार से लगाकर, सम्यक् चिन्तन करके, उस में अपने आत्मा को नियुक्त करें। फिर उसी की स्तुति, प्रार्थना और उपासना को वारंवार करके अपने आत्मा को भलीभांति से उसमें लगा दे। इस की रीति पतञ्जलि मुनि के किये योगशास्त्र और उन्हीं सूत्रों के वेदव्यासमुनिजी के किये भाष्य के प्रमाणों से लिखते हैं। (योगश्चित्त०) चित्त की वृत्तियों को सब बुराइयों से हटा के, शुभ गुणों में स्थिर करके, परमेश्वर के समीप में मोक्ष को प्राप्त करने को योग कहते हैं। और वियोग उस को कहते हैं कि परमेश्वर और उस की आज्ञा से विरुद्ध बुराइयों में फंस के उस से दूर होजाना। (प्रश्न) जब वृत्ति बाहर के व्यवहारों से हटा के स्थिर की जाती है तब कहां पर स्थिर होती है ? इस का उत्तर यह है कि ॥ १ ॥ (तदा द्र०) जैसे जल के प्रवाह को एक ओर से दृढ़ बांध के रोक देते हैं तब वह जिस ओर नीचा होता है उस ओर चल के कहीं स्थिर हो जाता है, इसी प्रकार मन की वृत्ति भी जब बाहर से रुकती है तब परमेश्वर में स्थिर हो जाती है। एक तो चित्त की वृत्ति के रोकने का यह प्रयोजन है और दूसरा यह है कि ॥ २ ॥ (वृत्तिसा०) उपासक योगी और संसारी मनुष्य जब व्यवहार में प्रवृत्त होते हैं तब योगी की वृत्ति तो सदा हर्षशोकरहित, आनन्द से प्रकाशित होकर उत्साह और आनन्दयुक्त रहती है और संसार के मनुष्य की वृत्ति सदा हर्षशोकरूप दुःखसागर में ही डूबी रहती है। उपासक योगी की तो ज्ञानरूप प्रकाश में सदा बढ़ती रहती है और संसारी मनुष्य की वृत्ति सदा अन्धकार में फसती जाती है ॥ ३ ॥ (वृत्तयः०) अर्थात् सब जीवों के मन में पांच प्रकार की वृत्ति उत्पन्न होती है। उस के दो भेद हैं, एक क्लिष्ट दूसरी अक्लिष्ट, अर्थात् क्लेशसहित और क्लेशरहित। उन में से जिनकी वृत्ति विषयासक्त, परमेश्वर की उपासना से विमुख होती है, उन की वृत्ति अविद्यादि क्लेशसहित और जो पूर्वोक्त उपासक हैं उनकी क्लेशरहित शान्त होती हैं ॥ ४ ॥ वे पांच वृत्ति ये हैं—पहिली (प्रमाण), दूसरी (विपर्य्यय), तीसरी (विकल्प),

चौथी (निद्रा), और पांचमी (स्मृति) ॥ ५ ॥ इनके विभाग और लक्षण ये हैं, (तत्र प्रत्यक्षा०) । इसकी व्याख्या वेद विषय के होमप्रकरण में लिख दी है ॥ ६ ॥ (विपर्य्ययो०) दूसरी विपर्य्यय कि जिससे मिथ्याज्ञान हो । अर्थात् जैसे को तैसा न जानना । अथवा अन्य में अन्य की भावना कर लेना, इस को विपर्य्यय कहते हैं ॥ ७ ॥ तीसरी विकल्पवृत्ति (शब्दज्ञाना०), जैसे किसी ने किसी से कहा कि एक देश में हमने आदमी के शिर पर सींग देखे थे । इस बात को सुन के कोई मनुष्य निश्चय करले कि ठीक है सींग वाले मनुष्य भी होते होंगे । ऐसी वृत्ति को विकल्प कहते हैं । सो झूठी बात है । अर्थात् जिस का शब्द तो हो परन्तु किसी प्रकार का अर्थ किसी को न मिल सके इसी से इस का नाम विकल्प है ॥ ८ ॥ चौथी (निद्रा), अर्थात् जो वृत्ति अज्ञान और अविद्या के अन्धकार में फँसी हो उस वृत्ति का नाम निद्रा है । पांचवीं (स्मृति), (अनुभूत०) अर्थात् जिस व्यवहार वा वस्तु को प्रत्यक्ष देख लिया हो उसी का संस्कार ज्ञान में बना रहता और उस विषय को (अप्रमोष) भूले नहीं, इस प्रकार की वृत्ति को स्मृति कहते हैं । इन पांच वृत्तियों को बुरे कामों और अनीश्वर के ध्यान से हटाने का उपाय कहते हैं कि ॥ १० ॥ (अभ्यास०) जैसा अभ्यास उपासना प्रकरण में आगे लिखेंगे वैसा करें और वैराग्य अर्थात् सब बुरे कामों और दोषों से अलग रहें । इन दोनों उपायों से पूर्वोक्त पांच वृत्तियों को रोक के उन को उपासनायोग में प्रवृत्त रखना ॥ ११ ॥ तथा उस समाधि के योग होने का यह भी साधन है कि (ईश्वरप्र०), ईश्वर में विशेष भक्ति होने से मन का समाधान होके मनुष्य समाधियोग को शीघ्र प्राप्त हो जाता है ॥ १२ ॥

अथ प्रधानपुरुषव्यतिरिक्तः कोऽयमीश्वरो नामेति ? । क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥ १३ ॥ अ० १ । पा० १ । सू० २४ ॥ भा० अविद्यादयः क्लेशाः, कुशलाकुशलानि कर्माणि, तत्फलं विपाक,स्तदनुगुणा वासना आशयास्ते च मनसि वर्त्तमानाः पुरुषे व्यपदिश्यन्ते, स हि तत्फलस्य भोक्तेति, यथा जयः पराजयो वा योद्धृषु वर्त्तमानः स्वामिनि व्यपदि-

श्यते, यो ह्यनेन भोगेनापरामृष्टः स पुरुषविशेष ईश्वरः। कैवल्यं प्राप्तास्तर्हि सन्ति च बहवः केवलिनः? ते हि त्रीणि बन्धनानि छित्वा कैवल्यं प्राप्ताः। ईश्वरस्य च तत्सम्बन्धो न भूतो न भावी। यथा मुक्तस्य पूर्वा बन्धकोटिः प्रज्ञायते नैवमीश्वरस्य। यथा वा प्रकृतिलीनस्योत्तरा बन्धकोटिः सम्भाव्यते नैवमीश्वरस्य। स तु सदैव मुक्तः सदैवेश्वर इति। योऽसौ प्रकृष्टसत्त्वोपादानादीश्वरस्य शाश्वतिक उत्कर्षः स किं सानिमित्त आहोस्विन्निर्निमित्त इति?। तस्य शास्त्रं निमित्तम्। शास्त्रं पुनः किं निमित्तम्?। प्रकृष्टसत्त्वनिमित्तम्। एतयोः शास्त्रोत्कर्षयोरीश्वरसत्त्वे वर्त्तमानयोरनादिः सम्बन्धः। एतस्मादेतद्भवति सदैवेश्वरः सदैव मुक्त इति। तच्च तस्यैश्वर्य्यं साम्यातिशयविनिर्मुक्तं, न तावदैश्वर्य्यान्तरेण तदतिशय्यते, यदेवातिशयि स्यात्तदेव तत्स्यात्तस्माद्यत्र काष्ठाप्राप्तिरैश्वर्य्यस्य स ईश्वरः। न च तत्समानमैश्वर्यमस्ति। कस्मात्। द्वयोस्तुल्ययोरेकस्मिन् युगपत् कामितेऽर्थे, नवमिदमस्तु पुराणमिदमस्त्विति, एकस्य सिद्धावितरस्य प्राकाम्यविघातादूनत्वं प्रसक्तं, द्वयोश्च तुल्ययोर्युगपत् कामितार्थप्राप्तिर्नास्ति, अर्थस्य विरुद्धत्वात्तस्माद्यस्य साम्यातिशयविनिर्मुक्तमैश्वर्य्यं स ईश्वरः, स च पुरुषविशेष इति। किं च ॥ १३ ॥ तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् ॥ १४ ॥ अ० १। पा० १। सूत्र २५ ॥ भा० यदिदमतीतानागतप्रत्युत्पन्नप्रत्येकसमुच्चयातीन्द्रियग्रहणमल्पं बह्विति सर्वज्ञबीज,मेतद्विवर्धमानं यत्र निरतिशयं स सर्वज्ञः। अस्ति काष्ठाप्राप्तिः सर्वज्ञबीजस्य, सातिशयत्वात्परिमाणवदिति। यत्र काष्ठाप्राप्तिर्ज्ञानस्य स सर्वज्ञः, स च पुरुषविशेष इति। सामान्यमात्रोपसंहारे कृतोपक्षयमनुमानं न विशेषप्रतिपत्तौ समर्थमिति तस्य संज्ञादिविशेषप्रतिपत्तिरागमतः पर्य्यन्वेष्या। तस्यात्मानुग्रहाभावेपि भूतानुग्रहः प्रयोजनं, ज्ञानधर्मोपदेशेन कल्पप्रलयमहाप्रलयेषु संसारिणः पुरुषानुद्धरिष्यामीति। तथा चोक्तम्। आदिविद्वान्निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद्भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाचेति ॥ १४ ॥ स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥ १५ ॥ अ० १। पा० १। सू० २६ ॥ भा० पूर्वे हि गुरवः कालेनावच्छेद्यन्ते, यत्रावच्छेदार्थेन कालो नोपावर्त्तते स एष पूर्वेषामपि गुरुः, यथाऽस्य सर्गस्यादौ प्रकर्ष-

गत्या सिद्धः तथातिक्रान्तसर्गादिष्वपि प्रत्येतव्यः ॥ १५ ॥ तस्य वाचकः प्रणवः ॥ १६ ॥ अ० १ । पा० १ । सू० २७ ॥ भा० वाच्य ईश्वरः प्रणवस्य । किमस्य संकेतकृतं वाच्यवाचकत्वमथ प्रदीपप्रकाशवदवस्थितमिति ? स्थितोऽस्य वाच्यस्य वाचकेन सह सम्बन्धः । संकेतस्त्वीश्वरस्य स्थितमेवार्थमभिनयति । यथावस्थितः पितापुत्रयोः सम्बन्धः संकेतेनावद्योत्यते, अयमस्य पिता, अयमस्य पुत्र इति । सर्गान्तरेष्वपि वाच्यवाचकशक्त्यपेक्षस्तथैव संकेतः क्रियते । संप्रतिपत्तिनित्यतया नित्यः शब्दार्थसम्बन्ध इत्यागमिनः प्रतिजानते । विज्ञातवाच्यवाचकत्वस्य योगिनः ॥ १ ॥ तज्जपस्तदर्थभावनम् ॥ १७ ॥ अ० १ । पा० १ । सू० २८ ॥ भा० प्रणवस्य जपः प्रणवाभिधेयस्य चेश्वरस्य भावना । तदस्य योगिनः प्रणवं जपतः प्रणवार्थं च भावयतश्चित्तमेकाग्रं सम्पद्यते । तथा चोक्तम् । स्वाध्यायाद्योगमासीत योगात्स्वाध्यायमामनेत् । स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशत इति ॥ १७ ॥

भाषार्थ

अब ईश्वर का लक्षण कहते हैं कि (क्लेशकर्म०) । अर्थात् इसी प्रकरण में आगे लिखे हैं जो अविद्यादि पांच क्लेश और अच्छे बुरे कर्मों की जो २ वासना इन सब से जो सदा अलग और बन्धरहित है उसी पूर्ण पुरुष को ईश्वर कहते हैं । फिर वह कैसा है जिससे अधिक वा तुल्य दूसरा पदार्थ कोई नहीं, तथा जो सदा आनन्दज्ञानस्वरूप, सर्वशक्तिमान् है उसी को ईश्वर कहते हैं । क्योंकि ॥ १३ ॥ (तत्र निरति०) जिस में नित्य सर्वज्ञ ज्ञान है वही ईश्वर है । जिसके ज्ञानादि गुण अनन्त हैं, जो ज्ञानादि गुणों की पराकाष्ठा है, जिसके सामर्थ्य की अवधि नहीं । और जीव के सामर्थ्य की अवधि प्रत्यक्ष देखने में आती है । इसलिये सब जीवों को उचित है कि अपने ज्ञान बढ़ाने के लिये सदैव परमेश्वर की उपासना करते रहें ॥ १४ ॥ अब उस की भक्ति किस प्रकार से करनी चाहिये सो आगे लिखते हैं । (तस्य वा०) जो ईश्वर का ओंकार नाम है सो पिता पुत्र के सम्बन्ध के समान है और यह नाम ईश्वर को छोड़ के दूसरे अर्थ का वाची नहीं हो सकता । ईश्वर के जितने नाम हैं उनमें से ओंकार सब से

उत्तम नाम है। इसलिये ॥ १५ ॥ (तज्जप०) इसी नाम का जप अर्थात् स्मरण और उसी का अर्थविचार सदा करना चाहिये कि जिससे उपासक का मन एकाग्रता, प्रसन्नता और ज्ञान को यथावत् प्राप्त होकर स्थिर हो, जिससे उस के हृदय में परमात्मा का प्रकाश और परमेश्वर की प्रेमभक्ति सदा बढ़ती जाय। फिर उससे उपासकों को यह भी फल होता है कि ॥ १६ ॥

किंचास्य भवति ?। ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ॥१८॥ अ० १। पा० १। सू० २९ ॥ भा० ये तावदन्तराया व्याधिप्रभृतयस्ते तावदीश्वरप्रणिधानान्न भवन्ति। स्वरूपदर्शनमप्यस्य भवति। यथैवेश्वरः पुरुषः शुद्धः प्रसन्नः केवल अनुपसर्गः, तथायमपि बुद्धेः प्रतिसंवेदी यः पुरुष इत्येवमधिगच्छति ॥ अथ केऽन्तरायाः ये चित्तस्य विक्षेपकाः ? के पुनस्ते कियन्तो वेति ? ॥ १८ ॥ व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ॥१६॥ अ० १। पा० १। सू० ३० ॥ भा० नवान्तरायाश्चित्तस्य विक्षेपाः, सहैते चित्तवृत्तिभिर्भवन्त्येतेषामभावे न भवन्ति पूर्वोक्ताश्चित्तवृत्तयः। व्याधिर्धातुरसकरणवैषम्यम्, स्त्यानमकर्मण्यता चित्तस्य, संशय उभयकोटिस्पृक् विज्ञानं स्यादिदमेवं नैवं स्यादिति। प्रमादः समाधिसाधनानामभावनम्, आलस्यं कायस्य चित्तस्य च गुरुत्वादप्रवृत्तिः। अविरतिश्चित्तस्य विषयसंप्रयोगात्मा गर्द्धः। भ्रान्तिदर्शनं विपर्ययज्ञानम्। अलब्धभूमिकत्वं समाधिभूमेरलाभः। अनवस्थितत्त्वं यल्लब्धायां भूमौ चित्तस्याप्रतिष्ठा, समाधिप्रतिलम्भे हि सति तदवस्थितं स्यादिति। एते चित्तविक्षेपा नव योगमला योगप्रतिपक्षा योगान्तराया इत्यभिधीयन्ते ॥ १६ ॥ दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः ॥ १६ ॥ अ० १। पा० १। सू० ३१ ॥ भा० दुःखमाध्यात्मिकं, आधिभौतिकं, आधिदैविकं च। येनाभिहताः प्राणिनस्तदुपघाताय प्रयतन्ते तद्दुःखम्। दौर्मनस्यम् इच्छाभिघाताच्चेतसः क्षोभः। यदङ्गान्येजयति कंपयति तदङ्गमेजयत्वम्। प्राणो यद्बाह्यं वायुमाचामति स श्वासः। यत्कौष्ठ्यं वायुं निस्सारयति स प्रश्वासः। विक्षेपसहभुवः। विक्षि-

प्तचित्तस्यैते भवन्ति समाहितचित्तस्यैते न भवन्ति । अथैते विक्षेपाः समाधिप्रतिपक्षाः ताभ्यामेवाभ्यासवैराग्याभ्यां निरोद्धव्याः । तत्राभ्यासस्य विषयमुपसंहरन्निदमाह ॥ १६ ॥ तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः ॥ २० ॥ अ० १ । पा० १ । सू० ३२ ॥ भा० विक्षेपप्रतिषेधार्थमेकतत्त्वावलम्बनं चित्तमभ्यस्येत् । यस्य तु प्रत्यर्थनियतं प्रत्ययमात्रं क्षणिकं च चित्तं तस्य सर्वमेव चित्तमेकाग्रं, नास्त्येव विक्षिप्तम् । यदि पुनरिदं सर्वतः प्रत्याहृत्यैकस्मिन्नर्थे समाधीयते तदा भवत्येकाग्रमित्यतो न प्रत्यर्थनियतम् । योपि सदृशप्रत्ययप्रवाहेण चित्तमेकाग्रं मन्यते, तस्यैकाग्रता यदि प्रवाहचित्तस्य धर्मः, तदेकं नास्ति प्रवाहचित्तं क्षणिकत्वात् । अथ प्रवाहांशस्यैव प्रत्ययस्य धर्मः, स सर्वः सदृशप्रत्ययप्रवाही वा विसदृशप्रत्ययप्रवाही वा, प्रत्यर्थनियतत्वादेकाग्र एवेति विक्षिप्तचित्तानुपपत्तिः । तस्मादेकमनेकार्थमवस्थितं चित्तमिति । यदि च चित्तेनैकेनानन्विताः स्वभावभिन्नाः प्रत्यया जायेरन्, अथ कथमन्यप्रत्ययदृष्टस्यान्यः स्मर्त्ता भवेत् । अन्यप्रत्ययोपचितस्य च कर्माशयस्यान्यः प्रत्यय उपभोक्ता भवेत् । कथञ्चित्समाधीयमानमप्येतद् गोमयपायसीयं न्यायमाक्षिपति । किंच स्वात्मानुभवापन्हवः चित्तस्यान्यत्वे प्राप्नोति । कथम् ? यदहमद्राक्षं तत् स्पृशामि, यच्चास्प्राक्षं तत्पश्यामीति । अहमिति प्रत्ययः कथमत्यन्तभिन्नेषु चित्तेषु वर्त्तमानः सामान्यमेकं प्रत्ययिनमाश्रयेत् । स्वानुभवग्राह्यश्चायमभेदात्मा अहमिति प्रत्ययः । नच प्रत्यक्षस्य माहात्म्यं प्रमाणान्तरेणाभिभूयते । प्रमाणान्तरञ्च प्रत्यक्षबलेनैव व्यवहारं लभते । तस्मादेकमनेकार्थमवस्थितं च चित्तम् । यस्येदं शास्त्रेण परिकर्म निर्दिश्यते तत्कथम् ? ॥ २० ॥

भाषार्थ

इस मनुष्य को क्या होता है ? । (ततः प्र०) अर्थात् उस अन्तर्यामी परमात्मा की प्राप्ति और (अन्तराय) उस के अविद्यादि क्लेशों तथा रोगरूप विघ्नों का नाश हो जाता है । वे विघ्न नव प्रकार के हैं ॥ २७ ॥ (व्याधि)

एक व्याधि अर्थात् धातुओं की विषमता से ज्वर आदि पीड़ा का होना। (दूसरा) स्त्यान अर्थात् सत्य कर्मों में अप्रीति। (तीसरा) संशय अर्थात् जिस पदार्थ का निश्चय किया चाहे उस का यथावत् ज्ञान न होना। (चौथा) प्रमाद अर्थात् समाधिसाधनों के ग्रहण में प्रीति और उनका विचार यथावत् न होना। (पांचवां) आलस्य अर्थात् शरीर और मन में आराम की इच्छा से पुरुषार्थ छोड़ बैठना। (छठा) अविरति अर्थात् विषय सेवा में तृष्णा का होना। (सातवां) भ्रान्तिदर्शन अर्थात् उलटे ज्ञान का होना। जैसे जड़ में चेतन और चेतन में जड़बुद्धि करना तथा ईश्वर में अनीश्वर और अनीश्वर में ईश्वरभाव करके पूजा करना। (आठवां) अलब्धभूमिकत्व अर्थात् समाधि की प्राप्ति न होना। और (नववां) अनवस्थितत्व अर्थात् समाधि की प्राप्ति होने पर भी उस में चित्त स्थिर न होना। ये सब चित्त की समाधि होने में विक्षेप अर्थात् उपासनायोग के शत्रु हैं॥१९॥ अब इन के फल लिखते हैं (दुःखदौर्म०)। अर्थात् दुःख की प्राप्ति, मन का दुष्ट होना, शरीर के अवयवों का कम्पना, श्वास और प्रश्वास के अत्यन्त वेग से चलने में अनेक प्रकार के क्लेशों का होना जो कि चित्त को विक्षिप्त कर देते हैं। ये सब क्लेश अशान्त चित्तवाले को प्राप्त होते हैं शान्तचित्तवाले को नहीं। और उन के छुड़ाने का मुख्य उपाय यही है॥ २०॥ कि (तत्प्रतिषेधा०) जो केवल एक अद्वितीय ब्रह्मतत्त्व है उसी में प्रेम और सर्वदा उसी की आज्ञापालन में पुरुषार्थ करना है वही एक उन विघ्नों के नाश करने को वज्ररूप शस्त्र है अन्य कोई नहीं। इसलिये सब मनुष्यों को अच्छी प्रकार प्रेमभाव से परमेश्वर के उपासनायोग में नित्य पुरुषार्थ करना चाहिये कि जिस से वे सब विघ्न दूर हो जायं। आगे जिस भावना से, उपासना करने वाले को व्यवहार में अपने चित्त को, प्रसन्न करना होता है सो कहते हैं॥ २०॥

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्॥ २१॥ अ० १। पा०१। सू० ३३॥ भा० तत्र सर्वप्राणिषु सुखसंभोगापन्नेषु मैत्रीं भावयेत्, दुःखितेषु करुणां, पुण्यात्मकेषु मुदितां, अपुण्यशीलेषूपेक्षाम्। एवमस्य भावयतः शुक्लो धर्म उपजायते। ततश्च चित्तं

प्रसीदति । प्रसन्नमेकाग्रं स्थितिपदं लभते ॥ २१ ॥ प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ॥ २२ ॥ अ० १ । पा० १ । सू० ३४ ॥ भा० कोष्ठयस्य वायोर्नासिकापुटाभ्यां प्रयत्नविशेषाद्वमनं प्रच्छर्दनं, विधारणं प्राणायामः । ताभ्यां वा मनसः स्थितिं सम्पादयेत् । छर्दनं भक्षितान्नवमनवत् प्रयत्नेन शरीरस्थं प्राणं बाह्यदेशं निस्सार्य्य यथाशक्ति बहिरेव स्तम्भनेन चित्तस्य स्थिरता सम्पादनीया ॥ २२ ॥ योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः ॥ २३ ॥ अ० १ । पा० २ । सू० २८ ॥ एषामुपासनायोगाङ्गानामनुष्ठानाचरणादशुद्धिरज्ञानं प्रतिदिनं क्षीणं भवति ज्ञानस्य च वृद्धिर्यावन्मोक्षप्राप्तिर्भवति ॥ २३ ॥ यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ॥ २४ ॥ अ० १ । पा० २ । सू० २६ ॥ तत्राहिंसासत्यास्त्येयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥ २६ ॥ अ० १ । पा० २ । सू० ३० ॥ भा० तत्राहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः । उत्तरे च यमनियमास्तन्मूलास्तत्सिद्धिपरतया तत्प्रतिपादनाय प्रतिपाद्यन्ते । तदवदातरूपकारणायैवोपादीयन्ते, (तथा चोक्तम्), स खल्वयं ब्राह्मणो यथा यथा व्रतानि बहूनि समादित्सते तथा तथा प्रमादकृतेभ्यो हिंसानिदानेभ्यो निवर्त्तमानस्तामेवावदातरूपामहिंसां करोति । सत्यं, यथार्थे वाङ्मनसे । यथा दृष्टं, यथाऽनुमितं, यथा श्रुतं तथा वाङ्मनश्चेति । परत्र स्वबोधसङ्क्रान्तये वागुक्ता सा यदि न वञ्चिता भ्रान्ता वा प्रतिपत्तिबन्ध्या वा भवेत् । इत्येषा सर्वभूतोपकारार्थं प्रवृत्ता, न भूतोपघाताय । यदि चैवमप्यभिधीयमाना भूतोपघातपरैव स्यान्न सत्यं भवेत्, पापमेव भवेत् । तेन पुण्याभासेन पुण्यप्रतिरूपकेन कष्टं तमः प्राप्नुयात् । तस्मात्परीक्ष्य सर्वभूतहितं सत्यं ब्रूयात् । स्तेयमशास्त्रपूर्वकं द्रव्याणां परतः स्वीकरणं तत्प्रतिषेधः पुनरस्पृहारूपमस्तेयमिति । ब्रह्मचर्य्यं गुप्तेन्द्रियस्योपस्थस्य संयमः । विषयाणामर्जनरक्षणक्षयसङ्गहिंसादोषदर्शनादस्वीकरणमपरिग्रहः । इत्येते यमाः ॥ २४ ॥ एषां विवरणं प्राकृतभाषायां वक्ष्यते ।

भाषार्थ

(मैत्री) अर्थात् इस संसार में जितने मनुष्य आदि प्राणी सुखी हैं, उन

सबों के साथ मित्रता करना। दुःखियों पर कृपादृष्टि रखनी। पुण्यात्माओं के साथ प्रसन्नता। पापियों के साथ उपेक्षा अर्थात् न उनके साथ प्रीति रखना और न वैर ही करना। इस प्रकार के वर्त्तमान से उपासक के आत्मा में सत्यधर्म का प्रकाश और उसका मन स्थिरता को प्राप्त होता है ॥ २२ ॥ (प्रच्छर्दन०) जैसे भोजन के पीछे किसी प्रकार से वमन हो जाता है वैसे ही भीतर के वायु को बाहर निकाल के सुखपूर्वक जितना बन सके उतना बाहर ही रोक दे, पुनः धीरे २ भीतर लेके पुनरपि ऐसे ही करे। इसी प्रकार वारंवार अभ्यास करने से प्राण उपासक के वश में हो जाता है और प्राण के स्थिर होने से मन, मन के स्थिर होने से आत्मा भी स्थिर हो जाता है। इन तीनों के स्थिर होने के समय अपने आत्मा के बीच में जो आनन्दस्वरूप अन्तर्यामी व्यापक परमेश्वर है उसके स्वरूप में मग्न हो जाना चाहिये। जैसे मनुष्य जल में गोता मारकर ऊपर आता है फिर गोता लगा जाता है इसी प्रकार अपने आत्मा को परमेश्वर के बीच में वारंवार मग्न करना चाहिये ॥ २३ ॥ (योगाङ्गानु०) आगे जो उपासनायोग के आठ अङ्ग लिखते हैं जिनके अनुष्ठान से अविद्यादि दोषों का क्षय और ज्ञान के प्रकाश की वृद्धि होने से जीव यथावत् मोक्ष को प्राप्त हो जाता है ॥ २४ ॥ (यमनियमा०) अर्थात् एक (यम), दूसरा (नियम), तीसरा (आसन), चौथा (प्राणायाम), पांचवां (प्रत्याहार), छठा (धारणा), सातवां (ध्यान) और आठवां (समाधि) ये सब उपासनायोग के अङ्ग कहाते हैं और आठ अङ्गों का सिद्धान्तरूप फल संयम है ॥ २५ ॥ (तत्राहिंसा०) उन आठों में से पहिला यम है। सो पांच प्रकार का है। एक (अहिंसा) अर्थात् सब प्रकार से, सब काल में, सब प्राणियों के साथ, वैर छोड़ के प्रेम प्रीति से वर्त्तना। दूसरा (सत्य) अर्थात् जैसा अपने ज्ञान में हो वैसा ही सत्य बोले, करे और माने। तीसरा (अस्तेय) अर्थात् पदार्थ वाले की आज्ञा के विना किसी पदार्थ की इच्छा भी न करना, इसी को चोरीत्याग कहते हैं। चौथा (ब्रह्मचर्य्य) अर्थात् विद्या पढ़ने के लिये बाल्यावस्था से लेकर सर्वथा जितेन्द्रिय होना और पच्चीसवें वर्ष से लेके अड़तालीस वर्ष पर्य्यन्त विवाह का करना, परस्त्री, वेश्या आदि का

त्यागना, सदा ऋतुगामी होना, विद्या को ठीक २ पढ़ के सदा पढ़ाते रहना और उपस्थ इन्द्रिय का सदा नियम करना। पांचवां (अपरिग्रह) अर्थात् विषय और अभिमानादि दोषों से रहित होना, इन पांचों का ठीक २ अनुष्ठान करने से उपासना का बीज बोया जाता है। दूसरा, अङ्ग उपासना का नियम है जो कि पांच प्रकार का है॥ २५॥

॥ ते तु ॥ शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥२६॥ अ० १। पा० २। सू० ३२॥ शौचं बाह्यमाभ्यन्तरं च। बाह्यं जलादिनाऽऽभ्यन्तरं रागद्वेषाऽसत्यादित्यागेन च कार्यम्। संतोषो, धर्मानुष्ठानेन सम्यक् प्रसन्नता सम्पादनीया। तपः, सदैव धर्मानुष्ठानमेव कर्त्तव्यम्। [स्वाध्यायः] वेदादिसत्यशास्त्राणामध्ययनाध्यापने प्रणवजपो वा। ईश्वरप्रणिधानम्, परमगुरवे परमेश्वराय सर्वात्मादिद्रव्यसमर्पणमित्युपासनायाः पञ्च नियमा द्वितीयमङ्गम्॥ २६॥ अथाहिंसा धर्मस्य फलम्॥ अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः॥ २७॥ अथ सत्याचरणस्य फलम्॥ सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्॥ २८॥ अथ चौरीत्यागफलम्॥ अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्॥ २९॥ अथ ब्रह्मचर्याश्रमानुष्ठानेन यल्लभ्यते तदुच्यते॥ ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः॥ ३०॥ अथापरिग्रहफलमुच्यते॥ अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथंता संबोधः॥ ३१॥ अथ शौचानुष्ठानफलम्॥ शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः॥ ३२॥ किंच सत्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च॥ ३३॥ संतोषादनुत्तमसुखलाभः॥ ३४॥ कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः॥ ३५॥ स्वाध्यायादिष्टदेवता संप्रयोगः॥ ३६॥ समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्॥ ३७॥ योग० अ० १। पा० १। सू० ३५। ३६। ३७। ३८। ३९। ४०। ४१। ४२। ४३। ४४। ४५॥

भाषार्थ

(पहिला) (शौच) अर्थात् पवित्रता करनी। सो भी दो प्रकार की है। एक भीतर की और दूसरी बाहर की। भीतर की शुद्धि धर्माचरण, सत्यभाषण,

विद्याभ्यास, सत्सङ्ग आदि शुभगुणों के आचरण से होती है और बाहर की पवित्रता जल आदि से, शरीर स्थान मार्ग वस्त्र खाना पीना आदि शुद्ध करने से होती है। (दूसरा) (सन्तोष) जो सदा धर्मानुष्ठान से अत्यन्त पुरुषार्थ करके प्रसन्न रहना और दुःख में शोकातुर न होना, किन्तु आलस्य का नाम सन्तोष नहीं है। (तीसरा) (तपः) जैसे सोने को अग्नि में तपा के निर्मल कर देते हैं वैसे ही आत्मा और मन को धर्माचरण और शुभगुणों के आचरणरूप तप से निर्मल कर देना। (चौथा) (स्वाध्याय) अर्थात् मोक्षविद्याविधायक वेद शास्त्र का पढ़ना पढ़ाना और ओंकार के विचार से ईश्वर का निश्चय करना कराना और (पांचवां) (ईश्वरप्रणिधानम्) अर्थात् सब सामर्थ्य, सब गुण, प्राण, आत्मा और मन के प्रेमभाव से आत्मादि सत्य द्रव्यों का ईश्वर के लिये समर्पण करना, ये पांच नियम भी उपासना का दूसरा अङ्ग है। अब पांच यम और पांच नियमों के यथावत् अनुष्ठान का फल कहते हैं ॥ २६ ॥ (अहिंसाप्र०) अर्थात् जब अहिंसा धर्म निश्चय हो जाता है तब उस पुरुष के मन से वैरभाव छूट जाता है, किन्तु उस के सामने वा उस के सङ्ग से अन्य पुरुष का भी वैर-भाव छूट जाता है ॥ २७ ॥ (सत्यप्र०) तथा सत्याचरण का ठीक २ फल यह है कि जब मनुष्य निश्चय करके केवल सत्य ही मानता, बोलता और करता है तब वह जो २ योग्य काम करता और करना चाहता है वे २ सब सफल हो जाते हैं ॥ २८ ॥ चोरीत्याग करने से यह बात होती है कि (अस्तेय०) अर्थात् जब मनुष्य अपने शुद्ध मन से चोरी के छोड़ देने की प्रतिज्ञा कर लेता है तब उसको सब उत्तम २ पदार्थ यथायोग्य प्राप्त होने लगते हैं। और चोरी इसका नाम है कि मालिक की आज्ञा के विना अधर्म से उसकी चीज को कपट से वा छिपाकर ले लेना ॥ २९ ॥ (ब्रह्मचर्य०) ब्रह्मचर्यसेवन से यह बात होती है कि जब मनुष्य बाल्यावस्था में विवाह न करे, उपस्थ इन्द्रिय का संयम रक्खे, वेदादि शास्त्रों को पढ़ता पढ़ाता रहे, विवाह के पीछे भी ऋतुगामी बना रहे और परस्त्रीगमन आदि व्यभिचार को मन कर्म वचन से त्याग देवे। तब दो प्रकार का वीर्य अर्थात् बल बढ़ता है। एक शरीर का दूसरा बुद्धि का। उसके बढ़ने से मनुष्य अत्यन्त आनन्द में रहता है ॥ ३० ॥ (अपरिग्रहस्थै०) अ-

परिग्रह का फल यह है कि जब मनुष्य विषयासक्ति से बचकर सर्वथा जितेन्द्रिय रहता है, तब मैं कौन हूं, कहां से आया हूं और मुझ को क्या करना चाहिये अर्थात् क्या काम करने से मेरा कल्याण होगा इत्यादि शुभ गुणों का विचार उसके मन में स्थिर होता है। ये ही पांच यम कहाते हैं। इन का ग्रहण करना उपासकों को अवश्य चाहिये ॥ ३१ ॥ परन्तु यमों का नियम सहकारी कारण है, जो कि उपासना का दूसरा अंग कहाता है और जिसका साधन करने से उपासक लोगों का अत्यन्त सहाय होता है। सो भी पांच प्रकार का है। उन में से प्रथम शौच का फल लिखा जाता है (शौचात्स्वां०) पूर्वोक्त दो प्रकार के शौच करने से भी जब अपना शरीर और उस के सब अवयव बाहर भीतर से मलीन ही रहते हैं, तब औरों के शरीर की भी परीक्षा होती है कि सब के शरीर मल आदि से भरे हुए हैं। इस ज्ञान से वह योगी दूसरे से अपना शरीर मिलाने में घृणा अर्थात् संकोच कर के सदा अलग रहता है ॥ ३२ ॥ और उसका फल यह है कि (किञ्च०) अर्थात् शौच से अन्तःकरण की शुद्धि, मन की प्रसन्नता और एकाग्रता, इन्द्रियों का जय तथा आत्मा के देखने अर्थात् जानने की योग्यता प्राप्त होती है। तदनन्तर ॥ ३३ ॥ (संतोषाद०) अर्थात् पूर्वोक्त संतोष से जो सुख मिलता है वह सब से उत्तम है और उसी को मोक्षसुख कहते हैं ॥ ३४ ॥ (कायेन्द्रिय०) अर्थात् पूर्वोक्त तप से उन के शरीर और इन्द्रियां अशुद्धि के क्षय से दृढ़ होके सदा रोगरहित रहती हैं। तथा ॥ ३५ ॥ (स्वाध्याय०) पूर्वोक्त स्वाध्याय से इष्ट देवता अर्थात् परमात्मा के साथ सम्प्रयोग अर्थात् सम्बन्ध होता है। फिर परमेश्वर के अनुग्रह का सहाय, अपने आत्मा की शुद्धि, सत्याचरण, पुरुषार्थ और प्रेम के सम्प्रयोग से जीव शीघ्र ही मुक्ति को प्राप्त होता है। तथा ॥ ३६ ॥ (समाधि०) पूर्वोक्त प्रणिधान से उपासक मनुष्य सुगमता से समाधि को प्राप्त होता है। तथा ॥ ३७ ॥

तत्र स्थिरसुखमासनम् ॥ ३८ ॥ अ० १ । पा० २ । सू० ४६ ॥ भा० तद्यथा पद्मासनं, वीरासनं, भद्रासनं, स्वस्तिकं, दण्डासनं, सोपाश्रयं, पर्य्यङ्कं, क्रौञ्चनिषदनं, हस्तिनिषदनमुष्ट्रनिषदनं, समसंस्थानं, स्थिरसुखं, यथासुखं

चेत्येवमादीनि ॥ ३८ ॥ पद्मासनादिकमासनं विदध्यात्, यद्वा यादृशीच्छा तादृशमासनं कुर्यात् ॥ ३८ ॥ ततो द्वन्द्वानभिघातः ॥ ३९ ॥ अ० १ । पा० २ । सू० ४८ ॥ भा० शीतोष्णादिभिर्द्वन्द्वैरासनजयान्नाभिभूयते ॥ ३९ ॥ तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ॥ ४० ॥ अ० १ । पा० २ । सू० ४९ ॥ भा० सत्यासनजये बाह्यस्य वायोराचमनं श्वासः कौष्ठ्यस्य वायोर्निस्सारणं प्रश्वासस्तयोर्गतिविच्छेद उभयाभावः प्राणायामः ॥ ४० ॥ आसने सम्यक् सिद्धे कृते बाह्याभ्यन्तरगमनशीलस्य वायोर्युक्त्या शनैः शनैरभ्यासेन जयकरणमर्थात् स्थिरीकृत्य गत्यभावकरणं प्राणायामः ॥ ४० ॥ स तु बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः ॥ ४१ ॥ अ० १ । पा० २ । सू० ५० ॥ भा० यत्र प्रश्वासपूर्वको गत्यभावः स बाह्यः, यत्र श्वासपूर्वको गत्यभावः स आभ्यन्तरः, तृतीयस्तम्भवृत्तिर्यत्रोभयाभावः सकृत्प्रयत्नाद्भवति, यथा तप्तन्यस्तमुपले जलं सर्वतः संकोचमापद्यते तथा द्वयोर्युगपद्गत्यभाव इति ॥ ४१ ॥ बालबुद्धिभिरङ्गुल्यङ्गुष्ठाभ्यां नासिकाछिद्रमवरुध्य यः प्राणायामः क्रियते स खलु शिष्टैस्त्याज्य एवास्ति । किन्त्वत्र बाह्याभ्यन्तराङ्गेषु शान्तिशैथिल्ये सम्पाद्य, सर्वाङ्गेषु यथावत् स्थितेषु सत्सु, बाह्यदेशं गतं प्राणं तत्रैव यथाशक्ति संरुध्य प्रथमो बाह्याख्यः प्राणायामः कर्त्तव्यः, तथोपासकैर्यो बाह्यादेशादन्तः प्रविशति तस्याभ्यन्तर एव यथाशक्ति निरोधः क्रियते, स आभ्यन्तरो द्वितीयः सेवनीयः। एवं बाह्याभ्यन्तराभ्यामनुष्ठिताभ्यां द्वाभ्यां कदाचिदुभयोर्युगपत्संरोधो यः क्रियते स स्तम्भवृत्तिस्तृतीयः प्राणायामोऽभ्यसनीयः ॥४०॥ बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः ॥ ४१ ॥ अ० १ । पा० २ । सू० ५१ ॥ भा० देशकालसंख्याभिर्बाह्यविषयः परिदृष्ट आक्षिप्तः तथाभ्यन्तरविषयः परिदृष्ट आक्षिप्त उभयथा दीर्घसूक्ष्मः तत्पूर्वको भूमिजयात् क्रमेणोभयोर्गत्यभावश्चतुर्थः प्राणायामस्तृतीयस्तु विषयानालोचितो गत्यभावः सकृदारब्ध एव देशकालसङ्ख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मश्चतुर्थस्तु श्वासप्रश्वासयोर्विषयावधारणात् क्रमेण भूमिजयादुभयाक्षेपपूर्वको गत्यभावश्चतुर्थः प्राणायाम इत्ययं विशेष इति यः प्राणायाम उभयाक्षेपी स चतुर्थो गद्यते। तद्यथा यदो-

दराद् बाह्यदेशं प्रतिगन्तुं प्रथमक्षणे प्रवर्त्तते तं संलक्ष्य पुनः बाह्यदेशं प्रत्येव प्राणाः प्रक्षेप्तव्याः पुनश्च यदा बाह्याद्देशादाभ्यन्तरं प्रथममागच्छेत्तमाभ्यन्तर एव पुनः पुनः यथाशक्ति गृहीत्वा तत्रैव स्तम्भयेत्स द्वितीयः । एवं द्वयोरेतयोः क्रमेणाभ्यासेन गत्यभावः क्रियते स चतुर्थः प्राणायामः । यस्तु खलु तृतीयोस्ति स नैव बाह्याभ्यन्तराभ्यासस्यापेक्षां करोति किन्तु यत्र यत्र देशे प्राणो वर्त्तते तत्र तत्रैव सकृत्स्तम्भनीयः । यथा किमप्यद्भुतं दृष्ट्वा मनुष्यश्चकितो भवति तथैव कार्य्यमित्यर्थः ॥ ४१ ॥

भाषार्थ

(तत्र स्थिर०) अर्थात् जिस में सुखपूर्वक शरीर और आत्मा स्थिर हो उसको आसन कहते हैं । अथवा जैसी रुचि हो वैसा आसन करे ॥ ३८ ॥ (ततो द्वन्द्वा०) जब आसन दृढ़ होता है तब उपासना करने में कुछ परिश्रम करना नहीं पड़ता है और न सर्दी गर्मी अधिक बाधा करती है ॥ ३९ ॥ (तस्मिन्सति०) जो वायु बाहर से भीतर को आता है उस को श्वास और जो भीतर से बाहर जाता है उस को प्रश्वास कहते हैं । उन दोनों के जाने आने को विचार से रोके । नासिका को हाथ से कभी न पकड़े । किन्तु ज्ञान से ही उस के रोकने को प्राणायाम कहते हैं और यह प्राणायाम चार प्रकार से होता है ॥ ४० ॥ (स तु बाह्या) अर्थात् एक बाह्य विषय, दूसरा आभ्यन्तर विषय, तीसरा स्तम्भवृत्ति और चौथा जो बाहर भीतर रोकने से होता है ॥ ४१ ॥ अर्थात् जो कि (बाह्याभ्यं०) इस सूत्र का विषय । वे चार प्राणायाम इस प्रकार के होते हैं कि जब भीतर से बाहर को श्वास निकले तब उस को बाहर ही रोक दे, इस को प्रथम प्राणायाम कहते हैं । जब बाहर से श्वास भीतर को आवे तब उस को जितना रोक सके उतना भीतर ही रोक दे, इस को दूसरा प्राणायाम कहते हैं । तीसरा स्तम्भवृत्ति है कि न प्राण को बाहर निकाले और न बाहर से भीतर लेजाय, किन्तु जितनी देर सुख से हो सके उस को जहां का तहां ज्यों का त्यों एक दम रोक दे । और चौथा यह है कि जब श्वास भीतर से बाहर को आवे तब बाहर ही कुछ २ रोकता रहे और जब बाहर से भीतर जावे

तब उस को भीतर ही थोड़ा २ रोकता रहे, इस को बाह्याभ्यन्तराक्षेपी कहते हैं। और इन चारों का अनुष्ठान इसलिये है कि जिससे चित्त निर्मल होकर उपासना में स्थिर रहे ॥ ४२ ॥

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ॥ ४२ ॥ अ० १ । पा० २ । सू० ५२ ॥ एवं प्राणायामाभ्यासात्परमेश्वरस्यान्तर्यामिनः प्रकाशसत्यविवेकस्यावरणाख्यमज्ञानमस्ति तत्क्षीयते क्षयं प्राप्नोतीति ॥ ४२ ॥ किंच धारणासु च योग्यता मनसः ॥ ४३ ॥ अ० १ । पा० २ । सू० ५३ ॥ भा० प्राणायामाभ्यासादेव प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्येति वचनात् ॥ ४३ ॥ प्राणायामानुष्ठानेनोपासकानां मनसो ब्रह्मध्याने सम्यग्योग्यता भवति ॥४३॥ अथ कः प्रत्याहारः ? । स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ॥ ४४ ॥ अ० १ । पा० २ । सू० ५४ ॥ यदा चित्तं जितं भवति परमेश्वरस्मरणालम्बनाद्विषयान्तरे नैव गच्छति तदिन्द्रियाणां प्रत्याहारोऽर्थान्निरोधो भवति । कस्य केषामिव ? यथा चित्तं परमेश्वरस्वरूपस्थं भवति तथेन्द्रियाण्यप्यर्थाच्चित्ते जिते सर्वमिन्द्रियादिकं जितं भवतीति विज्ञेयम् ॥ ४४ ॥ ततः परमावश्यतेन्द्रियाणाम् ॥ ४५ ॥ अ० १ । पा० २ । सू० ५५ ॥ ततस्तदनन्तरं स्वस्वविषयासंप्रयोगेऽर्थात्स्वस्वविषयाभिवृत्तौ सत्यामिन्द्रियाणां परमा वश्यता यथावद्विजयो जायते । स उपासको यदा यदेश्वरोपासनं कर्त्तुं प्रवर्त्तते तदा तदैव चित्तस्येन्द्रियाणां च वश्यत्वं कर्त्तुं शक्नोतीति ॥ ४५ ॥ देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥ ४६ ॥ अ० १ । पा० ३ । सू० १ ॥ भा० नाभिचक्रे, हृदयपुण्डरीके, मूर्ध्नि, ज्योतिषि, नासिकाग्रे, जिह्वाग्र इत्येवमादिषु देशेषु चित्तस्य वृत्तिमात्रेण बन्ध इति बन्धो धारणा ॥ ४६ ॥ तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥ ४७ ॥ अ० १ । पा० ३ । सू० २ ॥ तस्मिन्देशे ध्येयालम्बनस्य प्रत्ययस्यैकतानता सदृशः प्रवाहः प्रत्यान्तरेणापरामृष्टो ध्यानम् ॥ ४७ ॥ तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥ ४८ ॥ अ० १ । पा० ३ । सू० ३ ॥ ध्यानसमाध्योरयं भेदः, ध्याने मनसो ध्यातृध्यानध्येयाकारेण विद्यमाना वृत्तिर्भवति, समाधौ तु

परमेश्वरस्वरूपे तदानन्दे च मग्नः स्वरूपशून्य इव भवतीति ॥ ४८ ॥ त्रय-मेकत्र संयमः ॥ ४९ ॥ अ० १ । पा० ३ । सू० ४ ॥ मा० तदेतद् धारणाध्यानसमाधित्रयमेकत्र संयमः । एकविषयाणि त्रीणि साधनानि संयम इत्युच्यते । तदस्य त्रयस्य तान्त्रिकी परिभाषा संयम इति ॥ ४९ ॥ संयम-श्चोपासनाया नवमांगम् ।

भाषार्थ

इस प्रकार प्राणायामपूर्वक उपासना करने से आत्मा के ज्ञान का ढांकने वाला आवरण जो अज्ञान है वह नित्यप्रति नष्ट होता जाता है और ज्ञान का प्रकाश धीरे २ बढ़ता जाता है। उस अभ्यास से यह भी फल होता है कि ॥४३॥ (किञ्च धारणा०) परमेश्वर के बीच में मन और आत्मा की धारणा होने से मोक्षपर्यन्त उपासनायोग और ज्ञान की योग्यता बढ़ती जाती है। तथा उससे व्यवहार और परमार्थ का विवेक भी बराबर बढ़ता रहता है। इसी प्रकार प्राणायाम करने से भी जान लेना ॥ ४४ ॥ (स्वविषया०) प्रत्याहार उस का नाम है कि जब पुरुष अपने मन को जीत लेता है तब इन्द्रियों का जीतना अपने आप हो जाता है, क्योंकि मन ही इन्द्रियों का चलाने वाला है ॥ ४५ ॥ (ततः पर०) तब वह मनुष्य जितेन्द्रिय हो के जहां अपने मन को ठहराना वा चलाना चाहे उसी में ठहरा और चला सकता है। फिर उसको ज्ञान हो जाने से सदा सत्य में ही प्रीति हो जाती है, असत्य में कभी नहीं ॥ ४६ ॥ (देशबं०) जब उपासना योग के पूर्वोक्त पांचों अङ्ग सिद्ध हो जाते हैं तब उसका छठा अङ्ग धारणा भी यथावत् प्राप्त होती है। (धारणा) उसको कहते हैं कि मन को चञ्चलता से छुड़ा के नाभि, हृदय, मस्तक, नासिका और जीभ के अग्रभाग आदि देशों में स्थिर कर के ओंकार का जप और उस का अर्थ जो परमेश्वर है उस का विचार करना। तथा ॥ ४७ ॥ (तत्र प्र०) धारणा के पीछे उसी देश में ध्यान करने और आश्रय लेने के योग्य जो अन्तर्यामी व्यापक परमेश्वर है उस के प्रकाश और आनन्द में अत्यन्त विचार और प्रेम भक्ति के साथ इस प्रकार प्रवेश करना कि जैसे समुद्र के बीच में नदी प्रवेश करती है।

उस समय में ईश्वर को छोड़ किसी अन्य पदार्थ का स्मरण नहीं करना, किन्तु उसी अन्तर्यामी के स्वरूप और ज्ञान में मग्न हो जाना, इसी का नाम ध्यान है। इन सात अङ्गों का फल समाधि है ॥ ४८ ॥ (तदेवार्थ०) जैसे अग्नि के बीच में लोहा भी अग्निरूप हो जाता है, इसी प्रकार परमेश्वर के ज्ञान में प्रकाशमय होके, अपने शरीर को भी भूले हुए के समान जान के, आत्मा को परमेश्वर के प्रकाशस्वरूप आनन्द और ज्ञान से परिपूर्ण करने को समाधि कहते हैं। ध्यान और समाधि में इतना ही भेद है कि ध्यान में तो ध्यान करने वाला जिस मन से जिस चीज़ का ध्यान करता है वे तीनों विद्यमान रहते हैं। परन्तु समाधि में केवल परमेश्वर ही के आनन्दस्वरूप ज्ञान में आत्मा मग्न हो जाता है, वहां तीनों का भेदभाव नहीं रहता। जैसे मनुष्य जल में डुबकी मारके थोड़ा समय भीतर ही रुका रहता है वैसे ही जीवात्मा परमेश्वर के बीच में मग्न हो के फिर बाहर को आ जाता है ॥ ४९ ॥ (त्रयमेकत्र०) जिस देश में धारणा की जाय उसी में ध्यान और उसी में समाधि अर्थात् ध्यान करने के योग्य परमेश्वर में मग्न हो जाने को संयम कहते हैं। जो एक ही काल में तीनों का मेल होना है, अर्थात् धारणा से संयुक्त ध्यान और ध्यान से संयुक्त समाधि होती है उन में बहुत सूक्ष्म काल का भेद रहता है। परन्तु जब समाधि होती है तब आनन्द के बीच में तीनों का फल एक ही हो जाता है ॥ ५० ॥

अथोपासनाविषये उपनिषदां प्रमाणानि

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥ कठोपनि० अ० १। वल्ली० २। मं० २४ ॥ तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्य शान्ता विद्वांसो भैक्ष्यचर्य्यां चरन्तः। सूर्य्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ॥ २ ॥ मुण्ड० १। खं० २। मं० ११ ॥ अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति ॥ ३ ॥ तं चेद् ब्रूयुर्यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यं यद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति ॥ ४ ॥ स ब्रूयाद्यावान्वा

अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश उमे अस्मिन्द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते उभावग्निश्च वायुश्च सूर्य्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राणि यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन् समाहितमिति ॥ ५ ॥ तं चेद् ब्रूयुरस्मिꣳश्चेदिदं ब्रह्मपुरे सर्वꣳसमाहितꣳसर्वाणि च भूतानि सर्वे च कामा यदैनज्जरावाप्नोति प्रध्वꣳसते वा किं ततोऽतिशिष्यत इति ॥ ६ ॥ स ब्रूयान्नास्य जरयैतज्जीर्य्यति न बधेनास्य हन्यत एतत्सत्यं ब्रह्मपुरमस्मिन् कामाः समाहिता एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पो यथाह्येवेह प्रजा अन्वाविशन्ति यथानुशासनं यं यमन्तमभिकामा भवन्ति यं जनपदं यं क्षेत्रभागं तं तमेवोपजीवन्ति ॥ ७ ॥ छान्दोग्योपनि० प्रपा० ८ । खं० १ । मं० १ । २ । ३ । ४ । ५ ॥ अस्य सर्वस्य भाषायामभिप्रायः प्रकाशयिष्यते । सेयं तस्य परमेश्वरस्योपासना द्विविधास्ति । एका सगुणा द्वितीया निर्गुणा चेति । तद्यथा । (स पर्य्यगाच्छुक्र०) इत्यस्मिन् मन्त्रे शुक्रशुद्धमिति सगुणोपासनम् । अकायमव्रणमस्नाविरमित्यादि निर्गुणोपासनं च । तथा । एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा । सर्वाध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥ १ ॥

भाषार्थ

यह उपासनायोग दुष्ट मनुष्य को सिद्ध नहीं होता । क्योंकि (नाविरतो०) जब तक मनुष्य दुष्ट कामों से अलग होकर अपने मन को शान्त और आत्मा को पुरुषार्थी नहीं करता, तथा भीतर के व्यवहारों को शुद्ध नहीं करता, तब तक कितना ही पढ़े वा सुने उसको परमेश्वर की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती ॥ १ ॥ (तपःश्रद्धे०) जो मनुष्य धर्माचरण से परमेश्वर और उस की आज्ञा में अत्यन्त प्रेम कर के अरण्य अर्थात् शुद्ध हृदयरूपी वन में स्थिरता के साथ निवास करते हैं वे परमेश्वर के समीप वास करते हैं । जो लोग अधर्म के छोड़ने और धर्म के करने में दृढ़, तथा वेदादि सत्य विद्याओं में विद्वान् हैं, जो भिक्षाचर्य्य आदि कर्म करके संन्यास वा किसी अन्य आश्रम में हैं, इस प्रकार के गुणवाले मनुष्य (सूर्य्यद्वारेण०) प्राणद्वार से परमेश्वर के सत्य राज्य में

प्रवेश करके, (विरजाः) अर्थात् सब दोषों से छूट के, परमानन्द मोक्ष को प्राप्त होते हैं, जहां कि पूर्ण पुरुष, सब में भरपूर, सब से सूक्ष्म, (अमृतः) अर्थात् अविनाशी और जिस में हानि लाभ कभी नहीं होता ऐसे परमेश्वर को प्राप्त होके सदा आनन्द में रहते हैं। जिस समय इन सब साधनों से परमेश्वर की उपासना करके उस में प्रवेश किया चाहें उस समय इस रीति से करें कि ॥ २ ॥ (अथ यदिद०) कण्ठ के नीचे दोनों स्तनों के बीच में और उदर के ऊपर जो हृदयदेश है, जिस को ब्रह्मपुर अर्थात् परमेश्वर का नगर कहते हैं, उस के बीच में जो गर्त है उस में कमल के आकार वेश्म अर्थात् अवकाशरूप एक स्थान है, और उस के बीच में जो सर्वशक्तिमान् परमात्मा बाहर भीतर एकरस होकर भर रहा है, वह आनन्दस्वरूप परमेश्वर उसी प्रकाशित स्थान के बीच में खोज करने से मिल जाता है। दूसरा उसके मिलने का कोई उत्तम स्थान वा मार्ग नहीं है ॥ ३ ॥ और कदाचित् कोई पूछे कि (तं चेद् ब्रूयु०) अर्थात् उस हृदयाकाश में क्या रक्खा है जिसकी खोजना की जाय ? तो उसका उत्तर यह है कि ॥ ४ ॥ (स ब्रूयाद्या०) हृदय देश में जितना आकाश है वह सब अन्तर्यामी परमेश्वर ही से भररहा है और उसी हृदयाकाश के बीच में सूर्य्य आदि प्रकाश तथा पृथिवीलोक, अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, बिजुली और सब नक्षत्र लोक भी ठहर रहे हैं। जितने दीखने वाले और नहीं दीखने वाले पदार्थ हैं वे सब उसी की सत्ता के बीच में स्थिर हो रहे हैं ॥ ५ ॥ (तं चेद् ब्रूयु०) इसमें कोई ऐसी शङ्का करे कि जिस ब्रह्मपुर हृदयाकाश में सब भूत और काम स्थिर होते हैं उस हृदयदेश के वृद्धावस्था के उपरान्त नाश हो जाने पर उस के बीच में क्या बाकी रह जाता है कि जिस को तुम खोजने को कहते हो ? तो इसका उत्तर यह है ॥ ६ ॥ (स ब्रूयात्) सुनो भाई ! उस ब्रह्मपुर में जो परिपूर्ण परमेश्वर है उस को न तो कभी वृद्धावस्था होती है और न कभी नाश होता है। उसी का नाम सत्य ब्रह्मपुर है कि जिस में सब काम परिपूर्ण हो जाते हैं। वह (अपहतपाप्मा०) अर्थात् सब पापों से रहित शुद्धस्वभाव, (विजरः) जरा अवस्थारहित, (विशोकः) शोकरहित, (विजिघत्सोऽपि०) जो खाने पीने की इच्छा कभी नहीं करता, (सत्यकामः) जिस

के सब काम सत्य हैं, (सत्यसंकल्पः) जिस के सब संकल्प भी सत्य हैं, उसी आकाश में प्रलय होने के समय सब प्रजा प्रवेश कर जाती है और उसी के रचने से उत्पत्ति के समय फिर प्रकाशित होती है। इस पूर्वोक्त उपासना से उपासक लोग जिस २ काम की, जिस २ देश की, जिस २ क्षेत्रभाग अर्थात् अवकाश की इच्छा करते हैं उन सब को वे यथावत् प्राप्त होते हैं॥ ७॥ सो उपासना दो प्रकार की है। एक सगुण और दूसरी निर्गुण। उनमें से (स पर्य्यगा०) इस मन्त्र के अर्थानुसार शुक्र अर्थात् जगत् का रचने वाला वीर्यवान् तथा शुद्ध, कवि, मनीषी, परिभू और स्वयंभू इत्यादि गुणों के सहित होने से परमेश्वर सगुण है और अकाय, अव्रण, अस्नाविर० इत्यादि गुणों के निषेध होने से वह निर्गुण कहाता है। तथा—

एको देव इत्यादिसगुणोपासनम्, निर्गुणश्चेति वचनान्निर्गुणोपासनम्। तथा सर्वज्ञादिगुणैः सह वर्त्तमानः सगुणः, अविद्यादिक्लेशपरिमाणद्वित्वादि-संख्याशब्दस्पर्शरूपरसगन्धादिगुणेभ्यो निर्गतत्वान्निर्गुणः। तद्यथा। परमेश्वरः सर्वज्ञः, सर्वव्यापी, सर्वाध्यक्षः, सर्वस्वामी चेत्यादिगुणैः सह वर्त्तमानत्वात् परमेश्वरस्य सगुणोपासनं विज्ञेयम्, तथा सोऽजोऽर्थाज्जन्मरहितः, (अव्रणः) छेदरहितः, निराकारः आकाररहितः, अकायः शरीरसम्बन्धरहितः, तथैव रूपरसगन्धस्पर्शसंख्यापरिमाणादयो गुणास्तस्मिन्न सन्तीदमेव तस्य निर्गुणोपासनं ज्ञातव्यम्। अतो देहधारणेनेश्वरः सगुणो भवति देहत्यागेन निर्गुणश्चेति या मूढानां कल्पनास्ति सा वेदादिशास्त्रप्रमाणविरुद्धा विद्वदनुभवविरुद्धा चास्ति। तस्मात्सज्जनैर्व्यर्थेयं रीतिः सदा त्याज्येति शिवम्।

भाषार्थ

(एको देवः०) एक देव इत्यादि गुणों के सहित होने से परमेश्वर सगुण और (निर्गुणश्च०) इस के कहने से निर्गुण समझा जाता है। तथा ईश्वर के सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, शुद्ध, सनातन, न्यायकारी, दयालु, सब में व्यापक, सब का आधार, मङ्गलमय, सब की उत्पत्ति करने वाला और सब का स्वामी इत्यादि

सत्यगुणों के ज्ञानपूर्वक उपासना करने को सगुणोपासना कहते हैं। और वह परमेश्वर कभी जन्म नहीं लेता, निराकार अर्थात् आकारवाला कभी नहीं होता, अकाय अर्थात् शरीर कभी नहीं धारता, अव्रण अर्थात् जिसमें छिद्र कभी नहीं होता, जो शब्द स्पर्श रूप रस और गन्धवाला कभी नहीं होता, जिसमें दो तीन आदि संख्या की गणना नहीं बन सकती, जो लम्बा चौड़ा और हलका भारी कभी नहीं होता इत्यादि गुणों के निवारणपूर्वक उसका स्मरण करने को निर्गुण उपासना कहते हैं। इससे क्या सिद्ध हुआ कि जो अज्ञानी मनुष्य ईश्वर के देहधारण करने से सगुण और देहत्याग करने से निर्गुण उपासना कहते हैं, सो यह उन की कल्पना सब वेद शास्त्रों के प्रमाणों और विद्वानों के अनुभव से विरुद्ध होने के कारण सज्जन लोगों को कभी न माननी चाहिये। किन्तु सब को पूर्वोक्त रीति से ही उपासना करनी चाहिये।

इति संक्षेपतो ब्रह्मोपासनाविधानम्

अथ मुक्तिविषयः संक्षेपतः

एवं परमेश्वरोपासनेनाविद्याऽधर्माचरणनिवारणाच्छुद्धविज्ञानधर्मानुष्ठानोन्नतिभ्यां जीवो मुक्तिं प्राप्नोतीति। अथात्र योगशास्त्रस्य प्रमाणानि तद्यथा। अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पंचक्लेशाः॥ १॥ अविद्याक्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्॥ २॥ अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या॥ ३॥ दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता॥ ४॥ सुखानुशयी रागः॥ ५॥ दुःखानुशयी द्वेषः॥ ६॥ स्वरसवाही विदुषोपि तथारूढोऽभिनिवेशः॥ ७॥ अ० १। पा० २। सू० ३–९॥ तदभावात्संयोगाभावो हानन्तद्दृशेः कैवल्यम्॥ अ० १। पा० २। सू० २५॥ तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्॥ ९॥ अ० १। पा० ३। सू० ५०॥ सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति॥ १॥ अ० १। पा० ३। सू० ५५॥ तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम्॥ ११॥ अ० १।

पा० ४ । सू० २६ ॥ पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति ॥ १२ ॥ अ० १ । पा० ४ । सू० ३४ ॥ अथ न्यायशास्त्रप्रमाणानि ॥ दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः ॥ १ ॥ बाधनालक्षणं दुःखमिति ॥ २ ॥ तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः ॥ ३ ॥ न्यायद० अ० १ । आह्निक १ । सू० २ । २१ । २२ ॥

भाषार्थ

इसी प्रकार परमेश्वर की उपासना करके, अविद्या आदि क्लेश तथा अधर्म्माचरण आदि दुष्ट गुणों को निवारण करके, शुद्ध विज्ञान और धर्मादि शुभ गुणों के आचरण से आत्मा की उन्नति करके, जीव मुक्ति को प्राप्त हो जाता है। अब इस विषय में प्रथम योगशास्त्र का प्रमाण लिखते हैं। पूर्व लिखी हुई चित्त की पांच वृत्तियों को यथावत् रोकने और मोक्ष के साधन में सब दिन प्रवृत्त रहने से नीचे लिखे हुये पांच क्लेश नष्ट हो जाते हैं। वे क्लेश ये हैं। (अविद्या०) एक (अविद्या), दूसरा (अस्मिता), तीसरा (राग), चौथा (द्वेष) और पांचवां (अभिनिवेश) ॥ १ ॥ (अविद्याक्षेत्र०) उन में से अस्मितादि चार क्लेशों और मिथ्याभाषणादि दोषों की माता अविद्या है। जो कि मूढ़ जीवों को अन्धकार में फसा के जन्ममरणादि दुःखसागर में सदा डुबाती है। परन्तु जब विद्वान् और धर्मात्मा उपासकों की सत्यविद्या से अविद्या (विच्छिन्न) अर्थात् छिन्नभिन्न होके (प्रसुप्ततनु) नष्ट हो जाती है तब वे जीव मुक्ति को प्राप्त हो जाते हैं ॥ २ ॥ अविद्या के लक्षण ये हैं (अनित्या०)। (अनित्य) अर्थात् कार्य्य (जो शरीर आदि स्थूल पदार्थ तथा लोक लोकान्तर में नित्यबुद्धि), तथा जो (नित्य) अर्थात् ईश्वर, जीव, जगत् का कारण, क्रिया क्रियावान्, गुण गुणी और धर्म धर्मी हैं इन नित्य पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध है इन में अनित्यबुद्धि का होना यह अविद्या का प्रथम भाग है। तथा (अशुचि) मल मूत्र आदि के समुदाय दुर्गन्धरूप मल से परिपूर्ण शरीर में पवित्रबुद्धि का करना, तथा तलाव, बावरी, कुण्ड, कूंआ और नदी आदि में

तीर्थ और पाप छुड़ाने की बुद्धि करना और उन का चरणामृत पीना, एकादशी आदि मिथ्या व्रतों में भूख प्यास आदि दुःखों का सहना, स्पर्श इन्द्रिय के भोग में अत्यन्त प्रीति करना इत्यादि अशुद्ध पदार्थों को शुद्ध मानना और सत्यविद्या, सत्यभाषण, धर्म, सत्सङ्ग, परमेश्वर की उपासना, जितेन्द्रियता, सर्वोपकार करना, सब से प्रेमभाव से वर्त्तना आदि शुद्धव्यवहार और पदार्थों में अपवित्रबुद्धि करना यह अविद्या का दूसरा भाग है। तथा दुःख में सुखबुद्धि अर्थात् विषयतृष्णा, काम, क्रोध, लोभ, मोह, शोक, ईर्षा, द्वेष आदि दुःखरूप व्यवहारों में सुख मिलने की आशा करना, जितेन्द्रियता, निष्काम, शम, संतोष, विवेक प्रसन्नता, प्रेम, मित्रता आदि सुखरूप व्यवहारों में दुःखबुद्धि का करना यह अविद्या का तीसरा भाग है। इसी प्रकार अनात्मा में आत्मबुद्धि अर्थात् जड़ में चेतनभाव और चेतन में जड़भावना करना अविद्या का चतुर्थ भाग है। यह चार प्रकार की अविद्या संसार के अज्ञानी जीवों को बन्धन का हेतु होके उनको सदा नचाती रहती है। परन्तु विद्या अर्थात् पूर्वोक्त अनित्य, अशुचि, दुःख और अनात्मा में अनित्य, अपवित्रता, दुःख और अनात्मबुद्धि का होना तथा नित्य, शुचि, सुख और आत्मा में नित्य, पवित्रता, सुख और आत्मबुद्धि करना यह चार प्रकार की विद्या है। जब विद्या से अविद्या की निवृत्ति होती है तब बन्धन से छूट के जीव मुक्ति को प्राप्त होता है ॥ ३ ॥ (अस्मिता०) दूसरा क्लेश अस्मिता कहाता है। अर्थात् जीव और बुद्धि को मिले के समान देखना, अभिमान और अहङ्कार से अपने को बड़ा समझना। इत्यादि व्यवहार को अस्मिता जानना। जब सम्यक् विज्ञान से अभिमान आदि के नाश होने से इस की निवृत्ति हो जाती है तब गुणों के ग्रहण में रुचि होती है ॥४॥ तीसरा (सुखानु०) राग अर्थात् जो २ सुख संसार में साक्षात् भोगने में आते हैं उनके संस्कार की स्मृति से जो तृष्णा के लोभसागर में बहना है इसका नाम राग है। जब ऐसा ज्ञान मनुष्य को होता है कि सब संयोग, वियोग, संयोग-वियोगान्त हैं, अर्थात् वियोग के अन्त में संयोग और संयोग के अन्त में वियोग तथा वृद्धि के अन्त में क्षय और क्षय के अन्त में वृद्धि होती है तब इसकी निवृत्ति हो जाती है ॥ ५ ॥ (दुःखानु०) चौथा द्वेष कहाता है।

अर्थात् जिस अर्थ का पूर्व अनुभव किया गया हो उस पर और उसके साधनों पर सदा क्रोधबुद्धि होना । इसकी निवृत्ति भी राग की निवृत्ति से ही होती है ॥ ६ ॥ (स्वरसवा०) पांचवां (अभिनिवेश) क्लेश है । जो सब प्राणियों को नित्य आशा होती है कि हम सदैव शरीर के साथ बने रहें, अर्थात् कभी मरें नहीं, सो पूर्वजन्म के अनुभव से होती है । और इससे पूर्वजन्म भी सिद्ध होता है । क्योंकि छोटे २ क्रमि चीटी आदि को भी मरण का भय बराबर बना रहता है । इसी से इस क्लेश को अभिनिवेश कहते हैं । जो कि विद्वान् मूर्ख तथा क्षुद्रजन्तुओं में भी बराबर दीख पड़ता है । इस क्लेश की निवृत्ति उस समय होगी कि जब जीव, परमेश्वर और प्रकृति अर्थात् जगत् के कारण को नित्य और कार्य्यद्रव्य के संयोग वियोग को अनित्य जान लेगा । इन क्लेशों की शान्ति से जीवों को मोक्षसुख की प्राप्ति होती है ॥ ७ ॥ (तदभावात्०) अर्थात् जब अविद्यादि क्लेश दूर होके विद्यादि शुभ गुण प्राप्त होते हैं तब जीव सब बन्धनों और दुःखों से छूट के मुक्ति को प्राप्त होजाता है ॥ ८ ॥ (तद्वैराग्या०) अर्थात् शोकरहित आदि सिद्धि से भी विरक्त होके सब क्लेशों और दोषों का बीज जो अविद्या है उसके नाश करने के लिये यथावत् प्रयत्न करे, क्योंकि उसके नाश के विना मोक्ष कभी नहीं हो सकता ॥ ९ ॥ तथा (सत्त्वपुरुष) अर्थात् सत्त्व जो बुद्धि पुरुष जो जीव इन दोनों की शुद्धि से मुक्ति होती है अन्यथा नहीं ॥ १० ॥ (तदा विवेक०) जब सब दोषों से अलग होके ज्ञान की ओर आत्मा झुकता है तब कैवल्यमोक्षधर्म के संस्कार से चित्त परिपूर्ण होजाता है, तभी जीव को मोक्ष प्राप्त होता है, क्योंकि जब तक बन्धन के कामों में जीव फसता जाता है तब तक उस को मुक्ति प्राप्त होना असम्भव है ॥ ११ ॥ कैवल्यमोक्ष का लक्षण यह है कि (पुरुषार्थ) अर्थात् कारण के सत्त्व, रजो और तमोगुण और उन के सब कार्य्य पुरुषार्थ से नष्ट होकर, आत्मा में विज्ञान और शुद्धि यथावत् हो के, स्वरूपप्रतिष्ठा जैसा जीव का तत्त्व है वैसा ही स्वाभाविकशक्ति और गुणों से युक्त हो के, शुद्धस्वरूप परमेश्वर के स्वरूप विज्ञान प्रकाश और नित्य आनन्द में जो रहना है उसी को कैवल्यमोक्ष कहते हैं ॥ १२ ॥ अब मुक्तिविषय में गोतमाचार्य्य के कहे हुए न्यायशास्त्र के

प्रमाण लिखते हैं (दुःखजन्म)। जब मिथ्याज्ञान अर्थात् अविद्या नष्ट हो जाती है तब जीव के सब दोष नष्ट हो जाते हैं। उसके पीछे (प्रवृत्ति०) अर्थात् अधर्म, अन्याय, विषयासक्ति आदि की वासना सब दूर होजाती है। उसके नाश होने से (जन्म) अर्थात् फिर जन्म नहीं होता। उस के न होने से सब दुःखों का अत्यन्त अभाव हो जाता है। दुःखों के अभाव से पूर्वोक्त परमानन्द मोक्ष में अर्थात् सब दिन के लिये परमात्मा के साथ आनन्द ही आनन्द भोगने को बाक़ी रह जाता है। इसी का नाम मोक्ष है॥ १॥ (बाधना०) सब प्रकार की बाधा अर्थात् इच्छाविघात और परतन्त्रता का नाम दुःख है॥ २॥ (तदत्यन्त०) फिर उस दुःख के अत्यन्त अभाव और परमात्मा के नित्य योग करने से जो सब दिन के लिये परमानन्द प्राप्त होता है उसी सुख का नाम मोक्ष है॥ ३॥

अथ वेदान्तशास्त्रस्य प्रमाणानि

अभावं बादरिराह ह्येवम्॥ १॥ भावं जैमिनिर्विकल्पामननात्॥ २॥ द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः॥ ३॥ अ० ४। पा० ४। सू० १०। ११। १२॥ यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह। बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम्॥ १॥ तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्। अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ॥ २॥ यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥ ३॥ यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावदनुशासनम्॥ ४॥ कठो० वल्ली० ६। मं० १०। ११। १४। १५॥ दैवेन चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते॥ ५॥ य एते ब्रह्मलोके तं वा एतं देवा आत्मानमुपासते तस्मात्तेषाꣳ सर्वे च लोका आत्ताः सर्वे च कामाः स सर्वाꣳश्च लोकानाप्नोति सर्वाꣳश्च कामान् यस्तमात्मानमनुविद्य जानातीति ह प्रजापतिरुवाच प्रजापतिरुवाच॥ ६॥ यदन्तरापस्तद्ब्रह्म * तदमृतꣳ स आत्मा प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये यशोऽहं भवामि ब्राह्मणानां

* "यदन्तरा तद्ब्रह्मेति" पाठ उपनिषदि।

यशो राज्ञां यशो विशां यशोऽहमनुप्रापत्सि सहाहं यशसां यशः ॥ ७ ॥ छान्दोग्योपनि० प्रपा० ॥ ८ * ॥ अणुः पन्था विततः पुराणो माᳫँस्पृष्टो वित्तो मयैव । तेन धीरा अपियन्ति ब्रह्मविद उत्क्रम्य स्वर्गं लोकमितो विमुक्ताः ॥ ८ ॥ तस्मिञ्छुक्लमुत नीलमाहुः पिङ्गलं हरितं लोहितं च । एष पन्था ब्रह्मणा हानुवित्तस्तेनैति ब्रह्मवित्तैजसः पुण्यकृच्च ॥ ९ ॥ प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रमन्नस्यान्नं मनसो ये मनो विदुः । ते निचिक्युर्ब्रह्म पुराणमग्र्यं मनसैवाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन ॥ १० ॥ मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति । मनसैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमेयं ध्रुवम् ॥ ११ ॥ विरजः पर आकाशात् अज आत्मा महाध्रुवः । तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः ॥ १२ ॥ श० कां० १४ । अ० ७ † ॥

भाषार्थ

अब व्यासोक्त वेदान्तदर्शन और उपनिषदों में जो मुक्ति का स्वरूप और लक्षण लिखा है सो आगे लिखते हैं । (अभावं) व्यासजी के पिता जो बादरि आचार्य्य थे उनका मुक्तिविषय में ऐसा मत है कि जब जीव मुक्तदशा को प्राप्त होता है तब वह शुद्ध मन से परमेश्वर के साथ परमानन्द मोक्ष में रहता है और इन दोनों से भिन्न इन्द्रियादि पदार्थों का अभाव होजाता है ॥ १ ॥ तथा (भावं जैमिनि०) इसी विषय में व्यासजी के मुख्य शिष्य जो जैमिनि थे उनका ऐसा मत है कि जैसे मोक्ष में मन रहता है वैसे ही शुद्धसंकल्पमय शरीर तथा प्राणादि और इन्द्रियों की शुद्ध शक्ति भी बराबर बनी रहती है । क्योंकि उपनिषद् में (स एकधा भवति, द्विधा भवति, त्रिधा भवति) इत्यादि वचनों का प्रमाण है कि मुक्तजीव सङ्कल्पमात्र से ही दिव्यशरीर रच लेता है और इच्छामात्र ही से शीघ्र छोड़ भी देता है और शुद्ध ज्ञान का सदा प्रकाश बना रहता है ॥ २ ॥ (द्वादशाह) इस मुक्तिविषय में बादरायण जो व्यासजी थे उन का ऐसा मत है कि मुक्ति में भाव और अभाव दोनों ही बने रहते हैं । अर्थात्

* खं० १२, १४ ।

† ब्रा० २ । कण्डि० ११, १२, २१, २२, २३ ।

क्लेश, अज्ञान और अशुद्धि आदि दोषों का सर्वथा अभाव हो जाता है और परमानन्द, ज्ञान, शुद्धता आदि सब सत्यगुणों का भाव बना रहता है। इस में दृष्टान्त भी दिया है कि जैसे वानप्रस्थ आश्रम में बारह दिन का प्राजापत्यादि व्रत करना होता है उस में थोड़ा भोजन करने से क्षुधा का थोड़ा अभाव और पूर्ण भोजन न करने से क्षुधा का कुछ भाव भी बना रहता है। इसी प्रकार मोक्ष में भी पूर्वोक्त रीति से भाव और अभाव समझ लेना। इत्यादि निरूपण मुक्ति का वेदान्तशास्त्र में किया है ॥ ३ ॥ अब मुक्तिविषय में उपनिषद्कारों का जो मत है सो भी आगे लिखते हैं कि (यदा पञ्चाव०) अर्थात् जब मन के सहित पांच ज्ञानेन्द्रिय परमेश्वर में स्थिर हो के उसी में सदा रमण करती हैं और जब बुद्धि भी ज्ञान से विरुद्ध चेष्टा नहीं करती उसी को परमगति अर्थात् मोक्ष कहते हैं ॥ १ ॥ (तां योग०) उसी गति अर्थात् इन्द्रियों की शुद्धि और स्थिरता को विद्वान् लोग योग की धारणा मानते हैं। जब मनुष्य उपासनायोग से परमेश्वर को प्राप्त होके प्रमादरहित होता है तभी जानो कि वह मोक्ष को प्राप्त हुआ। वह उपासनायोग कैसा है कि प्रभव अर्थात् शुद्धि और सत्यगुणों का प्रकाश करनेवाला तथा (अप्ययः) अर्थात् सब अशुद्धि दोषों और असत्य गुणों का नाश करनेवाला है। इसलिये केवल उपासना योग ही मुक्ति का साधन है ॥ २ ॥ (यदा सर्वे०) जब इस मनुष्य का हृदय सब बुरे कामों से अलग हो के शुद्ध हो जाता है तभी वह अमृत अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होके आनन्दयुक्त होता है। (प्रश्न) क्या वह मोक्षपद कहीं स्थानान्तर वा पदार्थविशेष है ? क्या वह किसी एक ही जगह में है वा सब जगह में ?। (उत्तर) नहीं, ब्रह्म जो सर्वत्र व्यापक हो रहा है वही मोक्षपद कहाता है और मुक्त पुरुष उसी मोक्ष को प्राप्त होते हैं ॥ ३ ॥ तथा (यदा सर्वे०) जब जीव की अविद्यादि बन्धन की सब गांठें छिन्न भिन्न होके टूट जाती हैं तभी वह मुक्ति को प्राप्त होता है ॥ ४ ॥ (प्र०) जब मोक्ष में शरीर और इन्द्रियां नहीं रहतीं तब वह जीवात्मा व्यवहार को कैसे जानता और देख सकता ? (उ०) (दैवेन०) वह जीव शुद्ध इन्द्रिय और शुद्धमन से इन आनन्दरूप कामों को देखता और भोगता भया उस में सदा रमण करता है, क्योंकि उस का मन और इन्द्रियां

प्रकाशस्वरूप होजाती हैं ॥ ५ ॥ (प्र०) वह मुक्त जीव सब सृष्टि में घूमता है अथवा कहीं एक ही ठिकाने बैठा रहता है ? (उ०) (य एते ब्रह्मलोके०) जो मुक्त पुरुष होते हैं वे ब्रह्मलोक अर्थात् परमेश्वर को प्राप्त होके और सब के आत्मा परमेश्वर की उपासना करते हुए उसी के आश्रय से रहते हैं। इसी कारण से उन का जाना आना सब लोकलोकान्तरों में होता है, उन के लिये कहीं रुकावट नहीं रहती, और उन के सब काम पूर्ण होजाते हैं, कोई काम अपूर्ण नहीं रहता। इसलिये जो मनुष्य पूर्वोक्त रीति से परमेश्वर को सब का आत्मा जान के उस की उपासना करता है वह अपनी सम्पूर्ण कामनाओं को प्राप्त होता है। यह बात प्रजापति परमेश्वर सब जीवों के लिये वेदों में बताता है ॥ ६ ॥ पूर्व प्रसङ्ग का अभिप्राय यह है कि मोक्ष की इच्छा सब जीवों को करनी चाहिये। (यदन्तरा०) जो कि आत्मा का भी अन्तर्यामी है उसी को ब्रह्म कहते हैं, और वही अमृत अर्थात् मोक्षस्वरूप है, और जैसे वह सब का अन्तर्यामी है वैसे उस का अन्तर्यामी कोई भी नहीं, किन्तु वह अपना अन्तर्यामी आपही है। ऐसे प्रजानाथ परमेश्वर के व्याप्तिरूप सभास्थान को मैं प्राप्त होऊं, और इस संसार में जो पूर्ण विद्वान् ब्राह्मण हैं उनके बीच में (यशः) अर्थात् कीर्त्ति को प्राप्त होऊं, तथा (राज्ञाम्) क्षत्रियों (विशाम्) अर्थात् व्यवहार में चतुर लोगों के बीच में यशस्वी होऊं। हे परमेश्वर ! मैं कीर्त्तियों का भी कीर्त्तिरूप होके आप को प्राप्त हुआ चाहता हूं। आप भी कृपा करके मुझ को सदा अपने समीप रखिये ॥ ७ ॥ अब मुक्ति के मार्ग का स्वरूप वर्णन करते हैं। (अणुः पन्था०) मुक्ति का जो मार्ग है सो अणु अर्थात् अत्यन्त सूक्ष्म है, (विततः) उस मार्ग से सब दुःखों के पार सुगमता से पहुंच जाते हैं, जैसे दृढ़ नौका से समुद्र को तर जाते हैं। तथा (पुराणः) जो मुक्ति का मार्ग है वह प्राचीन है दूसरा कोई नहीं। मुझ को (स्पृष्टः) वह ईश्वर की कृपा से प्राप्त हुआ है। उसी मार्ग से विमुक्त मनुष्य सब दोष और दुःखों से छूटे हुए, (धीराः) अर्थात् विचारशील और ब्रह्मवित्, वेदविद्या और परमेश्वर के जाननेवाले जीव (उत्क्रम्य) अर्थात् अपने सत्य पुरुषार्थ से सब दुःखों का उल्लंघन करके, (स्वर्गं लोकं०) सुखस्वरूप ब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं ॥ ८ ॥ (तस्मिञ्छुक्र०)

अर्थात् उसी मोक्षपद में (शुक्ल) श्वेत, (नील) शुद्ध घनश्याम, (पिङ्गल) पीला श्वेत, (हरित) हरा और (लोहित) लाल ये सब गुणवाले लोक लोकान्तर ज्ञान से प्रकाशित होते हैं। यही मोक्ष का मार्ग परमेश्वर के साथ समागम के पीछे प्राप्त होता है। उसी मार्ग से ब्रह्म का जानने वाला तथा (तैजसः०) शुद्धस्वरूप और पुण्य का करने वाला मनुष्य मोक्षसुख को प्राप्त होता है, अन्य प्रकार से नहीं ॥ ९ ॥ (प्राणस्य प्राण०) जो परमेश्वर प्राण का प्राण, चक्षु का चक्षु, श्रोत्र का श्रोत्र, अन्न का अन्न और मन का मन है, उस को जो विद्वान् निश्चय करके जानते हैं वे पुरातन और सब से श्रेष्ठ ब्रह्म को मन से प्राप्त होने के योग्य मोक्षसुख को प्राप्त होके आनन्द में रहते हैं, (नेह ना०) जिस सुख में किंचित् भी दुःख नहीं है ॥ १० ॥ (मृत्योः स मृत्यु०) जो अनेक ब्रह्म अर्थात् दो, तीन, चार, दश, बीस जानता है वा अनेक पदार्थों के संयोग से बना जानता है वह वारंवार मृत्यु अर्थात् जन्ममरण को प्राप्त होता है, क्योंकि वह ब्रह्म एक और चेतनमात्रस्वरूप ही है तथा प्रमादरहित और व्यापक हो के सब में स्थिर है। उस को मन से ही देखना होता है क्योंकि ब्रह्म आकाश से भी सूक्ष्म है ॥ ११ ॥ (विरजः परआ०) जो परमात्मा विक्षेपरहित, आकाश से परम सूक्ष्म, (अजः) अर्थात् जन्मरहित और महाध्रुव अर्थात् निश्चल है ज्ञानी लोग उसी को जान के अपनी बुद्धि को विशाल करें और वह इसी से ब्राह्मण कहाता है ॥ १२ ॥

स होवाच । एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसङ्गमस्पर्शमगन्धमरसमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणममुखमनामागोत्रमजरममरमभयममृतमरजोऽशब्दमविवृतमसंवृतमपूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यं न तदश्नोति कञ्चन न तदश्नोति कश्चन ॥ १३ ॥ श० कां० १४ । अ० ६ । ब्रा० ८ । कं० ८ ॥ इति मुक्तैः प्राप्तव्यस्य मोक्षस्वरूपस्य सच्चिदानन्दादिलक्षणस्य परब्रह्मणः प्राप्त्या जीवस्सदासुखी भवतीति बोध्यम् ।

अथ वैदिकप्रमाणम्

ये यज्ञेन दक्षिणया समक्ता इन्द्रस्य सख्यममृतत्वमानश । तेभ्यो भद्रमङ्गिरसो वो अस्तु प्रति गृभ्णीत मानवं सुमेधसः ॥ १ ॥ ऋ० अ० ८ । अ० २ । व० १ । मं० १ ॥ स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा । यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त ॥ २ ॥ य० अ० ३२ । मं० १० ॥

अविद्यास्मितेत्यारभ्याध्यैरयन्तेत्यन्तेन मोक्षस्वरूपनिरूपणमस्तीति वेदितव्यम् । एषामर्थः प्राकृतभाषायां प्रकाश्यते ।

भाषार्थ

(स होवाच ए०) याज्ञवल्क्य कहते हैं, हे गार्गि ! जो परब्रह्म नाश, स्थूल, सूक्ष्म, लघु, लाल, चिक्कन, छाया, अन्धकार, वायु, आकाश, सङ्ग, शब्द, स्पर्श, गन्ध, रस, नेत्र, कर्ण, मन, तेज, प्राण, मुख, नाम, गोत्र, वृद्धावस्था, मरण, भय, आकार, विकाश, संकोच, पूर्व, अपर, भितर, बाह्य अर्थात् बाहर, इन सब दोष और गुणों से रहित मोक्षस्वरूप है, वह साकार पदार्थ के समान किसी को प्राप्त नहीं होता और न कोई उसको मूर्त्त द्रव्य के समान प्राप्त होता है, क्योंकि वह सब में परिपूर्ण, सब से अलग, अद्भुतस्वरूप परमेश्वर है, उस को प्राप्त होने वाला कोई नहीं हो सकता, जैसे मूर्त्त द्रव्य को चक्षुरादि इन्द्रियों से साक्षात् कर सकता है । क्योंकि वह सब इन्द्रियों के विषयों से अलग और सब इन्द्रियों का आत्मा है । तथा (ये यज्ञेन) अर्थात् पूर्वोक्त ज्ञानरूप यज्ञ और आत्मादि द्रव्यों की परमेश्वर को दक्षिणा देने से वे मुक्त लोग मोक्ष सुख में प्रसन्न रहते हैं । (इन्द्रस्य) जो परमेश्वर की सख्य अर्थात् मित्रता से मोक्षभाव को प्राप्त हो गये हैं उन्हीं के लिये भद्र नाम सब सुख नियत किये गये हैं । (आङ्गिरसः) अर्थात् उन के जो प्राण हैं वे (सुमेधसः) उन की बुद्धि को अत्यन्त बढ़ाने वाले होते हैं और उस मोक्षप्राप्त

मनुष्य को पूर्वमुक्त लोग अपने समीप आनन्द में रख लेते हैं और फिर वे परस्पर अपने ज्ञान से एक दूसरे को प्रीतिपूर्वक देखते और मिलते हैं। (स नो बन्धु०) सब मनुष्यों को यह जानना चाहिये कि वही परमेश्वर हमारा बन्धु अर्थात् दुःख का नाश करने वाला, (जनिता) सब सुखों का उत्पन्न और पालन करने वाला है। तथा वही सब कामों को पूर्ण करता और सब लोकों को जानने वाला है कि जिस में देव अर्थात् विद्वान् लोग मोक्ष को प्राप्त होके सदा आनन्द में रहते हैं और वे तीसरे धाम अर्थात् शुद्ध सत्त्व से सहित होके सर्वोत्तम सुख में सदा स्वच्छन्दता से रमण करते हैं॥ २॥ इस प्रकार संक्षेप से मुक्तिविषय कुछ तो वर्णन कर दिया और कुछ आगे भी कहीं २ करेंगे, सो जानलेना। जैसे (वेदाहमेतं) इस मन्त्र में भी मुक्ति का विषय कहा गया है।

इति मुक्तिविषयः संक्षेपतः

अथ नौविमानादिविद्याविषयस्संक्षेपतः

तुग्रो ह भुज्युमश्विनोदमेघे रयिं न कश्चिन्ममृवां अवाहाः। तमूहथुर्नौभिरात्मन्वतीभिरन्तरिक्षप्रुद्भिरपोदकाभिः॥ १॥
तिस्रः क्षपस्त्रिरहातिव्रजद्भिर्नासत्या भुज्युमूहथुः पतङ्गैः। समुद्रस्य धन्वन्नार्द्रस्य पारे त्रिभीरथैः शतपद्भिः षडश्वैः॥ २॥
ऋ० अ० १। अ० ८। व० ८। मं० ३। ४॥

भाष्यम्

एषामभिप्रायः। तुग्रो हेत्यादिषु मन्त्रेषु शिल्पविद्या विधीयत इति। (तुग्रो ह०) तुजि हिंसाबलादानानिकेतनेषु, अस्माद्धातोरौणादिके रक्प्रत्यये कृते तुग्र इति पदं जायते। यः कश्चिद् धनाभिलाषी भवेत् स (रयिं) धनं कामयमानो (भुज्युं) पालनभोगमयं धनादिपदार्थभोगमिच्छन् विजयं च, पदार्थविद्यया स्वाभिलाषं प्राप्नुयात्। स च (अश्विना०) पृथिवीमयैः काष्ठ-

लोष्ठादिभिः पदार्थैर्नावं रचयित्वाऽग्निजलादिप्रयोगेण (उदमेघे) समुद्रे गमयेदागमयेच्च, तेन द्रव्यादिसिद्धिं साधयेत्। एवं कुर्वन् (न काश्चिन् ममृवान्) योगक्षेमविरहः सन् न मरणं कदाचित् प्राप्नोति, कुतः, तस्य कृतपुरुषार्थत्वात्। अतो नावं (अवाहाः) अर्थात् समुद्रे द्वीपान्तरगमनं प्रति नावो वाहनावहने परमप्रयत्नेन नित्यं कुर्य्यात्। कौ साधयित्वा ? (अश्विना)। द्यौरिति द्योतनात्मकाग्निप्रयोगेण पृथिव्या पृथिवीमयेनायस्ताम्ररजतधातुकाष्ठादिमयेन चेयं क्रिया साधनीया। अश्विनौ युवां तौ साधतौ द्वौ नावादिकं यानं (ऊहथुः) देशान्तरगमनं सम्यक्सुखेन प्रापयतः। पुरुषव्यत्ययेनात्र प्रथमपुरुषस्थाने मध्यमपुरुषप्रयोगः। कथंभूतैर्यानैः ? (नौभिः) समुद्रे गमनागमनहेतुरूपाभिः। (आत्मन्वतीभिः), स्वयं स्थिताभिः स्वात्मीयस्थिताभिर्वा। राजपुरुषैर्व्यापारिभिश्च मनुष्यैर्व्यवहारार्थं समुद्रमार्गेण तासां गमनागमने नित्यं कार्य्ये इति शेषः। तथा ताभ्यामुक्तप्रयत्नाभ्यां भूयांस्यन्यान्यपि विमानादीनि साधनीयानि। एवमेव (अन्तरिक्षप्रुद्भिः) अन्तरिक्षं प्रति गन्तृभिर्विमानाख्ययानैः साधितैः सर्वैर्मनुष्यैः परमैश्वर्यं सम्यक् प्रापणीयम्। पुनः कथम्भूताभिर्नौभिः ? (अपोदकाभिः) अपगतं दूरीकृतं जललेपो यासां ता अपोदका नावः, अर्थात् सचिक्कनाः। ताभिः, उदरे जलागमनरहिताभिश्च समुद्रे गमनं कुर्य्यात्। तथैव भूयानैर्भूमौ, जलयानैर्जले, अन्तरिक्षयानैश्चान्तरिक्षे चेति त्रिविधं यानं रचयित्वा, जलभूम्याकाशगमनं यथावत् कुर्य्यादिति ॥ १ ॥ अत्र प्रमाणम्। अथातो द्युस्थाना देवतास्तासामश्विनौ प्रथमागामिनौ भवतोऽश्विनौ यद् व्यश्नुवाते सर्वं, रसेनान्यो ज्योतिषाऽन्यो,ऽश्वैरश्विनावित्यौर्णवाभस्तत्कावश्विनौ द्यावापृथिव्यावित्येकेऽहोरात्रावित्येके सूर्य्याचन्द्रमसावित्येके ॥ निरु० अ० १२। खं० १ ॥ तथाश्विनौ चापि भर्त्तारौ जर्भरीभर्त्तारावित्यर्थस्तुर्फरी तू हन्तारौ ॥ उदन्यजेवत्युदकजे इव रत्ने सामुद्रे ॥ निरु० अ० १३। खं० ५ ॥ एतैः प्रमाणैरेतत्सिध्यति वायुजलाग्निपृथिवीविकारकलाकौशलसाधनेन त्रिविधं यानं रचनीयमिति ॥ १ ॥ (तिस्रः क्षपास्त्रिरहा०) कथम्भूतैर्नावादिभिः ? तिसृभी रात्रिभिस्त्रिभिर्दिनैः, (आर्द्रस्य) जलेन पूर्णस्य समुद्रस्य तथा (धन्वनः)

स्थलस्यान्तरिक्षस्य पारे, (अतिव्रजद्भिः) अत्यन्तवेगवद्भिः । पुनः कथम्भूतैः ? (पतङ्गैः) प्रतिपात वेगेन गन्तृभिः, तथा (त्रिभीरथैः) त्रिभी रमणीयसाधनैः, (शतपद्भिः) शतेनासंख्यातेन वेगेन पद्भ्यां यथा गच्छेत्तादृशैरत्यन्तवेगवद्भिः, (षडश्वैः) षडश्वा आशुगमनहेतवो यन्त्राण्यग्निस्थानानि वा येषु तानि षडश्वानि तैः षडश्वैर्यानैस्त्रिषु मार्गेषु सुखेन गन्तव्यमिति शेषः । तेषां यानानां सिद्धिः केन द्रव्येण भवतीत्यत्राह ? । (नासत्या) पूर्वोक्ताभ्यामश्विभ्याम् । अत एवोक्तं नासत्यौ द्यावापृथिव्यौ । तानि यानानि (ऊहथुः) इत्यत्र पुरुषव्यत्ययेन प्रथमस्य स्थाने मध्यमः, प्रत्यक्षविषयवाचकत्वात् । अत्र प्रमाणम् । व्यत्ययो बहुलम् । अष्टाध्याय्याम् ॥ अ० ३ । पा० १* ॥ अत्राह महाभाष्यकारः ॥ सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणां कालहलच्स्वरकर्तृयङां च । व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां सोऽपि च सिध्यति बाहुलकेनेति महाभाष्यप्रामाण्यात् ॥ तावेव नासत्यावश्विनौ सम्यग् यानानि वहत इत्यत्र सामान्यकाले लिड्विधानात् ऊहथुरित्युक्तम् । तावेव तेषां यानानां मुख्ये साधने स्तः । एवं कुर्वतो मनुष्या उत्तमसुखभोगं प्राप्नुयुर्नान्यथेति ॥ २ ॥

भाषार्थ

अब मुक्ति के आगे समुद्र, भूमि और अन्तरिक्ष में शीघ्र चलने के लिये यानविद्या लिखते हैं, जैसी कि वेदों में लिखी है । (तुग्रो ह०) तुजि धातु से रक् प्रत्यय करने से तुग्र शब्द सिद्ध होता है । उसका अर्थ हिंसक, बलवान् ग्रहण करने वाला और स्थान वाला है । क्योंकि वैदिक शब्द सामान्य अर्थ में वर्त्तमान हैं । जो शत्रु को हनन करके अपने विजय बल और धनादि पदार्थ और जिस २ स्थान में सवारियों से अत्यन्त सुख का ग्रहण किया चाहे उन सबों का नाम तुग्र है । (रयिं) जो मनुष्य उत्तम विद्या, सुवर्ण आदि पदार्थों की कामनावाला है उसका जिनसे पालन और भोग होता है उन धनादि पदार्थों की प्राप्ति, भोग और विजय की इच्छा को आगे लिखे हुए प्रकारों से पूर्ण करे । (अश्विना) जो कोई सोना चांदी तांबा, पीतल लोहा और लकड़ी आदि

* सू० ८१ ।

पदार्थों से अनेक प्रकार की कलायुक्त नौकाओं को रच के उनमें अग्नि, वायु और जल आदि का यथावत् प्रयोग कर और पदार्थों को भर के व्यापार के लिये (उदमेघे) समुद्र और नद आदि में (अवाहाः) आवे जावे तो उसके द्रव्यादि पदार्थों की उन्नति होती है। जो कोई इस प्रकार से पुरुषार्थ करता है वह (न कश्चिन्ममृवान्) पदार्थों की प्राप्ति और उनकी रक्षासहित होकर दुःख से मरण को प्राप्त कभी नहीं होता, क्योंकि वह पुरुषार्थी होके आलसी नहीं रहता। वे नौका आदि किन को सिद्ध करने से होते हैं? अर्थात् जो अग्नि, वायु और पृथिव्यादि पदार्थों में शीघ्रगमनादि गुण और अश्वि नाम से सिद्ध हैं वे ही यानों को धारण और प्रेरणा आदि अपने गुणों से वेगवान् करदेते हैं। वेदोक्त युक्ति से सिद्ध किये हुए नाव, विमान और रथ अर्थात् भूमि में चलने वाली सवारियों का (ऊहथुः) जाना आना जिन पदार्थों से देश देशान्तर में सुख से होता है। यहां पुरुषव्यत्यय से (ऊहतुः) इस के स्थान में (ऊहथुः) ऐसा प्रयोग किया गया है। उनसे किस २ प्रकार की सवारी सिद्ध होती हैं सो लिखते हैं। (नौभिः) अर्थात् समुद्र में सुख से जाने आने के लिये अत्यन्त उत्तम नौका होती हैं। (आत्मन्वतीभिः) जिनसे उनके मालिक अथवा नौकर चला के जाते आते रहैं। व्यवहारी और राजपुरुष लोग इन सवारियों से समुद्र में जावें आवें। तथा (अन्तरिक्षप्रुद्भिः) अर्थात् जिनसे आकाश में जाने आने की क्रिया सिद्ध होती है। जिनका नाम विमान शब्द करके प्रसिद्ध है। तथा (अपोदकाभिः) वे सवारी ऐसी शुद्ध और चिक्कन होनी चाहियें जो जल से न गलें और न जल्दी टूटें फूटें। इन तीन प्रकार की सवारियों की जो रीति पहिले कह आये और जो आगे कहेंगे उसी के अनुसार बराबर उनको सिद्ध करें। इस अर्थ में निरुक्त का प्रमाण संस्कृत में लिखा है सो देख लेना। उस का अर्थ यह है (अथातो द्युस्थानादे०) वायु और अग्नि आदि का नाम अश्वि है, क्योंकि सब पदार्थों में धनञ्जयरूप करके वायु और विद्युत् रूप से अग्नि ये दोनों व्याप्त हो रहे हैं। तथा जल और अग्नि का नाम भी अश्वि है, क्योंकि अग्नि ज्योति से युक्त और जल रस से युक्त हो के व्याप्त हो रहा है। (अश्वैः) अर्थात् वे वेगादि गुणों से भी युक्त हैं। जिन पुरुषों को विमान आदि सवारियों की सिद्धि की इच्छा

हो वे वायु, अग्नि और जल से उन को सिद्ध करें यह और्णनाभ आचार्य्य का मत है। तथा कई एक ऋषियों का ऐसा मत है कि अग्नि की ज्वाला और पृथिवी का नाम अश्वि है। पृथिवी के विकार काष्ठ और लोहा आदि के कलायन्त्र चलाने से भी अनेक प्रकार के वेगादि गुण सवारियों वा अन्य कारीगरियों में किये जाते हैं। तथा कई एक विद्वानों का ऐसा मत है कि (अहोरात्रौ) अर्थात् दिन रात्रि का नाम अश्वि है, क्योंकि इन से भी सब पदार्थों के संयोग और वियोग होने के कारण से वेग उत्पन्न होते हैं, अर्थात् जैसे शरीर और ओषधि आदि में वृद्धि और क्षय होते हैं। इसी प्रकार कई एक शिल्पविद्या जानने वाले विद्वानों का ऐसा भी मत है कि (सूर्य्याचन्द्रमसौ) सूर्य्य और चन्द्रमा को अश्वि कहते हैं, क्योंकि सूर्य्य और चन्द्रमा के आकर्षणादि गुणों से जगत् के पृथिवी आदि पदार्थों में संयोग वियोग, वृद्धि क्षय आदि श्रेष्ठ गुण उत्पन्न होते हैं। तथा (जर्भरी) और (तुर्फरी) ये दोनों पूर्वोक्त अश्वि के नाम हैं। (जर्भरी) अर्थात् विमान आदि सवारियों के धारण करने वाले और (तुर्फरी) अर्थात् कलायन्त्रों के हनन से वायु, अग्नि, जल और पृथिवी के युक्तिपूर्वक प्रयोग से विमान आदि सवारियों का धारण पोषण और वेग होते हैं। जैसे घोड़े और बैल चाबुक मारने से शीघ्र चलते हैं वैसे ही कलाकौशल से धारण और वायु आदि को कलाओं करके प्रेरने से सब प्रकार की शिल्पविद्या सिद्ध होती है। (उदन्यजे) अर्थात् वायु, अग्नि और जल के प्रयोग से समुद्र में सुख करके गमन हो सकता है ॥ १ ॥ (तिस्रः क्षपस्त्रि०) नासत्या० जो पूर्वोक्त अश्वि कह आये हैं वे (भुज्युमूहथुः) अनेक प्रकार के भोगों को प्राप्त करते हैं, क्योंकि जिन के वेग से तीन दिन रात में (समुद्र) सागर, (धन्वन्०) आकाश और भूमि के पार नौका विमान और रथ करके (व्रजद्भिः०) सुखपूर्वक पार जाने में समर्थ होते हैं, (त्रिभीरथैः) अर्थात् पूर्वोक्त तीन प्रकार के वाहनों से गमनागमन करना चाहिये। तथा (षडश्वैः) छः अश्व अर्थात् उन में अग्नि और जल के छः घर बनाने चाहियें। जैसे उन यानों से अनेक प्रकार के गमनागमन हो सकें तथा (पतङ्गैः) जिन से तीन प्रकार के मार्गों में यथावत् गमन हो सकता है ॥ २ ॥

अनारम्भणे तदवीरयेथामनास्थाने अंग्रभणे समुद्रे। यदश्विना ऊहथुर्भुज्युमस्तं शतारित्रां नावमातस्थिवांसम् ॥ ३ ॥ यमश्विना ददथुः श्वेतमश्वमघाश्वाय शश्वदित्स्वस्ति । तद्वां दात्रं महि कीर्तेन्यं भूत्पैद्वो वाजी सदमिद्धव्यो अर्यः ॥ ४ ॥ ऋ० अष्ट० १ । अ० ८ । व० ८ । ६ । मं० ५ । १ ॥

भाष्यम्

हे मनुष्याः ! पूर्वोक्ताभ्यां प्रयत्नाभ्यां कृतसिद्धयानैः, (अनारम्भणे) आलम्बरहिते, (अनास्थाने) स्थातुमशक्ये, (अग्रभणे) हस्तालम्बनाविद्यमाने, (समुद्रे) समुद्रवन्त्यापो यस्मिन् तस्मिन् जलेन पूर्णे, अन्तरिक्षे वा, कार्य्यसिद्ध्यर्थं युष्माभिर्गन्तव्यमिति । अश्विना ऊहथुर्भुज्युमिति पूर्ववद्विज्ञेयम् । तद्यानं सम्यक् प्रयुक्ताभ्यां ताभ्यामश्विभ्यां (अस्तं) क्षिप्तं चालितं सम्यक् कार्य्यं साधयतीति । कथम्भूतां नावं समुद्रे चालयेत् ? (शतारित्राम्) शतानि अरित्राणि लोहमयानि समुद्रस्थलान्तरिक्षमध्ये स्तम्भनार्थानि गाधग्रहणार्थानि च भवन्ति यस्यां तां शतारित्राम् । एवमेव शतारित्रं भूम्याकाशविमानं प्रति योजनीयम् । तथा तदेतत् त्रिविधं यानं शतकलं शतबन्धनं शतस्तम्भनसाधनं च रचनीयमिति । तद्यानैः कथम्भूतं भुज्युं भोगं प्राप्नुवन्ति ? । (तस्थिवांसं) स्थितिमन्तमित्यर्थः ॥ ३ ॥ यद्यस्मादेवं भोगो जायते तस्मादेवं सर्वमनुष्यैः प्रयत्नः कर्त्तव्यः । (यमश्विना०) यं सम्यक् प्रयुक्ताभ्यामग्निजलाभ्यामश्विभ्यां शुक्लवर्णं वाष्पाख्यमश्वं (अघाश्वाय) शीघ्रगमनाय शिल्पविद्याविदो मनुष्याः प्राप्नुवन्ति तमेवाश्वं गृहीत्वा पूर्वोक्तानि यानानि साधयन्ति । (शश्वत्) तानि शश्वन्निरन्तरमेव (स्वस्ति) सुखकारकाणि भवन्ति । तद्यानसिद्धिं (अश्विना ददथुः) दत्तस्ताभ्यामेवायं गुणो मनुष्यैर्ग्राह्य इति । (वाम्) अत्रापि पुरुषव्यत्ययः । तयोरश्विनोर्मध्ये यत्सामर्थ्यं वर्त्तते तत् कीदृशं ? (दात्रं) दानयोग्यं, सुखकारकत्वात् पोषकं च, (महि) महागुणयुक्तम्, (कीर्तेन्यम्) कीर्त्तनीयमत्यन्तप्रशंसनीयम् । कृत्यार्थे तवैकेनकेन्यत्वन इति केन्यप्रत्ययः । अन्येभ्यस्तच्छ्रेष्ठोपकारकम्

(भूत्) अभूत् भवतीति । अत्र लडर्थे लुङ् विहित इति वेद्यम् । स चाग्न्याख्यो (वाजी) वेगवान्, (पैद्वः०) यो यानं मार्गे शीघ्रवेगेन गमयितास्ति, पैद्वपतङ्गावश्वनाम्नी ॥ निघं० अ० १ । खं० १४ ॥ (सदमित्) यः सदं वेगं इत् एति प्राप्नोतीतीदृशोऽश्वोऽग्निरस्माभिः (हव्यः) ग्राह्योस्ति । (अर्यः) तमश्वमर्य्यो वैश्यो वणिग्जनोऽवश्यं गृह्णीयात् ॥ अर्य्यः स्वामिवैश्ययोः, इति पाणिनिसूत्रात्, अर्य्यो वैश्यस्वामिवाचीति ॥ ४ ॥

त्रयः पवयो मधुवाहने रथे सोमस्य वेनामनु विश्व इद्विदुः । त्रयः स्कम्भासः स्कभितास आरभे त्रिर्नक्तं याथस्त्रिर्वश्विना दिवा ॥ ५ ॥ ऋ० अष्ट० १ । अ० ३ । वर्ग ४ । मं० २ ॥

भाष्यम्

(मधुवाहने) मधुरगतिमति रथे (त्रयः पवयः) वज्रतुल्याश्चक्रसमूहाः कलायन्त्रयुक्ता दृढाः शीघ्रं गमनार्थं त्रयः कार्य्याः । तथैव शिल्पिभिः (त्रयः स्कम्भासः) स्तम्भनार्थाः स्तम्भास्त्रयः कार्य्याः । (स्कभितासः०) किमर्थाः सर्वकलानां स्थापनार्थाः । (विश्वे) सर्वे शिल्पिनो विद्वांसः (सोमस्य) सोमगुणविशिष्टस्य सुखस्य (वेनां) कमनीयां कामनासिद्धिं विदुर्जानन्त्येव । अर्थात् (अश्विना) अश्विभ्यामेवैतद्यानमारब्धुमिच्छेयुः । कुतः, तावेवाश्विनौ तद्यानसिद्धिं (याथः) प्रापयत इति । तत्कीदृशमित्यत्राह (त्रिर्नक्तम्) (त्रिर्दिवा) तिसृभी रात्रिभिस्त्रिभिर्दिनैश्चातिदूरमपि मार्गं गमयतीति बोध्यम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ

(अनारम्भणे०) हे मनुष्य लोगो ! तुम पूर्वोक्त प्रकार से अनारम्भण अर्थात् आलम्बरहित समुद्र में अपने कार्य्यों की सिद्धि करने योग्य यानों को रच लो (तद्वीरयेथाम्) वे यान पूर्वोक्त अश्विनी से ही जाने आने के लिये सिद्ध होते हैं । (अनास्थाने) अर्थात् जिस आकाश और समुद्र में विना आलम्ब से कोई

भी नहीं ठहर सकता, (अग्रभणे) जिसमें हाथ से पकड़ने का आलम्ब कोई भी नहीं मिल सकता (समुद्रे) ऐसा जो पृथिवी पर जल से पूर्ण समुद्र प्रत्यक्ष है, तथा अन्तरिक्ष का भी नाम समुद्र है, क्योंकि वह भी वर्षा के जल से पूर्ण रहता है, उन में किसी प्रकार का आलम्बन सिवाय नौका और विमान से नहीं मिल सकता, इससे इन यानों को पुरुषार्थ से रच लेवें। (यदश्विना) (ऊहथुर्भु०) जो यान वायु आदि अश्वि से रचा जाता है वह उत्तम भोगों को प्राप्त कर देता है, क्योंकि (अस्तं) जो उनसे चलाया जाता है वह पूर्वोक्त समुद्र, भूमि और अन्तरिक्ष में सब कार्य्यों को सिद्ध करता है। (शतारित्राम्) उन नौकादि सवारियों में सैकड़ह अरित्र अर्थात् जल का थाह लेने, उनके थांभने और वायु आदि विघ्नों से रक्षा के लिये लोह आदि के लंगर भी रखना चाहिये, जिन से जहां चाहे वहां उन यानों को थांभे। इसी प्रकार उन में सैकड़ह कलबन्धन और थांभने के साधन रचने चाहियें। इस प्रकार के यानों से (तस्थिवांसम्) स्थिर भोग को मनुष्य लोग प्राप्त होते हैं ॥ ३ ॥ (यमश्विना) जो अश्वि अर्थात् अग्नि और जल हैं उन के संयोग से (श्वेतमश्वं) भाफरूप अश्व अत्यन्त वेग देने वाला होता है। जिस से कारीगर लोग सवारियों को (अघाश्वाय) शीघ्र गमन के लिये वेगयुक्त कर देते हैं। जिस वेग की हानि नहीं हो सकती उसको जितना बढ़ाया चाहे उतना बढ़ सकता है। (शश्वदित्स्वस्ति०) जिन यानों में बैठ के समुद्र और अन्तरिक्ष में निरन्तर स्वस्ति अर्थात् नित्य सुख बढ़ता है। (ददथुः) जो कि वायु अग्नि और जल आदि से वेग गुण उत्पन्न होता है उस को मनुष्य लोग सुविचार से ग्रहण करें। (वाम्) यह सामर्थ्य पूर्वोक्त अश्विसंयुक्त पदार्थों ही में है। (तत्) सो सामर्थ्य कैसा है कि (दात्रम्) जो दान करने के योग्य, (महि) अर्थात् बड़े २ शुभ गुणों से युक्त, (कीर्त्तेन्यम्) अत्यन्त प्रशंसा करने के योग्य और सब मनुष्यों को उपकार करने वाला (भूत्) है। क्योंकि वही (पैद्वः) अश्व मार्ग में शीघ्र चलाने वाला है। (सदमित्) अर्थात् जो अत्यन्त वेग से युक्त है (हव्यः) वह ग्रहण और दान देने के योग्य है। (अर्य्यः) वैश्य लोग तथा शिल्पविद्या का स्वामी इस को अवश्य ग्रहण करे, क्योंकि इन यानों के विना द्वीपान्तर में जाना आना

कठिन है ॥ ४ ॥ यह यान किस प्रकार का बनाना चाहिये कि (त्रयः पवयो मधु०) जिस में तीन पहिये हों, जिन से वह जल और पृथिवी के ऊपर चलाया जाय और मधुर वेगवाला हो, उस के सब अङ्ग वज्र के समान दृढ़ हों, जिन में कलायन्त्र भी दृढ़ हों, जिनसे शीघ्र गमन होवे, (त्रयः स्कम्भासः) उन में तीन २ थम्भे ऐसे बनाने चाहियें कि जिन के आधार सब कलायन्त्र लगे रहें, तथा (स्कभितासः) वे थम्भे भी दूसरे काष्ठ वा लोहे के साथ लगे रहें, (आरा) जो कि नाभि के समान मध्यकाष्ठ होता है उसी में सब कलायन्त्र जुड़े रहते हैं। (विश्वे) सब शिल्पिविद्वान् लोग ऐसे यानों को सिद्ध करना अवश्य जानें। (सोमस्य वेनाम्) जिन से सुन्दर सुख की कामना सिद्ध होती है, (रथे) जिस रथ में सब क्रीड़ासुखों की प्राप्ति होती है, (आरभे) उस के आरम्भ में अश्वि अर्थात् अग्नि और जल ही मुख्य हैं। (त्रिर्नक्तं याथस्त्रिर्वश्विना दिवा) जिन यानों से तीन दिन और तीन रात में द्वीप द्वीपान्तर में जा सकते हैं ॥ ५ ॥

त्रिर्नो अश्विना यजता दिवे दिवे परि त्रिधातु पृथिवीमशायतम्। तिस्रो नासत्या रथ्या परावत आत्मेव वातः स्वसराणि गच्छतम् ॥ ६ ॥ ऋ० अष्ट० १। अ० ३। व० ५। मं० १ ॥ अरित्रं वां दिवस्पृथु तीर्थे सिन्धूनां रथः। धिया युयुज्र इन्दवः ॥ ७ ॥ ऋ० अष्ट० १। अ० ३। व० ३४। मं० ३ ॥ वि ये भ्राजन्ते सुमखास ऋष्टिभिः प्रच्यावयन्तो अच्युता चिदोजसा। मनोजुवो यन्मरुतो रथेष्वा वृषव्रातासः पृषतीरयुग्ध्वम् ॥ ८ ॥ ऋ० अ० १। अ० ६। व० ९। मं० ४ ॥

भाष्यम्

यत्पूर्वोक्तं भूमिसमुद्रान्तरिक्षेषु गमनार्थं यानमुक्तं तत् पुनः कीदृशं कर्त्तव्यमित्यत्राह। (परि त्रिधातु) अयस्ताम्ररजतादिधातुत्रयेण रचनीयम्। इदं कीदृग्वेगं भवतीत्यत्राह। (आत्मेव वातः०) आगमनागमने। यथात्मा

मनश्च शीघ्रं गच्छत्यागच्छति तथैव कलाप्रेरितौ वाय्वग्नी अश्विनौ तद्यानं त्वरितं गमयत आगमयतश्चेति विज्ञेयमिति संक्षेपतः ॥ ६ ॥ तच्च कीदृशं यानमित्यत्राह, (अरित्रं) स्तम्भनार्थसाधनयुक्तं, (पृथु) अति-विस्तीर्णम् । ईदृशः स रथः अग्न्यश्वयुक्तः (सिन्धूनाम्) महासमुद्राणां (तीर्थे) तरणे कर्त्तव्येऽलं वेगवान् भवतीति बोध्यम् । (धिया यु०) तत्र त्रिविधे रथे (इन्दवः) जलानि बाष्पवेगार्थं (युयुज्रे) यथावद्युक्तानि कार्य्याणि । येनातीव शीघ्रगामी स रथः स्यादिति । (इन्दवः) इति जल-नामसु । निघण्टौ * खण्डे १२ पठितम् । (उन्देरिच्चादेः) । उणादौ प्रथमे पादे सूत्रम् † ॥ ७ ॥ हे मनुष्याः ! (मनोजुवः) मनोवद्गतयो वायवो यन्त्रकलाचालनैस्तेषु रथेषु पूर्वोक्तेषु त्रिविधयानेषु यूयम् (अयुग्ध्वम्) तान् यथावद्योजयत । कथम्भूता अग्निवाय्वादयः । (आवृष व्रातासः) जलसेचनयुक्ताः । येषां संयोगे बाष्पजन्यवेगोत्पत्त्या वेगवन्ति तानि यानानि सिद्ध्यन्तीत्युपदिश्यते ॥ ८ ॥

भाषार्थ

फिर वह सवारी कैसी बनाना चाहिये कि (त्रिर्नो अश्विना य०) (पृथि-वीमशायतम्) जिन सवारियों से हमारा भूमि, जल और आकाश में प्रतिदिन आनन्द से जाना आना बनता है, (परित्रिधातु पृ०) वे लोहा, तांबा, चांदी आदि तीन धातुओं से बनती है । और जैसे (रथ्या परावतः०) नगर वा ग्राम की गलियों में झट पट जाना आना बनता है वैसे दूर देश में भी उन सवारियों से शीघ्र २ जाना आना होता है । (नासत्या०) इसी प्रकार विद्या के निमित्त पूर्वोक्त जो अश्वि हैं उन से बड़े २ कठिन मार्ग में भी सहज से जाना आना करें । जैसे (आत्मेव वातः स्व०) मन के वेग के समान शीघ्र गमन के लिये सवारियों से प्रतिदिन सुख से सब भूगोल के बीच जावें आवें ॥ ६ ॥ (अरित्रं वाम्) जो पूर्वोक्त अरित्रयुक्त यान बनते हैं वे (तीर्थे सिन्धूनां रथः)

* अध्याये प्रथमे ॥

† सू० १२ ॥

जो रथ बड़े २ समुद्रों के मध्य से भी पार पहुंचाने में श्रेष्ठ होते हैं, (दिवस्पृथु) जो विस्तृत और आकाश तथा समुद्र में जाने आने के लिये अत्यन्त उत्तम होते हैं, जो मनुष्य उन रथों में यन्त्र सिद्ध करते हैं वे सुखों को प्राप्त होते हैं। (धिया युयुज्र०) उन तीन प्रकार के यानों में (इन्दवः) वाष्पवेग के लिये एक जलाशय बना के उस में जलसेचन करना चाहिये जिस से वह अत्यन्त वेग से चलने वाला यान सिद्ध हो ॥ ७ ॥ (वि ये भ्राजन्ते०) हे मनुष्य लोगो ! (मनोजुवः) अर्थात् जैसा मन का वेग है वैसे वेगवाले यान सिद्ध करो। (यन्मरुतो रथेषु) उन रथों में (मरुत्) अर्थात् वायु और अग्नि को मनोवेग के समान चलाओ और (आ वृषव्रातासः) उन के योग में जलों का भी स्थापन करो। (पृषतीरयुग्ध्वम्) जैसे जल के वाष्प घूमने की कलाओं को वेग वाली कर देते हैं वैसे ही तुम भी उन को सब प्रकार से युक्त करो। जो इस प्रकार से प्रयत्न करके सवारी सिद्ध करते हैं वे (विभ्राजन्ते) अर्थात् विविध प्रकार भोगों से प्रकाशमान होते हैं और (सुमखास ऋष्टिभिः) जो इस प्रकार से इन शिल्पविद्यारूप श्रेष्ठ यज्ञ करने वाले सब भोगों से युक्त होते हैं (अच्युता चिदोजसा०) वे कभी दुःखी होके नष्ट नहीं होते और सदा पराक्रम से बढ़ते जाते हैं, क्योंकि कलाकौशलता से युक्त वायु और अग्नि आदि पदार्थों की (ऋष्टि) अर्थात् कलाओं से (प्रच्या०) पूर्व स्थान को छोड़ के मनोवेग यानों से जाते आते हैं, उन ही से मनुष्यों को सुख भी बढ़ता है, इसलिये इन उत्तम यानों को अवश्य सिद्ध करें ॥ ८ ॥

आ नो नावा मतीनां यातं पाराय गन्तवे। युञ्जाथामश्विना रथम् ॥ ९ ॥ ऋ० अष्ट० १। अ० ३। व० ३४। मं० २ ॥
कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति। त आववृत्रन्त्सदनादृतस्यादिद् घृतेन पृथिवी व्युद्यते ॥ १० ॥
द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत। तस्मिन्त्साकं त्रिशता न शङ्कवोऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः ॥ ११ ॥ ऋ० अष्ट० २। अ० ३। व० २३। मं० १। २ ॥

भाष्यम्

समुद्रे भूमौ अन्तरिक्षे गमनयोग्यमार्गस्य (पाराय) (गन्तवे) गन्तुं यानानि रचनीयानि । (नावा मतीनाम्) यथा समुद्रगमनवृत्तीनां मेधाविनां नावा नौकया पारं गच्छन्ति तथैव (नः) अस्माकमपि नौरुत्तमा भवेत् । (आयुञ्जाथाम०) यथा मेधाविभिरग्निजले आसमन्ताद्यानेषु युज्येते तथास्माभिरपि योजनीये भवतः । एवं सर्वैर्मनुष्यैः समुद्रादीनां पारावारगमनाय पूर्वोक्तयानरचने प्रयत्नः कर्त्तव्य इत्यर्थः ॥ मेधाविनामसु निघण्टौ * १५ खण्डे मतय इति पठितम् ॥ ६ ॥ हे मनुष्याः ! (सुपर्णाः) शोभनपतनशीलाः (हरयः) अग्न्यादयोऽश्वाः, (अपोवसानाः) जलपात्राच्छादिता अधस्ताज्ज्वालारूपाः काष्ठेन्धनैः प्रज्वालिताः कलाकौशलभ्रमणयुक्ताः कृताश्चेत्तदा (कृष्णं) पृथिवीविकारमयं (नियानं) निश्चितं यानं (दिवमुत्य०) द्योतनात्मकमाकाशमुत्पतन्ति ऊर्ध्वं गमयन्तीत्यर्थः ॥ १० ॥ (द्वादश प्रधयः) तेषु यानेषु प्रधयः सर्वकलायुक्तानामराणां धारणार्था द्वादश कर्त्तव्याः, (चक्रमेकम्) तन्मध्ये सर्वकलाभ्रामणार्थमेकं चक्रं रचनीयम्, (त्रीणि नभ्यानि) मध्यस्थानि मध्यावयवधारणार्थानि त्रीणि यन्त्राणि रचनीयानि, तैः (साकं त्रिशता) त्रीणि शतानि (शङ्कवोऽर्पिताः) यन्त्रकला रचयित्वा स्थापनीयाः, (चलाचलासः) ताः कलाः चलाः चालनार्हाः, अचलाः स्थित्यर्हाः, (षष्टिः) षष्टिसंख्याकानि कलायन्त्राणि स्थापनीयानि । तस्मिन् याने एतदादिविधानं सर्वं कर्त्तव्यम् । (क उ तच्चिकेत) इत्येतत् कृत्यं को विजानाति, (न) नहि सर्वे । इत्यादय एतद्विषया वेदेषु बहवो मन्त्रास्सन्त्यप्रसङ्गादत्र सर्वे नोल्लिख्यन्ते ॥ ११ ॥

भाषार्थ

हे मनुष्यो ! (आ नो नावा मतीनाम्) जैसे बुद्धिमान् मनुष्यों के बनाये नाव आदि यानों से (पाराय) समुद्र के पारावार जाने के लिये सुगमता होती

* अध्याये तृतीये ।

है वैसे ही (आ०) (युञ्जाथाम्) पूर्वोक्त वायु आदि अश्वि का योग यथावत् करो। (रथम्) जिस प्रकार उन यानों से समुद्र के पार और वार में जा सको। (नः) हे मनुष्यो ! आओ आपस में मिल के इस प्रकार के यानों को रचें जिनसे सब देश देशान्तर में हमारा जाना आना बने ॥ ९ ॥ (कृष्णं नि०) अग्निजलयुक्त (कृष्णं) अर्थात् खैंचने वाला जो (नियानं) निश्चित यान है, उसके (हरयः) वेगादि गुण रूप (सुपर्णाः) अच्छी प्रकार गमन कराने वाले जो पूर्वोक्त अग्न्यादि अश्व हैं, वे (अपोवसानाः) जलसेचनयुक्त वाष्प को प्राप्त होके (दिवमुत्पतन्ति०) उस काष्ठ लोहा आदि से बने हुए विमान को आकाश में उड़ा चलते हैं। (त आववृ०) वे जब चारों ओर से सदन अर्थात् जल से वेगयुक्त होते हैं तब (ऋतस्य) अर्थात् यथार्थ सुख के देने वाले होते हैं। (पृथिवी घृ०) जब जलकलाओं के द्वारा पृथिवी जल से युक्त की जाती है तब उससे उत्तम २ भोग प्राप्त होते हैं ॥ १० ॥ (द्वादश प्रधयः) इन यानों के बाहर भी थम्भे रचने चाहियें, जिनमें सब कलायन्त्र लगाये जायं, (चक्रमेकम्) उनमें एक चक्र बनाना चाहिये जिसके घुमाने से सब कला घूमें, (त्रीणि नभ्यानि०) फिर उसके मध्य में तीन चक्र रचने चाहियें कि एक के चलाने से सब रुक जायं, दूसरे के चलाने से आगे चलें और तीसरे के चलाने से पीछे चलें, (तस्मिन् साकं त्रिशता०) उनमें तीन तीनसौ (शङ्कवः) बड़ी बड़ी कीलें अर्थात् पेच लगाने चाहियें कि जिनसे उनके सब अङ्ग जुड़ जायं और उनके निकालने से सब अलग २ हो जायं, (षष्टिर्न चलाचलासः) उनमें ६० (साठ) कलायन्त्र रचने चाहियें, कई एक चलते रहें और कुछ बन्द रहें, अर्थात् जब विमान को ऊपर चढ़ाना हो तब भाफघर के ऊपर के मुख बन्द रखने चाहियें और जब ऊपर से नीचे उतारना हो तब ऊपर के मुख अनुमान से खोल देना चाहिये, ऐसे ही जब पूर्व को चलाना हो तो पूर्व के बन्द करके पश्चिम के खोलने चाहियें और जो पश्चिम को चलाना हो तो पश्चिम के बन्द करके पूर्व के खोल देने चाहियें, इसी प्रकार उत्तर दक्षिण में भी जान लेना। (न) उन में किसी प्रकार की भूल न रहनी चाहिये। (क उ तच्चिकेत) इस महागम्भीर शिल्पविद्या को सब साधारण लोग नहीं जान सकते। किन्तु जो महाविद्वान्

हस्तक्रिया में चतुर और पुरुषार्थी लोग हैं वे ही सिद्ध कर सकते हैं। इस विषय के वेदों में बहुत मन्त्र हैं, परन्तु यहां थोड़ा ही लिखने में बुद्धिमान् लोग बहुत समझ लेंगे ॥ ११ ॥

इति नौविमानादिविद्याविषयः संक्षेपतः

अथ तारविद्यामूलं संक्षेपतः

युवं पेदवे पुरुवारमश्विना स्पृधां श्वेतं तरुतारं दुवस्यथः। शर्यैरभिद्युं पृतनासु दुष्टरं चर्कृत्यमिन्द्रमिव चर्षणीसहम् ॥ ८ ॥ ऋ० अष्ट० १। अ० ८। व० २१। मं० ५ ॥

भाष्यम्

अस्याभि०—अस्मिन् मन्त्रे तारविद्याबीजं प्रकाश्यत इति। हे मनुष्याः! (अश्विना०) अश्विनोर्गुणयुक्तं, (पुरुवारं) बहुभिर्विद्वद्भिः स्वीकर्त्तव्यं बहूत्तमगुणयुक्तम्, (श्वेतं) अग्निगुणविद्युन्मयं शुद्धधातुनिर्मितम्, (अभिद्युं) प्राप्तविद्युत्प्रकाशम्, (पृतनासु दुष्टरं) राजसेनाकार्य्येषु दुस्तरं प्लवितुमशक्यं, (चर्कृत्यं) वारंवारं सर्वक्रियासु योजनीयम्, (तरुतारं) ताराख्यं यन्त्रं यूयं कुरुत। कथम्भूतैर्गुणैर्युक्तं? (शर्यैः) पुनः पुनर्हननप्रेरणगुणैर्युक्तम्। कस्मै प्रयोजनाय? (पेदवे) परमोत्तमव्यवहारसिद्धिप्रापणाय। पुनः कथम्भूतं? (स्पृधां) स्पर्द्धमानानां शत्रूणां पराजयाय स्वकीयानां वीराणां विजयाय च परमोत्तमम्। पुनः कथम्भूतं? (चर्षणीसहम्०) मनुष्यसेनायाः कार्यसहनशीलम्। पुनः कथम्भूतं? (इन्द्रमिव०) सूर्यवत् दूरस्थमपि व्यवहारप्रकाशनसमर्थम्। (युवं) युवामाश्विनौ (दुवस्यथः) पुरुषव्यत्ययेन पृथिवीविद्युदाख्यावश्विनौ सम्यक् साधयित्वा तत्ताराख्यं यन्त्रं नित्यं सेवध्वमिति बोध्यम् ॥ ८ ॥

भाषार्थ

(युवं पेद्वे०) अभिप्रा०—इस मन्त्र से तारविद्या का मूल जाना जाता है। पृथिवी से उत्पन्न धातु तथा काष्ठादि के यन्त्र और विद्युत् अर्थात् बिजुली इन दोनों के प्रयोग से तारविद्या सिद्ध होती है। क्योंकि (* द्यावापृथिव्योरित्येके०) इस निरुक्त के प्रमाण से इनका अश्वि नाम जान लेना चाहिये। (पेद्वे) अर्थात् वह अत्यन्त शीघ्र गमनागमन का हेतु होता है। (पुरुवारम्) अर्थात् इस तारविद्या से बहुत उत्तम व्यवहारों के फलों को मनुष्य लोग प्राप्त होते हैं। (स्पृधाम्) अर्थात् लड़ाई करने वाले जो राजपुरुष हैं उनके लिये यह तारविद्या अत्यन्त हितकारी है। (श्वेतं०) वह तार शुद्ध धातुओं का होना चाहिये। (अभिद्युम्) और विद्युत् प्रकाश से युक्त करना चाहिये। (पृतनासु दुष्टरम्) सब सेनाओं के बीच में जिसका दुःसह प्रकाश होता और उल्लंघन करना अशक्य है, (चर्कृत्यम्) जो सब क्रियाओं के वारंवार चलाने के लिये योग्य होता है। (शर्य्यैः) अनेक प्रकार कलाओं के चलाने से अनेक उत्तम व्यवहारों को सिद्ध करने के लिये विद्युत् की उत्पत्ति करके उसको ताड़न करना चाहिये। (तरुतारम्) जो इस प्रकार का ताराख्य यन्त्र है उसको सिद्ध करके प्रीति से सेवन करो। किस प्रयोजन के लिये ? (पेद्वे०) परम उत्तम व्यवहारों की सिद्धि के लिये तथा दुष्ट शत्रुओं के पराजय और श्रेष्ठ पुरुषों के विजय के लिये तारविद्या सिद्ध करनी चाहिये। (चर्षणीसहं०) जो मनुष्यों की सेना के युद्धादि अनेक कार्य्यों को सहन करने वाला है। (इन्द्रमिव०) जैसे समीप और दूरस्थ पदार्थों का प्रकाश सूर्य्य करता है वैसे तारयन्त्र से भी दूर और समीप के सब व्यवहारों का प्रकाश होता है। (युवं) (दुवस्यथः) यह तारयन्त्र पूर्वोक्त अश्वि के गुणों ही से सिद्ध होता है। इसको बड़े प्रयत्न से सिद्ध करके सेवन करना चाहिये। इस मन्त्र में पुरुषव्यत्यय पूर्वोक्त नियम से हुआ है अर्थात् मध्यम पुरुष के स्थान में प्रथम पुरुष समझना चाहिये ॥ १ ॥

इति तारविद्यामूलं संक्षेपतः

* द्यावापृथिव्यावित्येके, निरु० अ० १२, खं० १ ॥

अथ वैद्यकशास्त्रमूलोद्देशः संक्षेपतः

सुमित्रिया न आप ओषधयः सन्तु। दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः॥ १॥ य० अ० ६। मं० २२॥

भाष्यम्

अस्याभिप्रायार्थः—इदं वैद्यकशास्त्रस्यायुर्वेदस्य मूलमस्ति। हे परमवैद्येश्वर! भवत्कृपया (नः) अस्मभ्यं (ओषधयः) सोमादयः, (सुमित्रिया) अत्र (इयाडियाजीकाराणामुपसङ्ख्यानम्) इति वार्त्तिकेन जसः स्थाने 'डियाच्' इत्यादेशः, सुमित्राः सुखप्रदा रोगनाशकाः सन्तु, यथावद्विज्ञाताश्च। तथैव (आपः) प्राणाः सुमित्राः सन्तु। तथा (योस्मान्द्वेष्टि) योऽधर्मात्मा कामक्रोधादिर्वा रोगश्च विरोधी भवति, (यं च वयं द्विष्मः) यमधर्मात्मानं रोगं च वयं द्विष्मः, (तस्मै०) दुर्मित्रिया दुःखप्रदा विरोधिन्यः सन्तु। अर्थात् ये सुपथ्यकारिणस्तेभ्य ओषधयो मित्रवद् दुःखनाशिका भवन्ति। तथैव कुपथ्यकारिभ्यो मनुष्येभ्यश्च शत्रुवद् दुःखाय भवन्तीति। एवं वैद्यकशास्त्रस्य मूलार्थविधायका वेदेषु बहवो मन्त्राः सन्ति, प्रसङ्गाभावान्नात्र लिख्यन्ते। यत्र तत्र ते मन्त्राः सन्ति तत्र तत्रैव तेषामर्थान् यथावदुदाहरिष्यामः।

भाषार्थ

(सुमित्रिया न०) हे परमेश्वर! आप की कृपा से (आपः) अर्थात् जो प्राण और जल आदि पदार्थ तथा (ओषधयः) सोमलता आदि सब ओषधि (नः) हमारे लिये (सुमित्रियाः) (सन्तु) सुखकारक हों, तथा (दुर्मित्रियाः) जो दुष्ट, प्रमादी, हमारे द्वेषी लोग हैं और हम जिन दुष्टों से द्वेष करते हैं उनके लिये विरोधिनी हों। क्योंकि जो धर्मात्मा और पथ्य के करनेवाले मनुष्य हैं उन को ईश्वर के रचे सब पदार्थ सुख देनेवाले होते हैं और जो कुपथ्य

करनेवाले तथा पापी हैं उन के लिये सदा दुःख देनेवाले होते हैं । इत्यादि मन्त्र वैद्यकविद्या के मूल के प्रकाश करनेवाले हैं ।

इति वैद्यकविद्याविषयः संक्षेपतः

अथ पुनर्जन्मविषयः संक्षेपतः

असुनीते पुनरस्मासु चक्षुः पुनः प्राणमिह नो धेहि भोगम् । ज्योक् पश्येम सूर्यमुच्चरन्तमनुमते मृडया नः स्वस्ति ॥ १ ॥ पुनर्नो असुं पृथिवी ददातु पुनर्द्यौर्देवी पुनरन्तरिक्षम् । पुनर्नः सोमस्तन्वं ददातु पुनः पूषा पथ्यां३ या स्वस्तिः ॥ २ ॥ ऋ० अ० ८ । अ० १ । व० २३ । मं० १ । २ ॥

भाष्यम्

एतेषामभि०—एतदादिमन्त्रेष्वत्र पूर्वजन्मानि पुनर्जन्मानि च प्रकाश्यन्त इति । (असुनीते०) असवः प्राणा नीयन्ते येन सोऽसुनीतिस्तत्सम्बुद्धौ हे असुनीते ईश्वर ! मरणानन्तरं द्वितीयशरीरधारणे वयं सदा सुखिनो भवेम । (पुनरस्मा०) अर्थाद्यदा वयं पूर्वं शरीरं त्यक्त्वा द्वितीयशरीरधारणं कर्मस्तदा (चक्षुः) चक्षुरित्युपलक्षणमिन्द्रियाणाम्, पुनर्जन्मनि सर्वाणीन्द्रियाण्यस्मासु धेहि । (पुनः प्राणमि०) प्राणमिति वायोरन्तःकरणस्योपलक्षणम्, पुनर्द्वितीयजन्मनि प्राणमन्तःकरणं च धेहि । एवं हे भगवन् ! पुनर्जन्मसु (नः) अस्माकं (भोगं) भोगपदार्थान् (ज्योक्) निरन्तरमस्मासु धेहि । यतो वयं सर्वेषु जन्मसु (उच्चरन्तं) सूर्य्यं श्वासप्रश्वासात्मकं प्राणं प्रकाशमयं सूर्य्यलोकं च निरन्तरं पश्येम । (अनुमते) हे अनुमन्तः परमेश्वर ! (नः) अस्मान् सर्वेषु जन्मसु (मृडय) सुखय, भवत्कृपया पुनर्जन्मसु (स्वस्ति) सुखमेव भवेदिति प्रार्थ्यते ॥ १ ॥ (पुनर्नो) हे भगवन् ! भवदनुग्रहेण (नः) अस्मभ्यं (असुं) प्राणमन्नमयं बलं च (पृथिवी पुन-

ददातु), तथा (पुनर्द्यौः०) पुनर्जन्मनि द्यौर्देवी द्योतमाना सूर्य्यज्योतिरसुं ददातु, (पुनरन्तरिक्षम्) तथान्तरिक्षं पुनर्जन्मन्यसुं जीवनं ददातु, (पुनर्नः सोमस्त०) तथा सोम ओषधिसमूहजन्यो रसः पुनर्जन्मनि तन्वं शरीरं ददातु, (पुनः पूषा०) हे परमेश्वर ! पुष्टिकर्त्ता भवान् (पथ्यां) पुनर्जन्मनि धर्ममार्गं ददातु, तथा सर्वेषु जन्मसु (या स्वस्तिः) सा भवत्कृपया नोऽस्मभ्यं सदैव भवत्विति प्रार्थ्यते भवान् ॥ १ ॥

भाषार्थ

(असुनीते०) हे सुखदायक परमेश्वर ! आप (पुनरस्मासु चक्षुः) कृपा करके पुनर्जन्म में हमारे बीच में उत्तम नेत्र आदि सब इन्द्रियां स्थापन कीजिये। तथा (पुनः प्राणं०) प्राण अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, बल, पराक्रम आदि युक्त शरीर पुनर्जन्म में कीजिये। (इह नो धेहि भोगं०) हे जगदीश्वर ! इस संसार अर्थात् इस जन्म और परजन्म में हम लोग उत्तम २ भोगों को प्राप्त हों। तथा (ज्योक् पश्येम सूर्य्यमुच्चरन्तम्) हे भगवन् ! आप की कृपा से सूर्य्यलोक, प्राण और आप को विज्ञान तथा प्रेम से सदा देखते रहें। (अनुमते मृडया नः स्वस्ति) हे अनुमते ! सब को मान देने हारे ! सब जन्मों में हम लोगों को (मृडय) सुखी रखिये। जिससे हम लोगों को स्वस्ति अर्थात् कल्याण हो ॥ १ ॥ (पुनर्नो असुं पृथिवी ददातु पु०) हे सर्वशक्तिमन् ! आप के अनुग्रह से हमारे लिये वारंवार पृथिवी प्राण को, प्रकाश चक्षु को और अन्तरिक्ष स्थानादि अवकाशों को देते रहें। (पुनर्नः सोमस्तन्वं ददातु) पुनर्जन्म में सोम अर्थात् ओषधियों का रस हम को उत्तम शरीर देने में अनुकूल रहे। तथा (पूषा०) पुष्टि करनेवाला परमेश्वर कृपा करके सब जन्मों में हम को सब दुःख निवारण करने वाली पथ्यरूप स्वस्ति को देवे ॥ २ ॥

पुनर्मनः पुनरायुर्म आगन् पुनः प्राणः पुनरात्मा म आगन् पुनश्चक्षुः पुनः श्रोत्रं म आगन्। वैश्वानरो अदब्धस्तनूपा अग्नि-

र्नः पातु दुरितादवद्यात् ॥ ३ ॥ यजु० अ० ४ । मं० १५ ॥ पुन-र्मैत्विन्द्रियं पुनरात्मा द्रविणं ब्राह्मणं च । पुनरग्नयो धिष्ण्या यथास्थाम कल्पन्तामिहैव ॥ ४ ॥ अथर्व० कां० ७ । अनु० ६ । सूक्त ६७ । मं० १ ॥ आ यो धर्माणि प्रथमः ससाद ततो वपूंषि कृणुषे पुरूणि । धास्युर्योनिं प्रथम आविवेशा यो वाचमनुदितां चिकेत ॥ ५ ॥ अथर्व० कां० ५ । अनु० १ । सूक्त १ । मं० २ ॥

भाष्यम्

(पुनर्मनः पु०) हे जगदीश्वर ! भवदनुग्रहेण विद्यादिश्रेष्ठगुणयुक्तं मन आयुश्च (मे) मह्यमागन्पुनः पुनर्जन्मसु प्राप्नुयात्, (पुनरात्मा) पुन-र्जन्मनि मदात्मा विचारः शुद्धः सन् प्राप्नुयात्, (पुनश्चक्षुः) चक्षुः श्रोत्रं च मह्यं प्राप्नुयात । (वैश्वानरः) यः सकलस्य जगतो नयनकर्त्ता, (अद-ब्धः) दम्भादिदोषरहितः, (तनूपाः) शरीरादिरक्षकः, (अग्निः) विज्ञा-नानन्दस्वरूपः परमेश्वरः (पातु दुरि०) जन्मजन्मान्तरे दुष्टकर्मभ्योऽस्मान् पृथक्कृत्य पातु रक्षतु, येन वयं निष्पापा भूत्वा सर्वेषु जन्मसु सुखिनो भवेम ॥ ३ ॥ (पुनर्म०) हे भगवन् ! पुनर्जन्मनीन्द्रियमर्थात् सर्वाणीन्द्रिया,-ण्यात्मा प्राणधारको बलाख्यः, (द्रविणं) विद्यादिश्रेष्ठधनं, (ब्राह्मणं च) ब्रह्मनिष्ठात्वं, (पुनरग्नयः) मनुष्यशरीरं धारयित्वाऽऽहवनीयाद्यग्न्याधान-करणं (मैतु) पुनः पुनर्जन्मस्वेतानि मामाप्नुवन्तु, (धिष्ण्या यथास्थाम) हे जगदीश्वर ! वयं यथा येन प्रकारेण पूर्वेषु जन्मसु धिष्ण्या धारणवत्या धिया सोत्तमशरीरेन्द्रिया आस्थाम तथैवेहास्मिन् संसारे पुनर्जन्मनि बुद्ध्या सह स्वस्वकार्य्यकरणे समर्था भवेम, येन वयं केनापि कारणेन न कदाचि-द्विकला भवेम ॥ ४ ॥ (आ यो ध०) यो जीवः (प्रथमः) पूर्वजन्मनि (धर्म्माणि) यादृशानि धर्मकार्य्याणि (आससाद) कृतवानस्ति, स (ततो वपूंषि०) तस्माद् धर्मकरणाद्बहून्युत्तमानि शरीराणि पुनर्जन्मनि कृणुषे धारयति । एवं यश्चाधर्मकृत्यानि चकार स नैव पुनः पुनर्मनुष्यशरी-

राणि प्राप्नोति, किन्तु पश्वादीनि हि शरीराणि धारयित्वा दुःखानि भुङ्क्ते । इदमेव मन्त्रार्धेनेश्वरो ज्ञापयति । (धास्युर्योनिं०) धास्यतीति धास्युरर्थात् पूर्वजन्मकृतपापपुण्यफलभोगशीलो जीवात्मा, (प्रथमः) पूर्वं देहं त्यक्त्वा, वायुजलौषध्यादिपदार्थान् (आविवेश) प्रविश्य, पुनः कृतपापपुण्यानुसारिणीं योनिमाविवेश प्रविशतीत्यर्थः । (यो वाचम०) यो जीवोऽनुदितामीश्वरोक्तां वेदवाणीं आ समन्ताद् विदित्वा धर्ममाचरति स पूर्ववद्दिव्यच्छरीरं धृत्वा सुखमेव भुङ्क्ते । तद्विपरीताचरणस्तिर्य्यग्देहं धृत्वा दुःखभागी भवतीति विज्ञेयम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ

(पुनर्मनः पुनरात्मा) हे सर्वज्ञ ईश्वर ! जब जब हम जन्म लेवें तब २ हम को शुद्ध मन, पूर्ण आयु, आरोग्यता, प्राण, कुशलतायुक्त जीवात्मा, उत्तम चक्षु और श्रोत्र प्राप्त हों, (वैश्वानरोऽदब्धः) जो विश्व में विराजमान ईश्वर है वह सब जन्मों में हमारे शरीरों का पालन करे । (अग्निर्नः) सब पापों के नाश करने वाले आप हमको (पातु दुरितादवद्यात्) बुरे कामों और सब दुःखों से पुनर्जन्म में अलग रक्खें ॥ ३ ॥ (पुनर्मैत्विन्द्रियम्) हे जगदीश्वर ! आप की कृपा से पुनर्जन्म में मन आदि ग्यारह इन्द्रिय मुझ को प्राप्त हों, अर्थात् सर्वदा मनुष्य देह ही प्राप्त होता रहे । (पुनरात्मा) अर्थात् प्राणों को धारण करने हारा सामर्थ्य मुझ को प्राप्त होता रहे । जिससे दूसरे जन्म में भी हम लोग सौ वर्ष वा अच्छे आचरण से अधिक भी जीवें । (द्रविणं) तथा सत्यविद्यादि श्रेष्ठ धन भी पुनर्जन्म में प्राप्त होते रहें । (ब्राह्मणं च०) और सदा के लिये ब्रह्म जो वेद है उसका व्याख्यान सहित विज्ञान तथा आप ही में हमारी निष्ठा बनी रहे । (पुनरग्नयः) तथा सब जगत् के उपकार के अर्थ हम लोग अग्निहोत्रादि यज्ञ को करते रहें । (धिष्ण्या यथास्थाम) हे जगदीश्वर ! हम लोग जैसे पूर्वजन्मों में शुभ गुण धारण करनेवाली बुद्धि से उत्तम शरीर और इन्द्रियसहित थे वैसे ही इस संसार में पुनर्जन्म में भी बुद्धि के साथ मनुष्यदेह के कृत्य करने में समर्थ हों । ये सब शुद्धबुद्धि के साथ (मैतु) मुझ को यथावत्

प्राप्त हों। (इहैव) जिन से हम लोग इस संसार में मनुष्यजन्म को धारण करके धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को सदा सिद्ध करें और इस सामग्री से आप की भक्ति को प्रेम से सदा किया करें। जिस करके किसी जन्म में हमको कभी दुःख प्राप्त न हो ॥ ४ ॥ (आ यो धर्माणि०) जो मनुष्य पूर्वजन्म में धर्माचरण करता है, (ततो वपूंषि कृणुषे पुरूणि) उस धर्माचरण के फल से अनेक उत्तम शरीरों को धारण करता और अधर्मात्मा मनुष्य नीच शरीर को प्राप्त होता है। (धास्युर्योनिं०) जो पूर्वजन्म में किए हुए पाप पुण्य के फलों को भोग करने के स्वभावयुक्त जीवात्मा है वह पूर्व शरीर को छोड़ के वायु के साथ रहता है। (पुनः०) जल ओषधि वा प्राण आदि में प्रवेश करके वीर्य्य में प्रवेश करता है। तदनन्तर योनि अर्थात् गर्भाशय में स्थिर होके पुनः जन्म लेता है। (यो वाचमनुदितां चिकेत) जो जीव अनुदित वाणी अर्थात् जैसी ईश्वर ने वेदों में सत्यभाषण करने की आज्ञा दी है वैसा ही (आचिकेत) यथावत् जान के बोलता है और धर्म ही में (ससाद) यथावत् स्थित रहता है, वह मनुष्ययोनि में उत्तम शरीर धारण करके अनेक सुखों को भोगता है और जो अधर्माचरण करता है वह अनेक नीच शरीर अर्थात् कीट पतङ्ग पशु आदि के शरीर को धारण करके अनेक दुःखों को भोगता है ॥ ५ ॥

द्वे सृती अशृणवं पितॄणामहं देवानामुत मर्त्यानाम्। ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरं च ॥ ६ ॥ य० अ० १९। मं० ४७ ॥ मृतश्चाहं पुनर्जातो जातश्चाहं पुनर्मृतः। नानायोनिसहस्राणि मयोषितानि यानि वै ॥ १ ॥ आहारा विविधा भुक्ताः पीता नानाविधाः स्तनाः ॥ मातरो विविधा दृष्टाः पितरः सुहृदस्तथा ॥ २ ॥ अवाङ्मुखः पीड्यमानो जन्तुश्चैव समन्वितः ॥ निरु० अ० १४। खं० ६ ॥

भाष्यम्

(द्वे सृती०) अस्मिन् संसारे पापपुण्यफलभोगाय द्वौ मार्गौ स्तः।

एकः पितृणां ज्ञानिनां, देवानां विदुषां च द्वितीयः (मर्त्यानां) विद्या-विज्ञानरहितानां मनुष्याणाम् । तयोरेकः पितृयानो, द्वितीयो देवयानश्चेति । यत्र जीवो मातापितृभ्यां देहं धृत्वा पापपुण्यफले सुखदुःखे पुनः पुनर्भुङ्क्ते, अर्थात् पूर्वापरजन्मानि च धारयति सा पितृयानाख्या सृतिरस्ति । तथा यत्र मोक्षाख्यं पदं लब्ध्वा जन्ममरणाख्यात् संसाराद्विमुच्यते सा द्वितीया सृतिर्भवति । तत्र प्रथमायां सृतौ पुण्यसञ्चयफलं भुक्त्वा पुनर्जायते म्रियते च । द्वितीयायां च सृतौ पुनर्न जायते न म्रियते चेत्यहमेवम्भूते द्वे सृती (अशृणवं) श्रुतवानस्मि । (ताभ्यामिदं विश्व०) पूर्वोक्ताभ्यां द्वाभ्यां मार्गाभ्यां सर्वं जगत् (एजत्समेति०) कम्पमानं गमनागमने समेति सम्यक् प्राप्नोति । (यदन्तरा पितरं मातरं च) यदा जीवः पूर्वं शरीरं त्यक्त्वा वायुजलौषध्यादिषु भ्रमित्वा पितृशरीरं मातृशरीरं वा प्रविश्य पुनर्जन्म प्राप्नोति तदा स सशरीरो जीवो भवतीति विज्ञेयम् ॥ ६ ॥ अत्र मृतश्चाहं पुनर्जात इत्यादि निरुक्तकारैरपि पुनर्जन्मधारणमुक्तमिति बोध्यम् ॥ ७ ॥

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः ॥ ८ ॥ पातं० अ० १ । पा० २ । सू० ९ ॥ पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः ॥ ९ ॥ न्या० अ० १ । आ० १ । सू० १९ ॥

(स्वरस०) योगशास्त्रे पतञ्जलिमहामुनिना तदुपरि भाष्यकर्त्रा वेदव्यासेन च पुनर्जन्मसद्भावः प्रतिपादितः । या सर्वेषु प्राणिषु जन्मारभ्य मरणत्रासाख्या प्रवृत्तिर्दृश्यते तया पूर्वापरजन्मानि भवन्तीति विज्ञायते । कुतः । जातमात्रकृमिरपि मरणत्रासमनुभवति । तथा विदुषोऽप्यनुभवो भवतीत्यतो जीवेनानेकानि शरीराणि धार्यन्ते । यदि पूर्वजन्मनि मरणानुभवो न भवेच्चेत्तर्हि तत्संस्कारोपि न स्यान्नैव संस्कारेण विना स्मृतिर्भवति स्मृत्या विना मरणत्रासः कथं जायेत । कुतः । प्राणिमात्रस्य मरणभयदर्शनात् पूर्वापरजन्मानि भवन्तीति वेदितव्यम् ॥ ८ ॥ (पुनरु०) तथा महाविदुषा गोतमेनर्षिणा न्यायदर्शने तद्भाष्यकर्त्रा वात्स्यायनेनापि पुनर्जन्मभावो मतः

यत् पूर्वशरीरं त्यक्त्वा पुनर्द्वितीयशरीरधारणं भवति तत्प्रेत्यभावाख्यः पदार्थो भवतीति विज्ञेयम् । प्रेत्यार्थान्मरणं प्राप्य भावोऽर्थात् पुनर्जन्म धृत्वा जीवो देहवान् भवतीत्यर्थः ॥ ९ ॥

भाषार्थ

(द्वे सृती०) इस संसार में हम दो प्रकार के जन्मों को (अशृणवम्) सुनते हैं। एक मनुष्य-शरीर का धारण करना और दूसरा नीचगति से पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग, वृक्ष आदि का होना। इन में मनुष्यशरीर के तीन भेद हैं। एक पितृ अर्थात् ज्ञानी होना, दूसरा देव अर्थात् सब विद्याओं को पढ़के विद्वान् होना, तीसरा मर्त्य अर्थात् साधारण मनुष्यशरीर का धारण करना। इन में प्रथम गति अर्थात् मनुष्यशरीर पुण्यात्माओं और पुण्यपाप तुल्यवालों को होता है और दूसरा जो जीव अधिक पाप करते हैं उनके लिये है। (ताभ्यामिदं विश्वमेजत्स-मेति०) इन्हीं भेदों से सब जगत् के जीव अपने २ पुण्य और पापों के फल भोग रहे हैं। (यदन्तरा पितरं मातरं च) जीवों को माता और पिता के शरीर में प्रवेश करके जन्मधारण करना, पुनः शरीर का छोड़ना, फिर जन्म को प्राप्त होना वारंवार होता है। जैसा वेदों में पूर्वापर जन्म के धारण करने का विधान किया है वैसा ही निरुक्तकार ने भी प्रतिपादन किया है। जब मनुष्य को ज्ञान होता है तब वह ठीक २ जानता है कि (मृतश्चाहं पु०) मैंने अनेक वार जन्ममरण को प्राप्त होकर नाना प्रकार के हज़ारह गर्भाशयों का सेवन किया ॥ १ ॥ (आहारा वि०) अनेक प्रकार के भोजन किये, अनेक माताओं के स्तनों का दुग्ध पिया, अनेक माता पिता और सुहृदों को देखा ॥ २ ॥ (अवा-ङ्मुखः) मैंने गर्भ में नीचे मुख ऊपर पग इत्यादि नाना प्रकार की पीड़ाओं से युक्त होके अनेक जन्म धारण किये, परन्तु अब इन महादुःखों से तभी छूटूंगा कि जब परमेश्वर में पूर्ण प्रेम और उसकी आज्ञा का पालन करूंगा। नहीं तो इस जन्ममरणरूप दुःखसागर के पार जाना कभी नहीं हो सकता। तथा योग-शास्त्र में भी पुनर्जन्म का विधान किया है (स्वरस०) (सर्वस्य प्रा०)। हरएक प्राणियों की यह इच्छा नित्य देखने में आती है कि (भूयासमिति)

अर्थात् मैं सदैव सुखी बना रहूं, मरूं नहीं। यह इच्छा कोई भी नहीं करता कि (मा न भूवं) अर्थात् मैं न होऊं। ऐसी इच्छा पूर्वजन्म के अभाव से कभी नहीं हो सकती। यह अभिनिवेश क्लेश कहलाता है जो कि कृमिपर्य्यन्त को भी मरण का भय बराबर होता है। यह व्यवहार पूर्वजन्म की सिद्धि को जनाता है॥ तथा न्यायदर्शन के (पुनरु०) सू०, और उसी के वात्स्या० भा० में भी कहा है कि जो उत्पन्न अर्थात् किसी शरीर को धारण करता है वह मरण अर्थात् शरीर को छोड़ के पुनरुत्पन्न दूसरे शरीर को भी अवश्य प्राप्त होता है। इस प्रकार मर के पुनर्जन्म लेने को प्रेत्यभाव कहते हैं॥ ९॥

भाष्यम्

अत्र केचिदेकजन्मवादिनो वदन्ति। यदि पूर्वजन्मासीत्तर्हि तत्स्मरणं कुतो न भवतीत्यत्र ब्रूमः। भोः! ज्ञाननेत्रमुद्घाट्य द्रष्टव्यमस्मिन्नेव शरीरे जन्मतः पञ्चवर्षपर्य्यन्तं यद्यत्सुखं दुःखं च भवति, यच्च जागरितावस्थास्थानां सर्वव्यवहाराणां सुषुप्त्यवस्थायां च, तदनुभूतस्मरणं न भवति, पूर्वजन्म-वृत्तस्मरणस्य तु का कथा। (प्रश्नः) यदि पूर्वजन्मकृतयोः पापपुण्ययोः सुखदुःखफले हीश्वरोऽस्मिन् जन्मनि ददाति तयोश्चास्माकं साक्षात्काराभावात् सोऽन्यायकारी भवति, नातोऽस्माकं शुद्धिश्चेति ?। अत्र ब्रूमः। द्विविधं ज्ञानं भवत्येकं प्रत्यक्षं, द्वितीयमानुमानिकं च। यथा कस्यचिद्वैद्यस्यावैद्यस्य च श-रीरे ज्वरावेशो भवेत्तत्र खलु वैद्यस्तु विद्यया कार्य्यकारणसङ्गत्यनुमानतो ज्वरनिदानं जानाति नापरश्च, परन्तु वैद्यिकविद्यारहितस्यापि ज्वरस्य प्रत्यक्ष-त्वात् किमपि मया कुपथ्यं पूर्वं कृतमिति जानाति, विना कारणेन कार्य्यं नैव भवतीति दर्शनात्। तथैव न्यायकारीश्वरोपि विना पापपुण्याभ्यां न कस्मैचित् सुखं दुःखं च दातुं शक्नोति। संसारे नीचोच्चसुखिदुःखिदर्शनाद् विज्ञायते पूर्वजन्मकृते पापपुण्ये बभूवतुरिति। अत्रैकजन्मवादिनामन्येऽपीदृ-शाः प्रश्नाः सन्ति, तेषां विचारेणोत्तराणि देयानि। किञ्च, न बुद्धिमतः प्रत्याखिललेखनं योग्यं भवति तेह्युद्देश्यमात्रेणाधिकं जानन्ति। ग्रन्थोपि भूयान्न भवेदिति मत्वाऽत्राधिकं नोल्लिख्यते।

भाषार्थ

इसमें अनेक मनुष्य ऐसा प्रश्न करते हैं कि जो पूर्वजन्म होता है तो हम को उस का ज्ञान इस जन्म में क्यों नहीं होता ? (उत्तर) आंख खोल के देखो कि जब इसी जन्म में जो २ सुख दुःख तुमने बाल्यावस्था में अर्थात् जन्म से पांच वर्ष पर्य्यन्त पाये हैं उनका ज्ञान नहीं रहता, अथवा जो कि नित्य पठन पाठन और व्यवहार करते हैं उनमें से भी कितनी ही बातें भूल जाते हैं, तथा निद्रा में भी यही हाल हो जाता है कि अब के किये का भी ज्ञान नहीं रहता, जब इसी जन्म के व्यवहारों को इसी शरीर में भूल जाते हैं तो पूर्व शरीर के व्यवहारों का कब ज्ञान रह सकता है। तथा ऐसा भी प्रश्न करते हैं कि जब हम को पूर्वजन्म के पाप पुण्य का ज्ञान नहीं होता और ईश्वर उनका फल सुख वा दुःख देता है इससे ईश्वर का न्याय वा जीवों का सुधार कभी नहीं हो सकता ? (उत्तर) ज्ञान दो प्रकार का होता है। एक प्रत्यक्ष दूसरा अनुमानादि से। जैसे एक वैद्य और दूसरा अवैद्य, इन दोनों को ज्वर आने से वैद्य तो इस का पूर्व निदान जान लेता है और दूसरा नहीं जान सकता। परन्तु उस पूर्व कुपथ्य का कार्य्य जो ज्वर है वह दोनों को प्रत्यक्ष होने से वे जान लेते हैं कि किसी कुपथ्य से ही यह ज्वर हुआ है अन्यथा नहीं। इस में इतना विशेष है कि विद्वान् ठीक २ रोग के कारण और कार्य्य को निश्चय करके जानता है और वह अविद्वान् कार्य्य को तो ठीक २ जानता है परन्तु कारण में उसको यथावत् निश्चय नहीं होता। वैसे ही ईश्वर न्यायकारी होने से किसी को विना कारण से सुख वा दुःख कभी नहीं देता। जब हम को पुण्य पाप का कार्य्य सुख और दुःख प्रत्यक्ष है तब हम को ठीक निश्चय होता है कि पूर्वजन्म के पाप पुण्यों के विना उत्तम मध्यम और नीच शरीर तथा बुद्ध्यादि पदार्थ कभी नहीं मिल सकते। इससे हम लोग निश्चय करके जानते हैं कि ईश्वर का न्याय और हमारा सुधार ये दोनों काम यथावत् बनते हैं। इत्यादि प्रश्नोत्तर बुद्धिमान् लोग अपने विचार से यथावत् जान लेवें। मैं यहां इस विषय के बढ़ाने की आवश्यकता नहीं देखता।

इति पुनर्जन्मविषयः संक्षेपतः

अथ विवाहविषयः संक्षेपतः

गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः । भगो अर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः ॥ १ ॥ इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम् । क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे ॥ २ ॥ ऋ० अ० ८ । अ० ३ । व० २७ । २८ । मं० १ । २ ॥

भाष्यम्

अनयोरभि०—अत्र विवाहविधानं क्रियत इति । हे कुमारि युवतिकन्ये ! (सौभगत्वाय) सन्तानोत्पत्त्यादिप्रयोजनसिद्धये (ते) तव हस्तं (गृभ्णामि) गृह्णामि, त्वया सहाहं विवाहं करोमि, त्वं च मया सह । हे स्त्रि ! (यथा) येन प्रकारेण (मया पत्या) सह (जरदष्टिः) (आसः) जरावस्थां प्राप्नुयास्तथैव त्वया स्त्रिया सह जरदष्टिरहं भवेयं वृद्धावस्थां प्राप्नुयाम । एवमावां सम्प्रीत्या परस्परं धर्ममानन्दं कुर्य्यावहि । (भगः) सकलैश्वर्य्यसम्पन्नः, (अर्य्यमा) न्यायव्यवस्थाकर्त्ता, (सविता) सर्वजगदुत्पादकः, (पुरन्धिः) सर्वजगद्धारकः परमेश्वरः (मह्यं गार्हपत्याय) गृहकार्य्याय त्वां मदर्थं दत्तवान्, तथा (देवाः) अत्र सर्वे विद्वांसः साक्षिणः सन्ति । यद्यावां प्रतिज्ञोल्लंघनं कुर्य्यावहि तर्हि परमेश्वरदण्डयौ विद्वद्दण्ड्यौ च भवेवेति ॥ १ ॥ विवाहं कृत्वा परस्परं स्त्रीपुरुषौ कीदृशवर्त्तमानौ भवेतामेतदर्थमीश्वर आज्ञां ददाति (इहैव स्तं०) हे स्त्रीपुरुषौ ! युवां द्वाविहास्मिँल्लोके गृहाश्रमे सुखेनैव सदा (वस्तम्) निवासं कुर्यातम्, (मा वियौष्टं) तथा कदाचिद्विरोधेन देशान्तरगमनेन वा वियुक्तौ वियोगं प्राप्तौ मा भवेताम् एवम्मदाशीर्वादेन धर्मं कुर्वाणौ सर्वोपकारिणौ मद्भक्तिमाचरन्तौ (विश्वमायुर्व्यश्नुतम्) विविधसुखरूपमायुः प्राप्नुतम् । पुनः (स्वे गृहे) स्वकीये गृहे पुत्रैर्नप्तृभिश्च सह मोदमानौ सर्वानन्दं प्राप्नुवन्तौ (क्रीडन्तौ) सद्धर्मक्रियां कुर्वन्तौ सदैव भवतम् । इत्यनेनाप्येकस्याः स्त्रिया एक एव पतिर्भवत्वेकस्य पुरुषस्यैकैव स्त्री चेति ।

अर्थादनेकस्त्रीभिः सह विवाहनिषेधो नरस्य तथाऽनेकैः पुरुषैः सहैकस्याः स्त्रियाश्चेति, सर्वेषु वेदमन्त्रेष्वेकवचनस्यैव निर्देशात्। एवं विवाहविधायका वेदेष्वनेके मन्त्राः सन्तीति विज्ञेयम्।

भाषार्थ

(गृभ्णामि ते) (सौभगत्वाय हस्तं) हे स्त्रि! मैं सौभाग्य अर्थात् गृहाश्रम में सुख के लिये तेरा हस्त ग्रहण करता हूं और इस बात की प्रतिज्ञा करता हूं कि जो काम तुझ को अप्रिय होगा उसको मैं कभी न करूंगा। ऐसे ही स्त्री भी पुरुष से कहे कि जो व्यवहार आपको अप्रिय होगा उसको मैं भी कभी न करूंगी। और हम दोनों व्यभिचारादि दोषरहित होके वृद्धावस्थापर्य्यन्त परस्पर आनन्द के व्यवहारों को करेंगे। हमारी इस प्रतिज्ञा को सब लोग सत्य जानें कि इससे उलटा काम कभी न किया जायगा। (भगः) जो ऐश्वर्यवान्, (अर्यमा) सब जीवों के पाप पुण्य के फलों को यथावत् देनेवाला, (सविता) सब जगत् का उत्पन्न करने और सब ऐश्वर्य का देनेवाला तथा (पुरन्धिः) सब जगत् का धारण करनेवाला परमेश्वर है वही हमारे दोनों के बीच में साक्षी है। तथा (मह्यं त्वा०) परमेश्वर और विद्वानों ने मुझ को तेरे लिये और तुझ को मेरे लिये दिया है कि हम दोनों परस्पर प्रीति करेंगे तथा उद्योगी होकर घर का काम अच्छी तरह से करेंगे और मिथ्याभाषणादि से बचकर सदा धर्म ही में वर्त्तेंगे। सब जगत् का उपकार करने के लिये सत्यविद्या का प्रचार करेंगे और धर्म से पुत्रों को उत्पन्न करके उन को सुशिक्षित करेंगे इत्यादि प्रतिज्ञा हम ईश्वर की साक्षी से करते हैं कि इन नियमों का ठीक २ पालन करेंगे। दूसरी स्त्री और दूसरे पुरुष से मन से भी व्यभिचार न करेंगे। (देवाः) हे विद्वान् लोगो! तुम भी हमारे साक्षी रहो कि हम दोनों गृहाश्रम के लिये विवाह करते हैं। फिर स्त्री कहे कि मैं इस पति को छोड़ के मन, वचन और कर्म से भी दूसरे पुरुष को पति न मानूंगी। तथा पुरुष भी प्रतिज्ञा करे कि मैं इसके सिवाय दूसरी स्त्री को अपने मन, कर्म और वचन से कभी न चाहूंगा॥ १॥ (इहैव स्तं०) विवाहित स्त्री पुरुषों के लिये परमेश्वर की आज्ञा है कि तुम दोनों गृहाश्रम के

शुभ व्यवहारों में रहो (मा वियौष्टं) अर्थात् विरोध करके अलग कभी मत हो और व्यभिचार भी किसी प्रकार का मत करो । ऋतुगामित्व से सन्तानों की उत्पत्ति, उनका पालन और सुशिक्षा, गर्भस्थिति के पीछे एक वर्ष पर्य्यन्त ब्रह्मचर्य्य और लड़कों को प्रसूता स्त्री का दुग्ध बहुत दिन न पिलाना इत्यादि श्रेष्ठ व्यवहारों से (विश्वमा०) सौ (१००) वा १२५ वर्ष पर्यन्त आयु को सुख से भोगो । (क्रीडन्तौ०) अपने घर में आनन्दित होके पुत्र और पौत्रों के साथ नित्य धर्मपूर्वक क्रीड़ा करो । इससे विपरीत व्यवहार कभी न करो और सदा मेरी आज्ञा में वर्त्तमान रहो । इत्यादि विवाहविधायक वेदों में बहुत मन्त्र हैं । उनमें से कई एक मन्त्र संस्कारविधि में भी लिखे हैं वहां देख लेना ।

इति संक्षेपतो विवाहविषयः

अथ नियोगविषयः संक्षेपतः

कुहस्विद्दोषा कुह वस्तोरश्विना कुहाभिपित्वं करतः कुहोषतुः । को वां शयुत्रा विधवेव देवरं मर्य्यं न योषा कृणुते सधस्थ आ ॥ १ ॥ ऋ० अ० ७ । अ० ८ । व० १८ । मं० २ ॥ इयं नारी पतिलोकं वृणाना निपद्यत उप त्वा मर्त्य प्रेतम् । धर्मं पुराणमनुपालयन्ती तस्यै प्रजां द्रविणं चेह धेहि ॥ २ ॥ अथर्व० कां० १८ । अनु० ३ । सू० १ । मं० १ ॥ उदीर्ष्व नार्य्यभि जीवलोकं गतासुमेतमुप शेष एहि । हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि सं बभूथ ॥ ३ ॥ ऋ० मं० १० । सू० १८ । मं० ८ ॥

भाष्यम्

एषामभि०—अत्र विधवाविस्त्रीकनियोगव्यवस्था विधीयत इति । (कुहस्विद्दोषा) हे विवाहितौ स्त्रीपुरुषौ ! युवां (कुह) कस्मिन्स्थाने (दोषा) रात्रौ (वस्तोः) वसथः, (कुह० अश्विना) दिवसे च क्व वासं कुरुथः,

(कुहाभि०) कामिभिरिव रात्रिं (करतः) कुरुतः, (कुहोषतुः) क्व युवयोर्नि-
वासस्थानमस्ति, (को वां शयुत्रा) शयनस्थानं युवयोः क्वास्ति। इति
स्त्रीपुरुषौ प्रति प्रश्नः। अनेनेदं द्विधर्मोत्तरत्वेन चैकस्य पुरुषस्यैकैव स्त्री कर्तुं यो-
ग्यास्ति। तथैकस्याः स्त्रिया एक एव पुरुषश्च, द्वयोः परस्परं सदैव प्रीतिर्भवेन्न
कदाचिद्वियोगव्यभिचारौ भवेतामिति द्योत्यते। (विधवेव देवरं) कं केव?
यथा देवरं द्वितीयं वरं नियोगेन प्राप्तं विधवा इव। अत्र प्रमाणम्। देवरः
कस्माद् द्वितीयो वर उच्यते॥ निरु० अ० ३। खं० १५॥ विधवाया
द्वितीयपुरुषेण सह नियोगकरणे आज्ञास्ति, तथा पुरुषस्य च विधवया सह।
विधवा स्त्री मृतस्त्रीकपुरुषेण सहैव सन्तानार्थं नियोगं कुर्य्यान्न कुमारेण
सह, तथा कुमारस्य विधवया सह च। अर्थात् कुमारयोः स्त्रीपुरुषयोरेकवार-
मेव विवाहः स्यात्, पुनर्नियोगश्च। नैव द्विजेषु द्वितीयवारं विवाहो
विधीयते। पुनर्विवाहस्तु खलु शूद्रवर्ण एव विधीयते, तस्य विद्याव्यवहाररहि-
तत्वात्। नियोजितौ स्त्रीपुरुषौ कथं परस्परं वर्त्तेयातामित्यत्राह। (मर्यं न योषा)
यथा विवाहितं मनुष्यं (सधस्थे) समानस्थाने सन्तानार्थं योषा विवाहिता
स्त्री (कृणुते) आकृणुते, तथैव विधवा विगतस्त्रीकश्च सन्तानोत्पत्तिकरणार्थं
परस्परं नियोगं कृत्वा विवाहितस्त्रीपुरुषवद्वर्त्तेयाताम्॥ १॥ (इयं नारी०)
इयं विधवा नारी (प्रेतं) मृतं पतिं विहाय (पतिलोकं) पतिसुखं (वृणा-
ना) स्वीकर्त्तुमिच्छन्ती सती (मर्त्य) हे मनुष्य! (त्वा) त्वामुपनिपद्यते,
त्वां पतिं प्राप्नोति, तव समीपं नियोगविधानेनागच्छति, तां त्वं गृहाणाऽ-
स्यां सन्तानमुत्पादय। कथम्भूता सा? (धर्मं पुराणं) वेदप्रतिपाद्यं स-
नातनं धर्ममनुपालयन्ती सती त्वां नियोगेन पतिं वृणुते। त्वमपीमां वृणु।
(तस्यै) विधवायै (इह) अस्मिन् समये लोके वा (प्रजां धेहि) त्वमस्यां
प्रजोत्पत्तिं कुरु, (द्रविणं) द्रव्यं वीर्यं (च) अस्यां धेहि, अर्थात् गर्भा-
धानं कुरु॥ २॥ (उदीर्ष्व ना०) हे विधवे! नारि! (एतं) (गतासुं)
गतप्राणं मृतं विवाहितं पतिं त्यक्त्वा (अभिजीवलोके) जीवन्तं देवरं द्विती-
यवरं पतिं (एहि) प्राप्नुहि, (उपशेषे) तस्यैवोप शेषे सन्तानोत्पादनाय
वर्त्तस्व। तत्सन्तानं (हस्तग्राभस्य) विवाहे संगृहीतहस्तस्य पत्युः स्यात्।

यदि नियुक्तपत्यर्थो नियोगः कृतस्तर्हि (दिधिषोः) तस्यैव सन्तानं भवेत्, (तवेदं) इदमेव विधवायास्तव (जनित्वं) सन्तानं भवति । हे विधवे ! विगतविवाहितस्त्रीकस्य पत्युश्चैतन्नियोगकरणार्थं त्वं (उदीर्ष्व) विवाहित-पतिमरणानन्तरमिमं नियोगमिच्छ, तथा (अभिसंबभूथ) सन्तानोत्पत्तिं कृत्वा सुखसंयुक्ता भव ॥ ३ ॥

भाषार्थ

नियोग उस को कहते हैं जिस से विधवा स्त्री और जिस पुरुष की स्त्री मर गई हो वह पुरुष ये दोनों परस्पर नियोग करके सन्तानों को उत्पन्न करते हैं । नियोग करने में ऐसा नियम है कि जिस स्त्री का पुरुष वा किसी पुरुष की स्त्री मरजाय, अथवा उन में किसी प्रकार का स्थिर रोग होजाय, वा नपुंसक वन्ध्यादोष पड़जाय, और उनकी युवावस्था हो, तथा संतानोत्पत्ति की इच्छा हो तो उस अवस्था में उन का नियोग होना अवश्य चाहिये । इस का नियम आगे लिखते हैं । (कुहस्वित्०) अर्थात् तुम दोनों विवाहित स्त्री पुरुषों ने (दोषा) रात्रि में कहां निवास किया था ? (कुह वस्तोरश्विना) तथा दिन में कहां वसे थे ? (कुहाभिपित्वं करतः) तुमने अन्न वस्त्र धन आदि की प्राप्ति कहां की थी ? (कुहोषतुः) तुम्हारा निवासस्थान कहां है, (को वां शयुत्रा) रात्रि में तुम कहां शयन करते हो ? वेदों में पुरुष और स्त्री के विवाहविषय में एक ही वचन के प्रयोग करने से यह निश्चित हुआ कि वेदरीति से एक पुरुष के लिये एक ही स्त्री और एक स्त्री के लिये एक ही पुरुष होना चाहिये अधिक नहीं । और न कभी इन द्विजों का पुनर्विवाह वा वियोग होना चाहिये । (विधवेव देवरम्) जैसे विधवा स्त्री देवर के साथ संतानोत्पत्ति करती है वैसे तुम भी करो । विधवा का जो दूसरा पति होता है उसको देवर कहते हैं । इससे यह नियम होना चाहिये कि द्विजों अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यों में दो २ सन्तानों के लिये नियोग होना और शूद्रकुल में पुनर्विवाह मरणपर्यन्त के लिये होना चाहिये । परन्तु माता, गुरुपत्नी, भगिनी, कन्या, पुत्रवधू आदि के साथ नियोग करने का सर्वथा निषेध है । यह नियोग शिष्ट पुरुषों की सम्मति और दोनों की प्रसन्नता

से हो सकता है। जब दूसरा गर्भ रहे तब नियोग छूट जाय और जो कोई इस नियम को तोड़े उसको द्विजकुल में से अलग करके शूद्रकुल में रख दिया जाय ॥ १ ॥ (इयं नारी पतिलोकं०) जो विधवा नारी पतिलोक अर्थात् पतिसुख की इच्छा करके नियोग किया चाहे तो (प्रेतम्) अर्थात् वह पति मरजाने के अनन्तर दूसरे पति को प्राप्त हो। (उप त्वा मर्त्य०) इस मन्त्र में स्त्री और पुरुष को परमेश्वर आज्ञा देता है कि हे पुरुष ! (धर्मं पुराणमनुपालयन्ती) जो इस सनातन नियोगधर्म की रक्षा करने वाली स्त्री है उस के संतानोत्पत्ति के लिये (तस्यै प्रजां द्रविणं चेह धेहि) धर्म से वीर्य्यदान कर, जिस से वह प्रजा से युक्त होके आनन्द में रहे। तथा स्त्री के लिये भी आज्ञा है कि जब किसी पुरुष की स्त्री मरजाय और वह संतानोत्पत्ति किया चाहे तब स्त्री भी उस पुरुष के साथ नियोग करके उसको प्रजायुक्त करदे। इसलिये मैं आज्ञा देता हूं कि तुम मन, कर्म और शरीर से व्यभिचार कभी मत करो, किन्तु धर्मपूर्वक विवाह और नियोग से सन्तानोत्पत्ति करते रहो ॥ २ ॥ (उदीर्ष्व नारी) हे स्त्रि ! अपने मृतक पति को छोड़ के (अभिजीवलोकं) इस जीवलोक में (एतमुपशेष एहि) जो तेरी इच्छा हो तो दूसर पुरुष के साथ नियोग करके सन्तानों को प्राप्त हो। नहीं तो ब्रह्मचर्य्याश्रम में स्थिर होकर कन्या और स्त्रियों को पढ़ाया कर। और जो नियोगधर्म में स्थित हो तो जब तक मरण न हो तब तक ईश्वर का ध्यान और सत्य धर्म के अनुष्ठान में प्रवृत्त होकर (हस्तग्राभस्य दिधिषोः) जो कि तेरा हस्त ग्रहण करनेवाला दूसरा पति है उस की सेवा किया कर। वह तेरी सेवा किया करे और उसका नाम दिधिषु है। (तवेदं) वह तेरे सन्तान की उत्पत्ति करनेवाला हो और जो तेरे लिये नियोग किया गया हो तो वह तेरा सन्तान हो। (पत्युर्जनित्वम०) और जो नियुक्त पति के लिये नियोग हुआ हो तो वह संतान पुरुष का हो। इस प्रकार नियोग से अपने २ सन्तानों को उत्पन्न करके दोनों सदा सुखी रहो ॥ ३ ॥

इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु। दशास्यां पुत्राधेहि पतिमेकादशं कृधि ॥ ४ ॥ सोमः प्रथमो विविदे गन्ध-

र्वो विविद् उत्तरः । तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः ॥ ५ ॥ ऋ० अष्ट० ८ । अध्याय ३ । व० २८ । २७ । मं० ५ । ५ ॥ अदेवृघ्न्यपतिघ्नी हैधि शिवा पशुभ्यः सुयमा सुवर्चाः । प्रजावती वीरसूर्देवृकामा स्योनेममग्निं गार्हपत्यं सपर्य ॥ ६ ॥ अथर्व० कां० १४ । अनु० २ । मं० १८ ॥

भाष्यम्

इदानीं नियोगस्य सन्तानोत्पत्तेश्च परिगणनं क्रियते । कतिवारं नियोगः कर्त्तव्यः, कियन्ति सन्तानानि चोत्पाद्यानीति ? । तद्यथा–(इमां त्वमिन्द्र०) हे इन्द्र विवाहितपते ! (मीढ्वः) हे वीर्य्यदानकर्त्तः ! त्वमिमां विवाहितस्त्रियं वीर्य्यसेकेन गर्भयुक्तां कुरु । तां (सुपुत्रां) श्रेष्ठपुत्रवतीं (सुभगां) अनुत्तमसुखयुक्तां (कृणु) कुरु, (दशास्यां) अस्यां विवाहितस्त्रियां दशपुत्राना-धेहि उत्पादय, नातोऽधिकमिति । ईश्वरेण दशसन्तानोत्पादनस्यैवाज्ञा पुरुषाय दत्तेति विज्ञेयम् । तथा (पतिमेकादशं कृधि) हे स्त्रि ! त्वं विवाहितपतिं गृहीत्वैकादशपतिपर्य्यन्तं नियोगं कुरु । अर्थात् कस्याश्चिदापत्कालावस्थायां प्राप्तायामेकैकस्याभावे सन्तानोत्पत्त्यर्थं दशमपुरुषपर्य्यन्तं नियोगं कुर्य्यात् । तथा पुरुषोऽपि विवाहितस्त्रियां मृतायां सत्यां सन्तानाभावे एकैकस्या अभावे दशम्या विधवया सह नियोगं करोत्वितीच्छा नास्ति चेन्मा कुरुताम् ॥ ४ ॥ अथोत्तरोत्तरं पतीनां संज्ञा विधीयते । (सोमः प्रथमः) हे स्त्रि ! यस्त्वां प्रथमः (विविदे) विवाहितः पतिः प्राप्नोति स सौकुमार्य्यादिगुणयुक्तत्वात् सोमसंज्ञो भवति । (गन्धर्वो वि०) यस्तु (उत्तरः) द्वितीयो नियुक्तः पतिर्विधवां त्वां विविदे प्राप्नोति स गन्धर्वसंज्ञां लभते । कुतः । तस्य भोगाभिज्ञत्वात् । (तृतीयो अ०) येन सह त्वं तृतीयवारं नियोगं करोषि सोऽग्निसंज्ञो जायते । कुतः । द्वाभ्यां पुरुषाभ्यां भुक्तभोगया त्वया सह नियुक्तत्वादग्निदाहवत्तस्य शरीरस्थधातवो दह्यन्त इत्यतः । (तुरीयस्ते मनुष्यजाः) हे स्त्रि ! चतुर्थमारभ्य दशमपर्य्यन्तास्तव पतयः साधारणबलवीर्य्यत्वान्मनुष्यसंज्ञा भवन्तीति बोध्यम् । तथैव स्त्रीणामपि सोम्या,

गन्धर्व्याग्नायी, मनुष्यजाः संज्ञास्तत्तद्गुणयुक्तत्वाद्भवन्तीति ॥ ५ ॥ (अदेवृघ्न्यपतिघ्नि) हे अदेवृघ्नि ! देवरसेविके ! हे अपतिघ्नि ! विवाहितपतिसेविके ! स्त्रि ! त्वं शिवा कल्याणगुणयुक्ता, (पशुभ्यः सुयमा सुवर्चाः) गृहकृत्येषु शोभननियमयुक्ता, गृहसम्बन्धिपशुभ्यो हिता, श्रेष्ठकान्तिविद्यासहिता, तथा (प्रजावती वीरसूः) प्रजापालनतत्परा, वीरसन्तानोत्पादिका, (देवृकामा) नियोगेन द्वितीयवरस्य कामनावती, (स्योना) सम्यक् सुखयुक्ता सुखकारिणी सती (इममग्निं गार्हपत्यं) गृहसम्बन्धिनमाहवनीयादिमग्निं, सर्वं गृहसम्बन्धिव्यवहारं च (सपर्य) प्रीत्या सम्यक् सेवय । अत्र स्त्रियाः पुरुषस्य चापत्काले नियोगव्यवस्था प्रतिपादितास्तीति वेदितव्यम् । इति ॥ ६ ॥

भाषार्थ

(इमां०) ईश्वर मनुष्यों को आज्ञा देता है कि हे इन्द्र ! पते ! ऐश्वर्ययुक्त ! तू इस स्त्री को वीर्यदान दे के सुपुत्र और सौभाग्ययुक्त कर । हे वीर्यप्रद ! (दशास्यां पुत्रानाधेहि) । पुरुष के प्रति वेद की यह आज्ञा है कि इस विवाहित वा नियोजित स्त्री में दश सन्तानपर्यन्त उत्पन्न कर अधिक नहीं । (पतिमेकादशं कृधि०) तथा हे स्त्री ! तू नियोग में ग्यारह पति तक कर । अर्थात् एक तो उन में प्रथम विवाहित और दशपर्यन्त नियोग के पति कर अधिक नहीं । इसकी यह व्यवस्था है कि विवाहित पति के मरने वा रोगी होने से दूसरे पुरुष वा स्त्री के साथ सन्तानों के अभाव में नियोग करे । तथा दूसरे को भी मरण वा रोगी होने के अनन्तर तीसरे के साथ करले । इसी प्रकार दशवें तक करने की आज्ञा है । परन्तु एक काल में एक ही वीर्यदाता पति रहे दूसरा नहीं । इसी प्रकार पुरुष के लिये भी विवाहित स्त्री के मरजाने पर विधवा के साथ नियोग करने की आज्ञा है और जब वह भी रोगी हो वा मरजाय तो सन्तानोत्पत्ति के लिये दशमस्त्रीपर्यन्त नियोग करलेवे ॥ ४ ॥ अब पतियों की संज्ञा कहते हैं (सोमः प्रथमो विविदे) उनमें से जो विवाहित पति होता है उसकी सोमसंज्ञा है, क्योंकि वह सुकुमार होने से मृदु आदि गुणयुक्त होता है । (गन्धर्वो विविद उत्तरः)

दूसरा पति जो नियोग से होता है सो गन्धर्वसंज्ञक अर्थात् भोग में अभिज्ञ होता है। (तृतीयो अग्निष्टे पतिः०) तीसरा पति जो नियोग से होता है वह अग्नि-संज्ञक अर्थात् तेजस्वी अधिक उमरवाला होता है। (तुरीयस्ते मनुष्यजाः) और चौथे से ले के दशमपर्य्यन्त जो नियुक्त पति होते हैं वे सब मनुष्यसंज्ञक कहाते हैं, क्योंकि वे मध्यम होते हैं ॥ ५ ॥ (अदेवृघ्न्यपतिघ्नी०) हे विधवा स्त्रि ! तू देवर और विवाहित पति को सुख देनेवाली हो किन्तु उनका अप्रिय किसी प्रकार से मत कर और वे भी तेरा अप्रिय न करें। (एधि शिवा०) इसी प्रकार मङ्गलकार्य्यों को करके सदा सुख बढ़ाते रहो। (पशुभ्यः सुयमा सुवर्चाः) घर के पशु आदि सब प्राणियों की रक्षा करके, जितेन्द्रिय होके, धर्मयुक्त श्रेष्ठकार्य्यों को करती रहो। तथा सब प्रकार के विद्यारूप उत्तम तेज को बढ़ाते जा। (प्रजा-वती वीरसूः) तू श्रेष्ठप्रजायुक्त हो। बड़े २ वीर पुरुषों को उत्पन्न कर। (देवृ-कामा) जो तू देवर की कामना करने वाली है, तो जब तेरा विवाहित पति न रहे वा रोगी तथा नपुंसक होजाय तब दूसरे पुरुष से नियोग करके सन्तानोत्पत्ति कर। (स्योनेमग्निं गार्हपत्यं सपर्य्य) और तू इस अग्निहोत्रादि घर के कामों को सुखरूप होके सदा प्रीति से सेवन कर ॥ ६ ॥ इसी प्रकार से विधवा और पुरुष तुम दोनों आपत्काल में धर्म करके सन्तानोत्पत्ति करो और उत्तम २ व्यव-हारों को सिद्ध करते जाओ। गर्भहत्या वा व्यभिचार कभी मत करो। किन्तु नियोग ही करलो, यही व्यवस्था सब से उत्तम है।

इति नियोगविषयः संक्षेपतः

अथ राजप्रजाधर्मविषयः संक्षेपतः

त्रीणि राजाना विदथे पुरूणि परि विश्वानि भूषथः सदांसि। अपंश्यमत्र मनसा जगन्वान्व्रते गन्धर्वां अपि वायुकेशान् ॥ १ ॥ ॥ ऋ० अ० ३। अ० २। व० २४। म० १ ॥ क्षत्रस्य योनिरसि क्षत्रस्य नाभिरसि। मा त्वा हिंसीन्मा मा हिंसीः ॥ २ ॥

य० अ० २० । मं० १ ॥ यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह । तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं * यत्र देवाः सहाग्निना ॥ ३ ॥ य० अ० २० । मं० २५ ॥

भाष्यम्

एषामभि०—अत्र मन्त्रेषु राजधर्मो विधीयत इति । यथा सूर्य्यचन्द्रौ राजानौ सर्वमूर्त्तद्रव्यप्रकाशकौ भवत,स्तथा सूर्य्यचन्द्रगुणशीलौ प्रकाशन्यायमुक्तौ व्यवहारौ, त्रीणि सदांसि (भूषथः) भूषयतोऽलङ्कुरुतः । (विदथे) ताभिः सभाभिरेव युद्धे (पुरूणि) बहूनि विजयादीनि सुखानि मनुष्याः प्राप्नुवन्ति । तथा (परि विश्वानि) राजधर्म्मादियुक्ताभिस्सभाभिर्विश्वस्थानि सर्वाणि वस्तूनि प्राणिजातानि च भूषयन्ति सुखयन्ति । इदमत्र बोध्यम् । एका राजार्य्यसभा, तत्र विशेषतो राजकार्य्याण्येव भवेयुः । द्वितीयाऽऽर्य्यविद्यासभा, तत्र विशेषतो विद्याप्रचारोन्नती एव कार्य्ये भवतः । तृतीयाऽऽर्य्यधर्मसभा, तत्र विशेषतो धर्मोन्नतिरधर्महानिश्चोपदेशेन कर्त्तव्या । परन्त्वेतास्तिस्रस्सभाःसामान्ये कार्य्ये मिलित्वैव सर्वानुत्तमान् व्यवहारान् प्रजासु प्रचारयेयुरिति । यत्रैतासु सभासु धर्मात्माभिर्विद्वद्भिः सारासारविचारेण कर्त्तव्याकर्त्तव्यस्य प्रचारो निरोधश्च क्रियते, तत्र सर्वाः प्रजाः सदैव सुखयुक्ता भवन्ति । यत्रैको मनुष्यो राजा भवति तत्र पीडिताश्चेति निश्चयः । (अपश्यमत्र) इदमत्राहमपश्यम् । ईश्वरोऽभिवदति, यत्र सभया राजप्रबन्धो भवति तत्रैव सर्वाभ्यः प्रजाभ्यो हितं जायत इति । (व्रते) यो मनुष्यः सत्याचरणे (मनसा) विज्ञानेन सत्यं न्यायं (जगन्वान्) विज्ञातवान्, स राजसभामर्हति नेतरश्च । (गन्धर्वान्) पूर्वोक्तासु सभासु गन्धर्वान् पृथिवीराजपालनादिव्यवहारेषु कुशलान् (अपि वायुकेशान्) वायुवद्दूतप्रचारेण विदितसर्वव्यवहारान् सभासदः कुर्य्यात् । केशास्सूर्य्यरश्मयस्तद्वत्सत्यन्यायप्रकाशकान्, सर्वहितं चिकीर्षून्, धर्मात्मनः, सभासदस्स्थापयितुमहमाज्ञापयामि, नेतरांश्चेतीश्वरोपदेशः सर्वैर्मन्तव्य इति ॥ १ ॥ (क्षत्रस्य योनिरसि) हे परमेश्वर !

* प्रज्ञेषमिति यजुषि पाठः ॥

त्वं यथा क्षत्रस्य राजव्यवहारस्य योनिर्निमित्तमसि, तथा (क्षत्रस्य नाभिरसि) एवं राजधर्मस्य त्वं प्रबन्धकर्त्तासि । तथैव नोऽस्मानपि कृपया राज्यपालननिमित्तान् क्षत्रधर्मप्रबन्धकर्तॄंश्च कुरु । (मात्वाहिंसीन्मा माहिंसीः) तथाऽस्माकं मध्यात् कोपि जनस्त्वा मा हिंसीदर्थाद्भवन्तं तिरस्कृत्य नास्तिको मा भवतु, तथा त्वं मां मा हिंसीरर्थान्मम तिरस्कारं कदाचिन्मा कुर्याः । यतो वयं भवत्सृष्टौ राज्याधिकारिणस्सदा भवेम ॥ ३ ॥ (यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च) यत्र देशे ब्रह्म परमेश्वरो, वेदो वा, ब्राह्मणो, ब्रह्मविच्चैतत्सर्वं ब्रह्म तथा (क्षत्रं) शौर्य्यधैर्य्यादिगुणवन्तो मनुष्याश्चैतौ द्वौ (सम्यञ्चौ) यथावद्विज्ञानयुक्तावविरुद्धौ (चरतः सह) तं लोकं तं देशं पुण्यं पुण्ययुक्तं (यज्ञेषं) यज्ञकरणेच्छाविशिष्टं विजानीमः, (यत्र देवाः सहाग्निना) यस्मिन्देशे विद्वांसः परमेश्वरेणाग्निहोत्रादियज्ञानुष्ठानेन च सह वर्त्तन्ते तत्रैव प्रजाः सुखिन्यो भवन्तीति विज्ञेयम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ

सब जगत् का राजा एक परमेश्वर ही है और सब संसार उस की प्रजा है । इसमें यह यजुर्वेद के अठारहवें अध्याय के २९ वें मन्त्र के वचन का प्रमाण है । (वयं प्रजापतेः प्रजा अभूम) अर्थात् सब मनुष्य लोगों को निश्चय करके जानना चाहिये कि हम लोग परमेश्वर की प्रजा हैं और वही एक हमारा राजा है । (त्रीणि राजाना) तीन प्रकार की सभा ही को राजा मानना चाहिये, एक मनुष्य को कभी नहीं । वे तीनों ये हैं—प्रथम राज्यप्रबन्ध के लिये एक आर्य्यराजसभा कि जिससे विशेष करके सब राजकार्य्य ही सिद्ध किये जावें, दूसरी आर्य्यविद्यासभा कि जिससे सब प्रकार की विद्याओं का प्रचार होता जाय, तीसरी आर्य्यधर्मसभा कि जिससे धर्म का प्रचार और अधर्म की हानि होती रहे । इन तीन सभाओं से (विदथे) अर्थात् युद्ध में (पुरूणि परिविश्वानि भूषथः) सब शत्रुओं को जीत के नाना प्रकार के सुखों से विश्व को परिपूर्ण करना चाहिये ॥१॥ (क्षत्रस्य योनिरसि) हे राज्य के देने वाले परमेश्वर ! आप ही राज्यसुख के परम कारण हैं, (क्षत्रस्य नाभिरसि) आप ही राज्य के जीवनहेतु हैं तथा

क्षात्रियवर्ण के राज्य का कारण और जीवन सभा ही है, (मां त्वा हिꣳसीन्मा माहिꣳसीः) हे जगदीश्वर ! सब प्रजा आप को छोड़ के किसी दूसरे को अपना राजा कभी न माने और आप भी हम लोगों को कभी मत छोड़िये, किन्तु आप और हम लोग परस्पर सदा अनुकूल वर्त्तें ॥ २ ॥ (यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च) जिस देश में उत्तम विद्वान् ब्राह्मण विद्यासभा और राजसभा विद्वान् शूरवीर क्षत्रिय लोग ये सब मिलके राजकामों को सिद्ध करते हैं, वही देश धर्म और शुभ क्रियाओं से संयुक्त हो के सुख को प्राप्त होता है । (यत्र देवाः सहाग्निना०) जिस देश में परमेश्वर की आज्ञापालन और अग्निहोत्रादि सत्क्रियाओं से वर्त्तमान विद्वान् होते हैं वही देश सब उपद्रवों से रहित होके अखण्ड राज को नित्य भोगता है ॥ ३ ॥

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् । अश्विनोर्भैषज्येन तेजसे ब्रह्मवर्चसायाभिषिञ्चामि । इन्द्रस्येन्द्रियेण बलाय श्रियै यशसेऽभिषिञ्चामि ॥ ४ ॥ कोऽसि कतमोऽसि कस्मै त्वा काय त्वा । सुश्लोक सुमङ्गल सत्यराजन् ॥ ५ ॥ शिरो मे श्रीर्यशो मुखं त्विषिः केशाश्च श्मश्रूणि । राजा मे प्राणो अमृतꣳसम्राट् चक्षुर्विराट् श्रोत्रम् ॥ ६ ॥ य० अ० २० । मं० ३ । ४ । ५ ॥

भाष्यम्

(देवस्य त्वा सवितुः) हे सभाध्यक्ष ! स्वप्रकाशमानस्य, सर्वस्य जगत उत्पादकस्य, परमेश्वरस्य (प्रसवे) अस्यां प्रजायां, (अश्विनोर्बाहुभ्यां) सूर्य्याचन्द्रमसोर्बाहुभ्यां बलवीर्याभ्यां, (पूष्णो हस्ताभ्यां) पुष्टिकर्तुः प्राणस्य ग्रहणदानाभ्यां, (अश्विनोर्भैषज्येन) पृथिव्यन्तरिक्षौषधिसमूहेन सर्वरोगनिवारकेण सह वर्त्तमानं त्वां (तेजसे) न्यायादिसद्गुणप्रकाशाय, (ब्रह्मवर्चसाय) पूर्णविद्याप्रचाराय, (अभिषिञ्चामि) सुगन्धजलैर्मूर्द्धनि मार्जयामि । तथा (इन्द्रस्येन्द्रियेण) परमेश्वरस्य परमैश्वर्य्येण विज्ञानेन च (बलाय) उत्तमबलार्थं, (श्रियै) चक्रवर्त्तिराज्यलक्ष्मीप्राप्त्यर्थं, त्वा,

(यशसे) अतिश्रेष्ठकीर्त्यर्थं च (अभिषिञ्चामि) राजधर्मपालनार्थं स्थापयामीतीश्वरोपदेशः ॥ ४ ॥ (कोसि) हे परमात्मन् ! त्वं सुखस्वरूपोसि, भवानस्मानपि सुराज्येन सुखयुक्तान् करोतु । (कतमोसि) त्वमत्यन्तानन्दयुक्तोसि, अस्मानपि राजसभाप्रबन्धेनात्यन्तानन्दयुक्तान्सम्पादय । (कस्मै त्वा) अतो नित्यसुखाय त्वामाश्रयामः । तथा (काय त्वा) सुखरूपराज्यप्रदाय त्वामुपास्महे । (सुश्लोक) हे सत्यकीर्त्ते ! (सुमङ्गल) हे सुष्ठुमङ्गलमय, सुमङ्गलकारक ! (सत्यराजन्) हे सत्यप्रकाशक सत्यराज्यप्रदेश्वरास्मद्राजसभाया भवानेव महाराजाधिराजोस्तीति वयं मन्यामहे ॥ ५ ॥ सभाध्यक्ष एवं मन्येत, (शिरो मे श्रीः) राज्यश्रीर्मे मम शिरोवत्, (यशो मुखं) उत्तमकीर्त्तिर्मुखवत्, (त्विषिः केशाश्च श्मश्रूणि) सत्यन्यायदीप्तिः मम केशश्मश्रुवत्, (राजा मे प्राणः) परमेश्वरः, शरीरस्थो जीवनहेतुर्वायुश्च मम राजवत्, (अमृतꣳसम्राट्) मोक्षाख्यं सुखं, ब्रह्म, वेदश्च* सम्राट् चक्रवर्तिराजवत्, (चक्षुर्विराट् श्रोत्रम्) सत्यविद्यादिगुणानां विविधप्रकाशकरणं श्रोत्रं चक्षुर्वत् । एवं सभासदोपि मन्येरन् । एतानि सभाध्यक्षस्य सभासदां चाङ्गानि सन्तीति सर्वे विजानीयुः ॥ ६ ॥

भाषार्थ

(देवस्य त्वा सवितुः) जो कोई राजा सभाध्यक्ष होने के योग्य हो उस का हम लोग अभिषेक करें और उससे कहें कि हे सभाध्यक्ष ! आप सब जगत् को प्रकाशित और उत्पन्न करनेवाले परमेश्वर की (प्रसवे) सृष्टि में प्रजापालन के लिये (अश्विनोर्बाहुभ्याम्) सूर्य्य चन्द्रमा के बल और वीर्य्य से (पूष्णो हस्ताभ्याम्) पुष्टि करने वाले प्राण को ग्रहण और दान की शक्तिरूप हाथों से आप को सभाध्यक्ष होने में स्वीकार करते हैं । (अश्विनोर्भैषज्येन) परमेश्वर कहता है कि पृथिवीस्थ और शुद्ध वायु इन ओषधियों से दिन रात में सब रोगों से तुझ को निवारण करके, (तेजसे) सत्यन्याय के प्रकाश, (ब्रह्मवर्चसाय) ब्रह्म के ज्ञान और विद्या की वृद्धि के लिये, तथा (इन्द्रस्येन्द्रियेण) परमेश्वर के

* वेदश्चेति स्थाने 'च' इत्येव पाठो ह० लि० भूमिकायाम् ॥

परमैश्वर्य्य और आज्ञा के विज्ञान से (बलाय) उत्तम सेना, (श्रियै) सर्वोत्तम लक्ष्मी और (यशसे) सर्वोत्तम कीर्त्ति की प्राप्ति के लिये, मैं तुम लोगों को सभा करने की आज्ञा देता हूं कि यह आज्ञा राजा और प्रजा के प्रबन्ध के अर्थ है। इससे सब मनुष्य लोग इस का यथावत् प्रचार करें ॥ ४ ॥ हे महाराजेश्वर! आप (कोसि कतमोसि) सुखस्वरूप अत्यन्त आनन्दकारक हैं, हम लोगों को भी सब आनन्द से युक्त कीजिये। (सुश्लोक) हे सर्वोत्तम कीर्त्ति के देने वाले! तथा (सुमङ्गल) शोभनमङ्गलरूप आनन्द के करने वाले जगदीश्वर! (सत्यराजन्) सत्यस्वरूप और सत्य के प्रकाश करने वाले हम लोगों के राजा तथा सब सुखों के देने वाले आप ही हैं। (कस्मै त्वा काय त्वा) उसी अत्यन्त सुख, श्रेष्ठ विचार और आनन्द के लिये हम लोगों ने आप का शरण लिया है, क्योंकि इसीसे हम को पूर्ण राज्य और सुख निस्संदेह होगा ॥ ५ ॥ सभाध्यक्ष, सभासद् और प्रजा को ऐसा निश्चय करना चाहिये कि (शिरो मे श्रीः) श्री मेरा शिरस्थानी, (यशो मुखं) उत्तम कीर्त्ति मेरा मुखवत्, (त्विषिः कशाश्च श्मश्रूणि) सत्यगुणों का प्रकाश मेरे केश और डाढ़ी मूछ के समान, तथा (राजा मे प्राणः) जो ईश्वर सब का आधार और जीवनहेतु है वही प्राणप्रिय मेरा राजा, (अमृतꣳसम्राट्) अमृतस्वरूप जो ब्रह्म और मोक्षसुख है वही मेरा चक्रवर्त्ती राजा, तथा (चक्षुर्विराट् श्रोत्रम्) जो अनेक सत्यविद्याओं के प्रकाशयुक्त मेरा श्रोत्र है वही मेरी आंख है ॥ ६ ॥

बाहू मे बलमिन्द्रियꣳहस्तौ मे कर्म वीर्य्यम्। आत्मा क्षत्रमुरो मम ॥ ७ ॥ पृष्ठीर्मे राष्ट्रमुदरमꣳसौ ग्रीवाश्च श्रोणी। ऊरू अरत्नी जानुनी विशो मेऽङ्गानि सर्वतः ॥ ८ ॥ य० अ० २०। मं० ७। ८ ॥

भाष्यम्

(बाहू मे बलं) यदुत्तमं बलं तन्मम बाहुवदस्ति, (इन्द्रियꣳहस्तौ मे) शुद्धं विद्यायुक्तं मनः, श्रोत्रादिकं च मम ग्रहणसाधनवत्। (कर्म वीर्यं) यदुत्तमपराक्रमधारणं तन्मम कर्मवत्, (आत्मा क्षत्रमुरो मम) यन्मम हृदयं तत् क्षत्रवत् ॥ ७ ॥

(पृष्ठीर्मे राष्ट्रम्) यद्राष्ट्रं तन्मम पृष्ठभागवत् । (उदरमꣳसौ) यौ सेनाकोशौ स्तस्तत्कर्म मम हस्तमूलोदरवत् । (ग्रीवाश्च श्रोणी) यत्प्रजायाः सुखेन भूषितपुरुषार्थिकरणं तत्कर्म मम नितम्बाङ्गवत् । (ऊरू अरत्नी) यत्प्रजायाः व्यापारे गणितविद्यायां च निपुणीकरणं तन्ममोर्वरत्न्यङ्गवदास्ति। (जानुनी विशो मेऽङ्गानि सर्वतः) यत्प्रजाराजसभयोः सर्वथा मेलरक्षणं तन्मम कर्म जानुवत् । एवं पूर्वोक्तानि सर्वाणि कर्माणि ममावयववत् सन्ति । यथा स्वाङ्गेषु प्रीतिस्तत्पालने पुरुषस्य श्रद्धा भवति तथा प्रजापालने च स्वकीया बुद्धिस्सर्वैः कार्य्येति ॥ ८ ॥

भाषार्थ

(बाहू मे बलं) जो पूर्ण बल है वही मेरी भुजा, (इन्द्रियꣳ हस्तौ) जो उत्तम कर्म और पराक्रम से युक्त इन्द्रिय और मन है वे मेरे हाथों के समान, (आत्मा क्षत्रमुरो मम) जो राजधर्म, शौर्य्य, धैर्य्य और हृदय का ज्ञान है यही सब मेरे आत्मा के समान है ॥ ७ ॥ (पृष्ठीर्मे राष्ट्रं) जो उत्तम राज्य है सो मेरी पीठ के समतुल्य, (उदरमꣳसौ) जो राज्य सेना और कोश है वह मेरे हस्त का मूल और उदर के समान, तथा (ग्रीवाश्च श्रोणी) जो प्रजा को सुख से भूषित और पुरुषार्थी करना है सो मेरे कण्ठ और श्रोणी अर्थात् नाभि के अधोभागस्थान के समतुल्य, (ऊरू अरत्नी) जो प्रजा को व्यापार और गणितविद्या में निपुण करना है सो ही अरत्नी और ऊरू अङ्ग के समान, तथा (जानुनी) जो प्रजा और राजसभा का मेल रखना यह मेरी जानु के समान है, (विशो मेऽङ्गानि सर्वतः) जो इस प्रकार से प्रजापालन में उत्तम कर्म करने हैं ये सब मेरे अङ्गों के समान हैं ॥ ८ ॥

प्रति क्षत्रे प्रति तिष्ठामि राष्ट्रे प्रत्यश्वेषु प्रति तिष्ठामि गोषु । प्रत्यङ्गेषु प्रति तिष्ठाम्यात्मन् प्रति प्राणेषु प्रति तिष्ठामि पुष्टे प्रति द्यावापृथिव्योः प्रति तिष्ठामि यज्ञे ॥ १० ॥ त्रातारमिन्द्रमवितारमिन्द्रꣳहवे हवे सुहवꣳशूरमिन्द्रम् । ह्वयामि शक्रं पुरुहूतमिन्द्रꣳ स्वस्ति नो मघवा धात्विन्द्रः ॥११॥ य० अ० २० । मं० १० । ५० ॥

भाष्यम्

(प्रतिक्षत्रे प्रतितिष्ठामि राष्ट्रे) अहं परमेश्वरो धर्मेण प्रतीते क्षत्रे प्रतिष्ठितो भवामि, विद्याधर्मप्रचारिते देशे च । (प्रत्यश्वेषु) प्रत्यश्वं प्रतिगां च तिष्ठामि । (प्रत्यङ्गेषु) सर्वस्य जगतोऽङ्गमङ्गं प्रतितिष्ठामि । तथा चात्मानमात्मानं प्रतितिष्ठामि । (प्रतिप्राणे०) प्राणं प्राणं प्रत्येवं पुष्टं पुष्टं पदार्थं प्रतितिष्ठामि । (प्रति द्यावापृथिव्योः) दिवं दिवं प्रति पृथिवीं पृथिवीं प्रति च तिष्ठामि । (यज्ञे) तथा यज्ञं यज्ञं प्रति तिष्ठाम्यहमेव सर्वत्र व्यापकोस्मीति । मामिष्टदेवं समाश्रित्य ये राजधर्ममनुसरन्ति तेषां सदैव विजयाभ्युदयौ भवतः । एवं राजपुरुषैश्चापि प्रजापालने सर्वत्र न्यायविज्ञानप्रकाशो रक्षणीयो यतोऽन्यायाविद्याविनाशः स्यादिति ॥ १० ॥ (त्रातारमिन्द्र०) यं विश्वस्य त्रातारं रक्षकं, परमैश्वर्य्यवन्तं, (सुहवꣳ शूरमिन्द्रं) सुहवं शोभनयुद्धकारिणमत्यन्तशूरं, जगतो राजानमनन्तबलवन्तं, (शक्रं) शक्तिमन्तं शक्तिप्रदं च, (पुरुहूतं) बहुभिः शूरैः सुसेवितं, (इन्द्रं) न्यायेन राज्यपालकं, (इन्द्रꣳहवेहवे) युद्धे युद्धे स्वविजयार्थं इन्द्रं परमात्मानं (ह्वयामि) आह्वयामि आश्रयामि । (स्वस्ति नो मघवा धात्विन्द्रः) स परमधनप्रदातेन्द्रः सर्वशक्तिमानीश्वरः सर्वेषु राज्यकार्य्येषु नोऽस्मभ्यं स्वस्ति (धातु) निरन्तरं विजयसुखं दधातु ॥ ११ ॥

भाषार्थ

(प्रतिक्षत्रे प्रतितिष्ठामि राष्ट्रे) जो मनुष्य इस प्रकार के उत्तम पुरुषों की सभा से न्यायपूर्वक राज्य करते हैं उनके लिये परमेश्वर प्रतिज्ञा करता है कि हे मनुष्यो ! तुम लोग धर्मात्मा होके न्याय से राज्य करो, क्योंकि जो धर्मात्मा पुरुष हैं मैं उन के क्षत्रधर्म और सब राज्य में प्रकाशित रहता हूं और वे सदा मेरे समीप रहते हैं । (प्रत्यश्वेषु प्रतितिष्ठामि गोषु०) उन की सेना के अश्व और गौ आदि पशुओं में भी मैं स्वसत्ता से प्रतिष्ठित रहता हूं । (प्रत्यङ्गेषु प्रतितिष्ठाम्यात्मन्) तथा सब सेना राजा के अङ्गों और उनके आत्माओं के बीच में भी सदा प्रतिष्ठित रहता हूं । (प्रतिप्राणेषु प्रतितिष्ठामि पुष्टे) उनके प्राण और

पुष्ट व्यवहारों में भी सदा व्यापक रहता हूं। (प्रतिद्यावापृथिव्योः प्रतितिष्ठामि यज्ञे) जितना सूर्य्यादि प्रकाशरूप और पृथिव्यादि अप्रकाशरूप जगत् तथा जो अश्वमेधादि यज्ञ हैं इन सब के बीच में भी मैं सर्वदा व्यापक होने से प्रतिष्ठित रहता हूं। इस प्रकार से तुम लोग मुझ को सब स्थानों में परिपूर्ण देखो ॥१०॥ जिन लोगों की ऐसी निष्ठा है उनका राज्य सदा बढ़ता रहता है। (त्रातारमिन्द्रं) जिन मनुष्यों का ऐसा निश्चय है कि केवल परमैश्वर्य्यवान् परमात्मा ही हमारा रक्षक है, (अविता) जो ज्ञान और आनन्द का देने वाला है, (सुहव॰ शूरमिन्द्र॰ हवेहवे) वही इन्द्र परमात्मा प्रतियुद्ध में जो उत्तम युद्ध करानेवाला, शूरवीर और हमारा राजा है, (ह्वयामि शक्रं पुरुहूतमिन्द्रं) जो अनन्त पराक्रमयुक्त ईश्वर है, जिसका सब विद्वान् वेदादि शास्त्रों से प्रतिपादन और इष्ट करते हैं, वही हमारा सब प्रकार से राजा है। (स्वस्ति नो मघवा धात्विन्द्रः) जो इन्द्र परमेश्वर मघवा अर्थात् परमविद्यारूप धनी और हमारे लिये विजय आदि सब सुखों का देनेवाला है, जिन मनुष्यों को ऐसा निश्चय है उनका पराजय कभी नहीं होता ॥ ११ ॥

इमं देवा असपत्नꣳसुवध्वं महत क्षत्राय महते ज्यैष्ठ्याय महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय। इममुमुष्य पुत्रममुष्यै पुत्रमस्यै विश एष वोऽमी राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानाꣳराजा ॥ १२ ॥ य० अ० ९। मं० ४० ॥ इन्द्रो जयाति न परा जयाता अधिराजो राजसु राजयातै। चर्कृत्य ईड्यो वन्द्यश्चोपसद्यो नमस्यो भवेह ॥ १३ ॥ त्वमिन्द्राधिराजः श्रवस्युस्त्वं भूरभिभूतिर्जनानाम्। त्वं दैवीर्विश इमा वि राजायुष्मत्क्षत्रमजरं ते अस्तु ॥ १४ ॥ अथर्व० कां० ६। अनु० १०। सू० ९८। मं० १। २ ॥

भाष्यम्

(देवाः) हे देवा विद्वांसः सभासदः! (महते क्षत्राय) अतुलराजधर्माय, (महते ज्यैष्ठ्याय) अत्यन्तज्ञानवृद्धव्यवहारस्थापनाय, (महते जानराज्याय)

जनानां विदुषां मध्ये परमराज्यकरणाय, (इन्द्रस्येन्द्रियाय) सूर्य्यस्य प्रकाशवन्न्यायव्यवहारप्रकाशनायान्यायान्धकारविनाशाय, (अस्यै विशे) वर्त्तमानायै प्रजायै यथावत्सुखप्रदानाय (इमं) (असपत्नꣳसुवध्वम्) इमं प्रत्यक्षं शत्रूद्भवरहितं निष्कण्टकमुत्तमराजधर्म्मं सुवध्वमाशिध्वमैश्वर्य्यसहितं कुरुत । यूयमप्येवं जानीत (सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानाꣳराजा) वेदविदां सभासदां मध्ये यो मनुष्यः सोम्यगुणसम्पन्नः सकलविद्यायुक्तोऽस्ति स एव सभाध्यक्षत्वेन स्वीकृतः सन् राजास्तु । हे सभासदः ! (अमी) ये प्रजास्था मनुष्याः सन्ति तान् प्रत्यप्येवमाज्ञा श्राव्या, (एष वो राजा) अस्माकं वो युष्माकं च स * सभासत् कोयं राजसभाव्यवहार एव राजास्तीति । एतदर्थं वयं (इमममुष्य पुत्रममुष्यै पुत्रं) प्रख्यातनाम्नः पुरुषस्य प्रख्यातनाम्न्याः स्त्रियाश्च सन्तानमभिषिच्याध्यक्षत्वे स्वीकुर्म्म इति ॥ १२॥ (इन्द्रो जयाति) स एवेन्द्रः परमेश्वरः सभाप्रबन्धो वा जयाति विजयोत्कर्षं सदा प्राप्नोतु, (न पराजयाते) स मा कदाचित्पराजयं प्राप्नोतु, (अधिराजो राजसु राजयाते) स राजाधिराजो विश्वस्येश्वरः सर्वेषु चक्रवर्त्तिराजसु माण्डलिकेषु वा स्वकीयसत्यप्रकाशन्यायेन सहास्माकं मध्ये सदा प्रसिध्यताम् । (चर्कृत्यः) यो जगदीश्वरः सर्वैर्मनुष्यैः पुनः पुनरुपासनायोग्योस्ति, (ईड्यः) अस्माभिः स एवैकः स्तोतुं योग्यः, (वन्द्यश्च) पूजनीयः, (उपसद्यः) समाश्रयितुं योग्यः, (नमस्यः) नमस्कर्तुं योग्योस्ति । (भवेह) हे महाराजेश्वर ! त्वमुत्तमप्रकारेणास्मिन् राज्ये सत्कृतो भव । भवत्सत्कारेण सह वर्त्तमाना वयमप्यस्मिन् चक्रवर्त्तिराज्ये सदा सत्कृता भवेम ॥ १३ ॥ (त्वमिन्द्राधिराजः श्रवस्युः) हे इन्द्र परमेश्वर ! त्वं सर्वस्य जगतोऽधिराजोसि । † "श्रव इवाचरतीति सर्वस्य श्रोता च" । स्वकृपया मामपि तादृशं कुरु । (त्वं भूरभिभूतिर्जनानाम्) हे भगवन् ! त्वं भूः सदा भवसि । यथा जनानामभिभूतिरभीष्टस्यैश्वर्य्यस्य दातासि तथा मामप्यनुग्रहेण करोतु । (त्वं दैवीर्विश इमा विराजा) हे जगदीश्वर ! यथा त्वं दिव्यगुणसम्पन्ना,

---

* स इति ह० लि० भूमिकायां नास्ति ।

† " " एतच्चिह्नमध्यगतः पाठो नास्ति ह० लि० भूमिकायाम् ।

विविधोत्तमराजपालिताः, प्रत्यक्षविषयाः प्रजाः सत्यन्यायेन पालयासि तथा मामपि कुरु। (*युष्मत्क्षत्रमजरं ते अस्तु) हे महाराजाधिराजेश्वर ! तव यदिदं सनातनं राजधर्मयुक्तं नाशरहितं विश्वरूपं राष्ट्रमस्ति तदिदं भवत्कृपयाऽस्माकमस्त्विति याचितः सन्नाशीर्ददाताऽदं मद्रचितं भूगोलाख्यं राष्ट्रं युष्मदधीनमस्तु ॥ १४ ॥

भाषार्थ

(इमं देवा असपत्न०) अब ईश्वर सब मनुष्यों को राज्यव्यवस्था के विषय में आज्ञा देता है कि हे विद्वान् लोगो ! तुम इस राजधर्म को यथावत् जानकर अपने राज्य का ऐसा प्रबन्ध करो कि जिससे तुम्हारे देश पर कोई शत्रु न आजाय। (महते क्षत्राय०) हे शूरवीर लोगो ! अपने क्षत्रियधर्म, चक्रवर्त्ति राज्य, श्रेष्ठकीर्त्ति, सर्वोत्तम राज्यप्रबन्ध के अर्थ, (महते जानराज्याय) सब प्रजा को विद्वान् करके ठीक २ राज्यव्यवस्था में चलाने के लिये, तथा (इन्द्रस्येन्द्रियाय) बड़े ऐश्वर्य्य सत्य न्याय के प्रकाश करने के अर्थ (सुवध्वं) अच्छे २ राज्यसंबन्धी प्रबन्ध करो कि जिन से सब मनुष्यों को उत्तम सुख बढ़ता जाय ॥ १२ ॥ (इन्द्रो जयाति) हे बन्धु लोगो ! जो परमात्मा अपने लोगों का विजय कराने वाला, (न पराजयाता) जो हम को दूसरों से कभी हारने नहीं देता, (अधिराजो) जो महाराजाधिराज (राजसु राजयातै) सब राजाओं के बीच में प्रकाशमान होकर हम को भी भूगोल में प्रकाशमान करने वाला है, (चर्कृत्यः) जो आनन्दस्वरूप परमात्मा सब जगत् को सुखों से पूर्ण करने हारा, तथा (ईड्यो वन्द्यश्च) सब मनुष्यों को स्तुति और वंदना करने के योग्य, (उपसद्यो नमस्यः) सब को शरण लेने और नमस्कार करने के योग्य है, (भवेह) सो ही जगदीश्वर हमारा विजय कराने वाला, रक्षक, न्यायाधीश और राजा है। इसलिये हमारी यह प्रार्थना है कि हे परमेश्वर ! आप कृपा करके हम सबों के राजा हूजिये और हम लोग आप के पुत्र और भृत्य के समान राज्याधिकारी होकर आप के राज्य को सत्यन्याय से सुशोभित करें ॥ १३ ॥

* आयुष्मदिति पाठो ह० लि० भूमिकायाम्।

(त्वमिन्द्राधिराजः श्रवस्युः) हे परमेश्वर ! आप ही सब संसार के अधिराज, और आप्तों के समान सत्यन्याय के उपदेशक, (त्वं भूरभिभूतिर्जनानाम्) आप ही सदा नित्यस्वरूप और सज्जन मनुष्यों को राज्य ऐश्वर्य के देने वाले, (त्वं दैवीर्विश इमा विराजा) आप ही इन विविध प्रजाओं को सुधारने और दुष्ट राजाओं का युद्ध में पराजय कराने वाले हैं। (युष्मत्क्षत्रमजरं ते अस्तु) हे जगदीश्वर ! आप का राज्य नित्य तरुण बना रहे कि जिससे सब संसार को विविध प्रकार का सुख मिले। इस प्रकार जो मनुष्य अपने सत्य प्रेम और पुरुषार्थ से ईश्वर की भक्ति और उस की आज्ञा पालन करते हैं उन को वह आशीर्वाद देता है कि मेरे रचे हुए भूगोल का राज्य तुम्हारे आधीन हो ॥१४॥

स्थिरा वः सन्त्वायुधा पराणुदे वीळू उत प्रतिष्कभे। युष्माकमस्तु तविषी पनीयसी मा मर्त्यस्य मायिनः ॥ १५ ॥ ऋ० अ० १। अ० ३। व० १८। मं० २ ॥ तं सभा च समितिश्च सेना च ॥ १६ ॥ अथर्व० कां० १५। अनु० २। सू० ६। मं० २ ॥ इमं वीरमनु हर्षध्वमुग्रमिन्द्रं सखायो अनु सं रभध्वम्। ग्रामजितं गोजितं वज्रबाहुं जयन्तमज्म प्रमृणन्तमोजसा ॥ १७ ॥ अथर्व० कां० ६। अनु० १०। सू० ९७। मं० ३ ॥ सभ्य सभां मे पाहि ये च सभ्याः सभासदः। त्वयेद्गाः पुरुहूत विश्वमायुर्व्यश्नवम् ॥ १८ ॥ अथर्व कां० १९। अनु० ७। सू० ५५। मं० ६ ॥

भाष्यम्

(स्थिरा वः०) अस्यार्थः प्रार्थनाविषय उक्तः ॥ १५ ॥ (तं सभा च) राजसभा प्रजा च तं पूर्वोक्तं सर्वराजाधिराजं परमेश्वरं तथा सभाध्यक्षमभिषिच्य राजानं मन्येत। (समितिश्च) तमनुश्रित्यैव समितिर्युद्धमाचरणीयम्। (सेना च) तथा वीरपुरुषाणां या सेना सापि परमेश्वरं, ससभाध्यक्षां सभां, स्वसेनानीं चानुश्रित्य युद्धं कुर्य्यात् ॥ १६ ॥ ईश्वरः सर्वान्मनुष्यान्प्रत्युपदिशति (सखायः) हे सखायः ! (इमं वीरमुग्रमिन्द्रं) शत्रूणां हन्तारं,

युद्धकुशलं, निर्भयं, तेजस्विनं प्रति राजपुरुषं तथेन्द्रं परमैश्वर्य्यवन्तं परमेश्वरं (अनुहर्षध्वं) सर्वे यूयमनुमोदयध्वमेवं कृत्वैव दुष्टशत्रूणां पराजयार्थं (अनुसंरभध्वं) युद्धारम्भं कुरुत । कथम्भूतं तं ? (ग्रामजितं) येन पूर्वं शत्रूणां समूहा जिताः, (गोजितं) येनेन्द्रियाणि पृथिव्यादिकं च जितं, (वज्रबाहुं) वज्रः प्राणो बलं बाहुर्यस्य, (जयन्तं) जयं प्राप्नुवन्तं, (प्रमृणन्तमोजसा) ओजसा बलेन शत्रून् प्रकृष्टतया हिंसन्तं (अज्म) वयं तमाश्रित्य सदा विजयं प्राप्नुमः ॥ १७ ॥ (सभ्य सभां मे पाहि) हे सभायां साधो परमेश्वर ! मे मम सभां यथावत् पालय । म इत्यस्मच्छब्दनिर्देशात्सर्वान्मनुष्यानिदं वाक्यं गृह्णातीति । (ये च सभ्याः सभासदः) ये सभाकर्मसु साधवश्चतुराः सभायां सीदन्ति तेऽस्माकं पूर्वोक्तां त्रिविधां सभां पान्तु यथावद्रक्षन्तु (त्वयेद्गाः पुरुहूत) हे बहुभिः पूजित परमात्मन् ! त्वया सह ये सभाध्यक्षाः सभासदः, इद्गाः इतं राजधर्मज्ञानं गच्छन्ति, त एव सुखं प्राप्नुवन्ति । (विश्वमायुर्व्यश्नवम्) एवं सभापालितोऽहं सर्वो जनः शतवार्षिकं सुखयुक्तमायुः प्राप्नुयाम् ॥ १८ ॥

भाषार्थ

(स्थिरा वः सन्त्वायुधा०) इस मन्त्र का अर्थ प्रार्थनादि विषय में कर दिया है ॥ १५ ॥ (तं सभा च) प्रजा तथा सब सभासद् सब राजाओं के राजा परमेश्वर को जान के सब सभाओं में सभाध्यक्ष का अभिषेक करें । (समितिश्च) सब मनुष्यों को उचित है कि परमेश्वर और सर्वोपकारक धर्म का ही आश्रय करके युद्ध करें । तथा (सेना च) जो सेना, सेनापति और सभाध्यक्ष हैं वे सब सभा के आश्रय से विचारपूर्वक उत्तम सेना को बना के सदैव प्रजापालन और युद्ध करें ॥ १६ ॥ ईश्वर सब मनुष्यों को उपदेश करता है कि (सखायः) हे बन्धुलोगो ! (इमं वीरं) हे शूरवीर लोगो ! न्याय और दृढभक्ति से अनन्त बलवान् परमेश्वर को इष्ट करके (अनुहर्षध्वं) शूरवीर लोगों को सदा आनन्द में रक्खो । (उग्रमिन्द्रं) तुम लोग अत्यन्त उग्र परमेश्वर के सहाय से एक संमति होकर (अनुसंरभध्वं) दुष्टों को युद्ध में जीतने का उपाय रचा करो ।

(ग्रामजितं) जिसने सब भूगोल तथा (गोजितं) सब के मन और इन्द्रियों को जीत रक्खा है, (वज्रबाहुं) प्राण जिसके बाहु, और (जयन्तं) जो हम सब को जिताने वाला है (अज्म) उसी को इष्ट जान के हम लोग अपना राजा मानें। (प्रमृणन्तमोजसा) जो अपने अनन्त पराक्रम से दुष्टों का पराजय करके हम को सुख देता है ॥ १७ ॥ (सभ्य सभां में पाहि) हे सभा के योग्य परमेश्वर ! आप हम लोगों की राजसभा की रक्षा कीजिये । (ये च सभ्याः सभासदः) हम लोग जो सभा के सभासद् हैं सो आप की कृपा से सभ्यतायुक्त होकर अच्छी प्रकार से सत्य न्याय की रक्षा करें । (त्वयेद्गाः पुरुहूत०) हे सब के उपास्यदेव ! (विश्वमायुर्व्यश्नवम्) हम लोग आप ही के सहाय से आप की आज्ञा को पालन करते रहैं, जिससे संपूर्ण आयु को सुख से भोगें ॥ १८ ॥

जनिष्ठा उग्रः सहसे तुरायेति सूक्तमुग्रवत्सहस्वत्तत्क्षत्रस्य रूपं, मन्द्र ओजिष्ठ इत्योजस्वत्तत्क्षत्रस्य रूपम् ॥ १ ॥ बृहत्पृष्ठं भवति, क्षत्रं वै बृहत्क्षत्रेणैव तत्क्षत्रं समर्धयत्यथो क्षत्रं वै बृहदात्मा यजमानस्य निष्केवल्यं तद्यद्बृहत्पृष्ठं भवति ॥ २ ॥ ब्रह्म वै रथन्तरं क्षत्रं बृहद् ब्रह्मणि खलु वै क्षत्रं प्रतिष्ठितं क्षत्रे ब्रह्म ॥ ३ ॥ ओजो वा इन्द्रियं वीर्यं पञ्चदश, ओजः क्षत्रं वीर्य्यं राजन्यस्तदेनमोजसा क्षत्रेण वीर्य्येण समर्द्धयति । तद्भारद्वाजं भवति भारद्वाजं वै बृहत् ॥ ४ ॥ ऐ० पं० ८ । अ० १ । कं० २ । ३ ॥ तानहमनु राज्याय साम्राज्याय भौज्याय स्वाराज्याय वैराज्याय पारमेष्ठ्याय राज्याय माहाराज्यायाधिपत्याय स्वावश्यायातिष्ठायां रोहामीति ॥ ५ ॥ नमो ब्रह्मणे नमो ब्रह्मणे नमो ब्रह्मण इति त्रिष्कृत्वो ब्रह्मणे नमस्करोति । ब्रह्मण एव तत्क्षत्रं वशमेति तद्यत्र वै ब्रह्मणः क्षत्रं वशमेति तद्राष्ट्रं समृद्धं तद्वीरवदाहास्मिन् वीरो जायते ॥ ६ ॥ ऐ० पञ्चि० ८ । अ० २ । कं० ६ । ९ ॥

भाष्यम्

इयं राजधर्मव्याख्या वेदरीत्या संक्षेपेण लिखिताऽतोऽग्र ऐतरेयशतपथ-ब्राह्मणादिग्रन्थरीत्या संक्षेपतो लिख्यते । तद्यथा—(जनिष्ठा उग्रः०) राजसभायां, जनिष्ठा अतिशयेन जना विद्वांसो धर्मात्मानः, श्रेष्ठप्रकृतीन् मनुष्यान् प्रति, सदा सुखदास्सौम्या भवेयुः । तथा दुष्टान् प्रत्युग्रो व्यवहारो धार्य्य इति ॥ कुतो, यद्राजकर्म्मास्ति तद् द्विविधं भवत्येकं सहस्वद् द्वितीयमुग्रवदर्थात्क्वचिद्देशकालवस्त्वनुसारेण सहनं कर्त्तव्यम्, क्वचित्तद्विपर्य्यये राजपुरुषैर्दुष्टेषूग्रो दण्डो निपातनीयश्चैतत्क्षत्रस्य धर्मस्य स्वरूपं भवति । तथा (मन्द्र ओजिष्ठः०) उत्तमकर्मकारिभ्य आनन्दकरो दुष्टेभ्यो दुःखप्रदश्चात्युत्तमवीरपुरुषसेनादिपदार्थसामग्र्या सहितो यो राजधर्मोस्ति स च क्षत्रस्य स्वरूपमस्ति ॥ १ ॥ (बृहत्पृष्ठं०) यत्क्षत्रं कर्म तत्सर्वेभ्यः कृत्येभ्यो बृहन्महदस्ति, तथा पृष्ठमर्थान्निखिलानां रक्षकं सत् पुनरुत्तमसुखकारकं भवति । एतेनोक्तेन च क्षत्रराजकर्म्मणा मनुष्यो राजकर्म्म वर्द्धयति, नातोऽन्यथा क्षत्रधर्मस्य वृद्धिर्भवितुमर्हति । तस्मात्क्षत्रं सर्वस्मात्कर्मणो बृहद्यजमानस्य प्रजास्थस्य जनस्य राजपुरुषस्य वात्मात्मवदानन्दप्रदं भवति । तथा सर्वस्य संसारस्य निष्कैवल्यं निरन्तरं केवलं सुखं सम्पादयितुं यतः समर्थं भवति तस्मात्तत्क्षत्रकर्म सर्वेभ्यो महत्तरं भवतीति ॥ २ ॥ (ब्रह्म वै रथन्तरं०) ब्रह्मशब्देन सर्वविद्यायुक्तो ब्राह्मणवर्णो गृह्यते, तस्मिन् खलु क्षत्रधर्मः प्रतिष्ठितो भवति, नैव कदाचित्सत्यविद्यया विना क्षत्रधर्मस्य वृद्धिरक्षणे भवतः । तथा (क्षत्रे ब्रह्म) राजन्ये ब्रह्माऽर्थात् सत्यविद्या प्रतिष्ठिता भवति । नैवास्माद्विना कदाचिद्विद्याया वृद्धिरक्षणे सम्भवतस्तस्माद्विद्याराजव्यवहारौ मिलित्वैव राष्ट्रसुखोन्नतिं कर्तुं शक्नुत इति ॥ ३ ॥ (ओजो वा इन्द्रियं०) राजपुरुषैर्बलपराक्रमवन्तीन्द्रियाणि सदैव रक्षणायान्यर्थाज्जितेन्द्रियतयैव सदैव वर्त्तितव्यम् । कुतः, ओज एव क्षत्रं, वीर्य्यमेव राजन्य इत्युक्तत्वात् । तत्तस्मादोजसा क्षत्रेण वीर्य्येण राजन्येनैनं राजधर्मं मनुष्यः समर्द्धयति, सर्वसुखैरेधमानं करोतीदमेव भारद्वाजं भरणीयं, बृहदर्थान्महत्कर्मास्तीति ॥ ४ ॥ (तानहमनुराज्याय०) सर्वे

मनुष्या एवमिच्छां कृत्वा पुरुषार्थं कुर्युः । परमेश्वरानुग्रहेणाहमनुराज्याय सभाध्यक्षत्वप्राप्तये तथा माण्डलिकानां राज्ञामुपरि राजसत्ताप्राप्तये, (साम्राज्याय) सार्वभौमराज्यकरणाय, (भौज्याय) धर्मन्यायेन राज्यपालनायोत्तमभोगाय च, (स्वाराज्याय) स्वस्मै राज्यप्राप्तये, (वैराज्याय) विविधानां राज्ञां मध्ये महत्त्वेन प्रकाशाय, (पारमेष्ठ्याय) परमराज्यस्थितये, (माहाराज्याय) महाराज्यसुखभोगाय, तथा (आधिपत्याय) आधिपतित्वकरणाय, (स्वावश्याय) स्वार्थप्रजावशत्वकरणाय च, (अतिष्ठायां) अत्युत्तमा विद्वांसस्तिष्ठन्ति यस्यां सा अतिष्ठा सभा, तस्यां सर्वैर्गुणैः सुखैश्च रोहामि वर्द्धमानो भवामीति ॥ ५ ॥ (नमो ब्रह्मणे०) परमेश्वराय त्रिवारं चतुर्वारं वा नमस्कृत्य राजकर्मारम्भं कुर्यात् । यत् यत्र ब्रह्मणः परमेश्वरस्य वशमेति तद्राष्ट्रं समृद्धं सम्यक् ऋद्धियुक्तं वीरवद् भवति । तस्मिन्नेव राष्ट्रे वीरपुरुषो जायते नान्यत्रेत्याह परमेश्वरः ॥ ६ ॥

भाषार्थ

इस प्रकार वेदरीति से राजा और प्रजा के धर्म संक्षेप से कह चुके। इसके आगे वेद की सनातन व्याख्या जो ऐतरेय और शतपथब्राह्मणादि ग्रन्थ हैं उनकी साक्षी भी यहां लिखते हैं। (जनिष्ठा उग्रः) राजाओं की सेना और सभा में जो पुरुष हों, वे सब दुष्टों पर तेजधारी, श्रेष्ठों पर शान्तरूप, सुख दुःख के सहन करने वाले और धन के लिये अत्यन्त पुरुषार्थी हों। क्योंकि दुष्टों पर क्रुद्धस्वभाव और श्रेष्ठों पर सहनशील होना यही राज्य का स्वरूप है ॥ १ ॥ (मन्द्र ओजिष्ठ०) जो आनन्दित और पराक्रमयुक्त होना है वही राज्य का स्वरूप है। क्योंकि राज्यव्यवहार सब से बड़ा है। इस में शूरवीर आदि गुणयुक्त पुरुषों की सभा और सेना रख कर अच्छे प्रकार राज्य को बढ़ाना चाहिये ॥ २ ॥ (ब्रह्म वै रथन्तरं०) ब्रह्म अर्थात् परमेश्वर और वेदविद्या से युक्त जो पूर्ण विद्वान् ब्राह्मण है वही राज्य के प्रबन्धों में सुखप्राप्ति का हेतु होता है। इसलिये अच्छे राज्य के होने से ही सत्याविद्या प्रकाश को प्राप्त होती है। उत्तम विद्या और न्याययुक्त राज्य का नाम ओज है। जिसको दण्ड के भय से उल्लंघन वा

अन्यथा कोई नहीं कर सकता। क्योंकि ओज अर्थात् बल का नाम क्षत्र और पराक्रम का नाम राजन्य है। ये दोनों जब परस्पर मिलते हैं तभी संसार की उन्नति होती है। इसके होने और परमेश्वर की कृपा से मनुष्य के राजकर्म, चक्रवर्त्तिराज्य, भोग का राज्य, अपना राज्य, विविध राज्य, परमेष्ठि राज्य, प्रकाशरूप राज्य, महाराज्य, राजों का अधिपतिरूप राज्य और अपने वश का राज्य इत्यादि उत्तम २ सुख बढ़ते हैं। इसलिये उस परमात्मा को मेरा वारंवार नमस्कार है कि जिसके अनुग्रह से हम लोग इन राज्यों के अधिकारी होते हैं ॥ ६ ॥

स प्रजापतिका, अयं वै देवानामोजिष्ठो बलिष्ठः सहिष्ठः सत्तमः पारयिष्णुतम इममेवाभिषिञ्चामहा इति तथेति तद्वै तदिन्द्रमेव ॥ ७ ॥ सम्राजं साम्राज्यं भोजं भोजपितरं स्वराजं स्वाराज्यं विराजं वैराज्यं राजानं राजपितरं परमेष्ठिनं पारमेष्ठ्यं क्षत्रमजनि क्षत्रियोऽजनि विश्वस्य भूतस्याधिपतिरजनि विशामत्ताजनि पुरां भेत्ताजन्यसुराणां हन्ताजनि ब्रह्मणो गोप्ताजनि धर्मस्य गोप्ताजनीति ॥ ऐतरे० पं० ८। कं० १२ ॥ स परमेष्ठी प्राजापत्योऽभवत् ॥ ८ ॥ ऐत० पं० ८। अ० ३। कं० १४ ॥ स एतेनैन्द्रेण महाभिषेकेणाभिषिक्तः क्षत्रियः सर्वा जितीर्जयति सर्वान् लोकान् विन्दति सर्वेषां राज्ञां श्रैष्ठ्यमतिष्ठां परमतां गच्छति साम्राज्यं भौज्यं स्वाराज्यं वैराज्यं पारमेष्ठ्यं राज्यं माहाराज्यमाधिपत्यं जित्वाऽस्मिँल्लोके स्वयंभूः स्वराडमृतोऽमुष्मिन्त्स्वर्गे लोके सर्वान् कामानाप्त्वामृतः सम्भवति यमेतेनैन्द्रेण महाभिषेकेण क्षत्रियं शापयित्वाऽभिषिञ्चति ॥ ६ ॥ ऐत० पं० ८। अ० ४। कं० १५ ॥

भाष्यम्

(स प्रजापतिका०) सर्वे सभासदः प्रजास्थमनुष्याः स्वामिनेष्टेन पूज्यतमेन परमेश्वरेणैव सह वर्त्तमाना भवेयुः। सर्वे मिलित्वैवं विचारं कुर्युर्यतो न कदाचित्सुखहानिपराजयौ स्याताम्। यो देवानां विदुषां मध्ये (ओजिष्ठः)

पराक्रमवत्तमः, (बलिष्ठः) सर्वोत्कृष्टबलसहितः, (सहिष्ठः) अतिशयेन सहनशीलः, (सत्तम) सर्वैर्गुणैरत्यन्तश्रेष्ठः, (पारयिष्णुतमः) सर्वेभ्यो युद्धादिदुःखेभ्योऽतिशयेन सर्वांस्तारयितृतमो विजयकारकतमोऽस्माकं मध्ये श्रेष्ठतमोऽस्तीति । वयं निश्चित्य तमेव पुरुषमभिषिञ्चाम इतीच्छेयुः । तथैव खल्वस्त्विति सर्वे प्रतिजानीयुरेवं भूतस्योत्तमपुरुषस्याभिषेककरणं, सर्वैश्वर्य्य-प्रापकत्वादिन्द्रमित्याहुः ॥ ७ ॥ (सम्राजं०) एवम्भूतं सार्वभौमराजानं, (साम्राज्यं) सार्वभौमराज्यं, (भोजं) उत्तमभोगसाधकं, (भोजपितरं) उत्तमभोगानां रक्षकं (स्वराजं) राजकर्मसु प्रकाशमानं सद्विद्यादिगुणैस्स्व-हृदये देदीप्यमानं, (स्वाराज्यं) स्वकीयराज्यपालनं, (विराजं) विविधानां राज्ञां प्रकाशकं, (वैराज्यं) विविधराज्यप्राप्तिकरं, (राजानं) श्रेष्ठैश्वर्य्येण प्रकाशमानं, (राजपितरं) राज्ञां रक्षकं, (परमेष्ठिनं) परमोत्कृष्टे राज्ये स्थापयितुं योग्यं, (पारमेष्ठ्यं) परमेष्ठिसम्पादितं सर्वोत्कृष्टं पुरुषं वयमभि-षिञ्चामहे । एवमभिषिक्तस्य पुरुषस्य सुखयुक्तं क्षत्रमजनि प्रादुर्भवतीति । अजनीति छन्दसि लुङ्लङ्लिट इति वर्त्तमानकाले लुङ् । (क्षत्रियोजनि) तथा क्षत्रियो वीरपुरुषः (विश्व०) सर्वस्य प्राणिमात्रस्याधिपतिः सभा-ध्यक्षः (विशामत्ता०) दुष्टप्रजानामत्ता विनाशकः, (पुरां भे०) शत्रु-नगराणां विनाशकः, (असुराणां हन्ता) दुष्टानां हन्ता हननकर्त्ता, (ब्र-ह्मणो०) वेदस्य रक्षकः, (धर्मस्य गो०) धर्मस्य च रक्षकोजनि प्रादुर्भव-तीति । (स परमेष्ठी प्रा०) स राजधर्मः सभाध्यक्षादिमनुष्यैः (प्राजापत्यः) अर्थात् परमेश्वर इष्टः करणीयः । न तद्भिन्नोऽर्थः केनचिन्मनुष्येणेष्टः कर्त्तुं योग्योऽस्त्यतः सर्वे मनुष्याः परमेश्वरपूजका भवेयुः ॥ ८ ॥ यो मनुष्यो राज्यं कर्त्तुमिच्छेत्स (एतेनैन्द्रेण०) पूर्वोक्तेन सर्वैश्वर्य्यप्राप्तिनिमित्तेन (महा-भिषेकेणा०) अभिषिक्तः स्वीकृतः (क्षत्रियः) क्षत्रधर्मवान् (सर्व०) सर्वेषु युद्धेषु जयति, सर्वत्र विजयं तथा सर्वानुत्तमाँल्लोकांश्च विन्दति प्राप्नोति, सर्वेषां राज्ञां मध्ये श्रैष्ठ्यं सर्वोत्तमत्वं, पूर्वोक्तां प्रतिष्ठां, या परेषु शत्रुषु विज-येन हर्षनिमित्ता तथा परेषां शत्रूणां दीनत्वनिमित्ता सा, परमता सभा तां च गच्छति प्राप्नोति, तया सभया पूर्वोक्तं साम्राज्यं भौज्यं स्वाराज्यं वैराज्यं

पारमेष्ठ्यं महाराज्यमाधिपत्यं राज्यं च जित्वाऽस्मिन् लोके चक्रवर्त्तिसार्वभौमो महाराजाधिराजो भवति, तथा शरीरं त्यक्त्वाऽमुष्मिन्स्वर्गे सुखस्वरूपे लोके परब्रह्मणि स्वयम्भूः स्वाधीनः (स्वराट्) स्वप्रकाशः (अमृतः) प्राप्तमोक्षसुखः सन्सर्वान्कामानाप्नोति, (आप्त्वामृतः) पूर्णकामोऽजरामरः सम्भवति, (यमेतेनैन्द्रेण) एतेनोक्तेन सर्वैश्वर्य्येण (शापयित्वा) प्रतिज्ञां कारयित्वा यं सकलगुणोत्कृष्टं क्षत्रियं (महाभिषे०) अभिषिञ्चन्ति सभासदः सभायां स्वीकुर्वन्ति तस्य राष्ट्रे कदाचिदनिष्टं न प्रसज्यत इति विज्ञेयम् ॥ ६ ॥

भाषार्थ

जो क्षत्र अर्थात् राज्य परमेश्वर आधीन और विद्वानों के प्रबन्ध में होता है वह सब सुखकारक पदार्थ और वीर पुरुषों से अत्यन्त प्रकाशित होता है । (स प्रजापतिका०) और वे विद्वान् एक अद्वितीय परमेश्वर के ही उपासक होते हैं । क्योंकि वही एक परमात्मा सब देवों के बीच में अनन्त विद्यायुक्त और अपार बलवान् है । तथा अत्यन्त सहनस्वभाव और सब से उत्तम है । वही हम को सब दुःखों के पार उतार के सब सुखों को प्राप्त कराने वाला है । उसी परमात्मा को हम लोग अपने राज्य और सभा में अभिषेक करके अपना न्यायकारी राजा सदा के लिये मानते हैं । तथा जिसका नाम इन्द्र अर्थात् परमैश्वर्य्ययुक्त है वही हमारा सम्राट् अर्थात् चक्रवर्त्ती राजा और वही हम को भी चक्रवर्त्ति राज्य देनेवाला है । जो पिता के सदृश सब प्रकार से हमारा पालन करने वाला, स्वराट् अर्थात् स्वयं प्रकाशस्वरूप और प्रकाशरूप राज्य का देनेवाला है, तथा जो विराट् अर्थात् सब का प्रकाशक, विविध राज्य का देनेवाला है, उसी को हम राजा और सब राजाओं का पिता मानते हैं । क्योंकि वही परमेष्ठी सर्वोत्तम राज्य का भी देनेवाला है । उसी की कृपा से मैंने राज्य को प्रसिद्ध किया अर्थात् मैं क्षत्रिय और सब प्राणियों का आधिपति हुआ । तथा प्रजाओं का संग्रह, दुष्टों के नगरों का भेदन, असुर अर्थात् चोर डाकुओं का ताड़न, ब्रह्म अर्थात् वेदविद्या का पालन और धर्म की रक्षा करनेवाला हुआ हूं । जो क्षत्रिय इस प्रकार के गुण और सत्य कर्मों से अभिषिक्त अर्थात् युक्त होता

है वह सब युद्धों को जीत लेता है। तथा सब उत्तम सुख और लोकों का अधिकारी बन कर सब राजाओं के बीच में अत्यन्त उत्तमता को प्राप्त होता है। जिससे इस लोक में चक्रवर्ति राज्य और लक्ष्मी को भोग के मरणानन्तर परमेश्वर के समीप सब सुखों को भोगता है। क्योंकि ऐन्द्र अर्थात् महाऐश्वर्ययुक्त अभिषेक से क्षत्रिय को प्रतिज्ञापूर्वक राज्याधिकार मिलता है। इसलिये जिस देश में इस प्रकार का राज्यप्रबन्ध किया जाता है वह देश अत्यन्त सुख को प्राप्त होता है॥ ९॥

क्षत्रं वै स्विष्टकृत्। क्षत्रं वै साम। साम्राज्यं वै साम॥ श० कां० १२। अ० ८। ब्रा० ३। कण्डि० १९। २३॥ ब्रह्म वै ब्राह्मणः क्षत्रꣳराजन्यस्तदस्य ब्रह्मणा च क्षत्रेण चोभयतः श्रीः परिगृहीता भवति। युद्धं वै राजन्यस्य वीर्य्यम्॥ श० कां० १३। अ० १। ब्रा० ५। कण्डि० ३। ६॥ राष्ट्रं वा अश्वमेधः॥ श० कां० १३। अ० १। ब्रा० ६। कं० ३॥ राजन्य एव शौर्य्यं महिमानं दधाति तस्मात्पुरा राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जज्ञे॥ श० कां० १३। अ० १। ब्रा० ९। कण्डि० २॥

भाष्यम्

(क्षत्रं वै०) क्षत्रमर्थाद्राजसभाप्रबन्धेन यद्यथावत्प्रजापालनं क्रियते तदेव स्विष्टकृदर्थादिष्टसुखकारि, (क्षत्रं वै साम०) यद्धि दुष्टकर्मणामन्तकारि तथा सर्वस्याः प्रजायाः सान्त्वप्रयोगकर्त्तृ च भवति, (साम्राज्यं वै०) तदेव श्रेष्ठं राज्यं वर्णयन्ति। (ब्रह्म वै०) ब्रह्मार्थाद्वेदं परमेश्वरं च वेत्ति स एव ब्रह्मणो भवितुमर्हति। (क्षत्रꣳ) यो जितेन्द्रियो विद्वान् शौर्य्यादिगुणयुक्तो महावीरपुरुषः क्षत्रधर्मं स्वीकरोति स राजन्यो भवितुमर्हति। (तदस्य ब्रह्मणा०) तादृशैर्ब्राह्मणैः राजन्यैश्च सहास्य राष्ट्रस्य सकाशादुभयतः श्री राज्यलक्ष्मीः परितः सर्वतो गृहीता भवति, नैवं राजधर्मानुष्ठानेनास्याः श्रियः कदाचिद्ध्रासान्यथात्वे भवतः। (युद्धं वै०) अत्रेदं बोध्यं युद्धकरणमेव राजन्यस्य वीर्य्यं बलं भवति, नानेन विना महाधनकुलयोः कदाचित्प्राप्तिर्भवति। कुतः।

निघं० अ० २। खं० १७। संग्रामस्यैव महाधनसंज्ञत्वात्। महान्ति धनानि प्राप्तानि भवन्ति यस्मिन्स महाधनः संग्रामो, नास्माद्विना कदाचिन् महती प्रतिष्ठा महाधनं च प्राप्नुतः। (राष्ट्रं वा अश्वमेधः) राष्ट्रपालनमेव क्षत्रियाणामश्वमेधाख्यो यज्ञो भवति, नाश्वं हत्वा तदङ्गानां होमकरणं चेति। (राजन्य एव०) पुरा पूर्वोक्तैर्गुणैर्युक्तो राजन्यो यदा शौर्य्यं महिमानं दधाति तदा सार्वभौमं राज्यं कर्तुं समर्थो भवति। तस्मात्कारणाद्राजन्यः शूरो, युद्धोत्सुको, निर्भयः, (इषव्यः) शस्त्रास्त्रप्रक्षेपणे कुशलः, (अतिव्याधी) अत्यन्ता व्याधाः शत्रूणां हिंसका योद्धारो यस्य, (महारथः) महान्तो भूजलान्तरिक्षगमनाय रथा यस्येति। यस्मिन् राष्ट्रे ईदृशो राजन्यो जज्ञे जातोऽस्ति नैव कदाचित्तस्मिन्भयदुःखे सम्भवतः॥ १३॥

भाषार्थ

(क्षत्रं वै०) राजसभाप्रबन्ध से जो यथावत् प्रजा का पालन किया जाता है वही स्विष्टकृत् अर्थात् अच्छी प्रकार चाहे हुए सुख का करने वाला होता है। (क्षत्रं वै सा०) जो राजकर्म्म दुष्टों का नाश और श्रेष्ठों का पालन करने वाला है वही साम्राज्यकारी अर्थात् राजसुखकारक होता है। (ब्रह्म वै०) जो मनुष्य ब्रह्म अर्थात् परमेश्वर और वेद का जाननेवाला है वही ब्राह्मण होने के योग्य है। (क्षत्रं०) जो इन्द्रियों को जीतनेवाला, पण्डित, शूरतादि गुणयुक्त, श्रेष्ठ, वीरपुरुष क्षत्रधर्म को स्वीकार करता है सो क्षत्रिय होने के योग्य है। (तदस्य ब्रह्मणा०) ऐसे ब्राह्मण और क्षत्रियों के साथ न्यायपालक राजा को अनेक प्रकार से लक्ष्मी प्राप्त होती है और उसके खजाने की हानि कभी नहीं होती। (युद्धं वै०) यहां इस बात को जानना चाहिये कि जो राजा को युद्ध करना है वही उसका बल होता है। उसके विना बहुत धन और सुख की प्राप्ति कभी नहीं होती। क्योंकि निघण्टु में संग्राम ही का नाम महाधन है। सो उसको महाधन इसलिये कहते हैं कि उससे बड़े २ उत्तम पदार्थ प्राप्त होते हैं। क्योंकि विना संग्राम के अत्यन्त प्रतिष्ठा और धन कभी नहीं प्राप्त होता। और जो न्याय से राज्य का पालन करना है वही क्षत्रियों का अश्वमेध कहाता है। किन्तु

घोड़े को मार के उसके अङ्गों का होम करना यह अश्वमेध नहीं है। (राजन्य एव०) पूर्वोक्त राजा जब शूरतारूप कीर्त्ति को धारण करता है तभी सम्पूर्ण पृथिवी के राज्य करने को समर्थ होता है। इसलिये जिस देश में युद्ध को अत्यन्त चाहनेवाला, निर्भय, शस्त्र अस्त्र चलाने में अतिचतुर और जिसका रथ पृथिवी, समुद्र और अन्तरिक्ष में जाने आनेवाला हो ऐसा राजा होता है वहां भय और दुःख नहीं होते।

श्रीर्वै राष्ट्रम्॥ श० कां० १३। अ० २। ब्रा० ६। कं० २॥ श्रीर्वै राष्ट्रस्य भारः॥ श० १३। २। ९। ३॥ श्रीर्वै राष्ट्रस्य मध्यम्॥ श० १३। २। ६। ४॥ क्षेमो वै राष्ट्रस्य शीतम्॥ श० १३। २। ९। ५॥ विड्वै गभो राष्ट्रं पसो राष्ट्रमेव विश्याहन्ति तस्माद्राष्ट्री विशं घातुकः॥ श० १३। २। ९। ६॥ विशमेव राष्ट्रयाद्यां करोति तस्माद्राष्ट्री विशमत्ति न पुष्टं पशु मन्यत इति॥ शत० कां० १३। अ० २। ब्रा० ६। कं० ८॥

(श्रीर्वै राष्ट्रम्) या विद्याद्युत्तमगुणरूपा नीतिः सैव राष्ट्रं भवति। (श्रीर्वैराष्ट्रस्य भारः) सैव राज्यश्री राष्ट्रस्य सम्भारो भवति। (श्रीर्वै राष्ट्रस्य मध्यम्) राष्ट्रस्य मध्यभागोपि श्रीरेवास्ति। (क्षेमो वै रा०) क्षेमो यद्रक्षणं तदेव राष्ट्रस्य शयनवन्निरुपद्रवं सुखं भवति। (विड्वै गभो०) विड् या प्रजा सा गभाख्यास्ति, (राष्ट्रं पसो०) यद्राष्ट्रं तत्पसाख्यं भवति, तस्माद्यद्राष्ट्रसम्बन्धि कर्म तद्विशि प्रजायामाविश्य तामाहन्त्यासमन्तात्करग्रहणेन प्रजाया उत्तमपदार्थानां हरणं करोति, (तस्माद्राष्ट्रीवि०) यस्मात्सभया विनैकाकी पुरुषो भवति तत्र प्रजा सदा पीडिता भवति, तस्मादेकः पुरुषो राजा नैव कर्त्तव्यो, नैकस्य पुरुषस्य राजधर्मानुष्ठाने यथावत् सामर्थ्यं भवति, तस्मात्सभयैव राज्यप्रबन्धः कर्तुं शक्योस्ति। (विशमेव राष्ट्रया०) यत्रैको राजास्ति तत्र राष्ट्राय विशं प्रजामाद्यां भक्षणीयां भोज्यवत्ताडितां करोति। यस्मात्स्वसुखार्थं प्रजाया उत्तमान्पदार्थान् गृह्णन्सन् प्रजायै पीडां ददाति तस्मादेको राष्ट्री विशमत्ति, (न पुष्टं पशुम०) यथा मांसाहारी पुष्टं पशुं

दृष्ट्वा हन्तुमिच्छति तथैको राजा न मत्तः कश्चिदधिको भवेदितीर्ष्यया नैव प्रजास्थस्य कस्यचिन्मनुष्यस्योत्कर्षं सहते । तस्मात्सभाप्रबन्धयुक्तेन राज्यव्यवहारेणैव भद्रमित्येवं राजधर्मव्यवहारप्रतिपादका मन्त्रा बहवः सन्तीति ।

भाषार्थ

(श्रीवैं राष्ट्रं) श्री जो है लक्ष्मी वही राज्य का स्वरूप, सामग्री और मध्य है । तथा राज्य का जो रक्षण करना है वही शोभा अर्थात् श्रेष्ठभाग कहाता है । राज्य के लिये एक को राजा कभी नहीं मानना चाहिये । क्योंकि जहां एक को राजा मानते हैं वहां सब प्रजा दुःखी और उसके उत्तम पदार्थों का अभाव हो जाता है, इसीसे किसी की उन्नति नहीं होती । इसी प्रकार सभा करके राज्य का प्रबन्ध आर्य्यों में श्रीमन्महाराज युधिष्ठिरपर्य्यन्त बराबर चला आया है कि जिसकी साक्षी महाभारत के राजधर्म आदि ग्रन्थ तथा मनुस्मृत्यादि धर्मशास्त्रों में यथावत् लिखी है । उनमें जो कुछ प्रक्षिप्त किया है उसको छोड़ के बाकी सब अच्छा है, क्योंकि वह वेदों के अनुकूल है । और आर्य्यों की यह एक बात बड़ी उत्तम थी कि जिस सभा वा न्यायाधीश के सामने अन्याय हो वह प्रजा का दोष नहीं मानते थे, किन्तु वह दोष सभाध्यक्ष, सभासद् और न्यायाधीश का ही गिना जाता था । इसलिये वे लोग सत्य न्याय करने में अत्यन्त पुरुषार्थ करते थे कि जिससे आर्य्यावर्त्त के न्यायघर में कभी अन्याय नहीं होता था और जहां होता था वहां उन्हीं न्यायाधीशों को दोष देते थे । यही सब आर्यों का सिद्धान्त है अर्थात् इन्हीं वेदादि शास्त्रों की रीति से आर्यों ने भूगोल में करोड़ों वर्ष राज्य किया है, इसमें कुछ सन्देह नहीं ।

इति संक्षेपतो राजप्रजाधर्मविषयः

अथ वर्णाश्रमविषयः संक्षेपतः

तत्र वर्णविषयो मन्त्रो "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासी"दित्युक्तस्तदर्थश्च । तस्यायं शेषः ॥ वर्णो वृणोतेः ॥ १ ॥ नि० अ० २ ।

ख० ३ ॥ ब्रह्म हि ब्राह्मणः । क्षत्रᳩं हीन्द्रः, क्षत्रꣳ राजन्यः ॥ २ ॥ श० कां० ५ । अ० १ । ब्रा० १ । कं० ११ ॥ बाहू वै मित्रावरुणौ पुरुषो गर्तः ॥ श० कां० ५ । अ० ४ । ब्रा० ३ । कं० १५ ॥ वीर्यं वा एतद्राजन्यस्य यद्बाहू वीर्यं वा एतदपाꣳ रसः ॥ श० कां० ५ । अ० ४ । ब्रा० ३ । कं० १७ ॥ इषवो वै दिद्यवः ॥ ३ ॥ श० कां० ५ । अ० ४ । ब्रा० ४ । कं० २ ॥

भाष्यम्

वर्णो वृणोतेरिति निरुक्तप्रामाण्याद्वरणीया वरीतुमर्हा, गुणकर्माणि च दृष्ट्वा यथायोग्यं व्रियन्ते ये ते वर्णाः ॥ १ ॥ (ब्रह्म हि ब्राह्मणः) ब्रह्मणा वेदेन परमेश्वरस्योपासनेन च सह वर्त्तमानो विद्याद्युत्तमगुणयुक्तः पुरुषो ब्राह्मणो भवितुमर्हति । तथैव (क्षत्रᳩं हीन्द्रः०) क्षत्रं क्षत्रियकुलम्, यः पुरुष इन्द्रः परमैश्वर्य्यवान् शत्रूणां क्षयकरणाद्युद्धोत्सुकत्वाच्च प्रजापालनतत्परः (राजन्यः) क्षत्रियो भवितुमर्हति ॥ २ ॥ (मित्रः) सर्वेभ्यः सुखदाता, (वरुणः) उत्तमगुणकर्मधारणेन श्रेष्ठः, इमावेव क्षत्रियस्य द्वौ बाहुवद् भवेताम् । (वा) अथवा वीर्यं पराक्रमो बलं चैतदुभयं राजन्यस्य क्षत्रियस्य बाहू भवतः । अपां प्राणानां यो रस आनन्दस्तं प्रजाभ्यः प्रयच्छतः क्षत्रियस्य वीर्य्यं वर्धते । तस्य (इषवः) बाणाः, शस्त्रास्त्राणामुपलक्षणमेतत्, (दिद्यवः) प्रकाशकाः सदा भवेयुः ॥ ३ ॥

भाषार्थ

अब वर्णाश्रमविषय लिखा जाता है । इस में यह विशेष जानना चाहिये कि प्रथम मनुष्यजाति सब की एक है, सो भी वेदों से सिद्ध है, इस विषय का प्रमाण सृष्टि-विषय में लिख दिया है । तथा (ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्) यह मन्त्र सृष्टि विषय में लिख चुके हैं । वर्णों के प्रतिपादन करनेवाले वेदमन्त्रों की जो व्याख्या ब्राह्मण और निरुक्तादि ग्रन्थों में लिखी है वह कुछ यहां भी लिखते हैं । मनुष्यजाति के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये वर्ण कहाते हैं । वेदरीति से

इन के दो भेद हैं, एक आर्य्य और दूसरा दस्यु । इस विषय में यह प्रमाण है कि (विजानीह्यार्य्यान्ये च दस्यवो०) अर्थात् इस मन्त्र से परमेश्वर उपदेश करता है कि हे जीव ! तू आर्य्य अर्थात् श्रेष्ठ और दस्यु अर्थात् दुष्टस्वभावयुक्त डाकू आदि नामों से प्रसिद्ध मनुष्यों के ये दो भेद जान ले। तथा (उत शूद्रे उत आर्य्ये) इस मन्त्र से भी आर्य्य ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और अनार्य्य अर्थात् अनाड़ी जो कि शूद्र कहाते हैं ये दो भेद जाने गये हैं । तथा (असुर्या नाम ते लोका०) इस मन्त्र से भी देव और असुर अर्थात् विद्वान् और मूर्ख ये दो ही भेद जाने जाते हैं । और इन्हीं दोनों के विरोध को देवासुर संग्राम कहते हैं । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार भेद गुण कर्मों से किये गये हैं । (वर्णो०) इन का नाम वर्ण इसलिये है कि जैसे जिस के गुण कर्म हों वैसा ही उस को अधिकार देना चाहिये । (ब्रह्म हि ब्रा०) ब्रह्म अर्थात् उत्तम कर्म करने से उत्तम विद्वान् ब्राह्मणवर्ण होता है । (क्षत्रꣳ हि०) परमैश्वर्य (बाहू०) बल, वीर्य्य के होने से मनुष्य क्षत्रियवर्ण होता है, जैसा कि राजधर्म में लिख आये हैं ।

आश्रमा अपि चत्वारः सन्ति ब्रह्मचर्य्यगृहस्थवानप्रस्थसंन्यासभेदात् । ब्रह्मचर्य्येण सद्विद्या शिक्षा च ग्राह्या । गृहाश्रमेणोत्तमाचरणानां श्रेष्ठानां पदार्थानां चोन्नतिः कार्य्या । वानप्रस्थेनैकान्तसेवनं ब्रह्मोपासनं विद्याफल-विचारणादि च कार्य्यम् । संन्यासेन परब्रह्ममोक्षपरमानन्दप्रापणं क्रियते, सदुपदेशेन सर्वस्मा आनन्ददानं चेत्यादि चतुर्भिराश्रमैर्धर्मार्थकाममोक्षाणां सम्यक् सिद्धिः सम्पादनीया । एतेषां मुख्यतया ब्रह्मचर्य्येण सद्विद्यासुशिक्षा-दयः शुभगुणाः सम्यग्ग्राह्याः । अत्र ब्रह्मचर्य्याश्रमे प्रमाणम्—

आचार्य्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः । तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्त्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः ॥ १ ॥ इयं समित्पृथिवी द्यौर्द्वितीयोतान्तरिक्षं समिधा पृणाति । ब्रह्म-चारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्त्ति ॥ २ ॥ पूर्वो जातो ब्रह्मणो ब्रह्मचारी घर्मं वसानस्तपसोदतिष्ठत् । तस्माज्जातं

ब्राह्मणं ब्रह्मज्येष्ठं देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम् ॥ ३ ॥ अथर्व० कां० ११ । अनु० ३ । सू० ५ । मं० ३ । ४ । ५ ॥

भाष्यम्

(आचार्य्य उ०) आचार्य्यो विद्याध्यापको ब्रह्मचारिणमुपनयमानो विद्यापठनार्थमुपवीतं दृढव्रतमुपदिशन्नन्तर्गर्भमिव कृणुते करोति । तं तिस्रो रात्रीस्त्रिदिनपर्य्यन्तमुदरे बिभर्त्ति । अर्थात् सर्वां शिक्षां करोति पठनस्य च रीतिमुपदिशति । यदा विद्यायुक्तो विद्वान् जायते तदा तं विद्यासु जातं प्रादुर्भूतं देवा विद्वांसो द्रष्टुमभिसंयन्ति प्रसन्नतया तस्य मान्यं कुर्वन्ति । अस्माकं मध्ये महाभाग्योदयेनेश्वरानुग्रहेण च सर्वमनुष्योपकारार्थं त्वं विद्वान् जात इति प्रशंसन्ति ॥ १ ॥ (इयं समित् ०) इयं पृथिवी द्यौः प्रकाशोन्तरिक्षं चानया समिधा स ब्रह्मचारी पृणाति, तत्रस्थान् सर्वान् प्राणिनो विद्यया होमेन च प्रसन्नान् करोति, (समिधा) अग्निहोत्रादिना, मेखलया ब्रह्मचर्य्यचिह्नधारणेन च, (श्रमेण) परिश्रमेण, (तपसा) धर्मानुष्ठानेनाध्यापनेनोपदेशेन च (लोकां०) सर्वान् प्राणिनः पिपर्त्ति पुष्टान्प्रसन्नान्करोति ॥ २ ॥ (पूर्वो जातो ब्रह्म०) ब्रह्मणि वेदे चरितुं शीलं यस्य स ब्रह्मचारी, (घर्मं वसानः) अत्यन्तं तपश्चरन्, ब्राह्मणोऽर्थाद्वेदं परमेश्वरं च विदन्, पूर्वः सर्वेषामाश्रमाणामादिमः सर्वाश्रमभूषकः, (तपसा) धर्मानुष्ठानेन (उदतिष्ठत्) ऊर्ध्वे उत्कृष्टबोधे व्यवहारे च तिष्ठति । तस्मात्कारणात् (ब्रह्मज्येष्ठं) ब्रह्मैव परमेश्वरो विद्या वा ज्येष्ठा सर्वोत्कृष्टा यस्य तं ब्रह्मज्येष्ठम्, (अमृतेन) परमेश्वरमोक्षबोधेन परमानन्देन साकं सह वर्त्तमानं (ब्राह्मणं) ब्रह्मविदं (जातं) प्रसिद्धं (देवाः) सर्वे विद्वांसः प्रशंसन्ति ॥ ३ ॥

भाषार्थ

अब आगे चार आश्रमों का वर्णन किया जाता है । ब्रह्मचर्य्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास ये चार आश्रम कहाते हैं । इन में से पांच वा आठ वर्ष की उमर से अड़तालीस वर्ष पर्य्यन्त प्रथम ब्रह्मचर्य्याश्रम का समय है ।

इसके विभाग पितृयज्ञ में कहेंगे। वह सुशिक्षा और सत्यविद्यादि गुण ग्रहण करने के लिये होता है। दूसरा गृहाश्रम जो कि उत्तम गुणों के प्रचार और श्रेष्ठ पदार्थों की उन्नति से सन्तानों की उत्पत्ति और उनको सुशिक्षित करने के लिये किया जाता है। तीसरा वानप्रस्थ जिससे ब्रह्मविद्यादि साक्षात् साधन करने के लिये एकान्त में परमेश्वर का सेवन किया जाता है। चौथा संन्यास जो कि परमेश्वर अर्थात् मोक्षसुख की प्राप्ति और सत्योपदेश से सब संसार के उपकार के अर्थ किया जाता है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पदार्थों की प्राप्ति के लिये इन चार आश्रमों का सेवन करना सब मनुष्यों को उचित है। इन में से प्रथम ब्रह्मचर्य्याश्रम जो कि सब आश्रमों का मूल है उसके ठीक २ सुधरने से सब आश्रम सुगम और बिगड़ने से नष्ट हो जाते हैं। इस आश्रम के विषय में वेदों के अनेक प्रमाण हैं, उन में से कुछ यहां भी लिखते हैं। (आचार्य्य उ०) अर्थात् जो गर्भ में बस के माता और पिता के सम्बन्ध से मनुष्य का जन्म होता है वह प्रथम जन्म कहाता है और दूसरा यह है कि जिसमें आचार्य्य पिता और विद्या माता होती है। इस दूसरे जन्म के न होने से मनुष्य को मनुष्यपन नहीं प्राप्त होता। इसलिये उस को प्राप्त होना मनुष्यों को अवश्य चाहिये। जब आठवें वर्ष पाठशाला में जाकर आचार्य्य अर्थात् विद्या पढ़ाने वाले के समीप रहते हैं तभी से उनका नाम ब्रह्मचारी वा ब्रह्मचारिणी हो जाता है। क्योंकि वे ब्रह्म वेद और परमेश्वर के विचार में तत्पर होते हैं। उनको आचार्य तीन रात्रिपर्य्यन्त गर्भ में रखता है। अर्थात् ईश्वर की उपासना धर्म परस्पर विद्या के पढ़ने और विचारने की युक्ति आदि जो मुख्य २ बातें हैं वे सब तीन दिन में उनको सिखाई जाती हैं। तीन दिन के उपरान्त उनको देखने के लिये अध्यापक अर्थात् विद्वान् लोग आते हैं॥ १॥ (इयं समित्०) फिर उस दिन होम करके उनको प्रतिज्ञा कराते हैं कि जो ब्रह्मचारी पृथिवी, सूर्य्य और अन्तरिक्ष इन तीनों प्रकार की विद्याओं को पालन और पूर्ण करने की इच्छा करता है सो इन समिधाओं से पुरुषार्थ करके सब लोकों को धर्मानुष्ठान से पूर्ण आनन्दित कर देता है॥ २॥ (पूर्वो जातो ब्र०) जो ब्रह्मचारी पूर्व पढ़ के ब्राह्मण होता है वह धर्मानुष्ठान से अत्यन्त पुरुषार्थी होकर सब मनुष्यों का कल्याण

करता है। (ब्रह्म ज्येष्ठं०) फिर उस पूर्ण विद्वान् ब्राह्मण को जो कि अमृत अर्थात् परमेश्वर की पूर्ण भक्ति और धर्मानुष्ठान से युक्त होता है देखने के लिये सब विद्वान् आते हैं ॥ ३ ॥

ब्रह्मचार्य्येति समिधा समिद्धः कार्ष्णं वसानो दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः। स सद्य एति पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रं लोकान्त्संगृभ्य मुहुराचरिक्रत ॥ ४ ॥ ब्रह्मचारी जनयन् ब्रह्मापो लोकं प्रजापतिं परमेष्ठिनं विराजम्। गर्भो भूत्वामृतस्य योनाविन्द्रो ह भूत्वाऽसुरांस्ततर्ह ॥ ५ ॥ ब्रह्मचर्य्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति। आचार्यो ब्रह्मचर्य्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥ ६ ॥ ब्रह्मचर्य्येण कन्या३ युवानं विन्दते पतिम्। अनड्वान् ब्रह्मचर्य्येणाश्वो घासं जिगीषति ॥ ७ ॥ ब्रह्मचर्य्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत। इन्द्रो ह ब्रह्मचर्य्येण देवेभ्यः स्व१राभरत् ॥ ८ ॥ अथर्व० कां० ११। अनु० ३। सू० ५। मं० ६। ७। १७। १८। १९॥

भाष्यम्

(ब्रह्मचार्य्येति०) स ब्रह्मचारी पूर्वोक्तया (समिधा) विद्यया (समिद्धः) प्रकाशितः, (कार्ष्णं) मृगचर्मादिकं (वसानः) आच्छादयन्, (दीर्घश्मश्रुः) दीर्घकालपर्य्यन्तं केशश्मश्रूणि धारितानि येन सः, (दीक्षितः) प्राप्तदीक्षः (एति) परमानन्दं प्राप्नोति। तथा (पूर्वस्मात्) ब्रह्मचर्य्यानुष्ठानभूतात्समुद्रात् (उत्तरं) गृहाश्रमं समुद्रं (सद्य एति) शीघ्रं प्राप्नोति, एवं निवासयोग्यान्सर्वान् (लोकान्त्सं०) संगृह्य मुहुर्वारंवारं (आचरिक्रत्) धर्मोपदेशमेव करोति ॥ ४ ॥ (ब्रह्मचारी०) स ब्रह्मचारी (ब्रह्म) वेदविद्यां पठन्, (अपः) प्राणान्, (लोकं) दर्शनं, (परमेष्ठिनं) प्रजापतिं (विराजं) विविधप्रकाशकं परमेश्वरं (जनयन्) प्रकटयन्, (अमृतस्य) मोक्षस्य (योनौ) विद्यायां (गर्भो भूत्वा) गर्भवन्नियमेन स्थित्वा यथावद्विद्यां गृहीत्वा, (इन्द्रो ह भूत्वा) सूर्य्यवत्प्रकाशकः सन् (असुरान्) दुष्टकर्म-

कारिणो मूर्खान्पाषण्डिनो जनान् दैत्यरक्षःस्वभावान् (ततर्द) तिरस्करोति, सर्वान्निवारयति । यथेन्द्रः सूर्य्योऽसुरान्मेघान् रात्रिं च निवारयति तथैव ब्रह्मचारी सर्वशुभगुणप्रकाशकोऽशुभगुणनाशकश्च भवतीति ॥ ५ ॥ (ब्रह्मचर्य्येण०) तपसा ब्रह्मचर्य्येण कृतेन राजा राष्ट्रं विरक्षति, विशिष्टतया प्रजा रक्षितुं योग्यो भवति । आचार्य्योपि कृतेन ब्रह्मचर्य्येणैव विद्यां प्राप्य ब्रह्मचारिणमिच्छते स्वीकुर्य्यान्नान्यथेति ॥ ६ ॥ अत्र प्रमाणम् । आचार्य्यः कस्मादाचारं ग्राहयत्याचिनोत्यर्थानाचिनोति बुद्धिमिति वा ॥ निरुक्त अ० १। खं० ४ ॥ (ब्रह्मचर्य्येण०) एवमेव कृतेन ब्रह्मचर्य्येणैव कन्या युवतिः सती युवानं स्वसदृशं पतिं विन्दते, नान्यथा, न चातः पूर्वमसदृशं वा । अनड्वानित्युपलक्षणं वेगवतां पशूनां, ते पशवोऽश्वश्च घासं यथा, तथा कृतेन ब्रह्मचर्य्येण स्वविरोधिनः पशून् जिगीषन्ति युद्धेन जेतुमिच्छन्ति । अतो मनुष्यैस्त्ववश्यं ब्रह्मचर्य्यं कर्त्तव्यमित्यभिप्रायः ॥७॥ (ब्रह्मचर्य्येण तपसा देवा०) देवा विद्वांसो, ब्रह्मचर्य्येण वेदाध्ययनेन ब्रह्मविज्ञानेन तपसा धर्मानुष्ठानेन च, मृत्युं जन्ममृत्युप्रभवदुःखमुपाघ्नत, नित्यं घ्नन्ति, नान्यथा । ब्रह्मचर्य्येण सुनियमेन (हेति किलार्थे) यथा इन्द्रः सूर्य्यो देवेभ्य इन्द्रियेभ्यः स्वः सुखं प्रकाशं चाभरद्धारयति । तथा विना ब्रह्मचर्य्येण कस्यापि नैव विद्यासुखं च यथावद्भवति । अतो ब्रह्मचर्य्यानुष्ठानपूर्वका एव गृहाश्रमादयस्त्रय आश्रमाः सुखमेधन्ते । अन्यथा मूलाभावे कुतः शाखाः, किन्तु मूले दृढे शाखापुष्पफलच्छायादयः सिद्धाः भवन्त्येवेति ॥ ८ ॥

भाषार्थ

(ब्रह्मचार्येति०) जो ब्रह्मचारी होता है वही ज्ञान से प्रकाशित, तप और बड़े २ केश श्मश्रुओं से युक्त दीक्षा को प्राप्त होके विद्या को प्राप्त होता है । तथा जो कि शीघ्र ही विद्या को ग्रहण करके पूर्व समुद्र जो ब्रह्मचर्य्याश्रम का अनुष्ठान है उसके पार उतर के उत्तर समुद्र स्वरूप गृहाश्रम को प्राप्त होता है और अच्छी प्रकार विद्या का संग्रह करके विचारपूर्वक अपने उपदेश का सौभाग्य बढ़ाता है ॥ ४ ॥ (ब्रह्मचारी ज०) वह ब्रह्मचारी वेदविद्या को यथार्थ जान

के प्राणविद्या, लोकविद्या तथा प्रजापति परमेश्वर जो कि सब से बड़ा और सब का प्रकाशक है उस का जानना, इन विद्याओं में गर्भरूप और इन्द्र अर्थात् ऐश्वर्य्य युक्त हो के असुर अर्थात् मूर्खों की अविद्या को छेदन कर देता है ॥ ५ ॥ (ब्रह्मचर्य्येण त०) पूर्ण ब्रह्मचर्य्य से विद्या पढ़के और सत्यधर्म के अनुष्ठान से राजा राज्य करने को और आचार्य्य विद्या पढ़ाने को समर्थ होता है । आचार्य्य उसको कहते हैं कि जो असत्याचार को छुड़ा के सत्याचार का और अनर्थों को छुड़ा के अर्थों का ग्रहण कराके ज्ञान को बढ़ा देता है ॥ ६ ॥ (ब्रह्मचर्य्येण क०) अर्थात् जब वह कन्या ब्रह्मचर्य्याश्रम से पूर्ण विद्या पढ़ चुके तब अपनी युवावस्था में पूर्ण जवान पुरुष को अपना पति करे । इसी प्रकार पुरुष भी सुशील धर्मात्मा स्त्री के साथ प्रसन्नता से विवाह करके दोनों परस्पर सुख दुःख में सहायकारी हों । क्योंकि अनड्वान् अर्थात् पशु भी जो पूरी जवानी पर्य्यन्त ब्रह्मचर्य्य अर्थात् सुनियम में रक्खा जाय तो अत्यन्त बलवान् हो के निर्बल जीवों को जीत लेता है ॥ ७ ॥ (ब्रह्मचर्य्येण त०) ब्रह्मचर्य्य और धर्मानुष्ठान से ही विद्वान् लोग जन्म मरण को जीत के मोक्षसुख को प्राप्त हो जाते हैं । जैसे इन्द्र अर्थात् सूर्य्य परमेश्वर के नियम में स्थित हो के सब लोकों का प्रकाश करने वाला हुआ है वैसे ही मनुष्य का आत्मा ब्रह्मचर्य्य से प्रकाशित होके सब को प्रकाशित कर देता है । इस से ब्रह्मचर्य्याश्रम ही सब आश्रमों से उत्तम है ॥ ८ ॥

इति ब्रह्मचर्य्याश्रमविषयः संक्षेपतः

अथ गृहाश्रमविषयः

यद् ग्रामे यदरण्ये यत्सभायां यदिन्द्रिये । यदेनश्चकृमा वयमिदं तदव यजामहे स्वाहा ॥९॥ देहि मे ददामि ते नि मे धेहि नि ते दधे । निहारं च हरासि मे निहारं निहराणि ते स्वाहा ॥१०॥ गृहा मा बिभीत मा वेपध्वमूर्जं बिभ्रत एमसि । ऊर्जं बिभ्रद्वः

सुमनाः सुमेधा गृहानैमि मनसा मोदमानः ॥ ११ ॥ येषामध्येति प्रवसन्येषु सौमनसो बहुः । गृहानुप ह्वयामहे ते नो जानन्तु जानतः ॥ १२ ॥ उपहूता इह गाव उपहूता अजावयः । अथो अन्नस्य कीलाल उपहूतो गृहेषु नः । क्षेमाय वः शान्त्यै प्रपद्ये शिवꣳ शग्मꣳ शंयोः शंयोः ॥१३॥ य० अ० ३। मं० ४५।५०।४१।४२।४३ ॥

भाष्यम्

(एषामभि०) एतेषु गृहाश्रमविधानं क्रियत इति। (यद् ग्रामे०) यद् ग्रामे गृहाश्रमे वसन्तो वयं पुण्यं विद्याप्रचारं सन्तानोत्पत्तिमत्युत्तमसामाजिकनियमं सर्वोपकारकं, तथैवारण्ये वानप्रस्थाश्रमे ब्रह्मविचारं विद्याध्ययनं तपश्चरणं, सभासम्बन्धे यच्छ्रेष्ठं, इन्द्रिये मानसव्यवहारे च यदुत्तमं कर्म च कुर्मस्तत्सर्वमीश्वरमोक्षप्राप्त्यर्थमस्तु। यच्च भ्रमेणैनः पापं च कृतं तत्सर्वमिदं पापमवयजामह आश्रमानुष्ठानेन नाशयामः ॥ ६ ॥ (देहि मे०) परमेश्वर आज्ञापयति हे जीव! त्वमेवं वद, मे मह्यं देहि, मत्सुखार्थं विद्यां द्रव्यादिकं च त्वं देहि, अहमपि ते तुभ्यं ददामि। मे मह्यं मदर्थं त्वमुत्तमस्वभावदानमुदारतां सुशीलतां च धेहि धारय, ते तुभ्यं त्वदर्थमहमप्येवं च दधे। तथैव धर्मव्यवहारं क्रयदानादानाख्यं च हरासि प्रयच्छ, तथैवाहमपि ते तुभ्यं त्वदर्थं निहराणि नित्यं प्रयच्छानि ददानि। स्वाहेति सत्यभाषणं, सत्यमानं, सत्याचरणं, सत्यवचनश्रवणं च सर्वे वयं मिलित्वा कुर्य्यामेति सत्येनैव सर्वं व्यवहारं कुर्य्युः ॥ १० ॥ (गृहा०) हे गृहाश्रममिच्छन्तो मनुष्याः! स्वयंवरं विवाहं कृत्वा यूयं गृहाणि प्राप्नुत। गृहाश्रमानुष्ठाने (मा बिभीत) भयं मा प्राप्नुत। तथा (मा वेपध्वं) मा कम्पध्वम्। (ऊर्जं बिभ्रत एमसि) ऊर्जं बलं पराक्रमं च बिभ्रतः, पदार्थानमसि वयं प्राप्नुम इतीच्छत। (ऊर्जं बिभ्रद्वः) वो युष्माकं मध्येऽहमूर्जं बिभ्रत्सन्, (सुमनाः) शुद्धमनाः, सुमेधोत्तमबुद्धियुक्तः, (मनसा मोदमानः) प्राप्तानन्दः (गृहानैमि) गृहाणि प्राप्नोमि ॥ ११ ॥ (येषामध्येति प्र०) येषु गृहेषु प्रवसतो मनु-

ष्यस्य (बहुः) अधिकः (सौमनसः) आनन्दो भवति । तत्र प्रवसन् येषां यान्पदार्थान्सुखकारकान्स (अध्येति) स्मरति, (गृहानुपह्वयामहे) वयं गृहेषु विवाहादिषु सत्कारार्थं तान् गृहसम्बन्धिनः सखिबन्ध्वाचार्य्यादीन्निमन्त्रयामहे । (ते नः) विवाहनियमेषु कृतप्रतिज्ञानस्मान् (जानतः) प्रौढज्ञानान्, युवावस्थास्थान्स्वेच्छया कृतविवाहान्, ते (जानन्तु) अस्माकं साक्षिणः सन्त्विति ॥ १२ ॥ (उपहूता इह०) हे परमेश्वर ! भवत्कृपया इहास्मिन् गृहाश्रमे (गावः) पशुपृथिवीन्द्रियविद्याप्रकाशाह्लादादयः (उपहूताः) अर्थात्सम्यक् प्राप्ता भवन्तु । तथा (अजावयः) उपहूता अस्मदनुकूला भवन्तु । (अथो अन्नस्य की०) अथो इति पूर्वोक्तपदार्थप्राप्त्यनन्तरं नोऽस्माकं गृहेष्वन्नस्य भोक्तव्यपदार्थसमूहस्य कीलालो विशेषेणोत्तमरस उपहूतः सम्यक् प्राप्तो भवतु । (क्षेमाय वः शान्त्यै०) वो युष्मान्, अत्र पुरुषव्यत्ययोस्ति, तान्पूर्वोक्तान्प्रत्यक्षान्पदार्थान् (क्षेमाय) रक्षणाय (शान्त्यै) सुखाय प्रपद्ये प्राप्नोमि । तत्प्राप्त्या (शिवं) निःश्रेयसं कल्याणं पारमार्थिकं सुखं (शग्मं) सांसारिकमाभ्युदयिकं सुखं च प्राप्नुयाम् । शंयोः* शमिति (शग्ममिति ?) निघण्टौ पदनामास्ति । परोपकाराय गृहाश्रमे स्थित्वा पूर्वोक्तस्य द्विविधस्य सुखस्योन्नतिं कुर्म्मः ॥ १३ ॥

भाषार्थ

(यद् ग्रामे०) गृहाश्रमी को उचित है कि जब वह पूर्ण विद्या को पढ़ चुके तब अपने तुल्य स्त्री से स्वयंवर करे और वे दोनों यथावत् उन विवाह के नियमों में चलें जो कि विवाह और नियोग के प्रकरणों में लिख आये हैं । परन्तु उन से जो विशेष कहना है सो यहां लिखते हैं । गृहस्थ स्त्री पुरुषों को धर्म उन्नति और ग्रामवासियों के हित के लिये जो २ काम करना है, तथा (यदरण्ये) वनवासियों के साथ हित और (यत्सभायाम्) सभा के बीच में सत्य विचार और अपने सामर्थ्य से संसार को सुख देने के लिये, (यदिन्द्रिये०)

* निघं० ४ । १ ॥

जितेन्द्रियता से ज्ञान की वृद्धि करनी चाहिये सो २ सब काम अपने पूर्ण पुरुषार्थ के साथ यथावत् करें। और (यदेनश्चकृ०) पाप करने की बुद्धि को हम लोग मन, वचन और कर्म से छोड़ कर, सर्वथा सब के हितकारी बनें॥ ९॥ परमेश्वर उपदेश करता है कि (देहि मे०) जो सामाजिक नियमों की व्यवस्था के अनुसार ठीक २ चलना है यही गृहस्थ की परम उन्नति का कारण है। जो वस्तु किसी से लेवें अथवा देवें सो भी सत्यव्यवहार के साथ करें। (नि मे धेहि, नि ते दधे) अर्थात् मैं तेरे साथ यह काम करूंगा और तू मेरे साथ ऐसा करना, ऐसे व्यवहार को भी सत्यता से करना चाहिये। (निहारं च हरासि मे नि०) यह वस्तु मेरे लिये तूं दे वा तेरे लिये मैं दूंगा इस को भी यथावत् पूरा करें। अर्थात् किसी प्रकार का मिथ्या व्यवहार किसी से न करें। इस प्रकार गृहस्थ लोगों के सब व्यवहार सिद्ध होते हैं। क्योंकि जो गृहस्थ विचारपूर्वक सब के हितकारी काम करते हैं उन की सदा उन्नति होती है॥ १०॥ (गृहा मा बिभीत०) हे गृहाश्रम की इच्छा करने वाले मनुष्य लोगो! तुम लोग स्वयंवर अर्थात् अपनी इच्छा के अनुकूल विवाह करके गृहाश्रम को प्राप्त हो और उससे डरो वा कम्पो मत। किन्तु उससे बल, पराक्रम करनेवाले पदार्थों को प्राप्त होने की इच्छा करो। तथा गृहाश्रमी पुरुषों से ऐसा कहो कि मैं परमात्मा की कृपा से आप लोगों के बीच पराक्रम, शुद्ध मन, उत्तम बुद्धि और आनन्द को प्राप्त होकर गृहाश्रम करूं॥ ११॥ (येषामध्येति०) जिन घरों में वसते हुए मनुष्यों को अधिक आनन्द होता है, उन में वे मनुष्य अपने सम्बन्धी, मित्र, बन्धु और आचार्य्य आदि का स्मरण करते हैं और उन्हीं लोगों को विवाहादि शुभ कार्य्यों में सत्कार से बुलाकर उन से यह इच्छा करते हैं कि ये सब हम को युवावस्थायुक्त और विवाहादि नियमों में ठीक २ प्रतिज्ञा करनेवाले जानें अर्थात् हमारे साक्षी हों॥ १२॥ (उपहू०) हे परमेश्वर! आप की कृपा से हम लोगों को गृहाश्रम में पशु, पृथिवी, विद्या, प्रकाश, आनन्द, बकरी और भेड़ आदि पदार्थ अच्छी प्रकार से प्राप्त हों। तथा हमारे घरों में उत्तम रसयुक्त खाने पीने के योग्य पदार्थ सदा बने रहें। (वः) यह पद पुरुषव्यत्यय से सिद्ध होता है। हम लोग उक्त पदार्थों को उन की रक्षा और अपने सुख के लिये प्राप्त हों।

फिर उस प्राप्ति से हम को परमार्थ और संसार का सुख मिले। (शंयोः) यह निघण्टु में प्रतिष्ठा अर्थात् सांसारिक सुख का नाम है ॥ १३ ॥

इति गृहाश्रमविषयः संक्षेपतः

अथ वानप्रस्थविषयः संक्षेपतः

त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति । प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्य्याचार्य्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्य्यकुलेऽवसादयन् । सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति ॥ छान्दोग्य० प्र० २। खं० २३ ॥

भाष्यम्

(त्रयो धर्म०) अत्र सर्वेष्वाश्रमेषु धर्मस्य स्कन्धा अवयवास्त्रयः सन्ति। अध्ययनं, यज्ञः क्रियाकाण्डं, दानं च । तत्र प्रथमे ब्रह्मचारी तपःसुशिक्षाधर्मानुष्ठानेनाचार्य्यकुले वसति । द्वितीयो गृहाश्रमी । तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमवसादयन् हृदये विचारयन्नेकान्तदेशं प्राप्य सत्यासत्ये निश्चिनुयात् स वानप्रस्थाश्रमी । एते सर्वे ब्रह्मचर्य्यादयस्त्रय आश्रमाः पुण्यलोकाः सुखनिवासाः सुखयुक्ता भवन्ति, पुण्यानुष्ठानादेवाश्रमसंख्या जायते । ब्रह्मचर्य्याश्रमेण गृहीतविद्यो धर्मेश्वरादि सम्यङ् निश्चित्य, गृहाश्रमेण तदनुष्ठानं तद्विज्ञानवृद्धिं च कृत्वा, ततो वनमेकान्तं गत्वा, सम्यक् सत्यासत्यवस्तुव्यवहारान्निश्चित्य, वानप्रस्थाश्रमं समाप्य सन्न्यासी भवेत् । अर्थाद् ब्रह्मचर्य्याश्रमं समाप्य गृही भवेत्, गृही भूत्वा वनी भवेद्वनी भूत्वा प्रव्रजेदित्येकः पक्षः । (यदहरेव विरजेत तदहरेव प्राव्रजेद्वनाद्वा गृहाद्वा) अस्मिन् पक्षे वानप्रस्थाश्रममकृत्वा गृहाश्रमानन्तरं सन्न्यासं गृह्णीयादिति द्वितीयः पक्षः। ब्रह्मचर्य्यादेव प्रव्रजेत्, सम्यग्ब्रह्मचर्य्याश्रमं कृत्वा गृहस्थवानप्रस्थाश्रमावकृत्वा सन्न्यासाश्रमं गृह्णीयादिति तृतीयः पक्षः । सर्वत्रान्याश्रमविकल्प उक्तः परन्तु ब्रह्मचर्य्याश्रमानुष्ठानं नित्यमेव कर्त्तव्यमित्यायाति । कुतः । ब्रह्मचर्य्याश्रमेण विनाऽन्याश्रमानुत्पत्तेः ।

भाषार्थ

(त्रयो धर्म०) धर्म के तीन स्कन्ध हैं एक विद्या का अध्ययन, दूसरा यज्ञ अर्थात् उत्तम क्रियाओं का करना, तीसरा दान अर्थात् विद्यादि उत्तम गुणों का देना । तथा प्रथम तप अर्थात् वेदोक्तधर्म के अनुष्ठानपूर्वक विद्या पढ़ाना, दूसरा आचार्य्यकुल में बस के विद्या पढ़ना और तीसरा परमेश्वर का ठीक २ विचार करके सब विद्याओं को जान लेना । इन बातों से सब प्रकार की उन्नति करना मनुष्यों का धर्म है । तथा संन्यासाश्रम के तीन पक्ष हैं । उन में एक यह है कि जो विषय भोग किया चाहे वह ब्रह्मचर्य्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ इन आश्रमों को करके संन्यास ग्रहण करे । दूसरा (यदहरेव प्र०) जिस समय वैराग्य अर्थात् बुरे कामों से चित्त हटकर ठीक २ सत्य मार्ग में निश्चित होजाय उस समय गृहाश्रम से भी संन्यास हो सकता है, और तीसरा जो पूर्ण विद्वान् होकर सब प्राणियों का शीघ्र उपकार किया चाहे तो ब्रह्मचर्य्याश्रम से ही संन्यास ग्रहण करले ।

ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति ॥ छान्दो० प्रपा० २ । खं० २३ ॥ तमेतं वेदानुवचनेन विविदिषन्ति । ब्रह्मचर्य्येण तपसा श्रद्धया यज्ञेनानाशकेन चैतमेव विदित्वा मुनिर्भवत्येतमेव प्रव्राजिनो लोकमीप्सन्तः प्रव्रजन्ति । एतद्ध स्म वै तत्पूर्वे ब्राह्मणाः । अनूचाना विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्मायं लोक इति ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्य्यं चरन्ति या ह्येव पुत्रैषणा सा वित्तैषणा या वित्तैषणा सा लोकैषणोभे ह्येते एषणे एव भवतः ॥ श० कां० १४ । अ० ७ । ब्रा० २ । कं० २५ । २६ ॥

भाष्यम्

(ब्रह्मसंस्थः०) चतुर्थो ब्रह्मसंस्थः सन्न्यासी (अमृतत्वं) एति प्राप्नोति । (तमेतं वेदा०) सर्वे आश्रमिणो विशेषतः सन्न्यासिनतमेतं परमेश्वरं

सर्वभूताधिपतिं वेदानुवचनेन तदध्ययनेन तच्छ्रवणेन तदुक्तानुष्ठानेन च वेत्तुमिच्छन्ति।(ब्रह्मचर्य्येण०) ब्रह्मचर्य्येण, तपसा धर्मानुष्ठानेन, श्रद्धयाऽत्यन्तप्रेम्णा, यज्ञेन नाशरहितेन विज्ञानेन धर्मक्रियाकाण्डेन चैतं परमेश्वरं विदित्वैव मुनिर्भवति।प्रव्राजिनः सन्न्यासिन एनं यथोक्तं लोकं द्रष्टव्यं परमेश्वरमेवेप्सन्तः प्रव्रजन्ति सन्न्यासाश्रमं गृह्णन्ति ।(एतद् ब्रह्म०) य एतदिच्छन्तः सन्तः, पूर्वे अत्युत्तमा, ब्राह्मणा ब्रह्मविदोऽनूचाना निश्शङ्काः पूर्णज्ञानिनोऽन्येषां शङ्कानिवारका विद्वांसः प्रजां गृहाश्रमं न कामयन्ते नेच्छन्ति, (ते ह स्म०) हेति स्फुटे, स्मेति स्मये, ते प्रोत्फुल्लाः प्रकाशमाना वदन्ति वयं प्रजया किं करिष्यामः, किमपि नेत्यर्थः । येषां नोऽस्माकमयमात्मा परमेश्वरः प्राप्यो, लोको दर्शनीयश्चास्ति । एवं ते (पुत्रैषणायाश्च) पुत्रोत्पादनेच्छायाः (वित्तैषणायाश्च) जड़धनप्राप्त्यनुष्ठानेच्छायाः (लोकैषणायाश्च) लोके स्वस्य प्रतिष्ठास्तुतिनिन्देच्छायाश्च (व्युत्थाय) विरज्य (भिक्षाचर्य्यं च०) सन्न्यासाश्रमानुष्ठानं कुर्वन्ति । यस्य पुत्रैषणा पुत्रप्राप्त्येषणेच्छा भवति तस्यावश्यं वित्तैषणापि भवति, यस्य वित्तैषणा तस्य निश्चयेन लोकैषणा भवतीति विज्ञायते । तथा यस्यैका लोकैषणा भवति तस्योभे पूर्वे पुत्रैषणालोकैषणे भवतः । यस्य च परमेश्वरमोक्षप्राप्त्येषणेच्छास्ति तस्यैतास्तिस्रो निवर्त्तन्ते । नैव ब्रह्मानन्दवित्तेन तुल्यं लोकवित्तं कदाचिद् भवितुमर्हति । यस्य परमेश्वरे प्रतिष्ठास्ति तस्यान्याः सर्वाः प्रतिष्ठा नैव रुचिता भवन्ति । सर्वान्मनुष्याननुगृह्णन् सर्वदा सत्योपदेशेन सुखयति, तस्य केवलं परोपकारमात्रं सत्यप्रवर्त्तनं प्रयोजनं भवतीति ।

भाषार्थ

(तमेतं०) जो कि वेद को पढ़ के परमेश्वर को जानने की इच्छा करते हैं, (ब्रह्मसंस्थः) वे संन्यासी लोग मोक्षमार्ग को प्राप्त होते हैं। तथा (ब्रह्म च०) जो सत्पुरुष ब्रह्मचर्य्य, धर्मानुष्ठान, श्रद्धायज्ञ और ज्ञान से परमेश्वर को जान के मुनि अर्थात् विचारशील होते हैं वे ही ब्रह्मलोक अर्थात् संन्यासियों के प्राप्तिस्थान को प्राप्त होने के लिये संन्यास लेते हैं। जो उन में उत्तम पूर्ण विद्वान् हैं

वे गृहाश्रम और वानप्रस्थ के विना ब्रह्मचर्य्य आश्रम से ही संन्यासी हो जाते हैं और उनके उपदेश से जो पुत्र होते हैं उन्हीं को सब से उत्तम मानकर (पुत्रैषणा) अर्थात् सन्तानोपत्ति की इच्छा (वित्तैषणा) अर्थात् धन का लोभ (लोकैषणा) अर्थात् लोक में प्रतिष्ठा की इच्छा करना, इस तीन प्रकार की इच्छा को छोड़ के वे भिक्षाचरण करते हैं। अर्थात् सर्वगुरु सब के अतिथि होके विचरते हुए संसार को अज्ञानरूपी अन्धकार से छुड़ा के सत्यविद्या के उपदेशरूप प्रकाश से प्रकाशित कर देते हैं।

प्राजापत्यामिष्टिं निरूप्य तस्यां सर्ववेदसं हुत्वा ब्राह्मणः प्रव्रजेदिति शतपथे श्रुत्यक्षराणि ॥ यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्धसत्त्वः कामयते यांश्च कामान्। तं तं लोकं जायते तांश्च कामांस्तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद्भूतिकामः ॥ १ ॥ मुण्डकोपनि० मुण्डके ३। खं० १। मं० १० ॥

भाष्यम्

(प्राजापत्या०) स च संन्यासी प्राजापत्यां परमेश्वरदेवताकामिष्टिं कृत्वा, हृदये सर्वमेतन्निश्चित्य, तस्यां (सर्ववेदसं) शिखासूत्रादिकं हुत्वा, मुनिर्मननशीलः सन्, प्रव्रजति संन्यासं गृह्णाति। परन्त्वयं पूर्णविद्यावतां रागद्वेषरहितानां सर्वमनुष्योपकारबुद्धीनां संन्यासग्रहणाधिकारो भवति, नाल्पविद्यानामिति। तेषां संन्यासिनां प्राणापानहोमो, दोषेभ्य इन्द्रियाणां मनसश्च सदा निवर्त्तनं, सत्यधर्मानुष्ठानं चैवाग्निहोत्रम्। किन्तु पूर्वेषां त्रयाणामेवाश्रमिणामनुष्ठातुं योग्यं, यद्वा ह्यक्रियामयमस्ति, संन्यासिनां तन्न। सत्योपदेश एव संन्यासिनां ब्रह्मयज्ञः। देवयज्ञो ब्रह्मोपासनम्। विज्ञानिनां प्रतिष्ठाकरणं पितृयज्ञः। छात्रेभ्यो ज्ञानदानं, सर्वेषां भूतानामुपर्य्यनुग्रहोऽपीडनं च भूतयज्ञः। सर्वमनुष्योपकारार्थं भ्रमणमभिमानशून्यता, सत्योपदेशकरणेन सर्वमनुष्याणां सत्कारानुष्ठानं चातिथियज्ञः। एवंलक्षणाः पञ्चमहायज्ञा विज्ञानधर्मानुष्ठानमया भवन्तीति विज्ञेयम्। परन्त्वेकस्याद्वितीयस्य सर्वशक्तिमदा-

दिविशेषणयुक्तस्य परब्रह्मण उपासना, सत्यधर्मानुष्ठानं च सर्वेषामाश्रमिणा-मेकमेव भवतीत्ययं विशेषः ॥ (विशुद्धस०) शुद्धान्तःकरणो मनुष्यः (यं यं लोकं मनसा) ध्यानेन (संविभाति) इच्छति, (कामयते यांश्च कामान्) यांश्च मनोरथानिच्छति, तं तं लोकं, तांश्च कामान् (जायते) प्राप्नोति । तस्मात् कारणाद् (भूतिकामः) ऐश्वर्य्यकामो मनुष्यः, (आत्मज्ञं) आत्मानं परमेश्वरं जानाति तं संन्यासिनमेव सर्वदार्चयेत् सत्कुर्य्यात् । तस्यैव सङ्गेन सत्कारेण च मनुष्याणां सुखप्रदा लोकाः कामाश्च सिद्धा भवन्तीति । तद्भि-न्नान् मिथ्योपदेशकान् स्वार्थसाधनतत्परान् पाखण्डिनः कोपि नैवार्चयेत् । कुतः । तेषां सत्कारस्य निष्फलत्वाद्दुःखफलत्वाच्चेति ।

भाषार्थ

(प्राजापत्या०) अर्थात् इस इष्टि में शिखा सूत्रादि का होम कर के गृहस्थ आश्रम को छोड़ के विरक्त होकर संन्यास ग्रहण करें । (यं यं लोकं०) वह शुद्ध मन से जिस २ लोक और कामना की इच्छा करता है वे सब उस की सिद्ध हो जाती हैं । इसलिये जिस को ऐश्वर्य की इच्छा हो वह आत्मज्ञ अर्थात् ब्रह्मवेत्ता संन्यासी की सेवा करे । ये चारों आश्रम वेदों और युक्तियों से सिद्ध हैं । क्योंकि सब मनुष्यों को अपनी आयु का प्रथम भाग विद्या पढ़ने में व्यतीत करना चाहिये, और पूर्ण विद्या को पढ़कर उससे संसार की उन्नति करने के लिये गृहाश्रम भी अवश्य करें, तथा विद्या और संसार के उपकार के लिये एकान्त में बैठकर सब जगत् का अधिष्ठाता जो ईश्वर है उस का ज्ञान अच्छी प्रकार करें, और मनुष्यों को सब व्यवहारों का उपदेश करें, फिर उनके सब संदेहों का छेदन और सत्य बातों के निश्चय कराने के लिये संन्यास आश्रम भी अवश्य ग्रहण करें । क्योंकि इसके विना संपूर्ण पक्षपात छूटना बहुत कठिन है ।

इत्याश्रमविषयः संक्षेपतः

अथ पञ्चमहायज्ञविषयः संक्षेपतः

ये पञ्चमहायज्ञाः मनुष्यैर्नित्यं कर्त्तव्याः सन्ति तेषां विधानं संक्षेपतोऽत्र लिखामः। तत्र ब्रह्मयज्ञस्यायं प्रकारः। साङ्गानां वेदादिशास्त्राणां सम्यगध्ययनमध्यापनं सन्ध्योपासनं च सर्वैः कर्त्तव्यम्। तत्राध्ययनाध्यापनक्रमो यादृशः पठनपाठनविषय उक्तस्तादृशो ग्राह्यः। सन्ध्योपासनविधिश्च पञ्चमहायज्ञविधाने यादृश उक्तस्तादृशः कर्त्तव्यः। तथाग्निहोत्रविधिश्च यादृशस्तत्रोक्तस्तादृश एव कर्त्तव्यः। अत्र ब्रह्मयज्ञाग्निहोत्रप्रमाणं लिख्यते।

समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्। आस्मिन् हव्या जुहोतन॥ १॥ य० अ० ३। मं० १॥ अग्निं दूतं पुरो दधे हव्यवाहमुप ब्रुवे। देवाँ२॥ आसादयादिह॥ २॥ य० अ० २२। मं० १७॥ सायंसायं गृहपतिर्नो अग्निः प्रातःप्रातः सौमनसस्य दाता। वसोर्वसोर्वसुदान एधि वयं त्वेन्धानास्तन्वं पुषेम॥ ३॥ प्रातःप्रातर्गृहपतिर्नो अग्निः सायंसायं सौमनसस्य दाता। वसोर्वसोर्वसुदान एधीन्धानास्त्वा शतंहिमा ऋधेम॥ ४॥ अथर्व० कां० १९। अनु० ७। सू० ५५। मं० ३। ४॥

भाष्यम्

(समिधाग्निं०) हे मनुष्याः! वाय्वोषधिवृष्टिजलशुद्ध्या परोपकाराय, (घृतैः) घृतादिभिश्शोधितैर्द्रव्यैः, समिधा चातिथिमग्निं यूयं बोधयत, नित्यं प्रदीपयत। (अस्मिन्) अग्नौ (हव्या) होतुमर्हाणि पुष्टिमधुरसुगन्धरोगनाशकरैर्गुणैर्युक्तानि सम्यक् शोधितानि द्रव्याणि (आ जुहोतन) आ समन्ताज्जुहुत। एवमग्निहोत्रं नित्यं (दुवस्यत) परिचरत। अनेन कर्मणा सर्वोपकारं कुरुत॥ १॥ (अग्निं दूतं०) अग्निहोत्रकर्त्तैवमिच्छेदहं वायौ मेघमण्डले च भूतद्रव्यस्य प्रापणार्थमग्निं दूतं भृत्यवत् (पुरोदधे) सम्मुखतः स्थापये कथम्भूतमग्निं? (हव्यवाहं) हव्यं द्रव्यं देशान्तरं वहति प्रापयतीति हव्यवाट्, तं (उपब्रुवे) अन्यान् जिज्ञासून्प्रत्युपदिशामि।

(देवान् २।।) सोऽग्निरेतदग्निहोत्रकर्मणा देवान् दिव्यगुणान् वायुवृष्टिजल-शुद्धिद्वारेहास्मिन् संसार आसादयादासमन्तात्प्रापयति। यद्वा हे परमेश्वर ! (दूतं) सर्वेभ्यः सत्योपदेशकं (अग्नि) अग्निसंज्ञकं त्वां (पुरोदधे) इष्टत्वेनोपास्यं मन्ये । तथा (हव्यवाहं) ग्रहीतुं योग्यं शुभगुणमयं विज्ञानं हव्यं, तद् वहति प्रापयतीति तं त्वां (उपब्रुवे) उपदिशानि । स भवान् कृपया (इह) अस्मिन् संसारे (देवान्) दिव्यगुणान् (आसादयात्) आ समन्तात् प्रापयतु ।। २ ।। (नः) अस्माकमयं (अग्निः) भौतिकः परमेश्वरश्च (गृहपतिः) गृहात्मपालकः प्रातः सायं परिचरितः सुपासितश्च (सौमनस्य दाता) आरोग्यस्यानन्दस्य च दातास्ति । तथा (वसोर्व०) उत्तमोत्तमपदार्थस्य च दातास्ति । अत एव परमेश्वरः (वसुदानः) इति नाम्नाख्यायते । हे परमेश्वरैवं भूतस्त्वमस्माकं राज्यादिव्यवहारे हृदये च (एधि) प्राप्तो भव । तथा भौतिकोऽप्यग्निरत्र ग्राह्यः । (वयन्त्वे०) हे परमेश्वर ! एवं (त्वा) त्वामिन्धानाः प्रकाशमाना वयं (तन्वं) शरीरं (पुषेम) पुष्टं कुर्याम । तथाग्निहोत्रादिकर्मणा भौतिकमग्निमिन्धानाः प्रदीपयितारः सन्तः सर्वे वयं पुष्यामः ।। ३ ।। (प्रातः प्रातर्गृहपतिर्नो०) अस्यार्थः पूर्ववद्विज्ञेयः । अत्र विशेषस्त्वयम् । एवमग्निहोत्रमीश्वरोपासनं च कुर्वन्तः सन्तः, (शतहिमाः०) शतं हिमा हेमन्तर्त्तवो गच्छन्ति येषु संवत्सरेषु ते शतहिमा यावत्स्युस्तावत् (ऋधेम) वर्धेमहि । एवं कृतेन कर्मणा नोऽस्माकं कदाचिद्धानिर्न भवेदितीच्छामः ।। ४ ।। अग्निहोत्रकरणार्थं ताम्रस्य मृत्तिकाया वैकां वेदिं सम्पाद्य, काष्ठस्य रजतसुवर्णयोर्वा चमसमाज्यस्थालीं च संगृह्य, तत्र वेद्यां पलाशाम्रादिसमिधः संस्थाप्याग्निं प्रज्वाल्य, तत्र पूर्वोक्तद्रव्यस्य प्रातःसायङ्कालयोः प्रातरेव वोक्तमन्त्रैर्नित्यं होमं कुर्यात् ।

भाषार्थ

अब पञ्चमहायज्ञ अर्थात् जो कर्म मनुष्यों को नित्य करने चाहियें उनका विधान संक्षेप से लिखते हैं। उनमें से प्रथम एक ब्रह्मयज्ञ कहाता है, जिस में अङ्गों

के सहित वेदादि शास्त्रों का पढ़ना पढ़ाना तथा सन्ध्योपासन अर्थात् प्रातःकाल और सायंकाल में ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना सब मनुष्यों को करनी चाहिये। इन में पठन पाठन की व्यवस्था तो जैसी पठन पाठन विषय में विस्तारपूर्वक कह आये हैं वहां देख लेना। तथा सन्ध्योपासन और अग्निहोत्र का विधान जैसा पञ्चमहायज्ञविधि पुस्तक में लिख चुके हैं वैसा जान लेना। अब आगे ब्रह्मयज्ञ और अग्निहोत्र का प्रमाण लिखते हैं, (समिधाग्निं० , हे मनुष्यो ! तुम लोग वायु, औषधि और वर्षाजल की शुद्धि से सब के उपकार के अर्थ घृतादि शुद्ध वस्तुओं और समिधा अर्थात् आम्र वा ढाक आदि काष्ठों से अतिथिरूप अग्नि को नित्य प्रकाशमान करो। फिर उस अग्नि में होम करने के योग्य पुष्ट, मधुर, सुगन्धित अर्थात् दुग्ध घृत, शर्करा गुड़, केशर कस्तूरी आदि और रोगनाशक जो सोमलता आदि सब प्रकार से शुद्ध द्रव्य हैं उनका अच्छी प्रकार नित्य अग्निहोत्र करके सब का उपकार करो ॥ १ ॥ (अग्निं दूतं०) अग्निहोत्र करनेवाला मनुष्य ऐसी इच्छा करे कि मैं प्राणियों के उपकार करने वाले पदार्थों को पवन और मेघमण्डल में पहुंचाने के लिये अग्नि को सेवक की नाईं अपने सामने स्थापन करता हूं। क्योंकि वह अग्नि हव्य अर्थात् होम करने के योग्य वस्तुओं को अन्य देश में पहुंचाने वाला है। इसी से उसका नाम हव्यवाट् है। जो उस अग्निहोत्र को जानना चाहें उनको मैं उपदेश करता हूं कि वह अग्नि उस अग्निहोत्र कर्म्म में पवन और वर्षाजल की शुद्धि से (इह) इस संसार में (देवान२॥०) श्रेष्ठ गुणों को पहुंचाता है। दूसरा अर्थ—हे सब प्राणियों को सत्य उपदेशकारक परमेश्वर ! जो कि आप अग्नि नाम से प्रसिद्ध हैं, मैं इच्छापूर्वक आप को उपासना करने के योग्य मानता हूं। ऐसी कृपा करो कि आप को जानने की इच्छा करनेवालों के लिये भी मैं आप का शुभगुणयुक्त विशेषज्ञानदायक उपदेश करूं। तथा आप भी कृपा करके इस संसार में श्रेष्ठ गुणों को पहुंचावें ॥ २ ॥ (सायं सायं०) प्रतिदिन प्रातःकाल श्रेष्ठ उपासना को प्राप्त यह गृहपति अर्थात् घर और आत्मा का रक्षक भौतिक अग्नि और परमेश्वर, (सौमनस्य दा०) आरोग्य, आनन्द और वसु अर्थात् धन का देनेवाला है। इसीसे परमेश्वर (वसुदानः) अर्थात् धनदाता प्रसिद्ध है।

हे परमेश्वर ! आप मेरे राज्य आदि व्यवहार और चित्त में सदा प्रकाशित रहो। यहां भौतिक अग्नि भी ग्रहण करने के योग्य है। (वयं त्वे०) हे परमेश्वर ! जैसे पूर्वोक्त प्रकार से हम आप का मान करते हुए अपने शरीर से (पुषेम) पुष्ट होते हैं वैसे ही भौतिक अग्नि को भी प्रज्वलित करते हुए पुष्ट हों ॥ ३ ॥ (प्रातः प्रातर्गृहपतिर्नो०) इस मन्त्र का अर्थ पूर्व मन्त्र के तुल्य जानो। परन्तु इसमें इतना विशेष भी है कि अग्निहोत्र और ईश्वर की उपासना करते हुए हम लोग (शतहिमाः) सौ हेमन्त ऋतु व्यतीत हो जाने पर्य्यन्त अर्थात् सौ वर्ष तक धनादि पदार्थों से (ऋधेम) वृद्धि को प्राप्त हों ॥ ४ ॥ अग्निहोत्र करने के लिये, ताम्र वा मिट्टी की वेदी बना के काष्ठ, चांदी वा सोने का चमसा अर्थात् अग्नि में पदार्थ डालने का पात्र और आज्यस्थाली अर्थात् घृतादि पदार्थ रखने का पात्र लेके, उस वेदी में ढाक वा आम्र आदि वृक्षों की समिधा स्थापन करके, अग्नि को प्रज्वलित करके, पूर्वोक्त पदार्थों का प्रातःकाल और सायंकाल अथवा प्रातःकाल ही नित्य होम करें।

अथाग्निहोत्रे होमकरणमन्त्राः

सूर्य्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्य्यः स्वाहा। सूर्य्यो वर्च्चो ज्योतिर्वर्च्चः स्वाहा। ज्योतिः सूर्य्यः सूर्य्यो ज्योतिः स्वाहा॥ सजूर्देवेन सवित्रा सजूरुषसेन्द्रवत्या। जुषाणः सूर्य्यो वेतु स्वाहा॥ इति प्रातःकालमन्त्राः॥ अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा। अग्निर्वर्च्चो ज्योतिर्वर्च्चः स्वाहा॥ अग्निर्ज्योतिरिति मन्त्रं मनसोच्चार्य्य तृतीयाहुतिर्देया॥ सजूर्देवेन सवित्रा सजूरात्र्येन्द्रवत्या। जुषाणो अग्निर्वेतु स्वाहा॥ य० अ० ३। मं० ९। १०॥ इति सायङ्कालमन्त्राः।

भाष्यम्

(सूर्यो०) यश्चराचरात्मा, ज्योतिषां प्रकाशकानां ज्योतिः प्रकाशकः, सूर्य्यः सर्वप्राणः परमेश्वरोऽस्ति तस्मै स्वाहाऽर्थात् तदाज्ञापालनेन सर्वजग-

दुपकारायैकाहुतिं दद्मः ॥ १ ॥ (सूर्य्यो व०) यो वर्च्चः सर्वविद्या, ज्योतिषां ज्ञानवतां जीवानां, वर्चोऽन्तर्यामितया सत्योपदेष्टा, सर्वात्मा सूर्य्यः परमेश्वरोस्ति तस्मै० ॥ २ ॥ (ज्योतिः सू०) यः स्वयम्प्रकाशः सर्वजगत्प्रकाशकः सूर्य्यो जगदीश्वरोस्ति तस्मै० ॥ ३ ॥ (सजू०) यो देवेन द्योतकेन सवित्रा सूर्य्यलोकेन जीवेन च सह, तथा (इन्द्रवत्या) सूर्य्यप्रकाशवत्योषसाथवा जीववत्या मानसवृत्त्या (सजूः) सह वर्त्तमानः परमेश्वरोस्ति सः, (जुषाणः) सम्प्रीत्या वर्त्तमानः सन्, (सूर्य्यः) सर्वात्मा कृपाकटाक्षेणास्मान् वेतु विद्यादिसद्गुणेषु जातविज्ञानान् करोतु तस्मै० ॥ ४ ॥ इमा चतस्र आहुतीः प्रातरग्निहोत्रे कुर्वन्ति ॥ अथ सायंकालाहुतयः । (अग्निर्ज्योतिः०) यो ज्ञानस्वरूपो, ज्योतिषां ज्योतिरग्निः परमेश्वरोस्ति तस्मै० ॥ १ ॥ (अग्निर्वर्च्चो०) यः पूर्वोक्तोऽग्निः परमेश्वरोस्ति तस्मै० ॥ २ ॥ अग्निर्ज्योतिरित्यनेनैव तृतीयाहुतिर्देया, तदर्थश्च पूर्ववत् ॥ ३ ॥ (सजूर्दे०) यः पूर्वोक्तेन देवेन सवित्रा सह परमेश्वरः सजूरस्ति, यश्चेन्द्रवत्या वायुचन्द्रवत्या रात्र्या सह वर्त्तते सोग्निः, (जुषाणः) सम्प्रीतोऽस्मान् वेतु नित्यानन्दमोक्षसुखाय स्वकृपया कामयतु तस्मै जगदीश्वराय स्वाहेति पूर्ववत् ॥ ४ ॥ एताभिः सायंकालेग्निहोत्रिणो जुह्वति । एकस्मिन्काले सर्वाभिर्वा । (सर्वं वै०) हे जगदीश्वर ! यदिदमस्माभिः परोपकारार्थं कर्म क्रियते तद्भवत्कृपयाऽलं भवत्विति हेतोरेतत्कर्म तुभ्यं समर्प्यते । तथैतरेयब्राह्मणे पञ्चमपञ्चिकायामेकत्रिंशत्तमायां कण्डिकायां च सायम्प्रातरग्निहोत्रमन्त्रा भूर्भुवः स्वरोमित्यादयो दर्शिताः ।

भाषार्थ

(सूर्य्यो ज्यो०) जो चराचर का आत्मा प्रकाशस्वरूप और सूर्य्यादि प्रकाशक लोकों का भी प्रकाश करनेवाला है उस की प्रसन्नता के लिये हम लोग होम करते हैं ॥ १ ॥ (सूर्यो वर्चो०) सूर्य जो परमेश्वर है वह हम लोगों को सब विद्याओं का देनेवाला और हम से उन का प्रचार करानेवाला है, उसी के अनुग्रह से हम लोग अग्निहोत्र करते हैं ॥ २ ॥ (ज्योतिः सू०) जो आप प्रका-

शमान और जगत् का प्रकाश करनेवाला सूर्य अर्थात् संसार का ईश्वर है उस की प्रसन्नता के अर्थ हम लोग होम करते हैं ॥ ३ ॥ (सजूर्देवेन०) जो परमेश्वर सूर्य्यादि लोकों में व्याप्त, वायु और दिन के साथ संसार का परमहितकारक है वह हम लोगों को विदित होकर हमारे किये हुए होम को ग्रहण करे। इन चार आहुतियों से प्रातःकाल अग्निहोत्री लोग होम करते हैं ॥ ४ ॥ अब सायंकाल की आहुति के मन्त्र कहते हैं (अग्निर्ज्यो०)। अग्नि जो ज्योतिःस्वरूप परमेश्वर है उस की आज्ञा से हम लोग परोपकार के लिये होम करते हैं। और उसका रचा हुआ यह भौतिक अग्नि इसलिये है कि वह उन द्रव्यों को परमाणुरूप कर के वायु और वर्षाजल के साथ मिला के शुद्ध करदे। जिससे सब संसार को सुख और आरोग्यता की वृद्धि हो ॥ १ ॥ (अग्निर्वर्च्चो०) अग्नि परमेश्वर वर्च्च अर्थात् सब विद्याओं का देनेवाला और भौतिक अग्नि आरोग्यता और बुद्धि का बढ़ानेवाला है। इसलिये हम लोग होम से परमेश्वर की प्रार्थना करते हैं। यह दूसरी आहुति है। तीसरी मौन होके प्रथम मन्त्र से करनी। और चौथी (सजूर्देवेन०) जो अग्नि परमेश्वर सूर्य्यादि लोकों में व्याप्त, वायु और रात्रि के साथ संसार का परमहितकारक है वह हम को विदित होकर हमारे किये हुए होम का ग्रहण करे।

अथोभयोः कालयोरग्निहोत्रे होमकरणार्थाः समानमन्त्राः। ओम्भूरग्नये प्राणाय स्वाहा ॥ १ ॥ ओम्भुववार्यवेऽपानाय स्वाहा ॥ २ ॥ ओं स्वरादित्याय व्यानाय स्वाहा ॥ ३ ॥ ओम्भूर्भुवः स्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्यः स्वाहा ॥ ४ ॥ ओमापो ज्योतीरसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरों स्वाहा ॥ ५ ॥ ओं सर्वं वै पूर्णꣳस्वाहा ॥ ६ ॥ इति सर्वे मन्त्रास्तैत्तिरीयोपनिषदाशयेनैकीकृताः।

भाष्यम्

एषु मन्त्रेषु भूरित्यादीनि सर्वाणीश्वरस्य नामान्येव वेद्यानि। एषामर्था

१ शीक्षाध्याये पञ्चमोऽनुवाकः।

गायत्र्यर्थे द्रष्टव्याः । अग्नये परमेश्वराय, जलवायुशुद्धिकरणाय च, होत्रं हवनं, दानं, यस्मिन् कर्मणि क्रियते तदग्निहोत्रम् । ईश्वराज्ञापालनार्थं वा । सुगन्धिपुष्टिमिष्टबुद्धिवृद्धिशौर्य्यधैर्य्यबलरोगनाशकरैर्गुणैर्युक्तानां द्रव्याणां होमकरणेन, वायुवृष्टिजलयोः शुद्धया, पृथिवीस्थपदार्थानां सर्वेषां शुद्धवायुजलयोगात् सर्वेषां जीवानां परमसुखं भवत्येव । अतस्तत्कर्मकर्त्तॄणां जनानां तदुपकारेणात्यन्तसुखमीश्वरानुग्रहश्च भवत्येतदाद्यर्थमग्निहोत्रकरणम् ।

भाषार्थ

इन मन्त्रों में जो भूः इत्यादि नाम हैं वे सब ईश्वर के ही जानो । गायत्री मन्त्र के अर्थ में इन के अर्थ कर दिये हैं । इस प्रकार प्रातःकाल और सायङ्काल संध्योपासन के पीछे उक्त मन्त्रों से होम कर के अधिक होम करने की इच्छा हो तो स्वाहा शब्द अन्त में पढ़ कर गायत्री मन्त्र से करे । जिस कर्म में अग्नि वा परमेश्वर के लिये, जल और पवन की शुद्धि वा ईश्वर की आज्ञापालन के अर्थ, होत्र हवन अर्थात् दान करते हैं उसे अग्निहोत्र कहते हैं । जो जो केशर, कस्तूरी आदि सुगन्धि, घृत दुग्ध आदि पुष्ट, गुड़ शर्करा आदि मिष्ट, बुद्धि बल तथा धैर्य्यवर्धक और रोगनाशक पदार्थ हैं उन का होम करने से पवन और वर्षाजल की शुद्धि से पृथिवी के सब पदार्थों की जो अत्यन्त उत्तमता होती है उसी से सब जीवों को परमसुख होता है । इस कारण अग्निहोत्र करने वाले मनुष्यों को उस उपकार से अत्यन्त सुख का लाभ होता है और ईश्वर उन पर अनुग्रह करता है । ऐसे २ लाभों के अर्थ अग्निहोत्र का करना अवश्य उचित है।

अथ तृतीयः पितृयज्ञः

तस्य द्वौ भेदौ स्तः, एकस्तर्पणाख्यो, द्वितीयः श्राद्धाख्यश्च । तत्र येन कर्मणा विदुषो देवान्, ऋषीन्, पितॄंश्च तर्पयन्ति सुखयन्ति तत्तर्पणम् । तथा यत्तेषां श्रद्धया सेवनं क्रियते तच्छ्राद्धं वेदितव्यम् । तत्र विद्वत्सु विद्यमानेष्वेतत्कर्म संघट्यते नैव मृतकेषु । कुतः । तेषां प्राप्त्यभावेन सेवनाशक्यत्वात्,

तदर्थकृतकर्मणः प्राप्त्यभाव इति व्यर्थतापत्तेश्च । तस्माद्विद्यमानाभिप्रायेणैतत्कर्मोपदिश्यते । सेव्यसेवकसन्निकर्षात्सर्वमेतत्कर्तुं शक्यत इति । तत्र सत्कर्त्तव्यास्त्रयः सन्ति । देवाः, ऋषयः पितरश्च । तत्र देवेषु प्रमाणम् ।

पुनन्तुं मा देवजनाः पुनन्तु मनसा धियः । पुनन्तु विश्वा भूतानि जातवेदः पुनीहि मा ॥ १ ॥ य० अ० १९ । मं० ३९ ॥ द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति । सत्यं चैवानृतं च, सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्या, इदमहमनृतात्सत्यमुपैमीति तन्मनुष्येभ्यो देवानुपैति । स वै सत्यमेव वदेत् । एतद्ध वै देवा व्रतं चरन्ति यत्सत्यम् । तस्मात्ते यशो, यशो ह भवति य एवं विद्वान् सत्यं वदति ॥ श० कां० १ । अ० १ । ब्रा० १ । कं० ४, ५ ॥ विद्वांसो हि देवाः ॥ श० कां० ३ । अ० ७ । ब्रा० ३ । कं० १० ॥ अथर्षिप्रमाणम् ॥ तं युज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन्पुरुषं जातमग्रतः । तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये ॥ २ ॥ य० अ० ३१ । मं० ९ ॥ अथ यदेवानुब्रुवीत । तेनर्षिभ्य ऋणं जायते तद्ध्येभ्य एतत् करोत्यृषीणां निधिगोप इति ह्यनूचानमाहुः ॥ श० कां० १ । अ० ७ । ब्रा० २ । काण्डिका ३ ॥ अथार्षेयं प्रवृणीते । ऋषिभ्यश्चैवैनमेतद्देवेभ्यश्च निवेदयत्ययं महावीर्य्यो यो यज्ञं प्रापदिति तस्मादार्षेयं प्रवृणीते ॥ श० कां० १ । अ० ४ । ब्रा० २ । कं० ३ ॥

भाष्यम्

(जातवेदः) हे परमेश्वर ! (मा) मां पुनीहि सर्वथा पवित्रं कुरु । भवन्निष्ठा, भवदाज्ञापालिनो (देवजनाः) विद्वांसः, श्रेष्ठा ज्ञानिनो, विद्यादानेन (मा) मां (पुनन्तु) पवित्रं कुर्वन्तु । तथा (पुनन्तु मन०) भवद्दत्तविज्ञानेन भवद्विषयकध्यानेन वाऽस्माकं बुद्धयः पुनन्तु पवित्रा भवन्तु । तथा (पुनन्तु विश्वा भूतानि) विश्वानि सर्वाणि संसारस्थानि भूतानि पुनन्तु भवत्कृपया सुखानन्दयुक्तानि पवित्राणि भवन्तु ॥ (द्वयं वा०) मनुष्याणां

द्वाभ्यां लक्षणाभ्यां द्वे एव संज्ञे भवतः । देवो मनुष्यश्चेति । तत्र (सत्यं चैवानृतं च) कारणे स्तः । (सत्यमेव०) यत्सत्यवचनं, सत्यमानं, सत्य-कर्म तदेव देवा आश्रयन्ति । तथैवानृतवचनमनृतमानमनृतं कर्म चेति मनु-ष्याश्चेति । अत एव योऽनृतं त्यक्त्वा सत्यमुपैति स देवः परिगण्यते । यश्च सत्यं त्यक्त्वाऽनृतमुपैति स मनुष्यश्च । अतः सत्यमेव सर्वदा वदेन्मन्येत कुर्य्याच्च । यः सत्यव्रतो देवोस्ति स एव यशस्विनां मध्ये यशस्वी भवति, तद्विपरीतो मनुष्यश्च । तस्मादत्र विद्वांस एव देवाः सन्ति ॥ तं यज्ञमिति सृष्टिविद्या-विषये व्याख्यातः । (अथ यदेवा०) अथेत्यनन्तरं सर्वविद्यां पठित्वा यद-नुवचनमध्यापनकर्मानुष्ठानमस्ति तदृषिकृत्यं विज्ञायते । तेनाध्ययनाध्यापन-कर्मणैवर्षयः सेवनीया जायन्ते । यत्तेषां प्रियमाचरन्ति तदेतत्तेभ्यः सेवाकर्तृ-भ्य एव सुखकारी भवति । यः सर्वविद्याविद्भूत्वाऽध्यापयति तमेवानूचान-मृषिमाहुः । (अथार्षेयं प्रवृ०) यो मनुष्यः पाठनं कर्म प्रवृणीते तदार्षेयं कर्म कथ्यते । य ऋषिभ्यो देवेभ्यो विद्यार्थिभ्यश्च प्रियं वस्तु निवेदयित्वा, नित्यं विद्यामधीते, स विद्वान् महावीर्य्यो भूत्वा, यज्ञं विज्ञानाख्यं (प्रापत्) प्राप्नोति । तस्मादिदमार्षेयं कर्म सर्वैर्मनुष्यैः स्वीकार्य्यम् ।

भाषार्थ

अब तीसरा पितृयज्ञ कहते हैं । उसके दो भेद हैं । एक तर्पण और दूसरा श्राद्ध । उन में से जिस कर्म करके विद्वान् रूप देव, ऋषि और पितरों को सुखयुक्त करते हैं सो तर्पण कहाता है । तथा जो उन लोगों की श्रद्धापूर्वक सेवा करना है उसी को श्राद्ध जानना चाहिये । यह तर्पण आदि कर्म विद्यमान अर्थात् जीते हुए जो प्रत्यक्ष हैं उन्हीं में घटता है मरे हुओं में नहीं । क्योंकि मृतकों का प्रत्यक्ष होना असम्भव है । इसलिये उनकी सेवा नहीं हो सकती । तथा जो उनके लिये कोई पदार्थ दिया चाहे वह भी उन को नहीं मिल सकता । इससे केवल विद्यमानों की ही श्रद्धापूर्वक सेवा करने का नाम तर्पण और श्राद्ध वेदों में कहा है । क्योंकि सेवा करने योग्य और सेवा करने वाले इन दोनों ही के प्रत्यक्ष होने से यह सब काम हो सकता है दूसरे प्रकार से नहीं । सो तर्पण

आदि कर्म से सत्कार करने योग्य तीन हैं देव, ऋषि और पितर । देवों में प्रमाण (पुनन्तु०)। हे जातवेद परमेश्वर ! आप सब प्रकार से मुझे पवित्र कीजिये और जो आप के उपासक आप की आज्ञा पालते हैं अथवा जो कि विद्वान् ज्ञानी पुरुष कहाते हैं वे मुझ को विद्यादान से पवित्र करें और आप के दिये विशेष ज्ञान वा आप के विषय के ध्यान से हमारी बुद्धियां पवित्र हों। तथा (पुनन्तु विश्वा भूतानि) सब संसारी जीव आप की कृपा से पवित्र होकर आनन्द में रहें। (द्वयं वा०) दो लक्षणों के पाये जाने से मनुष्यों की दो संज्ञा होती हैं। अर्थात् एक देव और दूसरी मनुष्य। उन में भेद होने के सत्य और झूंठ दो कारण हैं। (सत्यमेव) जो कोई सत्यभाषण, सत्यस्वीकार और सत्यकर्म करते हैं वे देव तथा जो झूंठ बोलते, झूंठ मानते और झूंठ कर्म करते हैं वे मनुष्य कहाते हैं। इसलिये झूंठ को छोड़कर सत्य को प्राप्त होना सब को उचित है। इस कारण से बुद्धिमान् लोग निरन्तर सत्य ही कहें, मानें और करें। क्योंकि सत्यव्रत आचरण करनेवाले जो देव हैं वे तो कीर्त्तिमानों में भी कीर्त्तिमान् होके सदा आनन्द में रहते हैं। परन्तु उनसे विपरीत चलनेवाले मनुष्य दुःख को प्राप्त होकर सब दिन पीड़ित ही रहते हैं। इससे सत्यधारी विद्वान् ही देव कहाते हैं। (तं यज्ञं) इस मन्त्र का व्याख्यान सृष्टिविद्याविषय में कर दिया है। (अथ यदेवा०) जो सब विद्याओं को पढ़ के औरों को पढ़ाना है यह ऋषिकर्म कहाता है। और उस से जितना कि मनुष्यों पर ऋषियों का ऋण हो उस सब की निवृत्ति उन की सेवा करने से होती है। इस से जो नित्य विद्यादान, ग्रहण और सेवाकर्म करना है वही परस्पर आनन्दकारक है और यही व्यवहार (निधिगोप०) अर्थात् विद्याकोष का रक्षक है। (अथार्षेयं प्रवृ०) विद्या पढ़ के सबों को पढ़ानेवाले ऋषियों और देवों की प्रिय पदार्थों से सेवा करने वाला विद्वान् बहु पराक्रमयुक्त होकर विशेष ज्ञान को प्राप्त होता है। इस से आर्षेय अर्थात् ऋषिकर्म को सब मनुष्य स्वीकार करें॥

अथ पितृषु प्रमाणम्

ऊर्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतम् । स्वधास्थ

तर्पयत मे पितॄन् ॥ १ ॥ यजु० अ० २ । मं० ३४ ॥ आयन्तु नः पितरः सोम्यासोऽग्निष्वात्ताः पथिभिर्देवयानैः । अस्मिन् यज्ञे स्वधया मदन्तोऽधिब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान् ॥ २ ॥ य० अ० १६ । मं० ५८ ॥

भाष्यम्

(ऊर्जं वहन्ती०) सर्वे मनुष्याः सर्वान् प्रत्येवं जानीयुश्चाज्ञापेयुः (मे पितॄन्) मम पितृपितामहादीनाचार्य्यादींश्च सर्वे यूयं तर्पयत, सेवया प्रसन्नान् कुरुतेति । तथा (स्वधास्थ) सत्यविद्यामाक्तिस्वपदार्थधारिणो भवत । केन केन पदार्थेन ते सेवनीयास्तानाह (ऊर्जं०) पराक्रमं प्रापिकाः सुगन्धिताः प्रिया हृद्या अपः, (अमृतं) अमृतात्मकमनेकविधं रसं, (घृतं) आज्यं, (पयः) दुग्धं, (कीलालं) संस्कारैः सम्पादितमनेकविधमन्नं, (परिस्रुतम्) माक्षिकं मधु कालपक्कं फलादिकं च निवेद्य पितॄन् प्रसन्नान् कुर्य्यात् ॥ १ ॥ ये (सोम्यासः) सोमगुणाः शान्ताः, सोमवल्ल्यादिरसनिष्पादने चतुराः (अग्निष्वात्ताः) अग्निः परमेश्वरोऽभ्युदयाय सुष्ठुतयाऽऽत्तो गृहीतो यैस्तेऽग्निष्वात्ताः, तथा होमकरणार्थं, शिल्पविद्यासिद्धये च भौतिकोग्निरात्तो गृहीतो यैस्ते पितरो विज्ञानवन्तः पालकाः सन्ति (आयन्तु नः) ते अस्मत्समीपमागच्छन्तु । वयं च तत्सामीप्यं नित्यं गच्छेम । (पथिभिर्देव०) तान् विद्वन्मार्गैर्दृष्टिपथमागतान् दृष्ट्वाऽभ्युत्थाय, हे पितरो ! भवन्त आयन्त्वित्युक्त्वा, प्रीत्याऽऽसनादिकं निवेद्य, नित्यं सत्कुर्य्याम । (अस्मिन्०) हे पितरोऽस्मिन् सत्काररूपे यज्ञे (स्वधया) अमृतरूपया सेवया (मदन्तो) हर्षन्तोऽस्मान् रचितारः सन्तः सत्यविद्यामधिब्रुवन्तूपदिशन्तु ॥ २ ॥

भाषार्थ

(ऊर्ज्जं वह०) पिता वा स्वामी अपने पुत्र, पौत्र, स्त्री और नौकरों को इस प्रकार आज्ञा देवें कि (तर्पयत मे०) जो २ हमारे मान्य पिता पितामहादि माता मातामहादि और आचार्य्य तथा इन से भिन्न भी विद्वान् लोग जो अव-

स्था वा ज्ञान में बड़े और मान्य करने योग्य हैं तुम लोग उनकी (ऊर्जं०) उत्तम २ जल (अमृतं) रोग नाश करने वाले उत्तम अन्न (परिस्रुतं) सब प्रकार के उत्तम फलों के रस आदि पदार्थों से नित्य सेवा किया करो कि जिससे वे प्रसन्न होके तुम लोगों को सदा विद्या देते रहें। क्योंकि ऐसा करने से तुम लोग भी सदा प्रसन्न रहोगे। (स्वधास्थ०) और ऐसा विनय सदा रक्खो कि हे पूर्वोक्त पितर लोगो! आप हमारे अमृतरूप पदार्थों के भोगों से तृप्त हूजिये और हम लोग जो २ पदार्थ आप लोगों की इच्छा के अनुकूल निवेदन कर सकें उन २ की आज्ञा किया कीजिये। हम लोग मन, वचन और कर्म से आप के सुख करने में स्थित हैं आप किसी प्रकार का दुःख न पाइये। क्योंकि जैसे आप लोगों ने बाल्यावस्था और ब्रह्मचर्य्याश्रम में हम लोगों को सुख दिया है वैसे ही हम को भी आप लोगों का प्रत्युपकार करना अवश्य चाहिये कि जिस-से हम लोगों को कृतघ्नता दोष न प्राप्त हो ॥ १ ॥ (आयन्तु नः) पितृ शब्द से सब के रक्षक श्रेष्ठस्वभाव वाले ज्ञानियों का ग्रहण होता है। क्योंकि जैसी रक्षा मनुष्यों की सुशिक्षा और विद्या से हो सकती है वैसी किसी दूसरे प्रकार से नहीं। इसलिये जो विद्वान् लोग मनुष्यों को ज्ञानचक्षु देकर उन के अविद्यारूपी अन्धकार के नाश करने वाले हैं उन को पितर कहते हैं। उन के सत्कार के लिये मनुष्यमात्र को ईश्वर की यह आज्ञा है कि वे उन आते हुए पितर लोगों को देखकर अभ्युत्थान अर्थात् उठ के प्रीतिपूर्वक कहें कि आइये बैठिये कुछ जलपान कीजिये और खाने पीने की आज्ञा दीजिये। पश्चात् जो २ बातें उपदेश करने के योग्य हैं सो २ प्रीतिपूर्वक समझाइये कि जिससे हम लोग भी सत्यविद्यायुक्त होके सब मनुष्यों के पितर कहावें और सदा ऐसी प्रार्थना करें कि हे परमेश्वर! आप के अनुग्रह से (सोम्यासः) जो शीलस्वभाव और सब को सुख देने वाले विद्वान् लोग, (अग्निष्वात्ताः) अग्नि नाम परमेश्वर और रूप गुण वाले भौतिक अग्नि की अलग २ करने वाली विद्युत्रूप विद्या को यथावत् जाननेवाले हैं वे इस विद्या और सेवायज्ञ में (स्वधया मदन्तः) अपनी शिक्षा विद्या के दान और प्रकाश से अत्यन्त हर्षित होके (अवन्त्व-स्मान्) हमारी सदा रक्षा करें। तथा उन विद्यार्थियों और सेवकों के लिये भी

ईश्वर की आज्ञा है कि जब २ वे आवें वा जावें तब २ उन को उत्थान नमस्कार और प्रियवचन आदि से सन्तुष्ट रक्खें। तथा फिर वे लोग भी अपने सत्यभाषण से निर्वैरता और अनुग्रह आदि सद्गुणों से युक्त होकर अन्य मनुष्यों को उसी मार्ग में चलावें और आप भी दृढ़ता के साथ उसी में चलें। ऐसे सब लोग छल और लोभादि रहित होकर परोपकार के अर्थ अपना सत्य व्यवहार रक्खें। (पथिभिर्देवयानैः) उक्त भेद से विद्वानों के दो मार्ग होते हैं एक देवयान और दूसरा पितृयान। अर्थात् जो विद्यामार्ग है वह देवयान और जो कर्मोपासना मार्ग है वह पितृयान कहाता है। सब लोग इन दोनों प्रकार के पुरुषार्थ को सदा करते रहें।

अत्र॑ पितरो मादयध्वं यथाभागमावृ॑षायध्वम्। अमी॑मदन्त पि॒तरो॑ यथाभागमावृ॑षायिषत ॥ ३ ॥ नमो॑ वः पितरो॒ रसा॑य नमो॑ वः पितरः॒ शोषा॑य॒ नमो॑ वः पितरो॒ जी॒वाय॒ नमो॑ वः पितरः स्व॒धायै॑। नमो॑ वः पितरो॒ घो॒राय॒ नमो॑ वः पितरो म॒न्यवे॒ नमो॑ वः पितरः॒ पित॑रो॒ नमो॑ वः। गृहान्नः॑ पितरो दत्त स॒तो वः॑ पितरो देष्मै॒ तद्वः॑ पित॒रो वासः॑ ॥ ४ ॥ आध॑त्त पितरो॒ गर्भं॑ कु॒मारं॑ पुष्क॑रस्रजम्। यथे॒ह पुरु॒षोऽस॑त् ॥ ५ ॥ य० अ० २। मं० ३१। ३२। ३३ ॥

भाष्यम्

(अत्र पितरो०) हे पितरोऽत्रास्यां सभायां पाठशालायां वाऽस्मान् विद्याविज्ञानदानेनानन्दयुक्तान् कुरुत। (यथाभाग०) भजनीयं स्वं स्वं विद्यारूपं भागं (आवृषायध्वं) विद्वद्वत्स्वीकृत्य (अमीमदन्त) अस्मिन् सत्योपदेशे विद्यादानकर्मणि हर्षेण सदोत्साहवन्तो भवत। (यथाभागमा०) तथा यथायोग्यं सत्कारं प्राप्य श्रेष्ठाचारेण प्रसन्नाः सन्तो विचरत ॥ ३ ॥ (नमो वः) हे पितरः ! रसाय सोमलतादिरसविज्ञानानन्दग्रहणाय, (नमो वः पितरः) शोषायाग्निवायुविद्याप्राप्तये, (नमो वः पितरो जी०) जीव-

नार्थं विद्याजीविकाप्राप्तये, (नमो वः पितरः स्व०) मोक्षविद्याप्राप्तये, (नमो वः०) आपत्कालनिवारणाय, (नमो वः०) दुष्टानामुपरि क्रोधधारणाय, क्रोधस्य निवारणाय च, (नमो वः पितरः०) सर्वविद्याप्राप्त्यर्थं च युष्मभ्यं वारं वारं नमोस्तु । (गृहान्नः) हे पितरो ! गृहान् गृहसम्बन्धिव्यवहार-बोधान्नोऽस्मभ्यं यूयं दत्त । (सतो वः०) हे पितरो ! येऽस्माकमधिकारे विद्यमानाः पदार्थाः सन्ति तान् वयं वो युष्मभ्यं (देष्मः) दद्मो यतो वयं कदाचिद्भवद्भ्यो विद्यां प्राप्य क्षीणा न भवेम । (एतद्वः पितरः) हे पितरोऽस्माभिर्यद्वासो वस्त्रादिकं वस्तु युष्मभ्यं दीयते एतद्यूयं प्रीत्या गृह्णीत ॥ ४ ॥ (आधत्त पितरो०) हे पितरो ! यूयं मनुष्येषु विद्यागर्भमाधत्त धारयत। तथा विद्यादानार्थं (पुष्करस्रजं) पुष्पमालाधारिणं कुमारं ब्रह्मचारिणं यूयं धारयत । (यथेह०) येन प्रकारेणेहास्मिन् संसारे विद्यासुशिक्षायुक्तः पुरुषोऽसत्स्यात् । येन च मनुष्येषूत्तमविद्योन्नतिर्भवेत्तथैव प्रयतध्वम् ॥ ५ ॥

भावार्थ

(अत्र पितरो मा०) हे पितर लोगो ! आप यहां हमारे स्थान में आनन्द कीजिये । (यथाभागमावृ०) अपनी इच्छा के अनुकूल भोजन वस्त्रादि भोग से आनन्दित हूजिये । (अमीमदन्त पितरः०) आप यहां विद्या के प्रचार से सब को आनन्दयुक्त कीजिये । (यथाभागमा०) हम लोगों से यथायोग्य सत्कार को प्राप्त होकर अपनी प्रसन्नता के प्रकाश से हम को भी आनन्दित कीजिये ॥ ३ ॥ (नमो वः) हे पितर लोगो ! हम लोग आप को नमस्कार करते हैं इसलिये कि आप के द्वारा हम को रस अर्थात् विद्यानन्द, ओषधि और जल विद्या का यथावत् ज्ञान हो । तथा (नमो वः०) शोष अर्थात् अग्नि और वायु की विद्या कि जिससे ओषधि और जल सूख जाते हैं उस के बोध होने के लिये भी हम आप को नमस्कार करते हैं । (नमो वः०) हे पितर लोगो ! आप की सत्य-शिक्षा से हम लोग प्रमादरहित और जितेन्द्रिय होके पूर्ण उम्र को भोगें । इस-लिये हम आप को नमस्कार करते हैं । (नमो वः०) हे विद्वान् लोगो ! अमृ-तरूप मोक्ष विद्या की प्राप्ति के लिये हम आप को नमस्कार करते हैं । (नमो

वः०) हे पितरो ! घोर विपत् अर्थात् आपत्काल में निर्वाह करने की विद्याओं को जानने की इच्छा से दुःखों के पार उतरने के लिये हम लोग आप की सेवा करते हैं। (नमो वः०) हे पितरो ! दुष्ट जीव और दुष्ट कर्मों पर नित्य अप्रीति करने की विद्या सीखने के लिये हम आप को नमस्कार करते हैं। (नमो वः०) हम आप लोगों को वारंवार नमस्कार इसलिये करते हैं कि गृहाश्रम आदि करने के लिये जो २ विद्या अवश्य हैं सो २ सब आप लोग हम को देवें। (सतो वः०) हे पितर लोगो ! आप सब गुणों और सब संसारी सुखों के देने वाले हैं इसलिये हम लोग आप को उत्तम २ पदार्थ देते हैं इन को आप प्रीति से लीजिये। तथा प्रतिष्ठा के लिये उत्तम २ वस्त्र भी देते हैं इन को आप धारण कीजिये और प्रसन्न होके सब के सुख के अर्थ संसार में सत्यविद्या का प्रचार कीजिये ॥ ४ ॥ (आधत्त पितरो०) हे विद्या के देने वाले पितर लोगो ! इस कुमार ब्रह्मचारी की गर्भ के समान रक्षा कर के उत्तम विद्या दीजिये कि जिस से वह विद्वान् हो के (पुष्करस्र०) जैसे पुष्पों की माला धारण कर के मनुष्य शोभा को प्राप्त होता है वैसे ही यह भी विद्या पाकर सुन्दरतायुक्त होवे। (यथेह पुरुषोऽसत्) अर्थात् जिस प्रकार इस संसार में मनुष्यों की विद्यादि सद्गुणों से उत्तम कीर्त्ति और सब मनुष्यों को सुख प्राप्त हो सके वैसा ही प्रयत्न आप लोग सदा कीजिये। यह ईश्वर की आज्ञा विद्वानों के प्रति है। इसलिये सब मनुष्यों को उचित है कि इस का पालन सदा करते रहें ॥ ५ ॥

ये स॒मा॒नाः सम॑नसो जी॒वा जी॒वेषु॑ माम॒काः। तेषा॒ꣳ श्रीर्मयि॑ कल्पताम॒स्मिँल्लो॒के श॒तꣳ समाः॑ ॥ ६ ॥ य० अ० १९। मं० ४६॥ उदी॑रता॒मव॑र॒ उत्परा॑स॒ उन्म॑ध्य॒माः पि॒तरः॑ सो॒म्यासः॑। असुं॒ य ई॒युर॑वृ॒का ऋ॑त॒ज्ञास्ते नो॑ऽवन्तु पि॒तरो॒ हवे॑षु ॥ ७ ॥ अङ्गि॑रसो नः पि॒तरो॒ नव॑ग्वा॒ अथ॑र्वाणो॒ भृग॑वः सो॒म्यासः॑। तेषां॑ व॒यꣳ सु॑म॒तौ य॒ज्ञिया॑ना॒मपि॑ भ॒द्रे सौ॑मन॒से स्या॑म ॥ ८ ॥ य० अ० १९। मं० ४९। ५० ॥ ये स॒मा॒नाः सम॑नसः पि॒तरो॑ यम॒राज्ये॑। तेषां॑ लो॒कः स्व॒धा नमो॑ य॒ज्ञो दे॒वेषु॑ कल्पताम् ॥ ९ ॥ य० अ० १९। मं० ४५॥

भाष्यम्

(ये समानाः) ये मामका मदीया आचार्य्यादयः (जीवाः) विद्यमानजीवनाः, (समनसः) धर्मेश्वरसर्वमनुष्याहितकरणैकनिष्ठाः, (समानाः) धर्मेश्वरसत्यविद्यादिशुभगुणेषु समानत्वेन वर्त्तमानाः (जीवेषु) उपदेश्येषु शिष्येषु सत्यविद्यादानाय छलादिदोषराहित्येन वर्त्तमाना विद्वांसः सन्ति, (तेषां०) विदुषां या श्रीः सत्यविद्यादिगुणाढ्या शोभास्ति, (अस्मिँल्लोके शतं०) सामायिकी लक्ष्मीः शतवर्षपर्य्यन्तं (कल्पतां) स्थिरा भवतु, यतो वयं नित्यं सुखिनः स्याम ॥ ६ ॥ (उदीरतामवरे०) ये पितरोऽवकृष्टगुणाः, (उत्परासः) उत्कृष्टगुणाः, (उन्मध्यमाः) मध्यस्थगुणाः, (सोम्यासः) सोम्यगुणाः, (अवृकाः) अजातशत्रवः, (ऋतज्ञाः) ब्रह्मविदो वेदविदश्च, ते ज्ञानिनः पितरो, हवेषु देयग्राह्यव्यवहारेषु, विज्ञानदानेन (नोऽवन्तु) अस्मान् सदा रक्षन्तु । तथा (असुं य ईयुः) येऽसुं प्राणमीयुः प्राप्नुयुरर्थाद् द्वाभ्यां जन्मभ्यां विद्वांसो भूत्वा विद्यमानजीवनास्स्युस्त एव सर्वैः सेवनीया, नैव मृताश्चेति । कुतः । तेषां देशान्तरप्राप्त्या सन्निकर्षाभावात्ते सेवाग्रहणेऽसमर्थाः सेवितुमशक्याश्च ॥ ७ ॥ (अङ्गिरसो नः) येऽङ्गेषु रसभूतस्य प्राणाख्यस्य परमेश्वरस्य ज्ञातारः, (नवग्वाः) सर्वासु विद्यासूत्तमकर्मसु च नवीना गतयो येषां ते, (अथर्वाणः) अथर्ववेदविदो धनुर्वेदविदश्च, (भृगवः) परिपक्वज्ञानाः शुद्धाः, (सोम्यासः) शान्ताः सन्ति, (तेषां वयꣳ सुमतौ) वयं तेषां यज्ञानां (यज्ञियानां ?) यज्ञादिसत्कर्मसु कुशलानाम्, अपीति निश्चयेन, सुमतौ विद्यादिशुभगुणग्रहणे, (भद्रे) कल्याणकरे व्यवहारे, (सौमनसे) यत्र विद्यानन्दयुक्तं मनो भवति तस्मिन्, (स्याम) अर्थाद्भवतां सकाशादुपदेशं गृहीत्वा धर्मार्थकाममोक्षप्राप्ता भवेम ॥ ८ ॥ (ये समानाः) (समनसः) अनयोरर्थ उक्तः, ये (यमराज्ये) राजसभायां न्यायाधीशत्वेनाधिकृताः (पितरः) विद्वांसः सन्ति, (तेषां लोकः) यो न्यायदर्शनं स्वधा अमृतात्मको लोको भवतीति, (यज्ञो०) यश्च प्रजापालनाख्यो राजधर्मव्यवहारो देवेषु विद्वत्सु प्रसिद्धोस्ति, सोऽस्माकं

मध्ये (कल्पतां) समर्थतां, प्रसिद्धो भवतु । य एवं सत्यन्यायकारिणः सन्ति तेभ्यो (नमः) नमोस्तु । अर्थाद्ये सत्यन्यायाधीशास्ते सदैवास्माकं मध्ये तिष्ठन्तु ॥ ६ ॥

भाषार्थ

(ये समानाः) जो आचार्य्य (जीवाः) जीते हुए, (समनसः) धर्म ईश्वर और सर्वहित करने में उद्यत, (समानाः) सत्यविद्यादि शुभगुणों के प्रचार में ठीक २ विचार और (जीवेषु) उपदेश करने योग्य शिष्यों में सर्व विद्यादान के लिये छलकपटादिदोषरहित होकर प्रीति करनेवाले विद्वान् हैं (तेषां) उन की जो श्री अर्थात् सत्यविद्यादिश्रेष्ठगुणयुक्त शोभा और राजलक्ष्मी है सो मेरे लिये (अस्मिंल्लोके शतं समाः) इस लोक में १०० (सौ) वर्ष पर्य्यन्त स्थिर रहे, जिस से हम लोग नित्य सुखसंयुक्त होके पुरुषार्थ करते रहें ॥ ६ ॥ (उदीरताम०) जो विद्वान् लोग (अवरे) कनिष्ठ, (उन्मध्यमाः) मध्यम और (उत्परासः) उत्तम, (पितरः सोम्यासः) चन्द्रमा के समान सब प्रजाओं को आनन्द करानेवाले, (असुं य ईयुः) प्राणविद्यानिधान, (अवृकाः) शत्रुरहित अर्थात् सब के प्रिय पक्षपात छोड़ के सत्यमार्ग में चलनेवाले, तथा (ऋतज्ञाः) जो कि ऋत अर्थात् ब्रह्म, यथार्थ धर्म और सत्य विद्या के जानने वाले हैं (ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु) वे पितर लोग युद्धादि व्यवहारों में हमारे साथ होके अथवा उन की विद्या देके हमारी रक्षा करें ॥ ७ ॥ (अङ्गिरसो नः) जो ब्रह्माण्डभर के पृथिव्यादि सब अङ्गों की मर्मविद्या के जाननेवाले, (नवग्वाः) नवीन २ विद्याओं के ग्रहण करने और करानेवाले, (अथर्वाणः) अथर्ववेद और धनुर्वेदविद्या में चतुर तथा दुष्ट शत्रु और दोषों के निवारण करने में प्रवीण, (भृगवः) परिपक्वज्ञानी और तेजस्वी, (सोम्यासः) जो परमेश्वर की उपासना और अपनी विद्या के गुणों में शान्तस्वरूप, (तेषां वयꣳ सुमतौ०) तथा यज्ञ के जानने और करनेवाले (पितरः) पितर हैं तथा जिस कल्याणकारक विद्या से उन की सुमति, (भद्रे) कल्याण और (सौमनसे) मन की शुद्धि होती है उसमें (अपिस्याम) हम लोग भी स्थिर हों कि जिसके बोध से व्यवहार और

परमार्थ के सुखों को प्राप्त हो के सदा आनन्दित रहें ॥ ८ ॥ (ये समा०) जो पितर अर्थात् विद्वान् लोग यमराज्य अर्थात् परमेश्वर के इस राज्य में सभासद् वा न्यायाधीश हो के न्याय करनेवाले और (समनसः पितरः) सब सृष्टि के हित करने में समानबुद्धि हैं, (तेषां लोकः स्वधा०) जिन का लोक अर्थात् देश सत्यन्याय को प्राप्त हो के सुखी रहता है (नमः) उन को हम लोग नमस्कार करते हैं । क्योंकि वे पक्षपातरहित होके सत्य व्यवस्था में चल के अपने दृष्टान्त से औरों को भी उसी मार्ग में चलाने वाले हैं । (यज्ञो देवेषु कल्पतां) यह सत्यधर्मसम्बन्धी प्रजापालनरूप जो अश्वमेध यज्ञ है सो परमात्मा की कृपा से विद्वानों के बीच में सत्य व्यवस्था की उन्नति के लिये सदा समर्थ अर्थात् प्रकाशमान बना रहे ।

ये नः पूर्वे पितरः सोम्यासोऽनूहिरे सोमपीथं वसिष्ठाः । तेभिर्यमः संरराणो हवींष्युशन्नुशद्भिः प्रतिकाममत्तु ॥ १० ॥ बर्हिषदः पितर ऊत्यर्वागिमा वो हव्या चकृमा जुषध्वम् । त आगतावसा शन्तमेनाथा नः शंयोररपो दधात ॥ ११ ॥ आहं पितॄन्त्सुविदत्राँ२॥ अवित्सि नपातं च विक्रमणं च विष्णोः । बर्हिषदो ये स्वधया सुतस्य भजन्त पित्वस्त इहागमिष्ठाः ॥१२॥ य० अ० १९ । मं० ५१ । ५५ । ५६ ॥

भाष्यम्

(ये) (सोम्यासः) सोमविद्यासम्पादिनः, (वसिष्ठाः) सर्वविद्यासूत्तमगुणेष्वतिशयेन रममाणाः, (सोमपीथं) सोमविद्यारक्षणं (अनूहिरे), पूर्वं सर्वा विद्याः पठित्वाऽध्याप्य तांस्ता अनुप्रापयन्ति, ते (नः पूर्वे पितरः) येऽस्माकं पूर्वे पितरः सन्ति, (तेभिः) तैः (उशद्भिः) परमेश्वरं धर्मं च कामयमानैः पितृभिः सह, समागमेनैव, (संरराणः) सत्यविद्यायाः सम्यग्दानकर्त्ता (यमः) सत्यविद्याव्यवस्थापकः परमेश्वरो विदितो भवति । किं कुर्वन् ? (हवींषि०) विज्ञानादीन्युशन् सर्वेभ्यो दातुं कामयन् सन् । अतः सर्वो जन एवमाचरन् सन् (प्रतिकाममत्तु) सर्वान् कामान्प्राप्नोतु

॥ १० ॥ (बर्हिषदः) ये बर्हिषि सर्वोत्तमे ब्रह्मणि विद्यायां च निषण्णास्ते (पितरः) विद्वांसः, (अवसा शन्तमेन) अतिशयेन कल्याणरूपेण रक्षणेन सह वर्त्तमानाः, (आगत) अस्माकं समीपमागच्छन्तु । आगतान् तान्प्रत्येवं वयं ब्रूमहे । हे विद्वांसः ! यूयमागत्य (अर्वाक्) पश्चात् (इमा) इमानि हव्यानि ग्राह्यदेयानि वस्तूनि (जुषध्वं) सम्प्रीत्या सेवध्वम् । हे पितरः ! वयं (ऊत्या) भवद्रक्षणेन वो युष्माकं सेवां (चकृम) नित्यं कुर्य्याम । (अथा नः शं०) अथेति सेवाप्राप्तेरनन्तरं, यूयं नोऽस्माकं शंयोर्विज्ञानरूपं सुखं दधात । किन्त्वविद्यारूपं पापं दूरीकृत्य (अरपः) निष्पापतां दधात । येन वयमपि निष्पापा भवेमेति ॥ ११ ॥ (आहं पितॄन्सुविदत्रां०) ये बर्हिषदः, स्वधयाऽन्नेन सुतस्य सोमवल्यादिभ्यो निष्पादितस्य रसस्य प्राशनं (भजन्ते) सेवन्ते, (पित्वः) तत्पानं कृत्वा (त इहाग०) अस्मिन्नस्मत्सन्निहितदेशे ते पितर आगच्छन्तु । य ईदृशाः पितरः सन्ति तान् विद्यादिशुभगुणानां दानकर्तॄनहं (आ अवित्सि) आ समन्ताद्वेद्मि । अत्र व्यत्ययेनात्मनेपदमिडभावश्च । तान् विदित्वा, सङ्गम्य च, (विष्णोः) सर्वत्रव्यापकस्य परमेश्वरस्य (विक्रमणं च) विविधक्रमेण जगद्रचनं, तथा (नपातं च) न विद्यते पातो विनाशो यस्य तन्मोक्षाख्यं पदं च वेद्मि । यत्प्राप्य मुक्तानां सद्यः पातो न विद्यते । तदेतच्च विदुषां सङ्गेनैव प्राप्तं भवति । तस्मात्सर्वैर्विदुषां समागमः सदा कर्त्तव्य इति ॥ १२ ॥

भाषार्थ

(ये नः पूर्वे पितरः) जो कि हमारे पूर्व पितर अर्थात् पिता पितामह और अध्यापक लोग शान्तात्मा तथा (अनूहिरे सोमपीथं वसिष्ठाः) जो सामपान के करने कराने और वसिष्ठ अर्थात् सब विद्या में रमण करने वाले हैं (तेभिर्यमः सᳬररा) ऐसे महात्माओं के साथ समागम करके विद्या होने से यम अर्थात् न्यायकारी अन्तर्यामी परमेश्वर निस्सन्देह जाना जाता है । (हविः) जो सत्यभक्ति आदि पदार्थों की कामना और (उशद्भिः प्रतिका०) सब कामों के बीच में सत्यसेवन करने वाले तथा जिन का आधारभूत परमेश्वर ही है ।

हे मनुष्य लोगो ! ऐसे धर्मात्मा पुरुषों के सत्सङ्ग से तुम भी उसी परमात्मा के आनन्द से तृप्त हो। इस में निरुक्तकार का प्रमाण अ० ११। खं० १९। निरुक्त में लिखा है (अङ्गिरसो नवगतय इत्यादि) वहां देख लेना॥ १०॥ (बर्हिषदः पि०) जो ब्रह्म और सत्यविद्या में स्थित पितर लोग हैं वे हमारी रक्षा के लिये सदा तत्पर रहें। इस प्रकार से कि हम लोग तो उनकी सेवा करें और वे लोग हमको प्रीतिपूर्वक विद्यादि दान से प्रसन्न कर देवें। (त आगतावसा०) हे पितर लोगो ! हम काङ्क्षा करते हैं कि जब २ आप हमारे वा हम आप के पास आवें जावें तब २ (इमा हव्या०) हम लोग उत्तम २ पदार्थों से आप लोगों की सेवा करें और आप लोग भी उनको प्रीतिपूर्वक ग्रहण करें। (अधू०) अर्थात् हम लोग तो अन्नादि पदार्थों से और आप लोग (शन्त०) हमारे कल्याणकारी गुणों के उपदेश से (अथानः शंयो०) इस के पीछे हमारे कल्याण के विधान से (अरपः) अर्थात् जिससे हम लोग पाप न करें ऐसी बातों का धारण कराइये॥ ११॥ (आहं पितॄन्०) मैं जानता हूं कि पितर लोग अपनी उत्तम विद्या और अपने उपदेश से सुख देने वाले हैं। (नपातं च विक्रमणं च विष्णोः) जो मैं सब में व्यापक परमेश्वर का विक्रमण अर्थात् सृष्टि का रचन और नपात अर्थात् उसके अविनाशी पद को भी (आ) (अवित्सि) ठीक २ जानता हूं। (बर्हिषदो ये०) यह ज्ञान मुझ को उन्हीं पितर लोगों की कृपा से हुआ है जिनको देवयान कहते हैं। और जिसकी प्राप्ति से जीव पुनर्दुःख में कभी नहीं गिरता। तथा जिस में पूर्ण सुख प्राप्त होता है। उन दोनों मार्गों को भी मैं विद्वानों के ही सङ्ग से जानता हूं। (स्वधा०) जो विद्वान् अपने अमृतरूप उपदेश से पुत्र की भावना के साथ विद्यादान करते हैं, तथा उस में आप भी (पित्वः) आनन्दित होकर संसार में सब सुखों के देने वाले होते हैं वे सर्वहितकारी पुरुष हमारे पास भी सदा आया करें कि जिससे हम लोगों में नित्य ज्ञान की उन्नति हुआ करे॥ १२॥

उप॑हूताः पि॒तर॑ः सो॒म्यासो॑ बर्हि॒ष्ये॑षु नि॒धिषु॑ प्रि॒येषु॑। त आ ग॑मन्तु त इ॒ह श्रु॑व॒न्त्वधि॑ ब्रुवन्तु ते॑ऽवन्त्व॒स्मान्॥ १३॥ अग्नि-

ष्वात्ताः पितर एह गच्छत सदःसदः सदत सुप्रणीतयः।
अत्ता हवींषि प्रयतानि बर्हिष्यथा रयिं सर्ववीरं दधातन ॥१४॥
ये अग्निष्वात्ता ये अनग्निष्वात्ता मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते।
तेभ्यः स्वराडसुनीतिमेतां यथावशं तन्वं कल्पयाति ॥ १५ ॥
य० अ० १९ । मं० ५७ । ५९ । ६० ॥

भाष्यम्

(सोम्यासः) ये प्रतिष्ठार्हाः पितरस्ते (बर्हिष्येषु) प्रकृष्टेषु (निधिषु) उत्तमवस्तुस्थापनार्हेषु (प्रियेषु) प्रीत्युत्पादकेषु आसनेषु (उपहूताः) निमन्त्रिताः सन्तः सीदन्तु, (आगमन्तु) सत्कारं प्राप्यास्मत्समीपं वारंवार-मागच्छन्तु, (त इह) त इहागत्यास्मत्प्रश्नान् (श्रुवन्तु) शृण्वन्तु, श्रुत्वा तदुत्तराणि (अधिब्रुवन्तु) कथयन्तु । एवं विद्यादानेन व्यवहारोपदेशेन च (तेऽवन्त्वस्मान) सदाऽस्मान् रक्षन्तु ॥ १३ ॥ (अग्निष्वात्ताः पितर एह गच्छत) हे पूर्वोक्ता अग्निष्वात्ताः पितरः! अस्मत्सन्निधौ प्रीत्या आग-च्छत । आगत्य (सुप्रणीतयः) शोभना प्रकृष्टा नीतिर्येषां त एवम्भूता भवन्तः पूज्याः सन्तः (सदः सदः सदत) प्रतिगृहं प्रतिसभां चोपदेशार्थं स्थितिं भ्रमणं च कुरुत । (अत्ता हवींषि) प्रयत्नयुक्तानि कर्माणि, देय-योग्यान्युत्तमान्नानि वा यूयं स्वीकुरुत । (बर्हिष्यथा०) अथेत्यनन्तरं, बर्हिषि सदसि गृहे वा स्थित्वा (रयिं सर्ववीरं) सर्ववीरैर्युक्तं विद्यादिधनं यूयं दधातन । यतोऽस्मासु बुद्धिशरीरबलयुक्ता वीराः स्थिराः भवेयुः, सत्य-विद्याकोशश्च ॥ १४ ॥ (ये अग्निष्वात्ता०) ये अग्निविद्यायुक्ताः, (अन-ग्निष्वात्ताः) ये वायुजलभूगर्भादिविद्यानिष्ठाः, (मध्ये दिवः) द्योतना-त्मकस्य परमेश्वरस्य सद्विद्याप्रकाशस्य च मध्ये (स्वधया) अन्नविद्यया शरीरबुद्धिबलधारणेन च (मादयन्ते) आनन्दिता भूत्वा, अस्मान्सर्वान् जनानानन्दयन्ति, (तेभ्यः) तेभ्यो विद्वद्भ्यो वयं नित्यं सद्विद्यां तथा (असुनीतिमेतां) सत्यन्याययुक्तामेतां प्राणनीतिं च गृह्णीयाम । (यथा वशं) ते विद्वांसो वयं च विद्याविज्ञानप्राप्त्या सर्वोपकारेषु नियमेषु स्वत-

न्त्राः(!), प्रत्येकप्रियेषु च परतन्त्रा (!) भवन्तु यतः । (स्वराट्) स्वयं राजते प्रकाशते, स्वान् राजयति प्रकाशयति वा स स्वराट् परमेश्वरः, (तन्वं कल्पयाति) तनुं विद्वच्छरीरमस्मदर्थं कृपया कल्पयाति, कल्पयतु, निष्पादयतु । यतोऽस्माकं मध्ये बहवो विद्वांसो भवेयुः ॥ १५ ॥

भाषार्थ

(उपहूताः पितरः) उन पितरों को हम लोग निमन्त्रण देते हैं कि वे हमारे समीप आके (बर्हिष्येषु) उत्तम आसनों पर बैठकर जो कि बहुमूल्य और सुनने में प्रिय हों हमको उपदेश करें । (त आगमन्तु०) जब वे पितर आवें तब सब लोग उन का इस प्रकार से सन्मान करें कि आप आइये, उत्तम आसन पर बैठिये, (इह श्रुवन्तु) यहां हमारी विद्या की बातें और प्रश्न सुनिये, (अधिब्रवन्तु) इन प्रश्नों के उत्तर दीजिये और मनुष्यों को ज्ञान देके उनकी रक्षा कीजिये ॥ १३ ॥ (अग्निष्वात्ताः पितर एह०) हे अग्निविद्या के जानने वाले पितर लोगो ! आप उपदेशक होकर हमारे घरों में आकर उपदेश और निवास कीजिये । फिर वे पितर कैसे होने चाहियें कि (सुप्रणीतयः) उत्तम २ गुणयुक्त होके (बर्हिषि०) सभा के बीच में सत्य २ न्याय करनेहारे हों। तथा (हविः) वे ही दान और ग्रहण के योग्य विद्यादि गुणों का दान और ग्रहण कराने वाले हों । (रयिꣳ सर्ववीरं दधातन) विद्यादि जो उत्तम धन है कि जिस से वीरपुरुषयुक्त सेना की प्राप्ति होती है उसके उपदेश से हम को पुष्ट करें। ऐसे ही उन विद्वानों के प्रति भी ईश्वर का यह उपदेश है कि वे लोग देश २ और घर २ में जाके सब मनुष्यों को सत्यविद्या का उपदेश करें ॥ १४ ॥ (ये अग्निष्वात्ता ये अनग्निष्वात्ताः) जो पितर अग्निविद्या और सोमविद्या के जानने वाले तथा (मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते) जो कि दिव अर्थात् विज्ञानरूप प्रकाश के बीच में सुखभोग से आनन्दित रहते हैं (तेभ्यः स्वराडसु०) उन के हितार्थ स्वराट् जो स्वप्रकाशस्वरूप परमेश्वर है वह (असुनीतिम्) अर्थात् प्राणविद्या का प्रकाश कर देता है । इसलिये हम प्रार्थना करते हैं कि (यथावशन्तन्वं कल्पयाति) हे परमेश्वर ! आप अपनी कृपा से उन के शरीर सदा

सुखी तेजस्वी और रोगरहित रखिये कि जिससे हम को उन के द्वारा ज्ञान प्राप्त होता रहे ॥ १५ ॥

अग्निष्वात्तानृतुमतो हवामहे नाराशꣳसे सोमपीथं य आशुः । ते नो विप्रासः सुहवा भवन्तु वयꣳ स्याम पतयो रयीणाम् ॥ १६ ॥ ये चेह पितरो ये च नेह याꣳश्च विद्म याꣳ॥ उ च न प्रविद्म । त्वं वेत्थ यति ते जातवेदः स्वधाभिर्यज्ञꣳ सुकृतं जुषस्व ॥ १७ ॥ इदं पितृभ्यो नमो अस्त्वद्य ये पूर्वासो य उ परास ईयुः । ये पार्थिवे रजस्या निषत्ता ये वा नूनꣳ सुवृजनासु विक्षु ॥ १८ ॥ य० अ० १९ । मं० ६१ । ६७ । ६८ ॥

भाष्यम्

(अग्निष्वात्ता०) हे मनुष्याः ! यथा वयं, ऋतुविद्यावतोऽर्थाद्यथासमयप्रयोगकारिणोऽग्निष्वात्ताः पितरः सन्ति तान्, (हवामहे) आह्वयामहे तथैव युष्माभिरपि तत्सेवनायाह्वानं नित्यं कार्य्यम् । (सोमपीथं य आशुः) ये सोमपानमश्नन्ति, ये च (नाराशꣳसे) नरैः प्रशस्येऽनुष्ठातव्ये कर्मणि कुशलाः सन्ति, (ते नो विप्रासः) ते विप्रा मेधाविनो, नोऽस्मान् (सुहवा०) सुष्ठुतया ग्रहीतारो भवन्तु । (सोमपीथं०) ये सोमविद्यादानग्रहणाभ्यां तृप्ताः, एषां संगेन (वयꣳस्याम पतयो०) सत्यविद्याचक्रवर्त्तिराज्यश्रीणां पतयः पालकाः स्वामिनो भवेम ॥ १६ ॥ (ये चेह पितरो०) ये पितरो विद्वांस इहास्मत्सन्निधौ वर्त्तन्ते, ये चेहास्मत्समक्षे न सन्त्यर्थाद्देशान्तरे तिष्ठन्ति, (यांश्च विद्म) यान् वयं जानीमः, (याꣳ॥ उचन०) दूरदेशस्थित्या यांश्च वयं न जानीमस्तान् सर्वान्, हे (जातवेदः) परमेश्वर ! (त्वं वेत्थ) त्वं यथावज्जानास्यतो भवान् तेषामस्माकं च सङ्गं निष्पादय । (स्वधा०) योऽस्माभिस्सुकृतः सम्यगनुष्ठितो यज्ञोस्ति, त्वं स्वधाभिरन्नाद्याभिः सामग्रीभिः सम्पादितं यज्ञं सदा जुषस्व, सेवस्व । येनास्माकमभ्युदयनिःश्रेयसकरं क्रियाकाण्डं सम्यक् सिध्येत् । (यति ते) ये यावन्तः परोक्षा वि-

यमाना विद्वांसः सन्ति तानस्मान्प्रापय ॥ १७ ॥ (इदं पितृभ्यः) ये पितरोऽद्येदानीमस्मत्समीपेऽध्ययनाध्यापने कर्मणि वर्त्तन्ते, (पूर्वासः) पूर्वमधीत्य विद्वांसः सन्ति, (ये पार्थिवे रजसि) ये पृथिवीसम्बन्धिभूगर्भविद्यार्था (आनिषत्ता) आ समन्तान्निषण्णाः सन्ति, (ये चानूनꣳसु०) ये च सुष्ठुबलयुक्तासु प्रजासभाध्यक्षाः सभासदो भूत्वा न्यायाधीशत्वादिकर्मणोऽधिकृताः सन्ति, ते चास्मानीयुः प्राप्नुयुः । इत्थं भूतेभ्यः पितृभ्योऽस्माकमिदं सततं नमोऽस्तु ॥ १८ ॥

भाषार्थ

(अग्निष्वात्तानृतुमतो०) हे मनुष्य लोगो ! जैसे हम लोग अग्निविद्या और समयविद्या के जानने वाले पितरों को मान्य से बुलाते हैं वैसे ही तुम लोग भी उन के पास जाते और उन को अपने पास सदा बुलाते रहो जिससे तुम्हारी सब दिन विद्या बढ़ती रहे ॥ (नाराशꣳसे सोमपीथं य आशुः) जो सोमलतादि ओषधियों के रसपान तथा रक्षा से मनुष्यों को श्रेष्ठ करने वाले हैं उन से हम लोग सत्यशिक्षा लेके आनन्दित हों । (ते नो विप्राः सुहवा०) वे विद्वान् लोग हम को सत्यविद्या का ग्रहण प्रीतिपूर्वक सदा कराते रहें । (वयꣳस्याम पतयो रयीणाम्०) जिस से कि हम लोग सुविद्या से चक्रवर्त्ति राज्य की श्री आदि उत्तम पदार्थों को प्राप्त तथा उन की रक्षा और उन्नति करने में भी समर्थ हों ॥ १६ ॥ (ये चेह पितरो०) हे जातवेद परमेश्वर ! जो पितर लोग हमारे समीप और दूर देश में हैं, (यांश्च विद्म) जिन को समीप होने से हम लोग जानते और (यांऽ॥ उचन प्रविद्म) जिन को दूर होने के कारण नहीं भी जानते हैं, (यति ते०) जो इस संसार के बीच में वर्त्तमान हैं (त्वं वेत्थ) उन सब को आप यथावत् जानते हैं । कृपा कर के उन का और हमारा परस्पर सम्बन्ध सदा के लिये कीजिये । (स्वधाभिर्यज्ञꣳसुकृतं) और आप अपनी धारणादि शक्तियों से व्यवहार और परमार्थरूप श्रेष्ठ यज्ञों को प्रीतिपूर्वक सेवन कीजिये कि जिससे हम लोगों को सब सुख प्राप्त होते रहें ॥ १७ ॥ (इदं पितृभ्यो न०) हम लोग उन सब पितरों को नमस्कार करते हैं (अद्य पूर्वासो य उ परास

ईयुः) जो कि प्रथम आप विद्वान् होके हम लोगों को भी विद्या देते हैं। अथवा जो कि विरक्त और संन्यासी होके सर्वत्र विचरते हुए उपदेश करते हैं। तथा (ये पार्थिवे रजस्या निषत्ताः) जो कि पार्थिव अर्थात् भूगर्भविद्या और सूर्यादि लोकों के जानने वाले हैं। तथा (ये वा नूनꣳसु०) जो कि निश्चय करके प्रजाओं के हित में उद्यत और उत्तम सेनाओं के बीच में बड़े चतुर हैं उन सभों को हम लोग नमस्कार करते हैं इसलिये कि वे सब दिन हमारी उन्नति करते रहें॥१८॥

उशन्तस्त्वा निधीमह्युशन्तः समिधीमहि। उशन्नुशत आवह पितॄन्हविषे अत्तवे॥ १९॥ य० अ० १६। मं० ७०॥ पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः। पितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः। प्रपितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः। अक्षन् पितरोऽमीमदन्त पितरोऽतीतृपन्त पितरः पितरः शुन्धध्वम्॥ २०॥ पुनन्तु मा पितरः सोम्यासः पुनन्तु मा पितामहाः पुनन्तु प्रपितामहाः पवित्रेण शतायुषा। पुनन्तु मा पितामहाः पुनन्तु प्रपितामहाः पवित्रेण शतायुषा विश्वमायुर्व्यश्नवै॥ २१॥ य० अ० १९। मं० ३६। ३७॥

भाष्यम्

(उशन्तस्त्वा निधीमहि) हे परमेश्वर! वयं त्वां कामयमाना, इष्टत्वेन हृदयाकाशे, न्यायाधीशत्वेन राष्ट्रे, सदा स्थापयामः (उशन्तः समिधीमहि) जगदीश्वर! त्वां शृण्वन्तः श्रावयन्तः सम्यक् प्रकाशयेमहि। कस्मै प्रयोजनायेत्यत्राह। (हविषे अत्तवे०) सद्विद्याग्रहणाय तेभ्यो धनाद्युत्तमपदार्थदानायानन्दभोगाय च (उशन्नुशत आवह पितॄन्) सत्योपदेशविद्याकामयमानान् कामयमानस्त्वमस्मानावहासमन्तात्प्रापय॥ १६॥ (पितृभ्यः) स्वां स्वकीयाममृताख्यां मोक्षविद्यां कर्त्तुं शीलं येषां, तेभ्यो वसुसंज्ञकेभ्यो विद्याप्रदातृभ्यो, जनकेभ्यश्च, (स्वधा) अन्नाद्युत्तमवस्तु दद्मः। ये च चतुर्विंशतिवर्षपर्य्यन्तेन ब्रह्मचर्य्येण विद्यामधीत्याध्यापयन्ति ते वसुसंज्ञकाः, (पितामहेभ्यः) ये चतुश्चत्वारिंशद्वर्षपर्य्यन्तेन ब्रह्मचर्येण विद्यां पठित्वा पाठयन्ति ते पिता-

महा:, (प्रपितामहेभ्यः) येऽष्टाचत्वारिंशद्वर्षप्रमितेन ब्रह्मचर्य्येण विद्यापारावारं प्राप्याध्यापयन्ति त आदित्याख्या, अर्थात् सत्यविद्याद्योतका:, (नमः) तेभ्योऽस्माकं सततं नमोस्तु । (अक्षन् पितरः) हे पितरो ! भवन्तोऽस्मत्रैव भोजनाच्छादनादिकं कुर्वीरन् । अमीमदन्त पितर इति पूर्वं व्याख्यातम् । (अतीतृपन्त पितरः) हे पितरोऽस्मत्सेवयाऽऽनन्दिता भूत्वा तृप्ता भवत । (पितरः शुन्धध्वम्) हे पितरो ! यूयमुपदेशेनाविद्यादिदोषविनाशादस्मान् शुन्धध्वं पवित्रान् कुरुत ॥ २० ॥ (पुनन्तु मा पितरः) भो पितरः ! पितामहा: ! प्रपितामहाश्च ! भवन्तो मां मनःकर्मवचनद्वारा वारंवारं पुनन्तु, पवित्रव्यवहारकारिणं कुर्वन्तु । केन पुनन्त्वित्याह, (पवित्रेण०) पवित्रकर्मानुष्ठानकरणोपदेशेन, (शतायुषा) शतवर्षपर्य्यन्तजीवननिमित्तेन ब्रह्मचर्य्येण मां पुनन्तु । अग्रे पुनन्त्विति क्रियात्रयं योजनीयम् । येनाहं (विश्वमायुर्व्यश्नवै) सम्पूर्णमायुः प्राप्नुयाम् । अत्र पुरुषो वाव * यज्ञ इत्याकारकेण छान्दोग्योपनिषत्प्रमाणेन विदुषां वसुरुद्रादित्यसंज्ञा वेदितव्याः ॥ २१ ॥

भावार्थ

(उशन्तस्त्वा निधीमहि) हे अग्ने परमेश्वर ! हम लोग आपकी प्राप्ति की कामना करके आपको अपने हृदय में निहित अर्थात् स्थापित और (उशन्तः समिधीमहि) आप का ही सर्वत्र प्रकाश करते रहैं । (उशन्नुशत आवह पितॄन्) हे भगवन् ! आप हमारे कल्याण के अर्थ पूर्वोक्त पितरों को नित्य प्राप्त कीजिये कि (हविषे अत्तवे) हम लोग उन की सेवा में विद्या लेने के लिये स्थिर रहैं ॥ १९ ॥ (पितृभ्यः स्वधा०) जो चौवीस वर्ष ब्रह्मचर्य्याश्रम से विद्या पढ़के सब को पढ़ाते हैं उन पितरों को हमारा नमस्कार है । (पितामहेभ्यः०) जो चवालीस वर्ष पर्य्यन्त ब्रह्मचर्य्याश्रम से वेदादि विद्याओं को पढ़ के सब के उपकारी और अमृतरूप ज्ञान के देने वाले होते हैं, (प्रपितामहेभ्यः०) जिन्होंने अड़तालीस वर्ष पर्य्यन्त जितेन्द्रियता के साथ संपूर्ण विद्याओं को पढ़ के हस्तक्रिया से भी सब विद्या के दृष्टान्त साक्षात् देख के दिखलाते और जो सब के

* प्र० ३ । खं० १६ ॥

सुखी होने के लिये सदा प्रयत्न करते रहते हैं उन का मान भी सब लोगों को करना उचित है। पिताओं का नाम वसु है, क्योंकि वे सब विद्याओं में वास करने के लिये योग्य होते हैं। ऐसे ही पितामहों का नाम रुद्र है, क्योंकि वे वसुसंज्ञक पितरों से दूनी अथवा शतगुणी विद्या और बलवाले होते हैं, तथा प्रपितामहों का नाम आदित्य है, क्योंकि वे सब विद्याओं और सब गुणों में सूर्य्य के समान प्रकाशमान होके सब विद्या और लोगों को प्रकाशमान करते हैं। इन तीनों का नाम वसु, रुद्र और आदित्य इसलिये है कि वे किसी प्रकार की दुष्टता मनुष्या में रहने नहीं देते। इस में (पुरुषो वाव यज्ञ०) यह छान्दोग्य उपनिषद् का प्रमाण लिख दिया है सो देख लेना। (अक्षन् पितरः०) हे पितर लोगो ! तुम विद्यारूप यज्ञ को फैला के सुख भोगो, तथा (अमीमदन्त पितरः०) हमारी सेवा से अत्यन्त प्रसन्न रहो, (अतीतृपन्त पितरः) हमारी सेवा से तृप्त होकर हम को भी आनन्दित और तृप्त करते रहो, तथा जिस पदार्थ को तुम चाहो अथवा हम आप की सेवा में भूलें तो आप लोग हम को शिक्षा करो। (पितरः शुन्धध्वम्) हे पितर लोगो ! आप हम को धर्मोपदेश और सत्य विद्याओं से शुद्ध करें कि जिससे हम लोग आप के साथ मिल के सनातन परमात्मा की भक्ति अपनी शुद्धि के अर्थ प्रेम से करें॥ २० ॥ (पुनन्तु मा पितरः) जो पितर लोग शान्तात्मा और दयालु हैं वे मुझ को विद्यादान से पवित्र करें, (पुनन्तु मा पितामहाः) इसी प्रकार पितामह और प्रपितामह भी मुझको अपनी उत्तम विद्या पढ़ा के पवित्र करें। इसलिये कि उन की शिक्षा को सुनके ब्र चर्य्य धारण करने स सौ वर्ष पर्य्यन्त आनन्दयुक्त उमर होती रहे। इस मन्त्र में दो वार पाठ केवल आदर के लिये है। इत्यादि अन्य मन्त्र भी इन्हीं विषयों के पुष्टिकारक हैं। उन सभों का अर्थ सर्वत्र इसी प्रकार से समझ लेना चाहिये। तथा जहां कहीं अमावास्या में पितृयज्ञ करना लिखा है वहां भी इसी अभिप्राय से है कि जो कदाचित् नित्य उन की सेवा न बन सके तो महीने २ अर्थात् अमावास्या में मासेष्टि होती है उस में उन लोगों को बुला के अवश्य सत्कार करें॥ २१ ॥

इति पितृयज्ञः समाप्तः

अथ बलिवैश्वदेवविधिर्लिख्यते

यदन्नं पक्वमक्षारलवणं भवेत्तेनैव बलिवैश्वदेवकर्म कार्य्यम्।

वैश्वदेवस्य सिद्धस्य गृह्येऽग्नौ विधिपूर्वकम्।
आभ्यः कुर्य्याद्देवताभ्यो ब्राह्मणो होममन्वहम्॥ १॥
मनुस्मृतौ अ० ३। श्लोकः ८४॥

अथ बलिवैश्वदेवकर्मणि प्रमाणम्

अहरहर्बलिमित्ते हरन्तोऽश्वायेव तिष्ठते घासमग्ने। रायस्पोषेण समिषा मदन्तो मा ते अग्ने प्रतिवेशा रिषाम॥ १॥ अथर्व० कां० १६। अनु० ७। सू० ५५। मं० ७॥ पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनसा धियः। पुनन्तु विश्वा भूतानि जातवेदः पुनीहि मा स्वाहा *॥ २॥ य० अ० १६। मं० ३६॥

भाष्यम्

(अग्ने) हे परमेश्वर! (ते) तुभ्यं, त्वदाज्ञापालनार्थं, (इत्) एव, (तिष्ठतेऽश्वाय) (घासं) यथाऽश्वस्याग्रे पुष्कलः पदार्थः स्थाप्यते, तथैव (इव) (अहरहः) नित्यं प्रति (बलिं) (हरन्तः) भौतिकमग्निमतिथींश्च बलीन् प्रापयन्तः, (समिषा) सम्यगिष्यते या सा समिट् तया श्रद्धया (रायस्पोषेण) चक्रवर्त्तिराज्यलक्ष्म्या (मदन्तः) हर्षन्तो वयं, (अग्ने) हे परमात्मन्! (ते) तव (प्रतिवेशाः) प्रतिकूला भूत्वा सृष्टिस्थान् प्राणिनः (मारिषाम) मा पीडयेम। किन्तु भवत्कृपया सर्वे जीवा अस्माकं मित्राणि सन्तु, सर्वेषां च वयं सखायः स्म, इति ज्ञात्वा परस्परं नित्यमुपकारं कुर्य्याम॥ १॥ (पुनन्तु मा०) अस्य मन्त्रस्यार्थस्तर्पणविषय उक्तः।

---

* स्वाहेति पदं मंत्रे नास्ति।

भाषार्थ

(अग्ने) हे परमेश्वर ! जैसे खाने योग्य पुष्कल पदार्थ घोड़े के आगे रखते हैं, वैसे ही आप की आज्ञापालन के लिये, (अहरहः) प्रतिदिन भौतिक अग्नि में होम करते, और अतिथियों को (बलिं) अर्थात् भोजन देते हुए हम लोग अच्छी प्रकार वांछित चक्रवर्त्ती राज्य की लक्ष्मी से आनन्द को प्राप्त होके (अग्ने) हे परमात्मन् ! (प्रति वेशाः) आप की आज्ञा से उलटे होके आप के उत्पन्न किये हुए प्राणियों को (मा रिषाम) अन्याय से दुःख कभी न देवें। किन्तु आप की कृपा से सब जीव हमारे मित्र और हम सब जीवों के मित्र रहैं। ऐसा जानकर परस्पर उपकार सदा करते रहैं ॥ १ ॥ (पुनन्तु मा०) इस मन्त्र का अर्थ तर्पणविषय में कह दिया है ॥ २ ॥

ओमग्नये स्वाहा ॥ ओं सोमाय स्वाहा ॥ ओमग्नीषोमाभ्यां स्वाहा ॥ ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा ॥ ओं धन्वन्तरये स्वाहा ॥ ओं कुह्वै स्वाहा ॥ ओमनुमत्यै स्वाहा ॥ ओं प्रजापतये स्वाहा। ओं सह द्यावापृथिवीभ्याᳬ स्वाहा ॥ ओं स्विष्टकृते स्वाहा ॥

भाष्यम्

(ओम०) अग्न्यर्थ उक्तः । (ओं सो०) सर्वानन्दप्रदो, यः सर्वजगदुत्पादक ईश्वरः सोऽत्र ग्राह्यः । (ओमग्नी०) प्राणापानाभ्यामनयोरर्थो गायत्रीमन्त्रार्थ उक्तः । (ओं वि०) विश्वे देवा विश्वप्रकाशका ईश्वरगुणाः, सर्वे विद्वांसो वा । (ओं ध०) सर्वरोगनाशक ईश्वरोऽत्र गृह्यते । (ओं कु०) दर्शेष्ट्यर्थोऽयमारम्भः, अमावास्येष्टिप्रतिपादितार्थे चितिशक्तये वा । (ओम०) पौर्णमास्येष्ट्यर्थोयमारम्भः, विद्यापठनानन्तरं मतिर्मननं ज्ञानं यस्याश्चितिशक्तेः साऽनुमतिर्वा तस्यै । (ओं प्र०) सर्वजगतः स्वामी रक्षक ईश्वरः । (ओं सह०) ईश्वरेण प्रकृष्टगुणैः सहोत्पादिताभ्यामग्निभूमिभ्यां सर्वोपकारा ग्राह्याः । एतदर्थोयमारम्भः । (ओं स्विष्ट०) यः सुष्ठु शोभनमिष्टं सुखं करोति स चेश्वरः । एतैर्मन्त्रैर्होमं कृत्वाऽथ बलिप्रदानं कुर्य्यात् ।

भावार्थ

(ओम०) अग्नि शब्द का अर्थ पीछे कह आये हैं, (ओं सो०) अर्थात् सब पदार्थों को उत्पन्न, पुष्ट करने और सुख देनेवाला, (ओम०) जो सब प्राणियों के जीवन का हेतु प्राण, तथा जो दुःखनाश का हेतु अपान. (ओं वि०) संसार के प्रकाश करने वाले ईश्वर के गुण अथवा विद्वान् लोग, (ओं ध०) जन्ममरणादि रोगों का नाश करनेवाला परमात्मा, (ओं कु०) अमावास्येष्टि का करना, (ओम०) पौर्णमास्येष्टि वा सर्वशास्त्रप्रतिपादित परमेश्वर की चितिशक्ति, (ओं प्र०) सब जगत् का स्वामी जगदीश्वर, (ओं स०) सत्यविद्या के प्रकाश के लिये पृथिवी का राज्य और अग्नि तथा भूमि से अनेक उपकारों का ग्रहण, (ओं स्वि०) इष्ट सुख का करनेवाला परमेश्वर इन दश मन्त्रों के अर्थों से ये १० प्रयोजन जान लेना । अब आगे बलिदान के मन्त्र लिखते हैं ।

ओं सानुगायेन्द्राय नमः ॥ १ ॥ ओं सानुगाय यमाय नमः ॥ २ ॥ ओं सानुगाय वरुणाय नमः ॥ ३ ॥ ओं सानुगाय सोमाय नमः ॥ ४ ॥ ओं मरुद्भ्यो नमः ॥ ५ ॥ ओमद्भ्यो नमः ॥ ६ ॥ ओं वनस्पतिभ्यो नमः ॥ ७ ॥ ओं श्रियै नमः ॥ ८ ॥ ओं भद्रकाल्यै नमः ॥ ९ ॥ ओं ब्रह्मपतये नमः ॥ १० ॥ ओं वास्तुपतये नमः ॥ ११ ॥ ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यो नमः ॥ १२ ॥ ओं दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यो नमः ॥ १३ ॥ ओं नक्तंचारिभ्यो नमः ॥ १४ ॥ ओं सर्वात्मभूतये नमः ॥ १५ ॥ ओं पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः ॥ १६ ॥ इति नित्यश्राद्धम् ।

भाष्यम्

(ओं सा०) णमप्रह्वत्वे शब्दे इत्यनेन सत्क्रियापुरस्सरविचारेण मनुष्याणां यथार्थं विज्ञानं भवतीति वेद्यम् । नित्यैर्गुणैः सह वर्त्तमानः परमैश्वर्य्यवानीश्वरोऽत्र गृह्यते । (ओं सानु०) पक्षपातरहितो न्यायकारित्वादि-

गुणयुक्तः परमात्माऽत्र वेद्यः । (ओं सा०) विद्याद्युत्तमगुणविशिष्टः सर्वोत्तमः परमेश्वरोऽत्र ग्रहीतव्यः । (ओं सानुगाय०) अस्यार्थ उक्तः । (ओं म०) य ईश्वराधारेण सकलं विश्वं धारयन्ति चेष्टयन्ति च ते मरुतः । (ओमं०) अस्यार्थः शन्नो देवीरित्यत्रोक्तः । (ओं वन०) वनानां लोकानां पतय ईश्वरो* वायुमेघादयः पदार्था अत्र ग्राह्याः, यद्वोत्तमगुणयोगेनेश्वरेणोत्पादितेभ्यो महावृक्षेभ्यश्चोपकारग्रहणं सदा कार्यमिति बोध्यम् । (ओं श्रि०) श्रीयते सेव्यते सर्वैर्जनैस्सा श्रीरीश्वरः सर्वसुखशोभावत्त्वात्, यद्वेश्वरेणोत्पादिता विश्वशोभा च । (ओं भ०) या भद्रं कल्याणं सुखं कलयति सा भद्रकालीश्वरशक्तिः । (ओम्ब्र०) ब्रह्मणः सर्वशास्त्रविद्यायुक्तस्य वेदस्य ब्रह्माण्डस्य वा पतिरीश्वरः । (ओं वास्तु०) वसन्ति सर्वाणि भूतानि यस्मिंस्तद्वास्त्वाकाशं तत्पतिरीश्वरः । (ओं वि०) अस्यार्थ उक्तः । (ओं दिवा०) (ओं नक्तं०) ईश्वरकृपयैवं भवेन्नः दिवसे यानि भूतानि विचरन्ति रात्रौ च तानि विघ्नं मा कुर्वन्तु, तैः सहाविरोधोऽस्तु नः, एतदर्थोयमारम्भः । (ओं स०) सर्वेषां जीवात्मनां भूतिर्भवनं सत्तेश्वरोत्र ग्राह्यः । (ओं पि०) अस्यार्थ उक्तः पितृतर्पणे । नम इत्यस्य निरभिमानद्योतनार्थः परस्योत्कृष्टतामान्यज्ञापनार्थश्चारम्भः ।

भाषार्थ

(ओं सानु०) सर्वैश्वर्य्ययुक्त परमेश्वर और उस के गुण, (ओं सा०) सत्य न्याय करनेवाला और उस की सृष्टि में सत्य न्याय के करनेवाले सभासद्, (ओं सा०) सब से उत्तम परमात्मा और उस के धार्मिक भक्त जन, (ओं सा०) पुण्यात्माओं को आनन्द करानेवाला परमात्मा और वे लोग, (ओं मरुत्०) अर्थात् प्राण जिन के रहने से जीवन और निकलने से मरण होता है उनकी रक्षा करना, (ओमद्भ्यो०) इस का अर्थ शन्नोदेवी इस मन्त्र में लिख दिया है, (ओं व०) ईश्वर के उत्पन्न किये हुए वायु और मेघ आदि सब के पालन के हेतु सब पदार्थ तथा जिन से अधिक वर्षा और जिन के फलों से जगत् का

* ईश्वरोत्पादिता इति हस्तलिखित भूमिकायाम् ।

उपकार होता है उन की रक्षा करनी, (ओं श्रि०) जो सेवा करने के योग्य परमात्मा और पुरुषार्थ से राज्यश्री की प्राप्ति करने में सदा उद्योग करना, (ओं भ०) जो कल्याण करनेवाली परमात्मा की शक्ति अर्थात् सामर्थ्य है उस का सदा आश्रय करना, (ओं ब्र०) जो वेद के स्वामी ईश्वर की प्रार्थना विद्या के लिये करना, (ओं वा०) वास्तुपति अर्थात् जो गृहसम्बन्धी पदार्थों का पालन करनेवाला ईश्वर, (ओं ब्रह्म०) वेद शास्त्र का रक्षक जगदीश्वर, (ओं वि०) इस का अर्थ कह दिया है, (ओं दि०) जो दिन में और (ओं नक्तं०) रात्रि में विचरने वाले प्राणी हैं उन से उपकार लेना और उन को सुख देना (सर्वात्म०) सब में व्याप्त परमेश्वर की सत्ता को सदा ध्यान में रखना, (ओं पि०) माता पिता और आचार्य्य आदि को प्रथम भोजनादि से सेवा करके पश्चात् स्वयं भोजनादि करना । स्वाहा शब्द का अर्थ पूर्व कर दिया है और नमः शब्द का अर्थ यह है कि आप अभिमान रहित होना और दूसरे का मान्य करना । इस के पीछे ये छः भाग करना चाहिये ।

शुनां च पतितानां च श्वपचां * पापरोगिणाम् ॥
वायसानां कृमीणां च शनकैर्निर्वपेद्भुवि ॥ १ ॥

अनेन षड्भागान् भूमौ दद्यात् । एवं सर्वप्राणिभ्यो भागान् विभज्य दत्त्वा च तेषां प्रसन्नतां सम्पादयेत् ।

भाषार्थ

कुत्तों, कंगालों, कुष्ठी आदि रोगियों, काक आदि पक्षियों और चींटी आदि कृमियों के लिये भी छः भाग अलग २ बांट के दे देना और उनकी प्रसन्नता करना अर्थात् सब प्राणियों को मनुष्यों से सुख होना चाहिये । यह वेद और मनुस्मृति की रीति से बलिवैश्वदेव पूरा हुआ ॥ इति बलिवैश्वदेवविधिः समाप्तः ॥

अथ पञ्चमोऽतिथियज्ञः प्रोच्यते । यत्रातिथीनां सेवनं यथावत् क्रियते

* मनौ श्वपचामिति पाठः ॥ अ० ३ । श्लो० ९२ ॥

तत्र सर्वाणि सुखानि भवन्तीति । अथ के अतिथयः ? । ये पूर्णविद्यावन्तः, परोपकारिणो, जितेन्द्रिया, धार्मिकाः, सत्यवादिनश्छलादिदोषरहिता, नित्यभ्रमणकारिणो मनुष्यास्तानतिथय इति कथयन्ति । अत्रानेके प्रमाणभूता वैदिकमन्त्राः सन्ति । परन्त्वत्र संक्षेपतो द्वावेव लिखामः ।

तद्यस्यैवं विद्वान् व्रात्योऽतिथिर्गृहानागच्छेत् ॥ १ ॥ स्वयमेनमभ्युदेत्य ब्रूयाद्, व्रात्य क्वावात्सीर्व्रात्योदकं, व्रात्य तर्पयन्तु, व्रात्य यथा ते प्रियं तथास्तु, व्रात्य यथा ते वशस्तथास्तु, व्रात्य यथा ते निकामस्तथास्त्विति ॥ २ ॥ अथ० कां० १५ । अनु० २ । सू० ११ । मं० १ । २ ॥

भाष्यम्

(तद्य०) यः पूर्वोक्तविशेषणयुक्तो विद्वान् (व्रात्यः०) महोत्तमगुणविशिष्टः सेवनीयोऽतिथिर्यस्य गमनागमनयोरनियता तिथिः, किन्तु स्वेच्छया कस्मादागच्छेद् गच्छेच ॥ १ ॥ स यदा यदा गृहस्थानां गृहेषु प्राप्नुयात् (स्वयमेनम०) तदा गृहस्थोऽत्यन्तप्रेम्णोत्थाय नमस्कृत्य च तं महोत्तमासने निषादयेत् । ततो यथायोग्यं सेवां कृत्वा तदनन्तरं तं पृच्छेत् । (व्रात्य क्वावात्सीः) हे पुरुषोत्तम ! त्वं कुत्र निवासं कृतवान् । (व्रात्योदकं) हे अतिथे ! जलमेतद् गृहाण । (व्रात्य तर्पयन्तु) यथा भवन्तः स्वकीयसत्योपदेशेनास्मानस्माकं मित्रादींश्च तर्प्पयन्ति तथाऽस्मदीया भवन्तं च । (व्रात्य यथा०) हे विद्वन् ! यथा भवतः प्रसन्नता स्यात्तथा वयं कुर्याम । यद्वस्तु भवत्प्रियमस्ति तस्याज्ञां कुरु । (व्रात्य यथा ते) हे अतिथे ! भवान् यथेच्छति तथैव वयं तदनुकूलतया भवत्सेवाकरणे निश्चिनुयाम । (व्रात्य यथा ते) यथा भवदिच्छापूर्तिः स्यात्तथा सेवां वयं कुर्य्याम । यतो भवान् वयं च परस्परं सेवासत्सङ्गपूर्विकया विद्यावृद्ध्या सदा सुखे तिष्ठेम ।

भाषार्थ

अब पांचवां अतिथियज्ञ अर्थात् जिस में अतिथियों की यथावत् सेवा करनी होती है उस को लिखते हैं। जो मनुष्य पूर्ण विद्वान्, परोपकारी, जितेन्द्रिय, धर्मात्मा, सत्यवादी, छल कपट रहित और नित्य भ्रमण करके विद्या धर्म का प्रचार और अविद्या अधर्म की निवृत्ति सदा करते रहते हैं उन को अतिथि कहते हैं। इस में वेदमन्त्रों के अनेक प्रमाण हैं। परन्तु उन में से दो मन्त्र यहां भी लिखते हैं। (तद्यस्यैवं विद्वान्) जिस के घर में पूर्वोक्त विशेषणयुक्त (व्रात्य) उत्तमगुणसहित सेवा करने के योग्य विद्वान् आवे तो उस की यथावत् सेवा करे और अतिथि वह कहाता है कि जिस के आने जाने की कोई तिथि दिन निश्चित न हो ॥ १ ॥ (स्वयमेनम०) गृहस्थ लोग ऐसे पुरुष को आते देखकर, बड़े प्रेम से उठ के नमस्कार कर के, उत्तम आसन पर बैठावें, पश्चात् पूछें कि आप को जल अथवा किसी अन्य वस्तु की इच्छा हो सो कहिये। और जब वे स्वस्थचित्त हो जावें तब पूछें कि (व्रात्य क्वावात्सीः) हे व्रात्य ! अर्थात् उत्तम पुरुष ! आपने कल के दिन कहां वास किया था, (व्रात्योदकं) हे अतिथे ! यह जल लीजिये और (व्रात्य तर्पयन्तु) हम को अपने सत्य उपदेश से तृप्त कीजिये कि जिससे हमारे इष्ट मित्र लोग सब प्रसन्न हो के आपको भी सेवा से संतुष्ट रक्खें ॥ (व्रात्य यथा०) हे विद्वान् ! जिस प्रकार आप की प्रसन्नता हो हम लोग वैसा ही काम करें, तथा जो पदार्थ आप को प्रिय हो उस की आज्ञा कीजिये, और (व्रात्य यथा०) जैसे आप की कामना पूर्ण हो वैसी सेवा कीजाय कि जिस से आप और हम लोग परस्पर प्रीति और सत्सङ्गपूर्वक विद्यावृद्धि करके सदा आनन्द में रहें ॥ २ ॥

इति संक्षेपतः पंचमहायज्ञविषयः

अथ ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्यविषयः

सृष्टिमारभ्याद्यपर्य्यन्तं येषां येषां स्वतःपरतःप्रमाणसिद्धानां ग्रन्थानां

पक्षपातरहितै रागद्वेषशून्यैः सत्यधर्मप्रियाचरणैः सर्वोपकारकैरार्यैर्विद्वद्भिर्यथाङ्गीकारः कृतस्तथाऽत्रोच्यते । य ईश्वरोक्ता ग्रन्थास्ते स्वतःप्रमाणं कर्त्तुं योग्याः सन्ति । ये जीवोक्तास्ते परतःप्रमाणार्हाश्च । ईश्वरोक्तत्वाच्चत्वारो वेदाः स्वतःप्रमाणम् । कुतः । तदुक्तौ भ्रमादिदोषाभावात्, तस्य सर्वज्ञत्वात्, सर्वविद्यावत्त्वात्, सर्वशक्तिमत्त्वाच्च । तत्र वेदेषु वेदानामेव प्रामाण्यं स्वीकार्य्यं, सूर्यप्रदीपवत् । यथा सूर्य्यः प्रदीपश्च स्वप्रकाशेनैव प्रकाशितौ सन्तौ सर्वमूर्त्तद्रव्यप्रकाशकौ भवतः, तथैव वेदाः स्वप्रकाशेनैव प्रकाशिताः सन्तः सर्वानन्यविद्याग्रन्थान् प्रकाशयन्ति । ये ग्रन्था वेदविरोधिनो वर्त्तन्ते नैव तेषां प्रामाण्यं स्वीकर्त्तुं योग्यमस्ति । वेदानां तु खलु अन्येभ्यो ग्रन्थेभ्यो विरोधादप्यप्रामाण्यं न भवति, तेषां स्वतःप्रामाण्यात्ताद्भिन्नानां ग्रन्थानां वेदाधीनप्रामाण्याच्च । ये स्वतःप्रमाणभूता मन्त्रभागसंहिताख्याश्चत्वारो वेदा उक्तास्तद्भिन्नास्तद्व्याख्यानभूता ब्राह्मणग्रन्था वेदानुकूलतया प्रमाणमर्हन्ति, तथैवैकादशशतानि सप्तविंशतिश्च वेदशाखा वेदार्थव्याख्याना अपि वेदानुकूलतयैव प्रमाणमर्हन्ति । एवमत्र यानि शिक्षा कल्पोऽथ व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति षडङ्गानि, तथाऽऽयुर्वेदो वैद्यकशास्त्रम्, धनुर्वेदः शस्त्रास्त्रराजविद्या, गान्धर्ववेदो गानविद्या, अर्थवेदश्च शिल्पशास्त्रं, चत्वार उपवेदा अपि । तत्र चरकसुश्रुतनिघण्टादय आयुर्वेदे ग्राह्याः । धनुर्वेदस्य ग्रन्था प्रायेण लुप्ताः सन्ति । परन्तु तस्य सर्वविद्याक्रियावयवैः सिद्धत्त्वादिदानीमपि साधयितुमर्हाः सन्ति । अङ्गिरःप्रभृतिभिर्निर्मिता धनुर्वेदग्रन्था बहव आसन्निति । गान्धर्ववेदश्च सामगानविद्यादिसिद्धः । अर्थवेदश्च विश्वकर्मत्वष्टृमयकृतश्चतसृसंहिताख्यो ग्राह्यः ।

भाषार्थ

जो २ ग्रन्थ सृष्टि की आदि से लेके आज तक पक्षपात और रागद्वेषरहित सत्यधर्मयुक्त सब लोगों के प्रिय प्राचीन विद्वान् आर्य्य लोगों ने (स्वतःप्रमाण) अर्थात् अपने आप ही प्रमाण, परतःप्रमाण अर्थात् वेद और प्रत्यक्षानुमानादि से प्रमाणभूत हैं जिन को जिस प्रकार करके जैसा कुछ माना है उन को आगे

कहते हैं । इस विषय में उन लोगों का सिद्धान्त यह है कि ईश्वर की कही हुई जो चारों मन्त्रसंहिता हैं वे ही स्वयंप्रमाण होने योग्य हैं अन्य नहीं । परन्तु उन से भिन्न भी जो २ जीवों के रचे हुए ग्रन्थ हैं वे भी वेदों के अनुकूल होने से परतःप्रमाण के योग्य होते हैं । क्योंकि वेद ईश्वर के रचे हुए हैं और ईश्वर सर्वज्ञ सर्वविद्यायुक्त तथा सर्वशक्तिवाला है, इस कारण से उस का कथन ही निर्भ्रम और प्रमाण के योग्य है । और जीवों के बनाये ग्रन्थ स्वतःप्रमाण के योग्य नहीं होते, क्योंकि वे सर्वविद्यायुक्त और सर्वशक्तिमान् नहीं होते । इसलिये उन का कहना स्वतःप्रमाण के योग्य नहीं हो सकता । ऊपर के कथन से यह बात सिद्ध होती है कि वेदविषय में जहां कहीं प्रमाण की आवश्यकता हो वहां सूर्य्य और दीपक के समान वेदों का ही प्रमाण लेना उचित है । अर्थात् जैसे सूर्य्य और दीपक अपने ही प्रकाश से प्रकाशमान होके सब क्रियावाले द्रव्यों को प्रकाशित कर देते हैं वैसे ही वेद भी अपने प्रकाश से प्रकाशित होके अन्य ग्रन्थों का भी प्रकाश करते हैं । इस से यह सिद्ध हुआ कि जो जो ग्रन्थ वेदों से विरुद्ध हैं वे कभी प्रमाण वा स्वीकार करने के योग्य नहीं होते । और वेदों का अन्य ग्रन्थों के साथ विरोध भी हो तब भी अप्रमाण के योग्य नहीं ठहर सकते, क्योंकि वे तो अपने ही प्रमाण से प्रमाणयुक्त हैं । इसी प्रकार ऐतरेय, शतपथ ब्राह्मणादि ग्रन्थ जो वेदों के अर्थ और इतिहासादि से युक्त बनाये गये हैं वे भी परतःप्रमाण अर्थात् वेदों के अनुकूल ही होने से प्रमाण और विरुद्ध होने से अप्रमाण हो सकते हैं । मन्त्रभाग की चार संहिता कि जिनका नाम वेद है वे सब स्वतःप्रमाण कहे जाते हैं । और उनसे भिन्न ऐतरेय शतपथ आदि प्राचीन सत्य ग्रन्थ हैं वे परतःप्रमाण के योग्य हैं । तथा ग्यारहसौ सत्ताईस (११२७) चार वेदों की शाखा वेदों के व्याख्यान होने से परतःप्रमाण । तथा (आयुर्वेदः) अर्थात् जो वैद्यकशास्त्र चरक सुश्रुत और धन्वन्तरिकृत निघण्टु आदि ये सब मिलकर ऋग्वेद का उपवेद कहाता है । (धनुर्वेदः) अर्थात् जिसमें शस्त्र अस्त्रविद्या के विधानयुक्त अङ्गिरा आदि ऋषियों के बनाये ग्रन्थ जो कि अङ्गिरा भरद्वाजादिकृत संहिता हैं जिन से राजविद्या सिद्ध होती है परन्तु वे ग्रन्थ प्रायः लुप्त से होगये हैं । जो पुरुषार्थ से इस को सिद्ध किया चाहे तो

वेदादि विद्या-पुस्तकों से साक्षात् कर सकता है। (गान्धर्ववेदः) जो कि साम-गान और नारदसंहिता आदि गानविद्या के ग्रन्थ हैं। (अर्थवेदः) अर्थात् शिल्पशास्त्र जिसके प्रतिपादन में विश्वकर्म्मा, त्वष्टा, देवज्ञ और मयकृत संहिता रची गई हैं, ये चारों उपवेद कहाते हैं।

शिक्षा पाणिन्यादिमुनिकृता। कल्पो मानवकल्पसूत्रादिः। व्याकरण-मष्टाध्यायीमहाभाष्यधातुपाठोणादिगणप्रातिपदिकगणपाठाख्यम्। निरुक्तं यास्कमुनिकृतं निघण्टुसहितं चतुर्थं वेदाङ्गं मन्तव्यम्। छन्दः पिङ्गलाचार्य्य-कृतसूत्रभाष्यम्। ज्योतिषं वसिष्ठाद्यृष्युक्तं रेखाबीजगणितमयं चेति वेदानां षडङ्गानि सन्ति। तथा षडुपाङ्गानि। तत्राद्यं कर्मकाण्डविधायकं धर्मधर्मि-व्याख्यानमयं व्यासमुन्यादिकृतभाष्यसहितं जैमिनिमुनिकृतसूत्रं पूर्वमीमांसा-शास्त्राख्यं ग्राह्यम्। द्वितीयं विशेषतया धर्मधर्मिविधायकं प्रशस्तपादकृतभाष्य-सहितं कणादमुनिकृतं वैशेषिकशास्त्रम्। तृतीयं पदार्थविद्याविधायकं वात्स्या-यनभाष्यसहितं गोतममुनिकृतं न्यायशास्त्रम्। चतुर्थं यत्त्रिभिर्मीमांसावैशे-षिकन्यायशास्त्रैः सर्वपदार्थानां श्रवणमननेनानुमानिकं ज्ञानतया निश्चयो भवति, तेषां साक्षाज्ज्ञानसाधनमुपासनाविधायकं व्यासमुनिकृतभाष्यसहितं पतञ्जलिमुनिकृतं योगशास्त्रम्। तथा पञ्चमं तत्त्वपरिगणनविवेकार्थं भागुरि-मुनिकृतभाष्यसहितं कपिलमुनिकृतं सांख्यशास्त्रम्। षष्ठं बौद्धायनवृत्त्यादिव्या-ख्यानसहितं व्यासमुनिकृतं वेदान्तशास्त्रम्। तथैव ईशकेनकठप्रश्नमुण्डकमा-ण्डूक्यतैत्तिरीयैतरेयछान्दोग्यबृहदारण्यका दशोपनिषदश्चोपाङ्गानि च ग्रा-ह्याणि। एवं चत्वारो वेदाः सशाखा व्याख्यानसहिता,श्चत्वार उपवेदाः, षड् वेदाङ्गानि, षट् च वेदोपाङ्गानि मिलित्वा षड् भवन्ति। एतैरेव चतुर्दशविद्या मनुष्यैर्ग्राह्या भवन्तीति वेद्यम्।

भाषार्थ

इसी प्रकार मन्वादिकृत मानवकल्पसूत्रादि, आश्वलायनादिकृत श्रौतसूत्रादि, पाणिनिमुनिकृत अष्टाध्यायी धातुपाठ गणपाठ उणादिपाठ और पतञ्जलिमुनिकृत

महाभाष्य पर्यन्त व्याकरण। तथा यास्कमुनिकृत निरुक्त और निघण्टु, वसिष्ठमुनि आदि कृत ज्योतिष सूर्य्यसिद्धान्त आदि और (छन्दः) पिङ्गलाचार्य्यकृत सूत्रभाष्य आदि ये वेदों के छः अङ्ग भी परतःप्रमाण के योग्य और ऐसे ही वेदों के छः उपाङ्ग अर्थात् जिन का नाम षट्शास्त्र है, उन में से एक व्यासमुनि आदि कृत भाष्यसहित जैमिनिमुनिकृत पूर्वमीमांसा, जिसमें कर्मकाण्ड का विधान और धर्मधर्मि दो पदार्थों से सब पदार्थों की व्याख्या की है, दूसरा वैशेषिक शास्त्र जो कि कणादमुनिकृत सूत्र और गोतममुनिकृत प्रशस्तपादभाष्यादिव्याख्यासहित, तीसरा न्यायशास्त्र जो कि गोतममुनिप्रणीत सूत्र और वात्स्यायनमुनिकृतभाष्यसहित, चौथा योगशास्त्र जो कि पतञ्जलिमुनिकृत सूत्र और व्यासमुनिकृतभाष्य सहित, पांचवां सांख्यशास्त्र जो कि कपिलमुनिकृत सूत्र और भागुरिमुनिकृतभाष्य सहित और छठा वेदान्तशास्त्र जो कि ईश केन कठ प्रश्न मुण्डक माण्डूक्य तैत्तिरीय ऐतरेय छान्दोग्य और बृहदारण्यक ये दश उपनिषद् तथा व्यासमुनिकृत सूत्र जो कि बौधायनवृत्त्यादिव्याख्या सहित वेदान्तशास्त्र है, ये छः वेदों के उपाङ्ग कहाते हैं। इसका यह अभिप्राय है कि जो शाखा, शाखान्तरव्याख्या सहित चार वेद, चार उपवेद, छः अङ्ग और उपाङ्ग हैं ये सब मिल के चौदह विद्या के ग्रन्थ हैं।

एतासां पठनाद्यथार्थं विदि(त)वस्त्वनुमानसत्यासत्यज्ञानक्रियाकाण्डसाक्षात्करणाच्च महाविद्वान् भवतीति निश्चेतव्यम्। एत ईश्वरोक्ता वेदाः,तद्व्याख्यानमया ब्राह्मणादयो ग्रन्था, आर्षा, वेदानुकूलाः सत्यधर्मविद्यायुक्ता युक्तिप्रमाणसिद्धा एव माननीयाः सन्ति। नैवैतेभ्यो भिन्नाः, पक्षपातक्षुद्रविचारस्वल्पविद्याऽधर्माचरणप्रतिपादना, अनाप्तोक्ता, वेदार्थविरुद्धा, युक्तिप्रमाणविरहा ग्रन्थाः केनापि कदाचिदङ्गीकार्य्या इति। ते च संक्षेपतः परिगण्यन्ते। रुद्रयामलादयस्तन्त्रग्रन्थाः। ब्रह्मवैवर्त्तादीनि पुराणानि च। प्रक्षिप्तश्लोकत्यागाया मनुस्मृतेर्व्यतिरिक्ताः स्मृतयः। सारस्वतचन्द्रिकाकौमुद्यादयो व्याकरणाभासग्रन्थाः। मीमांसाशास्त्रादिविरुद्धनिर्णयसिन्ध्वादयो ग्रन्थाः। वैशेषिकन्यायशास्त्रविरुद्धास्तर्कसंग्रहमारभ्य जागदीश्यन्ता न्यायाभासा ग्रन्थाः।

योगशास्त्रविरुद्धा हठप्रदीपिकादयो ग्रन्थाः । सांख्यशास्त्रविरुद्धा सांख्यतत्त्वकौमुद्यादयः । वेदान्तशास्त्रविरुद्धा वेदान्तसारपञ्चदशीयोगवासिष्ठादयो ग्रन्थाः । ज्योतिषशास्त्रविरुद्धा मुहूर्त्तचिन्तामण्यादयो मुहूर्त्तजन्मपत्रफलादेशविधायका ग्रन्थाः । तथैव श्रौतसूत्रविरुद्धास्त्रिकाण्डिकास्नानसूत्रपरिशिष्टादयो ग्रन्थाः । मार्गशीर्षैकादशीकाशीस्थलजलसेवनयात्राकरणदर्शननामस्मरणस्नानजडमूर्त्तिपूजाकरणमन्त्रेणैव मुक्तिमावनपापनिवारणमाहात्म्यविधायकाः सर्वे ग्रन्थाः । तथैव पाखण्डिसम्प्रदायिनिर्मितानि सर्वाणि पुस्तकानि च, नास्तिकत्वविधायका ग्रन्थाश्चोपदेशाश्च । ते सर्वे वेदादिशास्त्रविरुद्धा युक्तिप्रमाणपरीक्षाहीनाः सन्त्यतः शिष्टैरग्राह्या भवन्ति ।

भाषार्थ

इन ग्रन्थों का तो पूर्वोक्त प्रकार से स्वतः परतः प्रमाण करना सुनना और पढ़ना सब को उचित है । इनसे भिन्नों का नहीं । क्योंकि जितने ग्रन्थ पक्षपाती क्षुद्रबुद्धि कम विद्यावाले अधर्मात्मा असत्यवादियों के कहे वेदार्थ से विरुद्ध और युक्तिप्रमाणरहित हैं उन को स्वीकार करना योग्य नहीं । आगे उन में से मुख्य २ मिथ्या ग्रन्थों के नाम भी लिखते हैं । जैसे रुद्रयामल आदि तन्त्रग्रन्थ, ब्रह्मवैवर्त्त श्रीमद्भागवत आदि पुराण । सूर्य्यगाथा आदि उपपुराण । मनुस्मृति के प्रक्षिप्त श्लोक और उस से पृथक् सब स्मृतिग्रन्थ । व्याकरणविरुद्ध सारस्वतचन्द्रिका कौमुद्यादि ग्रन्थ । धर्मशास्त्रविरुद्ध निर्णयसिन्धु आदि । तथा वैशेषिक न्यायशास्त्र विरुद्ध तर्कसंग्रह मुक्तावल्यादि ग्रन्थ । हठदीपिका आदि ग्रन्थ जो कि योगशास्त्र से विरुद्ध हैं । तथा सांख्यशास्त्रविरुद्ध सांख्यतत्त्वकौमुदी आदि ग्रन्थ । वेदान्तशास्त्रविरुद्ध वेदान्तसार पञ्चदशी योगवासिष्ठादि ग्रन्थ । तथा ज्योतिषशास्त्र से विरुद्ध मुहूर्त्तचिन्तामण्यादि मुहूर्त्तजन्मपत्रफलादेशविधायक पुस्तक । ऐसे ही श्रौतसूत्रादिविरुद्ध त्रिकाण्डिकास्नानविधायकादि सूत्र । तथा मार्गशीर्ष एकादश्यादिव्रत, काश्यादि स्थल, पुष्कर गङ्गादि जल, यात्रामाहात्म्यविधायक पुस्तक तथा दर्शन नामस्मरण जड़मूर्त्तिपूजा करने से मुक्तिविधायक ग्रन्थ । इसी प्रकार पापनिवारणविधायक और ईश्वर के अवतार वा पुत्र अथवा दूतप्रतिपादक वेद-

विरुद्ध शैव शाक्त गाणपत वैष्णवादि मत के ग्रन्थ तथा नास्तिक मत के पुस्तक और उन के उपदेश ये सब वेद युक्ति प्रमाण और परीक्षा से विरुद्ध ग्रन्थ हैं। इसलिये सब मनुष्यों को उक्त अशुद्ध ग्रन्थ त्याग कर देने योग्य हैं।

प्र०—तेषु बह्वनृतभाषणेषु किंचित्सत्यमप्यग्राह्यम्भवितुमर्हति विषयुक्तान्नवत्। उ०—यथा परीक्षका विषयुक्तममृततुल्यमप्यन्नं परीक्ष्य त्यजन्ति तद्वदप्रमाणा ग्रन्थास्त्याज्या एव। कुतः। तेषां प्रचारेण वेदानां सत्यार्थाप्रवृत्ते,स्तदप्रवृत्त्या ह्यसत्यार्थान्धकारापत्ते,रविद्यान्धकारतया यथार्थज्ञानानुत्पत्तेश्चेति। अथ तन्त्रग्रन्थानां मिथ्यात्वं प्रदर्श्यते। तत्र पञ्चमकारसेवनेनैव मुक्तिर्भवति, नान्यथेति। तेषां मतं यत्रेमे श्लोकाः सन्ति। मद्यं मांसं च मीनं च मुद्रा मैथुनमेव च। एते पञ्चमकाराश्च मोक्षदा हि युगे युगे॥ १॥ पीत्वा पीत्वा पुनः पीत्वा यावत्पतति भूतले। पुनरुत्थाय वै पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते॥ २॥ प्रवृत्ते भैरवीचक्रे सर्वे वर्णा द्विजातयः। निवृत्ते भैरवीचक्रे सर्वे वर्णाः पृथक् पृथक्॥ ३॥ मातृयोनिं परित्यज्य विहरेत्सर्वयोनिषु। लिङ्गं योन्यां तु संस्थाप्य जपेन्मन्त्रमतन्द्रितः॥ ४॥ मातरमपि न त्यजेत्। इत्याद्यनेकविधमल्पबुद्ध्यधर्माश्रेयस्कर्मानार्याभिहितयुक्तिप्रमाणरहितं वेदादिभ्योऽत्यन्तविरुद्धमनार्षमश्लीलमुक्तं, तच्छिष्टैर्न कदापि ग्राह्यमिति। मद्यादिसेवनेन बुद्ध्यादिभ्रंशान्मुक्तिस्तु न जायते, किन्तु नरकप्राप्तिरेव भवतीत्यन्यत्सुगमं प्रसिद्धं च। एवमेव ब्रह्मवैवर्त्तादिषु मिथ्यापुराणसंज्ञासु किं च नवीनेषु मिथ्याभूता बह्व्यः कथा लिखितास्तासां स्थालीपुलाकन्यायेन स्वल्पाः प्रदर्श्यन्ते। तत्रैवमेका कथा लिखिता प्रजापतिर्ब्रह्मा चतुर्मुखो देहधारी स्वां सरस्वतीं दुहितरं मैथुनाय जग्राहेति। सा मिथ्यैवास्ति। कुतः। अस्याः कथाया अलंकाराभिप्रायत्वात्। तद्यथा—

भाषार्थ

कदाचित् इन ग्रन्थों के विषय में कोई ऐसा प्रश्न करे कि इन असत्य ग्रन्थों में भी जो २ सत्य बात हैं उन का ग्रहण करना चाहिये तो इसका उत्तर यह है

कि जैसे अमृत तुल्य अन्न में विष मिला हो तो उस को छोड़ देते हैं, क्योंकि उन से सत्यग्रहण की आशा करने से सत्यार्थप्रकाशक वेदादि ग्रन्थों का लोप हो जाता है। इसलिये इन सत्यग्रन्थों के प्रचार के अर्थ उन मिथ्या ग्रन्थों को छोड़ देना अवश्य चाहिये। क्योंकि विना सत्यविद्या के ज्ञान कहां, विना ज्ञान के उन्नति कैसी और उन्नति के न होने से मनुष्य सदा दुःखसागर ही में डूबे रहते हैं। अब आगे उन पूर्वलिखित अप्रमाण ग्रन्थों के संक्षेप से पृथक् २ दोष भी दिखलाये जाते हैं। देखो तन्त्रग्रन्थों में ऐसे २ श्लोक लिखे हुए हैं कि (मद्यं मांसं०) मद्य पीना, मांस मच्छी खाना, मुद्रा अर्थात् सब के साथ इकट्ठे बैठ के रोटी बड़े आदि उड़ाना, कन्या बहिन माता और पुत्रवधू आदि के साथ भी मैथुन कर लेना, इन पांच मकारों के सेवन से सब की मुक्ति होना ॥ १ ॥ (पीत्वा पीत्वा०) किसी मकान के चार आलयों में मद्य के पात्र धर के एक कोने से खड़े २ मद्य पीने का आरम्भ करके दूसरे में जाना, दूसरे से पीते हुए तीसरे में और तीसरे से चौथे में जाकर पीना, यहांतक कि जब पर्य्यन्त पीते २ बेहोश होकर लकड़ी के समान भूमि में न गिर पड़े तब तक बराबर पीते ही चले जाना, इस प्रकार वारंवार पीके अनेक वार उठ २ कर भूमि में गिर जाने से मनुष्य जन्ममरणादि दुःखों से छूटकर मुक्ति को प्राप्त हो जाता है ॥ २ ॥ (प्रवृत्ते भैरवीचक्रे०) जब कभी वाममार्गी लोग रात्रि के समय किसी स्थान में इकट्ठे होते हैं तब उन में ब्राह्मण से लेके चाण्डाल पर्य्यन्त सब स्त्री पुरुष आते हैं, फिर वे लोग एक स्त्री को नंगी करके वहां उस की योनि की पूजा करते हैं, सो केवल इतना ही नहीं किन्तु कभी २ पुरुष को भी नंगा करके स्त्री लोग भी उस के लिङ्ग की पूजा करती हैं। तदनन्तर मद्य के पात्र में से एक पात्र अर्थात् प्याला भरके उस स्त्री और पुरुष दोनों को पिलाते हैं, फिर उसी पात्र से सब वाममार्गी लोग क्रम से मद्य पीते और अन्नमांसादिक खाते चले जाते हैं। यहांतक कि जब तक उन्मत्त न होजायं तब तक खाना पीना बंद नहीं करते हैं। फिर एक स्त्री के साथ एक पुरुष अथवा एक के साथ अनेक भी मैथुन करलेते हैं। जब उस स्थान से बाहर निकलते हैं तब कहते हैं कि अब हम लोग अलग २ वर्णवाले हो गये ॥ ३ ॥ (मातृयोनिं०) उन के

किसी २ श्लोक में तो ऐसा लिखा है कि माता को छोड़ के सब स्त्रियों से मैथुन कर लेवे, इस में कुछ दोष नहीं। और (मातरमपि न त्यजेत्)। किसी २ का यह भी मत है कि माता को भी न छोड़ना तथा किसी में लिखा है कि योनि में लिङ्ग प्रवेश करके आलस्य छोड़कर मन्त्र को जपे तो वह शीघ्र ही सिद्ध हो जाता है। इत्यादि अनेक असंभव कथा तन्त्रग्रन्थों में लिखी हैं। वे सब वेदादिशास्त्र, युक्ति, प्रमाणों से विरुद्ध होने के कारण श्रेष्ठ पुरुषों के ग्रहण करने योग्य नहीं। क्योंकि मद्यादि सेवन से मुक्ति तो कभी नहीं हो सकती परन्तु ज्ञान का नाश और दुःखरूप नरक की प्राप्ति दीर्घकाल तक होती है ॥ ४ ॥ इसी प्रकार ब्रह्मवैवर्त्त और श्रीमद्भागवतादि ग्रन्थ जो कि व्यासजी के नाम से संप्रदायी लोगों ने रचलिये हैं उन का नाम पुराण कभी नहीं हो सकता, किन्तु उन को नवीन कहना उचित है। अब उन की मिथ्यात्वपरीक्षा के लिये कुछ कथा यहां भी लिखते हैं।

प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरमभ्यध्यायद्दिवमित्यन्य आहुरुषसमित्यन्ये। तामृश्यो भूत्वा रोहितं भूतामभ्यैत्। तस्य यद्रेतसः प्रथममुददीप्यत तदसावादित्योऽभवत् ॥ ऐ० पं० ३। कण्डि० ३३। ३४ ॥

प्रजापतिर्वै सुपर्णो गरुत्मानेष सविता ॥ शत० कां० १० अ० २। ब्रा० २। कं० ४ ॥ तत्र पिता दुहितुर्गर्भं दधाति पर्जन्यः पृथिव्याः ॥ निरु० अ० ४। खं० २१ ॥ द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम्। उत्तानयोश्चम्वोर्योनिरन्तरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात् ॥ १ ॥ ऋ० मं० १। सू० १६४। मंत्रः ३३ ॥ शासद्वह्निर्दुहितुर्नप्त्यं गाद्विद्वाँ ऋतस्य दीधितिं सपर्यन्। पिता यत्र दुहितुः सेकमृञ्जन्त्सं शग्म्येन मनसा दधन्वे ॥ २ ॥ ऋ० मं० ३। सू० ३१। मं० १ ॥

भाष्यम्

सविता सूर्यः सूर्यलोकः प्रजापतिसंज्ञकोऽस्ति, तस्य दुहिता कन्यावद् द्यौरुषा चास्ति। यस्माद्यदुत्पद्यते तत्तस्यापत्यवत्, स तस्य पितृवदिति

रूपकालङ्कारोक्तिः । स च पिता तां रोहितां किञ्चिद्रक्तगुणप्राप्तां स्वां दुहितरं किरणैर्ऋष्यवच्छीघ्रमभ्यध्यायत् प्राप्नोति । एवं प्राप्तः प्रकाशाख्यमादित्यं पुत्रमजीजनदुत्पादयति । अस्य पुत्रस्य मातृवदुषा पितृवत्सूर्य्यश्च । कुतः । तस्यामुषसि दुहितरि किरणरूपेण वीर्य्येण सूर्य्याद्दिवसस्य पुत्रस्योत्पन्नत्वात् । यस्मिन् भूप्रदेशे प्रातः पञ्चघटिकायां रात्रौ स्थितायां किञ्चित्सूर्य्यप्रकाशेन रक्तता भवति तस्योषा इति संज्ञा । तयोः पितादुहित्राः समागमादुत्कटदीप्तिः प्रकाशाख्य आदित्यपुत्रो जातः । यथा मातापितृभ्यां सन्तानोत्पत्तिर्भवति, तथैवात्रापि बोध्यम् । एवमेव पर्जन्यपृथिव्योः, पितादुहितृवत् । कुतः । पर्जन्याददभ्यः पृथिव्या उत्पत्तेः । अतः पृथिवी तस्य दुहितृवदस्ति । स पर्जन्यो वृष्टिद्वारा तस्यां वीर्य्यवज्जलप्रक्षेपणेन गर्भं दधाति, तस्माद् गर्भादोषध्यादयोऽपत्यानि जायन्ते । अयमपि रूपकालङ्कारः । अत्र वेदप्रमाणम् (द्यौर्मे पिता०) । प्रकाशो मम पिता पालयितास्ति, (जनिता) सर्वव्यवहाराणामुत्पादकः । अत्र द्वयोः सम्बन्धत्वात् । तत्रेयं पृथिवी माता मानकर्त्री । द्वयोश्चम्वोः पर्जन्यपृथिव्योः सेनावदुत्तानयोरूर्ध्वं तानयोरुत्तानस्थितयोरलङ्कारः । अत्र पिता पर्जन्यो, दुहितुः पृथिव्या, गर्भं जलसमूहमाधात्, आ समन्ताद्धारयतीति रूपकालङ्कारो मन्तव्यः ॥ १ ॥ (शासद्वह्नि) अयमपि मन्त्रोऽस्यैवालङ्कारस्य विधायकोस्ति । वह्निशब्देन सूर्य्यो, दुहिताऽस्य पूर्वोक्तैव । स पिता, स्वस्या उषसो दुहितुः, सेकं किरणाख्यवीर्य्यस्थापनेन गर्भाधानं कृत्वा, दिवसपुत्रमजनयादिति ॥ २ ॥ अस्यां परमोत्तमायां रूपकालङ्कारविधायिन्यां, निरुक्तब्राह्मणेषु व्याख्यातायां, कथायां सत्यामपि, ब्रह्मवैवर्त्तादिषु भ्रान्त्या याः कथा अन्यथा निरूपितास्ता नैव कदाचित्केनापि सत्या मन्तव्या इति ।

भाषार्थ

नवीन ग्रन्थकारों ने एक यह कथा भ्रान्ति से मिथ्या करके लिखी है जो कि प्रथम रूपकालङ्कार की थी । (प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरम०) अर्थात् यहां प्रजापति कहते हैं सूर्य्य को, जिस की दो कन्या एक प्रकाश और दूसरी उषा । क्योंकि

जो जिससे उत्पन्न होता है वह उसका ही संतान कहाता है । इसलिये उषा जो कि तीन चार घड़ी रात्रि शेष रहने पर पूर्व दिशा में रक्तता दीख पड़ती है वह सूर्य्य की किरण से उत्पन्न होने के कारण उसकी कन्या कहाती है । उन में से उषा के सन्मुख जो प्रथम सूर्य्य की किरण जाके पड़ती है वही वीर्य्यस्थापन के समान है । उन दोनों के समागम से पुत्र अर्थात् दिवस उत्पन्न होता है । प्रजापति और सविता ये शतपथ में सूर्य्य के नाम हैं । तथा निरुक्त में भी रूपकालङ्कार की कथा लिखी है कि पिता के समान पर्जन्य अर्थात् जलरूप जो मेघ है उस की पृथिवी रूप दुहिता अर्थात् कन्या है । क्योंकि पृथिवी की उत्पत्ति जल से ही है । जब वह उस कन्या में वृष्टिद्वारा जलरूप वीर्य को धारण करता है तब उससे गर्भ रहकर ओषध्यादि अनेक पुत्र उत्पन्न होते हैं । इस कथा का मूल ऋग्वेद है कि (द्यौर्मे पिता०) । द्यौ जो सूर्य्य का प्रकाश है सो सब सुखों का हेतु होने से मेरे पिता के समान और पृथिवी बड़ा स्थान और मान्य का हेतु होने से मेरी माता के तुल्य है । (उत्तान०) जैसे ऊपर नीचे वस्त्र की दो चांदनी तान देते हैं अथवा आमने सामने दो सेना होती हैं इसी प्रकार सूर्य्य और पृथिवी अर्थात् ऊपर की चांदनी के समान सूर्य्य और नीचे के बिछौने के समान पृथिवी है । तथा जैसे दो सेना आमने सामने खड़ी हों इसी प्रकार सब लोगों का परस्पर सम्बन्ध है । इस में योनि अर्थात् गर्भस्थापन का स्थान पृथिवी और गर्भस्थापन करने वाला पति के समान मेघ है । वह अपने विन्दुरूप वीर्य्य के स्थापन से उस को गर्भधारण कराने से ओषध्यादि अनेक सन्तान उत्पन्न करता है कि जिनसे सब जगत् का पालन होता है ॥ १ ॥ (शासद्वह्नि०) सब का वहन अर्थात् प्राप्ति कराने वाले परमेश्वर ने मनुष्यों की ज्ञानवृद्धि के लिये रूपकालङ्कार कथाओं का उपदेश किया है । तथा वही (ऋतस्य) जल का धारण करने वाला, (नप्त्यङ्गा०) जगत् में पुत्र पौत्रादि का पालन और उपदेश करता है । (पिता यत्र दुहितुः०) जिस सुखरूप व्यवहार में स्थित होके पिता दुहिता में वीर्य्य स्थापन करता है जैसा कि पूर्व लिख आये हैं इसी प्रकार यहां भी जान लेना । जिसने इस प्रकार के पदार्थ और उन के सम्बन्ध रचे हैं उस को हम नमस्कार करते हैं ॥ २ ॥ जो यह रूपकालङ्कार की कथा अच्छी

प्रकार वेद ब्राह्मण और निरुक्तादि सत्यग्रन्थों में प्रसिद्ध है, इस को ब्रह्मवैवर्त्त श्रीमद्भागवतादि मिथ्या ग्रन्थों में भ्रान्ति से बिगाड़ के लिख दिया है, तथा ऐसी २ अन्य कथा भी लिखी हैं। उन सब को विद्वान् लोग मन से त्याग के सत्य कथाओं को कभी न भूलें।

तथा च कश्चिद्देहधारीन्द्रो देवराज आसीत्। स गोतमस्त्रियां जारकर्म कृतवान्। तस्मै गोतमेन शापो दत्तस्त्वं सहस्रभगो भवेति। तस्यै अहल्यायै शापो दत्तस्त्वं पाषाणशिला भवेति। तस्या रामपादरजःस्पर्शेन शापस्य मोक्षणं जातमिति। तत्रेदृश्यो मिथ्यैव कथाः सन्ति। कुतः। आसामप्यलङ्कारार्थत्वात्। तद्यथा—

इन्द्रागच्छेति। गौरावस्कन्दिन्नहल्यायै जारेति। तद्यान्येवास्य चरणानि तैरेवैनमेतत्प्रमुमोदयिषति॥ शत० कां० ३। प्र० ३। अ० ३। ब्रा० ४। कं० १८॥ रेतः सोमः॥ श० कां० ३। अ० ३। ब्रा० २। कं० १॥ रात्रिरादित्यस्यादित्योदयेऽन्तर्धीयते॥ निरु० अ० १२। खं० ११॥ सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्व इत्यपि निगमो भवति। सोपि गौरुच्यते॥ निरु० अ० २। खं० ६॥ जार आ भगः*। जार इव भगम्। आदित्योत्र जार उच्यते, रात्रेर्जरयिता॥ निरु० अ० ३। खं० १६॥ एष एवेन्द्रो य एष तपति॥ श० कां० १। अ० ६। ब्रा० ४। कं० १८॥

भाष्यम्

इन्द्रः सूर्यो, य एष तपति, भूमिस्थान्पदार्थांश्च प्रकाशयति। अस्येन्द्रेति नाम परमैश्वर्यप्राप्तेर्हेतुत्वात्। स अहल्याया जारोस्ति। सा सोमस्य स्त्री। तस्य गोतम इति नाम। गच्छतीति गौरतिशयेन गौरिति गोतमश्चन्द्रः। तयोः स्त्रीपुरुषवत् सम्बन्धोस्ति। रात्रिरहल्या। कस्मादहर्दिनं लीयतेऽस्यां तस्माद्रात्रिरहल्योच्यते। स चन्द्रमाः सर्वाणि भूतानि प्रमोदयति, स्वस्त्रिया-

* भगमिति श्रीवेंकटेश्वर मुद्रिते निरुक्ते पाठः॥

ऽहल्यया सुखयति। अत्र स सूर्य्य इन्द्रो, रात्रेरहल्याया, गोतमस्य चन्द्रस्य स्त्रिया, जार उच्यते। कुतः। अयं रात्रेर्जरयिता। जृष् वयोहानाविति धात्वर्थोऽभिप्रेतोऽस्ति। रात्रेरायुषो विनाशक इन्द्रः सूर्य्य एवेति मन्तव्यम्। एवं सद्विद्योपदेशार्थालङ्कारायां भूषणरूपायां सच्छास्त्रेषु प्रणीतायां कथायां सत्यां, या नवीनग्रन्थेषु पूर्वोक्ता मिथ्या कथा लिखितास्ति, सा केनचित्कदापि नैव मन्तव्या, ह्येतादृश्योऽन्याश्चापि।

भाषार्थ

अब जो दूसरी कथा इन्द्र और अहल्या की है कि जिसको मूढ लोगों ने अनेक प्रकार बिगाड़ के लिखा है सो उस को ऐसे मान रक्खा है कि देवों का राजा इन्द्र देवलोक में देहधारी देव था। वह गोतम ऋषि की स्त्री अहल्या के साथ जारकर्म किया करता था। एक दिन जब उन दोनों को गोतम ने देख लिया तब इस प्रकार शाप दिया कि हे इन्द्र! तू हजार भग वाला होजा। तथा अहल्या को शाप दिया कि तू पाषाणरूप होजा। परन्तु जब उन्होंने गोतम की प्रार्थना की कि हमारे शाप का मोक्षण कैसे वा कब होगा तब इन्द्र से तो कहा कि तुम्हारे हजार भग के स्थान में हजार नेत्र हो जायं और अहल्या को वचन दिया कि जिस समय रामचन्द्र अवतार लेकर तेरे पर अपना चरण लगावेंगे उस समय तू फिर अपने स्वरूप में आजावेगी। इस प्रकार पुराणों में यह कथा बिगाड़ कर लिखी है। सत्य ग्रन्थों में ऐसे नहीं है। तद्यथा (इन्द्रागच्छेति), अर्थात् उन में इस रीति से है कि सूर्य्य का नाम इन्द्र, रात्रि का अहल्या तथा चन्द्रमा का गोतम है। यहां रात्रि और चन्द्रमा का स्त्री पुरुष के समान रूपकालङ्कार है। चन्द्रमा अपनी स्त्री रात्रि से सब प्राणियों को आनन्द कराता है और उस रात्रि का जार आदित्य है। अर्थात् जिस के उदय होने से रात्रि अन्तर्धान हो जाती है और जार अर्थात् यह सूर्य ही रात्रि के वर्त्तमान रूप शृंगार को बिगाड़ने वाला है। इसलिये यह स्त्रीपुरुष का रूपकालङ्कार बांधा है कि जैसे स्त्रीपुरुष मिलकर रहते हैं वैसे ही चन्द्रमा और रात्रि भी साथ २ रहते हैं। चन्द्रमा का नाम गोतम इसलिये है कि वह अत्यन्त वेग से चलता है और

रात्रि को अहल्या इसलिये कहते हैं कि उस में दिन लय हो जाता है। तथा सूर्य्य रात्रि को निवृत्त कर देता है इसलिये वह उसका जार कहाता है। इस उत्तम रूपकालङ्कारविद्या को अल्पबुद्धि पुरुषों ने बिगाड़ के सब मनुष्यों में हानिकारक फल धर दिया है। इसलिये सब सज्जन लोग पुराणोक्त मिथ्या कथाओं को मूल से ही त्याग कर दें।

एवमेवेन्द्रः कश्चिद्देहधारी देवराज आसीत्तस्य त्वष्टुरपत्येन वृत्रासुरेण सह युद्धमभूत्। वृत्रासुरेणेन्द्रो निगलितोऽतो देवानां महद्भयमभूत्। ते विष्णुशरणं गता, विष्णुरुपायं वर्णितवान्—मया प्रविष्टेन समुद्रफेनेनायं हतो भविष्यतीति। ईदृश्यः प्रमत्तगीतवत् प्रलपिताः कथाः पुराणाभासादिषु नवीनेषु ग्रन्थेषु मिथ्यैव सन्तीति भद्रैर्विद्वद्भिर्मन्तव्यम्। कुतः। एतासामप्यलङ्कारवत्त्वात्। तद्यथा॥

इन्द्र॑स्य॒ नु वी॒र्या॑णि॒ प्र वो॑चं॒ यानि॑ च॒कार॑ प्रथ॒मानि॑ व॒ज्री। अह॒न्नहि॒मन्व॒पस्त॑तर्द॒ प्र व॒क्षणा॑ अभिन॒त्पर्व॑तानाम्॥ १॥ अह॒न्नहिं॒ पर्व॑ते शिश्रिया॒णं त्वष्टा॑स्मै॒ वज्रं॑ स्व॒र्यं॑ ततक्ष। वा॒श्रा इ॑व धे॒नवः॒ स्यन्द॑माना॒ अञ्जः॑ समु॒द्रमव॑ जग्मु॒रापः॑॥ २॥ ऋ० मं० १। सू० ३२। मं० १। २॥

भाष्यम्

इन्द्रस्य सूर्य्यस्य परमेश्वरस्य वा तानि वीर्य्याणि पराक्रमानहं प्रवोचं कथयामि, यानि प्रथमानि पूर्वं, (नु) इति वितर्के, वज्री चकार। (वज्री) वज्रः प्रकाशः प्राणो वास्यास्तीति। वीर्य्यं वै वज्रः॥ श० कां० ७। अ० ४ (?)॥ स अहिं मेघमहन् हतवान्, तं हत्वा पृथिव्यामनुपश्चादपस्ततर्द विस्तारितवान्। ताभिरद्भिः प्रवक्षणा नदीस्ततर्द जलप्रवाहेण हिंसितवान्। तटादीनां च भेदं कारितवानस्ति। कीदृश्यस्ता नद्यः ?। पर्वतानां मेघानां सकाशादुत्पद्यमानाः यज्जलमन्तरिक्षाद्धिंसित्वा निपात्यते तद् वृत्रस्य शरीरमेव विज्ञेयम्॥ १॥ अग्रे मन्त्राणां संक्षेपतोऽर्थो वर्ण्यते। (त्वष्टा)

सूर्य्यः (अहन्नहिं) तं मेघमहन् हतवान् । कथं हतवानित्यत्राह । (अस्मै) अहये वृत्रासुराय मेघाय (पर्वते शिश्रियाणम्) मेघे श्रितम् (स्वर्य्यम्) प्रकाशमयम् (वज्रम्) स्वाकिरणजन्यं विद्युत् प्रक्षिपति । येन वृत्रासुरं मेघं (ततक्ष) कणीकृत्य भूमौ पातयति । पुनर्भूमौ गतमपि जलं कणीकृत्याकाशं गमयति । ता आपः समुद्रं (अवजग्मुः) गच्छन्ति । कथम्भूता आपः ? । (अञ्जः) व्यक्ताः (स्यन्दमानाः) चलन्त्यः । का इव ? । वाश्राः वत्समिच्छवो गाव इव । आप एव वृत्रासुरस्य शरीरम् । यदिदं वृत्रशरीराख्यजलस्य भूमौ निपातनं तदिदं सूर्यस्य स्तोतुमर्हं कर्मास्ति ॥ २ ॥

भाषार्थ

तीसरी इन्द्र और वृत्रासुर की कथा है । इस को भी पुराणवालों ने ऐसा धर के लौटा है कि वह प्रमाण और युक्ति इन दोनों से विरुद्ध जा पड़ी है । देखो कि त्वष्टा के पुत्र वृत्रासुर ने देवों के राजा इन्द्र को निगल लिया । तब सब देवता लोग बड़े भययुक्त होकर विष्णु के समीप में गये और विष्णु ने उस के मारने का उपाय बतलाया कि मैं समुद्र के फेन में प्रविष्ट होऊंगा, तुम लोग उस फेन को उठा के वृत्रासुर के मारना, वह मर जायगा । यह पागलों की सी बनाई हुई पुराणग्रन्थों की कथा सब मिथ्या है । श्रेष्ठ लोगों को उचित है कि इन को कभी न मानें । देखो सत्यग्रन्थों में यह कथा इस प्रकार से लिखी है कि (इन्द्रस्य नु०) । यहां सूर्य्य का इन्द्र नाम है, उस के किये हुए पराक्रमों को हम लोग कहते हैं । जो कि परमैश्वर्य्य होने का हेतु अर्थात् बड़ा तेजधारी है वह अपनी किरणों से वृत्र अर्थात् मेघ को मारता है । जब वह मरके पृथिवी में गिर पड़ता है तब अपने जलरूप शरीर को सब पृथिवी में फैला देता है । फिर उससे अनेक बड़ी २ नदी परिपूर्ण होके समुद्र में जा मिलती हैं । कैसी वे नदी हैं कि पर्वत अर्थात् मेघों से उत्पन्न होके जल ही बहने के लिये होती हैं । जिस समय इन्द्र मेघरूप वृत्रासुर को मार के आकाश से पृथिवी में गिरा देता है तब वह पृथिवी में सो जाता है ॥ १ ॥ फिर वही मेघ आकाश में से नीचे गिरके पर्वत अर्थात् मेघमण्डल का पुनः आश्रय लेता है ।

जिसको सूर्य्य अपनी किरणों से फिर हनन करता है। जैसे कोई लकड़ी को छील के सूक्ष्म कर देता है वैसे ही वह मेघ को भी बिन्दु २ करके पृथिवी में गिरादेता है और उस के शरीररूप जल सिमट २ कर नदियों के द्वारा समुद्र को ऐसे प्राप्त होते हैं कि जैसे अपने बछड़ों को गाय दौड़ के मिलती हैं ॥ २ ॥

अहन्वृत्रं वृत्रतरं व्यंसमिन्द्रो वज्रेण महता वधेन। स्कन्धांसीव कुलिशेना विवृक्णाहिः शयत उपपृक्पृथिव्याः ॥ ३ ॥ अपादहस्तो अपृतन्यदिन्द्रमास्य वज्रमधि सानौ जघान वृष्णो वध्रिः प्रतिमानं बुभूषन्पुरुत्रा वृत्रो अशयद्व्यस्तः ॥ ४ ॥ ऋ० मण्ड० १ । सू० ३२ । मं० ५ । ७ ॥

भाष्यम्

अहिरिति मेघनामसु पठितम् ॥ निघं० अ० १ । खं० १० ॥ इन्द्रशत्रुरिन्द्रोस्य शमयिता वा शातयिता वा तस्मादिन्द्रशत्रुः । तत्को वृत्रो? मेघ इति नैरुक्तास्त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः । वृत्रं जघ्निवानपववार तद्वृत्रो वृणोतेर्वा, वर्त्ततेर्वा, वर्धतेर्वा, यदवृणोत्तद्वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते । यदवर्त्तत तद्वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते । यदवर्धत तद्वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते ॥ निरु० अ० २ । खं० १६, १७ ॥ (इन्द्रः) सूर्य्यः (वज्रेण) विद्युत्किरणाख्येन (महता व०) तीक्ष्णतरेण (वृत्रम्) मेघम् (वृत्रतरम्) अत्यन्तबलवन्तम् (व्यंसम्) छिन्नस्कन्धं छेदितघनजालं यथा स्यात्तथा (अहन्) हतवान् ॥ ३ ॥ स (अहिः) मेघः (कुलिशेन) वज्रेण (विवृक्णा) छिन्नानि स्कन्धांसीव (पृथिव्या उपपृक्) यथा कस्यचिन्मनुष्यादेरसिना छिन्नं सदङ्गं पृथिव्यां पतति तथैव स मेघोऽपि (अशयत), छन्दसि लुङ् लङ् लिट इति सामान्यकाले लङ्, पृथिव्यां शयान इवेन्द्रेण सूर्य्येणापादहस्तो व्यस्तो भिन्नाङ्गकृतो वृत्रो मेघो भूमावशयत् शयनं करोतीति ॥४॥ निघण्टौ * वृत्र इति मेघस्य नाम । इन्द्रः शत्रुर्यस्य स इन्द्रशत्रुरिन्द्रोस्य

* अ० १ । खं० १० ॥

निवारकः । त्वष्टा सूर्य्यस्तस्यापत्यमसुरो मेघः । कुतः । सूर्य्यकिरणद्वारैव रसजलसमुदायभेदेन यत्कणीभूतं जलमुपरि गच्छति, तत्पुनर्मिलित्वा मेघरूपं भवति । तस्यैवासुर इति संज्ञात्वात् । पुनश्च तं सूर्य्यो हत्वा भूमौ निपातयति । स च भूमिं प्रविशति । नदीर्गच्छति । तद्द्वारा समुद्रमयनं कृत्वा तिष्ठति पुनश्चोपरि गच्छति । तं वृत्रमिन्द्रः सूर्य्यो जघ्निवानपववार निवारितवान् । वृत्रार्थो वृणोतेः स्वीकरणीयः । मेघस्य यद्वृत्रत्वमावरकत्वं तद्वर्त्तमानत्वाद्वर्धमानत्वाच्च सिद्धमिति विज्ञेयम् ।

भाषार्थ

जब सूर्य्य उस अत्यन्त गर्जित मेघ को छिन्न भिन्न करके पृथिवी में ऐसे गिरा देता है कि जैसे कोई किसी मनुष्य आदि के शरीर को काट २ कर गिराता है तब वह वृत्रासुर भी पृथिवी पर गिरा हुआ मृतक के समान शयन करने वाला होजाता है ॥ ३ ॥ निघण्टु में मेघ का नाम वृत्र है । (इन्द्रशत्रु०) वृत्र का शत्रु अर्थात् निवारक सूर्य्य है, सूर्य्य का नाम त्वष्टा है, उस का सन्तान मेघ है, क्योंकि सूर्य्य की किरणों के द्वारा जल कण २ होकर ऊपर को जाकर वहां मिल के मेघरूप हो जाता है । तथा मेघ का वृत्र नाम इसलिये है कि (वृत्रो वृणोतेः०) वह स्वीकार करने योग्य और प्रकाश का आवरण करने वाला है ।

अतिष्ठन्तीनामनिवेशनानां काष्ठानां मध्ये निहितं शरीरम् । वृत्रस्य निण्यं वि चरन्त्यापो दीर्घं तम आशयदिन्द्रशत्रुः ॥ ५ ॥ नास्मै विद्युन्न तन्यतुः सिषेध न यां मिहमकिरद्ध्रादुनिं च । इन्द्रश्च यद्युयुधाते अहिश्चोतापरीभ्यो मघवा वि जिग्ये ॥ ६ ॥ ऋ० मं० १ । सू० ३२ । मं० १० । १३ ॥

भाष्यम्

इत्यादय एतद्विषया वेदेषु बहवो मन्त्राः सन्ति । वृत्रो ह वाऽइदꣳ सर्वं वृत्वा शिश्ये । यदिदमन्तरेण द्यावापृथिवी । स यदिदꣳ सर्वं वृत्वा

शिश्ये तस्माद्वृत्रो नाम ॥ ४ ॥ तमिन्द्रो जघान । स हतः पूतिः सर्वत एवाऽपोऽभिप्रसुस्राव । सर्वत इव ह्ययᳬ समुद्र,स्तस्मादु हैका आपो बीभत्सां-चक्रिरे । ता उपर्य्युपर्य्यतिपुप्लुविरे,ऽत इमे दर्भा,स्ता हैता अनापूयिता आपो,ऽस्ति वाऽइतरासु सᳬ सृष्टमिव, यदेना वृत्रः पूतिरभिप्रास्रवत्तदेवासा-मेताभ्यां पवित्राभ्यामपहन्त्य,थ मेध्याभिरेवाद्भिः प्रोक्षति, तस्माद्वा एताभ्या-मुत्पुनाति ॥ ५ ॥ श० कां० १ । अ० १ । ब्रा० ३ । कण्डि० ४ । ५ ॥

तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः । अग्निः पृथिवीस्थानो, वायुर्वेन्द्रोवान्तरिक्ष-स्थानः, सूर्य्यो द्युस्थान इति ॥ निरु० अ० ७ । खं० ५ ॥ (अतिष्ठन्तीनाम्०) वृत्रस्य शरीरमापो दीर्घं तमश्चरन्ति । अत एवेन्द्रशत्रुर्वृत्रो मेघो भूमावशयत् । आ समन्ताच्छेते ॥ ५ ॥ (नास्मै विद्युत्०) वृत्रेण मायारूपप्रयुक्ता विद्यु-त्तन्यतुश्चास्मै सूर्य्यायेन्द्राय न सिषेध निषेद्धुं न शक्नोति । अहिर्मेघः, इन्द्रः सूर्य्यश्च द्वौ परस्परं युयुधाते । यदा वृत्रो वर्धते तदा सूर्य्यप्रकाशं निवारयति । यदा सूर्य्यस्य तापरूपसेना वर्धते तदा वृत्रं मेघं निवारयति । परन्तु मघवा इन्द्रः सूर्य्यस्तं वृत्रं मेघं विजिग्ये जितवान् भवति । अन्ततोऽस्यैव विजयो भवति न मेघस्येति ॥ ६ ॥ (वृत्रो ह वा इति०) स वृत्र इदं सर्वं विश्वं वृत्वाऽऽवृत्य शिश्ये शयनं करोति । तस्माद्वृत्रो नाम । तं वृत्रं मेघमिन्द्रः सूर्य्यो जघान हतवान् । स हतः सन् पृथिवीं प्राप्य सर्वतः काष्ठतृणादिभिः संयुक्तः पूतिर्दुर्गन्धो भवति । स पुनराकाशस्थो भूत्वा सर्वतोऽपोऽभिसुस्राव, तासां वर्षणं करोति । अयं हतो वृत्रः समुद्रं प्राप्य तत्रापि भयङ्करो भवति । अत एव तत्रस्था आपो भयप्रदा भवन्ति । इत्थं पुनः पुनस्तास्ता नदीसमुद्र-पृथिवीगता आपः सूर्य्यद्वारेणोपर्य्युपर्य्यन्तरिक्षं पुप्लुविरे गच्छन्ति, ततोऽभिवर्ष-न्ति च । ताभ्य एवेमे दर्भाद्योषधिसमूहा जायन्ते । यौ वाय्विन्द्रौ सूर्य्यपव-नावान्तरिक्षस्थानौ सूर्य्यश्च द्युस्थाने अर्थात् प्रकाशस्थः । एवं सत्यशास्त्रेषु परमोत्तमायामलङ्कारयुक्तायां कथायां सत्यां ब्रह्मवैवर्त्तादिनवीनग्रन्थेषु पुराणा-भासेष्वेता अन्यथा कथा उक्तास्ताः शिष्टैः कदाचिन्नैवाङ्गीकर्त्तव्या इति ।

भाषार्थ

(अतिष्ठन्तीनाम्) वृत्र के इस जलरूप शरीर से बड़ी २ नदियां उत्पन्न

हो के अगाध समुद्र में जाकर मिलती हैं और जितना जल तलाव वा कूप आदि में रहजाता है वह मानो पृथिवी में शयन कर रहा है ॥ ५ ॥ (नास्मै०) अर्थात् वह वृत्र अपने बिजुली और गर्जनरूप भय से भी इन्द्र को कभी नहीं जीत सकता। इस प्रकार अलङ्काररूप वर्णन से इन्द्र और वृत्र ये दोनों परस्पर युद्ध के समान करते हैं अर्थात् जब मेघ बढ़ता है तब तो वह सूर्य्य के प्रकाश को हटाता है और जब सूर्य्य का ताप अर्थात् तेज बढ़ता है तब वह वृत्र नाम मेघ को हटा देता है। परन्तु इस युद्ध के अन्त में इन्द्र नाम सूर्य्य ही का विजय होता है ॥ ६ ॥ (वृत्रो ह वा०) जब २ मेघ वृद्धि को प्राप्त होकर पृथिवी और आकाश में विस्तृत हो के फैलता है तब २ उस को सूर्य्य हनन करके पृथिवी में गिरा दिया करता है। पश्चात् वह अशुद्ध भूमि, सड़े हुए वनस्पति, काष्ठ, तृण तथा मलमूत्रादि युक्त होने से कहीं २ दुर्गन्धरूप भी हो जाता है। फिर उसी मेघ का जल समुद्र में जाता है। तब समुद्र का जल देखने में भयंकर मालूम पड़ने लगता है। इसी प्रकार वारंवार मेघ वर्षता रहता है। (उपर्य्युपर्य्यन्त०) अर्थात् सब स्थानों से जल उड़ २ कर आकाश में बढ़ता है। वहां इकट्ठा होकर फिर २ वर्षा किया करता है। उसी जल और पृथिवी के संयोग से ओषध्यादि अनेक पदार्थ उत्पन्न होते हैं। उसी मेघ को वृत्रासुर के नाम से बोलते हैं। वायु और सूर्य्य का नाम इन्द्र है। वायु अन्तरिक्ष में और सूर्य्य प्रकाशस्थान में स्थित है। इन्हीं वृत्रासुर और इन्द्र का आकाश में युद्ध हुआ करता है कि जिस के अन्त में मेघ का पराजय और सूर्य्य का विजय निःसंदेह होता है। इस सत्य ग्रन्थों की अलङ्काररूप कथा को छोड़ के छोकरों के समान अल्पबुद्धि वाले लोगों ने ब्रह्मवैवर्त्त और श्रीमद्भागवतादि ग्रन्थों में मिथ्या कथा लिख रक्खी हैं, उनको श्रेष्ठ पुरुष कभी न मानें।

एवमेव नवीनेषु ग्रन्थेषूक्ता अनेकविधा देवासुरसंग्रामकथा अन्यथैव सन्ति, ता अपि बुद्धिमद्भिर्मनुष्यैरितरैश्च नैव मन्तव्याः। कुतः। तासामप्यलङ्कारयोगात्। तद्यथा। देवासुराः संयत्ता आसन् ॥ १ ॥ श० कां० १३। अ० २। ब्रा० ४। कं० १॥ असुरानभिमवेम देवाः। असुरा

असुरता स्थानेष्व, स्ताः स्थानेभ्य इति वा। अपि वासुरिति प्राणनामास्तः शरीरे भवति, तेन तद्वन्तः। सोऽदेवानसृजत तत्सुराणां सुरत्वम, सोऽसुरानसृजत तदसुराणामसुरत्वमिति विज्ञायते ॥ निरु० अ० ३। खं० ८॥ देवानाम-सुरत्वमेकत्वं प्रज्ञावत्त्वं वानवत्त्वं वापिवासुरिति प्रज्ञानामास्यत्यनर्थो-नस्ताश्चास्यामर्था असुरत्वमादिलुप्तम् ॥ निरु० अ० १० । खं० ३४ ॥ सोऽर्चञ्छ्राम्यंश्चचार प्रजाकामः। स आत्मन्येव प्रजातिमधत्त, स आस्येनैव देवानसृजत, ते देवा दिवमभिपद्यासृज्यन्त, तद्देवानां देवत्वं यद्दिवमभिपद्या-सृज्यन्त, तस्मै ससृजानाय दिवेवास, तद्वेव देवानां देवत्वं यदस्मै ससृजा-नाय दिवेवास ॥ अथ योऽयमवाङ्प्राणः तेनासुरानसृजत, इमामेव पृथिवीम-भिसंपद्यासृज्यन्त, * तस्मै ससृजानाय तम इवास। सोऽवेत्। पाप्मानं वाऽअ-सृक्षि, यस्मै मे ससृजानाय तम इवाभूदिति, तांस्तत एव पाप्मना विध्यत्ते तत एव पराभवं,स्तस्मादाहुर्नैतदस्ति यद्दैवासुरं, यदिदमन्वाख्याने त्वदुद्यत इतिहासे त्वत्,ततो ह्येव तान् प्रजापतिः पाप्मना विध्यत्ते तत एव पराभ-वन्निति॥ तस्मादेतदृषिणाभ्यनूक्तम्। न त्वं युयुत्से कतमच्च नाहर्न तेऽमित्रो मघवन् कश्चनास्ति। मायेत्सा ते यानि युद्धान्याहुर्नाद्य शत्रुं न नु पुरा युयुत्स इति॥ स यदस्मै देवान्त्ससृजानाय दिवेवास तदहरकुरुताथ यदस्मा असुरान्त्ससृजानाय तम इवास ताᳬ रात्रिमकुरुत ते अहोरात्रे। स ऐक्षत प्रजापतिः ॥ श० कां० ११। अ० १। ब्रा० ६। कं० ७। ८। ९। १०। ११। १२॥ देवाश्च वा असुराश्च। उभये प्राजापत्याः प्रजापतेः पितुर्दायमुपेयुः ॥ श० कां० १। अ० ७। ब्रा० २। कं० २२ ॥ द्वया ह प्राजापत्याः। देवाश्चासुराश्च, ततः कानीयसा एव देवा ज्यायसा असुराः। यदेवेदमप्रतिरूपं वदति स एव स पाप्मा॥ श० कां० १४। अ० ४। ब्रा० १। कं० १। ३॥ ऊर्गिति देवा मायेत्यसुराः॥ श० कां० १०। अ० ५। ब्रा० २। कं० २०॥ प्राणा देवाः॥ श० कां० ६। अ० ३। ब्रा० १। कं० १५॥ प्राणो वा असुस्तस्यैषा माया॥ श० कां० ६।

* वैदिकयन्त्रालयमुद्रितशतपथे समित्युपसर्गो नास्ति।

अ० ६ । ब्रा० २ । कं० ६ ॥ (देवासुराः०) देवा असुराश्च संयत्ता सज्जा युद्धं कर्तुं तत्परा आसन् भवन्तीति शेषः । के ते देवासुरा इत्यत्रोच्यते । विद्वाꣳसो हि देवाः ॥ श० कां० ३ । अ० ७ । ब्रा० ३ । कं० १० ॥ हीति निश्चयेन विद्वांसो देवास्तद्विपरीता अविद्वांसोऽसुराः । ये देवास्ते विद्यावत्त्वात्प्रकाशवन्तो भवन्ति । ये ह्यविद्वांसस्ते खल्वविद्यावत्त्वाज् ज्ञानरहितान्धकारिणो भवन्ति । एषामुभयेषां परस्परं युद्धमिव वर्त्ततेऽयमेव दैवासुरसंग्रामः ॥ द्वयं वा इदं, न तृतीयमस्ति । सत्यं चैवानृतं च । सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्याः । इदमहमनृतात्सत्यमुपैमीति तन्मनुष्येभ्यो देवानुपैति ॥ स वै सत्यमेव वदेत् । एतद्ध वै देवा व्रतं चरन्ति यत्सत्यं, तस्मात्ते यशो, यशो ह भवति । य एवं विद्वान्त्सत्यं वदति, मनो ह वै देवा मनुष्यस्य ॥ श० कां० १ । अ० १ । ब्रा० १ । कं० ४ । ५ । ७ ॥ ये सत्यवादिनः सत्यमानिनः सत्यकारिणश्च ते देवाः । ये चानृतवादिनोऽनृतकारिणोऽनृतमानिनश्च ते मनुष्या असुरा एव । तयोरपि परस्परं विरोधो युद्धमिव भवत्येव । मनुष्यस्य यन्मनस्तद्देवाः, प्राणा असुरा, एतयोरपि विरोधो भवति । मनसा विज्ञानबलेन प्राणानां निग्रहो भवति, प्राणबलेन मनसश्चेति युद्धमिव प्रवर्त्तते । प्रकाशाख्यात्सोर्देवान्मनःषष्ठानीन्द्रियाणीश्वरोऽसृजत । अतस्ते प्रकाशकारकाः । असोरन्धकाराख्यात्पृथिव्यादेरसुरान्पञ्चकर्मेन्द्रियाणि प्राणांश्चासृजत । एतयोरपि प्रकाशाप्रकाशसाधकतमत्वानुरोधेन संग्रामवदनयोर्वर्त्तमानमस्तीति विज्ञेयम् । (सोर्चञ्छ्राम्यंश्चचार०) प्रजाकामः परमेश्वर, आस्येनाग्निपरमाणुमयात्कारणात्, सूर्य्यादीन्प्रकाशवतो लोकान् मुख्यगुणकर्मभ्यो यानसृजत, ते देवा द्योतमाना दिवं प्रकाशं परमेश्वरप्रेरितमभिपद्य, प्रकाशादिव्यवहारानसृज्यन्त । तदेव देवानां देवत्वं यतस्ते दिवि प्रकाशे रमन्ते । अथेत्यनन्तरमर्वाचीनो योयं प्राणो वायुः पृथिव्यादिलोकश्चेश्वरेण सृष्टस्तेनैवासुरान्प्रकाशरहितानसृजत सृष्टवानस्ति । ते पृथिवीमभिपद्यौषध्यादीन्पदार्थानसृज्यन्त । ते सर्वे सकार्य्याः प्रकाशरहितास्तयोस्तमःप्रकाशवतोरन्योन्यं विरोधो युद्धमिव प्रवर्त्तते, तस्मादिदमपि देवासुरं युद्धमिति विज्ञेयम् । तथैव पुण्यात्मा मनुष्यो देवोस्ति, पापात्मा ह्यसुरश्च । एतयोरपि परस्परं विरुद्ध-

स्वभावाद्युद्धमिव प्रतिदिनं भवति, तस्मादेषोऽपि देवासुरसंग्रामोस्तीति विज्ञे-यम् । एवमेव दिनं देवो, रात्रिरसुरः । एतयोरपि परस्परं युद्धमिव प्रवर्त्तते । त इमे उभये पूर्वोक्ताः प्रजापतेः परमेश्वरस्य पुत्रा इव वर्त्तन्ते, अत एव ते परमेश्वरस्य पदार्थानुपेताः सन्ति । तेषां मध्येऽसुराः प्राणादयो ज्येष्ठाः सन्ति । वायोः पूर्वोत्पन्नत्वात्प्राणानां तन्मयत्वाच्च । तथैव जन्मतो मनुष्याः सर्वेऽविद्वांसो भवन्ति । पुनर्विद्वांसश्च । तथैव वायोः सकाशादग्नेरुत्पत्तिः प्रकृतेरिन्द्रियाणां च तस्मादसुरा ज्येष्ठा देवाश्च कनिष्ठाः । एकत्र देवाः सूर्य्यादयो ज्येष्ठाः पृथिव्यादयोऽसुराः कनिष्ठाश्च । ते सर्वे प्रजापतेः सकाशादुत्पन्नत्वात्तस्यापत्यानीव सन्तीति विज्ञेयम् । एषामपि परस्परं युद्धमिव प्रवर्त्तत इति ज्ञातव्यम् । ये प्राणपोषकाः स्वार्थसाधनतत्परा मायाविनः कपटिनो मनुष्यास्ते ह्यसुराः । ये च परोपकारकाः परदुःखभञ्जना निष्कपटिनो धार्मिका मनुष्यास्ते देवाश्च विज्ञेयाः । एतयोरपि परस्परं विरो-धात्संग्राम इव भवति । इत्यादिप्रकारकं दैवासुरं युद्धमिति बोध्यम् । एवं परमोत्तमायां विद्याविज्ञापनार्थायां रूपकालङ्कारेणान्वितायां सत्यशास्त्रोक्तायां कथायां सत्यां, व्यर्थपुराणसंज्ञकेषु नवीनेषु तन्त्रादिषु ग्रन्थेषु च, या मिथ्यैव कथा वर्णिताः सन्ति, विद्वद्भिर्नैवैताः कथाः कदाचिदपि सत्या मन्तव्या इति ।

भाषार्थ

जो चौथी देवासुर संग्राम की कथा रूपकालङ्कार की है इस को भी विना जाने प्रमादी लोगों ने बिगाड़ दिया है । जैसे एक दैत्यों की सेना थी कि जिन का शुक्राचार्य्य पुरोहित था और वे दक्षिण देश में रहे थे, तथा दूसरी देवों की सेना थी कि जिन का राजा इन्द्र, सेनापति अग्नि और पुरोहित बृहस्पति था । उन देवों के विजय कराने के लिये आर्य्यावर्त्त के राजा भी जाया करते थे । असुर लोग तप करके ब्रह्मा विष्णु और महादेवादि से वर मांग लेते थे और उनके मारने के लिये विष्णु अवतार धारण करके पृथिवी का भार उतारा करते थे । यह सब पुराणों की गप्पें व्यर्थ जानकर छोड़ देना और सत्य ग्रन्थों की

कथा जो नीचे लिखते हैं उन का ग्रहण करना सब को उचित है। तद्यथा (देवासुराः सं), देव और असुर अपने २ बाने में सजकर सब दिन युद्ध किया करते हैं, तथा इन्द्र और वृत्रासुर की जो कथा ऊपर लिख आये सो भी देवासुरसंग्रामरूप जानो। क्योंकि सूर्य्य की किरण देवसंज्ञक और मेघ के अवयव अर्थात् बादल असुरसंज्ञक हैं। उन का परस्पर युद्ध वर्णन पूर्व कर दिया है। निघण्टु आदि सत्य शास्त्रों में सूर्य्य देव और मेघ असुर करके प्रसिद्ध है। इन सब वचनों का अभिप्राय यह है कि मनुष्य लोग देवासुर संग्राम का स्वरूप यथावत् जान लेवें। जैसे जो लोग विद्वान, सत्यवादी, सत्यमानी और सत्यकर्म करने वाले हैं वे तो देव और जो अविद्वान्, झूंठ बोलने, झूंठ मानने और मिथ्याचार करने वाले हैं वे असुर कहाते हैं। उन का परस्पर नित्य विरोध होना यही उनके युद्ध के समान है। इसी प्रकार मनुष्य का मन और ज्ञान इन्द्रिय भी देव कहाते हैं, उन में राजा मन और सेना इन्द्रिय हैं। तथा सब प्राणों का नाम असुर है, उन में राजा प्राण और अपानादि सेना है। इन का भी परस्पर विरोधरूप युद्ध हुआ करता है। मन के विज्ञान बढ़ने से प्राणों का जय और प्राणों के बढ़ने से मन का विजय हो जाता है। (सोर्दे०) सु अर्थात् प्रकाश के परमाणुओं से मन और पांच ज्ञानेन्द्रिय, उनके परस्पर संयोग तथा सूर्य्य आदि को ईश्वर रचता है। और (असो०) अन्धकाररूप परमाणुओं से पांच कर्मेन्द्रिय, दश प्राण और पृथिवी आदि को रचता है जो कि प्रकाशरहित होने से असुर कहाते हैं। प्रकाश और अप्रकाश के विरुद्ध गुण होने से इन की भी संग्राम संज्ञा मानी है। तथा पुण्यात्मा मनुष्य देव और पापात्मा दुष्ट लोग असुर कहाते हैं। उन का भी परस्पर विरोधरूप युद्ध नित्य होता रहता है। तथा दिन का नाम देव और रात्रि का नाम असुर है। इन का भी परस्पर विरोधरूप युद्ध हो रहा है। तथा शुक्लपक्ष का नाम देव और कृष्णपक्ष का नाम असुर है। तथा उत्तरायण की देवसंज्ञा और दक्षिणायन की असुर संज्ञा है। इन सभों का भी परस्पर विरोधरूप युद्ध हो रहा है। इसी प्रकार अन्यत्र भी जहां २ ऐसे लक्षण घट सकें वहां २ देवासुर संग्राम का रूपकालङ्कार जान लेना। ये सब देव और असुर प्राजापत्य अर्थात् ईश्वर के पुत्र के

समान कहे जाते हैं और संसार के सब पदार्थ इन्हीं के अधिकार में रहते हैं। इन में से जो २ असुर अर्थात् प्राण आदि हैं वे ज्येष्ठ कहाते हैं क्योंकि वे प्रथम उत्पन्न हुए हैं, तथा बाल्यावस्था में सब मनुष्य भी अविद्वान् होते हैं, तथा सूर्य्य, ज्ञानेन्द्रिय और विद्वान् आदि पश्चात् प्रकाश होने से कनिष्ठ बोले जाते हैं। उन में से जो २ मनुष्य स्वार्थी और अपने प्राण को पुष्ट करने वाले तथा कपट छल आदि दोषों से युक्त हैं वे असुर और जो लोग परोपकारी परदुःखभञ्जन तथा धर्मात्मा हैं वे देव कहाते हैं। इस सत्यविद्या के प्रकाश करने वाली कथा को प्रीतिपूर्वक ग्रहण करके सर्वत्र प्रचार करना और मिथ्या कथाओं का मन कर्म और वचन से त्याग करदेना सब को उचित है।

एवमेव कश्यपगयादितीर्थकथा अपि ब्रह्मवैवर्त्तादिषु ग्रन्थेषु वेदादिसत्यशास्त्रेभ्यो विरुद्धा उक्ताः सन्ति। तद्यथा। मरीचिपुत्रः कश्यप ऋषिरासीत्तस्मै त्रयोदश कन्या दक्षप्रजापतिना विवाहविधानेन दत्ताः। तत्सङ्गमे दितेर्दैत्या, अदितेरादित्याः, दनोर्दानवाः, एवमेव कद्र्वाः सर्पाः, विनतायाः पक्षिणः। तथाऽन्यासां सकाशाद्वानरर्क्षवृक्षघासादय उत्पन्ना इत्याद्या अन्धकारमय्यः प्रमाणयुक्तिविद्याविरुद्धा असम्भवग्रस्ताः कथा उक्तास्ता अपि मिथ्या एव सन्तीति विज्ञेयम्। तद्यथा।

स यत्कूर्मो नाम। प्रजापतिः प्रजा असृजत, यदसृजताकरोत्तद्यदकरोत्तस्मात्कूर्म्मः, कश्यपो वै कूर्म्मस्तस्मादाहुः सर्वाः प्रजाः काश्यप्य इति॥ श० कां० ७। अ० ५। ब्रा० १। कं० ५॥

भाष्यम्

(स यत्कूर्म्मः) परमेश्वरेणेदं सकलं जगत् क्रियते तस्मात्तस्य कूर्म्म इति संज्ञा। कश्यपो वै कूर्म्म इत्यनेन परमेश्वरस्यैव कश्यप इति नामास्ति। तेनैवेमाः सर्वाः प्रजा उत्पादितास्तस्मात्सर्वा इमाः प्रजाः काश्यप्य इत्युच्यन्ते। कश्यपः कस्मात्पश्यको भवतीति निरुक्त्या, पश्यतीति पश्यः, सर्वज्ञतया सकलं जगद्विजानाति स पश्यः, पश्य एव निर्भ्रमतयाऽतिसूक्ष्ममपि

वस्तु यथार्थं जानान्येवातः पश्यक इति । आद्यन्ताक्षरविपर्ययगाद्धिंसे सिंहः, कृतेस्तर्कुरित्यादिवत्कश्यप इति ह्यवरट् इत्येतस्योपरि महाभाष्यप्रमाणेन पदं सिध्यति । अतः सुष्ठु विज्ञायते काश्यप्यः प्रजा इति ।

भाषार्थ

जो पांचवीं कश्यप और गया पुष्करतीर्थादि कथा लोगों ने बिगाड़ के प्रसिद्ध की हैं, जैसे देखो कि मरीचि के पुत्र एक कश्यप ऋषि हुए थे, उन को दक्षप्रजापति ने विवाह विधान से तेरह कन्या दीं, कि जिनसे सब संसार की उत्पत्ति हुई । अर्थात् दिति से दैत्य, अदिति से आदित्य, दनु से दानव, कद्रू से सर्प और विनता से पक्षी तथा औरों से वानर, ऋक्ष, घास आदि पदार्थ भी उत्पन्न हुए । इसी प्रकार चन्द्रमा को सत्ताईस कन्या दीं । इत्यादि प्रमाण और युक्ति से विरुद्ध अनेक असंभव कथा लिख रक्खी हैं । उनको मानना किसी मनुष्य को उचित नहीं । देखिये ये ही कथा सत्य शास्त्रों में किस प्रकार की उत्तम लिखी हैं । (स यत्कूर्मो०) प्रजा को उत्पन्न करने से कूर्म्म तथा उसको अपने ज्ञान से देखने के कारण उस परमेश्वर को कश्यप भी कहते हैं । (कश्यप) यह शब्द (पश्यकः) इस शब्द के आद्यन्ताक्षरविपर्य्यय से बनता है । इस प्रकार की उत्तम कथा को समझ के उन मिथ्या कथाओं को सब लोग छोड़ देवें कि जिससे सब का कल्याण हो । अब देखो गयादि तीर्थों की कथाओं को ।

प्राणो वै बलं, तत्प्राणे प्रतिष्ठितं, तस्मादाहुर्बलꣳसत्यादोजीय, इत्येवम्वेषा गायत्र्यध्यात्मं प्रतिष्ठिता ॥ सा हैषा गयांस्तत्रे । प्राणा वै गयास्तत्प्राणांस्तत्रे, तद्यद्गयांस्तत्रे तस्माद् गायत्रीनाम ॥ श० कां० १४ । अ० ८ । ब्रा० ५ । क० ६ । ७ ॥ तीर्थमेव प्रायणीयोऽतिरात्रस्तीर्थेन हि प्रस्नान्ति ॥ तीर्थमेवोदयनीयोऽतिरात्रस्तीर्थेन ह्युत्स्नान्ति ॥ श० कां० १२ । अ० २ । ब्रा० १ । कं० १ । ५ ॥ गय इत्यपत्यनामसु पठितम् ॥ निघं० अ० २ । खं० २ ॥ अहिꣳसन्सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्य इति छान्दोग्योपनि० * । समान-

* प्र० ८ । खं० १५ ।

तीर्थे वासी । इत्यष्टाध्याय्याम् । अ० ४ । पा० ४ । सू० १०७ । सतीर्थ्यो ब्रह्मचारीत्युदाहरणम् । त्रयः स्नातका भवन्ति । विद्यास्नातको व्रतस्नातको विद्याव्रतस्नातकश्चेति ॥ यो विद्यां समाप्य व्रतमसमाप्य समावर्त्तते स व्रतस्नातक इत्यादि पारस्करगृह्यसूत्रे ॥ नमस्तीर्थ्याय च ॥ ये तीर्थानि प्रचरन्ति सकाहस्ता निषङ्गिणः । इति शुक्लयजुर्वेदसंहितायाम् ॥ अ० १६ । मं० ४२, ६१ ॥ एवमेव गयायां श्राद्धं कर्त्तव्यमित्यत्रोच्यते । तद्यथा । प्राण एव बलमिति विज्ञायते, बलमोजीयः । तत्रैव सत्यं प्राणेऽध्यात्मं प्रतिष्ठितं, तत्र च परमेश्वरः प्रतिष्ठितस्तद्वाचकत्वात् । गायत्र्यपि ब्रह्मविद्यायामध्यात्मं प्रतिष्ठिता, तां गायत्रीं गयामाह । प्राणानां गयेति संज्ञा, प्राणा वै गया इत्युक्तत्वात् । तत्र गयायां श्राद्धं कर्त्तव्यम् । अर्थात् गयाख्येषु प्राणेषु श्रद्धया समाधिविधानेन परमेश्वरप्राप्तावत्यन्तश्रद्धधाना जीवा अनुतिष्ठेयुरित्येकं गयाश्राद्धविधनाम् । गयान् प्राणान् त्रायते सा गायत्री इत्यभिधीयते । एवमेव गृहस्यापत्यस्य प्रजायाश्च गयेति नामास्ति । अत्रापि सर्वमनुष्यैः श्रद्धातव्यम् । गृहकृत्येषु श्रद्धावश्यं विधेया । मातुः पितुराचार्यस्यातिथेश्चान्येषां मान्यानां च श्रद्धया सेवाकरणं गयाश्राद्धमित्युच्यते । तथैव स्वस्यापत्येषु प्रजायां चोत्तमशिक्षाकरणे ह्युपकारे च श्रद्धावश्यं सर्वैः कार्य्येति अत्र श्रद्धाकरणेन विद्याप्राप्त्या मोक्षाख्यं विष्णुपदं लभ्यत इति निश्चीयते । अत्रैव भ्रान्त्या विष्णुगयेति च पदद्वयोरर्थविज्ञानाभावान्मगधदेशैकदेशे पाषाणस्योपरि शिल्पिद्वारा मनुष्यपादचिह्नं कारयित्वा तस्यैव कैश्चित्स्वार्थसाधनतत्परैरुदरम्भरैर्विष्णुपदमिति नाम रक्षितम्, तस्य स्थलस्य गयेति च, तद् व्यर्थमेव । कुतः । विष्णुपदं मोक्षस्य नामास्ति प्राणगृहप्रजानां चातोऽत्रेयं तेषां भ्रान्तिर्जातेति बोध्यम् । अत्र प्रमाणम् ।

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् । समूढमस्य पाᳫं सुरे स्वाहा ॥ १ ॥ यजु० अ० ५ । मं० १५ ॥ यदिदं किञ्च तद्विक्र-

(१) निघं० ३, ४ । (२) निघं० २, २ । (३) निघण्टौ गया इति स्त्रीलिंगः पाठो नास्ति ।

मते विष्णुस्त्रिधा निधत्ते पदम् । त्रेधा भावाय पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवीति शाकपूणिः, समारोहणे विष्णुपदे गयशिरसीत्यौर्णवाभः । समूढमस्य पांसुरे प्यायनेऽन्तरिक्षे पदं न दृश्यतेऽपि वोपमार्थे स्यात् समूढमस्य पांसुल इव पदं न दृश्यत इति । पांसवः पादैः सूयन्त इति वा, पन्नाः शेरत इति वा, पंसनीया भवन्तीति वा ॥ निरु० अ० १२ । खं० १९ ॥

अस्यार्थं यथावदविदित्वा भ्रमेणेयं कथा प्रचारिता । तद्यथा । विष्णुर्व्यापकः परमेश्वरः सर्वजगत्कर्त्ता तस्य पूषेति नाम । अत्राह निरुक्तकारः ।

पूषेत्यथ यद्विषितो भवति तद्विष्णुर्भवति, विष्णुर्विशतेर्वा व्यश्नोतेर्वा । तस्यैषा भवति । इदं विष्णुरित्यृक् ॥ निरु० अ० १२ । खं० १८ । १९ ॥

भाष्यम्

वेवेष्टि विशितः प्रविष्टोऽस्ति, चराचरं जगत् व्यश्नुते व्याप्नोति वा स विष्णुर्निराकारत्वात्सर्वगत ईश्वरोऽस्ति । एतदर्थवाचिकेयमृक् । इदं सकलं जगत्त्रेधा त्रिप्रकारकं विचक्रमे विक्रान्तवान् । क्रमु पादविक्षेपे । पादैः प्रकृतिपरमाण्वादिभिः स्वसामर्थ्यांशैर्जगदिदं पदं प्राप्तव्यं सर्वं वस्तुजातं त्रिषु स्थानेषु (निधत्ते) निदधे स्थापितवान् । अर्थात् यावद् गुरुत्वादियुक्तं प्रकाशरहितं तत्सर्वं जगत् पृथिव्याम् । यल्लघुत्वादियुक्तं वायुपरमाण्वादिकं तत्सर्वमन्तरिक्षे । यच्च प्रकाशमयं सूर्यज्ञानेन्द्रियजीवादिकं च तत्सर्वं दिवि द्योतनात्मके प्रकाशमयेऽग्नौ वेति विज्ञेयम् । एवं त्रिविधं जगदीश्वरेण रचितमेषां मध्ये यत्समूढं मोहेन सह वर्त्तमानं ज्ञानवर्जितं जडं तत्पांसुरेऽन्तरिक्षे परमाणुमयं रचितवान् । सर्वे लोका अन्तरिक्षस्थाः सन्तीति बोध्यम् । तदिदमस्य परमेश्वरस्य धन्यवादार्हं स्तोतव्यं कर्मास्तीति बोध्यम् । अयमेवार्थः (यदिदं किञ्च०) इत्यनेन यास्काचार्य्येण वर्णितः । यदिदं किञ्चिज्जगद्वर्त्तते तत्सर्वं विष्णुर्व्यापक ईश्वरो विक्रमते रचितवान् ।

(त्रिधा निदधे पदं) त्रेधा भावाय, त्रिप्रकारकस्य जगतो भवनाय, तदुक्तं पूर्वमेव । तस्मिन् (विष्णुपदे) मोक्षाख्ये (समारोहणे) समारोढुमर्हे (गयशिरसीति) प्राणानां प्रजानां च यदुत्तमाङ्गं प्रकृत्यात्मकं शिरो यथा भवति, तथैवेश्वरस्यापि सामर्थ्यं गयशिरः, प्रजाप्राणयोरुपरिभागे वर्त्तते । यदीश्वरस्यानन्तं सामर्थ्यं वर्त्तते, तस्मिन् गयशिरसि विष्णुपदे हीश्वरसामर्थ्येऽस्तीति । कुतः । व्याप्यस्य सर्वस्य जगतो व्यापके परमेश्वरे वर्त्तमानत्वात् । पांसुरे प्यायनेऽन्तरिक्षे पदं पदनीयं परमाण्वाख्यं यज्जगत्तच्चक्षुषा न दृश्यते । ये च पांसवः परमाणुसंघाताः पादैस्तद्द्रव्यांशैः सूयन्त उत्पद्यन्ते, अत एवमुत्पन्नाः सर्वे पदार्थाः दृश्या भूत्वेश्वरे शेरत इति विज्ञायते । इममर्थमविज्ञाय मिथ्याकथाव्यवहारः पण्डिताभासैः प्रचारित इति बोद्धव्यम् । तथैव वेदाद्युक्तरीत्याऽऽर्यैश्चानुष्ठितानि तीर्थान्यन्यान्येव सन्ति । यानि सर्वदुःखेभ्यः पृथक्कृत्वा जीवेभ्यः सर्वसुखानि प्रापयन्ति तानि तीर्थानि मतानि । यानि च भ्रान्तै रचितपुस्तकेषु जलस्थलमयानि तीर्थसंज्ञान्युक्तानि तानि वेदार्थाभिप्रेतानि नैव सन्तीति मन्तव्यम् । तद्यथा । (तीर्थमेव प्राय०) यत्प्रायणीययज्ञस्याङ्गमतिरात्राख्यं व्रतं समाप्य स्नानं क्रियते तदेव तीर्थमिति वेद्यम् । येन तीर्थेन मनुष्याः प्रस्नाय शुद्धा भवन्ति । तथैव यदुदयनीयाख्यं यज्ञसम्बन्धि सर्वोपकारकं कर्म समाप्य स्नान्ति, तदेव दुःखसमुद्रात्तारकत्वात्तीर्थमिति मन्तव्यम् । एवमेव (अहिंसन्०) मनुष्यः सर्वाणि भूतान्यहिंसन्, सर्वैर्भूतैर्वैरमकुर्वाणः सन् वर्त्तेत । परन्तु तीर्थेभ्यो वेदादिसत्यशास्त्रविहितेभ्योऽन्यत्राहिंसा धर्मो मन्तव्यः । तद्यथा । यत्र यत्रापराधिनामुपरि हिंसनं विहितं तत्तु कर्त्तव्यमेव । ये पाखण्डिनो वेदसत्यधर्मानुष्ठानशत्रवश्चोरादयश्च ते तु यथापराधं हिंसनीया एव । अत्र वेदादिसत्यशास्त्राणां तीर्थसंज्ञास्ति । तेषामध्ययनाध्यापनेन तदुक्तधर्म्मकर्म्मविज्ञानानुष्ठानेन च दुःखसमुद्रात्तरन्त्येव । तेषु सम्यक् स्नात्वा मनुष्याः शुद्धा भवन्त्यतः ॥ तथैव समानतीर्थे वासीत्यनेन समानो द्वयोर्विद्यार्थिनोरेक आचार्य्यः समानमेकशास्त्राध्ययनं चात्राचार्य्यशास्त्रयोस्तीर्थसंज्ञास्ति । मातापित्रतिथीनां सम्यक्सेवनेन सुशिक्षया विद्याप्राप्त्या दुःखसमुद्रान्मनुष्यास्तरन्त्येवातस्तानि तीर्थानि दुःखा-

तारकत्वादेव मन्तव्यानि। एतेष्वपि स्नात्वा मनुष्यैः शुद्धिः सम्पादनीयेति। (अथः स्ना०) अथ एव तीर्थेषु कृतस्नानाः शुद्धा भवन्ति । तद्यथा । यः सुनियमेन पूर्णां विद्यां पठति, स ब्रह्मचर्य्याश्रममसमाप्यापि विद्यातीर्थे स्नाति, स शुद्धो भवति । यस्तु खलु द्वितीयः, यत्पूर्वोक्तं ब्रह्मचर्य्यं सुनियमाचरणेन समाप्य, विद्यामसमाप्य समावर्त्तते, स व्रतस्नातको भवति । यश्च सुनियमेन ब्रह्मचर्य्याश्रमं समाप्य वेदशास्त्रादिविद्यां च समावर्त्तते, सोऽप्यास्मिन्नुत्तमतीर्थे सम्यक् स्नात्वा, यथावच्छुद्धात्मा, शुद्धान्तःकरणः, सत्यधर्माचारी, परमविद्वान्, सर्वोपकारको भवतीति विज्ञातव्यम् । (नमस्तीर्थ्याय च) तेषु प्राणवेदविज्ञानतीर्थेषु पूर्वोक्तेषु भवः सः तीर्थ्यस्तस्मै तीर्थ्याय परमेश्वराय नमोऽस्तु । ये विद्वांसस्तीर्थानि वेदाध्ययनसत्यभाषणादीनि पूर्वोक्तानि प्रचरन्ति व्यवहरन्ति, ये च पूर्वोक्तब्रह्मचर्य्यसेविनो रुद्रा महाबलाः, (सृकाहस्ताः) विद्याविज्ञाने हस्तौ येषां ते, (निषंगिणः) निषंगः संशयच्छेदक उपदेशाख्यः खड्गो येषां ते सत्योपदेष्टारः । तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामीति ब्राह्मणवाक्यात्, उपनिषत्सु भवं प्रतिपाद्यं विज्ञापनीयं परमेश्वरमाहुः । अत एवोक्तस्तीर्थ्य इति । सर्वेषां तारकाणां तीर्थानामात्मकत्वात्, परमतीर्थाख्यो, धर्मात्मनां स्वभक्तानां सद्यस्तारकत्वात्, परमेश्वर एवास्ति । एतेनैतानि तीर्थानि व्याख्यातानि। (प्रश्नः) यैस्तरन्ति नरास्तानि जलस्थलादीनि तीर्थानि कुतो न भवन्ति ?। अत्रोच्यते । नैव जलं स्थलं च तारकं कदाचिद्भवितुमर्हति, तत्र सामर्थ्याभावात्, करणकारकव्युत्पत्त्यभावाच्च । जलस्थलादीनि नौकादिभिर्यानैः, पद्भ्यां, बाहुभ्यां च जनास्तरन्ति। तानि च कर्मकारकान्वितानि भवन्ति, करणकारकान्वितानि तु नौकादीनि । यदि पद्भ्यां गमनं बाहुबलं न कुर्य्यान्न च नौकादिषु तिष्ठेत्तर्ह्यवश्यं तत्र मनुष्यो मज्जेन्महद्दुःखं च प्राप्नुयात् । तस्माद्वेदानुयायिनामार्य्याणां मते काशीप्रयागपुष्करगङ्गायमुनादिनदीनां सागराणां च नैव तीर्थसंज्ञा सिध्यति । किन्तु वेदविज्ञानरहितैरुदरम्भरैः सम्प्रदायस्थैर्जीविकाधीनैर्वेदमार्गविरोधिभिरल्पज्ञैर्जीविकार्थं स्वकीयरचितग्रन्थेषु तीर्थसंज्ञया प्रसिद्धीकृतानि सन्तीति । ननु, इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वतीति गङ्गादिनदीनां वेदेषु प्रतिपादनं कृतमस्ति त्वया कथं न मन्यते ?।

अत्रोच्यते । मन्यते तु मया तासां नदीसंज्ञेति, ता गङ्गादयो नद्यः सन्ति । ताभ्यो यथायोग्यं जलशुद्ध्यादिगुणैर्यावानुपकारो भवति तावत्तासां मान्यं करोमि । न च पापनाशकत्वं दुःखात्तारकत्वं च । कुतः । जलस्थलादीनां तत्सामर्थ्याभावात् । इदं सामर्थ्यं तु पूर्वोक्तेष्वेव तीर्थेषु गम्यते नान्यत्रेति । अन्यच्च । इडापिङ्गलासुषुम्णाकूर्म्मनाड्यादीनां गङ्गादिसंज्ञास्तीति । तासां योगसमाधौ परमेश्वरस्य ग्रहणात् । तस्य ध्यानं दुःखनाशकं मुक्तिप्रदं च भवत्येव । तासामिडादीनां धारणासिध्यर्थं चित्तस्य स्थिरीकरणार्थं स्वीकरणमस्तीति तत्र ग्रहणात् । एतन्मन्त्रप्रकरणे परमेश्वरस्यानुवर्त्तनात् । एवमेव, (सितासिते यत्र सङ्गथे तत्राप्लुतासो दिवमुत्पतन्ति०) एतेन परिशिष्टवचनेन केचिद् गङ्गायमुनयोर्ग्रहणं कुर्वन्ति । सङ्गथे इति पदेन गङ्गायमुनयोः संयोगस्य प्रयागतीर्थमिति संज्ञां कुर्वन्ति । तन्न सङ्गच्छते । कुतः । नैव तत्राप्लुत्य स्नानं कृत्वा दिवं द्योतनात्मकं परमेश्वरं सूर्यलोकं वोत्पतन्ति, गच्छन्ति, किन्तु पुनः स्वकीयं स्वकीयं गृहमागच्छन्त्यतः । अत्रापि सितशब्देनेडायाः, असितशब्देन पिङ्गलायाश्च ग्रहणम् । यत्र तु खल्वेतयोर्नाड्योः सुषुम्णायां समागमो मेलनं भवति, तत्र कृतस्नानाः परमयोगिनो, दिवं परमेश्वरं प्रकाशमयं मोक्षाख्यं सत्यविज्ञानं चोत्पतन्ति सम्यग्गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति। अतोऽनयोरेवात्र ग्रहणं न च तयोः । अत्र प्रमाणम् । सितासितमिति वर्णनाम तत्प्रतिषेधोऽसितम् ॥ निरु० अ० ६ । खं० २६ ॥ सितं शुक्लवर्णमसितं तस्य निषेधः । तयोः प्रकाशान्धकारयोः सूर्यादिपृथिव्यादिपदार्थयोर्यत्रेश्वरसामर्थ्ये समागमोस्ति तत्र कृतस्नानास्तद्विज्ञानवन्तो दिवं पूर्वोक्तं गच्छन्त्येव ।

भाषार्थ

छठी यह कथा है कि जो गया को तीर्थ बना रक्खा है । लोगों ने मगध देश में एक स्थान है, वहां फल्गु नदी के तीर पाषाण पर मनुष्य के पग का चिह्न बना के उसका विष्णुपद नाम रखदिया है, और यह बात प्रसिद्ध करदी है कि यहां श्राद्ध करने से पितरों की मुक्ति हो जाती है । जो लोग आंख

के अंधे गांठ के पूरे उन के जाल में जा फसते हैं उनको गयावाले उलटे उस्तरे से खूब हजामत बनाते हैं इत्यादि प्रमाद से उन के धन का नाश कराते हैं, वह परधनहरण पेटपालक ठगलीला केवल झूठ ही की गठरी है। जैसा कि सत्य-शास्त्रों में लिखी हुई आगे की कथा देखने से सब को प्रकट हो जावेगा। (प्राण एव बलं०), इन वचनों का अभिप्राय यह है कि अत्यन्त श्रद्धा से गया-संज्ञक प्राण आदि में परमेश्वर की उपासना करने से जीव की मुक्ति हो जाती है। प्राण में बल और सत्य प्रतिष्ठित है, क्योंकि परमेश्वर प्राण का भी प्राण है और उसका प्रतिपादन करनेवाला गायत्री मंत्र है कि जिसको गया कहते हैं। किसलिए कि उस का अर्थ जानके श्रद्धासहित परमेश्वर की भक्ति करने से जीव सब दुःखों से छूटकर मुक्ति को प्राप्त हो जाता है। तथा प्राण का भी नाम गया है उस को प्राणायाम की रीति से रोक के परमेश्वर की भक्ति के प्रताप से पितर अर्थात् ज्ञानी लोग सब दुःखों से रहित होकर मुक्त हो जाते हैं। क्योंकि पर-मेश्वर प्राणों की रक्षा करने वाला है। इसलिए ईश्वर का नाम गायत्री और गायत्री का नाम गया है। तथा निघण्टु में घर, सन्तान और प्रजा इन तीनों का नाम भी गया है। मनुष्यों को इन में अत्यन्त श्रद्धा करनी चाहिए। इसी प्रकार माता, पिता, आचार्य और अतिथि की सेवा तथा सब के उपकार और उन्नति के कामों की सिद्धि करने में जो अत्यन्त श्रद्धा करनी है उसका नाम गयाश्राद्ध है। तथा अपने सन्तानों को सुशिक्षा से विद्या देना और उनके पालन में अत्यन्त प्रीति करनी इस का नाम भी गयाश्राद्ध है। तथा धर्म से प्रजा का पालन, सुख की उन्नति, विद्या का प्रचार, श्रेष्ठों की रक्षा, दुष्टों को दण्ड देना और सत्य की उन्नति आदि धर्म के काम करना ये सब मिलकर अथवा पृथक् २ भी गयाश्राद्ध कहाते हैं। इस अत्यन्त श्रेष्ठ कथा को छोड़ के विद्याहीन पुरुषों ने जो मिथ्या कथा बना रक्खी है उस को कभी न मानना और जो वहां पाषाण के ऊपर मनुष्य के पग का चिह्न बना कर उस का नाम विष्णुपद रक्खा है सो सब मूलसे ही मिथ्या है। क्योंकि व्यापक परमेश्वर जो सब जगत् का करने वाला है उसी का नाम विष्णु है। देखो यहां निरुक्तकार ने कहा है कि (पूषेत्यथ०) विष्लृ धातु का अर्थ व्यापक होने अर्थात् सब चराचर जगत्

में प्रविष्ट रहना वा जगत् को अपने में स्थापन करलेने का है। इसलिये निराकार ईश्वर का नाम विष्णु है। (क्रमु पादविक्षेपे) यह धातु दूसरी वस्तु को पगों से दबाना वा स्थापन करना इस अर्थ को बतलाता है। इस का अभिप्राय यह है कि भगवान् अपने पाद अर्थात् प्रकृति परमाणु आदि सामर्थ्य के अंशों से सब जगत् को तीन स्थानों में स्थापन करके धारण कर रहा है। अर्थात् भारसहित और प्रकाशरहित जगत् को पृथिवी में, परमाणु आदि सूक्ष्म द्रव्यों को अन्तरिक्ष में, तथा प्रकाशमान् सूर्य्य और ज्ञानेन्द्रिय आदि को प्रकाश में, इस रीति से तीन प्रकार के जगत् को ईश्वर ने रचा है। फिर इन्हीं तीन भेदों में एक मूढ़ अर्थात् ज्ञानरहित जो जड़ जगत् है वह अन्तरिक्ष अर्थात् पोल के बीच में स्थित है, सो यह केवल परमेश्वर ही की महिमा है कि जिसने ऐसे २ अद्भुत पदार्थ रच के सब को धारण कर रक्खा है। (यदिदं किंच०) इस विष्णुपद के विषय में यास्कमुनि ने भी इस प्रकार व्याख्यान किया है कि यह सब जगत् सर्वव्यापक परमेश्वर ने बनाकर, (त्रिधा०) इस में तीन प्रकार की रचना दिखलाई है, जिससे मोक्षपद को प्राप्त होते हैं वह समारोहण कहाता है, सो विष्णुपद गयाशिर अर्थात् प्राणों के परे है, उस को मनुष्य लोग प्राण में स्थिर होके प्राण से प्रिय अन्तर्यामी परमेश्वर को प्राप्त होते हैं, अन्य मार्ग से नहीं। क्योंकि प्राण का भी प्राण और जीवात्मा में व्याप्त जो परमेश्वर है उससे दूर जीव वा जीव से दूर वह कभी नहीं हो सकता। उसमें से सूक्ष्म जो जगत् का भाग है सो आंख से दीखने योग्य नहीं हो सकता, किन्तु जब कोई पदार्थ परमाणुओं के संयोग से स्थूल होजाता है तभी वह नेत्रों से देखने में आता है। यह दोनों प्रकार का जगत् जिस के बीच में ठहर रहा है और जो उस में परिपूर्ण हो रहा है ऐसे परमात्मा को विष्णुपद कहते हैं। इस सत्य अर्थ को न जान के अविद्वान् लोगों ने पाषाण पर जो मनुष्य के पग का चिह्न बना कर उस का नाम विष्णुपद रख छोड़ा है सो सब मिथ्या बातें हैं। तथा तीर्थ शब्द का अर्थ अन्यथा जान के अज्ञानियों ने जगत् के लूटने और अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिये मिथ्याचार कर रक्खा है, सो ठीक नहीं। क्योंकि जो २ सत्य तीर्थ हैं वे सब नीचे लिखे जाते हैं। देखो तीर्थ नाम उन का है कि जिनसे जीव

दुःखरूप समुद्र को तरके सुख को प्राप्त हों। अर्थात् जो २ वेदादिशास्त्रप्रतिपादित तीर्थ हैं तथा जिन का आर्य्यों ने अनुष्ठान किया है, जो कि जीवों को दुःखों से छुड़ा के उन के सुखों के साधन हैं उनही को तीर्थ कहते हैं। वेदोक्त तीर्थ ये हैं, (तीर्थमेव प्राय०) अग्निहोत्र से लेके अश्वमेधपर्य्यन्त किसी यज्ञ की समाप्ति करके जो स्नान किया जाता है उस को तीर्थ कहते हैं। क्योंकि उस कर्म से वायु और वृष्टिजल की शुद्धिद्वारा सब मनुष्यों को सुख प्राप्त होता है। इस कारण उन कर्मों के करने वाले मनुष्यों को भी सुख और शुद्धि प्राप्त होती है। तथा (अहिꣳसन्०) सब मनुष्यों को इस तीर्थ का सेवन करना उचित है कि अपने मन से वैरभाव को छोड़ के सब के सुख करने में प्रवृत्त होना और किसी संसारी व्यवहार के वर्त्तावों में दुःख न देना। परन्तु (अन्यत्र तीर्थेभ्यः०) जो २ व्यवहार वेदादि शास्त्रों में निषिद्ध माने हैं उन के करने में दण्ड का होना अवश्य है। अर्थात् जो २ मनुष्य अपराधी, पाषण्डी अर्थात् वेदशास्त्रोक्त धर्मानुष्ठान के शत्रु अपने सुख में प्रवृत्त और परपीड़ा में प्रवर्त्तमान हैं वे सदैव दण्ड पाने के योग्य हैं। इससे वेदादि सत्य शास्त्रों का नाम तीर्थ है कि जिनके पढ़ने पढ़ाने और उन में कहे हुए मार्गों में चलने से मनुष्य लोग दुःखसागर को तर के सुखों को प्राप्त होते हैं। (समानतीर्थे०), इस सूत्र का अभिप्राय यह है कि वेदादिशास्त्रों को पढ़ानेवाला जो आचार्य्य है उसका, वेदादि शास्त्रों तथा माता पिता और अतिथि का भी नाम तीर्थ है। क्योंकि उन की सेवा करने से जीवात्मा शुद्ध होकर दुःखों से पार हो जाता है। इससे इन का भी तीर्थ नाम है। (त्रयः स्नातका०), इन तीर्थों में स्नान करने के योग्य तीन पुरुष होतेहैं, एक तो वह कि जो उत्तम नियमों से वेदविद्या को पढ़ के ब्रह्मचर्य को विना समाप्त करे भी विद्या का पढ़ना पूरा कर के ज्ञानरूपी तीर्थ में स्नान कर के शुद्ध हो जाता है, दूसरा जो कि पच्चीस, तीस, छत्तीस, चवालीस अथवा अड़तालीस वर्ष पर्य्यन्त नियम के साथ पूर्वोक्त ब्रह्मचर्य को समाप्त करके और विद्या को विना समाप्त किये भी विवाह करता है वह व्रतस्नातक अर्थात् उस ब्रह्मचर्य्यतीर्थ में स्नान करके शुद्ध हो जाता है, और तीसरा यह है कि नियम से ब्रह्मचर्य्याश्रम तथा वेदादिशास्त्रविद्या को समाप्त करके समावर्त्तन अर्थात् उसी के

फलरूपी उत्तम तीर्थ में भले प्रकार स्नान करके यथायोग्य पवित्रदेह, शुद्ध अन्तःकरण, श्रेष्ठविद्या बल और परोपकार को प्राप्त होता है। (नमस्तीर्थ्याय०), उक्त तीर्थों से प्राप्त होने वाला परमेश्वर भी तीर्थ ही है, उस तीर्थ को हमारा नमस्कार है। जो विद्वान् लोग वेद का पढ़ना पढ़ाना और सत्यकथनरूप तीर्थों का प्रचार करते हैं तथा जो चवालीस वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य्याश्रम सेवन करते हैं वे बड़े बलवाले होकर रुद्र कहाते हैं। (सृकाहस्ता०) जिन के सृका अर्थात् विज्ञानरूप हस्त तथा निषङ्ग संशय की काटनेवाली उपदेशरूप तलवार है वे सत्य के उपदेशक भी रुद्र कहाते हैं। तथा उपनिषदों से प्रतिपादन किया हुआ उपदेश करने योग्य जो परमेश्वर है उस को परमतीर्थ कहते हैं। क्योंकि उसी की कृपा और प्राप्ति से जीव सब दुःखों से तर जाते हैं। (प्रश्न) जिनसे मनुष्य लोग तर जाते हैं अर्थात् जल और स्थानविशेष वे क्या तीर्थ नहीं हो सकते? (उत्तर) नहीं, क्योंकि उन में तारने का सामर्थ्य ही नहीं और तीर्थ शब्द करणकारकयुक्त लिया जाता है। जो जल वा स्थानविशेष अधिकरण वा कर्मकारक होते हैं उन में नाव आदि अथवा हाथ और पग से तरते हैं। इससे जल वा स्थल तारने वाले कभी नहीं हो सकते, किसलिये कि जो जल में हाथ वा पग न चलावें वा नौका आदि पर न बैठें तो कभी नहीं तर सकते। इस युक्ति से भी काशी, प्रयाग, गङ्गा, यमुना, समुद्र आदि तीर्थ सिद्ध नहीं हो सकते। इस कारण से सत्यशास्त्रोक्त जो तीर्थ हैं उन्हीं को मानना चाहिये, जल और स्थानविशेष को नहीं। (प्रश्न) (इमं मे गङ्गे) यह मन्त्र गङ्गा आदि नदियों को तीर्थ विधान करने वाला है फिर इन को तीर्थ क्यों नहीं मानते?। (उत्तर) हम लोग उन को नदी मानते हैं और उन के जल में जो २ गुण हैं उन को भी मानते हैं, परन्तु पाप छुड़ाना और दुःखों से तारना यह उनका सामर्थ्य नहीं, किन्तु यह सामर्थ्य तो केवल पूर्वोक्त तीर्थों में ही है। तथा इस मन्त्र में गङ्गा आदि नाम इडा, पिङ्गला, सुषुम्णा, कूर्म्म और जाठराग्नि की नाड़ियों के हैं, उन में योगाभ्यास से परमेश्वर की उपासना करने से मनुष्य लोग सब दुःखों से तर जाते हैं। क्योंकि उपासना नाड़ियों ही के द्वारा धारण करनी होती है। इस हेतु से इस मन्त्र में उनकी गणना की है। इसलिये उक्त नामों से नाड़ियों

का ही ग्रहण करना योग्य है। (सितासिते०) सित इडा और असित पिङ्गला, ये दोनों जहां मिली हैं उस को सुषुम्णा कहते हैं। उस में योगाभ्यास से स्नान करके जीव शुद्ध हो जाते हैं। फिर शुद्धरूप परमेश्वर को प्राप्त होके सदा आनन्द में रहते हैं। इस में निरुक्तकार का भी प्रमाण है कि सित और असित शब्द शुक्ल और कृष्ण अर्थ के वाची हैं। इस अभिप्राय से विरुद्ध मिथ्या अर्थ करके लोगों ने नदी आदियों का तीर्थ नाम से ग्रहण कर लिया है।

तथैव यत्तन्त्रपुराणादिग्रन्थेषु मूर्त्तिपूजानामस्मरणादिविधानं कृतमस्ति तदपि मिथ्यैवास्तीति वेद्यम्। कुतः। वेदादिषु सत्येषु ग्रन्थेषु तस्य विधानाभावात्। तत्र तु प्रत्युत निषेधो वरीवर्त्तते। तद्यथा—

न तस्य॑ प्रति॒मा अ॑स्ति॒ यस्य॑ नाम॑ म॒हद्यशः॑। हि॒र॒ण्य॒ग॒र्भ इत्ये॒ष मा मा॑हि॒ꣳसीदि॒त्ये॒षा यस्मा॒न्न जा॒त इत्ये॒षः॥ १॥ यजुः० अ० ३२। मं० ३॥

भाष्यम्

यस्य पूर्णस्य पुरुषस्याजस्य निराकारस्य परमेश्वरस्य (महद्यशः) यस्याज्ञापालनाख्यं महाकीर्त्तिकरं धर्म्यं सत्यभाषणादिकर्त्तुमर्हं कर्माचरणं नामस्मरणमस्ति, (हिरण्यगर्भः०) यो हिरण्यानां सूर्य्यादीनां तेजस्विनां गर्भ उत्पत्तिस्थानम्। यस्य सर्वैर्मनुष्यैर्मा मा हिꣳसीदित्येषा प्रार्थना कार्य्या। (यस्मान्न०) यो यतः कारणान्नैवैषः कस्यचित्सकाशात्कदाचिदुत्पन्नो, नैव कदाचिच्छरीरधारणं करोति। नैव तस्य प्रतिमाऽर्थात् प्रतिनिधिः, प्रतिकृतिः, प्रतिमानं, तोलनसाधनं, परिमाणं, मूर्त्यादिकल्पनं किञ्चिदप्यस्ति, परमेश्वरस्यानुपमेयत्वादमूर्त्तत्वादपरिमेयत्वान्निराकारत्वात्सर्वत्राभिव्याप्तत्वाच्च। इत्यनेन प्रमाणेन मूर्त्तिपूजननिषेधः।

स पर्य॑गाच्छु॒क्रम॑का॒यम॑व्र॒णम॑स्नावि॒रꣳ शु॒द्धमपा॑पविद्धम्। क॒विर्म॑नी॒षी प॑रि॒भूः स्व॑य॒म्भूर्या॑थातथ्य॒तोऽर्थान् व्य॑दधाच्छाश्व॒तीभ्यः॒ समा॑भ्यः॥ २॥ य० अ० ४०। मं० ८॥

भाष्यम्

यः कविः सर्वज्ञः, मनीषी सर्वसाक्षी, परिभूः सर्वोपरिविराजमानः, स्वयम्भूरनादिस्वरूपः परमेश्वरः, शाश्वतीभ्यो नित्याभ्यः, समाभ्यः प्रजाभ्यो, वेदद्वाराऽन्तर्यामितया च याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात् विहितवानस्ति, स पर्य्यगात्सर्वव्यापकोऽस्ति। यत् (शुक्रम्) वीर्य्यवत्तमम्, (अकायम्) मूर्त्तिजन्मधारणरहितम्, (अव्रणम्) छेदभेदरहितम्, (अस्नाविरम्) नाडीबन्धनादिविरहम्, (शुद्धम्) निर्दोषम्, (अपापविद्धम्) पापात्पृथग्भूतं, यदीदृशलक्षणं ब्रह्म सर्वैरुपासनीयमिति मन्यध्वम्। इत्यनेनापि शरीरजन्ममरणरहित ईश्वरः प्रतिपाद्यते, तस्मादयं नैव केनापि मूर्त्तिपूजने योजयितुं शक्य इति (प्रश्नः) वेदेषु प्रतिमाशब्दोऽस्ति न वा ?। (उत्तरम्) अस्ति। (प्र०) पुनः किमर्थो निषेधः ?। (उ०) नैव प्रतिमार्थेन मूर्त्तयो गृह्यन्ते। किं तर्हि, परिमाणार्था गृह्यन्ते। अत्र प्रमाणानि॥

संवत्सरस्य प्रतिमां यां त्वा रात्र्युपास्महे। सा न आयुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण संसृज॥ ३॥ अथर्व० कां० ३। अनु० २। सू० १०। मं० ३॥ मुहूर्त्तानां प्रतिमा ता दश च सहस्राण्यष्टौ च शतानि भवन्त्येतावन्तो हि संवत्सरस्य मुहूर्त्ताः॥ श० कां० १०। अ० ४। ब्रा० ३। कं० २०॥ यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥ १॥ सामवेदीयतवलकारोपनिषदि। खण्ड० १। मं० ४॥

भाष्यम्

इत्यादिमन्त्रपञ्चकमूर्त्यादिनिषेधकमिति बोध्यम्। विद्वांसः संवत्सरस्य यां प्रतिमां परिमाणमुपासते वयमपि त्वां तामेवोपास्महे। अर्थाद्याः संवत्सरस्य त्रीणि शतानि षष्टिश्च रात्रयो भवन्ति, यत एताभिरेव संवत्सरः परिमीयते, तस्मादेतासां प्रतिमासंज्ञेति। यथा सेयं रात्रिर्नोऽस्माकं रायस्पोषेण धनपुष्टिभ्यामायुष्मतीं प्रजां संसृज सम्यक् सृजेत्, तथैव सर्वैर्मनुष्यैरनुष्ठेय-

मिति । (मुहूर्त्ता०) तथा ये संवत्सरस्य दशसहस्राण्यष्टौशतानि घटिकाद्वयात्मका मुहूर्त्ताः सन्ति तेऽपि प्रतिमाशब्दार्था विज्ञेयाः । (यद्वाचा०) यदसंस्कृतवाण्या अविषयं, येन वाणी विदितास्ति, तद् ब्रह्म हे मनुष्य ! त्वं विद्धि । यत् इदं प्रत्यक्षं जगदस्ति नैवैतद् ब्रह्मास्ति । किन्तु विद्वांसो, यन्निराकारं, सर्वव्यापकमजं, सर्वनियन्तृ, सच्चिदानन्दादिलक्षणं ब्रह्मोपासते, त्वयापि तदेवोपासनीयं नेतरदिति । (प्र०) किञ्च भोः, मनुस्मृतौ, प्रतिमानां च भेदकः । दैवतान्यभिगच्छेत्तु । देवताऽभ्यर्चनं चैव । देवतानां च कुत्सनम् । देवतायतनानि च । देवतानां छायोल्लंघननिषेधः । प्रदक्षिणानि कुर्वीत देवब्राह्मणसन्निधौ । देवतागारभेदकान् । उक्तानामेतेषां वचनानां का गतिरिति ? । (उ०) अत्र प्रतिमाशब्देन रक्तिकामाषसेटकादीनि तोलनसाधनानि गृह्यन्ते । तद्यथा । तुलामानं प्रतीमानं सर्वं च स्यात्सुलक्षितम् ॥ मनु० अ० ८ । श्लोकः ४०३ । इत्यनया मनूक्तरीत्यैव प्रतिमाप्रतीमानशब्दयोरेकार्थत्वात्तोलनसाधनानि गृह्यन्त इति बोध्यम् । अत एव प्रतिमानामधिकन्यूनकारिणे दण्डो देय इत्युक्तः । विद्वांसो देवास्ते यत्राधीयतेऽध्यापयन्ति निवसन्ति च तानि स्थानानि दैवतानीत्युच्यते । देवा एव देवतास्तेषामिमानि स्थानानि दैवतानि, देवतायतनानि च सन्तीति बोध्यम् । विदुषामेवाभ्यर्चनं सत्करणं कर्त्तव्यमिति । नैवैतेषां केनाचिदपि निन्दा छायोल्लंघनं स्थानविनाशश्च कर्त्तव्यः । किन्तु सर्वैरेतेषां सामीप्यगमनं, न्यायमापणं, दक्षिणपार्श्वे स्थापनं, स्वेषां वामपार्श्वे स्थितिश्च कार्य्येति । एवमेव यत्र यत्रान्यत्रापि प्रतिमादेवदेवतायतनादिशब्दाः सन्ति तत्र तत्रैवमर्था विज्ञेयाः । ग्रन्थभूयस्त्वभिया नात्र ते लेखितुं शक्या इति । एतावतैव मूर्त्तिपूजनकण्ठीतिलकधारणादिनिषेधा बोध्याः ।

भाषार्थ

अब इस के आगे जो नवीन कल्पित तन्त्र और पुराण ग्रन्थ हैं, उन में पत्थर आदि की मूर्त्तिपूजा, तथा नाना प्रकार के नामस्मरण अर्थात् राम २, कृष्ण २, काष्ठादि माला, तिलक इत्यादि का विधान करके, उन को अत्यन्त

प्रीति के साथ जो मुक्ति पाने के साधन मान रक्खे हैं, ये सब बातें भी मिथ्या ही जानना चाहिये। क्योंकि वेदादि सत्य ग्रन्थों में इन बातों का कहीं चिह्न भी नहीं पाया जाता है, किन्तु उन का निषेध ही किया है। जैसे (न तस्य०) (पूर्ण) जो किसी प्रकार से कम नहीं, (अज) जो जन्म नहीं लेता और (निराकार) जिस की किसी प्रकार की मूर्त्ति नहीं, इत्यादि लक्षणयुक्त जो परमेश्वर है, जिस की आज्ञा का ठीक २ पालन और उत्तम कीर्त्तियों के हेतु जो सत्यभाषणादि कर्म हैं उनका करना ही जिस का नामस्मरण कहाता है। (हिरण्यगर्भ०) जो परमेश्वर तेजवाले सूर्य्यादि लोकों की उत्पत्ति का कारण है, जिस की प्रार्थना इस प्रकार करनी होती है कि (मामाहिꣳसी०) हे परमात्मन्! हम लोगों की सब प्रकार से रक्षा कीजिये। कोई कहे कि इस निराकार, सर्वव्यापक परमेश्वर की उपासना क्यों करनी चाहिये? तो उत्तर यह है कि (यस्मान्न०) अर्थात् जो परमेश्वर किसी माता पिता के संयोग से कभी न उत्पन्न हुआ, न होता और न होगा, और न वह कभी शरीर धारण करके बालक, जवान और वृद्ध होता है, (न तस्य०) उस परमेश्वर की प्रतिमा अर्थात् नाप का साधन तथा प्रतिविम्ब वा सदृश अर्थात् जिस को तसवीर कहते हैं सो किसी प्रकार नहीं है। क्योंकि वह मूर्तिरहित, अनन्त, सीमारहित और सब में व्यापक है। इस से निराकार की उपासना सब मनुष्यों को करनी चाहिये। कदाचित् कोई शङ्का करे कि शरीरधारी की उपासना करने में क्या दोष है तो यह बात समझना चाहिये कि जो प्रथम जन्म लेके शरीर धारण करेगा और फिर वह वृद्ध होकर मर जायगा तब किस की पूजा करोगे। इस प्रकार मूर्त्तिपूजन का निषेध वेद से सिद्ध होगया। तथा (स पर्य्यगाच्छु०), जो परमेश्वर (कविः) सब का जानने वाला, (मनीषी) सब के मन का साक्षी, (परिभूः) सब के ऊपर विराजमान और (स्वयंभूः) अनादिस्वरूप है, जो अपनी अनादिस्वरूप प्रजा को अन्तर्यामिरूप से और वेद के द्वारा सब व्यवहारों का उपदेश किया करता है, (स पर्य्यगात्) सो सब में व्यापक, (शुक्रम्) अत्यन्त पराक्रम वाला, (अकायं) सब प्रकार के शरीर से रहित, (अव्रणं) कटना और सब रोगों से रहित, (अस्नाविरं) नाड़ी आदि के बन्धन

से पृथक्, (शुद्धं) सब दोषों से अलग और (अपापविद्धं) सब पापों से न्यारा इत्यादि लक्षणयुक्त परमात्मा है वही सबको उपासना के योग्य है। ऐसा ही सब को मानना चाहिये। क्योंकि इस मन्त्र से भी शरीर धारण करके जन्म मरण होना इत्यादि बातों का निषेध परमेश्वर विषय में पाया ही गया। इससे इस की पत्थर आदि की मूर्ति बना के पूजना किसी प्रमाण वा युक्ति से सिद्ध नहीं हो सकता। (संवत्सरस्य०) विद्वान् लोग संवत्सर की जिस (प्रतिमां०) क्षण आदि काल के विभाग करने वाली रात्रि की उपासना करते हैं हम लोग भी उसी का सेवन करें। जो एक वर्ष की ३६० (तीनसौ साठ) रात्रि होती हैं इतनी रात्रियों से संवत्सर का परिमाण किया है। इसलिये इन रात्रियों की भी प्रतिमा संज्ञा है। (सा न आयु०) इन रात्रियों में परमात्मा की कृपा से हम लोग सत्कर्मों के अनुष्ठानपूर्वक संपूर्ण आयुयुक्त सन्तानों को उत्पन्न करें। इसी मंत्र का भावार्थ कुछ शतपथ ब्राह्मण में भी है कि (मुहूर्त्तो०) एक संवत्सर के १०८०० मुहूर्त्त होते हैं, ये भी प्रतिमा शब्द के अर्थ में समझने चाहियें। क्योंकि इनसे भी वर्ष का परिमाण होता है। (यद्वाचा) जो कि अविद्यायुक्त वाणी से प्रसिद्ध नहीं हो सकता, जो सब की वाणियों को जानता है, हे मनुष्यो! तुम लोग उसी को परमेश्वर जानो और न कि मूर्त्तिमान् जगत् के पदार्थों को, जो कि उस के रचे हुए हैं। अर्थात् निराकार, व्यापक, सब पदार्थों का नियम करने वाला और सच्चिदानन्दादि लक्षणयुक्त ब्रह्म है, उसी की उपासना तुम लोग करो, यह उपनिषत्कार ऋषियों का मत है। (प्रश्न) क्योंजी मनुस्मृति में जो (प्रतिमानां०) इत्यादि वचन हैं, उनसे तो यह बात मालूम होती है कि जो कोई प्रतिमा को तोड़े उस को राजा दण्ड देवे, तथा देवताओं के पास जाना, उनकी पूजा करना, उनकी छाया का उल्लंघन नहीं करना और उनकी परिक्रमा करना इत्यादि प्रमाणों से तो मूर्त्तिपूजा बराबर सिद्ध होती है फिर आप कैसे नहीं मानते हैं? । (उत्तर) क्यों भ्रम में पड़े हुए हो, होश में आओ और आंख खोल कर देखो कि प्रतिमा शब्द से जो तुम लोग पत्थर की मूर्त्ति लेते हो सो यह केवल तुम्हारी अज्ञानता अर्थात् कम समझ है। क्योंकि मनुस्मृति में तो प्रतिमाशब्द करके (तुलामानं) रत्ती, छटांक, पाव, सेर और

पसेरी आदि तोल के साधनों को ग्रहण किया है। क्योंकि तुलामान अर्थात् तराजू और प्रतिमान वा प्रतिमा अर्थात् बाट इन की परीक्षा राजा लोग छठे २ मास अर्थात् छः २ महीने में एक वार किया करें कि जिससे उन में कोई व्यवहारी किसी प्रकार की छल से घट बढ़ न कर सकें और कदाचित् कोई करे तो उस को दण्ड देवें। फिर (देवताभ्यर्चनं०) इत्यादि वचनों से यह बात समझ लेनी चाहिये कि शतपथ ब्राह्मण में विद्वान् मनुष्यों का नाम देव कहा है। अर्थात् जिन स्थानों में विद्वान् लोग पढ़ते पढ़ाते और निवास करते हैं उन स्थानों को दैवत कहते हैं। वहां जाना, बैठना और उन लोगों का सत्कार करना इत्यादि काम सब को अवश्य करने चाहियें। (देवतानां च कुत्सनं) उन विद्वानों की निन्दा, उन का अपमान और उनके स्थानों में किसी प्रकार का बिगाड़ व उपद्रव आदि दोष की बातें कभी न करनी चाहियें। किन्तु (दैवतान्यभि०) सब मनुष्यों को उचित है कि उन के समीप जाकर अच्छी २ बातों को सीखा करें। (प्रदक्षिणा०) उन को मान्य के लिये दाहिनी दिशा में बैठाना, क्योंकि यह नियम उनकी प्रतिष्ठा के लिये बांधा गया है। ऐसे अन्यत्र भी जहां कहीं प्रतिमा और देवता अथवा उन के स्थानों का वर्णन हो इसी प्रकार निर्भ्रमता से वहां समझ लेना चाहिये। यहां सब का संग्रह इसलिये नहीं किया कि ग्रन्थ बहुत बढ़जाता। ऐसा ही सत्य शास्त्रों से विरुद्ध कण्ठी और तिलकधारणादि मिथ्या कल्पित विषयों को भी समझ कर मन, कर्म, वचन से त्याग कर देना अवश्य उचित है।

एवमेव सूर्य्यादिग्रहपीडाशान्तये बालबुद्धिभिराकृष्णेन रजसेत्यादि मन्त्रा गृह्यन्ते। अयमेषां भ्रम एवास्तीति। कुतस्तत्र तेषामर्थानामग्रहणात्। (तद्यथा) तत्राकृष्णेन रजसेति मन्त्रस्यार्थ आकर्षणानुकर्षणप्रकरण उक्तः। इमं देवा असपत्नमित्यस्य राजधर्मविषये चेति।

अ॒ग्निर्मू॒र्द्धा दि॒वः क॒कुत्पतिः॑ पृथि॒व्या अ॒यम्। अ॒पाꣳरेताꣳसि जिन्वति ॥ १ ॥ य० अ० ३। मं० १२ ॥ उद्बु॑ध्यस्वाग्ने॒ प्रति॑ जागृहि॒ त्वमि॑ष्टापू॒र्त्ते सꣳसृ॑जेथाम॒यं च॑। अ॒स्मिन्त्स॒धस्थे॒

अध्युत्तरस्मिन् विश्वे देवा यजमानश्च सीदत ॥ २ ॥ य० अ० १५ । मं० ५४ ॥

भाष्यम्

(अयमग्निः) परमेश्वरो भौतिको वा, (दिवः) प्रकाशवल्लोकस्य, (पृथिव्याः) प्रकाशरहितस्य च, (पतिः) पालयितास्ति । (मूर्द्धा) सर्वोपरि विराजमानः (ककुत्) तथा ककुभां दिशां च मध्ये व्यापकतया सर्वपदार्थानां पालयितास्ति । व्यत्ययो बहुलमिति सूत्रेण भकारस्थाने तकारः । (अपाᳬ रेताᳬसि) अयमेव जगदीश्वरो भौतिकश्चापां प्राणानां जलानां च रेतांसि वीर्य्याणि (जिन्वति) पुष्णाति । एवं चाग्निर्विद्युद्रूपेण सूर्य्यरूपेण च पूर्वोक्तस्य रक्षकः पुष्टिकर्त्ता चास्ति ॥ ३ ॥ (उद्बुध्यस्वाग्ने) । हे अग्ने परमेश्वरास्माकं हृदये त्वमुद्बुध्यस्व प्रकाशितो भव । (प्रतिजागृहि) अविद्यान्धकारनिद्रातस्सर्वान् जीवान् पृथक्कृत्य विद्यार्कप्रकाशे जागृतान् कुरु । (त्वमिष्टापूर्त्ते) हे भगवन् ! अयं जीवो मनुष्यदेहधारी धर्मार्थकाममोक्षसामग्रयाः पूर्त्तिं सृजेत् समुत्पादयेत् । त्वमस्येष्टं सुखं सृजेः । एवं परस्परं द्वयोः सहायपुरुषार्थाभ्यामिष्टापूर्त्ते संसृष्टे भवेताम् । (अस्मिन्सधस्थे) अस्मिन् लोके शरीरे च, (अध्युत्तरस्मिन्) परलोके द्वितीये जन्मनि च, (विश्वेदेवा यजमानश्च सीदत) सर्वे विद्वांसो, यजमानो विद्वत्सेवाकर्त्ता च, कृपया सदा सीदन्तु वर्त्तन्ताम् । यतोऽस्माकं मध्ये सदैव सर्वा विद्याः प्रकाशिता भवेयुरिति । व्यत्ययो बहुलमित्यनेन सूत्रेण पुरुषव्यत्ययः ।

भाषार्थ

इसी प्रकार से अल्पबुद्धि मनुष्यों ने 'आकृष्णेन रजसा०' इत्यादि मन्त्रों का सूर्य्यादिग्रहपीड़ा की शांति के लिये ग्रहण किया है । सो उनको केवल भ्रममात्र हुआ है । मूल अर्थ से कुछ सम्बन्ध नहीं । क्योंकि उन मन्त्रों में ग्रहपीड़ा निवारण करना यह अर्थ ही नहीं है । (आकृष्णेन०) इस मन्त्र का अर्थ आकर्षणानुकर्षण प्रकरण में तथा (इमं देवा०) इसका अर्थ राजधर्मविषय में

लिख दिया है ॥ १ । २ ॥ (अग्निः) यह जो अग्निसंज्ञक परमेश्वर वा भौतिक है वह (दिवः) प्रकाश वाले और (पृथिव्याः) प्रकाशरहित लोकों का पालन करने वाला, तथा (मूर्द्धा) सब पर विराजमान और (ककुत्पतिः) दिशाओं के मध्य में अपनी व्यापकता से सब पदार्थों का राजा है । (व्यत्ययो बहुलम्) इस सूत्र से (ककुभ्) शब्द के दकार को मकारादेश हो गया है । (अपाꣳरेताꣳसि जिन्वति) वही जगदीश्वर प्राण और जलों के वीर्य्यों को पुष्ट करता है । इस प्रकार भूताग्नि भी विद्युत् और सूर्य्यरूप से पूर्वोक्त पदार्थों का पालन और पुष्टि करने वाला है ॥ ३ ॥ (उद्बुध्यस्वाग्ने) हे परमेश्वर ! हमारे हृदय में प्रकाशित हूजिये, (प्रति जागृहि) अविद्या की अन्धकाररूप निद्रा से हम सब जीवों को अलग करके विद्यारूप सूर्य्य के प्रकाश से प्रकाशमान कीजिये, कि जिस से (त्वमिष्टापूर्त्ते) हे भगवन् ! मनुष्यदेह धारण करने वाला जो जीव है जैसे वह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सामग्री की पूर्त्ति कर सके वैसे आप इष्ट सिद्ध कीजिये । (अस्मिन्सधस्थे) इस लोक और इस शरीर तथा (अध्युत्तरस्मिन) परलोक और दूसरे जन्म में (विश्वेदेवा यजमानश्च सीदत) आप की कृपा से सब विद्वान् और यजमान अर्थात् विद्या के उपदेश का ग्रहण और सेवा करने वाले मनुष्य लोग सुख से वर्त्तमान सदा बने रहें कि जिस से हम लोग विद्यायुक्त होते रहें । (व्यत्ययो बहुलम्) इस सूत्र से (संसृजेथाम्) (सीदत) इन प्रयोगों में पुरुषव्यत्यय अर्थात् प्रथमपुरुष की जगह मध्यम पुरुष हुआ है ॥ ४ ॥

बृहस्पते अति यदर्य्यो अर्हाद द्युमद्विभाति क्रतुमज्जनेषु । यद्दीदयच्छवस ऋतप्रजात तदस्मासु द्रविणं धेहि चित्रम् ॥ ५ ॥ य० अ० २६ । मं० ३ ॥ अन्नात्परिस्रुतो रसं ब्रह्मणा व्यपिबत्क्षत्रं पयः सोमं प्रजापतिः । ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानꣳशुक्रमन्धसः । इन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु ॥ ६ ॥ यजुः० अ० १९ । मं० ७५ ॥

भाष्यम्

(बृहस्पते) हे बृहतां वेदानां पते पालक ! (ऋतप्रजात) वेदविद्या-प्रतिपादित जगदीश्वर ! त्वं (जनेषु) यज्ञकारकेषु विद्वत्सु लोकलोकान्तरेषु वा, (ऋतुमत्) भूयांसः ऋतवो भवन्ति यस्मिंस्तत्, (द्युमत्) सत्यव्यवहार-प्रकाशो विद्यते यस्मिंस्तत्, (दीदयच्छवसः) दानयोग्यं, शवसो बलस्य प्रापकं, (यदर्य्यो अर्हात्) येन विद्यादिधनेन युक्तः सन् (अर्य्यः) स्वामी राजा, वणिग्जनो वा धार्मिकेषु जनेषु (विभाति) प्रकाशते, (चित्रं) यद्धनमद्भुतं (अस्मासु द्रविणं धेहि) तदस्मदधीनं द्रविणं धनं कृपया धेही-त्यनेन मन्त्रेणेश्वरः प्रार्थ्यते ॥ ५ ॥ (क्षत्रं) यत्र यद्राजकर्म, क्षत्रियो वा (ब्रह्मणा) वेदविद्भिश्च सह (पयः) अमृतात्मकं (सोमं) सोमाद्योषधि-सम्पादितं (रसं) बुद्ध्यानन्दशौर्य्यधैर्य्यबलपराक्रमादिसद्गुणप्रदं (व्यपिबत्) पानं करोति, तत्र स सभाध्यक्षो राजन्यः, (ऋतेन) यथार्थवेदविज्ञानेन, (सत्यं) धर्मं राजव्यवहारं च, (इन्द्रियं) शुद्धविद्यायुक्तं शान्तं मनः, (विपानं) विविधराजधर्मरक्षणं, (शुक्रं) आशुसुखकरं (अन्धसः) शुद्धा-न्नस्येच्छाहेतुं (पयः) सर्वपदार्थसारविज्ञानयुक्तं (अमृतं) मोक्षसाधकं (मधु) मधुरं सत्यशीलस्वभावयुक्तं (इन्द्रस्य) परमैश्वर्य्ययुक्तस्य सर्वव्यापकान्तर्यामिन ईश्वरस्य कृपया (इन्द्रियं) विज्ञानयुक्तं मनः प्राप्य, (इदं) सर्वं व्यावहारिकपारमार्थिकं सुखं प्राप्नोति । (प्रजापतिः) परमेश्वर एवमाज्ञा-पयति यः क्षत्रियः प्रजापालनाधिकृतो भवेत्, स एवं प्रजापालनं कुर्य्यात् । (अन्नात्परिस्रुतः) स चामृतात्मको रसोऽन्नाद्योऽयात्पदार्थात्परितः सर्वतः स्रुतश्च्युतो युक्तो वा कार्य्यः । यथा प्रजायामत्यन्तं सुखं सिध्येत्तथैव क्षत्रि-येण कर्त्तव्यम् ।

भाषार्थ

(बृहस्पते) हे वेदविद्यारक्षक ! (ऋतप्रजात) वेदविद्या से प्रसिद्ध जग-दीश्वर ! आप (तदस्मासु द्रविणं धेहि) जो सत्यविद्यारूप अनेक प्रकार का (चित्रं) अद्भुत धन है सो हमारे बीच में कृपा करके स्थापन कीजिये । कैसा

वह धन है कि (जनेषु) विद्वानों और लोक लोकान्तरों में (क्रतुमत्) जिस से बहुतसे यज्ञ किये जायं, (द्युमत्) जिस से सत्य व्यवहार के प्रकाश का विधान हो, (शवसः) बल की रक्षा करने वाला और (दीदयत्) धर्म और सब के सुख का प्रकाश करने वाला, तथा (यदर्य्यो०) जिस को धर्मयुक्त योग्य व्यवहार के द्वारा राजा और वैश्य प्राप्त होकर (विभाति) धर्मव्यवहार अथवा धार्मिक श्रेष्ठ पुरुषों में प्रकाशमान होता है उस संपूर्णविद्यायुक्त धन को हमारे बीच में निरन्तर धारण कीजिये । ऐसे इस मन्त्र से परमेश्वर की प्रार्थना की जाती है ॥ ५ ॥ (क्षत्रं) जो राजकर्म अथवा क्षत्रिय है वह सदा न्याय से (ब्रह्मणा) वेदवित् पुरुषों के साथ मिलकर ही राज्यपालन करे । इसी प्रकार (पयः) जो अमृतरूप (सोमं) सोमलता आदि ओषधियों का सार तथा (रसं) जो बुद्धि, आनन्द, शूरता, धीरज, बल और पराक्रम आदि उत्तम गुणों का बढ़ाने वाला है, उन को (व्यपिवत्) जो राजपुरुष अथवा प्रजास्थ लोग वैद्यकशास्त्र की रीति से पीते हैं, वे सभासद् और प्रजास्थ मनुष्य लोग, (ऋतेन) वेदविद्या को यथावत् जान के, (सत्यं) धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष (इन्द्रियं) शुद्धविद्यायुक्त शान्तस्वरूप मन, (विपानं) यथावत् प्रजा का रक्षण, (शुक्रम्) शीघ्र सुख करनेहारा (अन्धसः) शुद्ध अन्न की इच्छायुक्त (पयः) सब पदार्थों का सार, विज्ञानसहित (अमृतं) मोक्ष के ज्ञानादि साधन, (मधु) मधुरवाणी और शीलता आदि जो श्रेष्ठ गुण हैं, (इदं) उन सब से परिपूर्ण होकर, (इन्द्रस्य) परमैश्वर्य्ययुक्त व्यापक ईश्वर की कृपा से, (इन्द्रियं) विज्ञान को प्राप्त होते हैं । (प्रजापतिः) इसलिये परमेश्वर सब मनुष्यों और राजपुरुषों को आज्ञा देता है कि तुम लोग पूर्वोक्त व्यवहार और विज्ञानविद्या को प्राप्त होके धर्म से प्रजा का पालन किया करो और (अन्नात्परिस्रुतः) उक्त अमृतस्वरूप रस को उत्तम भोजन के पदार्थों के साथ मिलाकर सेवन किया करो कि जिस से प्रजा में पूर्ण सुख की सिद्धि हो ॥ ६ ॥

शन्नो॑ देवीर॒भिष्ट॑य॒ आपो॑ भवन्तु पी॒तये॑ । शं योर॒भि स्र॑वन्तु नः ॥ ७ ॥ य० अ० ३६ । मं० १२ ॥ कया॑ नश्चि॒त्र आ भु॑व-

दूती सदा वृधः सखा । कया सचिष्ठया * वृता ॥ ८ ॥ य० अ० ३६ । मं० ४ ॥ केतुं कृण्वन्न केतवे पेशो मर्या अपेशसे । समुषद्भिरजायथाः ॥ ९ ॥ य० अ० २६ । मं० ३७ ॥

भाष्यम्

(आप्लृ व्याप्तौ) अस्माद्धातोरप्छब्दः सिध्यति । स नियतस्त्रीलिङ्गो बहुवचनान्तश्च । दिवु क्रीडाद्यर्थः । (देवीः) देव्य आपः, सर्वप्रकाशकः सर्वानन्दप्रदः सर्वव्यापक ईश्वरः, (अभीष्टये) इष्टानन्दप्राप्तये, (पीतये) पूर्णानन्दभोगेन तृप्तये, (नः) अस्मभ्यं, (शं) कल्याणकारिका भवन्तु, स ईश्वरो नः कल्याणं भावयतु प्रयच्छतु । ता आपो देव्यः स एवेश्वरो, नोऽस्माकमुपरि, (शंयोः) सर्वतः सुखस्य वृष्टिं करोतु ॥ अत्र प्रमाणम् ॥

यत्र लोकांश्च कोशांश्चापो ब्रह्म जना विदुः । असच्च यत्र सच्चान्तः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ अथर्व० कां० १० । अ० ४ । सू० ७ । मं० १० ॥

भाष्यम्

अनेन वेदमन्त्रप्रमाणेनाप्छब्देन परमात्मनो ग्रहणं क्रियते । तद्यथा । (आपो ब्रह्म जना विदुः) विद्वांस आपो ब्रह्मणो नामास्तीति जानन्ति । (यत्र लोकांश्च कोशांश्च) यस्मिन् परमेश्वरे सर्वान् भूगोलान्निधींश्च, (असच्च यत्र सच्च) यस्मिंश्चानित्यं कार्य्यं जगदेतस्य कारणं च स्थितं जानन्ति, (स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः) स जगद्धाता सर्वेषां पदार्थानां मध्ये कतमोस्ति विद्वँस्त्वं ब्रूहीति पृच्छ्यते । (अन्तः) स जगदीश्वरः सर्वेषां जीवादिपदार्थानामाभ्यन्तरेऽन्तर्य्यामिरूपेणावस्थितोस्तीति भवन्तो जानन्तु ॥ ७ ॥ (कया) उपासनारीत्या (सचिष्ठया) अतिशयेन सत्कर्मानुष्ठानप्रकारया, (वृता) शुभगुणेषु वर्त्तमानया, (कया) सर्वोत्तमगुणालंकृतया सभया

* शचिष्ठयेति मान्त्रः पाठः ॥

प्रकाशितः, (चित्रः) अद्भुतानन्तशक्तिमान्, (सदावृधः) सदानन्देन वर्धमान इन्द्रः परमेश्वरः, (नः) अस्माकं सखा मित्रः, (आभुवत्) यथाभिमुखो भूत्वा (ऊती) स जगदीश्वरः कृपया सर्वदा सहायकरणेनास्माकं रक्षको भवतु । तथैवास्माभिः स सत्यप्रेमभक्त्या सेवनीय इति ॥ ८ ॥ हे मर्य्या मनुष्याः ! उषद्भिः परमेश्वरं कामयमानैस्तदाज्ञायां वर्त्तमानैर्विद्वद्भिर्युष्माभिः सह समागमे कृते सत्येव (अकेतवे) अज्ञानविनाशाय केतुं प्रज्ञानम्, (अपेशसे) दारिद्र्यविनाशाय पेशः चक्रवर्त्तिराज्यादिसुखसम्पादकं धनं च कृण्वन् कुर्वन् सन् जगदीश्वरः (अजायथाः) प्रसिद्धो भवतीति वेदितव्यम् ॥ ९ ॥

भाषार्थ

(शन्नो देवी०) आप्लृ व्याप्तौ, इस धातु से अप् शब्द सिद्ध होता है । सो वह सदा स्त्रीलिङ्ग और बहुवचनान्त है। तथा जिस दिवु धातु के क्रीड़ा आदि अर्थ हैं उस से देवी शब्द सिद्ध होता है । (देवीः) अर्थात् जो ईश्वर सब का प्रकाश और सब को आनन्द देने वाला, (आपः) सर्वव्यापक है, (अभीष्टये) वह इष्ट आनन्द और (पीतये) पूर्णानन्द की प्राप्ति के लिये (नः) हम को सुखी होने के लिये (शं) कल्याणकारी (भवन्तु) हो । वही परमेश्वर (नः) हम पर (शंयोः) सुख की (अभिस्रवन्तु) वृष्टि करे । इस मन्त्र में आप् शब्द से परमात्मा के ग्रहण होने में प्रमाण यह है कि (आपो ब्रह्म जना विदुः) अर्थात् विद्वान् लोग ऐसा जानते हैं कि आप् परमात्मा का नाम है । (प्रश्न) (यत्र लोकांश्च कोशांश्च), सुनो जी ! जिस में पृथिव्यादि सब लोक, सब पदार्थ स्थित (असच्च यत्र सच्च) तथा जिस में अनित्य कार्य्य जगत् और सब वस्तुओं के कारण ये सब स्थित हो रहे हैं, (स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः) वह सब लोकों को धारण करने वाला कौन पदार्थ है ? (उत्तर) (अन्तः) जो सब पृथिवी आदि लोक और जीवों के बीच में अन्तर्यामिरूप से परिपूर्ण भर रहा है ऐसा जान कर आप लोग उस परमेश्वर को अपने ही अन्तःकरण में खोजो ॥ ७ ॥ (कया) जो किस उपासनारीति (सचिष्ठया) और सत्यधर्म के

आचरण से सभासद् सहित (वृता) सत्यविद्यादि गुणों में प्रवर्तमान (कया) सुखरूप वृत्तिसहित सभा से प्रकाशित (चित्रः) अद्भुतस्वरूप (सदावृधः) आनन्दस्वरूप और आनन्द बढ़ाने वाला परमेश्वर है वह (नः) हमारे आत्माओं में (आभुवत्) प्रकाशित हो, (ऊती) तथा किस प्रकार वह जगदीश्वर हमारा सदा सहायक होकर कृपा से नित्य रक्षा करे कि (उपद्भिः समजायथाः) हे अग्ने जगदीश्वर ! आप की आज्ञा में जो रमण करनेवाले हैं उन्हीं पुरुषों से आप जाने जाते हैं और जिन धार्मिक पुरुषों के अन्तःकरण में आप अच्छे प्रकार प्रकाशित होते रहो ॥ ८ ॥ हे विज्ञानस्वरूप ! अज्ञान के दूर करनेहारे ब्रह्मन् ! आप (केतुं कृण्वन्) हम सब मनुष्यों के आत्माओं में ज्ञान का प्रकाश करते रहिये तथा (अकेतवे) अज्ञान और (अपेशसे) दरिद्रता के दूर करने के अर्थ विज्ञान धन और चक्रवर्त्ति राज्य धर्मात्माओं को देते रहिये कि जिससे (मर्याः) जो आप के उपासक लोग हैं वे कभी दुःख को न प्राप्त हों ॥ ९ ॥

अथाधिकारानधिकारविषयः संक्षेपतः

वेदादिशास्त्रपठने सर्वेषामधिकारोऽस्त्याहोस्विन्नेति ? । सर्वेषामस्ति, वेदानामीश्वरोक्तत्वात्सर्वमनुष्योपकारार्थत्वात्सत्यविद्याप्रकाशकत्वाच्च । यद्धि खलु परमेश्वररचितं वस्त्वस्ति तत्तत्सर्वं सर्वार्थमस्तीति विजानीमः । अत्र प्रमाणम् ॥

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः । ब्रह्मराजन्याभ्या शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय । प्रियो देवानां दक्षिणायै दातुरिह भूयासमयं मे कामः समृध्यतामुप मादो नमतु ॥ १ ॥ य० अ० २६ । मन्त्र २ ॥

भाष्यम्

अस्याभिप्रायः । परमेश्वरः सर्वमनुष्यैर्वेदाः पठनीयाः पाठ्या इत्याज्ञां ददाति । तद्यथा । (यथा) येन प्रकारेण, (इमाम्) प्रत्यक्षभूतामृग्वेदा-

दिवेदचतुष्टयीं, (कल्याणीम्) कल्याणसाधिकां (वाचम्) वाणीं, (जनेभ्यः) सर्वेभ्यो मनुष्येभ्योऽर्थात् सकलजीवोपकाराय, (आवदानि) आ समन्तादुपदिशानि, तथैव सर्वैर्विद्वद्भिः सर्वमनुष्येभ्यो वेदचतुष्टयी वागुपदेष्टव्येति । अत्र कश्चिदेवं ब्रूयात् । जनेभ्यो द्विजेभ्य इत्यध्याहार्य्यं, वेदाध्ययनाध्यापने तेषामेवाधिकारत्वात् । नैवं शक्यम् । उत्तरमन्त्रभागार्थविरोधात् । तद्यथा । कस्य कस्य वेदाध्ययनश्रवणेऽधिकारोस्तीत्याकांक्षायामिदमुच्यते, (ब्रह्मराजन्याभ्यां) ब्राह्मणक्षत्रियाभ्यां, (अर्य्याय) वैश्याय, (शूद्राय), (चारणाय) अतिशूद्रायान्त्यजाय, स्वाय स्वात्मीयाय पुत्राय भृत्याय च । सर्वैः सैषा वेदचतुष्टयी श्राव्येति । (प्रियो देवानां दक्षिणायै दातुरिह०) । यथाहमीश्वरः पक्षपातं विहाय, सर्वोपकारकरणेन सह वर्त्तमानः सन्, देवानां विदुषां प्रियः, दातुर्दक्षिणायै सर्वस्वदानाय प्रियश्च (भूयासम्) स्याम्, तथैव भवद्भिः सर्वैर्विद्वद्भिरपि सर्वोपकारं सर्वप्रियाचरणं मत्वा सर्वेभ्यो वेदवाणी श्राव्येति । यथायं मे मम कामः समृध्यते तथैवैवं कुर्वतां भवतां (अयं कामः समृध्यताम्) इयमिष्टसुखेच्छा समृध्यतां सम्यग्वर्धताम् । यथादः सर्वमिष्टसुखं मामुपनमति । (उप मादो नमतु) तथैव भवतोऽपि सर्वमिष्टसुखमुपनमतु सम्यक् प्राप्नोत्विति । मया युष्मभ्यमयमाशीर्वादो दीयत इति निश्चेतव्यम् । यथा मया वेदविद्या सर्वार्था प्रकाशिता तथैव युष्माभिरपि सर्वार्थोपकर्त्तव्या, नात्र वैषम्यं किञ्चित् कर्त्तव्यमिति । कुतः । यथा मम सर्वप्रियार्था पक्षपातरहिता च प्रवृत्तिरस्ति, तथैव युष्माभिराचरणे कृते मम प्रसन्नता भवति, नान्यथेति । अस्य मन्त्रस्यायमेवार्थोस्ति । कुतः । बृहस्पते अतियदर्य इत्युत्तरस्मिन्मन्त्रे हीश्वरार्थस्यैव प्रतिपादनात् ।

भाषार्थ

(प्रश्न) वेदादि शास्त्रों के पढ़ने पढ़ाने, सुनने और सुनाने में सब मनुष्यों का अधिकार है वा नहीं ? । (उत्तर) सब का है । क्योंकि जो ईश्वर की सृष्टि है उस में किसी का अनधिकार नहीं हो सकता । देखिये कि जो २ पदार्थ ईश्वर से

प्रकाशित हुए हैं सो २ सब के उपकारार्थ हैं। (प्रश्न) वेदों के पढ़ने का अधिकार केवल तीन वर्णों को ही है, क्योंकि शूद्रादि को वेदादि शास्त्र पढ़ने का निषेध किया है और द्विजों के पढ़ाने में भी केवल ब्राह्मण ही को अधिकार है। (उत्तर) यह बात सब मिथ्या है। इसका विवेक और उत्तर वर्णविभाग विषय में कह आये हैं। वहां यही निर्णय हुआ है कि मूर्ख का नाम शूद्र और अतिमूर्ख का नाम अतिशूद्र है। उन के पढ़ने पढ़ाने का निषेध इसलिये किया है कि उनको विद्याग्रहण करने की बुद्धि नहीं होती है। (प्र०) परन्तु क्या सब स्त्री पुरुषों को वेदादि शास्त्र पढ़ने सुनने का अधिकार है?। (उ०) सब को है। देखो इसमें यजुर्वेद ही का यह प्रमाण लिखते हैं, (यथेमां वाचं कल्याणीं०)। इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि वेदों के पढ़ने पढ़ाने का सब मनुष्यों को अधिकार है और विद्वानों को उन के पढ़ाने का। इसलिये ईश्वर आज्ञा देता है कि हे मनुष्य लोगो! जिस प्रकार मैं तुमको चारों वेदों का उपदेश करता हूं उसी प्रकार से तुम भी उन को पढ़ के सब मनुष्यों को पढ़ाया और सुनाया करो। क्योंकि यह चारों वेदरूप वाणी सब की कल्याण करने वाली है। तथा (आवदानि जनेभ्यः) जैसे सब मनुष्यों के लिये मैं वेदों का उपदेश करता हूं वैसे ही सदा तुम भी किया करो। (प्रश्न) (जनेभ्यः) इस पद से द्विजों ही का ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि जहां कहीं सूत्र और स्मृतियों में पढ़ने का अधिकार लिखा है वहां केवल द्विजों ही का ग्रहण किया है?। (उत्तर) यह बात ठीक नहीं है, क्योंकि जो ईश्वर का अभिप्राय द्विजों ही के ग्रहण करने का होता तो मनुष्यमात्र को उन के पढ़ने का अधिकार कभी न देता। जैसा कि इस मन्त्र में प्रत्यक्ष विधान है (ब्रह्मराजन्याभ्याꣳ शूद्राय चार्य्याय च स्वाय चारणाय), अर्थात् वेदाधिकार जैसा ब्राह्मणवर्ण के लिये है वैसा ही क्षत्रिय, अर्य्य, वैश्य, शूद्र, पुत्र, भृत्य और अतिशूद्र के लिये भी बराबर है, क्योंकि वेद ईश्वरप्रकाशित है। जो विद्या का पुस्तक होता है वह सब का हितकारक है और ईश्वररचित पदार्थों के दायभागी सब मनुष्य अवश्य होते हैं। इसलिये उस का जानना सब मनुष्यों को उचित है, क्योंकि वह माल सब के पिता का सब पुत्रों के लिये है। किसी वर्णविशेष

के लिये नहीं। (प्रियो देवानाम्) जैसे मैं इस वेदरूप सत्यविद्या का उपदेश करके विद्वानों के आत्माओं में प्रिय हो रहा तथा (दक्षिणायै दातुरिह भूयासं) जैसे दानी वा शीलमान् पुरुष को प्रिय होता हूं वैसे ही तुम लोग भी पक्षपात-रहित होकर वेदविद्या को सुना कर सब को प्रिय हो। (अयं मे कामः समृध्यताम्) जैसे यह वेदों का प्रचाररूप मेरा काम संसार के बीच में यथावत् प्रचरित होता है इसी प्रकार की इच्छा तुम लोग भी करो कि जिससे उक्त विद्या आगे को भी सब मनुष्यों में प्रकाशित होती रहे। (उप मादो नमतु) जैसे मुझ में अनन्तविद्या से सब सुख हैं वैसे जो कोई विद्या का ग्रहण और प्रचार करेगा उस को भी मोक्ष तथा संसार का सुख प्राप्त होगा। यही इस मन्त्र का अर्थ ठीक है। क्योंकि इससे अगले मन्त्र में भी (बृहस्पते अति यदर्य्यो०) परमेश्वर ही का ग्रहण किया है। इससे सब के लिये वेदाधिकार है ॥१॥

वर्णाश्रमा अपि गुणकर्माचारतो हि भवन्ति। अत्राह मनुः ॥

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।
क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च ॥ १ ॥
मनु० अ० १०। श्लो० ६५॥

भाष्यम्

शूद्रः पूर्णविद्यासुशीलतादिब्राह्मणगुणयुक्तश्चेद् ब्राह्मणतामेति, ब्राह्मणभावं प्राप्नोति, योऽस्ति ब्राह्मणस्याधिकारस्तं सर्वं प्राप्नोत्येव। एवमेव कुचर्य्याऽधर्माचरणनिर्बुद्धिमूर्खत्वपराधीनतापरसेवादिशूद्रगुणैर्युक्तो ब्राह्मणश्चेत् स शूद्रतामेति, शूद्राधिकारं प्राप्नोत्येव। एवमेव क्षत्रियाज्जातं क्षत्रियादुत्पन्नं वैश्यादुत्पन्नं प्रति च योजनीयम्। अर्थाद्यस्य वर्णस्य गुणैर्युक्तो यो वर्णः स तत्तदधिकारं प्राप्नोत्येव। एवमेवापस्तम्बसूत्रेप्यास्ति।

धर्मचर्य्यया जघन्यो वर्णः पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ ॥ १ ॥ अधर्मचर्य्यया पूर्वो वर्णो जघन्यं जघन्यं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ ॥ २ ॥ प्रश्न २। पटल० ५। खं० ११। सू० १०। ११ ॥

भाष्यम्

सत्यधर्माचरणेनैव शूद्रो, वैश्यं क्षत्रियं ब्राह्मणं च वर्णमापद्यते, समन्तात्प्राप्नोति सर्वाधिकारमित्यर्थः । जातिपरिवृत्तावित्युक्ते जातेर्वर्णस्य परितः सर्वतो या वृत्तिराचरणं तत्सर्वं प्राप्नोति ॥ १ ॥ एवमेव स लक्षणेनाधर्माचरणेन पूर्वो वर्णो ब्राह्मणो, जघन्यं स्वस्मादधःस्थितं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च वर्णमापद्यते, जातिपरिवृत्तौ चेति पूर्ववत् । अर्थाद् धर्माचरणमेवोत्तमवर्णाधिकारे कारणमस्ति । एवमेवाधर्माचरणं कनिष्ठवर्णाधिकारप्राप्तेश्चेति । यत्र यत्र शूद्रो नाध्यापनीयो न श्रावणीयश्चेत्युक्तं तत्रायमभिप्रायः, शूद्रस्य प्रज्ञाविरहत्वाद्विद्यापठनधारणविचारासमर्थत्वात्तस्याध्यापनं श्रावणं व्यर्थमेवास्ति, निष्फलत्वाच्चेति ।

भाषार्थ

वर्णाश्रमव्यवस्था भी गुण कर्मों के आचारविभाग से होती है । इस में मनुस्मृति का भी प्रमाण है कि (शूद्रो ब्राह्मणता०) । शूद्र ब्राह्मण और ब्राह्मण शूद्र हो जाता है, अर्थात् गुण कर्मों के अनुकूल ब्राह्मण हो तो ब्राह्मण रहता है तथा जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के गुणवाला हो तो वह क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र हो जाता है । वैसे शूद्र भी मूर्ख हो तो वह शूद्र रहता और जो उत्तम गुणयुक्त हो तो यथायोग्य ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य हो जाता है । वैसे ही क्षत्रिय और वैश्य के विषय में भी जान लेना । जो शूद्र को वेदादि पढ़ने का अधिकार न होता तो वह ब्राह्मण, क्षत्रिय वा वैश्य के अधिकार को कैसे प्राप्त हो सकता । इससे यह निश्चित जाना जाता है कि पच्चीसवें वर्ष वर्णों का अधिकार ठीक २ होता है, क्योंकि पच्चीस वर्ष तक बुद्धि बढ़ती है । इसलिये उसी समय गुण कर्मों की ठीक २ परीक्षा करके वर्णाधिकार होना उचित है ॥ १ ॥ तथा आपस्तम्बसूत्र में भी ऐसा लिखा है (धर्मचर्य्यया०), अर्थात् धर्माचरण करने से नीचे के वर्ण पूर्व २ वर्ण के अधिकार को प्राप्त हो जाते हैं । सो केवल कहने ही मात्र को नहीं किन्तु जिस २ वर्ण को जिन २ कर्मों का अधिकार है उन्हीं के अनुसार (आपद्यते जातिपरिवृत्तौ) वे यथावत् प्राप्त

होते हैं ॥ १ ॥ (अधर्मचर्य्यया०) तथा अधर्माचरण करके पूर्व २ वर्ण नीचे २ के वर्णों के अधिकारों को प्राप्त होते हैं । इससे यह सिद्ध हुआ कि वेदों के पढ़ने सुनने का अधिकार सब मनुष्यों को बराबर है ।

इति संक्षेपतोऽधिकारानधिकारविषयः

अथ पठनपाठनविषयः संक्षेपतः

तत्रादौ पठनस्यारम्भे शिक्षारीत्या स्थानप्रयत्नस्वरज्ञानायाक्षरोच्चारणोपदेशः कर्त्तव्यः । येन नैव स्वरवर्णोच्चारणज्ञानविरोधः स्यात् । तद्यथा । प इत्यस्योच्चारणमोष्ठौ संयोज्यैव कार्य्यम् । अस्योष्ठौ स्थानं, स्पृष्टः प्रयत्न इति वेद्यम् । एवमेव सर्वत्र । अत्र महाभाष्यकारः पतञ्जलिमहामुनिराह ।

दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह । स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात् ॥ १ ॥ महाभा० अ० १ । पा० १ । आ० १ ॥

भाष्यम्

नैव स्थानप्रयत्नयोगेन विनोच्चारणे कृतेऽक्षराणां यथावत्प्रकाशः पदानां लालित्यं च भवति । यथा गानकर्त्ता षड्जादिस्वरालापनेऽन्यथोच्चारणं कुर्य्याच्चेत्स तस्यैवापराधो भवेत् । तद्वद्वेदेष्वपि प्रयत्नेन सह स्वस्वस्थाने खलु स्वरवर्णोच्चारणं कर्त्तव्यम् । अन्यथा दुष्टः शब्दो दुःखदोऽनर्थकश्च भवति । यथावदुच्चारणमुल्लंघ्योच्चारिते शब्दे वक्तुरपराध एव विज्ञायते । त्वं मिथ्याप्रयोगं कृतवानिति । नैव स मिथ्याप्रयुक्तः शब्दस्तमभिप्रेतमर्थमाह । तद्यथा । सकलम् , शकलम् । सकृत् , शकृदिति । सकलशब्दः सम्पूर्णार्थवाची । शकल इति खण्डवाची च । एवं सकृदित्येकवारार्थवाची । शकृदिति मलार्थवाची चात्र । सकारोच्चारणे कर्त्तव्ये शकारोच्चारणं क्रियते चेदेवं शकारोच्चारणे कर्त्तव्ये सकारोच्चारणं च, तदा स शब्दः स्वविषयं नाभिधत्ते । स वाग्व-

ज्ञो भवति । यमर्थम्मत्वोच्चारणं क्रियते स शब्दस्तदभिप्रायनाशको भवति । तदुच्चारं यजमानं तदधिष्ठातारं च हिनस्ति, तेनार्थेन हीनं करोति । यथेन्द्रशत्रुरयं शब्दः स्वरस्यापराधाद्विपरीतफलो जातः । तद्यथा । इन्द्रः सूर्य्यलोकस्तस्य शत्रुरिव मेघः । अत्र इन्द्रशत्रुशब्दे तत्पुरुषसमासार्थमन्तोदात्ते कर्त्तव्ये आद्युदात्तकरणाद् बहुव्रीहिः समासः कृतो भवति । अस्मिन् विषये तुल्ययोगितात्व(ल)ङ्कारेण मेघसूर्य्ययोर्वर्णनं कृतमिति, ततोऽर्थवैपरीत्यं जायते । उत्तरपदार्थप्रधानस्तत्पुरुषोऽन्यपदार्थप्रधानो बहुव्रीहिः समासो भवति । तत्र यस्येच्छा सूर्य्यस्य ग्रहणेऽस्ति तेनेन्द्रशत्रुशब्दः कर्मधारयसमासेनान्तोदात्त उच्चारणीयः । यस्य च मेघस्य तेन बहुव्रीहिसमासमाश्रित्याद्युदात्तस्वरश्चेति नियमोऽस्ति । अत्रान्यथात्वे कृते मनुष्यस्य दोष एव गण्यते । अतः कारणात् स्वरोच्चारणं वर्णोच्चारणं च यथावदेव कर्त्तव्यमिति ॥ १ ॥

भाषार्थ

पठनपाठन की आदि में लड़कों और लड़कियों की ऐसी शिक्षा करनी चाहिये कि वे स्थान प्रयत्न के योग से वर्णों का ऐसा उच्चारण कर सकें कि जिससे सब को प्रिय लगें । जैसे (प) इस के उच्चारण में दो प्रकार का ज्ञान होना चाहिये एक स्थान और दूसरा प्रयत्न का । पकार का उच्चारण ओठों से होता है, परन्तु दो ओठों को ठीक २ मिला ही के पकार बोला जाता है । इसका ओष्ठ स्थान और स्पृष्ट प्रयत्न है और जो किसी अक्षर के स्थान में कोई स्वर वा व्यञ्जन मिला हो तो उस को भी उसी उसी के स्थान में प्रयत्न से उच्चारण करना उचित है । इस का सब विधान व्याकरण और शिक्षाग्रन्थ में लिखा है । फिर इस विषय में पतञ्जलि महाभाष्यकार ने भी कहा है कि स्वर और वर्णों के उच्चारण में विपरीत होने से शब्द दुष्ट कहाता है अर्थात् वह मूल अर्थ को नहीं जनाता । तथा (स वाग्वज्रो०) जैसे स्थान और प्रयत्न के योग के विना शब्द का उच्चारण प्रसन्नता करानेहारा नहीं होता वैसे ही स्वर से विपरीत उच्चारण और गानविद्या भी सुन्दर नहीं होती । किन्तु गान का करने वाला षड्जादि स्वरों के उच्चारण को उलटा कर देवे तो वह अपराध उसी का समझा

जाता है । इसी प्रकार वेदादि ग्रन्थों में भी स्वर और वर्णों का उच्चारण यत्न से होना चाहिये और जो उलटा उच्चारण किया जाता है वह (दुष्टः शब्दः) दुःख देने वाला और झूठ समझा जाता है । जिस शब्द का यथावत् उच्चारण न हो किन्तु उससे विपरीत किया जाय तो वह दोष बोलने वाले का गिना जाता है और विद्वान् लोग बोलनेवाले से कहते हैं कि तूने इस शब्द का अच्छा उच्चारण नहीं किया इससे यह तेरे अभिप्राय को यथार्थ नहीं कह सकता । जैसे (सकल) और (शकल) देख लो अर्थात् (सकल) शब्द सम्पूर्ण का बोधक और जो उस में तालव्य शकार का उच्चारण किया जाय तो वही फिर खण्ड का वाचक हो जाता है । ऐसे ही सकृत् और शकृत् में दन्त्य सकार के उच्चारण से प्रथम क्रिया और उसी को तालव्य उच्चारण करने से विष्ठा का बोध होता है । इसलिये शब्दों का उच्चारण यथावत् करने से ही ठीक २ अर्थ का बोध होता है । क्योंकि विपरीत उच्चारण से वह वज्र के समान वक्ता के अभिप्राय का नाश करनेवाला होता है । सो यह दोष बोलने वाले का ही गिना जाता है । जैसे (इन्द्रशत्रुः), यहां इकार में उदात्तस्वर बोलने से बहुव्रीहि समास और अन्य पदार्थ का बोध होता है तथा अन्तोदात्त बोलने से तत्पुरुषसमास और उत्तरपदार्थ का बोध हो जाता है । सूर्य्य का इन्द्र और मेघ का वृत्रासुर नाम है । इस के सम्बन्ध में वृत्रासुर अर्थात् मेघ का वर्णन तुल्ययोगिताऽलङ्कार से किया है । जो इन्द्र अर्थात् सूर्य्य की उत्तमता चाहे वह समस्त पद के स्थान में अन्तोदात्त उच्चारण करे और जो मेघ की वृद्धि चाहे वह आद्युदात्त उच्चारण करे । इसलिये स्वर का उच्चारण भी यथावत् करना चाहिये ।

भाष्यम्

तथा भाषणश्रवणासनगमनोत्थानभोजनाध्ययनविचारार्थयोजनादीनामपि शिक्षा कर्त्तव्यैव । अर्थज्ञानेन सहैव पठने कृते परमोत्तमं फलं प्राप्नोति । परन्तु यो न पठति तस्मात्त्वयं पाठमात्रकार्य्यप्युत्तमो भवति । यस्तु खलु शब्दार्थसम्बन्धविज्ञानपुरस्सरमधीते स उत्तमतरः । यश्चैवं वेदान् पठित्वा विज्ञाय च शुभगुणकर्माचरणेन सर्वोपकारी भवति स उत्तमतमः । अत्र प्रमाणानि ।

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः। यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥ २ ॥ ऋ० मण्डल १। सू० १६४। मं० ३६ ॥ स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्। योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा ॥ ३॥ यद्गृहीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते। अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित् ॥ ४ ॥ निरु० अ० १। खं० १८ ॥

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्। उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः ॥ ५ ॥ उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु। अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम् ॥ ६ ॥ ऋ० मण्ड० १०। सू० ७१। मं० ४। ५ ॥

भाष्यम्

अभि०—अत्रार्थज्ञानेन विनाऽध्ययनस्य निषेधः क्रियत इति। (ऋचो अक्षरे०) यस्मिन् विनाशरहिते परमोत्कृष्टे व्योमवद्व्यापके ब्रह्मणि, चत्वारो वेदाः पर्यवसितार्थाः सन्ति, ऋगुपलक्षणं चतुर्णां वेदानां ग्रहणार्थम्, तत् किं ब्रह्मेत्यत्राह। यस्मिन् विश्वे देवाः, सर्वे विद्वांसो, मनुष्या, इन्द्रियाणि च सूर्य्यादयश्च सर्वे लोका, अधिनिषेदुर्यदाऽऽधारेण निषण्णाः स्थितास्तद्ब्रह्म विज्ञेयम्। (यस्तं न वेद०) यः खलु तन्न जानाति, सर्वोपकारकरणार्थायामीश्वराज्ञायां यथावन्न वर्त्तते, स पठितयाऽपि ऋचा वेदेन किं करिष्यति, नैवायं कदाचिद्वेदार्थविज्ञानजातं किमपि फलं प्राप्नोतीत्यर्थः। (य इत्तद्विदुस्त इमे समासते) ये चैवं तद्ब्रह्म विदुस्त एव धर्मार्थकाममोक्षाख्यं फलं सम्यक् प्राप्नुवन्ति। तस्मात्सार्थकमेव वेदादीनामध्ययनं कर्त्तव्यम् ॥ २ ॥ (स्थाणुरयं०) यः पुरुषो वेदमधीत्य पाठमात्रं पठित्वाऽर्थं न जानाति, तं विज्ञायाऽपि धर्मं नाचरति, स मनुष्यः स्थाणुः काष्ठस्तम्भव-

भवति, अर्थाज्जडवद्विज्ञेयो भारवाहश्च । यथा कश्चिन्मनुष्यः पशुश्च भारमात्रं वहंस्तन्न भुङ्क्ते, किन्तु तेनोढं घृतमिष्टकस्तूरीकेशरादिकं कश्चिद्भाग्यवानन्यो मनुष्यो भुङ्क्ते । योऽर्थविज्ञानशून्यमध्ययनं करोति स भारवाहवत् (किला- भूत्) भवतीति मन्तव्यम् । (योऽर्थज्ञ०) योऽर्थस्य ज्ञाता वेदानां शब्दार्थस- म्बन्धविद्भूत्वा धर्माचरणो भवति, स वेदार्थज्ञानेन (विधूतपाप्मा) पापरहितः सन् मरणात् प्रागेव (सकलं) सम्पूर्णं (भद्रं) भजनीयं सुखं (अश्नुते) प्राप्नोति । पुनश्च शरीरं त्यक्त्वा (नाकमेति) सर्वदुःखरहितं मोक्षाख्यं ब्रह्मपदं प्राप्नोति । तस्माद्वेदानामर्थज्ञानधर्मानुष्ठानपूर्वकमेवाध्ययनं कर्त्तव्यम् ॥ ३ ॥ (यद्गृहीतमविज्ञातं) येन मनुष्येण यदर्थज्ञानशून्यं वेदाद्यध्ययनं क्रियते, किन्तु (निगदेन) पाठमात्रेणैव (शब्द्यते) कथ्यते, तत् (कर्हि- चित्) कदाचिदपि (न ज्वलति) न प्रकाशते । कस्मिन् किमिव ? । (अनग्नाविव शुष्कैधः) अविद्यमानाग्निके स्थले शुष्कं सांप्रतं प्रज्वलन मिन्धनमिव । यथाऽनग्नौ शुष्काणां काष्ठानां स्थापनेनापि दाहप्रकाशा न जायन्ते तादृशमेव तदध्ययनमिति ॥ ४ ॥ (उत त्वः पश्यन्न ददर्श०) अपि खल्वेको वाचं शब्दं पश्यन्नर्थं न पश्यति, (उत त्वः शृण्वन्न शृणो- त्येनाम्) उ इति वितर्के, कश्चिन्मनुष्यो वाचं शब्दमुच्चारयन्नपि न शृणोति तदर्थं न जानाति । यथा तेनोच्चारिता श्रुताऽपि वाक् अविदिता भवति तथैवाऽ- र्थज्ञानविरहमध्ययनमिति मन्त्राऽर्द्धेनाविद्वल्लक्षणमुक्तम् । (उतो त्वस्मै) यो मनुष्योऽर्थज्ञानपूर्वकं वेदानामध्ययनं करोति तस्मै (वाक्) विद्या (तन्वं) शरीरं स्वस्वरूपं (विसस्रे) विविधतया प्रकाशयति । कस्मै का किं कुर्व- तीव ? । (जायेव पत्य उशती सुवासाः) यथा शोभनानि वासांसि वस्त्राणि धारयन्ती, पतिं कामयमाना स्त्री स्वस्वामिने स्वमात्मानं शरीरं प्रकाशयति, तथैवाऽर्थज्ञानपूर्वकाध्ययनकर्त्रे मनुष्याय विद्या स्वमात्मानं स्व- स्वरूपमीश्वरमारभ्य पृथिवीपर्यन्तानां पदार्थानां ज्ञानमयं प्रकाशयतीत्यर्थः ॥ ५ ॥ (सख्ये) यथा सर्वेषां प्राणिनां मित्रभावकर्मणि, (उत त्वं) अन्यमनूचानं पूर्णविद्यायुक्तं, (स्थिरपीतं) धर्मानुष्ठानेश्वरप्राप्तिरूपं मोक्षफलं पीतं प्राप्तं येन, तं विद्वांसं परमसुखप्रदं मित्रं (आहुः) वदन्ति । (नैनं

हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु) ईदृशं विद्वांसं कस्मिंश्चिद् व्यवहारे केऽपि न हिंसन्ति, तस्य सर्वप्रियकारकत्वात्। तथैव नैव केचित्प्रश्नोत्तरादयो व्यवहारा वाजिनेषु विरुद्धवादिषु शत्रुभूतेष्वपि मनुष्येष्वेनमर्थविज्ञानसहितस्याध्येतारं मनुष्यं हिन्वन्ति, तस्य सत्यविद्यान्वितया कामदुहा वाचा सह वर्त्तमानत्वेन सत्यविद्याशुभलक्षणान्वितत्वात्। इत्यनेन मन्त्रपूर्वार्द्धेन विद्वत्प्रशंसोच्यते। अथैतन्मन्त्रोत्तरार्द्धेनाविद्वल्लक्षणमाह। (अधेन्वाचरति) यतो योऽविद्वान्, (अपुष्पाम्) कर्मोपासनानुष्ठानाचारविद्यारहितां (अफलां) धर्मेश्वरविज्ञानाचारविरहां वाचं शुश्रुवान् श्रुतवान् तथाऽर्थशिक्षारहितया भ्रमसाहितया (मायया) कपटयुक्तया वाचाऽस्मिंल्लोके चरति, नैव स मनुष्यजन्मनि स्वार्थपरोपकाराख्यं च फलं किञ्चिदपि प्राप्नोति। तस्मादर्थज्ञानपूर्वकमेवाध्ययनमुत्तमं भवतीति ॥ ६ ॥

भाषार्थ

ऐसे लड़कों और लड़कियों को बोलने, सुनने, चलने, बैठने, उठने, खाने, पीने, पढ़ने, विचारने तथा पदार्थों के जानने और जोड़ने आदि की शिक्षा भी करनी चाहिये, क्योंकि अर्थज्ञान के विना पढ़े कोई भी उत्तम फल को प्राप्त नहीं हो सकता। परन्तु कुछ भी नहीं पढ़ने वाले से तो पाठमात्र जानने वाला ही श्रेष्ठ है। जो वेदों को अर्थसाहित यथावत् पढ़ के शुभ गुणों को ग्रहण और उत्तम कर्मों को करता है वही सब से उत्तम होता है। इस विषय में वेदमन्त्रों के बहुत प्रमाण हैं जैसे (ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्)। यहां इन मन्त्रों से अर्थज्ञान के विना पढ़ने का निषेध किया जाता है (प्र०) जिस का विनाश कभी नहीं होता और जो सबसे श्रेष्ठ, आकाशवत् व्यापक, सब में रहने वाला परमेश्वर है, जिसने अर्थसहित चारों वेद विद्यमान तथा जिसका उत्पन्न किया हुआ सब जगत् है, वह ब्रह्म क्या वस्तु है ?। (उ०) (यस्मिन्देवा०) जिस में संपूर्ण विद्वान् लोग, सब इन्द्रियां, सब मनुष्य और सब सूर्य्यादिलोक स्थित हैं वह परमेश्वर कहाता है। जो मनुष्य वेदों को पढ़ के ईश्वर को न जाने तो क्या वेदार्थ जानने का फल उस को प्राप्त हो सकता है, कभी नहीं। इसलिये जैसा

वेदविषय में लिख आये हैं वैसा व्यवहार करने वाले मनुष्य अत्यन्त आनन्द को प्राप्त होते हैं। परन्तु जो कोई पाठमात्र ही पढ़ता है वह उत्तम सुख को प्राप्त कभी नहीं हो सकता। इस कारण से जो कुछ पढ़ें सो अर्थज्ञानपूर्वक ही पढ़ें ॥ २ ॥ (स्थाणु०) जो मनुष्य वेदों को पढ़ के उन के अर्थों को नहीं जानता वह उनके सुख को न पाकर भार उठाने वाले पशु अथवा वृक्ष के समान है, जो कि अपने फल फूल डाली आदि को विना गुणबोध के उठा रहे हैं, किन्तु जैसे उनके सुख को भोगने वाला कोई दूसरा भाग्यवान् मनुष्य होता है वैसे ही पाठ के पढ़ने वाले भी परिश्रमरूप भार को उठाते हैं परन्तु उनके अर्थज्ञान से आनन्दस्वरूप फल को नहीं भोग सकते। (योऽर्थज्ञः) और जो अर्थ का जानने वाला है वह अधर्म से बचकर, धर्मात्मा होके, जन्म मरणरूप दुःख का त्याग करके, संपूर्ण सुख को प्राप्त होता है। क्योंकि जो ज्ञान से पवित्रात्मा होता है वह (नाकमेति) सर्वदुःखरहित होके मोक्षसुख को प्राप्त होता है। इसी कारण वेदादिशास्त्रों को अर्थज्ञानसहित पढ़ना चाहिये ॥ ३ ॥ (यद्गृहीत०) जो मनुष्य केवल पाठमात्र ही पठन क्रिया करता है उसका वह पढ़ना अन्धकाररूप होता है। (अग्नाविव शुष्कैधो०) जैसे अग्नि के विना सूखे ईंधन में दाह और प्रकाश नहीं होता वैसे ही अर्थज्ञान के विना अध्ययन भी ज्ञानप्रकाशरहित रहता है। वह पढ़ना अविद्यारूप अन्धकार का नाश कभी नहीं कर सकता ॥ ४ ॥ (उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत०) विद्वान् और अविद्वान् का यही लक्षण है कि जिस किसी को पढ़ सुन के भी शब्द अर्थ और सम्बन्ध का यथार्थ ज्ञान न हो वह मूर्ख अर्थात् अविद्वान् है। (उतो त्वस्मै०) और जो मनुष्य शब्द अर्थ सम्बन्ध तथा विद्या के प्रयोजन को यथावत् जान ले वह पूर्ण विद्वान् कहाता है। ऐसे ही श्रेष्ठ पुरुष को विद्या के स्वरूप के ज्ञान से परमानन्दरूप फल भी होता है। (जायेव पत्य उशती सुवासाः) अर्थात् जैसे पतिव्रता स्त्री अपने ही पति को अपना शरीर दिखलाती है वैसे ही अर्थ जाननेवाले विद्वान् ही को विद्या भी अपने रूप का प्रकाश करती है ॥ ५ ॥ (उतत्वं सख्ये०) सब मनुष्यों को उचित है कि विद्वानों के साथ प्रीति करें अर्थात् जैसे संपूर्ण मनुष्यों के मैत्री करने योग्य मनुष्य को सब लोग सुख देते हैं वैसे

ही तू भी जो वेदादि विद्या और विज्ञानयुक्त पुरुष है उस को अच्छी प्रकार सुख दे कि जिससे तुझे विद्यारूप लाभ सदा होता रहे। विद्वान् नाम उस का है जो कि अर्थसहित विद्या को पढ़के वैसा ही आचरण करे कि जिससे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष और परमेश्वर की प्राप्ति यथावत् हो सके। इसी को स्थिरपीत कहते हैं। ऐसा जो विद्वान् है वह संसार को सुख देने वाला होता है। (नैनं हि०) उस को कोई भी मनुष्य दुःख नहीं दे सकता, क्योंकि जिस के हृदय में विद्यारूप सूर्य्य प्रकाशित हो रहा है उस को दुःखरूप चोर दुःख कभी नहीं दे सकते। (अधेन्वा च०) और जो कोई अविद्यारूप अर्थात् अर्थ और अभिप्रायरहित वाणी को सुनता और कहता है उस को कभी कुछ भी सुख प्राप्त नहीं हो सकता। किन्तु शोकरूप शत्रु उस को सब दिन दुःख ही देते रहते हैं। क्योंकि विद्याहीन होने से वह उन शत्रुओं को जीतने में समर्थ नहीं हो सकता। इसलिये अर्थज्ञानसहित ही पढ़ने से मनचाहा सुखलाभ होता है ॥ ६ ॥

भाष्यम्

मनुष्यैर्वेदार्थविज्ञानाय व्याकरणाष्टाध्यायीमहाभाष्याध्ययनम्। ततो निघण्टुनिरुक्तछन्दोज्योतिषाणां वेदाङ्गानाम्। ततो मीमांसावैशेषिकन्याययोगसांख्यवेदान्तानां वेदोपाङ्गानां षण्णां शास्त्राणाम्। तत ऐतरेयशतपथसामगोपथब्राह्मणानामध्ययनं च कृत्वा वेदार्थपठनं कर्त्तव्यम्। यद्वा एतत्सर्वमधीतवद्भिः कृतं वेदव्याख्यानं दृष्ट्वा च वेदार्थज्ञानं सर्वैः कर्त्तव्यमिति। कुतः। नावेदविन्मनुते तं बृहन्तमिति। यो मनुष्यो वेदार्थान्न वेत्ति स नैव तं बृहन्तं परमेश्वरं धर्मं विद्यासमूहं वा वेत्तुमर्हति। कुतः, सर्वासां विद्यानां वेद एवाधिकरणमस्त्यतः। नहि तमविज्ञाय कस्यचित्सत्यविद्याप्राप्तिर्भवितुमर्हति। यद्यत् किञ्चिद्भूगोलमध्ये पुस्तकान्तरेषु हृदयान्तरेषु वा सत्यविद्याविज्ञानमभूत् भवति भविष्यति च तत् सर्वं वेदादेव प्रसृतमिति विज्ञेयम्। कुतः। यद्यद्यथार्थं विज्ञानं तत्तदीश्वरेण वेदेष्वधिकृतमास्ति। तद्द्वारैवाऽन्यत्र कुत्रचित्सत्यप्रकाशो भवितुं योग्यः। अतो वेदार्थविज्ञानाय सर्वैर्मनुष्यैः प्रयत्नोऽनुष्ठेय इति।

भाषार्थ

मनुष्य लोग वेदार्थ जानने के लिये अर्थयोजनासहित व्याकरण, अष्टाध्यायी, धातुपाठ, उणादिगण, गणपाठ और महाभाष्य । शिक्षा, कल्प, निघण्टु, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष ये छः वेदों के अंग । मीमांसा, वैशेषिक, न्याय, योग, सांख्य और वेदान्त ये छः शास्त्र, जो वेदों के उपांग अर्थात् जिन से वेदार्थ ठीक २ जाना जाता है । तथा ऐतरेय, शतपथ, साम और गोपथ ये चार ब्राह्मण । इन सब ग्रन्थों को क्रम से पढ़ के अथवा जिन्हों ने उन संपूर्ण ग्रंथों को पढ़ के जो सत्य २ वेद व्याख्यान किये हों उन को देख के वेद का अर्थ यथावत् जान लेवें । क्योंकि (नावेदवित्०) वेदों को नहीं जाननेवाला मनुष्य परमेश्वरादि सब पदार्थविद्याओं को अच्छी प्रकार से नहीं जान सकता और जो २ जहां २ भूगोलों वा पुस्तकों अथवा मन में सत्यज्ञान प्रकाशित हुआ है और होगा वह सब वेदों में से ही हुआ है । क्योंकि जो २ सत्यविज्ञान है सो २ ईश्वर ने वेदों में धर रक्खा है, इसी के द्वारा अन्य स्थानों में भी प्रकाश होता है और विद्या के विना पुरुष अन्धे के समान होता है । इस से संपूर्ण विद्याओं के मूल वेदों को विना पढ़े किसी मनुष्य को यथावत् ज्ञान नहीं हो सकता । इसलिये सब मनुष्यों को वेदादि शास्त्र अर्थज्ञानसहित अवश्य पढ़ने चाहियें ।

इति पठनपाठनविषयः संक्षेपतः

अथ संक्षेपतो भाष्यकरणशङ्कासमाधानादिविषयः

(प्रश्नः) किञ्च भोः ! नवीनं भाष्यं त्वया क्रियत आहोस्वित्पूर्वाचार्य्यैः कृतमेव प्रकाश्यते ? । यदि पूर्वैः कृतमेव प्रकाश्यते तर्हि तत् पिष्टपेषणदोषेण दूषितत्वान्न केनापि ग्राह्यं भवतीति ।(उत्तरम्) पूर्वाचार्यैः कृतं प्रकाश्यते । तद्यथा । यानि पूर्वैर्देवैर्विद्वद्भिर्ब्रह्माणमारभ्य याज्ञवल्क्यवात्स्यायनजैमिन्यन्तैर्ऋषिभिश्चैतरेयशतपथादीनि भाष्याणि रचितान्यासन्, तथा यानि

पाणिनिपतञ्जलियास्कादिमहर्षिभिश्च वेदव्याख्यानानि वेदाङ्गाख्यानि कृतानि, एवमेव जैमिन्यादिभिर्वेदोपाङ्गाख्यानि षट्शास्त्राणि, एवमुपवेदाख्यानि, तथैव वेदशाखाख्यानि च रचितानि सन्ति, एतेषां संग्रहमात्रेणैव सत्योऽर्थः प्रकाश्यते। न चात्र किञ्चिदप्रमाणं नवीनं स्वेच्छया रच्यत इति। (प्रश्नः) किमनेन फलं भविष्यतीति ?। (उ०) यानि रावणोवटसायणमहीधरादिभिर्वेदार्थविरुद्धानि भाष्याणि कृतानि यानि चैतदनुसारेणेङ्गलेण्डशारमण्यदेशोत्पन्नैर्यूरोपखण्डदेशनिवासिभिः स्वदेशभाषया स्वल्पानि व्याख्यानानि कृतानि, तथैवार्य्यावर्त्तदेशस्थैः कैश्चित्तदनुसारेण प्राकृतभाषया व्याख्यानानि कृतानि वा क्रियन्ते च तानि सर्वाण्यनर्थगर्भाणि सन्तीति सज्जनानां हृदयेषु यथावत् प्रकाशो भविष्यति, टीकानामधिकदोषप्रसिद्ध्या त्यागश्च। परन्त्ववकाशाभावात्तेषां दोषाणामत्र स्थालीपुलाकन्यायवत् प्रकाशः क्रियते। तद्यथा। यत् सायणाचार्य्येण वेदानां परममर्थमविज्ञाय सर्वे वेदाः क्रियाकाण्डतत्पराः सन्तीत्युक्तं, तदन्यथास्ति। कुतः। तेषां सर्वविद्यान्वितत्वात्। तच्च पूर्वं संक्षेपतो लिखितमस्ति। एतावतैवास्य कथनं व्यर्थमस्तीत्यवगन्तव्यम्। (इन्द्रं मित्रं०) अस्य मन्त्रस्याऽर्थोऽप्यन्यथैव वर्णितः। तद्यथा। तेनाऽत्रेन्द्रशब्दो विशेष्यतया गृहीतो मित्रादीनि च विशेषणतया। अत्र खलु विशेष्योऽग्निशब्द इन्द्रादीनां विशेषणानां सङ्गेऽन्वितो भूत्वा, पुनः स एव सद्वस्तुब्रह्मविशेषणं भवत्येवमेव विशेष्यं प्रति विशेषणं पुनः पुनरन्वितं भवतीति, न चैवं विशेषणम्। एवमेव यत्र शतं सहस्रं वैकस्य विशेष्यस्य विशेषणानि भवेयुः, तत्र विशेष्यस्य पुनः पुनरुच्चारणं भवति विशेषणस्यैकवारमेवेति। तथैवात्र मन्त्रे परमेश्वरेणाऽग्निशब्दो द्विरुच्चारितो विशेष्यविशेषणाऽभिप्रायात्। इदं सायणाचार्य्येण नैव बुद्धमतस्तस्य भ्रान्तिरेव जातेति वेद्यम्। निरुक्तकारेणाप्यग्निशब्दो विशेष्यविशेषणत्वेनैव वर्णितः। तद्यथा। इममेवाग्निं महान्तमात्मानमेकमात्मानं बहुधा मेधाविनो वदन्तीन्द्रं मित्रं वरुणमित्यादि०॥ नि० अ० ७। खं० १८॥ स चैकस्य सद्वस्तुनो ब्रह्मणो नामास्ति। तस्मादग्न्यादीनीश्वरस्य नामानि सन्तीति बोध्यम्। तथा च। तस्मात्सर्वैरपि परमेश्वर एव हूयते, यथा राज्ञः पुरोहितः सदभीष्टं

सम्पादयति, यद्वा यज्ञस्य सम्बन्धिनि पूर्वभागे आहवनीयरूपेणावस्थितमित्युक्तमिदमपि पूर्वापरविरुद्धमस्ति । तद्यथा । सर्वैर्नामभिः परमेश्वर एव हूयते चेत्पुनस्तेन होमसाधक आहवनीयरूपेणावस्थितो भौतिकोऽग्निः किमर्थो गृहीतः । तस्येदमपि वचनं भ्रममूलमेव । कोऽपि ब्रूयात्सायणाचार्य्येण यद्यपीन्द्रादयस्तत्र तत्र हूयन्ते तथापि परमेश्वरस्यैवेन्द्रादिरूपेणावस्थानादविरोध इत्युक्तत्वाददोष इति । एवं प्राप्ते ब्रूमः । यदीन्द्रादिभिर्नामभिः परमेश्वर एवोच्यते तर्हि परमेश्वरस्येन्द्रादिरूपावस्थितिरनुचिता । तद्यथा । अज एकपात्, स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमित्यादिमन्त्रार्थेन परमेश्वरस्य जन्मरूपवत्त्वशरीरधारणादिनिषेधात्तत्कथनमसदस्ति । एवमेव सायणाचार्य्यकृतभाष्यदोषा बहवः सन्ति । अग्रे यत्र यत्र यस्य यस्य मन्त्रस्य व्याख्यानं करिष्यामस्तत्र तत्र तद्भाष्यदोषान् प्रकाशयिष्याम इति ।

भाषार्थ

(प्रश्न) क्यों जी जो तुम यह वेदों का भाष्य बनाते हो सो पूर्व आचार्य्यों के भाष्य के समान बनाते हो वा नवीन, जो पूर्वरचित भाष्यों के समान है तब तो बनाना व्यर्थ है, क्योंकि वे तो पहिले ही से बने बनाये हैं और जो नया बनाते हो तो उस को कोई भी न मानेगा, क्योंकि जो विना प्रमाण के केवल अपने ही कल्पना से बनाना है यह बात कब ठीक हो सकती है ? । (उत्तर) यह भाष्य प्राचीन आचार्य्यों के भाष्यों के अनुकूल बनाया जाता है। परन्तु जो रावण, उवट, सायण और महीधर आदि ने भाष्य बनाये हैं वे सब मूलमन्त्र और ऋषिकृत व्याख्यानों से विरुद्ध हैं । मैं वैसा भाष्य नहीं बनाता, क्योंकि उन्हों ने वेदों की सत्यार्थता और अपूर्वता कुछ भी नहीं जानी । और जो यह मेरा भाष्य बनता है सो तो वेद, वेदाङ्ग, ऐतरेय, शतपथब्राह्मणादि ग्रन्थों के अनुसार होता है । क्योंकि जो २ वेदों के सनातन व्याख्यान हैं उन के प्रमाणों से युक्त बनाया जाता है यही इस में अपूर्वता है । क्योंकि जो २ प्रामाण्याप्रामाण्यविषय में वेदों से भिन्न शास्त्र गिन आये हैं वे सब वेदों के ही व्याख्यान हैं । वैसे ही ग्यारहसौ सत्ताईस (११२७) वेदों की शाखा भी उन

के व्याख्यान ही हैं। उन सब ग्रन्थों के प्रमाणयुक्त यह भाष्य बनाया जाता है। और दूसरा इन के अपूर्व होने का कारण यह भी है कि इस में कोई बात अप्रमाण वा अपनी रीति से नहीं लिखी जाती। और जो २ भाष्य, उवट, सायण, महीधरादि ने बनाये हैं वे सब मूलार्थ और सनातन वेदव्याख्यानों से विरुद्ध हैं। तथा जो २ इन नवीन भाष्यों के अनुसार अंग्रेजी, जर्मनी, दक्षिणी और बंगाली आदि भाषाओं में वेदव्याख्यान बने हैं वे भी अशुद्ध हैं। जैसे देखो सायणाचार्य्य ने वेदों के श्रेष्ठ अर्थों को नहीं जान कर कहा है कि सब वेद क्रियाकाण्ड का ही प्रतिपादन करते हैं। यह उनकी बात मिथ्या है। इस के उत्तर में जैसा कुछ इसी भूमिका के पूर्व प्रकरणों में संक्षेप से लिख चुके हैं सो देख लेना। ऐसे ही (इन्द्रं मित्रं०), सायणाचार्य्य ने इस मन्त्र का अर्थ भी भ्रान्ति से बिगाड़ा है, क्योंकि उन से इस मन्त्र में विशेष्य विशेषण को अच्छी रीति से नहीं समझ कर इन्द्र शब्द को तो विशेष्य करके वर्णन किया और मित्रादि शब्द उस के विशेषण ठहराये हैं। यह उन को बड़ा भ्रम हो गया, क्योंकि इस मन्त्र में अग्नि शब्द विशेष्य और इन्द्रादि शब्द उस के ही विशेषण हैं। इसलिये विशेषणों का विशेष्य के साथ अन्वय होकर पुनः दूसरे २ विशेषण के साथ विशेष्य का अन्वय कराना होता और विशेषण का एक वार विशेष्य के साथ अन्वय होता है। इसी प्रकार जहां २ एक के सैकड़ों वा हजारों विशेषण होते हैं वहां २ भी विशेष्य का सैकड़ों वा हजारों वार उच्चारण होता है। वैसे ही इस मन्त्र में विशेष्य की इच्छा से ईश्वर ने अग्नि शब्द का दो वार उच्चारण किया और अग्नि आदि ब्रह्म के नाम कहे हैं। यह बात सायणाचार्य्य ने नहीं जानी, इससे उन की यह भ्रान्ति सिद्ध है। इसी प्रकार निरुक्तकार ने भी अग्नि शब्द को विशेष्य ही वर्णन किया है, (इममेवाग्निं०) यहां अग्नि और इन्द्रादि नाम एक सद् वस्तु ब्रह्म ही के हैं, क्योंकि इन्द्रादि शब्द अग्नि के विशेषण और अग्नि आदि ब्रह्म के नाम हैं। ऐसे ही सायणाचार्य्य ने और भी बहुत मन्त्रों की व्याख्याओं में शब्दों के अर्थ उलटे किये हैं तथा उनने सब मन्त्रों से परमेश्वर का ग्रहण कर रक्खा है। जैसे राजा का पुरोहित राजा ही के हित का काम सिद्ध करता है अथवा जो अग्नि यज्ञ के

सम्बन्धी प्रथम भाग में हवन करने के लिये है उसी रूप से ईश्वर स्थित है। यह सायणाचार्य्य का कथन अयोग्य और पूर्वापर विरोधी होकर आगे पीछे के सम्बन्ध को तोड़ता है। क्योंकि जब सब नामों से परमेश्वर ही का ग्रहण करते हैं तो फिर जिस अग्नि में हवन करते हैं उस को किसलिये ग्रहण किया है। और कदाचित् कोई कहे कि जो सायणाचार्य्य ने वहां इन्द्रादि देवताओं का ही ग्रहण किया हो तो उससे कुछ भी विरोध नहीं आ सकता। इसका उत्तर यह है कि जब इन्द्रादि नामों से परमेश्वर ही का ग्रहण है तो वह निराकार, सर्वशक्तिमान्, व्यापक और अखण्ड होने से जन्म लेकर भिन्न २ व्यक्ति वाला कभी नहीं हो सकता। क्योंकि वेदों में परमेश्वर का एक अज और अकाय अर्थात् शरीरसम्बन्ध रहित आदि गुणों के साथ वर्णन किया है। इससे सायणाचार्य्य का कथन सत्य नहीं हो सकता। इसी प्रकार सायणाचार्य्य ने जिस २ मन्त्र का अन्यथा व्याख्यान किया है सो सब क्रमपूर्वक आगे उन मन्त्रों के व्याख्यान में लिख दिया जायगा।

भाष्यम्

एवमेव महीधरेण महानर्थरूपं वेदार्थदूषकं वेददीपाख्यं विवर्णं (विवरणं ?) कृतं तस्यापीह दोषा दिग्दर्शनवत्प्रदर्श्यन्ते।

इसी प्रकार महीधर ने भी यजुर्वेद पर मूल से अत्यन्त विरुद्ध व्याख्यान किया है उसमें से सत्यासत्य की परीक्षा के लिये उन के कुछ दोष यहां भी दिखलाते हैं।

गणानां त्वा गणपतिꣳ हवामहे प्रियाणां त्वा प्रियपतिꣳ हवामहे निधीनां त्वा निधिपतिꣳ हवामहे वसो मम। आहमजानि गर्भधमा त्वमजासि गर्भधम् ॥ १ ॥ यजु० अ० २३। मं० १६ ॥

भाष्यम्

अस्य मन्त्रस्य व्याख्याने तेनोक्तमस्मिन्मन्त्रे गणपतिशब्दादश्वो वाजी ग्रहीतव्य इति। तद्यथा। महिषी यजमानस्य पत्नी, यज्ञशालायां, पश्यतां सर्वेषामृत्विजामश्वसमीपे शेते। शयाना सत्याह। हे अश्व ! गर्भधं गर्भं दधाति

गर्भधं गर्भधारकं रेतः, अहं आ अजानि, आकृष्य क्षिपामि । त्वं च गर्भधं रेतः आ अजासि आकृष्य क्षिपसि ।

भाषार्थ

(गणानां त्वा) इस मन्त्र में महीधर ने कहा है कि गणपति शब्द से घोड़े का ग्रहण है । सो देखो महीधर का उलटा अर्थ कि सब ऋत्विजों के सामने यजमान की स्त्री घोड़े के पास सोवे और सोती हुई घोड़े से कहे कि, हे अश्व ! जिससे गर्भधारण होता है ऐसा जो तेरा वीर्य्य है उस को मैं खैंच के अपनी योनि में डालूं तथा तू उस वीर्य्य को मुझ में स्थापन करने वाला है ।

अथ सत्यार्थः

गणानां त्वा गणपतिं हवामह इति ब्राह्मणस्पत्यं । ब्रह्म वै बृहस्पतिर्ब्रह्मणैवैनं तद्भिषज्यति, प्रथश्च यस्य सप्रथश्च नामेति ॥ ऐत० पं० १ । कं० २१ ॥ प्रजापतिर्वै जमदग्निः सोऽश्वमेधः ॥ क्षत्रं वाश्वो विडितरे पशवः ॥ क्षत्रस्यैतद्रूपं यद्धिरण्यं ॥ ज्योतिर्वै हिरण्यम् ॥ श० कां० १३ । अ० २ । ब्रा० २ । कं० १४ । १५ । १७ । १६ ॥ न वै मनुष्यः स्वर्गं लोकमञ्जसा वेदाश्वो वै स्वर्गं लोकमञ्जसा वेद ॥ श० कां० १३ । अ० २ । ब्रा० ३ । कं० १ ॥ राष्ट्रमश्वमेधो ज्योतिरेव तद्राष्ट्रे दधाति ॥ क्षत्रायैव तद्विशं कृतानुकरामनुवर्त्तमानं करोति ॥ अथो क्षत्रं वा अश्वः, क्षत्रस्यैतद्रूपं यद्धिरण्यं, क्षत्रमेव तत्क्षत्रेण समर्धयति ॥ विशमेव तद्विशा समर्धयति ॥ श० कां० १३ । अ० २ । ब्रा० २ । कं० १६ । १५ । १७ । १८ ॥ गणानां त्वा गणपतिं हवामह इति । पत्न्यः परियन्त्यपह्नुवत एवास्मा एतदतोऽन्वेवास्मै ह्नुवतेऽथो धुवत एवैनं त्रिः परियन्ति त्रयो वा इमे लोका एभिरेवैनं लोकैर्धुवते त्रिः पुनः परियन्ति षट् सम्पद्यन्ते षड्वा ऋतव ऋतुभिरेवैनं धुवते ॥ अप वा एतेभ्यः प्राणाः क्रामन्ति ये यज्ञे धुवनं तन्वते । नव-

कृत्वः परियन्ति । नव वै प्राणाः । प्राणानेवात्मन्दधते । नैभ्यः प्राणा अपक्रामन्त्याहमजानि गर्भधमात्वमजासि गर्भधमिति । प्रजा वै पशवो गर्भः प्रजामेव पशूनात्मन्धत्ते ॥ श० कां० १३ । अ० २ । ब्रा० ८ । कं० ४ । ५ ॥

भाष्यम्

(गणानां त्वा०) वयं गणानां गणनीयानां पदार्थसमूहानां गणपतिं पालकं स्वामिनं (त्वा) त्वां परमेश्वरं (हवामहे) गृह्णीमः । तथैव सर्वेषां प्रियाणामिष्टमित्रादीनां मोक्षादीनां च प्रियपतिं त्वेति पूर्ववत् । एवमेव निधीनां विद्यारत्नादिकोशानां निधिपतिं त्वेति पूर्ववत् । वसत्यस्मिन् सर्वं जगद्वा यत्र वसति स वसुः परमेश्वरः । तत्सम्बुद्धौ हे वसो, परमेश्वरपरत्वम् । सर्वान् कार्यान् भूगोलान्स्वसामर्थ्ये गर्भवद्धारतीति स गर्भध,स्तं त्वामहं भवत्कृपया आजानि, सर्वथा जानीयाम् । (आ त्वमजासि) हे भगवन् ! त्वं तु आ समन्ताज्ज्ञातासि । पुनर्गर्भधमित्युक्त्या वयं प्रकृतिपरमाणवादीनां गर्भधानामपि गर्भधं त्वां मन्यामहे । नैवातो भिन्नः कश्चिद्गर्भधारकोऽस्तीति । एवमेवैतरेयशतपथब्राह्मणे गणपतिशब्दार्थो वर्णितः । ब्राह्मणस्पत्यमस्मिन्मन्त्रे ब्रह्मणो वेदस्य पतेर्भावो वर्णितः । ब्रह्म वै बृहस्पतिरित्युक्तत्वात् । तेन ब्रह्मोपदेशेनैवैनं जीवं यजमानं वा सत्योपदेष्टा विद्वान् भिषज्यति रोगरहितं करोति । आत्मनो भिषजं वैद्यमिच्छतीति । यस्य परमेश्वरस्य प्रथः सर्वत्र व्याप्तो विस्तृतः, सप्रथश्च प्रकृत्याकाशादिना प्रथेन स्वसामर्थ्येन वा सह वर्त्तते स सप्रथ,स्तदिदं नामद्वयं तस्यैवास्तीति । प्रजापतिः परमेश्वरो, वै इति निश्चयेन, जमदग्निसंज्ञोऽस्ति । अत्र प्रमाणम् ।

जमदग्नयः प्रजमिताग्नयो वा, प्रज्वलिताग्नयो वा, तैरभिहुतो भवति ॥ निरु० अ० ७ । खं० २४ ॥

भाष्यम्

इमे सूर्यादयः प्रकाशकाः पदार्थास्तस्य सामर्थ्यादेव प्रज्वलिता भव-

न्ति । तैः सूर्यादिभिः कार्यैस्तन्नियमैश्च कारणाख्य ईश्वरोऽभिहुतश्चाभिमुख्येन पूजितो भवतीति । यः स जमदग्निः परमेश्वरः (सोऽश्वमेधः) स एव परमेश्वरोऽश्वमेधाख्य इति प्रथमोऽर्थः । अथापरः । क्षत्रं वाश्वो विडितरे पशव इत्यादि । यथाऽश्वस्यापेक्षयेतर इमेऽजादयः पशवो न्यूनबलवेगा भवन्ति, तथा राज्ञः सभासमीपे विट् प्रजा निर्बलैव भवति । तस्य राज्यस्य, यद्धिरण्यं सुवर्णादिवस्तु ज्योतिः प्रकाशो वा न्यायकरणमेतत्स्वरूपं भवति । यथा राजप्रजालङ्कारेण राजप्रजाधर्मो वर्णितः, तथैव जीवेश्वरयोः स्वस्वामिसम्बन्धो वर्ण्यते । नैव मनुष्यः केवलेन स्वसामर्थ्येन सरलतया * स्वर्गं परमेश्वराख्यं लोकं वेद किन्त्वीश्वरानुग्रहेणैव जानाति ।

अश्वो यत ईश्वरो वा अश्वः ॥ श० कां० १३ । अ० ३ । ब्रा० ३ । कं० ५ ॥ अश्नुते व्याप्नोति सर्वं जगत्सोऽश्व ईश्वरः ॥

भाष्यम्

इत्युक्तत्वादीश्वरस्यैवात्राश्वसंज्ञास्तीति । अन्यच्च (राष्ट्रं वा०) राज्यमश्वमेधसंज्ञं भवति, तद्राष्ट्रे राज्यकर्माणि ज्योतिर्दधाति, तत्कर्मफलं क्षत्राय राजपुरुषाय भवति । तच्च स्वसुखायैव विशं प्रजां कृतानुकरां स्ववर्त्तमानामनुकूलां † करोति । अथो इत्यनन्तरं क्षत्रमेवाश्वमेधसंज्ञकं भवति । तस्य, यद्धिरण्यमेतदेवरूपं भवति । तेन हिरण्याद्यन्वितेन क्षत्रेण राज्यमेव सम्यग्वर्धते नच प्रजा । सा तु स्वतन्त्रस्वभावान्वितया विशा समर्धयति । अतो यत्रैको राजा भवति तत्र प्रजा पीडिता जायते । तस्मात्प्रजासत्तयैव राज्यप्रबन्धः कार्य्य इति । (गणानां) स्त्रियोऽप्येनं, राज्यपालनाय, विद्यामयं सन्तानशिक्षाकरणाख्यं यज्ञं, परितः सर्वतः प्राप्नुयुः, प्राप्ताः सत्योऽस्य सिद्धये यदपह्नवाख्यं कर्माचरन्ति, अतः कारणादेतदेतासामन्ये विद्वांसो दूरीकुर्वन्ति । अथो इत्यनन्तरं य एनं विचालयन्ति तानप्यन्ये च दूरीकुर्य्युः । एवमस्य

* एतत्स्थाने सहजतयेति ह० लि० भूमिकायां पाठः ॥

† स्ववर्त्तमानानुकूलामिति ह० लि० भूमिकायां नास्ति ।

त्रिवारं रक्षणं सर्वथा कुर्य्युः। एवं प्रतिदिनमेतस्य शिक्षया रक्षणेन चात्मशरीरबलानि सम्पादयेयुः। ये नराः पूर्वोक्तं गर्भधं परमेश्वरं जानन्ति नैव तेभ्यः प्राणा बलपराक्रमादयोऽपक्रामन्ति। तस्मान्मनुष्यस्तं गर्भधं परमेश्वरमहमाजानि समन्ताज्जानीयामितीच्छेत्। (प्रजा वै पशवः०) ईश्वरसामर्थ्यगर्भात्सर्वे पदार्था जाता इति योजनीयम्। यश्च पशूनां प्रजानां मध्ये विज्ञानवान् भवति स इमां सर्वां प्रजामात्मनि, अतति सर्वत्र व्याप्नोति तस्मिन् जगदीश्वरे वर्त्तेत इति, धारयति। इति संक्षेपतो गणानां त्वेति मन्त्रस्यार्थो वर्णितः। अस्मान्महीधरस्यार्थोऽत्यन्तविरुद्ध एवास्तीति मन्तव्यम्।

भाषार्थ

(गणानां त्वा०) ऐतरेय ब्राह्मण में गणपति शब्द की ऐसी व्याख्या की है कि यह मन्त्र ईश्वरार्थ का प्रतिपादन करता है, जैसे ब्रह्म का नाम बृहस्पति, ईश्वर तथा वेद का नाम भी ब्रह्म है। जैसे अच्छा वैद्य रोगी को औषध देके दुःखों से अलग कर देता है, वैसे ही परमेश्वर भी वेदोपदेश करके मनुष्य को विज्ञानरूप औषधि देके अविद्यारूप दुःखों से छुड़ा देता है, जो कि प्रथ अर्थात् विस्तृत, सब में व्याप्त और सप्रथ अर्थात् आकाशादि विस्तृत पदार्थों के साथ भी व्यापक हो रहा है। इसी प्रकार से यह मन्त्र ईश्वर के नामों को यथावत् प्रतिपादन कर रहा है। ऐसे ही शतपथ ब्राह्मण में भी राज्यपालन का नाम अश्वमेध, राजा का नाम अश्व और प्रजा का नाम घोड़े से भिन्न पशु रक्खा है। राज्य की शोभा धन है और ज्योति का नाम हिरण्य है। तथा अश्व नाम परमेश्वर का भी है, क्योंकि कोई मनुष्य स्वर्गलोक को अपने सहज सामर्थ्य से नहीं जान सकता किन्तु अश्व अर्थात् जो ईश्वर है वही उन के लिये स्वर्गसुख को जनाता और जो मनुष्य प्रेमी धर्मात्मा हैं उन को सब स्वर्गसुख देता है। तथा (राष्ट्रमश्वमेधः) राज्य के प्रकाश का धारण करना सभा ही का काम और उसी सभा का नाम राजा है, वही अपनी ओर से प्रजा पर कर लगाती है, क्योंकि राज ही से राज्य और प्रजा ही से प्रजा की वृद्धि होती है। (गणानां त्वा०) स्त्री लोग भी राज्यपालन के लिये विद्या की शिक्षा सन्तानों को करती

रहैं । जो इस यज्ञ को प्राप्त होके भी सन्तानोत्पत्ति आदि कर्म्म में मिथ्याचरण करती हैं उन के इस कर्म को विद्वान् लोग प्रसन्न नहीं करते और जो पुरुष सन्तानादि की शिक्षा में आलस्य करते हैं अन्य लोग उनको बांध कर ताड़ना देते हैं । इस प्रकार तीन, छः वा नव वार इस की रक्षा से आत्मा शरीर और बल को सिद्ध करें । जो मनुष्य परमेश्वर की उपासना करते हैं उनके बलादि गुण कभी नष्ट नहीं होते । (आहमजानि०) प्रजा के कारण का नाम गर्भ है । उस के समतुल्य वह सभा, प्रजा और प्रजा के पशुओं को, अपने आत्मा में धारण करे अर्थात् जिस प्रकार अपना सुख चाहे वैसे ही प्रजा और उस के पशुओं का भी सुख चाहे । (गणानां त्वा०) जो परमात्मा गणनीय पदार्थों का पति अर्थात् पालन करने हारा है, (त्वा०) उस को (हवामहे) हम लोग पूज्यबुद्धि से ग्रहण करते हैं । (प्रियाणां०) जो कि हमारे इष्ट मित्र और मोक्षसुखादि का प्रियपति तथा हम को आनन्द में रख कर सदा पालन करने वाला है उसी को हम लोग अपना उपास्यदेव जान के ग्रहण करते हैं । (निधीनां त्वा०) जो कि विद्या और सुखादि का निधि अर्थात् हमारे कोशों का पति है उसी सर्वशक्तिमान् परमेश्वर को हम अपना राजा और स्वामी मानते हैं । तथा जो कि व्यापक होके सब जगत् में और सब जगत् उसमें बस रहा है इस कारण से उस को वसु कहते हैं । हे वसु परमेश्वर ! जो आप अपने सामर्थ्य से जगत् के अनादिकारण में गर्भधारण करते हैं अर्थात् सब मूर्त्तिमान् द्रव्यों को आप ही रचते हैं इसी हेतु से आप का नाम गर्भध है । (आहमजानि) मैं ऐसे गुणसहित आपको जानूं । (आत्वा०) जैसे आप सब प्रकार से सब को जानते हैं वैसे ही मुझ को भी सब प्रकार से ज्ञानयुक्त कीजिये । (गर्भधं) दूसरी वेर गर्भध शब्द का पाठ इसलिये है कि जो २ प्रकृति और परमाणु आदि कार्यद्रव्यों के गर्भरूप हैं उन में भी सब जगत् के गर्भरूप बीज को धारण करनेवाले ईश्वर से भिन्न दूसरा कार्य्य जगत् की उत्पत्ति स्थिति और लय करनेवाला कोई भी नहीं है । यही अर्थ ऐतरेय, शतपथ ब्राह्मण में कहा है । विचारना चाहिये कि इस सत्य अर्थ के गुप्त होने और मिथ्या नवीन अर्थों के प्रचार होने से मनुष्यों को भ्रान्त करके वेदों का कितना अपमान कराया है । जैसे यह दोष खण्डित हुआ वैसे

इस भाष्य की प्रवृत्ति से इन सब मिथ्या दोषों की निवृत्ति हो जायगी ।

ता उभौ चतुरः पदः सम्प्रसारयाव स्वर्गे लोके प्रोर्णुवाथां वृषा वाजी रेतोधा रेतो दधातु ॥ २ ॥ य० अ० २३ । मं० २० ॥

महीधरस्यार्थः—अश्वशिश्नमुपस्थे कुरुते वृषा वाजीति । महिषी स्वयमेवाश्वशिश्नमाकृष्य स्वयोनौ स्थापयति ।

महीधर का अर्थ

भाषार्थ

यजमान की स्त्री घोड़े के लिङ्ग को पकड़ कर आप ही अपनी योनि में डाल देवे ।

सत्योऽर्थः

ता उभौ चतुरः पदः सम्प्रसारयावेति मिथुनस्यावरुध्यै स्वर्गे लोके प्रोर्णुवाथामित्येष वै स्वर्गो लोको यत्र पशुꣳ संज्ञपयन्ति तस्मादेवमाह वृषा वाजी रेतोधा रेतो दधात्विति मिथुनस्यैवावरुध्यै ॥ श० कां० १३ । अ० २ । ब्रा० ८ । कं० ५ ॥

भाष्यम्

आवां राजप्रजे, धर्मार्थकाममोक्षान् चतुरः पदानि, सदैव मिलिते भूत्वा सम्यक् विस्तारयेवहि । कस्मै प्रयोजनायेत्यत्राह । स्वर्गे सुखविशेषे, लोके द्रष्टव्ये भोक्तव्ये, प्रियानन्दस्य स्थिरत्वाय, येन सर्वान्प्राणिनः सुखैराच्छादयेवहि । यस्मिन् राज्ये पशुं पशुत्वभावमन्यायेन परपदार्थानां द्रष्टारं जीवं विद्योपदेशदण्डदानेन सम्यगवबोधयन्ति सैष एव सुखयुक्तो देशो हि स्वर्गो भवति । तस्मात्कारणादुभयस्य सुखायोभये विद्यादिसद्गुणानामभिवर्षकं वाजिनं विज्ञानवन्तं जनं प्रति विद्याबले सततमेव दधात्वित्याहायं मन्त्रः ।

भाषार्थ

(ता उभौ०) राजा और प्रजा हम दोनों मिल के धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि के प्रचार करने में सदा प्रवृत्त रहें। किस प्रयोजन के लिये ? कि दोनों की अत्यन्त सुखरूप स्वर्गलोक में प्रिय आनन्द की स्थिति के लिये, जिससे हम दोनों परस्पर तथा सब प्राणियों को सुख से परिपूर्ण कर देवें। जिस राज्य में मनुष्य लोग अच्छी प्रकार ईश्वर को जानते हैं वही देश सुखयुक्त होता है। इससे राजा और प्रजा परस्पर सुख के लिये सद्गुणों के उपदेशक पुरुष की सदा सेवा करें और विद्या तथा बल को सदा बढ़ावें। इस अर्थ का कहनेवाला (ता उभौ०) यह मन्त्र है। इस अर्थ से महीधर का अर्थ अत्यन्त विरुद्ध है।

युकासकौ शकुन्तिका हलगिति वञ्चति। आहन्ति गभे पसो निगल्गलीति धारका॥ य० अ० २३। मं० २२॥

महीधरो वदति

अध्वर्य्वादयः कुमारीपत्नीभिः सह सोपहासं संवदन्ते। अंगुल्या योनिं प्रदेशयन्नाह, स्त्रीणां शीघ्रगमने योनौ हलहलाशब्दो भवतीत्यर्थः। भगे योनौ शकुनिसदृश्यां यदा पसो लिंगमाहन्ति आगच्छति। पुंस्प्रजननस्य नाम, हन्तिर्गत्यर्थः। यदा भगे शिश्नमागच्छति तदा (धारका) धरति लिङ्गमिति धारका योनिः (निगल्गलीति) नितरां गलति वीर्य्यं क्षरति; यद्वा शब्दानुकरणं गल्गलेति शब्दं करोति। (* यकासकौ०) कुमारी अध्वर्य्युं प्रत्याह। अंगुल्या लिंगं प्रदेशयन्त्याह। अग्रभागे सच्छिद्रं लिङ्गं तव मुखमिव भासते।

महीधर का अर्थ

भाषार्थ

यज्ञशाला में अध्वर्यु आदि ऋत्विज् लोग कुमारी और स्त्रियों के साथ उप-

* यजु० अ० २३। मं० २३॥

हासपूर्वक संवाद करते हैं। इस प्रकार से कि अङ्गुलि से योनि को दिखला के हंसते हैं, (आहलगिति०) जब स्त्री लोग जल्दी २ चलती हैं तब उन की योनि में हलहला शब्द और जब भग लिङ्ग का संयोग होता है तब भी हलहला शब्द होता और योनि और लिङ्ग से वीर्य्य झरता है। (यकासकौ०) कुमारी अध्वर्यु का उपहास करती है कि जो यह छिद्रसहित तेरे लिङ्ग का अग्रभाग है सो तेरे मुख के समान दीख पड़ता है।

अथ सत्यार्थः

यकासकौ शकुन्तिकेति। विड् वै शकुन्तिका हलगिति वञ्चतीति। विशो वै राष्ट्राय वञ्चन्त्याहन्ति गभे पसो निगल्गलीति धारकेति, विड् वै गभो राष्ट्रं पसो, राष्ट्रमेव विश्याहन्ति, तस्माद्राष्ट्री विशं घातुकः॥ श० कां० १३। अ० २। ब्रा० ९। कं० ६॥

भाष्यम्

(विड्वै०) यथा श्येनस्य समीपेऽल्पपक्षिणी निर्बला भवति तथैव राज्ञः समीपे (विट्) प्रजा निर्बला भवति। (आहलागिति वञ्चतीति) राजानो विशः प्रजाः (वै) इति निश्चयेन राष्ट्राय राजसुखप्रयोजनाय सदैव वञ्चन्तीति। (आहन्ति०) विशो गभसंज्ञा भवति पसाख्यं राष्ट्रं, राज्यं प्रजया स्पर्शनीयं भवति, यस्माद्राष्ट्रं तां प्रजां प्रविश्याहन्ति समन्ताद्धननं पीडां करोति, यस्माद्राष्ट्री एको राजा मतश्चेत्तर्हि विशं प्रजां घातुको भवति, तस्मात्कारणादेको मनुष्यो राजा कदाचिन्नैव मन्तव्यः, किन्तु सभाध्यक्षः सभाधीनो यः सदाचारी शुभलक्षणान्वितो विद्वान्स प्रजामी राजा मन्तव्यः। अस्मादपि सत्यादर्थान्महीधरस्यातीव दुष्टोऽर्थोस्तीति विचारणीयम्।

भाषार्थ

(यकासकौ०) प्रजा का नाम शकुन्तिका है कि जैसे बाज के सामने छोटी २ चिड़ियाओं की दुर्दशा होती है वैसे ही राजा के सामने प्रजा की। (आ-

हलमिति०) जहां एक मनुष्य राजा होता है वहां प्रजा ठगी जाती है। (आहन्तिगभे पसो०) तथा प्रजा का नाम गभ और राज्य का नाम पस है। जहां एक मनुष्य राजा होता है वहां वह अपने लोभ से प्रजा के पदार्थों की हानि ही करता चला जाता है। इसलिये राजा को प्रजा का घातुक अर्थात् हनन करने वाला भी कहते हैं। इस कारण से एक को राजा कभी नहीं मानना चाहिये, किन्तु धार्मिक विद्वानों की सभा के आधीन ही राज्यप्रबन्ध होना चाहिये। (यकासकौ०) इत्यादि मन्त्रों के शतपथप्रतिपादित अर्थों से महीधर आदि अल्पज्ञ लोगों के बनाये हुए अर्थों का अत्यन्त विरोध है।

माता च ते पिता च तेऽग्रं वृक्षस्य रोहतः। प्रतिलामीति ते पिता गभे मुष्टिमतंसयत ॥ य० अ० २३। मं० २४ ॥

महीधरस्यार्थः

ब्रह्मा महिषीमाह। महिषि हये हये महिषि ! ते तव माता, च पुनः,ते तव पिता, यदा वृक्षस्य वृक्षजस्य काष्ठमयस्य मञ्चकस्याग्रमुपरिभागं रोहतः आरोहतः तदा ते पिता गभे भगे मुष्टिं मुष्टितुल्यं लिङ्गमतंसयत्तंसयति प्रक्षिपति। एवं तवोत्पत्तिरित्यश्लीलम्। लिङ्गमुत्थानेनालङ्करोति वा तव भोगेन भिनद्मीति वदन्नेवं तवोत्पत्तिः।

महीधर का अर्थ

भाषार्थ

अब ब्रह्मा हास करता हुआ यजमान की स्त्री से कहता है कि जब तेरी माता और पिता पलंग के ऊपर चढ़ के तेरे पिता ने मुष्टितुल्य लिङ्ग को तेरी माता के भग में डाला तब तेरी उत्पत्ति हुई। उसने ब्रह्मा से कहा कि तेरी भी उत्पत्ति ऐसे ही हुई है उससे दोनों की उत्पत्ति तुल्य है।

अथ सत्यार्थः

माता च ते पिता च त इति। इयं वै मातासौ पिताभ्या-

मेवैनं स्वर्गं लोकं गमयत्यग्रं वृक्षस्य रोहत इति । श्रीर्वै राष्ट्रस्याग्रᳪ, श्रियमेवैनᳪ राष्ट्रस्याग्रं गमयति । प्रतिलामीति ते पिता गभे मुष्टिमतᳪ सयदिति । विड्वै गभो राष्ट्रं मुष्टी, राष्ट्रमेवाविश्याहन्ति, तस्माद्राष्ट्री विशं घातुकः ॥ श० कां० १३ । अ० २ । ब्रा० ६ । कं० ७ ॥

भाष्यम्

(माता च ते०) हे मनुष्य ! इयं पृथिवी विद्या च ते तव मातृवदस्ति। ओषध्याद्यनेकपदार्थदानेन विज्ञानोत्पत्त्या च मान्यहेतुत्वात् । असौ द्यौः प्रकाशो विद्वानीश्वरश्च तव पितृवदस्ति, सर्वपुरुषार्थानुष्ठानस्य सर्वसुखप्रदानस्य च हेतुत्वेन पालकत्वात् । विद्वान् ताभ्यामेवैनं जीवं स्वर्गं सुखरूपं लोकं गमयति । (अग्रं वृक्षस्य०) या श्री,र्विद्याशुभगुणरत्नादिशोभान्विता च लक्ष्मीः सा राष्ट्रस्याग्रमुत्तमाङ्गं भवति, सैवैनं जीवं श्रियं शोभां गमयति, यद्राष्ट्रस्याग्रमग्र्यं मुख्यं सुखं च । (प्रतिलामीति०) विट् प्रजा गभाख्याऽर्थादैश्वर्य्यप्रदा, (राष्ट्रंमुष्टिः०) राजकर्म मुष्टिः, यथा मुष्टिना मनुष्यो धनं गृह्णाति तथैवैको राजा चेत्तर्हि पक्षपातेन प्रजाभ्यः स्वसुखाय सर्वां श्रेष्ठां श्रियं हरत्येव । यस्माद्राष्ट्रं विशि प्रजायां प्रविश्य आहन्ति, तस्माद्राष्ट्री विशं घातुको भवति। अस्मादर्थान्महीधरस्यार्थोऽत्यन्तविरुद्धोऽस्ति, तस्मात्स नैव केनापि मन्तव्यः ।

भाषार्थ

सत्य अर्थ

(माता च ते०) सब प्राणियों की पृथिवी और विद्या माता के समान सब प्रकार के मान्य कराने वाली और सूर्य्यलोक विद्वान् तथा परमेश्वर पिता के समान हैं । क्योंकि सूर्यलोक पृथिवी के पदार्थों का प्रकाशक और विज्ञानदान से पण्डित तथा परमात्मा सब का पालन करने वाला है । इन्हीं दोनों कारणों से विद्वान् लोग जीवों को नाना प्रकार का सुख प्राप्त करा देते हैं । (अग्रं वृ-

चस्य) श्री जो लक्ष्मी है सोही राज्य का अग्रभाग अर्थात् शिर के समान है, क्योंकि विद्या और धन ये दोनों मिल के ही जीव को शोभा और राज्य के सुख को प्राप्त कर देते हैं। (प्रतिलामीति०) फिर प्रजा का नाम गभ अर्थात् ऐश्वर्य्य की देनेवाली और राज्य का नाम मुष्टि है, क्योंकि राजा अपनी प्रजा के पदार्थों को मुष्टि से ऐसे हर लेता है कि जैसे कोई बल करके किसी दूसरे के पदार्थ को अपना बना लेवे। वैसे ही जहां अकेला मनुष्य राजा होता है वहां वह पक्षपात से अपने सुख के लिये जो २ प्रजा की श्रेष्ठ सुख देनेवाली लक्ष्मी है उसको ले लेता है अर्थात् वह राजा अपने राजकर्म में प्रवृत्त होके प्रजा को पीड़ा देनेवाला होता है। इसलिये एक को राजा कभी मानना न चाहिये। किन्तु सब लोगों को उचित है कि अध्यक्ष सहित सभा की आज्ञा ही में रहना चाहिये। इस अर्थ से महीधर का अर्थ अत्यन्त विरुद्ध है।

***ऊर्ध्वमेनामुच्छ्रापय गिरौ भारꣳ हरन्निव। अथास्यै मध्यमेधताꣳ शीते वाते पुनन्निव॥ य० अ० २३। मं० २६॥**

महीधरस्यार्थः

यथा अस्यै अस्या वावातायाः मध्यमेधतां योनिप्रदेशो वृद्धिं यायात्, यथा योनिर्विशाला भवति, तथा मध्ये गृहीत्वोच्छ्रापयेत्यर्थः। दृष्टान्तान्तरमाह। यथा शीतले वायौ वाति पुनन्धान्यपवनं कुर्वाणः कृषीवलो धान्यपात्रं ऊर्ध्वं करोति तथेत्यर्थः।

यदस्या अꣳहुभेद्याः कृधु स्थूलमुपातसत्। मुष्काविदस्या एजतो गोशफे शकुलाविव॥ २८॥ य० अ० २३। मं० २८॥

यत् यदा अस्याः परिवृक्तायाः कृधु ह्रस्वं स्थूलं च शिश्नमुपातसत् उपगच्छेत् योनिं प्रति गच्छेत्, तंस उपक्षये, तदा मुष्कौ वृषणौ इत् एव अस्याः योनेरुपरि एजतः कम्पेते, लिङ्गस्य स्थूलत्वाद्योनेरल्पत्वाद्वृषणौ

* ऊर्ध्वामिति यजुषि पाठः।

बहिस्तिष्ठत इत्यर्थः। तत्र दृष्टान्तः, गोशफे जलपूर्णे गोखुरे शकुलौ मत्स्याविव, यथा उदकपूर्णे गोः पदे मत्स्यौ कम्पेते।

महीधर का अर्थ

भाषार्थ

पुरुष लोग स्त्री की योनि को दोनों हाथ से खैंच के बढ़ा लेवें, (यदस्य अथंहु०) परिवृक्ता अर्थात् जिस स्त्री का वीर्य्य निकल जाता है। जब छोटा वा बड़ा लिङ्ग उस की योनि में डाला जाता है तब योनि के ऊपर दोनों अंडकोश नाचा करते हैं, क्योंकि योनि छोटी और लिङ्ग बड़ा होता है। इस में महीधर दृष्टान्त देता है कि जैसे गाय के खुर के बने हुए गढ़े के जल में दो मच्छी नाचें, तथा जैसे खेती करने वाला मनुष्य अन्न और भुस अलग २ करने के लिये चलते वायु में एक पात्र में भर के ऊपर को उठा के कंपाया करता है वैसे ही योनि के ऊपर अंडकोश नाचा करते हैं।

अथ सत्योऽर्थः

*ऊर्ध्वमेनामुच्छ्रापयेति। श्रीर्वै राष्ट्रमश्वमेधः श्रियमेवास्मै राष्ट्रमूर्ध्वमुच्छ्रयति। गिरौ भारथं हरन्निवेति। श्रीर्वै राष्ट्रस्य भारः श्रियमेवास्मै राष्ट्रथं सन्नह्यत्यथो श्रियमेवास्मिन् राष्ट्रमधिनिदधाति। अथास्यै मध्यमेधतामिति। श्रीर्वै राष्ट्रस्य मध्यथं श्रियमेव राष्ट्रे मध्यतोऽन्नाद्यं दधाति। शीते वाते पुनन्निवेति। क्षेमो वै राष्ट्रस्य शीतं क्षेममेवास्मै करोति॥ श० कां० १३। अ० २। ब्रा० ६। कं० २। ३। ४। ५॥

भाष्यम्

(ऊर्ध्वमेना०) हे नर! त्वं श्रीर्वै राष्ट्रमश्वमेधो यज्ञश्चास्मै राष्ट्राय श्रि-

* ऊर्ध्वामिति वैदिकयन्त्रालयमुद्रितशतपथे पाठः॥

यमुच्छ्रापय सेव्यामुत्कृष्टां कुरु । एवं सभया राज्यपालने कृते राष्ट्रं राज्यमूर्ध्वं सर्वोत्कृष्टगुणमुच्छ्रयितुं शक्यम् । (गिरौ भारꣳ हर०) कस्मिन्किमिव ? । गिरिशिखरे प्राप्त्यर्थं भारवद्वस्तूपस्थापयन्निव । कोऽस्ति राष्ट्रस्य भार इत्यत्राह । श्रीर्वै राष्ट्रस्य भार इति । सभाव्यवस्थयास्मै राष्ट्राय श्रियं सन्नह्य सम्बध्य राष्ट्रमजुत्तमं कुर्य्यात् । अथो इत्यनन्तरमेव कुर्वन् जनोऽस्मिन्संसारे राष्ट्रं श्रीयुक्तमधिनिदधाति सर्वोपरि नित्यं धारयतीत्यर्थः । (अथास्यै०) किमस्य राष्ट्रस्य मध्यमित्याकांक्षायामुच्यते । श्रीर्वै राष्ट्रस्य मध्यं, तस्मादिमां पूर्वोक्तां श्रियमन्नाद्यं भोक्तव्यं वस्तु च राष्ट्रे राज्ये महतो राज्यस्याऽभ्यन्तरे दधाति, सुसभया सर्वां प्रजां सुभोगयुक्तां करोति । कस्मिन् किं कुर्वन्निव ? । शीते वाते पुनन्निवेति । राष्ट्रस्य क्षेमो रक्षणं शीतं भवत्यस्मै राष्ट्राय क्षेमं सुसभया रक्षणं कुर्य्यात् । अस्मादपि सत्यादर्थान्महीधरस्य व्याख्यानमत्यन्तं विरुद्धमस्तीति ।

भावार्थ

श्री नाम विद्या और धन का तथा राष्ट्रपालन का नाम अश्वमेध है । ये ही श्री और राज्य की उन्नति कराते हैं । (गिरौ भारꣳ हरन्निव०) राज्य का भार श्री है, क्योंकि इसीसे राज्य की वृद्धि होती है । इसलिये राज्य में विद्या और धन की अच्छी प्रकार वृद्धि होने के अर्थ उसका भार अर्थात् प्रबन्ध श्रेष्ठ-पुरुषों की सभा के ऊपर धरना चाहिये कि (अथास्यै०) श्री राज्य का आधार और वही राज्य में शोभा को धारण करके उत्तम पदार्थों को प्राप्त कर देती है । इस में दृष्टान्त यह है कि (शीते वाते०) अर्थात् राज्य की रक्षा करने का नाम शीत है, क्योंकि जब सभा से राज्य की रक्षा होती है तभी उसकी उन्नति होती है । (प्रश्न) राज्य का भार कौन है ?। (उत्तर) (श्रीर्वै राष्ट्रस्य भारः) श्री, क्योंकि वही धन के भार से युक्त करके राज्य को उत्तमता को पहुंचाती है । (अथो) इसके अनन्तर उक्त प्रकार से राज्य करते हुए पुरुष देश अथवा संसार में श्रीयुक्त राज्य के प्रबन्ध को सब में स्थापन कर देते हैं । (अथास्यै०) (प्रश्न) उस राज्य का मध्य क्या है ?। (उत्तर) प्रजा की ठीक २ रक्षा

अर्थात् उसका नियमपूर्वक पालन करना यही उसकी रक्षा में मध्यस्थ है। (गिरौ भारꣳ हरन्निव) जैसे कोई मनुष्य बोझ उठाके पर्वत पर ले जाता है वैसे ही सभा भी राज्य को उत्तम सुख को प्राप्त कर देती है।

यद्देवासो॑ ल॒लाम॑गुं॒ प्र वि॒ष्टीमिन॒मावि॑षुः। स॒क्थ्ना दे॑दिश्यते॒ नारी॑ स॒त्यस्या॑क्षि॒भुवो॒ यथा॥ य० अ० २३। मं० २९॥

महीधरस्यार्थः

(यत्) यदा (देवासः) देवाः दीव्यन्ति क्रीडन्ति देवाः होत्रादयः ऋत्विजो (ललामगुं) लिङ्गं (प्रआविशुः) योनौ प्रवेशयन्ति, ललामेति सुखनाम, ललाम सुखं गच्छति प्राप्नोति ललामगुः शिश्नः, यद्वा ललाम पुण्ड्रं गच्छति ललामगुः लिङ्गं, योनिं प्रविशदुत्थितं पुण्ड्राकारं भवतीत्यर्थः। कीदृशं ललामगुं विष्टीमिनं शिश्नस्य योनिप्रदेशे क्लेदनं भवतीत्यर्थः। यदा देवाः शिश्नक्रीडिनो भवन्ति ललामगुं योनौ प्रवेशयन्ति तदा नारी सक्थ्ना ऊरुणा उरुभ्यां देदिश्यते निर्दिश्यते अत्यन्तं लक्ष्यते। भोगसमये सर्वस्य नार्यङ्गस्य नरेण व्याप्तत्वादूरुमात्रं लक्ष्यते, इयं नारीतीत्यर्थः।

महीधर का अर्थ

भाषार्थ

(यद्देवासो०) जब तक यज्ञशाला में ऋत्विज् लोग ऐसा हंसते और अंडकोश नाचा करते हैं तब तक घोड़े का लिङ्ग महिषी की योनि में काम करता है और उन ऋत्विजों के भी लिङ्ग स्त्रियों की योनियों में प्रवेश करते हैं और जब लिङ्ग खड़ा होता है तब कमल के समान हो जाता है। जब स्त्री पुरुष का समागम होता है तब पुरुष ऊपर और स्त्री पुरुष के नीचे होने से थक जाती है।

अथ सत्योऽर्थः

(यद्देवासो०) यथा देवा विद्वांसः प्रत्यक्षोद्भवस्य सत्यज्ञानस्य प्राप्तिं कृत्वेमं (विष्टीमिनं) विविधतया आर्द्रीभावगुणवन्तं (ललामगुं) सुख-

प्रापकं विद्यानन्दं प्राविशुः प्रकृष्टतया समन्ताद्व्याप्नुवन्ति, तथैव तैस्तेन सह वर्त्तमानेयं प्रजा देदिश्यते। यथा नारी वस्त्रैराच्छाद्यमानेन सक्थ्ना वर्त्तते तथैव विद्वद्भिः सुखैरियं प्रजा सम्यगाच्छादनीयेति।

भाषार्थ

जैसे विद्वान् लोग प्रत्यक्ष ज्ञान को प्राप्त होके जिस शुभगुणयुक्त सुखदायक विद्या के आनन्द में प्रवेश करते हैं वैसे ही उसी आनन्द से प्रजा को भी युक्त करते हैं। विद्वान् लोगों को चाहिये कि जैसे स्त्री अपने जंघा आदि अङ्गों को वस्त्रों से सदा ढाँप रखती है इसी प्रकार अपने सत्योपदेश विद्या धर्म और सुखों से प्रजा को सदा आच्छादित करें।

यद्धरिणो यवमत्ति न पुष्टं पशु मन्यते। शूद्रा यदर्य्यजारा न पोषाय धनायति॥ य० अ० २३। मं० ३०॥

महीधरस्यार्थः

भाष्यम्

क्षत्ता पालागलीमाह। शूद्रा शूद्रजातिः स्त्री, यदा अर्य्यजारा भवति, वैश्यो यदा शूद्रां गच्छति, तदा शूद्रः पोषाय न धनायते, पुष्टिं न इच्छति, मद्भार्य्या वैश्येन भुक्ता सती पुष्टा जातेति न मन्यते, किन्तु व्यभिचारिणी जातेति दुःखितो भवतीत्यर्थः। (यद्धरिणो०) पालागली क्षत्तारमाह। यत् यदा शूद्रः, अर्य्यायै अर्य्याया वैश्याया जारो भवति, तदा वैश्यः पोषं पुष्टिं नानुमन्यते, मम स्त्री पुष्टा जातेति नानुमन्यते, किन्तु शूद्रेण नीचेन भुक्तेति क्लिश्यतीत्यर्थः।

महीधर का अर्थ

भाषार्थ

(यद्धरिणो०) क्षत्ता सेवकपुरुष शूद्रदासी से कहता है कि जब शूद्र की स्त्री के साथ वैश्य व्यभिचार कर लेता है, तब वह इस बात को तो नहीं

विचारता कि मेरी स्त्री वैश्य के साथ व्यभिचार करने से पुष्ट हो गई किन्तु वह इस बात को विचार के दुःख मानता है कि मेरी स्त्री व्यभिचारिणी हो गई। (यद्धरिणो०) अब वह दासी क्षत्ता को उत्तर देती है कि जब शूद्र वैश्य की स्त्री के साथ व्यभिचार करलेता है, तब वैश्य भी इस बात का अनुमान नहीं करता कि मेरी स्त्री पुष्ट हो गई, किन्तु नीच ने समागम कर लिया इस बात को विचार के क्लेश मानता है।

सत्योऽर्थः

यद्धरिणो यवमत्तीति। विड्वै यवो राष्ट्रᳪ हरिणो विशमेव राष्ट्रायाद्यां करोति तस्माद्राष्ट्री विशमत्ति। न पुष्टं पशुं मन्यत इति। तस्माद्राजा पशून्न पुष्यति। शूद्रा यदर्य्यजारा न पोषाय धनायतीति। तस्माद्वैशीपुत्रं नाभिषिञ्चति॥ श० कां० १३। अ० २। ब्रा० ९। कं० ८॥

भाष्यम्

(यद्धरिणो०) विट् प्रजेव यवोऽस्ति। राज्यसम्बन्ध्येको राजा हरिण इव उत्तमपदार्थहर्त्ता भवति। यथा मृगः क्षेत्रस्थं सस्यं भुक्त्वा प्रसन्नो भवति तथैवैको राजापि नित्यं स्वकीयमेव सुखमिच्छति। अतः स राष्ट्राय स्वसुखप्रयोजनाय विशं प्रजामाद्यां भक्ष्यामिव करोति। यथा मांसाहारी पुष्टं पशुं दृष्ट्वा तन्मांसभक्षणेच्छां करोति, नैव स पुष्टं पशुं वर्धयितुं जीवितुं वा मन्यते। तथैव स्वसुखसम्पादनाय प्रजायां कश्चिन् मत्तोऽधिको न भवेदितीच्छां सदैव रक्षति, तस्मादेको राजा प्रजां न पोषयति, नैव रक्षयितुं समर्थो भवतीति। यथा च यदा शूद्रा अर्य्यजारा भवति तदा न स शूद्रः पोषाय धनायति, पुष्टो न भवति। तथैको राजापि प्रजां यदा न पोषयति तदा सा नैव पोषाय धनायति, पुष्टा न भवति। तस्मात्कारणाद्वैशीपुत्रं भीरुं शूद्रापुत्रं मूर्खं च नाभिषिञ्चति, नैवैतं राज्याधिकारे स्थापयतीत्यर्थः। अस्माच्छतपथब्राह्मणोक्तादर्थान्महीधरकृतोऽर्थोऽतीव विरुद्धोऽस्ति।

भाषार्थ

(यद्धरिणो०) यहां प्रजा का यव और राष्ट्र का नाम हरिण है, क्योंकि जैसे मृग पशु पराये खेत में यवों को खाकर आनन्दित होते हैं वैसे ही स्वतन्त्र एक पुरुष राजा होने से प्रजा के उत्तम पदार्थों को ग्रहण कर लेता है। अथवा (न पुष्टं पशुं मन्यते०) जैसे मांसाहारी मनुष्य पुष्ट पशु को मार के उस का मांस खा जाता है वैसे ही एक मनुष्य राजा होके प्रजा का नाश करनेहारा होता है, क्योंकि वह सदा अपनी ही उन्नति चाहता रहता है। और शूद्र तथा वैश्य का अभिषेक करने से व्यभिचार और प्रजा का धनहरण अधिक होता है। इसलिये किसी एक मूर्ख वा लोभी को भी सभाध्यक्षादि उत्तम अधिकार न देना चाहिये। इस सत्य अर्थ से महीधर उलटा ही चला है।

उत्सक्थ्या अव गुदं धेहि समञ्जिं चारया वृषन्। यः स्त्रीणां जीवभोजनः॥ य० अ० २३। मं० २१॥

महीधरस्यार्थः

यजमानोऽश्वमभिमन्त्रयते। हे वृषन्! सेक्तः अश्व! उत् ऊर्ध्वे सक्थिनी ऊरू यस्यास्तस्या महिष्या, गुदमव गुदोपरि, रेतो धेहि, वीर्यं धारय। कथम्। तदाह, अञ्जिं लिङ्गं सञ्चारय योनौ प्रवेशय। योऽञ्जिः स्त्रीणां जीवभोजनः। यस्मिन् लिङ्गे योनौ प्रविष्टे स्त्रियो जीवन्ति भोगांश्च लभन्ते तं प्रवेशय।

भाषार्थ

(उत्सक्थ्या०) इस मन्त्र पर महीधर ने टीका की है कि यजमान घोड़े से कहता है, हे वीर्य के सेचन करनेवाले अश्व! तू मेरी स्त्री के जंघा ऊपर को करके उस की गुदा के ऊपर वीर्य डालदे अर्थात् उस की योनि में लिङ्ग चलादे। वह लिङ्ग किस प्रकार का है कि जिस समय योनि में जाता है उस समय उसी

लिङ्ग से स्त्रियों का जीवन होता है और उसीसे वे भोग को प्राप्त होती हैं। इससे तू उस लिङ्ग को मेरी स्त्री की योनि में डाल दे।

अथ सत्योऽर्थः

(उत्सक्थ्या०) हे वृषन् सर्वकामानां वर्षयितः प्रापक सभाध्यक्षविद्वन्! त्वमस्यां प्रजायामञ्जि ज्ञानसुखन्यायप्रकाशं सञ्चारय सम्यक् प्रकाशय। (यः स्त्रीणां जीवभोजनः) कामुकः सन् नाशमाचरति तं त्वमवगुदमधःशिरसं कृत्वा ताडयित्वा कालाग्रहे (कारागृहे ?) धेहि। यथा स्त्रीणां मध्ये या काचित् उत्सक्थी व्यभिचारिणी स्त्री भवति तस्यै सम्यग्दण्डं ददाति तथैव त्वं तं जीवभोजनं परप्राणनाशकं दुष्टं दस्युं दण्डेन समुचारय।

भाषार्थ

(उत्सक्थ्या०) परमेश्वर कहता है, कि हे कामना की वृष्टि करने वाले और उसको प्राप्त करानेवाले सभाध्यक्षसहित विद्वान् लोगो! तुम सब एकसंमति होकर इस प्रजा में ज्ञान को बढ़ाके न्यायपूर्वक सबको सुख दिया करो। तथा जो कोई दुष्ट (जीवभोजनः) स्त्रियों में व्यभिचार करनेवाला, चोरों मे चोर, ठगों में ठग, डाकूओं में डाकू प्रसिद्ध, दूसरों को बुरे काम सिखाने वाला इत्यादि दोषयुक्त पुरुष तथा व्यभिचार आदि दोषयुक्त स्त्री को ऊपर पग और नीचे शिर करके उसको टांगदेना इत्यादि अत्यन्त दुर्दशा करके मार डालना चाहिये, क्योंकि इससे अत्यन्त सुख का लाभ प्रजा में होगा।

एतावतैव खण्डनेन महीधरकृतस्य वेददीपाख्यस्य खण्डनं सर्वैर्जनैर्बोद्धव्यमिति। यदा मन्त्रभाष्यं मया विधास्यते तत्रास्य महीधरकृतस्य भाष्यस्यान्येपि दोषाः प्रकाशयिष्यन्ते। यदि ह्यार्य्यदेशनिवासिनां सायणमहीधरप्रभृतीनां व्याख्यास्वेतादृशी मिथ्यागतिरस्ति तर्हि यूरोपखण्डनिवासिनामेतदनुसारेण स्वदेशभाषया वेदार्थव्याख्यानानामनर्थगतेस्तु का कथा। एवं

जाते सति ह्येतदाश्रयेण देशभाषया यूरोपदेशभाषया कृतस्य व्याख्यानस्याशुद्धेस्तु खलु का गणनास्ति, इति सज्जनैर्विचारणीयम् । नैवैतेषां व्याख्यानानामाश्रयं कर्त्तुमार्य्याणां लेशमात्रापि योग्यता दृश्यते । तदाश्रयेण वेदानां सत्यार्थस्य हानिरनर्थप्रकाशश्च । तस्मात्तद्व्याख्यानेषु सत्या बुद्धिः केनापि नैव कर्त्तव्या । किन्तु वेदाः सर्वविद्याभिः पूर्णाः सन्ति, नैव किञ्चित्तेषु मिथ्यात्वमस्ति, तदेतच्च सर्वे मनुष्यास्तदा ज्ञास्यन्ति यदा चतुर्णां वेदानां निर्मितं भाष्यं यन्त्रितं च भूत्वा सर्वबुद्धिमतां ज्ञानगोचरं भविष्यति । एवं जाते खलु नैव परमेश्वरकृतया वेदविद्यया तुल्या द्वितीया विद्याऽस्तीति सर्वे विज्ञास्यन्तीति बोध्यम् ।

आगे कहांतक लिखें इतने ही से सज्जन पुरुष अर्थ और अनर्थ की परीक्षा कर लेवें । परन्तु मन्त्रभाष्य में महीधर आदि के और भी दोष प्रकाश किये जायंगे और जब इन्हीं लोगों के व्याख्यान अशुद्ध हैं तब यूरोपखण्डवासी लोगों ने जो उन्हीं की सहायता लेकर अपनी देशभाषा में वेदों के व्याख्यान किये हैं उनके अनर्थ का तो क्या ही कहना है । तथा जिन्होंने उन्हीं के अनुसारी व्याख्यान किये हैं इन विरुद्ध व्याख्यानों से कुछ लाभ तो नहीं देख पड़ता, किन्तु वेदों के सत्य अर्थ की हानि प्रत्यक्ष ही होती है । परन्तु जिस समय चारों वेद का भाष्य बन और छपकर सब बुद्धिमानों के ज्ञानगोचर होगा तब सब किसी को उत्तमविद्यापुस्तक वेद का परमेश्वररचित होना भूगोल भर में विदित हो जावेगा और यह भी प्रगट हो जावेगा कि ईश्वरकृत सत्यपुस्तक वेद ही है वा कोई दूसरा भी हो सकता है। ऐसा निश्चय जान के सब मनुष्यों की वेदों में परमप्रीति होगी । इत्यादि अनेक उत्तम प्रयोजन इस वेदभाष्य के बनाने में जानलेना ।

इति भाष्यकरणशङ्कासमाधानादिविषयः समाप्तः

अत्र वेदभाष्ये कर्मकाण्डस्य वर्णनं शब्दार्थतः करिष्यते

अथ प्रतिज्ञाविषयः संक्षेपतः

परन्त्वेतैर्वेदमन्त्रैः कर्मकाण्डविनियोजितैर्यत्र यत्राऽग्निहोत्राद्यश्वमेधान्ते

यद्यत् कर्त्तव्यं तत्तदत्र विस्तरतो न वर्णयिष्यते । कुतः । कर्मकाण्डानुष्ठानस्यैतरेयशतपथब्राह्मणपूर्वमीमांसाश्रौतसूत्रादिषु यथार्थं विनियोजितत्वात् । पुनस्तत्कथनेनानृषिकृतग्रन्थवत् पुनरुक्तपिष्टपेषणदोषापत्तेश्चेति । तस्माद्युक्तिसिद्धो वेदादिप्रमाणानुकूलो मन्त्रार्थानुसृतस्तदुक्तोऽपि विनियोगो ग्रहीतुं योग्योस्ति । तथैवोपासनाकाण्डस्यापि प्रकरणशब्दानुसारतो हि प्रकाशः करिष्यते । कुतोऽस्यैकत्र विशेषस्तु पातञ्जलयोगशास्त्रादिभिर्विज्ञेयोस्तीत्यतः। एवमेव ज्ञानकाण्डस्यापि । कुतः । अस्य विशेषस्तु सांख्यवेदान्तोपनिषदादिशास्त्रानुगतो द्रष्टव्यः । एवं काण्डत्रयेण बोधान्निष्पत्त्युपकारौ गृह्येते तच्च विज्ञानकाण्डम् । परन्त्वेतत्काण्डचतुष्टयस्य वेदानुसारेण विस्तरस्तद्व्याख्यानेषु ग्रन्थेष्वस्ति । स एव सम्यक् परीक्ष्याविरुद्धोर्थो ग्रहीतव्यः । कुतः । मूलाभावे शाखादीनामप्रवृत्तेः । एवमेव व्याकरणादिभिर्वेदाङ्गैर्वैदिकशब्दानामुदात्तादिस्वरविज्ञानं यथार्थं कर्त्तव्यमुच्चारणं च । तत्र यथार्थमुक्तत्वादत्र न वर्ण्यते । एवं पिङ्गलसूत्रछन्दोग्रन्थे यथालिखितं छन्दोलक्षणं विज्ञातव्यम् । स्वराः षड्जऋषभगान्धारमध्यमपञ्चमधैवतनिषादाः ॥ १ ॥ पिङ्गलशास्त्रे अ० ३ । सू० ६४ ॥ इति पिङ्गलाचार्य्यकृतसूत्रानुसारेण प्रतिच्छन्दः स्वरा लेखिष्यन्ते । कुतः । इदानीं यच्छन्दोन्वितो यो मन्त्रस्तस्य स्वस्वरेणैव वादित्रवादनपूर्वकगानव्यवहाराप्रसिद्धेः । एवमेव वेदानामुपवेदैरायुर्वेदादिभिर्वैद्यकविद्यादयो विशेषा विज्ञेयाः । तथैते सर्वे विशेषार्था अपि वेदमन्त्रार्थभाष्ये बहुधा प्रकाशयिष्यन्ते । एवं वेदार्थप्रकाशेन विज्ञानेन सयुक्तिदृढेन जातेनैव सर्वमनुष्याणां सकलसन्देहनिवृत्तिर्भविष्यति । अत्र वेदमन्त्राणां संस्कृतप्राकृतभाषाभ्यां सप्रमाणः पदशोऽर्थो लेखिष्यते । यत्र यत्र व्याकरणादिप्रमाणावश्यकत्वमस्ति तत्तदपि तत्र तत्र लेखिष्यते । येनेदानीन्तनानां वेदार्थविरुद्धानां सनातनव्याख्यानग्रन्थप्रतिकूलानामनर्थकानां वेदव्याख्यानानां निवृत्त्या सर्वेषां मनुष्याणां वेदानां सत्यार्थदर्शनेन तेष्वत्यन्ता प्रीतिर्भविष्यतीति बोध्यम् । संहितामन्त्राणां यथाशास्त्रं यथाबुद्धि च सत्यार्थप्रकाशेन यत्सायणाचार्य्यादिभिः स्वेच्छानुचारतो लोकप्रवृत्त्यनुकूलतश्च लोके प्रतिष्ठार्थं भाष्यं लिखित्वा प्रसिद्धीकृतमनेनात्रानर्थो महान् जातः । तद्द्वारा

यूरोपखण्डवासिनामपि वेदेषु भ्रमो जात इति । यदास्मिन्नीश्वरानुग्रहेणर्षिमुनिमहर्षिमहामुनिभिरार्य्यैर्वेदार्थगर्भितेष्वैतरेयब्राह्मणादिषूक्तप्रमाणान्विते मया कृते भाष्ये प्रसिद्धे जाते सति सर्वमनुष्याणां महान् सुखलाभो भविष्यतीति विज्ञायते । अथात्र यस्य यस्य मन्त्रस्य पारमार्थिकव्यावहारिकयोर्द्वयोरर्थयोः श्लेषालङ्कारादिना सप्रमाणः सम्भवोस्ति तस्य तस्य द्वौ द्वावर्थौ विधास्येते। परन्तु नैवेश्वरस्यैकस्मिन्नपि मन्त्रार्थेऽत्यन्तं त्यागो भवति। कुतः । निमित्तकारणस्येश्वरस्यास्यास्मिन् कार्य्ये जगति सर्वाङ्गव्याप्तिमत्त्वात् । कार्य्यस्येश्वरेण सहान्वयाच्च । यत्र खलु व्यावहारिकोर्थो भवति तत्रापीश्वररचनानुकूलतयैव सर्वेषां पृथिव्यादिद्रव्याणां सद्भावाच्च। एवमेव पारमार्थिकेऽर्थे कृते तस्मिन्कार्य्योऽर्थसम्बन्धात्सोप्यर्थ आगच्छतीति ।

भाषार्थ

इस वेदभाष्य में शब्द और उनके अर्थद्वारा कर्मकाण्ड का वर्णन करेंगे । परन्तु लोगों के कर्मकाण्ड में लगाये हुए वेदमन्त्रों में से जहां जहां जो जो कर्म अग्निहोत्र से लेके अश्वमेध के अन्तपर्य्यन्त करने चाहिये उनका वर्णन यहां नहीं किया जायगा, क्योंकि उनके अनुष्ठान का यथार्थ विनियोग ऐतरेय शतपथादि ब्राह्मण, पूर्वमीमांसा, श्रौत और गृह्यसूत्रादिकों में कहा हुआ है । उसी को फिर कहने से पिसे को पीसने के समतुल्य अल्पज्ञ पुरुषों के लेख के समान दोष इस भाष्य में भी आ जा सकता है । इसलिये जो जो कर्मकाण्ड वेदानुकूल युक्तिप्रमाणसिद्ध है उसी को मानना योग्य है, अयुक्त को नहीं । ऐसे ही उपासनाकाण्डविषयक मन्त्रों के विषय में भी पातञ्जल, सांख्य, वेदान्तशास्त्र और उपनिषदों की रीति से ईश्वर की उपासना जान लेना । परन्तु केवल मूलमन्त्रों ही के अर्थानुकूल का अनुष्ठान और प्रतिकूल का परित्याग करना चाहिये। क्योंकि जो जो मन्त्रार्थ वेदोक्त हैं सो सब स्वतःप्रमाणरूप और ईश्वर के कहे हुए हैं और जो जो ग्रन्थ वेदों से भिन्न हैं वे केवल वेदार्थ के अनुकूल होने से ही प्रामाणिक हैं, ऐसे न हों तो नहीं । ऐसे ही व्याकरणादि शास्त्रों के बोध से उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, एकश्रुति आदि स्वरों का ज्ञान और उच्चारण तथा पिङ्गल

सूत्र से छंदों और षड्जादि स्वरों का ज्ञान अवश्य करना चाहिये । जैसे अ॒ग्निमी॑डे० यहां अकार के नीचे अनुदात्त का चिह्न, (ग्नि) उदात्त है इसलिये उसपर चिह्न नहीं लगाया गया है, मी के ऊपर स्वरित का चिह्न है, (डे) में प्रचय और एकश्रुति स्वर है, यह बात ध्यान में रखना । इसी प्रकार जो जो व्याकरणादि के विषय लिखने के योग्य होंगे वे सब संक्षेप से आगे लिखे जायंगे, क्योंकि मनुष्यों को उनके समझने में कठिनता होती है इसलिये उनके साथ में अन्य प्रामाणिक ग्रन्थों के भी विषय लिखे जायंगे कि जिनके सहाय से वेदों का अर्थ अच्छी प्रकार विदित होसके। इस भाष्य में पद पद का अर्थ पृथक् पृथक् क्रम से लिखा जायगा कि जिससे नवीन टीकाकारों के लेख से जो वेदों में अनेक दोषों की कल्पना की गई हैं उन सब की निवृत्ति होकर उनके सत्य अर्थों का प्रकाश हो जायगा । तथा जो जो सायण, माधव, महीधर और अंग्रेज़ी वा अन्य भाषा में उलथे वा भाष्य किये जाते वा गये हैं तथा जो जो देशान्तरभाषाओं में टीका हैं उन अनर्थव्याख्यानों का निवारण होकर मनुष्यों को वेदों के सत्य अर्थों के देखने से अत्यन्त सुखलाभ पहुंचेगा । क्योंकि विना सत्यार्थप्रकाश के देखे मनुष्यों की भ्रमनिवृत्ति कभी नहीं हो सकती । जैसे प्रामाण्याप्रामाण्य विषय में सत्य और असत्य कथाओं के देखने से भ्रम की निवृत्ति हो सकती है ऐसे ही यहां भी समझ लेना चाहिये । इत्यादि प्रयोजनों के लिये इस वेदभाष्य के बनाने का आरम्भ किया है ।

इति प्रतिज्ञाविषयः संक्षेपतः

अथ प्रश्नोत्तरविषयः संक्षेपतः

(प्रश्नः) अथ किमर्था वेदानां चत्वारो विभागाः सन्ति ?। (उत्तरम्) भिन्नभिन्नविद्याज्ञापनाय । (प्र०) कास्ताः ? । (उ०) त्रिधा गानविद्या भवति, गानोच्चारणविधाया द्रुतमध्यमविलम्बितभेदयुक्तत्वात् । यावता कालेन ह्रस्वस्वरोच्चारणं क्रियते ततो दीर्घोच्चारणे द्विगुणः प्लुतोच्चारणे त्रिगुणश्च

कालो गच्छतीति । अत एवैकस्यापि मन्त्रस्य चतसृषु संहितासु पाठः कृतो-स्ति । तद्यथा । ऋग्भिस्स्तुवन्ति, यजुर्भिर्यजन्ति, सामभिर्गायन्ति । ऋग्वेदे सर्वेषां पदार्थानां गुणप्रकाशः कृतोस्ति । तथा यजुर्वेदे विदितगुणानां पदार्थानां सकाशात् क्रियया ऽनेकविद्योपकारग्रहणाय विधानं कृतमस्ति । तथा सामवेदे ज्ञानक्रियाविद्ययोर्दीर्घविचारेण फलावधिपर्य्यन्तं विद्याविचारः । एवमथर्ववेदेऽपि त्रयाणां वेदानां मध्ये यो विद्याफलविचारो विहितोस्ति तस्य पूर्त्तिकरणेन रक्षणोन्नती विहिते स्तः । एतदाद्यर्थं वेदानां चत्वारो विभागाः सन्ति । (प्रश्नः) वेदानां चतुःसंहिताकरणे किं प्रयोजनमस्तीति ? । (उत्तरम्) यतो विद्याविधायकानां मन्त्राणां प्रकरणशः पूर्वापरसन्धानेन सुगमतया तत्रस्था विद्या विदिता भवेयुरेतदर्थं संहिताकरणम् । (प्र०) वेदेष्वष्टकमण्डलाध्यायसूक्तषट्ककाण्डवर्गदशतित्रिकप्रपाठकानुवाकविधानं किमर्थं कृतमस्तीत्यत्र ब्रूमः । (उ०) अत्राष्टकादीनां विधानमेतदर्थमस्ति यथा सुगमतया पठनपाठनमन्त्रपरिगणनं, प्रतिविद्यं विद्याप्रकरणबोधश्च भवेदेतदर्थमेतद्विधानं कृतमस्तीति । (प्र०) किमर्था ऋग्यजुःसामाथर्वाणः प्रथमद्वितीयतृतीयचतुर्थसंख्याक्रमेण परिगणिताः सन्तीत्यत्रोच्यते । (उ०) न यावद्गुणगुणिनोः साक्षाज्ज्ञानं भवति नैव तावत्संस्कारः प्रीतिश्च । नचाभ्यां विना प्रवृत्तिर्भवति, तया विना सुखाभावश्चेति । एतद्विद्याविधायकत्वादृग्वेदः प्रथमं परिगणितुं योग्योस्ति । एवं च यथापदार्थगुणज्ञानानन्तरं क्रिययोपकारेण सर्वजगद्धितसम्पादनं कार्य्यं भवति । यजर्वेद एतद्विद्याप्रतिपादकत्वाद्द्वितीयः परिगणितोस्तीति बोध्यम् । तथा ज्ञानकर्मकाण्डयोरुपासनायाऽच कियत्युन्नतिर्भवितुमर्हति, किञ्चैतेषां फलं भवति, सामवेद एतद्विधायकत्वात्तृतीयो गण्यत इति । एवमेवाथर्ववेदस्त्रय्यन्तर्गतविद्यानां परिशेषरक्षणविधायकत्वाच्चतुर्थः परिगण्यत इति । अतो गुणज्ञानक्रियाविज्ञानोन्नतिशेषविद्यारक्षणानां पूर्वापरसहभावे संयुक्तत्वात्क्रमेणर्ग्यजुस्सामाथर्वाण इति चतस्रः संहिताः परिगणिताः संज्ञाश्च कृताः सन्ति । ऋच स्तुतौ । यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु । साम सान्त्वने, षो अन्तकर्मणि । थर्वतिश्चरतिकर्मा तत्प्रतिषेधः ॥ निरु० अ० ११ । खं० १८ । चर संशये । अनेनाथर्वशब्दः संशयनिवार-

णार्थो गृह्यते । एवं धात्वर्थोक्तप्रमाणेभ्यः क्रमेण वेदाः परिगण्यन्ते चेति वेदितव्यम् ।

भाषार्थ

(प्र०) वेदों के चार विभाग क्यों किये हैं ? । (उ०) भिन्न भिन्न विद्या जनाने के लिये अर्थात् जो तीन प्रकार की गानविद्या है, एक तो यह कि उदात्त और षड्जादि स्वरों का उच्चारण ऐसी शीघ्रता से करना जैसा कि ऋग्वेद के स्वरों का उच्चारण द्रुत अर्थात् शीघ्रवृत्ति में होता है, दूसरी मध्यमवृत्ति जैसे कि यजुर्वेद के स्वरों का उच्चारण ऋग्वेद के मन्त्रों से दूने काल में होता है, तीसरी विलम्बित वृत्ति है जिसमें प्रथमवृत्ति से तिगुना काल लगता है जैसा कि सामवेद के स्वरों के उच्चारण वा गान में, फिर उन्हीं तीनों वृत्तियों के मिलाने से अथर्ववेद का भी उच्चारण होता है, परन्तु इसका द्रुतवृत्ति में उच्चारण अधिक होता है इसलिये वेदों के चार विभाग हुए हैं । तथा कहीं कहीं एक मन्त्र का चार वेदों में पाठ करने का यही प्रयोजन है कि वह पूर्वोक्त चारों प्रकार की गानविद्या में गाया जावे, तथा प्रकरणभेद से कुछ कुछ अर्थभेद भी होता है इसलिये कितने ही मन्त्रों का पाठ चारों वेदों में किया जाता है । ऐसे ही (ऋग्भिस्तु०) ऋग्वेद में सब पदार्थों के गुणों का प्रकाश किया है जिससे उनमें प्रीति बढ़कर उपकार लेने का ज्ञान प्राप्त होसके, क्योंकि विना प्रत्यक्ष ज्ञान के संस्कार और प्रवृत्ति का आरम्भ नहीं हो सकता और आरम्भ के विना यह मनुष्यजन्म व्यर्थ ही चला जाता है । इसलिये ऋग्वेद की गणना प्रथम ही की है । तथा यजुर्वेद में क्रियाकाण्ड का विधान लिखा है सो ज्ञान के पश्चात् ही कर्त्ता की प्रवृत्ति यथावत् हो सकती है । क्योंकि जैसा ऋग्वेद में गुणों का कथन किया है वैसा ही यजुर्वेद में अनेक विद्याओं के ठीक ठीक विचार करने से संसार में व्यवहारी पदार्थों से उपयोग सिद्ध करना होता है, जिन से लोगों को नाना प्रकार का सुख मिले । क्योंकि जबतक कोई क्रिया विधिपूर्वक न कीजाय तबतक उसका अच्छी प्रकार भेद नहीं खुल सकता । इसलिये जैसा कुछ जानना वा कहना वैसा ही करना भी चाहिये, तभी ज्ञान का फल और ज्ञानी

की शोभा होती है । तथा यह भी जानना अवश्य है कि जगत् का उपकार मुख्य करके दो ही प्रकार का होता है एक आत्मा और दूसरा शरीर का । अर्थात् विद्यादान से आत्मा और श्रेष्ठ नियमों से उत्तम पदार्थों की प्राप्ति करके शरीर का उपकार होता है । इसलिये ईश्वर ने ऋग्वेदादि का उपदेश किया है कि जिन से मनुष्य लोग ज्ञान और क्रियाकाण्ड को पूर्ण रीति से जानलेवें। तथा सामवेद से ज्ञान और आनन्द की उन्नति और अथर्ववेद से सर्व संशयों की निवृत्ति होती है । इसलिये इनके चार विभाग किये हैं । (प्र०) प्रथम ऋग्, दूसरा यजुः, तीसरा साम और चौथा अथर्ववेद इस क्रम से चार वेद क्यों गिने हैं ? । (उ०) जबतक गुण और गुणी का ज्ञान मनुष्यों को नहीं होता तब पर्य्यन्त उन में प्रीति से प्रवृत्ति नहीं हो सकती और इस के विना शुद्ध क्रियादि के अभाव से मनुष्यों को सुख भी नहीं हो सकता था, इसलिये वेदों के चार विभाग किये हैं कि जिससे प्रवृत्ति होसके । क्योंकि जैसे इस गुणज्ञान विद्या को जनाने से पहिले ऋग्वेद की गणना योग्य है वैसे ही पदार्थों के गुणज्ञान के अनन्तर क्रियारूप उपकार करके सब जगत् का अच्छी प्रकार से हित भी सिद्ध हो सके इस विद्या के जनाने के लिये यजुर्वेद की गिनती दूसरी वार की है । ऐसे ही ज्ञान, कर्म और उपासनाकाण्ड की वृद्धि वा फल कितना और कहांतक होना चाहिये इसका विधान सामवेद में लिखा है इसलिये उस को तीसरा गिना है । ऐसे ही तीन वेदों में जो जो विद्या हैं उन सब के शेष भाग की पूर्त्ति, विधान, सब विद्याओं की रक्षा और संशयनिवृत्ति के लिये अथर्ववेद को चौथा गिना है । सो गुणज्ञान, क्रियाविज्ञान इनकी उन्नति तथा रक्षा को पूर्वापर क्रम से जानलेना । अर्थात् ज्ञानकाण्ड के लिये ऋग्वेद, क्रियाकाण्ड के लिये यजुर्वेद, इनकी उन्नति के लिये सामवेद और शेष अन्य रक्षाओं के प्रकाश करने के लिये अथर्ववेद की, प्रथम, दूसरी, तीसरी और चौथी करके संख्या बांधी है । क्योंकि (ऋच स्तुतौ) (यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु) (षोन्तकर्मणि) और (साम सान्त्वप्रयोगे) (थर्वतिश्चरतिकर्मा) इन अर्थों के विद्यमान होने से चार वेदों अर्थात् ऋग्, यजुः, साम और अथर्व की ये चार संज्ञा रक्खी हैं । तथा अथर्ववेद का प्रकाश ईश्वर ने इसलिये किया है कि जिससे तीनों वेदों की अनेक

विद्याओं के सब विघ्नों का निवारण और उनकी गणना अच्छी प्रकार से हो-सके। (प्र०) वेदों की चार संहिता करने का क्या प्रयोजन है?। (उ०) विद्या के जनानेवाले मन्त्रों के प्रकरण से जो पूर्वापर का ज्ञान होना है उससे वेदों में कही हुई सब विद्या सुगमता से जानली जाय, इत्यादि प्रयोजन संहिता-ओं के करने में हैं। (प्र०) अच्छा अब आप यह तो कहिये कि वेदों में जो अष्टक, अध्याय, मंडल, सूक्त, षट्क, कांड, वर्ग, दशति, त्रिक और अनुवाक रक्खे हैं ये किसलिये हैं?। (उ०) इनका विधान इसलिये है कि जिससे पठन पाठन और मन्त्रों की गिनती विना कठिनता से जानली जाय तथा सब विद्याओं के पृथक् पृथक् प्रकरण निर्भ्रमता के साथ विदित होकर सब विद्याव्य-वहारों में गुण और गुणी के ज्ञानद्वारा मनन और पूर्वापर स्मरण होने से अनु-वृत्तिपूर्वक आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति और तात्पर्य सबको विदित हो सके, इत्यादि प्रयोजन के लिये अष्टकादि किये हैं।

भाष्यम्

(प्रश्नः) प्रत्येकमन्त्रस्योपरि ऋषिदेवताछन्दःस्वराः किमर्था लिख्य-न्ते?। (उत्तरम्) यतो वेदानामीश्वरोक्त्यनन्तरं येन येनर्षिणा यस्य यस्य मन्त्रस्यार्थो यथावद्विदितस्तस्मात्तस्य तस्योपरि तत्तदृषेर्नामोल्लेखनं कृतम-स्ति। कुतः। यैरीश्वरध्यानानुग्रहाभ्यां महता प्रयत्नेन मन्त्रार्थस्य प्रकाशित-त्वात्, तत्कृतमहोपकारस्मरणार्थं तन्नामलेखनं प्रतिमन्त्रस्योपरि कर्त्तुं योग्य-मस्त्यतः। अत्र प्रमाणम्। यो वाचं श्रुतवान् भवत्यफलामपुष्पामित्यफलाऽ-स्मा अपुष्पा वाग्भवतीति वा, किञ्चित्पुष्पफलेति वा। अर्थं वाचः पुष्पफल-माह। याज्ञदैवते पुष्पफले देवताध्यात्मे वा। साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवु-स्तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान्सम्प्रादुरुपदेशाय ग्लायन्तोऽ-वरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदाङ्गानि च। बिल्मं भिल्मं भासनमिति वैतावन्तः समानकर्माणो धातवो, धातुर्दधातेरेतावन्त्यस्य सत्त्व-स्य नामधेयान्येतावतामर्थानामिदमभिधानं, नैघण्टुकमिदं देवतानामप्राधान्ये-नेदमिति, तद्यदन्यदैवते मन्त्रे निपतति नैघण्टुकं तत्॥ निरु० अ० १

खं० १० ॥ (यो वाचं) यो मनुष्योऽर्थविज्ञानेन विना श्रवणाध्ययने क-रोति तदफलं भवति । (प्रश्नः) वाचो वाण्याः किं फलं भवतीत्यत्राह । (उत्तरम्) विज्ञानं तथा तज्ज्ञानानुसारेण कर्मानुष्ठानम् । य एवं ज्ञात्वा कुर्वन्ति त ऋषयो भवन्ति । कीदृशास्ते साक्षात्कृतधर्माणः ? । यैः सर्वा विद्या यथावद्विदितास्त ऋषयो बभूवुस्तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतवेदेभ्यो मनुष्येभ्य उप-देशेन वेदमन्त्रान्सम्प्रादुः, मन्त्रार्थांश्च प्रकाशितवन्तः । कस्मै प्रयोजनाय? । उत्तरोत्तरं वेदार्थप्रचाराय । ये चावरेऽध्ययनायोपदेशाय च ग्लायन्ति तान् वेदार्थविज्ञापनायेमं नैघण्टुकं निरुक्ताख्यं ग्रन्थं त ऋषयः समाम्नासिषुः, सम्यगभ्यासं कारितवन्तः । येन वेदं वेदाङ्गानि यथार्थविज्ञानतया सर्वे मनु-ष्या जानीयुः । ये समानार्थाः समानकर्माणो धातवो भवन्ति तदर्थप्रकाशो यत्र क्रियते, अस्यार्थस्यैतावन्ति नामधेयान्येतावतामर्थानामिदमभिधानार्थमेकं नाम, अर्थादेकस्यार्थस्यानेकानि नामान्यनेकेषामेकं नामेति तन्नैघण्टुकं व्याख्यानं विज्ञेयम् । यत्रार्थानां द्योत्यानां पदार्थानां प्राधान्येन स्तुतिः क्रि-यते तत्र सैवेयं मन्त्रमयी देवता विज्ञेया । यच्च मन्त्राद्भिन्नार्थस्यैव सङ्केतः प्रकाश्यते तदपि नैघण्टुकं व्याख्यानमिति । अतो नैव कश्चिन्मनुष्यो मन्त्र-निर्मातेति विज्ञेयम् । एवं येन येनर्षिणा यस्य यस्य मन्त्रस्यार्थः प्रकाशितो-ऽस्ति तस्य तस्य ऋषेरेकैकमन्त्रस्य सम्बन्धे नामोल्लेखः कृतोऽस्ति । तथा यस्य यस्य मन्त्रस्य यो योऽर्थोऽस्ति सः सोऽर्थस्तस्य तस्य देवताशब्देनाभिप्रायार्थ-विज्ञापनार्थं प्रकाश्यते । एतदर्थं देवताशब्दलेखनं कृतम् । एवं च यस्य यस्य मन्त्रस्य गायत्र्यादिछन्दोऽस्ति तत्तद्विज्ञानार्थं छन्दोलेखनम् । तथा यस्य यस्य मन्त्रस्य येन येन स्वरेण वादित्रवादनपूर्वकं गानं कर्तुं योग्यमस्ति तत्तदर्थं षड्जादिस्वरोल्लेखनं कृतमस्तीति सर्वमेतद्विज्ञेयम् ।

भाषार्थ

(प्र०) प्रतिमन्त्र के साथ ऋषि, देवता, छन्द और स्वर किसलिये लि-खते हैं ? । (उ०) ईश्वर जिस समय आदि सृष्टि में वेदों का प्रकाश कर चुका तभी से प्राचीन ऋषि लोग वेदमन्त्रों के अर्थों का विचार करने लगे, फिर उनमें

से जिस जिस मन्त्र का अर्थ जिस २ ऋषि ने प्रकाशित किया उस उसका नाम उसी उसी मन्त्र के साथ स्मरण के लिये लिखा गया है। इसी कारण से उनका ऋषि नाम भी हुआ है और जो उन्होंने ईश्वर के ध्यान और अनुग्रह से बड़े बड़े प्रयत्न के साथ वेदमन्त्रों के अर्थों को यथावत् जानकर सब मनुष्यों के लिये पूर्ण उपकार किया है इसलिये विद्वान् लोग वेदमन्त्रों के साथ उनका स्मरण रखते हैं। इस विषय में अर्थसहित प्रमाण लिखते हैं (यो वाचं०)। जो मनुष्य अर्थ को समझे विना अध्ययन वा श्रवण करते हैं उनका सब परिश्रम निष्फल होता है। (प्र०) वाणी का फल क्या है ?। (उ०) अर्थ को ठीक ठीक जान के उसी के अनुसार व्यवहारों में प्रवृत्त होना वाणी का फल है। और जो लोग इस नियम पर चलते हैं वे साक्षात् धर्मात्मा अर्थात् ऋषि कहलाते हैं। इसलिये जिन्होंने सब विद्याओं को यथावत् जाना था वे ही ऋषि हुए थे, जिन्होंने अपने उपदेश से अवर अर्थात् अल्पबुद्धि मनुष्यों को वेदमन्त्रों के अर्थों का प्रकाश कर दिया है। (प्र०) किस प्रयोजन के लिये ?। (उ०) वेदप्रचार की परंपरा स्थिर रहने के लिये। तथा जो लोग वेदशास्त्रादि पढ़ने को कम समर्थ हैं वे जिससे सुगमता से वेदार्थ जान लेवें इसलिये निघण्टु और निरुक्त आदि ग्रन्थ भी बना दिये हैं कि जिन के सहाय से सब मनुष्य वेद और वेदाङ्गों को ज्ञानपूर्वक पढ़कर उन के सत्य अर्थों का प्रकाश करें। निघण्टु उस को कहते हैं कि जिसमें तुल्य अर्थ और तुल्य कर्म वाले धातुओं की व्याख्या, एक पदार्थ को अनेकार्थ तथा अनेक अर्थों का एक नाम से प्रकाश और मन्त्रों से भिन्न अर्थों का संकेत है। और निरुक्त उसका नाम है कि जिस में वेदमन्त्रों की व्याख्या है। और जिन २ मन्त्रों में जिन २ पदार्थों की प्रधानता से स्तुति की है उनके मन्त्रमय देवता जानने चाहिये, अर्थात् जिस २ मन्त्र का जो जो अर्थ होता है वही उसका देवता कहाता है। सो यह इसलिये है कि जिस से मन्त्रों को देख के उनके अभिप्रायार्थ का यथार्थज्ञान हो जाय, इत्यादि प्रयोजन के लिये देवताशब्द मन्त्र के साथ में लिखा जाता है। ऐसे ही जिस २ मन्त्र का जो २ छन्द है सो भी उसके साथ इसलिये लिख दिया गया है कि उनसे मनुष्यों को छन्दों का ज्ञान भी यथावत् होता रहे। तथा कौन कौन सा छन्द

किस किस स्वर में गाना चाहिये इस बात को जनाने के लिये उनके साथ में षड्-
जादि स्वर लिखे जाते हैं, जैसे गायत्री छन्दवाले मन्त्रों को षड्ज स्वर में गाना
चाहिये । ऐसे ही और और भी बता दिये हैं कि जिससे मनुष्य लोग गान-
विद्या में भी प्रवीण हों । इसीलिये वेद में प्रत्येक मन्त्रों के साथ उन के षड्ज
आदि स्वर लिखे जाते हैं ।

भाष्यम्

(प्र०) वेदेष्वग्निवाय्विन्द्राश्विसरस्वत्यादिशब्दानां क्रमेण पाठः कि-
मर्थः कृतोस्ति ? । (उ०) पूर्वापरविद्याविज्ञापनार्थं विद्यासंग्यनुषङ्गिप्रति-
विद्यानुषङ्गिबोधार्थं चेति । तद्यथा । अग्निशब्देनेश्वरभौतिकार्थयोर्ग्रहणं
भवति । यथाऽनेनेश्वरस्य ज्ञानव्यापकत्वादयो गुणा विज्ञातव्या भवन्ति ।
यथेश्वररचितस्य भौतिकस्याग्नेः शिल्पविद्याया मुख्यहेतुत्वात्प्रथमं गृह्यते ।
तथेश्वरस्य सर्वाधारकत्वानन्तबलवत्त्वादिगुणा वायुशब्देन प्रकाश्यन्ते । यथा
शिल्पविद्यायां भौतिकाग्नेः सहायकारित्वान्मूर्त्तद्रव्याधारकत्वात्तदनुषङ्गित्वाच्च
भौतिकस्य वायोर्ग्रहणं कृतमस्ति तथैव वाय्वादीनामाधारकत्वादीश्वरस्यापीति ।
यथेश्वरस्येन्द्रशब्देन परमैश्वर्य्यवत्त्वादिगुणा विदिता भवन्ति । तथा भौतिकेन
वायुनाप्युत्तमैश्वर्य्यप्राप्तिर्मनुष्यैः क्रियते । एतदर्थमिन्द्रशब्दस्य ग्रहणं कृत-
मस्ति । अश्विशब्देन शिल्पविद्यायां यानचलनादिविद्याव्यवहारे जलाग्नि-
पृथिवीप्रकाशादयो हेतवः प्रतिहेतवश्च सन्त्येतदर्थमग्निवायुग्रहणानन्तरमाश्वि-
शब्दप्रयोगो वेदेषु कृतोस्ति । एवं च सरस्वतीशब्देनेश्वरस्यानन्तविद्यावत्त्व-
शब्दार्थसम्बन्धरूपवेदोपदेष्टृत्वादिगुणा वेदेषु प्रकाशिता भवन्ति वाग्व्यवहा-
राश्च । इत्यादिप्रयोजनायाग्निवाय्विन्द्राश्विसरस्वत्यादिशब्दानां ग्रहणं कृत-
मस्ति । एवमेव सर्वत्रैव वैदिकशब्दार्थव्यवहारज्ञानं सर्वैर्मनुष्यैर्बोध्यमस्तीति
विज्ञाप्यते ।

भाषार्थ

(प्र०) वेदों में अनेक वार अग्नि, वायु, इन्द्र, सरस्वती आदि शब्दों
का प्रयोग किस लिये किया है ? । (उ०) पूर्वापर विद्याओं के जनाने के

लिये अर्थात् जिस जिस विद्या में जो जो मुख्य और गौण हेतु हैं उनके प्रकाश के लिये ईश्वर ने अग्नि आदि शब्दों का प्रयोग पूर्वापर सम्बन्ध से किया है। क्योंकि अग्नि शब्द से ईश्वर और भौतिक आदि कितने ही अर्थों का ग्रहण होता है, इस प्रयोजन से कि उसका अनन्त ज्ञान अर्थात् उसकी व्यापकता आदि गुणों का बोध मनुष्यों को यथावत् हो सके, फिर इसी अग्निशब्द से पृथिव्यादि भूतों के बीच में जो प्रत्यक्ष अग्नि तत्त्व है वह शिल्पविद्या का मुख्य हेतु होने के कारण उसका ग्रहण प्रथम ही किया है। तथा ईश्वर के सब को धारण करने और उसके अनन्तबल आदि गुणों का प्रकाश जनाने के लिये वायुशब्द का ग्रहण किया गया है, तथा शिल्पविद्या में अग्नि का सहायकारी और मूर्त्तद्रव्य का धारण करनेवाला मुख्य वायु ही है इसलिये प्रथम सूक्त में अग्नि का और दूसरे में वायु का ग्रहण किया है। तथा ईश्वर के अनन्त गुण विदित होने और भौतिक वायु से योगाभ्यास करके विज्ञान तथा शिल्पविद्या से उत्तम ऐश्वर्य की प्राप्ति करने के लिये इन्द्र शब्द का ग्रहण तीसरे स्थान में किया है, क्योंकि अग्नि और वायु की विद्या से मनुष्यों को अद्भुत अद्भुत कलाकौशलादि बनाने की युक्ति ठीक ठीक जान पड़ती हैं। तथा अश्विशब्द का ग्रहण तीसरे सूक्त और चौथे स्थान में इसलिये किया है कि उस से ईश्वर की अनन्त क्रियाशक्ति विदित हो, क्योंकि शिल्पविद्या में विमान आदि यान चलाने के लिये जल अग्नि पृथिवी और प्रकाश आदि पदार्थ ही मुख्य होते हैं, अर्थात् जितने कलायन्त्र विमान नौका और रथ आदि यान होते हैं वे सब पूर्वोक्त प्रकार से पृथिव्यादि पदार्थों से ही बनते हैं, इसलिये अश्विशब्द का पाठ तीसरे सूक्त और चौथे स्थान में किया है। तथा सरस्वती नाम परमेश्वर की अनन्त वाणी का है कि जिससे उसकी अनन्तविद्या जानी जाती है, तथा जिस करके उसने सब मनुष्यों के हित के लिये अपनी अनन्तविद्यायुक्त वेदों का उपदेश भी किया है, इसलिये तीसरे सूक्त और पांचवें स्थान में सरस्वती शब्द का पाठ वेदों में किया है। इसी प्रकार सर्वत्र जान लेना।

भाष्यम्

(प्र०) वेदानामारम्भेऽग्निवाय्वादिशब्दप्रयोगैः प्रसिद्धिर्जायते वेदेषु

भौतिकपदार्थानामेव तत्तच्छब्दैर्ग्रहणं भवति । यत आरम्भे खल्वीश्वरशब्दप्रयोगो नैव कृतोस्ति ? । (उ०) व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणमिति महाभाष्यकारेण पतञ्जलिमहामुनिना (लण्) इति सूत्रव्याख्यानोक्तन्यायेन सर्वसन्देहनिवृत्तिर्भवतीति । कुतः । वेदवेदाङ्गोपाङ्गब्राह्मणग्रन्थेष्वग्निशब्देनेश्वरभौतिकार्थयोर्व्याख्यानस्य विद्यमानत्वात् । तथेश्वरशब्दप्रयोगेणापि व्याख्यानेन विना सर्वथा सन्देहनिवृत्तिर्न भवति । ईश्वरशब्देन परमात्मा गृह्यते तथा सामर्थ्यवतो राज्ञः कस्यचिन्मनुष्यस्यापीश्वर इति नामास्ति । तयोर्मध्यात्कस्य ग्रहणं कर्त्तव्यमिति शङ्कायां व्याख्यानत एव सन्देहनिवृत्तिर्भवत्यत्रेश्वरनाम्ना परमात्मनो ग्रहणमत्र राजादिमनुष्यस्येति । एवमत्राप्यग्निनाम्नोभयार्थग्रहणे नैव कश्चिद्दोषो भवतीति । अन्यथा कोटिशः श्लोकैस्सहस्रैर्ग्रन्थैरपि विद्यापूर्तिरत्यन्तासम्भवास्ति । अतः कारणादग्न्यादिशब्दैर्व्यावहारिकपारमार्थिकयोर्विद्ययोर्ग्रहणं स्वल्पाक्षरैः स्वल्पग्रन्थैश्च भवतीति मत्वेश्वरेणाग्न्यादिशब्दप्रयोगाः कृताः । यतोऽल्पकालेन पठनपाठनव्यवहारेणाल्पपरिश्रमेणैव मनुष्याणां सर्वा विद्या विदिता भवेयुरिति । परमकारुणिकः परमेश्वरः सुगमशब्दैस्सर्वविद्योपदेशानुपदिष्टवानिति विज्ञेयम् । तथा च येऽग्न्यादयः शब्दार्थाः संसारे प्रसिद्धाः सन्त्येतैः सर्वैरीश्वरप्रकाशः क्रियते । कुतः । ईश्वरोस्तीति सर्वे दृष्टान्ता ज्ञापयन्तीति बोध्यम् । एवं चतुर्वेदस्थविद्यानां मध्यात्काश्चिद्विद्या अत्र भूमिकायां संक्षेपतो लिखिता इतोऽग्रे मन्त्रभाष्यं विधास्यते । तत्र यस्मिन् यस्मिन् मन्त्रे या या विद्योपदिष्टाऽस्ति सा सा तस्य तस्य मन्त्रस्य व्याख्यानावसरे यथावत् प्रकाशयिष्यते

भाषार्थ

(प्र०) वेद के आरम्भ में अग्नि वायु आदि शब्दों के प्रयोग से यह सिद्ध होता है कि जगत् में जिन पदार्थों का नाम अग्नि आदि प्रसिद्ध है उन्हीं का ग्रहण करना चाहिये और इसीलिये लोगों ने उन शब्दों से संसार के अग्नि आदि पदार्थों को मान भी लिया है, नहीं तो उचित था कि जो जो शब्द जहां जहां

होना चाहिये था वहां वहां उसी का ग्रहण करते कि जिससे कभी किसी को भ्रम न होता, अथवा आरम्भ में उन शब्दों की जगह ईश्वर परमेश्वरादि शब्दों ही का ग्रहण करना था ?। (उ०) यूं तो ऐसा करने से भी भ्रम हो सकता है, परन्तु जब कि व्याख्यानों के द्वारा मन्त्रों के पद पद का अर्थ खोल दियागया है तब उनके देखने से सब संदेह आप से आप ही निवृत्त हो जाते हैं, क्योंकि शिक्षा आदि अङ्ग वेदमन्त्रों के पद पद का अर्थ ऐसी रीति से खोलते हैं कि जिससे वैदिक शब्दार्थों में किसी प्रकार का संदेह शेष नहीं रह सकता, और जो कदाचित् ईश्वर शब्द का प्रयोग करते तो भी विना व्याख्यान के संदेह की निवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि ईश्वर नाम उत्तम सामर्थ्य वाले राजादि मनुष्यों का भी हो सकता है, और किसी किसी की ईश्वरसंज्ञा ही होती है । तथा जो सब ठिकाने एकार्थवाची शब्दों का ही प्रयोग करते तो भी अनेक कोटि श्लोक और हजारह ग्रन्थ वेदों के बन जाने का संभव था, परन्तु विद्या का पारावार फिर भी नहीं आता, और न उनको मनुष्य लोग कभी पढ़पढ़ा सकते, इस प्रयोजन अर्थात् सुगमता के लिये ईश्वर ने अग्न्यादि शब्दों का प्रयोग करके व्यवहार और परमार्थ इन दोनों बातें सिद्ध करनेवाली विद्याओं का प्रकाश किया है कि जिससे मनुष्य लोग थोड़े ही काल में मूल विद्याओं को जान लें । इसी मुख्य हेतु से सब के सुखार्थ परमकरुणामय परमेश्वर ने अग्न्यादि सुगम शब्दों के द्वारा वेदों का उपदेश किया है । इसलिये अग्न्यादि शब्दों के अर्थ जो संसार में प्रसिद्ध हैं उनसे भी ईश्वर का ग्रहण होता है, क्योंकि ये सब दृष्टान्त परमेश्वर ही के जानने और जनाने के लिये हैं । इस प्रकार चारों वेदों में जो जो विद्या हैं उनमें से कोई कोई विद्या तो इस वेदभाष्य की भूमिका में संक्षेप से लिख दी है, शेष सब इसके आगे जब मन्त्रभाष्य में जिस जिस मन्त्र में जिस जिस विद्या का उपदेश है सो सो उसी उसी मन्त्र के व्याख्यान में यथावत् प्रकाशित कर देंगे ।

भाष्यम्

अथ निरुक्तकारः संक्षेपतो वैदिकशब्दानां विशेषनियमानाह

तास्त्रिविधा ऋचः परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृता, आध्यात्मिक्यश्च । तत्र

परोक्षकृताः सर्वाभिर्नामविभक्तिभिर्युज्यन्ते प्रथमपुरुषैश्चाख्यातस्य । अथ प्रत्यक्षकृता मध्यमपुरुषयोगास्त्वमिति चैतेन सर्वनाम्ना । अथापि प्रत्यक्षकृताः स्तोतारो भवन्ति परोक्षकृतानि स्तोतव्यानि । अथाध्यात्मिक्य उत्तमपुरुषयोगा अहमिति चैतेन सर्वनाम्ना ॥ निरु० अ० ७ । खं० १ । २ ॥ अयं नियमः वेदेषु सर्वत्र सङ्गच्छते । तद्यथा । सर्वे मन्त्रास्त्रिविधानामर्थानां वाचका भवन्ति । केचित्परोक्षाणां, केचित्प्रत्यक्षाणां, केचिदध्यात्मं वक्तुमर्हाः । तत्राद्येषु प्रथमपुरुषस्य प्रयोगा भवन्ति, अपरेषु मध्यमस्य, तृतीयेषूत्तमपुरुषस्य च । तत्र मध्यमपुरुषप्रयोगार्थौ द्वौ भेदौ स्तः । यत्रार्थाः प्रत्यक्षाः सन्ति तत्र मध्यमपुरुषयोगा भवन्ति । यत्र च स्तोतव्या अर्थाः परोक्षाः स्तोतारश्च खलु प्रत्यक्षास्तत्रापि मध्यमपुरुषप्रयोगो भवतीति । अस्यायमभिप्रायः । व्याकरणरीत्या प्रथममध्यमोत्तमपुरुषाः क्रमेण भवन्ति । तत्र जडपदार्थेषु प्रथमपुरुष एव, चेतनेषु मध्यमोत्तमौ च । अयं लौकिकवैदिकशब्दयोः सार्वत्रिको नियमः । परन्तु वैदिकव्यवहारे जडेपि प्रत्यक्षे मध्यमपुरुषप्रयोगाः सन्ति । तत्रेदं बोध्यं जडानां पदार्थानामुपकारार्थं प्रत्यक्षकरणमात्रमेव प्रयोजनमिति । इमं नियममबुद्ध्वा वेदभाष्यकारैः सायणाचार्य्यादिभिस्तदनुसारतया स्वदेशभाषयाऽनुवादकारकैर्यूरोपाख्यदेशनिवास्यादिभिर्मनुष्यैर्वेदेषु जडपदार्थानां पूजास्तीति वेदार्थोऽन्यथैव वर्णितः ।

भाषार्थ

अब इसके आगे वेदस्थ प्रयोगों के विशेष नियम संक्षेप से कहते हैं । जो जो नियम निरुक्तकारादि ने कहे हैं वे बराबर वेदों के सब प्रयोगों में लगते हैं । (तास्त्रिविधा ऋचः), वेदों के सब मन्त्र तीन प्रकार के अर्थों को कहते हैं । कोई परोक्ष अर्थात् अदृश्य अर्थों को, कोई प्रत्यक्ष अर्थात् दृश्य अर्थों को और कोई अध्यात्म अर्थात् ज्ञानगोचर आत्मा और परमात्मा को । उनमें से परोक्ष अर्थ के कहने वाले मन्त्रों में प्रथम-पुरुष अर्थात् अपने और दूसरे के कहने वाले जो सो और वह आदि शब्द हैं, तथा उनकी क्रियाओं के अस्ति, भवति, करोति, पचतीत्यादि प्रयोग हैं । एवं प्रत्यक्ष अर्थ के कहने वालों में मध्यमपुरुष अर्थात् तू तुम आदि शब्द और

उनकी क्रिया के असि, भवसि, करोषि, पचसीत्यादि प्रयोग हैं। तथा अध्यात्म अर्थ के कहने वाले मन्त्रों में उत्तमपुरुष अर्थात् मैं हम आदि शब्द और उनकी अस्मि, भवामि, करोमि, पचामीत्यादि क्रिया आती हैं। तथा जहां स्तुति करने के योग्य परोक्ष और स्तुति करने वाले प्रत्यक्ष हों वहां भी मध्यम पुरुष का प्रयोग होता है। यहां यह अभिप्राय समझना चाहिये कि व्याकरण की रीति से प्रथम, मध्यम और उत्तम अपनी अपनी जगह होते हैं। अर्थात् जड़ पदार्थों में प्रथम, चेतन में मध्यम वा उत्तम होते हैं। सो यह तो लोक और वेद के शब्दों में साधारण नियम है। परन्तु वेद के प्रयोगों में इतनी विशेषता होती है कि जड़ पदार्थ भी प्रत्यक्ष हों तो वहां निरुक्तकार के उक्त नियम से मध्यम पुरुष का प्रयोग होता है और इससे यह भी जानना अवश्य है कि ईश्वर ने संसारी जड़ पदार्थों को प्रत्यक्ष कराके केवल उनसे अनेक उपकार लेना जनाया है, दूसरा प्रयोजन नहीं है। परन्तु इस नियम को नहीं जानकर सायणाचार्य आदि वेदों के भाष्यकारों तथा उन्हींके बनाये हुए भाष्यों के अवलम्ब से यूरोपदेशवासी विद्वानों ने भी जो वेदों के अर्थों को अन्यथा कर दिया है सो यह उनकी भूल है और इसीसे वे ऐसा लिखते हैं कि वेदों में जड़ पदार्थों की पूजा पाई जाती है जिसका कि कहीं चिह्न भी नहीं है।

भाष्यम्

अथ वेदार्थोपयोगितया संक्षेपतः स्वराणां व्यवस्था लिख्यते। ते स्वरा द्विधा, उदात्तषड्जादिभेदात्सप्त सप्तैव सन्ति। तत्रोदात्तादीनां लक्षणानि व्याकरणमहाभाष्यकारपतञ्जलिप्रदर्शितानि लिख्यन्ते। स्वयं राजन्त इति स्वराः। आयामो दारुण्यमणुता स्वस्येत्युच्चैः कराणि शब्दस्य। आयामो गात्राणां निग्रहः, दारुण्यं स्वरस्य दारुणता रूक्षता, अणुता कण्ठस्य, कण्ठस्य संवृतता, उच्चैःकराणि * शब्दस्य। अन्ववसर्गो मार्दवमुरुता खस्येति नीचैः † कराणि शब्दस्य। अन्ववसर्गो गात्राणां शिथिलता, मार्दवं स्वरस्य मृदुता स्निग्धता, उरुता खस्य महत्ता कण्ठस्येति नीचैःकराणि

* उदात्तविधायकानीति यावत्। † अनुदात्तविधायकानीति यावत्॥

शब्दस्य । त्रैस्वर्य्येणाधीमह, त्रिप्रकारैरज्भिरधीमहे, कैश्चिदुदात्तगुणैः, कैश्चिदनुदात्तगुणैः, कैश्चिदुभयगुणैः । तद्यथा । शुक्लगुणः शुक्लः, कृष्णगुणः कृष्णः, य इदानीमुभयगुणः स तृतीयामाख्यां लभते, कल्माष इति वा, सारङ्ग इति वा । एवमिहापि उदात्त उदात्तगुणः, अनुदात्तोऽनुदात्तगुणः, य इदानीमुभयगुणः स तृतीयामाख्यां लभते स्वरित इति । ते एते तन्त्रे तरनिर्देशे * सप्त स्वरा भवन्ति । उदात्तः, उदात्ततरः, अनुदात्तः, अनुदात्ततरः, स्वरितः, स्वरिते यः उदात्तः सोऽन्येन विशिष्टः, एकश्रुतिः सप्तमः । अ० १ । पा० २ । उच्चैरुदात्त इत्याद्युपरि ॥ तथा षड्जादयः सप्त । षड्जऋषभगान्धारमध्यमपञ्चमधैवतनिषादाः ॥ १ ॥ पिंगलसूत्रे अ० ३ । सू० ६४ ॥ एषां लक्षणव्यवस्था गान्धर्ववेदप्रसिद्धा ग्राह्या । अत्र तु ग्रन्थभूयस्त्वभिया लेखितुमशक्या ।

भाषार्थ

अब वेदार्थ के उपयोगहेतु से कुछ स्वरों की व्यवस्था कहते हैं, जो कि उदात्त और षड्ज आदि भेद से चौदह (१४) प्रकार के हैं, अर्थात् सात उदात्तादि और सात षड्जादि । उनमें से उदात्तादिकों के लक्षण जो कि महाभाष्यकार पतञ्जलि महामुनिजी ने दिखलाए हैं उनको कहते हैं । (स्वयं राजन्त०) आप ही अर्थात् जो कि विना सहाय दूसरे के प्रकाशमान हैं वे स्वर कहाते हैं । (आयामः०) अङ्गों का रोकना, (दारुण्यं०) वाणी को रूखा करना अर्थात् ऊंचे स्वर से बोलना और (अणुता०) कण्ठ को भी कुछ रोक देना, ये सब यत्न शब्द के उदात्त विधान करनेवाले होते हैं अर्थात् उदात्त स्वर इन्हीं नियमों के अनुकूल बोला जाता है । तथा (अन्वव) गात्रों का ढीलापन, (मार्दव०) स्वर की कोमलता, (उरुता०) कण्ठ को फैला देना, ये सब यत्न शब्द के अनुदात्त करनेवाले हैं । (त्रैस्वर्य्येण०), हम सब लोग तीन प्रकार के स्वरों से बोलते हैं, अर्थात् कहीं उदात्त, कहीं अनुदात्त और कहीं उदात्तानुदात्त अर्थात् स्वरित गुणवाले स्वरों से यथायोग्य नियमानुसार अक्षरों का उच्चारण करते हैं ।

* अतिशयार्थद्योतके तरप्प्रत्ययस्य निर्देशे ॥

जैसे श्वेत और काला रङ्ग अलग अलग हैं, परन्तु इन दोनों को मिला कर जो रङ्ग उत्पन्न हो उसका नाम तीसरा होता है अर्थात् खाखी वा आसमानी, इसी प्रकार यहां भी उदात्त और अनुदात्त गुण अलग अलग हैं, परन्तु इन दोनों के मिलाने से जो उत्पन्न हो उसको स्वरित कहते हैं। विशेष अर्थ के दिखाने वाले (तरप्) प्रत्यय के संयोग से वे उदात्त आदि सात स्वर होते हैं, अर्थात् उदात्त, उदात्ततर, अनुदात्त, अनुदात्ततर, स्वरित, स्वरितोदात्त और एकश्रुति। उक्त रीति से इन सातों स्वरों को ठीक ठीक समझ लेना चाहिये। अब षड्जादि स्वरों को लिखते हैं जो कि गानविद्या के भेद हैं। (स्वराः षड्जऋषभ०) अर्थात् षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद। इनके लक्षण व्यवस्थासहित जो कि गन्धर्ववेद अर्थात् गानविद्या के ग्रन्थों में प्रसिद्ध हैं उनको देख लेना चाहिये। यहां ग्रन्थ बढ़जाने के कारण नहीं लिखते।

भाष्यम्

अथात्र चतुर्षु वेदेषु व्याकरणस्य ये सामान्यतो नियमाः सन्ति त इदानीं प्रदर्श्यन्ते। तद्यथा। वृद्धिरादैच् ॥ १ ॥ अ० १ । १ । १ ॥ उभय संज्ञान्यपि छन्दांसि दृश्यन्ते, तद्यथा, ससुष्टुभा स ऋक्वता गणेन, पदत्वात्कुत्वं भत्वाज्जश्त्वं न भवति, इति भाष्यवचनम्। अनेनैकस्मिन् शब्दे भपदसंज्ञाकार्य्यद्वयं वेदेष्वेव भवति, नान्यत्र ॥ स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ ॥ २ ॥ अ० १ । १ । ५६ ॥ प्रातिपदिकनिर्देशाश्चार्थतन्त्रा भवन्ति, न काञ्चित्प्राधान्येन विभक्तिमाश्रयन्ति, यां यां विभक्तिमाश्रयितुं बुद्धिरुपजायते सा सा आश्रयितव्या, इति भाष्यम्। अनेनार्थप्राधान्यं भवति न विभक्तेरिति बोध्यम् ॥ न वेति विभाषा ॥ ३ ॥ अ० १ । १ । ४४ ॥ अर्थगत्यर्थः शब्दप्रयोगः, इति भाष्यसूत्रम्। लौकिकवैदिकेषु शब्देषु सार्वत्रिकः समानोऽयं नियमः ॥ अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् ॥ ४ ॥ अ० १ । २ । ४५ ॥ बहवो हि शब्दा एकार्था भवन्ति। तद्यथा। इन्द्रः, शक्रः, पुरुहूतः, पुरन्दरः, कन्दुः, कोष्ठः, कुसूल इति। एकश्च शब्दो बह्वर्थः। तद्यथा। अक्षाः, पादाः, माषाः, सार्वत्रिकोयमपि नियमः। यथाऽग्न्यादयः शब्दा वेदेषु बहु-

र्थवाचकास्त एव बहव एकार्थाश्च ॥ ते प्राग्धातोः ॥ ५ ॥ अ० १ । ४ । ८० ॥ छन्दसि परव्यवहितवचनं च । आयातमुपनिष्कृतम् । उपप्रयोभिरागतम् । अनेन वार्त्तिकेन गत्युपसर्गसंज्ञकाः शब्दाः क्रियायाः परे पूर्वे दूरे व्यवहिताश्च भवन्ति ।

भाषार्थ

अब चारों वेद में व्याकरण के जो जो सामान्य नियम हैं उन को यहां लिखते हैं । (उभ०) वेदों में एक शब्द के बीच में (भ) तथा (पद) ये दोनों संज्ञा होती हैं । जैसे (ऋकता) इस शब्द में पदसंज्ञा के होने से चकार के स्थान में ककार हुआ है और भ संज्ञा के होने से ककार के स्थान में गकार नहीं हुआ । (प्रातिपदिक०) वेदादि शास्त्रों में जो जो शब्द पढ़े जाते हैं उन सब के बीच में यह नियम है कि जिस विभक्ति के साथ वे शब्द पढ़े हों उसी विभक्ति से अर्थ कर लेना यह बात नहीं है, किन्तु जिस विभक्ति से शास्त्र मूल युक्ति और प्रमाण के अनुकूल अर्थ बनता हो उस विभक्ति का आश्रय करके अर्थ करना चाहिये, क्योंकि (अर्थग०) वेदादि शास्त्रों में शब्दों के प्रयोग इसलिये होते हैं कि उनके अर्थों को ठीक ठीक जानके उनसे लाभ उठावें, जब उनसे भी अनर्थ प्रसिद्ध हो तो वे शास्त्र किसलिये माने जावें, इसलिये यह नियम लोकवेद में सर्वत्र घटता है । (बहवो हि०) तीसरा नियम यह है कि वेद तथा लोक में बहुत शब्द एक अर्थ के वाची होते और एक शब्द भी बहुत अर्थों का वाची होता है । जैसे अग्नि, वायु, इन्द्र आदि बहुत शब्द एक परमेश्वर अर्थ के वाची और इसी प्रकार वे ही शब्द संसारी पदार्थों के नाम होने से अनेकार्थ हैं, अर्थात् इस प्रकार के एक एक शब्द कई कई अर्थों के वाची हैं । (छन्दसि०) व्याकरण में जो जो गति और उपसर्गसंज्ञक शब्द हैं वे वेद में क्रिया के आगे पीछे दूर अर्थात् व्यवधान में भी होते हैं । जैसे (उपप्रयोभिरागतं) यहां आगतं क्रिया के साथ उप लगता तथा (आयातमुप०) यहां उप आयात क्रिया के पूर्व लगता है, इत्यादि । इसमें विशेष यह है कि लोक में पूर्वोक्त शब्द क्रिया के पूर्व ही सर्वत्र लगाये जाते हैं ।

चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि ॥ ६ ॥ अ० २ । ३ । ६२॥ षष्ठ्यर्थे चतुर्थी वक्तव्या । या खर्वेण पिबति तस्यै खर्वो जायते तिस्रो रात्रीरिति । तस्या इति प्राप्ते । एवमन्यत्रापि । अनेन चतुर्थ्यर्थे षष्ठी षष्ठ्यर्थे चतुर्थी द्वे एव भवतः । महाभाष्यकारेण छन्दोवन्मत्वा ब्राह्मणानामुदाहरणानि प्रयुक्तानि । अन्यथा ब्राह्मणग्रन्थस्य प्रकृतत्वाच्छन्दोग्रहणमनर्थकं स्यात् । बहुलं छन्दसि ॥ ७ ॥ अ० २ । ४ । ३९ । अनेन अद्धातोः स्थाने घस्लृ आदेशो बहुलं भवति । घस्तान्नूनम् । सग्धिश्च मे । अत्तामद्य मध्यतो मेद उद्भृतम् । इत्याद्युदाहरणं ज्ञेयम् ॥ बहुलं छन्दसि ॥ ८ ॥ अ० २ । ४ । ७३ । वेदविषये शपो बहुलं लुग्भवति । वृत्रं हनति । अहिः शयते । अन्येभ्यश्च भवति । त्राध्वं नो देवाः । बहुलं छन्दसि ॥ ९ ॥ अ० २ । ४ । ७६ । वेदेषु शपः स्थाने श्लुर्बहुलं भवति । दाति प्रियाणि धाति प्रियाणि । अन्येभ्यश्च भवति । पूर्णां विवष्टि । जनिमा विवक्ति । इत्यादीन्युदाहरणानि सन्तीति बोध्यम् ।

भाषार्थ

(या खर्वेण०) इत्यादि पाठ से यही प्रयोजन है कि वेदों में षष्ठीविभक्ति के स्थान में चतुर्थी हो जाती है, लौकिक ग्रन्थों में नहीं। इस में ब्राह्मणों के उदाहरण इसलिये दिये हैं कि महाभाष्यकार ने ब्राह्मणों को वेदों के तुल्य मानके अर्थात् इन में जो व्याकरण के कार्य्य होते हैं वे ब्राह्मणों में भी हो जाते हैं और जो ऐसा न मानें तो (द्वितीया ब्राह्मणे) इस सूत्र में से ब्राह्मण शब्द की अनुवृत्ति हो जाती फिर (चतुर्थ्यर्थे०) इस सूत्र में (छन्दः) शब्द का ग्रहण व्यर्थ हो जाय। (बहुलं०) इस सूत्र से (अद्) धातु के स्थान में घस्लृ आदेश बहुल अर्थात् बहुधा होता है। (बहुलं०) वेदों में शप् प्रत्यय का लुक् बहुल करके होता है और कहीं नहीं भी होता जैसे (वृत्रं हनति) यहां शप् का लुक् प्राप्त था सो भी न हुआ तथा (त्राध्वं०) यहां त्रैङ् धातु से प्राप्त नहीं था परन्तु हो गया। महाभाष्यकार के नियम से शप् के लुक् करने में श्यनादि का लुक् होता है, क्योंकि शप् के स्थान में श्यनादि का आदेश किया जाता है।

शप् सामान्य होने से सब धातुओं से होता है, जब शप् का लुक् हो गया तो श्यनादि प्राप्त ही नहीं होते। ऐसे ही श्लु के विषय में भी समझ लेना। (बहुलं) वेदों में शप् प्रत्यय के स्थान में श्लु आदेश बहुल करके होता है अर्थात् उक्त से भी नहीं होता और अनुक्त से भी हो जाता है। जैसे (दाति०) यहां शप् के स्थान में श्लु प्राप्त था परन्तु न हुआ और (विवष्टि) यहां प्राप्त नहीं फिर हो गया।

भाष्यम्

सिब् बहुलं लेटि॥ १०॥ अ० ३। १। ३४। सिब्बहुलं छन्दसि णिद्वक्तव्यः। सविता धर्म साविषत्। प्र ण आयूंषि तारिषत्। अयं लेटि विशिष्टो नियमः॥ छन्दसि शायजपि॥ ११॥ अ० ३। १। ८४॥ शायच्छन्दसि सर्वत्रेति वक्तव्यम्। क्व। सर्वत्र, हौ चाहौ च। किं प्रयोजनम्। महीः अस्कभायत्। यो अस्कभायत्। उद्ग्रभायत्। उन्मथायतेत्येवमर्थम्। अयं लोटि मध्यमपुरुषस्यैकवचने परस्मैपदे विशिष्टो नियमः॥ व्यत्ययो बहुलम्॥ १२॥ अ० ३। १। ८५। सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणां कालहलच्स्वरकर्त्तृयङां च। व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां सोपि च सिध्यति बाहुलकेन॥ १॥ व्यत्ययो भवति स्यादीनामिति। अनेन विकरणव्यत्ययः। सुपां व्यत्ययः। तिङां व्यत्ययः। वर्णव्यत्ययः। लिङ्गव्यत्ययः। पुरुषव्यत्ययः। कालव्यत्ययः। आत्मनेपदव्यत्ययः। परस्मैपदव्यत्ययः। स्वरव्यत्ययः। कर्त्तृव्यत्ययः। यङ्व्यत्ययश्च। एषां क्रमेणोदाहरणानि। युक्ता मातासीद्धुरि दक्षिणायाः। दक्षिणायामिति प्राप्ते। चषालं ये अश्वयूपाय तक्षति। तक्षन्तीति प्राप्ते। त्रिष्टुभौजः शुभितमुग्रवीरम्। शुधितमिति प्राप्ते। मधोस्तृप्ता इवासते। मधुन इति प्राप्ते। अधा स वीरैर्दशभिर्वियूयाः। वियूयादिति प्राप्ते। श्वोऽग्नीनाधास्यमानेन श्वः सोमेन यक्ष्यमाणेन। आधाता यष्टेति प्राप्ते। ब्रह्मचारिणमिच्छते। इच्छतीति प्राप्ते। प्रतीपमन्य ऊर्मिर्युध्यति। युध्यत इति। आधाता यष्टेति लुट्प्रथमपुरुषस्यैकवचने प्रयोगौ, व्यत्ययो भवति। स्यादीनामित्यस्योदाहरणं, तासि प्राप्ते स्यो विहितः॥ बहुलं

छन्दसि ॥ १३ ॥ अ० ३ । २ । ८८ । अनेन क्विप्प्रत्ययो वेदेषु बहुलं विधीयते । मातृहा । मातृघातः । इत्यादीनि ॥ छन्दसि लिट् ॥ १४ ॥ अ० ३ । २ । १०५ । वेदेषु सामान्यभूते लिड् विधीयते । अहं द्यावापृथिवी आततान ॥ लिटः कानज्वा ॥ १५ ॥ अ० ३ । २ । १०६ ॥ वेदविषये लिटः स्थाने कानजादेशो वा भवति । अग्निं चिक्यानः । अहं सूर्य्यमुभयतो ददर्श । प्रकृतेपि लिटि पुनर्ग्रहणात्परोक्षार्थस्यापि ग्रहणं भवति । क्वसुश्च ॥ १६ ॥ अ० ३ । २ । १०७ ॥ वेदे लिटः स्थाने क्वसुरादेशो वा भवति । पपिवान् । जग्मिवान् । नच भवति । अहं सूर्य्यमुभयतो ददर्श ॥ क्याच्छन्दसि ॥ १७ ॥ ३ । २ । १७० । क्यप्रत्ययान्ताद्धातोश्छन्दसि विषये तच्छीलादिषु कर्त्तृषु उकारप्रत्ययो भवति । मित्रयुः । संस्वेदयुः । सुम्नयुः । निरनुबन्धकग्रहणे सानुबन्धकस्यापि ग्रहणं भवतीत्यनया परिभाषया क्यच्क्यङ्क्यषां सामान्येन ग्रहणं भवति ।

भाषार्थ

(सिब्बहुलं०) लेट् लकार में जो सिप् प्रत्यय होता है वह वेदों में बहुल करके णित्संज्ञक होता है कि जिससे वृद्धि आदि कार्य होसकें । जैसे (साविषत्) यहां सिप् को णित् मान के वृद्धि हुई है, यह लेट् में वेदविषयक विशेष नियम है । (शायच्छन्दसि०) वेद में (हि) प्रत्यय के परे श्ना प्रत्यय के स्थान में जो शायच् आदेश विधान किया है वह (हि) से अन्यत्र भी होता है । (व्यत्ययो०) वेदों में जो व्यत्यय अर्थात् विपरीतभाव बहुधा होता है वह भाष्यकार पतञ्जलिजी ने नव प्रकार से माना है । वे सुप् आदि ये हैं सुप्, तिङ्, वर्ण, (लिङ्ग) पुल्लिंग, स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग, (पुरुष) प्रथम, मध्यम और उत्तम, (काल) भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान, आत्मनेपद और परस्मैपद, (वर्ण) वेदों में अचों के स्थान में हल् और हलों के स्थान में अच् के आदेश होजाते हैं, स्वर उदात्तादि का व्यत्यय, कर्त्ता का व्यत्यय और यङ् का व्यत्यय होते हैं । इन सब के उदाहरण संस्कृत में लिखे हैं वहां देख लेना । (बहुलम्०) इस से क्विप् प्रत्यय वेदों में बहुल करके होता है । (छन्दसि०) इस सूत्र से

लिट् लकार वेदों में सामान्य भूतकाल में भी होता है। (लिटः का०) इस सूत्र से वेदों में लिट लकार के स्थान में कानच् आदेश विकल्प कर के होता है, इस के (आततान) इत्यादि उदाहरण बनते हैं। (छन्दसि०) इस सूत्र में से लिट् की अनुवृत्ति हो जाती फिर लिट्ग्रहण इसलिये है कि (परोक्षे लिट्) इस लिट् के स्थान में भी कानच् आदेश होजावे। (क्वसुश्च) इस सूत्र से वेदों में लिट् के स्थान में क्वसु आदेश हो जाता है। (क्या) इस सूत्र से वेदों में क्यप्रत्ययान्त धातु से (उ) प्रत्यय हो जाता है।

भाष्यम्

कृत्यल्युटो बहुलम् ॥ १८ ॥ अ० ३ । ३ । ११३ । कृल्ल्युट इति वक्तव्यम् । कृतो बहुलमिति वा । पादहारकाद्यर्थम् । पादाभ्यां ह्रियते पादहारकः । अनेन धातोर्विहिताः कृत्संज्ञकाः प्रत्ययाः कारकमात्रे वेदादिषु द्रष्टव्याः । अयं लौकिकवैदिकशब्दानां सार्वत्रिको नियमोऽस्तीति वेद्यम् ॥ छन्दसि गत्यर्थेभ्यः ॥ १९ ॥ अ० ३ । ३ । १२९ । ईषदादिषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषूपपदेषु सत्सु गत्यर्थेभ्यो धातुभ्यश्छन्दसि विषये युच्प्रत्ययो भवति । उ० सूपसदनोऽग्निः ॥ अन्येभ्योऽपि दृश्यते ॥ २० ॥ अ० ३ । ३ । १३० । अन्येभ्यश्च धातुभ्यो युच्प्रत्ययो दृश्यते । उ० सुदोहनमाकृणोद्ब्रह्मणे गाम् ॥ छन्दसि लुङ्लङ्लिटः ॥ २१ ॥ ३ । ४ । ६ । वेदविषये धातुसम्बन्धे सर्वेषु कालेषु लुङ्लङ्लिटः प्रत्यया विकल्पेन भवन्ति । उ० लुङ्—अहं तेभ्योऽकरं नमः । लङ्, अग्निमद्य होतारमवृणीतायं यजमानः । लिट्—अद्य ममार ॥ लिङर्थे लेट् ॥ २२ ॥ अ० ३ । ४ । ७ । यत्र विध्यादिषु हेतुहेतुमतोः शकीच्छार्थेषूर्ध्वमौहूर्तिकेष्वर्थेषु लिङ् विधीयते । तत्र वेदेष्वेव लेट्लकारो वा भवति । उ० जीवाति शरदः शतमित्यादीनि । उपसंवादाशंकयोश्च ॥ २३ ॥ अ० ३ । ४ । ८ । उपसंवादे आशंकायां च गम्यमानायां वेदेषु लेट्प्रत्ययो भवति । उ० (उपसंवादे) अहमेव पशूनामीशै । आशंकायाम् । नेज्जिह्मायन्तो नरकं पताम । मिथ्याचरणेन नरकपात आशंक्यते ॥ लेटो डाटौ ॥ २४ ॥ अ० ३ । ४ । ९४ । लेटः पर्यायेण

अट्आट्आगमौ भवतः । आत ऐ ॥ २५ ॥ अ० ३ । ४ । ९५ । छन्दस्यनेनात्मनेपदे विहितस्य लेडादेशस्य द्विवचनस्थस्याकारस्य स्थाने ऐकारादेशो भवति । उ० मन्त्रयैते । मन्त्रयैथे । वैतोऽन्यत्र ॥ २६ ॥ अ० ३ । ४ । ९६ । आत ऐ इत्येतस्य विषयं वर्जयित्वा लेट एकारस्य स्थाने ऐकारादेशो वा भवति । उ० अहमेव पशूनामीशै ईशे वा ॥ इतश्च लोपः परस्मैपदेषु ॥ २७ ॥ अ० ३ । ४ । ९७ । लेटः स्थाने आदिष्टस्य तिबादिस्थस्य परस्मैपदविषयस्येकारस्य विकल्पेन लोपो भवति । उ० तरति, तराति, तरत्, तरात्, तरिषति, तरिषाति, तरिषत्, तरिषात्, तारिषति, तारिषाति, तारिषत्, तारिषात्, तरसि, तरासि, तरः, तराः, तरिषसि, तारिषासि, तरिषः, तरिषाः, तारिषसि, तारिषासि, तारिषः, तारिषाः, तरामि, तराम्, तरिषामि, तरिषाम्, तारिषामि, तारिषाम्, एवमेव सर्वेषां धातूनां प्रयोगेषु लेड्विषये बोध्यम् ॥ स उत्तमस्य ॥ २८ ॥ अ० ३ । ४ । ९८ । लेट उत्तमपुरुषस्य सकारस्य लोपो वा भवति । करवाव, करवावः, करवाम, करवामः ।

भाषार्थ

(छन्दसि०) इस सूत्र से ईषत्, दुर्, सु ये पूर्वपद लगे हों तो गत्यर्थक धातुओं से वेदों में युच् प्रत्यय होता है । (अन्येभ्यो०) और धातुओं से भी वेदों में युच् प्रत्यय देखने में आता है, जैसे (सुदोहनं) यहां सुपूर्वक दुह धातु से युच् प्रत्यय हुआ है । (छन्दसि०) जो तीन लकार लोक में भिन्न भिन्न कालों में होते हैं वे वेदों में लुङ्, लङ् और लिट् लकार ये सब कालों में विकल्प करके होते हैं । (लिङर्थे०) अब लेट् लकार के विषय के जो सामान्यसूत्र हैं उन को यहां लिखते हैं । यह लेट् लकार वेदों में ही होता है । सो वह लिङ लकार के जितने अर्थ हैं उन में तथा उपसंवाद और आशङ्का इन अर्थों में लेट लकार होता है । (लेटो०) लेट् को क्रम से अट् और आट् आगम होते हैं अर्थात् जहां अट् होता है वहां आट् नहीं होता जहां आट् होता है वहां अट नहीं होता । (आत ऐ) लेट् लकार में प्रथम और मध्यम पुरुष के (आतां) के आकार को ऐकार आदेश हो जाता है, जैसे (मन्त्रयैते) यहां आ के स्थान

में ऐ होगया है। (वैतोन्यत्र) यहां लेट् लकार के स्थान में जो एकार होता है उस के स्थान में ऐकार आदेश हो जाता है। (इतश्च०) यहां लेट् के तिप्, सिप् और मिप् के इकार का लोप विकल्प से हो जाता है। (स उत्त०) इस सूत्र से लेट् लकार के उत्तम पुरुष के वस्मस् के सकार का विकल्प करके लोप हो जाता है। यह लेट् का विषय थोड़ासा लिखा, आगे किसी को सब जानना हो तो वह अष्टाध्यायी पढ़ के जान सकता है, अन्यथा नहीं।

भाष्यम्

तुमर्थे सेसेनसेअसेन्क्सेकसेनध्यैअध्यैन्कध्यैकध्यैन्शध्यैशध्यैन्तवैतवेङ्तवेनः ॥ २९ ॥ अ० ३। ४। ९॥ धातुमात्रात्तुमुन्प्रत्ययस्यार्थे से, सेन, असे, असेन्, कसे, कसेन, अध्यै, अध्यैन्, कध्यै, कध्यैन्, शध्यै, शध्यैन्, तवै, तवेङ्, तवेन्, इत्येते पञ्चदश प्रत्यया वेदेष्वेव भवन्ति। कृन्मेजन्त इति सर्वेषामव्ययत्वम्। सर्वेषु नकारोऽनुबन्धः स्वरार्थः। ककारो गुणवृद्धिनिषेधार्थः। ङकारोऽपि। शकारः शिदर्थः। (से) वक्षेरायः, (सेन) तावामेषे रथानाम्, (असे असेन्) क्रत्वे दक्षाय जीवसे, (कसे कसेन्) श्रियसे, (अध्यै अध्यैन) कर्मण्युपाचरध्यै, (कध्यै) इन्द्राग्नी आहुवध्यै, (कध्यैन्) श्रियध्यै, (शध्यै शध्यैन्) पिबध्यै, सहमादयध्यै, अत्र शित्वात् पिबादेशः, (तवै) सोममिन्द्राय पातवै, (तवेङ्) दशमे मासि सूतवे, (तवेन्) स्वर्देवेषु गन्तवे ॥ शकि णमुल्कमुलौ ॥ ३० ॥ अ० ३। ४। १२॥ शक्नोतौ धातावुपपदे धातुमात्रात्तुमर्थे वेदेषु णमुल्कमुलौ प्रत्ययौ भवतः। णकारो वृद्ध्यर्थः। ककारो गुणवृद्धिप्रतिषेधार्थः। लकारः स्वरार्थः। अग्निं वै देवा विभाजं नाशक्नुवन्, विभक्तुमित्यर्थः ॥ ईश्वरे तोसुन्कसुनौ ॥ ३१ ॥ अ० ३। ४। १३॥ ईश्वरशब्द उपपदे वेदे तुमर्थे वर्त्तमानाद्धातोस्तोसुन्कसुनौ प्रत्ययौ भवतः। ईश्वरोऽभिचरितोः। कसुन्। ईश्वरो विलिखः ॥ कृत्यार्थे तवैकेन्केन्यत्वनः ॥ ३२ ॥ अ० ३। ४। १४॥ कृत्यानां मुख्यतया भावकर्म्मणी द्वावर्थौ स्तोऽर्हादयश्च। तत्र वेदविषये तवै, केन्, केन्य, त्वन् इत्येते प्रत्यया भवन्ति। (तवे) परिधातवै,

(केन्) नावगाहे, (केन्य) दिदृक्षेण्यः शुश्रूषेण्यः, (त्वन्) कर्त्वं हविः।

भाषार्थ

(तुमर्थे०) इस सूत्र से वेदों में (से) इत्यादि १५ (पन्द्रह) प्रत्यय सब धातुओं से हो जाते हैं। (शकि०) शक धातु का प्रयोग उपपद हो तो धातुमात्र से (णमुल्) (कमुल्) ये दोनों प्रत्यय वेदों में हो जाते हैं, इस के होने से (विभाजं) इत्यादि उदाहरण सिद्ध होते हैं। (ईश्वरे०) वेदों में ईश्वर शब्दपूर्वक धातु से (तोसुन्) (कसुन्) ये प्रत्यय होते हैं। (कृत्यार्थे०) इस सूत्र से वेदों में भावकर्मवाचक (तवै) (केन्) (केन्य) (त्वन्) ये प्रत्यय होते हैं, इससे (परिधातवै) इत्यादि उदाहरण सिद्ध होते हैं।

भाष्यम्

नित्यं संज्ञाछन्दसोः ॥ ३३ ॥ अ० ४ । १ । २९ ॥ अन्नन्ताद्बहुव्रीहेरुपधालोपिनः प्रातिपदिकात्संज्ञायां विषये छन्दसि च नित्यं स्त्रियां ङीप्प्रत्ययो भवति। गौः पञ्चदाम्नी, एकदाम्नी ॥ नित्यं छन्दसि ॥ ३४ ॥ अ० ४ । १ । ४६ ॥ बह्वादिभ्यो वेदेषु स्त्रियां ङीष् प्रत्ययो भवति। बह्वीषु हित्वा प्रपिबन् ॥ भवे छन्दसि ॥ ३५ ॥ अ० ४ । ४ । ११० ॥ सप्तमीसमर्थात्प्रातिपदिकाद्भव इत्येतस्मिन्नर्थे छन्दसि विषये यत्प्रत्ययो भवति। अयमणादीनां घादीनां चापवादः। सति दर्शने तेपि भवन्ति, मेध्याय च विद्युत्याय च नमः। इतः सूत्रादारभ्य यानि प्रकृतिप्रत्ययार्थविशेषविधायकानि पादपर्यन्तानि वेदविषयकाणि सूत्राणि सन्ति तान्यत्र न लिख्यन्ते, कुतस्तेषामुदाहरणानि यत्र यत्र मन्त्रेष्वागमिष्यन्ति तत्र तत्र तानि लेखिष्यामः ॥ बहुलं छन्दसि ॥ ३६ ॥ अ० ५ । २ । १२२ ॥ वेदेषु समर्थानां प्रथमात्प्रातिपदिकमात्राद्भूमादिष्वर्थेषु विनिः प्रत्ययो बहुलं विधीयते। तद्यथा। भूमादयः ॥ तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप् ॥ ३७ ॥ अ० ५ । २ । ९४ ॥ भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेतिशायने, सम्बन्धेस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादयः ॥ १ ॥ अस्य सूत्रस्योपरि महाभाष्यवचनादेतेषु सप्तस्वर्थेषु ते प्रत्यया वेदे लोके चैते मतुबादयो भवन्तीति बोध्यम्। (बहुलं)

अस्मिन्सूत्रे प्रकृतिप्रत्ययरूपविशेषविधायकानि बहूनि वार्त्तिकानि सन्ति, तानि तत्तद्विषयेषु प्रकाशयिष्यामः ॥ अनसन्तान्नपुंसकाच्छन्दसि ॥ ३८ ॥ अ० ५ । ४ । १०३ ॥ अनसन्तान्नपुंसकाच्छन्दसि वेति वक्तव्यम् । ब्रह्म सामं ब्रह्म साम, देवच्छन्दसं, देवच्छन्दः ॥ सन्यङोः ॥ ३९ ॥ अ० ६ । १ । ९ ॥ बह्वर्था अपि धातवो भवन्ति । तद्यथा । वपिः प्रकरणे दृष्टश्छेदने चापि वर्त्तते, केशान्वपति । ईडिः स्तुतिचोदनायाचासु दृष्ट ईरणे चापि वर्त्तते, अग्निर्वा इतो वृष्टिमीट्टे मरुतोऽमुतश्च्यावयन्ति । करोतिरयमभूतप्रादुर्भावे दृष्टः निर्मूलीकरणे चापि वर्तते, पृष्ठं कुरु पादौ कुरु, उन्मृदानेति गम्यते । निक्षेपणेऽपि वर्तते, कटे कुरु घटे कुरु । अश्मानमितः कुरु, स्थापयेति गम्यते । एतन्महाभाष्यवचनेनैतद्विज्ञातव्यम्, धातुपाठे येऽर्था निर्दिष्टास्तेभ्योऽन्येऽपि बह्वोऽर्था भवन्ति, त्रयाणामुपलक्षणमात्रस्य दर्शितत्वात् ॥ शेश्छन्दसि बहुलम् ॥ ४० ॥ अ० ६ । १ । ७० ॥ वेदेषु नपुंसके वर्तमानस्य शेर्लोपो बहुलं भवति । यथा विश्वानि भुवनानीति प्राप्ते विश्वा भुवनानीति भवति ॥ बहुलं छन्दसि ॥ ४१ ॥ अ० ६ । १ । ३४ ॥ अस्मिन्सूत्रे वेदेषु एषां धातूनामप्राप्तमपि सम्प्रसारणं बहुलं विधीयते । यथा हूमहे इत्यादिषु ॥ इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च ॥ ४२ ॥ अ० ६ । १ । १२७ ॥ ईषा अक्षादिषु च छन्दसि प्रकृतिभावमात्रं द्रष्टव्यम् ॥ ईषा अक्षा ईमिरे, इत्याद्यप्राप्तः प्रकृतिभावो विहितः ॥ देवताद्वन्द्वे च ॥ ४३ ॥ अ० ६ । ३ । २६ ॥ देवतयोर्द्वन्द्वसमासे पूर्वपदस्य आनङ् इत्यादेशो विधीयते। ङित्त्वादन्त्यस्य स्थाने भवति । उ० सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्, इन्द्राबृहस्पती इत्यादीनि । अस्य सूत्रस्योपरि द्वे वार्तिके स्तः । तद्यथा । देवताद्वन्द्वे उभयत्र वायोः प्रतिषेधः ॥ अग्निवायू, वाय्वग्नी ॥ ब्रह्मप्रजापत्यादीनां च ॥ ब्रह्मप्रजापती, शिववैश्रवणौ, स्कन्दविशाखौ । सूत्रेण विहित आनङादेशो वार्तिकद्वयेन प्रतिषिध्यते, सार्वत्रिको नियमः ॥ बहुलं छन्दसि ॥ ४४ ॥ अ० ७ । १ । ८ ॥ अनेनात्मनेपदसंज्ञस्य झकारप्रत्ययस्य रुडागमो विधीयते । उ०, देवा अदुह्र ॥ बहुलं छन्दसि ॥ ४५ ॥ अ० ७ । १ । १० ॥ अनेन वेदेषु भिसः स्थाने ऐस् बहुलं विधीयते । यथा देवे-

भिर्मानुषे जने ॥ सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः ॥ ४६ ॥ अ० ७ । १ । ३६ ॥ सुपां च सुपो भवन्तीति वक्तव्यम् । तिङां च तिङो भवन्तीति वक्तव्यम् । इयाडियाजीकाराणामुपसंख्यानम् । इया, दार्विया परिज्मन् । डियाच्, सुमित्रिया न आप०, सुक्षेत्रिया, सुगातुया (सुगात्रिया ?)। ईकार, दृतिं न शुष्कं सरसी शयानम् । आङयाजयारां चोपसंख्यानम् । आङ्, प्रवाहवा । अयाच्, स्वमया वाव सेचनम् । अयार्, स नः सिन्धुमिव नावया । सुप्, लुक्, पूर्वसवर्ण, आत्, शे, या, डा, ड्या, याच्, आल्, इया, डियाच्, ई, आङ्, अयाच्, अयार्, वैदिकेषु शब्देषु ह्येव सुपां स्थाने सुबादययारान्ताः षोडशादेशा विधीयन्ते । तिङां च तिङिति पृथङ् नियमः । (सुप्) ऋजवः सन्तु पन्था, पन्थान इति प्राप्ते । (लुक्) परमे व्योमन्, व्योम्नीति प्राप्ते । (पूर्वसवर्ण) धीती मती, धीत्या मत्या इति प्राप्ते । (आत्) उभा यन्तारा, उभौ यन्तारौ इति प्राप्ते । (शे) न युष्मे वाजबन्धवः, यूयमिति प्राप्ते । (या) उरुया, उरुणा इति प्राप्ते । (डा) नाभा पृथिव्याः, नाभौ इति प्राप्ते । (ड्या) अनुष्टया, अनुष्टुभा इति प्राप्ते । (याच्) साधुया, साधु इति प्राप्ते । (आल्) वसन्ता यजेत, वसन्ते इति प्राप्ते ॥ आज्जसेरसुक् ॥ ४७ ॥ ७ । १ । ५० ॥ अनेन प्रथमाया बहुवचने जसः पूर्वं असुक् इत्ययमागमो विहितः । उ०, विश्वे देवास आगत, विश्वेदेवा इति प्राप्ते । एवं देव्यासः । तथैवान्यान्यपि ज्ञातव्यानि ।

भाषार्थ

(नित्यं संज्ञा०) इस सूत्र से वेदों में अजन्त प्रातिपदिक से ङीप् प्रत्यय होता है । (नित्यं) इस सूत्र में बह्वादि प्रातिपदिकों से वेदों में ङीष् प्रत्यय नित्य होता है । (भवे०) इस सूत्र से भव अर्थ में प्रातिपदिक मात्र से वेदों में यत् प्रत्यय होता है । इस सूत्र से आगे पादपर्य्यन्त सब सूत्र वेदों ही में लगते हैं, सो यहां इसलिये नहीं लिखे कि वे एक एक बात के विशेष हैं, सो जिस जिस मन्त्र में विषय आवेंगे वहां वहां लिखे जायंगे । (बहुलं०) इस सूत्र से प्रातिपदिकमात्र से विन् प्रत्यय वेदों में मतुप् के अर्थ में बहुल करके होता है ।

इस सूत्र के ऊपर वैदिक शब्दों के लिये वार्त्तिक बहुत हैं, परन्तु विशेष हैं इस-लिये नहीं लिखे। (अनसन्ता०) इस सूत्र से वेदों में समासान्त टच् प्रत्यय विकल्प करके होता है। (बह्वर्था अपि०) इस महाभाष्यकार के वचन से यह बात समझनी चाहिये कि धातुपाठ में धातुओं के जितने अर्थ लिखे हैं उन से अधिक और भी बहुत अर्थ होते हैं। जैसे (ईड) धातु का स्तुति करना तो धातुपाठ में अर्थ पढ़ा है और चोदना आदि भी समझे जाते हैं, इसी प्रकार सर्वत्र जानना चाहिये। (बहुलं०) इस से धातुओं को अप्राप्त संप्रसारण होता है। (शेश्छ०) इस से प्रथमा विभक्ति जो जस् के स्थान में नपुंसकलिङ्ग में (शि) आदेश होता है इसका लोप वेदों में बहुल से हो जाता है। (ईषा०) इस नियम से अप्राप्त भी प्रकृतिभाव वेदों में होता है। (देवताद्व०) इस सूत्र से दो देवताओं के द्वन्द्वसमास में पूर्वपद को दीर्घ हो जाता है, जैसे (सूर्याचन्द्र-मसौ०), यहां सूर्या शब्द दीर्घ होगया है। और इस सूत्र से जिस कार्य का विधान है उसका प्रतिषेध महाभाष्यकार दो वार्तिकों से विशेष शब्दों में दिखाते हैं, जैसे (इन्द्रवायू) यहां इन्द्र शब्द को दीर्घ नहीं हुआ। यह नियम लोक और वेद में सर्वत्र घटता है। (बहुलं०) इस सूत्र से प्रथम पुरुष के बहुवचन आत्मनेपद में झ प्रत्यय को रुट् का आगम होता है। (बहुलं०) इससे भिस् के स्थान में ऐस्भाव बहुल करके होता है। (सुपां सु०) इससे सब विभक्तियों के सब वचनों के स्थान में (सुप्) आदि १६ आदेश होते हैं। (आज्जसे०) इस सूत्र से वेदों में प्रथमाविभक्ति का बहुवचन जो जस् है उसको असुक् का आगम होता है, जैसे (दैव्याः) ऐसा होना चाहिये वहां (दैव्यासः) ऐसा हो जाता है, इत्यादि जान लेना चाहिये।

भाष्यम्

बहुलं छन्दसि ॥ ४८ ॥ अ० ७ । ३ । ९७ ॥ वेदेषु यत्र क्वचिदी-डागमो दृश्यते तत्रानेनैव भवतीति वेद्यम् ॥ बहुलं छन्दसि ॥ ४९ ॥ अ० ७ । ४ । ७८ ॥ अनेनाभ्यासस्य इत् इत्ययमादेशः श्लौ वेदेषु बहुलं वि-धीयते ॥ छन्दसीरः ॥ ॥ ५० ॥ अ० ८ । २ । १५ ॥ अनेन मतुपो मका-

रस्याप्राप्तं वत्त्वं विधीयते । उ० रेवान् इत्यादि । कृपो रो लः ॥ ५१ ॥ अ० ८ । २ । १८ ॥ संज्ञाछन्दसोर्वा कपिलकादीनामिति वक्तव्यम् । कपिलका । कपरिका । इत्यादीनि ॥ घिच ॥ ५२ ॥ अ० ८ । २ । २५ ॥ घसिभसोर्न सिध्येत्तु तस्मात् सिज्ग्रहणं न तत् । छान्दसो वर्णलोपो वा यथेष्कर्त्तारमध्वरे ॥ १ ॥ उ० निष्कर्तारमध्वरस्येति प्राप्ते । अनेन वेदेषु वर्णलोपो विकल्प्यतेऽप्राप्तविभाषेयम् ॥ दादेर्धातोर्घः ॥ ५३ ॥ अ० ८ । २ । ३२ ॥ हृग्रहोश्छन्दसि हस्य भत्वं वक्तव्यम् । उ० गर्दभेन संभरति । मरुद्स्य गृभ्णाति ॥ मतुवसो रुः सम्बुद्धौ छन्दसि ॥ ५४ ॥ अ० ८ । ३ । १ ॥ वेदविषये मत्वन्तस्य वस्वन्तस्य च सम्बुद्धौ गम्यमानायां रुर्भवति । गोमः । हरिवः । मीढ्वः ॥ वा शरि ॥ ५५ ॥ अ० ८ । ३ । ३६ ॥ वा शर्प्रकरणे खर्परे लोपो वक्तव्यः । वृत्ता स्थातारः । वृत्ताः स्थातारः । अनेन वायवस्थ इत्यादीनि वेदेष्वपि दृश्यन्ते । अतः सामान्येनायं सार्वत्रिको नियमः ।

भाषार्थ

(बहुलं०) इस सूत्र से वेदों में ईट् का आगम होता है । (बहुलं०) इस सूत्र से वेदों में धातु के अभ्यास को इकारादेश हो जाता है । (छन्दसीरः) इससे वेदों में मतुप् प्रत्यय के मकार को वकारादेश हो जाता है । (संज्ञा०) इससे वेदों में रेफ को लकार विकल्प करके होता है । (घसि०) इससे वेदों में किसी किसी अक्षर का कहीं कहीं लोप हो जाता है । (हृग्रहो०) इससे वेदों में हृ और ग्रह के हकार को भकार होजाता है । (मतु०) इससे वेदों में मतुप् और वसु के नकार को रु होता है ।

भाष्यम्

उणादयो बहुलम् ॥ ५६ ॥ अ० ३ । ३ । १ ॥ बहुलवचनं किमर्थम् ? । "बाहुलकं प्रकृतेस्तनुदृष्टेः" । तन्वीभ्यः प्रकृतिभ्य उणादयो दृश्यन्ते न सर्वाभ्यो दृश्यन्ते । "प्रायसमुच्चयनादपि तेषाम्" । प्रायेण खल्वपि ते समुच्चिता न सर्वे समुच्चिताः । "कार्य्यसशेषविधेश्च तदुक्तम्" । कार्य्याणि खल्वपि सशेषाणि कृतानि न सर्वाणि लक्षणेन परिसमाप्तानि । किं पुनः कारणं

तन्वीभ्यः प्रकृतिभ्य उणादयो दृश्यन्ते न सर्वाभ्यः । किञ्च कारणं प्रायेण समुच्चिता न सर्वे समुच्चिताः । किञ्च कारणं कार्य्याणि सशेषाणि कृतानि न पुनः सर्वाणि लक्षणेन परिसमाप्तानि । "नैगमरूढिभवं हि सुसाधु" । नैगमाश्च रूढिशब्दाश्चावैदिकास्ते सुष्ठु साधवः कथं स्युः । "नाम च धातुजमाह निरुक्ते" । नाम खल्वपि धातुजमाहुर्नैरुक्ताः । "व्याकरणे शकटस्य च तोकम्" । वैयाकरणानां च शाकटायन आह धातुजं नामेति । अथ यस्य विशेषपदार्थो न समुत्थितः कथं तत्र भवितव्यम् । "यन्न विशेषपदार्थसमुत्थं प्रत्ययतः प्रकृतेश्च तदूह्यम्" । प्रकृतिं दृष्ट्वा प्रत्यय ऊहितव्यः, प्रत्ययं दृष्ट्वा प्रकृतिरूहितव्या । संज्ञासु धातुरूपाणि प्रत्ययाश्च ततः परे । कार्य्याद्विद्याद्-नुबन्धमेतच्छास्त्रमुणादिषु ॥ ३ ॥ (बाहुलकं०) उणादिपाठे अल्पाभ्यः प्रकृतिभ्य उणादयः प्रत्यया विहितास्तत्र बहुलवचनादविहिताभ्योपि भवन्ति। एवं प्रत्यया अपि न सर्व एकीकृताः किन्तु प्रायेण सूक्ष्मतया प्रत्ययविधानं कृतं तत्रापि बहुलवचनादेवाविहिता अपि प्रत्यया भवन्ति यथा फिडफिड्डौ भवतः । तथा सूत्रैर्विहितानि कार्य्याणि न भवन्त्यविहितानि च भवन्ति । यथा दण्ड इत्यत्र डप्रत्ययस्य डकारस्य इत्संज्ञा न भवति । एतदपि बाहुलकादेव । (किं पुनः०) अनेनैतच्छंक्यते उणादौ यावत्यः प्रकृतयो यावन्तः प्रत्यया यावन्ति च सूत्रे कार्य्याणि विहितानि तावन्त्येव कथं न स्युः।अत्रोच्यते । (नैगम०) नैगमा वैदिकाः शब्दा रूढयो लौकिकाश्च सुष्ठु साधवो यथा स्युः । एवं कृतेन विना नैव ते सुष्ठु सेत्स्यन्ति । (नाम०) संज्ञाशब्दान् निरुक्तकारा धातुजानाहुः, (व्याकरणे०) शकटस्य तोकमपत्यं शाकटायनः, तोकमित्यस्यापत्यनामसु * पठितत्वात् । (यन्न०) यत् विशेषात्पदार्थान्न सम्यगुत्थितमर्थात्प्रकृतिप्रत्ययविधानेन न व्युत्पन्नं तत्र प्रकृतिं दृष्ट्वा प्रत्यय ऊह्यः प्रत्ययं च दृष्ट्वा प्रकृतिः । एतदूहनं क्व कथं च कर्तव्यमित्यत्राह । संज्ञाशब्देषु, धातुरूपाणि पूर्वमूह्यानि परे च प्रत्ययाः । (कार्य्याद्वि०) कार्य्यमाश्रित्य धातुप्रत्ययानुबन्धान् जानीयात्, एतत्सर्वं कार्य्यमुणादिषु बोध्यम् ।

* निघं० २ । २ ॥

भाषार्थ

(उणादयो०) इस सूत्र के ऊपर महाभाष्यकार पतञ्जलि मुनि उणादिपाठ की व्यवस्था बांधते हैं कि (बाहुलकं०) उणादिपाठ में थोड़े से धातुओं से प्रत्ययविधान किया है सो बहुल के होने से वे प्रत्यय अन्य धातुओं से भी होते हैं। इसी प्रकार प्रत्यय भी उस ग्रन्थ में थोड़े से नमूना के लिये पढ़े हैं इन से अन्य भी नवीन प्रत्यय शब्दों में देखकर समझ लेना चाहिये। जैसे (ऋफिडः) इस शब्द में ऋ धातु से फिड प्रत्यय समझा जाता है, इसी प्रकार अन्यत्र भी जानना चाहिये। तथा जितने शब्द उणादिगण से सिद्ध होते हैं उन में जितने कार्य्य सूत्रों करके होने चाहियें वे सब नहीं होते हैं, सो भी बहुल ही का प्रताप है। (किं पुनः) इस में जो कोई ऐसी शंका करे कि उणादिपाठ में जितने धातुओं से जितने प्रत्यय विधान किये और जितने कार्य्य शब्दों की सिद्धि में सूत्रों से हो सकते हैं उन से अधिक क्यों होते हैं? तो इसका उत्तर यह है कि (नैगम०) वेदों में जितने शब्द हैं तथा संसार में असंख्य संज्ञाशब्द हैं वे सब अच्छी प्रकार सिद्ध नहीं हो सकते, इसलिये पूर्वोक्त तीन प्रकार के कार्य्य बहुलवचन से उणादि में होते हैं, जिसके होने से अनेक प्रकार के हज़ारह शब्द सिद्ध होते हैं। (नाम०) अब इस विषय में निरुक्तकारों का ऐसा मत है कि संज्ञाशब्द जितने हैं वे सब धातु और प्रत्ययों से बराबर सिद्ध होने चाहियें तथा वैयाकरण जितने ऋषि हैं उन में से शाकटायन ऋषि का मत निरुक्तकारों के समान है और इन से भिन्न ऋषियों का मत यह है कि संज्ञाशब्द जितने हैं वे रूढ़ी हैं। अब इस बात का विचार करते हैं कि जिन शब्दों में धातु प्रत्यय मालूम कुछ भी नहीं होता वहां क्या करना चाहिये। उन शब्दों में इस प्रकार विचार करना चाहिये कि व्याकरणशास्त्र में जितने धातु और प्रत्यय हैं इन में से जो धातु मालूम पड़ जाय तो नवीन प्रत्यय की कल्पना कर लेनी और जो प्रत्यय जाना जाय तो नवीन धातु की कल्पना कर लेनी, इस प्रकार उन शब्दों का अर्थ विचार लेना चाहिये। और दूसरी कल्पना यह भी है कि उन शब्दों में जिस अनुबन्ध का कार्य्य दीखे वैसा ही धातु वा

प्रत्यय अनुबन्ध के सहित कल्पना करनी । जैसे कोई आद्युदात्त शब्द हो उस में (ञ्) अथवा (न्) अनुबन्ध के सहित प्रत्यय समझना । यह कल्पना सर्वत्र नहीं करने लगना, किन्तु जो संज्ञाशब्द लोक वेद से प्रसिद्ध हों उन के अर्थ जानने के लिये शब्द के आदि के अक्षरों में धात्वर्थ की और अन्त में प्रत्ययार्थ की कल्पना करनी चाहिये । ये सब ऋषियों का प्रबन्ध इसलिये है कि शब्दसागर अथाह है, इस की थाह व्याकरण से नहीं मिल सकती । जो कहें कि ऐसा व्याकरण क्यों नहीं बनाया कि जिससे शब्दसागर के पार पहुंच जाते तो यह समझना कि कितने ही पोथा बनाते और जन्मजन्मान्तरों भर पढ़ते तो भी पार होना दुर्लभ हो जाता । इसलिये यह सब पूर्वोक्त प्रबन्ध ऋषियों ने किया है जिससे शब्दों की व्यवस्था मालूम हो जाय ।

भाष्यम्

अथालङ्कारभेदाः संक्षेपतो लिख्यन्ते । तत्र तावदुपमालङ्कारो व्याख्यायते । पूर्णोपमा चतुर्भिरुपमेयोपमानवाचकसाधारणधर्मैर्भवति ॥ अस्योदाहरणम् । स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव ॥ १ ॥ उक्तानामेकैकशोऽनुपादानेऽष्टधा लुप्तोपमा । तत्र वाचकलुप्तोदाहरणम् । भीम इव बली भीमबली । धर्मलुप्तोदाहरणम् । कमलनेत्रः ॥ २ ॥ धर्मवाचकलुप्तोदाहरणम् । व्याघ्र इव पुरुषः पुरुषव्याघ्रः ॥ ३ ॥ वाचकोपमेयलुप्तोदाहरणम् । विद्यया पण्डितायन्ते ॥ ४ ॥ उपमानलुप्ता ॥ ५ ॥ वाचकोपमानलुप्ता ॥ ६ ॥ धर्मोपमानलुप्ता ॥ ७ ॥ धर्मोपमानवाचकलुप्ता ॥ ८ ॥ आसामुदाहरणम् । काकतालीयो गुरुशिष्यसमागमः । एवमष्टविधा ॥ १ ॥ अतोऽग्रे रूपकालङ्कारः । स चोपमानस्याभेदताद्रूप्याभ्यामधिकन्यूनोभयगुणैरुपमेयस्य प्रकाशनं रूपकालङ्कारः । स च षड्धा । तत्राधिकाभेदरूपकोदाहरणम् । अयं हि सविता साक्षाद्येन ध्वान्तं विनाश्यते । पूर्णविद्य इति शेषः ॥ १ ॥ न्यूनाभेदरूपकोदाहरणम् । अयं पतञ्जलिः साक्षाद्भाष्यस्य कृतिना विना ॥ २ ॥ अनुभयाभेदरूपकोदाहरणम् । ईशः प्रजामवत्यद्य स्वीकृत्य समनीतिताम् ॥ ३ ॥ अधिकताद्रूप्यरूपकोदाहरणम् । विद्यानन्दे हि सम्प्राप्ते राज्या-

नन्देन किं तदा ॥ ४ ॥ न्यूनताद्रूप्यरूपकोदाहरणम् । साध्वीयं सुखदा नीतिरसूर्य्यप्रभवा मता ॥ ५ ॥ अनुभयताद्रूप्यरूपकोदाहरणम् । अयं घनावृ गन्सूर्य्याद्वियासूर्य्यो विभज्यते ॥ ६ ॥ अनेकार्थशब्दविन्यासः श्लेषः । स च त्रिविधः । प्रकृतानेकविषयः । अप्रकृतानेकविषयः । प्रकृताप्रकृतानेकविषयश्च । तत्र प्रकृतविषयस्योदाहरणम् । यथा नवकम्बलोऽयं मनुष्यः । अत्र नव कम्बला यस्य नवो नूतनो वा कम्बलो यस्येति द्वावर्थौ भवतः । यथा च श्वेतो धावति । अलंबुसानां यातेति । तथैव अग्निमीडे इत्यादि । अप्रकृतविषयस्योदाहरणम् । हरिणा त्वद्बलं तुल्यं कृतिना हितशक्तिना । अथ प्रकृताप्रकृतविषयोदाहरणम् । उच्चरन्भूरियानाढ्यः शुशुभे वाहिनीपतिः । एवंविधा अन्येऽपि बहवोऽलङ्काराः सन्ति । ते सर्वे नात्र लिख्यन्ते । यत्र यत्र त आगमिष्यन्ति तत्र तत्र व्याख्यास्यिष्यन्ते ।

भाषार्थ

अब कुछ अलङ्कारों का विषय संक्षेप से लिखते हैं। उन में से पहिले उपमालङ्कार के आठ (८) भेद हैं। वाचकलुप्ता १, धर्मलुप्ता २, धर्मवाचकलुप्ता ३, वाचकोपमेय लुप्ता ४, उपमानलुप्ता ५, वाचकोपमानलुप्ता ६, धर्मोपमानलुप्ता ७ और धर्मोपमान वाचकलुप्ता ८। इन आठों से पूर्णोपमालङ्कार पृथक् है, जिस में ये सब बने रहते हैं। उस का लक्षण यह है कि वह चार पदार्थों से बनता है, एक तो उपमान, दूसरा उपमेय, तीसरा उपमावाचक और चौथा साधारणधर्म। इनमें से उपमान उसको कहते हैं कि जिस पदार्थ की उपमा दी जाती है। उपमेय वह कहाता है कि जिसको उपमान के तुल्य वर्णन करते हैं। उपमावाचक उस को कहते हैं कि जो तुल्य, समान, सदृश, इव, वत् इत्यादि शब्दों के बीच में आने से किसी दूसरे पदार्थ के समान बोध करावे। साधारणधर्म वह होता है कि जो कर्म उपमान और उपमेय इन दोनों में बराबर वर्त्तमान रहता है। इन चारों के वर्त्तमान होने से पूर्णोपमा और इन में से एक एक के लोप हो जाने से पूर्वोक्त आठ भेद हो जाते हैं। पूर्णोपमा का उदाहरण यह है कि (स नः पितेव०)। जैसे पिता अपने पुत्र की सब प्रकार से रक्षा करता है वैसे ही परमेश्वर भी सब का पिता अर्थात् पालन करने वाला है। इसके आगे दूसरे रूप-

कालङ्कार के छः भेद हैं। अधिकाभेदरूपक १, न्यूनाभेदरूपक २, अनुभयाभेदरूपक ३, अधिकताद्रूप्यरूपक ४, न्यूनताद्रूप्यरूपक ५ और अनुभयताद्रूप्यरूपक ६। इसका लक्षण यह है कि उपमेय को उपमान बना देना और उस में भेद नहीं रखना। जैसे यह मनुष्य साक्षात् सूर्य्य है, क्योंकि अपने विद्यारूप प्रकाश से अविद्यारूप अन्धकार का नाश नित्य करता है इत्यादि। तीसरा श्लेषालङ्कार कहाता है। उस के तीन भेद हैं। प्रकृत १, अप्रकृत २ और प्रकृताप्रकृतविषय ३। जिस का लक्षण यह है कि किसी एक वाक्य वा शब्द से अनेक अर्थ निकलें वह श्लेष कहाता है। जैसे नवकम्बल इस शब्द से दो अर्थ निकलते हैं। एक नव है कम्बल जिस के, दूसरा नवीन है कम्बल जिस का। इसी प्रकार वेदों में अग्नि आदि शब्दों के कई कई अर्थ होते हैं सो श्लेषालंकार का ही विषय है। इस प्रकार के और भी बहुत अलंकार हैं सो जहां जहां वेदभाष्य में आवेंगे वहां वहां लिखे जायंगे।

भाष्यम्

अदि॑ति॒र्द्यौरदि॑तिर॒न्तरि॑क्ष॒मदि॑तिर्मा॒ता स पि॒ता स पु॒त्रः। विश्वे॑ दे॒वा अदि॑तिः॒ पञ्च॒जना॒ अदि॑तिर्जा॒तमदि॑ति॒र्जनि॑त्वम् ॥१॥ ऋ० मं० १। सू० ८९। मं० १० ॥ अस्मिन्मन्त्रे अदितिशब्दार्था द्यौरित्यादयः सन्ति तेऽपि वेदभाष्येऽदितिशब्देन ग्राहिष्यन्ते। नैवास्य मन्त्रस्य लेखनं सर्वत्र भविष्यतीति मत्वाऽत्र लिखितम्।

भाषार्थ

(अदिति०) इस मन्त्र में अदिति शब्द के बहुत अर्थ और बहुतेरे अर्थ इस शब्द के हैं। परन्तु इस मन्त्र में जितने हैं वे सब वेदभाष्य में अवश्य लिये जायंगे। इस मन्त्र को वारंवार न लिखेंगे, किन्तु वे सब अर्थ तो लिख दिये जायंगे। वे अर्थ ये हैं— द्यौः, अन्तरिक्ष, माता, पिता, पुत्र, विश्वेदेवा, पञ्चजना, जात और जानित्व।

भाष्यम्

अथ वेदभाष्ये ये सङ्केताः करिष्यन्ते त इदानीं प्रदर्श्यन्ते। ऋग्वेदादीनां वेदचतुष्टयानां, षट्शास्त्राणां, षडङ्गानां, चतुर्णां ब्राह्मणानां, तैत्तिरीयारण्यकस्य च यत्र यत्र प्रमाणानि लेखिष्यन्ते तत्र तत्रैते सङ्केता विज्ञेयाः। ऋग्वेदस्य ऋ०, मण्डलस्य प्रथमाङ्को, द्वितीयः सूक्तस्य, तृतीयो मन्त्रस्य विज्ञेयः। तद्यथा—ऋ० १। १। १॥ यजुर्वेदस्य य०, प्रथमाङ्कोऽध्यायस्य, द्वितीयो मन्त्रस्य। तद्यथा—य० १। १॥ सामवेदस्य साम०, पूर्वार्चिकस्य पू०, प्रथमाङ्कः प्रपाठकस्य, द्वितीयो दशते,स्तृतीयो मन्त्रस्य। तद्यथा—साम० पू० १। १। १॥ पूर्वार्चिकस्यायं नियमः। उत्तरार्चिकस्य खलु साम० उ०, प्रथमाङ्कः प्रपाठकस्य, द्वितीयो मन्त्रस्य। अत्रायं विशेषोस्ति। उत्तरार्चिके दशतयो न सन्ति, परन्त्वर्द्धप्रपाठके मन्त्रसंख्या पूर्णा भवति। तेन प्रथमः पूर्वार्द्धप्रपाठको, द्वितीय उत्तरार्द्धप्रपाठकश्चेत्ययमपि सङ्केत उत्तरार्चिके ज्ञेयः। तद्यथा—साम० उ० १। पू० १॥ साम० उ० १। उ० १। अत्र द्वौ सङ्केतौ भविष्यतः। उकारेणोत्तरार्चिकं ज्ञेयं, प्रथमाङ्केन प्रथमः प्रपाठकः, पू० इत्यनेन पूर्वार्द्धः प्रथमः प्रपाठकः, द्वितीयाङ्केन मन्त्रसंख्या ज्ञेया। पुनर्द्वितीये सङ्केते द्वितीय उकारेण उत्तरार्द्धः, प्रथमः प्रपाठकः, द्वितीयाङ्केन तदेव। अथर्ववेदे। अथर्व०, प्रथमाङ्कः काण्डस्य, द्वितीयो वर्गस्य, तृतीयो मन्त्रस्य। तद्यथा—अथर्व० १। १। १॥

भाषार्थ

अब वेदभाष्य में चारों वेदों के जहां जहां प्रमाण लिखे जावेंगे उन के संकेत दिखलाते हैं। देखो ऋग्वेद का जहां प्रमाण लिखेंगे वह ऋग्वेद का ऋ० और मण्डल १। सूक्त १। मन्त्र १। इन का पहिला दूसरा तीसरा क्रम से संकेत जानना चाहिये, जैसे ऋ० १। १। १। इसी प्रकार यजुर्वेद का य०, पहिला अङ्क अध्याय का, दूसरा मन्त्र का जान लेना। जैसे य० १। १। सामवेद का नियम यह है कि साम०, पूर्वार्चिक का पू०, पहिला प्रपाठक का,

दूसरा दशति का और तीसरा मन्त्र का जानना चाहिये, जैसे साम० पू० १। १। १। यह नियम पूर्वार्चिक में है। उत्तरार्चिक में प्रपाठकों के भी पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध होते हैं, अर्द्धप्रपाठकपर्य्यन्त मन्त्रसंख्या चलती है। इसलिये प्रपाठक के अङ्क के आगे पू० वा उ० धरा जायगा। उस पू० से पूर्वार्द्ध प्रपाठक और उ० से उत्तरार्द्ध प्रपाठक जान लेना होगा। इस प्रकार उत्तरार्चिक में दो संकेत होंगे। साम० उ० १। पू० १॥ साम० उ० १। उ० १॥ इसी प्रकार अथर्ववेद में अथर्व०, पहिला अङ्क काण्ड का, दूसरा वर्ग का, तीसरा मन्त्र का जान लेना, जैसे अथर्व० १। १। १॥

भाष्यम्

एवं ब्राह्मणस्याद्यस्यैतरेयस्य ऐ०, प्रथमाङ्कः पञ्चिकाया, द्वितीयः कण्डिकायाः। तद्यथा। ऐ० १। १॥ शतपथब्राह्मणे श०, प्रथमाङ्कः काण्डस्य, द्वितीयः प्रपाठकस्य, तृतीयो ब्राह्मणस्य, चतुर्थः कण्डिकायाः। तद्यथा—श० १। १। १। १॥ एवमत्र सामब्राह्मणानि बहूनि सन्ति, तेषां मध्याद्यस्य यस्य प्रमाणमत्र लेखिष्यते तस्य तस्य सङ्केतस्तत्रैव करिष्यते। तेष्वेवैकं छान्दोग्याख्यं तस्य छां०, प्रथमाङ्कः प्रपाठकस्य, द्वितीयः खण्डस्य, तृतीयो मन्त्रस्य। तद्यथा—छां० १। १। १॥ एवं गोपथब्राह्मणस्य गो०, प्रथमाङ्कः प्रपाठकस्य, द्वितीयो ब्राह्मणस्य। यथा गो० १। १। एवं षट्शास्त्रेषु प्रथमं मीमांसाशास्त्रम्। तस्य मी०, प्रथमाङ्कोऽध्यायस्य द्वितीयः पादस्य, तृतीयः सूत्रस्य। तद्यथा—मी० १। १। १॥ द्वितीयं वैशेषिकशास्त्रं तस्य वै०, प्रथमाङ्कोऽध्यायस्य, द्वितीय आह्निकस्य, तृतीयः सूत्रस्य। तद्यथा—वै० १। १। १॥ तृतीयं न्यायशास्त्रं तस्य न्या०, अन्यद्वैशेषिकवत्। चतुर्थं योगशास्त्रं तस्य यो०, प्रथमाङ्कः पादस्य, द्वितीयः सूत्रस्य। यो० १। १॥ पञ्चमं सांख्यशास्त्रं तस्य सां०, प्रथमाङ्कोऽध्यायस्य, द्वितीयः सूत्रस्य। सां० १। १॥ षष्ठं वेदान्तशास्त्रमुत्तरमीमांसाख्यं तस्य वे०, प्रथमाङ्कोऽध्यायस्य, द्वितीयः पादस्य, तृतीयः सूत्रस्य। वे० १। १। १॥ तथाङ्गेषु प्रथमं व्याकरणं, तत्राष्टाध्यायी तस्या अ०, प्रथमाङ्को-

ध्यायस्य, द्वितीयः पादस्य, तृतीयः सूत्रस्य । तद्यथा—अ० १ । १ । १ ॥ एतेनैव कृतेन सूत्रसङ्केतेन व्याकरणमहाभाष्यस्य सङ्केतो विज्ञेयः । यस्य सूत्रस्योपरि तद्भाष्यमस्ति तद्व्याख्यानं लिखित्वा तत्सूत्रसङ्केतो धरिष्यते । तथा निघण्टुनिरुक्तयोः प्रथमाङ्कोऽध्यायस्य, द्वितीयः खण्डस्य । निघण्टौ १ । १ ॥ निरुक्ते १ । १ ॥ खण्डाध्यायौ द्वयोः समानौ । तथा तैत्तिरीयारण्यके तै०, प्रथमाङ्कः प्रपाठकस्य, द्वितीयोऽनुवाकस्य । तै० १ । १ ॥ इत्थं सर्वेषां प्रमाणानां तेषु तेषु ग्रन्थेषु दर्शनार्थं सङ्केताः कृतास्तेन येषां मनुष्याणां द्रष्टुमिच्छा भवेदेतैरङ्कैस्तेषु ग्रन्थेषु लिखितसङ्केतेन द्रष्टव्यम् । यत्रोक्तेभ्यो ग्रन्थेभ्यो भिन्नानां ग्रन्थानां प्रमाणं लेखिष्यते तत्रैकवारं समग्रं दर्शयित्वा पुनरेवमेव सङ्केतेन लेखिष्यत इति ज्ञातव्यम् ।

भाषार्थ

इसी प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रथम ऐतरेयब्राह्मण का ऐ०, पहिला अङ्क पञ्चिका का, दूसरा कण्डिका का । ऐ० १ । १ ॥ शतपथ ब्राह्मण का श०, पहिला अङ्क काण्ड का, दूसरा प्रपाठक का, तीसरा ब्राह्मण का, चौथा कण्डिका का । श० १ । १ । १ । १ ॥ सामब्राह्मण बहुत हैं उन में से जिस जिस का प्रमाण जहां २ लिखेंगे उस उस का ठिकाना वहां धर देंगे । जैसे एक छान्दोग्य कहाता है उसका छां०, पहिला अङ्क प्रपाठक का, दूसरा खण्ड का, तीसरा मन्त्र का । जैसे छां० १ । १ । १ ॥ चौथा गोपथ ब्राह्मण कहाता है उसका गो०, पहिला अङ्क प्रपाठक का, दूसरा ब्राह्मण का । जैसे गो० १ । १ ॥ इस प्रकार का संकेत चारों ब्राह्मणों में जानना होगा । ऐसे ही छः शास्त्रों में प्रथम मीमांसा शास्त्र उसका मी० अध्याय पाद और सूत्र के तीन अङ्क क्रम से जानो । जैसे मी० १ । १ । १ ॥ दूसरा वैशेषिक का वै०, पहिला अङ्क अध्याय का, दूसरा आह्निक का, तीसरा सूत्र का जैसे वै० १ । १ । १ ॥ तीसरे न्यायशास्त्र का न्या० और तीन अङ्क वैशेषिक के समान जानो । चौथे योगशास्त्र का यो०, प्रथम अङ्क पाद का, दूसरा सूत्र का यो० १ । १ ॥ पांचवें सांख्यशास्त्र का सां०, अध्याय और सूत्र के दो अङ्क क्रम से जानो । जैसे सां० १ ।

१ ॥ छठे वेदान्त का वे०, अध्याय पाद और सूत्र के तीन अङ्क क्रम से वे० १ । १ । १ । तथा अङ्कों में अष्टाध्यायी व्याकरण का अङ्क अध्याय, पाद, सूत्र के तीन अङ्क क्रम से जानो जैसे अ० १ । १ । १ ॥ इसी प्रकार जिस सूत्र के ऊपर महाभाष्य हुआ करेगा उस सूत्र का पता लिख के महाभाष्य का वचन लिखा करेंगे उसी से उसका पता जान लेना चाहिये । तथा निघण्टु और निरुक्त में दो दो अङ्क अध्याय और खण्ड के लिखेंगे । तथा तैत्तिरीय आरण्यक में तै० लिख के प्रपाठक और अनुवाक के दो अङ्क लिखेंगे । ये संकेत इसलिये लिखे हैं कि वारंवार ठिकाना न लिखने पड़ें, थोड़े से ही काम चला जाय, जिस किसी को देखना पड़े वह उन ग्रन्थों में देख ले और जिन ग्रन्थों के संकेत यहां नहीं लिखे उन के प्रमाणों का जहां कहीं काम पड़ेगा तो लिख दिया जायगा । परन्तु इन सब ग्रन्थों के संकेतों को याद रखना सब को योग्य है कि जिससे देखने में परिश्रम न पड़े ।

वेदार्थाभिप्रकाशप्रणयसुगमिका कामदा मान्यहेतुः ।
संक्षेपाद्भूमिकेयं विमलविधिनिधिः सत्यशास्त्रार्थयुक्ता ॥
सम्पूर्णाकार्य्यथेदं भवति सुरुचि यन्मन्त्रभाष्यं मयातः ।
पश्चादीशानभक्त्या सुमतिसहितया तन्यते सुप्रमाणम् ॥ १ ॥
मन्त्रार्थभूमिका ह्यत्र मन्त्रस्तस्य पदानि च ।
पदार्थान्वयभावार्था क्रमाद्बोध्या विचक्षणैः ॥ २ ॥

यह भूमिका जो वेदों के प्रयोजन अर्थात् वेद किसलिये और किसने बनाये, उन में क्या क्या विषय हैं इत्यादि बातों की अच्छी प्रकार प्राप्ति कराने वाली है । इस को जो लोग ठीक ठीक परिश्रम से पढ़ें और विचारेंगे उन का व्यवहार और परमार्थ का प्रकाश, संसार में मान्य और कामनासिद्धि अवश्य होगी । इस प्रकार जो निर्मल विषयों के विधान का कोश अर्थात् ख़ज़ाना और सत्यशास्त्रों के प्रमाणों से युक्त जो भूमिका है इस को मैंने संक्षेप से पूर्ण किया । अब इस के आगे जो उत्तम बुद्धि देनेवाली परमात्मा की भक्ति में अपनी बुद्धि को दृढ़ करके प्रीति के बढ़ानेवाले मन्त्रभाष्य का प्रमाणपूर्वक विस्तार करता हूं ॥ १ ॥

इस मन्त्रभाष्य में इस प्रकार का क्रम रहेगा कि प्रथम तो मन्त्र में परमेश्वर ने जिस बात का प्रकाश किया है, फिर मूल मन्त्र, उसका पदच्छेद, क्रम से प्रमाणसहित मन्त्र के पदों का अर्थ, अन्वय अर्थात् पदों की सम्बन्धपूर्वक योजना और छठा भावार्थ अर्थात् मन्त्र का जो मुख्य प्रयोजन है इस क्रम से मन्त्रभाष्य बनाया जाता है ॥ २ ॥

विश्वा॑नि देव सवितर्दुरि॒तानि॒ परा॑सुव ।
यद्भ॒द्रं तन्न॒ आ सु॑व ॥ १ ॥ य० ३० । ३ ॥

इति श्रीमत्परिव्राजकाचार्य्येण श्रीयुतदयानन्दसरस्वतीस्वामिना
विरचिता संस्कृतभाषार्य्यभाषाभ्यां सुभूषिता सुप्रमाणयु-
क्तर्ग्वेदादिचतुर्वेदभाष्यभूमिका समाप्तिमगमत्

अ॒ना॒र॒म्भ॒णे तद॑वीरयेथामनास्था॒ने अ॑ग्रभ॒णे स॑मु॒द्रे। यद॑श्विना ऊ॒हथु॑र्भु॒ज्युमस्तं॑ श॒तारि॑त्रां॒ नाव॑मातस्थि॒वांस॑म् ॥ ३ ॥ यम॑श्विना द॒दथुः॑ श्वे॒तमश्व॑म॒घाश्वा॑य॒ शश्व॒दित्स्व॒स्ति। तद्वां॑ दा॒त्रं महि॑ की॒र्तेन्यं॑ भूत्पै॒द्वो वा॒जी सद॒मिद्धव्यो॑ अ॒र्यः ॥ ४ ॥ ऋ० अष्ट० १ । अ० ८ । व० ८ । ६ । मं० ५ । १ ॥

भाष्यम्

हे मनुष्याः ! पूर्वोक्ताभ्यां प्रयत्नाभ्यां कृतसिद्धयानैः, (अनारम्भणे) आलम्बरहिते, (अनास्थाने) स्थातुमशक्ये, (अग्रभणे) हस्तालम्बनाविद्यमाने, (समुद्रे) समुद्रवन्त्यापो यस्मिन् तस्मिन् जलेन पूर्णे, अन्तरिक्षे वा, कार्य्यसिद्ध्यर्थं युष्माभिर्गन्तव्यमिति । अश्विना ऊहथुर्भुज्युमिति पूर्ववद्विज्ञेयम् । तद्यानं सम्यक् प्रयुक्ताभ्यां ताभ्यामश्विभ्यां (अस्तं) क्षिप्तं चालितं सम्यक् कार्य्यं साधयतीति । कथम्भूतां नावं समुद्रे चालयेत् ? (शतारित्राम्) शतानि अरित्राणि लोहमयानि समुद्रस्थलान्तरिक्षमध्ये स्तम्भनार्थानि गाधग्रहणार्थानि च भवन्ति यस्यां तां शतारित्राम् । एवमेव शतारित्रं भूम्याकाशविमानं प्रति योजनीयम् । तथा तदेतत् त्रिविधं यानं शतकलं शतबन्धनं शतस्तम्भनसाधनं च रचनीयमिति । तद्यानैः कथम्भूतं भुज्युं भोगं प्राप्नुवन्ति ? । (तस्थिवांसं) स्थितिमन्तमित्यर्थः ॥ ३ ॥ यद्यस्मादेवं भोगो जायते तस्मादेवं सर्वमनुष्यैः प्रयत्नः कर्त्तव्यः । (यमश्विना०) यं सम्यक् प्रयुक्ताभ्यामग्निजलाभ्यामश्विभ्यां शुक्लवर्णं वाष्पाख्यमश्वं (अघाश्वाय) शीघ्रगमनाय शिल्पविद्याविदो मनुष्याः प्राप्नुवन्ति तमेवाश्वं गृहीत्वा पूर्वोक्तानि यानानि साधयन्ति । (शश्वत्) तानि शश्वन्निरन्तरमेव (स्वस्ति) सुखकारकाणि भवन्ति । तद्यानसिद्धिं (अश्विना ददथुः) दत्तस्ताभ्यामेवायं गुणो मनुष्यैर्ग्राह्य इति । (वाम्) अत्रापि पुरुषव्यत्ययः । तयोरश्विनोर्मध्ये यत्सामर्थ्यं वर्त्तते तत् कीदृशं ? (दात्रं) दानयोग्यं, सुखकारकत्वात् पोषकं च, (महि) महागुणयुक्तम्, (कीर्तेन्यम्) कीर्त्तनीयमत्यन्तप्रशंसनीयम् । कृत्यार्थे तवैकेनकेन्यत्वन इति केन्यप्रत्ययः । अन्येभ्यस्तच्छ्रेष्ठोपकारकम्

(भूत्) अभूत् भवतीति । अत्र लडर्थे लुङ् विहित इति वेद्यम् । स चाग्न्याख्यो (वाजी) वेगवान्, (पैद्वः०) यो यानं मार्गे शीघ्रवेगेन गमयितास्ति, पैद्वपतङ्गावश्वनाम्नी ॥ निघं० अ० १ । खं० १४ ॥ (सदमित्) यः सदं वेगं इत् एति प्राप्नोतीतीदृशोऽश्वोऽग्निरस्माभिः (हव्यः) ग्राह्योस्ति । (अर्यः) तमश्वमर्य्यो वैश्यो वणिग्जनोऽवश्यं गृह्णीयात् ॥ अर्य्यः स्वामिवैश्ययोः, इति पाणिनिसूत्रात्, अर्य्यो वैश्यस्वामिवाचीति ॥ ४ ॥

त्रयः पवयो मधुवाहने रथे सोमस्य वेनामनु विश्व इद्विदुः । त्रयः स्कम्भासः स्कभितास आरभे त्रिर्नक्तं याथस्त्रिर्वश्विना दिवा ॥ ५ ॥ ऋ० अष्ट० १ । अ० ३ । वर्ग ४ । मं० २ ॥

भाष्यम्

(मधुवाहने) मधुरगतिमति रथे (त्रयः पवयः) वज्रतुल्याश्वक्रसमूहाः कलायन्त्रयुक्ता दृढाः शीघ्रं गमनार्थं त्रयः कार्य्याः । तथैव शिल्पिभिः (त्रयः स्कम्भासः) स्तम्भनार्थाः स्तम्भास्त्रयः कार्य्याः । (स्कभितासः०) किमर्थाः सर्वकलानां स्थापनार्थाः । (विश्वे) सर्वे शिल्पिनो विद्वांसः (सोमस्य) सोमगुणविशिष्टस्य सुखस्य (वेनां) कमनीयां कामनासिद्धिं विदुर्जानन्त्येव । अर्थात् (अश्विना) अश्विभ्यामेवैतद्यानमारब्धुमिच्छेयुः । कुतः, तावेवाश्विनौ तद्यानसिद्धिं (याथः) प्रापयत इति । तत्कीदृशमित्यत्राह (त्रिर्नक्तम्) (त्रिर्दिवा) तिसृभी रात्रिभिस्त्रिभिर्दिनैश्चातिदूरमपि मार्गं गमयतीति बोध्यम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ

(अनारम्भणे०) हे मनुष्य लोगो ! तुम पूर्वोक्त प्रकार से अनारम्भण अर्थात् आलम्बरहित समुद्र में अपने कार्य्यों की सिद्धि करने योग्य यानों को रच लो (तद्वीरयेथाम्) वे यान पूर्वोक्त अश्विनी से ही जाने आने के लिये सिद्ध होते हैं । (अनास्थाने) अर्थात् जिस आकाश और समुद्र में विना आलम्ब से कोई

भी नहीं ठहर सकता, (अग्रभणे) जिसमें हाथ से पकड़ने का आलम्ब कोई भी नहीं मिल सकता (समुद्रे) ऐसा जो पृथिवी पर जल से पूर्ण समुद्र प्रत्यक्ष है, तथा अन्तरिक्ष का भी नाम समुद्र है, क्योंकि वह भी वर्षा के जल से पूर्ण रहता है, उन में किसी प्रकार का आलम्बन सिवाय नौका और विमान से नहीं मिल सकता, इससे इन यानों को पुरुषार्थ से रच लेवें। (यदश्विना) (ऊहथुर्भु०) जो यान वायु आदि अश्वि से रचा जाता है वह उत्तम भोगों को प्राप्त कर देता है, क्योंकि (अस्तं) जो उनसे चलाया जाता है वह पूर्वोक्त समुद्र, भूमि और अन्तरिक्ष में सब कार्य्यों को सिद्ध करता है । (शतारित्राम्) उन नौकादि सवारियों में सैकड़ह अरित्र अर्थात् जल का थाह लेने, उनके थांभने और वायु आदि विघ्नों से रक्षा के लिये लोह आदि के लंगर भी रखना चाहिये, जिन से जहां चाहे वहां उन यानों को थांभे । इसी प्रकार उन में सैकड़ह कलबन्धन और थांभने के साधन रचने चाहियें । इस प्रकार के यानों से (तस्थिवांसम्) स्थिर भोग को मनुष्य लोग प्राप्त होते हैं ॥ ३ ॥ (यमश्विना) जो अश्वि अर्थात् अग्नि और जल हैं उन के संयोग से (श्वेतमश्वं) भाफरूप अश्व अत्यन्त वेग देने वाला होता है । जिस से कारीगर लोग सवारियों को (अघाश्वाय) शीघ्र गमन के लिये वेगयुक्त कर देते हैं। जिस वेग की हानि नहीं हो सकती उसको जितना बढ़ाया चाहे उतना बढ़ सकता है। (शश्वदित्स्वस्ति०) जिन यानों में बैठ के समुद्र और अन्तरिक्ष में निरन्तर स्वस्ति अर्थात् नित्य सुख बढ़ता है । (ददथुः) जो कि वायु अग्नि और जल आदि से वेग गुण उत्पन्न होता है उस को मनुष्य लोग सुविचार से ग्रहण करें । (वाम्) यह सामर्थ्य पूर्वोक्त अश्विसंयुक्त पदार्थों ही में है । (तत्) सो सामर्थ्य कैसा है कि (दात्रम्) जो दान करने के योग्य, (महि) अर्थात् बड़े २ शुभ गुणों से युक्त, (कीर्त्तेन्यम्) अत्यन्त प्रशंसा करने के योग्य और सब मनुष्यों को उपकार करने वाला (भूत्) है । क्योंकि वही (पैद्वः) अश्व मार्ग में शीघ्र चलाने वाला है । (सदमित्) अर्थात् जो अत्यन्त वेग से युक्त है (हव्यः) वह ग्रहण और दान देने के योग्य है । (अर्य्यः) वैश्य लोग तथा शिल्पविद्या का स्वामी इस को अवश्य ग्रहण करे, क्योंकि इन यानों के विना द्वीपान्तर में जाना आना

कठिन है ॥ ४ ॥ यह यान किस प्रकार का बनाना चाहिये कि (त्रयः पवयो मधु०) जिस में तीन पहिये हों, जिन से वह जल और पृथिवी के ऊपर चलाया जाय और मधुर वेगवाला हो, उस के सब अङ्ग वज्र के समान दृढ़ हों, जिन में कलायन्त्र भी दृढ़ हों, जिनसे शीघ्र गमन होवे, (त्रयः स्कम्भासः) उन में तीन २ थम्भे ऐसे बनाने चाहियें कि जिन के आधार सब कलायन्त्र लगे रहें, तथा (स्कभितासः) वे थम्भे भी दूसरे काष्ठ वा लोहे के साथ लगे रहें, (आरा) जो कि नाभि के समान मध्यकाष्ठ होता है उसी में सब कलायन्त्र जुड़े रहते हैं। (विश्वे) सब शिल्पिविद्वान् लोग ऐसे यानों को सिद्ध करना अवश्य जानें। (सोमस्य वेनाम्) जिन से सुन्दर सुख की कामना सिद्ध होती है, (रथे) जिस रथ में सब क्रीड़ासुखों की प्राप्ति होती है, (आरभे) उस के आरम्भ में अश्वि अर्थात् अग्नि और जल ही मुख्य हैं। (त्रिर्नक्तं याथस्त्रिर्वश्विना दिवा) जिन यानों से तीन दिन और तीन रात में द्वीप द्वीपान्तर में जा सकते हैं ॥ ५ ॥

त्रिर्नो॑ अश्विना यज॒ता दि॒वेदि॑वे॒ परि॑ त्रि॒धातु॑ पृथि॒वीम॑शा॒यतम्। ति॒स्रो ना॑सत्या रथ्या परा॒वत॑ आ॒त्मेव॒ वातः॒ स्वस॑राणि गच्छतम् ॥ ६ ॥ ऋ० अष्ट० १ । अ० ३ । व० ५ । मं० १ ॥ अ॒रित्रं॑ वां दि॒वस्पृ॒थु ती॒र्थे सिन्धू॑नां॒ रथः॑ । धि॒या यु॑युज्र॒ इन्द॑वः ॥ ७ ॥ ऋ० अष्ट० १ । अ० ३ । व० ३४ । मं० ३ ॥ वि ये भ्राज॑न्ते॒ सुम॑खास ऋ॒ष्टिभिः॑ प्रच्या॒वय॑न्तो॒ अच्यु॑ता चि॒दोज॑सा। म॒नो॒जुवो॒ यन्म॑रुतो॒ रथे॒ष्वा वृष॑व्रातासः॒ पृष॑तीरयु॑ग्ध्वम् ॥ ८ ॥ ऋ० अ० १ । अ० ६ । व० ६ । मं० ४ ॥

भाष्यम्

यत्पूर्वोक्तं भूमिसमुद्रान्तरिक्षेषु गमनार्थं यानमुक्तं तत् पुनः कीदृशं कर्त्तव्यमित्यत्राह। (परि त्रिधातु) अयस्ताम्ररजतादिधातुत्रयेण रचनीयम्। इदं कीदृग्वेगं भवतीत्यत्राह। (आत्मेव वातः०) आगमनागमने। यथात्मा

मनश्च शीघ्रं गच्छत्यागच्छति तथैव कलाप्रेरितौ वाय्वग्नी अश्विनौ तद्यानं त्वरितं गमयत आगमयतश्चेति विज्ञेयमिति संक्षेपतः ॥ ६ ॥ तच्च कीदृशं यानमित्यत्राह, (अरित्रं) स्तम्भनार्थसाधनयुक्तं, (पृथु) अतिविस्तीर्णम् । ईदृशः स रथः अग्न्यश्वयुक्तः (सिन्धूनाम्) महासमुद्राणां (तीर्थे) तरणे कर्त्तव्येऽलं वेगवान् भवतीति बोध्यम् । (धिया यु०) तत्र त्रिविधे रथे (इन्दवः) जलानि वाष्पवेगार्थं (युयुज्रे) यथावद्युक्तानि कार्य्याणि । येनातीव शीघ्रगामी स रथः स्यादिति । (इन्दवः) इति जलनामसु । निघण्टौ * खण्डे १२ पठितम् । (उन्देरिच्चादेः) । उणादौ प्रथमे पादे सूत्रम् † ॥ ७ ॥ हे मनुष्याः ! (मनोजुवः) मनोवद्गतयो वायवो यन्त्रकलाचालनैस्तेषु रथेषु पूर्वोक्तेषु त्रिविधयानेषु यूयम् (अयुग्ध्वम्) तान् यथावद्योजयत । कथम्भूता अग्निवाय्वादयः । (आवृष व्रातासः) जलसेचनयुक्ताः । येषां संयोगे वाष्पजन्यवेगोत्पत्त्या वेगवन्ति तानि यानानि सिद्ध्यन्तीत्युपदिश्यते ॥ ८ ॥

भाषार्थ

फिर वह सवारी कैसी बनाना चाहिये कि (त्रिर्नो अश्विना य०) (पृथिवीमशायतम्) जिन सवारियों से हमारा भूमि, जल और आकाश में प्रतिदिन आनन्द से जाना आना बनता है, (परित्रिधातु पृ०) वे लोहा, तांबा, चांदी आदि तीन धातुओं से बनती है । और जैसे (रथ्या परावतः०) नगर वा ग्राम की गलियों में झट पट जाना आना बनता है वैसे दूर देश में भी उन सवारियों से शीघ्र २ जाना आना होता है । (नासत्या०) इसी प्रकार विद्या के निमित्त पूर्वोक्त जो अश्वि हैं उन से बड़े २ कठिन मार्ग में भी सहज से जाना आना करें । जैसे (आत्मेव वातः स्व०) मन के वेग के समान शीघ्र गमन के लिये सवारियों से प्रतिदिन सुख से सब भूगोल के बीच जावें आवें ॥ ६ ॥ (अरित्रं वाम्) जो पूर्वोक्त अरित्रयुक्त यान बनते हैं वे (तीर्थे सिन्धूनां रथः)

* अध्याये प्रथमे ॥

† सू० १२ ॥

जो रथ बड़े २ समुद्रों के मध्य से भी पार पहुंचाने में श्रेष्ठ होते हैं, (दिवस्पृथु) जो विस्तृत और आकाश तथा समुद्र में जाने आने के लिये अत्यन्त उत्तम होते हैं, जो मनुष्य उन रथों में यन्त्र सिद्ध करते हैं वे सुखों को प्राप्त होते हैं। (धिया युयुज्र०) उन तीन प्रकार के यानों में (इन्दवः) वाष्पवेग के लिये एक जलाशय बना के उस में जलसेचन करना चाहिये जिस से वह अत्यन्त वेग से चलने वाला यान सिद्ध हो ॥ ७ ॥ (वि ये भ्राजन्ते०) हे मनुष्य लोगो ! (मनोजुवः) अर्थात् जैसा मन का वेग है वैसे वेगवाले यान सिद्ध करो। (यन्मरुतो रथेषु) उन रथों में (मरुत्) अर्थात् वायु और अग्नि को मनोवेग के समान चलाओ और (आ वृषव्रातासः) उन के योग में जलों का भी स्थापन करो। (पृषतीरयुग्ध्वम्) जैसे जल के वाष्प घूमने की कलाओं को वेग वाली कर देते हैं वैसे ही तुम भी उन को सब प्रकार से युक्त करो। जो इस प्रकार से प्रयत्न करके सवारी सिद्ध करते हैं वे (विभ्राजन्ते) अर्थात् विविध प्रकार भोगों से प्रकाशमान होते हैं और (सुमखास ऋष्टिभिः) जो इस प्रकार से इन शिल्पविद्यारूप श्रेष्ठ यज्ञ करने वाले सब भोगों से युक्त होते हैं (अच्युता चिदोजसा०) वे कभी दुःखी होके नष्ट नहीं होते और सदा पराक्रम से बढ़ते जाते हैं, क्योंकि कलाकौशलता से युक्त वायु और अग्नि आदि पदार्थों की (ऋष्टि) अर्थात् कलाओं से (प्रच्या०) पूर्व स्थान को छोड़ के मनोवेग यानों से जाते आते हैं, उन ही से मनुष्यों को सुख भी बढ़ता है, इसलिये इन उत्तम यानों को अवश्य सिद्ध करें ॥ ८ ॥

आ नो नावा मतीनां यातं पाराय गन्तवे। युञ्जाथामश्विना रथम् ॥ ९ ॥ ऋ० अष्ट० १। अ० ३। व० ३४। मं० २ ॥
कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति। त आववृत्रन्त्सदनादृतस्यादिद् घृतेन पृथिवी व्युद्यते ॥ १० ॥
द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत। तस्मिन्त्साकं त्रिशता न शङ्कवोऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः ॥ ११ ॥ ऋ० अष्ट० २। अ० ३। व० २३। मं० १। २ ॥

भाष्यम्

समुद्रे भूमौ अन्तरिक्षे गमनयोग्यमार्गस्य (पाराय) (गन्तवे) गन्तुं यानानि रचनीयानि । (नावा मतीनाम्) यथा समुद्रगमनवृत्तीनां मेधाविनां नावा नौकया पारं गच्छन्ति तथैव (नः) अस्माकमपि नौरुत्तमा भवेत् । (आयुञ्जाथाम०) यथा मेधाविभिरग्निजले आसमन्ताद्यानेषु युज्येते तथास्माभिरपि योजनीये भवतः । एवं सर्वैर्मनुष्यैः समुद्रादीनां पारावारगमनाय पूर्वोक्तयानरचने प्रयत्नः कर्त्तव्य इत्यर्थः ॥ मेधाविनामसु निघण्टौ * १५ खण्डे मतय इति पठितम् ॥ ९ ॥ हे मनुष्याः ! (सुपर्णाः) शोभनपतनशीलाः (हरयः) अग्न्यादयोऽश्वाः, (अपोवसानाः) जलपात्राच्छादिता अधस्ताज्ज्वालारूपाः काष्ठेन्धनैः प्रज्वालिताः कलाकौशलभ्रमणयुक्ताः कृताश्चेत्तदा (कृष्णं) पृथिवीविकारमयं (नियानं) निश्चितं यानं (दिवमुत्य०) द्योतनात्मकमाकाशमुत्पतन्ति ऊर्ध्वं गमयन्तीत्यर्थः ॥ १० ॥ (द्वादश प्रधयः) तेषु यानेषु प्रधयः सर्वकलायुक्तानामराणां धारणार्था द्वादश कर्त्तव्याः, (चक्रमेकम्) तन्मध्ये सर्वकलाभ्रामणार्थमेकं चक्रं रचनीयम्, (त्रीणि नभ्यानि) मध्यस्थानि मध्यावयवधारणार्थानि त्रीणि यन्त्राणि रचनीयानि, तैः (साकं त्रिशता) त्रीणि शतानि (शङ्कवोऽर्पिताः) यन्त्रकला रचयित्वा स्थापनीयाः, (चलाचलासः) ताः कलाः चलाः चालनार्हाः, अचलाः स्थित्यर्हाः, (षष्टिः) षष्टिसंख्याकानि कलायन्त्राणि स्थापनीयानि । तस्मिन् याने एतदादिविधानं सर्वं कर्त्तव्यम् । (क उ तच्चिकेत) इत्येतत् कृत्यं को विजानाति, (न) नहि सर्वे । इत्यादय एतद्विषया वेदेषु बहवो मन्त्रास्सन्त्यप्रसङ्गादत्र सर्वे नोल्लिख्यन्ते ॥ ११ ॥

भाषार्थ

हे मनुष्यो ! (आ नो नावा मतीनाम्) जैसे बुद्धिमान् मनुष्यों के बनाये नाव आदि यानों से (पाराय) समुद्र के पारावार जाने के लिये सुगमता होती

* अध्याये तृतीये ।

है वैसे ही (आ०) (युञ्जाथाम्) पूर्वोक्त वायु आदि अश्व का योग यथावत् करो। (रथम्) जिस प्रकार उन यानों से समुद्र के पार और वार में जा सको। (नः) हे मनुष्यो ! आओ आपस में मिल के इस प्रकार के यानों को रचें जिनसे सब देश देशान्तर में हमारा जाना आना बने ॥ ६ ॥ (कृष्णं नि०) अग्निजलयुक्त (कृष्णं) अर्थात् खैंचने वाला जो (नियानं) निश्चित यान है, उसके (हरयः) वेगादि गुण रूप (सुपर्णाः) अच्छी प्रकार गमन कराने वाले जो पूर्वोक्त अग्न्यादि अश्व हैं, वे (अपोवसानाः) जलसेचनयुक्त वाष्प को प्राप्त होके (दिवमुत्पतन्ति०) उस काष्ठ लोहा आदि से बने हुए विमान को आकाश में उड़ा चलते हैं। (त आववृ०) वे जब चारों ओर से सदन अर्थात् जल से वेगयुक्त होते हैं तब (ऋतस्य) अर्थात् यथार्थ सुख के देने वाले होते हैं। (पृथिवी घृ०) जब जलकलाओं के द्वारा पृथिवी जल से युक्त की जाती है तब उससे उत्तम २ भोग प्राप्त होते हैं ॥ १० ॥ (द्वादश प्रधयः) इन यानों के बाहर भी थम्भे रचने चाहियें, जिनमें सब कलायन्त्र लगाये जायं, (चक्रमेकम्) उनमें एक चक्र बनाना चाहिये जिसके घुमाने से सब कला घूमें, (त्रीणि नभ्यानि०) फिर उसके मध्य में तीन चक्र रचने चाहियें कि एक के चलाने से सब रुक जायं, दूसरे के चलाने से आगे चलें और तीसरे के चलाने से पीछे चलें, (तस्मिन् साकं त्रिशता०) उनमें तीन तीनसौ (शङ्कवः) बड़ी बड़ी कीलें अर्थात् पेच लगाने चाहियें कि जिनसे उनके सब अङ्ग जुड़ जायं और उनके निकालने से सब अलग २ हो जायं, (षष्टिर्न चलाचलासः) उनमें ६० (साठ) कलायन्त्र रचने चाहियें, कई एक चलते रहें और कुछ बन्द रहें, अर्थात् जब विमान को ऊपर चढ़ाना हो तब भाफघर के ऊपर के मुख बन्द रखने चाहियें और जब ऊपर से नीचे उतारना हो तब ऊपर के मुख अनुमान से खोल देना चाहिये, ऐसे ही जब पूर्व को चलाना हो तो पूर्व के बन्द करके पश्चिम के खोलने चाहियें और जो पश्चिम को चलाना हो तो पश्चिम के बन्द करके पूर्व के खोल देने चाहियें, इसी प्रकार उत्तर दक्षिण में भी जान लेना। (न) उन में किसी प्रकार की भूल न रहनी चाहिये। (क उ तच्चिकेत) इस महागम्भीर शिल्पविद्या को सब साधारण लोग नहीं जान सकते। किन्तु जो महाविद्वान्

हस्तक्रिया में चतुर और पुरुषार्थी लोग हैं वे ही सिद्ध कर सकते हैं। इस विषय के वेदों में बहुत मन्त्र हैं, परन्तु यहां थोड़ा ही लिखने में बुद्धिमान् लोग बहुत समझ लेंगे ॥ ११ ॥

इति नौविमानादिविद्याविषयः संक्षेपतः

अथ तारविद्यामूलं संक्षेपतः

युवं पेदवे पुरुवारमश्विना स्पृधां श्वेतं तरुतारं दुवस्यथः । शर्यैरभिद्युं पृतनासु दुष्टरं चर्कृत्यमिन्द्रमिव चर्षणीसहम् ॥ ८ ॥

ऋ० अष्ट० १ । अ० ८ । व० २१ । मं० ५ ॥

भाष्यम्

अस्याभि०—अस्मिन् मन्त्रे तारविद्याबीजं प्रकाश्यत इति। हे मनुष्याः! (अश्विना०) अश्विनोर्गुणयुक्तं, (पुरुवारं) बहुभिर्विद्वद्भिः स्वीकर्त्तव्यं बहूत्तमगुणयुक्तम्, (श्वेतं) अग्निगुणविद्युन्मयं शुद्धधातुनिर्मितम्, (अभिद्युं) प्राप्तविद्युत्प्रकाशम्, (पृतनासु दुष्टरं) राजसेनाकार्य्येषु दुस्तरं प्लवितुमशक्यं, (चर्कृत्यं) वारंवारं सर्वक्रियासु योजनीयम्, (तरुतारं) ताराख्यं यन्त्रं यूयं कुरुत । कथम्भूतैर्गुणैर्युक्तं ? (शर्यैः) पुनः पुनर्हननप्रेरणगुणैर्युक्तम् । कस्मै प्रयोजनाय ? (पेदवे) परमोत्तमव्यवहारसिद्धिप्रापणाय । पुनः कथम्भूतं ? (स्पृधां) स्पर्द्धमानानां शत्रूणां पराजयाय स्वकीयानां वीराणां विजयाय च परमोत्तमम् । पुनः कथम्भूतं ? (चर्षणीसहम्०) मनुष्यसेनायाः कार्यसहनशीलम् । पुनः कथम्भूतं ? (इन्द्रमिव०) सूर्यवत् दूरस्थमपि व्यवहारप्रकाशनसमर्थम् । (युवं) युवामश्विनौ (दुवस्यथः) पुरुषव्यत्ययेन पृथिवीविद्युदाख्यावश्विनौ सम्यक् साधयित्वा तत्ताराख्यं यन्त्रं नित्यं सेवध्वमिति बोध्यम् ॥ ८ ॥

भावार्थ

(युवं पेदवे०) अभिप्रा०—इस मन्त्र से तारविद्या का मूल जाना जाता है। पृथिवी से उत्पन्न धातु तथा काष्ठादि के यन्त्र और विद्युत् अर्थात् बिजुली इन दोनों के प्रयोग से तारविद्या सिद्ध होती है। क्योंकि (* द्यावापृथिव्योरित्ये-के०) इस निरुक्त के प्रमाण से इनका अश्वि नाम जान लेना चाहिये । (पे-दवे) अर्थात् वह अत्यन्त शीघ्र गमनागमन का हेतु होता है । (पुरुवारम्) अर्थात् इस तारविद्या से बहुत उत्तम व्यवहारों के फलों को मनुष्य लोग प्राप्त होते हैं । (स्पृधाम्) अर्थात् लड़ाई करने वाले जो राजपुरुष हैं उनके लिये यह तारविद्या अत्यन्त हितकारी है। (श्वेतं०) वह तार शुद्ध धातुओं का होना चाहिये । (अभिद्युम्) और विद्युत् प्रकाश से युक्त करना चाहिये । (पृतनासु दुष्टरम्) सब सेनाओं के बीच में जिसका दुःसह प्रकाश होता और उल्लंघन करना अशक्य है, (चर्कृत्यम्) जो सब क्रियाओं के वारंवार चलाने के लिये योग्य होता है। (शर्य्यैः) अनेक प्रकार कलाओं के चलाने से अनेक उत्तम व्यवहारों को सिद्ध करने के लिये विद्युत् की उत्पत्ति करके उसको ताड़न करना चाहिये । (तरुतारम्) जो इस प्रकार का ताराख्य यन्त्र है उसको सिद्ध करके प्रीति से सेवन करो । किस प्रयोजन के लिये ? (पेद्वे०) परम उत्तम व्यव-हारों की सिद्धि के लिये तथा दुष्ट शत्रुओं के पराजय और श्रेष्ठ पुरुषों के विजय के लिये तारविद्या सिद्ध करनी चाहिये । (चर्षणीसहं०) जो मनुष्यों की सेना के युद्धादि अनेक कार्य्यों को सहन करने वाला है। (इन्द्रमिव०) जैसे समीप और दूरस्थ पदार्थों का प्रकाश सूर्य्य करता है वैसे तारयन्त्र से भी दूर और समीप के सब व्यवहारों का प्रकाश होता है । (युवं) (दुवस्यथः) यह तारयन्त्र पूर्वोक्त अश्वि के गुणों ही से सिद्ध होता है । इसको बड़े प्रयत्न से सिद्ध करके सेवन करना चाहिये । इस मन्त्र में पुरुषव्यत्यय पूर्वोक्त नियम से हुआ है अर्थात् मध्यम पुरुष के स्थान में प्रथम पुरुष समझना चाहिये ॥ १ ॥

इति तारविद्यामूलं संक्षेपतः

* द्यावापृथिव्याविस्येके, निरु० अ० १२, खं० १ ॥

अथ वैद्यकशास्त्रमूलोद्देशः संक्षेपतः

सुमित्रिया न आप ओषधयः सन्तु। दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः ॥ १ ॥ य० अ० ६ । मं० २२ ॥

भाष्यम्

अस्याभिप्रायार्थः—इदं वैद्यकशास्त्रस्यायुर्वेदस्य मूलमस्ति । हे परमवैद्येश्वर ! भवत्कृपया (नः) अस्मभ्यं (ओषधयः) सोमादयः, (सुमित्रिया) अत्र (इयाडियाजीकाराणामुपसङ्ख्यानम्) इति वार्त्तिकेन जसः स्थाने 'डियाच्' इत्यादेशः, सुमित्राः सुखप्रदा रोगनाशकाः सन्तु, यथावद्विज्ञाताश्च । तथैव (आपः) प्राणाः सुमित्राः सन्तु । तथा (योस्मान्द्वेष्टि) योऽधर्मात्मा कामक्रोधादिर्वा रोगश्च विरोधी भवति, (यं च वयं द्विष्मः) यमधर्मात्मानं रोगं च वयं द्विष्मः, (तस्मै०) दुर्मित्रिया दुःखप्रदा विरोधिन्यः सन्तु । अर्थात् ये सुपथ्यकारिणस्तेभ्य ओषधयो मित्रवद् दुःखनाशिका भवन्ति । तथैव कुपथ्यकारिभ्यो मनुष्येभ्यश्च शत्रुवद् दुःखाय भवन्तीति । एवं वैद्यकशास्त्रस्य मूलार्थविधायका वेदेषु बहवो मन्त्राः सन्ति, प्रसङ्गाभावान्नात्र लिख्यन्ते । यत्र तत्र ते मन्त्राः सन्ति तत्र तत्रैव तेषामर्थान् यथावदुदाहरिष्यामः ।

भाषार्थ

(सुमित्रिया न०) हे परमेश्वर ! आप की कृपा से (आपः) अर्थात् जो प्राण और जल आदि पदार्थ तथा (ओषधयः) सोमलता आदि सब ओषधि (नः) हमारे लिये (सुमित्रियाः) (सन्तु) सुखकारक हों, तथा (दुर्मित्रियाः) जो दुष्ट, प्रमादी, हमारे द्वेषी लोग हैं और हम जिन दुष्टों से द्वेष करते हैं उनके लिये विरोधिनी हों । क्योंकि जो धर्मात्मा और पथ्य के करनेवाले मनुष्य हैं उन को ईश्वर के रचे सब पदार्थ सुख देनेवाले होते हैं और जो कुपथ्य

करनेवाले तथा पापी हैं उन के लिये सदा दुःख देनेवाले होते हैं। इत्यादि मन्त्र वैद्यकविद्या के मूल के प्रकाश करनेवाले हैं।

इति वैद्यकविद्याविषयः संक्षेपतः

अथ पुनर्जन्मविषयः संक्षेपतः

असुनीते पुनरस्मासु चक्षुः पुनः प्राणमिह नो धेहि भोगम्। ज्योक् पश्येम सूर्यमुच्चरन्तमनुमते मृडया नः स्वस्ति ॥ १ ॥ पुनर्नो असुं पृथिवी ददातु पुनर्द्यौर्देवी पुनरन्तरिक्षम्। पुनर्नः सोमस्तन्वं ददातु पुनः पूषा पथ्यां या स्वस्तिः ॥ २ ॥ ऋ० अ० ८। अ० १। व० २३। मं० १। २ ॥

भाष्यम्

एतेषामभि०—एतदादिमन्त्रेष्वत्र पूर्वजन्मानि पुनर्जन्मानि च प्रकाश्यन्त इति। (असुनीते०) असवः प्राणा नीयन्ते येन सोऽसुनीतिस्तत्सम्बुद्धौ हे असुनीते ईश्वर! मरणानन्तरं द्वितीयशरीरधारणे वयं सदा सुखिनो भवेम। (पुनरस्मा०) अर्थाद्यदा वयं पूर्वं शरीरं त्यक्त्वा द्वितीयशरीरधारणं कुर्मस्तदा (चक्षुः) चक्षुरित्युपलक्षणमिन्द्रियाणाम्, पुनर्जन्मनि सर्वाणीन्द्रियाण्यस्मासु धेहि। (पुनः प्राणमि०) प्राणमिति वायोरन्तःकरणस्योपलक्षणम्, पुनर्द्वितीयजन्मनि प्राणमन्तःकरणं च धेहि। एवं हे भगवन्! पुनर्जन्मसु (नः) अस्माकं (भोगं) भोगपदार्थान् (ज्योक्) निरन्तरमस्मासु धेहि। यतो वयं सर्वेषु जन्मसु (उच्चरन्तं) सूर्य्यं श्वासप्रश्वासात्मकं प्राणं प्रकाशमयं सूर्य्यलोकं च निरन्तरं पश्येम। (अनुमते) हे अनुमन्तः परमेश्वर! (नः) अस्मान् सर्वेषु जन्मसु (मृडय) सुखय, भवत्कृपया पुनर्जन्मसु (स्वस्ति) सुखमेव भवेदिति प्रार्थ्यते ॥ १ ॥ (पुनर्नो) हे भगवन्! भवदनुग्रहेण (नः) अस्मभ्यं (असुं) प्राणमन्नमयं बलं च (पृथिवी पुन-

ददातु), तथा (पुनर्द्यौः०) पुनर्जन्मनि द्यौर्देवी द्योतमाना सूर्य्यज्योतिरसुं ददातु, (पुनरन्तरिक्षम्) तथान्तरिक्षं पुनर्जन्मन्यसुं जीवनं ददातु, (पुनर्नः सोमस्त०) तथा सोम ओषधिसमूहजन्यो रसः पुनर्जन्मनि तन्वं शरीरं ददातु, (पुनः पूषा०) हे परमेश्वर ! पुष्टिकर्त्ता भवान् (पथ्यां) पुनर्जन्मनि धर्ममार्गं ददातु, तथा सर्वेषु जन्मसु (या स्वस्तिः) सा भवत्कृपया नोऽस्मभ्यं सदैव भवत्विति प्रार्थ्यते भवान् ॥ १ ॥

भाषार्थ

(असुनीते०) हे सुखदायक परमेश्वर ! आप (पुनरस्मासु चक्षुः) कृपा करके पुनर्जन्म में हमारे बीच में उत्तम नेत्र आदि सब इन्द्रियां स्थापन कीजिये। तथा (पुनः प्राणं०) प्राण अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, बल, पराक्रम आदि युक्त शरीर पुनर्जन्म में कीजिये । (इह नो धेहि भोगं०) हे जगदीश्वर ! इस संसार अर्थात् इस जन्म और परजन्म में हम लोग उत्तम २ भोगों को प्राप्त हों । तथा (ज्योक् पश्येम सूर्य्यमुच्चरन्तम्) हे भगवन् ! आप की कृपा से सूर्य्यलोक, प्राण और आप को विज्ञान तथा प्रेम से सदा देखते रहें । (अनुमते मृडया नः स्वस्ति) हे अनुमते ! सब को मान देने हारे ! सब जन्मों में हम लोगों को (मृडय) सुखी रखिये । जिससे हम लोगों को स्वस्ति अर्थात् कल्याण हो ॥ १ ॥ (पुनर्नो असुं पृथिवी ददातु पु०) हे सर्वशक्तिमन् ! आप के अनुग्रह से हमारे लिये वारंवार पृथिवी प्राण को, प्रकाश चक्षु को और अन्तरिक्ष स्थानादि अवकाशों को देते रहें । (पुनर्नः सोमस्तन्वं ददातु) पुनर्जन्म में सोम अर्थात् ओषधियों का रस हम को उत्तम शरीर देने में अनुकूल रहे । तथा (पूषा०) पुष्टि करनेवाला परमेश्वर कृपा करके सब जन्मों में हम को सब दुःख निवारण करने वाली पथ्यरूप स्वस्ति को देवे ॥ २ ॥

पुनर्मनः पुनरायुर्म आगन् पुनः प्राणः पुनरात्मा म आगन् पुनश्चक्षुः पुनः श्रोत्रं म आगन्। वैश्वानरो अदब्धस्तनूपा अग्नि-

र्नः पातु दुरितादवद्यात् ॥ ३ ॥ यजु० अ० ४ । मं० १५ ॥ पुनर्मैत्विन्द्रियं पुनरात्मा द्रविणं ब्राह्मणं च । पुनरग्नयो धिष्ण्या यथास्थाम कल्पन्तामिहैव ॥ ४ ॥ अथर्व० कां० ७ । अनु० ६ । सूक्त ६७ । मं० १ ॥ आ यो धर्माणि प्रथमः ससाद ततो वपूंषि कृणुषे पुरूणि । धास्युर्योनिं प्रथम आविवेशा यो वाचमनुदितां चिकेत ॥ ५ ॥ अथर्व० कां० ५ । अनु० १ । सूक्त १ । मं० २ ॥

भाष्यम्

(पुनर्मनः पु०) हे जगदीश्वर ! भवदनुग्रहेण विद्यादिश्रेष्ठगुणयुक्तं मन आयुश्च (मे) मह्यमागत्पुनः पुनर्जन्मसु प्राप्नुयात्, (पुनरात्मा) पुनर्जन्मनि मदात्मा विचारः शुद्धः सन् प्राप्नुयात्, (पुनश्चक्षुः) चक्षुः श्रोत्रं च मह्यं प्राप्नुयात । (वैश्वानरः) यः सकलस्य जगतो नयनकर्त्ता, (अदब्धः) दम्भादिदोषरहितः, (तनूपाः) शरीरादिरक्षकः, (अग्निः) विज्ञानानन्दस्वरूपः परमेश्वरः (पातु दुरि०) जन्मजन्मान्तरे दुष्टकर्मभ्योऽस्मान् पृथक्कृत्य पातु रक्षतु, येन वयं निष्पापा भूत्वा सर्वेषु जन्मसु सुखिनो भवेम ॥ ३ ॥ (पुनर्मै०) हे भगवन् ! पुनर्जन्मनीन्द्रियमर्थात् सर्वाणीन्द्रिया,-ण्यात्मा प्राणधारको बलाख्यः, (द्रविणं) विद्यादिश्रेष्ठधनं, (ब्राह्मणं च) ब्रह्मनिष्ठात्वं, (पुनरग्नयः) मनुष्यशरीरं धारयित्वाऽऽहवनीयाद्यग्न्याधानकरणं (मैतु) पुनः पुनर्जन्मस्वेतानि मामाप्नुवन्तु, (धिष्ण्या यथास्थाम) हे जगदीश्वर ! वयं यथा येन प्रकारेण पूर्वेषु जन्मसु धिष्ण्या धारणवत्या धिया सोत्तमशरीरेन्द्रिया आस्थाम तथैवेहास्मिन् संसारे पुनर्जन्मनि बुद्ध्या सह स्वस्वकार्यकरणे समर्था भवेम, येन वयं केनापि कारणेन न कदाचिद्विकला भवेम ॥ ४ ॥ (आ यो ध०) यो जीवः (प्रथमः) पूर्वजन्मनि (धर्माणि) यादृशानि धर्मकार्याणि (आससाद) कृतवानस्ति, स (ततो वपूंषि०) तस्माद् धर्मकरणाद्बहून्युत्तमानि शरीराणि पुनर्जन्मनि कृणुषे धारयति । एवं यश्चाधर्मकृत्यानि चकार स नैव पुनः पुनर्मनुष्यशरी-

राणि प्राप्नोति, किन्तु पश्वादीनि हि शरीराणि धारयित्वा दुःखानि भुङ्क्ते । इदमेव मन्त्रार्धेनेश्वरो ज्ञापयति । (धास्युर्योनिं०) धास्यतीति धास्युरर्थात् पूर्वजन्मकृतपापपुण्यफलभोगशीलो जीवात्मा, (प्रथमः) पूर्वं देहं त्यक्त्वा, वायुजलौषध्यादिपदार्थान् (आविवेश) प्रविश्य, पुनः कृतपापपुण्यानुसारिणीं योनिमाविवेश प्रविशतीत्यर्थः । (यो वाचम०) यो जीवोऽनुदितामीश्वरोक्तां वेदवाणीं आ समन्ताद् विदित्वा धर्ममाचरति स पूर्ववद्विद्वच्छरीरं धृत्वा सुखमेव भुङ्क्ते । तद्विपरीताचरणस्तिर्य्यग्देहं धृत्वा दुःखभागी भवतीति विज्ञेयम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ

(पुनर्मनः पुनरात्मा) हे सर्वज्ञ ईश्वर ! जब जब हम जन्म लेवें तब २ हम को शुद्ध मन, पूर्ण आयु, आरोग्यता, प्राण, कुशलतायुक्त जीवात्मा, उत्तम चक्षु और श्रोत्र प्राप्त हों, (वैश्वानरोऽदब्धः) जो विश्व में विराजमान ईश्वर है वह सब जन्मों में हमारे शरीरों का पालन करे । (अग्निर्नः) सब पापों के नाश करने वाले आप हमको (पातु दुरितादवद्यात्) बुरे कामों और सब दुःखों से पुनर्जन्म में अलग रक्खें ॥ ३ ॥ (पुनर्मैत्विन्द्रियम्) हे जगदीश्वर ! आप की कृपा से पुनर्जन्म में मन आदि ग्यारह इन्द्रिय मुझ को प्राप्त हों, अर्थात् सर्वदा मनुष्य देह ही प्राप्त होता रहे । (पुनरात्मा) अर्थात् प्राणों को धारण करने हारा सामर्थ्य मुझ को प्राप्त होता रहे । जिससे दूसरे जन्म में भी हम लोग सौ वर्ष वा अच्छे आचरण से अधिक भी जीवें । (द्रविणं) तथा सत्यविद्यादि श्रेष्ठ धन भी पुनर्जन्म में प्राप्त होते रहें । (ब्राह्मणं च०) और सदा के लिये ब्रह्म जो वेद है उसका व्याख्यान सहित विज्ञान तथा आप ही में हमारी निष्ठा बनी रहे । (पुनरग्नयः) तथा सब जगत् के उपकार के अर्थ हम लोग अग्निहोत्रादि यज्ञ को करते रहें । (धिष्ण्या यथास्थाम) हे जगदीश्वर ! हम लोग जैसे पूर्वजन्मों में शुभ गुण धारण करनेवाली बुद्धि से उत्तम शरीर और इन्द्रियसहित थे वैसे ही इस संसार में पुनर्जन्म में भी बुद्धि के साथ मनुष्यदेह के कृत्य करने में समर्थ हों । ये सब शुद्धबुद्धि के साथ (मैतु) मुझ को यथावत्

प्राप्त हों। (इहैव) जिन से हम लोग इस संसार में मनुष्यजन्म को धारण करके धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को सदा सिद्ध करें और इस सामग्री से आप की भक्ति को प्रेम से सदा किया करें। जिस करके किसी जन्म में हमको कभी दुःख प्राप्त न हो ॥ ४ ॥ (आ यो धर्माणि०) जो मनुष्य पूर्वजन्म में धर्माचरण करता है, (ततो वपूंषि कृणुषे पुरूणि) उस धर्माचरण के फल से अनेक उत्तम शरीरों को धारण करता और अधर्मात्मा मनुष्य नीच शरीर को प्राप्त होता है। (धास्युर्योनिं०) जो पूर्वजन्म में किए हुए पाप पुण्य के फलों को भोग करने के स्वभावयुक्त जीवात्मा है वह पूर्व शरीर को छोड़ के वायु के साथ रहता है। (पुनः०) जल ओषधि वा प्राण आदि में प्रवेश करके वीर्य्य में प्रवेश करता है। तदनन्तर योनि अर्थात् गर्भाशय में स्थिर होके पुनः जन्म लेता है। (यो वाचमनुदितां चिकेत) जो जीव अनुदित वाणी अर्थात् जैसी ईश्वर ने वेदों में सत्यभाषण करने की आज्ञा दी है वैसा ही (आचिकेत) यथावत् जान के बोलता है और धर्म ही में (ससाद) यथावत् स्थित रहता है, वह मनुष्ययोनि में उत्तम शरीर धारण करके अनेक सुखों को भोगता है और जो अधर्माचरण करता है वह अनेक नीच शरीर अर्थात् कीट पतङ्ग पशु आदि के शरीर को धारण करके अनेक दुःखों को भोगता है ॥ ५ ॥

द्वे सृती अशृणवं पितॄणामहं देवानामुत मर्त्यानाम्। ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरं च ॥ ६ ॥ य० अ० १९। मं० ४७ ॥ मृतश्चाहं पुनर्जातो जातश्चाहं पुनर्मृतः। नानायोनिसहस्राणि मयोषितानि यानि वै ॥ १ ॥ आहारा विविधा भुक्ताः पीता नानाविधाः स्तनाः। मातरो विविधा दृष्टाः पितरः सुहृदस्तथा ॥ २ ॥ अवाङ्मुखः पीड्यमानो जन्तुश्चैव समन्वितः ॥ निरु० अ० १४। खं० ६ ॥

भाष्यम्

(द्वे सृती०) अस्मिन् संसारे पापपुण्यफलभोगाय द्वौ मार्गौ स्तः।

एकः पितॄणां ज्ञानिनां, देवानां विदुषां च द्वितीयः (मर्त्यानां) विद्या-विज्ञानरहितानां मनुष्याणाम् । तयोरेकः पितृयानो, द्वितीयो देवयानश्चेति । यत्र जीवो मातापितृभ्यां देहं धृत्वा पापपुण्यफले सुखदुःखे पुनः पुनर्भुङ्क्ते, अर्थात् पूर्वापरजन्मानि च धारयति सा पितृयानाख्या सृतिरस्ति । तथा यत्र मोक्षाख्यं पदं लब्ध्वा जन्ममरणाख्यात् संसाराद्विमुच्यते सा द्वितीया सृतिर्भवति । तत्र प्रथमायां सृतौ पुण्यसञ्चयफलं भुक्त्वा पुनर्जायते म्रियते च । द्वितीयायां च सृतौ पुनर्न जायते न म्रियते चेत्यहमेवम्भूते द्वे सृती (अशृणवं) श्रुतवानस्मि । (ताभ्यामिदं विश्व०) पूर्वोक्ताभ्यां द्वाभ्यां मार्गाभ्यां सर्वं जगत् (एजत्समेति०) कम्पमानं गमनागमने समेति सम्यक् प्राप्नोति । (यदन्तरा पितरं मातरं च) यदा जीवः पूर्वं शरीरं त्यक्त्वा वायुजलौषध्यादिषु भ्रमित्वा पितृशरीरं मातृशरीरं वा प्रविश्य पुनर्जन्म प्राप्नोति तदा स सशरीरो जीवो भवतीति विज्ञेयम् ॥ ६ ॥ अत्र मृतश्चाहं पुनर्जात इत्यादि निरुक्तकारैरपि पुनर्जन्मधारणमुक्तमिति बोध्यम् ॥ ७ ॥

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः ॥ ८ ॥ पातं० अ० १ । पा० २ । सू० ६ ॥ पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः ॥ ९ ॥ न्या० अ० १ । आ० १ । सू० १९ ॥

(स्वरस०) योगशास्त्रे पतञ्जलिमहामुनिना तदुपरि भाष्यकर्त्रा वेदव्यासेन च पुनर्जन्मसद्भावः प्रतिपादितः । या सर्वेषु प्राणिषु जन्मारभ्य मरणत्रासाख्या प्रवृत्तिर्दृश्यते तया पूर्वापरजन्मानि भवन्तीति विज्ञायते । कुतः । जातमात्रकृमिरपि मरणत्रासमनुभवति । तथा विदुषोऽप्यनुभवो भवतीत्यतो जीवेनानेकानि शरीराणि धार्यन्ते । यदि पूर्वजन्मनि मरणानुभवो न भवेच्चेत्तर्हि तत्संस्कारोपि न स्यान्नैव संस्कारेण विना स्मृतिर्भवति स्मृत्या विना मरणत्रासः कथं जायेत । कुतः । प्राणिमात्रस्य मरणभयदर्शनात् पूर्वापरजन्मानि भवन्तीति वेदितव्यम् ॥ ८ ॥ (पुनरु०) तथा महाविदुषा गोतमेनर्षिणा न्यायदर्शने तद्भाष्यकर्त्रा वात्स्यायनेनापि पुनर्जन्मभावो मतः

यत् पूर्वशरीरं त्यक्त्वा पुनर्द्वितीयशरीरधारणं भवति तत्प्रेत्यभावाख्यः पदार्थो भवतीति विज्ञेयम् । प्रेत्यार्थान्मरणं प्राप्य भावोऽर्थात् पुनर्जन्म धृत्वा जीवो देहवान् भवतीत्यर्थः ॥ ६ ॥

भाषार्थ

(द्वे सृती०) इस संसार में हम दो प्रकार के जन्मों को (अशृणवम्) सुनते हैं। एक मनुष्य-शरीर का धारण करना और दूसरा नीचगति से पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग, वृक्ष आदि का होना। इन में मनुष्यशरीर के तीन भेद हैं। एक पितृ अर्थात् ज्ञानी होना, दूसरा देव अर्थात् सब विद्याओं को पढ़के विद्वान् होना, तीसरा मर्त्य अर्थात् साधारण मनुष्यशरीर का धारण करना। इन में प्रथम गति अर्थात् मनुष्यशरीर पुण्यात्माओं और पुण्यपाप तुल्यवालों को होता है और दूसरा जो जीव अधिक पाप करते हैं उनके लिये है। (ताभ्यामिदं विश्वमेजत्स-मेति०) इन्हीं भेदों से सब जगत् के जीव अपने २ पुण्य और पापों के फल भोग रहे हैं। (यदन्तरा पितरं मातरं च) जीवों को माता और पिता के शरीर में प्रवेश करके जन्मधारण करना, पुनः शरीर का छोड़ना, फिर जन्म को प्राप्त होना वारंवार होता है। जैसा वेदों में पूर्वापर जन्म के धारण करने का विधान किया है वैसा ही निरुक्तकार ने भी प्रतिपादन किया है। जब मनुष्य को ज्ञान होता है तब वह ठीक २ जानता है कि (मृतश्चाहं पु०) मैंने अनेक वार जन्ममरण को प्राप्त होकर नाना प्रकार के हज़ारह गर्भाशयों का सेवन किया ॥ १ ॥ (आहारा वि०) अनेक प्रकार के भोजन किये, अनेक माताओं के स्तनों का दुग्ध पिया, अनेक माता पिता और सुहृदों को देखा ॥ २ ॥ (अवाङ्मुखः) मैंने गर्भ में नीचे मुख ऊपर पग इत्यादि नाना प्रकार की पीड़ाओं से युक्त होके अनेक जन्म धारण किये, परन्तु अब इन महादुःखों से तभी छूटूंगा कि जब परमेश्वर में पूर्ण प्रेम और उसकी आज्ञा का पालन करूंगा। नहीं तो इस जन्ममरणरूप दुःखसागर के पार जाना कभी नहीं हो सकता। तथा योग-शास्त्र में भी पुनर्जन्म का विधान किया है (स्वरस०) (सर्वस्य प्रा०)। हरएक प्राणियों की यह इच्छा नित्य देखने में आती है कि (भूयासमिति)

अर्थात् मैं सदैव सुखी बना रहूं, मरूं नहीं । यह इच्छा कोई भी नहीं करता कि (मा न भूवं) अर्थात् मैं न होऊं । ऐसी इच्छा पूर्वजन्म के अभाव से कभी नहीं हो सकती । यह अभिनिवेश क्लेश कहलाता है जो कि कृमिपर्य्यन्त को भी मरण का भय बराबर होता है । यह व्यवहार पूर्वजन्म की सिद्धि को जनाता है ॥ तथा न्यायदर्शन के (पुनरु०) सू०, और उसी के वात्स्या० भा० में भी कहा है कि जो उत्पन्न अर्थात् किसी शरीर को धारण करता है वह मरण अर्थात् शरीर को छोड़ के पुनरुत्पन्न दूसरे शरीर को भी अवश्य प्राप्त होता है । इस प्रकार मर के पुनर्जन्म लेने को प्रेत्यभाव कहते हैं ॥ ६ ॥

भाष्यम्

अत्र केचिदेकजन्मवादिनो वदन्ति । यदि पूर्वजन्मासीत्तर्हि तत्स्मरणं कुतो न भवतीत्यत्र ब्रूमः । भोः ! ज्ञाननेत्रमुद्घाट्य द्रष्टव्यमस्मिन्नेव शरीरे जन्मतः पञ्चवर्षपर्य्यन्तं यद्यत्सुखं दुःखं च भवति, यच्च जागरितावस्थास्थानां सर्वव्यवहाराणां सुषुप्त्यवस्थायां च, तदनुभूतस्मरणं न भवति, पूर्वजन्म-वृत्तस्मरणस्य तु का कथा । (प्रश्नः) यदि पूर्वजन्मकृतयोः पापपुण्ययोः सुखदुःखफले हीश्वरोऽस्मिन् जन्मनि ददाति तयोश्चास्माकं साक्षात्काराभावात् सोऽन्यायकारी भवति, नातोऽस्माकं शुद्धिश्चेति ? । अत्र ब्रूमः । द्विविधं ज्ञानं भवत्येकं प्रत्यक्षं, द्वितीयमानुमानिकं च । यथा कस्यचिद्वैद्यस्यावैद्यस्य च शरीरे ज्वरावेशो भवेत्तत्र खलु वैद्यस्तु विद्यया कार्य्यकारणसङ्गत्यनुमानतो ज्वरनिदानं जानाति नापरश्च, परन्तु वैद्यिकविद्यारहितस्यापि ज्वरस्य प्रत्यक्षत्वात् किमपि मया कुपथ्यं पूर्वं कृतमिति जानाति, विना कारणेन कार्य्यं नैव भवतीति दर्शनात् । तथैव न्यायकारीश्वरोपि विना पापपुण्याभ्यां न कस्मैचित् सुखं दुःखं च दातुं शक्नोति । संसारे नीचोच्चसुखिदुःखिदर्शनाद् विज्ञायते पूर्वजन्मकृते पापपुण्ये बभूवतुरिति । अत्रैकजन्मवादिनामन्येऽपीदृशाः प्रश्नाः सन्ति, तेषां विचारेणोत्तराणि देयानि । किञ्च, न बुद्धिमतः प्रत्याखिललेखनं योग्यं भवति तेह्युद्देश्यमात्रेणाधिकं जानन्ति । ग्रन्थोपि भूयान्न भवेदिति मत्वाऽत्राधिकं नोल्लिख्यते ।

भाषार्थ

इसमें अनेक मनुष्य ऐसा प्रश्न करते हैं कि जो पूर्वजन्म होता है तो हम को उस का ज्ञान इस जन्म में क्यों नहीं होता ? (उत्तर) आंख खोल के देखो कि जब इसी जन्म में जो २ सुख दुःख तुमने बाल्यावस्था में अर्थात् जन्म से पांच वर्ष पर्य्यन्त पाये हैं उनका ज्ञान नहीं रहता, अथवा जो कि नित्य पठन पाठन और व्यवहार करते हैं उनमें से भी कितनी ही बातें भूल जाते हैं, तथा निद्रा में भी यही हाल हो जाता है कि अब के किये का भी ज्ञान नहीं रहता, जब इसी जन्म के व्यवहारों को इसी शरीर में भूल जाते हैं तो पूर्व शरीर के व्यवहारों का कब ज्ञान रह सकता है। तथा ऐसा भी प्रश्न करते हैं कि जब हम को पूर्वजन्म के पाप पुण्य का ज्ञान नहीं होता और ईश्वर उनका फल सुख वा दुःख देता है इससे ईश्वर का न्याय वा जीवों का सुधार कभी नहीं हो सकता ? (उत्तर) ज्ञान दो प्रकार का होता है। एक प्रत्यक्ष दूसरा अनुमानादि से। जैसे एक वैद्य और दूसरा अवैद्य, इन दोनों को ज्वर आने से वैद्य तो इस का पूर्व निदान जान लेता है और दूसरा नहीं जान सकता। परन्तु उस पूर्व कुपथ्य का कार्य्य जो ज्वर है वह दोनों को प्रत्यक्ष होने से वे जान लेते हैं कि किसी कुपथ्य से ही यह ज्वर हुआ है अन्यथा नहीं। इस में इतना विशेष है कि विद्वान् ठीक २ रोग के कारण और कार्य्य को निश्चय करके जानता है और वह अविद्वान् कार्य्य को तो ठीक २ जानता है परन्तु कारण में उसको यथावत् निश्चय नहीं होता। वैसे ही ईश्वर न्यायकारी होने से किसी को विना कारण से सुख वा दुःख कभी नहीं देता। जब हम को पुण्य पाप का कार्य्य सुख और दुःख प्रत्यक्ष है तब हम को ठीक निश्चय होता है कि पूर्वजन्म के पाप पुण्यों के विना उत्तम मध्यम और नीच शरीर तथा बुद्ध्यादि पदार्थ कभी नहीं मिल सकते। इससे हम लोग निश्चय करके जानते हैं कि ईश्वर का न्याय और हमारा सुधार ये दोनों काम यथावत् बनते हैं। इत्यादि प्रश्नोत्तर बुद्धिमान् लोग अपने विचार से यथावत् जान लेवें। मैं यहां इस विषय के बढ़ाने की आवश्यकता नहीं देखता।

इति पुनर्जन्मविषयः संक्षेपतः

अथ विवाहविषयः संक्षेपतः

गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः। भगो अर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः ॥ १ ॥ इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्। क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे ॥ २ ॥ ऋ० अ० ८। अ० ३। व० २७। २८। मं० १। २॥

भाष्यम्

अनयोरभि०—अत्र विवाहविधानं क्रियत इति। हे कुमारि युवतिकन्ये ! (सौभगत्वाय) सन्तानोत्पत्त्यादिप्रयोजनसिद्धये (ते) तव हस्तं (गृभ्णामि) गृह्णामि, त्वया सहाहं विवाहं करोमि, त्वं च मया सह। हे स्त्रि ! (यथा) येन प्रकारेण (मया पत्या) सह (जरदष्टिः) (आसः) जरावस्थां प्राप्नुयास्तथैव त्वया स्त्रिया सह जरदष्टिरहं भवेयं वृद्धावस्थां प्राप्नुयाम। एवमावां सम्प्रीत्या परस्परं धर्ममानन्दं कुर्य्यावहि। (भगः) सकलैश्वर्य्यसम्पन्नः, (अर्य्यमा) न्यायव्यवस्थाकर्त्ता, (सविता) सर्वजगदुत्पादकः, (पुरन्धिः) सर्वजगद्धारकः परमेश्वरः (मह्यं गार्हपत्याय) गृहकार्य्याय त्वां मदर्थं दत्तवान्, तथा (देवाः) अत्र सर्वे विद्वांसः साक्षिणः सन्ति। यद्यावां प्रतिज्ञोल्लंघनं कुर्य्यावहि तर्हि परमेश्वरदण्ड्यौ विद्वद्दण्ड्यौ च भवेवेति ॥ १ ॥ विवाहं कृत्वा परस्परं स्त्रीपुरुषौ कीदृशवर्त्तमानौ भवेतामेतदर्थमीश्वर आज्ञां ददाति (इहैव स्तं०) हे स्त्रीपुरुषौ ! युवां द्वाविहास्मिँल्लोके गृहाश्रमे सुखेनैव सदा (वस्तम्) निवासं कुर्यातम्, (मा वियौष्टं) तथा कदाचिद्विरोधेन देशान्तरगमनेन वा वियुक्तौ वियोगं प्राप्तौ मा भवेताम् एवम्मदाशीर्वादेन धर्मं कुर्वाणौ सर्वोपकारिणौ मद्भक्तिमाचरन्तौ (विश्वमायुर्व्यश्नुतम्) विविधसुखरूपमायुः प्राप्नुतम्। पुनः (स्वे गृहे) स्वकीये गृहे पुत्रैर्नप्तृभिश्च सह मोदमानौ सर्वानन्दं प्राप्नुवन्तौ (क्रीडन्तौ) सद्धर्मक्रियां कुर्वन्तौ सदैव भवतम्। इत्यनेनाप्येकस्याः स्त्रिया एक एव पतिर्भवत्वेकस्य पुरुषस्यैकैव स्त्री चेति।

अर्थादनेकस्त्रीभिः सह विवाहनिषेधो नरस्य तथाऽनेकैः पुरुषैः सहैकस्याः स्त्रियाश्चेति, सर्वेषु वेदमन्त्रेष्वेकवचनस्यैव निर्देशात् । एवं विवाहविधायका वेदेष्वनेके मन्त्राः सन्तीति विज्ञेयम् ।

भाषार्थ

(गृभ्णामि ते) (सौभगत्वाय हस्तं) हे स्त्रि ! मैं सौभाग्य अर्थात् गृहाश्रम में सुख के लिये तेरा हस्त ग्रहण करता हूं और इस बात की प्रतिज्ञा करता हूं कि जो काम तुझ को अप्रिय होगा उसको मैं कभी न करूंगा । ऐसे ही स्त्री भी पुरुष से कहे कि जो व्यवहार आपको अप्रिय होगा उसको मैं भी कभी न करूंगी । और हम दोनों व्यभिचारादि दोषरहित होके वृद्धावस्थापर्य्यन्त परस्पर आनन्द के व्यवहारों को करेंगे । हमारी इस प्रतिज्ञा को सब लोग सत्य जानें कि इससे उलटा काम कभी न किया जायगा । (भगः) जो ऐश्वर्यवान्, (अर्यमा) सब जीवों के पाप पुण्य के फलों को यथावत् देनेवाला, (सविता) सब जगत् का उत्पन्न करने और सब ऐश्वर्य का देनेवाला तथा (पुरन्धिः) सब जगत् का धारण करनेवाला परमेश्वर है वही हमारे दोनों के बीच में साक्षी है। तथा (मह्यं त्वा०) परमेश्वर और विद्वानों ने मुझ को तेरे लिये और तुझ को मेरे लिये दिया है कि हम दोनों परस्पर प्रीति करेंगे तथा उद्योगी होकर घर का काम अच्छी तरह से करेंगे और मिथ्याभाषणादि से बचकर सदा धर्म ही में वर्त्तेंगे । सब जगत् का उपकार करने के लिये सत्यविद्या का प्रचार करेंगे और धर्म से पुत्रों को उत्पन्न करके उन को सुशिक्षित करेंगे इत्यादि प्रतिज्ञा हम ईश्वर की साक्षी से करते हैं कि इन नियमों का ठीक २ पालन करेंगे । दूसरी स्त्री और दूसरे पुरुष से मन से भी व्यभिचार न करेंगे । (देवाः) हे विद्वान् लोगो ! तुम भी हमारे साक्षी रहो कि हम दोनों गृहाश्रम के लिये विवाह करते हैं । फिर स्त्री कहे कि मैं इस पति को छोड़ के मन, वचन और कर्म से भी दूसरे पुरुष को पति न मानूंगी । तथा पुरुष भी प्रतिज्ञा करे कि मैं इसके सिवाय दूसरी स्त्री को अपने मन, कर्म और वचन से कभी न चाहूंगा ॥ १ ॥ (इहैव स्तं०) विवाहित स्त्री पुरुषों के लिये परमेश्वर की आज्ञा है कि तुम दोनों गृहाश्रम के

शुभ व्यवहारों में रहो (मा वियौष्टं) अर्थात् विरोध करके अलग कभी मत हो और व्यभिचार भी किसी प्रकार का मत करो । ऋतुगामित्व से सन्तानों की उत्पत्ति, उनका पालन और सुशिक्षा, गर्भस्थिति के पीछे एक वर्ष पर्य्यन्त ब्रह्मचर्य्य और लड़कों को प्रसूता स्त्री का दुग्ध बहुत दिन न पिलाना इत्यादि श्रेष्ठ व्यवहारों से (विश्वमा०) सौ (१००) वा १२५ वर्ष पर्यन्त आयु को सुख से भोगो । (क्रीडन्तौ०) अपने घर में आनन्दित होके पुत्र और पौत्रों के साथ नित्य धर्मपूर्वक क्रीड़ा करो । इससे विपरीत व्यवहार कभी न करो और सदा मेरी आज्ञा में वर्त्तमान रहो । इत्यादि विवाहविधायक वेदों में बहुत मन्त्र हैं । उनमें से कई एक मन्त्र संस्कारविधि में भी लिखे हैं वहां देख लेना ।

इति संक्षेपतो विवाहविषयः

अथ नियोगविषयः संक्षेपतः

कुहस्विद्दोषा कुह वस्तोरश्विना कुहाभिपित्वं करतः कुहोषतुः । को वां शयुत्रा विधवेव देवरं मर्य्यं न योषा कृणुते सधस्थ आ ॥ १ ॥ ऋ० अ० ७ । अ० ८ । व० १८ । मं० २ ॥ इयं नारी पतिलोकं वृणाना निपद्यत उपत्वा मर्त्य प्रेतम् । धर्मं पुराणमनुपालयन्ती तस्यै प्रजां द्रविणं चेह धेहि ॥ २ ॥ अथर्व० कां० १८ । अनु० ३ । सू० १ । मं० १ ॥ उदीर्ष्व नार्य्यभि जीवलोकं गतासुमेतमुप शेष एहि । हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि सं बभूथ ॥ ३ ॥ ऋ० मं० १० । सू० १८ । मं० ८ ॥

भाष्यम्

एषामभि०—अत्र विधवाविस्त्रीकनियोगव्यवस्था विधीयत इति । (कुहस्विद्दोषा) हे विवाहितौ स्त्रीपुरुषौ ! युवां (कुह) कस्मिन्स्थाने (दोषा) रात्रौ (वस्तोः) वसथः, (कुह० अश्विना) दिवसे च क्व वासं कुरुथः,

(कुहाभि०) कस्मिन् दिने प्राप्तिं (करतः) कुरुतः, (कुहोषतुः) क्व युवयोर्निवासस्थानमस्ति, (को वां शयुत्रा) शयनस्थानं युवयोः क्वास्ति। इति स्त्रीपुरुषौ प्रति प्रश्नः। अनेन द्विजवर्णेष्वेकवारमेव चैकस्य पुरुषस्यैकैव स्त्री कर्तुं योग्यास्ति। तथैकस्याः स्त्रियाः एक एव पुरुषश्च, द्वयोः परस्परं सदैव प्रीतिर्भवेन्न कदाचिद्वियोगव्यभिचारौ भवेतामिति द्योत्यते। (विधवेव देवरं) कं केव? यथा देवरं द्वितीयं वरं नियोगेन प्राप्तं विधवा इव। अत्र प्रमाणम्। देवरः कस्माद् द्वितीयो वर उच्यते॥ निरु० अ० ३। खं० १५॥ विधवाया द्वितीयपुरुषेण सह नियोगकरणे आज्ञास्ति, तथा पुरुषस्य च विधवया सह। विधवा स्त्री मृतस्त्रीकपुरुषेण सहैव सन्तानार्थं नियोगं कुर्यान्न कुमारेण सह, तथा कुमारस्य विधवया सह च। अर्थात् कुमारयोः स्त्रीपुरुषयोरेकवारमेव विवाहः स्यात्, पुनरेवं नियोगश्च। नैव द्विजेषु द्वितीयवारं विवाहो विधीयते। पुनर्विवाहस्तु खलु शूद्रवर्ण एव विधीयते, तस्य विद्याव्यवहाररहितत्वात्। नियोजितौ स्त्रीपुरुषौ कथं परस्परं वर्त्तेयातामित्यत्राह। (मर्यं न योषा) यथा विवाहितं मनुष्यं (सधस्थे) समानस्थाने सन्तानार्थं योषा विवाहिता स्त्री (कृणुते) आह्वयति, तथैव विधवा विगतस्त्रीकश्च सन्तानोत्पत्तिकरणार्थं परस्परं नियोगं कृत्वा विवाहितस्त्रीपुरुषवद्वर्त्तेयाताम्॥ १॥ (इयं नारी०) इयं विधवा नारी (प्रेत) मृतं पतिं विहाय (पतिलोकं) पतिसुखं (वृणाना) स्वीकर्तुमिच्छन्ती सती (मर्त्य) हे मनुष्य! (त्वा) त्वामुपनिपद्यते, त्वां पतिं प्राप्नोति, तव समीपं नियोगविधानेनागच्छति, तां त्वं गृहाणाऽस्यां सन्तानान्युत्पादय। कथम्भूता सा? (धर्मं पुराणं) वेदप्रतिपाद्यं सनातनं धर्म्ममनुपालयन्ती सती त्वां नियोगेन पतिं वृणुते। त्वमपीमां वृणु। (तस्यै) विधवायै (इह) अस्मिन् समये लोके वा (प्रजां धेहि) त्वमस्यां प्रजोत्पत्तिं कुरु, (द्रविणं) द्रव्यं वीर्य्यं (च) अस्यां धेहि, अर्थात् गर्भाधानं कुरु॥ २॥ (उदीर्ष्व ना०) हे विधवे! नारि! (एतं) (गतासुं) गतप्राणं मृतं विवाहितं पतिं त्यक्त्वा (अभिजीवलोके) जीवन्तं देवरं द्वितीयवरं पतिं (एहि) प्राप्नुहि, (उपशेषे) तस्यैवोप शेषे सन्तानोत्पादनाय वर्त्तस्व। तत्सन्तानं (हस्तग्राभस्य) विवाहे संगृहीतहस्तस्य पत्युः स्यात्।

यदि नियुक्तपत्यर्थो नियोगः कृतस्तर्हि (दिधिषोः) तस्यैव सन्तानं भवेत्, (तवेदं) इदमेव विधवायास्तव (जनित्वं) सन्तानं भवति । हे विधवे ! विगतविवाहितस्त्रीकस्य पत्युश्चैतन्नियोगकरणार्थं त्वं (उदीर्ष्व) विवाहित-पतिमरणानन्तरमिमं नियोगमिच्छ, तथा (अभिसंबभूथ) सन्तानोत्पत्तिं कृत्वा सुखसंयुक्ता भव ॥ ३ ॥

भाषार्थ

नियोग उस को कहते हैं जिस से विधवा स्त्री और जिस पुरुष की स्त्री मर गई हो वह पुरुष ये दोनों परस्पर नियोग करके सन्तानों को उत्पन्न करते हैं । नियोग करने में ऐसा नियम है कि जिस स्त्री का पुरुष वा किसी पुरुष की स्त्री मरजाय, अथवा उन में किसी प्रकार का स्थिर रोग होजाय, वा नपुंसक वन्ध्यादोष पड़जाय, और उनकी युवावस्था हो, तथा संतानोत्पत्ति की इच्छा हो तो उस अवस्था में उन का नियोग होना अवश्य चाहिये । इस का नियम आगे लिखते हैं । (कुहस्वित्०) अर्थात् तुम दोनों विवाहित स्त्री पुरुषों ने (दोषा) रात्रि में कहां निवास किया था ? (कुह वस्तोरश्विना) तथा दिन में कहां वसे थे ? (कुहाभिपित्वं करतः) तुमने अन्न वस्त्र धन आदि की प्राप्ति कहां की थी ? (कुहोषतुः) तुम्हारा निवासस्थान कहां है, (को वां शयुत्रा) रात्रि में तुम कहां शयन करते हो ? वेदों में पुरुष और स्त्री के विवाहविषय में एक ही वचन के प्रयोग करने से यह निश्चित हुआ कि वेदरीति से एक पुरुष के लिये एक ही स्त्री और एक स्त्री के लिये एक ही पुरुष होना चाहिये अधिक नहीं । और न कभी इन द्विजों का पुनर्विवाह वा वियोग होना चाहिये । (विधवेव देवरम्) जैसे विधवा स्त्री देवर के साथ संतानोत्पत्ति करती है वैसे तुम भी करो । विधवा का जो दूसरा पति होता है उसको देवर कहते हैं । इससे यह नियम होना चाहिये कि द्विजों अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यों में दो २ सन्तानों के लिये नियोग होना और शूद्रकुल में पुनर्विवाह मरणपर्य्यन्त के लिये होना चाहिये । परन्तु माता, गुरुपत्नी, भगिनी, कन्या, पुत्रवधू आदि के साथ नियोग करने का सर्वथा निषेध है । यह नियोग शिष्ट पुरुषों की सम्मति और दोनों की प्रसन्नता

से हो सकता है। जब दूसरा गर्भ रहे तब नियोग छूट जाय और जो कोई इस नियम को तोड़े उसको द्विजकुल में से अलग करके शूद्रकुल में रख दिया जाय ॥ १ ॥ (इयं नारी पतिलोकं०) जो विधवा नारी पतिलोक अर्थात् पतिसुख की इच्छा करके नियोग किया चाहे तो (प्रेतम्) अर्थात् वह पति मरजाने के अनन्तर दूसरे पति को प्राप्त हो। (उप त्वा मर्त्य०) इस मन्त्र में स्त्री और पुरुष को परमेश्वर आज्ञा देता है कि हे पुरुष ! (धर्मं पुराणमनुपालयन्ती) जो इस सनातन नियोगधर्म की रक्षा करने वाली स्त्री है उस के संतानोत्पत्ति के लिये (तस्यै प्रजां द्रविणं चेह धेहि) धर्म से वीर्य्यदान कर, जिस से वह प्रजा से युक्त होके आनन्द में रहे। तथा स्त्री के लिये भी आज्ञा है कि जब किसी पुरुष की स्त्री मरजाय और वह संतानोत्पत्ति किया चाहे तब स्त्री भी उस पुरुष के साथ नियोग करके उसको प्रजायुक्त करदे। इसलिये मैं आज्ञा देता हूं कि तुम मन, कर्म और शरीर से व्यभिचार कभी मत करो, किन्तु धर्मपूर्वक विवाह और नियोग से सन्तानोत्पत्ति करते रहो ॥ २ ॥ (उदीर्ष्व नारी) हे स्त्रि ! अपने मृतक पति को छोड़ के (अभिजीवलोकं) इस जीवलोक में (एतमुपशेष एहि) जो तेरी इच्छा हो तो दूसर पुरुष के साथ नियोग करके सन्तानों को प्राप्त हो। नहीं तो ब्रह्मचर्य्याश्रम में स्थिर होकर कन्या और स्त्रियों को पढ़ाया कर। और जो नियोगधर्म में स्थित हो तो जब तक मरण न हो तब तक ईश्वर का ध्यान और सत्य धर्म के अनुष्ठान में प्रवृत्त होकर (हस्तग्राभस्य दिधिषोः) जो कि तेरा हस्त ग्रहण करनेवाला दूसरा पति है उस की सेवा किया कर। वह तेरी सेवा किया करे और उसका नाम दिधिषु है। (तवेदं) वह तेरे सन्तान की उत्पत्ति करनेवाला हो और जो तेरे लिये नियोग किया गया हो तो वह तेरा सन्तान हो। (पत्युर्जनित्वम०) और जो नियुक्त पति के लिये नियोग हुआ हो तो वह संतान पुरुष का हो। इस प्रकार नियोग से अपने २ सन्तानों को उत्पन्न करके दोनों सदा सुखी रहो ॥ ३ ॥

इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु। दशास्यां पुत्राना धेहि पतिमेकादशं कृधि ॥ ४ ॥ सोमः प्रथमो विविदे गन्ध-

र्वो विविद् उत्तरः तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः ॥ ५ ॥ ऋ० अष्ट० ८ । अध्याय ३ । व० २८ । २७ । मं० ५ ।

५ ॥ अदेवृघ्नयपतिघ्नी हैधि शिवा पशुभ्यः सुयमा सुवर्चाः । प्रजावती वीरसूर्देवृकामा स्योनेममग्निं गार्हपत्यं सपर्य ॥ ६ ॥ अथर्व० कां० १४ । अनु० २ । मं० १८ ॥

भाष्यम्

इदानीं नियोगस्य सन्तानोत्पत्तेश्च परिगणनं क्रियते । कतिवारं नियोगः कर्त्तव्यः, कियन्ति सन्तानानि चोत्पाद्यानीति ? । तद्यथा–(इमां त्वमिन्द्र०) हे इन्द्र विवाहितपते ! (मीढ्वः) हे वीर्य्यदानकर्त्तः ! त्वमिमां विवाहितस्त्रियं वीर्य्यसेकेन गर्भयुक्तां कुरु । तां (सुपुत्रां) श्रेष्ठपुत्रवतीं (सुभगां) अनुत्तमसुखयुक्तां (कृणु) कुरु, (दशास्यां) अस्यां विवाहितस्त्रियां दशपुत्रानाधेहि उत्पादय, नातोऽधिकमिति । ईश्वरेण दशसन्तानोत्पादनस्यैवाज्ञा पुरुषाय दत्तेति विज्ञेयम् । तथा (पतिमेकादशं कृधि) हे स्त्रि ! त्वं विवाहितपतिं गृहीत्वैकादशपतिपर्य्यन्तं नियोगं कुरु । अर्थात् कस्याश्चिदापत्कालावस्थायां प्राप्तायामेकैकस्याभावे सन्तानोत्पत्त्यर्थं दशमपुरुषपर्य्यन्तं नियोगं कुर्य्यात् । तथा पुरुषोऽपि विवाहितस्त्रियां मृतायां सत्यां सन्तानाभावे एकैकस्या अभावे दशम्या विधवया सह नियोगं करोत्विति।च्छा नास्ति चेन्मा कुरुताम् ॥ ४ ॥ अथोत्तरोत्तरं पतीनां संज्ञा विधीयते । (सोमः प्रथमः) हे स्त्रि ! यस्त्वां प्रथमः (विविदे) विवाहितः पतिः प्राप्नोति स सौकुमार्य्यादिगुणयुक्तत्वात् सोमसंज्ञो भवति । (गन्धर्वो वि०) यस्तु (उत्तरः) द्वितीयो नियुक्तः पतिर्विधवां त्वां विविदे प्राप्नोति स गन्धर्वसंज्ञां लभते । कुतः । तस्य भोगाभिज्ञत्वात् । (तृतीयो अ०) येन सह त्वं तृतीयवारं नियोगं करोषि सोऽग्निसंज्ञो जायते । कुतः । द्वाभ्यां पुरुषाभ्यां भुक्तभोगया त्वया सह नियुक्तत्वादग्निदाहवत्तस्य शरीरस्थधातवो दह्यन्त इत्यतः । (तुरीयस्ते मनुष्यजाः) हे स्त्रि ! चतुर्थमारभ्य दशमपर्य्यन्तास्तव पतयः साधारणबलवीर्यत्वान्मनुष्यसंज्ञा भवन्तीति बोध्यम् । तथैव स्त्रीणामपि सोम्या,

गन्धर्व्याग्नायी, मनुष्यजाः संज्ञास्तत्तद्गुणयुक्तत्वाद्भवन्तीति ॥ ५ ॥ (अदेवृघ्न्यपतिघ्नि) हे अदेवृघ्नि ! देवरसेविके ! हे अपतिघ्नि! विवाहितपतिसेविके ! स्त्रि ! त्वं शिवा कल्याणगुणयुक्ता, (पशुभ्यः सुयमा सुवर्चाः) गृहकृत्येषु शोभननियमयुक्ता, गृहसम्बन्धिपशुभ्यो हिता, श्रेष्ठकान्तिविद्यासहिता, तथा (प्रजावती वीरसूः) प्रजापालनतत्परा, वीरसन्तानोत्पादिका, (देवृकामा) नियोगेन द्वितीयवरस्य कामनावती, (स्योना) सम्यक् सुखयुक्ता सुखकारिणी सती (इममग्निं गार्हपत्यं) गृहसम्बन्धिनमाहवनीयादिमग्निं, सर्वं गृहसम्बन्धिव्यवहारं च (सपर्य) प्रीत्या सम्यक् सेवय । अत्र स्त्रियाः पुरुषस्य चापत्काले नियोगव्यवस्था प्रतिपादितास्तीति वेदितव्यम् । इति ॥ ६ ॥

भाषार्थ

(इमां०) ईश्वर मनुष्यों को आज्ञा देता है कि हे इन्द्र ! पते ! ऐश्वर्ययुक्त ! तू इस स्त्री को वीर्यदान दे के सुपुत्र और सौभाग्ययुक्त कर । हे वीर्यप्रद ! (दशास्यां पुत्रानाधेहि) । पुरुष के प्रति वेद की यह आज्ञा है कि इस विवाहित वा नियोजित स्त्री में दश सन्तानपर्यन्त उत्पन्न कर अधिक नहीं । (पतिमेकादशं कृधि०) तथा हे स्त्री ! तू नियोग में ग्यारह पति तक कर । अर्थात् एक तो उन में प्रथम विवाहित और दशपर्यन्त नियोग के पति कर अधिक नहीं । इसकी यह व्यवस्था है कि विवाहित पति के मरने वा रोगी होने से दूसरे पुरुष वा स्त्री के साथ सन्तानों के अभाव में नियोग करे । तथा दूसरे को भी मरण वा रोगी होने के अनन्तर तीसरे के साथ करले । इसी प्रकार दशवें तक करने की आज्ञा है । परन्तु एक काल में एक ही वीर्यदाता पति रहे दूसरा नहीं । इसी प्रकार पुरुष के लिये भी विवाहित स्त्री के मरजाने पर विधवा के साथ नियोग करने की आज्ञा है और जब वह भी रोगी हो वा मरजाय तो सन्तानोत्पत्ति के लिये दशमस्त्रीपर्यन्त नियोग करलेवे ॥ ४ ॥ अब पतियों की संज्ञा कहते हैं (सोमः प्रथमो विविदे) उनमें से जो विवाहित पति होता है उसकी सोमसंज्ञा है, क्योंकि वह सुकुमार होने से मृदु आदि गुणयुक्त होता है । (गन्धर्वो विविद उत्तरः)

दूसरा पति जो नियोग से होता है सो गन्धर्वसंज्ञक अर्थात् भोग में अभिज्ञ होता है। (तृतीयो अग्निष्टे पतिः०) तीसरा पति जो नियोग से होता है वह अग्नि-संज्ञक अर्थात् तेजस्वी अधिक उमरवाला होता है। (तुरीयस्ते मनुष्यजाः) और चौथे से ले के दशमपर्य्यन्त जो नियुक्त पति होते हैं वे सब मनुष्यसंज्ञक कहाते हैं, क्योंकि वे मध्यम होते हैं ॥ ५ ॥ (अदेवृघ्न्यपतिघ्नी०) हे विधवा स्त्रि ! तू देवर और विवाहित पति को सुख देनेवाली हो किन्तु उनका अप्रिय किसी प्रकार से मत कर और वे भी तेरा अप्रिय न करें। (एधि शिवा०) इसी प्रकार मङ्गलकार्य्यों को करके सदा सुख बढ़ाते रहो। (पशुभ्यः सुयमा सुवर्चाः) घर के पशु आदि सब प्राणियों की रक्षा करके, जितेन्द्रिय होके, धर्मयुक्त श्रेष्ठकार्य्यों को करती रहो। तथा सब प्रकार के विद्यारूप उत्तम तेज को बढ़ाते जा। (प्रजा-वती वीरसूः) तू श्रेष्ठप्रजायुक्त हो। बड़े २ वीर पुरुषों को उत्पन्न कर। (देवृ-कामा) जो तू देवर की कामना करने वाली है, तो जब तेरा विवाहित पति न रहे वा रोगी तथा नपुंसक होजाय तब दूसरे पुरुष से नियोग करके सन्तानोत्पत्ति कर। (स्योनेमग्निं गार्हपत्यं सपर्य्य) और तू इस अग्निहोत्रादि घर के कामों को सुखरूप होके सदा प्रीति से सेवन कर ॥ ६ ॥ इसी प्रकार से विधवा और पुरुष तुम दोनों आपत्काल में धर्म करके सन्तानोत्पत्ति करो और उत्तम २ व्यव-हारों को सिद्ध करते जाओ। गर्भहत्या वा व्यभिचार कभी मत करो। किन्तु नियोग ही करलो, यही व्यवस्था सब से उत्तम है।

इति नियोगविषयः संक्षेपतः

अथ राजप्रजाधर्मविषयः संक्षेपतः

त्रीणि राजाना विदथे पुरूणि परि विश्वानि भूषथः सदांसि। अपश्यमत्र मनसा जगन्वान्व्रते गन्धर्वां अपि वायुकेशान् ॥ १ ॥ ॥ ऋ० अ० ३। अ० २। व० २४। मं० १ ॥ क्षत्रस्य योनिरसि क्षत्रस्य नाभिरसि। मा त्वा हिंसीन्मा मा हिंसीः ॥ २ ॥

य० अ० २० । मं० १ ॥ यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह । तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं * यत्र देवाः सहाग्निना ॥ ३ ॥ य० अ० २० । मं० २५ ॥

भाष्यम्

एषामभि०—अत्र मन्त्रेषु राजधर्मो विधीयत इति । यथा सूर्य्यचन्द्रौ राजानौ सर्वमूर्त्तद्रव्यप्रकाशकौ भवत,स्तथा सूर्य्यचन्द्रगुणशीलौ प्रकाशन्याययुक्तौ व्यवहारौ, त्रीणि सदांसि (भूषथः) भूषयतोऽलङ्कुरुतः । (विदथे) ताभिः सभाभिरेव युद्धे (पुरूणि) बहूनि विजयादीनि सुखानि मनुष्याः प्राप्नुवन्ति । तथा (परि विश्वानि) राजधर्म्मादियुक्ताभिस्सभाभिर्विश्वस्थानि सर्वाणि वस्तूनि प्राणिजातानि च भूषयन्ति सुखयन्ति । इदमत्र बोध्यम् । एका राजार्य्यसभा, तत्र विशेषतो राजकार्य्याण्येव भवेयुः । द्वितीयाऽऽर्य्यविद्यासभा, तत्र विशेषतो विद्याप्रचारोन्नती एव कार्य्ये भवतः । तृतीयाऽऽर्य्यधर्मसभा, तत्र विशेषतो धर्मोन्नतिरधर्महानिश्चोपदेशेन कर्त्तव्या । परन्त्वेतास्तिस्रस्सभाःसामान्ये कार्य्ये मिलित्वैव सर्वानुत्तमान् व्यवहारान् प्रजासु प्रचारयेयुरिति । यत्रैतासु सभासु धर्मात्माभिर्विद्वद्भिः सारासारविचारेण कर्त्तव्याकर्त्तव्यस्य प्रचारो निरोधश्च क्रियते, तत्र सर्वाः प्रजाः सदैव सुखयुक्ता भवन्ति । यत्रैको मनुष्यो राजा भवति तत्र पीडिताश्चेति निश्चयः । (अपश्यमत्र) इदमत्राहमपश्यम् । ईश्वरोऽभिवदति, यत्र सभया राजप्रबन्धो भवति तत्रैव सर्वाभ्यः प्रजाभ्यो हितं जायत इति । (व्रते) यो मनुष्यः सत्याचरणे (मनसा) विज्ञानेन सत्यं न्यायं (जगन्वान्) विज्ञातवान्, स राजसभामर्हति नेतरश्च । (गन्धर्वान्) पूर्वोक्तासु सभासु गन्धर्वान् पृथिवीराजपालनादिव्यवहारेषु कुशलान् (अपि वायुकेशान्) वायुवद्दूतप्रचारेण विदितसर्वव्यवहारान् सभासदः कुर्य्यात् । केशास्सूर्य्यरश्मयस्तद्वत्सत्यन्यायप्रकाशकान्, सर्वहितं चिकीर्षून्, धर्मात्मनः, सभासदस्स्थापयितुमहमाज्ञापयामि, नेतरांश्चेतीश्वरोपदेशः सर्वैर्मन्तव्य इति ॥ १ ॥ (क्षत्रस्य योनिरसि) हे परमेश्वर !

* प्रज्ञेषमिति यजुषि पाठः ॥

त्वं यथा क्षत्रस्य राजव्यवहारस्य योनिर्निमित्तमसि, तथा (क्षत्रस्य नाभिरसि) एवं राजधर्मस्य त्वं प्रबन्धकर्त्तासि। तथैव नोऽस्मानपि कृपया राज्यपालननिमित्तान् क्षत्रधर्मप्रबन्धकर्तॄंश्च कुरु। (मात्वाहिंसीन्मा माहिंसीः) तथाऽस्माकं मध्यात् कोपि जनस्त्वा मा हिंसीदर्थाद्भवन्तं तिरस्कृत्य नास्तिको मा भवतु, तथा त्वं मां मा हिंसीरर्थान्मम तिरस्कारं कदाचिन्मा कुर्याः। यतो वयं भवत्सृष्टौ राज्याधिकारिणस्सदा भवेम ॥ ३ ॥ (यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च) यत्र देशे ब्रह्म परमेश्वरो, वेदो वा, ब्राह्मणो, ब्रह्मविच्चैतत्सर्वं ब्रह्म तथा (क्षत्रं) शौर्य्यधैर्य्यादिगुणवन्तो मनुष्याश्चैतौ द्वौ (सम्यञ्चौ) यथावद्विज्ञानयुक्तावविरुद्धौ (चरतः सह) तं लोकं तं देशं पुण्यं पुण्ययुक्तं (यज्ञेषं) यज्ञकरणेच्छाविशिष्टं विजानीमः, (यत्र देवाः सहाग्निना) यस्मिन्देशे विद्वांसः परमेश्वरेणाग्निहोत्रादियज्ञानुष्ठानेन च सह वर्त्तन्ते तत्रैव प्रजाः सुखिन्यो भवन्तीति विज्ञेयम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ

सब जगत् का राजा एक परमेश्वर ही है और सब संसार उस की प्रजा है। इसमें यह यजुर्वेद के अठारहवें अध्याय के २९ वें मन्त्र के वचन का प्रमाण है। (वयं प्रजापतेः प्रजा अभूम) अर्थात् सब मनुष्य लोगों को निश्चय करके जानना चाहिये कि हम लोग परमेश्वर की प्रजा हैं और वही एक हमारा राजा है। (त्रीणि राजाना) तीन प्रकार की सभा ही को राजा मानना चाहिये, एक मनुष्य को कभी नहीं। वे तीनों ये हैं—प्रथम राज्यप्रबन्ध के लिये एक आर्य्यराजसभा कि जिससे विशेष करके सब राजकार्य्य ही सिद्ध किये जावें, दूसरी आर्य्यविद्यासभा कि जिससे सब प्रकार की विद्याओं का प्रचार होता जाय, तीसरी आर्य्यधर्मसभा कि जिससे धर्म का प्रचार और अधर्म की हानि होती रहे। इन तीन सभाओं से (विदथे) अर्थात् युद्ध में (पुरूणि परिविश्वानि भूषथः) सब शत्रुओं को जीत के नाना प्रकार के सुखों से विश्व को परिपूर्ण करना चाहिये ॥१॥ (क्षत्रस्य योनिरसि) हे राज्य के देने वाले परमेश्वर! आप ही राज्यसुख के परम कारण हैं, (क्षत्रस्य नाभिरसि) आप ही राज्य के जीवनहेतु हैं तथा

क्षात्रियवर्ण के राज्य का कारण और जीवन सभा ही है, (मां त्वा हिꣳसीन्मा माहिꣳसीः) हे जगदीश्वर ! सब प्रजा आप को छोड़ के किसी दूसरे को अपना राजा कभी न माने और आप भी हम लोगों को कभी मत छोड़िये, किन्तु आप और हम लोग परस्पर सदा अनुकूल वर्त्तें ॥ २ ॥ (यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च) जिस देश में उत्तम विद्वान् ब्राह्मण विद्यासभा और राजसभा विद्वान् शूरवीर क्षात्रिय लोग ये सब मिलके राजकामों को सिद्ध करते हैं, वही देश धर्म और शुभ क्रियाओं से संयुक्त हो के सुख को प्राप्त होता है । (यत्र देवाः सहाग्निना०) जिस देश में परमेश्वर की आज्ञापालन और अग्निहोत्रादि सत्क्रियाओं से वर्त्तमान विद्वान् होते हैं वही देश सब उपद्रवों से रहित होके अखण्ड राज को नित्य भोगता है ॥ ३ ॥

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् । अश्विनोर्भैषज्येन तेजसे ब्रह्मवर्चसायाभिषिञ्चामि । इन्द्रस्येन्द्रियेण बलाय श्रियै यशसेऽभिषिञ्चामि ॥ ४ ॥ कोऽसि कतमोऽसि कस्मै त्वा काय त्वा । सुश्लोक सुमङ्गल सत्यराजन् ॥ ५ ॥ शिरो मे श्रीर्यशो मुखं त्विषिः केशाश्च श्मश्रूणि । राजा मे प्राणो अमृतꣳसम्राट् चक्षुर्विराट् श्रोत्रम् ॥ ६ ॥ य० अ० २० । मं० ३ । ४ । ५ ॥

भाष्यम्

(देवस्य त्वा सवितुः) हे सभाध्यक्ष ! स्वप्रकाशमानस्य, सर्वस्य जगत उत्पादकस्य, परमेश्वरस्य (प्रसवे) अस्यां प्रजायां, (अश्विनोर्बाहुभ्यां) सूर्य्याचन्द्रमसोर्बाहुभ्यां बलवीर्याभ्यां, (पूष्णो हस्ताभ्यां) पुष्टिकर्तुः प्राणस्य ग्रहणदानाभ्यां, (अश्विनोर्भैषज्येन) पृथिव्यन्तरिक्षौषधिसमूहेन सर्वरोगनिवारकेण सह वर्त्तमानं त्वां (तेजसे) न्यायादिसद्गुणप्रकाशाय, (ब्रह्मवर्चसाय) पूर्णविद्याप्रचाराय, (अभिषिञ्चामि) सुगन्धजलैर्मूर्द्धनि मार्जयामि । तथा (इन्द्रस्येन्द्रियेण) परमेश्वरस्य परमैश्वर्य्येण विज्ञानेन च (बलाय) उत्तमबलार्थं, (श्रियै) चक्रवर्त्तिराज्यलक्ष्मीप्राप्त्यर्थं, त्वा,

(यशसे) अतिश्रेष्ठकीर्त्यर्थं च (अभिषिञ्चामि) राजधर्मपालनार्थं स्थापयामीतीश्वरोपदेशः ॥ ४ ॥ (कोसि) हे परमात्मन् ! त्वं सुखस्वरूपोसि, भवानस्मानपि सुराज्येन सुखयुक्तान् करोतु । (कतमोसि) त्वमत्यन्तानन्दयुक्तोसि, अस्मानपि राजसभाप्रबन्धेनात्यन्तानन्दयुक्तान्सम्पादय । (कस्मै त्वा) अतो नित्यसुखाय त्वामाश्रयामः । तथा (काय त्वा) सुखरूपराज्यप्रदाय त्वामुपास्महे । (सुश्लोक) हे सत्यकीर्त्ते ! (सुमङ्गल) हे सुष्ठुमङ्गलमय, सुमङ्गलकारक ! (सत्यराजन्) हे सत्यप्रकाशक सत्यराज्यप्रदेश्वरास्मद्राजसभाया भवानेव महाराजाधिराजोस्तीति वयं मन्यामहे ॥ ५ ॥ सभाध्यक्ष एवं मन्येत, (शिरो मे श्रीः) राज्यश्रीर्मे मम शिरोवत्, (यशो मुखं) उत्तमकीर्त्तिर्मुखवत्, (त्विषिः केशाश्च श्मश्रूणि) सत्यन्यायदीप्तिः मम केशश्मश्रुवत्, (राजा मे प्राणः) परमेश्वरः, शरीरस्थो जीवनहेतुर्वायुश्च मम राजवत्, (अमृतꣳसम्राट्) मोक्षाख्यं सुखं, ब्रह्म, वेदश्च* सम्राट् चक्रवर्तिराजवत्, (चक्षुर्विराट् श्रोत्रम्) सत्यविद्यादिगुणानां विविधप्रकाशकरणं श्रोत्रं चक्षुर्वत् । एवं सभासदोपि मन्येरन् । एतानि सभाध्यक्षस्य सभासदां चाङ्गानि सन्तीति सर्वे विजानीयुः ॥ ६ ॥

भाषार्थ

(देवस्य त्वा सवितुः) जो कोई राजा सभाध्यक्ष होने के योग्य हो उस का हम लोग अभिषेक करें और उससे कहें कि हे सभाध्यक्ष ! आप सब जगत् को प्रकाशित और उत्पन्न करनेवाले परमेश्वर की (प्रसवे) सृष्टि में प्रजापालन के लिये (अश्विनोर्बाहुभ्याम्) सूर्य्य चन्द्रमा के बल और वीर्य्य से (पूष्णो हस्ताभ्याम्) पुष्टि करने वाले प्राण को ग्रहण और दान की शक्तिरूप हाथों से आप को सभाध्यक्ष होने में स्वीकार करते हैं । (अश्विनोर्भैषज्येन) परमेश्वर कहता है कि पृथिवीस्थ और शुद्ध वायु इन ओषधियों से दिन रात में सब रोगों से तुझ को निवारण करके, (तेजसे) सत्यन्याय के प्रकाश, (ब्रह्मवर्चसाय) ब्रह्म के ज्ञान और विद्या की वृद्धि के लिये, तथा (इन्द्रस्येन्द्रियेण) परमेश्वर के

* वेदश्चेति स्थाने 'च' इत्येव पाठो ह० लि० भूमिकायाम् ॥

परमैश्वर्य्य और आज्ञा के विज्ञान से (बलाय) उत्तम सेना, (श्रियै) सर्वोत्तम लक्ष्मी और (यशसे) सर्वोत्तम कीर्त्ति की प्राप्ति के लिये, मैं तुम लोगों को सभा करने की आज्ञा देता हूं कि यह आज्ञा राजा और प्रजा के प्रबन्ध के अर्थ है। इससे सब मनुष्य लोग इस का यथावत् प्रचार करें ॥ ४ ॥ हे महाराजेश्वर! आप (कोसि कतमोसि) सुखस्वरूप अत्यन्त आनन्दकारक हैं, हम लोगों को भी सब आनन्द से युक्त कीजिये। (सुश्लोक) हे सर्वोत्तम कीर्त्ति के देने वाले! तथा (सुमङ्गल) शोभनमङ्गलरूप आनन्द के करने वाले जगदीश्वर! (सत्यराजन्) सत्यस्वरूप और सत्य के प्रकाश करने वाले हम लोगों के राजा तथा सब सुखों के देने वाले आप ही हैं। (कस्मै त्वा काय त्वा) उसी अत्यन्त सुख, श्रेष्ठ विचार और आनन्द के लिये हम लोगों ने आप का शरण लिया है, क्योंकि इसीसे हम को पूर्ण राज्य और सुख निस्संदेह होगा ॥ ५ ॥ सभाध्यक्ष, सभासद् और प्रजा को ऐसा निश्चय करना चाहिये कि (शिरो मे श्रीः) श्री मेरा शिरस्थानी, (यशो मुखं) उत्तम कीर्त्ति मेरा मुखवत्, (त्विषिः कशाश्च श्मश्रूणि) सत्यगुणों का प्रकाश मेरे केश और डाढ़ी मूछ के समान, तथा (राजा मे प्राणः) जो ईश्वर सब का आधार और जीवनहेतु है वही प्राणप्रिय मेरा राजा, (अमृतꣳसम्राट्) अमृतस्वरूप जो ब्रह्म और मोक्षसुख है वही मेरा चक्रवर्त्ती राजा, तथा (चक्षुर्विराट् श्रोत्रम्) जो अनेक सत्यविद्याओं के प्रकाशयुक्त मेरा श्रोत्र है वही मेरी आंख है ॥ ६ ॥

बाहू मे बलमिन्द्रियꣳहस्तौ मे कर्म वीर्य्यम्। आत्मा क्षत्रमुरो मम ॥ ७ ॥ पृष्ठीर्मे राष्ट्रमुदरमꣳसौ ग्रीवाश्च श्रोणी। ऊरू अरत्नी जानुनी विशो मेऽङ्गानि सर्वतः ॥ ८ ॥ य० अ० २०। मं० ७। ८ ॥

भाष्यम्

(बाहू मे बलं) यदुत्तमं बलं तन्मम बाहुवदस्ति, (इन्द्रियꣳहस्तौ मे) शुद्धं विद्यायुक्तं मनः, श्रोत्रादिकं च मम ग्रहणसाधनवत्। (कर्म वीर्य्यं) यदुत्तमपराक्रमधारणं तन्मम कर्मवत्, (आत्मा क्षत्रमुरो मम) यन्मम हृदयं तत् क्षत्रवत् ॥ ७ ॥

(पृष्ठीर्मे राष्ट्रम्) यद्राष्ट्रं तन्मम पृष्ठभागवत् । (उदरमꣳसौ) यौ सेनाकोशौ स्तस्तत्कर्म मम हस्तमूलोदरवत् । (ग्रीवाश्च श्रोणी) यत्प्रजायाः सुखेन भूषितपुरुषार्थिकरणं तत्कर्म मम नितम्बाङ्गवत् । (ऊरू अरत्नी) यत्प्रजायाः व्यापारे गणितविद्यायां च निपुणीकरणं तन्ममोर्वरत्न्यङ्गवदास्ति । (जानुनी विशो मेऽङ्गानि सर्वतः) यत्प्रजाराजसभयोः सर्वथा मेलरक्षणं तन्मम कर्म जानुवत् । एवं पूर्वोक्तानि सर्वाणि कर्माणि ममावयववत् सन्ति । यथा स्वाङ्गेषु प्रीतिस्तत्पालने पुरुषस्य श्रद्धा भवति तथा प्रजापालने च स्वकीया बुद्धिस्सर्वैः कार्य्येति ॥ ८ ॥

भाषार्थ

(बाहू मे बलं) जो पूर्ण बल है वही मेरी भुजा, (इन्द्रियꣳ हस्तौ) जो उत्तम कर्म और पराक्रम से युक्त इन्द्रिय और मन है वे मेरे हाथों के समान, (आत्मा क्षत्रमुरो मम) जो राजधर्म, शौर्य्य, धैर्य्य और हृदय का ज्ञान है वही सब मेरे आत्मा के समान है ॥ ७ ॥ (पृष्ठीर्मे राष्ट्रं) जो उत्तम राज्य है सो मेरी पीठ के समतुल्य, (उदरमꣳसौ) जो राज्य सेना और कोश है वह मेरे हस्त का मूल और उदर के समान, तथा (ग्रीवाश्च श्रोणी) जो प्रजा को सुख से भूषित और पुरुषार्थी करना है सो मेरे कण्ठ और श्रोणी अर्थात् नाभि के अधोभागस्थान के समतुल्य, (ऊरू अरत्नी) जो प्रजा को व्यापार और गणितविद्या में निपुण करना है सो ही अरत्नी और ऊरू अङ्ग के समान, तथा (जानुनी) जो प्रजा और राजसभा का मेल रखना यह मेरी जानु के समान है, (विशो मेऽङ्गानि सर्वतः) जो इस प्रकार से प्रजापालन में उत्तम कर्म करने हैं ये सब मेरे अङ्गों के समान हैं ॥ ८ ॥

प्रति क्षत्रे प्रति तिष्ठामि राष्ट्रे प्रत्यश्वेषु प्रति तिष्ठामि गोषु । प्रत्यङ्गेषु प्रति तिष्ठाम्यात्मन् प्रति प्राणेषु प्रति तिष्ठामि पुष्टे प्रति द्यावापृथिव्योः प्रति तिष्ठामि यज्ञे ॥ १० ॥ त्रातारमिन्द्रमवितारमिन्द्रꣳहवे हवे सुहवꣳशूरमिन्द्रम् । ह्वयामि शक्रं पुरुहूतमिन्द्रꣳ स्वस्ति नो मघवा धात्विन्द्रः ॥११॥ य० अ० २० । मं० १० । ५० ॥

भाष्यम्

(प्रतिक्षत्रे प्रतितिष्ठामि राष्ट्रे) अहं परमेश्वरो धर्मेण प्रतीते क्षत्रे प्रतिष्ठितो भवामि, विद्याधर्मप्रचारिते देशे च । (प्रत्यश्वेषु) प्रत्यश्वं प्रतिगां च तिष्ठामि । (प्रत्यङ्गेषु) सर्वस्य जगतोऽङ्गमङ्गं प्रतितिष्ठामि । तथा चात्मानमात्मानं प्रतितिष्ठामि । (प्रतिप्राणे०) प्राणं प्राणं प्रत्येवं पुष्टं पुष्टं पदार्थं प्रतितिष्ठामि । (प्रति द्यावापृथिव्योः) दिवं दिवं प्रति पृथिवीं पृथिवीं प्रति च तिष्ठामि । (यज्ञे) तथा यज्ञं यज्ञं प्रति तिष्ठाम्यहमेव सर्वत्र व्यापकोस्मीति । मामिष्टदेवं समाश्रित्य ये राजधर्ममनुसरन्ति तेषां सदैव विजयाभ्युदयौ भवतः । एवं राजपुरुषैश्चापि प्रजापालने सर्वत्र न्यायविज्ञानप्रकाशो रक्षणीयो यतोऽन्यायाविद्याविनाशः स्यादिति ॥ १० ॥ (त्रातारमिन्द्र०) यं विश्वस्य त्रातारं रक्षकं, परमैश्वर्य्यवन्तं, (सुहवꣳ शूरमिन्द्रं) सुहवं शोभनयुद्धकारिणमत्यन्तशूरं, जगतो राजानमनन्तबलवन्तं, (शक्रं) शक्तिमन्तं शक्तिप्रदं च, (पुरुहूतं) बहुभिः शूरैः सुसेवितं, (इन्द्रं) न्यायेन राज्यपालकं, (इन्द्रꣳहवेहवे) युद्धे युद्धे स्वविजयार्थं इन्द्रं परमात्मानं (ह्वयामि) आह्वयामि आश्रयामि । (स्वस्ति नो मघवा धात्विन्द्रः) स परमधनप्रदातेन्द्रः सर्वशक्तिमानीश्वरः सर्वेषु राज्यकार्य्येषु नोऽस्मभ्यं स्वस्ति (धातु) निरन्तरं विजयसुखं दधातु ॥ ११ ॥

भाषार्थ

(प्रतिक्षत्रे प्रतितिष्ठामि राष्ट्रे) जो मनुष्य इस प्रकार के उत्तम पुरुषों की सभा से न्यायपूर्वक राज्य करते हैं उनके लिये परमेश्वर प्रतिज्ञा करता है कि हे मनुष्यो ! तुम लोग धर्मात्मा होके न्याय से राज्य करो, क्योंकि जो धर्मात्मा पुरुष हैं मैं उन के क्षत्रधर्म और सब राज्य में प्रकाशित रहता हूं और वे सदा मेरे समीप रहते हैं । (प्रत्यश्वेषु प्रतितिष्ठामि गोषु०) उन की सेना के अश्व और गौ आदि पशुओं में भी मैं स्वसत्ता से प्रतिष्ठित रहता हूं । (प्रत्यङ्गेषु प्रतितिष्ठाम्यात्मन्) तथा सब सेना राजा के अङ्गों और उनके आत्माओं के बीच में भी सदा प्रतिष्ठित रहता हूं । (प्रतिप्राणेषु प्रतितिष्ठामि पुष्टे) उनके प्राण और

पुष्ट व्यवहारों में भी सदा व्यापक रहता हूं । (प्रतिद्यावापृथिव्योः प्रतितिष्ठामि यज्ञे) जितना सूर्य्यादि प्रकाशरूप और पृथिव्यादि अप्रकाशरूप जगत् तथा जो अश्वमेधादि यज्ञ हैं इन सब के बीच में भी मैं सर्वदा व्यापक होने से प्रतिष्ठित रहता हूं । इस प्रकार से तुम लोग मुझ को सब स्थानों में परिपूर्ण देखो ॥१०॥ जिन लोगों की ऐसी निष्ठा है उनका राज्य सदा बढ़ता रहता है । (त्रातारमिन्द्रं) जिन मनुष्यों का ऐसा निश्चय है कि केवल परमैश्वर्य्यवान् परमात्मा ही हमारा रक्षक है, (अविता) जो ज्ञान और आनन्द का देने वाला है, (सुहव॰ शूरमिन्द्र॰ हवेहवे) वही इन्द्र परमात्मा प्रतियुद्ध में जो उत्तम युद्ध करानेवाला, शूरवीर और हमारा राजा है, (ह्वयामि शक्रं पुरुहूतमिन्द्रं) जो अनन्त पराक्रमयुक्त ईश्वर है, जिसका सब विद्वान् वेदादि शास्त्रों से प्रतिपादन और इष्ट करते हैं, वही हमारा सब प्रकार से राजा है । (स्वस्ति नो मघवा धात्विन्द्रः) जो इन्द्र परमेश्वर मघवा अर्थात् परमविद्यारूप धनी और हमारे लिये विजय आदि सब सुखों का देनेवाला है, जिन मनुष्यों को ऐसा निश्चय है उनका पराजय कभी नहीं होता ॥ ११ ॥

इमं देवा असपत्नꣳसुवध्वं महत क्षत्राय महते ज्यैष्ठ्याय महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय । इमममुष्य पुत्रममुष्यै पुत्रमस्यै विश एष वोऽमी राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानाꣳराजा ॥ १२ ॥ य॰ अ॰ ९ । मं॰ ४० ॥ इन्द्रो जयाति न परा जयाता अधिराजो राजसु राजयातै । चर्कृत्य ईड्यो वन्द्यश्चोपसद्यो नमस्यो भवेह ॥ १३ ॥ त्वमिन्द्राधिराजः श्रवस्युस्त्वं भूरभिभूतिर्जनानाम् । त्वं दैवीर्विश इमा वि राजायुष्मत्क्षत्रमजरं ते अस्तु ॥ १४ ॥ अथर्व॰ कां॰ ६ । अनु॰ १० । सू॰ ९८ । मं॰ १ । २ ॥

भाष्यम्

(देवाः) हे देवा विद्वांसः सभासदः ! (महते क्षत्राय) अतुलराजधर्माय, (महते ज्यैष्ठ्याय) अत्यन्तज्ञानवृद्धव्यवहारस्थापनाय, (महते जानराज्याय)

जनानां विदुषां मध्ये परमराज्यकरणाय, (इन्द्रस्येन्द्रियाय) सूर्यस्य प्रकाशवन्न्यायव्यवहारप्रकाशनायान्यायान्धकारविनाशाय, (अस्यै विशे) वर्त्तमानायै प्रजायै यथावत्सुखप्रदानाय (इमं) (असपत्नꣳसुवध्वम्) इमं प्रत्यक्षं शत्रूपद्रवरहितं निष्कण्टकमुत्तमराजधर्म्मं सुवध्वमाभिध्वमैश्वर्य्यसहितं कुरुत । यूयमप्येवं जानीत (सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानाꣳराजा) वेदविदां सभासदां मध्ये यो मनुष्यः सोम्यगुणसम्पन्नः सकलविद्यायुक्तोऽस्ति स एव सभाध्यक्षत्वेन स्वीकृतः सन् राजास्तु । हे सभासदः ! (अमी) ये प्रजास्था मनुष्याः सन्ति तान् प्रत्यप्येवमाज्ञा श्राव्या, (एष वो राजा) अस्माकं वो युष्माकं च स * सभासत् कोयं राजसभाव्यवहार एव राजास्तीति । एतदर्थं वयं (इमममुष्य पुत्रममुष्यै पुत्रं) प्रख्यातनाम्नः पुरुषस्य प्रख्यातनाम्न्याः स्त्रियाश्च सन्तानमभिषिच्याध्यक्षत्वे स्वीकुर्म्म इति ॥ १२॥ (इन्द्रो जयाति) स एवेन्द्रः परमेश्वरः सभाप्रबन्धो वा जयाति विजयोत्कर्षं सदा प्राप्नोतु, (न पराजयातै) स मा कदाचित्पराजयं प्राप्नोतु, (अधिराजो राजसु राजयातै) स राजाधिराजो विश्वस्येश्वरः सर्वेषु चक्रवर्त्तिराजसु माण्डलिकेषु वा स्वकीयसत्यप्रकाशन्यायेन सहास्माकं मध्ये सदा प्रसिध्यताम् ।(चर्कृत्यः) यो जगदीश्वरः सर्वैर्मनुष्यैः पुनः पुनरुपासनायोग्योस्ति, (ईड्यः) अस्माभिः स एवैकः स्तोतुं योग्यः, (वन्द्यश्च) पूजनीयः, (उपसद्यः) समाश्रयितुं योग्यः, (नमस्यः) नमस्कर्तुं योग्योऽस्ति । (भवेह) हे महाराजेश्वर ! त्वमुत्तमप्रकारेणास्मिन् राज्ये सत्कृतो भव । भवत्सत्कारेण सह वर्त्तमाना वयमप्यस्मिन् चक्रवर्त्तिराज्ये सदा सत्कृता भवेम ॥ १३ ॥ (त्वमिन्द्राधिराजः श्रवस्युः) हे इन्द्र परमेश्वर ! त्वं सर्वस्य जगतोऽधिराजोसि । † "श्रव इवाचरतीति सर्वस्य श्रोता च" । स्वकृपया मामपि तादृशं कुरु । (त्वं भूरभिभूतिर्जनानाम्) हे भगवन् ! त्वं भूः सदा भवसि । यथा जनानामभिभूतिरभीष्टस्यैश्वर्य्यस्य दातासि तथा मामप्यनुग्रहेण करोतु । (त्वं दैवीर्विश इमा विराजा) हे जगदीश्वर ! यथा त्वं दिव्यगुणसम्पन्ना,

---

* स इति ह० लि० भूमिकायां नास्ति ।

† " " एतच्चिह्न मध्यगतः पाठो नास्ति ह० लि० भूमिकायाम् ।

विविधोत्तमराजपालिताः, प्रत्यक्षविषयाः प्रजाः सत्यन्यायेन पालयासि तथा मामपि कुरु । (*युष्मत्तत्रमजरं ते अस्तु) हे महाराजाधिराजेश्वर ! तव यदिदं सनातनं राजधर्मयुक्तं नाशरहितं विश्वरूपं राष्ट्रमस्ति तदिदं भवत्तमस्माकमस्त्विति याचितः सन्नाशीर्ददातादं मद्र्यचितं भूगालाख्यं राष्ट्रं युष्मदधीनमस्तु ॥ १४ ॥

भाषार्थ

(इमं देवा असपत्न०) अब ईश्वर सब मनुष्यों को राज्यव्यवस्था के विषय में आज्ञा देता है कि हे विद्वान् लोगो ! तुम इस राजधर्म को यथावत् जानकर अपने राज्य का ऐसा प्रबन्ध करो कि जिससे तुम्हारे देश पर कोई शत्रु न आजाय । (महते क्षत्राय०) हे शूरवीर लोगो ! अपने क्षत्रियधर्म, चक्रवर्त्ति राज्य, श्रेष्ठकीर्त्ति, सर्वोत्तम राज्यप्रबन्ध के अर्थ, (महते जानराज्याय) सब प्रजा को विद्वान् करके ठीक २ राज्यव्यवस्था में चलाने के लिये, तथा (इन्द्रस्येन्द्रियाय) बड़े ऐश्वर्य्य सत्य न्याय के प्रकाश करने के अर्थ (सुवध्वं) अच्छे २ राज्यसंबन्धी प्रबन्ध करो कि जिन से सब मनुष्यों को उत्तम सुख बढ़ता जाय ॥ १२ ॥ (इन्द्रो जयाति) हे बन्धु लोगो ! जो परमात्मा अपने लोगों का विजय कराने वाला, (न पराजयाता) जो हम को दूसरों से कभी हारने नहीं देता, (अधिराजो) जो महाराजाधिराज (राजसु राजयातै) सब राजाओं के बीच में प्रकाशमान होकर हम को भी भूगोल में प्रकाशमान करने वाला है, (चर्कृत्यः) जो आनन्दस्वरूप परमात्मा सब जगत् को सुखों से पूर्ण करने हारा, तथा (ईड्यो वन्द्यश्च) सब मनुष्यों को स्तुति और वंदना करने के योग्य, (उपसद्यो नमस्यः) सब को शरण लेने और नमस्कार करने के योग्य है, (भवेह) सो ही जगदीश्वर हमारा विजय कराने वाला, रक्षक, न्यायाधीश और राजा है । इसलिये हमारी यह प्रार्थना है कि हे परमेश्वर ! आप कृपा करके हम सबों के राजा हूजिये और हम लोग आप के पुत्र और भृत्य के समान राज्याधिकारी होकर आप के राज्य को सत्यन्याय से सुशोभित करें ॥ १३ ॥

---

* आयुष्मदिति पाठो ह० लि० भूमिकायाम् ।

(त्वमिन्द्राधिराजः श्रवस्युः) हे परमेश्वर ! आप ही सब संसार के अधिराज, और आप्तों के समान सत्यन्याय के उपदेशक, (त्वं भूरभिभूतिर्जनानाम्) आप ही सदा नित्यस्वरूप और सज्जन मनुष्यों को राज्य ऐश्वर्य के देने वाले, (त्वं दैवीर्विश इमा विराजा) आप ही इन विविध प्रजाओं को सुधारने और दुष्ट राजाओं का युद्ध में पराजय कराने वाले हैं। (युष्मत्क्षत्रमजरं ते अस्तु) हे जगदीश्वर ! आप का राज्य नित्य तरुण बना रहे कि जिससे सब संसार को विविध प्रकार का सुख मिले। इस प्रकार जो मनुष्य अपने सत्य प्रेम और पुरुषार्थ से ईश्वर की भक्ति और उस की आज्ञा पालन करते हैं उन को वह आशीर्वाद देता है कि मेरे रचे हुए भूगोल का राज्य तुम्हारे आधीन हो ॥१४॥

स्थिरा वः सन्त्वायुधा पराणुदे वीळू उत प्रतिष्कभे। युष्माकमस्तु तविषी पनीयसी मा मर्त्यस्य मायिनः ॥ १५ ॥ ऋ० अ० १। अ० ३। व० १८। मं० २ ॥ तं सभा च समितिश्च सेना च ॥ १६ ॥ अथर्व० कां० १५। अनु० २। सू० ६। मं० २ ॥ इमं वीरमनु हर्षध्वमुग्रमिन्द्रं सखायो अनु सं रभध्वम्। ग्रामजितं गोजितं वज्रबाहुं जयन्तमज्म प्रमृणन्तमोजसा ॥ १७ ॥ अथर्व० कां० ६। अनु० १०। सू० ९७। मं० ३ ॥ सभ्य सभां मे पाहि ये च सभ्याः सभासदः। त्वयेद्गाः पुरुहूत विश्वमायुर्व्यश्नवम् ॥ १८ ॥ अथर्व कां० १९। अनु० ७। सू० ५५। मं० ६ ॥

भाष्यम्

(स्थिरा वः०) अस्यार्थः प्रार्थनाविषय उक्तः ॥ १५ ॥ (तं सभा च) राजसभा प्रजा च तं पूर्वोक्तं सर्वराजाधिराजं परमेश्वरं तथा सभाध्यक्षमभिषिच्य राजानं मन्येत। (समितिश्च) तमनुश्रित्यैव समितिर्युद्धमाचरणीयम्। (सेना च) तथा वीरपुरुषाणां या सेना सापि परमेश्वरं, ससभाध्यक्षां सभां, स्वसेनानीं चानुश्रित्य युद्धं कुर्य्यात् ॥ १६ ॥ ईश्वरः सर्वान्मनुष्यान्प्रत्युपदिशति (सखायः) हे सखायः ! (इमं वीरमुग्रमिन्द्रं) शत्रूणां हन्तारं,

युद्धकुशलं, निर्भयं, तेजस्विनं प्रति राजपुरुषं तथेन्द्रं परमैश्वर्य्यवन्तं परमेश्वरं (अनुहर्षध्वं) सर्वे यूयमनुमोदयध्वमेवं कृत्वैव दुष्टशत्रूणां पराजयार्थं (अनु-संरभध्वं) युद्धारम्भं कुरुत । कथम्भूतं तं ? (ग्रामजितं) येन पूर्वं शत्रूणां समूहा जिताः, (गोजितं) येनेन्द्रियाणि पृथिव्यादिकं च जितं, (वज्रबाहुं) वज्रः प्राणो बलं बाहुर्यस्य, (जयन्तं) जयं प्राप्नुवन्तं, (प्रमृणन्तमोजसा) ओजसा बलेन शत्रून् प्रकृष्टतया हिंसन्तं (अज्म) वयं तमाश्रित्य सदा विजयं प्राप्नुमः ॥ १७ ॥ (सभ्य सभां मे पाहि) हे सभायां साधो परमेश्वर ! मे मम सभां यथावत् पालय । म इत्यस्मच्छब्दनिर्देशात्सर्वान्मनुष्यानिदं वाक्यं गृह्णातीति । (ये च सभ्याः सभासदः) ये सभाकर्मसु साधवश्चतुराः सभायां सीदन्ति तेऽस्माकं पूर्वोक्तां त्रिविधां सभां पान्तु यथावद्रक्षन्तु (त्वयेद्गाः पुरुहूत) हे बहुभिः पूजित परमात्मन् ! त्वया सह ये सभाध्यक्षाः सभासदः, इद्गाः इतं राजधर्मज्ञानं गच्छन्ति, त एव सुखं प्राप्नुवन्ति । (विश्वमायुर्व्यश्नवम्) एवं सभापालितोऽहं सर्वो जनः शतवार्षिकं सुखयुक्तमायुः प्राप्नुयाम् ॥ १८ ॥

भाषार्थ

(स्थिरा वः सन्त्वायुधा०) इस मन्त्र का अर्थ प्रार्थनादि विषय में कर दिया है ॥ १५ ॥ (तं सभा च) प्रजा तथा सब सभासद् सब राजाओं के राजा परमेश्वर को जान के सब सभाओं में सभाध्यक्ष का अभिषेक करें । (समितिश्च) सब मनुष्यों को उचित है कि परमेश्वर और सर्वोपकारक धर्म का ही आश्रय करके युद्ध करें । तथा (सेना च) जो सेना, सेनापति और सभाध्यक्ष हैं वे सब सभा के आश्रय से विचारपूर्वक उत्तम सेना को बना के सदैव प्रजापालन और युद्ध करें ॥ १६ ॥ ईश्वर सब मनुष्यों को उपदेश करता है कि (सखायः) हे बन्धुलोगो ! (इमं वीरं) हे शूरवीर लोगो ! न्याय और दृढभक्ति से अनन्त बलवान् परमेश्वर को इष्ट करके (अनुहर्षध्वं) शूरवीर लोगों को सदा आनन्द में रक्खो । (उग्रमिन्द्रं) तुम लोग अत्यन्त उग्र परमेश्वर के सहाय से एक संमति होकर (अनुसंरभध्वं) दुष्टों को युद्ध में जीतने का उपाय रचा करो ।

(ग्रामजितं) जिसने सब भूगोल तथा (गोजितं) सब के मन और इन्द्रियों को जीत रक्खा है, (वज्रबाहुं) प्राण जिसके बाहु, और (जयन्तं) जो हम सब को जिताने वाला है (अज्म) उसी को इष्ट जान के हम लोग अपना राजा मानें। (प्रमृणन्तमोजसा) जो अपने अनन्त पराक्रम से दुष्टों का पराजय करके हम को सुख देता है ॥ १७ ॥ (सभ्य सभां में पाहि) हे सभा के योग्य परमेश्वर ! आप हम लोगों की राजसभा की रक्षा कीजिये । (ये च सभ्याः सभासदः) हम लोग जो सभा के सभासद् हैं सो आप की कृपा से सभ्यतायुक्त होकर अच्छी प्रकार से सत्य न्याय की रक्षा करें । (त्वयेद्गाः पुरुहूत०) हे सब के उपास्यदेव ! (विश्वमायुर्व्यश्नवम्) हम लोग आप ही के सहाय से आप की आज्ञा को पालन करते रहें, जिससे संपूर्ण आयु को सुख से भोगें ॥ १८ ॥

जनिष्ठा उग्रः सहसे तुरायेति सूक्तमुग्रवत्सहस्वत्तत्क्षत्रस्य रूपं, मन्द्र ओजिष्ठ इत्योजस्वत्तत्क्षत्रस्य रूपम् ॥ १ ॥ बृहत्पृष्ठं भवति, क्षत्रं वै बृहत्क्षत्रेणैव तत्क्षत्रं समर्धयत्यथो क्षत्रं वै बृहदात्मा यजमानस्य निष्केवल्यं तद्यद्बृहत्पृष्ठं भवति ॥ २ ॥ ब्रह्म वै रथन्तरं क्षत्रं बृहद् ब्रह्मणि खलु वै क्षत्रं प्रतिष्ठितं क्षत्रे ब्रह्म ॥ ३ ॥ ओजो वा इन्द्रियं वीर्यं पञ्चदश, ओजः क्षत्रं वीर्यं राजन्यस्तदेनमोजसा क्षत्रेण वीर्येण समर्द्धयति । तद्भारद्वाजं भवति भारद्वाजं वै बृहत् ॥ ४ ॥ ऐ० पं० ८ । अ० १ । कं० २ । ३ ॥ तानहमनु राज्याय साम्राज्याय भौज्याय स्वाराज्याय वैराज्याय पारमेष्ठ्याय राज्याय माहाराज्यायाधिपत्याय स्वावश्यायातिष्ठायां रोहामीति ॥ ५ ॥ नमो ब्रह्मणे नमो ब्रह्मणे नमो ब्रह्मण इति त्रिष्कृत्वो ब्रह्मणे नमस्करोति । ब्रह्मण एव तत्क्षत्रं वशमेति तद्यत्र वै ब्रह्मणः क्षत्रं वशमेति तद्राष्ट्रं समृद्धं तद्वीरवदाहास्मिन् वीरो जायते ॥ ६ ॥ ऐ० पञ्चि० ८ । अ० २ । कं० ६ । ९ ॥

भाष्यम्

इयं राजधर्मव्याख्या वेदरीत्या संक्षेपेण लिखिताऽतोऽग्र ऐतरेयशतपथ-ब्राह्मणादिग्रन्थरीत्या संक्षेपतो लिख्यते। तद्यथा—(जनिष्ठा उग्रः०) राजसभायां, जनिष्ठा अतिशयेन जना विद्वांसो धर्मात्मानः, श्रेष्ठप्रकृतीन् मनुष्यान् प्रति, सदा सुखदास्सौम्या भवेयुः। तथा दुष्टान् प्रत्युग्रो व्यवहारो धार्य्य इति॥ कुतो, यद्राजकर्म्मास्ति तद् द्विविधं भवत्येकं सहस्वद् द्वितीयमुग्रवद-र्थात्क्वचिद्देशकालवस्त्वनुसारेण सहनं कर्त्तव्यम्, क्वचित्तद्विपर्य्यये राजपुरुषै-र्दुष्टेषूग्रो दण्डो निपातनीयश्चैतत्क्षत्रस्य धर्मस्य स्वरूपं भवति। तथा (मन्द्र ओजिष्ठः०) उत्तमकर्मकारिभ्य आनन्दकरो दुष्टेभ्यो दुःखप्रदश्चात्युत्तमवीर-पुरुषसेनादिपदार्थसामग्र्या सहितो यो राजधर्मोऽस्ति स च क्षत्रस्य स्वरूपम-स्ति॥ १॥ (बृहत्पृष्ठं०) यत्क्षत्रं कर्म तत्सर्वेभ्यः कृत्येभ्यो बृहन्महदस्ति, तथा पृष्ठमर्थान्निखिलानां रक्षकं सत् पुनरुत्तमसुखकारकं भवति। एतेनोक्तेन च क्षत्रराजकर्म्मणा मनुष्यो राजकर्म्म वर्द्धयति, नातोऽन्यथा क्षत्रधर्मस्य वृद्धि-र्भवितुमर्हति। तस्मात्क्षत्रं सर्वस्मात्कर्मणो बृहद्यजमानस्य प्रजास्थस्य जनस्य राजपुरुषस्य वात्मात्मवदानन्दप्रदं भवति। तथा सर्वस्य संसारस्य निष्कैवल्यं निरन्तरं केवलं सुखं सम्पादयितुं यतः समर्थं भवति तस्मात्तत्क्षत्रकर्म सर्वे-भ्यो महत्तरं भवतीति॥ २॥ (ब्रह्म वै रथन्तरं०) ब्रह्मशब्देन सर्वविद्या-युक्तो ब्राह्मणवर्णो गृह्यते, तस्मिन् खलु क्षत्रधर्मः प्रतिष्ठितो भवति, नैव कदा-चित्सत्यविद्यया विना क्षत्रधर्मस्य वृद्धिरक्षणे भवतः। तथा (क्षत्रे ब्रह्म) राजन्ये ब्रह्माऽर्थात् सत्यविद्या प्रतिष्ठिता भवति। नैवास्माद्विना कदाचिद्वि-द्याया वृद्धिरक्षणे सम्भवतस्तस्माद्विद्याराजव्यवहारौ मिलित्वैव राष्ट्रसुखोन्नतिं कर्तुं शक्नुत इति॥ ३॥ (ओजो वा इन्द्रियं०) राजपुरुषैर्बलपराक्रमव-न्तीन्द्रियाणि सदैव रक्षणीयान्यर्थाज्जितेन्द्रियतयैव सदैव वर्त्तितव्यम्। कुतः, ओज एव क्षत्रं, वीर्य्यमेव राजन्य इत्युक्तत्वात्। तत्तस्मादोजसा क्षत्रेण वीर्य्ये-ण राजन्येनैनं राजधर्मं मनुष्यः समर्द्धयति, सर्वसुखैरेधमानं करोतीदमेव भार-द्वाजं भरणीयं, बृहदर्थान्महत्कर्मास्तीति॥ ४॥ (तानहमनुराज्याय०) सर्वे

मनुष्या एवमिच्छां कृत्वा पुरुषार्थं कुर्युः । परमेश्वरानुग्रहेणाहमनुराज्याय सभाध्यक्षत्वप्राप्तये तथा माण्डलिकानां राज्ञामुपरि राजसत्ताप्राप्तये, (साम्राज्याय) सार्वभौमराज्यकरणाय, (भौज्याय) धर्मन्यायेन राज्यपालनायोत्तमभोगाय च, (स्वाराज्याय) स्वस्मै राज्यप्राप्तये, (वैराज्याय) विविधानां राज्ञां मध्ये महत्त्वेन प्रकाशाय, (पारमेष्ठ्याय) परमराज्यस्थितये, (माहाराज्याय) महाराज्यसुखभोगाय, तथा (आधिपत्याय) आधिपतित्वकरणाय, (स्वावश्याय) स्वार्थप्रजावशत्वकरणाय च, (अतिष्ठायां) अत्युत्तमा विद्वांसस्तिष्ठन्ति यस्यां सा अतिष्ठा सभा, तस्यां सर्वैर्गुणैः सुखैश्च रोहामि वर्द्धमानो भवामीति ॥ ५ ॥ (नमो ब्रह्मणे०) परमेश्वराय त्रिवारं चतुर्वारं वा नमस्कृत्य राजकर्मारम्भं कुर्यात् । यत् यत्र ब्रह्मणः परमेश्वरस्य वशमेति तद्राष्ट्रं समृद्धं सम्यक् ऋद्धियुक्तं वीरवद् भवति । तस्मिन्नेव राष्ट्रे वीरपुरुषो जायते नान्यत्रेत्याह परमेश्वरः ॥ ६ ॥

भाषार्थ

इस प्रकार वेदरीति से राजा और प्रजा के धर्म संक्षेप से कह चुके। इसके आगे वेद की सनातन व्याख्या जो ऐतरेय और शतपथब्राह्मणादि ग्रन्थ हैं उनकी साक्षी भी यहां लिखते हैं। (जनिष्ठा उग्रः) राजाओं की सेना और सभा में जो पुरुष हों, वे सब दुष्टों पर तेजधारी, श्रेष्ठों पर शान्तरूप, सुख दुःख के सहन करने वाले और धन के लिये अत्यन्त पुरुषार्थी हों। क्योंकि दुष्टों पर क्रुद्धस्वभाव और श्रेष्ठों पर सहनशील होना यही राज्य का स्वरूप है ॥ १ ॥ (मन्द्र ओजिष्ठ०) जो आनन्दित और पराक्रमयुक्त होना है वही राज्य का स्वरूप है। क्योंकि राज्यव्यवहार सब से बड़ा है। इस में शूरवीर आदि गुणयुक्त पुरुषों की सभा और सेना रख कर अच्छे प्रकार राज्य को बढ़ाना चाहिये ॥ २ ॥ (ब्रह्म वै रथन्तरं०) ब्रह्म अर्थात् परमेश्वर और वेदविद्या से युक्त जो पूर्ण विद्वान् ब्राह्मण है वही राज्य के प्रबन्धों में सुखप्राप्ति का हेतु होता है। इसलिये अच्छे राज्य के होने से ही सत्यविद्या प्रकाश को प्राप्त होती है। उत्तम विद्या और न्याययुक्त राज्य का नाम ओज है। जिसको दण्ड के भय से उल्लंघन वा

अन्यथा कोई नहीं कर सकता। क्योंकि ओज अर्थात् बल का नाम क्षत्र और पराक्रम का नाम राजन्य है। ये दोनों जब परस्पर मिलते हैं तभी संसार की उन्नति होती है। इसके होने और परमेश्वर की कृपा से मनुष्य के राजकर्म, चक्रवर्त्तिराज्य, भोग का राज्य, अपना राज्य, विविध राज्य, परमेष्ठि राज्य, प्रकाशरूप राज्य, महाराज्य, राजों का अधिपतिरूप राज्य और अपने वश का राज्य इत्यादि उत्तम २ सुख बढ़ते हैं। इसलिये उस परमात्मा को मेरा वारंवार नमस्कार है कि जिसके अनुग्रह से हम लोग इन राज्यों के अधिकारी होते हैं ॥ ६ ॥

स प्रजापतिका, अयं वै देवानामोजिष्ठो बलिष्ठः सहिष्ठः सत्तमः पारयिष्णुतम इममेवाभिषिञ्चामहा इति तथेति तद्वै तदिन्द्रमेव ॥ ७ ॥ सम्राजं साम्राज्यं भोजं भोजपितरं स्वराजं स्वाराज्यं विराजं वैराज्यं राजानं राजपितरं परमेष्ठिनं पारमेष्ठ्यं क्षत्रमजनि क्षत्रियोऽजनि विश्वस्य भूतस्याधिपतिरजनि विशामत्ताजनि पुरां भेत्ताजन्यसुराणां हन्ताजनि ब्रह्मणो गोप्ताजनि धर्मस्य गोप्ताजनीति ॥ ऐतरे० पं० ८। कं० १२ ॥ स परमेष्ठी प्राजापत्योऽभवत् ॥ ८ ॥ ऐत० पं० ८। अ० ३। कं० १४ ॥ स एतेनैन्द्रेण महाभिषेकेणाभिषिक्तः क्षत्रियः सर्वा जितीर्जयति सर्वान् लोकान् विन्दति सर्वेषां राज्ञां श्रैष्ठ्यमतिष्ठां परमतां गच्छति साम्राज्यं भौज्यं स्वाराज्यं वैराज्यं पारमेष्ठ्यं राज्यं माहाराज्यमाधिपत्यं जित्वास्मिँल्लोके स्वयंभूः स्वराडमृतोऽमुष्मिन्त्स्वर्गे लोके सर्वान् कामानाप्त्वामृतः सम्भवति यमेतेनैन्द्रेण महाभिषेकेण क्षत्रियं शापयित्वाऽभिषिञ्चति ॥ ६ ॥ ऐत० पं० ८। अ० ४। कं० १५ ॥

भाष्यम्

(स प्रजापतिका०) सर्वे सभासदः प्रजास्थमनुष्याः स्वामिनेष्टेन पूज्यतमेन परमेश्वरेणैव सह वर्त्तमाना भवेयुः। सर्वे मिलित्वैवं विचारं कुर्युर्यतो न कदाचित्सुखहानिपराजयौ स्यातां। यो देवानां विदुषां मध्ये (ओजिष्ठः)

पराक्रमवत्तमः, (बलिष्ठः) सर्वोत्कृष्टबलसहितः, (सहिष्ठः) अतिशयेन सहनशीलः, (सत्तमः) सर्वैर्गुणैरत्यन्तश्रेष्ठः, (पारयिष्णुतमः) सर्वेभ्यो युद्धादिदुःखेभ्योऽतिशयेन सर्वांस्तारयितृतमो विजयकारकतमोऽस्माकं मध्ये श्रेष्ठतमोऽस्तीति। वयं निश्चित्य तमेव पुरुषमभिषिञ्चाम इतीच्छेयुः। तथैव खल्वस्त्विति सर्वे प्रतिजानीयुरेवं भूतस्योत्तमपुरुषस्याभिषेककरणं, सर्वैश्वर्य्यप्रापकत्वादिन्द्रमित्याहुः ॥ ७ ॥ (सम्राजं०) एवम्भूतं सार्वभौमराजानं, (साम्राज्यं) सार्वभौमराज्यं, (भोजं) उत्तमभोगसाधकं, (भोजपितरं) उत्तमभोगानां रक्षकं (स्वराजं) राजकर्मसु प्रकाशमानं सद्विद्यादिगुणैः स्वहृदये देदीप्यमानं, (स्वाराज्यं) स्वकीयराज्यपालनं, (विराजं) विविधानां राज्ञां प्रकाशकं, (वैराज्यं) विविधराज्यप्राप्तिकरं, (राजानं) श्रेष्ठैश्वर्य्येण प्रकाशमानं, (राजपितरं) राज्ञां रक्षकं, (परमेष्ठिनं) परमोत्कृष्टे राज्ये स्थापयितुं योग्यं, (पारमेष्ठ्यं) परमेष्ठिसम्पादितं सर्वोत्कृष्टं पुरुषं वयमभिषिञ्चामहे। एवमभिषिक्तस्य पुरुषस्य सुखयुक्तं क्षत्रमजनि प्रादुर्भवतीति। अजनीति छन्दसि लुङ्लङ्लिट इति वर्त्तमानकाले लुङ्। (क्षत्रियोजनि) तथा क्षत्रियो वीरपुरुषः (विश्व०) सर्वस्य प्राणिमात्रस्याधिपतिः सभाध्यक्षः (विशामत्ता०) दुष्टप्रजानामत्ता विनाशकः, (पुरां भे०) शत्रुनगराणां विनाशकः, (असुराणां हन्ता) दुष्टानां हन्ता हननकर्त्ता, (ब्रह्मणो०) वेदस्य रक्षकः, (धर्मस्य गो०) धर्मस्य च रक्षकोजनि प्रादुर्भवतीति। (स परमेष्ठी प्रा०) स राजधर्मः सभाध्यक्षादिमनुष्यैः (प्राजापत्यः) अर्थात् परमेश्वर इष्टः करणीयः। न तद्भिन्नोऽर्थः केनचिन्मनुष्येणेष्टः कर्तुं योग्योस्त्यतः सर्वे मनुष्याः परमेश्वरपूजका भवेयुः ॥ ८ ॥ यो मनुष्यो राज्यं कर्तुमिच्छेत्स (एतेनैन्द्रेण०) पूर्वोक्तेन सर्वैश्वर्य्यप्राप्तिनिमित्तेन (महाभिषेकेणा०) अभिषिक्तः स्वीकृतः (क्षत्रियः) क्षत्रधर्मवान् (सर्वा०) सर्वेषु युद्धेषु जयति, सर्वत्र विजयं तथा सर्वानुत्तमांल्लोकांश्च विन्दति प्राप्नोति, सर्वेषां राज्ञां मध्ये श्रैष्ठ्यं सर्वोत्तमत्वं, पूर्वोक्तां प्रतिष्ठां, या परेषु शत्रुषु विजयेन हर्षनिमित्ता तथा परेषां शत्रूणां दीनत्वनिमित्ता सा, परमता सभा तां स गच्छति प्राप्नोति, तथा सभया पूर्वोक्तं साम्राज्यं भौज्यं स्वाराज्यं वैराज्यं

पारमेष्ठ्यं महाराज्यमाधिपत्यं राज्यं च जित्वाऽस्मिन् लोके चक्रवर्त्तिसार्वभौमो महाराजाधिराजो भवति, तथा शरीरं त्यक्त्वाऽमुष्मिन्स्वर्गे सुखस्वरूपे लोके परब्रह्मणि स्वयम्भूः स्वाधीनः (स्वराट्) स्वप्रकाशः (अमृतः) प्राप्त-मोक्षसुखः सन्सर्वान्कामानाप्नोति, (आप्त्वामृतः) पूर्णकामोऽजरामरः सम्भ-वति, (यमेतेनैन्द्रेण) एतेनोक्तेन सर्वैश्वर्य्येण (शापयित्वा) प्रतिज्ञां कार-यित्वा यं सकलगुणोत्कृष्टं क्षत्रियं (महाभिषे०) अभिषिञ्चन्ति सभासदः सभायां स्वीकुर्वन्ति तस्य राष्ट्रे कदाचिदनिष्टं न प्रसज्यत इति विज्ञेयम् ॥ ६ ॥

भाषार्थ

जो क्षत्र अर्थात् राज्य परमेश्वर आधीन और विद्वानों के प्रबन्ध में होता है वह सब सुखकारक पदार्थ और वीर पुरुषों से अत्यन्त प्रकाशित होता है । (स प्रजापतिका०) और वे विद्वान् एक अद्वितीय परमेश्वर के ही उपासक होते हैं । क्योंकि वही एक परमात्मा सब देवों के बीच में अनन्त विद्यायुक्त और अपार बलवान् है । तथा अत्यन्त सहनस्वभाव और सब से उत्तम है । वही हम को सब दुःखों के पार उतार के सब सुखों को प्राप्त कराने वाला है । उसी परमात्मा को हम लोग अपने राज्य और सभा में अभिषेक करके अपना न्या-यकारी राजा सदा के लिये मानते हैं । तथा जिसका नाम इन्द्र अर्थात् परमैश्व-र्य्ययुक्त है वही हमारा सम्राट् अर्थात् चक्रवर्त्ती राजा और वही हम को भी चक्रवर्त्ति राज्य देनेवाला है । जो पिता के सदृश सब प्रकार से हमारा पालन करने वाला, स्वराट् अर्थात् स्वयं प्रकाशस्वरूप और प्रकाशरूप राज्य का देनेवाला है, तथा जो विराट् अर्थात् सब का प्रकाशक, विविध राज्य का देनेवाला है, उसी को हम राजा और सब राजाओं का पिता मानते हैं । क्योंकि वही परमेष्ठी सर्वोत्तम राज्य का भी देनेवाला है । उसी की कृपा से मैंने राज्य को प्रसिद्ध किया अर्थात् मैं क्षत्रिय और सब प्राणियों का आधिपति हुआ । तथा प्रजाओं का संग्रह, दुष्टों के नगरों का भेदन, असुर अर्थात् चोर डाकुओं का ताड़न, ब्रह्म अर्थात् वेदविद्या का पालन और धर्म की रक्षा करनेवाला हुआ हूं । जो क्षत्रिय इस प्रकार के गुण और सत्य कर्मों से अभिषिक्त अर्थात् युक्त होता

है वह सब युद्धों को जीत लेता है। तथा सब उत्तम सुख और लोकों का अधिकारी बन कर सब राजाओं के बीच में अत्यन्त उत्तमता को प्राप्त होता है। जिससे इस लोक में चक्रवर्त्ति राज्य और लक्ष्मी को भोग के मरणानन्तर परमेश्वर के समीप सब सुखों को भोगता है। क्योंकि ऐन्द्र अर्थात् महाऐश्वर्य्ययुक्त अभिषेक से क्षत्रिय को प्रतिज्ञापूर्वक राज्याधिकार मिलता है। इसलिये जिस देश में इस प्रकार का राज्यप्रबन्ध किया जाता है वह देश अत्यन्त सुख को प्राप्त होता है॥ ९॥

क्षत्रं वै स्विष्टकृत्। क्षत्रं वै साम। साम्राज्यं वै साम॥ श० कां० १२। अ० ८। ब्रा० ३। कण्डि० १९। २३॥ ब्रह्म वै ब्राह्मणः क्षत्रꣳराजन्यस्तदस्य ब्रह्मणा च क्षत्रेण चोभयतः श्रीः परिगृहीता भवति। युद्धं वै राजन्यस्य वीर्य्यम्॥ श० कां० १३। अ० १। ब्रा० ५। कण्डि० ३। ६॥ राष्ट्रं वा अश्वमेधः॥ श० कां० १३। अ० १। ब्रा० ६। कं० ३॥ राजन्य एव शौर्य्यं महिमानं दधाति तस्मात्पुरा राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जज्ञे॥ श० कां० १३। अ० १। ब्रा० ९। कण्डि० २॥

भाष्यम्

(क्षत्रं वै०) क्षत्रमर्थाद्राजसभाप्रबन्धेन यद्यथावत्प्रजापालनं क्रियते तदेव स्विष्टकृदर्थादिष्टसुखकारि, (क्षत्रं वै साम०) यद्वै दुष्टकर्मणामन्तकारि तथा सर्वस्याः प्रजायाः सान्त्वप्रयोगकर्त्तृ च भवति, (साम्राज्यं वै०) तदेव श्रेष्ठं राज्यं वर्णयन्ति। (ब्रह्म वै०) ब्रह्मार्थाद्वेदं परमेश्वरं च वेत्ति स एव ब्रह्मणो भवितुमर्हति। (क्षत्रꣳ) यो जितेन्द्रियो विद्वान् शौर्य्यादिगुणयुक्तो महावीरपुरुषः क्षत्रधर्मं स्वीकरोति स राजन्यो भवितुमर्हति। (तदस्य ब्रह्मणा०) तादृशैर्ब्राह्मणैः राजन्यैश्च सहास्य राष्ट्रस्य सकाशादुभयतः श्री राज्यलक्ष्मीः परितः सर्वतो गृहीता भवति, नैवं राजधर्मानुष्ठानेनास्याः श्रियः कदाचिद्ध्रासान्यथात्वे भवतः। (युद्धं वै०) अत्रेदं बोध्यं युद्धकरणमेव राजन्यस्य वीर्य्यं बलं भवति, नानेन विना महाधनसुखयोः कदाचित्प्राप्तिर्भवति। कुतः।

निघं० अ० २। खं० १७। संग्रामस्यैव महाधनसंज्ञत्वात्। महान्ति धनानि प्राप्तानि भवन्ति यस्मिन्स महाधनः संग्रामो, नास्माद्विना कदाचिन् महती प्रतिष्ठा महाधनं च प्राप्नुतः। (राष्ट्रं वा अश्वमेधः) राष्ट्रपालनमेव क्षत्रियाणामश्वमेधाख्यो यज्ञो भवति, नाश्वं हत्वा तदङ्गानां होमकरणं चेति। (राजन्य एव०) पुरा पूर्वोक्तैर्गुणैर्युक्तो राजन्यो यदा शौर्य्यं महिमानं दधाति तदा सार्वभौमं राज्यं कर्तुं समर्थो भवति। तस्मात्कारणाद्राजन्यः शूरो, युद्धोत्सुको, निर्भयः, (इषव्यः) शस्त्रास्त्रप्रक्षेपणे कुशलः, (अतिव्याधी) अत्यन्ता व्याधाः शत्रूणां हिंसका योद्धारो यस्य, (महारथः) महान्तो भूजलान्तरिक्षगमनाय रथा यस्येति। यस्मिन् राष्ट्रे ईदृशो राजन्यो जज्ञे जातोऽस्ति नैव कदाचित्तस्मिन्भयदुःखे सम्भवतः॥ १३॥

भाषार्थ

(क्षत्रं वै०) राजसभाप्रबन्ध से जो यथावत् प्रजा का पालन किया जाता है वही स्विष्टकृत् अर्थात् अच्छी प्रकार चाहे हुए सुख का करने वाला होता है। (क्षत्रं वै सा०) जो राजकर्म्म दुष्टों का नाश और श्रेष्ठों का पालन करने वाला है वही साम्राज्यकारी अर्थात् राजसुखकारक होता है। (ब्रह्म वै०) जो मनुष्य ब्रह्म अर्थात् परमेश्वर और वेद का जाननेवाला है वही ब्राह्मण होने के योग्य है। (क्षत्रं०) जो इन्द्रियों को जीतनेवाला, पण्डित, शूरतादि गुणयुक्त, श्रेष्ठ, वीरपुरुष क्षत्रधर्म को स्वीकार करता है सो क्षत्रिय होने के योग्य है। (तदस्य ब्रह्मणा०) ऐसे ब्राह्मण और क्षत्रियों के साथ न्यायपालक राजा को अनेक प्रकार से लक्ष्मी प्राप्त होती है और उसके खजाने की हानि कभी नहीं होती। (युद्धं वै०) यहां इस बात को जानना चाहिये कि जो राजा को युद्ध करना है वही उसका बल होता है। उसके विना बहुत धन और सुख की प्राप्ति कभी नहीं होती। क्योंकि निघण्टु में संग्राम ही का नाम महाधन है। सो उसको महाधन इसलिये कहते हैं कि उससे बड़े २ उत्तम पदार्थ प्राप्त होते हैं। क्योंकि विना संग्राम के अत्यन्त प्रतिष्ठा और धन कभी नहीं प्राप्त होता। और जो न्याय से राज्य का पालन करना है वही क्षत्रियों का अश्वमेध कहाता है। किन्तु

घोड़े को मार के उसके अङ्गों का होम करना यह अश्वमेध नहीं है। (राजन्य एव०) पूर्वोक्त राजा जब शूरतारूप कीर्त्ति को धारण करता है तभी सम्पूर्ण पृथिवी के राज्य करने को समर्थ होता है। इसलिये जिस देश में युद्ध को अत्यन्त चाहनेवाला, निर्भय, शस्त्र अस्त्र चलाने में अतिचतुर और जिसका रथ पृथिवी, समुद्र और अन्तरिक्ष में जाने आनेवाला हो ऐसा राजा होता है वहां भय और दुःख नहीं होते।

श्रीर्वै राष्ट्रम् ॥ श० कां० १३ । अ० २ । ब्रा० ६ । कं० २ ॥ श्रीर्वै राष्ट्रस्य भारः ॥ श० १३ । २ । ९ । ३ ॥ श्रीर्वै राष्ट्रस्य मध्यम् ॥ श० १३ । २ । ६ । ४ ॥ क्षेमो वै राष्ट्रस्य शीतम् ॥ श० १३ । २ । ९ । ५ ॥ विड्वै गभो राष्ट्रं पसो राष्ट्रमेव विश्याहन्ति तस्माद्राष्ट्री विशं घातुकः ॥ श० १३ । २ । ९ । ६ ॥ विशमेव राष्ट्रायाद्यां करोति तस्माद्राष्ट्री विशमत्ति न पुष्टं पशुं मन्यत इति ॥ शत० कां० १३ । अ० २ । ब्रा० ६ । कं० ८ ॥

(श्रीर्वै राष्ट्रम्) या विद्याद्युत्तमगुणरूपा नीतिः सैव राष्ट्रं भवति । (श्रीर्वैराष्ट्रस्य भारः) सैव राज्यश्री राष्ट्रस्य सम्भारो भवति । (श्रीर्वै राष्ट्रस्य मध्यम्) राष्ट्रस्य मध्यभागोपि श्रीरेवास्ति । (क्षेमो वै रा०) क्षेमो यद्रक्षणं तदेव राष्ट्रस्य शयनवन्निरुपद्रवं सुखं भवति । (विड्वै गभो०) विड् या प्रजा सा गभाख्यास्ति, (राष्ट्रं पसो०) यद्राष्ट्रं तत्पसाख्यं भवति, तस्माद्यद्राष्ट्रसम्बन्धि कर्म तद्विशि प्रजायामाविश्य तामाहन्त्यासमन्तात्करग्रहणेन प्रजाया उत्तमपदार्थानां हरणं करोति, (तस्माद्राष्ट्रीवि०) यस्मात्सभया विनैकाकी पुरुषो भवति तत्र प्रजा सदा पीडिता भवति, तस्मादेकः पुरुषो राजा नैव कर्त्तव्यो, नैकस्य पुरुषस्य राजधर्मानुष्ठाने यथावत् सामर्थ्यं भवति, तस्मात्सभयैव राज्यप्रबन्धः कर्त्तुं शक्योस्ति । (विशमेव राष्ट्राया०) यत्रैको राजास्ति तत्र राष्ट्राय विशं प्रजामाद्यां भक्षणीयां भोज्यवत्ताडितां करोति । यस्मात्स्वसुखार्थं प्रजाया उत्तमान्पदार्थान् गृह्णन्सन् प्रजायै पीडां ददाति तस्मादेको राष्ट्री विशमत्ति, (न पुष्टं पशुम०) यथा मांसाहारी पुष्टं पशुं

दृष्ट्वा हन्तुमिच्छति तथैको राजा न मत्तः कश्चिदधिको भवेदितीर्ष्यया नैव प्रजास्थस्य कस्यचिन्मनुष्यस्योत्कर्षं सहते । तस्मात्सभाप्रबन्धयुक्तेन राज्यव्यवहारेणैव भद्रमित्येवं राजधर्मव्यवहारप्रतिपादका मन्त्रा बहवः सन्तीति ।

भाषार्थ

(श्रीवैं राष्ट्रं) श्री जो है लक्ष्मी वही राज्य का स्वरूप, सामग्री और मध्य है । तथा राज्य का जो रक्षण करना है वही शोभा अर्थात् श्रेष्ठभाग कहाता है । राज्य के लिये एक को राजा कभी नहीं मानना चाहिये । क्योंकि जहां एक को राजा मानते हैं वहां सब प्रजा दुःखी और उसके उत्तम पदार्थों का अभाव हो जाता है, इसीसे किसी की उन्नति नहीं होती । इसी प्रकार सभा करके राज्य का प्रबन्ध आर्य्यों में श्रीमन्महाराज युधिष्ठिरपर्य्यन्त बराबर चला आया है कि जिसकी साक्षी महाभारत के राजधर्म आदि ग्रन्थ तथा मनुस्मृत्यादि धर्मशास्त्रों में यथावत् लिखी है । उनमें जो कुछ प्रक्षिप्त किया है उसको छोड़ के बाकी सब अच्छा है, क्योंकि वह वेदों के अनुकूल है । और आर्य्यों की यह एक बात बड़ी उत्तम थी कि जिस सभा वा न्यायाधीश के सामने अन्याय हो वह प्रजा का दोष नहीं मानते थे, किन्तु वह दोष सभाध्यक्ष, सभासद् और न्यायाधीश का ही गिना जाता था । इसलिये वे लोग सत्य न्याय करने में अत्यन्त पुरुषार्थ करते थे कि जिससे आर्य्यावर्त्त के न्यायघर में कभी अन्याय नहीं होता था और जहां होता था वहां उन्हीं न्यायाधीशों को दोष देते थे । यही सब आर्यों का सिद्धान्त है अर्थात् इन्हीं वेदादि शास्त्रों की रीति से आर्यों ने भूगोल में करोड़ों वर्ष राज्य किया है, इसमें कुछ सन्देह नहीं ।

इति संक्षेपतो राजप्रजाधर्मविषयः

अथ वर्णाश्रमविषयः संक्षेपतः

तत्र वर्णविषयो मन्त्रो "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासी"दित्युक्तस्तदर्थश्च । तस्यायं शेषः ॥ वर्णो वृणोतेः ॥ १ ॥ नि० अ० २ ।

ख० ३ ॥ ब्रह्म हि ब्राह्मणः । क्षत्रꣳ हीन्द्रः, क्षत्रꣳ राजन्यः ॥ २ ॥ श० कां० ५ । अ० १ । ब्रा० १ । कं० ११ ॥ बाहू वै मित्रावरुणौ पुरुषो गर्त्तः ॥ श० कां० ५ । अ० ४ । ब्रा० ३ । कं० १५ ॥ वीर्य्यं वा एतद्राजन्यस्य यद्बाहू वीर्य्यं वा एतदपाꣳ रसः ॥ श० कां० ५ । अ० ४ । ब्रा० ३ । कं० १७ ॥ इषवो वै दिद्यवः ॥ ३ ॥ श० कां० ५ । अ० ४ । ब्रा० ४ । कं० २ ॥

भाष्यम्

वर्णो वृणोतेरिति निरुक्तप्रामाण्याद्वरणीया वरीतुमर्हा, गुणकर्माणि च दृष्ट्वा यथायोग्यं व्रियन्ते ये ते वर्णाः ॥ १ ॥ (ब्रह्म हि ब्राह्मणः) ब्रह्मणा वेदेन परमेश्वरस्योपासनेन च सह वर्त्तमानो विद्याद्युत्तमगुणयुक्तः पुरुषो ब्राह्मणो भवितुमर्हति । तथैव (क्षत्रꣳ हीन्द्रः०) क्षत्रं क्षत्रियकुलम्, यः पुरुष इन्द्रः परमैश्वर्य्यवान् शत्रूणां क्षयकरणाद्युद्धोत्सुकत्वाच्च प्रजापालनतत्परः (राजन्यः) क्षत्रियो भवितुमर्हति ॥ २ ॥ (मित्रः) सर्वेभ्यः सुखदाता, (वरुणः) उत्तमगुणकर्मधारणेन श्रेष्ठः, इमावेव क्षत्रियस्य द्वौ बाहुवद् भवेताम् । (वा) अथवा वीर्य्यं पराक्रमो बलं चैतदुभयं राजन्यस्य क्षत्रियस्य बाहू भवतः । अपां प्राणानां यो रस आनन्दस्तं प्रजाभ्यः प्रयच्छतः क्षत्रियस्य वीर्य्यं वर्धते । तस्य (इषवः) बाणाः, शस्त्रास्त्राणामुपलक्षणमेतत्, (दिद्यवः) प्रकाशकाः सदा भवेयुः ॥ ३ ॥

भाषार्थ

अब वर्णाश्रमविषय लिखा जाता है । इस में यह विशेष जानना चाहिये कि प्रथम मनुष्यजाति सब की एक है, सो भी वेदों से सिद्ध है, इस विषय का प्रमाण सृष्टि-विषय में लिख दिया है । तथा (ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्) यह मन्त्र सृष्टि विषय में लिख चुके हैं । वर्णों के प्रतिपादन करनेवाले वेदमन्त्रों की जो व्याख्या ब्राह्मण और निरुक्तादि ग्रन्थों में लिखी है वह कुछ यहां भी लिखते हैं । मनुष्यजाति के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये वर्ण कहाते हैं । वेदरीति से

इन के दो भेद हैं, एक आर्य्य और दूसरा दस्यु । इस विषय में यह प्रमाण है कि (विजानीह्यार्य्यान्ये च दस्यवो०) अर्थात् इस मन्त्र से परमेश्वर उपदेश करता है कि हे जीव ! तू आर्य्य अर्थात् श्रेष्ठ और दस्यु अर्थात् दुष्टस्वभावयुक्त डाकू आदि नामों से प्रसिद्ध मनुष्यों के ये दो भेद जान ले। तथा (उत शूद्रे उत आर्य्ये) इस मन्त्र से भी आर्य्य ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और अनार्य्य अर्थात् अनाड़ी जो कि शूद्र कहाते हैं ये दो भेद जाने गये हैं। तथा (असुर्या नाम ते लोका०) इस मन्त्र से भी देव और असुर अर्थात् विद्वान् और मूर्ख ये दो ही भेद जाने जाते हैं। और इन्हीं दोनों के विरोध को देवासुर संग्राम कहते हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार भेद गुण कर्मों से किये गये हैं। (वर्णो०) इन का नाम वर्ण इसलिये है कि जैसे जिस के गुण कर्म हों वैसा ही उस को अधिकार देना चाहिये। (ब्रह्म हि ब्रा०) ब्रह्म अर्थात् उत्तम कर्म करने से उत्तम विद्वान् ब्राह्मणवर्ण होता है। (क्षत्रꣳ हि०) परमैश्वर्य (बाहू०) बल, वीर्य्य के होने से मनुष्य क्षत्रियवर्ण होता है, जैसा कि राजधर्म में लिख आये हैं।

आश्रमा अपि चत्वारः सन्ति ब्रह्मचर्य्यगृहस्थवानप्रस्थसंन्यासभेदात् । ब्रह्मचर्य्येण सद्विद्या शिक्षा च ग्राह्या । गृहाश्रमेणोत्तमाचरणानां श्रेष्ठानां पदार्थानां चोन्नतिः कार्य्या । वानप्रस्थेनैकान्तसेवनं ब्रह्मोपासनं विद्याफल-विचारणादि च कार्य्यम् । संन्यासेन परब्रह्ममोक्षपरमानन्दप्रापणं क्रियते, सदुपदेशेन सर्वस्मा आनन्ददानं चेत्यादि चतुर्भिराश्रमैर्धर्मार्थकाममोक्षाणां सम्यक् सिद्धिः सम्पादनीया । एतेषां मुख्यतया ब्रह्मचर्य्येण सद्विद्यासुशिक्षा-दयः शुभगुणाः सम्यग्ग्राह्याः । अत्र ब्रह्मचर्य्याश्रमे प्रमाणम्—

आचार्य्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः । तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्त्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः ॥ १ ॥ इयं समित्पृथिवी द्यौर्द्वितीयोतान्तरिक्षं समिधा पृणाति । ब्रह्म-चारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्त्ति ॥ २ ॥ पूर्वो जातो ब्रह्मणो ब्रह्मचारी घर्मं वसानस्तपसोदतिष्ठत् । तस्माज्जातं

ब्राह्मणं ब्रह्मज्येष्ठं देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम् ॥ ३ ॥ अथर्व० कां० ११ । अनु० ३ । सू० ५ । मं० ३ । ४ । ५ ॥

भाष्यम्

(आचार्य्य उ०) आचार्य्यो विद्याध्यापको ब्रह्मचारिणमुपनयमानो विद्यापठनार्थमुपवीतं दृढव्रतमुपदिशन्नन्तर्गर्भमिव कृणुते करोति । तं तिस्रो रात्रीस्त्रिदिनपर्य्यन्तमुदरे बिभर्त्ति । अर्थात् सर्वां शिक्षां करोति पठनस्य च रीतिमुपदिशति । यदा विद्यायुक्तो विद्वान् जायते तदा तं विद्यासु जातं प्रादुर्भूतं देवा विद्वांसो द्रष्टुमभिसंयन्ति प्रसन्नतया तस्य मान्यं कुर्वन्ति । अस्माकं मध्ये महाभाग्योदयेनेश्वरानुग्रहेण च सर्वमनुष्योपकारार्थं त्वं विद्वान् जात इति प्रशंसन्ति ॥ १ ॥ (इयं समित्०) इयं पृथिवी द्यौः प्रकाशोन्तरिक्षं चानया समिधा स ब्रह्मचारी पृणाति, तत्रस्थान् सर्वान् प्राणिनो विद्यया होमेन च प्रसन्नान् करोति, (समिधा) अग्निहोत्रादिना, मेखलया ब्रह्मचर्य्यचिह्नधारणेन च, (श्रमेण) परिश्रमेण, (तपसा) धर्मानुष्ठानेनाध्यापनेनोपदेशेन च (लोकां०) सर्वान् प्राणिनः पिपर्त्ति पुष्टान्प्रसन्नान्करोति ॥ २ ॥ (पूर्वो जातो ब्रह्म०) ब्रह्मणि वेदे चरितुं शीलं यस्य स ब्रह्मचारी, (घर्मं वसानः) अत्यन्तं तपश्चरन्, ब्राह्मणोऽर्थाद्वेदं परमेश्वरं च विदन्, पूर्वः सर्वेषामाश्रमाणामादिमः सर्वाश्रमभूषकः, (तपसा) धर्मानुष्ठानेन (उदतिष्ठत्) ऊर्ध्वे उत्कृष्टबोधे व्यवहारे च तिष्ठति । तस्मात्कारणात् (ब्रह्मज्येष्ठं) ब्रह्मैव परमेश्वरो विद्या वा ज्येष्ठा सर्वोत्कृष्टा यस्य तं ब्रह्मज्येष्ठम्, (अमृतेन) परमेश्वरमोक्षबोधेन परमानन्देन साकं सह वर्त्तमानं (ब्राह्मणं) ब्रह्मविदं (जातं) प्रसिद्धं (देवाः) सर्वे विद्वांसः प्रशंसन्ति ॥ ३ ॥

भाषार्थ

अब आगे चार आश्रमों का वर्णन किया जाता है । ब्रह्मचर्य्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास ये चार आश्रम कहाते हैं । इन में से पांच वा आठ वर्ष की उमर से अड़तालीस वर्ष पर्य्यन्त प्रथम ब्रह्मचर्य्याश्रम का समय है ।

इसके विभाग पितृयज्ञ में कहेंगे। वह सुशिक्षा और सत्यविद्यादि गुण ग्रहण करने के लिये होता है। दूसरा गृहाश्रम जो कि उत्तम गुणों के प्रचार और श्रेष्ठ पदार्थों की उन्नति से सन्तानों की उत्पत्ति और उनको सुशिक्षित करने के लिये किया जाता है। तीसरा वानप्रस्थ जिससे ब्रह्मविद्यादि साक्षात् साधन करने के लिये एकान्त में परमेश्वर का सेवन किया जाता है। चौथा संन्यास जो कि परमेश्वर अर्थात् मोक्षसुख की प्राप्ति और सत्योपदेश से सब संसार के उपकार के अर्थ किया जाता है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पदार्थों की प्राप्ति के लिये इन चार आश्रमों का सेवन करना सब मनुष्यों को उचित है। इन में से प्रथम ब्रह्मचर्य्याश्रम जो कि सब आश्रमों का मूल है उसके ठीक २ सुधरने से सब आश्रम सुगम और बिगड़ने से नष्ट हो जाते हैं। इस आश्रम के विषय में वेदों के अनेक प्रमाण हैं, उन में से कुछ यहां भी लिखते हैं। (आचार्य्य उ०) अर्थात् जो गर्भ में बस के माता और पिता के सम्बन्ध से मनुष्य का जन्म होता है वह प्रथम जन्म कहाता है और दूसरा यह है कि जिसमें आचार्य्य पिता और विद्या माता होती है। इस दूसरे जन्म के न होने से मनुष्य को मनुष्यपन नहीं प्राप्त होता। इसलिये उस को प्राप्त होना मनुष्यों को अवश्य चाहिये। जब आठवें वर्ष पाठशाला में जाकर आचार्य्य अर्थात् विद्या पढ़ाने वाले के समीप रहते हैं तभी से उनका नाम ब्रह्मचारी वा ब्रह्मचारिणी हो जाता है। क्योंकि वे ब्रह्म वेद और परमेश्वर के विचार में तत्पर होते हैं। उनको आचार्य तीन रात्रिपर्य्यन्त गर्भ में रखता है। अर्थात् ईश्वर की उपासना धर्म परस्पर विद्या के पढ़ने और विचारने की युक्ति आदि जो मुख्य २ बातें हैं वे सब तीन दिन में उनको सिखाई जाती हैं। तीन दिन के उपरान्त उनको देखने के लिये अध्यापक अर्थात् विद्वान् लोग आते हैं॥ १॥ (इयं समित्०) फिर उस दिन होम करके उनको प्रतिज्ञा कराते हैं कि जो ब्रह्मचारी पृथिवी, सूर्य्य और अन्तरिक्ष इन तीनों प्रकार की विद्याओं को पालन और पूर्ण करने की इच्छा करता है सो इन समिधाओं से पुरुषार्थ करके सब लोकों को धर्मानुष्ठान से पूर्ण आनन्दित कर देता है॥ २॥ (पूर्वो जातो ब्र०) जो ब्रह्मचारी पूर्व पढ़ के ब्राह्मण होता है वह धर्मानुष्ठान से अत्यन्त पुरुषार्थी होकर सब मनुष्यों का कल्याण

करता है। (ब्रह्म ज्येष्ठं०) फिर उस पूर्ण विद्वान् ब्राह्मण को जो कि अमृत अर्थात् परमेश्वर की पूर्ण भक्ति और धर्मानुष्ठान से युक्त होता है देखने के लिये सब विद्वान् आते हैं ॥ ३ ॥

ब्रह्मचार्य्येति समिधा समिद्धः कार्ष्णं वसानो दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः । स सद्य एति पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रं लोकान्त्संगृभ्य मुहुराचरिक्रत ॥ ४ ॥ ब्रह्मचारी जनयन् ब्रह्मापो लोकं प्रजापतिं परमेष्ठिनं विराजम् । गर्भो भूत्वामृतस्य योनाविन्द्रो ह भूत्वाऽसुरांस्ततर्ह ॥ ५ ॥ ब्रह्मचर्य्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति । आचार्य्यो ब्रह्मचर्य्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥ ६ ॥ ब्रह्मचर्य्येण कन्या३ युवानं विन्दते पतिम् । अनड्वान् ब्रह्मचर्य्येणाश्वो घासं जिगीषति ॥ ७ ॥ ब्रह्मचर्य्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत । इन्द्रो ह ब्रह्मचर्य्येण देवेभ्यः स्व१राभरत् ॥ ८ ॥ अथर्व० कां० ११ । अनु० ३ । सू० ५ । मं० ६ । ७ । १७ । १८ । १९ ॥

भाष्यम्

(ब्रह्मचार्य्येति०) स ब्रह्मचारी पूर्वोक्तया (समिधा) विद्यया (समिद्धः) प्रकाशितः, (कार्ष्णं) मृगचर्मादिकं (वसानः) आच्छादयन्, (दीर्घश्मश्रुः) दीर्घकालपर्यन्तं केशश्मश्रूणि धारितानि येन सः, (दीक्षितः) प्राप्तदीक्षः (एति) परमानन्दं प्राप्नोति । तथा (पूर्वस्मात्) ब्रह्मचर्यानुष्ठानभूतात्समुद्रात् (उत्तरं) गृहाश्रमं समुद्रं (सद्य एति) शीघ्रं प्राप्नोति, एवं निवासयोग्यान्सर्वान् (लोकान्त्सं०) संगृह्य मुहुर्वारंवारं (आचरिक्रत्) धर्मोपदेशमेव करोति ॥ ४ ॥ (ब्रह्मचारी०) स ब्रह्मचारी (ब्रह्म) वेदविद्यां पठन्, (अपः) प्राणान्, (लोकं) दर्शनं, (परमेष्ठिनं) प्रजापतिं (विराजं) विविधप्रकाशकं परमेश्वरं (जनयन्) प्रकटयन्, (अमृतस्य) मोक्षस्य (योनौ) विद्यायां (गर्भो भूत्वा) गर्भवन्नियमेन स्थित्वा यथावद्विद्यां गृहीत्वा, (इन्द्रो ह भूत्वा) सूर्यवत्प्रकाशकः सन् (असुरान्) दुष्टकर्म-

कारिणो मूर्खान्पाषण्डिनो जनान् दैत्यरक्षःस्वभावान् (ततर्द) तिरस्करोति, सर्वान्निवारयति । यथेन्द्रः सूर्य्योऽसुरान्मेघान् रात्रिं च निवारयति तथैव ब्रह्मचारी सर्वशुभगुणप्रकाशकोऽशुभगुणनाशकश्च भवतीति ॥ ५ ॥ (ब्रह्मचर्य्येण०) तपसा ब्रह्मचर्य्येण कृतेन राजा राष्ट्रं विरक्षति, विशिष्टतया प्रजा रक्षितुं योग्यो भवति । आचार्य्योपि कृतेन ब्रह्मचर्य्येणैव विद्यां प्राप्य ब्रह्मचारिणमिच्छते स्वीकुर्य्यान्नान्यथेति ॥ ६ ॥ अत्र प्रमाणम् । आचार्य्यः कस्मादाचारं ग्राहयत्याचिनोत्यर्थानाचिनोति बुद्धिमिति वा ॥ निरुक्त अ० १ । खं० ४ ॥ (ब्रह्मचर्य्येण०) एवमेव कृतेन ब्रह्मचर्य्येणैव कन्या युवतिः सती युवानं स्वसदृशं पतिं विन्दते, नान्यथा, न चातः पूर्वमसदृशं वा । अनड्वानित्युपलक्षणं वेगवतां पशूनां, ते पशवोऽश्वश्च घासं यथा, तथा कृतेन ब्रह्मचर्य्येण स्वविरोधिनः पशून् जिगीषन्ति युद्धेन जेतुमिच्छन्ति । अतो मनुष्यैस्त्ववश्यं ब्रह्मचर्य्यं कर्त्तव्यमित्यभिप्रायः ॥ ७ ॥ (ब्रह्मचर्य्येण तपसा देवा०) देवा विद्वांसो, ब्रह्मचर्य्येण वेदाध्ययनेन ब्रह्मविज्ञानेन तपसा धर्मानुष्ठानेन च, मृत्युं जन्ममृत्युप्रभवदुःखमुपाघ्नत, नित्यं घ्नन्ति, नान्यथा । ब्रह्मचर्य्येण सुनियमेन (हेति किलार्थे) यथा इन्द्रः सूर्य्यो देवेभ्य इन्द्रियेभ्यः स्वः सुखं प्रकाशं चाभरद्धारयति । तथा विना ब्रह्मचर्य्येण कस्यापि नैव विद्यासुखं च यथावद्भवति । अतो ब्रह्मचर्य्यानुष्ठानपूर्वका एव गृहाश्रमादयस्त्रय आश्रमाः सुखमेधन्ते । अन्यथा मूलाभावे कुतः शाखाः, किन्तु मूले दृढे शाखापुष्पफलच्छायादयः सिद्धाः भवन्त्येवेति ॥ ८ ॥

भाषार्थ

(ब्रह्मचार्येति०) जो ब्रह्मचारी होता है वही ज्ञान से प्रकाशित, तप और बड़े २ केश श्मश्रुओं से युक्त दीक्षा को प्राप्त होके विद्या को प्राप्त होता है । तथा जो कि शीघ्र ही विद्या को ग्रहण करके पूर्व समुद्र जो ब्रह्मचर्य्याश्रम का अनुष्ठान है उसके पार उतर के उत्तर समुद्र स्वरूप गृहाश्रम को प्राप्त होता है और अच्छी प्रकार विद्या का संग्रह करके विचारपूर्वक अपने उपदेश का सौभाग्य बढ़ाता है ॥ ४ ॥ (ब्रह्मचारी ज०) वह ब्रह्मचारी वेदविद्या को यथार्थ जान

के प्राणविद्या, लोकविद्या तथा प्रजापति परमेश्वर जो कि सब से बड़ा और सब का प्रकाशक है उस का जानना, इन विद्याओं में गर्भरूप और इन्द्र अर्थात् ऐश्वर्य्य युक्त हो के असुर अर्थात् मूर्खों की अविद्या को छेदन कर देता है ॥ ५ ॥ (ब्रह्मचर्य्येण त०) पूर्ण ब्रह्मचर्य्य से विद्या पढ़के और सत्यधर्म के अनुष्ठान से राजा राज्य करने को और आचार्य्य विद्या पढ़ाने को समर्थ होता है । आचार्य्य उसको कहते हैं कि जो असत्याचार को छुड़ा के सत्याचार का और अनर्थों को छुड़ा के अर्थों का ग्रहण कराके ज्ञान को बढ़ा देता है ॥ ६ ॥ (ब्रह्मचर्य्येण क०) अर्थात् जब वह कन्या ब्रह्मचर्य्याश्रम से पूर्ण विद्या पढ़ चुके तब अपनी युवावस्था में पूर्ण जवान पुरुष को अपना पति करे । इसी प्रकार पुरुष भी सुशील धर्मात्मा स्त्री के साथ प्रसन्नता से विवाह करके दोनों परस्पर सुख दुःख में सहायकारी हों । क्योंकि अनड्वान् अर्थात् पशु भी जो पूरी जवानी पर्य्यन्त ब्रह्मचर्य्य अर्थात् सुनियम में रक्खा जाय तो अत्यन्त बलवान् हो के निर्बल जीवों को जीत लेता है ॥ ७ ॥ (ब्रह्मचर्य्येण त०) ब्रह्मचर्य्य और धर्मानुष्ठान से ही विद्वान् लोग जन्म मरण को जीत के मोक्षसुख को प्राप्त हो जाते हैं । जैसे इन्द्र अर्थात् सूर्य्य परमेश्वर के नियम में स्थित हो के सब लोकों का प्रकाश करने वाला हुआ है वैसे ही मनुष्य का आत्मा ब्रह्मचर्य्य से प्रकाशित होके सब को प्रकाशित कर देता है । इस से ब्रह्मचर्य्याश्रम ही सब आश्रमों से उत्तम है ॥ ८ ॥

इति ब्रह्मचर्य्याश्रमविषयः संक्षेपतः

अथ गृहाश्रमविषयः

यद् ग्रामे यदरण्ये यत्सभायां यदिन्द्रिये । यदेनश्चकृमा वयमिदं तदव यजामहे स्वाहा ॥९॥ देहि मे ददामि ते नि मे धेहि नि ते दधे । निहारं च हरासि मे निहारं निहराणि ते स्वाहा ॥१०॥ गृहा मा बिभीत मा वेपध्वमूर्जं बिभ्रत एमसि । ऊर्जं बिभ्रद्वः

सुमनाः सुमेधा गृहानैमि मनसा मोदमानः ॥ ११ ॥ येषामध्येति प्रवसन्येषु सौमनसो बहुः । गृहानुप ह्वयामहे ते नो जानन्तु जानतः ॥ १२ ॥ उपहूता इह गाव उपहूता अजावयः । अथो अन्नस्य कीलाल उपहूतो गृहेषु नः । क्षेमाय वः शान्त्यै प्रपद्ये शिवꣳ शग्मꣳ शंयोः शंयोः ॥ १३ ॥ य० अ० ३ । मं० ४५ । ५० । ४१ । ४२ । ४३ ॥

भाष्यम्

(एषामभि०) एतेषु गृहाश्रमविधानं क्रियत इति । (यद् ग्रामे०) यद् ग्रामे गृहाश्रमे वसन्तो वयं पुण्यं विद्याप्रचारं सन्तानोत्पत्तिमत्युत्तमसामाजिकनियमं सर्वोपकारकं, तथैवारण्ये वानप्रस्थाश्रमे ब्रह्मविचारं विद्याध्ययनं तपश्चरणं, सभासम्बन्धे यच्छ्रेष्ठं, इन्द्रिये मानसव्यवहारे च यदुत्तमं कर्म च कुर्मस्तत्सर्वमीश्वरमोक्षप्राप्त्यर्थमस्तु । यच्च भ्रमेणैनः पापं च कृतं तत्सर्वमिदं पापमवयजामह आश्रमानुष्ठानेन नाशयामः ॥ ९ ॥ (देहि मे०) परमेश्वर आज्ञापयति हे जीव ! त्वमेवं वद, मे मह्यं देहि, मत्सुखार्थं विद्यां द्रव्यादिकं च त्वं देहि, अहमपि ते तुभ्यं ददामि । मे मह्यं मदर्थं त्वमुत्तमस्वभावदानमुदारतां सुशीलतां च धेहि धारय, ते तुभ्यं त्वदर्थमहमप्येवं च दधे । तथैव धर्मव्यवहारं क्रयदानादानाख्यं च हरासि प्रयच्छ, तथैवाहमपि ते तुभ्यं त्वदर्थं निहराणि नित्यं प्रयच्छानि ददानि । स्वाहेति सत्यभाषणं, सत्यमानं, सत्याचरणं, सत्यवचनश्रवणं च सर्वे वयं मिलित्वा कुर्य्यामेति सत्येनैव सर्वं व्यवहारं कुर्य्युः ॥ १० ॥ (गृहा०) हे गृहाश्रममिच्छन्तो मनुष्याः ! स्वयंवरं विवाहं कृत्वा यूयं गृहाणि प्राप्नुत । गृहाश्रमानुष्ठाने (मा बिभीत) भयं मा प्राप्नुत । तथा (मा वेपध्वं) मा कम्पध्वम् । (ऊर्जं बिभ्रत एमसि) ऊर्जं बलं पराक्रमं च बिभ्रतः, पदार्थानमसि वयं प्राप्नुम इतीच्छत । (ऊर्जं बिभ्रद्वः) वो युष्माकं मध्येऽहमूर्जं बिभ्रत्सन्, (सुमनाः) शुद्धमनाः, सुमेधोत्तमबुद्धियुक्तः, (मनसा मोदमानः) प्राप्तानन्दः (गृहानैमि) गृहाणि प्राप्नोमि ॥ ११ ॥ (येषामध्येति प्र०) येषु गृहेषु प्रवसतो मनु-

ष्यस्य (बहुः) अधिकः (सौमनसः) आनन्दो भवति । तत्र प्रवसन् येषां यान्पदार्थान्सुखकारकान्स (अध्येति) स्मरति, (गृहानुपह्वयामहे) वयं गृहेषु विवाहादिषु सत्कारार्थं तान् गृहसम्बन्धिनः सखिबन्ध्वाचार्य्यादीन्निमन्त्रयामहे । (ते नः) विवाहनियमेषु कृतप्रतिज्ञानस्मान् (जानतः) प्रौढज्ञानान्, युवावस्थास्थान्स्वेच्छया कृतविवाहान्, ते (जानन्तु) अस्माकं साक्षिणः सन्त्विति ॥ १२ ॥ (उपहूता इह०) हे परमेश्वर ! भवत्कृपया इहास्मिन् गृहाश्रमे (गावः) पशुपृथिवीन्द्रियविद्याप्रकाशाह्लादादयः (उपहूताः) अर्थात्सम्यक् प्राप्ता भवन्तु । तथा (अजावयः) उपहूता अस्मदनुकूला भवन्तु । (अथो अन्नस्य की०) अथो इति पूर्वोक्तपदार्थप्राप्त्यनन्तरं नोऽस्माकं गृहेष्वन्नस्य भोक्तव्यपदार्थसमूहस्य कीलालो विशेषेणोत्तमरस उपहूतः सम्यक् प्राप्तो भवतु । (क्षेमाय वः शान्त्यै०) वो युष्मान्, अत्र पुरुषव्यत्ययोस्ति, तान्पूर्वोक्तान्प्रत्यक्षान्पदार्थान् (क्षेमाय) रक्षणाय (शान्त्यै) सुखाय प्रपद्ये प्राप्नोमि । तत्प्राप्त्या (शिवं) निश्श्रेयसं कल्याणं पारमार्थिकं सुखं (शग्मं) सांसारिकमाभ्युदयिकं सुखं च प्राप्नुयाम् । शंयोः* शमिति (शग्ममिति ?) निघण्टौ पदनामास्ति । परोपकाराय गृहाश्रमे स्थित्वा पूर्वोक्तस्य द्विविधस्य सुखस्योन्नतिं कुर्म्मः ॥ १३ ॥

भाषार्थ

(यद् ग्रामे०) गृहाश्रमी को उचित है कि जब वह पूर्ण विद्या को पढ़ चुके तब अपने तुल्य स्त्री से स्वयंवर करे और वे दोनों यथावत् उन विवाह के नियमों में चलें जो कि विवाह और नियोग के प्रकरणों में लिख आये हैं । परन्तु उन से जो विशेष कहना है सो यहां लिखते हैं । गृहस्थ स्त्री पुरुषों को धर्म उन्नति और ग्रामवासियों के हित के लिये जो २ काम करना है, तथा (यदरण्ये) वनवासियों के साथ हित और (यत्सभायाम्) सभा के बीच में सत्य विचार और अपने सामर्थ्य से संसार को सुख देने के लिये, (यदिन्द्रिये०)

* निघं० ४ । १ ॥

जितेन्द्रियता से ज्ञान की वृद्धि करनी चाहिये सो २ सब काम अपने पूर्ण पुरुषार्थ के साथ यथावत् करें। और (यदेनश्चकृ०) पाप करने की बुद्धि को हम लोग मन, वचन और कर्म से छोड़ कर, सर्वथा सब के हितकारी बनें ॥ ६ ॥ परमेश्वर उपदेश करता है कि (देहि मे०) जो सामाजिक नियमों की व्यवस्था के अनुसार ठीक २ चलना है यही गृहस्थ की परम उन्नति का कारण है। जो वस्तु किसी से लेवें अथवा देवें सो भी सत्यव्यवहार के साथ करें। (नि मे धेहि, नि ते दधे) अर्थात् मैं तेरे साथ यह काम करूंगा और तू मेरे साथ ऐसा करना, ऐसे व्यवहार को भी सत्यता से करना चाहिये। (निहारं च हरासि मे नि०) यह वस्तु मेरे लिये तूं दे वा तेरे लिये मैं दूंगा इस को भी यथावत् पूरा करें। अर्थात् किसी प्रकार का मिथ्या व्यवहार किसी से न करें। इस प्रकार गृहस्थ लोगों के सब व्यवहार सिद्ध होते हैं। क्योंकि जो गृहस्थ विचारपूर्वक सब के हितकारी काम करते हैं उन की सदा उन्नति होती है ॥ १० ॥ (गृहा मा बिभीत०) हे गृहाश्रम की इच्छा करने वाले मनुष्य लोगो ! तुम लोग स्वयंवर अर्थात् अपनी इच्छा के अनुकूल विवाह करके गृहाश्रम को प्राप्त हो और उससे डरो वा कम्पो मत। किन्तु उससे बल, पराक्रम करनेवाले पदार्थों को प्राप्त होने की इच्छा करो। तथा गृहाश्रमी पुरुषों से ऐसा कहो कि मैं परमात्मा की कृपा से आप लोगों के बीच पराक्रम, शुद्ध मन, उत्तम बुद्धि और आनन्द को प्राप्त होकर गृहाश्रम करूं ॥ ११ ॥ (येषामध्येति०) जिन घरों में वसते हुए मनुष्यों को अधिक आनन्द होता है, उन में वे मनुष्य अपने सम्बन्धी, मित्र, बन्धु और आचार्य्य आदि का स्मरण करते हैं और उन्हीं लोगों को विवाहादि शुभ कार्य्यों में सत्कार से बुलाकर उन से यह इच्छा करते हैं कि ये सब हम को युवावस्थायुक्त और विवाहादि नियमों में ठीक २ प्रतिज्ञा करनेवाले जानें अर्थात् हमारे साक्षी हों ॥ १२ ॥ (उपहू०) हे परमेश्वर ! आप की कृपा से हम लोगों को गृहाश्रम में पशु, पृथिवी, विद्या, प्रकाश, आनन्द, बकरी और भेड़ आदि पदार्थ अच्छी प्रकार से प्राप्त हों। तथा हमारे घरों में उत्तम रसयुक्त खाने पीने के योग्य पदार्थ सदा बने रहें। (वः) यह पद पुरुषव्यत्यय से सिद्ध होता है। हम लोग उक्त पदार्थों को उन की रक्षा और अपने सुख के लिये प्राप्त हों।

फिर उस प्राप्ति से हम को परमार्थ और संसार का सुख मिले। (शंयोः) यह निघण्टु में प्रतिष्ठा अर्थात् सांसारिक सुख का नाम है ॥ १३ ॥

इति गृहाश्रमविषयः संक्षेपतः

अथ वानप्रस्थविषयः संक्षेपतः

त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति । प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्य्याचार्य्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्य्यकुलेऽवसादयन् । सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति ॥ छान्दोग्य० प्र० २। खं० २३ ॥

भाष्यम्

(त्रयो धर्म०) अत्र सर्वेष्वाश्रमेषु धर्मस्य स्कन्धा अवयवास्त्रयः सन्ति। अध्ययनं, यज्ञः क्रियाकाण्डं, दानं च । तत्र प्रथमे ब्रह्मचारी तपःसुशिक्षाधर्मानुष्ठानेनाचार्य्यकुले वसति । द्वितीयो गृहाश्रमी । तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमवसादयन् हृदये विचारयन्नेकान्तदेशं प्राप्य सत्यासत्ये निश्चिनुयात् स वानप्रस्थाश्रमी । एते सर्वे ब्रह्मचर्य्यादयस्त्रय आश्रमाः पुण्यलोकाः सुखनिवासाः सुखयुक्ता भवन्ति, पुण्यानुष्ठानादेवाश्रमसंख्या जायते । ब्रह्मचर्य्याश्रमेण गृहीतविद्यो धर्मेश्वरादि सम्यङ् निश्चित्य, गृहाश्रमेण तदनुष्ठानं तद्विज्ञानवृद्धिं च कृत्वा, ततो वनमेकान्तं गत्वा, सम्यक् सत्यासत्यवस्तुव्यवहारान्निश्चित्य, वानप्रस्थाश्रमं समाप्य सन्न्यासी भवेत् । अर्थाद् ब्रह्मचर्य्याश्रमं समाप्य गृही भवेत्, गृही भूत्वा वनी भवेद्वनी भूत्वा प्रव्रजेदित्येकः पक्षः । (यदहरेव विरजेत तदहरेव प्राव्रजेद्वनाद्वा गृहाद्वा) अस्मिन् पक्षे वानप्रस्थाश्रममकृत्वा गृहाश्रमानन्तरं सन्न्यासं गृह्णीयादिति द्वितीयः पक्षः। ब्रह्मचर्य्यादेव प्रव्रजेत्, सम्यग्ब्रह्मचर्य्याश्रमं कृत्वा गृहस्थवानप्रस्थाश्रमावकृत्वा सन्न्यासाश्रमं गृह्णीयादिति तृतीयः पक्षः । सर्वत्रान्याश्रमविकल्प उक्तः परन्तु ब्रह्मचर्य्याश्रमानुष्ठानं नित्यमेव कर्त्तव्यमित्यायाति । कुतः । ब्रह्मचर्य्याश्रमेण विनाऽन्याश्रमानुत्पत्तेः ।

भाषार्थ

(त्रयो धर्म०) धर्म के तीन स्कन्ध हैं एक विद्या का अध्ययन, दूसरा यज्ञ अर्थात् उत्तम क्रियाओं का करना, तीसरा दान अर्थात् विद्यादि उत्तम गुणों का देना । तथा प्रथम तप अर्थात् वेदोक्तधर्म के अनुष्ठानपूर्वक विद्या पढ़ाना, दूसरा आचार्य्यकुल में बस के विद्या पढ़ना और तीसरा परमेश्वर का ठीक २ विचार करके सब विद्याओं को जान लेना । इन बातों से सब प्रकार की उन्नति करना मनुष्यों का धर्म है । तथा संन्यासाश्रम के तीन पक्ष हैं । उन में एक यह है कि जो विषय भोग किया चाहे वह ब्रह्मचर्य्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ इन आश्रमों को करके संन्यास ग्रहण करे । दूसरा (यदहरेव प्र०) जिस समय वैराग्य अर्थात् बुरे कामों से चित्त हटकर ठीक २ सत्य मार्ग में निश्चित होजाय उस समय गृहाश्रम से भी संन्यास हो सकता है, और तीसरा जो पूर्ण विद्वान् होकर सब प्राणियों का शीघ्र उपकार किया चाहे तो ब्रह्मचर्य्याश्रम से ही संन्यास ग्रहण करले ।

ब्रह्मसꣳस्थोऽमृतत्वमेति ॥ छान्दो० प्रपा० २ । खं० २३ ॥ तमेतं वेदानुवचनेन विविदिषन्ति । ब्रह्मचर्य्येण तपसा श्रद्धया यज्ञेनानाशकेन चैतमेव विदित्वा मुनिर्भवत्येतमेव प्रव्राजिनो लोकमीप्सन्तः प्रव्रजन्ति । एतद्ध स्म वै तत्पूर्वे ब्राह्मणाः । अनूचाना विद्वाꣳसः प्रजां न कामयन्ते किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्मायं लोक इति ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति या ह्येव पुत्रैषणा सा वित्तैषणा या वित्तैषणा सा लोकैषणोभे ह्येते एषणे एव भवतः ॥ श० कां० १४ । अ० ७ । ब्रा० २ । कं० २५ । २६ ॥

भाष्यम्

(ब्रह्मसꣳस्थः०) चतुर्थो ब्रह्मसंस्थः सन्न्यासी (अमृतत्वं) एति प्राप्नोति । (तमेतं वेदा०) सर्व आश्रमिणो विशेषतः सन्न्यासिमतमेतं परमेश्वरं

सर्वभूताधिपतिं वेदानुवचनेन तदध्ययनेन तच्छ्रवणेन तदुक्तानुष्ठानेन च वेत्तुमिच्छन्ति। (ब्रह्मचर्य्येण०) ब्रह्मचर्य्येण, तपसा धर्मानुष्ठानेन, श्रद्धयाऽत्यन्तप्रेम्णा, यज्ञेन नाशरहितेन विज्ञानेन धर्मक्रियाकाण्डेन चैतं परमेश्वरं विदित्वैव मुनिर्भवति। प्रव्राजिनः सन्न्यासिन एनं यथोक्तं लोकं द्रष्टव्यं परमेश्वरमेवेप्सन्तः प्रव्रजन्ति सन्न्यासाश्रमं गृह्णन्ति। (एतद् ब्रह्म०) य एतादिच्छन्तः सन्तः, पूर्वे अत्युत्तमा, ब्राह्मणा ब्रह्मविदोऽनूचाना निश्शङ्काः पूर्णज्ञानिनोऽन्येषां शङ्कानिवारका विद्वांसः प्रजां गृहाश्रमं न कामयन्ते नेच्छन्ति, (ते ह स्म०) हेति स्फुटे, स्मेति स्मये, ते प्रोत्फुल्लाः प्रकाशमाना वदन्ति वयं प्रजया किं करिष्यामः, किमपि नेत्यर्थः। येषां नोऽस्माकमयमात्मा परमेश्वरः प्राप्यो, लोको दर्शनीयश्चास्ति। एवं ते (पुत्रैषणायाश्च) पुत्रोत्पादनेच्छायाः (वित्तैषणायाश्च) जड़धनप्राप्त्यनुष्ठानेच्छायाः (लोकैषणायाश्च) लोके स्वस्य प्रतिष्ठास्तुतिनिन्देच्छायाश्च (व्युत्थाय) विरज्य (भिक्षाचर्य्यं च०) सन्न्यासाश्रमानुष्ठानं कुर्वन्ति। यस्य पुत्रैषणा पुत्रप्राप्त्येषणेच्छा भवति तस्यावश्यं वित्तैषणापि भवति, यस्य वित्तैषणा तस्य निश्चयेन लोकैषणा भवतीति विज्ञायते। तथा यस्यैका लोकैषणा भवति तस्योभे पूर्वे पुत्रैषणालोकैषणे भवतः। यस्य च परमेश्वरमोक्षप्राप्त्येषणेच्छास्ति तस्यैतास्तिस्रो निवर्त्तन्ते। नैव ब्रह्मानन्दवित्तेन तुल्यं लोकवित्तं कदाचिद् भवितुमर्हति। यस्य परमेश्वरे प्रतिष्ठास्ति तस्यान्याः सर्वाः प्रतिष्ठा नैव रुचिता भवन्ति। सर्वान्मनुष्याननुगृह्णन् सर्वदा सत्योपदेशेन सुखयति, तस्य केवलं परोपकारमात्रं सत्यप्रवर्त्तनं प्रयोजनं भवतीति।

भाषार्थ

(तमेतं०) जो कि वेद को पढ़ के परमेश्वर को जानने की इच्छा करते हैं, (ब्रह्मसंस्थः) वे संन्यासी लोग मोक्षमार्ग को प्राप्त होते हैं। तथा (ब्रह्म च०) जो सत्पुरुष ब्रह्मचर्य्य, धर्मानुष्ठान, श्रद्धायज्ञ और ज्ञान से परमेश्वर को जान के मुनि अर्थात् विचारशील होते हैं वे ही ब्रह्मलोक अर्थात् संन्यासियों के प्राप्तिस्थान को प्राप्त होने के लिये संन्यास लेते हैं। जो उन में उत्तम पूर्ण विद्वान् हैं

वे गृहाश्रम और वानप्रस्थ के विना ब्रह्मचर्य्य आश्रम से ही संन्यासी हो जावे हैं और उनके उपदेश से जो पुत्र होते हैं उन्हीं को सब से उत्तम मानकर (पुत्रैषणा) अर्थात् सन्तानोपत्ति की इच्छा (वित्तैषणा) अर्थात् धन का लोभ (लोकैषणा) अर्थात् लोक में प्रतिष्ठा की इच्छा करना, इस तीन प्रकार की इच्छा को छोड़ के वे भिक्षाचरण करते हैं। अर्थात् सर्वगुरु सब के अतिथि होके विचरते हुए संसार को अज्ञानरूपी अन्धकार से छुड़ा के सत्यविद्या के उपदेशरूप प्रकाश से प्रकाशित कर देते हैं।

प्राजापत्यामिष्टिं निरूप्य तस्यां सर्ववेदसं हुत्वा ब्राह्मणः प्रव्रजेदिति शतपथे श्रुत्यक्षराणि ॥ यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्धसत्त्वः कामयते यांश्च कामान्। तं तं लोकं जायते तांश्च कामांस्तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद्भूतिकामः ॥ १ ॥ मुण्डकोपनि० मुण्डके ३। खं० १। मं० १० ॥

भाष्यम्

(प्राजापत्या०)स च संन्यासी प्राजापत्यां परमेश्वरदेवताकामिष्टिं कृत्वा, हृदये सर्वमेतन्निश्चित्य, तस्यां (सर्ववेदसं) शिखासूत्रादिकं हुत्वा, मुनिर्मननशीलः सन्, प्रव्रजति संन्यासं गृह्णाति। परन्त्वयं पूर्णविद्यावतां रागद्वेषरहितानां सर्वमनुष्योपकारबुद्धीनां संन्यासग्रहणाधिकारो भवति, नाल्पविद्यानामिति। तेषां संन्यासिनां प्राणापानहोमो, दोषेभ्य इन्द्रियाणां मनसश्च सदा निवर्त्तनं, सत्यधर्मानुष्ठानं चैवाग्निहोत्रम्। किन्तु पूर्वेषां त्रयाणामेवाश्रमिणामनुष्ठातुं योग्यं, यद्वा ह्यक्रियामयमस्ति, संन्यासिनां तन्न। सत्योपदेश एव संन्यासिनां ब्रह्मयज्ञः। देवयज्ञो ब्रह्मोपासनम्। विज्ञानिनां प्रतिष्ठाकरणं पितृयज्ञः। ह्यज्ञेभ्यो ज्ञानदानं, सर्वेषां भूतानामुपर्य्यनुग्रहोऽपीडनं च भूतयज्ञः। सर्वमनुष्योपकारार्थं भ्रमणमभिमानशून्यता, सत्योपदेशकरणेन सर्वमनुष्याणां सत्कारानुष्ठानं चातिथियज्ञः। एवंलक्षणाः पञ्चमहायज्ञा विज्ञानधर्मानुष्ठानमया भवन्तीति विज्ञेयम्। परन्त्वेकस्याद्वितीयस्य सर्वशक्तिमदा-

दिविशेषणयुक्तस्य परब्रह्मण उपासना, सत्यधर्मानुष्ठानं च सर्वेषामाश्रमिणा-मेकमेव भवतीत्ययं विशेषः ॥ (विशुद्धस०) शुद्धान्तःकरणो मनुष्यः (यं यं लोकं मनसा) ध्यानेन (संविभाति) इच्छति, (कामयते यांश्च कामान्) यांश्च मनोरथानिच्छति, तं तं लोकं, तांश्च कामान् (जायते) प्राप्नोति । तस्मात् कारणाद् (भूतिकामः) ऐश्वर्य्यकामो मनुष्यः, (आत्मज्ञं) आत्मानं परमेश्वरं जानाति तं संन्यासिनमेव सर्वदार्चयेत् सत्कुर्य्यात् । तस्यैव सङ्गेन सत्कारेण च मनुष्याणां सुखप्रदा लोकाः कामाश्च सिद्धा भवन्तीति । तद्भिन्नान् मिथ्योपदेशकान् स्वार्थसाधनतत्परान् पाखण्डिनः कोपि नैवार्चयेत् । कुतः । तेषां सत्कारस्य निष्फलत्वाद्दुःखफलत्वाच्चेति ।

भाषार्थ

(प्राजापत्या०) अर्थात् इस इष्टि में शिखा सूत्रादि का होम कर के गृहस्थ आश्रम को छोड़ के विरक्त होकर संन्यास ग्रहण करें । (यं यं लोकं०) वह शुद्ध मन से जिस २ लोक और कामना की इच्छा करता है वे सब उस की सिद्ध हो जाती हैं । इसलिये जिस को ऐश्वर्य की इच्छा हो वह आत्मज्ञ अर्थात् ब्रह्मवेत्ता संन्यासी की सेवा करे । ये चारों आश्रम वेदों और युक्तियों से सिद्ध हैं । क्योंकि सब मनुष्यों को अपनी आयु का प्रथम भाग विद्या पढ़ने में व्यतीत करना चाहिये, और पूर्ण विद्या को पढ़कर उससे संसार की उन्नति करने के लिये गृहाश्रम भी अवश्य करें, तथा विद्या और संसार के उपकार के लिये एकान्त में बैठकर सब जगत् का अधिष्ठाता जो ईश्वर है उस का ज्ञान अच्छी प्रकार करें, और मनुष्यों को सब व्यवहारों का उपदेश करें, फिर उनके सब संदेहों का छेदन और सत्य बातों के निश्चय कराने के लिये संन्यास आश्रम भी अवश्य ग्रहण करें । क्योंकि इसके विना संपूर्ण पक्षपात छूटना बहुत कठिन है ।

इत्याश्रमविषयः संक्षेपतः

अथ पञ्चमहायज्ञविषयः संक्षेपतः

ये पञ्चमहायज्ञाः मनुष्यैर्नित्यं कर्त्तव्याः सन्ति तेषां विधानं संक्षेपतोऽत्र लिखामः। तत्र ब्रह्मयज्ञस्यायं प्रकारः। साङ्गानां वेदादिशास्त्राणां सम्यगध्ययनमध्यापनं सन्ध्योपासनं च सर्वैः कर्त्तव्यम्। तत्राध्ययनाध्यापनक्रमो यादृशः पठनपाठनविषय उक्तस्तादृशो ग्राह्यः। सन्ध्योपासनविधिश्च पञ्चमहायज्ञविधाने यादृश उक्तस्तादृशः कर्त्तव्यः। तथाग्निहोत्रविधिश्च यादृशस्तत्रोक्तस्तादृश एव कर्त्तव्यः। अत्र ब्रह्मयज्ञाग्निहोत्रप्रमाणं लिख्यते।

समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्। आस्मिन् हव्या जुहोतन॥ १॥ य० अ० ३। मं० १॥ अग्निं दूतं पुरो दधे हव्यवाहमुप ब्रुवे देवाँ२॥ आ सादयादिह॥ २॥ य० अ० २२। मं० १७॥ सायं सायं गृहपतिर्नो अग्निः प्रातः प्रातः सौमनसस्य दाता। वसोर्वसोर्वसुदान एधि वयन्त्वेन्धानास्तन्वं पुषेम॥ ३॥ प्रातः प्रातर्गृहपतिर्नो अग्निः सायं सायं सौमनसस्य दाता। वसोर्वसोर्वसुदान एधीन्धानास्त्वा शतंहिमा ऋधेम॥ ४॥ अथर्व० कां० १६। अनु० ७। सू० ५५। मं० ३। ४॥

भाष्यम्

(समिधाग्निं०) हे मनुष्याः! वाय्वोषधिवृष्टिजलशुद्ध्या परोपकाराय, (घृतैः) घृतादिभिश्शोधितैर्द्रव्यैः, समिधा चातिथिमग्निं यूयं बोधयत, नित्यं प्रदीपयत। (अस्मिन्) अग्नौ (हव्या) होतुमर्हाणि पुष्टिमधुरसुगन्धरोगनाशकरैर्गुणैर्युक्तानि सम्यक् शोधितानि द्रव्याणि (आ जुहोतन) आ समन्ताज्जुहुत। एवमग्निहोत्रं नित्यं (दुवस्यत) परिचरत। अनेन कर्मणा सर्वोपकारं कुरुत॥ १॥ (अग्निं दूतं०) अग्निहोत्रकर्त्तैवमिच्छेदहं वायौ मेघमण्डले च भूतद्रव्यस्य प्रापणार्थमग्निं दूतं भृत्यवत् (पुरो दधे) सम्मुखतः स्थापये कथम्भूतमग्निं? (हव्यवाहं) हव्यं द्रव्यं देशान्तरं वहति प्रापयतीति हव्यवाट्, तं (उपब्रुवे) अन्यान् जिज्ञासून्प्रत्युपदिशानि।

(देवान् २।।) सोऽग्निरेतदग्निहोत्रकर्मणा देवान् दिव्यगुणान् वायुवृष्टिजल-शुद्धिद्वारेहास्मिन् संसार आसादयादासमन्तात्प्रापयति। यद्वा हे परमेश्वर ! (दूतं) सर्वेभ्यः सत्योपदेशकं (अग्निं) अग्निसंज्ञकं त्वां (पुरोदधे) इष्टत्वेनोपास्यं मन्ये । तथा (हव्यवाहं) ग्रहीतुं योग्यं शुभगुणमयं विज्ञानं हव्यं, तद् वहति प्रापयतीति तं त्वां (उपब्रुवे) उपदिशानि । स भवान् कृपया (इह) अस्मिन् संसारे (देवान्) दिव्यगुणान् (आसादयात्) आ समन्तात् प्रापयतु ॥ २ ॥ (नः) अस्माकमयं (अग्निः) भौतिकः परमेश्वरश्च (गृहपतिः) गृहात्मपालकः प्रातः सायं परिचरितः सूपासितश्च (सौमनस्य दाता) आरोग्यस्यानन्दस्य च दातास्ति । तथा (वसोर्व०) उत्तमोत्तमपदार्थस्य च दातास्ति । अत एव परमेश्वरः (वसुदानः) इति नाम्नाख्यायते । हे परमेश्वरैवं भूतस्त्वमस्माकं राज्यादिव्यवहारे हृदये च (एधि) प्राप्तो भव । तथा भौतिकोऽप्यग्निरत्र ग्राह्यः । (वयन्त्वे०) हे परमेश्वर ! एवं (त्वा) त्वामिन्धानाः प्रकाशमाना वयं (तन्वं) शरीरं (पुषेम) पुष्टं कुर्य्याम । तथाग्निहोत्रादिकर्मणा भौतिकमग्निमिन्धानाः प्रदीपयितारः सन्तः सर्वे वयं पुष्यामः ॥ ३ ॥ (प्रातः प्रातर्गृहपतिर्नो०) अस्यार्थः पूर्ववद्विज्ञेयः । अत्र विशेषस्त्वयम् । एवमग्निहोत्रमीश्वरोपासनं च कुर्वन्तः सन्तः, (शतहिमाः०) शतं हिमा हेमन्तर्त्तवो गच्छन्ति येषु संवत्सरेषु ते शतहिमा यावत्स्युस्तावत् (ऋधेम) वर्धेमहि । एवं कृतेन कर्मणा नोऽस्माकं कदाचिद्धानिर्न भवेदितीच्छामः ॥ ४ ॥ अग्निहोत्रकरणार्थं ताम्रस्य मृत्तिकाया वैकां वेदिं सम्पाद्य, काष्ठस्य रजतसुवर्णयोर्वा चमसमाज्यस्थालीं च संगृह्य, तत्र वेद्यां पलाशाम्रादिसमिधः संस्थाप्याग्निं प्रज्वाल्य, तत्र पूर्वोक्तद्रव्यस्य प्रातःसायङ्कालयोः प्रातरेव वोक्तमन्त्रैर्नित्यं होमं कुर्य्यात् ।

भाषार्थ

अब पञ्चमहायज्ञ अर्थात् जो कर्म मनुष्यों को नित्य करने चाहियें उनका विधान संक्षेप से लिखते हैं। उनमें से प्रथम एक ब्रह्मयज्ञ कहाता है, जिस में अङ्गों

के सहित वेदादि शास्त्रों का पढ़ना पढ़ाना तथा सन्ध्योपासन अर्थात् प्रातःकाल और सायंकाल में ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना सब मनुष्यों को करनी चाहिये। इन में पठन पाठन की व्यवस्था तो जैसी पठन पाठन विषय में विस्तारपूर्वक कह आये हैं वहां देख लेना। तथा सन्ध्योपासन और अग्निहोत्र का विधान जैसा पञ्चमहायज्ञविधि पुस्तक में लिख चुके हैं वैसा जान लेना। अब आगे ब्रह्मयज्ञ और अग्निहोत्र का प्रमाण लिखते हैं, (समिधाग्निं० ; हे मनुष्यो ! तुम लोग वायु, औषधि और वर्षाजल की शुद्धि से सब के उपकार के अर्थ घृतादि शुद्ध वस्तुओं और समिधा अर्थात् आम्र वा ढाक आदि काष्ठों से अतिथिरूप अग्नि को नित्य प्रकाशमान करो। फिर उस अग्नि में होम करने के योग्य पुष्ट, मधुर, सुगन्धित अर्थात् दुग्ध घृत, शर्करा गुड़, केशर कस्तूरी आदि और रोगनाशक जो सोमलता आदि सब प्रकार से शुद्ध द्रव्य हैं उनका अच्छी प्रकार नित्य अग्निहोत्र करके सब का उपकार करो ॥ १ ॥ (अग्निं दूतं०) अग्निहोत्र करनेवाला मनुष्य ऐसी इच्छा करे कि मैं प्राणियों के उपकार करने वाले पदार्थों को पवन और मेघमण्डल में पहुंचाने के लिये अग्नि को सेवक की नाईं अपने सामने स्थापन करता हूं। क्योंकि वह अग्नि हव्य अर्थात् होम करने के योग्य वस्तुओं को अन्य देश में पहुंचाने वाला है। इसी से उसका नाम हव्यवाट् है। जो उस अग्निहोत्र को जानना चाहें उनको मैं उपदेश करता हूं कि वह अग्नि उस अग्निहोत्र कर्म्म में पवन और वर्षाजल की शुद्धि से (इह) इस संसार में (देवान२॥०) श्रेष्ठ गुणों को पहुंचाता है। दूसरा अर्थ—हे सब प्राणियों को सत्य उपदेशकारक परमेश्वर ! जो कि आप अग्नि नाम से प्रसिद्ध हैं, मैं इच्छापूर्वक आप को उपासना करने के योग्य मानता हूं। ऐसी कृपा करो कि आप को जानने की इच्छा करनेवालों के लिये भी मैं आप का शुभगुणयुक्त विशेषज्ञानदायक उपदेश करूं। तथा आप भी कृपा करके इस संसार में श्रेष्ठ गुणों को पहुंचावें ॥ २ ॥ (सायं सायं०) प्रतिदिन प्रातःकाल श्रेष्ठ उपासना को प्राप्त यह गृहपति अर्थात् घर और आत्मा का रक्षक भौतिक अग्नि और परमेश्वर, (सौमनस्य दा०) आरोग्य, आनन्द और वसु अर्थात् धन का देनेवाला है। इसीसे परमेश्वर (वसुदानः) अर्थात् धनदाता प्रसिद्ध है।

हे परमेश्वर ! आप मेरे राज्य आदि व्यवहार और चित्त में सदा प्रकाशित रहो। यहां भौतिक अग्नि भी ग्रहण करने के योग्य है। (वयं त्वे०) हे परमेश्वर ! जैसे पूर्वोक्त प्रकार से हम आप का मान करते हुए अपने शरीर से (पुषेम) पुष्ट होते हैं वैसे ही भौतिक अग्नि को भी प्रज्वलित करते हुए पुष्ट हों ॥ ३ ॥ (प्रातः प्रातर्गृहपतिर्नो०) इस मन्त्र का अर्थ पूर्व मन्त्र के तुल्य जानो। परन्तु इसमें इतना विशेष भी है कि अग्निहोत्र और ईश्वर की उपासना करते हुए हम लोग (शतहिमाः) सौ हेमन्त ऋतु व्यतीत हो जाने पर्य्यन्त अर्थात् सौ वर्ष तक धनादि पदार्थों से (ऋधेम) वृद्धि को प्राप्त हों ॥ ४ ॥ अग्निहोत्र करने के लिये, ताम्र वा मिट्टी की वेदी बना के काष्ठ, चांदी वा सोने का चमसा अर्थात् अग्नि में पदार्थ डालने का पात्र और आज्यस्थाली अर्थात् घृतादि पदार्थ रखने का पात्र लेके, उस वेदी में ढाक वा आम्र आदि वृक्षों की समिधा स्थापन करके, अग्नि को प्रज्वलित करके, पूर्वोक्त पदार्थों का प्रातःकाल और सायंकाल अथवा प्रातःकाल ही नित्य होम करें।

अथाग्निहोत्रे होमकरणमन्त्राः

सूर्य्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्य्यः स्वाहा। सूर्य्यो वर्च्चो ज्योतिर्वर्च्चः स्वाहा। ज्योतिः सूर्य्यः सूर्य्यो ज्योतिः स्वाहा ॥ सजूर्देवेन सवित्रा सजूरुषसेन्द्रवत्या। जुषाणः सूर्य्यो वेतु स्वाहा ॥ इति प्रातःकालमन्त्राः ॥ अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा। अग्निर्वर्च्चो ज्योतिर्वर्च्चः स्वाहा ॥ अग्निर्ज्योतिरिति मन्त्रं मनसोच्चार्य्य तृतीयाहुतिर्देया ॥ सजूर्देवेन सवित्रा सजूरात्र्येन्द्रवत्या। जुषाणो अग्निर्वेतु स्वाहा ॥ य० अ० ३। मं० ९। १० ॥ इति सायङ्कालमन्त्राः।

भाष्यम्

(सूर्य्यो०) यश्चराचरात्मा, ज्योतिषां प्रकाशकानां ज्योतिः प्रकाशकः, सूर्य्यः सर्वप्राणः परमेश्वरोऽस्ति तस्मै स्वाहाऽर्थात् तदाज्ञापालनेन सर्वजग-

दुपकारायैकाहुतिं दद्मः ॥ १ ॥ (सूर्य्यो व०) यो वर्च्चः सर्वविद्या, ज्योतिषां ज्ञानवतां जीवानां, वर्चोऽन्तर्यामितया सत्योपदेष्टा, सर्वात्मा सूर्य्यः परमेश्वरोस्ति तस्मै० ॥ २ ॥ (ज्योतिः सू०) यः स्वयम्प्रकाशः सर्वजगत्प्रकाशकः सूर्य्यो जगदीश्वरोस्ति तस्मै० ॥ ३ ॥ (सजू०) यो देवेन द्योतकेन सवित्रा सूर्य्यलोकेन जीवेन च सह, तथा (इन्द्रवत्या) सूर्य्यप्रकाशवत्योषसाथवा जीववत्या मानसवृत्त्या (सजूः) सह वर्त्तमानः परमेश्वरोस्ति सः, (जुषाणः) सम्प्रीत्या वर्त्तमानः सन्, (सूर्य्यः) सर्वात्मा कृपाकटाक्षेणास्मान् वेतु विद्यादिसद्गुणेषु जातविज्ञानान् करोतु तस्मै० ॥ ४ ॥ इमा चतस्र आहुतीः प्रातरग्निहोत्रे कुर्वन्ति ॥ अथ सायंकालाहुतयः । (अग्निर्ज्योतिः०) यो ज्ञानस्वरूपो, ज्योतिषां ज्योतिरग्निः परमेश्वरोस्ति तस्मै० ॥ १ ॥ (अग्निर्वर्च्चो०) यः पूर्वोक्तोऽग्निः परमेश्वरोस्ति तस्मै० ॥ २ ॥ अग्निर्ज्योतिरित्यनेनैव तृतीयाहुतिर्देया, तदर्थश्च पूर्ववत् ॥ ३ ॥ (सजूर्दे०) यः पूर्वोक्तेन देवेन सवित्रा सह परमेश्वरः सजूरस्ति, यश्चेन्द्रवत्या वायुचन्द्रवत्या रात्र्या सह वर्त्तते सोग्निः, (जुषाणः) सम्प्रीतोऽस्मान् वेतु नित्यानन्दमोक्षसुखाय स्वकृपया कामयतु तस्मै जगदीश्वराय स्वाहेति पूर्ववत् ॥ ४ ॥ एताभिः सायंकालेग्निहोत्रिणो जुह्वति । एकस्मिन्काले सर्वाभिर्वा । (सर्वं वै०) हे जगदीश्वर ! यदिदमस्माभिः परोपकारार्थं कर्म क्रियते तद्भवत्कृपयाऽलं भवत्विति हेतोरेतत्कर्म तुभ्यं समर्प्यते । तथैतरेयब्राह्मणे पञ्चमपञ्चिकायामेकत्रिंशत्तमायां कण्डिकायां च सायम्प्रातरग्निहोत्रमन्त्रा भूर्भुवः स्वरोमित्यादयो दर्शिताः ।

भाषार्थ

(सूर्य्यो ज्यो०) जो चराचर का आत्मा प्रकाशस्वरूप और सूर्य्यादि प्रकाशक लोकों का भी प्रकाश करनेवाला है उस की प्रसन्नता के लिये हम लोग होम करते हैं ॥ १ ॥ (सूर्यो वर्चो०) सूर्य जो परमेश्वर है वह हम लोगों को सब विद्याओं का देनेवाला और हम से उन का प्रचार करानेवाला है, उसी के अनुग्रह से हम लोग अग्निहोत्र करते हैं ॥ २ ॥ (ज्योतिः सू०) जो आप प्रका-

शमान और जगत् का प्रकाश करनेवाला सूर्य अर्थात् संसार का ईश्वर है उस की प्रसन्नता के अर्थ हम लोग होम करते हैं ॥ ३ ॥ (सजूर्देवेन०) जो परमेश्वर सूर्य्यादि लोकों में व्याप्त, वायु और दिन के साथ संसार का परमहितकारक है वह हम लोगों को विदित होकर हमारे किये हुए होम को ग्रहण करे। इन चार आहुतियों से प्रातःकाल अग्निहोत्री लोग होम करते हैं ॥ ४ ॥ अब सायंकाल की आहुति के मन्त्र कहते हैं (अग्निर्ज्यो०) । अग्नि जो ज्योतिःस्वरूप परमेश्वर है उस की आज्ञा से हम लोग परोपकार के लिये होम करते हैं। और उसका रचा हुआ यह भौतिक अग्नि इसलिये है कि वह उन द्रव्यों को परमाणुरूप कर के वायु और वर्षाजल के साथ मिला के शुद्ध करदे । जिससे सब संसार को सुख और आरोग्यता की वृद्धि हो ॥ १ ॥ (अग्निर्वर्च्चो०) अग्नि परमेश्वर वर्च्च अर्थात् सब विद्याओं का देनेवाला और भौतिक अग्नि आरोग्यता और बुद्धि का बढ़ानेवाला है । इसलिये हम लोग होम से परमेश्वर की प्रार्थना करते हैं । यह दूसरी आहुति है । तीसरी मौन होके प्रथम मन्त्र से करनी । और चौथी (सजूर्देवेन०) जो अग्नि परमेश्वर सूर्यादि लोकों में व्याप्त, वायु और रात्रि के साथ संसार का परमहितकारक है वह हम को विदित होकर हमारे किये हुए होम का ग्रहण करे ।

अथोभयोः कालयोरग्निहोत्रे होमकरणार्थाः समानमन्त्राः । ओम्भूरग्नये प्राणाय स्वाहा ॥ १ ॥ ओम्भुववार्यवेऽपानाय स्वाहा ॥ २ ॥ ओं स्वरादित्याय व्यानाय स्वाहा ॥ ३ ॥ ओम्भूर्भुवः स्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्यः स्वाहा ॥ ४ ॥ ओमापो ज्योतीरसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरों स्वाहा ॥ ५ ॥ ओं सर्वं वै पूर्णꣳस्वाहा ॥ ६ ॥ इति सर्वे मन्त्रास्तैत्तिरीयोपनिषदाशयेनैकीकृताः ।

भाष्यम्

एषु मन्त्रेषु भूरित्यादीनि सर्वाणीश्वरस्य नामान्येव वेद्यानि। एषामर्था

१ शीक्षाध्याये पञ्चमोऽनुवाकः ।

गायत्र्यर्थे द्रष्टव्याः । अग्नये परमेश्वराय, जलवायुशुद्धिकरणाय च, होत्रं हवनं, दानं, यस्मिन् कर्मणि क्रियते तदग्निहोत्रम् । ईश्वराज्ञापालनार्थं वा । सुगन्धिपुष्टिमिष्टबुद्धिवृद्धिशौर्य्यधैर्य्यबलरोगनाशकैर्गुणैर्युक्तानां द्रव्याणां होमकरणेन, वायुवृष्टिजलयोः शुद्ध्या, पृथिवीस्थपदार्थानां सर्वेषां शुद्धवायुजलयोगात् सर्वेषां जीवानां परमसुखं भवत्येव । अतस्तत्कर्मकर्त्तृणां जनानां तदुपकारेणात्यन्तसुखमीश्वरानुग्रहश्च भवत्येतदाद्यर्थमग्निहोत्रकरणम् ।

भाषार्थ

इन मन्त्रों में जो भूः इत्यादि नाम हैं वे सब ईश्वर के ही जानो । गायत्री मन्त्र के अर्थ में इन के अर्थ कर दिये हैं । इस प्रकार प्रातःकाल और सायङ्काल संध्योपासन के पीछे उक्त मन्त्रों से होम कर के अधिक होम करने की इच्छा हो तो स्वाहा शब्द अन्त में पढ़ कर गायत्री मन्त्र से करे । जिस कर्म में अग्नि वा परमेश्वर के लिये, जल और पवन की शुद्धि वा ईश्वर की आज्ञापालन के अर्थ, होत्र हवन अर्थात् दान करते हैं उसे अग्निहोत्र कहते हैं । जो जो केशर, कस्तूरी आदि सुगन्धि, घृत दुग्ध आदि पुष्ट, गुड़ शर्करा आदि मिष्ट, बुद्धि बल तथा धैर्य्यवर्धक और रोगनाशक पदार्थ हैं उन का होम करने से पवन और वर्षाजल की शुद्धि से पृथिवी के सब पदार्थों की जो अत्यन्त उत्तमता होती है उसी से सब जीवों को परमसुख होता है । इस कारण अग्निहोत्र करने वाले मनुष्यों को उस उपकार से अत्यन्त सुख का लाभ होता है और ईश्वर उन पर अनुग्रह करता है । ऐसे २ लाभों के अर्थ अग्निहोत्र का करना अवश्य उचित है।

अथ तृतीयः पितृयज्ञः

तस्य द्वौ भेदौ स्तः, एकस्तर्पणाख्यो, द्वितीयः श्राद्धाख्यश्च । तत्र येन कर्मणा विदुषो देवान्, ऋषीन्, पितॄंश्च तर्पयन्ति सुखयन्ति तत्तर्पणम् । तथा यत्तेषां श्रद्धया सेवनं क्रियते तच्छ्राद्धं वेदितव्यम् । तत्र विद्वत्सु विद्यमानेष्वेतत्कर्म संघट्यते नैव मृतकेषु । कुतः । तेषां प्राप्त्यभावेन सेवनाशक्यत्वात्,

तदर्थकृतकर्मणः प्राप्त्यभाव इति व्यर्थतापत्तेश्च । तस्माद्विद्यमानाभिप्रायेणैतत्कर्मोपदिश्यते । सेव्यसेवकसन्निकर्षात्सर्वमेतत्कर्तुं शक्यत इति । तत्र सत्कर्त्तव्यास्त्रयः सन्ति । देवाः, ऋषयः पितरश्च । तत्र देवेषु प्रमाणम् ।

पुनन्तुं मा देवजनाः पुनन्तु मनसा धियः । पुनन्तु विश्वा भूतानि जातवेदः पुनीहि मा ॥ १ ॥ य० अ० १६ । मं० ३६ ॥ द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति । सत्यं चैवानृतं च, सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्या, इदमहमनृतात्सत्यमुपैमीति तन्मनुष्येभ्यो देवानुपैति । स वै सत्यमेव वदेत् । एतद्ध वै देवा व्रतं चरन्ति यत्सत्यम् । तस्मात्ते यशो, यशो ह भवति य एवं विद्वान् सत्यं वदति ॥ श० कां० १ । अ० १ । ब्रा० १ । कं० ४, ५ ॥ विद्वांसो हि देवाः ॥ श० कां० ३ । अ० ७ । ब्रा० ३ । कं० १० ॥ अथर्षिप्रमाणम् ॥ तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन्पुरुषं जातमग्रतः । तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये ॥ २ ॥ य० अ० ३१ । मं० ६ ॥ अथ यदेवानुब्रुवीत । तेनर्षिभ्य ऋणं जायते तद्ध्येभ्य एतत् करोत्यृषीणां निधिगोप इति ह्यनूचानमाहुः ॥ श० कां० १ । अ० ७ । ब्रा० २ । कण्डिका ३ ॥ अथार्षेयं प्रवृणीते । ऋषिभ्यश्चैवैनमेतद्देवेभ्यश्च निवेदयत्ययं महावीर्य्यो यो यज्ञं प्रापदिति तस्मादार्षेयं प्रवृणीते ॥ श० कां० १ । अ० ४ । ब्रा० २ । कं० ३ ॥

भाष्यम्

(जातवेदः) हे परमेश्वर ! (मा) मां पुनीहि सर्वथा पवित्रं कुरु । भवन्निष्ठा, भवदाज्ञापालिनो (देवजनाः) विद्वांसः, श्रेष्ठा ज्ञानिनो, विद्यादानेन (मा) मां (पुनन्तु) पवित्रं कुर्वन्तु । तथा (पुनन्तु मन०) भवद्दत्तविज्ञानेन भवद्विषयकध्यानेन वाऽस्माकं बुद्धयः पुनन्तु पवित्रा भवन्तु । तथा (पुनन्तु विश्वा भूतानि) विश्वानि सर्वाणि संसारस्थानि भूतानि पुनन्तु भवत्कृपया सुखानन्दयुक्तानि पवित्राणि भवन्तु ॥ (द्वयं वा०) मनुष्याणां

द्वाभ्यां लक्षणाभ्यां द्वे एव संज्ञे भवतः । देवो मनुष्यश्चेति । तत्र (सत्यं चैवानृतं च) कारणे स्तः । (सत्यमेव०) यत्सत्यवचनं, सत्यमानं, सत्यकर्म तदेव देवा आश्रयन्ति । तथैवानृतवचनमनृतमानमनृतं कर्म चेति मनुष्याश्चेति । अत एव योऽनृतं त्यक्त्वा सत्यमुपैति स देवः परिगण्यते । यश्च सत्यं त्यक्त्वाऽनृतमुपैति स मनुष्यश्च । अतः सत्यमेव सर्वदा वदेन्मन्येत कुर्य्याच्च । यः सत्यव्रतो देवोस्ति स एव यशस्विनां मध्ये यशस्वी भवति, तद्विपरीतो मनुष्यश्च । तस्मादत्र विद्वांस एव देवाः सन्ति ॥ तं यज्ञमिति सृष्टिविद्याविषये व्याख्यातः । (अथ यदेवा०) अथेत्यनन्तरं सर्वविद्यां पठित्वा यदनुवचनमध्यापनकर्मानुष्ठानमस्ति तदृषिकृत्यं विज्ञायते । तेनाध्ययनाध्यापनकर्मणैवर्षयः सेवनीया जायन्ते । यत्तेषां प्रियमाचरन्ति तदेतत्तेभ्यः सेवाकर्तृभ्य एव सुखकारी भवति । यः सर्वविद्याविद्भूत्वाऽध्यापयति तमेवानूचानमृषिमाहुः । (अथार्षेयं प्रवृ०) यो मनुष्यः पाठनं कर्म प्रवृणीते तदार्षेयं कर्म कथ्यते । य ऋषिभ्यो देवेभ्यो विद्यार्थिभ्यश्च प्रियं वस्तु निवेदयित्वा, नित्यं विद्यामधीते, स विद्वान् महावीर्य्यो भूत्वा, यज्ञं विज्ञानाख्यं (प्रापत्) प्राप्नोति । तस्मादिदमार्षेयं कर्म सर्वैर्मनुष्यैः स्वीकार्य्यम् ।

भाषार्थ

अब तीसरा पितृयज्ञ कहते हैं । उसके दो भेद हैं । एक तर्पण और दूसरा श्राद्ध । उन में से जिस कर्म करके विद्वान् रूप देव, ऋषि और पितरों को सुखयुक्त करते हैं सो तर्पण कहाता है । तथा जो उन लोगों की श्रद्धापूर्वक सेवा करना है उसी को श्राद्ध जानना चाहिये । यह तर्पण आदि कर्म विद्यमान अर्थात् जीते हुए जो प्रत्यक्ष हैं उन्हीं में घटता है मरे हुओं में नहीं । क्योंकि मृतकों का प्रत्यक्ष होना असम्भव है । इसलिये उनकी सेवा नहीं हो सकती । तथा जो उनके लिये कोई पदार्थ दिया चाहे वह भी उन को नहीं मिल सकता । इससे केवल विद्यमानों की ही श्रद्धापूर्वक सेवा करने का नाम तर्पण और श्राद्ध वेदों में कहा है । क्योंकि सेवा करने योग्य और सेवा करने वाले इन दोनों ही के प्रत्यक्ष होने से यह सब काम हो सकता है दूसरे प्रकार से नहीं । सो तर्पण

आदि कर्म से सत्कार करने योग्य तीन हैं देव, ऋषि और पितर। देवों में प्रमाण (पुनन्तु०)। हे जातवेद परमेश्वर! आप सब प्रकार से मुझे पवित्र कीजिये और जो आप के उपासक आप की आज्ञा पालते हैं अथवा जो कि विद्वान् ज्ञानी पुरुष कहाते हैं वे मुझ को विद्यादान से पवित्र करें और आप के दिये विशेष ज्ञान वा आप के विषय के ध्यान से हमारी बुद्धियां पवित्र हों। तथा (पुनन्तु विश्वा भूतानि) सब संसारी जीव आप की कृपा से पवित्र होकर आनन्द में रहें। (द्वयं वा०) दो लक्षणों के पाये जाने से मनुष्यों की दो संज्ञा होती हैं। अर्थात् एक देव और दूसरी मनुष्य। उन में भेद होने के सत्य और झूंठ दो कारण हैं। (सत्यमेव) जो कोई सत्यभाषण, सत्यस्वीकार और सत्यकर्म करते हैं वे देव तथा जो झूंठ बोलते, झूंठ मानते और झूंठ कर्म करते हैं वे मनुष्य कहाते हैं। इसलिये झूंठ को छोड़कर सत्य को प्राप्त होना सब को उचित है। इस कारण से बुद्धिमान् लोग निरन्तर सत्य ही कहें, मानें और करें। क्योंकि सत्यव्रत आचरण करनेवाले जो देव हैं वे तो कीर्त्तिमानों में भी कीर्त्तिमान् होके सदा आनन्द में रहते हैं। परन्तु उनसे विपरीत चलनेवाले मनुष्य दुःख को प्राप्त होकर सब दिन पीड़ित ही रहते हैं। इससे सत्यधारी विद्वान् ही देव कहाते हैं। (तं यज्ञं) इस मन्त्र का व्याख्यान सृष्टिविद्याविषय में कर दिया है। (अथ यदेवा०) जो सब विद्याओं को पढ़ के औरों को पढ़ाना है यह ऋषिकर्म कहाता है। और उस से जितना कि मनुष्यों पर ऋषियों का ऋण हो उस सब की निवृत्ति उन की सेवा करने से होती है। इस से जो नित्य विद्यादान, ग्रहण और सेवाकर्म करना है वही परस्पर आनन्दकारक है और यही व्यवहार (निधिगोप०) अर्थात् विद्याकोष का रक्षक है। (अथार्षेयं प्रवृ०) विद्या पढ़ के सबों को पढ़ानेवाले ऋषियों और देवों की प्रिय पदार्थों से सेवा करने वाला विद्वान् बहु पराक्रमयुक्त होकर विशेष ज्ञान को प्राप्त होता है। इस से आर्षेय अर्थात् ऋषिकर्म को सब मनुष्य स्वीकार करें॥

अथ पितृषु प्रमाणम्

ऊर्जं॑ वह॑न्तीर॒मृतं॑ घृ॒तं पयः॑ की॒लालं॑ परि॒स्रुत॑म्। स्व॒धास्थ

तर्पयत मे पितॄन् ॥ १ ॥ यजु० अ० २ । मं० ३४ ॥ आयन्तु नः पितरः सोम्यासोऽग्निष्वात्ताः पथिभिर्देवयानैः । अस्मिन् यज्ञे स्वधया मदन्तोऽधिब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान् ॥ २ ॥ य० अ० १९ । मं० ५८ ॥

भाष्यम्

(ऊर्जं वहन्ती०) सर्वे मनुष्याः सर्वान् प्रत्येवं जानीयुश्चाज्ञापयेयुः (मे पितॄन्) मम पितृपितामहादीनाचार्य्यादींश्च सर्वे यूयं तर्पयत, सेवया प्रसन्नान् कुरुतेति । तथा (स्वधास्थ) सत्यविद्यामाक्तिस्वपदार्थधारिणो भवत । केन केन पदार्थेन ते सेवनीयास्तानाह (ऊर्जं०) पराक्रमं प्रापिकाः सुगन्धिताः प्रिया हृद्या अपः, (अमृतं) अमृतात्मकमनेकविधं रसं, (घृतं) आज्यं, (पयः) दुग्धं, (कीलालं) संस्कारैः सम्पादितमनेकविधमन्नं, (परिस्रुतम्) माक्षिकं मधु कालपक्वं फलादिकं च निवेद्य पितॄन् प्रसन्नान् कुर्य्यात् ॥ १ ॥ ये (सोम्यासः) सोमगुणाः शान्ताः, सोमवल्ल्यादिरसनिष्पादने चतुराः (अग्निष्वात्ताः) अग्निः परमेश्वरोऽभ्युदयाय सुष्ठुतयाऽऽत्तो गृहीतो यैस्तेऽग्निष्वात्ताः, तथा होमकरणार्थं, शिल्पविद्यासिद्धये च भौतिकोऽग्निरात्तो गृहीतो यैस्ते पितरो विज्ञानवन्तः पालकाः सन्ति (आयन्तु नः) ते अस्मत्समीपमागच्छन्तु । वयं च तत्सामीप्यं नित्यं गच्छेम । (पथिभिर्देव०) तान् विद्वन्मार्गैर्दृष्टिपथमागतान् दृष्ट्वाऽभ्युत्थाय, हे पितरो ! भवन्त आयन्त्वित्युक्त्वा, प्रीत्याऽऽसनादिकं निवेद्य, नित्यं सत्कुर्य्याम । (अस्मिन्०) हे पितरोऽस्मिन् सत्काररूपे यज्ञे (स्वधया) अमृतरूपया सेवया (मदन्तो) हर्षन्तोऽस्मान् रचितारः सन्तः सत्यविद्यामधिब्रुवन्तूपदिशन्तु ॥ २ ॥

भाषार्थ

(ऊर्ज्जं वह०) पिता वा स्वामी अपने पुत्र, पौत्र, स्त्री और नौकरों को इस प्रकार आज्ञा देवें कि (तर्पयत मे०) जो २ हमारे मान्य पिता पितामहादि माता मातामहादि और आचार्य्य तथा इन से भिन्न भी विद्वान् लोग जो अव-

स्था वा ज्ञान में बड़े और मान्य करने योग्य हैं तुम लोग उनकी (ऊर्जं०) उत्तम २ जल (अमृतं) रोग नाश करने वाले उत्तम अन्न (परिस्रुतं) सब प्रकार के उत्तम फलों के रस आदि पदार्थों से नित्य सेवा किया करो कि जिससे वे प्रसन्न होके तुम लोगों को सदा विद्या देते रहें। क्योंकि ऐसा करने से तुम लोग भी सदा प्रसन्न रहोगे। (स्वधास्थ०) और ऐसा विनय सदा रक्खो कि हे पूर्वोक्त पितर लोगो ! आप हमारे अमृतरूप पदार्थों के भोगों से तृप्त हूजिये और हम लोग जो २ पदार्थ आप लोगों की इच्छा के अनुकूल निवेदन कर सकें उन २ की आज्ञा किया कीजिये। हम लोग मन, वचन और कर्म से आप के सुख करने में स्थित हैं आप किसी प्रकार का दुःख न पाइये। क्योंकि जैसे आप लोगों ने बाल्यावस्था और ब्रह्मचर्य्याश्रम में हम लोगों को सुख दिया है वैसे ही हम को भी आप लोगों का प्रत्युपकार करना अवश्य चाहिये कि जिस-से हम लोगों को कृतघ्नता दोष न प्राप्त हो ॥ १ ॥ (आयन्तु नः) पितृ शब्द से सब के रक्षक श्रेष्ठस्वभाव वाले ज्ञानियों का ग्रहण होता है। क्योंकि जैसी रक्षा मनुष्यों की सुशिक्षा और विद्या से हो सकती है वैसी किसी दूसरे प्रकार से नहीं। इसलिये जो विद्वान् लोग मनुष्यों को ज्ञानचक्षु देकर उन के अविद्यारूपी अन्धकार के नाश करने वाले हैं उन को पितर कहते हैं। उन के सत्कार के लिये मनुष्यमात्र को ईश्वर की यह आज्ञा है कि वे उन आते हुए पितर लोगों को देखकर अभ्युत्थान अर्थात् उठ के प्रीतिपूर्वक कहें कि आइये बैठिये कुछ जलपान कीजिये और खाने पीने की आज्ञा दीजिये। पश्चात् जो २ बातें उपदेश करने के योग्य हैं सो २ प्रीतिपूर्वक समझाइये कि जिससे हम लोग भी सत्यविद्यायुक्त होके सब मनुष्यों के पितर कहावें और सदा ऐसी प्रार्थना करें कि हे परमेश्वर ! आप के अनुग्रह से (सोम्यासः) जो शीलस्वभाव और सब को सुख देने वाले विद्वान् लोग, (अग्निष्वात्ताः) अग्नि नाम परमेश्वर और रूप गुण वाले भौतिक अग्नि की अलग २ करने वाली विद्युत्रूप विद्या को यथावत् जाननेवाले हैं वे इस विद्या और सेवायज्ञ में (स्वधया मदन्तः) अपनी शिक्षा विद्या के दान और प्रकाश से अत्यन्त हर्षित होके (अवन्त्व-स्मान्) हमारी सदा रक्षा करें। तथा उन विद्यार्थियों और सेवकों के लिये भी

ईश्वर की आज्ञा है कि जब २ वे आवें वा जावें तब २ उन को उत्थान नमस्कार और प्रियवचन आदि से सन्तुष्ट रक्खें । तथा फिर वे लोग भी अपने सत्यभाषण से निर्वैरता और अनुग्रह आदि सद्गुणों से युक्त होकर अन्य मनुष्यों को उसी मार्ग में चलावें और आप भी दृढ़ता के साथ उसी में चलें । ऐसे सब लोग छल और लोभादि रहित होकर परोपकार के अर्थ अपना सत्य व्यवहार रक्खें । (पथिभिर्देवयानैः) उक्त भेद से विद्वानों के दो मार्ग होते हैं एक देवयान और दूसरा पितृयान । अर्थात् जो विद्यामार्ग है वह देवयान और जो कर्मोपासना मार्ग है वह पितृयान कहाता है । सब लोग इन दोनों प्रकार के पुरुषार्थ को सदा करते रहें ।

अत्र॑ पितरो मादयध्वं यथाभागमावृ॑षायध्वम् । अमीमदन्त पितरो॑ यथाभागमावृ॑षायिषत ॥ ३ ॥ नमो॑ वः पितरो रसा॑य नमो॑ वः पितरः शोषा॑य नमो॑ वः पितरो जीवाय नमो॑ वः पितरः स्वधायै । नमो॑ वः पितरो घोराय नमो॑ वः पितरो मन्यवे नमो॑ वः पितरः पित॑रो नमो॑ वः । गृहान्नः पितरो दत्त सतो वः पितरो देष्मै तद्वः पितरो वासः ॥ ४ ॥ आध॑त्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्क॑रस्रजम् । यथेह पुरुषोऽस॑त् ॥ ५ ॥ य० अ० २ । मं० ३१ । ३२ । ३३ ॥

भाष्यम्

(अत्र पितरो०) हे पितरोऽत्रास्यां सभायां पाठशालायां वाऽस्मान् विद्याविज्ञानदानेनानन्दयुक्तान् कुरुत। (यथाभाग०) भजनीयं स्वं स्वं विद्यारूपं भागं (आवृषायध्वं) विद्वद्वत्स्वीकृत्य (अमीमदन्त) अस्मिन् सत्योपदेशे विद्यादानकर्माणि हर्षेण सदोत्साहवन्तो भवत । (यथाभागमा०) तथा यथायोग्यं सत्कारं प्राप्य श्रेष्ठाचारेण प्रसन्नाः सन्तो विचरत ॥ ३ ॥ (नमो वः) हे पितरः ! रसाय सोमलतादिरसविज्ञानानन्दग्रहणाय, (नमो वः पितरः) शोषायाग्निवायुविद्याप्राप्तये, (नमो वः पितरो जी०) जीव-

नार्थं विद्याजीविकाप्राप्तये, (नमो वः पितरः स्व०) मोक्षविद्याप्राप्तये, (नमो वः०) आपत्कालनिवारणाय, (नमो वः०) दुष्टानामुपरि क्रोधधारणाय, क्रोधस्य निवारणाय च, (नमो वः पितरः०) सर्वविद्याप्राप्त्यै च युष्मभ्यं वारं वारं नमोस्तु । (गृहान्नः) हे पितरो ! गृहान् गृहसम्बन्धिव्यवहार-बोधान्नोऽस्मभ्यं यूयं दत्त । (सतो वः०) हे पितरो ! येऽस्माकमधिकारे विद्यमानाः पदार्थाः सन्ति तान् वयं वो युष्मभ्यं (देष्मः) दद्मो यतो वयं कदाचिद्भवद्भ्यो विद्यां प्राप्य क्षीणा न भवेम । (एतद्वः पितरः) हे पितरोऽस्माभिर्यद्वासो वस्त्रादिकं वस्तु युष्मभ्यं दीयते एतद्यूयं प्रीत्या गृह्णीत ॥ ४ ॥ (आधत्त पितरो०) हे पितरो ! यूयं मनुष्येषु विद्यागर्भमाधत्त धारयत। तथा विद्यादानार्थं (पुष्करस्रजं) पुष्पमालाधारिणं कुमारं ब्रह्मचारिणं यूयं धारयत । (यथेह०) येन प्रकारेणेहास्मिन् संसारे विद्यासुशिक्षायुक्तः पुरुषोऽसत्स्यात् । येन च मनुष्येषूत्तमविद्योन्नतिर्भवेत्तथैव प्रयतध्वम् ॥ ५ ॥

भावार्थ

(अत्र पितरो मा०) हे पितर लोगो ! आप यहां हमारे स्थान में आनन्द कीजिये । (यथाभागमावृ०) अपनी इच्छा के अनुकूल भोजन वस्त्रादि भोग से आनन्दित हूजिये । (अमीमदन्त पितरः०) आप यहां विद्या के प्रचार से सब को आनन्दयुक्त कीजिये । (यथाभागमा०) हम लोगों से यथायोग्य सत्कार को प्राप्त होकर अपनी प्रसन्नता के प्रकाश से हम को भी आनन्दित कीजिये ॥ ३ ॥ (नमो वः) हे पितर लोगो ! हम लोग आप को नमस्कार करते हैं इसलिये कि आप के द्वारा हम को रस अर्थात् विद्यानन्द, ओषधि और जल विद्या का यथावत् ज्ञान हो । तथा (नमो वः०) शोष अर्थात् अग्नि और वायु की विद्या कि जिससे ओषधि और जल सूख जाते हैं उस के बोध होने के लिये भी हम आप को नमस्कार करते हैं । (नमो वः०) हे पितर लोगो ! आप की सत्य-शिक्षा से हम लोग प्रमादरहित और जितेन्द्रिय होके पूर्ण उम्र को भोगें । इस-लिये हम आप को नमस्कार करते हैं । (नमो वः०) हे विद्वान् लोगो ! अमृ-तरूप मोक्ष विद्या की प्राप्ति के लिये हम आप को नमस्कार करते हैं । (नमो

व:०) हे पितरो ! घोर विपत् अर्थात् आपत्काल में निर्वाह करने की विद्याओं को जानने की इच्छा से दुःखों के पार उतरने के लिये हम लोग आप की सेवा करते हैं । (नमो व:०) हे पितरो ! दुष्ट जीव और दुष्ट कर्मों पर नित्य अप्रीति करने की विद्या सीखने के लिये हम आप को नमस्कार करते हैं । (नमो व:०) हम आप लोगों को वारंवार नमस्कार इसलिये करते हैं कि गृहाश्रम आदि करने के लिये जो २ विद्या अवश्य हैं सो २ सब आप लोग हम को देवें । (सतो व:०) हे पितर लोगो ! आप सब गुणों और सब संसारी सुखों के देने वाले हैं इसलिये हम लोग आप को उत्तम २ पदार्थ देते हैं इन को आप प्रीति से लीजिये । तथा प्रतिष्ठा के लिये उत्तम २ वस्त्र भी देते हैं इन को आप धारण कीजिये और प्रसन्न होके सब के सुख के अर्थ संसार में सत्यविद्या का प्रचार कीजिये ॥ ४ ॥ (आधत्त पितरो०) हे विद्या के देने वाले पितर लोगो ! इस कुमार ब्रह्मचारी की गर्भ के समान रक्षा कर के उत्तम विद्या दीजिये कि जिस से वह विद्वान् हो के (पुष्करस्र०) जैसे पुष्पों की माला धारण कर के मनुष्य शोभा को प्राप्त होता है वैसे ही यह भी विद्या पाकर सुन्दरतायुक्त होवे। (यथेह पुरुषोऽसत्) अर्थात् जिस प्रकार इस संसार में मनुष्यों की विद्यादि सद्गुणों से उत्तम कीर्त्ति और सब मनुष्यों को सुख प्राप्त हो सके वैसा ही प्रयत्न आप लोग सदा कीजिये । यह ईश्वर की आज्ञा विद्वानों के प्रति है । इसलिये सब मनुष्यों को उचित है कि इस का पालन सदा करते रहैं ॥ ५ ॥

ये स॒मा॒नाः सम॑नसो जी॒वा जी॒वेषु॒ माम॒काः । तेषा॒ श्रीर्मयि॑ कल्पताम॒स्मिँल्लो॒के श॒तꣳसमा॑: ॥ ६ ॥ य० अ० १६ । मं० ४६॥ उदी॑रता॒मव॑र॒ उत्परा॑स॒ उन्म॑ध्य॒माः पि॒तर॑: सो॒म्यास॑: । असुं॒ य ई॒युर॑वृ॒का ऋ॑त॒ज्ञास्ते नो॑ऽवन्तु पि॒तरो॒ हवे॑षु ॥ ७ ॥ अङ्गि॑रसो नः पि॒तरो॒ नव॑ग्वा॒ अथ॑र्वाणो॒ भृग॑वः सो॒म्यास॑: । तेषां॑ व॒यꣳ सु॑म॒तौ य॒ज्ञिया॑ना॒मपि॑ भ॒द्रे सौ॑मन॒से स्या॑म ॥ ८ ॥ य० अ० १६ । मं० ४६ । ५० ॥ ये स॑मा॒नाः सम॑नसः पि॒तरो॑ यम॒राज्ये॑ । तेषां॑ लो॒कः स्व॒धा नमो॑ य॒ज्ञो दे॒वेषु॑ कल्पताम् ॥ ६ ॥ य० अ० १६ । मं० ४५ ॥

भाष्यम्

(ये समानाः) ये मामका मदीया आचार्य्यादयः (जीवाः) विद्यमानजीवनाः, (समनसः) धर्मेश्वरसर्वमनुष्यहितकरणैकनिष्ठाः, (समानाः) धर्मेश्वरसत्यविद्यादिशुभगुणेषु समानत्वेन वर्त्तमानाः (जीवेषु) उपदेश्येषु शिष्येषु सत्यविद्यादानाय छलादिदोषराहित्येन वर्त्तमाना विद्वांसः सन्ति, (तेषां०) विदुषां या श्रीः सत्यविद्यादिगुणाढ्या शोभास्ति, (अस्मिँल्लोके शतं०) सामयिकी लक्ष्मीः शतवर्षपर्य्यन्तं (कल्पतां) स्थिरा भवतु, यतो वयं नित्यं सुखिनः स्याम ॥ ६ ॥ (उदीरतामवरे०) ये पितरोऽवकृष्टगुणाः, (उत्परासः) उत्कृष्टगुणाः, (उन्मध्यमाः) मध्यस्थगुणाः, (सोम्यासः) सोम्यगुणाः, (अवृकाः) अजातशत्रवः, (ऋतज्ञाः) ब्रह्मविदो वेदविदश्च, ते ज्ञानिनः पितरो, हवेषु देयग्राह्यव्यवहारेषु, विज्ञानदानेन (नोऽवन्तु) अस्मान् सदा रक्षन्तु । तथा (असुं य ईयुः) येऽसुं प्राणमीयुः प्राप्नुयुरर्थाद् द्वाभ्यां जन्मभ्यां विद्वांसो भूत्वा विद्यमानजीवनास्स्युस्त एव सर्वैः सेवनीया, नैव मृताश्चेति । कुतः । तेषां देशान्तरप्राप्त्या सन्निकर्षाभावात्ते सेवाग्रहणेऽसमर्थाः सेवितुमशक्याश्च ॥ ७ ॥ (अङ्गिरसो नः) येऽङ्गेषु रसभूतस्य प्राणाख्यस्य परमेश्वरस्य ज्ञातारः, (नवग्वाः) सर्वासु विद्यासूत्तमकर्मसु च नवीना गतयो येषां ते, (अथर्वाणः) अथर्ववेदविदो धनुर्वेदविदश्च, (भृगवः) परिपक्वज्ञानाः शुद्धाः, (सोम्यासः) शान्ताः सन्ति, (तेषां वयꣳ सुमतौ) वयं तेषां यज्ञानां (यज्ञियानां ?) यज्ञादिसत्कर्मसु कुशलानाम्, अपीति निश्चयेन, सुमतौ विद्यादिशुभगुणग्रहणे, (भद्रे) कल्याणकरे व्यवहारे, (सौमनसे) यत्र विद्यानन्दयुक्तं मनो भवति तस्मिन्, (स्याम) अर्थाद्भवतां सकाशादुपदेशं गृहीत्वा धर्मार्थकाममोक्षप्राप्ता भवेम ॥ ८ ॥ (ये समानाः) (समनसः) अनयोरर्थ उक्तः, ये (यमराज्ये) राजसभायां न्यायाधीशत्वेनाधिकृताः (पितरः) विद्वांसः सन्ति, (तेषां लोकः) यो न्यायदर्शनं स्वधा अमृतात्मको लोको भवतीति, (यज्ञो०) यश्च प्रजापालनाख्यो राजधर्मव्यवहारो देवेषु विद्वत्सु प्रसिद्धोस्ति, सोऽस्माकं

मध्ये (कल्पतां) समर्थतां, प्रसिद्धो भवतु । य एवं सत्यन्यायकारिणः सन्ति तेभ्यो (नमः) नमोस्तु । अर्थाद्ये सत्यन्यायाधीशास्ते सदैवास्माकं मध्ये तिष्ठन्तु ॥ ९ ॥

भाषार्थ

(ये समानाः) जो आचार्य्य (जीवाः) जीते हुए, (समनसः) धर्म ईश्वर और सर्वहित करने में उद्यत, (समानाः) सत्यविद्यादि शुभगुणों के प्रचार में ठीक २ विचार और (जीवेषु) उपदेश करने योग्य शिष्यों में सर्व विद्यादान के लिये छलकपटादिदोषरहित होकर प्रीति करनेवाले विद्वान् हैं (तेषां) उन की जो श्री अर्थात् सत्यविद्यादिश्रेष्ठगुणयुक्त शोभा और राजलक्ष्मी है सो मेरे लिये (अस्मिँल्लोके शतं समाः) इस लोक में १०० (सौ) वर्ष पर्य्यन्त स्थिर रहे, जिस से हम लोग नित्य सुखसंयुक्त होके पुरुषार्थ करते रहैं ॥ ६ ॥ (उदीरताम०) जो विद्वान् लोग (अवरे) कनिष्ठ, (उन्मध्यमाः) मध्यम और (उत्परासः) उत्तम, (पितरः सोम्यासः) चन्द्रमा के समान सब प्रजाओं को आनन्द करानेवाले, (असुं य ईयुः) प्राणविद्यानिधान, (अवृकाः) शत्रुरहित अर्थात् सब के प्रिय पक्षपात छोड़ के सत्यमार्ग में चलनेवाले, तथा (ऋतज्ञाः) जो कि ऋत अर्थात् ब्रह्म, यथार्थ धर्म और सत्य विद्या के जानने वाले हैं (ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु) वे पितर लोग युद्धादि व्यवहारों में हमारे साथ होके अथवा उन की विद्या देके हमारी रक्षा करें ॥ ७ ॥ (अङ्गिरसो नः) जो ब्रह्माण्डभर के पृथिव्यादि सब अङ्गों की मर्मविद्या के जाननेवाले, (नवग्वाः) नवीन २ विद्याओं के ग्रहण करने और करानेवाले, (अथर्वाणः) अथर्ववेद और धनुर्वेदविद्या में चतुर तथा दुष्ट शत्रु और दोषों के निवारण करने में प्रवीण, (भृगवः) परिपक्वज्ञानी और तेजस्वी, (सोम्यासः) जो परमेश्वर की उपासना और अपनी विद्या के गुणों में शान्तस्वरूप, (तेषां वयꣳ सुमतौ०) तथा यज्ञ के जानने और करनेवाले (पितरः) पितर हैं तथा जिस कल्याणकारक विद्या से उन की सुमति, (भद्रे) कल्याण और (सौमनसे) मन की शुद्धि होती है उसमें (अपिस्याम) हम लोग भी स्थिर हों कि जिसके बोध से व्यवहार और

परमार्थ के सुखों को प्राप्त हो के सदा आनन्दित रहें ॥ ८ ॥ (ये समा०) जो पितर अर्थात् विद्वान् लोग यमराज्य अर्थात् परमेश्वर के इस राज्य में सभासद् वा न्यायाधीश हो के न्याय करनेवाले और (समनसः पितरः) सब सृष्टि के हित करने में समानबुद्धि हैं, (तेषां लोकः स्वधा०) जिन का लोक अर्थात् देश सत्यन्याय को प्राप्त हो के सुखी रहता है (नमः) उन को हम लोग नमस्कार करते हैं । क्योंकि वे पक्षपातरहित होके सत्य व्यवस्था में चल के अपने दृष्टान्त से औरों को भी उसी मार्ग में चलाने वाले हैं । (यज्ञो देवेषु कल्पतां) यह सत्यधर्मसम्बन्धी प्रजापालनरूप जो अश्वमेध यज्ञ है सो परमात्मा की कृपा से विद्वानों के बीच में सत्य व्यवस्था की उन्नति के लिये सदा समर्थ अर्थात् प्रकाशमान बना रहे ।

ये नः पूर्वे पितरः सोम्यासोऽनूहिरे सोमपीथं वसिष्ठाः । तेभिर्यमः संरराणो हवींष्युशन्नुशद्भिः प्रतिकाममत्तु ॥ १० ॥ बर्हिषदः पितर ऊत्यर्वागिमा वो हव्या चकृमा जुषध्वम् । त आगतावसा शन्तमेनाथा नः शंयोररपो दधात ॥ ११ ॥ आहं पितॄन्त्सुविदत्राँ२॥ अवित्सि नपातं च विक्रमणं च विष्णोः । बर्हिषदो ये स्वधया सुतस्य भजन्त पित्वस्त इहागमिष्ठाः ॥१२॥ य० अ० १९ । मं० ५१ । ५५ । ५६ ॥

भाष्यम्

(ये) (सोम्यासः) सोमविद्यासम्पादिनः, (वसिष्ठाः) सर्वविद्यासूत्तमगुणेष्वतिशयेन रममाणाः, (सोमपीथं) सोमविद्यारक्षणं (अनूहिरे), पूर्वं सर्वा विद्याः पठित्वाऽध्याप्य तांस्ता अनुप्रापयन्ति, ते (नः पूर्वे पितरः) येऽस्माकं पूर्वे पितरः सन्ति, (तेभिः) तैः (उशद्भिः) परमेश्वरं धर्मं च कामयमानैः पितृभिः सह, समागमेनैव, (संरराणः) सत्यविद्यायाः सम्यग्दानकर्त्ता (यमः) सत्यविद्याव्यवस्थापकः परमेश्वरो विदितो भवति । किं कुर्वन् ? (हवींषि०) विज्ञानादीन्युशन् सर्वेभ्यो दातुं कामयन् सन् । अतः सर्वो जन एवमाचरन् सन् (प्रतिकाममत्तु) सर्वान् कामान्प्राप्नोतु

॥ १० ॥ (बर्हिषदः) ये बर्हिषि सर्वोत्तमे ब्रह्मणि विद्यायां च निषण्णास्ते (पितरः) विद्वांसः, (अवसा शन्तमेन) अतिशयेन कल्याणरूपेण रक्षणेन सह वर्त्तमानाः, (आगत) अस्माकं समीपमागच्छन्तु । आगतान् तान्प्रत्येवं वयं ब्रूमहे । हे विद्वांसः ! यूयमागत्य (अर्वाक्) पश्चात् (इमा) इमानि हव्यानि ग्राह्यदेयानि वस्तूनि (जुषध्वं) सम्प्रीत्या सेवध्वम् । हे पितरः ! वयं (ऊत्या) भवद्रक्षणेन वो युष्माकं सेवां (चकृम) नित्यं कुर्य्याम । (अथा नः शं०) अथेति सेवाप्राप्तेरनन्तरं, यूयं नोऽस्माकं शंयोर्विज्ञानरूपं सुखं दधात । किन्त्वविद्यारूपं पापं दूरीकृत्य (अरपः) निष्पापतां दधात । येन वयमपि निष्पापा भवेमेति ॥ ११ ॥ (आहं पितॄन्सुविदत्रां०) ये बर्हिषदः, स्वधयाऽन्नेन सुतस्य सोमवल्यादिभ्यो निष्पादितस्य रसस्य प्राशनं (भजन्ते) सेवन्ते, (पित्वः) तत्पानं कृत्वा (त इहाग०) अस्मिन्नस्मत्सन्निहितदेशे ते पितर आगच्छन्तु । य ईदृशाः पितरः सन्ति तान् विद्यादिशुभगुणानां दानकर्तॄनहं (आ अवित्सि) आ समन्ताद्वेद्मि । अत्र व्यत्ययेनात्मनेपदमिडभावश्च । तान् विदित्वा, सङ्गम्य च, (विष्णोः) सर्वत्रव्यापकस्य परमेश्वरस्य (विक्रमणं च) विविधक्रमेण जगद्रचनं, तथा (नपातं च) न विद्यते पातो विनाशो यस्य तन्मोक्षाख्यं पदं च वेद्मि । यत्प्राप्य मुक्तानां सद्यः पातो न विद्यते । तदेतच्च विदुषां सङ्गेनैव प्राप्तं भवति । तस्मात्सर्वैर्विदुषां समागमः सदा कर्त्तव्य इति ॥ १२ ॥

भाषार्थ

(ये नः पूर्वे पितरः) जो कि हमारे पूर्व पितर अर्थात् पिता पितामह और अध्यापक लोग शान्तात्मा तथा (अनूहिरे सोमपीथं वसिष्ठाः) जो सामपान के करने कराने और वसिष्ठ अर्थात् सब विद्या में रमण करने वाले हैं (तेभिर्यमः सꣳरराणो) ऐसे महात्माओं के साथ समागम करके विद्या होने से यम अर्थात् न्यायकारी अन्तर्यामी परमेश्वर निस्सन्देह जाना जाता है । (हविः) जो सत्यभक्ति आदि पदार्थों की कामना और (उशद्भिः प्रतिका०) सब कामों के बीच में सत्यसेवन करने वाले तथा जिन का आधारभूत परमेश्वर ही है ।

हे मनुष्य लोगो ! ऐसे धर्मात्मा पुरुषों के सत्सङ्ग से तुम भी उसी परमात्मा के आनन्द से तृप्त हो। इस में निरुक्तकार का प्रमाण अ० ११। खं० १९। निरुक्त में लिखा है (अङ्गिरसो नवगतय इत्यादि) वहां देख लेना ॥ १० ॥ (बर्हिषदः पि०) जो ब्रह्म और सत्यविद्या में स्थित पितर लोग हैं वे हमारी रक्षा के लिये सदा तत्पर रहें। इस प्रकार से कि हम लोग तो उनकी सेवा करें और वे लोग हमको प्रीतिपूर्वक विद्यादि दान से प्रसन्न कर देवें। (त आगतावसा०) हे पितर लोगो ! हम काङ्क्षा करते हैं कि जब २ आप हमारे वा हम आप के पास आवें जावें तब २ (इमा हव्या०) हम लोग उत्तम २ पदार्थों से आप लोगों की सेवा करें और आप लोग भी उनको प्रीतिपूर्वक ग्रहण करें। (अथ०) अर्थात् हम लोग तो अन्नादि पदार्थों से और आप लोग (शन्त०) हमारे कल्याणकारी गुणों के उपदेश से (अथानः शंयो०) इस के पीछे हमारे कल्याण के विधान से (अरपः) अर्थात् जिससे हम लोग पाप न करें ऐसी बातों का धारण कराइये॥ ११ ॥ (आहं पितॄन्०) मैं जानता हूं कि पितर लोग अपनी उत्तम विद्या और अपने उपदेश से सुख देने वाले हैं। (नपातं च विक्रमणं च विष्णोः) जो मैं सब में व्यापक परमेश्वर का विक्रमण अर्थात् सृष्टि का रचन और नपात अर्थात् उसके अविनाशी पद को भी (आ) (आवित्सि) ठीक २ जानता हूं। (बर्हिषदो ये०) यह ज्ञान मुझ को उन्हीं पितर लोगों की कृपा से हुआ है जिनको देवयान कहते हैं। और जिसकी प्राप्ति से जीव पुनर्दुःख में कभी नहीं गिरता। तथा जिस में पूर्ण सुख प्राप्त होता है। उन दोनों मार्गों को भी मैं विद्वानों के ही सङ्ग से जानता हूं। (स्वधा०) जो विद्वान् अपने अमृतरूप उपदेश से पुत्र की भावना के साथ विद्यादान करते हैं, तथा उस में आप भी (पित्वः) आनन्दित होकर संसार में सब सुखों के देने वाले होते हैं वे सर्वहितकारी पुरुष हमारे पास भी सदा आया करें कि जिससे हम लोगों में नित्य ज्ञान की उन्नति हुआ करे ॥ १२॥

उप॑हूताः पि॒तरः॑ सो॒म्यासो॑ बर्हि॒ष्ये॑षु नि॒धिषु॑ प्रि॒येषु॑। त आ ग॑मन्तु त इ॒ह श्रु॑व॒न्त्वधि॑ ब्रुवन्तु॒ तेऽव॑न्त्व॒स्मान्॥ १३ ॥ अग्नि-

ष्वात्ताः पितर एह गच्छत सदःसदः सदत सुप्रणीतयः ।
अत्ता हवींषि प्रयतानि बर्हिष्यथा रयिं सर्ववीरं दधातन ॥१४॥
ये अग्निष्वात्ता ये अनग्निष्वात्ता मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते।
तेभ्यः स्वराडसुनीतिमेतां यथा वशन्तन्वङ्कल्पयाति ॥ १५ ॥
य० अ० १९ । मं० ५७ । ५६ । ६० ॥

भाष्यम्

(सोम्यासः) ये प्रतिष्ठार्हाः पितरस्ते (बर्हिष्येषु) प्रकृष्टेषु (निधिषु) उत्तमवस्तुस्थापनार्हेषु (प्रियेषु) प्रीत्युत्पादकेषु आसनेषु (उपहूताः) निमन्त्रिताः सन्तः सीदन्तु, (आगमन्तु) सत्कारं प्राप्यास्मत्समीपं वारंवारमागच्छन्तु, (त इह) त इहागत्यास्मत्प्रश्नान् (श्रुवन्तु) शृण्वन्तु, श्रुत्वा तदुत्तराणि (अधिब्रुवन्तु) कथयन्तु । एवं विद्यादानेन व्यवहारोपदेशेन च (तेऽवन्त्वस्मान) सदाऽस्मान् रक्षन्तु ॥ १३ ॥ (अग्निष्वात्ताः पितर एह गच्छत) हे पूर्वोक्ता अग्निष्वात्ताः पितरः! अस्मत्सन्निधौ प्रीत्या आगच्छत । आगत्य (सुप्रणीतयः) शोभना प्रकृष्टा नीतिर्येषां त एवम्भूता भवन्तः पूज्याः सन्तः (सदः सदः सदत) प्रतिगृहं प्रतिसभां चोपदेशार्थं स्थितिं भ्रमणं च कुरुत । (अत्ता हवींषि) प्रयत्नयुक्तानि कर्माणि, देययोग्यान्युत्तमान्नानि वा यूयं स्वीकुरुत । (बर्हिष्यथा०) अथेत्यनन्तरं, बर्हिषि सदसि गृहे वा स्थित्वा (रयिं सर्ववीरं) सर्ववीरैर्युक्तं विद्यादिधनं यूयं दधातन । यतोऽस्मासु बुद्धिशरीरबलयुक्ता वीराः स्थिराः भवेयुः, सत्यविद्याकोशश्च ॥ १४ ॥ (ये अग्निष्वात्ता०) ये अग्निविद्यायुक्ताः, (अनग्निष्वात्ताः) ये वायुजलभूगर्भादिविद्यानिष्ठाः, (मध्ये दिवः) द्योतनात्मकस्य परमेश्वरस्य सद्विद्याप्रकाशस्य च मध्ये (स्वधया) अन्नविद्यया शरीरबुद्धिबलधारणेन च (मादयन्ते) आनन्दिता भूत्वा, अस्मान्सर्वान् जनानानन्दयन्ति, (तेभ्यः) तेभ्यो विद्वद्भ्यो वयं नित्यं सद्विद्यां तथा (असुनीतिमेतां) सत्यन्याययुक्तामेतां प्राणनीतिं च गृह्णीयाम । (यथा वशं) ते विद्वांसो वयं च विद्याविज्ञानप्राप्त्या सर्वोपकारेषु नियमेषु स्वत-

न्त्राः(?), प्रत्येकप्रियेषु च परतन्त्रा (?) भवन्तु यतः । (स्वराट्) स्वयं राजते प्रकाशते, स्वान् राजयति प्रकाशयति वा स स्वराट् परमेश्वरः, (तन्वं कल्पयाति) तनुं विद्वच्छरीरमस्मदर्थं कृपया कल्पयाति, कल्पयतु, निष्पादयतु । यतोऽस्माकं मध्ये बहवो विद्वांसो भवेयुः ॥ १५ ॥

भाषार्थ

(उपहूताः पितरः) उन पितरों को हम लोग निमन्त्रण देते हैं कि वे हमारे समीप आके (बर्हिष्येषु) उत्तम आसनों पर बैठकर जो कि बहुमूल्य और सुनने में प्रिय हों हमको उपदेश करें । (त आगमन्तु०) जब वे पितर आवें तब सब लोग उन का इस प्रकार से सन्मान करें कि आप आइये, उत्तम आसन पर बैठिये, (इह श्रुवन्तु) यहां हमारी विद्या की बातें और प्रश्न सुनिये, (अधिब्रुवन्तु) इन प्रश्नों के उत्तर दीजिये और मनुष्यों को ज्ञान देके उनकी रक्षा कीजिये ॥ १३ ॥ (अग्निष्वात्ताः पितर एह०) हे अग्निविद्या के जानने वाले पितर लोगो ! आप उपदेशक होकर हमारे घरों में आकर उपदेश और निवास कीजिये । फिर वे पितर कैसे होने चाहियें कि (सुप्रणीतयः) उत्तम २ गुणयुक्त होके (बर्हिषि०) सभा के बीच में सत्य २ न्याय करनेहारे हों । तथा (हविः) वे ही दान और ग्रहण के योग्य विद्यादि गुणों का दान और ग्रहण कराने वाले हों । (रयिꣳ सर्ववीरं दधातन) विद्यादि जो उत्तम धन है कि जिस से वीरपुरुषयुक्त सेना की प्राप्ति होती है उसके उपदेश से हम को पुष्ट करें। ऐसे ही उन विद्वानों के प्रति भी ईश्वर का यह उपदेश है कि वे लोग देश २ और घर २ में जाके सब मनुष्यों को सत्यविद्या का उपदेश करें ॥ १४ ॥ (ये अग्निष्वात्ता ये अनग्निष्वात्ताः) जो पितर अग्निविद्या और सोमविद्या के जानने वाले तथा (मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते) जो कि दिव अर्थात् विज्ञानरूप प्रकाश के बीच में सुखभोग से आनन्दित रहते हैं (तेभ्यः स्वराडसु०) उन के हितार्थ स्वराट् जो स्वप्रकाशस्वरूप परमेश्वर है वह (असुनीतिम्) अर्थात् प्राणविद्या का प्रकाश कर देता है । इसलिये हम प्रार्थना करते हैं कि (यथावशन्तन्वं कल्पयाति) हे परमेश्वर ! आप अपनी कृपा से उन के शरीर सदा

सुखी तेजस्वी और रोगरहित रखिये कि जिससे हम को उन के द्वारा ज्ञान प्राप्त होता रहे ॥ १५ ॥

अग्निष्वात्तानृतुमतो हवामहे नाराशꣳसे सोमपीथं य आशुः । ते नो विप्रासः सुहवा भवन्तु वयꣳ स्याम पतयो रयीणाम् ॥ १६ ॥ ये चेह पितरो ये च नेह याँश्च विद्म याँ२॥ उ च न प्रविद्म । त्वं वेत्थ यति ते जातवेदः स्वधाभिर्यज्ञꣳ सुकृतं जुषस्व ॥ १७ ॥ इदं पितृभ्यो नमो अस्त्वद्य ये पूर्वासो य उ परास ईयुः । ये पार्थिवे रजस्या निषत्ता ये वा नूनꣳ सुवृजनासु विक्षु ॥ १८ ॥ य० अ० १९ । मं० ६१ । ६७ । ६८ ॥

भाष्यम्

(अग्निष्वात्ता०) हे मनुष्याः ! यथा वयं, ऋतुविद्यावतोऽर्थाद्यथा-समयप्रयोगकारिणोऽग्निष्वात्ताः पितरः सन्ति तान्, (हवामहे) आह्वयामहे तथैव युष्माभिरपि तत्सेवनायाह्वानं नित्यं कार्य्यम् । (सोमपीथं य आशुः) ये सोमपानमश्नन्ति, ये च (नाराशꣳसे) नरैः प्रशस्येऽनुष्ठातव्ये कर्मणि कुशलाः सन्ति, (ते नो विप्रासः) ते विप्रा मेधाविनो, नोऽस्मान् (सुहवा०) सुष्ठुतया ग्रहीतारो भवन्तु । (सोमपीथं०) ये सोमविद्यादानग्रहणाभ्यां तृप्ताः, एषां संगेन (वयꣳस्याम पतयो०) सत्यविद्याचक्रवर्त्तिराज्यश्रीणां पतयः पालकाः स्वामिनो भवेम ॥ १६ ॥ (ये चेह पितरो०) ये पितरो विद्वांस इहास्मत्सन्निधौ वर्त्तन्ते, ये चेहास्मत्समक्षे न सन्त्यर्थाद्देशान्तरे तिष्ठन्ति, (यांश्च विद्म) यान् वयं जानीमः, (यां२॥ उचन०) दूरदेश-स्थित्या यांश्च वयं न जानीमस्तान् सर्वान्, हे (जातवेदः) परमेश्वर ! (त्वं वेत्थ) त्वं यथावज्जानास्यतो भवान् तेषामस्माकं च सङ्गं निष्पादय । (स्वधा०) योऽस्माभिस्सुकृतः सम्यगनुष्ठितो यज्ञोऽस्ति, त्वं स्वधाभिरन्नाद्याभिः सामग्रीभिः सम्पादितं यज्ञं सदा जुषस्व, सेवस्व । येनास्माकमभ्युदयनिःश्रेय-सकरं क्रियाकाण्डं सम्यक् सिध्येत् । (यति ते) ये यावन्तः परोक्षा वि-

यमाना विद्वांसः सन्ति तानस्मान्प्रापय ॥ १७ ॥ (इदं पितृभ्यः) ये पितरोऽद्येदानीमस्मत्समीपेऽध्ययनाध्यापने कर्मणि वर्त्तन्ते, (पूर्वासः) पूर्वमधीत्य विद्वांसः सन्ति, (ये पार्थिवे रजसि) ये पृथिवीसम्बन्धिभूगर्भविद्यार्था (आनिषत्ता) आ समन्तान्निषण्णाः सन्ति, (ये चानूनꣳसु०) ये च सुष्ठुबलयुक्तासु प्रजासभाध्यक्षाः सभासदो भूत्वा न्यायाधीशत्वादिकर्मणेऽधिकृताः सन्ति, ते चास्मानीयुः प्राप्नुयुः । इत्थं भूतेभ्यः पितृभ्योऽस्माकमिदं सततं नमोऽस्तु ॥ १८ ॥

भाषार्थ

(अग्निष्वात्तानृतुमतो०) हे मनुष्य लोगो ! जैसे हम लोग अग्निविद्या और समयविद्या के जानने वाले पितरों को मान्य से बुलाते हैं वैसे ही तुम लोग भी उन के पास जाते और उन को अपने पास सदा बुलाते रहो जिससे तुम्हारी सब दिन विद्या बढ़ती रहे ॥ (नाराशꣳसे सोमपीथं य आशुः) जो सोमलतादि ओषधियों के रसपान तथा रक्षा से मनुष्यों को श्रेष्ठ करने वाले हैं उन से हम लोग सत्यशिक्षा लेके आनन्दित हों । (ते नो विप्राः सुहवा०) वे विद्वान् लोग हम को सत्यविद्या का ग्रहण प्रीतिपूर्वक सदा कराते रहें । (वयꣳस्याम पतयो रयीणाम्०) जिस से कि हम लोग सुविद्या से चक्रवर्त्ति राज्य की श्री आदि उत्तम पदार्थों को प्राप्त तथा उन की रक्षा और उन्नति करने में भी समर्थ हों ॥ १६ ॥ (ये चेह पितरो०) हे जातवेद परमेश्वर ! जो पितर लोग हमारे समीप और दूर देश में हैं, (यांश्च विद्म) जिन को समीप होने से हम लोग जानते और (यांऽ॥ उच न प्रविद्म) जिन को दूर होने के कारण नहीं भी जानते हैं, (यति ते०) जो इस संसार के बीच में वर्त्तमान हैं (त्वं वेत्थ) उन सब को आप यथावत् जानते हैं । कृपा कर के उन का और हमारा परस्पर सम्बन्ध सदा के लिये कीजिये । (स्वधाभिर्यज्ञꣳसुकृतं) और आप अपनी धारणादि शक्तियों से व्यवहार और परमार्थरूप श्रेष्ठ यज्ञों को प्रीतिपूर्वक सेवन कीजिये कि जिससे हम लोगों को सब सुख प्राप्त होते रहें ॥ १७ ॥ (इदं पितृभ्यो न०) हम लोग उन सब पितरों को नमस्कार करते हैं (अद्य पूर्वासो य उ परास

ईयुः) जो कि प्रथम आप विद्वान् होके हम लोगों को भी विद्या देते हैं । अथवा जो कि विरक्त और संन्यासी होके सर्वत्र विचरते हुए उपदेश करते हैं । तथा (ये पार्थिवे रजस्या निषत्ताः) जो कि पार्थिव अर्थात् भूगर्भविद्या और सूर्यादि लोकों के जानने वाले हैं । तथा (ये वा नूनᳫंसु०) जो कि निश्चय करके प्रजाओं के हित में उद्यत और उत्तम सेनाओं के बीच में बड़े चतुर हैं उन सभों को हम लोग नमस्कार करते हैं इसलिये कि वे सब दिन हमारी उन्नति करते रहें ॥१८॥

उशन्तस्त्वा निधीमह्युशन्तः समिधीमहि । उशन्नुशत आवह पितॄन्हविषे अत्तवे ॥ १९ ॥ य० अ० १६ । मं० ७० ॥ पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः । पितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः । प्रपितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः । अक्षन् पितरोऽमीमदन्त पितरोऽतीतृपन्त पितरः पितरः शुन्धध्वम् ॥ २० ॥ पुनन्तु मा पितरः सोम्यासः पुनन्तु मा पितामहाः पुनन्तु प्रपितामहाः पवित्रेण शतायुषा । पुनन्तु मा पितामहाः पुनन्तु प्रपितामहाः पवित्रेण शतायुषा विश्वमायुर्व्यश्नवै ॥ २१ ॥ य० अ० १९ । मं० ३६ । ३७ ॥

भाष्यम्

(उशन्तस्त्वा निधीमहि) हे परमेश्वर ! वयं त्वां कामयमाना, इष्टत्वेन हृदयाकाशे, न्यायाधीशत्वेन राष्ट्रे, सदा स्थापयामः (उशन्तः समिधीमहि) जगदीश्वर! त्वां शृण्वन्तः श्रावयन्तः सम्यक् प्रकाशयेमहि । कस्मै प्रयोजनायेत्यत्राह । (हविषे अत्तवे०) सद्विद्याग्रहणाय तेभ्यो धनाद्युत्तमपदार्थदानायानन्दभोगाय च (उशन्नुशत आवह पितॄन्) सत्योपदेशविद्याकामयमानान् कामयमानस्संस्त्वमस्मानावहासमन्तात्प्रापय ॥ १६ ॥ (पितृभ्यः) स्वां स्वकीयाममृताख्यां मोक्षविद्यां कर्त्तुं शीलं येषां, तेभ्यो वसुसंज्ञकेभ्यो विद्याप्रदातृभ्यो, जनकेभ्यश्च, (स्वधा) अन्नाद्युत्तमवस्तु दद्मः । ये च चतुर्विंशतिवर्षपर्यन्तेन ब्रह्मचर्य्येण विद्यामधीत्याध्यापयन्ति ते वसुसंज्ञकाः, (पितामहेभ्यः) ये चतुश्चत्वारिंशद्वर्षपर्य्यन्तेन ब्रह्मचर्येण विद्यां पठित्वा पाठयन्ति ते पिता-

महाः, (प्रपितामहेभ्यः) येऽष्टाचत्वारिंशद्वर्षप्रमितेन ब्रह्मचर्य्येण विद्यापारावारं प्राप्याध्यापयन्ति त आदित्याख्या, अर्थात् सत्यविद्याद्योतकाः, (नमः) तेभ्योऽस्माकं सततं नमोस्तु । (अन्नन् पितरः) हे पितरो ! भवन्तोऽस्मत्रैव भोजनाच्छादनादिकं कुर्वीरन् । अमीमदन्त पितर इति पूर्वं व्याख्यातम् । (अतीतृपन्त पितरः) हे पितरोऽस्मत्सेवयाऽऽनन्दिता भूत्वा तृप्ता भवत । (पितरः शुन्धध्वम्) हे पितरो ! यूयमुपदेशेनाविद्यादिदोषविनाशादस्मान् शुन्धध्वं पवित्रान् कुरुत ॥ २० ॥ (पुनन्तु मा पितरः) भो पितरः ! पितामहाः ! प्रपितामहाश्च ! भवन्तो मां मनःकर्मवचनद्वारा वारंवारं पुनन्तु, पवित्रव्यवहारकारिणं कुर्वन्तु । केन पुनन्त्वित्याह, (पवित्रेण०) पवित्रकर्मानुष्ठानकरणोपदेशेन, (शतायुषा) शतवर्षपर्य्यन्तजीवननिमित्तेन ब्रह्मचर्य्येण मां पुनन्तु । अग्रे पुनन्त्विति क्रियात्रयं योजनीयम् । येनाहं (विश्वमायुर्व्यश्नवै) सम्पूर्णमायुः प्राप्नुयाम् । अत्र पुरुषो वाव * यज्ञ इत्याकारकेण छान्दोग्योपनिषत्प्रमाणेन विदुषां वसुरुद्रादित्यसंज्ञा वेदितव्याः ॥ २१ ॥

भावार्थ

(उशन्तस्त्वा निधीमहि) हे अग्ने परमेश्वर ! हम लोग आपकी प्राप्ति की कामना करके आपको अपने हृदय में निहित अर्थात् स्थापित और (उशन्तः समिधीमहि) आप का ही सर्वत्र प्रकाश करते रहैं । (उशन्नुशत आवह पितॄन्) हे भगवन् ! आप हमारे कल्याण के अर्थ पूर्वोक्त पितरों को नित्य प्राप्त कीजिये कि (हविषे अत्तवे) हम लोग उन की सेवा में विद्या लेने के लिये स्थिर रहैं ॥ १९ ॥ (पितृभ्यः स्वधा०) जो चौवीस वर्ष ब्रह्मचर्य्याश्रम से विद्या पढ़के सब को पढ़ाते हैं उन पितरों को हमारा नमस्कार है । (पितामहेभ्यः०) जो चवालीस वर्ष पर्य्यन्त ब्रह्मचर्य्याश्रम से वेदादि विद्याओं को पढ़ के सब के उपकारी और अमृतरूप ज्ञान के देने वाले होते हैं, (प्रपितामहेभ्यः०) जिन्होंने अड़तालीस वर्ष पर्य्यन्त जितेन्द्रियता के साथ संपूर्ण विद्याओं को पढ़ के हस्तक्रिया से भी सब विद्या के दृष्टान्त साक्षात् देख के दिखलाते और जो सब के

* प्र० ३ । खं० १६ ॥

सुखी होने के लिये सदा प्रयत्न करते रहते हैं उन का मान भी सब लोगों को करना उचित है । पिताओं का नाम वसु है, क्योंकि वे सब विद्याओं में वास करने के लिये योग्य होते हैं । ऐसे ही पितामहों का नाम रुद्र है, क्योंकि वे वसुसंज्ञक पितरों से दूनी अथवा शतगुणी विद्या और बलवाले होते हैं, तथा प्रपितामहों का नाम आदित्य है, क्योंकि वे सब विद्याओं और सब गुणों में सूर्य्य के समान प्रकाशमान होके सब विद्या और लोगों को प्रकाशमान करते हैं। इन तीनों का नाम वसु, रुद्र और आदित्य इसलिये है कि वे किसी प्रकार की दुष्टता मनुष्या में रहने नहीं देते । इस में (पुरुषो वाव यज्ञ०) यह छान्दोग्य उपनिषद् का प्रमाण लिख दिया है सो देख लेना । (अक्षन् पितरः०) हे पितर लोगो ! तुम विद्यारूप यज्ञ को फैला के सुख भोगो, तथा (अमीमदन्त पितरः०) हमारी सेवा से अत्यन्त प्रसन्न रहो, (अतीतृपन्त पितरः) हमारी सेवा से तृप्त होकर हम को भी आनन्दित और तृप्त करते रहो, तथा जिस पदार्थ को तुम चाहो अथवा हम आप की सेवा में भूलें तो आप लोग हम को शिक्षा करो । (पितरः शुन्धध्वम्) हे पितर लोगो ! आप हम को धर्मोपदेश और सत्य विद्याओं से शुद्ध करें कि जिससे हम लोग आप के साथ मिल के सनातन परमात्मा की भक्ति अपनी शुद्धि के अर्थ प्रेम से करें ॥ २० ॥ (पुनन्तु मा पितरः) जो पितर लोग शान्तात्मा और दयालु हैं वे मुझ को विद्यादान से पवित्र करें, (पुनन्तु मा पितामहाः) इसी प्रकार पितामह और प्रपितामह भी मुझको अपनी उत्तम विद्या पढ़ा के पवित्र करें । इसलिये कि उन की शिक्षा को सुनके ब्र चर्य्य धारण करने स सौ वर्ष पर्य्यन्त आनन्दयुक्त उमर होती रहे । इस मन्त्र में दो वार पाठ केवल आदर के लिये है । इत्यादि अन्य मन्त्र भी इन्हीं विषयों के पुष्टिकारक हैं । उन सभों का अर्थ सर्वत्र इसी प्रकार से समझ लेना चाहिये । तथा जहां कहीं अमावास्या में पितृयज्ञ करना लिखा है वहां भी इसी अभिप्राय से है कि जो कदाचित् नित्य उन की सेवा न बन सके तो महीने २ अर्थात् अमावास्या में मासेष्टि होती है उस में उन लोगों को बुला के अवश्य सत्कार करें ॥ २१ ॥

इति पितृयज्ञः समाप्तः

अथ बलिवैश्वदेवविधिर्लिख्यते

यदन्नं पक्वमक्षारलवणं भवेत्तेनैव बलिवैश्वदेवकर्म कार्य्यम्।

वैश्वदेवस्य सिद्धस्य गृह्येऽग्नौ विधिपूर्वकम्।
आभ्यः कुर्य्याद्देवताभ्यो ब्राह्मणो होममन्वहम्॥ १॥
मनुस्मृतौ अ० ३। श्लोकः ८४॥

अथ बलिवैश्वदेवकर्मणि प्रमाणम्

अहरहर्बलिमित्ते हरन्तोऽश्वायेव तिष्ठते घासमग्ने। रायस्पोषेण समिषा मदन्तो मा ते अग्ने प्रतिवेशा रिषाम॥ १॥ अथर्व० कां० १९। अनु० ७। सू० ५५। मं० ७॥ पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनसा धियः। पुनन्तु विश्वा भूतानि जातवेदः पुनीहि मा स्वाहा *॥ २॥ य० अ० १९। मं० ३९॥

भाष्यम्

(अग्ने) हे परमेश्वर! (ते) तुभ्यं, त्वदाज्ञापालनार्थं, (इत्) एव, (तिष्ठतेऽश्वाय) (घासं) यथाऽश्वस्याग्रे पुष्कलः पदार्थः स्थाप्यते, तथैव (इव) (अहरहः) नित्यं प्रति (बलिं) (हरन्तः) भौतिकमग्निमतिथींश्च बलीन् प्रापयन्तः, (समिषा) सम्यगिष्यते या सा समिट् तया श्रद्धया (रायस्पोषेण) चक्रवर्त्तिराज्यलक्ष्म्या (मदन्तः) हर्षन्तो वयं, (अग्ने) हे परमात्मन्! (ते) तव (प्रतिवेशाः) प्रतिकूला भूत्वा सृष्टिस्थान् प्राणिनः (मारिषाम) मा पीडयेम। किन्तु भवत्कृपया सर्वे जीवा अस्माकं मित्राणि सन्तु, सर्वेषां च वयं सखायः स्म, इति ज्ञात्वा परस्परं नित्यमुपकारं कुर्य्याम॥ १॥ (पुनन्तु मा०) अस्य मन्त्रस्यार्थस्तर्पणविषय उक्तः।

* स्वाहेति पदं मंत्रे नास्ति।

भाषार्थ

(अग्ने) हे परमेश्वर ! जैसे खाने योग्य पुष्कल पदार्थ घोड़े के आगे रखते हैं, वैसे ही आप की आज्ञापालन के लिये, (अहरहः) प्रतिदिन भौतिक अग्नि में होम करते, और अतिथियों को (बलिं) अर्थात् भोजन देते हुए हम लोग अच्छी प्रकार वांछित चक्रवर्त्ति राज्य की लक्ष्मी से आनन्द को प्राप्त होके (अग्ने) हे परमात्मन् ! (प्रति वेशाः) आप की आज्ञा से उलटे होके आप के उत्पन्न किये हुए प्राणियों को (मा रिषाम) अन्याय से दुःख कभी न देवें। किन्तु आप की कृपा से सब जीव हमारे मित्र और हम सब जीवों के मित्र रहैं। ऐसा जानकर परस्पर उपकार सदा करते रहैं ॥ १ ॥ (पुनन्तु मा०) इस मन्त्र का अर्थ तर्पणविषय में कह दिया है ॥ २ ॥

ओमग्नये स्वाहा ॥ ओं सोमाय स्वाहा ॥ ओमग्नीषोमाभ्यां स्वाहा ॥ ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा ॥ ओं धन्वन्तरये स्वाहा ॥ ओं कुह्वै स्वाहा ॥ ओमनुमत्यै स्वाहा ॥ ओं प्रजापतये स्वाहा । ओं सह द्यावापृथिवीभ्याᳬ स्वाहा ॥ ओं स्विष्टकृते स्वाहा ॥

भाष्यम्

(ओम०) अग्न्यर्थ उक्तः । (ओं सो०) सर्वानन्दप्रदो, यः सर्वजगदुत्पादक ईश्वरः सोऽत्र ग्राह्यः । (ओमग्नी०) प्राणापानाभ्यामनयोरर्थो गायत्रीमन्त्रार्थ उक्तः । (ओं वि०) विश्वे देवा विश्वप्रकाशका ईश्वरगुणाः, सर्वे विद्वांसो वा । (ओं ध०) सर्वरोगनाशक ईश्वरोऽत्र गृह्यते । (ओं कु०) दर्शेष्ट्यर्थोऽयमारम्भः, अमावास्येष्टिप्रतिपादितार्य चितिशक्तये वा । (ओम०) पौर्णमास्येष्ट्यर्थोयमारम्भः, विद्यापठनानन्तरं मतिर्मननं ज्ञानं यस्याश्चितिशक्तेः साऽनुमतिर्वा तस्यै । (ओं प्र०) सर्वजगतः स्वामी रक्षक ईश्वरः । (ओं सह०) ईश्वरेण प्रकृष्टगुणैः सहोत्पादिताभ्यामग्निभूमिभ्यां सर्वोपकारा ग्राह्याः । एतदर्थोयमारम्भः । (ओं स्विष्ट०) यः सुष्ठु शोभनमिष्टं सुखं करोति स चेश्वरः । एतैर्मन्त्रैर्होमं कृत्वाऽथ बलिप्रदानं कुर्य्यात् ।

भावार्थ

(ओम०) अग्नि शब्द का अर्थ पीछे कह आये हैं, (ओं सो०) अर्थात् सब पदार्थों को उत्पन्न, पुष्ट करने और सुख देनेवाला, (ओम०) जो सब प्राणियों के जीवन का हेतु प्राण, तथा जो दुःखनाश का हेतु अपान. (ओं वि०) संसार के प्रकाश करने वाले ईश्वर के गुण अथवा विद्वान् लोग, (ओं ध०) जन्ममरणादि रोगों का नाश करनेवाला परमात्मा, (ओं कु०) अमावास्येष्टि का करना, (ओम०) पौर्णमास्येष्टि वा सर्वशास्त्रप्रतिपादित परमेश्वर की चितिशक्ति, (ओं प्र०) सब जगत् का स्वामी जगदीश्वर, (ओं स०) सत्यविद्या के प्रकाश के लिये पृथिवी का राज्य और अग्नि तथा भूमि से अनेक उपकारों का ग्रहण, (ओं स्वि०) इष्ट सुख का करनेवाला परमेश्वर इन दश मन्त्रों के अर्थों से ये १० प्रयोजन जान लेना । अब आगे बलिदान के मन्त्र लिखते हैं ।

ओं सानुगायेन्द्राय नमः ॥ १ ॥ ओं सानुगाय यमाय नमः ॥ २ ॥ ओं सानुगाय वरुणाय नमः ॥ ३ ॥ ओं सानुगाय सोमाय नमः ॥ ४ ॥ ओं मरुद्भ्यो नमः ॥ ५ ॥ ओमद्भ्यो नमः ॥ ६ ॥ ओं वनस्पतिभ्यो नमः ॥ ७ ॥ ओं श्रियै नमः ॥ ८ ॥ ओं भद्रकाल्यै नमः ॥ ९ ॥ ओं ब्रह्मपतये नमः ॥ १० ॥ ओं वास्तुपतये नमः ॥ ११ ॥ ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यो नमः ॥ १२ ॥ ओं दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यो नमः ॥ १३ ॥ ओं नक्तंचारिभ्यो नमः ॥ १४ ॥ ओं सर्वात्मभूतये नमः ॥ १५ ॥ ओं पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः ॥ १६ ॥ इति नित्यश्राद्धम् ।

भाष्यम्

(ओं सा०) णमप्रह्वत्वे शब्दे इत्यनेन सत्क्रियापुरस्सरविचारेण मनुष्याणां यथार्थं विज्ञानं भवतीति वेद्यम् । नित्यैर्गुणैः सह वर्त्तमानः परमैश्वर्यवानीश्वरोऽत्र गृह्यते । (ओं सानु०) पक्षपातरहितो न्यायकारित्वादि-

गुणयुक्तः परमात्माऽत्र वेद्यः। (ओं सा०) विद्याद्युत्तमगुणविशिष्टः सर्वोत्तमः परमेश्वरोऽत्र ग्रहीतव्यः। (ओं सानुगाय०) अस्यार्थ उक्तः। (ओं म०) य ईश्वराधारेण सकलं विश्वं धारयन्ति चेष्टयन्ति च ते मरुतः। (ओमं०) अस्यार्थः शन्नो देवीरित्यत्रोक्तः। (ओं वन०) वनानां लोकानां पतय ईश्वरो* वायुमेघादयः पदार्था अत्र ग्राह्याः, यद्वोत्तमगुणयोगेनेश्वरेणोत्पादितेभ्यो महावृक्षेभ्यश्चोपकारग्रहणं सदा कार्यमिति बोध्यम्। (ओं श्रि०) श्रीयते सेव्यते सर्वैर्जनैस्सा श्रीरीश्वरः सर्वसुखशोभावत्त्वात्, यद्वेश्वरेणोत्पादिता विश्वशोभा च। (ओं भ०) या भद्रं कल्याणं सुखं कलयति सा भद्रकालीश्वरशक्तिः। (ओम्ब्र०) ब्रह्मणः सर्वशास्त्रविद्यायुक्तस्य वेदस्य ब्रह्माण्डस्य वा पतिरीश्वरः। (ओं वास्तु०) वसन्ति सर्वाणि भूतानि यस्मिंस्तद्वास्त्वाकाशं तत्पतिरीश्वरः। (ओं वि०) अस्यार्थ उक्तः। (ओं दिवा०) (ओं नक्तं०) ईश्वरकृपयैवं भवेन्नः दिवसे यानि भूतानि विचरन्ति रात्रौ च तानि विघ्नं मा कुर्वन्तु, तैः सहाविरोधोऽस्तु नः, एतदर्थोयमारम्भः। (ओं स०) सर्वेषां जीवात्मनां भूतिर्भवनं सत्तेश्वरोत्र ग्राह्यः। (ओं पि०) अस्यार्थ उक्तः पितृतर्पणे। नम इत्यस्य निरभिमानद्योतनार्थः परस्योत्कृष्टतामान्यज्ञापनार्थश्चारम्भः।

भाषार्थ

(ओं सानु०) सर्वैश्वर्य्ययुक्त परमेश्वर और उस के गुण, (ओं सा०) सत्य न्याय करनेवाला और उस की सृष्टि में सत्य न्याय के करनेवाले सभासद्, (ओं सा०) सब से उत्तम परमात्मा और उस के धार्मिक भक्त जन, (ओं सा०) पुण्यात्माओं को आनन्द करानेवाला परमात्मा और वे लोग, (ओं मरुत्०) अर्थात् प्राण जिन के रहने से जीवन और निकलने से मरण होता है उनकी रक्षा करना, (ओमद्भ्यो०) इस का अर्थ शन्नोदेवी इस मन्त्र में लिख दिया है, (ओं व०) ईश्वर के उत्पन्न किये हुए वायु और मेघ आदि सब के पालन के हेतु सब पदार्थ तथा जिन से अधिक वर्षा और जिन के फलों से जगत् का

* ईश्वरोत्पादिता इति हस्तलिखित भूमिकायाम्।

उपकार होता है उन की रक्षा करनी, (ओं श्रि०) जो सेवा करने के योग्य परमात्मा और पुरुषार्थ से राज्यश्री की प्राप्ति करने में सदा उद्योग करना, (ओं भ०) जो कल्याण करनेवाली परमात्मा की शक्ति अर्थात् सामर्थ्य है उस का सदा आश्रय करना, (ओं ब्र०) जो वेद के स्वामी ईश्वर की प्रार्थना विद्या के लिये करना, (ओं वा०) वास्तुपति अर्थात् जो गृहसम्बन्धी पदार्थों का पालन करनेवाला ईश्वर, (ओं ब्रह्म०) वेद शास्त्र का रक्षक जगदीश्वर, (ओं वि०) इस का अर्थ कह दिया है, (ओं दि०) जो दिन में और (ओं नक्तं०) रात्रि में विचरने वाले प्राणी हैं उन से उपकार लेना और उन को सुख देना (सर्वात्म०) सब में व्याप्त परमेश्वर की सत्ता को सदा ध्यान में रखना, (ओं पि०) माता पिता और आचार्य्य आदि को प्रथम भोजनादि से सेवा करके पश्चात् स्वयं भोजनादि करना । स्वाहा शब्द का अर्थ पूर्व कर दिया है और नमः शब्द का अर्थ यह है कि आप अभिमान रहित होना और दूसरे का मान्य करना । इस के पीछे ये छः भाग करना चाहिये ।

शुनां च पतितानां च श्वपचां * पापरोगिणाम् ॥
वायसानां कृमीणां च शनकैर्निर्वपेद्भुवि ॥ १ ॥

अनेन षड्भागान् भूमौ दद्यात् । एवं सर्वप्राणिभ्यो भागान् विभज्य दत्त्वा च तेषां प्रसन्नतां सम्पादयेत् ।

भाषार्थ

कुत्तों, कंगालों, कुष्ठी आदि रोगियों, काक आदि पक्षियों और चींटी आदि कृमियों के लिये भी छः भाग अलग २ बांट के दे देना और उनकी प्रसन्नता करना अर्थात् सब प्राणियों को मनुष्यों से सुख होना चाहिये । यह वेद और मनुस्मृति की रीति से बलिवैश्वदेव पूरा हुआ ॥ इति बलिवैश्वदेवविधिः समाप्तः ॥

अथ पञ्चमोऽतिथियज्ञः प्रोच्यते । यत्रातिथीनां सेवनं यथावत् क्रियते

* मनौ श्वपचामिति पाठः ॥ अ० ३ । श्लो० ९२ ॥

तत्र सर्वाणि सुखानि भवन्तीति । अथ के अतिथयः ? । ये पूर्णविद्यावन्तः, परोपकारिणो, जितेन्द्रिया, धार्मिकाः, सत्यवादिनश्छलादिदोषरहिता, नित्यभ्रमणकारिणो मनुष्यास्तानतिथय इति कथयन्ति । अत्रानेके प्रमाणभूता वैदिकमन्त्राः सन्ति । परन्त्वत्र संक्षेपतो द्वावेव लिखामः ।

तद्यस्यैवं विद्वान् व्रात्योऽतिथिर्गृहानागच्छेत् ॥ १ ॥ स्वयमेनमभ्युदेत्य ब्रूयाद्, व्रात्य क्वाऽवात्सीर्व्रात्योदकं, व्रात्य तर्पयन्तु, व्रात्य यथा ते प्रियं तथास्तु, व्रात्य यथा ते वशस्तथास्तु, व्रात्य यथा ते निकामस्तथास्त्विति ॥ २ ॥ अथ० कां० १५ । अनु० २ । सू० ११ । मं० १ । २ ॥

भाष्यम्

(तद्य०) यः पूर्वोक्तविशेषणयुक्तो विद्वान् (व्रात्यः०) महोत्तमगुणविशिष्टः सेवनीयोऽतिथि,र्यस्य गमनागमनयोरनियता तिथिः, किन्तु स्वेच्छया कस्मादागच्छेद् गच्छेच ॥ १ ॥ स यदा यदा गृहस्थानां गृहेषु प्राप्नुयात् (स्वयमेनम०) तदा गृहस्थोऽत्यन्तप्रेम्णोत्थाय नमस्कृत्य च तं महोत्तमासने निषादयेत् । ततो यथायोग्यं सेवां कृत्वा तदनन्तरं तं पृच्छेत् । (व्रात्य क्वावात्सीः) हे पुरुषोत्तम ! त्वं कुत्र निवासं कृतवान् । (व्रात्योदकं) हे अतिथे ! जलमेतद् गृहाण । (व्रात्य तर्पयन्तु) यथा भवन्तः स्वकीयसत्योपदेशेनास्मानस्माकं मित्रादींश्च तर्पयन्ति तथाऽस्मदीया भवन्तं च । (व्रात्य यथा०) हे विद्वन् ! यथा भवतः प्रसन्नता स्यात्तथा वयं कुर्याम । यद्वस्तु भवत्प्रियमस्ति तस्याज्ञां कुरु । (व्रात्य यथा ते) हे अतिथे ! भवान् यथेच्छति तथैव वयं तदनुकूलतया भवत्सेवाकरणे निश्चिनुयाम । (व्रात्य यथा ते) यथा भवदिच्छापूर्तिः स्यात्तथा सेवां वयं कुर्य्याम। यतो भवान् वयं च परस्परं सेवासत्सङ्गपूर्विकया विद्यावृद्ध्या सदा सुखे तिष्ठेम।

भाषार्थ

अब पांचवां अतिथियज्ञ अर्थात् जिस में अतिथियों की यथावत् सेवा करनी होती है उस को लिखते हैं। जो मनुष्य पूर्ण विद्वान्, परोपकारी, जितेन्द्रिय, धर्मात्मा, सत्यवादी, छल कपट रहित और नित्य भ्रमण करके विद्या धर्म का प्रचार और अविद्या अधर्म की निवृत्ति सदा करते रहते हैं उन को अतिथि कहते हैं। इस में वेदमन्त्रों के अनेक प्रमाण हैं। परन्तु उन में से दो मन्त्र यहां भी लिखते हैं। (तद्यस्यैवं विद्वान्) जिस के घर में पूर्वोक्त विशेषणयुक्त (व्रात्य) उत्तमगुणसहित सेवा करने के योग्य विद्वान् आवे तो उस की यथावत् सेवा करे और अतिथि वह कहाता है कि जिस के आने जान की कोई तिथि दिन निश्चित न हो ॥ १ ॥ (स्वयमेनम०) गृहस्थ लोग ऐसे पुरुष को आते देखकर, बड़े प्रेम से उठ के नमस्कार कर के, उत्तम आसन पर बैठावें। पश्चात् पूछें कि आप को जल अथवा किसी अन्य वस्तु की इच्छा हो सो कहिये। और जब वे स्वस्थचित्त हो जावें तब पूछें कि (व्रात्य क्वावात्सीः) हे व्रात्य ! अर्थात् उत्तम पुरुष ! आपने कल के दिन कहां वास किया था, (व्रात्योदकं) हे अतिथे ! यह जल लीजिये और (व्रात्य तर्पयन्तु) हम को अपने सत्य उपदेश से तृप्त कीजिये कि जिससे हमारे इष्ट मित्र लोग सब प्रसन्न हो के आपको भी सेवा से संतुष्ट रक्खें ॥ (व्रात्य यथा०) हे विद्वान् ! जिस प्रकार आप की प्रसन्नता हो हम लोग वैसा ही काम करें, तथा जो पदार्थ आप को प्रिय हो उस की आज्ञा कीजिये, और (व्रात्य यथा०) जैसे आप की कामना पूर्ण हो वैसी सेवा कीजाय कि जिस से आप और हम लोग परस्पर प्रीति और सत्सङ्गपूर्वक विद्यावृद्धि करके सदा आनन्द में रहें ॥ २ ॥

इति संक्षेपतः पंचमहायज्ञविषयः

अथ ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्यविषयः

सृष्टिमारभ्याद्यपर्य्यन्तं येषां येषां स्वतःपरतःप्रमाणसिद्धानां ग्रन्थानां

पक्षपातरहितै रागद्वेषशून्यैः सत्यधर्मप्रियाचरणैः सर्वोपकारकैरार्यैर्विद्वद्भिर्य-थाङ्गीकारः कृतस्तथाऽत्रोच्यते। य ईश्वरोक्ता ग्रन्थास्ते स्वतःप्रमाणं कर्त्तुं योग्याः सन्ति। ये जीवोक्तास्ते परतःप्रमाणार्हाश्च। ईश्वरोक्तत्वाच्चत्वारो वेदाः स्वतःप्रमाणम्। कुतः। तदुक्तौ भ्रमादिदोषाभावात्, तस्य सर्वज्ञत्वा-त्, सर्वविद्यावत्त्वात्, सर्वशक्तिमत्त्वाच्च। तत्र वेदेषु वेदानामेव प्रामाण्यं स्वीकार्य्यं, सूर्यप्रदीपवत्। यथा सूर्य्यः प्रदीपश्च स्वप्रकाशेनैव प्रकाशितौ सन्तौ सर्वमूर्त्तद्रव्यप्रकाशकौ भवतः, तथैव वेदाः स्वप्रकाशेनैव प्रकाशिताः सन्तः सर्वानन्यविद्याग्रन्थान् प्रकाशयन्ति। ये ग्रन्था वेदविरोधिनो वर्त्तन्ते नैव तेषां प्रामाण्यं स्वीकर्त्तुं योग्यमस्ति। वेदानां तु खलु अन्येभ्यो ग्रन्थेभ्यो विरोधादप्यप्रामाण्यं न भवति, तेषां स्वतःप्रामाण्यात्तद्भिन्नानां ग्रन्थानां वेदाधीनप्रामाण्याच्च। ये स्वतःप्रमाणभूता मन्त्रभागसंहिताख्याश्चत्वारो वेदा उक्तास्तद्भिन्नास्तद्व्याख्यानभूता ब्राह्मणग्रन्था वेदानुकूलतया प्रमाण-मर्हन्ति, तथैवैकादशशतानि सप्तविंशतिश्च वेदशाखा वेदार्थव्याख्याना अपि वेदानुकूलतयैव प्रमाणमर्हन्ति। एवमत्र यानि शिक्षा कल्पोऽथ व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति षडङ्गानि, तथाऽऽयुर्वेदो वैद्यकशास्त्रम्, धनुर्वेदः शस्त्रास्त्रराजविद्या, गान्धर्ववेदो गानविद्या, अर्थवेदश्च शिल्पशास्त्रं, चत्वार उपवेदा अपि। तत्र चरकसुश्रुतनिघण्ट्वादय आयुर्वेदे ग्राह्याः। धनुर्वेदस्य ग्रन्था प्रायेण लुप्ताः सन्ति। परन्तु तस्य सर्वविद्याक्रियावयवैः सिद्धत्त्वादि-दानीमपि साधयितुमर्हाः सन्ति। अङ्गिरःप्रभृतिभिर्निर्मिता धनुर्वेदग्रन्था बहव आसन्निति। गान्धर्ववेदश्च सामगानविद्यादिसिद्धः। अर्थवेदश्च विश्व-कर्मत्वष्टृमयकृतश्चतसृसंहिताख्यो ग्राह्यः।

भाषार्थ

जो २ ग्रन्थ सृष्टि की आदि से लेके आज तक पक्षपात और रागद्वेषरहित सत्यधर्मयुक्त सब लोगों के प्रिय प्राचीन विद्वान् आर्य्य लोगों ने (स्वतःप्रमाण) अर्थात् अपने आप ही प्रमाण, परतःप्रमाण अर्थात् वेद और प्रत्यक्षानुमानादि से प्रमाणभूत हैं जिन को जिस प्रकार करके जैसा कुछ माना है उन को आगे

कहते हैं। इस विषय में उन लोगों का सिद्धान्त यह है कि ईश्वर की कही हुई जो चारों मन्त्रसंहिता हैं वे ही स्वयंप्रमाण होने योग्य हैं अन्य नहीं। परन्तु उन से भिन्न भी जो २ जीवों के रचे हुए ग्रन्थ हैं वे भी वेदों के अनुकूल होने से परतःप्रमाण के योग्य होते हैं। क्योंकि वेद ईश्वर के रचे हुए हैं और ईश्वर सर्वज्ञ सर्वविद्यायुक्त तथा सर्वशक्तिवाला है, इस कारण से उस का कथन ही निर्भ्रम और प्रमाण के योग्य है। और जीवों के बनाये ग्रन्थ स्वतःप्रमाण के योग्य नहीं होते, क्योंकि वे सर्वविद्यायुक्त और सर्वशक्तिमान् नहीं होते। इसलिये उन का कहना स्वतःप्रमाण के योग्य नहीं हो सकता। ऊपर के कथन से यह बात सिद्ध होती है कि वेदविषय में जहां कहीं प्रमाण की आवश्यकता हो वहां सूर्य्य और दीपक के समान वेदों का ही प्रमाण लेना उचित है। अर्थात् जैसे सूर्य्य और दीपक अपने ही प्रकाश से प्रकाशमान होके सब क्रियावाले द्रव्यों को प्रकाशित कर देते हैं वैसे ही वेद भी अपने प्रकाश से प्रकाशित होके अन्य ग्रन्थों का भी प्रकाश करते हैं। इस से यह सिद्ध हुआ कि जो जो ग्रन्थ वेदों से विरुद्ध हैं वे कभी प्रमाण वा स्वीकार करने के योग्य नहीं होते। और वेदों का अन्य ग्रन्थों के साथ विरोध भी हो तब भी अप्रमाण के योग्य नहीं ठहर सकते, क्योंकि वे तो अपने ही प्रमाण से प्रमाणयुक्त हैं। इसी प्रकार ऐतरेय, शतपथ ब्राह्मणादि ग्रन्थ जो वेदों के अर्थ और इतिहासादि से युक्त बनाये गये हैं वे भी परतःप्रमाण अर्थात् वेदों के अनुकूल ही होने से प्रमाण और विरुद्ध होने से अप्रमाण हो सकते हैं। मन्त्रभाग की चार संहिता कि जिनका नाम वेद है वे सब स्वतःप्रमाण कहे जाते हैं। और उनसे भिन्न ऐतरेय शतपथ आदि प्राचीन सत्य ग्रन्थ हैं वे परतःप्रमाण के योग्य हैं। तथा ग्यारहसौ सत्ताईस (११२७) चार वेदों की शाखा वेदों के व्याख्यान होने से परतःप्रमाण। तथा (आयुर्वेदः) अर्थात् जो वैद्यकशास्त्र चरक सुश्रुत और धन्वन्तरिकृत निघण्टु आदि ये सब मिलकर ऋग्वेद का उपवेद कहाता है। (धनुर्वेदः) अर्थात् जिसमें शस्त्र अस्त्रविद्या के विधानयुक्त अङ्गिरा आदि ऋषियों के बनाये ग्रन्थ जो कि अङ्गिरा भरद्वाजादिकृत संहिता हैं जिन से राजविद्या सिद्ध होती है परन्तु वे ग्रन्थ प्रायः लुप्त से होगये हैं। जो पुरुषार्थ से इस को सिद्ध किया चाहे तो

वेदादि विद्या-पुस्तकों से साक्षात् कर सकता है। (गान्धर्ववेदः) जो कि सामगान और नारदसंहिता आदि गानविद्या के ग्रन्थ हैं। (अर्थवेदः) अर्थात् शिल्पशास्त्र जिसके प्रतिपादन में विश्वकर्म्मा, त्वष्टा, देवज्ञ और मयकृत संहिता रची गई हैं, ये चारों उपवेद कहाते हैं।

शिक्षा पाणिन्यादिमुनिकृता। कल्पो मानवकल्पसूत्रादिः। व्याकरणमष्टाध्यायीमहाभाष्यधातुपाठोणादिगणप्रातिपदिकगणपाठाख्यम्। निरुक्तं यास्कमुनिकृतं निघण्टुसहितं चतुर्थं वेदाङ्गं मन्तव्यम्। छन्दः पिङ्गलाचार्य्यकृतसूत्रभाष्यम्। ज्योतिषं वसिष्ठाद्यृष्युक्तं रेखाबीजगणितमयं चेति वेदानां षडङ्गानि सन्ति। तथा षडुपाङ्गानि। तत्राद्यं कर्मकाण्डविधायकं धर्मधर्मिव्याख्यानमयं व्यासमुन्यादिकृतभाष्यसहितं जैमिनिमुनिकृतसूत्रं पूर्वमीमांसाशास्त्राख्यं ग्राह्यम्। द्वितीयं विशेषतया धर्मधर्मिविधायकं प्रशस्तपादकृतभाष्यसहितं कणादमुनिकृतं वैशेषिकशास्त्रम्। तृतीयं पदार्थविद्याविधायकं वात्स्यायनभाष्यसहितं गोतममुनिकृतं न्यायशास्त्रम्। चतुर्थं यत्त्रिभिर्मीमांसावैशेषिकन्यायशास्त्रैः सर्वपदार्थानां श्रवणमननेनानुमानिकं ज्ञानतया निश्चयो भवति, तेषां साक्षाज्ज्ञानसाधनमुपासनाविधायकं व्यासमुनिकृतभाष्यसहितं पतञ्जलिमुनिकृतं योगशास्त्रम्। तथा पञ्चमं तत्त्वपरिगणनविवेकार्थं भागुरिमुनिकृतभाष्यसहितं कपिलमुनिकृतं सांख्यशास्त्रम्। षष्ठं बौद्धायनवृत्त्यादिव्याख्यानसहितं व्यासमुनिकृतं वेदान्तशास्त्रम्। तथैव ईशकेनकठप्रश्नमुण्डकमाण्डूक्यतैत्तिरीयैतरेयछान्दोग्यबृहदारण्यका दशोपनिषदश्चोपाङ्गानि च ग्राह्याणि। एवं चत्वारो वेदाः सशाखा व्याख्यानसहिता,श्चत्वार उपवेदाः, षड् वेदाङ्गानि, षट् च वेदोपाङ्गानि मिलित्वा षड् भवन्ति। एतैरेव चतुर्दशविद्या मनुष्यैर्ग्राह्या भवन्तीति वेद्यम्।

भाषार्थ

इसी प्रकार मन्वादिकृत मानवकल्पसूत्रादि, आश्वलायनादिकृत श्रौतसूत्रादि, पाणिनिमुनिकृत अष्टाध्यायी धातुपाठ गणपाठ उणादिपाठ और पतञ्जलिमुनिकृत

महाभाष्य पर्यन्त व्याकरण । तथा यास्कमुनिकृत निरुक्त और निघण्टु, वसिष्ठमुनि आदि कृत ज्योतिष सूर्यसिद्धान्त आदि और (छन्दः) पिङ्गलाचार्य्यकृत सूत्रभाष्य आदि ये वेदों के छः अङ्ग भी पठनपाठन के योग्य और ऐसे ही वेदों के छः उपाङ्ग अर्थात् जिन का नाम षट्शास्त्र है, उन में से एक व्यासमुनि आदि कृत भाष्यसहित जैमिनिमुनिकृत पूर्वमीमांसा, जिसमें कर्मकाण्ड का विधान और धर्मधर्मि दो पदार्थों से सब पदार्थों की व्याख्या की है, दूसरा वैशेषिक शास्त्र जो कि कणादमुनिकृत सूत्र और गोतममुनिकृत प्रशस्तपादभाष्यादिव्याख्यासहित, तीसरा न्यायशास्त्र जो कि गोतममुनिप्रणीत सूत्र और वात्स्यायनमुनिकृतभाष्यसहित, चौथा योगशास्त्र जो कि पतञ्जलिमुनिकृत सूत्र और व्यासमुनिकृतभाष्य सहित, पांचवां सांख्यशास्त्र जो कि कपिलमुनिकृत सूत्र और भागुरिमुनिकृतभाष्य सहित और छठा वेदान्तशास्त्र जो कि ईश केन कठ प्रश्न मुण्डक माण्डूक्य तैत्तिरीय ऐतरेय छान्दोग्य और बृहदारण्यक ये दश उपनिषद् तथा व्यासमुनिकृत सूत्र जो कि बौधायनवृत्त्यादिव्याख्या सहित वेदान्तशास्त्र है, ये छः वेदों के उपाङ्ग कहाते हैं । इसका यह अभिप्राय है कि जो शाखा, शाखान्तरव्याख्या सहित चार वेद, चार उपवेद, छः अङ्ग और उपाङ्ग हैं ये सब मिल के चौदह विद्या के ग्रन्थ हैं ।

एतासां पठनाद्यथार्थं विदि(त)वस्त्वन्यानसत्याद्यज्ञानक्रियाकाण्डसाक्षात्करणाच्च महाविद्वान् भवतीति निश्चेतव्यम् । एत ईश्वरोक्ता वेदाः,तद्व्याख्यानमया ब्राह्मणादयो ग्रन्था, आर्षा, वेदानुकूलाः सत्यधर्मविद्यायुक्ता युक्तिप्रमाणसिद्धा एव माननीयाः सन्ति । नैतेभ्यो भिन्नाः, पक्षपातक्षुद्रविचारस्वल्पविद्याऽधर्माचरणप्रतिपादना, अनाप्तोक्ता, वेदार्थविरुद्धा, युक्तिप्रमाणविरहा ग्रन्थाः केनापि कदाचिदङ्गीकार्य्या इति । ते च संक्षेपतः परिगण्यन्ते । रुद्रयामलादयस्तन्त्रग्रन्थाः । ब्रह्मवैवर्त्तादीनि पुराणानि च । प्रक्षिप्तश्लोकत्यागाया मनुस्मृतेर्व्यतिरिक्ताः स्मृतयः । सारस्वतचन्द्रिकाकौमुद्यादयो व्याकरणाभासग्रन्थाः । मीमांसाशास्त्रादिविरुद्धनिर्णयसिन्ध्वादयो ग्रन्थाः । वैशेषिकन्यायशास्त्रविरुद्धास्तर्कसंग्रहमारभ्य जागदीश्यन्ता न्यायाभासा ग्रन्थाः ।

योगशास्त्रविरुद्धा हठप्रदीपिकादयो ग्रन्थाः। सांख्यशास्त्रविरुद्धा सांख्यतत्त्वकौमुद्यादयः। वेदान्तशास्त्रविरुद्धा वेदान्तसारपञ्चदशीयोगवासिष्ठादयो ग्रन्थाः। ज्योतिषशास्त्रविरुद्धा मुहूर्त्तचिन्तामण्यादयो मुहूर्त्तजन्मपत्रफलादेशविधायका ग्रन्थाः। तथैव श्रौतसूत्रविरुद्धास्त्रिकाण्डिकास्नानसूत्रपरिशिष्टादयो ग्रन्थाः। मार्गशीर्षैकादशीकाश्यादिस्थलजलसेवनयात्राकरणदर्शननामस्मरणस्नानजडमूर्त्तिपूजाकरणमन्त्रेणैव मुक्तिमावनपापनिवारणमाहात्म्यविधायकाः सर्वे ग्रन्थाः। तथैव पाखण्डिसम्प्रदायिनिर्मितानि सर्वाणि पुस्तकानि च, नास्तिकत्वविधायका ग्रन्थाश्चोपदेशाश्च। ते सर्वे वेदादिशास्त्रविरुद्धा युक्तिप्रमाणपरीक्षाहीनाः सन्त्यतः शिष्टैरग्राह्या भवन्ति।

भाषार्थ

इन ग्रन्थों का तो पूर्वोक्त प्रकार से स्वतः परतः प्रमाण करना सुनना और पढ़ना सब को उचित है। इनसे भिन्नों का नहीं। क्योंकि जितने ग्रन्थ पक्षपाती क्षुद्रबुद्धि कम विद्यावाले अधर्मात्मा असत्यवादियों के कहे वेदार्थ से विरुद्ध और युक्तिप्रमाणरहित हैं उन को स्वीकार करना योग्य नहीं। आगे उन में से मुख्य २ मिथ्या ग्रन्थों के नाम भी लिखते हैं। जैसे रुद्रयामल आदि तन्त्रग्रन्थ, ब्रह्मवैवर्त्त श्रीमद्भागवत आदि पुराण। सूर्य्यगाथा आदि उपपुराण। मनुस्मृति के प्रक्षिप्त श्लोक और उस से पृथक् सब स्मृतिग्रन्थ। व्याकरणविरुद्ध सारस्वतचन्द्रिका कौमुद्यादि ग्रन्थ। धर्मशास्त्रविरुद्ध निर्णयसिन्धु आदि। तथा वैशेषिक न्यायशास्त्र विरुद्ध तर्कसंग्रह मुक्तावल्यादि ग्रन्थ। हठदीपिका आदि ग्रन्थ जो कि योगशास्त्र से विरुद्ध हैं। तथा सांख्यशास्त्रविरुद्ध सांख्यतत्त्वकौमुदी आदि ग्रन्थ। वेदान्तशास्त्रविरुद्ध वेदान्तसार पञ्चदशी योगवासिष्ठादि ग्रन्थ। तथा ज्योतिषशास्त्र से विरुद्ध मुहूर्त्तचिन्तामण्यादि मुहूर्त्तजन्मपत्रफलादेशविधायक पुस्तक। ऐसे ही श्रौतसूत्रादिविरुद्ध त्रिकाण्डिकास्नानविधायकादि सूत्र। तथा मार्गशीर्ष एकादश्यादिव्रत, काश्यादि स्थल, पुष्कर गङ्गादि जल, यात्रामाहात्म्यविधायक पुस्तक तथा दर्शन नामस्मरण जड़मूर्त्तिपूजा करने से मुक्तिविधायक ग्रन्थ। इसी प्रकार पापनिवारणविधायक और ईश्वर के अवतार वा पुत्र अथवा दूतप्रतिपादक वेद-

विरुद्ध शैव शाक्त गाणपत वैष्णवादि मत के ग्रन्थ तथा नास्तिक मत के पुस्तक और उन के उपदेश ये सब वेद युक्ति प्रमाण और परीक्षा से विरुद्ध ग्रन्थ हैं। इसलिये सब मनुष्यों को उक्त अशुद्ध ग्रन्थ त्याग कर देने योग्य हैं।

प्र०—तेषु बह्वनृतभाषणेषु किंचित्सत्यमप्यग्राह्यम्भवितुमर्हति विषयुक्तान्नवत्। उ०—यथा परीक्षका विषयुक्तममृततुल्यमप्यन्नं परीक्ष्य त्यजन्ति तद्वदप्रमाणा ग्रन्थास्त्याज्या एव। कुतः। तेषां प्रचारेण वेदानां सत्यार्थाप्रवृत्ते,स्तदप्रवृत्त्या ह्यसत्यार्थान्धकारापत्ते,रविद्यान्धकारतया यथार्थज्ञानानुत्पत्तेश्चेति। अथ तन्त्रग्रन्थानां मिथ्यात्वं प्रदर्श्यते। तत्र पञ्चमकारसेवनेनैव मुक्तिर्भवति, नान्यथेति। तेषां मतं यत्रेमे श्लोकाः सन्ति। मद्यं मांसं च मीनं च मुद्रा मैथुनमेव च। एते पञ्चमकाराश्च मोक्षदा हि युगे युगे ॥ १ ॥ पीत्वा पीत्वा पुनः पीत्वा यावत्पतति भूतले। पुनरुत्थाय वै पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते ॥ २ ॥ प्रवृत्ते भैरवीचक्रे सर्वे वर्णा द्विजातयः। निवृत्ते भैरवीचक्रे सर्वे वर्णाः पृथक् पृथक् ॥ ३ ॥ मातृयोनिं परित्यज्य विहरेत्सर्वयोनिषु। लिङ्गं योन्यां तु संस्थाप्य जपेन्मन्त्रमतन्द्रितः ॥ ४ ॥ मातरमपि न त्यजेत्। इत्याद्यनेकविधमल्पबुद्ध्यधर्माश्रेयस्कर्मानार्याभिहितयुक्तिप्रमाणरहितं वेदादिभ्योऽत्यन्तविरुद्धमनार्षमश्लीलमुक्तं, तच्छिष्टैर्न कदापि ग्राह्यमिति। मद्यादिसेवनेन बुद्ध्यादिभ्रंशान्मुक्तिस्तु न जायते, किन्तु नरकप्राप्तिरेव भवतीत्यन्यत् सुगमं प्रसिद्धं च। एवमेव ब्रह्मवैवर्त्तादिषु मिथ्यापुराणसंज्ञासु किं च नवीनेषु मिथ्याभूता बह्व्यः कथा लिखितास्तासां स्थालीपुलाकन्यायेन स्वल्पाः प्रदर्श्यन्ते। तत्रैवमेका कथा लिखिता प्रजापतिर्ब्रह्मा चतुर्मुखो देहधारी स्वां सरस्वतीं दुहितरं मैथुनाय जग्राहेति। सा मिथ्यैवास्ति। कुतः। अस्याः कथाया अलंकाराभिप्रायत्वात्। तद्यथा—

भाषार्थ

कदाचित् इन ग्रन्थों के विषय में कोई ऐसा प्रश्न करे कि इन असत्य ग्रन्थों में भी जो २ सत्य बात हैं उन का ग्रहण करना चाहिये तो इसका उत्तर यह है

कि जैसे अमृत तुल्य अन्न में विष मिला हो तो उस को छोड़ देते हैं, क्योंकि उन से सत्यग्रहण की आशा करने से सत्यार्थप्रकाशक वेदादि ग्रन्थों का लोप हो जाता है। इसलिये इन सत्यग्रन्थों के प्रचार के अर्थ उन मिथ्या ग्रन्थों को छोड़ देना अवश्य चाहिये। क्योंकि विना सत्यविद्या के ज्ञान कहां, विना ज्ञान के उन्नति कैसी और उन्नति के न होने से मनुष्य सदा दुःखसागर ही में डूबे रहते हैं। अब आगे उन पूर्वलिखित अप्रमाण ग्रन्थों के संक्षेप से पृथक् २ दोष भी दिखलाये जाते हैं। देखो तन्त्रग्रन्थों में ऐसे २ श्लोक लिखे हुए हैं कि (मद्यं मांसं०) मद्य पीना, मांस मच्छी खाना, मुद्रा अर्थात् सब के साथ इकट्ठे बैठ के रोटी बड़े आदि उड़ाना, कन्या बहिन माता और पुत्रवधू आदि के साथ भी मैथुन कर लेना, इन पांच मकारों के सेवन से सब की मुक्ति होना ॥ १ ॥ (पीत्वा पीत्वा०) किसी मकान के चार आलयों में मद्य के पात्र घर के एक कोने से खड़े २ मद्य पीने का आरम्भ करके दूसरे में जाना, दूसरे से पीते हुए तीसरे में और तीसरे से चौथे में जाकर पीना, यहांतक कि जब पर्य्यन्त पीते २ बेहोश होकर लकड़ी के समान भूमि में न गिर पड़े तब तक बराबर पीते ही चले जाना, इस प्रकार वारंवार पीके अनेक वार उठ २ कर भूमि में गिर जाने से मनुष्य जन्ममरणादि दुःखों से छूटकर मुक्ति को प्राप्त हो जाता है ॥ २ ॥ (प्रवृत्ते भैरवीचक्रे०) जब कभी वाममार्गी लोग रात्रि के समय किसी स्थान में इकट्ठे होते हैं तब उन में ब्राह्मण से लेके चाण्डाल पर्य्यन्त सब स्त्री पुरुष आते हैं, फिर वे लोग एक स्त्री को नंगी करके वहां उस की योनि की पूजा करते हैं, सो केवल इतना ही नहीं किन्तु कभी २ पुरुष को भी नंगा करके स्त्री लोग भी उस के लिङ्ग की पूजा करती हैं। तदनन्तर मद्य के पात्र में से एक पात्र अर्थात् प्याला भरके उस स्त्री और पुरुष दोनों को पिलाते हैं, फिर उसी पात्र से सब वाममार्गी लोग क्रम से मद्य पीते और अन्नमांसादिक खाते चले जाते हैं। यहांतक कि जब तक उन्मत्त न होजायं तब तक खाना पीना बंद नहीं करते हैं। फिर एक स्त्री के साथ एक पुरुष अथवा एक के साथ अनेक भी मैथुन करलेते हैं। जब उस स्थान से बाहर निकलते हैं तब कहते हैं कि अब हम लोग अलग २ वर्णवाले हो गये ॥ ३ ॥ (मातृयोनिं०) उन के

किसी २ श्लोक में तो ऐसा लिखा है कि माता को छोड़ के सब स्त्रियों से मैथुन कर लेवे, इस में कुछ दोष नहीं। और (मातरमपि न त्यजेत्)। किसी २ का यह भी मत है कि माता को भी न छोड़ना तथा किसी में लिखा है कि योनि में लिङ्ग प्रवेश करके आलस्य छोड़कर मन्त्र को जपे तो वह शीघ्र ही सिद्ध हो जाता है। इत्यादि अनेक अनर्थरूप कथा तन्त्रग्रन्थों में लिखी हैं। ये सब वेदादिशास्त्र, युक्ति, प्रमाणों से विरुद्ध होने के कारण श्रेष्ठ पुरुषों के ग्रहण करने योग्य नहीं। क्योंकि मद्यादि सेवन से मुक्ति तो कभी नहीं हो सकती परन्तु ज्ञान का नाश और दुःखरूप नरक की प्राप्ति दीर्घकाल तक होती है ॥ ४ ॥ इसी प्रकार ब्रह्मवैवर्त्त और श्रीमद्भागवतादि ग्रन्थ जो कि व्यासजी के नाम से संप्रदायी लोगों ने रचलिये हैं उन का नाम पुराण कभी नहीं हो सकता, किन्तु उन को नवीन कहना उचित है। अब उन की मिथ्यात्वपरीक्षा के लिये कुछ कथा यहां भी लिखते हैं।

प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरमभ्यध्यायद्दिवमित्यन्य आहुरुषसमित्यन्ये। तामृश्यो भूत्वा रोहितं भूतामभ्यैत्। तस्य यद्रेतसः प्रथममुददीप्यत तदसावादित्योऽभवत् ॥ ऐ० पं० ३। कण्डि० ३३। ३४ ॥

प्रजापतिर्वै सुपर्णो गरुत्मानेष सविता ॥ शत० कां० १० अ० २। ब्रा० २। कं० ४ ॥ तत्र पिता दुहितुर्गर्भं दधाति पर्जन्यः पृथिव्याः ॥ निरु० अ० ४। खं० २१ ॥ द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम्। उत्तानयोश्चम्वोर्योनिरन्तरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात् ॥ १ ॥ ऋ० मं० १। सू० १६४। मंत्रः ३३ ॥ शासद्वह्निर्दुहितुर्नप्त्यं गाद्विद्वाँ ऋतस्य दीधितिं सपर्यन्। पिता यत्र दुहितुः सेकमृञ्जन्त्सं शग्म्येन मनसा दधन्वे ॥ २ ॥ ऋ० मं० ३। सू० ३१। मं० १ ॥

भाष्यम्

सविता सूर्यः सूर्यलोकः प्रजापतिसंज्ञकोऽस्ति, तस्य दुहिता कन्यावद् द्यौरुषा चास्ति। यस्माद्यदुत्पद्यते तत्तस्यापत्यवत्, स तस्य पितृवदिति

रूपकालङ्कारोक्तिः । स च पिता तां रोहितां किञ्चिद्रक्तगुणप्राप्तां स्वां दुहितरं किरणैर्ऋष्यवच्छीघ्रमभ्यध्यायत् प्राप्नोति । एवं प्राप्तः प्रकाशाख्यमादित्यं पुत्रमजीजनदुत्पादयति । अस्य पुत्रस्य मातृवदुषा पितृवत्सूर्य्यश्च । कुतः । तस्यामुषसि दुहितरि किरणरूपेण वीर्य्येण सूर्य्याद्दिवसस्य पुत्रस्योत्पन्नत्वात् । यस्मिन् भूप्रदेशे प्रातः पञ्चघटिकायां रात्रौ स्थितायां किञ्चित्सूर्य्यप्रकाशेन रक्तता भवति तस्योषा इति संज्ञा । तयोः पितादुहित्राः समागमादुत्कटदीप्तिः प्रकाशाख्य आदित्यपुत्रो जातः । यथा मातापितृभ्यां सन्तानोत्पत्तिर्भवति, तथैवात्रापि बोध्यम् । एवमेव पर्जन्यपृथिव्योः, पितादुहितृवत् । कुतः । पर्जन्याददभ्यः पृथिव्या उत्पत्तेः । अतः पृथिवी तस्य दुहितृवदस्ति । स पर्जन्यो वृष्टिद्वारा तस्यां वीर्य्यवज्जलप्रक्षेपणेन गर्भं दधाति, तस्माद् गर्भा-दोषध्यादयोऽपत्यानि जायन्ते । अयमपि रूपकालङ्कारः । अत्र वेदप्रमाणम् (द्यौर्मे पिता०) । प्रकाशो मम पिता पालयितास्ति, (जनिता) सर्वव्य-वहाराणामुत्पादकः । अत्र द्वयोः सम्बन्धत्वात् । तत्रेयं पृथिवी माता मानकर्त्री । द्वयोश्चम्वोः पर्जन्यपृथिव्योः सेनावदुत्तानयोरूर्ध्वं तानयोरुत्तानस्थितयोर-लङ्कारः । अत्र पिता पर्जन्यो, दुहितुः पृथिव्या, गर्भं जलसमूहमाधात्, आ समन्ताद्धारयतीति रूपकालङ्कारो मन्तव्यः ॥ १ ॥ (शासद्वह्नि) अयमपि मन्त्रोऽस्यैवालङ्कारस्य विधायकोस्ति । वह्निशब्देन सूर्य्यो, दुहि-ताऽस्य पूर्वोक्तैव । स पिता, स्वस्या उषसो दुहितुः, सेकं किरणाख्यवीर्य्य-स्थापनेन गर्भाधानं कृत्वा, दिवसपुत्रमजनयादिति ॥ २ ॥ अस्यां परमोत्त-मायां रूपकालङ्कारविधायिन्यां, निरुक्तब्राह्मणेषु व्याख्यातायां, कथायां सत्यामपि, ब्रह्मवैवर्त्तादिषु भ्रान्त्या याः कथा अन्यथा निरूपितास्ता नैव कदाचित्केनापि सत्या मन्तव्या इति ।

भाषार्थ

नवीन ग्रन्थकारों ने एक यह कथा भ्रान्ति से मिथ्या करके लिखी है जो कि प्रथम रूपकालङ्कार की थी । (प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरम०) अर्थात् यहां प्रजापति कहते हैं सूर्य्य को, जिस की दो कन्या एक प्रकाश और दूसरी उषा । क्योंकि

जो जिससे उत्पन्न होता है वह उसका ही संतान कहाता है । इसलिये उषा जो कि तीन चार घड़ी रात्रि शेष रहने पर पूर्व दिशा में रक्तता दीख पड़ती है वह सूर्य्य की किरण से उत्पन्न होने के कारण उसकी कन्या कहाती है । उन में से उषा के सन्मुख जो प्रथम सूर्य्य की किरण जाके पड़ती है वही वीर्य्यस्थापन के समान है । उन दोनों के समागम से पुत्र अर्थात् दिवस उत्पन्न होता है । प्रजापति और सविता ये शतपथ में सूर्य्य के नाम हैं । तथा निरुक्त में भी रूपकालङ्कार की कथा लिखी है कि पिता के समान पर्जन्य अर्थात् जलरूप जो मेघ है उस की पृथिवी रूप दुहिता अर्थात् कन्या है । क्योंकि पृथिवी की उत्पत्ति जल से ही है । जब वह उस कन्या में वृष्टिद्वारा जलरूप वीर्य को धारण करता है तब उससे गर्भ रहकर ओषध्यादि अनेक पुत्र उत्पन्न होते हैं । इस कथा का मूल ऋग्वेद है कि (द्यौर्मे पिता०) । द्यौ जो सूर्य्य का प्रकाश है सो सब सुखों का हेतु होने से मेरे पिता के समान और पृथिवी बड़ा स्थान और मान्य का हेतु होने से मेरी माता के तुल्य है । (उत्तान०) जैसे ऊपर नीचे वस्त्र की दो चांदनी तान देते हैं अथवा आमने सामने दो सेना होती हैं इसी प्रकार सूर्य्य और पृथिवी अर्थात् ऊपर की चांदनी के समान सूर्य्य और नीचे के बिछौने के समान पृथिवी है । तथा जैसे दो सेना आमने सामने खड़ी हों इसी प्रकार सब लोगों का परस्पर सम्बन्ध है । इस में योनि अर्थात् गर्भस्थापन का स्थान पृथिवी और गर्भस्थापन करने वाला पति के समान मेघ है । वह अपने विन्दुरूप वीर्य्य के स्थापन से उस को गर्भधारण कराने से ओषध्यादि अनेक सन्तान उत्पन्न करता है कि जिनसे सब जगत् का पालन होता है ॥ १ ॥ (शासद्वह्नि०) सब का वहन अर्थात् प्राप्ति कराने वाले परमेश्वर ने मनुष्यों की ज्ञानवृद्धि के लिये रूपकालङ्कार कथाओं का उपदेश किया है । तथा वही (ऋतस्य) जल का धारण करने वाला, (नप्त्यङ्गा०) जगत् में पुत्र पौत्रादि का पालन और उपदेश करता है । (पिता यत्र दुहितुः०) जिस सुखरूप व्यवहार में स्थित होके पिता दुहिता में वीर्य्य स्थापन करता है जैसा कि पूर्व लिख आये हैं इसी प्रकार यहां भी जान लेना । जिसने इस प्रकार के पदार्थ और उन के सम्बन्ध रचे हैं उस को हम नमस्कार करते हैं ॥ २ ॥ जो यह रूपकालङ्कार की कथा अच्छी

प्रकार वेद ब्राह्मण और निरुक्तादि सत्यग्रन्थों में प्रसिद्ध है, इस को ब्रह्मवैवर्त्त श्रीमद्भागवतादि मिथ्या ग्रन्थों में भ्रान्ति से बिगाड़ के लिख दिया है, तथा ऐसी २ अन्य कथा भी लिखी हैं। उन सब को विद्वान् लोग मन से त्याग के सत्य कथाओं को कभी न भूलें।

तथा च कश्चिद्देहधारीन्द्रो देवराज आसीत्। स गोतमस्त्रियां जारकर्म कृतवान्। तस्मै गोतमेन शापो दत्तस्त्वं सहस्रभगो भवेति। तस्यै अहल्यायै शापो दत्तस्त्वं पाषाणशिला भवेति। तस्या रामपादरजःस्पर्शेन शापस्य मोक्षणं जातमिति। तत्रेदृश्यो मिथ्यैव कथाः सन्ति। कुतः। आसामप्यलङ्कारार्थत्वात्। तद्यथा—

इन्द्रागच्छेति। गौरावस्कन्दिन्नहल्यायै जारेति। तद्यान्येवास्य चरणानि तैरेवैनमेतत्प्रमुमोदयिषति॥ शत० कां० ३। प्र० ३। अ० ३। ब्रा० ४। कं० १८॥ रेतः सोमः॥ श० कां० ३। अ० ३। ब्रा० २। कं० १॥ रात्रिरादित्यस्यादित्योदयेऽन्तर्धीयते॥ निरु० अ० १२। खं० ११॥ सुष्र्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्व इत्यपि निगमो भवति। सोपि गौरुच्यते॥ निरु० अ० २। खं० ६॥ जार आ भगः*। जार इव भगम्। आदित्योत्र जार उच्यते, रात्रेर्जरयिता॥ निरु० अ० ३। खं० १६॥ एष एवेन्द्रो य एष तपति॥ श० कां० १। अ० ६। ब्रा० ४। कं० १८॥

भाष्यम्

इन्द्रः सूर्य्यो, य एष तपति, भूमिस्थान्पदार्थांश्च प्रकाशयति। अस्येन्द्रेति नाम परमैश्वर्य्यप्राप्तेर्हेतुत्वात्। स अहल्याया जारोस्ति। सा सोमस्य स्त्री। तस्य गोतम इति नाम। गच्छतीति गौरतिशयेन गौरिति गोतमश्चन्द्रः। तयोः स्त्रीपुरुषवत् सम्बन्धोस्ति। रात्रिरहल्या। कस्मादहर्दिनं लीयतेऽस्यां तस्माद्रात्रिरहल्योच्यते। स चन्द्रमाः सर्वाणि भूतानि प्रमोदयति, स्वस्त्रिया-

* भगमिति श्रीवेंकटेश्वर मुद्रिते निरुक्ते पाठः॥

ऽहल्यया सुखयति। अत्र स सूर्य्य इन्द्रो, रात्रेरहल्याया, गोतमस्य चन्द्रस्य स्त्रिया, जार उच्यते। कुतः। अयं रात्रेर्जरयिता। जृष् वयोहानाविति धात्वर्थोऽभिप्रेतोऽस्ति। रात्रेरायुषो विनाशक इन्द्रः सूर्य्य एवेति मन्तव्यम्। एवं सद्विद्योपदेशार्थालङ्कारायां भूषणरूपायां सच्छास्त्रेषु प्रणीतायां कथायां सत्यां, या नवीनग्रन्थेषु पूर्वोक्ता मिथ्या कथा लिखितास्ति, सा केनचित्कदापि नैव मन्तव्या, ह्येतादृश्योऽन्याश्चापि।

भाषार्थ

अब जो दूसरी कथा इन्द्र और अहल्या की है कि जिसको मूढ लोगों ने अनेक प्रकार बिगाड़ के लिखा है सो उस को ऐसे मान रक्खा है कि देवों का राजा इन्द्र देवलोक में देहधारी देव था। वह गोतम ऋषि की स्त्री अहल्या के साथ जारकर्म किया करता था। एक दिन जब उन दोनों को गोतम ने देख लिया तब इस प्रकार शाप दिया कि हे इन्द्र ! तू हजार भग वाला होजा। तथा अहल्या को शाप दिया कि तू पाषाणरूप होजा। परन्तु जब उन्होंने गोतम की प्रार्थना की कि हमारे शाप का मोक्षण कैसे वा कब होगा तब इन्द्र से तो कहा कि तुम्हारे हजार भग के स्थान में हजार नेत्र हो जायं और अहल्या को वचन दिया कि जिस समय रामचन्द्र अवतार लेकर तेरे पर अपना चरण लगावेंगे उस समय तू फिर अपने स्वरूप में आजावेगी। इस प्रकार पुराणों में यह कथा बिगाड़ कर लिखी है। सत्य ग्रन्थों में ऐसे नहीं है। तद्यथा (इन्द्रागच्छेति), अर्थात् उन में इस रीति से है कि सूर्य्य का नाम इन्द्र, रात्रि का अहल्या तथा चन्द्रमा का गोतम है। यहां रात्रि और चन्द्रमा का स्त्री पुरुष के समान रूपकालङ्कार है। चन्द्रमा अपनी स्त्री रात्रि से सब प्राणियों को आनन्द कराता है और उस रात्रि का जार आदित्य है। अर्थात् जिस के उदय होने से रात्रि अन्तर्धान हो जाती है और जार अर्थात् यह सूर्य ही रात्रि के वर्त्तमान रूप शृंगार को बिगाड़ने वाला है। इसलिये यह स्त्रीपुरुष का रूपकालङ्कार बांधा है कि जैसे स्त्रीपुरुष मिलकर रहते हैं वैसे ही चन्द्रमा और रात्रि भी साथ २ रहते हैं। चन्द्रमा का नाम गोतम इसलिये है कि वह अत्यन्त वेग से चलता है और

रात्रि को अहल्या इसलिये कहते हैं कि उस में दिन लय हो जाता है। तथा सूर्य्य रात्रि को निवृत्त कर देता है इसलिये वह उसका जार कहाता है। इस उत्तम रूपकालङ्कारविद्या को अल्पबुद्धि पुरुषों ने बिगाड़ के सब मनुष्यों में हानिकारक फल धर दिया है। इसलिये सब सज्जन लोग पुराणोक्त मिथ्या कथाओं को मूल से ही त्याग कर दें।

एवमेवेन्द्रः कश्चिद्देहधारी देवराज आसीत्तस्य त्वष्टुरपत्येन वृत्रासुरेण सह युद्धमभूत्। वृत्रासुरेणेन्द्रो निगलितोऽतो देवानां महद्भयमभूत्। ते विष्णुशरणं गता, विष्णुरुपायं वर्णितवान्—मया प्रविष्टेन समुद्रफेनेनायं हतो भविष्यतीति। ईदृश्यः प्रमत्तगीतवत् प्रलपिताः कथाः पुराणभासादिषु नवीनेषु ग्रन्थेषु मिथ्यैव सन्तीति भद्रैर्विद्वद्भिर्मन्तव्यम्। कुतः। एतासामप्यलङ्कारवत्त्वात्। तद्यथा ॥

इन्द्र॑स्य॒ नु वी॒र्या॑णि॒ प्र वो॑चं॒ यानि॑ च॒कार॑ प्रथ॒मानि॑ व॒ज्री। अह॒न्नहि॒मन्व॒पस्त॑तर्द॒ प्र व॒क्षणा॑ अभिन॒त्पर्व॑तानाम् ॥ १ ॥ अह॒न्नहिं॒ पर्व॑ते शिश्रिया॒णं त्वष्टा॑स्मै॒ वज्रं॑ स्व॒र्यं॑ ततक्ष। वा॒श्रा इ॑व धे॒नवः॒ स्यन्द॑माना॒ अञ्जः॑ समु॒द्रमव॑ जग्मु॒रापः॑ ॥ २ ॥ ऋ० मं० १। सू० ३२। मं० १। २ ॥

भाष्यम्

इन्द्रस्य सूर्य्यस्य परमेश्वरस्य वा तानि वीर्य्याणि पराक्रमानहं प्रवोचं कथयामि, यानि प्रथमानि पूर्वं, (नु) इति वितर्के, वज्री चकार। (वज्री) वज्रः प्रकाशः प्राणो वास्यास्तीति। वीर्य्यं वै वज्रः ॥ श० कां० ७। अ० ४ (१) ॥ स अहिं मेघमहन् हतवान्, तं हत्वा पृथिव्यामनुपश्चादपस्ततर्द विस्तारितवान्। ताभिरद्भिः प्रवक्षणा नदीस्ततर्द जलप्रवाहेण हिंसितवान्। तटादीनां च भेदं कारितवानस्ति। कीदृश्यस्ता नद्यः ? । पर्वतानां मेघानां सकाशादुत्पद्यमानाः यज्जलमन्तरिक्षाद्धिंसित्वा निपात्यते तद् वृत्रस्य शरीरमेव विज्ञेयम् ॥ १ ॥ अग्रे मन्त्राणां संक्षेपतोऽर्थो वर्ण्यते। (त्वष्टा)

सूर्य्यः (अहन्नहिं) तं मेघमहन् हतवान् । कथं हतवानित्यत्राह । (अस्मै) अहये वृत्रासुराय मेघाय (पर्वते शिश्रियाणम्) मेघे श्रितम् (स्वर्य्यम्) प्रकाशमयम् (वज्रम्) स्वकिरणजन्यं विद्युत् प्रक्षिपति । येन वृत्रासुरं मेघं (ततक्ष) कणीकृत्य भूमौ पातयति । पुनर्भूमौ गतमपि जलं कणीकृत्याकाशं गमयति । ता आपः समुद्रं (अवजग्मुः) गच्छन्ति । कथम्भूता आपः ? । (अञ्जः) व्यक्ताः (स्यन्दमानाः) चलन्त्यः । का इव ? । वाश्राः वत्स-मिच्छवो गाव इव । आप एव वृत्रासुरस्य शरीरम् । यदिदं वृत्रशरीराख्य-जलस्य भूमौ निपातनं तदिदं सूर्यस्य स्तोतुमर्हं कर्मास्ति ॥ २ ॥

भाषार्थ

तीसरी इन्द्र और वृत्रासुर की कथा है । इस को भी पुराणवालों ने ऐसा धर के लौटा है कि वह प्रमाण और युक्ति इन दोनों से विरुद्ध जा पड़ी है । देखो कि त्वष्टा के पुत्र वृत्रासुर ने देवों के राजा इन्द्र को निगल लिया । तब सब देवता लोग बड़े भययुक्त होकर विष्णु के समीप में गये और विष्णु ने उस के मारने का उपाय बतलाया कि मैं समुद्र के फेन में प्रविष्ट होऊंगा, तुम लोग उस फेन को उठा के वृत्रासुर के मारना, वह मर जायगा । यह पागलों की सी बनाई हुई पुराणग्रन्थों की कथा सब मिथ्या है । श्रेष्ठ लोगों को उचित है कि इन को कभी न मानें । देखो सत्यग्रन्थों में यह कथा इस प्रकार से लिखी है कि (इन्द्रस्य नु०) । यहां सूर्य्य का इन्द्र नाम है, उस के किये हुए पराक्रमों को हम लोग कहते हैं । जो कि परमैश्वर्य्य होने का हेतु अर्थात् बड़ा तेजधारी है वह अपनी किरणों से वृत्र अर्थात् मेघ को मारता है । जब वह मरके पृथिवी में गिर पड़ता है तब अपने जलरूप शरीर को सब पृथिवी में फैला देता है । फिर उससे अनेक बड़ी २ नदी परिपूर्ण होके समुद्र में जा मिलती हैं । कैसी वे नदी हैं कि पर्वत अर्थात् मेघों से उत्पन्न होके जल ही बहने के लिये होती हैं । जिस समय इन्द्र मेघरूप वृत्रासुर को मार के आकाश से पृथिवी में गिरा देता है तब वह पृथिवी में सो जाता है ॥ १ ॥ फिर वही मेघ आकाश में से नीचे गिरके पर्वत अर्थात् मेघमण्डल का पुनः आश्रय लेता है ।

जिसको सूर्य्य अपनी किरणों से फिर हनन करता है। जैसे कोई लकड़ी को छील के सूक्ष्म कर देता है वैसे ही वह मेघ को भी बिन्दु २ करके पृथिवी में गिरादेता है और उस के शरीररूप जल सिमट २ कर नदियों के द्वारा समुद्र को ऐसे प्राप्त होते हैं कि जैसे अपने बछड़ों को गाय दौड़ के मिलती हैं ॥ २ ॥

अहन्वृत्रं वृत्रतरं व्यंसमिन्द्रो वज्रेण महता वधेन। स्कन्धांसीव कुलिशेना विवृक्णाहिः शयत उपपृक्पृथिव्याः ॥ ३ ॥ अपादहस्तो अपृतन्यदिन्द्रमास्य वज्रमधि सानौ जघान वृष्णो वध्रिः प्रतिमानं बुभूषन्पुरुत्रा वृत्रो अशयद्व्यस्तः ॥ ४ ॥ ऋ० मण्ड० १ । सू० ३२ । मं० ५ । ७ ॥

भाष्यम्

अहिरिति मेघनामसु पठितम् ॥ निघं० अ० १ । खं० १० ॥ इन्द्रशत्रुरिन्द्रोस्य शमयिता वा शातयिता वा तस्मादिन्द्रशत्रुः । तत्को वृत्रो? मेघ इति नैरुक्तास्त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः । वृत्रं जघ्निवानपववार तद्वृत्रो वृणोतेर्वा, वर्त्ततेर्वा, वर्धतेर्वा, यदवृणोत्तद्वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते । यदवर्त्तत तद्वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते । यदवर्धत तद्वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते ॥ निरु० अ० २ । खं० १६, १७ ॥ (इन्द्रः) सूर्य्यः (वज्रेण) विद्युत्किरणाख्येन (महता व०) तीक्ष्णतरेण (वृत्रम्) मेघम् (वृत्रतरम्) अत्यन्तबलवन्तम् (व्यंसम्) छिन्नस्कन्धं छेदितघनजालं यथा स्यात्तथा (अहन्) हतवान् ॥ ३ ॥ स (अहिः) मेघः (कुलिशेन) वज्रेण (विवृक्णा) छिन्नानि स्कन्धांसीव (पृथिव्या उपपृक्) यथा कस्यचिन्मनुष्यादेरसिना छिन्नं सदङ्गं पृथिव्यां पतति तथैव स मेघोऽपि (अशयत), छन्दसि लुङ् लङ् लिट इति सामान्यकाले लङ्, पृथिव्यां शयान इवेन्द्रेण सूर्येणापादहस्तो व्यस्तो भिन्नाङ्गकृतो वृत्रो मेघो भूमावशयत् शयनं करोतीति ॥४॥ निघण्टौ * वृत्र इति मेघस्य नाम । इन्द्रः शत्रुर्यस्य स इन्द्रशत्रुरिन्द्रोस्य

* अ० १ । खं० १० ॥

निवारकः । त्वष्टा सूर्य्यस्तस्यापत्यमसुरो मेघः । कुतः । सूर्य्यकिरणद्वारैव रसजलसमुदायभेदेन यत्कणीभूतं जलमुपरि गच्छति, तत्पुनर्मिलित्वा मेघरूपं भवति । तस्यैवासुर इति संज्ञात्वात् । पुनश्च तं सूर्य्यो हत्वा भूमौ निपातयति । स च भूमिं प्रविशति । नदीर्गच्छति । तद्द्वारा समुद्रमयनं कृत्वा तिष्ठति पुनश्चोपरि गच्छति । तं वृत्रमिन्द्रः सूर्य्यो जघ्निवानपववार निवारितवान् । वृत्रार्थो वृणोतेः स्वीकरणीयः । मेघस्य यद्वृत्रत्वमावरकत्वं तद्वर्त्तमानत्वाद्वर्धमानत्वाच्च सिद्धमिति विज्ञेयम् ।

भाषार्थ

जब सूर्य्य उस अत्यन्त गार्जित मेघ को छिन्न भिन्न करके पृथिवी में ऐसे गिरा देता है कि जैसे कोई किसी मनुष्य आदि के शरीर को काट २ कर गिराता है तब वह वृत्रासुर भी पृथिवी पर गिरा हुआ मृतक के समान शयन करने वाला होजाता है ॥ ३ ॥ निघण्टु में मेघ का नाम वृत्र है । (इन्द्रशत्रु०) वृत्र का शत्रु अर्थात् निवारक सूर्य्य है, सूर्य्य का नाम त्वष्टा है, उस का सन्तान मेघ है, क्योंकि सूर्य्य की किरणों के द्वारा जल कण २ होकर ऊपर को जाकर वहां मिल के मेघरूप हो जाता है । तथा मेघ का वृत्र नाम इसलिये है कि (वृत्रो वृणोतेः०) वह स्वीकार करने योग्य और प्रकाश का आवरण करने वाला है ।

अतिष्ठन्तीनामनिवेशनानां काष्ठानां मध्ये निहितं शरीरम् ।
वृत्रस्य निण्यं विचरन्त्यापो दीर्घं तम आशयदिन्द्रशत्रुः ॥ ५ ॥
नास्मै विद्युन्न तन्यतुः सिषेध न यां मिहमकिरद्ध्रादुनिं च ।
इन्द्रश्च यद्युयुधाते अहिश्चोतापरीभ्यो मघवा विजिग्ये ॥ ६ ॥
ऋ० मं० १ । सू० ३२ । मं० १० । १३ ॥

भाष्यम्

इत्यादय एतद्विषया वेदेषु बहवो मन्त्राः सन्ति । वृत्रो ह वाऽइदꣳ सर्वं वृत्वा शिश्ये । यदिदमन्तरेण द्यावापृथिवी । स यदिदꣳ सर्वं वृत्वा

शिश्ये तस्माद्वृत्रो नाम ॥ ४ ॥ तमिन्द्रो जघान । स हतः पूतिः सर्वत एवाऽपोऽभिप्रसुस्राव । सर्वत इव ह्ययꣳ समुद्र,स्तस्मादु हैका आपो बीभत्सां चक्रिरे । ता उपर्य्युपर्य्यतिपुप्लुविरे,ऽत इमे दर्भा,स्ता हैता अनापूयिता आपो,स्ति वाऽइतरासु सꣳसृष्टमिव, यदेना वृत्रः पूतिरभिप्रास्रवत्तदेवासामेताभ्यां पवित्राभ्यामपहन्त्य,थ मेध्याभिरेवाद्भिः प्रोक्षति, तस्माद्वा एताभ्यामुत्पुनाति ॥ ५ ॥ श० कां० १ । अ० १ । ब्रा० ३ । कण्डि० ४ । ५ ॥

तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः । अग्निः पृथिवीस्थानो, वायुर्वेन्द्रोवान्तरिक्षस्थानः, सूर्य्यो द्युस्थान इति ॥ निरु० अ० ७ । खं० ५ ॥ (अतिष्ठन्तीनाम्०) वृत्रस्य शरीरमापो दीर्घं तमश्चरन्ति । अत एवेन्द्रशत्रुर्वृत्रो मेघो भूमावशयत् । आ समन्ताच्छेते ॥ ५ ॥ (नास्मै विद्युत्०) वृत्रेण मायारूपप्रयुक्ता विद्युत्तन्यतुश्चास्मै सूर्य्यायेन्द्राय न सिषेध निषेद्धुं न शक्नोति । अहिर्मेघः, इन्द्रः सूर्य्यश्च द्वौ परस्परं युयुधाते । यदा वृत्रो वर्धते तदा सूर्य्यप्रकाशं निवारयति । यदा सूर्य्यस्य तापरूपसेना वर्धते तदा वृत्रं मेघं निवारयति । परन्तु मघवा इन्द्रः सूर्य्यस्तं वृत्रं मेघं विजिग्ये जितवान् भवति । अन्ततोऽस्यैव विजयो भवति न मेघस्येति ॥ ६ ॥ (वृत्रो ह वा इति०) स वृत्र इदं सर्वं विश्वं वृत्वाऽऽवृत्य शिश्ये शयनं करोति । तस्माद्वृत्रो नाम । तं वृत्रं मेघमिन्द्रः सूर्यो जघान हतवान् । स हतः सन् पृथिवीं प्राप्य सर्वतः काष्ठतृणादिभिः संयुक्तः पूतिर्दुर्गन्धो भवति । स पुनराकाशस्थो भूत्वा सर्वतोऽपोऽभिसुस्राव, तासां वर्षणं करोति । अयं हतो वृत्रः समुद्रं प्राप्य तत्रापि भयङ्करो भवति । अत एव तत्रस्था आपो भयप्रदा भवन्ति । इत्थं पुनः पुनस्तास्ता नदीसमुद्रपृथिवीगता आपः सूर्य्यद्वारेणोपर्य्युपर्य्यन्तरिक्षं पुप्लुविरे गच्छन्ति, ततोऽभिवर्षन्ति च । ताभ्य एवेमे दर्भाद्योषधिसमूहा जायन्ते । यौ वाय्विन्द्रौ सूर्य्यपवनावान्तरिक्षस्थानौ सूर्य्यश्च द्युस्थाने अर्थात् प्रकाशस्थः । एवं सत्यशास्त्रेषु परमोत्तमायामलङ्कारयुक्तायां कथायां सत्यां ब्रह्मवैवर्त्तादिनवीनग्रन्थेषु पुराणाभासेष्वेता अन्यथा कथा उक्तास्ताः शिष्टैः कदाचिन्नैवाङ्गीकर्त्तव्या इति ।

भाषार्थ

(अतिष्ठन्तीनाम्) वृत्र के इस जलरूप शरीर से बड़ी २ नदियां उत्पन्न

हो के अगाध समुद्र में जाकर मिलती हैं और जितना जल तलाव वा कूप आदि में रहजाता है वह मानो पृथिवी में शयन कर रहा है ॥ ५ ॥ (नास्मै०) अर्थात् वह वृत्र अपने बिजुली और गर्जनरूप भय से भी इन्द्र को कभी नहीं जीत सकता । इस प्रकार अलङ्काररूप वर्णन से इन्द्र और वृत्र ये दोनों परस्पर युद्ध के समान करते हैं अर्थात् जब मेघ बढ़ता है तब तो वह सूर्य्य के प्रकाश को हटाता है और जब सूर्य्य का ताप अर्थात् तेज बढ़ता है तब वह वृत्र नाम मेघ को हटा देता है । परन्तु इस युद्ध के अन्त में इन्द्र नाम सूर्य्य ही का विजय होता है ॥ ६ ॥ (वृत्रो ह वा०) जब २ मेघ वृद्धि को प्राप्त होकर पृथिवी और आकाश में विस्तृत हो के फैलता है तब २ उस को सूर्य्य हनन करके पृथिवी में गिरा दिया करता है । पश्चात् वह अशुद्ध भूमि, सड़े हुए वनस्पति, काष्ठ, तृण तथा मलमूत्रादि युक्त होने से कहीं २ दुर्गन्धरूप भी हो जाता है । फिर उसी मेघ का जल समुद्र में जाता है । तब समुद्र का जल देखने में भयंकर मालूम पड़ने लगता है । इसी प्रकार वारंवार मेघ वर्षता रहता है । (उपर्य्युपर्य्यन्त०) अर्थात् सब स्थानों से जल उड़ २ कर आकाश में बढ़ता है । वहां इकट्ठा होकर फिर २ वर्षा किया करता है । उसी जल और पृथिवी के संयोग से ओषध्यादि अनेक पदार्थ उत्पन्न होते हैं । उसी मेघ को वृत्रासुर के नाम से बोलते हैं । वायु और सूर्य्य का नाम इन्द्र है । वायु अन्तरिक्ष में और सूर्य्य प्रकाशस्थान में स्थित है । इन्हीं वृत्रासुर और इन्द्र का आकाश में युद्ध हुआ करता है कि जिस के अन्त में मेघ का पराजय और सूर्य्य का विजय निःसंदेह होता है । इस सत्य ग्रन्थों की अलङ्काररूप कथा को छोड़ के छोकरों के समान अल्पबुद्धि वाले लोगों ने ब्रह्मवैवर्त्त और श्रीमद्भागवतादि ग्रन्थों में मिथ्या कथा लिख रक्खी हैं, उनको श्रेष्ठ पुरुष कभी न मानें ।

एवमेव नवीनेषु ग्रन्थेषूक्ता अनेकविधा देवासुरसंग्रामकथा अन्यथैव सन्ति, ता अपि बुद्धिमद्भिर्मनुष्यैरितरैश्च नैव मन्तव्याः । कुतः । तासामप्यलङ्कारयोगात् । तद्यथा । देवासुराः संयत्ता आसन् ॥ १ ॥ श० कां० १३ । अ० ३ । ब्रा० ४ । कं० १ ॥ असुरानभिमवेम देवाः । असुरा

असुरता स्थानेष्व, स्ताः स्थानेभ्य इति वा। अपि वासुरिति प्राणनामास्तः शरीरे भवति, तेन तद्वन्तः। सोर्देवानसृजत तत्सुराणां सुरत्वम, सोरसुरानसृजत तदसुराणामसुरत्वमिति विज्ञायते ॥ निरु० अ० ३। खं० ८॥ देवानामसुरत्वमेकत्वं प्रज्ञावत्त्वं वानवत्त्वं वापिवासुरिति प्रज्ञानामास्यत्यनर्थानस्ताश्चास्यामर्था असुरत्वमादिलुप्तम् ॥ निरु० अ० १० । खं० ३४ ॥ सोर्चञ्छ्राम्यंश्चचार प्रजाकामः। स आत्मन्येव प्रजातिमधत्त, स आस्येनैव देवानसृजत, ते देवा दिवमभिपद्यासृज्यन्त, तद्देवानां देवत्वं यद्दिवमभिपद्यासृज्यन्त, तस्मै ससृजानाय दिवेवास, तद्वेव देवानां देवत्वं यदस्मै ससृजानाय दिवेवास ॥ अथ योयमवाङ्प्राणः तेनासुरानसृजत, इमामेव पृथिवीमभिसंपद्यासृज्यन्त, * तस्मै ससृजानाय तम इवास। सोऽवेत्। पाप्मानं वाऽअसृक्षि, यस्मै मे ससृजानाय तम इवाभूदिति, तांस्तत एव पाप्मना विध्यत्ते तत एव पराभवं,स्तस्मादाहुर्नैतदस्ति यद्दैवासुरं, यदिदमन्वाख्याने त्वदुद्यत इतिहासे त्वत्,ततो ह्येव तान् प्रजापतिः पाप्मना विध्यत्ते तत एव पराभवन्निति ॥ तस्मादेतदृषिणाभ्यनूक्तम्। न त्वं युयुत्से कतमच्च नाहर्न तेऽमित्रो मघवन् कश्चनास्ति। मायेत्सा ते यानि युद्धान्याहुर्नाद्य शत्रुं न नु पुरा युयुत्स इति ॥ स यदस्मै देवान्त्ससृजानाय दिवेवास तदहरकुरुताथ यदस्मा असुरान्त्ससृजानाय तम इवास ताꣳ रात्रिमकुरुत ते अहोरात्रे। स ऐक्षत प्रजापतिः ॥ श० कां० ११। अ० १। ब्रा० ६। कं० ७। ८। ६। १०। ११। १२॥ देवाश्च वा असुराश्च। उभये प्राजापत्याः प्रजापतेः पितुर्दायमुपेयुः ॥ श० कां० १। अ० ७। ब्रा० २। कं० २२ ॥ द्वया ह प्राजापत्याः। देवाश्चासुराश्च, ततः कानीयसा एव देवा ज्यायसा असुराः। यदेवेदमप्रतिरूपं वदति स एव स पाप्मा ॥ श० कां० १४। अ० ४। ब्रा० १। कं० १। ३॥ ऊर्गिति देवा मायेत्यसुराः ॥ श० कां० १०। अ० ५। ब्रा० २। कं० २०॥ प्राणा देवाः ॥ श० कां० ६। अ० ३। ब्रा० १। कं० १५ ॥ प्राणो वा असुस्तस्यैषा माया ॥ श० कां० ६।

* वैदिकयन्त्रालयमुद्रितशतपथे समित्युपसर्गो नास्ति।

अ० ६ । ब्रा० २ । कं० ६ ॥ (देवासुराः०) देवा असुराश्च संयत्ता सज्जा युद्धं कर्त्तुं तत्परा आसन् भवन्तीति शेषः । के ते देवासुरा इत्यत्रोच्यते । विद्वाꣳसो हि देवाः ॥ श० कां० ३ । अ० ७ । ब्रा० ३ । कं० १० ॥ हीति निश्चयेन विद्वांसो देवास्तद्विपरीता अविद्वांसोऽसुराः । ये देवास्ते विद्यावत्त्वात्प्रकाशवन्तो भवन्ति । ये ह्यविद्वांसस्ते खल्वविद्यावत्त्वाज् ज्ञानरहितान्धकारिणो भवन्ति । एषामुभयेषां परस्परं युद्धमिव वर्त्ततेऽयमेव दैवासुरसंग्रामः ॥ द्वयं वा इदं, न तृतीयमस्ति । सत्यं चैवानृतं च । सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्याः । इदमहमनृतात्सत्यमुपैमीति तन्मनुष्येभ्यो देवानुपैति ॥ स वै सत्यमेव वदेत् । एतद्ध वै देवा व्रतं चरन्ति यत्सत्यं, तस्मात्ते यशो, यशो ह भवति। य एवं विद्वान्त्सत्यं वदति, मनो ह वै देवा मनुष्यस्य ॥ श० कां० १ । अ० १ । ब्रा० १ । कं० ४ । ५ । ७ ॥ ये सत्यवादिनः सत्यमानिनः सत्यकारिणश्च ते देवाः । ये चानृतवादिनोऽनृतकारिणोऽनृतमानिनश्च ते मनुष्या असुरा एव । तयोरपि परस्परं विरोधो युद्धमिव भवत्येव । मनुष्यस्य यन्मनस्तद्देवाः, प्राणा असुरा, एतयोरपि विरोधो भवति । मनसा विज्ञानबलेन प्राणानां निग्रहो भवति, प्राणबलेन मनसश्चेति युद्धमिव प्रवर्त्तते। प्रकाशाख्यात्सोर्देवान्मनःषष्ठानीन्द्रियाणीश्वरोऽसृजत । अतस्ते प्रकाशकारकाः । असोरन्धकाराख्यात्पृथिव्यादेरसुरान्पञ्चकर्मेन्द्रियाणि प्राणांश्चासृजत । एतयोरपि प्रकाशाप्रकाशसाधकतमत्वानुरोधेन संग्रामवदनयोर्वर्त्तमानमस्तीति विज्ञेयम् । (सोर्चञ्छ्राम्यंश्चचार०) प्रजाकामः परमेश्वर, आस्येनाग्निपरमाणुमयात्कारणात्, सूर्य्यादीन्प्रकाशवतो लोकान् मुख्यगुणकर्मभ्यो यानसृजत, ते देवा द्योतमाना दिवं प्रकाशं परमेश्वरप्रेरितमभिपद्य, प्रकाशादिव्यवहारानसृज्यन्त । तदेव देवानां देवत्वं यतस्ते दिवि प्रकाशे रमन्ते । अथेत्यनन्तरमर्वाचीनो योयं प्राणो वायुः पृथिव्यादिलोकश्चेश्वरेण सृष्टस्तेनैवासुरान्प्रकाशरहितानसृजत सृष्टवानस्ति । ते पृथिवीमभिपद्यौषध्यादीन्पदार्थानसृज्यन्त । ते सर्वे सकार्य्याः प्रकाशरहितास्तयोस्तमःप्रकाशवतोरन्योन्यं विरोधो युद्धमिव प्रवर्त्तते, तस्मादिदमपि देवासुरं युद्धमिति विज्ञेयम् । तथैव पुण्यात्मा मनुष्यो देवोस्ति, पापात्मा ह्यसुरश्च । एतयोरपि परस्परं विरुद्ध-

स्वभावाद्युद्धमिव प्रतिदिनं भवति, तस्मादेषोऽपि देवासुरसंग्रामोस्तीति विज्ञेयम् । एवमेव दिनं देवो, रात्रिरसुरः । एतयोरपि परस्परं युद्धमिव प्रवर्त्तते । त इमे उभये पूर्वोक्ताः प्रजापतेः परमेश्वरस्य पुत्रा इव वर्त्तन्ते, अत एव ते परमेश्वरस्य पदार्थानुपेताः सन्ति । तेषां मध्येऽसुराः प्राणादयो ज्येष्ठाः सन्ति । वायोः पूर्वोत्पन्नत्वात्प्राणानां तन्मयत्वाच्च । तथैव जन्मतो मनुष्याः सर्वेऽविद्वांसो भवन्ति । पुनर्विद्वांसश्च । तथैव वायोः सकाशादग्नेरुत्पत्तिः प्रकृतेरिन्द्रियाणां च तस्मादसुरा ज्येष्ठा देवाश्च कनिष्ठाः । एकत्र देवाः सूर्य्यादयो ज्येष्ठाः पृथिव्यादयोऽसुराः कनिष्ठाश्च । ते सर्वे प्रजापतेः सकाशादुत्पन्नत्वात्तस्यापत्यानीव सन्तीति विज्ञेयम् । एषामपि परस्परं युद्धमिव प्रवर्त्तत इति ज्ञातव्यम् । ये प्राणपोषकाः स्वार्थसाधनतत्परा मायाविनः कपटिनो मनुष्यास्ते ह्यसुराः । ये च परोपकारकाः परदुःखभञ्जना निष्कपटिनो धार्मिका मनुष्यास्ते देवाश्च विज्ञेयाः । एतयोरपि परस्परं विरोधात्संग्राम इव भवति । इत्यादिप्रकारकं दैवासुरं युद्धमिति बोध्यम् । एवं परमोत्तमायां विद्याविज्ञापनार्थायां रूपकालङ्कारेणान्वितायां सत्यशास्त्रेषूक्तायां कथायां सत्यां, व्यर्थपुराणसंज्ञकेषु नवीनेषु तन्त्रादिषु ग्रन्थेषु च, या मिथ्यैव कथा वर्णिताः सन्ति, विद्वद्भिर्नैवैताः कथाः कदाचिदपि सत्या मन्तव्या इति ।

भाषार्थ

जो चौथी देवासुर संग्राम की कथा रूपकालङ्कार की है इस को भी विना जाने प्रमादी लोगों ने बिगाड़ दिया है । जैसे एक दैत्यों की सेना थी कि जिन का शुक्राचार्य्य पुरोहित था और वे दक्षिण देश में रहे थे, तथा दूसरी देवों की सेना थी कि जिन का राजा इन्द्र, सेनापति अग्नि और पुरोहित बृहस्पति था । उन देवों के विजय कराने के लिये आर्य्यावर्त्त के राजा भी जाया करते थे । असुर लोग तप करके ब्रह्मा विष्णु और महादेवादि से वर मांग लेते थे और उनके मारने के लिये विष्णु अवतार धारण करके पृथिवी का भार उतारा करते थे । यह सब पुराणों की गप्पें व्यर्थ जानकर छोड़ देना और सत्य ग्रन्थों की

कथा जो नीचे लिखते हैं उन का ग्रहण करना सब को उचित है। तद्यथा (देवासुराः सं), देव और असुर अपने २ बाने में सजकर सब दिन युद्ध किया करते हैं, तथा इन्द्र और वृत्रासुर की जो कथा ऊपर लिख आये सो भी देवासुरसंग्रामरूप जानो। क्योंकि सूर्य्य की किरण देवसंज्ञक और मेघ के अवयव अर्थात् बादल असुरसंज्ञक हैं। उन का परस्पर युद्ध वर्णन पूर्व कर दिया है। निघण्टु आदि सत्य शास्त्रों में सूर्य्य देव और मेघ असुर करके प्रसिद्ध है। इन सब वचनों का अभिप्राय यह है कि मनुष्य लोग देवासुर संग्राम का स्वरूप यथावत् जान लेवें। जैसे जो लोग विद्वान, सत्यवादी, सत्यमानी और सत्यकर्म करने वाले हैं वे तो देव और जो अविद्वान्, झूंठ बोलने, झूंठ मानने और मिथ्याचार करने वाले हैं वे असुर कहाते हैं। उन का परस्पर नित्य विरोध होना यही उनके युद्ध के समान है। इसी प्रकार मनुष्य का मन और ज्ञान इन्द्रिय भी देव कहाते हैं, उन में राजा मन और सेना इन्द्रिय हैं। तथा सब प्राणों का नाम असुर है, उन में राजा प्राण और अपानादि सेना है। इन का भी परस्पर विरोधरूप युद्ध हुआ करता है। मन के विज्ञान बढ़ने से प्राणों का जय और प्राणों के बढ़ने से मन का विजय हो जाता है। (सोर्दे०) सु अर्थात् प्रकाश के परमाणुओं से मन और पांच ज्ञानेन्द्रिय, उनके परस्पर संयोग तथा सूर्य्य आदि को ईश्वर रचता है। और (असो०) अन्धकाररूप परमाणुओं से पांच कर्मेन्द्रिय, दश प्राण और पृथिवी आदि को रचता है जो कि प्रकाशरहित होने से असुर कहाते हैं। प्रकाश और अप्रकाश के विरुद्ध गुण होने से इन की भी संग्राम संज्ञा मानी है। तथा पुण्यात्मा मनुष्य देव और पापात्मा दुष्ट लोग असुर कहाते हैं। उन का भी परस्पर विरोधरूप युद्ध नित्य होता रहता है। तथा दिन का नाम देव और रात्रि का नाम असुर है। इन का भी परस्पर विरोधरूप युद्ध हो रहा है। तथा शुक्लपक्ष का नाम देव और कृष्णपक्ष का नाम असुर है। तथा उत्तरायण की देवसंज्ञा और दक्षिणायन की असुर संज्ञा है। इन सभों का भी परस्पर विरोधरूप युद्ध हो रहा है। इसी प्रकार अन्यत्र भी जहां २ ऐसे लक्षण घट सकें वहां २ देवासुर संग्राम का रूपकालङ्कार जान लेना। ये सब देव और असुर प्राजापत्य अर्थात् ईश्वर के पुत्र के

समान कहे जाते हैं और संसार के सब पदार्थ इन्हीं के अधिकार में रहते हैं। इन में से जो २ असुर अर्थात् प्राण आदि हैं वे ज्येष्ठ कहाते हैं क्योंकि वे प्रथम उत्पन्न हुए हैं, तथा बाल्यावस्था में सब मनुष्य भी अविद्वान् होते हैं, तथा सूर्य्य, ज्ञानेन्द्रिय और विद्वान् आदि पश्चात् प्रकाश होने से कनिष्ठ बोले जाते हैं। उन में से जो २ मनुष्य स्वार्थी और अपने प्राण को पुष्ट करने वाले तथा कपट छल आदि दोषों से युक्त हैं वे असुर और जो लोग परोपकारी परदुःखभञ्जन तथा धर्मात्मा हैं वे देव कहाते हैं। इस सत्यविद्या के प्रकाश करने वाली कथा को प्रीतिपूर्वक ग्रहण करके सर्वत्र प्रचार करना और मिथ्या कथाओं का मन कर्म और वचन से त्याग करदेना सब को उचित है।

एवमेव कश्यपगयादितीर्थकथा अपि ब्रह्मवैवर्त्तादिषु ग्रन्थेषु वेदादिसत्यशास्त्रेभ्यो विरुद्धा उक्ताः सन्ति। तद्यथा। मरीचिपुत्रः कश्यप ऋषिरासीत्तस्मै त्रयोदश कन्या दक्षप्रजापतिना विवाहविधानेन दत्ताः। तत्सङ्गमे दितेर्दैत्या, अदितेरादित्याः, दनोर्दानवाः, एवमेव कद्र्वाः सर्पाः, विनतायाः पक्षिणः। तथाऽन्यासां सकाशाद्वानरर्क्षवृक्षघासादय उत्पन्ना इत्याद्या अन्धकारमय्यः प्रमाणयुक्तिविद्याविरुद्धा असम्भवग्रस्ताः कथा उक्तास्ता अपि मिथ्या एव सन्तीति विज्ञेयम्। तद्यथा।

स यत्कूर्मो नाम। प्रजापतिः प्रजा असृजत, यदसृजताकरोत्तद्यदकरोत्तस्मात्कूर्म्मः, कश्यपो वै कूर्म्मस्तस्मादाहुः सर्वाः प्रजाः काश्यप्य इति॥ श० कां० ७। अ० ५। ब्रा० १। कं० ५॥

भाष्यम्

(स यत्कूर्म्मः) परमेश्वरेणेदं सकलं जगत् क्रियते तस्मात्तस्य कूर्म्म इति संज्ञा। कश्यपो वै कूर्म्म इत्यनेन परमेश्वरस्यैव कश्यप इति नामास्ति। तेनैवेमाः सर्वाः प्रजा उत्पादितास्तस्मात्सर्वा इमाः प्रजाः काश्यप्य इत्युच्यन्ते। कश्यपः कस्मात्पश्यको भवतीति निरुक्त्या, पश्यतीति पश्यः, सर्वज्ञतया सकलं जगद्विजानाति स पश्यः, पश्य एव निर्भ्रमतयाऽतिसूक्ष्ममपि

वस्तु यथार्थं जानात्येवातः पश्यक इति । आद्यन्ताक्षरविपर्ययमादाद्दिंसे सिंहः, कुतेस्तर्कुरित्यादिवत्कश्यप इति हयवरट् इत्येतस्योपरि महाभाष्यप्रमाणेन पदं सिध्यति । अतः सुष्ठु विज्ञायते काश्यप्यः प्रजा इति ।

भाषार्थ

जो पांचवीं कश्यप और गया पुष्करतीर्थादि कथा लोगों ने बिगाड़ के प्रसिद्ध की हैं, जैसे देखो कि मरीचि के पुत्र एक कश्यप ऋषि हुए थे, उन को दक्षप्रजापति ने विवाह विधान से तेरह कन्या दीं, कि जिनसे सब संसार की उत्पत्ति हुई । अर्थात् दिति से दैत्य, अदिति से आदित्य, दनु से दानव, कद्रू से सर्प और विनता से पक्षी तथा औरों से वानर, ऋक्ष, घास आदि पदार्थ भी उत्पन्न हुए । इसी प्रकार चन्द्रमा को सत्ताईस कन्या दीं । इत्यादि प्रमाण और युक्ति से विरुद्ध अनेक असंभव कथा लिख रक्खी हैं । उनको मानना किसी मनुष्य को उचित नहीं । देखिये ये ही कथा सत्य शास्त्रों में किस प्रकार की उत्तम लिखी हैं । (स यत्कूर्मो०) प्रजा को उत्पन्न करने से कूर्म्म तथा उसको अपने ज्ञान से देखने के कारण उस परमेश्वर को कश्यप भी कहते हैं । (कश्यप) यह शब्द (पश्यकः) इस शब्द के आद्यन्ताक्षरविपर्य्यय से बनता है । इस प्रकार की उत्तम कथा को समझ के उन मिथ्या कथाओं को सब लोग छोड़ देवें कि जिससे सब का कल्याण हो । अब देखो गयादि तीर्थों की कथाओं को ।

प्राणो वै बलं, तत्प्राणे प्रतिष्ठितं, तस्मादाहुर्बलᳯसत्यादोजीय, इत्येवम्वेषा गायत्र्यध्यात्मं प्रतिष्ठिता ॥ सा हैषा गयांस्तत्रे । प्राणा वै गयास्तत्प्राणांस्तत्रे, तद्यद्गयांस्तत्रे तस्माद् गायत्रीनाम ॥ श० कां० १४ । अ० ८ । ब्रा० ५ । क० ६ । ७ ॥ तीर्थमेव प्रायणीयोऽतिरात्रस्तीर्थेन हि प्रस्नान्ति ॥ तीर्थमेवोदयनीयोऽतिरात्रस्तीर्थेन ह्युत्स्नान्ति ॥ श० कां० १२ । अ० २ । ब्रा० १ । कं० १ । ५ ॥ गय इत्यपत्यनामसु पठितम् ॥ निघं० अ० २ । खं० २ ॥ अहिᳯसन्सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्य इति छान्दोग्योपनि० * । समान-

* प्र० ८ । खं० १५ ।

तीर्थे वासी । इत्यष्टाध्यायाम् । अ० ४ । पा० ४ । सू० १०७ । सतीर्थ्यो ब्रह्मचारीत्युदाहरणम् । त्रयः स्नातका भवन्ति । विद्यास्नातको व्रतस्नातको विद्याव्रतस्नातकश्चेति ॥ यो विद्यां समाप्य व्रतमसमाप्य समावर्त्तते स व्रतस्नातक इत्यादि पारस्करगृह्यसूत्रे ॥ नमस्तीर्थ्याय च ॥ ये तीर्थानि प्रचरन्ति सकाहस्ता निषङ्गिणः । इति शुक्लयजुर्वेदसंहितायाम् ॥ अ० १६ । मं० ४२, ६१ ॥ एवमेव गयायां श्राद्धं कर्त्तव्यमित्यत्रोच्यते । तद्यथा । प्राण एव बलमिति विज्ञायते, बलमोजोयः । तत्रैव सत्यं प्राणेऽध्यात्मं प्रतिष्ठितं, तत्र च परमेश्वरः प्रतिष्ठितस्तद्वाचकत्वात् । गायत्र्यपि ब्रह्मविद्यायामध्यात्मं प्रतिष्ठिता, तां गायत्रीं गयामाह । प्राणानां गयेति संज्ञा, प्राणा वै गया इत्युक्तत्वात् । तत्र गयायां श्राद्धं कर्त्तव्यम् । अर्थात् गयाख्येषु प्राणेषु श्रद्धया समाधिविधानेन परमेश्वरप्राप्तावत्यन्तश्रद्धधाना जीवा अनुतिष्ठेयुरित्येकं गयाश्राद्धविधनाम् । गयान् प्राणान् त्रायते सा गायत्री इत्यभिधीयते । एवमेव गृहस्यापत्यस्य प्रजायाश्च गयेति नामास्ति । अत्रापि सर्वमनुष्यैः श्रद्धातव्यम् । गृहकृत्येषु श्रद्धावश्यं विधेया । मातुः पितुराचार्य्यस्यातिथेश्चान्येषां मान्यानां च श्रद्धया सेवाकरणं गयाश्राद्धमित्युच्यते । तथैव स्वस्यापत्येषु प्रजायां चोत्तमशिक्षाकरणे ह्युपकारे च श्रद्धावश्यं सर्वैः कार्य्येति अत्र श्रद्धाकरणेन विद्याप्राप्त्या मोक्षाख्यं विष्णुपदं लभ्यत इति निश्चीयते । अत्रैव भ्रान्त्या विष्णुगयेति च पदद्वयोरर्थविज्ञानाभावान्मगधदेशैकदेशे पाषाणस्योपरि शिल्पिद्वारा मनुष्यपादचिह्नं कारयित्वा तस्यैव कैश्चित्स्वार्थसाधनतत्परैरुदरम्भरैर्विष्णुपदमिति नाम रक्षितम्, तस्य स्थलस्य गयेति च, तद् व्यर्थमेव । कुतः । विष्णुपदं मोक्षस्य नामास्ति प्राणगृहप्रजानां चातोऽत्रेयं तेषां भ्रान्तिर्जातेति बोध्यम् । अत्र प्रमाणम् ।

इदं विष्णुर्वि च॑क्रमे त्रे॒धा नि द॑धे प॒दम् । समू॑ढमस्य पाꣳसु॒रे स्वाहा॑ ॥ १ ॥ यजु० अ० ५ । मं० १५ ॥ यदिदं किञ्च तद्विक्र-

(१) निघं० ३, ४ । (२) निघं० २, २ । (३) निघण्टौ गया इति स्त्रीलिंगः पाठो नास्ति ।

मते विष्णुस्त्रिधा निधत्ते पदम् । त्रेधा भावाय पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवीति शाकपूणिः, समारोहणे विष्णुपदे गयशिरसीत्यौर्णवाभः । समूढमस्य पांसुरे प्यायनेऽन्तरिक्षे पदं न दृश्यतेऽपि वोपमार्थे स्यात् समूढमस्य पांसुल इव पदं न दृश्यत इति । पांसवः पादैः सूयन्त इति वा, पन्नाः शेरत इति वा, पंसनीया भवन्तीति वा ॥ निरु० अ० १२ । खं० १९ ॥

अस्यार्थं यथावदविदित्वा भ्रमेणेयं कथा प्रचारिता । तद्यथा । विष्णुर्व्यापकः परमेश्वरः सर्वजगत्कर्त्ता तस्य पूषेति नाम । अत्राह निरुक्तकारः ।

पूषेत्यथ यद्विषितो भवति तद्विष्णुर्भवति, विष्णुर्विशतेर्वा व्यश्नोतेर्वा । तस्यैषा भवति । इदं विष्णुरित्यृक् ॥ निरु० अ० १२ । खं० १८ । १९ ॥

भाष्यम्

वेवेष्टि विशितः प्रविष्टोस्ति, चराचरं जगत् व्यश्नुते व्याप्नोति वा स विष्णुर्निराकारत्वात्सर्वगत ईश्वरोस्ति । एतदर्थवाचिकेयमृक् । इदं सकलं जगत्त्रेधा त्रिप्रकारकं विचक्रमे विक्रान्तवान् । क्रमु पादविक्षेपे । पादैः प्रकृतिपरमाण्वादिभिः स्वसामर्थ्यांशैर्जगदिदं पदं प्राप्तव्यं सर्वं वस्तुजातं त्रिषु स्थानेषु (निधत्ते) निदधे स्थापितवान् । अर्थात् यावद् गुरुत्वादियुक्तं प्रकाशरहितं तत्सर्वं जगत् पृथिव्याम् । यल्लघुत्वादियुक्तं वायुपरमाण्वादिकं तत्सर्वमन्तरिक्षे । यच्च प्रकाशमयं सूर्यज्ञानेन्द्रियजीवादिकं च तत्सर्वं दिवि द्योतनात्मके प्रकाशमयेऽग्नौ वेति विज्ञेयम् । एवं त्रिविधं जगदीश्वरेण रचितमेषां मध्ये यत्समूढं मोहेन सह वर्त्तमानं ज्ञानवर्जितं जडं तत्पांसुरेऽन्तरिक्षे परमाणुमयं रचितवान् । सर्वे लोका अन्तरिक्षस्थाः सन्तीति बोध्यम् । तदिदमस्य परमेश्वरस्य धन्यवादार्हं स्तोतव्यं कर्मास्तीति बोध्यम् । अयमेवार्थः (यदिदं किञ्च०) इत्यनेन यास्काचार्य्येण वर्णितः । यदिदं किञ्चिज्जगद्वर्त्तते तत्सर्वं विष्णुर्व्यापक ईश्वरो विक्रमते रचितवान् ।

(त्रिधा निदधे पदं) त्रेधा भावाय, त्रिप्रकारकस्य जगतो भवनाय, तदुक्तं पूर्वमेव । तस्मिन् (विष्णुपदे) मोक्षाख्ये (समारोहणे) समारोढुमर्हे (गयशिरसीति) प्राणानां प्रजानां च यदुत्तमाङ्गं प्रकृत्यात्मकं शिरो यथा भवति, तथैवेश्वरस्यापि सामर्थ्यं गयशिरः, प्रजाप्राणयोरुपरिभागे वर्त्तते । यदीश्वरस्यानन्तं सामर्थ्यं वर्त्तते, तस्मिन् गयशिरसि विष्णुपदे हीश्वरसामर्थ्येऽस्तीति । कुतः । व्याप्यस्य सर्वस्य जगतो व्यापके परमेश्वरे वर्त्तमानत्वात् । पांसुरे प्यायनेऽन्तरिक्षे पदं पदनीयं परमाणवाख्यं यज्जगत्तच्चक्षुषा न दृश्यते । ये च पांसवः परमाणुसंघाताः पादैस्तद्द्रव्यांशैः सूयन्त उत्पद्यन्ते, अत एवमुत्पन्नाः सर्वे पदार्थाः दृश्या भूत्वेश्वरे शेरत इति विज्ञायते । इममर्थमविज्ञाय मिथ्याकथाव्यवहारः पण्डितामासैः प्रचारित इति बोद्धव्यम् । तथैव वेदाद्युक्तरीत्याऽऽर्यैश्चानुष्ठितानि तीर्थान्यन्यान्येव सन्ति । यानि सर्वदुःखेभ्यः पृथक्कृत्वा जीवेभ्यः सर्वसुखानि प्रापयन्ति तानि तीर्थानि मतानि । यानि च भ्रान्तै रचितपुस्तकेषु जलस्थलमयानि तीर्थसंज्ञान्युक्तानि तानि वेदार्थाभिप्रेतानि नैव सन्तीति मन्तव्यम् । तद्यथा । (तीर्थमेव प्राय०) यत्प्रायणीययज्ञस्याङ्गमतिरात्राख्यं व्रतं समाप्य स्नानं क्रियते तदेव तीर्थमिति वेद्यम् । येन तीर्थेन मनुष्याः प्रस्नाय शुद्धा भवन्ति । तथैव यदुदयनीयाख्यं यज्ञसम्बन्धि सर्वोपकारकं कर्म समाप्य स्नान्ति, तदेव दुःखसमुद्रात्तारकत्वात्तीर्थमिति मन्तव्यम् । एवमेव (अहिꣳसन्०) मनुष्यः सर्वाणि भूतान्यहिंसन्, सर्वैर्भूतैर्वैरमकुर्वाणः सन् वर्त्तेत । परन्तु तीर्थेभ्यो वेदादिसत्यशास्त्रविहितेभ्योऽन्यत्राहिंसा धर्मो मन्तव्यः । तद्यथा । यत्र यत्रापराधिनामुपरि हिंसनं विहितं तत्तु कर्त्तव्यमेव । ये पाखण्डिनो वेदसत्यधर्मानुष्ठानशत्रवश्चोरादयश्च ते तु यथापराधं हिंसनीया एव । अत्र वेदादिसत्यशास्त्राणां तीर्थसंज्ञास्ति । तेषामध्ययनाध्यापनेन तदुक्तधर्म्मकर्म्मविज्ञानानुष्ठानेन च दुःखसमुद्रात्तरन्त्येव । तेषु सम्यक् स्नात्वा मनुष्याः शुद्धा भवन्त्यतः ॥ तथैव समानतीर्थे वासीत्यनेन समानो द्वयोर्विद्यार्थिनोरेक आचार्यः समानमेकशास्त्राध्ययनं चात्राचार्य्यशास्त्रयोस्तीर्थसंज्ञास्ति । मातापित्रतिथीनां सम्यक्सेवनेन सुशिक्षया विद्याप्राप्त्या दुःखसमुद्रान्मनुष्यास्तरन्त्येवातस्तानि तीर्थानि दुःखा-

तारकत्वादेव मन्तव्यानि। एतेष्वपि स्नात्वा मनुष्यैः शुद्धिः सम्पादनीयेति। (अथः स्ना०) अथ एव तीर्थेषु कृतस्नानाः शुद्धा भवन्ति। तद्यथा। यः सुनियमेन पूर्णां विद्यां पठति, स ब्रह्मचर्याश्रममसमाप्यापि विद्यातीर्थे स्नाति, स शुद्धो भवति। यस्तु खलु द्वितीयः, यत्पूर्वोक्तं ब्रह्मचर्यं सुनियमाचरणेन समाप्य, विद्यामसमाप्य समावर्त्तते, स व्रतस्नातको भवति। यश्च सुनियमेन ब्रह्मचर्याश्रमं समाप्य वेदशास्त्रादिविद्यां च समावर्त्तते, सोऽप्यस्मिन्नुत्तमतीर्थे सम्यक् स्नात्वा, यथावच्छुद्धात्मा, शुद्धान्तःकरणः, सत्यधर्माचारी, परमविद्वान्, सर्वोपकारको भवतीति विज्ञातव्यम्। (नमस्तीर्थ्याय च) तेषु प्राणवेदविज्ञानतीर्थेषु पूर्वोक्तेषु भवः सः तीर्थ्यस्तस्मै तीर्थ्याय परमेश्वराय नमोऽस्तु। ये विद्वांसस्तीर्थानि वेदाध्ययनसत्यभाषणादीनि पूर्वोक्तानि प्रचरन्ति व्यवहरन्ति, ये च पूर्वोक्तब्रह्मचर्यसेविनो रुद्रा महाबलाः, (सृकाहस्ताः) विद्याविज्ञाने हस्तौ येषां ते, (निषंगिणः) निषंगः संशयच्छेदक उपदेशाख्यः खड्गो येषां ते सत्योपदेष्टारः। तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामीति ब्राह्मणवाक्यात्, उपनिषत्सु भवं प्रतिपाद्यं विज्ञापनीयं परमेश्वरमाहुः। अत एवोक्तस्तीर्थ्य इति। सर्वेषां तारकाणां तीर्थानामात्मकत्वात्, परमतीर्थाख्यो, धर्मात्मनां स्वभक्तानां सद्यस्तारकत्वात्, परमेश्वर एवास्ति। एतेनैतानि तीर्थानि व्याख्यातानि। (प्रश्नः) यैस्तरन्ति नरास्तानि जलस्थलादीनि तीर्थानि कुतो न भवन्ति ?। अत्रोच्यते। नैव जलं स्थलं च तारकं कदाचिद्भवितुमर्हति, तत्र सामर्थ्याभावात्, करणकारकव्युत्पत्त्यभावाच्च। जलस्थलादीनि नौकादिभिर्यानैः, पद्भ्यां, बाहुभ्यां च जनास्तरन्ति। तानि च कर्मकारकान्वितानि भवन्ति, करणकारकान्वितानि तु नौकादीनि। यदि पद्भ्यां गमनं बाहुबलं न कुर्यान्न च नौकादिषु तिष्ठेत्तर्ह्यवश्यं तत्र मनुष्यो मज्जेन्महदुःखं च प्राप्नुयात्। तस्माद्वेदानुयायिनामार्य्याणां मते काशीप्रयागपुष्करगङ्गायमुनादिनदीनां सागराणां च नैव तीर्थसंज्ञा सिध्यति। किन्तु वेदविज्ञानरहितैरुदरम्भरैः सम्प्रदायस्थैर्जीविकाधीनैर्वेदमार्गविरोधिभिरल्पज्ञैर्जीविकार्थं स्वकीयरचितग्रन्थेषु तीर्थसंज्ञया प्रसिद्धीकृतानि सन्तीति। ननु, इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वतीति गङ्गादिनदीनां वेदेषु प्रतिपादनं कृतमस्ति त्वया कथं न मन्यते ?।

अत्रोच्यते । मन्यते तु मया तासां नदीसंज्ञेति, ता गङ्गादयो नद्यः सन्ति । ताभ्यो यथायोग्यं जलशुद्ध्यादिगुणैर्यावानुपकारो भवति तावत्तासां मान्यं करोमि । न च पापनाशकत्वं दुःखात्तारकत्वं च । कुतः । जलस्थलादीनां तत्सामर्थ्याभावात् । इदं सामर्थ्यं तु पूर्वोक्तेष्वेव तीर्थेषु गम्यते नान्यत्रेति । अन्यच्च । इडापिङ्गलासुषुम्णाकूर्म्मनाड्यादीनां गङ्गादिसंज्ञास्तीति । तासां योगसमाधौ परमेश्वरस्य ग्रहणात् । तस्य ध्यानं दुःखनाशकं मुक्तिप्रदं च भवत्येव । तासामिडादीनां धारणासिध्यर्थं चित्तस्य स्थिरीकरणार्थं स्वीकरणमस्तीति तत्र ग्रहणात् । एतन्मन्त्रप्रकरणे परमेश्वरस्यानुवर्त्तनात् । एवमेव, (सितासिते यत्र सङ्गथे तत्राप्लुतासो दिवमुत्पतन्ति०) एतेन परिशिष्टवचनेन केचिद् गङ्गायमुनयोर्ग्रहणं कुर्वन्ति । सङ्गथे इति पदेन गङ्गायमुनयोः संयोगस्य प्रयागतीर्थमिति संज्ञां कुर्वन्ति । तन्न सङ्गच्छते । कुतः । नैव तत्राप्लुत्य स्नानं कृत्वा दिवं द्योतनात्मकं परमेश्वरं सूर्य्यलोकं वोत्पतन्ति, गच्छन्ति, किन्तु पुनः स्वकीयं स्वकीयं गृहमागच्छन्त्यतः । अत्रापि सितशब्देनेडायाः, असितशब्देन पिङ्गलायाश्च ग्रहणम् । यत्र तु खल्वेतयोर्नाड्योः सुषुम्णायां समागमो मेलनं भवति, तत्र कृतस्नानाः परमयोगिनो, दिवं परमेश्वरं प्रकाशमयं मोक्षाख्यं सत्यविज्ञानं चोत्पतन्ति सम्यग्गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति। अतोऽनयोरेवात्र ग्रहणं न च तयोः । अत्र प्रमाणम् । सितासितमिति वर्णनाम तत्प्रतिषेधोऽसितम् ॥ निरु० अ० ६ । खं० २६ ॥ सितं शुक्लवर्णमसितं तस्य निषेधः । तयोः प्रकाशान्धकारयोः सूर्य्यादिपृथिव्यादिपदार्थयोर्यत्रेश्वरसामर्थ्ये समागमोस्ति तत्र कृतस्नानास्तद्विज्ञानवन्तो दिवं पूर्वोक्तं गच्छन्त्येव ।

भाषार्थ

छठी यह कथा है कि जो गया को तीर्थ बना रक्खा है । लोगों ने मगध देश में एक स्थान है, वहां फल्गु नदी के तीर पाषाण पर मनुष्य के पग का चिह्न बना के उसका विष्णुपद नाम रखदिया है, और यह बात प्रसिद्ध करदी है कि यहां श्राद्ध करने से पितरों की मुक्ति हो जाती है । जो लोग आंख

के अंधे गांठ के पूरे उन के जाल में जा फसते हैं उनको गयावाले उलटे उस्तरे से खूब हजामत बनाते हैं इत्यादि प्रमाद से उन के धन का नाश कराते हैं, वह परधनहरण पेटपालक ठगलीला केवल झूठ ही की गठरी है। जैसा कि सत्यशास्त्रों में लिखी हुई आगे की कथा देखने से सब को प्रकट हो जावेगा। (प्राण एव बलं०), इन वचनों का अभिप्राय यह है कि अत्यन्त श्रद्धा से गयासंज्ञक प्राण आदि में परमेश्वर की उपासना करने से जीव की मुक्ति हो जाती है। प्राण में बल और सत्य प्रतिष्ठित है, क्योंकि परमेश्वर प्राण का भी प्राण है और उसका प्रतिपादन करनेवाला गायत्री मंत्र है कि जिसको गया कहते हैं। किसलिए कि उस का अर्थ जानके श्रद्धासहित परमेश्वर की भक्ति करने से जीव सब दुःखों से छूटकर मुक्ति को प्राप्त हो जाता है। तथा प्राण का भी नाम गया है उस को प्राणायाम की रीति से रोक के परमेश्वर की भक्ति के प्रताप से पितर अर्थात् ज्ञानी लोग सब दुःखों से रहित होकर मुक्त हो जाते हैं। क्योंकि परमेश्वर प्राणों की रक्षा करने वाला है। इसलिए ईश्वर का नाम गायत्री और गायत्री का नाम गया है। तथा निघण्टु में घर, सन्तान और प्रजा इन तीनों का नाम भी गया है। मनुष्यों को इन में अत्यन्त श्रद्धा करनी चाहिए। इसी प्रकार माता, पिता, आचार्य और अतिथि की सेवा तथा सब के उपकार और उन्नति के कामों की सिद्धि करने में जो अत्यन्त श्रद्धा करनी है उसका नाम गयाश्राद्ध है। तथा अपने सन्तानों को सुशिक्षा से विद्या देना और उनके पालन में अत्यन्त प्रीति करनी इस का नाम भी गयाश्राद्ध है। तथा धर्म से प्रजा का पालन, सुख की उन्नति, विद्या का प्रचार, श्रेष्ठों की रक्षा, दुष्टों को दण्ड देना और सत्य की उन्नति आदि धर्म के काम करना ये सब मिलकर अथवा पृथक् २ भी गयाश्राद्ध कहाते हैं। इस अत्यन्त श्रेष्ठ कथा को छोड़ के विद्याहीन पुरुषों ने जो मिथ्या कथा बना रक्खी है उस को कभी न मानना और जो वहां पाषाण के ऊपर मनुष्य के पग का चिह्न बना कर उस का नाम विष्णुपद रक्खा है सो सब मूलसे ही मिथ्या है। क्योंकि व्यापक परमेश्वर जो सब जगत् का करने वाला है उसी का नाम विष्णु है। देखो यहां निरुक्तकार ने कहा है कि (पूषेत्यथ०) विष्लृ धातु का अर्थ व्यापक होने अर्थात् सब चराचर जगत्

में प्रविष्ट रहना वा जगत् को अपने में स्थापन करलेने का है। इसलिये निराकार ईश्वर का नाम विष्णु है। (क्रमु पादविक्षेपे) यह धातु दूसरी वस्तु को पगों से दबाना वा स्थापन करना इस अर्थ को बतलाता है। इस का अभिप्राय यह है कि भगवान् अपने पाद अर्थात् प्रकृति परमाणु आदि सामर्थ्य के अंशों से सब जगत् को तीन स्थानों में स्थापन करके धारण कर रहा है। अर्थात् भारसहित और प्रकाशरहित जगत् को पृथिवी में, परमाणु आदि सूक्ष्म द्रव्यों को अन्तरिक्ष में, तथा प्रकाशमान् सूर्य्य और ज्ञानेन्द्रिय आदि को प्रकाश में, इस रीति से तीन प्रकार के जगत् को ईश्वर ने रचा है। फिर इन्हीं तीन भेदों में एक मूढ़ अर्थात् ज्ञानरहित जो जड़ जगत् है वह अन्तरिक्ष अर्थात् पोल के बीच में स्थित है, सो यह केवल परमेश्वर ही की महिमा है कि जिसने ऐसे २ अद्भुत पदार्थ रच के सब को धारण कर रक्खा है। (यदिदं किंच०) इस विष्णुपद के विषय में यास्कमुनि ने भी इस प्रकार व्याख्यान किया है कि यह सब जगत् सर्वव्यापक परमेश्वर ने बनाकर, (त्रिधा०) इस में तीन प्रकार की रचना दिखलाई है, जिससे मोक्षपद को प्राप्त होते हैं वह समारोहण कहाता है, सो विष्णुपद गयाशिर अर्थात् प्राणों के परे है, उस को मनुष्य लोग प्राण में स्थिर होके प्राण से प्रिय अन्तर्यामी परमेश्वर को प्राप्त होते हैं, अन्य मार्ग से नहीं। क्योंकि प्राण का भी प्राण और जीवात्मा में व्याप्त जो परमेश्वर है उससे दूर जीव वा जीव से दूर वह कभी नहीं हो सकता। उसमें से सूक्ष्म जो जगत् का भाग है सो आंख से दीखने योग्य नहीं हो सकता, किन्तु जब कोई पदार्थ परमाणुओं के संयोग से स्थूल होजाता है तभी वह नेत्रों से देखने में आता है। यह दोनों प्रकार का जगत् जिस के बीच में ठहर रहा है और जो उस में परिपूर्ण हो रहा है ऐसे परमात्मा को विष्णुपद कहते हैं। इस सत्य अर्थ को न जान के अविद्वान् लोगों ने पाषाण पर जो मनुष्य के पग का चिह्न बना कर उस का नाम विष्णुपद रख छोड़ा है सो सब मिथ्या बातें हैं। तथा तीर्थ शब्द का अर्थ अन्यथा जान के अज्ञानियों ने जगत् के लूटने और अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिये मिथ्याचार कर रक्खा है, सो ठीक नहीं। क्योंकि जो २ सत्य तीर्थ हैं वे सब नीचे लिखे जाते हैं। देखो तीर्थ नाम उन का है कि जिनसे जीव

दुःखरूप समुद्र को तरके सुख को प्राप्त हों। अर्थात् जो २ वेदादिशास्त्रप्रतिपादित तीर्थ हैं तथा जिन का आर्य्यों ने अनुष्ठान किया है, जो कि जीवों को दुःखों से छुड़ा के उन के सुखों के साधन हैं उनही को तीर्थ कहते हैं। वेदोक्त तीर्थ ये हैं, (तीर्थमेव प्राय०) अग्निहोत्र से लेके अश्वमेधपर्य्यन्त किसी यज्ञ की समाप्ति करके जो स्नान किया जाता है उस को तीर्थ कहते हैं। क्योंकि उस कर्म से वायु और वृष्टिजल की शुद्धिद्वारा सब मनुष्यों को सुख प्राप्त होता है। इस कारण उन कर्मों के करने वाले मनुष्यों को भी सुख और शुद्धि प्राप्त होती है। तथा (अहिꣳसन्०) सब मनुष्यों को इस तीर्थ का सेवन करना उचित है कि अपने मन से वैरभाव को छोड़ के सब के सुख करने में प्रवृत्त होना और किसी संसारी व्यवहार के वर्त्तावों में दुःख न देना। परन्तु (अन्यत्र तीर्थेभ्यः०) जो २ व्यवहार वेदादि शास्त्रों में निषिद्ध माने हैं उन के करने में दण्ड का होना अवश्य है। अर्थात् जो २ मनुष्य अपराधी, पाषण्डी अर्थात् वेदशास्त्रोक्त धर्मानुष्ठान के शत्रु अपने सुख में प्रवृत्त और परपीड़ा में प्रवर्त्तमान हैं वे सदैव दण्ड पाने के योग्य हैं। इससे वेदादि सत्य शास्त्रों का नाम तीर्थ है कि जिनके पढ़ने पढ़ाने और उन में कहे हुए मार्गों में चलने से मनुष्य लोग दुःखसागर को तर के सुखों को प्राप्त होते हैं। (समानतीर्थे०), इस सूत्र का अभिप्राय यह है कि वेदादिशास्त्रों को पढ़ानेवाला जो आचार्य्य है उसका, वेदादि शास्त्रों तथा माता पिता और अतिथि का भी नाम तीर्थ है। क्योंकि उन की सेवा करने से जीवात्मा शुद्ध होकर दुःखों से पार हो जाता है। इससे इन का भी तीर्थ नाम है। (त्रयः स्नातका०), इन तीर्थों में स्नान करने के योग्य तीन पुरुष होते हैं, एक तो वह कि जो उत्तम नियमों से वेदविद्या को पढ़ के ब्रह्मचर्य को विना समाप्त करे भी विद्या का पढ़ना पूरा कर के ज्ञानरूपी तीर्थ में स्नान कर के शुद्ध हो जाता है, दूसरा जो कि पच्चीस, तीस, छत्तीस, चवालीस अथवा अड़तालीस वर्ष पर्य्यन्त नियम के साथ पूर्वोक्त ब्रह्मचर्य को समाप्त करके और विद्या को विना समाप्त किये भी विवाह करता है वह व्रतस्नातक अर्थात् उस ब्रह्मचर्य्यतीर्थ में स्नान करके शुद्ध हो जाता है, और तीसरा यह है कि नियम से ब्रह्मचर्य्याश्रम तथा वेदादिशास्त्रविद्या को समाप्त करके समावर्त्तन अर्थात् उसी के

फलरूपी उत्तम तीर्थ में भले प्रकार स्नान करके यथायोग्य पवित्रदेह, शुद्ध अन्तःकरण, श्रेष्ठविद्या बल और परोपकार को प्राप्त होता है। (नमस्तीर्थ्याय०), उक्त तीर्थों से प्राप्त होने वाला परमेश्वर भी तीर्थ ही है, उस तीर्थ को हमारा नमस्कार है। जो विद्वान् लोग वेद का पढ़ना पढ़ाना और सत्यकथनरूप तीर्थों का प्रचार करते हैं तथा जो चवालीस वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य्याश्रम सेवन करते हैं वे बड़े बलवाले होकर रुद्र कहाते हैं। (सृकाहस्ता०) जिन के सृका अर्थात् विज्ञानरूप हस्त तथा निषङ्ग संशय की काटनेवाली उपदेशरूप तलवार है वे सत्य के उपदेशक भी रुद्र कहाते हैं। तथा उपनिषदों से प्रतिपादन किया हुआ उपदेश करने योग्य जो परमेश्वर है उस को परमतीर्थ कहते हैं। क्योंकि उसी की कृपा और प्राप्ति से जीव सब दुःखों से तर जाते हैं। (प्रश्न) जिनसे मनुष्य लोग तर जाते हैं अर्थात् जल और स्थानविशेष वे क्या तीर्थ नहीं हो सकते? (उत्तर) नहीं, क्योंकि उन में तारने का सामर्थ्य ही नहीं और तीर्थ शब्द करणकारकयुक्त लिया जाता है। जो जल वा स्थानविशेष अधिकरण वा कर्मकारक होते हैं उन में नाव आदि अथवा हाथ और पग से तरते हैं। इससे जल वा स्थल तारने वाले कभी नहीं हो सकते, किसलिये कि जो जल में हाथ वा पग न चलावें वा नौका आदि पर न बैठें तो कभी नहीं तर सकते। इस युक्ति से भी काशी, प्रयाग, गङ्गा, यमुना, समुद्र आदि तीर्थ सिद्ध नहीं हो सकते। इस कारण से सत्यशास्त्रोक्त जो तीर्थ हैं उन्हीं को मानना चाहिये, जल और स्थानविशेष को नहीं। (प्रश्न) (इमं मे गङ्गे) यह मन्त्र गङ्गा आदि नदियों को तीर्थ विधान करने वाला है फिर इन को तीर्थ क्यों नहीं मानते?। (उत्तर) हम लोग उन को नदी मानते हैं और उन के जल में जो २ गुण हैं उन को भी मानते हैं, परन्तु पाप छुड़ाना और दुःखों से तारना यह उनका सामर्थ्य नहीं, किन्तु यह सामर्थ्य तो केवल पूर्वोक्त तीर्थों में ही है। तथा इस मन्त्र में गङ्गा आदि नाम इडा, पिङ्गला, सुषुम्णा, कूर्म्म और जाठराग्नि की नाड़ियों के हैं, उन में योगाभ्यास से परमेश्वर की उपासना करने से मनुष्य लोग सब दुःखों से तर जाते हैं। क्योंकि उपासना नाड़ियों ही के द्वारा धारण करनी होती है। इस हेतु से इस मन्त्र में उनकी गणना की है। इसलिये उक्त नामों से नाड़ियों

का ही ग्रहण करना योग्य है। (सितासिते०) सित इडा और असित पिङ्गला, ये दोनों जहां मिली हैं उस को सुषुम्णा कहते हैं। उस में योगाभ्यास से स्नान करके जीव शुद्ध हो जाते हैं। फिर शुद्धरूप परमेश्वर को प्राप्त होके सदा आनन्द में रहते हैं। इस में निरुक्तकार का भी प्रमाण है कि सित और असित शब्द शुक्ल और कृष्ण अर्थ के वाची हैं। इस अभिप्राय से विरुद्ध मिथ्या अर्थ करके लोगों ने नदी आदियों का तीर्थ नाम से ग्रहण कर लिया है।

तथैव यत्तन्त्रपुराणादिग्रन्थेषु मूर्त्तिपूजानामस्मरणादिविधानं कृतमस्ति तदपि मिथ्यैवास्तीति वेद्यम्। कुतः। वेदादिषु सत्येषु ग्रन्थेषु तस्य विधानाभावात्। तत्र तु प्रत्युत निषेधो वरीवर्त्तते। तद्यथा—

न तस्य॑ प्रति॒मा अ॑स्ति॒ यस्य॒ नाम॑ म॒हद्यशः॑। हि॒र॒ण्य॒ग॒र्भ इत्ये॒ष मा मा॑हिꣳसी॒दित्ये॒षा यस्मा॒न्न जा॒त इत्ये॒षः॥ १॥ यजुः० अ० ३२। मं० ३॥

भाष्यम्

यस्य पूर्णस्य पुरुषस्याजस्य निराकारस्य परमेश्वरस्य (महद्यशः) यस्याज्ञापालनाख्यं महाकीर्त्तिकरं धर्म्यं सत्यभाषणादिकर्त्तुमर्हं कर्माचरणं नामस्मरणमस्ति, (हिरण्यगर्भः०) यो हिरण्यानां सूर्य्यादीनां तेजस्विनां गर्भ उत्पत्तिस्थानम्। यस्य सर्वैर्मनुष्यैर्मा मा हिꣳसीदित्येषा प्रार्थना कार्य्या। (यस्मान्न०) यो यतः कारणान्नैवैषः कस्यचित्सकाशात्कदाचिदुत्पन्नो, नैव कदाचिच्छरीरधारणं करोति। नैव तस्य प्रतिमाऽर्थात् प्रतिनिधिः, प्रतिकृतिः, प्रतिमानं, तोलनसाधनं, परिमाणं, मूर्त्यादिकल्पनं किञ्चिदप्यस्ति, परमेश्वरस्यानुपमेयत्वादमूर्त्तत्वादपरिमेयत्वान्निराकारत्वात्सर्वत्राभिव्याप्तत्वाच्च। इत्यनेन प्रमाणेन मूर्त्तिपूजननिषेधः।

स पर्य॑गाच्छु॒क्रम॑का॒यम॑व्र॒णम॑स्नावि॒रꣳ शु॒द्धमपा॑पविद्धम्। क॒विर्म॑नी॒षी प॑रि॒भूः स्व॑य॒म्भूर्या॑थातथ्य॒तोऽर्था॒न् व्यद॑धाच्छाश्व॒तीभ्यः॒ समा॑भ्यः॥ २॥ य० अ० ४०। मं० ८॥

भाष्यम्

यः कविः सर्वज्ञः, मनीषी सर्वसाक्षी, परिभूः सर्वोपरिविराजमानः, स्वयम्भूरनादिस्वरूपः परमेश्वरः, शाश्वतीभ्यो नित्याभ्यः, समाभ्यः प्रजाभ्यो, वेदद्वाराऽन्तर्यामितया च याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात् विहितवानस्ति, स पर्य्यगात्सर्वव्यापकोऽस्ति । यत् (शुक्रम्) वीर्य्यवत्तमम्, (अकायम्) मूर्त्तिजन्मधारणरहितम्, (अव्रणम्) छेदभेदरहितम्, (अस्नाविरम्) नाडीबन्धनादिविरहम्, (शुद्धम्) निर्दोषम्, (अपापविद्धम्) पापात्पृथग्भूतं, यदीदृशलक्षणं ब्रह्म सर्वैरुपासनीयमिति मन्यध्वम् । इत्यनेनापि शरीरजन्ममरणरहित ईश्वरः प्रतिपाद्यते, तस्मादयं नैव केनापि मूर्त्तिपूजने योजयितुं शक्य इति (प्रश्नः) वेदेषु प्रतिमाशब्दोऽस्ति न वा ? । (उत्तरम्) अस्ति । (प्र०) पुनः किमर्थो निषेधः ? । (उ०) नैव प्रतिमार्थेन मूर्त्तयो गृह्यन्ते । किं तर्हि, परिमाणार्था गृह्यन्ते । अत्र प्रमाणानि ॥

संवत्सरस्य प्रतिमां यां त्वा रात्र्युपास्महे । सा न आयुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण संसृज ॥ ३ ॥ अथर्व० कां० ३ । अनु० २ । सू० १० । मं० ३ ॥ मुहूर्त्तानां प्रतिमा ता दश च सहस्राण्यष्टौ च शतानि भवन्त्येतावन्तो हि संवत्सरस्य मुहूर्त्ताः ॥ श० कां० १० । अ० ४ । ब्रा० ३ । कं० २० ॥ यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ १ ॥ सामवेदीयतवलकारोपनिषदि । खण्ड० १ । मं० ४ ॥

भाष्यम्

इत्यादिमन्त्रपञ्चकमूर्त्त्यादिनिषेधकमिति बोध्यम् । विद्वांसः संवत्सरस्य यां प्रतिमां परिमाणमुपासते वयमपि त्वां तामेवोपास्महे । अर्थाद्याः संवत्सरस्य त्रीणि शतानि षष्टिश्च रात्रयो भवन्ति, यत एताभिरेव संवत्सरः परिमीयते, तस्मादेतासां प्रतिमासंज्ञेति । यथा सेयं रात्रिर्नोऽस्माकं रायस्पोषेण धनपुष्टिभ्यामायुष्मतीं प्रजां संसृज सम्यक् सृजेत्, तथैव सर्वैर्मनुष्यैरनुष्ठेय-

मिति । (मुहूर्त्ता०) तथा ये संवत्सरस्य दशसहस्राण्यष्टौशतानि घटिकाद्वयात्मका मुहूर्ताः सन्ति तेऽपि प्रतिमाशब्दार्था विज्ञेयाः । (यद्वाचा०) यदसंस्कृतवाण्या अविषयं, येन वाणी विदितास्ति, तद् ब्रह्म हे मनुष्य ! त्वं विद्धि । यत् इदं प्रत्यक्षं जगदस्ति नैवैतद् ब्रह्मास्ति । किन्तु विद्वांसो, यन्निराकारं, सर्वव्यापकमजं, सर्वनियन्तृ, सच्चिदानन्दादिलक्षणं ब्रह्मोपासते, त्वयापि तदेवोपासनीयं नेतरदिति । (प्र०) किञ्च भोः, मनुस्मृतौ, प्रतिमानां च भेदकः । दैवतान्यभिगच्छेत्तु । देवताऽभ्यर्चनं चैव । देवतानां च कुत्सनम् । देवतायतनानि च । देवतानां छायोल्लंघननिषेधः । प्रदक्षिणानि कुर्वीत देवब्राह्मणसन्निधौ । देवतागारभेदकान् । उक्तानामेतेषां वचनानां का गतिरिति ? । (उ०) अत्र प्रतिमाशब्देन रक्तिकामाषसेटकादीनि तोलनसाधनानि गृह्यन्ते । तद्यथा । तुलामानं प्रतीमानं सर्वं च स्यात्सुलक्षितम् ॥ मनु० अ० ८ । श्लोकः ४०३ । इत्यनया मनूक्तरीत्यैव प्रतिमाप्रतीमानशब्दयोरेकार्थत्वात्तोलनसाधनानि गृह्यन्त इति बोध्यम् । अत एव प्रतिमानामधिकन्यूनकारिणे दण्डो देय इत्युक्तः । विद्वांसो देवास्ते यत्राधीयतेऽध्यापयन्ति निवसन्ति च तानि स्थानानि दैवतानीत्युच्यते । देवा एव देवतास्तेषामिमानि स्थानानि दैवतानि, देवतायतनानि च सन्तीति बोध्यम् । विदुषामेवाभ्यर्चनं सत्करणं कर्त्तव्यमिति । नैवैतेषां केनचिदपि निन्दा छायोल्लंघनं स्थानविनाशश्च कर्त्तव्यः । किन्तु सर्वैरेतेषां सामीप्यगमनं, न्यायमापणं, दक्षिणपार्श्वे स्थापनं, स्वेषां वामपार्श्वे स्थितिश्च कार्य्येति । एवमेव यत्र यत्रान्यत्रापि प्रतिमादेवदेवतायतनादिशब्दाः सन्ति तत्र तत्रैवमर्था विज्ञेयाः । ग्रन्थभूयस्त्वभिया नात्र ते लेखितुं शक्या इति । एतावतैव मूर्त्तिपूजनकण्ठीतिलकधारणादिनिषेधा बोध्याः ।

भाषार्थ

अब इस के आगे जो नवीन कल्पित तन्त्र और पुराण ग्रन्थ हैं, उन में पत्थर आदि की मूर्त्तिपूजा, तथा नाना प्रकार के नामस्मरण अर्थात् राम २, कृष्ण २, काष्ठादि माला, तिलक इत्यादि का विधान करके, उन को अत्यन्त

प्रीति के साथ जो मुक्ति पाने के साधन मान रक्खे हैं, ये सब बातें भी मिथ्या ही जानना चाहिये। क्योंकि वेदादि सत्य ग्रन्थों में इन बातों का कहीं चिह्न भी नहीं पाया जाता है, किन्तु उन का निषेध ही किया है। जैसे (न तस्य०) (पूर्ण) जो किसी प्रकार से कम नहीं, (अज) जो जन्म नहीं लेता और (निराकार) जिस की किसी प्रकार की मूर्त्ति नहीं, इत्यादि लक्षणयुक्त जो परमेश्वर है, जिस की आज्ञा का ठीक २ पालन और उत्तम कीर्तियों के हेतु जो सत्यभाषणादि कर्म हैं उनका करना ही जिस का नामस्मरण कहाता है। (हिरण्यगर्भ०) जो परमेश्वर तेजवाले सूर्य्यादि लोकों की उत्पत्ति का कारण है, जिस की प्रार्थना इस प्रकार करनी होती है कि (मामाहिंसी०) हे परमात्मन्! हम लोगों की सब प्रकार से रक्षा कीजिये। कोई कहे कि इस निराकार, सर्वव्यापक परमेश्वर की उपासना क्यों करनी चाहिये? तो उत्तर यह है कि (यस्मान्न०) अर्थात् जो परमेश्वर किसी माता पिता के संयोग से कभी न उत्पन्न हुआ, न होता और न होगा, और न वह कभी शरीर धारण करके बालक, जवान और वृद्ध होता है, (न तस्य०) उस परमेश्वर की प्रतिमा अर्थात् नाप का साधन तथा प्रतिविम्ब वा सदृश अर्थात् जिस को तसवीर कहते हैं सो किसी प्रकार नहीं है। क्योंकि वह मूर्तिरहित, अनन्त, सीमारहित और सब में व्यापक है। इस से निराकार की उपासना सब मनुष्यों को करनी चाहिये। कदाचित् कोई शङ्का करे कि शरीरधारी की उपासना करने में क्या दोष है तो यह बात समझना चाहिये कि जो प्रथम जन्म लेके शरीर धारण करेगा और फिर वह वृद्ध होकर मर जायगा तब किस की पूजा करोगे। इस प्रकार मूर्त्तिपूजन का निषेध वेद से सिद्ध होगया। तथा (स पर्य्यगाच्छु०), जो परमेश्वर (कविः) सब का जानने वाला, (मनीषी) सब के मन का साक्षी, (परिभूः) सब के ऊपर विराजमान और (स्वयंभूः) अनादिस्वरूप है, जो अपनी अनादिस्वरूप प्रजा को अन्तर्यामिरूप से और वेद के द्वारा सब व्यवहारों का उपदेश किया करता है, (स पर्य्यगात्) सो सब में व्यापक, (शुक्रम्) अत्यन्त पराक्रम वाला, (अकायं) सब प्रकार के शरीर से रहित, (अव्रणं) कटना और सब रोगों से रहित, (अस्नाविरं) नाड़ी आदि के बन्धन

से पृथक्, (शुद्धं) सब दोषों से अलग और (अपापविद्धं) सब पापों से न्यारा इत्यादि लक्षणयुक्त परमात्मा है वही सबको उपासना के योग्य है। ऐसा ही सब को मानना चाहिये। क्योंकि इस मन्त्र से भी शरीर धारण करके जन्म मरण होना इत्यादि बातों का निषेध परमेश्वर विषय में पाया ही गया। इससे इस की पत्थर आदि की मूर्ति बना के पूजना किसी प्रमाण वा युक्ति से सिद्ध नहीं हो सकता। (संवत्सरस्य०) विद्वान् लोग संवत्सर की जिस (प्रतिमां०) क्षण आदि काल के विभाग करने वाली रात्रि की उपासना करते हैं हम लोग भी उसी का सेवन करें। जो एक वर्ष की ३६० (तीनसौ साठ) रात्रि होती हैं इतनी रात्रियों से संवत्सर का परिमाण किया है। इसलिये इन रात्रियों की भी प्रतिमा संज्ञा है। (सा न आयु०) इन रात्रियों में परमात्मा की कृपा से हम लोग सत्कर्मों के अनुष्ठानपूर्वक संपूर्ण आयुयुक्त सन्तानों को उत्पन्न करें। इसी मंत्र का भावार्थ कुछ शतपथ ब्राह्मण में भी है कि (मुहूर्त्तो०) एक संवत्सर के १०८०० मुहूर्त्त होते हैं, ये भी प्रतिमा शब्द के अर्थ में समझने चाहियें। क्योंकि इनसे भी वर्ष का परिमाण होता है। (यद्वाचा) जो कि अविद्यायुक्त वाणी से प्रसिद्ध नहीं हो सकता, जो सब की वाणियों को जानता है, हे मनुष्यो! तुम लोग उसी को परमेश्वर जानो और न कि मूर्त्तिमान् जगत् के पदार्थों को, जो कि उस के रचे हुए हैं। अर्थात् निराकार, व्यापक, सब पदार्थों का नियम करने वाला और सच्चिदानन्दादि लक्षणयुक्त ब्रह्म है, उसी की उपासना तुम लोग करो, यह उपनिषत्कार ऋषियों का मत है। (प्रश्न) क्यों-जी मनुस्मृति में जो (प्रतिमानां०) इत्यादि वचन हैं, उनसे तो यह बात मालूम होती है कि जो कोई प्रतिमा को तोड़े उस को राजा दण्ड देवे, तथा देवताओं के पास जाना, उनकी पूजा करना, उनकी छाया का उल्लंघन नहीं करना और उनकी परिक्रमा करना इत्यादि प्रमाणों से तो मूर्त्तिपूजा बराबर सिद्ध होती है फिर आप कैसे नहीं मानते हैं? । (उत्तर) क्यों भ्रम में पड़े हुए हो, होश में आओ और आंख खोल कर देखो कि प्रतिमा शब्द से जो तुम लोग पत्थर की मूर्त्ति लेते हो सो यह केवल तुम्हारी अज्ञानता अर्थात् कम समझ है। क्योंकि मनुस्मृति में तो प्रतिमाशब्द करके (तुलामानं) रत्ती, छटांक, पाव, सेर और

पसेरी आदि तोल के साधनों को ग्रहण किया है। क्योंकि तुलामान अर्थात् तराजू और प्रतिमान वा प्रतिमा अर्थात् बाट इन की परीक्षा राजा लोग छठे २ मास अर्थात् छः २ महीने में एक वार किया करें कि जिससे उन में कोई व्यवहारी किसी प्रकार की छल से घट बढ़ न कर सकें और कदाचित् कोई करे तो उस को दण्ड देवें। फिर (देवताभ्यर्चनं०) इत्यादि वचनों से यह बात समझ लेनी चाहिये कि शतपथ ब्राह्मण में विद्वान् मनुष्यों का नाम देव कहा है। अर्थात् जिन स्थानों में विद्वान् लोग पढ़ते पढ़ाते और निवास करते हैं उन स्थानों को दैवत कहते हैं। वहां जाना, बैठना और उन लोगों का सत्कार करना इत्यादि काम सब को अवश्य करने चाहियें। (देवतानां च कुत्सनं) उन विद्वानों की निन्दा, उन का अपमान और उनके स्थानों में किसी प्रकार का बिगाड़ व उपद्रव आदि दोष की बातें कभी न करनी चाहियें। किन्तु (दैवतान्यभि०) सब मनुष्यों को उचित है कि उन के समीप जाकर अच्छी २ बातों को सीखा करें। (प्रदक्षिणा०) उन को मान्य के लिये दाहिनी दिशा में बैठाना, क्योंकि यह नियम उनकी प्रतिष्ठा के लिये बांधा गया है। ऐसे अन्यत्र भी जहां कहीं प्रतिमा और देवता अथवा उन के स्थानों का वर्णन हो इसी प्रकार निर्भ्रमता से वहां समझ लेना चाहिये। यहां सब का संग्रह इसलिये नहीं किया कि ग्रन्थ बहुत बढ़जाता। ऐसा ही सत्य शास्त्रों से विरुद्ध कण्ठी और तिलकधारणादि मिथ्या कल्पित विषयों को भी समझ कर मन, कर्म, वचन से त्याग कर देना अवश्य उचित है।

एवमेव सूर्य्यादिग्रहपीडाशान्तये बालबुद्धिभिराकृष्णेन रजसेत्यादि मन्त्रा गृह्यन्ते। अयमेषां भ्रम एवास्तीति। कुतस्तत्र तेषामर्थानामग्रहणात्। (तद्यथा) तत्राकृष्णेन रजसेति मन्त्रस्यार्थ आकर्षणानुकर्षणप्रकरण उक्तः। इमं देवा असपत्नमित्यस्य राजधर्मविषये चेति।

अग्निर्मूर्द्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्या अयम्। अपाᳬरेताᳬसि जिन्वति॥ १॥ य० अ० ३। मं० १२॥ उद्बुध्यस्वाग्ने प्रति जागृहि त्वमिष्टापूर्त्ते सᳬसृजेथामयं च। अस्मिन्त्सधस्थे

अध्युत्तरस्मिन् विश्वे देवा यजमानश्च सीदत ॥ २ ॥ य० अ० १५ । मं० ५४ ॥

भाष्यम्

(अयमग्निः) परमेश्वरो भौतिको वा, (दिवः) प्रकाशवल्लोकस्य, (पृथिव्याः) प्रकाशरहितस्य च, (पतिः) पालयितास्ति । (मूर्द्धा) सर्वोपरि विराजमानः (ककुत्) तथा ककुभां दिशां च मध्ये व्यापकतया सर्वपदार्थानां पालयितास्ति । व्यत्ययो बहुलमिति सूत्रेण भकारस्थाने तकारः । (अपाᳬ रेताᳬसि) अयमेव जगदीश्वरो भौतिकश्चापां प्राणानां जलानां च रेतांसि वीर्य्याणि (जिन्वति) पुष्णाति । एवं चाग्निर्विद्युद्रूपेण सूर्य्यरूपेण च पूर्वोक्तस्य रक्षकः पुष्टिकर्त्ता चास्ति ॥ ३ ॥ (उद्बुध्यस्वाग्ने) । हे अग्ने परमेश्वरास्माकं हृदये त्वमुद्बुध्यस्व प्रकाशितो भव । (प्रतिजागृहि) अविद्यान्धकारनिद्रातस्सर्वान् जीवान् पृथक्कृत्य विद्यार्कप्रकाशे जागृतान् कुरु । (त्वमिष्टापूर्त्ते) हे भगवन् ! अयं जीवो मनुष्यदेहधारी धर्मार्थकाममोक्षसामग्रयाः पूर्त्तिं सृजेत् समुत्पादयेत् । त्वमस्येष्टं सुखं सृजेः । एवं परस्परं द्वयोः सहायपुरुषार्थाभ्यामिष्टापूर्त्ते संसृष्टे भवेताम् । (अस्मिन्सधस्थे) अस्मिन् लोके शरीरे च, (अध्युत्तरस्मिन्) परलोके द्वितीये जन्मनि च, (विश्वेदेवा यजमानश्च सीदत) सर्वे विद्वांसो, यजमानो विद्वत्सेवाकर्त्ता च, कृपया सदा सीदन्तु वर्त्तन्ताम् । यतोऽस्माकं मध्ये सदैव सर्वा विद्याः प्रकाशिता भवेयुरिति । व्यत्ययो बहुलमित्यनेन सूत्रेण पुरुषव्यत्ययः ।

भाषार्थ

इसी प्रकार से अल्पबुद्धि मनुष्यों ने 'आकृष्णेन रजसा०' इत्यादि मन्त्रों का सूर्य्यादिग्रहपीड़ा की शांति के लिये ग्रहण किया है । सो उनको केवल भ्रममात्र हुआ है । मूल अर्थ से कुछ सम्बन्ध नहीं । क्योंकि उन मन्त्रों में ग्रहपीड़ा निवारण करना यह अर्थ ही नहीं है । (आकृष्णेन०) इस मन्त्र का अर्थ आकर्षणानुकर्षण प्रकरण में तथा (इमं देवा०) इसका अर्थ राजधर्मविषय में

लिख दिया है ॥ १ । २ ॥ (अग्निः) यह जो अग्निसंज्ञक परमेश्वर वा भौतिक है वह (दिवः) प्रकाश वाले और (पृथिव्याः) प्रकाशरहित लोकों का पालन करने वाला, तथा (मूर्द्धा) सब पर विराजमान और (ककुत्पतिः) दिशाओं के मध्य में अपनी व्यापकता से सब पदार्थों का राजा है । (व्यत्ययो बहुलम्) इस सूत्र से (ककुभ्) शब्द के दकार को मकारादेश हो गया है । (अपाᳪंरेताᳪंसि जिन्वति) वही जगदीश्वर प्राण और जलों के वीर्य्यों को पुष्ट करता है । इस प्रकार भूताग्नि भी विद्युत् और सूर्य्यरूप से पूर्वोक्त पदार्थों का पालन और पुष्टि करने वाला है ॥ ३ ॥ (उद्बुध्यस्वाग्ने) हे परमेश्वर ! हमारे हृदय में प्रकाशित हूजिये, (प्रति जागृहि) अविद्या की अन्धकाररूप निद्रा से हम सब जीवों को अलग करके विद्यारूप सूर्य्य के प्रकाश से प्रकाशमान कीजिये, कि जिस से (त्वमिष्टापूर्त्ते) हे भगवन् ! मनुष्यदेह धारण करने वाला जो जीव है जैसे वह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सामग्री की पूर्त्ति कर सके वैसे आप इष्ट सिद्ध कीजिये । (अस्मिन्त्सधस्थे) इस लोक और इस शरीर तथा (अध्युत्तरस्मिन) परलोक और दूसरे जन्म में (विश्वेदेवा यजमानश्च सीदत) आप की कृपा से सब विद्वान् और यजमान अर्थात् विद्या के उपदेश का ग्रहण और सेवा करने वाले मनुष्य लोग सुख से वर्त्तमान सदा बने रहें कि जिस से हम लोग विद्यायुक्त होते रहें । (व्यत्ययो बहुलम्) इस सूत्र से (संसृजेथाम्) (सीदत) इन प्रयोगों में पुरुषव्यत्यय अर्थात् प्रथमपुरुष की जगह मध्यम पुरुष हुआ है ॥ ४ ॥

बृह॑स्पते॒ अति॒ यद॒र्यो अर्हा॑द् द्यु॒मद्वि॒भाति॒ क्रतु॑म॒ज्जने॑षु । यद्दी॒दय॒च्छव॑स ऋतप्रजात॒ तद॒स्मासु॒ द्रवि॑णं धेहि चि॒त्रम् ॥ ५ ॥ य० अ० २६ । मं० ३ ॥ अन्ना॑त्परि॒स्रुतो॒ रसं॒ ब्रह्म॑णा॒ व्य॑पिबत्क्ष॒त्रं पयः॒ सोमं॑ प्र॒जाप॑तिः । ऋ॒तेन॑ स॒त्यमि॑न्द्रि॒यं वि॒पान॑ᳪं शु॒क्रमन्ध॑सः । इन्द्र॑स्येन्द्रि॒यमि॒दं पयो॒ऽमृतं॒ मधु॑ ॥ ६ ॥ यजुः० अ० १९ । मं० ७५ ॥

भाष्यम्

(बृहस्पते) हे बृहतां वेदानां पते पालक ! (ऋतप्रजात) वेदविद्याप्रतिपादित जगदीश्वर ! त्वं (जनेषु) यज्ञकारकेषु विद्वत्सु लोकलोकान्तरेषु वा, (क्रतुमत्) भूयांसः क्रतवो भवन्ति यस्मिंस्तत्, (द्युमत्) सत्यव्यवहारप्रकाशो विद्यते यस्मिंस्तत्, (दीदयच्छवसः) दानयोग्यं, शवसो बलस्य प्रापकं, (यदर्य्यो अर्हात्) येन विद्यादिधनेन युक्तः सन् (अर्य्यः) स्वामी राजा, वणिग्जनो वा धार्मिकेषु जनेषु (विभाति) प्रकाशते, (चित्रं) यद्धनमद्भुतं (अस्मासु द्रविणं धेहि) तदस्मदधीनं द्रविणं धनं कृपया धेहीत्यनेन मन्त्रेणेश्वरः प्रार्थ्यते ॥ ५ ॥ (क्षत्रं) यत्र यद्राजकर्म, क्षत्रियो वा (ब्रह्मणा) वेदविद्भिश्च सह (पयः) अमृतात्मकं (सोमं) सोमाद्योषधिसम्पादितं (रसं) बुद्ध्यानन्दशौर्य्यधैर्य्यबलपराक्रमादिसद्गुणप्रदं (व्यपिबत्) पानं करोति, तत्र स सभाध्यक्षो राजन्यः, (ऋतेन) यथार्थवेदविज्ञानेन, (सत्यं) धर्मं राजव्यवहारं च, (इन्द्रियं) शुद्धविद्यायुक्तं शान्तं मनः, (विपानं) विविधराजधर्मरक्षणं, (शुक्रं) आशुसुखकरं (अन्धसः) शुद्धान्नस्येच्छाहेतुं (पयः) सर्वपदार्थसारविज्ञानयुक्तं (अमृतं) मोक्षसाधकं (मधु) मधुरं सत्यशीलस्वभावयुक्तं (इन्द्रस्य) परमैश्वर्य्ययुक्तस्य सर्वव्यापकान्तर्यामिन ईश्वरस्य कृपया (इन्द्रियं) विज्ञानयुक्तं मनः प्राप्य, (इदं) सर्वं व्यावहारिकपारमार्थिकं सुखं प्राप्नोति । (प्रजापतिः) परमेश्वर एवमाज्ञापयति यः क्षत्रियः प्रजापालनाधिकृतो भवेत्, स एवं प्रजापालनं कुर्य्यात् । (अद्भ्यःपरिस्रुतः) स चामृतात्मको रसोऽद्भ्योऽन्यात्पदार्थात्परितः सर्वतः स्रुतश्च्युतो युक्तो वा कार्य्यः । यथा प्रजायामत्यन्तं सुखं सिध्येत्तथैव क्षत्रियेण कर्त्तव्यम् ।

भाषार्थ

(बृहस्पते) हे वेदविद्यारक्षक ! (ऋतप्रजात) वेदविद्या से प्रसिद्ध जगदीश्वर ! आप (तदस्मासु द्रविणं धेहि) जो सत्यविद्यारूप अनेक प्रकार का (चित्रं) अद्भुत धन है सो हमारे बीच में कृपा करके स्थापन कीजिये । कैसा

वह धन है कि (जनेषु) विद्वानों और लोक लोकान्तरों में (क्रतुमत्) जिस से बहुतसे यज्ञ किये जायं, (द्युमत्) जिस से सत्य व्यवहार के प्रकाश का विधान हो, (शवसः) बल की रक्षा करने वाला और (दीदयत्) धर्म और सब के सुख का प्रकाश करने वाला, तथा (यदर्य्यो०) जिस को धर्मयुक्त योग्य व्यवहार के द्वारा राजा और वैश्य प्राप्त होकर (विभाति) धर्मव्यवहार अथवा धार्मिक श्रेष्ठ पुरुषों में प्रकाशमान होता है उस संपूर्णविद्यायुक्त धन को हमारे बीच में निरन्तर धारण कीजिये। ऐसे इस मन्त्र से परमेश्वर की प्रार्थना की जाती है ॥ ५ ॥ (क्षत्रं) जो राजकर्म अथवा क्षत्रिय है वह सदा न्याय से (ब्रह्मणा) वेदवित् पुरुषों के साथ मिलकर ही राज्यपालन करे। इसी प्रकार (पयः) जो अमृतरूप (सोमं) सोमलता आदि ओषधियों का सार तथा (रसं) जो बुद्धि, आनन्द, शूरता, धीरज, बल और पराक्रम आदि उत्तम गुणों का बढ़ाने वाला है, उन को (व्यपिबत्) जो राजपुरुष अथवा प्रजास्थ लोग वैद्यकशास्त्र की रीति से पीते हैं, वे सभासद् और प्रजास्थ मनुष्य लोग, (ऋतेन) वेदविद्या को यथावत् जान के, (सत्यं) धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष (इन्द्रियं) शुद्धविद्यायुक्त शान्तस्वरूप मन, (विपानं) यथावत् प्रजा का रक्षण, (शुक्रम्) शीघ्र सुख करनेहारा (अन्धसः) शुद्ध अन्न की इच्छायुक्त (पयः) सब पदार्थों का सार, विज्ञानसहित (अमृतं) मोक्ष के ज्ञानादि साधन, (मधु) मधुरवाणी और शीलता आदि जो श्रेष्ठ गुण हैं, (इदं) उन सब से परिपूर्ण होकर, (इन्द्रस्य) परमैश्वर्य्ययुक्त व्यापक ईश्वर की कृपा से, (इन्द्रियं) विज्ञान को प्राप्त होते हैं। (प्रजापतिः) इसलिये परमेश्वर सब मनुष्यों और राजपुरुषों को आज्ञा देता है कि तुम लोग पूर्वोक्त व्यवहार और विज्ञानविद्या को प्राप्त होके धर्म से प्रजा का पालन किया करो और (अन्नात्परिस्रुतः) उक्त अमृतस्वरूप रस को उत्तम भोजन के पदार्थों के साथ मिलाकर सेवन किया करो कि जिस से प्रजा में पूर्ण सुख की सिद्धि हो ॥ ६ ॥

शन्नो देवी रभिष्टय आपो भवन्तु पीतये। शंयोरभि स्रवन्तु नः ॥ ७ ॥ य० अ० ३६ । मं० १२ ॥ कया नश्चित्र आभुव-

दूती सदा वृधः सखा । कया सचिष्ठया * वृता ॥ ८ ॥ य० अ० ३६ । मं० ४ ॥ केतुं कृण्वन्न केतवे पेशो मर्या अपेशसे । समुषद्भिरजायथाः ॥ ९ ॥ य० अ० २६ । मं० ३७ ॥

भाष्यम्

(आप्लृ व्याप्तौ) अस्माद्धातोरप्छब्दः सिध्यति । स नियतस्त्रीलिङ्गो बहुवचनान्तश्च । दिवु क्रीडाद्यर्थः । (देवीः) देव्य आपः, सर्वप्रकाशकः सर्वानन्दप्रदः सर्वव्यापक ईश्वरः, (अभीष्टये) इष्टानन्दप्राप्तये, (पीतये) पूर्णानन्दभोगेन तृप्तये, (नः) अस्मभ्यं, (शं) कल्याणकारिका भवन्तु, स ईश्वरो नः कल्याणं भावयतु प्रयच्छतु । ता आपो देव्यः स एवेश्वरो, नोऽस्माकमुपरि, (शंयोः) सर्वतः सुखस्य वृष्टिं करोतु ॥ अत्र प्रमाणम् ॥

यत्र लोकांश्च कोशांश्चापो ब्रह्म जना विदुः । असच्च यत्र सच्चान्तः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ अथर्व० कां० १० । अ० ४ । सू० ७ । मं० १० ॥

भाष्यम्

अनेन वेदमन्त्रप्रमाणेनाप्छब्देन परमात्मनो ग्रहणं क्रियते । तद्यथा । (आपो ब्रह्म जना विदुः) विद्वांस आपो ब्रह्मणो नामास्तीति जानन्ति । (यत्र लोकांश्च कोशांश्च) यस्मिन् परमेश्वरे सर्वान् भूगोलान्निधींश्च, (असच्च यत्र सच्च) यस्मिंश्चानित्यं कार्यं जगदेतस्य कारणं च स्थितं जानन्ति, (स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः) स जगद्धाता सर्वेषां पदार्थानां मध्ये कतमोस्ति विद्वँस्त्वं ब्रूहीति पृच्छ्यते । (अन्तः) स जगदीश्वरः सर्वेषां जीवादिपदार्थानामाभ्यन्तरेऽन्तर्य्यामिरूपेणावस्थितोस्तीति भवन्तो जानन्तु ॥ ७ ॥ (कया) उपासनारीत्या (सचिष्ठया) अतिशयेन सत्कर्मानुष्ठानप्रकारया, (वृता) शुभगुणेषु वर्त्तमानया, (कया) सर्वोत्तमगुणालंकृतया सभया

* शचिष्ठयेति माध्य: पाठ: ॥

प्रकाशितः, (चित्रः) अद्भुतानन्तशक्तिमान्, (सदावृधः) सदानन्देन वर्धमान इन्द्रः परमेश्वरः, (नः) अस्माकं सखा मित्रः, (आभुवत्) यथाभिमुखो भूत्वा (ऊती) स जगदीश्वरः कृपया सर्वदा सहायकरणेनास्माकं रक्षको भवतु । तथैवास्माभिः स सत्यप्रेमभक्त्या सेवनीय इति ॥ ८ ॥ हे मर्त्या मनुष्याः ! उषद्भिः परमेश्वरं कामयमानैस्तदाज्ञायां वर्त्तमानैर्विद्वद्भिर्युष्माभिः सह समागमे कृते सत्येव (अकेतवे) अज्ञानविनाशाय केतुं प्रज्ञानम्, (अपेशसे) दारिद्र्यविनाशाय पेशः चक्रवर्त्तिराज्यादिसुखसम्पादकं धनं च कृण्वन् कुर्वन् सन् जगदीश्वरः (अजायथाः) प्रसिद्धो भवतीति वेदितव्यम् ॥ ९ ॥

भाषार्थ

(शन्नो देवी०) आप्लृ व्याप्तौ, इस धातु से अप् शब्द सिद्ध होता है । सो वह सदा स्त्रीलिङ्ग और बहुवचनान्त है। तथा जिस दिवु धातु के क्रीड़ा आदि अर्थ हैं उस से देवी शब्द सिद्ध होता है । (देवीः) अर्थात् जो ईश्वर सब का प्रकाश और सब को आनन्द देने वाला, (आपः) सर्वव्यापक है, (अभीष्टये) वह इष्ट आनन्द और (पीतये) पूर्णानन्द की प्राप्ति के लिये (नः) हम को सुखी होने के लिये (शं) कल्याणकारी (भवन्तु) हो । वही परमेश्वर (नः) हम पर (शंयोः) सुख की (अभिस्रवन्तु) वृष्टि करे । इस मन्त्र में आप् शब्द से परमात्मा के ग्रहण होने में प्रमाण यह है कि (आपो ब्रह्म जना विदुः) अर्थात् विद्वान् लोग ऐसा जानते हैं कि आप् परमात्मा का नाम है । (प्रश्न) (यत्र लोकांश्च कोशांश्च), सुनो जी ! जिस में पृथिव्यादि सब लोक, सब पदार्थ स्थित (असच्च यत्र सच्च) तथा जिस में अनित्य कार्य्य जगत् और सब वस्तुओं के कारण ये सब स्थित हो रहे हैं, (स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेवसः) वह सब लोकों को धारण करने वाला कौन पदार्थ है ? (उत्तर) (अन्तः) जो सब पृथिवी आदि लोक और जीवों के बीच में अन्तर्यामिरूप से परिपूर्ण भर रहा है ऐसा जान कर आप लोग उस परमेश्वर को अपने ही अन्तःकरण में खोजो ॥ ७ ॥ (कया) जो किस उपासनारीति (सचिष्ठया) और सत्यधर्म के

आचरण से सभासद् सहित (वृता) सत्यविद्यादि गुणों में प्रवर्तमान (कया) सुखरूप वृत्तिसहित सभा से प्रकाशित (चित्रः) अद्भुतस्वरूप (सदावृधः) आनन्दस्वरूप और आनन्द बढ़ाने वाला परमेश्वर है वह (नः) हमारे आत्माओं में (आभुवत्) प्रकाशित हो, (ऊती) तथा किस प्रकार वह जगदीश्वर हमारा सदा सहायक होकर कृपा से नित्य रक्षा करे कि (उपद्भिः समजायथाः) हे अग्ने जगदीश्वर ! आप की आज्ञा में जो रमण करनेवाले हैं उन्हीं पुरुषों से आप जाने जाते हैं और जिन धार्मिक पुरुषों के अन्तःकरण में आप अच्छे प्रकार प्रकाशित होते रहो ॥ ८ ॥ हे विज्ञानस्वरूप ! अज्ञान के दूर करनेहारे ब्रह्मन् ! आप (केतुं कृण्वन्) हम सब मनुष्यों के आत्माओं में ज्ञान का प्रकाश करते रहिये तथा (अकेतवे) अज्ञान और (अपेशसे) दरिद्रता के दूर करने के अर्थ विज्ञान धन और चक्रवर्त्ति राज्य धर्मात्माओं को देते रहिये कि जिससे (मर्याः) जो आप के उपासक लोग हैं वे कभी दुःख को न प्राप्त हों ॥ ९ ॥

अथाधिकारानधिकारविषयः संक्षेपतः

वेदादिशास्त्रपठने सर्वेषामधिकारोऽस्त्याहोस्विन्नेति ? । सर्वेषामस्ति, वेदानामीश्वरोक्तत्वात्सर्वमनुष्योपकारार्थत्वात्सत्यविद्याप्रकाशकत्वाच्च । यद्धि खलु परमेश्वररचितं वस्त्वस्ति तत्तत्सर्वं सर्वार्थमस्तीति विजानीमः । अत्र प्रमाणम् ॥

यथे॒मां वाचं॑ कल्या॒णीमा॒वदा॑नि॒ जने॑भ्यः । ब्र॒ह्म॒रा॒ज॒न्या᳖भ्या॑ᳫं॒ शू॒द्राय॒ चार्या॑य च॒ स्वाय॒ चार॑णाय । प्रि॒यो दे॒वानां॒ दक्षि॑णायै दा॒तुरि॒ह भू॑यासम॒यं मे॒ कामः॒ समृ॑ध्यता॒मुप॑ मा॒दो न॑मतु ॥ १ ॥ य० अ० २६ । मन्त्र २ ॥

भाष्यम्

अस्याभिप्रायः । परमेश्वरः सर्वमनुष्यैर्वेदाः पठनीयाः पाठ्या इत्याज्ञां ददाति । तद्यथा । (यथा) येन प्रकारेण, (इमाम्) प्रत्यक्षभूतामृग्वेदा-

दिवेदचतुष्टयीं, (कल्याणीम्) कल्याणसाधिकां (वाचम्) वाणीं, (जनेभ्यः) सर्वेभ्यो मनुष्येभ्योऽर्थात् सकलजीवोपकाराय, (आवदानि) आ समन्तादुपदिशानि, तथैव सर्वैर्विद्वद्भिः सर्वमनुष्येभ्यो वेदचतुष्टयी वागुपदेष्टव्येति । अत्र कश्चिदेवं ब्रूयात् । जनेभ्यो द्विजेभ्य इत्यध्याहार्य्यं, वेदाध्ययनाध्यापने तेषामेवाधिकारत्वात् । नैवं शक्यम् । उत्तरमन्त्रभागार्थविरोधात् । तद्यथा । कस्य कस्य वेदाध्ययनश्रवणेऽधिकारोस्तीत्याकांक्षायामिदमुच्यते, (ब्रह्मराजन्याभ्यां) ब्राह्मणक्षत्रियाभ्यां, (अर्य्याय) वैश्याय, (शूद्राय), (चारणाय) अतिशूद्रायान्त्यजाय, स्वाय स्वात्मीयाय पुत्राय भृत्याय च । सर्वैः सैषा वेदचतुष्टयी श्राव्येति । (प्रियो देवानां दक्षिणायै दातुरिह०) । यथाऽहमीश्वरः पक्षपातं विहाय, सर्वोपकारकरणेन सह वर्त्तमानः सन्, देवानां विदुषां प्रियः, दातुर्दक्षिणायै सर्वस्वदानाय प्रियश्च (भूयासम्) स्याम्, तथैव भवद्भिः सर्वैर्विद्वद्भिरपि सर्वोपकारं सर्वप्रियाचरणं मत्वा सर्वेभ्यो वेदवाणी श्राव्येति । यथायं मे मम कामः समृध्यते तथैवैवं कुर्वतां भवतां (अयं कामः समृध्यताम्) इयमिष्टसुखेच्छा समृध्यतां सम्यग्वर्धताम् । यथाऽदः सर्वमिष्टसुखं मामुपनमति । (उप मादो नमतु) तथैव भवतोऽपि सर्वमिष्टसुखमुपनमतु सम्यक् प्राप्नोत्विति । मया युष्मभ्यमयमाशीर्वादो दीयत इति निश्चेतव्यम् । यथा मया वेदाविद्या सर्वार्था प्रकाशिता तथैव युष्माभिरपि सर्वार्थोपकर्त्तव्या, नात्र वैषम्यं किञ्चित् कर्त्तव्यमिति । कुतः । यथा मम सर्वप्रियार्था पक्षपातरहिता च प्रवृत्तिरस्ति, तथैव युष्माभिराचरणे कृते मम प्रसन्नता भवति, नान्यथेति । अस्य मन्त्रस्यायमेवार्थोस्ति । कुतः । बृहस्पते अतियदर्य इत्युत्तरस्मिन्मन्त्रे ईश्वरार्थस्यैव प्रतिपादनात् ।

भाषार्थ

(प्रश्न) वेदादि शास्त्रों के पढ़ने पढ़ाने, सुनने और सुनाने में सब मनुष्यों का अधिकार है वा नहीं ? । (उत्तर) सब का है । क्योंकि जो ईश्वर की सृष्टि है उस में किसी का अनधिकार नहीं हो सकता । देखिये कि जो २ पदार्थ ईश्वर से

प्रकाशित हुए हैं सो २ सब के उपकारार्थ हैं। (प्रश्न) वेदों के पढ़ने का अधिकार केवल तीन वर्णों को ही है, क्योंकि शूद्रादि को वेदादि शास्त्र पढ़ने का निषेध किया है और द्विजों के पढ़ाने में भी केवल ब्राह्मण ही को अधिकार है। (उत्तर) यह बात सब मिथ्या है। इसका विवेक और उत्तर वर्णविभाग विषय में कह आये हैं। वहां यही निर्णय हुआ है कि मूर्ख का नाम शूद्र और अतिमूर्ख का नाम अतिशूद्र है। उन के पढ़ने पढ़ाने का निषेध इसलिये किया है कि उनको विद्याग्रहण करने की बुद्धि नहीं होती है। (प्र०) परन्तु क्या सब स्त्री पुरुषों को वेदादि शास्त्र पढ़ने सुनने का अधिकार है ?। (उ०) सब को है। देखो इसमें यजुर्वेद ही का यह प्रमाण लिखते हैं, (यथेमां वाचं कल्याणीं०)। इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि वेदों के पढ़ने पढ़ाने का सब मनुष्यों को अधिकार है और विद्वानों को उन के पढ़ाने का। इसलिये ईश्वर आज्ञा देता है कि हे मनुष्य लोगो ! जिस प्रकार मैं तुमको चारों वेदों का उपदेश करता हूं उसी प्रकार से तुम भी उन को पढ़ के सब मनुष्यों को पढ़ाया और सुनाया करो। क्योंकि यह चारों वेदरूप वाणी सब की कल्याण करने वाली है। तथा (आवदानि जनेभ्यः) जैसे सब मनुष्यों के लिये मैं वेदों का उपदेश करता हूं वैसे ही सदा तुम भी किया करो। (प्रश्न) (जनेभ्यः) इस पद से द्विजों ही का ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि जहां कहीं सूत्र और स्मृतियों में पढ़ने का अधिकार लिखा है वहां केवल द्विजों ही का ग्रहण किया है ?। (उत्तर) यह बात ठीक नहीं है, क्योंकि जो ईश्वर का अभिप्राय द्विजों ही के ग्रहण करने का होता तो मनुष्यमात्र को उन के पढ़ने का अधिकार कभी न देता। जैसा कि इस मन्त्र में प्रत्यक्ष विधान है (ब्रह्मराजन्याभ्याᳪ शूद्राय चार्य्याय च स्वाय चारणाय), अर्थात् वेदाधिकार जैसा ब्राह्मणवर्ण के लिये है वैसा ही क्षत्रिय, अर्य्य, वैश्य, शूद्र, पुत्र, भृत्य और अतिशूद्र के लिये भी बराबर है, क्योंकि वेद ईश्वरप्रकाशित है। जो विद्या का पुस्तक होता है वह सब का हितकारक है और ईश्वररचित पदार्थों के दायभागी सब मनुष्य अवश्य होते हैं। इसलिये उस का जानना सब मनुष्यों को उचित है, क्योंकि वह माल सब के पिता का सब पुत्रों के लिये है। किसी वर्णविशेष

के लिये नहीं। (प्रियो देवानाम्) जैसे मैं इस वेदरूप सत्यविद्या का उपदेश करके विद्वानों के आत्माओं में प्रिय हो रहा तथा (दक्षिणायै दातुरिह भूयासं) जैसे दानी वा शीलमान् पुरुष को प्रिय होता हूं वैसे ही तुम लोग भी पक्षपात-रहित होकर वेदविद्या को सुना कर सब को प्रिय हो। (अयं मे कामः समृध्यताम्) जैसे यह वेदों का प्रचाररूप मेरा काम संसार के बीच में यथावत् प्रचरित होता है इसी प्रकार की इच्छा तुम लोग भी करो कि जिससे उक्त विद्या आगे को भी सब मनुष्यों में प्रकाशित होती रहे । (उप मादो नमतु) जैसे मुझ में अनन्तविद्या से सब सुख हैं वैसे जो कोई विद्या का ग्रहण और प्रचार करेगा उस को भी मोक्ष तथा संसार का सुख प्राप्त होगा। यही इस मन्त्र का अर्थ ठीक है। क्योंकि इससे अगले मन्त्र में भी (बृहस्पते अति यदर्य्यो०) परमेश्वर ही का ग्रहण किया है। इससे सब के लिये वेदाधिकार है ॥१॥

वर्णाश्रमा अपि गुणकर्माचारतो हि भवन्ति। अत्राह मनुः॥

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम् ।
क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च ॥ १ ॥
मनु० अ० १० । श्लो० ६५॥

भाष्यम्

शूद्रः पूर्णविद्यासुशीलतादिब्राह्मणगुणयुक्तश्चेद् ब्राह्मणतामेति, ब्राह्मणभावं प्राप्नोति, योऽस्ति ब्राह्मणस्याधिकारस्तं सर्वं प्राप्नोत्येव। एवमेव कुचर्य्याऽधर्माचरणनिर्बुद्धिमूर्खत्वपराधीनतापरसेवादिशूद्रगुणैर्युक्तो ब्राह्मणश्चेत् स शूद्रतामेति, शूद्राधिकारं प्राप्नोत्येव । एवमेव क्षत्रियाज्जातं क्षत्रियादुत्पन्नं वैश्यादुत्पन्नं प्रति च योजनीयम् । अर्थाद्यस्य वर्णस्य गुणैर्युक्तो यो वर्णः स तत्तदधिकारं प्राप्नोत्येव । एवमेवापस्तम्बसूत्रेप्यास्ति ।

धर्मचर्य्यया जघन्यो वर्णः पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ ॥ १ ॥ अधर्मचर्य्यया पूर्वो वर्णो जघन्यं जघन्यं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ ॥ २ ॥ प्रश्न २ । पटल० ५ । खं० ११ । सू० १० । ११ ॥

भाष्यम्

सत्यधर्माचरणेनैव शूद्रो, वैश्यं क्षत्रियं ब्राह्मणं च वर्णमापद्यते, समन्तात्प्राप्नोति सर्वाधिकारमित्यर्थः। जातिपरिवृत्तावित्युक्ते जातेर्वर्णस्य परितः सर्वतो या वृत्तिराचरणं तत्सर्वं प्राप्नोति ॥ १ ॥ एवमेव स लक्षणेनाधर्माचरणेन पूर्वो वर्णो ब्राह्मणो, जघन्यं स्वस्मादधःस्थितं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च वर्णमापद्यते, जातिपरिवृत्तौ चेति पूर्ववत्। अर्थाद् धर्माचरणमेवोत्तमवर्णाधिकारे कारणमस्ति। एवमेवाधर्माचरणं कनिष्ठवर्णाधिकारप्राप्तेश्चेति। यत्र यत्र शूद्रो नाध्यापनीयो न श्रावणीयश्चेत्युक्तं तत्रायमभिप्रायः, शूद्रस्य प्रज्ञाविरहत्वाद्विद्यापठनधारणविचारासमर्थत्वात्तस्याध्यापनं श्रावणं व्यर्थमेवास्ति, निष्फलत्वाच्चेति।

भाषार्थ

वर्णाश्रमव्यवस्था भी गुण कर्मों के आचारविभाग से होती है। इस में मनुस्मृति का भी प्रमाण है कि (शूद्रो ब्राह्मणता०)। शूद्र ब्राह्मण और ब्राह्मण शूद्र हो जाता है, अर्थात् गुण कर्मों के अनुकूल ब्राह्मण हो तो ब्राह्मण रहता है तथा जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के गुणवाला हो तो वह क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र हो जाता है। वैसे शूद्र भी मूर्ख हो तो वह शूद्र रहता और जो उत्तम गुणयुक्त हो तो यथायोग्य ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य हो जाता है। वैसे ही क्षत्रिय और वैश्य के विषय में भी जान लेना। जो शूद्र को वेदादि पढ़ने का अधिकार न होता तो वह ब्राह्मण, क्षत्रिय वा वैश्य के अधिकार को कैसे प्राप्त हो सकता। इससे यह निश्चित जाना जाता है कि पच्चीसवें वर्ष वर्णों का अधिकार ठीक २ होता है, क्योंकि पच्चीस वर्ष तक बुद्धि बढ़ती है। इसलिये उसी समय गुण कर्मों की ठीक २ परीक्षा करके वर्णाधिकार होना उचित है ॥ १ ॥ तथा आपस्तम्बसूत्र में भी ऐसा लिखा है (धर्मचर्य्यया०), अर्थात् धर्माचरण करने से नीचे के वर्ण पूर्व २ वर्ण के अधिकार को प्राप्त हो जाते हैं। सो केवल कहने ही मात्र को नहीं किन्तु जिस २ वर्ण को जिन २ कर्मों का अधिकार है उन्हीं के अनुसार (आपद्यते जातिपरिवृत्तौ) वे यथावत् प्राप्त

होते हैं ॥ १ ॥ (अधर्मचर्य्यया०) तथा अधर्माचरण करके पूर्व २ वर्ण नीचे २ के वर्णों के अधिकारों को प्राप्त होते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि वेदों के पढ़ने सुनने का अधिकार सब मनुष्यों को बराबर है।

इति संक्षेपतोऽधिकारानधिकारविषयः

अथ पठनपाठनविषयः संक्षेपतः

तत्रादौ पठनस्यारम्भे शिक्षारीत्या स्थानप्रयत्नस्वरज्ञानायाक्षरोच्चारणोपदेशः कर्त्तव्यः। येन नैव स्वरवर्णोच्चारणज्ञानविरोधः स्यात्। तद्यथा। प इत्यस्योच्चारणमोष्ठौ संयोज्यैव कार्य्यम्। अस्यौष्ठौ स्थानं, स्पृष्टः प्रयत्न इति वेद्यम्। एवमेव सर्वत्र। अत्र महाभाष्यकारः पतञ्जलिमहामुनिराह।

दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह। स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात् ॥ १ ॥ महाभा० अ० १। पा० १। आ० १ ॥

भाष्यम्

नैव स्थानप्रयत्नयोगेन विनोच्चारणे कृतेऽक्षराणां यथावत्प्रकाशः पदानां लालित्यं च भवति। यथा गानकर्त्ता षड्जादिस्वरालापनेऽन्यथोच्चारणं कुर्य्याच्चेत्स तस्यैवापराधो भवेत्। तद्वद्वेदेष्वपि प्रयत्नेन सह स्वस्वस्थाने खलु स्वरवर्णोच्चारणं कर्त्तव्यम्। अन्यथा दुष्टः शब्दो दुःखदोऽनर्थकश्च भवति। यथावदुच्चारणमुल्लंघ्योच्चारिते शब्दे वक्तुरपराध एव विज्ञायते। त्वं मिथ्याप्रयोगं कृतवानिति। नैव स मिथ्याप्रयुक्तः शब्दस्तमभिप्रेतमर्थमाह। तद्यथा। सकलम्, शकलम्। सकृत्, शकृदिति। सकलशब्दः सम्पूर्णार्थवाची। शकल इति खण्डवाची च। एवं सकृदित्येकवारार्थवाची। शकृदिति मलार्थवाची चात्र। सकारोच्चारणे कर्त्तव्ये शकारोच्चारणं क्रियते चेदेवं शकारोच्चारणे कर्त्तव्ये सकारोच्चारणं च, तदा स शब्दः स्वविषयं नाभिधत्ते। स वाग्व-

ज्ञो भवति । यमर्थम्मत्वोच्चारणं क्रियते स शब्दस्तदभिप्रायनाशको भवति । तदुच्चारं यजमानं तदधिष्ठातारं च हिनस्ति, तेनार्थेन हीनं करोति । यथेन्द्रशत्रुरयं शब्दः स्वरस्यापराधाद्विपरीतफलो जातः । तद्यथा । इन्द्रः सूर्य्यलोकस्तस्य शत्रुरिव मेघः । अत्र इन्द्रशत्रुशब्दे तत्पुरुषसमासार्थमन्तोदात्ते कर्त्तव्ये आद्युदात्तकरणाद् बहुव्रीहिः समासः कृतो भवति । अस्मिन् विषये तुल्ययोगितात्व(ल)ङ्कारेण मेघसूर्य्ययोर्वर्णनं कृतमिति, ततोऽर्थवैपरीत्यं जायते । उत्तरपदार्थप्रधानस्तत्पुरुषोऽन्यपदार्थप्रधानो बहुव्रीहिः समासो भवति । तत्र यस्येच्छा सूर्य्यस्य ग्रहणेऽस्ति तेनेन्द्रशत्रुशब्दः कर्मधारयसमासेनान्तोदात्त उच्चारणीयः । यस्य च मेघस्य तेन बहुव्रीहिसमासमाश्रित्याद्युदात्तस्वरश्चेति नियमोऽस्ति । अत्रान्यथात्वे कृते मनुष्यस्य दोष एव गण्यते । अतः कारणात् स्वरोच्चारणं वर्णोच्चारणं च यथावदेव कर्त्तव्यमिति ॥ १ ॥

भावार्थ

पठनपाठन की आदि में लड़कों और लड़कियों की ऐसी शिक्षा करनी चाहिये कि वे स्थान प्रयत्न के योग से वर्णों का ऐसा उच्चारण कर सकें कि जिससे सब को प्रिय लगें । जैसे (प) इस के उच्चारण में दो प्रकार का ज्ञान होना चाहिये एक स्थान और दूसरा प्रयत्न का । पकार का उच्चारण ओठों से होता है, परन्तु दो ओठों को ठीक २ मिला ही के पकार बोला जाता है । इसका ओष्ठ स्थान और स्पृष्ट प्रयत्न है और जो किसी अक्षर के स्थान में कोई स्वर वा व्यञ्जन मिला हो तो उस को भी उसी उसी के स्थान में प्रयत्न से उच्चारण करना उचित है । इस का सब विधान व्याकरण और शिक्षाग्रन्थ में लिखा है । फिर इस विषय में पतञ्जलि महाभाष्यकार ने भी कहा है कि स्वर और वर्णों के उच्चारण में विपरीत होने से शब्द दुष्ट कहाता है अर्थात् वह मूल अर्थ को नहीं जनाता । तथा (स वाग्वज्रो०) जैसे स्थान और प्रयत्न के योग के विना शब्द का उच्चारण प्रसन्नता करानेहारा नहीं होता वैसे ही स्वर से विपरीत उच्चारण और गानविद्या भी सुन्दर नहीं होती । किन्तु गान का करने वाला षड्जादि स्वरों के उच्चारण को उलटा कर देवे तो वह अपराध उसी का समझा

जाता है । इसी प्रकार वेदादि ग्रन्थों में भी स्वर और वर्णों का उच्चारण यत्न से होना चाहिये और जो उलटा उच्चारण किया जाता है वह (दुष्टः शब्दः) दुःख देने वाला और झूठ समझा जाता है । जिस शब्द का यथावत् उच्चारण न हो किन्तु उससे विपरीत किया जाय तो वह दोष बोलने वाले का गिना जाता है और विद्वान् लोग बोलनेवाले से कहते हैं कि तूने इस शब्द का अच्छा उच्चारण नहीं किया इससे यह तेरे अभिप्राय को यथार्थ नहीं कह सकता । जैसे (सकल) और (शकल) देख लो अर्थात् (सकल) शब्द सम्पूर्ण का बोधक और जो उस में तालव्य शकार का उच्चारण किया जाय तो वही फिर खण्ड का वाचक हो जाता है । ऐसे ही सकृत् और शकृत् में दन्त्य सकार के उच्चारण से प्रथम क्रिया और उसी को तालव्य उच्चारण करने से विष्ठा का बोध होता है । इसलिये शब्दों का उच्चारण यथावत् करने से ही ठीक २ अर्थ का बोध होता है । क्योंकि विपरीत उच्चारण से वह वज्र के समान वक्ता के अभिप्राय का नाश करनेवाला होता है । सो यह दोष बोलने वाले का ही गिना जाता है । जैसे (इन्द्रशत्रुः), यहां इकार में उदात्तस्वर बोलने से बहुव्रीहि समास और अन्य पदार्थ का बोध होता है तथा अन्तोदात्त बोलने से तत्पुरुषसमास और उत्तरपदार्थ का बोध हो जाता है । सूर्य्य का इन्द्र और मेघ का वृत्रासुर नाम है । इस के सम्बन्ध में वृत्रासुर अर्थात् मेघ का वर्णन तुल्ययोगिताऽलङ्कार से किया है । जो इन्द्र अर्थात् सूर्य्य की उत्तमता चाहे वह समस्त पद के स्थान में अन्तोदात्त उच्चारण करे और जो मेघ की वृद्धि चाहे वह आद्युदात्त उच्चारण करे । इसलिये स्वर का उच्चारण भी यथावत् करना चाहिये ।

भाष्यम्

तथा भाषणश्रवणासनगमनोत्थानभोजनाध्ययनविचारार्थयोजनादीनामपि शिक्षा कर्त्तव्यैव । अर्थज्ञानेन सहैव पठने कृते परमोत्तमं फलं प्राप्नोति । परन्तु यो न पठति तस्मात्त्वयं पाठमात्रकार्य्यप्युत्तमो भवति । यस्तु खलु शब्दार्थसम्बन्धविज्ञानपुरस्सरमधीते स उत्तमतरः । यश्चैवं वेदान् पठित्वा विज्ञाय च शुभगुणकर्माचरणेन सर्वोपकारी भवति स उत्तमतमः । अत्र प्रमाणानि ।

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः। यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥ २ ॥ ऋ० मण्डल १। सू० १६४। मं० ३९ ॥ स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्। योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा ॥ ३॥ यद्गृहीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते। अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित् ॥ ४ ॥ निरु० अ० १। खं० १८ ॥

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्। उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः ॥ ५ ॥ उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु। अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम् ॥ ६ ॥ ऋ० मण्ड० १०। सू० ७१। मं० ४। ५ ॥

भाष्यम्

अभि०—अत्रार्थज्ञानेन विनाऽध्ययनस्य निषेधः क्रियत इति। (ऋचो अक्षरे०) यस्मिन् विनाशरहिते परमोत्कृष्टे व्योमवद्व्यापके ब्रह्मणि, चत्वारो वेदाः पर्यवसितार्थाः सन्ति, ऋगुपलक्षणं चतुर्णां वेदानां ग्रहणार्थम्, तत् किं ब्रह्मेत्यत्राह। यस्मिन् विश्वे देवाः, सर्वे विद्वांसो, मनुष्या, इन्द्रियाणि च सूर्य्यादयश्च सर्वे लोका, अधिनिषेदुर्यदाऽऽधारेण निषण्णाः स्थितास्तद्ब्रह्म विज्ञेयम्। (यस्तं न वेद०) यः खलु तन्न जानाति, सर्वोपकारकरणार्थायामीश्वराज्ञायां यथावन्न वर्त्तते, स पठितयाऽपि ऋचा वेदेन किं करिष्यति, नैवायं कदाचिद्वेदार्थविज्ञानजातं किमपि फलं प्राप्नोतीत्यर्थः। (य इत्तद्विदुस्त इमे समासते) ये चैवं तद्ब्रह्म विदुस्त एव धर्मार्थकाममोक्षाख्यं फलं सम्यक् प्राप्नुवन्ति। तस्मात्सार्थकमेव वेदादीनामध्ययनं कर्त्तव्यम् ॥ २ ॥ (स्थाणुरयं०) यः पुरुषो वेदमधीत्य पाठमात्रं पठित्वाऽर्थं न जानाति, तं विज्ञायाऽपि धर्मं नाचरति, स मनुष्यः स्थाणुः काष्ठस्तम्भव-

भवति, अर्थाज्जडवद्विज्ञेयो भारवाहश्च । यथा कश्चिन्मनुष्यः पशुश्च भारमात्रं वहंस्तन्न भुङ्क्ते, किन्तु तेनोढं घृतमिष्टकस्तूरीकेशरादिकं कश्चिद्भाग्यवानन्यो मनुष्यो भुङ्क्ते । योऽर्थविज्ञानशून्यमध्ययनं करोति स भारवाहवत् (किला-भूत्) भवतीति मन्तव्यम् । (योऽर्थज्ञ०) योऽर्थस्य ज्ञाता वेदानां शब्दार्थसम्बन्धविद्भूत्वा धर्माचरणो भवति, स वेदार्थज्ञानेन (विधूतपाप्मा) पापरहितः सन् मरणात् प्रागेव (सकलं) सम्पूर्णं (भद्रं) भजनीयं सुखं (अश्नुते) प्राप्नोति । पुनश्च शरीरं त्यक्त्वा (नाकमेति) सर्वदुःखरहितं मोक्षाख्यं ब्रह्मपदं प्राप्नोति । तस्माद्वेदानामर्थज्ञानधर्मानुष्ठानपूर्वकमेवाध्ययनं कर्त्तव्यम् ॥ ३ ॥ (यद्गृहीतमविज्ञातं) येन मनुष्येण यदर्थज्ञानशून्यं वेदाद्यध्ययनं क्रियते, किन्तु (निगदेन) पाठमात्रेणैव (शब्द्यते) कथ्यते, तत् (कर्हिचित्) कदाचिदपि (न ज्वलति) न प्रकाशते । कस्मिन् किमिव ? । (अनग्नाविव शुष्कैधः) अविद्यमानाग्निके स्थले शुष्कं सांप्रतं प्रज्वलन मिन्धनमिव । यथाऽनग्नौ शुष्काणां काष्ठानां स्थापनेनापि दाहप्रकाशा न जायन्ते तादृशमेव तदध्ययनमिति ॥ ४ ॥ (उत त्वः पश्यन्न ददर्श०) अपि खल्वेको वाचं शब्दं पश्यन्नर्थं न पश्यति, (उत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्) उ इति वितर्के, कश्चिन्मनुष्यो वाचं शब्दमुच्चारयन्नपि न शृणोति तदर्थं न जानाति । यथा तेनोच्चारिता श्रुताऽपि वाक् अविदिता भवति तथैवाऽर्थज्ञानविरहमध्ययनमिति मन्त्रार्द्धेनाविद्वल्लक्षणमुक्तम् । (उतो त्वस्मै) यो मनुष्योऽर्थज्ञानपूर्वकं वेदानामध्ययनं करोति तस्मै (वाक्) विद्या (तन्वं) शरीरं स्वस्वरूपं (विसस्रे) विविधतया प्रकाशयति । कस्मै का किं कुर्वतीव ? । (जायेव पत्य उशती सुवासाः) यथा शोभनानि वासांसि वस्त्राणि धारयन्ती, पतिं कामयमाना स्त्री स्वस्वामिने स्वमात्मानं शरीरं प्रकाशयति, तथैवाऽर्थज्ञानपूर्वकाध्ययनकर्त्रे मनुष्याय विद्या स्वमात्मानं स्वस्वरूपमीश्वरमारभ्य पृथिवीपर्य्यन्तानां पदार्थानां ज्ञानमयं प्रकाशयतीत्यर्थः ॥ ५ ॥ (सख्ये) यथा सर्वेषां प्राणिनां मित्रभावकर्मणि, (उत त्वं) अन्यमनूचानं पूर्णविद्यायुक्तं, (स्थिरपीतं) धर्मानुष्ठानेश्वरप्राप्तिरूपं मोक्षफलं पीतं प्राप्तं येन, तं विद्वांसं परमसुखप्रदं मित्रं (आहुः) वदन्ति । (नैनं

हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु) ईदृशं विद्वांसं कस्मिंश्चिद् व्यवहारे केऽपि न हिंसन्ति, तस्य सर्वप्रियकारकत्वात्। तथैव नैव केचित्प्रश्नोत्तरादयो व्यवहारा वाजिनेषु विरुद्धवादिषु शत्रुभूतेष्वपि मनुष्येष्वेनमर्थविज्ञानसहितस्याध्येतारं मनुष्यं हिन्वन्ति, तस्य सत्यविद्यान्वितया कामदुहा वाचा सह वर्त्तमानत्वेन सत्यविद्याशुभलक्षणान्वितत्वात्। इत्यनेन मन्त्रपूर्वार्द्धेन विद्वत्प्रशंसोच्यते। अथैतन्मन्त्रोत्तरार्द्धेनाविद्वल्लक्षणमाह। (अधेन्वाचरति) यतो योऽविद्वान्, (अपुष्पाम्) कर्मोपासनानुष्ठानाचारविचाररहितां (अफलां) धर्मेश्वरविज्ञानाचारविरहां वाचं शुश्रुवान् श्रुतवान् तथाऽर्थशिक्षारहितया भ्रमसहितया (मायया) कपटयुक्तया वाचाऽस्मिंल्लोके चरति, नैव स मनुष्यजन्मनि स्वार्थपरोपकाराख्यं च फलं किञ्चिदपि प्राप्नोति। तस्मादर्थज्ञानपूर्वकमेवाध्ययनमुत्तमं भवतीति ॥ ६ ॥

भाषार्थ

ऐसे लड़कों और लड़कियों को बोलने, सुनने, चलने, बैठने, उठने, खाने, पीने, पढ़ने, विचारने तथा पदार्थों के जानने और जोड़ने आदि की शिक्षा भी करनी चाहिये, क्योंकि अर्थज्ञान के विना पढ़े कोई भी उत्तम फल को प्राप्त नहीं हो सकता। परन्तु कुछ भी नहीं पढ़ने वाले से तो पाठमात्र जानने वाला ही श्रेष्ठ है। जो वेदों को अर्थसहित यथावत् पढ़ के शुभ गुणों को ग्रहण और उत्तम कर्मों को करता है वही सब से उत्तम होता है। इस विषय में वेदमन्त्रों के बहुत प्रमाण हैं जैसे (ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्)। यहां इन मन्त्रों से अर्थज्ञान के विना पढ़ने का निषेध किया जाता है (प्र०) जिस का विनाश कभी नहीं होता और जो सबसे श्रेष्ठ, आकाशवत् व्यापक, सब में रहने वाला परमेश्वर है, जिसने अर्थसहित चारों वेद विद्यमान तथा जिसका उत्पन्न किया हुआ सब जगत् है, वह ब्रह्म क्या वस्तु है ?। (उ०) (यस्मिन्देवा०) जिस में संपूर्ण विद्वान् लोग, सब इन्द्रियां, सब मनुष्य और सब सूर्य्यादिलोक स्थित हैं वह परमेश्वर कहाता है। जो मनुष्य वेदों को पढ़ के ईश्वर को न जाने तो क्या वेदार्थ जानने का फल उस को प्राप्त हो सकता है, कभी नहीं। इसलिये जैसा

वेदविषय में लिख आये हैं वैसा व्यवहार करने वाले मनुष्य अत्यन्त आनन्द को प्राप्त होते हैं। परन्तु जो कोई पाठमात्र ही पढ़ता है वह उत्तम सुख को प्राप्त कभी नहीं हो सकता। इस कारण से जो कुछ पढ़ें सो अर्थज्ञानपूर्वक ही पढ़ें ॥ २ ॥ (स्थाणु०) जो मनुष्य वेदों को पढ़ के उन के अर्थों को नहीं जानता वह उनके सुख को न पाकर भार उठाने वाले पशु अथवा वृक्ष के समान है, जो कि अपने फल फूल डाली आदि को विना गुणबोध के उठा रहे हैं, किन्तु जैसे उनके सुख को भोगने वाला कोई दूसरा भाग्यवान् मनुष्य होता है वैसे ही पाठ के पढ़ने वाले भी परिश्रमरूप भार को उठाते हैं परन्तु उनके अर्थज्ञान से आनन्दस्वरूप फल को नहीं भोग सकते। (योऽर्थज्ञः) और जो अर्थ का जानने वाला है वह अधर्म से बचकर, धर्मात्मा होके, जन्म मरण-रूप दुःख का त्याग करके, संपूर्ण सुख को प्राप्त होता है। क्योंकि जो ज्ञान से पवित्रात्मा होता है वह (नाकमेति) सर्वदुःखरहित होके मोक्षसुख को प्राप्त होता है। इसी कारण वेदादिशास्त्रों को अर्थज्ञानसहित पढ़ना चाहिये ॥ ३ ॥ (यद्गृहीत०) जो मनुष्य केवल पाठमात्र ही पठन किया करता है उसका वह पढ़ना अन्धकाररूप होता है। (अग्नाविव शुष्कैधो०) जैसे अग्नि के विना सूखे ईंधन में दाह और प्रकाश नहीं होता वैसे ही अर्थज्ञान के विना अध्ययन भी ज्ञानप्रकाशरहित रहता है। वह पढ़ना अविद्यारूप अन्धकार का नाश कभी नहीं कर सकता ॥ ४ ॥ (उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत०) विद्वान् और अविद्वान् का यही लक्षण है कि जिस किसी को पढ़ सुन के भी शब्द अर्थ और सम्बन्ध का यथार्थ ज्ञान न हो वह मूर्ख अर्थात् अविद्वान् है। (उतो त्वस्मै०) और जो मनुष्य शब्द अर्थ सम्बन्ध तथा विद्या के प्रयोजन को यथावत् जान ले वह पूर्ण विद्वान् कहाता है। ऐसे ही श्रेष्ठ पुरुष को विद्या के स्वरूप के ज्ञान से परमानन्दरूप फल भी होता है। (जायेव पत्य उशती सुवासाः) अर्थात् जैसे पतिव्रता स्त्री अपने ही पति को अपना शरीर दिखलाती है वैसे ही अर्थ जाननेवाले विद्वान् ही को विद्या भी अपने रूप का प्रकाश करती है ॥ ५ ॥ (उतत्वं सख्ये०) सब मनुष्यों को उचित है कि विद्वानों के साथ प्रीति करें अर्थात् जैसे संपूर्ण मनुष्यों के मैत्री करने योग्य मनुष्य को सब लोग सुख देते हैं वैसे

ही तू भी जो वेदादि विद्या और विज्ञानयुक्त पुरुष है उस को अच्छी प्रकार सुख दे कि जिससे तुझे विद्यारूप लाभ सदा होता रहे। विद्वान् नाम उस का है जो कि अर्थसहित विद्या को पढ़के वैसा ही आचरण करे कि जिससे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष और परमेश्वर की प्राप्ति यथावत् हो सके। इसी को स्थिरपीत कहते हैं। ऐसा जो विद्वान् है वह संसार को सुख देने वाला होता है। (नैनं हि०) उस को कोई भी मनुष्य दुःख नहीं दे सकता, क्योंकि जिस के हृदय में विद्यारूप सूर्य्य प्रकाशित हो रहा है उस को दुःखरूप चोर दुःख कभी नहीं दे सकते। (अधेन्वा च०) और जो कोई अविद्यारूप अर्थात् अर्थ और अभिप्रायरहित वाणी को सुनता और कहता है उस को कभी कुछ भी सुख प्राप्त नहीं हो सकता। किन्तु शोकरूप शत्रु उस को सब दिन दुःख ही देते रहते हैं। क्योंकि विद्याहीन होने से वह उन शत्रुओं को जीतने में समर्थ नहीं हो सकता। इसलिये अर्थज्ञानसहित ही पढ़ने से मनचाहा सुखलाभ होता है ॥ ६ ॥

भाष्यम्

मनुष्यैर्वेदार्थविज्ञानाय व्याकरणाष्टाध्यायीमहाभाष्याध्ययनम्। ततो निघण्टुनिरुक्तछन्दोज्योतिषाणां वेदाङ्गानाम्। ततो मीमांसावैशेषिकन्याययोगसांख्यवेदान्तानां वेदोपाङ्गानां षण्णां शास्त्राणाम्। तत ऐतरेयशतपथसामगोपथब्राह्मणानामध्ययनं च कृत्वा वेदार्थपठनं कर्त्तव्यम्। यद्वा एतत्सर्वमधीतवद्भिः कृतं वेदव्याख्यानं दृष्ट्वा च वेदार्थज्ञानं सर्वैः कर्त्तव्यमिति। कुतः। नावेदविन्मनुते तं बृहन्तमिति। यो मनुष्यो वेदार्थान्न वेत्ति स नैव तं बृहन्तं परमेश्वरं धर्मं विद्यासमूहं वा वेत्तुमर्हति। कुतः, सर्वासां विद्यानां वेद एवाधिकरणमस्त्यतः। नहि तमविज्ञाय कस्यचित्सत्यविद्याप्राप्तिर्भवितुमर्हति। यद्यत् किञ्चिद्भूगोलमध्ये पुस्तकान्तरेषु हृदयान्तरेषु वा सत्यविद्याविज्ञानमभूत् भवति भविष्यति च तत् सर्वं वेदादेव प्रसृतमिति विज्ञेयम्। कुतः। यद्यद्यथार्थं विज्ञानं तत्तदीश्वरेण वेदेष्वधिकृतमास्ति। तद्द्वारैवाऽन्यत्र कुत्रचित्सत्यप्रकाशो भवितुं योग्यः। अतो वेदार्थविज्ञानाय सर्वैर्मनुष्यैः प्रयत्नोऽनुष्ठेय इति।

भाषार्थ

मनुष्य लोग वेदार्थ जानने के लिये अर्थयोजनासहित व्याकरण, अष्टाध्यायी, धातुपाठ, उणादिगण, गणपाठ और महाभाष्य। शिक्षा, कल्प, निघण्टु, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष ये छः वेदों के अंग। मीमांसा, वैशेषिक, न्याय, योग, सांख्य और वेदान्त ये छः शास्त्र, जो वेदों के उपांग अर्थात् जिन से वेदार्थ ठीक २ जाना जाता है। तथा ऐतरेय, शतपथ, साम और गोपथ ये चार ब्राह्मण। इन सब ग्रन्थों को क्रम से पढ़ के अथवा जिन्हों ने उन संपूर्ण ग्रंथों को पढ़ के जो सत्य २ वेद व्याख्यान किये हों उन को देख के वेद का अर्थ यथावत् जान लेवें। क्योंकि (नावेदवित्०) वेदों को नहीं जाननेवाला मनुष्य परमेश्वरादि सब पदार्थविद्याओं को अच्छी प्रकार से नहीं जान सकता और जो २ जहां २ भूगोलों वा पुस्तकों अथवा मन में सत्यज्ञान प्रकाशित हुआ है और होगा वह सब वेदों में से ही हुआ है। क्योंकि जो २ सत्यविज्ञान है सो २ ईश्वर ने वेदों में धर रक्खा है, इसी के द्वारा अन्य स्थानों में भी प्रकाश होता है और विद्या के विना पुरुष अन्धे के समान होता है। इस से संपूर्ण विद्याओं के मूल वेदों को विना पढ़े किसी मनुष्य को यथावत् ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिये सब मनुष्यों को वेदादि शास्त्र अर्थज्ञानसहित अवश्य पढ़ने चाहियें।

इति पठनपाठनविषयः संक्षेपतः

अथ संक्षेपतो भाष्यकरणशङ्कासमाधानादिविषयः

(प्रश्नः) किञ्च भोः ! नवीनं भाष्यं त्वया क्रियत आहोस्वित्पूर्वाचार्य्यैः कृतमेव प्रकाश्यते ? । यदि पूर्वैः कृतमेव प्रकाश्यते तर्हि तत् पिष्टपेषणदोषेण दूषितत्वान्न केनापि ग्राह्यं भवतीति ।(उत्तरम्) पूर्वाचार्यैः कृतं प्रकाश्यते । तद्यथा । यानि पूर्वैर्देवैर्विद्वद्भिर्ब्रह्माणमारभ्य याज्ञवल्क्यवात्स्यायनजैमिन्यन्तैर्ऋषिभिश्चैतरेयशतपथादीनि भाष्याणि रचितान्यासन्, तथा यानि

पाणिनिपतञ्जलियास्कादिमहर्षिभिश्च वेदव्याख्यानानि वेदाङ्गाख्यानि कृतानि, एवमेव जैमिन्यादिभिर्वेदोपाङ्गाख्यानि षट्शास्त्राणि, एवमुपवेदाख्यानि, तथैव वेदशाखाख्यानि च रचितानि सन्ति, एतेषां संग्रहमात्रेणैव सत्योऽर्थः प्रकाश्यते । न चात्र किञ्चिदप्रमाणं नवीनं स्वेच्छया रच्यत इति । (प्रश्नः) किमनेन फलं भविष्यतीति ? । (उ०) यानि रावणोवटसायणमहीधरादिभिर्वेदार्थविरुद्धानि भाष्याणि कृतानि यानि चैतदनुसारेणेङ्गलेण्डशारमण्यदेशोत्पन्नैर्यूरोपखण्डदेशनिवासिभिः स्वदेशभाषया स्वल्पानि व्याख्यानानि कृतानि, तथैवार्य्यावर्त्तदेशस्थैः कैश्चित्तदनुसारेण प्राकृतभाषया व्याख्यानानि कृतानि वा क्रियन्ते च तानि सर्वाण्यनर्थगर्भाणि सन्तीति सज्जनानां हृदयेषु यथावत् प्रकाशो भविष्यति, टीकानामधिकदोषप्रसिद्ध्या त्यागश्च । परन्त्ववकाशाभावात्तेषां दोषाणामत्र स्थालीपुलाकन्यायवत् प्रकाशः क्रियते । तद्यथा । यत् सायणाचार्य्येण वेदानां परममर्थमविज्ञाय सर्वे वेदाः क्रियाकाण्डतत्पराः सन्तीत्युक्तं, तदन्यथास्ति । कुतः । तेषां सर्वविद्यान्वितत्वात् । तच्च पूर्वं संक्षेपतो लिखितमस्ति । एतावतैवास्य कथनं व्यर्थमस्तीत्यवगन्तव्यम् । (इन्द्रं मित्रं०) अस्य मन्त्रस्याऽर्थोऽप्यन्यथैव वर्णितः । तद्यथा । तेनाऽत्रेन्द्रशब्दो विशेष्यतया गृहीतो मित्रादीनि च विशेषणतया । अत्र खलु विशेष्योऽग्निशब्द इन्द्रादीनां विशेषणानां सङ्गेऽन्वितो भूत्वा, पुनः स एव सद्वस्तुब्रह्मविशेषणं भवत्येवमेव विशेष्यं प्रति विशेषणं पुनः पुनरन्वितं भवतीति, न चैवं विशेषणम् । एवमेव यत्र शतं सहस्रं वैकस्य विशेष्यस्य विशेषणानि भवेयुः, तत्र विशेष्यस्य पुनः पुनरुच्चारणं भवति विशेषणस्यैकवारमेवेति । तथैवात्र मन्त्रे परमेश्वरेणाऽग्निशब्दो द्विरुच्चारितो विशेष्यविशेषणाऽभिप्रायात् । इदं सायणाचार्य्येण नैव बुद्धमतस्तस्य भ्रान्तिरेव जातेति वेद्यम् । निरुक्तकारेणाप्यग्निशब्दो विशेष्यविशेषणत्वेनैव वर्णितः । तद्यथा । इममेवाग्निं महान्तमात्मानमेकमात्मानं बहुधा मेधाविनो वदन्तीन्द्रं मित्रं वरुणमित्यादि० ॥ नि० अ० ७ । खं० १८ ॥ स चैकस्य सद्वस्तुनो ब्रह्मणो नामास्ति । तस्मादग्न्यादीनीश्वरस्य नामानि सन्तीति बोध्यम् । तथा च । तस्मात्सर्वैरपि परमेश्वर एव हूयते, यथा राज्ञः पुरोहितः सदभीष्टं

सम्पादयति, यद्वा यज्ञस्य सम्बन्धिनि पूर्वभागे आहवनीयरूपेणावस्थितमित्युक्तमिदमपि पूर्वापरविरुद्धमस्ति। तद्यथा। सर्वैर्नामभिः परमेश्वर एव हूयते चेत्पुनस्तेन होमसाधक आहवनीयरूपेणावस्थितो भौतिकोऽग्निः किमर्थो गृहीतः। तस्येदमपि वचनं भ्रममूलमेव। कोऽपि ब्रूयात्सायणाचार्य्येण यद्यपीन्द्रादयस्तत्र तत्र हूयन्ते तथापि परमेश्वरस्यैवेन्द्रादिरूपेणावस्थानादविरोध इत्युक्तत्वाददोष इति। एवं प्राप्ते ब्रूमः। यदीन्द्रादिभिर्नामभिः परमेश्वर एवोच्यते तर्हि परमेश्वरस्येन्द्रादिरूपावस्थितिरनुचिता। तद्यथा। अज एकपात्, स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमित्यादिमन्त्रार्थेन परमेश्वरस्य जन्मरूपवत्त्वशरीरधारणादिनिषेधात्तत्कथनमसदस्ति। एवमेव सायणाचार्य्यकृतभाष्यदोषा बहवः सन्ति। अग्रे यत्र यत्र यस्य यस्य मन्त्रस्य व्याख्यानं करिष्यामस्तत्र तत्र तद्भाष्यदोषान् प्रकाशयिष्याम इति।

भाषार्थ

(प्रश्न) क्यों जी जो तुम यह वेदों का भाष्य बनाते हो सो पूर्व आचार्य्यों के भाष्य के समान बनाते हो वा नवीन, जो पूर्वरचित भाष्यों के समान है तब तो बनाना व्यर्थ है, क्योंकि वे तो पहिले ही से बने बनाये हैं और जो नया बनाते हो तो उस को कोई भी न मानेगा, क्योंकि जो विना प्रमाण के केवल अपने ही कल्पना से बनाना है यह बात कब ठीक हो सकती है?। (उत्तर) यह भाष्य प्राचीन आचार्य्यों के भाष्यों के अनुकूल बनाया जाता है। परन्तु जो रावण, उवट, सायण और महीधर आदि ने भाष्य बनाये हैं वे सब मूलमन्त्र और ऋषिकृत व्याख्यानों से विरुद्ध हैं। मैं वैसा भाष्य नहीं बनाता, क्योंकि उन्हों ने वेदों की सत्यार्थता और अपूर्वता कुछ भी नहीं जानी। और जो यह मेरा भाष्य बनता है सो तो वेद, वेदाङ्ग, ऐतरेय, शतपथब्राह्मणादि ग्रन्थों के अनुसार होता है। क्योंकि जो २ वेदों के सनातन व्याख्यान हैं उन के प्रमाणों से युक्त बनाया जाता है यही इस में अपूर्वता है। क्योंकि जो २ प्रामाण्याप्रामाण्यविषय में वेदों से भिन्न शास्त्र गिन आये हैं वे सब वेदों के ही व्याख्यान हैं। वैसे ही ग्यारहसौ सत्ताईस (११२७) वेदों की शाखा भी उन

के व्याख्यान ही हैं। उन सब ग्रन्थों के प्रमाणयुक्त यह भाष्य बनाया जाता है। और दूसरा इन के अपूर्व होने का कारण यह भी है कि इस में कोई बात अप्रमाण वा अपनी रीति से नहीं लिखी जाती। और जो २ भाष्य, उवट, सायण, महीधरादि ने बनाये हैं वे सब मूलार्थ और सनातन वेदव्याख्यानों से विरुद्ध हैं। तथा जो २ इन नवीन भाष्यों के अनुसार अंग्रेजी, जर्मनी, दक्षिणी और बंगाली आदि भाषाओं में वेदव्याख्यान बने हैं वे भी अशुद्ध हैं। जैसे देखो सायणाचार्य्य ने वेदों के श्रेष्ठ अर्थों को नहीं जान कर कहा है कि सब वेद क्रियाकाण्ड का ही प्रतिपादन करते हैं। यह उनकी बात मिथ्या है। इस के उत्तर में जैसा कुछ इसी भूमिका के पूर्व प्रकरणों में संक्षेप से लिख चुके हैं सो देख लेना। ऐसे ही (इन्द्रं मित्रं०), सायणाचार्य्य ने इस मन्त्र का अर्थ भी भ्रान्ति से बिगाड़ा है, क्योंकि उन से इस मन्त्र में विशेष्य विशेषण को अच्छी रीति से नहीं समझ कर इन्द्र शब्द को तो विशेष्य करके वर्णन किया और मित्रादि शब्द उस के विशेषण ठहराये हैं। यह उन को बड़ा भ्रम हो गया, क्योंकि इस मन्त्र में अग्नि शब्द विशेष्य और इन्द्रादि शब्द उस के ही विशेषण हैं। इसलिये विशेषणों का विशेष्य के साथ अन्वय होकर पुनः दूसरे २ विशेषण के साथ विशेष्य का अन्वय कराना होता और विशेषण का एक वार विशेष्य के साथ अन्वय होता है। इसी प्रकार जहां २ एक के सैकड़ों वा हजारों विशेषण होते हैं वहां २ भी विशेष्य का सैकड़ों वा हजारों वार उच्चारण होता है। वैसे ही इस मन्त्र में विशेष्य की इच्छा से ईश्वर ने अग्नि शब्द का दो वार उच्चारण किया और अग्नि आदि ब्रह्म के नाम कहे हैं। यह बात सायणाचार्य्य ने नहीं जानी, इससे उन की यह भ्रान्ति सिद्ध है। इसी प्रकार निरुक्तकार ने भी अग्नि शब्द को विशेष्य ही वर्णन किया है, (इममेवाग्निं०) यहां अग्नि और इन्द्रादि नाम एक सद् वस्तु ब्रह्म ही के हैं, क्योंकि इन्द्रादि शब्द अग्नि के विशेषण और अग्नि आदि ब्रह्म के नाम हैं। ऐसे ही सायणाचार्य्य ने और भी बहुत मन्त्रों की व्याख्याओं में शब्दों के अर्थ उलटे किये हैं तथा उनने सब मन्त्रों से परमेश्वर का ग्रहण कर रक्खा है। जैसे राजा का पुरोहित राजा ही के हित का काम सिद्ध करता है अथवा जो अग्नि यज्ञ के

सम्बन्धी प्रथम भाग में हवन करने के लिये है उसी रूप से ईश्वर स्थित है। यह सायणाचार्य्य का कथन अयोग्य और पूर्वापर विरोधी होकर आगे पीछे के सम्बन्ध को तोड़ता है। क्योंकि जब सब नामों से परमेश्वर ही का ग्रहण करते हैं तो फिर जिस अग्नि में हवन करते हैं उस को किसलिये ग्रहण किया है। और कदाचित् कोई कहे कि जो सायणाचार्य्य ने वहां इन्द्रादि देवताओं का ही ग्रहण किया हो तो उससे कुछ भी विरोध नहीं आ सकता। इसका उत्तर यह है कि जब इन्द्रादि नामों से परमेश्वर ही का ग्रहण है तो वह निराकार, सर्वशक्तिमान्, व्यापक और अखण्ड होने से जन्म लेकर भिन्न २ व्यक्ति वाला कभी नहीं हो सकता। क्योंकि वेदों में परमेश्वर का एक अज और अकाय अर्थात् शरीरसम्बन्ध रहित आदि गुणों के साथ वर्णन किया है। इससे सायणाचार्य्य का कथन सत्य नहीं हो सकता। इसी प्रकार सायणाचार्य्य ने जिस २ मन्त्र का अन्यथा व्याख्यान किया है सो सब क्रमपूर्वक आगे उन मन्त्रों के व्याख्यान में लिख दिया जायगा।

भाष्यम्

एवमेव महीधरेण महानर्थरूपं वेदार्थदूषकं वेददीपाख्यं विवर्णं (विवरणं ?) कृतं तस्यापीह दोषा दिग्दर्शनवत्प्रदर्श्यन्ते।

इसी प्रकार महीधर ने भी यजुर्वेद पर मूल से अत्यन्त विरुद्ध व्याख्यान किया है उसमें से सत्यासत्य की परीक्षा के लिये उन के कुछ दोष यहां भी दिखलाते हैं।

गणानां त्वा गणपतिꣳ हवामहे प्रियाणां त्वा प्रियपतिꣳ हवामहे निधीनां त्वा निधिपतिꣳ हवामहे वसो मम। आहमजानि गर्भधमा त्वमजासि गर्भधम् ॥ १ ॥ यजु० अ० २३। मं० १९ ॥

भाष्यम्

अस्य मन्त्रस्य व्याख्याने तेनोक्तमस्मिन्मन्त्रे गणपतिशब्दादश्वो वाजी ग्रहीतव्य इति। तद्यथा। महिषी यजमानस्य पत्नी, यज्ञशालायां, पश्यतां सर्वेषामृत्विजामश्वसमीपे शेते। शयाना सत्याह। हे अश्व ! गर्भधं गर्भं दधाति

गर्भधं गर्भधारकं रेतः, अहं आ अजानि, आकृष्य क्षिपामि । त्वं च गर्भधं रेतः आ अजासि आकृष्य क्षिपसि ।

भाषार्थ

(गणानां त्वा) इस मन्त्र में महीधर ने कहा है कि गणपति शब्द से घोड़े का ग्रहण है । सो देखो महीधर का उलटा अर्थ कि सब ऋत्विजों के सामने यजमान की स्त्री घोड़े के पास सोवे और सोती हुई घोड़े से कहे कि, हे अश्व ! जिससे गर्भधारण होता है ऐसा जो तेरा वीर्य्य है उस को मैं खैंच के अपनी योनि में डालूं तथा तू उस वीर्य्य को मुझ में स्थापन करने वाला है ।

अथ सत्यार्थः

गणानां त्वा गणपतिं हवामह इति ब्राह्मणस्पत्यं । ब्रह्म वै बृहस्पतिर्ब्रह्मणैवैनं तद्भिषज्यति, प्रथश्च यस्य सप्रथश्च नामेति ॥ ऐत० पं० १ । कं० २१ ॥ प्रजापतिर्वै जमदग्निः सोऽश्वमेधः ॥ क्षत्रं वाश्वो विडितरे पशवः ॥ क्षत्रस्यैतद्रूपं यद्धिरण्यं ॥ ज्योतिर्वै हिरण्यम् ॥ श० कां० १३ । अ० २ । ब्रा० २ । कं० १४ । १५ । १७ । १६ ॥ न वै मनुष्यः स्वर्गं लोकमञ्जसा वेदाश्वो वै स्वर्गं लोकमञ्जसा वेद ॥ श० कां० १३ । अ० २ । ब्रा० ३ । कं० १ ॥ राष्ट्रमश्वमेधो ज्योतिरेव तद्राष्ट्रे दधाति ॥ क्षत्रायैव तद्विशं कृतानुकरामनुवर्त्तमानं करोति ॥ अथो क्षत्रं वा अश्वः, क्षत्रस्यैतद्रूपं यद्धिरण्यं, क्षत्रमेव तत्क्षत्रेण समर्धयति ॥ विशमेव तद्विशा समर्धयति ॥ श० कां० १३ । अ० २ । ब्रा० २ । कं० १६ । १५ । १७ । १८ ॥ गणानां त्वा गणपतिं हवामह इति । पत्न्यः परियन्त्यपह्नुवत एवास्मा एतदतोऽन्वेवास्मै ह्नुवतेऽथो धुवत एवैनं त्रिः परियन्ति त्रयो वा इमे लोका एभिरेवैनं लोकैर्धुवते त्रिः पुनः परियन्ति षट् सम्पद्यन्ते षड्वा ऋतव ऋतुभिरेवैनं धुवते ॥ अप वा एतेभ्यः प्राणाः क्रामन्ति ये यज्ञे धुवनं तन्वते । नव-

कृत्वः परियन्ति । नव वै प्राणाः । प्राणानेवात्मन्दधते । नैभ्यः प्राणा अपक्रामन्त्याहमजानि गर्भधमात्वमजासि गर्भधमिति । प्रजा वै पशवो गर्भः प्रजामेव पशूनात्मन्धत्ते ॥ श० कां० १३ । अ० २ । ब्रा० ८ । कं० ४ । ५ ॥

भाष्यम्

(गणानां त्वा०) वयं गणानां गणनीयानां पदार्थसमूहानां गणपतिं पालकं स्वामिनं (त्वा) त्वां परमेश्वरं (हवामहे) गृह्णीमः । तथैव सर्वेषां प्रियाणामिष्टमित्रादीनां मोक्षादीनां च प्रियपतिं त्वेति पूर्ववत् । एवमेव निधीनां विद्यारत्नादिकोशानां निधिपतिं त्वेति पूर्ववत् । वसत्यस्मिन् सर्वं जगद्वा यत्र वसति स वसुः परमेश्वरः । तत्सम्बुद्धौ हे वसो, परमेश्वरपरत्वम् । सर्वान् कार्य्यान् भूगोलान्स्वसामर्थ्ये गर्भवद्दधातीति स गर्भध,स्तं त्वामहं भवत्कृपया आजानि, सर्वथा जानीयाम् । (आ त्वमजासि) हे भगवन् ! त्वं तु आ समन्ताज्ज्ञातासि । पुनर्गर्भधमित्युक्त्या वयं प्रकृतिपरमाण्वादीनां गर्भधानामपि गर्भधं त्वां मन्यामहे । नैवातो भिन्नः कश्चिद्गर्भधारकोऽस्तीति । एवमेवैतरेयशतपथब्राह्मणे गणपतिशब्दार्थो वर्णितः । ब्राह्मणस्पत्यमस्मिन्मन्त्रे ब्रह्मणो वेदस्य पतेर्भावो वर्णितः । ब्रह्म वै बृहस्पतिरित्युक्तत्वात् । तेन ब्रह्मोपदेशेनैवैनं जीवं यजमानं वा सत्योपदेष्टा विद्वान् भिषज्यति रोगरहितं करोति । आत्मनो भिषजं वैद्यमिच्छतीति । यस्य परमेश्वरस्य प्रथः सर्वत्र व्याप्तो विस्तृतः, सप्रथश्च प्रकृत्याकाशादिना प्रथेन स्वसामर्थ्येन वा सह वर्त्तते स सप्रथ,स्तदिदं नामद्वयं तस्यैवास्तीति । प्रजापतिः परमेश्वरो, वै इति निश्चयेन, जमदग्निसंज्ञोऽस्ति । अत्र प्रमाणम् ।

जमदग्नयः प्रजमिताग्नयो वा, प्रज्वलिताग्नयो वा, तैरभिहुतो भवति ॥ निरु० अ० ७ । खं० २४ ॥

भाष्यम्

इमे सूर्य्यादयः प्रकाशकाः पदार्थास्तस्य सामर्थ्यादेव प्रज्वलिता भव-

न्ति । तैः सूर्यादिभिः कार्यैस्तन्नियमैश्च कारणाख्य ईश्वरोऽभिष्टुतश्चाभिमुख्येन पूजितो भवतीति । यः स जमदग्निः परमेश्वरः (सोऽश्वमेधः) स एव परमेश्वरोऽश्वमेधाख्य इति प्रथमोऽर्थः । अथापरः । क्षत्रं वाश्वो विडितरे पशव इत्यादि । यथाऽश्वस्यापेक्षयेतर इमेऽजादयः पशवो न्यूनबलवेगा भवन्ति, तथा राज्ञः सभासमीपे विट् प्रजा निर्बलैव भवति । तस्य राज्यस्य, यद्धिरण्यं सुवर्णादिवस्तु ज्योतिः प्रकाशो वा न्यायकरणमेतत्स्वरूपं भवति । यथा राजप्रजालङ्कारेण राजप्रजाधर्मो वर्णितः, तथैव जीवेश्वरयोः स्वस्वामिसम्बन्धो वर्ण्यते । नैव मनुष्यः केवलेन स्वसामर्थ्येन सरलतया * स्वर्गं परमेश्वराख्यं लोकं वेद किन्त्वीश्वरानुग्रहेणैव जानाति ।

अश्वो यत ईश्वरो वा अश्वः ॥ श० कां० १३ । अ० ३ । ब्रा० ३ । कं० ५ ॥ अश्नुते व्याप्नोति सर्वं जगत्सोऽश्व ईश्वरः ॥

भाष्यम्

इत्युक्तत्वादीश्वरस्यैवात्राश्वसंज्ञास्तीति । अन्यच्च (राष्ट्रं वा०) राज्यमश्वमेधसंज्ञं भवति, तद्राष्ट्रे राज्यकर्माणि ज्योतिर्दधाति, तत्कर्मफलं क्षत्राय राजपुरुषाय भवति । तच्च स्वसुखायैव विशं प्रजां कृतानुकरां स्ववर्त्तमानामनुकूलां † करोति । अथो इत्यनन्तरं क्षत्रमेवाश्वमेधसंज्ञकं भवति । तस्य, यद्धिरण्यमेतदेवरूपं भवति । तेन हिरण्याद्यन्वितेन क्षत्रेण राज्यमेव सम्यग्वर्धते नच प्रजा । सा तु स्वतन्त्रस्वभावान्वितया विशा समर्धयति । अतो यत्रैको राजा भवति तत्र प्रजा पीडिता जायते । तस्मात्प्रजासत्तयैव राज्यप्रबन्धः कार्य्य इति । (गणानां) स्त्रियोप्येनं, राज्यपालनाय, विद्यामयं सन्तानशिक्षाकरणाख्यं यज्ञं, परितः सर्वतः प्राप्नुयुः, प्राप्ताः सत्योऽस्य सिद्धये यदपह्नवाख्यं कर्माचरन्ति, अतः कारणादेतदेतासामन्ये विद्वांसो दूरीकुर्वन्ति । अथो इत्यनन्तरं य एनं विचालयन्ति तानप्यन्ये च दूरीकुर्य्युः । एवमस्य

* एतत्स्थाने सहजतयेति ह० लि० भूमिकायां पाठः ॥

† स्ववर्त्तमानानुकूलामिति ह० लि० भूमिकायां नास्ति ।

त्रिवारं रक्षणं सर्वथा कुर्य्युः। एवं प्रतिदिनमेतस्य शिक्षया रक्षणेन चात्मशरीरबलानि सम्पादयेयुः। ये नराः पूर्वोक्तं गर्भधं परमेश्वरं जानन्ति नैव तेभ्यः प्राणा बलपराक्रमादयोऽपक्रामन्ति। तस्मान्मनुष्यस्तं गर्भधं परमेश्वरमहमाजानि समन्ताज्जानीयामितीच्छेत्। (प्रजा वै पशवः०) ईश्वरसामर्थ्यगर्भात्सर्वे पदार्था जाता इति योजनीयम्। यश्च पशूनां प्रजानां मध्ये विज्ञानवान् भवति स इमां सर्वां प्रजामात्मनि, अतति सर्वत्र व्याप्नोति तस्मिन् जगदीश्वरे वर्त्तेत इति, धारयति। इति संक्षेपतो गणानां त्वेति मन्त्रस्यार्थो वर्णितः। अस्मान्महीधरस्यार्थोऽत्यन्तविरुद्ध एवास्तीति मन्तव्यम्।

भाषार्थ

(गणानां त्वा०) ऐतरेय ब्राह्मण में गणपति शब्द की ऐसी व्याख्या की है कि यह मन्त्र ईश्वरार्थ का प्रतिपादन करता है, जैसे ब्रह्म का नाम बृहस्पति, ईश्वर तथा वेद का नाम भी ब्रह्म है। जैसे अच्छा वैद्य रोगी को औषध देके दुःखों से अलग कर देता है, वैसे ही परमेश्वर भी वेदोपदेश करके मनुष्य को विज्ञानरूप ओषधि देके अविद्यारूप दुःखों से छुड़ा देता है, जो कि प्रथ अर्थात् विस्तृत, सब में व्याप्त और सप्रथ अर्थात् आकाशादि विस्तृत पदार्थों के साथ भी व्यापक हो रहा है। इसी प्रकार से यह मन्त्र ईश्वर के नामों को यथावत् प्रतिपादन कर रहा है। ऐसे ही शतपथ ब्राह्मण में भी राज्यपालन का नाम अश्वमेध, राजा का नाम अश्व और प्रजा का नाम घोड़े से भिन्न पशु रक्खा है। राज्य की शोभा धन है और ज्योति का नाम हिरण्य है। तथा अश्व नाम परमेश्वर का भी है, क्योंकि कोई मनुष्य स्वर्गलोक को अपने सहज सामर्थ्य से नहीं जान सकता किन्तु अश्व अर्थात् जो ईश्वर है वही उन के लिये स्वर्गसुख को जनाता और जो मनुष्य प्रेमी धर्मात्मा हैं उन को सब स्वर्गसुख देता है। तथा (राष्ट्रमश्वमेधः) राज्य के प्रकाश का धारण करना सभा ही का काम और उसी सभा का नाम राजा है, वही अपनी ओर से प्रजा पर कर लगाती है, क्योंकि राज ही से राज्य और प्रजा ही से प्रजा की वृद्धि होती है। (गणानां त्वा०) स्त्री लोग भी राज्यपालन के लिये विद्या की शिक्षा सन्तानों को करती

रहें। जो इस यज्ञ को प्राप्त होके भी सन्तानोत्पत्ति आदि कर्म्म में मिथ्याचरण करती हैं उन के इस कर्म को विद्वान् लोग प्रसन्न नहीं करते और जो पुरुष सन्तानादि की शिक्षा में आलस्य करते हैं अन्य लोग उनको बांध कर ताड़ना देते हैं। इस प्रकार तीन, छः वा नव वार इस की रक्षा से आत्मा शरीर और बल को सिद्ध करें। जो मनुष्य परमेश्वर की उपासना करते हैं उनके बलादि गुण कभी नष्ट नहीं होते। (आहमजानि०) प्रजा के कारण का नाम गर्भ है। उस के समतुल्य वह सभा, प्रजा और प्रजा के पशुओं को, अपने आत्मा में धारण करे अर्थात् जिस प्रकार अपना सुख चाहे वैसे ही प्रजा और उस के पशुओं का भी सुख चाहे। (गणानां त्वा०) जो परमात्मा गणनीय पदार्थों का पति अर्थात् पालन करने हारा है, (त्वा०) उस को (हवामहे) हम लोग पूज्यबुद्धि से ग्रहण करते हैं। (प्रियाणां०) जो कि हमारे इष्ट मित्र और मोक्षसुखादि का प्रियपति तथा हम को आनन्द में रख कर सदा पालन करने वाला है उसी को हम लोग अपना उपास्यदेव जान के ग्रहण करते हैं। (निधीनां त्वा०) जो कि विद्या और सुखादि का निधि अर्थात् हमारे कोशों का पति है उसी सर्वशक्तिमान् परमेश्वर को हम अपना राजा और स्वामी मानते हैं। तथा जो कि व्यापक होके सब जगत् में और सब जगत् उसमें बस रहा है इस कारण से उस को वसु कहते हैं। हे वसु परमेश्वर ! जो आप अपने सामर्थ्य से जगत् के अनादिकारण में गर्भधारण करते हैं अर्थात् सब मूर्त्तिमान् द्रव्यों को आप ही रचते हैं इसी हेतु से आप का नाम गर्भध है। (आहमजानि) मैं ऐसे गुणसहित आपको जानूं। (आत्व०) जैसे आप सब प्रकार से सब को जानते हैं वैसे ही मुझ को भी सब प्रकार से ज्ञानयुक्त कीजिये। (गर्भधं) दूसरी वेर गर्भध शब्द का पाठ इसलिये है कि जो २ प्रकृति और परमाणु आदि कार्यद्रव्यों के गर्भरूप हैं उन में भी सब जगत् के गर्भरूप बीज को धारण करनेवाले ईश्वर से भिन्न दूसरा कार्य्य जगत् की उत्पत्ति स्थिति और लय करनेवाला कोई भी नहीं है। यही अर्थ ऐतरेय, शतपथ ब्राह्मण में कहा है। विचारना चाहिये कि इस सत्य अर्थ के गुप्त होने और मिथ्या नवीन अर्थों के प्रचार होने से मनुष्यों को भ्रान्त करके वेदों का कितना अपमान कराया है। जैसे यह दोष खण्डित हुआ वैसे

इस भाष्य की प्रवृत्ति से इन सब मिथ्या दोषों की निवृत्ति हो जायगी ।

ता उ॒भौ च॒तुरः॑ प॒दः स॒म्प्रसा॑रयाव स्व॒र्गे लो॒के प्रोर्णु॑वाथां वृषा॑ वा॒जी रे॑तो॒धा रेतो॑ दधातु ॥ २ ॥ य० अ० २३ । मं० २० ॥

महीधरस्यार्थः—अश्वशिश्नमुपस्थे कुरुते वृषा वाजीति । महिषी स्वय-मेवाश्वशिश्नमाकृष्य स्वयोनौ स्थापयति ।

महीधर का अर्थ

भाषार्थ

यजमान की स्त्री घोड़े के लिङ्ग को पकड़ कर आप ही अपनी योनि में डाल देवे ।

सत्योऽर्थः

ता उभौ चतुरः पदः सम्प्रसारयावेति मिथुनस्यावरुध्यै स्वर्गे लोके प्रोर्णुवाथामित्येष वै स्वर्गो लोको यत्र पशुꣳ संज्ञ-पयन्ति तस्मादेवमाह वृषा वाजी रेतोधा रेतो दधात्विति मि-थुनस्यैवावरुध्यै ॥ श० कां० १३ । अ० २ । ब्रा० ८ । कं० ५ ॥

भाष्यम्

आवां राजप्रजे, धर्मार्थकाममोक्षान् चतुरः पदानि, सदैव मिलिते भूत्वा सम्यक् विस्तारयेवहि । कस्मै प्रयोजनायेत्यत्राह । स्वर्गे सुखविशेषे, लोके द्रष्टव्ये भोक्तव्ये, प्रियानन्दस्य स्थिरत्वाय, येन सर्वान्प्राणिनः सुखैराच्छाद-येवहि । यस्मिन् राज्ये पशुं पशुत्वभावमन्यायेन परपदार्थानां द्रष्टारं जीवं विद्योपदेशदण्डदानेन सम्यगवबोधयन्ति सैष एव सुखयुक्तो देशो हि स्वर्गो भवति । तस्मात्कारणादुभयस्य सुखायोभये विद्यादिसद्गुणानामभिवर्षकं वाजिनं विज्ञानवन्तं जनं प्रति विद्यावले सततमेव दधात्वित्याहायं मन्त्रः ।

भाषार्थ

(ता उभौ०) राजा और प्रजा हम दोनों मिल के धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि के प्रचार करने में सदा प्रवृत्त रहें। किस प्रयोजन के लिये ? कि दोनों की अत्यन्त सुखरूप स्वर्गलोक में प्रिय आनन्द की स्थिति के लिये, जिससे हम दोनों परस्पर तथा सब प्राणियों को सुख से परिपूर्ण कर देवें। जिस राज्य में मनुष्य लोग अच्छी प्रकार ईश्वर को जानते हैं वही देश सुखयुक्त होता है। इससे राजा और प्रजा परस्पर सुख के लिये सद्गुणों के उपदेशक पुरुष की सदा सेवा करें और विद्या तथा बल को सदा बढ़ावें। इस अर्थ का कहने-वाला (ता उभौ०) यह मन्त्र है। इस अर्थ से महीधर का अर्थ अत्यन्त विरुद्ध है।

यकासकौ शकुन्तिका हलगिति वञ्चति। आहन्ति गभे पसो निगल्गलीति धारका॥ य० अ० २३। मं० २२॥

महीधरो वदति

अध्वर्य्वादयः कुमारीपत्नीभिः सह सोपहासं संवदन्ते। अंगुल्या योनिं प्रदेशयन्नाह, स्त्रीणां शीघ्रगमने योनौ हलहलाशब्दो भवतीत्यर्थः। भगे योनौ शकुनिसदृश्यां यदा पसो लिंगमाहन्ति आगच्छति। पुंस्प्रजननस्य नाम, हन्तिर्गत्यर्थः। यदा भगे शिश्नमागच्छति तदा (धारका) धरति लिङ्गमिति धारका योनिः (निगल्गलीति) नितरां गलति वीर्य्यं क्षरति; यद्वा शब्दानुकरणं गल्गलेति शब्दं करोति। (* यकासकौ०) कुमारी अध्वर्य्युं प्रत्याह। अंगुल्या लिंगं प्रदेशयन्त्याह। अग्रभागे सच्छिद्रं लिङ्गं तव मुखमिव भासते।

महीधर का अर्थ

भाषार्थ

यज्ञशाला में अध्वर्यु आदि ऋत्विज् लोग कुमारी और स्त्रियों के साथ उप-

* यजु० अ० २३। मं० २३॥

हासपूर्वक संवाद करते हैं। इस प्रकार से कि अङ्गुलि से योनि को दिखला के हंसते हैं, (आहलगिति०) जब स्त्री लोग जल्दी २ चलती हैं तब उन की योनि में हलहला शब्द और जब भग लिङ्ग का संयोग होता है तब भी हलहला शब्द होता और योनि और लिङ्ग से वीर्य्य झरता है। (यकासकौ०) कुमारी अध्वर्यु का उपहास करती है कि जो यह छिद्रसहित तेरे लिङ्ग का अग्रभाग है सो तेरे मुख के समान दीख पड़ता है।

अथ सत्यार्थः

यकासकौ शकुन्तिकेति। विड् वै शकुन्तिका हलगिति वञ्चतीति। विशो वै राष्ट्राय वञ्चन्त्याहन्ति गभे पसो निगल्गलीति धारकेति, विड् वै गभो राष्ट्रं पसो, राष्ट्रमेव विश्याहन्ति, तस्माद्राष्ट्री विशं घातुकः॥ श० कां० १३। अ० २। ब्रा० ६। कं० ६॥

भाष्यम्

(विड्वै०) यथा श्येनस्य समीपेऽल्पपक्षिणी निर्बला भवति तथैव राज्ञः समीपे (विट्) प्रजा निर्बला भवति। (आहलागिति वञ्चतीति) राजानो विशः प्रजाः (वै) इति निश्चयेन राष्ट्राय राजसुखप्रयोजनाय सदैव वञ्चन्तीति। (आहन्ति०) विशो गभसंज्ञा भवति पसाख्यं राष्ट्रं, राज्यं प्रजया स्पर्शनीयं भवति, यस्माद्राष्ट्रं तां प्रजां प्रविश्याहन्ति समन्ताद्धननं पीडां करोति, यस्माद्राष्ट्री एको राजा मतश्चेत्तर्हि विशं प्रजां घातुको भवति, तस्मात्कारणादेको मनुष्यो राजा कदाचिन्नैव मन्तव्यः, किन्तु सभाध्यक्षः सभाधीनो यः सदाचारी शुभलक्षणान्वितो विद्वान्स प्रजामी राजा मन्तव्यः। अस्मादपि सत्यादर्थान्महीधरस्यातीव दुष्टोऽर्थोऽस्तीति विचारणीयम्।

भाषार्थ

(यकासकौ०) प्रजा का नाम शकुन्तिका है कि जैसे बाज के सामने छोटी २ चिड़ियाओं की दुर्दशा होती है वैसे ही राजा के सामने प्रजा की। (आ-

हृलगिति०) जहां एक मनुष्य राजा होता है वहां प्रजा ठगी जाती है । (आ-हन्तिगभे पसो०) तथा प्रजा का नाम गभ और राज्य का नाम पस है । जहां एक मनुष्य राजा होता है वहां वह अपने लोभ से प्रजा के पदार्थों की हानि ही करता चला जाता है । इसलिये राजा को प्रजा का घातुक अर्थात् हनन करने वाला भी कहते हैं । इस कारण से एक को राजा कभी नहीं मानना चाहिये, किन्तु धार्मिक विद्वानों की सभा के आधीन ही राज्यप्रबन्ध होना चाहिये । (यकासकौ०) इत्यादि मन्त्रों के शतपथप्रतिपादित अर्थों से महीधर आदि अल्पज्ञ लोगों के बनाये हुए अर्थों का अत्यन्त विरोध है ।

माता च ते पिता च तेऽग्रं वृक्षस्य रोहतः । प्रतिलामीति ते पिता गभे मुष्टिमतंसयत ॥ य० अ० २३ । मं० २४ ॥

महीधरस्यार्थः

ब्रह्मा महिषीमाह । महिषि हये हये महिषि ! ते तव माता, च पुनः,ते तव पिता, यदा वृक्षस्य वृक्षजस्य काष्ठमयस्य मञ्चकस्याग्रमुपरिभागं रोहतः आरोहतः तदा ते पिता गभे भगे मुष्टिं मुष्टितुल्यं लिङ्गमतंसयत्तंसयति प्रक्षिपति । एवं तवोत्पत्तिरित्यश्लीलम् । लिङ्गमुत्थानेनालङ्करोति वा तव भोगेन भिनद्मीति वदन्नेवं तवोत्पत्तिः ।

महीधर का अर्थ

भाषार्थ

अब ब्रह्मा हास करता हुआ यजमान की स्त्री से कहता है कि जब तेरी माता और पिता पलंग के ऊपर चढ़ के तेरे पिता ने मुष्टितुल्य लिङ्ग को तेरी माता के भग में डाला तब तेरी उत्पत्ति हुई । उसने ब्रह्मा से कहा कि तेरी भी उत्पत्ति ऐसे ही हुई है उससे दोनों की उत्पत्ति तुल्य है ।

अथ सत्यार्थः

माता च ते पिता च त इति । इयं वै मातासौ पिताभ्या-

मेवैनं स्वर्गं लोकं गमयत्यग्रं वृक्षस्य रोहत इति । श्रीर्वै राष्ट्रस्याग्रᳬ, श्रियमेवैनᳬ राष्ट्रस्याग्रं गमयति । प्रतिलामीति ते पिता गभे मुष्टिमतᳬ सयदिति । विड्वै गभो राष्ट्रं मुष्टी, राष्ट्रमेवाविश्याहन्ति, तस्माद्राष्ट्री विशं घातुकः ॥ श० कां० १३ । अ० २ । ब्रा० ६ । कं० ७ ॥

भाष्यम्

(माता च ते०) हे मनुष्य ! इयं पृथिवी विद्या च ते तव मातृवदस्ति। ओषध्याद्यनेकपदार्थदानेन विज्ञानोत्पत्त्या च मान्यहेतुत्वात् । असौ द्यौः प्रकाशो विद्वानीश्वरश्च तव पितृवदस्ति, सर्वपुरुषार्थानुष्ठानस्य सर्वसुखप्रदानस्य च हेतुत्वेन पालकत्वात् । विद्वान् ताभ्यामेवैनं जीवं स्वर्गं सुखरूपं लोकं गमयति । (अग्रं वृक्षस्य०) या श्री,र्विद्याशुभगुणरत्नादिशोभान्विता च लक्ष्मीः सा राष्ट्रस्याग्रमुत्तमाङ्गं भवति, सैवैनं जीवं श्रियं शोभां गमयति, यद्राष्ट्रस्याग्रमग्र्यं मुख्यं सुखं च । (प्रतिलामीति०) विद् प्रजा गभाख्याऽर्थादैश्वर्य्यप्रदा, (राष्ट्रंमुष्टिः०) राजकर्म मुष्टिः, यथा मुष्टिना मनुष्यो धनं गृह्णाति तथैवैको राजा चेत्तर्हि पक्षपातेन प्रजाभ्यः स्वसुखाय सर्वां श्रेष्ठां श्रियं हरत्येव । यस्माद्राष्ट्रं विशि प्रजायां प्रविश्य आहन्ति, तस्माद्राष्ट्री विशं घातुको भवति। अस्मादर्थान्महीधरस्यार्थोऽत्यन्तविरुद्धोऽस्ति, तस्मात्स नैव केनापि मन्तव्यः ।

भाषार्थ

सत्य अर्थ

(माता च ते०) सब प्राणियों की पृथिवी और विद्या माता के समान सब प्रकार के मान्य कराने वाली और सूर्य्यलोक विद्वान् तथा परमेश्वर पिता के समान हैं । क्योंकि सूर्यलोक पृथिवी के पदार्थों का प्रकाशक और विज्ञानदान से पण्डित तथा परमात्मा सब का पालन करने वाला है । इन्हीं दोनों कारणों से विद्वान् लोग जीवों को नाना प्रकार का सुख प्राप्त करा देते हैं । (अग्रं वृ-

चस्य) श्री जो लक्ष्मी है सोही राज्य का अग्रभाग अर्थात् शिर के समान है, क्योंकि विद्या और धन ये दोनों मिल के ही जीव को शोभा और राज्य के सुख को प्राप्त कर देते हैं। (प्रतिलामीति०) फिर प्रजा का नाम गभ अर्थात् ऐश्वर्य्य की देनेवाली और राज्य का नाम मुष्टि है, क्योंकि राजा अपनी प्रजा के पदार्थों को मुष्टि से ऐसे हर लेता है कि जैसे कोई बल करके किसी दूसरे के पदार्थ को अपना बना लेवे। वैसे ही जहां अकेला मनुष्य राजा होता है वहां वह पक्षपात से अपने सुख के लिये जो २ प्रजा की श्रेष्ठ सुख देनेवाली लक्ष्मी है उसको ले लेता है अर्थात् वह राजा अपने राजकर्म में प्रवृत्त होके प्रजा को पीड़ा देनेवाला होता है। इसलिये एक को राजा कभी मानना न चाहिये। किन्तु सब लोगों को उचित है कि अध्यक्ष सहित सभा की आज्ञा ही में रहना चाहिये। इस अर्थ से महीधर का अर्थ अत्यन्त विरुद्ध है।

***ऊर्ध्वमेनामुच्छ्रापय गिरौ भारꣳ हरन्निव। अथास्यै मध्यमेधताꣳ शीते वाते पुनन्निव॥ य० अ० २३। मं० २६॥**

महीधरस्यार्थः

यथा अस्यै अस्या वावातायाः मध्यमेधतां योनिप्रदेशो वृद्धिं यायात्, यथा योनिर्विशाला भवति, तथा मध्ये गृहीत्वोच्छ्रापयेत्यर्थः। दृष्टान्तान्तरमाह। यथा शीतले वायौ वाति पुनन्धान्यपवनं कुर्वाणः कृषीवलो धान्यपात्रं ऊर्ध्वं करोति तथेत्यर्थः।

यदस्या अꣳहुभेद्याः कृधु स्थूलमुपातसत्। मुष्काविदस्या एजतो गोशफे शकुलाविव॥ २८॥ य० अ० २३। मं० २८॥

यत् यदा अस्याः परिवृक्तायाः कृधु ह्रस्वं स्थूलं च शिश्नमुपातसत् उपगच्छेत् योनिं प्रति गच्छेत्, तंस उपक्षये, तदा मुष्कौ वृषणौ इत् एव अस्याः योनेरुपरि एजतः कम्पेते, लिङ्गस्य स्थूलत्वाद्योनेरल्पत्वाद्वृषणौ

* ऊर्ध्वामिति यजुषि पाठः।

बहिस्तिष्ठत इत्यर्थः । तत्र दृष्टान्तः, गोशफे जलपूर्णे गोखुरे शकुलौ मत्स्याविव, यथा उदकपूर्णे गोः पदे मत्स्यौ कम्पेते ।

महीधर का अर्थ

भाषार्थ

पुरुष लोग स्त्री की योनि को दोनों हाथ से खैंच के बढ़ा लेवें, (यदस्य अᳫंहु०) परिवृक्ता अर्थात् जिस स्त्री का वीर्य्य निकल जाता है । जब छोटा वा बड़ा लिङ्ग उस की योनि में डाला जाता है तब योनि के ऊपर दोनों अंडकोश नाचा करते हैं, क्योंकि योनि छोटी और लिङ्ग बड़ा होता है । इस में महीधर दृष्टान्त देता है कि जैसे गाय के खुर के बने हुए गढ़े के जल में दो मच्छी नाचें, तथा जैसे खेती करने वाला मनुष्य अन्न और भुस अलग २ करने के लिये चलते वायु में एक पात्र में भर के ऊपर को उठा के कंपाया करता है वैसे ही योनि के ऊपर अंडकोश नाचा करते हैं ।

अथ सत्योऽर्थः

*ऊर्ध्वमेनामुच्छ्रापयेति । श्रीर्वै राष्ट्रमश्वमेधः श्रियमेवास्मै राष्ट्रमूर्ध्वमुच्छ्रयति । गिरौ भारᳫं हरन्निवेति । श्रीर्वै राष्ट्रस्य भारः श्रियमेवास्मै राष्ट्रᳫं सन्नह्यत्यथो श्रियमेवास्मिन् राष्ट्रमधिनिदधाति । अथास्यै मध्यमेधतामिति । श्रीर्वै राष्ट्रस्य मध्यᳫं श्रियमेव राष्ट्रे मध्यतोऽन्नाद्यं दधाति । शीते वाते पुनन्निवेति । क्षेमो वै राष्ट्रस्य शीतं क्षेममेवास्मै करोति ॥ श० कां० १३ । अ० २ । ब्रा० ६ । कं० २ । ३ । ४ । ५ ॥

भाष्यम्

(ऊर्ध्वमेना०) हे नर ! त्वं श्रीर्वै राष्ट्रमश्वमेधो यज्ञश्चास्मै राष्ट्राय श्रि-

* ऊर्ध्वामिति वैदिकयन्त्रालयमुद्रितशतपथे पाठः ॥

यमुच्छ्रापय श्रेव्यामुत्कृष्टां कुरु । एवं सभया राज्यपालने कृते राष्ट्रं राज्यमूर्ध्वं सर्वोत्कृष्टगुणमुच्छ्रयितुं शक्यम् । (गिरौ भारꣳ हर०) कस्मिन्किमिव ? । गिरिशिखरे प्राप्त्यर्थं भारवद्वस्तूपस्थापयन्निव । कोस्ति राष्ट्रस्य भार इत्यत्राह । श्रीर्वै राष्ट्रस्य भार इति । सभाव्यवस्थयास्मै राष्ट्राय श्रियं सन्नह्य सम्बध्य राष्ट्रमनुत्तमं कुर्य्यात् । अथो इत्यनन्तरमेव कुर्वन् जनोऽस्मिन्संसारे राष्ट्रं श्रीयुक्तमधिनिदधाति सर्वोपरि नित्यं धारयतीत्यर्थः । (अथास्यै०) किमस्य राष्ट्रस्य मध्यमित्याकांक्षायामुच्यते । श्रीर्वै राष्ट्रस्य मध्यं, तस्मादिमां पूर्वोक्तां श्रियमन्नाद्यं भोक्तव्यं वस्तु च राष्ट्रे राज्ये महतो राज्यस्याऽऽभ्यन्तरे दधाति, सुसभया सर्वां प्रजां सुभोगयुक्तां करोति । कस्मिन् किं कुर्वन्निव ? । शीते वाते पुनन्निवेति । राष्ट्रस्य क्षेमो रक्षणं शीतं भवत्यस्मै राष्ट्राय क्षेमं सुसभया रक्षणं कुर्य्यात् । अस्मादपि सत्यादर्थान्महीधरस्य व्याख्यानमत्यन्तं विरुद्धमस्तीति ।

भावार्थ

श्री नाम विद्या और धन का तथा राष्ट्रपालन का नाम अश्वमेध है । ये ही श्री और राज्य की उन्नति कराते हैं । (गिरौ भारꣳ हरन्निव०) राज्य का भार श्री है, क्योंकि इसीसे राज्य की वृद्धि होती है । इसलिये राज्य में विद्या और धन की अच्छी प्रकार वृद्धि होने के अर्थ उसका भार अर्थात् प्रबन्ध श्रेष्ठ-पुरुषों की सभा के ऊपर धरना चाहिये कि (अथास्यै०) श्री राज्य का आधार और वही राज्य में शोभा को धारण करके उत्तम पदार्थों को प्राप्त कर देती है । इस में दृष्टान्त यह है कि (शीते वाते०) अर्थात् राज्य की रक्षा करने का नाम शीत है, क्योंकि जब सभा से राज्य की रक्षा होती है तभी उसकी उन्नति होती है । (प्रश्न) राज्य का भार कौन है ?। (उत्तर) (श्रीर्वै राष्ट्रस्य भारः) श्री, क्योंकि वही धन के भार से युक्त करके राज्य को उत्तमता को पहुंचाती है । (अथो) इसके अनन्तर उक्त प्रकार से राज्य करते हुए पुरुष देश अथवा संसार में श्रीयुक्त राज्य के प्रबन्ध को सब में स्थापन कर देते हैं । (अथास्यै०) (प्रश्न) उस राज्य का मध्य क्या है ? । (उत्तर) प्रजा की ठीक २ रक्षा

अर्थात् उसका नियमपूर्वक पालन करना यही उसकी रक्षा में मध्यस्थ है। (गिरौ भारꣳ हरन्निव) जैसे कोई मनुष्य बोझ उठाके पर्वत पर ले जाता है वैसे ही सभा भी राज्य को उत्तम सुख को प्राप्त कर देती है।

यद्देवासो॑ ल॒लाम॑गुं॒ प्र वि॑ष्टी॒मिन॒मावि॑षुः। स॒क्थ्ना दे॑दिश्यते॒ नारी॑ स॒त्यस्या॑क्षि॒भुवो॒ यथा॑ ॥ य० अ० २३। मं० २९ ॥

महीधरस्यार्थः

(यत्) यदा (देवासः) देवाः दीव्यन्ति क्रीडन्ति देवाः होत्रादयः ऋत्विजो (ललामगुं) लिङ्गं (प्रआविशुः) योनौ प्रवेशयन्ति, ललामेति सुखनाम, ललाम सुखं गच्छति प्राप्नोति ललामगुः शिश्नः, यद्वा ललाम पुण्ड्रं गच्छति ललामगुः लिङ्गं, योनिं प्रविशदुत्थितं पुण्ड्राकारं भवतीत्यर्थः। कीदृशं ललामगुं विष्टीमिनं शिश्नस्य योनिप्रदेशे क्लेदनं भवतीत्यर्थः। यदा देवाः शिश्नक्रीडिनो भवन्ति ललामगुं योनौ प्रवेशयन्ति तदा नारी सक्थ्ना ऊरुणा उरुभ्यां देदिश्यते निर्दिश्यते अत्यन्तं लक्ष्यते। भोगसमये सर्वस्य नार्य्यङ्गस्य नरेण व्याप्तत्वादूरुमात्रं लक्ष्यते, इयं नारीतीत्यर्थः।

महीधर का अर्थ

भाषार्थ

(यद्देवासो०) जब तक यज्ञशाला में ऋत्विज् लोग ऐसा हंसते और अंडकोश नाचा करते हैं तब तक घोड़े का लिङ्ग महिषी की योनि में काम करता है और उन ऋत्विजों के भी लिङ्ग स्त्रियों की योनियों में प्रवेश करते हैं और जब लिङ्ग खड़ा होता है तब कमल के समान हो जाता है। जब स्त्री पुरुष का समागम होता है तब पुरुष ऊपर और स्त्री पुरुष के नीचे होने से थक जाती है।

अथ सत्योऽर्थः

(यद्देवासो०) यथा देवा विद्वांसः प्रत्यक्षोद्भवस्य सत्यज्ञानस्य प्राप्तिं कृत्वेमं (विष्टीमिनं) विविधतया आर्द्रीभावगुणवन्तं (ललामगुं) सुख-

प्रापकं विद्यानन्दं प्राविशुः प्रकृष्टतया समन्ताद्व्याप्नुवन्ति, तथैव तैस्तेन सह वर्त्तमानेयं प्रजा देदिश्यते। यथा नारी वस्त्रैराच्छाद्यमानेन सक्थ्ना वर्त्तते तथैव विद्वद्भिः सुखैरियं प्रजा सम्यगाच्छादनीयेति।

भाषार्थ

जैसे विद्वान् लोग प्रत्यक्ष ज्ञान को प्राप्त होके जिस शुभगुणयुक्त सुखदायक विद्या के आनन्द में प्रवेश करते हैं वैसे ही उसी आनन्द से प्रजा को भी युक्त करते हैं। विद्वान् लोगों को चाहिये कि जैसे स्त्री अपने जंघा आदि अङ्गों को वस्त्रों से सदा ढाँप रखती हैं इसी प्रकार अपने सत्योपदेश विद्या धर्म और सुखों से प्रजा को सदा आच्छादित करें।

यद्ध॑रि॒णो यव॒मत्ति॒ न पु॒ष्टं प॒शु मन्य॑ते। शू॒द्रा यदर्य॑जारा॒ न पोषा॑य धनायति॥ य० अ० २३। मं० ३०॥

महीधरस्यार्थः

भाष्यम्

क्षत्ता पालागलीमाह। शूद्रा शूद्रजातिः स्त्री, यदा अर्य्यजारा भवति, वैश्यो यदा शूद्रां गच्छति, तदा शूद्रः पोषाय न धनायते, पुष्टिं न इच्छति, मद्भार्य्या वैश्येन भुक्ता सती पुष्टा जातेति न मन्यते, किन्तु व्यभिचारिणी जातेति दुःखितो भवतीत्यर्थः। (यद्धरिणो०) पालागली क्षत्तारमाह। यत् यदा शूद्रः, अर्य्यायै अर्य्याया वैश्याया जारो भवति, तदा वैश्यः पोषं पुष्टिं नानुमन्यते, मम स्त्री पुष्टा जातेति नानुमन्यते, किन्तु शूद्रेण नीचेन भुक्तेति क्लिश्यतीत्यर्थः।

महीधर का अर्थ

भाषार्थ

(यद्धरिणो०) क्षत्ता सेवकपुरुष शूद्रदासी से कहता है कि जब शूद्र की स्त्री के साथ वैश्य व्यभिचार कर लेता है, तब वह इस बात को तो नहीं

विचारता कि मेरी स्त्री वैश्य के साथ व्यभिचार करने से पुष्ट हो गई किन्तु वह इस बात को विचार के दुःख मानता है कि मेरी स्त्री व्यभिचारिणी हो गई। (यद्धरिणो०) अब वह दासी क्षत्ता को उत्तर देती है कि जब शूद्र वैश्य की स्त्री के साथ व्यभिचार करलेता है, तब वैश्य भी इस बात का अनुमान नहीं करता कि मेरी स्त्री पुष्ट हो गई, किन्तु नीच ने समागम कर लिया इस बात को विचार के क्लेश मानता है।

सत्योऽर्थः

यद्धरिणो यवमत्तीति। विड्वै यवो राष्ट्रᳪ हरिणो विशमेव राष्ट्रायाद्यां करोति तस्माद्राष्ट्री विशमत्ति। न पुष्टं पशुं मन्यत इति। तस्माद्राजा पशून्न पुष्यति। शूद्रा यदर्य्यजारा न पोषाय धनायतीति। तस्माद्वैशीपुत्रं नाभिषिञ्चति॥ श० कां० १३। अ० २। ब्रा० ९। कं० ८॥

भाष्यम्

(यद्धरिणो०) विट् प्रजेव यवोऽस्ति। राज्यसम्बन्ध्येको राजा हरिण इव उत्तमपदार्थहर्त्ता भवति। यथा मृगः क्षेत्रस्थं सस्यं भुक्त्वा प्रसन्नो भवति तथैवैको राजापि नित्यं स्वकीयमेव सुखमिच्छति। अतः स राष्ट्राय स्वसुखप्रयोजनाय विशं प्रजामाद्यां भक्ष्यामिव करोति। यथा मांसाहारी पुष्टं पशुं दृष्ट्वा तन्मांसभक्षणेच्छां करोति, नैव स पुष्टं पशुं वर्धयितुं जीवितुं वा मन्यते। तथैव स्वसुखसम्पादनाय प्रजायां कश्चिन् मत्तोऽधिको न भवेदितीच्छां सदैव रक्षति, तस्मादेको राजा प्रजां न पोषयति, नैव रक्षयितुं समर्थो भवतीति। यथा च यदा शूद्रा अर्य्यजारा भवति तदा न स शूद्रः पोषाय धनायति, पुष्टो न भवति। तथैको राजापि प्रजां यदा न पोषयति तदा सा नैव पोषाय धनायति, पुष्टा न भवति। तस्मात्कारणाद्वैशीपुत्रं भीरुं शूद्रापुत्रं मूर्खं च नाभिषिञ्चति, नैवैतं राज्याधिकारे स्थापयतीत्यर्थः। अस्माच्छतपथब्राह्मणोक्तादर्थान्महीधरकृतोऽर्थोऽतीव विरुद्धोऽस्ति।

भाषार्थ

(यद्धरिणो०) यहां प्रजा का यव और राष्ट्र का नाम हरिण है, क्योंकि जैसे मृग पशु पराये खेत में यवों को खाकर आनन्दित होते हैं वैसे ही स्वतन्त्र एक पुरुष राजा होने से प्रजा के उत्तम पदार्थों को ग्रहण कर लेता है। अथवा (न पुष्टं पशुं मन्यते०) जैसे मांसाहारी मनुष्य पुष्ट पशु को मार के उस का मांस खा जाता है वैसे ही एक मनुष्य राजा होके प्रजा का नाश करनेहारा होता है, क्योंकि वह सदा अपनी ही उन्नति चाहता रहता है। और शूद्र तथा वैश्य का अभिषेक करने से व्यभिचार और प्रजा का धनहरण अधिक होता है। इसलिये किसी एक मूर्ख वा लोभी को भी सभाध्यक्षादि उत्तम अधिकार न देना चाहिये। इस सत्य अर्थ से महीधर उलटा ही चला है।

उत्स॑क्थ्या॒ अव॑ गु॒दं धे॑हि॒ सम॒ञ्जिं चा॑रया वृषन्। यः स्त्री॒णां जी॑व॒भोज॑नः ॥ य० अ० २३। मं० २१ ॥

महीधरस्यार्थः

यजमानोऽश्वमभिमन्त्रयते। हे वृषन्! सेक्तः अश्व! उत् ऊर्ध्वे सक्थिनी ऊरू यस्यास्तस्या महिष्या, गुदमव गुदोपरि, रेतो धेहि, वीर्यं धारय। कथम्। तदाह, अञ्जिं लिङ्गं सञ्चारय योनौ प्रवेशय। योऽञ्जिः स्त्रीणां जीवभोजनः। यस्मिन् लिङ्गे योनौ प्रविष्टे स्त्रियो जीवन्ति भोगांश्च लभन्ते तं प्रवेशय।

भाषार्थ

(उत्सक्थ्या०) इस मन्त्र पर महीधर ने टीका की है कि यजमान घोड़े से कहता है, हे वीर्य के सेचन करनेवाले अश्व! तू मेरी स्त्री के जंघा ऊपर को करके उस की गुदा के ऊपर वीर्य डालदे अर्थात् उस की योनि में लिङ्ग चलादे। वह लिङ्ग किस प्रकार का है कि जिस समय योनि में जाता है उस समय उसी

लिङ्ग से स्त्रियों का जीवन होता है और उसीसे वे भोग को प्राप्त होती हैं। इससे तू उस लिङ्ग को मेरी स्त्री की योनि में डाल दे।

अथ सत्योऽर्थः

(उत्सक्थ्या०) हे वृषन् सर्वकामानां वर्षयितः प्रापक सभाध्यक्षविद्वन्! त्वमस्यां प्रजायामञ्जि ज्ञानसुखन्यायप्रकाशं सञ्चारय सम्यक् प्रकाशय। (यः स्त्रीणां जीवभोजनः) कामुकः सन् नाशमाचरति तं त्वमवगुदमधःशिरसं कृत्वा ताडयित्वा कालाग्रहे (कारागृहे ?) धेहि। यथा स्त्रीणां मध्ये या काचित् उत्सक्थी व्यभिचारिणी स्त्री भवति तस्यै सम्यग्दण्डं ददाति तथैव त्वं तं जीवभोजनं परप्राणनाशकं दुष्टं दस्युं दण्डेन समुचारय।

भाषार्थ

(उत्सक्थ्या०) परमेश्वर कहता है, कि हे कामना की वृष्टि करने वाले और उसको प्राप्त करानेवाले सभाध्यक्षसहित विद्वान् लोगो! तुम सब एकसंमति होकर इस प्रजा में ज्ञान को बढ़ाके न्यायपूर्वक सबको सुख दिया करो। तथा जो कोई दुष्ट (जीवभोजनः) स्त्रियों में व्यभिचार करनेवाला, चोरों मे चोर, ठगों में ठग, डाकूओं में डाकू प्रसिद्ध, दूसरों को बुरे काम सिखाने वाला इत्यादि दोषयुक्त पुरुष तथा व्यभिचार आदि दोषयुक्त स्त्री को ऊपर पग और नीचे शिर करके उसको टांगदेना इत्यादि अत्यन्त दुर्दशा करके मार डालना चाहिये, क्योंकि इससे अत्यन्त सुख का लाभ प्रजा में होगा।

एतावतैव खण्डनेन महीधरकृतस्य वेददीपाख्यस्य खण्डनं सर्वैर्जनैर्बोद्धव्यमिति। यदा मन्त्रभाष्यं मया विधास्यते तत्रास्य महीधरकृतस्य भाष्यस्यान्येपि दोषाः प्रकाशयिष्यन्ते। यदि ह्यार्य्यदेशनिवासिनां सायणमहीधरप्रभृतीनां व्याख्यास्वेतादृशी मिथ्यागतिरस्ति तर्हि यूरोपखण्डनिवासिनामेतदनुसारेण स्वदेशभाषया वेदार्थव्याख्यानानामनर्थगतेस्तु का कथा। एवं

जाते सति ह्येतदाश्रयेण देशभाषया यूरोपदेशभाषया कृतस्य व्याख्यानस्याशुद्धेस्तु खलु का गणनास्ति, इति सज्जनैर्विचारणीयम्। नैवैतेषां व्याख्यानानामाश्रयं कर्तुमार्य्याणां लेशमात्रापि योग्यता दृश्यते। तदाश्रयेण वेदानां सत्यार्थस्य हानिरनर्थप्रकाशश्च। तस्मात्तद्व्याख्यानेषु सत्या बुद्धिः केनापि नैव कर्त्तव्या। किन्तु वेदाः सर्वविद्याभिः पूर्णाः सन्ति, नैव किञ्चित्तेषु मिथ्यात्वमस्ति, तदेतच्च सर्वं मनुष्यास्तदा ज्ञास्यन्ति यदा चतुर्णां वेदानां निर्मितं भाष्यं यन्त्रितं च भूत्वा सर्वबुद्धिमतां ज्ञानगोचरं भविष्यति। एवं जाते खलु नैव परमेश्वरकृतया वेदविद्यया तुल्या द्वितीया विद्याऽस्तीति सर्वे विज्ञास्यन्तीति बोध्यम्।

आगे कहांतक लिखें इतने ही से सज्जन पुरुष अर्थ और अनर्थ की परीक्षा कर लेवें। परन्तु मन्त्रभाष्य में महीधर आदि के और भी दोष प्रकाश किये जायंगे और जब इन्हीं लोगों के व्याख्यान अशुद्ध हैं तब यूरोपखण्डवासी लोगों ने जो उन्हीं की सहायता लेकर अपनी देशभाषा में वेदों के व्याख्यान किये हैं उनके अनर्थ का तो क्या ही कहना है। तथा जिन्होंने उन्हीं के अनुसारी व्याख्यान किये हैं इन विरुद्ध व्याख्यानों से कुछ लाभ तो नहीं देख पड़ता, किन्तु वेदों के सत्य अर्थ की हानि प्रत्यक्ष ही होती है। परन्तु जिस समय चारों वेद का भाष्य बन और छपकर सब बुद्धिमानों के ज्ञानगोचर होगा तब सब किसी को उत्तमविद्यापुस्तक वेद का परमेश्वररचित होना भूगोल भर में विदित हो जावेगा और यह भी प्रगट हो जावेगा कि ईश्वरकृत सत्यपुस्तक वेद ही है वा कोई दूसरा भी हो सकता है। ऐसा निश्चय जान के सब मनुष्यों की वेदों में परमप्रीति होगी। इत्यादि अनेक उत्तम प्रयोजन इस वेदभाष्य के बनाने में जानलेना।

इति भाष्यकरणशङ्कासमाधानादिविषयः समाप्तः

अत्र वेदभाष्ये कर्मकाण्डस्य वर्णनं शब्दार्थतः करिष्यते

अथ प्रतिज्ञाविषयः संक्षेपतः

परन्त्वेतैर्वेदमन्त्रैः कर्मकाण्डविनियोजितैर्यत्र यत्राऽग्निहोत्राद्यश्वमेधान्ते

यद्यत् कर्त्तव्यं तत्तदत्र विस्तरतो न वर्णयिष्यते । कुतः । कर्मकाण्डानुष्ठानस्यैतरेयशतपथब्राह्मणपूर्वमीमांसाश्रौतसूत्रादिषु यथार्थं विनियोजितत्वात् । पुनस्तत्कथनेनानृषिकृतग्रन्थवत् पुनरुक्तपिष्टपेषणदोषापत्तेश्चेति । तस्माद्युक्तिसिद्धो वेदादिप्रमाणानुकूलो मन्त्रार्थानुसृतस्तदुक्तोऽपि विनियोगो ग्रहीतुं योग्योस्ति । तथैवोपासनाकाण्डस्यापि प्रकरणशब्दानुसारतो हि प्रकाशः करिष्यते । कुतोऽस्यैकत्र विशेषस्तु पातञ्जलयोगशास्त्रादिभिर्विज्ञेयोस्तीत्यतः। एवमेव ज्ञानकाण्डस्यापि । कुतः । अस्य विशेषस्तु सांख्यवेदान्तोपनिषदादिशास्त्रानुगतो द्रष्टव्यः । एवं काण्डत्रयेण बोधान्निष्पत्युपकारौ गृह्येते तच्च विज्ञानकाण्डम् । परन्त्वेतत्काण्डचतुष्टयस्य वेदानुसारेण विस्तरस्तद्व्याख्यानेषु ग्रन्थेष्वस्ति । स एव सम्यक् परीक्ष्याविरुद्धोर्थो ग्रहीतव्यः । कुतः । मूलाभावे शाखादीनामप्रवृत्तेः । एवमेव व्याकरणादिभिर्वेदाङ्गैर्वैदिकशब्दानामुदात्तादिस्वरविज्ञानं यथार्थं कर्त्तव्यमुच्चारणं च । तत्र यथार्थमुक्तत्वादत्र न वर्ण्यते । एवं पिङ्गलसूत्रछन्दोग्रन्थे यथालिखितं छन्दोलक्षणं विज्ञातव्यम् । स्वराः षड्जऋषभगान्धारमध्यमपञ्चमधैवतनिषादाः ॥ १ ॥ पिङ्गलशास्त्रे अ० ३ । सू० ६४ ॥ इति पिङ्गलाचार्य्यकृतसूत्रानुसारेण प्रतिच्छन्दः स्वरा लेखिष्यन्ते । कुतः । इदानीं यच्छन्दोन्वितो यो मन्त्रस्तस्य स्वस्वरेणैव वादित्रवादनपूर्वकगानव्यवहाराप्रसिद्धेः । एवमेव वेदानामुपवेदैरायुर्वेदादिभिर्वैद्यकविद्यादयो विशेषा विज्ञेयाः । तथैते सर्वे विशेषार्था अपि वेदमन्त्रार्थभाष्ये बहुधा प्रकाशयिष्यन्ते । एवं वेदार्थप्रकाशेन विज्ञानेन सयुक्तिदृढेन जातेनैव सर्वमनुष्याणां सकलसन्देहनिवृत्तिर्भविष्यति । अत्र वेदमन्त्राणां संस्कृतप्राकृतभाषाभ्यां सप्रमाणः पदशोऽर्थो लेखिष्यते । यत्र यत्र व्याकरणादिप्रमाणावश्यकत्वमस्ति तत्तदपि तत्र तत्र लेखिष्यते । येनेदानीन्तनानां वेदार्थविरुद्धानां सनातनव्याख्यानग्रन्थप्रतिकूलानामनर्थकानां वेदव्याख्यानानां निवृत्त्या सर्वेषां मनुष्याणां वेदानां सत्यार्थदर्शनेन तेष्वत्यन्ता प्रीतिर्भविष्यतीति बोध्यम् । संहितामन्त्राणां यथाशास्त्रं यथाबुद्धि च सत्यार्थप्रकाशेन यत्सायणाचार्य्यादिभिः स्वेच्छानुचारतो लोकप्रवृत्त्यनुकूलतश्च लोके प्रतिष्ठार्थं भाष्यं लिखित्वा प्रसिद्धीकृतमनेनात्रानर्थो महान् जातः । तद्द्वारा

यूरोपखण्डवासिनामपि वेदेषु भ्रमो जात इति । यदास्मिन्नीश्वरानुग्रहेणर्षिमुनिमहर्षिमहामुनिभिरार्य्यैर्वेदार्थगर्भितेष्वैतरेयब्राह्मणादिषूक्तप्रमाणान्विते मया कृते भाष्ये प्रसिद्धे जाते सति सर्वमनुष्याणां महान् सुखलाभो भविष्यतीति विज्ञायते । अथात्र यस्य यस्य मन्त्रस्य पारमार्थिकव्यावहारिकयोर्द्वयोरर्थयोः श्लेषालङ्कारादिना सप्रमाणः सम्भवोस्ति तस्य तस्य द्वौ द्वावर्थौ विधास्येते। परन्तु नैवेश्वरस्यैकस्मिन्नपि मन्त्रार्थेऽत्यन्तं त्यागो भवति। कुतः । निमित्तकारणस्येश्वरस्यास्यास्मिन् कार्य्ये जगति सर्वाङ्गव्याप्तिमत्त्वात् । कार्य्यस्येश्वरेण सहान्वयाच्च । यत्र खलु व्यावहारिकोर्थो भवति तत्रापीश्वररचनानुकूलतयैव सर्वेषां पृथिव्यादिद्रव्याणां सद्भावाच्च। एवमेव पारमार्थिकेऽर्थे कृते तस्मिन्कार्य्योऽर्थसम्बन्धात्सोप्यर्थ आगच्छतीति ।

भाषार्थ

इस वेदभाष्य में शब्द और उनके अर्थद्वारा कर्मकाण्ड का वर्णन करेंगे । परन्तु लोगों के कर्मकाण्ड में लगाये हुए वेदमन्त्रों में से जहां जहां जो जो कर्म अग्निहोत्र से लेके अश्वमेध के अन्तपर्य्यन्त करने चाहिये उनका वर्णन यहां नहीं किया जायगा, क्योंकि उनके अनुष्ठान का यथार्थ विनियोग ऐतरेय शतपथादि ब्राह्मण, पूर्वमीमांसा, श्रौत और गृह्यसूत्रादिकों में कहा हुआ है । उसी को फिर कहने से पिसे को पीसने के समतुल्य अल्पज्ञ पुरुषों के लेख के समान दोष इस भाष्य में भी आ जा सकता है । इसलिये जो जो कर्मकाण्ड वेदानुकूल युक्तिप्रमाणसिद्ध है उसी को मानना योग्य है, अयुक्त को नहीं । ऐसे ही उपासनाकाण्डविषयक मन्त्रों के विषय में भी पातञ्जल, सांख्य, वेदान्तशास्त्र और उपनिषदों की रीति से ईश्वर की उपासना जान लेना । परन्तु केवल मूलमन्त्रों ही के अर्थानुकूल का अनुष्ठान और प्रतिकूल का परित्याग करना चाहिये। क्योंकि जो जो मन्त्रार्थ वेदोक्त हैं सो सब स्वतःप्रमाणरूप और ईश्वर के कहे हुए हैं और जो जो ग्रन्थ वेदों से भिन्न हैं वे केवल वेदार्थ के अनुकूल होने से ही प्रामाणिक हैं, ऐसे न हों तो नहीं । ऐसे ही व्याकरणादि शास्त्रों के बोध से उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, एकश्रुति आदि स्वरों का ज्ञान और उच्चारण तथा पिङ्गल

सूत्र से छंदों और षड्जादि स्वरों का ज्ञान अवश्य करना चाहिये । जैसे अ॒ग्निमी॑ळे० यहां अकार के नीचे अनुदात्त का चिह्न, (ग्नि) उदात्त है इसलिये उसपर चिह्न नहीं लगाया गया है, मी के ऊपर स्वरित का चिह्न है, (ळे) में प्रचय और एकश्रुति स्वर है, यह बात ध्यान में रखना । इसी प्रकार जो जो व्याकरणादि के विषय लिखने के योग्य होंगे वे सब संक्षेप से आगे लिखे जायंगे, क्योंकि मनुष्यों को उनके समझने में कठिनता होती है इसलिये उनके साथ में अन्य प्रामाणिक ग्रन्थों के भी विषय लिखे जायंगे कि जिनके सहाय से वेदों का अर्थ अच्छी प्रकार विदित होसके। इस भाष्य में पद पद का अर्थ पृथक् पृथक् क्रम से लिखा जायगा कि जिससे नवीन टीकाकारों के लेख से जो वेदों में अनेक दोषों की कल्पना की गई हैं उन सब की निवृत्ति होकर उनके सत्य अर्थों का प्रकाश हो जायगा । तथा जो जो सायण, माधव, महीधर और अंग्रेज़ी वा अन्य भाषा में उलथे वा भाष्य किये जाते वा गये हैं तथा जो जो देशान्तरभाषाओं में टीका हैं उन अनर्थव्याख्यानों का निवारण होकर मनुष्यों को वेदों के सत्य अर्थों के देखने से अत्यन्त सुखलाभ पहुंचेगा । क्योंकि विना सत्यार्थप्रकाश के देखे मनुष्यों की भ्रमनिवृत्ति कभी नहीं हो सकती । जैसे प्रामाण्याप्रामाण्य विषय में सत्य और असत्य कथाओं के देखने से भ्रम की निवृत्ति हो सकती है ऐसे ही यहां भी समझ लेना चाहिये । इत्यादि प्रयोजनों के लिये इस वेदभाष्य के बनाने का आरम्भ किया है ।

इति प्रतिज्ञाविषयः संक्षेपतः

अथ प्रश्नोत्तरविषयः संक्षेपतः

(प्रश्नः) अथ किमर्था वेदानां चत्वारो विभागाः सन्ति ?। (उत्तरम्) भिन्नभिन्नविद्याज्ञापनाय । (प्र०) कास्ताः ? । (उ०) त्रिधा गानविद्या भवति, गानोच्चारणविद्याया द्रुतमध्यमविलम्बितभेदयुक्तत्वात् । यावता कालेन ह्रस्वस्वरोच्चारणं क्रियते ततो दीर्घोच्चारणे द्विगुणः प्लुतोच्चारणे त्रिगुणश्च

कालो गच्छतीति । अत एवैकस्यापि मन्त्रस्य चतसृषु संहितासु पाठः कृतो-स्ति । तद्यथा । ऋग्भिस्स्तुवन्ति, यजुभिर्यजन्ति, सामभिर्गायन्ति । ऋग्वेदे सर्वेषां पदार्थानां गुणप्रकाशः कृतोस्ति । तथा यजुर्वेदे विदितगुणानां पदार्थानां सकाशात् क्रिययाऽनेकविद्योपकारग्रहणाय विधानं कृतमस्ति । तथा सामवेदे ज्ञानक्रियाविद्ययोर्दीर्घविचारेण फलावधिपर्य्यन्तं विद्याविचारः । एवमथर्ववेदेऽपि त्रयाणां वेदानां मध्ये यो विद्याफलविचारो विहितोस्ति तस्य पूर्त्तिकरणेन रक्षणोन्नती विहिते स्तः । एतदाद्यर्थं वेदानां चत्वारो विभागाः सन्ति । (प्रश्नः) वेदानां चतुःसंहिताकरणे किं प्रयोजनमस्तीति ? । (उत्तरम्) यतो विद्याविधायकानां मन्त्राणां प्रकरणशः पूर्वापरसन्धानेन सुगमतया तत्रस्था विद्या विदिता भवेयुरेतदर्थं संहिताकरणम् । (प्र०) वेदेष्वष्टकमण्डलाध्यायसूक्तषट्ककाण्डवर्गदशतित्रिकप्रपाठकानुवाकविधानं किमर्थं कृतमस्तीत्यत्र ब्रूमः । (उ०) अत्राष्टकादीनां विधानमेतदर्थमस्ति यथा सुगमतया पठनपाठनमन्त्रपरिगणनं, प्रतिविद्यं विद्याप्रकरणबोधश्च भवेदेतदर्थमेतद्विधानं कृतमस्तीति । (प्र०) किमर्था ऋग्यजुःसामाथर्वाणः प्रथमद्वितीयतृतीयचतुर्थसंख्याक्रमेण परिगणिताः सन्तीत्यत्रोच्यते । (उ०) न यावद्गुणगुणिनोः साक्षाज्ज्ञानं भवति नैव तावत्संस्कारः प्रीतिश्च । नचाभ्यां विना प्रवृत्तिर्भवति, तया विना सुखाभावश्चेति । एतद्विद्याविधायकत्वादृग्वेदः प्रथमं परिगणितुं योग्योस्ति । एवं च यथापदार्थगुणज्ञानानन्तरं क्रिययोपकारेण सर्वजगद्धितसम्पादनं कार्य्यं भवति । यजर्वेद एतद्विद्याप्रतिपादकत्वाद्द्वितीयः परिगणितोस्तीति बोध्यम् । तथा ज्ञानकर्मकाण्डयोरुपासनायाश्च कियत्युन्नतिर्भवितुमर्हति, किञ्चैतेषां फलं भवति, सामवेद एतद्विधायकत्वात्तृतीयो गण्यत इति । एवमेवाथर्ववेदस्त्रय्यन्तर्गतविद्यानां परिशेषरक्षणविधायकत्वाच्चतुर्थः परिगण्यत इति । अतो गुणज्ञानक्रियाविज्ञानोन्नतिशेषविद्यारक्षणानां पूर्वापरसहभावे संयुक्तत्वात्क्रमेणर्ग्यजुस्सामाथर्वाण इति चतस्रः संहिताः परिगणिताः संज्ञाश्च कृताः सन्ति । ऋच स्तुतौ । यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु । साम सान्त्वने, षो अन्तकर्मणि । थर्वतिश्चरतिकर्मा तत्प्रतिषेधः ॥ निरु० अ० ११ । खं० १८ । चर संशये । अनेनाथर्वशब्दः संशयनिवार-

णार्थो गृह्यते । एवं धात्वर्थोक्तप्रमाणेभ्यः क्रमेण वेदाः परिगण्यन्ते चेति वेदितव्यम् ।

भाषार्थ

(प्र०) वेदों के चार विभाग क्यों किये हैं ? । (उ०) भिन्न भिन्न विद्या जनाने के लिये अर्थात् जो तीन प्रकार की गानविद्या है, एक तो यह कि उदात्त और षड्जादि स्वरों का उच्चारण ऐसी शीघ्रता से करना जैसा कि ऋग्वेद के स्वरों का उच्चारण द्रुत अर्थात् शीघ्रवृत्ति में होता है, दूसरी मध्यमवृत्ति जैसे कि यजुर्वेद के स्वरों का उच्चारण ऋग्वेद के मन्त्रों से दूने काल में होता है, तीसरी विलम्बित वृत्ति है जिसमें प्रथमवृत्ति से तिगुना काल लगता है जैसा कि सामवेद के स्वरों के उच्चारण वा गान में, फिर उन्हीं तीनों वृत्तियों के मिलाने से अथर्ववेद का भी उच्चारण होता है, परन्तु इसका द्रुतवृत्ति में उच्चारण अधिक होता है इसलिये वेदों के चार विभाग हुए हैं । तथा कहीं कहीं एक मन्त्र का चार वेदों में पाठ करने का यही प्रयोजन है कि वह पूर्वोक्त चारों प्रकार की गानविद्या में गाया जावे, तथा प्रकरणभेद से कुछ कुछ अर्थभेद भी होता है इसलिये कितने ही मन्त्रों का पाठ चारों वेदों में किया जाता है । ऐसे ही (ऋग्भिस्तु०) ऋग्वेद में सब पदार्थों के गुणों का प्रकाश किया है जिससे उनमें प्रीति बढ़कर उपकार लेने का ज्ञान प्राप्त होसके, क्योंकि विना प्रत्यक्ष ज्ञान के संस्कार और प्रवृत्ति का आरम्भ नहीं हो सकता और आरम्भ के विना यह मनुष्यजन्म व्यर्थ ही चला जाता है । इसलिये ऋग्वेद की गणना प्रथम ही की है । तथा यजुर्वेद में क्रियाकाण्ड का विधान लिखा है सो ज्ञान के पश्चात् ही कर्त्ता की प्रवृत्ति यथावत् हो सकती है । क्योंकि जैसा ऋग्वेद में गुणों का कथन किया है वैसा ही यजुर्वेद में अनेक विद्याओं के ठीक ठीक विचार करने से संसार में व्यवहारी पदार्थों से उपयोग सिद्ध करना होता है, जिन से लोगों को नाना प्रकार का सुख मिले । क्योंकि जबतक कोई क्रिया विधिपूर्वक न कीजाय तबतक उसका अच्छी प्रकार भेद नहीं खुल सकता । इसलिये जैसा कुछ जानना वा कहना वैसा ही करना भी चाहिये, तभी ज्ञान का फल और ज्ञानी

की शोभा होती है । तथा यह भी जानना अवश्य है कि जगत् का उपकार मुख्य करके दो ही प्रकार का होता है एक आत्मा और दूसरा शरीर का । अर्थात् विद्यादान से आत्मा और श्रेष्ठ नियमों से उत्तम पदार्थों की प्राप्ति करके शरीर का उपकार होता है । इसलिये ईश्वर ने ऋग्वेदादि का उपदेश किया है कि जिन से मनुष्य लोग ज्ञान और क्रियाकाण्ड को पूर्ण रीति से जानलेवें । तथा सामवेद से ज्ञान और आनन्द की उन्नति और अथर्ववेद से सर्व संशयों की निवृत्ति होती है । इसलिये इनके चार विभाग किये हैं । (प्र०) प्रथम ऋग्, दूसरा यजुः, तीसरा साम और चौथा अथर्ववेद इस क्रम से चार वेद क्यों गिने हैं ? । (उ०) जबतक गुण और गुणी का ज्ञान मनुष्यों को नहीं होता तब पर्य्यन्त उन में प्रीति से प्रवृत्ति नहीं हो सकती और इस के विना शुद्ध क्रियादि के अभाव से मनुष्यों को सुख भी नहीं हो सकता था, इसलिये वेदों के चार विभाग किये हैं कि जिससे प्रवृत्ति होसके । क्योंकि जैसे इस गुणज्ञान विद्या को जनाने से पहिले ऋग्वेद की गणना योग्य है वैसे ही पदार्थों के गुणज्ञान के अनन्तर क्रियारूप उपकार करके सब जगत् का अच्छी प्रकार से हित भी सिद्ध हो सके इस विद्या के जनाने के लिये यजुर्वेद की गिनती दूसरी वार की है । ऐसे ही ज्ञान, कर्म और उपासनाकाण्ड की वृद्धि वा फल कितना और कहांतक होना चाहिये इसका विधान सामवेद में लिखा है इसलिये उस को तीसरा गिना है । ऐसे ही तीन वेदों में जो जो विद्या हैं उन सब के शेष भाग की पूर्त्ति, विधान, सब विद्याओं की रक्षा और संशयनिवृत्ति के लिये अथर्ववेद को चौथा गिना है । सो गुणज्ञान, क्रियाविज्ञान इनकी उन्नति तथा रक्षा को पूर्वापर क्रम से जानलेना । अर्थात् ज्ञानकाण्ड के लिये ऋग्वेद, क्रियाकाण्ड के लिये यजुर्वेद, इनकी उन्नति के लिये सामवेद और शेष अन्य रक्षाओं के प्रकाश करने के लिये अथर्ववेद की, प्रथम, दूसरी, तीसरी और चौथी करके संख्या बांधी है । क्योंकि (ऋच स्तुतौ) (यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु) (षोन्तकर्मणि) और (साम सान्त्वप्रयोगे) (थर्वतिश्चरतिकर्मा) इन अर्थों के विद्यमान होने से चार वेदों अर्थात् ऋग्, यजुः, साम और अथर्व की ये चार संज्ञा रक्खी हैं । तथा अथर्ववेद का प्रकाश ईश्वर ने इसलिये किया है कि जिससे तीनों वेदों की अनेक

विद्याओं के सब विघ्नों का निवारण और उनकी गणना अच्छी प्रकार से हो-सके। (प्र०) वेदों की चार संहिता करने का क्या प्रयोजन है?। (उ०) विद्या के जनानेवाले मन्त्रों के प्रकरण से जो पूर्वापर का ज्ञान होना है उससे वेदों में कही हुई सब विद्या सुगमता से जानली जाय, इत्यादि प्रयोजन संहिता-ओं के करने में हैं। (प्र०) अच्छा अब आप यह तो कहिये कि वेदों में जो अष्टक, अध्याय, मंडल, सूक्त, षट्क, कांड, वर्ग, दशति, त्रिक और अनुवाक रक्खे हैं ये किसलिये हैं?। (उ०) इनका विधान इसलिये है कि जिससे पठन पाठन और मन्त्रों की गिनती विना कठिनता से जानली जाय तथा सब विद्याओं के पृथक् पृथक् प्रकरण निर्भ्रमता के साथ विदित होकर सब विद्याव्य-वहारों में गुण और गुणी के ज्ञानद्वारा मनन और पूर्वापर स्मरण होने से अनु-वृत्तिपूर्वक आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति और तात्पर्य सबको विदित हो सके, इत्यादि प्रयोजन के लिये अष्टकादि किये हैं।

भाष्यम्

(प्रश्नः) प्रत्येकमन्त्रस्योपरि ऋषिदेवताछन्दःस्वराः किमर्था लिख्य-न्ते?। (उत्तरम्) यतो वेदानामीश्वरोक्त्यनन्तरं येन येनर्षिणा यस्य यस्य मन्त्रस्यार्थो यथावद्विदितस्तस्मात्तस्य तस्योपरि तत्तदृषेर्नामोल्लेखनं कृतम-स्ति। कुतः। यैरीश्वरध्यानानुग्रहाभ्यां महता प्रयत्नेन मन्त्रार्थस्य प्रकाशित-त्वात्, तत्कृतमहोपकारस्मरणार्थं तन्नामलेखनं प्रतिमन्त्रस्योपरि कर्त्तुं योग्य-मस्त्यतः। अत्र प्रमाणम्। यो वाचं श्रुतवान् भवत्यफलामपुष्पामित्यफलाऽ-स्मा अपुष्पा वाग्भवतीति वा, किञ्चित्पुष्पफलेति वा। अर्थं वाचः पुष्पफल-माह। याज्ञदैवते पुष्पफले देवताध्यात्मे वा। साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवु-स्तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान्सम्प्रादुरुपदेशाय ग्लायन्तोऽ-वरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदाङ्गानि च। बिल्मं भिल्मं भासनमिति वैतावन्तः समानकर्माणो धातवो, धातुर्दधातेरेतावन्त्यस्य सत्त्व-स्य नामधेयान्येतावतामर्थानामिदमभिधानं, नैघण्टुकमिदं देवतानामप्राधान्ये-नेदमिति, तद्यदन्यदैवते मन्त्रे निपतति नैघण्टुकं तत्॥ निरु० अ० १

खं० ६० ॥ (यो वाचं) यो मनुष्योऽर्थविज्ञानेन विना श्रवणाध्ययने करोति तदफलं भवति । (प्रश्नः) वाचो वाण्याः किं फलं भवतीत्यत्राह । (उत्तरम्) विज्ञानं तथा तज्ज्ञानानुसारेण कर्मानुष्ठानम् । य एवं ज्ञात्वा कुर्वन्ति त ऋषयो भवन्ति । कीदृशास्ते साक्षात्कृतधर्माणः ? । यैः सर्वा विद्या यथावद्विदितास्त ऋषयो बभूवुस्तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतवेदेभ्यो मनुष्येभ्य उपदेशेन वेदमन्त्रान्सम्प्रादुः, मन्त्रार्थांश्च प्रकाशितवन्तः । कस्मै प्रयोजनाय? । उत्तरोत्तरं वेदार्थप्रचाराय । ये चावरेऽध्ययनायोपदेशाय च ग्लायन्ति तान् वेदार्थविज्ञापनायेमं नैघण्टुकं निरुक्ताख्यं ग्रन्थं त ऋषयः समाम्नासिषुः, सम्यगभ्यासं कारितवन्तः । येन वेदं वेदाङ्गानि यथार्थविज्ञानतया सर्वे मनुष्या जानीयुः । ये समानार्थाः समानकर्माणो धातवो भवन्ति तदर्थप्रकाशो यत्र क्रियते, अस्यार्थस्यैतावन्ति नामधेयान्येतावतामर्थानामिदमभिधानार्थमेकं नाम, अर्थादेकस्यार्थस्यानेकानि नामान्यनेकेषामेकं नामेति तन्नैघण्टुकं व्याख्यानं विज्ञेयम् । यत्रार्थानां द्योत्यानां पदार्थानां प्राधान्येन स्तुतिः क्रियते तत्र सैवेयं मन्त्रमयी देवता विज्ञेया । यच्च मन्त्राद्भिन्नार्थस्यैव सङ्केतः प्रकाश्यते तदपि नैघण्टुकं व्याख्यानमिति । अतो नैव कश्चिन्मनुष्यो मन्त्रनिर्मातेति विज्ञेयम् । एवं येन येनर्षिणा यस्य यस्य मन्त्रस्यार्थः प्रकाशितोऽस्ति तस्य तस्य ऋषेरेकैकमन्त्रस्य सम्बन्धे नामोल्लेखः कृतोऽस्ति । तथा यस्य यस्य मन्त्रस्य यो योऽर्थोऽस्ति सः सोऽर्थस्तस्य तस्य देवताशब्देनाभिप्रायार्थविज्ञापनार्थं प्रकाश्यते । एतदर्थं देवताशब्दलेखनं कृतम् । एवं च यस्य यस्य मन्त्रस्य गायत्र्यादिछन्दोऽस्ति तत्तद्विज्ञानार्थं छन्दोलेखनम् । तथा यस्य यस्य मन्त्रस्य येन येन स्वरेण वादित्रवादनपूर्वकं गानं कर्तुं योग्यमस्ति तत्तदर्थं षड्जादिस्वरोल्लेखनं कृतमस्तीति सर्वमेतद्विज्ञेयम् ।

भाषार्थ

(प्र०) प्रतिमन्त्र के साथ ऋषि, देवता, छन्द और स्वर किसलिये लिखते हैं ? । (उ०) ईश्वर जिस समय आदि सृष्टि में वेदों का प्रकाश कर चुका तभी से प्राचीन ऋषि लोग वेदमन्त्रों के अर्थों का विचार करने लगे, फिर उनमें

से जिस जिस मन्त्र का अर्थ जिस २ ऋषि ने प्रकाशित किया उस उसका नाम उसी उसी मन्त्र के साथ स्मरण के लिये लिखा गया है। इसी कारण से उनका ऋषि नाम भी हुआ है और जो उन्होंने ईश्वर के ध्यान और अनुग्रह से बड़े बड़े प्रयत्न के साथ वेदमन्त्रों के अर्थों को यथावत् जानकर सब मनुष्यों के लिये पूर्ण उपकार किया है इसलिये विद्वान् लोग वेदमन्त्रों के साथ उनका स्मरण रखते हैं। इस विषय में अर्थसहित प्रमाण लिखते हैं (यो वाचं०)। जो मनुष्य अर्थ को समझे विना अध्ययन वा श्रवण करते हैं उनका सब परिश्रम निष्फल होता है। (प्र०) वाणी का फल क्या है ?। (उ०) अर्थ को ठीक ठीक जान के उसी के अनुसार व्यवहारों में प्रवृत्त होना वाणी का फल है। और जो लोग इस नियम पर चलते हैं वे साक्षात् धर्मात्मा अर्थात् ऋषि कहलाते हैं। इसलिये जिन्होंने सब विद्याओं को यथावत् जाना था वे ही ऋषि हुए थे, जिन्होंने अपने उपदेश से अवर अर्थात् अल्पबुद्धि मनुष्यों को वेदमन्त्रों के अर्थों का प्रकाश कर दिया है। (प्र०) किस प्रयोजन के लिये ?। (उ०) वेदप्रचार की परंपरा स्थिर रहने के लिये। तथा जो लोग वेदशास्त्रादि पढ़ने को कम समर्थ हैं वे जिससे सुगमता से वेदार्थ जान लेवें इसलिये निघण्टु और निरुक्त आदि ग्रन्थ भी बना दिये हैं कि जिन के सहाय से सब मनुष्य वेद और वेदाङ्गों को ज्ञानपूर्वक पढ़कर उन के सत्य अर्थों का प्रकाश करें। निघण्टु उस को कहते हैं कि जिसमें तुल्य अर्थ और तुल्य कर्म वाले धातुओं की व्याख्या, एक पदार्थ को अनेकार्थ तथा अनेक अर्थों का एक नाम से प्रकाश और मन्त्रों से भिन्न अर्थों का संकेत है। और निरुक्त उसका नाम है कि जिस में वेदमन्त्रों की व्याख्या है। और जिन २ मन्त्रों में जिन २ पदार्थों की प्रधानता से स्तुति की है उनके मन्त्रमय देवता जानने चाहिये, अर्थात् जिस २ मन्त्र का जो जो अर्थ होता है वही उसका देवता कहाता है। सो यह इसलिये है कि जिस से मन्त्रों को देख के उनके अभिप्रायार्थ का यथार्थज्ञान हो जाय, इत्यादि प्रयोजन के लिये देवताशब्द मन्त्र के साथ में लिखा जाता है। ऐसे ही जिस २ मन्त्र का जो २ छन्द है सो भी उसके साथ इसलिये लिख दिया गया है कि उनसे मनुष्यों को छन्दों का ज्ञान भी यथावत् होता रहे। तथा कौन कौन सा छन्द

किस किस स्वर में गाना चाहिये इस बात को जनाने के लिये उनके साथ में षड्-जादि स्वर लिखे जाते हैं, जैसे गायत्री छन्दवाले मन्त्रों को षड्ज स्वर में गाना चाहिये। ऐसे ही और और भी बता दिये हैं कि जिससे मनुष्य लोग गान-विद्या में भी प्रवीण हों। इसीलिये वेद में प्रत्येक मन्त्रों के साथ उन के षड्ज आदि स्वर लिखे जाते हैं।

भाष्यम्

(प्र०) वेदेष्वग्निवाय्विन्द्राश्विसरस्वत्यादिशब्दानां क्रमेण पाठः किमर्थः कृतोस्ति ? । (उ०) पूर्वापरविद्याविज्ञापनार्थं विद्यासंग्यनुषङ्गिप्रतिविद्यानुषङ्गिबोधार्थं चेति । तद्यथा । अग्निशब्देनेश्वरभौतिकार्थयोर्ग्रहणं भवति । यथाऽनेनेश्वरस्य ज्ञानव्यापकत्वादयो गुणा विज्ञातव्या भवन्ति । यथेश्वररचितस्य भौतिकस्याग्नेः शिल्पविद्याया मुख्यहेतुत्वात्प्रथमं गृह्यते । तथेश्वरस्य सर्वाधारकत्वानन्तबलवत्त्वादिगुणा वायुशब्देन प्रकाश्यन्ते । यथा शिल्पविद्यायां भौतिकाग्नेः सहायकारित्वान्मूर्त्तद्रव्याधारकत्वात्तदनुषाङ्गित्वाच्च भौतिकस्य वायोर्ग्रहणं कृतमस्ति तथैव वाय्वादीनामाधारकत्वादीश्वरस्यापीति । यथेश्वरस्येन्द्रशब्देन परमैश्वर्य्यवत्त्वादिगुणा विदिता भवन्ति । तथा भौतिकेन वायुनाप्युत्तमैश्वर्य्यप्राप्तिर्मनुष्यैः क्रियते । एतदर्थमिन्द्रशब्दस्य ग्रहणं कृतमस्ति । अश्विशब्देन शिल्पविद्यायां यानचलनादिविद्याव्यवहारे जलाग्निपृथिवीप्रकाशादयो हेतवः प्रतिहेतवश्च सन्त्येतदर्थमग्निवायुग्रहणानन्तरमाश्विशब्दप्रयोगो वेदेषु कृतोस्ति । एवं च सरस्वतीशब्देनेश्वरस्यानन्तविद्यावत्त्वशब्दार्थसम्बन्धरूपवेदोपदेष्टृत्वादिगुणा वेदेषु प्रकाशिता भवन्ति वाग्व्यवहाराश्च । इत्यादिप्रयोजनायाग्निवाय्विन्द्राश्विसरस्वत्यादिशब्दानां ग्रहणं कृतमस्ति । एवमेव सर्वत्रैव वैदिकशब्दार्थव्यवहारज्ञानं सर्वैर्मनुष्यैर्बोध्यमस्तीति विज्ञाप्यते ।

भाषार्थ

(प्र०) वेदों में अनेक वार अग्नि, वायु, इन्द्र, सरस्वती आदि शब्दों का प्रयोग किस लिये किया है ? । (उ०) पूर्वापर विद्याओं के जनाने के

लिये अर्थात् जिस जिस विद्या में जो जो मुख्य और गौण हेतु हैं उनके प्रकाश के लिये ईश्वर ने अग्नि आदि शब्दों का प्रयोग पूर्वापर सम्बन्ध से किया है। क्योंकि अग्नि शब्द से ईश्वर और भौतिक आदि कितने ही अर्थों का ग्रहण होता है, इस प्रयोजन से कि उसका अनन्त ज्ञान अर्थात् उसकी व्यापकता आदि गुणों का बोध मनुष्यों को यथावत् हो सके, फिर इसी अग्निशब्द से पृथिव्यादि भूतों के बीच में जो प्रत्यक्ष अग्नि तत्त्व है वह शिल्पविद्या का मुख्य हेतु होने के कारण उसका ग्रहण प्रथम ही किया है। तथा ईश्वर के सब को धारण करने और उसके अनन्तबल आदि गुणों का प्रकाश जनाने के लिये वायुशब्द का ग्रहण किया गया है, तथा शिल्पविद्या में अग्नि का सहायकारी और मूर्त्तद्रव्य का धारण करनेवाला मुख्य वायु ही है इसलिये प्रथम सूक्त में अग्नि का और दूसरे में वायु का ग्रहण किया है। तथा ईश्वर के अनन्त गुण विदित होने और भौतिक वायु से योगाभ्यास करके विज्ञान तथा शिल्पविद्या से उत्तम ऐश्वर्य की प्राप्ति करने के लिये इन्द्र शब्द का ग्रहण तीसरे स्थान में किया है, क्योंकि अग्नि और वायु की विद्या से मनुष्यों को अद्भुत अद्भुत कलाकौशलादि बनाने की युक्ति ठीक ठीक जान पड़ती हैं। तथा अश्विशब्द का ग्रहण तीसरे सूक्त और चौथे स्थान में इसलिये किया है कि उस से ईश्वर की अनन्त क्रियाशक्ति विदित हो, क्योंकि शिल्पविद्या में विमान आदि यान चलाने के लिये जल अग्नि पृथिवी और प्रकाश आदि पदार्थ ही मुख्य होते हैं, अर्थात् जितने कलायन्त्र विमान नौका और रथ आदि यान होते हैं वे सब पूर्वोक्त प्रकार से पृथिव्यादि पदार्थों से ही बनते हैं, इसलिये अश्विशब्द का पाठ तीसरे सूक्त और चौथे स्थान में किया है। तथा सरस्वती नाम परमेश्वर की अनन्त वाणी का है कि जिससे उसकी अनन्तविद्या जानी जाती है, तथा जिस करके उसने सब मनुष्यों के हित के लिये अपनी अनन्तविद्यायुक्त वेदों का उपदेश भी किया है, इसलिये तीसरे सूक्त और पांचवें स्थान में सरस्वती शब्द का पाठ वेदों में किया है। इसी प्रकार सर्वत्र जान लेना।

भाष्यम्

(प्र०) वेदानामारम्भेऽग्निवाय्वादिशब्दप्रयोगैः प्रसिद्धिर्जायते वेदेषु

भौतिकपदार्थानामेव तत्तच्छब्दैर्ग्रहणं भवति । यत आरम्भे खल्वीश्वरशब्द-प्रयोगो नैव कृतोस्ति ? । (उ०) व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणमिति महाभाष्यकारेण पतञ्जलिमहामुनिना (लण्) इति सूत्रव्याख्यानोक्तन्यायेन सर्वसन्देहनिवृत्तिर्भवतीति । कुतः । वेदवेदाङ्गोपाङ्गब्राह्मणग्रन्थेष्वग्निशब्देनेश्वरभौतिकार्थयोर्व्याख्यानस्य विद्यमानत्वात् । तथेश्वरशब्दप्रयोगेणापि व्याख्यानेन विना सर्वथा सन्देहनिवृत्तिर्न भवति । ईश्वरशब्देन परमात्मा गृह्यते तथा सामर्थ्यवतो राज्ञः कस्यचिन्मनुष्यस्यापीश्वर इति नामास्ति । तयोर्मध्यात्कस्य ग्रहणं कर्त्तव्यमिति शङ्कायां व्याख्यानत एव सन्देहनिवृत्तिर्भवत्यत्रेश्वरनाम्ना परमात्मनो ग्रहणमत्र राजादिमनुष्यस्येति । एवमत्राप्यग्निनाम्नोभयार्थग्रहणे नैव कश्चिद्दोषो भवतीति । अन्यथा कोटिशः श्लोकैस्सहस्रैर्ग्रन्थैरपि विद्याव्याख्यानासम्भवोऽस्ति । अतः कारणादग्न्यादिशब्दैर्व्यावहारिकपारमार्थिकयोर्विद्ययोर्ग्रहणं स्वल्पाक्षरैः स्वल्पग्रन्थैश्च भवतीति मत्वेश्वरेणाग्न्यादिशब्दप्रयोगाः कृताः । यतोऽल्पकालेन पठनपाठनव्यवहारेणाल्पपरिश्रमेणैव मनुष्याणां सर्वा विद्या विदिता भवेयुरिति । परमकारुणिकः परमेश्वरः सुगमशब्दैस्सर्वविद्योपदेशानुपदिष्टवानिति विज्ञेयम् । तथा च येऽग्न्यादयः शब्दार्थाः संसारे प्रसिद्धाः सन्त्येतैः सर्वैरीश्वरप्रकाशः क्रियते । कुतः । ईश्वरोस्तीति सर्वे दृष्टान्ता ज्ञापयन्तीति बोध्यम् । एवं चतुर्वेदस्थविद्यानां मध्यात्काश्चिद्विद्या अत्र भूमिकायां संक्षेपतो लिखिता इतोऽग्रे मन्त्रभाष्यं विधास्यते । तत्र यस्मिन् यस्मिन् मन्त्रे या या विद्योपदिष्टाऽस्ति सा सा तस्य तस्य मन्त्रस्य व्याख्यानावसरे यथावत् प्रकाशयिष्यते

भाषार्थ

(प्र०) वेद के आरम्भ में अग्नि वायु आदि शब्दों के प्रयोग से यह सिद्ध होता है कि जगत् में जिन पदार्थों का नाम अग्नि आदि प्रसिद्ध है उन्हीं का ग्रहण करना चाहिये और इसीलिये लोगों ने उन शब्दों से संसार के अग्नि आदि पदार्थों को मान भी लिया है, नहीं तो उचित था कि जो जो शब्द जहां जहां

होना चाहिये था वहां वहां उसी का ग्रहण करते कि जिससे कभी किसी को भ्रम न होता, अथवा आरम्भ में उन शब्दों की जगह ईश्वर परमेश्वरादि शब्दों ही का ग्रहण करना था ?। (उ०) यूं तो ऐसा करने से भी भ्रम हो सकता है, परन्तु जब कि व्याख्यानों के द्वारा मन्त्रों के पद पद का अर्थ खोल दियागया है तब उनके देखने से सब संदेह आप से आप ही निवृत्त हो जाते हैं, क्योंकि शिक्षा आदि अङ्ग वेदमन्त्रों के पद पद का अर्थ ऐसी रीति से खोलते हैं कि जिससे वैदिक शब्दार्थों में किसी प्रकार का संदेह शेष नहीं रह सकता, और जो कदाचित् ईश्वर शब्द का प्रयोग करते तो भी विना व्याख्यान के संदेह की निवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि ईश्वर नाम उत्तम सामर्थ्य वाले राजादि मनुष्यों का भी हो सकता है, और किसी किसी की ईश्वरसंज्ञा ही होती है। तथा जो सब ठिकाने एकार्थवाची शब्दों का ही प्रयोग करते तो भी अनेक कोटि श्लोक और हजारह ग्रन्थ वेदों के बन जाने का संभव था, परन्तु विद्या का पारावार फिर भी नहीं आता, और न उनको मनुष्य लोग कभी पढ़पढ़ा सकते, इस प्रयोजन अर्थात् सुगमता के लिये ईश्वर ने अग्न्यादि शब्दों का प्रयोग करके व्यवहार और परमार्थ इन दोनों बातें सिद्ध करनेवाली विद्याओं का प्रकाश किया है कि जिससे मनुष्य लोग थोड़े ही काल में मूल विद्याओं को जान लें। इसी मुख्य हेतु से सब के सुखार्थ परमकरुणामय परमेश्वर ने अग्न्यादि सुगम शब्दों के द्वारा वेदों का उपदेश किया है। इसलिये अग्न्यादि शब्दों के अर्थ जो संसार में प्रसिद्ध हैं उनसे भी ईश्वर का ग्रहण होता है, क्योंकि ये सब दृष्टान्त परमेश्वर ही के जानने और जनाने के लिये हैं। इस प्रकार चारों वेदों में जो जो विद्या हैं उनमें से कोई कोई विद्या तो इस वेदभाष्य की भूमिका में संक्षेप से लिख दी है, शेष सब इसके आगे जब मन्त्रभाष्य में जिस जिस मन्त्र में जिस जिस विद्या का उपदेश है सो सो उसी उसी मन्त्र के व्याख्यान में यथावत् प्रकाशित कर देंगे।

भाष्यम्

अथ निरुक्तकारः संक्षेपतो वैदिकशब्दानां विशेषनियमानाह

ताास्त्रिविधा ऋचः परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृता, आध्यात्मिक्यश्च । तत्र

परोक्षकृताः सर्वाभिर्नामविभक्तिभिर्युज्यन्ते प्रथमपुरुषैश्चाख्यातस्य । अथ प्रत्यक्षकृता मध्यमपुरुषयोगास्त्वमिति चैतेन सर्वनाम्ना । अथापि प्रत्यक्षकृताः स्तोतारो भवन्ति परोक्षकृतानि स्तोतव्यानि । अथाध्यात्मिक्य उत्तमपुरुषयोगा अहमिति चैतेन सर्वनाम्ना ॥ निरु० अ० ७ । खं० १ । २ ॥ अयं नियमः वेदेषु सर्वत्र सङ्गच्छते । तद्यथा । सर्वे मन्त्रास्त्रिविधानामर्थानां वाचका भवन्ति । केचित्परोक्षाणां, केचित्प्रत्यक्षाणां, केचिदध्यात्मं वक्तुमर्हाः । तत्राद्येषु प्रथमपुरुषस्य प्रयोगा भवन्ति, अपरेषु मध्यमस्य, तृतीयेषूत्तमपुरुषस्य च । तत्र मध्यमपुरुषप्रयोगार्थौ द्वौ भेदौ स्तः । यत्रार्थाः प्रत्यक्षाः सन्ति तत्र मध्यमपुरुषयोगा भवन्ति । यत्र च स्तोतव्या अर्थाः परोक्षाः स्तोतारश्च खलु प्रत्यक्षास्तत्रापि मध्यमपुरुषप्रयोगो भवतीति । अस्यायमभिप्रायः । व्याकरणरीत्या प्रथममध्यमोत्तमपुरुषाः क्रमेण भवन्ति । तत्र जडपदार्थेषु प्रथमपुरुष एव, चेतनेषु मध्यमोत्तमौ च । अयं लौकिकवैदिकशब्दयोः सार्वत्रिको नियमः । परन्तु वैदिकव्यवहारे जडेपि प्रत्यक्षे मध्यमपुरुषप्रयोगाः सन्ति । तत्रेदं बोध्यं जडानां पदार्थानामुपकारार्थं प्रत्यक्षकरणमात्रमेव प्रयोजनमिति । इमं नियममबुद्ध्वा वेदभाष्यकारैः सायणाचार्य्यादिभिस्तदनुसारतया स्वदेशभाषयाऽनुवादकारकैर्यूरोपाख्यदेशनिवास्यादिभिर्मनुष्यैर्वेदेषु जडपदार्थानां पूजास्तीति वेदार्थोऽन्यथैव वर्णितः ।

भाषार्थ

अब इसके आगे वेदस्थ प्रयोगों के विशेष नियम संक्षेप से कहते हैं । जो जो नियम निरुक्तकारादि ने कहे हैं वे बराबर वेदों के सब प्रयोगों में लगते हैं । (तास्त्रिविधा ऋचः), वेदों के सब मन्त्र तीन प्रकार के अर्थों को कहते हैं । कोई परोक्ष अर्थात् अदृश्य अर्थों को, कोई प्रत्यक्ष अर्थात् दृश्य अर्थों को और कोई अध्यात्म अर्थात् ज्ञानगोचर आत्मा और परमात्मा को । उनमें से परोक्ष अर्थ के कहने वाले मन्त्रों में प्रथम-पुरुष अर्थात् अपने और दूसरे के कहने वाले जो सो और वह आदि शब्द हैं, तथा उनकी क्रियाओं के अस्ति, भवति, करोति, पचतीत्यादि प्रयोग हैं । एवं प्रत्यक्ष अर्थ के कहने वालों में मध्यमपुरुष अर्थात् तू तुम आदि शब्द और

उनकी क्रिया के असि, भवसि, करोषि, पचसीत्यादि प्रयोग हैं। तथा अध्यात्म अर्थ के कहने वाले मन्त्रों में उत्तमपुरुष अर्थात् मैं हम आदि शब्द और उनकी अस्मि, भवामि, करोमि, पचामीत्यादि क्रिया आती हैं। तथा जहां स्तुति करने के योग्य परोक्ष और स्तुति करने वाले प्रत्यक्ष हों वहां भी मध्यम पुरुष का प्रयोग होता है। यहां यह अभिप्राय समझना चाहिये कि व्याकरण की रीति से प्रथम, मध्यम और उत्तम अपनी अपनी जगह होते हैं। अर्थात् जड़ पदार्थों में प्रथम, चेतन में मध्यम वा उत्तम होते हैं। सो यह तो लोक और वेद के शब्दों में साधारण नियम है। परन्तु वेद के प्रयोगों में इतनी विशेषता होती है कि जड़ पदार्थ भी प्रत्यक्ष हों तो वहां निरुक्तकार के उक्त नियम से मध्यम पुरुष का प्रयोग होता है और इससे यह भी जानना अवश्य है कि ईश्वर ने संसारी जड़ पदार्थों को प्रत्यक्ष कराके केवल उनसे अनेक उपकार लेना जनाया है, दूसरा प्रयोजन नहीं है। परन्तु इस नियम को नहीं जानकर सायणाचार्य आदि वेदों के भाष्यकारों तथा उन्हींके बनाये हुए भाष्यों के अवलम्ब से यूरोपदेशवासी विद्वानों ने भी जो वेदों के अर्थों को अन्यथा कर दिया है सो यह उनकी भूल है और इसीसे वे ऐसा लिखते हैं कि वेदों में जड़ पदार्थों की पूजा पाई जाती है जिसका कि कहीं चिह्न भी नहीं है।

भाष्यम्

अथ वेदार्थोपयोगितया संक्षेपतः स्वराणां व्यवस्था लिख्यते। ते स्वरा द्विधा, उदात्तषड्जादिभेदात्सप्त सप्तैव सन्ति। तत्रोदात्तादीनां लक्षणानि व्याकरणमहाभाष्यकारपतञ्जलिप्रदर्शितानि लिख्यन्ते। स्वयं राजन्त इति स्वराः। आयामो दारुण्यमणुता स्वस्येत्युच्चैः कराणि शब्दस्य। आयामो गात्राणां निग्रहः, दारुण्यं स्वरस्य दारुणता रूक्षता, अणुता कण्ठस्य, कण्ठस्य संवृतता, उच्चैःकराणि * शब्दस्य। अन्ववसर्गो मार्दवमुरुता खस्येति नीचैः † कराणि शब्दस्य। अन्ववसर्गो गात्राणां शिथिलता, मार्दवं स्वरस्य मृदुता स्निग्धता, उरुता खस्य महत्ता कण्ठस्येति नीचैःकराणि

* उदात्तविधायकानीति यावत्। † अनुदात्तविधायकानीति यावत्॥

शब्दस्य । त्रैस्वर्य्येणाधीमह, त्रिप्रकारैरज्भिरधीमहे, कैश्चिदुदात्तगुणैः, कैश्चिदनुदात्तगुणैः, कैश्चिदुभयगुणैः । तद्यथा । शुक्लगुणः शुक्लः, कृष्णगुणः कृष्णः, य इदानीमुभयगुणः स तृतीयामाख्यां लभते, कल्माष इति वा, सारङ्ग इति वा । एवमिहापि उदात्त उदात्तगुणः, अनुदात्तोऽनुदात्तगुणः, य इदानीमुभयगुणः स तृतीयामाख्यां लभते स्वरित इति । ते एते तन्त्रे तरनिर्देशे * सप्त स्वरा भवन्ति । उदात्तः, उदात्ततरः, अनुदात्तः, अनुदात्ततरः, स्वरितः, स्वरिते यः उदात्तः सोऽन्येन विशिष्टः, एकश्रुतिः सप्तमः । अ० १ । पा० २ । उच्चैरुदात्त इत्याद्युपरि ॥ तथा षड्जादयः सप्त । षड्जऋषभगान्धारमध्यमपञ्चमधैवतनिषादाः ॥ १ ॥ पिंगलसूत्रे अ० ३ । सू० ६४ ॥ एषां लक्षणव्यवस्था गान्धर्ववेदप्रसिद्धा ग्राह्या । अत्र तु ग्रन्थभूयस्त्वभिया लेखितुमशक्या ।

भाषार्थ

अब वेदार्थ के उपयोगहेतु से कुछ स्वरों की व्यवस्था कहते हैं, जो कि उदात्त और षड्ज आदि भेद से चौदह (१४) प्रकार के हैं, अर्थात् सात उदात्तादि और सात षड्जादि । उनमें से उदात्तादिकों के लक्षण जो कि महाभाष्यकार पतञ्जलि महामुनिजी ने दिखलाए हैं उनको कहते हैं । (स्वयं राजन्त०) आप ही अर्थात् जो कि विना सहाय दूसरे के प्रकाशमान हैं वे स्वर कहाते हैं । (आयामः०) अङ्गों का रोकना, (दारुण्यं०) वाणी को रूखा करना अर्थात् ऊंचे स्वर से बोलना और (अणुता०) कण्ठ को भी कुछ रोक देना, ये सब यत्न शब्द के उदात्त विधान करनेवाले होते हैं अर्थात् उदात्त स्वर इन्हीं नियमों के अनुकूल बोला जाता है । तथा (अन्वव) गात्रों का ढीलापन, (मार्दव०) स्वर की कोमलता, (उरुता०) कण्ठ को फैला देना, ये सब यत्न शब्द के अनुदात्त करनेवाले हैं । (त्रैस्वर्य्येण०), हम सब लोग तीन प्रकार के स्वरों से बोलते हैं, अर्थात् कहीं उदात्त, कहीं अनुदात्त और कहीं उदात्तानुदात्त अर्थात् स्वरित गुणवाले स्वरों से यथायोग्य नियमानुसार अक्षरों का उच्चारण करते हैं ।

* अतिशयार्थद्योतके तरप्प्रत्ययस्य निर्देशे ॥

जैसे श्वेत और काला रङ्ग अलग अलग हैं, परन्तु इन दोनों को मिला कर जो रङ्ग उत्पन्न हो उसका नाम तीसरा होता है अर्थात् खाखी वा आसमानी, इसी प्रकार यहां भी उदात्त और अनुदात्त गुण अलग अलग हैं, परन्तु इन दोनों के मिलाने से जो उत्पन्न हो उसको स्वरित कहते हैं। विशेष अर्थ के दिखाने वाले (तरप्) प्रत्यय के संयोग से वे उदात्त आदि सात स्वर होते हैं, अर्थात् उदात्त, उदात्ततर, अनुदात्त, अनुदात्ततर, स्वरित, स्वरितोदात्त और एकश्रुति। उक्त रीति से इन सातों स्वरों को ठीक ठीक समझ लेना चाहिये। अब षड्जादि स्वरों को लिखते हैं जो कि गानविद्या के भेद हैं। (स्वराः षड्जऋषभ०) अर्थात् षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद। इनके लक्षण व्यवस्थासहित जो कि गन्धर्ववेद अर्थात् गानविद्या के ग्रन्थों में प्रसिद्ध हैं उनको देख लेना चाहिये। यहां ग्रन्थ बढ़जाने के कारण नहीं लिखते।

भाष्यम्

अथात्र चतुर्षु वेदेषु व्याकरणस्य ये सामान्यतो नियमाः सन्ति त इदानीं प्रदर्श्यन्ते। तद्यथा। वृद्धिरादैच् ॥ १ ॥ अ० १। १। १ ॥ उभय संज्ञान्यपि छन्दांसि दृश्यन्ते, तद्यथा, ससुष्टुभा स ऋक्वता गणेन, पदत्वात्कुत्वं भत्वाज्जश्त्वं न भवति, इति भाष्यवचनम्। अनेनैकस्मिन् शब्दे भपदसंज्ञाकार्य्यद्वयं वेदेष्वेव भवति, नान्यत्र॥ स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ ॥ २ ॥ अ० १। १। ५६ ॥ प्रातिपदिकनिर्देशाश्चार्थतन्त्रा भवन्ति, न काञ्चित्प्राधान्येन विभक्तिमाश्रयन्ति, यां यां विभक्तिमाश्रयितुं बुद्धिरुपजायते सा सा आश्रयितव्या, इति भाष्यम्। अनेनार्थप्राधान्यं भवति न विभक्तेरिति बोध्यम्॥ न वेति विभाषा ॥ ३ ॥ अ० १। १। ४४ ॥ अर्थगत्यर्थः शब्दप्रयोगः, इति भाष्यसूत्रम्। लौकिकवैदिकेषु शब्देषु सार्वत्रिकः समानोऽयं नियमः॥ अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् ॥ ४ ॥ अ० १। २। ४५ ॥ बहवो हि शब्दा एकार्था भवन्ति। तद्यथा। इन्द्रः, शक्रः, पुरुहूतः, पुरन्दरः, कन्दुः, कोष्ठः, कुसूल इति। एकश्च शब्दो बह्वर्थः। तद्यथा। अक्षाः, पादाः, माषाः, सार्वत्रिकोयमपि नियमः। यथाऽग्न्यादयः शब्दा वेदेषु बहु-

र्थवाचकास्त एव बहव एकार्थाश्च ॥ ते प्राग्धातोः ॥ ५ ॥ अ० १ । ४ । ८० ॥ छन्दसि परव्यवहितवचनं च । आयातमुपनिष्कृतम् । उपप्रयोभिरागतम् । अनेन वार्त्तिकेन गत्युपसर्गसंज्ञकाः शब्दाः क्रियायाः परे पूर्वे दूरे व्यवहिताश्च भवन्ति ।

भाषार्थ

अब चारों वेद में व्याकरण के जो जो सामान्य नियम हैं उन को यहां लिखते हैं । (उभ०) वेदों में एक शब्द के बीच में (भ) तथा (पद) ये दोनों संज्ञा होती हैं । जैसे (ऋकता) इस शब्द में पदसंज्ञा के होने से चकार के स्थान में ककार हुआ है और भ संज्ञा के होने से ककार के स्थान में गकार नहीं हुआ । (प्रातिपदिक०) वेदादि शास्त्रों में जो जो शब्द पढ़े जाते हैं उन सब के बीच में यह नियम है कि जिस विभक्ति के साथ वे शब्द पढ़े हों उसी विभक्ति से अर्थ कर लेना यह बात नहीं है, किन्तु जिस विभक्ति से शास्त्र मूल युक्ति और प्रमाण के अनुकूल अर्थ बनता हो उस विभक्ति का आश्रय करके अर्थ करना चाहिये, क्योंकि (अर्थग०) वेदादि शास्त्रों में शब्दों के प्रयोग इसलिये होते हैं कि उनके अर्थों को ठीक ठीक जानके उनसे लाभ उठावें, जब उनसे भी अनर्थ प्रसिद्ध हो तो वे शास्त्र किसलिये माने जावें, इसलिये यह नियम लोकवेद में सर्वत्र घटता है । (बहवो हि०) तीसरा नियम यह है कि वेद तथा लोक में बहुत शब्द एक अर्थ के वाची होते और एक शब्द भी बहुत अर्थों का वाची होता है । जैसे अग्नि, वायु, इन्द्र आदि बहुत शब्द एक परमेश्वर अर्थ के वाची और इसी प्रकार वे ही शब्द संसारी पदार्थों के नाम होने से अनेकार्थ हैं, अर्थात् इस प्रकार के एक एक शब्द कई कई अर्थों के वाची हैं । (छन्दसि०) व्याकरण में जो जो गति और उपसर्गसंज्ञक शब्द हैं वे वेद में क्रिया के आगे पीछे दूर अर्थात् व्यवधान में भी होते हैं । जैसे (उपप्रयोभिरागतं) यहां आगतं क्रिया के साथ उप लगता तथा (आयातमुप०) यहां उप आयात क्रिया के पूर्व लगता है, इत्यादि । इसमें विशेष यह है कि लोक में पूर्वोक्त शब्द क्रिया के पूर्व ही सर्वत्र लगाये जाते हैं ।

चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि ॥ ६ ॥ अ० २ । ३ । ६२॥ षष्ठ्यर्थे चतुर्थी वक्तव्या । या खर्वेण पिबति तस्यै खर्वो जायते तिस्रो रात्रीरिति । तस्या इति प्राप्ते । एवमन्यत्रापि । अनेन चतुर्थ्यर्थे षष्ठी षष्ठ्यर्थे चतुर्थी द्वे एव भवतः । महाभाष्यकारेण छन्दोवन्मत्वा ब्राह्मणानामुदाहरणानि प्रयुक्तानि । अन्यथा ब्राह्मणग्रन्थस्य प्रकृतत्वाच्छन्दोग्रहणमनर्थकं स्यात् । बहुलं छन्दसि ॥ ७ ॥ अ० २ । ४ । ३९ । अनेन अदधातोः स्थाने घस्लृ आदेशो बहुलं भवति । घस्तान्नूनम् । सग्धिश्च मे । अत्तामद्य मध्यतो मेद उद्भृतम् । इत्याद्युदाहरणं ज्ञेयम् ॥ बहुलं छन्दसि ॥ ८ ॥ अ० २ । ४ । ७३ । वेदविषये शपो बहुलं लुग्भवति । वृत्रं हनति । अहिः शयते । अन्येभ्यश्च भवति । त्राध्वं नो देवाः । बहुलं छन्दसि ॥ ९ ॥ अ० २ । ४ । ७६ । वेदेषु शपः स्थाने श्लुर्बहुलं भवति । दाति प्रियाणि धाति प्रियाणि । अन्येभ्यश्च भवति । पूर्णां विवष्टि । जनिमा विवक्ति । इत्यादीन्युदाहरणानि सन्तीति बोध्यम् ।

भाषार्थ

(या खर्वेण०) इत्यादि पाठ से यही प्रयोजन है कि वेदों में षष्ठीविभक्ति के स्थान में चतुर्थी हो जाती है, लौकिक ग्रन्थों में नहीं । इस में ब्राह्मणों के उदाहरण इसलिये दिये हैं कि महाभाष्यकार ने ब्राह्मणों को वेदों के तुल्य मानके अर्थात् इन में जो व्याकरण के कार्य्य होते हैं वे ब्राह्मणों में भी हो जाते हैं और जो ऐसा न मानें तो (द्वितीया ब्राह्मणे) इस सूत्र में से ब्राह्मण शब्द की अनुवृत्ति हो जाती फिर (चतुर्थ्यर्थे०) इस सूत्र में (छन्दः) शब्द का ग्रहण व्यर्थ हो जाय । (बहुलं०) इस सूत्र से (अद्) धातु के स्थान में घस्लृ आदेश बहुल अर्थात् बहुधा होता है । (बहुलं०) वेदों में शप् प्रत्यय का लुक् बहुल करके होता है और कहीं नहीं भी होता जैसे (वृत्रं हनति) यहां शप् का लुक् प्राप्त था सो भी न हुआ तथा (त्राध्वं०) यहां त्रैङ् धातु से प्राप्त नहीं था परन्तु हो गया । महाभाष्यकार के नियम से शप् के लुक् करने में श्यनादि का लुक् होता है, क्योंकि शप् के स्थान में श्यनादि का आदेश किया जाता है ।

शप् सामान्य होने से सब धातुओं से होता है, जब शप् का लुक् हो गया तो श्यनादि प्राप्त ही नहीं होते। ऐसे ही श्लु के विषय में भी समझ लेना। (बहुलं) वेदों में शप् प्रत्यय के स्थान में श्लु आदेश बहुल करके होता है अर्थात् उक्त से भी नहीं होता और अनुक्त से भी हो जाता है। जैसे (दाति०) यहां शप् के स्थान में श्लु प्राप्त था परन्तु न हुआ और (विवष्टि) यहां प्राप्त नहीं फिर हो गया।

भाष्यम्

सिब् बहुलं लेटि॥ १०॥ अ० ३। १। ३४। सिब्बहुलं छन्दसि णिद्वक्तव्यः। सविता धर्म साविषत्। प्र ण आयूंषि तारिषत्। अयं लेटि विशिष्टो नियमः॥ छन्दसि शायजपि॥ ११॥ अ० ३। १। ८४॥ शायच्छन्दसि सर्वत्रेति वक्तव्यम्। क्व। सर्वत्र, हौ चाहौ च। किं प्रयोजनम्। महीः अस्कभायत्। यो अस्कभायत्। उद्ग्रभायत्। उन्मथायतेत्येवमर्थम्। अयं लोटि मध्यमपुरुषस्यैकवचने परस्मैपदे विशिष्टो नियमः॥ व्यत्ययो बहुलम्॥ १२॥ अ० ३। १। ८५। सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणां कालहलच्स्वरकर्त्तृयङां च। व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां सोपि च सिध्यति बाहुलकेन॥ १॥ व्यत्ययो भवति स्यादीनामिति। अनेन विकरणव्यत्ययः। सुपां व्यत्ययः। तिङां व्यत्ययः। वर्णव्यत्ययः। लिङ्गव्यत्ययः। पुरुषव्यत्ययः। कालव्यत्ययः। आत्मनेपदव्यत्ययः। परस्मैपदव्यत्ययः। स्वरव्यत्ययः। कर्त्तृव्यत्ययः। यङ्व्यत्ययश्च। एषां क्रमेणोदाहरणानि। युक्ता मातासीद्धुरि दक्षिणायाः। दक्षिणायामिति प्राप्ते। चषालं ये अश्वयूपाय तक्षति। तक्षन्तीति प्राप्ते। त्रिष्टुभौजः शुभितमुग्रवीरम्। शुधितमिति प्राप्ते। मधोस्तृप्ता इवासते। मधुन इति प्राप्ते। अधा स वीरैर्दशभिर्वियूयाः। वियूयादिति प्राप्ते। श्वोऽग्नीनाधास्यमानेन श्वः सोमेन यक्ष्यमाणेन। आधाता यष्टेति प्राप्ते। ब्रह्मचारिणमिच्छते। इच्छतीति प्राप्ते। प्रतीपमन्य ऊर्मिर्युध्यति। युध्यत इति। आधाता यष्टेति लुट्प्रथमपुरुषस्यैकवचने प्रयोगौ, व्यत्ययो भवति। स्यादीनामित्यस्योदाहरणं, तासि प्राप्ते स्यो विहितः॥ बहुलं

छन्दसि ॥ १३ ॥ अ० ३ । २ । ८८ । अनेन क्विप्प्रत्ययो वेदेषु बहुलं विधीयते । मातृहा । मातृघातः । इत्यादीनि ॥ छन्दसि लिट् ॥ १४ ॥ अ० ३ । २ । १०५ । वेदेषु सामान्यभूते लिड् विधीयते । अहं द्यावापृथिवी आततान ॥ लिटः कानज्वा ॥ १५ ॥ अ० ३ । २ । १०६ ॥ वेदविषये लिटः स्थाने कानजादेशो वा भवति । अग्निं चिक्यानः । अहं सूर्य्यमुभयतो ददर्श । प्रकृतेपि लिटि पुनर्ग्रहणात्परोक्षार्थस्यापि ग्रहणं भवति । क्वसुश्च ॥ १६ ॥ अ० ३ । २ । १०७ ॥ वेदे लिटः स्थाने क्वसुरादेशो वा भवति । पपिवान् । जग्मिवान् । नच भवति । अहं सूर्य्यमुभयतो ददर्श ॥ क्याच्छन्दसि ॥ १७ ॥ ३ । २ । १७० । क्यप्रत्ययान्ताद्धातोश्छन्दसि विषये तच्छीलादिषु कर्त्तृषु उकारप्रत्ययो भवति । मित्रयुः । संस्वेदयुः । सुम्नयुः । निरनुबन्धकग्रहणे सानुबन्धकस्यापि ग्रहणं भवतीत्यनया परिभाषया क्यच्क्यङ्क्यषां सामान्येन ग्रहणं भवति ।

भाषार्थ

(सिब्बहुलं०) लेट् लकार में जो सिप् प्रत्यय होता है वह वेदों में बहुल करके णित्संज्ञक होता है कि जिससे वृद्धि आदि कार्य होसकें । जैसे (साविषत्) यहां सिप् को णित् मान के वृद्धि हुई है, यह लेट् में वेदविषयक विशेष नियम है । (शायच्छन्दसि०) वेद में (हि) प्रत्यय के परे श्ना प्रत्यय के स्थान में जो शायच् आदेश विधान किया है वह (हि) से अन्यत्र भी होता है । (व्यत्ययो०) वेदों में जो व्यत्यय अर्थात् विपरीतभाव बहुधा होता है वह भाष्यकार पतञ्जलिजी ने नव प्रकार से माना है । वे सुप् आदि ये हैं सुप्, तिङ्, वर्ण, (लिङ्ग) पुल्लिंग, स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग, (पुरुष) प्रथम, मध्यम और उत्तम, (काल) भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान, आत्मनेपद और परस्मैपद, (वर्ण) वेदों में अचों के स्थान में हल् और हलों के स्थान में अच् के आदेश होजाते हैं, स्वर उदात्तादि का व्यत्यय, कर्ता का व्यत्यय और यङ् का व्यत्यय होते हैं । इन सब के उदाहरण संस्कृत में लिखे हैं वहां देख लेना । (बहुलम्०) इस से क्विप् प्रत्यय वेदों में बहुल करके होता है । (छन्दसि०) इस सूत्र से

लिट् लकार वेदों में सामान्य भूतकाल में भी होता है। (लिटः का०) इस सूत्र से वेदों में लिट लकार के स्थान में कानच् आदेश विकल्प कर के होता है, इस के (आततान) इत्यादि उदाहरण बनते हैं। (छन्दसि०) इस सूत्र में से लिट् की अनुवृत्ति हो जाती फिर लिट्ग्रहण इसलिये है कि (परोक्षे लिट्) इस लिट् के स्थान में भी कानच् आदेश होजावे। (क्वसुश्च) इस सूत्र से वेदों में लिट् के स्थान में क्वसु आदेश हो जाता है। (क्या) इस सूत्र से वेदों में क्यप्रत्ययान्त धातु से (उ) प्रत्यय हो जाता है।

भाष्यम्

कृत्यल्युटो बहुलम् ॥ १८ ॥ अ० ३ । ३ । ११३ । कृल्ल्युट इति वक्तव्यम् । कृतो बहुलमिति वा । पादहारकाद्यर्थम् । पादाभ्यां ह्रियते पादहारकः । अनेन धातोर्विहिताः कृत्संज्ञकाः प्रत्ययाः कारकमात्रे वेदादिषु द्रष्टव्याः । अयं लौकिकवैदिकशब्दानां सार्वत्रिको नियमोऽस्तीति वेद्यम् ॥ छन्दसि गत्यर्थेभ्यः ॥ १९ ॥ अ० ३ । ३ । १२९ । ईषदादिषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषूपपदेषु सत्सु गत्यर्थेभ्यो धातुभ्यश्छन्दसि विषये युच्प्रत्ययो भवति । उ० सूपसदनोऽग्निः ॥ अन्येभ्योऽपि दृश्यते ॥ २० ॥ अ० ३ । ३ । १३० । अन्येभ्यश्च धातुभ्यो युच्प्रत्ययो दृश्यते । उ० सुदोहनमाकृणोद्ब्रह्मणे गाम् ॥ छन्दसि लुङ्लङ्लिटः ॥ २१ ॥ ३ । ४ । ६ । वेदविषये धातुसम्बन्धे सर्वेषु कालेषु लुङ्लङ्लिटः प्रत्यया विकल्पेन भवन्ति । उ० लुङ्—अहं तेभ्योऽकरं नमः । लङ्, अग्निमद्य होतारमवृणीतायं यजमानः । लिट्—अद्य ममार ॥ लिङर्थे लेट् ॥ २२ ॥ अ० ३ । ४ । ७ । यत्र विध्यादिषु हेतुहेतुमतोः शकीच्छार्थेषूर्ध्वमौहूर्तिकेष्वर्थेषु लिङ् विधीयते । तत्र वेदेष्वेव लेट्लकारो वा भवति । उ० जीवाति शरदः शतमित्यादीनि । उपसंवादाशंकयोश्च ॥ २३ ॥ अ० ३ । ४ । ८ । उपसंवादे आशंकायां च गम्यमानायां वेदेषु लेट्प्रत्ययो भवति । उ० (उपसंवादे) अहमेव पशूनामीशै । आशंकायाम् । नेज्जिह्मायन्तो नरकं पताम । मिथ्याचरणेन नरकपात आशंक्यते ॥ लेटो डाटौ ॥ २४ ॥ अ० ३ । ४ । ९४ । लेटः पर्यायेण

अट्आट्आगमौ भवतः । आत ऐ ॥ २५ ॥ अ० ३ । ४ । ६५ । छन्दस्यनेनात्मनेपदे विहितस्य लेडादेशस्य द्विवचनस्थस्याकारस्य स्थाने ऐकारादेशो भवति । उ० मन्त्रयैते । मन्त्रयैथे । वैतोऽन्यत्र ॥ २६ ॥ अ० ३ । ४ । ९६ । आत ऐ इत्येतस्य विषयं वर्जयित्वा लेट एकारस्य स्थाने ऐकारादेशो वा भवति । उ० अहमेव पशूनामीशै ईशे वा ॥ इतश्च लोपः परस्मैपदेषु ॥ २७ ॥ अ० ३ । ४ । ९७ । लेटः स्थाने आदिष्टस्य तिबादिस्थस्य परस्मैपदविषयस्येकारस्य विकल्पेन लोपो भवति । उ० तरति, तराति, तरत्, तरात्, तरिषति, तरिषाति, तरिषत्, तरिषात्, तारिषति, तारिषाति, तारिषत्, तारिषात्, तरसि, तरासि, तरः, तराः, तरिषसि, तारिषासि, तरिषः, तरिषाः, तारिषसि, तारिषासि, तारिषः, तारिषाः, तरामि, तराम्, तरिषामि, तरिषाम्, तारिषामि, तारिषाम्, एवमेव सर्वेषां धातूनां प्रयोगेषु लेड्विषये बोध्यम् ॥ स उत्तमस्य ॥ २८ ॥ अ० ३ । ४ । ९८ । लेट उत्तमपुरुषस्य सकारस्य लोपो वा भवति । करवाव, करवावः, करवाम, करवामः ।

भाषार्थ

(छन्दसि०) इस सूत्र से ईषत्, दुर्, सु ये पूर्वपद लगे हों तो गत्यर्थक धातुओं से वेदों में युच् प्रत्यय होता है । (अन्येभ्यो०) और धातुओं से भी वेदों में युच् प्रत्यय देखने में आता है, जैसे (सुदोहनं) यहां सुपूर्वक दुह धातु से युच् प्रत्यय हुआ है । (छन्दसि०) जो तीन लकार लोक में भिन्न भिन्न कालों में होते हैं वे वेदों में लुङ्, लङ् और लिट् लकार ये सब कालों में विकल्प करके होते हैं । (लिङर्थे०) अब लेट् लकार के विषय के जो सामान्यसूत्र हैं उन को यहां लिखते हैं । यह लेट् लकार वेदों में ही होता है । सो वह लिङ् लकार के जितने अर्थ हैं उन में तथा उपसंवाद और आशङ्का इन अर्थों में लेट् लकार होता है । (लेटो०) लेट् को क्रम से अट् और आट् आगम होते हैं अर्थात् जहां अट् होता है वहां आट् नहीं होता जहां आट् होता है वहां अट् नहीं होता । (आत ऐ) लेट् लकार में प्रथम और मध्यम पुरुष के (आतां) के आकार को ऐकार आदेश हो जाता है, जैसे (मन्त्रयैते) यहां आ के स्थान

में ऐ होगया है। (वैतोन्यत्र) यहां लेट् लकार के स्थान में जो एकार होता है उस के स्थान में ऐकार आदेश हो जाता है। (इतश्च०) यहां लेट् के तिप्, सिप् और मिप् के इकार का लोप विकल्प से हो जाता है। (स उत्त०) इस सूत्र से लेट् लकार के उत्तम पुरुष के वस्मस् के सकार का विकल्प करके लोप हो जाता है। यह लेट् का विषय थोड़ासा लिखा, आगे किसी को सब जानना हो तो वह अष्टाध्यायी पढ़ के जान सकता है, अन्यथा नहीं।

भाष्यम्

तुमर्थे सेसेनसेअसेन्क्सेकसेनध्यैअध्यैन्कध्यैकध्यैन्शध्यैशध्यैन्तवैतवेङ्तवेनः ॥ २६ ॥ अ० ३। ४। ६॥ धातुमात्रात्तुमुन्प्रत्ययस्यार्थे से, सेन, असे, असेन्, कसे, कसेन, अध्यै, अध्यैन्, कध्यै, कध्यैन्, शध्यै, शध्यैन्, तवै, तवेङ्, तवेन्, इत्येते पञ्चदश प्रत्यया वेदेष्वेव भवन्ति। कृन्मेजन्त इति सर्वेषामव्ययत्वम्। सर्वेषु नकारोऽनुबन्धः स्वरार्थः। ककारो गुणवृद्धिनिषेधार्थः। ङकारोऽपि। शकारः शिदर्थः। (से) वक्षेरायः, (सेन) तावामेषे रथानाम्, (असे असेन्) क्रत्वे दक्षाय जीवसे, (कसे कसेन्) श्रियसे, (अध्यै अध्यैन) कर्मण्युपाचरध्यै, (कध्यै) इन्द्राग्नी आहुवध्यै, (कध्यैन्) श्रियध्यै, (शध्यै शध्यैन्) पिबध्यै, सहमादयध्यै, अत्र शित्वात् पिबादेशः, (तवै) सोममिन्द्राय पातवै, (तवेङ्) दशमे मासि सूतवे, (तवेन्) स्वर्देवेषु गन्तवे ॥ शकि णमुल्कमुलौ ॥ ३० ॥ अ० ३। ४। १२ ॥ शक्नोतौ धातावुपपदे धातुमात्रात्तुमर्थे वेदेषु णमुल्कमुलौ प्रत्ययौ भवतः। णकारो वृद्ध्यर्थः। ककारो गुणवृद्धिप्रतिषेधार्थः। लकारः स्वरार्थः। अग्निं वै देवा विभाजं नाशक्नुवन्, विभक्तुमित्यर्थः ॥ ईश्वरे तोसुन्कसुनौ ॥ ३१ ॥ अ० ३। ४। १३ ॥ ईश्वरशब्द उपपदे वेदे तुमर्थे वर्त्तमानाद्धातोस्तोसुन्कसुनौ प्रत्ययौ भवतः। ईश्वरोऽभिचरितोः। कसुन्। ईश्वरो विलिखः ॥ कृत्यार्थे तवैकेन्केन्यत्वनः ॥ ३२ ॥ अ० ३। ४। १४ ॥ कृत्यानां मुख्यतया भावकर्म्मणी द्वावर्थौ स्तोऽर्हदयश्च। तत्र वेदविषये तवै, केन्, केन्य, त्वन् इत्येते प्रत्यया भवन्ति। (तवै) परिधातवै,

(केन्) नावगाहे, (केन्य) दिदृक्षेण्यः शुश्रूषेण्यः, (त्वन्) कर्त्वं हविः।

भाषार्थ

(तुमर्थे०) इस सूत्र से वेदों में (से) इत्यादि १५ (पन्द्रह) प्रत्यय सब धातुओं से हो जाते हैं। (शकि०) शक धातु का प्रयोग उपपद हो तो धातुमात्र से (णमुल्) (कमुल्) ये दोनों प्रत्यय वेदों में हो जाते हैं, इस के होने से (विभाजं) इत्यादि उदाहरण सिद्ध होते हैं। (ईश्वरे०) वेदों में ईश्वर शब्दपूर्वक धातु से (तोसुन्) (कसुन्) ये प्रत्यय होते हैं। (कृत्यार्थे०) इस सूत्र से वेदों में भावकर्मवाचक (तवै) (केन्) (केन्य) (त्वन्) ये प्रत्यय होते हैं, इससे (परिधातवै) इत्यादि उदाहरण सिद्ध होते हैं।

भाष्यम्

नित्यं संज्ञाछन्दसोः ॥ ३३ ॥ अ० ४ । १ । २९ ॥ अन्नन्ताद्बहुव्रीहेरुपधालोपिनः प्रातिपदिकात्संज्ञायां विषये छन्दसि च नित्यं स्त्रियां ङीप्प्रत्ययो भवति । गौः पञ्चदाम्नी, एकदाम्नी ॥ नित्यं छन्दसि ॥ ३४ ॥ अ० ४ । १ । ४६ ॥ बह्वादिभ्यो वेदेषु स्त्रियां ङीष् प्रत्ययो भवति । बह्वीषु हित्वा प्रपिबन् ॥ भवे छन्दसि ॥ ३५ ॥ अ० ४ । ४ । ११० ॥ सप्तमीसमर्थात्प्रातिपदिकाद्भव इत्येतस्मिन्नर्थे छन्दसि विषये यत्प्रत्ययो भवति । अयमणादीनां घादीनां चापवादः । सति दर्शने तेपि भवन्ति, मेघ्याय च विद्युत्याय च नमः । इतः सूत्रादारभ्य यानि प्रकृतिप्रत्ययार्थविशेषविधायकानि पादपर्यन्तानि वेदविषयकाणि सूत्राणि सन्ति तान्यत्र न लिख्यन्ते, कुतस्तेषामुदाहरणानि यत्र यत्र मन्त्रेष्वागमिष्यन्ति तत्र तत्र तानि लेखिष्यामः ॥ बहुलं छन्दसि ॥ ३६ ॥ अ० ५ । २ । १२२ ॥ वेदेषु समर्थानां प्रथमात्प्रातिपदिकमात्राद्भूमादिष्वर्थेषु विनिः प्रत्ययो बहुलं विधीयते । तद्यथा । भूमादयः ॥ तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप् ॥ ३७ ॥ अ० ५ । २ । ९४ ॥ भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने, सम्बन्धेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादयः ॥ १ ॥ अस्य सूत्रस्योपरि महाभाष्यवचनादेतेषु सप्तस्वर्थेषु ते प्रत्यया वेदे लोके चैते मतुबादयो भवन्तीति बोध्यम् । (बहुलं)

अस्मिन्सूत्रे प्रकृतिप्रत्ययरूपविशेषविधायकानि बहूनि वार्त्तिकानि सन्ति, तानि तत्तद्विषयेषु प्रकाशयिष्यामः ॥ अनसन्तान्नपुंसकाच्छन्दसि ॥ ३८ ॥ अ० ५ । ४ । १०३ ॥ अनसन्तान्नपुंसकाच्छन्दसि वेति वक्तव्यम् । ब्रह्म सामं ब्रह्म साम, देवच्छन्दसं, देवच्छन्दः ॥ सन्यङोः ॥ ३९ ॥ अ० ६ । १ । ९ ॥ बह्वर्था अपि धातवो भवन्ति । तद्यथा । वपिः प्रकरणे दृष्टश्छेदने चापि वर्त्तते, केशान्वपति । ईडिः स्तुतिचोदनायाञ्चासु दृष्ट ईरणे चापि वर्त्तते, अग्निर्वा इतो वृष्टिमीट्टे मरुतोऽमुतश्च्यावयन्ति । करोतिरयमभूतप्रादुर्भावे दृष्टः निर्मूलीकरणे चापि वर्तते, पृष्ठं कुरु पादौ कुरु, उन्मृदानेति गम्यते । निक्षेपणेऽपि वर्तते, कटे कुरु घटे कुरु । अश्मानमितः कुरु, स्थापयेति गम्यते । एतन्महाभाष्यवचनेनैतद्विज्ञातव्यम्, धातुपाठे येऽर्था निर्दिष्टास्तेभ्योऽन्येऽपि बहवोऽर्था भवन्ति, त्रयाणामुपलक्षणमात्रस्य दर्शितत्वात् ॥ शेश्छन्दसि बहुलम् ॥ ४० ॥ अ० ६ । १ । ७० ॥ वेदेषु नपुंसके वर्तमानस्य शेर्लोपो बहुलं भवति । यथा विश्वानि भुवनानीति प्राप्ते विश्वा भुवनानीति भवति ॥ बहुलं छन्दसि ॥ ४१ ॥ अ० ६ । १ । ३४ ॥ अस्मिन्सूत्रे वेदेषु एषां धातूनामप्राप्तमपि सम्प्रसारणं बहुलं विधीयते । यथा हूमहे इत्यादिषु ॥ इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च ॥ ४२ ॥ अ० ६ । १ । १२७ ॥ ईषा अक्षादिषु च छन्दसि प्रकृतिभावमात्रं द्रष्टव्यम् ॥ ईषा अक्षा ईमिरे, इत्याद्यप्राप्तः प्रकृतिभावो विहितः ॥ देवताद्वन्द्वे च ॥ ४३ ॥ अ० ६ । ३ । २६ ॥ देवतयोर्द्वन्द्वसमासे पूर्वपदस्य आनङ् इत्यादेशो विधीयते। ङित्वादन्त्यस्य स्थाने भवति । उ० सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्, इन्द्राबृहस्पती इत्यादीनि । अस्य सूत्रस्योपरि द्वे वार्तिके स्तः । तद्यथा । देवताद्वन्द्वे उभयत्र वायोः प्रतिषेधः ॥ अग्निवायू, वाय्वग्नी ॥ ब्रह्मप्रजापत्यादीनां च ॥ ब्रह्मप्रजापती, शिववैश्रवणौ, स्कन्दविशाखौ । सूत्रेण विहित आनङादेशो वार्तिकद्वयेन प्रतिषिध्यते, सार्वत्रिको नियमः ॥ बहुलं छन्दसि ॥ ४४ ॥ अ० ७ । १ । ८ ॥ अनेनात्मनेपदसंज्ञस्य झकारप्रत्ययस्य रुडागमो विधीयते । उ०, देवा अदुह्र ॥ बहुलं छन्दसि ॥ ४५ ॥ अ० ७ । १ । १० ॥ अनेन वेदेषु भिसः स्थाने ऐस् बहुलं विधीयते । यथा देवे-

भिर्मानुषे जने ॥ सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः ॥ ४६ ॥ अ० ७ । १ । ३६ ॥ सुपां च सुपो भवन्तीति वक्तव्यम् । तिङां च तिङो भवन्तीति वक्तव्यम् । इयाडियाजीकाराणामुपसंख्यानम् । इया, दार्विया परिज्मन् । डियाच्, सुमित्रिया न आप०, सुक्षेत्रिया, सुगातुया (सुगात्रिया ?)। ईकार, दृतिं न शुष्कं सरसी शयानम् । आङयाजयारां चोपसंख्यानम् । आङ्, प्रवाहवा । अयाच्, स्वमया वाव सेचनम् । अयार्, स नः सिन्धुमिव नावया । सुप्, लुक्, पूर्वसवर्ण, आत्, शे, या, डा, ड्या, याच्, आल्, इया, डियाच्, ई, आङ्, अयाच्, अयार्, वैदिकेषु शब्देषु ह्येव सुपां स्थाने सुबाद्ययारान्ताः षोडशादेशा विधीयन्ते । तिङां च तिङिति पृथङ् नियमः । (सुप्) ऋजवः सन्तु पन्था, पन्थान इति प्राप्ते । (लुक्) परमे व्योमन्, व्योम्नीति प्राप्ते । (पूर्वसवर्ण) धीती मती, धीत्या मत्या इति प्राप्ते । (आत्) उभा यन्तारा, उभौ यन्तारौ इति प्राप्ते । (शे) न युष्मे वाजबन्धवः, यूयमिति प्राप्ते । (या) उरुया, उरुणा इति प्राप्ते । (डा) नाभा पृथिव्याः, नाभौ इति प्राप्ते । (ड्या) अनुष्टुया, अनुष्टुभा इति प्राप्ते । (याच्) साधुया, साधु इति प्राप्ते । (आल्) वसन्ता यजेत, वसन्ते इति प्राप्ते ॥ आज्जसेरसुक् ॥ ४७ ॥ ७ । १ । ५० ॥ अनेन प्रथमाया बहुवचने जसः पूर्वं असुक् इत्ययमागमो विहितः । उ०, विश्वे देवास आगत, विश्वेदेवा इति प्राप्ते । एवं देव्यासः । तथैवान्यान्यपि ज्ञातव्यानि ।

भाषार्थ

(नित्यं संज्ञा०) इस सूत्र से वेदों में अजन्त प्रातिपदिक से ङीप् प्रत्यय होता है । (नित्यं) इस सूत्र में बह्वादि प्रातिपदिकों से वेदों में ङीष् प्रत्यय नित्य होता है । (भवे०) इस सूत्र से भव अर्थ में प्रातिपदिक मात्र से वेदों में यत् प्रत्यय होता है । इस सूत्र से आगे पादपर्य्यन्त सब सूत्र वेदों ही में लगते हैं, सो यहां इसलिये नहीं लिखे कि वे एक एक बात के विशेष हैं, सो जिस जिस मन्त्र में विषय आवेंगे वहां वहां लिखे जायंगे । (बहुलं०) इस सूत्र से प्रातिपदिकमात्र से विन् प्रत्यय वेदों में मतुप् के अर्थ में बहुल करके होता है ।

इस सूत्र के ऊपर वैदिक शब्दों के लिये वार्त्तिक बहुत हैं, परन्तु विशेष हैं इस-लिये नहीं लिखे। (अनसन्ता०) इस सूत्र से वेदों में समासान्त टच् प्रत्यय विकल्प करके होता है। (बह्वर्था अपि०) इस महाभाष्यकार के वचन से यह बात समझनी चाहिये कि धातुपाठ में धातुओं के जितने अर्थ लिखे हैं उन से अधिक और भी बहुत अर्थ होते हैं। जैसे (ईड) धातु का स्तुति करना तो धातुपाठ में अर्थ पढ़ा है और चोदना आदि भी समझे जाते हैं, इसी प्रकार सर्वत्र जानना चाहिये। (बहुलं०) इस से धातुओं को अप्राप्त संप्रसारण होता है। (शेश्छ०) इस से प्रथमा विभक्ति जो जस् के स्थान में नपुंसकलिङ्ग में (शि) आदेश होता है इसका लोप वेदों में बहुल से हो जाता है। (ईषा०) इस नियम से अप्राप्त भी प्रकृतिभाव वेदों में होता है। (देवताद्व०) इस सूत्र से दो देवताओं के द्वन्द्वसमास में पूर्वपद को दीर्घ हो जाता है, जैसे (सूर्याचन्द्र-मसौ०), यहां सूर्या शब्द दीर्घ होगया है। और इस सूत्र से जिस कार्य का विधान है उसका प्रतिषेध महाभाष्यकार दो वार्तिकों से विशेष शब्दों में दिखाते हैं, जैसे (इन्द्रवायू) यहां इन्द्र शब्द को दीर्घ नहीं हुआ। यह नियम लोक और वेद में सर्वत्र घटता है। (बहुलं०) इस सूत्र से प्रथम पुरुष के बहुवचन आत्मनेपद में झ प्रत्यय को रुट् का आगम होता है। (बहुलं०) इससे भिस् के स्थान में ऐस्भाव बहुल करके होता है। (सुपां सु०) इससे सब विभक्तियों के सब वचनों के स्थान में (सुप्) आदि १६ आदेश होते हैं। (आज्जसे०) इस सूत्र से वेदों में प्रथमाविभक्ति का बहुवचन जो जस् है उसको असुक् का आगम होता है, जैसे (दैव्याः) ऐसा होना चाहिये वहां (दैव्यासः) ऐसा हो जाता है, इत्यादि जान लेना चाहिये।

भाष्यम्

बहुलं छन्दसि ॥ ४८ ॥ अ० ७ । ३ । ९७ ॥ वेदेषु यत्र क्वचिदी-डागमो दृश्यते तत्रानेनैव भवतीति वेद्यम् ॥ बहुलं छन्दसि ॥ ४९ ॥ अ० ७ । ४ । ७८ ॥ अनेनाभ्यासस्य इत् इत्ययमादेशः श्लौ वेदेषु बहुलं वि-धीयते ॥ छन्दसीरः ॥ ॥ ५० ॥ अ० ८ । २ । १५ ॥ अनेन मतुपो मका-

रस्याप्राप्तं वत्वं विधीयते । उ० रेवान् इत्यादि । कृपो रो लः ॥ ५१ ॥ अ० ८ । २ । १८ ॥ संज्ञाछन्दसोर्वा कपिलकादीनामिति वक्तव्यम् । कपिलका । कपरिका । इत्यादीनि ॥ घिच ॥ ५२ ॥ अ० ८ । २ । २५ ॥ घसिभसोर्न सिध्येत्तु तस्मात् सिज्ग्रहणं न तत् । छान्दसो वर्णलोपो वा यथेष्कर्त्तारमध्वरे ॥ १ ॥ उ० निष्कर्तारमध्वरस्येति प्राप्ते । अनेन वेदेषु वर्णलोपो विकल्प्यतेऽप्राप्तविभाषेयम् ॥ दादेर्धातोर्घः ॥ ५३ ॥ अ० ८ । २ । ३२ ॥ हृग्रहोश्छन्दसि हस्य भत्वं वक्तव्यम् । उ० गर्दभेन संभरति । मरुद्स्य गृभ्णाति ॥ मतुवसो रुः सम्बुद्धौ छन्दसि ॥ ५४ ॥ अ० ८ । ३ । १ ॥ वेदविषये मत्वन्तस्य वस्वन्तस्य च सम्बुद्धौ गम्यमानायां रुर्भवति । गोमः । हरिवः । मीढ्वः ॥ वा शरि ॥ ५५ ॥ अ० ८ । ३ । ३६ ॥ वा शर्प्रकरणे खर्परे लोपो वक्तव्यः । वृक्षा स्थातारः । वृक्षाः स्थातारः । अनेन वायवस्थ इत्यादीनि वेदेष्वपि दृश्यन्ते । अतः सामान्येनायं सार्वत्रिको नियमः ।

भाषार्थ

(बहुलं०) इस सूत्र से वेदों में ईट् का आगम होता है । (बहुलं०) इस सूत्र से वेदों में धातु के अभ्यास को इकारादेश हो जाता है । (छन्दसीरः) इससे वेदों में मतुप् प्रत्यय के मकार को वकारादेश हो जाता है । (संज्ञा०) इससे वेदों में रेफ को लकार विकल्प करके होता है । (घसि०) इससे वेदों में किसी किसी अक्षर का कहीं कहीं लोप हो जाता है । (हृग्रहो०) इससे वेदों में हृ और ग्रह के हकार को भकार होजाता है । (मतु०) इससे वेदों में मतुप् और वसु के नकार को रु होता है ।

भाष्यम्

उणादयो बहुलम् ॥ ५६ ॥ अ० ३ । ३ । १ ॥ बहुलवचनं किमर्थम् ? । "बाहुलकं प्रकृतेस्तनुदृष्टेः" । तन्वीभ्यः प्रकृतिभ्य उणादयो दृश्यन्ते न सर्वाभ्यो दृश्यन्ते । "प्रायसमुच्चयनादपि तेषाम्" । प्रायेण खल्वपि ते समुच्चिता न सर्वे समुच्चिताः । "कार्य्यसशेषविधेश्च तदुक्तम्" । कार्य्याणि खल्वपि सशेषाणि कृतानि न सर्वाणि लक्षणेन परिसमाप्तानि । किं पुनः कारणं

तन्वीभ्यः प्रकृतिभ्य उणादयो दृश्यन्ते न सर्वाभ्यः । किञ्च कारणं प्रायेण समुच्चिता न सर्वे समुच्चिताः । किञ्च कारणं कार्य्याणि सशेषाणि कृतानि न पुनः सर्वाणि लक्षणेन परिसमाप्तानि । "नैगमरूढिभवं हि सुसाधु" । नैगमाश्च रूढिशब्दाश्चावैदिकास्ते सुष्ठु साधवः कथं स्युः । "नाम च धातुजमाह निरुक्ते" । नाम खल्वपि धातुजमाहुर्नैरुक्ताः । "व्याकरणे शकटस्य च तोकम्" । वैयाकरणानां च शाकटायन आह धातुजं नामेति । अथ यस्य विशेषपदार्थो न समुत्थितः कथं तत्र भवितव्यम् । "यन्न विशेषपदार्थसमुत्थं प्रत्ययतः प्रकृतेश्च तदूह्यम्" । प्रकृतिं दृष्ट्वा प्रत्यय ऊहितव्यः, प्रत्ययं दृष्ट्वा प्रकृतिरूहितव्या । संज्ञासु धातुरूपाणि प्रत्ययाश्च ततः परे । कार्य्याद्विद्याद्-नुबन्धमेतच्छास्त्रमुणादिषु ॥ ३ ॥ (बाहुलकं०) उणादिपाठे अल्पाभ्यः प्रकृतिभ्य उणादयः प्रत्यया विहितास्तत्र बहुलवचनादविहिताभ्योपि भवन्ति । एवं प्रत्यया अपि न सर्वे एकीकृताः किन्तु प्रायेण सूक्ष्मतया प्रत्ययविधानं कृतं तत्रापि बहुलवचनादेवाविहिता अपि प्रत्यया भवन्ति यथा फिडफिड्डौ भवतः । तथा सूत्रैर्विहितानि कार्य्याणि न भवन्त्यविहितानि च भवन्ति । यथा दण्ड इत्यत्र डप्रत्ययस्य डकारस्य इत्संज्ञा न भवति । एतदपि बाहुलकादेव । (किं पुनः०) अनेनैतच्छंक्यते उणादौ यावत्यः प्रकृतयो यावन्तः प्रत्यया यावन्ति च सूत्रे कार्य्याणि विहितानि तावन्त्येव कथं न स्युः । अत्रोच्यते । (नैगम०) नैगमा वैदिकाः शब्दा रूढयो लौकिकाश्च सुष्ठु साधवो यथा स्युः । एवं कृतेन विना नैव ते सुष्ठु सेत्स्यन्ति । (नाम०) संज्ञाशब्दान् निरुक्तकारा धातुजानाहुः, (व्याकरणे०) शकटस्य तोकमपत्यं शाकटायनः, तोकमित्यस्यापत्यनामसु * पठितत्वात् । (यन्न०) यत् विशेषात्पदार्थान्न सम्यगुत्थितमर्थात्प्रकृतिप्रत्ययविधानेन न व्युत्पन्नं तत्र प्रकृतिं दृष्ट्वा प्रत्यय ऊह्यः प्रत्ययं च दृष्ट्वा प्रकृतिः । एतदूहनं क्व कथं च कर्तव्यमित्यत्राह । संज्ञाशब्देषु, धातुरूपाणि पूर्वमूह्यानि परे च प्रत्ययाः । (कार्य्याद्वि०) कार्य्यमाश्रित्य धातुप्रत्ययानुबन्धान् जानीयात्, एतत्सर्वं कार्य्यमुणादिषु बोध्यम् ।

* निघं० २ । २ ॥

भाषार्थ

(उणादयो०) इस सूत्र के ऊपर महाभाष्यकार पतञ्जलि मुनि उणादिपाठ की व्यवस्था बांधते हैं कि (बाहुलकं०) उणादिपाठ में थोड़े से धातुओं से प्रत्ययविधान किया है सो बहुल के होने से वे प्रत्यय अन्य धातुओं से भी होते हैं। इसी प्रकार प्रत्यय भी उस ग्रन्थ में थोड़े से नमूना के लिये पढ़े हैं इन से अन्य भी नवीन प्रत्यय शब्दों में देखकर समझ लेना चाहिये। जैसे (ऋफिडः) इस शब्द में ऋ धातु से फिड प्रत्यय समझा जाता है, इसी प्रकार अन्यत्र भी जानना चाहिये। तथा जितने शब्द उणादिगण से सिद्ध होते हैं उन में जितने कार्य्य सूत्रों करके होने चाहियें वे सब नहीं होते हैं, सो भी बहुल ही का प्रताप है। (किं पुनः) इस में जो कोई ऐसी शंका करे कि उणादिपाठ में जितने धातुओं से जितने प्रत्यय विधान किये और जितने कार्य्य शब्दों की सिद्धि में सूत्रों से हो सकते हैं उन से अधिक क्यों होते हैं ? तो इसका उत्तर यह है कि (नैगम०) वेदों में जितने शब्द हैं तथा संसार में असंख्य संज्ञाशब्द हैं ये सब अच्छी प्रकार सिद्ध नहीं हो सकते, इसलिये पूर्वोक्त तीन प्रकार के कार्य्य बहुलवचन से उणादि में होते हैं, जिसके होने से अनेक प्रकार के हज़ारह शब्द सिद्ध होते हैं। (नाम०) अब इस विषय में निरुक्तकारों का ऐसा मत है कि संज्ञाशब्द जितने हैं वे सब धातु और प्रत्ययों से बराबर सिद्ध होने चाहियें तथा वैयाकरण जितने ऋषि हैं उन में से शाकटायन ऋषि का मत निरुक्तकारों के समान है और इन से भिन्न ऋषियों का मत यह है कि संज्ञाशब्द जितने हैं वे रूढ़ी हैं। अब इस बात का विचार करते हैं कि जिन शब्दों में धातु प्रत्यय मालूम कुछ भी नहीं होता वहां क्या करना चाहिये। उन शब्दों में इस प्रकार विचार करना चाहिये कि व्याकरणशास्त्र में जितने धातु और प्रत्यय हैं इन में से जो धातु मालूम पड़ जाय तो नवीन प्रत्यय की कल्पना कर लेनी और जो प्रत्यय जाना जाय तो नवीन धातु की कल्पना कर लेनी, इस प्रकार उन शब्दों का अर्थ विचार लेना चाहिये। और दूसरी कल्पना यह भी है कि उन शब्दों में जिस अनुबन्ध का कार्य्य दीखे वैसा ही धातु वा

प्रत्यय अनुबन्ध के सहित कल्पना करनी। जैसे कोई आद्युदात्त शब्द हो उस में (ञ्) अथवा (न्) अनुबन्ध के सहित प्रत्यय समझना। यह कल्पना सर्वत्र नहीं करने लगना, किन्तु जो संज्ञाशब्द लोक वेद से प्रसिद्ध हों उन के अर्थ जानने के लिये शब्द के आदि के अक्षरों में धात्वर्थ की और अन्त में प्रत्ययार्थ की कल्पना करनी चाहिये। ये सब ऋषियों का प्रबन्ध इसलिये है कि शब्दसागर अथाह है, इस की थाह व्याकरण से नहीं मिल सकती। जो कहें कि ऐसा व्याकरण क्यों नहीं बनाया कि जिससे शब्दसागर के पार पहुंच जाते तो यह समझना कि कितने ही पोथा बनाते और जन्मजन्मान्तरों भर पढ़ते तो भी पार होना दुर्लभ हो जाता। इसलिये यह सब पूर्वोक्त प्रबन्ध ऋषियों ने किया है जिससे शब्दों की व्यवस्था मालूम हो जाय।

भाष्यम्

अथालङ्कारभेदाः संक्षेपतो लिख्यन्ते। तत्र तावदुपमालङ्कारो व्याख्यायते। पूर्णोपमा चतुर्भिरुपमेयोपमानवाचकसाधारणधर्मैर्भवति ॥ अस्योदाहरणम्। स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव ॥ १ ॥ उक्तानामेकैकशो लुप्तादानेऽष्टधा लुप्तोपमा। तत्र वाचकलुप्तोदाहरणम्। भीम इव बली भीमबली। धर्मलुप्तोदाहरणम्। कमलनेत्रः ॥ २ ॥ धर्मवाचकलुप्तोदाहरणम्। व्याघ्र इव पुरुषः पुरुषव्याघ्रः ॥ ३ ॥ वाचकोपमेयलुप्तोदाहरणम्। विद्यया पण्डितायन्ते ॥ ४ ॥ उपमानलुप्ता ॥ ५ ॥ वाचकोपमानलुप्ता ॥ ६ ॥ धर्मोपमानलुप्ता ॥ ७ ॥ धर्मोपमानवाचकलुप्ता ॥ ८ ॥ आसामुदाहरणम्। काकतालीयो गुरुशिष्यसमागमः। एवमष्टविधा ॥ १ ॥ अतोऽग्रे रूपकालङ्कारः। स चोपमानस्याभेदताद्रूप्याभ्यामधिकन्यूनोभयगुणैरुपमेयस्य प्रकाशनं रूपकालङ्कारः। स च षड्धा। तत्राधिकाभेदरूपकोदाहरणम्। अयं हि सविता साक्षाद्येन ध्वान्तं विनाश्यते। पूर्णविद्य इति शेषः ॥ १ ॥ न्यूनाभेदरूपकोदाहरणम्। अयं पतञ्जलिः साक्षाद्भाष्यस्य कृतिना विना ॥ २ ॥ अनुभयाभेदरूपकोदाहरणम्। ईशः प्रजामवत्यद्य स्वीकृत्य समनीतिताम् ॥ ३ ॥ अधिकताद्रूप्यरूपकोदाहरणम्। विद्यानन्दे हि सम्प्राप्ते राज्या-

नन्देन किं तदा ॥ ४ ॥ न्यूनताद्रूप्यरूपकोदाहरणम् । साध्वीयं सुखदा नीतिरसूर्य्यप्रभवा मता ॥ ५ ॥ अनुभयताद्रूप्यरूपकोदाहरणम् । अयं घनावृ गन्सूर्य्याद्रियासूर्य्यो विभज्यते ॥ ६ ॥ अनेकार्थशब्दविन्यासः श्लेषः । स च त्रिविधः । प्रकृतानेकविषयः । अप्रकृतानेकविषयः । प्रकृताप्रकृतानेकविषयश्च । तत्र प्रकृतविषयस्योदाहरणम् । यथा नवकम्बलोऽयं मनुष्यः । अत्र नव कम्बला यस्य नवो नूतनो वा कम्बलो यस्येति द्वावर्थौ भवतः । यथा च श्वेतो धावति । अलंबुसानां यातेति । तथैव अग्निमीडे इत्यादि । अप्रकृतविषयस्योदाहरणम् । हरिणा त्वद्बलं तुल्यं कृतिना हितशक्तिना । अथ प्रकृताप्रकृतविषयोदाहरणम् । उच्चरन्भूरियानाढ्यः शुशुभे वाहिनीपतिः । एवंविधा अन्येऽपि बहवोऽलङ्काराः सन्ति । ते सर्वे नात्र लिख्यन्ते । यत्र यत्र त आगमिष्यन्ति तत्र तत्र व्याख्यायिष्यन्ते ।

भाषार्थ

अब कुछ अलङ्कारों का विषय संक्षेप से लिखते हैं। उन में से पहिले उपमालङ्कार के आठ (८) भेद हैं। वाचकलुप्ता १, धर्मलुप्ता २, धर्मवाचकलुप्ता ३, वाचकोपमेय लुप्ता ४, उपमानलुप्ता ५, वाचकोपमानलुप्ता ६, धर्मोपमानलुप्ता ७ और धर्मोपमान वाचकलुप्ता ८। इन आठों से पूर्णोपमालङ्कार पृथक् है, जिस में ये सब बने रहते हैं। उस का लक्षण यह है कि वह चार पदार्थों से बनता है, एक तो उपमान, दूसरा उपमेय, तीसरा उपमावाचक और चौथा साधारणधर्म। इनमें से उपमान उसको कहते हैं कि जिस पदार्थ की उपमा दी जाती है। उपमेय वह कहाता है कि जिसको उपमान के तुल्य वर्णन करते हैं। उपमावाचक उस को कहते हैं कि जो तुल्य, समान, सदृश, इव, वत् इत्यादि शब्दों के बीच में आने से किसी दूसरे पदार्थ के समान बोध करावे। साधारणधर्म वह होता है कि जो कर्म उपमान और उपमेय इन दोनों में बराबर वर्त्तमान रहता है। इन चारों के वर्त्तमान होने से पूर्णोपमा और इन में से एक एक के लोप हो जाने से पूर्वोक्त आठ भेद हो जाते हैं। पूर्णोपमा का उदाहरण यह है कि (स नः पितेव०)। जैसे पिता अपने पुत्र की सब प्रकार से रक्षा करता है वैसे ही परमेश्वर भी सब का पिता अर्थात् पालन करने वाला है। इसके आगे दूसरे रूप-

कालङ्कार के छः भेद हैं। अधिकाभेदरूपक १, न्यूनाभेदरूपक २, अनुभयाभेदरूपक ३, अधिकताद्रूप्यरूपक ४, न्यूनताद्रूप्यरूपक ५ और अनुभयताद्रूप्यरूपक ६। इसका लक्षण यह है कि उपमेय को उपमान बना देना और उस में भेद नहीं रखना। जैसे यह मनुष्य साक्षात् सूर्य्य है, क्योंकि अपने विद्यारूप प्रकाश से अविद्यारूप अन्धकार का नाश नित्य करता है इत्यादि। तीसरा श्लेषालङ्कार कहाता है। उस के तीन भेद हैं। प्रकृत १, अप्रकृत २ और प्रकृताप्रकृतविषय ३। जिस का लक्षण यह है कि किसी एक वाक्य वा शब्द से अनेक अर्थ निकलें वह श्लेष कहाता है। जैसे नवकम्बल इस शब्द से दो अर्थ निकलते हैं। एक नव है कम्बल जिस के, दूसरा नवीन है कम्बल जिस का। इसी प्रकार वेदों में अग्नि आदि शब्दों के कई कई अर्थ होते हैं सो श्लेषालंकार का ही विषय है। इस प्रकार के और भी बहुत अलंकार हैं सो जहां जहां वेदभाष्य में आवेंगे वहां वहां लिखे जायंगे।

भाष्यम्

अदि॑ति॒र्द्यौरदि॑तिर॒न्तरि॑क्ष॒मदि॑तिर्मा॒ता स पि॒ता स पु॒त्रः। विश्वे॑ दे॒वा अदि॑तिः॒ पञ्च॒ जना॒ अदि॑तिर्जा॒तमदि॑ति॒र्जनि॑त्वम् ॥१॥ ऋ० मं० १। सू० ८९। मं० १०॥ अस्मिन्मन्त्रे अदितिशब्दार्था द्यौरित्यादयः सन्ति तेऽपि वेदभाष्येऽदितिशब्देन ग्राहिष्यन्ते। नैवास्य मन्त्रस्य लेखनं सर्वत्र भविष्यतीति मत्वाऽत्र लिखितम्।

भाषार्थ

(अदिति०) इस मन्त्र में अदिति शब्द के बहुत अर्थ और बहुतेरे अर्थ इस शब्द के हैं। परन्तु इस मन्त्र में जितने हैं वे सब वेदभाष्य में अवश्य लिये जायंगे। इस मन्त्र को वारंवार न लिखेंगे, किन्तु वे सब अर्थ तो लिख दिये जायंगे। वे अर्थ ये हैं— द्यौः, अन्तरिक्ष, माता, पिता, पुत्र, विश्वेदेवा, पञ्चजना, जात और जानित्व।

भाष्यम्

अथ वेदभाष्ये ये सङ्केताः करिष्यन्ते त इदानीं प्रदर्श्यन्ते। ऋग्वेदादीनां वेदचतुष्टयानां, षड्शास्त्राणां, षडङ्गानां, चतुर्णां ब्राह्मणानां, तैत्तिरीयारण्यकस्य च यत्र यत्र प्रमाणानि लेखिष्यन्ते तत्र तत्रैते सङ्केता विज्ञेयाः। ऋग्वेदस्य ऋ०, मण्डलस्य प्रथमाङ्को, द्वितीयः सूक्तस्य, तृतीयो मन्त्रस्य विज्ञेयः। तद्यथा—ऋ० १। १। १॥ यजुर्वेदस्य य०, प्रथमाङ्कोऽध्यायस्य, द्वितीयो मन्त्रस्य। तद्यथा—य० १। १॥ सामवेदस्य साम०, पूर्वार्चिकस्य पू०, प्रथमाङ्कः प्रपाठकस्य, द्वितीयो दशते,स्तृतीयो मन्त्रस्य। तद्यथा—साम० पू० १। १। १॥ पूर्वार्चिकस्यायं नियमः। उत्तरार्चिकस्य खलु साम० उ०, प्रथमाङ्कः प्रपाठकस्य, द्वितीयो मन्त्रस्य। अत्रायं विशेषोस्ति। उत्तरार्चिके दशतयो न सन्ति, परन्त्वर्द्धप्रपाठके मन्त्रसंख्या पूर्णा भवति। तेन प्रथमः पूर्वार्द्धप्रपाठको, द्वितीय उत्तरार्द्धप्रपाठकश्चेत्ययमपि सङ्केत उत्तरार्चिके ज्ञेयः। तद्यथा—साम० उ० १। पू० १॥ साम० उ० १। उ० १। अत्र द्वौ सङ्केतौ भविष्यतः। उकारेणोत्तरार्चिकं ज्ञेयं, प्रथमाङ्केन प्रथमः प्रपाठकः, पू० इत्यनेन पूर्वार्द्धः प्रथमः प्रपाठकः, द्वितीयाङ्केन मन्त्रसंख्या ज्ञेया। पुनर्द्वितीये सङ्केते द्वितीय उकारेण उत्तरार्द्धः, प्रथमः प्रपाठकः, द्वितीयाङ्केन तदेव। अथर्ववेदे। अथर्व०, प्रथमाङ्कः काण्डस्य, द्वितीयो वर्गस्य, तृतीयो मन्त्रस्य। तद्यथा—अथर्व० १। १। १॥

भाषार्थ

अब वेदभाष्य में चारों वेदों के जहां जहां प्रमाण लिखे जावेंगे उन के संकेत दिखलाते हैं। देखो ऋग्वेद का जहां प्रमाण लिखेंगे वह ऋग्वेद का ऋ० और मण्डल १। सूक्त १। मन्त्र १। इन का पहिला दूसरा तीसरा क्रम से संकेत जानना चाहिये, जैसे ऋ० १। १। १। इसी प्रकार यजुर्वेद का य०, पहिला अङ्क अध्याय का, दूसरा मन्त्र का जान लेना। जैसे य० १। १। सामवेद का नियम यह है कि साम०, पूर्वार्चिक का पू०, पहिला प्रपाठक का,

दूसरा दशति का और तीसरा मन्त्र का जानना चाहिये, जैसे साम० पू० १। १। १। यह नियम पूर्वार्चिक में है। उत्तरार्चिक में प्रपाठकों के भी पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध होते हैं, अर्द्धप्रपाठकपर्य्यन्त मन्त्रसंख्या चलती है। इसलिये प्रपाठक के अङ्क के आगे पू० वा उ० धरा जायगा। उस पू० से पूर्वार्द्ध प्रपाठक और उ० से उत्तरार्द्ध प्रपाठक जान लेना होगा। इस प्रकार उत्तरार्चिक में दो संकेत होंगे। साम० उ० १। पू० १॥ साम० उ० १। उ० १॥ इसी प्रकार अथर्ववेद में अथर्व०, पहिला अङ्क काण्ड का, दूसरा वर्ग का, तीसरा मन्त्र का जान लेना, जैसे अथर्व० १। १। १॥

भाष्यम्

एवं ब्राह्मणस्याद्यस्यैतरेयस्य ऐ०, प्रथमाङ्कः पञ्चिकाया, द्वितीयः कण्डिकायाः। तद्यथा। ऐ० १। १॥ शतपथब्राह्मणे श०, प्रथमाङ्कः काण्डस्य, द्वितीयः प्रपाठकस्य, तृतीयो ब्राह्मणस्य, चतुर्थः कण्डिकायाः। तद्यथा—श० १। १। १। १॥ एवमत्र सामब्राह्मणानि बहूनि सन्ति, तेषां मध्याद्यस्य यस्य प्रमाणमत्र लेखिष्यते तस्य तस्य सङ्केतस्तत्रैव करिष्यते। तेष्वेवैकं छान्दोग्याख्यं तस्य छां०, प्रथमाङ्कः प्रपाठकस्य, द्वितीयः खण्डस्य, तृतीयो मन्त्रस्य। तद्यथा—छां० १। १। १॥ एवं गोपथब्राह्मणस्य गो०, प्रथमाङ्कः प्रपाठकस्य, द्वितीयो ब्राह्मणस्य। यथा गो० १। १। एवं षट्शास्त्रेषु प्रथमं मीमांसाशास्त्रम्। तस्य मी०, प्रथमाङ्कोऽध्यायस्य द्वितीयः पादस्य, तृतीयः सूत्रस्य। तद्यथा—मी० १। १। १॥ द्वितीयं वैशेषिकशास्त्रं तस्य वै०, प्रथमाङ्कोऽध्यायस्य, द्वितीय आह्निकस्य, तृतीयः सूत्रस्य। तद्यथा–वै० १। १। १॥ तृतीयं न्यायशास्त्रं तस्य न्या०, अन्यद्वैशेषिकवत्। चतुर्थं योगशास्त्रं तस्य यो०, प्रथमाङ्कः पादस्य, द्वितीयः सूत्रस्य। यो० १। १॥ पञ्चमं सांख्यशास्त्रं तस्य सां०, प्रथमाङ्कोऽध्यायस्य, द्वितीयः सूत्रस्य। सां० १। १॥ षष्ठं वेदान्तशास्त्रमुत्तरमीमांसाख्यं तस्य वे०, प्रथमाङ्कोऽध्यायस्य, द्वितीयः पादस्य, तृतीयः सूत्रस्य। वे० १। १। १॥ तथाङ्गेषु प्रथमं व्याकरणं, तत्राष्टाध्यायी तस्या अ०, प्रथमाङ्कोऽ-

ध्यायस्य, द्वितीयः पादस्य, तृतीयः सूत्रस्य । तद्यथा—अ० १ । १ । १ ॥ एतेनैव कृतेन सूत्रसङ्केतेन व्याकरणमहाभाष्यस्य सङ्केतो विज्ञेयः । यस्य सूत्रस्योपरि तद्भाष्यमस्ति तद्व्याख्यानं लिखित्वा तत्सूत्रसङ्केतो धरिष्यते । तथा निघण्टुनिरुक्तयोः प्रथमाङ्कोऽध्यायस्य, द्वितीयः खण्डस्य । निघण्टौ १ । १ ॥ निरुक्ते १ । १ ॥ खण्डाध्यायौ द्वयोः समानौ । तथा तैत्तिरीयारण्यके तै०, प्रथमाङ्कः प्रपाठकस्य, द्वितीयोऽनुवाकस्य । तै० १ । १ ॥ इत्थं सर्वेषां प्रमाणानां तेषु तेषु ग्रन्थेषु दर्शनार्थं सङ्केताः कृतास्तेन येषां मनुष्याणां द्रष्टुमिच्छा भवेदेतैरङ्कैस्तेषु ग्रन्थेषु लिखितसङ्केतेन द्रष्टव्यम् । यत्रोक्तेभ्यो ग्रन्थेभ्यो भिन्नानां ग्रन्थानां प्रमाणं लेखिष्यते तत्रैकवारं समग्रं दर्शयित्वा पुनरेवमेव सङ्केतेन लेखिष्यत इति ज्ञातव्यम् ।

भाषार्थ

इसी प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रथम ऐतरेयब्राह्मण का ऐ०, पहिला अङ्क पञ्चिका का, दूसरा कण्डिका का । ऐ० १ । १ ॥ शतपथ ब्राह्मण का श०, पहिला अङ्क काण्ड का, दूसरा प्रपाठक का, तीसरा ब्राह्मण का, चौथा कण्डिका का । श० १ । १ । १ । १ ॥ सामब्राह्मण बहुत हैं उन में से जिस जिस का प्रमाण जहां २ लिखेंगे उस उस का ठिकाना वहां धर देंगे । जैसे एक छान्दोग्य कहाता है उसका छां०, पहिला अङ्क प्रपाठक का, दूसरा खण्ड का, तीसरा मन्त्र का । जैसे छां० १ । १ । १ ॥ चौथा गोपथ ब्राह्मण कहाता है उसका गो०, पहिला अङ्क प्रपाठक का, दूसरा ब्राह्मण का । जैसे गो० १ । १ ॥ इस प्रकार का संकेत चारों ब्राह्मणों में जानना होगा । ऐसे ही छः शास्त्रों में प्रथम मीमांसा शास्त्र उसका मी० अध्याय पाद और सूत्र के तीन अङ्क क्रम से जानो । जैसे मी० १ । १ । १ ॥ दूसरा वैशेषिक का वै०, पहिला अङ्क अध्याय का, दूसरा आह्निक का, तीसरा सूत्र का जैसे वै० १ । १ । १ ॥ तीसरे न्यायशास्त्र का न्या० और तीन अङ्क वैशेषिक के समान जानो । चौथे योगशास्त्र का यो०, प्रथम अङ्क पाद का, दूसरा सूत्र का यो० १ । १ ॥ पांचवें सांख्यशास्त्र का सां०, अध्याय और सूत्र के दो अङ्क क्रम से जानो । जैसे सां० १ ।

१ ॥ छठे वेदान्त का वे०, अध्याय पाद और सूत्र के तीन अङ्क क्रम से वे० १ । १ । १ । तथा अङ्कों में अष्टाध्यायी व्याकरण का अङ्क अध्याय, पाद, सूत्र के तीन अङ्क क्रम से जानो जैसे अ० १ । १ । १ ॥ इसी प्रकार जिस सूत्र के ऊपर महाभाष्य हुआ करेगा उस सूत्र का पता लिख के महाभाष्य का वचन लिखा करेंगे उसी से उसका पता जान लेना चाहिये । तथा निघण्टु और निरुक्त में दो दो अङ्क अध्याय और खण्ड के लिखेंगे । तथा तैत्तिरीय आरण्यक में तै० लिख के प्रपाठक और अनुवाक के दो अङ्क लिखेंगे । ये संकेत इसलिये लिखे हैं कि वारंवार ठिकाना न लिखने पड़ें, थोड़े से ही काम चला जाय, जिस किसी को देखना पड़े वह उन ग्रन्थों में देख ले और जिन ग्रन्थों के संकेत यहां नहीं लिखे उन के प्रमाणों का जहां कहीं काम पड़ेगा तो लिख दिया जायगा । परन्तु इन सब ग्रन्थों के संकेतों को याद रखना सब को योग्य है कि जिससे देखने में परिश्रम न पड़े ।

वेदार्थाभिप्रकाशप्रणयसुगमिका कामदा मान्यहेतुः ।
संक्षेपाद्भूमिकेयं विमलविधिनिधिः सत्यशास्त्रार्थयुक्ता ॥
सम्पूर्णाकार्य्यथेदं भवति सुरुचि यन्मन्त्रभाष्यं मयातः ।
पश्चादीशानभक्त्या सुमतिसहितया तन्यते सुप्रमाणम् ॥ १ ॥
मन्त्रार्थभूमिका ह्यत्र मन्त्रस्तस्य पदानि च ।
पदार्थान्वयभावार्था क्रमाद्बोध्या विचक्षणैः ॥ २ ॥

यह भूमिका जो वेदों के प्रयोजन अर्थात् वेद किसलिये और किसने बनाये, उन में क्या क्या विषय हैं इत्यादि बातों की अच्छी प्रकार प्राप्ति कराने वाली है । इस को जो लोग ठीक ठीक परिश्रम से पढ़ें और विचारेंगे उन का व्यवहार और परमार्थ का प्रकाश, संसार में मान्य और कामनासिद्धि अवश्य होगी । इस प्रकार जो निर्मल विषयों के विधान का कोश अर्थात् ख़ज़ाना और सत्यशास्त्रों के प्रमाणों से युक्त जो भूमिका है इस को मैंने संक्षेप से पूर्ण किया । अब इस के आगे जो उत्तम बुद्धि देनेवाली परमात्मा की भक्ति में अपनी बुद्धि को दृढ़ करके प्रीति के बढ़ानेवाले मन्त्रभाष्य का प्रमाणपूर्वक विस्तार करता हूं ॥ १ ॥

इस मन्त्रभाष्य में इस प्रकार का क्रम रहेगा कि प्रथम तो मन्त्र में परमेश्वर ने जिस बात का प्रकाश किया है, फिर मूल मन्त्र, उसका पदच्छेद, क्रम से प्रमाणसहित मन्त्र के पदों का अर्थ, अन्वय अर्थात् पदों की सम्बन्धपूर्वक योजना और छठा भावार्थ अर्थात् मन्त्र का जो मुख्य प्रयोजन है इस क्रम से मन्त्रभाष्य बनाया जाता है ॥ २ ॥

विश्वा॑नि देव सवितर्दुरि॒तानि॒ परा॑सुव ।
यद्भ॒द्रं तन्न॒ आसु॑व ॥ १ ॥ य० ३० । ३ ॥

इति श्रीमत्परिव्राजकाचार्य्येण श्रीयुतदयानन्दसरस्वतीस्वामिना विरचिता संस्कृतभाषार्य्यभाषाभ्यां सुभूषिता सुप्रमाणयुक्तर्ग्वेदादिचतुर्वेदभाष्यभूमिका समाप्तिमगमत्

शताब्दी-संस्करण

व्यवहारभानुः

पृष्ठ ७२५—७६९.

व्यवहारभानुः

—:o:—

आवृत्ति		सन् ई०		संख्या
प्रथम	...	१८८०	...	१०००
द्वितीय	...	१८८८	...	१०००
तृतीय	...	१८९०	...	१०००
चतुर्थ	...	१८९३	...	२०००
पंचम	...	१९०१	...	२०००
षष्ठ	...	१९०३	...	२०००
सप्तम	...	१९०६	...	२०००
अष्टम	...	१९०८	...	२०००
नवम	...	१९११	...	२०००
दशम	...	१९१३	...	५०००
एकादश	...	१९१६	...	५०००
द्वादश	...	१९२३	...	५०००
शताब्दीसंस्करण		१९२४	...	१०,०००
				४०,०००

भूमिका

मैंने परीक्षा करके निश्चय किया है कि जो धर्मयुक्त व्यवहार में ठीक २ वर्त्तता है उसको सर्वत्र सुखलाभ और जो विपरीत वर्त्तता है वह सदा दुःखी होकर अपनी हानि कर लेता है। देखिये जब कोई सभ्य मनुष्य विद्वानों की सभा में वा किसी के पास जाकर अपनी योग्यता के अनुसार नम्रतापूर्वक नमस्ते आदि करके बैठ के दूसरे की बात ध्यान दे सुन, उसका सिद्धान्त जान निर-भिमानी होकर युक्त प्रत्युत्तर करता है, तब सज्जन लोग प्रसन्न होकर उसका सत्कार और जो अण्डबण्ड बकता है उसका तिरस्कार करते हैं। जब मनुष्य धार्मिक होता है तब उसका विश्वास और मान्य शत्रु भी करते हैं और जब अधर्मी होता है तब उसका विश्वास और मान्य मित्र भी नहीं करते इससे जो थोड़ी विद्या वा लोभी मनुष्य श्रेष्ठ शिक्षा पाकर सुशील होता है उसका कोई भी कार्य्य नहीं बिगड़ता। इसलिये मैं मनुष्यों को उत्तम शिक्षा के अर्थ सब वेदादि शास्त्र और सत्याचारी विद्वानों की रीतियुक्त इस व्यवहारभानु ग्रन्थ को बनाकर प्रसिद्ध करता हूं कि जिसको देख दिखा पढ़ पढ़ाकर मनुष्य अपने और अपने २ सन्तान तथा विद्यार्थियों का आचार अत्युत्तम करें कि जिससे आप और वे सब दिन सुखी रहें। इस ग्रन्थ में कहीं २ प्रमाण के लिये संस्कृत और सुगम भाषा लिखी और अनेक उपयुक्त दृष्टान्त देकर सुधार का अभिप्राय प्रकाशित किया है कि जिसको सब कोई सुख से समझ के अपना २ स्वभाव सुधार के सब उत्तम व्यवहारों को सिद्ध किया करें।

सं० १९३६
फाल्गुन शुक्ला १५

दयानन्दसरस्वती,
काशी.

ओ३म्

व्यवहारभानु:

ऐसा किस मनुष्य का आत्मा होगा कि जो सुखों को सिद्ध करनेवाले व्यवहारों को छोड़कर उलटे आचरण करने में प्रसन्न होगा। क्या यथायोग्य व्यवहार किये विना किसी को सर्व सुख हो सकता है ? क्या मनुष्य अच्छी शिक्षा से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष फलों को सिद्ध नहीं कर सकता ? और इसके विना पशु के समान होकर दुःखी नहीं रहता है ? जिसलिये सब मनुष्यों को सुशिक्षा से युक्त होना अवश्य है इसलिये यह बालक से लेकर वृद्धपर्यन्त मनुष्यों के सुधार के अर्थ व्यवहारसम्बन्धी शिक्षा का विधान किया जाता है।

(प्रश्न) कैसे पुरुष पढ़ाने और शिक्षा करनेहारे होने चाहियें ?

(उत्तर) पढ़ानेवालों के लक्षण:—

आत्मज्ञानं समारम्भस्तितिक्षा धर्मनित्यता।
यमर्था नापकर्षन्ति स वै पण्डित उच्यते ॥ १ ॥

जिसको परमात्मा और जीवात्मा का यथार्थ ज्ञान, जो आलस्य को छोड़कर सदा उद्योगी, सुखदुःखादि का सहन, धर्म्म का नित्य सेवन करनेवाला हो, जिसको कोई पदार्थ धर्म से छुड़ा अधर्म की ओर न खींच सके वह पण्डित कहाता है ॥ १ ॥

निषेवते प्रशस्तानि निन्दितानि न सेवते।
अनास्तिकः श्रद्धान एतत्पण्डितलक्षणम् ॥ २ ॥

जो सदा प्रशस्त धर्मयुक्त कर्मों को करने और निन्दित अधर्मयुक्त कर्मों को कभी न सेवनेहारा, न कदापि ईश्वर वेद और धर्म का विरोधी और परमात्मा सत्यविद्या और धर्म में दृढ़ विश्वासी है वही मनुष्य पण्डित के लक्षणयुक्त होता है ॥ २ ॥

क्षिप्रं विजानाति चिरं शृणोति विज्ञाय चार्थं भजते न कामात् ।
नासंपृष्टो ह्युपयुंक्ते परार्थे तत्प्रज्ञानं प्रथमं पण्डितस्य ॥ ३ ॥

जो वेदादि शास्त्र और दूसरे के कहे अभिप्राय को शीघ्र ही जानने, दीर्घकाल पर्यन्त वेदादि शास्त्र और धार्मिक विद्वानों के वचनों को ध्यान देकर सुनकर ठीक २ समझ निरभिमानी शान्त होकर दूसरों से प्रत्युत्तर करने, परमेश्वर से लेकर पृथिवी पर्यन्त पदार्थों को जानकर उनसे उपकार लेने में तन, मन, धन से प्रवृत्त होकर काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, शोकादि दुष्ट गुणों से पृथक् वर्त्तमान, किसी के पूछने वा दोनों के संवाद में विना प्रसङ्ग के अयुक्त भाषणादि व्यवहार न करनेवाला मनुष्य है यही पण्डित की बुद्धिमत्ता का प्रथम लक्षण है ॥ ३ ॥

नाप्राप्यमभिवाञ्छन्ति नष्टं नेच्छन्ति शोचितुम् ।
आपत्सु च न मुह्यन्ति नराः पण्डितबुद्धयः ॥ ४ ॥

जो मनुष्य प्राप्त होने के अयोग्य पदार्थों की कभी इच्छा नहीं करते अदृष्ट वा किसी पदार्थ के नष्ट भ्रष्ट होजाने पर शोक करने की अभिलाषा नहीं करते और बड़े २ दुःखों से युक्त व्यवहारों की प्राप्ति में भी मूढ़ होकर नहीं घबराते हैं वे मनुष्य पण्डितों की बुद्धि से युक्त कहाते हैं ॥ ४ ॥

प्रवृत्तवाक् चित्रकथ ऊहवान् प्रतिभानवान् ।
आशु ग्रन्थस्य वक्ता च यः स पण्डित उच्यते ॥ ५ ॥

जिसकी वाणी सब विद्याओं में चलनेवाली अत्यन्त अद्भुत विद्याओं की कथाओं को करने, बिना जाने पदार्थों को तर्क से शीघ्र जानने जनाने सुनी

विचारी विद्याओं को सदा उपस्थित रखने और जो सब विद्याओं के ग्रन्थों को अन्य मनुष्यों को शीघ्र पढ़ानेवाला मनुष्य है वही पण्डित कहाता है ॥ ५ ॥

श्रुतं प्रज्ञानुगं यस्य प्रज्ञा चैव श्रुतानुगा ।
असंभिन्नार्य्यमर्य्यादः पण्डिताख्यां लभेत सः ॥ ६ ॥

जिसकी सुनी हुई और पठित विद्या अपनी बुद्धि के सदा अनुकूल और बुद्धि और क्रिया सुनी पढ़ी हुई विद्याओं के अनुसार जो धार्मिक श्रेष्ठ पुरुषों की मर्य्यादा का रक्षक और दुष्ट डाकुओं की रीति को विदीर्ण करनेहारा मनुष्य है वही पण्डित नाम धराने के योग्य होता है ॥ ६ ॥ जहां ऐसे २ सत्य पुरुष पढ़ाने और बुद्धिमान् पढ़नेवाले होते हैं वहां विद्या और धर्म की वृद्धि होकर सदा आनन्द ही बढ़ता जाता है और जहां निम्नलिखित मूढ़ पढ़ने पढ़ानेहारे होते हैं वहां अविद्या और अधर्म्म की उन्नति होकर दुःख ही बढ़ता जाता है ॥

(प्र०) कैसे मनुष्य पढ़ाने और उपदेश करनेवाले न होने चाहियें ।

मूर्ख के लक्षण

(उ०) अश्रुतश्च समुन्नद्धो दरिद्रश्च महामनाः ।
अर्थांश्चाकर्म्मणा प्रेप्सुर्मूढ इत्युच्यते बुधैः ॥ १ ॥

जो किसी विद्या को न पढ़ और किसी विद्वान् का उपदेश न सुनकर बड़ा घमंडी, दरिद्र होकर धनसम्बन्धी बड़े २ कामों की इच्छा वाला और विना किये बड़े २ फलों की इच्छा करनेहारा है ।

दृष्टान्त

जैसे—एक दरिद्र शेखचिल्ली नामक किसी ग्राम में था वहां किसी नगर का बनिया दश रुपये उधार लेकर घी लेने आया था वह घी लेकर घड़े में भर किसी मजूर के खोज में था वहां शेखचिल्ली आ निकला उससे पूछा कि इस घड़े को तीन कोस पर लेजाने की क्या मजूरी लेगा उसने कहा कि आठ

आने, आगे बनिये ने कहा कि चार आने लेना हो तो ले, उसने कहा अच्छा। शेखचिल्ली घड़ा ले चला और बनिया पीछे २ चलता हुआ मन में मनोरथ करने लगा कि दश रुपयों के घी के ग्यारह रुपये आवेंगे दश रुपया सेठ को दूंगा और एक रुपया घर की पूंजी रहेगी वैसे ही दश फेरे में दश रुपये हो जायंगे इसी प्रकार दश से सौ, सौ से सहस्र, सहस्र से लक्ष, लक्ष से करोड़ फिर सब जगह कोठियां करूंगा और सब राजा लोग मेरे कर्जदार हो जायंगे इत्यादि बड़े २ मनोरथ करने लगा और शेखचिल्ली ने विचारा कि चार आने की रुई ले सूत कात कर बेचूंगा आठ आने मिलेंगे फिर आठ आने से एक रुपया हो जायगा फिर वैसे ही एक से दो रुपये होंगे उस से एक बकरी लूंगा जब उस के कच्चे बच्चे होंगे तब उन को बेच एक गाय लूंगा उस के कच्चे बच्चे बेच भैंस लूंगा उसके कच्चे बच्चे बेच एक घोड़ी लूंगा उस के कच्चे बच्चे बेच एक हथिनी लूंगा और उस के कच्चे बच्चे बेच दो बीबियां ब्याहूंगा एक का नाम प्यारी और दूसरी का नाम बेप्यारी रक्खूंगा। जब प्यारी के लड़के गोद में बैठने आवेंगे तब कहूंगा बच्चे आओ बैठो और जब बेप्यारी के लड़के आकर कहेंगे कि हम भी बैठें तब कहूंगा नहीं २ ऐसा कह कर शिर हिला दिया घड़ा गिर पड़ा फूट गया और घी भूमि पर फैल के धूलि में मिलगया, बनिया रोने लगा और शेखचिल्ली भी रोने लगा। बनिये ने शेखचिल्ली को धमकाया कि घी क्यों गिरा दिया और रोता क्यों है तेरा क्या नुकसान हुआ ?। (शेखचिल्ली) तेरा क्या बिगाड़ हुआ तू क्यों रोता है (बनिया) मैंने दश रुपये उधार लेकर प्रथम ही घी खरीदा था उस पर बड़े २ लाभ का विचार किया था वह मेरा सब बिगड़ गया मैं क्यों न रोऊं ?। (शेखचिल्ली) तेरी तो दश रुपये आदि की ही हानि हुई मेरा तो घर ही बना बनाया बिगड़ गया मैं क्यों न रोऊं ! (बनिया) क्या तेरे रोने से मेरा घी आ जायगा ?। (शेखचिल्ली) अच्छा तो तेरे रोने से मेरा घर भी न बन जायगा। तू बड़ा मूर्ख है। (बनिया) तू मूर्ख तेरा बाप। दोनों आपस में एक दूसरे को मारने लगे फिर मारपीट कर शेखचिल्ली अपने घर की ओर भाग गया और उस बनिये ने धूलि मिले हुए घी को ठिकरे में उठा कर अपने घर की राह ली। ऐसे ही स्वसामर्थ्य के विना

अशक्य मनोरथ किया करना मूर्खों का काम है और जो विना परिश्रम के पदार्थों की प्राप्ति में उत्साही होता है उसी मनुष्य को विद्वान् लोग मूर्ख कहते हैं ॥ १ ॥

अनाहूतः प्रविशति अपृष्टो बहु भाषते ।
अविश्वस्ते विश्वसिति मूढचेता नराधमः ॥ २ ॥
(महाभारत उद्योगपर्व विदुरप्रजागर ॥ अ० ३२)

जो विना बुलाये जहां तहां सभादि स्थानों में प्रवेश कर सत्कार और उच्चासन को चाहे वा ऐसे रीति से बैठे कि सब सत्पुरुषों को उसका आचरण अप्रिय विदित हो, विना पूछे बहुत अण्डबण्ड बके, अविश्वासियों में विश्वासी होकर सुख की हानि कर लेवे वही मनुष्य मूढ़बुद्धि और मनुष्यों में नीच कहाता है ॥ २५ ॥ जहां ऐसे २ मूढ़ मनुष्य पठनपाठन आदि व्यवहारों को करनेहारे होते हैं वहां सुखों का तो दर्शन कहां किन्तु दुःखों की भरमार तो हुआ ही करती है। इसलिये बुद्धिमान् लोग ऐसे २ मूढ़ों का प्रसङ्ग वा इन के साथ पठनपाठन क्रिया को व्यर्थ समझ कर पूर्वोक्त धार्मिक विद्वानों का प्रसङ्ग और उनही से विद्या का अभ्यास और सुशील बुद्धिमान् विद्यार्थियों ही को पढ़ाया करें। ये विद्वान् और मूर्ख के लक्षणविधायक श्लोक विदुरप्रजागर के ३२ अध्याय में एक ही ठिकाने लिखे हैं ।

जो विद्या पढ़ें और पढ़ावें वे निम्नलिखित दोषयुक्त न हों:—

आलस्यं मदमोहौ च चापल्यं गोष्ठिरेव च ।
स्तब्धता चाभिमानित्वं तथाऽत्यागित्वमेव च ॥
एते वै सप्त दोषाः स्युः सदा विद्यार्थिनां मताः ।
सुखार्थिनः कुतो विद्या नास्ति विद्यार्थिनः सुखम् ॥
सुखार्थी वा त्यजेद्विद्यां विद्यार्थी वा त्यजेत्सुखम् ॥

आलस्य, नशा करना, मूढ़ता, चपलता, व्यर्थ इधर उधर की अण्डबण्ड बातें करना, जड़ता कभी पढ़ना कभी न पढ़ना, अभिमान और लोभ

लालच ये सात (७) विद्यार्थियों के लिये विद्या के विरोधी दोष हैं। क्योंकि जिसको सुख चैन करने की इच्छा है उसको विद्या कहां और जिसका चित्त विद्याग्रहण करने कराने में लगा है उसको विषयसम्बन्धी सुख चैन कहां ?, इसलिये विषयसुखार्थी विद्या को छोड़े और विद्यार्थी विषयसुख से अवश्य अलग रहे नहीं तो परमधर्म्मरूप विद्या का पढ़ना पढ़ाना कभी नहीं हो सकेगा। ये श्लोक भी महाभारत विदुरप्रजागर अध्याय ३९ में लिखे हैं।

(प्रश्न) कैसे २ मनुष्य विद्याओं की प्राप्ति कर और करा सकते हैं।

(उ०) ब्रह्मचर्यस्य च गुणं शृणु त्वं वसुधाधिप !
आजन्ममरणाद्यस्तु ब्रह्मचारी भवेदिह ॥ १ ॥
न तस्य किञ्चिदप्राप्यमिति विद्धि नराधिप !
बह्व्यः कोट्यस्त्वृषीणां च ब्रह्मलोके वसन्त्युत ॥ २ ॥
सत्ये रतानां सततं दान्तानामूर्द्ध्वरेतसाम् ।
ब्रह्मचर्यं दहेद्राजन् सर्वपापान्युपासितम् ॥ ३ ॥

भीष्मजी युधिष्ठिर से कहते हैं कि हे राजन् ! तू ब्रह्मचर्य्य के गुण सुन जो मनुष्य इस संसार में जन्म से लेके मरणपर्य्यन्त ब्रह्मचारी होता है ॥ १ ॥ उसको कोई शुभगुण अप्राप्त नहीं रहता ऐसा तू जान कि जिस के प्रताप से अनेक क्रोड़ ऋषि ब्रह्मलोक अर्थात् सर्वानन्दस्वरूप परमात्मा में वास करते और इस लोक में भी अनेक सुखों को प्राप्त होते हैं ॥ २ ॥ जो निरन्तर सत्य में रमण, जितेन्द्रिय, शान्तात्मा, उत्कृष्ट, शुभगुणस्वभावयुक्त और रोगरहित पराक्रमसहित शरीर, ब्रह्मचर्य्य अर्थात् वेदादि सत्यशास्त्र और परमात्मा की उपासना का अभ्यास आदि कर्म करते हैं उनके वे सब उत्तम गुण, बुरे काम और दुःखों को नष्ट कर सर्वोत्तम धर्म्मयुक्त कर्म्म और सब सुखों की प्राप्ति करानेहारे होते हैं और इन्हीं के सेवन से मनुष्य उत्तम अध्यापक और उत्तम विद्यार्थी हो सकते हैं।

(प्रश्न) शूरवीर किनको कहते हैं।

वेदाऽध्ययनशूराश्च शूराश्चाऽध्ययने रताः ॥
गुरुशुश्रूषया शूराः पितृशुश्रूषयाऽपरे ॥ १ ॥
मातृशुश्रूषया शूरा भैक्ष्यशूरास्तथाऽपरे ॥
अरण्यगृहवासे च शूराश्चाऽतिथिपूजने ॥ २ ॥

जो मनुष्य वेदादि शास्त्रों के पढ़ने पढ़ाने में शूरवीर, जो दुष्टों के दलन और श्रेष्ठों के पालन में शूरवीर अर्थात् दृढ़ोत्साही उद्योगी, जो निष्कपट परोपकारक अध्यापकों की सेवा करके शूरवीर, जो अपने जनक (पिता) की सेवा करके शूरवीर ॥ १ ॥ जो माता की परिचर्या से शूर, जो संन्यासाश्रम से युक्त अतिथिरूप होकर सर्वत्र भ्रमण करके परोपकार करने में शूर, जो वानप्रस्थाश्रम के कर्म्म और जो गृहाश्रम के व्यवहार में शूर होते हैं वे ही सब सुखों के लाभ करने कराने में अत्युत्तम होके धन्यवाद के पात्र होते हैं कि जो अपना तन मन धन, विद्या और धर्मादि शुभगुण ग्रहण करने में सदा उपयुक्त करते हैं ।

(प्रश्न) शिक्षा किसको कहते हैं ?

(उत्तर) जिससे मनुष्य विद्या आदि शुभगुणों की प्राप्ति और अविद्यादि दोषों को छोड़ के सदा आनन्दित होसकें वह शिक्षा कहाती है ।

(प्रश्न) विद्या और अविद्या किस को कहते हैं ?

(उत्तर) जिससे पदार्थ का स्वरूप यथावत् जानकर उससे उपकार लेके अपने और दूसरों के लिये सब सुखों को सिद्ध कर सकें वह विद्या और जिससे पदार्थों के स्वरूप को उलटा जानकर अपना और पराया अनुपकार कर लेवें वह अविद्या कहाती है ।

(प्रश्न) मनुष्यों को विद्या की प्राप्ति और अविद्या के नाश के लिये क्या २ कर्म करना चाहिये ?

(उत्तर) वर्णोच्चारण से लेकर वेदार्थज्ञान के लिये ब्रह्मचर्य आदि कर्म करना योग्य है ।

(प्रश्न) ब्रह्मचारी किस को कहते हैं ?

(उत्तर) जो जितेन्द्रिय होके ब्रह्म अर्थात् वेदविद्या के लिये तथा आचार्य्य कुल में जाकर विद्या-ग्रहण के लिये प्रयत्न करे वह ब्रह्मचारी कहाता है।

(प्रश्न) आचार्य किसको कहते हैं ?

(उत्तर) जो विद्यार्थियों को अत्यन्त प्रेम से धर्मयुक्त व्यवहार की शिक्षा-पूर्वक विद्या होने के लिये तन, मन और धन से प्रयत्न करे उसको आचार्य कहते हैं।

(प्रश्न) अपने सन्तानों के लिये माता पिता और आचार्य क्या २ शिक्षा करें ?

(उत्तर) मातृमान् पितृमानाचार्य्यवान् पुरुषो वेद। शतपथब्राह्मण ॥

अहोभाग्य उस मनुष्य का है कि जिसका जन्म धार्मिक विद्वान् माता पिता आचार्य के सम्बन्ध में हो, क्योंकि इन तीनों ही की शिक्षा से मनुष्य उत्तम होता है। ये अपने सन्तान और विद्यार्थियों को अच्छी भाषा बोलने, खाने, पीने, बैठने, उठने, वस्त्रधारण करने, माता पिता आदि के मान्य करने, उनके सामने यथेष्टाचारी न होने, विरुद्ध चेष्टा न करने आदि के लिये प्रयत्न से नित्यप्रति उपदेश किया करें और जैसा २ उसका सामर्थ्य बढ़ता जाय वैसी २ उत्तम बातें सिखलाते जायं। इसी प्रकार लड़के और लड़कियों को पांच वा आठ वर्ष की अवस्था पर्यन्त माता पिता और इसके उपरान्त आचार्य की शिक्षा होनी चाहिये ॥

(प्रश्न) क्या जैसी चाहें वैसी शिक्षा करें ?

(उत्तर) नहीं, जो अपने पुत्र पुत्री और विद्यार्थियों को सुनावें कि सुन मेरे बेटे बेटियां और विद्यार्थी ! तेरा शीघ्र विवाह करेंगे, तू इसकी डाढ़ी मूंछ पकड़ ले, इसकी जटा पकड़ के ओढ़नी फेंक दे, धौल मार, गाली दे, इसका कपड़ा छीन ले, पगड़ी वा टोपी फेंकदे, खेल, कूद, हंस, रो, तुम्हारे विवाह में फुलवारी निकालेंगे इत्यादि कुशिक्षा करते हैं उनको माता पिता और आचार्य

न समझना चाहिये किन्तु सन्तान और शिष्यों के पक्के शत्रु और दुःखदायक हैं, क्योंकि जो बुरी चेष्टा देखकर लड़कों को न घुड़कते और न दण्ड देते हैं वे क्योंकर माता पिता और आचार्य हो सकते हैं, क्योंकि जो अपने सामने यथातथा बकने, निर्लज्ज होने, व्यर्थ चेष्टा करने आदि बुरे कर्मों से हटाकर विद्या आदि शुभगुणों के लिये उपदेश नहीं करते, न तन मन धन लगा के उत्तम विद्या व्यवहार का सेवन कराकर अपने सन्तानों का सदा श्रेष्ठ करते जाते हैं वे माता पिता और आचार्य कहाकर धन्यवाद के पात्र कभी नहीं हो सकते और जो अपने २ सन्तान और शिष्यों को ईश्वर की उपासना, धर्म, अधर्म, प्रमाण, प्रमेय, सत्य, मिथ्या, पाखण्ड, वेद, शास्त्र आदि के लक्षण और उनके स्वरूप का यथावत् बोध करा और सामर्थ्य के अनुकूल उनको वेद शास्त्रों के वचन भी कण्ठस्थ कराकर विद्या पढ़ने, आचार्य के अनुकूल रहने की रीति जना देवें कि जिससे विद्याप्राप्ति आदि प्रयोजन निर्विघ्न सिद्ध हों वे ही माता पिता और आचार्य कहाते हैं ।

(प्र०) विद्या किस २ प्रकार और किन कर्म्मों से होती है ? ।

(उ०) चतुर्भिः प्रकारैर्विद्योपयुक्ता भवति । आगमकालेन स्वाध्यायकालेन प्रवचनकालेन व्यवहारकालेनेति ॥ महा० अ० १ । १ । १ । आ० १ ॥

विद्या चार प्रकार से आती है—आगम, स्वाध्याय, प्रवचन और व्यवहारकाल । आगमकाल उसको कहते हैं कि जिससे मनुष्य पढ़ानेवाले से सावधान होकर ध्यान देके विद्यादि पदार्थ ग्रहण कर सकें । स्वाध्यायकाल उसको कहते हैं कि जो पठन-समय में आचार्य के मुख से शब्द, अर्थ और सम्बन्धों की बातें प्रकाशित हों उनको एकान्त में स्वस्थचित्त होकर पूर्वापर विचार के ठीक २ हृदय में दृढ़ कर सके । प्रवचनकाल उसको कहते हैं कि जिससे दूसरे को प्रीति से विद्याओं को पढ़ा सकना । व्यवहारकाल उसको कहते हैं कि जब अपने आत्मा में सत्यविद्या होती है तब यह करना यह न करना वही ठीक २ सिद्ध

होके वैसा ही आचरण करना होसके, ये चार प्रयोजन हैं तथा अन्य भी चार कर्म विद्याप्राप्ति के लिये हैं श्रवण, मनन, निदिध्यासन और साक्षात्कार । श्रवण उसको कहते हैं कि आत्मा मन के और मन श्रोत्र-इन्द्रिय के साथ यथावत् युक्त करके अध्यापक के मुख से जो २ अर्थ और सम्बन्ध के प्रकाश करनेहारे शब्द निकलें उनको श्रोत्र से मन और मन से आत्मा में एकत्र करते जाना । मनन उसको कहते हैं कि जो २ शब्द, अर्थ और सम्बन्ध आत्मा में एकत्र हुए हैं उनका एकान्त में स्वस्थचित्त होकर विचार करना कि कौन शब्द किस अर्थ के साथ और कौन अर्थ किस शब्द के साथ सम्बन्ध अर्थात् मेल रखता और इनके मेल में किस प्रयोजन की सिद्धि और उलटे होने में क्या २ हानि होती है ? इत्यादि । निदिध्यासन उसको कहते हैं कि जो २ अर्थ और सम्बन्ध सुने विचारे हैं वे ठीक २ हैं वा नहीं इस बात की विशेष परीक्षा करके दृढ़ निश्चय करना और साक्षात्कार उसको कहते हैं कि जिन अर्थों के शब्द और सम्बन्ध सुने विचारे और निश्चय किये हैं उनको यथावत् ज्ञान और क्रिया से प्रत्यक्ष करके व्यवहारों की सिद्धि से अपना और पराया उपकार करना आदि विद्या की प्राप्ति के साधन हैं ।

(प्र०) आचार्य के साथ विद्यार्थी कैसा २ वर्त्ताव करें और कैसा २ न करें ? ।

(उ०) मिथ्या को छोड़ के सत्य बोलें, सरल रहें, अभिमान न करें, आज्ञा पालन करें, स्तुति करें, निन्दा न करें, नीचे आसन पर बैठें, ऊंचे न बैठें, शान्त रहें, चपलता न करें, आचार्य की ताड़ना पर प्रसन्न रहें, क्रोध कभी न करें, जब कुछ वे पूछें तो हाथ जोड़ के नम्र होकर उत्तर देवें, घमण्ड से न बोलें, जब वे शिक्षा करें चित्त देकर सुनें, ठट्ठे में न उड़ावें, शरीर और वस्त्र शुद्ध रक्खें, मैले कभी न रक्खें, जो कुछ प्रतिज्ञा करें उसको पूरी करें, जितेन्द्रिय होवें, लम्पटपन व्यभिचार कभी न करें, उत्तमों का सदा मान करें अपमान कभी न करें, उपकार मान के कृतज्ञ होवें, किसी के अनुपकारी होकर कृतघ्न न होवें, पुरुषार्थी रहें, आलसी कभी न हों, जिस २ कर्म से विद्याप्राप्ति हो उस २ को करते जायं, जो २ बुरे काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, शोक

आदि विद्याविरोधी हों उनको छोड़कर सदा उत्तम गुणों की कामना करें, बुरे कामों पर क्रोध, विद्याग्रहण में लोभ, सज्जनों में मोह, बुरे कामों से भय, अच्छे काम न होने में शोक करके विद्यादि शुभगुणों से आत्मा और वीर्य आदि धातुओं की रक्षा से जितेन्द्रिय हो शरीर का बल सदा बढ़ाते जायं।

(प्रश्न) आचार्य विद्यार्थियों के साथ कैसे वर्त्तें ? ।

(उत्तर) जिस प्रकार से विद्यार्थी विद्वान्, सुशील, निरभिमानी, सत्यवादी, धर्मात्मा, आस्तिक, निरालस्य, उद्योगी, परोपकारी, वीर, धीर, गम्भीर, पवित्राचरण, शान्तियुक्त, दमनशील, जितेन्द्रिय, ऋजु, प्रसन्नवदन होकर माता, पिता, आचार्य, अतिथि, बन्धु, मित्र, राजा प्रजा आदि के प्रियकारी हों, जब किसी से बात चीत करें तब जो २ उसके मुख से अक्षर, पद, वाक्य निकलें उनको शान्त होकर सुनके प्रत्युत्तर देवें, जब कभी कोई बुरी चेष्टा, मलिनता, मैले वस्त्रधारण, बैठने उठने में विपरीताचरण, निन्दा, ईर्ष्या, द्रोह, विवाद, लड़ाई, बखेड़ा, चुगली, किसी पर मिथ्या दोष लगाना, चोरी, जारी, अनभ्यास, आलस्य, अतिनिद्रा, अतिभोजन, अतिजागरण, व्यर्थ खेलना, इधर उधर अट्ट सट्ट मारना, विषयसेवन, बुरे व्यवहारों की कथा करना वा सुनना, दुष्टों के सङ्ग बैठना आदि दुष्ट व्यवहार करे तो उसको यथाऽपराध कठिन दण्ड देवे। इस में प्रमाणः—

सामृतैः पाणिभिर्घ्नन्ति गुरवो न विषोक्षितैः।
लालनाश्रयिणो दोषास्ताड़नाश्रयिणो गुणाः॥ १॥
महाभाष्य अ० ८। पा० १। सू० ८॥

आचार्य लोग अपने विद्यार्थियों को विद्या और सुशिक्षा होने के लिये प्रेमभाव से अपने हाथों से ताड़ना करते हैं क्योंकि सन्तान और विद्यार्थियों का जितना लाड़न करना है उतना ही उनके लिये बिगाड़ और जितनी ताड़ना करनी है उतना उनके लिये सुधार है। परन्तु ऐसी ताड़ना न करे कि जिससे अंग भंग वा मर्म में लगने से विद्यार्थी वा लड़के लड़की लोग व्यथा को प्राप्त होजायं।

(प्र०) पठितव्यं तदपि मर्त्तव्यं न पठितव्यं तदपि मर्त्तव्यं दन्तकटाकटेति किं कर्त्तव्यम् ? ।

हुड़दङ्ग उवाच—हुड़दङ्गा कहता है कि जो पढ़ता है वह भी मरता है और जो नहीं पढ़ता वह भी मरता है फिर पढ़ने पढ़ाने में दांत कटाकट क्यों करना ? ।

(उ०) न विद्यया विना सौख्यं नराणां जायते ध्रुवम् ।
अतो धर्म्मार्थमोक्षेभ्यो विद्याभ्यासं समाचरेत् ॥ १ ॥

सज्जन उवाच—सज्जन कहता है कि सुन भाई हुड़दङ्गे ! जो तू जानता है सो विद्या का फल नहीं कि विद्या के पढ़ने से जन्म मरण आंख से देखना कान से सुनना आदि ये ईश्वरीय नियम अन्यथा होजायं किन्तु विद्या से यथार्थज्ञान होकर यथायोग्य व्यवहार करने कराने से आप और दूसरों को आनन्दयुक्त करना विद्या का फल है । क्योंकि विना विद्या के किसी मनुष्य को निश्चल सुख नहीं हो सकता, क्या भया किसी को क्षण भर सुख हुआ, न हुआ सा है । किसी का सामर्थ्य नहीं है कि जो अविद्वान् होकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के स्वरूप को यथावत् जानकर सिद्ध कर सके । इसलिये सब को उचित है कि इनकी सिद्धि के लिये विद्या का अभ्यास तन, मन, धन से किया और कराया करे । (हुड़दङ्गा) हम देखते हैं कि बहुतसे मनुष्य विद्या पढ़े हुए दरिद्र और भीख मांगते तथा विना पढ़े हुए राज्य धन का आनन्द भोगते हैं । (सज्जन) सुनो प्रिय ! सुख दुःख का योग आत्मा में हुआ करता है जहां विद्यारूप सूर्य का अभाव और अविद्यान्धकार का भाव है वहां दुःखों की तो भरमार, सुख की क्या कथा कहना है ? और जहां विद्यार्क प्रकाशित होकर अविद्यान्धकार को नष्ट कर देता है, उस आत्मा में सदा आनन्द का योग और दुःख को ठिकाना भी नहीं मिलता है । हुड़दङ्गा शिर धुनकर चुप होगया ।

(प्र०) आचार्य किस रीति से विद्या और सुशिक्षा का ग्रहण करावें और विद्यार्थी लोग करें ? ।

(उ०) आचार्य समाहित होकर ऐसी रीति से विद्या और सुशिक्षा करें कि जिससे उस के आत्मा के भीतर सुनिश्चित अर्थ होकर उत्साह ही बढ़ता जाय, ऐसी चेष्टा वा कर्म कभी न करें कि जिसको देख वा करके विद्यार्थी अधर्मयुक्त होजावें । दृष्टान्त–हस्तक्रिया, यन्त्र, कलाकौशल विचार आदि से विद्यार्थियों के आत्मा में पदार्थ इस प्रकार साक्षात् करावें कि एक के जानने से हज़ारों पदार्थ यथावत् जानते जायं, अपने आत्मा में इस बात का ध्यान रक्खें कि जिस २ प्रकार से संसार में विद्या धर्माचरण की बढ़ती और मेरे पढ़ाये मनुष्य अविद्वान् और कुशिक्षित होकर मेरी निन्दा के कारण न होजायं कि मैं ही विद्या के रोकने और अविद्या की वृद्धि का निमित्त न गिना जाऊं, ऐसा न हो कि सर्वात्मा परमेश्वर के गुण कर्म स्वभाव से मेरे गुण कर्म स्वभाव विरुद्ध होने से मुझको महादुःख भोगना हो । परम धन्य वे मनुष्य हैं कि जो अपने आत्मा के समान सुख में सुख और दुःख में दुःख अन्य मनुष्यों का जानकर धार्मिकता को कदापि नहीं छोड़ते, इत्यादि उत्तम व्यवहार आचार्य लोग नित्य करते जायं। विद्यार्थी लोग भी जिन कर्मों से आचार्य की प्रसन्नता होती जाय वैसे कर्म करें, जिससे उसका आत्मा सन्तुष्ट होकर चाहे कि ये लोग विद्या से युक्त होकर सदा प्रसन्न रहें, रात दिन विद्या ही के विचार में लगकर एक दूसरे के साथ प्रेम से परस्पर विद्या को पढ़ाते जावें । जहां विषय वा अधर्म की चर्चा भी होती हो वहां कभी खड़े भी न रहें । जहां २ विद्यादि व्यवहार और धर्म का व्याख्यान होता हो वहां से अलग कभी न रहें । भोजन छादन ऐसी रीति से करें कि जिससे कभी रोग, वीर्यहानि वा प्रमाद न बढ़े । जो बुद्धि के नाश करने हारे नशा के पदार्थ हों उनको ग्रहण कभी न करें किन्तु जो २ ज्ञान बढ़ाने और रोग नाश करनेहारे पदार्थ हों उन्हीं का सेवन सदा किया करें । नित्यप्रति परमेश्वर का ध्यान, योगाभ्यास, बुद्धि का बढ़ाना, सत्य धर्म की निष्ठा और अधर्म का सर्वथा त्याग करते रहें । जो २ पढ़ने में विघ्नरूप कर्म हों उनको छोड़कर पूर्ण विद्या को प्राप्त करें इत्यादि दोनों के गुण कर्म हैं ।

(प्र०) सत्य और असत्य का निश्चय किस प्रकार से होता है, क्योंकि

जिसको एक सत्य कहता है दूसरा उसी को मिथ्या बतलाता है उसका निर्णय करने में क्या २ निश्चित साधन हैं ? ।

(उत्तर) पांच हैं । उन में से प्रथम ईश्वर उसके गुण, कर्म, स्वभाव और वेदविद्या, दूसरा सृष्टिक्रम, तीसरा प्रत्यक्षादि आठ प्रमाण, चौथा आप्तों का आचार, उपदेश, ग्रन्थ और सिद्धान्त और पांचवां अपने आत्मा की साक्षी, अनुकूलता, जिज्ञासुता, पवित्रता और विज्ञान । ईश्वरादि स परीक्षा करना उस को कहते हैं कि जो २ ईश्वर के न्याय आदि गुण, पक्षपातरहित सृष्टि बनाने का कर्म और सत्य न्याय दयालुता परोपकारिता आदि स्वभाव और वेदोपदेश से सत्य और धर्म ठहरे वही सत्य और धर्म और जो २ असत्य और अधर्म ठहरे वही असत्य और अधर्म है । जैसे कोई कहे कि विना कारण और कर्त्ता के कार्य होता है सो सर्वथा मिथ्या जानना । इससे यह सिद्ध होता है कि जो सृष्टि की रचना करनेहारा पदार्थ है वही ईश्वर और उसके गुण, कर्म, स्वभाव वेद और सृष्टिक्रम से ही निश्चित जाने जाते हैं । दूसरा सृष्टिक्रम उसको कहते हैं कि जो २ सृष्टिक्रम अर्थात् सृष्टि के गुण, कर्म और स्वभाव से विरुद्ध हो वह मिथ्या और अनुकूल हो वह सत्य कहाता है । जैसे कोई कहे कि विना मा बाप के लड़का, कान से देखना, आंख से बोलना आदि होता वा हुआ है, ऐसी २ बातें सृष्टिक्रम के विरुद्ध होने से मिथ्या और माता पिता से सन्तान, कान से सुनना और आंख से देखना आदि सृष्टिक्रम के अनुकूल होने से सत्य ही हैं । तीसरा प्रत्यक्ष आदि आठ प्रमाणों से परीक्षा करना उसको कहते हैं कि जो २ प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ठीक २ ठहरे वह सत्य और जो २ विरुद्ध ठहरे वह मिथ्या समझना चाहिये । जैसे किसी ने किसी से कहा कि यह क्या है ? दूसरे ने कहा कि पृथिवी । यह प्रत्यक्ष है । इसको देखकर इसके कारण का निश्चय करना अनुमान । जैसे विना बनानेहारे के घर नहीं बन सकता वैसे ही सृष्टि का बनानेहारा ईश्वर भी बड़ा कारीगर है, यह दृष्टान्त उपमान । और सत्योपदेष्टाओं का उपदेश वह शब्द । भूतकालस्थ पुरुषों की चेष्टा, सृष्टि आदि पदार्थों की कथा आदि को ऐतिह्य । एक बात को सुनकर, विना सुने कहे, प्रसङ्ग से

दूसरी बात को जान लेना यह अर्थापत्ति। कारण से कार्य होना आदि को सम्भव और आठवां अभाव अर्थात् किसी ने किसी से कहा कि जल ले आ उसने वहां जल के अभाव को जानकर तर्क से जाना कि जहां जल है वहां से लाकर देना चाहिये यह अभाव प्रमाण कहाता है। इन आठ प्रमाणों से जो विपरीत न हो वह २ सत्य और जो २ उलटा हो वह २ मिथ्या है। आप्तों के आचार और सिद्धान्त से परीक्षा करना उसको कहते हैं कि जो २ सत्यवादी सत्यकारी, सत्यमानी, पक्षपातरहित, सबके हितैषी, विद्वान्, सब के सुख के लिये प्रयत्न करें वे धार्मिक लोग आप्त कहाते हैं। उनके उपदेश, आचार, ग्रन्थ और सिद्धान्त से जो युक्त हो वह सत्य और जो विपरीत हो वह मिथ्या है। आत्मा से परीक्षा उसको कहते हैं कि जो २ अपना आत्मा अपने लिये चाहे सो २ सब के लिये चाहना और जो २ न चाहे सो २ किसी के लिये न चाहना। जैसा आत्मा में वैसा मन में, जैसा मन में वैसा क्रिया में होने को जानने जनाने की इच्छा, शुद्ध भाव और विद्या के नेत्र से देखकर सत्य और असत्य का निश्चय करना चाहिये। इन पांच प्रकार की परीक्षाओं से पढ़ने पढ़ाने हारे तथा सब मनुष्य सत्याऽसत्य का निर्णय करके धर्म का ग्रहण और अधर्म का परित्याग करें और करावें।

(प्रश्न) धर्म और अधर्म किसको कहते हैं ?

(उत्तर) जो पक्षपातरहित न्याय, सत्य का ग्रहण असत्य का परित्याग, पांचों परीक्षाओं के अनुकूल आचरण, ईश्वराज्ञा पालन परोपकार करनारूप धर्म, जो इससे विपरीत वह अधर्म कहाता है। क्योंकि जो सब के अविरुद्ध वह धर्म और जो परस्पर विरुद्धाचरण सो अधर्म क्योंकर न कहावेगा। देखो किसी ने किसी से पूछा कि सत्य क्या है ? उसको उसने उत्तर दिया जो मैं मानता हूं। फिर उसने पूछा और जो वह मानता है वा जो मैं मानता हूं वह क्या है ?, उसने कहा कि अधर्म है। यही पक्षपात से मिथ्या और विरुद्धाचार अधर्म। और जब तीसरे ने दोनों से पूछा कि सत्य बोलना धर्म अथवा असत्य ?, तब दोनों ने उत्तर दिया कि सत्य बोलना धर्म और असत्य बोलना अधर्म है, इसी

का नाम धर्म जानो परन्तु यहां पांच परीक्षा की युक्ति से सत्य और असत्य का निश्चय करना योग्य है ।

(प्रश्न) जब २ सभा आदि व्यवहारों में जावें तब २ कैसे २ वर्त्तें ? ।

(उत्तर) जब सभा में जावें तब दृढ़ निश्चय कर लेवें कि मैं सत्य को जिताऊं और असत्य को हराऊंगा । अभिमान न रक्खे, अपने को बड़ा न माने । अपनी बात का कोई खण्डन करे उस पर क्रुद्ध वा अप्रसन्न न हो । जो कोई कहे उस वचन को ध्यान देकर सुन के जो उसमें कुछ असत्य भान हो उस अंश का खण्डन अवश्य करे और जो सत्य हो तो प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण करे, बड़ाई छोटाई न गिने, व्यर्थ बकवाद न करे, कभी मिथ्या का पक्ष न करे और सत्य को कदापि न छोड़े । ऐसी रीति से बैठे वा उठे कि जिससे किसी को बुरा विदित न हो, सर्वहित पर दृष्टि रक्खे, जिससे सत्य की बढ़ती और असत्य का नाश हो उसको करे, सज्जनों का सङ्ग करे और दुष्टों से अलग रहे जो २ प्रतिज्ञा करे वह २ सत्य से विरुद्ध न हो और उसको सर्वदा यथावत् पूरी करे। इत्यादि कर्म्म सब सभा आदि व्यवहारों में करे ।

(प्र०) जड़बुद्धि और तीव्रबुद्धि किसको कहते हैं ? ।

(उ०) जो आप तो समझ ही न सके परन्तु दूसरे के समझाने से भी न समझे वह जड़बुद्धि और जो समझाने से झटपट समझे और थोड़े ही समझाने से बहुत समझ जावे वह तीव्रबुद्धि कहाता है । यहां महाजड़ और विद्वान् का दृष्टान्त सुनो—कहीं एक रामदास वैरागी का चेला भूपालदास पाठ करता २ कुए पर पानी भरने को गया, वहां एक पण्डित बैठा था, उसने अशुद्ध पाठ सुनकर कहा कि तूं "स्री गनेसायनमः" ऐसा घोकता है सो शुद्ध नहीं है, किन्तु "श्री गणेशाय नमः" ऐसा शुद्ध पाठ कर । तब वह बोला कि मेरे महन्तजी बड़े पण्डित हैं उन्होंने जैसा मुझको बताया है वैसा ही घोखूंगा, उसने पानी भरकर अपने गुरु के पास जाके कहा कि महाराजजी ! एक बम्मन मेरे पाठ को असुद्ध बतलाता है, तब खाकीजी ने चेलों से कहा कि उस बम्मन को यहां

बुलालाओ, वह गुरु का फटकारा मेरे चेले को क्यों बहकाता और सुद्ध का असुद्ध क्यों बतलाता है ? । चेला गया पण्डितजी को बुला लाया, पण्डित से महन्त बोले कि तू इसके कितने प्रकार के पाठ जानता है ?, पंडित ने कहा कि एक प्रकार का । महन्तजी ने कहा कि तू कुछ भी नहीं जानता, देख मैं तीन प्रकार का पाठ जानता हूं । एक—स्री गनेसाजनम । दूसरा—स्री गनेसापनम । तीसरा—स्री गनेसायनम । (पंडित) महन्तजी ! तुम्हारे पाठ में पांच दोष हैं। प्रथम श, का स । ण, का न । शा, का सा । य, का ज, प बोलना और विसर्जनीय का न बोलना पांच अशुद्धि हैं । महन्तजी बोले—चल बे गुरु के बड़े घर में सब सुद्ध हैं, पंडित चुपकर चले आये क्योंकि "सर्वस्यौषधमस्ति शास्त्रकथितं मूर्खस्य नास्त्यौषधम्" सब का औषध शास्त्र में कहा है परन्तु शठ मनुष्यों का औषध नहीं कहा । ऐसे हठी मनुष्यों से अलग रहे जो वे सुधरा चाहें तो विद्वान् उपदेश करके उनको अवश्य सुधारें ।

(प्र०) जो माता, पिता, आचार्य्य और अतिथि अधर्म करें और कराने का उपदेश करें तो मानना चाहिये वा नहीं ? ।

(उ०) कदापि नहीं । कुमाता, कुपिता सन्तानों को बुरे उपदेश करते हैं कि बेटा ! बिटिया ! तेरा विवाह शीघ्र कर देंगे, किसी की चीज पावे तो उठा लाना, कोई एक गाली दे तो उसको तू पचास गाली दे, लड़ाई, झगड़ा, खेल, चोरी, जारी, मिथ्याभाषण, भांग, मद्य, गांजा, चरस, अफीम खाना, पीना आदि कर्म्म करने में कुछ दोष नहीं, क्योंकि अपनी कुलपरंपरा है । सुनो प्रमाण— "कुलधर्म्मः सनातनः" जो कुल में धर्म पहिले से चला आता है उसके करने में कुछ भी दोष नहीं । (सुसन्तान आह) जो तुमने शीघ्र विवाह करना, किसी की चीज उठा लाना आदि कर्म्म कहे वे दुष्ट मनुष्यों के काम हैं श्रेष्ठों के नहीं, किन्तु श्रेष्ठ तो ब्रह्मचर्य से पूर्ण विद्या पढ़कर स्वयंवर अर्थात् पूर्ण युवावस्था में दोनों की प्रसन्नतापूर्वक विवाह करना, किसी की करोड़ों की चीज जंगल में पड़ी देखकर कभी ग्रहण करने की मन में भी इच्छा न करना आदि कर्म्म किया करते हैं । जो २ तुम्हारे उत्तम कर्म्म और उपदेश हैं उन २ को तो हम

ग्रहण करते हैं अन्य को नहीं, परन्तु तुम कैसे ही हो, हमको तन, मन, धन से तुम्हारी सेवा करना परमधर्म्म है, क्योंकि जैसी तुमने बाल्यावस्था में हमारी सेवा की है वैसी तुम्हारी सेवा हम क्यों न करें ? । (कुसन्तान आह) श्रेष्ठ माता, पिता, आचार्य्य, अतिथियों से अभागिये सन्तान कहते हैं कि हमको खूब खिलाओ, पिलाओ, खेलने दो, हमारे लिये कमाया करो, जब तुम मर जाओगे तब हम ही को सब काम करना पड़ेगा । शीघ्र विवाह कर दो, नहीं तो हम इधर उधर लीला करेंगे ही, बाग में जाके नाच तमाशा करेंगे वा वैरागी हो जायंगे, पढ़ने में बड़ा कष्ट होता है हमको पढ़के क्या करना है, क्योंकि हमारी सेवा करनेवाले तुम तो बने ही हो, हमको सैल सपट्टा, सवारी, शिकारी, नाच, खाने, पीने, ओढ़ने, पहरने के लिये खूब दिया करो नहीं तो हम जब जवान होंगे तब तुम को समझलेंगे "दण्डादण्डि, नखानखि, केशाकेशि, मुष्टामुष्टि, युद्धमेव भविष्यत्यन्यत्किम्" ऐसे २ सन्तान दुष्ट कहाते हैं । उत्तम माता आदि उनसे कहते हैं कि सुनो लड़को ! अभी तुम्हारी पढ़ने गुनने, सत्सङ्ग करने, अच्छी २ बात सीखने, वीर्यनिग्रह और आचार्य आदि की सेवा करने, विद्वान् होने, शरीर और आत्मा को पूर्ण युवावस्था आदि उत्तम कर्म करने की अवस्था है, जो चूकोगे तो फिर पछताओगे, पुनः ऐसा समय तुम को मिलना अतिकठिन है, क्योंकि जबतक हम घर का और तुम्हारे खाने पीने आदि का प्रबन्ध करनेवाले हैं तबतक तुम सुशिक्षाग्रहणपूर्वक सर्वोत्कृष्ट विद्यारूपी धन को संचित करो, यही अक्षय धन है कि जिसको चोर आदि न ले सकते, न भार होता और जितना दान करो उतना ही अधिक २ बढ़ता जाता है । इसके होने से जहां रहोगे वहां सुखी और प्रतिष्ठा पाओगे, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के सम्बन्धी कर्म्मों को जानकर सिद्ध कर सकोगे । हम जब तुमको विद्या-रूप श्रेष्ठ गुणों से अलंकृत देखेंगे, तभी हमको परम सन्तोष होगा और जो तुम कोई दुष्ट काम करोगे तो हम अपना भी अभाग्य समझेंगे, क्योंकि हमारे कौन से पापों के फल से हम को दुष्ट सन्तान मिले । क्या तुम नहीं देखते कि जिन मनुष्यों को राज्य, धन प्राप्त भी है परन्तु विद्या और उत्तम शिक्षा के विना नष्ट भ्रष्ट होजावे और श्रेष्ठ विद्या सुशिक्षा से युक्त दरिद्र भी राज्य और

ऐश्वर्य को प्राप्त होते हैं। तुमको चाहिये कि—

यान्यस्माकꣳ सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि ॥ तैत्तिरीय आरण्यके प्रपाठके ७ अनुवाके ११ ॥

जो २ उत्तम चरित्र हैं सो २ करो और कभी हम भी बुरे काम करें उनको कभी मत करो, इत्यादि उत्तम उपदेश और कर्म करने और करानेहारे माता पिता आचार्य्य आदि श्रेष्ठ कहाते हैं।

(प्र०) राजा प्रजा और इष्टमित्र आदि के साथ कैसा २ व्यवहार करें ?।

(उ०) राजपुरुष प्रजा के लिये सुमाता और सुपिता के समान और प्रजापुरुष राजसम्बन्ध में सुसन्तान के सदृश वर्त्तकर परस्पर आनन्द बढ़ावें। मित्र मित्र के साथ सत्य व्यवहारों के लिये आत्मा के समान प्रीति से वर्त्तें, परन्तु अधर्म्म के लिये नहीं। पड़ौसी के साथ ऐसा वर्त्ताव करें कि जैसा अपने शरीर के लिये करते हैं, वैसे ही मित्रादि के लिये भी कर्म किया करें। स्वामी सेवक के साथ ऐसा वर्त्तें कि जैसा अपने हस्तपादादि अङ्गों की रक्षा के लिये वर्त्तते हैं। सेवक स्वामियों के लिये ऐसे वर्त्तें कि जैसे अन्न, जल, वस्त्र और घर आदि शरीर की रक्षा के लिये होते हैं।

(प्र०) ब्रह्मचर्य्य का क्या २ नियम है ?।

(उ०) कम से कम २५ वर्ष पर्यन्त पुरुष और सोलह वर्ष पर्यन्त कन्या को ब्रह्मचर्यसेवन अवश्य करना चाहिये और अड़तालीसवें वर्ष से अधिक पुरुष और चौबीस से अधिक कन्या ब्रह्मचर्य्य का सेवन न करें किन्तु इसके उपरान्त गृहाश्रम का समय है।

(प्र०) प्रमादी ब्रूते—पागल मनुष्य कहता है कि सुनोजी ! कन्याओं का पढ़ना शास्त्रोक्त नहीं, क्योंकि जब वे पढ़ जावेंगी तो मूर्ख पति का अपमान कर इधर उधर पत्र भेजकर अन्य पुरुषों से प्रीति जमा के व्यभिचार किया करेंगी।

(उ०) सज्जनः समाधत्ते–श्रेष्ठ मनुष्य उस को उत्तर देता है सुनोजी ! तुम्हारे कहने से यह आया कि किसी पुरुष को भी न पढ़ना चाहिये, क्योंकि वह भी पढ़कर मूर्ख स्त्री का अपमान और डाक गाड़ी चलाकर इधर उधर अन्य स्त्रियों के साथ सैल सपाटा किया करेगा ।

(प्र०) प्रमादी–हां, पुरुष भी न पढ़ें तो अच्छी बात है क्योंकि पढ़े हुए मनुष्य चतुराई से दूसरों को धोखा देकर अपमान करके अपना मतलब सिद्ध कर लेते हैं ।

(उ०) सज्जन–सुनोजी ! यह विद्या पढ़ने का दोष नहीं, किन्तु आप जैसे मनुष्यों के सङ्ग का दोष है और जो पढ़ना पढ़ाना, धर्म और ईश्वर की विद्या से विरुद्ध है सो तो प्रायः बुरे काम का कारण देखने में आता और जो पढ़ना पढ़ाना उक्त विद्या से सहित है वह तो सब के सुख और उपकार ही के लिये होता है ।

(प्र०) कन्याओं के पढ़ने में वैदिक प्रमाण कहां है ? ।

(उ०) सुनो प्रमाणः—

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विदन्ते पतिम् ॥ अथर्ववे० कां० ११ । सू० ५ । मं० १८ ॥

अर्थ–जैसे लड़के लोग ब्रह्मचर्य्य करते हैं, वैसे कन्या लोग ब्रह्मचर्य करके वर्णोच्चारण से लेकर वेदपर्यन्त शास्त्रों को पढ़कर प्रसन्न करके स्वेच्छा से पूर्ण युवावस्था वाले विद्वान् पति को वेदोक्त रीति से ग्रहण करें । क्या अधर्मी से भिन्न कोई ऐसा भी मनुष्य होगा कि किसी पुरुष वा स्त्री को विद्या के पढ़ने से रोककर मूर्ख रक्खा चाहे और वेदोक्त प्रमाण का अपमान करके अपना कल्याण किया चाहे ।

(प्र०) विद्या को किस २ क्रम से प्राप्त हो सकता है ? ।

(उ०) शुद्ध वर्णोच्चारण, व्यवहार की शुद्धि, पुरुषार्थ, धार्मिक विद्वानों का सङ्ग, विषयकथाप्रसङ्ग का त्याग, सुविचार से व्याकरण आदि शब्द अर्थ और सम्बन्धों को यथावत् जानकर उत्तम क्रिया करके सर्वथा साक्षात् करता जाय। जिस २ विद्या के लिये जो २ साधनरूप सत्यग्रन्थ हैं उन २ को पढ़कर वेदादि पढ़ने के योग्य ग्रन्थों के अर्थों को जानना आदि कर्म शीघ्र विद्वान् होने के साधन हैं।

(प्र०) विना पढ़े हुए मनुष्यों की क्या गति होगी ?।

(उ०) दो, एक अच्छी और दूसरी बुरी। अच्छी उसको कहते हैं कि जो मनुष्य विद्या पढ़ने का सामर्थ्य तो नहीं रक्खे और वह धर्माचरण किया चाहे तो विद्वानों के सङ्ग और अपने आत्मा की पवित्रता और अविरुद्धता से धर्मात्मा अवश्य हो सकता है। क्योंकि सब मनुष्यों का विद्वान् होना तो सम्भव ही नहीं, परन्तु धार्मिक होने का सम्भव सब के लिये है कि जैसे अपने लिये सुख की प्राप्ति और दुःख के त्याग, मान्य होने, अपमान के न होने आदि की अभिलाषा करते हैं तो दूसरों के लिये क्यों न करनी चाहिये ?। जब किसी को कोई चोरी वा किसी पर झूठा जाल लगाता है तो क्या उसको अच्छा लगता और क्या जिस २ कर्म के करने में अपने आत्मा को शङ्का, लज्जा और भय नहीं होता वह २ धर्म किसी को विदित नहीं होता ? क्या जो कोई विरोध अर्थात् आत्मा में कुछ और वाणी में कुछ भिन्न और क्रिया में विलक्षणता करता है वह अधर्मी और जिसके जैसा आत्मा में वैसा वाणी और जैसा वाणी में वैसा ही क्रिया में आचरण है वह धर्मात्मा नहीं है ?। प्रमाण—

असुर्य्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥ १॥

(य० अ० ४०। मं० ३)

अर्थ—(ये) जो (आत्महनः) आत्महत्यारे अर्थात् आत्मस्थ ज्ञान से विरुद्ध कहने, मानने और करनेहारे हैं (ते) वे ही (लोकाः) लोग (असु-

र्या नाम) असुर अर्थात् दैत्य राक्षस नाम वाले मनुष्य हैं और वे ही (अन्धेन तमसावृताः) बड़े अधर्मरूप अन्धकार से युक्त होके जीते हुए और मरण को प्राप्त होकर (तान्) दुःखदायक देहादि पदार्थों को (अभिगच्छन्ति) सर्वथा प्राप्त होते हैं और जो आत्मरक्षक अर्थात् आत्मा के अनुकूल ही कहते, मानते और आचरण करते हैं वे मनुष्य विद्यारूप शुद्ध प्रकाश से युक्त होकर देव अर्थात् विद्वान् नाम से प्रख्यात हैं । वे ही सर्वदा सुख को प्राप्त होकर मरने के पीछे भी आनन्दयुक्त देहादि पदार्थों को प्राप्त होते हैं ।

(प्र०) विद्या और अविद्या किसको कहते हैं ? ।

(उ०) जिससे पदार्थ यथावत् जानकर न्याययुक्त कर्म किये जावें वह विद्या और जिससे किसी पदार्थ का यथावत् ज्ञान न होकर अन्यायरूप कर्म किये जायं वह अविद्या कहाती है ।

(प्र०) न्याय और अन्याय किसको कहते हैं ? ।

(उ०) जो पक्षपात रहित सत्याचरण करना है वह न्याय और जो पक्षपात से मिथ्याचरण करना है वह अन्याय कहाता है ।

(प्र०) धर्म किसको कहते हैं ? ।

(उ०) जो न्यायाचरण सब के हित का करना आदि कर्म हैं उनको धर्म और जो अन्यायाचरण सब के अहित के काम करने हैं उनको अधर्म जानो ।

महामूर्ख का लक्षण

एक प्रियदास का चेला भगवान्दास अपने गुरु से बारह वर्ष पर्यन्त पढ़ा, एक दिन उनसे पूछा कि महाराज ! मुझ को संस्कृत बोलना नहीं आया, गुरु बोले—सुन बे ! पढ़ने पढ़ाने से विद्या नहीं आती, किन्तु गुरु की कृपा से आजाती है । जब गुरु सेवा से प्रसन्न होता है तब जैसे कुंजियों से ताला खोलकर मकान के सब पदार्थ झट देखने में आते हैं, वे ऐसी युक्ति बतला देते हैं कि

हृदय के कपाट खुल जाकर सब पदार्थविद्या तत्क्षण आजाती है। सुन! संस्कृत बोलने की तो सहज युक्ति है। (भगवान्दास) महाराजजी! वह क्या है?। (गुरु) संसार में जितने शब्द संस्कृत वा देशभाषा में हों उन पर एक २ विन्दु धरने से सब शुद्ध संस्कृत होजाते हैं। अच्छा तो महाराजजी! लोटा, जल, रोटी, दाल, शाक आदि शब्दों पर विन्दु धर के कैसे संस्कृत होजाते हैं। देखो—लोंटां। जंलं। रोंटीं। दांलं। शांकं। चेला बोला वाह २ गुरु के विना क्षणमात्र में पूरी विद्या कौन बतला सकता है?। भगवान्दास ने अपने आसन पर जाकर विचार के यह श्लोक बनायाः—

बांपं आंजां नंमं स्कृत्यं पंरं पांजं तंथैवं चं।
मंयां भंगवांनंदांसेंनं गींतां टींकां कंरोम्यंहंम्॥ १॥

जब उसने प्रातःकाल उठकर हर्षित होके गुरु के पास जाकर श्लोक सुनाया तब तो प्रियदासजी भी बहुत प्रसन्न हुए कि जो चेले हों तो तेरे ही समान गुरु के वचन पर विश्वासी और गुरु हो तो मेरे सदृश हो, ऐसे मनुष्यों का क्या औषध है विना अलग रहने के।

(प्रश्न) विद्या पढ़ते समय वा पढ़ के किसी दूसरे को पढ़ावें वा नहीं?। (उत्तर) बराबर पढ़ाता जाय, क्योंकि पढ़ने से पढ़ाने में विद्या की वृद्धि अधिक होती है। पढ़ के आप अकेला विद्वान् रहता और पढ़ाने से दूसरा भी हो जाता है। उत्तरोत्तर काल में विद्या की वृद्धि होती ही है। जो विद्या को प्राप्त होता है वह मनुष्य परोपकारी धार्मिक अवश्य होता है। क्योंकि जैसे अन्धा कुए में गिर पड़ता है वैसे देखनेहारा कभी नहीं गिरता और अविद्या की हानि होने आदि प्रयोजन पढ़ाने से ही सिद्ध होते हैं।

(प्रश्न) क्षुद्रबुद्धिरुवाच—सभी विद्वान् हो जावेंगे तो हमको कौन पूछेंगे? और आप ही आप सब पुस्तकों को बांचकर अर्थ समझ लेंगे, पूजापाठ में न बुलावेंगे। विशेष विघ्न धनाढ्य और राजाओं के पढ़ाने में है, क्योंकि उनसे हम लोगों की बड़ी जीविका होती है। जब किसी शूद्र ने उनके पास पढ़ने की

इच्छा से जाके कहा कि मुझको आप कुछ पढ़ाइये तो (अल्पबुद्धि) तू कौन है ? क्या काम करता है ? और तेरे घर में क्या व्यवहार होता है ? ।

(उत्तर) मैं तो महाराज आपका दास शूद्र हूं, कुछ जिमीदारी खेतीबाड़ी भी होती और घर में कुछ लेन देन का भी व्यवहार है । (नष्टमति) छी छी छी ! ! ! तुझको सुनने और हमको सुनाने का भी अधिकार नहीं है, जो तू अपना धर्म्म छोड़कर हमारा धर्म्म करेगा तो क्या नरक में न पड़ेगा ? । हां तुझ को वेदों से भिन्न ग्रन्थों की कथा सुनने का तो अधिकार है । जब तेरी सुनने की इच्छा हो तब हमको बुला लेना सुना देंगे, परन्तु आपसे आप मत बांच लेना नहीं तो अधर्मी हो जावेगा, जो कुछ भेट पूजा लाया हो सो धर के चला जा । और सुन ! हमारे वचन को मान ले, नहीं तो तेरी मुक्ति कभी नहीं होगी, खूब कमा और हमारी सेवा किया कर इसी में तेरा कल्याण और तुझ पर ईश्वर प्रसन्न होगा । (दास) महाराज मुझ को तो पढ़ने की बहुत इच्छा है, क्या विद्या पढ़ना बुरी चीज है कि दोष लगजाय । (बकवृत्ति) बस २ तुझको किसी ने बहका दिया है जो हमारे सामने उत्तर प्रत्युत्तर करता है । हाय ! क्या करें, कलियुग आगया, विद्या को पढ़कर हमारा उपदेश नहीं मानते, बिगड़ गये । (दास) क्या महाराज ! हमारे ही ऊपर कलियुग ने चढ़ाई करदी कि जो हम ही को पढ़ने और मुक्ति से रोकता है । (स्वार्थी) हां २ जो सत्ययुग होता तो तू हमारे सामने ऐसा बर २ कर सकता ? । (दास) अच्छा तो महाराज ! आप जो नहीं पढ़ाते तो हमको जो कोई पढ़ावेगा उसके चेले हो जावेंगे । (अन्धकारी) सुन २ कलियुग में और क्या होना है ? । (दास) आपकी हम सेवा करें उसके बदले आप हमको क्या देंगे ? । (मार्जारलिङ्गी) आशीर्वाद । (दास) उस आशीर्वाद से क्या होगा ? । (धूर्त) तुम्हारा कल्याण । (दास) जब आप हमारा कल्याण चाहते हैं तो क्या विद्या के पढ़ने से अकल्याण होता है ? । (पोप उवाच) अब क्या तू हमसे शास्त्रार्थ करता है ? ।

(प्रश्न) पोप का क्या अर्थ है ? ।

(उत्तर) यह शब्द अन्य देश की भाषा का है । वहां तो इसका अर्थ

पिता और बड़े का है, परन्तु यहां जो केवल धूर्तता करके अपना मतलब सिद्ध करनेहारा हो उसी का नाम है।

(प्रश्न) जो विद्या पढ़ा हो और उसमें धार्मिकता न हो तो उसको विद्या का फल होगा वा नहीं ?।

(उत्तर) कभी नहीं, क्योंकि विद्या का यही फल है कि जो मनुष्य को धार्मिक होना अवश्य है, जिसने विद्या के प्रकाश से अच्छा जानकर न किया और बुरा जानकर न छोड़ा तो क्या वह चोर के समान नहीं है ? क्योंकि जैसे चोर भी चोरी को बुरी जानता हुआ करता और साहूकारी को अच्छी जान के भी नहीं करता वैसा ही जो पढ़ के भी अधर्म्म को नहीं छोड़ता और धर्म को नहीं करनेहारा मनुष्य है।

(प्र०) जब कोई मनुष्य मन से बुरा जानता है परन्तु किसी विशेष भय आदि निमित्तों से नहीं छोड़ सकता और अच्छे काम को नहीं कर सकता, तब भी क्या उसको दोष वा गुण होता है अथवा नहीं ?।

(उ०) दोष ही होता है, क्योंकि जो उसने अधर्म्म करलिया उसका फल अवश्य होगा और जानकर भी धर्म्म को न किया उसको सुखरूप फल कुछ भी नहीं होगा, जैसे कोई मनुष्य कुए में गिरना बुरा जान के भी गिरे, क्या उसको दुःख न होगा और अच्छे मार्ग में चलना जानकर भी न चले, उसको सुख कभी होगा ?। इसलियेः—

यथा मतिस्तथोक्तिर्यथोक्तिस्तथा मतिः, सत्पुरुषस्य लक्षणमतो विपरीत-मसत्पुरुषस्येति ।

वही सत्पुरुष का लक्षण है कि जैसा आत्मा का ज्ञान वैसा वचन और जैसा वचन वैसा ही कर्म्म करना, और जिसका आत्मा से मन, उससे वचन और वचन से विरुद्ध कर्म करना है वही असत्पुरुष का लक्षण है। इसलिये मनुष्यों को उचित है कि सब प्रकार का पुरुषार्थ करके अवश्य धार्मिक हों।

(प्र०) पुरुषार्थ किसको कहते और उसके कितने भेद हैं ? ।

(उ०) उद्योग का नाम पुरुषार्थ और उसके चार भेद हैं । एक–अप्राप्त की इच्छा । दूसरा–प्राप्त की यथावत् रक्षा । तीसरा–रक्षित की वृद्धि और चौथा–बढ़ाये हुए पदार्थों का धर्म में खर्च करना पुरुषार्थ के भेद हैं । जो २ न्यायधर्म से युक्त क्रिया से अप्राप्त पदार्थों की अभिलाषा करके उद्योग करना । उसी प्रकार उसकी सब प्रकार से रक्षा करनी कि वह पदार्थ किसी प्रकार से नष्ट भ्रष्ट न होजाय । उसको धर्मयुक्त व्यवहार से बढ़ाते जाना। और बढ़े हुए पदार्थ को उत्तम व्यवहारों में खर्च करना, ये चार भेद हैं ।

(प्र०) किस २ प्रकार से किस २ व्यवहार में तन, मन, धन लगाना चाहिये ? ।

(उ०) निम्नलिखित चारों में । विद्या की वृद्धि, परोपकार, अनाथों का पालन और अपने सम्बन्धियों की रक्षा । विद्या के लिये शरीर का आरोग्य और उससे यथायोग्य क्रिया करनी, मन से अत्यन्त विचार करना कराना और धन से अपने सन्तान और अन्य मनुष्यों को विद्यादान करना कराना चाहिये । परोपकार के लिये शरीर और मन से अत्यन्त उद्योग और धन से नाना प्रकार के व्यवहार तथा कारखाने खड़े करने कि जिनमें अनेक मनुष्य कर्म्म करके अपना २ जीवन सुख से किया करें । अनाथ उनको कहते हैं कि जिनका सामर्थ्य अपने पालन करने का भी न हो जैसे कि बालक, वृद्ध, रोगी, अङ्गभङ्ग आदि हैं, उनको भी तन, मन, धन लगाकर सुखी रख के जिस २ से जो २ काम बन सके उस २ से वह २ कार्य्य सिद्ध कराना चाहिये कि जिससे कोई आलसी होके नष्टबुद्धि न हो और अपने सन्तान आदि मनुष्यों के खान, पान अथवा विद्या की प्राप्ति के लिये जितना तन, मन, धन लगाया जाय उतना थोड़ा है, परन्तु किसी को निकम्मा कभी न रहना और न रखना चाहिये ।

(प्र०) विवाह करके स्त्री पुरुष आपस में कैसे २ वर्त्तें ? ।

(उ०) कभी कोई किसी का अप्रियाचरण अर्थात् जिस २ व्यवहार से एक दूसरे को कष्ट होवे सो काम न करें, जैसे कि व्यभिचार आदि। एक दूसरे को देखकर प्रसन्न हों, एक दूसरे की सेवा करें। पुरुष भोजन वस्त्र आभूषण और प्रियवचन आदि व्यवहारों से स्त्री को सदा प्रसन्न रक्खे और घर के सब कृत्य उसके आधीन करे। स्त्री भी अपने पति से प्रसन्नवदन खान पान प्रेमभाव आदि से उसको सदा हर्षित रक्खे कि जिससे उत्तम सन्तान हो और सदा दोनों में आनन्द बढ़ता जाय।

(प्र०) ऐसा न करे तो क्या बिगाड़ है ?।

(उ०) सर्वस्वनाश। क्योंकि परस्पर प्रीति के विना न गृहाश्रम का किञ्चित् सुख, न उत्तम सन्तान और न प्रतिष्ठा वा लक्ष्मी आदि श्रेष्ठ पदार्थों की प्राप्ति कभी होती है। सुनो मनुजी क्या कहते हैं:—

सन्तुष्टो भार्य्यया भर्त्ता भर्त्रा भार्या तथैव च।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ॥ १ ॥ अ० ४ ॥

जिस कुल में स्त्री से पुरुष और पुरुष से स्त्री आनन्दित रहती है उसी में निश्चित कल्याण स्थित रहता है परन्तु यह बात कब होगी कि जब ब्रह्मचर्य्य से विद्या शिक्षा ग्रहण करके युवावस्था में परस्पर परीक्षा करके प्रसन्नतापूर्वक स्वयंवर ही विवाह करेंगे। क्योंकि जितना सुख, विद्या और उत्तम प्रजा की हानि बाल्यावस्था में विवाह से होती है उतना ही सुखलाभ ब्रह्मचर्य्य से शरीर और आत्मा की पूर्ण युवावस्था में परस्पर प्रीति से विवाह करने से होता है। जो मनुष्य परस्पर प्रीति से स्वयंवर विवाह करके सन्तानों को उत्पन्न करते हैं उनके सन्तान भी ऐसे योग्य होते हैं कि लाखों में एक ही होते हैं कि जिन में बुद्धि, बल, पराक्रम, धर्म्म और सुशीलतादि शुभगुण पूर्ण होके, महाभाग्यशाली कहाकर अपने कुल को अतिप्रशंसित कर देते हैं।

(प्र०) मनुष्यपन किसको कहते हैं ?।

(उ०) इस मनुष्यजाति में एक ऐसा गुण है कि वैसा किसी दूसरी जाति में नहीं पाया जाता ।

(प्र०) वह कौनसा है ? ।

(उ०) जितने मनुष्य से भिन्नजातिस्थ प्राणी हैं उनमें दो प्रकार का स्वभाव है । बलवान् से डरना, निर्बल को डराना और पीड़ा कर अर्थात् दूसरे का प्राण तक निकाल के अपना मतलब साध लेना देखने में आता है । जो मनुष्य ऐसा ही स्वभाव रखता है उसको भी इन्हीं जातियों में गिनना उचित है, परन्तु जो निर्बलों पर दया, उनका उपकार और निर्बलों को पीड़ा देने वाले अधर्म्मी बलवानों से किञ्चिन्मात्र भी भय शङ्का न करके इनको परपीड़ा से हटा के निर्बलों की रक्षा तन, मन और धन से सदा करना है वही मनुष्यजाति का निज गुण है, क्योंकि जो बुरे कामों के करने में भय और सत्य कामों के करने में किञ्चित् भी भय शङ्का नहीं करते वे ही मनुष्य धन्यवाद के पात्र कहाते हैं ।

(प्र०) क्योंजी ! सर्वथा सत्य से तो कोई व्यवहार सिद्ध नहीं हो सकता । देखो ! व्यापार में सत्य बात कहदें तो किसी पदार्थ का विक्रय न हो, हार जीत के व्यवहारों में मिथ्या साक्षी न खड़े करें तो हार होजाय, इत्यादि हेतुओं से सब ठिकानों में सत्यभाषणादि कैसे कर सकते हैं ? । (उ०) यह बात महामूर्खता की है । जैसे किसी ग्राम में लालबुझक्कड़ रहता था कि जिसको पांचसौ ग्रामवाले महापण्डित और एक गुरु मानते थे । एक रात में किसी राजा का हाथी उसी ग्राम के समीप होकर कहीं स्थानान्तर को चला गया था, उसके पग के चिह्न जहां तहां मार्ग में बन रहे थे, उनको देख के खेती करनेहारे ग्रामीण लोगों ने परस्पर पूछा कि भाई ! यह किसका खोज है ?, सबने कहा कि हम नहीं जानते । फिर सब की सम्मति से लालबुझक्कड़ को बुलाके पूछा कि तुम्हारे विना कोई भी मनुष्य इसका समाधान नहीं कर सकता । कहो यह किस के पग का चिह्न है ? जब वह रोया और रोकर हँसा तब सबने पूछा कि तुम क्यों रोये और हँसे ? । तब वह बोला कि जब मैं मरजाऊंगा तब ऐसी २

बातों का उत्तर विना मेरे कौन दे सकेगा और हँसा इसलिये कि इसका उत्तर तो सहज है। सुनो! "लालबुझक्कड़ बूझिया और न बूझा कोय। पग में चक्की बांध के हिरना कूदा होय॥" जो जंगल में हिरन होता है वह किसी जंगली मनुष्य की चक्की के पाटों को अपने पगों में बांध के कूदता चला गया है, तब सुनकर सब लोगों ने वाह २ बोलकर उसको धन्यवाद दिया कि तुम्हारे सदृश पृथिवी में कोई भी पण्डित नहीं है कि ऐसी २ बातों का उत्तर देसके। जब वह लालबुझक्कड़ ग्राम की ओर आता ही था इतने में एक ग्रामीण की स्त्री ने जंगल से बेर लाके जो अपना लड़का छप्पर के खम्भे को पकड़ के खड़ा था उसको कहा कि बेटा बेर ले, तब उसने हाथों की अंजली बांध के बेरों को ले लिया, परन्तु जब छप्पर की थूनी हाथों के बीच में रहने से उसका मुख बेर तक न पहुंचा तब लड़का रोने लगा, उसको रोते देखकर उसकी मा और बाप भी रोने लगे कि हाय मेरे लड़के को खम्भे ने पकड़ लिया रे ३! तब उसको सुनके अड़ौसी पड़ौसी भी रोने लगे कि हाय रे दय्या इसके लड़के को खम्भे ने कैसा पकड़ लिया है कि छोड़ता ही नहीं। तब किसी ने कहा कि लालबुझक्कड़ को बुलाओ, उसके विना कोई भी लड़के को नहीं छुड़ा सकेगा। तब एक मनुष्य उसको शीघ्र बुला लाया, फिर उसको पूछा कि यह लड़का कैसे छूट सकता है : तब वह बोला कि सुनो लोगो! दो प्रकार से यह लड़का छूट सकता है एक तो यह है कि कुहाड़ा लाके लड़के का एक हाथ काट डालो अभी छूट जाय और दूसरा उपाय यह है कि प्रथम छप्पर को उठाके नीचे धरो फिर लड़के को थूनी के ऊपर से उतार ले आओ, तब लड़के का बाप बोला कि हम दरिद्र मनुष्य हैं हमारा छप्पर टूट जायगा तो फिर छाना कठिन है, तब लालबुझक्कड़ बोला कि लाओ कुहाड़ा, फिर क्या देख रहे हो, कुहाड़ा लाके जबतक हाथ काटने को तैयार हुए तबतक दूसरे ग्राम से एक बुद्धिमती स्त्री भी हल्ला सुनकर वहां पहुंच कर देख के बोली कि इसका हाथ मत काटो मैं इस लड़के को छुड़ा देती हूं। जब वह खम्भे के पास जाके लड़के की अञ्जली के नीचे अपनी अञ्जली करके बोली कि बेटा मेरे हाथ में बेर छोड़ दे तब वह बेर छोड़ के अलग होगया। फिर उसको बेर देदिये

खाने लगा। तब तो बहुत क्रुद्ध होकर लालबुझक्कड़ बोला कि यह लड़का छः महीने के बीच मरजायगा, क्योंकि जैसा मैंने कहा था वैसा ही करते तो न मरता। तब तो उस के मा बाप घबरा के बोले कि अब क्या करना चाहिये। तब उस स्त्री ने समझाया कि यह बात झूठ है और जो हाथ के काटने से अभी यह मरजाता तो तुम क्या करते ? मरण से बचने का कोई औषध नहीं। तब उनका घबराहट छूट गया। वैसे जो मनुष्य महामूर्ख हैं वे ऐसा समझते हैं कि सत्य से व्यवहार का नाश और झूठ से ही व्यवहार की सिद्धि होती है। परन्तु जब किसी को कोई एक व्यवहार में झूठ समझले तो उस की प्रतिष्ठा और विश्वास सब नष्ट होकर उस के सब व्यवहार नष्ट होते जाते और जो सब व्यवहारों में झूठ को छोड़कर सत्य ही कहते हैं उनको लाभ ही लाभ होते हैं हानि कभी नहीं। क्योंकि सत्य व्यवहार करने का नाम धर्म और विपरीत का अधर्म है। क्या धर्म का सुखलाभ रूपी और अधर्म का दुःखरूपी फल नहीं होता ?, प्रमाणः—

इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि ॥ यजु० ॥ अ० १ । मं० ५ ॥ सत्यमेव जयति नाऽनृतं, सत्येन पन्था विततो देवयानः। येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम् ॥ मुण्ड० ३ । खं० १ । मं० ६ ॥ न सत्यात्परमो धर्म्मो नाऽनृतात्पातकं परम् ॥ ३ ॥ इत्यादि ॥

अर्थ—मनुष्य में मनुष्यपन यही है कि सर्वथा झूठ व्यवहारों को छोड़कर सत्य व्यवहारों को सदा ग्रहण करे ॥ १ ॥ क्योंकि सर्वदा सत्य ही का विजय और झूठ का पराजय होता है। इसलिये जिस सत्य से चल के धार्मिक ऋषि लोग जहां सत्य की निधि परमात्मा है उस को प्राप्त होकर आनन्दित हुए थे और अब भी होते हैं उसका सेवन मनुष्य लोग क्यों न करें। यह निश्चित है कि न सत्य से परे कोई धर्म और न असत्य से परे कोई अधर्म है। इससे धन्य मनुष्य वे हैं जो सब व्यवहारों को सत्य ही से करते और झूठ से युक्त कर्म किञ्चिन्मात्र भी नहीं करते हैं। दृष्टान्त—एक किसी अधर्मी मनुष्य ने किसी अधर्मी बजाज की दुकान पर जाकर कहा कि यह वस्त्र कितने आने गज देगा।

वह बोला कि सोलह आने, तुम भी कुछ कहो। बजाज और ग्राहक दोनों जानते ही थे कि यह दश आने गज का कपड़ा है, परन्तु अधर्मी झूठ बोलने में कभी नहीं डरते। (ग्राहक) छः आने गज दो और सच २ लेने देने की बात करो। (बजाज) अच्छा तो तुमको दो आने छोड़ देते हैं चौदह आने दो। (ग्राहक) है तो टोटा परन्तु सात आने लेलो। (बजाज) अच्छा तो सच २ कहूं। (ग्राहक) हां। (बजाज) चलो एक आना टोटा ही सही तेरह आने दो तुमको लेना हो तो लो। (ग्राहक) मैं सच २ कहता हूं कि इसका आठ आने से अधिक कोई भी तुमको न देगा। (बजाज) तुमको लेना हो तो लो न लेना हो तो मत लो, परमेश्वर की सौगन्द बारह आने गज तो मुझको पड़ा है, तुमको भला मनुष्य जानकर मैं देदेता हूं। (ग्राहक) धर्म की सौगन्द, मैं सच कहता हूं तुझको देना हो तो दे, पीछे पछतावेगा, मैं तो दूसरे की दूकान से लेलूंगा, क्या तुम्हारी एक ही दुकान है ?, नव आने गज देदो नहीं तो मैं जाता हूं। (बजाज) तुमने कभी ऐसा खरीदा भी है? नव आने गज लाओ मैं सौ रुपये का लेता हूं। (ग्राहक) धीरे २ चला कि मुझको यह बुलाता है वा नहीं। (बजाज) तिरछी नजर से देखता रहा कि देखें यह लौटता है वा नहीं। जब न लौटा तब बोला सुनो! इधर आओ। (ग्राहक) क्या कहते हो, नव आने पर दोगे ?। (बजाज) ए लो धर्म से कहता हूं कि ग्यारह आने भी दोगे ?। (ग्राहक) साढ़े नव आने लो कहकर कुछ आगे चला, बजाज ने समझा कि हाथ से गया, अजी इधर आओ २। (ग्राहक) क्यों तुम देर लगाते हो व्यर्थ काल जाता है। (बजाज) मेरे बेटे की सौगन्द तुम इसको न लोगे तो पछताओगे, अब मैं सत्य ही कहता हूं साढ़े दश आने देदो नहीं तो तुम्हारी राजी। (ग्राहक) मेरी सौगन्द तुम ने दो आने अधिक लिये हैं अच्छा दश आने देता हूं इतने का तो नहीं। (बजाज) अच्छा सवादश आने भी दोगे ?। (ग्राहक) नहीं २। (बजाज) अच्छा आओ बैठो, कै गज लोगे ?। (ग्राहक) सवागज। (बजाज) अजी कुछ अधिक लो। (ग्राहक) अच्छा नमूना ले जाते हैं। अब तुम्हारी दुकान देख ली फिर कभी आवेंगे तो बहुत लेंगे। बजाज ने नापने में कुछ सरकाया। (ग्राहक) अजी देखें तो तुमने कैसा नापा ?। (बजाज)

क्या विश्वास नहीं करते हो, हम साहूकार हैं व ठट्ठा है, हम कभी झूठ कहते और करते हैं ? । (ग्राहक) हांजी तुम बड़े सच्चे हो । एक रुपया कहकर दश आने तक आये, छः आना घट गये, अनेक सौगन्दें खाईं । (बजाज) वाहजी वाह ! तुम भी बड़े सच्चे हो छः आने कहकर दश आने तक देने को तैयार हो, अनेक सौगन्दें खा २ कर आये, सौदा झूठ के विना कभी नहीं होसकता। (ग्राहक) तू तो बड़ा झूठा है । (बजाज) क्या तू नहीं है क्योंकि एक गज कपड़े के लिये कोई भी भला मनुष्य इतना झगड़ा करता है ? (ग्राहक) तू झूठा तेरा बाप, हमारी सात पीढ़ी में कोई झूठा भी हुआ है ? । (बजाज) तू झूठा तेरी सातपीढ़ी भी झूठी । ग्राहक ने ले जूता एक मार दिया, बजाज ने गज चट मारा, अड़ौसी पड़ौसी दुकानदारों ने जैसे तैसे छुड़ाया । (बजाज) चल २ जा तेरे जैसे लाखों देखे हैं । (ग्राहक) चल बे तेरे जैसे जुवाचोर टट-पूंजिये दुकानदार मैंने करोड़ों देखे हैं । (अड़ौसी पड़ौसी) अजी झूठ के विना कभी सौदा भी होता है ?, जाओ जी तुम अपनी दुकान पर बैठो और जाओ तुम अपने घर को । (बजाज) यह बड़ा दुष्ट मनुष्य है । (ग्राहक) अबे मुख सम्हाल के बोल । (बजाज) तू क्या करलेगा ? । (ग्राहक) जो मैंने किया सो तैंने देख लिया और कुछ देखना हो तो दिखलाऊं । (बजाज) क्या तू गज से न पीटा जायगा, फिर दोनों लड़ने को दौड़े जैसे तैसे लोगों ने अलग २ कर दिये। ऐसे ही सर्वत्र झूठे लोगों की दुर्दशा होती है । धार्म्मिकों का दृष्टान्त— (ग्राहक) इस दुशाले का क्या मूल्य है । (बजाज) पांचसौ रुपये । (ग्राहक) अच्छा लीजिये । (बजाज) लो दुशाला ॥ सच्चे दुकानदार के पास झूठा ग्राहक गया, इस दुशाले का क्या लोगे । (बजाज) अढ़ाईसौ रुपये । (ग्राहक) दोसौ लो । (सेठ) जाओ यहां तुम्हारे लिये सौदा नहीं है । (ग्राहक) अजी कुछ तो कम लो । (साहूकार) यहां झूठ का व्यवहार नहीं है, बहुत मत बोलो लेना हो तो लो नहीं चले जाओ । (ग्राहक) दूसरी बहुत दुकानों में माल देख, मूल्य करके, फिर वहीं आके, अढ़ाईसौ रुपये देकर दुशाला लेगया । सच्चा ग्राहक झूठे दुकानदार के पास जाकर बोला कि इस पीताम्बर का क्या लोगे ? । (बजाज) पच्चीस रुपये । (ग्राहक) बारह रुपये का है देना हो

तो दो, कह कर चलने लगा। (बजाज) अजी अठारह दो। (ग्राहक) नहीं। (बजाज) चौदह दो। (ग्राहक) नहीं। (बजाज) तेरह दो। (ग्राहक) नहीं। (बजाज) अच्छा तो साढ़ेबारह ही दो। (ग्राहक) नहीं। (बजाज) सवाबारह दो। (ग्राहक) नहीं। (बजाज) अच्छा बारह का ही ले जाओ। (ग्राहक) लाओ, लो रुपये। ऐसे धार्म्मिकों को सदा लाभ ही लाभ होता है और झूठों की दुर्दशा होकर दिवाले ही निकल जाते हैं। इसलिये सब मनुष्यों को अत्यन्त उचित है कि सर्वथा झूठ छोड़कर सत्य ही से सब व्यवहार करें, जिससे धर्म्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त होकर सदा आनन्द में रहें।

(प्र०) मनुष्य का आत्मा सदा धर्म्म और अधर्म्मयुक्त किस २ कर्म्म से होता है ?।

(उ०) जबतक मनुष्य सर्वान्तर्य्यामी, सर्वद्रष्टा, सर्वव्यापक, सर्वकर्मों के साक्षी परमात्मा से नहीं डरते अर्थात् कोई कर्म्म ऐसा नहीं है जिसको वह न जानता हो। सत्यविद्या, सुशिक्षा, सत्पुरुषों का सङ्ग, उद्योग, जितेन्द्रियता, ब्रह्मचर्य्य आदि शुभगुणों के होने और लाभ के अनुसार व्यय करने से धर्मात्मा होता है और जो इससे विपरीत है वह धर्मात्मा कभी नहीं हो सकता, क्योंकि जो राजा आदि अल्पज्ञ मनुष्यों से डरता और परमेश्वर से भय नहीं करता वह क्योंकर धर्म्मात्मा हो सकता है, क्योंकि राजा आदि के सामने बाहर की अधर्म्मयुक्त चेष्टा करने में तो भय होता है परन्तु आत्मा और मन में बुरी चेष्टा करने में कुछ भी भय नहीं होता, क्योंकि ये भीतर का कर्म नहीं जान सकते। इससे आत्मा और मन का नियम करनेहारा राजा एक आत्मा और दूसरा परमेश्वर ही है मनुष्य नहीं। और वे जहां एकान्त में राजादि मनुष्यों को नहीं देखते वहां तो बाहर से भी चोरी आदि दुष्ट कर्म करने में कुछ भी शङ्का नहीं करते। दृष्टान्त—जैसे एक धार्म्मिक विद्वान् के पास पढ़ने के लिये दो नवीन विद्यार्थियों ने आके कहा कि आप हमको पढ़ाइये। (विद्वान्) अच्छा हम तुमको पढ़ावेंगे परन्तु हम कहें सो एक काम तुम दोनों जने कर लाओ। इस एक २ लड़के को एकान्त में ले जा के जहां कोई भी न देखता हो वहां इसका कान पकड़

कर दो चार वार शीघ्र २ उठा बैठा के धीरे से एक चपेटिका मार देना। दोनों को ले के चले, एक ने तो चारों ओर देखा कि यहां कोई नहीं देखता उक्त काम करके झट चला आया, दूसरा पण्डित के वचन के अभिप्राय को विचारने लगा कि मुझ को लड़का और मैं लड़के को भी देखता ही हूं फिर यह काम कैसे कर सकता हूं, पण्डित के पास आया। तब जो आया था उससे पण्डित ने पूछा कि जो हमने कहा था सो तू कर आया? उसने कहा हां, दूसरे को भी पूछा कि तू भी कर आया वा नहीं ?, उसने कहा नहीं। क्योंकि आपने मुझ को ऐसा कहा था कि जहां कोई न देखता हो वहां यह काम करना सो ऐसा स्थान मुझ को कहीं भी नहीं मिल सकता। प्रथम तो मैं इस लड़के को और लड़का मुझ को देखता ही था, पण्डित ने कहा कि तू बुद्धिमान् और धार्मिक है मुझसे पढ़। दूसरे से कहा कि तू पढ़ने के योग्य नहीं है यहां से चला जा, वैसे ही क्या कोई भी स्थान वा कर्म है कि जिस को आत्मा और परमात्मा न देखता हो, जो मनुष्य इस प्रकार आत्मा और परमात्मा की साक्षी से अनुकूल कर्म करते हैं वे ही धर्मात्मा कहाते हैं।

(प्रश्न) सब मनुष्यों को विद्वान् वा धर्मात्मा होने का सम्भव है वा नहीं ? ॥

(उत्तर) विद्वान् होने का तो सम्भव नहीं परन्तु जो धर्मात्मा हुआ चाहें तो सभी हो सकते हैं। अविद्वान् लोग दूसरों को धर्म में निश्चय नहीं करा सकते और विद्वान् लोग धार्मिक होकर अनेक मनुष्यों को भी धार्मिक कर सकते हैं। और कोई धूर्त मनुष्य अविद्वान् को बहका के अधर्म में प्रवृत्त कर सकता है परन्तु विद्वान् को अधर्म में कभी नहीं चला सकता। क्योंकि जैसे देखता हुआ मनुष्य कुए में कभी नहीं गिरता परन्तु अन्धे को तो गिरने का सम्भव है। वैसे विद्वान् सत्यासत्य को जान के उस में निश्चित रह सकते और अविद्वान् ठीक २ स्थिर नहीं रह सकते हैं। दृष्टान्त—जैसे एक कोई अविद्वान् राजा था, उस के राज्य में किसी ग्राम में कोई मूर्ख भिक्षुक ब्राह्मण था, उस की स्त्री ने कहा कि आज कल भोजन भी नहीं मिलता बहुत कष्ट है तुम पहिले दानाध्यक्ष के पास जाना, वह राजा के पास ले जाके कुछ जप अनुष्ठान लगवा देगा। उस

ने वैसा ही किया। जब उसने दानाध्यक्ष के पास जाके अपना हाल कहा कि आप मेरी कुछ जीविका करा दीजिये। (दानाध्यक्ष) मुझ को क्या देगा?। (अर्थी) जो तुम कहो। (दानाध्यक्ष) "अर्द्धमर्द्धं स्वाहा"। महाराज मैं नहीं समझा, तुम ने क्या कहा। (दानाध्यक्ष) जो तू आधा हम को दे और आधा तू ले तो तेरी जीविका लगादें। (स्वार्थी) जैसे तुम्हारी इच्छा हो वैसा करो। अच्छा चल राजा के पास। (स्वार्थी) चलो, खुशामदियों से सभा भरी थी वहां दोनों पहुंचे, दानाध्यक्ष ने कहा कि यह गोब्राह्मण है इस की कुछ जीविका कर दीजिये, यह आप का जप अनुष्ठान किया करेगा। (राजा) अच्छा जो आप कहें। (दानाध्यक्ष) दश रुपये मासिक होने चाहियें। (राजा) बहुत अच्छा। (दानाध्यक्ष) छः महीने का प्रथम मिलना चाहिये। (राजा) अच्छा कोशाध्यक्ष! इस को छः महीने का जोड़कर देदो। (कोशाध्यक्ष) जो आज्ञा। जब स्वार्थी रुपये लेने को गया, तब कोशाध्यक्ष बोले मुझ को क्या देगा?। (स्वार्थी) आप भी एक दो ले लीजिये। (कोशाध्यक्ष) छी २! दश से कम हम नहीं लेंगे, नहीं तो आज रुपये न मिलेंगे, फिर आना। जबतक दानाध्यक्ष ने एक नौकर भेज दिया कि उस को हमारे पास ले आओ तब तक कोशाध्यक्षजी ने भी दश रुपये उड़ा लिये, पचास रुपये लेकर चला। मार्ग में, (नौकर) कुछ मुझ को भी दे। (स्वार्थी) अच्छा भाई तू भी एक रुपया लेले, (नौकर) लाओ, जब दरवाजे पर आया तब सिपाहियों ने रोका कौन! तुम क्या लेजाते हो?, (नौकर) मैं दानाध्यक्ष का नौकर हूं। (सिपाही) यह कौन है?। (नौकर) जपानुष्ठानी। (सिपाही) कुछ मिला?। (नौकर) यही जाने। कहो भाई क्या मिला?। (स्वार्थी) जितना तुम लोगों से बचकर घर पहुंचे सो ही मिला। (सिपाही) हम को भी कुछ देता जा। (स्वार्थी) लो आठ-आने। (सिपाही) लाओ। जबतक दानाध्यक्ष घबराया कि वह भाग तो नहीं गया, दूसरे नौकर से बोले कि देखो वह कहां गया, तब तक वह स्वार्थी आदि आ पहुंचे। (दानाध्यक्ष) लाओ, रुपये कहां हैं?। (स्वार्थी) ये हैं अड़तालीस। (दानाध्यक्ष) वाह वाह बारह रुपये कहां गये?। स्वार्थी ने जैसा हुआ था वैसा कह दिया। (दानाध्यक्ष) अच्छा तो

चार मेरे गये और आठ तेरे। (स्वार्थी) अच्छा जैसी आप की इच्छा हो, तब छब्बीस लिये दानाध्यक्ष ने। और बाईस स्वार्थी ने लेके कहा कि मैं घर हो आऊं कल आजाऊंगा। वह दूसरे दिन आया उससे दानाध्यक्ष ने कहा कि तू गंगाजी पर जाकर राजा का जप कर और ले यह धोती, अंगोछा, पंचपात्र, माला और गोमुखी, वह लेके गङ्गा पर गया, वहां स्नान कर माला लेके जप करने बैठा, विचारा कि जो दानाध्यक्ष ने कहा था वही मन्त्र है ऐसा वह मूर्ख समझ गया। "सरप माला खटक मणका मैं राजा का जप करूं, मैं राजा का जप करूं, मैं राजा का जप करूं" जपने लगा, तब किसी दूसरे मूर्ख ने विचारा कि जब उसका लगगया है तो मेरा भी लग जायगा चलो, वह गया, वैसा ही हुआ, चलते समय दानाध्यक्ष बोले कि तू जा जैसा वह करता है वैसा करना। वह गया। वैसे ही आसन पर बैठकर पढ़ने वाले का मन्त्र सुनकर जपने लगा। कि "तू करे सो मैं करूं, तू करे सो मैं करूं"। वैसे ही तीसरा कोई धूर्त जाके सब कुछ कर करा लाया। चलते समय दानाध्यक्ष ने कहा कि जब तक निर्वाह होता दीखे तब तक करना। वह भी इसी अभिप्राय को मन्त्र समझ के वहां जाकर जप करने को बैठ के जपने लगा कि "ऐसा निभेगा कब तक, ऐसा निभेगा कब तक"। वैसे ही चौथा कोई मूर्ख सब प्रबन्ध कर कराके गङ्गा पर जाने लगा तब दानाध्यक्ष ने कहा कि जबतक निभे तबतक निर्वाह करना। वह भी इसको मन्त्र ही समझ के गङ्गा पर जाके जप करने को बैठ के उन तीनों का मन्त्र सुना तो एक कहता है "मैं राजा का जप करूं, मैं राजा का जप करूं, मैं राजाका जप करूं"। दूसरा "तू करे सो मैं करूं, तू करे सो मैं करूं, तू करे सो मैं करूं।" तीसरा "ऐसा निभेगा कब तक, ऐसा निभेगा कब तक, ऐसा निभेगा कब तक" और चौथा जपने लगा कि "जबतक निभे तब तक, जबतक निभे तब तक, जबतक निभे तब तक"। ध्यान रक्खो सब अधर्मी और स्वार्थी लोगों की लीला ऐसी ही हुआ करती है कि अपने मतलब के लिये अनेक अन्यायरूप कर्म करके अन्य मनुष्यों को ठग लेते हैं। अभाग्य है ऐसे मनुष्यों का कि जिनके आत्मा अविद्या और अधर्म्मान्धकार में गिरके कदापि सुख को प्राप्त नहीं होते। यहां किसी एक धार्मिक राजा का दृष्टान्त सुनो—कोई एक विद्वान् धर्म्मात्मा राजा था

उसके दानाध्यक्ष के पास किसी धूर्त ने जाकर कहा कि मेरी जीविका करादो। (दानाध्यक्ष) तुम ने कौन २ शास्त्र पढ़ा और क्या २ काम करते हो?। (अर्थी) मैं कुछ भी न पढ़ा और बीस वर्ष तक खेलता कूदता, गाय भैंस चराता, खेतों में डोलता और माता पिता के सामने आनन्द करता था। अब सब घर का बोझ पड़गया है, आप के पास आया हूं कुछ करा दीजिये। (दानाध्यक्ष) नौकरी चाकरी करो तो करा देंगे। (अर्थी) मैं ब्राह्मण साधु जहां तहां बाज़ारों में उपदेश करने वाला हूं, मुझ से ऐसा परिश्रम कहां बन सकता है। (दानाध्यक्ष) तू विद्या के विना ब्राह्मण, परोपकार के विना साधु और विज्ञान के विना उपदेश कैसे कर सकता होगा। इसलिये नौकरी चाकरी करना हो तो कर, नहीं तो चला जा। वह मूर्ख वहां से निराश होकर चला कि यहां मेरी दाल न गलेगी चलो राजा से कहें। जब राजा के पास जाके वैसे ही कहा तब राजा ने वैसा ही जवाब दिया कि जैसा दानाध्यक्षजी ने कहा है वैसा करना हो तो कर नहीं तो चला जा। वह वहां से चला गया। इस के पश्चात् एक योग्य विद्वान् ने आके दानाध्यक्ष से मिल के बात चीत की तो दानाध्यक्ष ने समझ लिया कि यह बहुत अच्छा सुपात्र विद्वान् है, जाके राजा से मिलके कहा कि पण्डितजी से आप भी कुछ बातचीत कीजिये। वैसा ही किया। तब राजा ने परीक्षा करके जाना कि यह अतिश्रेष्ठ विद्वान् है। ऐसा जानकर उनसे कहा कि आप को हज़ार रुपये मासिक मिलेगा। आप सदा हमारी पाठशाला में विद्यार्थियों को पढ़ाया और धर्मोपदेश किया कीजिये। वैसा ही हुआ। धन्य ऐसे राजा और दानाध्यक्षादि हैं कि जिन के हृदय में विद्या, परमात्मा और धर्मरूप सूर्य प्रकाशित होता है।

(प्रश्न) दानाभक्ष और दानाध्यक्ष किस को कहते हैं?।

(उत्तर) जो दाता के दान का भक्षण करके अपना स्वार्थ सिद्ध करता जाय वह दानाभक्ष और जो दाता के दान को सुपात्र विद्वानों को देकर उन से विद्या और धर्म की उन्नति कराता जाय वह दानाध्यक्ष कहाता है।

(प्रश्न) राजा किसको कहते हैं?।

(उत्तर) जो विद्या, न्याय, जितेन्द्रियता, शौर्य, धैर्य आदि गुणों से युक्त होकर अपने पुत्र के समान प्रजा के पालन में श्रेष्ठों की यथायोग्य रक्षा और दुष्टों को दण्ड देकर धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति से युक्त होकर, अपनी प्रजा को कराके आनन्दित रहता और सब को सुख से युक्त कराता है वह राजा कहाता है।

(प्रश्न) प्रजा किस को कहते हैं ?।

(उत्तर) जैसे पुत्रादि तन मन धन से अपने माता पितादि की सेवा करके उन को सर्वदा प्रसन्न रखते हैं वैसे प्रजा अनेक प्रकार के धर्मयुक्त व्यवहारों से पदार्थों को सिद्ध कर के राजसभा को कर देकर उनको प्रसन्न रक्खे वह प्रजा कहाती है। और जो अपना हित और प्रजा का अहित करना चाहे वह न राजा और जो अपना हित और राजा का अहित चाहे वह प्रजा भी नहीं है। किन्तु उनको एक दूसरे का शत्रु, डाकू, चोर समझना चाहिये। क्योंकि दोनों धार्मिक होके एक दूसरे का हित करने में नित्य प्रवर्त्तमान हों तभी उन की राजा और प्रजा संज्ञा होती है, विपरीत की नहीं। जैसे:—

अन्धेर नगरी गवर्गण्ड राजा। टकेसेर भाजी टकेसेर खाजा॥

एक बड़ा धार्मिक विद्वान् सभाध्यक्ष राजा यथावत् राजनीति से युक्त होकर प्रजापालनादि उचित समय में ठीक २ करता था। उसकी नगरी का नाम "प्रकाशवती", राजा का नाम "धर्मपाल", व्यवस्था का नाम "यथायोग्य करनेहारी" था। वह तो मरगया, पश्चात् उसका लड़का जो महा अधर्मी मूर्ख था, उस ने गद्दी पर बैठ के सभा से कहा कि जो मेरी आज्ञा माने वह मेरे पास रहे और जो न माने वह यहां से निकल जाय। तब बड़े २ धार्मिक सभासद् बोले कि जैसे आप के पिता सभा की सम्मति के अनुकूल वर्त्तते थे, वैसे आप को भी वर्त्तना चाहिये। (राजा) उनका काम उन के साथ गया अब मेरी जैसी इच्छा होगी वैसा करूंगा। (सभा) जो आप सभा का कहा न करेंगे तो राज्य का नाश अथवा आप का ही नाश हो जायगा। (राजा) मेरा तो जब होगा तब होगा

परन्तु तुम यहां से चले जाओ, नहीं तो तुम्हारा नाश तो मैं अभी करदूंगा। सभासदों ने कहा "विनाशकाले विपरीतबुद्धिः"। जिसका शीघ्र नाश होना होता है उस की बुद्धि पहिले ही से विपरीत हो जाती है। चलिये यहां अपना निर्वाह न होगा। वे चले गये और महामूर्ख धूर्त्त खुशामदी लोगों की मण्डली उस के साथ होगई। राजा ने कहा कि आज से मेरा नाम "गवर्गण्ड", नगरी का नाम "अन्धेर" और जो मेरा पिता और सभा करती थी उससे सब काम मैं उलटा ही करूंगा। जैसे मेरा पिता और सभासद् रात में सोते और दिन में राज्यकार्य्य करते थे। वैसे ही उससे विपरीत हम लोग दिन में सोवें और रात में राजकार्य्य करेंगे। उन के सामने उन के राज्य में सब चीज अपने २ भाव पर बिकती थी हमारे राज्य में केशर कस्तूरी से ले के मट्टी पर्यन्त सब चीज एक टके सेर बिकेगी। जब ऐसी प्रसिद्धि देश देशान्तरों में हुई तब किसी स्थान में दो गुरु शिष्य, वैरागी अखाड़ों में मल्लविद्या करते, पांच २ सेर खाते और बड़े मोटे थे। चेले ने गुरु से कहा कि चलिये अन्धेर नगरी में, वहां दश (१०) टकों से दश (१०) सेर मलाई आदि माल चाब के खूब तैयार होंगे। गुरु ने कहा कि वहां गवर्गण्ड के राज्य में कभी न जाना चाहिये, क्योंकि किसी दिन खाया पिया सब निकल जावेगा किन्तु प्राण भी बचना कठिन होगा। फिर जब चेले ने हठ किया तब गुरु भी मोह से साथ चला गया। वहां जाके अन्धेर नगरी के समीप बग़ीचे में निवास किया और खूब माल चाबते और कुश्ती किया करते थे। इतने में कभी एक आधीरात में किसी साहूकार का नौकर एक हजार रुपयों की थैली ले के किसी साहूकार की दुकान पर जमा करने को जाता था। बीच में उचक्के आकर रुपयों की थैली छीन कर भागे। उसने जब पुकारा तब थाने के सिपाहियों ने आकर पूछा कि क्या है ?, उसने कहा कि अभी उचक्के मुझ से रुपयों को छीन कर लिये जाते हैं। सिपाही धीरे २ चल के किसी भले आदमी को पकड़ लाये कि तू ही चोर है। उसने उनसे कहा कि मैं फलाने साहूकार का नौकर हूं चलो पूछलो। सिपाही—हम नहीं पूछते, चल राजा के पास। पकड़ कर राजा के पास लेजा के कहा कि इसने हजार रुपयों की थैली चोर ली है। गवर्गण्ड और आसपास वालों में से किसी ने कुछ भी न पूछा न

गया। वह विचारा पुकारता ही रहा कि मैं उस साहूकार का नौकर हूं, परन्तु किसी ने न सुना। झट हुक्म चढ़ा दिया कि इसको शूली पर चढ़ा दो। शूली लोहे की बरछी और सरों के वृक्ष के समान अणीदार होती है। उस पर मनुष्य को चढ़ा उलटा कर नाभि में उस की अणी लगा देने से पार निकल जाने पर वह कुछ विलम्ब में मर जाता है। गवर्गण्ड के नौकर भी उस के सदृश क्यों न हों। क्योंकि "समानव्यसनेषु मैत्री"। जिनका स्वभाव एकसा होता है उन्हीं की परस्पर मित्रता भी होती है। जैसे धर्मात्माओं की धर्मात्माओं, पण्डितों की पण्डितों, दुष्टों और व्यभिचारियों की व्यभिचारियों के साथ मित्रता होती है। न कभी धर्म्मात्मादि का अधर्मात्मादि और न अधर्मात्माओं का धर्मात्माओं के साथ मेल हो सकता है। गवर्गण्ड के सिपाहियों ने विचारा कि शूली तो मोटी और मनुष्य है दुबला; अब क्या करना चाहिये। तब राजा के पास जाके सब बात कही। उस पर गवर्गण्ड ने हुक्म दिया कि अच्छा तो इस को छोड़ दो और जो कोई शूली के सदृश मोटा हो उस को पकड़ के इसके बदले चढ़ा दो। तब गवर्गण्ड के सिपाहियों ने विचारा कि शूली के सदृश खोजो। तब किसी ने कहा कि इस शूली के सदृश तो बगीचीवाले गुरु चेला दोनों वैरागी ही हैं। सब बोले कि ठीक २ तो उसका चेला ही है। जब बहुत से सिपाहियों ने बगीचे में जाके उसके चेले से कहा कि तुझ को महाराज का हुक्म है शूली पर चढ़ने के लिये चल। तब तो वह घबड़ा के बोला कि हमने तो कोई अपराध नहीं किया। (सिपाही) अपराध तो नहीं किया परन्तु तू ही शूली के समतुल्य है हम क्या करें। (साधु) क्या दूसरा कोई नहीं है। (सिपाही) नहीं, बहुत बर २ मत कर, चल, महाराज का हुक्म है। तब चेला गुरु से बोला कि महाराज अब क्या करना चाहिये। (गुरु) हमने तुझ से प्रथम ही कहा था कि अन्धेर नगरी गवर्गण्ड के राज्य में मुफ्त के माल चाबने को मत चलो तूने नहीं माना। अब हम क्या करें जैसा हो वैसा भोग, देख अब सब खाया पिया निकल जावेगा। (चेला) अब किसी प्रकार बचाओ तो यहां से दूसरे राज्य में चले जावें। (गुरु) एक युक्ति है बचने की सो करो तो सम्भव है। शूली पर चढ़ते समय तू मुझको हटा और मैं तुझको हटाऊं इस प्रकार परस्पर

लड़ने से कुछ बचने का उपाय निकल आवेगा । (चेला) अच्छा तो चलिये । सब बातें दूसरे देश की भाषा में कीं इससे सिपाही कुछ भी न समझे । सिपाहियों ने कहा चलो देर मत लगाओ नहीं तो बांध के ले जायंगे । साधुओं ने कहा कि हम प्रसन्नतापूर्वक चलते हैं तुम क्यों बांधो । (सिपाही) अच्छा तो चलो। जब शूली के पास पहुंचे तब दोनों लंगोट बांध के मिट्टी लगा के खूब लड़ने लगे । गुरु ने कहा कि शूली पर मैं ही चढूंगा । (चेला) चेला का धर्म नहीं कि मेरे होते गुरु शूली पर चढ़े । (गुरु) मेरा भी धर्म नहीं कि मेरे सामने चेला शूली पर चढ़ जाय। हां मुझ को मार कर पीछे भले ही शूली पर चढ़ जाना। क्यों बकता है चुप रह समय चला जाता है ऐसा कहकर शूली पर चढ़ने लगा। तब चेले ने गुरु को पकड़ कर धक्का देकर अलग किया, आप चढ़ने लगा। फिर गुरु ने भी वैसा ही किया। तब तो गवर्गण्ड के सिपाही कामदार सब तमाशा देखते थे। उन्होंने कहा कि तुम शूली पर चढ़ने के लिये क्यों लड़ते हो। तब दोनों साधु बोले कि हम से इस बात को मत पूछो चढ़ने दो । क्योंकि हम को ऐसा समय मिलना दुर्लभ है। यह बात तो यहां ऐसे ही होती रही और गवर्गण्ड के पास खुशामदियों की सभा भरी हुई थी। आप वहां से उठ और भोजन करके सिंहासन पर बैठकर सब से बोले कि बैंगन का शाक अत्युत्तम होता है । सुनकर खुशामदी लोग बोले कि धन्य है महाराज की बुद्धि को बैंगन का शाक चाखते ही शीघ्र उसकी परीक्षा करली । सुनिये महाराज ! जब बैंगन अच्छा है तभी तो परमेश्वर ने उसके ऊपर मुकुट, चारों ओर कलंगी, ऊपर का वर्ण घनश्याम, भीतर का वर्ण मक्खन के समान बनाया है। ऐसा सुनकर गवर्गण्ड और सब सभा के लोग अति प्रसन्न होकर हँसे । जब गवर्गण्ड अपने महलों में सोने को गया, ड्योढ़ी बन्द हुई, तब तक खुशामदी लोगों ने चौकी पहरेवालों से कहा कि जबतक प्रातःकाल हम न आवें तबतक किसी का मिलाप महाराज के साथ मत होने देना। उनने कहा कि अच्छा आज के दिन कुछ गहरी प्राप्ति नहीं हुई । खुशामदी। आज न हुई कल हो जावेगी, हमारा और तुम्हारा तो साझा ही है। जो कुछ खजाने और प्रजा से निकाल कर अपने घर में पहुंचे वही अपना है । जब राजा को नशा और रंडीबाजी आदि खेल में सब लोग

मिलकर लगा देंगे तभी अपना गहरा होगा। खज़ाना अपना ही है और सब आपस में मिले रहो फूटना न चाहिये। सब ने कहा, हां जी हां यही ठीक है। ये तो चले गये। जब गवर्गण्ड सोने को गया तब गर्ममसाले पड़े हुए बैंगन के शाक ने गर्मी की और जङ्गल की हाजत हुई। ले लोटा जाजरू में गया। रात भर खूब जुलाब लगा। रात्रि में कोई तीस दस्त हुए। रात्रिभर नींद न आई। बड़ा व्याकुल रहा। उसी समय वैद्यों को बुलाया। वे भी गवर्गण्ड के सदृश ही थे। ऊटपटांग औषधियां दीं। उनने और भी बिगाड़ किया। क्योंकि गवर्गण्ड के पास बुद्धिमान् क्योंकर ठहर सकते हैं। जब प्रातःकाल हुआ तब खुशामदियों की मण्डली ने सभा का स्थान घेर के दासियों से पूछा कि महाराज क्या करते हैं। (दासी) आज रात भर जुलाब लगा व्याकुल रहे (खुशामदी) क्या कोई रात्रि में महाराज के पास आया भी था?। (दासी) दस बारह जने आये थे। (खुशामदी) कौन २ आये थे उनके नाम भी जानती हो?। (दासी) हां तीन के नाम जानती हूं अन्य के नहीं। तब तो खुशामदी लोग विचारने लगे कि किसी ने अपनी निन्दा तो न करदी हो। इसलिये आज से हम में से एक दो पुरुषों को रात में भी ड्यौढ़ी में अवश्य रहना चाहिये। सब ने कहा बहुत ठीक है। इतने में जब आठ बजे के समय मुखमलीन गवर्गण्ड आकर गद्दी पर बैठा तब खुशामदियों ने भी उससे सौगुना मुख बिगाड़ कर शोकाकृति मुख होकर ऊपर से झूठमूठ अपनी चेष्टा जनाई। (गवर्गण्ड) बैंगन का शाक खाने में तो स्वादु होता है परन्तु बादी करता है। उससे हमको बहुत दस्त लगने से रात्रि भर दुःख हुआ। (खुशामदी) वाह २ जी वाह महाराज! आपके सदृश न कोई राजा हुआ, न होगा और न कोई इस समय है, क्योंकि महाराज ने खाते समय तो उसके गुणों की परीक्षा की और रात्रि भर में दोष भी जान लिये। देखिये महाराज! जब बैंगन दुष्ट है तभी तो परमेश्वर ने उसके ऊपर खूंटी, चारों ओर कांटे लगा दिये। ऊपर का वर्ण कोयलों के समान, और भीतर का रङ्ग कोढ़ी की चमड़ी के सदृश किया है। (गवर्गण्ड) क्योंजी! कल रात को तो तुमने इसकी प्रशंसा में मुकुट आदि का अलङ्कार और इस समय उन्हीं की निन्दा में खूंटी आदि की उपमा देते हो?। अब हम किसको सच्ची मानें?। (खुशामदी) घबरा के

बोले कि धन्य धन्य धन्य है आपकी विशालबुद्धि को। क्योंकि कल सन्ध्या की बात अबतक भी नहीं भूले। सुनिये महाराज! हमको साले बैंगन से क्या लेना देना था, हमको तो आपकी प्रसन्नता में प्रसन्नता और अप्रसन्नता में अप्रसन्नता है। जो आप रात को दिन और दिन को रात, सत्य को झूठ वा झूठ को सत्य कहें सो सभी ठीक है। (गवर्गण्ड) हां २ नौकरों का यही धर्म है कि कभी स्वामी को किसी बात में प्रत्युत्तर न दें। किन्तु हां जी २ ही करते जायं। (खुशामदी) ठीक है, राजाओं का यही धर्म है कि किसी बात की चिन्ता कभी न करें। रात दिन अपने सुख में मगन रहें। नौकर चाकरों पर सदा विश्वास करके सब काम उनके आधीन रक्खें। बनिये बक्काल के समान हिसाब किताब कभी न देखें। जो कुछ सुपेद का काला और काले का सुपेद करें सो ही ठीक रक्खें। जिस दरख्त को लगावें उसको कभी न काटें। जिसको ग्रहण किया उसको कभी न छोड़ें चाहे कितना ही अपराध करें। क्योंकि जब राजा होके भी किसी काम पर ध्यान देकर आप अपने आत्मा, मन और शरीर से परिश्रम किया तो जानो उनका कर्म फूट गया और जब हिसाब आदि में दृष्टि की तो वह महादरिद्र है, राजा नहीं। (गवर्गण्ड) क्योंजी! कोई मेरे तुल्य राजा और तुम्हारे सदृश सभासद् कभी हुए होंगे और आगे कोई होंगे वा नहीं?। (खुशामदी) नहीं नहीं कदापि नहीं, न हुआ, न होगा और न है। (गवर्गण्ड) सत्य है। क्या ईश्वर भी हमसे अधिक उत्तम होगा?। (खुशामदी) कभी नहीं हो सकता, क्योंकि उसको किसने देखा है। आप तो साक्षात् परमेश्वर हैं क्योंकि आप की कृपा से दरिद्र का धनाढ्य, अयोग्य का योग्य और अकृपा से धनाढ्य का दरिद्र, योग्य से अयोग्य तत्काल ही हो सकता है। इतने में नियत किये प्रातःकाल को सायंकाल मानकर सोन को सब गये। जब सायंकाल हुआ तब फिर सभा लगी। इतने में सिपाहियों ने आकर साधुओं के झगड़े की बात कही। सुनकर गवर्गण्ड ने सभासहित वहां जाके साधुओं से पूछा कि तुम शूली पर चढ़ने के लिये क्यों सुख मानते हो?। (साधु) तुम हमसे मत पूछो, चढ़ने दो, समय चला जाता है। ऐसा समय हमको बड़े भाग्य से मिला है। (गवर्गण्ड) इस समय में शूली पर चढ़ने से क्या फल होगा?। (साधु) हम नहीं कहते, जो चढ़ेगा वह फल देख लेगा,

हमको चढ़ने दो । (गवर्गण्ड) नहीं २ जो फल होता हो सो कहो । सिपाहियो ! इनको इधर पकड़ लाओ । पकड़ लाये । (साधु) हमको क्यों नहीं चढ़ने देते, झगड़ा क्यों करते हो ? । (गवर्गण्ड) जब तक तुम इसका फल न कहोगे तब तक हम कभी न चढ़ने देंगे । (साधु) दूसरे को कहने की तो बात नहीं है परन्तु तुम हठ करते हो तो सुनो । जो कोई मनुष्य इस समय में शूली पर चढ़कर प्राण छोड़ देगा वह चतुर्भुज होकर विमान में बैठ के आनन्दरूप स्वर्ग को प्राप्त होगा । (गवर्गण्ड) अहो ! ऐसी बात है तो मैं ही चढ़ता हूं तुमको न चढ़ने दूंगा । ऐसा कहकर झट आप ही शूली पर चढ़कर प्राण छोड़ दिये । साधु अपने आसन पर आए । चेले ने कहा कि महाराज चलिये, यहां अब रहना न चाहिये । गुरु ने कहा कि अब कुछ चिन्ता नहीं, जो पाप की जड़ गवर्गण्ड था वह मर गया । अब धर्मराज्य होगा, क्या चिन्ता है, यहीं रहो । उसी समय उसका छोटा भाई बड़ा विद्वान्, पिता के सदृश धार्मिक और जो उसके पिता के समान धार्मिक सभासद् और प्रजा में सत्पुरुष जो कि उसके पिता के मरने के पश्चात् गवर्गण्ड ने निकाल दिये थे वे सब आके सुनीतिनामक छोटे भाई को राज्याधिकारी करके उस मुरदे को शूली पर से उतार के जला दिया और खुशामदियों की मण्डली को अत्युग्र दण्ड दे के कुछ क़ैद कर दिये और बहुतों को नौका म बैठाकर किसी समुद्र के बीच निर्जन द्वीपान्तर में बन्दीखाने में डालकर अत्युत्तम विद्वान् धार्मिकों की सम्मति से श्रेष्ठों का पालन, दुष्टों को ताड़न, विद्या, विज्ञान और सत्य धर्म की वृद्धि आदि उत्तम कर्म करके पुरुषार्थ से यथायोग्य राज्य की व्यवस्था चलाने लगे । और पुनः प्रकाशवती नगरी नाम की व्यवस्था चलाने लगे और पुनः नगरी का प्रकाशवती नाम प्रकाश हुआ और उचित समय पर सब उत्तम काम होने लगे । जब जिस देशस्थ प्राणियों का अभाग्य उदय होता है तब गवर्गण्ड के सदृश स्वार्थी, अधर्मी, प्रजा का विनाश करनेहारे राजा, धनाढ्य और खुशामदियों की सभा और उनके समान अधर्मी, उपद्रवी, राजविद्रोही प्रजा भी होती है । और जब जिस देशस्थ प्राणियों का सौभाग्य उदय होने वाला होता है तब सुनीति के समान धार्मिक, विद्वान्, पुत्रवत् प्रजा का पालन करनेवाली राजसहित सभा और धार्मिक पुरुषार्थी पिता के समान राज-

संबन्ध में प्रीतियुक्त मङ्गलकारिणी प्रजा होती है। जहां अभाग्योदय वहां विपरीतबुद्धिमनुष्य परस्पर द्रोहादिस्वरूप धर्म से विपरीत दुःख के ही काम करते जाते हैं। और जहां सौभाग्योदय वहां परस्पर उपकार, प्रीति, विद्या, सत्य, धर्म आदि उत्तम कार्य अधर्म से अलग होकर करते रहते हैं। वे सदा आनन्द को प्राप्त होते हैं। जो मनुष्य विद्या कम भी जानता हो परन्तु पूर्वोक्त दुष्ट व्यवहारों को छोड़ कर धार्मिक होके खाने पीने बोलने सुनने बैठने उठने लेने देने आदि व्यवहार सत्य से युक्त यथायोग्य करता है वह कहीं कभी दुःख को नहीं प्राप्त होता और जो सम्पूर्ण विद्या पढ़ के पूर्वोक्त उत्तम व्यवहारों को छोड़ के दुष्ट कर्मों को करता है वह कहीं कभी सुख को प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिये सब मनुष्यों को उचित है कि आप अपने लड़के लड़की इष्ट मित्र अड़ोसी पड़ोसी और स्वामी भृत्य आदि को विद्या और सुशिक्षा से युक्त करके सर्वदा आनन्द करते रहें।

शताब्दी-संस्करण

Prem Bahadur Varma
12.6.26.

व्यवहारभानुः

पृष्ठ ७२५—७६६.

व्यवहारभानुः

—:o:—

आवृत्ति		सन् ई०		संख्या
प्रथम	...	१८८०	...	१०००
द्वितीय	...	१८८८	...	१०००
तृतीय	...	१८९०	...	१०००
चतुर्थ	...	१८९३	...	२०००
पंचम	...	१९०१	...	२०००
षष्ठ	...	१९०३	...	२०००
सप्तम	...	१९०६	...	२०००
अष्टम	...	१९०८	...	२०००
नवम	...	१९११	...	२०००
दशम	...	१९१३	...	५०००
एकादश	...	१९१६	...	५०००
द्वादश	...	१९२३	...	५०००
शताब्दीसंस्करण		१९२४	...	१०,०००
				४०,०००

भूमिका

मैंने परीक्षा करके निश्चय किया है कि जो धर्मयुक्त व्यवहार में ठीक २ वर्त्तता है उसको सर्वत्र सुखलाभ और जो विपरीत वर्त्तता है वह सदा दुःखी होकर अपनी हानि कर लेता है। देखिये जब कोई सभ्य मनुष्य विद्वानों की सभा में वा किसी के पास जाकर अपनी योग्यता के अनुसार नम्रतापूर्वक नमस्ते आदि करके बैठ के दूसरे की बात ध्यान दे सुन, उसका सिद्धान्त जान निर-भिमानी होकर युक्त प्रत्युत्तर करता है, तब सज्जन लोग प्रसन्न होकर उसका सत्कार और जो अण्डबण्ड बकता है उसका तिरस्कार करते हैं। जब मनुष्य धार्मिक होता है तब उसका विश्वास और मान्य शत्रु भी करते हैं और जब अधर्मी होता है तब उसका विश्वास और मान्य मित्र भी नहीं करते इससे जो थोड़ी विद्या वा लोभी मनुष्य श्रेष्ठ शिक्षा पाकर सुशील होता है उसका कोई भी कार्य्य नहीं बिगड़ता। इसलिये मैं मनुष्यों को उत्तम शिक्षा के अर्थ सब वेदादि शास्त्र और सत्याचारी विद्वानों की रीतियुक्त इस व्यवहारभानु ग्रन्थ को बनाकर प्रसिद्ध करता हूं कि जिसको देख दिखा पढ़ पढ़ाकर मनुष्य अपने और अपने २ सन्तान तथा विद्यार्थियों का आचार अत्युत्तम करें कि जिससे आप और वे सब दिन सुखी रहें। इस ग्रन्थ में कहीं २ प्रमाण के लिये संस्कृत और सुगम भाषा लिखी और अनेक उपयुक्त दृष्टान्त देकर सुधार का अभिप्राय प्रकाशित किया है कि जिसको सब कोई सुख से समझ के अपना २ स्वभाव सुधार के सब उत्तम व्यवहारों को सिद्ध किया करें।

सं० १९३६
फाल्गुन शुक्ला १५

दयानन्दसरस्वती,
काशी.

ओ३म्

व्यवहारभानुः

ऐसा किस मनुष्य का आत्मा होगा कि जो सुखों को सिद्ध करनेवाले व्यवहारों को छोड़कर उलटे आचरण करने में प्रसन्न होगा। क्या यथायोग्य व्यवहार किये विना किसी को सर्व सुख हो सकता है? क्या मनुष्य अच्छी शिक्षा से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष फलों को सिद्ध नहीं कर सकता? और इसके विना पशु के समान होकर दुःखी नहीं रहता है? जिसलिये सब मनुष्यों को सुशिक्षा से युक्त होना अवश्य है इसलिये यह बालक से लेकर वृद्धपर्यन्त मनुष्यों के सुधार के अर्थ व्यवहारसम्बन्धी शिक्षा का विधान किया जाता है।

(प्रश्न) कैसे पुरुष पढ़ाने और शिक्षा करनेहारे होने चाहियें?

(उत्तर) पढ़ानेवालों के लक्षण:—

आत्मज्ञानं समारम्भस्तितिक्षा धर्मनित्यता।
यमर्था नापकर्षन्ति स वै पण्डित उच्यते॥ १॥

जिसको परमात्मा और जीवात्मा का यथार्थ ज्ञान, जो आलस्य को छोड़कर सदा उद्योगी, सुखदुःखादि का सहन, धर्म्म का नित्य सेवन करनेवाला हो, जिसको कोई पदार्थ धर्म से छुड़ा अधर्म की ओर न खींच सके वह पण्डित कहाता है॥ १॥

निषेवते प्रशस्तानि निन्दितानि न सेवते।
अनास्तिकः श्रद्धान एतत्पण्डितलक्षणम्॥ २॥

जो सदा प्रशस्त धर्मयुक्त कर्मों को करने और निन्दित अधर्मयुक्त कर्म्मों को कभी न सेवनेहारा, न कदापि ईश्वर वेद और धर्म का विरोधी और परमात्मा सत्यविद्या और धर्म में दृढ़ विश्वासी है वही मनुष्य पण्डित के लक्षणयुक्त होता है ॥ २ ॥

क्षिप्रं विजानाति चिरं शृणोति विज्ञाय चार्थं भजते न कामात् ।
नासंपृष्टो ह्युपयुंक्ते परार्थे तत्प्रज्ञानं प्रथमं पण्डितस्य ॥ ३ ॥

जो वेदादि शास्त्र और दूसरे के कहे अभिप्राय को शीघ्र ही जानने, दीर्घकाल पर्यन्त वेदादि शास्त्र और धार्मिक विद्वानों के वचनों को ध्यान देकर सुनकर ठीक २ समझ निरभिमानी शान्त होकर दूसरों से प्रत्युत्तर करने, परमेश्वर से लेकर पृथिवी पर्यन्त पदार्थों को जानकर उनसे उपकार लेने में तन, मन, धन से प्रवृत्त होकर काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, शोकादि दुष्ट गुणों से पृथक् वर्त्तमान, किसी के पूछने वा दोनों के संवाद में विना प्रसङ्ग के अयुक्त भाषणादि व्यवहार न करनेवाला मनुष्य है यही पण्डित की बुद्धिमत्ता का प्रथम लक्षण है ॥ ३ ॥

नाप्राप्यमभिवाञ्छन्ति नष्टं नेच्छन्ति शोचितुम् ।
आपत्सु च न मुह्यन्ति नराः पण्डितबुद्धयः ॥ ४ ॥

जो मनुष्य प्राप्त होने के अयोग्य पदार्थों की कभी इच्छा नहीं करते अदृष्ट वा किसी पदार्थ के नष्ट भ्रष्ट होजाने पर शोक करने की अभिलाषा नहीं करते और बड़े २ दुःखों से युक्त व्यवहारों की प्राप्ति में भी मूढ़ होकर नहीं घबराते हैं वे मनुष्य पण्डितों की बुद्धि से युक्त कहाते हैं ॥ ४ ॥

प्रवृत्तवाक् चित्रकथ ऊहवान् प्रतिभानवान् ।
आशु ग्रन्थस्य वक्ता च यः स पण्डित उच्यते ॥ ५ ॥

जिसकी वाणी सब विद्याओं में चलनेवाली अत्यन्त अद्भुत विद्याओं की कथाओं को करने, बिना जाने पदार्थों को तर्क से शीघ्र जानने जनाने सुनी

विचारी विद्याओं को सदा उपस्थित रखने और जो सब विद्याओं के ग्रन्थों को अन्य मनुष्यों को शीघ्र पढ़ानेवाला मनुष्य है वही पण्डित कहाता है ॥ ५ ॥

श्रुतं प्रज्ञानुगं यस्य प्रज्ञा चैव श्रुतानुगा ।
असंभिन्नार्य्यमर्य्यादः पण्डिताख्यां लभेत सः ॥ ६ ॥

जिसकी सुनी हुई और पठित विद्या अपनी बुद्धि के सदा अनुकूल और बुद्धि और क्रिया सुनी पढ़ी हुई विद्याओं के अनुसार जो धार्मिक श्रेष्ठ पुरुषों की मर्य्यादा का रक्षक और दुष्ट डाकुओं की रीति को विदीर्ण करनेहारा मनुष्य है वही पण्डित नाम धराने के योग्य होता है ॥ ६ ॥ जहां ऐसे २ सत्य पुरुष पढ़ाने और बुद्धिमान् पढ़नेवाले होते हैं वहां विद्या और धर्म की वृद्धि होकर सदा आनन्द ही बढ़ता जाता है और जहां निम्नलिखित मूढ़ पढ़ने पढ़ानेहारे होते हैं वहां अविद्या और अधर्म्म की उन्नति होकर दुःख ही बढ़ता जाता है ॥

(प्र०) कैसे मनुष्य पढ़ाने और उपदेश करनेवाले न होने चाहियें ।

मूर्ख के लक्षण

(उ०) अश्रुतश्च समुन्नद्धो दरिद्रश्च महामनाः ।
अर्थांश्चाकर्म्मणा प्रेप्सुर्मूढ इत्युच्यते बुधैः ॥ १ ॥

जो किसी विद्या को न पढ़ और किसी विद्वान् का उपदेश न सुनकर बड़ा घमंडी, दरिद्र होकर धनसम्बन्धी बड़े २ कामों की इच्छा वाला और विना किये बड़े २ फलों की इच्छा करनेहारा है ।

दृष्टान्त

जैसे—एक दरिद्र शेखचिल्ली नामक किसी ग्राम में था वहां किसी नगर का बनिया दश रुपये उधार लेकर घी लेने आया था वह घी लेकर घड़े में भर किसी मजूर के खोज में था वहां शेखचिल्ली आ निकला उससे पूछा कि इस घड़े को तीन कोस पर लेजाने की क्या मजूरी लेगा उसने कहा कि आठ

आने, आगे बनिये ने कहा कि चार आने लेना हो तो ले, उसने कहा अच्छा। शेखचिल्ली घड़ा ले चला और बनिया पीछे २ चलता हुआ मन में मनोरथ करने लगा कि दश रुपयों के घी के ग्यारह रुपये आवेंगे दश रुपया सेठ को दूंगा और एक रुपया घर की पूंजी रहेगी वैसे ही दश फेरे में दश रुपये हो जायंगे इसी प्रकार दश से सौ, सौ से सहस्र, सहस्र से लक्ष, लक्ष से करोड़ फिर सब जगह कोठियां करूंगा और सब राजा लोग मेरे कर्जदार हो जायंगे इत्यादि बड़े २ मनोरथ करने लगा और शेखचिल्ली ने विचारा कि चार आने की रुई ले सूत कात कर बेचूंगा आठ आने मिलेंगे फिर आठ आने से एक रुपया हो जायगा फिर वैसे ही एक से दो रुपये होंगे उस से एक बकरी लूंगा जब उस के कच्चे बच्चे होंगे तब उन को बेच एक गाय लूंगा उस के कच्चे बच्चे बेच भैंस लूंगा उसके कच्चे बच्चे बेच एक घोड़ी लूंगा उस के कच्चे बच्चे बेच एक हथिनी लूंगा और उस के कच्चे बच्चे बेच दो बीबियां ब्याहूंगा एक का नाम प्यारी और दूसरी का नाम बेप्यारी रक्खूंगा। जब प्यारी के लड़के गोद में बैठने आवेंगे तब कहूंगा बच्चे आओ बैठो और जब बेप्यारी के लड़के आकर कहेंगे कि हम भी बैठें तब कहूंगा नहीं २ ऐसा कहकर शिर हिला दिया घड़ा गिर पड़ा फूट गया और घी भूमि पर फैल के धूलि में मिलगया, बनिया रोने लगा और शेखचिल्ली भी रोने लगा। बनिये ने शेखचिल्ली को धमकाया कि घी क्यों गिरा दिया और रोता क्यों है तेरा क्या नुकसान हुआ ?। (शेखचिल्ली) तेरा क्या बिगाड़ हुआ तू क्यों रोता है (बनिया) मैंने दश रुपये उधार लेकर प्रथम ही घी खरीदा था उस पर बड़े २ लाभ का विचार किया था वह मेरा सब बिगड़ गया मैं क्यों न रोऊं ?। (शेखचिल्ली) तेरी तो दश रुपये आदि की ही हानि हुई मेरा तो घर ही बना बनाया बिगड़ गया मैं क्यों न रोऊं! (बनिया) क्या तेरे रोने से मेरा घी आ जायगा ?। (शेखचिल्ली) अच्छा तो तेरे रोने से मेरा घर भी न बन जायगा। तू बड़ा मूर्ख है। (बनिया) तू मूर्ख तेरा बाप। दोनों आपस में एक दूसरे को मारने लगे फिर मारपीट कर शेखचिल्ली अपने घर की ओर भाग गया और उस बनिये ने धूलि मिले हुए घी को ठिकरे में उठा कर अपने घर की राह ली। ऐसे ही स्वसामर्थ्य के बिना

अशक्य मनोरथ किया करना मूर्खों का काम है और जो विना परिश्रम के पदार्थों की प्राप्ति में उत्साही होता है उसी मनुष्य को विद्वान् लोग मूर्ख कहते हैं ॥ १ ॥

अनाहूतः प्रविशति अपृष्टो बहु भाषते ।
अविश्वस्ते विश्वसिति मूढचेता नराधमः ॥ २ ॥

(महाभारत उद्योगपर्व विदुरप्रजागर ॥ अ० ३२)

जो विना बुलाये जहां तहां सभादि स्थानों में प्रवेश कर सत्कार और उच्चासन को चाहे वा ऐसे रीति से बैठे कि सब सत्पुरुषों को उसका आचरण अप्रिय विदित हो, विना पूछे बहुत अण्डबण्ड बके, अविश्वासियों में विश्वासी होकर सुख की हानि कर लेवे वही मनुष्य मूढ़बुद्धि और मनुष्यों में नीच कहाता है ॥ २५ ॥ जहां ऐसे २ मूढ़ मनुष्य पठनपाठन आदि व्यवहारों को करनेहारे होते हैं वहां सुखों का तो दर्शन कहां किन्तु दुःखों की भरमार तो हुआ ही करती है। इसलिये बुद्धिमान् लोग ऐसे २ मूढ़ों का प्रसङ्ग वा इन के साथ पठनपाठन क्रिया को व्यर्थ समझ कर पूर्वोक्त धार्मिक विद्वानों का प्रसङ्ग और उनही से विद्या का अभ्यास और सुशील बुद्धिमान् विद्यार्थियों ही को पढ़ाया करें। ये विद्वान् और मूर्ख के लक्षणविधायक श्लोक विदुरप्रजागर के ३२ अध्याय में एक ही ठिकाने लिखे हैं ।

जो विद्या पढ़ें और पढ़ावें वे निम्नलिखित दोषयुक्त न हों:—

आलस्यं मदमोहौ च चापल्यं गोष्ठिरेव च ।
स्तब्धता चाभिमानित्वं तथाऽत्यागित्वमेव च ॥
एते वै सप्त दोषाः स्युः सदा विद्यार्थिनां मताः ।
सुखार्थिनः कुतो विद्या नास्ति विद्यार्थिनः सुखम् ॥
सुखार्थी वा त्यजेद्विद्यां विद्यार्थी वा त्यजेत्सुखम् ॥

आलस्य, नशा करना, मूढ़ता, चपलता, व्यर्थ इधर उधर की अण्ड-बण्ड बातें करना, जड़ता कभी पढ़ना कभी न पढ़ना, अभिमान और लोभ

लालच ये सात (७) विद्यार्थियों के लिये विद्या के विरोधी दोष हैं। क्योंकि जिसको सुख चैन करने की इच्छा है उसको विद्या कहां और जिसका चित्त विद्याग्रहण करने कराने में लगा है उसको विषयसम्बन्धी सुख चैन कहां ?, इसलिये विषयसुखार्थी विद्या को छोड़े और विद्यार्थी विषयसुख से अवश्य अलग रहे नहीं तो परमधर्म्मरूप विद्या का पढ़ना पढ़ाना कभी नहीं हो सकेगा। ये श्लोक भी महाभारत विदुरप्रजागर अध्याय ३९ में लिखे हैं।

(प्रश्न) कैसे २ मनुष्य विद्याओं की प्राप्ति कर और करा सकते हैं।

(उ०) ब्रह्मचर्यस्य च गुणं शृणु त्वं वसुधाधिप !
आजन्ममरणाद्यस्तु ब्रह्मचारी भवेदिह ॥ १ ॥
न तस्य किञ्चिदप्राप्यमिति विद्धि नराधिप !
बह्वयः कोट्यस्त्वृषीणां च ब्रह्मलोके वसन्त्युत ॥ २ ॥
सत्ये रतानां सततं दान्तानामूर्द्ध्वरेतसाम् ।
ब्रह्मचर्यं दहेद्राजन् सर्वपापान्युपासितम् ॥ ३ ॥

भीष्मजी युधिष्ठिर से कहते हैं कि हे राजन् ! तू ब्रह्मचर्य्य के गुण सुन जो मनुष्य इस संसार में जन्म से लेके मरणपर्य्यन्त ब्रह्मचारी होता है ॥ १ ॥ उसको कोई शुभगुण अप्राप्त नहीं रहता ऐसा तू जान कि जिस के प्रताप से अनेक क्रोड़ ऋषि ब्रह्मलोक अर्थात् सर्वानन्दस्वरूप परमात्मा में वास करते और इस लोक में भी अनेक सुखों को प्राप्त होते हैं ॥ २ ॥ जो निरन्तर सत्य में रमण, जितेन्द्रिय, शान्तात्मा, उत्कृष्ट, शुभगुणस्वभावयुक्त और रोगरहित पराक्रमसहित शरीर, ब्रह्मचर्य्य अर्थात् वेदादि सत्यशास्त्र और परमात्मा की उपासना का अभ्यास आदि कर्म करते हैं उनके वे सब उत्तम गुण, बुरे काम और दुःखों को नष्ट कर सर्वोत्तम धर्म्मयुक्त कर्म्म और सब सुखों की प्राप्ति करानेहारे होते हैं और इन्हीं के सेवन से मनुष्य उत्तम अध्यापक और उत्तम विद्यार्थी हो सकते हैं।

(प्रश्न) शूरवीर किनको कहते हैं।

वेदाऽध्ययनशूराश्च शूराश्चाऽध्ययने रताः ॥
गुरुशुश्रूषया शूराः पितृशुश्रूषयाऽपरे ॥ १ ॥
मातृशुश्रूषया शूरा भैक्ष्यशूरास्तथाऽपरे ॥
अरण्यगृहवासे च शूराश्चाऽतिथिपूजने ॥ २ ॥

जो मनुष्य वेदादि शास्त्रों के पढ़ने पढ़ाने में शूरवीर, जो दुष्टों के दलन और श्रेष्ठों के पालन में शूरवीर अर्थात् दृढ़ोत्साही उद्योगी, जो निष्कपट परोपकारक अध्यापकों की सेवा करके शूरवीर, जो अपने जनक (पिता) की सेवा करके शूरवीर ॥ १ ॥ जो माता की परिचर्या से शूर, जो संन्यासाश्रम से युक्त अतिथिरूप होकर सर्वत्र भ्रमण करके परोपकार करने में शूर, जो वानप्रस्थाश्रम के कर्म्म और जो गृहाश्रम के व्यवहार में शूर होते हैं वे ही सब सुखों के लाभ करने कराने में अत्युत्तम होके धन्यवाद के पात्र होते हैं कि जो अपना तन मन धन, विद्या और धर्मादि शुभगुण ग्रहण करने में सदा उपयुक्त करते हैं ।

(प्रश्न) शिक्षा किसको कहते हैं ?

(उत्तर) जिससे मनुष्य विद्या आदि शुभगुणों की प्राप्ति और अविद्यादि दोषों को छोड़ के सदा आनन्दित होसकें वह शिक्षा कहाती है ।

(प्रश्न) विद्या और अविद्या किस को कहते हैं ?

(उत्तर) जिससे पदार्थ का स्वरूप यथावत् जानकर उससे उपकार लेके अपने और दूसरों के लिये सब सुखों को सिद्ध कर सकें वह विद्या और जिससे पदार्थों के स्वरूप को उलटा जानकर अपना और पराया अनुपकार कर लेवें वह अविद्या कहाती है ।

(प्रश्न) मनुष्यों को विद्या की प्राप्ति और अविद्या के नाश के लिये क्या २ कर्म करना चाहिये ?

(उत्तर) वर्णोच्चारण से लेकर वेदार्थज्ञान के लिये ब्रह्मचर्य आदि कर्म करना योग्य है ।

(प्रश्न) ब्रह्मचारी किस को कहते हैं ?

(उत्तर) जो जितेन्द्रिय होके ब्रह्म अर्थात् वेदविद्या के लिये तथा आचार्य्य कुल में जाकर विद्या-ग्रहण के लिये प्रयत्न करे वह ब्रह्मचारी कहाता है।

(प्रश्न) आचार्य किसको कहते हैं ?

(उत्तर) जो विद्यार्थियों को अत्यन्त प्रेम से धर्मयुक्त व्यवहार की शिक्षा-पूर्वक विद्या होने के लिये तन, मन और धन से प्रयत्न करे उसको आचार्य कहते हैं।

(प्रश्न) अपने सन्तानों के लिये माता पिता और आचार्य क्या २ शिक्षा करें ?

(उत्तर) मातृमान् पितृमानाचार्य्यवान् पुरुषो वेद। शतपथब्राह्मण ॥

अहोभाग्य उस मनुष्य का है कि जिसका जन्म धार्मिक विद्वान् माता पिता आचार्य के सम्बन्ध में हो, क्योंकि इन तीनों ही की शिक्षा से मनुष्य उत्तम होता है। ये अपने सन्तान और विद्यार्थियों को अच्छी भाषा बोलने, खाने, पीने, बैठने, उठने, वस्त्रधारण करने, माता पिता आदि के मान्य करने, उनके सामने यथेष्टाचारी न होने, विरुद्ध चेष्टा न करने आदि के लिये प्रयत्न से नित्यप्रति उपदेश किया करें और जैसा २ उसका सामर्थ्य बढ़ता जाय वैसी २ उत्तम बातें सिखलाते जायं। इसी प्रकार लड़के और लड़कियों को पांच वा आठ वर्ष की अवस्था पर्यन्त माता पिता और इसके उपरान्त आचार्य की शिक्षा होनी चाहिये ॥

(प्रश्न) क्या जैसी चाहें वैसी शिक्षा करें ?

(उत्तर) नहीं, जो अपने पुत्र पुत्री और विद्यार्थियों को सुनावें कि सुन मेरे बेटे बेटियां और विद्यार्थी ! तेरा शीघ्र विवाह करेंगे, तू इसकी डाढ़ी मूंछ पकड़ ले, इसकी जटा पकड़ के ओढ़नी फेंक दे, धौल मार, गाली दे, इसका कपड़ा छीन ले, पगड़ी वा टोपी फेंकदे, खेल, कूद, हंस, रो, तुम्हारे विवाह में फुलवारी निकालेंगे इत्यादि कुशिक्षा करते हैं उनको माता पिता और आचार्य

न समझना चाहिये किन्तु सन्तान और शिष्यों के पक्के शत्रु और दुःखदायक हैं, क्योंकि जो बुरी चेष्टा देखकर लड़कों को न घुड़कते और न दण्ड देते हैं वे क्योंकर माता पिता और आचार्य हो सकते हैं, क्योंकि जो अपने सामने यथातथा बकने, निर्लज्ज होने, व्यर्थ चेष्टा करने आदि बुरे कर्मों से हटाकर विद्या आदि शुभगुणों के लिये उपदेश नहीं करते, न तन मन धन लगा के उत्तम विद्या व्यवहार का सेवन कराकर अपने सन्तानों का सदा श्रेष्ठ करते जाते हैं वे माता पिता और आचार्य कहाकर धन्यवाद के पात्र कभी नहीं हो सकते और जो अपने २ सन्तान और शिष्यों को ईश्वर की उपासना, धर्म, अधर्म, प्रमाण, प्रमेय, सत्य, मिथ्या, पाखण्ड, वेद, शास्त्र आदि के लक्षण और उनके स्वरूप का यथावत् बोध करा और सामर्थ्य के अनुकूल उनको वेद शास्त्रों के वचन भी कण्ठस्थ कराकर विद्या पढ़ने, आचार्य के अनुकूल रहने की रीति जना देवें कि जिससे विद्याप्राप्ति आदि प्रयोजन निर्विघ्न सिद्ध हों वे ही माता पिता और आचार्य कहाते हैं ।

(प्र०) विद्या किस २ प्रकार और किन कर्म्मों से होती है ? ।

(उ०) चतुर्भिः प्रकारैर्विद्योपयुक्ता भवति । आगमकालेन स्वाध्यायकालेन प्रवचनकालेन व्यवहारकालेनेति ॥ महा० अ० १ । १ । १ । आ० १ ॥

विद्या चार प्रकार से आती है—आगम, स्वाध्याय, प्रवचन और व्यवहारकाल । आगमकाल उसको कहते हैं कि जिससे मनुष्य पढ़ानेवाले से सावधान होकर ध्यान देके विद्यादि पदार्थ ग्रहण कर सकें । स्वाध्यायकाल उसको कहते हैं कि जो पठन-समय में आचार्य के मुख से शब्द, अर्थ और सम्बन्धों की बातें प्रकाशित हों उनको एकान्त में स्वस्थचित्त होकर पूर्वापर विचार के ठीक २ हृदय में दृढ़ कर सके । प्रवचनकाल उसको कहते हैं कि जिससे दूसरे को प्रीति से विद्याओं को पढ़ा सकना । व्यवहारकाल उसको कहते हैं कि जब अपने आत्मा में सत्यविद्या होती है तब यह करना यह न करना वही ठीक २ सिद्ध

होके वैसा ही आचरण करना होसके, ये चार प्रयोजन हैं तथा अन्य भी चार कर्म विद्याप्राप्ति के लिये हैं श्रवण, मनन, निदिध्यासन और साक्षात्कार । श्रवण उसको कहते हैं कि आत्मा मन के और मन श्रोत्र-इन्द्रिय के साथ यथावत् युक्त करके अध्यापक के मुख से जो २ अर्थ और सम्बन्ध के प्रकाश करनेहारे शब्द निकलें उनको श्रोत्र से मन और मन से आत्मा में एकत्र करते जाना । मनन उसको कहते हैं कि जो २ शब्द, अर्थ और सम्बन्ध आत्मा में एकत्र हुए हैं उनका एकान्त में स्वस्थचित्त होकर विचार करना कि कौन शब्द किस अर्थ के साथ और कौन अर्थ किस शब्द के साथ सम्बन्ध अर्थात् मेल रखता और इनके मेल में किस प्रयोजन की सिद्धि और उलटे होने में क्या २ हानि होती है ? इत्यादि । निदिध्यासन उसको कहते हैं कि जो २ अर्थ और सम्बन्ध सुने विचारे हैं वे ठीक २ हैं वा नहीं इस बात की विशेष परीक्षा करके दृढ़ निश्चय करना और साक्षात्कार उसको कहते हैं कि जिन अर्थों के शब्द और सम्बन्ध सुने विचारे और निश्चय किये हैं उनको यथावत् ज्ञान और क्रिया से प्रत्यक्ष करके व्यवहारों की सिद्धि से अपना और पराया उपकार करना आदि विद्या की प्राप्ति के साधन हैं ।

(प्र०) आचार्य के साथ विद्यार्थी कैसा २ वर्त्ताव करें और कैसा २ न करें ? ।

(उ०) मिथ्या को छोड़ के सत्य बोलें, सरल रहें, अभिमान न करें, आज्ञा पालन करें, स्तुति करें, निन्दा न करें, नीचे आसन पर बैठें, ऊंचे न बैठें, शान्त रहें, चपलता न करें, आचार्य की ताड़ना पर प्रसन्न रहें, क्रोध कभी न करें, जब कुछ वे पूछें तो हाथ जोड़ के नम्र होकर उत्तर देवें, घमण्ड से न बोलें, जब वे शिक्षा करें चित्त देकर सुनें, ठट्ठे में न उड़ावें, शरीर और वस्त्र शुद्ध रक्खें, मैले कभी न रक्खें, जो कुछ प्रतिज्ञा करें उसको पूरी करें, जितेन्द्रिय होवें, लम्पटपन व्यभिचार कभी न करें, उत्तमों का सदा मान करें अपमान कभी न करें, उपकार मान के कृतज्ञ होवें, किसी के अनुपकारी होकर कृतघ्न न होवें, पुरुषार्थी रहें, आलसी कभी न हों, जिस २ कर्म से विद्याप्राप्ति हो उस २ को करते जायं, जो २ बुरे काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, शोक

आदि विद्याविरोधी हों उनको छोड़कर सदा उत्तम गुणों की कामना करें, बुरे कामों पर क्रोध, विद्याग्रहण में लोभ, सज्जनों में मोह, बुरे कामों से भय, अच्छे काम न होने में शोक करके विद्यादि शुभगुणों से आत्मा और वीर्य आदि धातुओं की रक्षा से जितेन्द्रिय हो शरीर का बल सदा बढ़ाते जायं।

(प्रश्न) आचार्य विद्यार्थियों के साथ कैसे वर्त्तें ?।

(उत्तर) जिस प्रकार से विद्यार्थी विद्वान्, सुशील, निरभिमानी, सत्यवादी, धर्मात्मा, आस्तिक, निरालस्य, उद्योगी, परोपकारी, वीर, धीर, गम्भीर, पवित्राचरण, शान्तियुक्त, दमनशील, जितेन्द्रिय, ऋजु, प्रसन्नवदन होकर माता, पिता, आचार्य, अतिथि, बन्धु, मित्र, राजा प्रजा आदि के प्रियकारी हों, जब किसी से बात चीत करें तब जो २ उसके मुख से अक्षर, पद, वाक्य निकलें उनको शान्त होकर सुनके प्रत्युत्तर देवें, जब कभी कोई बुरी चेष्टा, मलिनता, मैले वस्त्रधारण, बैठने उठने में विपरीताचरण, निन्दा, ईर्ष्या, द्रोह, विवाद, लड़ाई, बखेड़ा, चुगली, किसी पर मिथ्या दोष लगाना, चोरी, जारी, अनभ्यास, आलस्य, अतिनिद्रा, अतिभोजन, अतिजागरण, व्यर्थ खेलना, इधर उधर अट्ट सट्ट मारना, विषयसेवन, बुरे व्यवहारों की कथा करना वा सुनना, दुष्टों के सङ्ग बैठना आदि दुष्ट व्यवहार करे तो उसको यथाऽपराध कठिन दण्ड देवे। इस में प्रमाणः—

सामृतैः पाणिभिर्घ्नन्ति गुरवो न विषोक्षितैः।
लालनाश्रयिणो दोषास्ताडनाश्रयिणो गुणाः॥ १॥
महाभाष्य अ० ८। पा० १। सू० ८॥

आचार्य लोग अपने विद्यार्थियों को विद्या और सुशिक्षा होने के लिये प्रेमभाव से अपने हाथों से ताड़ना करते हैं क्योंकि सन्तान और विद्यार्थियों का जितना लाड़न करना है उतना ही उनके लिये बिगाड़ और जितनी ताड़ना करनी है उतना उनके लिये सुधार है। परन्तु ऐसी ताड़ना न करे कि जिससे अंग भंग वा मर्म में लगने से विद्यार्थी वा लड़के लड़की लोग व्यथा को प्राप्त होजायं।

(प्र०) पठितव्यं तदपि मर्त्तव्यं न पठितव्यं तदपि मर्त्तव्यं दन्तकटाकटेति किं कर्त्तव्यम् ? ।

हुड़दङ्ग उवाच—हुड़दङ्गा कहता है कि जो पढ़ता है वह भी मरता है और जो नहीं पढ़ता वह भी मरता है फिर पढ़ने पढ़ाने में दांत कटाकट क्यों करना ? ।

(उ०) न विद्यया विना सौख्यं नराणां जायते ध्रुवम् ।
अतो धर्म्मार्थमोक्षेभ्यो विद्याभ्यासं समाचरेत् ॥ १ ॥

सज्जन उवाच—सज्जन कहता है कि सुन भाई हुड़दङ्गे ! जो तू जानता है सो विद्या का फल नहीं कि विद्या के पढ़ने से जन्म मरण आंख से देखना कान से सुनना आदि ये ईश्वरीय नियम अन्यथा होजायं किन्तु विद्या से यथार्थज्ञान होकर यथायोग्य व्यवहार करने कराने से आप और दूसरों को आनन्दयुक्त करना विद्या का फल है । क्योंकि विना विद्या के किसी मनुष्य को निश्चल सुख नहीं हो सकता, क्या भया किसी को क्षण भर सुख हुआ, न हुआ सा है । किसी का सामर्थ्य नहीं है कि जो अविद्वान् होकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के स्वरूप को यथावत् जानकर सिद्ध कर सके । इसलिये सब को उचित है कि इनकी सिद्धि के लिये विद्या का अभ्यास तन, मन, धन से किया और कराया करे । (हुड़दङ्गा) हम देखते हैं कि बहुतसे मनुष्य विद्या पढ़े हुए दरिद्र और भीख मांगते तथा विना पढ़े हुए राज्य धन का आनन्द भोगते हैं । (सज्जन) सुनो प्रिय ! सुख दुःख का योग आत्मा में हुआ करता है जहां विद्यारूप सूर्य का अभाव और अविद्यान्धकार का भाव है वहां दुःखों की तो भरमार, सुख की क्या कथा कहना है ? और जहां विद्यार्क प्रकाशित होकर अविद्यान्धकार को नष्ट कर देता है, उस आत्मा में सदा आनन्द का योग और दुःख को ठिकाना भी नहीं मिलता है । हुड़दङ्गा शिर धुनकर चुप होगया ।

(प्र०) आचार्य किस रीति से विद्या और सुशिक्षा का ग्रहण करावें और विद्यार्थी लोग करें ? ।

(उ०) आचार्य समाहित होकर ऐसी रीति से विद्या और सुशिक्षा करें कि जिससे उस के आत्मा के भीतर सुनिश्चित अर्थ होकर उत्साह ही बढ़ता जाय, ऐसी चेष्टा वा कर्म कभी न करें कि जिसको देख वा करके विद्यार्थी अधर्मयुक्त होजावें। दृष्टान्त–हस्तक्रिया, यन्त्र, कलाकौशल विचार आदि से विद्यार्थियों के आत्मा में पदार्थ इस प्रकार साक्षात् करावें कि एक के जानने से हजारों पदार्थ यथावत् जानते जायं, अपने आत्मा में इस बात का ध्यान रक्खें कि जिस २ प्रकार से संसार में विद्या धर्माचरण की बढ़ती और मेरे पढ़ाये मनुष्य अविद्वान् और कुशिक्षित होकर मेरी निन्दा के कारण न होजायं कि मैं ही विद्या के रोकने और अविद्या की वृद्धि का निमित्त न गिना जाऊं, ऐसा न हो कि सर्वात्मा परमेश्वर के गुण कर्म स्वभाव से मेरे गुण कर्म स्वभाव विरुद्ध होने से मुझको महादुःख भोगना हो। परम धन्य वे मनुष्य हैं कि जो अपने आत्मा के समान सुख में सुख और दुःख में दुःख अन्य मनुष्यों का जानकर धार्मिकता को कदापि नहीं छोड़ते, इत्यादि उत्तम व्यवहार आचार्य लोग नित्य करते जायं। विद्यार्थी लोग भी जिन कर्मों से आचार्य की प्रसन्नता होती जाय वैसे कर्म करें, जिससे उसका आत्मा सन्तुष्ट होकर चाहे कि ये लोग विद्या से युक्त होकर सदा प्रसन्न रहें, रात दिन विद्या ही के विचार में लगकर एक दूसरे के साथ प्रेम से परस्पर विद्या को पढ़ाते जावें। जहां विषय वा अधर्म की चर्चा भी होती हो वहां कभी खड़े भी न रहें। जहां २ विद्यादि व्यवहार और धर्म का व्याख्यान होता हो वहां से अलग कभी न रहें। भोजन छादन ऐसी रीति से करें कि जिससे कभी रोग, वीर्यहानि वा प्रमाद न बढ़े। जो बुद्धि के नाश करने हारे नशा के पदार्थ हों उनको ग्रहण कभी न करें किन्तु जो २ ज्ञान बढ़ाने और रोग नाश करनेहारे पदार्थ हों उन्हीं का सेवन सदा किया करें। नित्यप्रति परमेश्वर का ध्यान, योगाभ्यास, बुद्धि का बढ़ाना, सत्य धर्म की निष्ठा और अधर्म का सर्वथा त्याग करते रहें। जो २ पढ़ने में विघ्नरूप कर्म हों उनको छोड़कर पूर्ण विद्या को प्राप्त करें इत्यादि दोनों के गुण कर्म हैं।

(प्र०) सत्य और असत्य का निश्चय किस प्रकार से होता है, क्योंकि

जिसको एक सत्य कहता है दूसरा उसी को मिथ्या बतलाता है उसका निर्णय करने में क्या २ निश्चित साधन हैं ? ।

(उत्तर) पांच हैं । उन में से प्रथम ईश्वर उसके गुण, कर्म, स्वभाव और वेदविद्या, दूसरा सृष्टिक्रम, तीसरा प्रत्यक्षादि आठ प्रमाण, चौथा आप्तों का आचार, उपदेश, ग्रन्थ और सिद्धान्त और पांचवां अपने आत्मा की साक्षी, अनुकूलता, जिज्ञासुता, पवित्रता और विज्ञान । ईश्वरादि स परीक्षा करना उस को कहते हैं कि जो २ ईश्वर के न्याय आदि गुण, पक्षपातरहित सृष्टि बनाने का कर्म और सत्य न्याय दयालुता परोपकारिता आदि स्वभाव और वेदोपदेश से सत्य और धर्म ठहरे वही सत्य और धर्म और जो २ असत्य और अधर्म ठहरे वही असत्य और अधर्म है । जैसे कोई कहे कि विना कारण और कर्त्ता के कार्य होता है सो सर्वथा मिथ्या जानना । इससे यह सिद्ध होता है कि जो सृष्टि की रचना करनेहारा पदार्थ है वही ईश्वर और उसके गुण, कर्म, स्वभाव वेद और सृष्टिक्रम से ही निश्चित जाने जाते हैं । दूसरा सृष्टिक्रम उसको कहते हैं कि जो २ सृष्टिक्रम अर्थात् सृष्टि के गुण, कर्म और स्वभाव से विरुद्ध हो वह मिथ्या और अनुकूल हो वह सत्य कहाता है । जैसे कोई कहे कि विना मा बाप के लड़का, कान से देखना, आंख से बोलना आदि होता वा हुआ है, ऐसी २ बातें सृष्टिक्रम के विरुद्ध होने से मिथ्या और माता पिता से सन्तान, कान से सुनना और आंख से देखना आदि सृष्टिक्रम के अनुकूल होने से सत्य ही हैं । तीसरा प्रत्यक्ष आदि आठ प्रमाणों से परीक्षा करना उसको कहते हैं कि जो २ प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ठीक २ ठहरे वह सत्य और जो २ विरुद्ध ठहरे वह मिथ्या समझना चाहिये । जैसे किसी ने किसी से कहा कि यह क्या है ? दूसरे ने कहा कि पृथिवी । यह प्रत्यक्ष है । इसको देखकर इसके कारण का निश्चय करना अनुमान । जैसे विना बनानेहारे के घर नहीं बन सकता वैसे ही सृष्टि का बनानेहारा ईश्वर भी बड़ा कारीगर है, यह दृष्टान्त उपमान । और सत्योपदेष्टाओं का उपदेश वह शब्द । भूतकालस्थ पुरुषों की चेष्टा, सृष्टि आदि पदार्थों की कथा आदि को ऐतिह्य । एक बात को सुनकर, विना सुने कहे, प्रसङ्ग से

दूसरी बात को जान लेना यह अर्थापत्ति । कारण से कार्य होना आदि को सम्भव और आठवां अभाव अर्थात् किसी ने किसी से कहा कि जल ले आ उसने वहां जल के अभाव को जानकर तर्क से जाना कि जहां जल है वहां से लाकर देना चाहिये यह अभाव प्रमाण कहाता है। इन आठ प्रमाणों से जो विपरीत न हो वह २ सत्य और जो २ उलटा हो वह २ मिथ्या है। आप्तों के आचार और सिद्धान्त से परीक्षा करना उसको कहते हैं कि जो २ सत्यवादी सत्यकारी, सत्यमानी, पक्षपातरहित, सबके हितैषी, विद्वान्, सब के सुख के लिये प्रयत्न करें वे धार्मिक लोग आप्त कहाते हैं। उनके उपदेश, आचार, ग्रन्थ और सिद्धान्त से जो युक्त हो वह सत्य और जो विपरीत हो वह मिथ्या है। आत्मा से परीक्षा उसको कहते हैं कि जो २ अपना आत्मा अपने लिये चाहे सो २ सब के लिये चाहना और जो २ न चाहे सो २ किसी के लिये न चाहना। जैसा आत्मा में वैसा मन में, जैसा मन में वैसा क्रिया में होने को जानने जनाने की इच्छा, शुद्ध भाव और विद्या के नेत्र से देखकर सत्य और असत्य का निश्चय करना चाहिये। इन पांच प्रकार की परीक्षाओं से पढ़ने पढ़ाने हारे तथा सब मनुष्य सत्याऽसत्य का निर्णय करके धर्म का ग्रहण और अधर्म का परित्याग करें और करावें।

(प्रश्न) धर्म और अधर्म किसको कहते हैं ?

(उत्तर) जो पक्षपातरहित न्याय, सत्य का ग्रहण असत्य का परित्याग, पांचों परीक्षाओं के अनुकूल आचरण, ईश्वराज्ञा पालन परोपकार करनारूप धर्म, जो इससे विपरीत वह अधर्म कहाता है। क्योंकि जो सब के अविरुद्ध वह धर्म और जो परस्पर विरुद्धाचरण सो अधर्म क्योंकर न कहावेगा। देखो किसी ने किसी से पूछा कि सत्य क्या है ? उसको उसने उत्तर दिया जो मैं मानता हूं। फिर उसने पूछा और जो वह मानता है वा जो मैं मानता हूं वह क्या है ?, उसने कहा कि अधर्म है। यही पक्षपात से मिथ्या और विरुद्धाचार अधर्म। और जब तीसरे ने दोनों से पूछा कि सत्य बोलना धर्म अथवा असत्य ?, तब दोनों ने उत्तर दिया कि सत्य बोलना धर्म और असत्य बोलना अधर्म है, इसी

का नाम धर्म जानो परन्तु यहां पांच परीक्षा की युक्ति से सत्य और असत्य का निश्चय करना योग्य है।

(प्रश्न) जब २ सभा आदि व्यवहारों में जावें तब २ कैसे २ वर्त्तें ?।

(उत्तर) जब सभा में जावें तब दृढ़ निश्चय कर लेवें कि मैं सत्य को जिताऊं और असत्य को हराऊंगा। अभिमान न रक्खे, अपने को बड़ा न माने। अपनी बात का कोई खण्डन करे उस पर क्रुद्ध वा अप्रसन्न न हो। जो कोई कहे उस वचन को ध्यान देकर सुन के जो उसमें कुछ असत्य भान हो उस अंश का खण्डन अवश्य करे और जो सत्य हो तो प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण करे, बड़ाई छोटाई न गिने, व्यर्थ बकवाद न करे, कभी मिथ्या का पक्ष न करे और सत्य को कदापि न छोड़े। ऐसी रीति से बैठे वा उठे कि जिससे किसी को बुरा विदित न हो, सर्वहित पर दृष्टि रक्खे, जिससे सत्य की बढ़ती और असत्य का नाश हो उसको करे, सज्जनों का सङ्ग करे और दुष्टों से अलग रहे जो २ प्रतिज्ञा करे वह २ सत्य से विरुद्ध न हो और उसको सर्वदा यथावत् पूरी करे। इत्यादि कर्म्म सब सभा आदि व्यवहारों में करे।

(प्र०) जड़बुद्धि और तीव्रबुद्धि किसको कहते हैं ?।

(उ०) जो आप तो समझ ही न सके परन्तु दूसरे के समझाने से भी न समझे वह जड़बुद्धि और जो समझाने से झटपट समझे और थोड़े ही समझाने से बहुत समझ जावे वह तीव्रबुद्धि कहाता है। यहां महाजड़ और विद्वान् का दृष्टान्त सुनो—कहीं एक रामदास वैरागी का चेला भूपालदास पाठ करता २ कुए पर पानी भरने को गया, वहां एक पण्डित बैठा था, उसने अशुद्ध पाठ सुनकर कहा कि तूं "स्री गनेसायनमः" ऐसा घोकता है सो शुद्ध नहीं है, किन्तु "श्री गणेशाय नमः" ऐसा शुद्ध पाठ कर। तब वह बोला कि मेरे महन्तजी बड़े पण्डित हैं उन्होंने जैसा मुझको बताया है वैसा ही घोखूंगा, उसने पानी भरकर अपने गुरु के पास जाके कहा कि महाराजजी ! एक बम्मन मेरे पाठ को असुद्ध बतलाता है, तब खाकीजी ने चेलों से कहा कि उस बम्मन को यहां

बुलालाओ, वह गुरु का फटकारा मेरे चेले को क्यों बहकाता और सुद्ध का असुद्ध क्यों बतलाता है ? । चेला गया पण्डितजी को बुला लाया, पण्डित से महन्त बोले कि तू इसके कितने प्रकार के पाठ जानता है ?, पंडित ने कहा कि एक प्रकार का । महन्तजी ने कहा कि तू कुछ भी नहीं जानता, देख मैं तीन प्रकार का पाठ जानता हूं । एक—स्री गनेसाजनम । दूसरा—स्री गनेसापनम । तीसरा—स्री गनेसायनम । (पंडित) महन्तजी ! तुम्हारे पाठ में पांच दोष हैं। प्रथम श, का स । ण, का न । शा, का सा । य, का ज, प बोलना और विसर्जनीय का न बोलना पांच अशुद्धि हैं । महन्तजी बोले—चल बे गुरु के बड़े घर में सब सुद्ध हैं, पंडित चुपकर चले आये क्योंकि "सर्वस्यौषधमस्ति शास्त्रकथितं मूर्खस्य नास्त्यौषधम्" सब का औषध शास्त्र में कहा है परन्तु शठ मनुष्यों का औषध नहीं कहा । ऐसे हठी मनुष्यों से अलग रहे जो वे सुधरा चाहें तो विद्वान् उपदेश करके उनको अवश्य सुधारें ।

(प्र०) जो माता, पिता, आचार्य्य और अतिथि अधर्म करें और कराने का उपदेश करें तो मानना चाहिये वा नहीं ? ।

(उ०) कदापि नहीं । कुमाता, कुपिता सन्तानों को बुरे उपदेश करते हैं कि बेटा ! बिटिया ! तेरा विवाह शीघ्र कर देंगे, किसी की चीज पावे तो उठा लाना, कोई एक गाली दे तो उसको तू पचास गाली दे, लड़ाई, झगड़ा, खेल, चोरी, जारी, मिथ्याभाषण, भांग, मद्य, गांजा, चरस, अफीम खाना, पीना आदि कर्म्म करने में कुछ दोष नहीं, क्योंकि अपनी कुलपरंपरा है। सुनो प्रमाण—"कुलधर्म्मः सनातनः" जो कुल में धर्म पहिले से चला आता है उसके करने में कुछ भी दोष नहीं । (सुसन्तान आह) जो तुमने शीघ्र विवाह करना, किसी की चीज उठा लाना आदि कर्म्म कहे वे दुष्ट मनुष्यों के काम हैं श्रेष्ठों के नहीं, किन्तु श्रेष्ठ तो ब्रह्मचर्य से पूर्ण विद्या पढ़कर स्वयंवर अर्थात् पूर्ण युवावस्था में दोनों की प्रसन्नतापूर्वक विवाह करना, किसी की करोड़ों की चीज जंगल में पड़ी देखकर कभी ग्रहण करने की मन में भी इच्छा न करना आदि कर्म्म किया करते हैं । जो २ तुम्हारे उत्तम कर्म्म और उपदेश हैं उन २ को तो हम

ग्रहण करते हैं अन्य को नहीं, परन्तु तुम कैसे ही हो, हमको तन, मन, धन से तुम्हारी सेवा करना परमधर्म्म है, क्योंकि जैसी तुमने बाल्यावस्था में हमारी सेवा की है वैसी तुम्हारी सेवा हम क्यों न करें ? । (कुसन्तान आह) श्रेष्ठ माता, पिता, आचार्य्य, अतिथियों से अभागिये सन्तान कहते हैं कि हमको खूब खिलाओ, पिलाओ, खेलने दो, हमारे लिये कमाया करो, जब तुम मर जाओगे तब हम ही को सब काम करना पड़ेगा । शीघ्र विवाह कर दो, नहीं तो हम इधर उधर लीला करेंगे ही, बाग में जाके नाच तमाशा करेंगे वा वैरागी हो जायंगे, पढ़ने में बड़ा कष्ट होता है हमको पढ़के क्या करना है, क्योंकि हमारी सेवा करनेवाले तुम तो बने ही हो, हमको सैल सपट्टा, सवारी, शिकारी, नाच, खाने, पीने, ओढ़ने, पहरने के लिये खूब दिया करो नहीं तो हम जब जवान होंगे तब तुम को समझलेंगे "दण्डादण्डि, नखानखि, केशाकेशि, मुष्टामुष्टि, युद्धमेव भविष्यत्यन्यत्किम्" ऐसे २ सन्तान दुष्ट कहाते हैं । उत्तम माता आदि उनसे कहते हैं कि सुनो लड़को ! अभी तुम्हारी पढ़ने गुनने, सत्सङ्ग करने, अच्छी २ बात सीखने, वीर्यनिग्रह और आचार्य आदि की सेवा करने, विद्वान् होने, शरीर और आत्मा को पूर्ण युवावस्था आदि उत्तम कर्म करने की अवस्था है, जो चूकोगे तो फिर पछताओगे, पुनः ऐसा समय तुम को मिलना अतिकठिन है, क्योंकि जबतक हम घर का और तुम्हारे खाने पीने आदि का प्रबन्ध करनेवाले हैं तबतक तुम सुशिक्षाग्रहणपूर्वक सर्वोत्कृष्ट विद्यारूपी धन को संचित करो, यही अक्षय धन है कि जिसको चोर आदि न ले सकते, न भार होता और जितना दान करो उतना ही अधिक २ बढ़ता जाता है । इसके होने से जहां रहोगे वहां सुखी और प्रतिष्ठा पाओगे, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के सम्बन्धी कर्म्मों को जानकर सिद्ध कर सकोगे । हम जब तुमको विद्यारूप श्रेष्ठ गुणों से अलंकृत देखेंगे, तभी हमको परम सन्तोष होगा और जो तुम कोई दुष्ट काम करोगे तो हम अपना भी अभाग्य समझेंगे, क्योंकि हमारे कौन से पापों के फल से हम को दुष्ट सन्तान मिले । क्या तुम नहीं देखते कि जिन मनुष्यों को राज्य, धन प्राप्त भी है परन्तु विद्या और उत्तम शिक्षा के विना नष्ट भ्रष्ट होजावे और श्रेष्ठ विद्या सुशिक्षा से युक्त दरिद्र भी राज्य और

ऐश्वर्य को प्राप्त होते हैं। तुमको चाहिये कि—

यान्यस्माकꣳ सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि ॥ तैत्तिरीय आरण्यके प्रपाठके ७ अनुवाके ११ ॥

जो २ उत्तम चरित्र हैं सो २ करो और कभी हम भी बुरे काम करें उनको कभी मत करो, इत्यादि उत्तम उपदेश और कर्म करने और करानेहारे माता पिता आचार्य्य आदि श्रेष्ठ कहाते हैं।

(प्र०) राजा प्रजा और इष्टमित्र आदि के साथ कैसा २ व्यवहार करें ?।

(उ०) राजपुरुष प्रजा के लिये सुमाता और सुपिता के समान और प्रजापुरुष राजसम्बन्ध में सुसन्तान के सदृश वर्त्तकर परस्पर आनन्द बढ़ावें। मित्र मित्र के साथ सत्य व्यवहारों के लिये आत्मा के समान प्रीति से वर्त्तें, परन्तु अधर्म्म के लिये नहीं। पड़ौसी के साथ ऐसा वर्त्ताव करें कि जैसा अपने शरीर के लिये करते हैं, वैसे ही मित्रादि के लिये भी कर्म किया करें। स्वामी सेवक के साथ ऐसा वर्त्तें कि जैसा अपने हस्तपादादि अङ्गों की रक्षा के लिये वर्त्तते हैं। सेवक स्वामियों के लिये ऐसे वर्त्तें कि जैसे अन्न, जल, वस्त्र और घर आदि शरीर की रक्षा के लिये होते हैं।

(प्र०) ब्रह्मचर्य्य का क्या २ नियम है ?।

(उ०) कम से कम २५ वर्ष पर्यन्त पुरुष और सोलह वर्ष पर्यन्त कन्या को ब्रह्मचर्यसेवन अवश्य करना चाहिये और अड़तालीसवें वर्ष से अधिक पुरुष और चौबीस से अधिक कन्या ब्रह्मचर्य्य का सेवन न करें किन्तु इसके उपरान्त गृहाश्रम का समय है।

(प्र०) प्रमादी ब्रूते—पागल मनुष्य कहता है कि सुनोजी ! कन्याओं का पढ़ना शास्त्रोक्त नहीं, क्योंकि जब वे पढ़ जावेंगी तो मूर्ख पति का अपमान कर इधर उधर पत्र भेजकर अन्य पुरुषों से प्रीति जमा के व्यभिचार किया करेंगी।

(उ०) सज्जनः समाधत्ते—श्रेष्ठ मनुष्य उस को उत्तर देता है सुनोजी ! तुम्हारे कहने से यह आया कि किसी पुरुष को भी न पढ़ना चाहिये, क्योंकि वह भी पढ़कर मूर्ख स्त्री का अपमान और डाक गाड़ी चलाकर इधर उधर अन्य स्त्रियों के साथ सैल सपाटा किया करेगा ।

(प्र०) प्रमादी—हां, पुरुष भी न पढ़ें तो अच्छी बात है क्योंकि पढ़े हुए मनुष्य चतुराई से दूसरों को धोखा देकर अपमान करके अपना मतलब सिद्ध कर लेते हैं ।

(उ०) सज्जन—सुनोजी ! यह विद्या पढ़ने का दोष नहीं, किन्तु आप जैसे मनुष्यों के सङ्ग का दोष है और जो पढ़ना पढ़ाना, धर्म और ईश्वर की विद्या से विरुद्ध है सो तो प्रायः बुरे काम का कारण देखने में आता और जो पढ़ना पढ़ाना उक्त विद्या से सहित है वह तो सब के सुख और उपकार ही के लिये होता है ।

(प्र०) कन्याओं के पढ़ने में वैदिक प्रमाण कहां है ? ।

(उ०) सुनो प्रमाणः—

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् ॥ अथर्ववे० कां० ११ । सू० ५ । मं० १८ ॥

अर्थ—जैसे लड़के लोग ब्रह्मचर्य्य करते हैं, वैसे कन्या लोग ब्रह्मचर्य करके वर्णोच्चारण से लेकर वेदपर्यन्त शास्त्रों को पढ़कर प्रसन्न करके स्वेच्छा से पूर्ण युवावस्था वाले विद्वान् पति को वेदोक्त रीति से ग्रहण करें । क्या अधर्मी से भिन्न कोई ऐसा भी मनुष्य होगा कि किसी पुरुष वा स्त्री को विद्या के पढ़ने से रोककर मूर्ख रक्खा चाहे और वेदोक्त प्रमाण का अपमान करके अपना कल्याण किया चाहे ।

(प्र०) विद्या को किस २ क्रम से प्राप्त हो सकता है ? ।

(उ०) शुद्ध वर्णोच्चारण, व्यवहार की शुद्धि, पुरुषार्थ, धार्मिक विद्वानों का सङ्ग, विषयकथाप्रसङ्ग का त्याग, सुविचार से व्याकरण आदि शब्द अर्थ और सम्बन्धों को यथावत् जानकर उत्तम क्रिया करके सर्वथा साक्षात् करता जाय। जिस २ विद्या के लिये जो २ साधनरूप सत्यग्रन्थ हैं उन २ को पढ़कर वेदादि पढ़ने के योग्य ग्रन्थों के अर्थों को जानना आदि कर्म शीघ्र विद्वान् होने के साधन हैं।

(प्र०) विना पढ़े हुए मनुष्यों की क्या गति होगी ?।

(उ०) दो, एक अच्छी और दूसरी बुरी। अच्छी उसको कहते हैं कि जो मनुष्य विद्या पढ़ने का सामर्थ्य तो नहीं रक्खे और वह धर्माचरण किया चाहे तो विद्वानों के सङ्ग और अपने आत्मा की पवित्रता और अविरुद्धता से धर्मात्मा अवश्य हो सकता है। क्योंकि सब मनुष्यों का विद्वान् होना तो सम्भव ही नहीं, परन्तु धार्मिक होने का सम्भव सब के लिये है कि जैसे अपने लिये सुख की प्राप्ति और दुःख के त्याग, मान्य होने, अपमान के न होने आदि की अभिलाषा करते हैं तो दूसरों के लिये क्यों न करनी चाहिये ?। जब किसी को कोई चोरी वा किसी पर झूठा जाल लगाता है तो क्या उसको अच्छा लगता और क्या जिस २ कर्म के करने में अपने आत्मा को शङ्का, लज्जा और भय नहीं होता वह २ धर्म किसी को विदित नहीं होता ? क्या जो कोई विरोध अर्थात् आत्मा में कुछ और वाणी में कुछ भिन्न और क्रिया में विलक्षणता करता है वह अधर्मी और जिसके जैसा आत्मा में वैसा वाणी और जैसा वाणी में वैसा ही क्रिया में आचरण है वह धर्मात्मा नहीं है ?। प्रमाण—

असुर्य्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥ १ ॥

(य० अ० ४० । मं० ३)

अर्थ—(ये) जो (आत्महनः) आत्महत्यारे अर्थात् आत्मस्थ ज्ञान से विरुद्ध कहने, मानने और करनेहारे हैं (ते) वे ही (लोकाः) लोग (असु-

र्य्या नाम) असुर अर्थात् दैत्य राक्षस नाम वाले मनुष्य हैं और वे ही (अन्धेन तमसावृताः) बड़े अधर्मरूप अन्धकार से युक्त होके जीते हुए और मरण को प्राप्त होकर (तान्) दुःखदायक देहादि पदार्थों को (अभिगच्छन्ति) सर्वथा प्राप्त होते हैं और जो आत्मरक्षक अर्थात् आत्मा के अनुकूल ही कहते, मानते और आचरण करते हैं वे मनुष्य विद्यारूप शुद्ध प्रकाश से युक्त होकर देव अर्थात् विद्वान् नाम से प्रख्यात हैं। वे ही सर्वदा सुख को प्राप्त होकर मरने के पीछे भी आनन्दयुक्त देहादि पदार्थों को प्राप्त होते हैं।

(प्र०) विद्या और अविद्या किसको कहते हैं ?।

(उ०) जिससे पदार्थ यथावत् जानकर न्याययुक्त कर्म किये जावें वह विद्या और जिससे किसी पदार्थ का यथावत् ज्ञान न होकर अन्यायरूप कर्म किये जायं वह अविद्या कहाती है।

(प्र०) न्याय और अन्याय किसको कहते हैं ?।

(उ०) जो पक्षपात रहित सत्याचरण करना है वह न्याय और जो पक्ष-पात से मिथ्याचरण करना है वह अन्याय कहाता है।

(प्र०) धर्म किसको कहते हैं ?।

(उ०) जो न्यायाचरण सब के हित का करना आदि कर्म हैं उनको धर्म और जो अन्यायाचरण सब के अहित के काम करने हैं उनको अधर्म जानो।

महामूर्ख का लक्षण

एक प्रियदास का चेला भगवान्दास अपने गुरु से बारह वर्ष पर्यन्त पढ़ा, एक दिन उनसे पूछा कि महाराज ! मुझ को संस्कृत बोलना नहीं आया, गुरु बोले–सुन बे ! पढ़ने पढ़ाने से विद्या नहीं आती, किन्तु गुरु की कृपा से आजाती है। जब गुरु सेवा से प्रसन्न होता है तब जैसे कुंजियों से ताला खोलकर मकान के सब पदार्थ झट देखने में आते हैं, वे ऐसी युक्ति बतला देते हैं कि

हृदय के कपाट खुल जाकर सब पदार्थविद्या तत्क्षण आजाती है । सुन ! संस्कृत बोलने की तो सहज युक्ति है । (भगवान्दास) महाराजजी ! वह क्या है ? । (गुरु) संसार में जितने शब्द संस्कृत वा देशभाषा में हों उन पर एक २ विन्दु धरने से सब शुद्ध संस्कृत होजाते हैं । अच्छा तो महाराजजी ! लोटा, जल, रोटी, दाल, शाक आदि शब्दों पर विन्दु धर के कैसे संस्कृत होजाते हैं । देखो—लोंटां । जंलं । रोंटीं । दांलं । शांकं । चेला बोला वाह २ गुरु के विना क्षणमात्र में पूरी विद्या कौन बतला सकता है ? । भगवान्दास ने अपने आसन पर जाकर विचार के यह श्लोक बनाया:—

बांपं आंजां नंमं स्कृंत्यं पंरं पांजं तंथैंवं चं ।
मंयां भंगवांनंदांसेंनं गींतां टींकां कंरोंम्यंहंम् ॥ १ ॥

जब उसने प्रातःकाल उठकर हर्षित होके गुरु के पास जाकर श्लोक सुनाया तब तो प्रियदासजी भी बहुत प्रसन्न हुए कि जो चेले हों तो तेरे ही समान गुरु के वचन पर विश्वासी और गुरु हो तो मेरे सदृश हो, ऐसे मनुष्यों का क्या औषध है विना अलग रहने के ।

(प्रश्न) विद्या पढ़ते समय वा पढ़ के किसी दूसरे को पढ़ावें वा नहीं ? । (उत्तर) बराबर पढ़ाता जाय, क्योंकि पढ़ने से पढ़ाने में विद्या की वृद्धि अधिक होती है । पढ़ के आप अकेला विद्वान् रहता और पढ़ाने से दूसरा भी हो जाता है । उत्तरोत्तर काल में विद्या की वृद्धि होती ही है। जो विद्या को प्राप्त होता है वह मनुष्य परोपकारी धार्मिक अवश्य होता है । क्योंकि जैसे अन्धा कुए में गिर पड़ता है वैसे देखनेहारा कभी नहीं गिरता और अविद्या की हानि होने आदि प्रयोजन पढ़ाने से ही सिद्ध होते हैं ।

(प्रश्न) क्षुद्रबुद्धिरुवाच—सभी विद्वान् हो जावेंगे तो हमको कौन पूछेंगे ? और आप ही आप सब पुस्तकों को बांचकर अर्थ समझ लेंगे, पूजापाठ में न बुलावेंगे । विशेष विघ्न धनाढ्य और राजाओं के पढ़ाने में है, क्योंकि उनसे हम लोगों की बड़ी जीविका होती है । जब किसी शूद्र ने उनके पास पढ़ने की

इच्छा से जाके कहा कि मुझको आप कुछ पढ़ाइये तो (अल्पबुद्धि) तू कौन है ? क्या काम करता है ? और तेरे घर में क्या व्यवहार होता है ? ।

(उत्तर) मैं तो महाराज आपका दास शूद्र हूं, कुछ जिमीदारी खेतीबाड़ी भी होती और घर में कुछ लेन देन का भी व्यवहार है । (नष्टमति) छी छी छी ! ! ! तुझको सुनने और हमको सुनाने का भी अधिकार नहीं है, जो तू अपना धर्म्म छोड़कर हमारा धर्म्म करेगा तो क्या नरक में न पड़ेगा ? । हां तुझ को वेदों से भिन्न ग्रन्थों की कथा सुनने का तो अधिकार है । जब तेरी सुनने की इच्छा हो तब हमको बुला लेना सुना देंगे, परन्तु आपसे आप मत बांच लेना नहीं तो अधर्मी हो जावेगा, जो कुछ भेट पूजा लाया हो सो धर के चला जा । और सुन ! हमारे वचन को मान ले, नहीं तो तेरी मुक्ति कभी नहीं होगी, खूब कमा और हमारी सेवा किया कर इसी में तेरा कल्याण और तुझ पर ईश्वर प्रसन्न होगा । (दास) महाराज मुझ को तो पढ़ने की बहुत इच्छा है, क्या विद्या पढ़ना बुरी चीज है कि दोष लगजाय । (बकवृत्ति) बस २ तुझको किसी ने बहका दिया है जो हमारे सामने उत्तर प्रत्युत्तर करता है । हाय ! क्या करें, कलियुग आगया, विद्या को पढ़कर हमारा उपदेश नहीं मानते, बिगड़ गये । (दास) क्या महाराज ! हमारे ही ऊपर कलियुग ने चढ़ाई करदी कि जो हम ही को पढ़ने और मुक्ति से रोकता है । (स्वार्थी) हां २ जो सत्ययुग होता तो तू हमारे सामने ऐसा बर २ कर सकता ? । (दास) अच्छा तो महाराज ! आप जो नहीं पढ़ाते तो हमको जो कोई पढ़ावेगा उसके चेले हो जावेंगे। (अन्धकारी) सुन २ कलियुग में और क्या होना है ? । (दास) आपकी हम सेवा करें उसके बदले आप हमको क्या देंगे ? । (मार्जारलिङ्गी) आशीर्वाद । (दास) उस आशीर्वाद से क्या होगा ? । (धूर्त) तुम्हारा कल्याण । (दास) जब आप हमारा कल्याण चाहते हैं तो क्या विद्या के पढ़ने से अकल्याण होता है ? । (पोप उवाच) अब क्या तू हमसे शास्त्रार्थ करता है ? ।

(प्रश्न) पोप का क्या अर्थ है ? ।

(उत्तर) यह शब्द अन्य देश की भाषा का है । वहां तो इसका अर्थ

पिता और बड़े का है, परन्तु यहां जो केवल धूर्तता करके अपना मतलब सिद्ध करनेहारा हो उसी का नाम है।

(प्रश्न) जो विद्या पढ़ा हो और उसमें धार्मिकता न हो तो उसको विद्या का फल होगा वा नहीं ?।

(उत्तर) कभी नहीं, क्योंकि विद्या का यही फल है कि जो मनुष्य को धार्मिक होना अवश्य है, जिसने विद्या के प्रकाश से अच्छा जानकर न किया और बुरा जानकर न छोड़ा तो क्या वह चोर के समान नहीं है ? क्योंकि जैसे चोर भी चोरी को बुरी जानता हुआ करता और साहूकारी को अच्छी जान के भी नहीं करता वैसा ही जो पढ़ के भी अधर्म्म को नहीं छोड़ता और धर्म को नहीं करनेहारा मनुष्य है।

(प्र०) जब कोई मनुष्य मन से बुरा जानता है परन्तु किसी विशेष भय आदि निमित्तों से नहीं छोड़ सकता और अच्छे काम को नहीं कर सकता, तब भी क्या उसको दोष वा गुण होता है अथवा नहीं ?।

(उ०) दोष ही होता है, क्योंकि जो उसने अधर्म्म करलिया उसका फल अवश्य होगा और जानकर भी धर्म्म को न किया उसको सुखरूप फल कुछ भी नहीं होगा, जैसे कोई मनुष्य कुए में गिरना बुरा जान के भी गिरे, क्या उसको दुःख न होगा और अच्छे मार्ग में चलना जानकर भी न चले, उसको सुख कभी होगा ?। इसलियेः—

यथा मतिस्तथोक्तिर्यथोक्तिस्तथा मतिः, सत्पुरुषस्य लक्षणमतो विपरीतमसत्पुरुषस्येति।

वही सत्पुरुष का लक्षण है कि जैसा आत्मा का ज्ञान वैसा वचन और जैसा वचन वैसा ही कर्म्म करना, और जिसका आत्मा से मन, उससे वचन और वचन से विरुद्ध कर्म करना है वही असत्पुरुष का लक्षण है। इसलिये मनुष्यों को उचित है कि सब प्रकार का पुरुषार्थ करके अवश्य धार्मिक हों।

(प्र०) पुरुषार्थ किसको कहते और उसके कितने भेद हैं ? ।

(उ०) उद्योग का नाम पुरुषार्थ और उसके चार भेद हैं। एक–अप्राप्त की इच्छा। दूसरा–प्राप्त की यथावत् रक्षा। तीसरा–रक्षित की वृद्धि और चौथा–बढ़ाये हुए पदार्थों का धर्म में खर्च करना पुरुषार्थ के भेद हैं। जो २ न्यायधर्म से युक्त क्रिया से अप्राप्त पदार्थों की अभिलाषा करके उद्योग करना। उसी प्रकार उसकी सब प्रकार से रक्षा करनी कि वह पदार्थ किसी प्रकार से नष्ट भ्रष्ट न होजाय। उसको धर्मयुक्त व्यवहार से बढ़ाते जाना। और बढ़े हुए पदार्थ को उत्तम व्यवहारों में खर्च करना, ये चार भेद हैं।

(प्र०) किस २ प्रकार से किस २ व्यवहार में तन, मन, धन लगाना चाहिये ? ।

(उ०) निम्नलिखित चारों में। विद्या की वृद्धि, परोपकार, अनाथों का पालन और अपने सम्बन्धियों की रक्षा। विद्या के लिये शरीर का आरोग्य और उससे यथायोग्य क्रिया करनी, मन से अत्यन्त विचार करना कराना और धन से अपने सन्तान और अन्य मनुष्यों को विद्यादान करना कराना चाहिये। परोपकार के लिये शरीर और मन से अत्यन्त उद्योग और धन से नाना प्रकार के व्यवहार तथा कारखाने खड़े करने कि जिनमें अनेक मनुष्य कर्म्म करके अपना २ जीवन सुख से किया करें। अनाथ उनको कहते हैं कि जिनका सामर्थ्य अपने पालन करने का भी न हो जैसे कि बालक, वृद्ध, रोगी, अङ्गभङ्ग आदि हैं, उनको भी तन, मन, धन लगाकर सुखी रख के जिस २ से जो २ काम बन सके उस २ से वह २ कार्य्य सिद्ध कराना चाहिये कि जिससे कोई आलसी होके नष्टबुद्धि न हो और अपने सन्तान आदि मनुष्यों के खान, पान अथवा विद्या की प्राप्ति के लिये जितना तन, मन, धन लगाया जाय उतना थोड़ा है, परन्तु किसी को निकम्मा कभी न रहना और न रखना चाहिये।

(प्र०) विवाह करके स्त्री पुरुष आपस में कैसे २ वर्त्तें ? ।

(उ०) कभी कोई किसी का अप्रियाचरण अर्थात् जिस २ व्यवहार से एक दूसरे को कष्ट होवे सो काम न करें, जैसे कि व्यभिचार आदि। एक दूसरे को देखकर प्रसन्न हों, एक दूसरे की सेवा करें। पुरुष भोजन वस्त्र आभूषण और प्रियवचन आदि व्यवहारों से स्त्री को सदा प्रसन्न रक्खे और घर के सब कृत्य उसके आधीन करे। स्त्री भी अपने पति से प्रसन्नवदन खान पान प्रेमभाव आदि से उसको सदा हर्षित रक्खे कि जिससे उत्तम सन्तान हो और सदा दोनों में आनन्द बढ़ता जाय।

(प्र०) ऐसा न करे तो क्या बिगाड़ है ?।

(उ०) सर्वस्वनाश। क्योंकि परस्पर प्रीति के विना न गृहाश्रम का किञ्चित् सुख, न उत्तम सन्तान और न प्रतिष्ठा वा लक्ष्मी आदि श्रेष्ठ पदार्थों की प्राप्ति कभी होती है। सुनो मनुजी क्या कहते हैं:—

सन्तुष्टो भार्य्यया भर्त्ता भर्त्रा भार्या तथैव च।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ॥ १ ॥ अ० ४ ॥

जिस कुल में स्त्री से पुरुष और पुरुष से स्त्री आनन्दित रहती है उसी में निश्चित कल्याण स्थित रहता है परन्तु यह बात कब होगी कि जब ब्रह्मचर्य्य से विद्या शिक्षा ग्रहण करके युवावस्था में परस्पर परीक्षा करके प्रसन्नतापूर्वक स्वयंवर ही विवाह करेंगे। क्योंकि जितना सुख, विद्या और उत्तम प्रजा की हानि बाल्यावस्था में विवाह से होती है उतना ही सुखलाभ ब्रह्मचर्य्य से शरीर और आत्मा की पूर्ण युवावस्था में परस्पर प्रीति से विवाह करने से होता है। जो मनुष्य परस्पर प्रीति से स्वयंवर विवाह करके सन्तानों को उत्पन्न करते हैं उनके सन्तान भी ऐसे योग्य होते हैं कि लाखों में एक ही होते हैं कि जिन में बुद्धि, बल, पराक्रम, धर्म्म और सुशीलतादि शुभगुण पूर्ण होके, महाभाग्यशाली कहाकर अपने कुल को अतिप्रशंसित कर देते हैं।

(प्र०) मनुष्यपन किसको कहते हैं ?।

(उ०) इस मनुष्यजाति में एक ऐसा गुण है कि वैसा किसी दूसरी जाति में नहीं पाया जाता ।

(प्र०) वह कौनसा है ? ।

(उ०) जितने मनुष्य से भिन्नजातिस्थ प्राणी हैं उनमें दो प्रकार का स्वभाव है । बलवान् से डरना, निर्बल को डराना और पीड़ा कर अर्थात् दूसरे का प्राण तक निकाल के अपना मतलब साध लेना देखने में आता है । जो मनुष्य ऐसा ही स्वभाव रखता है उसको भी इन्हीं जातियों में गिनना उचित है, परन्तु जो निर्बलों पर दया, उनका उपकार और निर्बलों को पीड़ा देने वाले अधर्मी बलवानों से किञ्चिन्मात्र भी भय शङ्का न करके इनको परपीड़ा से हटा के निर्बलों की रक्षा तन, मन और धन से सदा करना है वही मनुष्यजाति का निज गुण है, क्योंकि जो बुरे कामों के करने में भय और सत्य कामों के करने में किञ्चित् भी भय शङ्का नहीं करते वे ही मनुष्य धन्यवाद के पात्र कहाते हैं ।

(प्र०) क्योंजी ! सर्वथा सत्य से तो कोई व्यवहार सिद्ध नहीं हो सकता । देखो ! व्यापार में सत्य बात कहदें तो किसी पदार्थ का विक्रय न हो, हार जीत के व्यवहारों में मिथ्या साक्षी न खड़े करें तो हार होजाय, इत्यादि हेतुओं से सब ठिकानों में सत्यभाषणादि कैसे कर सकते हैं ? । (उ०) यह बात महामूर्खता की है । जैसे किसी ग्राम में लालबुझक्कड़ रहता था कि जिसको पांचसौ ग्रामवाले महापण्डित और एक गुरु मानते थे । एक रात में किसी राजा का हाथी उसी ग्राम के समीप होकर कहीं स्थानान्तर को चला गया था, उसके पग के चिह्न जहां तहां मार्ग में बन रहे थे, उनको देख के खेती करनेहारे ग्रामीण लोगों ने परस्पर पूछा कि भाई ! यह किसका खोज है ?, सबने कहा कि हम नहीं जानते । फिर सब की सम्मति से लालबुझक्कड़ को बुलाके पूछा कि तुम्हारे विना कोई भी मनुष्य इसका समाधान नहीं कर सकता । कहो यह किस के पग का चिह्न है ? जब वह रोया और रोकर हँसा तब सबने पूछा कि तुम क्यों रोये और हँसे ? । तब वह बोला कि जब मैं मरजाऊंगा तब ऐसी २

बातों का उत्तर विना मेरे कौन दे सकेगा और हँसा इसलिये कि इसका उत्तर तो सहज है। सुनो! "लालबुझक्कड़ बूझिया और न बूझा कोय। पग में चक्की बांध के हिरना कूदा होय॥" जो जंगल में हिरन होता है वह किसी जंगली मनुष्य की चक्की के पाटों को अपने पगों में बांध के कूदता चला गया है, तब सुनकर सब लोगों ने वाह २ बोलकर उसको धन्यवाद दिया कि तुम्हारे सदृश पृथिवी में कोई भी पण्डित नहीं है कि ऐसी २ बातों का उत्तर देसके। जब वह लालबुझक्कड़ ग्राम की ओर आता ही था इतने में एक ग्रामीण की स्त्री ने जंगल से बेर लाके जो अपना लड़का छप्पर के खम्भे को पकड़ के खड़ा था उसको कहा कि बेटा बेर ले, तब उसने हाथों की अंजली बांध के बेरों को ले लिया, परन्तु जब छप्पर की थूनी हाथों के बीच में रहने से उसका मुख बेर तक न पहुंचा तब लड़का रोने लगा, उसको रोते देखकर उसकी मा और बाप भी रोने लगे कि हाय मेरे लड़के को खम्भे ने पकड़ लिया रे ३! तब उसको सुनके अड़ौसी पड़ौसी भी रोने लगे कि हाय रे दय्या इसके लड़के को खम्भे ने कैसा पकड़ लिया है कि छोड़ता ही नहीं। तब किसी ने कहा कि लालबुझक्कड़ को बुलाओ, उसके विना कोई भी लड़के को नहीं छुड़ा सकेगा। तब एक मनुष्य उसको शीघ्र बुला लाया, फिर उसको पूछा कि यह लड़का कैसे छूट सकता है? तब वह बोला कि सुनो लोगो! दो प्रकार से यह लड़का छूट सकता है एक तो यह है कि कुहाड़ा लाके लड़के का एक हाथ काट डालो अभी छूट जाय और दूसरा उपाय यह है कि प्रथम छप्पर को उठाके नीचे धरो फिर लड़के को थूनी के ऊपर से उतार ले आओ, तब लड़के का बाप बोला कि हम दरिद्र मनुष्य हैं हमारा छप्पर टूट जायगा तो फिर छाना कठिन है, तब लालबुझक्कड़ बोला कि लाओ कुहाड़ा, फिर क्या देख रहे हो, कुहाड़ा लाके जबतक हाथ काटने को तैयार हुए तबतक दूसरे ग्राम से एक बुद्धिमती स्त्री भी हल्ला सुनकर वहां पहुंच कर देख के बोली कि इसका हाथ मत काटो मैं इस लड़के को छुड़ा देती हूं। जब वह खम्भे के पास जाके लड़के की अञ्जली के नीचे अपनी अञ्जली करके बोली कि बेटा मेरे हाथ में बेर छोड़ दे तब वह बेर छोड़ के अलग होगया। फिर उसको बेर देदिये

खाने लगा। तब तो बहुत क्रुद्ध होकर लालबुझक्कड़ बोला कि यह लड़का छः महीने के बीच मरजायगा, क्योंकि जैसा मैंने कहा था वैसा ही करते तो न मरता। तब तो उस के मा बाप घबरा के बोले कि अब क्या करना चाहिये। तब उस स्त्री ने समझाया कि यह बात झूठ है और जो हाथ के काटने से अभी यह मरजाता तो तुम क्या करते ? मरण से बचने का कोई औषध नहीं। तब उनका घबराहट छूट गया। वैसे जो मनुष्य महामूर्ख हैं वे ऐसा समझते हैं कि सत्य से व्यवहार का नाश और झूठ से ही व्यवहार की सिद्धि होती है। परन्तु जब किसी को कोई एक व्यवहार में झूठ समझले तो उस की प्रतिष्ठा और विश्वास सब नष्ट होकर उस के सब व्यवहार नष्ट होते जाते और जो सब व्यवहारों में झूठ को छोड़कर सत्य ही कहते हैं उनको लाभ ही लाभ होते हैं हानि कभी नहीं। क्योंकि सत्य व्यवहार करने का नाम धर्म और विपरीत का अधर्म है। क्या धर्म का सुखलाभ रूपी और अधर्म का दुःखरूपी फल नहीं होता ?, प्रमाणः—

इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि ॥ यजु० ॥ अ० १ । मं० ५ ॥ सत्यमेव जयति नाऽनृतं, सत्येन पन्था विततो देवयानः। येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम् ॥ मुण्ड० ३ । खं० १ । मं० ६ ॥ न सत्यात्परमो धर्म्मो नाऽनृतात्पातकं परम् ॥ ३ ॥ इत्यादि ॥

अर्थ—मनुष्य में मनुष्यपन यही है कि सर्वथा झूठ व्यवहारों को छोड़कर सत्य व्यवहारों को सदा ग्रहण करे ॥ १ ॥ क्योंकि सर्वदा सत्य ही का विजय और झूठ का पराजय होता है। इसलिये जिस सत्य से चल के धार्मिक ऋषि लोग जहां सत्य की निधि परमात्मा है उस को प्राप्त होकर आनन्दित हुए थे और अब भी होते हैं उसका सेवन मनुष्य लोग क्यों न करें। यह निश्चित है कि न सत्य से परे कोई धर्म और न असत्य से परे कोई अधर्म है। इससे धन्य मनुष्य वे हैं जो सब व्यवहारों को सत्य ही से करते और झूठ से युक्त कर्म किञ्चिन्मात्र भी नहीं करते हैं। दृष्टान्त—एक किसी अधर्मी मनुष्य ने किसी अधर्मी बजाज की दुकान पर जाकर कहा कि यह वस्त्र कितने आने गज देगा।

वह बोला कि सोलह आने, तुम भी कुछ कहो। बजाज और ग्राहक दोनों जानते ही थे कि यह दश आने गज का कपड़ा है, परन्तु अधर्मी झूठ बोलने में कभी नहीं डरते। (ग्राहक) छः आने गज दो और सच २ लेने देने की बात करो। (बजाज) अच्छा तो तुमको दो आने छोड़ देते हैं चौदह आने दो। (ग्राहक) है तो टोटा परन्तु सात आने लेलो। (बजाज) अच्छा तो सच २ कहूं। (ग्राहक) हां। (बजाज) चलो एक आना टोटा ही सही तेरह आने दो तुमको लेना हो तो लो। (ग्राहक) मैं सच २ कहता हूं कि इसका आठ आने से अधिक कोई भी तुमको न देगा। (बजाज) तुमको लेना हो तो लो न लेना हो तो मत लो, परमेश्वर की सौगन्द बारह आने गज तो मुझको पड़ा है, तुमको भला मनुष्य जानकर मैं देदेता हूं। (ग्राहक) धर्म की सौगन्द, मैं सच कहता हूं तुझको देना हो तो दे, पीछे पछतावेगा, मैं तो दूसरे की दूकान से लेलूंगा, क्या तुम्हारी एक ही दुकान है ?, नव आने गज देदो नहीं तो मैं जाता हूं। (बजाज) तुमने कभी ऐसा खरीदा भी है? नव आने गज लाओ मैं सौ रुपये का लेता हूं। (ग्राहक) धीरे २ चला कि मुझको यह बुलाता है वा नहीं। (बजाज) तिरछी नजर से देखता रहा कि देखें यह लौटता है वा नहीं। जब न लौटा तब बोला सुनो ! इधर आओ। (ग्राहक) क्या कहते हो, नव आने पर दोगे ?। (बजाज) ए लो धर्म से कहता हूं कि ग्यारह आने भी दोगे ?। (ग्राहक) साढ़े नव आने लो कहकर कुछ आगे चला, बजाज ने समझा कि हाथ से गया, अजी इधर आओ २। (ग्राहक) क्यों तुम देर लगाते हो व्यर्थ काल जाता है। (बजाज) मेरे बेटे की सौगन्द तुम इसको न लोगे तो पछताओगे, अब मैं सत्य ही कहता हूं साढ़े दश आने देदो नहीं तो तुम्हारी राजी। (ग्राहक) मेरी सौगन्द तुम ने दो आने अधिक लिये हैं अच्छा दश आने देता हूं इतने का तो नहीं। (बजाज) अच्छा सवादश आने भी दोगे ?। (ग्राहक) नहीं २। (बजाज) अच्छा आओ बैठो, कै गज लोगे ?। (ग्राहक) सवागज। (बजाज) अजी कुछ अधिक लो। (ग्राहक) अच्छा नमूना ले जाते हैं। अब तुम्हारी दुकान देख ली फिर कभी आवेंगे तो बहुत लेंगे। बजाज ने नापने में कुछ सरकाया। (ग्राहक) अजी देखें तो तुमने कैसा नापा ?। (बजाज)

क्या विश्वास नहीं करते हो, हम साहूकार हैं व टट्टा है, हम कभी झूठ कहते और करते हैं ? । (ग्राहक) हांजी तुम बड़े सच्चे हो । एक रुपया कहकर दश आने तक आये, छः आना घट गये, अनेक सौगन्दें खाईं । (बजाज) वाहजी वाह ! तुम भी बड़े सच्चे हो छः आने कहकर दश आने तक देने को तैयार हो, अनेक सौगन्दें खा २ कर आये, सौदा झूठ के विना कभी नहीं होसकता। (ग्राहक) तू तो बड़ा झूठा है । (बजाज) क्या तू नहीं है क्योंकि एक गज कपड़े के लिये कोई भी भला मनुष्य इतना झगड़ा करता है । (ग्राहक) तू झूठा तेरा बाप, हमारी सात पीढ़ी में कोई झूठा भी हुआ है ? । (बजाज) तू झूठा तेरी सातपीढ़ी भी झूठी । ग्राहक ने ले जूता एक मार दिया, बजाज ने गज चट मारा, अड़ौसी पड़ौसी दुकानदारों ने जैसे तैसे छुड़ाया । (बजाज) चल २ जा तेरे जैसे लाखों देखे हैं । (ग्राहक) चल बे तेरे जैसे जुवाचोर टट-पूंजिये दुकानदार मैंने करोड़ों देखे हैं । (अड़ौसी पड़ौसी) अजी झूठ के विना कभी सौदा भी होता है ?, जाओ जी तुम अपनी दुकान पर बैठो और जाओ तुम अपने घर को । (बजाज) यह बड़ा दुष्ट मनुष्य है । (ग्राहक) अबे मुख सम्हाल के बोल । (बजाज) तू क्या करलेगा ? । (ग्राहक) जो मैंने किया सो तैंने देख लिया और कुछ देखना हो तो दिखलादूं । (बजाज) क्या तू गज से न पीटा जायगा, फिर दोनों लड़ने को दौड़े जैसे तैसे लोगों ने अलग २ कर दिये। ऐसे ही सर्वत्र झूठे लोगों की दुर्दशा होती है । धार्म्मिकों का दृष्टान्त—(ग्राहक) इस दुशाले का क्या मूल्य है । (बजाज) पांचसौ रुपये । (ग्राहक) अच्छा लीजिये । (बजाज) लो दुशाला ॥ सच्चे दुकानदार के पास झूठा ग्राहक गया, इस दुशाले का क्या लोगे । (बजाज) अढ़ाईसौ रुपये । (ग्राहक) दोसौ लो । (सेठ) जाओ यहां तुम्हारे लिये सौदा नहीं है । (ग्राहक) अजी कुछ तो कम लो । (साहूकार) यहां झूठ का व्यवहार नहीं है, बहुत मत बोलो लेना हो तो लो नहीं चले जाओ । (ग्राहक) दूसरी बहुत दुकानों में माल देख, मूल्य करके, फिर वहीं आके, अढ़ाईसौ रुपये देकर दुशाला लेगया । सच्चा ग्राहक झूठे दुकानदार के पास जाकर बोला कि इस पीताम्बर का क्या लोगे ? । (बजाज) पच्चीस रुपये । (ग्राहक) बारह रुपये का है देना हो

तो दो, कह कर चलने लगा। (बजाज) अजी अठारह दो। (ग्राहक) नहीं। (बजाज) चौदह दो। (ग्राहक) नहीं। (बजाज) तेरह दो। (ग्राहक) नहीं। (बजाज) अच्छा तो साढ़ेबारह ही दो। (ग्राहक) नहीं। (बजाज) सवाबारह दो। (ग्राहक) नहीं। (बजाज) अच्छा बारह का ही ले जाओ। (ग्राहक) लाओ, लो रुपये। ऐसे धार्म्मिकों को सदा लाभ ही लाभ होता है और झूठों की दुर्दशा होकर दिवाले ही निकल जाते हैं। इसलिये सब मनुष्यों को अत्यन्त उचित है कि सर्वथा झूठ छोड़कर सत्य ही से सब व्यवहार करें, जिससे धर्म्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त होकर सदा आनन्द में रहें।

(प्र०) मनुष्य का आत्मा सदा धर्म्म और अधर्म्मयुक्त किस २ कर्म्म से होता है ?।

(उ०) जबतक मनुष्य सर्वान्तर्य्यामी, सर्वद्रष्टा, सर्वव्यापक, सर्वकर्मों के साक्षी परमात्मा से नहीं डरते अर्थात् कोई कर्म्म ऐसा नहीं है जिसको वह न जानता हो। सत्यविद्या, सुशिक्षा, सत्पुरुषों का सङ्ग, उद्योग, जितेन्द्रियता, ब्रह्मचर्य्य आदि शुभगुणों के होने और लाभ के अनुसार व्यय करने से धर्मात्मा होता है और जो इससे विपरीत है वह धर्मात्मा कभी नहीं हो सकता, क्योंकि जो राजा आदि अल्पज्ञ मनुष्यों से डरता और परमेश्वर से भय नहीं करता वह क्योंकर धर्म्मात्मा हो सकता है, क्योंकि राजा आदि के सामने बाहर की अधर्म्मयुक्त चेष्टा करने में तो भय होता है परन्तु आत्मा और मन में बुरी चेष्टा करने में कुछ भी भय नहीं होता, क्योंकि ये भीतर का कर्म नहीं जान सकते। इससे आत्मा और मन का नियम करनेहारा राजा एक आत्मा और दूसरा परमेश्वर ही है मनुष्य नहीं। और वे जहां एकान्त में राजादि मनुष्यों को नहीं देखते वहां तो बाहर से भी चोरी आदि दुष्ट कर्म करने में कुछ भी शङ्का नहीं करते। दृष्टान्त—जैसे एक धार्म्मिक विद्वान् के पास पढ़ने के लिये दो नवीन विद्यार्थियों ने आके कहा कि आप हमको पढ़ाइये। (विद्वान्) अच्छा हम तुमको पढ़ावेंगे परन्तु हम कहें सो एक काम तुम दोनों जने कर लाओ। इस एक २ लड़के को एकान्त में ले जा के जहां कोई भी न देखता हो वहां इसका कान पकड़

कर दो चार वार शीघ्र २ उठा बैठा के धीरे से एक चपेटिका मार देना। दोनों को ले के चले, एक ने तो चारों ओर देखा कि यहां कोई नहीं देखता उक्त काम करके झट चला आया, दूसरा पण्डित के वचन के अभिप्राय को विचारने लगा कि मुझ को लड़का और मैं लड़के को भी देखता ही हूं फिर यह काम कैसे कर सकता हूं, पण्डित के पास आया। तब जो आया था उससे पण्डित ने पूछा कि जो हमने कहा था सो तू कर आया ? उसने कहा हां, दूसरे को भी पूछा कि तू भी कर आया वा नहीं ?, उसने कहा नहीं। क्योंकि आपने मुझ को ऐसा कहा था कि जहां कोई न देखता हो वहां यह काम करना सो ऐसा स्थान मुझ को कहीं भी नहीं मिल सकता। प्रथम तो मैं इस लड़के को और लड़का मुझ को देखता ही था, पण्डित ने कहा कि तू बुद्धिमान् और धार्मिक है मुझसे पढ़। दूसरे से कहा कि तू पढ़ने के योग्य नहीं है यहां से चला जा, वैसे ही क्या कोई भी स्थान वा कर्म है कि जिस को आत्मा और परमात्मा न देखता हो, जो मनुष्य इस प्रकार आत्मा और परमात्मा की साक्षी से अनुकूल कर्म करते हैं वे ही धर्मात्मा कहाते हैं।

(प्रश्न) सब मनुष्यों को विद्वान् वा धर्मात्मा होने का सम्भव है वा नहीं ? ॥

(उत्तर) विद्वान् होने का तो सम्भव नहीं परन्तु जो धर्मात्मा हुआ चाहें तो सभी हो सकते हैं। अविद्वान् लोग दूसरों को धर्म में निश्चय नहीं करा सकते और विद्वान् लोग धार्मिक होकर अनेक मनुष्यों को भी धार्मिक कर सकते हैं। और कोई धूर्त मनुष्य अविद्वान् को बहका के अधर्म में प्रवृत्त कर सकता है परन्तु विद्वान् को अधर्म में कभी नहीं चला सकता। क्योंकि जैसे देखता हुआ मनुष्य कुए में कभी नहीं गिरता परन्तु अन्धे को तो गिरने का सम्भव है। वैसे विद्वान् सत्यासत्य को जान के उस में निश्चित रह सकते और अविद्वान् ठीक २ स्थिर नहीं रह सकते हैं। दृष्टान्त–जैसे एक कोई अविद्वान् राजा था, उस के राज्य में किसी ग्राम में कोई मूर्ख भिक्षुक ब्राह्मण था, उस की स्त्री ने कहा कि आज कल भोजन भी नहीं मिलता बहुत कष्ट है तुम पहिले दानाध्यक्ष के पास जाना, वह राजा के पास ले जाके कुछ जप अनुष्ठान लगवा देगा। उस

ने वैसा ही किया। जब उसने दानाध्यक्ष के पास जाके अपना हाल कहा कि आप मेरी कुछ जीविका करा दीजिये। (दानाध्यक्ष) मुझ को क्या देगा?। (अर्थी) जो तुम कहो। (दानाध्यक्ष) "अर्द्धमर्द्धं स्वाहा"। महाराज मैं नहीं समझा, तुम ने क्या कहा। (दानाध्यक्ष) जो तू आधा हम को दे और आधा तू ले तो तेरी जीविका लगादें। (स्वार्थी) जैसे तुम्हारी इच्छा हो वैसा करो। अच्छा चल राजा के पास। (स्वार्थी) चलो, खुशामदियों से सभा भरी थी वहां दोनों पहुंचे, दानाध्यक्ष ने कहा कि यह गोब्राह्मण है इस की कुछ जीविका कर दीजिये, यह आप का जप अनुष्ठान किया करेगा। (राजा) अच्छा जो आप कहें। (दानाध्यक्ष) दश रुपये मासिक होने चाहियें। (राजा) बहुत अच्छा। (दानाध्यक्ष) छः महीने का प्रथम मिलना चाहिये। (राजा) अच्छा कोशाध्यक्ष! इस को छः महीने का जोड़कर देदो। (कोशाध्यक्ष) जो आज्ञा। जब स्वार्थी रुपये लेने को गया, तब कोशाध्यक्ष बोले मुझ को क्या देगा?। (स्वार्थी) आप भी एक दो ले लीजिये। (कोशाध्यक्ष) छी २! दश से कम हम नहीं लेंगे, नहीं तो आज रुपये न मिलेंगे, फिर आना। जबतक दानाध्यक्ष ने एक नौकर भेज दिया कि उस को हमारे पास ले आओ तब तक कोशाध्यक्षजी ने भी दश रुपये उड़ा लिये, पचास रुपये लेकर चला। मार्ग में, (नौकर) कुछ मुझ को भी दे। (स्वार्थी) अच्छा भाई तू भी एक रुपया लेले, (नौकर) लाओ, जब दरवाजे पर आया तब सिपाहियों ने रोका कौन! तुम क्या लेजाते हो?, (नौकर) मैं दानाध्यक्ष का नौकर हूं। (सिपाही) यह कौन है?। (नौकर) जपानुष्ठानी। (सिपाही) कुछ मिला?। (नौकर) यही जाने। कहो भाई क्या मिला?। (स्वार्थी) जितना तुम लोगों से बचकर घर पहुंचे सो ही मिला। (सिपाही) हम को भी कुछ देता जा। (स्वार्थी) लो आठ-आने। (सिपाही) लाओ। जबतक दानाध्यक्ष घबराया कि वह भाग तो नहीं गया, दूसरे नौकर से बोले कि देखो वह कहां गया, तब तक वह स्वार्थी आदि आ पहुंचे। (दानाध्यक्ष) लाओ, रुपये कहां हैं?। (स्वार्थी) ये हैं अड़तालीस। (दानाध्यक्ष) वाह वाह बारह रुपये कहां गये?। स्वार्थी ने जैसा हुआ था वैसा कह दिया। (दानाध्यक्ष) अच्छा तो

चार मेरे गये और आठ तेरे। (स्वार्थी) अच्छा जैसी आप की इच्छा हो, तब छब्बीस लिये दानाध्यक्ष ने। और बाईस स्वार्थी ने लेके कहा कि मैं घर हो आऊं कल आजाऊंगा। वह दूसरे दिन आया उससे दानाध्यक्ष ने कहा कि तू गंगाजी पर जाकर राजा का जप कर और ले यह धोती, अंगोछा, पंचपात्र, माला और गोमुखी, वह लेके गङ्गा पर गया, वहां स्नान कर माला लेके जप करने बैठा, विचारा कि जो दानाध्यक्ष ने कहा था वही मन्त्र है ऐसा वह मूर्ख समझ गया। "सरप माला खटक मणका मैं राजा का जप करूं, मैं राजा का जप करूं, मैं राजा का जप करूं" जपने लगा, तब किसी दूसरे मूर्ख ने विचारा कि जब उसका लगगया है तो मेरा भी लग जायगा चलो, वह गया, वैसा ही हुआ, चलते समय दानाध्यक्ष बोले कि तू जा जैसा वह करता है वैसा करना। वह गया। वैसे ही आसन पर बैठकर पढ़ने वाले का मन्त्र सुनकर जपने लगा। कि "तू करे सो मैं करूं, तू करे सो मैं करूं"। वैसे ही तीसरा कोई धूर्त जाके सब कुछ कर करा लाया। चलते समय दानाध्यक्ष ने कहा कि जब तक निर्वाह होता दीखे तब तक करना। वह भी इसी अभिप्राय को मन्त्र समझ के वहां जाकर जप करने को बैठ के जपने लगा कि "ऐसा निभेगा कब तक, ऐसा निभेगा कब तक"। वैसे ही चौथा कोई मूर्ख सब प्रबन्ध कर कराके गङ्गा पर जाने लगा तब दानाध्यक्ष ने कहा कि जबतक निभे तबतक निर्वाह करना। वह भी इसको मन्त्र ही समझ के गङ्गा पर जाके जप करने को बैठ के उन तीनों का मन्त्र सुना तो एक कहता है "मैं राजा का जप करूं, मैं राजा का जप करूं, मैं राजाका जप करूं"। दूसरा "तू करे सो मैं करूं, तू करे सो मैं करूं, तू करे सो मैं करूं।" तीसरा "ऐसा निभेगा कब तक, ऐसा निभेगा कब तक, ऐसा निभेगा कब तक" और चौथा जपने लगा कि "जबतक निभे तब तक, जबतक निभे तब तक, जबतक निभे तब तक"। ध्यान रक्खो सब अधर्मी और स्वार्थी लोगों की लीला ऐसी ही हुआ करती है कि अपने मतलब के लिये अनेक अन्यायरूप कर्म करके अन्य मनुष्यों को ठग लेते हैं। अभाग्य है ऐसे मनुष्यों का कि जिनके आत्मा अविद्या और अधर्म्मान्धकार में गिरके कदापि सुख को प्राप्त नहीं होते। यहां किसी एक धार्मिक राजा का दृष्टान्त सुनो—कोई एक विद्वान् धर्म्मात्मा राजा था

उसके दानाध्यक्ष के पास किसी धूर्त ने जाकर कहा कि मेरी जीविका करादो। (दानाध्यक्ष) तुम ने कौन २ शास्त्र पढ़ा और क्या २ काम करते हो?। (अर्थी) मैं कुछ भी न पढ़ा और बीस वर्ष तक खेलता कूदता, गाय भैंस चराता, खेतों में डोलता और माता पिता के सामने आनन्द करता था । अब सब घर का बोझ पड़गया है, आप के पास आया हूं कुछ करा दीजिये । (दानाध्यक्ष) नौकरी चाकरी करो तो करा देंगे । (अर्थी) मैं ब्राह्मण साधु जहां तहां बाज़ारों में उपदेश करने वाला हूं, मुझ से ऐसा परिश्रम कहां बन सकता है । (दानाध्यक्ष) तू विद्या के विना ब्राह्मण, परोपकार के विना साधु और विज्ञान के विना उपदेश कैसे कर सकता होगा । इसलिये नौकरी चाकरी करना हो तो कर, नहीं तो चला जा । वह मूर्ख वहां से निराश होकर चला कि यहां मेरी दाल न गलेगी चलो राजा से कहें । जब राजा के पास जाके वैसे ही कहा तब राजा ने वैसा ही जवाब दिया कि जैसा दानाध्यक्षजी ने कहा है वैसा करना हो तो कर नहीं तो चला जा । वह वहां से चला गया । इस के पश्चात् एक योग्य विद्वान् ने आके दानाध्यक्ष से मिल के बात चीत की तो दानाध्यक्ष ने समझ लिया कि यह बहुत अच्छा सुपात्र विद्वान् है, जाके राजा से मिलके कहा कि पण्डितजी से आप भी कुछ बातचीत कीजिये । वैसा ही किया । तब राजा ने परीक्षा करके जाना कि यह अतिश्रेष्ठ विद्वान् है। ऐसा जानकर उनसे कहा कि आप को हज़ार रुपये मासिक मिलेगा । आप सदा हमारी पाठशाला में विद्यार्थियों को पढ़ाया और धर्मोपदेश किया कीजिये । वैसा ही हुआ । धन्य ऐसे राजा और दानाध्यक्षादि हैं कि जिन के हृदय में विद्या, परमात्मा और धर्मरूप सूर्य प्रकाशित होता है ।

(प्रश्न) दानाभक्ष और दानाध्यक्ष किस को कहते हैं ? ।

(उत्तर) जो दाता के दान का भक्षण करके अपना स्वार्थ सिद्ध करता जाय वह दानाभक्ष और जो दाता के दान को सुपात्र विद्वानों को देकर उन से विद्या और धर्म की उन्नति कराता जाय वह दानाध्यक्ष कहाता है ।

(प्रश्न) राजा किसको कहते हैं ? ।

(उत्तर) जो विद्या, न्याय, जितेन्द्रियता, शौर्य, धैर्य आदि गुणों से युक्त होकर अपने पुत्र के समान प्रजा के पालन में श्रेष्ठों की यथायोग्य रक्षा और दुष्टों को दण्ड देकर धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति से युक्त होकर, अपनी प्रजा को कराके आनन्दित रहता और सब को सुख से युक्त कराता है वह राजा कहाता है।

(प्रश्न) प्रजा किस को कहते हैं ?।

(उत्तर) जैसे पुत्रादि तन मन धन से अपने माता पितादि की सेवा करके उन को सर्वदा प्रसन्न रखते हैं वैसे प्रजा अनेक प्रकार के धर्मयुक्त व्यवहारों से पदार्थों को सिद्ध कर के राजसभा को कर देकर उनको प्रसन्न रक्खे वह प्रजा कहाती है। और जो अपना हित और प्रजा का अहित करना चाहे वह न राजा और जो अपना हित और राजा का अहित चाहे वह प्रजा भी नहीं है। किन्तु उनको एक दूसरे का शत्रु, डाकू, चोर समझना चाहिये। क्योंकि दोनों धार्मिक होके एक दूसरे का हित करने में नित्य प्रवर्त्तमान हों तभी उन की राजा और प्रजा संज्ञा होती है, विपरीत की नहीं। जैसे:—

अन्धेर नगरी गवर्गण्ड राजा। टकेसेर भाजी टकेसेर खाजा॥

एक बड़ा धार्मिक विद्वान् सभाध्यक्ष राजा यथावत् राजनीति से युक्त होकर प्रजापालनादि उचित समय में ठीक २ करता था। उसकी नगरी का नाम "प्रकाशवती", राजा का नाम "धर्मपाल", व्यवस्था का नाम "यथायोग्य करनेहारी" था। वह तो मरगया, पश्चात् उसका लड़का जो महा अधर्मी मूर्ख था, उस ने गद्दी पर बैठ के सभा से कहा कि जो मेरी आज्ञा माने वह मेरे पास रहे और जो न माने वह यहां से निकल जाय। तब बड़े २ धार्मिक सभासद् बोले कि जैसे आप के पिता सभा की सम्मति के अनुकूल वर्त्तते थे, वैसे आप को भी वर्त्तना चाहिये। (राजा) उनका काम उन के साथ गया अब मेरी जैसी इच्छा होगी वैसा करूंगा। (सभा) जो आप सभा का कहा न करेंगे तो राज्य का नाश अथवा आप का ही नाश हो जायगा। (राजा) मेरा तो जब होगा तब होगा

परन्तु तुम यहां से चले जाओ, नहीं तो तुम्हारा नाश तो मैं अभी करदूंगा। सभासदों ने कहा "विनाशकाले विपरीतबुद्धिः"। जिसका शीघ्र नाश होना होता है उस की बुद्धि पहिले ही से विपरीत हो जाती है। चलिये यहां अपना निर्वाह न होगा। वे चले गये और महामूर्ख धूर्त्त खुशामदी लोगों की मण्डली उस के साथ होगई। राजा ने कहा कि आज से मेरा नाम "गवर्गण्ड", नगरी का नाम "अन्धेर" और जो मेरा पिता और सभा करती थी उससे सब काम मैं उलटा ही करूंगा। जैसे मेरा पिता और सभासद् रात में सोते और दिन में राज्यकार्य्य करते थे। वैसे ही उससे विपरीत हम लोग दिन में सोवें और रात में राजकार्य्य करेंगे। उन के सामने उन के राज्य में सब चीज अपने २ भाव पर बिकती थी हमारे राज्य में केशर कस्तूरी से ले के मट्टी पर्यन्त सब चीज एक टके सेर बिकेगी। जब ऐसी प्रसिद्धि देश देशान्तरों में हुई तब किसी स्थान में दो गुरु शिष्य, बैरागी अखाड़ों में मल्लविद्या करते, पांच २ सेर खाते और बड़े मोटे थे। चेले ने गुरु से कहा कि चलिये अन्धेर नगरी में, वहां दश (१०) टकों से दश (१०) सेर मलाई आदि माल चाब के खूब तैयार होंगे। गुरु ने कहा कि वहां गवर्गण्ड के राज्य में कभी न जाना चाहिये, क्योंकि किसी दिन खाया पिया सब निकल जावेगा किन्तु प्राण भी बचना कठिन होगा। फिर जब चेले ने हठ किया तब गुरु भी मोह से साथ चला गया। वहां जाके अन्धेर नगरी के समीप बगीचे में निवास किया और खूब माल चाबते और कुश्ती किया करते थे। इतने में कभी एक आधीरात में किसी साहूकार का नौकर एक हजार रुपयों की थैली ले के किसी साहूकार की दुकान पर जमा करने को जाता था। बीच में उचक्के आकर रुपयों की थैली छीन कर भागे। उसने जब पुकारा तब थाने के सिपाहियों ने आकर पूछा कि क्या है?, उसने कहा कि अभी उचक्के मुझ से रुपयों को छीन कर लिये जाते हैं। सिपाही धीरे २ चल के किसी भले आदमी को पकड़ लाये कि तू ही चोर है। उसने उनसे कहा कि मैं फलाने साहूकार का नौकर हूं चलो पूछलो। सिपाही—हम नहीं पूछते, चल राजा के पास! पकड़ कर राजा के पास लेजा के कहा कि इसने हजार रुपयों की थैली चोर ली है। गवर्गण्ड और आसपास वालों में से किसी ने कुछ भी न पूछा न

गया। वह विचारा पुकारता ही रहा कि मैं उस साहूकार का नौकर हूं, परन्तु किसी ने न सुना। झट हुक्म चढ़ा दिया कि इसको शूली पर चढ़ा दो। शूली लोहे की बरछी और सरों के वृक्ष के समान अणीदार होती है। उस पर मनुष्य को चढ़ा उलटा कर नाभि में उस की अणी लगा देने से पार निकल जाने पर वह कुछ विलम्ब में मर जाता है। गवर्गण्ड के नौकर भी उस के सदृश क्यों न हों। क्योंकि "समानव्यसनेषु मैत्री"। जिनका स्वभाव एकसा होता है उन्हीं की परस्पर मित्रता भी होती है। जैसे धर्मात्माओं की धर्मात्माओं, पण्डितों की पण्डितों, दुष्टों और व्यभिचारियों की व्यभिचारियों के साथ मित्रता होती है। न कभी धर्म्मात्मादि का अधर्मात्मादि और न अधर्मात्माओं का धर्मात्माओं के साथ मेल हो सकता है। गवर्गण्ड के सिपाहियों ने विचारा कि शूली तो मोटी और मनुष्य है दुबला; अब क्या करना चाहिये। तब राजा के पास जाके सब बात कही। उस पर गवर्गण्ड ने हुक्म दिया कि अच्छा तो इस को छोड़ दो और जो कोई शूली के सदृश मोटा हो उस को पकड़ के इसके बदले चढ़ा दो। तब गवर्गण्ड के सिपाहियों ने विचारा कि शूली के सदृश खोजो। तब किसी ने कहा कि इस शूली के सदृश तो बगीचीवाले गुरु चेला दोनों वैरागी ही हैं। सब बोले कि ठीक २ तो उसका चेला ही है। जब बहुत से सिपाहियों ने बगीचे में जाके उसके चेले से कहा कि तुझ को महाराज का हुक्म है शूली पर चढ़ने के लिये चल। तब तो वह घबड़ा के बोला कि हमने तो कोई अपराध नहीं किया। (सिपाही) अपराध तो नहीं किया परन्तु तू ही शूली के समतुल्य है हम क्या करें। (साधु) क्या दूसरा कोई नहीं है। (सिपाही) नहीं, बहुत बर २ मत कर, चल, महाराज का हुक्म है। तब चेला गुरु से बोला कि महाराज अब क्या करना चाहिये। (गुरु) हमने तुझ से प्रथम ही कहा था कि अन्धेर नगरी गवर्गण्ड के राज्य में मुफ़्त के माल चाबने को मत चलो तूने नहीं माना। अब हम क्या करें जैसा हो वैसा भोग, देख अब सब खाया पिया निकल जावेगा। (चेला) अब किसी प्रकार बचाओ तो यहां से दूसरे राज्य में चले जावें। (गुरु) एक युक्ति है बचने की सो करो तो सम्भव है। शूली पर चढ़ते समय तू मुझको हटा और मैं तुझको हटाऊं इस प्रकार परस्पर

लड़ने से कुछ बचने का उपाय निकल आवेगा। (चेला) अच्छा तो चलिये। सब बातें दूसरे देश की भाषा में कीं इससे सिपाही कुछ भी न समझे। सिपाहियों ने कहा चलो देर मत लगाओ नहीं तो बांध के ले जायंगे। साधुओं ने कहा कि हम प्रसन्नतापूर्वक चलते हैं तुम क्यों बांधो। (सिपाही) अच्छा तो चलो। जब शूली के पास पहुंचे तब दोनों लंगोट बांध के मिट्टी लगा के खूब लड़ने लगे। गुरु ने कहा कि शूली पर मैं ही चढ़ूंगा। (चेला) चेला का धर्म नहीं कि मेरे होते गुरु शूली पर चढ़े। (गुरु) मेरा भी धर्म नहीं कि मेरे सामने चेला शूली पर चढ़ जाय। हां मुझ को मार कर पीछे भले ही शूली पर चढ़ जाना। क्यों बकता है चुप रह समय चला जाता है ऐसा कहकर शूली पर चढ़ने लगा। तब चेले ने गुरु को पकड़ कर धक्का देकर अलग किया, आप चढ़ने लगा। फिर गुरु ने भी वैसा ही किया। तब तो गवर्गण्ड के सिपाही कामदार सब तमाशा देखते थे। उन्होंने कहा कि तुम शूली पर चढ़ने के लिये क्यों लड़ते हो। तब दोनों साधु बोले कि हम से इस बात को मत पूछो चढ़ने दो। क्योंकि हम को ऐसा समय मिलना दुर्लभ है। यह बात तो यहां ऐसे ही होती रही और गवर्गण्ड के पास खुशामदियों की सभा भरी हुई थी। आप वहां से उठ और भोजन करके सिंहासन पर बैठकर सब से बोले कि बैंगन का शाक अत्युत्तम होता है। सुनकर खुशामदी लोग बोले कि धन्य है महाराज की बुद्धि को बैंगन का शाक चाखते ही शीघ्र उसकी परीक्षा करली। सुनिये महाराज ! जब बैंगन अच्छा है तभी तो परमेश्वर ने उसके ऊपर मुकुट, चारों ओर कलंगी, ऊपर का वर्ण घनश्याम, भीतर का वर्ण मक्खन के समान बनाया है। ऐसा सुनकर गवर्गण्ड और सब सभा के लोग अति प्रसन्न होकर हँसे। जब गवर्गण्ड अपने महलों में सोने को गया, ड्योढ़ी बन्द हुई, तब तक खुशामदी लोगों ने चौकी पहरेवालों से कहा कि जबतक प्रातःकाल हम न आवें तबतक किसी का मिलाप महाराज के साथ मत होने देना। उनने कहा कि अच्छा आज के दिन कुछ गहरी प्राप्ति नहीं हुई। खुशामदी। आज न हुई कल हो जावेगी, हमारा और तुम्हारा तो साझा ही है। जो कुछ खजाने और प्रजा से निकाल कर अपने घर में पहुंचे वही अपना है। जब राजा को नशा और रंडीबाजी आदि खेल में सब लोग

मिलकर लगा देंगे तभी अपना गहरा होगा। खज़ाना अपना ही है और सब आपस में मिले रहो फूटना न चाहिये। सब ने कहा, हां जी हां यही ठीक है। ये तो चले गये। जब गवर्गण्ड सोने को गया तब गर्ममसाले पड़े हुए बैंगन के शाक ने गर्मी की और जङ्गल की हाजत हुई। ले लोटा जाजरू में गया। रात भर खूब जुलाब लगा। रात्रि में कोई तीस दस्त हुए। रात्रिभर नींद न आई। बड़ा व्याकुल रहा। उसी समय वैद्यों को बुलाया। वे भी गवर्गण्ड के सदृश ही थे। ऊटपटांग औषधियां दीं। उनने और भी बिगाड़ किया। क्योंकि गवर्गण्ड के पास बुद्धिमान् क्योंकर ठहर सकते हैं। जब प्रातःकाल हुआ तब खुशामदियों की मण्डली ने सभा का स्थान घेर के दासियों से पूछा कि महाराज क्या करते हैं। (दासी) आज रात भर जुलाब लगा व्याकुल रहे (खुशामदी) क्या कोई रात्रि में महाराज के पास आया भी था?। (दासी) दस बारह जने आये थे। (खुशामदी) कौन २ आये थे उनके नाम भी जानती हो?। (दासी) हां तीन के नाम जानती हूं अन्य के नहीं। तब तो खुशामदी लोग विचारने लगे कि किसी ने अपनी निन्दा तो न करदी हो। इसलिये आज से हम में से एक दो पुरुषों को रात में भी ड्यौढ़ी में अवश्य रहना चाहिये। सब ने कहा बहुत ठीक है। इतने में जब आठ बजे के समय मुखमलीन गवर्गण्ड आकर गद्दी पर बैठा तब खुशामदियों ने भी उससे सौगुना मुख बिगाड़ कर शोकाकृति मुख होकर ऊपर से झूठमूठ अपनी चेष्टा जनाई। (गवर्गण्ड) बैंगन का शाक खाने में तो स्वादु होता है परन्तु बादी करता है। उससे हमको बहुत दस्त लगने से रात्रि भर दुःख हुआ। (खुशामदी) वाह २ जी वाह महाराज! आपके सदृश न कोई राजा हुआ, न होगा और न कोई इस समय है, क्योंकि महाराज ने खाते समय तो उसके गुणों की परीक्षा की और रात्रि भर में दोष भी जान लिये। देखिये महाराज! जब बैंगन दुष्ट है तभी तो परमेश्वर ने उसके ऊपर खूंटी, चारों ओर कांटे लगा दिये। ऊपर का वर्ण कोयलों के समान, और भीतर का रङ्ग कोढ़ी की चमड़ी के सदृश किया है। (गवर्गण्ड) क्योंजी! कल रात को तो तुमने इसकी प्रशंसा में मुकुट आदि का अलङ्कार और इस समय उन्हीं की निन्दा में खूंटी आदि की उपमा देते हो?। अब हम किसको सच्ची मानें?। (खुशामदी) घबरा के

बोले कि धन्य धन्य धन्य है आपकी विशालबुद्धि को। क्योंकि कल सन्ध्या की बात अबतक भी नहीं भूले। सुनिये महाराज! हमको साले बैंगन से क्या लेना देना था, हमको तो आपकी प्रसन्नता में प्रसन्नता और अप्रसन्नता में अप्रसन्नता है। जो आप रात को दिन और दिन को रात, सत्य को झूठ वा झूठ को सत्य कहें सो सभी ठीक है। (गवर्गण्ड) हां २ नौकरों का यही धर्म है कि कभी स्वामी को किसी बात में प्रत्युत्तर न दें। किन्तु हांजी २ ही करते जायं। (खुशामदी) ठीक है, राजाओं का यही धर्म है कि किसी बात की चिन्ता कभी न करें। रात दिन अपने सुख में मगन रहें। नौकर चाकरों पर सदा विश्वास करके सब काम उनके आधीन रक्खें। बनिये बक्काल के समान हिसाब किताब कभी न देखें। जो कुछ सुपेद का काला और काले का सुपेद करें सो ही ठीक रक्खें। जिस दरख्त को लगावें उसको कभी न काटें। जिसको ग्रहण किया उसको कभी न छोड़ें चाहे कितना ही अपराध करें। क्योंकि जब राजा होके भी किसी काम पर ध्यान देकर आप अपने आत्मा, मन और शरीर से परिश्रम किया तो जानो उनका कर्म फूट गया और जब हिसाब आदि में दृष्टि की तो वह महादरिद्र है, राजा नहीं। (गवर्गण्ड) क्योंजी! कोई मेरे तुल्य राजा और तुम्हारे सदृश सभासद् कभी हुए होंगे और आगे कोई होंगे वा नहीं?। (खुशामदी) नहीं नहीं कदापि नहीं, न हुआ, न होगा और न है। (गवर्गण्ड) सत्य है। क्या ईश्वर भी हमसे अधिक उत्तम होगा?। (खुशामदी) कभी नहीं हो सकता, क्योंकि उसको किसने देखा है। आप तो साक्षात् परमेश्वर हैं क्योंकि आप की कृपा से दरिद्र का धनाढ्य, अयोग्य का योग्य और अकृपा से धनाढ्य का दरिद्र, योग्य से अयोग्य तत्काल ही हो सकता है। इतने में नियत किये प्रातःकाल को सायंकाल मानकर सोन को सब गये। जब सायंकाल हुआ तब फिर सभा लगी। इतने में सिपाहियों ने आकर साधुओं के झगड़े की बात कही। सुनकर गवर्गण्ड ने सभासहित वहां जाके साधुओं से पूछा कि तुम शूली पर चढ़ने के लिये क्यों सुख मानते हो?। (साधु) तुम हमसे मत पूछो, चढ़ने दो, समय चला जाता है। ऐसा समय हमको बड़े भाग्य से मिला है। (गवर्गण्ड) इस समय में शूली पर चढ़ने से क्या फल होगा?। (साधु) हम नहीं कहते, जो चढ़ेगा वह फल देख लेगा,

हमको चढ़ने दो। (गवर्गण्ड) नहीं २ जो फल होता हो सो कहो। सिपाहियो! इनको इधर पकड़ लाओ। पकड़ लाये। (साधु) हमको क्यों नहीं चढ़ने देते, झगड़ा क्यों करते हो?। (गवर्गण्ड) जब तक तुम इसका फल न कहोगे तब तक हम कभी न चढ़ने देंगे। (साधु) दूसरे को कहने की तो बात नहीं है परन्तु तुम हठ करते हो तो सुनो। जो कोई मनुष्य इस समय में शूली पर चढ़कर प्राण छोड़ देगा वह चतुर्भुज होकर विमान में बैठ के आनन्दरूप स्वर्ग को प्राप्त होगा। (गवर्गण्ड) अहो! ऐसी बात है तो मैं ही चढ़ता हूं तुमको न चढ़ने दूंगा। ऐसा कहकर झट आप ही शूली पर चढ़कर प्राण छोड़ दिये। साधु अपने आसन पर आए। चेले ने कहा कि महाराज चलिये, यहां अब रहना न चाहिये। गुरु ने कहा कि अब कुछ चिन्ता नहीं, जो पाप की जड़ गवर्गण्ड था वह मर गया। अब धर्मराज्य होगा, क्या चिन्ता है, यहीं रहो। उसी समय उसका छोटा भाई बड़ा विद्वान्, पिता के सदृश धार्मिक और जो उसके पिता के समान धार्मिक सभासद् और प्रजा में सत्पुरुष जो कि उसके पिता के मरने के पश्चात् गवर्गण्ड ने निकाल दिये थे वे सब आके सुनीतिनामक छोटे भाई को राज्याधिकारी करके उस मुरदे को शूली पर से उतार के जला दिया और खुशामदियों की मण्डली को अत्युग्र दण्ड दे के कुछ क़ैद कर दिये और बहुतों को नौका म बैठाकर किसी समुद्र के बीच निर्जन द्वीपान्तर में बन्दीखाने में डालकर अत्युत्तम विद्वान् धार्मिकों की सम्मति से श्रेष्ठों का पालन, दुष्टों को ताड़न, विद्या, विज्ञान और सत्य धर्म की वृद्धि आदि उत्तम कर्म करके पुरुषार्थ से यथायोग्य राज्य की व्यवस्था चलाने लगे। और पुनः प्रकाशवती नगरी नाम की व्यवस्था चलाने लगे और पुनः नगरी का प्रकाशवती नाम प्रकाश हुआ और उचित समय पर सब उत्तम काम होने लगे। जब जिस देशस्थ प्राणियों का अभाग्य उदय होता है तब गवर्गण्ड के सदृश स्वार्थी, अधर्मी, प्रजा का विनाश करनेहारे राजा, धनाढ्य और खुशामदियों की सभा और उनके समान अधर्मी, उपद्रवी, राजविद्रोही प्रजा भी होती है। और जब जिस देशस्थ प्राणियों का सौभाग्य उदय होने वाला होता है तब सुनीति के समान धार्मिक, विद्वान्, पुत्रवत् प्रजा का पालन करनेवाली राजसहित सभा और धार्मिक पुरुषार्थी पिता के समान राज-

संबन्ध में प्रीतियुक्त मङ्गलकारिणी प्रजा होती है। जहां अभाग्योदय वहां विपरीतबुद्धिमनुष्य परस्पर द्रोहादिस्वरूप धर्म से विपरीत दुःख के ही काम करते जाते हैं। और जहां सौभाग्योदय वहां परस्पर उपकार, प्रीति, विद्या, सत्य, धर्म आदि उत्तम कार्य अधर्म से अलग होकर करते रहते हैं। वे सदा आनन्द को प्राप्त होते हैं। जो मनुष्य विद्या कम भी जानता हो परन्तु पूर्वोक्त दुष्ट व्यवहारों को छोड़ कर धार्मिक होके खाने पीने बोलने सुनने बैठने उठने लेने देने आदि व्यवहार सत्य से युक्त यथायोग्य करता है वह कहीं कभी दुःख को नहीं प्राप्त होता और जो सम्पूर्ण विद्या पढ़ के पूर्वोक्त उत्तम व्यवहारों को छोड़ के दुष्ट कर्मों को करता है वह कहीं कभी सुख को प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिये सब मनुष्यों को उचित है कि आप अपने लड़के लड़की इष्ट मित्र अड़ोसी पड़ोसी और स्वामी भृत्य आदि को विद्या और सुशिक्षा से युक्त करके सर्वदा आनन्द करते रहें।

शताब्दी-संस्करण

वेदविरुद्धमतखण्डनम्

(भीमसेनशर्मकृतभाषानुवादसहितम्)

पृष्ठ ७७१—८१४.

वेदविरुद्धमतखण्डनम्

——:o:——

आवृत्ति		सन् ई०		संख्या
प्रथम	...		...	१०००
द्वितीय	...	१८८७	...	१०००
तृतीय	...	१८९७	...	१०००
चतुर्थ	...	१९०५	...	१०००
पंचम	...	१९१०	...	१०००
षष्ठ	...	१९१७	...	१०००
शताब्दीसंस्करण		१९२४	...	१०,०००
				१६,०००

ओ३म्

अथ वल्लभादिमतस्थान्प्रति प्रश्नाः खण्डनं च

१—(प्र०) कोऽयं वल्लभो नाम कश्चास्यार्थः ? ॥

२—(उ०) वल्लभोऽस्मदाचार्यः प्रियत्वगुणविशिष्टोऽस्यार्थः ॥

३—(प्र०) किमाचार्यत्वं नाम भवन्तश्च के ? ॥

४—(उ०) गुरुराचार्यः, वयं वर्णाश्रमस्थाः ॥

५—(प्र०) किं गुरुत्वमस्ति ? ॥

६—(उ०) उपदेष्टृत्वमिति वदामः ॥

७—(प्र०) स वल्लभो धर्मात्मनां विदुषां प्रिय उताधर्मात्मनां मूर्खाणां च ? ॥

१–(प्र०) वल्लभनामक पुरुष कौन है और इस शब्द का अर्थ क्या है ? ।

२–(उ०) वल्लभ हमारा आचार्य है इस वल्लभ शब्द का अर्थ प्रीति गुणयुक्त प्यारा है ।

३–(प्र०) आचार्य्यपन क्या है और आप कौन हैं ? ।

४–(उ०) गुरु को आचार्य्य कहते हैं और हम लोग वर्णाश्रमधर्मस्थ हैं ।

५–(प्र०) गुरुपन क्या वस्तु है ? ।

६–(उ०) उपदेश करना इसको हम गुरुपन कहते हैं ।

७–(प्र०) वह वल्लभनामी पुरुष धर्मात्मा विद्वानों को प्रिय है अथवा अधर्मी और मूर्खों को प्रिय है ? ।

८—(उ०) नाद्यः कुतो भवतां सर्वेषान्तु धर्माचरणविद्यावत्त्वाभावात्। किन्तु कश्चित्तादृशोऽस्ति। न चरमोऽधर्मात्मनां मूर्खाणां तत्र प्रीत्या स एवाश्रेष्ठः स्यात् स्वजातिपरत्वप्रवाहस्य विद्यमानत्वात्। अन्यच्च सजीवान्प्रति सर्वेषां प्रीतेः सत्त्वान्मृतांश्च प्रति प्रीतेरभावान्नैष्फल्याच्च तत्र वल्लभत्वमेव दुर्घटम्। मृतस्याचार्यत्वकरणासंभवात्। "समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं गुरुं समुपगच्छेदिति" श्रुतेर्वर्त्तमानाभिप्रायत्वात्। "उपनीय तु यश्शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः। सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्य्यम्प्रचक्षत" इति मनुमतविरोधात्॥ मरणानन्तरमध्ययनाऽध्यापनयोरशक्यत्वात् शरीरमात्रसम्बन्धाभावाच्चेति युक्त्या तस्मिन्नाचार्य्यत्वमेवासङ्गतम्॥ तथा च मृतम्प्रति प्रीतिरशक्या निष्फला च॥ तत्र प्रियत्वगुणविशिष्टत्ववचनमप्यसंगतन्तस्य भ्रान्तिनिष्ठत्वात्॥

८—(उ०) आद्यपक्ष अर्थात् धर्मात्मा विद्वानों को वह प्रिय नहीं होसकता क्योंकि आप सब लोगों का धर्माचरण और विद्यावान् होना संभव नहीं किन्तु कोई वैसा है। द्वितीयपक्ष इसलिये ठीक नहीं कि वल्लभ मूर्खों को प्रिय हो तो उस में मूर्खों की प्रीति होने से वह ही अश्रेष्ठ समझा जावे क्योंकि अपने २ सजातीय में प्रीति होने का प्रवाह प्रसिद्ध है अर्थात् विद्वानों की विद्वानों में और मूर्खों की मूर्खों में प्रीति विशेष होती है। और भी देखो कि जीवितों में सब की प्रीति होने, मरे हुओं में न होने और मरों में प्रीति करना भी निष्फल होने से उस पुरुष में वल्लभत्व अर्थात् प्रियपन होना ही नहीं घट सकता और मरे हुए को गुरु करना भी असम्भव है। वेद में लिखा है कि वेदवेत्ता ब्रह्मज्ञानी गुरु के पास हाथ में समिध लेके जावे। इसस सिद्ध है कि मरे हुए के पास में समिध लेके जाना असम्भव है। और जो "यज्ञोपवीत कराके कल्पसूत्र और वेदान्त सहित शिष्य को वेद पढ़ावे उसको आचार्य कहते हैं"। इस मानवधर्मशास्त्र की सम्मति से भी वल्लभ का आचार्यत्व होना विरुद्ध है। मरने पश्चात् पढ़ना पढ़ाना आदि जो आत्मधर्म हैं वे नहीं हो सकते। क्योंकि इन धर्मों का शरीरमात्र से सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार की युक्तियों से वल्लभ को आचार्य मानना ही असङ्गत

९—(प्र०) किङ्गुरुत्वं सत्योपदेष्टृत्वमाहोस्विदसत्योपदेष्टृत्वञ्च ? ॥

१०—(उ०) नादिमः कुतो भवत्सु श्रोत्रियब्रह्मनिष्ठत्वासत्त्वादस्तिचेन्न सङ्गच्छते विषयसेवायां प्रीतेर्दर्शनात् ॥ "अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयत" इति मनुसाक्ष्यविरोधाद्भवतामर्थकामेष्वेवासक्तेः प्रत्यक्षत्वात्स्त्रीषु धनेषु चात्यन्तप्रीतेर्विद्यमानत्वान्मरणसमयेपि स्वशिष्याणां वक्षःस्थलस्योपरि पादं स्थापयित्वा धनादीनां पदार्थानां संग्राहकत्वाद्यथा मृतकस्य शरीरस्य वस्त्राऽऽभूषणादीन्पदार्थान् कश्चिद्गृह्णाति भवतां तेन तुल्यत्वाच्च ॥ नान्त्यः ॥ असत्योपदेशस्यानभिधानाद्द्वयोर्दुःखफलस्य प्रापकत्वाच्च ॥ स्वपुत्रादीन्प्रति पितुर्गुरुत्वाऽधिकारादन्यान्प्रति गुरुत्वाभिमानानभिधानाद्भवत्सु गुरुत्वस्य

है। इसी कारण मरे से प्रीति करना अशक्य और निष्फल है और वल्लभ के भ्रान्तिग्रस्त होने से उसको प्रियत्व गुणयुक्त कहना भी असङ्गत है।

९—(प्र०) गुरुपन क्या वस्तु है? क्या सत्योपदेश करना वा असत्य उपदेश करना ही गुरुपन कहाता है?।

१०—(उ०) प्रथम पक्ष अर्थात् सत्योपदेश करना रूप गुरुत्व नहीं घटता, क्योंकि सत्योपदेष्टा गुरु तुम में इससे नहीं हो सकते कि आप लोगों में वेदवेत्ता और ब्रह्मज्ञानी जन नहीं हैं। यदि कहो कि हैं तो तुम्हारा कहना असंगत है क्योंकि तुम लोगों की प्रीति विषयों की सेवा में प्रसिद्ध दीखती है। धर्मशास्त्र में कहा है कि अर्थ और काम में जो आसक्त नहीं उनके लिये धर्मज्ञान का विधान है। इससे विरुद्ध आप लोगों की आसक्ति द्रव्य और कामचेष्टा ही में प्रसिद्ध है। स्त्रियों और धनों में तुम्हारी अत्यन्त प्रीति प्रत्यक्ष विद्यमान है और मरण समय में भी अपने शिष्यों की छाती पर पैर रखकर धनादि पदार्थों का संग्रह करते हो और महाब्राह्मण वा चाण्डलादि के तुल्य मृतक के वस्त्र आभूषणादि पदार्थों को लेते हो इससे महाब्राह्मण के तुल्य हुए। और द्वितीय पक्ष असत्योपदेश करने से भी वल्लभ गुरु नहीं हो सकते, क्योंकि असत्योपदेश से गुरु मानना शास्त्रविरुद्ध और दोनों गुरुशिष्य दुःखफलभागी होते हैं। अपने पुत्रों

विरह एवेत्यवगन्तव्यम् ॥ "निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि । सम्भावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरुच्यत" इति मनुसाक्ष्यविरोधादविवाहितस्त्रियां वीर्यनिषेकस्य पापफलत्वाच्चेति ॥ भवन्तो वर्णाश्रमस्थाश्चेत्तर्हि वेदोक्तानि वर्णाश्रमस्थकर्त्तव्यानि कर्माणि कुतो न क्रियन्ते, क्रियन्ते चेन्मूर्त्तिपूजनं कण्ठीधारणन्तिलकं समर्पणं वेदानुक्तमंत्रोपदेशश्च त्यजन्तु, नोचेद्वेदोक्तधर्माचरणविरोधाद्भवन्तो वर्णाश्रमस्था एव नेति मन्तव्यम् ॥

११–(प्र०) भवन्तो गुरवः शिष्या मध्यस्था वा ? ॥

१२–(उ०) गुरवश्चेदर्थज्ञानपूर्वकान्वेदान्पाठशालाङ्कृत्वा कुतो नाध्यापयन्ति ? ॥ शिष्याश्चेत्कथं न पठन्ति ? मध्यस्थाश्चेद्ब्राह्मणाचार्याभिमानो भवत्सु व्यर्थोऽस्तीत्यवगन्तव्यम् ॥

के प्रति गुरु होने का मुख्य अधिकार पिता को है । अन्य किसी का स्वयमेव गुरु बन बैठने का धर्मशास्त्र में विधान न होने से आप लोगों में गुरुत्व कदापि संघटित नहीं हो सकता । धर्मशास्त्र में कहा भी है—"जो विधिपूर्वक गर्भाधानादि कर्मों को करता और अन्नादि से पालन करता है वह ब्राह्मण गुरु कहाता है" इससे अन्य को गुरु मानना विरुद्ध है । और अविवाहित स्त्री में गर्भाधान करना पाप है इससे मुख्य कर पिता ही गुरु हो सकता है । यदि आप लोग वर्णाश्रमधर्मस्थ अपने को मानते हैं तो वर्णाश्रम के कर्त्तव्य वेदोक्त कर्म क्यों नहीं करते ? यदि करते हो तो पाषाणादि मूर्त्तिपूजन, कण्ठी बांधना, तिलक लगाना, समर्पण करना और वेद में न कहे हुए मन्त्रों का उपदेश करना छोड़ देओ यदि ऐसा नहीं करते तो वेदोक्त वर्णाश्रमधर्म के आचरण से विरुद्ध होने से आप लोग वर्णाश्रमधर्मस्थ नहीं हो सकते यह निश्चय जानना चाहिये ।

११–(प्र०) आप लोग गुरु शिष्य वा मध्यस्थ हो ? ।

१२–(उ०) यदि गुरु हो तो पाठशाला कर अर्थज्ञानपूर्वक वेदों को क्यों नहीं पढ़ाते ? यदि शिष्य हो तो क्यों नहीं पढ़ते ? । यदि मध्यस्थ हो तो आप में ब्राह्मण और आचार्य होने का अभिमान व्यर्थ है यह निश्चय जानना चाहिये ।

१३–(प्र०) भवन्तो वेदमतानुयायिनस्तद्विरोधिनो वा ? ॥

१४–(उ०) यदि वेदमतानुयायिनस्तर्हि वेदोक्तविरुद्धं स्वकपोलकल्पितं वल्लभसंप्रदायमन्यं वा किमर्थं मन्यन्ते ? वेदविरोधिनश्चेन्नास्तिकत्वं शूद्रत्वञ्च किमर्थं न स्वीक्रियते ? ॥ "नास्तिको वेदनिन्दकः" "योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् । स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशुगच्छति सान्वय" इति मनुसाक्ष्यविरोधात् ॥ पुनर्हि जन्ममरणवतो देहधारिणः कृष्णादीञ्जीवानीश्वरत्वेन किमर्थं व्यवहरन्ति ? नो चेन्मन्दिरे जड़मूर्त्तिस्थापनङ्कृत्वा घण्टादिनादञ्चाज्ञानिनां मिथ्योपदेशव्याजेन धनादीन्पदार्थान्किमर्थमाहरन्ति ? ॥

१५–(प्र०) भवन्तः स्वस्मिन्कृष्णत्वं मन्यन्त उत मनुष्यत्वम् ? ॥

१६–(उ०) कृष्णत्वं मन्यन्ते चेद्यादवक्षत्रियाभिमानित्वं कुतो न

१३–(प्र०) आप लोग वेदमतानुयायी हो वा वेदमत के विरोधी हो ? ।

१४–(उ०) यदि वेदमतानुयायी हो तो वेदविरुद्ध अपने कपोलकल्पित वल्लभ वा अन्य संप्रदाय को क्यों मानते हो ? । यदि वेदविरोधी हो तो अपने को नास्तिक और शूद्रकक्षा में क्यों नहीं मानते ? यही धर्मशास्त्र में लिखा है कि "वेदनिन्दक ही नास्तिक होता है" और "जो वेद को न पढ़ के अन्य ग्रन्थों में परिश्रम करता है वह अपने कुटुम्बसहित जीवते ही शूद्र हो जाता है" इससे नास्तिक और शूद्रकक्षा के योग्य हो । फिर जन्मने मरने वाले श्रीकृष्णजी आदि देहधारी जीवों में ईश्वर के भाव का व्यवहार क्यों करते हो ? यदि कहो कि हम श्रीकृष्णादि ईश्वर नहीं मानते तो मन्दिरों में उनकी जड़मूर्त्ति स्थापन और घण्टादि बजाकर उपदेश के छल से अज्ञानियों के धनादि पदार्थ क्यों हरते हो ? ।

१५–(प्र०) आप लोग अपने में कृष्णपन की भावना करते हैं वा मनुष्यपन की ? ।

१६–(उ०) यदि अपने को कृष्ण मानते हो तो यादव क्षत्रियों के युद्धादि सब कामों को क्यों नहीं ग्रहण करते ? श्रीकृष्णजी के सदृश पराक्रम आप

स्वीक्रियते ? तादृशः पराक्रमो भवत्सु कुतो न दृश्यते ? कृष्णस्तु परमपदं प्राप्तो भवन्तः कथञ्जीवनवन्तश्च ॥ मनुष्यत्वं चेत्तर्हि स्वोत्तमाभिमानस्त्यज्यताम् ॥

१७–(प्र०) भवन्तो वैष्णवा उतान्ये ? वैष्णवाश्चेत्कीदृगर्थो वैष्णव-शब्दस्य स्वीक्रियते ? ॥

१८–(उ०) विष्णोरयं भक्तो वैष्णव इति वदाम इति चेन्नैवं शक्यन्त-स्येदमिति सूत्रस्य सामान्यार्थे वर्त्तमानत्वाद्विष्णोरयमित्येतावानर्थो ग्रहीतुं शक्यो विशेषार्थग्रहणस्य नियमाभावात् ॥ यथा भवद्भिर्भक्तशब्दो गृहीत-स्तथाविष्णोरयं शत्रुः पुत्रः पिता प्रभावशिष्यो गुरुश्चेत्यादयोऽर्था अन्येनापि ग्रहीतुं शक्या अतो भवत्कृतोऽर्थोऽनुचितः ॥

१९–(प्र०) भवद्भिर्विष्णुः कीदृशो गृहीतः ? ॥

लोगों में क्यों नहीं दीख पड़ता ? । श्रीकृष्णजी तो परमपद को प्राप्त होगये आप लोग कैसे जीवते बने हो ? और यदि अपने को मनुष्य मानते हो तो अपने को उत्तम मानने का अभिमान छोड़ देओ ।

१७–(प्र०) आप लोग वैष्णव हो वा अन्य ? यदि वैष्णव हो तो वैष्णव शब्द का अर्थ कैसा स्वीकार करते हो ? ।

१८–(उ०) यदि कहते हो कि विष्णु का भक्त वैष्णव है तो ठीक नहीं, क्योंकि व्याकरण के (तस्येदम्) इस सूत्र से विष्णु का सम्बन्धीरूप सामान्य अर्थ ग्रहण होता है, भक्तिविशेष रूप अर्थ लेने में कोई नियम नहीं । जैसे आप लोगों ने विष्णु का सम्बन्धी भक्तरूप अर्थ का ग्रहण किया वैसे कोई विष्णु के शत्रु, पुत्र, पिता, प्रभाव, शिष्य, गुरु आदि अर्थों का ग्रहण कर शत्रु आदि को भी वैष्णव कह सकता है । इसलिये आप लोगों का कल्पित अर्थ ठीक नहीं हो सकता ।

१९–(प्र०) आप लोगों ने विष्णु को किस प्रकार का समझा है ? ।

२०-(उ०) गोलोकवैकुण्ठवासी चतुर्भुजो द्विभुजो लक्ष्मीपतिर्देहधारीत्यादिर्वेति वदाम इति चेद् व्यापकत्वं त्यज्यताम् ॥ चतुर्भुजादिकं मन्यते चेत्सावयवत्वमनित्यत्वञ्च स्वीक्रियतामीश्वरत्वञ्च त्यज्यताम् ॥ कुतः संयोगमन्तरा सावयवत्वमेव न सिद्ध्यति संयोगश्चानित्यस्तस्माद्भिन्न एवेश्वर इति स्वीकारे मङ्गलं नान्यथा । ईश्वरस्य सावयवत्वग्रहणं वेदविरुद्धमेव । "सपर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳशुद्धमपापविद्धमित्यादि" श्रुतिविरोधात् ।

२१-(प्र०) कण्ठीतिलकधारणे मूर्तिपूजने च पुण्यं भवत्युतापुण्यम् ? ।

२२-(उ०) पुण्यं भवति न च पापमिति ब्रूमः । स्वल्पकण्ठीतिलकधारणे मूर्तिपूजने च पुण्यं भवति चेत्तर्हि कण्ठीभारधारणे सर्वमुखशरीरलेपने पृथिवीपर्वतपूजने च महत्पुण्यं भवतीति मन्यताङ्क्रियताञ्च ॥ तत्र

२०-(उ०) यदि गोलोक, वैकुण्ठ का निवासी, चतुर्भुज, द्विभुज, लक्ष्मी का पति देहधारी कहते हो तो व्यापक होना छोड़ो यदि चतुर्भुजादि आकृति वाला मानते हो तो सावयव उत्पत्ति धर्मवाला अनित्य मानो और उसमें ईश्वरत्व छोड़ो । क्योंकि संयोग के विना सावयव होना नहीं सिद्ध होता और संयोग अनित्य है इससे संयोग वियोग वाले से भिन्न को ईश्वर मानने में ही कल्याण है अन्यथा नहीं और ईश्वर को सावयव मानना वेदविरुद्ध ही है । वेद में कहा है कि ईश्वर शरीर छेदन और नाड़ी आदि के बन्धन से रहित शुद्ध निष्पाप सर्वत्र व्यापक है इससे तुम्हारा कहना विरुद्ध है ।

२१-(प्र०) कण्ठी तथा तिलक धारण और मूर्त्ति के पूजने में पुण्य होता है वा अपुण्य ? ।

२२-(उ०) पुण्य होता है पाप नहीं ऐसा कहते हो सो ठीक नहीं क्योंकि यदि थोड़े कंठी तथा तिलक के धारण और मूर्तिपूजन में पुण्य होता है तो बहुत कंठियों का भार लादने चन्दन से सब मुख और शरीर के लेपन करने तथा सम्पूर्ण पृथिवी और पर्वतों के पूजने में बड़ा पुण्य होता है ऐसा मानो और

वेदविधिप्रतिष्ठाया अभावान्न क्रियत इति जल्पामः ॥ वेदेषु तु खलु कण्ठी-तिलकधारणस्य पाषाणमूर्तिपूजनस्य च लेशमात्रोऽपि विधिः प्रतिष्ठा च न दृश्यते । अतो भवत्कथनं व्यर्थमेव ॥

२३-(प्र०) किं प्रतिष्ठात्वनाम ? ॥

२४-(उ०) पाषाणादिमूर्त्तिषु प्राणादीनाहूय तत्र स्थापनमिति ब्रूम इति नैवं शक्यं वक्तुम् ॥ कथं प्राणादीनान्तत्कर्मणान्तत्रादर्शनात् यदि तत्र प्राणादयो वसेयुस्तर्हि गमनभाषणभोजनमलविसर्जनादिकर्माणि कुतो न दृश्यन्ते ? ताश्च कथं न कुर्वन्ति ? यदि प्राणादीनां यत्र कुत्र स्थापने शक्तिरस्ति चेत्तर्हि मृतकशरीराणा मध्ये प्राणादीन् स्थापयित्वा कुतो न जीवयन्ति ? भवतामनेनैव महान् धनलाभः प्रतिष्ठा च भविष्यति ॥ किञ्च पाषाणादिमूर्त्तिनाम्मध्ये प्राणादीनाङ्गमनागमनयोरवकाश एव नास्ति न नाड्य-

---

करो । यदि कहो कि पृथिवी और पहाड़ के पूजने के लिये वेद में प्रतिष्ठा का विधान न होने से नहीं करते तो वेदों में कंठी तिलकधारण और पाषाणमूर्ति-पूजन का लेशमात्र भी विधान नहीं और न प्रतिष्ठा का कहीं नाम है इसलिये आपका कथन व्यर्थ है ।

२३-(प्र०) प्रतिष्ठा करना क्या वस्तु है ? ।

२४-(उ०) यदि कहते हो कि पाषाण आदि की मूर्तियों में वेदमंत्र द्वारा प्राण आदि का आह्वान कर स्थापन करना प्रतिष्ठा है तो यह कहना ठीक नहीं क्योंकि प्राण आदि और उनकी क्रिया मूर्त्तियों में नहीं दीख पड़ती जो उन मूर्त्तियों में प्राण वा इन्द्रिय रहते तो चलना, बोलना, खाना, मलमूत्र त्याग करना आदि कर्म क्यों नहीं दीख पड़ते ? और वे मूर्त्तियां उन कामों को क्यों नहीं करतीं ? यदि प्राणादिकों को जहां कहीं स्थापन करने की शक्ति तुम लोगों में है तो मृतक शरीरों के बीच प्राणादि को स्थापन कर क्यों नहीं जिला देते ? केवल इसी एक कर्म से तुम को बहुत धन की प्राप्ति और प्रतिष्ठा होगी और

छिद्राणि च । मृतकशरीराणां मध्ये तु यथावत्सामग्री वर्त्तेत एव प्राणादि-भिर्विना दाहादिकाः क्रियाः जनैः क्रियन्ते यदा भवन्तः प्राणादीनान्तत्र स्थापनं कुर्युस्तदा कस्यापि मरणमेव न भवेदनेन महत्पुण्यम्भविष्यति तस्माच्छीघ्रमेवेदङ्कर्म कर्त्तव्यमिति निश्चेतव्यम् ॥ यदि कश्चिन्मृतं शरीरञ्जीवयेत्तादृशो मनुष्यो न भूतो न भविष्यतीति वयं जानीमः ॥ कुत ईश्वरस्य नियमस्यान्यथाकरणे कस्यापि सामर्थ्यन्न जातन्न भविष्यतीत्यवगन्तव्यम् ॥ तद्यथा जिह्वयैव रसज्ञानम्भवति नान्यथेतीश्वरनियमोस्ति ॥ एतस्यान्यथाकरणे कस्यापि यथा सामर्थ्यन्नास्ति तथा सर्वेष्वीश्वरकृतेषु नियमेष्विति बोध्यम् ॥ ईश्वरेण ये जडाः पदार्था रचितास्ते कदाचिच्चेतना न भवन्ति तथा चेतना जडाः कदाचिन्नैव भवन्तीति निश्चयः ॥ ईश्वरः सर्वव्याप्योस्त्यतः पाषाणादिमूर्तिमध्येप्यस्ति पुनस्तत्पूजने को दोषः खण्डनञ्च किमर्थं क्रियते ? ॥

यह भी विचारो कि पाषाणादि मूर्त्तियों में तो प्राणादि के जाने आने का अवकाश ही नहीं न नाड़ी और इन्द्रियछिद्र हैं और मृतक शरीरों में तो सब अवकाश नाड़ी और इन्द्रियों के छिद्र आदि सामग्री विद्यमान ही रहती है केवल प्राणादि के न रहने से वे शरीर जला दिये जाते हैं सो जब आप लोग उन शरीरों में आह्वान कर प्राणादि को स्थित कर देओ तब तो किसी का मरण ही न होवे ? इससे बड़ा पुण्य होगा इसलिये शीघ्र ही निश्चय कर यह कर्म करना चाहिये । हम जानते हैं कि यदि कोई मरे हुए को जिला देवे ऐसा मनुष्य न हुआ न होगा क्योंकि ईश्वर के नियम के अन्यथा करने में किसी का सामर्थ्य न हुआ न होगा यह निश्चय जानना चाहिये । जैसे जीभ से ही रस का ज्ञान हो सकता है अन्य इन्द्रिय से नहीं यह ईश्वरकृत नियम है इसके अन्यथा करने में जैसे किसी का सामर्थ्य नहीं है वैसे ही ईश्वर के किये सब नियमों में जानना चाहिये । ईश्वर ने जो पदार्थ जड़ बनाये हैं वे कभी चेतन नहीं होते वैसे चेतन कभी जड़ नहीं हो जाते यह निश्चय है । यदि कहो कि ईश्वर सर्वत्र व्याप्त है इससे पाषाणादि मूर्त्तियों में भी है तो पाषाणादि मूर्त्तियों के पूजने में क्या दोष है ? और क्यों खण्डन करते हो तो उत्तर यह है कि यदि ऐसी भावना रख

एवञ्जानन्ति चेत्तर्हि पुष्पत्रोटनञ्चन्दनघर्षणन्नमस्कारञ्च किमर्थं कुर्वन्ति । कुतः सर्वत्रेश्वरस्य व्यापकत्वात् ॥ नोचेदन्यघृणितपदार्थानाञ्च पूजनङ्किमर्थं न कुर्वन्ति ? सर्वव्यापिनीश्वरे सिद्धे खल्वेकस्मिन्वस्तुनि स्वीकृते महत्पापं भवति ॥ तद्यथा चक्रवर्त्तिनं राजानम्प्रति कश्चिद्ब्रूयाद्भवान्दशहस्तप्रमितायाः भूमे राजास्तीति तम्प्रति राज्ञो महान्कोपो यथा भवति तथेश्वरस्यैवं स्वीकारे चेति वेदितव्यम् ॥

२५—(प्र०) किञ्चिन्मात्राणाम्पाषाणपित्तलादिमूर्त्तीनां पूजने पुण्यं भवत्युत पापम् ? ॥

२६—(उ०) नाद्यः कुतः किञ्चिन्मात्रस्य पित्तलादेर्मूर्त्तिपूजने पुण्यम्भवति चेत्तर्हि महत्याः पित्तलादिमूर्त्तेर्दण्डप्रहारेण महत्पापं भवतीति बुध्यताम् ॥ अन्यच्च वेदानभिहितपाषाणादिमूर्त्तिपूजने महत्पापमेव भवतीति स्वी-

---

पूजा करते हो तो पुष्प तोड़ना, चन्दन घिसना और हाथ जोड़ कर नमस्कार आदि कर्म क्यों करते हो ? क्योंकि ईश्वर पुष्प, चन्दन, हाथ और मुख आदि में भी व्यापक है जैसे पाषाणादि में व्यापक होने से ईश्वर पूजित होगा वैसे पुष्पादि के साथ टूटना घिस जाना भी संभव है यदि नहीं मानते तो अन्य घृणित पदार्थों का पूजन क्यों नहीं करते ? । जब ईश्वर सर्वव्यापक सिद्ध है तो एक छोटीसी किसी मूर्त्ति आदि वस्तु में उसको मानना बड़ा पाप है । तद्यथा—जैसे चक्रवर्त्ति राजा से कोई कहे कि आप दशहाथ भूमि के राजा हैं उसके प्रति जैसे राजा का बड़ा कोप होता है वैसे ईश्वर के इस प्रकार स्वीकार करने में ईश्वर बड़ा कोप करेगा यह जानना चाहिये ।

२५—(प्र०) छोटी २ बनी हुई पाषाण पित्तलादि की मूर्त्तियों के पूजन में पुण्य होता है वा पाप ? ॥

२६—(उ०) पहिला पक्ष पुण्य होना ठीक नहीं क्योंकि यदि छोटी २ पीतल आदि की मूर्त्तियों के पूजने में पुण्य होता है तो बड़ी २ पीतल आदि की घंटादिरूप मूर्त्तियों में दण्डा मारने से बड़ा पाप होता है ऐसा जानो और भी देखो कि वेद में नहीं कहे पाषाणादि मूर्त्ति के पूजन में महापाप ही होता

क्रियतान्नो चेन्नास्तिकत्वं स्वीकार्यम् ॥ न चरमः कुतः पापाचरणस्य वेदेऽनभिधानात् ॥ मनुष्यजन्मानेन व्यर्थमेव गच्छतीत्यतः ॥ तत्पूजनम्मुक्तिसाधनञ्चेन्न तस्या मूर्त्तेरपि शिल्पिना पूजारिणा वैकत्र बद्धत्वात्स्वयञ्जडत्त्वाच्चेति ॥

२७–(प्र०) ईदृक्कण्ठीतिलकधारणे किं मानञ्चा वा युक्तिः ? ॥

२८–(उ०) हरिपदाकृतित्वम् ॥ कृष्णललाटे राधया कुङ्कुमयुक्तेन चरणेन कृतं ताडनं ललाटस्य शोभार्थञ्चेति ब्रूमः ॥ हरिशब्देन कस्य ग्रहणम् ? ॥ विष्णोरेवेति वदामः । नैतदेकान्ततः शक्यं ग्रहीतुम् ॥ अश्वसिंहसूर्यवानरमनुष्यादीनामपि ग्रहणाद्वेदानुक्तत्वादतएव पापजनकन्तिलकमिति वेद्यम् ॥ किञ्च तिलकत्वमिति ॥ त्रिपुण्ड्रोर्ध्वपुण्ड्ररचनत्वामिति वदामः ॥ नैवं वक्तुमुचितम् ॥ तिलस्य प्रतिकृतिस्तिलकमल्पस्तिलास्तिलको वेत्यर्थस्य

है ऐसा मानो यदि न मानो तो वेदविरोधी होने से नास्तिक बनो । और पाप होना रूप द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं क्योंकि पाप करना भी वेद में नहीं कहा तो मनुष्यजन्म इससे व्यर्थ जाता है यदि कहो कि मूर्त्तियों का पूजना मुक्ति का साधन है तो ठीक नहीं क्योंकि उस मूर्त्ति को कारीगर वा पूजारी ने एक स्थान में स्थिरबद्ध किया और स्वयं जड़ है तो अन्य को क्या मूर्त्ति दे सकेगी ।

२७–(प्र०) ऐसे विशेष चिह्नयुक्त कण्ठी और तिलक के धारण में क्या प्रमाण वा युक्ति है ? ।

२८–(उ०) श्रीकृष्ण के पग के आकार तिलक इसलिये धारण करते हैं कि कृष्ण के मस्तक पर राधाजी ने लालचन्दन युक्त लात मारी थी और वैसी लात मारने से शोभा भी समझते हैं । (प्र०) हरि शब्द से किस को लेते हो ? हरि शब्द से विष्णु का ग्रहण करते हैं यह कहना ठीक नहीं क्योंकि घोड़ा, सिंह, सूर्य, वानर और मनुष्यादि का नाम भी हरि है उनका ग्रहण क्यों नहीं होता ? वेदोक्त न होने से तिलक लगाना अयुक्त है इसी से पापकारी है यह जानना चाहिये । तिलक क्या वस्तु है ? यदि त्रिपुण्ड्र और

जागरूकत्वादेतावतो दीर्घस्य ललाटे लिप्तस्य तिलकसंज्ञायां मतायां भवत्सु प्रमत्तत्वापत्तिर्भवतीति वेद्यम् ? ॥

२९–(प्र०) मूर्त्तिपूजनादिषु पुण्यं भवत्युत पापम् ?

३०–(उ०) मूर्त्तिपूजने कण्ठीतिलकधारणे च दोषो नास्ति कुतः यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशीत्यतः ॥

३१–(प्र०) भावना सत्यास्त्युत मिथ्या ? ॥

३२–(उ०) न प्रथमः कुतो दुःखस्य भावनां कोपि न करोति सदैव सुखस्यैव च पुनः सुखं न भवति दुःखञ्च भवत्यतो भावना न सत्या ॥ न द्वितीयः कथं विद्याधर्मार्थकाममोक्षाणां भावनया विना सिद्धिरेव न भवती-

---

ऊर्ध्वपुण्ड्र रचना को तिलक कहते हो तो यह कहना ठीक नहीं क्योंकि व्याकरण रीति से तिल के प्रतिबिम्ब को तिलक वा छोटे तिल को तिलक कहना चाहिये यह सिद्ध है तो इस प्रकार के लम्बीभूत चन्दनादि ललाट पर के लेपन की तिलक संज्ञा मानने में आप लोगों में प्रमाद प्राप्त होता है यह निश्चय जानना चाहिये ।

२९—(प्र०) मूर्त्तिपूजनादि में पाप होता है वा पुण्य ? ।

३०—(उ०) मूर्त्तिपूजन और कण्ठी तिलक धारण करने में कुछ दोष नहीं है क्योंकि जिसकी भावना जैसी होती है उसकी वैसी ही सिद्धि हो जाती है ॥

३१—(प्र०) भावना सत्य है वा मिथ्या ? ।

३२—(उ०) पहिला पक्ष भावना का सत्य मानना ठीक नहीं क्योंकि दुःख की भावना कोई नहीं करता किन्तु सदैव सुख की भावना करते हैं फिर भी सब को सुख नहीं मिलता किन्तु दुःख होता ही है इससे भावना सत्य नहीं। दूसरा पक्ष भावना का मिथ्या मानना भी ठीक नहीं क्योंकि भावना के बिना

त्यतः ॥ भावना सत्यास्ति चेत्तर्हि भवच्छरीरे रेलाख्ययानभावनाङ्कृत्वोपर्य्यासीमहि यावता कालेन यावद्देशान्तरन्तद्यानङ्गच्छति तावता कालेनैव भवच्छरीरन्तावद्देशान्तरमस्मान् गमयेच्चेत्तदा तु भावना सत्या नान्यथा ॥ पुनः पाषाणादिषु हीरकादिरत्नभावनाञ्जले दधिघृतदुग्धभावनान्धूल्याङ्गोधूमपिष्टशर्कराभावनां शर्करायान्तन्दुलभावनान्तथा जडे चेतनभावनां चेतने जडभावनान्दरिद्रः स्वस्मिंश्चक्रवर्त्तिभावनाञ्चक्रवर्त्ती स्वस्मिन्दरिद्रभावनाञ्च कुर्यात्सा तथैव सिद्धा भवेच्चेत्तदा तु सत्याऽन्यथा मिथ्येति बोद्धव्यम् । तर्हि भावना का नाम । भावना तु पाषाणे पाषाणभावना रोटिकायां रोटिकाभावनेति यथार्थं ज्ञानमिति भ्रमरतस्मिंस्तद्बुद्धिरिति ॥ तथा रोटिकायां पाषाणभावना पाषाणे रोटिकाभावनाऽयथार्थज्ञानमतस्मिंस्तद्बुद्धिर्भ्रमो ऽभावना चेति ॥

३३-(प्र०) प्रतिमाशब्देन किङ्गृह्यते ॥

विद्या, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि ही नहीं हो सकती । इससे यथायोग्य भावना करना ठीक है । यदि अन्य में अन्य की भावना करना सत्य है तो आप के शरीर में रेल की भावना करके हम बैठें तो जितने समय में जितनी दूर रेल पहुंचती है उतने समय में उतनी दूर आप का शरीर हमको पहुंचा देवे तब तो भावना ठीक नहीं तो मिथ्या ? फिर पत्थर आदि में हीरे आदि रत्नों की भावना, जल में दूध दही घी की भावना, धूलि में आटा और शक्कर की, शक्कर में तण्डुल की, जड़ में चेतन, चेतन में जड़, निर्धनी दरिद्र अपने में चक्रवर्ती राजा की और चक्रवर्त्ती राजा अपने में दरिद्र की भावना करे, और वह वैसी ही ठीक २ सिद्ध हो जावे तब तो सत्य, अन्यथा मिथ्या जाननी चाहिये । तो फिर भावना किस का नाम है ? पत्थर में पत्थर रोटी में रोटी की भावना करना यथार्थ ज्ञान कहाता है । अर्थात् जैसे को वैसा जानना भावना है । रोटी में पत्थर और पत्थर में रोटी की भावना करना मिथ्या ज्ञान अन्य में अन्य बुद्धि भ्रमरूप अभावना कहाती है ।

३३-(प्र०) प्रतिमा शब्द से क्या लेते हो ? ।

३४–(उ०) पूजनार्थो चतुर्भुजादिमूर्त्तिरिति वदामः ॥

३५–(प्र०) प्रतिमाशब्दस्य कोऽर्थः क्रियते ॥

३६–(उ०) प्रतिमीयते यया सा प्रतिमा किञ्चाऽनया प्रतिमीयते ॥ ईश्वरशिवनारायणादयश्चेति वदामः ॥ किञ्च भोरनया पाषाणादिमूर्त्येश्वरस्य शिवादिशरीराणाञ्च प्रत्यक्षतया भवद्भिस्तोलनङ्कृतङ्किमतोयमर्थः क्रियते ? ॥ "तुलामानं प्रतीमानं सर्वञ्च स्यात्सुलक्षितम् ॥ षट्सु षट्सु च मासेषु पुनरेव परीक्षयेदिति" मनुसाक्ष्यं बोध्यम् ॥ प्रतिमाशब्देन गुडघृतादीनान्तोलनसाधनानाम्पलसेटकादीनां मासादीनां च ग्रहणमिति निश्चयः ॥ "न तस्य प्रतिमाऽस्ति यस्य नाम महद्यश" इति यजुस्संहितायां द्वात्रिंशेऽध्याये ॥ ईश्वरस्य प्रतिमा तोलनसाधनमेव न भवति तस्याऽतुलत्वात् ॥ अतएव भवत्कृतोऽर्थो व्यर्थ एवेति बोध्यम् ॥

३४–(उ०) पूजने योग्य चतुर्भुज आदि की मूर्त्ति को लेते हैं।

३५–(प्र०) प्रतिमा शब्द का क्या अर्थ करते हो ? ।

३६–(उ०) जिससे पदार्थ का स्वरूप वा अवधि जानी जावे वह प्रतिमा है, ऐसा अर्थ करते हो तो किस का स्वरूप इससे जाना जाता है यदि कहो कि ईश्वर, शिव और नारायण आदि का बोध प्रतिमा से होता है तो हम पूछते हैं कि क्या इस पाषाणादि मूर्त्ति से ईश्वर और शिवादि के शरीरों को आपने प्रत्यक्ष तोल लिया है कि जिससे ऐसा अर्थ करते हैं ? धर्मशास्त्र राजधर्म में लिखा है कि तराजू और प्रतीमान=बाट सब ठीक २ रखने चाहिये और छः २ महीने में इनकी परीक्षा राजा करावे इस प्रमाण के अनुकूल प्रतिमा शब्द से गुड़ घृत आदि के तोलने के साधन सेर आदि वा मासा आदि बटखरों का ग्रहण होना निश्चय है ॥ और यजुर्वेद बत्तीसवें अध्याय के तीसरे मंत्र में ईश्वर की प्रतिमा अर्थात् तोल साधन का निषेध किया है क्योंकि ईश्वर अतुल है इसी से आप का किया अर्थ व्यर्थ ही जानना चाहिये ।

३७-(प्र०) पुराणशब्देन किङ्गृह्यते ॥

३८-(उ०) ब्रह्मवैवर्त्तादीन्यष्टादशपुराणोपपुराणानि चेति ब्रूमः । नैवं शक्यं पुराणशब्दस्य विशेषणवाचकत्वेन व्यावर्त्तकार्थकत्वात् ॥ यथा पुरातनप्राचीनादयश्शब्दा नवीनार्वाचीनादीञ्छब्दार्थान्व्यावर्त्तयन्ति तथा पुराणादयश्शब्दा नवीनाद्यर्थांश्चेति ॥ तद्यथा केनचिदुक्तम्पुराणं घृतं पुराणो गुडः पुराणी शाटीचेत्यर्थान्नवीनं घृतञ्चेत्यादि व्यावर्त्तते तस्मात्पुराणशब्देन वेदानान्तद्व्याख्यानब्राह्मणादीनाञ्च ग्रहणं भवति न ब्रह्मवैवर्त्तादीनाञ्चेति, "ब्राह्मणानीतिहासः पुराणानीति" "दशमेऽहनि किञ्चित्पुराणमाचक्षीत" "पुराणविद्यावेदो दशमेऽहनि श्रोतव्य" इत्याद्यश्वमेधस्य पूर्त्त्यनन्तरन्नवदिनपर्यन्तमृग्वेदादिकं श्रुत्वाऽऽख्याय च दशमेऽहनि ब्रह्मज्ञानप्रतिपादकमुपनिषत्पुराणं शास्त्रं यजमानादय आचक्षीरञ्छृणुयुश्चेति ब्राह्मणवेदानामेव ग्रहणमान्यस्येति साक्ष्यात्सर्वेभ्यो वेदानामेव पुरातनत्वाच्चेति ॥ परन्तु मतमस्माकं

३७-(प्र०) पुराण शब्द से क्या लेते हो ? ।

३८-(उ०) ब्रह्मवैवर्त्तादि अठारह पुराण और उपपुराण लेवे हो सो ठीक नहीं क्योंकि पुराण शब्द विशेषण वाचक होने से व्यावर्त्तक अर्थवाची होता है । जैसे पुरान प्राचीन आदि शब्द नवीन और अर्वाचीन आदि से निवृत्त करते वैसे पुराणादि शब्द नवीन आदि के वाच्य अर्थों को निवृत्त करते हैं । जैसे किसी से कहा कि पुराना घृत पुराना गुड़ पुरानी साड़ी इससे घृत आदि में नवीनपन की निवृत्ति हो गई । इस कारण पुराण शब्द से वेद और वेद के व्याख्यान ब्राह्मणग्रन्थों का ग्रहण होता है किन्तु ब्रह्मवैवर्त्तादि का नहीं, कल्पसूत्रकारों ने लिखा है कि ब्राह्मणग्रन्थ ही इतिहास पुराण नामक हैं । अश्वमेध यज्ञ में दशमे दिन कुछ थोड़ी पुराण की कथा कहे सुने, पुराणविद्या वेद का व्याख्यान दशमे दिन सुने अर्थात् नवदिन तक यज्ञ में ऋग्वेदादि कह के दशमे दिन ब्रह्मज्ञान का प्रतिपादक ब्राह्मणान्तर्गत उपनिषद्भाग यजमान आदि कहें और सुनें । इस प्रकार पुराणशब्द से ब्राह्मण और वेद का ही ग्रहण करना अन्य

खलु वेदा नान्यदिति सिद्धान्तः ॥ ब्रह्मवैवर्त्तादीनि व्यासनामव्याजेन सम्प्रदायस्थैर्जीविकार्थिभिर्मनुष्याणां भ्रान्तिकरणार्थानि रचितानीति जानीमः यथा शिवादिनामव्याजेन तन्त्राणि याज्ञवल्क्यादिनामव्याजेन च याज्ञवल्क्यादिस्मृतयश्च रचितास्तथैव ब्रह्मवैवर्त्तादीनीति विज्ञायताम् ॥

३९—(प्र०) देवालयशब्देन भवद्भिः किङ्गृह्यते ? ॥

४०—(उ०) मूर्त्तिस्थापनपूजनस्थानानि घण्टादिनादकरणार्थानि मन्दिराणीति प्रतिजानीमः ॥ नैवं शक्यं कुतोऽत्र वेदविधेरभावाद्भ्रान्तियुक्तत्वाच्चेति यत्र होमः क्रियते तदेव देवालयशब्देनोच्यते कथं होमस्य देवपूजाशब्देन गृहीतत्वात् ॥ "अध्यापनम्ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम् । होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥ १ ॥ स्वाध्यायेनार्चयेदर्षीन् होमैर्देवान्यथाविधि । पितॄञ्छ्राद्धैर्नॄनन्नैश्च भूतानि बलिकर्मणा" ॥ २ ॥ होमेनैव देवपूजनं

का नहीं ऐसी साक्षी है और वेद ही सब से पुराने हैं। परन्तु हमारा मत वेद है अन्य नहीं यही सिद्धान्त है। ब्रह्मवैवर्त्तादि पुराण व्यासजी के नाम के छल से मतवादी जीविकार्थी लोगों ने मनुष्यों को भ्रान्ति करानेवाले बनाये हैं। जैसे शिव आदि के नाम के छल से तंत्र और याज्ञवल्क्यादि के नाम के छल से याज्ञवल्क्यादि स्मृति रची हैं वैसे ही ब्रह्मवैवर्त्तादि पुराण जानो।

३९–(प्र०) देवालय शब्द से आप क्या लेते हो ?।

४०–(उ०) मूर्त्ति को स्थापन करने पूजने के स्थान जिनमें कि घण्टानाद आर्त्ति आदि करते हैं उनको देवालय कहते हो तो ठीक नहीं क्योंकि यह कर्त्तव्य वेद से विरुद्ध और भ्रांतियुक्त होने से। इससे जिसमें होम किया जाता वही स्थान देवालय शब्दवाच्य हो सकता है क्योंकि देवपूजा शब्द से होम का ग्रहण है। धर्मशास्त्र में लिखा है कि, पढ़ाना–ब्रह्मयज्ञ। तर्पण–पितृयज्ञ। होम-देवयज्ञ। वैश्वदेव–भूतयज्ञ और अतिथिपूजन से मनुष्ययज्ञ कहाता तथा स्वाध्याय से ऋषिपूजन, यथाविधि होम से देवपूजन, श्राद्धों से पितृपूजन, अन्नों से

भवतीति मनुनोक्तत्वाद्भवत्कृतोऽर्थोऽसङ्गत एवेति निश्चयः ॥ अतो होमस्थानं यज्ञशालैव देवालयशब्देन ग्राह्येति निश्चयः ॥

४१—(प्र०) देवशब्देन किङ्गृह्यते ? ॥

४२—(उ०) ब्रह्मविष्णुमहादेवादीनत्रपूजनार्थांस्तन्मूर्त्तीश्चेति गृह्णीमः ॥ नैवं योग्यम् ॥ "यत्र देवतोच्यते तत्र तल्लिङ्गो मन्त्र" इति निरुक्ते । "मन्त्रमयी देवतेति" पूर्वमीमांसायाम् ॥ तथा "मन्त्रमयी देवतेति" ब्राह्मणे ॥ "आत्मैव देवतास्सर्वास्सर्वमात्मन्यवस्थितमिति" मनुस्मृतौ ॥ "मातृदेवो भव पितृदेवो भव आचार्यदेवो भव अतिथिदेवो भव" इति तैत्तिरीयोपनिषदि ॥ इत्यादिसाक्ष्यविरोधात्कर्मकाण्डे मन्त्राणां मात्रादीनां विदुषाश्च देवदेवताशब्दाभ्यां सङ्ग्रहादुपासनाज्ञानकाण्डयोरीश्वरस्यैव देवताशब्देन सर्वत्र स्वीका-

---

मनुष्यपूजन और वैश्वदेव से प्राणिमात्र का सत्कार करना चाहिये । इससे सिद्ध हो गया कि होम ही से देवपूजा होती है यह मनु की साक्षी है इससे आपका किया अर्थ असंगत है यही निश्चय जानो । इसलिये होम का स्थान यज्ञशाला ही देवालय शब्द से लेना चाहिये ।

४१–(प्र०) देवशब्द से क्या लेते हो ? ।

४२–(उ०) पूजने के लिये ब्रह्मा विष्णु और महादेवादि देवताओं को और उन की मूर्त्तियों को देव शब्द से लेते हो सो ठीक नहीं क्योंकि वेद में जहां २ देवता कहा है वहां २ उस देवता नामवाचक शब्दयुक्त मंत्र का ही नाम देवता है यह निरुक्तकार का सिद्धान्त है और पूर्वमीमांसा और ब्राह्मणभाग में मन्त्रस्वरूप ही देवता माना है । मनुस्मृति में आत्मा के बीच सब जगत् अवस्थित है इसलिये आत्मा ही सब देवता है । तैत्तिरीय आरण्यक में माता, पिता, आचार्य, अतिथि को ही देवता माना है । इत्यादि प्रमाणों से तुम्हारा कथन विरुद्ध होने से कर्मकाण्ड में मन्त्रस्वरूप, माता आदि और विद्वानों का देव और देवता शब्द से ग्रहण तथा उपासना और ज्ञानकाण्ड में सर्वत्र देवता शब्द से ईश्वर का

राद्भवत्कृतोऽर्थो मिथ्यैवेति निश्चयः ।। एवं सति पाषाणादिमूर्त्तीः देवता-शब्देन यो गृह्णाति स न मनुष्योऽस्ति किन्तु पशुरेव च ।। योऽन्यां देवता-मुपास्ते स पशुरेव देवानाम् ।। "उत्तिष्ठत जाग्रत" "तज्जानथ अन्या वाचो विमुञ्चथ" चेत्याद्युक्तत्वान्मूर्त्तयस्तु कदाचिद्देवता न भवन्तीति निश्चीयताम् ।।

४३—(प्र०) देवल-देवलक-शब्दाभ्यां किं गृह्यते ? ।।

४४—(उ०) मूर्त्तिपूजारींस्तदधीनजीविकावतश्चेति ब्रूमः ।।

नैवमुचितं वक्तुम् ।। कथं, "यद्वित्तं यज्ञशीलानान्देवस्वन्तद्विदुर्बुधाः ।। अयज्वनान्तु यद्वित्तमासुरं तत्प्रचक्षत" इति मनुसाक्ष्यविरोधात् ।। यज्ञशी-लानां यज्ञार्थं यद्वित्तं तद्देवशब्देनोच्येत तल्लाति गृह्णाति स्वभोजनाद्यर्थं सोऽय-न्देवलो निन्द्यः ।। यो यज्ञार्थं यद्धनं तच्चोरयति स देवलकः ।। कुत्सितो देवलो

ही स्वीकार है इससे आपका किया अर्थ मिथ्या ही निश्चित होता है । जब ऐसा है तो जो देवता शब्द से पाषाणादि मूर्त्तियों का ग्रहण करता है वह मनुष्य नहीं किन्तु पशु ही है । और उपनिषद् में यही कहा है कि जो एक ईश्वर को छोड़ के अन्य देवता की उपासना करता है वह देवताओं में पशु ही है इसलिये हे मनुष्यो ! उठो जागो उस आत्मा को जानो अन्य की उपासनारूप वाणियों को छोड़ो इत्यादि प्रमाण से मूर्त्तियां कदापि देवता नहीं हो सकतीं यह निश्चय जानो ।

४३—(प्र०) देवल और देवलक शब्दों से किसका ग्रहण करते हो ? ।

४४—(उ०) यदि कहते हो कि मूर्त्तिपूजने और मूर्त्तिपूजा से जीविका करनेवाले देवल और देवलक कहाते हैं तो ठीक नहीं क्योंकि धर्मशास्त्र में लिखा है कि जो यज्ञ करनेवालों का धन है वह देवल और यज्ञ न करनेवालों का धन आसुर कहाता है, देव नाम यज्ञ के धन को अपने भोजनादि के लिये लेने वाला देवल निन्दित कहाता है यहां व्याकरण रीति से मध्यम पद स्वशब्द का लोप हो जाता है । और जो यज्ञ के धन की चोरी करता है वह देवलक अति-निन्दित कहाता है क्योंकि व्याकरण के (कुत्सिते) सूत्र से निन्दित अर्थ में क

देवलकः कुत्सित इति सूत्रेण क-प्रत्ययविधानाद्भवत्कृतोर्थोऽन्यथेति वेदितव्यम् ॥

४५—(प्र०) ईश्वरस्य जन्ममरणे भवत आहोस्विन्न ? ॥

४६—(उ०) अप्राकृते दिव्ये जन्ममरणे भवतो नान्यथेति स्वीक्रियते ॥ भक्तानामुद्धारार्थं दुष्टानां विनाशार्थन्तथा धर्म्मस्थापनार्थमधर्म्मनिर्मूलनार्थञ्च ॥ नैवन्न्याय्यङ्कस्मात्सर्वशक्तिमत्त्वात्सर्वान्तर्यामित्वादखण्डत्वात्सर्वव्यापकत्वादनन्तत्वान्निष्कम्पत्वाच्चेश्वरस्येति । सर्वशक्तिमान् हीश्वरोऽस्ति स सर्वं न्याय्यङ्कार्यङ्कर्त्तुं समर्थोऽस्त्यसहायेन । यश्च शरीरधारणादिसहायेन कार्य्यङ्कर्त्तुं समर्थो भवेन्न चान्यथेति नेत्थं चेत्तर्हि सर्वशक्तिमत्त्वमेव तस्य नश्येत् ॥ यथा खल्वसहायेन सर्वमिदञ्जगद्रचयित्वा धारयति तथैव हिरण्याक्षरावणकंसादीनां क्षणमात्रेण हननङ्कर्त्तुं समर्थोऽसहायेनोपदेशम्भक्तोद्धारन्धर्मस्थापनमध-

---

प्रत्यय होता है इससे आप का किया अर्थ मिथ्या है यह जानना चाहिये ।

४५—(प्र०) ईश्वर के जन्ममरण होवे हैं वा नहीं ? ।

४६—(उ०) यदि यह कहते हो कि अप्राकृत मनुष्यादि के जन्ममरण से विलक्षण दिव्य जन्ममरण होते हैं अन्यथा नहीं यह स्वीकार है, क्योंकि भक्तों के उद्धार दुष्टों के विनाश, धर्म की स्थापना और अधर्म को निर्मूल करने के लिये अस्वाभाविक जन्म ईश्वर धारण करता है तो ठीक नहीं क्योंकि ईश्वर सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी, अखण्ड, सर्वव्यापक, अनन्त और निश्चल निष्कम्प है । जैसे ईश्वर सर्वशक्तिमान् है तो वह सब न्याययुक्त कार्य विना सहाय के करने को समर्थ है फिर जो शरीर धारणादि सहाय से कार्य कर सके अन्यथा न करसके तो ऐसा मानने में वह सर्वशक्तिमान् ही नहीं ठहर सकता । जैसे विना सहायता के इस सर्व जगत् को रच के धारण करता है वैसे ही हिरण्याक्ष, रावण और कंसादि को मारने को विना शरीरादि सहाय के समर्थ है तथा स्वतन्त्र असहाय ही उपदेश, भक्तों का उद्धार, धर्म का स्थापन, अधर्म तथा दुष्टों

र्मदुष्टविनाशश्च ॥ यथा सर्वशक्तिमत्त्वमीश्वरे स्वीक्रियते तथा न्यायकारित्वादयोऽपि स्वभावा ईश्वरे स्वीकार्याः ॥ अन्यथा स्वनाशाद्यधर्ममपि कर्त्तुं समर्थो भवेदत ईश्वरोऽनन्तोऽजोऽविकारी च ॥ प्रकृत्याकाशादिकं सर्वंजगदीश्वरस्याऽपेक्षया स्वल्पन्तुच्छं सान्तश्चास्ति । पुनस्तस्य का शरीरसामग्री ? यतो निवासार्थमधिकरणम्भवेत्तस्माद् बृहत्किमपि न विद्यत इति सर्ववेदसिद्धान्तः ॥ "सपर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम्" ॥ "तदन्तरस्य सर्वस्य तदुसर्वस्यास्य बाह्यतः" ॥ "सत्यं ज्ञानमनन्तम्ब्रह्म" ॥ "दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः" ॥ "अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययन्तथाऽरसन्नित्यमगन्धवच्च यत् । अनाद्यनन्तम्महतः परन्ध्रुवन्निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते" "अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्" ॥ "वेदाहमेत-

का विनाश कर सकता है । जैसे ईश्वर में सब शक्तियों का होना मानते हो वैसे न्यायकारीपन आदि स्वभाव भी ईश्वर में स्वीकार करने योग्य हैं । यदि ऐसा न मानोगे तो सर्वशक्तिमान् होने से ही अपना नाश, अन्याय, अधर्म करने को भी समर्थ होजावे तो ईश्वरता ही न रहे, इससे ईश्वर अनन्त अजन्मा और अविकारी है । प्रकृति और आकाशादि सब जगत् ईश्वर की अपेक्षा छोटा तुच्छ और अन्तवाला है । फिर उसके शरीर बनने को कौन सामग्री है जिसमें वह समाय जावे उससे बड़ा कोई भी नहीं यह सब वेद शास्त्र से सिद्ध है तो कैसे एक शरीर में समाय सकता है । वेद और उपनिषदों के प्रमाणः—वह सब में व्याप्त प्रकाशमय, सब प्रकार के शरीर से रहित, अछेद्य, अभेद्य नाड़ी आदि के बन्धन से रहित, शुद्ध निर्मल, निष्पाप है । वह सब के भीतर और बाहर परिपूर्ण है । वह सत्यस्वरूप ज्ञानस्वरूप और सब से बड़ा अनन्त है । वह पुरुष पूर्ण परमात्मा दिव्यरूप सब प्रकार की मूर्त्ति से रहित सब के बाहर भीतर वर्त्तमान और अजन्मा है । वह शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध और नाश रहित, नित्य, अनादि, अनन्त, महतत्त्व से परे निश्चल है उसी को ठीक २ जान के मृत्युरूप ग्राह के मुख से छूटता है । वह सूक्ष्म से सूक्ष्म और बड़े से बड़ा है इस जीव के अन्तःकरण में व्याप्त उपलब्ध होने वाला है । मनुष्य

म्पुरुषम्महान्तमादित्यवर्णन्तमसः परस्तात् । तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनायेति" यजुर्वेदादिश्रुतिभ्यः ॥ ईश्वरस्याऽवतारोऽर्थाज्जन्ममरणे नैव भवत इति सर्वेषां वेदानां सिद्धान्तो वेदितव्यः ॥

४७—(प्र०) ईश्वरस्साकार उत निराकारः ? ॥

४८—(उ०) निराकारश्चेति वदामः ॥ निराकारश्चेत्तर्हि तस्मात्साकारं तत्कथञ्जायेत तथा हस्तादिभिर्विना कथञ्जगद्रचयेदिति ॥ मैवं वाच्यङ्कुतः ॥ सर्वासां शक्तीनां सामर्थ्यानामीश्वरे नित्यं विद्यमानत्वान्निराकारादेव साकारस्योत्पन्नत्वाच्चेति ॥ तद्यथा ॥ "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशस्सम्भूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः, ओषधिभ्योऽन्नम्, अन्नाद्रेतः, रेतसः पुरुषः, स वा एष पुरुषो-

को ऐसा विचार रखना उचित है कि मैं उस परमात्मा को जानूं कि जो सब से बड़ा पूर्ण सूर्य के तुल्य प्रकाश वाला अन्धकार से परे है । क्योंकि उसी को जानकर मनुष्य मृत्यु से बच सकता है अन्य कोई मार्ग मुक्ति के लिये नहीं है । इत्यादि मन्त्रों के प्रमाण से ईश्वर का अवतार अर्थात् जन्ममरण नहीं होते यही सब वेदों का सिद्धान्त जानना चाहिये ।

४७—(प्र०) ईश्वर साकार है वा निराकार ? ।

४८—(उ०) यदि कहो निराकार है तो ठीक है और जो निराकार होने में तुम को शङ्का है कि जो निराकार हो तो उससे साकार जगत् उत्पन्न कैसे हो सके और हाथ आदि साधन के विना कैसे जगत् को रच सके सो यह ठीक नहीं क्योंकि सब प्रकार के सामर्थ्य निराकार ईश्वर में नित्य ही विद्यमान हैं इससे निराकार से ही साकार उत्पत्ति हो सकती है । जैसे प्रमाण—उस ही इस आत्मा से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी, पृथिवी से ओषधि, ओषधियों से अन्न, अन्न से वीर्य, वीर्य से शरीर उत्पन्न होता है सो ही यह शरीर अन्नरसमय कहाता है इस उत्पत्ति की प्रक्रिया में

ऽक्षरसमयः" ॥ आत्माऽकाशौ निराकारौ तस्माद्वायुर्द्विगुणः स्थूलोऽजायत ततास्त्रिगुणः स्थूलोऽग्निर्जलं पृथिवी चेत्यादि निराकारात्सूक्ष्मात्स्थूलमिदञ्च जगज्जायते तथा च स्थूलमयस्कान्तपाषाणादिकम्पिष्ट्वा चूर्णीभूतङ्कृत्वा प्रत्यक्षतया दर्शयितु द्रष्टुं सर्वे मनुष्याः समर्था इत्यतो निराकारादेव साकारञ्जगज्जायत इति निश्चयः ॥ अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः" । "स वेत्ति विश्वन्न च तस्य वेत्ता तमाहुरग्र्यम्पुरुषम्पुराण"मित्यादिश्रुतिभ्यः ॥ हस्तपादाद्यङ्गैर्विनाप्यनन्तानां सर्वेषां सामर्थ्यानामीश्वरे वर्त्तमानत्वात्साकार ईश्वरस्साकारात्साकारो-पत्तिर्हस्तपादादिभिर्विना जगदुत्पादयितुमसमर्थ ईश्वर इत्यादि वाग्जालं मनुष्याणाम्प्रमादेनैवेत्यवगन्तव्यम् ॥

४९-(प्र०) ईश्वरो मायावी न वेति ? ॥ मायाशब्दस्य कोऽर्थः क्रियते ? ॥

५०-(उ०) मायेश्वरशक्तिरित्युच्यते ॥ नैवं योग्यम्भवितुम् ॥ कथं

आत्मा और आकाश निराकार हैं । आकाश से द्विगुणा स्थूल वायु और तिगुणा स्थूल अग्नि, जल और पृथिवी है । इत्यादि प्रकार निराकार सूक्ष्म से यह स्थूल जगत् उत्पन्न होता है और स्थूल चुम्बक पत्थर आदि का चूर्णरूप पीस के प्रत्यक्षता से सब मनुष्य देख दिखा सकते इस कारण निराकार से ही जगत् उत्पन्न होता है । और विना हाथ पग के शीघ्र ग्रहण करता विना चक्षु के देखता विना कान के सुनता वह सब को जानता उसका जाननेवाला कोई नहीं उसको सनातन पूर्णब्रह्म कहते हैं इत्यादि श्रुति-प्रमाणों से हस्तपादादि अङ्गों के विना भी सब अनन्त सामर्थ्य ईश्वर में हैं ऐसा होने पर जो मनुष्य कहते हैं कि ईश्वर साकार है साकार से साकार की उत्पत्ति होती है हस्तपादादि के विना ईश्वर जगत् को उत्पन्न नहीं कर सकता इत्यादि वाग्जाल मनुष्यों का प्रमाद से ही निश्चय होता है ।

४९—(प्र०) ईश्वर मायावी है वा नहीं ? और मायाशब्द का क्या अर्थ करते हो ? ।

५०—(उ०) यदि कहते हो कि माया ईश्वर की शक्ति है तो यह ठीक

छलकपटयोरर्थयोर्मायाशब्दस्यापातात् ॥ कश्चिद्वदेदयम्मायावीत्यनेन किञ्ज्ञायतेऽयं छली कपटी चेति ॥ ईश्वरस्य मायाऽविद्यादिदोषरहितत्वान्निर्मलो निरञ्जनो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव एवेतीश्वरो नैव कदाचिन्मायावीति निश्चेतव्यम् ॥ "क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वर" इति पतञ्जलिसाक्ष्यस्य विद्यमानत्वात् ॥

५१-(प्र०) ईश्वरस्सगुणोऽस्ति निर्गुणो वा ? ॥

५२-(उ०) उभयमिति प्रतिजानीमः । तद्यथा घटः स्पर्शादिभिस्स्वकीयैर्गुणैस्सगुणस्तथा चेतनस्य ज्ञानादिभिर्गुणैः पृथक्त्वान्निर्गुणोपि स एव ॥ एवमीश्वरोपि सर्वज्ञानादिभिः स्वकीयैर्गुणैस्सगुण एवञ्जडत्वजन्ममरणाऽज्ञानादिभिर्गुणैः पृथक्त्वात्स एव निर्गुणश्चेति निश्चयः । "एको देवस्सर्वभूतेषु

नहीं हो सकता क्योंकि छल कपट अर्थ में माया शब्द प्रसिद्ध प्राप्त है । कोई कहे कि यह मायावी है इससे क्या ज्ञात होता है कि यह छली कपटी है । ईश्वर माया और अविद्यादि दोषों से रहित है इसी से निर्मल निरञ्जन नित्य शुद्ध बुद्ध और मुक्तस्वभाव ही है । ऐसा कभी न निश्चय करना चाहिये कि ईश्वर मायावी है क्योंकि इसमें श्रीपतञ्जलि मुनि की साक्षी भी विद्यमान है— अविद्या आदि क्लेशों और शुभाऽशुभ कर्मों के फलों से पृथक् मनुष्यादि की तुल्यता से रहित पुरुष परमेश्वर कहाता है ।

५१—(प्र०) ईश्वर सगुण है वा निर्गुण ? ।

५२—(उ०) ईश्वर सगुण निर्गुण दोनों प्रकार से है यह निश्चित है जैसे घट स्पर्श आदि अपने गुणों से सगुण तथा चेतन के ज्ञानादि गुणों से पृथक् होने से निर्गुण भी वही है ऐसे ही ईश्वर भी सर्वज्ञ आदि अपने गुणों से सगुण और जन्ममरण जड़पन अज्ञान आदि गुणों से पृथक् होने से निर्गुण भी वह है । उपनिषद् में कहा है कि एक ही देव ईश्वर सब भूतों में अदृष्टता से व्याप्त है सब का अन्तर्यामी सब का अध्यक्ष सब प्राणि अप्राणि जगत् का निवासस्थान सब का साक्षी चेतन केवल एक और निर्गुण है इस प्रमाण से

गूढस्सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ॥ सर्वाध्यक्षस्सर्वभूताधिवासस्साक्षीचेता: केवलो निर्गुणश्चेति" साक्ष्याद्ब्रह्मादयो देवा रामकृष्णनृसिंहादयस्सर्वे जीवा एवेति निश्चय: ॥ किञ्च सर्वेषां ब्रह्मादीनां य: स्रष्टा धारयिताऽन्तर्यामी सर्वशक्तिमान्न्यायकारी स्वामी चास्ति तै: सेव्यस्तेभ्यो भिन्न एक एवेश्वर इति वेदितव्यम् ॥

५३-(प्र०) भवद्भिर्मुक्तिर्मन्यते न वा ? ॥

५४-(उ०) सालोक्यसामीप्यसानुज्यसायुज्यलक्षणा चतुर्धा मुक्तिर्मन्यतेऽस्माभि: । चतुर्विधाया मुक्ते: कीदृशोऽर्थो विज्ञायते ॥ ईश्वरजीवयोस्समाने लोके निवासस्सा सालोक्यमुक्तिरित्यादयोर्था गृह्यन्ते ॥ नैवं शक्यं विज्ञातुङ्कुत: सर्वेषाञ्जीवानामीश्वररचिताऽधिष्ठिते लोके निवासात्स्वतो गर्दभादीनामपि सा मुक्ति: सिद्धेति ॥ सामीप्यमुक्तिरपि सिद्धा सर्वेषु पदार्थेष्वन्तर्यामित्वेन ईश्वरस्य सामीप्ये वर्त्तमानत्वात् ॥ सानुज्यमुक्तिरपि सर्वेषाञ्जीवानां

ब्रह्मादि देवता और श्रीरामचन्द्र श्रीकृष्णचन्द्र तथा नृसिंह आदि सब जीव ही निश्चित होते हैं क्योंकि एक वही ईश्वर देव है ऐसा कहा है। किन्तु सब ब्रह्मादि का जो स्रष्टा और धारणकर्त्ता अन्तर्यामी सर्वशक्तिमान् न्यायकारी और स्वामी ब्रह्मादि को सेवने योग्य उनसे भिन्न एक ही ईश्वर है ऐसा जानना चाहिये।

५३—(प्र०) आप लोग मुक्ति मानते हो वा नहीं ? ।

५४—(उ०) सालोक्य, सामीप्य, सानुज्य और सायुज्य यह चार प्रकार की मुक्ति हम मानते हैं। (प्र०) चार प्रकार की मुक्ति का क्या अर्थ करते हो ? । (उ०) एक लोक में जीव ईश्वर का निवास होना सालोक्य मुक्ति इत्यादि अर्थ लेते हैं, यह मानना तुम्हारा ठीक नहीं क्योंकि ईश्वर के रचे और नियत किये लोक में सब जीवों का निवास होने से स्वयमेव गदहे आदि की भी वह मुक्ति सिद्ध है। और सब पदार्थों में अन्तर्यामी व्यापक होने से ईश्वर सब के समीप में वर्त्तमान है इससे सामीप्य मुक्ति भी स्वत:सिद्ध है।

स्वतस्सिद्धा ॥ कस्मादनन्तचेतनेश्वरस्याऽपेक्षया जीवानां सान्तत्वचेतनापत्तेरल्पज्ञत्वादिगुणानां सत्त्वात् । सायुज्यमुक्तिरपि सर्वेषाञ्जीवान साधारणाऽस्ति ॥ कुत ईश्वरस्य सर्वत्र व्यापकत्त्वात्सर्वेषाञ्जीवानां तत्र व्याप्यसम्बन्धाच्चेति ॥ सा चतुर्धा मुक्तिर्व्यर्थेति मन्तव्यम् ॥ का तर्हि मुक्तिरिति वैकुण्ठगोलोककैलासादिषु निवास इत्युच्यते ॥ मैवं वाच्यन्तत्र पराधीनत्वादतएव दुःखापत्तेश्चेति ॥ वेदयुक्तिसिद्धान्तः खलु मुक्तिरेकैवास्ति नान्येति ॥ तद्यथा यथावद्विद्याविज्ञानधर्मानुष्ठानानन्तरं यन्निर्भ्रमम्ब्रह्मतत्त्वविज्ञानन्तेन सर्वज्ञस्येश्वरस्य सर्वानन्दस्य प्राप्त्या जन्ममरणादिसर्वदुःखनिवृत्तिरीश्वरानन्देन सह सदैवावस्थितिर्मुक्तिरित्यतो भवन्मता मुक्तिर्मिथ्येति निश्चयः ॥ सर्वम्परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखमिति मनुसाक्ष्यात् ॥

और सायुज्य मुक्ति भी सब जीवों को स्वतःसिद्ध ही है । क्योंकि अनन्त चेतन ईश्वर की अपेक्षा जीवों में अन्तवाली चेतनता होने से जीव अल्पज्ञादि गुणवाले हैं । और सायुज्य मुक्ति भी सब जीवों की साधारण सिद्ध ही है । क्योंकि ईश्वर के सर्वत्र व्यापक होने से और सब जीवों को उस में व्याप्य होने से व्याप्यव्यापकसम्बन्ध स्वतः सिद्ध ही है ॥ इसलिये वह चार प्रकार की मुक्ति मानना व्यर्थ ही है । जब यह मुक्ति मानना व्यर्थ हुआ तो अब कैसी मुक्ति मानोगे ? यदि कहो कि वैकुण्ठ, गोलोक और कैलासादि के निवास को मुक्ति मानते हैं यह भी तुम्हारा कहना ठीक नहीं क्योंकि वहां पराधीन होने से ही दुःख प्राप्त होगा तो दुःख को मुक्ति नहीं कहा जाता। वेद और युक्ति से सिद्धान्त है कि मुक्ति एक ही है अन्य नहीं जैसे यथावत् जो विद्या, विज्ञान और धर्म का यथावत् अनुष्ठान करने के पश्चात् निर्भ्रान्त ब्रह्म को जानना उससे सर्वज्ञ ईश्वर के सब आनन्द की प्राप्ति से जन्ममरणादि सब दुःखों की निवृत्ति और ईश्वर के आनन्द के साथ सदैव अवस्थिति मुक्ति कहाती है इससे आप की मानी मुक्ति मिथ्या ही है यह निश्चय जानो, क्योंकि परवश होना सब दुःख और स्वाधीन होना सुख है तुम्हारी मुक्ति में सदा पराधीन रहना है ।

५५-(प्र०) विष्णुस्वामिवल्लभसम्प्रदायादयो वेदसम्मता आहोस्वित्तद्विरोधिनः ? ॥

५६-(उ०) न पूर्वः ॥ चतुर्षु वेदेषु तेषामनभिधानात्, वेदविरोधात्पाखण्डिन एव ते त्विति वयम् ॥ "पाखण्डिनो विकर्मस्थान्वैडालव्रतिकाञ्छठान् ॥ हैतुकान्बकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेदिति" मनूक्तत्वात् ॥ एते सम्प्रदायशब्दार्थार्हा नैव सन्ति किन्तु सम्प्रदाहशब्दार्थार्हा एवेति । सम्यक् प्रकृष्टतया हि दग्धधर्मज्ञाना जना भवन्ति येषु ते सम्प्रदाहा इति विवेकः ॥ कदाचित्केनचित्तेषां विश्वास एव न कर्त्तव्यः ॥

५७-(प्र०) श्रीकृष्णः शरणं मम । अयमक्षरसमुदायः सत्योऽस्ति मिथ्या वेति ? ॥

५८-(उ०) वेदानुक्तत्वात्कपोलकल्पितत्वान्मिथ्यैवेति ॥ वेदोक्तगाय-

---

५५-(प्र०) विष्णुस्वामी और वल्लभसम्प्रदायी आदि वेदानुकूल हैं वा विरोधी ? ।

५६-(उ०) इसमें वेदानुकूल होना प्रथम पक्ष ठीक नहीं क्योंकि चारों वेदों में उनका कहीं नाम ही नहीं है । वेदविरोधी होने से वे पाखण्डी ही हैं यह जानना चाहिये धर्मशास्त्र में कहा है कि:—पाखण्डी, वेदविरुद्ध कर्म करनेहारे विडाल के स्वभाव से युक्त शठ स्वार्थी बगुला के तुल्य परपदार्थ पर ध्यान रखने वालों का वाणी से भी सत्कार न करे । ये विष्णुस्वामी आदि सम्प्रदाय शब्द से कहे जाने योग्य नहीं हैं किन्तु सम्प्रदाह अर्थात् सम्यक् नाशक ही हैं अच्छे प्रकार सम्यक् रीति से धर्म और ज्ञान जिनका नष्ट हो गया ऐसे जन जिनमें हों वे सम्प्रदाह कहाते हैं कभी किसी को उनका विश्वास ही न करना चाहिये ।

५७-(प्र०) (श्रीकृष्णः शरणं मम) यह अक्षरों का समुदायरूप मन्त्र सत्य है वा मिथ्या ? ।

५८-(उ०) वेदोक्त न होने और कपोलकल्पित होने से मिथ्या ही है ।

त्रीमन्त्रोपदेशत्यागेन मिथ्याकल्पिताऽक्षरसमुदायोपदेशेन नास्तिकत्वं नरकप्राप्तिश्च भविष्यति भवताम् ॥

५९–(प्र०) कीदृगर्थोऽस्य क्रियते ? ॥

६०–(उ०) यः श्रिया सहितः कृष्णः स मम शरणमस्त्विति ॥ नैवं शक्यं कुतः श्रीकृष्णो मम शरणम्प्राप्नोतु हिंसात्वित्याद्यर्थस्य सम्भवादशुद्धानर्थकोयमक्षरसमुदायोऽस्मात् कारणादस्योपदेशकरणं ग्रहणं विश्वासश्च केनचिन्नैव कर्त्तव्य इत्यर्थः ॥ एवमेव 'नमो नारायणाय' 'नमश्शिवाय' 'नमो भगवते वासुदेवाय' 'ऐं ह्रीं क्लीं चामुण्डायै विच्चे' इत्यादयोप्यक्षरसमुदायोपदेशा मिथ्यैव सज्जनैर्मन्तव्याः ।

अथ वल्लभसम्प्रदायस्थोपदेशोयं ब्रह्मसम्बन्धोऽर्थाद्भ्रष्टसम्बन्धोऽक्षरस-

---

वेदोक्त गायत्री मन्त्र के उपदेश को छोड़ कर मिथ्या कल्पना किये अक्षरों के समुदायरूप मन्त्र के उपदेश से आप को नास्तिकता और नरक प्राप्ति होगी।

५९–(प्र०) उक्त मन्त्र का अर्थ कैसा करते हो ? ।

६०–(उ०) श्री–लक्ष्मी के सहित जो कृष्ण हैं सो मेरे शरण हों यह अर्थ कहना ठीक नहीं हो सकता क्योंकि श्रीकृष्ण मेरे शरण को प्राप्त हों वा मेरे शरण को नष्ट करें इत्यादि अर्थ भी सम्भव है अर्थात् तुम्हारे मन्त्र में "प्राप्नोतु" पद नहीं है किन्तु ऊपर से कल्पनामात्र करते हो वैसे कोई "हिंसतु" आदि क्रिया की भी कल्पना कर सकता है उसको तुम कैसे रोक सकोगे ? इस कारण तुम्हारा यह अक्षरसमुदायरूप मन्त्र निरर्थक अशुद्ध है । इसी से इस मन्त्र का उपदेश करना वा दूसरे से उपदेश लेना और इस पर किसी को कदापि विश्वास न करना चाहिये । इसी प्रकार "नमो नारायणाय । नमः शिवाय । नमो भगवते वासुदेवाय । ऐं ह्रीं क्लीं चामुण्डायै विच्चे" इत्यादि अक्षरसमुदायरूप बनावटी मन्त्रों के उपदेश भी सज्जनों को मिथ्या ही जानने चाहियें ।

और वल्लभसंप्रदायियों के ब्रह्मसम्बन्धनामक मन्त्र का उपदेश वस्तुतः भ्रष्ट-

मुदायः सज्जनैर्वेदितव्यः ॥ श्रीकृष्णः शरणम्मम सहस्रपरिवत्सरमितकाल-जातकृष्णवियोगजनिततापक्लेशाऽनन्ततिरोभावोऽहं भगवते कृष्णाय देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणतद्धर्मांश्च दारागारपुत्राप्तवित्तेहापराण्यात्मना सह समर्पयामि दासोऽहं कृष्ण तवास्मि ॥ सहस्रपरिवत्सरेत्यादि सहस्रपरिगणनं व्यर्थम् ॥ कुतः वल्लभस्य युष्माकञ्च सर्वज्ञताया अभावात्प्रत्यक्षता च न विद्यते । सहस्रं वत्सरा व्यतीता इत्यपि कृष्णवियोग परिगणनमयुक्तं सन्दिग्धत्वात् ॥

६१-(प्र०) कृष्णशब्देन किङ्गृह्यते ? ॥

६२-(उ०) परब्रह्म गोलोकवासी वेति वदामः । नैतत्सत्यमस्ति कस्माज्जन्ममरणवतो जीवस्य कृष्णस्य परब्रह्मत्वाभावात् ॥ गवां पशूनां यो लोकस्स तु दुःखरूपो दुर्गन्धरूपत्वात्तत्र ये वसन्ति तेप्यसभ्या विद्याहीना

सम्बन्धरूप ही सज्जनों को समझना चाहिये जैसे ब्रह्मसम्बन्ध का मन्त्र "श्रीकृष्णः शरणं०" इत्यादि है । इसका अर्थ यह है कि श्रीकृष्ण मेरे शरण हों । सहस्रों वर्षकाल से हुआ जो कृष्ण का वियोग उससे हुआ जो दुःख और क्लेश उनसे घेरा हुआ मैं श्रीकृष्ण भगवान् के लिये अपने देह, इन्द्रिय, प्राण, अन्तःकरण और स्त्री, पुत्र, घर, प्राप्त धन क्रियासहित देहादि के धर्मों को अपने आत्मा के सहित समर्पण करता हूं और हे कृष्ण ! मैं तुम्हारा दास हूं। सहस्र वर्ष की गणना करना व्यर्थ है क्योंकि तुम्हारा वल्लभ और तुम सर्वज्ञ नहीं कि सहस्र वर्ष से ही वियोग हुआ ऐसा निश्चय कर सको और न प्रत्यक्ष ही सहस्र वर्षों को जान सकते हो कि इतने ही वर्ष व्यतीत हुए । इसलिये कृष्ण वियोग में निश्चय न हो सकने से वर्षगणना अयुक्त है ।

६१—(प्र०) कृष्ण शब्द से क्या लेते हो ? ।

६२—(उ०) यदि कहते हो कि गोलोकनिवासी परब्रह्म कृष्ण शब्द से लेते हैं तो यह ठीक सत्य नहीं क्योंकि जन्ममरण वाले कृष्ण जीवात्मा परब्रह्म नहीं हो सकते । गौ आदि पशुओं का लोक दुर्गन्ध के बढ़ने से दुःखरूप होगा उसमें जो बसते हैं वे अहीरों के तुल्य मूर्ख विद्याहीन असभ्य जा-

आभीरवन्मूर्खा विज्ञेयाः ॥ किञ्च अस्मात्प्रत्यक्षभूतादाभीरपल्लीगोलोकात्पृथक्कश्चिद्गोलोक एव नास्तीत्यवगन्तव्यम् ॥ तदुपासकास्तत्र ये गमिष्यन्ति तेपि तादृशा भवन्तीति विज्ञेयम् ॥ कृष्णवियोगजनिततापक्लेशाऽनन्ततिरोभावोऽहमित्यादि ॥ इदमशुद्धम् ॥ कुतस्तापक्लेशयोः पुनरुक्तत्वादेकार्थत्वाच्च ॥ पुनरनन्तस्य क्लेशस्य तिरोभावविरहाद्देशकालवस्तुपरिच्छेद एवासम्भावनीयः ॥ कृष्णस्तु कृष्णगुणविशिष्टदेहवत्त्वाज्जन्ममरणादियुक्तत्वाद्भगवानेव भवितुमयोग्यः ॥ तस्मै देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणतद्धर्माणां समर्पणमेवाशक्यं सदैव तन्निष्ठत्वात्स्वाभाविकत्वाच्च ॥ समर्पणम्भवति चेन्मलमूत्रादिपीडारागद्वेषाऽधर्माणामपि तस्मा एव समर्पणं स्यात्तत्फलभोगो नरकादिप्राप्तिः कृष्णायैव भवेदिति न्यायस्य विद्यमानत्वात् । दारागारपुत्राप्तवित्तेहानामपि समर्पणम्पा-

---

नने चाहियें और विचार के देखें तो इस प्रत्यक्ष अहीरों के ग्रामरूप गोलोक से पृथक् अन्य कोई गोलोक ही नहीं ऐसा जानना चाहिये। उस गोलोक निवासी के उपासक जो वहां जावेंगे वे भी वैसे ही होते हैं यह जानना चाहिये। और जो कहा था कि अनन्त काल से कृष्ण के बियोग से हुए दुःख क्लेश से ढपा हुआ मैं हूं इत्यादि यह अशुद्ध है क्योंकि ताप और क्लेश दोनों के एकार्थ होने से दोनों का कहना पुनरुक्त दोष है। फिर अनन्त क्लेश की निवृत्ति न हो सकने से प्रत्येक देश काल और वस्तु से क्लेश का पृथक् होना सम्भव नहीं। काले गुण से युक्त शरीरधारी जन्ममरण वाले श्रीकृष्ण को भगवान् कहना भी योग्य नहीं हो सकता। और उन कृष्ण के अर्थ शरीर, इन्द्रिय, प्राण, अन्तःकरण और इनके धर्मों का समर्पण करना अशक्य है क्योंकि शरीर इन्द्रियादि अपने २ साथ स्वाभाविक स्थित है अर्थात् एक शरीर के नेत्रादि छुटा कर दूसरे को नहीं दिये जा सकते। यदि कहो कि नहीं, समर्पण होता ही है तो मल मूत्रादि और पीड़ा, राग, द्वेष तथा अधर्मों का भी समर्पण श्रीकृष्ण के लिये ही होवे और मलादि का फल दुःख नरकादि की प्राप्ति भी श्रीकृष्ण के लिये ही होवे यही प्रकट न्याय है। और स्त्री, घर, पुत्र, प्राप्त धन और क्रियाओं का समर्पण भी पापफल वाला ही है क्योंकि परस्त्री का

पफलकमेव कुतः परदाराणां परपुरुषार्पणस्य पापात्मकत्वात् ॥ तद्धर्मांश्चे-तिपुल्लिङ्गेन निर्देशाद्वित्तेहापराणीति नपुंसकलिङ्गेन निर्देशाच्चाशुद्धमेव वाक्य-ङ्कुतो लिङ्गवैषम्यनिर्देशात्परशब्दस्य त्रिषु लिङ्गेषु वर्त्तमानत्वाच्च ॥ आत्म-ना सह समर्पयामि दासोऽहं कृष्ण तवास्मीत्यन्तोऽनर्थोऽक्षरसमुदायः ॥ एकैवात्मा जीवो न द्वौ, पुनरात्मना सहात्माहं देहेन्द्रियादीनि समर्पयामी-त्यशुद्धमेव दासोर्थाच्छूद्र एवेति ॥ शूद्रस्य तु जुगुप्सितमिति मनुसाक्ष्यदर्श-नात् । अस्याभिप्रायो वल्लभेन सिद्धान्तरहस्यादिग्रंथेष्वनेकबालबुद्धिमनुष्य-भ्रमणार्थः पापवृद्ध्यर्थश्च निरूपितः ॥ तद्यथा ॥ "श्रावणस्याऽमले पक्ष एका-दश्यां महानिशि । साक्षाद्भगवता प्रोक्तन्तदक्षरश उच्यते ॥ १ ॥ ब्रह्मसम्ब-न्धकरणात्सर्वेषान्देहजीवयोः । सर्वदोषनिवृत्तिर्हि दोषाः पञ्चविधाः स्मृताः ॥ २ ॥ सहजा देशकालोत्था लोकवेदानिरूपिताः । संयोगजाः

परपुरुष को समर्पण करना पापरूप ही है। तथा (तद्धर्मान्) इसका पुल्लिङ्गनिर्देश और (वित्तेहापराणि) इस विशेषण के नपुंसक होने से वाक्य-सम्बन्ध भी अशुद्ध ही है। क्योंकि परशब्द तीनों लिङ्ग का वाचक हो सकता है। हे कृष्ण ! मैं तुम्हारा दास हूं। आत्मा के साथ समर्पण करता हूं यहां पर्यन्त अक्षर समुदायरूप वल्लभ का मन्त्र अनर्थक है जब जीवात्मा एक ही वस्तु है दो नहीं हैं तो फिर आत्मा के साथ देह और इन्द्रियादिकों का सम-र्पण करता हूं यह कथन अशुद्ध असम्बद्ध ही है। और दास अर्थात् शूद्र हूं शूद्र का नाम दासान्त निन्दित रखना चाहिये यह मनुस्मृति की साक्षी है सो धर्मशास्त्र के अनुसार तुम शूद्रवत् हो। इस उक्त ब्रह्मसम्बन्ध नामक मन्त्र का अ-भिप्राय वल्लभ ने सिद्धान्तरहस्यादि ग्रन्थों में अनेक बालबुद्धि मनुष्यों को भ्रम और पाप बढ़ाने के लिये निरूपण किया है (श्रावणस्या०) श्रावण महीने के शुक्लपक्ष की एका-दशी की आधी रात्रि के समय में साक्षात् भगवान् ने जो कहा है उसको ज्यों का त्यों कहते हैं। ब्रह्मसम्बन्धरूप मंत्र के लेने से सब के जीव और शरीर के सब दोषों की निवृत्ति हो जाती है और दोष पांच प्रकार के हैं ॥ एक सहज स्वा-भाविक, २-देश से हुए, ३-कालभेद से हुए, ४-लोक वा धर्मशास्त्र में कहे,

स्पर्शजाश्च न मन्तव्याः कदाचन ॥ ३ ॥ अन्यथा सर्वदोषाणां न निवृत्तिः कथञ्चन । असमर्पितवस्तूनान्तस्माद्वर्जनमाचरेत् ॥ ४ ॥ निवेदिभिः समर्प्यैव सर्वं कुर्यादिति स्थितिः । न मतं देवदेवस्य स्वामिभुक्तिसमर्पणम् ॥५॥ तस्मादादौ सर्वकार्ये सर्ववस्तुसमर्पणम् । दत्तापहारवचनन्तथा च सकलं हरेः ॥ ६ ॥ न ग्राह्यमिति वाक्यं हि भिन्नमार्गपरं मतम् । सेवकानां यथा लोके व्यवहारः प्रसिध्यति ॥ ७ ॥ तथा कार्यं समर्प्यैव सर्वेषां ब्रह्मता ततः । "गङ्गात्वे सर्वदोषाणां गुणदोषादिवर्णनम् ॥ ८ ॥ गङ्गात्वेन निरूप्यं स्यात्तद्वदत्रापि चैव हि" । प्रथमतस्त्वमकर्तुं कृष्णः भगवानेव नेति कृष्णस्य मरणे जात ईषन्न्यूनानि पञ्चसहस्राणि वर्षाणि व्यतीतानि स इदानीं

और ५—वेद में कहे, ये पांच प्रकार के दोष लग सकते हैं इनकी निवृत्ति ब्रह्मसम्बन्धकरणरूप मंत्र से होसकती है । परन्तु स्त्री आदि के संयोग से और स्पर्श से होने वाले दोषों को न मानना चाहिये अन्यथा दोषों की निवृत्ति कभी नहीं हो सकती, किन्तु समर्पण करने से ही दोषों की निवृत्ति हो सकती है इसलिये समर्पण अवश्य करना चाहिये । इससे गुसाइयों के चेले निवेदन करने की वस्तुओं सहित समर्पण करके ही सब कार्य करें यही नियम है । देवों के देव विष्णु का यह मत नहीं कि विना समर्पण किये गुसाई के चेले किसी वस्तु को भोगें और समर्पण यही है कि स्वामी गुसाईजी चेलों के सब पदार्थों का भोग प्रथम कर लेवें ॥ इससे सब कामों के आरम्भ में सब वस्तुओं का समर्पण करना ही ठीक है वैसे ही सब पदार्थ हरि को समर्पण करके ही पीछे ग्रहण करें ॥ गुसाईजी के मत से भिन्नमार्ग के वाक्यमात्र को भी गुसाईजी के चेला चेली कभी न सुनें । जैसा सेवकों का व्यवहार प्रसिद्ध है वैसा होना चाहिये । वैसे ही सब वस्तुओं का समर्पण करके सब के बीच में ब्रह्मबुद्धि करे । वैसे ही अपने मत में गुणों का और दूसरे के मत में दोषों का वर्णन किया करें ॥ जैसे गङ्गा में अन्य घृणित वस्तु पड़कर पवित्र गङ्गारूप हो जाते हैं वैसे अपने मत के दोष भी गुणरूप समझने चाहियें ॥ हमने पहिले से कई वार कहा है कि कृष्ण भगवान् ही नहीं हो सकते । जिन कृष्णजी को शरीर त्यागे कुछ न्यून पांचहजार वर्ष व्यतीत हुए सो उन्होंने अब वल्लभ के समीप आकर कैसे कहा ?

वल्लभस्य समीपे कथमिदमुक्तवान् किन्तु कदाचिन्नैवोक्तवानिति ॥ किञ्च वल्लभेनायं पाखण्डजालोऽधर्मकरणार्थो रचित इति जानीमः ॥ साक्षाद्भगवता प्रोक्तमिति केवलं छलमेव तस्य वल्लभस्य विज्ञेयमिति तस्मात्तदक्षरसमुदायोपदेशस्य पापजनकत्वादसम्बन्धप्रलापत्वाच्च न सर्वदोषनिवृत्तिरिति ॥ दोषा निवृत्ता भूत्वा क्व गमिष्यन्तीति वाच्यम् ॥ नष्टा भविष्यन्तीति ब्रूयुश्चेत्कदाचिन्नव नश्येयुरन्यकृताः पापदोषा अन्यमनुष्यन्नैव गच्छन्ति किन्तु कर्त्तैव कृतं शुभाशुभफलम्भुङ्क्ते नान्यः कश्चिदिति ॥ हरिं कृष्णं समर्पणेनान्यकृताः पापदोषा गच्छेयुश्चेत्ताह तत्फलभोगार्थं नरकं दुःखं हरिरेव प्राप्नुयादिति निश्चयः । कुतः स्वयं कृतानाम्पापपुण्यकर्मफलानां स्वभोगेनैव क्षयादिति न्यायाद्वल्लभकृता कल्पना व्यर्थैवेति निश्चयः ॥ सहजा इत्यादि ॥ सहजानां दोषाणां निवृत्त्या स्वयमेव निवर्त्तेत कुतस्तेषां सहजत्वादग्निदाहवत् ॥ सर्व-

---

किन्तु कदापि नहीं कहा केवल बनावट ही है। किन्तु वल्लभ ने यह पाखण्डजाल स्वार्थ और अधर्म करने के लिये रचा है, यह जान पड़ता है। साक्षात् भगवान् ने कहा यह वल्लभ का केवल छल ही जानना चाहिये। इसलिये उस ब्रह्मसम्बन्ध नामक अक्षरसमुदायरूप मन्त्र का उपदेश पाप का उत्पादक होने से असम्बन्ध और अनर्थक है। और जो सब दोषों की निवृत्ति मानते हो तो निवृत्त होकर दोष कहां जावेंगे। यदि कहो कि नष्ट हो जावेंगे तो कदापि नष्ट नहीं हो सकते क्योंकि अन्य मनुष्य के किये पाप दोष अन्य को नहीं प्राप्त हो सकते, किन्तु कर्ता ही अपने शुभाशुभ कर्मफल को भोगता है अन्य कोई नहीं। यदि कहो कि समर्पण करने से अन्य के किये पाप दोष हरि कृष्ण को प्राप्त हों तो उस के दुःखरूप नरकफल भोगने वाले हरि ही होवें यह निश्चय है क्योंकि स्वयं किये हुए पाप पुण्यरूप कर्म के फलों की अपने भोग से ही निवृत्ति हो सकती है इस न्याय से वल्लभकृत कल्पना व्यर्थ ही समझनी चाहिये। सहज स्वाभाविक दोषों की यदि निवृत्ति होवे तो स्वयं आत्मा की ही निवृत्ति होजावे क्योंकि जैसे अग्नि के स्वाभाविक दाहगुण की निवृत्ति में अग्नि भी नहीं रहता वैसे आत्मा भी न रहेगा सब के समर्पण करने में भी आप तथा आप-

समर्पणे कृतेऽपि देहस्थानां कुष्ठादिदोषाणां क्षुत्पिपासाशीतोष्णसुखदुःखाऽज्ञानानाम्भवताम्भवच्छिष्याणाञ्च निवृत्तेरदर्शनात् ॥ तथा देशकालोत्था अपि वातपित्तकफज्वरादयो दोषा भवदादीनां कथन्न निवर्त्तन्ते ? ॥ लोकवेदयोर्मिथ्याभाषणचौर्यकरणमातृदुहितृभगिनीस्नुषापरस्त्रीगमनविश्वासघातादयो दोषास्तथा मातृदुहितृभगिनीस्नुषागुरुपत्न्यादिसंयोगजास्तासां स्पर्शजाश्च दोषा वल्लभाद्यैरिदानीन्तनैर्भवद्भिर्वल्लभसंप्रदायस्थैर्भगवदुपदेशेन वल्लभोपदेशेन वा कदाचन नैव मन्तव्याः किम् ? ॥ इति भगवद्वल्लभोपदेशेनानेन किङ्गम्यते भगवद्वल्लभौ वेदविरुद्धोपदेशान्नास्तिकावधर्मकारिणौ विद्याहीनौ विषयिणावधर्मप्रवर्त्तकौ धर्मनाशकौ च विज्ञायेते ॥ "योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद्द्विजः । स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः"

के शिष्यों के शरीरस्थ कुष्ठादि रोग और क्षुधा, प्यास, शीत, उष्ण, सुख, दुःख तथा अज्ञान आदि की निवृत्ति नहीं दीख पड़ती इससे तुम्हारा समर्पण ठीक नहीं और ब्रह्मसम्बन्ध से देश काल के परिवर्त्तन से हुए वात, पित्त, कफ और ज्वर आदि दोष आप लोगों के क्यों नहीं निवृत्त होते ? और लौकिक धर्मशास्त्र तथा वेद में निरूपण किये मिथ्या बोलना, चोरी करना, माता, कन्या, बहिन, पुत्रवधू आदि अन्य स्त्रियों से समागम और विश्वासघात आदि दोष तथा माता कन्या बहिन पुत्रवधू और गुरुपत्नी आदि के संयोग और स्पर्श से उत्पन्न हुए दोष वल्लभ सम्प्रदाय के मानने वाले वल्लभ से लेके अब तक हुए आप लोगों को तथा भगवान् के वा वल्लभ के उपदेश से अन्य लोगों को क्या नहीं मानने चाहियें ? इस प्रकार भगवान् और वल्लभ के उपदेश से प्रतीत होता है कि भगवान् और वल्लभ दोनों वेदविरुद्ध उपदेश से नास्तिक, अधर्म करनेहारे, विद्याहीन, विषयी, अधर्म के प्रवर्त्तक और धर्म के नाशक जाने जाते हैं ॥ नास्तिक का लक्षण धर्मशास्त्र में यही किया है कि जो तर्कशास्त्र के आश्रय से वेद और धर्मशास्त्र का अपमान करता अर्थात् वेद से विरुद्ध स्वार्थ का आचरण करता है श्रेष्ठ पुरुषों को योग्य है कि उसको अपनी मण्डली से निकाल के बाहर कर देवें क्योंकि वह वेदनिन्दक होने से नास्तिक है इससे आप लोगों में नास्तिकता प्रतीत

॥ १ ॥ इति मनुसाक्ष्यस्य विद्यमानत्वात् ॥ अन्यथा सर्वदोषाणां न निवृत्तिः कथञ्चनेत्यादि रचनम्भङ्गापानङ्कृत्वैव कृतमिति विज्ञेयम् ॥ कुत ईदृगुपदेशेन सत्यधर्मगुणानां नाश एव भवत्यत ईदृशस्य भ्रष्टीकरणार्थस्य पापात्मकस्योपदेशस्योपरि केनचिदपि कदाचिद्विश्वासो नैव कर्त्तव्य इति निश्चयः ॥ अधर्मोपदेशोयमन्योऽपि वल्लभसंप्रदायस्थानां श्रोतव्यः–तस्मादादौ स्वोपभोगात्पूर्वमेव सर्ववस्तुपदेन भार्य्यापुत्रादीनामपि समर्पणं कर्त्तव्यं विवाहानन्तरं स्वोपभोगे सर्वकार्ये सर्वकार्यनिमित्तं तत्कार्योपयोगिवस्तु समर्पणं कार्य्यं, समर्प्य कृत्वा पश्चात्तानि तानि कार्याणि कर्त्तव्यानीत्यर्थः ॥ १ ॥ अथाऽस्य खण्डनम् । विवाहानन्तरं स्वोपभोगात्पूर्वमेव भार्यापुत्रादीनामपि पवित्रीकरणार्थमाचार्याय गोस्वामिने समर्पणं कृत्वैव पश्चात् तानि कार्याणि कर्त्तव्यानीति भवद्भिरुपदिश्यते चेत्तर्हि स्वस्त्रीदुहितृभगिनीपुत्रादीनामपि पवित्रीकर-

---

होती है ॥ और जो यह कहना है कि हमारे मत को ग्रहण किये विना दोषों की निवृत्ति अन्य किसी प्रकार से नहीं हो सकती यह रचना भांग पिकर के ही की है यह जानना चाहिये, क्योंकि ऐसे मत के उपदेश से सत्यधर्म और गुणों का नाश ही होता है । इससे ऐसे भ्रष्ट करने के अर्थ प्रवृत्त हुए पापरूप उपदेश के ऊपर किसी को कदापि विश्वास नहीं करना चाहिये यह निश्चय है ॥ और भी थोड़ा यह वल्लभसम्प्रदायियों का अधर्मोपदेश सुनना चाहिये–जिस कारण सर्वस्व समर्पण के विना सब दोषों की निवृत्ति नहीं हो सकती इसलिये गुसाईंजी के चेलों को उचित है कि अपने भोग करने से पहिले ही सब वस्तुओं का समर्पण अर्थात् स्त्री पुत्र आदि का भी समर्पण करें । विवाह होने पश्चात् अपने भोगने के सब काम में सब कार्यों का निमित्त उस कार्य के उपयोगी वस्तु का समर्पण करना चाहिये, समर्पण कर के उन २ वस्तुओं से कार्य भोग करने चाहियें ॥ इस का खण्डन–यदि आप लोग यह उपदेश करते हो कि विवाह होने पश्चात् अपने भोगने से पहिले ही पवित्र करने के अर्थ स्त्री पुत्रादि का भी आचार्य गोस्वामी के लिये समर्पण कर के ही पश्चात् अपने भोग सम्बन्धी काम करने चाहियें तो अपनी स्त्री कन्या भगिनी और पुत्रादि का भी पवित्र करने के

णार्थं समर्पणं किमर्थं न क्रियते ? ॥ अस्माकमिच्छाऽन्येभ्यः स्वभार्यादीनां समर्पणार्था नास्त्यतो न क्रियते इति ब्रूयुश्चेत्तर्ह्यन्येषां भार्य्यादीनां समर्पणं स्वार्थम्पापरूपं किमर्थं कारयन्ति तत्पुण्यात्मकञ्चेत्तर्हि स्वभार्यादीनामप्यन्येभ्यः पुण्यात्मकं समर्पणं किमर्थं न क्रियते ? ॥ सिद्धान्तस्तु येन यया सह यस्य यस्याश्च विवाहो जातस्तयोः परस्परं समर्पणञ्जातमेव नान्यथेति वेदितव्यम् ॥ तस्मादस्य व्यभिचारमयोपदेशस्य वल्लभसंप्रदायस्य केनचित्पुरुषेण कयाचित्स्त्रिया च विश्वासः कदाचिन्नैव कर्त्तव्य इति निश्चयः ॥ ये विश्वासं कुर्वन्ति करिष्यन्ति वा तेषां नरकप्राप्तिरेव फलं कुतः पापाचरणोपदेशस्य दुःखफलत्वात् ॥

किञ्च पुष्टिप्रवाहमार्गोऽपि तादृश एव मिथ्या ॥ पुष्टिप्रवाहमर्यादा धर्माचरणार्था उताऽधर्माचरणार्थाः ? ॥ नाद्यः कुतो वल्लभादीनामिदानीन्तनान्तानाम्परस्त्रीगमनाद्यधर्माचरणस्य प्रत्यक्षानुमानाभ्यां दर्शनात् ॥ अश्ववृष-

अर्थ समर्पण क्यों नहीं करते ? यदि कहो कि अपनी स्त्री आदि को औरों के लिये समर्पण करने की हमारी इच्छा नहीं इससे नहीं करते तो अन्यों की स्त्री आदि का पापरूप समर्पण अपने लिये क्यों कराते हो ? यदि कहो कि उन का हमारे लिये समर्पण करना पुण्यरूप होता है तो अपनी स्त्री आदि का पुण्यरूप समर्पण अन्यों के लिये क्यों नहीं करते ? सिद्धान्त वस्तुतः यही है कि जिस का जिस के साथ विवाह हुआ उन का परस्पर समपर्ण हो ही गया अन्यथा नहीं हो सकता यह जानो । इससे व्यभिचारमय उपदेशों वाले इस वल्लभ सम्प्रदाय का किसी पुरुष वा स्त्री को कदापि विश्वास न करना चाहिये यही निश्चय है । जो लोग विश्वास करते हैं वा करेंगे उन को नरक प्राप्ति ही फल होना संभव है क्योंकि पापाचरण के उपदेश का फल दुःख ही है ।

और हमारे मत में शरीरादि की पुष्टि परम्परा से चली आती है यह भी वैसी ही मिथ्या है । पुष्टिप्रवाह की मर्यादा धर्माचरण के लिये है वा अधर्माचरण के अर्थ ? ॥ इसमें प्रथम पक्ष ठीक नहीं क्योंकि वल्लभ से ले के अब पर्यन्त हुए गुसाइयों का परस्त्रीगमनादि अधर्माचरण प्रत्यक्ष और अनुमान

भवानरगर्दभादयो यथा अश्विन्यादिस्त्रियो दृष्ट्वा पुष्टिप्रवाहान्मैथुनमाचरन्ति तथा भवतामपि पुष्टिप्रवाहत्वं दृश्यते नान्यथा । भवतामियमेव मर्यादा वेदविद्याधर्माचरणत्यागः परस्त्रीगमनं परधनहरणमधर्माचरणं वेदोक्तधर्मविनाशकरणञ्चेत्यत्रैव पुष्टिप्रवाहौ चेति निश्चीयते ॥ अस्मिन्नर्थे वल्लभ आह ॥ वैदिकत्वं लौकिकत्वं कापट्यात्तेषु नान्यथा ॥ वैष्णवत्वं हि सहजन्ततोऽन्यत्र विपर्यय इति ॥ अतएव वल्लभे हि नास्तिकत्वं सिद्धम्भवति कुतः लौकिकवैदिकत्वस्य कपटमध्ये गणितत्वात् ॥ तस्य संप्रदायस्था अपि नास्तिका गणनीया वेदविरुद्धाचरणात् ॥ यज्ञो वै विष्णुर्व्यापको वा ॥ तदनुष्ठानत्यागान्मूर्त्तिपूजनासक्तत्वाद्व्यापकभक्तिवियोगाद्भवन्तो वैष्णवा एव नेति निश्चेतव्यम् ॥ पूजा नाम सत्कारस्सज्जनानां तस्या अरिर्नाम शत्रुरयम्पूजारिशब्दार्थो वेद्यः ॥ आर्तिर्नाम दुःखन्तां करोतीत्यार्त्तिकारः ॥ गोशब्देन पशुगुणवान्,

से प्रसिद्ध दीख पड़ता है। घोड़े बैल वानर और गर्दभ आदि जैसे घोड़ी आदि अपनी सजातीय स्त्रियों को देख के पुष्टि की उन्मत्तता के प्रवाह से मैथुन को प्रवृत्त होते हैं वैसे ही आप लोगों का भी पुष्टिप्रवाह दीख पड़ता है अन्यथा नहीं। आप लोगों की यही मर्यादा है कि वेदविद्या और धर्माचरण का त्याग परस्त्रीगमन पराया धन हरना अधर्म का आचरण और वेदोक्त धर्म का नाश करना इसी में पुष्टि और प्रवाह निश्चित होते हैं ॥ इस विषय में वल्लभ कहता है कि— "लौकिक और वैदिक धर्म विषय कपटरूप होने से यथार्थ नहीं इसमें सन्देह नहीं किन्तु एक वैष्णव मत ही सहज है इससे अन्य सब विपरीत हैं" इसीसे वल्लभ में नास्तिकता सिद्ध हो गई क्योंकि वल्लभ ने लौकिक वैदिक विषय कपट में गिना है।। वल्लभ के सम्प्रदायवाले सभी विरोधी होने से नास्तिक समझने चाहियें। विष्णु शब्द का अर्थ यज्ञ व व्यापक होता है यज्ञ वा व्यापक विष्णु परमेश्वर की भक्ति का अनुष्ठान छोड़ के मूर्त्तिपूजन में आसक्त होने से आप लोग वैष्णव ही नहीं हो सकते यह निश्चय जानना चाहिये। पूजा नाम सत्पुरुषों का सत्कार उसका जो अरि नाम शत्रु यह पूजारि शब्द का अर्थ है। आर्तिनाम दुःख को जो करे वह आर्तिकर्त्ता कहाता है। गोनामक पशुगुणयुक्त

साई शब्देन यवनाऽऽचार्यः ॥ अयं गोसाईंत्याख्यशब्दार्थोऽर्थाद्यस्य गम्यागम्ययोर्विवेको न भवेत्त्यागश्च न कुर्याद्धर्मन्यायविरुद्धपक्षपातत्यागश्च वेदोक्तधर्मम्परित्यजेत्तादृशा भवन्तो दृश्यन्त इति ॥ वाजिशब्देनाऽश्वो वा गर्दभो मध्यस्थो वेति बावाजिशब्दार्थः ॥ रागोऽस्यास्तीति रागी वै इति निश्चयेन रागीति वैरागिशब्दार्थः । दण्डेन तुल्यो दण्डवत् दण्डवन्नाम काष्ठवत् ॥ हिन्दुशब्दस्यार्थः कृष्णवर्णो दस्युः पाषाणादिमूर्त्तिपूजको दास ईश्वरोपासनाविरहश्चेत्यादयोर्थाः ॥ इत्यादिशब्दार्थानामन्धपरम्पराऽविद्याप्रचारेण विद्यात्यागेनार्यशब्दाभिधानार्थज्ञानेन च विनाऽद्यपर्यन्तमागता वल्लभादिसम्प्रदायरूपेणात्यन्तं परिणता सा सद्यस्सज्जनैस्त्यज्यतामिति निश्चयः ॥

अथ शुद्धाद्वैतमार्त्तण्डखण्डनं लिख्यते ॥ शुद्धाद्वैतशब्दस्य कोऽर्थः

साई शब्द से मुसलमानों का आचार्य अर्थात् जिसको अगम्यागमन का विवेक न हो और त्याग भी न करे धर्मन्याय से विरुद्ध पक्षपात को भी न छोड़े और वेदोक्त धर्म का त्याग कर देवे वह गोसाईं कहाता है वैसे ही आप लोग दीख पड़ते हैं इसी से गोसाईं कहाते हो । वाजी नाम घोड़ा दूसरे वा शब्द से घोड़े का विकल्प करने से गदहा वा मध्यस्थ खिच्चर यह "बावाजी" शब्द का अर्थ है ॥ राग जिसमें हो वह रागी वै नाम निश्चय कर जो रागी हो उसको "वैरागी" कहते हैं यही वैरागी शब्द का अर्थ है । दण्ड नाम काष्ठ के तुल्य अर्थात् जो जड़ हो उसको दण्डवत् कहते हैं यह "दण्डवत्" शब्द का अर्थ है ॥ काले वर्णवाला, डाकू, पाषाणादि मूर्त्तियों का पूजक, सेवक, गुलाम और ईश्वर की उपासना से रहित इत्यादि हिन्दु शब्द का अर्थ है ॥ इत्यादि शब्दों के अर्थों की अन्धपरम्परा अविद्या के प्रचार विद्या के त्याग और आर्य शब्द के वाच्य अर्थ के न जाने विना अबतक चली आई और वल्लभादि सम्प्रदायों के साथ अत्यन्त परिणाम को प्राप्त है यह अन्धपरम्परा सज्जनों को शीघ्र ही त्यागने योग्य है यह निश्चित है ।

अब शुद्धाद्वैतमार्तण्ड का खण्डन लिखते हैं—शुद्ध और अद्वैत शब्द का

क्रियते ? । द्विधा इतं द्वीतं द्वीतमेव द्वैतं न द्वैतमद्वैतं । कार्यकारणरूपमेकीभूतमेव यद्वा तदेव ब्रह्म स्त्रीपुरुषरूपेण द्विधा जातं क्रीडाकरणार्थमिति न, नैवञ्चक्यं वक्तुम् ॥ कुतः ॥ अविद्यादिदोषराहितत्वात् सदैव विज्ञानस्वरूपत्वाद्ब्रह्मणो जगद्रूपापन्नत्वमयोग्यमेव ॥ यदि जीवादिकार्यरूपं यज्जगद्ब्रह्मैवास्ति तर्ह्यनन्तविज्ञानरचनधारणसर्वज्ञतासत्यसङ्कल्पादयो गुणा अस्मिञ्जगति कथन्न दृश्यन्ते ॥ तथाच ॥ जन्ममरणहर्षशोकक्षुधातृषावृद्धिक्षयमूढत्वादयो दोषा जगत्स्था एवं सति ब्रह्मण्येव भवेयुर्बन्धनरकदुःखविषयभोगादयश्च ॥ तस्माद्वल्लभकृतोऽर्थो मिथ्यैवेति वेदितव्यम् ॥ द्वीतमिति ॥ द्वीतं तदेव द्वैतं स्याद्द्वैतन्तु ततोऽन्यथा ॥ सर्वं खल्विदम्ब्रह्म तज्जलानिति पठ्यते ॥ इति वल्लभप्रबुक्तनन्द्रष्टव्यम् ॥ द्विधा कारणकार्यरूपेण परिणतश्चेत्तर्ह्यज्ञानदुःखबन्धननरकप्राप्त्यादयो दोषा ब्रह्मण्येव स्युः पूर्वावस्थितस्य द्रव्यस्यावस्थान्तरप्राप्तिः

क्या अर्थ करते हो ? दो प्रकार से प्राप्त हो वह द्वीत कहाता जो द्वीत है वही द्वैत और जो द्वैत न हो वह अद्वैत। कार्य कारण का एक रूप होता है अथवा वही एक ब्रह्म स्त्री पुरुष रूप से दो प्रकार की क्रीड़ा करने के लिये प्रकट हुआ यह कहना ठीक नहीं ॥ क्योंकि अविद्यादि दोषों से रहित होने और सदैव विज्ञानस्वरूप होने से ब्रह्म का जगत्रूप होना अयोग्य ही है। यदि जीव आदि कार्यरूप जो जगत् है वह ब्रह्म ही है तो अनंत, विज्ञान, रचना, धारण, सर्वज्ञता, सत्यसङ्कल्प आदि गुण इस जगत् में क्यों नहीं दीख पड़ते ? और ब्रह्म को कार्यरूप मानें तो जन्म, मरण, हर्ष, शोक, भूख, प्यास, बढ़ना, घटना और मूढ़पन आदि जगत् के प्राणियों के दोष ब्रह्म में प्राप्त होवें इस से बन्ध, नरक दुःख और विषययोग भी ईश्वर को ही होवें इस से वल्लभ का किया अर्थ मिथ्या ही जानना चाहिये। और द्वीत, द्वैत एक ही बात है द्वैत का निषेध अद्वैत कहाता इस का प्रत्यक्ष उदाहरण "सर्वं खल्विदं०" यह श्रुति है यह वल्लभ का भूंकना है। कार्यकारणरूप ब्रह्म दो प्रकार से परिणत है तो दुःख, बन्धन और नरक प्राप्ति होना आदि दोष ब्रह्म में ही होवे। पूर्व अवस्थित द्रव्य की अवस्थान्तरप्राप्ति परिणाम कहाता है। वैसे ही आप के मत में

परिणामः ॥ तथैव भवन्मते ब्रह्मैव जगदाकारत्वञ्जातमनेन किमागतमिति श्रूयताम् ॥ ये जगत्स्था अविद्याज्वरपीड़ादयो दोषा अपि वल्लभेन ब्रह्मण्येव स्वीकृता अतएव भवन्मतं वेदयुक्तिविरुद्धमेवेति विज्ञेयम् । वल्लभेन सर्वं खल्विदं ब्रह्म, नेह नानास्ति किञ्चन ॥ तज्जलानिति शान्त उपासीतेत्यादि श्रुतीनामर्थो नैव विज्ञातः ॥ कुतः ॥ विदुषां समाधिसंयमे विज्ञानेन यादृशं ब्रह्म विज्ञायते तत्रत्योऽयमनुभवः ॥ यथा केनचिदुक्तं सर्वं खल्विदं सुवर्णमिह नानापित्तलादिधात्वन्तरं मिलितं नास्ति ॥ तथैव सच्चिदानन्दैकरसब्रह्मणि नाना वस्तु मिलितं नास्ति ॥ किन्तु सर्वं खल्विदं ब्रह्मैकरसमिति विज्ञेयमखण्डैकरसत्वादभेद्यत्वाद्ब्रह्मणश्चेति यथाऽयमात्मा ब्रह्मेत्यत्रेदं शब्दे-

ब्रह्म ही जगत्‌रूप बनगया इससे क्या आया यह सुनो । जो जगत् में अविद्या ज्वर पीड़ा आदि दोष भी वल्लभ ने ब्रह्म में ही मान लिये इसी से आप का मत वेद और युक्ति से विरुद्ध है यह जानना चाहिये । वल्लभ ने (सर्वं खल्विदं ब्रह्म०) इत्यादि श्रुतियों का अर्थ नहीं जाना क्योंकि समाधि के संयम करने में विज्ञान के प्रकाश से जैसा ब्रह्मस्वरूप जाना जाता है उस समय का किया विद्वानों का अनुभव ही श्रुति का तात्पर्य है । जैसे किसी ने कहा है किः— सब यह सुवर्ण है इस में अनेक पीतल आदि धातु मिले नहीं हैं वैसे सच्चिदानन्दस्वरूप एकरस ब्रह्म के बीच में नाना वस्तु मिली नहीं हैं किन्तु यह सब ब्रह्म ही एकरस है ऐसा जानना चाहिये क्योंकि ब्रह्म एकरस अखण्ड और अभेद्य है । जैसे (अयमात्मा ब्रह्म) यह आत्मा ब्रह्म है इस वाक्य में इदम् शब्द से ब्रह्मात्मा का ही ग्रहण होता है किन्तु किसी जगत् के वस्तु का सम्बन्ध ग्रहण नहीं होता । (तज्जलान् इति ब्रह्म) "तज्ज" नाम उसी से यह सब जगत् उत्पन्न हुआ "तल्ल" नाम उसी में सब लय होता "तदन्" नाम उसी में सब जगत् चेष्टा कर रहा है इस प्रकार शान्त हुआ पुरुष ब्रह्म की उपासना करे । अर्थात् उस ब्रह्म के अनन्त सामर्थ्य से ही जगत् के जन्म मरण और चेष्टादि कर्म होते हैं इस प्रकार से ब्रह्म ही की उपासना करनी चाहिये अन्य की नहीं यह अर्थ वल्लभ ने भी नहीं जाना तो वल्लभ के सम्प्रदायी आप लोगों की तो कथा ही क्या है । यह सब जगत् ब्रह्मस्वरूप है यह पहिले ही जताया है । सर्व शब्द से जितना देखा

नात्मनो ब्रह्मण एव ग्रहणमिति निश्चेतव्यं न कस्यचिज्जगद्वस्तुनः संबन्धग्रहणञ्च ॥ तथा तज्जलानिति ब्रह्म शान्तः सन्नुपासीत तस्माद्ब्रह्मानन्तसामर्थ्यादेवास्य जगतो जननधारणप्रलयादीनि भवन्तीत्येवम्ब्रह्मोपासनीयमेव नान्यदित्यर्थो वल्लभेनापि नैव विज्ञातस्तत्संप्रदायस्थानाम्भवतान्तु का कथा ॥ "सर्वं ब्रह्मात्मकं विश्वमिदमाबोध्यते पुरः । सर्वशब्देन यावद्धि दृष्टश्रुतमदो जगत् ॥१॥ बोध्यते तेन सर्वं हि ब्रह्मरूपं सनातनम् । कार्यस्य ब्रह्मरूपस्य ब्रह्मैव स्याद्धि कारणम् ॥२॥ साकारं सर्वशक्त्येकं सर्वज्ञं सर्वकर्तृ च । सच्चिदानन्दरूपं हि ब्रह्म तस्मादिदञ्जगत् ॥३॥ शुद्धाद्वैतपदे ज्ञेयः समासः कर्मधारयः । अद्वैतशुद्धयोः प्राहुः षष्ठीतत्पुरुषं बुधाः" ॥४॥ इत्यादयः श्लोकाः शुद्धाद्वैतमार्त्तण्डे अर्थतोऽशुद्धा एवेति निश्चयः ॥ कर्मधारयसमासोऽसंगतः । कुतः । कार्यकारणयोस्तादात्म्यगुणादर्शनात् ॥ षष्ठीतत्पुरुषोऽप्यसङ्गतः द्वौ चेद्वस्तुतो न कदाचिदेकता, अवास्तवौ द्वौ चेत्कार्यकारणकथनं व्यर्थम् ॥ शुद्धश्च शुद्धा च शुद्धे तयोस्त्रीपुंसयोरद्वैतमर्थात् मैथुनसमये द्वैतं स्त्रीषु राधाभावना स्वस्मिन् कृष्णभावना च क्रियते ॥ अहं कृष्णस्त्वं राधा ह्यावयोरस्तु संगम इत्यादि

सुना यह जगत् है वह सब जानना इससे वह सब जगत ब्रह्मरूप सनातन है क्योंकि ब्रह्मरूप कार्य जगत् का कारण ब्रह्म ही हो सकता है। वह ब्रह्म साकार सर्वशक्तियुक्त, एक सर्वज्ञ और सब का रचनेहारा सच्चिदानन्दस्वरूप है इसी से यह जगत हुआ है। इत्यादि वल्लभ के श्लोक शुद्धाद्वैतमार्त्तण्ड नामक ग्रन्थ में वस्तुतः अशुद्ध ही हैं यह निश्चय जानो । शुद्ध नाम कार्य और अद्वैत नाम कारण। जो शुद्ध है वही अद्वैत, यह कर्मधारय समास कार्य कारण के एक स्वरूप एकात्मक गुण वाले न होने से असङ्गत है । षष्ठीतत्पुरुषसमास भी ठीक नहीं क्योंकि वस्तुतः जो दो पदार्थ हैं उनकी एकता क्योंकर होसकती है ? और यदि वस्तुतः दो नहीं हैं तो कार्यकारणरूप कहना व्यर्थ है इससे शुद्ध पुरुष और शुद्ध स्त्री दोनों का एकशेष समास भी असङ्गत है । अर्थात् मैथुन समय में द्वैत, स्त्रियों में राधा भावना और अपने में कृष्ण की भावना करते हैं । मैं कृष्ण तू राधा मेरा तेरा सङ्गम होवे इत्यादि कुकर्म से वल्लभादि का मत पतित करनेवाला जानना चाहिये क्योंकि

पतितकारकं वल्लभादीनां मतमिति निश्चयः ॥ कुतः लक्ष्मणभट्टेन संन्यासं पूर्वङ्गृहीत्वा पुनर्गृहाश्रमः कृतः स एव प्रथमतः श्ववद्वान्ताशी जातः तत्पुत्रो वल्लभोपि पूर्वं विष्णुस्वामिसम्प्रदाये विरक्ताश्रमङ्गृहीत्वा पुनरभूद्गृही तथानैकविधो व्यभिचारो गोकुलनाथेन विट्ठलेन च कृतस्तत्सम्प्रदायग्रन्थेषु प्रसिद्धः ॥ लक्ष्मणभट्टं मूलपुरुषमारभ्याद्यपर्यन्तं व्यभिचारादिदुष्टङ्कर्म यथावद्वल्लभसम्प्रदाये दृश्यते येऽस्य सम्प्रदायस्योपरि विश्वासङ्कुर्वन्तीमान् गुरूँश्च मन्यन्ते तेपि तादृशा एवेति विज्ञातव्यम् ॥ एतादृशस्य पापकर्मकर्त्तुरधर्मात्मनो गुरोस्त्यागे हनने च पुण्यमेव भवति नैव पापञ्चेत्यत्राह मनुः ॥ "गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्। आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥१॥ नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन। प्रकाशं वाऽप्रकाशं वा मन्यु-

---

इनका पूर्व आचार्य लक्ष्मणभट्ट हुआ उसने पहिले संन्यास ग्रहण करके पीछे गृहाश्रम धारण किया इसलिये लक्ष्मणभट्ट ही पहिले कुत्ते के तुल्य वान्ताशी अर्थात् उगले हुए को खाने वाला हुआ। पहिले गृहाश्रम को छोड़ के संन्यास किया पीछे उसी वान्त के तुल्य त्यागे हुए गृहाश्रम का ग्रहण और संन्यास का त्याग किया। इसी लक्ष्मणभट्ट का पुत्र वल्लभ हुआ इसने भी पहिले विष्णुस्वामी के सम्प्रदाय में विरक्त (संन्यास) आश्रम ग्रहण कर फिर गृहाश्रम धारण किया। और गोकुलनाथ विट्ठल ने अनेक प्रकार का व्यभिचार किया इत्यादि बातें इनके मत के ग्रन्थों में प्रसिद्ध हैं। इनके आदिपुरुष लक्ष्मण भट्ट से लेकर अब तक वल्लभसम्प्रदाय में व्यभिचारादि दुष्ट कर्म यथावत् दीख पड़ता है तथा जो लोग इनके मत पर विश्वास करते और इन वल्लभादि मतस्थ लोगों को गुरु मानते हैं वे भी वैसे ही जानने चाहियें। ऐसे पापकर्मकर्त्ता अधर्मी गुरु के त्यागने और मार डालने में पुण्य ही होता है पाप नहीं इस विषय में धर्मशास्त्र का प्रमाण है:—गुरु, बालक, वृद्ध वा बहुश्रुत ब्राह्मण ये सब आततायी धर्मनाशक अधर्म के प्रवर्त्तक हों तो राजा विना विचारे मार डाले। क्योंकि आततायी के मारने में मारनेवाले को दोष नहीं लगता चाहे प्रसिद्धि में मारे वा अप्रसिद्धि में सर्वथा क्रोध को क्रोध मारता है किन्तु हिंसा नहीं कहाती। धर्म

स्तं मन्युमृच्छतीति" ॥ २ ॥ धर्मं त्यक्त्वा ह्यधर्मे प्रवर्तेत स आततायी विज्ञेयः ॥

(प्र०) शुद्धाद्वैतम्प्रकाशरूपं स्वभावत उताऽन्धकाररूपम् ? ॥

(उ०) नाद्यः कुतः स्वभावतः प्रकाशस्वरूपस्य मार्त्तण्डार्थसूर्यापेक्षाभावात् । न चरमः स्वभावतोऽन्धकारस्वरूपश्चेत्सूर्येणापि तस्य प्रकाशासंभवात् ॥ एवमेव सत्सिद्धान्तमार्त्तण्डस्यापि खण्डनं विज्ञेयम् ॥ अतएव शुद्धाद्वैतमार्त्तण्डसत्सिद्धान्तमार्त्तण्डयोर्नाममात्रमपि शुद्धं नास्ति पुनर्ग्रन्थाशुद्धेस्तु का कथा ॥ एवमेव विद्वन्मण्डनस्यापि खण्डनं विज्ञेयम् ॥ विट्ठल एव यदा विद्वान्नासीत्पुनर्विदुषां मण्डनङ्कर्तुं कथं समर्थः स्यात् ॥ किन्तु परस्त्रीगमनपरधनहरण-व्यभिचारमण्डने च सामर्थ्यन्तस्याभून्नान्यत्रेति विज्ञेयम् ॥ तत्र दिङ्मात्रनिदर्शनं वर्ण्यते । निजमुरलिकेति ॥ मुरलिकानादेन तेनागता

को छोड़ के सर्वथा जो अधर्म में प्रवृत्त हो वह आततायी कहाता है ।

प्र०—शुद्धाद्वैत प्रकाशरूप है वा स्वभाव से अन्धकाररूप है ? ।

उ०—प्रकाशरूप होना पहिला पक्ष इसलिये ठीक नहीं कि यदि स्वभाव से प्रकाशस्वरूप हो तो सूर्य के तुल्य स्वयं प्रकाशरूप होने से मार्तण्ड नामक पुस्तक देखने के अर्थ सूर्य की अपेक्षा न होवे सूर्यप्रकाश की अपेक्षा विना ही कार्य सिद्ध कर सके सो सम्भव नहीं । स्वभाव से अन्धकार स्वरूप होना द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं क्योंकि स्वभाव से ही अन्धकार स्वरूप हो तो सूर्य से भी उसका प्रकाशित होना असम्भव हो जावे इसी प्रकार सत्सिद्धान्तमार्त्तण्ड का भी खण्डन जानो । इस पूर्वोक्त प्रकार शुद्धाद्वैतमार्त्तण्ड और सत्सिद्धान्तमार्त्तण्ड इन दोनों पुस्तकों का नाममात्र भी शुद्ध नहीं है ग्रन्थ के अशुद्ध होने का तो कहना ही क्या है इसी प्रकार विद्वन्मण्डन नामक ग्रन्थ का भी खण्डन जानो । जब तुम्हारा आचार्य विट्ठल ही विद्वान् नहीं था तो फिर विद्वानों का मण्डन कैसे कर सकता है । किन्तु परस्त्रीगमन पराया धन हरना, और व्यभिचार के मण्डन करने में तो अवश्य उसका सामर्थ्य था अन्य किसी कार्य में नहीं सो उदाहरणमात्र दिखाते हैं विट्ठलकृत विद्वन्मण्डन नामकग्रन्थ में (निजमुरलिका०) इत्यादि लिखा है अभिप्राय यह है कि मुरली का शब्द

गोकुलस्य सम्बन्धिन्यः सुन्दर्यः परस्त्रियः कृष्णेन स्नेहाद्भोगार्थं स्वीकृता इत्युक्तम् ॥ प्रतिलक्षणे । युवतिं युवतिं लक्षीकृत्य यः सम्भेदः सङ्गमः कृत्वा तावन्तमात्मानं यावतीर्गोपयोषित इत्यादि भ्रष्टवचनस्योक्तत्वाद्विद्वन्मण्डन-मित्यस्य नामायोग्यमेव ॥ कुतः ॥ मूर्खव्यभिचाराधर्माणामत्र मण्डनत्वात् ॥ एवमेवाणुभाष्यमप्यसङ्गतमेवेति वेद्यम् ॥ तथा च शतशो भाषाग्रन्था रस-भावनादयोपि भ्रष्टतरा एव ॥ तत्रत्यैकदेशनिदर्शनं लिख्यते । राधायाः कुचाद्यङ्गेषु मोदकादिभावना कर्त्तव्या तथा गोलोक एक एव पुरुषः कृष्णः ॥ अन्यास्सर्वाः स्त्रियः सन्ति ॥ अहर्निशन्ताभिः सह कृष्णः क्रीडति ॥ पुनः सूर्योदयसमये यावत्यः स्त्रियस्तावन्तः पुरुषाः कृष्णशरीराभिसृत्यैकैकामेकैको गृहीत्वा पुष्कलं मैथुनमाचरन्ति सर्वे ॥ तथा वल्लभस्य महाप्रभुरिति संज्ञा कृता प्रभुरितीश्वरस्य नामास्ति । प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वत इत्यादि श्रुतिषु वर्णि-तम् । तेनेश्वरेणाद्यपर्यन्तं तुल्यः कोपि न भूतो न भविष्यतीत्यधिकस्य तु

सुनके गोकुल की सुन्दर सुन्दर स्त्रियां आईं, कृष्ण ने उनके साथ क्रीड़ा करने के लिये प्रीति से उनका ग्रहण किया । अर्थात् युवति २ स्त्रियों को देखकर जितनी गोपों की स्त्रियां थीं उतने ही अपने एक ही प्रकार के शरीर धारण कर उनसे समागम किया इत्यादि भ्रष्ट वचनों के कहने से विद्वन्मण्डन नाम अयोग्य ही है क्योंकि इस पुस्तक में मूर्ख व्यभिचार और अधर्मों का मण्डन है । इसी प्रकार अणुभाष्य भी असङ्गत ही है और ऐसे ही रसभावना आदि सैकड़ों भाषा के ग्रन्थ भी अत्यन्त भ्रष्ट हैं । इसमें एक बात उदाहरण के लिये लिखते हैं ॥ राधा के कुच आदि अङ्गों में मोदक आदि की भावना करनी चाहिये ॥ तथा गोलोक में एक कृष्ण ही पुरुष अन्य सब स्त्रियां हैं कृष्ण उन स्त्रियों के साथ दिन रात क्रीड़ा करते हैं ॥ सूर्य उदय होते समय जितनी स्त्रियां हैं उतने ही पुरुष कृष्ण के शरीर से निकल के एक २ स्त्री को एक २ पुरुष ग्रहण कर सब अच्छे प्रकार मैथुन करते हैं ॥ और वल्लभ का महाप्रभु नाम रक्खा है प्रभु नाम ईश्वर का है ॥ प्रभु सब शरीरों में व्याप्त है यह वेद में कहा ॥ जब उस ईश्वर के तुल्य अबतक न कोई हुआ न होगा तो उससे अधिक कौन हो सकता है,

का कथा ॥ पुनर्महाप्रभुशब्देन वल्लभविषये किङ्गम्यते यथा महाब्राह्मणस्तथैव महाप्रभुशब्दार्थोऽवगन्तव्यः ॥ यथा वेदयुक्तिविरुद्धो वल्लभसंप्रदायोऽस्ति तथैव शैवशाक्तगाणपत्यसौरवैष्णवादयस्सम्प्रदाया अपि वेदयुक्तिविरुद्धा एव सन्तीति दिक् ॥

शशिरामाङ्कचन्द्रेऽब्दे कार्त्तिकस्यासिते दले ॥
अमायां भौमवारे च ग्रन्थोऽयम्पूर्त्तिमागतः ॥ १ ॥

फिर महाप्रभु कहने से यही प्रतीत होता है कि जैसे ब्राह्मण के साथ महत् शब्द लगाने से नीच का नाम महाब्राह्मण होता है वैसे ही महाप्रभु भी जानना चाहिये। जैसे वेद और युक्ति से विरुद्ध वल्लभ का सम्प्रदाय है वैसे ही शैव, शाक्त, गाणपत्य, सौर और वैष्णवादि सम्प्रदाय भी वेद और युक्ति से विरुद्ध ही हैं ॥

इति शुभम् ॥

इति श्रीपरमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीमद्दयानन्दसरस्वती-
स्वामिनिर्मितस्तच्छिष्य-भीमसेनशर्मकृत-
भाषानुवादसहितश्च वेदविरुद्ध-
मतखण्डनो ग्रन्थः समाप्तः ॥

शताब्दी-संस्करण

Prem Bahadur Varma
12.6.26.

वे.

वेदविरुद्धमतखण्डनम्

(भीमसेनशर्मकृतभाषानुवादसहितम्)

पृष्ठ ७७१—८१४.

वेदविरुद्धमतखण्डनम्

——:०:——

आवृत्ति		सन् ई०		संख्या
प्रथम	...		...	१०००
द्वितीय	...	१८८७	...	१०००
तृतीय	...	१८९७	...	१०००
चतुर्थ	...	१९०५	...	१०००
पंचम	...	१९१०	...	१०००
षष्ठ	...	१९१७	...	१०००
शताब्दीसंस्करण		१९२४	...	१०,०००
				१६,०००

ओ३म्

अथ वल्लभादिमतस्थान्प्रति प्रश्नाः खण्डनं च

१—(प्र०) कोऽयं वल्लभो नाम कश्चास्यार्थः ? ॥

२—(उ०) वल्लभोऽस्मदाचार्यः प्रियत्वगुणविशिष्टोऽस्यार्थः ॥

३—(प्र०) किमाचार्यत्वं नाम भवन्तश्च के ? ॥

४—(उ०) गुरुराचार्यः, वयं वर्णाश्रमस्थाः ॥

५—(प्र०) किं गुरुत्वमस्ति ? ॥

६—(उ०) उपदेष्टृत्वमिति वदामः ॥

७—(प्र०) स वल्लभो धर्मात्मनां विदुषां प्रिय उताधर्मात्मनां मूर्खाणां च ? ॥

१–(प्र०) वल्लभनामक पुरुष कौन है और इस शब्द का अर्थ क्या है ? ।

२–(उ०) वल्लभ हमारा आचार्य है इस वल्लभ शब्द का अर्थ प्रीति गुणयुक्त प्यारा है ।

३–(प्र०) आचार्य्यपन क्या है और आप कौन हैं ? ।

४–(उ०) गुरु को आचार्य्य कहते हैं और हम लोग वर्णाश्रमधर्मस्थ हैं ।

५–(प्र०) गुरुपन क्या वस्तु है ? ।

६–(उ०) उपदेश करना इसको हम गुरुपन कहते हैं ।

७–(प्र०) वह वल्लभनामी पुरुष धर्मात्मा विद्वानों को प्रिय है अथवा अधर्मी और मूर्खों को प्रिय है ? ।

८—(उ०) नाद्यः कुतो भवतां सर्वेषान्तु धर्माचरणविद्यावत्त्वाभावात्। किन्तु कश्चित्तादृशोऽस्ति। न चरमोऽधर्मात्मनां मूर्खाणां तत्र प्रीत्या स एवा-श्रेष्ठः स्यात् स्वजातिपरत्वप्रवाहस्य विद्यमानत्वात्। अन्यच्च सजीवान्प्रति सर्वेषां प्रीतेः सत्त्वान्मृतांश्च प्रति प्रीतेरभावान्नैष्फल्याच्च तत्र वल्लभत्वमेव दुर्घटम्। मृतस्याचार्यत्वकरणासंभवात्। "समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठ-ङ्गुरुं समुपगच्छेदिति" श्रुतेर्वर्त्तमानाभिप्रायत्वात्। "उपनीय तु यश्शिष्यं-वेदमध्यापयेद् द्विजः। सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्य्यम्प्रचक्षत" इति मनुम-तविरोधात्॥ मरणानन्तरमध्ययनाऽध्यापनयोरशक्यत्वात् शरीरमात्रसम्बन्धा-भावाच्चेति युक्त्या तस्मिन्नाचार्य्यत्वमेवासङ्गतम्॥ तथा च मृतम्प्रति प्रीतिर-शक्या निष्फला च॥ तत्र प्रियत्वगुणविशिष्टत्ववचनमप्यसंगतन्तस्य भ्रा-न्तिनिष्ठत्वात्॥

८–(उ०) आद्यपक्ष अर्थात् धर्मात्मा विद्वानों को वह प्रिय नहीं होसकता क्योंकि आप सब लोगों का धर्माचरण और विद्यावान् होना संभव नहीं किन्तु कोई वैसा है। द्वितीयपक्ष इसलिये ठीक नहीं कि वल्लभ मूर्खों को प्रिय हो तो उस में मूर्खों की प्रीति होने से वह ही अश्रेष्ठ समझा जावे क्योंकि अपने २ सजातीय में प्रीति होने का प्रवाह प्रसिद्ध है अर्थात् विद्वानों की विद्वानों में और मूर्खों की मूर्खों में प्रीति विशेष होती है। और भी देखो कि जीवितों में सब की प्रीति होने, मरे हुओं में न होने और मरों में प्रीति करना भी निष्फल होने से उस पुरुष में वल्लभत्व अर्थात् प्रियपन होना ही नहीं घट सकता और मरे हुए को गुरु करना भी असम्भव है। वेद में लिखा है कि वेदवेत्ता ब्रह्मज्ञानी गुरु के पास हाथ में समिध लेके जावे। इसस सिद्ध है कि मरे हुए के पास में समिध लेके जाना असम्भव है। और जो "यज्ञोपवीत कराके कल्पसूत्र और वेदान्त सहित शिष्य को वेद पढ़ावे उसको आचार्य कहते हैं"। इस मानवधर्मशास्त्र की सम्मति से भी वल्लभ का आचार्यत्व होना विरुद्ध है। मरने पश्चात् पढ़ना पढ़ाना आदि जो आत्मधर्म हैं वे नहीं हो सकते। क्योंकि इन धर्मों का शरीरमात्र से सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार की युक्तियों से वल्लभ को आचार्य मानना ही असङ्गत

९—(प्र०) किङ्गुरुत्वं सत्योपदेष्टृत्वमाहोस्विदसत्योपदेष्टृत्वञ्च ? ॥

१०—(उ०) नादिमः कुतो भवत्सु श्रोत्रियब्रह्मनिष्ठत्वासत्त्वादस्तिचेन्न सङ्गच्छते विषयसेवायां प्रीतेर्दर्शनात् ॥ "अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयत" इति मनुसाक्ष्यविरोधाद्भवतामर्थकामेष्वेवासक्तेः प्रत्यक्षत्वात्स्त्रीषु धनेषु चात्यन्तप्रीतेर्विद्यमानत्वान्मरणसमयेपि स्वशिष्याणां वक्षःस्थलस्योपरि पादं स्थापयित्वा धनादीनां पदार्थानां संग्राहकत्वाद्यथा मृतकस्य शरीरस्य वस्त्राऽऽभूषणादीन्पदार्थान् कश्चिद्गृह्णाति भवतां तेन तुल्यत्वाच्च ॥ नान्त्यः ॥ असत्योपदेशस्यानभिधानाद्द्वयोर्दुःखफलस्य प्रापकत्वाच्च ॥ स्वपुत्रादीन्प्रति पितुर्गुरुत्वाऽधिकारादन्यान्प्रति गुरुत्वाभिमानानभिधानाद्भवत्सु गुरुत्वस्य

है । इसी कारण मरे से प्रीति करना अशक्य और निष्फल है और वल्लभ के भ्रान्तिग्रस्त होने से उसको प्रियत्व गुणयुक्त कहना भी असङ्गत है ।

९—(प्र०) गुरुपन क्या वस्तु है ? क्या सत्योपदेश करना वा असत्य उपदेश करना ही गुरुपन कहाता है ? ।

१०—(उ०) प्रथम पक्ष अर्थात् सत्योपदेश करना रूप गुरुत्व नहीं घटता, क्योंकि सत्योपदेष्टा गुरु तुम में इससे नहीं हो सकते कि आप लोगों में वेदवेत्ता और ब्रह्मज्ञानी जन नहीं हैं। यदि कहो कि हैं तो तुम्हारा कहना असंगत है क्योंकि तुम लोगों की प्रीति विषयों की सेवा में प्रसिद्ध दीखती है । धर्मशास्त्र में कहा है कि अर्थ और काम में जो आसक्त नहीं उनके लिये धर्मज्ञान का विधान है । इससे विरुद्ध आप लोगों की आसक्ति द्रव्य और कामचेष्टा ही में प्रसिद्ध है । स्त्रियों और धनों में तुम्हारी अत्यन्त प्रीति प्रत्यक्ष विद्यमान है और मरण समय में भी अपने शिष्यों की छाती पर पैर रखकर धनादि पदार्थों का संग्रह करते हो और महाब्राह्मण वा चाण्डलादि के तुल्य मृतक के वस्त्र आभूषणादि पदार्थों को लेते हो इससे महाब्राह्मण के तुल्य हुए । और द्वितीय पक्ष असत्योपदेश करने से भी वल्लभ गुरु नहीं हो सकते, क्योंकि असत्योपदेश से गुरु मानना शास्त्रविरुद्ध और दोनों गुरुशिष्य दुःखफलभागी होते हैं । अपने पुत्रों

विरह एवेत्यवगन्तव्यम् ॥ "निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि । सम्भावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरुच्यत" इति मनुसाक्ष्यविरोधादविवाहितस्त्रियां वीर्यनिषेकस्य पापफलत्वाच्चेति ॥ भवन्तो वर्णाश्रमस्थाश्चेत्तर्हि वेदोक्तानि वर्णाश्रमस्थकर्त्तव्यानि कर्माणि कुतो न क्रियन्ते, क्रियन्ते चेन्मूर्त्तिपूजनं कण्ठीधारणन्तिलकं समर्पणं वेदानुक्तमंत्रोपदेशश्च त्यजन्तु, नोचेद्वेदोक्तधर्माचरणविरोधाद्भवन्तो वर्णाश्रमस्था एव नेति मन्तव्यम् ॥

११–(प्र०) भवन्तो गुरवः शिष्या मध्यस्था वा ? ॥

१२–(उ०) गुरवश्चेदर्थज्ञानपूर्वकान्वेदान्पाठशालाङ्कृत्वा कुतो नाध्यापयन्ति ? ॥ शिष्याश्चेत्कथं न पठन्ति ? मध्यस्थाश्चेद्ब्राह्मणाचार्याभिमानो भवत्सु व्यर्थोऽस्तीत्यवगन्तव्यम् ॥

के प्रति गुरु होने का मुख्य अधिकार पिता को है । अन्य किसी का स्वयमेव गुरु बन बैठने का धर्मशास्त्र में विधान न होने से आप लोगों में गुरुत्व कदापि संघटित नहीं हो सकता । धर्मशास्त्र में कहा भी है—"जो विधिपूर्वक गर्भाधानादि कर्मों को करता और अन्नादि से पालन करता है वह ब्राह्मण गुरु कहाता है" इससे अन्य को गुरु मानना विरुद्ध है । और अविवाहित स्त्री में गर्भाधान करना पाप है इससे मुख्य कर पिता ही गुरु हो सकता है । यदि आप लोग वर्णाश्रमधर्मस्थ अपने को मानते हैं तो वर्णाश्रम के कर्त्तव्य वेदोक्त कर्म क्यों नहीं करते ? यदि करते हो तो पाषाणादि मूर्त्तिपूजन, कण्ठी बांधना, तिलक लगाना, समर्पण करना और वेद में न कहे हुए मन्त्रों का उपदेश करना छोड़ देओ यदि ऐसा नहीं करते तो वेदोक्त वर्णाश्रमधर्म के आचरण से विरुद्ध होने से आप लोग वर्णाश्रमधर्मस्थ नहीं हो सकते यह निश्चय जानना चाहिये ।

११–(प्र०) आप लोग गुरु शिष्य वा मध्यस्थ हो ? ।

१२–(उ०) यदि गुरु हो तो पाठशाला कर अर्थज्ञानपूर्वक वेदों को क्यों नहीं पढ़ाते ? यदि शिष्य हो तो क्यों नहीं पढ़ते ? । यदि मध्यस्थ हो तो आप में ब्राह्मण और आचार्य होने का अभिमान व्यर्थ है यह निश्चय जानना चाहिये ।

१३–(प्र०) भवन्तो वेदमतानुयायिनस्तद्विरोधिनो वा ? ॥

१४–(उ०) यदि वेदमतानुयायिनस्तर्हि वेदोक्तविरुद्धं स्वकपोल-कल्पितं वल्लभसंप्रदायमन्यं वा किमर्थं मन्यन्ते ? वेदविरोधिनश्चेन्नास्तिकत्वं शूद्रत्वञ्च किमर्थं न स्वीक्रियते ? ॥ "नास्तिको वेदनिन्दकः" "योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् । स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशुगच्छति सान्वयः" इति मनुसाक्ष्यविरोधात् ॥ पुनर्हि जन्ममरणवतो देहधारिणः कृष्णादीञ्जीवा-नीश्वरत्वेन किमर्थं व्यवहरन्ति ? नो चेन्मन्दिरे जड़मूर्त्तिस्थापनङ्कृत्वा घण्टा-दिनादञ्चाज्ञानिनां मिथ्योपदेशव्याजेन धनादीन्पदार्थान्किमर्थमाहरन्ति ? ॥

१५–(प्र०) भवन्तः स्वस्मिन्कृष्णत्वं मन्यन्त उत मनुष्यत्वम् ? ॥

१६–(उ०) कृष्णत्वं मन्यन्ते चेद्यादवक्षत्रियाभिमानित्वं कुतो न

१३–(प्र०) आप लोग वेदमतानुयायी हो वा वेदमत के विरोधी हो ? ।

१४–(उ०) यदि वेदमतानुयायी हो तो वेदविरुद्ध अपने कपोलकल्पित वल्लभ वा अन्य संप्रदाय को क्यों मानते हो ? । यदि वेदविरोधी हो तो अपने को नास्तिक और शूद्रकक्षा में क्यों नहीं मानते ? यही धर्मशास्त्र में लिखा है कि "वेदनिन्दक ही नास्तिक होता है" और "जो वेद को न पढ़ के अन्य ग्रन्थों में परिश्रम करता है वह अपने कुटुम्बसहित जीवते ही शूद्र हो जाता है" इससे नास्तिक और शूद्रकक्षा के योग्य हो। फिर जन्मने मरने वाले श्रीकृष्णजी आदि देहधारी जीवों में ईश्वर के भाव का व्यवहार क्यों करते हो ? यदि कहो कि हम श्रीकृष्णादि ईश्वर नहीं मानते तो मन्दिरों में उनकी जड़मूर्त्ति स्थापन और घण्टादि बजाकर उपदेश के छल से अज्ञानियों के धनादि पदार्थ क्यों हरते हो ? ।

१५–(प्र०) आप लोग अपने में कृष्णपन की भावना करते हैं वा मनुष्यपन की ? ।

१६–(उ०) यदि अपने को कृष्ण मानते हो तो यादव क्षत्रियों के यु-द्धादि सब कामों को क्यों नहीं ग्रहण करते ? श्रीकृष्णजी के सदृश पराक्रम आप

स्वीक्रियते ? तादृशः पराक्रमो भवत्सु कुतो न दृश्यते ? कृष्णस्तु परमपदं प्राप्तो भवन्तः कथञ्जीवनवन्तश्च ॥ मनुष्यत्वं चेत्तर्हि स्वोत्तमाभिमानस्त्यज्यताम् ॥

१७-(प्र०) भवन्तो वैष्णवा उतान्ये ? वैष्णवाश्चेत्कीदृगर्थो वैष्णव-शब्दस्य स्वीक्रियते ? ॥

१८-(उ०) विष्णोरयं भक्तो वैष्णव इति वदाम इति चेन्नैवं शक्यन्त-स्येदमिति सूत्रस्य सामान्यार्थे वर्त्तमानत्वाद्विष्णोरयमित्येतावानर्थो ग्रहीतुं शक्यो विशेषार्थग्रहणस्य नियमाभावात् ॥ यथा भवद्भिर्भक्तशब्दो गृहीत-स्तथाविष्णोरयं शत्रुः पुत्रः पिता प्रभावशिष्यो गुरुश्चेत्यादयोऽर्था अन्येनापि ग्रहीतुं शक्या अतो भवत्कृतोऽर्थोऽनुचितः ॥

१९-(प्र०) भवद्भिर्विष्णुः कीदृशो गृहीतः ? ॥

लोगों में क्यों नहीं दीख पड़ता ? । श्रीकृष्णजी तो परमपद को प्राप्त होगये आप लोग कैसे जीवते बने हो ? और यदि अपने को मनुष्य मानते हो तो अपने को उत्तम मानने का अभिमान छोड़ देओ ।

१७-(प्र०) आप लोग वैष्णव हो वा अन्य ? यदि वैष्णव हो तो वैष्णव शब्द का अर्थ कैसा स्वीकार करते हो ? ।

१८-(उ०) यदि कहते हो कि विष्णु का भक्त वैष्णव है तो ठीक नहीं, क्योंकि व्याकरण के (तस्येदम्) इस सूत्र से विष्णु का सम्बन्धीरूप सामान्य अर्थ ग्रहण होता है, भक्तिविशेष रूप अर्थ लेने में कोई नियम नहीं । जैसे आप लोगों ने विष्णु का सम्बन्धी भक्तरूप अर्थ का ग्रहण किया वैसे कोई विष्णु के शत्रु, पुत्र, पिता, प्रभाव, शिष्य, गुरु आदि अर्थों का ग्रहण कर शत्रु आदि को भी वैष्णव कह सकता है । इसलिये आप लोगों का कल्पित अर्थ ठीक नहीं हो सकता ।

१९-(प्र०) आप लोगों ने विष्णु को किस प्रकार का समझा है ? ।

२०—(उ०) गोलोकवैकुण्ठवासी चतुर्भुजो द्विभुजो लक्ष्मीपतिर्देहधारीत्यादिर्वेति वदाम इति चेद् व्यापकत्वं त्यज्यताम् ॥ चतुर्भुजादिकं मन्यते चेत्सावयवत्वमनित्यत्वञ्च स्वीक्रियतामीश्वरत्वञ्च त्यज्यताम् ॥ कुतः संयोगमन्तरा सावयवत्वमेव न सिद्ध्यति संयोगश्चानित्यस्तस्माद्भिन्न एवेश्वर इति स्वीकारे मङ्गलञ्चान्यथा । ईश्वरस्य सावयवत्वग्रहणं वेदविरुद्धमेव । "सपर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳशुद्धमपापविद्धमित्यादि" श्रुतिविरोधात् ।

२१—(प्र०) कण्ठीतिलकधारणे मूर्तिपूजने च पुण्यं भवत्युतापुण्यम् ? ।

२२—(उ०) पुण्यं भवति न च पापमिति ब्रूमः । स्वल्पकण्ठीतिलकधारणे मूर्तिपूजने च पुण्यं भवति चेत्तर्हि कण्ठीभारधारणे सर्वमुखशरीरलेपने पृथिवीपर्वतपूजने च महत्पुण्यं भवतीति मन्यताङ्क्रियताञ्च ॥ तत्र

२०—(उ०) यदि गोलोक, वैकुण्ठ का निवासी, चतुर्भुज, द्विभुज, लक्ष्मी का पति देहधारी कहते हो तो व्यापक होना छोड़ो यदि चतुर्भुजादि आकृति वाला मानते हो तो सावयव उत्पत्ति धर्मवाला अनित्य मानो और उसमें ईश्वरत्व छोड़ो । क्योंकि संयोग के विना सावयव होना नहीं सिद्ध होता और संयोग अनित्य है इससे संयोग वियोग वाले से भिन्न को ईश्वर मानने में ही कल्याण है अन्यथा नहीं और ईश्वर को सावयव मानना वेदविरुद्ध ही है । वेद में कहा है कि ईश्वर शरीर छेदन और नाड़ी आदि के बन्धन से रहित शुद्ध निष्पाप सर्वत्र व्यापक है इससे तुम्हारा कहना विरुद्ध है ।

२१—(प्र०) कण्ठी तथा तिलक धारण और मूर्त्ति के पूजने में पुण्य होता है वा अपुण्य ? ।

२२—(उ०) पुण्य होता है पाप नहीं ऐसा कहते हो सो ठीक नहीं क्योंकि यदि थोड़े कंठी तथा तिलक के धारण और मूर्तिपूजन में पुण्य होता है तो बहुत कंठियों का भार लादने चन्दन से सब मुख और शरीर के लेपन करने तथा सम्पूर्ण पृथिवी और पर्वतों के पूजने में बड़ा पुण्य होता है ऐसा मानो और

वेदविधिप्रतिष्ठाया अभावान्न क्रियत इति जल्पामः ॥ वेदेषु तु खलु कण्ठी-तिलकधारणस्य पाषाणमूर्तिपूजनस्य च लेशमात्रोऽपि विधिः प्रतिष्ठा च न दृश्यते । अतो भवत्कथनं व्यर्थमेव ॥

२३-(प्र०) किं प्रतिष्ठात्वन्नाम ? ॥

२४-(उ०) पाषाणादिमूर्त्तिषु प्राणादीनाहूय तत्र स्थापनमिति ब्रूम इति नैवं शक्यं वक्तुम् ॥ कथं प्राणादीनान्तत्कर्मणान्तत्रादर्शनात् यदि तत्र प्राणादयो वसेयुस्तर्हि गमनभाषणभोजनमलविसर्जनादिकर्माणि कुतो न दृश्यन्ते ? ताश्च कथं न कुर्वन्ति ? यदि प्राणादीनां यत्र कुत्र स्थापने शक्ति-रस्ति चेत्तर्हि मृतकशरीराणां मध्ये प्राणादीन् स्थापयित्वा कुतो न जीवय-न्ति ? भवतामनेनैव महान् धनलाभः प्रतिष्ठा च भविष्यति ॥ किञ्च पाषा-णादिमूर्त्तिनाम्मध्ये प्राणादीनाङ्गमनागमनयोरवकाश एव नास्ति न नाड्य-

---

करो । यदि कहो कि पृथिवी और पहाड़ के पूजने के लिये वेद में प्रतिष्ठा का विधान न होने से नहीं करते तो वेदों में कंठी तिलकधारण और पाषाणमूर्ति-पूजन का लेशमात्र भी विधान नहीं और न प्रतिष्ठा का कहीं नाम है इसलिये आपका कथन व्यर्थ है ।

२३-(प्र०) प्रतिष्ठा करना क्या वस्तु है ? ।

२४-(उ०) यदि कहते हो कि पाषाण आदि की मूर्तियों में वेदमंत्र द्वारा प्राण आदि का आह्वान कर स्थापन करना प्रतिष्ठा है तो यह कहना ठीक नहीं क्योंकि प्राण आदि और उनकी क्रिया मूर्त्तियों में नहीं दीख पड़ती जो उन मूर्त्तियों में प्राण वा इन्द्रिय रहते तो चलना, बोलना, खाना, मलमूत्र त्याग करना आदि कर्म क्यों नहीं दीख पड़ते ? और वे मूर्त्तियां उन कामों को क्यों नहीं करतीं ? यदि प्राणादिकों को जहां कहीं स्थापन करने की शक्ति तुम लोगों में है तो मृतक शरीरों के बीच प्राणादि को स्थापन कर क्यों नहीं जिला देते ? केवल इसी एक कर्म से तुम को बहुत धन की प्राप्ति और प्रतिष्ठा होगी और

छिद्राणि च । मृतकशरीराणां मध्ये तु यथावत्सामग्री वर्त्तेत एव प्राणादिभिर्विना दाहादिकाः क्रियाः जनैः क्रियन्ते यदा भवन्तः प्राणादीनान्तत्र स्थापनं कुर्युस्तदा कस्यापि मरणमेव न भवेदनेन महत्पुण्यम्भविष्यति तस्माच्छीघ्रमेवेदङ्कर्म कर्त्तव्यमिति निश्चेतव्यम् ॥ यदि कश्चिन्मृतं शरीरञ्जीवयेत्तादृशो मनुष्यो न भूतो न भविष्यतीति वयं जानीमः ॥ कुत ईश्वरस्य नियमस्यान्यथाकरणे कस्यापि सामर्थ्यन्न जातन्न भविष्यतीत्यवगन्तव्यम् ॥ तद्यथा जिह्वयैव रसज्ञानम्भवति नान्ययेतीश्वरनियमोस्ति ॥ एतस्यान्यथाकरणे कस्यापि यथा सामर्थ्यन्नास्ति तथा सर्वेष्वीश्वरकृतेषु नियमेष्विति बोध्यम् ॥ ईश्वरेण ये जडाः पदार्था रचितास्ते कदाचिच्चेतना न भवन्ति तथा चेतना जडाः कदाचिन्नैव भवन्तीति निश्चयः ॥ ईश्वरः सर्वव्याप्योस्त्यतः पाषाणादिमूर्तिमध्येप्यस्ति पुनस्तत्पूजने को दोषः खण्डनञ्च किमर्थं क्रियते ? ॥

यह भी विचारो कि पाषाणादि मूर्त्तियों में तो प्राणादि के जाने आने का अवकाश ही नहीं न नाड़ी और इन्द्रियछिद्र हैं और मृतक शरीरों में तो सब अवकाश नाड़ी और इन्द्रियों के छिद्र आदि सामग्री विद्यमान ही रहती है केवल प्राणादि के न रहने से वे शरीर जला दिये जाते हैं सो जब आप लोग उन शरीरों में आह्वान कर प्राणादि को स्थित कर देओ तब तो किसी का मरण ही न होवे ? इससे बड़ा पुण्य होगा इसलिये शीघ्र ही निश्चय कर यह कर्म करना चाहिये । हम जानते हैं कि यदि कोई मरे हुए को जिला देवे ऐसा मनुष्य न हुआ न होगा क्योंकि ईश्वर के नियम के अन्यथा करने में किसी का सामर्थ्य न हुआ न होगा यह निश्चय जानना चाहिये । जैसे जीभ से ही रस का ज्ञान हो सकता है अन्य इन्द्रिय से नहीं यह ईश्वरकृत नियम है इसके अन्यथा करने में जैसे किसी का सामर्थ्य नहीं है वैसे ही ईश्वर के किये सब नियमों में जानना चाहिये । ईश्वर ने जो पदार्थ जड़ बनाये हैं वे कभी चेतन नहीं होते वैसे चेतन कभी जड़ नहीं हो जाते यह निश्चय है । यदि कहो कि ईश्वर सर्वत्र व्याप्त है इससे पाषाणादि मूर्त्तियों में भी है तो पाषाणादि मूर्त्तियों के पूजने में क्या दोष है ? और क्यों खण्डन करते हो तो उत्तर यह है कि यदि ऐसी भावना रख

एवञ्जानन्ति चेत्तर्हि पुष्पत्रोटनञ्चन्दनघर्षणन्नमस्कारञ्च किमर्थं कुर्वन्ति। कुतः सर्वत्रेश्वरस्य व्यापकत्वात्॥ नोचेदन्यघृणितपदार्थानाञ्च पूजनङ्किमर्थं न कुर्वन्ति? सर्वव्यापिनीश्वरे सिद्धे खल्वेकस्मिन्वस्तुनि स्वीकृते महत्पापं भवति॥ तद्यथा चक्रवर्त्तिनं राजानम्प्रति कश्चिद्ब्रूयाद्भवान्दशहस्तप्रमिताया भूमे राजास्तीति तम्प्रति राज्ञो महान्कोपो यथा भवति तथेश्वरस्यैवं स्वीकारे चेति वेदितव्यम्॥

२५—(प्र०) किञ्चिन्मात्राणाम्पाषाणपित्तलादिमूर्त्तीनां पूजने पुण्यं भवत्युत पापम्?॥

२६—(उ०) नाद्यः कुतः किञ्चिन्मात्रस्य पित्तलादेर्मूर्त्तिपूजने पुण्यम्भवति चेत्तर्हि महत्याः पित्तलादिमूर्तेर्दण्डप्रहारेण महत्पापं भवतीति बुध्यताम्॥ अन्यच्च वेदानभिहितपाषाणादिमूर्त्तिपूजने महत्पापमेव भवतीति स्वी-

---

पूजा करते हो तो पुष्प तोड़ना, चन्दन घिसना और हाथ जोड़ कर नमस्कार आदि कर्म क्यों करते हो? क्योंकि ईश्वर पुष्प, चन्दन, हाथ और मुख आदि में भी व्यापक है जैसे पाषाणादि में व्यापक होने से ईश्वर पूजित होगा वैसे पुष्पादि के साथ टूटना घिस जाना भी संभव है यदि नहीं मानते तो अन्य घृणित पदार्थों का पूजन क्यों नहीं करते?। जब ईश्वर सर्वव्यापक सिद्ध है तो एक छोटीसी किसी मूर्त्ति आदि वस्तु में उसको मानना बड़ा पाप है। तद्यथा—जैसे चक्रवर्त्ति राजा से कोई कहे कि आप दशहाथ भूमि के राजा हैं उसके प्रति जैसे राजा का बड़ा कोप होता है वैसे ईश्वर के इस प्रकार स्वीकार करने में ईश्वर बड़ा कोप करेगा यह जानना चाहिये।

२५—(प्र०) छोटी २ बनी हुई पाषाण पित्तलादि की मूर्त्तियों के पूजन में पुण्य होता है वा पाप?॥

२६—(उ०) पहिला पक्ष पुण्य होना ठीक नहीं क्योंकि यदि छोटी २ पीतल आदि की मूर्त्तियों के पूजने में पुण्य होता है तो बड़ी २ पीतल आदि की घंटादिरूप मूर्त्तियों में दण्डा मारने से बड़ा पाप होता है ऐसा जानो और भी देखो कि वेद में नहीं कहे पाषाणादि मूर्त्ति के पूजन में महापाप ही होता

क्रियतान्नो चेन्नास्तिकत्वं स्वीकार्यम् ॥ न चरमः कुतः पापाचरणस्य वेदेऽनभिधानात् ॥ मनुष्यजन्मानेन व्यर्थमेव गच्छतीत्यतः ॥ तत्पूजनम्मुक्तिसाधनञ्चेन्न तस्या मूर्त्तेरपि शिल्पिना पूजारिणा वैकत्र बद्धत्वात्स्वयञ्जडत्त्वाच्चेति ॥

२७-(प्र०) ईदृक्कण्ठीतिलकधारणे किं मानञ्चा वा युक्तिः ? ॥

२८-(उ०) हरिपदाकृतित्वम् ॥ कृष्णललाटे राधया कुङ्कुमयुक्तेन चरणेन कृतं ताडनं ललाटस्य शोभार्थञ्चेति ब्रूमः ॥ हरिशब्देन कस्य ग्रहणम् ? ॥ विष्णोरेवेति वदामः । नैतदेकान्ततः शक्यं ग्रहीतुम् ॥ अश्वसिंहसूर्यवानरमनुष्यादीनामपि ग्रहणाद्वेदानुक्तत्वादतएव पापजनकन्तिलकमिति वेद्यम् ॥ किञ्च तिलकत्वमिति ॥ त्रिपुण्ड्रोर्ध्वपुण्ड्ररचनत्वामिति वदामः ॥ नैवं वक्तुमुचितम् ॥ तिलस्य प्रतिकृतिस्तिलकमल्पस्तिलस्तिलको वेत्यर्थस्य

है ऐसा मानो यदि न मानो तो वेदविरोधी होने से नास्तिक बनो । और पाप होना रूप द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं क्योंकि पाप करना भी वेद में नहीं कहा तो मनुष्यजन्म इससे व्यर्थ जाता है यदि कहो कि मूर्त्तियों का पूजना मुक्ति का साधन है तो ठीक नहीं क्योंकि उस मूर्त्ति को कारीगर वा पूजारी ने एक स्थान में स्थिरबद्ध किया और स्वयं जड़ है तो अन्य को क्या मूर्त्ति दे सकेगी ।

२७-(प्र०) ऐसे विशेष चिह्नयुक्त कण्ठी और तिलक के धारण में क्या प्रमाण वा युक्ति है ? ।

२८-(उ०) श्रीकृष्ण के पग के आकार तिलक इसलिये धारण करते हैं कि कृष्ण के मस्तक पर राधाजी ने लालचन्दन युक्त लात मारी थी और वैसी लात मारने से शोभा भी समझते हैं । (प्र०) हरि शब्द से किस को लेते हो ? हरि शब्द से विष्णु का ग्रहण करते हैं यह कहना ठीक नहीं क्योंकि घोड़ा, सिंह, सूर्य, वानर और मनुष्यादि का नाम भी हरि है उनका ग्रहण क्यों नहीं होता ? वेदोक्त न होने से तिलक लगाना अयुक्त है इसी से पापकारी है यह जानना चाहिये । तिलक क्या वस्तु है ? यदि त्रिपुण्ड्र और

जागरूकत्वादेतावतो दीर्घस्य ललाटे लिप्तस्य तिलकसंज्ञायां मतायां भवत्सु प्रमत्तत्वापत्तिर्भवतीति वेद्यम् ? ॥

२९–(प्र०) मूर्त्तिपूजनादिषु पुण्यं भवत्युत पापम् ?

३०–(उ०) मूर्त्तिपूजने कण्ठीतिलकधारणे च दोषो नास्ति कुतः यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशीत्यतः ॥

३१–(प्र०) भावना सत्यास्त्युत मिथ्या ? ॥

३२–(उ०) न प्रथमः कुतो दुःखस्य भावनां कोपि न करोति सदैव सुखस्यैव च पुनः सुखं न भवति दुःखञ्च भवत्यतो भावना न सत्या ॥ न द्वितीयः कथं विद्याधर्मार्थकामशोत्तराणां भावनया विना सिद्धिरेव न भवती-

---

ऊर्ध्वपुण्ड्र रचना को तिलक कहते हो तो यह कहना ठीक नहीं क्योंकि व्याकरण रीति से तिल के प्रतिबिम्ब को तिलक वा छोटे तिल को तिलक कहना चाहिये यह सिद्ध है तो इस प्रकार के लम्बीभूत चन्दनादि ललाट पर के लेपन की तिलक संज्ञा मानने में आप लोगों में प्रमाद प्राप्त होता है यह निश्चय जानना चाहिये ।

२९—(प्र०) मूर्त्तिपूजनादि में पाप होता है वा पुण्य ? ।

३०—(उ०) मूर्त्तिपूजन और कण्ठी तिलक धारण करने में कुछ दोष नहीं है क्योंकि जिसकी भावना जैसी होती है उसकी वैसी ही सिद्धि हो जाती है ॥

३१—(प्र०) भावना सत्य है वा मिथ्या ? ।

३२—(उ०) पहिला पक्ष भावना का सत्य मानना ठीक नहीं क्योंकि दुःख की भावना कोई नहीं करता किन्तु सदैव सुख की भावना करते हैं फिर भी सब को सुख नहीं मिलता किन्तु दुःख होता ही है इससे भावना सत्य नहीं। दूसरा पक्ष भावना का मिथ्या मानना भी ठीक नहीं क्योंकि भावना के विना

स्यतः ॥ भावना सत्यास्ति चेत्तर्हि भवच्छरीरे रेलाख्ययानभावनाङ्कृत्वोपर्य्यासीमहि यावता कालेन यावद्देशान्तरन्तद्यानङ्गच्छति तावता कालेनैव भवच्छरीरन्तावद्देशान्तरमस्मान गमयेच्चेत्तदा तु भावना सत्या नान्यथा ॥ पुनः पाषाणादिषु हीरकादिरत्नभावनाञ्जले दधिघृतदुग्धभावनान्धूल्याङ्गोधूमपिष्टशर्कराभावनां शर्करायान्तन्दुलभावनान्तथा जडे चेतनभावनां चेतने जडभावनान्दरिद्रः स्वस्मिंश्चक्रवर्त्तिभावनाञ्चक्रवर्त्ती स्वस्मिन्दरिद्रभावनाञ्च कुर्यात्सा तथैव सिद्धा भवेच्चेत्तदा तु सत्याऽन्यथा मिथ्येति बोद्धव्यम् । तर्हि भावना का नाम । भावना तु पाषाणे पाषाणभावना रोटिकायां रोटिकाभावनेति यथार्थं ज्ञानमिति भ्रमरतस्मिंस्तद्बुद्धिरिति ॥ तथा रोटिकायां पाषाणभावना पाषाणे रोटिकाभावनाऽयथार्थज्ञानमतस्मिंस्तद्बुद्धिर्भ्रमो ऽभावना चेति ॥

३३-(प्र०) प्रतिमाशब्देन किङ्गृह्यते ॥

विद्या, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि ही नहीं हो सकती। इससे यथायोग्य भावना करना ठीक है। यदि अन्य में अन्य की भावना करना सत्य है तो आप के शरीर में रेल की भावना करके हम बैठें तो जितने समय में जितनी दूर रेल पहुंचती है उतने समय में उतनी दूर आप का शरीर हमको पहुंचा देवे तब तो भावना ठीक नहीं तो मिथ्या ? फिर पत्थर आदि में हीरे आदि रत्नों की भावना, जल में दूध दही घी की भावना, धूलि में आटा और शक्कर की, शक्कर में तण्डुल की, जड़ में चेतन, चेतन में जड़, निर्धनी दरिद्र अपने में चक्रवर्ती राजा की और चक्रवर्त्ती राजा अपने में दरिद्र की भावना करे, और वह वैसी ही ठीक २ सिद्ध हो जावे तब तो सत्य, अन्यथा मिथ्या जाननी चाहिये। तो फिर भावना किस का नाम है ? पत्थर में पत्थर रोटी में रोटी की भावना करना यथार्थ ज्ञान कहाता है। अर्थात् जैसे को वैसा जानना भावना है। रोटी में पत्थर और पत्थर में रोटी की भावना करना मिथ्या ज्ञान अन्य में अन्य बुद्धि भ्रमरूप अभावना कहाती है।

३३-(प्र०) प्रतिमा शब्द से क्या लेते हो ?।

३४–(उ०) पूजनार्थो चतुर्भुजादिमूर्त्तिरिति वदामः ॥

३५–(प्र०) प्रतिमाशब्दस्य कोऽर्थः क्रियते ॥

३६–(उ०) प्रतिमीयते यया सा प्रतिमा किञ्चाऽनया प्रतिमीयते ॥ ईश्वरशिवनारायणादयश्चेति वदामः ॥ किञ्च भोरनया पाषाणादिमूर्त्येश्वरस्य शिवादिशरीराणाञ्च प्रत्यक्षतया भवद्भिस्तोलनङ्कृतङ्किमतोयमर्थः क्रियते ? ॥ "तुलामानं प्रतीमानं सर्वञ्च स्यात्सुलक्षितम् ॥ षट्सु षट्सु च मासेषु पुनरेव परीक्षयेदिति" मनुसाक्ष्यं बोध्यम् ॥ प्रतिमाशब्देन गुडघृतादीनान्तोलनसाधनानाम्पलसेटकादीनां मासादीनां च ग्रहणमिति निश्चयः ॥ "न तस्य प्रतिमाऽस्ति यस्य नाम महद्यश" इति यजुस्संहिताया द्वात्रिंशेऽध्याये ॥ ईश्वरस्य प्रतिमा तोलनसाधनमेव न भवति तस्याऽतुलत्वात् ॥ अतएव भवत्कृतोऽर्थो व्यर्थ एवेति बोध्यम् ॥

३४–(उ०) पूजने योग्य चतुर्भुज आदि की मूर्त्ति को लेते हैं।

३५–(प्र०) प्रतिमा शब्द का क्या अर्थ करते हो ? ।

३६–(उ०) जिससे पदार्थ का स्वरूप वा अवधि जानी जावे वह प्रतिमा है, ऐसा अर्थ करते हो तो किस का स्वरूप इससे जाना जाता है यदि कहो कि ईश्वर, शिव और नारायण आदि का बोध प्रतिमा से होता है तो हम पूछते हैं कि क्या इस पाषाणादि मूर्त्ति से ईश्वर और शिवादि के शरीरों को आपने प्रत्यक्ष तोल लिया है कि जिससे ऐसा अर्थ करते हैं ? धर्मशास्त्र राजधर्म में लिखा है कि तराजू और प्रतीमान=बाट सब ठीक २ रखने चाहिये और छः २ महीने में इनकी परीक्षा राजा करावे इस प्रमाण के अनुकूल प्रतिमा शब्द से गुड़ घृत आदि के तोलने के साधन सेर आदि वा मासा आदि बटखरों का ग्रहण होना निश्चय है ॥ और यजुर्वेद बत्तीसवें अध्याय के तीसरे मंत्र में ईश्वर की प्रतिमा अर्थात् तोल साधन का निषेध किया है क्योंकि ईश्वर अतुल है इसी से आप का किया अर्थ व्यर्थ ही जानना चाहिये ।

३७-(प्र०) पुराणशब्देन किङ्गृह्यते ॥

३८-(उ०) ब्रह्मवैवर्त्तादीन्यष्टादशपुराणोपपुराणानि चेति ब्रूमः । नैवं शक्यं पुराणशब्दस्य विशेषणवाचकत्वेन व्यावर्त्तकार्थकत्वात् ॥ यथा पुरातनप्राचीनादयश्शब्दा नवीनार्वाचीनादीञ्छब्दार्थान्व्यावर्त्तयन्ति तथा पुराणादयश्शब्दा नवीनाद्यर्थांश्चेति ॥ तद्यथा केनचिदुक्तम्पुराणं घृतं पुराणो गुडः पुराणी शाटीचेत्यर्थान्नवीनं घृतञ्चेत्यादि व्यावर्त्तते तस्मात्पुराणशब्देन वेदानान्तद्व्याख्यानब्राह्मणादीनाञ्च ग्रहणं भवति न ब्रह्मवैवर्त्तादीनाञ्चेति, "ब्राह्मणानीतिहासः पुराणानीति" "दशमेऽहनि किञ्चित्पुराणमाचक्षीत" "पुराणविद्यावेदो दशमेऽहनि श्रोतव्य" इत्याद्यश्वमेधस्य पूर्त्यनन्तरन्नवदिनपर्यन्तमृग्वेदादिकं श्रुत्वाऽऽख्याय च दशमेऽहनि ब्रह्मज्ञानप्रतिपादकमुपनिषत्पुराणं शास्त्रं यजमानादय आचक्षीरञ्छृणुयुश्चेति ब्राह्मणवेदानामेव ग्रहणमान्यस्येति साक्ष्यात्सर्वेभ्यो वेदानामेव पुरातनत्वाच्चेति ॥ परन्तु मतमस्माकं

३७-(प्र०) पुराण शब्द से क्या लेते हो ?।

३८-(उ०) ब्रह्मवैवर्त्तादि अठारह पुराण और उपपुराण लेवे हो सो ठीक नहीं क्योंकि पुराण शब्द विशेषण वाचक होने से व्यावर्त्तक अर्थवाची होता है । जैसे पुरान प्राचीन आदि शब्द नवीन और अर्वाचीन आदि से निवृत्त करते वैसे पुराणादि शब्द नवीन आदि के वाच्य अर्थों को निवृत्त करते हैं । जैसे किसी से कहा कि पुराना घृत पुराना गुड़ पुरानी साड़ी इससे घृत आदि में नवीनपन की निवृत्ति हो गई । इस कारण पुराण शब्द से वेद और वेद के व्याख्यान ब्राह्मणग्रन्थों का ग्रहण होता है किन्तु ब्रह्मवैवर्त्तादि का नहीं, कल्पसूत्रकारों ने लिखा है कि ब्राह्मणग्रन्थ ही इतिहास पुराण नामक हैं। अश्वमेध यज्ञ में दशमे दिन कुछ थोड़ी पुराण की कथा कहे सुने, पुराणविद्या वेद का व्याख्यान दशमे दिन सुने अर्थात् नवदिन तक यज्ञ में ऋग्वेदादि कह के दशमे दिन ब्रह्मज्ञान का प्रतिपादक ब्राह्मणान्तर्गत उपनिषद्भाग यजमान आदि कहें और सुनें । इस प्रकार पुराणशब्द से ब्राह्मण और वेद का ही ग्रहण करना अन्य

खलु वेदा नान्यदिति सिद्धान्तः ॥ ब्रह्मवैवर्त्तादीनि व्यासनामव्याजेन सम्प्रदायस्थैर्जीविकार्थिभिर्मनुष्याणां भ्रान्तिकरणार्थानि रचितानीति जानीमः यथा शिवादिनामव्याजेन तन्त्राणि याज्ञवल्क्यादिनामव्याजेन च याज्ञवल्क्यादिस्मृतयश्च रचितास्तथैव ब्रह्मवैवर्त्तादीनीति विज्ञायताम् ॥

३६—(प्र०) देवालयशब्देन भवद्भिः किङ्गृह्यते ? ॥

४०—(उ०) मूर्त्तिस्थापनपूजनस्थानानि घण्टादिनादकरणार्थानि मन्दिराणीति प्रतिजानीमः ॥ नैवं शक्यं कुतोऽत्र वेदविधेरभावाद्भ्रान्तियुक्तत्वाच्चेति यत्र होमः क्रियते तदेव देवालयशब्देनोच्यते कथं होमस्य देवपूजाशब्देन गृहीतत्वात् ॥ "अध्यापनम्ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम् । होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥ १ ॥ स्वाध्यायेनार्चयेदर्षीन् होमैर्देवान्यथाविधि । पितॄञ्छ्राद्धैर्नॄनन्नैश्च भूतानि बलिकर्मणा" ॥ २ ॥ होमेनैव देवपूजनं

का नहीं ऐसी साक्षी है और वेद ही सब से पुराने हैं । परन्तु हमारा मत वेद है अन्य नहीं यही सिद्धान्त है । ब्रह्मवैवर्त्तादि पुराण व्यासजी के नाम के छल से मतवादी जीविकार्थी लोगों ने मनुष्यों को भ्रान्ति करानेवाले बनाये हैं । जैसे शिव आदि के नाम के छल से तंत्र और याज्ञवल्क्यादि के नाम के छल से याज्ञवल्क्यादि स्मृति रची हैं वैसे ही ब्रह्मवैवर्त्तादि पुराण जानो ।

३६—(प्र०) देवालय शब्द से आप क्या लेते हो ? ।

४०—(उ०) मूर्त्ति को स्थापन करने पूजने के स्थान जिनमें कि घण्टानाद आर्त्ति आदि करते हैं उनको देवालय कहते हो तो ठीक नहीं क्योंकि यह कर्त्तव्य वेद से विरुद्ध और भ्रांतियुक्त होने से । इससे जिसमें होम किया जाता वही स्थान देवालय शब्दवाच्य हो सकता है क्योंकि देवपूजा शब्द से होम का ग्रहण है । धर्मशास्त्र में लिखा है कि, पढ़ाना—ब्रह्मयज्ञ । तर्पण—पितृयज्ञ । होम-देवयज्ञ । वैश्वदेव—भूतयज्ञ और अतिथिपूजन से मनुष्ययज्ञ कहाता तथा स्वाध्याय से ऋषिपूजन, यथाविधि होम से देवपूजन, श्राद्धों से पितृपूजन, अन्नों से

भवतीति मनुनोक्तत्वाद्भवत्कृतोऽर्थोऽसङ्गत एवेति निश्चयः ॥ अतो होमस्थानं यज्ञशालैव देवालयशब्देन ग्राह्येति निश्चयः ॥

४१—(प्र०) देवशब्देन किङ्गृह्यते ? ॥

४२—(उ०) ब्रह्मविष्णुमहादेवादीनत्रपूजनार्थांस्तन्मूर्त्तीश्चेति गृह्णीमः ॥ नैवं योग्यम् ॥ "यत्र देवतोच्यते तत्र तल्लिङ्गो मन्त्र" इति निरुक्ते । "मन्त्रमयी देवतेति" पूर्वमीमांसायाम् ॥ तथा "मन्त्रमयी देवतेति" ब्राह्मणे ॥ "आत्मैव देवतास्सर्वास्सर्वमात्मन्यवस्थितमिति" मनुस्मृतौ ॥ "मातृदेवो भव पितृदेवो भव आचार्यदेवो भव अतिथिदेवो भव" इति तैत्तिरीयोपनिषदि ॥ इत्यादिसाक्ष्यविरोधात्कर्मकाण्डे मन्त्राणां मात्रादीनां विदुषाश्च देवदेवताशब्दाभ्यां सङ्ग्रहादुपासनाज्ञानकाण्डयोरीश्वरस्यैव देवताशब्देन सर्वत्र स्वीका-

---

मनुष्यपूजन और वैश्वदेव से प्राणिमात्र का सत्कार करना चाहिये । इससे सिद्ध हो गया कि होम ही से देवपूजा होती है यह मनु की साक्षी है इससे आपका किया अर्थ असंगत है यही निश्चय जानो । इसलिये होम का स्थान यज्ञशाला ही देवालय शब्द से लेना चाहिये ।

४१–(प्र०) देवशब्द से क्या लेते हो ? ।

४२–(उ०) पूजने के लिये ब्रह्मा विष्णु और महादेवादि देवताओं को और उन की मूर्त्तियों को देव शब्द से लेते हो सो ठीक नहीं क्योंकि वेद में जहां २ देवता कहा है वहां २ उस देवता नामवाचक शब्दयुक्त मंत्र का ही नाम देवता है यह निरुक्तकार का सिद्धान्त है और पूर्वमीमांसा और ब्राह्मणभाग में मन्त्रस्वरूप ही देवता माना है । मनुस्मृति में आत्मा के बीच सब जगत् अवस्थित है इसलिये आत्मा ही सब देवता है । तैत्तिरीय आरण्यक में माता, पिता, आचार्य, अतिथि को ही देवता माना है । इत्यादि प्रमाणों से तुम्हारा कथन विरुद्ध होने से कर्मकाण्ड में मन्त्रस्वरूप, माता आदि और विद्वानों का देव और देवता शब्द से ग्रहण तथा उपासना और ज्ञानकाण्ड में सर्वत्र देवता शब्द से ईश्वर का

राद्भवत्कृतोर्थो मिथ्यैवेति निश्चयः ।। एवं सति पाषाणादिमूर्त्तीः देवता-शब्देन यो गृह्णाति स न मनुष्योस्ति किन्तु पशुरेव च ।। योऽन्यां देवता-मुपास्ते स पशुरेव देवानाम् ।। "उत्तिष्ठत जाग्रत" "तज्जानथ अन्या वाचो विमुञ्चथ" चेत्याद्युक्तत्वान्मूर्त्तयस्तु कदाचिद्देवता न भवन्तीति निश्चीयताम् ।।

४३—(प्र०) देवल-देवलक-शब्दाभ्यां किं गृह्यते ? ।।

४४—(उ०) मूर्त्तिपूजारींस्तदधीनजीविकावतश्चेति ब्रूमः ।।

नैवमुचितं वक्तुम् ।। कथं, "यद्वित्तं यज्ञशीलानान्देवस्वन्तद्विदुर्बुधाः ।। अयज्वनान्तु यद्वित्तमासुरं तत्प्रचक्षते" इति मनुसाक्ष्यविरोधात् ।। यज्ञशी-लानां यज्ञार्थं यद्वित्तं तद्देवशब्देनोच्येत तल्लाति गृह्णाति स्वभोजनाद्यर्थं सोऽय-न्देवलो निन्द्यः ।। यो यज्ञार्थं यद्धनं तच्चोरयति स देवलकः ।। कुत्सितो देवलो

ही स्वीकार है इससे आपका किया अर्थ मिथ्या ही निश्चित होता है । जब ऐसा है तो जो देवता शब्द से पाषाणादि मूर्त्तियों का ग्रहण करता है वह मनुष्य नहीं किन्तु पशु ही है । और उपनिषद् में यही कहा है कि जो एक ईश्वर को छोड़ के अन्य देवता की उपासना करता है वह देवताओं में पशु ही है इसलिये हे मनुष्यो ! उठो जागो उस आत्मा को जानो अन्य की उपासनारूप वाणियों को छोड़ो इत्यादि प्रमाण से मूर्त्तियां कदापि देवता नहीं हो सकतीं यह निश्चय जानो ।

४३—(प्र०) देवल और देवलक शब्दों से किसका ग्रहण करते हो ? ।

४४—(उ०) यदि कहते हो कि मूर्त्तिपूजने और मूर्त्तिपूजा से जीविका करनेवाले देवल और देवलक कहाते हैं तो ठीक नहीं क्योंकि धर्मशास्त्र में लिखा है कि जो यज्ञ करनेवालों का धन है वह देवल और यज्ञ न करनेवालों का धन आसुर कहाता है, देव नाम यज्ञ के धन को अपने भोजनादि के लिये लेने वाला देवल निन्दित कहाता है यहां व्याकरण रीति से मध्यम पद स्वशब्द का लोप हो जाता है । और जो यज्ञ के धन की चोरी करता है वह देवलक अति-निन्दित कहाता है क्योंकि व्याकरण के (कुत्सिते) सूत्र से निन्दित अर्थ में क

देवलकः कुत्सित इति सूत्रेण क-प्रत्ययविधानाद्भवत्कृतोर्थोऽन्यथेति वेदितव्यम् ॥

४५—(प्र०) ईश्वरस्य जन्ममरणे भवत आहोस्विन्न ? ॥

४६—(उ०) अप्राकृते दिव्ये जन्ममरणे भवतो नान्यथेति स्वीक्रियते ॥ भक्तानामुद्धारार्थं दुष्टानां विनाशार्थन्तथा धर्म्मस्थापनार्थमधर्म्मनिर्मूलनार्थञ्च ॥ नैवन्न्याय्यङ्कस्मात्सर्वशक्तिमत्त्वात्सर्वान्तर्यामित्वादखण्डत्वात्सर्वव्यापकत्वादनन्तत्वान्निष्कम्पत्वाच्चेश्वरस्येति । सर्वशक्तिमान् हीश्वरोऽस्ति स सर्वं न्याय्यङ्कार्यङ्कर्त्तुं समर्थोऽस्त्यसहायेन । यश्च शरीरधारणादिसहायेन कार्य्यङ्कर्त्तुं समर्थो भवेन्न चान्यथेति नेत्थं चेत्तर्हि सर्वशक्तिमत्त्वमेव तस्य नश्येत् ॥ यथा खल्वसहायेन सर्वमिदञ्जगद्रचयित्वा धारयति तथैव हिरण्याक्षरावणकंसादीनां क्षणमात्रेण हननङ्कर्त्तुं समर्थोऽसहायेनोपदेशम्भक्तोद्धारन्धर्मस्थापनमध-

---

प्रत्यय होता है इससे आप का किया अर्थ मिथ्या है यह जानना चाहिये ।

४५—(प्र०) ईश्वर के जन्ममरण होवे हैं वा नहीं ? ।

४६—(उ०) यदि यह कहते हो कि अप्राकृत मनुष्यादि के जन्ममरण से विलक्षण दिव्य जन्ममरण होते हैं अन्यथा नहीं यह स्वीकार है, क्योंकि भक्तों के उद्धार दुष्टों के विनाश, धर्म की स्थापना और अधर्म को निर्मूल करने के लिये अस्वाभाविक जन्म ईश्वर धारण करता है तो ठीक नहीं क्योंकि ईश्वर सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी, अखण्ड, सर्वव्यापक, अनन्त और निश्चल निष्कम्प है । जैसे ईश्वर सर्वशक्तिमान् है तो वह सब न्याययुक्त कार्य विना सहाय के करने को समर्थ है फिर जो शरीर धारणादि सहाय से कार्य कर सके अन्यथा न करसके तो ऐसा मानने में वह सर्वशक्तिमान् ही नहीं ठहर सकता । जैसे विना सहायता के इस सर्व जगत् को रच के धारण करता है वैसे ही हिरण्याक्ष, रावण और कंसादि को मारने को विना शरीरादि सहाय के समर्थ है तथा स्वतन्त्र असहाय ही उपदेश, भक्तों का उद्धार, धर्म का स्थापन, अधर्म तथा दुष्टों

र्मदुष्टविनाशश्च ॥ यथा सर्वशक्तिमत्त्वमीश्वरे स्वीक्रियते तथा न्यायकारित्वाद-योऽपि स्वभावा ईश्वरे स्वीकार्याः ॥ अन्यथा स्वनाशाद्यधर्ममपि कर्त्तुं समर्थो भवेदत ईश्वरोऽनन्तोऽजोऽविकारी च ॥ प्रकृत्याकाशादिकं सर्वजगदीश्वरस्या-ऽपेक्षया स्वल्पन्तुच्छंसान्तश्चास्ति । पुनस्तस्य का शरीरसामग्री ? यतो निवा-सार्थमधिकरणम्भवेत्तस्माद् बृहत्किमपि न विद्यत इति सर्ववेदसिद्धान्तः ॥ "सप-र्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳशुद्धमपापविद्धम्" ॥ "तदन्तरस्य सर्वस्य तदुसर्वस्यास्य बाह्यतः" ॥ "सत्यं ज्ञानमनन्तम्ब्रह्म" ॥ "दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः" ॥ "अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययन्तथाऽरसन्नित्यमगन्ध-वच्च यत् । अनाद्यनन्तम्महतः परन्ध्रुवन्निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते" "अ-णोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्" ॥ "वेदाहमेत-

का विनाश कर सकता है । जैसे ईश्वर में सब शक्तियों का होना मानते हो वैसे न्यायकारीपन आदि स्वभाव भी ईश्वर में स्वीकार करने योग्य हैं । यदि ऐसा न मानोगे तो सर्वशक्तिमान् होने से ही अपना नाश, अन्याय, अधर्म करने को भी समर्थ होजावे तो ईश्वरता ही न रहे, इससे ईश्वर अनन्त अजन्मा और अविकारी है । प्रकृति और आकाशादि सब जगत् ईश्वर की अपेक्षा छोटा तुच्छ और अन्तवाला है । फिर उसके शरीर बनने को कौन सामग्री है जिसमें वह समाय जावे उससे बड़ा कोई भी नहीं यह सब वेद शास्त्र से सिद्ध है तो कैसे एक शरीर में समाय सकता है । वेद और उपनिषदों के प्रमाणः—वह सब में व्याप्त प्रकाशमय, सब प्रकार के शरीर से रहित, अछेद्य, अभेद्य नाड़ी आदि के बन्धन से रहित, शुद्ध निर्मल, निष्पाप है । वह सब के भीतर और बाहर परिपूर्ण है । वह सत्यस्वरूप ज्ञानस्वरूप और सब से बड़ा अनन्त है । वह पुरुष पूर्ण परमात्मा दिव्यरूप सब प्रकार की मूर्त्ति से रहित सब के बाहर भीतर वर्त्तमान और अजन्मा है । वह शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध और नाश रहित, नित्य, अनादि, अनन्त, महतत्त्व से परे निश्चल है उसी को ठीक २ जान के मृत्युरूप ग्राह के मुख से छूटता है । वह सूक्ष्म से सूक्ष्म और बड़े से बड़ा है इस जीव के अन्तःकरण में व्याप्त उपलब्ध होने वाला है । मनुष्य

म्पुरुषम्महान्तमादित्यवर्णन्तमसः परस्तात् । तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनायेति" यजुर्वेदादिश्रुतिभ्यः ॥ ईश्वरस्याऽवतारोऽर्थाज्जन्ममरणे नैव भवत इति सर्वेषां वेदानां सिद्धान्तो वेदितव्यः ॥

४७—(प्र०) ईश्वरस्साकार उत निराकारः ? ॥

४८—(उ०) निराकारश्चेति वदामः ॥ निराकारश्चेत्तर्हि तस्मात्साकारं तत्कथञ्जायेत तथा हस्तादिभिर्विना कथञ्जगद्रचयेदिति ॥ मैवं वाच्यङ्कुतः ॥ सर्वासां शक्तीनां सामर्थ्यानामीश्वरे नित्यं विद्यमानत्वान्निराकारादेव साकारस्योत्पन्नत्वाच्चेति ॥ तद्यथा ॥ "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशस्सम्भूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः, ओषधिभ्योऽन्नम्, अन्नाद्रेतः, रेतसः पुरुषः, स वा एष पुरुषो-

को ऐसा विचार रखना उचित है कि मैं उस परमात्मा को जानूं कि जो सब से बड़ा पूर्ण सूर्य के तुल्य प्रकाश वाला अन्धकार से परे है । क्योंकि उसी को जानकर मनुष्य मृत्यु से बच सकता है अन्य कोई मार्ग मुक्ति के लिये नहीं है । इत्यादि मन्त्रों के प्रमाण से ईश्वर का अवतार अर्थात् जन्ममरण नहीं होते यही सब वेदों का सिद्धान्त जानना चाहिये ।

४७—(प्र०) ईश्वर साकार है वा निराकार ? ।

४८—(उ०) यदि कहो निराकार है तो ठीक है और जो निराकार होने में तुम को शङ्का है कि जो निराकार हो तो उससे साकार जगत् उत्पन्न कैसे हो सके और हाथ आदि साधन के विना कैसे जगत् को रच सके सो यह ठीक नहीं क्योंकि सब प्रकार के सामर्थ्य निराकार ईश्वर में नित्य ही विद्यमान हैं इससे निराकार से ही साकार उत्पत्ति हो सकती है । जैसे प्रमाण—उस ही इस आत्मा से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी, पृथिवी से ओषधि, ओषधियों से अन्न, अन्न से वीर्य, वीर्य से शरीर उत्पन्न होता है सो ही यह शरीर अन्नरसमय कहाता है इस उत्पत्ति की प्रक्रिया में

ऽमरसमयः" ॥ आत्माऽकाशौ निराकारौ तस्माद्वायुर्द्विगुणः स्थूलोऽजायत ततस्त्रिगुणः स्थूलोऽग्निर्जलं पृथिवी चेत्यादि निराकारात्सूक्ष्मात्स्थूलमिदञ्च जगज्जायते तथा च स्थूलमयस्कान्तपाषाणादिकम्पिष्ट्वा चूर्णीभूतङ्कृत्वा प्रत्यक्षतया दर्शयितु द्रष्टुं सर्वे मनुष्याः समर्था इत्यतो निराकारादेव साकारञ्जगज्जायत इति निश्चयः ॥ अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः" । "स वेत्ति विश्वन्न च तस्य वेत्ता तमाहुरग्र्यम्पुरुषम्पुराण"मित्यादिश्रुतिभ्यः ॥ हस्तपादाद्यङ्गैर्विनाप्यनन्तानां सर्वेषां सामर्थ्यानामीश्वरे वर्त्तमानत्वात्साकार ईश्वरस्साकारात्साकारोत्पत्तिर्हस्तपादादिभिर्विना जगदुत्पादयितुमसमर्थ ईश्वर इत्यादि वाग्जालं मनुष्याणाम्प्रमादेनैवेत्यवगन्तव्यम् ॥

४६–(प्र०) ईश्वरो मायावी न वेति ? ॥ मायाशब्दस्य कोऽर्थः क्रियते ? ॥

५०–(उ०) मायेश्वरशक्तिरित्युच्यते ॥ नैवं योग्यम्भवितुम् ॥ कथं

आत्मा और आकाश निराकार हैं । आकाश से द्विगुणा स्थूल वायु और तिगुणा स्थूल अग्नि, जल और पृथिवी है । इत्यादि प्रकार निराकार सूक्ष्म से यह स्थूल जगत् उत्पन्न होता है और स्थूल चुम्बक पत्थर आदि का चूर्णरूप पीस के प्रत्यक्षता से सब मनुष्य देख दिखा सकते इस कारण निराकार से ही जगत् उत्पन्न होता है । और विना हाथ पग के शीघ्र ग्रहण करता विना चक्षु के देखता विना कान के सुनता वह सब को जानता उसका जाननेवाला कोई नहीं उसको सनातन पूर्णब्रह्म कहते हैं इत्यादि श्रुति-प्रमाणों से हस्तपादादि अङ्गों के विना भी सब अनन्त सामर्थ्य ईश्वर में हैं ऐसा होने पर जो मनुष्य कहते हैं कि ईश्वर साकार है साकार से साकार की उत्पत्ति होती है हस्तपादादि के विना ईश्वर जगत् को उत्पन्न नहीं कर सकता इत्यादि वाग्जाल मनुष्यों का प्रमाद से ही निश्चय होता है ।

४६—(प्र०) ईश्वर मायावी है वा नहीं ? और मायाशब्द का क्या अर्थ करते हो ? ।

५०—(उ०) यदि कहते हो कि माया ईश्वर की शक्ति है तो यह ठीक

छलकपटयोरर्थयोर्मायाशब्दस्यापातात् ॥ कश्चिद्वदेदयम्मायावीत्यनेन किञ्ज्ञायतेऽयं छली कपटी चेति ॥ ईश्वरस्य मायाऽविद्यादिदोषरहितत्वान्निर्मलो निरञ्जनो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव एवेतीश्वरो नैव कदाचिन्मायावीति निश्चेतव्यम् ॥ "क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वर" इति पतञ्जलिसाक्ष्यस्य विद्यमानत्वात् ॥

५१-(प्र०) ईश्वरस्सगुणोऽस्ति निर्गुणो वा ? ॥

५२-(उ०) उभयमिति प्रतिजानीमः । तद्यथा घटः स्पर्शादिभिस्स्वकीयैर्गुणैस्सगुणस्तथा चेतनस्य ज्ञानादिभिर्गुणैः पृथक्त्वान्निर्गुणोपि स एव ॥ एवमीश्वरोपि सर्वज्ञानादिभिः स्वकीयैर्गुणैस्सगुण एवञ्जडत्वजन्ममरणाऽज्ञानादिभिर्गुणैः पृथक्त्वात्स एव निर्गुणश्चेति निश्चयः । "एको देवस्सर्वभूतेषु

नहीं हो सकता क्योंकि छल कपट अर्थ में माया शब्द प्रसिद्ध प्राप्त है । कोई कहे कि यह मायावी है इससे क्या ज्ञात होता है कि यह छली कपटी है । ईश्वर माया और अविद्यादि दोषों से रहित है इसी से निर्मल निरञ्जन नित्य शुद्ध बुद्ध और मुक्तस्वभाव ही है । ऐसा कभी न निश्चय करना चाहिये कि ईश्वर मायावी है क्योंकि इसमें श्रीपतञ्जलि मुनि की साक्षी भी विद्यमान है— अविद्या आदि क्लेशों और शुभाऽशुभ कर्मों के फलों से पृथक् मनुष्यादि की तुल्यता से रहित पुरुष परमेश्वर कहाता है ।

५१—(प्र०) ईश्वर सगुण है वा निर्गुण ? ।

५२—(उ०) ईश्वर सगुण निर्गुण दोनों प्रकार से है यह निश्चित है जैसे घट स्पर्श आदि अपने गुणों से सगुण तथा चेतन के ज्ञानादि गुणों से पृथक् होने से निर्गुण भी वही है ऐसे ही ईश्वर भी सर्वज्ञ आदि अपने गुणों से सगुण और जन्ममरण जड़पन अज्ञान आदि गुणों से पृथक् होने से निर्गुण भी वह है । उपनिषद् में कहा है कि एक ही देव ईश्वर सब भूतों में अदृष्टता से व्याप्त है सब का अन्तर्यामी सब का अध्यक्ष सब प्राणि अप्राणि जगत् का निवासस्थान सब का साक्षी चेतन केवल एक और निर्गुण है इस प्रमाण से

गूढस्सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ॥ सर्वाध्यक्षस्सर्वभूताधिवासस्साक्षीचेता: केवलो निर्गुणश्चेति" साक्ष्याद्ब्रह्मादयो देवा रामकृष्णनृसिंहादयस्सर्वे जीवा एवेति निश्चय: ॥ किञ्च सर्वेषां ब्रह्मादीनां यः स्रष्टा धारयिताऽन्तर्यामी सर्वशक्तिमान्न्यायकारी स्वामी चास्ति तैः सेव्यस्तेभ्यो भिन्न एक एवेश्वर इति वेदितव्यम् ॥

५३-(प्र०) भवद्भिर्मुक्तिर्मन्यते न वा ? ॥

५४-(उ०) सालोक्यसामीप्यसानुज्यसायुज्यलक्षणा चतुर्धा मुक्तिर्मन्यतेऽस्माभिः। चतुर्विधाया मुक्तेः कीदृशोऽर्थो विज्ञायते॥ ईश्वरजीवयोस्समाने लोके निवासस्सा सालोक्यमुक्तिरित्यादयोर्था गृह्यन्ते ॥ नैवं शक्यं विज्ञातुङ्कुतः सर्वेषाञ्जीवानामीश्वररचिताऽधिष्ठिते लोके निवासात्स्वतो गर्दभादीनामपि सा मुक्तिः सिद्धेति ॥ सामीप्यमुक्तिरपि सिद्धा सर्वेषु पदार्थेष्वन्तर्यामित्वेन ईश्वरस्य सामीप्ये वर्त्तमानत्वात् ॥ सानुज्यमुक्तिरपि सर्वेषाञ्जीवानां

ब्रह्मादि देवता और श्रीरामचन्द्र श्रीकृष्णचन्द्र तथा नृसिंह आदि सब जीव ही निश्चित होते हैं क्योंकि एक वही ईश्वर देव है ऐसा कहा है। किन्तु सब ब्रह्मादि का जो स्रष्टा और धारणकर्त्ता अन्तर्यामी सर्वशक्तिमान् न्यायकारी और स्वामी ब्रह्मादि को सेवने योग्य उनसे भिन्न एक ही ईश्वर है ऐसा जानना चाहिये।

५३—(प्र०) आप लोग मुक्ति मानते हो वा नहीं ?।

५४—(उ०) सालोक्य, सामीप्य, सानुज्य और सायुज्य यह चार प्रकार की मुक्ति हम मानते हैं। (प्र०) चार प्रकार की मुक्ति का क्या अर्थ करते हो ?। (उ०) एक लोक में जीव ईश्वर का निवास होना सालोक्य मुक्ति इत्यादि अर्थ लेते हैं, यह मानना तुम्हारा ठीक नहीं क्योंकि ईश्वर के रचे और नियत किये लोक में सब जीवों का निवास होने से स्वयमेव गदहे आदि की भी वह मुक्ति सिद्ध है। और सब पदार्थों में अन्तर्यामी व्यापक होने से ईश्वर सब के समीप में वर्त्तमान है इससे सामीप्य मुक्ति भी स्वतःसिद्ध है।

स्वतस्सिद्धा ॥ कस्मादनन्तचेतनेश्वरस्याऽपेक्षया जीवानां सान्तत्वचेतनापत्तेरल्पज्ञत्वादिगुणानां सत्त्वात् । सायुज्यमुक्तिरपि सर्वेषाञ्जीवान साधारणाऽस्ति ॥ कुत ईश्वरस्य सर्वत्र व्यापकत्त्वात्सर्वेषाञ्जीवानां तत्र व्याप्यसम्बन्धाच्चेति ॥ सा चतुर्धा मुक्तिर्व्यर्थेति मन्तव्यम् ॥ का तर्हि मुक्तिरिति वैकुण्ठगोलोककैलासादिषु निवास इत्युच्यते ॥ मैवं वाच्यन्तत्र पराधीनत्वादतएव दुःखापत्तेश्चेति ॥ वेदयुक्तिसिद्धान्तः खलु मुक्तिरेकैवास्ति नान्येति ॥ तद्यथा यथावद्विद्याविज्ञानधर्मानुष्ठानानन्तरं यन्निर्भ्रमम्ब्रह्मतत्त्वविज्ञानन्तेन सर्वज्ञस्येश्वरस्य सर्वानन्दस्य प्राप्त्या जन्ममरणादिसर्वदुःखनिवृत्तिरीश्वरानन्देन सह सदैवावस्थितिर्मुक्तिरित्यतो भवन्मता मुक्तिर्मिथ्येति निश्चयः ॥ सर्वम्परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखमिति मनुसाक्ष्यात् ॥

और सानुज्य मुक्ति भी सब जीवों को स्वतःसिद्ध ही है। क्योंकि अनन्त चेतन ईश्वर की अपेक्षा जीवों में अन्तवाली चेतनता होने से जीव अल्पज्ञादि गुणवाले हैं। और सायुज्य मुक्ति भी सब जीवों की साधारण सिद्ध ही है। क्योंकि ईश्वर के सर्वत्र व्यापक होने से और सब जीवों को उस में व्याप्य होने से व्याप्यव्यापकसम्बन्ध स्वतः सिद्ध ही है॥ इसलिये वह चार प्रकार की मुक्ति मानना व्यर्थ ही है। जब यह मुक्ति मानना व्यर्थ हुआ तो अब कैसी मुक्ति मानोगे? यदि कहो कि वैकुण्ठ, गोलोक और कैलासादि के निवास को मुक्ति मानते हैं यह भी तुम्हारा कहना ठीक नहीं क्योंकि वहां पराधीन होने से ही दुःख प्राप्त होगा तो दुःख को मुक्ति नहीं कहा जाता। वेद और युक्ति से सिद्धान्त है कि मुक्ति एक ही है अन्य नहीं जैसे यथावत् जो विद्या, विज्ञान और धर्म का यथावत् अनुष्ठान करने के पश्चात् निर्भ्रान्त ब्रह्म को जानना उससे सर्वज्ञ ईश्वर के सब आनन्द की प्राप्ति से जन्ममरणादि सब दुःखों की निवृत्ति और ईश्वर के आनन्द के साथ सदैव अवस्थिति मुक्ति कहाती है इससे आप की मानी मुक्ति मिथ्या ही है यह निश्चय जानो, क्योंकि परवश होना सब दुःख और स्वाधीन होना सुख है तुम्हारी मुक्ति में सदा पराधीन रहना है।

५५–(प्र०) विष्णुस्वामिवल्लभसम्प्रदायादयो वेदसम्मता आहोस्वि-त्तद्विरोधिनः ? ॥

५६–(उ०) न पूर्वः ॥ चतुर्षु वेदेषु तेषामनभिधानात्, वेदविरो-धात्पाखण्डिन एव ते त्विति वयम् ॥ "पाखण्डिनो विकर्मस्थान्वैडालव्रति-काञ्छठान् ॥ हैतुकान्बकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेदिति" मनूक्तत्वात् ॥ एते सम्प्रदायशब्दार्थार्हा नैव सन्ति किन्तु सम्प्रदाहशब्दार्थार्हा एवेति । सम्यक् प्रकृष्टतया हि दग्धधर्मज्ञाना जना भवन्ति येषु ते सम्प्रदाहा इति विवेकः ॥ कदाचित्केनचित्तेषां विश्वास एव न कर्त्तव्यः ॥

५७–(प्र०) श्रीकृष्णः शरणं मम । अयमक्षरसमुदायः सत्योऽस्ति मिथ्या वेति ? ॥

५८–(उ०) वेदानुक्तत्वात्कपोलकल्पितत्वान्मिथ्यैवेति ॥ वेदोक्तगाय-

---

५५–(प्र०) विष्णुस्वामी और वल्लभसम्प्रदायी आदि वेदानुकूल हैं वा विरोधी ? ।

५६–(उ०) इसमें वेदानुकूल होना प्रथम पक्ष ठीक नहीं क्योंकि चारों वेदों में उनका कहीं नाम ही नहीं है । वेदविरोधी होने से वे पाखण्डी ही हैं यह जानना चाहिये धर्मशास्त्र में कहा है कि:—पाखण्डी, वेदविरुद्ध कर्म करनेहारे विडाल के स्वभाव से युक्त शठ स्वार्थी बगुला के तुल्य परपदार्थ पर ध्यान रखने वालों का वाणी से भी सत्कार न करे । ये विष्णुस्वामी आदि सम्प्रदाय शब्द से कहे जाने योग्य नहीं हैं किन्तु सम्प्रदाह अर्थात् सम्यक् नाशक ही हैं अच्छे प्रकार सम्यक् रीति से धर्म और ज्ञान जिनका नष्ट हो गया ऐसे जन जिनमें हों वे सम्प्रदाह कहाते हैं कभी किसी को उनका विश्वास ही न करना चाहिये ।

५७–(प्र०) (श्रीकृष्णः शरणं मम) यह अक्षरों का समुदायरूप मन्त्र सत्य है वा मिथ्या ? ।

५८–(उ०) वेदोक्त न होने और कपोलकल्पित होने से मिथ्या ही है ।

त्रीमन्त्रोपदेशत्यागेन मिथ्याकल्पिताऽक्षरसमुदायोपदेशेन नास्तिकत्वं नरकप्राप्तिश्च भविष्यति भवताम् ॥

५९-(प्र०) कीदृगर्थोऽस्य क्रियते ? ॥

६०-(उ०) यः श्रिया सहितः कृष्णः स मम शरणमस्त्विति ॥ नैवं शक्यं कुतः श्रीकृष्णो मम शरणम्प्राप्नोतु हिंसात्वित्याद्यर्थस्य सम्भवादशुद्धानर्थकोयमक्षरसमुदायोऽस्मात् कारणादस्योपदेशकरणं ग्रहणं विश्वासश्च केनचिन्नैव कर्त्तव्य इत्यर्थः ॥ एवमेव 'नमो नारायणाय' 'नमश्शिवाय' 'नमो भगवते वासुदेवाय' 'ऐं ह्रीं क्लीं चामुण्डायै विच्चे' इत्यादयोप्यक्षरसमुदायोपदेशा मिथ्यैव सज्जनैर्मन्तव्याः ।

अथ वल्लभसम्प्रदायस्योपदेशोयं ब्रह्मसम्बन्धोऽर्थाद् भ्रष्टसम्बन्धोऽक्षरस-

---

वेदोक्त गायत्री मन्त्र के उपदेश को छोड़ कर मिथ्या कल्पना किये अक्षरों के समुदायरूप मन्त्र के उपदेश से आप को नास्तिकता और नरक प्राप्ति होगी।

५९-(प्र०) उक्त मन्त्र का अर्थ कैसा करते हो ? ।

६०-(उ०) श्री-लक्ष्मी के सहित जो कृष्ण हैं सो मेरे शरण हों यह अर्थ कहना ठीक नहीं हो सकता क्योंकि श्रीकृष्ण मेरे शरण को प्राप्त हों वा मेरे शरण को नष्ट करें इत्यादि अर्थ भी सम्भव है अर्थात् तुम्हारे मन्त्र में "प्राप्नोतु" पद नहीं है किन्तु ऊपर से कल्पनामात्र करते हो वैसे कोई "हिंसतु" आदि क्रिया की भी कल्पना कर सकता है उसको तुम कैसे रोक सकोगे ? इस कारण तुम्हारा यह अक्षरसमुदायरूप मन्त्र निरर्थक अशुद्ध है। इसी से इस मन्त्र का उपदेश करना वा दूसरे से उपदेश लेना और इस पर किसी को कदापि विश्वास न करना चाहिये। इसी प्रकार "नमो नारायणाय। नमः शिवाय। नमो भगवते वासुदेवाय। ऐं ह्रीं क्लीं चामुण्डायै विच्चे" इत्यादि अक्षरसमुदाय रूप बनावटी मन्त्रों के उपदेश भी सज्जनों को मिथ्या ही जानने चाहियें।

और वल्लभसंप्रदायियों के ब्रह्मसम्बन्धनामक मन्त्र का उपदेश वस्तुतः भ्रष्ट-

मुदायः सज्जनैर्वेदितव्यः ॥ श्रीकृष्णः शरणम्मम सहस्रपरिवत्सरमितकाल-जातकृष्णवियोगजनिततापक्लेशाऽनन्ततिरोभावोऽहं भगवते कृष्णाय देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणतद्धर्मांश्च दारागारपुत्राप्तवित्तेहापराण्यात्मना सह समर्पयामि दासोऽहं कृष्ण तवास्मि ॥ सहस्रपरिवत्सरेत्यादि सहस्रपरिगणनं व्यर्थम् ॥ कुतः वल्लभस्य युष्माकञ्च सर्वज्ञताया अभावात्प्रत्यक्षता च न विद्यते । सहस्रं वत्सरा व्यतीता इत्यपि कृष्णवियोग परिगणनमयुक्तं सन्दिग्धत्वात् ॥

६१-(प्र०) कृष्णशब्देन किङ्गृह्यते ? ॥

६२-(उ०) परब्रह्म गोलोकवासी वेति वदामः । नैतत्सत्यमस्ति कस्माज्जन्ममरणवतो जीवस्य कृष्णस्य परब्रह्मत्वाभावात् ॥ गवां पशूनां यो लोकस्स तु दुःखरूपो दुर्गन्धरूपत्वात्तत्र ये वसन्ति तेप्यसभ्या विद्याहीना

सम्बन्धरूप ही सज्जनों को समझना चाहिये जैसे ब्रह्मसम्बन्ध का मन्त्र "श्रीकृष्णः शरणं०" इत्यादि है । इसका अर्थ यह है कि श्रीकृष्ण मेरे शरण हों । सहस्रों वर्षकाल से हुआ जो कृष्ण का वियोग उससे हुआ जो दुःख और क्लेश उनसे घेरा हुआ मैं श्रीकृष्ण भगवान् के लिये अपने देह, इन्द्रिय, प्राण, अन्तःकरण और स्त्री, पुत्र, घर, प्राप्त धन क्रियासहित देहादि के धर्मों को अपने आत्मा के सहित समर्पण करता हूं और हे कृष्ण ! मैं तुम्हारा दास हूं। सहस्र वर्ष की गणना करना व्यर्थ है क्योंकि तुम्हारा वल्लभ और तुम सर्वज्ञ नहीं कि सहस्र वर्ष से ही वियोग हुआ ऐसा निश्चय कर सको और न प्रत्यक्ष ही सहस्र वर्षों को जान सकते हो कि इतने ही वर्ष व्यतीत हुए । इसलिये कृष्ण वियोग में निश्चय न हो सकने से वर्षगणना अयुक्त है ।

६१—(प्र०) कृष्ण शब्द से क्या लेते हो ? ।

६२—(उ०) यदि कहते हो कि गोलोकनिवासी परब्रह्म कृष्ण शब्द से लेते हैं तो यह ठीक सत्य नहीं क्योंकि जन्ममरण वाले कृष्ण जीवात्मा परब्रह्म नहीं हो सकते । गौ आदि पशुओं का लोक दुर्गन्ध के बढ़ने से दुःखरूप होगा उसमें जो बसते हैं वे अहीरों के तुल्य मूर्ख विद्याहीन असभ्य जा-

आभीरवन्मूर्खा विज्ञेयाः ॥ किञ्च अस्मात्प्रत्यक्षभूतादाभीरपल्लीगोलोकात्पृथक्कश्चिद्गोलोक एव नास्तीत्यवगन्तव्यम् ॥ तदुपासकास्तत्र ये गमिष्यन्ति तेपि तादृशा भवन्तीति विज्ञेयम् ॥ कृष्णवियोगजनिततापक्लेशाऽनन्ततिरोभावोऽहमित्यादि ॥ इदमशुद्धम् ॥ कुतस्तापक्लेशयोः पुनरुक्तत्वादेकार्थत्वाच्च ॥ पुनरनन्तस्य क्लेशस्य तिरोभावविरहाद्देशकालवस्तुपरिच्छेद एवासम्भावनीयः ॥ कृष्णस्तु कृष्णगुणविशिष्टदेहवत्त्वाज्जन्ममरणादियुक्तत्वाद्भगवानेव भवितुमयोग्यः ॥ तस्मै देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणतद्धर्माणां समर्पणमेवाशक्यं सदैव तन्निष्ठत्वात्स्वाभाविकत्वाच्च ॥ समर्पणम्भवति चेन्मलमूत्रादिपीडारागद्वेषाऽधर्माणामपि तस्मा एव समर्पणं स्यात्तत्फलभोगो नरकादिप्राप्तिः कृष्णायैव भवेदिति न्यायस्य विद्यमानत्वात् । दारागारपुत्राप्तवित्तेहानामपि समर्पणम्पा-

---

नने चाहियें और विचार के देखें तो इस प्रत्यक्ष अहीरों के ग्रामरूप गोलोक से पृथक् अन्य कोई गोलोक ही नहीं ऐसा जानना चाहिये । उस गोलोक निवासी के उपासक जो वहां जावेंगे वे भी वैसे ही होते हैं यह जानना चाहिये । और जो कहा था कि अनन्त काल से कृष्ण के बियोग से हुए दुःख क्लेश से ढपा हुआ मैं हूं इत्यादि यह अशुद्ध है क्योंकि ताप और क्लेश दोनों के एकार्थ होने से दोनों का कहना पुनरुक्त दोष है । फिर अनन्त क्लेश की निवृत्ति न हो सकने से प्रत्येक देश काल और वस्तु से क्लेश का पृथक् होना सम्भव नहीं । काले गुण से युक्त शरीरधारी जन्ममरण वाले श्रीकृष्ण को भगवान् कहना भी योग्य नहीं हो सकता । और उन कृष्ण के अर्थ शरीर, इन्द्रिय, प्राण, अन्तःकरण और इनके धर्मों का समर्पण करना अशक्य है क्योंकि शरीर इन्द्रियादि अपने २ साथ स्वाभाविक स्थित है अर्थात् एक शरीर के नेत्रादि छुटा कर दूसरे को नहीं दिये जा सकते । यदि कहो कि नहीं, समर्पण होता ही है तो मल मूत्रादि और पीड़ा, राग, द्वेष तथा अधर्मों का भी समर्पण श्रीकृष्ण के लिये ही होवे और मलादि का फल दुःख नरकादि की प्राप्ति भी श्रीकृष्ण के लिये ही होवे यही प्रकट न्याय है । और स्त्री, घर, पुत्र, प्राप्त धन और क्रियाओं का समर्पण भी पापफल वाला ही है क्योंकि परस्त्री का

पफलकमेव कुतः परदाराणां परपुरुषार्पणस्य पापात्मकत्वात् ॥ तद्धर्मांश्चेतिपुल्लिङ्गेन निर्देशाद्वित्तेहापराणीति नपुंसकलिङ्गेन निर्देशाच्चाशुद्धमेव वाक्यङ्कुतो लिङ्गवैषम्यनिर्देशात्परशब्दस्य त्रिषु लिङ्गेषु वर्त्तमानत्वाच्च ॥ आत्मना सह समर्पयामि दासोऽहं कृष्ण तवास्मीत्यन्तोऽनर्थोऽक्षरसमुदायः ॥ एकैवात्मा जीवो न द्वौ, पुनरात्मना सहात्माहं देहेन्द्रियादीनि समर्पयामीत्यशुद्धमेव दासोऽर्थाच्छूद्र एवेति ॥ शूद्रस्य तु जुगुप्सितमिति मनुसाक्ष्यदर्शनात् । अस्याभिप्रायो वल्लभेन सिद्धान्तरहस्यादिग्रंथेष्वनेकबालबुद्धिमनुष्यभ्रमणार्थः पापवृद्ध्यर्थश्च निरूपितः ॥ तद्यथा ॥ "श्रावणस्याऽमले पक्ष एकादश्यां महानिशि । साक्षाद्भगवता प्रोक्तन्तदक्षरश उच्यते ॥ १ ॥ ब्रह्मसम्बन्धकरणात्सर्वेषान्देहजीवयोः । सर्वदोषनिवृत्तिर्हि दोषाः पञ्चविधाः स्मृताः ॥ २ ॥ सहजा देशकालोत्था लोकवेदनिरूपिताः । संयोगजाः

परपुरुष को समर्पण करना पापरूप ही है । तथा (तद्धर्मान्) इसका पुल्लिङ्गनिर्देश और (वित्तेहापराणि) इस विशेषण के नपुंसक होने से वाक्यसम्बन्ध भी अशुद्ध ही है । क्योंकि परशब्द तीनों लिङ्ग का वाचक हो सकता है । हे कृष्ण ! मैं तुम्हारा दास हूं । आत्मा के साथ समर्पण करता हूं यहां पर्यन्त अक्षर समुदायरूप वल्लभ का मन्त्र अनर्थक है जब जीवात्मा एक ही वस्तु है दो नहीं हैं तो फिर आत्मा के साथ देह और इन्द्रियादिकों का समर्पण करता हूं यह कथन अशुद्ध असम्बद्ध ही है । और दास अर्थात् शूद्र हूं शूद्र का नाम दासान्त निन्दित रखना चाहिये यह मनुस्मृति की साक्षी है सो धर्मशास्त्र के अनुसार तुम शूद्रवत् हो । इस उक्त ब्रह्मसम्बन्ध नामक मन्त्र का अभिप्राय वल्लभ ने सिद्धान्तरहस्यादि ग्रन्थों में अनेक बालबुद्धि मनुष्यों को भ्रम और पाप बढ़ाने के लिये निरूपण किया है (श्रावणस्या०) श्रावण महीने के शुक्लपक्ष की एकादशी की आधी रात्रि के समय में साक्षात् भगवान् ने जो कहा है उसको ज्यों का त्यों कहते हैं । ब्रह्मसम्बन्धरूप मंत्र के लेने से सब के जीव और शरीर के सब दोषों की निवृत्ति हो जाती है और दोष पांच प्रकार के हैं ॥ एक सहज स्वाभाविक, २–देश से हुए, ३–कालभेद से हुए, ४–लोक वा धर्मशास्त्र में कहे,

स्पर्शजाश्च न मन्तव्याः कदाचन ॥ ३ ॥ अन्यथा सर्वदोषाणां न निवृत्तिः कथञ्चन । असमर्पितवस्तूनान्तस्माद्वर्जनमाचरेत् ॥ ४ ॥ निवेदिभिः समर्प्यैव सर्वं कुर्यादिति स्थितिः । न मतं देवदेवस्य स्वामिभुक्तिसमर्पणम् ॥५॥ तस्मादादौ सर्वकार्ये सर्ववस्तुसमर्पणम् । दत्तापहारवचनन्तथा च सकलं हरेः ॥ ६ ॥ न ग्राह्यमिति वाक्यं हि भिन्नमार्गपरं मतम् । सेवकानां यथा लोके व्यवहारः प्रसिध्यति ॥ ७ ॥ तथा कार्यं समर्प्यैव सर्वेषां ब्रह्मता ततः । "गङ्गात्वे सर्वदोषाणां गुणदोषादिवर्णनम् ॥ ८ ॥ गङ्गात्वेन निरूप्यं स्यात्तद्वदत्रापि चैव हि" । प्रथमतस्त्वमक्तुर्गं कृष्णः भगवानेव नेति कृष्णस्य मरणे जात ईषन्न्यूनानि पञ्चसहस्राणि वर्षाणि व्यतीतानि स इदानीं

और ५—वेद में कहे, ये पांच प्रकार के दोष लग सकते हैं इनकी निवृत्ति ब्रह्मसम्बन्धकरणरूप मंत्र से होसकती है । परन्तु स्त्री आदि के संयोग से और स्पर्श से होने वाले दोषों को न मानना चाहिये अन्यथा दोषों की निवृत्ति कभी नहीं हो सकती, किन्तु समर्पण करने से ही दोषों की निवृत्ति हो सकती है इसलिये समर्पण अवश्य करना चाहिये । इससे गुसाइयों के चेले निवेदन करने की वस्तुओं सहित समर्पण करके ही सब कार्य करें यही नियम है । देवों के देव विष्णु का यह मत नहीं कि विना समर्पण किये गुसाई के चेले किसी वस्तु को भोगें और समर्पण यही है कि स्वामी गुसाईजी चेलों के सब पदार्थों का भोग प्रथम कर लेवें ॥ इससे सब कामों के आरम्भ में सब वस्तुओं का समर्पण करना ही ठीक है वैसे ही सब पदार्थ हरि को समर्पण करके ही पीछे ग्रहण करें ॥ गुसाईजी के मत से भिन्नमार्ग के वाक्यमात्र को भी गुसाईजी के चेला चेली कभी न सुनें । जैसा सेवकों का व्यवहार प्रसिद्ध है वैसा होना चाहिये । वैसे ही सब वस्तुओं का समर्पण करके सब के बीच में ब्रह्मबुद्धि करे । वैसे ही अपने मत में गुणों का और दूसरे के मत में दोषों का वर्णन किया करें ॥ जैसे गङ्गा में अन्य घृणित वस्तु पड़कर पवित्र गङ्गारूप हो जाते हैं वैसे अपने मत के दोष भी गुणरूप समझने चाहियें ॥ हमने पहिले से कई वार कहा है कि कृष्ण भगवान् ही नहीं हो सकते । जिन कृष्णजी को शरीर त्यागे कुछ न्यून पांचहजार वर्ष व्यतीत हुए सो उन्होंने अब वल्लभ के समीप आकर कैसे कहा ?

वल्लभस्य समीपे कथमिदमुक्तवान् किन्तु कदाचिन्नैवोक्तवानिति ॥ किञ्च वल्लभेनायं पाखण्डजालोऽधर्मकरणार्थो रचित इति जानीमः ॥ साक्षाद्भगवता प्रोक्तमिति केवलं छलमेव तस्य वल्लभस्य विज्ञेयमिति तस्मात्तदक्षरसमुदायोपदेशस्य पापजनकत्वादसम्बन्धप्रलापत्वाच्च न सर्वदोषनिवृत्तिरिति ॥ दोषा निवृत्ता भूत्वा क्व गमिष्यन्तीति वाच्यम् ॥ नष्टा भविष्यन्तीति ब्रूयुश्चेत्कदाचिन्नैव नश्येयुरन्यकृताः पापदोषा अन्यमनुष्यन्नैव गच्छन्ति किन्तु कर्त्तैव कृतं शुभाशुभफलम्भुङ्क्ते नान्यः कश्चिदिति ॥ हरिं कृष्णं समर्पणेनान्यकृताः पापदोषा गच्छेयुश्चेत्ताह तत्फलभोगार्थं नरकं दुःखं हरिरेव प्राप्नुयादिति निश्चयः । कुतः स्वयं कृतानाम्पापपुण्यकर्मफलानां स्वभोगेनैव क्षयादिति न्यायाद्वल्लभकृता कल्पना व्यर्थैवेति निश्चयः ॥ सहजा इत्यादि ॥ सहजानां दोषाणां निवृत्त्या स्वयमेव निवर्त्तेत कुतस्तेषां सहजत्वादग्निदाहवत् ॥ सर्व-

---

किन्तु कदापि नहीं कहा केवल बनावट ही है । किन्तु वल्लभ ने यह पाखण्डजाल स्वार्थ और अधर्म करने के लिये रचा है, यह जान पड़ता है । साक्षात् भगवान् ने कहा यह वल्लभ का केवल छल ही जानना चाहिये । इसलिये उस ब्रह्मसम्बन्ध नामक अक्षरसमुदायरूप मन्त्र का उपदेश पाप का उत्पादक होने से असम्बन्ध और अनर्थक है । और जो सब दोषों की निवृत्ति मानते हो तो निवृत्त होकर दोष कहां जावेंगे । यदि कहो कि नष्ट हो जावेंगे तो कदापि नष्ट नहीं हो सकते क्योंकि अन्य मनुष्य के किये पाप दोष अन्य को नहीं प्राप्त हो सकते, किन्तु कर्ता ही अपने शुभाशुभ कर्मफल को भोगता है अन्य कोई नहीं । यदि कहो कि समर्पण करने से अन्य के किये पाप दोष हरि कृष्ण को प्राप्त हों तो उस के दुःखरूप नरकफल भोगने वाले हरि ही होवें यह निश्चय है क्योंकि स्वयं किये हुए पाप पुण्यरूप कर्म के फलों की अपने भोग से ही निवृत्ति हो सकती है इस न्याय से वल्लभकृत कल्पना व्यर्थ ही समझनी चाहिये । सहज स्वाभाविक दोषों की यदि निवृत्ति होवे तो स्वयं आत्मा की ही निवृत्ति होजावे क्योंकि जैसे अग्नि के स्वाभाविक दाहगुण की निवृत्ति में अग्नि भी नहीं रहता वैसे आत्मा भी न रहेगा सब के समर्पण करने में भी आप तथा आप-

समर्पणे कृतेऽपि देहस्थानां कुष्ठादिदोषाणां क्षुत्पिपासाशीतोष्णसुखदुःखाऽज्ञानानाम्भवताम्भवच्छिष्याणाञ्च निवृत्तेरदर्शनात् ॥ तथा देशकालोत्था अपि वातपित्तकफज्वरादयो दोषा भवदादीनां कथन्न निवर्त्तन्ते ? ॥ लोकवेदयोर्मिथ्याभाषणचौर्यकरणमातृदुहितृभगिनीस्नुषापरस्त्रीगमनविश्वासघातादयो दोषास्तथा मातृदुहितृभगिनीस्नुषागुरुपत्न्यादिसंयोगजास्तासां स्पर्शजाश्च दोषा वल्लभाद्यैरिदानीन्तनैर्भवद्भिर्वल्लभसंप्रदायस्थैर्भगवदुपदेशेन वल्लभोपदेशेन वा कदाचन नैव मन्तव्याः किम् ? ॥ इति भगवद्वल्लभोपदेशेनानेन किङ्गम्यते भगवद्वल्लभौ वेदविरुद्धोपदेशान्नास्तिकावधर्मकारिणौ विद्याहीनौ विषयिणावधर्मप्रवर्त्तकौ धर्मनाशकौ च विज्ञायेते ॥ "योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद्द्विजः । स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः"

के शिष्यों के शरीरस्थ कुष्ठादि रोग और क्षुधा, प्यास, शीत, उष्ण, सुख, दुःख तथा अज्ञान आदि की निवृत्ति नहीं दीख पड़ती इससे तुम्हारा समर्पण ठीक नहीं और ब्रह्मसम्बन्ध से देश काल के परिवर्त्तन से हुए वात, पित्त, कफ और ज्वर आदि दोष आप लोगों के क्यों नहीं निवृत्त होते ? और लौकिक धर्मशास्त्र तथा वेद में निरूपण किये मिथ्या बोलना, चोरी करना, माता, कन्या, बहिन, पुत्रवधू आदि अन्य स्त्रियों से समागम और विश्वासघात आदि दोष तथा माता कन्या बहिन पुत्रवधू और गुरुपत्नी आदि के संयोग और स्पर्श से उत्पन्न हुए दोष वल्लभ सम्प्रदाय के मानने वाले वल्लभ से लेके अब तक हुए आप लोगों को तथा भगवान् के वा वल्लभ के उपदेश से अन्य लोगों को क्या नहीं मानने चाहियें ? इस प्रकार भगवान् और वल्लभ के उपदेश से प्रतीत होता है कि भगवान् और वल्लभ दोनों वेदविरुद्ध उपदेश से नास्तिक, अधर्म करनेहारे, विद्याहीन, विषयी, अधर्म के प्रवर्त्तक और धर्म के नाशक जाने जाते हैं ॥ नास्तिक का लक्षण धर्मशास्त्र में यही किया है कि जो तर्कशास्त्र के आश्रय से वेद और धर्मशास्त्र का अपमान करता अर्थात् वेद से विरुद्ध स्वार्थ का आचरण करता है श्रेष्ठ पुरुषों को योग्य है कि उसको अपनी मण्डली से निकाल के बाहर कर देवें क्योंकि वह वेदनिन्दक होने से नास्तिक है इससे आप लोगों में नास्तिकता प्रतीत

॥ १ ॥ इति मनुसाक्ष्यस्य विद्यमानत्वात् ॥ अन्यथा सर्वदोषाणां न निवृत्तिः कथञ्चनेत्यादि रचनम्भङ्गापानङ्कृत्वैव कृतमिति विज्ञेयम् ॥ कुत ईदृगुपदेशेन सत्यधर्मगुणानां नाश एव भवत्यत ईदृशस्य भ्रष्टीकरणार्थस्य पापात्मकस्योपदेशस्योपरि केनचिदपि कदाचिद्विश्वासो नैव कर्त्तव्य इति निश्चयः ॥ अधर्मोपदेशोयमन्योऽपि वल्लभसंप्रदायस्थानां श्रोतव्यः—तस्मादादौ स्वोपभोगात्पूर्वमेव सर्ववस्तुपदेन भार्य्यापुत्रादीनामपि समर्पणं कर्त्तव्यं विवाहानन्तरं स्वोपभोगे सर्वकार्ये सर्वकार्यनिमित्तं तत्कार्योपयोगिवस्तु समर्पणं कार्य्यं, समर्पणं कृत्वा पश्चात्तानि तानि कार्याणि कर्त्तव्यानीत्यर्थः ॥ १ ॥ अथाऽस्य खण्डनम् । विवाहानन्तरं स्वोपभोगात्पूर्वमेव भार्यापुत्रादीनामपि पवित्रीकरणार्थमाचार्याय गोस्वामिने समर्पणं कृत्वैव पश्चात् तानि कार्याणि कर्त्तव्यानीति भवद्भिरुपदिश्यते चेत्तर्हि स्वस्त्रीदुहितृभगिनीपुत्रादीनामपि पवित्रीकर-

होती है ॥ और जो यह कहना है कि हमारे मत को ग्रहण किये विना दोषों की निवृत्ति अन्य किसी प्रकार से नहीं हो सकती यह रचना भांग पकिर के ही की है यह जानना चाहिये, क्योंकि ऐसे मत के उपदेश से सत्यधर्म और गुणों का नाश ही होता है । इससे ऐसे भ्रष्ट करने के अर्थ प्रवृत्त हुए पापरूप उपदेश के ऊपर किसी को कदापि विश्वास नहीं करना चाहिये यह निश्चय है ॥ और भी थोड़ा यह वल्लभसम्प्रदायियों का अधर्मोपदेश सुनना चाहिये—जिस कारण सर्वस्व समर्पण के विना सब दोषों की निवृत्ति नहीं हो सकती इसलिये गुसाईंजी के चेलों को उचित है कि अपने भोग करने से पहिले ही सब वस्तुओं का समर्पण अर्थात् स्त्री पुत्र आदि का भी समर्पण करें । विवाह होने पश्चात् अपने भोगने के सब काम में सब कार्यों का निमित्त उस कार्य के उपयोगी वस्तु का समर्पण करना चाहिये, समर्पण कर के उन २ वस्तुओं से कार्य भोग करने चाहियें ॥ इस का खण्डन—यदि आप लोग यह उपदेश करते हो कि विवाह होने पश्चात् अपने भोगने से पहिले ही पवित्र करने के अर्थ स्त्री पुत्रादि का भी आचार्य गोस्वामी के लिये समर्पण कर के ही पश्चात् अपने भोग सम्बन्धी काम करने चाहियें तो अपनी स्त्री कन्या भगिनी और पुत्रादि का भी पवित्र करने के

णार्थं समर्पणं किमर्थं न क्रियते ? ॥ अस्माकमिच्छाऽन्येभ्यः स्वभार्यादीनां समर्पणार्था नास्त्यतो न क्रियते इति ब्रूयुश्चेत्तर्ह्यन्येषां भार्य्यादीनां समर्पणं स्वार्थम्पापरूपं किमर्थं कारयन्ति तत्पुण्यात्मकञ्चेत्तर्हि स्वभार्यादीनामप्यन्येभ्यः पुण्यात्मकं समर्पणं किमर्थं न क्रियते ? ॥ सिद्धान्तस्तु येन यया सह यस्य यस्याश्च विवाहो जातस्तयोः परस्परं समर्पणञ्जातमेव नान्यथेति वेदितव्यम् ॥ तस्मादस्य व्यभिचारमयोपदेशस्य वल्लभसंप्रदायस्य केनचित्पुरुषेण कयाचित्स्त्रिया च विश्वासः कदाचिन्नैव कर्त्तव्य इति निश्चयः ॥ ये विश्वासं कुर्वन्ति करिष्यन्ति वा तेषां नरकप्राप्तिरेव फलं कुतः पापाचरणोपदेशस्य दुःखफलत्वात् ॥

किञ्च पुष्टिप्रवाहमार्गोपि तादृश एव मिथ्या ॥ पुष्टिप्रवाहमर्यादा धर्माचरणार्था उताऽधर्माचरणार्थाः ? ॥ नाद्यः कुतो वल्लभादीनामिदानीन्तनान्तानाम्परस्त्रीगमनाद्यधर्माचरणस्य प्रत्यक्षानुमानाभ्यां दर्शनात् ॥ अश्ववृष-

अर्थ समर्पण क्यों नहीं करते ? यदि कहो कि अपनी स्त्री आदि को औरों के लिये समर्पण करने की हमारी इच्छा नहीं इससे नहीं करते तो अन्यों की स्त्री आदि का पापरूप समर्पण अपने लिये क्यों कराते हो ? यदि कहो कि उन का हमारे लिये समर्पण करना पुण्यरूप होता है तो अपनी स्त्री आदि का पुण्यरूप समर्पण अन्यों के लिये क्यों नहीं करते ? सिद्धान्त वस्तुतः यही है कि जिस का जिस के साथ विवाह हुआ उन का परस्पर समपर्ण हो ही गया अन्यथा नहीं हो सकता यह जानो । इससे व्यभिचारमय उपदेशों वाले इस वल्लभ सम्प्रदाय का किसी पुरुष वा स्त्री को कदापि विश्वास न करना चाहिये यही निश्चय है । जो लोग विश्वास करते हैं वा करेंगे उन को नरक प्राप्ति ही फल होना संभव है क्योंकि पापाचरण के उपदेश का फल दुःख ही है ।

और हमारे मत में शरीरादि की पुष्टि परम्परा से चली आती है यह भी वैसी ही मिथ्या है । पुष्टिप्रवाह की मर्यादा धर्माचरण के लिये है वा अधर्माचरण के अर्थ ? ॥ इसमें प्रथम पक्ष ठीक नहीं क्योंकि वल्लभ से ले के अब पर्यन्त हुए गुसाइयों का परस्त्रीगमनादि अधर्माचरण प्रत्यक्ष और अनुमान

मवानरगर्दभादयो यथा अश्विन्यादिस्त्रियो दृष्ट्वा पुष्टिप्रवाहान्मैथुनमाचरन्ति तथा भवतामपि पुष्टिप्रवाहत्वं दृश्यते नान्यथा। भवतामियमेव मर्यादा वेदविद्याधर्माचरणत्यागः परस्त्रीगमनं परधनहरणमधर्माचरणं वेदोक्तधर्मविनाशकरणञ्चेत्यत्रैव पुष्टिप्रवाहौ चेति निश्चीयते॥ अस्मिन्नर्थे वल्लभ आह॥ वैदिकत्वं लौकिकत्वं कापट्यात्तेषु नान्यथा॥ वैष्णवत्वं हि सहजन्ततोऽन्यत्र विपर्यय इति॥ अतएव वल्लभे हि नास्तिकत्वं सिद्धम्भवति कुतः लौकिकवैदिकत्वस्य कपटमध्ये गणितत्वात्॥ तस्य संप्रदायस्था अपि नास्तिका गणनीया वेदविरुद्धाचरणात्॥ यज्ञो वै विष्णुर्व्यापको वा॥ तदनुष्ठानत्यागान्मूर्त्तिपूजनासक्तत्वाद्व्यापकभक्तिवियोगाद्भवन्तो वैष्णवा एव नेति निश्चेतव्यम्॥ पूजा नाम सत्कारस्सज्जनानां तस्या अरिर्नाम शत्रुरयम्पूजारिशब्दार्थो वेद्यः॥ आर्तिर्नाम दुःखन्ताङ्करोतीत्यार्त्तिकारः॥ गोशब्देन पशुगुणवान्,

से प्रसिद्ध दीख पड़ता है। घोड़े बैल वानर और गर्दभ आदि जैसे घोड़ी आदि अपनी सजातीय स्त्रियों को देख के पुष्टि की उन्मत्तता के प्रवाह से मैथुन को प्रवृत्त होते हैं वैसे ही आप लोगों का भी पुष्टिप्रवाह दीख पड़ता है अन्यथा नहीं। आप लोगों की यही मर्यादा है कि वेदविद्या और धर्माचरण का त्याग परस्त्रीगमन पराया धन हरना अधर्म का आचरण और वेदोक्त धर्म का नाश करना इसी में पुष्टि और प्रवाह निश्चित होते हैं॥ इस विषय में वल्लभ कहता है कि— "लौकिक और वैदिक धर्म विषय कपटरूप होने से यथार्थ नहीं इसमें सन्देह नहीं किन्तु एक वैष्णव मत ही सहज है इससे अन्य सब विपरीत हैं" इसीसे वल्लभ में नास्तिकता सिद्ध हो गई क्योंकि वल्लभ ने लौकिक वैदिक विषय कपट में गिना है।। वल्लभ के सम्प्रदायवाले सभी विरोधी होने से नास्तिक समझने चाहियें। विष्णु शब्द का अर्थ यज्ञ व व्यापक होता है यज्ञ वा व्यापक विष्णु परमेश्वर की भक्ति का अनुष्ठान छोड़ के मूर्त्तिपूजन में आसक्त होने से आप लोग वैष्णव ही नहीं हो सकते यह निश्चय जानना चाहिये। पूजा नाम सत्पुरुषों का सत्कार उसका जो अरि नाम शत्रु यह पूजारि शब्द का अर्थ है। आर्तिनाम दुःख को जो करे वह आर्तिकर्त्ता कहाता है। गोनामक पशुगुणयुक्त

साईं शब्देन यवनाऽऽचार्यः ॥ अयं गोसाईंयाख्यशब्दार्थोऽर्थाद्यस्य गम्यागम्ययोर्विवेको न भवेत्त्यागश्च न कुर्याद्धर्मन्यायविरुद्धपक्षपातत्यागश्च वेदोक्तधर्मम्परित्यजेत्तादृशा भवन्तो दृश्यन्त इति ॥ वाजिशब्देनाऽश्वो वा गर्दभो मध्यस्थो वेति बावाजिशब्दार्थः ॥ रागोऽस्यास्तीति रागी वै इति निश्चयेन रागीति वैरागिशब्दार्थः । दण्डेन तुल्यो दण्डवत् दण्डवन्नाम काष्ठवत् ॥ हिन्दुशब्दस्यार्थः कृष्णवर्णो दस्युः पाषाणादिमूर्त्तिपूजको दास ईश्वरोपासनाविरहश्चेत्यादयोऽर्थाः ॥ इत्यादिशब्दार्थानामन्धपरम्पराऽविद्याप्रचारेण विद्यात्यागेनार्यशब्दाभिधानार्थज्ञानेन च विनाऽद्यपर्यन्तमागता वल्लभादिसम्प्रदायरूपेणात्यन्तं परिणता सा सद्यस्सज्जनैस्त्यज्यतामिति निश्चयः ॥

अथ शुद्धाद्वैतमार्त्तण्डखण्डनं लिख्यते ॥ शुद्धाद्वैतशब्दस्य कोऽर्थः

साईं शब्द से मुसलमानों का आचार्य अर्थात् जिसको अगम्यागमन का विवेक न हो और त्याग भी न करे धर्मन्याय से विरुद्ध पक्षपात को भी न छोड़े और वेदोक्त धर्म का त्याग कर देवे वह गोसाईं कहाता है वैसे ही आप लोग दीख पड़ते हैं इसी से गोसाईं कहाते हो । वाजी नाम घोड़ा दूसरे वा शब्द से घोड़े का विकल्प करने से गदहा वा मध्यस्थ खिच्चर यह "बावाजी" शब्द का अर्थ है ॥ राग जिसमें हो वह रागी वै नाम निश्चय कर जो रागी हो उसको "वैरागी" कहते हैं यही वैरागी शब्द का अर्थ है । दण्ड नाम काष्ठ के तुल्य अर्थात् जो जड़ हो उसको दण्डवत् कहते हैं यह "दण्डवत्" शब्द का अर्थ है ॥ काले वर्णवाला, डाकू, पाषाणादि मूर्त्तियों का पूजक, सेवक, गुलाम और ईश्वर की उपासना से रहित इत्यादि हिन्दु शब्द का अर्थ है ॥ इत्यादि शब्दों के अर्थों की अन्धपरम्परा अविद्या के प्रचार विद्या के त्याग और आर्य शब्द के वाच्य अर्थ के न जाने विना अबतक चली आई और वल्लभादि सम्प्रदायों के साथ अत्यन्त परिणाम को प्राप्त है यह अन्धपरम्परा सज्जनों को शीघ्र ही त्यागने योग्य है यह निश्चित है ।

अब शुद्धाद्वैतमार्तण्ड का खण्डन लिखते हैं—शुद्ध और अद्वैत शब्द का

क्रियते ? । द्विधा इतं द्वीतं द्वीतमेव द्वैतं न द्वैतमद्वैतं । कार्यकारणरूपमेकीभूतमेव यद्वा तदेव ब्रह्म स्त्रीपुरुषरूपेण द्विधा जातं क्रीडाकरणार्थमिति न, नैवञ्चक्यं वक्तुम् ॥ कुतः ॥ अविद्यादिदोषरहितत्वात् सदैव विज्ञानस्वरूपत्वाद्ब्रह्मणो जगद्रूपापन्नत्वमयोग्यमेव ॥ यदि जीवादिकार्यरूपं यज्जगद्ब्रह्मैवास्ति तर्ह्यनन्तविज्ञानरचनधारणसर्वज्ञतासत्यसङ्कल्पादयो गुणा अस्मिञ्जगति कथन्न दृश्यन्ते ॥ तथाच ॥ जन्ममरणहर्षशोकक्षुधातृषावृद्धिक्षयमूढत्वादयो दोषा जगत्स्था एवं सति ब्रह्मण्येव भवेयुर्बन्धनरकदुःखविषयभोगादयश्च ॥ तस्माद्वल्लभकृतोऽर्थो मिथ्यैवेति वेदितव्यम् ॥ द्वीतमिति ॥ द्वीतं तदेव द्वैतं स्यादद्वैतन्तु ततोऽन्यथा ॥ सर्वं खल्विदम्ब्रह्म तज्जलानिति पठ्यते ॥ इति वल्लभप्रबुक्तनन्द्रष्टव्यम् ॥ द्विधा कारणकार्यरूपेण परिणतश्चेत्तर्ह्यज्ञानदुःखबन्धननरकप्राप्त्यादयो दोषा ब्रह्मण्येव स्युः पूर्वावस्थितस्य द्रव्यस्यावस्थान्तरप्राप्तिः

क्या अर्थ करते हो ? दो प्रकार से प्राप्त हो वह द्वीत कहाता जो द्वीत है वही द्वैत और जो द्वैत न हो वह अद्वैत। कार्य कारण का एक रूप होता है अथवा वही एक ब्रह्म स्त्री पुरुष रूप से दो प्रकार की क्रीड़ा करने के लिये प्रकट हुआ यह कहना ठीक नहीं ॥ क्योंकि अविद्यादि दोषों से रहित होने और सदैव विज्ञानस्वरूप होने से ब्रह्म का जगत्‌रूप होना अयोग्य ही है। यदि जीव आदि कार्यरूप जो जगत् है वह ब्रह्म ही है तो अनंत, विज्ञान, रचना, धारण, सर्वज्ञता, सत्यसङ्कल्प आदि गुण इस जगत् में क्यों नहीं दीख पड़ते ? और ब्रह्म को कार्यरूप मानें तो जन्म, मरण, हर्ष, शोक, भूख, प्यास, बढ़ना, घटना और मूढ़पन आदि जगत् के प्राणियों के दोष ब्रह्म में प्राप्त होवें इस से बन्ध, नरक दुःख और विषययोग भी ईश्वर को ही होवें इस से वल्लभ का किया अर्थ मिथ्या ही जानना चाहिये। और द्वीत, द्वैत एक ही बात है द्वैत का निषेध अद्वैत कहाता इस का प्रत्यक्ष उदाहरण "सर्वं खल्विदं०" यह श्रुति है यह वल्लभ का भूंकना है। कार्यकारणरूप ब्रह्म दो प्रकार से परिणत है तो दुःख, बन्धन और नरक प्राप्ति होना आदि दोष ब्रह्म में ही होवे। पूर्व अवस्थित द्रव्य की अवस्थान्तरप्राप्ति परिणाम कहाता है। वैसे ही आप के मत में

परिणामः ॥ तथैव भवन्मते ब्रह्मैव जगदाकारत्वञ्जातमनेन किमागतमिति श्रूयताम् ॥ ये जगत्स्था अविद्याज्वरपीड़ादयो दोषा अपि वल्लभेन ब्रह्मण्येव स्वीकृता अतएव भवन्मतं वेदयुक्तिविरुद्धमेवेति विज्ञेयम् । वल्लभेन सर्वं खल्विदं ब्रह्म, नेह नानास्ति किञ्चन ॥ तज्जलानिति शान्त उपासीतेत्यादि श्रुतीनामर्थो नैव विज्ञातः ॥ कुतः ॥ विदुषां समाधिसंयमे विज्ञानेन यादृशं ब्रह्म विज्ञायते तत्रत्योऽयमनुभवः ॥ यथा केनचिदुक्तं सर्वं खल्विदं सुवर्णमिह नानापित्तलादिधात्वन्तरं मिलितं नास्ति ॥ तथैव सच्चिदानन्दैकरसब्रह्मणि नाना वस्तु मिलितं नास्ति ॥ किन्तु सर्वं खल्विदं ब्रह्मैकरसमिति विज्ञेयमखण्डैकरसत्वादभेद्यत्वाद्ब्रह्मणश्चेति यथाऽयमात्मा ब्रह्मेत्यत्रेदं शब्दे-

ब्रह्म ही जगत्‌रूप बनगया इससे क्या आया यह सुनो। जो जगत् में अविद्या ज्वर पीड़ा आदि दोष भी वल्लभ ने ब्रह्म में ही मान लिये इसी से आप का मत वेद और युक्ति से विरुद्ध है यह जानना चाहिये। वल्लभ ने (सर्वं खल्विदं ब्रह्म०) इत्यादि श्रुतियों का अर्थ नहीं जाना क्योंकि समाधि के संयम करने में विज्ञान के प्रकाश से जैसा ब्रह्मस्वरूप जाना जाता है उस समय का किया विद्वानों का अनुभव ही श्रुति का तात्पर्य है। जैसे किसी ने कहा है कि:— सब यह सुवर्ण है इस में अनेक पीतल आदि धातु मिले नहीं हैं वैसे सच्चिदानन्दस्वरूप एकरस ब्रह्म के बीच में नाना वस्तु मिली नहीं हैं किन्तु यह सब ब्रह्म ही एकरस है ऐसा जानना चाहिये क्योंकि ब्रह्म एकरस अखण्ड और अभेद्य है। जैसे (अयमात्मा ब्रह्म) यह आत्मा ब्रह्म है इस वाक्य में इदम् शब्द से ब्रह्मात्मा का ही ग्रहण होता है किन्तु किसी जगत् के वस्तु का सम्बन्ध ग्रहण नहीं होता। (तज्जलान् इति ब्रह्म) "तज्ज" नाम उसी से यह सब जगत् उत्पन्न हुआ "तल्ल" नाम उसी में सब लय होता "तदन्" नाम उसी में सब जगत् चेष्टा कर रहा है इस प्रकार शान्त हुआ पुरुष ब्रह्म की उपासना करे। अर्थात् उस ब्रह्म के अनन्त सामर्थ्य से ही जगत् के जन्म मरण और चेष्टादि कर्म होते हैं इस प्रकार से ब्रह्म ही की उपासना करनी चाहिये अन्य की नहीं यह अर्थ वल्लभ ने भी नहीं जाना तो वल्लभ के सम्प्रदायी आप लोगों की तो: कथा ही क्या है। यह सब जगत् ब्रह्मस्वरूप है यह पहिले ही जताया है। सर्व शब्द से जितना देखा

नात्मनो ब्रह्मणएव ग्रहणमिति निश्चेतव्यं न कस्यचिज्जगद्वस्तुनः संबन्धग्रहणञ्च ॥ तथा तज्जलानिति ब्रह्म शान्तः सन्नुपासीत तस्माद्ब्रह्मानन्तसामर्थ्यादेवास्य जगतो जननधारणप्राणादीनि भवन्तीत्येवम्ब्रह्मोपासनीयमेव नान्यदित्यर्थो वल्लभेनापि नैव विज्ञातस्तत्संप्रदायस्थानाम्भवतान्तु का कथा॥ "सर्वं ब्रह्मात्मकं विश्वमिदमाबोध्यते पुरः। सर्वशब्देन यावद्धि दृष्टश्रुतमदो जगत् ॥१॥ बोध्यते तेन सर्वं हि ब्रह्मरूपं सनातनम्। कार्यस्य ब्रह्मरूपस्य ब्रह्मैव स्याद्धि कारणम्॥२॥ साकारं सर्वशक्त्येकं सर्वज्ञं सर्वकर्तृ च। सच्चिदानन्दरूपं हि ब्रह्म तस्मादिदञ्जगत् ॥३॥ शुद्धाद्वैतपदे ज्ञेयः समासः कर्मधारयः। अद्वैतशुद्धयोः प्राहुः षष्ठीतत्पुरुषं बुधाः" ॥४॥ इत्यादयः श्लोकाः शुद्धाद्वैतमार्त्तण्डे अर्थतोऽशुद्धा एवेति निश्चयः॥ कर्मधारयसमासोऽसंगतः। कुतः। कार्यकारणयोस्तादात्म्यगुणादर्शनात्॥ षष्ठीतत्पुरुषोऽप्यसङ्गतः द्वौ चेद्वस्तुतो न कदाचिदेकता, अवास्तवौ द्वौ चेत्कार्यकारणकथनं व्यर्थम् ॥ शुद्धश्च शुद्धा च शुद्धे तयोस्त्रीपुंसयोरद्वैतमर्थात् मैथुनसमये द्वैतं स्त्रीषु राधाभावना स्वस्मिन् कृष्णभावना च क्रियते॥ अहं कृष्णस्त्वं राधा ह्यावयोरस्तु संगम इत्यादि

सुना यह जगत् है वह सब जानना इससे वह सब जगत ब्रह्मरूप सनातन है क्योंकि ब्रह्मरूप कार्य जगत् का कारण ब्रह्म ही हो सकता है। वह ब्रह्म साकार सर्वशक्तियुक्त, एक सर्वज्ञ और सब का रचनेहारा सच्चिदानन्दस्वरूप है इसी से यह जगत हुआ है। इत्यादि वल्लभ के श्लोक शुद्धाद्वैतमार्त्तण्ड नामक ग्रन्थ में वस्तुतः अशुद्ध ही हैं यह निश्चय जानो। शुद्ध नाम कार्य और अद्वैत नाम कारण। जो शुद्ध है वही अद्वैत, यह कर्मधारय समास कार्य कारण के एक स्वरूप एकात्मक गुण वाले न होने से असङ्गत है। षष्ठीतत्पुरुषसमास भी ठीक नहीं क्योंकि वस्तुतः जो दो पदार्थ हैं उनकी एकता क्योंकर होसकती है ? और यदि वस्तुतः दो नहीं हैं तो कार्य-कारणरूप कहना व्यर्थ है इससे शुद्ध पुरुष और शुद्ध स्त्री दोनों का एकशेष समास भी असङ्गत है। अर्थात् मैथुन समय में द्वैत, स्त्रियों में राधा भावना और अपने में कृष्ण की भावना करते हैं। मैं कृष्ण तू राधा मेरा तेरा सङ्गम होवे इत्यादि कुकर्म से वल्लभादि का मत पतित करनेवाला जानना चाहिये क्योंकि

पतितकारकं वल्लभादीनां मतमिति निश्चयः ॥ कुतः लक्ष्मणभट्टेन संन्यासं पूर्वङ्गृहीत्वा पुनर्गृहाश्रमः कृतः स एव प्रथमतः श्ववद्वान्ताशी जातः तत्पुत्रो वल्लभोऽपि पूर्वं विष्णुस्वामिसम्प्रदाये विरक्ताश्रमङ्गृहीत्वा पुनरभूद्गृही तथानैकविधो व्यभिचारो गोकुलनाथेन विट्ठलेन च कृतस्तत्सम्प्रदायग्रन्थेषु प्रसिद्धः ॥ लक्ष्मणभट्टं मूलपुरुषमारभ्याद्यपर्यन्तं व्यभिचारादिदुष्टङ्कर्म यथावद्वल्लभसम्प्रदाये दृश्यते येऽस्य सम्प्रदायस्योपरि विश्वासङ्कुर्वन्तीमान् गुरूंश्च मन्यन्ते तेऽपि तादृशा एवेति विज्ञातव्यम् ॥ एतादृशस्य पापकर्मकर्त्तुरधर्मात्मनो गुरोस्त्यागे हनने च पुण्यमेव भवति नैव पापञ्चेत्यत्राह मनुः ॥ "गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्। आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥१॥ नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन। प्रकाशं वाऽप्रकाशं वा मन्यु-

---

इनका पूर्व आचार्य लक्ष्मणभट्ट हुआ उसने पहिले संन्यास ग्रहण करके पीछे गृहाश्रम धारण किया इसलिये लक्ष्मणभट्ट ही पहिले कुत्ते के तुल्य वान्ताशी अर्थात् उगले हुए को खाने वाला हुआ। पहिले गृहाश्रम को छोड़ के संन्यास किया पीछे उसी वान्त के तुल्य त्यागे हुए गृहाश्रम का ग्रहण और संन्यास का त्याग किया। इसी लक्ष्मणभट्ट का पुत्र वल्लभ हुआ इसने भी पहिले विष्णुस्वामी के सम्प्रदाय में विरक्त (संन्यास) आश्रम ग्रहण कर फिर गृहाश्रम धारण किया। और गोकुलनाथ विट्ठल ने अनेक प्रकार का व्यभिचार किया इत्यादि बातें इनके मत के ग्रन्थों में प्रसिद्ध हैं। इनके आदिपुरुष लक्ष्मण भट्ट से लेकर अब तक वल्लभसम्प्रदाय में व्यभिचारादि दुष्ट कर्म यथावत् दीख पड़ता है तथा जो लोग इनके मत पर विश्वास करते और इन वल्लभादि मतस्थ लोगों को गुरु मानते हैं वे भी वैसे ही जानने चाहियें। ऐसे पापकर्मकर्त्ता अधर्मी गुरु के त्यागने और मार डालने में पुण्य ही होता है पाप नहीं इस विषय में धर्मशास्त्र का प्रमाण है:—गुरु, बालक, वृद्ध वा बहुश्रुत ब्राह्मण ये सब आततायी धर्मनाशक अधर्म के प्रवर्त्तक हों तो राजा विना विचारे मार डाले। क्योंकि आततायी के मारने में मारनेवाले को दोष नहीं लगता चाहे प्रसिद्धि में मारे वा अप्रसिद्धि में सर्वथा क्रोध को क्रोध मारता है किन्तु हिंसा नहीं कहाती। धर्म

स्तं मन्युमृच्छतीति" ॥ २ ॥ धर्मं त्यक्त्वा ऽधर्मे प्रवर्त्तेत स आततायी विज्ञेयः ॥

(प्र०) शुद्धाद्वैतम्प्रकाशरूपं स्वभावत उताऽन्धकाररूपम् ? ॥

(उ०) नाद्यः कुतः स्वभावतः प्रकाशस्वरूपस्य मार्त्तण्डार्थसूर्यापेक्षाभावात् । न चरमः स्वभावतोऽन्धकारस्वरूपश्चेत्सूर्येणापि तस्य प्रकाशासंभवात् ॥ एवमेव सत्सिद्धान्तमार्त्तण्डस्यापि खण्डनं विज्ञेयम् ॥ अतएव शुद्धाद्वैतमार्त्तण्डसत्सिद्धान्तमार्त्तण्डयोर्नाममात्रमपि शुद्धं नास्ति पुनर्ग्रन्थाशुद्धेस्तु का कथा ॥ एवमेव विद्वन्मण्डनस्यापि खण्डनं विज्ञेयम् ॥ विठ्ठल एव यदा विद्वान्नासीत्पुनर्विदुषां मण्डनङ्कर्तुं कथं समर्थः स्यात् ॥ किन्तु परस्त्रीगमनपरधनहरण-व्यभिचारमण्डने च सामर्थ्यन्तस्याभून्नान्यत्रेति विज्ञेयम् ॥ तत्र दिङ्मात्रनिदर्शनं वर्ण्यते । निजमुरलिकेति ॥ मुरलिकानादेन तेनागता

को छोड़ के सर्वथा जो अधर्म में प्रवृत्त हो वह आततायी कहाता है ।

प्र०—शुद्धाद्वैत प्रकाशरूप है वा स्वभाव से अन्धकाररूप है ? ।

उ०—प्रकाशरूप होना पहिला पक्ष इसलिये ठीक नहीं कि यदि स्वभाव से प्रकाशस्वरूप हो तो सूर्य के तुल्य स्वयं प्रकाशरूप होने से मार्तण्ड नामक पुस्तक देखने के अर्थ सूर्य की अपेक्षा न होवे सूर्यप्रकाश की अपेक्षा विना ही कार्य सिद्ध कर सके सो सम्भव नहीं । स्वभाव से अन्धकार स्वरूप होना द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं क्योंकि स्वभाव से ही अन्धकार स्वरूप हो तो सूर्य से भी उसका प्रकाशित होना असम्भव हो जावे इसी प्रकार सत्सिद्धान्तमार्त्तण्ड का भी खण्डन जानो । इस पूर्वोक्त प्रकार शुद्धाद्वैतमार्त्तण्ड और सत्सिद्धान्तमार्त्तण्ड इन दोनों पुस्तकों का नाममात्र भी शुद्ध नहीं है ग्रन्थ के अशुद्ध होने का तो कहना ही क्या है इसी प्रकार विद्वन्मण्डन नामक ग्रन्थ का भी खण्डन जानो । जब तुम्हारा आचार्य विठ्ठल ही विद्वान् नहीं था तो फिर विद्वानों का मण्डन कैसे कर सकता है । किन्तु परस्त्रीगमन पराया धन हरना, और व्यभिचार के मण्डन करने में तो अवश्य उसका सामर्थ्य था अन्य किसी कार्य में नहीं सो उदाहरणमात्र दिखाते हैं विठ्ठलकृत विद्वन्मण्डन नामकग्रन्थ में (निजमुरलिका०) इत्यादि लिखा है अभिप्राय यह है कि मुरली का शब्द

गोकुलस्य सम्बन्धिन्यः सुन्दर्यः परस्त्रियः कृष्णेन स्नेहाद्भोगार्थं स्वीकृता इत्युक्तम् ॥ प्रतिलक्षणे । युवतिं युवतिं लक्षीकृत्य यः सम्भेदः सङ्गमः कृत्वा तावन्तमात्मानं यावतीर्गोपयोषित इत्यादि भ्रष्टवचनस्योक्तत्वाद्विद्वन्मण्डनमित्यस्य नामायोग्यमेव ॥ कुतः ॥ मूर्खव्यभिचाराधर्माणामत्र मण्डनत्वात् ॥ एवमेवाणुभाष्यमप्यसङ्गतमेवेति वेद्यम् ॥ तथा च शतशो भाषाग्रन्था रसभावनादयोपि भ्रष्टतरा एव ॥ तत्रत्यैकदेशनिदर्शनं लिख्यते । राधायाः कुचाद्यङ्गेषु मोदकादिभावना कर्त्तव्या तथा गोलोक एक एव पुरुषः कृष्णः ॥ अन्यास्सर्वाः स्त्रियः सन्ति ॥ अहर्निशन्ताभिः सह कृष्णः क्रीडति ॥ पुनः सूर्योदयसमये यावत्यः स्त्रियस्तावन्तः पुरुषाः कृष्णशरीराभिसृत्यैकैकामेकैको गृहीत्वा पुष्कलं मैथुनमाचरन्ति सर्वे ॥ तथा वल्लभस्य महाप्रभुरिति संज्ञा कृता प्रभुरितीश्वरस्य नामास्ति । प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वत इत्यादि श्रुतिषु वर्णितम् । तेनेश्वरेणाद्यपर्यन्तं तुल्यः कोपि न भूतो न भविष्यतीत्यधिकस्य तु

सुनके गोकुल की सुन्दर सुन्दर स्त्रियां आईं, कृष्ण ने उनके साथ क्रीड़ा करने के लिये प्रीति से उनका ग्रहण किया । अर्थात् युवति २ स्त्रियों को देखकर जितनी गोपों की स्त्रियां थीं उतने ही अपने एक ही प्रकार के शरीर धारण कर उनसे समागम किया इत्यादि भ्रष्ट वचनों के कहने से विद्वन्मण्डन नाम अयोग्य ही है क्योंकि इस पुस्तक में मूर्ख व्यभिचार और अधर्मों का मण्डन है । इसी प्रकार अणुभाष्य भी असङ्गत ही है और ऐसे ही रसभावना आदि सैकड़ों भाषा के ग्रन्थ भी अत्यन्त भ्रष्ट हैं । इसमें एक बात उदाहरण के लिये लिखते हैं ॥ राधा के कुच आदि अङ्गों में मोदक आदि की भावना करनी चाहिये ॥ तथा गोलोक में एक कृष्ण ही पुरुष अन्य सब स्त्रियां हैं कृष्ण उन स्त्रियों के साथ दिन रात क्रीड़ा करते हैं ॥ सूर्य उदय होते समय जितनी स्त्रियां हैं उतने ही पुरुष कृष्ण के शरीर से निकल के एक २ स्त्री को एक २ पुरुष ग्रहण कर सब अच्छे प्रकार मैथुन करते हैं ॥ और वल्लभ का महाप्रभु नाम रक्खा है प्रभु नाम ईश्वर का है ॥ प्रभु सब शरीरों में व्याप्त है यह वेद में कहा ॥ जब उस ईश्वर के तुल्य अबतक न कोई हुआ न होगा तो उससे अधिक कौन हो सकता है,

का कथा ॥ पुनर्महाप्रभुशब्देन वल्लभविषये किङ्गम्यते यथा महाब्राह्मणस्तथैव महाप्रभुशब्दार्थोऽवगन्तव्यः ॥ यथा वेदयुक्तिविरुद्धो वल्लभसंप्रदायोऽस्ति तथैव शैवशाक्तगाणपत्यसौरवैष्णवादयस्सम्प्रदाया अपि वेदयुक्तिविरुद्धा एव सन्तीति दिक् ॥

शशिरामाङ्कचन्द्रेऽब्दे कार्त्तिकस्यासिते दले ॥
अमायां भौमवारे च ग्रन्थोऽयम्पूर्त्तिमागतः ॥ १ ॥

फिर महाप्रभु कहने से यही प्रतीत होता है कि जैसे ब्राह्मण के साथ महत् शब्द लगाने से नीच का नाम महाब्राह्मण होता है वैसे ही महाप्रभु भी जानना चाहिये। जैसे वेद और युक्ति से विरुद्ध वल्लभ का सम्प्रदाय है वैसे ही शैव, शाक्त, गाणपत्य, सौर और वैष्णवादि सम्प्रदाय भी वेद और युक्ति से विरुद्ध ही हैं ॥

इति शुभम् ॥

इति श्रीपरमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीमद्दयानन्दसरस्वती-
स्वामिनिर्मितस्तच्छिष्य-भीमसेनशर्मकृत-
भाषानुवादसहितश्च वेदविरुद्ध-
मतखण्डनो ग्रन्थः समाप्तः ॥

शताब्दी-संस्करण

शिक्षापत्रीध्वान्तनिवारणम्

पृष्ठ १५—८४५.

शिक्षापत्रीध्वान्तनिवारणम्

—:o:—

आवृत्ति		सन् ई०		संख्या
प्रथम	...	१९०१	...	१०००
द्वितीय	...	१९०६	...	१०००
तृतीय	...	१९११	...	१०००
शताब्दीसंस्करण		१९२४	...	१०,०००
				१३,०००

ओ३म्

सहजानन्दादिमतस्थान् प्रति प्रश्नाः खण्डनञ्च

प्रश्न—कोऽयं सहजानन्दो नाम ? ।

उत्तर—नारायणावतारः स्वामिनारायणाख्याचार्य इति ब्रूमः ।

प्र०—कश्च नारायणः ? ।

उ०—वैकुण्ठगोलोकवासी चतुर्भुजो द्विभुजो लक्ष्मीपतिरीश्वर इत्युच्यते ।

प्र०—स इदानीमस्ति न वा ? ।

उ०—वर्तत एव, तस्येश्वराख्यस्य नित्यत्वात् ।

नैवं शक्यम् । सपर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धमित्यादिश्रुतिविरोधात् । ईश्वरस्यानन्तान्तर्यामिसर्वव्यापकस्य जन्ममरणदेहधारणादेरसम्भवात् । सावयवदेहधारिणः संयोगजन्यत्वादिमतो नित्यत्वेश्वरत्वयोरसम्भवाच्च । यो जन्ममरणशरीरधारणादिव्यवहारवान् स ईश्वर एव न भवति, तर्हीदानीन्तनस्य सहजानन्दस्य तु का कथा । तस्य सहजानन्दस्याचार्यत्वमेवासङ्गतम् । कुतो मृतस्याध्यापने सामर्थ्याभावात् । स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियम्ब्रह्मनिष्ठम् ॥ उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद्द्विजः । सरहस्यं सकल्पञ्च तमाचार्यम्प्रचक्षत इति ब्राह्मणमनुस्मृत्यवर्ते-

(१) अ० ४० । मं० ८ ॥

(२) मुण्डकोप० मुण्ड० १ । खं० २ । कण्डि० १२ ॥

(३) अ० २ । श्लो० १४० ॥

मानाभिप्रायस्य विद्यमानत्वात्तद्रचितस्य शिक्षाग्रन्थस्य दर्शनेन सहजानन्दे शिष्टशिक्षाविद्याविरहत्वे पाखण्डाचारा विज्ञायन्ते। तस्याः शिक्षापत्र्याः सहजानन्दरचिताया आदिमोयं श्लोकः—

वामे यस्य स्थिता राधा श्रीश्च यस्यास्ति वक्षसि।
वृन्दावनविहारन्तं श्रीकृष्णं हृदि चिन्तये॥ १॥

राधा वामे दक्षिणे पश्चिमे पुरतोऽथ उपरि वा क्व स्थितेति प्रत्यक्षानुमानाप्तशब्दैः कस्यापि निश्चयो नास्त्यत एव सहजानन्दस्य मिथ्यैव कल्पनास्तीति वेद्यम्। वक्षस्येव श्रीर्वर्त्तत इत्युच्यते चेत्तर्हि मुखाद्यङ्गेषु दरिद्रास्तीति स्वीक्रियताम्। कृष्णस्तु द्वारिकासन्निधौ मरणं प्राप्तवानित्युक्तं महाभारते। इदानीं कृष्णस्य जीवो न जाने क्वास्ति। वृन्दावने विहरन्कृष्णः न केनापि दृश्यते। किन्तु बहवः पाखण्डिनः पाषाणादिमूर्त्तयश्च तत्र दृश्यन्ते नैव कृष्णः। पुनः परमेश्वरं निराकारं जन्ममरणादिदोषरहितं विहाय कृष्णं हृदि चिन्तय इत्युक्तिर्व्यर्थैवेति॥ १॥

मुकुन्दानन्दमुख्याश्च नैष्ठिका ब्रह्मचारिणः।
गृहस्थाश्च मयारामभट्टाद्या ये मदाश्रयाः॥ ४॥

मुकुन्दानन्दादीनां वेदस्वरयोर्निष्ठाध्ययनाभावान्नैष्ठिकब्रह्मचारित्वमेवासंगतम्। एवमेवाग्रस्थाः श्लोकाः प्रायशोऽशुद्धास्सन्त्यत उपेक्ष्यन्ते॥ ४॥

दृष्ट्वा शिवालयादीनि देवागाराणि वर्त्मनि।
प्रणम्य तानि तद्देवदर्शनं कार्यमादरात्॥ १३॥

पाषाणादिमूर्त्त्यागाराणां देवालयसंज्ञावचनात्तद्देवदर्शनं कार्यमादरादिति प्रलापात्सहजानन्दे पदार्थविद्याया अभाव एव दृश्यते॥ १३॥

स्ववर्णाश्रमधर्मो यः स हातव्यो न केनचित्।
परधर्मो न चाचर्यो न च पाखण्डकल्पितः॥ १४॥

वेदोक्तः स्ववर्णाश्रमधर्मस्सहजानन्देन किमर्थं त्यक्तः । कुतः । वेदविरुद्धानां स्वकपोलकल्पितानां पाषाणादिमूर्त्तिपूजनकण्ठीतिलकधारणादिपाखण्डानाम्प्रचारकरणात्सहजानन्दे वदतोव्याघातदोषस्समागतो वेदितव्यः ॥१४॥

कृष्णभक्तेः स्वधर्माद्वा पतनं यस्य वाक्यतः ।
स्यात्तन्मुखान्न वै श्रव्याः कथा वार्त्ताश्च वा प्रभोः ॥ १५ ॥

कृष्णभक्तिरेव स्वधर्मोस्तीति कथनं व्यर्थमेव । कुतः । वेदे वर्णाश्रमधर्मप्रतिपादनप्रकरणे कृष्णभक्तिः स्वधर्म इति प्रतिपादनस्याभावात् । अतः किं समागतम् ? सहजानन्दस्य तत्सम्प्रदायस्थानाञ्च मुखात्कदाचित्केनाचिदपि कथा नैव श्रोतव्येति सिद्धान्तः । स कृष्णः प्रभुरेव न तस्य जन्ममरणादिस्वभाववत्त्वात् ॥ १५ ॥

ज्ञानवार्त्ताश्रुतिर्नार्या मुखात्कार्य्या न पूरुषैः ।
न विवादः स्त्रिया कार्य्यो न राज्ञा नच तज्जनैः ॥ ३४ ॥

गार्ग्यादिस्त्रीमुखाद्याज्ञवल्क्यादिमहर्षिभिः कथायाः श्रुतत्वात्सहजानन्दकल्पना त्वग्राह्या ॥ ३४ ॥

कृष्णदीक्षा गुरोःप्राप्ते तुलसीमालिके गले ।
धार्ये नित्यञ्चोर्ध्वपुण्ड्रो ललाटादौ द्विजातिभिः ॥ ४१ ॥

कृष्णदीक्षातुलसीमालाधारणोर्ध्वपुण्ड्रधारणमित्युक्तिः सहजानन्दस्य व्यर्थैव । कुतः । वेदयुक्तिभ्यां विरोधात्स्वल्पकण्ठीतिलकधारणे पुण्यम्भवति चेत्तर्हि कण्ठीभारधारणे सर्वमुखशरीरलेपने च महत्पुण्यम्भविष्यतीत्येवं क्रियताम् ॥ ४१ ॥ इत्यादिश्लोकाः सहजानन्दस्य मिथ्यैव वेदितव्याः ।

त्रिपुण्ड्ररुद्राक्षधृतिर्येषां स्यात्स्वकुलागता ।
तैस्तु विप्रादिभिः क्वापि न त्याज्या सा मदाश्रितैः ॥ ४६ ॥
ऐकात्म्यमेव विज्ञेयं नारायणमहेशयोः ।
उभयोर्ब्रह्मरूपेण वेदेषु प्रतिपादनात् ॥ ४७ ॥

एवञ्चेत्सहजानन्दस्य कुलस्थैः कदाचित्त्रिपुण्ड्रुद्राक्षधारणं कृतमेवासी-त्पुनस्तेन किमर्थं त्यक्तं त्याजितश्च। मदाश्रितैरिति बहुशो लिखति तद्व्यर्थमेव। कुतः। तस्याविदुषो जन्ममरणादिदोषवतो जीवस्याश्रयो निष्फलोऽतः ॥४६॥ नारायणमहेशयोरैक्यमसङ्गतं तयोर्ब्रह्मरूपेण वेदे प्रतिपादनाभावोऽतः सह-जानन्दस्य कथनं व्यर्थमेव ॥ ४७ ॥

प्रणम्य राधाकृष्णस्य लेख्यार्चा तत आदरात् ।
शक्त्या जपित्वा तन्मंत्रं कर्त्तव्यं व्यावहारिकम् ॥ ५४ ॥

राधाकृष्णौ सहजानन्देनान्यैश्च प्रत्यक्षतया नैव दृष्टौ पुनश्च तयोर्लेख्यां मूर्त्तिं कर्तुं सामर्थ्यञ्चैव भवेदतस्तत्पूजा कर्त्तव्योक्तिः सहजानन्दस्यान्यथैव वेद्या ॥५४॥

शैली वा धातुजा मूर्त्तिः शालिग्रामोर्च्य एव तैः ।
द्रव्यैर्यथाप्तैः कृष्णस्य जप्योऽथाष्टाक्षरो मनुः ॥ ५६ ॥

अस्माच्छ्लोकाद्विज्ञायते सहजानन्दस्यापि जड़बुद्धिरासीदिति। कुतः। वेदयुक्तिविरुद्धस्य पाषाणादिमूर्त्तिपूजनस्य विधानात्। कृष्णमन्त्रजपेन वेदोक्त-विरुद्धेन नास्तिकत्वासिद्धेश्च ॥ ५७ ॥

हरेर्विधाय नैवेद्यं भोज्यं प्रासादिकन्ततः ।
कृष्णसेवापरैः प्रीत्या भवितव्यञ्च तैः सदा ॥ ५८ ॥

हरेरप्रत्यक्षत्वात्पाषाणादिजड़मूर्त्तेर्भोजनकरणाभावात्तन्नैवेद्यकरणं व्यर्थ-मेव। इदन्तु खलुच्छलमेवास्ति। कुतः। अङ्गुष्ठदर्शनेन घण्टानादं कृत्वा स्वभोजनाभिप्रायस्य विद्यमानत्वात् ॥ ५९ ॥

आचार्येणैव दत्तं यद्यच्च तेन प्रतिष्ठितम् ।
कृष्णस्वरूपं तत्सेव्यं वन्द्यमेवेतरत्तु यत् ॥ ६२ ॥

पाषाणादिमूर्त्तिस्वरूपं यो ददाति तत्प्रतिष्ठापयति च, तत्कृष्णस्वरूपमेव न, किन्तु तत्पाषाणादिस्वरूपमेव ।

भगवन्मन्दिरं सर्वैः सायं गन्तव्यमन्वहम् ।
नामसंकीर्त्तनं कार्यं तत्रोच्चैः राधिकापतेः ॥ ६३ ॥

तच्च कदाचित्केनचिदपि न सेव्यन्नचैव वन्द्यम् । किन्तु यस्सर्वशक्तिमानजो न्यायकारी दयालुस्सर्वान्तर्यामी सर्वव्यापी निराकारो भगवान्परमात्मैव सर्वैस्सेव्यो वन्द्यश्चातोऽन्यो नैव वन्द्यस्सेव्यश्चेति निश्चयः ॥ ६२ ॥ अतएवाभगवत्पाषाणादिमूर्त्तिमन्दिरं भगवन्मन्दिरं मन्यमानस्य तच्च सायं सर्वैरन्वहं गन्तव्यमनीश्वरस्य मरणजन्मवतो राधिकापतेर्मृतस्य कृष्णस्योच्चैर्नामसंकीर्त्तनं कार्यमिति मिथ्यापदेशं प्रब्रुवतस्सहजानन्दस्य वेदविद्या किञ्चिन्मात्रापि तस्य नासीदसदुपदेशाच्च सद्गतिरपि तस्य नाभूदित्यनुमीयते। अस्य मिथ्योपदेशस्य ये स्वीकारञ्चकुः कुर्वन्ति करिष्यन्ति च तेषामपि सद्गतिर्न भूता न भवति न भविष्यति च। किन्तु वेदसद्विद्यां तत्रोपदिष्टं न्यायं पक्षपातरहितं वैरबुद्धित्यागादिलक्षणं धर्मञ्च यथावद्ये स्वीकरिष्यन्ति सर्वशक्तिमन्न्यायकारिदयालुत्वादिलक्षणस्य निराकारपरमेश्वरस्य स्तुतिप्रार्थनोपासनाश्च यथावद्ये च करिष्यन्ति तेषामेव सद्गतिरभूद् भवति भविष्यति चेति सर्वैर्वेदितव्यम् । एवमेव अग्रस्थाः श्लोकाः प्रायोऽशुद्धास्सन्तीत्यत उपेक्ष्यन्ते ॥ ६३ ॥

एकादशीनां सर्वासां कर्तव्यं व्रतमादरात् ।
कृष्णजन्मदिनानाञ्च शिवरात्रेश्च सोत्सवम् ॥ ७६ ॥

एकादश्यादीनि व्रतानि वेदे क्वापि न विहितानि । किन्तु ब्रह्मचर्यसत्यभाषणादीन्येव व्रतानि कर्तुं विहितानि । अतएवैकादश्यादीनां व्रतानामाचरणं व्यर्थमेवेति परामर्शः ॥ ७६ ॥

सर्ववैष्णवराजश्रीवल्लभाचार्य्यनन्दनः ।
श्रीविट्ठलेशः कृतवान् यं व्रतोत्सवनिर्णयम् ॥ ८१ ॥

कार्यास्तमनुसृत्यैव सर्व एव व्रतोत्सवाः ।
सेवारीतिश्च कृष्णस्य ग्राह्या तदुदितैव हि ॥ ८२ ॥

कर्त्तव्या द्वारिकामुख्यतीर्थयात्रा यथाविधि ।
सर्वैरपि यथाशक्ति भाव्यं दीनेषु वत्सलैः ॥ ८३ ॥

विष्णुः शिवो गणपतिः पार्वती च दिवाकरः ।
एते पूज्यतया मान्या देवताः पञ्च मामकैः ॥ ८४ ॥

भूताद्युपद्रवे क्वापि वर्म नारायणात्मकम् ।
जप्यञ्च हनुमन्मन्त्रो जप्यो न क्षुद्रदैवतः ॥ ८५ ॥

सर्ववैष्णवराजश्रीवल्लभाचार्यनन्दनो विठ्ठलेशः परधनहरणं धर्मनाशनं व्रतं परस्त्रीगमनादिव्यभिचारोत्सवमपि च कृतवाँस्तत्कार्यत्वेनातिदिशतः सहजानन्दस्यापि दोषापत्तिरेव मन्तव्येति ॥ ८१ ॥ द्वारिकायास्तीर्थयात्रामुपदिशतः सहजानन्दस्य भ्रान्त्यापत्तिरेव विज्ञायते । कुतः । जडे पाषाणजलादौ तीर्थोपदेशाभावात्तद्यात्राकरणोपदेशो दुःखफलक एवास्ति ॥ किञ्च ॥ अहिंस॑न्त्सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यइति छान्दोग्योपनिषदि । सतीर्थ्यस्सब्रह्मचारी चेत्यादिप्रमाणार्थव्यवहारस्य विद्यमानत्वाद्वेदेश्वरविज्ञानानामेव तीर्थसंज्ञा मन्तव्येत्युपदेशः । यैरविद्याजन्ममरणहर्षशोकादिदुःखानि तरन्ति तानि तीर्थानीति निरुक्तेश्च । शिवविष्णुगणपतिपार्वत्यादीनां देहधारिणां मृतानां वेदेषु पूजानभिधानाद्वेर्जडत्वाच्च पूजा निष्फला । परमेश्वर एक एव पूज्यस्तत्र पञ्चत्वाभावादेताः पूज्यतया मान्या इति सहजानन्दस्योपदेशोऽसंगत एवास्तीति बोध्यम् ॥ ८४ ॥ भूताद्युपद्रवनिवारणार्थं नारायणकवचपाठं हनुमन्मन्त्रजपञ्चोपदिशति सहजानन्दे भ्रान्तिरेव सिध्यति । अतस्तदुपदेशप्रमाणं व्यर्थमेव ॥ ८५ ॥

वेदाश्च व्याससूत्राणि श्रीमद्भागवताभिधम् ।
पुराणं, भारते तु श्रीविष्णोर्नामसहस्रकम् ॥ ९३ ॥

तथा श्रीभगवद्गीता नीतिश्च विदुरोदिता ।
श्रीवासुदेवमाहात्म्यं स्कान्दवैष्णवखण्डगम् ॥ ९४ ॥

(१) प्रपा० ८ । खं० १५ । कंडि० १ ॥

धर्मशास्त्रान्तर्गता च याज्ञवल्क्यऋषेःस्मृतिः ।
एतान्यऽष्टौ ममेष्टानि सच्छास्त्राणि भवन्ति हि ॥ ९५ ॥

स्वहितेच्छुभिरेतानि मच्छिष्यैः सकलैरपि ।
श्रोतव्यान्यथ पाठ्यानि कथनीयानि च द्विजैः ॥ ९६ ॥

तत्राचारव्यवहृतिनिष्कृतानाञ्च निर्णये ।
ग्राह्या मिताक्षरोपेता याज्ञवल्क्यस्य तु स्मृतिः ॥ ९७ ॥

श्रीमद्भागवतस्यैषु स्कन्धौ दशमपञ्चमौ ।
सर्वाधिकतया ज्ञेयौ कृष्णमाहात्म्यबुद्धये ॥ ९८ ॥

दशमःपञ्चमःस्कन्धो याज्ञवल्क्यस्य च स्मृतिः ।
भक्तिशास्त्रं योगशास्त्रं धर्मशास्त्रं क्रमेण मे ॥ ९९ ॥

शारीरकाणां भगवद्गीतायाश्चावगम्यताम् ।
रामानुजाचार्यकृतं भाष्यमाध्यात्मिकं मम ॥ १०० ॥

एतेषु यानि वाक्यानि श्रीकृष्णस्य वृषस्य च ।
अत्युत्कर्षपराणि स्युस्तथा भक्तिविरागयोः ॥ १०१ ॥

मंतव्यानि प्रधानानि तान्येवेतरवाक्यतः ।
धर्मेण सहिता कृष्णभक्तिः कार्येति तद्रहः ॥ १०२ ॥

वेदाश्चेत्यादयः श्लोकाः प्रायोऽशुद्धाः सन्ति । श्रीमद्भागवतादिपुराणानां भारते विष्णोः सहस्रनाम्नां भगवद्गीतायाश्च स्वीकारादन्येषान्तत्रस्थानां श्रेष्ठानामपि त्यागाद्वासुदेवमाहात्म्यस्यैव ग्रहणादन्यस्याग्रहणान्मिताक्षराटीकान्विताया याज्ञवल्क्यस्मृतेरेव ग्रहणात्पूर्वमीमांसादिशास्त्राणां मनुस्मृतेश्चाग्रहणादविद्वत्तैव दृश्यते सहजानन्दे । सर्वेभ्यश्चैव स्कन्धेभ्योऽतीवाशुद्धस्य मिथ्याभूतधर्मकथाप्रतिपादकस्य दशमस्कन्धस्य सर्वाधिकतया स्वीकाराद्विषयासक्तो वेदनिन्दकोपि सहजानन्दोस्तीति विज्ञायते ॥ ९८ ॥ दशमस्कन्धे भक्तिशा-

त्रस्य लेशोपि नास्ति किन्तु व्यभिचाराद्यधर्मप्रतिपादनन्तत्रास्त्येव प्रसिद्धम्। पञ्चमस्कन्धे योगशास्त्रप्रतिपादनन्नास्ति किन्तु योगाभासप्रतिपादनन्तु तत्रास्त्येव। श्रौतसूत्रमीमांसादेर्धर्मशास्त्रस्य तिरस्कारात्पिष्टपेषणवद्दूषितताया याज्ञवल्क्यस्मृतेः स्वीकारात्सहजानन्दस्य वेदोक्तानां कर्मोपासनाज्ञानकाण्डानां बोध एव नास्तीति विज्ञायते ॥ ९९ ॥ रामानुजकृतस्य शारीरिकसूत्रभाष्यस्यात्यशुद्धस्य स्वीकारादविवेकस्सहजानन्देऽस्त्येवेति विज्ञायते ॥ १०० ॥ श्रीकृष्णेन वेदस्यैव खल्वत्युत्कर्षो मतः नच स्ववाक्यानाम्। अतएव सहजानन्देनात्युत्कर्षपराणि तद्वाक्यानि स्युरित्युक्तत्वाद्भ्रान्त एव स मन्तव्यः ॥१०१॥ वेदवाक्यान्येव सर्वोत्कृष्टानि सन्तीति ब्रह्मादीनामिदानीन्तनान्तानां तु विदुषां सिद्धान्ते विद्यमाने वेदेभ्योपि कृष्णवाक्यान्येव प्रधानान्येवं प्रबुवन्सहजानन्दो लज्जामपि न प्राप्तवानिति ॥ १०२ ॥

हृदये जीववज्जीवे योन्तर्यामितया स्थितः।
ज्ञेयः स्वतन्त्र ईशोसौ सर्वकर्मफलप्रदः ॥ १०७ ॥

स श्रीकृष्णःपरब्रह्म भगवान्पुरुषोत्तमः।
उपास्य इष्टदेवो नः सर्वाविर्भावकारणम् ॥ १०८ ॥

स राधया युतो ज्ञेयो राधाकृष्ण इति प्रभुः।
रुक्मिण्या रमयोपेतो लक्ष्मीनारायणः स हि ॥ १०९ ॥

ज्ञेयोऽर्जुनेन युक्तोऽसौ नरनारायणाभिधः।
बलभद्रादियोगेन तत्तन्नामोच्यते स च ॥ ११० ॥

जीववन्न कदाचिदीशो भवति,सर्वज्ञसर्वशक्त्यनन्तानिर्विकारत्वादिस्वभावत्वात् ॥ १०७ ॥ जन्ममरणहर्षशोकाल्पशक्त्यादिवत्त्वात्कृष्णःपरब्रह्म भगवान्पुरुषोत्तमःकदाचिन्नैव संभवति। पुनः सर्वशक्तिमन्तं न्यायकारिणं दयालुं सर्वान्तर्यामिणं सच्चिदानन्दस्वरूपं निर्दोषं निराकारमजं विभुं वेदयुक्तिसिद्धं परमात्मानं विहाय जन्ममरणादिव्यवहारवन्तं जीवं कृष्णमुपास्येष्टदेवत्वेन यः सहजानन्दःकथयति स वेदपदार्थविद्याविहीन एव विज्ञेयः ॥ १०८ ॥ राधा

त्वनयाख्यगोपस्य स्त्र्यासीन्न कृष्णस्य । कृष्णस्य रुक्मिण्येव स्त्री पुनस्तस्य लक्ष्मीनारायणसंज्ञैवायोग्येति वेदितव्यम् ॥ १०९ ॥ "तत्तन्नामोच्यते सचेति" सहजानन्दस्योक्तिरन्यथैव । कुतः । सर्वज्ञज्ञानमन्तरा सहजानन्दस्येदं कथनमयुक्तञ्चातो बोध्यम् ॥ ११० ॥

तस्यैव सर्वथा भक्तिः कर्त्तव्या मनुजैर्भुवि ।
निःश्रेयसकरं किञ्चित्ततोऽन्यन्नेति दृश्यताम् ॥ ११३ ॥

कृष्णस्यापि कल्याणं जातन्नवेति विदुषां सन्देहः । सच परमेश्वरस्यैव भक्तिं कृतवानुपदिष्टवांश्च । पुनस्तस्यैव सर्वैर्मनुष्यैर्भक्तिः कार्या ततोन्यत्कल्याणकरं किंचिन्नास्त्येनेति वदन्सहजानन्दो विद्याहीन एवासीत् ॥ ११३ ॥

गुणिनां गुणवत्ताया ज्ञेयं ह्येतत्परं फलम् ।
कृष्णे भक्तिश्च तत्सङ्गोऽन्यथा यांति विदोप्यधः ॥ ११४ ॥

गुणिनां गुणवत्ताया इत्येवं छन्दोविरुद्धा अशुद्धाः श्लोकास्सन्ति बहवः शिक्षापत्र्यामतो विज्ञायते सहजानन्दस्य छन्दोविज्ञानमपि यथावन्नासीदिति । कृष्णे मृते भक्तिरेवाशक्या निष्फला वेदविरुद्धा चास्ति । विद्वांसस्तु सदैव सद्गतिं प्राप्नुवन्ति,विद्यायाःप्रकाशस्वरूपत्वात् । किंचाविद्वांस एव सहजानन्दसदृशा असद्गतिं गता इति विज्ञायते । कुतः । अविद्याया अधर्माचरणान्धकारवत्त्वात् ॥ ११४ ॥

निजात्मानं ब्रह्मरूपं देहत्रयविलक्षणम् ।
विभाव्य तेन कर्त्तव्या भक्तिः कृष्णस्य सर्वदा ॥ ११५ ॥

निजात्मा जीवो ब्रह्मस्वरूपश्चेद्ब्रह्मणातुल्यत्वं तास्मिन् कुतो न दृश्यते । तुल्यत्वञ्चेत्तर्हि ब्रह्मणा सकलञ्जगद्रचितञ्जीवेन नवीनञ्जगत्किञ्चिन्मात्रमपि कुतो न रच्यते । जीवब्रह्मणोरैक्यञ्चेत्तर्हि ब्रह्मैवाविद्याजन्ममरणहर्षशोकशीतोष्णसुखदुःखज्वरपीडाबन्धादिदोषयुक्तञ्जातमेवेति स्वीक्रियताम् । जीवाद्ब्रह्म भिन्नञ्चेत्प्रतिज्ञाहानिः, कृष्णोपि ब्रह्मभक्तः, एवं सर्वैर्जीवैरपि ब्रह्मभक्तैरेव भवितव्य-

नैवान्यस्य कस्यचित्कृष्णादेर्जीवस्य चेति । एवं कृष्णस्य भक्तिः सर्वदा कार्येति सहजानन्दे महती दोषापत्तिरिति विज्ञातव्यम् ॥ ११५ ॥

मतं विशिष्टाद्वैतं मे गोलोको धाम चेप्सितम् ।
तत्र ब्रह्मात्मना कृष्णसेवा मुक्तिश्च गम्यताम् ॥ १२१ ॥

चक्राङ्कितवत्सहजानन्दस्य मतमस्तीति विज्ञातव्यम् । विशिष्टाद्वैतशब्दस्यैवमर्थः क्रियते । अविद्याविशिष्टो जीवो मायया विशिष्ट ईश्वरः । विशिष्टो नाम मिलितः । केचिदेकां मायामीश्वरस्यैव स्वीकुर्वन्ति। एवञ्चतुर्णां त्रयाणां वा पदार्थानां वर्तमानत्वादद्वैतमेव दुर्लभम् । द्वितीयेन विना विशिष्ट एव न भवति। विशिष्टश्च विशिष्टश्च विशिष्टौ मायाऽविद्याभ्यां युक्तौ जीवेशौ,तयोरद्वैतं विशिष्टाद्वैतम् । द्वयोरद्वैतं कदाचिन्न सम्भवति किन्तु खल्वद्वैतं केवलमेकं ब्रह्मैवास्ति । तद्यथा सजातीयं विजातीयं च द्वितीयं ब्रह्मैव नास्त्येवं स्वगतभेदोपि ब्रह्मणि नास्त्येव संयोगवियोगाभावात् । अतएव एकमेकरसमद्वितीयं ब्रह्मैवास्तीति वेदयुक्तिसंमतो ह्यद्वैतशब्दार्थो वेदितव्यः । एवं सति रामानुजसहजानन्दयोर्मतमशुद्धमेव वेदितव्यम्। गवाम्पशूनां लोको धाम मम चेति स्वीकारात्सहजानन्दे पशुप्रियत्वमेव समागच्छति स्वजातिपरत्वप्रवाहस्य विद्यमानत्वात् । गोलोक एव निवासत्वात्कृष्णसेवानिबन्धनत्वाच्च सैव मुक्तिरिति सहजानन्दादिप्रलापो मिथ्यैवेति विज्ञायताम् ॥ १२१ ॥

मया प्रतिष्ठापितानां मंदिरेषु महत्सु च ।
लक्ष्मीनारायणादीनां सेवा कार्या यथाविधि ॥ १३० ॥

सहजानन्देनान्यैर्वा प्रतिष्ठापिता विद्याधर्मविरुद्धेषु मिथ्याधनगतव्ययेषु महत्सु मन्दिरेषु पाषाणादिमूर्त्तयो लक्ष्मीनारायणादयः कदाचिन्नैवं भवन्ति, वेदानभिहितानाम्पाषाणादिमूर्त्तीनाञ्जडत्वाल्लक्ष्मीनारायणादीनान्तदानीञ्चेतनत्वात्पाषाणादिमूर्त्तीनां यथाविधिखण्डनमेव कर्त्तव्यन्नैव च पूजनमिति।१३०।

अथैतयोस्तु भार्याभ्यामाज्ञया पत्युरात्मनः ।
कृष्णमंत्रोपदेशश्च कर्त्तव्यः स्त्रीभ्य एव हि ॥ १३३ ॥

सहजानन्देन विदितमुपदेशमन्तरा स्त्रीभ्योपि धनलाभ एव न भविष्यत्यत एवं कपटम्प्रसारितम्। तदपि परमात्ममन्त्रोपदेशं विहाय मृतस्य कृष्णस्य मन्त्रोपदेशश्चोक्तवानतः सहजानन्दो धनलोभ्यज्ञानी चेति विज्ञायते॥ १३३॥

निजवृत्त्युद्यमप्राप्तधनधान्यादितश्च तैः।
अर्प्यो दशांशः कृष्णाय विंशांशस्त्विह दुर्बलैः॥ १४७॥

परधनहरणार्थं निजसुखार्थञ्च सहजानन्दस्य प्रसिद्धं कापट्यमेव दृश्यते। विना परिश्रमेण दशांशं विंशांशं धनं गृहीत्वा पुष्कलं संसारस्थं विषयभोगं वयं कुर्म इत्यभिप्रायस्तस्यास्तीति निश्चयः। पुनरन्यथा वदति कृष्णाय समर्प्यमिति। कृष्णस्तु मृतः, स दशांशं विंशांशञ्च धनं ग्रहीतुं नैवागच्छति कदाचिन्नैतादृशं तस्य दारिद्र्यमासीत्। तस्मात्सहजानन्दस्य महती धूर्त्तता वेदितव्या यथा गोकुलस्थानां वल्लभप्रभृतीनाञ्च। ईदृशानां धूर्त्तानां सम्प्रदायप्रभृत्यार्यावर्त्तदेशस्य महती हानिर्जाताऽतःसर्वैः सज्जनैरिदानीं दृढप्रयत्नेन सद्य इमे सर्वे सम्प्रदाया निवर्तनीया, अन्यथा स्वदेशस्य भद्रन्नैव भविष्यतीति निश्चेतव्यम्॥ १४७॥

एकादशीमुखानाञ्च व्रतानां निजशक्तितः।
उद्यापनं यथाशास्त्रं कर्तव्यं चिन्तितार्थदम्॥ १४८॥

कर्त्तव्यं कारणीयं वा श्रावणे मासि सर्वदा।
विल्वपत्रादिभिः प्रीत्या श्रीमहादेवपूजनम्॥ १४९॥

इयमपि सहजानन्दस्य धूर्त्ततास्ति। यद्येकादश्यादिव्रतानि न करिष्यन्ति तर्ह्युद्यापनेन विना धनलाभः शिष्येभ्यो नैव भविष्यति, पुनश्च श्रावणे मासि महादेवपूजनमर्थात्पाषाणादिमूर्त्तिपूजनेन विनापि धनप्रतिष्ठे शिष्येभ्यो नैव लप्स्यामह एतदर्थं सहजानन्दस्य कापट्यं वेदितव्यम्॥ १४८॥ ॥१४९॥

देवताप्रतिमां हित्वा लेख्या काष्ठादिजापि वा।
न योषित्प्रतिमा स्पृश्या न वीक्ष्या बुद्धिपूर्वकम्॥ १७७॥

स्वमन्दिरेषु सहजानन्देन राधाया मूर्त्तिः किमर्था स्थापिता, सा स्त्री नासीत्किम् ?। पुनश्च वामे यस्य स्थिता राधा श्रीश्च यस्यास्ति वक्षसीति स्त्रीकथा सहजानन्देन किमर्था कथितोपदिष्टा च, ताश्च साध्वादिभिस्तच्छिष्यैर्बुद्धिपूर्वकं किमर्था वीक्ष्यन्ते, तासां राधादीनाञ्च कथा किमर्था क्रियते। अतएव प्रमत्त-गीतवत्प्रलापात्सहजानन्दादिषु वदतोव्याघातदोषो बहुश आगच्छतीति वेद्यम् ।। १७७ ।।

सर्वेन्द्रियाणि जेयानि रसना तु विशेषतः ।
न द्रव्यसंग्रहःकार्यः कारणीयो न केनचित् ।। १८८ ।।

न्यासो रक्ष्यो न कस्यापि धैर्यं त्याज्यञ्च कर्हिचित् ।
न प्रवेशयितव्या च स्ववासे स्त्री कदाचन ।। १९० ।।

साधुभिरेवेन्द्रियजयादिकं कर्तव्यमित्युपादिश्यते भवता तर्हि भवानसाधुर-स्ति किम् ? गृहस्थेन जितेन्द्रियादिकं नैव कर्त्तव्यं किम् ?।। १९९ ।। कस्य-चिन्न्यासस्थापननैव रक्षणीयश्चेद्विद्याधर्मेश्वरप्रार्थनास्तुत्युपासना नैव स्थाप्याः किम् ?। वेदयुक्तिधर्मविरुद्धस्य स्वसम्प्रदायस्य स्थापनं किमर्थं क्रियते सहजा-नन्देन च किमर्थं कृतम् ?। किन्त्वीदृशस्य पाखण्डस्य खण्डनमेव सर्वैः कर्त्तव्यं, सद्धर्ममण्डनञ्चेति ।। १९० ।।

इति संक्षेपतो धर्माः सर्वेषां लिखिता मया ।
साम्प्रदायिकग्रन्थेभ्यो ज्ञेय एषान्तु विस्तरः ।। २०३ ।।

सच्छास्त्राणां समुद्धृत्य सर्वेषां सारमात्मना ।
पत्रीयं लिखिता नृणामभीष्टफलदायिनी ।। २०४ ।।

इति संक्षेपत इति ।। धर्मस्य तु लेशमात्रमपि प्रतिपादनं नैवात्र कृतम्। किन्तु स्वकपोलकल्पनेन स्वभ्रान्तिः प्रकाशिता दृश्यते। वेदादिषु धर्मो यथावल्लिखितोऽस्ति,तज्ज्ञानमेव सहजानन्दस्य नास्ति, लिखितस्य धर्मस्य पुन-र्लेखनं व्यर्थमेव पिष्टपेषणवद्दोषात्। सर्वेषां मनुष्याणां सनातनः साम्प्रदा-

यिको ग्रन्थो वेद एवास्ति । पुनः शिक्षापत्र्यादिग्रन्थरचनं व्यर्थमेव विज्ञेयम् । विस्तर इत्यशुद्धं किन्त्वत्र विस्तार इति भवितव्यम् । प्रथने वाव शब्द इति व्याकरणनियमात् । कथनश्रवणोपाधावेव विस्तर इति भवितव्यन्नान्यत्रेति निश्चयः ॥ २०३ ॥ सहजानन्दस्य सच्छास्त्राणाम्बोधोऽध्ययनञ्चापि नासीदिति विज्ञायते । वेदविरुद्धपाषाणादिमूर्त्तिपूजनङ्कण्ठीतिलकधारणञ्चेत्यादिमिथ्याप्रतिपादनात् असारभूतेयम्पत्री लिखितेति विज्ञायते । अभीष्टफलदायिनीति प्रलोभनमात्रम् । सर्वेषामभीष्टं सुखमेव भवति न च दुःखं, तत्तु शिक्षापत्रीपाठादिना सर्वदा सुखङ्कर्त्तुमनुभवविरुद्धमेव । इदङ्कथनेन सहजानन्दे लोभादयो दोषा विज्ञायन्ते । प्रलोभनेन विना सम्प्रदायस्य वृद्धिर्न भवति, तद्वृद्ध्या विना प्रतिष्ठा धनप्राप्तिश्च न भवति, पुनर्यथेष्टं विषयसुखं न लभ्यते हीति सहजानन्दस्य बुद्धौ कपटमासीदिति विज्ञेयम् ॥ २०४ ॥

वर्त्तिष्यन्ते य इत्थं हि पुरुषा योषितस्तथा ।
ते धर्मादिचतुर्वर्गसिद्धिं प्राप्स्यन्ति निश्चितम् ॥ २०६ ॥

पाषाणादिमूर्त्तिपूजनादिपाखण्डेन सह ये पुरुषाः स्त्रियश्च वर्त्तिष्यन्ते ते धर्मार्थकाममोक्षसिद्धिन्तु न प्राप्स्यन्ति किन्त्वधर्मानर्थकुकामदृढबन्धासिद्धिमेव प्राप्स्यन्तीति निश्चयः ॥ २०६ ॥

नेत्थं य आचरिष्यन्ति ते त्वस्मत्संप्रदायतः ।
बहिर्भूता इति ज्ञेयं स्त्रीपुंसैः सांप्रदायिकैः ॥ २०७ ॥

पाषाणादिमूर्त्तिपूजनङ्कण्ठीतिलकादिपाखण्डचिह्नधारणङ्कदाचित्केनचिदपि नैव कर्त्तव्यमितीत्थं ये वर्त्तन्ते ते धर्मार्थकाममोक्षाणां सिद्धिं प्राप्नुवन्त्येव । वेदादिसत्यशास्त्रोक्तं सनातनं सत्यम्पक्षपातरहितं न्याय्यं धर्मं हित्वा शिक्षादिकपोलकल्पितान्पक्षपातपिष्टपेषणदोषवद्दूषितान्सहजानन्दादिरचितान्वेदपठनमार्गविरोधिनो ग्रन्थान्ये स्वीचक्रुः कुर्वन्ति करिष्यन्ति च तानेव नास्तिकत्वदोषयुक्तान्सत्यधर्मबहिर्भूताञ्छिष्टा विजानीयुरिति सिद्धम् ॥ २०७ ॥

शिक्षापत्र्याः प्रतिदिनं पाठोऽस्या मदुपाश्रितैः ।
कर्त्तव्यो नत्वरज्ञैस्तु श्रवणं कार्य्यमादरात् ॥ २०६ ॥

वक्रमावे तु पूजैव कार्यास्याः प्रतिवासरम् ।
मद्रूपमिति मद्वाणी मान्येयं परमादरात् ॥ २०८ ॥

युक्ताय सम्पदा दैव्या दातव्येयन्तु पत्रिका ।
असुर्यासम्पदाढ्याय पुंसे देया न कर्हिचित् ॥ २१० ॥

वेदानां पठनं श्रवणञ्च विहाय शिक्षापत्र्यादीनां सहजानन्दादिकपोलकल्पितानां ग्रन्थानां पठनश्रवणे व्यर्थे एवेति वेदितव्यम् ॥ २०८ ॥ ईदृशस्य जडस्य व्यर्थपुस्तकस्य पूजाकरणोपदेशोऽयुक्त एव । वाणी जीवस्य रूपमेव न भवति कदाचित्पुनः परमादरान्मान्यातु न, किन्तु परमप्रयत्नात्खण्डनीयाऽशुद्धत्वादिति । एतत्कथनं सहजानन्दस्याज्ञानिनो बालान्भ्रामयित्वा कपटेन धनादिकन्तेभ्यो हर्त्तव्यमित्यभिप्रायः ॥ २०८ ॥ यो दैव्या सम्पदा युक्तो जनास्त्विमां शिक्षापत्रीं कदाचिन्नैव ग्रहीष्यति तस्मिन्विद्याप्रकाशस्य विद्यमानत्वात् । यस्त्वविद्याद्यसुरसम्पद्युक्त एतां स्वीकरोति तस्मिन्सम्प्रदाहशब्दवाच्यस्य सम्प्रदायाग्रहान्धकारस्य विद्यमानत्वात् । सम्यक्प्रकृष्टतया दग्धज्ञाना भवन्ति यस्मिन् सोयं सम्प्रदाहः, इदानीन्तनाः स्सम्प्रदाया वेदविरुद्धास्सर्वे सम्प्रदाहशब्दवाच्या एव वेदितव्या इति परामर्शः ॥ २१० ॥ मरणसमये स्वशिष्याणां हस्तं गृहीत्वा विमानस्योपरि स्थापयित्वा वैकुण्ठं नयति सहजानन्दः परमसुखञ्च ददातीति मिथ्याप्रलापः सहजानन्दशिष्यादिमुखाच्छ्रूयते स सत्यो वा मिथ्या ? । मिथ्यैवेति निश्चयः । कथं यो मृतः स आगन्तुम्पूर्वदेहकार्यं कर्त्तुञ्च नैव समर्थो भवति । यदि समर्थः स्यात्तर्हि तत्सम्प्रदायस्थैश्छलादिव्यवहारेण धनादिपदार्थाः पुष्कलास्स्वाधीनीकृतास्तद्भोगं कर्तुमप्यवश्यमागच्छेद्भोगार्थञ्च न चैवागच्छति । किमतो विज्ञायते ? । विक्रनासिकसम्प्रदायवदज्ञानिजनमोहार्थं तादृशं कथनं ते कुर्वन्ति, नैतत्सज्जनैर्मन्तव्यमिति । स्वशिष्या लोहादिभिश्चक्रादीनाञ्चिह्नानि

रचयित्वाऽग्नौ प्रतप्य बाहूमूले च सजीवान्देहान्दग्धयन्ति सहजानन्दसम्प्रदायादिस्था अहो महत्पापमिति वेद्यम् । केचितु बकवृत्तिवत्साधवो जातास्ते स्त्रीदर्शनादिकं न कुर्वन्ति धातुस्पर्शश्च । तदाचार्य्यो गृहस्थोस्ति च, स प्रलोभनाद्यनेकमन्दिरादिमिथ्याव्यवहारैर्धनादिकं हरति, ते च साधवो हारयन्ति, द्वौ विवाहावप्येक कृतवानीदृगन्यथाव्यवहारो यस्मिन्सम्प्रदाये वर्त्तते तास्मिन् सम्प्रदाये कल्याणस्य प्रत्याशा केनापि नैव कर्त्तव्येति सज्जनैर्वेदितव्यम् । इति सहजानन्दसम्प्रदायस्य दोषदर्शनं दिङ्मात्रमिह वर्णितमधिकञ्च स्वबुद्धयोहनीयमिति ।

"सर्वात्मा सच्चिदानन्दोऽजोऽनन्तस्सर्वशक्तिमान् ।
भूयात्तमां सहायो नो न्यायकारी शुचिः प्रभुः ॥ १ ॥

भूमिरामाङ्कचन्द्रेऽब्दे सहस्यस्याऽसिते दले ।
एकादश्यामर्कवारे ग्रन्थोऽयम्पूर्त्तिमागमत्" ॥ २ ॥

स्वामीनारायणमतखण्डन

(गुजराती का भाषानुवाद)

सहजानन्दादि मतों के प्रति प्रश्न और उन मतों का खण्डन

प्रश्न—सहजानन्द नामक पुरुष कौन है ?

उत्तर—सहजानन्द नारायण का अवतार और स्वामिनारायण नामक पन्थ का आचार्य्य है।

प्रश्न—नारायण कौन है ?

उत्तर—गोलोक और वैकुण्ठ में रहनेवाला चतुर्भुज द्विभुज और लक्ष्मी-पति ईश्वर है।

प्रश्न—वह अब भी (अभी) है कि नहीं ?

उत्तर—ईश्वर नित्य है इससे वह अब भी है।

ऐसा होना अशक्य है, क्योंकि वेद में कहा है कि:—

"ईश्वर सर्वव्यापक, वीर्य्यरूप, शरीर छिद्र और नाड़ी से रहित, शुद्ध और पापरहित है"।

सर्वान्तर्यामी और सर्वव्यापक ईश्वर का जन्म मरण और देहधारण है ही नहीं। जिसका जन्म मरण और शरीर धारण हो उसको ईश्वर कभी कह ही नहीं सकते। फिर आज कल के सहजानन्द से तो क्या कहना है ?। प्रथम तो मुरदा के वास्ते आचार्य का नाम बिलकुल नहीं घटता, क्योंकि सहजानन्द

मर गया और इसी से वह अभ्यास कराने को असमर्थ है । ब्राह्मण भाग में कहा है कि:—

"अपना गुरु जो कि वेद पढ़ा हुआ और केवल ईश्वर की ही भक्ति करता हो उसके पास शिष्य को अपने हाथ में समिधू नामक लकड़ियों को लेकर जाना चाहिये" । और वहीं मनु भी साक्षी देता है कि:—

"जो ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य गुरु, अपने शिष्य को, यज्ञोपवीत आदि धर्म्मक्रिया कराने के बाद, वेद को अर्थ और कल्पसहित पढ़ावे तो ही उसको आचार्य कहना चाहिये" ।

सहजानन्द की बनाई हुई शिक्षापत्री से सिद्ध होता है कि सहजानन्द ने उस पुस्तक में बहुत कुछ पाखण्ड वर्णन किया है । सहजानन्द की शिक्षापत्री के प्रथम श्लोक का अर्थ निम्नलिखित है:—

"श्रीकृष्ण जिनकी बाईं ओर राधाजी खड़ी हैं और जिनकी छाती पर लक्ष्मीजी बैठी हैं, और जो वृन्दावन में क्रीड़ा करते हैं, उनका मैं हृदय में ध्यान धरता हूं" ॥ १ ॥

राधा, वाम और दक्षिण पश्चिम आसपास और ऊपर नीचे कहां खड़ी है सो प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द द्वारा किसी को भी निश्चय होता नहीं । इसलिये सहजानन्द ने जो कल्पना करी सो व्यर्थ है । जब कि छाती के ऊपर लक्ष्मी बैठी है तो कृष्ण के मुख में दरिद्रा बैठी है ऐसा मानना पड़ेगा । महाभारत में कहा है कि "कृष्ण द्वारिका की पड़ोस में मर गये" । अब कौन जाने कि कृष्ण का जीव इस समय कहां है । कृष्ण तो वृन्दावन में क्रीड़ा करते हुए किसी को नहीं दीख पड़ते, किन्तु वृन्दावन में बहुपाखण्डरूप पाषाणादि की मूर्त्तियां दीखती हैं । निराकार, जन्ममरणरहित ईश्वर को छोड़ के कृष्ण का मैं हृदय में ध्यान धरता हूं ऐसा कहना मिथ्या है ।

"मुकुन्दानन्द आदि नैष्ठिक ब्रह्मचारी और भट्ट मयाराम आदि गृहस्थ मेरे आश्रित हैं" ॥ ४ ॥

मुकुन्दानन्द आदिकों ने वेद और ईश्वर पर अवस्था रक्खी नहीं इससे उनका नैष्ठिक ब्रह्मचारी नाम घटता ही नहीं है। इसी प्रकार से इनके बहुतसे आगे के श्लोक भी भ्रष्ट और अशुद्ध हैं।

"रास्ता चलते हुए शिवालय आदि जो देवमन्दिर आवे उनको नमना और प्रेम से उनका दर्शन करना चाहिये" ॥ १३ ॥

पाषाण आदि मूर्त्ति के घर को देवालय नाम दिया इस से और उनका दर्शन करना इस प्रकार अनर्थ वचन कहने से मालूम पड़ता है कि सहजानन्द पदार्थविद्या बिलकुल नहीं जानता था।

"अपने वर्ण आश्रम का जो धर्म उसका कोई पुरुष त्याग न करे, उसी प्रकार पाखण्डकल्पित परधर्म का आचरण भी नहीं करना चाहिये" ॥ १४ ॥

प्रथम सहजानन्द ने वेदोक्त अपने वर्णाश्रम का त्याग किसलिये किया ?। जो कहो कि त्याग नहीं किया तो वेदविरुद्ध मूर्तिपूजन, कण्ठीतिलकधारणादि पाखण्डों का आचरण क्यों किया कराया ?। यह तो ऊपर से सिद्ध होता है कि सहजानन्द ने अपने पैर में अपने आप ही कुठार मारा है, यहांतक कि अपने कथन को अपने आप ही धो डाला है।

"जिसके कहने से कृष्णभक्ति में भंग पड़े उस पुरुष के मुख से कभी भगवान् की कथा वार्ता सुननी नहीं चाहिये" ॥ १५ ॥

केवल कृष्ण की ही भक्ति करने में अपना धर्म रहता है इस प्रकार सहजानन्द का कहना व्यर्थ है, क्योंकि वेद में जहां वर्णाश्रम प्रतिपादन प्रकरण चला है वहां पर कृष्ण की भक्ति करनी यही स्वधर्म है ऐसा नहीं कहा।

यह ऊपर से समझना चाहिये कि सहजानन्द और उस के सम्प्रदाय वालों के मुख से कभी किसी को कथावार्ता नहीं सुननी चाहिये, कृष्ण को (मुरदा को) प्रभु नाम देना ही नहीं बन सकता, क्योंकि इनके जन्म मरण आदि दोष हुए हैं।

"स्त्री से श्रुति अथवा ज्ञानवार्ता मनुष्यों को सुननी नहीं चाहिये, इसी प्रकार स्त्री, राजा और राजपुरुषों के साथ वाद विवाद नहीं करना चाहिये" ॥३४॥

याज्ञवल्क्यादि महान् ऋषियों ने गार्गी आदि स्त्रियों के साथ धर्म विषय पर विचार किया था इससे सहजानन्द की कल्पना मान्य करने के योग्य नहीं।

"कृष्णदीक्षा की प्राप्ति के लिये तुलसी की बनी हुई माला पहरनी और ललाट आदि भागों पर ऊर्ध्वत्रिपुण्ड्र करना चाहिये" ॥ ४१ ॥

कृष्णदीक्षा, तुलसीमालाधारण और ऊर्ध्वत्रिपुण्ड्र आदि जो कहा सो सहजानन्द का कहना मिथ्या है, क्योंकि ऐसा करना वेदविरुद्ध और युक्तिरहित है। जो थोड़ासा तिलक धारण करने से पुण्य होता है तो कण्ठी का भार बांधने से और समस्त मुख तथा शरीर लीप देने से अत्यन्त पुण्य होता है ऐसा मानना पड़ेगा। और जो ऐसा मानता हो तो यह काम जल्दी करो। सहजानन्द के ऐसे २ कितने ही श्लोक भ्रष्ट हैं।

"वंशपरम्परा से जो ब्राह्मण रुद्राक्ष धारण करता हो तो उसको मेरा आश्रित होने पर उसका त्याग नहीं करना चाहिये। नारायण और केशव को एकात्मता (अभिन्नता) ही है, क्योंकि वेद में इन दोनों को ब्रह्मरूप गिना है" ॥४७॥

त्रिपुण्ड्र, रुद्राक्ष का धारण करना, ऐसा जो सहजानन्द ने माना सो प्रथम सहजानन्द ने अपनी ही रुद्राक्ष किसलिये त्यागी और अपने सम्प्रदाय वालों की किसलिये छुड़ाई? । "मेरे आश्रितों को" ऐसा वचन सहजानन्द ने बार २ लिखा है सो मिथ्या है, क्योंकि जिसको जन्म मरणादि दोष प्राप्त हुए ऐसे अविद्वान् जीव का आश्रय निष्फल है। नारायण और शिव दोनों एक ही हैं ऐसा सहजानन्द ने ऊपर कहा है सो मिथ्या है, क्योंकि वेद में शिव और नारायण को ब्रह्मरूप माना नहीं।

"इस प्रकार करने के बाद राधाकृष्ण की छवि अथवा मूर्त्ति का प्रेम से

दर्शन करके यथाशक्ति उनका मन्त्र जप करना । उसके पीछे संसार का व्यवहार चलाना चाहिये" ॥ ५४ ॥

राधाकृष्ण को सहजानन्द ने या दूसरे किसी ने प्रत्यक्ष देखा नहीं फिर उनकी छवि अथवा मूर्त्ति कैसे हो ? । यह ऊपर से सिद्ध होता है कि सहजानन्द जो कुछ कहता है वह बिलकुल असत्य है ।

'पाषाण अथवा धातु आदि की बनाई हुई मूर्त्ति की यथाशक्ति फल फूल आदि पदार्थों से पूजा करनी और पीछे कृष्ण का अष्टाक्षर मन्त्र जपना"॥५६॥

इस श्लोक से सिद्ध होता है कि सहजानन्द की बुद्धि जड़ थी, क्योंकि वेदविरुद्ध पाषाणादि मूर्त्तिपूजन का इसने प्रतिपादन किया है । वेदविरुद्ध कृष्ण-मन्त्र जपने से सहजानन्द को नास्तिक नाम दिया जा सकता है ।

"हरि को नैवेद्य दिये पीछे बाक़ी बची प्रसादी आप खानी चाहिये और कृष्णसेवा में जिस प्रकार बन सके उसी प्रकार तत्पर रहना" ॥ ५८ ॥

हरि प्रत्यक्ष दीखता नहीं और मूर्त्तियों में भोजन करने की शक्ति नहीं, इस कारण स मूर्त्ति को नैवेद्य धरना व्यर्थ है । यह बिलकुल छल कपट है, क्योंकि जब ऐसा होता है तभी अपने अंगूठे के दर्शन और टन् टन् पुं पुं करके भोजन करने में थोड़ा श्रम होता है ।

"अपने आचार्य ने जो कृष्णरूप दिया हो और जिस में प्राणप्रतिष्ठा करदी हो उस हरि की सिर्फ सेवा करनी और की सेवा नहीं करनी । हर रोज शाम को भगवत्-मन्दिर म जाना और वहां राधापति कृष्ण का ऊंची आवाज से कीर्त्तन करना" ॥ ६२–६३ ॥

पाषाण आदि मूर्त्तिस्वरूप, जिसकी प्रतिष्ठा होती है, वह कृष्णस्वरूप नहीं हो सकता । क्योंकि यह तो केवल पत्थर ही है । ऐसा पत्थर किसी को भी कभी सेवनीय नहीं । इसी प्रकार उसको नमना भी नहीं । जो सर्वशक्तिमान्,

अवताररहित, न्यायकारी, दयालु, सर्वान्तर्य्यामी, सर्वव्यापक, निराकार और श्रेष्ठ परमात्मा है उसकी सब मनुष्यों को पूजा करनी और उसी को नमना चाहिये। शाम को सब मनुष्यों को भगवद्मन्दिर में जाकर पाषाणादि मूर्त्तियों की और जिसका जन्ममरण हुआ ऐसे राधापति कृष्णनामक मुर्दा की पूजा करनी और उसका ऊंची आवाज से कीर्त्तन करना ऐसा जो ऊपर कहा सो सब मिथ्या उपदेश है। यह ऊपर से जान पड़ता है कि सहजानन्द कुत्ते की तरह भौंका है। वह वेदविद्या बिलकुल नहीं जानता था। असत्य उपदेश से सहजानन्द की सद्गति भी नहीं हुई होगी ऐसा अनुमान किया जासकता है। इस मिथ्या उपदेश को जो स्वीकार करता और जो दूसरों को कराता है उसकी सद्गति न तो हुई और न होती है और न होगी भी। जो मनुष्य वेदादि सद्विद्या, पक्षपातरहितन्याय और वैरबुद्धित्यागादि स्वरूप धर्म का बोध करता है उसको और जो मनुष्य यथावत् ऐसे बोध को स्वीकार करता और न्यायकारी, दयालु, निराकार परमेश्वर की प्रार्थना, उपासना तथा स्तुति बराबर करेगा केवल उसी को सद्गति प्राप्त होगी। इसी प्रकार आगे के श्लोक अशुद्ध हैं।

"एकादशी आदि सम्पूर्ण व्रतों का रखना और कृष्ण के जन्म दिवस और शिवरात्री को बड़ा उत्सव करना चाहिये" ॥ ७६ ॥

एकादशी आदि व्रत वेद में कहीं लिखे नहीं, किन्तु वेद में तो ब्रह्मचर्य्य, सत्यभाषण आदि व्रत करना लिखा है। अतः सिद्ध हुआ कि एकादशी आदि व्रतों का रखना व्यर्थ है।

"सम्पूर्ण वैष्णवों के अधिपति जो वल्लभाचार्य्य, उनके पुत्र विट्ठल ने जो २ उत्सव निर्माण किये हैं उन सब उत्सवों को विट्ठल के अनुसार करना चाहिये। जिस प्रकार से विट्ठल ने कृष्ण की सेवा करी है उसी प्रकार ग्रहण करनी। द्वारिका आदि मुख्य यात्रायें शक्तिपूर्वक यथाविधि करनी और कंगाल मनुष्यों पर दया रखनी। मेरे आश्रितों को विष्णु, शिव, गणपति, पार्वती और सूर्य इन पांच देवताओं को पूज्य मानना चाहिये। भूत प्रेतादि उपद्रव करें तो नारा-

यण-कवच अथवा हनुमान-मन्त्र का जप करना। परन्तु किसी क्षुद्र देव का जप करना नहीं॥ ८१, ८२, ८३, ८४, ८५"॥

सर्ववैष्णवराज श्री वल्लभाचार्य के पुत्र विट्ठल ने परधन-हरण, धर्मनाश, परस्त्रीगमनादि व्यभिचारों को स्वतः करके उपदेश किया है। इस प्रकार कर्म करनेवाले पुरुष के मत विषय में सहजानन्द ने अपनी सम्मति देकर उपदेश किया है। इससे सहजानन्द भी दुष्ट था यह सिद्ध हुआ। द्वारिका आदि तीर्थयात्रायें करनी, ऐसा जो सहजानन्द ने उपदेश किया वह केवल भ्रान्ति से ही किया है यह निश्चय कर जानना। जड़, पत्थर, पानी आदि पदार्थों में तीर्थोपदेश का सम्भव दीखता नहीं। इसलिये यह उपदेश अत्यन्त दुःखदायक है। छान्दोग्य उपनिषद् में तीर्थ शब्द का अर्थ वेद अथवा ईश्वर का ज्ञान होता है। जिससे अविद्या, जन्ममरण, हर्षशोकादि दुःखों से तरे उसी का नाम तीर्थ होता है। शिव, विष्णु, गणपति, पार्वती आदि देहधारी मुर्दाओं की पूजा और सूर्य स्वतः जड़ है इससे उनकी पूजा विषय में वेद में कहा नहीं। इसलिये एक परब्रह्म की पूजा करनी चाहिये और इन पांचों की पूजा करनी यह जो सहजानन्द ने कहा है वह मिथ्या है। भूत प्रेतों के निवारण के लिये नारायण कवच अथवा हनुमान मन्त्र का जप करना ऐसा उपदेश करने से मालूम पड़ता है कि सहजानन्द को भ्रम उत्पन्न हुआ होगा।

"वेद, व्याससूत्र, भागवत भारत में कहा हुआ विष्णुसहस्रनाम, भगवद्गीता, विदुरनीति, स्कन्धपुराण और वैष्णवखण्ड में कहा हुआ वासुदेव माहात्म्य और याज्ञवल्क्यस्मृति आठ सच्छास्त्रों का प्रमाण मुझे इष्ट है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य जो अपने कल्याण के इच्छुक और मेरे शिष्य हैं उनको इन शास्त्रों का सुनना और पाठ करना और कराना चाहिये। इन आठ शास्त्रों में आचार, व्यवहार और प्रायश्चित्त के निर्णय के लिये याज्ञवल्क्य स्मृति की मिताक्षरा नामक टीका का भी मैं ग्रहण करता हूं। भागवत के पांचवें और दशमस्कन्ध में कृष्णलीला लिखी है इससे वे दो स्कन्ध अवश्य जानना। भागवत के दशमस्कन्ध में भक्तिशास्त्र, पांचवें में योगशास्त्र और याज्ञवल्क्यस्मृति में हमारा

धर्मशास्त्र वर्णन किया है। शारीरिक और भगवद्गीता का भाष्य जो रामानुज आचार्य ने बनाया है वह हमारा अध्यात्मशास्त्र है। इन शास्त्रों के जिन २ वाक्यों में कृष्ण, धर्म, भक्ति और वैराग्य का वर्णन किया होय उन वाक्यों को दूसरे वाक्यों की अपेक्षा श्रेष्ठ मानना और कृष्णभक्ति धर्म के साथ ही रखनी चाहिये" ॥ ९२, ९३, ९४, ९५, ९६, ९७, ९८, ९९, १००, १०१, १०२ ॥

ऊपर के सब श्लोक अशुद्ध हैं। भागवत आदि पुराण और भारत में विष्णुसहस्रनाम, भगवद्गीता आदि का ही केवल स्वीकार, दूसरे ग्रन्थों का त्याग, याज्ञवल्क्यस्मृति की मिताक्षरा टीका का ग्रहण, पूर्वमीमांसा तथा मनुस्मृति का त्याग करने से और वासुदेव के माहात्म्य गिनने से सिद्ध होता है कि सहजानन्द अविद्वान् था। सहजानन्द भागवत के भ्रष्ट, मिथ्याभूतप्रेतधर्म्मकथाप्रतिपादक दशमस्कन्ध को सर्वशास्त्रों की अपेक्षा श्रेष्ठ मानता है, अतएव जान पड़ता है कि सहजानन्द वेदनिन्दक (नास्तिक) था। दशमस्कन्ध में भक्ति लेशमात्र नहीं है, किन्तु व्यभिचार आदि अधर्म का प्रतिपादन प्रसिद्ध है। पांचवें स्कन्ध में योगशास्त्र का प्रतिपादन तो किया नहीं किन्तु योगाभास का प्रतिपादन किया है। श्रौतसूत्र और मीमांसा आदि धर्मशास्त्रों का तिरस्कार करने से और दले हुए पदार्थ को फिर से दलने के समान याज्ञवल्क्य स्मृति का स्वीकार करने से ऐसा मालूम पड़ता है कि सहजानन्द वेद के कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड विषय में कुछ नहीं जानता था। शारीरिक सूत्र का रामानुज से किया हुआ अति अशुद्ध भाष्य का प्रमाण मानने से सहजानन्द अविवेकी था यह सिद्ध होता है। श्रीकृष्ण ने खुद ही वेदवाक्यों को सर्वोत्कृष्ट माना है फिर सहजानन्द ने ऊपर जो दशमस्कन्ध आदि को श्रेष्ठ गिना है सो सहजानन्द को भ्रम हुआ होगा ऐसा जान पड़ता है। वेदवाक्य सर्वोत्तम हैं यह ब्रह्मादि विद्वानों का सिद्धान्त है, परन्तु सहजानन्द भौंकता है कि कृष्ण के वाक्य वेद की अपेक्षा श्रेष्ठ हैं। यह सहजानन्द का शरमा के डूब मरना जैसा है।

"जिस प्रकार हृदय में जीव रहता है उसी प्रकार ईश्वर अन्तर्यामीपने से

जीव में रहता है, वह स्वतन्त्र और सब को उन २ के कर्मों का फलदाता है। वह पूर्ण पुरुषोत्तम परब्रह्म श्रीकृष्ण भगवान् उपासना करने योग्य, इष्टदेव, सर्व पदार्थों के आविर्भाव का कारण (प्रसिद्धकर्ता) है। जब वह राधा के साथ हो तब वह राधाकृष्ण, रुक्मिणी के साथ हो तब लक्ष्मीनारायण, अर्जुन के साथ हो तब नरनारायण और जब बलभद्रादिकों से युक्त हो तब उसको वैसा २ नाम देना चाहिये" ॥ १०७, १०८, १०९, ११० ॥

जीव के सदृश कभी ईश्वर बनता नहीं, क्योंकि सर्वशक्ति, सर्वज्ञता, निर्विकार आदि गुणयुक्तस्वभाव ईश्वर का ही है। जन्म, मरण, हर्ष, शोक आदि गुणयुक्त कृष्ण को परब्रह्म भगवान् पूर्ण पुरुषोत्तम आदि नाम देना बिलकुल सम्भव नहीं है। एक सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, सर्वान्तर्यामी, सच्चिदानन्दस्वरूप, निर्दोषी, निराकार, अवताररहित और वेदयुक्तिसिद्ध परमात्मा को छोड़ के जन्ममरणयुक्त कृष्ण की उपासना करनी यह जो सहजानन्द ने कहा है इससे मालूम पड़ता है कि सहजानन्द को पदार्थज्ञान बिलकुल नहीं था। राधा तो अनय नामक ग्वाले की स्त्री थी, कृष्ण का उससे कोई सम्बन्ध नहीं था, कृष्ण की स्त्री का नाम रुक्मिणी था, इससे उसको लक्ष्मीनारायण नाम देना अयोग्य है। इस प्रकार कथन कर सहजानन्द ने अपनी मूर्खता बतलाई है क्योंकि सर्वज्ञता के विना सहजानन्द का कथन युक्तिरहित दिखाई पड़ता है।

"उन्हीं की ही (सिर्फ कृष्ण की ही) सब मनुष्यों को भक्ति करनी चाहिये, इनकी भक्ति करने के विना सुख का दूसरा साधन कुछ भी नहीं है" ॥ १११ ॥

कृष्ण का खुद का ही कल्याण हुआ कि नहीं इस विषय में विद्वानों को संशय उत्पन्न होता है। कृष्ण ने स्वयं ही एक ईश्वर की भक्ति की है और वैसा ही करने का उपदेश किया है। फिर सहजानन्द ने जो ऊपर कहा है कि सब मनुष्यों को केवल कृष्ण की ही भक्ति करनी चाहिये, इनकी भक्ति करने के विना सुख का दूसरा साधन कुछ भी नहीं है। यह कहकर उसने अपनी अविद्या बताई है।

"गुणवान् पुरुषों को विद्यादि गुणों का उत्तम फल तो यही है कि कृष्ण की भक्ति और सत्सङ्ग करना। उसको छोड़ के जो कोई दूसरा कुछ करेगा वह विद्वान् होकर भी अधोगति अर्थात् नरक पावेगा" ॥ ११४ ॥

इस श्लोक में छन्दोभङ्ग दोष होने से मालूम पड़ता है कि सहजानन्द को छान्दोज्ञान विषय में कुछ भी समझ नहीं थी। कृष्ण मर गया, इसलिये अब उस की भक्ति करनी अयोग्य और निष्फल है। विद्वान् लोग अपनी विद्या के प्रकाश से सर्वदा सद्गति पाते हैं, किन्तु अविद्या, अधर्माचरण और अज्ञान से सहजानन्द जैसे अविद्वान् पुरुषों को असद्गति प्राप्त होती है ऐसा दीख पड़ता है।

"तीन प्रकार के शरीरों से जो विलक्षण जीव उस में ब्रह्मरूप की भावना करके श्रीकृष्ण की ही भक्ति सर्वदा करनी" ॥ ११५ ॥

जो जीव ब्रह्मरूप हो तो ब्रह्म की तुल्यता जीव में क्यों नहीं दीखती ?। जो जीव ब्रह्मतुल्य हो तो जिस प्रकार ब्रह्म ने यह सब जगत् रचा इसी प्रकार जीव थोड़ासा ही नवीन जगत् क्योंकर नहीं रच लेता ?। जो जीव ब्रह्म एक हो तो अविद्या, जन्ममरण, हर्षशोक, ठंढीताप, सुखदुःख, तापपीड़ा और बन्ध आदि दोष ब्रह्म में मानने पड़ेंगे। जो जीव से ब्रह्म भिन्न हो तो सहजानन्द का कहना व्यर्थ हुआ। कृष्ण स्वयं ही ब्रह्मभक्त थे। इसलिये सब जीवों को एक ब्रह्म की भक्ति करनी और कृष्णादि जीवों की भक्ति करनी ही नहीं चाहिये। एक कृष्ण की ही भक्ति करनी यह जो सहजानन्द ने ऊपर कहा उस से सिद्ध होता है कि इस प्रकार कहने में इसने महान् पाप किया है।

"मेरा मत विशिष्टाद्वैत और मेरा प्रिय स्थान गोलोक है वहां ब्रह्मरूप कृष्ण की सेवा करनी यह मेरी मुक्ति जाननी" ॥ १२१ ॥

सहजानन्द का मत चक्रांकित के समान है ऐसा दीख पड़ता है। विशिष्टाद्वैत शब्द का अर्थ सब मनुष्य इस प्रकार करते हैं कि:—

अविद्यायुक्त जीव और मायायुक्त ईश्वर है। कुछ मनुष्य ईश्वर की माया एक मानते हैं। इस प्रकार तीन चार पदार्थों से अद्वैत सिद्ध नहीं होता।

दूसरे पदार्थ के विना विशिष्ट शब्द बन हा नहीं सकता। दो पदार्थ अद्वैत नहीं हो सकते। किन्तु ब्रह्म ता अवश्य अद्वैत है। सजातीय विजातीय दूसरा ब्रह्म है ही नहीं। इसलिये यह भेद ब्रह्म में संयोग के विना सिद्ध नहीं हो सकता। वेद और युक्तिसिद्ध एकरसमात्र एक ही ब्रह्म है। यह अद्वैत शब्द का अर्थ जानना। अतः दीख पड़ता है कि रामानुज और सहजानन्द के मत भ्रष्ट हैं।

गधा आदि पशुओं का लोक मेरा स्थान ह इस प्रकार जो सहजानन्द ने कहा सो अपनी जाति के नियम से सहजानन्द खुद ही गधा बनता है। गोलोक में निवास करने से और एक कृष्ण-सेवा से ही मुक्ति प्राप्त होती है ऐसा जो सहजानन्द ने बका है सो मिथ्या है।

"मने बड़े २ मन्दिरों में लक्ष्मीनारायणादिमूर्त्तियों की प्राणप्रतिष्ठा करी है उनकी यथाविधि सेवा करनी" ॥ १३० ॥

सहजानन्द अथवा और कोई भी बिलकुल विद्याधर्मविरुद्ध और द्रव्यनाशक बड़े मन्दिरों में रहने वाली पाषाणादिमूर्त्तियों को लक्ष्मीनारायण का नाम नहीं दे सकता, क्योंकि वेद में मूर्त्तिविषय में कुछ कहा नहीं। इसलिये, और मूर्त्ति स्वतः जड़ है इस कारण से, तथा लक्ष्मीनारायण आदि सो चेतन थे इस हेतु से, मूर्त्ति का यथाविधि खण्डन करना चाहिये न कि पूजन करना।

"दो अमुक पुरुषों की स्त्रियों को अपने २ पति की आज्ञा लेकर केवल स्त्रियों को ही कृष्णमात्र का उपदेश करना चाहिये" ॥ १३३ ॥

सहजानन्द को यह ज्ञात था कि उपदेश के सिवाय स्त्रियों से धनप्राप्ति कभी होय नहीं, अतः स्पष्ट रीति से दीख पड़ता है कि सहजानन्द ने एक दम छल कपट फैला दिया है। परब्रह्म का मन्त्र छोड़कर कृष्ण का अर्थात् मुरदे का मन्त्र उपदेश करने से सहजानन्द लोभी और अज्ञानी ठहरता है।

"अपने कमाये हुए धन धान्य का दशमा भाग कृष्ण के अर्पण करें और जो मनुष्य दुर्बल हों वे बीसवां भाग कृष्ण को देवें" ॥ १४७ ॥

पर-धन हरने में और अपने को सुख देने में सहजानन्द का छल भेद खुल्लमखुल्ले दीखता है। इस प्रकार करने में सहजानन्द का अभिप्राय यह था कि यत्किञ्चित् मेहनत कार्य के विना ही दसवां, बीसवां भाग लेकर अपने संसार का विषयसुख खूब भोगेंगे। ऊपर कहा है कि कृष्ण को अर्पण करना। तो कृष्ण खुद तो दसवां अथवा बीसवां भाग लेने को आही नहीं सकता और कृष्ण कुछ ऐसा दरिद्री नहीं था। अतः सिद्ध होता है कि सहजानन्द ने गोकुल के वल्लभ-सम्प्रदायवालों की तरह खूब धूर्त्तता चलाई है। ऐसे २ धूर्त्त सम्प्रदायों के फैल जाने से अपने आर्य्यावर्त्त देश को बहुत हानि उठानी पड़ी। इसलिये सब सज्जनों को श्रम उठाकर इन सम्प्रदायों को जड़ मूल से उखाड़ डालना चाहिये। जो कभी उखाड़ डालने में न आवे तो अपने देश का कल्याण कभी होने का ही नहीं।

"एकादशी आदि व्रतों का यथाशक्ति और शास्त्र प्रमाण से उद्यापन करना। उद्यापन मन की इच्छा को पूर्ण करता है। श्रावण मास में बिल्व आदि के पत्रों से महादेव की पूजा करें करावें" ॥ १४८, १४९ ॥

इससे भी सहजानन्द की धूर्त्तता दीखती है। जो कभी एकादशी आदि व्रतों को नहीं करें तो शिष्यों से उद्यापन विना धनलाभ नहीं होय। श्रावण महीने में महादेवपूजन अर्थात् पाषाण आदि मूर्त्तिपूजा विना अपने को शिष्यों से धन, प्रतिष्ठा मिलेगी नहीं, ऐसे २ विचारों से सहजानन्द ने अपना कपट दिखाया है।

"देव की मूर्त्ति के सिवाय लिखी हुई अथवा लकड़ी आदि की स्त्रियों की मूर्त्तियों का कभी स्पर्श न करें और उन की तरफ़ बुद्धिपूर्वक दृष्टि से देखें भी नहीं" ॥ १७७ ॥

प्रथम तो सहजानन्द ने अपने मन्दिर में राधा की मूर्त्ति की स्थापना क्यों करी ? और जिन की बाईं तरफ राधा है इत्यादि वाक्यों का सहजानन्द ने किसलिये मनुष्यों को उपदेश किया ?। सहजानन्द के शिष्य बुद्धिपूर्वक राधा का दर्शन किसलिये करते हैं ?। इस प्रकार के प्रमत्त गीत और बकवाद से सहजानन्द पर अनेक प्रकार के दोष लगते हैं।

"सब इन्द्रियों को जीत लेना उनमें से विशेष करके रस इन्द्रिय को जीतना। किसी को द्रव्य का संग्रह करना नहीं। इसी प्रकार किसी को करने भी नहीं देना। किसी की स्थापना करनी नहीं, धैर्य का त्याग करना नहीं और अपनी रहने की जगह में परस्त्री को आने देना नहीं चाहिये" ॥ १८९ ॥

सिर्फ साधु ही जितेन्द्रिय होवे ऐसा जो तुम उपदेश देते हो तो तुम क्या असाधु हो ?। तुम्हारे विचार से क्या गृहस्थ जितेन्द्रिय न होवें ?। ऊपर कहा कि किसी को स्थापन न करें तो क्या विद्या, धर्म, ईश्वर, प्रार्थना, स्तुति और उपासना का स्थापन नहीं करना चाहिये ?। वेदधर्मयुक्तिविरुद्ध सम्प्रदायों का स्थापन किसलिये करना चाहिये और सहजानन्द ने इस प्रकार के सम्प्रदायों का किसलिये स्थापन किया ?। सब मनुष्यों को इस प्रकार के पाखण्डों का खण्डन और सत्यधर्म का मण्डन अवश्य करना चाहिये।

"इस प्रकार सब मनुष्यों का धर्म संक्षेप से लिखा है और इन धर्म्मों का विस्तारपूर्वक वर्णन सम्प्रदाय के ग्रन्थों में से समझ लेना। मैंने सब सत्यशास्त्रों का सार निकाल के मनुष्य को इष्टफल की देने वाली यह शिक्षापत्री लिखी है" ॥ २०३–२०४ ॥

धर्म का तो लेशमात्र प्रतिपादन किया नहीं किन्तु अपनी कपोलकल्पना से अपनी भ्रान्ति का प्रकाश किया दीखता है। वेदादि शास्त्रों में जो यथावत् धर्म्म लिखा है उस का ज्ञान सहजानन्द को बिलकुल नहीं था। लिखे हुए धर्म का फिर से लिखना व्यर्थ है। क्योंकि ऐसा करने से दले हुए को दलने के समान है। मनुष्यमात्र का सनातन साम्प्रदायिक ग्रन्थ वह वेद ही है और शिक्षापत्री आदि ग्रन्थ सब मिथ्या हैं। "विस्तर" शब्द व्याकरण नियम से अशुद्ध है। "विस्तर की जगह विस्तार" शब्द लिखना चाहिये। कथन, श्रवण आदि अर्थों में ही विस्तार प्रयोग होता है। सहजानन्द को सत्यशास्त्र का बोध तो था ही नहीं तथा इसने कुछ अध्ययन भी नहीं किया था, क्योंकि इसने वेद और युक्तिविरुद्ध पाषाण आदि मूर्त्तिपूजन, कण्ठीतिलकधारण आदि भ्रष्ट कर्मों

का प्रतिपादन किया है। शिक्षापत्री में सार की जगह असार वर्णन किया है। शिक्षापत्री लोभ विषय में तो इष्टफलदायक है। परन्तु शिक्षापत्री का पाठ करने से सर्वदा सुखप्राप्ति होती है यह अनुभवरहित बात है। सहजानन्द के ऐसे २ वचनों से सहजानन्द लोभी ठहरता है। लोभ के विना सम्प्रदाय की वृद्धि होती नहीं और वृद्धि न हो तो प्रतिष्ठा और धनप्राप्ति भी न हो और जो उस की प्राप्ति न हो तो इष्ट विषयसुख नहीं मिले, अतः समझना कि सहजानन्द की बुद्धि कपटरूप थी।

"जो पुरुष अथवा स्त्री इस शिक्षापत्री में कहे धर्मपूर्वक वर्ताव करेंगे उनको अवश्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष प्राप्त होंगे"।

जो मनुष्य पाषाण आदि मूर्त्तिपूजन आदि पाखण्डों का आचरण करेगा उस को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष तो प्राप्त नहीं होगा बल्कि अधर्म, अनर्थ, दुष्टइच्छा, बन्ध, नरक आदि दोष अवश्य प्राप्त होंगे।

"शिक्षापत्री के अनुकूल जो मनुष्य आचरण नहीं करें वे अपने सम्प्रदाय से बाहर हैं, इस प्रकार मेरे साम्प्रदायिक स्त्री पुरुषों को समझना चाहिये"।

पाषाण आदि मूर्तिपूजन, कण्ठी तिलक आदि पाखण्डरूप चिह्न कभी कोई न करें और जो पुरुष इन चिह्नों को नहीं करें सिर्फ उन्हीं पुरुषों को धर्म, अर्थ, काम और मोक्षकी प्राप्ति होगी।

वेदादि सत्यशास्त्रोक्त, सनातन, सत्य, पक्षपातरहित, न्यायधर्म को त्याग करके सहजानन्द आदिकों के बनाये हुए शिक्षा की पत्री आदि भ्रष्ट और वेदयुक्तिविरुद्ध ग्रन्थों का जिन मनुष्यों ने स्वीकार किया, करते हैं और करेंगे श्रेष्ठ पुरुष उन सब को सद्धर्म्मरहित और नास्तिक नाम देवें।

"मेरे आश्रित पुरुष शिक्षापत्री का हररोज़ पाठ करें और जो विद्याहीन हों वे प्रीति से उस का श्रवण करें और जो श्रवण करना भी न बने तो इस

शिक्षापत्री की अत्यन्त प्रीति से पूजा करें और इसको मेरी वाणी तथा मेरा रूप जानें। इस पत्री को दैवीमार्गी पुरुष को देवें किन्तु किसी असुर को न देवें"।

वेद का पढ़ना सुनना छोड़कर सहजानन्द आदि के बनाये हुए शिक्षापत्री आदि कपोलकल्पित पुस्तकों को पढ़ने और सुनने से अधिक पाप लगता है।

इस जड़, व्यर्थ पुस्तक की पूजा करने का उपदेश देने में अयोग्यता मालूम पड़ती है। वाणी कभी जीवरूप बनती नहीं। परम प्रीति से शिक्षापत्री का सत्कार करें ऐसा जो सहजानन्द ने कहा सो सत्कार करने के बदले परम प्रयत्न से इस अशुद्ध पत्रिका का खण्डन करें। इस प्रकार कथन में सहजानन्द का मूल मतलब अज्ञानी और बालकों को भ्रमा कर उनसे धनादि पदार्थों का छीन लेना है। जो दैवीमार्गी होगा वह तो शिक्षापत्री को हाथ में पकड़ेगा भी नहीं। जो मनुष्य विद्यारहित असुर सम्प्रदाय को स्वीकार करता है उन मनुष्यों के सम्प्रदाय को सम्प्रदाह नाम देना चाहिये। क्योंकि ऐसा सम्प्रदाय अन्धकाररूप है। जिसमें विद्या और विज्ञान का सत्यानाश हो जाय उसका नाम सम्प्रदाह पड़ता है। वर्त्तमान में जितने विरुद्ध सम्प्रदाय हैं उन सब को सम्प्रदाह नाम देना चाहिये।

प्रश्न—मरण समय में सहजानन्द अपने शिष्यों का हाथ पकड़ विमान पर चढ़ा के वैकुण्ठ ले जाता है और परम सुख देता है इत्यादि गपोड़ा सहजानन्द के शिष्यों के द्वारा सुना जाता है वह सत्य है कि मिथ्या ?।

उत्तर—बिलकुल मिथ्या दीखता है। क्योंकि जो पुरुष मर गया वह फिर से आकर प्रथम शरीर धारण कर ही नहीं सकता। जो कभी वैसा करने में समर्थ हो तो सम्प्रदाय वालों ने छल कपट से जो पुष्कल द्रव्य इकट्ठा किया है उसको भोगने के लिये भी अवश्य आना चाहिये। अतः समझना चाहिये कि सहजानन्द आदि धूर्त्त अज्ञानी मनुष्यों को मोह में डालने के अर्थ ऐसे २ कथन करते हैं।

अपने शिष्यों के हाथ पर लोह का खण्ड दाग कर चक्र आदि चिह्नों के करने से सहजानन्द के सम्प्रदाय वालों को अत्यन्त पाप लगेगा। जो बगुलाभगत हैं वे स्त्रीदर्शन और धातुस्पर्श नहीं करते। गृहस्थ आचार्य लोभ के हेतु से मन्दिर बांध कपट से द्रव्य आदि पदार्थों का छीन लेते हैं। दो २ विवाह करना आदि धर्म जिस सम्प्रदाय में होते हों उसमें कल्याण की आशा किसी सज्जन पुरुष को कभी नहीं रखनी चाहिये।

समाप्त

शताब्दी-संस्करण

Prem Bahadur Varma
12.6.26.

भ्रमोच्छेदनम्

पृष्ठ ८४७—८६६.

भ्रमोच्छेदनम्

—:o:—

आवृत्ति	सन् ई०	संख्या
प्रथम	... १८८० ...	१०००
द्वितीय	... १८८७ ...	१०००
तृतीय	... १८९७ ...	२०००
चतुर्थ	... १९१३ ...	१०००
पंचम	... १९१६ ...	१०००
शताब्दीसंस्करण	१९२४ ...	१०,०००
		१६,०००

ओ३म्

भ्रमोच्छेदन

अविद्वानों का

मैंने राजा * शिवप्रसाद सितारहहिन्द की बुद्धि और चतुराई की प्रशंसा सुन के चित्त में चाहा कि कभी उनसे समागम होकर आनन्द होवे। जैसे पूर्व समय में, बहुत ऋषि मुनि विद्वानों के बीच, प्रज्ञासागर बृहस्पति महर्षि हुए थे, क्या पुनरपि वे हीं, महा अविद्यान्धकार के प्रचार से नाना प्रकार के अन्यान्य विरुद्ध मतमतान्तर के इस वर्त्तमान समय में, शरीर धारण करके प्रकट तो नहीं हुए हैं ?।

देखना चाहिये कि जैसा इनको मैं सुनता हूं वैसे ही वे हैं वा नहीं ऐसी इच्छा थी। यद्यपि मैंने संवत् १६२६ से लेके पांच वार काशी में जाकर निवास भी किया था परन्तु कभी उनसे ऐसा समागम न हुआ † था कि कुछ वार्तालाप होता। मैं प्रस्तुत संवत् १६३६ कार्तिक सुदी १४ गुरुवार को काशी में आकर महाराजे विजयनगराधिपति के आनन्दबाग़ में निवास करता था। इतने में मार्गशीर्ष सुदी में अकस्मात् राजा शिवप्रसादजी, प्रसिद्ध एस्. एच्. कर्नल ऑलकाट् साहब और एच्. पी. मेडम ब्लेवेस्तकी को मिलने के लिये, आनन्दबाग़

---

* जो राजा शिवप्रसादजी अपने लेख पर स्वामी विशुद्धानन्दजी का हस्ताक्षर न कराते तो मैं इस पर एक अक्षर भी न लिखता। क्योंकि उनको तो संस्कृत विद्या में शब्दार्थसम्बन्धों के समझने का सामर्थ्य ही नहीं है। इसलिये जो कुछ इस पर लिखता हूं सब स्वामी विशुद्धानन्दजी की ओर ही समझा जावे।

† एक वार सय्यद अहमदखां सदरसुदूरजी की कोठी पर दूर से देखा था पर वार्त्तालाप नहीं हुआ।

में आ, उनने मुझ से मिलकर कहा कि मैं एक साहब और मेडम से मिला चाहता हूं। सुनकर मैंने एक मनुष्य को भेज राजासाहब की सूचना कराई और जबतक उक्त साहब के साथ राजाजी न उठगये तबतक जितनी मैं अपने पत्र में लिख चुका हूं उनसे बातें हुईं। परन्तु शोक है कि जैसा मेरा प्रथम निश्चय राजाजी पर था वैसा उनको न पाया *। मन में विचारा कि जितनी दूसरे के मुख से बात सुनी जाती है सो सब सच नहीं होती।

राजाजी लिखते हैं कि स्वामीजी की बात सुनकर मैं भ्रम में पड़ गया। यहां बुद्धिमानों को विचारना चाहिये कि क्या मेरी बात का सुनना ही राजाजी को बड़े संदेह में पड़ने का निमित्त है और उनकी कम समझ और आलस्य कारण नहीं है †। जब कि उनको सन्देह ही छुड़ाना था तो मेरे पास आके उत्तर सुन के यथाशक्ति सन्देह निवृत्त कर आनन्दित होना योग्य न था ?। जैसा कोमल लेख उन के पत्र में है वैसा भीतर का अभिप्राय नहीं ‡। किन्तु इस में प्रत्यक्ष छल ही विदित होता है। देखो मार्गशीर्ष से लेके वैशाख कृष्ण एकादशी बुधवार पर्यन्त सवा चार मास उनके मिलने के पश्चात् मैं और वे काशी में निवास करते थे। क्यों न मिलके सन्देह निवृत्त किये ?। जब मेरी यात्रा सुनी तभी पत्र भेज के प्रत्युत्तर क्यों चाहे ?। मेरे चलने समय प्रश्न पूछना, मेरे बुलाये पर भी उत्तर सुनने न आना, सवाचार महीने पर्यन्त चुप होके बैठे रहना, और मेरे काशी से चले आने पर अपनी व्यर्थ बड़ाई के लिये पुस्तक छपवाकर काशी में और जहां तहां भेजना, कि काशी में कोई भी विद्वान् स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने में समर्थ न हुआ किन्तु एक राजा शिवप्रसादजी ने किया। ऐसी प्रसिद्धि होने पर सब लोग मुझको विद्वान् और बुद्धिमान् मानेंगे ऐसी इच्छा का विदित कराना आदि हेतुओं से क्या उनकी अयोग्यता की बात

* राजाजी की वाचालता बहुत बड़ी और समझ अति छोटी देखी।

† कोई कितना ही बड़ा विद्वान् हो परन्तु अविद्वान् मनुष्य को विद्या की बातें विना पढ़ाये कभी न समझा सकता, न वह विना पढ़े समझ सकता है।

‡ हाथी के खाने के दांत भीतर और दिखाने के बाहर होते हैं।

नहीं है ? *। भला ऐसे मनुष्यों से किसी विद्वान् को उचित है कि बात और शास्त्रार्थ करने में प्रवृत्त होवे ? ऐसे कपट छल के व्यवहार न करने में मनुजी की भी साक्षी अनुकूल है।

अधर्मेण तु यः प्राह यश्चाऽधर्मेण पृच्छति।
तयोरन्यतरः प्रैति विद्वेषं वाधिगच्छति ॥

अर्थ—(यः) जो (अधर्मेण) अर्थात् अन्याय, पक्षपात, असत्य का ग्रहण, सत्य का परित्याग, हठ, दुराग्रह से वा जिस भाषा का आप विद्वान् न हो उसी भाषा के विद्वान् के साथ शास्त्रार्थ किया चाहे और उस भाषा के सच झूठ की परीक्षा करने में प्रवृत्त होवे और कोई प्रतिवादी सत्य कहे उसका निरादर करे इत्यादि अधर्म कर्म से युक्त होकर छल कपट से † (पृच्छति) पूछता है, (च) और (यः) जो (अधर्मेण) पूर्वोक्त प्रकार से (प्राह) उत्तर देता है, ऐसे व्यवहार में विद्वान् मनुष्य को योग्य है कि न उससे पूछे और न उस को उत्तर देवे। जो ऐसा नहीं करता तो पूछने वा उत्तर देने वाले दोनों में से एक मर जाता है (वा) अथवा (विद्वेषम्) अत्यन्त विरोध को (अधि, गच्छति) प्राप्त होकर दोनों दुःखित होते हैं।

जब इस वचनानुसार राजाजी को अयोग्य जानकर लिख के उत्तर नहीं दिये ‡ तो फिर क्या मैं ऐसे मनुष्यों से शास्त्रार्थ करने को प्रवृत्त हो सकता हूं ?। हां मैं अपरिचित मनुष्यों के साथ चाहे कोई धर्म से पूछे अथवा अधर्म

* जो राजाजी प्रश्नों के उत्तर चाहते तो ऐसी अयोग्य चेष्टा क्यों करते। जब मैंने उनकी अन्यथा रीति जानी तभी उनसे पत्रव्यवहार आगे को न चलाया, क्योंकि उनसे संवाद चलाना व्यर्थ देखा।

† जिसके आत्मा में और, और जिसके बाहर कुछ और होवे वह छली कहाता है।

‡ जो जिस बात के समझने और जिस काम के करने में सामर्थ्य नहीं रखता वह उसका अधिकारी नहीं हो सकता।

से उन सबों के समाधान करने को एक वार तो प्रवृत्त हो ही जाता हूं। परन्तु उस समय जिसको अयोग्य समझ लेता हूं जबतक वह अपनी अयोग्यता को छोड़कर न पूछता और न कहता है तबतक उससे सत्याऽसत्यनिर्णय के लिये कभी प्रवृत्त नहीं होता हूं। हां जो सब विद्वानों को योग्य है वह काम तो करता ही हूं, अर्थात् जब २ अयोग्यपुरुष मुझ से मिलता वा मैं उससे मिलता हूं तब २ प्रथम उसकी अयोग्यता के छुड़ाने में प्रयत्न करता हूं। जब वह धर्मात्मता से योग्य होता है तब मैं उसको प्रेम से उपदेश करता हूं। वह भी प्रेम से पूछके निस्सन्देह होकर आनन्दित होजाता है *। अब जो राजा शिवप्रसादजी ने स्वामी विशुद्धानन्दजी की सम्मति लिखा, ज्येष्ठ महीने में निवेदनपत्र छपवा के प्रसिद्ध किया है उसी के उत्तर में यह पुस्तक है।

इसमें जहां २ (रा०) यह चिह्न आवे वहां २ राजा शिवप्रसादजी और इसके आगे जो २ लेख हो वह २ उन्हीं की ओर से समझना और जहां २ (स्वा०) यह संकेत लिखा है वहां २ स्वामी दयानन्द सरस्वती और इसके आगे उन्हीं का लेख जानना योग्य है।

रा०–जितना महाराजजी के मुखारविन्द से सुना था बड़े सन्देह का कारण हुआ, निवृत्त्यर्थ पत्र लिखा, महाराजजी ने कृपा करके उत्तर दिया, उसे देख मेरा सन्देह और भी बढ़ा, महाराजजी के लिखे अनुसार ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका मंगा के पृष्ठ ९ से ८८ † तक देखा, विचित्र लीला दिखाई दी, आधे २ वचन जो अपने अनुकूल पाये ग्रहण किये हैं, शेषार्द्ध का जो प्रतिकूल पाये परित्याग, ‡ उन आधे अनुकूल में भी जो कोई शब्द अपने भाव से विरुद्ध देखे उनक

---

* कोई भी वैद्य जबतक रोगी के आँखों की पीड़ा सोजा और मलीनता दूर नहीं कर देता तबतक उसको दिखला भी नहीं सकता। परन्तु जिसके नेत्र ही फूटगये हैं उसको तो कुछ भी दिखलाने का उपाय नहीं है।

† शताब्दी संस्करण पृष्ठ २६८ से ३६६ तक।

‡ देखिये राजाजी की अद्भुत लीला। मैंने जो वेदार्थ के अनुकूल लिखा है उस को मेरे अनुकूल और जो वेदार्थ प्रकरण के प्रतिकूल का त्याग किया है

अर्थ पलट दिये मनमाने लगा लिये *, परन्तु आपने याज्ञवल्क्यजी का यह वाक्य आधा ही अपना उपयोगी समझ क्यों लिखा ? क्या इसीलिये कि शेषार्द्ध वादी का उपयोगी है ।

स्वा०—क्या मेरी बात ही सन्देह की बढ़ानेहारी है उनकी अल्प समझ और आलस्य नहीं है ? । और यह भी सच है कि जब २ अविद्वान् होकर विद्वान् के बनाये ग्रंथ को देखने लगता है तब २ काच के मंदिर में प्रविष्ट हुए श्वान के समान भूंस २ सुख के बदले दुःख ही पाया करता है ।

विदित हो कि जहां जितने वाक्य के भाग के लिखने की योग्यता हो उतना ही लिखना उचित होता है न अधिक न न्यून । जिसलिये यह वेदभाष्य की भूमिका है इसलिये उस वाक्यसमूह में से जितना वेदों का उपयोगी लिखना उचित था उतना ही लिखा है । जो इतिहासादि में से जिस किसी की व्याख्या करनी होती तो वहां उस २ भाग का लिखना भी योग्य था । प्रकरणविरुद्ध लिखना विद्वानों का काम नहीं † । सब विद्वान् इस बात को निश्चित जानते हैं कि पदों का पद, वाक्यों का वाक्य, प्रकरणों का प्रकरण और ग्रन्थों का ग्रंथों ही के साथ सम्बन्ध होता ही है । जब ऐसा है तब राजाजी को अपनी

उसको मेरे प्रतिकूल समझते हैं । इसीलिये राजाजी विद्यारहस्य को कुछ भी नहीं समझते हैं । क्योंकि उनको भी ऐसा ही करना पड़ता है ।

* जैसी राजाजी की समझ है वैसी किसी छोटे विद्यार्थी की भी नहीं हो सकती, क्योंकि जो २ व्याख्येय शब्दार्थ के विरुद्ध का छोड़ना और अनुकूल का ग्रहण करना सब को योग्य होता है उस २ को वे उलटा समझते हैं । और फिर कोई उदाहरण भी नहीं लिखते कि इसका अर्थ उलटा वा मनमाना किया । क्या ज्वरयुक्त मनुष्य के लिये कुपथ्य का त्याग और सुपथ्य का ग्रहण कराना वैद्य का दोष है । और मैंने तो अपनी समझ के अनुसार जो कुछ लिखा है सो सब शास्त्रानुकूल ही है । उसको उलटा वा मनमाना लगा लेना जो समझते हैं यह उनकी समझ का दोष है ।

† जैसे कोई प्रमत्त अर्थात् पागल पगड़ी पग पर और जूते शिर पर धरता है वैसा काम विद्वान् कभी नहीं कर सकता ।

बात की पुष्टि के लिये सब पद, सब वाक्य, सब प्रकरण और सब ग्रंथों का प्रमाणार्थ एकत्र लिखना उचित हुआ। क्योंकि यह उन्हीं की प्रतिज्ञा है * कि आधा छोड़ना और आधा लिखना किसी को योग्य नहीं। और जो राजाजी संपूर्ण का लिखना उचित समझते हैं सो यह बात अत्यन्त तुच्छ और असम्भव है। ऐसी बात कोई बालबुद्धि मनुष्य भी नहीं कह सकता। देखिये फिर यही उनकी अविद्वत्ता उलटा उनको मिथ्यादोषों में पकड़कर गिराती रहती है अर्थात् जो मिथ्या दोष वे मेरे लेख पर देते हैं उन्हीं में आप डूबे हैं।

यहां जब कोई मनुष्य राजाजी से पूछेगा कि आप जो स्वामी दयानन्दसरस्वतीजी की बनाई भूमिका में दोष देते हैं वही आप के (अन्धेनैव नीयमाना यथाऽन्धाः) इस लेख में भी आते हैं। इसकी वाक्यावली † तो ऐसी है (अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः। जङ्घन्यमाना अपि यन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथाऽन्धाः) फिर आपने इस वाक्यावली में से पूर्व के तीन भाग छोड़, चौथे भाग को क्यों लिखा ?। तब राजासाहब घबड़ा कर मौन ही साध जायंगे। क्योंकि वे वाक्यावली में से प्रकरणोपयोगी एक ही भाग का लिखना उचित नहीं समझते, चाहे प्रकरणोपयोगी हो वा न हो। किन्तु पूरी वाक्यावली लिखना योग्य समझते हैं ‡, जो ऐसा न समझते तो (एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानीष्टं हुतमाशितं पायितमयं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निःश्वसितानि) इस वाक्यसमुदाय को स्वामिजी ने नहीं लिखा यह मिथ्या दोष क्यों लगाते। पर विचारे क्या करें। उन्होंने न कभी

---

* मेरी प्रतिज्ञा तो यह है कि जहां जितना लिखना योग्य हो वहां उतना ही लिखना।

† चेत करना चाहिये यह उलटी समझ राजाजी की है कि जो अनेक वाक्यों को एक वाक्य समझना।

‡ ऐसा असंभव वचन किसी विद्वान् के मुख से नहीं निकल सकता है और न हाथ से लिखा जा सकता है।

किसी से वाक्य का लक्षण सुना और न पढ़कर जाना है। जो सुना वा जाना होता तो (एवं वा०) इससे लेके (निःश्वसितानि) इस अनेक वाक्य के समुदाय को एक वाक्य क्यों समझते *। देखिये यह महाभाष्य में वाक्य का लक्षण लिखा है (एकतिङ्वाक्यम्) जिसके साथ एक तिङन्त के प्रयोग का सम्बन्ध हो वह वाक्य कहाता है। जैसे (एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य विभोः परमेश्वरस्य साक्षाद्वा परम्परासम्बन्धादेतत्सर्वं वक्ष्यमाणमनेकवाक्यवाच्यं निःश्वसितमस्तीति) एक और (पूर्वोक्तस्य सकाशादृग्वेदो निःश्वसितोऽस्तीति) दूसरा वाक्य है। इसी प्रकार इस कंडिका में २० वाक्य तो पठित हैं और आकांक्षित वाक्य (त्वं विद्धि) इत्यादि ऊपर से और चकार से इन्हीं के अविरुद्ध अपठित उपयोगी अनेक अन्य वाक्य भी अन्वित होते हैं। क्या जिनको वाक्य का बोध न हो उनको पदार्थ और वाक्यार्थ का बोध, जिन को पदार्थ और वाक्यार्थ का बोध न हो उन को प्रकरणार्थ और ग्रन्थ के पूर्व पदार्थ का बोध होने की आशा कभी हो सकती है †। इसलिये जो राजाजी को दूसरे पत्र में मैंने लिखा है सो बहुत ठीक वा सत्य है कि इससे मुझ को निश्चित हुआ कि राजाजी ने वेदों से लेके पूर्वमीमांसा पर्य्यन्त विद्यापुस्तकों में से किसी भी पुस्तक के शब्दार्थ सम्बन्धों को जाना नहीं है ‡। इसलिये उन को मेरी बनाई भूमिका का अर्थ भी ठीक २ विदित न हुआ।

* जो राजाजी विद्या में वास कर अविद्या से पृथक् होते तो उन के मुख से ऐसी असंभव बात कभी न निकलती।

† राजाजी ने समझा होगा कि मैं बड़ा बुद्धिमान् हूं। हां (अन्धानां मध्ये काणो राजा) यहां इस न्याय के तुल्य तो चाहे कोई समझ लेवे।

‡ ईश्वरोक्त चार वेद स्वतःप्रमाण और ब्रह्मा से लेके जैमिनि पर्यन्त ऋषि मुनि और ऐतरेय ब्राह्मण से लेके पूर्वमीमांसा पर्यन्त ग्रन्थों की गणना से कोई भी आर्ष पुस्तक पढ़ना बाक़ी नहीं रहता कि जिसका परतःप्रमाण में ग्रहण न होसके, क्योंकि ग्रन्थकारों में जैमिनि सब के पश्चात् हुए हैं और पुस्तकों में पूर्वमीमांसा सब से पीछे बनाया गया है। इसलिये जो राजाजी ने नोट में (स्वामीजी ने पूर्वमीमांसा पर्यन्त पढ़ा होगा) लिखा है सो भ्रम से ही है।

क्या अब जिसको थोड़ीसी भी बुद्धि होगी वह राजासाहब को शास्त्रों के तात्पर्यार्थज्ञानशून्य जानने में कुछ भी शङ्का रख सकता है ? । यहां चोर कोट-पाल को दंडे यह कहानी चरितार्थ होती है, कि जो (अन्धेनैव नीयमाना यथाऽन्धाः) के समान स्वयं राजाजी और उनके विचारानुकूल चलने वाले होकर भ्रम से इसके अर्थ को मेरी बनाई भूमिका और मेरे उपदेश को मानने हारे पर झोंक देते हैं । क्या यह उलट पलट नहीं है ? । इससे मैं सब आर्यसज्जनों को विदित कराता हूं कि जो अपना कल्याण चाहें वे उनके व्यर्थ वाक्याडम्बर जाल में बद्ध हो अपने मनुष्यजन्म के धर्मार्थ काम मोक्ष फलों से रहित होकर दुःख-दुर्गन्धसागररूप घोर नरक में गिरकर चिरकाल दारुण दुःख भोग न करें, और सर्वानन्दप्रद वेद के सत्यार्थप्रकाश में स्थिर होकर सर्वानन्दों का भोग न छोड़ बैठें । अब जो स्वामी विशुद्धानन्दजी की पक्षपात रहित विद्वत्ता की परीक्षा बाक़ी है सो करनी चाहिये ।

रा०—श्रीमत्पण्डितवर * बालशास्त्रीजी ता बाहर गये हैं परमपूजनीय जगद्गुरु † श्रीस्वामी विशुद्धानन्दजी के चरणों में पहुंच जा पत्र और उत्तरों को देखकर बहुत हंसे ‡ और पिछले उत्तर पर जिस में इन दोनों महात्माओं का नाम है कुछ लिखवा भी दिया स्वामी विशुद्धानन्दजी का लिखवाया राजा साहब के प्रश्नों का उत्तर दयानन्द से नहीं बना इति ।

स्वा०—जिनका पक्षी पक्षपातान्धकार से विचारशून्य हो उनके साक्षी तत्सदृश क्यों न हों । क्या यथाबुद्धि कुछ विद्वान् होकर स्वामी विशुद्धानन्दजी को योग्य था कि ऐसे अशास्त्रवित्, अव्युत्पन्न, व्यर्थ वैतण्डिक मनुष्य के अत्यन्त

* काशी के पण्डितों में तो बालशास्त्रीजी किसी प्रकार श्रेष्ठ हो सकते हैं भूगोलस्थ पण्डितों में नहीं ।

† जगत् में जो २ उनके शिष्यवर्ग में हैं उन २ के परमपूजनीय और गुरु होंगे सब के क्योंकर हो सकते हैं ।

‡ जो कुछ भी पत्रों के अभिप्राय को समझते तो हास करके अयोग्यपत्र पर सम्मति क्यों लिख बैठते ।

अयुक्त लेख पर विना सोचे समझे सम्मति लिख देवें । और इससे सजातीय-प्रवाहपतन न्याय करके यह भी विदित हुआ कि स्वामी विशुद्धानन्दजी भी राजाजी के तुल्यता की उपमा के योग्य हैं । मैं स्वामी विशुद्धानन्दजी को चिताता हूं कि आगे कभी ऐसा निर्बुद्धिता का काम न करें * । भला मैंने तो राजाजी को संस्कृत विद्या में अयोग्य जानकर लिख दिया है कि आप ने जिसलिये वेदादि विद्या के पुस्तकों में से एक का भी अभ्यास नहीं किया है जो तुम को उत्तर ग्रहण की इच्छा हो तो मेरे पास आके सुन समझ कर अपनी बुद्धि के योग्य ग्रहण करो । आप दूर से वेदादि विषयक प्रश्न करने और उत्तर समझने योग्य नहीं हो सकते । इसीलिये उनको लिखके यथोचित उत्तर न भेजे और न भेजूँगा। यह बात भी मेरे दूसरे पत्र से प्रसिद्ध है कि जो वे वेदादिशास्त्रों में कुछ भी विद्वान् होते तो मेरी बनाई भूमिका का कुछ तो अर्थ समझ लेते † । न ऐसी किसी की योग्यता है कि अन्धे को दिखला सके । यह भी मैं ठीक जानता हूं कि स्वामी विशुद्धानन्दजी भी वेदादि शास्त्रों में विद्वान् नहीं, किन्तु नवीनटीकानुसार दश उपनिषद्, शारीरिक और पूर्वमीमांसा सूत्र और प्राचीन आर्षग्रन्थों से विरुद्ध कपोलकल्पित तर्कसंग्रहादि ग्रन्थों का अभ्यास तो किया है । परन्तु वे भी नशा से ‡ विस्मृत होगये होंगे । तथापि उनका संस्कारमात्र तो ज्ञान रहा ही होगा । इसलिये वे संस्कृत के पदवाक्यप्रकरणार्थों को यथाशक्ति जान सकते हैं । परन्तु न जाने उन्होंने राजाजी के अयोग्य लेख पर क्योंकर साक्षी लिखी, अस्तु । जो किया सो किया, अब आगे को वे वा बालशास्त्रीजी जिसके उत्तर वा

---

* जो कोई विना विचारे कर बैठता है उसको बुद्धिमान् प्राज्ञ नहीं कहते।

† यह तो सच है कि जो मनुष्य योग्य होकर समझना चाहता है वह समझ भी सकता है।

‡ सुना है कि स्वामी विशुद्धानन्दजी भांग और अफीम का सेवन करते हैं । जो ऐसा है तो अवश्य उनको विद्या का स्मरण न रहा होगा । जो मादक द्रव्य होते हैं वे सब बुद्धिनाशक होते हैं । इससे सब को योग्य है कि उनका सेवन कभी न करें ।

प्रश्नों पर हस्ताक्षर करके मेरे पास अपनी ओर से भेज दिया करें और यह भी समझ रक्खें कि जो प्रश्नोत्तर उनके हस्ताक्षरयुक्त आवेंगे वे उन्हीं की ओर से समझे जावेंगे। जैसा कि यह निवेदनपत्र का लेख स्वामी विशुद्धानन्दजी की ओर से समझा गया है। इसीलिये वे तीनों स्वामी सेवक मिलकर प्रश्नों को विचार शुद्ध लिख कर मेरे मुंशी बख्तावरसिंहजी के पास भेज दिया करें। मेरा मुंशी आपकी ओर से यह लेख है वा नहीं इस निश्चय के लिये पत्रद्वारा आप से संमतिपत्र मंगवा के मेरे पास भेज दिया करेगा और मेरा लेख भी मेरे हस्ताक्षर सहित अपने हस्ताक्षर करके पत्रसहित उनके पास भेज दिया करेगा। वे लोग राजाजी आदि को समझाया करें और वे आप से मेरे लेखाभिप्राय को समझ लिया करें। जो इस पर भी आप लोग परस्पर विचार करने में प्रवृत्त न होंगे तो क्या सब सज्जन लोग आप लोगों को भी अयोग्य न समझ लेंगे। क्योंकि जो स्वपक्ष के स्थापन और परपक्ष के खण्डन में प्रवृत्त न होकर केवल विरोध ही मानते रहें वे अयोग्य कहाते हैं। इसलिये मैं सब को सूचना करता हूं कि जो मेरे पक्ष से विरुद्ध अपना पक्ष जानते हों तो प्रसिद्ध होकर शास्त्रार्थ क्यों नहीं करते? और टट्टी की आड़ में स्थित होकर ईंट पत्थर फेंकने वाले के तुल्य कर्म करना क्यों नहीं छोड़ते? और जो विरुद्ध पक्ष नहीं जानते हों तो अपने पक्ष को छोड़ मेरे पक्ष में प्रवृत्त होकर प्रीति से इसी पक्ष का प्रचार करने में उद्यत क्यों नहीं होते? *। जो ऐसा नहीं करके दूर ही दूर रह कर झूठे गाल बजाने और जैसे मेरे काशी से चले आये पर राजाजी के पत्र पर व्यर्थ हस्ताक्षर करने से उनने अपनी अयोग्यता प्रसिद्ध कराई वैसे जो वे मुझ से शास्त्रार्थ करेंगे तो प्रशंसित भी हो सकते हैं। ऐसे किये विना क्या वे लोग बुद्धिमान् धार्मिक विद्वानों के सामने अमाननीय और अप्रतिष्ठित न होंगे? । जो इस में एक बात न्यून रही है कि बालशास्त्रीजी भी इस पर अपनी सम्मति लिखते तो उनको भी राजा शिवप्रसाद और स्वामी विशुद्धानन्दजी के साथ दक्षिणा मिल-

---

* उन को अवश्य योग्य है कि सत्य के आचरण और असत्य के छोड़ने में प्रति दृढ़ोत्साहयुक्त हो के निन्दा स्तुति हानि लाभ आदि की प्राप्ति में शोक और हर्ष कभी न करें।

जाती। कहिये राजाजी! जो आप अपनी रक्षा के लिये स्वामी विशुद्धानन्दजी के चरणों में पहुंच कर पत्र दिखा, सम्मति लिखा, पुस्तक छपाकर, इधर उधर भेजने से भी न बच सके तो आप के जाट खाट और कोल्हू लौट कर आपही के शिर पर चढ़े वा नहीं?। अब इस बोझ के उतारने के लिये आप को योग्य है कि बालशास्त्रीजी के चरणों में भी गिर कर बचने का उपाय कीजिये और आप अपने विजय के लिये स्वामी विशुद्धानन्दजी और बालशास्त्रीजी को प्राड्विवाक अर्थात् बारिस्टर करना भी मत छोड़िये। अथवा उत्तम तो यह है कि वे दोनों आपको ढाल बनाकर न लड़ें किन्तु सन्मुख होकर शास्त्रार्थ करें। इसी में उनकी शोभा है, अन्यथा नहीं। परन्तु मैं आप और उन को निश्चित कहता हूं कि सब मिलकर कितना ही करो जब तक कोई मनुष्य झूठ छोड़ सत्यमत का ग्रहण नहीं करता, तबतक अपना और दूसरे का विजय कभी नहीं कर सकता और न करा सकता है। क्या दूसरे की वृथा प्रशंसा से हर्षित होकर स्वामी विशुद्धानन्दजी का बहुत हँसना बालकों का खेल नहीं है?। और जो कोई अपनी योग्यता के सदृश वर्त्तमान न करे वह संशयसमुद्र में मग्न होकर विनष्ट क्यों न होवे?।

अब मैं सूचना करता हूं कि बुद्धिमान् आर्य लोग, पक्षी राजाजी, और साक्षी विशुद्धानन्दजी के हास्यास्पद लेख को देख, उस पर विश्वास कर, इस (कास्ताः क्व निपतिताः) महाभाष्योक्तवचनार्थ के सदृश होकर, धर्मफल आनन्द से छूटकर दुर्गन्ध गढ़े और दुःखसागर में जा न गिरें।

रा०—हम केवल वेद की संहितामात्र मानते हैं। एक ईशावास्य उपनिषद् संहिता है और सब उपनिषद् ब्राह्मण हैं। ब्राह्मण हम कोई नहीं मानते सिवाय संहिता के हम और कुछ नहीं मानते हैं।

स्वा०—जैसा यह राजाजी का लेख है वैसा मैंने नहीं कहा था। किन्तु जैसा नीचे लिखा है वैसा कहा गया था। तद्यथा—

रा०—आपका मत क्या है?।

स्वा०—वैदिक।

रा०—आप वेद किसको मानते हैं ?।

स्वा०—संहिताओं को।

रा०—क्या उपनिषदों को वेद नहीं मानते ?।

स्वा०—मैं वेदों में एक ईशावास्य को छोड़ के अन्य उपनिषदों को नहीं मानता। किन्तु अन्य सब उपनिषद् ब्राह्मण ग्रन्थों में हैं, वे ईश्वरोक्त नहीं हैं।

रा०—क्या आप ब्राह्मण पुस्तकों को वेद नहीं मानते ?।

स्वा०—नहीं, क्योंकि जो ईश्वरोक्त है वही वेद होता है। जीवोक्त को वेद नहीं कहते। जितने ब्राह्मण ग्रन्थ हैं वे सब ऋषिमुनिप्रणीत और संहिता ईश्वर-प्रणीत है। जैसा ईश्वर के सर्वज्ञ होने से तदुक्त निर्भ्रान्त सत्य और मत के साथ स्वीकार करने योग्य होता है वैसा जीवोक्त नहीं हो सकता। क्योंकि वे सर्वज्ञ नहीं। परन्तु जो २ वेदानुकूल ब्राह्मण ग्रन्थ हैं उनको मैं मानता और विरुद्धार्थों को नहीं मानता हूं। वेद स्वतःप्रमाण और ब्राह्मण परतःप्रमाण हैं इससे जैसे वेदविरुद्ध ब्राह्मण ग्रन्थों का त्याग होता है वैसे ब्राह्मण ग्रन्थों से विरुद्धार्थ होने पर भी वेदों का परित्याग कभी नहीं हो सकता। क्योंकि वेद सर्वथा सब को माननीय ही हैं। यह मेरे पत्र का लेख उन के भ्रमजाल निवारण का हेतु विद्य-मान ही था। परन्तु मेरा लेख क्या कर सकता है जो राजाजी मेरे लेख को समझने की विद्या ही नहीं रखते तो क्या इस में राजाजी का दोष नहीं है ?।

रा०—वादी * कहता है जो संहिता ईश्वरप्रणीत है तो ब्राह्मण भी ईश्वर-प्रणीत हैं †।

* जब राजाजी वाद के लक्षणयुक्त ही नहीं हैं तो वादी क्योंकर बन सकते हैं।

† क्या विद्या और सुशिक्षारहित मनुष्य प्रश्न और उत्तर करना कभी जान सकता है ?।

स्वा०—देखिये राजाजी की मिथ्या आडम्बरयुक्त लड़कपन की बात को । जैसे कोई कहे कि जो पृथिवी और सूर्य ईश्वर के बनाये हैं तो घड़ा और दीप भी ईश्वर ने रचे हैं ।

रा०—और जो ब्राह्मण ग्रन्थ सब ऋषि मुनि प्रणीत हैं तो संहिता भी ऋषि मुनि प्रणीत हैं ।

स्वा०—यह भी ऐसी बात है कि जो कोई कहे कि ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका स्वामी दयानन्द सरस्वतीप्रणीत है तो ऋग्यजुः साम और अथर्व चारों वेद भी उन्हीं के प्रणीत हैं ।

रा०—वादी को आप अपना प्रतिध्वनि समझिये * ।

स्वा०—देखिये राजाजी की अविद्या के प्रकाश को । क्या प्रतिवादी का प्रतिध्वनि वादी कभी हो सकता है । क्योंकि जैसा शब्द और उस में जैसे पद अक्षर और मात्रा होती हैं वैसा ही प्रतिध्वनि सुनने में आता है विपरीत नहीं । कोई बालबुद्धि भी नहीं कह सकता कि वादी अपने मुख से प्रतिवादी ही के शब्दों को निकाले विरुद्ध नहीं । जबतक प्रतिवादी के पक्ष से विरुद्धपक्ष प्रतिपादन नहीं करता तबतक वह उसका वादी कभी नहीं हो सकता । जैसे कुआ में से प्रतिध्वनि सुना जाता है क्या वह वक्ता के शब्द से विरुद्ध होता है ? ।

रा०—आप ने लिखा वेदसंहिता स्वतःप्रमाण और ब्राह्मण परतःप्रमाण हैं । वादी कहता है कि जो ऐसा है तो ब्राह्मण ही स्वतःप्रमाण हैं आप का संहिता परतःप्रमाण होगा ।

स्वा०—क्या यह उपहास की बात नहीं है, जैसे कोई कहे कि सूर्य्य और दीप स्वतःप्रकाशमान हैं तो घटपटादि भी स्वतःप्रकाशमान हैं ।

* जो मैं राजाजी के सदृश होता तो वादी को अपना प्रतिध्वनि समझता । क्योंकि प्रतिध्वनि, ध्वनि से विरुद्ध कभी नहीं हो सकती और वादी प्रतिवादी से अविरुद्ध कभी नहीं हो सकता ।

रा०--आपने लिखा कि मेरी बनाई हुई ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के नव (९) पृष्ठ से लेके अट्ठासी (८८) पृष्ठ * तक वेदोत्पत्ति, वेदों का नित्यत्व और वेद-संज्ञा विचार विषयों को देख लीजिये निश्चय होगा। सो महाराज! निश्चय के पलटे मैं तो और भी भ्रांति में पड़गया। मुझे तो इतना ही प्रमाण चाहिये कि आप ने संहिता को माननीय मानकर ब्राह्मण का क्यों परित्याग किया। और वादी तो संहिता जैसा ब्राह्मण को वेद मान जो आप ने वेद के अनुकूल लिखा अपने अनुकूल और जो ब्राह्मण के प्रतिकूल लिखा उसे संहिता के भी प्रतिकूल समझता है।

स्वा०-यह सच है कि जो अविद्वान् होकर विद्वत्ता का अभिमान करे वह अपनी अयोग्यता से सुख छोड़कर दुःख क्यों न पावे। मैंने वेदों को स्वतः-प्रमाण मानने और ब्राह्मणों को परतःप्रमाण मानने में कारण इस भ्रमोच्छेदन के २१ पृष्ठ † में आगे लिखे हैं। क्या वांचते समय अकस्मात् बुद्धि और आंखें अन्धकारावृत होगये थे। परन्तु जो २ वेदानुकूल ब्राह्मणग्रन्थ हैं उन को मैं मानता और विरुद्धार्थों को नहीं मानता हूं। वेद स्वतःप्रमाण और ब्राह्मण परतः-प्रमाण हैं। इससे जैसे वेदविरुद्ध ब्राह्मणग्रन्थों का त्याग होता है वैसे ब्राह्मण-ग्रन्थों से विरुद्ध होने पर भी वेदों का परित्याग नहीं हो सकता, क्योंकि वेद सर्वथा सब को माननीय हैं।

रा०-तस्माद्यज्ञात् अजायत अर्थात् उस यज्ञ से वेद उत्पन्न हुए पृष्ठ १० पङ्क्ति २९ में आप शतपथ आदि ब्राह्मण का प्रमाण देकर यह सिद्ध करते हैं कि यज्ञ विष्णु और विष्णु परमेश्वर।

स्वा०-जो राजाजी कुछ भी संस्कृत पढ़े होते तो सन्निपाती के सदृश चेष्टा करके भ्रमजाल में न पड़ते। क्योंकि तच्छब्द सर्वत्र पूर्वपरामर्शक होता है। इसी से मैंने (सहस्रशीर्षा पुरुषः) यहां से लेके (ग्राम्याश्च ये) यहां तक जो छः

* शताब्दीसंस्करण पृ० २६८ से ३६६ तक।

† शताब्दी संस्करण पृ० ८६० से ८६१ तक तथा भ्रमोच्छेदन पृ० १२ देखो। पृ० २१ का निर्देश भ्रमोच्छेदन की हस्तलिखित कापी का है।

मन्त्रों से प्रतिपादित निमित्तकारण परमात्मा पूर्वोक्त है उसका आमर्ष अर्थात् अनुकर्षण करके अन्वित किया है। देखो इसी के आगे भूमिका के पृष्ठ ९ पंक्ति १३ * तस्माद्यज्ञात्स० तस्माद्यज्ञात्सच्चिदानन्दादिलक्षणात्पूर्णात्पुरुषात् सर्वहुतात् सर्वपूज्यात् सर्वशक्तिमतः परब्रह्मणः (ऋचः) ऋग्वेदः (यजुः) यजुर्वेदः (सामानि) सामवेदः (छन्दांसि) अथर्ववेदश्च (जज्ञिरे) चत्वारो वेदास्तेनैव प्रकाशिता इति वेद्यम्। यह सर्वहुत और यज्ञ विशेषण पूर्ण पुरुष के हैं। (तस्मात्) अर्थात् जो सब का पूज्य सर्वोपास्य सर्वशक्तिमान् पुरुष परमात्मा है उससे चारों वेद प्रकाशित हुए हैं इत्यादि से यहां वेदों ही के प्रमाण से चार वेदों को स्वतःप्रमाण से सिद्ध किया है। यद्यपि यहां यज्ञ शब्द भी पूर्ण परमात्मा का विशेषण है तथापि जैसा मैंने अर्थ किया है वैसा ब्राह्मण में भी है। इस साक्षी के लिये (यज्ञो वै विष्णुः) यह वचन लिखा है। और जो ब्राह्मण में मूल से विरुद्ध अर्थ होता तो मैं उसका वचन साक्षी के अर्थ कभी न लिखता। जो इस प्रकार से पद, वाक्य, प्रकरण और ग्रन्थ की साक्षी, आकांक्षा योग्यता आसत्ति और तात्पर्यार्थ को पक्षी राजाजी और स्वामी विशुद्धानन्दजी जानते वा किसी पूर्ण विद्वान् की सेवा करके वाक्य और प्रकरण के शब्दार्थसम्बन्धों के जानने में तन मन धन लगा के अत्यन्त पुरुषार्थ से पढ़ते तो यथावत् क्यों न जान लेते †।

रा०—पृष्ठों को कुछ उलट पलट किया तो विचित्र लीला दिखाई देती है आप पृष्ठ ८० पङ्क्ति २६ ‡ में लिखते हैं कात्यायन ऋषि ने कहा है कि मन्त्र और ब्राह्मण ग्रन्थों का नाम वेद है। पृष्ठ ५२ ¶ में लिखते हैं प्रमाण ८ हैं और

---

* शताब्दीसंस्करण पृ० २६८ पं० २४ से।

† प्रसिद्ध है कि जो कोदों देके पढ़ते हैं वे पदार्थों को यथावत् कभी नहीं जान सकते।

‡ शताब्दीसंस्करण पृ० ३५७ पंक्ति ८।

¶ शताब्दीसंस्करण पृ० ३२२ पंक्ति ६।

फिर पृष्ठ ५३ * में लिखते हैं चौथा शब्दप्रमाण आप्तों के उपदेश, पांचवां ऐतिह्य सत्यवादी विद्वानों के कहे वा लिखे उपदेश। तो आप के निकट कात्यायन ऋषि आप्त और सत्यवादी विद्वान् नहीं थे) † ।

स्वा०—इस का प्रत्युत्तर मेरी बनाई ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के पृष्ठ ८० पङ्क्ति २८ से लेके पृष्ठ ८८ की पङ्क्ति १२ ‡ तक में लिख रहा है जो चाहे सो वहां देख लेवे। और जो वहां (एवं तेनानुक्तत्वात्) यह वचन लिखा है उस का यही अभिप्राय है कि (मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्) यह वचन कात्यायन ऋषि का नहीं है किन्तु किसी धूर्तराट् ने कात्यायन ऋषि के नाम से बनाकर प्रसिद्ध कर दिया है। जो कात्यायन ऋषि का कहा होता तो सब ऋषियों की प्रतिज्ञा से विरुद्ध न होता §। क्या आप जैसा कात्यायन को आप्त मानते हैं वैसा पाणिनि आदि ऋषियों को आप्त नहीं मानते ?। जो इन को भी आप्त मानते हो तो पाणिनि आदि आप्तों की प्रतिज्ञा से विरुद्ध कात्यायन ऋषि क्यों लिखते ?। और जो कहो कि हम इस वचन को कात्यायन का ही मानेंगे तो ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि आप पाणिनि आदि अनेक ऋषियों के लेख का तिरस्कार कर एक को आप्त कैसे मान सकते हो। और जो उनको भी आप्त मानते हो तो मन्त्रसंहिता ही वेद है उनके इस वचन को मानकर तद्विरुद्ध ब्राह्मण को वेद संज्ञा के प्रतिपादक वचन को क्यों नहीं छोड़ देते, क्योंकि एक विषय में परस्पर विरोधी दो वचन सत्य कभी नहीं हो सकते। और जो सैकड़ह आप्त ऋषियों को छोड़कर एक ही को आप्त मानकर सन्तुष्ट रहता है वह कभी विद्वान् नहीं कहा जा सकता।

---

* शताब्दीसंस्करण पृ० ३२३ पंक्ति १४।

† वे तो आप्त विद्वान् थे, परन्तु जिसने उनके नाम से वचन रचकर प्रसिद्ध किया वह तो अनाप्त अविद्वान् ही था।

‡ शताब्दीसंस्करण पृ० ३५७ पंक्ति ७ से पृ० ३६६ पंक्ति १७ तक।

§ हज़ारह आप्तों का एक अविरुद्ध मत होता है दो मूर्खों का भी एकमत होना कठिन है।

रा०—आप लिखते हैं कि ब्राह्मण में जमदग्नि कश्यप इत्यादि जो लिखे हैं सो देहधारी हैं अतएव वह वेद नहीं और संहिता में शतपथब्राह्मण के अनुसार जमदग्नि का अर्थ चक्षु और कश्यप का अर्थ प्राण है अतएव वह वेद है।

स्वा०—ब्राह्मणों में जमदग्नि आदि देहधारियों का नाम यों है कि जहां २ ब्राह्मण ग्रन्थों में उनकी कथा लिखी है वहां २ जैसे देहधारी मनुष्यों का परस्पर व्यवहार होता है वैसा उनका भी लिखा है। इसलिये वहां देहधारी का ग्रहण करना योग्य है। और जहां मनुष्यों के इतिहास लिखने की योग्यता नहीं हो सकती वहां इतिहास लिखने का भी सम्भव नहीं हो सकता। जो वेदों में इतिहास होते तो अनादि और सब से प्राचीन नहीं हो सकते, क्योंकि जिसका इतिहास जिस ग्रन्थ में लिखा होता है वह ग्रन्थ उस मनुष्य के पश्चात् होता है। जब कि वेदों में (त्र्यायुषं जमदग्नेः०) इत्यादि मन्त्रों की व्याख्या पदार्थविद्यायुक्त होनी ही उचित है इससे उनमें इतिहास का होना सर्वथा असम्भव है। जिसलिये जैसा मूलार्थ प्रतीत होने के कारण जमदग्नि आदि शब्दों से चक्षु आदि ही थों का ग्रहण करना योग्य है वैसा ही ब्राह्मणग्रन्थों और निरुक्त आदि में लिखा है। इसलिये यह मैंने अपने किये अर्थों के सत्य होने के लिये साक्ष्यर्थमात्र लिखा है। राजाजी जो इस बात को जानते और इन ग्रन्थों को पढ़े होते तो भ्रमजाल में फँसकर दुःखित न होते।

रा०—उस में भी क्या उपनिषद् संज्ञी और इतिहासपुराणादि संज्ञा है अथवा ऋग्वेदादि क्रमानुसार उनका संज्ञी वा संज्ञा है ?।

स्वा०—इस का उत्तर यह है कि एक ईशावास्य उपनिषद् तो यजुर्वेद का चालीसवां अध्याय होने से वेद है और केन से ले के बृहदारण्यकपर्यन्त नव (९) उपनिषद् ब्राह्मणान्तर्गत होने से उन की भी इतिहासादि संज्ञा "ब्राह्मणानीतिहास०" इस पूर्वोक्त वचन से है। इससे (एवं वा अरे०) इस वचन में निमित्तकारण कार्यसम्बन्ध होने से संज्ञासंज्ञीसम्बन्ध नहीं घट सकता। परन्तु राजासाहब के सदृश अविद्वान् तो (भुक्तमस्तीति वक्तव्यं दशहस्ता हरीतकी)

ऐसा लिखने वा कहने में कुछ भी भययुक्त वा लज्जावान् नहीं होते * ।

रा०—आप लिखते हैं कि ब्राह्मण वेदों के अनुकूल होने से प्रमाण के योग्य तो हैं, यदि आप इतना और मानलें कि सम्पूर्ण ब्राह्मणों का प्रमाण संहिता के प्रमाण के तुल्य है ।

स्वा०—अविद्वान् को कभी विद्यारहस्य के समझने की योग्यता नहीं हो सकती । क्या ऐसा कोई विद्वान् भी सिद्ध कर सकता है कि व्याख्या के अनुकूल होने से मूल का प्रमाण और प्रतिकूल से अप्रमाण, और व्याख्या के मूल से प्रतिकूल होने से प्रमाण और अनुकूल होने से अप्रमाण होवे ? । इसलिये मन्त्रभाग मूल होने से ब्राह्मण ग्रन्थों से अनुकूल वा प्रतिकूल हो तथापि सर्वथा माननीय होने के कारण स्वतःप्रमाण और ब्राह्मणग्रन्थ व्याख्या होने से मूलार्थ से विरुद्ध हों तो अप्रमाण और अनुकूल हों तो प्रमाण होकर माननीय होने के कारण परतःप्रमाण हैं । क्योंकि ब्राह्मणग्रन्थों में सर्वत्र संहिता के मन्त्रों की प्रतीक धर धर के पद वाक्य और प्रकरणानुसार व्याख्या की है । इसलिये मन्त्रभाग मूल व्याख्येय और ब्राह्मणग्रन्थ व्याख्या है ।

रा०—आप लिखते हैं—तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति । अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते । इसका अर्थ सीधा २ यह मान लेवें कि आप के चारों वेद और उन के छहों अङ्ग अपरा हैं, जो परा उससे अक्षर में अधिगमन होता है । अपना फिरावट का अर्थ वा अर्थाभास छोड़ दें । किमधिकमित्यलम् ।

स्वा०—यहां तक आप का जो ऊटपटांग लेख है उस को कौन शुद्ध कर सकता है, क्योंकि इसी भूमिका के पृष्ठ ४२ पङ्क्ति ३ † में 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' इस

* विद्यावृद्धि ही को अन्यथा कहने और लिखने में शर्म वा भ्रम होता है, अविद्यायुक्त बालकों को नहीं ।

† शताब्दीसंस्करण पृ० ३१० पंक्ति ३ ।

उपनिषद के वचन ने आप के सीधे २ अर्थ को टेढ़ा २ कर दिया। देखो यमराज कहते हैं कि हे नचिकेता! जिस का अभ्यास सब वेद करते हैं उस ब्रह्म का उपदेश तुझ से करता हूं, तू सुन कर धारण कर। जब ऐसा है तो वेदों अर्थात् मन्त्रभाग में परा विद्या क्यों नहीं ?। देखो "तमीशानं" इत्यादि मन्त्र ऋग्वेद। "परीत्य भूतानि" इत्यादि और "ईशावास्य" इत्यारभ्य "ओं खं ब्रह्म" पर्यंत मन्त्रयुक्त चालीसवां (४०) अध्यायस्थ मन्त्र यजुर्वेद। "दधन्वेवाय-दीमनुवोचदब्रह्मेति वेरुत्तत्" इत्यादि मन्त्र सामवेद। "महद्यक्षं" इत्यादि मन्त्र अथर्ववेद में हैं। जब वेदों में हजारह मन्त्र ब्रह्म के प्रतिपादक हैं जिन में से थोड़े मन्त्रों का अर्थ भी मैंने भूमिका के पृष्ठ ४३ पङ्क्ति ३१ से लेके पृ० ७७ पङ्क्ति ४ * की समाप्ति तक लिख रक्खा है जिसको देखना हो देख लेवे। भला इतना भी राजाजी को बोध नहीं है कि जो वेदों में परा विद्या न होती तो केन आदि उपनिषदों में कहां से आती ?। मूलं नास्ति कुतः शाखाः। क्या जो परमेश्वर अपने कहे वेदों में अपनी स्वरूपविद्या का प्रकाश न करता तो किसी ऋषि मुनि का सामर्थ्य ब्रह्मविद्या के कहने में कभी हो सकता था ?। क्योंकि कारण के विना कार्य होना सर्वथा असम्भव है। जो केन आदि नव उपनिषदों को पराविद्या में मानेंगे तो इन से भिन्न आयुर्वेद धनुर्वेद गान्धर्ववेद अर्थवेद और मीमांसादि छः शास्त्र आदि परा विद्या में क्यों नहीं ?। जब न इस वचन में उपनिषद् और न किसी अन्य ग्रन्थ का नाम लिखा है तो कोई उनका ग्रहण कैसे कर सकता है। भला कोई राजाजी से पूछेगा कि आपने (यया तदक्षर-माधिगम्यते सा पराविद्यास्ति) इस वाक्य से कौन से ग्रन्थों का नाम निश्चित किया है। क्या (यया) इस पद से कोई विशेष ग्रन्थ भी आ सकता है ?। और जो मैंने वेदों में परा और अपरा विद्या लिखी है उसको कोई विपरीत भी कर सकता है, कभी नहीं। इसलिये सब मनुष्यों को योग्य है कि जैसे राजाजी संस्कृत विद्या के वेदादि ग्रन्थों को न पढ़कर उन्हीं में प्रश्नोत्तर किया चाहते और जैसी स्वामी विशुद्धानन्दजी ने विना सोचे समझे सम्मति कर दी

* शताब्दीसंस्करण पृ० ३११ पङ्क्ति २४ से पृ० ३५२ पं० २० तक।

है वैसे साहस न करना चाहिये, किन्तु उस २ विद्या में योग्य हो के किसी से विचारार्थ प्रवृत्त होना चाहिये ।

प्रश्न–आप ने अपने दूसरे पत्र में राजाजी को लिख कर प्रश्न करने और उत्तर समझने में अयोग्य जान कर लिख के उत्तर देना चाहा न था फिर अब क्यों लिख के उत्तर देते हो ? ।

उत्तर–जो राजाजी स्वामी विशुद्धानन्दजी की सम्मति न लिखाते तो मैं इस पत्र के उत्तर में एक अक्षर भी न लिखता, क्योंकि उनको तो जैसा अपने पत्र में लिख चुका हूं वैसा ही निश्चित जानता हूं ।

प्रश्न–इस संवाद में आप प्रतिपक्षी राजाजी को समझते हो वा स्वामी विशुद्धानन्दजी को ? ।

उ०–स्वामी विशुद्धानन्दजी को । क्योंकि राजाजी तो विचारे संस्कृतविद्या पढ़े ही नहीं । उनके सामने मेरा लेख ऐसा होवे कि जैसा बैल के सामने अत्यन्त निपुण गानेवाले का वीणा आदि बजाना और षड्जादि स्वरों का यथायोग्य आलाप करना होता है ।

प्र०–जो तुम पक्षी राजाजी को छोड़कर स्वामी विशुद्धानन्दजी को आगे धरते हो सो यह न्याय की बात नहीं है ? ।

उ०–यह मुझ वा किसी को योग्य नहीं है कि संस्कृत में कुछ योग्य विद्वान् को छोड़कर अयोग्य के साथ संवाद चलावे, न राजाजी को योग्य है कि अपने साक्षी को छोड़ें, और स्वामी विशुद्धानन्दजी को भी योग्य है कि अपने शरणागत आये राजाजी की रक्षा से विमुख न हो बैठें * ।

प्र०–स्वामी विशुद्धानन्दजी वा बालशास्त्रीजी आदि काशी के सब विद्वान्

---

* यह धार्मिक विद्वानों का काम नहीं है कि जिसको शरणागत लेवें उसे छोड़कर विश्वासघात कर बैठें ।

और बुद्धिमान् मिलकर राजाजी का पक्ष लेकर आप से शास्त्रार्थ वा लेख करेंगे तो आप को बड़ा कठिन पड़ेगा ? ।

उ०—मैं परमेश्वर की साक्षी से सत्य कहता हूं कि जो ऐसा वे करें तो मैं अत्यन्त प्रसन्नता के साथ सब को विदित करता हूं कि यह बात कल होती हो तो आज ही होवे । जो ऐसी इच्छा मेरी न होती तो मैं काशी में विज्ञापनपत्र क्यों लगवाता और स्वामी विशुद्धानन्दजी तथा बालशास्त्रीजी को प्रतिपक्षी स्वीकार क्यों करता ? ।

प्र०—वे हैं बहुत और आप अकेले हो कैसे संवाद कर सकोगे ? ।

उ०—इसके होने में कुछ असम्भव नहीं । क्योंकि जब सब काशी और अन्यत्र के विद्वान् और बुद्धिमान् लोग अपना अभिप्राय पत्रस्थ कर वा सन्मुख जाके स्वामी विशुद्धानन्दजी वा बालशास्त्रीजी को विदित कराते जायंगे, और वे उन लेख वा वचनों को देख सुन उनमें से इष्ट को ले, मुझ से सन्मुख वा पत्रद्वारा, इन दो बातों में से जिस में उनकी प्रसन्नता हो ग्रहण करके शास्त्रार्थ करें, उसी बात में मैं भी उनसे शास्त्रार्थ करने में उद्यत हूं । परन्तु जैसे मैं इस पुस्तक पर अपना हस्ताक्षर प्रसिद्ध करता हूं वैसे वे भी करें तो ठीक है, अन्यथा नहीं ।

प्र०—सन्मुख होकर शास्त्रार्थ करने में अच्छा होगा वा पत्रद्वारा ? ।

उ०—सर्वोत्तम तो यह है जो मैं और वे सन्मुख होकर शास्त्रार्थ करें तो शीघ्र सत्य वा झूठ का सिद्धान्त हो सकता है । अर्थात् १ महीने से लेके छः महीने तक सब बातों का निर्णय हो सकता है । और दूर २ रहकर पत्रद्वारा शास्त्रार्थ करने में ३६ छत्तीस वर्षों में भी पूरा होना कठिन है । परन्तु जिस पक्ष में वे प्रसन्न हों उसी में मैं भी प्रसन्न हूं ।

प्र०—इस शास्त्रार्थ के होने और न होने का क्या फल होगा ? ।

उ०—जो अविरोध होने से एक मत होकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष

से सब को परमानन्द होना और न होने पर जो परस्पर विरुद्ध मिथ्यामत में वर्त्तमान मनुष्यों के अधर्म अनर्थ कुकाम और बन्ध के न छूटने से उनके दुःखों का न छूटना फल है।

प्र०—शास्त्रार्थ हुए पर भी हठ से आप वा वे विरुद्ध मत न छोड़ें तो छुड़ाने का क्या उपाय है ?।

उ०—शास्त्रार्थ से पूर्व, मैं और वे जिसका पक्ष झूठा हो उस के छोड़ने और जिसका सत्य हो उस के स्वीकार करने के लिये प्रतिज्ञा का पक्के काग़ज़ पर लेख होकर, रजिस्टरी कराकर, एक दूसरे को अपने २ पत्र को देने से सम्भव है कि आप अपना २ हठ छोड़ देवें, क्योंकि जो न छोड़ेगा तो राजा अपनी व्यवस्था से हठ को छुड़ा सकता है।

प्र०—जब आप काशी में सब दिन निवास नहीं करते और स्वामी विशुद्धानन्दजी तथा बालशास्त्रीजी वहीं बसते हैं तो सन्मुख में शास्त्रार्थ कैसे हो सकता है ?।

उ०—मैं यह प्रतिज्ञा करता हूं कि जब वे सन्मुख होकर शास्त्रार्थ करना स्वीकार करेंगे और मैं इसको सत्य समझ लूंगा, तब जहां हूंगा वहां से चल के काशी में उचित समय पर पहुंचूंगा, कि जिसमें उनको परदेशयात्रा का क्लेश और धनव्यय भी न करना पड़ेगा। पुनः वहां यथावत् शास्त्रार्थ होकर सत्यासत्य निर्णय के पश्चात् सब का उपकार भी सिद्ध होगा। क्या यह छोटा लाभ है।

प्र०—जब आप उनसे शास्त्रार्थ करके अपना मत सिद्ध किया चाहते और वे नहीं किया चाहते हैं इसका क्या कारण है ?।

उ०—विदित होता है कि वे अपने मन में जानते हैं कि शास्त्रार्थ करने से हम अपने मत को सिद्ध न कर सकेंगे वा सं० १९२६ के शास्त्रार्थ को देख घबराहट होगी कि दूर ही दूर से ढोल बजाना अच्छा है। जो उन को यह निश्चय होता कि हमारा मत वेदानुसार और स्वामीजी का मत वेदविरुद्ध है तो

शास्त्रार्थ किये विना कभी नहीं रहते । अथवा जो और कुछ कारण हो वो शास्त्रार्थ करने में क्यों विलम्ब करते हैं ।

"विज्ञापनमिदम्"

आज से पीछे जो कोई पुराण वा तन्त्र आदि मत वाले मुझ से विरुद्ध पक्ष को लेकर शास्त्रार्थ किया चाहें वा लिख के प्रश्नोत्तर की इच्छा करें वे स्वामी विशुद्धानन्दजी और बालशास्त्रीजी के द्वारा ही करें । इससे अन्यथा जो करेंगे तो मैं उनका मान्य कभी न करूंगा । हां सन्मुख आके तो वे स्वयं भी पूछ सकते हैं । इससे स्वामी विशुद्धानन्दजी और बालशास्त्रीजी ऐसा न समझें कि हम वेदों में विद्वान् वा सर्वोत्तम पण्डित हैं और कोई अन्य मनुष्य भी ऐसा निश्चय न कर लेवे कि इनसे अधिक पण्डित आर्य्यावर्त्त में दूसरा कोई भी नहीं है । हां ऐसा निश्चय करना तो ठीक है कि काशी में इस समय आधुनिक ग्रन्थाभ्यासकर्त्ता संन्यासियों में स्वामी विशुद्धानन्दजी और गृहस्थों में बालशास्त्रीजी कुछ विशिष्ट विद्वान् हैं । मैंने तो संवाद में केवल अनवस्थादोषपरिहारार्थ इन दोनों को प्रमुख आर्य्यावर्त्तीय पण्डितों में माना है । अनुमान है कि उनको अन्य भी मनुष्य ऐसा मानते होंगे । इस से अन्य प्रयोजन कुछ भी नहीं । सर्वशक्तिमान् सर्वान्तर्यामी परमेश्वर कृपा करके स्वामी विशुद्धानन्दजी और बालशास्त्रीजी को निर्भय निःशङ्क करें कि जिससे वे मुझ से सन्मुख वा पत्रद्वारा पाषाणादिमूर्त्तिपूजादिमंडन विषयों में शास्त्रार्थ करने में दृढोत्साहित हों जैसे कि मैं उनके खण्डन में दृढोत्साहित हूं ।

मुनिरामाङ्कचन्द्रेब्दे शुक्रे मासेऽसिते दले ।
द्वितीयायाङ्गुरौ वारे भ्रमोच्छेदो ह्यलङ्कृतः ॥ १ ॥

इति श्रीमत्स्वामिदयानन्दसरस्वतीनिर्मिता भ्रमोच्छेदो
ग्रन्थोऽयं पूर्त्तिमगमत्

दयानन्दसरस्वती.

शताब्दी-संस्करण

Prem Bahadur Varma
12-6-86.

भ्रांतिनिवारणम्

पृष्ठ ८७१—९१७.

भ्रान्तिनिवारणम्

—:o:—

आवृत्ति	सन् ई०	संख्या
प्रथम	१८७७	१०००
द्वितीय	१८८४	१०००
तृतीय	१८९६	२०००
चतुर्थ	१९१२	१०००
पंचम	१९१९	२०००
शताब्दीसंस्करण	१९२४	१०,०००
		१७,०००

भूमिका

विदित हो कि जो मैंने संसार के उपकारार्थ वेदभाष्य के बनाने का आरम्भ किया है कि जो सब प्राचीन ऋषियों की कीहुई व्याख्या और अन्य सत्य ग्रन्थों के प्रमाणयुक्त बनाया जाता है जिससे इस बात की साक्षी वे सब ग्रन्थ आज पर्यन्त वर्तमान हैं। और मेरे बनाए मासिक अङ्कों में भी विद्वानों के समझने के लिये संकेतमात्र जहां तहां लिख दिये हैं कि देखनेवालों को सुगमता हो। और किसी प्रकार की भ्रांति वा शंका मेरे लेख पर होकर वृथा कुतर्क खड़ी करके कोई मनुष्य मेरे काल को न खोवे कि जिससे देश भर की हानि हो। और उसको भी कुछ लाभ न हो। परन्तु बहुधा संसार में यह उलटी रीति है कि लोग उत्तम कर्म कर चुके और करते हुए को देखकर ऐसे प्रसन्न नहीं होते जैसे कि निषिद्ध कार्य वा हानि को देखकर होते हैं। जो मैं निरानिरी संसार ही का भय करता और सर्वज्ञ परमात्मा का कुछ भी नहीं कि जिसके आधीन मनुष्य के जीवन मृत्यु और सुख दुःख हैं तो मैं भी ऐसे ही अनर्थक वाद विवादों में मन देता। परन्तु क्या करूं मैं तो अपना तन मन धन सब सत्य के ही प्रकाशार्थ समर्पण करचुका। मुझ से खुशामद करके अब स्वार्थ का व्यवहार नहीं चल सकता। किन्तु संसार को लाभ पहुंचाना ही मुझ को चक्रवर्ती राज्य के तुल्य है। मैं इस बात को प्रथम ही अच्छे प्रकार जानता था कि न्यारिये के समान बालू से सुवर्ण निकालने वाले चतुर कम होंगे। किन्तु मलीन मच्छी की नाईं निर्मल जल को गदला करने और बिगाड़ने वाले बहुत हैं। परन्तु मैंने इस धर्मकार्य का सर्वशक्तिमान् सत्यग्राहक और न्यायसम्बन्धी परमात्मा के शरण में सीस धर के उसी के सहाय के अवलम्ब से आरम्भ किया है।

मैं यह भी जानता था कि इस ग्रंथ के विषय में जो शंका होंगी तो कम विद्वान् और ईर्ष्या करनेवालों की होंगी। परन्तु बड़े आश्चर्य की बात है कि कोई विद्वान् भी इसी अन्धकार में फिसल पड़े। और इतना न हुआ कि आंख

खोल कर अथवा लालटेन लेकर चलें कि जिसमें चाल चूकने पर हांसी और दुःख न हो। यह पूर्व विचार करना बड़े विद्वान् अर्थात् दीर्घदृष्टि वाले का काम है। नहीं तो गिरे की लज्जा का फिर क्या ही ठीक है। इस वेदभाष्य के विषय में पहिले आर० ग्रिफ़िथ साहब सी० एच० टानी और पण्डित गुरुप्रसाद आदि पुरुषों ने कहीं २ अपनी सामर्थ्य के अनुसार पकड़ की थी। सो उन का उत्तर तो अच्छे प्रकार दे दिया गया था। परन्तु अब पण्डित महेशचन्द्र न्यायरत्न जो आफीशियेटिंग प्रिन्सिपल कलकत्ते में के संस्कृत कालेज के हैं, उन्होंने भी पूर्वोक्त विद्वान् पुरुषों का रंग पकड़ कर सन के छूछे गोले चलाये हैं। इसलिये यद्यपि मेरा बहु अमूल्य समय ऐसे तुच्छ कामों में ख़र्च होना न चाहिये, परन्तु दो बातों की सिद्धि समझ कर संक्षेप से कुछ लेख करना आवश्यक जानता हूं। एक तो यह कि ईश्वरकृत सत्यविद्यापुस्तक वेदों पर दोष न आवे कि उनमें अनेक परमेश्वर की पूजा पाई जाती है। और दूसरे यह कि आगे को मनुष्यों को प्रकट होजाय कि ऐसी २ व्यर्थ कुतर्क फिर खड़ी करके मेरा काल न खोवें। क्योंकि इससे कई कठिन शंका तो मेरे बनाये ग्रंथों ही के ठीक २ मन लगाकर विचारने से ही निवारण हो सकती हैं। फिर निष्प्रयोजन मेरा सर्वहितकारी काल क्यों खोते हैं।

यह दोष इस देश में बहुत काल से पड़ा हुआ है। अर्थात् महाभारत के युद्ध में जब अच्छे २ पूर्णविद्वान् वेद और शास्त्रादिक के जानने वाले चल बसे, विद्या का प्रचार तथा सत्य उपदेश की व्यवस्था छूटकर तमाम देश में नाना प्रकार के विघ्न और उपद्रव उठने लगे, लोगों ने अपना २ छप्पर अपने २ हाथ से छाने की फिकर की, और इस थोड़े से सुख के लोभ में उत्तम २ विद्याओं को ऐसा हाथ से खो बैठे कि जिससे उनका विचारा हुआ लाभ भी नष्ट होगया, और तमाम अपने देश को भी धर कर डुबा दिया। बड़े शोक की बात यह है कि आंखों से देखकर भी कूप में ही गिरना अच्छा समझ कर अपनी अज्ञानता पर दुःखी और लज्जावान् होने की जगह भी बराबर हठ ही करते चले जाते हैं। इसका परिणाम न जाने क्या होना है।

दूसरा कारण आर्यों के बिगाड़ का यह भी है। उन को जैन लोगों ने बहुत कुछ दबाया और सत्यग्रंथों का नाश किया। फिर इन्हीं के समान मुसलमानों ने भी अपने धर्म का पक्ष करके दुःख दिया। और जब से अङ्गरेजों ने इस देश में राज किया तो इन्होंने यह बात बहुत अच्छी की कि सब प्रकार की विद्याओं का प्रचार कर के प्रजा को समानदृष्टि से सुधारा। परन्तु कुछ २ निज धर्म का पक्ष करते ही रहे। इसी से लोगों का उत्साह भी कमती होता गया। और आजतक वेदों का प्रचार और सत्य उपदेश का प्रबन्ध ठीक २ होता तो किसी को शंका भ्रान्ति और हठ वेद के विरुद्ध नवीन कल्पित मत मतान्तर का न होता। जैसा कि पंडित महेशचन्द्र का गुमान है यह केवल उन का वेदों से विमुख होने का कारण है। इसलिये उनके भ्रान्तिनिवारण विषय में कुछ लिखा जाता है। इति ॥

दयानन्दसरस्वती.

ओ३म्

भ्रान्तिनिवारण

पण्डित महेशचन्द्र न्यायरत्नकृत वेदभाष्यपरकप्रश्नपुस्तक का पण्डित स्वामिदयानन्द सरस्वतीजी की ओर से उत्तर

पं० महेशचन्द्रन्यायरत्नजी ने विरुद्ध पंडितों के साथ में अपनी राय दी है तो उन्हीं के उत्तर में इन का भी उत्तर मेरी ओर से जान लेना ।

पं० महेश०—पण्डित दयानन्द सरस्वतीजी के परिश्रम, विद्या और पण्डिताई निस्संदेह प्रशंसा योग्य हैं । परन्तु उनका कुछ फल मालूम नहीं देता ।

स्वामीजी—सम्मति देनेवालों की निष्पक्षता और न्याय तो उन के कथन से ही प्रत्यक्ष है कि जिस को छोटे विद्वान् लड़के भी जान लेंगे । क्योंकि पंडितजी लिखते हैं कि स्वामीजी सब तरह विद्या आदि पूर्णगुणयुक्त होने से प्रशंसायोग्य हैं, परन्तु कुछ फलदायक नहीं । तो उन का यह कथन पूर्वापर विरोधी है । और इस में उन का हठ वा वेदविद्या से विमुखता साबित होती है ।

पं० महेश०—स्वामीजी का यह गुमान वा अभिप्राय है कि वेद में एक परमेश्वर की पूजा ठीक है, तथा सब संसारीविद्या और वर्त्तमानकाल की कलाकौशलादि पदार्थविद्या वेदों से ही निकली है । इत्यादि बातें उनका काम मट्टी करदेती हैं ।

स्वामीजी—इस बात का उत्तर मैं ग्रिफिथ साहब के उत्तर में दे चुका हूं । जब पण्डितजी के विचार से वेदों में एक परमेश्वर की उपासना नहीं है तो उन को उचित था वा अब भी चाहिये कि कोई मंत्र वेदों में से लिखकर यह बात सिद्ध करदें कि वेदों में अनेक परमेश्वरों का होना सिद्ध है । क्योंकि उन्होंने वेदमन्त्रों में से कोई प्रमाण अपने पक्ष की पुष्टि के लिये नहीं लिखा, इससे इनके

मन का अभिप्राय खुल गया और उन की विद्या की थाह मिलगई कि उन्होंने जो अटकलपच्चू कूप शब्द के समान चतुराई दिखलाई है। ये सब किसी ईर्ष्यक, स्वार्थी, विद्याहीन और पक्षपाती मनुष्य के फुसलाने से वा अपनी ही थोड़ी सामग्री अर्थात् हल्दी की गांठ के बल से लिखकर बैठ रहे कि जिस में वृथा कीर्त्ति देश में होजावे। सो पंडितजी यह न समझें कि भारतवर्ष में विद्वान् नहीं रहे। यह व्याघ्र की खाल किसी दिन उघड़ कर सब कलई खुल जावेगी। और मैं तो अपनी थोड़ीसी विद्या और बुद्धि के अनुसार जो कुछ लिखूंगा वह सब को मालूम होता जावेगा और जितना कर चुका वह जान लिया होगा। और कदाचित् पण्डितजी ने भी समझ लिया होगा। परन्तु मूक के समान संसारी और कल्पित भय से कंद का स्वाद जानकर यथार्थ और निष्पक्षता से कह और मान नहीं सकते हैं। परमात्मा की कृपा से मेरा शरीर बना रहा और कुशलता से वह दिन देख मिला कि वेदभाष्य संपूर्ण होजावे तो निस्सन्देह इस आर्य्यावर्त्त देश में सूर्य्य का सा प्रकाश हो जावेगा कि जिस के मेटने और झांपने को किसी का सामर्थ्य न होगा। क्योंकि सत्य का मूल ऐसा नहीं कि जिसको कोई सुगमता से उखाड़ सके। और कभी भानु के समान ग्रहण में भी आजावे तो थोड़े ही काल में फिर उग्रह अर्थात् निर्मल हो जावेगा।

पं० महेश०—स्वामीजी हिन्दुओं के धर्मचारी ग्रन्थों को नहीं मानते कि जिन में कर्मकाण्ड और होमादिक का विधान है, किन्तु केवल वेदों ही की तरफ़ खिंचते हैं। इससे मेरी समझ से तो उन को यही उचित है कि वेदों को भी एकतरफ़ डालकर अपनी युक्ति और बुद्धि ही के अनुसार वर्त्ताव वर्त्तें।

स्वामीजी—इस जगह पण्डितजी की और भी बढ़कर भूल साबित होती है, तथा जाना जाता है कि उन्होंने प्राचीन सत्य ग्रन्थ कभी देखे भी नहीं और कल्पना किया कि देखे हों तो केवल दर्शनमात्र किया हो। नहीं तो खाली तुकें न मिलाते। अब कोई साहब पण्डितजी से पूछें कि उन्होंने हिन्दू शब्द कौन से ग्रन्थ में देखा है कि जिसके अर्थ गुलाम वा काफ़िर आदि के हैं और जो कि आर्य्यावर्त्तियों को कलङ्करूप नाम यवनादिक की ओर से है और आर्य्य शब्द

जिसके अर्थ श्रेष्ठ के हैं वह वेदों में अनेक ठिकाने मिलता है सो पण्डितजी नौका में धूर उड़ाते हैं, सो कब हो सकता है। और भूषण को दूषण करके मानते हैं तो माना करो, परन्तु विद्वानों और पूर्ण पण्डितों की ऐसी उल्टी रीति निज धर्मशास्त्र से विरुद्ध कभी नहीं होगी। आगे वे लिखते हैं कि स्वामीजी धर्मप्रचारी ग्रन्थों को ही नहीं मानते हैं कि जिनमें कर्मकाण्ड का विधान है। तो यह बड़े तमाशे की बात है कि न तो पण्डितजी ने कभी मुझ से मिलकर चिरकाल विचार किया और न उन्होंने मेरे बनाये हुये ग्रन्थ देखे, किन्तु प्रथम ही मेरे मानने न मानने के विषय में अपना सिद्धान्त कर बैठे। तो यह वही बात हुई कि सोवें झोंपड़े में और स्वप्न देखें राजमहलों का। क्योंकि मैं अपने निश्चय और परीक्षा के अनुसार ऋग्वेद से ले के पूर्वमीमांसा पर्य्यन्त अनुमान से तीन हजार ग्रन्थों के लगभग मानता हूं। तथा कर्मकाण्ड के विषय में यह उत्तर है कि मेरा मत वेद पर है। इसलिये जो २ कर्मकाण्ड वेदानुकूल है उस सब को मानता हूं, उससे विरुद्ध को नहीं, क्योंकि वे ग्रन्थ मनुष्यों ने अपने स्वार्थसाधन के निमित्त रच लिये हैं। वे वेद युक्ति वा प्रमाण से सिद्ध नहीं हो सकते। जो २ संस्कार आदि मैं मानता हूं वे सब मेरी बनाई हुई वेदभूमिका अङ्क तीन* में तथा संस्कारविधि आदि ग्रन्थ में देखना चाहिये। और वे लिखते हैं कि वेदों को भी एकतरफ़ धर दें, केवल अपनी युक्ति वा बुद्धि ही के आधारी रहें। तो उत्तर यह है कि मैं वेदों में कोई बात युक्तिविरुद्ध वा दोष की नहीं देखता और उन्हीं पर मेरा मत है। सो यह सब भेद मेरे वेदभाष्य में खुलता जायगा। और विद्वानों का यह काम नहीं कि किसी हेतु से सत्य को त्याग के असत्य का ग्रहण करें।

पं० महेश०—हिन्दुओं का विश्वास है कि देववाणी का प्रकाश परमेश्वर की ओर से वेद पुस्तकों के रूप से हुआ है वा ऋषियों के द्वारा प्रेरणा की गई है। परन्तु मेरी समझ से तो दोनों प्रकार ठीक नहीं हो सकता।

स्वामीजी—इस बात का उत्तर वेदभाष्य की भूमिका अङ्क १ प्रथम † वेदो-

* शताब्दीसंस्करण पृष्ठ ३१८ से पृष्ठ ३४७ तक।

† शताब्दीसंस्करण पृष्ठ २६८ से।

त्पत्ति प्रकरण में देख लेना चाहिये। परन्तु इतना यहां भी मैं कहता हूं कि आर्य्य लोग सनातन से युक्ति प्रमाण सहित वेदों को परमेश्वरकृत बराबर मानते चले आये हैं। इस का ठीक २ विचार आर्य्य लोग ही कर सकते हैं, हिन्दू विचारों का क्या ही सामर्थ्य है।

पं० महेश०—वेद इस विषय में स्वतःप्रमाण हैं कि उन में बहुधा होम, बलिदान आदि का विधान है। तथा इस का प्रमाण अन्य ग्रन्थों में भी पाया जाता है कि जिन को स्वामीजी भी मानते हैं। इसलिये वे वेदमत को स्वीकार करके होमादिक से अलग नहीं बच सकते हैं, सिवाय ऐसे मनुष्य के कि जो स्वामीजी की तरह अपनी नवीन रीति से मन्त्रभाष्य की रचना करे। देखना चाहिये कि यह स्वामीजी का परिश्रम कैसा वृथा समझा जा सकता है कि जब मैं उन के भाष्य की परीक्षा करूंगा।

स्वामीजी—वेदों में जो यज्ञादिक करने की आज्ञा है उस सब को प्रमाण और युक्तिसिद्ध होने के कारण मैं मानता हूं, और सब को अवश्य मानना चाहिये, जैसे कि वेदभूमिका अङ्क ३ के यज्ञप्रकरण में लिख दिया है। उससे विरुद्ध जो बलिदान आदि आजकल के लोगों ने समझ रक्खा है यह सब वेदविरुद्ध है। और मेरा भाष्य तो नवीन रीति का नहीं ठहर सकता, क्योंकि वह प्राचीन सत्य ग्रन्थों के प्रमाणयुक्त बनता है। परन्तु पंडितजी का जो कथन है सो केवल अप्रमाण है और पंडितजी ने मन के ही गुलगुले खाये हैं। आगे मेरे ग्रन्थ की परीक्षा तो तमाम देश भर को हो ही जावेगी परन्तु पंडितजी की विद्या तो अभी तुल गई।

पं० महेश०—स्वामीजी का मन्त्रभाष्य ही अद्भुत नहीं है किन्तु उनके लिखने की रीति और व्याकरण भी पण्डितों के आगे हंसी के कराने वाले हैं। तथा कई अशुद्धियां जो उन के परीक्षकों ने निकाली हैं वे इस बात को साफ़ २ सिद्ध करती हैं कि स्वामीजी सत्य का प्रकाश तो नहीं करते, किन्तु अपनी कीर्त्ति और नाम की प्रसिद्धि अवश्य चाहते हैं। जैसे कि वे (उपचक्रे) शब्द को

पाणिनि के (गन्धनावक्षे०) सूत्र से सिद्ध करते हैं, यह कभी नहीं हो सकता। यह बात मानी जा सकती है कि (उपचक्रे) में आत्मनेपद लाया गया है साफ़ कहने के अर्थ में। परन्तु 'उप, कृञ्' से यह अर्थ नहीं निकल सकता है। और न स्वामीजी का यह अभिप्राय है। क्योंकि वे उसका भाषा में अर्थ करते हैं कि (किया है)।

स्वामीजी—इनका उत्तर मैं पण्डित गुरुप्रसाद आदि के तर्कखण्डन के साथ दे चुका हूं और पण्डितजी ने कुछ उनसे विशेष पकड़ नहीं की है। परन्तु इस बात का भेद सिवाय अन्तर्य्यामी परमेश्वर के जीव नहीं जान सकता कि मैं लोकहित चाहता हूं वा केवल विजय अर्थात् नाम की प्रसिद्धि। भाषार्थ में जो शब्द (किया है) लाया गया तो इस का कारण यह है कि भाषा में संस्कृत का अभिप्रायमात्र लिखा है, केवल शब्दार्थ ही नहीं, क्योंकि भाषा करने का तो केवल यही तात्पर्य है कि जिन लोगों को संस्कृत का बोध नहीं है उन को विना भाषार्थ के यथार्थ वेदज्ञान नहीं हो सकेगा। इसलिये भला यह कोई बात है कि ऐसी तुच्छ बातों में दोष पैदा करना, जो कि विद्वानों के विचार से दूर हैं। और उप, कृञ्, धातु का अर्थ है (उपकार और किया)। ये दोनों अर्थ भी भूतकाल की क्रिया को बतलाते हैं कि ईश्वर ने जीवों के हित के लिये वेदों का उपदेश किया है और ठीक २ घट सकता है।

पं० महेश०—खैर ! ये तो साधारण बातें थीं, परन्तु अब मैं भारी २ दोषों पर आता हूं। मंत्रभाष्य के प्रथम संस्कृतखण्ड में (अग्निमीडे पुरोहितम्) इस के भाष्य में स्वामीजी ने अग्नि शब्द से ईश्वर का ग्रहण किया है। जब कि प्रसिद्ध अर्थ अग्नि शब्द का सिवाय आग के दूसरे कोई नहीं ले सकता। तथा सायणाचार्य्य वेद के भाष्यकार की इसी विषय में साची वर्त्तमान है। स्वामीजी अपने पक्ष में शतपथ ब्राह्मण और निरुक्त आदि को प्रमाण मानते हैं, परन्तु क्या ये भाष्य आदि अग्नि शब्द से परमेश्वर के अर्थ की पुष्टि कर सकते हैं, अर्थात् कभी नहीं। क्योंकि जो २ शब्द उन में ईश्वरार्थ में लिखे हैं उन में

अग्नि शब्द का नाम भी नहीं है। फिर स्वामीजी इसी पत्र में ऐतरेयब्राह्मण का प्रमाण धरते हैं कि—

अग्निर्वै सर्वा देवताः * ॥ ऐ० १। पं० १॥

यहां कुछ सम्बन्ध नहीं है, किन्तु दीक्षास्थिति यज्ञ में लग सकता है। मैं यह आगे का वाक्य डाक्टर एम० हाग साहब के टीकासहित लिखता हूं।

स्वामीजी--अब पण्डितजी की ऐसी पकड़ से मालूम होगया कि उनको संस्कृत ग्रंथ समझने का बहुत ही बोध है और विद्वानों को चाहिये कि पण्डितजी की खातर से मान भी लें कि वेदविद्या के बड़े प्रवीण हैं। सत्य तो यह है कि उन्होंने प्राचीन ऋषिमुनियों के ग्रन्थ कभी नहीं देखे और उनको ठीक २ अर्थ समझने का बिलकुल ज्ञान नहीं, क्योंकि जिन २ ग्रन्थों अर्थात् वेद, शतपथ और निरुक्त आदिकों के प्रमाण मैंने वेदभाष्य में लिखे हैं उनको ठीक २ विचारने से आयने के समान जान पड़ता है कि अग्नि शब्द से आग और ईश्वर दोनों का ग्रहण है। जैसे देखा कि—

इन्द्रं मित्रं † वरुण०। तदेवाग्निस्तदादित्य० ‡। अग्निर्होता क[illegible] +। ब्रह्म ह्यग्निः। आत्मा वा अग्निः।

देखिये विद्यानेत्र से इन पांच प्रमाणों में अग्नि शब्द से परमेश्वर ही का ग्रहण होता है।

अयं वा अग्निः प्रजाश्च प्रजापतिश्च।

और इस प्रमाण में प्रजा शब्द से भौतिक अग्नि और प्रजापति शब्द से परमेश्वर लिया जाता है। इसी प्रकार—

संवत्सरोऽग्निः।

---

* ऐ० १। पं० १। अ० १। खं० १।

† ऋ० १। १६४। ४६॥

‡ य० ३२। १॥

\+ ऋ० १। १। ५॥

इत्यादि प्रमाणों में अग्नि शब्द से ठीक २ परमेश्वर का ग्रहण होता है तथा ।

अग्निर्वै सर्वा देवताः ।

इस वचन में भी परमेश्वर और सांसारिक अग्नि का ग्रहण होता है । क्योंकि जहां उपास्यउपासकप्रकरण में सर्वदेवता शब्द से अग्निसंज्ञक परमेश्वर का ग्रहण होता है । इसमें मनु का प्रमाण दिया है । क्योंकिः—

यत्रोपास्यत्वेन सर्वादेवतेत्युच्यते तत्र ब्रह्मात्मैव ग्राह्यः ।

जो वे इस पंक्ति का अभिप्राय समझते तो उन को अग्नि शब्द से परमेश्वर के ग्रहण में कभी भ्रम न होता । तथा निरुक्त * से भी परमेश्वर और भौतिक इन दोनों का यथावत् ग्रहण होता है । देखो एक तो (अग्रणीः) इस शब्द से उत्तम परमेश्वर ही माना जाता है इस में कुछ सन्देह नहीं । और दूसरा हेतु यह है कि (इतात्) इस शब्द से अग्नि नाम ज्ञानस्वरूप परमेश्वर ही का ग्रहण हो सकता है । क्योंकि 'इण गतौ' इस धातु से यहां ज्ञानार्थ ही अभिप्रेत है । (दग्धात्) इस पद से केवल भौतिक अग्नि लिया जायगा परमेश्वर नहीं । तथा (अक्तात् और नीतात्) इन दोनों से परमेश्वर और भौतिक दोनों लिये जावे हैं । क्योंकि "इण्" धातु से ऋषि की प्राप्ति और गमन अर्थ ही लेने का अभिप्राय होता तो (अक्तात्, दग्धात्, नीतात्) ऐसे शब्दों का ग्रहण नहीं करते । तथा जो अग्नि शब्द से धात्वर्थ ग्रहण में यास्कमुनि का अभिप्राय नहीं होता तो पृथक् २ धातुओं को नहीं गिनते । और (अग्निर्वै सर्वा देवताः, इति निर्वचनाय †) इस वचन का अर्थ निरुक्तकार करते हैं कि जिस को बुद्धिमान् लोग अनेक नामों से वर्णन करते हैं । जो कि एक अद्वितीय सब से बड़ा सब का आत्मा है उसी को अग्नि कहते हैं ।

उत्तरे ज्योतिषी एतेन नामधेयेन भजेते ‡ ॥

* अ० ७ । खं० १४ ॥ † अ० ७ । खं० १७, १८ ॥ ‡ अ० ७ । खं० १८ ।

इस वचन में अग्नि शब्द से परमेश्वर और भौतिक दोनों का ग्रहण होता है। क्योंकि इस अग्नि नामधेय से दोनों उत्तरज्योति अर्थात् अनन्त ज्ञानप्रकाश-युक्त परमेश्वर जो कि प्रलय के उत्तर सब से सूक्ष्म तथा आधार है उसका, और जो विद्युत्रूप गुणवाला सब से सूक्ष्म स्थूल पदार्थों में प्रकाशित और प्रकाश करने वाला भौतिक अग्नि है इन दोनों का यथावत् ग्रहण होता है। इसी प्रकारः—

अग्निः * पवित्रमुच्यते।

इत्यादि में भी अग्नि शब्द से दोनों ही को लेना होता है। तथा (प्रशासितारं० †) जो सब को शिक्षा करनेवाला, सूक्ष्म से भी अत्यन्त सूक्ष्म, स्वप्रकाशस्वरूप, समाधियोग से जानने योग्य परपुरुष परमात्मा है विद्वान् उसी को परमेश्वर जानें। फिर (एतमेके वदन्त्यग्निं० ‡) विद्वान् लोग अग्नि आदि नामों करके एक परमेश्वर को ही कहते हैं। ऊपर के सब प्रमाण अग्नि अर्थात् परमेश्वर में प्राचीन सत्यग्रन्थों की साक्षी से ठीक २ घटते हैं। परन्तु जो पण्डितजी के घरके निराले ग्रन्थ हैं उनमें न होगा। और कदाचित् वे कहें कि निघण्टु में जो ईश्वर के नाम हैं उनमें अग्नि शब्द नहीं आता इससे मालूम हुआ कि अग्नि परमेश्वर का वाची नहीं तो समझना चाहिये कि जैसे निघण्टु के अ० २ खं० २२ में जो "राष्ट्री। अर्य्यः। नियुत्वान्। इनः" ये चार ईश्वर के अप्रसिद्ध नाम हैं। और यह नहीं हो सकता कि जो नाम ईश्वर के निघण्टु में हों वे ही माने जायं औरों को विद्वान् लोग छोड़ देवें। परमेश्वर के तो असंख्यात नाम हैं और आप क्या चार ही नाम ईश्वर के समझते। और क्या निघण्टु में न लिखने से ब्रह्म, परमात्मा आदि ईश्वर के नाम नहीं हैं। यह पंडितजी की बिलकुल भूल है। जैसे ब्रह्म आदि ईश्वर के नाम निघण्टु के विना लिखे भी लिये जाते हैं वैसे अग्नि आदि भी परमेश्वर के नाम हैं। इस पूर्व पक्ष में जो कुछ आवश्यक था संक्षेप से लिख दिया। यह बात वेदभाष्य के अङ्क में विस्तारपूर्वक सिद्ध करदी है वहां देख लेना। पण्डितजी, आर० ग्रिफिथ साहब और सी०

* निघं० अ० ५। ख० ७॥
† मनु० १२। १२२॥
‡ मनु अ० १२। १२३॥

एच० टानी साहबों के पीछे २ चलते हैं। सो इसका कारण यह है कि पं०जी ने महीधरादि की अशुद्ध टीका देख ली है। और उक्त साहबों ने प्रोफेसर विलसन आदि के उन्हीं अशुद्ध भाष्यों के उलथे अङ्गरेजी में देख लिये होंगे, उनसे क्या हो सकता है। जब तक सत्य ग्रन्थों और मूलमन्त्रों को न देखें समझें तबतक वेदमन्त्रों का अभिप्राय ठीक २ जानलेना लड़कों का खिलौना नहीं है। इसी के समान पं० जी का और कथन भी है। इसलिये अब दूसरी बात का उत्तर लिखते हैं।

अग्निर्वै (सर्वा देवताः) देवानामवमो विष्णुः परमस्तदन्तरेण सर्वा अन्या देवताः * ।

इत्यादि पर जो पण्डितजी ने लिखा है सो भी अयुक्त है। क्योंकि वेदमंत्रादि प्रमाणों को छोड़कर (अग्निर्वै सर्वाः०) इस पद पर लिखने से मालूम होता है कि पं०जी ने भाष्य की परीक्षा तो न की किन्तु छल अवश्य किया है। सो भी पं०जी ने इस वाक्य को तो लिखा परन्तु उसके अभिप्राय को यथार्थ नहीं जाना। क्योंकि इसका अभिप्राय यह है कि सब कर्मकाण्ड के अग्निहोत्रादि अश्वमेध पर्य्यन्त होमक्रिया में अग्निमंत्र प्रथम और विष्णुमंत्र का पश्चात् उच्चारण करते हैं। जहां कहीं व्यावहारिक ३३ देव गिनाये हैं वहां भी अग्नि प्रथम और विष्णु अन्त में गिनाया है। तथा "अग्निर्देवता० †" इस मंत्र में भी अग्नि का प्रथम और वरुण का अन्त में ग्रहण किया है। सो ऐतरेय ब्राह्म० के पं० १ अ० २ कं० १० में लिखा है कि—

त्रयस्त्रिंशद् वै देवा अष्टौ वसव इत्यादि ।

तथा शतपथब्राह्मण में भी। इसी बात की व्याख्या वेदभाष्य की भूमिका के अङ्क ३ के पृष्ठ ५९ की पंक्ति ३१ ‡ में देवता शब्द से किस २ को किस २ गुण से ग्रहण करना लिखा है वहां देख लेना। तथा उसी अङ्क ३ के पृष्ठ ६६

* ए० ब्रा० १ । १ । १ ॥   † य० अ० १४ । मं० २० ॥
‡ शताब्दीसंस्करण पृ० ३३१ से ॥

पंक्ति ८ * में अग्नि से आरम्भ करके प्रजापतियज्ञ अर्थात् विष्णु में गिनती पूर्ण करदी है। इसलिये (अग्निर्वै०) इस वचन में अग्नि को प्रथम और विष्णु को अन्त में गिना है। सो पूर्वलिखित ग्रन्थ में देखने से सब शंका निवारण होजायगी। तथा उक्त साहब लोगों और पंडितजी की यह भी शंका निवृत्त होजावेगी कि वेदों में एक के सिवाय दूसरा ईश्वर कोई भी नहीं है। किन्तु जिस २ हेतु से जिस २ पदार्थ का नाम देव धरा है उस २ को वहां अर्थात् अङ्क ३ में देख लेना। और डाक्टर एम० (हाग) साहब की अशुद्ध टीका का जो हवाला देते हैं तो यह पण्डितजी को एक लज्जा की बात है कि प्राचीन सत्य संस्कृत ग्रन्थों को छोड़कर इधर उधर कस्तूरिये हिरन के समान भूलते और भटकते हैं। डाक्टर एम० (हाग) साहब वा सी० एच० टानी साहब वा आर० ग्रिफिथ साहब आदि कुछ ईश्वर नहीं कि जो कुछ वे लिख चुके वह विना परीक्षा वा विचार के मानलेने योग्य ठहरे। क्या डाक्टर एम० हाग साहब हमारे आर्य्य ऋषि मुनियों से बढ़कर हैं कि जिन को हम सर्वोपरि मान निश्चय करलें और प्राचीन सत्य ग्रन्थों को छोड़ देवें जैसा कि पण्डितजी ने किया है। जो उन्होंने ऐसा किया तो किया करो मेरी दृष्टि में तो वे जो कुछ हैं सो ही हैं। तथा इस कण्डिका में भी (यज्ञस्यान्ते) वचन में आदि में अग्निमंत्र और अन्त में विष्णुमंत्र का प्रयोग किया जाता है। फिर इन दोनों के बीच में व्यवहार के सब मंत्र देवते गिने हैं। अग्नि को प्रथम जिन २ द्रव्यों का वायु और वृष्टि जल की शुद्धि के लिये अग्नि में होम किया जाता है वे सब परमाणुरूप होकर विष्णु अर्थात् सूर्य के आकर्षण से वायुद्वारा आकाश में चढ़जाते हैं फिर मेघमण्डल में जलवृष्टि के साथ उतर कर बाकी जो बीच में ३० देव गिना दिये हैं उन सभों को लाभ पहुंचाते हैं। इस अभिप्राय को पण्डितजी नहीं समझते हैं।

पं० महेश०—अब ऊपर के वचन से साफ़ जाना जा सकता है कि वेद में एक परमेश्वर की पूजा नहीं किन्तु निस्सन्देह देवताविधान पाया जाता है। और उन देवताओं को बलिदान आदि पदार्थों का भेट करना लिखा हुआ है। इस

* शताब्दीसंस्करण पृ० ३३६ ॥

वाक्य में यह बात सिद्ध नहीं हो सकती कि अग्नि शब्द का अर्थ ईश्वर है किन्तु उसमें ईश्वर का जिकर भी नहीं है। इस बात की साबूती में स्वामीजी एक प्रमाण देते हैं (यत्रोपास्यत्वेन०) अर्थात् जहां सब देवों का पूजन कहा है वहां परमेश्वर को समझना चाहिये। फिर इस की पुष्टि में स्वामीजी मनु का प्रमाण देते हैं (आत्मैव देवताः सर्वाः०) अर्थात् आत्मा सब देव है और आत्मा ही में सब संसार स्थित है। यह नहीं समझ सकते कि यह वचन स्वामीजी का मन प्रसन्न प्रमाण की पुष्टता कैसे कर सकता है।

स्वामीजी—ऊपर के वचनों से ईश्वर का नाम अग्नि सिद्ध कर दिया है। परन्तु पक्षपात छोड़ के विद्या की आंख से देखने वाले को स्पष्ट मालूम होता है कि निस्सन्देह अग्नि ईश्वर का भी नाम है। वेदों में अनेक ईश्वर का विधान कहीं नहीं है। और जो देवता शब्द से सृष्टि के भी पदार्थों का विधान है उसका उत्तर ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के अङ्क ३ * के देवताविधानप्रकरण को देखने से अच्छे प्रकार जान लेना। अर्थात् जिस २ गुण और अभिप्राय से सृष्टि के पदार्थों का नाम देवता रक्खा गया है उसको देख लेना चाहिये, क्योंकि वहां यह बात अनेक प्रमाणों से सिद्ध करदी है। परन्तु चारों वेदों में एकसे दूसरा ईश्वर कहीं नहीं माना है, और न ईश्वर के तुल्य पूजना कहा है, किन्तु उनकी दिव्यगुणों से व्यवहारमात्र में देवता संज्ञा मानी है। चारों वेदों में एक से दूसरा ईश्वर कहीं प्रतिपादन नहीं किया है। तथा इन्द्र, अग्नि और प्रजापति आदि शब्दों से ईश्वर और भौतिक दोनों का प्रतिपादन किया है। और जो पण्डितजी लिखते हैं कि अग्नि शब्द का अर्थ ईश्वर नहीं है किन्तु उस स्थान में जिकर भी नहीं, इस का उत्तर यह है कि इस में वेद, वेदान्त, ब्राह्मण तथा मेरा दोष नहीं, किन्तु इस में पण्डितजी के शास्त्रों में न्यून अभ्यास का दोष है। क्योंकि जो मनुष्य वेदादि शास्त्रों का यथार्थ अर्थ न समझा होगा उस के उलटे ज्ञान होजाने का संभव है। वेदों में एक ईश्वर के प्रतिपादन में भूमिका अङ्क ४ में ८८ के पृष्ठ से ६२ † पृष्ठ तक ब्रह्मविद्याप्रकरण की समाप्ति पर्य्यन्त देखना चाहिये। (आत्मैव

* शताब्दीसंस्करण पृष्ठ ३३५ से ३४६ तक॥ † शताब्दीसंस्करण पृष्ठ ३६६ से॥

देवताः * सर्वाः०) इस का अभिप्राय पण्डितजी ने ठीक २ नहीं समझा है । क्योंकि इस का मतलब यह है कि आत्मा अर्थात् परमेश्वर ही अग्नि आदि सब व्यवहार के देवताओं का रचन पालन और विनाश करने वाला है । तथा (अग्निर्देवताः०) इत्यादि प्रकरण में व्यवहार के देवता और अग्नि आदि नामों से परमेश्वर का भी ग्रहण है, क्योंकि (सर्वमात्मन्यवस्थितम् *) इस वचन से सिद्ध होता है कि सब जगत् का आत्मा जो परमेश्वर है सो उसी में स्थिर है और वही सब में व्यापक है । इस अभिप्राय से यह बात सिद्ध होती है कि अग्नि परमेश्वर का भी नाम है इससे मेरा कहना यथार्थ पुष्टि रखता है ।

पं० महेश०—ऐतरेयब्रा० के प्रमाण से अग्नि और विष्णु दो ही देव मुख्य करके पूजनीय माने हैं, क्योंकि वे ही यज्ञ में आदि अन्त के देव हैं, जिन के द्वारा सब बीच वालों को भाग पहुंचता है । इसलिये इन्हीं दोनों की सब देवों के तुल्य स्तुति की गई है । इसमें स्वामीजी ऐतरेयब्रा० का जो प्रमाण देते हैं सो उन के कथन की पुष्टि तो नहीं करता किन्तु विरुद्ध पड़ता है ।

स्वा० जी—अब जो पं० जी (अग्निर्वै सर्वाः देवताः) इस में भ्रान्त हुए हैं सो ठीक नहीं और जोः—

अग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः परमस्तदन्तरेण सर्वा अन्या देवताः ।

इत्यादि ऐतरेय ब्राह्मण का प्रमाण धरा है इस का अर्थ ठीक २ पण्डितजी नहीं समझे हैं । इस का अभिप्राय यह है कि (अग्निर्वै सर्वा देवताः, विष्णुः सर्वा देवताः) । इस का भी मनु के प्रमाण समान अर्थ होने से मेरे अभिप्राय की पुष्टि करता है । और जहां भौतिक वा मन्त्र ही देवता लिये गये हैं वहां पुरोडाश आदि करने की क्रिया द्रव्ययज्ञ में संघटित यथावत् की गई हैं । क्योंकि जब प्रथम अग्नि में होम किया जाता है और उससे सब द्रव्यों के रस और जल आदि के परमाणु पृथक् २ हो जाते हैं, तब वे हलके होके सूर्य्य के आक-

* मनु० अ० १२ । श्लो० ११९ ॥

षेण से वायु के साथ मेघमण्डल में जाके रहते हैं, फिर वे ही मेघाकार संयुक्त होकर वृष्टि द्वारा पृथ्वी आदि मध्यस्थ देवसंज्ञक व्यवहार के पदार्थों को पुष्ट करते हैं, इस का नाम भाग और बलिदान है। तथा इसी कारण अग्नि को प्रथम और सूर्य को अन्त में माना है। ऐसे ही अग्नि को सूक्ष्म और सूर्यलोक को अग्नि का बड़ा पुंज समझा है। इत्यादि अभिप्राय से यह पंक्ति एतरेय ब्राह्मण में लिखी है जिसको पं० जी ने न जानकर मेरे लेख पर विरुद्ध संमति दी है।

पं० महेश०—निरुक्त भी कुछेक ही साक्षी देता है। स्वामीजी (अग्निः कस्मादग्रणीर्भवति०) इत्यादि निरुक्त का प्रमाण धरते हैं कि जिसमें अग्नि शब्द की साधना की गई है। कई धात्वर्थ केवल भौतिक अग्नि के वाची हैं और स्वामीजी भी इस बात को मानते हैं और कहते हैं कि सिवाय भौतिक के अग्नि शब्द से ईश्वर का भी ग्रहण होता है और यह अर्थ (अग्रणीः) शब्द से लेते हैं। जैसा कि निरुक्तकार समझता है कि अग्नि शब्द (अग्र—नी) से मिलकर बना है निरुक्तकार इस शब्द के कुछ विशेष अर्थ नहीं करता है। शतपथ ब्रा० जिसको स्वामीजी मानते हैं विशेष अर्थ बताता है परन्तु ईश्वर के नहीं। यद्यपि वे कुछ कहते हैं लेकिन सिवाय भौतिक के दूसरा अर्थ नहीं हो सकता।

स्वा०जी—अब जो पं०जी लिखते हैं कि निरुक्तकार भी कुछेक ही संमति देता है सो नहीं। क्योंकि निरुक्त में अग्नि शब्द से परमेश्वर और भौतिक दोनों अर्थों का यथावत् ग्रहण किया है। तथा उस में अग्नि शब्द का साधुत्व तो कुछ भी नहीं लिखा है। किन्तु धात्वर्थ के निर्देश से अर्थप्रतीति कराई है। क्योंकि शब्दों का साधुत्व व्याकरण का ही विषय है निरुक्त का नहीं। इसलिये उस में रूढ़ि, यौगिक और योगरूढ़ि शब्दों का निरूपण मु य करके किया गया है। जैसे कि (इतात्) (अक्तात्) (दग्धात्) वा (नीतात्) इन में (इण्) धातु गत्यर्थक, (अञ्जू) व्यक्ताद्यर्थ, (दह) भस्मीकरणार्थ, (णीञ्) प्रापणार्थ दिखाने से विद्वानों को ऐसा भ्रम कभी नहीं हो सकता है कि अग्नि शब्द से परमेश्वर और भौतिक दोनों का ग्रहण नहीं है। क्योंकि (इण्) और

(अञ्जू) इन धातुओं के गत्यर्थ होने से ज्ञान, गमन, प्राप्ति ये तीनों अर्थ लिये जाते हैं। इन में ज्ञान और प्राप्त्यर्थ से परमेश्वर तथा गमन और प्राप्त्यर्थ से भौतिक पदार्थ ये दोनों ही लिये जाते हैं। और (अग्रणीः) शब्द तथा–

अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते गं नयति * ।

इस के अभिप्राय से अग्नि शब्द परमेश्वर, और (न क्नोपयति न स्नेहयति) इससे भौतिक पदार्थ में लिया जाता है यह निरुक्त का अभिप्रायार्थ है। मंत्रभाष्य के दूसरे पृष्ठ में ठीक २ लिख दिया गया है। जो उसको पण्डितजी यथार्थ विचारते तो इस वेदभाष्य पर ऐसी विरुद्ध सम्मति कभी न देते। क्योंकि निरुक्तकार ने पूर्वोक्त प्रकार से दोनों अर्थ को विशेष अच्छी तरह दिखला रक्खा है। परन्तु जो कोई किसी के लेख का अर्थ यथावत् नहीं समझते उन को उस के विशेष वा सामान्य अर्थ का ज्ञान कभी नहीं हो सकता।

पं० महेश०—(प्रजापतिर्ह वा इदमग्र०)। हमारी मुराद यह नहीं है कि हम शतपथ ब्राह्मण में अग्नि शब्द भौतिक का वाची ढूढें। किन्तु मैं यह बताता हूं कि पूर्वोक्त वाक्य से निश्चय होता है कि अग्नि सिवाय आग के दूसरा अर्थ नहीं देती है।

स्वा० जी—पण्डितजी का कथन है कि हमारी मुराद यह नहीं है कि हम शतपथ ब्राह्मण में अग्नि शब्द भौतिक का वाची ढूढें इत्यादि। इस का उत्तर यह है कि मैं पूर्वोक्त प्रकार अग्नि शब्द से परमेश्वर और भौतिक दोनों अर्थों को लेता हूं। सो वेदादि शास्त्रों के प्रमाण से निर्भ्रमता के साथ सिद्ध है। परन्तु पंडितजी का अभिप्राय जो अग्नि शब्द से परमेश्वर के ग्रहण में विरुद्ध है उस का हेतु यह मालूम पड़ता है कि पंडितजी बाल्यावस्था से लेकर आज पर्य्यन्त अग्नि शब्द से भौतिक अर्थात् चूल्हे आदि में जलने वाली ही अग्नि को सुनते और देखते आये हैं। इसलिये वहीं तक उनकी दौड़ है। परन्तु मैं उन से मित्रभाव से कहता हूं कि वे वेद, वेदाङ्ग, उपाङ्ग और ब्राह्मण आदि सनातन

* निरुक्त ७। १४॥

आर्षग्रन्थों के अर्थ जानने में अधिक पुरुषार्थ करें कि जिस से ऐसी २ तुच्छ शंका हृदय में उत्पन्न न हों। क्योंकि जो २ शतपथ के प्रमाण मैंने वेदभाष्य में अग्नि शब्द से परमेश्वर के ग्रहणविषय में धरे हैं वे क्या शतपथ के नहीं हैं ?। जो शंका हो तो उक्त जगह पुस्तक में देख लेवें। और जिस वाक्य की पंक्ति का प्रमाण पंडितजी ने धरा है उस में का मुख्य पाठ उन्होंने पहिले ही उड़ा दिया इस चालाकी को देखना चाहिये कि—

तद्यदेनं मुखादजनयत्तस्मादन्नादोऽग्निः। स यो हैवमेतमग्निमन्नादं वेदान्नादो हैव भवति।

इस में अन्नाद शब्द अग्नि का वाची है। और—

अहमन्नमहमन्नमहमन्नम्। अहमन्नादो अहमन्नादो अहमन्नादः।

यह तैत्तिरीय उपनिषद् * का वचन परमेश्वर के विषय में है। अर्थात् वह उपदेश करता है कि मैं ही अन्नाद हूं। और अन्नाद अग्नि को कहते हैं इस से यहां भी परमेश्वर का नाम अग्नि आता है। और दूसरी चाल पंडितजी यह भी खेले हैं कि जिस आधी पंक्ति से शतपथ में अग्नि शब्द से परमेश्वर लिया है उस पाठ को अपने पुस्तक में नहीं लिखा। देखिये कि:—

प्रजापतिः परमेश्वरः यत् यस्मात् मुख्यात् प्रकाशमयान्मुख्यात्कारणात् एनं भौतिकमग्निमजनयत्तस्मात्स परमेश्वरोऽन्नादोऽग्निरर्थादग्निसंज्ञो विज्ञेयः। यो मनुष्यो ह इति निश्चयेनैवममुना प्रकारेणैतमन्नादं परमेश्वरमग्निं वेद जानाति, ह इति प्रसिद्धे, स एवान्नादो भवत्यर्थाद् ब्रह्मविद्भवतीति।

इस प्रकार से यह बात निश्चय होती है कि पंडितजी उन ग्रन्थों का अर्थ ठीक २ नहीं जानते और जितना जानते हैं उस में भी कपट और आग्रह से सत्य नहीं लिखते। पंडितजी को विदित हो कि यहां पाठशालाओं के लड़कों से प्रश्नोत्तर, लेख वा उनकी परीक्षा नहीं है। इस से जो कुछ वे लिखें सो विचार-

* दशमानुवाके षष्ठे खण्डे।

पूर्वक होना चाहिये कि उन को किसी की खुशामद वा आग्रह से लिखना उचित नहीं। जो २ शतपथ के प्रमाण मैंने वहां २ लिखे हैं उस का अर्थ भी संक्षेप से लिख दिया है, उसको ध्यान देकर देख लेवें।

पं० महेश०—अग्निः पृथिवीस्थानस्तं प्रथमं व्याख्यास्यामः *।

पृथिवी का अग्नि, ईश्वर अर्थ में कभी नहीं लिया जा सकता है, इस बात को अच्छी तरह प्रकाश करने के लिये कि निरुक्तकार अग्नि शब्द के क्या अर्थ लेता है।

स्वामीजी—फिर जो पंडितजी ने (अग्निः पृथ्वीस्थानस्तं प्रथमं व्याख्यास्यामः) इस में अपना अभिप्राय जताया है कि क्या पृथ्वी का अग्नि, ईश्वर अर्थ में कभी लिया जा सकता है ? । इस में पंडितजी से मैं पूछता हूं कि क्या आप अन्तरिक्ष और सूर्य्यादि लोकस्थ अग्नि, ईश्वर अर्थ में ग्रहण करते तथा क्या परमेश्वर के व्यापक होने से पृथिवीस्थान नहीं हो सकता ? । और उन को विचारना चाहिये कि (पृथिवी स्थानं यस्य सः परमेश्वरोऽग्निर्भौतिकश्चेत्यर्थद्वयं गृह्यताम्) इस वचन के अर्थ पर उन का अभिप्राय ठीक नहीं सिद्ध होता। क्योंकि इस बात को कौन सिद्ध कर सकता है कि पृथिवी से भिन्न अन्य पदार्थ में भौतिक अग्नि नहीं है। जब कि यहां पृथिवी अर्थात् सब सृष्टि भर ली जाती है तथा कार्य और कारणरूप को भी पृथिवी शब्द से लेते हैं। फिर उन का अभिप्राय इस बात में शुद्ध कभी नहीं हो सकता। क्योंकि रूप गुण वाला पदार्थ अग्नि शब्द से गृहीत होता है और न केवल चूल्हे वा वेदों में धरा हुआ। तथा पृथिवीस्थानशब्द के होने से अग्निशब्द का ग्रहण परमेश्वर अर्थ में भी यथावत् होता है। जैसेः—

यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयति स त आत्मा अन्तर्य्याम्यमृतः।

यह वचन शत० कां० १४ अ० ६ ब्रा० ७ कण्डिका ७ का है कि

* निरु० ७। १४।

जिसमें पृथिवीस्थान शब्द से परमेश्वर का ग्रहण किया है। क्योंकि जहां कहीं अन्तर्य्यामी शब्द से परमेश्वर की विवक्षा होती है वहां एक जीव के हृदय की अपेक्षा से भी परमेश्वर का ग्रहण होता है जैसेः—

स त आत्माऽन्तर्य्याम्यमृतः * ।

अर्थात् गौतमऋषि से याज्ञवल्क्य कहते हैं कि हे गौतम ! जो पृथिवी में ठहर रहा है और उससे पृथक् भी है, तथा जिसको पृथिवी नहीं जानती, जिस के शरीर के समान पृथिवी है, जो पृथिवी में व्यापक होकर उसको नियम में रखता है वही परमेश्वर अमृत अर्थात् नित्यस्वरूप तेरा जीवात्मा का अन्तर्य्यामी आत्मा है। इतने से ही बुद्धिमान् समझ लेंगे कि पण्डितजी निरुक्त का अभिप्राय कैसा जानते हैं।

पं० महेश०—तथा देवताविषय में उसका कैसा विचार था आगे के प्रमाण अङ्गरेजी टीका सहित लिखते हैं। (यत्कामऋषिर्यस्यां० †) जिस मंत्र से जिस देवता की स्तुति कीजाती है वही उस मंत्र का देवता है। (माहाभाग्याद्देवतायाः ‡) अर्थात् देवता एक ही है परन्तु उस में बहुतसी शक्ति होने के कारण अनेक रूपों में पूजा जाता है। उसके सिवाय और २ देव उस के अङ्ग हैं। प्राचीन अनुक्रमणिकाकार भिन्न २ मन्त्रों के पृथक् २ देवता विभाग करता है। और इस का प्रमाण स्वामीजी ने माना है, देखो पृष्ठ १ पं० २। तथा पृ० २३ पं० १४ इसी विषय की। परन्तु बात काट के उस के असली अर्थ के विरुद्ध कहते हैं कि सब मंत्रों का देवता परमेश्वर है, अग्नि वायु आदि नहीं। यह हिन्दुओं का बड़ा सत्यानुसार धर्म है कि अनेक देवते एक ईश्वर ही के प्रकाशरूप हैं। इस बात का प्रमाण ऐतरेयोपनिषद् में लिखा है कि जिसको स्वामीजी भी मानते हैं जैसेः—

* शत० ब्रा० १४। ६। ७। ७॥

† निरु० अ० ७। खं० १॥

‡ निरु० अ० ७। खं० ४॥

निहितमस्माभिरेतद्यथावदुक्तं मनसीत्यथोत्तरप्रश्नमनुब्रूहीति० * ॥ इत्यादि । ४ । ५ । ६ ॥

स्वामीजी—यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मंत्रो भवति ॥

इसका उत्तर भूमिका अङ्क ३ के † देवताविषय में देख लेना । वहां अभिप्राय सहित लिख दिया है । अर्थात् प्रकारान्तर से व्यवहार के पदार्थों की भी देवसंज्ञा मानी है पूज्योपास्य बुद्धि से नहीं । अब प्राचीन अनुक्रमणिकाकार जो भिन्न २ देवता मानता है सो भी इस अभिप्राय से है कि इस मंत्र का अग्नि देवता इत्यादि लेख से कुछ आपकी बात की पुष्टि नहीं होती । क्योंकि वहां केवल नाममात्र का प्रकाश है विशेष अर्थ का नहीं । वैसे ही अग्नि शब्द के पूर्वोक्त प्रकार से घटित दोनों अर्थ लिखे जाते हैं । तथा सब मन्त्रों का देवता परमेश्वर इस अभिप्राय से है कि सब देवों का देव पूजनीय और उपासना योग्य एक अद्वितीय ईश्वर ही है । सो यथावत् देवता प्रकरण में लिख दिया है । वहां देखलेना कि व्यावहारिक अग्नि वायु को देवता किसलिये और परमेश्वर किस प्रकार माना जाता है । ऐसे ही सब जगत् को ब्रह्म मानना तथा ब्रह्म को जगत्रूप समझना यह हिन्दुओं की बात होगी आर्यों की नहीं । हम लोग आर्य्यावर्त्तवासी ब्राह्मणादि वर्ण और ब्रह्मचर्य्यादि आश्रमस्थ, ब्रह्मा से लेकर आज पर्य्यन्त परमेश्वर को वेदरीति से ऐसा मानते चले आये हैं कि वह शुद्ध, सनातन, निर्विकार, अज, अनादिस्वरूप, जगत् के कारण से कार्यरूप जगत् का रचन, पालन और विनाश करनेवाला है । और हिन्दू उसको कहते हैं कि जो वेदोक्त सत्य मार्ग से विरुद्ध चले । इस में पंडितजी ने जो मैत्र्युपनिषद् ‡ का प्रमाण धरा है सो भी विना अर्थ जाने हुए लिखा है, क्योंकि वहां ब्रह्म की उपासना का प्रकरण है । तद्यथाः—

* मैत्र्युपनिषद् प्रपाठक ४ ॥

† शताब्दीसंस्करण पृष्ठ ३३१ से ।

‡ प्रपाठक ४ ।

यस्तपसाऽपहतपाप्मा ओं ब्रह्मणो महिमेत्येवैतदाह यः सुयुक्तोऽजस्त्रं चिन्तयति। तस्माद्विद्यया तपसा चिन्तया चोपलभ्यते ब्रह्म। स ब्रह्मणः पर एता, अधिदैवत्वं देवेभ्यश्चेत्यक्षय्यमपरिमितमनामयं सुखमश्नुते य एवं विद्वाननेन त्रिकेण ब्रह्मोपास्ते।

जो पंडितजी इस प्रकरण का अर्थ ठीक २ समझ लेते तो परमेश्वर का नाम अग्नि नहीं ऐसा कभी न कह सकते। क्योंकि उसी ब्रह्म के अग्नि आदि नाम यहां भी हैं। और ब्रह्म की तनू अर्थात् व्याप्य जो पूर्वोक्त स्थान शतपथ ब्राह्मण में अन्तर्य्यामी पृथिवी से लेकर जीवात्मा पर्य्यन्त २४ अर्थात् अन्वय और व्यतिरेकालङ्कार से शरीर शरीरी अर्थात् व्याप्य व्यापक सम्बन्ध परमेश्वर का जगत् के साथ दिखलाया है सो देखलेना। उसी शतपथ में पांचवें (सातवें ?) ब्राह्मण की ३१ कण्डिका में—

अदृष्टो द्रष्टाऽश्रुतः श्रोताऽमतो मन्ताऽविज्ञातो विज्ञाता नान्योस्ति द्रष्टेत्यादि।

व्याप्यव्यापकसम्बन्ध पूर्वोक्त अलंकार से यथावत् दिखला दिया है। इससे—

ब्रह्म खल्विदं वाव सर्वम् *।

इस का अर्थ इस प्रकार से है कि ब्रह्म केवल एक चेतनमात्र तत्त्व है। जैसे किसी ने किसी से कहा कि यह सुवर्ण खरा है तो इस वाक्य का अभिप्राय यह है कि इस सुवर्ण में दूसरे धातु का मेल नहीं, इसी प्रकार जैसे कार्य्य जगत् के संघातों में अनेक तत्त्वों का मेल है वैसे ब्रह्म नहीं, किन्तु वह भिन्न वस्तु है। तथा तात्स्थ्योपाधि से यह सब जगत् ब्रह्म अर्थात् ब्रह्मस्थ है और ब्रह्म सर्व विश्वस्थ भी है यह इस वचन का ठीक अर्थ है। क्योंकि फिर इसी के आगे यह पाठ है कि:—

या वास्या अग्रयास्तन्वस्ता अभिध्यायेदर्चयेन्निह्नुयाच्चातस्ताभिः सहैवोपर्य्युपरि लोकेषु चरत्यथ कृत्स्नक्षय एकत्वमेति पुरुषस्य पुरुषस्य *।

* मैत्र्युपनिषद् प्रपाठक ४॥

अर्थात् जो विद्वान् पुरुष अपने आत्मा में ब्रह्म की उपासना ध्यान और उसी की अर्चा कर अपने हृदय के सब दोषों को अलग करता, इसके उपरान्त जब अपने अन्तःकरण से शुद्ध होकर मुक्ति पा चुकता है, तब वह उन्हीं पूर्वोक्त तनुओं के सहित उपरि सब लोकों के बीचाबीच रहता हुआ अन्त में परमेश्वर की सत्तामात्र को प्राप्त हो जाता है । सब मुक्त पुरुषों के समीप रहता हुआ अकथनीय परम आनन्द में किलोल करता है । इसके आगे भी मैत्र्युपनिषद् के पञ्चम प्रपाठक के आरम्भ में कौत्सायिनी स्तुति के अनुसार भी (त्वं ब्रह्मा त्वं च वै विष्णुस्त्वं रुद्रस्त्वं प्रजापतिरग्निः) इत्यादि प्रमाण से अग्न्यादि परमेश्वर के नाम यथावत् हैं । इससे यह बात पाई गई कि यद्यपि पण्डितजी प्रोफेसर ग्रिफिथ टानी साहब के वकील भी हुए तथापि मुकद्दमा में खारज होने के योग्य हैं । तथा यह भी जान पड़ा कि वेदभाष्य पर विरुद्ध सम्मति देने वाले वेदादि शास्त्रों का ज्ञान कम रखते हैं ।

पं० महेश०—तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः * ।

जो लोग निरुक्त के समझने वाले हैं वे कहते हैं कि देवता तीन ही हैं । अग्नि, वायु और सूर्य । इन देवताओं का बल बहुत और काम पृथक् २ होने से उन को कई नामों से बोलते हैं ।

अथाकारचिन्तनं देवतानाम् । पुरुषविधाः स्युरित्येकम् । चेतनावद्धि स्तुतयो भवन्ति । तथाभिधानानि । अथापि पौरुषविधकैरङ्गैः संस्तूयन्ते † ।

कितने ही देवते मनुष्यों के समान हैं । अर्थात् वे मनुष्यों के तुल्य घोड़े आदि की सवारी और खाना पीना सुनना बोलना आदि काम करते हैं । कुछ देवते ऐसे हैं कि मनुष्यों के तुल्य नहीं, परन्तु दृष्टि में आते हैं जैसे अग्नि, वायु, आदित्य, पृथिवी और चन्द्रमा । तथा कितने ही चेतन नहीं हैं जैसे सिक्ता, वनस्पति आदि ।

---

* निरु० अ० ७ । खं० ५ ॥

† निरु० अ० ७ । खं० ६ ॥

तिस्र एव देवता इत्युक्तं पुरस्तात्तासां भक्तिसाहचर्यं व्याख्यास्यामः * ।

हम कह चुके हैं कि देवता तीन हैं अग्नि, वायु और सूर्य । जिनके गुणों की व्याख्या करती है । अब अग्नि के गुण बताते हैं अर्थात् वह देवतों के पास चढ़वा पहुंचाता है तथा उन को यज्ञ में बुलाता है । ये अग्नि के प्रत्यक्ष काम हैं ।

अग्निः पृथिवीस्थानस्तं प्रथमं व्याख्यास्यामः ।

जो अग्नि पृथिवी पर रहता है प्रथम हम उसी का वर्णन करते हैं । इस का अग्नि नाम क्यों हुआ । क्योंकि वह प्रथम ही आता है । देखो (अग्नि-मीड़े) इत्यादि । इन प्रमाणों से सिद्ध होता है कि निरुक्तकार अग्नि शब्द से सिवाय भौतिक के दूसरी चीज़ नहीं समझा है । यह ब्रा० और निरु० से स्वामीजी का कथन ठीक नहीं । श्रौतसूत्र जो वेद की प्राचीन व्याख्या है यद्यपि स्वामीजी ने उसका कोई प्रमाण नहीं दिया परन्तु मैं कुछ साक्षी के तौर पर प्रमाण देता हूं । सू० २६ । कण्डिका १ । अ० १ तथा सू० ७ । कं० १३ । अ० ४ में देखने से साफ़ मालूम होता है कि (अग्निमीड़े०) यह मन्त्र भौतिक अग्नि की पूजा विधान में लिखा गया है ।

स्वामीजी—इस के आगे पण्डितजी (तिस्र एव देवता०) इत्यादि निरुक्त का अभिप्राय लिखते हैं सो उन्होंने इस का भी अर्थ ठीक २ नहीं जाना । क्योंकि इस प्रकरण में भी पूर्वोक्त प्रकार से दोनों व्यवस्था जानी जाती हैं । अर्थात् अग्नि आदि नामों से व्यवहारोपयुक्त पदार्थ और पारमार्थिक उपास्य परमेश्वर दोनों ही का यथावत् ग्रहण होता । इस निरुक्त का अर्थ भूमिका के अङ्क ३ पृष्ठ ६० पंक्ति ८ मी से अङ्क ४ पृष्ठ ७८ † तक देखने से ठीक २ उत्तर मिल जायगा । और इस के आकारचिन्तन से यह अभिप्राय है कि जिस २ पदार्थ में जो २ गुण होते हैं उन का यथावत् प्रकाश करना स्तुति कहाती है । सो जड़ और चेतन दोनों में यथावत् घटती है । इसी प्रकरण में—

* निरु० अ० ७ । खं० ८ ॥ † शताब्दीसंस्करण पृ० ३३२ से ३५४ तक ।

एकस्य सतोऽपि वा पृथगेव स्युः पृथग्घि स्तुतयो भवन्ति । तथाऽभिधानानि * ।

इस पंक्ति का अर्थ पण्डितजी ने न विचारा होगा । नहीं तो इतने आडम्बर का लेख क्यों करते । क्योंकि देखो—

तासां माहाभाग्यादेकैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति * ।

इस का अभिप्राय यह है कि अग्न्यादि संसारी पदार्थों में भी ईश्वर की रचना से अनेक दिव्य गुण हैं कि जिनके प्रकाश के लिये वेदों में उन पदार्थों के अग्न्यादि कई २ नाम लिखे हैं । तथा वे ही नाम गुणानुसार एक अद्वितीय परमेश्वर के भी हैं । उन्हीं पृथक् २ गुणयुक्त नामों से परमेश्वर की स्तुति होती है । तथा उसी के वेदों में सर्वसुखदायक, स्वयंप्रकाश, सत्य, ज्ञानप्रकाशक नाना प्रकार के व्याख्यान लिखे हैं । इस प्रकार सब सज्जन लोगों को जान लेना चाहिये कि अग्न्यादि नामों से पूर्वोक्त दोनों अर्थों का ग्रहण होता है केवल एक का नहीं । और—

तिस्र एव देवता इत्युक्तं पुरस्तात्तासां भक्तिसाहचर्यं व्याख्यास्यामः ।

इस का अभिप्राय यह है कि उन व्यावहारिक देवताओं का जुदापन ? (साहचर्य) अर्थात् संयोग दो प्रकार का होता है एक समवायसम्बन्ध दूसरा संयोगसम्बन्ध । समवाय नित्य गुणगुणी आदि में होता है और संयोगसम्बन्ध गुणी और अगुणियों का होता है । जैसे जगत् के पदार्थों में स्वाभाविक और नैमित्तिक सम्बन्ध होता है वैसे ही परमेश्वर में भी जान लेना कि वह अपने स्वाभाविक गुण और सामर्थ्यादि के साथ समवाय और जगत् के कारण कार्य तथा जीव के साथ संयोग सम्बन्ध अर्थात् व्याप्यव्यापकतादि प्रकार से है । इस वचन में भी परमेश्वर का त्याग कभी नहीं हो सकता । तथा जैसे भौतिक अग्नि का काम व्यावहारिक देवताओं को जल चढ़ाना वा पहुंचाना है, तथा मन्त्र

* निरु० अ० ७ । खं० ५ ॥

देव और दिव्य गुणों को जगत् में प्राप्त करना है, वैसे ही सब जीवों को पाप पुण्य के फल पहुंचाना और ज्ञानानन्दी मोक्षरूप यज्ञ में धार्मिक विद्वानों को हर्षयुक्त करदेना परमेश्वर का काम है। (अग्निः पृथिवीस्थानः०) इस की व्याख्या पूर्व कर आये हैं। और (अग्निमीड़े) इस की व्याख्या निरुक्त के अनुसार इसी मंत्र के भाष्य में लिख दी है। परन्तु वहां भी दो ही अग्नि लिये हैं क्योंकि एक अध्येषणाकर्मा अर्थात् परमेश्वर और भौतिक, दूसरा पूजाकर्मा अर्थात् केवल परमेश्वर ही लिया है। तथा (अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिः०) इस मंत्र की व्याख्या में निरुक्तकार का स्पष्ट लेख है कि—

स न मन्येतायमेवाग्निरित्यप्येत उत्तरे ज्योतिषी अग्नी उच्येते * ।

इस का अर्थ यह है कि वह अग्नि जो परमेश्वर का वाची है चूल्हे में प्रत्यक्ष जलने वाला नहीं है। किन्तु जो कि अपने व्याप्य में व्यापक विद्युत्रूप और जो उत्तर अर्थात् कारणरूप ज्योतिःस्वरूप और सब का प्रकाशक हैं। तथा जो परमेश्वर का अग्निशब्द से ग्रहण करना कहा है एक आनन्दस्वरूप परमात्मा का स्वीकार है। जैसा कि पूर्वोक्त प्रकार से बुद्धिमान् लोग जान लेंगे कि वे सब प्रमाण जो मैंने इस विषय में लिखे हैं मेरी बात की पुष्टि करते हैं वा नहीं तथा पण्डितजी की पकड़ ठीक है वा नहीं। और जो कि वे श्रौतसूत्र का प्रमाण लिखते हैं उस का भी अभिप्राय उन्होंने यथार्थ नहीं जाना। क्योंकि वहां तो केवल होम क्रिया करने का प्रसङ्ग है। और होता आदि के आसनादिक और अध्वर्यु आदि के काम पृथक् २ लिखे हैं। इसलिये वहां तत्संसर्गी का ग्रहण नहीं हो सकता। क्योंकि जो जिस का काम है उसको वही करे यहां उस सूत्र की प्राप्ति नहीं हो सकती इसलिये उस का लिखना व्यर्थ है। तथा आश्वलायन श्रौतसूत्र के चतुर्थाध्याय में तेरहवीं कण्डिका के ७ सूत्र में भी केवल कर्मकाण्ड ही की क्रिया के मन्त्रों की प्रतीकें धरी हैं। वहां भी पण्डितजी अग्नि शब्द से परमेश्वर का त्याग कभी नहीं करा सकते। किसलिये कि वहां मन्त्र ही देवता

* निरु० अ० ७। खं० १७॥

हैं। और शुभ कर्मों में परमेश्वर ही की स्तुति करना सब को उचित है। वहाँ मन्त्र का पाठातिदेश किया है अर्थ नहीं। इस से इस सूत्र का लिखना पण्डितजी को योग्य नहीं था। क्योंकि वहां तो केवल क्रियायज्ञ का प्रकरण है दूसरी बात का नहीं।

पं० महेश०—(अग्निमीडे) इस मन्त्र की सिद्धि में और अधिक प्रमाण स्वामीजी ने नहीं दिये। परन्तु कई मन्त्रों का प्रमाण धरके कहते हैं कि अग्नि से ईश्वर का ग्रहण है। सो उन मन्त्रों की साधारण विचारपरीक्षा से ही मालूम हो जाता है कि उनसे स्वामीजी के अर्थ नहीं निकल सकते। पहिला मन्त्र (इन्द्रं मित्रम्) वे उस को इन्द्र, मित्र, वरुण और अग्नि आदि नामों से पुकारते हैं। यह मालुम नहीं होता कि इस मन्त्र में किस को सन्मुख करके बोलते हैं। निरुक्तकार कहता है कि वह भौतिक के लिये आया है। कोई सूर्य को बनाते हैं। खैर कुछ ही हो। परन्तु अग्नि से ईश्वर कभी नहीं लिया जा सकता और यह जाना गया है कि जब किसी विशेष देवता की स्तुति करते हैं तो उस को शब्द और २ देवताओं को नाम से लाते हैं उस के बल आदि गुण बताने के लिये (तदेवाग्नि०) शुक्लयजुर्वेद से कि जिस के समान कृष्णयजुर्वेद में भी है (देखो) तैत्तिरीय आरण्यक अ० १। इस स्थान में अद्वैत मत का प्रतिपादन है। जैसे देखो—जो सर्वज्ञ पुरुष सदा था, है और रहेगा। जिस का तमाम ब्रह्माण्ड एक अंशमात्र है। जिस से वेद उत्पन्न हुए हैं, तथा जिससे घोड़ा, गौ, बकरी और खटमल आदि निकले हैं। जिस के मन से चन्द्रमा, नेत्रों से सूर्य्य, कानों से वायु और प्राण और मुख से अग्नि वह सर्वव्यापी और सब संसार का आधार है। इसके बाद स्वामीजी मंत्र का प्रमाण देते हैं जैसे (तदेवाग्निः०) अर्थात् अग्नि, सूर्य, वायु आदि सब एक परमेश्वर के ही गुण नाम हैं। जैसे अग्नि शब्द के अर्थ परमेश्वर में नहीं घटते वैसे ही ऊपर के अर्थ भी नहीं लग सकते। सिवाय इस के जो (तदेवाग्नि०) पदभेद को विषय अर्थ से मिलावें तो स्वामीजी का अग्नि शब्द को परमेश्वर अर्थ में मिलाना ऐसा असंभव होगा जैसे कहदे कि मनुष्य पशु है अथवा पशु मनुष्य है।

(अग्निर्होता कविः क्रतुः०) स्वामीजी कवि शब्द के अर्थ सर्वज्ञ के लेते हैं तथा सत्य का विनाशरहित । परन्तु निरुक्त में कवि का और ही अर्थ है और स्वामीजी भी जब मंत्र को शास्त्रसम्बन्धी अर्थ में लेते हैं तो कई प्रकार के अर्थ करते हैं । कदाचित् स्वामीजी का अर्थ मान भी लें तो वह उनके अभिप्राय को, अग्नि ईश्वर का नाम है, नहीं खोलता । क्योंकि यह दस्तूर की बात है कि देवता की स्तुति करने में सब प्रकार के विशेषण लाते हैं ।

स्वामीजी—अब पण्डितजी प्रमाणों की परीक्षा पर बहुत भूले हैं । क्योंकि मैंने अग्नि शब्द से परमेश्वर के ग्रहण विषय में वेद मंत्रों के अनेक प्रमाण मंत्रभाष्य के आरम्भ में लिखे हैं । उनका विचार छोड़कर मृग के समान आगे कूद कर चले गये हैं । इससे मालूम होता है कि पण्डितजी को मंत्रों का अर्थ मालूम नहीं । और विना इतनी विद्या के वे साधारण वा विशेष परीक्षा कैसे कर सकते हैं । उन का यह भी लिखना ठीक नहीं कि इन प्रमाणों से स्वामीजी का अर्थ नहीं निकल सकता । अब विद्वान् लोग पंडितजी के लेख की परीक्षा करें । अर्थात् वे लिखते हैं कि यह मालूम नहीं होता कि (इन्द्रं मित्रं०) इस मंत्र में "उसको" शब्द किस के लिये आया है इत्यादि । तथा निरुक्तकार कहता है कि वह भौतिक अग्नि के लिये आया है इत्यादि । सो पण्डितजी को जानना चाहिये कि विना ज्ञान वेदविद्या के उनकी परीक्षा करना बालकों का खेल नहीं । इस ग्रन्थ में भी अग्नि का पाठ दो वार है । एक—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः * ॥ अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः * ॥

इस का अभिप्राय यह है कि अग्नि शब्द से दोनों अर्थों का ग्रहण होता है । अर्थात् भौतिक और परमेश्वर । तथा उसमें तीन आख्यात पद होने से तीन अन्वय होते हैं । अर्थात् अग्न्यादि नाम भौतिक अर्थ में और परमेश्वर अर्थ में भी दो अन्वय होते हैं ।

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निम् ।

* ऋ० मं० १ । सू० १६४ । मन्त्र ४६ ॥

अर्थात् एक शब्द से परब्रह्म को विद्वान् लोग अथवा वेदमन्त्र अग्न्यादि नामों से अनेक प्रकार की स्तुति करते हैं। तथा सब का निरुक्त जो दूसरे पृष्ठ में लिख दिया है उसका भी अर्थ पण्डितजी ने नहीं जाना। क्योंकि वहां भी—

उत्तरे ज्योतिषी एतेन नामधेयेन भजेते * ।

इस का यह अर्थ है कि अग्नि नाम करके पूर्वोक्त प्रकार से उत्तर ज्योति गृहीत होते हैं। अर्थात् भौतिक और परमेश्वर इन दो अर्थों का ग्रहण होता है। तथा—(इममेवाग्निं० *) इत्यादि इन दोनों अर्थों के अभिप्राय में है। क्योंकि विना पठनाभ्यास के कोई कैसा ही बुद्धिमान् क्यों न हो गूढ़ शब्दों का यथावत् अर्थ जानने में उसको कठिनता पड़ जाती है। इस मंत्र का अभिप्राय मैंने अच्छी तरह वेदभाष्य में प्रकाशित कर दिया था। तिस पर भी पण्डितजी न समझे। बड़े आश्चर्य्य की बात है कि विद्या के अभिमानी होकर ऐसी भ्रान्ति में गिर पड़ते और उन प्रमाण मंत्रों के यथार्थ अर्थ को उलटा समझते हैं। क्या यह हठ की बात नहीं है कि विद्वान् कहाकर बार २ यही कहते चले जाना कि अग्नि शब्द से परमेश्वर का ग्रहण नहीं होता। जैसे इस मन्त्र के अर्थ में पण्डितजी भूल गये हैं वैसे ही (तदेवाग्नि०)। जो इस में तैत्तिरीय आरण्यक का नाम लिखा उसके प्रकरण का अभिप्राय पण्डितजी ने ठीक २ नहीं जाना है। क्योंकि वहां परमेश्वर का निरूपण और सृष्टिविद्या दिखलाई है। जैसे वह परमेश्वर भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान तीनों काल में एकरस रहता है। अर्थात् जब २ जगत् हुआ था, है और होगा तब २ वह:—

तदक्षरे परमे व्योमन् ।

सर्वव्यापक आकाशवत् विनाशरहित परमेश्वर में स्थित होता है। क्योंकि:—

येनावृतं खं च दिवं महीं च० ।

---

* नि० अ० ७। खं० १८॥

इत्यादि जिसने आकाश सूर्य्यादि लोक और पृथिव्यादियुक्त जगत् को अपनी व्याप्ति से आवृत कर रक्खा है।

येन जीवान् व्यवसर्ज भूम्याम्।

जो कि जीवों को कर्मानुसार फल भोगने के लिये भूमि में जन्म देता है।

अतः परं नान्यदणीयमस्ति।

जिससे सूक्ष्म वा बड़ा कोई पदार्थ नहीं है। तथा जो सब से पर, एक, अद्वितीय, अव्यक्त और अनन्तस्वरूपादि विशेषणयुक्त है।

तदेवावर्त्तत्तदुसत्यमाहुस्तदेव ब्रह्म परमं कवीनाम्।

वही एक यथार्थ नित्य एक चेतन तत्त्वमय है। वही सत्य, वही ब्रह्म, तथा विद्वानों का उपास्य परमोत्कृष्ट इष्ट देवता है। और (तदेवाग्नि०) अर्थात् वही परमेश्वर अग्न्यादि नामों का वाच्य है।

सर्वे निमेषा जज्ञिरे * इत्यादि।

जिससे सब कालचक्रादि पदार्थ उत्पन्न हुए हैं। तथा—

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चिदेनम्। हृदा मनीषा मनसाऽभिक्लृप्तो य एनं विदुरमृतास्ते भवन्ति †।

अर्थात् उस परमेश्वर का स्वरूप इयत्ता से दृष्टि में नहीं आ सकता। अर्थात् कोई उस को आंख से नहीं देख सकता। किन्तु जो धार्मिक विद्वान् अपनी बुद्धि से अन्तर्यामी परमात्मा को आत्मा के बीच में जानते हैं वे ही मुक्ति को प्राप्त होते हैं। तथा जिस अनुवाक का पंडितजी ने नाम लिखा है उस का अभिप्राय और ही कुछ है। अद्वैत शब्द का अर्थ उन की समझ में ठीक २ नहीं आया। क्योंकि उन के मन में भ्रम होगा कि सिवाय परमेश्वर

* य० अ० ३२। मं० २॥ † कठोप० वल्ली ६। मं० ९॥

के जगत् में दूसरा पदार्थ कोई भी नहीं। किन्तु परमेश्वर ही जगत्रूप बन गया है। क्योंकि वे लिखते हैं कि तमाम ब्रह्माण्ड एक अंशमात्र है, जिससे घोड़ा गौ और खटमल आदि निकले हैं इस से उन का अभिप्राय स्पष्ट मालूम होता है कि ब्रह्म ही सब जगत् बन गया है। यह भ्रान्ति उन को वेदादि शास्त्रों के ठीक २ न जानने के कारण हुई है। क्योंकि देखो अद्वैतशब्द परमेश्वर का विशेषण है कि जैसे एक २ मनुष्यादि जाति जगत् में अनेक व्याप्तिमय है वैसा परमेश्वर नहीं। किन्तु वह तो सब प्रकार से एकमात्र ही है। इसका उत्तर भूमिका अङ्क ४ पृष्ठ ९० की पंक्ति २२ * में मिलता है। जैसे—

न द्वितीयो न तृतीयः † ।

इत्यादि में देख लेना। तथा—

पुरुष एवेदꣳ सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम् ‡ ।

इत्यादि मंत्रों का अर्थ भूमिका अंक ५ के ११८ पृष्ठ में (सहस्रशीर्षा) इत्यादि की व्याख्या से लेकर अंक ६ के १३४ पृष्ठ + की समाप्ति पर्य्यन्त देखने से इसका ठीक उत्तर मिल जायगा। और—

अग्निर्होता कविः क्रतुः ।

इस के अर्थ विषय में जो पंडितजी को शंका हुई है कि अग्नि शब्द से ईश्वर कैसे लिया जाता है तो निरुक्त में कवि शब्द का अर्थ क्रान्तदर्शन अर्थात् सब को जानने वाला है सो सिवाय परमेश्वर के भौतिक में कभी नहीं घट सकता। क्योंकि भौतिक अग्नि जड़ है। इस मंत्र का अर्थ वेदभाष्य के अंक १ पृष्ठ १६ में देख लेना। (क्रतुः) सब जगत् का करने वाला, (सत्यश्चित्रश्रवस्तमः) इत्यादि पदों का अर्थ वहीं देख लेना। जब आग्रह छोड़ के विद्या की आंख से मनुष्य देखता है तब उस को सत्यासत्य का ज्ञान यथावत् होता

* शताब्दीसंस्करण पृ० ३६९ पंक्ति १९॥ † अथर्व० कां० १३। अनु० ४। मं० १६॥
‡ य० अ० ३१। मं० २॥ + शताब्दीसंस्करण पृ० ४०३ से ४२५ तक॥

है। और जब इस प्रकार की ठीक २ विद्या ही नहीं तो उस को सत्यासत्य का विवेक कभी नहीं हो सकता। तथा निघं० अ० ३। खं० १५ में मेधावी का नाम कवि लिखा है सो परमेश्वर के सिवाय भौतिक जड़ अग्नि कभी नहीं घट सकता। तथा यजुर्वेद अ० ४०। मं० ८।

सपर्य्यगाच्छुक्र०।

इस मन्त्र में कविर्मनीषी इत्यादि लिखा है। यहां भी कवि नाम सिवाय परमेश्वर के भौतिक जड़ अग्नि में कभी नहीं घट सकता। और ये सब प्रमाण मेरे अभिप्राय को ठीक २ सिद्ध करते हैं। तथा पंडितजी का विशेष लेख मेरे लेख की परीक्षा तो नहीं कर सकता किन्तु उन की न्यूनविद्या की परीक्षा अवश्य कराता है।

पं० महेश०—(ब्रह्म ह्यग्निः) जो कि आगे की संस्कृत में आता है। जैसे—

अग्ने महां असि ब्राह्मण भारतेति०॥

इस में अग्नि को ब्राह्मण कहा है। क्योंकि अग्नि इस नियम से—

सर्वं खल्विदं ब्रह्म।

ब्रह्म है। और भारत इसलिये कहते हैं कि वह चढ़ाया हुआ पदार्थ देवताओं को पहुंचाता है। शत० कां० १। अ० ४। ब्रा० ४। २। इससे मालूम होता है कि यह अग्नि शब्द का अर्थ नहीं किन्तु ब्राह्मण और भारत, अग्नि में लगाये हैं।

आत्मा वा अग्निः।

यह श० कां० ७। अ० ३। ब्रा० १। कं० २ के अगले प्रमाण में आया है जैसे—

यद्वेव चिते गार्हपत्येऽचित आहवनीयेऽथ राजानं क्रीणाति। आत्मा व अग्निः। प्राणः सोमः। आत्मँस्तत् प्राणं मध्यतो दधाति।

अर्थात् बाद रखने गार्हपत्य और पूर्व रखने अग्नि के होम करने वाला सोमलता को मोल लेता है। क्योंकि आत्मा अग्नि है। तथा प्राण नाम सोम का है। और आत्मा के बीच में प्राण रहते हैं। यहां आत्मा का अर्थ ईश्वर नहीं है, किन्तु मनुष्य के जीव से मुराद है। तथा अग्नि का नाम भी आत्मा अलंकाररूप से है। इसीलिये सोमलता प्राण का अर्थ लिया है। अग्नि का अर्थ आत्मा नहीं है जैसे कि सोमलता का अर्थ प्राण है। ११ भी शतपथ ब्राह्मण से लिये गये हैं जिस में इस बात का नाम नहीं है कि अग्नि का अर्थ ईश्वर माना जावे। किन्तु जहां से ये प्रमाण रक्खे हैं वे बराबर होमादि का विधान करते हैं और वे निस्सन्देह केवल भौतिक अग्नि का अर्थ देते हैं दूसरा नहीं। ऐतरेयोपनिषद् के हैं अर्थात् १८ प्रमाण में ईश्वर का वर्णन प्राण, अग्नि, पंचवायु आदि से तथा १३ में ईशान, शंभु, भव, रुद्र आदि। ये सब अर्थ उसी नियम पर हैं कि जिसका कथन कर चुके सब वस्तु ब्रह्म है। इन प्रमाणों से भी स्वामीजी के कथन की पुष्टता नहीं होती। १३ प्रमाण में अग्नि कहीं नहीं आया है। सिवाय (अग्निरिवाग्निना पिहितः) ब्रह्म को अग्नि शब्द के तुल्य करने से कि जो (अग्निरिव) से उत्पन्न होता है साफ मालूम होता है कि अग्नि और ईश्वर में बड़ा भेद है। परन्तु बड़ा आश्चर्य है कि स्वामीजी इसी को अपना प्रमाण मानते हैं। १४ ऐतरेय ब्रा० और शत० ब्राह्म० के हैं जो कह दिये गये।

स्वामीजी—इसके आगे जो २ प्रमाण मैंने शतपथ के इस विषय में क्रम से धरे हैं उन को तो देखते विचारते नहीं परन्तु इधर उधर घूमते हैं। विद्वानों का यह काम है कि उलट पुलट के आगे का पीछे और पीछे का आगे कर देवे। (ब्रह्म ह्यग्निः) इस वचन से स्पष्ट मालूम होता है कि ब्रह्म का नाम अग्नि है। तथा—

अग्ने महां असि ब्राह्मण भारतेति।

इस वचन के भी दूसरे अर्थ हैं। क्योंकि वहां (सर्वं खल्विदं ब्रह्म) यह नियम कहीं नहीं लिखा।

ब्रह्म ह्यग्निस्तस्मादाह ब्राह्मण इति । भारतेत्येष हि देवेभ्यो हव्यं भरति तस्माद् भारतोऽग्निरित्याहुरेष उवा इमाः प्रजाः प्राणो भूत्वा बिभर्त्ति तस्मादेवाह भारतेति ।

इस कण्डिका का अर्थ पूर्वापर सम्बन्ध से पण्डितजी न समझे । क्योंकि इसका अर्थ यह है कि हे अग्ने परमेश्वर ! आप (महान्) सब से बड़े हैं और बड़े होने से ब्राह्मण तथा सब प्रजा को धारण करने से भारत कहाते हैं । और विद्वानों के लिये सब उत्तम पदार्थों का धारण करते हैं इसलिये भी आप का नाम भारत है । इस कण्डिका के अर्थ से यथावत् सिद्ध होता है कि अग्नि भारत और ब्राह्मण ये नाम परमेश्वर के हैं । और जो—

आत्मा वा अग्निः ।

इस में अग्नि शब्द से परमेश्वर और भौतिक अग्नि का ग्रहण है इससे दोष नहीं आ सकता, यही मेरा अभिप्राय है । इसको पण्डितजी ठीक २ नहीं समझे और—

तस्मादयमात्मन् प्राण० मध्यतः ।

इसका यह अर्थ है कि (अयम्) यह होम करनेवाला वा परमेश्वर का उपासक सब के बलकारक प्राण को शरीर में वा मोक्षस्वरूप अन्तर्यामी ब्रह्म के बीच में धारण करता है । क्योंकि सब के प्राण सामान्य से परमेश्वर की सत्ता में ठहर रहे हैं । इससे सब का आत्मा प्राण के बीच में है और मनुष्य के प्राण की अपेक्षा व्यवहार दशा में है । परन्तु—

स उ प्राणस्य प्राणः *।

इस केनोपनिषद् के विधान से परमेश्वर का नाम भी प्राण है । इससे यहां आत्मन् शब्द से जीवात्मा और परमात्मा का ग्रहण है । और आत्मा का नाम अग्नि अलङ्कार से नहीं किन्तु संज्ञासंज्ञि सम्बन्ध से है । क्योंकि उस प्रकरण

* केनो० खं० २ । मं० २ ॥

में वैसे ही अग्निनाम से पूर्वोक्त दोनों अर्थ सिद्ध हैं और यज्ञादि कर्मों में परमेश्वर का ग्रहण सामान्य से आता है। सोम का नाम प्राण शतपथ में इसलिये है कि वह प्राण अर्थात् बल बढ़ाने का निमित्त है। परमेश्वर का नाम सोम है सो पूर्वोक्त ऐतरेय ब्राह्मण के प्रकरण में सिद्ध है। और जहां २ से प्रमाण लिखे हैं वहां २ सर्वत्र होमादि क्रिया उपासना और परमेश्वर का ग्रहण है। परन्तु पण्डितजी लिखते हैं कि अग्नि नाम से भौतिक अर्थ का ही ग्रहण होता है। यह केवल उनका आग्रह है। इसका उत्तर पूर्व भी हो चुका। और—

प्राणो अग्निः परमात्मेति।

यह मैत्र्युपनिषद् का प्रमाण भी यथावत् परमेश्वरार्थ को कहता है। प्राण, अग्नि, परमात्मा ये तीनों नाम एकार्थवाची हैं। तथा आत्मा और ईशानादि भी संज्ञासंज्ञि सम्बन्ध में स्पष्ट हैं। और सब वस्तु ब्रह्म है इसका उत्तर मैं पूर्व दे चुका हूं। पण्डितजी वेदादिशास्त्रों को न जानकर भ्रम से जगत् को ब्रह्म मानते हैं। इस प्रकरण में प्राण, अग्नि और परमात्मा पर्य्यायवाचक लिखे हैं। उनका अर्थ विना विचारे कभी नहीं मालूम हो सकता। क्योंकि (पञ्चवायुः) इस शब्द से पण्डितजी को भ्रम हुआ है। इसमें केवल व्याकरण का कम अभ्यास कारण है। क्योंकि जिसमें पांच वायु स्थित हों सो (पञ्चवायुः) परमेश्वर कहाता है। और इस प्रकरण में (विश्वभुक्) आदि शब्द भी हैं इससे दोनों अर्थ वहां लिये जाते हैं।

य एष तपति अग्निरिवाग्निना पिहितः। एको वा जिज्ञासितव्योऽन्वेष्टव्यः सर्वभूतेभ्योऽभयं दत्वाऽऽरण्यं गत्वाऽथ बहिः कृत्वेन्द्रियार्थान् स्वाच्छरीरादुपलभेतैनमिति विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं परायणं ज्योतिरेकं तपन्तं सहस्ररश्मिः शतधा वर्त्तमानः प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः। तस्माद्वा एष उभयात्मैवंविदात्मन्येवाभिध्यायत्यात्मन्येव यजतीति ध्यानम्।

जो परमेश्वर अग्नि और सूर्य्य के समान सर्वत्र तप रहा है। जिस को सब विद्वान् लोग जानने की इच्छा करते और खोजते हैं तथा सब प्राणियों

को अभयदान दे के, विषयों में इन्द्रियों को रोक के, एकान्त देश में समाधिस्थ होकर, इसी मनुष्य-शरीर में जिसको प्राप्त होते हैं वह परमेश्वर विश्वरूप है। अर्थात् जिसका स्वरूप विश्व में व्याप्त हो रहा है। और सब पापों को नाश करने वाला, उसी से वेद प्रकाशित हुए हैं, वह सब विश्व का परम अयन, ज्योतिःस्वरूप, एक अर्थात् अद्वितीय, सूर्य्यादि को तपाने वाला, असंख्यात ज्योतियुक्त अर्थात् सब विश्व में असंख्यात गुण और सामर्थ्य से वह वर्त्तमान, सब का प्राण अर्थात् सब प्रजाओं के बीच में ज्ञानस्वरूप से उदित और चराचर जगत् का आत्मा है, उस परमेश्वर को जो पुरुष उभयात्मा अर्थात् अन्तर्यामी और परमेश्वर की आत्मा परमेश्वर ही को जानने वाला तथा अपने आत्मा में जगदीश्वर का अभिध्यान और समाधियोग से उस का पूजन करता है वही मुक्ति को प्राप्त होता है। इसी प्रकार से—

उपजमेतैनमिति।

मनुष्य परमेश्वर को प्राप्त हो सकता है अन्यथा नहीं। क्योंकि पण्डितजी ने इस प्रकरण का अर्थ कुछ भी नहीं जाना इसी से विरुद्ध लेख किया। इस प्रकार से यह प्रकरण मेरे लेख का मण्डन और पण्डितजी के लेख का खण्डन करता है। भौतिक अग्नि और परमेश्वर में बड़ा भेद है यह मैं भी जानता और मानता हूं। परन्तु पण्डितजी ने मेरे लेख में उन दोनों का भेद कुछ भी नहीं समझा यह बड़ा आश्चर्य्य है।

पं० महेश०—(अग्निः पवित्रमुच्यते) पवित्रं शब्द की खराबी लगी है कि उसको पवित्र शब्द के अर्थ में लिया है। १८ मनु का है। इस स्थान में मैं कुछ अवश्य कहना चाहता हूं कि एक बड़ा भाग मनु का जो कि हिंदू-धर्म का बयान करता है स्वामीजी उसके लौट डालने को अपनी ओर प्रेरणा अर्थात् रसूली समझते हैं। इसलिये मनु के प्रमाण रखने में उन की चतुराई नहीं समझी जा सकती। और धरा तो धरा करो, परन्तु उससे भी सिद्ध नहीं हो सकता कि अग्नि ईश्वर का वाची है। जैसे सब दृष्ट अदृष्ट सृष्टि को परमेश्वर में

स्थित देखना चाहिये, आत्मा सर्व देवता हैं, सब आत्मा में स्थित हो रहे हैं, कोई कहते हैं कि वह अग्नि है, कोई मनु अर्थात् प्रजापति, कोई इन्द्र, कोई प्राण, और कोई २ उसको नित्य ब्रह्म कर के समझते हैं। वह मनुष्य जो परमात्मा को सब में व्यापक देखता है स्वीकार करता है कि सब समान हैं वह परमेश्वर में लवलीन हो जाता है।

सर्वमात्मनि संपश्येत्सच्चासच्च समाहितः *। आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम् †। एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम् ‡।

अब देखना चाहिये कि ये सब मंत्रों के प्रमाण स्वामीजी ने अग्नि शब्द के परमेश्वरार्थ में सिद्ध करने को दिये हैं सो कैसे वृथा हैं।

स्वामीजी—(अग्निः पवित्रमुच्यते) इसका उत्तर हम देचुके। और मनु के प्रमाण के विषय में पण्डितजी का लेख विपरीत है। क्योंकि जो आर्य्यों का वेदोक्त सनातन धर्म है उसको पण्डितजी के समान विचार करने वाले मनुष्यों ने उलटा दिया है। उस उलटे मार्ग को उलटा कर पूर्वोक्त सत्यधर्म का स्थापन मैं किया चाहता हूं। इस से मेरी चतुराई तो ठीक हो सकती है। परन्तु पंडितजी की चतुराई ठीक नहीं समझी जाती। क्योंकि मनु के प्रमाण का अभिप्राय पंडितजी ने कुछ भी नहीं समझा।

प्रशासितारं सर्वेषां०।

इस पूर्वोक्त से पुरुष अर्थात् परमेश्वर की अनुवृत्ति—

एतमेके वदन्त्यग्निम्०।

इस श्लोक में बराबर आती है। तथा—

अपरे ब्रह्म शाश्वतम्।

---

* मनु० अ० १२। श्लो० ११८॥ † मनु० अ० १२। श्लो० ११९॥
‡ मनु० अ० १२। श्लो० १२३॥

इस वचन से भी ठीक २ निश्चय है जिसका नाम परमेश्वर और ब्रह्म है उसी के अग्न्यादि नाम भी हैं। इस सुगम बात को भी पण्डितजी ने नहीं समझा यह बड़े आश्चर्य्य की बात है। और—

सर्वमात्मनि संपश्येत्सच्चासच्च समाहितः। सर्वं ह्यात्मनि संपश्यन्नाधर्मे कुरुते मनः॥ १॥ आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम्। आत्मा हि जनयत्येषां कर्मयोगं शरीरिणाम्॥ २॥ एवं यः सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना। स सर्वसमतामेत्य ब्रह्माभ्येति परं पदम्॥ ३॥

इन श्लोकों से पण्डितजी ने ऐसा अर्थ जाना है कि परमेश्वर ही सब देवता हैं और सब जगत् परमेश्वर में स्थित है यह पण्डितजी का जानना बिलकुल मिथ्या है। क्योंकि इन श्लोकों से इस अर्थ को नहीं सिद्ध करते। (समाहितः) इस पद को अशुद्ध करके (समाहितम्) यह पण्डितजी ने लिखा है। जो सावधान पुरुष असत्कारण और सत्कार्य्यरूप जगत् को आत्मा अर्थात् सर्वव्यापक परमेश्वर में देखे वह कभी अपने मन को अधर्मयुक्त नहीं कर सकता, क्योंकि वह परमेश्वर को सर्वज्ञ जानता है॥ १॥ आत्मा अर्थात् परमेश्वर ही सब व्यवहार के पूर्वोक्त देवताओं का रचने वाला और जिस में सब जगत् स्थित है वही सब मनुष्यों का उपास्यदेव तथा सब जीवों को पाप पुण्य के फलों का देने हारा है॥ २॥ इसी प्रकार समाधियोग से जो मनुष्य सब प्राणियों में परमेश्वर को देखता है वह सब को अपने आत्मा के समान प्रेमभाव से देखता है। वही परमपद जो ब्रह्म परमात्मा है उसको यथावत् प्राप्त होके सदा आनन्द को प्राप्त होता है॥ ३॥ अब देखना चाहिये मेरे वेदभाष्य पर विना समझे जो पण्डितजी ने तर्क लिखे हैं वे सब मिथ्या हैं। क्या इस बात को सब सज्जन लोग ध्यान देके न देख लेंगे।

पं० महेश०—फिर स्वामीजी लिखते हैं कि अग्नि परमेश्वर सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् न्यायकारी पिता पुत्र के समान मनुष्य को उपदेश करता है कि हे जीव! तुम इस प्रकार कहो कि मैं अग्नि परमेश्वर की स्तुति करता हूं। जिस

पर जीव कहता है कि मैं अग्ने ईश्वर की स्तुति करता हूं जो कि सर्वज्ञ, शुद्ध अविनाशी, अजन्मा, आदि अन्त रहित, सर्वव्यापक, सृष्टिकर्त्ता और स्वयं प्रकाशस्वरूप है दूसरे की नहीं। इस विषय में स्वामीजी कोई प्रमाण नहीं देते हैं। संसार स्वामीजी की इस प्रेरणा के बताने का ऋणी है। परन्तु उनकी ऐसी मधुरता से अपने भाष्य में लेख करना उचित नहीं। अब (अग्निमीडे०) पुरोहित शब्द को देखना चाहिये। स्वामीजी अर्थ करते हैं वह जो जीवों का पालन और रक्षा करता, तथा हरएक को उत्पन्न करके सत्य विद्या का उपदेश करता और अपने उपासकों के हृदय में प्रेम भक्ति का प्रकाश करता है। स्वामीजी हित शब्द को डुधाञ् धातु से बनाते हैं जिससे आगे क्त है। इस में वह निरुक्त का प्रमाण धरते हैं:—

पुरोहितः पुर एनन्दधाति० *।

यह नहीं समझा जा सकता कि स्वामीजी पुरोहित शब्द से अपने अर्थ कैसे निकालते हैं। व्याकरण की रीति से इस हित शब्द के अर्थ आगे रक्खे के हैं। स्वामीजी लेते हैं कि जो कुछ रखता है। व्याकरण की रीति से हित शब्द डुधाञ् धातु का कर्माधार गौण क्रिया है सकर्मक गौण क्रिया नहीं। स्वामीजी उसे व्याकरण के सूत्र से सिद्ध करदें। परन्तु इस बात का दावा किया जा सकता है कि हित शब्द किसी उदाहरण से सकर्मक गौण क्रिया सिद्ध नहीं कर सकते।

स्वामीजी—जो अग्नि नाम परमेश्वर का लिखा है उस के प्रमाण उसी मंत्र के भाष्य में यथावत् लिखे हैं वहां ध्यान देकर देखने से मालूम हो जायेंगे। तथा पुरोहित शब्द पर जो मैंने प्रमाण वा उसका अर्थ लिखा है सो भी वहां देखने से ठीक २ मालूम होगा कि जैसा व्याकरण और निरुक्तादि से सिद्ध है। पण्डितजी पुरोहित शब्द को कर्मवाच्य कृदन्त मानते हैं किन्तु कर्तृवाच्य कृदन्त नहीं। यह उन का कथन कैसा है कि जैसा प्रमत्तगीत। अर्थात् किसी ने किसी

* निरु० अ० २। खं० १२॥

से प्रयाग का मार्ग पूछा उसने उत्तर दिया कि वह द्वारिका का मार्ग सूधा जाता है। पुरोहित शब्द के साधुत्व में यहां व्याकरण का यह सूत्र उपयोगी है—

आदिकर्मणि क्तः कर्त्तरि च ॥ अष्टा० अ० ३ । पा० ४ । सू० ७१ ॥

इस से आदिकर्मविषयक जो क्त प्रत्यय है वह कर्त्ता में सिद्ध है। क्योंकि सकल पदार्थों का उत्पादन और विज्ञानादि दान अर्थात् वेदद्वारा सकल पदार्थ-विज्ञान करा देना यह परमेश्वर का आदि कर्म है। इस के न होने से सत्या-सत्य का विवेक और विवेक के न होने से परमेश्वर को जानना और परमेश्वर के ज्ञान न होने से उस की भक्ति होना ये सब परस्पर असम्भव हैं। निरुक्त-कार ने भी पुरोहित शब्द में डुधाञ् धातु से कर्त्ता में क्त प्रत्यय मान कर परमेश्वर का ग्रहण किया है। वहां अन्वयादेश इसी अभिप्राय में है कि परमेश्वर सब जगत् को उत्पन्न करके उसका धारण और पोषण करता है। उसी परमे-श्वर को संसारी जन इष्टदेव मान कर अपने आत्माओं में धारण करते हैं। देखिये वेदों में अन्यत्र भी—

विश्वास्मा उग्रः कर्मणे पुरोहितः ॥ ऋ० मं० १ । सू० ५५ । मं० ३ ॥

यह उदाहरण भी प्रत्यक्ष है। और जो पंडितजी (यद्देवापि०*) इस मंत्र में पुराण की झूंठी आख्यायिका कहते हैं, उनकी बड़ी भूल है। क्योंकि उन-को इस मंत्र के अर्थ की खबर भी नहीं है। और जो इसके ऊपर निरुक्त लिखा है उसका भी ठीक २ अर्थ नहीं जानते। क्योंकि पण्डितजी ने शन्तनु शब्द से भीष्मजी का पिता समझ लिया है। जो शंतनु शब्द का निरुक्त में अर्थ लिखा है उस की खबर भी नहीं है।

शन्तनुः शंतनोस्त्विति वा शमस्मै तन्वा अस्त्विति * वा।

जिस का यह अर्थ है कि (शं) कल्याणयुक्त तनु शरीर होता है जिस से वह परमेश्वर शन्तनु कहाता है। और जिस शरीर से जीव कल्याण को

* निरु० अ० २ । खं० १२ ॥

प्राप्त होता है इसलिये उस जीव का नाम भी शंतनु है । इससे पण्डितजी ने इस में जो कथा लिखी सो सब व्यर्थ है ॥ ११ ॥

अब यज्ञ शब्द पर पण्डितजी लिखते हैं कि यज्ञ और देव शब्द को मिला करके लिया है सो बात नहीं है । क्योंकि यह लेख और यंत्रालय का दोष है । (यज्ञस्य) यह शैषिकी षष्ठी है । पुरोहित, देव, ऋत्विक्, होता और रत्नधातम ये सब यज्ञ के सम्बन्धी हैं और अग्नि के विशेषण हैं । यज्ञ शब्द का अर्थ जैसा भाष्य में लिया है वैसा समझ लेना चाहिये और निरुक्तकार * भी वैसा ही अर्थ लेते हैं । क्योंकि प्रख्यात अर्थात् प्रसिद्ध जो तीन प्रकार का वेदभाष्य में यज्ञ लिखा है वह निरुक्तकार के प्रमाण से युक्त है । और जो गो शब्द का दृष्टान्त दिया सो भी नहीं घट सकता क्योंकि प्रकरण, आकाङ्क्षा, योग्यता, आसत्ति, तात्पर्य्य, संज्ञा आदि कारणों से शब्द का अर्थ लिया जाता है । और जो देव शब्द के विषय में पण्डितजी ने लिखा है कि स्वामीजी ने जय की इच्छा करने वाले कहां से वा कैसे लिये हैं इस का उत्तर यह है कि दिवु का धात्वर्थ विजिगीषा भी है, और जो यज्ञ में विघ्नकारक दुष्ट प्राणी और कामक्रोधादि शत्रु हैं उन का जीतनेवाला वही परमेश्वर है, क्योंकि विविध यज्ञ का रक्षक, इष्ट और पूज्यदेव परमेश्वर ही है ॥

पुरोहितो व्याख्यातो यज्ञश्च † ।

इस के अर्थ में पंडितजी की बहुत भूल है । क्योंकि निरुक्तकार कहते हैं कि हमने पुरोहित और यज्ञ शब्द की पूर्व व्याख्या करदी है और पण्डितजी कहते हैं कि निरुक्त के तीसरे अध्याय के १९ खण्ड में यज्ञ शब्द को व्याकरण से सिद्ध किया है सो झूठ है । क्योंकि वहां अर्थ की निरुक्तिमात्र कही है सिद्धि कुछ भी नहीं । और जो निघण्टु के अ० ३ । खं० १९ प्रमाण से यज्ञ के अनेक नाम लिखे हैं कि बहुधा वे होमादिक के विधान में आते हैं और स्वामीजी के अर्थों में उनमें से एक भी नहीं मिलता यह बात पंडितजी की भ्रांतियुक्त

* अ० ३ । खं० १९ ॥ † निरु० अ० ७ । खं० १५ ॥

है। क्योंकि उन १५ नामों का अर्थ मेरे अर्थ के साथ बराबर मिलता है। क्योंकि मैंने यज्ञ शब्द का अर्थ त्रिविध लिया है। इस के साथ उनको मिलाकर देखो। और पण्डितजी निरुक्तकार के विषय में कहते हैं कि देव शब्द के अर्थ देनेवाला, प्रकाश करने वाला और स्वर्ग में रहने वाला ये तीन ही हैं। इस देवशब्दविषयक निरुक्त का अर्थ भूमिका के तीसरे अङ्क के ६३ पृष्ठ की ५ * पंक्ति से देखलेना चाहिये। निरुक्तकार—

यो देवः सा देवता० † ।

इत्यादि जो पांच अर्थ लेते हैं उन को पण्डितजी ठीक २ नहीं समझे कि निरुक्तकार कितने अर्थ लेते हैं इस में पंडितजी की परीक्षा हुई कि वे निरुक्तकार का अभिप्राय ठीक नहीं जानते हैं।

पं० महेश०—इसी प्रकार स्वामीजी 'ऋत्विजं०, होतारम् और रत्नधातमं' शब्दों के कई २ अर्थ अशुद्ध रीति से करते हैं। परन्तु क्योंकि उनकी भूल 'यज्ञस्यदेवं', शब्दों में सिद्ध कर चुका हूं इसलिये विशेष लिखना वृथा है। स्वामीजी (ऋत्विजं) का अर्थ करते हैं कि जिसकी सब ऋतुओं में पूजा की जाय। परन्तु सब के प्रामाणिक अर्थ इस शब्द के चढ़ाने वाले अर्थात् भेट करनेवाले के हैं और न कि जिस को भेट चढ़ाई जाय, यह बात भी निरु की साक्षी से सिद्ध है कि जिसका स्वामीजी भी प्रमाण मानते हैं।

स्वामीजी—अब पंडितजी ऋत्विज् शब्द पर लेख करते हैं सो भी ठीक २ नहीं वे समझे।

कृत्ल्युटो बहुलम्।

इस वार्तिक का अर्थ भी नहीं समझे। क्योंकि इस वार्तिक में कृत्संज्ञक प्रत्यय कर्म में भी उन शब्दों में माने जाते हैं जो कि वेदादि सत्य शास्त्रों में

---

* शताब्दीसंस्करण पृ० ३३९ पंक्ति २२ से ॥

† निरु० अ० ७। खं० १५ ॥

प्रयुक्त हों। इसलिये इस वेदभाष्य में जो इस का अर्थ लिखा गया है सो व्याकरण से सिद्ध है। परन्तु पंडितजी ऋत्विज् शब्द का अर्थ नहीं समझे।

पं० महेश०-स्वामीजी (होतारं) शब्द के जो कई अर्थ करते हैं उन में से एक (आधातारं) अर्थात् ग्रहण करनेवाले के हैं। यह भिन्न पद है कि जिन से यह अर्थ लिये जाते हैं। (होतारं) जो (हु) से बनता है जिस के अर्थ अगले नियम धातुपाठ के से (अदन) होते हैं और इस ग्रन्थ को स्वामीजी मानते हैं, जैसे—

हु दानादनयोरादाने चेत्येके।

(हु) धातु के अर्थ दान, अदन और किसी के मत में आदान अर्थात् ग्रहण करना। अदन का अर्थ ग्रहण का आदान अर्थ ग्रहण करना है। वेदान्तदर्शन का एक सूत्र है—

अत्ता चराचरग्रहणात

इस प्रमाण से सिद्ध होता है कि अदन का अर्थ ग्रहण करना है। और फिर धातुपाठ के उसी नियम से सिद्ध होता है कि अदन शब्द जो उस में आया है उस के अर्थ आदान के नहीं हो सकते। किन्तु उसके अर्थ कुछ और ही हैं। नहीं तो उक्त नियम के अनुसार (आदाने चेत्येके) कैसे बन सकता। किसी के मत में हु धातु का अर्थ भी आदान होता है। इससे मालूम हो गया कि धातुपाठकार ने अदन आदान अर्थ में लाने का कभी ख्याल भी नहीं किया। अर्थात् उस अर्थ में कि जिस में स्वामीजी ने लिया है। इस सूत्र में कदाचित् स्वामीजी इस बात को सिद्ध करसकें कि अदन आदान के अर्थ में आता है तो यह वेदान्तदर्शन का सूत्र ही हो यह माना। फिर भी वह धातुपाठ के नियम की वृत्ति में नहीं लग सकता। तथा पण्डितजी के प्रमाण की पुष्टि कभी नहीं कर सकता। अब इसलिये इस बात के कहने की आवश्यकता नहीं है कि वेदान्तसूत्र भी जिस को कि स्वामीजी मानते हैं अदन को आदान अर्थ में सिद्ध नहीं कर सकता है। यह तमाशे की बात है कि स्वामीजी ने (हु) धातु से अर्थ लेने की

अनेक युक्तियां घूम २ कीं परन्तु न मालूम स्वामीजी (होतारं) शब्द का अर्थ ग्रहण करने वा लेने में ऐसे अधीर क्यों होगये। निस्सन्देह ग्रहण करने का जो गुण है सो ईश्वर में कभी नहीं लग सकता। अब मैं स्वामीजी के एक ईश्वरप्रतिपादन विषय की परीक्षा कर चुका कि जिस को पढ़नेवाले समझ लेंगे।

स्वामीजी—अब होता शब्द पर पण्डितजी के लेख की परीक्षा करता हूं। पण्डितजी को यह शंका हुई है कि अदन का अर्थ जब ग्रहण लेंगे तब आदान व्यर्थ हो जायगा। परन्तु इसमें यह बात समझी जाय कि जब होता शब्द परमेश्वर का विशेषण है तब क्या किसी मनुष्य को शंका न होगी कि परमेश्वर भी अत्ता होने वाला होने से जगत् का भक्षणकारक होगा, इस की निवृत्ति के लिये आदान का अर्थ धारण किया है। जो इसके तीन अर्थ हैं उनमें से प्रथम अर्थ को लेकर होता शब्द के अर्थ ईश्वर का जगत् का भक्षण करने वाला कोई मनुष्य न माने। क्योंकि ईश्वर में यह अर्थ नहीं घट सकता। जो निराकार और सर्वव्यापक है वह भक्षणादि कैसे कर सकता है। हां धारण शक्ति से व्यापक होके ग्रहण अर्थात् धारण तो कर रहा है। इसलिये इस शंका का निवारण इस अर्थ के विना नहीं हो सकता। और जो पंडितजी ने लिखा है कि धातुपाठ के कर्त्ता का यह अभिप्राय नहीं है सो भी पं० जी की समझ उलटी है। क्योंकि जब (हु) धातु का केवल ईश्वरार्थ के साथ ही प्रयोग हो और अन्यत्र न हो तब यह दोष (देवदत्तो भोजनं जुहोत्यत्तीत्यर्थः) ऐसे वाक्य में (अदन) शब्द भक्षण के अर्थ में ही आता है। इस अभिप्राय से पाणिनिमुनि ने (हु) धातु तीन अर्थों में लिखा है। (आदाने चेत्येके) इस के कहने से स्पष्ट मालूम होता है कि धातुपाठकार के मत में (हु) धातु दान और अदन इन दोनों अर्थों में है। और अदन अर्थ से भक्षण तथा आदान दोनों ले लिये जावेंगे। परन्तु कोई आचार्य आदान को पृथक् मानते हैं। धातुपाठकार नहीं। इसीलिये आदान अर्थ का पृथक् ग्रहण किया है इससे जानलो धातुपाठकार का यह ध्यान होता तो स्वयं दान और अदन में आदान का पाठ क्यों नहीं कर लेते। इससे धातुपाठ की वृत्ति में ठीक २ मेरा अभिप्राय मिलता और

मेरे ही अर्थ की पुष्टि करता है, पंडितजी की नहीं। इसी प्रकार वेदांत का सूत्र भी मेरे अर्थ की पुष्टि करता है, पण्डितजी की कुछ भी नहीं। क्योंकि (अत्ता) शब्द का ग्रहण करने वाले के अर्थ में वेदान्तसूत्रकार का अभिप्राय है। (आदान) शब्द के अर्थ के लिये नहीं। क्योंकि आदान शब्द तो स्वयं ग्रहण करने अर्थ में है। इसलिये इस सूत्र कारि अकारों के बिना (अत्ता) शब्द को ग्रहणार्थ में कोई कभी नहीं ला सकता। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि पंडित-जी अपनी निर्मूल बात को समूल करने के लिये बहुत से यत्न करते हैं परन्तु क्या झूठा सच्चा और सच्चा झूठा कभी हो सकता है। इतने ही लेख से पण्डितजी की विद्या की परीक्षा विद्वान् लोग कर लेवें। और पण्डित महेश० न्याय-रत्नजी की संस्कृत में विद्वत्ता कितनी है इसको समझ लेवें कि इन्होंने क्या केवल विद्याहीन पौराणिक लोगों की वेदार्थ विरुद्ध टीका और वैसे ही अंग्रेजी में जो वेदों पर मूलार्थविरुद्ध उलटे हुए हैं उनके सिवाय, ब्रह्मा से लेके जैमिनि मुनि पर्यन्त के किये वेदों के व्याख्यान ग्रन्थों को कुछ भी कभी देखा वा समझा है। नहीं तो ऐसी व्यर्थ कल्पना क्यों करते। हां मैं कह सकता हूं कि:—

न वेत्ति यो यस्य गुणप्रकर्षं स तस्य निन्दां सततं करोति।
यथा किरातः करिकुम्भजाता मुक्ताः परित्यज्य बिभर्त्ति गुञ्जाः॥

चोर कोटपाल को दण्डे। अर्थात् जो सच्चे को झूठा दोष लगाते हैं वे ऐसे दृष्टांत के योग्य होते हैं कि जो जिसके उत्तम गुण नहीं जानता, वह उसकी निन्दा निरन्तर करता है। जैसे कोई जङ्गली मनुष्य राजमुक्ताओं को हाथ में लेकर उनको छोड़ के घुंघुची का हार बनाकर गले में पहन कर फूला २ फिरे वैसे जिन्होंने मेरे बनाये भाष्य पर विरुद्ध बात लिखी हैं क्या इस पत्र को जो २ बुद्धिमान् लोग देखेंगे वे जैसी उनकी पण्डिताई की खंडबंड दशा को न जान लेंगे। परन्तु मैं यह प्रसिद्ध विज्ञापन देता हूं कि ग्रिफिथ साहेब आदि अंग्रेज, पं० गुरुप्रसाद और महेशचन्द्र न्यायरत्नजी और मैं कभी संमुख बैठ कर वेदविषय में वार्तालाप करें तब सब को विदित हो जावे कि विरुद्धवादियों को वेद के एक मूल मंत्र का भी अर्थ ठीक २ नहीं आता। यह बात सब को विदित होजावे

मैं चाहता हूं कि ये लोग मेरे पास आवें वा मुझको अपने पास बुलावें तो ठीक २ विद्या और अविद्या का निश्चय हो जावे कि कौन पुरुष वेदों को यथार्थ जानता है और कौन नहीं । क्योंकिः—

विद्यादम्भः क्षणस्थायी

सब का दम्भ कुछ दिन चलता जाता परन्तु विद्या का दम्भ क्षणमात्र में छूट जाता है ।

इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिकृतशङ्कासमाधानयुक्तपत्रं पूर्तिमगात् ॥ संवत् १९३४ कार्तिक शुक्ला २ ॥

शताब्दी-संस्करण

Prem Bahadur Varma
12.8.26

गोकरुणानिधिः

गाय आदि पशुओं की रक्षा से सब प्राणियों के सुख के लिये अनेक सत्पुरुषों की सम्मति के अनुसार आर्यभाषा में बनाया,

इसके अनुसार वर्तमान करने से संसार का बड़ा उपकार है

पृष्ठ ९१९-९४५,

गोकरुणानिधिः

—:o:—

आवृत्ति		सन् ई०		संख्या
प्रथम	...	१८८०	...	१०००
द्वितीय	...	१८८२	...	१०००
तृतीय	...	१८८६	...	२०००
चतुर्थ	...	१८९७	...	१०००
पंचम	...		...	१०००
षष्ठ	...	१९०३	...	२०००
सप्तम	...	१९०६	...	२०००
अष्टम	...	१९१३	...	२०००
नवम	...	१९१५	...	५०००
दशम	...	१९२१	...	५०००
एकादश	...	१९२४	...	२०००
शताब्दीसंस्करण		१९२४	...	१०,०००
				३४,०००

ओ३म्

नमो नमः सर्वशक्तिमते जगदीश्वराय

गोकरुणानिधिः

इन्द्रो विश्वस्य राजति । शन्नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे ॥ य० अ० ३६ । मं० ८ ॥

तनोतु सर्वेश्वर उत्तमम्बलं गवादिरक्षं विविधं दयेरितः ।
अशेषविघ्नानि निहत्य नः प्रभुः सहायकारी विदधातु गोहितम् ॥१॥
ये गोसुखं सम्यगुशन्ति धीरास्ते धर्म्मजं सौख्यमथाददन्ते ।
क्रूरा नराः पापरता न यन्ति प्रज्ञाविहीनाः पशुहिंसकास्तत् ॥२॥

भूमिका

वे धर्मात्मा विद्वान् लोग धन्य हैं जो ईश्वर के गुण, कर्म्म, स्वभाव, अभिप्राय, सृष्टिक्रम, प्रत्यक्षादि प्रमाण और आप्तों के आचार से अविरुद्ध चलके सब संसार को सुख पहुंचाते हैं । और शोक है उन पर जो कि इन से विरुद्ध, स्वार्थी, दयाहीन होकर जगत् में हानि करने के लिये वर्त्तमान हैं। पूजनीय जन वे हैं कि जो अपनी हानि होती हो तो भी सब के हित के करने में अपना तन, मन, धन लगाते हैं । और तिरस्करणीय वे हैं जो अपने ही लाभ में सन्तुष्ट रह कर सब के सुखों का नाश करते हैं । ऐसा सृष्टि में कौन मनुष्य होगा जो सुख और दुःख को स्वयं न मानता हो ? क्या ऐसा कोई भी मनुष्य है कि जिसके गले को काटे वा रक्षा करे वह दुःख और सुख का अनुभव न करे ? । जब सब को लाभ और सुख ही में प्रसन्नता है तो विना अपराध

किसी प्राणी का प्राणवियोग करके अपना पोषण करना यह सत्पुरुषों के सामने निन्दित कर्म क्यों न होवे ? । सर्वशक्तिमान जगदीश्वर इस सृष्टि में मनुष्यों के आत्माओं में अपनी दया और न्याय को प्रकाशित करे कि जिससे ये सब दया और न्याययुक्त होकर सर्वदा सर्वोपकारक काम करें, और स्वार्थपन से पक्षपात-युक्त होकर कृपापात्र गाय आदि पशुओं का विनाश न करें, कि जिससे दुग्ध आदि पदार्थों और खेती आदि क्रियाओं की सिद्धि से युक्त होकर सब मनुष्य आनन्द में रहें । इस ग्रन्थ में जो कुछ अधिक, न्यून वा अयुक्त लेख हुआ हो उस को बुद्धिमान् लोग इस ग्रन्थ के तात्पर्य के अनुकूल कर लेवें । धार्मिक विद्वानों की यही योग्यता है कि वक्ता के वचन और ग्रन्थकर्त्ता के अभिप्राय के अनुसार ही समझ लेते हैं । यह ग्रन्थ इसी अभिप्राय से रचा गया है जिससे गो आदि पशु जहांतक सामर्थ्य हो बचाये जावें और उनके बचाने से दूध, घी और खेती के बढ़ने से सब को सुख बढ़ता रहे । परमात्मा कृपा करें कि यह अभीष्ट शीघ्र सिद्ध हो इस ग्रन्थ में तीन प्रकरण हैं-एक समीक्षा, दूसरा नियम और तीसरा उपनियम । इन को ध्यान दे पक्षपात छोड़ विचार के राजा तथा प्रजा यथावत् उपयोग में लावें कि जिससे दोनों के लिये सुख बढ़ता ही रहे ।

इति भूमिका

अथ समीक्षा-प्रकरणम्

गोकृष्यादिरक्षिणीसभा

इस सभा का नाम गोकृष्यादिरक्षिणी इसलिये रक्खा है जिससे गवादि पशु और कृष्यादि कर्म्मों की रक्षा और वृद्धि होकर सब प्रकार के उत्तम सुख मनुष्यादि प्राणियों को प्राप्त होते हैं और इस के विना निम्नलिखित सुख कभी नहीं प्राप्त हो सकते। सर्वशक्तिमान जगदीश्वर ने इस सृष्टि में जो २ पदार्थ बनाये हैं वे निष्प्रयोजन नहीं। किन्तु एक २ वस्तु अनेक २ प्रयोजन के लिये रची है। इसलिये उन से वे ही प्रयोजन लेना न्याय अन्यथा अन्याय है। देखिये जिसलिये यह नेत्र बनाया है इससे वही कार्य्य लेना सब को उचित होता है। न कि उससे पूर्ण प्रयोजन न लेकर बीच ही में वह नष्ट कर दिया जावे। क्या जिन २ प्रयोजनों के लिये परमात्मा ने जो २ पदार्थ बनाये हैं उन २ से वे २ प्रयोजन न लेकर उनको प्रथम ही विनष्ट कर देना सत्पुरुषों के विचार में बुरा कर्म नहीं है?। पक्षपात छोड़कर देखिये गाय आदि पशु और कृषि आदि कर्म्मों से सब संसार को असंख्य सुख होते हैं वा नहीं?। जैसे दो और दो चार, वैसे ही सत्यविद्या से जो २ विषय जाने जाते हैं वे अन्यथा कभी नहीं हो सकते।

जो एक गाय न्यून से न्यून दो सेर दूध देती हो और दूसरी बीस सेर तो प्रत्येक गाय के ग्यारह सेर दूध होने में कुछ भी शंका नहीं। इस हिसाब से एक मास में ८।ऽ (सवा आठ) मन दूध होता है। एक गाय कम से कम ६ महीने और दूसरी अधिक से अधिक १८ महीने तक दूध देती है। तो दोनों का मध्यभाग प्रत्येक गाय के दूध देने में बारह महीने होते हैं। इस हिसाब से बारह महीनों का दूध ९९ऽ (निन्नानवे) मन होता है। इतने दूध को औटा कर प्रतिसेर में छटांक चावल और डेढ़ छटांक चीनी डाल कर खीर बना

खावें तो प्रत्येक पुरुष के लिये दो सेर दूध की खीर पुष्कल होती है। क्योंकि यह भी एक मध्यभाग की गिनती है। अर्थात् कोई दो सेर दूध की खीर से अधिक खायगा और कोई न्यून। इस हिसाब से एक प्रसूता गाय के दूध से १९८० (एक हजार, नवसौ, अस्सी) मनुष्य एक वार तृप्त होते हैं। गाय न्यून से न्यून ८ और अधिक से अधिक १८ वार ब्याती है। इसका मध्यभाग तेरह वार आया। तो २५७४० (पच्चीस हजार, सातसौ, चालिस) मनुष्य एक गाय के जन्म भर के दूधमात्र से एक वार तृप्त हो सकते हैं। इस गाय के एक पीढ़ी में छः बछियां और सात बछड़े हुए। इनमें से एक की मृत्यु रोगादि से होना सम्भव है तो भी बारह रहे। उन छः बछियाओं के दूधमात्र से उक्त प्रकार १५४४४० (एक लाख, चौवन हजार, चारसौ, चालिस) मनुष्यों का पालन हो सकता है। अब रहे छः बैल। उन में एक जोड़ी से दोनों साख में २००ऽ (दो सौ) मन अन्न उत्पन्न हो सकता है। इस प्रकार तीन जोड़ी ६००ऽ (छः सौ) मन अन्न उत्पन्न कर सकती हैं। और उनके कार्य्य का मध्यभाग आठ वर्ष है। इस हिसाब से ४८००ऽ (चार हजार आठसौ) मन अन्न उत्पन्न करने की शक्ति एक जन्म में तीनों जोड़ी की है। (४८००) इतने अन्न से प्रत्येक मनुष्य का तीन पाव अन्न भोजन में गिनें तो २५६००० (दो लाख, छप्पन हजार) मनुष्यों का एक वार भोजन होता है। दूध और अन्न को मिलाकर देखने से निश्चय है कि ४१०४४० (चार लाख, दश हजार, चारसौ चालिस) मनुष्यों का पालन एक वार के भोजन से होता है। अब छः गाय की पीढ़ी पर-पीढ़ियों का हिसाब लगाकर देखा जावे तो असंख्य मनुष्यों का पालन हो सकता है। और इसके मांस से अनुमान है कि केवल अस्सी मांसाहारी मनुष्य एक वार तृप्त हो सकते हैं। देखो तुच्छ लाभ के लिये लाखों प्राणियों को मार असंख्य मनुष्यों की हानि करना महापाप क्यों नहीं ?।

यद्यपि गाय के दूध से भैंस का दूध कुछ अधिक और बैलों से भैंसा कुछ न्यून लाभ पहुंचाता है तथापि जितना गाय के दूध और बैलों के उपयोग से मनुष्यों को सुखों का लाभ होता है उतना भैंसियों के दूध और भैंसों से नहीं।

क्योंकि जितने आरोग्यकारक और बुद्धिवर्द्धक आदि गुण गाय के दूध और बैलों में होते हैं उतने भैंस के दूध और भैंसे आदि में नहीं हो सकते। इसलिये आर्य्यों ने गाय सर्वोत्तम मानी है।

और ऊंटनी का दूध गाय और भैंस के दूध से भी अधिक होता है तो भी इन का दूध गाय के सदृश नहीं। ऊंट और ऊंटनी के गुण भार उठाकर शीघ्र पहुंचाने के लिये प्रशंसनीय हैं।

अब एक बकरी कम से कम एक और अधिक से अधिक पांच सेर दूध देती है। इसका मध्यभाग प्रत्येक बकरी से तीन सेर दूध होता है। और न्यून से न्यून तीन महीने और अधिक से अधिक पांच महीने तक दूध देती है। तो प्रत्येक बकरी के दूध देने में मध्यभाग चार महीने हुए। वह एक मास में २।ऽ (सवा दो मन) और चार मास में ९ऽ (नव मन) होता है। पूर्वोक्त प्रकारानुसार इस दूध से एकसौ अस्सी (१८०) मनुष्यों की तृप्ति होती है। और एक बकरी एक वर्ष में दो वार व्याती है। इस हिसाब से एक वर्ष म एक बकरी के दूध के एक वार भोजन से ३६० (तीन सौ साठ) मनुष्यों की तृप्ति होती है। कोई बकरी न्यून से न्यून चार वर्ष और कोई अधिक से अधिक ८ (आठ) वर्ष तक व्याती है। इसका मध्यभाग ६ (छः) वर्ष हुआ। तो जन्मभर के दूध से २१६० (दो हजार, एकसौ, साठ) मनुष्यों का एक वार के भोजन से पालन होता है। अब उस के बच्चा बच्ची मध्यभाग से २४ (चौबीस) हुए। क्योंकि कोई न्यून से न्यून एक और कोई अधिक से अधिक तीन बच्चों से व्याती है। उन में से दो का अल्पमृत्यु समझो। रहे २२ (बाईस)। उन में से १२ बकरियों के दूध से २५९२० (पच्चीस हजार, नवसो, बीस) मनुष्यों का एक दिन पालन होता है। उसकी पीढ़ी परपीढ़ी के हिसाब लगाने से असंख्य मनुष्यों का पालन होसकता है। और बकरे भी बोझ उठाने आदि प्रयोजनों में आते हैं। और बकरा बकरी और मेढा भेड़ी के रोम और ऊन के वस्त्रों से मनुष्यों को बड़े २ सुखलाभ होते हैं। यद्यपि भेड़ी का दूध बकरी के दूध से कुछ कम होता है तथापि बकरी के दूध से उस के दूध में बल और घृत अधिक होता है। इसी

प्रकार अन्य दूध देने वाले पशुओं के दूध से भी अनेक प्रकार के सुख लाभ होते हैं। जैसे ऊंट ऊंटनी से लाभ होते हैं वैसे ही घोड़े घोड़ी और हाथी आदि से अधिक कार्य्य सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार सुअर, कुत्ता, मुर्गा, मुर्गी और मोर आदि पक्षियों से भी अनेक उपकार होते हैं। जो पुरुष हरिण और सिंह आदि पशु और मोर आदि पक्षियों से भी उपकार लेना चाहें तो ले सकते हैं। परन्तु सब का पालन उत्तरोत्तर समयानुकूल होवेगा। वर्त्तमान में परमोपकारक गो की रक्षा में मुख्य तात्पर्य है। दो ही प्रकार से मनुष्य आदि की प्राणरक्षा, जीवन, सुख, विद्या, बल और पुरुषार्थ आदि की वृद्धि होती है। एक अन्नपान, दूसरा आच्छादन। इनमें से प्रथम के विना मनुष्यादि का सर्वथा प्रलय और दूसरे के विना अनेक प्रकार की पीड़ा होती है। देखिये जो पशु निःसार घास तृण पत्ते फल फूल आदि खावें और सार दूध आदि अमृतरूपी रत्न देवें, हल गाड़ी आदि में चल के अनेकविध अन्न आदि उत्पन्न कर सबके बुद्धि बल पराक्रम को बढ़ा के नीरोगता करें, पुत्र पुत्री और मित्र आदि के समान पुरुषों के साथ विश्वास और प्रेम करें, जहां बांधें वहां बंधे रहें, जिधर चलावें उधर चलें, जहां से हटावें वहां से हट जावें, देखने और बुलाने पर समीप चले आवें, जब कभी व्याघ्रादि पशु वा मारनेवाले को देखें अपनी रक्षा के लिये पालन करनेवाले के समीप दौड़ कर आवें कि यह हमारी रक्षा करेगा।

जिनके मरे पर चमड़ा भी कंटक आदि से रक्षा करे, जङ्गल में चर के अपने बच्चे और स्वामी के लिये दूध देने को नियत स्थान पर नियत समय चले आवें, अपने स्वामी की रक्षा के लिये तन मन लगावें, जिनका सर्वस्व राजा और प्रजा आदि मनुष्यों के सुख के लिये है, इत्यादि शुभगुणयुक्त, सुखकारक पशुओं के गले छुरों से काट कर, जो अपना पेट भर, सब संसार की हानि करते हैं, क्या संसार में उनसे भी अधिक कोई विश्वासघाती, अनुपकारी, दुःख देने वाले और पापी जन होंगे ? । इसीलिये यजुर्वेद के प्रथम ही मंत्र में परमात्मा की आज्ञा है कि (अघ्न्याः+यजमानस्य पशून् पाहि*) हे पुरुष ! तू इन

* य० अ० १। मं० १॥

पशुओं को कभी मत मार, और यजमान अर्थात् सब के सुख देने वाले जनों के सम्बन्धी पशुओं की रक्षा कर, जिन से तेरी भी पूरी रक्षा होवे। और इसी-लिये ब्रह्मा से लेके आज पर्य्यन्त आर्य्य लोग पशुओं की हिंसा में पाप और अधर्म समझते थे और अब भी समझते हैं। और इनकी रक्षा में अन्न भी महंगा नहीं होता। क्योंकि दूध आदि के अधिक होने से दरिद्री को भी खान पान में मिलने पर न्यून ही अन्न खाया जाता है। और अन्न के कम खाने से मल भी कम होता है। मल के न्यून होने से दुर्गन्ध भी न्यून होता है। दुर्गन्ध के स्वल्प होने से वायु और वृष्टिजल की शुद्धि भी विशेष होती है। उससे रोगों की न्यूनता होने से सब को सुख बढ़ता है।

इस से यह ठीक है कि गो आदि पशुओं के नाश होने से राजा और प्रजा का भी नाश हो जाता है। क्योंकि जब पशु न्यून होते हैं तब दूध आदि पदार्थ और खेती आदि कार्य्यों की भी घटती होती है। देखो इसी से, जितने मूल्य से जितना दूध और घी आदि पदार्थ तथा बैल आदि पशु ७०० (सातसौ) वर्ष के पूर्व मिलते थे, उतना दूध, घी और बैल आदि पशु इस समय दशगुणे मूल्य से भी नहीं मिल सकते। क्योंकि ७०० (सातसौ) वर्ष के पीछे इस देश में गवादि पशुओं को मारनेवाले मांसाहारी विदेशी मनुष्य बहुत आ बसे हैं। वे उन सर्वोपकारी पशुओं के हाड़ मांस तक भी नहीं छोड़ते। तो (नष्टे मूले नैव पत्रं न पुष्पम्)। जब कारण का नाश करदे तो कार्य नष्ट क्यों न हो जावे ?। हे मांसाहारियो! तुम लोग, जब कुछ काल के पश्चात् पशु न मिलेंगे तब, मनुष्यों का मांस भी छोड़ोगे वा नहीं ?। हे परमेश्वर! तू क्यों इन पशुओं पर, जो कि बिना अपराध मारे जाते हैं, दया नहीं करता ?। क्या उन पर तेरी प्रीति नहीं है ?। क्या उन के लिये तेरी न्यायसभा बन्द होगई है ?। क्यों उनकी पीड़ा छुड़ाने पर ध्यान नहीं देता, और उन की पुकार नहीं सुनता ?। क्यों इन मांसाहारियों के आत्माओं में दया प्रकाश कर निष्ठुरता, कठोरता, स्वार्थपन और मूर्खता आदि दोषों को दूर नहीं करता ?। जिससे ये इन बुरे कामों से बचें।

अथ समीक्षायां हिंसकरक्षकसंवादः

हिंसक–ईश्वर ने सब पशु आदि सृष्टि मनुष्यों के लिये रची है, और मनुष्य अपनी भक्ति के लिये। इसलिये मांस खाने में दोष नहीं हो सकता।

रक्षक–भाई ! सुनो तुम्हारे शरीर का जिस ईश्वर ने बनाया है क्या उसी ने पशु आदि के शरीर नहीं बनाये हैं ?। जो तुम कहो कि पशु आदि हमारे खाने को बनाये हैं तो हम कह सकते हैं कि हिंसक पशुओं के लिये तुम को उसने रचा है। क्योंकि जैसे तुम्हारा चित्त उनके मांस पर चलता है वैसे ही सिंह गृध्र आदि का चित्त भी तुम्हारे मांस पर चलता है। तो उनके लिये तुम क्यों नहीं ?।

हिं०–देखो, ईश्वर ने पुरुषों के दांत कैसे पैने मांसाहारी पशुओं के समान बनाये हैं। इससे हम जानते हैं कि मनुष्यों को मांस खाना उचित है।

र०–जिन व्याघ्रादि पशुओं के दांत के दृष्टान्त से अपना पक्ष सिद्ध किया चाहते हो क्या तुम भी उनके तुल्य ही हो ?। देखो, तुम्हारी मनुष्य जाति उनकी पशु जाति, तुम्हारे दो पग और उन के चार, तुम विद्या पढ़कर सत्यासत्य का विवेक कर सकते हो वे नहीं। और यह तुम्हारा दृष्टान्त भी युक्त नहीं, क्योंकि जो दांत का दृष्टान्त लेते हो तो बंदर के दांतों का दृष्टान्त क्यों नहीं लेते ?। देखो बंदरों के दांत सिंह और बिल्ली आदि के समान हैं और वे मांस नहीं खाते। मनुष्य और बन्दर की आकृति भी बहुत सी मिलती है। जैसे मनुष्यों के हाथ पग और नख आदि होते हैं वैसे ही बन्दरों के भी हैं। इसलिये परमेश्वर ने मनुष्यों को दृष्टान्त से उपदेश किया है कि जैसे बन्दर मांस कभी नहीं खाते और फलादि खाकर निर्वाह करते हैं वैसे तुम भी किया करो। जैसा बन्दरों का दृष्टान्त सांगोपांग मनुष्यों के साथ घटता है वैसा अन्य किसी का नहीं। इसलिये मनुष्यों को अति उचित है कि मांस खाना सर्वथा छोड़ देवें।

हिं०–देखो जो मांसाहारी पशु और मनुष्य हैं वे बलवान् और जो मांस नहीं खाते हैं वे निर्बल होते हैं, इससे मांस खाना चाहिये।

र०—क्यों अल्प समझ की बातें मानकर कुछ भी विचार नहीं करते। देखो सिंह मांस खाता और सुअर वा अरणा भैंसा मांस कभी नहीं खाता। परन्तु जो सिंह बहुत मनुष्यों के समुदाय में गिरे तो एक या दो को मारता और एक दो गोली वा तलवार के प्रहार से मर भी जाता है, और जब जङ्गली सुअर वा अरणा भैंसा जिस प्राणिसमुदाय में गिरता है तब उन अनेक सवारों और मनुष्यों को मारता और अनेक गोली, बरछी तथा तलवार आदि के प्रहार से भी शीघ्र नहीं गिरता। और सिंह उनसे डर के अलग सटक जाता है और वह सिंह से नहीं डरता। और जो प्रत्यक्ष दृष्टान्त देखना चाहो तो एक मांसाहारी का, एक दूध घी और अन्नाहारी के मथुरा के मल्ल चौबे से बाहुयुद्ध हो, तो अनुमान है कि चौबा मांसाहारी को पटक उसकी छाती पर चढ़ ही बैठेगा। पुनः परीक्षा होगी कि किस २ के खाने से बल न्यून और अधिक होता है। भला तनिक विचार करो कि छिलकों के खाने से अधिक बल होता है अथवा रस और जो सार है उस के खाने से ?। मांस छिलके के समान और दूध घी सार रस के तुल्य है। इसको जो युक्तिपूर्वक खावे तो मांस से अधिक गुण और बलकारी होता है। फिर मांस का खाना व्यर्थ और हानिकारक, अन्याय, अधर्म और दुष्ट कर्म्म क्यों नहीं ?।

हिं०—जिस देश में सिवाय मांस के अन्य कुछ नहीं मिलता वहां वा आपत्काल में, अथवा रोगनिवृत्ति के लिये मांस खाने में दोष नहीं होता।

र०—वह आपका कहना व्यर्थ है। क्योंकि जहां मनुष्य रहते हैं वहां पृथिवी अवश्य होती है। जहां पृथिवी है वहां खेती वा फल फूल आदि होते हैं। और जहां कुछ भी नहीं होता वहां मनुष्य भी नहीं रह सकते। और जहां ऊसर भूमि है वहां मिष्ट जल और फलाहारादि के न होने से मनुष्यों का रहना भी दुर्घट है। और आपत्काल में भी अन्य उपायों से निर्वाह कर सकते हैं। जैसे मांस के न खानेवाले करते हैं। और विना मांस के रोगों का निवारण भी ओषधियों से यथावत् होता है। इसीलिये मांस खाना अच्छा नहीं।

हिं०—जो कोई भी मांस न खावे तो पशु इतने बढ़ जायं कि पृथिवी पर भी न समावें। और इसलिये ईश्वर ने उनकी उत्पत्ति भी अधिक की है। तो मांस क्यों न खाना चाहिये ?।

र०—वाह ! वाह ! यह बुद्धि का विपर्य्यास आपको मांसाहार ही से हुआ होगा। देखो मनुष्य का मांस कोई नहीं खाता पुनः क्यों न बढ़ गये। और इनकी अधिक उत्पत्ति इसलिये है कि एक मनुष्य के पालन व्यवहार में अनेक पशुओं की अपेक्षा है। इसलिये ईश्वर ने उनको अधिक उत्पन्न किया है।

हिं०—ये जितने उत्तर किये वे सब व्यवहारसम्बन्धी हैं। परन्तु पशुओं को मार के मांस खाने में अधर्म्म तो नहीं होता। और जो होता है तो तुम को होता होगा क्योंकि तुम्हारे मत में निषेध है। इसलिये तुम मत खाओ और हम खावें क्योंकि हमारे मत में मांस खाना अधर्म्म नहीं है।

र०—हम तुम से पूछते हैं कि धर्म्म और अधर्म्म व्यवहार ही में होते हैं वा अन्यत्र ?। तुम कभी सिद्ध न कर सकोगे कि व्यवहार से भिन्न धर्म्माधर्म्म होते हैं। जिस जिस व्यवहार से दूसरों की हानि हो वह २ अधर्म्म और जिस २ व्यवहार से उपकार हो वह २ धर्म्म कहाता है तो लाखों के सुख लाभकारक पशुओं का नाश करना अधर्म्म और उनकी रक्षा से लाखों को सुख पहुंचाना धर्म्म क्यों नहीं मानते ?। देखो चोरी जारी आदि कर्म्म इसीलिये अधर्म्म हैं कि इनसे दूसरे की हानि होती है। नहीं तो जो २ प्रयोजन धनादि से उन के स्वामी सिद्ध करते हैं वे ही प्रयोजन उन चोरादि के भी सिद्ध होते हैं। इसलिये यह निश्चित है कि जो २ कर्म्म जगत् में हानिकारक हैं वे २ अधर्म और जो २ परोपकारक हैं वे २ धर्म कहाते हैं। जब एक आदमी की हानि करने से चोरी आदि कर्म्म पाप में गिनते हो तो गवादि पशुओं को मार के बहुतों की हानि करना महापाप क्यों नहीं ?। देखो मांसाहारी मनुष्यों में दया आदि उत्तम गुण होते ही नहीं। किन्तु वे स्वार्थवश होकर दूसरे की हानि करके अपना प्रयोजन सिद्ध करने ही म सदा रहते हैं।

जब मांसाहारी किसी पुष्ट पशु को देखता है तभी उस की इच्छा होती है कि इस में मांस अधिक है मारकर खाऊं तो अच्छा हो। और जब मांस का न खानेवाला उसको देखता है तो प्रसन्न होता है कि यह पशु आनन्द में है। जैसे सिंह आदि मांसाहारी पशु किसी का उपकार तो नहीं करते किन्तु अपने स्वार्थ के लिये दूसरे का प्राण भी ले मांस खाकर अति प्रसन्न होते हैं, वैसे ही मांसाहारी मनुष्य भी होते हैं। इसलिये मांस का खाना किसी मनुष्य को उचित नहीं।

हिं०—अच्छा जो यही बात है तो जबतक पशु काम में आवें तबतक उनका मांस न खाना चाहिये। जब बूढ़े होजावें वा मर जावें तब खाने में कुछ भी दोष नहीं।

र०—जैसे दोष उपकार करने वाले माता पिता आदि के वृद्धावस्था में मारने और उनके मांस खाने में है वैसे उन पशुओं की सेवा न कर मार के मांस खाने में हैं। और जो मरे पश्चात् उनका मांस खावे तो उसका स्वभाव मांसाहारी होने से अवश्य हिंसक होके हिंसारूपी पाप से कभी न बच सकेगा। इसलिये किसी अवस्था में मांस न खाना चाहिये।

हिं०—जिन पशुओं और पक्षियों अर्थात् जंगल में रहने वालों से उपकार किसी का नहीं होता और हानि होती है उन का मांस खाना वा नहीं?।

र०—न खाना चाहिये। क्योंकि वे भी उपकार में आ सकते हैं। देखो सौ (१००) भङ्गी जितनी शुद्धि करते हैं उन से अधिक एक सुअर वा मुर्गा अथवा मोर आदि पक्षी सर्प आदि की निवृत्ति करने से पवित्रता और नेक उपकार करते हैं। और जैसे मनुष्यों का खान पान दूसरे के खाने पीने से उनका जितना अनुपकार होता है वैसे जंगली मांसाहारी का अन्न जंगली पशु और पक्षी हैं। और जो विद्या वा विचार से सिंह आदि वनस्थ पशु और पक्षियों से उपकार लेवें तो अनेक प्रकार का लाभ उन से भी हो सकता है। इस कारण मांसाहार का सर्वथा निषेध होना चाहिये। भला जिनके दूध आदि

खाने पीने में आते हैं वे माता पिता के समान माननीय क्यों न होने चाहियें ? । ईश्वर की सृष्टि से भी विदित होता है कि मनुष्यों से पशु और पक्षी आदि अधिक रहने से कल्याण है । क्योंकि ईश्वर ने मनुष्यों के खाने पीने के पदार्थों से भी पशु और पक्षियों के खाने पीने के पदार्थ घास वृक्ष फूल फलादि अधिक रचे हैं । और वे विना जोते बोये सींचे पृथिवी पर स्वयं उत्पन्न होते हैं और वहां वृष्टि भी करता है । इसलिये समझ लीजिये कि ईश्वर का अभिप्राय उनके मारने में नहीं किन्तु रक्षा करने में है ।

हिं०—जो मनुष्य पशु को मारके मांस खावें उन को पाप होता है और जो बिकता मांस मूल्य से ले वा भैरव, चामुण्डा, दुर्गा, जखैया, वाममार्ग, अथवा यज्ञ आदि की रीति से चढ़ा समर्पण कर खावें तो उन को पाप नहीं होना चाहिये, क्योंकि वे विधि करके खाते हैं ।

र०—जो कोई मांस न खावे, न उपदेश और न अनुमति आदि देवे, तो पशु आदि कभी न मारे जावें । क्योंकि इस व्यवहार में बहकावट, लाभ और बिक्री न हो तो प्राणियों का मारना बन्द ही हो जावे । इस में प्रमाण भी है:—

अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी ।
संस्कर्त्ता चोपहर्त्ता च खादकश्चेति घातकाः ॥

(मनु० अ० ५ । श्लो० ५१)

अर्थ—अनुमति (मारने की सलाह) देने, मांस के काटने, पशु आदि के मारने, उनको मारने के लिये लेने और बेचने, मांस के पकाने, परसने और खानेवाले ८ (आठ) मनुष्य, घातक हिंसक अर्थात् ये सब पापकारी हैं । और भैरव आदि के निमित्त से भी मांस खाना, मारना वा मरवाना महापाप-कर्म्म है । इसीलिये दयालु परमेश्वर ने वेदों में मांस खाने वा पशु आदि के मारने की विधि नहीं लिखी । मद्य भी मांस खाने का ही कारण है इसीलिये यहां संक्षेप से लिखते हैं:—

प्रमत्त—कहोजी मांस तो छूट सो छूटा, परन्तु मद्य पीने में तो कोई भी दोष नहीं ? ।

शान्त—मद्य पीने में भी वैसे ही दोष हैं जैसे कि मांस खाने में । मनुष्य मद्य पीने से नशे के कारण नष्टबुद्धि होकर अकर्त्तव्य कर लेता और कर्त्तव्य को छोड़ देता है । न्याय का अन्याय और अन्याय का न्याय आदि विपरीत कर्म करता है । और मद्य की उत्पत्ति विकृत पदार्थों से होती है, और वह मांसाहारी अवश्य हो जाता है । इसलिये इसके पीने से आत्मा में विकार उत्पन्न होते हैं । और जो मद्य पीता है वह विद्यादि शुभ गुणों से रहित होकर, उन दोषों में फंस कर, अपने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष फलों को छोड़, पशुवत् आहार, निद्रा, भय, मैथुन आदि कर्म्मों में प्रवृत्त होकर, अपने मनुष्यजन्म को व्यर्थ कर देता है । इसलिये नशा अर्थात् मदकारक द्रव्यों का सेवन भी न करना चाहिये । जैसा मद्य है वैसे भांग आदि पदार्थ भी मादक हैं । इसलिये इनका भी सेवन कभी न करे । क्योंकि ये भी बुद्धि का नाश करके प्रमाद, आलस्य और हिंसा आदि में मनुष्य को लगा देते हैं । इसीलिये मद्यपान के समान इन का भी सर्वथा निषेध ही है ।

इससे हे धार्मिक सज्जन लोगो ! आप इन पशुओं की रक्षा तन, मन और धन से क्यों नहीं करते ? । हाय !! बड़े शोक की बात है कि जब हिंसक लोग गाय बकरे आदि पशु और मोर आदि पक्षियों को मारने के लिये ले जाते हैं, तब वे अनाथ तुम हमको देख के राजा और प्रजा पर बड़े शोक प्रकाशित करते हैं, कि देखो ! हमको विना अपराध बुरे हाल से मारते हैं, और हम रक्षा करने तथा मारनेवालों को भी दूध आदि अमृत पदार्थ देने के लिये उपस्थित रहना चाहते हैं और मारे जाना नहीं चाहते । देखो हम लोगों का सर्वस्व परोपकार के लिये है और हम इसलिये पुकारते हैं कि हम को आप लोग बचावें । हम तुम्हारी भाषा में अपना दुःख नहीं समझा सकते और आप लोग हमारी भाषा नहीं जानते । नहीं तो क्या हममें से किसी को कोई मारता तो हम भी आप लोगों के सदृश अपने मारनेवालों को न्यायव्यवस्था से फांसी पर न चढ़वा

देते ? । हम इस समय अतीव कष्ट में हैं, क्योंकि कोई भी हम को बचाने में उद्यत नहीं होता । और जो कोई होता है तो उससे मांसाहारी द्वेष करते हैं । अस्तु, वे स्वार्थ के लिये द्वेष करो तो करो । क्योंकि (स्वार्थी दोषं न पश्यति) जो स्वार्थ साधने में तत्पर है वह अपने दोषों पर ध्यान नहीं देता, किन्तु दूसरों की हानि हो तो हो मुझ को सुख होना चाहिये । परन्तु जो उपकारी हैं वे इन के बचाने में अत्यन्त पुरुषार्थ करें । जैसा कि आर्य्य लोग सृष्टि के आरम्भ से आज तक वेदोक्त रीति से प्रशंसनीय कर्म्म करते आये हैं वैसे ही सब भूगोलस्थ सज्जन मनुष्यों को करना उचित है ।

धन्य है आर्य्यावर्त्तदेशवासी आर्य्य लोगों को, कि जिन्होंने ईश्वर के सृष्टिक्रम के अनुसार परोपकार ही में अपना तन मन धन लगाया और लगाते हैं । इसीलिये आर्य्यावर्त्तीय राजा, महाराजा, प्रधान और धनाढ्य लोग आधी पृथिवी में जङ्गल रखते थे कि जिससे पशु और पक्षियों की रक्षा होकर ओष-धियों के सार दूध आदि पवित्र पदार्थ उत्पन्न हों । जिनके खाने पीने से आरोग्य, बुद्धिबल, पराक्रम आदि सद्गुण बढ़ें । और वृक्षों के अधिक होने से वर्षाजल और वायु में आर्द्रता और शुद्धि अधिक होती है । पशु और पक्षी आदि के अधिक होने से खात भी अधिक होता है । परन्तु इस समय के मनुष्यों का इससे विपरीत व्यवहार है कि जंगलों को काट और कटवा डालना, पशुओं को मार और मरवा खाना, और विष्ठा आदि का खात खेतों में डाल अथवा डलवा कर, रोगों की वृद्धि करके, संसार का अहित करना, स्वप्रयोजन साधना और परप्रयोजन पर ध्यान न देना, इत्यादि काम उलटे हैं । (विषादप्यमृतंग्राह्यम्) सत्पुरुषों का यही सिद्धान्त है कि विष से भी अमृत लेना । इसी प्रकार गाय आदि का मांस विषवत् महारोगकारी को छोड़कर उन से उत्पन्न हुए दूध आदि अमृत रोगनाशक हैं उनको लेना । अतएव इनकी रक्षा करके विषत्यागी और अमृतभोजी सब को होना चाहिये । सुनो बन्धुवर्गो ! तुम्हारा तन, मन, धन गाय आदि की रक्षारूप परोपकार में न लगे तो किस काम का है ? । देखो परमात्मा का स्वभाव कि जिसने सब विश्व और सब पदार्थ परोपकार ही के

लिये रच रक्खे हैं वैसे तुम भी अपना तन, मन, धन परोपकार ही के अर्पण करो। बड़े आश्चर्य की बात है कि पशुओं को पीड़ा न होने के लिये न्याय-पुस्तक में व्यवस्था भी लिखी है कि जो पशु दुर्बल और रोगी हों उनको कष्ट न दिया जावे जितना बोझ सुखपूर्वक उठा सकें उतना ही उन पर धरा जावे।

श्रीमती राजराजेश्वरी श्रीविक्टोरिया महाराणी का विज्ञापन भी प्रसिद्ध है कि इन अव्यक्तवाणी पशुओं को जो २ दुःख दिया जाता है वह २ न दिया जावे। तो क्या भला मार डालने से भी अधिक कोई दुःख होता है ?। क्या फांसी से अधिक दुःख बंदीगृह में होता है ?। जिस किसी अपराधी से पूछा जाय कि तू फांसी चढ़ने में प्रसन्न है वा बंदीघर के रहने में ? तो वह स्पष्ट कहेगा कि फांसी में नहीं, किन्तु बन्दीघर के रहने में। और जो कोई मनुष्य भोजन करने को उपस्थित हो उसके आगे से भोजन के पदार्थ उठा लिये जावें और उसको वहां से दूर किया जावे तो क्या वह सुख मानेगा ?। ऐसे ही आजकल के समय में कोई गाय आदि पशु सरकारी जङ्गल में जाकर घास और पत्ता जो कि उन्हीं के भोजनार्थ हैं विना महसूल दिये खावें वा खाने को जावें तो बेचारे उन पशुओं और उन के स्वामियों की दुर्दशा होती है। जंगल में आग लग जावे तो कुछ चिन्ता नहीं किन्तु वे पशु न खाने पावें। हम कहते हैं कि किसी अति क्षुधातुर राजा वा राजपुरुष के सामने आये चावल आदि वा डबलरोटी आदि छीन कर न खाने देवें और उनकी दुर्दशा की जावे तो इन को दुःख विदित न होगा क्या ?। क्या वैसा ही उन पशु पक्षियों और उन के स्वामियों को न होता होगा ?। ध्यान देकर सुनिये कि जैसा दुःख सुख अपने को होता है वैसा ही औरों को भी समझा कीजिये। और यह भी ध्यान में रखिये कि वे पशु आदि और उनके स्वामी तथा खेती आदि कर्म करने वाले प्रजा के पशु आदि और मनुष्यों के अधिक पुरुषार्थ ही से राजा का ऐश्वर्य अधिक बढ़ता और न्यून से नष्ट हो जाता है। इसीलिये राजा प्रजा से कर लेता है कि उनकी रक्षा यथावत् करे, न कि राजा और प्रजा के जो सुख के कारण गाय आदि पशु हैं उन का नाश किया जावे। इसलिये आजतक जो हुआ

सो हुआ, आगे आंखें खोल कर सब के हानिकारक कर्मों को न कीजिये और न करने दीजिये। हां, हम लोगों का यही काम है कि आप लोगों को भलाई और बुराई के कामों को जता देवें और आप लोगों का यही काम है कि पक्षपात छोड़ सबकी रक्षा और बढ़ती करने में तत्पर रहें। सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर हम और आप पर पूर्ण कृपा करे, कि जिससे हम और आप लोग विश्व के हानिकारक कर्मों को छोड़, सर्वोपकारक कर्मों को करके, सब लोग आनन्द में रहें। इन सब बातों को सुन मत डालना किन्तु सुन रखना। इन अनाथ पशुओं के प्राणों को शीघ्र बचाना।

हे महाराजाधिराज जगदीश्वर! जो इनको कोई न बचावे तो आप इन की रक्षा करने और हम से कराने में शीघ्र उद्यत हूजिये।

इति समीक्षा–प्रकरणम्

इस सभा के नियम

१—सब विश्व को विविध सुख पहुंचाना इस सभा का मुख्य उद्देश है। किसी की हानि करना प्रयोजन नहीं।

२—जो २ पदार्थ सृष्टिक्रमानुकूल जिस २ प्रकार से अधिक उपकार में आवे उस २ से आप्ताभिप्रायानुसार यथायोग्य सर्वहित सिद्ध करना इस सभा का परम पुरुषार्थ है।

३—जिस २ कर्म्म से बहुत हानि और थोड़ा लाभ हो उस २ को सभा कर्त्तव्य नहीं समझती।

४—जो २ मनुष्य इस परमहितकारी कार्य्य में तन, मन, धन से प्रयत्न और सहायता करे वह २ इस सभा में प्रतिष्ठा के योग्य होवे।

५ जो कि यह कार्य्य सर्वहितकारी है इसलिये यह सभा भूगोलस्थ मनुष्य जाति से सहायता की पूरी आशा रखती है।

६—जो २ सभा, देश-देशान्तर और द्वीप-द्वीपान्तर में परोपकार ही करना अभीष्ट रखती है वह २ इस सभा की सहायकारिणी समझी जाती है।

७—जो २ जन राजनीति वा प्रजा के अभीष्ट से विरुद्ध, स्वार्थी, क्रोधी और अविद्यादि दोषों से प्रमत्त होकर राजा प्रजा के लिये अनिष्ट कर्म्म करे वह २ इस सभा का सम्बन्धी न समझा जावे।

उपनियम

१—इस सभा का नाम "गोकृष्यादिरक्षिणी" है।

उद्देश

२—इस सभा के उद्देश वे ही हैं जो कि इसके नियमों में वर्णन किये गये हैं।

३—जो लोग इस सभा में नाम लिखाना चाहें * और इसके उद्देशानुकूल आचरण करना चाहें, वे इस सभा में प्रविष्ट हो सकते हैं। परन्तु उनकी आयु १८ वर्ष से न्यून न हो। जो लोग इस सभा में प्रविष्ट हों वे गोरक्षकसभासद् कहलावेंगे।

४—जिन का नाम इस सभा में सदाचार से एक वर्ष रहा हो, और वे अपने आय का शतांश वा अधिक मासिक वा वार्षिक इस सभा को दें, वे गोरक्षकसभासद् हो सकते हैं, और सम्मति देने का अधिकार केवल गोरक्षकसभासदों ही को होगा।

(अ) गोरक्षकसभासद् बनने के लिये गोकृष्यादिरक्षिणी सभा में वर्ष भर नाम रहने का नियम किसी व्यक्ति के लिये अन्तरङ्गसभा शिथिल भी कर सकती है। इस सभा में वर्ष भर रहकर गोरक्षकसभासद् बनने का नियम गोकृष्यादिरक्षिणीसभा के दूसरे वर्ष से काम आवेगा।

(ब) राजा, सरदार, बड़े २ साहूकार आदि को इस सभा के सभासद् बनने के लिये शतांश ही देना आवश्यक नहीं, वे एकवार वा मासिक वा वार्षिक अपने उत्साह वा सामर्थ्यानुसार दे सकते हैं।

(ज) अन्तरङ्गसभा किसी विशेष हेतु से चन्दा न देने वाले पुरुष को भी गोरक्षकसभासद् बना सकती है।

(द) नीचे लिखी हुई विशेष दशाओं में उन सभासदों की भी, जो गोरक्षक सभासद् नहीं बने, सम्मति ली जा सकती है:—

---

* इस सभा में नाम लिखाने के लिये मन्त्री के पास इस प्रकार का पत्र भेजना चाहिये कि मैं प्रसन्नतापूर्वक इस सभा के उद्देशानुकूल, जो कि नियमों में वर्णन किये हैं, आचरण स्वीकार करता हूं। मेरा नाम इस सभा में लिख लीजिये। परन्तु अन्तरङ्गसभा को अधिकार रहेगा कि किसी विशेष हेतु से उनका नाम इस सभा में लिखना स्वीकार न करे।

(१) जब नियमों में न्यूनाधिक शोधन करना हो ।

(२) जब कि विशेष अवस्था में अन्तरङ्गसभा उनकी सम्मति लेनी योग्य और आवश्यक समझे ।

(३) जो इस सभा के उद्देश के विरुद्ध कर्म्म करेगा वह न तो गोरक्षक और न गोरक्षकसभासद् गिना जावेगा ।

(४) गोरक्षकसभासद् दो प्रकार के होंगे—एक साधारण और दूसरे माननीय । माननीय गोरक्षकसभासद् वे होंगे जो शतांश १०) रु० मासिक वा इससे अधिक देवें, अथवा एक वार २५०) रुपया दें वा जिनको अन्तरङ्गसभा विद्या आदि श्रेष्ठ गुणों से माननीय समझे ।

५—यह सभा दो प्रकार की होगी—एक साधारण दूसरी अन्तरङ्ग ।

६—साधारणसभा तीन प्रकार की होगी—१ मासिक, २ षाण्मासिक और ३ नैमित्तिक ।

७—मासिक सभा—प्रतिमास एक वार हुआ करेगी । उसमें महीने भर का आयव्यय और सभा के कार्य्यकर्त्ताओं की क्रियाओं का वर्णन किया जावे जो कि कथनयोग्य हो ।

८—षाण्मासिक सभा—कार्त्तिक और वैशाख के अन्त में हुआ करे । उस में आप्तोक्त विचार, मासिक सभा का कार्य प्रत्येक प्रकार का आयव्यय समझना और समझाना होगा ।

९—नैमित्तिक सभा—जब कभी मन्त्री, प्रधान और अन्तरंगसभा आवश्यक कार्य्य जाने उसी समय यह सभा हो और उस में विशेष कार्य्यों का प्रबन्ध होवे ।

१०—अन्तरंगसभा—सभा के समस्त कार्य्यप्रबन्ध के लिये एक अन्तरंगसभा नियत कीजावे। और इस में तीन प्रकार के सभासद् हों—एक प्रतिनिधि, दूसरे प्रतिष्ठित और तीसरे अधिकारी।

११—प्रतिनिधि सभासद् अपने २ समुदायों के प्रतिनिधि होंगे, और उन्हें उनके समुदाय नियत करेंगे, कोई समुदाय जब चाहे अपने प्रतिनिधि को बदल सकता है। प्रतिनिधि सभासदों के विशेष कार्य्य ये होंगेः—

(अ) अपने २ समुदायों की सम्मति से अपने को विज्ञ रखना।

(ब) अपने २ समुदायों को अन्तरंगसभा के कार्य्य, जो कि प्रकट करने योग्य हों, बतलाना।

(ज) अपने २ समुदायों से चन्दा इकट्ठा करके कोषाध्यक्ष को देना।

१२—प्रतिष्ठित सभासद् विशेष गुणों के कारण प्रायः वार्षिक, नैमित्तिक और साधारण सभा में नियत किये जावें। प्रतिष्ठित सभासद् अन्तरंगसभा में एक तिहाई से अधिक न हों।

१३—प्रति वैशाख की सभा में अन्तरंगसभा के प्रतिष्ठित अधिकारी वार्षिक साधारण सभा में फिर से नियत किये जावें। और कोई पुराना प्रतिष्ठित और अधिकारी पुनर्वार नियुक्त हो सकता है।

१४—जब वर्ष के पहिले किसी प्रतिष्ठित सभासद् और अधिकारी का स्थान रिक्त हो तो अन्तरंगसभा आप ही उस के स्थान पर किसी और योग्य पुरुष को नियत कर सकती है।

१५—अन्तरंगसभा कार्य्य के प्रबन्ध निमित्त उचित व्यवस्था बना सकती है, परन्तु वह नियमों और उपनियमों से विरुद्ध न हो।

१६—अन्तरंगसभा किसी विशेष कार्य्य के करने और सोचने के लिये अपने

में से सभासदों और विशेष गुण रखनेवाले सभासदों को मिलाकर उपसभा नियत कर सकती है ।

१७—अन्तरंगसभा का कोई सभासद् मन्त्री को एक सप्ताह के पहिले विज्ञापन दे सकता है कि कोई विषय सभा में निवेदन किया जावे और वह विषय प्रधान की आज्ञानुसार निवेदन किया जावे । परन्तु जिस विषय के निवेदन करने में अन्तरंगसभा के पांच सभासद् सम्मति दें वह अवश्य निवेदन करना ही पड़ेगा ।

१८—दो सप्ताह के पीछे अन्तरंगसभा अवश्य हुआ करे और मन्त्री और प्रधान की आज्ञा से वा जब अन्तरंगसभा के पांच सभासद् मन्त्री को पत्र लिखें तो भी हो सकती है ।

१९—अधिकारी छः प्रकार के होंगे—१–प्रधान, २–उपप्रधान, ३–मन्त्री, ४–उपमन्त्री, ५–कोषाध्यक्ष, ६–पुस्तकाध्यक्ष ।

(मन्त्री) (कोषाध्यक्ष) (पुस्तकाध्यक्ष) इनके अधिकारों पर आवश्यकता होने से एक से अधिक भी नियत हो सकते हैं और जब किसी अधिकार पर एक से अधिक भी नियत हों तो अन्तरंगसभा उन्हें कार्य्य बांट देवे ।

प्रधान

२०—प्रधान के निम्नलिखित अधिकार और काम होवें:—

१—(प्रधान) अन्तरंगसभा आदि सब सभाओं का सभापति समझा जावे ।

२—सदा सभा के सब कार्य्यों के यथावत् प्रबन्ध और सर्वथा उन्नति और रक्षा में तत्पर रहे । सभा के प्रत्येक कार्य्य को देखे कि वे नियमानुसार किये जाते हैं वा नहीं और स्वयं नियमानुसार चले ।

३—यदि कोई विषय कठिन और आवश्यक प्रतीत हो तो उसका यथोचित प्रबन्ध तत्काल करे और उसकी हानि में वही उत्तर देवे।

४—प्रधान अपने प्रधानत्व के कारण सब उपसभाओं का, जिन्हें अन्तरंगसभा संस्थापन करे, सभासद् हो सकता है।

उपप्रधान

२१—इस के ये कार्य्य कर्तव्य हैं–प्रधान की अनुपस्थिति में उसका प्रतिनिधि होवे, यदि दो वा अधिक उपप्रधान हों तो सभा की सम्मति के अनुसार उनमें से कोई एक प्रतिनिधि किया जावे, परन्तु सभा के सब कार्य्यों में प्रधान को सहायता देनी उस का मुख्य कार्य है।

मन्त्री

२२—मन्त्री के निम्नलिखित अधिकार और कार्य हैं:—

१—अन्तरङ्गसभा की आज्ञानुसार सभा की ओर से सब के साथ पत्रव्यवहार रखना।

२—सभाओं का वृत्तान्त लिखना और दूसरी सभा होने से पहिले ही पूर्व-वृत्तान्त पुस्तक में लिखना वा लिखवाना।

३ मासिक अन्तरङ्गसभाओं में उन गोरक्षकों वा गोरक्षक सभासदों के नाम सुनाना जो कि पिछली मासिकसभा के पीछे सभा में प्रविष्ट वा उससे पृथक् हुए हों।

४—सामान्य प्रकार से भृत्यों के कार्य पर दृष्टि रखना और सभा के नियम, उपनियम और व्यवस्थाओं के पालन पर ध्यान रखना।

५—इस बात का भी ध्यान रखना कि प्रत्येक गोरक्षक सभासद् किसी न किसी समुदाय में हों और इसका भी कि प्रत्येक समुदाय ने अपनी ओर से अन्तरङ्गसभा में प्रतिनिधि दिया होवे।

६—पहिले विज्ञापन दिये पर मान्यपुरुषों को सत्कारपूर्वक बिठाना ।

७—प्रत्येक सभा में नियत काल पर आना और बराबर ठहरना ।

कोषाध्यक्ष

२३—कोषाध्यक्ष के नीचे लिखे अधिकार और कार्य हैं:—

१—सभा के सब आयधन का लेना, उसकी रसीद देना और उसको यथोचित रखना ।

२—किसी को अन्तरङ्गसभा की आज्ञा के विना रुपया न देना, किन्तु मन्त्री और प्रधान को भी उस प्रमाण से देवे जितना अन्तरङ्गसभा ने उनके लिये नियत किया हो, अधिक न देना, और उस धन के उचित व्यय के लिये वही अधिकारी, जिस के द्वारा वह व्यय हुआ हो, उत्तरदाता होवे ।

३—सब धन के व्यय का रीतिपूर्वक बही खाता रखना और प्रतिमास अन्तरङ्गसभा में हिसाब को बही खाते समेत परताल और स्वीकार के लिये निवेदन करना ।

पुस्तकाध्यक्ष

२४—पुस्तकाध्यक्ष के अधिकार और कार्य ये होवें:—

१—जो पुस्तकालय में सभा की स्थिर और विक्रय की पुस्तकें हों उन सबों की रक्षा कर और पुस्तकालय सम्बन्धी हिसाब भी रक्खे और पुस्तकों के लेने देने का कार्य भी करे ।

मिश्रित नियम

२५—सब गोरक्षक सभासदों की सम्मति निम्नलिखित दशाओं में लीजावे:—

१—अन्तरङ्गसभा का यह निश्चय हो कि किसी साधारणसभा के सिद्धान्त पर निश्चय न करना चाहिये, किन्तु गोरक्षक सभासदों की सम्मति जाननी चाहिये।

२—सब गोरक्षक सभासदों का पांचवां वा अधिक अंश इस निमित्त मन्त्री के पास पत्र लिख भेजे।

३—जब बहुतसे व्ययसम्बन्धी वा प्रबन्धसम्बन्धी नियम अथवा व्यवस्था-सम्बन्धी कोई मुख्य विचारादि करना हो अथवा जब अन्तरङ्गसभा सब गोरक्षक सभासदों की सम्मति जानना चाहे।

२६—जब किसी सभा में थोड़े से समय के लिये कोई अधिकारी उपस्थित न हो तो उस समय के लिये किसी योग्य पुरुष को अन्तरङ्गसभा नियत कर सकती है।

२७—यदि किसी अधिकारी के स्थान पर वार्षिक साधारण सभा में कोई पुरुष नियत न किया जावे तो जबतक उस के स्थान पर नियत न किया जाय वही अधिकारी अपना काम करता रहे।

२८—सब सभा और उपसभाओं का वृत्तान्त लिखा जाया करे और उसको सब गोरक्षकसभासद् देख सकते हैं।

२९—सब सभाओं का कार्य तब आरम्भ हो जब न्यून से न्यून एक तिहाई सभासद् उपस्थित हों।

३०—सब सभाओं और उपसभाओं के सारे काम बहुपक्षानुसार निश्चित हों।

३१—आय का दशांश समुदाय में रक्खा जावे।

३२—सब गोरक्षक और गोरक्षक सभासदों को इस सभा की उपयोगी वेदादि विद्या जाननी और जनानी चाहिये।

३३—सब गोरक्षक और गोरक्षक सभासदों को उचित है कि लाभ और आनन्द समय में सभा की उन्नति के लिये उदारता और पूर्ण प्रेमदृष्टि रक्खें।

३४—सब गोरक्षक और गोरक्षक सभासदों को उचित है कि शोक और दुःख के समय में परस्पर सहायता करें, और आनन्दोत्सव में निमंत्रण पर सहायक हों, छोटाई बड़ाई न गिनें।

३५—कोई गोरक्षक भाई किसी हेतु से अनाथ, वा किसी की स्त्री विधवा, अथवा सन्तान अनाथ होजावे अर्थात् उनका जीवन न हो सकता हो और यदि गोकृष्यादिरक्षिणी सभा उनको निश्चित जान ले तो यह सभा उन की रक्षा में यथाशक्ति यथोचित प्रबन्ध करे।

३६—यदि गोरक्षक सभासदों में किन्हीं का परस्पर झगड़ा हो तो उन को उचित है कि वे आपस में समझ लेवें वा गोरक्षक सभासदों की न्याय-उपसभाद्वारा उसका न्याय करालें। परन्तु अशक्यावस्था में राजनीति द्वारा भी न्याय करा लेवें।

३७—इस गोकृष्यादिरक्षिणी सभा के व्यवहार में जितना २ लाभ हो वह २ सर्वहितकारी काम में लगाया जावे, किन्तु यह महाधन तुच्छ कार्य्य में व्यय न किया जावे। और जो कोई इस गोकृष्यादि की रक्षा के लिये जो धन है उसको चोरी से अपहरण करेगा वह गोहत्या के पाप लगने से इस लोक और परलोक में महादुःखभागी अवश्य होगा।

३८—संप्रति इस सभा के धन का व्यय गवादि पशु लेने, उनका पालन करने, जंगल और घास के क्रय करने, उनकी रक्षा के लिये भृत्य वा अधिकारी रखने, तालाब, कूप, बावड़ी अथवा बाड़ा के लिये व्यय किया जावे, पुनः अत्युन्नत होने पर सर्वहित कार्य्य में भी व्यय किया जावे।

३९—सब सज्जनों को उचित है कि इस गोरक्षक धन आदि समुदाय पर स्वार्थ-

दृष्टि से हानि करना कभी मन से भी न विचारें, किन्तु यथाशक्ति इस व्यवहार की उन्नति में तन, मन, धन से सदा परम प्रयत्न किया ही करें।

४०—इस सभा के सब सभासदों को यह बात अवश्य जाननी चाहिये कि जब गवादि पशु रक्षित होके बहुत बढ़ेंगे तब कृषि आदि कर्म और दुग्ध घृत आदि की वृद्धि होकर सब मनुष्यादि को विविध सुख लाभ अवश्य होगा। इसके विना सब का हित सिद्ध होना सम्भव नहीं।

४१—देखिये पूर्वोक्त रीत्यनुसार एक गौ की रक्षा से लाखों मनुष्यादि को लाभ पहुंचाना और जिसके मारने से उतने ही की हानि होती है ऐसे निकृष्ट कर्म्म के करने को आप्त विद्वान् कभी अच्छा न समझेगा।

४२—इस सभा के जो पशु प्रसूत होंगे उन २ का दूध एक मास तक उनके बछड़े को पिलाना और अधिक उसी पशु को अन्न के साथ खिला देना चाहिये, और दूसरे मास में तीन स्तनों का दूध बछड़े को देना और एक भाग लेना चाहिये, तीसरे मास के आरम्भ से आधा दुह लेना और आधा बछड़े को तबतक दिया करें कि जबतक गौ दूध देवे।

४३—सब सभासदों को उचित है कि जब २ किसी को स्वरक्षित पशु देवे तब २ न्याय नियमपूर्वक व्यवस्थापत्र ले और देकर, जब वह पशु असमर्थ हो जाय, उस के काम का न रहे और उसके पालन करने में सामर्थ्य न हो, तो अन्य किसी को न दे सके, किन्तु पुनरपि सभा के आधीन करे।

४४—इस सभा की अन्तरंगसभा को उचित है किन्तु अत्यावश्यक है कि उक्त प्रकार से अप्राप्त पशुओं की प्राप्ति, प्राप्तों की रक्षा, रक्षितों की वृद्धि और बढ़े हुए पशुओं से नियमानुसार और सृष्टिक्रमानुकूल उपकार लेना, अपने अधिकार में सदा रखना, अन्य किसी को इस में स्वाधीनता कभी न देवे।

४५—जो कि यह बहुत उपकारी कार्य्य है इसलिये इस का करनेवाला इस लोक और परलोक में स्वर्ग अर्थात् पूर्ण सुखों को अवश्य प्राप्त होता है ।

४६—कोई भी मनुष्य इस सभा के पूर्वोक्त उद्देशों को किये विना सुखों की सिद्धि नहीं कर सकता ।

४७—क्या ऐसा कोई भी मनुष्य सृष्टि में होगा कि जो अपने सुख दुःखवत् दूसरे प्राणियों का सुख दुःख अपने आत्मा में न समझता हो ।

४८—ये नियम और उपनियम उचित समय पर वा प्रतिवर्ष में यथोचित विज्ञापन देने पर शोधे वा घटाये बढ़ाये जा सकते हैं ।

ओ३म् सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्य्यं करवावहै ।
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥ ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

धेनुः परा दयापूर्वा यस्यानन्दाद्विराजते ।
आख्यायां निर्मितस्तेन ग्रन्थो गोकरुणानिधिः ॥ १ ॥
मुनिरामाङ्कचन्द्रेऽब्दे तपस्यस्यासिते दले ।
दशम्यां गुरुवारेऽलंकृतोयं कामधेनुपः ॥ २ ॥

इति गोकरुणानिधिः

श्रीमान् हिज हाइनेस महाराजाधिराज
सियाजीराव बहादुर गायकवाड़, बड़ौदा,
सभापति

श्रीमान् राजाधिराज सर नाहरसिंहजी
बहादुर शाहपुरा
मंत्री

रायबहादुर श्री मूलराजजी
उपप्रधान

रायसाहेब श्री हरविलासजी सारडा, M. L. A.
मंत्री

श्री स्वामी श्रद्धानन्दजी

श्रीयुत लाला हंसराजजी

श्रीयुत बा० गुलराजगोपालजी गुप्त

रायसाहेब रामबिलासजी शारदा

श्रीयुत बा० गंगाप्रसादजी वर्मा

श्रीयुत लाजपतरायजी

वैदिक-यन्त्रालय, अजमेर.

श्रीयुत घासीरामजी

श्रीयुत रामदेवजी

श्रीयुत रणछोड़दासजी भवान

श्री स्वामी विश्वेश्वरानन्दजी

श्रीयुत भगवद्दत्तजी

श्रीयुत रामगोपालजी

श्रीयुत रोशनलालजी

श्रीयुत गौरीशङ्करजी

वैदिक यन्त्रालय, अजमेर.

श्रीयुत राव बहादुरसिंहजी

श्रीयुत कविराज श्यामलदासजी

श्रीयुत वंशीधरजी

श्रीयुत सेठ पुरुषोत्तमनारायणजी

श्रीयुत भगवानदीनजी

श्रीयुत रामभजदत्तजी चौधरी

वैदिक-यन्त्रालय, अजमेर.

शताब्दी-संस्करण

Prem Bahadur Varma
12.6.26.

स्वीकारपत्रम्

पृष्ठ ६४७—६५२.

स्वीकारपत्रम्

—:o:—

आवृत्ति		सन् ई०		संख्या
प्रथम	...		...	१०००
द्वितीय	...	१८९३	...	१०००
तृतीय	...	१८९७	...	१०००
चतुर्थ	...	१९०३	...	२०००
पंचम	...	१९२१	...	२०००
शताब्दीसंस्करण		१९२४	...	१०,०००
				१७,०००

श्रीरामजी

परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिकृत स्वीकारपत्र की प्रति

राजकीय मुद्रा

आज्ञा (राज्ये श्रीमहद्राजसभा) संख्या २६०

आज यह स्वीकारपत्र श्रीमान् श्री १०८ श्रीजी धीरवीर चिरप्रतापी विराजमानराज्ये श्रीमहद्राजसभा के सन्मुख स्वामीजी श्री दयानन्दसरस्वतीजी ने सर्वरीत्या अङ्गीकार किया अत एवः—

आज्ञा हुई—

कि प्रथम प्रति तो इस स्वीकारपत्र की स्वामीजी श्री दयानन्दसरस्वतीजी को राज्ये श्री महद्राजसभा के हस्ताक्षरी और मुद्राङ्कित दी जावे और दूसरी प्रति उक्त सभा के पत्रालय में रहे और एक एक प्रति इसकी राज यन्त्रालय में मुद्रित होकर इस स्वीकारपत्र में लिखे सब सभासदों के पास उन के ज्ञानार्थ और इसके नियमानुसार वर्त्तने के लिये भेजी जावे संवत् १९३९ फाल्गुन शुक्ला ५ मङ्गलवार तदनुसार ता० २७ फेब्रुअरी सन् १८८३ ई० ।

हस्ताक्षर महाराणा सज्जनसिंहस्य

(श्रीमेदपाटेश्वर और राज्ये श्रीमहद्राजसभापति)

राज्ये श्रीमद्राजसभा के सभासदों के हस्ताक्षर—

१ राव बख्तसिंह बेदले
२ राव रत्नसिंह पारसोली
३ द० महाराज गजसिंह का
४ द० महाराज रायसिंह का
५ हस्ताक्षर मामा बख्तावरसिंहस्य
६ दं० राणावत उदयसिंह
७ हस्ताक्षर ठाकुर मनोहरसिंह
८ हस्ताक्षर कविराज श्यामलदासस्य
९ हस्ताक्षर सहीवाला अर्जुनसिंह का
१० द० रा० पन्नालाल
११ द० पुरोहित पद्मनाभस्य
१२ जा० मुकुन्दलाल
१३ द० मोहनलाल पण्ड्या

स्वीकारपत्र

मैं स्वामी दयानन्दसरस्वती निम्नलिखित नियमानुसार त्रयोविंशति सज्जन आर्य्यपुरुषों की सभा को वस्त्र, पुस्तक, धन और यन्त्रालय आदि अपने सर्वस्व का अधिकार देता हूं और उस को परोपकार सुकार्य में लगाने के लिये अधिष्ठाता करके यह पत्र लिखे देता हूं कि समय पर कार्यकारी हो। जो यह एक सभा कि जिसका नाम परोपकारिणीसभा है उस के निम्नलिखित त्रयोविंशति सज्जन पुरुष सभासद् हैं उन में से इस सभा के सभापतिः—

१ श्रीमन्महाराजाधिराज महीमहेन्द्र यावदार्य्यकुलदिवाकर महाराणाजी श्री १०८ श्रीसज्जनसिंहजी वर्म्मा धीरवीर जी० सी० एस० आई० उदयपुराधीश हैं, उदयपुर राज मेवाड़।

२ उपसभापति लाला मूलराज एम० ए० एक्स्ट्रा असिस्टेण्ट कमिश्नर प्रधान आर्य्यसमाज लाहौर जन्मस्थान लुधियाना।

३ मन्त्री श्रीयुत कविराज श्यामलदासजी उदयपुर राज मेवाड़।

४ मन्त्री लाला रामशरणदास रईस उपप्रधान आर्य्यसमाज मेरठ।

५ उपमन्त्री पण्ड्या मोहनलाल विष्णुलालजी निवास उदयपुर जन्मभूमि मथुरा।

सभासद्

नाम और स्थान

१ श्रीमन्महाराजाधिराज श्री नाहरसिंहजी वर्मा शाहपुरा राज मेवाड़
२ श्रीमत् राव तख्तसिंहजी वर्म्मा बेदला राज मेवाड़
३ श्रीमत् राज्यराणा श्रीफतहसिंहजी वर्म्मा देलवाड़ा राज मेवाड़
४ श्रीमत् रावत अर्जुनसिंहजी वर्मा आसींद राज मेवाड़
५ श्रीमत् महाराज श्रीगजसिंहजी वर्म्मा उदयपुर मेवाड़
६ श्रीमत् राव श्री बहादुरसिंहजी वर्म्मा मसूदा जिले अजमेर
७ रावबहादुर पं० सुन्दरलाल सुपरिंटैंडैंट वर्कशोप और प्रेस अलीगढ़ आगरा
८ राजा जयकृष्णदास सी० एस० आई० डिपुटी-कलेक्टर बिजनौर मुरादाबाद
९ बाबू दुर्गाप्रसाद कोषाध्यक्ष आर्य्यसमाज व रईस फर्रुखाबाद
१० लाला जगन्नाथप्रसाद रईस फर्रुखाबाद
११ सेठ निर्भयराम प्रधान आर्य्यसमाज फर्रुखाबाद बिसाऊ राजपूताना
१२ लाला कालीचरण रामचरण मन्त्री आर्य्यसमाज फर्रुखाबाद
१३ बाबू छेदीलाल गुमाश्ते कमसर्यट छावनी मुरार कानपुर
१४ लाला साईंदास मन्त्री आर्य्यसमाज लाहौर
१५ बाबू माधवदास मन्त्री आर्य्यसमाज दानापुर
१६ रावबहादुर रा० रा० पंडित गोपालराव हरि देशमुख मेम्बर कौन्सिल गवर्नर बम्बई और प्रधान आर्य्यसमाज बम्बई पूना
१७ रावबहादुर रा० रा० महादेव गोविन्द रानडे जज्ज पूना
१८ पं० श्यामजीकृष्ण वर्म्मा प्रोफेसर संस्कृत यूनीवर्सिटी आक्सफोर्ड लंडन बम्बई

नियम

१ उक्त सभा जैसे कि वर्त्तमानकाल वा आपत्काल में नियमानुसार मेरी और मेरे समस्त पदार्थों की रक्षा करके सर्वहितकारी कार्य में लगाती है वैसे मेरे पश्चात् अर्थात् मेरे मृत्यु के पीछे भी लगाया करेः—

प्रथम—वेद और वेदाङ्गादि शास्त्रों के प्रचार अर्थात् उनकी व्याख्या करने कराने, पढ़ने पढ़ाने, सुनने सुनाने, छापने छपवाने आदि में ।

द्वितीय—वेदोक्त धर्म के उपदेश और शिक्षा अर्थात् उपदेशकमंडली नियत करके देश देशान्तर और द्वीप द्वीपान्तर में भेजकर सत्य के ग्रहण और असत्य के त्याग कराने आदि में ।

तृतीय—आर्यावर्त्तीय अनाथ और दीन मनुष्यों के संरक्षण पोषण और सुशिक्षा में व्यय करे और करावे ।

२ जैसे मेरी विद्यमानता में यह सभा सब प्रबन्ध करती है वैसे मेरे पश्चात् भी तीसरे या छठे महीने किसी सभासद् को वैदिक यन्त्रालय का हिसाब किताब समझने और पड़तालने के लिये भेजा करे, और वह सभासद् जाकर समस्त आयव्यय और संचय आदि की जांच पड़ताल करे, और उनके तले अपने हस्ताक्षर लिखदे, और उस विषय का एक २ पत्र प्रति सभासद् के पास भेजे, और उसके प्रबन्ध में कुछ हानि लाभ देखे उसकी सूचना अपने भी परामर्श सहित प्रत्येक सभासद् के पास लिख भेजे । पश्चात् प्रत्येक सभासद् को उचित है कि अपनी २ सम्मति सभापति के पास लिख कर भेजदे, और सभापति सब की सम्मति से यथोचित प्रबन्ध करे, और कोई सभासद् इस विषय में आलस्य अथवा अन्यथा व्यवहार न करे ।

३ इस सभा को उचित है किन्तु अत्यावश्यक है कि जैसा यह परमधर्म और परमार्थ का कार्य है उसको वैसा ही उत्साह, पुरुषार्थ, गम्भीरता और उदारता से करे ।

४ मेरे पीछे उक्त त्रयोविंशति आर्यजनों की सभा सर्वथा मेरे स्थानापन्न समझी जाय, अर्थात् जो अधिकार मुझे अपने सर्वस्व का है वही अधिकार

सभा को है और रहे । यदि उक्त सभासदों में से कोई इन नियमों से विरुद्ध स्वार्थ के वश होकर वा कोई अन्य जन अपना अधिकार जतावे तो वह सर्वथा मिथ्या समझा जाय ।

५ जैसे इस सभा को अपने सामर्थ्य के अनुसार वर्त्तमान समय में मेरी और मेरे समस्त पदार्थों की रक्षा और उन्नति करने का अधिकार है वैसे ही मेरे मृतक शरीर के संस्कार करने कराने का भी अधिकार है । अर्थात् जब मेरा देह छूटे तो न उसको गाड़ने, न जल में बहाने, न जङ्गल में फेंकने दे, केवल चन्दन की चिता बनावे । और जो यह सम्भव न हो तो दो मन चन्दन, चार मन घी, पांच सेर कपूर, ढाई सेर अगर तगर और दश मन काष्ठ लेकर वेदानुकूल जैसे कि संस्कारविधि में लिखा है वेदी बनाकर, तदुक्त वेदमन्त्रों से होम करके, भस्म करे । इससे भिन्न कुछ भी वेदविरुद्ध क्रिया न करे । और जो सभाजन उपस्थित न हों तो जो कोई समय पर उपस्थित हो वही पूर्वोक्त क्रिया कर दे । और जितना धन उसमें लगे उतना सभा से ले ले और सभा उसको दे दे ।

६ अपनी विद्यमानता में और मेरे पश्चात् यह सभा चाहे जिस सभासद् को पृथक् कर के उसका प्रतिनिधि किसी अन्य योग्य सामाजिक आर्यपुरुष को नियत कर सकती है । परन्तु कोई सभासद् सभा से तब तक पृथक् न किया जाय जब तक उसके कार्य में अन्यथा व्यवहार न पाया जाय ।

७ मेरे सदृश यह सभा सदैव स्वीकारपत्र की व्याख्या, वा उसके नियम और प्रतिज्ञाओं के पालन, वा किसी सभासद् के पृथक्, और उसके स्थान में अन्य सभासद् के नियत करने, वा मेरे विपत् और आपत्काल के निवारण करने के उपाय और यत्न में वह उद्योग करे जो समस्त सभासदों की सम्मति से निश्चय और निर्णय पाया वा पावे । और जो सम्मति में परस्पर विरोध हो तो बहुपक्षानुसार प्रबन्ध करे और सभापति की सम्मति को सदैव द्विगुण जाने ।

८ किसी समय भी यह सभा तीन से अधिक सभासदों को अपराध की परीक्षा कर पृथक् न करसके जबतक पहिले तीन के प्रतिनिधि नियत न करले ।

९ यदि सभा में से कोई पुरुष मरजाय वा पूर्वोक्त नियमों और वेदोक्त धर्मों को त्याग कर विरुद्ध चलने लगे तो इस सभा के सभापति को उचित है कि सब सभासदों की सम्मति से पृथक् करके उसके स्थान में किसी अन्य योग्य वेदोक्त धर्मयुक्त आर्य पुरुष को नियत करदे परन्तु जबतक नित्यकार्य के अनन्तर नवीनकार्य का आरम्भ न हो।

१० इस सभा को सर्वथा प्रबन्ध करने और नवीनयुक्ति निकालने का अधिकार है। परन्तु जो सभा को अपने परामर्श और विचार पर पूरा २ निश्चय और विश्वास न हो पत्रद्वारा समय नियत करके संपूर्ण आर्यसमाजों से सम्मति ले ले और बहुपक्षानुसार उचित प्रबन्ध करे।

११ प्रबन्ध न्यूनाधिक करना वा स्वीकार वा अस्वीकार करना वा किसी सभासद को पृथक् वा नियत करना वा आय व्यय और संचय का जांच पड़-ताल करना आदि लाभ हानि सब सभासदों को वार्षिक वा षाण्मासिक पत्रद्वारा सभापति छपवा कर विदित करे।

१२ इस स्वीकारपत्र सम्बन्धी कोई झगड़ा टंटा सामयिक राज्याधिकारियों की कचहरी में निवेदन न किया जाय। यह सभा अपने आप न्यायव्यवस्था करले। परन्तु जो अपनी सामर्थ्य से बाहर हो तो राज्यगृह में निवेदन करके अपना कार्य सिद्ध करले।

१३ यदि मैं अपने जीते जी किसी योग्य आर्य्यजन को पारितोषिक अर्थात पेनशन देना चाहूं और उसकी लिखत पढ़त कराके रजिस्टरी करादूं तो सभा को उचित है कि उसको माने और दे।

१४ किसी विशेष लाभ उन्नति परोपकार और सर्वहितकारी कार्य के वश मुझे और मेरे पछि सभा को पूर्वोक्त नियमों के न्यूनाधिक करने का सर्वथा सदैव अधिकार है।

ह० दयानन्दसरस्वती,

Prem Bahadur Varma
12.6.26

ओ३म्

आर्य्यसमाज के नियम

१—सब सत्यविद्या और जो पदार्थविद्या से जाने जाते हैं उन सबका आदिमूल परमेश्वर है।

२—ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है। उसी की उपासना करनी योग्य है।

३—वेद सत्यविद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्य्यों का परम धर्म है।

४—सत्य ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये।

५—सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहियें।

६—संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश है अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

७—सब से प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार, यथायोग्य वर्त्तना चाहिये।

८—अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिये।

९—प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट न रहना चाहिये किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये।

१०—सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिये और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहैं॥

शताब्दी-संस्करण

शिक्षापत्रीध्वान्तनिवारणम्

पृष्ठ १५—८४५.

शिक्षापत्रीध्वान्तनिवारणम्

—:o:—

आवृत्ति	सन् ई०	संख्या
प्रथम ...	१९०१ ...	१०००
द्वितीय ...	१९०६ ...	१०००
तृतीय ...	१९११ ...	१०००
शताब्दीसंस्करण	१९२४ ...	१०,०००
		१३,०००

ओ३म्

सहजानन्दादिमतस्थान् प्रति प्रश्नाः खण्डनञ्च

प्रश्न—कोऽयं सहजानन्दो नाम ? ।

उत्तर—नारायणावतारः स्वामिनारायणाख्याचार्य इति ब्रूमः ।

प्र०—कश्च नारायणः ? ।

उ०—वैकुण्ठगोलोकवासी चतुर्भुजो द्विभुजो लक्ष्मीपतिरीश्वर इत्युच्यते ।

प्र०—स इदानीमस्ति न वा ? ।

उ०—वर्तत एव, तस्येश्वराख्यस्य नित्यत्वात् ।

नैवं शक्यम् । सपर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धमित्यादिश्रुतिविरोधात् । ईश्वरस्यानन्तान्तर्यामिसर्वव्यापकस्य जन्ममरणदेहधारणादेरसम्भवात् । सावयवदेहधारिणः संयोगजन्यत्वादिमतो नित्यत्वेश्वरत्वयोरसम्भवाच्च । यो जन्ममरणशरीरधारणादिव्यवहारवान् स ईश्वर एव न भवति, तर्हीदानीन्तनस्य सहजानन्दस्य तु का कथा । तस्य सहजानन्दस्याचार्यत्वमेवासङ्गतम् । कुतो मृतस्याध्यापने सामर्थ्याभावात् । स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियम्ब्रह्मनिष्ठम् ॥ उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद्द्विजः । सरहस्यं सकल्पञ्च तमाचार्यम्प्रचक्षत इति ब्राह्मणमनुसाद्यवर्त-

(१) अ० ४० । मं० ८ ॥

(२) मुण्डकोप० मुण्ड० १ । खं० २ । कण्डि० १२ ॥

(३) अ० २ । श्लो० १४० ॥

मानाभिप्रायस्य विद्यमानत्वात्तद्रचितस्य शिक्षाग्रन्थस्य दर्शनेन सहजानन्दे शिष्टशिक्षाविद्याविरहत्वे पाखण्डाचारा विज्ञायन्ते। तस्याः शिक्षापत्र्याः सहजानन्दरचिताया आदिमोयं श्लोकः—

वामे यस्य स्थिता राधा श्रीश्च यस्यास्ति वक्षसि।
वृन्दावनविहारन्तं श्रीकृष्णं हृदि चिन्तये॥ १॥

राधा वामे दक्षिणे पश्चिमे पुरतोऽध उपरि वा क्व स्थितेति प्रत्यक्षानुमानाप्तशब्दैः कस्यापि निश्चयो नास्त्यत एव सहजानन्दस्य मिथ्यैव कल्पनास्तीति वेद्यम्। वक्षस्येव श्रीर्वर्त्तत इत्युच्यते चेत्तर्हि मुखाद्यङ्गेषु दरिद्रास्तीति स्वीक्रियताम्। कृष्णस्तु द्वारिकासन्निधौ मरणं प्राप्तवानित्युक्तं महाभारते। इदानीं कृष्णस्य जीवो न जाने क्वास्ति। वृन्दावने विहरन्कृष्णः न केनापि दृश्यते। किन्तु बहवः पाखण्डिनः पाषाणादिमूर्त्तयश्च तत्र दृश्यन्ते नैव कृष्णः। पुनः परमेश्वरं निराकारं जन्ममरणादिदोषरहितं विहाय कृष्णं हृदि चिन्तय इत्युक्तिर्व्यर्थैवेति॥ १॥

मुकुन्दानन्दमुख्याश्च नैष्ठिका ब्रह्मचारिणः।
गृहस्थाश्च मयारामभट्टाद्या ये मदाश्रयाः॥ ४॥

मुकुन्दानन्दादीनां वेदस्वरयोर्निष्ठाध्ययनाभावान्नैष्ठिकब्रह्मचारित्वमेवासंगतम्। एवमेवाग्रस्थाःश्लोकाः प्रायशोऽशुद्धास्सन्त्यत उपेक्ष्यन्ते॥ ४॥

दृष्ट्वा शिवालयादीनि देवागाराणि वर्त्मनि।
प्रणम्य तानि तद्देवदर्शनं कार्यमादरात्॥ १३॥

पाषाणादिमूर्त्यागाराणान्देवालयसंज्ञावचनात्तद्देवदर्शनं कार्यमादरादिति प्रलापात्सहजानन्दे पदार्थविद्याया अभाव एव दृश्यते॥ १३॥

स्ववर्णाश्रमधर्मो यः स हातव्यो न केनचित्।
परधर्मो न चाचर्यो न च पाखण्डकल्पितः॥ १४॥

वेदोक्तः स्ववर्णाश्रमधर्मस्सहजानन्देन किमर्थं त्यक्तः। कुतः। वेदविरुद्धानां स्वकपोलकल्पितानां पाषाणादिमूर्त्तिपूजनकण्ठीतिलकधारणादिपाखण्डानाम्प्रचारकरणात्सहजानन्दे वदतोव्याघातदोषस्समागतो वेदितव्यः ॥१४॥

कृष्णभक्तेः स्वधर्माद्वा पतनं यस्य वाक्यतः ।
स्यात्तन्मुखान्न वै श्रव्याः कथा वार्त्ताश्च वा प्रभोः ॥ १५ ॥

कृष्णभक्तिरेव स्वधर्मोस्तीति कथनं व्यर्थमेव । कुतः । वेदे वर्णाश्रमधर्मप्रतिपादनप्रकरणे कृष्णभक्तिः स्वधर्म इति प्रतिपादनस्याभावात् । अतः किं समागतम् ? सहजानन्दस्य तत्सम्प्रदायस्थानाञ्च मुखात्कदाचित्केनाचिदपि कथा नैव श्रोतव्येति सिद्धान्तः । स कृष्णः प्रभुरेव न तस्य जन्ममरणादिस्वभाववत्त्वात् ॥ १५ ॥

ज्ञानवार्त्ताश्रुतिर्नार्या मुखात्कार्य्या न पूरुषैः ।
न विवादः स्त्रिया कार्य्यो न राज्ञा नच तज्जनैः ॥ ३४ ॥

गार्ग्यादिस्त्रीमुखाद्याज्ञवल्क्यादिमहर्षिभिः कथायाः श्रुतत्वात्सहजानन्दकल्पना त्वग्राह्या ॥ ३४ ॥

कृष्णदीक्षा गुरोःप्राप्ते तुलसीमालिके गले ।
धार्ये नित्यश्चोर्ध्वपुण्ड्रो ललाटादौ द्विजातिभिः ॥ ४१ ॥

कृष्णदीक्षातुलसीमालाधारणोर्ध्वपुण्ड्रधारणमित्युक्तिः सहजानन्दस्य व्यर्थैव । कुतः । वेदयुक्तिभ्यां विरोधात्स्वल्पकण्ठीतिलकधारणे पुण्यम्भवति चेत्तर्हि कण्ठीभारधारणे सर्वमुखशरीरलेपने च महत्पुण्यम्भविष्यतीत्येवं क्रियताम् ॥ ४१ ॥ इत्यादिश्लोकाः सहजानन्दस्य मिथ्यैव वेदितव्याः ।

त्रिपुण्ड्ररुद्राक्षधृतिर्येषां स्यात्स्वकुलागता ।
तैस्तु विप्रादिभिः क्वापि न त्याज्या सा मदाश्रितैः ॥ ४६ ॥
ऐकात्म्यमेव विज्ञेयं नारायणमहेशयोः ।
उभयोर्ब्रह्मरूपेण वेदेषु प्रतिपादनात् ॥ ४७ ॥

एवञ्चेत्सहजानन्दस्य कुलस्थैः कदाचित्त्रिपुण्ड्रुद्राक्षधारणं कृतमेवासी-त्पुनस्तेन किमर्थं त्यक्तं त्याजितश्च। मदाश्रितैरिति बहुशो लिखति तद्व्यर्थमेव। कुतः। तस्याविदुषो जन्ममरणादिदोषवतो जीवस्याश्रयो निष्फलोऽतः ॥४६॥ नारायणमहेशयोरैक्यमसङ्गतं तयोर्ब्रह्मरूपेण वेदे प्रतिपादनाभावोऽतः सह-जानन्दस्य कथनं व्यर्थमेव ॥ ४७ ॥

प्रणम्य राधाकृष्णस्य लेख्यार्चां तत आदरात् ।
शक्त्या जपित्वा तन्मंत्रं कर्त्तव्यं व्यावहारिकम् ॥ ५४ ॥

राधाकृष्णौ सहजानन्देनान्यैश्च प्रत्यक्षतया नैव दृष्टौ पुनश्च तयोर्लेख्यां मूर्त्तिं कर्तुं सामर्थ्यञ्नैव भवेदतस्तत्पूजा कर्त्तव्योक्तिः सहजानन्दस्यान्यथैव वेद्या ॥५४॥

शैली वा धातुजा मूर्त्तिः शालिग्रामोऽर्च्य एव तैः ।
द्रव्यैर्यथाप्तैः कृष्णस्य जप्योऽथाष्टाक्षरो मनुः ॥ ५६ ॥

अस्माच्छ्लोकाद्विज्ञायते सहजानन्दस्यापि जड़बुद्धिरासीदिति। कुतः। वेदयुक्तिविरुद्धस्य पाषाणादिमूर्त्तिपूजनस्य विधानात्। कृष्णमन्त्रजपेन वेदोक्त-विरुद्धेन नास्तिकत्वसिद्धेश्च ॥ ५७ ॥

हरेर्विधाय नैवेद्यं भोज्यं प्रासादिकन्ततः ।
कृष्णसेवापरैः प्रीत्या भवितव्यञ्च तैः सदा ॥ ५८ ॥

हरेरप्रत्यक्षत्वात्पाषाणादिजड़मूर्त्तेर्भोजनकरणाभावात्तन्नैवेद्यकरणं व्यर्थ-मेव। इदन्तु खलुच्छलमेवास्ति। कुतः। अङ्गुष्ठदर्शनेन घण्टानादं कृत्वा स्वभोजनाभिप्रायस्य विद्यमानत्वात् ॥ ५९ ॥

आचार्येणैव दत्तं यद्यच्च तेन प्रतिष्ठितम् ।
कृष्णस्वरूपं तत्सेव्यं वन्द्यमेवेतरत्तु यत् ॥ ६२ ॥

पाषाणादिमूर्त्तिस्वरूपं यो ददाति तत्प्रतिष्ठापयति च, तत्कृष्णस्वरूपमेव न, किन्तु तत्पाषाणादिस्वरूपमेव ।

भगवन्मन्दिरं सर्वैः सायं गन्तव्यमन्वहम् ।
नामसंकीर्त्तनं कार्यं तत्रोच्चैः राधिकापतेः ॥ ६३ ॥

तच्च कदाचित्केनचिदपि न सेव्यन्नचैव वन्द्यम् । किन्तु यस्सर्वशक्तिमानजो न्यायकारी दयालुस्सर्वान्तर्यामी सर्वव्यापी निराकारो भगवान्परमात्मैव सर्वैस्सेव्यो वन्द्यश्चातोऽन्यो नैव वन्द्यस्सेव्यश्चेति निश्चयः ॥ ६२ ॥ अतएवाभगवत्पाषाणादिमूर्त्तिमन्दिरं भगवन्मन्दिरं मन्यमानस्य तच्च सायं सर्वैरन्वहं गन्तव्यमनीश्वरस्य मरणजन्मवतो राधिकापतेर्मृतस्य कृष्णस्योच्चैर्नामसंकीर्त्तनं कार्यमिति मिथ्यापदेशं प्रबुक्तस्सहजानन्दस्य वेदविद्या किञ्चिन्मात्रापि तस्य नासीदसदुपदेशाच्च सद्गतिरपि तस्य नाभूदित्यनुमीयते। अस्य मिथ्योपदेशस्य ये स्वीकारञ्चक्रुः कुर्वन्ति करिष्यन्ति च तेषामपि सद्गतिर्न भूता न भवति न भविष्यति च। किन्तु वेदसद्विद्यां तत्रोपदिष्टं न्यायं पक्षपातरहितं वैरबुद्धित्यागादिलक्षणं धर्मञ्च यथावद्ये स्वीकरिष्यन्ति सर्वशक्तिमन्न्यायकारिदयालुत्वादिलक्षणस्य निराकारपरमेश्वरस्य स्तुतिप्रार्थनोपासनाश्च यथावद्ये च करिष्यन्ति तेषामेव सद्गतिरभूद् भवति भविष्यति चेति सर्वैर्वेदितव्यम् । एवमेव अग्रस्थाः श्लोकाः प्रायोऽशुद्धास्सन्तीत्यत उपेक्ष्यन्ते ॥ ६३ ॥

एकादशीनां सर्वासां कर्तव्यं व्रतमादरात् ।
कृष्णजन्मदिनानाञ्च शिवरात्रेश्च सोत्सवम् ॥ ७६ ॥

एकादश्यादीनि व्रतानि वेदे क्वापि न विहितानि । किन्तु ब्रह्मचर्यसत्यभाषणादीन्येव व्रतानि कर्तुं विहितानि । अतएवैकादश्यादीनां व्रतानामाचरणं व्यर्थमेवेति परामर्शः ॥ ७६ ॥

सर्ववैष्णवराजश्रीवल्लभाचार्य्यनन्दनः ।
श्रीविट्ठलेशः कृतवान् यं व्रतोत्सवनिर्णयम् ॥ ८१ ॥

कार्यास्तमनुसृत्यैव सर्व एव व्रतोत्सवाः ।
सेवारीतिश्च कृष्णस्य ग्राह्या तदुदितैव हि ॥ ८२ ॥

कर्त्तव्या द्वारिकामुख्यतीर्थयात्रा यथाविधि ।
सर्वैरपि यथाशक्ति भाव्यं दीनेषु वत्सलैः ॥ ८३ ॥

विष्णुः शिवो गणपतिः पार्वती च दिवाकरः ।
एते पूज्यतया मान्या देवताः पञ्च मामकैः ॥ ८४ ॥

भूताद्युपद्रवे क्वापि वर्म नारायणात्मकम् ।
जप्यञ्च हनुमन्मन्त्रो जप्यो न क्षुद्रदैवतः ॥ ८५ ॥

सर्ववैष्णवराजश्रीवल्लभाचार्यनन्दनो विट्ठलेशः परधनहरणं धर्मनाशनं व्रतं परस्त्रीगमनादिव्यभिचारोत्सवमपि च कृतवाँस्तत्कार्यत्वेनातिदिशतः सहजानन्दस्यापि दोषापत्तिरेव मन्तव्येति ॥ ८१ ॥ द्वारिकायास्तीर्थयात्रामुपदिशतः सहजानन्दस्य भ्रान्त्यापत्तिरेव विज्ञायते । कुतः । जडे पाषाणजलादौ तीर्थोपदेशाभावात्तद्यात्राकरणोपदेशो दुःखफलक एवास्ति ॥ किञ्च ॥ अहिंसन्सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यइति छान्दोग्योपनिषदि । सतीर्थ्यस्सब्रह्मचारी चेत्यादिप्रमाणार्थव्यवहारस्य विद्यमानत्वाद्वेदेश्वरविज्ञानानामेव तीर्थसंज्ञा मन्तव्येत्युपदेशः । यैरविद्याजन्ममरणहर्षशोकादिदुःखानि तरन्ति तानि तीर्थानीति निरुक्तेश्च । शिवविष्णुगणपतिपार्वत्यादीनां देहधारिणां मृतानां वेदेषु पूजानभिधानाद्वेर्जडत्वाच्च पूजा निष्फला । परमेश्वर एक एव पूज्यस्तत्र पञ्चत्वाभावादेताः पूज्यतया मान्या इति सहजानन्दस्योपदेशोऽसंगत एवास्तीति बोध्यम् ॥ ८४ ॥ भूताद्युपद्रवनिवारणार्थं नारायणकवचपाठं हनुमन्मन्त्रजपञ्चोपदिशति सहजानन्दे भ्रान्तिरेव सिध्यति । अतस्तदुपदेशप्रमाणं व्यर्थमेव ॥ ८५ ॥

वेदाश्च व्याससूत्राणि श्रीमद्भागवताभिधम् ।
पुराणं, भारते तु श्रीविष्णोर्नामसहस्रकम् ॥ ९३ ॥

तथा श्रीभगवद्गीता नीतिश्च विदुरोदिता ।
श्रीवासुदेवमाहात्म्यं स्कान्दवैष्णवखण्डगम् ॥ ९४ ॥

(१) प्रपा० ८ । खं० १५ । कंडि० १ ॥

धर्मशास्त्रान्तर्गता च याज्ञवल्क्यऋषेःस्मृतिः ।
एतान्यऽष्टौ ममेष्टानि सच्छास्त्राणि भवन्ति हि ॥ ९५ ॥

स्वहितेच्छुभिरेतानि मच्छिष्यैः सकलैरपि ।
श्रोतव्यान्यथ पाठ्यानि कथनीयानि च द्विजैः ॥ ९६ ॥

तत्राचारव्यवहृतिनिष्कृतानाञ्च निर्णये ।
ग्राह्या मिताक्षरोपेता याज्ञवल्क्यस्य तु स्मृतिः ॥ ९७ ॥

श्रीमद्भागवतस्यैषु स्कन्धौ दशमपञ्चमौ ।
सर्वाधिकतया ज्ञेयौ कृष्णमाहात्म्यबुद्धये ॥ ९८ ॥

दशमःपञ्चमःस्कन्धो याज्ञवल्क्यस्य च स्मृतिः ।
भक्तिशास्त्रं योगशास्त्रं धर्मशास्त्रं क्रमेण मे ॥ ९९ ॥

शारीरकाणां भगवद्गीतायाश्चावगम्यताम् ।
रामानुजाचार्यकृतं भाष्यमाध्यात्मिकं मम ॥ १०० ॥

एतेषु यानि वाक्यानि श्रीकृष्णस्य वृषस्य च ।
अत्युत्कर्षपराणि स्युस्तथा भक्तिविरागयोः ॥ १०१ ॥

मंतव्यानि प्रधानानि तान्येवेतरवाक्यतः ।
धर्मेण सहिता कृष्णभक्तिः कार्येति तद्रहः ॥ १०२ ॥

वेदाश्चेत्यादयः श्लोकाः प्रायोऽशुद्धाः सन्ति। श्रीमद्भागवतादिपुराणानां भारते विष्णोः सहस्रनाम्नां भगवद्गीतायाश्च स्वीकारादन्येषान्तत्रस्थानां श्रेष्ठानामपि त्यागाद्वासुदेवमाहात्म्यस्यैव ग्रहणादन्यस्याग्रहणान्मिताक्षराटीकान्वितायां याज्ञवल्क्यस्मृतेरेव ग्रहणात्पूर्वमीमांसादिशास्त्राणां मनुस्मृतेश्चाग्रहणादविद्वत्तैव दृश्यते सहजानन्दे । सर्वेभ्यश्चैव स्कन्धेभ्योऽतीवाशुद्धस्य मिथ्याभूतधर्मकथाप्रतिपादकस्य दशमस्कन्धस्य सर्वाधिकतया स्वीकाराद्विषयासक्तो वेदनिन्दकोपि सहजानन्दोस्तीति विज्ञायते ॥ ९८ ॥ दशमस्कन्धे भक्तिशा-

स्त्रस्य लेशोपि नास्ति किन्तु व्यभिचाराद्यधर्मप्रतिपादनन्तत्रास्त्येव प्रसिद्धम् । पञ्चमस्कन्धे योगशास्त्रप्रतिपादनन्नास्ति किन्तु योगाभासप्रतिपादनन्तु तत्रास्त्येव । श्रौतसूत्रमीमांसादेर्धर्मशास्त्रस्य तिरस्कारात्पिष्टपेषणवद्दूषितायाः याज्ञवल्क्यस्मृतेः स्वीकारात्सहजानन्दस्य वेदोक्तानां कर्मोपासनाज्ञानकाण्डानां बोध एव नास्तीति विज्ञायते ॥ ९९ ॥ रामानुजकृतस्य शारीरिकसूत्रभाष्यस्यात्यशुद्धस्य स्वीकारादविवेकस्सहजानन्देऽस्त्येवेति विज्ञायते ॥ १०० ॥ श्रीकृष्णेन वेदस्यैव खल्वत्युत्कर्षो मतः नच स्ववाक्यानाम् । अतएव सहजानन्देनात्युत्कर्षपराणि तद्वाक्यानि स्युरित्युक्तत्वाद्भ्रान्त एव स मन्तव्यः ॥१०१॥ वेदवाक्यान्येव सर्वोत्कृष्टानि सन्तीति ब्रह्मादीनामिदानीन्तनान्तानां तु विदुषां सिद्धान्ते विद्यमाने वेदेभ्योपि कृष्णवाक्यान्येव प्रधानान्येवं प्रब्रुवन्सहजानन्दो लज्जामपि न प्राप्तवानिति ॥ १०२ ॥

हृदये जीववज्जीवे योन्तर्यामितया स्थितः ।
ज्ञेयः स्वतन्त्र ईशोसौ सर्वकर्मफलप्रदः ॥ १०७ ॥

स श्रीकृष्णःपरब्रह्म भगवान्पुरुषोत्तमः ।
उपास्य इष्टदेवो नः सर्वाविर्भावकारणम् ॥ १०८ ॥

स राधया युतो ज्ञेयो राधाकृष्ण इति प्रभुः ।
रुक्मिण्या रमयोपेतो लक्ष्मीनारायणः स हि ॥ १०९ ॥

ज्ञेयोऽर्जुनेन युक्तोऽसौ नरनारायणाभिधः ।
बलभद्रादियोगेन तत्तन्नामोच्यते स च ॥ ११० ॥

जीववन्न कदाचिदीशो भवति,सर्वज्ञसर्वशक्त्यनन्तनिर्विकारत्वादिस्वभावत्वात् ॥ १०७ ॥ जन्ममरणहर्षशोकाल्पशक्त्यादिवत्त्वात्कृष्णःपरब्रह्म भगवान्पुरुषोत्तमःकदाचिन्नैव संभवति । पुनः सर्वशक्तिमन्तं न्यायकारिणं दयालुं सर्वान्तर्यामिणं सच्चिदानन्दस्वरूपं निर्दोषं निराकारमजं विभुं वेदयुक्तिसिद्धं परमात्मानं विहाय जन्ममरणादिव्यवहारवन्तं जीवं कृष्णमुपास्येष्टदेवत्वेन यः सहजानन्दःकथयति स वेदपदार्थविद्याविहीन एव विज्ञेयः ॥ १०८ ॥ राधा

त्वनयाख्यगोपस्य स्त्र्यासीन्न कृष्णस्य । कृष्णस्य रुक्मिण्येव स्त्री पुनस्तस्य लक्ष्मीनारायणसंज्ञैवायोग्येति वेदितव्यम् ॥ १०९ ॥ "तत्तन्नामोच्यते सचेति" सहजानन्दस्योक्तिरन्यथैव । कुतः । सर्वज्ञज्ञानमन्तरा सहजानन्दस्येदं कथनमयुक्तञ्चातो बोध्यम् ॥ ११० ॥

तस्यैव सर्वथा भक्तिः कर्त्तव्या मनुजैर्भुवि ।
निःश्रेयसकरं किञ्चित्ततोऽन्यन्नेति दृश्यताम् ॥ ११२ ॥

कृष्णस्यापि कल्याणं जातन्नवेति विदुषां सन्देहः । स च परमेश्वरस्यैव भक्तिं कृतवानुपदिष्टवांश्च । पुनस्तस्यैव सर्वैर्मनुष्यैर्भक्तिः कार्या ततोन्यत्कल्याणकरं किंचिन्नास्त्येनेति वदन्सहजानन्दो विद्याहीन एवासीत् ॥ ११२ ॥

गुणिनां गुणवत्ताया ज्ञेयं ह्येतत्परं फलम् ।
कृष्णे भक्तिश्च तत्सङ्गोऽन्यथा यांति विदोप्यधः ॥ ११४ ॥

गुणिनां गुणवत्ताया इत्येवं छन्दोविरुद्धा अशुद्धाः श्लोकास्सन्ति बहवः शिक्षापत्र्यामतो विज्ञायते सहजानन्दस्य छन्दोविज्ञानमपि यथावन्नासीदिति । कृष्णे मृते भक्तिरेवाशक्या निष्फला वेदविरुद्धा चास्ति । विद्वांसस्तु सदैव सद्गतिं प्राप्नुवन्ति,विद्यायाःप्रकाशस्वरूपत्वात् । किंचाविद्वांस एव सहजानन्दसदृशा असद्गतिं गता इति विज्ञायते । कुतः । अविद्याया अधर्माचरणान्धकारवत्वात् ॥ ११४ ॥

निजात्मानं ब्रह्मरूपं देहत्रयविलक्षणम् ।
विभाव्य तेन कर्त्तव्या भक्तिः कृष्णस्य सर्वदा ॥ ११५ ॥

निजात्मा जीवो ब्रह्मस्वरूपश्चेद्ब्रह्मणातुल्यत्वं तस्मिन् कुतो न दृश्यते । तुल्यत्वञ्चेत्तर्हि ब्रह्मणा सकलञ्जगद्रचितञ्जीवेन नवीनञ्जगत्किञ्चिन्मात्रमपि कुतो न रच्यते । जीवब्रह्मणोरैक्यञ्चेत्तर्हि ब्रह्मैवाविद्याजन्ममरणहर्षशोकशीतोष्णसुखदुःखज्वरपीडाबन्धादिदोषयुक्तञ्जातमेवेति स्वीक्रियताम् । जीवाद्ब्रह्म भिन्नञ्चेत्प्रतिज्ञाहानिः, कृष्णोपि ब्रह्मभक्त, एवं सर्वैर्जीवैरपि ब्रह्मभक्तैरेव भवितव्य-

नैवान्यस्य कस्यचित्कृष्णादेर्जीवस्य चेति । एवं कृष्णस्य भक्तिः सर्वदा कार्येति सहजानन्दे महती दोषापत्तिरिति विज्ञातव्यम् ॥ ११५ ॥

मतं विशिष्टाद्वैतं मे गोलोको धाम चेप्सितम् ।
तत्र ब्रह्मात्मना कृष्णसेवा मुक्तिश्च गम्यताम् ॥ १२१ ॥

चक्राङ्कितवत्सहजानन्दस्य मतमस्तीति विज्ञातव्यम् । विशिष्टाद्वैतशब्दस्यैवमर्थः क्रियते । अविद्याविशिष्टो जीवो मायया विशिष्ट ईश्वरः । विशिष्टो नाम मिलितः । केचिदेकां मायामीश्वरस्यैव स्वीकुर्वन्ति। एवञ्चतुर्णां त्रयाणां वा पदार्थानां वर्तमानत्वादद्वैतमेव दुर्लभम् । द्वितीयेन विना विशिष्ट एव न भवति। विशिष्टश्च विशिष्टश्च विशिष्टौ मायाऽविद्याभ्यां युक्तौ जीवेशौ,तयोरद्वैतं विशिष्टाद्वैतम् । द्वयोरद्वैतं कदाचिन्न सम्भवति किन्तु खल्वद्वैतं केवलमेकं ब्रह्मैवास्ति । तद्यथा सजातीयं विजातीयं च द्वितीयं ब्रह्मैव नास्त्येवं स्वगतभेदोपि ब्रह्मणि नास्त्येव संयोगवियोगाभावात् । अतएव एकमेकरसमद्वितीयं ब्रह्मैवास्तीति वेदयुक्तिसंमतो ह्यद्वैतशब्दार्थो वेदितव्यः । एवं सति रामानुजसहजानन्दयोर्मतमशुद्धमेव वेदितव्यम्। गवाम्पशूनां लोको धाम मम चेति स्वीकारात्सहजानन्दे पशुप्रियत्वमेव समागच्छति स्वजातिपरत्वप्रवाहस्य विद्यमानत्वात् । गोलोक एव निवासत्वात्कृष्णसेवानिबन्धनत्वाच्च सैव मुक्तिरिति सहजानन्दादिप्रलापो मिथ्यैवेति विज्ञायताम् ॥ १२१ ॥

मया प्रतिष्ठापितानां मंदिरेषु महत्सु च ।
लक्ष्मीनारायणादीनां सेवा कार्या यथाविधि ॥ १३० ॥

सहजानन्देनान्यैर्वा प्रतिष्ठापिता विद्याधर्मविरुद्धेषु मिथ्याधनगतव्ययेषु महत्सु मन्दिरेषु पाषाणादिमूर्त्तयो लक्ष्मीनारायणादयः कदाचिन्नैवं भवन्ति, वेदानभिहितानाम्पाषाणादिमूर्त्तीनाञ्जड़त्वाल्लक्ष्मीनारायणादीनान्तदानीञ्चेतनत्वात्पाषाणादिमूर्त्तीनां यथाविधिखण्डनमेव कर्त्तव्यन्नैव च पूजनमिति।१३०।

अथैतयोस्तु भार्याभ्यामाज्ञया पत्युरात्मनः ।
कृष्णमंत्रोपदेशश्च कर्त्तव्यः स्त्रीभ्य एव हि ॥ १३३ ॥

सहजानन्देन विदितमुपदेशमन्तरा स्त्रीभ्योऽपि धनलाभ एव न भविष्यत्यत एवं कपटम्प्रसारितम्। तदपि परमात्ममन्त्रोपदेशं विहाय मृतस्य कृष्णस्य मन्त्रोपदेशश्चोक्तवानतः सहजानन्दो धनलोभ्यज्ञानी चेति विज्ञायते ॥ १३३ ॥

निजवृत्त्युद्यमप्राप्तधनधान्यादितश्च तैः ।
अर्प्यो दशांशः कृष्णाय विंशांशस्त्विह दुर्बलैः ॥ १४७ ॥

परधनहरणार्थं निजसुखार्थञ्च सहजानन्दस्य प्रसिद्धं कापट्यमेव दृश्यते। विना परिश्रमेण दशांशं विंशांशं धनं गृहीत्वा पुष्कलं संसारस्थं विषयभोगं वयं कुर्म इत्यभिप्रायस्तस्यास्तीति निश्चयः। पुनरन्यथा वदति कृष्णाय समर्प्यमिति। कृष्णस्तु मृतः, स दशांशं विंशांशञ्च धनं ग्रहीतुं नैवागच्छति कदाचिन्नैतादृशं तस्य दारिद्र्यमासीत्। तस्मात्सहजानन्दस्य महती धूर्त्तता वेदितव्या यथा गोकुलस्थानां वल्लभप्रभृतीनाञ्च। ईदृशानां धूर्त्तानां सम्प्रदायप्रभृत्यार्यावर्त्तदेशस्य महती हानिर्जाताऽतः सर्वैः सज्जनैरिदानीं दृढप्रयत्नेन सद्य इमे सर्वे सम्प्रदाया निवर्तनीया, अन्यथा स्वदेशस्य भद्रन्नैव भविष्यतीति निश्चेतव्यम् ॥ १४७ ॥

एकादशीमुखानाञ्च व्रतानां निजशक्तितः ।
उद्यापनं यथाशास्त्रं कर्तव्यं चिन्तितार्थदम् ॥ १४८ ॥

कर्त्तव्यं कारणीयं वा श्रावणे मासि सर्वदा ।
विल्वपत्रादिभिः प्रीत्या श्रीमहादेवपूजनम् ॥ १४९ ॥

इयमपि सहजानन्दस्य धूर्त्ततास्ति। यद्येकादश्यादिव्रतानि न करिष्यन्ति तर्ह्युद्यापनेन विना धनलाभः शिष्येभ्यो नैव भविष्यति, पुनश्च श्रावणे मासि महादेवपूजनमर्थात्पाषाणादिमूर्त्तिपूजनेन विनापि धनप्रतिष्ठे शिष्येभ्यो नैव लप्स्यामह एतदर्थं सहजानन्दस्य कापट्यं वेदितव्यम् ॥ १४८ ॥ ॥ १४९ ॥

देवताप्रतिमां हित्वा लेख्या काष्ठादिजापि वा ।
न योषित्प्रतिमा स्पृश्या न वीक्ष्या बुद्धिपूर्वकम् ॥ १७७ ॥

स्वमन्दिरेषु सहजानन्देन राधाया मूर्त्तिः किमर्था स्थापिता, सा स्त्री नासीत्किम् ?। पुनश्च वामे यस्य स्थिता राधा श्रीश्च यस्यास्ति वक्षसीति स्त्रीकथा सहजानन्देन किमर्था कथितोपदिष्टा च, ताश्च साध्वादिभिस्तच्छिष्यैर्बुद्धिपूर्वकं किमर्था वीक्ष्यन्ते, तासां राधादीनाञ्च कथा किमर्था क्रियते। अतएव प्रमत्त-गीतवत्प्रलापात्सहजानन्दादिषु वदतोव्याघातदोषो बहुश आगच्छतीति वेद्यम् ॥ १७७ ॥

सर्वेन्द्रियाणि जेयानि रसना तु विशेषतः ।
न द्रव्यसंग्रहःकार्यः कारणीयो न केनचित् ॥ १८८ ॥

न्यासो रक्ष्यो न कस्यापि धैर्यं त्याज्यञ्च कर्हिचित् ।
न प्रवेशयितव्या च स्ववासे स्त्री कदाचन ॥ १९० ॥

साधुभिरेवेन्द्रियजयादिकं कर्तव्यमित्युपादिश्यते भवता तर्हि भवानसाधुर-स्ति किम् ? गृहस्थेन जितेन्द्रियादिकं नैव कर्त्तव्यं किम् ? ॥ १९९ ॥ कस्य-चिन्न्यासस्थापनन्नैव रक्षणीयश्चेद्विद्याधर्मेश्वरप्रार्थनास्तुत्युपासना नैव स्थाप्याः किम् ? । वेदयुक्तिधर्मविरुद्धस्य स्वसम्प्रदायस्य स्थापनं किमर्थं क्रियते सहजा-नन्देन च किमर्थं कृतम् ? । किन्त्वीदृशस्य पाखण्डस्य खण्डनमेव सर्वैः कर्त्तव्यं, सद्धर्ममण्डनञ्चेति ॥ १९० ॥

इति संक्षेपतो धर्माः सर्वेषां लिखिता मया ।
साम्प्रदायिकग्रन्थेभ्यो ज्ञेय एषान्तु विस्तरः ॥ २०३ ॥

सच्छास्त्राणां समुद्धृत्य सर्वेषां सारमात्मना ।
पत्रीयं लिखिता नृणामभीष्टफलदायिनी ॥ २०४ ॥

इति संक्षेपत इति ॥ धर्मस्य तु लेशमात्रमपि प्रतिपादनं नैवात्र कृतम्। किन्तु स्वकपोलकल्पनेन स्वभ्रान्तिः प्रकाशिता दृश्यते। वेदादिषु धर्मो यथावल्लिखितोऽस्ति, तज्ज्ञानमेव सहजानन्दस्य नास्ति, लिखितस्य धर्मस्य पुन-र्लेखनं व्यर्थमेव पिष्टपेषणवद्दोषात्। सर्वेषां मनुष्याणां सनातनः साम्प्रदा-

यिको ग्रन्थो वेद एवास्ति। पुनः शिक्षापत्र्यादिग्रन्थरचनं व्यर्थमेव विज्ञेयम्। विस्तर इत्यशुद्धं किन्त्वत्र विस्तार इति भवितव्यम्। प्रथने वाव शब्द इति व्याकरणनियमात्। कथनश्रवणोपाधावेव विस्तर इति भवितव्यमन्यत्रेति निश्चयः॥ २०३॥ सहजानन्दस्य सच्छास्त्राणाम्बोधोऽध्ययनञ्चापि नासीदिति विज्ञायते। वेदविरुद्धपाषाणादिमूर्त्तिपूजनङ्कण्ठीतिलकधारणञ्चेत्यादिमिथ्याप्रतिपादनात् असारभूतेयम्पत्री लिखितेति विज्ञायते। अभीष्टफलदायिनीति प्रलोभनमात्रम्। सर्वेषामभीष्टं सुखमेव भवति न च दुःखं, तत्तु शिक्षापत्रीपाठादिना सर्वदा सुखङ्कर्त्तुमनुभवविरुद्धमेव। इदङ्कथनेन सहजानन्दे लोभादयो दोषा विज्ञायन्ते। प्रलोभनेन विना सम्प्रदायस्य वृद्धिर्न भवति, तद्वृद्ध्या विना प्रतिष्ठा धनप्राप्तिश्च न भवति, पुनर्यथेष्टं विषयसुखं न लभ्यते हीति सहजानन्दस्य बुद्धौ कपटमासीदिति विज्ञेयम्॥ २०४॥

> वर्त्तिष्यन्ते य इत्थं हि पुरुषा योषितस्तथा।
> ते धर्मादिचतुर्वर्गसिद्धिं प्राप्स्यन्ति निश्चितम्॥ २०६॥

पाषाणादिमूर्त्तिपूजनादिपाखण्डेन सह ये पुरुषाः स्त्रियश्च वर्त्तिष्यन्ते ते धर्मार्थकाममोक्षसिद्धिन्तु न प्राप्स्यन्ति किन्त्वधर्मानर्थकुकामदृढबन्धासिद्धिमेव प्राप्स्यन्तीति निश्चयः॥ २०६॥

> नेत्थं य आचरिष्यन्ति ते त्वस्मत्संप्रदायतः।
> बहिर्भूता इति ज्ञेयं स्त्रीपुंसैः सांप्रदायिकैः॥ २०७॥

पाषाणादिमूर्त्तिपूजनङ्कण्ठीतिलकादिपाखण्डचिह्नधारणङ्कदाचित्केनचिदपि नैव कर्त्तव्यमितीत्थं ये वर्त्तन्ते ते धर्मार्थकाममोक्षाणां सिद्धिं प्राप्नुवन्त्येव। वेदादिसत्यशास्त्रोक्तं सनातनं सत्यम्पक्षपातरहितं न्याय्यं धर्मं हित्वा शिक्षादिकपोलकल्पितान्पक्षपातपिष्टपेषणदोषवद्दूषितान्सहजानन्दादिरचितान्वेदपठनमार्गविरोधिनो ग्रन्थान्ये स्वीचक्रुः कुर्वन्ति करिष्यन्ति च तानेव नास्तिकत्वदोषयुक्तान्सत्यधर्मबहिर्भूताञ्छिष्टा विजानीयुरिति सिद्धम्॥ २०७॥

शिक्षापत्र्याः प्रतिदिनं पाठोऽस्या मदुपाश्रितैः ।
कर्त्तव्यो नक्षरज्ञैस्तु श्रवणं कार्य्यमादरात् ॥ २०६ ॥

वक्रमावे तु पूजैव कार्यास्याः प्रतिवासरम् ।
मद्रूपमिति मद्वाणी मान्येयं परमादरात् ॥ २०८ ॥

युक्ताय सम्पदा दैव्या दातव्येयन्तु पत्रिका ।
असुर्यासम्पदाढ्याय पुंसे देया न कर्हिचित् ॥ २१० ॥

वेदानां पठनं श्रवणञ्च विहाय शिक्षापत्र्यादीनां सहजानन्दादिकपोलकल्पितानां ग्रन्थानां पठनश्रवणे व्यर्थे एवेति वेदितव्यम् ॥ २०८ ॥ ईदृशस्य जडस्य व्यर्थपुस्तकस्य पूजाकरणोपदेशोऽयुक्त एव । वाणी जीवस्य रूपमेव न भवति कदाचित्पुनः परमादरान्मान्यातु न, किन्तु परमप्रयत्नात्खण्डनीयाऽशुद्धत्वादिति । एतत्कथनं सहजानन्दस्याज्ञानिनो बालान्भ्रामयित्वा कपटेन धनादिकन्तेभ्यो हर्त्तव्यमित्यभिप्रायः ॥ २०८ ॥ यो दैव्या सम्पदा युक्तो जनस्त्विमां शिक्षापत्रीं कदाचिन्नैव ग्रहीष्यति तस्मिन्विद्याप्रकाशस्य विद्यमानत्वात् । यस्त्वविद्याद्यसुरसम्पद्युक्त एतां स्वीकरोति तस्मिन्सम्प्रदाहशब्दवाच्यस्य सम्प्रदायाग्रहान्धकारस्य विद्यमानत्वात् । सम्यक्प्रकृष्टतया दग्धज्ञाना भवन्ति यस्मिन् सोयं सम्प्रदाहः, इदानीन्तनाः सम्प्रदाया वेदविरुद्धास्सर्वे सम्प्रदाहशब्दवाच्या एव वेदितव्या इति परामर्शः ॥ २१० ॥ मरणसमये स्वशिष्याणां हस्तं गृहीत्वा विमानस्योपरि स्थापयित्वा वैकुण्ठं नयति सहजानन्दः परमसुखञ्च ददातीति मिथ्याप्रलापः सहजानन्दशिष्यादिमुखाच्छ्रूयते स सत्यो वा मिथ्या ?। मिथ्यैवेति निश्चयः। कथं यो मृतः स आगन्तुम्पूर्वदेहकार्यं कर्त्तुञ्च नैव समर्थो भवति । यदि समर्थः स्यात्तर्हि तत्सम्प्रदायस्थैश्छलादिव्यवहारेण धनादिपदार्थाः पुष्कलास्स्वाधीनीकृतास्तद्भोगं कर्तुमप्यवश्यमागच्छेद्भोगार्थञ्च न चैवागच्छति । किमतो विज्ञायते ? । छिन्ननासिकसम्प्रदायवदज्ञानिजनमोहार्थं तादृशं कथनं ते कुर्वन्ति, नैतत्सज्जनैर्मन्तव्यमिति । स्वशिष्या लोहादिभिश्चक्रादीनाञ्चिह्नानि

रचयित्वाऽग्नौ प्रतप्य बाहूमूले च सजीवान्देहान्दग्धयन्ति सहजानन्दसम्प्रदायादिस्था अहो महत्पापमिति वेद्यम् । केचितु बकवृत्तिवत्साधवो जातास्ते स्त्रीदर्शनादिकं न कुर्वन्ति धातुस्पर्शश्च । तदाचार्य्यो गृहस्थोस्ति च, स प्रलोभनाद्यनेकमन्दिरादिमिथ्याव्यवहारैर्धनादिकं हरति, ते च साधवो हारयन्ति, द्वौ विवाहावप्येक कृतवानीदृगन्यथाव्यवहारो यस्मिन्सम्प्रदाये वर्त्तते तास्मिन् सम्प्रदाये कल्याणस्य प्रत्याशा केनापि नैव कर्त्तव्येति सज्जनैर्वेदितव्यम् । इति सहजानन्दसम्प्रदायस्य दोषदर्शनं दिङ्मात्रमिह वर्णितमधिकञ्च स्वबुद्धयोहनीयमिति ।

"सर्वात्मा सच्चिदानन्दोऽजोऽनन्तस्सर्वशक्तिमान् ।
भूयात्तमां सहायो नो न्यायकारी शुचिः प्रभुः ॥ १ ॥

भूमिरामाङ्कचन्द्रेऽब्दे सहस्यस्याऽसिते दले ।
एकादश्यामर्कवारे ग्रन्थोऽयम्पूर्त्तिमागमत्" ॥ २ ॥

स्वामीनारायणमतखण्डन

(गुजराती का भाषानुवाद)

सहजानन्दादि मतों के प्रति प्रश्न और उन मतों का खण्डन

प्रश्न—सहजानन्द नामक पुरुष कौन है ?

उत्तर—सहजानन्द नारायण का अवतार और स्वामिनारायण नामक पन्थ का आचार्य्य है ।

प्रश्न—नारायण कौन है ?

उत्तर—गोलोक और वैकुण्ठ में रहनेवाला चतुर्भुज द्विभुज और लक्ष्मीपति ईश्वर है ।

प्रश्न—वह अब भी (अभी) है कि नहीं ?

उत्तर—ईश्वर नित्य है इससे वह अब भी है ।

ऐसा होना अशक्य है, क्योंकि वेद में कहा है कि:—

"ईश्वर सर्वव्यापक, वीर्य्यरूप, शरीर छिद्र और नाड़ी से रहित, शुद्ध और पापरहित है" ।

सर्वान्तर्यामी और सर्वव्यापक ईश्वर का जन्म मरण और देहधारण है ही नहीं । जिसके जन्म मरण और शरीर धारण हो उसको ईश्वर कभी कह ही नहीं सकते । फिर आज कल के सहजानन्द से तो क्या कहना है ? । प्रथम तो मुरदा के वास्ते आचार्य का नाम बिलकुल नहीं घटता, क्योंकि सहजानन्द

मर गया और इसी से वह अभ्यास कराने को असमर्थ है। ब्राह्मण भाग में कहा है कि:—

"अपना गुरु जो कि वेद पढ़ा हुआ और केवल ईश्वर की ही भक्ति करता हो उसके पास शिष्य को अपने हाथ में समिध् नामक लकड़ियों को लेकर जाना चाहिये"। और वहीं मनु भी साक्षी देता है कि:—

"जो ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य गुरु, अपने शिष्य को, यज्ञोपवीत आदि धर्म्मक्रिया कराने के बाद, वेद को अर्थ और कल्पसहित पढ़ावे तो ही उसको आचार्य कहना चाहिये"।

सहजानन्द की बनाई हुई शिक्षापत्री से सिद्ध होता है कि सहजानन्द ने उस पुस्तक में बहुत कुछ पाखण्ड वर्णन किया है। सहजानन्द की शिक्षापत्री के प्रथम श्लोक का अर्थ निम्नलिखित है:—

"श्रीकृष्ण जिनकी बाईं ओर राधाजी खड़ी हैं और जिनकी छाती पर लक्ष्मीजी बैठी हैं, और जो वृन्दावन में क्रीड़ा करते हैं, उनका मैं हृदय में ध्यान धरता हूं" ॥ १ ॥

राधा, वाम और दक्षिण पश्चिम आसपास और ऊपर नीचे कहां खड़ी है सो प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द द्वारा किसी को भी निश्चय होता नहीं। इसलिये सहजानन्द ने जो कल्पना करी सो व्यर्थ है। जब कि छाती के ऊपर लक्ष्मी बैठी है तो कृष्ण के मुख में दरिद्रा बैठी है ऐसा मानना पड़ेगा। महाभारत में कहा है कि "कृष्ण द्वारिका की पड़ोस में मर गये"। अब कौन जाने कि कृष्ण का जीव इस समय कहां है। कृष्ण तो वृन्दावन में क्रीड़ा करते हुए किसी को नहीं दीख पड़ते, किन्तु वृन्दावन में बहुपाखण्डरूप पाषाणादि की मूर्त्तियां दीखती हैं। निराकार, जन्ममरणरहित ईश्वर को छोड़ के कृष्ण का मैं हृदय में ध्यान धरता हूं ऐसा कहना मिथ्या है।

"मुकुन्दानन्द आदि नैष्ठिक ब्रह्मचारी और भट्ट मयाराम आदि गृहस्थ मेरे आश्रित हैं" ॥ ४ ॥

मुकुन्दानन्द आदिकों ने वेद और ईश्वर पर अवस्था रक्खी नहीं इससे उनका नैष्ठिक ब्रह्मचारी नाम घटता ही नहीं है। इसी प्रकार से इनके बहुतसे आगे के श्लोक भी भ्रष्ट और अशुद्ध हैं।

"रास्ता चलते हुए शिवालय आदि जो देवमन्दिर आवे उनको नमना और प्रेम से उनका दर्शन करना चाहिये" ॥ १३ ॥

पाषाण आदि मूर्त्ति के घर को देवालय नाम दिया इस से और उनका दर्शन करना इस प्रकार अनर्थ वचन कहने से मालूम पड़ता है कि सहजानन्द पदार्थविद्या बिलकुल नहीं जानता था।

"अपने वर्ण आश्रम का जो धर्म उसका कोई पुरुष त्याग न करे, उसी प्रकार पाखण्डकल्पित परधर्म का आचरण भी नहीं करना चाहिये" ॥ १४ ॥

प्रथम सहजानन्द ने वेदोक्त अपने वर्णाश्रम का त्याग किसलिये किया ?। जो कहो कि त्याग नहीं किया तो वेदविरुद्ध मूर्तिपूजन, कण्ठीतिलकधारणादि पाखण्डों का आचरण क्यों किया कराया ?। यह तो ऊपर से सिद्ध होता है कि सहजानन्द ने अपने पैर में अपने आप ही कुठार मारा है, यहांतक कि अपने कथन को अपने आप ही धो डाला है।

"जिसके कहने से कृष्णभक्ति में भंग पड़े उस पुरुष के मुख से कभी भगवान् की कथा वार्ता सुननी नहीं चाहिये" ॥ १५ ॥

केवल कृष्ण की ही भक्ति करने में अपना धर्म रहता है इस प्रकार सहजानन्द का कहना व्यर्थ है, क्योंकि वेद में जहां वर्णाश्रम प्रतिपादन प्रकरण चला है वहां पर कृष्ण की भक्ति करनी यही स्वधर्म है ऐसा नहीं कहा।

यह ऊपर से समझना चाहिये कि सहजानन्द और उस के सम्प्रदाय वालों के मुख से कभी किसी को कथावार्ता नहीं सुननी चाहिये, कृष्ण को (मुरदा को) प्रभु नाम देना ही नहीं बन सकता, क्योंकि इनके जन्म मरण आदि दोष हुए हैं।

"स्त्री से श्रति अथवा ज्ञानवार्ता मनुष्यों को सुननी नहीं चाहिये, इसी प्रकार स्त्री, राजा और राजपुरुषों के साथ वाद विवाद नहीं करना चाहिये" ॥३४॥

याज्ञवल्क्यादि महान् ऋषियों ने गार्गी आदि स्त्रियों के साथ धर्म विषय पर विचार किया था इससे सहजानन्द की कल्पना मान्य करने के योग्य नहीं।

"कृष्णदीक्षा की प्राप्ति के लिये तुलसी की बनी हुई माला पहरनी और ललाट आदि भागों पर ऊर्ध्वत्रिपुण्ड्र करना चाहिये" ॥ ४१ ॥

कृष्णदीक्षा, तुलसीमालाधारण और ऊर्ध्वत्रिपुण्ड्र आदि जो कहा सो सहजानन्द का कहना मिथ्या है, क्योंकि ऐसा करना वेदविरुद्ध और युक्तिरहित है। जो थोड़ासा तिलक धारण करने से पुण्य होता है तो कण्ठी का भार बांधने से और समस्त मुख तथा शरीर लीप देने से अत्यन्त पुण्य होता है ऐसा मानना पड़ेगा। और जो ऐसा मानता हो तो यह काम जल्दी करो। सहजानन्द के ऐसे २ कितने ही श्लोक भ्रष्ट हैं।

"वंशपरम्परा से जो ब्राह्मण रुद्राक्ष धारण करता हो तो उसको मेरा आश्रित होने पर उसका त्याग नहीं करना चाहिये। नारायण और केशव की एकात्मता (अभिन्नता) ही है, क्योंकि वेद में इन दोनों को ब्रह्मरूप गिना है" ॥४७॥

त्रिपुण्ड्र, रुद्राक्ष का धारण करना, ऐसा जो सहजानन्द ने माना सो प्रथम सहजानन्द ने अपनी ही रुद्राक्ष किसलिये त्यागी और अपने सम्प्रदाय वालों की किसलिये छुड़ाई ? । "मेरे आश्रितों को" ऐसा वचन सहजानन्द ने बार २ लिखा है सो मिथ्या है, क्योंकि जिसको जन्म मरणादि दोष प्राप्त हुए ऐसे अविद्वान् जीव का आश्रय निष्फल है। नारायण और शिव दोनों एक ही हैं ऐसा सहजानन्द ने ऊपर कहा है सो मिथ्या है, क्योंकि वेद में शिव और नारायण को ब्रह्मरूप माना नहीं।

"इस प्रकार करने के बाद राधाकृष्ण की छवि अथवा मूर्त्ति का प्रेम से

दर्शन करके यथाशक्ति उनका मन्त्र जप करना। उसके पीछे संसार का व्यवहार चलाना चाहिये" ॥ ५४ ॥

राधाकृष्ण को सहजानन्द ने या दूसरे किसी ने प्रत्यक्ष देखा नहीं फिर उनकी छवि अथवा मूर्त्ति कैसे हो ? । यह ऊपर से सिद्ध होता है कि सहजानन्द जो कुछ कहता है वह बिलकुल असत्य है।

'पाषाण अथवा धातु आदि की बनाई हुई मूर्त्ति की यथाशक्ति फल फूल आदि पदार्थों से पूजा करनी और पीछे कृष्ण का अष्टाक्षर मन्त्र जपना"॥५६॥

इस श्लोक से सिद्ध होता है कि सहजानन्द की बुद्धि जड़ थी, क्योंकि वेदविरुद्ध पाषाणादि मूर्त्तिपूजन का इसने प्रतिपादन किया है। वेदविरुद्ध कृष्ण-मन्त्र जपने से सहजानन्द को नास्तिक नाम दिया जा सकता है।

"हरि को नैवेद्य दिये पीछे बाक़ी बची प्रसादी आप खानी चाहिये और कृष्णसेवा में जिस प्रकार बन सके उसी प्रकार तत्पर रहना" ॥ ५८ ॥

हरि प्रत्यक्ष दीखता नहीं और मूर्त्तियों में भोजन करने की शक्ति नहीं, इस कारण स मूर्त्ति को नैवेद्य धरना व्यर्थ है। यह बिलकुल छल कपट है, क्योंकि जब ऐसा होता है तभी अपने अंगूठे के दर्शन और टन् टन् पुं पुं करके भोजन करने में थोड़ा श्रम होता है।

"अपने आचार्य ने जो कृष्णरूप दिया हो और जिस में प्राणप्रतिष्ठा करदी हो उस हा की सिर्फ सेवा करनी और की सेवा नहीं करनी। हर रोज शाम को भगवत्-मन्दिर म जाना और वहां राधापति कृष्ण का ऊंची आवाज से कीर्त्तन करना" ॥ ६२—६३ ॥

पाषाण आदि मूर्त्तिस्वरूप, जिसकी प्रतिष्ठा होती है, वह कृष्णस्वरूप नहीं हो सकता। क्योंकि यह तो केवल पत्थर ही है। ऐसा पत्थर किसी को भी कभी सेवनीय नहीं। इसी प्रकार उसको नमना भी नहीं। जो सर्वशक्तिमान्,

अवताररहित, न्यायकारी, दयालु, सर्वान्तर्य्यामी, सर्वव्यापक, निराकार और श्रेष्ठ परमात्मा है उसकी सब मनुष्यों को पूजा करनी और उसी को नमना चाहिये । शाम को सब मनुष्यों को भगवद्‌मन्दिर में जाकर पाषाणादि मूर्त्तियों की और जिसका जन्ममरण हुआ ऐसे राधापति कृष्णनामक मुर्दा की पूजा करनी और उसका ऊंची आवाज से कीर्त्तन करना ऐसा जो ऊपर कहा सो सब मिथ्या उपदेश है । यह ऊपर से जान पड़ता है कि सहजानन्द कुत्ते की तरह भौंका है । वह वेदविद्या बिलकुल नहीं जानता था । असत्य उपदेश से सहजानन्द की सद्‌गति भी नहीं हुई होगी ऐसा अनुमान किया जासकता है । इस मिथ्या उपदेश को जो स्वीकार करता और जो दूसरों को कराता है उसकी सद्‌गति न तो हुई और न होती है और न होगी भी । जो मनुष्य वेदादि सद्विद्या, पक्षपातरहितन्याय और वैरबुद्धित्यागादि स्वरूप धर्म का बोध करता है उसको और जो मनुष्य यथावत् ऐसे बोध को स्वीकार करता और न्यायकारी, दयालु, निराकार परमेश्वर की प्रार्थना, उपासना तथा स्तुति बराबर करेगा केवल उसी को सद्गति प्राप्त होगी । इसी प्रकार आगे के श्लोक अशुद्ध हैं ।

"एकादशी आदि सम्पूर्ण व्रतों का रखना और कृष्ण के जन्म दिवस और शिवरात्री को बड़ा उत्सव करना चाहिये" ॥ ७९ ॥

एकादशी आदि व्रत वेद में कहीं लिखे नहीं, किन्तु वेद में तो ब्रह्मचर्य्य, सत्यभाषण आदि व्रत करना लिखा है । अतः सिद्ध हुआ कि एकादशी आदि व्रतों का रखना व्यर्थ है ।

"सम्पूर्ण वैष्णवों के अधिपति जो वल्लभाचार्य्य, उनके पुत्र विट्ठल ने जो २ उत्सव निर्माण किये हैं उन सब उत्सवों को विट्ठल के अनुसार करना चाहिये । जिस प्रकार से विट्ठल ने कृष्ण की सेवा करी है उसी प्रकार ग्रहण करनी । द्वारिका आदि मुख्य यात्रायें शक्तिपूर्वक यथाविधि करनी और कंगाल मनुष्यों पर दया रखनी । मेरे आश्रितों को विष्णु, शिव, गणपति, पार्वती और सूर्य इन पांच देवताओं को पूज्य मानना चाहिये । भूत प्रेतादि उपद्रव करें तो नारा-

यण-कवच अथवा हनुमान-मन्त्र का जप करना। परन्तु किसी क्षुद्र देव का जप करना नहीं॥ ८१, ८२, ८३, ८४, ८५"॥

सर्ववैष्णवराज श्री वल्लभाचार्य के पुत्र विट्ठल ने परधन-हरण, धर्मनाश, परस्त्रीगमनादि व्यभिचारों को स्वतः करके उपदेश किया है। इस प्रकार कर्म करनेवाले पुरुष के मत विषय में सहजानन्द ने अपनी सम्मति देकर उपदेश किया है। इससे सहजानन्द भी दुष्ट था यह सिद्ध हुआ। द्वारिका आदि तीर्थयात्रायें करनी, ऐसा जो सहजानन्द ने उपदेश किया वह केवल भ्रान्ति से ही किया है यह निश्चय कर जानना। जड़, पत्थर, पानी आदि पदार्थों में तीर्थोपदेश का सम्भव दीखता नहीं। इसलिये यह उपदेश अत्यन्त दुःखदायक है। छान्दोग्य उपनिषद् में तीर्थ शब्द का अर्थ वेद अथवा ईश्वर का ज्ञान होता है। जिससे अविद्या, जन्ममरण, हर्षशोकादि दुःखों से तरे उसी का नाम तीर्थ होता है। शिव, विष्णु, गणपति, पार्वती आदि देहधारी मुर्दाओं की पूजा और सूर्य स्वतः जड़ है इससे उनकी पूजा विषय में वेद में कहा नहीं। इसलिये एक परब्रह्म की पूजा करनी चाहिये और इन पांचों की पूजा करनी यह जो सहजानन्द ने कहा है वह मिथ्या है। भूत प्रेतों के निवारण के लिये नारायण कवच अथवा हनुमान मन्त्र का जप करना ऐसा उपदेश करने से मालूम पड़ता है कि सहजानन्द को भ्रम उत्पन्न हुआ होगा।

"वेद, व्याससूत्र, भागवत भारत में कहा हुआ विष्णुसहस्रनाम, भगवद्गीता, विदुरनीति, स्कन्धपुराण और वैष्णवखण्ड में कहा हुआ वासुदेव माहात्म्य और याज्ञवल्क्यस्मृति आठ सच्छास्त्रों का प्रमाण मुझे इष्ट है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य जो अपने कल्याण के इच्छुक और मेरे शिष्य हैं उनको इन शास्त्रों का सुनना और पाठ करना और कराना चाहिये। इन आठ शास्त्रों में आचार, व्यवहार और प्रायश्चित्त के निर्णय के लिये याज्ञवल्क्य स्मृति की मिताक्षरा नामक टीका का भी मैं ग्रहण करता हूं। भागवत के पांचवें और दशमस्कन्ध में कृष्णलीला लिखी है इससे वे दो स्कन्ध अवश्य जानना। भागवत के दशमस्कन्ध में भक्तिशास्त्र, पांचवें में योगशास्त्र और याज्ञवल्क्यस्मृति में हमारा

धर्मशास्त्र वर्णन किया है। शारीरिक और भगवद्गीता का भाष्य जो रामानुज आचार्य ने बनाया है वह हमारा अध्यात्मशास्त्र है। इन शास्त्रों के जिन २ वाक्यों में कृष्ण, धर्म, भक्ति और वैराग्य का वर्णन किया होय उन वाक्यों को दूसरे वाक्यों की अपेक्षा श्रेष्ठ मानना और कृष्णभक्ति धर्म के साथ ही रखनी चाहिये" ॥ ९२, ९३, ९४, ९५, ९६, ९७, ९८, ९९, १००, १०१, १०२ ॥

ऊपर के सब श्लोक अशुद्ध हैं। भागवत आदि पुराण और भारत में विष्णुसहस्रनाम, भगवद्गीता आदि का ही केवल स्वीकार, दूसरे ग्रन्थों का त्याग, याज्ञवल्क्यस्मृति की मिताक्षरा टीका का ग्रहण, पूर्वमीमांसा तथा मनुस्मृति का त्याग करने से और वासुदेव के माहात्म्य गिनने से सिद्ध होता है कि सहजानन्द अविद्वान् था। सहजानन्द भागवत के भ्रष्ट, मिथ्याभूतप्रेतधर्म्मकथाप्रतिपादक दशमस्कन्ध को सर्वशास्त्रों की अपेक्षा श्रेष्ठ मानता है, अतएव जान पड़ता है कि सहजानन्द वेदनिन्दक (नास्तिक) था। दशमस्कन्ध में भक्ति लेशमात्र नहीं है, किन्तु व्यभिचार आदि अधर्म का प्रतिपादन प्रसिद्ध है। पांचवें स्कन्ध में योगशास्त्र का प्रतिपादन तो किया नहीं किन्तु योगाभास का प्रतिपादन किया है। श्रौतसूत्र और मीमांसा आदि धर्मशास्त्रों का तिरस्कार करने से और दले हुए पदार्थ को फिर से दलने के समान याज्ञवल्क्य स्मृति का स्वीकार करने से ऐसा मालूम पड़ता है कि सहजानन्द वेद के कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड विषय में कुछ नहीं जानता था। शारीरिक सूत्र का रामानुज से किया हुआ अति अशुद्ध भाष्य का प्रमाण मानने से सहजानन्द अविवेकी था यह सिद्ध होता है। श्रीकृष्ण ने खुद ही वेदवाक्यों को सर्वोत्कृष्ट माना है फिर सहजानन्द ने ऊपर जो दशमस्कन्ध आदि को श्रेष्ठ गिना है सो सहजानन्द को भ्रम हुआ होगा ऐसा जान पड़ता है। वेदवाक्य सर्वोत्तम हैं यह ब्रह्मादि विद्वानों का सिद्धान्त है, परन्तु सहजानन्द भौंकता है कि कृष्ण के वाक्य वेद की अपेक्षा श्रेष्ठ हैं। यह सहजानन्द का शरमा के डूब मरना जैसा है।

"जिस प्रकार हृदय में जीव रहता है उसी प्रकार ईश्वर अन्तर्यामीपने से

जीव में रहता है, वह स्वतन्त्र और सब को उन २ के कर्मों का फलदाता है। वह पूर्ण पुरुषोत्तम परब्रह्म श्रीकृष्ण भगवान् उपासना करने योग्य, इष्टदेव, सर्व पदार्थों के आविर्भाव का कारण (प्रसिद्धकर्ता) है। जब वह राधा के साथ हो तब वह राधाकृष्ण, रुक्मिणी के साथ हो तब लक्ष्मीनारायण, अर्जुन के साथ हो तब नरनारायण और जब बलभद्रादिकों से युक्त हो तब उसको वैसा २ नाम देना चाहिये" ॥ १०७, १०८, १०९, ११० ॥

जीव के सदृश कभी ईश्वर बनता नहीं, क्योंकि सर्वशक्ति, सर्वज्ञता, निर्विकार आदि गुणयुक्तस्वभाव ईश्वर का ही है। जन्म, मरण, हर्ष, शोक आदि गुणयुक्त कृष्ण को परब्रह्म भगवान् पूर्ण पुरुषोत्तम आदि नाम देना बिलकुल सम्भव नहीं है। एक सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, सर्वान्तर्यामी, सच्चिदानन्दस्वरूप, निर्दोषी, निराकार, अवताररहित और वेदयुक्तिसिद्ध परमात्मा को छोड़ के जन्ममरणयुक्त कृष्ण की उपासना करनी यह जो सहजानन्द ने कहा है इससे मालूम पड़ता है कि सहजानन्द को पदार्थज्ञान बिलकुल नहीं था। राधा तो अनय नामक ग्वाले की स्त्री थी, कृष्ण का उससे कोई सम्बन्ध नहीं था, कृष्ण की स्त्री का नाम रुक्मिणी था, इससे उसको लक्ष्मीनारायण नाम देना अयोग्य है। इस प्रकार कथन कर सहजानन्द ने अपनी मूर्खता बतलाई है क्योंकि सर्वज्ञता के विना सहजानन्द का कथन युक्तिरहित दिखाई पड़ता है।

"उन्हीं की ही (सिर्फ कृष्ण की ही) सब मनुष्यों को भक्ति करनी चाहिये, इनकी भक्ति करने के विना सुख का दूसरा साधन कुछ भी नहीं है" ॥ १११ ॥

कृष्ण का खुद का ही कल्याण हुआ कि नहीं इस विषय में विद्वानों को संशय उत्पन्न होता है। कृष्ण ने स्वयं ही एक ईश्वर की भक्ति की है और वैसा ही करने का उपदेश किया है। फिर सहजानन्द ने जो ऊपर कहा है कि सब मनुष्यों को केवल कृष्ण की ही भक्ति करनी चाहिये, इनकी भक्ति करने के विना सुख का दूसरा साधन कुछ भी नहीं है। यह कहकर उसने अपनी अविद्या बताई है।

"गुणवान् पुरुषों को विद्यादि गुणों का उत्तम फल तो यही है कि कृष्ण की भक्ति और सत्सङ्ग करना। उसको छोड़ के जो कोई दूसरा कुछ करेगा वह विद्वान् होकर भी अधोगति अर्थात् नरक पावेगा" ॥ ११४ ॥

इस श्लोक में छन्दोभङ्ग दोष होने से मालूम पड़ता है कि सहजानन्द को छान्दोज्ञान विषय में कुछ भी समझ नहीं थी। कृष्ण मर गया, इसलिये अब उस की भक्ति करनी अयोग्य और निष्फल है। विद्वान् लोग अपनी विद्या के प्रकाश से सर्वदा सद्गति पाते हैं, किन्तु अविद्या, अधर्माचरण और अज्ञान से सहजानन्द जैसे अविद्वान् पुरुषों को असद्गति प्राप्त होती है ऐसा दीख पड़ता है।

"तीन प्रकार के शरीरों से जो विलक्षण जीव उस में ब्रह्मरूप की भावना करके श्रीकृष्ण की ही भक्ति सर्वदा करनी" ॥ ११५ ॥

जो जीव ब्रह्मरूप हो तो ब्रह्म की तुल्यता जीव में क्यों नहीं दीखती ?। जो जीव ब्रह्मतुल्य हो तो जिस प्रकार ब्रह्म ने यह सब जगत् रचा इसी प्रकार जीव थोड़ासा ही नवीन जगत् क्योंकर नहीं रच लेता ?। जो जीव ब्रह्म एक हो तो अविद्या, जन्ममरण, हर्षशोक, ठंढीताप, सुखदुःख, तापपीड़ा और बन्ध आदि दोष ब्रह्म में मानने पड़ेंगे। जो जीव से ब्रह्म भिन्न हो तो सहजानन्द का कहना व्यर्थ हुआ। कृष्ण स्वयं ही ब्रह्मभक्त थे। इसलिये सब जीवों को एक ब्रह्म की भक्ति करनी और कृष्णादि जीवों की भक्ति करनी ही नहीं चाहिये। एक कृष्ण की ही भक्ति करनी यह जो सहजानन्द ने ऊपर कहा उस से सिद्ध होता है कि इस प्रकार कहने में इसने महान् पाप किया है।

"मेरा मत विशिष्टाद्वैत और मेरा प्रिय स्थान गोलोक है वहां ब्रह्मरूप कृष्ण की सेवा करनी यह मेरी मुक्ति जाननी" ॥ १२१ ॥

सहजानन्द का मत चक्रांकित के समान है ऐसा दीख पड़ता है। विशिष्टाद्वैत शब्द का अर्थ सब मनुष्य इस प्रकार करते हैं कि:—

अविद्यायुक्त जीव और मायायुक्त ईश्वर है। कुछ मनुष्य ईश्वर की माया एक मानते हैं। इस प्रकार तीन चार पदार्थों से अद्वैत सिद्ध नहीं होता।

दूसरे पदार्थ के विना विशिष्ट शब्द बन हा नहीं सकता। दो पदार्थ अद्वैत नहीं हो सकते। किन्तु ब्रह्म ता अवश्य अद्वैत है। सजातीय विजातीय दूसरा ब्रह्म है ही नहीं। इसलिये यह भेद ब्रह्म में संयोग के विना सिद्ध नहीं हो सकता। वेद और युक्तिसिद्ध एकरसमात्र एक ही ब्रह्म है। यह अद्वैत शब्द का अर्थ जानना। अतः दीख पड़ता है कि रामानुज और सहजानन्द के मत भ्रष्ट हैं।

गधा आदि पशुओं का लोक मेरा स्थान ह इस प्रकार जो सहजानन्द ने कहा सो अपनी जाति के नियम से सहजानन्द खुद ही गधा बनता है। गोलोक में निवास करने से और एक कृष्ण-सेवा से ही मुक्ति प्राप्त होती है ऐसा जो सहजानन्द ने बका है सो मिथ्या है।

"मने बड़े २ मन्दिरों में लक्ष्मीनारायणादिमूर्त्तियों की प्राणप्रतिष्ठा करी है उनकी यथाविधि सेवा करनी" ॥ १३० ॥

सहजानन्द अथवा और कोई भी बिलकुल विद्याधर्मविरुद्ध और द्रव्यनाशक बड़े मन्दिरों में रहने वाली पाषाणादिमूर्त्तियों को लक्ष्मीनारायण का नाम नहीं दे सकता, क्योंकि वेद में मूर्त्तिविषय में कुछ कहा नहीं। इसलिये, और मूर्त्ति स्वतः जड़ है इस कारण से, तथा लक्ष्मीनारायण आदि सो चेतन थे इस हेतु से, मूर्त्ति का यथाविधि खण्डन करना चाहिये न कि पूजन करना।

"दो अमुक पुरुषों की स्त्रियों को अपने २ पति की आज्ञा लेकर केवल स्त्रियों को ही कृष्णमात्र का उपदेश करना चाहिये" ॥ १३३ ॥

सहजानन्द को यह ज्ञात था कि उपदेश के सिवाय स्त्रियों से धनप्राप्ति कभी होय नहीं, अतः स्पष्ट रीति से दीख पड़ता है कि सहजानन्द ने एक दम छल कपट फैला दिया है। परब्रह्म का मन्त्र छोड़कर कृष्ण का अर्थात् मुरदे का मन्त्र उपदेश करने से सहजानन्द लोभी और अज्ञानी ठहरता है।

"अपने कमाये हुए धन धान्य का दशमा भाग कृष्ण के अर्पण करें और जो मनुष्य दुर्बल हों वे बीसवां भाग कृष्ण को देवें" ॥ १४७ ॥

पर–धन हरने में और अपने को सुख देने में सहजानन्द का छल भेद खुल्लमखुल्ले दीखता है। इस प्रकार करने में सहजानन्द का अभिप्राय यह था कि यत्किञ्चित् मेहनत कार्य के विना ही दसवां, बीसवां भाग लेकर अपने संसार का विषयसुख खूब भोगेंगे। ऊपर कहा है कि कृष्ण को अर्पण करना। तो कृष्ण खुद तो दसवां अथवा बीसवां भाग लेने को आही नहीं सकता और कृष्ण कुछ ऐसा दरिद्री नहीं था। अतः सिद्ध होता है कि सहजानन्द ने गोकुल के वल्लभ-सम्प्रदायवालों की तरह खूब धूर्त्तता चलाई है। ऐसे २ धूर्त्त सम्प्रदायों के फैल जाने से अपने आर्य्यावर्त्त देश को बहुत हानि उठानी पड़ी। इसलिये सब सज्जनों को श्रम उठाकर इन सम्प्रदायों को जड़ मूल से उखाड़ डालना चाहिये। जो कभी उखाड़ डालने में न आवे तो अपने देश का कल्याण कभी होने का ही नहीं।

"एकादशी आदि व्रतों का यथाशक्ति और शास्त्र प्रमाण से उद्यापन करना। उद्यापन मन की इच्छा को पूर्ण करता है। श्रावण मास में बिल्व आदि के पत्रों से महादेव की पूजा करें करावें" ॥ १४८, १४९ ॥

इससे भी सहजानन्द की धूर्त्तता दीखती है। जो कभी एकादशी आदि व्रतों को नहीं करें तो शिष्यों से उद्यापन विना धनलाभ नहीं होय। श्रावण महीने में महादेवपूजन अर्थात् पाषाण आदि मूर्त्तिपूजा विना अपने को शिष्यों से धन, प्रतिष्ठा मिलेगी नहीं, ऐसे २ विचारों से सहजानन्द ने अपना कपट दिखाया है।

"देव की मूर्त्ति के सिवाय लिखी हुई अथवा लकड़ी आदि की स्त्रियों की मूर्त्तियों का कभी स्पर्श न करें और उन की तरफ़ बुद्धिपूर्वक दृष्टि से देखें भी नहीं" ॥ १७७ ॥

प्रथम तो सहजानन्द ने अपने मन्दिर में राधा की मूर्त्ति की स्थापना क्यों करी? और जिन की बाईं तरफ राधा है इत्यादि वाक्यों का सहजानन्द ने किसलिये मनुष्यों को उपदेश किया?। सहजानन्द के शिष्य बुद्धिपूर्वक राधा का दर्शन किसलिये करते हैं?। इस प्रकार के प्रमत्त गीत और बकवाद से सहजानन्द पर अनेक प्रकार के दोष लगते हैं।

"सब इन्द्रियों को जीत लेना उनमें से विशेष करके रस इन्द्रिय को जीतना। किसी को द्रव्य का संग्रह करना नहीं। इसी प्रकार किसी को करने भी नहीं देना। किसी की स्थापना करनी नहीं, धैर्य का त्याग करना नहीं और अपनी रहने की जगह में परस्त्री को आने देना नहीं चाहिये" ॥ १८९ ॥

सिर्फ साधु ही जितेन्द्रिय होवे ऐसा जो तुम उपदेश देते हो तो तुम क्या असाधु हो ?। तुम्हारे विचार से क्या गृहस्थ जितेन्द्रिय न होवें ?। ऊपर कहा कि किसी को स्थापन न करें तो क्या विद्या, धर्म, ईश्वर, प्रार्थना, स्तुति और उपासना का स्थापन नहीं करना चाहिये ?। वेदधर्मयुक्तिविरुद्ध सम्प्रदायों का स्थापन किसलिये करना चाहिये और सहजानन्द ने इस प्रकार के सम्प्रदायों का किसलिये स्थापन किया ?। सब मनुष्यों को इस प्रकार के पाखण्डों का खण्डन और सत्यधर्म का मण्डन अवश्य करना चाहिये।

"इस प्रकार सब मनुष्यों का धर्म संक्षेप से लिखा है और इन धर्म्मों का विस्तारपूर्वक वर्णन सम्प्रदाय के ग्रन्थों में से समझ लेना। मैंने सब सत्यशास्त्रों का सार निकाल के मनुष्य को इष्टफल की देने वाली यह शिक्षापत्री लिखी है" ॥ २०३–२०४ ॥

धर्म का तो लेशमात्र प्रतिपादन किया नहीं किन्तु अपना कपोलकल्पना से अपनी भ्रान्ति का प्रकाश किया दीखता है। वेदादि शास्त्रों में जो यथावत् धर्म्म लिखा है उस का ज्ञान सहजानन्द को बिलकुल नहीं था। लिखे हुए धर्म का फिर से लिखना व्यर्थ है। क्योंकि ऐसा करने से दले हुए को दलने के समान है। मनुष्यमात्र का सनातन साम्प्रदायिक ग्रन्थ वह वेद ही है और शिक्षापत्री आदि ग्रन्थ सब मिथ्या हैं। "विस्तर" शब्द व्याकरण नियम से अशुद्ध है। "विस्तर की जगह विस्तार" शब्द लिखना चाहिये। कथन, श्रवण आदि अर्थों में ही विस्तार प्रयोग होता है। सहजानन्द को सत्यशास्त्र का बोध तो था ही नहीं तथा इसने कुछ अध्ययन भी नहीं किया था, क्योंकि इसने वेद और युक्तिविरुद्ध पाषाण आदि मूर्त्तिपूजन, कण्ठीतिलकधारण आदि भ्रष्ट कर्मों

का प्रतिपादन किया है। शिक्षापत्री में सार की जगह असार वर्णन किया है। शिक्षापत्री लोभ विषय में तो इष्टफलदायक है। परन्तु शिक्षापत्री का पाठ करने से सर्वदा सुखप्राप्ति होती है यह अनुभवरहित बात है। सहजानन्द के ऐसे २ वचनों से सहजानन्द लोभी ठहरता है। लोभ के विना सम्प्रदाय की वृद्धि होती नहीं और वृद्धि न हो तो प्रतिष्ठा और धनप्राप्ति भी न हो और जो उस की प्राप्ति न हो तो इष्ट विषयसुख नहीं मिले, अतः समझना कि सहजानन्द की बुद्धि कपटरूप थी।

"जो पुरुष अथवा स्त्री इस शिक्षापत्री में कहे धर्मपूर्वक वर्ताव करेंगे उनको अवश्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष प्राप्त होंगे"।

जो मनुष्य पाषाण आदि मूर्त्तिपूजन आदि पाखण्डों का आचरण करेगा उस को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष तो प्राप्त नहीं होगा बल्कि अधर्म, अनर्थ, दुष्टइच्छा, बन्ध, नरक आदि दोष अवश्य प्राप्त होंगे।

"शिक्षापत्री के अनुकूल जो मनुष्य आचरण नहीं करें वे अपने सम्प्रदाय से बाहर हैं, इस प्रकार मेरे साम्प्रदायिक स्त्री पुरुषों को समझना चाहिये"।

पाषाण आदि मूर्तिपूजन, कण्ठी तिलक आदि पाखण्डरूप चिह्न कभी कोई न करें और जो पुरुष इन चिह्नों को नहीं करें सिर्फ उन्हीं पुरुषों को धर्म, अर्थ, काम और मोक्षकी प्राप्ति होगी।

वेदादि सत्यशास्त्रोक्त, सनातन, सत्य, पक्षपातरहित, न्यायधर्म को त्याग करके सहजानन्द आदिकों के बनाये हुए शिक्षा की पत्री आदि भ्रष्ट और वेदयुक्तिविरुद्ध ग्रन्थों का जिन मनुष्यों ने स्वीकार किया, करते हैं और करेंगे श्रेष्ठ पुरुष उन सब को सद्धर्मरहित और नास्तिक नाम देवें।

"मेरे आश्रित पुरुष शिक्षापत्री का हररोज़ पाठ करें और जो विद्याहीन हों वे प्रीति से उस का श्रवण करें और जो श्रवण करना भी न बने तो इस

शिक्षापत्री की अत्यन्त प्रीति से पूजा करें और इसको मेरी वाणी तथा मेरा रूप जानें। इस पत्री को दैवीमार्गी पुरुष को देवें किन्तु किसी असुर को न देवें"।

वेद का पढ़ना सुनना छोड़कर सहजानन्द आदि के बनाये हुए शिक्षापत्री आदि कपोलकल्पित पुस्तकों को पढ़ने और सुनने से अधिक पाप लगता है।

इस जड़, व्यर्थ पुस्तक की पूजा करने का उपदेश देने में अयोग्यता मालूम पड़ती है। वाणी कभी जीवरूप बनती नहीं। परम प्रीति से शिक्षापत्री का सत्कार करें ऐसा जो सहजानन्द ने कहा सो सत्कार करने के बदले परम प्रयत्न से इस अशुद्ध पत्रिका का खण्डन करें। इस प्रकार कथन में सहजानन्द का मूल मतलब अज्ञानी और बालकों को भ्रमा कर उनसे धनादि पदार्थों का छीन लेना है। जो दैवीमार्गी होगा वह तो शिक्षापत्री को हाथ में पकड़ेगा भी नहीं। जो मनुष्य विद्यारहित असुर सम्प्रदाय को स्वीकार करता है उन मनुष्यों के सम्प्रदाय को सम्प्रदाह नाम देना चाहिये। क्योंकि ऐसा सम्प्रदाय अन्धकाररूप है। जिसमें विद्या और विज्ञान का सत्यानाश हो जाय उसका नाम सम्प्रदाह पड़ता है। वर्त्तमान में जितने विरुद्ध सम्प्रदाय हैं उन सब को सम्प्रदाह नाम देना चाहिये।

प्रश्न—मरण समय में सहजानन्द अपने शिष्यों का हाथ पकड़ विमान पर चढ़ा के वैकुण्ठ ले जाता है और परम सुख देता है इत्यादि गपोड़ा सहजानन्द के शिष्यों के द्वारा सुना जाता है वह सत्य है कि मिथ्या ?।

उत्तर—बिलकुल मिथ्या दीखता है। क्योंकि जो पुरुष मर गया वह फिर से आकर प्रथम शरीर धारण कर ही नहीं सकता। जो कभी वैसा करने में समर्थ हो तो सम्प्रदाय वालों ने छल कपट से जो पुष्कल द्रव्य इकट्ठा किया है उसको भोगने के लिये भी अवश्य आना चाहिये। अतः समझना चाहिये कि सहजानन्द आदि धूर्त्त अज्ञानी मनुष्यों को मोह में डालने के अर्थ ऐसे २ कथन करते हैं।

अपने शिष्यों के हाथ पर लोह का खण्ड दाग कर चक्र आदि चिह्नों के करने से सहजानन्द के सम्प्रदाय वालों को अत्यन्त पाप लगेगा। जो बगुलाभगत हैं वे स्त्रीदर्शन और धातुस्पर्श नहीं करते। गृहस्थ आचार्य लोभ के हेतु से मन्दिर बांध कपट से द्रव्य आदि पदार्थों का छीन लेते हैं। दो २ विवाह करना आदि धर्म जिस सम्प्रदाय में होते हों उसमें कल्याण की आशा किसी सज्जन पुरुष को कभी नहीं रखनी चाहिये।

समाप्त

शताब्दी-संस्करण

Prem Bahadur Varma
12.6.26.

भ्रमोच्छेदनम्

पृष्ठ ८४७—८६६.

भ्रमोच्छेदनम्

—:o:—

आवृत्ति	सन् ई०	संख्या
प्रथम	... १८८० ...	१०००
द्वितीय	... १८८७ ...	१०००
तृतीय	... १८९७ ...	२०००
चतुर्थ	... १९१३ ...	१०००
पंचम	... १९१६ ...	१०००
शताब्दीसंस्करण	१९२४ ...	१०,०००
		१६,०००

ओ३म्

भ्रमोच्छेदन

अविद्वानों का

मैंने राजा * शिवप्रसाद सितारहहिन्द की बुद्धि और चतुराई की प्रशंसा सुन के चित्त में चाहा कि कभी उनसे समागम होकर आनन्द होवे। जैसे पूर्व समय में, बहुत ऋषि मुनि विद्वानों के बीच, प्रज्ञासागर बृहस्पति महर्षि हुए थे, क्या पुनरपि वे ही, महा अविद्यान्धकार के प्रचार से नाना प्रकार के अन्यान्य विरुद्ध मतमतान्तर के इस वर्त्तमान समय में, शरीर धारण करके प्रकट तो नहीं हुए हैं ? ।

देखना चाहिये कि जैसा इनको मैं सुनता हूं वैसे ही वे हैं वा नहीं ऐसी इच्छा थी। यद्यपि मैंने संवत् १९२६ से लेके पांच वार काशी में जाकर निवास भी किया था परन्तु कभी उनसे ऐसा समागम न हुआ † था कि कुछ वार्तालाप होता। मैं प्रस्तुत संवत् १९३६ कार्तिक सुदी १४ गुरुवार को काशी में आकर महाराजे विजयनगराधिपति के आनन्दबाग़ में निवास करता था। इतने में मार्गशीर्ष सुदी में अकस्मात् राजा शिवप्रसादजी, प्रसिद्ध एस्. एच्. कर्नल ऑलकाट् साहब और एच्. पी. मेडम ब्लेवेस्तकी को मिलने के लिये, आनन्दबाग़

---

* जो राजा शिवप्रसादजी अपने लेख पर स्वामी विशुद्धानन्दजी का हस्ताक्षर न कराते तो मैं इस पर एक अक्षर भी न लिखता। क्योंकि उनको तो संस्कृत विद्या में शब्दार्थसम्बन्धों के समझने का सामर्थ्य ही नहीं है। इसलिये जो कुछ इस पर लिखता हूं सब स्वामी विशुद्धानन्दजी की ओर ही समझा जावे।

† एक वार सय्यद अहमदखां सदरस्सुदूरजी की कोठी पर दूर से देखा था पर वार्त्तालाप नहीं हुआ।

में आ, उनने मुझ से मिलकर कहा कि मैं एक साहब और मेडम से मिला चाहता हूं। सुनकर मैंने एक मनुष्य को भेज राजासाहब की सूचना कराई और जबतक उक्त साहब के साथ राजाजी न उठगये तबतक जितनी मैं अपने पत्र में लिख चुका हूं उनसे बातें हुई। परन्तु शोक है कि जैसा मेरा प्रथम निश्चय राजाजी पर था वैसा उनको न पाया *। मन में विचारा कि जितनी दूसरे के मुख से बात सुनी जाती है सो सब सच नहीं होती।

राजाजी लिखते हैं कि स्वामीजी की बात सुनकर मैं भ्रम में पड़ गया। यहां बुद्धिमानों को विचारना चाहिये कि क्या मेरी बात का सुनना ही राजाजी को बड़े संदेह में पड़ने का निमित्त है और उनकी कम समझ और आलस्य कारण नहीं है †। जब कि उनको सन्देह ही छुड़ाना था तो मेरे पास आके उत्तर सुन के यथाशक्ति सन्देह निवृत्त कर आनन्दित होना योग्य न था ?। जैसा कोमल लेख उन के पत्र में है वैसा भीतर का अभिप्राय नहीं ‡। किन्तु इस में प्रत्यक्ष छल ही विदित होता है। देखो मार्गशीर्ष से लेके वैशाख कृष्ण एकादशी बुधवार पर्यन्त सवा चार मास उनके मिलने के पश्चात् मैं और वे काशी में निवास करते थे। क्यों न मिलके सन्देह निवृत्त किये ?। जब मेरी यात्रा सुनी तभी पत्र भेज के प्रत्युत्तर क्यों चाहे ?। मेरे चलने समय प्रश्न पूछना, मेरे बुलाये पर भी उत्तर सुनने न आना, सवाचार महीने पर्यन्त चुप होके बैठ रहना, और मेरे काशी से चले आने पर अपनी व्यर्थ बड़ाई के लिये पुस्तक छपवाकर काशी में और जहां तहां भेजना, कि काशी में कोई भी विद्वान् स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने में समर्थ न हुआ किन्तु एक राजा शिवप्रसादजी ने किया। ऐसी प्रसिद्धि होने पर सब लोग मुझको विद्वान् और बुद्धिमान् मानेंगे ऐसी इच्छा का विदित कराना आदि हेतुओं से क्या उनकी अयोग्यता की बात

* राजाजी की वाचालता बहुत बड़ी और समझ अति छोटी देखी।

† कोई कितना ही बड़ा विद्वान् हो परन्तु अविद्वान् मनुष्य को विद्या की बातें विना पढ़ाये कभी न समझा सकता, न वह विना पढ़े समझ सकता है।

‡ हाथी के खाने के दांत भीतर और दिखाने के बाहर होते हैं।

नहीं है ? *। भला ऐसे मनुष्यों से किसी विद्वान् को उचित है कि बात और शास्त्रार्थ करने में प्रवृत्त होवे ? ऐसे कपट छल के व्यवहार न करने में मनुजी की भी साक्षी अनुकूल है।

अधर्मेण तु यः प्राह यश्चाऽधर्मेण पृच्छति।
तयोरन्यतरः प्रैति विद्वेषं वाधिगच्छति ॥

अर्थ—(यः) जो (अधर्मेण) अर्थात् अन्याय, पक्षपात, असत्य का ग्रहण, सत्य का परित्याग, हठ, दुराग्रह से वा जिस भाषा का आप विद्वान् न हो उसी भाषा के विद्वान् के साथ शास्त्रार्थ किया चाहे और उस भाषा के सच झूठ की परीक्षा करने में प्रवृत्त होवे और कोई प्रतिवादी सत्य कहे उसका निरादर करे इत्यादि अधर्म कर्म से युक्त होकर छल कपट से † (पृच्छति) पूछता है, (च) और (यः) जो (अधर्मेण) पूर्वोक्त प्रकार से (प्राह) उत्तर देता है, ऐसे व्यवहार में विद्वान् मनुष्य को योग्य है कि न उससे पूछे और न उस को उत्तर देवे। जो ऐसा नहीं करता तो पूछने वा उत्तर देने वाले दोनों में से एक मर जाता है (वा) अथवा (विद्वेषम्) अत्यन्त विरोध को (अधि, गच्छति) प्राप्त होकर दोनों दुःखित होते हैं।

जब इस वचनानुसार राजाजी को अयोग्य जानकर लिख के उत्तर नहीं दिये ‡ तो फिर क्या मैं ऐसे मनुष्यों से शास्त्रार्थ करने को प्रवृत्त हो सकता हूं ? । हां मैं अपरिचित मनुष्यों के साथ चाहे कोई धर्म से पूछे अथवा अधर्म

* जो राजाजी प्रश्नों के उत्तर चाहते तो ऐसी अयोग्य चेष्टा क्यों करते। जब मैंने उनकी अन्यथा रीति जानी तभी उनसे पत्रव्यवहार आगे को न चलाया, क्योंकि उनसे संवाद चलाना व्यर्थ देखा।

† जिसके आत्मा में और, और जिसके बाहर कुछ और होवे वह छली कहाता है।

‡ जो जिस बात के समझने और जिस काम के करने में सामर्थ्य नहीं रखता वह उसका अधिकारी नहीं हो सकता।

से उन सबों के समाधान करने को एक वार तो प्रवृत्त हो ही जाता हूं। परन्तु उस समय जिसको अयोग्य समझ लेता हूं जबतक वह अपनी अयोग्यता को छोड़कर न पूछता और न कहता है तबतक उससे सत्याऽसत्यनिर्णय के लिये कभी प्रवृत्त नहीं होता हूं। हां जो सब विद्वानों को योग्य है वह काम तो करता ही हूं, अर्थात् जब २ अयोग्यपुरुष मुझ से मिलता वा मैं उससे मिलता हूं तब २ प्रथम उसकी अयोग्यता के छुड़ाने में प्रयत्न करता हूं। जब वह धर्मात्मता से योग्य होता है तब मैं उसको प्रेम से उपदेश करता हूं। वह भी प्रेम से पूछके निस्सन्देह होकर आनन्दित होजाता है *। अब जो राजा शिवप्रसादजी ने स्वामी विशुद्धानन्दजी की सम्मति लिखा, ज्येष्ठ महीने में निवेदनपत्र छपवा के प्रसिद्ध किया है उसी के उत्तर में यह पुस्तक है।

इसमें जहां २ (रा०) यह चिह्न आवे वहां २ राजा शिवप्रसादजी और इसके आगे जो २ लेख हो वह २ उन्हीं की ओर से समझना और जहां २ (स्वा०) यह संकेत लिखा है वहां २ स्वामी दयानन्द सरस्वती और इसके आगे उन्हीं का लेख जानना योग्य है।

रा०–जितना महाराजजी के मुखारविन्द से सुना था बड़े सन्देह का कारण हुआ, निवृत्त्यर्थ पत्र लिखा, महाराजजी ने कृपा करके उत्तर दिया, उसे देख मेरा सन्देह और भी बढ़ा, महाराजजी के लिखे अनुसार ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका मंगा के पृष्ठ ९ से ८८ † तक देखा, विचित्र लीला दिखाई दी, आधे २ वचन जो अपने अनुकूल पाये ग्रहण किये हैं, शेषार्द्ध का जो प्रतिकूल पाये परित्याग, ‡ उन आधे अनुकूल में भी जो कोई शब्द अपने भाव से विरुद्ध देखे उनक

---

* कोई भी वैद्य जबतक रोगी के आँखों की पीड़ा सोजा और मलीनता दूर नहीं कर देता तबतक उसको दिखला भी नहीं सकता। परन्तु जिसके नेत्र ही फूटगये हैं उसको तो कुछ भी दिखलाने का उपाय नहीं है।

† शताब्दी संस्करण पृष्ठ २६८ से ३६६ तक।

‡ देखिये राजाजी की अद्भुत लीला। मैंने जो वेदार्थ के अनुकूल लिखा है उस को मेरे अनुकूल और जो वेदार्थ प्रकरण के प्रतिकूल का त्याग किया है

अर्थ पलट दिये मनमाने लगा लिये *, परन्तु आपने याज्ञवल्क्यजी का यह वाक्य आधा ही अपना उपयोगी समझ क्यों लिखा ? क्या इसीलिये कि शेषार्द्ध वादी का उपयोगी है ।

स्वा०—क्या मेरी बात ही सन्देह की बढ़ानेहारी है उनकी अल्प समझ और आलस्य नहीं है ? । और यह भी सच है कि जब २ अविद्वान् होकर विद्वान् के बनाये ग्रंथ को देखने लगता है तब २ काच के मंदिर में प्रविष्ट हुए श्वान के समान भूंस २ सुख के बदले दुःख ही पाया करता है ।

विदित हो कि जहां जितने वाक्य के भाग के लिखने की योग्यता हो उतना ही लिखना उचित होता है न अधिक न न्यून । जिसलिये यह वेदभाष्य की भूमिका है इसलिये उस वाक्यसमूह में से जितना वेदों का उपयोगी लिखना उचित था उतना ही लिखा है । जो इतिहासादि में से जिस किसी की व्याख्या करनी होती तो वहां उस २ भाग का लिखना भी योग्य था । प्रकरणविरुद्ध लिखना विद्वानों का काम नहीं † । सब विद्वान् इस बात को निश्चित जानते हैं कि पदों का पद, वाक्यों का वाक्य, प्रकरणों का प्रकरण और ग्रन्थों का ग्रंथों ही के साथ सम्बन्ध होता ही है । जब ऐसा है तब राजाजी को अपनी

उसको मेरे प्रतिकूल समझते हैं । इसीलिये राजाजी विद्यारहस्य को कुछ भी नहीं समझते हैं । क्योंकि उनको भी ऐसा ही करना पड़ता है ।

* जैसी राजाजी की समझ है वैसी किसी छोटे विद्यार्थी की भी नहीं हो सकती, क्योंकि जो २ व्याख्येय शब्दार्थ के विरुद्ध का छोड़ना और अनुकूल का ग्रहण करना सब को योग्य होता है उस २ को वे उलटा समझते हैं । और फिर कोई उदाहरण भी नहीं लिखते कि इसका अर्थ उलटा वा मनमाना किया । क्या ज्वरयुक्त मनुष्य के लिये कुपथ्य का त्याग और सुपथ्य का ग्रहण कराना वैद्य का दोष है । और मैंने तो अपनी समझ के अनुसार जो कुछ लिखा है सो सब शास्त्रानुकूल ही है । उसको उलटा वा मनमाना लगा लेना जो समझते हैं यह उनकी समझ का दोष है ।

† जैसे कोई प्रमत्त अर्थात् पागल पगड़ी पग पर और जूते शिर पर धरता है वैसा काम विद्वान् कभी नहीं कर सकता ।

बात की पुष्टि के लिये सब पद, सब वाक्य, सब प्रकरण और सब ग्रंथों का प्रमाणार्थ एकत्र लिखना उचित हुआ । क्योंकि यह उन्हीं की प्रतिज्ञा है * कि आधा छोड़ना और आधा लिखना किसी को योग्य नहीं । और जो राजाजी संपूर्ण का लिखना उचित समझते हैं सो यह बात अत्यन्त तुच्छ और असम्भव है । ऐसी बात कोई बालबुद्धि मनुष्य भी नहीं कह सकता । देखिये फिर यही उनकी अविद्वत्ता उलटा उनको मिथ्यादोषों में पकड़कर गिराती रहती है अर्थात् जो मिथ्या दोष वे मेरे लेख पर देते हैं उन्हीं में आप डूबे हैं ।

यहां जब कोई मनुष्य राजाजी से पूछेगा कि आप जो स्वामी दयानन्दसरस्वतीजी की बनाई भूमिका में दोष देते हैं वही आप के (अन्धेनैव नीयमाना यथाऽन्धाः) इस लेख में भी आते हैं । इसकी वाक्यावली † तो ऐसी है (अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः । जङ्घन्यमाना अपि यन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथाऽन्धाः) फिर आपने इस वाक्यावली में से पूर्व के तीन भाग छोड़, चौथे भाग को क्यों लिखा ? । तब राजासाहब घबड़ा कर मौन ही साध जायंगे । क्योंकि वे वाक्यावली में से प्रकरणोपयोगी एक ही भाग का लिखना उचित नहीं समझते, चाहे प्रकरणोपयोगी हो वा न हो । किन्तु पूरी वाक्यावली लिखना योग्य समझते हैं ‡, जो ऐसा न समझते तो (एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानीष्टं हुतमाशितं पायितमयं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निःश्वसितानि) इस वाक्यसमुदाय को स्वामिजी ने नहीं लिखा यह मिथ्या दोष क्यों लगाते । पर विचारे क्या करें । उन्होंने न कभी

---

* मेरी प्रतिज्ञा तो यह है कि जहां जितना लिखना योग्य हो वहां उतना ही लिखना ।

† चेत करना चाहिये यह उलटी समझ राजाजी की है कि जो अनेक वाक्यों को एक वाक्य समझना ।

‡ ऐसा असंभव वचन किसी विद्वान् के मुख से नहीं निकल सकता है और न हाथ से लिखा जा सकता है ।

किसी से वाक्य का लक्षण सुना और न पढ़कर जाना है। जो सुना वा जाना होता तो (एवं वा०) इससे लेके (निःश्वसितानि) इस अनेक वाक्य के समुदाय को एक वाक्य क्यों समझते *। देखिये यह महाभाष्य में वाक्य का लक्षण लिखा है (एकतिङ्वाक्यम्) जिसके साथ एक तिङन्त के प्रयोग का सम्बन्ध हो वह वाक्य कहाता है। जैसे (एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य विभोः परमेश्वरस्य साक्षाद्वा परम्परासम्बन्धादेतत्सर्वं वक्ष्यमाणमनेकवाक्यवाच्यं निःश्वसितमस्तीति) एक और (पूर्वोक्तस्य सकाशादृग्वेदो निःश्वसितोऽस्तीति) दूसरा वाक्य है। इसी प्रकार इस कंडिका में २० वाक्य तो पठित हैं और आकांक्षित वाक्य (त्वं विद्धि) इत्यादि ऊपर से और चकार से इन्हीं के अविरुद्ध अपठित उपयोगी अनेक अन्य वाक्य भी अन्वित होते हैं। क्या जिनको वाक्य का बोध न हो उनको पदार्थ और वाक्यार्थ का बोध, जिन को पदार्थ और वाक्यार्थ का बोध न हो उन को प्रकरणार्थ और ग्रन्थ के पूर्व पदार्थ का बोध होने की आशा कभी हो सकती है †। इसलिये जो राजाजी को दूसरे पत्र में मैंने लिखा है सो बहुत ठीक वा सत्य है कि इससे मुझ को निश्चित हुआ कि राजाजी ने वेदों से लेके पूर्वमीमांसा पर्य्यन्त विद्यापुस्तकों में से किसी भी पुस्तक के शब्दार्थ सम्बन्धों को जाना नहीं है ‡। इसलिये उन को मेरी बनाई भूमिका का अर्थ भी ठीक २ विदित न हुआ।

---

* जो राजाजी विद्या में वास कर अविद्या से पृथक् होते तो उन के मुख से ऐसी असंभव बात कभी न निकलती।

† राजाजी ने समझा होगा कि मैं बड़ा बुद्धिमान् हूं। हां (अन्धानां मध्ये काणो राजा) यहां इस न्याय के तुल्य तो चाहे कोई समझ लेवे।

‡ ईश्वरोक्त चार वेद स्वतःप्रमाण और ब्रह्मा से लेके जैमिनि पर्यन्त ऋषि मुनि और ऐतरेय ब्राह्मण से लेके पूर्वमीमांसा पर्यन्त ग्रन्थों की गणना से कोई भी आर्ष पुस्तक पढ़ना बाक़ी नहीं रहता कि जिसका परतःप्रमाण में ग्रहण न होसके, क्योंकि ग्रन्थकारों में जैमिनि सब के पश्चात् हुए हैं और पुस्तकों में पूर्वमीमांसा सब से पीछे बनाया गया है। इसलिये जो राजाजी ने नोट में (स्वामीजी ने पूर्वमीमांसा पर्यन्त पढ़ा होगा) लिखा है सो भ्रम से ही है।

क्या अब जिसको थोड़ीसी भी बुद्धि होगी वह राजासाहब को शास्त्रों के तात्पर्यार्थज्ञानशून्य जानने में कुछ भी शङ्का रख सकता है ? । यहां चोर कोटपाल को दंडे यह कहानी चरितार्थ होती है, कि जो (अन्धेनैव नीयमाना यथाऽन्धाः) के समान स्वयं राजाजी और उनके विचारानुकूल चलने वाले होकर भ्रम से इसके अर्थ को मेरी बनाई भूमिका और मेरे उपदेश को मानने हारे पर झोंक देते हैं । क्या यह उलट पलट नहीं है ? । इससे मैं सब आर्यसज्जनों को विदित कराता हूं कि जो अपना कल्याण चाहें वे उनके व्यर्थ वाक्याडम्बर जाल में बद्ध हो अपने मनुष्यजन्म के धर्मार्थ काम मोक्ष फलों से रहित होकर दुःखदुर्गन्धसागररूप घोर नरक में गिरकर चिरकाल दारुण दुःख भोग न करें, और सर्वानन्दप्रद वेद के सत्यार्थप्रकाश में स्थिर होकर सर्वानन्दों का भोग न छोड़ बैठें । अब जो स्वामी विशुद्धानन्दजी की पक्षपात रहित विद्वत्ता की परीक्षा बाक़ी है सो करनी चाहिये ।

रा०—श्रीमत्पण्डितवर * बालशास्त्रीजी तो बाहर गये हैं परमपूजनीय जगद्गुरु † श्रीस्वामी विशुद्धानन्दजी के चरणों में पहुंच जा पत्र और उत्तरों को देखकर बहुत हंसे ‡ और पिछले उत्तर पर जिस में इन दोनों महात्माओं का नाम है कुछ लिखवा भी दिया स्वामी विशुद्धानन्दजी का लिखवाया राजा साहब के प्रश्नों का उत्तर दयानन्द से नहीं बना इति ।

स्वा०—जिनका पक्षी पक्षपातान्धकार से विचारशून्य हो उनके साक्षी तत्सदृश क्यों न हों । क्या यथाबुद्धि कुछ विद्वान् होकर स्वामी विशुद्धानन्दजी को योग्य था कि ऐसे अशास्त्रवित्, अव्युत्पन्न, व्यर्थ वैतण्डिक मनुष्य के अत्यन्त

---

* काशी के पण्डितों में तो बालशास्त्रीजी किसी प्रकार श्रेष्ठ हो सकते हैं भूगोलस्थ पण्डितों में नहीं ।

† जगत् में जो २ उनके शिष्यवर्ग में हैं उन २ के परमपूजनीय और गुरु होंगे सब के क्योंकर हो सकते हैं ।

‡ जो कुछ भी पत्रों के अभिप्राय को समझते तो हास करके अयोग्यपत्र पर सम्मति क्यों लिख बैठते ।

अयुक्त लेख पर विना सोचे समझे सम्मति लिख देवें । और इससे सजातीय-प्रवाहपतन न्याय करके यह भी विदित हुआ कि स्वामी विशुद्धानन्दजी भी राजाजी के तुल्यता की उपमा के योग्य हैं । मैं स्वामी विशुद्धानन्दजी को चिताता हूं कि आगे कभी ऐसा निर्बुद्धिता का काम न करें * । भला मैंने तो राजाजी को संस्कृत विद्या में अयोग्य जानकर लिख दिया है कि आप ने जिसलिये वेदादि विद्या के पुस्तकों में से एक का भी अभ्यास नहीं किया है जो तुम को उत्तर ग्रहण की इच्छा हो तो मेरे पास आके सुन समझ कर अपनी बुद्धि के योग्य ग्रहण करो । आप दूर से वेदादि विषयक प्रश्न करने और उत्तर समझने योग्य नहीं हो सकते । इसीलिये उनको लिखके यथोचित उत्तर न भेजे और न भेजूँगा। यह बात भी मेरे दूसरे पत्र से प्रसिद्ध है कि जो वे वेदादिशास्त्रों में कुछ भी विद्वान् होते तो मेरी बनाई भूमिका का कुछ तो अर्थ समझ लेते † । न ऐसी किसी की योग्यता है कि अन्धे को दिखला सके । यह भी मैं ठीक जानता हूं कि स्वामी विशुद्धानन्दजी भी वेदादि शास्त्रों में विद्वान् नहीं, किन्तु नवीनटीकानुसार दश उपनिषद्, शारीरिक और पूर्वमीमांसा सूत्र और प्राचीन आर्षग्रन्थों से विरुद्ध कपोलकल्पित तर्कसंग्रहादि ग्रन्थों का अभ्यास तो किया है । परन्तु वे भी नशा से ‡ विस्मृत होगये होंगे । तथापि उनका संस्कारमात्र तो ज्ञान रहा ही होगा । इसलिये वे संस्कृत के पदवाक्यप्रकरणार्थों को यथाशक्ति जान सकते हैं । परन्तु न जाने उन्होंने राजाजी के अयोग्य लेख पर क्योंकर साक्षी लिखी, अस्तु । जो किया सो किया, अब आगे को वे वा बालशास्त्रीजी जिसके उत्तर वा

---

* जो कोई विना विचारे कर बैठता है उसको बुद्धिमान् प्राज्ञ नहीं कहते।

† यह तो सच है कि जो मनुष्य योग्य होकर समझना चाहता है वह समझ भी सकता है।

‡ सुना है कि स्वामी विशुद्धानन्दजी भांग और अफीम का सेवन करते हैं । जो ऐसा है तो अवश्य उनको विद्या का स्मरण न रहा होगा । जो मादक द्रव्य होते हैं वे सब बुद्धिनाशक होते हैं । इससे सब को योग्य है कि उनका सेवन कभी न करें ।

प्रश्नों पर हस्ताक्षर करके मेरे पास अपनी ओर से भेज दिया करें और यह भी समझ रक्खें कि जो प्रश्नोत्तर उनके हस्ताक्षरयुक्त आवेंगे वे उन्हीं की ओर से समझे जावेंगे। जैसा कि यह निवेदनपत्र का लेख स्वामी विशुद्धानन्दजी की ओर से समझा गया है। इसीलिये वे तीनों स्वामी सेवक मिलकर प्रश्नों को विचार शुद्ध लिख कर मेरे मुंशी बख्तावरसिंहजी के पास भेज दिया करें। मेरा मुंशी आपकी ओर से यह लेख है वा नहीं इस निश्चय के लिये पत्रद्वारा आप से संमतिपत्र मंगवा के मेरे पास भेज दिया करेगा और मेरा लेख भी मेरे हस्ताक्षर सहित अपने हस्ताक्षर करके पत्रसहित उनके पास भेज दिया करेगा। वे लोग राजाजी आदि को समझाया करें और वे आप से मेरे लेखाभिप्राय को समझ लिया करें। जो इस पर भी आप लोग परस्पर विचार करने में प्रवृत्त न होंगे तो क्या सब सज्जन लोग आप लोगों को भी अयोग्य न समझ लेंगे। क्योंकि जो स्वपक्ष के स्थापन और परपक्ष के खण्डन में प्रवृत्त न होकर केवल विरोध ही मानते रहें वे अयोग्य कहाते हैं। इसलिये मैं सब को सूचना करता हूं कि जो मेरे पक्ष से विरुद्ध अपना पक्ष जानते हों तो प्रसिद्ध होकर शास्त्रार्थ क्यों नहीं करते? और टट्टी की आड़ में स्थित होकर ईंट पत्थर फेंकने वाले के तुल्य कर्म करना क्यों नहीं छोड़ते? और जो विरुद्ध पक्ष नहीं जानते हों तो अपने पक्ष को छोड़ मेरे पक्ष में प्रवृत्त होकर प्रीति से इसी पक्ष का प्रचार करने में उद्यत क्यों नहीं होते? *। जो ऐसा नहीं करके दूर ही दूर रह कर झूठे गाल बजाने और जैसे मेरे काशी से चले आये पर राजाजी के पत्र पर व्यर्थ हस्ताक्षर करने से उनने अपनी अयोग्यता प्रसिद्ध कराई वैसे जो वे मुझ से शास्त्रार्थ करेंगे तो प्रशंसित भी हो सकते हैं। ऐसे किये विना क्या वे लोग बुद्धिमान् धार्मिक विद्वानों के सामने अमाननीय और अप्रतिष्ठित न होंगे?। जो इस में एक बात न्यून रही है कि बालशास्त्रीजी भी इस पर अपनी सम्मति लिखते तो उनको भी राजा शिवप्रसाद और स्वामी विशुद्धानन्दजी के साथ दक्षिणा मिल-

* उन को अवश्य योग्य है कि सत्य के आचरण और असत्य के छोड़ने में प्रति दृढ़ोत्साहयुक्त हो के निन्दा स्तुति हानि लाभ आदि की प्राप्ति में शोक और हर्ष कभी न करें।

जाती । कहिये राजाजी ! जो आप अपनी रक्षा के लिये स्वामी विशुद्धानन्दजी के चरणों में पहुंच कर पत्र दिखा, सम्मति लिखा, पुस्तक छपाकर, इधर उधर भेजने से भी न बच सके तो आप के जाट खाट और कोल्हू लौट कर आपही के शिर पर चढ़े वा नहीं ? । अब इस बोझ के उतारने के लिये आप को योग्य है कि बालशास्त्रीजी के चरणों में भी गिर कर बचने का उपाय कीजिये और आप अपने विजय के लिये स्वामी विशुद्धानन्दजी और बालशास्त्रीजी को प्राड्विवाक अर्थात् बारिस्टर करना भी मत छोड़िये । अथवा उत्तम तो यह है कि वे दोनों आपको ढाल बनाकर न लड़ें किन्तु सन्मुख होकर शास्त्रार्थ करें । इसी में उनकी शोभा है, अन्यथा नहीं । परन्तु मैं आप और उन को निश्चित कहता हूं कि सब मिलकर कितना ही करो जब तक कोई मनुष्य झूठ छोड़ सत्यमत का ग्रहण नहीं करता, तबतक अपना और दूसरे का विजय कभी नहीं कर सकता और न करा सकता है । क्या दूसरे की वृथा प्रशंसा से हर्षित होकर स्वामी विशुद्धानन्दजी का बहुत हँसना बालकों का खेल नहीं है ? । और जो कोई अपनी योग्यता के सदृश वर्त्तमान न करे वह संशयसमुद्र में मग्न होकर विनष्ट क्यों न होवे ? ।

अब मैं सूचना करता हूं कि बुद्धिमान् आर्य लोग, पक्षी राजाजी, और साक्षी विशुद्धानन्दजी के हास्यास्पद लेख को देख, उस पर विश्वास कर, इस (कास्ताः क्व निपतिताः) महाभाष्योक्तवचनार्थ के सदृश होकर, धर्मफल आनन्द से छूटकर दुर्गन्ध गढ़े और दुःखसागर में जा न गिरें ।

रा०—हम केवल वेद की संहितामात्र मानते हैं । एक ईशावास्य उपनिषद् संहिता है और सब उपनिषद् ब्राह्मण हैं । ब्राह्मण हम कोई नहीं मानते सिवाय संहिता के हम और कुछ नहीं मानते हैं ।

स्वा०—जैसा यह राजाजी का लेख है वैसा मैंने नहीं कहा था । किन्तु जैसा नीचे लिखा है वैसा कहा गया था । तद्यथा—

रा०—आपका मत क्या है ? ।

स्वा०—वैदिक ।

रा०—आप वेद किसको मानते हैं ? ।

स्वा०—संहिताओं को ।

रा०—क्या उपनिषदों को वेद नहीं मानते ? ।

स्वा०—मैं वेदों में एक ईशावास्य को छोड़ के अन्य उपनिषदों को नहीं मानता । किन्तु अन्य सब उपनिषद् ब्राह्मण ग्रन्थों में हैं, वे ईश्वरोक्त नहीं हैं ।

रा०—क्या आप ब्राह्मण पुस्तकों को वेद नहीं मानते ? ।

स्वा०—नहीं, क्योंकि जो ईश्वरोक्त है वही वेद होता है । जीवोक्त को वेद नहीं कहते । जितने ब्राह्मण ग्रन्थ हैं वे सब ऋषिमुनिप्रणीत और संहिता ईश्वर-प्रणीत है । जैसा ईश्वर के सर्वज्ञ होने से तदुक्त निर्भ्रान्त सत्य और मत के साथ स्वीकार करने योग्य होता है वैसा जीवोक्त नहीं हो सकता । क्योंकि वे सर्वज्ञ नहीं । परन्तु जो २ वेदानुकूल ब्राह्मण ग्रन्थ हैं उनको मैं मानता और विरुद्धार्थों को नहीं मानता हूं । वेद स्वतःप्रमाण और ब्राह्मण परतःप्रमाण हैं इससे जैसे वेदविरुद्ध ब्राह्मण ग्रन्थों का त्याग होता है वैसे ब्राह्मण ग्रन्थों से विरुद्धार्थ होने पर भी वेदों का परित्याग कभी नहीं हो सकता । क्योंकि वेद सर्वथा सब को माननीय ही हैं । यह मेरे पत्र का लेख उन के भ्रमजाल निवारण का हेतु विद्यमान ही था । परन्तु मेरा लेख क्या कर सकता है जो राजाजी मेरे लेख को समझने की विद्या ही नहीं रखते तो क्या इस में राजाजी का दोष नहीं है ? ।

रा०—वादी * कहता है जो संहिता ईश्वरप्रणीत है तो ब्राह्मण भी ईश्वर-प्रणीत हैं † ।

* जब राजाजी वाद के लक्षणयुक्त ही नहीं हैं तो वादी क्योंकर बन सकते हैं ।

† क्या विद्या और सुशिक्षारहित मनुष्य प्रश्न और उत्तर करना कभी जान सकता है ? ।

स्वा०—देखिये राजाजी की मिथ्या आडम्बरयुक्त लड़कपन की बात को। जैसे कोई कहे कि जो पृथिवी और सूर्य ईश्वर के बनाये हैं तो घड़ा और दीप भी ईश्वर ने रचे हैं।

रा०—और जो ब्राह्मण ग्रन्थ सब ऋषि मुनि प्रणीत हैं तो संहिता भी ऋषि मुनि प्रणीत हैं।

स्वा०—यह भी ऐसी बात है कि जो कोई कहे कि ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका स्वामी दयानन्द सरस्वतीप्रणीत है तो ऋग्यजुः साम और अथर्व चारों वेद भी उन्हीं के प्रणीत हैं।

रा०—वादी को आप अपना प्रतिध्वनि समझिये *।

स्वा०—देखिये राजाजी की अविद्या के प्रकाश को। क्या प्रतिवादी का प्रतिध्वनि वादी कभी हो सकता है। क्योंकि जैसा शब्द और उस में जैसे पद अक्षर और मात्रा होती हैं वैसा ही प्रतिध्वनि सुनने में आता है विपरीत नहीं। कोई बालबुद्धि भी नहीं कह सकता कि वादी अपने मुख से प्रतिवादी ही के शब्दों को निकाले विरुद्ध नहीं। जबतक प्रतिवादी के पक्ष से विरुद्धपक्ष प्रतिपादन नहीं करता तबतक वह उसका वादी कभी नहीं हो सकता। जैसे कुआ में से प्रतिध्वनि सुना जाता है क्या वह वक्ता के शब्द से विरुद्ध होता है?।

रा०—आप ने लिखा वेदसंहिता स्वतःप्रमाण और ब्राह्मण परतःप्रमाण हैं। वादी कहता है कि जो ऐसा है तो ब्राह्मण ही स्वतःप्रमाण हैं आप का संहिता परतःप्रमाण होगा।

स्वा०—क्या यह उपहास की बात नहीं है, जैसे कोई कहे कि सूर्य्य और दीप स्वतःप्रकाशमान हैं तो घटपटादि भी स्वतःप्रकाशमान हैं।

* जो मैं राजाजी के सदृश होता तो वादी को अपना प्रतिध्वनि समझता। क्योंकि प्रतिध्वनि, ध्वनि से विरुद्ध कभी नहीं हो सकती और वादी प्रतिवादी से अविरुद्ध कभी नहीं हो सकता।

रा०--आपने लिखा कि मेरी बनाई हुई ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के नव (९) पृष्ठ से लेके अट्ठासी (८८) पृष्ठ * तक वेदोत्पत्ति, वेदों का नित्यत्व और वेद-संज्ञा विचार विषयों को देख लीजिये निश्चय होगा। सो महाराज ! निश्चय के पलटे में तो और भी भ्रांति में पड़गया ! मुझे तो इतना ही प्रमाण चाहिये कि आप ने संहिता को माननीय मानकर ब्राह्मण का क्यों परित्याग किया। और वादी तो संहिता जैसा ब्राह्मण को वेद मान जो आप ने वेद के अनुकूल लिखा अपने अनुकूल और जो ब्राह्मण के प्रतिकूल लिखा उसे संहिता के भी प्रतिकूल समझता है।

स्वा०--यह सच है कि जो अविद्वान् होकर विद्वत्ता का अभिमान करे वह अपनी अयोग्यता से सुख छोड़कर दुःख क्यों न पावे। मैंने वेदों को स्वतः-प्रमाण मानने और ब्राह्मणों को परतःप्रमाण मानने में कारण इस भ्रमोच्छेदन के २१ पृष्ठ † में आगे लिखे हैं। क्या वांचते समय अकस्मात् बुद्धि और आंखें अन्धकारावृत होगये थे। परन्तु जो २ वेदानुकूल ब्राह्मणग्रन्थ हैं उन को मैं मानता और विरुद्धार्थों को नहीं मानता हूं। वेद स्वतःप्रमाण और ब्राह्मण परतः-प्रमाण हैं। इससे जैसे वेदविरुद्ध ब्राह्मणग्रन्थों का त्याग होता है वैसे ब्राह्मण-ग्रन्थों से विरुद्ध होने पर भी वेदों का परित्याग नहीं हो सकता, क्योंकि वेद सर्वथा सब को माननीय हैं।

रा०--तस्माद्यज्ञात् अजायत अर्थात् उस यज्ञ से वेद उत्पन्न हुए पृष्ठ १० पङ्क्ति २९ में आप शतपथ आदि ब्राह्मण का प्रमाण देकर यह सिद्ध करते हैं कि यज्ञ विष्णु और विष्णु परमेश्वर।

स्वा०--जो राजाजी कुछ भी संस्कृत पढ़े होते तो सन्निपाती के सदृश चेष्टा करके भ्रमजाल में न पड़ते। क्योंकि तच्छब्द सर्वत्र पूर्वपरामर्शक होता है। इसी से मैंने (सहस्रशीर्षा पुरुषः) यहां से लेके (ग्राम्याश्च ये) यहां तक जो छः

* शताब्दीसंस्करण पृ० २६८ से ३६६ तक।

† शताब्दी संस्करण पृ० ८६० से ८६१ तक तथा भ्रमोच्छेदन पृ० १२ देखो। पृ० २१ का निर्देश भ्रमोच्छेदन की हस्तलिखित कापी का है।

मन्त्रों से प्रतिपादित निमित्तकारण परमात्मा पूर्वोक्त है उसका आमर्ष अर्थात् अनुकर्षण करके अन्वित किया है। देखो इसी के आगे भूमिका के पृष्ठ ९ पंक्ति १३ * तस्माद्यज्ञात्स० तस्माद्यज्ञात्सच्चिदानन्दादिलक्षणात्पूर्णात्पुरुषात् सर्वहुतात् सर्वपूज्यात् सर्वशक्तिमतः परब्रह्मणः (ऋचः) ऋग्वेदः (यजुः) यजुर्वेदः (सामानि) सामवेदः (छन्दांसि) अथर्ववेदश्च (जज्ञिरे) चत्वारो वेदास्तेनैव प्रकाशिता इति वेद्यम्। यह सर्वहुत और यज्ञ विशेषण पूर्ण पुरुष के हैं। (तस्मात्) अर्थात् जो सब का पूज्य सर्वोपास्य सर्वशक्तिमान् पुरुष परमात्मा है उससे चारों वेद प्रकाशित हुए हैं इत्यादि से यहां वेदों ही के प्रमाण से चार वेदों को स्वतःप्रमाण से सिद्ध किया है। यद्यपि यहां यज्ञ शब्द भी पूर्ण परमात्मा का विशेषण है तथापि जैसा मैंने अर्थ किया है वैसा ब्राह्मण में भी है। इस साक्षी के लिये (यज्ञो वै विष्णुः) यह वचन लिखा है। और जो ब्राह्मण में मूल से विरुद्ध अर्थ होता तो मैं उसका वचन साक्षी के अर्थ कभी न लिखता। जो इस प्रकार से पद, वाक्य, प्रकरण और ग्रन्थ की साक्षी, आकांक्षा योग्यता आसत्ति और तात्पर्यार्थ को पक्षी राजाजी और स्वामी विशुद्धानन्दजी जानते वा किसी पूर्ण विद्वान् की सेवा करके वाक्य और प्रकरण के शब्दार्थसम्बन्धों के जानने में तन मन धन लगा के अत्यन्त पुरुषार्थ से पढ़ते तो यथावत् क्यों न जान लेते †।

रा०—पृष्ठों को कुछ उलट पलट किया तो विचित्र लीला दिखाई देती है आप पृष्ठ ८० पङ्क्ति २६ ‡ में लिखते हैं कात्यायन ऋषि ने कहा है कि मन्त्र और ब्राह्मण ग्रन्थों का नाम वेद है। पृष्ठ ५२ ¶ में लिखते हैं प्रमाण ८ हैं और

---

* शताब्दीसंस्करण पृ० २६८ पं० २४ से।

† प्रसिद्ध है कि जो कोदों देके पढ़ते हैं वे पदार्थों को यथावत् कभी नहीं जान सकते।

‡ शताब्दीसंस्करण पृ० ३५७ पंक्ति ८।

¶ शताब्दीसंस्करण पृ० ३२२ पंक्ति ६।

फिर पृष्ठ ५३ * में लिखते हैं चौथा शब्दप्रमाण आप्तों के उपदेश, पांचवां ऐतिह्य सत्यवादी विद्वानों के कहे वा लिखे उपदेश । तो आप के निकट कात्यायन ऋषि आप्त और सत्यवादी विद्वान् नहीं थे) † ।

स्वा०—इस का प्रत्युत्तर मेरी बनाई ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के पृष्ठ ८० पङ्क्ति २८ से लेके पृष्ठ ८८ की पङ्क्ति १२ ‡ तक में लिख रहा है जो चाहे सो वहां देख लेवे । और जो वहां (एवं तेनानुक्तत्वात्) यह वचन लिखा है उस का यही अभिप्राय है कि (मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्) यह वचन कात्यायन ऋषि का नहीं है किन्तु किसी धूर्तराट् ने कात्यायन ऋषि के नाम से बनाकर प्रसिद्ध कर दिया है । जो कात्यायन ऋषि का कहा होता तो सब ऋषियों की प्रतिज्ञा से विरुद्ध न होता § । क्या आप जैसा कात्यायन को आप्त मानते हैं वैसा पाणिनि आदि ऋषियों को आप्त नहीं मानते ? । जो इन को भी आप्त मानते हो तो पाणिनि आदि आप्तों की प्रतिज्ञा से विरुद्ध कात्यायन ऋषि क्यों लिखते ? । और जो कहो कि हम इस वचन को कात्यायन का ही मानेंगे तो ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि आप पाणिनि आदि अनेक ऋषियों के लेख का तिरस्कार कर एक को आप्त कैसे मान सकते हो । और जो उनको भी आप्त मानते हो तो मन्त्रसंहिता ही वेद है उनके इस वचन को मानकर तद्विरुद्ध ब्राह्मण को वेद संज्ञा के प्रतिपादक वचन को क्यों नहीं छोड़ देते, क्योंकि एक विषय में परस्पर विरोधी दो वचन सत्य कभी नहीं हो सकते । और जो सैकड़ह आप्त ऋषियों को छोड़कर एक ही को आप्त मानकर सन्तुष्ट रहता है वह कभी विद्वान् नहीं कहा जा सकता ।

---

* शताब्दीसंस्करण पृ० ३२३ पंक्ति १४ ।

† वे तो आप्त विद्वान् थे, परन्तु जिसने उनके नाम से वचन रचकर प्रसिद्ध किया वह तो अनाप्त अविद्वान् ही था ।

‡ शताब्दीसंस्करण पृ० ३५७ पंक्ति ७ से पृ० ३६६ पंक्ति १७ तक ।

§ हज़ारह आप्तों का एक अविरुद्ध मत होता है दो मूर्खों का भी एकमत होना कठिन है ।

रा०—आप लिखते हैं कि ब्राह्मण में जमदग्नि कश्यप इत्यादि जो लिखे हैं सो देहधारी हैं अतएव वह वेद नहीं और संहिता में शतपथब्राह्मण के अनुसार जमदग्नि का अर्थ चक्षु और कश्यप का अर्थ प्राण है अतएव वह वेद है।

स्वा०—ब्राह्मणों में जमदग्नि आदि देहधारियों का नाम यों है कि जहां २ ब्राह्मण ग्रन्थों में उनकी कथा लिखी है वहां २ जैसे देहधारी मनुष्यों का परस्पर व्यवहार होता है वैसा उनका भी लिखा है। इसलिये वहां देहधारी का ग्रहण करना योग्य है। और जहां मनुष्यों के इतिहास लिखने की योग्यता नहीं हो सकती वहां इतिहास लिखने का भी सम्भव नहीं हो सकता। जो वेदों में इतिहास होते तो अनादि और सब से प्राचीन नहीं हो सकते, क्योंकि जिसका इतिहास जिस ग्रन्थ में लिखा होता है वह ग्रन्थ उस मनुष्य के पश्चात् होता है। जब कि वेदों में (त्र्यायुषं जमदग्नेः०) इत्यादि मन्त्रों की व्याख्या पदार्थविद्यायुक्त होनी ही उचित है इससे उनमें इतिहास का होना सर्वथा असम्भव है। जिसलिये जैसा मूलार्थ प्रतीत होने के कारण जमदग्नि आदि शब्दों से चक्षु आदि ही थों का ग्रहण करना योग्य है वैसा ही ब्राह्मणग्रन्थों और निरुक्त आदि में लिखा है। इसलिये यह मैंने अपने किये अर्थों के सत्य होने के लिये साक्ष्यर्थमात्र लिखा है। राजाजी जो इस बात को जानते और इन ग्रन्थों को पढ़े होते तो भ्रमजाल में फँसकर दुःखित न होते।

रा०—उस में भी क्या उपनिषद् संज्ञी और इतिहासपुराणादि संज्ञा है अथवा ऋग्वेदादि क्रमानुसार उनका संज्ञी वा संज्ञा है ?।

स्वा०—इस का उत्तर यह है कि एक ईशावास्य उपनिषद् तो यजुर्वेद का चालीसवां अध्याय होने से वेद है और केन से ले के बृहदारण्यकपर्यन्त नव (९) उपनिषद् ब्राह्मणान्तर्गत होने से उन की भी इतिहासादि संज्ञा "ब्राह्मणानीतिहास०" इस पूर्वोक्त वचन से है। इससे (एवं वा अरे०) इस वचन में निमित्तकारण कार्यसम्बन्ध होने से संज्ञासंज्ञीसम्बन्ध नहीं घट सकता। परन्तु राजासाहब के सदृश अविद्वान् तो (भुक्षमस्तीति वक्तव्यं दशहस्ता हरीतकी)

ऐसा लिखने वा कहने में कुछ भी भययुक्त वा लज्जावान् नहीं होते * ।

रा०—आप लिखते हैं कि ब्राह्मण वेदों के अनुकूल होने से प्रमाण के योग्य तो हैं, यदि आप इतना और मानलें कि सम्पूर्ण ब्राह्मणों का प्रमाण संहिता के प्रमाण के तुल्य है ।

स्वा०—अविद्वान् को कभी विद्यारहस्य के समझने की योग्यता नहीं हो सकती । क्या ऐसा कोई विद्वान् भी सिद्ध कर सकता है कि व्याख्या के अनुकूल होने से मूल का प्रमाण और प्रतिकूल से अप्रमाण, और व्याख्या के मूल से प्रतिकूल होने से प्रमाण और अनुकूल होने से अप्रमाण होवे ? । इसलिये मन्त्रभाग मूल होने से ब्राह्मण ग्रन्थों से अनुकूल वा प्रतिकूल हो तथापि सर्वथा माननीय होने के कारण स्वतःप्रमाण और ब्राह्मणग्रन्थ व्याख्या होने से मूलार्थ से विरुद्ध हों तो अप्रमाण और अनुकूल हों तो प्रमाण होकर माननीय होने के कारण परतःप्रमाण हैं । क्योंकि ब्राह्मणग्रन्थों में सर्वत्र संहिता के मन्त्रों की प्रतीक धर धर के पद वाक्य और प्रकरणानुसार व्याख्या की है । इसलिये मन्त्रभाग मूल व्याख्येय और ब्राह्मणग्रन्थ व्याख्या है ।

रा०—आप लिखते हैं—तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति । अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते । इसका अर्थ सीधा २ यह मान लेवें कि आप के चारों वेद और उन के छहों अङ्ग अपरा हैं, जो परा उससे अक्षर में अधिगमन होता है । अपना फिरावट का अर्थ वा अर्थाभास छोड़ दें । किमधिकमित्यलम् ।

स्वा०—यहां तक आप का जो ऊटपटांग लेख है उस को कौन शुद्ध कर सकता है, क्योंकि इसी भूमिका के पृष्ठ ४२ पङ्क्ति ३ † में 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' इस

* विद्यावृद्धि ही को अन्यथा कहने और लिखने में शर्म वा भ्रम होता है, अविद्यायुक्त बालकों को नहीं ।

† शताब्दीसंस्करण पृ० ३१० पंक्ति ३ ।

उपनिषद के वचन ने आप के सीधे २ अर्थ को टेढ़ा २ कर दिया। देखो यमराज कहते हैं कि हे नचिकेता! जिस का अभ्यास सब वेद करते हैं उस ब्रह्म का उपदेश तुझ से करता हूं, तू सुन कर धारण कर। जब ऐसा है तो वेदों अर्थात् मन्त्रभाग में परा विद्या क्यों नहीं?। देखो "तमीशानं" इत्यादि मन्त्र ऋग्वेद। "परीत्य भूतानि" इत्यादि और "ईशावास्य" इत्यारभ्य "ओं खं ब्रह्म" पर्यंत मन्त्रयुक्त चालीसवां (४०) अध्यायस्थ मन्त्र यजुर्वेद। "दधन्वेवाय-दीमनुवोचदब्रह्मेति वेरुत्तत्" इत्यादि मन्त्र सामवेद। "महद्यक्षं" इत्यादि मन्त्र अथर्ववेद में हैं। जब वेदों में हजारह मन्त्र ब्रह्म के प्रतिपादक हैं जिन में से थोड़े मन्त्रों का अर्थ भी मैंने भूमिका के पृष्ठ ४३ पङ्क्ति ३१ से लेके पृ० ७७ पङ्क्ति ४ * की समाप्ति तक लिख रक्खा है जिसको देखना हो देख लेवे। भला इतना भी राजाजी को बोध नहीं है कि जो वेदों में परा विद्या न होती तो केन आदि उपनिषदों में कहां से आती?। मूलं नास्ति कुतः शाखाः। क्या जो परमेश्वर अपने कहे वेदों में अपनी स्वरूपविद्या का प्रकाश न करता तो किसी ऋषि मुनि का सामर्थ्य ब्रह्मविद्या के कहने में कभी हो सकता था?। क्योंकि कारण के विना कार्य होना सर्वथा असम्भव है। जो केन आदि नव उपनिषदों को पराविद्या में मानेंगे तो इन से भिन्न आयुर्वेद धनुर्वेद गान्धर्ववेद अर्थवेद और मीमांसादि छः शास्त्र आदि परा विद्या में क्यों नहीं?। जब न इस वचन में उपनिषद् और न किसी अन्य ग्रन्थ का नाम लिखा है तो कोई उनका ग्रहण कैसे कर सकता है। भला कोई राजाजी से पूछेगा कि आपने (यया तदक्षर-माधिगम्यते सा पराविद्यास्ति) इस वाक्य से कौन से ग्रन्थों का नाम निश्चित किया है। क्या (यया) इस पद से कोई विशेष ग्रन्थ भी आ सकता है?। और जो मैंने वेदों में परा और अपरा विद्या लिखी है उसको कोई विपरीत भी कर सकता है, कभी नहीं। इसलिये सब मनुष्यों को योग्य है कि जैसे राजाजी संस्कृत विद्या के वेदादि ग्रन्थों को न पढ़कर उन्हीं में प्रश्नोत्तर किया चाहते और जैसी स्वामी विशुद्धानन्दजी ने विना सोचे समझे सम्मति कर दी

* शताब्दीसंस्करण पृ० ३११ पङ्क्ति २४ से पृ० ३४२ पं० २० तक।

है वैसे साहस न करना चाहिये, किन्तु उस २ विद्या में योग्य हो के किसी से विचारार्थ प्रवृत्त होना चाहिये।

प्रश्न—आप ने अपने दूसरे पत्र में राजाजी को लिख कर प्रश्न करने और उत्तर समझने में अयोग्य जान कर लिख के उत्तर देना चाहा न था फिर अब क्यों लिख के उत्तर देते हो ?।

उत्तर—जो राजाजी स्वामी विशुद्धानन्दजी की सम्मति न लिखाते तो मैं इस पत्र के उत्तर में एक अक्षर भी न लिखता, क्योंकि उनको तो जैसा अपने पत्र में लिख चुका हूं वैसा ही निश्चित जानता हूं।

प्रश्न—इस संवाद में आप प्रतिपक्षी राजाजी को समझते हो वा स्वामी विशुद्धानन्दजी को ?।

उ०—स्वामी विशुद्धानन्दजी को। क्योंकि राजाजी तो विचारे संस्कृतविद्या पढ़े ही नहीं। उनके सामने मेरा लेख ऐसा होवे कि जैसा बैल के सामने अत्यन्त निपुण गानेवाले का वीणा आदि बजाना और षड्जादि स्वरों का यथायोग्य आलाप करना होता है।

प्र०—जो तुम पक्षी राजाजी को छोड़कर स्वामी विशुद्धानन्दजी को आगे धरते हो सो यह न्याय की बात नहीं है ?।

उ०—यह मुझ वा किसी को योग्य नहीं है कि संस्कृत में कुछ योग्य विद्वान् को छोड़कर अयोग्य के साथ संवाद चलावे, न राजाजी को योग्य है कि अपने साक्षी को छोड़ें, और स्वामी विशुद्धानन्दजी को भी योग्य है कि अपने शरणागत आये राजाजी की रक्षा से विमुख न हो बैठें *।

प्र०—स्वामी विशुद्धानन्दजी वा बालशास्त्रीजी आदि काशी के सब विद्वान्

---

* यह धार्मिक विद्वानों का काम नहीं है कि जिसको शरणागत लेवें उसे छोड़कर विश्वासघात कर बैठें।

और बुद्धिमान् मिलकर राजाजी का पक्ष लेकर आप से शास्त्रार्थ वा लेख करेंगे तो आप को बड़ा कठिन पड़ेगा ? ।

उ०—मैं परमेश्वर की साक्षी से सत्य कहता हूं कि जो ऐसा वे करें तो मैं अत्यन्त प्रसन्नता के साथ सब को विदित करता हूं कि यह बात कल होती हो तो आज ही होवे । जो ऐसी इच्छा मेरी न होती तो मैं काशी में विज्ञापनपत्र क्यों लगवाता और स्वामी विशुद्धानन्दजी तथा बालशास्त्रीजी को प्रतिपक्षी स्वीकार क्यों करता ? ।

प्र०—वे हैं बहुत और आप अकेले हो कैसे संवाद कर सकोगे ? ।

उ०—इसके होने में कुछ असम्भव नहीं । क्योंकि जब सब काशी और अन्यत्र के विद्वान् और बुद्धिमान् लोग अपना अभिप्राय पत्रस्थ कर वा सन्मुख जाके स्वामी विशुद्धानन्दजी वा बालशास्त्रीजी को विदित कराते जायंगे, और वे उन लेख वा वचनों को देख सुन उनमें से इष्ट को ले, मुझ से सन्मुख वा पत्रद्वारा, इन दो बातों में से जिस में उनकी प्रसन्नता हो ग्रहण करके शास्त्रार्थ करें, उसी बात में मैं भी उनसे शास्त्रार्थ करने में उद्यत हूं । परन्तु जैसे मैं इस पुस्तक पर अपना हस्ताक्षर प्रसिद्ध करता हूं वैसे वे भी करें तो ठीक है, अन्यथा नहीं ।

प्र०—सन्मुख होकर शास्त्रार्थ करने में अच्छा होगा वा पत्रद्वारा ? ।

उ०—सर्वोत्तम तो यह है जो मैं और वे सन्मुख होकर शास्त्रार्थ करें तो शीघ्र सत्य वा झूठ का सिद्धान्त हो सकता है । अर्थात् १ महीने से लेके छः महीने तक सब बातों का निर्णय हो सकता है । और दूर २ रहकर पत्रद्वारा शास्त्रार्थ करने में ३६ छत्तीस वर्षों में भी पूरा होना कठिन है । परन्तु जिस पक्ष में वे प्रसन्न हों उसी में मैं भी प्रसन्न हूं ।

प्र०—इस शास्त्रार्थ के होने और न होने का क्या फल होगा ? ।

उ०—जो अविरोध होने से एक मत होकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष

से सब को परमानन्द होना और न होने पर जो परस्पर विरुद्ध मिथ्यामत में वर्त्तमान मनुष्यों के अधर्म अनर्थ कुकाम और बन्ध के न छूटने से उनके दुःखों का न छूटना फल है।

प्र०—शास्त्रार्थ हुए पर भी हठ से आप वा वे विरुद्ध मत न छोड़ें तो छुड़ाने का क्या उपाय है ?।

उ०—शास्त्रार्थ से पूर्व, मैं और वे जिसका पक्ष झूठा हो उस के छोड़ने और जिसका सत्य हो उस के स्वीकार करने के लिये प्रतिज्ञा का पक्के कागज़ पर लेख होकर, रजिस्टरी कराकर, एक दूसरे को अपने २ पत्र को देने से सम्भव है कि आप अपना २ हठ छोड़ देवें, क्योंकि जो न छोड़ेगा तो राजा अपनी व्यवस्था से हठ को छुड़ा सकता है।

प्र०—जब आप काशी में सब दिन निवास नहीं करते और स्वामी विशुद्धानन्दजी तथा बालशास्त्रीजी वहीं बसते हैं तो सन्मुख में शास्त्रार्थ कैसे हो सकता है ?।

उ०—मैं यह प्रतिज्ञा करता हूं कि जब वे सन्मुख होकर शास्त्रार्थ करना स्वीकार करेंगे और मैं इसको सत्य समझ लूंगा, तब जहां हूंगा वहां से चल के काशी में उचित समय पर पहुंचूंगा, कि जिसमें उनको परदेशयात्रा का क्लेश और धनव्यय भी न करना पड़ेगा। पुनः वहां यथावत् शास्त्रार्थ होकर सत्यासत्य निर्णय के पश्चात् सब का उपकार भी सिद्ध होगा। क्या यह छोटा लाभ है।

प्र०—जब आप उनसे शास्त्रार्थ करके अपना मत सिद्ध किया चाहते और वे नहीं किया चाहते हैं इसका क्या कारण है ?।

उ०—विदित होता है कि वे अपने मन में जानते हैं कि शास्त्रार्थ करने से हम अपने मत को सिद्ध न कर सकेंगे वा सं० १९२६ के शास्त्रार्थ को देख घबराहट होगी कि दूर ही दूर से ढोल बजाना अच्छा है। जो उन को यह निश्चय होता कि हमारा मत वेदानुसार और स्वामीजी का मत वेदविरुद्ध है तो

शास्त्रार्थ किये बिना कभी नहीं रहते। अथवा जो और कुछ कारण हो वो शास्त्रार्थ करने में क्यों विलम्ब करते हैं।

"विज्ञापनमिदम्"

आज से पीछे जो कोई पुराण वा तन्त्र आदि मत वाले मुझ से विरुद्ध पक्ष को लेकर शास्त्रार्थ किया चाहें वा लिख के प्रश्नोत्तर की इच्छा करें वे स्वामी विशुद्धानन्दजी और बालशास्त्रीजी के द्वारा ही करें। इससे अन्यथा जो करेंगे तो मैं उनका मान्य कभी न करूंगा। हां सन्मुख आके तो वे स्वयं भी पूछ सकते हैं। इससे स्वामी विशुद्धानन्दजी और बालशास्त्रीजी ऐसा न समझें कि हम वेदों में विद्वान् वा सर्वोत्तम पण्डित हैं और कोई अन्य मनुष्य भी ऐसा निश्चय न कर लेवे कि इनसे अधिक पण्डित आर्य्यावर्त्त में दूसरा कोई भी नहीं है। हां ऐसा निश्चय करना तो ठीक है कि काशी में इस समय आधुनिक ग्रन्थाभ्यासकर्त्ता संन्यासियों में स्वामी विशुद्धानन्दजी और गृहस्थों में बालशास्त्रीजी कुछ विशिष्ट विद्वान् हैं। मैंने तो संवाद में केवल अनवस्थादोषपरिहारार्थ इन दोनों को प्रमुख आर्य्यावर्त्तीय पण्डितों में माना है। अनुमान है कि उनको अन्य भी मनुष्य ऐसा मानते होंगे। इस से अन्य प्रयोजन कुछ भी नहीं। सर्वशक्तिमान् सर्वान्तर्यामी परमेश्वर कृपा करके स्वामी विशुद्धानन्दजी और बालशास्त्रीजी को निर्भय निःशङ्क करें कि जिससे वे मुझ से सन्मुख वा पत्रद्वारा पाषाणादिमूर्त्तिपूजादिमंडन विषयों में शास्त्रार्थ करने में दृढोत्साहित हों जैसे कि मैं उनके खण्डन में दृढोत्साहित हूं।

मुनिरामाङ्कचन्द्रेब्दे शुक्रे मासेऽसिते दले।
द्वितीयायाङ्गुरौ वारे भ्रमोच्छेदो ह्यलङ्कृतः॥ १॥

इति श्रीमत्स्वामिदयानन्दसरस्वतीनिर्मिता भ्रमोच्छेदो
ग्रन्थोऽयं पूर्त्तिमगमत्

दयानन्दसरस्वती.

शताब्दी-संस्करण

भ्रांतिनिवारणम्

पृष्ठ ८७१—९१७.

भ्रान्तिनिवारणम्

—:o:—

आवृत्ति		सन् ई०		संख्या
प्रथम	...	१८७७	...	१०००
द्वितीय	...	१८८४	...	१०००
तृतीय	...	१८९५	...	२०००
चतुर्थ	...	१९१२	...	१०००
पंचम	...	१९१९	...	२०००
शताब्दीसंस्करण		१९२४	...	१०,०००
				१७,०००

भूमिका

विदित हो कि जो मैंने संसार के उपकारार्थ वेदभाष्य के बनाने का आरम्भ किया है कि जो सब प्राचीन ऋषियों की कीहुई व्याख्या और अन्य सत्य ग्रन्थों के प्रमाणयुक्त बनाया जाता है जिससे इस बात की साक्षी वे सब ग्रन्थ आज पर्यन्त वर्तमान हैं। और मेरे बनाए मासिक अङ्कों में भी विद्वानों के समझने के लिये संकेतमात्र जहां तहां लिख दिये हैं कि देखनेवालों को सुगमता हो। और किसी प्रकार की भ्रांति वा शंका मेरे लेख पर होकर वृथा कुतर्क खड़ी करके कोई मनुष्य मेरे काल को न खोवे कि जिससे देश भर की हानि हो। और उसको भी कुछ लाभ न हो। परन्तु बहुधा संसार में यह उलटी रीति है कि लोग उत्तम कर्म कर चुके और करते हुए को देखकर ऐसे प्रसन्न नहीं होते जैसे कि निषिद्ध कार्य वा हानि को देखकर होते हैं। जो मैं निरानिरी संसार ही का भय करता और सर्वज्ञ परमात्मा का कुछ भी नहीं कि जिसके आधीन मनुष्य के जीवन मृत्यु और सुख दुःख हैं तो मैं भी ऐसे ही अनर्थक वाद विवादों में मन देता। परन्तु क्या करूं मैं तो अपना तन मन धन सब सत्य के ही प्रकाशार्थ समर्पण करचुका। मुझ से खुशामद करके अब स्वार्थ का व्यवहार नहीं चल सकता। किन्तु संसार को लाभ पहुंचाना ही मुझ को चक्रवर्ती राज्य के तुल्य है। मैं इस बात को प्रथम ही अच्छे प्रकार जानता था कि न्यारिये के समान बालू से सुवर्ण निकालने वाले चतुर कम होंगे। किन्तु मलीन मच्छी की नाईं निर्मल जल को गदला करने और बिगाड़ने वाले बहुत हैं। परन्तु मैंने इस धर्मकार्य का सर्वशक्तिमान् सत्यग्राहक और न्यायसम्बन्धी परमात्मा के शरण में सीस धर के उसी के सहाय के अवलम्ब से आरम्भ किया है।

मैं यह भी जानता था कि इस ग्रंथ के विषय में जो शंका होंगी तो कम विद्वान् और ईर्ष्या करनेवालों की होंगी। परन्तु बड़े आश्चर्य की बात है कि कोई विद्वान् भी इसी अन्धकार में फिसल पड़े। और इतना न हुआ कि आंख

खोल कर अथवा लालटेन लेकर चलें कि जिसमें चाल चूकने पर हांसी और दुःख न हो। यह पूर्व विचार करना बड़े विद्वान् अर्थात् दीर्घदृष्टि वाले का काम है। नहीं तो गिरे की लज्जा का फिर क्या ही ठीक है। इस वेदभाष्य के विषय में पहिले आर० ग्रिफिथ साहब सी० एच० टानी और पण्डित गुरुप्रसाद आदि पुरुषों ने कहीं २ अपनी सामर्थ्य के अनुसार पकड़ की थी। सो उन का उत्तर तो अच्छे प्रकार दे दिया गया था। परन्तु अब पण्डित महेशचन्द्र न्यायरत्न जो आफीशियेटिंग प्रिन्सिपल कलकत्ते में के संस्कृत कालेज के हैं, उन्होंने भी पूर्वोक्त विद्वान् पुरुषों का रंग पकड़ कर सन के छूछे गोले चलाये हैं। इसलिये यद्यपि मेरा बहु अमूल्य समय ऐसे तुच्छ कामों में खर्च होना न चाहिये, परन्तु दो बातों की सिद्धि समझ कर संक्षेप से कुछ लेख करना आवश्यक जानता हूं। एक तो यह कि ईश्वरकृत सत्यविद्यापुस्तक वेदों पर दोष न आवे कि उनमें अनेक परमेश्वर की पूजा पाई जाती है। और दूसरे यह कि आगे को मनुष्यों को प्रकट होजाय कि ऐसी २ व्यर्थ कुतर्क फिर खड़ी करके मेरा काल न खोवें। क्योंकि इससे कई कठिन शंका तो मेरे बनाये ग्रंथों ही के ठीक २ मन लगाकर विचारने से ही निवारण हो सकती हैं। फिर निष्प्रयोजन मेरा सर्वहितकारी काल क्यों खोते हैं।

यह दोष इस देश में बहुत काल से पड़ा हुआ है। अर्थात् महाभारत के युद्ध में जब अच्छे २ पूर्णविद्वान् वेद और शास्त्रादिक के जानने वाले चल बसे, विद्या का प्रचार तथा सत्य उपदेश की व्यवस्था छूटकर तमाम देश में नाना प्रकार के विघ्न और उपद्रव उठने लगे, लोगों ने अपना २ छप्पर अपने २ हाथ से छाने की फिकर की, और इस थोड़े से सुख के लोभ में उत्तम २ विद्याओं को ऐसा हाथ से खो बैठे कि जिससे उनका विचारा हुआ लाभ भी नष्ट होगया, और तमाम अपने देश को भी धर कर डुबा दिया। बड़े शोक की बात यह है कि आंखों से देखकर भी कूप में ही गिरना अच्छा समझ कर अपनी अज्ञानता पर दुःखी और लज्जावान् होने की जगह भी बराबर हठ ही करते चले जाते हैं। इसका परिणाम न जाने क्या होना है।

दूसरा कारण आर्यों के बिगाड़ का यह भी है। उन को जैन लोगों ने बहुत कुछ दबाया और सत्यग्रंथों का नाश किया। फिर इन्हीं के समान मुसलमानों ने भी अपने धर्म का पक्ष करके दुःख दिया। और जब से अङ्गरेजों ने इस देश में राज किया तो इन्होंने यह बात बहुत अच्छी की कि सब प्रकार की विद्याओं का प्रचार कर के प्रजा को समानदृष्टि से सुधारा। परन्तु कुछ २ निज धर्म का पक्ष करते ही रहे। इसी से लोगों का उत्साह भी कमती होता गया। और आजतक वेदों का प्रचार और सत्य उपदेश का प्रबन्ध ठीक २ होता तो किसी को शंका भ्रान्ति और हठ वेद के विरुद्ध नवीन कल्पित मत मतान्तर का न होता। जैसा कि पंडित महेशचन्द्र का गुमान है यह केवल उन का वेदों से विमुख होने का कारण है। इसलिये उनके भ्रान्तिनिवारण विषय में कुछ लिखा जाता है। इति ॥

दयानन्दसरस्वती.

ओ३म्

भ्रान्तिनिवारण

परिडत महेशचन्द्र न्यायरत्नकृत वेदभाष्यपरकप्रश्नपुस्तक का परिडत स्वामिदयानन्द सरस्वतीजी की ओर से उत्तर

पं० महेशचन्द्रन्यायरत्नजी ने विरुद्ध पंडितों के साथ में अपनी राय दी है तो उन्हीं के उत्तर में इन का भी उत्तर मेरी ओर से जान लेना ।

पं० महेश०—परिडत दयानन्द सरस्वतीजी के परिश्रम, विद्या और परिडताई निस्संदेह प्रशंसा योग्य हैं । परन्तु उनका कुछ फल मालूम नहीं देता ।

स्वामीजी—सम्मति देनेवालों की निष्पक्षता और न्याय तो उन के कथन से ही प्रत्यक्ष है कि जिस को छोटे विद्वान् लड़के भी जान लेंगे । क्योंकि पंडितजी लिखते हैं कि स्वामीजी सब तरह विद्या आदि पूर्णगुणयुक्त होने से प्रशंसायोग्य हैं, परन्तु कुछ फलदायक नहीं । तो उन का यह कथन पूर्वापर विरोधी है । और इस में उन का हठ वा वेदविद्या से विमुखता साबित होती है ।

पं० महेश०—स्वामीजी का यह गुमान वा अभिप्राय है कि वेद में एक परमेश्वर की पूजा ठीक है, तथा सब संसारीविद्या और वर्त्तमानकाल की कलाकौशलादि पदार्थविद्या वेदों से ही निकली है । इत्यादि बातें उनका काम मट्टी करदेती हैं ।

स्वामीजी—इस बात का उत्तर मैं ग्रिफिथ साहब के उत्तर में दे चुका हूं । जब परिडतजी के विचार से वेदों में एक परमेश्वर की उपासना नहीं है तो उन को उचित था वा अब भी चाहिये कि कोई मंत्र वेदों में से लिखकर यह बात सिद्ध करदें कि वेदों में अनेक परमेश्वरों का होना सिद्ध है । क्योंकि उन्होंने वेदमन्त्रों में से कोई प्रमाण अपने पक्ष की पुष्टि के लिये नहीं लिखा, इससे इनके

मन का अभिप्राय खुल गया और उन की विद्या की थाह मिलगई कि उन्होंने जो अटकलपच्चू कूप शब्द के समान चतुराई दिखलाई है। ये सब किसी ईर्ष्यक, स्वार्थी, विद्याहीन और पक्षपाती मनुष्य के फुसलाने से वा अपनी ही थोड़ी सामग्री अर्थात् हल्दी की गांठ के बल से लिखकर बैठ रहे कि जिस में वृथा कीर्त्ति देश में होजावे। सो पंडितजी यह न समझें कि भारतवर्ष में विद्वान् नहीं रहे। यह व्याघ्र की खाल किसी दिन उघड़ कर सब कलई खुल जावेगी। और मैं तो अपनी थोड़ीसी विद्या और बुद्धि के अनुसार जो कुछ लिखूंगा वह सब को मालुम होता जावेगा और जितना कर चुका वह जान लिया होगा। और कदाचित् पण्डितजी ने भी समझ लिया होगा। परन्तु मूक के समान संसारी और कल्पित भय से कंद का स्वाद जानकर यथार्थ और निष्पक्षता से कह और मान नहीं सकते हैं। परमात्मा की कृपा से मेरा शरीर बना रहा और कुशलता से वह दिन देख मिला कि वेदभाष्य संपूर्ण होजावे तो निस्सन्देह इस आर्य्यावर्त्त देश में सूर्य्य का सा प्रकाश हो जावेगा कि जिस के मेटने और झांपने को किसी का सामर्थ्य न होगा। क्योंकि सत्य का मूल ऐसा नहीं कि जिसको कोई सुगमता से उखाड़ सके। और कभी भानु के समान ग्रहण में भी आजावे तो थोड़े ही काल में फिर उग्रह अर्थात् निर्मल हो जावेगा।

पं० महेश०—स्वामीजी हिन्दुओं के धर्मचारी ग्रन्थों को नहीं मानते कि जिन में कर्मकाण्ड और होमादिक का विधान है, किन्तु केवल वेदों ही की तरफ़ खिंचते हैं। इससे मेरी समझ से तो उन को यही उचित है कि वेदों को भी एकतरफ़ डालकर अपनी युक्ति और बुद्धि ही के अनुसार वर्ताव वर्त्तें।

स्वामीजी—इस जगह पण्डितजी की और भी बढ़कर भूल साबित होती है, तथा जाना जाता है कि उन्होंने प्राचीन सत्य ग्रन्थ कभी देखे भी नहीं और कल्पना किया कि देखे हों तो केवल दर्शनमात्र किया हो। नहीं तो खाली तुकें न मिलाते। अब कोई साहब पण्डितजी से पूछें कि उन्होंने हिन्दू शब्द कौन से ग्रन्थ में देखा है कि जिसके अर्थ गुलाम वा काफ़िर आदि के हैं और जो कि आर्य्यावर्त्तियों को कलङ्करूप नाम यवनादिक की ओर से है और आर्य्य शब्द

जिसके अर्थ श्रेष्ठ के हैं वह वेदों में अनेक ठिकाने मिलता है सो पण्डितजी नौका में धूर उड़ाते हैं, सो कब हो सकता है। और भूषण को दूषण करके मानते हैं तो माना करो, परन्तु विद्वानों और पूर्ण पण्डितों की ऐसी उलटी रीति निज धर्मशास्त्र से विरुद्ध कभी नहीं होगी। आगे वे लिखते हैं कि स्वामीजी धर्मप्रचारी ग्रन्थों को ही नहीं मानते हैं कि जिनमें कर्मकाण्ड का विधान है। तो यह बड़े तमाशे की बात है कि न तो पण्डितजी ने कभी मुझ से मिलकर चिरकाल विचार किया और न उन्होंने मेरे बनाये हुये ग्रन्थ देखे, किन्तु प्रथम ही मेरे मानने न मानने के विषय में अपना सिद्धान्त कर बैठे। तो यह वही बात हुई कि सोवें झोंपड़े में और स्वप्न देखें राजमहलों का। क्योंकि मैं अपने निश्चय और परीक्षा के अनुसार ऋग्वेद से ले के पूर्वमीमांसा पर्य्यन्त अनुमान से तीन हजार ग्रन्थों के लगभग मानता हूं। तथा कर्मकाण्ड के विषय में यह उत्तर है कि मेरा मत वेद पर है। इसलिये जो २ कर्मकाण्ड वेदानुकूल है उस सब को मानता हूं, उससे विरुद्ध को नहीं, क्योंकि वे ग्रन्थ मनुष्यों ने अपने स्वार्थसाधन के निमित्त रच लिये हैं। वे वेद युक्ति वा प्रमाण से सिद्ध नहीं हो सकते। जो २ संस्कार आदि मैं मानता हूं वे सब मेरी बनाई हुई वेदभूमिका अङ्क तीन* में तथा संस्कारविधि आदि ग्रन्थ में देखना चाहिये। और वे लिखते हैं कि वेदों को भी एकतरफ़ धर दें, केवल अपनी युक्ति वा बुद्धि ही के आधारी रहें। तो उत्तर यह है कि मैं वेदों में कोई बात युक्तिविरुद्ध वा दोष की नहीं देखता और उन्हीं पर मेरा मत है। सो यह सब भेद मेरे वेदभाष्य में खुलता जायगा। और विद्वानों का यह काम नहीं कि किसी हेतु से सत्य को त्याग के असत्य का ग्रहण करें।

पं० महेश०—हिन्दुओं का विश्वास है कि देववाणी का प्रकाश परमेश्वर की ओर से वेद पुस्तकों के रूप से हुआ है वा ऋषियों के द्वारा प्रेरणा की गई है। परन्तु मेरी समझ से तो दोनों प्रकार ठीक नहीं हो सकता।

स्वामीजी—इस बात का उत्तर वेदभाष्य की भूमिका अङ्क १ प्रथम † वेदो-

* शताब्दीसंस्करण पृष्ठ ३१८ से पृष्ठ ३४७ तक।

† शताब्दीसंस्करण पृष्ठ २६८ से।

त्पत्ति प्रकरण में देख लेना चाहिये । परन्तु इतना यहां भी मैं कहता हूं कि आर्य्य लोग सनातन से युक्ति प्रमाण सहित वेदों को परमेश्वरकृत बराबर मानते चले आये हैं । इस का ठीक २ विचार आर्य्य लोग ही कर सकते हैं, हिन्दू विचारों का क्या ही सामर्थ्य है ।

पं० महेश०—वेद इस विषय में स्वतःप्रमाण हैं कि उन में बहुधा होम, बलिदान आदि का विधान है । तथा इस का प्रमाण अन्य ग्रन्थों में भी पाया जाता है कि जिन को स्वामीजी भी मानते हैं । इसलिये वे वेदमत को स्वीकार करके होमादिक से अलग नहीं बच सकते हैं, सिवाय ऐसे मनुष्य के कि जो स्वामीजी की तरह अपनी नवीन रीति से मन्त्रभाष्य की रचना करे । देखना चाहिये कि यह स्वामीजी का परिश्रम कैसा वृथा समझा जा सकता है कि जब मैं उन के भाष्य की परीक्षा करूंगा ।

स्वामीजी—वेदों में जो यज्ञादिक करने की आज्ञा है उस सब को प्रमाण और युक्तिसिद्ध होने के कारण मैं मानता हूं, और सब को अवश्य मानना चाहिये, जैसे कि वेदभूमिका अङ्क ३ के यज्ञप्रकरण में लिख दिया है । उससे विरुद्ध जो बलिदान आदि आजकल के लोगों ने समझ रक्खा है यह सब वेदविरुद्ध है । और मेरा भाष्य तो नवीन रीति का नहीं ठहर सकता, क्योंकि वह प्राचीन सत्य ग्रन्थों के प्रमाणयुक्त बनता है । परन्तु पंडितजी का जो कथन है सो केवल अप्रमाण है और पंडितजी ने मन के ही गुलगुले खाये हैं । आगे मेरे ग्रन्थ की परीक्षा तो तमाम देश भर को हो ही जावेगी परन्तु पंडितजी की विद्या तो अभी तुल गई ।

पं० महेश०—स्वामीजी का मन्त्रभाष्य ही अद्भुत नहीं है किन्तु उनके लिखने की रीति और व्याकरण भी पण्डितों के आगे हंसी के कराने वाले हैं । तथा कई अशुद्धियां जो उन के परीक्षकों ने निकाली हैं वे इस बात को साफ़ २ सिद्ध करती हैं कि स्वामीजी सत्य का प्रकाश तो नहीं करते, किन्तु अपनी कीर्त्ति और नाम की प्रसिद्धि अवश्य चाहते हैं । जैसे कि वे (उपचक्रे) शब्द को

पाणिनि के (गन्धनावक्षे०) सूत्र से सिद्ध करते हैं, यह कभी नहीं हो सकता। यह बात मानी जा सकती है कि (उपचक्रे) में आत्मनेपद लाया गया है साफ़ कहने के अर्थ में। परन्तु 'उप, कृञ्' से यह अर्थ नहीं निकल सकता है। और न स्वामीजी का यह अभिप्राय है। क्योंकि वे उसका भाषा में अर्थ करते हैं कि (किया है)।

स्वामीजी—इनका उत्तर मैं पण्डित गुरुप्रसाद आदि के तर्कखण्डन के साथ दे चुका हूं और पण्डितजी ने कुछ उनसे विशेष पकड़ नहीं की है। परन्तु इस बात का भेद सिवाय अन्तर्य्यामी परमेश्वर के जीव नहीं जान सकता कि मैं लोकहित चाहता हूं वा केवल विजय अर्थात् नाम की प्रसिद्धि। भाषार्थ में जो शब्द (किया है) लाया गया तो इस का कारण यह है कि भाषा में संस्कृत का अभिप्रायमात्र लिखा है, केवल शब्दार्थ ही नहीं, क्योंकि भाषा करने का तो केवल यही तात्पर्य है कि जिन लोगों को संस्कृत का बोध नहीं है उन को विना भाषार्थ के यथार्थ वेदज्ञान नहीं हो सकेगा। इसलिये भला यह कोई बात है कि ऐसी तुच्छ बातों में दोष पैदा करना, जो कि विद्वानों के विचार से दूर हैं। और उप, कृञ्, धातु का अर्थ है (उपकार और किया)। ये दोनों अर्थ भी भूतकाल की क्रिया को बतलाते हैं कि ईश्वर ने जीवों के हित के लिये वेदों का उपदेश किया है और ठीक २ घट सकता है।

पं० महेश०—खैर! ये तो साधारण बातें थीं, परन्तु अब मैं भारी २ दोषों पर आता हूं। मंत्रभाष्य के प्रथम संस्कृतखण्ड में (अग्निमीडे पुरोहितम्) इस के भाष्य में स्वामीजी ने अग्नि शब्द से ईश्वर का ग्रहण किया है। जब कि प्रसिद्ध अर्थ अग्नि शब्द का सिवाय आग के दूसरे कोई नहीं ले सकता। तथा सायणाचार्य्य वेद के भाष्यकार की इसी विषय में साक्षी वर्त्तमान है। स्वामीजी अपने पक्ष में शतपथ ब्राह्मण और निरुक्त आदि को प्रमाण मानते हैं, परन्तु क्या ये भाष्य आदि अग्नि शब्द से परमेश्वर के अर्थ की पुष्टि कर सकते हैं, अर्थात् कभी नहीं। क्योंकि जो २ शब्द उन में ईश्वरार्थ में लिखे हैं उन में

अग्नि शब्द का नाम भी नहीं है। फिर स्वामीजी इसी पत्र में ऐतरेयब्राह्मण का प्रमाण धरते हैं कि—

अग्निर्वै सर्वा देवताः * ॥ ऐ० १ । पं० १ ॥

यहां कुछ सम्बन्ध नहीं है, किन्तु दीक्षास्थिति यज्ञ में लग सकता है। मैं यह आगे का वाक्य डाक्टर एम० हाग साहब के टीकासहित लिखता हूं।

स्वामीजी—अब पण्डितजी की ऐसी पकड़ से मालूम होगया कि उनको संस्कृत ग्रंथ समझने का बहुत ही बोध है और विद्वानों को चाहिये कि पण्डितजी की खातर से मान भी लें कि वेदविद्या के बड़े प्रवीण हैं। सत्य तो यह है कि उन्होंने प्राचीन ऋषिमुनियों के ग्रन्थ कभी नहीं देखे और उनको ठीक २ अर्थ समझने का बिलकुल ज्ञान नहीं, क्योंकि जिन २ ग्रन्थों अर्थात् वेद, शतपथ और निरुक्त आदिकों के प्रमाण मैंने वेदभाष्य में लिखे हैं उनको ठीक २ विचारने से आयने के समान जान पड़ता है कि अग्नि शब्द से आग और ईश्वर दोनों का ग्रहण है। जैसे देखा कि—

इन्द्रं मित्रं † वरुण० । तदेवाग्निस्तदादित्य० ‡ । अग्निर्होता क[illegible] + । ब्रह्म ह्यग्निः । आत्मा वा अग्निः ।

देखिये विद्यानेत्र से इन पांच प्रमाणों में अग्नि शब्द से परमेश्वर ही का ग्रहण होता है।

अयं वा अग्निः प्रजाश्च प्रजापतिश्च ।

और इस प्रमाण में प्रजा शब्द से भौतिक अग्नि और प्रजापति शब्द से परमेश्वर लिया जाता है। इसी प्रकार—

संवत्सरोऽग्निः ।

---

* ऐ० १ । पं० १ । अ० १ । खं० १ ।
† ऋ० १ । १६४ । ४६ ॥
‡ य० ३२ । १ ॥
\+ ऋ० १ । १ । ५ ॥

इत्यादि प्रमाणों में अग्नि शब्द से ठीक २ परमेश्वर का ग्रहण होता है तथा।

अग्निर्वै सर्वा देवताः।

इस वचन में भी परमेश्वर और सांसारिक अग्नि का ग्रहण होता है। क्योंकि जहां उपास्यउपासकप्रकरण में सर्वदेवता शब्द से अग्निसंज्ञक परमेश्वर का ग्रहण होता है। इसमें मनु का प्रमाण दिया है। क्योंकि:—

यत्रोपास्यत्वेन सर्वादेवतेत्युच्यते तत्र ब्रह्मात्मैव ग्राह्यः।

जो वे इस पंक्ति का अभिप्राय समझते तो उन को अग्नि शब्द से परमेश्वर के ग्रहण में कभी भ्रम न होता। तथा निरुक्त * से भी परमेश्वर और भौतिक इन दोनों का यथावत् ग्रहण होता है। देखो एक तो (अग्रणीः) इस शब्द से उत्तम परमेश्वर ही माना जाता है इस में कुछ सन्देह नहीं। और दूसरा हेतु यह है कि (इतात्) इस शब्द से अग्नि नाम ज्ञानस्वरूप परमेश्वर ही का ग्रहण हो सकता है। क्योंकि 'इण गतौ' इस धातु से यहां ज्ञानार्थ ही अभिप्रेत है। (दग्धात्) इस पद से केवल भौतिक अग्नि लिया जायगा परमेश्वर नहीं। तथा (अक्तात् और नीतात्) इन दोनों से परमेश्वर और भौतिक दोनों लिये जाते हैं। क्योंकि "इण्" धातु से ऋषि की प्राप्ति और गमन अर्थ ही लेने का अभिप्राय होता तो (अक्तात्, दग्धात्, नीतात्) ऐसे शब्दों का ग्रहण नहीं करते। तथा जो अग्नि शब्द से धात्वर्थ ग्रहण में यास्कमुनि का अभिप्राय नहीं होता तो पृथक् २ धातुओं को नहीं गिनते . और (अग्निर्वै सर्वा देवताः, इति निर्वचनाय †) इस वचन का अर्थ निरुक्तकार करते हैं कि जिस को बुद्धिमान् लोग अनेक नामों से वर्णन करते हैं। जो कि एक अद्वितीय सब से बड़ा सब का आत्मा है उसी को अग्नि कहते हैं।

उत्तरे ज्योतिषी एतेन नामधेयेन भजेते ‡ ॥

* अ० ७। खं० १४॥ † अ० ७। खं० १७, १८॥ ‡ अ० ७। खं० १८।

इस वचन में अग्नि शब्द से परमेश्वर और भौतिक दोनों का ग्रहण होता है। क्योंकि इस अग्नि नामधेय से दोनों उत्तरज्योति अर्थात् अनन्त ज्ञानप्रकाशयुक्त परमेश्वर जो कि प्रलय के उत्तर सब से सूक्ष्म तथा आधार है उसका, और जो विद्युत्रूप गुणवाला सब से सूक्ष्म स्थूल पदार्थों में प्रकाशित और प्रकाश करने वाला भौतिक अग्नि है इन दोनों का यथावत् ग्रहण होता है। इसी प्रकारः—

अग्निः * पवित्रमुच्यते।

इत्यादि में भी अग्नि शब्द से दोनों ही को लेना होता है। तथा (प्रशासितारं० †) जो सब को शिक्षा करनेवाला, सूक्ष्म से भी अत्यन्त सूक्ष्म, स्वप्रकाशस्वरूप, समाधियोग से जानने योग्य परपुरुष परमात्मा है विद्वान् उसी को परमेश्वर जानें। फिर (एतमेके वदन्त्यग्निं० ‡) विद्वान् लोग अग्नि आदि नामों करके एक परमेश्वर को ही कहते हैं। ऊपर के सब प्रमाण अग्नि अर्थात् परमेश्वर में प्राचीन सत्यग्रन्थों की साक्षी से ठीक २ घटते हैं। परन्तु जो पण्डितजी के घरके निराले ग्रन्थ हैं उनमें न होगा। और कदाचित् वे कहें कि निघण्टु में जो ईश्वर के नाम हैं उनमें अग्नि शब्द नहीं आता इससे मालूम हुआ कि अग्नि परमेश्वर का वाची नहीं तो समझना चाहिये कि जैसे निघण्टु के अ० २ खं० २२ में जो "राष्ट्री। अर्य्यः। नियुत्वान्। इनः" ये चार ईश्वर के अप्रसिद्ध नाम हैं। और यह नहीं हो सकता कि जो नाम ईश्वर के निघण्टु में हों वे ही माने जायं औरों को विद्वान् लोग छोड़ देवें। परमेश्वर के तो असंख्यात नाम हैं और आप क्या चार ही नाम ईश्वर के समझते। और क्या निघण्टु में न लिखने से ब्रह्म, परमात्मा आदि ईश्वर के नाम नहीं हैं। यह पंडितजी की बिलकुल भूल है। जैसे ब्रह्म आदि ईश्वर के नाम निघण्टु के विना लिखे भी लिये जाते हैं वैसे अग्नि आदि भी परमेश्वर के नाम हैं। इस पूर्व पक्ष में जो कुछ आवश्यक था संक्षेप से लिख दिया। यह बात वेदभाष्य के अङ्क में विस्तारपूर्वक सिद्ध करदी है वहां देख लेना। पण्डितजी, आर० ग्रिफिथ साहब और सी०

* निघं० अ० ५। ख० ७॥ ‡ मनु अ० १२। १२३॥
† मनु० १२। १२२॥

एच० टानी साहबों के पीछे २ चलते हैं। सो इसका कारण यह है कि पं०जी ने महीधरादि की अशुद्ध टीका देख ली है। और उक्त साहबों ने प्रोफेसर विलसन आदि के उन्हीं अशुद्ध भाष्यों के उलथे अङ्गरेजी में देख लिये होंगे, उनसे क्या हो सकता है। जब तक सत्य ग्रन्थों और मूलमन्त्रों को न देखें समझें तबतक वेदमन्त्रों का अभिप्राय ठीक २ जानलेना लड़कों का खिलौना नहीं है। इसी के समान पं० जी का और कथन भी है। इसलिये अब दूसरी बात का उत्तर लिखते हैं।

अग्निर्वै (सर्वा देवताः) देवानामवमो विष्णुः परमस्तदन्तरेण सर्वा अन्या देवताः * ।

इत्यादि पर जो पण्डितजी ने लिखा है सो भी अयुक्त है। क्योंकि वेद-मंत्रादि प्रमाणों को छोड़कर (अग्निर्वै सर्वाः०) इस पद पर लिखने से मालूम होता है कि पं०जी ने भाष्य की परीक्षा तो न की किन्तु छल अवश्य किया है। सो भी पं०जी ने इस वाक्य को तो लिखा परन्तु उसके अभिप्राय को यथार्थ नहीं जाना। क्योंकि इसका अभिप्राय यह है कि सब कर्मकाण्ड के अग्निहोत्रादि अश्वमेध पर्य्यन्त होमक्रिया में अग्निमंत्र प्रथम और विष्णुमंत्र का पश्चात् उच्चारण करते हैं। जहां कहीं व्यावहारिक ३३ देव गिनाये हैं वहां भी अग्नि प्रथम और विष्णु अन्त में गिनाया है। तथा "अग्निर्देवता० †" इस मंत्र में भी अग्नि का प्रथम और वरुण का अन्त में ग्रहण किया है। सो ऐतरेय ब्राह्म० के पं० १ अ० २ कं० १० में लिखा है कि—

त्रयस्त्रिंशद् वै देवा अष्टौ वसव इत्यादि ।

तथा शतपथब्राह्मण में भी। इसी बात की व्याख्या वेदभाष्य की भूमिका के अङ्क ३ के पृष्ठ ५९ की पंक्ति ३१ ‡ में देवता शब्द से किस २ को किस २ गुण से ग्रहण करना लिखा है वहां देख लेना। तथा उसी अङ्क ३ के पृष्ठ ६६

* ए० ब्रा० १ । १ । १ ॥ † य० अ० १४ । मं० २० ॥
‡ शताब्दीसंस्करण पृ० ३३१ से ॥

पंक्ति ८ * में अग्नि से आरम्भ करके प्रजापतियज्ञ अर्थात् विष्णु में गिनती पूर्ण करदी है। इसलिये (अग्निर्वै०) इस वचन में अग्नि को प्रथम और विष्णु को अन्त में गिना है। सो पूर्वलिखित ग्रन्थ में देखने से सब शंका निवारण होजायगी। तथा उक्त साहब लोगों और पंडितजी की यह भी शंका निवृत्त होजावेगी कि वेदों में एक के सिवाय दूसरा ईश्वर कोई भी नहीं है। किन्तु जिस २ हेतु से जिस २ पदार्थ का नाम देव धरा है उस २ को वहां अर्थात् अङ्क ३ में देख लेना। और डाक्टर एम० (हाग) साहब की अशुद्ध टीका का जो हवाला देते हैं तो यह पण्डितजी को एक लज्जा की बात है कि प्राचीन सत्य संस्कृत ग्रन्थों को छोड़कर इधर उधर कस्तूरिये हिरन के समान भूलते और भटकते हैं। डाक्टर एम० (हाग) साहब वा सी० एच० टानी साहब वा आर० ग्रिफिथ साहब आदि कुछ ईश्वर नहीं कि जो कुछ वे लिख चुके वह विना परीक्षा वा विचार के मानलेने योग्य ठहरे। क्या डाक्टर एम० हाग साहब हमारे आर्य्य ऋषि मुनियों से बढ़कर हैं कि जिन को हम सर्वोपरि मान निश्चय करलें और प्राचीन सत्य ग्रन्थों को छोड़ देवें जैसा कि पण्डितजी ने किया है। जो उन्होंने ऐसा किया तो किया करो मेरी दृष्टि में तो वे जो कुछ हैं सो ही हैं। तथा इस कण्डिका में भी (यज्ञस्यान्ते) वचन में आदि में अग्निमंत्र और अन्त में विष्णुमंत्र का प्रयोग किया जाता है। फिर इन दोनों के बीच में व्यवहार के सब मंत्र देवते गिने हैं। अग्नि को प्रथम जिन २ द्रव्यों का वायु और वृष्टि जल की शुद्धि के लिये अग्नि में होम किया जाता है वे सब परमाणुरूप होकर विष्णु अर्थात् सूर्य के आकर्षण से वायुद्वारा आकाश में चढ़जाते हैं फिर मेघमण्डल में जलवृष्टि के साथ उतर कर बाकी जो बीच में ३० देव गिना दिये हैं उन सभों को लाभ पहुंचाते हैं। इस अभिप्राय को पण्डितजी नहीं समझते हैं।

पं० महेश०—अब ऊपर के वचन से साफ़ जाना जा सकता है कि वेद में एक परमेश्वर की पूजा नहीं किन्तु निस्सन्देह देवताविधान पाया जाता है। और उन देवताओं को बलिदान आदि पदार्थों का भेट करना लिखा हुआ है। इस

* शताब्दीसंस्करण पृ० ३३९ ॥

वाक्य में यह बात सिद्ध नहीं हो सकती कि अग्नि शब्द का अर्थ ईश्वर है किन्तु उसमें ईश्वर का जिकर भी नहीं है। इस बात की साबूती में स्वामीजी एक प्रमाण देते हैं (यत्रोपास्यत्वेन०) अर्थात् जहां सब देवों का पूजन कहा है वहां परमेश्वर को समझना चाहिये। फिर इस की पुष्टि में स्वामीजी मनु का प्रमाण देते हैं (आत्मैव देवताः सर्वाः०) अर्थात् आत्मा सब देव है और आत्मा ही में सब संसार स्थित है। यह नहीं समझ सकते कि यह वचन स्वामीजी का मन प्रसन्न प्रमाण की पुष्टता कैसे कर सकता है।

स्वामीजी—ऊपर के वचनों से ईश्वर का नाम अग्नि सिद्ध कर दिया है। परन्तु पक्षपात छोड़ के विद्या की आंख से देखने वाले को स्पष्ट मालूम होता है कि निस्सन्देह अग्नि ईश्वर का भी नाम है। वेदों में अनेक ईश्वर का विधान कहीं नहीं है। और जो देवता शब्द से सृष्टि के भी पदार्थों का विधान है उसका उत्तर ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के अङ्क ३ * के देवताविधानप्रकरण को देखने से अच्छे प्रकार जान लेना। अर्थात् जिस २ गुण और अभिप्राय से सृष्टि के पदार्थों का नाम देवता रक्खा गया है उसको देख लेना चाहिये, क्योंकि वहां यह बात अनेक प्रमाणों से सिद्ध करदी है। परन्तु चारों वेदों में एकसे दूसरा ईश्वर कहीं नहीं माना है, और न ईश्वर के तुल्य पूजना कहा है, किन्तु उनकी दिव्यगुणों से व्यवहारमात्र में देवता संज्ञा मानी है। चारों वेदों में एकसे दूसरा ईश्वर कहीं प्रतिपादन नहीं किया है। तथा इन्द्र, अग्नि और प्रजापति आदि शब्दों से ईश्वर और भौतिक दोनों का प्रतिपादन किया है। और जो पण्डितजी लिखते हैं कि अग्नि शब्द का अर्थ ईश्वर नहीं है किन्तु उस स्थान में जिकर भी नहीं, इस का उत्तर यह है कि इस में वेद, वेदान्त, ब्राह्मण तथा मेरा दोष नहीं, किन्तु इस में पण्डितजी के शास्त्रों में न्यून अभ्यास का दोष है। क्योंकि जो मनुष्य वेदादि शास्त्रों का यथार्थ अर्थ न समझा होगा उस के उलटे ज्ञान होजाने का संभव है। वेदों में एक ईश्वर के प्रतिपादन में भूमिका अङ्क ४ में ८८ के पृष्ठ से ९२ † पृष्ठ तक ब्रह्मविद्याप्रकरण की समाप्ति पर्य्यन्त देखना चाहिये। (आत्मैव

* शताब्दीसंस्करण पृष्ठ ३३५ से ३४६ तक ॥ † शताब्दीसंस्करण पृष्ठ ३६६ से ॥

देवताः * सर्वाः०) इस का अभिप्राय पण्डितजी ने ठीक २ नहीं समझा है। क्योंकि इस का मतलब यह है कि आत्मा अर्थात् परमेश्वर ही अग्नि आदि सब व्यवहार के देवताओं का रचन पालन और विनाश करने वाला है। तथा (अग्निर्देवताः०) इत्यादि प्रकरण में व्यवहार के देवता और अग्नि आदि नामों से परमेश्वर का भी ग्रहण है, क्योंकि (सर्वमात्मन्यवस्थितम् *) इस वचन से सिद्ध होता है कि सब जगत् का आत्मा जो परमेश्वर है सो उसी में स्थिर है और वही सब में व्यापक है। इस अभिप्राय से यह बात सिद्ध होती है कि अग्नि परमेश्वर का भी नाम है इससे मेरा कहना यथार्थ पुष्टि रखता है।

पं० महेश०—ऐतरेयब्रा० के प्रमाण से अग्नि और विष्णु दो ही देव मुख्य करके पूजनीय माने हैं, क्योंकि वे ही यज्ञ में आदि अन्त के देव हैं, जिन के द्वारा सब बीच वालों को भाग पहुंचता है। इसलिये इन्हीं दोनों की सब देवों के तुल्य स्तुति की गई है। इसमें स्वामीजी ऐतरेयब्रा० का जो प्रमाण देते हैं सो उन के कथन की पुष्टि तो नहीं करता किन्तु विरुद्ध पड़ता है।

स्वा० जी—अब जो पं० जी (अग्निर्वै सर्वाः देवताः) इस में भ्रान्त हुए हैं सो ठीक नहीं और जोः—

अग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः परमस्तदन्तरेण सर्वा अन्या देवताः।

इत्यादि ऐतरेय ब्राह्मण का प्रमाण धरा है इस का अर्थ ठीक २ पण्डितजी नहीं समझे हैं। इस का अभिप्राय यह है कि (अग्निर्वै सर्वा देवताः, विष्णुः सर्वा देवताः)। इस का भी मनु के प्रमाण समान अर्थ होने से मेरे अभिप्राय की पुष्टि करता है। और जहां भौतिक वा मन्त्र ही देवता लिये गये हैं वहां पुरोडाश आदि करने की क्रिया द्रव्ययज्ञ में संघटित यथावत् की गई हैं। क्योंकि जब प्रथम अग्नि में होम किया जाता है और उससे सब द्रव्यों के रस और जल आदि के परमाणु पृथक् २ हो जाते हैं, तब वे हलके होके सूर्य्य के आक-

* मनु० अ० १२। श्लो० ११९॥

षेण से वायु के साथ मेघमण्डल में जाके रहते हैं, फिर वे ही मेघाकार संयुक्त होकर वृष्टि द्वारा पृथ्वी आदि मध्यस्थ देवसंज्ञक व्यवहार के पदार्थों को पुष्ट करते हैं, इस का नाम भाग और बलिदान है । तथा इसी कारण अग्नि को प्रथम और सूर्य को अन्त में माना है । ऐसे ही अग्नि को सूक्ष्म और सूर्यलोक को अग्नि का बड़ा पुंज समझा है । इत्यादि अभिप्राय से यह पंक्ति एतरेय ब्राह्मण में लिखी है जिसको पं० जी ने न जानकर मेरे लेख पर विरुद्ध संमति दी है ।

पं० महेश०—निरुक्त भी कुछेक ही साक्षी देता है । स्वामीजी (अग्निः कस्मादग्रणीर्भवति०) इत्यादि निरुक्त का प्रमाण धरते हैं कि जिसमें अग्नि शब्द की साधना की गई है । कई धात्वर्थ केवल भौतिक अग्नि के वाची हैं और स्वामीजी भी इस बात को मानते हैं और कहते हैं कि सिवाय भौतिक के अग्नि शब्द से ईश्वर का भी ग्रहण होता है और यह अर्थ (अग्रणीः) शब्द से लेते हैं । जैसा कि निरुक्तकार समझता है कि अग्नि शब्द (अग्र—नी) से मिलकर बना है निरुक्तकार इस शब्द के कुछ विशेष अर्थ नहीं करता है । शतपथ ब्रा० जिसको स्वामीजी मानते हैं विशेष अर्थ बताता है परन्तु ईश्वर के नहीं । यद्यपि वे कुछ कहते हैं लेकिन सिवाय भौतिक के दूसरा अर्थ नहीं हो सकता ।

स्वा०जी—अब जो पं०जी लिखते हैं कि निरुक्तकार भी कुछेक ही संमति देता है सो नहीं । क्योंकि निरुक्त में अग्नि शब्द से परमेश्वर और भौतिक दोनों अर्थों का यथावत् ग्रहण किया है । तथा उस में अग्नि शब्द का साधुत्व तो कुछ भी नहीं लिखा है । किन्तु धात्वर्थ के निर्देश से अर्थप्रतीति कराई है । क्योंकि शब्दों का साधुत्व व्याकरण का ही विषय है निरुक्त का नहीं । इसलिये उस में रूढ़ि, यौगिक और योगरूढ़ि शब्दों का निरूपण मु य करके किया गया है । जैसे कि (इतात्) (अक्तात्) (दग्धात्) वा (नीतात्) इन में (इण्) धातु गत्यर्थक, (अञ्जू) व्यक्ताद्यर्थ, (दह) भस्मीकरणार्थ, (णीञ्) प्रापणार्थ दिखाने से विद्वानों को ऐसा भ्रम कभी नहीं हो सकता है कि अग्नि शब्द से परमेश्वर और भौतिक दोनों का ग्रहण नहीं है । क्योंकि (इण्) और

(अञ्जू) इन धातुओं के गत्यर्थ होने से ज्ञान, गमन, प्राप्ति ये तीनों अर्थ लिये जाते हैं। इन में ज्ञान और प्राप्त्यर्थ से परमेश्वर तथा गमन और प्राप्त्यर्थ से भौतिक पदार्थ ये दोनों ही लिये जाते हैं। और (अग्रणीः) शब्द तथा–

अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते गं नयति * ।

इस के अभिप्राय से अग्नि शब्द परमेश्वर, और (न क्नोपयति न स्नेहयति) इससे भौतिक पदार्थ में लिया जाता है यह निरुक्त का अभिप्रायार्थ है। मंत्रभाष्य के दूसरे पृष्ठ में ठीक २ लिख दिया गया है। जो उसको पण्डितजी यथार्थ विचारते तो इस वेदभाष्य पर ऐसी विरुद्ध सम्मति कभी न देते। क्योंकि निरुक्तकार ने पूर्वोक्त प्रकार से दोनों अर्थ को विशेष अच्छी तरह दिखला रक्खा है। परन्तु जो कोई किसी के लेख का अर्थ यथावत् नहीं समझते उन को उस के विशेष वा सामान्य अर्थ का ज्ञान कभी नहीं हो सकता।

पं० महेश०—(प्रजापतिर्ह वा इदमग्र०)। हमारी मुराद यह नहीं है कि हम शतपथ ब्राह्मण में अग्नि शब्द भौतिक का वाची ढूंढें। किन्तु मैं यह बताता हूं कि पूर्वोक्त वाक्य से निश्चय होता है कि अग्नि सिवाय आग के दूसरा अर्थ नहीं देती है।

स्वा० जी—पण्डितजी का कथन है कि हमारी मुराद यह नहीं है कि हम शतपथ ब्राह्मण में अग्नि शब्द भौतिक का वाची ढूंढें इत्यादि। इस का उत्तर यह है कि मैं पूर्वोक्त प्रकार अग्नि शब्द से परमेश्वर और भौतिक दोनों अर्थों को लेता हूं। सो वेदादि शास्त्रों के प्रमाण से निर्भ्रमता के साथ सिद्ध है। परन्तु पंडितजी का अभिप्राय जो अग्नि शब्द से परमेश्वर के ग्रहण में विरुद्ध है उस का हेतु यह मालूम पड़ता है कि पंडितजी बाल्यावस्था से लेकर आज पर्य्यन्त अग्नि शब्द से भौतिक अर्थात् चूल्हे आदि में जलने वाली ही अग्नि को सुनते और देखते आये हैं। इसलिये वहीं तक उनकी दौड़ है। परन्तु मैं उन से मित्रभाव से कहता हूं कि वे वेद, वेदाङ्ग, उपाङ्ग और ब्राह्मण आदि सनातन

* निरुक्त ७। १४॥

आर्षग्रन्थों के अर्थ जानने में अधिक पुरुषार्थ करें कि जिस से ऐसी २ तुच्छ शंका हृदय में उत्पन्न न हों। क्योंकि जो २ शतपथ के प्रमाण मैंने वेदभाष्य में अग्नि शब्द से परमेश्वर के ग्रहणविषय में धरे हैं वे क्या शतपथ के नहीं हैं ?। जो शंका हो तो उक्त जगह पुस्तक में देख लेवें। और जिस वाक्य की पंक्ति का प्रमाण पंडितजी ने धरा है उस में का मुख्य पाठ उन्होंने पहिले ही उड़ा दिया इस चालाकी को देखना चाहिये कि—

तद्यदेनं मुखादजनयत्तस्मादन्नादोऽग्निः। स यो हैवमेतमग्निमन्नादं वेदान्नादो हैव भवति।

इस में अन्नाद शब्द अग्नि का वाची है। और—

अहमन्नमहमन्नमहमन्नम्। अहमन्नादो अहमन्नादो अहमन्नादः।

यह तैत्तिरीय उपनिषद् * का वचन परमेश्वर के विषय में है। अर्थात् वह उपदेश करता है कि मैं ही अन्नाद हूं। और अन्नाद अग्नि को कहते हैं इस से यहां भी परमेश्वर का नाम अग्नि आता है। और दूसरी चाल पंडितजी यह भी खेले हैं कि जिस आधी पंक्ति से शतपथ में अग्नि शब्द से परमेश्वर लिया है उस पाठ को अपने पुस्तक में नहीं लिखा। देखिये किः—

प्रजापतिः परमेश्वरः यत् यस्मात् मुख्यात् प्रकाशमयान्मुख्यात्कारणात् एनं भौतिकमग्निमजनयत्तस्मात्स परमेश्वरोऽन्नादोऽग्निरर्थादग्निसंज्ञो विज्ञेयः। यो मनुष्यो ह इति निश्चयेनैवममुना प्रकारेणैतमन्नादं परमेश्वरमग्निं वेद जानाति, ह इति प्रसिद्धे, स एवान्नादो भवत्यर्थाद् ब्रह्मविद्भवतीति।

इस प्रकार से यह बात निश्चय होती है कि पंडितजी उन ग्रन्थों का अर्थ ठीक २ नहीं जानते और जितना जानते हैं उस में भी कपट और आग्रह से सत्य नहीं लिखते। पंडितजी को विदित हो कि यहां पाठशालाओं के लड़कों से प्रश्नोत्तर, लेख वा उनकी परीक्षा नहीं है। इस से जो कुछ वे लिखें सो विचार-

* दशमानुवाके षष्ठे खण्डे।

पूर्वक होना चाहिये कि उन को किसी की खुशामद वा आग्रह से लिखना उचित नहीं। जो २ शतपथ के प्रमाण मैंने वहां २ लिखे हैं उस का अर्थ भी संक्षेप से लिख दिया है, उसको ध्यान देकर देख लेवें।

पं० महेश०—अग्निः पृथिवीस्थानस्तं प्रथमं व्याख्यास्यामः * ।

पृथिवी का अग्नि, ईश्वर अर्थ में कभी नहीं लिया जा सकता है, इस बात को अच्छी तरह प्रकाश करने के लिये कि निरुक्तकार अग्नि शब्द के क्या अर्थ लेता है।

स्वामीजी—फिर जो पंडितजी ने (अग्निः पृथ्वीस्थानस्तं प्रथमं व्याख्यास्यामः) इस में अपना अभिप्राय जताया है कि क्या पृथ्वी का अग्नि, ईश्वर अर्थ में कभी लिया जा सकता है ? । इस में पंडितजी से मैं पूछता हूं कि क्या आप अन्तरिक्ष और सूर्य्यादि लोकस्थ अग्नि, ईश्वर अर्थ में ग्रहण करते तथा क्या परमेश्वर के व्यापक होने से पृथिवीस्थान नहीं हो सकता ? । और उन को विचारना चाहिये कि (पृथिवी स्थानं यस्य सः परमेश्वरोऽग्निर्भौतिकश्चेत्यर्थद्वयं गृह्यताम्) इस वचन के अर्थ पर उन का अभिप्राय ठीक नहीं सिद्ध होता। क्योंकि इस बात को कौन सिद्ध कर सकता है कि पृथिवी से भिन्न अन्य पदार्थ में भौतिक अग्नि नहीं है। जब कि यहां पृथिवी अर्थात् सब सृष्टि भर ली जाती है तथा कार्य और कारणरूप को भी पृथिवी शब्द से लेते हैं। फिर उन का अभिप्राय इस बात में शुद्ध कभी नहीं हो सकता। क्योंकि रूप गुण वाला पदार्थ अग्नि शब्द से गृहीत होता है और न केवल चूल्हे वा वेदों में धरा हुआ। तथा पृथिवीस्थानशब्द के होने से अग्निशब्द का ग्रहण परमेश्वर अर्थ में भी यथावत् होता है। जैसेः—

यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयति स त आत्मा अन्तर्य्याम्यमृतः।

यह वचन शत० कां० १४ अ० ६ ब्रा० ७ कण्डिका ७ का है कि

* निरु० ७ । १४ ।

जिसमें पृथिवीस्थान शब्द से परमेश्वर का ग्रहण किया है। क्योंकि जहां कहीं अन्तर्य्यामी शब्द से परमेश्वर की विवक्षा होती है वहां एक जीव के हृदय की अपेक्षा से भी परमेश्वर का ग्रहण होता है जैसेः—

स त आत्माऽन्तर्य्याम्यमृतः * ।

अर्थात् गौतमऋषि से याज्ञवल्क्य कहते हैं कि हे गौतम! जो पृथिवी में ठहर रहा है और उससे पृथक् भी है, तथा जिसको पृथिवी नहीं जानती, जिस के शरीर के समान पृथिवी है, जो पृथिवी में व्यापक होकर उसको नियम में रखता है वही परमेश्वर अमृत अर्थात् नित्यस्वरूप तेरा जीवात्मा का अन्तर्य्यामी आत्मा है। इतने से ही बुद्धिमान् समझ लेंगे कि पण्डितजी निरुक्त का अभिप्राय कैसा जानते हैं।

पं० महेश०—तथा देवताविषय में उसका कैसा विचार था आगे के प्रमाण अङ्गरेजी टीका सहित लिखते हैं। (यत्कामऋषिर्यस्यां० †) जिस मंत्र से जिस देवता की स्तुति कीजाती है वही उस मंत्र का देवता है। (माहाभाग्यादेवतायाः ‡) अर्थात् देवता एक ही है परन्तु उस में बहुतसी शक्ति होने के कारण अनेक रूपों में पूजा जाता है। उसके सिवाय और २ देव उस के अङ्ग हैं। प्राचीन अनुक्रमणिकाकार भिन्न २ मन्त्रों के पृथक् २ देवता विभाग करता है। और इस का प्रमाण स्वामीजी ने माना है, देखो पृष्ठ १ पं० २। तथा पृ० २३ पं० १४ इसी विषय की। परन्तु बात काट के उस के असली अर्थ के विरुद्ध कहते हैं कि सब मंत्रों का देवता परमेश्वर है, अग्नि वायु आदि नहीं। यह हिन्दुओं का बड़ा सत्यानुसार धर्म है कि अनेक देवते एक ईश्वर ही के प्रकाशरूप हैं। इस बात का प्रमाण ऐतरेयोपनिषद् में लिखा है कि जिसको स्वामीजी भी मानते हैं जैसेः—

* शत० ब्रा० १४। ६। ७। ७॥

† निरु० अ० ७। खं० १॥

‡ निरु० अ० ७। खं० ४॥

निहितमस्माभिरेतद्यथावदुक्तं मनसीत्यथोत्तरप्रश्नमनुब्रूहीति० * ॥ इत्यादि । ४ । ५ । ६ ॥

स्वामीजी—यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मंत्रो भवति ॥

इसका उत्तर भूमिका अङ्क ३ के † देवताविषय में देख लेना । वहां अभिप्राय सहित लिख दिया है । अर्थात् प्रकारान्तर से व्यवहार के पदार्थों की भी देवसंज्ञा मानी है पूज्योपास्य बुद्धि से नहीं । अब प्राचीन अनुक्रमणिकाकार जो भिन्न २ देवता मानता है सो भी इस अभिप्राय से है कि इस मंत्र का अग्नि देवता इत्यादि लेख से कुछ आपकी बात की पुष्टि नहीं होती । क्योंकि वहां केवल नाममात्र का प्रकाश है विशेष अर्थ का नहीं । वैसे ही अग्नि शब्द के पूर्वोक्त प्रकार से घटित दोनों अर्थ लिखे जाते हैं । तथा सब मन्त्रों का देवता परमेश्वर इस अभिप्राय से है कि सब देवों का देव पूजनीय और उपासना योग्य एक अद्वितीय ईश्वर ही है । सो यथावत् देवता प्रकरण में लिख दिया है । वहां देखलेना कि व्यावहारिक अग्नि वायु को देवता किसलिये और परमेश्वर किस प्रकार माना जाता है । ऐसे ही सब जगत् को ब्रह्म मानना तथा ब्रह्म को जगत्रूप समझना यह हिन्दुओं की बात होगी आर्यों की नहीं । हम लोग आर्य्यावर्त्तवासी ब्राह्मणादि वर्ण और ब्रह्मचर्य्यादि आश्रमस्थ, ब्रह्मा से लेकर आज पर्य्यन्त परमेश्वर को वेदरीति से ऐसा मानते चले आये हैं कि वह शुद्ध, सनातन, निर्विकार, अज, अनादिस्वरूप, जगत् के कारण से कार्यरूप जगत् का रचन, पालन और विनाश करनेवाला है । और हिन्दू उसको कहते हैं कि जो वेदोक्त सत्य मार्ग से विरुद्ध चले । इस में पंडितजी ने जो मैत्र्युपनिषद् ‡ का प्रमाण धरा है सो भी विना अर्थ जाने हुए लिखा है, क्योंकि वहां ब्रह्म की उपासना का प्रकरण है । तद्यथाः—

* मैत्र्युपनिषद् प्रपाठक ४ ॥

† शताब्दीसंस्करण पृष्ठ ३३१ से ।

‡ प्रपाठक ४ ।

यस्तपसाऽपहतपाप्मा ओं ब्रह्मणो महिमेत्येवैतदाह यः सुयुक्तोऽजस्रं चिन्तयति। तस्माद्विद्यया तपसा चिन्तया चोपलभ्यते ब्रह्म। स ब्रह्मणः पर एता, अधिदैवत्वं देवेभ्यश्चेत्यक्षय्यमपरिमितमनामयं सुखमश्नुते य एवं विद्वाननेन त्रिकेण ब्रह्मोपास्ते।

जो पंडितजी इस प्रकरण का अर्थ ठीक २ समझ लेते तो परमेश्वर का नाम अग्नि नहीं ऐसा कभी न कह सकते। क्योंकि उसी ब्रह्म के अग्नि आदि नाम यहां भी हैं। और ब्रह्म की तनू अर्थात् व्याप्य जो पूर्वोक्त स्थान शतपथ ब्राह्मण में अन्तर्य्यामी पृथिवी से लेकर जीवात्मा पर्य्यन्त २४ अर्थात् अन्वय और व्यतिरेकालङ्कार से शरीर शरीरी अर्थात् व्याप्य व्यापक सम्बन्ध परमेश्वर का जगत् के साथ दिखलाया है सो देखलेना। उसी शतपथ में पांचवें (सातवें ?) ब्राह्मण की ३१ कण्डिका में—

अदृष्टो द्रष्टाऽश्रुतः श्रोताऽमतो मन्ताऽविज्ञातो विज्ञाता नान्योस्ति द्रष्टेत्यादि।

व्याप्यव्यापकसम्बन्ध पूर्वोक्त अलंकार से यथावत् दिखला दिया है। इससे—

ब्रह्म खल्विदं वाव सर्वम् *।

इस का अर्थ इस प्रकार से है कि ब्रह्म केवल एक चेतनमात्र तत्त्व है। जैसे किसी ने किसी से कहा कि यह सुवर्ण खरा है तो इस वाक्य का अभिप्राय यह है कि इस सुवर्ण में दूसरे धातु का मेल नहीं, इसी प्रकार जैसे कार्य्य जगत् के संघातों में अनेक तत्त्वों का मेल है वैसे ब्रह्म नहीं, किन्तु वह भिन्न वस्तु है। तथा तात्स्थ्योपाधि से यह सब जगत् ब्रह्म अर्थात् ब्रह्मस्थ है और ब्रह्म सर्व विश्वस्थ भी है यह इस वचन का ठीक अर्थ है। क्योंकि फिर इसी के आगे यह पाठ है कि:—

या वास्या अग्र्यास्तन्वस्ता अभिध्यायेदर्चयेन्निह्नुयाच्चातस्ताभिः सहैवोपर्य्युपरि लोकेषु चरत्यथ कृत्स्नक्षय एकत्वमेति पुरुषस्य पुरुषस्य *।

* मैत्र्युपनिषद् प्रपाठक ४॥

अर्थात् जो विद्वान् पुरुष अपने आत्मा में ब्रह्म की उपासना ध्यान और उसी की अर्च्चा कर अपने हृदय के सब दोषों को अलग करता, इसके उपरान्त जब अपने अन्तःकरण से शुद्ध होकर मुक्ति पा चुकता है, तब वह उन्हीं पूर्वोक्त तनुओं के सहित उपरि सब लोकों के बीचाबीच रहता हुआ अन्त में परमेश्वर की सत्तामात्र को प्राप्त हो जाता है। सब मुक्त पुरुषों के समीप रहता हुआ अकथनीय परम आनन्द में किलोल करता है। इसके आगे भी मैत्र्युपनिषद् के पञ्चम प्रपाठक के आरम्भ में कौत्सायिनी स्तुति के अनुसार भी (त्वं ब्रह्मा त्वं च वै विष्णुस्त्वं रुद्रस्त्वं प्रजापतिरग्निः) इत्यादि प्रमाण से अग्न्यादि परमेश्वर के नाम यथावत् हैं। इससे यह बात पाई गई कि यद्यपि पण्डितजी प्रोफ़ेसर ग्रिफ़िथ टानी साहब के वकील भी हुए तथापि मुक़द्दमा में खारज होने के योग्य हैं। तथा यह भी जान पड़ा कि वेदभाष्य पर विरुद्ध सम्मति देने वाले वेदादि शास्त्रों का ज्ञान कम रखते हैं।

पं० महेश०—तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः *।

जो लोग निरुक्त के समझने वाले हैं वे कहते हैं कि देवता तीन ही हैं। अग्नि, वायु और सूर्य। इन देवताओं का बल बहुत और काम पृथक् २ होने से उन को कई नामों से बोलते हैं।

अथाकारचिन्तनं देवतानाम्। पुरुषविधाः स्युरित्येकम्। चेतनावद्बद्धि स्तुतयो भवन्ति। तथाभिधानानि। अथापि पौरुषविधकैरङ्गैः संस्तूयन्ते †।

कितने ही देवते मनुष्यों के समान हैं। अर्थात् वे मनुष्यों के तुल्य घोड़े आदि की सवारी और खाना पीना सुनना बोलना आदि काम करते हैं। कुछ देवते ऐसे हैं कि मनुष्यों के तुल्य नहीं, परन्तु दृष्टि में आते हैं जैसे अग्नि, वायु, आदित्य, पृथिवी और चन्द्रमा। तथा कितने ही चेतन नहीं हैं जैसे शिला, वनस्पति आदि।

---

* निरु० अ० ७। खं० ५॥

† निरु० अ० ७। खं० ६॥

तिस्र एव देवता इत्युक्तं पुरस्तात्तासां भक्तिसाहचर्यं व्याख्यास्यामः * ।

हम कह चुके हैं कि देवता तीन हैं अग्नि, वायु और सूर्य । जिनके गुणों की व्याख्या करते हैं । अब अग्नि के गुण बताते हैं अर्थात् वह देवतों के पास चढ़वा पहुंचाता है तथा उन को यज्ञ में बुलाता है । ये अग्नि के प्रत्यक्ष काम हैं ।

अग्निः पृथिवीस्थानस्तं प्रथमं व्याख्यास्यामः ।

जो अग्नि पृथिवी पर रहता है प्रथम हम उसी का वर्णन करते हैं । इस का अग्नि नाम क्यों हुआ । क्योंकि वह प्रथम ही आता है । देखो (अग्निमीडे) इत्यादि । इन प्रमाणों से सिद्ध होता है कि निरुक्तकार अग्नि शब्द से सिवाय भौतिक के दूसरी चीज़ नहीं समझा है । यह ब्रा० और निरु० से स्वामीजी का कथन ठीक नहीं । श्रौतसूत्र जो वेद की प्राचीन व्याख्या है यद्यपि स्वामीजी ने उसका कोई प्रमाण नहीं दिया परन्तु मैं कुछ साक्षी के तौर पर प्रमाण देता हूं । सू० २६ । कण्डिका १ । अ० १ तथा सू० ७ । कं० १३ । अ० ४ में देखने से साफ़ मालूम होता है कि (अग्निमीडे०) यह मन्त्र भौतिक अग्नि की पूजा विधान में लिखा गया है ।

स्वामीजी–इस के आगे पण्डितजी (तिस्र एव देवता०) इत्यादि निरुक्त का अभिप्राय लिखते हैं सो उन्होंने इस का भी अर्थ ठीक २ नहीं जाना । क्योंकि इस प्रकरण में भी पूर्वोक्त प्रकार से दोनों व्यवस्था जानी जाती हैं । अर्थात् अग्नि आदि नामों से व्यवहारोपयुक्त पदार्थ और पारमार्थिक उपास्य परमेश्वर दोनों ही का यथावत् ग्रहण होता । इस निरुक्त का अर्थ भूमिका के अङ्क ३ पृष्ठ ६० पंक्ति ८ मी से अङ्क ४ पृष्ठ ७८ † तक देखने से ठीक २ उत्तर मिल जायगा । और इस के आकारचिन्तन से यह अभिप्राय है कि जिस २ पदार्थ में जो २ गुण होते हैं उन का यथावत् प्रकाश करना स्तुति कहाती है । सो जड़ और चेतन दोनों में यथावत् घटती है । इसी प्रकरण में—

* निरु० अ० ७ । खं० ८ ॥   † शताब्दीसंस्करण पृ० ३३२ से ३५४ तक ।

एकस्य सतोऽपि वा पृथगेव स्युः पृथगपि स्तुतयो भवन्ति । तथाऽभिधानानि * ।

इस पंक्ति का अर्थ पण्डितजी ने न विचारा होगा । नहीं तो इतने आडम्बर का लेख क्यों करते । क्योंकि देखो—

तासां माहाभाग्यादेकैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति * ।

इस का अभिप्राय यह है कि अग्न्यादि संसारी पदार्थों में भी ईश्वर की रचना से अनेक दिव्य गुण हैं कि जिनके प्रकाश के लिये वेदों में उन पदार्थों के अग्न्यादि कई २ नाम लिखे हैं । तथा वे ही नाम गुणानुसार एक अद्वितीय परमेश्वर के भी हैं । उन्हीं पृथक् २ गुणयुक्त नामों से परमेश्वर की स्तुति होती है । तथा उसी के वेदों में सर्वसुखदायक, स्वयंप्रकाश, सत्य, ज्ञानप्रकाशक नाना प्रकार के व्याख्यान लिखे हैं । इस प्रकार सब सज्जन लोगों को जान लेना चाहिये कि अग्न्यादि नामों से पूर्वोक्त दोनों अर्थों का ग्रहण होता है केवल एक का नहीं । और—

तिस्र एव देवता इत्युक्तं पुरस्तात्तासां भक्तिसाहचर्यं व्याख्यास्यामः ।

इस का अभिप्राय यह है कि उन व्यावहारिक देवताओं का जुदापन ? (साहचर्य) अर्थात् संयोग दो प्रकार का होता है एक समवायसम्बन्ध दूसरा संयोगसम्बन्ध । समवाय नित्य गुणगुणी आदि में होता है और संयोगसम्बन्ध गुणी और अगुणियों का होता है । जैसे जगत् के पदार्थों में स्वाभाविक और नैमित्तिक सम्बन्ध होता है वैसे ही परमेश्वर में भी जान लेना कि वह अपने स्वाभाविक गुण और सामर्थ्यादि के साथ समवाय और जगत् के कारण कार्य तथा जीव के साथ संयोग सम्बन्ध अर्थात् व्याप्यव्यापकतादि प्रकार से है । इस वचन में भी परमेश्वर का त्याग कभी नहीं हो सकता । तथा जैसे भौतिक अग्नि का काम व्यावहारिक देवताओं को जल चढ़ाना वा पहुंचाना है, तथा मन्त्र

* निरु० अ० ७ । खं० ५ ॥

देव और दिव्य गुणों को जगत् में प्राप्त करना है, वैसे ही सब जीवों को पाप पुण्य के फल पहुंचाना और ज्ञानानन्दी मोक्षरूप यज्ञ में धार्मिक विद्वानों को हर्षयुक्त करदेना परमेश्वर का काम है। (अग्निः पृथिवीस्थानः०) इस की व्याख्या पूर्व कर आये हैं। और (अग्निमीडे) इस की व्याख्या निरुक्त के अनुसार इसी मंत्र के भाष्य में लिख दी है। परन्तु वहां भी दो ही अग्नि लिये हैं क्योंकि एक अध्येषणाकर्मा अर्थात् परमेश्वर और भौतिक, दूसरा पूजाकर्मा अर्थात् केवल परमेश्वर ही लिया है। तथा (अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिः०) इस मंत्र की व्याख्या में निरुक्तकार का स्पष्ट लेख है कि—

स न मन्येतायमेवाग्निरित्यप्येत उत्तरे ज्योतिषी अग्नी उच्येते *।

इस का अर्थ यह है कि वह अग्नि जो परमेश्वर का वाची है चूल्हे में प्रत्यक्ष जलने वाला नहीं है। किन्तु जो कि अपने व्याप्य में व्यापक विद्युत्रूप और जो उत्तर अर्थात् कारणरूप ज्योतिःस्वरूप और सब का प्रकाशक है। तथा जो परमेश्वर का अग्निशब्द से ग्रहण करना कहा है एक आनन्दस्वरूप परमात्मा का स्वीकार है। जैसा कि पूर्वोक्त प्रकार से बुद्धिमान् लोग जान लेंगे कि वे सब प्रमाण जो मैंने इस विषय में लिखे हैं मेरी बात की पुष्टि करते हैं वा नहीं तथा पण्डितजी की पकड़ ठीक है वा नहीं। और जो कि वे श्रौतसूत्र का प्रमाण लिखते हैं उस का भी अभिप्राय उन्होंने यथार्थ नहीं जाना। क्योंकि वहां तो केवल होम क्रिया करने का प्रसङ्ग है। और होता आदि के आसनादिक और अध्वर्यु आदि के काम पृथक् २ लिखे हैं। इसलिये वहां तत्संसर्गी का ग्रहण नहीं हो सकता। क्योंकि जो जिस का काम है उसको वही करे यहां उस सूत्र की प्राप्ति नहीं हो सकती इसलिये उस का लिखना व्यर्थ है। तथा आश्वलायन श्रौतसूत्र के चतुर्थाध्याय में तेरहवीं कण्डिका के ७ सूत्र में भी केवल कर्मकाण्ड ही की क्रिया के मन्त्रों की प्रतीकें धरी हैं। वहां भी पण्डितजी अग्नि शब्द से परमेश्वर का त्याग कभी नहीं करा सकते। किसलिये कि वहां मन्त्र ही देवता

* निरु० अ० ७। खं० १७॥

हैं। और शुभ कर्मों में परमेश्वर ही की स्तुति करना सब को उचित है। वहाँ मन्त्र का पाठातिदेश किया है अर्थ नहीं। इस से इस सूत्र का लिखना पण्डितजी को योग्य नहीं था। क्योंकि वहां तो केवल क्रियायज्ञ का प्रकरण है दूसरी बात का नहीं।

पं० महेश०—(अग्निमीडे) इस मन्त्र की सिद्धि में और अधिक प्रमाण स्वामीजी ने नहीं दिये। परन्तु कई मन्त्रों का प्रमाण धरके कहते हैं कि अग्नि से ईश्वर का ग्रहण है। सो उन मन्त्रों की साधारण विचारपरीक्षा से ही मालूम हो जाता है कि उनसे स्वामीजी के अर्थ नहीं निकल सकते। पहिला मन्त्र (इन्द्रं मित्रम्) वे उस को इन्द्र, मित्र, वरुण और अग्नि आदि नामों से पुकारते हैं। यह मालूम नहीं होता कि इस मन्त्र में किस को सन्मुख करके बोलते हैं। निरुक्तकार कहता है कि वह भौतिक के लिये आया है। कोई सूर्य को बनाते हैं। खैर कुछ ही हो। परन्तु अग्नि से ईश्वर कभी नहीं लिया जा सकता और यह जाना गया है कि जब किसी विशेष देवता की स्तुति करते हैं तो उस को शब्द और २ देवताओं को नाम से लाते हैं उस के बल आदि गुण बताने के लिये (तदेवाग्नि०) शुक्लयजुर्वेद से कि जिस के समान कृष्णयजुर्वेद में भी है (देखो) तैत्तिरीय आरण्यक अ० १। इस स्थान में अद्वैत मत का प्रतिपादन है। जैसे देखो–जो सर्वज्ञ पुरुष सदा था, है और रहेगा। जिस का तमाम ब्रह्माण्ड एक अंशमात्र है। जिस से वेद उत्पन्न हुए हैं, तथा जिससे घोड़ा, गौ, बकरी और खटमल आदि निकले हैं। जिस के मन से चन्द्रमा, नेत्रों से सूर्य्य, कानों से वायु और प्राण और मुख से अग्नि वह सर्वव्यापी और सब संसार का आधार है। इसके बाद स्वामीजी मंत्र का प्रमाण देते हैं जैसे (तदेवाग्निः०) अर्थात् अग्नि, सूर्य, वायु आदि सब एक परमेश्वर के ही गुण नाम हैं। जैसे अग्नि शब्द के अर्थ परमेश्वर में नहीं घटते वैसे ही ऊपर के अर्थ भी नहीं लग सकते। सिवाय इस के जो (तदेवाग्नि०) पदभेद को विषय अर्थ से मिलावें तो स्वामीजी का अग्नि शब्द को परमेश्वर अर्थ में मिलाना ऐसा असंभव होगा जैसे कहदे कि मनुष्य पशु है अथवा पशु मनुष्य है।

(अग्निर्होता कविः क्रतुः०) स्वामीजी कवि शब्द के अर्थ सर्वज्ञ के लेते हैं तथा सत्य का विनाशरहित। परन्तु निरुक्त में कवि का और ही अर्थ है और स्वामीजी भी जब मंत्र को शास्त्रसम्बन्धी अर्थ में लेते हैं तो कई प्रकार के अर्थ करते हैं। कदाचित् स्वामीजी का अर्थ मान भी लें तो वह उनके अभिप्राय को, अग्नि ईश्वर का नाम है, नहीं खोलता। क्योंकि यह दस्तूर की बात है कि देवता की स्तुति करने में सब प्रकार के विशेषण लाते हैं।

स्वामीजी—अब पण्डितजी प्रमाणों की परीक्षा पर बहुत भूले हैं। क्योंकि मैंने अग्नि शब्द से परमेश्वर के ग्रहण विषय में वेद मंत्रों के अनेक प्रमाण मंत्रभाष्य के आरम्भ में लिखे हैं। उनका विचार छोड़कर मृग के समान आगे कूद कर चले गये हैं। इससे मालूम होता है कि पण्डितजी को मंत्रों का अर्थ मालूम नहीं। और विना इतनी विद्या के वे साधारण वा विशेष परीक्षा कैसे कर सकते हैं। उन का यह भी लिखना ठीक नहीं कि इन प्रमाणों से स्वामीजी का अर्थ नहीं निकल सकता। अब विद्वान् लोग पंडितजी के लेख की परीक्षा करें। अर्थात् वे लिखते हैं कि यह मालूम नहीं होता कि (इन्द्रं मित्रं०) इस मंत्र में "उसको" शब्द किस के लिये आया है इत्यादि। तथा निरुक्तकार कहता है कि वह भौतिक अग्नि के लिये आया है इत्यादि। सो पण्डितजी को जानना चाहिये कि विना ज्ञान वेदविद्या के उनकी परीक्षा करना बालकों का खेल नहीं। इस ग्रन्थ में भी अग्नि का पाठ दो वार है। एक—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः *॥ अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः *॥

इस का अभिप्राय यह है कि अग्नि शब्द से दोनों अर्थों का ग्रहण होता है। अर्थात् भौतिक और परमेश्वर। तथा उसमें तीन आख्यात पद होने से तीन अन्वय होते हैं। अर्थात् अग्न्यादि नाम भौतिक अर्थ में और परमेश्वर अर्थ में भी दो अन्वय होते हैं।

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निम्।

* ऋ० मं० १। सू० १६४। मन्त्र ४६॥

अर्थात् एक शब्द से परब्रह्म को विद्वान् लोग अथवा वेदमन्त्र अग्न्यादि नामों से अनेक प्रकार की स्तुति करते हैं। तथा सब का निरुक्त जो दूसरे पृष्ठ में लिख दिया है उसका भी अर्थ पण्डितजी ने नहीं जाना। क्योंकि वहां भी—

उत्तरे ज्योतिषी एतेन नामधेयेन भजेते * ।

इस का यह अर्थ है कि अग्नि नाम करके पूर्वोक्त प्रकार से उत्तर ज्योति गृहीत होते हैं। अर्थात् भौतिक और परमेश्वर इन दो अर्थों का ग्रहण होता है। तथा—(इममेवाग्निं० *) इत्यादि इन दोनों अर्थों के अभिप्राय में है। क्योंकि विना पठनाभ्यास के कोई कैसा ही बुद्धिमान् क्यों न हो गूढ़ शब्दों का यथावत् अर्थ जानने में उसको कठिनता पड़ जाती है। इस मंत्र का अभिप्राय मैंने अच्छी तरह वेदभाष्य में प्रकाशित कर दिया था। तिस पर भी पण्डितजी न समझे। बड़े आश्चर्य्य की बात है कि विद्या के अभिमानी होकर ऐसी भ्रान्ति में गिर पड़ते और उन प्रमाण मंत्रों के यथार्थ अर्थ को उलटा समझते हैं। क्या यह हठ की बात नहीं है कि विद्वान् कहाकर बार २ यही कहते चले जाना कि अग्नि शब्द से परमेश्वर का ग्रहण नहीं होता। जैसे इस मन्त्र के अर्थ में पण्डितजी भूल गये हैं वैसे ही (तदेवाग्नि०)। जो इस में तैत्तिरीय आरण्यक का नाम लिखा उसके प्रकरण का अभिप्राय पण्डितजी ने ठीक २ नहीं जाना है। क्योंकि वहां परमेश्वर का निरूपण और सृष्टिविद्या दिखलाई है। जैसे वह परमेश्वर भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान तीनों काल में एकरस रहता है। अर्थात् जब २ जगत् हुआ था, है और होगा तब २ वहः—

तदक्षरे परमे व्योमन् ।

सर्वव्यापक आकाशवत् विनाशरहित परमेश्वर में स्थित होता है। क्योंकिः—

येनावृतं खं च दिवं महीं च० ।

* नि० अ० ७ । खं० १८ ॥

इत्यादि जिसने आकाश सूर्य्यादि लोक और पृथिव्यादियुक्त जगत् को अपनी व्याप्ति से आवृत कर रक्खा है।

येन जीवान् व्यवसर्ज भूम्याम्।

जो कि जीवों को कर्मानुसार फल भोगने के लिये भूमि में जन्म देता है।

अतः परं नान्यदणीयमस्ति।

जिससे सूक्ष्म वा बड़ा कोई पदार्थ नहीं है। तथा जो सब से पर, एक, अद्वितीय, अव्यक्त और अनन्तस्वरूपादि विशेषणयुक्त है।

तदेवावर्त्तत्तदुसत्यमाहुस्तदेव ब्रह्म परमं कवीनाम्।

वही एक यथार्थ नित्य एक चेतन तत्त्वमय है। वही सत्य, वही ब्रह्म, तथा विद्वानों का उपास्य परमोत्कृष्ट इष्ट देवता है। और (तदेवाग्नि०) अर्थात् वही परमेश्वर अग्न्यादि नामों का वाच्य है।

सर्वे निमेषा जज्ञिरे * इत्यादि।

जिससे सब कालचक्रादि पदार्थ उत्पन्न हुए हैं। तथा—

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चिदेनम्। हृदा मनीषा मनसाऽभिक्लृप्तो य एनं विदुरमृतास्ते भवन्ति †।

अर्थात् उस परमेश्वर का स्वरूप इयत्ता से दृष्टि में नहीं आ सकता। अर्थात् कोई उस को आंख से नहीं देख सकता। किन्तु जो धार्मिक विद्वान् अपनी बुद्धि से अन्तर्यामी परमात्मा को आत्मा के बीच में जानते हैं वे ही मुक्ति को प्राप्त होते हैं। तथा जिस अनुवाक का पंडितजी ने नाम लिखा है उस का अभिप्राय और ही कुछ है। अद्वैत शब्द का अर्थ उन की समझ में ठीक २ नहीं आया। क्योंकि उन के मन में भ्रम होगा कि सिवाय परमेश्वर

* य० अ० ३२। मं० २॥ † कठोप० वल्ली ६। मं० ९॥

के जगत् में दूसरा पदार्थ कोई भी नहीं। किन्तु परमेश्वर ही जगत्रूप बन गया है। क्योंकि वे लिखते हैं कि तमाम ब्रह्माण्ड एक अंशमात्र है, जिससे घोड़ा गौ और खटमल आदि निकले हैं इस से उन का अभिप्राय स्पष्ट मालूम होता है कि ब्रह्म ही सब जगत् बन गया है। यह भ्रान्ति उन को वेदादि शास्त्रों के ठीक २ न जानने के कारण हुई है। क्योंकि देखो अद्वैतशब्द परमेश्वर का विशेषण है कि जैसे एक २ मनुष्यादि जाति जगत् में अनेक व्याप्तिमय है वैसा परमेश्वर नहीं। किन्तु वह तो सब प्रकार से एकमात्र ही है। इसका उत्तर भूमिका अङ्क ४ पृष्ठ ६० की पंक्ति २२ * में मिलता है। जैसे—

न द्वितीयो न तृतीयः † ।

इत्यादि में देख लेना। तथा—

पुरुष एवेदꣳ सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम् ‡ ।

इत्यादि मंत्रों का अर्थ भूमिका अंक ५ के ११८ पृष्ठ में (सहस्रशीर्षा) इत्यादि की व्याख्या से लेकर अंक ६ के १३४ पृष्ठ + की समाप्ति पर्य्यन्त देखने से इसका ठीक उत्तर मिल जायगा। और—

अग्निर्होता कविः क्रतुः ।

इस के अर्थ विषय में जो पंडितजी को शंका हुई है कि अग्नि शब्द से ईश्वर कैसे लिया जाता है तो निरुक्त में कवि शब्द का अर्थ क्रान्तदर्शन अर्थात् सब को जानने वाला है सो सिवाय परमेश्वर के भौतिक में कभी नहीं घट सकता। क्योंकि भौतिक अग्नि जड़ है। इस मंत्र का अर्थ वेदभाष्य के अंक १ पृष्ठ १६ में देख लेना। (क्रतुः) सब जगत् का करने वाला, (सत्यश्चित्रश्रवस्तमः) इत्यादि पदों का अर्थ वहीं देख लेना। जब आग्रह छोड़ के विद्या की आंख से मनुष्य देखता है तब उस को सत्यासत्य का ज्ञान यथावत् होता

* शताब्दीसंस्करण पृ० ३६६ पंक्ति १६॥ † अथर्व० कां० १३। अनु० ४। मं० १६॥
‡ य० अ० ३१। मं० २॥ + शताब्दीसंस्करण पृ० ४०३ से ४२५ तक॥

है । और जब इस प्रकार की ठीक २ विद्या ही नहीं तो उस को सत्यासत्य का विवेक कभी नहीं हो सकता । तथा निघं० अ० ३ । खं० १५ में मेधावी का नाम कवि लिखा है सो परमेश्वर के सिवाय भौतिक जड़ अग्नि कभी नहीं घट सकता । तथा यजुर्वेद अ० ४० । मं० ८ ।

सपर्य्यगाच्छुक्र० ।

इस मन्त्र में कविर्मनीषी इत्यादि लिखा है । यहां भी कवि नाम सिवाय परमेश्वर के भौतिक जड़ अग्नि में कभी नहीं घट सकता । और ये सब प्रमाण मेरे अभिप्राय को ठीक २ सिद्ध करते हैं । तथा पंडितजी का विशेष लेख मेरे लेख की परीक्षा तो नहीं कर सकता किन्तु उन की न्यूनविद्या की परीक्षा अवश्य कराता है ।

पं० महेश०—(ब्रह्म ह्यग्निः) जो कि आगे की संस्कृत में आता है । जैसे—

अग्ने महां असि ब्राह्मण भारतेति० ॥

इस में अग्नि को ब्राह्मण कहा है । क्योंकि अग्नि इस नियम से—

सर्वं खल्विदं ब्रह्म ।

ब्रह्म है । और भारत इसलिये कहते हैं कि वह चढ़ाया हुआ पदार्थ देवताओं को पहुंचाता है । शत० कां० १ । अ० ४ । ब्रा० ४ । २ । इससे मालूम होता है कि यह अग्नि शब्द का अर्थ नहीं किन्तु ब्राह्मण और भारत, अग्नि में लगाये हैं ।

आत्मा वा अग्निः ।

यह श० कां० ७ । अ० ३ । ब्रा० १ । कं० २ के अगले प्रमाण में आया है जैसे—

यद्वेव चिते गार्हपत्येऽचित आहवनीयेऽथ राजानं क्रीणाति । आत्मा व अग्निः । प्राणः सोमः । आत्मँस्तत् प्राणं मध्यतो दधाति ।

अर्थात् बाद रखने गार्हपत्य और पूर्व रखने अग्नि के होम करने वाला सोमलता को मोल लेता है। क्योंकि आत्मा अग्नि है। तथा प्राण नाम सोम का है। और आत्मा के बीच में प्राण रहते हैं। यहां आत्मा का अर्थ ईश्वर नहीं है, किन्तु मनुष्य के जीव से मुराद है। तथा अग्नि का नाम भी आत्मा अलंकाररूप से है। इसीलिये सोमलता प्राण का अर्थ लिया है। अग्नि का अर्थ आत्मा नहीं है जैसे कि सोमलता का अर्थ प्राण है। ११ भी शतपथ ब्राह्मण से लिये गये हैं जिस में इस बात का नाम नहीं है कि अग्नि का अर्थ ईश्वर माना जावे। किन्तु जहां से ये प्रमाण रक्खे हैं वे बराबर होमादि का विधान करते हैं और वे निस्सन्देह केवल भौतिक अग्नि का अर्थ देते हैं दूसरा नहीं। ऐतरेयोपनिषद् के हैं अर्थात् १८ प्रमाण में ईश्वर का वर्णन प्राण, अग्नि, पंचवायु आदि से तथा १३ में ईशान, शंभु, भव, रुद्र आदि। ये सब अर्थ उसी नियम पर हैं कि जिसका कथन कर चुके सब वस्तु ब्रह्म है। इन प्रमाणों से भी स्वामीजी के कथन की पुष्टता नहीं होती। १३ प्रमाण में अग्नि कहीं नहीं आया है। सिवाय (अग्निरिवाग्निना पिहितः) ब्रह्म को अग्नि शब्द के तुल्य करने से कि जो (अग्निरिव) से उत्पन्न होता है साफ मालूम होता है कि अग्नि और ईश्वर में बड़ा भेद है। परन्तु बड़ा आश्चर्य है कि स्वामीजी इसी को अपना प्रमाण मानते हैं। १४ ऐतरेय ब्रा० और शत० ब्राह्म० के हैं जो कह दिये गये।

स्वामीजी—इसके आगे जो २ प्रमाण मैंने शतपथ के इस विषय में क्रम से धरे हैं उन को तो देखते विचारते नहीं परन्तु इधर उधर घूमते हैं। विद्वानों का यह काम है कि उलट पुलट के आगे का पीछे और पीछे का आगे कर देवे। (ब्रह्म ह्यग्निः) इस वचन से स्पष्ट मालूम होता है कि ब्रह्म का नाम अग्नि है। तथा—

अग्ने महां असि ब्राह्मण भारतेति।

इस वचन के भी दूसरे अर्थ हैं। क्योंकि वहां (सर्वं खल्विदं ब्रह्म) यह नियम कहीं नहीं लिखा।

ब्रह्म ह्यग्निस्तस्मादाह ब्राह्मण इति । भारतेत्येष हि देवेभ्यो हव्यं भरति तस्माद् भारतोऽग्निरित्याहुरेष उवा इमाः प्रजाः प्राणो भूत्वा बिमर्त्ति तस्मादेवाह भारतेति ।

इस कण्डिका का अर्थ पूर्वापर सम्बन्ध से पण्डितजी न समझे । क्योंकि इसका अर्थ यह है कि हे अग्ने परमेश्वर ! आप (महान्) सब से बड़े हैं और बड़े होने से ब्राह्मण तथा सब प्रजा को धारण करने से भारत कहाते हैं । और विद्वानों के लिये सब उत्तम पदार्थों का धारण करते हैं इसलिये भी आप का नाम भारत है । इस कण्डिका के अर्थ से यथावत् सिद्ध होता है कि अग्नि भारत और ब्राह्मण ये नाम परमेश्वर के हैं । और जो—

आत्मा वा अग्निः ।

इस में अग्नि शब्द से परमेश्वर और भौतिक अग्नि का ग्रहण है इससे दोष नहीं आ सकता, यही मेरा अभिप्राय है । इसको पण्डितजी ठीक २ नहीं समझे और—

तस्मादयमात्मन् प्राण० मध्यतः ।

इसका यह अर्थ है कि (अयम्) यह होम करनेवाला वा परमेश्वर का उपासक सब के बलकारक प्राण को शरीर में वा मोक्षस्वरूप अन्तर्यामी ब्रह्म के बीच में धारण करता है । क्योंकि सब के प्राण सामान्य से परमेश्वर की सत्ता में ठहर रहे हैं । इससे सब का आत्मा प्राण के बीच में है और मनुष्य के प्राण की अपेक्षा व्यवहार दशा में है । परन्तु—

स उ प्राणस्य प्राणः * ।

इस केनोपनिषद् के विधान से परमेश्वर का नाम भी प्राण है । इससे यहां आत्मन् शब्द से जीवात्मा और परमात्मा का ग्रहण है । और आत्मा का नाम अग्नि अलङ्कार से नहीं किन्तु संज्ञासंज्ञि सम्बन्ध से है । क्योंकि उस प्रकरण

* केनो० खं० २ । मं० २ ॥

में वैसे ही अग्निनाम से पूर्वोक्त दोनों अर्थ सिद्ध हैं और यज्ञादि कर्मों में परमेश्वर का ग्रहण सामान्य से आता है। सोम का नाम प्राण शतपथ में इसलिये है कि वह प्राण अर्थात् बल बढ़ाने का निमित्त है। परमेश्वर का नाम सोम है सो पूर्वोक्त ऐतरेय ब्राह्मण के प्रकरण में सिद्ध है। और जहां २ से प्रमाण लिखे हैं वहां २ सर्वत्र होमादि क्रिया उपासना और परमेश्वर का ग्रहण है। परन्तु पण्डितजी लिखते हैं कि अग्नि नाम से भौतिक अर्थ का ही ग्रहण होता है। यह केवल उनका आग्रह है। इसका उत्तर पूर्व भी हो चुका। और—

प्राणो अग्निः परमात्मेति।

यह मैत्र्युपनिषद् का प्रमाण भी यथावत् परमेश्वरार्थ को कहता है। प्राण, अग्नि, परमात्मा ये तीनों नाम एकार्थवाची हैं। तथा आत्मा और ईशानादि भी संज्ञासंज्ञि सम्बन्ध में स्पष्ट हैं। और सब वस्तु ब्रह्म है इसका उत्तर मैं पूर्व दे चुका हूं। पण्डितजी वेदादिशास्त्रों को न जानकर भ्रम से जगत् को ब्रह्म मानते हैं। इस प्रकरण में प्राण, अग्नि और परमात्मा पर्य्यायवाचक लिखे हैं। उनका अर्थ विना विचारे कभी नहीं मालूम हो सकता। क्योंकि (पञ्चवायुः) इस शब्द से पण्डितजी को भ्रम हुआ है। इसमें केवल व्याकरण का कम अभ्यास कारण है। क्योंकि जिसमें पांच वायु स्थित हों सो (पञ्चवायुः) परमेश्वर कहाता है। और इस प्रकरण में (विश्वभुक्) आदि शब्द भी हैं इससे दोनों अर्थ वहां लिये जाते हैं।

य एष तपति अग्निरिवाग्निना पिहितः। एको वा जिज्ञासितव्योऽन्वेष्टव्यः सर्वभूतेभ्योऽभयं दत्त्वाऽऽरण्यं गत्वाऽथ बहिः कृत्वेन्द्रियार्थान् स्वाच्छरीरादुपलभेतैनमिति विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं परायणं ज्योतिरेकं तपन्तं सहस्ररश्मिः शतधा वर्त्तमानः प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः। तस्माद्वा एष उभयात्मैवंविदात्मन्येवाभिध्यायत्यात्मन्येव यजतीति ध्यानम्।

जो परमेश्वर अग्नि और सूर्य्य के समान सर्वत्र तप रहा है। जिस को सब विद्वान् लोग जानने की इच्छा करते और खोजते हैं तथा सब प्राणियों

को अभयदान दे के, विषयों में इन्द्रियों को रोक के, एकान्त देश में समाधिस्थ होकर, इसी मनुष्य-शरीर में जिसको प्राप्त होते हैं वह परमेश्वर विश्वरूप है। अर्थात् जिसका स्वरूप विश्व में व्याप्त हो रहा है। और सब पापों को नाश करने वाला, उसी से वेद प्रकाशित हुए हैं, वह सब विश्व का परम अयन, ज्योतिःस्वरूप, एक अर्थात् अद्वितीय, सूर्य्यादि को तपाने वाला, असंख्यात ज्योतियुक्त अर्थात् सब विश्व में असंख्यात गुण और सामर्थ्य से वह वर्त्तमान, सब का प्राण अर्थात् सब प्रजाओं के बीच में ज्ञानस्वरूप से उदित और चराचर जगत् का आत्मा है, उस परमेश्वर को जो पुरुष उभयात्मा अर्थात् अन्तर्यामी और परमेश्वर की आत्मा परमेश्वर ही को जानने वाला तथा अपने आत्मा में जगदीश्वर का अभिध्यान और समाधियोग से उस का पूजन करता है वही मुक्ति को प्राप्त होता है। इसी प्रकार से—

उपजमेतैनमिति।

मनुष्य परमेश्वर को प्राप्त हो सकता है अन्यथा नहीं। क्योंकि पण्डितजी ने इस प्रकरण का अर्थ कुछ भी नहीं जाना इसी से विरुद्ध लेख किया। इस प्रकार से यह प्रकरण मेरे लेख का मण्डन और पण्डितजी के लेख का खण्डन करता है। भौतिक अग्नि और परमेश्वर में बड़ा भेद है यह मैं भी जानता और मानता हूं। परन्तु पण्डितजी ने मेरे लेख में उन दोनों का भेद कुछ भी नहीं समझा यह बड़ा आश्चर्य्य है।

पं० महेश०—(अग्निः पवित्रमुच्यते) पवित्रं शब्द की खराबी लगी है कि उसको पवित्र शब्द के अर्थ में लिया है। १८ मनु का है। इस स्थान में मैं कुछ अवश्य कहना चाहता हूं कि एक बड़ा भाग मनु का जो कि हिंदू-धर्म का बयान करता है स्वामीजी उसके लौट डालने को अपनी ओर प्रेरणा अर्थात् रसूली समझते हैं। इसलिये मनु के प्रमाण रखने में उन की चतुराई नहीं समझी जा सकती। और धरा तो धरा करो, परन्तु उससे भी सिद्ध नहीं हो सकता कि अग्नि ईश्वर का वाची है। जैसे सब दृष्ट अदृष्ट सृष्टि को परमेश्वर में

स्थित देखना चाहिये, आत्मा सर्व देवता हैं, सब आत्मा में स्थित हो रहे हैं, कोई कहते हैं कि वह अग्नि है, कोई मनु अर्थात् प्रजापति, कोई इन्द्र, कोई प्राण, और कोई २ उसको नित्य ब्रह्म कर के समझते हैं । वह मनुष्य जो परमात्मा को सब में व्यापक देखता है स्वीकार करता है कि सब समान हैं वह परमेश्वर में लवलीन हो जाता है ।

सर्वमात्मनि संपश्येत्सच्चासच्च समाहितः * । आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम् † । एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम् ‡ ।

अब देखना चाहिये कि ये सब मंत्रों के प्रमाण स्वामीजी ने अग्नि शब्द के परमेश्वरार्थ में सिद्ध करने को दिये हैं सो कैसे वृथा हैं ।

स्वामीजी—(अग्निः पवित्रमुच्यते) इसका उत्तर हम देचुके । और मनु के प्रमाण के विषय में पण्डितजी का लेख विपरीत है । क्योंकि जो आर्य्यों का वेदोक्त सनातन धर्म है उसको पण्डितजी के समान विचार करने वाले मनुष्यों ने उलटा दिया है । उस उलटे मार्ग को उलटा कर पूर्वोक्त सत्यधर्म का स्थापन मैं किया चाहता हूं । इस से मेरी चतुराई तो ठीक हो सकती है । परन्तु पंडितजी की चतुराई ठीक नहीं समझी जाती । क्योंकि मनु के प्रमाण का अभिप्राय पंडितजी ने कुछ भी नहीं समझा ।

प्रशासितारं सर्वेषां० ।

इस पूर्वोक्त के पुरुष अर्थात् परमेश्वर की अनुवृत्ति—

एतमेके वदन्त्यग्निम्० ।

इस श्लोक में बराबर आती है । तथा—

अपरे ब्रह्म शाश्वतम् ।

* मनु० अ० १२ । श्लो० ११८ ॥ † मनु० अ० १२ । श्लो० ११९ ॥
‡ मनु० अ० १२ । श्लो० १२३ ॥

इस वचन से भी ठीक २ निश्चय है जिसका नाम परमेश्वर और ब्रह्म है उसी के अग्न्यादि नाम भी हैं । इस सुगम बात को भी पण्डितजी ने नहीं समझा यह बड़े आश्चर्य्य की बात है । और—

सर्वमात्मनि संपश्येत्सच्चासच्च समाहितः । सर्वं ह्यात्मनि संपश्यन्नाधर्मे कुरुते मनः ॥ १ ॥ आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम् । आत्मा हि जनयत्येषां कर्मयोगं शरीरिणाम् ॥ २ ॥ एवं यः सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना । स सर्वसमतामेत्य ब्रह्माभ्येति परं पदम् ॥ ३ ॥

इन श्लोकों से पण्डितजी ने ऐसा अर्थ जाना है कि परमेश्वर ही सब देवता हैं और सब जगत् परमेश्वर में स्थित है यह पण्डितजी का जानना बिलकुल मिथ्या है । क्योंकि इन श्लोकों से इस अर्थ को नहीं सिद्ध करते । (समाहितः) इस पद को अशुद्ध करके (समाहितम्) यह पण्डितजी ने लिखा है । जो सावधान पुरुष असत्कारण और सत्कार्य्यरूप जगत् को आत्मा अर्थात् सर्वव्यापक परमेश्वर में देखे वह कभी अपने मन को अधर्मयुक्त नहीं कर सकता, क्योंकि वह परमेश्वर को सर्वज्ञ जानता है ॥ १ ॥ आत्मा अर्थात् परमेश्वर ही सब व्यवहार के पूर्वोक्त देवताओं का रचने वाला और जिस में सब जगत् स्थित है वही सब मनुष्यों का उपास्यदेव तथा सब जीवों को पाप पुण्य के फलों का देने हारा है ॥ २ ॥ इसी प्रकार समाधियोग से जो मनुष्य सब प्राणियों में परमेश्वर को देखता है वह सब को अपने आत्मा के समान प्रेमभाव से देखता है । वही परमपद जो ब्रह्म परमात्मा है उसको यथावत् प्राप्त होके सदा आनन्द को प्राप्त होता है ॥ ३ ॥ अब देखना चाहिये मेरे वेदभाष्य पर विना समझे जो पण्डितजी ने तर्क लिखे हैं वे सब मिथ्या हैं । क्या इस बात को सब सज्जन लोग ध्यान देके न देख लेंगे ।

पं० महेश०—फिर स्वामीजी लिखते हैं कि अग्नि परमेश्वर सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् न्यायकारी पिता पुत्र के समान मनुष्य को उपदेश करता है कि हे जीव ! तुम इस प्रकार कहो कि मैं अग्नि परमेश्वर की स्तुति करता हूं । जिस

पर जीव कहता है कि मैं अपने ईश्वर की स्तुति करता हूं जो कि सर्वज्ञ, शुद्ध अविनाशी, अजन्मा, आदि अन्त रहित, सर्वव्यापक, सृष्टिकर्त्ता और स्वयं प्रकाशस्वरूप है दूसरे की नहीं। इस विषय में स्वामीजी कोई प्रमाण नहीं देते हैं। संसार स्वामीजी की इस प्रेरणा के बताने का ऋणी है। परन्तु उनकी ऐसी मधुरता से अपने भाष्य में लेख करना उचित नहीं। अब (अग्निमीड़े०) पुरोहित शब्द को देखना चाहिये। स्वामीजी अर्थ करते हैं वह जो जीवों का पालन और रक्षा करता, तथा हरएक को उत्पन्न करके सत्य विद्या का उपदेश करता और अपने उपासकों के हृदय में प्रेम भक्ति का प्रकाश करता है। स्वामीजी हित शब्द को डुधाञ् धातु से बनाते हैं जिससे आगे क्त है। इस में वह निरुक्त का प्रमाण धरते हैं:—

पुरोहितः पुर एनन्दधाति० *।

यह नहीं समझा जा सकता कि स्वामीजी पुरोहित शब्द से अपने अर्थ कैसे निकालते हैं। व्याकरण की रीति से इस हित शब्द के अर्थ आगे रक्खे के हैं। स्वामीजी लेते हैं कि जो कुछ रखता है। व्याकरण की रीति से हित शब्द डुधाञ् धातु का कर्माधार गौण क्रिया है सकर्मक गौण क्रिया नहीं। स्वामीजी उसे व्याकरण के सूत्र से सिद्ध करदें। परन्तु इस बात का दावा किया जा सकता है कि हित शब्द किसी उदाहरण से सकर्मक गौण क्रिया सिद्ध नहीं कर सकते।

स्वामीजी—जो अग्नि नाम परमेश्वर का लिखा है उस के प्रमाण उसी मंत्र के भाष्य में यथावत् लिखे हैं वहां ध्यान देकर देखने से मालूम हो जायेंगे। तथा पुरोहित शब्द पर जो मैंने प्रमाण वा उसका अर्थ लिखा है सो भी वहां देखने से ठीक २ मालूम होगा कि जैसा व्याकरण और निरुक्तादि से सिद्ध है। पण्डितजी पुरोहित शब्द को कर्मवाच्य कृदन्त मानते हैं किन्तु कर्तृवाच्य कृदन्त नहीं। यह उन का कथन कैसा है कि जैसा प्रमत्तगीत। अर्थात् किसी ने किसी

* निरु० अ० २। खं० १२॥

से प्रयाग का मार्ग पूछा उसने उत्तर दिया कि वह द्वारिका का मार्ग सूधा जाता है। पुरोहित शब्द के साधुत्व में यहां व्याकरण का यह सूत्र उपयोगी है—

आदिकर्मणि क्तः कर्त्तरि च॥ अष्टा० अ० ३। पा० ४। सू०७१॥

इस से आदिकर्मविषयक जो क्त प्रत्यय है वह कर्त्ता में सिद्ध है। क्योंकि सकल पदार्थों का उत्पादन और विज्ञानादि दान अर्थात् वेदद्वारा सकल पदार्थ-विज्ञान करा देना यह परमेश्वर का आदि कर्म है। इस के न होने से सत्यासत्य का विवेक और विवेक के न होने से परमेश्वर को जानना और परमेश्वर के ज्ञान न होने से उस की भक्ति होना ये सब परस्पर असम्भव हैं। निरुक्तकार ने भी पुरोहित शब्द में डुधाञ् धातु से कर्त्ता में क्त प्रत्यय मान कर परमेश्वर का ग्रहण किया है। वहां अन्वयादेश इसी अभिप्राय में है कि परमेश्वर सब जगत् को उत्पन्न करके उसका धारण और पोषण करता है। उसी परमेश्वर को संसारी जन इष्टदेव मान कर अपने आत्माओं में धारण करते हैं। देखिये वेदों में अन्यत्र भी—

विश्वास्मा उग्रः कर्मणे पुरोहितः॥ ऋ० मं० १। सू० ५५। मं० ३॥

यह उदाहरण भी प्रत्यक्ष है। और जो पंडितजी (यद्देवापि०*) इस मंत्र में पुराण की झूंठी आख्यायिका कहते हैं, उनकी बड़ी भूल है। क्योंकि उनको इस मंत्र के अर्थ की खबर भी नहीं है। और जो इसके ऊपर निरुक्त लिखा है उसका भी ठीक २ अर्थ नहीं जानते। क्योंकि पण्डितजी ने शन्तनु शब्द से भीष्मजी का पिता समझ लिया है। जो शंतनु शब्द का निरुक्त में अर्थ लिखा है उस की खबर भी नहीं है।

शन्तनुः शंतनोऽस्त्विति वा शमस्मै तन्वा अस्त्विति * वा।

जिस का यह अर्थ है कि (शं) कल्याणयुक्त तनु शरीर होता है जिस से वह परमेश्वर शन्तनु कहाता है। और जिस शरीर से जीव कल्याण को

* निरु० अ० २। खं० १२॥

प्राप्त होता है इसलिये उस जीव का नाम भी शंतनु है। इससे पण्डितजी ने इस में जो कथा लिखी सो सब व्यर्थ है ॥ ११ ॥

अब यज्ञ शब्द पर पण्डितजी लिखते हैं कि यज्ञ और देव शब्द को मिला करके लिया है सो बात नहीं है। क्योंकि यह लेख और यंत्रालय का दोष है। (यज्ञस्य) यह शैषिकी षष्ठी है। पुरोहित, देव, ऋत्विक्, होता और रत्नधातम ये सब यज्ञ के सम्बन्धी हैं और अग्नि के विशेषण हैं। यज्ञ शब्द का अर्थ जैसा भाष्य में लिया है वैसा समझ लेना चाहिये और निरुक्तकार * भी वैसा ही अर्थ लेते हैं। क्योंकि प्रख्यात अर्थात् प्रसिद्ध जो तीन प्रकार का वेदभाष्य में यज्ञ लिखा है वह निरुक्तकार के प्रमाण से युक्त है। और जो गो शब्द का दृष्टान्त दिया सो भी नहीं घट सकता क्योंकि प्रकरण, आकाङ्क्षा, योग्यता, आसत्ति, तात्पर्य्य, संज्ञा आदि कारणों से शब्द का अर्थ लिया जाता है। और जो देव शब्द के विषय में पण्डितजी ने लिखा है कि स्वामीजी ने जय की इच्छा करने वाले कहां से वा कैसे लिये हैं इस का उत्तर यह है कि दिवु का धात्वर्थ विजिगीषा भी है, और जो यज्ञ में विघ्नकारक दुष्ट प्राणी और कामक्रोधादि शत्रु हैं उन का जीतनेवाला वही परमेश्वर है, क्योंकि विविध यज्ञ का रक्षक, इष्ट और पूज्यदेव परमेश्वर ही है ॥

पुरोहितो व्याख्यातो यज्ञश्च † ।

इस के अर्थ में पंडितजी की बहुत भूल है। क्योंकि निरुक्तकार कहते हैं कि हमने पुरोहित और यज्ञ शब्द की पूर्व व्याख्या करदी है और पण्डितजी कहते हैं कि निरुक्त के तीसरे अध्याय के १९ खण्ड में यज्ञ शब्द को व्याकरण से सिद्ध किया है सो झूठ है। क्योंकि वहां अर्थ की निरुक्तिमात्र कही है सिद्धि कुछ भी नहीं। और जो निघण्टु के अ० ३। खं० १९ प्रमाण से यज्ञ के अनेक नाम लिखे हैं कि बहुधा वे होमादिक के विधान में आते हैं और स्वामीजी के अर्थों में उनमें से एक भी नहीं मिलता यह बात पंडितजी की भ्रांतियुक्त

* अ० ३। खं० १९ ॥ † निरु० अ० ७। खं० १५ ॥

है। क्योंकि उन १५ नामों का अर्थ मेरे अर्थ के साथ बराबर मिलता है। क्योंकि मैंने यज्ञ शब्द का अर्थ त्रिविध लिया है। इस के साथ उनको मिलाकर देखो। और पण्डितजी निरुक्तकार के विषय में कहते हैं कि देव शब्द के अर्थ देनेवाला, प्रकाश करने वाला और स्वर्ग में रहने वाला ये तीन ही हैं। इस देवशब्दविषयक निरुक्त का अर्थ भूमिका के तीसरे अङ्क के ६३ पृष्ठ की ५ * पंक्ति से देखलना चाहिये। निरुक्तकार—

यो देवः सा देवता० † ।

इत्यादि जो पांच अर्थ लेते हैं उन को पण्डितजी ठीक २ नहीं समझे कि निरुक्तकार कितने अर्थ लेते हैं इस में पंडितजी की परीक्षा हुई कि वे निरुक्तकार का अभिप्राय ठीक नहीं जानते हैं।

पं० महेश०—इसी प्रकार स्वामीजी 'ऋत्विजं०, होतारम् और रत्नधातमं' शब्दों के कई २ अर्थ अशुद्ध रीति से करते हैं। परन्तु क्योंकि उनकी भूल 'यज्ञस्यदेवं', शब्दों में सिद्ध कर चुका हूं इसलिये विशेष लिखना वृथा है। स्वामीजी (ऋत्विजं) का अर्थ करते हैं कि जिसकी सब ऋतुओं में पूजा की जाय। परन्तु सब के प्रामाणिक अर्थ इस शब्द के चढ़ाने वाले अर्थात् भेट करनेवाले के हैं और न कि जिस को भेट चढ़ाई जाय, यह बात भी निरु की साक्षी से सिद्ध है कि जिसका स्वामीजी भी प्रमाण मानते हैं।

स्वामीजी—अब पंडितजी ऋत्विज् शब्द पर लेख करते हैं सो भी ठीक २ नहीं वे समझे।

कृत्ल्युटो बहुलम्।

इस वार्तिक का अर्थ भी नहीं समझे। क्योंकि इस वार्तिक में कृत्संज्ञक प्रत्यय कर्म में भी उन शब्दों में माने जाते हैं जो कि वेदादि सत्य शास्त्रों में

* शताब्दीसंस्करण पृ० ३३१ पंक्ति २२ से ॥

† निरु० अ० ७ । खं० १५ ॥

प्रयुक्त हों। इसलिये इस वेदभाष्य में जो इस का अर्थ लिखा गया है सो व्याकरण से सिद्ध है। परन्तु पंडितजी ऋत्विज् शब्द का अर्थ नहीं समझे।

पं० महेश०-स्वामीजी (होतारं) शब्द के जो कई अर्थ करते हैं उन में से एक (आधातारं) अर्थात् ग्रहण करनेवाले के हैं। यह भिन्न पद है कि जिन से यह अर्थ लिये जाते हैं। (होतारं) जो (हु) से बनता है जिस के अर्थ अगले नियम धातुपाठ के से (अदन) होते हैं और इस ग्रन्थ को स्वामीजी मानते हैं, जैसे—

हु दानादनयोरादाने चेत्येके।

(हु) धातु के अर्थ दान, अदन और किसी के मत में आदान अर्थात् ग्रहण करना। अदन का अर्थ ग्रहण का आदान अर्थ ग्रहण करना है। वेदान्तदर्शन का एक सूत्र है—

अत्ता चराचरग्रहणात

इस प्रमाण से सिद्ध होता है कि अदन का अर्थ ग्रहण करना है। और फिर धातुपाठ के उसी नियम से सिद्ध होता है कि अदन शब्द जो उस में आया है उस के अर्थ आदान के नहीं हो सकते। किन्तु उसके अर्थ कुछ और ही हैं। नहीं तो उक्त नियम के अनुसार (आदाने चेत्येके) कैसे बन सकता। किसी के मत में हु धातु का अर्थ भी आदान होता है। इससे मालूम हो गया कि धातुपाठकार ने अदन आदान अर्थ में लाने का कभी ख्याल भी नहीं किया। अर्थात् उस अर्थ में कि जिस में स्वामीजी ने लिया है। इस सूत्र में कदाचित् स्वामीजी इस बात को सिद्ध करसकें कि अदन आदान के अर्थ में आता है तो यह वेदान्तदर्शन का सूत्र ही हो यह माना। फिर भी वह धातुपाठ के नियम की वृत्ति में नहीं लग सकता। तथा पण्डितजी के प्रमाण की पुष्टि कभी नहीं कर सकता। अब इसलिये इस बात के कहने की आवश्यकता नहीं है कि वेदान्तसूत्र भी जिस को कि स्वामीजी मानते हैं अदन को आदान अर्थ में सिद्ध नहीं कर सकता है। यह तमाशे की बात है कि स्वामीजी ने (हु) धातु से अर्थ लेने की

अनेक युक्तियां घूम २ कीं परन्तु न मालूम स्वामीजी (होतारं) शब्द का अर्थ ग्रहण करने वा लेने में ऐसे अधीर क्यों होगये। निस्सन्देह ग्रहण करने का जो गुण है सो ईश्वर में कभी नहीं लग सकता। अब मैं स्वामीजी के एक ईश्वरप्रतिपादन विषय की परीक्षा कर चुका कि जिस को पढ़नेवाले समझ लेंगे।

स्वामीजी—अब होता शब्द पर पण्डितजी के लेख की परीक्षा करता हूं। पण्डितजी को यह शंका हुई है कि अदन का अर्थ जब ग्रहण लेंगे तब आदान व्यर्थ हो जायगा। परन्तु इसमें यह बात समझी जाय कि जब होता शब्द परमेश्वर का विशेषण है तब क्या किसी मनुष्य को शंका न होगी कि परमेश्वर भी अत्ता होने वाला होने से जगत् का भक्षणकारक होगा, इस की निवृत्ति के लिये आदान का अर्थ धारण किया है। जो इसके तीन अर्थ हैं उनमें से प्रथम अर्थ को लेकर होता शब्द के अर्थ ईश्वर का जगत् का भक्षण करने वाला कोई मनुष्य न माने। क्योंकि ईश्वर में यह अर्थ नहीं घट सकता। जो निराकार और सर्वव्यापक है वह भक्षणादि कैसे कर सकता है। हां धारण शक्ति से व्यापक होके ग्रहण अर्थात् धारण तो कर रहा है। इसलिये इस शंका का निवारण इस अर्थ के विना नहीं हो सकता। और जो पंडितजी ने लिखा है कि धातुपाठ के कर्त्ता का यह अभिप्राय नहीं है सो भी पं० जी की समझ उलटी है। क्योंकि जब (हु) धातु का केवल ईश्वरार्थ के साथ ही प्रयोग हो और अन्यत्र न हो तब यह दोष (देवदत्तो भोजनं जुहोत्यत्तीत्यर्थः) ऐसे वाक्य में (अदन) शब्द भक्षण के अर्थ में ही आता है। इस अभिप्राय से पाणिनिमुनि ने (हु) धातु तीन अर्थों में लिखा है। (आदाने चेत्येके) इस के कहने से स्पष्ट मालूम होता है कि धातुपाठकार के मत में (हु) धातु दान और अदन इन दोनों अर्थों में है। और अदन अर्थ से भक्षण तथा आदान दोनों ले लिये जावेंगे। परन्तु कोई आचार्य आदान को पृथक् मानते हैं। धातुपाठकार नहीं। इसीलिये आदान अर्थ का पृथक् ग्रहण किया है इससे जानलो धातुपाठकार का यह ध्यान होता तो स्वयं दान और अदन में आदान का पाठ क्यों नहीं कर लेते। इससे धातुपाठ की वृत्ति में ठीक २ मेरा अभिप्राय मिलता और

मेरे ही अर्थ की पुष्टि करता है, पंडितजी की नहीं। इसी प्रकार वेदांत का सूत्र भी मेरे अर्थ की पुष्टि करता है, पण्डितजी की कुछ भी नहीं। क्योंकि (अत्ता) शब्द का ग्रहण करने वाले के अर्थ में वेदान्तसूत्रकार का अभिप्राय है। (आदान) शब्द के अर्थ के लिये नहीं। क्योंकि आदान शब्द तो स्वयं ग्रहण करने अर्थ में है। इसलिये इस सूत्र कारि अर्थों के बिना (अत्ता) शब्द को ग्रहणार्थ में कोई कभी नहीं ला सकता, यह बड़े आश्चर्य की बात है कि पंडित-जी अपनी निर्मूल बात को समूल करने के लिये बहुत से यत्न करते हैं परन्तु क्या झूठा सच्चा और सच्चा झूठा कभी हो सकता है। इसी ही लेख से पण्डितजी की विद्या की परीक्षा विद्वान् लोग कर लेवें। और पण्डित महेश० न्याय-रत्नजी की संस्कृत में विद्वत्ता कितनी है इसको समझ लेवें कि इन्होंने क्या केवल विद्याहीन पौराणिक लोगों की वेदार्थविरुद्ध टीका और वैसे ही अंग्रेजी में जो वेदों पर मूलार्थविरुद्ध उलटे कर चुके हैं उनके सिवाय, ब्रह्मा से लेके जैमिनि मुनि पर्यन्त के किये वेदों के व्याख्यान ग्रन्थों को कुछ भी कभी देखा वा समझा है। नहीं तो ऐसी व्यर्थ कल्पना क्यों करते। हां मैं यह कहता हूं कि:—

न वेत्ति यो यस्य गुणप्रकर्षं स तस्य निन्दां सततं करोति।
यथा किरातः करिकुम्भजाता मुक्ताः परित्यज्य बिभर्त्ति गुञ्जाः॥

चोर कोटपाल को दण्डे। अर्थात् जो सच्चे को झूठा दोष लगाते हैं वे ऐसे दृष्टांत के योग्य होते हैं कि जो जिसके उत्तम गुण नहीं जानता, वह उसकी निन्दा निरन्तर करता है। जैसे कोई जङ्गली मनुष्य राजमुक्ताओं को हाथ में लेकर उनको छोड़ के घुंघुची का हार बनाकर गले में पहन कर फूला २ फिरे वैसे जिन्होंने मेरे बनाये भाष्य पर विरुद्ध बात लिखी हैं क्या इस पत्र को जो २ बुद्धिमान् लोग देखेंगे वे जैसी उनकी पण्डिताई की खंडबंड दशा को न जान लेंगे। परन्तु मैं यह प्रसिद्ध विज्ञापन देता हूं कि ग्रिफिथ साहेब आदि अंग्रेज, पं० गुरुप्रसाद और महेशचन्द्र न्यायरत्नजी और मैं कभी संमुख बैठ कर वेदविषय में वार्तालाप करें तब सब को विदित हो जावे कि विरुद्धवादियों को वेद के एक मूल मंत्र का भी अर्थ ठीक २ नहीं आता। यह बात सब को विदित होजावे

मैं चाहता हूं कि ये लोग मेरे पास आवें वा मुझको अपने पास बुलावें तो ठीक २ विद्या और अविद्या का निश्चय हो जावे कि कौन पुरुष वेदों को यथार्थ जानता है और कौन नहीं। क्योंकिः—

विद्यादम्भः क्षणस्थायी

सब का दम्भ कुछ दिन चलता जाता परन्तु विद्या का दम्भ क्षणमात्र में छूट जाता है।

इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिकृतशङ्कासमाधानयुक्तपत्रं पूर्तिमगात् ॥ संवत् १९३४ कार्तिक शुक्ला २ ॥

शताब्दी-संस्करण

Prem Bahadur Varma
12.8.26

गोकरुणानिधिः

गाय आदि पशुओं की रक्षा से सब प्राणियों के सुख के लिये अनेक
सत्पुरुषों की सम्मति के अनुसार आर्यभाषा में बनाया,

इसके अनुसार वर्तमान करने से संसार का बड़ा उपकार है

पृष्ठ ६१६-६४५,

गोकरुणानिधिः

—:o:—

आवृत्ति		सन् ई०		संख्या
प्रथम	...	१८८०	...	१०००
द्वितीय	...	१८८२	...	१०००
तृतीय	...	१८८६	...	२०००
चतुर्थ	...	१८९७	...	१०००
पंचम	...		...	१०००
षष्ठ	...	१९०३	...	२०००
सप्तम	...	१९०६	...	२०००
अष्टम	...	१९१३	...	२०००
नवम	...	१९१५	...	५०००
दशम	...	१९२१	...	५०००
एकादश	...	१९२४	...	२०००
शताब्दीसंस्करण		१९२४	...	१०,०००
				३४,०००

ओ३म्

नमो नमः सर्वशक्तिमते जगदीश्वराय

गोकरुणानिधिः

इन्द्रो विश्वस्य राजति । शन्नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे ॥ य० अ० ३६ । मं० ८ ॥

तनोतु सर्वेश्वर उत्तमम्बलं गवादिरक्षं विविधं दयेरितः ।
अशेषविघ्नानि निहत्य नः प्रभुः सहायकारी विदधातु गोहितम् ॥१॥
ये गोसुखं सम्यगुशन्ति धीरास्ते धर्म्मजं सौख्यमथाददन्ते ।
क्रूरा नराः पापरता न यन्ति प्रज्ञाविहीनाः पशुहिंसकास्तत् ॥२॥

भूमिका

वे धर्मात्मा विद्वान् लोग धन्य हैं जो ईश्वर के गुण, कर्म्म, स्वभाव, अभिप्राय, सृष्टिक्रम, प्रत्यक्षादि प्रमाण और आप्तों के आचार से अविरुद्ध चलके सब संसार को सुख पहुंचाते हैं। और शोक है उन पर जो कि इन से विरुद्ध, स्वार्थी, दयाहीन होकर जगत् में हानि करने के लिये वर्त्तमान हैं। पूजनीय जन वे हैं कि जो अपनी हानि होती हो तो भी सब के हित के करने में अपना तन, मन, धन लगाते हैं। और तिरस्करणीय वे हैं जो अपने ही लाभ में सन्तुष्ट रह कर सब के सुखों का नाश करते हैं। ऐसा सृष्टि में कौन मनुष्य होगा जो सुख और दुःख को स्वयं न मानता हो ? क्या ऐसा कोई भी मनुष्य है कि जिसके गले को काटे वा रक्षा करे वह दुःख और सुख का अनुभव न करे ?। जब सब को लाभ और सुख ही में प्रसन्नता है तो विना अपराध

किसी प्राणी का प्राणवियोग करके अपना पोषण करना यह सत्पुरुषों के सामने निन्दित कर्म क्यों न होवे ? । सर्वशक्तिमान जगदीश्वर इस सृष्टि में मनुष्यों के आत्माओं में अपनी दया और न्याय को प्रकाशित करे कि जिससे ये सब दया और न्याययुक्त होकर सर्वदा सर्वोपकारक काम करें, और स्वार्थपन से पक्षपात-युक्त होकर कृपापात्र गाय आदि पशुओं का विनाश न करें, कि जिससे दुग्ध आदि पदार्थों और खेती आदि क्रियाओं की सिद्धि से युक्त होकर सब मनुष्य आनन्द में रहें । इस ग्रन्थ में जो कुछ अधिक, न्यून वा अयुक्त लेख हुआ हो उस को बुद्धिमान् लोग इस ग्रन्थ के तात्पर्य के अनुकूल कर लेवें । धार्मिक विद्वानों की यही योग्यता है कि वक्ता के वचन और ग्रन्थकर्त्ता के अभिप्राय के अनुसार ही समझ लेते हैं । यह ग्रन्थ इसी अभिप्राय से रचा गया है जिससे गो आदि पशु जहांतक सामर्थ्य हो बचाये जावें और उनके बचाने से दूध, घी और खेती के बढ़ने से सब को सुख बढ़ता रहे । परमात्मा कृपा करें कि यह अभीष्ट शीघ्र सिद्ध हो इस ग्रन्थ में तीन प्रकरण हैं-एक समीक्षा, दूसरा नियम और तीसरा उपनियम । इन को ध्यान दे पक्षपात छोड़ विचार के राजा तथा प्रजा यथावत् उपयोग में लावें कि जिससे दोनों के लिये सुख बढ़ता ही रहे ।

इति भूमिका

अथ समीक्षा-प्रकरणम्

गोकृष्यादिरक्षिणीसभा

इस सभा का नाम गोकृष्यादिरक्षिणी इसलिये रक्खा है जिससे गवादि पशु और कृष्यादि कर्म्मों की रक्षा और वृद्धि होकर सब प्रकार के उत्तम सुख मनुष्यादि प्राणियों को प्राप्त होते हैं और इस के विना निम्नलिखित सुख कभी नहीं प्राप्त हो सकते। सर्वशक्तिमान जगदीश्वर ने इस सृष्टि में जो २ पदार्थ बनाये हैं वे निष्प्रयोजन नहीं। किन्तु एक २ वस्तु अनेक २ प्रयोजन के लिये रची है। इसलिये उन से वे ही प्रयोजन लेना न्याय अन्यथा अन्याय है। देखिये जिसलिये यह नेत्र बनाया है इससे वही कार्य्य लेना सब को उचित होता है। न कि उससे पूर्ण प्रयोजन न लेकर बीच ही में वह नष्ट कर दिया जावे। क्या जिन २ प्रयोजनों के लिये परमात्मा ने जो २ पदार्थ बनाये हैं उन २ से वे २ प्रयोजन न लेकर उनको प्रथम ही विनष्ट कर देना सत्पुरुषों के विचार में बुरा कर्म नहीं है?। पक्षपात छोड़कर देखिये गाय आदि पशु और कृषि आदि कर्म्मों से सब संसार को असंख्य सुख होते हैं वा नहीं?। जैसे दो और दो चार, वैसे ही सत्यविद्या से जो २ विषय जाने जाते हैं वे अन्यथा कभी नहीं हो सकते।

जो एक गाय न्यून से न्यून दो सेर दूध देती हो और दूसरी बीस सेर तो प्रत्येक गाय के ग्यारह सेर दूध होने में कुछ भी शंका नहीं। इस हिसाब से एक मास में ८।ऽ (सवा आठ) मन दूध होता है। एक गाय कम से कम ६ महीने और दूसरी अधिक से अधिक १८ महीने तक दूध देती है। तो दोनों का मध्यभाग प्रत्येक गाय के दूध देने में बारह महीने होते हैं। इस हिसाब से बारह महीनों का दूध ९९ऽ (निन्नानवे) मन होता है। इतने दूध को औटा कर प्रतिसेर में छटांक चावल और डेढ़ छटांक चीनी डाल कर खीर बना

खावें तो प्रत्येक पुरुष के लिये दो सेर दूध की खीर पुष्कल होती है । क्योंकि यह भी एक मध्यभाग की गिनती है । अर्थात् कोई दो सेर दूध की खीर से अधिक खायगा और कोई न्यून । इस हिसाब से एक प्रसूता गाय के दूध से १९८० (एक हजार, नवसौ, अस्सी) मनुष्य एक वार तृप्त होते हैं । गाय न्यून से न्यून ८ और अधिक से अधिक १८ वार ब्याती है । इसका मध्यभाग तेरह वार आया । तो २५७४० (पच्चीस हजार, सातसौ, चालिस) मनुष्य एक गाय के जन्म भर के दूधमात्र से एक वार तृप्त हो सकते हैं । इस गाय के एक पीढ़ी में छः बछियां और सात बछड़े हुए । इनमें से एक की मृत्यु रोगादि से होना सम्भव है तो भी बारह रहे । उन छः बछियाओं के दूधमात्र से उक्त प्रकार १५४४४० (एक लाख, चौवन हजार, चारसौ, चालिस) मनुष्यों का पालन हो सकता है । अब रहे छः बैल । उन में एक जोड़ी से दोनों साख में २००ऽ (दो सौ) मन अन्न उत्पन्न हो सकता है । इस प्रकार तीन जोड़ी ६००ऽ (छः सौ) मन अन्न उत्पन्न कर सकती हैं । और उनके कार्य्य का मध्यभाग आठ वर्ष है । इस हिसाब से ४८००ऽ (चार हजार आठसौ) मन अन्न उत्पन्न करने की शक्ति एक जन्म में तीनों जोड़ी की है । (४८००) इतने अन्न से प्रत्येक मनुष्य का तीन पाव अन्न भोजन में गिनें तो २५६००० (दो लाख, छप्पन हजार) मनुष्यों का एक वार भोजन होता है । दूध और अन्न को मिलाकर देखने से निश्चय है कि ४१०४४० (चार लाख, दश हजार, चारसौ चालीस) मनुष्यों का पालन एक वार के भोजन से होता है । अब छः गाय की पीढ़ी पर-पीढ़ियों का हिसाब लगाकर देखा जावे तो असंख्य मनुष्यों का पालन हो सकता है । और इसके मांस से अनुमान है कि केवल अस्सी मांसाहारी मनुष्य एक वार तृप्त हो सकते हैं । देखो तुच्छ लाभ के लिये लाखों प्राणियों को मार असंख्य मनुष्यों की हानि करना महापाप क्यों नहीं ? ।

यद्यपि गाय के दूध से भैंस का दूध कुछ अधिक और बैलों से भैंसा कुछ न्यून लाभ पहुंचाता है तथापि जितना गाय के दूध और बैलों के उपयोग से मनुष्यों को सुखों का लाभ होता है उतना भैंसियों के दूध और भैंसों से नहीं ।

क्योंकि जितने आरोग्यकारक और बुद्धिवर्द्धक आदि गुण गाय के दूध और बैलों में होते हैं उतने भैंस के दूध और भैंसे आदि में नहीं हो सकते। इसलिये आर्य्यों ने गाय सर्वोत्तम मानी है।

और ऊंटनी का दूध गाय और भैंस के दूध से भी अधिक होता है तो भी इन का दूध गाय के सदृश नहीं। ऊंट और ऊंटनी के गुण भार उठाकर शीघ्र पहुंचाने के लिये प्रशंसनीय हैं।

अब एक बकरी कम से कम एक और अधिक से अधिक पांच सेर दूध देती है। इसका मध्यभाग प्रत्येक बकरी से तीन सेर दूध होता है। और न्यून से न्यून तीन महीने और अधिक से अधिक पांच महीने तक दूध देती है। तो प्रत्येक बकरी के दूध देने में मध्यभाग चार महीने हुए। वह एक मास में २।ऽ (सवा दो मन) और चार मास में ९ऽ (नव मन) होता है। पूर्वोक्त प्रकारानुसार इस दूध से एकसौ अस्सी (१८०) मनुष्यों की तृप्ति होती है। और एक बकरी एक वर्ष में दो वार ब्याती है। इस हिसाब से एक वर्ष म एक बकरी के दूध के एक वार भोजन से ३६० (तीन सौ साठ) मनुष्यों की तृप्ति होती है। कोई बकरी न्यून से न्यून चार वर्ष और कोई अधिक से अधिक ८ (आठ) वर्ष तक ब्याती है। इसका मध्यभाग ६ (छः) वर्ष हुआ। तो जन्मभर के दूध से २१६० (दो हजार, एकसौ, साठ) मनुष्यों का एक वार के भोजन से पालन होता है। अब उस के बचा बची मध्यभाग से २४ (चौबीस) हुए। क्योंकि कोई न्यून से न्यून एक और कोई अधिक से अधिक तीन बच्चों से ब्याती है। उन में से दो का अल्पमृत्यु समझो। रहे २२ (बाईस)। उन में से १२ बकरियों के दूध से २५९२० (पच्चीस हजार, नवसौ, बीस) मनुष्यों का एक दिन पालन होता है। उसकी पीढ़ी परपीढ़ी के हिसाब लगाने से असंख्य मनुष्यों का पालन होसकता है। और बकरे भी बोझ उठाने आदि प्रयोजनों में आते हैं। और बकरा बकरी और मेढा भेड़ी के रोम और ऊन के वस्त्रों से मनुष्यों को बड़े २ सुखलाभ होते हैं। यद्यपि भेड़ी का दूध बकरी के दूध से कुछ कम होता है तथापि बकरी के दूध से उस के दूध में बल और घृत अधिक होता है। इसी

प्रकार अन्य दूध देने वाले पशुओं के दूध से भी अनेक प्रकार के सुख लाभ होते हैं। जैसे ऊंट ऊंटनी से लाभ होते हैं वैसे ही घोड़े घोड़ी और हाथी आदि से अधिक कार्य्य सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार सुअर, कुत्ता, मुर्गा, मुर्गी और मोर आदि पक्षियों से भी अनेक उपकार होते हैं। जो पुरुष हरिण और सिंह आदि पशु और मोर आदि पक्षियों से भी उपकार लेना चाहें तो ले सकते हैं। परन्तु सब का पालन उत्तरोत्तर समयानुकूल होवेगा। वर्त्तमान में परमोपकारक गो की रक्षा में मुख्य तात्पर्य है। दो ही प्रकार से मनुष्य आदि की प्राणरक्षा, जीवन, सुख, विद्या, बल और पुरुषार्थ आदि की वृद्धि होती है। एक अन्नपान, दूसरा आच्छादन। इनमें से प्रथम के विना मनुष्यादि का सर्वथा प्रलय और दूसरे के विना अनेक प्रकार की पीड़ा होती है। देखिये जो पशु निःसार घास तृण पत्ते फल फूल आदि खावें और सार दूध आदि अमृतरूपी रत्न देवें, हल गाड़ी आदि में चल के अनेकविध अन्न आदि उत्पन्न कर सबके बुद्धि बल पराक्रम को बढ़ा के नीरोगता करें, पुत्र पुत्री और मित्र आदि के समान पुरुषों के साथ विश्वास और प्रेम करें, जहां बांधें वहां बंधे रहें, जिधर चलावें उधर चलें, जहां से हटावें वहां से हट जावें, देखने और बुलाने पर समीप चले आवें, जब कभी व्याघ्रादि पशु वा मारनेवाले को देखें अपनी रक्षा के लिये पालन करनेवाले के समीप दौड़ कर आवें कि यह हमारी रक्षा करेगा।

जिनके मरे पर चमड़ा भी कंटक आदि से रक्षा करे, जङ्गल में चर के अपने बच्चे और स्वामी के लिये दूध देने को नियत स्थान पर नियत समय चले आवें, अपने स्वामी की रक्षा के लिये तन मन लगावें, जिनका सर्वस्व राजा और प्रजा आदि मनुष्यों के सुख के लिये है, इत्यादि शुभगुणयुक्त, सुखकारक पशुओं के गले छुरों से काट कर, जो अपना पेट भर, सब संसार की हानि करते हैं, क्या संसार में उनसे भी अधिक कोई विश्वासघाती, अनुपकारी, दुःख देने वाले और पापी जन होंगे ? । इसीलिये यजुर्वेद के प्रथम ही मंत्र में परमात्मा की आज्ञा है कि (अघ्न्याः+यजमानस्य पशून् पाहि*) हे पुरुष ! तू इन

* य० अ० १। मं० १॥

पशुओं को कभी मत मार, और यजमान अर्थात् सब के सुख देने वाले जनों के सम्बन्धी पशुओं की रक्षा कर, जिन से तेरी भी पूरी रक्षा होवे। और इसी-लिये ब्रह्मा से लेके आज पर्य्यन्त आर्य्य लोग पशुओं की हिंसा में पाप और अधर्म समझते थे और अब भी समझते हैं। और इनकी रक्षा में अन्न भी महंगा नहीं होता। क्योंकि दूध आदि के अधिक होने से दरिद्री को भी खान पान में मिलने पर न्यून ही अन्न खाया जाता है। और अन्न के कम खाने से मल भी कम होता है। मल के न्यून होने से दुर्गन्ध भी न्यून होता है। दुर्गन्ध के स्वल्प होने से वायु और वृष्टिजल की शुद्धि भी विशेष होती है। उससे रोगों की न्यूनता होने से सब को सुख बढ़ता है।

इस से यह ठीक है कि गो आदि पशुओं के नाश होने से राजा और प्रजा का भी नाश हो जाता है। क्योंकि जब पशु न्यून होते हैं तब दूध आदि पदार्थ और खेती आदि कार्य्यों की भी घटती होती है। देखो इसी से, जितने मूल्य से जितना दूध और घी आदि पदार्थ तथा बैल आदि पशु ७०० (सातसौ) वर्ष के पूर्व मिलते थे, उतना दूध, घी और बैल आदि पशु इस समय दशगुणे मूल्य से भी नहीं मिल सकते। क्योंकि ७०० (सातसौ) वर्ष के पीछे इस देश में गवादि पशुओं को मारनेवाले मांसाहारी विदेशी मनुष्य बहुत आ बसे हैं। वे उन सर्वोपकारी पशुओं के हाड़ मांस तक भी नहीं छोड़ते। तो (नष्टे मूले नैव पत्रं न पुष्पम्)। जब कारण का नाश करदे तो कार्य नष्ट क्यों न हो जावे ?। हे मांसाहारियो ! तुम लोग, जब कुछ काल के पश्चात् पशु न मिलेंगे तब, मनुष्यों का मांस भी छोड़ोगे वा नहीं ?। हे परमेश्वर ! तू क्यों इन पशुओं पर, जो कि बिना अपराध मारे जाते हैं, दया नहीं करता ?। क्या उन पर तेरी प्रीति नहीं है ?। क्या उन के लिये तेरी न्यायसभा बन्द होगई है ?। क्यों उनकी पीड़ा छुड़ाने पर ध्यान नहीं देता, और उन की पुकार नहीं सुनता ?। क्यों इन मांसाहारियों के आत्माओं में दया प्रकाश कर निष्ठुरता, कठोरता, स्वार्थपन और मूर्खता आदि दोषों को दूर नहीं करता ?। जिससे ये इन बुरे कामों से बचें।

अथ समीक्षायां हिंसकरक्षकसंवादः

हिंसक—ईश्वर ने सब पशु आदि सृष्टि मनुष्यों के लिये रची है, और मनुष्य अपनी भक्ति के लिये। इसलिये मांस खाने में दोष नहीं हो सकता।

रक्षक—भाई! सुनो तुम्हारे शरीर का जिस ईश्वर ने बनाया है क्या उसी ने पशु आदि के शरीर नहीं बनाये हैं?। जो तुम कहो कि पशु आदि हमारे खाने को बनाये हैं तो हम कह सकते हैं कि हिंसक पशुओं के लिये तुम को उसने रचा है। क्योंकि जैसे तुम्हारा चित्त उनके मांस पर चलता है वैसे ही सिंह गृध्र आदि का चित्त भी तुम्हारे मांस पर चलता है। तो उनके लिये तुम क्यों नहीं?।

हिं०—देखो, ईश्वर ने पुरुषों के दांत कैसे पैने मांसाहारी पशुओं के समान बनाये हैं। इससे हम जानते हैं कि मनुष्यों को मांस खाना उचित है।

र०—जिन व्याघ्रादि पशुओं के दांत के दृष्टान्त से अपना पक्ष सिद्ध किया चाहते हो क्या तुम भी उनके तुल्य ही हो?। देखो, तुम्हारी मनुष्य जाति उनकी पशु जाति, तुम्हारे दो पग और उन के चार, तुम विद्या पढ़कर सत्यासत्य का विवेक कर सकते हो वे नहीं। और यह तुम्हारा दृष्टान्त भी युक्त नहीं, क्योंकि जो दांत का दृष्टान्त लेते हो तो बंदर के दांतों का दृष्टान्त क्यों नहीं लेते?। देखो बंदरों के दांत सिंह और बिल्ली आदि के समान हैं और वे मांस नहीं खाते। मनुष्य और बन्दर की आकृति भी बहुत सी मिलती है। जैसे मनुष्यों के हाथ पग और नख आदि होते हैं वैसे ही बन्दरों के भी हैं। इसलिये परमेश्वर ने मनुष्यों को दृष्टान्त से उपदेश किया है कि जैसे बन्दर मांस कभी नहीं खाते और फलादि खाकर निर्वाह करते हैं वैसे तुम भी किया करो। जैसा बन्दरों का दृष्टान्त सांगोपांग मनुष्यों के साथ घटता है वैसा अन्य किसी का नहीं। इसलिये मनुष्यों को अति उचित है कि मांस खाना सर्वथा छोड़ देवें।

हिं०—देखो जो मांसाहारी पशु और मनुष्य हैं वे बलवान् और जो मांस नहीं खाते हैं वे निर्बल होते हैं, इससे मांस खाना चाहिये।

र०—क्यों अल्प समझ की बातें मानकर कुछ भी विचार नहीं करते। देखो सिंह मांस खाता और सुअर वा अरणा भैंसा मांस कभी नहीं खाता। परन्तु जो सिंह बहुत मनुष्यों के समुदाय में गिरे तो एक या दो को मारता और एक दो गोली वा तलवार के प्रहार से मर भी जाता है, और जब जङ्गली सुअर वा अरणा भैंसा जिस प्राणिसमुदाय में गिरता है तब उन अनेक सवारों और मनुष्यों को मारता और अनेक गोली, बरछी तथा तलवार आदि के प्रहार से भी शीघ्र नहीं गिरता। और सिंह उनसे डर के अलग सटक जाता है और वह सिंह से नहीं डरता। और जो प्रत्यक्ष दृष्टान्त देखना चाहो तो एक मांसाहारी का, एक दूध घी और अन्नाहारी के मथुरा के मल्ल चौबे से बाहुयुद्ध हो, तो अनुमान है कि चौबा मांसाहारी को पटक उसकी छाती पर चढ़ ही बैठेगा। पुनः परीक्षा होगी कि किस २ के खाने से बल न्यून और अधिक होता है। भला तनिक विचार करो कि छिलकों के खाने से अधिक बल होता है अथवा रस और जो सार है उस के खाने से ?। मांस छिलके के समान और दूध घी सार रस के तुल्य है। इसको जो युक्तिपूर्वक खावे तो मांस से अधिक गुण और बलकारी होता है। फिर मांस का खाना व्यर्थ और हानिकारक, अन्याय, अधर्म और दुष्ट कर्म्म क्यों नहीं ?।

हिं०—जिस देश में सिवाय मांस के अन्य कुछ नहीं मिलता वहां वा आपत्काल में, अथवा रोगनिवृत्ति के लिये मांस खाने में दोष नहीं होता।

र०—यह आपका कहना व्यर्थ है। क्योंकि जहां मनुष्य रहते हैं वहां पृथिवी अवश्य होती है। जहां पृथिवी है वहां खेती वा फल फूल आदि होते हैं। और जहां कुछ भी नहीं होता वहां मनुष्य भी नहीं रह सकते। और जहां ऊसर भूमि है वहां मिष्ट जल और फलाहारादि के न होने से मनुष्यों का रहना भी दुर्घट है। और आपत्काल में भी अन्य उपायों से निर्वाह कर सकते हैं। जैसे मांस के न खानेवाले करते हैं। और विना मांस के रोगों का निवारण भी ओषधियों से यथावत् होता है। इसीलिये मांस खाना अच्छा नहीं।

हिं०–जो कोई भी मांस न खावे तो पशु इतने बढ़ जायं कि पृथिवी पर भी न समावें। और इसलिये ईश्वर ने उनकी उत्पत्ति भी अधिक की है। तो मांस क्यों न खाना चाहिये?।

र०–वाह! वाह! यह बुद्धि का विपर्य्यास आपको मांसाहार ही से हुआ होगा। देखो मनुष्य का मांस कोई नहीं खाता पुनः क्यों न बढ़ गये। और इनकी अधिक उत्पत्ति इसलिये है कि एक मनुष्य के पालन व्यवहार में अनेक पशुओं की अपेक्षा है। इसलिये ईश्वर ने उनको अधिक उत्पन्न किया है।

हिं०–ये जितने उत्तर किये वे सब व्यवहारसम्बन्धी हैं। परन्तु पशुओं को मार के मांस खाने में अधर्म्म तो नहीं होता। और जो होता है तो तुम को होता होगा क्योंकि तुम्हारे मत में निषेध है। इसलिये तुम मत खाओ और हम खावें क्योंकि हमारे मत में मांस खाना अधर्म्म नहीं है।

र०–हम तुम से पूछते हैं कि धर्म्म और अधर्म्म व्यवहार ही में होते हैं वा अन्यत्र?। तुम कभी सिद्ध न कर सकोगे कि व्यवहार से भिन्न धर्म्माधर्म्म होते हैं। जिस जिस व्यवहार से दूसरों की हानि हो वह २ अधर्म्म और जिस २ व्यवहार से उपकार हो वह २ धर्म्म कहाता है। तो लाखों के सुख लाभकारक पशुओं का नाश करना अधर्म्म और उनकी रक्षा से लाखों को सुख पहुंचाना धर्म्म क्यों नहीं मानते?। देखो चोरी जारी आदि कर्म्म इसीलिये अधर्म्म हैं कि इनसे दूसरे की हानि होती है। नहीं तो जो २ प्रयोजन धनादि से उन के स्वामी सिद्ध करते हैं वे ही प्रयोजन उन चोरादि के भी सिद्ध होते हैं। इसलिये यह निश्चित है कि जो २ कर्म्म जगत् में हानिकारक हैं वे २ अधर्म और जो २ परोपकारक हैं वे २ धर्म कहाते हैं। जब एक आदमी की हानि करने से चोरी आदि कर्म्म पाप में गिनते हो तो गवादि पशुओं को मार के बहुतों की हानि करना महापाप क्यों नहीं?। देखो मांसाहारी मनुष्यों में दया आदि उत्तम गुण होते ही नहीं। किन्तु वे स्वार्थवश होकर दूसरे की हानि करके अपना प्रयोजन सिद्ध करने ही में सदा रहते हैं।

जब मांसाहारी किसी पुष्ट पशु को देखता है तभी उस की इच्छा होती है कि इस में मांस अधिक है मारकर खाऊं तो अच्छा हो। और जब मांस का न खानेवाला उसको देखता है तो प्रसन्न होता है कि यह पशु आनन्द में है। जैसे सिंह आदि मांसाहारी पशु किसी का उपकार तो नहीं करते किन्तु अपने स्वार्थ के लिये दूसरे का प्राण भी ले मांस खाकर अति प्रसन्न होते हैं, वैसे ही मांसाहारी मनुष्य भी होते हैं। इसलिये मांस का खाना किसी मनुष्य को उचित नहीं।

हिं०—अच्छा जो यही बात है तो जबतक पशु काम में आवें तबतक उनका मांस न खाना चाहिये। जब बूढ़े होजावें वा मर जावें तब खाने में कुछ भी दोष नहीं।

र०—जैसे दोष उपकार करने वाले माता पिता आदि के वृद्धावस्था में मारने और उनके मांस खाने में है वैसे उन पशुओं की सेवा न कर मार के मांस खाने में हैं। और जो मरे पश्चात् उनका मांस खावे तो उसका स्वभाव मांसाहारी होने से अवश्य हिंसक होके हिंसारूपी पाप से कभी न बच सकेगा। इसलिये किसी अवस्था में मांस न खाना चाहिये।

हिं०—जिन पशुओं और पक्षियों अर्थात् जंगल में रहने वालों से उपकार किसी का नहीं होता और हानि होती है उन का मांस खाना वा नहीं?।

र०—न खाना चाहिये। क्योंकि वे भी उपकार में आ सकते हैं। देखो सौ (१००) भङ्गी जितनी शुद्धि करते हैं उन से अधिक एक सुअर वा मुर्गा अथवा मोर आदि पक्षी सर्प आदि की निवृत्ति करने से पवित्रता और नेक उपकार करते हैं। और जैसे मनुष्यों का खान पान दूसरे के खाने पीने से उनका जितना अनुपकार होता है वैसे जंगली मांसाहारी का अन्न जंगली पशु और पक्षी हैं। और जो विद्या वा विचार से सिंह आदि वनस्थ पशु और पक्षियों से उपकार लेवें तो अनेक प्रकार का लाभ उन से भी हो सकता है। इस कारण मांसाहार का सर्वथा निषेध होना चाहिये। भला जिनके दूध आदि

खाने पीने में आते हैं वे माता पिता के समान माननीय क्यों न होने चाहियें ?। ईश्वर की सृष्टि से भी विदित होता है कि मनुष्यों से पशु और पक्षी आदि अधिक रहने से कल्याण है। क्योंकि ईश्वर ने मनुष्यों के खाने पीने के पदार्थों से भी पशु और पक्षियों के खाने पीने के पदार्थ घास वृक्ष फूल फलादि अधिक रचे हैं। और वे विना जोते बोये सींचे पृथिवी पर स्वयं उत्पन्न होते हैं और वहां वृष्टि भी करता है। इसलिये समझ लीजिये कि ईश्वर का अभिप्राय उनके मारने में नहीं किन्तु रक्षा करने में है।

हिं०—जो मनुष्य पशु को मारके मांस खावें उन को पाप होता है और जो बिकता मांस मूल्य से ले वा भैरव, चामुण्डा, दुर्गा, जखैया, वाममार्ग, अथवा यज्ञ आदि की रीति से चढ़ा समर्पण कर खावें तो उन को पाप नहीं होना चाहिये, क्योंकि वे विधि करके खाते हैं।

र०—जो कोई मांस न खावे, न उपदेश और न अनुमति आदि देवे, तो पशु आदि कभी न मारे जावें। क्योंकि इस व्यवहार में बहकावट, लाभ और बिक्री न हो तो प्राणियों का मारना बन्द ही हो जावे। इस में प्रमाण भी है:—

अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी।
संस्कर्त्ता चोपहर्त्ता च खादकश्चेति घातकाः॥

(मनु० अ० ५। श्लो० ५१)

अर्थ—अनुमति (मारने की सलाह) देने, मांस के काटने, पशु आदि के मारने, उनको मारने के लिये लेने और बेचने, मांस के पकाने, परसने और खानेवाले ८ (आठ) मनुष्य, घातक हिंसक अर्थात् ये सब पापकारी हैं। और भैरव आदि के निमित्त से भी मांस खाना, मारना वा मरवाना महापाप-कर्म्म है। इसीलिये दयालु परमेश्वर ने वेदों में मांस खाने वा पशु आदि के मारने की विधि नहीं लिखी। मद्य भी मांस खाने का ही कारण है इसीलिये यहां संक्षेप से लिखते हैं:—

प्रमत्त—कहोजी मांस तो छूट सो छूटा, परन्तु मद्य पीने में तो कोई भी दोष नहीं ? ।

शान्त—मद्य पीने में भी वैसे ही दोष हैं जैसे कि मांस खाने में । मनुष्य मद्य पीने से नशे के कारण नष्टबुद्धि होकर अकर्त्तव्य कर लेता और कर्त्तव्य को छोड़ देता है । न्याय का अन्याय और अन्याय का न्याय आदि विपरीत कर्म करता है । और मद्य की उत्पत्ति विकृत पदार्थों से होती है, और वह मांसाहारी अवश्य हो जाता है । इसलिये इसके पीने से आत्मा में विकार उत्पन्न होते हैं । और जो मद्य पीता है वह विद्यादि शुभ गुणों से रहित होकर, उन दोषों में फंस कर, अपने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष फलों को छोड़, पशुवत् आहार, निद्रा, भय, मैथुन आदि कर्म्मों में प्रवृत्त होकर, अपने मनुष्यजन्म को व्यर्थ कर देता है । इसलिये नशा अर्थात् मदकारक द्रव्यों का सेवन भी न करना चाहिये । जैसा मद्य है वैसे भांग आदि पदार्थ भी मादक हैं । इसलिये इनका भी सेवन कभी न करे । क्योंकि ये भी बुद्धि का नाश करके प्रमाद, आलस्य और हिंसा आदि में मनुष्य को लगा देते हैं । इसीलिये मद्यपान के समान इन का भी सर्वथा निषेध ही है ।

इससे हे धार्मिक सज्जन लोगो ! आप इन पशुओं की रक्षा तन, मन और धन से क्यों नहीं करते ? । हाय !! बड़े शोक की बात है कि जब हिंसक लोग गाय बकरे आदि पशु और मोर आदि पक्षियों को मारने के लिये ले जाते हैं, तब वे अनाथ तुम हमको देख के राजा और प्रजा पर बड़े शोक प्रकाशित करते हैं, कि देखो ! हमको विना अपराध बुरे हाल से मारते हैं, और हम रक्षा करने तथा मारनेवालों को भी दूध आदि अमृत पदार्थ देने के लिये उपस्थित रहना चाहते हैं और मारे जाना नहीं चाहते । देखो हम लोगों का सर्वस्व परोपकार के लिये है और हम इसलिये पुकारते हैं कि हम को आप लोग बचावें । हम तुम्हारी भाषा में अपना दुःख नहीं समझा सकते और आप लोग हमारी भाषा नहीं जानते । नहीं तो क्या हममें से किसी को कोई मारता तो हम भी आप लोगों के सदृश अपने मारनेवालों को न्यायव्यवस्था से फांसी पर न चढ़वा

देते ? । हम इस समय अतीव कष्ट में हैं, क्योंकि कोई भी हम को बचाने में उद्यत नहीं होता । और जो कोई होता है तो उससे मांसाहारी द्वेष करते हैं । अस्तु, वे स्वार्थ के लिये द्वेष करो तो करो । क्योंकि (स्वार्थी दोषं न पश्यति) जो स्वार्थ सांधने में तत्पर है वह अपने दोषों पर ध्यान नहीं देता, किन्तु दूसरों की हानि हो तो हो मुझ को सुख होना चाहिये । परन्तु जो उपकारी हैं वे इन के बचाने में अत्यन्त पुरुषार्थ करें । जैसा कि आर्य्य लोग सृष्टि के आरम्भ से आज तक वेदोक्त रीति से प्रशंसनीय कर्म्म करते आये हैं वैसे ही सब भूगोलस्थ सज्जन मनुष्यों को करना उचित है ।

धन्य है आर्य्यावर्त्तदेशवासी आर्य्य लोगों को, कि जिन्होंने ईश्वर के सृष्टिक्रम के अनुसार परोपकार ही में अपना तन मन धन लगाया और लगाते हैं । इसीलिये आर्य्यावर्त्तीय राजा, महाराजा, प्रधान और धनाढ्य लोग आधी पृथिवी में जङ्गल रखते थे कि जिससे पशु और पक्षियों की रक्षा होकर ओष-धियों के सार दूध आदि पवित्र पदार्थ उत्पन्न हों । जिनके खाने पीने से आरोग्य, बुद्धिबल, पराक्रम आदि सद्गुण बढ़ें । और वृक्षों के अधिक होने से वर्षा जल और वायु में आर्द्रता और शुद्धि अधिक होती है । पशु और पक्षी आदि के अधिक होने से खात भी अधिक होता है । परन्तु इस समय के मनुष्यों का इससे विपरीत व्यवहार है कि जंगलों को काट और कटवा डालना, पशुओं को मार और मरवा खाना, और विष्ठा आदि का खात खेतों में डाल अथवा डलवा कर, रोगों की वृद्धि करके, संसार का अहित करना, स्वप्रयोजन साधना और परप्रयोजन पर ध्यान न देना, इत्यादि काम उलटे हैं । (विषादप्यमृतंग्राह्यम्) सत्पुरुषों का यही सिद्धान्त है कि विष से भी अमृत लेना । इसी प्रकार गाय आदि का मांस विषवत् महारोगकारी को छोड़कर उन से उत्पन्न हुए दूध आदि अमृत रोगनाशक हैं उनको लेना । अतएव इनकी रक्षा करके विषत्यागी और अमृतभोजी सब को होना चाहिये । सुनो बन्धुवर्गो ! तुम्हारा तन, मन, धन गाय आदि की रक्षारूप परोपकार में न लगे तो किस काम का है ? । देखो परमात्मा का स्वभाव कि जिसने सब विश्व और सब पदार्थ परोपकार ही के

लिये रच रक्खे हैं वैसे तुम भी अपना तन, मन, धन परोपकार ही के अर्पण करो। बड़े आश्चर्य की बात है कि पशुओं को पीड़ा न होने के लिये न्याय-पुस्तक में व्यवस्था भी लिखी है कि जो पशु दुर्बल और रोगी हों उनको कष्ट न दिया जावे जितना बोझ सुखपूर्वक उठा सकें उतना ही उन पर धरा जावे।

श्रीमती राजराजेश्वरी श्रीविक्टोरिया महाराणी का विज्ञापन भी प्रसिद्ध है कि इन अव्यक्तवाणी पशुओं को जो २ दुःख दिया जाता है वह २ न दिया जावे। तो क्या भला मार डालने से भी अधिक कोई दुःख होता है?। क्या फांसी से अधिक दुःख बंदीगृह में होता है?। जिस किसी अपराधी से पूछा जाय कि तू फांसी चढ़ने में प्रसन्न है वा बंदीघर के रहने में? तो वह स्पष्ट कहेगा कि फांसी में नहीं, किन्तु बन्दीघर के रहने में। और जो कोई मनुष्य भोजन करने को उपस्थित हो उसके आगे से भोजन के पदार्थ उठा लिये जावें और उसको वहां से दूर किया जावे तो क्या वह सुख मानेगा?। ऐसे ही आजकल के समय में कोई गाय आदि पशु सरकारी जङ्गल में जाकर घास और पत्ता जो कि उन्हीं के भोजनार्थ हैं विना महसूल दिये खावें वा खाने को जावें तो बेचारे उन पशुओं और उन के स्वामियों की दुर्दशा होती है। जंगल में आग लग जावे तो कुछ चिन्ता नहीं किन्तु वे पशु न खाने पावें। हम कहते हैं कि किसी अति क्षुधातुर राजा वा राजपुरुष के सामने आये चावल आदि वा डबलरोटी आदि छीन कर न खाने देवें और उनकी दुर्दशा की जावे तो इन को दुःख विदित न होगा क्या?। क्या वैसा ही उन पशु पक्षियों और उन के स्वामियों को न होता होगा?। ध्यान देकर सुनिये कि जैसा दुःख सुख अपने को होता है वैसा ही औरों को भी समझा कीजिये। और यह भी ध्यान में रखिये कि वे पशु आदि और उनके स्वामी तथा खेती आदि कर्म करने वाले प्रजा के पशु आदि और मनुष्यों के अधिक पुरुषार्थ ही से राजा का ऐश्वर्य अधिक बढ़ता और न्यून से नष्ट हो जाता है। इसीलिये राजा प्रजा से कर लेता है कि उनकी रक्षा यथावत् करे, न कि राजा और प्रजा के जो सुख के कारण गाय आदि पशु हैं उन का नाश किया जावे। इसलिये आजतक जो हुआ

सो हुआ, आगे आंखें खोल कर सब के हानिकारक कर्मों को न कीजिये और न करने दीजिये। हां, हम लोगों का यही काम है कि आप लोगों को भलाई और बुराई के कामों को जता देवें और आप लोगों का यही काम है कि पक्षपात छोड़ सबकी रक्षा और बढ़ती करने में तत्पर रहें। सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर हम और आप पर पूर्ण कृपा करे, कि जिससे हम और आप लोग विश्व के हानिकारक कर्मों को छोड़, सर्वोपकारक कर्मों को करके, सब लोग आनन्द में रहें। इन सब बातों को सुन मत डालना किन्तु सुन रखना। इन अनाथ पशुओं के प्राणों को शीघ्र बचाना।

हे महाराजाधिराज जगदीश्वर! जो इनको कोई न बचावे तो आप इन की रक्षा करने और हम से कराने में शीघ्र उद्यत हूजिये।

इति समीक्षा-प्रकरणम्

इस सभा के नियम

१—सब विश्व को विविध सुख पहुंचाना इस सभा का मुख्य उद्देश है। किसी की हानि करना प्रयोजन नहीं।

२—जो २ पदार्थ सृष्टिक्रमानुकूल जिस २ प्रकार से अधिक उपकार में आवे उस २ से आप्ताभिप्रायानुसार यथायोग्य सर्वहित सिद्ध करना इस सभा का परम पुरुषार्थ है।

३—जिस २ कर्म्म से बहुत हानि और थोड़ा लाभ हो उस २ को सभा कर्त्तव्य नहीं समझती।

४—जो २ मनुष्य इस परमहितकारी कार्य्य में तन, मन, धन से प्रयत्न और सहायता करे वह २ इस सभा में प्रतिष्ठा के योग्य होवे।

५ जो कि यह कार्य्य सर्वहितकारी है इसलिये यह सभा भूगोलस्थ मनुष्य जाति से सहायता की पूरी आशा रखती है।

६—जो २ सभा, देश—देशान्तर और द्वीप—द्वीपान्तर में परोपकार ही करना अभीष्ट रखती है वह २ इस सभा की सहायकारिणी समझी जाती है।

७—जो २ जन राजनीति वा प्रजा के अभीष्ट से विरुद्ध, स्वार्थी, क्रोधी और अविद्यादि दोषों से प्रमत्त होकर राजा प्रजा के लिये अनिष्ट कर्म्म करे वह २ इस सभा का सम्बन्धी न समझा जावे।

उपनियम

१—इस सभा का नाम "गोकृष्यादिरक्षिणी" है।

उद्देश

२—इस सभा के उद्देश वे ही हैं जो कि इसके नियमों में वर्णन किये गये हैं।

३—जो लोग इस सभा में नाम लिखाना चाहें * और इसके उद्देशानुकूल आचरण करना चाहें, वे इस सभा में प्रविष्ट हो सकते हैं। परन्तु उनकी आयु १८ वर्ष से न्यून न हो। जो लोग इस सभा में प्रविष्ट हों वे गोरक्षकसभासद् कहलावेंगे।

४—जिन का नाम इस सभा में सदाचार से एक वर्ष रहा हो, और वे अपने आय का शतांश वा अधिक मासिक वा वार्षिक इस सभा को दें, वे गोरक्षकसभासद् हो सकते हैं, और सम्मति देने का अधिकार केवल गोरक्षकसभासदों ही को होगा।

(अ) गोरक्षकसभासद् बनने के लिये गोकृष्यादिरक्षिणी सभा में वर्ष भर नाम रहने का नियम किसी व्यक्ति के लिये अन्तरङ्गसभा शिथिल भी कर सकती है। इस सभा में वर्ष भर रहकर गोरक्षकसभासद् बनने का नियम गोकृष्यादिरक्षिणीसभा के दूसरे वर्ष से काम आवेगा।

(ब) राजा, सरदार, बड़े २ साहूकार आदि को इस सभा के सभासद् बनने के लिये शतांश ही देना आवश्यक नहीं, वे एकबार वा मासिक वा वार्षिक अपने उत्साह वा सामर्थ्यानुसार दे सकते हैं।

(ज) अन्तरङ्गसभा किसी विशेष हेतु से चन्दा न देने वाले पुरुष को भी गोरक्षकसभासद् बना सकती है।

(द) नीचे लिखी हुई विशेष दशाओं में उन सभासदों की भी, जो गोरक्षक सभासद् नहीं बने, सम्मति ली जा सकती है:—

* इस सभा में नाम लिखाने के लिये मन्त्री के पास इस प्रकार का पत्र भेजना चाहिये कि मैं प्रसन्नतापूर्वक इस सभा के उद्देशानुकूल, जो कि नियमों में वर्णन किये हैं, आचरण स्वीकार करता हूं। मेरा नाम इस सभा में लिख लीजिये। परन्तु अन्तरङ्गसभा को अधिकार रहेगा कि किसी विशेष हेतु से उनका नाम इस सभा में लिखना स्वीकार न करे।

(१) जब नियमों में न्यूनाधिक शोधन करना हो ।

(२) जब कि विशेष अवस्था में अन्तरङ्गसभा उनकी सम्मति लेनी योग्य और आवश्यक समझे ।

(३) जो इस सभा के उद्देश के विरुद्ध कर्म्म करेगा वह न तो गोरक्षक और न गोरक्षकसभासद् गिना जावेगा ।

(४) गोरक्षकसभासद् दो प्रकार के होंगे—एक साधारण और दूसरे माननीय । माननीय गोरक्षकसभासद् वे होंगे जो शतांश १०) रु० मासिक वा इससे अधिक देवें, अथवा एक वार २५०) रुपया दें वा जिनको अन्तरङ्गसभा विद्या आदि श्रेष्ठ गुणों से माननीय समझे ।

५—यह सभा दो प्रकार की होगी—एक साधारण दूसरी अन्तरङ्ग ।

६—साधारणसभा तीन प्रकार की होगी—१ मासिक, २ षाण्मासिक और ३ नैमित्तिक ।

७—मासिक सभा—प्रतिमास एक वार हुआ करेगी । उसमें महीने भर का आयव्यय और सभा के कार्य्यकर्त्ताओं की क्रियाओं का वर्णन किया जावे जो कि कथनयोग्य हो ।

८—षाण्मासिक सभा—कार्त्तिक और वैशाख के अन्त में हुआ करे । उस में आप्तोक्त विचार, मासिक सभा का कार्य प्रत्येक प्रकार का आयव्यय समझना और समझाना होगा ।

९—नैमित्तिक सभा—जब कभी मन्त्री, प्रधान और अन्तरंगसभा आवश्यक कार्य्य जाने उसी समय यह सभा हो और उस में विशेष कार्य्यों का प्रबन्ध होवे ।

१०—अन्तरंगसभा–सभा के समस्त कार्य्यप्रबन्ध के लिये एक अन्तरंगसभा नियत कीजावे। और इस में तीन प्रकार के सभासद् हों—एक प्रतिनिधि, दूसरे प्रतिष्ठित और तीसरे अधिकारी।

११—प्रतिनिधि सभासद् अपने २ समुदायों के प्रतिनिधि होंगे, और उन्हें उनके समुदाय नियत करेंगे, कोई समुदाय जब चाहे अपने प्रतिनिधि को बदल सकता है। प्रतिनिधि सभासदों के विशेष कार्य्य ये होंगेः—

(अ) अपने २ समुदायों की सम्मति से अपने को विज्ञ रखना।

(ब) अपने २ समुदायों को अन्तरंगसभा के कार्य्य, जो कि प्रकट करने योग्य हों, बतलाना।

(ज) अपने २ समुदायों से चन्दा इकट्ठा करके कोषाध्यक्ष को देना।

१२—प्रतिष्ठित सभासद् विशेष गुणों के कारण प्रायः वार्षिक, नैमित्तिक और साधारण सभा में नियत किये जावें। प्रतिष्ठित सभासद् अन्तरंगसभा में एक तिहाई से अधिक न हों।

१३—प्रति वैशाख की सभा में अन्तरंगसभा के प्रतिष्ठित अधिकारी वार्षिक साधारण सभा में फिर से नियत किये जावें। और कोई पुराना प्रतिष्ठित और अधिकारी पुनर्वार नियुक्त हो सकता है।

१४—जब वर्ष के पहिले किसी प्रतिष्ठित सभासद् और अधिकारी का स्थान रिक्त हो तो अन्तरंगसभा आप ही उस के स्थान पर किसी और योग्य पुरुष को नियत कर सकती है।

१५—अन्तरंगसभा कार्य्य के प्रबन्ध निमित्त उचित व्यवस्था बना सकती है. परन्तु वह नियमों और उपनियमों से विरुद्ध न हो।

१६—अन्तरंगसभा किसी विशेष कार्य्य के करने और सोचने के लिये अपने

में से सभासदों और विशेष गुण रखनेवाले सभासदों को मिलाकर उपसभा नियत कर सकती है।

१७—अन्तरंगसभा का कोई सभासद् मन्त्री को एक सप्ताह के पहिले विज्ञापन दे सकता है कि कोई विषय सभा में निवेदन किया जावे और वह विषय प्रधान की आज्ञानुसार निवेदन किया जावे। परन्तु जिस विषय के निवेदन करने में अन्तरंगसभा के पांच सभासद् सम्मति दें वह अवश्य निवेदन करना ही पड़ेगा।

१८—दो सप्ताह के पीछे अन्तरंगसभा अवश्य हुआ करे और मन्त्री और प्रधान की आज्ञा से वा जब अन्तरंगसभा के पांच सभासद् मन्त्री को पत्र लिखें तो भी हो सकती है।

१९—अधिकारी छः प्रकार के होंगे—१—प्रधान, २—उपप्रधान, ३—मन्त्री, ४—उपमन्त्री, ५—कोषाध्यक्ष, ६—पुस्तकाध्यक्ष।

(मन्त्री) (कोषाध्यक्ष) (पुस्तकाध्यक्ष) इनके अधिकारों पर आवश्यकता होने से एक से अधिक भी नियत हो सकते हैं और जब किसी अधिकार पर एक से अधिक भी नियत हों तो अन्तरंगसभा उन्हें कार्य्य बांट देवे।

प्रधान

२०—प्रधान के निम्नलिखित अधिकार और काम होवें:—

१—(प्रधान) अन्तरंगसभा आदि सब सभाओं का सभापति समझा जावे।

२—सदा सभा के सब कार्य्यों के यथावत् प्रबन्ध और सर्वथा उन्नति और रक्षा में तत्पर रहे। सभा के प्रत्येक कार्य्य को देखे कि वे नियमानुसार किये जाते हैं वा नहीं और स्वयं नियमानुसार चले।

३—यदि कोई विषय कठिन और आवश्यक प्रतीत हो तो उसका यथोचित प्रबन्ध तत्काल करे और उसकी हानि में वही उत्तर देवे ।

४—प्रधान अपने प्रधानत्व के कारण सब उपसभाओं का, जिन्हें अन्तरंगसभा संस्थापन करे, सभासद् हो सकता है ।

उपप्रधान

२१—इस के ये कार्य्य कर्तव्य हैं—प्रधान की अनुपस्थिति में उसका प्रतिनिधि होवे, यदि दो वा अधिक उपप्रधान हों तो सभा की सम्मति के अनुसार उनमें से कोई एक प्रतिनिधि किया जावे, परन्तु सभा के सब कार्य्यों में प्रधान को सहायता देनी उस का मुख्य कार्य है ।

मन्त्री

२२—मन्त्री के निम्नलिखित अधिकार और कार्य हैं:—

१—अन्तरङ्गसभा की आज्ञानुसार सभा की ओर से सब के साथ पत्रव्यवहार रखना ।

२—सभाओं का वृत्तान्त लिखना और दूसरी सभा होने से पहिले ही पूर्व-वृत्तान्त पुस्तक में लिखना वा लिखवाना ।

३ मासिक अन्तरङ्गसभाओं में उन गोरक्षकों वा गोरक्षक सभासदों के नाम सुनाना जो कि पिछली मासिकसभा के पीछे सभा में प्रविष्ट वा उससे पृथक् हुए हों ।

४—सामान्य प्रकार से भृत्यों के कार्य पर दृष्टि रखना और सभा के नियम, उपनियम और व्यवस्थाओं के पालन पर ध्यान रखना ।

५—इस बात का भी ध्यान रखना कि प्रत्येक गोरक्षक सभासद् किसी न किसी समुदाय में हों और इसका भी कि प्रत्येक समुदाय ने अपनी ओर से अन्तरङ्गसभा में प्रतिनिधि दिया होवे ।

६—पहिले विज्ञापन दिये पर मान्यपुरुषों को सत्कारपूर्वक बिठाना ।

७—प्रत्येक सभा में नियत काल पर आना और बराबर ठहरना ।

कोषाध्यक्ष

२३—कोषाध्यक्ष के नीचे लिखे अधिकार और कार्य हैं:—

१—सभा के सब आयधन का लेना, उसकी रसीद देना और उसको यथोचित रखना ।

२—किसी को अन्तरङ्गसभा की आज्ञा के विना रुपया न देना, किन्तु मन्त्री और प्रधान को भी उस प्रमाण से देवे जितना अन्तरङ्गसभा ने उनके लिये नियत किया हो, अधिक न देना, और उस धन के उचित व्यय के लिये वही अधिकारी, जिस के द्वारा वह व्यय हुआ हो, उत्तरदाता होवे ।

३—सब धन के व्यय का रीतिपूर्वक बही खाता रखना और प्रतिमास अन्तरङ्गसभा में हिसाब को बही खाते समेत परताल और स्वीकार के लिये निवेदन करना ।

पुस्तकाध्यक्ष

२४—पुस्तकाध्यक्ष के अधिकार और कार्य ये होवें:—

१—जो पुस्तकालय में सभा की स्थिर और विक्रय की पुस्तकें हों उन सबों की रक्षा करे और पुस्तकालय सम्बन्धी हिसाब भी रक्खे और पुस्तकों के लेने देने का कार्य भी करे ।

मिश्रित नियम

२५—सब गोरक्षक सभासदों की सम्मति निम्नलिखित दशाओं में लीजावे:—

१—अन्तरङ्गसभा का यह निश्चय हो कि किसी साधारणसभा के सिद्धान्त पर निश्चय न करना चाहिये, किन्तु गोरक्षक सभासदों की सम्मति जाननी चाहिये ।

२—सब गोरक्षक सभासदों का पांचवां वा अधिक अंश इस निमित्त मन्त्री के पास पत्र लिख भेजे ।

३—जब बहुतसे व्ययसम्बन्धी वा प्रबन्धसम्बन्धी नियम अथवा व्यवस्था-सम्बन्धी कोई मुख्य विचारादि करना हो अथवा जब अन्तरङ्गसभा सब गोरक्षक सभासदों की सम्मति जानना चाहे ।

२६—जब किसी सभा में थोड़े से समय के लिये कोई अधिकारी उपस्थित न हो तो उस समय के लिये किसी योग्य पुरुष को अन्तरङ्गसभा नियत कर सकती है ।

२७—यदि किसी अधिकारी के स्थान पर वार्षिक साधारण सभा में कोई पुरुष नियत न किया जावे तो जबतक उस के स्थान पर नियत न किया जाय वही अधिकारी अपना काम करता रहे ।

२८—सब सभा और उपसभाओं का वृत्तान्त लिखा जाया करे और उसको सब गोरक्षकसभासद् देख सकते हैं ।

२९—सब सभाओं का कार्य तब आरम्भ हो जब न्यून से न्यून एक तिहाई सभासद् उपस्थित हों ।

३०—सब सभाओं और उपसभाओं के सारे काम बहुपक्षानुसार निश्चित हों ।

३१—आय का दशांश समुदाय में रक्खा जावे ।

३२—सब गोरक्षक और गोरक्षक सभासदों को इस सभा की उपयोगी वेदादि विद्या जाननी और जनानी चाहिये ।

३३—सब गोरक्षक और गोरक्षक सभासदों को उचित है कि लाभ और आनन्द समय में सभा की उन्नति के लिये उदारता और पूर्ण प्रेमदृष्टि रक्खें ।

३४—सब गोरक्षक और गोरक्षक सभासदों को उचित है कि शोक और दुःख के समय में परस्पर सहायता करें, और आनन्दोत्सव में निमंत्रण पर सहायक हों, छोटाई बड़ाई न गिनें ।

३५—कोई गोरक्षक भाई किसी हेतु से अनाथ, वा किसी की स्त्री विधवा, अथवा सन्तान अनाथ होजावे अर्थात् उनका जीवन न हो सकता हो और यदि गोकृष्यादिरक्षिणी सभा उनको निश्चित जान ले तो यह सभा उन की रक्षा में यथाशक्ति यथोचित प्रबन्ध करे ।

३६—यदि गोरक्षक सभासदों में किन्हीं का परस्पर झगड़ा हो तो उन को उचित है कि वे आपस में समझ लेवें वा गोरक्षक सभासदों की न्याय-उपसभाद्वारा उसका न्याय करालें । परन्तु अशक्यावस्था में राजनीति द्वारा भी न्याय करा लेवें ।

३७—इस गोकृष्यादिरक्षिणी सभा के व्यवहार में जितना २ लाभ हो वह २ सर्वहितकारी काम में लगाया जावे, किन्तु यह महाधन तुच्छ कार्य्य में व्यय न किया जावे । और जो कोई इस गोकृष्यादि की रक्षा के लिये जो धन है उसको चोरी से अपहरण करेगा वह गोहत्या के पाप लगने से इस लोक और परलोक में महादुःखभागी अवश्य होगा ।

३८—संप्रति इस सभा के धन का व्यय गवादि पशु लेने, उनका पालन करने, जंगल और घास के क्रय करने, उनकी रक्षा के लिये भृत्य वा अधिकारी रखने, तालाब, कूप, बावड़ी अथवा बाड़ा के लिये व्यय किया जावे, पुनः अत्युन्नत होने पर सर्वहित कार्य्य में भी व्यय किया जावे ।

३९—सब सज्जनों को उचित है कि इस गोरक्षक धन आदि समुदाय पर स्वार्थ-

दृष्टि से हानि करना कभी मन से भी न विचारें, किन्तु यथाशक्ति इस व्यवहार की उन्नति में तन, मन, धन से सदा परम प्रयत्न किया ही करें।

४०—इस सभा के सब सभासदों को यह बात अवश्य जाननी चाहिये कि जब गवादि पशु रक्षित होके बहुत बढ़ेंगे तब कृषि आदि कर्म और दुग्ध घृत आदि की वृद्धि होकर सब मनुष्यादि को विविध सुख लाभ अवश्य होगा। इसके विना सब का हित सिद्ध होना सम्भव नहीं।

४१—देखिये पूर्वोक्त रीत्यनुसार एक गौ की रक्षा से लाखों मनुष्यादि को लाभ पहुंचाना और जिसके मारने से उतने ही की हानि होती है ऐसे निकृष्ट कर्म्म के करने को आप्त विद्वान् कभी अच्छा न समझेगा।

४२—इस सभा के जो पशु प्रसूत होंगे उन २ का दूध एक मास तक उनके बछड़े को पिलाना और अधिक उसी पशु को अन्न के साथ खिला देना चाहिये, और दूसरे मास में तीन स्तनों का दूध बछड़े को देना और एक भाग लेना चाहिये, तीसरे मास के आरम्भ से आधा दुह लेना और आधा बछड़े को तबतक दिया करें कि जबतक गौ दूध देवे।

४३—सब सभासदों को उचित है कि जब २ किसी को स्वरक्षित पशु देवे तब २ न्याय नियमपूर्वक व्यवस्थापत्र ले और देकर, जब वह पशु असमर्थ हो जाय, उस के काम का न रहे और उसके पालन करने में सामर्थ्य न हो, तो अन्य किसी को न दे सके, किन्तु पुनरपि सभा के आधीन करे।

४४—इस सभा की अन्तरंगसभा को उचित है किन्तु अत्यावश्यक है कि उक्त प्रकार से अप्राप्त पशुओं की प्राप्ति, प्राप्तों की रक्षा, रक्षितों की वृद्धि और बढ़े हुए पशुओं से नियमानुसार और सृष्टिक्रमानुकूल उपकार लेना, अपने अधिकार में सदा रखना, अन्य किसी को इस में स्वाधीनता कभी न देवे।

४५—जो कि यह बहुत उपकारी कार्य्य है इसलिये इस का करनेवाला इस लोक और परलोक में स्वर्ग अर्थात् पूर्ण सुखों को अवश्य प्राप्त होता है।

४६—कोई भी मनुष्य इस सभा के पूर्वोक्त उद्देशों को किये विना सुखों की सिद्धि नहीं कर सकता।

४७—क्या ऐसा कोई भी मनुष्य सृष्टि में होगा कि जो अपने सुख दुःखवत दूसरे प्राणियों का सुख दुःख अपने आत्मा में न समझता हो।

४८—ये नियम और उपनियम उचित समय पर वा प्रतिवर्ष में यथोचित विज्ञापन देने पर शोधे वा घटाये बढ़ाये जा सकते हैं।

ओ३म् सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्य्यं करवावहै।
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै॥ ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

धेनुः परा दयापूर्वा यस्यानन्दाद्विराजते।
आख्यायां निर्मितस्तेन ग्रन्थो गोकरुणानिधिः॥ १॥
मुनिरामाङ्कचन्द्रेऽब्दे तपस्यस्यासिते दले।
दशम्यां गुरुवारेऽलंकृतोयं कामधेनुपः॥ २॥

इति गोकरुणानिधिः

श्रीमान् हिज हाइनेस महाराजाधिराज
सियाजीराव बहादुर गायकवाड़, बड़ौदा,
सभापति

श्रीमान् राजाधिराज सर नाहरसिंहजी
बहादुर शाहपुरा
मंत्री

रायबहादुर श्री मूलराजजी
उपप्रधान

रायसाहेब श्री हरविलासजी सारडा, M. L. A.
मंत्री

श्री स्वामी श्रद्धानन्दजी

श्रीयुत लाला हंसराजजी

श्रीयुत बा० गुलराजगोपालजी गुप्त

रायसाहेब रामबिलासजी शारदा

श्रीयुत बा० गंगाप्रसादजी वर्मा

श्रीयुत लाजपतरायजी

वैदिक-यन्त्रालय, अजमेर.

श्रीयुत घासीरामजी

श्रीयुत रामदेवजी

श्रीयुत रणछोड़दासजी भवान

श्री स्वामी विश्वेश्वरानन्दजी

श्रीयुत भगवद्दत्तजी

श्रीयुत रामगोपालजी

श्रीयुत रोशनलालजी

श्रीयुत गौरीशङ्करजी

वैदिक यन्त्रालय, अजमेर.

श्रीयुत राव बहादुरसिंहजी

श्रीयुत कविराज श्यामलदासजी

श्रीयुत बंशीधरजी

श्रीयुत सेठ पुरुषोत्तमनारायणजी

श्रीयुत भगवानदीनजी

श्रीयुत रामभजदत्तजी चौधरी

वैदिक-यन्त्रालय, अजमेर.

शताब्दी-संस्करण

स्वीकारपत्रम्

पृष्ठ ६४७—६५२.

स्वीकारपत्रम्

——:०:——

आवृत्ति		सन् ई०		संख्या
प्रथम	...		...	१०००
द्वितीय	...	१८९३	...	१०००
तृतीय	...	१८९७	...	१०००
चतुर्थ	...	१९०३	...	२०००
पंचम	...	१९२१	...	२०००
शताब्दीसंस्करण		१९२४	...	१०,०००
				१७,०००

श्रीरामजी

परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिकृत स्वीकारपत्र की प्रति

राजकीय मुद्रा

आज्ञा (राज्ये श्रीमहद्राजसभा) संख्या २६०

आज यह स्वीकारपत्र श्रीमान् श्री १०८ श्रीजी धीरवीर चिरप्रतापी विराजमानराज्ये श्रीमहद्राजसभा के सन्मुख स्वामीजी श्री दयानन्दसरस्वतीजी ने सर्वरीत्या अङ्गीकार किया अत एवः—

आज्ञा हुई—

कि प्रथम प्रति तो इस स्वीकारपत्र की स्वामीजी श्री दयानन्दसरस्वतीजी को राज्ये श्री महद्राजसभा के हस्ताक्षरी और मुद्राङ्कित दी जावे और दूसरी प्रति उक्त सभा के पत्रालय में रहे और एक एक प्रति इसकी राज यन्त्रालय में मुद्रित होकर इस स्वीकारपत्र में लिखे सब सभासदों के पास उन के ज्ञानार्थ और इसके नियमानुसार वर्त्तने के लिये भेजी जावे संवत् १९३९ फाल्गुन शुक्ला ५ मङ्गलवार तदनुसार ता० २७ फेब्रुरी सन् १८८३ ई० ।

हस्ताक्षर महाराणा सज्जनसिंहस्य

(श्रीमेदपाटेश्वर और राज्ये श्रीमहद्राजसभापति)

राज्ये श्रीमद्द्राजसभा के सभासदों के हस्ताक्षर—

१ राव बख्तसिंह बेदले
२ राव रत्नसिंह पारसोली
३ द० महाराज गजसिंह का
४ द० महाराज रायसिंह का
५ हस्ताक्षर मामा बख्तावरसिंहस्य
६ दं० राणावत उदयसिंह
७ हस्ताक्षर ठाकुर मनोहरसिंह
८ हस्ताक्षर कविराज श्यामलदासस्य
९ हस्ताक्षर सहीवाला अर्जुनसिंह का
१० दं० रा० पन्नालाल
११ द० पुरोहित पद्मनाभस्य
१२ जा० मुकुन्दलाल
१३ द० मोहनलाल पण्ड्या

स्वीकारपत्र

मैं स्वामी दयानन्दसरस्वती निम्नलिखित नियमानुसार त्रयोविंशति सज्जन आर्य्यपुरुषों की सभा को वस्त्र, पुस्तक, धन और यन्त्रालय आदि अपने सर्वस्व का अधिकार देता हूं और उस को परोपकार सुकार्य में लगाने के लिये अधिष्ठाता करके यह पत्र लिखे देता हूं कि समय पर कार्यकारी हो। जो यह एक सभा कि जिसका नाम परोपकारिणीसभा है उस के निम्नलिखित त्रयोविंशति सज्जन पुरुष सभासद् हैं उन में से इस सभा के सभापतिः—

१ श्रीमन्महाराजाधिराज महीमहेन्द्र यावदार्य्यकुलदिवाकर महाराणाजी श्री १०८ श्रीसज्जनसिंहजी वर्म्मा धीरवीर जी० सी० एस० आई० उदयपुराधीश हैं, उदयपुर राज मेवाड़।

२ उपसभापति लाला मूलराज एम० ए० एक्स्ट्रा असिस्टेण्ट कमिश्नर प्रधान आर्य्यसमाज लाहौर जन्मस्थान लुधियाना।

३ मन्त्री श्रीयुत कविराज श्यामलदासजी उदयपुर राज मेवाड़।

४ मन्त्री लाला रामशरणदास रईस उपप्रधान आर्य्यसमाज मेरठ।

५ उपमन्त्री पण्ड्या मोहनलाल विष्णुलालजी निवास उदयपुर जन्मभूमि मथुरा।

सभासद्

नाम और स्थान

१ श्रीमन्महाराजाधिराज श्री नाहरसिंहजी वर्मा शाहपुरा राज मेवाड़

२ श्रीमत् राव तख्तसिंहजी वर्म्मा बेदला राज मेवाड़

३ श्रीमत् राज्यराणा श्रीफतहसिंहजी वर्म्मा देलवाड़ा राज मेवाड़

४ श्रीमत् रावत अर्जुनसिंहजी वर्मा आसींद राज मेवाड़

५ श्रीमत् महाराज श्रीगजसिंहजी वर्म्मा उदयपुर मेवाड़

६ श्रीमत् राव श्री बहादुरसिंहजी वर्म्मा मसूदा जिले अजमेर

७ रावबहादुर पं० सुन्दरलाल सुपरिंटेंडेंट वर्कशोप और प्रेस अलीगढ़ आगरा

८ राजा जयकृष्णदास सी० एस० आई० डिपुटी–कलेक्टर बिजनौर मुरादाबाद

६ बाबू दुर्गाप्रसाद कोषाध्यक्ष आर्य्यसमाज व रईस फर्रुखाबाद

१० लाला जगन्नाथप्रसाद रईस फर्रुखाबाद

११ सेठ निर्भयराम प्रधान आर्य्यसमाज फर्रुखाबाद विसाऊ राजपूताना

१२ लाला कालीचरण रामचरण मन्त्री आर्य्यसमाज फर्रुखाबाद

१३ बाबू छेदीलाल गुमाश्ते कमसर्यट छावनी मुरार कानपुर

१४ लाला साईंदास मन्त्री आर्य्यसमाज लाहौर

१५ बाबू माधवदास मन्त्री आर्य्यसमाज दानापुर

१६ रावबहादुर रा० रा० पंडित गोपालराव हरि देशमुख मेम्बर कौन्सिल गवर्नर बम्बई और प्रधान आर्य्यसमाज बम्बई पूना

१७ रावबहादुर रा० रा० महादेव गोविन्द रानडे जज्ज पूना

१८ पं० श्यामजीकृष्ण वर्म्मा प्रोफेसर संस्कृत यूनीवर्सिटी आक्सफोर्ड लंडन बम्बई

नियम

१ उक्त सभा जैसे कि वर्त्तमानकाल वा आपत्काल में नियमानुसार मेरी और मेरे समस्त पदार्थों की रक्षा करके सर्वहितकारी कार्य में लगाती है वैसे मेरे पश्चात् अर्थात् मेरे मृत्यु के पीछे भी लगाया करे:—

प्रथम—वेद और वेदाङ्गादि शास्त्रों के प्रचार अर्थात् उनकी व्याख्या करने कराने, पढ़ने पढ़ाने, सुनने सुनाने, छापने छपवाने आदि में।

द्वितीय—वेदोक्त धर्म के उपदेश और शिक्षा अर्थात् उपदेशकमंडली नियत करके देश देशान्तर और द्वीप द्वीपान्तर में भेजकर सत्य के ग्रहण और असत्य के त्याग कराने आदि में।

तृतीय—आर्यावर्त्तीय अनाथ और दीन मनुष्यों के संरक्षण पोषण और सुशिक्षा में व्यय करे और करावे।

२ जैसे मेरी विद्यमानता में यह सभा सब प्रबन्ध करती है वैसे मेरे पश्चात् भी तीसरे या छठे महीने किसी सभासद् को वैदिक यन्त्रालय का हिसाब किताब समझने और पड़तालने के लिये भेजा करे, और वह सभासद् जाकर समस्त आयव्यय और संचय आदि की जांच पड़ताल करे, और उनके तले अपने हस्ताक्षर लिखदे, और उस विषय का एक २ पत्र प्रति सभासद् के पास भेजे, और उसके प्रबन्ध में कुछ हानि लाभ देखे उसकी सूचना अपने भी परामर्श सहित प्रत्येक सभासद् के पास लिख भेजे। पश्चात् प्रत्येक सभासद् को उचित है कि अपनी २ सम्मति सभापति के पास लिख कर भेजदे, और सभापति सब की सम्मति से यथोचित प्रबन्ध करे, और कोई सभासद् इस विषय में आलस्य अथवा अन्यथा व्यवहार न करे।

३ इस सभा को उचित है किन्तु अत्यावश्यक है कि जैसा यह परमधर्म और परमार्थ का कार्य है उसको वैसा ही उत्साह, पुरुषार्थ, गम्भीरता और उदारता से करे।

४ मेरे पीछे उक्त त्रयोविंशति आर्यजनों की सभा सर्वथा मेरे स्थानापन्न समझी जाय, अर्थात् जो अधिकार मुझे अपने सर्वस्व का है वही अधिकार

सभा को है और रहे। यदि उक्त सभासदों में से कोई इन नियमों से विरुद्ध स्वार्थ के वश होकर वा कोई अन्य जन अपना अधिकार जतावे तो वह सर्वथा मिथ्या समझा जाय।

५ जैसे इस सभा को अपने सामर्थ्य के अनुसार वर्त्तमान समय में मेरी और मेरे समस्त पदार्थों की रक्षा और उन्नति करने का अधिकार है वैसे ही मेरे मृतक शरीर के संस्कार करने कराने का भी अधिकार है। अर्थात् जब मेरा देह छूटे तो न उसको गाड़ने, न जल में बहाने, न जङ्गल में फेंकने दे, केवल चन्दन की चिता बनावे। और जो यह सम्भव न हो तो दो मन चन्दन, चार मन घी, पांच सेर कपूर, ढाई सेर अगर तगर और दश मन काष्ठ लेकर वेदानुकूल जैसे कि संस्कारविधि में लिखा है वेदी बनाकर, तदुक्त वेदमन्त्रों से होम करके, भस्म करे। इससे भिन्न कुछ भी वेदविरुद्ध क्रिया न करे। और जो सभाजन उपस्थित न हों तो जो कोई समय पर उपस्थित हो वही पूर्वोक्त क्रिया कर दे। और जितना धन उसमें लगे उतना सभा से ले ले और सभा उसको दे दे।

६ अपनी विद्यमानता में और मेरे पश्चात् यह सभा चाहे जिस सभासद् को पृथक् कर के उसका प्रतिनिधि किसी अन्य योग्य सामाजिक आर्यपुरुष को नियत कर सकती है। परन्तु कोई सभासद् सभा से तब तक पृथक् न किया जाय जब तक उसके कार्य में अन्यथा व्यवहार न पाया जाय।

७ मेरे सदृश यह सभा सदैव स्वीकारपत्र की व्याख्या, वा उसके नियम और प्रतिज्ञाओं के पालन, वा किसी सभासद् के पृथक्, और उसके स्थान में अन्य सभासद् के नियत करने, वा मेरे विपत् और आपत्काल के निवारण करने के उपाय और यत्न में वह उद्योग करे जो समस्त सभासदों की सम्मति से निश्चय और निर्णय पाया वा पावे। और जो सम्मति में परस्पर विरोध हो तो बहुपक्षानुसार प्रबन्ध करे और सभापति की सम्मति को सदैव द्विगुण जाने।

८ किसी समय भी यह सभा तीन से अधिक सभासदों को अपराध की परीक्षा कर पृथक् न करसके जबतक पहिले तीन के प्रतिनिधि नियत न करले।

९ यदि सभा में से कोई पुरुष मरजाय वा पूर्वोक्त नियमों और वेदोक्त धर्मों को त्याग कर विरुद्ध चलने लगे तो इस सभा के सभापति को उचित है कि सब सभासदों की सम्मति से पृथक् करके उसके स्थान में किसी अन्य योग्य वेदोक्त धर्मयुक्त आर्य पुरुष को नियत करदे परन्तु जबतक नित्यकार्य के अनन्तर नवीनकार्य का आरम्भ न हो।

१० इस सभा को सर्वथा प्रबन्ध करने और नवीनयुक्ति निकालने का अधिकार है। परन्तु जो सभा को अपने परामर्श और विचार पर पूरा २ निश्चय और विश्वास न हो पत्रद्वारा समय नियत करके संपूर्ण आर्यसमाजों से सम्मति ले ले और बहुपक्षानुसार उचित प्रबन्ध करे।

११ प्रबन्ध न्यूनाधिक करना वा स्वीकार वा अस्वीकार करना वा किसी सभासद को पृथक् वा नियत करना वा आय व्यय और संचय का जांच पड़-ताल करना आदि लाभ हानि सब सभासदों को वार्षिक वा षाण्मासिक पत्रद्वारा सभापति छपवा कर विदित करे।

१२ इस स्वीकारपत्र सम्बन्धी कोई झगड़ा टंटा सामायिक राज्याधिकारियों की कचहरी में निवेदन न किया जाय। यह सभा अपने आप न्यायव्यवस्था करले। परन्तु जो अपनी सामर्थ्य से बाहर हो तो राज्यगृह में निवेदन करके अपना कार्य सिद्ध करले।

१३ यदि मैं अपने जीते जी किसी योग्य आर्य्यजन को पारितोषिक अर्थात पेनशन देना चाहूं और उसकी लिखत पढ़त कराके रजिस्टरी करादूं तो सभा को उचित है कि उसको माने और दे।

१४ किसी विशेष लाभ उन्नति परोपकार और सर्वहितकारी कार्य के वश मुझे और मेरे पछि सभा को पूर्वोक्त नियमों के न्यूनाधिक करने का सर्वथा सदैव अधिकार है।

ह० दयानन्दसरस्वती,

Prem Bahadur Varma
12.6.26

ओ३म्

आर्य्यसमाज के नियम

१—सब सत्यविद्या और जो पदार्थविद्या से जाने जाते हैं उन सबका आदिमूल परमेश्वर है।

२—ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है। उसी की उपासना करनी योग्य है।

३—वेद सत्यविद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्य्यों का परम धर्म है।

४—सत्य ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये।

५—सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहियें।

६—संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश है अर्थात शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

७—सब से प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार, यथायोग्य वर्त्तना चाहिये।

८—अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिये।

९—प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट न रहना चाहिये किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये।

१०—सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिये और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें॥